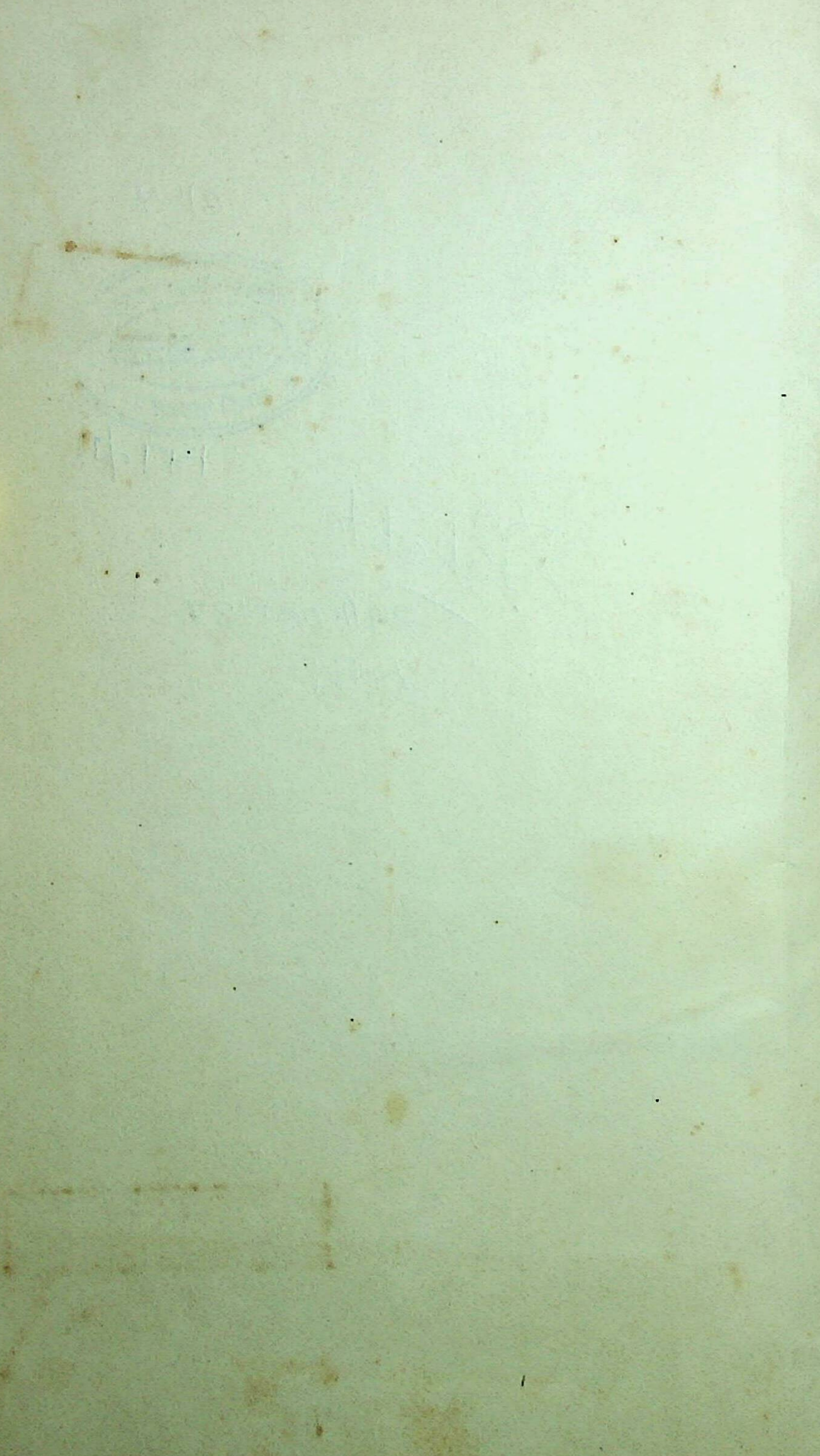
वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी



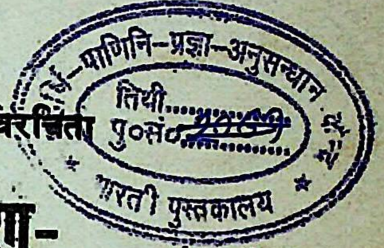
D. Bhakta
29th OCT '87
Delhi



॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

४६



श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरण-

सिद्धान्तकौमुदी

श्रीवासुदेवदीक्षितप्रणीतया 'बालमनोरमा'-व्याख्यया समलङ्कृत

सैव

दीपिकाख्य-हिन्दी-व्याख्ययोपेता च

(समासादि-द्विरुक्तान्तः द्वितीयो भागः)

व्याख्याकारः

श्रीगोपालदत्तपाण्डेयः

एम० ए०, व्याकरणाचार्यः

अवकाशप्राप्त उप-शिक्षानिदेशकः (उत्तरप्रदेशस्थः) तथा नैनीतालस्थ-राजकीय-
स्नातकोत्तर-महाविद्यालयस्य भूतपूर्वः आचार्यः संस्कृतविभागाध्यक्षश्च



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

प्रथम संस्करण १९८८

मूल्य १५०-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड,

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

46



VAIYĀKARAṆA SIDDHĀNTAKAUMUDĪ

OF

ŚRĪ BHAṬṬOJIDĪKṢITA

Containing

Balamanorama of Shri Vasudeva Dikshita

(Second Part : Samasadi-Dwiruktanta)

and

'DIPIKA' HINDI COMMENTARY

By

Prof. Gopal Datt Pande

M. A., Vyakaranacharya

Retired Deputy Director of Education, U. P. and Former Professor and Head of Sanskrit Department, D. S. B. Government Post-Gradutae College, Nainital.



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

First Edition
1986

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007
Telephone : 236391

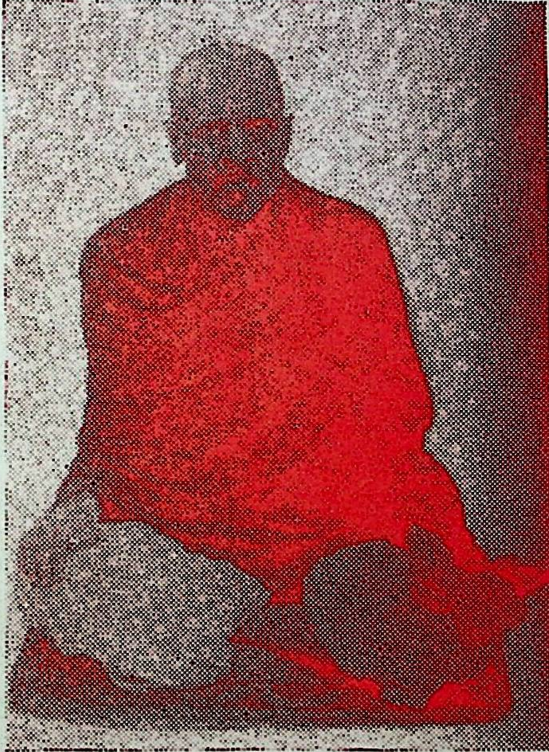
*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 63076



समर्पणम्

ब्रह्मीभूतो म० म० पं० नित्यानन्दपन्तपर्वतीयमहाभागः



जन्म-संवत् १९२४] [निर्वाण-संवत् १९८८

नित्यात्मबोधतृप्तो विद्यां सकलां दधद्धृदये।
व्याकृतिविहारहारी नित्यानन्दो गुरुर्जयति॥

वेदाङ्गेषु प्रसिद्धेषु मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्य तन्मयरूपत्वात् तन्मुखं तन्मुखं मतम्॥

त्वन्मुखात् कौमुदी सैषा बाल्येऽधीता मया गुरो।
अतस्तद्विवृतिं भक्त्या तुभ्यमेव समर्पये॥

गोपालदत्तपाण्डेयः



भूमिका

सिद्धान्तकौमुदी के द्वितीय भाग को व्याकरण के अध्येताओं के समक्ष उपस्थित करते हुए हर्ष हो रहा है। अनेक कारणों से इसके प्रकाशन में अपेक्षाकृत अधिक विलम्ब हो गया है। फिर भी अध्येताओं की माँग के साथ ही प्रकाशन-संस्था की आतुरता यथासम्भव शीघ्र प्रकाशन करने के लिये प्रेरित करती रही है। प्रस्तुत भाग में समासादि-द्विरुक्तप्रक्रियान्त प्रकरण संकलित है। व्याकरण-शास्त्र की उपादेयता एवम् उसके इतिहास पर प्रथम खण्ड में प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहाँ उसका पुनरावर्तन नहीं किया गया है।

पाणिनि-व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थों में सिद्धान्तकौमुदी का एक विशेष स्थान है। उसके अधिक प्रचार होने का कारण लोक में भाषानुकूल वाक्य-योजना के तत्त्वों की अनुकूलता का ग्रहण करना है। इसीलिए अष्टाध्यायी के सूत्रों की क्रम-व्यवस्था न होने पर भी समग्र सूत्रों का समावेश होने के कारण उसमें अष्टाध्यायी की पूर्णता अखण्डित है। ऐसा विदित होता है कि भट्टोजि-दीक्षित के समय में यह प्रवृत्ति चल पड़ी थी कि सिद्ध शब्दों की निष्पन्नता का आकलन एक साथ ही पूर्ण रूप में ज्ञात हो जाय। इस प्रवृत्ति का कारण समय की बचत एवं शब्दनिरुक्ति की प्रक्रिया की व्यावहारिकता को विदित कराना था। वस्तुतः यह प्रक्रिया 'कार्यकाल' पक्ष को अभिलक्षित कर आगे बढ़ने में सफल हुई है। इसका अभ्युदय 'रूपावतार' के लेखक 'धर्मकीर्ति' के समय से हुआ। 'रूपावतार' की लेखन-शैली रूपसिद्धि के लिये बड़ी सरल एवं क्रमानुसारिणी है। रूपावतार के लेखक धर्मकीर्ति का समय अद्यावधि अनिर्णीत है। उसकी अन्तिम सीमा बारहवीं शताब्दी है। इस में यह प्रमाण दिया जाता है कि एक स्थल पर रूपावतार में हरदत्त का नाम से निर्देश किया गया है—**'दीर्घान्त एवायं हरदत्ताभिमतः'**। तथा दूसरा कारण यह भी है कि स्वयं मैत्रेयरक्षित द्वारा 'तन्त्रप्रदीप' में इसका उल्लेख किया गया है—**'रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव कृते सति एकाच्त्वात् यङ् उदाहृतः—चोचूर्यते'** इति। 'रूपावतार' दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में सुबन्त का वर्णन है और वह आठ अवतारों (अर्थात् प्रकरणों) में विभक्त है। उत्तरार्ध तिङन्त तथा कृदन्त का परिचायक है। अतः इसी ग्रन्थ को प्रक्रिया-पद्धति का आदिम ग्रन्थ मानना युक्तिसंगत है। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में अधिक प्रसिद्ध

हुआ। इसके अनुकरण पर प्राकृत भाषा के भी व्याकरण ग्रन्थ का नाम 'प्राकृत-रूपावतार' (सिंहराज—पन्द्रहवीं शताब्दी) रखा गया।

रूपावतार के आधार पर ही (**सुप्-तिङन्तचयो वाक्यम्**) प्रक्रिया-ग्रन्थ-कारों ने संज्ञाप्रकरण से आरम्भ कर पूर्वार्ध में समग्र सुबन्तोपयोगी प्रक्रिया का समावेश किया। उसी का अनुसरण कर पूर्वार्ध के दोनों भागों में से प्रथम भाग में कारकान्त प्रकरण का समावेश किया गया है। द्वितीय भाग का आरम्भ समास-प्रकरण से हुआ है। समास-प्रकरण के पूर्व तदुपयोगी सुबन्त पदों की सिद्धि एवं सुप्-प्रत्ययों (विभक्तियों) के अर्थविशेष का निर्वचन (कारक प्रकरण में) हो चुका है। तदुपरान्त एक से अधिक पदों के समूहात्मक स्वरूप का निर्वचन अभिलक्षित कर भट्टोजिदीक्षित ने समास-प्रकरण का आरम्भ किया है। तत्पश्चात् तद्धित-प्रत्ययों के सम्बन्ध में अपनी लेखनी चलाई है। संस्कृत-व्याकरण में तद्धित-प्रकरण जङ्गल के सदृश माना गया है। जिस प्रकार जङ्गल में भटकता हुआ व्यक्ति उसकी विषमता से परिचित होकर यदि उससे बाहर निकल आता है तो वही उसके स्वरूप का परिचायक हो सकता है। ठीक यही स्थिति शब्द-निष्पत्ति के सम्बन्ध में तद्धित-प्रकरण की है। तद्धित-प्रत्ययान्त शब्दों की व्यापकता के कारण ही कदाचित् पाणिनि ने यह सार्थक नाम दिया हो (तस्मै हितम् = तद्धितम्)। इन प्रत्ययों से संज्ञावाची एवं विशेषणवाची असंख्य शब्दों की निष्पत्ति की जाती है। इस प्रकरण में जितने अधिक गणपाठों का समावेश किया गया है उतना और किसी प्रकरण में नहीं। इसी से नामों की असंख्यता विदित होती है। जगत् इन्हीं नामों का परिचायक हो जाता है। प्राचीन गुरु भी अध्यापन कराते समय कहा करते थे कि 'तद्धित-प्रकरण' के समाप्त होने में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। जिस तरह जङ्गल में विचरण करते समय व्याघ्रादि का भय बना रहता है, उसी प्रकार इस प्रकरण की शब्दनिरुक्ति में भी प्रक्रिया की जटिलता अध्येता को भयभीत किये रहती है। तद्धित-प्रकरण के समाप्त होने पर उसके अन्त में प्रसङ्गवश द्विरुक्त-प्रक्रिया का निवेश किया गया है। ये शब्द भी सुबन्त शब्दों के प्रभाव-विशेष के द्योतक हैं। शब्द की द्विरुक्ति उस शब्द की बोधकता के वैशिष्ट्य को इङ्गित कराती है।

समग्र अष्टाध्यायी को अभिलक्षित कर प्रक्रियायुग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रामचन्द्राचार्य (लगभग १३७५ ई०) की प्रक्रियाकौमुदी है। इनके पिता कृष्णाचार्य अनेक विषयों के विद्वान् थे। चतुर्दश विद्याओं का अध्यापन कराते थे। रामचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं–(१) प्रक्रियाकौमुदी, (२) कालनिर्णयदीपिका तथा (३) वैष्णवसिद्धान्तदीपिका। इनके पौत्र

विट्ठल ने (१४२५ ई०) प्रक्रियाकौमुदी पर 'प्रसाद' नाम की व्याख्या लिखी। प्रक्रियाकौमुदी का विभाजन भी—पूर्वार्ध एवम् उत्तरार्ध—दो भागों में हुआ है। पूर्वार्ध में सुबन्त शब्दों की सिद्धि के लिए क्रमशः संज्ञा, सन्धि, स्वादि, स्त्री-प्रत्यय, विभक्त्यर्थ, समास तथा तद्धित का वर्णन है। यही क्रम भट्टोजिदीक्षित ने भी सिद्धान्तकौमुदी में अपनाया है। प्रक्रियाकौमुदी में रूपसिद्धि के उपादेय-सूत्रों का उल्लेख करते हुए लघुवृत्ति के साथ यथोचित उदाहरण दिए गए हैं। उदाहरणों में वैष्णवमत का पुट दिखाई पड़ता है, जिससे इनके वैष्णव होने का प्रमाण मिलता है। प्रक्रियाकौमुदी की दूसरी व्याख्या शेषकृष्ण (अकबर के समकालीन) ने 'प्रक्रियाप्रकाश' नाम से लिखी। इस में विट्ठल के मत का यत्र-तत्र खण्डन भी है। रामचन्द्राचार्य ने प्रक्रियाकौमुदी में सौ से अधिक पाणिनीयेतर व्याकरणों से मान्य उदाहरणों को भी प्रामाणिक माना है। इस विषय में 'कातन्त्र' तथा 'मुग्धबोध' के ये ऋणी हैं। इतना होते हुए भी 'प्रक्रिया-कौमुदी' में अष्टाध्यायी के पूरे सूत्र समाविष्ट नहीं हो सके। सिद्धान्त-कौमुदी के ही समान दूसरा प्रक्रियाग्रन्थ 'प्रक्रियासर्वस्व' के नाम से रचा गया। इसके रचयिता केरल-निवासी महाकवि नारायणभट्ट (१५७५ ई० से १६२५ ई० के मध्य) रहे। 'प्रक्रियासर्वस्व' में भी पाणिनि-सूत्र प्रक्रिया के अनु-सार विभिन्न विषयों में विभक्त किये गये हैं। इन पर नारायण ने स्वयं वृत्ति लिख कर तथा उदाहरणों को दिखाते हुए सूत्रों के साथ उनकी संगति बैठाई है। यह ग्रन्थ संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, कृत्, तद्धित, समास, स्त्रीप्रत्यय, सुबर्थ, सुब्विधि आदि बीस खण्डों में विभक्त है। इन खण्डों में उणादि तथा वेद-विषयक दो पृथक् खण्ड हैं[१]। इनके ग्रन्थ पर भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण का विपुल प्रभाव परिलक्षित होता है। भोज ने गणपाठ तथा वार्तिकों को भी सूत्रों में संमिलित किया है। इसलिए 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में सूत्रों की संख्या बहुत बढ़ गई है। 'प्रक्रियासर्वस्व' में भी सूत्रों की वृत्ति सरल तथा बोधगम्य है। विशेष शास्त्रार्थ का प्रसङ्ग नहीं उठाया गया है। कहीं-कहीं वृत्ति श्लोक-बद्ध भी है। यह वैशिष्ट्य 'सिद्धान्तकौमुदी' में नहीं है। उदाहरण देने में नारायण भट्ट बड़े धनी हैं। तद्धित प्रकरण में तो इन्होंने इस बात का बड़ा ध्यान रखा है। वार्तिकों के संकलन में इनकी विशेषता अधिक

---

१. इह संज्ञा परिभाषा सन्धिः कृत् तद्धिताः समासश्च।
स्त्रीप्रत्ययाः सुबर्थः सुपां विधिश्चात्मनेपदविभागः ॥ १ ॥
तिङपि च लार्थविशेषः सनन्त-यङ्-यङ्लुकश्च सुब्धातुः।
न्यायोधातुरुणादिश्छान्दसमिति सन्तु विंशतिः खण्डाः ॥ २ ॥

परिलक्षित होती है। कहीं-कहीं वार्तिकों की शब्दावली महाभाष्य से कुछ भिन्न भले ही कर दी हो फिर भी वार्तिकों के स्वरूप-निर्णय के निमित्त 'प्रक्रियासर्वस्व' बहुत उपयोगी है।

प्रक्रियासर्वस्वकार की सबसे बड़ी विशेषता उनके पाणिनीयेतर वैयाकरणों को प्रामाण्य देने में है। उन्होंने इस बात को तर्क के साथ प्रस्तुत किया है कि पाणिनि के पूर्व भी तो वैयाकरण रहे। पाणिनि ने जिस प्रकार अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों से मतैक्य न होने पर कुछ प्रयोगों की वैकल्पिक व्यवस्था की है, उसी प्रकार चन्द्र भोजादि के कतिपय प्रयोगों की साधुता में सन्देह क्यों किया जाय? इस बात को बड़ी सुन्दरता के साथ उन्होंने इस श्लोक में वर्णित किया है—

'पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिसूत्रं'
केप्याहुस्तल्लघिष्ठं, न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्।
बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्, पाणिनेः प्राक् कथं वा
पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः॥''

उत्तरभारत में 'प्रक्रियासर्वस्व' का प्रचार थोड़ा भी नहीं हुआ। एक तो उस समय हस्तलेख की अधिक सुविधा नहीं थी, दूसरे नारायण भट्ट की भाषा-सम्बन्धी उदारता—ये दोनों इनके प्रचार में थोड़ा बहुत बाधक बन गए।

भट्टोजिदीक्षित का कार्यक्षेत्र काशी में रहने से उनकी सिद्धान्तकौमुदी उनके जीवन-काल में ही लोकप्रिय हो गई। शब्दों की साधनिका में आयाम की लघुता उस समय अपेक्षित रही। यथोद्देशपक्ष की गुरुता को त्याग कर अध्येतृ-वर्ग का कार्यकालपक्ष की ओर झुकाव अधिक होने लगा। उसे सिद्ध-शब्दों के ऋजु मार्ग पर चलना अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ। अतः रूपमाला, भट्टिकाव्य, प्रक्रियाकौमुदी आदि में निर्दिष्ट रूपसिद्धि की शैली धीरे-धीरे विकसित होती हुई सिद्धान्तकौमुदी में स्थिरता को प्राप्त कर सकी। सबसे बड़ी विशेषता इन्होंने यह रखी कि अष्टाध्यायी के समग्र सूत्र अपने ग्रन्थ में समाविष्ट कर दिये। लौकिक तथा वैदिक प्रयोगों की भिन्नता दिखाने हेतु भट्टोजिदीक्षित ने वैदिकी तथा स्वरप्रक्रिया को पृथक् प्रकरणों में स्थान दिया। वैदिकी प्रक्रिया में भी पाणिनि-सूत्रों के क्रमानुसार आठ अध्याय पृथक् कर दिये। स्वरप्रक्रिया में अष्टाध्यायी का क्रमानुसरण नहीं किया गया। कारण यह था कि ग्रन्थकार को लौकिक रूपों की सिद्धि अधिक अभीष्ट रही—

''इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे''॥

कौमुदी में लौकिक रूपों की साधनिका में ३३८६ सूत्र व्याख्यात हैं। वैदिकी प्रक्रिया में २६३ तथा स्वरप्रक्रिया में ३२९ सूत्रों का समावेश किया गया है। इन सबको मिलाकर सिद्धान्तकौमुदी में ३९७८ सूत्रों का विवरण विद्यमान है। माहेश्वर-सूत्रों को सम्मिलित कर यह संख्या चार हजार के पास तक (३९९२) पहुँच जाती है। स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका के अनुसार सूत्रों की संख्या ३९९५ है—

"चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह॥" (श्लोक १५)।

भट्टोजिदीक्षित ने स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त सिद्धान्तकौमुदी के दुरूह स्थलों को स्पष्ट करने के लिए 'प्रौढमनोरमा' नाम से उसकी टीका भी लिखी। कौमुदी के ही व्याख्यान के रूप में नागेश (१६७५—१७४५ ई०) ने 'बृहच्छब्देन्दुशेखर' तथा 'लघुशब्देन्दुशेखर'—दोनों ग्रन्थों की रचना की। 'प्रौढमनोरमा' की रचना ने उसकी टीका तथा प्रटीका की रचना करवा कर विवादास्पद बना दिया। 'प्रौढमनोरमा' तथा 'शेखरद्वय' के अतिरिक्त डा० सूर्यकान्त बली ने इक्कीस अन्य टीकाओं का उल्लेख किया है, जिनमें से दो टीकाओं—'तत्त्वबोधिनी' तथा 'बालमनोरमा' का विशेष प्रचार हुआ। तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती (१५८०-१६४० ई०) ने प्रौढमनोरमा का अधिकतर अनुसरण किया है। यह भट्टोजिदीक्षित के समकालीन माने जाते हैं। दूसरी लोकप्रिय तथा विस्तृत व्याख्या **बाल-मनोरमा** नाम से विख्यात है, जिसके रचयिता वासुदेव दीक्षित (१७००–१७६० ई०) हैं। अनेक शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान् श्री वासुदेव दीक्षित को राजाश्रय प्राप्त रहा। इनके पिता महादेव वाजपेयी तथा माता अन्नपूर्णा थीं। तंजौर के महाराष्ट्र राजा शाहजी (१६८४–१७१०) के प्रख्यात प्रधानमन्त्री त्र्यम्बकराय मखी तथा तुक्कोजी महाराजाओं (१७११–१७३५ ई०) के मुख्य अमात्य आनन्दराय मखी के द्वारा सम्पादित यज्ञों में इनके पिता महादेव वाजपेयी ने अध्वर्यु का कार्य किया था। वैयाकरण होने के साथ ही ये मीमांसक भी थे। इन्होंने 'अध्वरमीमांसाकौतूहलवृत्ति' नामक ग्रन्थ पूर्व-मीमांसा के सूत्रों पर व्याख्यान रूप में लिखा।

सिद्धान्तकौमुदी की प्रमुख विशेषता यह है कि भट्टोजिदीक्षित ने पूर्ववर्ती वृत्तिकारों के मतों पर विचार करने के साथ ही भाष्योक्त सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करना अपना लक्ष्य रखा। फलतः उसी केन्द्रबिन्दु से दीक्षित जी ने अपने व्याकरण-प्रक्रिया-शास्त्र के गुरु द्वारा विरचित 'प्रक्रियाप्रकाश' में निहित पूर्वाचार्यों के मतों का खण्डन भी किया है। बालमनोरमा टीका भी लौकिक

शब्दों तक ही सीमित है। वासुदेव ने वैदिकी प्रक्रिया पर व्याख्या नहीं लिखी। मीमांसक होने के नाते वासुदेव दीक्षित ने वाक्य, पद, स्फोट, जाति, व्यक्ति आदि प्रमेयबहुल शब्दों का शास्त्रीय विवेचन कर सिद्धान्तकौमुदीकार के आशय को स्पष्ट करने में कमी नहीं आने दी। संक्षेप के कारण सिद्धान्त-कौमुदी में फक्किकाओं की दुरूहता सुविदित है। उसे सुलझाना कठिन काम रहा है। ये ही फक्किकाएँ 'लघुशब्देन्दुशेखर' आदि ग्रन्थों में शास्त्रार्थ का विषय बनी हैं। उन्हीं को अभिलक्षित कर शास्त्रीय पदार्थों का विचार करने के प्रसङ्ग में आगे चल कर परिष्कारों की सरणि ने अपना मार्ग प्रशस्त किया।

अंग्रेजों के शासनकाल में पठन-पाठन का माध्यम अधिकतर अंग्रेजी भाषा रही। अंग्रेजों ने भी संस्कृत का अभ्यास कर अनेक विषयों के ग्रन्थों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। व्याकरण-महाभाष्य सदृश ग्रन्थ का विवेचनात्मक सम्पादन डा० कीलहार्न ने बड़ी तत्परता से किया। डा० के० पी० त्रिवेदी ने परिभाषेन्दुशेखर, वैयाकरण-भूषणसार आदि ग्रन्थों की अच्छी व्याख्याएँ लिखीं। श्री श्रीशचन्द्र बसु ने 'काशिका' एवं 'सिद्धान्तकौमुदी' पर अंग्रेजी में विस्तृत व्याख्याएँ लिखीं। अन्य पाश्चात्य विद्वानों में बाथलिंक, गोल्डस्टूकर, एडजर्टन, रेनु आदि विद्वान् भी इस दिशा में अग्रसर हुए। स्वातन्त्र्यप्राप्ति के अनन्तर राष्ट्रभाषा हिन्दी की उपेक्षा देशवासियों को सह्य न हो सकी। इस के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों में हिन्दी को उचित स्थान मिला तथा भारतीय भाषाओं के शिक्षण का माध्यम बनाये जाने के कारण संस्कृत ग्रन्थों की व्याख्यायें हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली, असमी, उड़िया, तमिल, तेलगु, कन्नड़ आदि भाषाओं में लिखी जाने लगीं। भारतीय भाषाओं के माध्यम से शास्त्रीय ग्रन्थों का बोध छात्रवर्ग को सरलता से हो जाय—इस उद्देश्य को सामने रख कर सुप्रसिद्ध वैयाकरण पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु एवं पं० भीमसेन जी शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने व्याकरण के ग्रन्थों की टीकायें हिन्दी में लिखीं। म० म० पं० वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर ने सम्पूर्ण महाभाष्य का मराठी भाषा में व्याख्यान लिखकर एक कीर्तिमान स्थापित किया। श्रीयुत पं० श्रीधरानन्दजी शास्त्री, प्रो० महेशसिंह कुशवाहा, डा० कपिलदेव द्विवेदी, डा० बाबूराम त्रिपाठी, पं० रामचन्द्र झा, पं० विश्वनाथ शास्त्री पं० विश्वनाथ मिश्र, पं० द्वारका प्रसाद जी प्रभृति विद्वानों ने 'लघुकौमुदी', 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी', 'प्रौढमनोरमा', 'परिभाषेन्दुशेखर' आदि ग्रन्थों पर हिन्दी में बोधगम्य एवं विवेचनात्मक व्याख्यायें लिखी हैं। समग्र सिद्धान्तकौमुदी की हिन्दी में व्याख्या लिखने का सर्वप्रथम श्रेय व्याकरण के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० बालकृष्ण जी पञ्चोली को है।

प्रस्तुत संस्करण में 'दीपिका' हिन्दी व्याख्या के साथ ही संस्कृत-व्याख्या 'बालमनोरमा' भी सम्मिलित की गई है। बालमनोरमाकार श्री वासुदेव दीक्षित ने सूत्रों की व्याख्या करने में अनुवृत्त पदों का आश्रय लेकर आवश्यकतानुसार विभक्तिविपर्यय आदि से सूत्रस्थ पदों में आकाङ्क्षित विशेष्य-विशेषणभाव द्वारा संगति बैठाई है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थोक्त उदाहरणों से सम्बद्ध अवशिष्ट प्रयोगों की सिद्धि के सम्बन्ध में दिग्दर्शन भी कराया है। परिभाषाओं का स्वरूप, समावेश तथा उनके याथार्थ्य के सम्बन्ध में न्यायमूलक एवं ज्ञापन आदि के विषय में यथास्थान विचार कर सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है। इन कारणों से 'बालमनोरमा' टीका की उपयोगिता स्वतः विदित है।

'दीपिका' हिन्दी व्याख्या में उन बातों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है जो सिद्धान्तकौमुदी के अध्येताओं के लिए अपेक्षित हैं। काशी की परम्परा भी यही रही है कि सिद्धान्तकौमुदी पढ़ने का मुख्य उद्देश्य शब्दसाधुत्व की प्रक्रिया का यथार्थ ज्ञान करना है। साथ ही उस प्रसङ्ग में आए हुए पूर्ववर्ती वृत्तिकारों के मतों की युक्तायुक्तता पर भी विचार किया गया है। बालमनोरमा का समावेश होने के कारण पुस्तक का आकार बहुत बढ़ गया है। अतः फक्किकाओं के व्याख्यान में कुछ संकोच अवश्य करना पड़ा है। हिन्दी व्याख्या में इस प्रकार क्रम अपनाया गया है—(१) सूत्रों के साथ ही प्रत्येक सूत्र का **पदच्छेद, अनुवृत्ति** तथा **सूत्रभेद** दिखला कर छात्रों को सूत्रार्थ समझने की दिशा में स्वतः उन्मुख होने की प्रवृत्ति जागरित की गई है। (२) तदनन्तर ग्रन्थ की वृत्ति के शब्दों का तदनुरूप अर्थ दिया गया है। (३) इसके बाद विवरण में अनुवृत्त पूर्वसूत्रों का उल्लेख करते हुए सूत्रस्थ पदों के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित कर सूत्रार्थ अभिव्यञ्जित किया गया है। इस प्रसङ्ग में विभक्ति-विपर्यय, अधिकार-प्रभाव, अपेक्षित पदों का आक्षेप, परिभाषाजन्य वैशिष्ट्य आदि कार्यों का निर्देश भी दिया गया है। (४) गणितीय पद्धति का यथाशक्ति अनुसरण कर प्रक्रियानुसारी सोपानक्रम से **उदाहरणों** की सिद्धि की गई है। **प्रत्युदाहरणों** द्वारा सूत्रों के पदों की यथाविहित सार्थकता प्रतिपादित की गई है। (५) प्रासङ्गिक **शङ्का-समाधानों** का एवं **फक्किकाओं** का स्पष्टीकरण **विशेष**—विधान के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है। (६) उपयोगी स्थलों की विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए **निष्कर्ष** एवं **स्मरणीय** शब्दों का अभिधान किया गया है। (७) नये प्रकरण के आरम्भ में **उपक्रम** की प्रस्तुति पूर्वापर-सङ्गति के निर्देशार्थ की गई है। (८) प्रक्रिया का अनुसरण कर सूत्रक्रम के अतिरिक्त मध्य में जिन अन्य उपयोगी सूत्रों का

उपयोग हुआ है, वहाँ **सन्दर्भ** के द्वारा प्रकरण-सङ्गति दिखाई गई है। (९) इन विषयों के अतिरिक्त अन्य **ज्ञातव्य** बातों का समावेश यथास्थान किया गया है। अधिक ज्ञातव्य बातें **प्रौढमनोरमा, लघुशब्देन्दुशेखर** आदि टीकाग्रन्थों के अध्ययन से विदित हो सकेंगी। मतमतान्तरों की समीक्षा में प्रमाणस्वरूप आवश्यक टिप्पणियों के रूप में मूलग्रन्थों के प्रकीर्ण अंशों का उद्धरण देना ही उपयुक्त समझा गया है।

इस महर्घता के युग में अध्येताओं के हित में मौलिक संस्कृत-ग्रन्थों का प्रकाशन एक दुस्तर कार्य है। दूसरे पठन-पाठन की ओर जनसाधारण की प्रवृत्ति का न होना—यह दूसरा अभिशाप है। तथापि मौलिक संस्कृत-ग्रन्थों का प्रकाशन अवरुद्ध न हो जाय—इस दृष्टि से 'चौखम्बा विद्याभवन', 'चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन' तथा 'चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान' आदि संस्थाएँ संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशनकार्य में बराबर संलग्न हैं। इन संस्थाओं के संचालकवर्ग ने **सिद्धान्तकौमुदी** की सर्वजनोपयोगी हिन्दी व्याख्या लिखने का आग्रह मुझ से किया था। वाग्देवी एवं गुरुकृपा से हिन्दी-व्याख्या-सहित **सिद्धान्तकौमुदी** का **समासादि-द्विरुक्तप्रक्रियान्त** द्वितीय भाग संस्कृतज्ञों की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। **संज्ञाप्रकरणादि-कारकान्त** प्रथम भाग पहले प्रकाशित हो चुका है। मेरे प्रमाद एवम् अज्ञान तथा मुद्रणसम्बन्धी दोषों पर ध्यान न देकर विज्ञजन केवल मेरे कठिन परिश्रम पर विचार करते हुए अपनी मनस्तुष्टि से मुझे प्रोत्साहित करेंगे—ऐसी आशा है। जो अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर हो पाई हैं, उन्हें शुद्धिपत्र में अङ्कित कर दिया गया है। पाठक उन्हें सुधारने का कष्ट करें। अन्य त्रुटियों के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा सूचित किये जाने पर आगामी संस्करण में उनका परिमार्जन सम्भव हो सकेगा। भगवान् विश्वनाथ की कृपा तथा विद्वज्जनों के प्रोत्साहन से उत्तरार्ध के अवशिष्ट दोनों भाग भी यथाशीघ्र प्रकाशित होंगे।

मार्गशीर्ष शुक्ला १५, सं० २०४३
वाराणसी

विद्वज्जनकृपाकाङ्क्षी—
गोपालदत्त पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका

सङ्केत-निर्देश

(क) साधनिकोपयोगी चिह्न

+	—	संयुक्तार्थक
०	—	लोपार्थक
=	—	समानार्थक, समान
>	—	परिवर्तित, निष्पन्न, सिद्ध
√	—	धातु
→	—	सातत्य-सूचक

(ख) ग्रन्थ-सङ्केत

ल० श० शे०	—	लघुशब्देन्दुशेखर
पा० सू०	—	पाणिनीय-सूत्र
म० भा०	—	महाभाष्य
व्या० सि० सु० वै० सि० सु०	—	व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि
ऋ० सं०	—	ऋक्-संहिता
रघु०	—	रघुवंश
मत्स्य पु०	—	मत्स्य पुराण
उदा०	—	उदाहरण
वा०	—	वार्तिक

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

(द्वितीयो भागः)



॥ श्रीः ॥

बालमनोरमाव्याख्यासंवलिता

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

दीपिकाख्य-हिन्दी-व्याख्या-सहिता

अव्ययीभावसमासप्रकरणम्

(६४७) समर्थः पदविधिः २ । १ । १ ॥ पदसम्बन्धी[1] यो विधिः स समर्था-

---

❋ बालमनोरमा ❋

(६४७) **अथ समासाः** । तदेवं विभक्त्यर्थं निरूप्य तदाश्रितसमासान्निरूपयिष्यन् तदुपोद्घातत्वेनाह—**समर्थः पदविधिः** । विधीयते इति विधिः कार्यम् । पदस्य विधिः

❋ दीपिका ❋

प्रसङ्ग-संगति—समास-प्रकरण के पूर्व तदुपयोगी सुबन्त पदों की सिद्धि एवं सुप्-प्रत्ययों (विभक्तियों) के अर्थविशेष का निर्वचन किया जा चुका है। तदुपरान्त एक से अधिक पदों के समूहात्मक स्वरूप का निर्वचन अभिलक्षित कर भट्टोजी दीक्षित ने कारक-प्रकरण के अनन्तर **समास-प्रकरण** का निवेश किया है। समास का शाब्दिक अर्थ है 'एक साथ रहना'।[2] परस्पर सम्बन्धार्थक पद ही एक साथ रह सकते हैं। अतः वे ही समास के योग्य होते हैं, असम्बद्धार्थक पद समास के योग्य नहीं होते। यद्यपि पद में दोनों प्रकार की विभक्तियाँ—'सुप्' अथवा 'तिङ्' संयुक्त रहती हैं, तथापि समास अधिकतर 'सुबन्त' के साथ होता है, तिङन्त के साथ नहीं। वेद में अवश्य इसका अपवाद मिलता है। समास में दो या उससे अधिक पदों के मध्य रहने वाली विभक्तियों का लोप हो जाता है तथा प्रयुक्त सब पद मिलकर एक शब्द (समस्त पद) के रूप में परिणत हो जाते हैं। तदनन्तर समस्त शब्द के अन्त में पुनः विभक्ति लगने के पश्चात् वह पद परिनिष्ठित हो जाता है।

प्रमुख रूप में समास के चार भेद हैं—**(१) अव्ययीभाव, (२) तत्पुरुष, (३) बहुव्रीहि,** तथा **(४) द्वन्द्व**। तत्पुरुष का ही भेद **कर्मधारय** है। संख्यापूर्वक होने पर वही **द्विगु** कहलाता है। इन दो स्थूल भेदों के कारण समास छह प्रकार के होते हैं। समास का मूल आधार विग्रह-वाक्य है। समासयुक्त शब्द का स्पष्टीकरण विग्रह-वाक्य से ही सम्भव है।[3]

---

१. पदविधिसहचरितोऽपि पदविधिशब्देन गृह्यते। अत एव सन्नन्तादेकार्थीभावः। पदविधिश्च समाससंज्ञादिः।

२. समसनं समासः (सम्—√अस्+घञ्) (३.३.१८)।

३. 'वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः'। विग्रह-वाक्यों में वे विभक्तियाँ लगाई जाती हैं, जिनके द्वारा समस्त-पद के प्रत्येक शब्द का पारस्परिक सम्बन्ध विदित हो सके। जिन स्थलों पर समस्त पद के विविध शब्द विग्रह में न दिये जा सकें या जिनका विग्रह-वाक्य देना सम्भव न हो, ऐसे समास को **नित्य समास** कहते हैं। उसी का दूसरा नाम **अ-स्वपद-विग्रह** है।

पदविधिरिति शेषषष्ठ्या समासः । तदाह—**पदसम्बन्धी यो विधिरिति । समर्थाश्रित इति ।** सूत्रे समर्थशब्दः समर्थाश्रिते लाक्षणिक इति भावः । सामर्थ्यं द्विविधम्—व्यपेक्षालक्षणम्, एकार्थीभावलक्षणं च । तत्र स्वार्थपर्यवसायिनां पदानामाकाङ्क्षादिवशाद्यः परस्परान्वयः तत् व्यपेक्षाभिधं सामर्थ्यम् । विशिष्टा अपेक्षा व्यपेक्षेति व्युत्पत्तेः, सम्बद्धार्थः समर्थ इति

उदाहरण के लिये 'राजपुरुषः' शब्द का विवक्षित (राजसम्बन्धी पुरुष) अर्थ विग्रह (राज्ञः पुरुषः) करने पर विदित होता है ।

इन समासों का संक्षिप्त विवरण क्रमशः दिया जाता है । (१) **अव्ययीभाव**—अनव्ययम् अव्ययः सम्पद्यते इति अव्ययीभावः—अर्थात् जो शब्द समास होने के पूर्व तो अव्यय न हो, किन्तु समास होने पर अव्यय हो जाय—वही अव्ययीभाव समास है । जैसे—शक्तिम् अनतिक्रम्य **'यथाशक्ति'** । इसमें 'शक्ति' शब्द अव्यय नहीं है, किन्तु अव्यय के साथ समास में पड़ जाने के कारण 'यथा' शब्द की तरह समष्टि में वह भी अव्यय हो जाता है । 'अव्ययीभाव' में अव्यय के समान कोई विभक्ति नहीं लगती । इस समास में पूर्वपद प्रधान होता है **(पूर्वपदप्रधानोऽव्ययीभावः)** । उदाहरणार्थ **'उपकृष्णम्'** (कृष्ण के समीप—कृष्णस्य समीपम्) में 'उप'-शब्दार्थ समीप ही प्रधान है, वह पूर्व में स्थित है । (२) **तत्पुरुष**—'तत्पुरुष' शब्द के विग्रह से ही द्वितीयादि तत्पुरुष एवं कर्मधारय की सार्थकता सिद्ध होती है । 'तत्पुरुष' शब्द का विग्रह जिन रूपों में होगा वे उसी विभक्ति के अनुसार 'तत्पुरुष' कहलायेंगे । जैसे—१—स चासौ पुरुषः>तत्पुरुषः (प्रथमा तत्पुरुष = विशेषण–विशेष्यवाची होने से **कर्मधारय**) । २—तं पुरुषः>तत्पुरुषः (द्वितीया तत्पुरुष) ३—तेन पुरुषः>तत्पुरुषः (तृतीया तत्पुरुष) । ४—तस्मै पुरुषः>तत्पुरुषः (चतुर्थी तत्पुरुष) । ५—तस्मात् पुरुषः>तत्पुरुषः (पञ्चमी तत्पुरुष) । ६—तस्य पुरुषः>तत्पुरुषः (षष्ठी तत्पुरुष) । ७—तस्मिन् पुरुषः>तत्पुरुषः (सप्तमी तत्पुरुष) । विशेषण–विशेष्यवाची तत्पुरुष **(कर्मधारय)** में यदि पहला पद संख्या-वाची हो तो वह **द्विगु**—संज्ञक हो जाता है । निषेधार्थक विशेषण-वाची होने पर उसे **'नञ्'**—तत्पुरुष कहते हैं । तत्पुरुष में उत्तरपद प्रधान होता है । (३) **द्वन्द्व**—इस शब्द का विग्रह भी 'द्वन्द्व' समास के अनुकूल है । प्रकृत शब्द का विग्रह दो तरह किया जा सकता है—(क) द्वे च द्वे च>द्वन्द्वे तथा (ख) द्वयोः समाहारः द्वन्द्वम् । इस प्रकार द्वन्द्व समास में दो या दो से अधिक पदों का समावेश होता है और उनकी भिन्नता 'च' से सूचित होती है । अतः इसके सभी पद प्रधान होते हैं । इसके दो भेद हैं—**इतरेतरयोग** और **समाहार** । प्रयुक्त शब्दों के अनुसार इतरेतरयोग में द्विवचन और बहुवचन होते हैं एवम् अन्तिम शब्द के अनुसार समस्तशब्द का लिङ्ग होता है । पाणिनि ने अपने सूत्रों में तदनुसार प्रयोग भी किया है—(क) **"चुटू"** (१–३–७)-चुश्च टुश्च>चुटू (द्विवचन तथा पुंलिङ्ग) । (ख) **आदिर्ञिटुडवः** (१–३–५) ञिश्च, टुश्च, डुश्च>ञिटुडवः (बहुवचन तथा पुंलिङ्ग) । समाहार-द्वन्द्व में समास होने पर समष्टि-गत अर्थ को सूचित करने के लिए नपुंसकलिङ्ग और एकवचन का प्रयोग होता है । जैसे पाणिनिसूत्र **"लशक्वतद्धिते"** (१–३–८) में लश्च, शश्च, कुश्च—तेषां समाहारः 'लशकु' में नपुंसकलिङ्ग तथा एक वचन का प्रयोग किया गया है । (४) **बहुव्रीहि**—में भी इस शब्द की व्युत्पत्ति के समान ही समास के शब्दों का विग्रह होता है । जैसे–बहवः व्रीहयो यस्य सः>बहुव्रीहिः (बहु-धान्य-सम्पन्न=कृषक) । यह भी विशेषण–विशेष्य का समास है, किन्तु इसमें **अन्यपदार्थ** प्रधान होता है । अर्थात् विशेषण—विशेष्यवाची पद गौण होकर किसी दूसरे का बोध कराते हैं । जैसे **पीताम्बरः** (पीतम् अम्बरं यस्य सः) में पीताम्बर-धारी का बोध होता है ।

निम्नलिखित श्लोक में समासों का नाम-निर्देश-पूर्वक धान्य-सम्पन्न होने की कामना की गई है—

व्युत्पत्तेश्च। इदं च राज्ञः पुरुष इत्यादिवाक्य एव भवति। तत्र च एकैकस्य शब्दस्य यो यः सन्निहितो योग्यश्च तेन तेनान्वयो भवति। यथा राज्ञः पुरुषोऽश्वश्चेति, राज्ञो देवदत्तस्य च पुरुष इति, ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इति च। एकार्थीभावलक्षणसामर्थ्यं तु प्रक्रियादशायां प्रत्येकमर्थवत्त्वेन पृथग् गृहीतानां पदानां समुदायशक्त्या विशिष्टैकार्थप्रतिपादकतारूपम्। सङ्गतार्थः समर्थः, संसृष्टार्थः समर्थ इति व्युत्पत्तेः। सङ्गतिः संसर्गश्च एकीभाव एव। यथा-सङ्गतं घृतं तैलेनेति एकीभूतमिति गम्यते, यथा वा संसृष्टोऽग्निरिति। एकीभूत इति गम्यत इति भाष्याच्च। इदं च सामर्थ्यं राजपुरुष इत्यादिवृत्तावेव। अत एव ऋद्धस्य राजपुरुष इत्येवं राज्ञि पुरुषविशेषणे ऋद्धत्वविशेषणं नान्वेति, विशिष्टस्य एक-पदार्थतया राज्ञः पदार्थैकदेशत्वात्। देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यत्र तु उपसर्जनस्य नित्यसापेक्ष-त्वात् समासः। यद्वा गुरुवद् देवदत्तोऽपि विशेष्ये प्रधाने कुल एवान्वेति, तत्र गुरुणा कुलस्य उत्पाद्यत्वसम्बन्धेनान्वयः। देवदत्तेन तु कुलस्य तदीयगुरूत्पाद्यतयाऽन्वयो गुरुगर्भः। उक्तं

द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाऽहं स्यां बहुव्रीहिः॥

भक्त की प्रार्थना है—हे पुरुष ! हम दो प्राणी हैं (द्वन्द्वः) तथा दो-गाय बछड़े वाले हैं (द्विगुः)। मेरे घर में (द्ररिद्रता के कारण) नित्य व्यय का अभाव रहता है (अव्ययीभावः)। मुझसे बहुत कार्य कराइये (तत् कर्म धारय), जिससे मैं (अहं) बहुत धान्य-सम्पन्न (बहुव्रीहि) हो जाऊँ।

इसी तरह निम्नलिखित श्लोक द्वारा समासों के विग्रह का प्रकार ज्ञात होता है—

चकारबहुलो द्वन्द्वः, स चासौ कर्मधारयः।
यस्य येषां बहुव्रीहिः, शेषस्तत्पुरुषो मतः॥

अर्थात् जिसके विग्रह में अनेक **'च'** का प्रयोग हो, वह द्वन्द्व है। जिसमें **'स चासौ'** विग्रह हो वह **कर्मधारय** है। जिसके विग्रह में **'यस्य'** या **'येषां'** आदि पदों का प्रयोग किया जाय वह **बहुव्रीहि** है। इनके अतिरिक्त शेष **'तत्पुरुष'** है।

तदनुसार समास-संज्ञा के उपयोगी तत्त्वों का विवेचन आरम्भ किया जा रहा है।

(६४७) पद—समर्थः, पदविधिः। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—पदसम्बन्धी विधान समर्थ पदों के आश्रित रहता है।

विवरण—अनेक पदों का नियमानुसार समावेश होना समास है, क्योंकि परिनिष्ठित (समर्थ) शब्दों की नियमानुसार स्थिति से उसका सम्बन्ध विदित होता है। अर्थात् परिनिष्ठित शब्दों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध होने पर समुदाय-रूप में निष्पन्न पद 'समास' के नाम से प्रचलित है। इस प्रकार पदसमुदायरूप संज्ञा भी समास-पद-वाच्य है। अतः पाणिनि ने 'समर्थ' को ही 'पदविधि' माना है। पदों को अभिलक्षित कर विधान की संभावना पतञ्जलि ने तीन स्थलों पर व्यक्त की है—(१) समास, (२) विभक्तिविधान तथा (३) पराङ्गवद्भाव। जैसे—(१) 'राजपुरुषः' में 'राज्ञः' तथा 'पुरुषः' दोनों पद परस्पर संबद्ध (समर्थ) हैं, अतः समास होता है। (२) सामान्य-विहित विभक्तियों का "कर्मणि द्वितीया" (२-३-२) आदि द्वारा जो नियमन होता है, वह 'विभक्ति' है। उसे भी 'पदविधि' कहा गया है। (३) तादात्म्य का अतिदेश 'पराङ्गवद्भाव' है। उदाहरणार्थ सुबन्त का आमन्त्रित में अनुप्रवेश कर उसे 'पराङ्गवत्' माना है (२-१-२)। नागेश ने सभी तरह की पदविधियों को 'पदविधि' कहा है[1]।

---

१. केचित्तु पदोद्देश्यकः पदत्वसंपादको वा सर्वोऽपि विधिः पदविधिरेवेति। (महाभाष्य-प्रदीपोद्योत—२-१-१)।

च हरिणा—'सम्बन्धिशब्दसापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते। वाक्यवत्सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते ॥' इति। 'समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना। संस्पृश्यावयवांस्ते तु युज्यते तद्वता सह ॥' इति च। एतेन 'अयश्शूल' इति सूत्रे भाष्ये 'शिवस्य भगवतो भक्तः' इत्यर्थे शिवभागवत इत्यादि व्याख्यातम्। एकार्थीभावश्चायमलौकिकविग्रहवाक्ये कल्प्यते। यथा लादेशभूतशतृशानचोः अप्रथमासामानाधिकरण्यं कल्प्यते तद्वत्। अत एव 'लस्य अप्रथमा-समानाधिकरणेनार्थेनायोगादादेशानुपपत्तिः, तस्य क्वापि प्रयोगाभावादि'त्याक्षिप्य 'आदेशे सामानाधिकरण्यं दृष्ट्वा अनुमानाद् गन्तव्यं प्रकृतेरपि तद्भवति' इति 'लटश्शतृशानचौ' इति सूत्रभाष्ये समाहितम्। 'सिद्धानां शब्दानामन्वाख्यानात् पचन्तं देवदत्तं पश्ये'त्यादिप्रयोग-दर्शनात् स्थानिनोऽपि लस्य प्रक्रियार्थं कल्पितस्य 'अप्रथमासामानाधिकरण्यमनुमीयते' इति कैयटः। अत्र प्रक्रियार्थं कल्पितस्येत्युक्त्या अन्यस्यापि प्रक्रियार्थं कल्पितस्य बोधकत्वकल्पना सूचिता। अलौकिकविग्रहवाक्ये श्रूयमाणानां च शब्दानां क्लृप्तशक्तित्यागे मानाभावात् प्रत्येकशक्तिसहकृतया समुदायशक्त्या विशिष्टोपस्थितिः। ततश्च अयमेकार्थीभावः अजह-त्स्वार्था वृत्तिरिष्यते। वृत्तिविषये पदानां प्रत्येकमनर्थकत्वमाश्रित्य जहत्स्वार्था वृत्तिस्तु नाश्रयितुं युक्ता—महाबाहुः, सुपन्थाः इत्यादौ आत्त्वाद्यनापत्तेः, वृत्तौ महदादिशब्दानामनर्थक-त्वात् अर्थवद्ग्रहणसम्भवे अनर्थकस्य 'आन्महतः' इत्यादौ ग्रहणायोगात्। तदुक्तम्—'जह-त्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढिविरोधिनी।' इति अवयवार्थविरुद्धो यत्र समुदायार्थस्तत्रैव सेति

विशेष—उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि 'पदविधि' शब्द में लक्षणा मानकर समर्थ पदों अथवा संसृष्टार्थों या सम्बद्धार्थों के पदों की विधि को 'पदविधि' कहा गया है। इनके अन्तर्गत (१) कृदन्त, (२) तद्धित, (३) धातुसंज्ञा, (४) समास, तथा (५) एकशेष का समावेश होता है। इन पाँचों को 'वृत्ति' कहा गया है। तदनुसार धातुओं के साथ सुप्प्रत्यय संयुक्त होने पर निष्पन्न रूप (१) **'कृद्वृत्ति'** कहलाते हैं। प्रातिपादिक शब्दों से तद्धित प्रत्ययों को संयुक्त कर (२) **'तद्धितवृत्ति'** का बोध होता है। धातुओं से सन्-प्रत्यय आदि लगाकर निष्पन्न रूप (३) **धातुवृत्ति** के बोधक होते हैं। एक से अधिक पदों का समास करने पर समस्त पद (४) **समास-वृत्ति** की सार्थकता बताते हैं। समान रूप या अर्थ वाले अनेक शब्दों में से एक शब्द अवशिष्ट रहने पर सभी शब्दों का अर्थ प्रकट करने पर (५) **एकशेषवृत्ति** होती है।

परार्थ की अभिव्यक्ति वृत्ति द्वारा होती है[1]। उपर्युक्त वृत्तियाँ एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य के रहने पर ही सार्थक होती हैं। सामर्थ्य दो प्रकार का है—(१) **एकार्थीभाव** तथा (२) **व्यपेक्षारूप**। इन दोनों के सम्बन्ध में कैयट का यह मत है कि जहाँ—प्रधान अर्थ के लिए पद अपने अर्थ को गौण बना ले, या छोड़ दे, अथवा वे पद व्यर्थ हो जायँ या किसी दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करें—वहीं **एकार्थीभाव** होता है[2]। **व्यपेक्षावाद** में यह माना जाता है कि 'वाक्य में शब्द अपने अपने अर्थों का प्रतिपादन करते हुए भी आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति एवं तात्पर्यवश परस्पर सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं'[3]।

---

१. परार्थाभिधानं वृत्तिः।

२. यत्र पदान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि, निवृत्तस्वार्थानि वा, प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि, अर्थान्त-राभिधायीनि वा—स एकार्थीभावः। (म० भा० प्रदीप—२-१-१)।

३, परस्पराकाङ्क्षारूपाव्यपेक्षा। (म० भा० प्रदीप—२-१-१)।

श्रितो बोध्यः । (६४८) प्राक्कडारात्समासः २ । १ । ३ ॥ 'कडाराः कर्मधारये' (सू ७५१) इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते[1] । (६४९) सह सुपा २ । १ । ४ ॥

तदर्थः । यथा अश्वकर्णमण्डपादौ । विस्तरस्तु शब्देन्दुशेखरे मञ्जूषायां चानुसन्धेयः । समर्थः किम् ? पश्य कृष्णं, श्रितो राममित्रम् । अत्र कृष्णश्रितयोः परस्परान्वयाभावाद्विशिष्टैकार्थोपस्थित्यजनकत्वान्न सामर्थ्यम् ।

(६४८) प्राक्कडारात् । 'आकडारात्' इत्येव प्रागिति सिद्धे प्राग्ग्रहणमेकसञ्ज्ञाधिकारेऽपि अव्ययीभावादिसञ्ज्ञासमुच्चयार्थमिति भाष्ये स्पष्टम् । सम्पूर्वकस्य अस्यतेरेकीकरणात्मकः संश्लेषोऽर्थः । समस्यते अनेकं पदमिति समासः । 'अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्' इति कर्मणि घञ् । अत एव मूले समस्यते इति वक्ष्यते । तथा च अन्वर्थेयं संज्ञा ।

(६४९) सह सुपा । 'सुबामन्त्रिते' इत्यतः सुबित्यनुवर्तते । सुबन्तं सुबन्तेन सहो-

---

जैसे पानी में धूल मिल जाने पर दोनों पदार्थ एकाकार हो जाते हैं, उसी तरह एकार्थीभाव में भी पदार्थ एक से हो जाते हैं । उदाहरणार्थ 'राज्ञः पुरुषः' इस विग्रह-वाक्य में 'राज्ञः' पद राजार्थ को व्यक्त करता है तथा 'पुरुषः' शब्द पुरुष-शब्दार्थ को प्रकट करता है, किन्तु 'वृत्ति' (समास) में पद एकार्थक हो जाने के कारण 'राजपुरुषः' में 'राजन्' शब्द भी 'पुरुष' के विशेष प्रकार को बतलाता है । इस तरह दोनों का **एकार्थीभाव** होता है । सामान्यतया एकार्थीभाव में अवयवार्थ से युक्त समुदायार्थ की उपस्थिति भिन्न रूप में होती है । इसी कारण वैयाकरणों ने समास में पृथक् शक्ति मानी है[2] ।

(६४८) पद—प्राक्, कडारात्, समासः । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—"कडाराः कर्मधारये" (२–२–३८) से पूर्व समास-संज्ञा का अधिकार है ।

विवरण—अष्टाध्यायी में समास-विधायक शास्त्र की अवधि के सम्बन्ध में निर्वचन किया जारहा है । तदनुसार **"कडाराः कर्मधारये"** (२–२–३८) सूत्र से पहले समास-विधि का निरूपण पाणिनि ने **अष्टाध्यायी** में किया है । अधिकार-सूत्र होने के कारण "वाऽऽहिताग्न्यादिषु" २–२–३७ तक समास की अनुवृत्ति जायगी । अर्थात् यहाँ तक समास-विधायक शास्त्र की अवधि है ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'समासः' पद **'समास-संज्ञा'** का बोधक है न कि 'अनेक पदों का एक पद में परिवर्तित' होने का । समास-संज्ञा होने के पश्चात् यथाप्राप्त अव्ययीभावादि संज्ञायें भी होंगी । इस प्रकार दोनों संज्ञाओं के होने में प्रकृत-सूत्रस्थ **'प्राक्'** पद की आवृत्ति अपेक्षित है । आवृत्ति करने के फलस्वरूप 'प्राक्' तथा 'समासः' इन दोनों पदों का प्रभाव आगे के सूत्रों में रहता है[3] ।

(६४९) पद—सह, सुपा । **अनुवृत्ति**—समासः, सुप् । **(विधि) अधिकारसूत्र** ।

---

१. आवृत्त्या पूर्वं समाससंज्ञा, ततोऽव्ययीभावादि संज्ञेति संज्ञान्तरव्यापकत्व सिद्धिः । अन्यथा उपसर्ग-कर्मप्रवचनीय संज्ञावत् पर्यायेणैव संज्ञाद्वयं स्यात् ।

२. "समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत् ।
बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने ॥
स्यान्महद् गौरवं तस्माद् एकार्थीभाव आश्रितः । (वै० भू० सा० कारिका ३१–३२) ।

३. "प्राक् कडारात्" (२-१-३) इत्यतः प्राग्ग्रहणमावर्तते । तेन प्राक् समाससंज्ञा भवन्ति, तत्संज्ञाः सन्तोऽव्ययीभावादिसंज्ञका इत्यर्थात् तयोः समावेशः इति भाष्ये स्पष्टम् । अन्यथा आकडारत्वात् पर्यायः स्यात् ।

'सह' इति योगो विभज्यते। सुबन्तं समर्थेन सह समस्यते। योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वात्कतिपयतिङन्तोत्तरपदोऽयं समासः। स च छन्दस्येव। पर्यभूषयत्। अनुव्यचलत्। 'सुपा'। सुप्सुपा सह समस्यते। समासत्वात्प्रातिपदिकत्वम्। (६५०) सुपो धातु-

---

च्चारितं समाससंज्ञं भवतीति फलति। एवं सति पर्यभूषयदित्यादौ सुबन्तस्य तिङन्तेन समासो न स्यात्। तदाह--**सहेति योगो विभज्यत इति**। समाससञ्ज्ञाया अन्वर्थत्वादेकस्याप्रसङ्गात् सुपेत्येतावतैव सहेति सिद्धे तद्ग्रहणं योगविभागार्थमिति भावः। सहेत्यत्र 'सुबामन्त्रिते' इत्यतः सुबित्यनुवर्तते। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम्। 'समर्थः पदविधिः' इत्यतः समर्थग्रहणमनुवृत्तं तृतीयया विपरिणम्यते। तदाह--**सुबन्तमित्यादिना**। **समस्यत इति**। एकीक्रियते प्रयोक्तृभिरित्यर्थः। समाससञ्ज्ञां लभत इति यावत्। केचित्तु सुबन्तं कर्तृ समर्थेन समस्यते एकीभवतीत्यर्थः। कर्तरि लट्। 'उपसर्गादस्यत्यूह्योः' इत्यात्मनेपदम्। समासशब्दोऽपि कर्तरि बाहुलकाद् घञन्त एव, कर्मणि घञन्तो वा। तथा सति समस्यत इति कर्तरि तिङन्तं फलितार्थकथनपरमित्याहुः। ननु घटो भवतीत्यत्र समासे घटभवतीत्यपि लोके प्रयोगः स्यादित्यत आह---**योगविभागस्येति**। **कतिपयेति**। कतिपयानि तिङन्तानि उत्तरपदानि यस्येति विग्रहः। **पर्यभूषयदिति**। समासान्तोदात्तत्वे शेषनिघात इति 'कुगति' इति सूत्रे कैयटः। देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषयदित्यत्र तु स्वर-

---

मूलार्थ—'सह' पद को अलग कर इसका योगविभाग किया जाता है। सुबन्त का समर्थ के साथ समास होता है। योगविभाग की इष्टसिद्धि के लिए कुछ तिङन्त शब्दों के उत्तरपद रहने पर समास-विधि की जाती है। यह विधि वेद में ही होती है। जैसे—पर्यभूषयत्, अनुव्यचलत् इत्यादि।

विवरण—प्रकृत सूत्र में अधिकारवश 'समासः' पद तथा "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" (२-१-२) सूत्र से 'सुप्' पद अनुवृत्तिलभ्य हैं। अतः इन पदों को सम्मिलित कर तदन्तविधि होने पर सूत्र का यह अर्थ होता है कि 'सुबन्त शब्दों के साथ समर्थ सुबन्त शब्दों का समास हो'। तदनुसार 'राजपुरुषः' आदि शब्दों में समास होगा। किन्तु वेद में सुबन्त शब्दों के साथ तिङन्त का भी समास दिखाई पड़ता है, अतः भट्टोजी दीक्षित यह कल्पना करते हैं कि इस सूत्र को दो सूत्रों में विभक्त कर दिया जाय—(१) **सह** तथा दूसरा (२) **सुपा**। पहले सूत्र के **'सह'** अंश में **'सुप्'** पद की अनुवृत्ति करने से यह अर्थ होगा कि 'सुबन्त' शब्दों का समर्थ शब्दों के साथ समास होता है'। समर्थ शब्द तिङन्त भी होते हैं, अतः सुबन्त और तिङन्त का भी समास सिद्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप 'परि' तथा 'अभूषयत्' का समास होने पर एक पद हो गया। यण्-सन्धि करने पर 'पर्यभूषयत्' रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'वि' 'अचलत्' का पहले समास करने के पश्चात् 'अनु' का 'व्यचलत्' के साथ समास होने पर यण्-सन्धि होने के पश्चात् 'अनुव्यचलत्' रूप निष्पन्न होता है। इन दोनों शब्दों में समास होने का फल 'समासस्य'–६.१.२२३ (वेद में) अन्तोदात्त का होना है। जिसके फलस्वरूप अन्य वर्ण अनुदात्त होते हैं। यह योगविभाग इष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिये किया गया है।

द्वितीय अंश **'सुपा'** में भी पूर्व सूत्र से **'सुप्'** की अनुवृत्ति आने से सुबन्त शब्दों का समर्थ-सुबन्त शब्दों के साथ समास होता है। यह मूलार्थ में बताया जा चुका है।

विशेष—(१) पूर्व सूत्र २–१–२ से अनुवृत्त 'सुप्' पद केवल एक पद का ही बोधक है, अतः अनेक सुबन्तों का एक साथ समास होना अभीष्ट नहीं है। इसके फलस्वरूप 'महिष्याः अजायाश्च क्षीरम्' में सुबन्त-समुदाय ('महिषी' तथा 'अजा') का 'क्षीर' शब्द के साथ समास नहीं होता।

प्रातिपदिकयोः २।४।७१॥ एतयोरवयवस्य सुपो लुक् [स्यात्। 'भूतपूर्वे चरट्' (सू १९९९) इति निर्देशाद् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः[1]। पूर्वं भूतो भूतपूर्वः। 'इवेन

व्यत्ययो बोध्यः। **अनुव्यचलदिति**। अचलदित्ययेन वेः पूर्वं समासे सति तेन अनोः समासः, न त्वनुव्योर्युगपत्समासः, सुबित्येकत्वस्य विवक्षितत्वात्। अत एव महिष्या अजायाश्च क्षीरमित्यत्र क्षीरशब्देन सुबन्तयोर्न समास इति कैयटः। **सुपा**। 'सुबामन्त्रिते' इत्यतः सुबित्यनुवर्तते। समास इत्यधिकृतम्। तदाह—**सुप्सुपेति**। सुबन्तं सुबन्तेनेत्यर्थः। ततश्च पूर्वं भूत इति विग्रहे समाससञ्ज्ञा स्थिता। **समासत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञेति**। 'कृत्तद्धित-समासाश्च' इत्यनेनेति शेषः।

(६५०) **सुपो धातु**। धातुप्रातिपदिकयोरित्यवयवषष्ठीत्याह—**एतयोरवयवस्येति**। **लुक् स्यादिति**। 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुक्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। न च सुप इत्यनेन सप्तमीबहुवचनस्यैव ग्रहणं किं न स्यादिति वाच्यम्, 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्यलुग्विधानात् सुप्प्रत्याहारस्यैवात्र ग्रहणमिति ज्ञापनात्। न चैवमपि पूर्वं भूत इति लौकिकविग्रहवाक्ये परिनिष्ठितसन्धिकार्ययोः सुबन्तयोः समासे सति पूर्वमित्यत्र अमि पूर्व-रूपस्य एकादेशस्य परादित्वमाश्रित्य अमो लुकि समासदशायां वकारादकारो न श्रूयेत। पूर्वान्तत्वे तु परिशिष्टस्य मकारस्य सुप्त्वाभावात् कथं लुगिति वाच्यम्, 'सुपो धातु' इति लुग्विषये 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते' इत्याश्रित्य सन्धिकार्यप्रवृत्तेः प्रागेवालौकिकविग्रहवाक्ये समासप्रवृत्तिरिति 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति सूत्रभाष्ये स्थितम्। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यत्र प्रौढमनोरमायामपि परिष्कृतमिदम्। 'मस्त्रैषा' इति सूत्र-व्याख्यावसरे प्रपञ्चितं चास्माभिः। एवञ्च पूर्वं अम् भूत सु इत्यलौकिकविग्रहदशायामेव अमो लुक्प्रवृत्तेर्नोक्तदोषः। तथा च सुपो लुकि भूतपूर्वेति स्थितम्। ननु 'सुबन्तं सुबन्तेन समस्यते' इति समासशास्त्रे सुबन्तं प्रथमानिर्दिष्टम्। सुबन्तत्वं च द्वयोरप्यविशिष्टम्। ततश्च 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति वक्ष्यमाणोपसर्जनत्वस्य द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् 'उप-सर्जनं पूर्वम्' इत्यन्यतरस्य पूर्वनिपाते विनिगमनाविरह इत्यत आह—**भूतपूर्वे चरडिति**।

---

(६५०) पद—सुपः, धातुप्रातिपदकयोः। **अनुवृत्ति**—लुक्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुप् का लोप होता है। "भूतपूर्वे चरट्" (५-३-११९) इस निर्देश से 'भूत' शब्द की पूर्व में स्थिति होती है।

उदा०—पूर्वं भूतः> भूतपूर्वः। (वार्तिक) 'इव' के साथ समास होने पर विभक्ति का लोप न हो। **उदा०** जीमूतस्येव।

विवरण—समास होने के पूर्व विग्रहावस्था में पदों की सुप्-विभक्तियों के हटाने की व्यवस्था की जा रही है। सूत्र में कोई विधिसूचक पद नहीं है। उसकी पूर्ति अनुवृत्ति द्वारा होती है। अतः "ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः" (२-४-५८) सूत्र से 'लुक्' पद का लाभ होता है। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि 'धातु और प्रातिपदिक के (धातुश्च प्रातिपदिकं च, तयोः) अवयव-स्वरूप सुप्-विभक्तियों का लोप हो'। **उदाहरण—भूतपूर्वः। लौकिक विग्रह-पूर्वं भूतः। अलौकिक विग्रह**—पूर्व+अम्, भूत+सु। इस स्थिति में "सह सुपा" (२-१-४) से समास होने पर

---

१. अन्येष्वपि सूत्रेषु पाणिनिना 'भूत' शब्दस्यैव पूर्वं प्रयोगः कृतः। तथाहि—"पूर्वे भूतपूर्वे" (६-२-२२), "गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे" (५-२-१८)।

समासो विभक्त्यलोपश्च' (वा १२३६, १३४१)। जीमूतस्येव। (६५१) अव्ययीभावः २।१।५॥ अधिकारोऽयम्। (६५२) अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्धचर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्त-

---

पूर्वं भूत इति। लौकिकविग्रहोऽयम्। पूर्वमिति क्रियाविशेषणम्। **भूतपूर्व इति।** समासत्वेन प्रातिपदिकत्वात् समुदायात् पुनर्यथायथं सुबुत्पत्तिरिति भावः। **इवेनेति।** इवेत्यव्ययेन सुबन्तस्य समासः। 'सुपो धातु' इति लुगभावः। पूर्वपदस्य प्रकृतिसिद्धस्वरश्च भवति, न तु समासस्वर इति वक्तव्यमित्यर्थः। 'सह सुपा' इति सिद्धे समासविधानमिवशब्दस्य पूर्वनिपातनिवृत्त्यर्थम्। अन्यथा अत्र इवशब्दस्यापि सुबन्तत्वाविशेषात् समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वेनोपसर्जनत्वात् पूर्वनिपातः स्यात्। **जीमूतस्येवेति।** अत्र जीमूतशब्दस्य पूर्वपदस्य फिट्स्वरेणान्तोदात्तत्वमेव, न तु समासस्येत्यन्तोदात्तत्वम्। अत्र यथार्थत्वप्रयुक्तोऽव्ययीभावस्तु न, 'तत्र तस्येव' इति निर्देशात्। क्वाचित्कश्चायं समासः। अत एव बह्वृचा एव पदपाठे अवगृह्णन्ति। याजुषास्तु भिन्ने एव पदे पठन्ति। 'उद्बाहुरिव वामनः' इत्यादिव्यस्तप्रयोगाश्च सङ्गच्छन्ते। 'हरीतकीं भुङ्क्ष्व राजन् मातेव हितकारिणीम्' इत्यत्र तु मातरमिवेति भवितव्यम्। 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' 'अभिहिते प्रथमा' इति वार्तिकस्वारस्येन प्रथमायाः कारकविभक्तित्वोक्तिपरभाष्येण च क्रियायोग एव प्रथमायाः प्रवृत्त्या मातेति प्रथमायाः मातृसदृशीमित्यर्थे असाधुत्वादित्यास्तां तावत्।

(६५१) अव्ययीभावः। अधिकारोऽयमिति। एकसञ्ज्ञाधिकारेऽपि अनया सञ्ज्ञया समाससञ्ज्ञा न बाध्यन्ते इति 'प्राक्कडारात्' इत्यत्रोक्तम्।

(६५२) अव्ययं विभक्ति। विभक्त्यर्थाद्यभावेऽप्यपदिशमित्यादि साधयितुमाह—**अव्यय-**

दोनों सुबन्त-पदों की विभक्तियों का प्रकृत सूत्र से लोप होकर यथाप्राप्त 'पूर्व-भूत' स्थिति में 'भूत' शब्द की पूर्वत्र स्थिति होने के लिए "भूतपूर्वे चरट्" (५-३-५३) सूत्र प्रमाण रूप में बतलाया जा रहा है। अतः 'भूतपूर्व+सु' (समास-संज्ञा होने के फलस्वरूप "कृत्तद्धितसमासाश्च" १-२-४६ से प्रातिपदिक संज्ञा, विभक्ति) >भूतपूर्व+र् (स् = र्) >भूतपूर्वः (र् = :)। **(वार्तिक)** विवरण—प्रकृत वार्तिक 'इव' के साथ समर्थ सुबन्त का समास-विधान करता है। इसके साथ ही प्रातिपदिक की अवयव-स्वरूप विभक्तियों के लोप का निषेध भी करता है। **उदाहरण—जीमूतस्येव** (बादल की तरह)। **लौकिक विग्रह**—जीमूतस्य इव। **अलौकिक**—जीमूत+ङस्, +इव। प्रकृत वार्तिक से 'जीमूत' शब्द की विभक्ति का लोप न होने से समास होने के पश्चात **'जीमूतस्य+इव'**—इस स्थिति में गुण-सन्धि होकर **'जीमूतस्येव'** रूप निष्पन्न होता है।

(६५१) पद—अव्ययीभावः। **अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ—इसका अधिकार है।

विवरण—यह अधिकार-सूत्र है। इसका अधिकार-क्षेत्र "तत्पुरुषः" (२-१-२२) सूत्र के पूर्व तक है। अतः "अन्य पदार्थे च सञ्ज्ञायाम्" (२-१-२१) सूत्र-पर्यन्त होने वाले समास **'अव्ययीभाव'**—संज्ञक होंगे।

विशेष—अव्ययीभाव समास में प्रायः पूर्व पद (अव्यय) प्रधान होता है[1]।

(६५२) पद—अव्ययं, विभक्ति···वचनेषु। **अनुवृत्ति**—सह सुपा, सुप्, समासः, अव्ययीभावः। **विधि (संज्ञा) सूत्र।**

---

१. प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः।

वचनेषु २।१।६॥ 'अव्ययम्' इति योगो विभज्यते। अव्ययं समर्थेन सह समस्यते। सोऽव्ययीभावः। (६५३) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३॥ समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात्। (६५४) उपसर्जनं पूर्वम् २।२।

मिति योगो विभज्यत इति। अत्र 'समर्थः पदविधिः' इत्यतः समर्थग्रहणमनुवृत्तं तृतीयान्ततया विपरिणम्यते। समास इति अव्ययीभाव इति चाधिकृतम्। तदाह—**अव्ययं समर्थेनेति। सोऽव्ययीभाव इति।** स समासः अव्ययीभावसंज्ञः स्यादित्यर्थः। तथा च दिशयोर्मध्यमित्यस्वपदविग्रहे मध्यार्थकस्य अपेत्यव्ययस्य दिशयोरित्यनेन समाससंज्ञा। तस्य समासस्याव्ययीभावसंज्ञा च सिद्धा। तथा च समासत्वात् प्रातिपदिकत्वे 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि सति दिशा अप इति स्थितम्।

(६५३) अत्र उपसर्जनकार्यं वक्ष्यन्नुपसर्जनसंज्ञामाह—**प्रथमानिर्दिष्टम्।** ननु समासे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनम् इति व्याख्याने असम्भवः, समासे सति 'सुपो धातु' इति प्रथमाया लुप्तत्वात्। समासे चिकीर्षिते प्रथमानिर्दिष्टम् इति व्याख्याने तु कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः इत्यत्र विग्रहे कृष्णशब्दस्य द्वितीयानिर्दिष्टत्वादुपसर्जनत्वं न स्यात्। श्रितशब्दस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वादुपसर्जनत्वं स्यात्। अतो व्याचष्टे—**समासशास्त्रे इति।** समासपदं समासविधायकशास्त्रपरमिति भावः। एवञ्च 'द्वितीया श्रित' इति समासविधायकशास्त्रे द्वितीयान्तस्यैव

मूलार्थ—सूत्र में 'अव्ययम्' यह अंश पृथक् है। अव्यय का समर्थ (सुबन्त) के साथ समास होता है और उसे अव्ययीभाव कहा जाता है।

विवरण—प्रकृत सूत्र में दो पद हैं—(१) अव्ययम् तथा दूसरा (२) विभक्ति···वचनेषु। दूसरे पद में समस्यमान अव्ययों के अपेक्षित १६ अर्थ परिगणित किये गये हैं। इस लम्बे पद का समास इस प्रकार है—विभक्तिश्च, समीपं च, समृद्धिश्च, व्यृद्धिश्च, अर्थाभावश्च, अत्ययश्च, असम्प्रति च, शब्दप्रादुर्भावश्च, पश्चात् च, यथा च, आनुपूर्व्यञ्च, यौगपद्यं च, सादृश्यं च, सम्पत्तिश्च, साकल्यं च, अन्तश्च इति विभक्ति···साकल्यान्ताः, ते वचनाश्च, तेषु (द्वन्द्वगर्भित कर्मधारय)। तदनुसार विभक्त्यादि सोलह अर्थों में वर्तमान अव्यय (अव्ययम्) समर्थ सुबन्त के साथ ("सह सुपा"—२-१-४ की अनुवृत्ति होने के कारण) समास को प्राप्त होता है ("प्राक् कडारात् समासः"—२-१-२ का अधिकार होने से 'समासः' की अनुवृत्ति), और उस समस्त पद को ("अव्ययीभावः" २-१-५ से अनुवृत्ति आने के कारण) 'अव्ययीभाव' कहा जाता है। भट्टोजी दीक्षित ने इस प्रकार अर्थ करने में प्रकृत सूत्र को विभक्त करने की युक्ति दी है। उनके अनुसार (१) प्रथम अंश 'अव्ययम्' का अर्थ यह होगा कि 'अव्ययसंज्ञक शब्दों का समर्थ सुबन्त के साथ समास हो तथा वह अव्ययीभाव संज्ञक भी हो'। अवशिष्ट द्वितीय अंश में पूर्व अंश 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति तथा उपर्युक्त अन्य पदों की अनुवृत्ति करने पर 'विभक्त्यादि अर्थों में अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ (तृतीयान्त विपरिणाम) समास होने पर अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

(६५३) पद—प्रथमानिर्दिष्टं, समासे, उपसर्जनम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—समासशास्त्र में प्रथमाविभक्ति से निर्देश किया हुआ पद उपसर्जनसंज्ञक होता है।

प्रसङ्गसङ्गति—समस्यमान पदों में पौर्वापर्य की व्यवस्था करने हेतु प्रकृत सूत्र का औचित्य बताया जा रहा है।

विवरण—'उपसर्जनम्'—**संज्ञा है,** तथा 'समासे प्रथमानिर्दिष्टम्'—**संज्ञी है।** सूत्र में 'समासे' पद लक्षणा से समास-विधायक शास्त्र (सूत्र) का बोधक है। तदनुसार समास-विधायक

३० ॥ समासे उपसर्जनं प्राक्प्रयोज्यम् । (६५५) एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १ । २ । ४४ ॥ विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यात्, न तु तस्य पूर्वनिपातः ।

कृष्णशब्दस्य द्वितीयेति प्रथमानिर्दिष्टत्वादुपसर्जनत्वम् । एवञ्च 'अव्ययम्' इति समासविधावपेत्यस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वादुपसर्जनत्वं स्थितम् ।

(६५४) **उपसर्जनं पूर्वम्** । 'प्राक्कडारात् समासः' इत्यधिकृतम् । समास इति प्रथमान्तं योग्यतया सप्तम्यन्तं विपरिणम्यते । तदाह—**समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यमिति** । पूर्वमित्यस्य पूर्वं प्रयोज्यमित्यर्थं इति भावः । एवञ्च प्रकृते अपेत्यस्य पूर्वं प्रयोगनियमः सिद्धः । अपदिशा इति स्थितम् ।

(६५५) अत्र दिशाशब्दस्यापि उपसर्जनत्वमाह—**एकविभक्ति** । 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्यतः समास इति उपसर्जनमिति चानुवर्तते । समास इत्यनेन विग्रहवाक्यं लक्ष्यते । एकैकं विभक्तिर्यस्य तदेकविभक्ति, नियतविभक्तिकमिति यावत् । एवञ्च विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तत्पूर्वनिपातभिन्नकार्ये कर्तव्ये उपसर्जनं स्यादित्यर्थः । फलितमाह—**विग्रहे यन्नियतेति** । निष्कौशाम्बिशब्द उदाहरणम् । तत्र कौशाम्ब्याः निष्क्रान्तः, निष्क्रान्तं, निष्क्रान्तेन, निष्क्रान्ताय, निष्क्रान्तात्, निष्क्रान्तस्य, निष्क्रान्ते इति विग्रहेषु 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासे निष्कौशाम्बिः, निष्कौशाम्बि, निष्कौशाम्बिना इत्यादि—इति स्थितिः । अत्र कौशाम्बीशब्द एव विग्रहे नियतविभक्तिक इति तस्योपसर्जनत्वमनेन भवति । समासशास्त्रे कौशाम्बीशब्दस्य पञ्चमीनिर्दिष्टत्वमेव, न तु प्रथमानिर्दिष्टत्वमिति 'प्रथमानिर्दिष्टम्' इत्यनेनोपसर्जनत्वाऽप्राप्तौ वचनम् । तत्र कौशाम्बीशब्दस्य अनेन उपसर्जनत्वेऽपि न पूर्वनिपातः । तत्तद्विभक्तयन्तैरेव समास इत्यत्र इदमेव प्रमाणम् ।

सूत्र में जो प्रथमाविभक्त्यन्त पद होगा तद्बोध्य अर्थ के (लक्ष्यस्थ) वाचक शब्द की **उपसर्जन** संज्ञा होता है । (उदाहरणार्थ 'राजपुरुषः' में "षष्ठी" सूत्र से तत्पुरुष-समास होता है । यहाँ समास-विधायक सूत्र में प्रथमान्त 'षष्ठी' पद है । तद्-बोध्य अर्थ का वाचक लक्ष्यस्थ पद 'राजन् +अस्' (राज्ञः) है, वह उपसर्जन-संज्ञक होगा) । उपसर्जन-संज्ञा होने से उस शब्द की स्थिति पूर्व में होती है, यह आगे बतलाया जा रहा है ।

(६५४) पद—उपसर्जनं, पूर्वम् । **अनुवृत्ति**—समासः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—समास में उपसर्जन का प्रयोग पहले होता है ।

विवरण—"प्राक् कडारात् समासः" (२–१–३) सूत्र द्वारा अधिकार-लभ्य प्रथमान्त 'समासः' पद सप्तमी-विभक्ति में विपरिणमित होता है । इसके फलस्वरूप सूत्रार्थ यह होगा कि 'समास में उपसर्जन-संज्ञक शब्द का प्रयोग पहले होता है' ।

(६५५) पद—एकविभक्ति, च, अपूर्वनिपाते । **अनुवृत्ति**—समासे, उपसर्जनम् । **संज्ञासूत्र (विधिनिषेध)** ।

मूलार्थ—विग्रह में जो नियत-विभक्त्यन्त पद हो, उसकी 'उपसर्जन' संज्ञा तो होती है, किन्तु वह पहले नहीं रखा जाता ।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिये पूर्व सूत्र "प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्" (१–२–४३) से 'समासः' तथा 'उपसर्जनम्' पद अनुवृत्त होते हैं । अनुवृत्त 'समासः' पद विग्रह-वाक्यार्थ का बोधक है तथा सूत्रस्थ 'एक' पद निश्चयार्थक है । अतः सूत्र का यह आशय है कि 'विग्रह-वाक्य में निश्चित विभक्ति वाले पद की भी (च) '**उपसर्जन**' संज्ञा होती है, किन्तु उसकी पूर्वत्र

(६५६) गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १ । २ । ४८ ॥ उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् । 'अव्ययीभावश्च' (सू ४५१) इत्यव्ययत्वम् ।

(६५७) नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः २ । ४ । ८३ ॥ अदन्तादव्ययीभावात्सुपो

'तुल्यार्थैः' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टमिदम् । प्रथमान्तपदेनैव समास इति 'अनेकम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टमिदम् । प्रथमान्तपदेनैव समास इति 'अनेकम्' इति सूत्रे भाष्ये स्थितम् । प्रकृते च दिशयोर्मध्यः, मध्यं, मध्येनेत्यादिविग्रहवाक्येषु दिशाशब्दस्य नियतविभक्तिकत्वात् समासविधौ प्रथमानिर्दिष्टत्वाभावेऽपि अनेनोपसर्जनत्वं भवति । पूर्वनिपातस्तु न भवतीति स्थितम् ।

(६५६) गोस्त्रियोः । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इत्यतः ह्रस्व इति प्रातिपदिकस्येति चानुवर्तते । उपसर्जनस्येति गोस्त्रियोर्विशेषणम् । प्रत्येकाभिप्रायमेकवचनम् । स्त्रीशब्देन स्त्रीप्रत्ययो गृह्यते । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तविधिः । उपसर्जनभूतस्य गोशब्दस्य स्त्रीप्रत्ययान्तस्य चेति लभ्यते । तदुभयं प्रातिपदिकस्य विशेषणम् । तदन्तविधिः । तदाह—उपसर्जनमित्यादिना । अत्र च शास्त्रीयमेवोपसर्जनं गृह्यते, न त्वप्रधानमात्रम्, कुमारीमिच्छन् कुमारीवाचरन् वा ब्राह्मणः कुमारीत्यत्रातिप्रसङ्गात् ।

(६५७) अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वमिति । तथा च अव्ययीभावसमासादुत्पन्नानां

स्थिति नहीं रहती' । इसका उदाहरण आगे 'निष्कौशाम्बिः' दिया गया है । जिसमें 'कौशाम्बी' पद नियतविभक्तिक है, क्योंकि विग्रह-वाक्य'निष्क्रान्तः, निष्क्रान्तं, निष्क्रान्तेन,निष्क्रान्ताय, निष्क्रान्तात्, कौशाम्ब्याः' में पूर्वपद अनेक विभक्तियुक्त हो सकता है, किन्तु 'कौशाम्बी' पद पञ्चमी-विभक्ति में निश्चित है । अतः उसकी उपसर्जन संज्ञा हुई किन्तु उसका पूर्व-निपात नहीं हुआ । इसका फल आगे के सूत्र में बताया जा रहा है ।

(६५६) पद—गोस्त्रियोः, उपसर्जनस्य । **अनुवृत्ति**—ह्रस्वः, प्रातिपदिकस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपसर्जन गो-शब्दान्त (प्रातिपदिक) तथा उपसर्जन स्त्री-प्रत्ययान्त (प्रातिपदिक) को ह्रस्व होता है । "अव्ययीभावश्च" सूत्र से अव्ययीभाव संज्ञा हुई ।

विवरण—सूत्र में विधिबोधक पदों का लाभ अनुवृत्ति-द्वारा हुआ है । इस हेतु "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" (१–२–४७) सूत्र से 'ह्रस्वः' तथा 'प्रातिपदिकस्य' इन दो पदों की अनुवृत्ति से सूत्रार्थ पूर्ण होता है । इसके अतिरिक्त तदन्तविधि होकर सूत्रस्थ 'स्त्री' शब्द से 'स्त्री-प्रत्ययान्त' अर्थ का बोध होगा । 'उपसर्जनसंज्ञक गो' एवं 'स्त्री-प्रत्ययान्त' शब्द-समुदाय भी अनुवृत्तिलभ्य 'प्रातिपदिकस्य' पद के विशेषण हैं, अतः उनमें भी तदन्तविधि अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'जिस प्रातिपदिक के अन्त में उपसर्जन-संज्ञक 'गो' शब्द अथवा 'स्त्री-प्रत्ययान्त' शब्द हो, उसे ह्रस्व हो' । "अलोऽन्त्यस्य" (१–१–५२) परिभाषा के अनुसार यह ह्रस्व विधान अन्तिम स्वर के स्थान में होगा । पूर्व सूत्रस्थ उदाहरण 'निष्कौशाम्बिः' में प्रकृत सूत्र में 'कौशाम्बी' शब्द को ह्रस्व हुआ है ।

अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा होती है । यह विषय अव्यय-प्रकरणस्थ "अव्ययीभावश्च" (१–१–४१) के प्रसङ्ग में बतलाया जा चुका है ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'उपसर्जन' पद का लौकिक अर्थ विशेषण नहीं लिया जाता है । केवल शास्त्रीय अर्थ (संज्ञा-रूप) ही ग्राह्य है ।

(६५७) पद—न, अव्ययीभावात्, अतः, अम्, तु, अपञ्चम्याः । **अनुवृत्ति**—सुपः लुक् । **विधि(निषेध)सूत्र ।**

न लुक्, तस्य तु पञ्चमीं विना अमादेशश्च स्यात्। दिशयोर्मध्येऽपदिशम्। 'क्लीबाव्ययं त्वपदिशं दिशोर्मध्ये विदिक् स्त्रियाम्—इत्यमरः। (६५८) तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्

सुपाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुक् स्यादिति शङ्कायामाह—**नाव्ययीभावात्**। 'अम् तु अपञ्चम्या' इति छेदः। 'नाव्ययीभावादतः' इत्येकं वाक्यम्। 'ण्यक्षत्रियार्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते। 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यतः सुप इति च। अता अव्ययीभावो विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—**अदन्तादव्ययीभावात् सुपो न लुगिति**। 'अम् तु अपञ्चम्या' इति वाक्यान्तरम्। पञ्चमीभिन्नस्य तु सुपः अमादेशः स्यात्। पञ्चम्यास्तु अम् न भवतीति लभ्यते। तदाह—**तस्य पञ्चमीं विना अमादेश इति**। अत्रापञ्चम्या इति प्रतिषेधोऽयम् अनन्तरत्वादम एव भवति, न तु लुङ्निषेधस्यापि। एवञ्चादन्तादव्ययीभावात् परस्य सुपो न लुक्, किन्त्वमादेशः। पञ्चम्यास्तु लुक् अमादेशश्च न भवतीति स्थितिः। सूत्रे एतत्सूचनार्थमेव 'तु' शब्दः। 'अव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इत्येवोक्तौ तु अदन्तादव्ययीभावात् परस्य पञ्चमीभिन्नस्य सुपः लुकोऽपवादः अमादेशः स्यादित्येव लभ्यते। एवं सति पञ्चम्या अमोऽभावे 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुक् स्यात्। अतो लुङ् निषिध्यत इत्यास्तां तावत्। **अपदिशमिति**। पञ्चमीभिन्नविभक्तीनामुदाहरणम्। पञ्चम्यास्तु अपदिशादित्युदाहार्यम्। यद्यपि नपुंसकह्रस्वत्वेनाप्येतत् सिध्यति, 'अव्ययीभावश्च' इति नपुंसकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तथापि 'गोस्त्रियोः' इति सूत्रं 'चित्रगुः, अतिखट्वः' इत्याद्यर्थमावश्यकमिति इहापि न्याय्यत्वादुपन्यस्तम्। तदेवमव्ययमिति भाष्यादृष्टेनापि योगविभागेन अपदिशमिति रूपसाधनं वृद्धसंमतमित्याह—**क्लीबाव्ययमिति**।

(६५८) तृतीया। 'नाव्ययीभावात्' इत्यस्मात् अत इत्यनुवर्तते तदाह—**अदन्ता-**

मूलार्थ—ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभाव से उत्तर सुप् (विभक्ति) का लोप नहीं होता, किन्तु पञ्चमी को छोड़ कर (अन्य विभक्तियों में) उसके स्थान में 'अम्' आदेश होता है। उदाहरण—दिशयोः मध्ये>अपदिशम् (दो दिशाओं के बीच का भाग)। नपुंसक लिङ्ग में 'अपदिशम्' अव्यय है। 'विदिश्' शब्द का प्रयोग स्त्री-लिङ्ग में होता है' (अमरकोष)।

विवरण—अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा होने के फलस्वरूप "अव्ययादाप् सुपः" (२-४-८२) सूत्र से 'सुपः' तथा "ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः" (२-४-५८) से 'लुक्' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि 'ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभाव समास से उत्तरवर्ती 'सुप' का 'लुक्' (लोप) नहीं होता, किन्तु उसी 'सुप्' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है।' इसके साथ ही यह 'अम्' आदेश पञ्चमी-विभक्ति में नहीं होता है (अपञ्चम्याः)। **उदाहरण—अपदिशम्** (दो दिशाओं का मध्यभाग)। **लौकिक अस्वपद-विग्रह**—दिशयोः मध्ये। **अलौकिक स्वपद-विग्रह**—दिशा+ओस्, अप (मध्ये)। **प्रक्रिया**—"अव्ययम्०" (२-१-६) सूत्र से समास ('अप' की उपसर्जन संज्ञा, उसकी पूर्व स्थिति), यहाँ पर "एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते" (१-२-४४) सूत्र से 'दिशा' की उपसर्जन संज्ञा होने के फलस्वरूप "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१-२-४८) से ह्रस्व होकर विभक्ति आने पर 'अपदिश+सु'—इस स्थिति में अव्यय-संज्ञा होकर पूर्वसूत्र से प्राप्त विभक्ति-लोप का निषेध होकर प्रकृत सूत्र से 'सु' के स्थान पर अम् (अपदिश+अम्) तथा "अमि पूर्वः" प्रकृतिभाव होकर **'अपदिशम्'** रूप निष्पन्न होता है। **अमरकोष** के अनुसार भी 'अपदिशम्' नपुंसकलिङ्ग में अव्ययवाची शब्द है। इसी के पर्यायवाची 'विदिश्' शब्द का प्रयोग स्त्री-लिङ्ग में होता है। पञ्चमी-विभक्ति में 'अपदिशात्' रूप होगा।

२।४।८४॥ अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात्। अपदिशम्-अपदिशेन। अपदिशम्-अपदिशे। बहुलग्रहणात् सुमद्रम्, उन्मत्तगङ्गम् इत्यादौ सप्तम्याः नित्यमम्भावः। 'विभक्ति' इत्यादेरयमर्थः। विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह समस्यते, सोऽव्ययीभावः। विभक्तौ तावत्—हरौ इत्यधिहरि। सप्तम्यर्थस्यैवात्र द्योतकोऽधिः। हरि ङि अधि इत्यलौकिकं विग्रहवाक्यम्। अत्र निपातेनाभिहितेऽप्यधिकरणे वचन-

---

दिति। अमादेशाभावे तु 'नाव्ययीभावात्' इत्यलुक्। ननु वेति सिद्धे किं बहुलग्रहणेनेत्यत आह—बहुलग्रहणादिति। तदेवमव्ययमिति योगं विभज्य व्याख्याय तदुत्तरखण्डं व्याख्यातुमुपक्रमते—विभक्तीत्यादेरयमर्थं इति। विभक्तीत्यनेन विभक्त्यर्थो विवक्षितः। उच्यन्त इति वचनाः। कर्मणि ल्युट्। विभक्ति, समीप, समृद्धि, व्यृद्धि, अर्थाभाव, अत्यय, असम्प्रति, शब्दप्रादुर्भाव, पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य, अन्त एतेषां षोडशानां द्वन्द्वः। ते च ते वचनाश्च इति विग्रहः। विभक्त्यर्थादिषु वाच्येष्वित्यर्थः। अव्ययमित्यनुवर्तते। अव्ययीभावः, समास इति चाधिकृतम्। तदाह—विभक्त्यर्थादिष्विति। विभक्तौ तावदिति। विभक्त्यर्थे प्रथममुदाह्रियत इत्यर्थः। हरौ इत्यधिहरीति। हरौ इति लौकिकविग्रहः। तेन यावदवगम्यते तावदेवाधिहरीति समासेनाप्युच्यत इत्यर्थः। अधिशब्दस्य हरावित्यनेन अव्ययीभावसमासे सुब्लुकि समासविधावव्ययमिति प्रथमानिर्दिष्टत्वात् अधेः पूर्वनिपाते समासादुत्पन्नस्य सुपः 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुगिति भावः। ननु लौकिकविग्रहे समस्यमानः अधिशब्दः कुतो नोपात्त इत्यत आह—सप्तम्यर्थस्यैवात्र द्योतकोऽधिरिति। तथा चाधिद्योत्यार्थस्य अधिकरणत्वस्य सप्तम्यैव उक्तत्वात् अधिशब्दो न पृथगुपात्तः, नित्यसमासताया वक्ष्यमाणत्वेन स्वपदविग्रहानौचित्यादिति भावः। ननु हरौ इति परिनिष्ठितसन्धिकार्यस्य समासे सति औ इत्यस्य सुपो लुकि समासे रेफादिकारः कुतः श्रूयेतेत्यत आह—हरि ङि इति। सन्धिकार्यात् प्रागलौकिकविग्रहवाक्य

---

(६५८) पद—तृतीयासप्तम्योः, बहुलम्। अनुवृत्ति—अव्ययीभावात्, अतः, अम्। विधि-(विकल्प)-सूत्र।

मूलार्थ—ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभाव से उत्तर तृतीया एवं सप्तमी को विकल्प से 'अम्' आदेश होता है। **उदा०**—अपदिशम्–अपदिशेन। अपदिशम्–अपदिशे। सूत्र में 'बहुल' ग्रहण करने से 'सुमद्रम्', 'उन्मत्तगङ्गम्' इत्यादि स्थलों में सप्तमी को नित्य 'अम्' आदेश हो गया। ("अव्ययम्०" इत्यादि सूत्रस्थ) 'विभक्ति' इत्यादि शब्द-समुदाय का यह अर्थ है कि 'विभक्त्यर्थादि में विद्यमान अव्ययों का सुबन्त के साथ समास होता है और वह 'अव्ययीभाव' संज्ञक भी होता है। (उनके क्रमशः) उदाहरण—विभक्त्यर्थ में हरौ>अधिहरि। यहाँ पर 'अधि' सप्तम्यर्थ का द्योतक है। **अलौकिक** विग्रह वाक्य—'हरि+ङि (अधि)'। यहाँ पर 'अधि' निपात से अधिकरण अर्थ उक्त होने पर भी समास-विधायक शास्त्र में 'विभक्ति' ग्रहण करने के फलस्वरूप (वचन-सामर्थ्यात्) सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ।

विवरण—पूर्व सूत्र से प्राप्त विभक्तियों के स्थान पर होने वाले नित्य 'अम्' आदेश का तृतीया और सप्तमी विभक्तियों में वैकल्पिक विधान किया जा रहा है। सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये "नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः" (२-४-८३) सूत्र से 'अतः' 'अव्ययीभावात्' तथा 'अम्' इन तीन पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इन पदों की अनुवृत्ति करने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित

एव समासप्रवृत्तेः 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति भाष्यसंमतत्वादिति भावः। यथा चैतत् तथा 'भूतपूर्वः' इत्यत्रानुपदमेवोक्तम्। नन्वधिना निपातेनाधिकरणत्वस्योक्तत्वात् कथं हराविति सप्तमीत्यत आह—**अत्र निपातेनेति**। **वचनेति**। सुपेत्यनुवर्त्य सुबन्तेनात्र समासविधिसामर्थ्यात् सप्तमी स्यादेवेति भावः। वस्तुतस्तु अनभिहितसूत्रभाष्ये तिङ्कृत्तद्धितसमासैरित्येव परिगणनं दृष्टम्। अतो निपातेनाधिना अभिहितेऽप्यधिकरणत्वे सप्तमी निर्बाधा। 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' इत्यत्र तु एष्टव्य इत्यध्याहार्यम्। कृताऽभिधानात् विषवृक्षात् द्वितीया न भवति। न च कृत्तद्धितसमासैरिति परिगणनं भाष्ये प्रत्याख्यातमिति वाच्यम्, 'कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्' इत्यत्र परिगणनफलस्यान्यथासिद्धेरेव तत्रोक्तत्वादित्यास्तां तावत्।

होता है कि 'ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभाव के पश्चात् तृतीया (टा) तथा सप्तमी (ङि) विभक्तियों के स्थान पर विकल्प से 'अम्' आदेश हो'। **उदाहरण—तृतीया विभक्ति**—दिशयोः मध्ये > **अपदिशम्—तेन—अपदिशेन**। **सप्तमी विभक्ति**—दिशयोः मध्ये > **अपदिशम्**—तस्मिन्—**अपदिशे**। **अलौकिक स्वपद-विग्रह**—दिशा + ओस्, अप (मध्येन, मध्ये वा)। **प्रक्रिया—पूर्ववत्**। अन्तर केवल इतना है कि समास होने के पश्चात् 'अपदिश + टा', एवम् 'अपदिश + ङि (इ)' इस स्थिति में विभक्तियों के स्थान पर 'अम्' आदेश न होने पर क्रमशः 'अपदिशेन' (टा = इन) तथा 'अपदिशे' (अ + इ = ए) रूप होंगे। जब 'अम्' आदेश नहीं होगा तो विभक्ति-लोप न होने से विभक्ति-कार्य होंगे।

विशेष—प्रकृत सूत्र में विकल्पार्थक 'वा' शब्द न रख कर 'बहुलम्' पद का निवेश विशेष प्रयोजन-वश किया गया है। इस शब्द से अनेक अर्थ उद्भासित होते हैं (बहून् अर्थात् लाति)। अतः कहीं कहीं तृतीया और सप्तमी में भी नित्य 'अम्' आदेश के उदाहरणों की वैधानिकता सिद्ध हो जाती है। तदनुसार 'मद्राणां समृद्धिः' तस्मिन् > सुमद्रम् तथा 'उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्' उन्मत्तगङ्गम् में नित्य 'अम्' हुआ। यह वैधानिकता—**'सप्तम्या ऋद्धिनदी-समास संख्याऽव्ययेभ्यो नित्यममिति वक्तव्यम्'—(वार्तिक)** के अनुसार है।

अव्ययीभाव समास में उपयोगी विधि-सूत्रों का निर्वचन कर प्रसङ्गप्राप्त "अव्ययम्०" इत्यादि सूत्र के उत्तर भाग का स्मरण कराया जा रहा है। तदनुसार विभक्ति आदि १६ अर्थों में विद्यमान अव्ययों का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास[1] होगा और वह 'अव्ययीभाव'-संज्ञक होता है। उनके क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं। (१) **विभक्ति-अर्थ—हरौ इति > अधिहरि** (हरि के विषय में)। **प्रक्रिया**—हरि + ङि (अधि) > अधि—हरि, सप्तमी विभक्ति के अधिकरण अर्थ में विद्यमान 'अधि' अव्यय का 'हरि' के साथ "अव्ययम्०" सूत्र से समास तथा अव्ययीभाव संज्ञा एवं विभक्तिलोप, "प्रथमा निर्दिष्टम् समास उपसर्जनम्"—'अधि' की उपसर्जन संज्ञा, "उपसर्जनं पूर्वम्"—से 'अधि' की पूर्वत्र स्थिति), > अधि—हरि + सु (समास होने के पश्चात् समुदाय से 'सुप्' विभक्ति), > अधिहरि ("अव्ययादाप् सुपः" २–४–८२ सूत्र से विभक्ति लोप)। प्रकृत उदाहरण में 'अधि' अव्यय सप्तमी-विभक्ति के अर्थ का द्योतक है। **अलौकिक स्वपद विग्रह वाक्य** की स्थिति इस प्रकार है—'हरि + ङि, अधि + सु'।

---

१. "अव्ययम्०" (२–१–६) इत्यादि सूत्र से नित्य समास होता है। नित्य समास का प्रायः विग्रह नहीं होता। यदि विग्रह होता भी है तो वह, जिसका समास करना है उसके अर्थ को प्रकट करने वाले पर्यायवाची शब्द से सम्भव होता है, अतः प्राचीन आचार्यों ने इसे **अस्वपद-विग्रह** कहा है। अव्ययीभाव समास में प्रायः पूर्व पद (अव्यय) प्रधान होता है—'पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः'।

सामर्थ्यात्सप्तमी। (६५९) **अव्ययीभावश्च २।४।१८॥** अयं नपुंसकं स्यात्। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (सू ३१८)। गोपायतीति गाः पातीति वा गोपाः, तस्मिन्नित्यधिगोपम्। समीपे—कृष्णस्य समीपमुपकृष्णम्। समया ग्रामम्, निकषा लङ्काम्, आराद्वनादित्यत्र तु नाव्ययीभावः, 'अभितः परितः—' (वा १४४२) 'अन्यारात्—' (सू ५९५) इति द्वितीयापञ्चम्योर्विधानसामर्थ्यात्। मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम्। यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम्। विगतः ऋद्धिर्व्यृद्धिः। मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्। हिमस्यात्ययोऽतिहिमम्। अत्ययो ध्वंसः। निद्रा संप्रति न युज्यते इत्यतिनिद्रम्। हरिशब्दस्य प्रकाशः इतिहरि। विष्णोः पश्चादनुविष्णु। पश्चाच्छब्दस्य तु नायं समासः। 'ततः पश्चात्स्रंस्यते

---

(६५९) **अव्ययीभावश्च।** अयं नपुंसकं स्यादिति। 'स नपुंसकम्' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः। नपुंसकत्वस्य फलमाह—**ह्रस्वो नपुंसक इति। गोपायतीति।** रक्षतीत्यर्थः। 'गुपू रक्षणे' विच्। 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्ययः। 'लोपो व्योः' इति यलोपः। 'वेरपृक्तस्य' इति वकारलोपः। गोपाशब्दः आकारान्तः। **गाः पातीति।** पातेर्विचि उपपदसमासे गोपाशब्द इति भावः। **अधिगोपमिति।** विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावसमासे सुब्लुकि नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वे सति 'नाव्ययीभावात्' इत्यमि पूर्वरूपमिति भावः। 'गोस्त्रियोः' इति तु नात्र प्रसज्यते स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावात्। **समीपे इति।** समीपार्थकाव्ययस्य समासे उदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः। **कृष्णस्य समीपमिति।** लौकिकविग्रहवाक्यमेतत्। अत्र समस्यमानस्य उपशब्दस्य स्थाने समीपमिति प्रयुक्तम्। कृष्णस्य उप इति तु न विग्रहः, नित्यसमासत्वेनास्वपदविग्रहौचित्यात्। ननु समया ग्रामं, निकषा लङ्काम्, आराद्वनात् इत्यत्रापि समयाद्यव्ययानां समीपार्थकत्वात् अव्ययीभावः स्यात्, ततश्च 'ग्रामं समया, ग्रामं निकषा, वनादारात्' इति च प्रयोगो न स्यात्। अव्ययीभावसमासे अव्ययस्य पूर्वनिपात-

---

यद्यपि यहाँ पर 'अधि' निपात से अधिकरण अर्थ उक्त हो जाने के कारण '**उक्तार्थानाम् अप्रयोगः**' न्याय के अनुसार पुनः 'हरि' शब्द के साथ सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग नहीं होना चाहिये, तथापि इस न्याय की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'अव्यय' का सुबन्त के साथ समास-विधान किया गया है। अतः विशेष विधान होने के कारण सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग होता है। इस प्रकार तीनों लिङ्गों एवं सभी विभक्तियों में केवल एक ही रूप—'**अधिहरि**'—का प्रयोग होगा।

(६५८) पद—अव्ययीभावः, च। **अनुवृत्ति**—नपुंसकम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—यह नपुंसक-लिङ्ग होता है। (इसका फल) "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य"—३१८ सूत्र से ह्रस्व होगा। 'गोपायति' अथवा 'गाः पाति'—गोपाः, तस्मिन् > अधिगोपम्। समीपार्थ—कृष्णस्य समीपम् > उपकृष्णम्। 'समया ग्रामम्' तथा 'निकषा लङ्काम्' 'आरात् वनात्'—उदाहरणों में अव्ययीभाव समास नहीं होता। कारण यह है कि इन अव्ययों से 'अभितः परितः०' वार्तिक तथा "अन्यारात्०" इत्यादि सूत्र से क्रमशः द्वितीया और पञ्चमी विभक्तियाँ विहित हैं। इस प्रकार यहाँ पर विशेष-विधान से अव्ययीभाव समास नहीं होता। समृद्धि-अर्थ—मद्राणां समृद्धिः > सुमद्रम्। व्यृद्धि (क्षय) अर्थ—यवनानां व्यृद्धिः > दुर्यवनम्। ऋद्धि का नाश व्यृद्धि है। अभावार्थ—मक्षिकाणाम् अभावः > निर्मक्षिकम्। ध्वंस-अर्थ—हिमस्य अत्ययः > अतिहिमम्। असम्प्रति-(अनुचित)-अर्थ—निद्रा सम्प्रति न युज्यते > अतिनिद्रम्। शब्दप्रादुर्भाव-अर्थ—हरिशब्दस्य प्रकाशः > इतिहरि। पश्चात्—(पीछे)-अर्थ—विष्णोः पश्चात् > अनुविष्णु। 'पश्चात्' शब्द का अव्ययीभाव समास नहीं होता। इसमें 'ततः पश्चात् स्रंस्यते, ध्वंस्यते' भाष्यस्थ वाक्य

ध्वंस्यते' इति भाष्यप्रयोगात्। योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः। अनुरूपम्, रूपस्य योग्यमित्यर्थः। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्। प्रतिशब्दस्य वीप्सायां कर्मप्रवचनीयसंज्ञा-विधानसामर्थ्यात्तद्योगे द्वितीयागर्भं वाक्यमपि। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति। हरेः सादृश्यं सहरि। वक्ष्यमाणेन सहस्य सः। ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम्। चक्रेण युगपदिति विग्रहे—

नियमादित्यत आह—समयेति। विधानसामर्थ्यादिति। समया ग्रामं, निकषा लङ्काम्, आराद्वनात् इत्यत्र शेषषष्ठ्यां सत्यामपि अव्ययीभावसमासे सति प्रातिपदिकावयवत्वात् उपपदविभक्त्योः द्वितीयापञ्चम्योः षष्ठ्या वा लुकि समासात् प्रातिपदिकार्थादिविवक्षायां सर्वासु विभक्तिषु जातासु यथायथम् अम्भावे तद्विकल्पे च 'समयाग्रामं, निकषालङ्काम् आराद्वनं, समयाग्रामेण, निकषालङ्केन, आराद्वनेन' इति स्यादेव, ततश्च द्वितीयापञ्चम्यो-र्विधिः व्यर्थः स्यात्। षष्ठ्यैव गतार्थत्वात्। न च समासात् पुनरुपपदविभक्ती द्वितीया-पञ्चम्यौ शङ्क्ये, सकृत्प्रवृत्तयोः पुनः प्रवृत्त्ययोगात्। वस्तुतस्तु मध्यार्थकसमयाशब्दयोगे द्वितीयाविधानस्य दूरार्थकाराच्छब्दयोगे पञ्चमीविधानस्य चरितार्थत्वात् इदमयुक्तम्। न चैवं सति 'समया ग्रामम्' इत्यादौ अव्ययीभावः शङ्क्यः, अन्भक्ष इत्यादाविव विभक्त्यर्थ-समीपादिमात्रवृत्त्यव्ययस्यैव ग्रहणात् समयानिकषाऽऽराच्छब्दानां चाधिकरणशक्तिप्रधानतया समीपमात्रवृत्तित्वाभावात्। ग्रामस्य समीपे इति हि तेषामर्थः। उपशब्दस्तु तन्मात्रवाची।

प्रमाण है। यथार्थ चार हैं—योग्यता, वीप्सा, पदार्थ का अनुल्लङ्घन तथा सादृश्य। योग्यता—रूपस्य योग्यम्>अनुरूपम्। अर्थात् रूप के योग्य है। वीप्सा—अर्थम् अर्थम् प्रति> प्रत्यर्थम्। 'प्रति' शब्द का वीप्सा अर्थ अभीष्ट होने पर उसे कर्मप्रवचनीय संज्ञा विहित होने के कारण उसके योग में द्वितीया-विभक्ति-युक्त वाक्य का भी प्रयोग होगा। पदार्थानतिवृत्ति (शक्तिभर)—शक्तिम् अनतिक्रम्य>यथाशक्ति। सादृश्य-(समानता)-अर्थ—हरेः सादृश्यं> सहरि। (इस उदाहरण में) अग्रिम सूत्र से 'सह' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होगा।) आनुपूर्व्य-(क्रम)-अर्थ—ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण>अनुज्येष्ठम्। यौगपद्य अर्थ—चक्रेण युगपत्>सचक्रम्। (प्रसङ्गवश 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश का विधान अगले सूत्र में बताया जायगा)।

विवरण—सूत्र में विधि-बोधक पद का लाभ अष्टाध्यायी-क्रम में पूर्व सूत्र (२-४-१७)-से 'नपुंसकम्' की अनुवृत्ति द्वारा प्राप्त होता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'अव्ययीभाव समास भी (च) नपुंसकलिङ्ग में हो'। इसका फल यह होगा कि दीर्घान्त शब्दों को "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" (१-२-४७) से ह्रस्व हो जायगा। अतः **अधिगोपम्** में पकारोत्तरवर्त्ती 'आ' के स्थान पर 'अ' होने के फलस्वरूप "नाव्ययीभावादतोम्त्वपञ्चम्याः" (२-४-८३) सूत्र से 'अम्'-भाव होता है। **प्रक्रिया**—'गोपा' शब्द की सिद्धि के दो प्रकार हैं-(१) गोपाय+क्विप् >गोपाय् (क्विप् का सर्वापहार)>गोपाय् (अलोप) > गोपा (यलोप)। (२) गो-√पा+विच् >गोपा ('विच्' का सर्वापहार) > गोपा+सु>गोपाः (स्=र्, र्=ः)। **लौकिक अस्वपद विग्रह—'गोपि इति'**। **अलौकिक स्वपद विग्रह—गोपा+ङि, अधि**—इस स्थिति में पूर्ववत् विभक्त्यर्थ में 'अधि' के साथ 'गोपा' का अव्ययीभावसमास, विभक्तिलोप, 'अधि' का पूर्वनिपात होकर >**अधिगोपा** के नपुंसकलिङ्ग होने के कारण ह्रस्व होकर **अधिगोप** >शब्द से सुविभक्ति तथा उसके स्थान पर 'अम्' आदेश एवं पूर्वरूप होने पर > **अधिगोपम्** रूप निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—गोप के विषय में।

अवशिष्ट अव्ययीभाव समास के उदाहरण इस प्रकार हैं। (२) **समीप अर्थ—उपकृष्णम्** (कृष्ण के समीप)। **लौकिक अस्वपद विग्रह-कृष्णस्य समीपम्** ('उप' अव्यय)। **प्रक्रिया**—

उपकृष्णं भक्ता इत्यत्र कृष्णसामीप्यवन्त इति बोधात् । **मद्राणां समृद्धिरिति** । समित्यव्ययपर्यायः समृद्धिशब्दो विग्रहवाक्ये ज्ञेयः । एतत्सूत्रविहितसमासस्य नित्यतया अस्वपदविग्रहः । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । **सुमद्रमिति** । सर्वत्र सुब्लुगादि पूर्ववत् ज्ञेयम् । समृद्धा मद्राः सम्मद्रा इत्यादौ तु नाव्ययीभावः, वचनग्रहणसामर्थ्येनाव्ययार्थप्राधान्य एव तत्प्रवृत्तेरिति भाष्ये स्पष्टम् । **यवनानां व्यृद्धिः दुर्यवनमिति** । दुर्-शब्दार्थको व्यृद्धिशब्दो विग्रहे ज्ञेयः । **विगतेति** । अभावप्रतियोगिनेत्यर्थः । ऋद्धेरभावो व्यृद्धिरिति यावत् । न चार्थाभावेऽयमिति भ्रमितव्यम्, समस्यमानपदार्थाभावस्यैव तत्र विवक्षितत्वात्, इह च यवनाभावस्याप्रतीतेः । यवनीयवृद्ध्यभावस्यैव प्रतीतेः । तत् ध्वनयन् अर्थाभावे उदाहरति—**मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकमिति** । विग्रहे निर्-शब्दसमानार्थकमभावपदमिति भावः । घटः पटो नेत्यत्र तु नाव्ययीभावः, अर्थग्रहणसामर्थ्येनात्यन्ताभावस्यैव विवक्षितत्वात् । **हिमस्यात्ययोऽतिहिममिति** । अतीत्यव्ययपर्यायः अत्ययशब्दो विग्रहे ज्ञेयः । अर्थाभावेत्यनेन पौनरुक्त्यं निरस्यति—**अत्ययो ध्वंस इति** । अर्थाभावशब्देनात्यन्ताभाव एव विवक्षितः । तेन पटस्य प्रागभावः निष्पटमिति न भवतीति भावः । सूत्रे असम्प्रतीत्यस्य सम्प्रति न युज्यते इत्यर्थः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीम्' इत्यमरः । युजिक्रियान्तर्भावेन एकार्थीभावान्नञ्समासः, तदाह—**निद्रा सम्प्रति न युज्यते इत्यतिनिद्रमिति** । अतीत्यव्ययस्यासम्प्रत्यर्थकस्य स्थाने

अलौकिक स्वपद विग्रह—कृष्ण+ङस्, उप+सु>उपकृष्ण (समास, विभक्तिलोप, 'उप' का पूर्वनिपात) >उपकृष्ण+सु (समास-समुदाय से सुबुत्पत्ति) >उपकृष्ण+अम् (सु=अम्)> **उपकृष्णम्** (पूर्वरूप)।

विशेष—'समया ग्रामम्', 'निकषा लङ्काम्' तथा **'आरात् वनात्'** इन स्थलों पर समीपार्थक अव्ययों के रहने पर भी **'अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रति-योगेऽपि'** वार्तिक एवम् **"अन्यारादितरर्ते-दिक्-शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते"** (२-३-२९) सूत्र से क्रमशः द्वितीया तथा पञ्चमी-विधान की सार्थकता के लिए समास नहीं होता है।

(३) **समृद्धि-अर्थ में 'सु'—सुमद्रम्** (मद्र के लोगों की समृद्धि)। **लौकिक** अस्वपद **विग्रह—मद्राणां समृद्धिः** । **अलौकिक** स्वपद विग्रह—मद्र+आम्, सु+सु । प्रक्रिया—"अव्ययम्" सूत्र से समास, विभक्तिलोप, 'सु' का पूर्वनिपात>सुमद्र, पुनः समुदाय से विभक्त्युत्पत्ति—सुमद्र+सु > सुमद्र+अम् (सु=अम्)> **सुमद्रम्** (पूर्वरूप)। (४) **व्यृद्धि (क्षय) अर्थ में 'दुर्'-दुर्यवनम्** । **लौकिक** अस्वपद **विग्रह—यवनानां व्यृद्धिः** (यवनों की दुर्गति)। **अलौकिक** स्वपद **विग्रह**—यवन+आम्, दुर्+सु । **प्रक्रिया**—सुमद्रम् के समान। (५) **अभाव अर्थ में-'निर्'-निर्मक्षिकम्** (मक्खियों का अभाव)। **लौकिक** अस्वपद **विग्रह**—मक्षिकाणाम् अभावः । **अलौकिक** स्वपद **विग्रह—मक्षिका+आम्, निर्+सु** । **प्रक्रिया**—इसमें विशेष कार्य-नपुंसक होने से "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" (३१८) से 'आ' को ह्रस्व 'अ' तथा शेष कार्य पूर्ववत्। (६) **अत्यय अर्थ (विनाश) में 'अति'-अतिहिमम्** (हिम का नाश)। **लौकिक** अस्वपद **विग्रह—हिमस्य अत्ययः** । **अलौकिक** स्वपद **विग्रह**—हिम+ङस्, अति+सु । **प्रक्रिया**—पूर्ववत्। (७) **असम्प्रति (अनुचित) अर्थ में—'अति'—अतिनिद्रम्** (इस समय सोना उचित नहीं)। **लौकिक** अस्वपद **विग्रह—निद्रा सम्प्रति न युज्यते** । **अलौकिक** स्वपद **विग्रह**—निद्रा+सु, अति+सु । **प्रक्रिया**—पूर्ववत्। समासादि होकर **'अतिनिद्रा'**, तदनन्तर नपुंसक लिङ्ग होने के कारण "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" (३१८) से ह्रस्व, ततः अम्-भाव तथा पूर्वरूप होगा। (८) **शब्द-प्रादुर्भाव (शब्द की अभि-**

सम्प्रति न युज्यते इति विग्रहवाक्यं ज्ञेयम् । सूत्रे शब्दप्रादुर्भाव इत्यनेन शब्दस्य प्रकाशनं विवक्षितम् । तदाह—**निद्रा सम्प्रति न युज्यते इत्यतिनिद्रमिति** । अतीत्यव्ययस्यासम्प्रत्यर्थकस्य स्थाने सम्प्रति न युज्यते इति विग्रहवाक्यं ज्ञेयम् । सूत्रे शब्दप्रादुर्भाव इत्यनेन शब्दस्य प्रकाशनं विवक्षितम् । तदाह—**हरिशब्दस्य प्रकाशः इतिहरि इति** । इतीत्यव्ययं शब्दप्रकाशे वर्तते । तस्य हरिशब्देन स्वरूपपरेण षष्ठयन्तेन समास इति भावः । **विष्णोः पश्चादनुविष्णु इति** । अनु इत्यव्ययं पश्चादर्थे वर्तते इत्यर्थः । **भाष्येति** । 'अचः परस्मिन्' इति सूत्रभाष्ये इत्यर्थः । 'ततः पश्चात्' इत्यत्राव्ययीभावे तु पश्चाच्छब्दस्य पूर्वनिपातः स्यादिति भावः । एतद्भाष्यप्रयोगादेव एतत् सूत्रे तत्तदर्थबोधकपदघटकतया गृहीताव्ययेन तत्तदर्थकेनायं समासो नेति विज्ञायते । अत एव 'यथाऽसादृश्ये' इति सूत्रे सादृश्यसम्प्रतीति प्राप्नोतीत्येवोक्तं भाष्ये । यथाशब्देन तु भवत्येव समासः, उत्तरसूत्रारम्भात् । सूत्रे यथाशब्देन तदर्थो लक्ष्यते । यथार्थे विद्यमानमव्ययं समस्यते इति लभ्यत इत्यभिप्रेत्याह—**योग्यतेति** । **अनुरूपमिति** । अत्रानु इत्यव्ययं योग्यतायाम्, अतो यथार्थे वर्तत इति भावः । **अर्थमर्थं प्रतीति** । लौकिकविग्रहवाक्यम् । अत्र वीप्सायां द्विर्वचनम् । 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान' इति वीप्सायां द्योत्यायां प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया । समासे तु द्विर्वचनं न, समासेन वीप्सायाः द्योतितत्वात् इति 'हयवरट्' इति सूत्रे कैयटः । प्रतिना तस्योक्तत्वादिति तु तत्त्वम् । नन्वर्थमर्थं प्रतीति लौकिकविग्रहप्रदर्शनं न सम्भवति, नित्यसमासत्वादित्यत आह—**प्रतिशब्दस्येति** । **सामर्थ्यादिति** । अव्ययीभावसमासस्य नित्यत्वे तु शेषषष्ठयामपि अव्ययीभावे सुब्लुकि समासात् सर्वविभक्तीनामभावे तद्विकल्पे च प्रत्यर्थं प्रत्यर्थेनेत्यादिसिद्धे द्वितीयाफलकं प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वविधानमनर्थकं स्यादिति भावः । वस्तुतस्तु प्रतिस्थानमित्यादौ 'उपसर्गात्सुनोति' इति षत्वाभावसम्पादनेन कर्मप्रवचनीयत्वं चरितार्थमेव । 'अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्' इति तत्त्वम् । **शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्तीति** । 'परावरयोगे च' इति क्त्वाप्रत्ययः । परावरत्वं च बौद्धम् । अत्र यथेत्यव्ययं पदार्थानतिक्रमे वर्तते इत्यर्थः । **हरेः सादृश्यं सहरीति** । अत्र सहेत्यव्ययं सादृश्ये वर्तत इति भावः ।

व्यक्ति) अर्थ में 'इति' इतिहरि (हरि शब्द का प्रादुर्भाव)। **लौकिक** अस्वपद **विग्रह—हरिशब्दस्य प्रकाशः । अलौकिक विग्रह**--हरि+ङस्, इति+सु। **प्रक्रिया**—समासादि पूर्ववत्। अव्ययसंज्ञा होने पर समुदाय से उत्तर आने वाली विभक्ति 'सु' (इतिहरि+सु) का "अव्ययादाप् सुपः" ४५२-से लोप होता है। अकारान्त न होने से अम्भाव की प्राप्ति नहीं है। (९) **पश्चात् (बाद में) अर्थ में 'अनु'—अनुविष्णु** (विष्णु के बाद)। **लौकिक** अस्वपद **विग्रह**—विष्णोः पश्चात्। **अलौकिक** स्वपद **विग्रह**—विष्णु+ङस्, अनु+सु। **प्रक्रिया**—पूर्ववत्। यहाँ भी 'सुप्' का लोप होगा। (१०) **यथा शब्द के चार अर्थ हैं**—योग्यता, वीप्सा (बार बार होना), पदार्थानतिवृत्ति (पदार्थ की सीमा का अतिक्रमण न करना) और सादृश्य। क्रमशः उदाहरण (क) **योग्यता अर्थ में—'अनु'—अनुरूपम् (रूप के योग्य)। लौकिक** अस्वपद **विग्रह—रूपस्य योग्यम्। अलौकिक विग्रह—रूप+ङस्, अनु+सु। प्रक्रिया**—पूर्ववत्। (ख) **वीप्सा अर्थ में—'प्रति'—प्रत्यर्थम्** (प्रत्येक अर्थ में)। **लौकिक अस्वपद विग्रह—अर्थम् अर्थम् प्रति। अलौकिक** स्वपद **विग्रह—अर्थ+अम्, प्रति+सु। प्रक्रिया**—पूर्ववत्। (ग) **पदार्थानतिवृत्ति (शक्तिभर) अर्थ में-'यथा'-यथाशक्ति। लौकिक** अस्वपद

(६६०) अव्ययीभावे चाकाले ६ । ३ । ८१ ॥ सहस्य सः स्यादव्ययीभावे, न तु काले । सचक्रम् । काले तु सहपूर्वाह्णम् । सदृशः सख्या ससखि । यथार्थत्वेनैव सिद्धे पुनः सादृश्यग्रहणं गुणभूतेऽपि सादृश्ये यथा स्यादित्येवमर्थम् । क्षत्राणां संपत्तिः सक्षत्रम् । ऋद्धेराधिक्यं समृद्धिः, अनुरूप आत्मभावः संपत्तिरिति भेदः । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति । साकल्येनेत्यर्थः । न त्वत्र तृणभक्षणे तात्पर्यम् । अन्ते—अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि ।

वक्ष्यमाणेनेति । 'अव्ययीभावे चाकाले' इत्यनेनेत्यर्थः । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठमिति । कार्यंकृतमिति शेषः । तत्तद्विभक्त्या विग्रह इति पक्षाभिप्रायेणेदम् । पूर्वस्य क्रमेण इत्यनुपूर्वम्, ततः स्वार्थे ष्यञ् । एतत्सूत्रगृहीताव्ययेन समासो नेत्यनुपदमेवोक्तम् । तथापि सूत्रगृहीतानुनाप्यनुज्येष्ठमिति समासः, अनुपूर्वेति निर्देशात् । सूत्रे युगपच्छब्दात् स्वार्थे ष्यञ् यौगपद्यशब्दः । तत् ध्वनयन्नाह—चक्रेण युगपदिति । युगपत्पर्यायस्य सहशब्दस्य चक्रेण इत्यनेन समासे कृते सतीत्यर्थः । युगपदच्छब्देन तु न समासः । सूत्रे गृहीतत्वादिति भावः ।

(६६०) अव्ययीभावे । सहस्य सः स्यादिति । 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम्' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । न तु काले इति । कालवाचके परे सहस्य सो नेत्यर्थः । सचक्रमिति । चक्रेण युगपत्प्रयुक्तमित्यर्थः । सपूर्वाह्णमिति । समीपादौ अव्ययीभावः । सूत्रे सादृश्येति स्वार्थे ष्यञ् । तद् ध्वनयन्नाह—सदृशः सख्या ससखीति । सहेत्यव्ययं सहशार्थकमिति

विग्रह—शक्तिम् अनतिक्रम्य । अलौकिक स्वपद विग्रह—शक्ति+अम्, यथा+सु । प्रक्रिया—समासादि पूर्ववत् । अव्यय संज्ञा होने से सुप् लोप । (घ) सादृश्य अर्थ में 'सह'—सहरि (हरि की समानता) । लौकिक अस्वपद विग्रह—हरेः सादृश्यम् । अलौकिक स्वपद विग्रह–हरि+ङस्, सह+सु । प्रक्रिया—समासादि पूर्ववत् । 'सह–हरि' इस स्थिति में 'सह' = 'स' आदेश अग्रिम सूत्र से होता है >सहरि+सु>सहरि (विभक्ति-लोप) । (११) आनुपूर्व्य (अनुक्रम) अर्थ में—'अनु'–अनुज्येष्ठम् (ज्येष्ठ के क्रम से) । लौकिक अस्वपद विग्रह—ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण । अलौकिक स्वपद विग्रह—ज्येष्ठ+ङस, अनु+सु । प्रक्रिया—पूर्ववत् । (१२) यौगपद्य अर्थ में—'सह'–सचक्रम् । लौकिक अस्वपद विग्रह—चक्रेण युगपत् । अलौकिक विग्रह—चक्र+टा, सह+सु । प्रक्रिया—पूर्ववत् । सह=स । सु=अम् ।

स्मरणीय—'पश्चात्' अर्थ में 'पश्चात्' अव्यय भी है, किन्तु उसके साथ समास नहीं होता । इसमें 'ततः पश्चात् स्रंसते'—भाष्य का असमस्त प्रयोग प्रमाणस्वरूप माना गया है ।

(६६०) पद—अव्ययीभावे, च, अकाले । **अनुवृत्ति**—सहस्य, सः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अव्ययीभाव में 'सह' को 'स' आदेश होता है, किन्तु काल अर्थ में नहीं होता । **उदाहरण**—सचक्रम् । काल अर्थ में—सहपूर्वाह्णम् । सादृश्य अर्थ—सदृशः सख्या > ससखि । यथार्थ के भेद से ही समास प्राप्त रहा, पुनः सादृश्य ग्रहण से गौणार्थ सादृश्य में भी समास सिद्ध होगा । सम्पत्ति अर्थ—क्षत्राणां सम्पत्तिः > सक्षत्रम् । ऋद्धि की अधिकता समृद्धि है । अनुकूल आत्मभाव को सम्पत्ति कहते हैं । यह दोनों में भेद है । साकल्य अर्थ—तृणम् अपि अपरित्यज्य> सतृणम् (अत्ति) । खाने में तिनका भी नहीं छोड़ता है—इस कथन से तृण खाने में तात्पर्य नहीं है । अन्त अर्थ—अग्निग्रन्थपर्यन्तम् (अधीते)> साग्नि ।

विवरण—प्रकृत सूत्र में "सहस्य सः संज्ञायाम्" (६-३-७८) सूत्र से 'सहस्य' तथा 'सः' पदों की अनुवृत्ति आने से 'स्थानी' एवम् 'आदेश' दोनों का बोध होता है । 'उत्तरपदे' पद

भावः। **गुणभूतेऽपीति**। वचनग्रहणसामर्थ्येनाव्ययार्थप्राधान्य एव समासप्रवृत्तेः गुणीभूत-सादृश्ये अप्राप्त्या तद्ग्रहणमिति भावः। **क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रमिति**। क्षत्रियाणामनुरूपं कर्मेत्यर्थः। सहेत्यव्ययमत्र सम्पत्तौ वर्तत इति भावः। सम्पत्तिसमृद्धिशब्दयोः पौनरुक्त्यं परिहरति—**ऋद्धेरिति**। धनधान्यादेरित्यर्थः। **अनुरूप इति**। अनुरूपः योग्यः आत्मभावः स्वभावः स्वोचितं कर्मेति यावत्। **तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्तीति**। 'परावरयोगे च' इति क्त्वा। परावरत्वं बौद्धमेव। सहशब्दोऽत्रापरिवर्जने वर्तते। न तु तृणसहभावेऽपीति भावः। नन्वेवं सति साकल्ये कथमिदमुदाहरणं स्यादित्यत आह—**साकल्येनेत्यर्थ इति**। पात्रे परिशिष्टं सकलं भक्षयतीति यावत्। **न त्वत्रेति**। तृणभक्षणस्याप्रसक्तेरिति भावः। **अन्ते इति**। उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः। सूत्रे अन्तशब्देन अन्तावयवसाहित्ये विवक्षित-मित्यभिप्रेत्योदाहरति—**अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नीति**। अग्निशब्देन अग्निचयनप्रति-पादको ग्रन्थो विवक्षितः। तेनान्तावयवेन सहितं ग्रन्थमिति विग्रहः। अग्निग्रन्थपर्यन्त-मिति बहुव्रीहिः। ग्रन्थमिति अन्यपदार्थाध्याहारः। अधीत इति तु न समासप्रविष्टम्। अन्तावयवेन अग्निग्रन्थेन सहितं वेदकल्पसूत्रादिभागमधीते इत्यर्थः। अत्र कृत्स्नस्यान-ध्येतव्यत्वात् अग्निग्रन्थपर्यन्ताध्ययने तत्कात्स्न्यानवगमात् साकल्यात्पृथगुक्तिः।

अधिकार-लभ्य है। उसकी अनुवृत्ति "अलुगुत्तरपदे" (६-३-१) से प्राप्त होती है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कालवाचक शब्द उत्तरपद न रहते (अकाले) अव्ययीभाव समास में 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो"। **उदाहरण**—सचक्रम् तथा सहरि हैं। क्रमप्राप्त "अव्ययम्०" (६५२) सूत्र का **उदाहरण (१३) सादृश्य—अर्थ—'सह'—ससखि** (मित्र के समान)। **लौकिक विग्रह**—सदृशः सख्या। **अलौकिक विग्रह—सखि+टा, सह+सु**। **प्रक्रिया**—समासादि पूर्ववत्। सुप्—लोप। **(१४) सम्पत्ति—अर्थ में 'सह'—सक्षत्रम्** (क्षत्रियों की सम्पत्ति)। **अलौकिक विग्रह-क्षत्राणां सम्पत्तिः। लौकिक विग्रह क्षत्र+आम्, सह+सु**। **प्रक्रिया**—पूर्ववत्-समासादि एवम् अम्-भाव। **(१५) साकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में 'सह'—सतृणम् अत्ति** (तिनके को भी न छोड़कर अर्थात् सब कुछ खा जाता है)। **लौकिक विग्रह—तृणम् अपि अपरित्यज्य। अलौकिक विग्रह—तृण+अम्, सह+सु**। **प्रक्रिया**—समासादि पूर्ववत्। सह = स। यहाँ तृणभोजन में तात्पर्य नहीं है, किन्तु समग्र भोजन अर्थ अपेक्षित है। **(१६) अन्त अर्थ में—'सह'—साग्नि** (अग्नि चयन ग्रन्थ तक पढ़ता है)। **लौकिक विग्रह—अग्निग्रन्थपर्यन्तम्—अधीते। अलौकिक विग्रह—अग्नि+टा, सह+सु**। **प्रक्रिया**—समासादि पूर्ववत्। सुप्—लोप। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'अकाले' पद का निवेश होने से कालवाचक शब्दों के योग में अव्ययीभाव समास होने पर 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश न होने के फलस्वरूप 'सहपूर्वाह्णम्' में 'सह' को 'स' आदेश नहीं हुआ। **विग्रह**—पूर्वाह्णेन युगपद् (सहार्थ में)।

विशेष—(१) सूत्रोक्त 'यथा' शब्द के चार अर्थों में सादृश्य का निवेश होने पर भी "अव्ययम्०" (६५२) इत्यादि सूत्र में पुनः 'सादृश्य' ग्रहण करने से यह लाभ होता है कि सदृश-अर्थ की अप्रधानता रहने पर भी अव्ययीभाव समास होता है।

(२) 'समृद्धि' और 'सम्पत्ति' शब्दों के सूक्ष्मार्थ को बतलाते हुए यह सूचित किया गया है कि 'धन' का आधिक्य 'समृद्धि' वाचक है एवम् अनुकूल आत्मभाव 'सम्पत्ति' है।

(३) "अव्ययम्०" ६५२ सूत्र का सोदाहरण विवरण यहाँ समाप्त होता है।

(६६१) यथाऽसादृश्ये २ । १ । ७ ॥ असादृश्य एव यथाशब्दः समस्यते । तेनेह न । यथा हरिस्तथा हरः । हरेरुपमानत्वं यथाशब्दो द्योतयति । तेन 'सादृश्य' इति

---

(६६१) यथाऽसादृश्ये । असादृश्ये इति छेदः, व्याख्यानात् । असादृश्ये योग्यता-वीप्सापदार्थानतिवृत्तिरूपे वर्तमानं यथेत्यव्ययं समस्यते इत्यर्थस्य यथार्थत्वादेव सिद्धेः नियमार्थमिदमित्याह—**असादृश्ये एवेति** । ननु 'प्रकारवचने थाल्' इति विहितथाल्प्रत्य-यान्तस्य कथं सादृश्ये वृत्तिरित्यत आह—**हरेरिति** । सामान्यस्य भेदको यो विशेषः स प्रकारः, तस्मिन् प्रकारे थालिति 'प्रकारवचने थाल्' इत्यस्यार्थः । ततश्च यद्विशेषधर्मवान् हरिः तद्विशेषधर्मवान् हर इति बोधे सति यत्तच्छब्दाभ्यां तयोः प्रकारयोः अभेदावगमात् उपमानत्वप्रतीतिरिति भावः । **तेनेति** । प्राप्तमित्यत्रान्वयः । सादृश्यार्थकत्वेनेत्यर्थः । **सादृश्य इति वेति** । 'अव्ययं विभक्ति' इति सूत्रगतेन सादृश्ये वर्तमानमव्ययं समस्यत इत्यंशेन वा यथार्थे विद्यमानमव्ययं समस्यत इत्यंशेन वा प्राप्तमव्ययीभावसमासकार्यं

---

(६६१) **पद**—यथा, असादृश्ये । **अनुवृत्ति**—अव्ययम्, सुप्, समासः, सह सुपा, अव्ययीभावः । **नियम (विधि) सूत्र ।**

मूलार्थ—सादृश्यभिन्न अर्थ (असादृश्ये) में ही 'यथा' शब्द का समास होता है । अतः यहाँ नहीं हुआ—यथा हरिः तथा हरः । इस वाक्य में 'यथा' शब्द हरि का उपमान-वाचक है । इस कारण 'सादृश्य' अथवा 'यथार्थ' अर्थ से प्राप्त समास का इससे निषेध होता है ।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए "अव्ययं विभक्ति" (२-१-६) से अव्ययं, "सह सुपा" (२-१-४) से 'सह' तथा सुपा, "प्राक् कडारात् समासः" (२-१-३) से 'समासः', "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" (२-१-२) से 'सुप्' तथा "अव्ययी भावः" (२-१-५) से 'अव्ययीभावः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "सादृश्य-भिन्न अर्थ में विद्यमान 'यथा' अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास हो और वह अव्ययीभाव समास होता है ।" **उदाहरण—यथावृद्धम्** (जो जो वृद्ध हैं) । **लौकिक** अस्वपद **विग्रह**—ये ये वृद्धाः । **अलौकिक विग्रह**—वृद्ध+जस्, यथा+सु । **प्रत्युदाहरण—यथा हरिः तथा हरः** (जैसे विष्णु वैसे ही शिव) । इस वाक्य में शिव के साथ विष्णु का सादृश्य बताया गया है । तदनुसार 'यथा' शब्द से 'हरि' की समानता सूचित की गई है । अतः उक्त प्रयोग में "अव्ययं विभक्ति" ६५२ सूत्रद्वारा 'सदृशार्थक' यथा—शब्द के साथ समास का निषेध हो जाता है ।

विशेष—प्रकृत सूत्र के सन्दर्भ में कैयट ने सादृश्य अर्थ में भी समास की अप्राप्ति के अन्य तीन कारण बतलाये हैं । (१) तदनुसार 'यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः' वाक्य में हेतु-सापेक्ष होने से समास की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि 'देवदत्त का सादृश्यवान् कौन है ?' इस प्रकार उपमेय-विषयक आकाङ्क्षा हो सकती है । (२) इसी सन्दर्भ में दूसरी शङ्का यह उपस्थित की गई है कि सादृश्यार्थक 'थाल्' प्रत्यय से निष्पन्न 'यथा' शब्द सर्वदा सादृश्यार्थक ही रहेगा, अतः प्रकृत सूत्र "यथाऽसादृश्ये" की क्या उपयोगिता है ? (३) अवश्यप्राप्त का ही 'असादृश्ये' अंश से निषेध किये जाने के कारण सादृश्य-सम्पत्ति इत्यादि से प्राप्त सादृश्यार्थक 'यथा' शब्द के साथ समास-निषेध होने के कारण समास को कौन रोक सकता है ? इस प्रकार 'असादृश्ये एव' यह निरर्थक ही है । इन तीनों शङ्काओं का समाधान क्रमशः इस प्रकार दिया जाता है—(१) सापेक्ष-स्थल में समास प्राप्त होता है । उक्त उदाहरण में विशेषण के साकाङ्क्ष होते हुए भी उपमान की उपमेय के प्रति नित्यसापेक्षता है—अतः समास-निवारण के लिये 'असादृश्ये' की उपयोगिता है । (२) प्रकृत सूत्र में अव्युत्पन्न प्रातिपदिक 'यथा' शब्द का ग्रहण किये जाने से

वा 'यथार्थे' इति वा प्राप्तं निषिध्यते। (६६२) यावदवधारणे २।१।८॥ यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामाः यावच्छ्लोकम्। (६६३) सुप्प्रतिना मात्रार्थे

निषिध्यत इति भावः। भाष्ये तु प्रकारवचने यथाशब्दयोगे सादृश्येत्यनेनैव प्राप्तिरुक्ता, न तु यथार्थत्वेन प्राप्तिरुक्ता। यथाशब्दस्य सूत्रगृहीतत्वेन तद्योगे यथार्थेत्यप्रवृत्तेरिति तदाशय इति शब्देन्दुशेखरे विस्तरः।

(६६२) **यावदवधारणे**। इयत्तापरिच्छेदे गम्ये यावदित्यव्ययं समस्यते। सोऽव्ययीभाव इत्यर्थः। **यावन्त इति**। यत् परिमाणं येषामिति विग्रहे 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' इति वतुप्प्रत्ययः। यावदित्यव्ययमेव समस्यते, विग्रहस्तु तद्धितान्तेनैव, नित्यसमासत्वेन अस्वपदविग्रहौचित्यात्। अवधारणे किम्? यावद्दत्तं तावद् भुक्तम्। इयत् भुक्तमिति नावधारयतीत्यर्थः।

'असादृश्ये' अंश चरितार्थ होता है। (३) अवश्यप्राप्त एवम् अनवश्यप्राप्त (सामान्य-प्राप्त), सभी का यह निषेधक है, केवल अवश्यप्राप्त का नहीं। अतः प्रकृतसूत्र की सार्थकता पर भाष्यमतानुसारी विद्वानों ने इस तरह विचार किया है।[1]

(६६२) **पद**—यावद्, अवधारणे। **अनुवृत्ति**—अव्ययम्, सुप्, समासः, सह सुपा, अव्ययीभावः। **विधि (संज्ञा) सूत्र**।

मूलार्थ—(अवधारण अर्थ में 'यावत्' शब्द का समास होता है।)

उदाहरण—यावन्तः श्लोकाः तावन्तः अच्युतप्रणामाः > यावच्छ्लोकम्।

विवरण—पूर्वसूत्र के अनुसार यहाँ भी उतने ही पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "निश्चयार्थक यावत् शब्द का समर्थ-सुवन्त के साथ नित्य

---

(१) कैयटेन 'असादृश्ये इति किमर्थम्?' इति प्रतीकमुपादाय प्रश्ने त्रीणि कारणानि उपन्यस्तानि। देवदत्तसादृश्यवानिति बोधे 'कः' इति उपमेयाकाङ्क्षादर्शनात् उपमेयसापेक्षत्वात् समासो न स्यात् इति 'असादृश्ये' इति व्यर्थम् इति सापेक्षत्वरूपमेकं प्रश्नकारणमुपन्यस्य प्रधानस्य सदृशार्थस्य सापेक्षत्वेऽपि विशेषणस्य देवदत्तार्थस्य सापेक्षत्वाभावात् यत्सादृश्यवान् देवदत्तः इति प्राथमिकबोधे च विशेषणस्य सापेक्षत्वेऽपि उपमानस्य उपमेयं प्रति नित्यसापेक्षत्वात् समासः प्राप्नोत्येवेति तत्सार्थक्यमुपपाद्य यथा-शब्दस्य सादृश्यार्थक-थाल निष्पन्नत्वात् सादृश्ये एव शक्तेः असादृश्यार्थकत्वासम्भवात् सूत्रवैयर्थ्यमेव हृदि निधाय 'असादृश्ये' इति किमर्थम् इति भाष्यकारेण प्रश्नः कृतः इति यथाशब्दस्य सादृश्यमात्रवाचकत्वरूपं द्वितीयप्रश्नकारणमुपन्यस्तम्। भाष्यकारेण च प्रथमप्रश्नकारणपरिहारस्य प्रधानसापेक्षत्वरूपस्य नित्यसापेक्षत्वरूपस्य च सुबोधत्वात्तं स्पष्टतोऽनुल्लिख्यैव प्रत्युदाहरणमात्रं 'यथा देवदत्तः तथा यज्ञदत्तः' इत्युल्लिख्य सादृश्यमात्रवाचकत्वरूपं द्वितीयं प्रश्नकारणम्—असादृश्ये इत्युच्यते, तत्रेदं न सिध्यति यथाशक्ति इत्यादिना प्रयोगासिद्धिव्याजेनोपन्यस्य 'नैष दोषः' इत्यादिना वीप्सावाचिनः अव्युत्पन्नस्य यथाशब्दस्य सूत्रेऽस्मिन् ग्रहणं न तु थालन्तस्येति सूत्रसार्थक्यमुपपादितम्। नाप्राप्तस्यैव 'असादृश्ये' इत्यनेन निषेधात् सादृश्यसम्पत्तीत्यादिना सादृश्यसार्थकयथाशब्देन समासो दुर्वार एवेति असादृश्ये एवेति व्यर्थमेवेति अनाप्राप्तत्वात् पूर्वप्राप्त्यनिषेधरूपं तृतीयं प्रश्नकारणमुक्तम्। तत्परिहारश्च 'अथ यः प्रकारवचने थाल् तस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति' इत्यादिशङ्कायां 'प्रतिनिषेधवचनसामर्थ्यान्न भविष्यति' इति भाष्योक्त एव तत्प्रतीकमुपादाय 'यथार्थे यदव्ययमिति पूर्वेणैव सिद्धे समासे सादृश्यप्रतिषेधार्थत्वादस्यारम्भस्य' इति कैयटेन स्पष्टीकृतः। —म० म० पं० नित्यानन्द पन्त कृत 'लघुशब्देन्दुशेखर'—दीपक टीका पृ० ५३६–५३७।

२।१।९॥ **शाकस्य लेशः शाकप्रति । मात्रार्थे किम् ? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् ।**

(**६६३**) **सुप्प्रतिना मात्रार्थे ।** सुबिति छेदः । मात्रा लेशः । तस्मिन्नर्थे विद्यमानेन प्रतिना सुबन्तं समस्यत इत्यर्थः । सुबित्यनुवर्तमाने पुनः सुब्ग्रहणं सन्निहितस्याव्ययमित्यस्यानुवृत्त्यर्थम् । तद् ध्वनयन्नुदाहरति—**शाकस्य लेशः शाकप्रतीति ।** अत्र प्रतीत्यव्ययं मात्रार्थकम् । अतस्तेन शाकस्येति सुबन्तस्य समासः । समासविधौ सुबन्तस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वेन उपसर्जनत्वात्पूर्वनिपातः, न तु प्रतेः, तस्य समासविधौ तृतीयानिर्दिष्टत्वात् । **वृक्षं प्रतीति ।** अत्र प्रतेः मात्रार्थकत्वाभावात् न तेन समासः । न च 'लक्षणेत्थम्' इति कर्मप्रवचनीयत्वविधानसामर्थ्यादेवात्र समासो न भविष्यति, सति समासे द्वितीयायाः षष्ठ्या वा लुकि अविशेषात्, सकृत्प्रवृत्ततया समासात्तद्विभक्त्यनुत्पत्तेरिति वाच्यम्, वृक्षं प्रति सिञ्चति इत्यादौ 'उपसर्गात् सुनोति' इति षत्वनिवृत्त्या कर्मप्रवचनीयत्वस्य चरितार्थत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

समास होता है और वह अव्ययीभाव-संज्ञक होगा'। **उदाहरण**—(निर्धारण अर्थ) 'यावत्'—**यावच्छ्लोकम्** (जितने श्लोक उतने ही वार विष्णु को प्रणाम)। **लौकिक विग्रह**—यावन्तः श्लोकाः (तावन्तः अच्युतप्रणामाः)। **अलौकिक विग्रह**—यावत्+जस्, श्लोक+जस्। **प्रक्रिया**-प्रकृत सूत्र से 'यावत्' का 'श्लोक' के साथ समास, विभक्तिलोप, 'यावत्' का पूर्वनिपात>यावत्-श्लोक समुदाय से विभक्त्युत्पत्ति, सु = अम्भाव, पूर्वरूप>यावत्+श्लोकम्। श्चुत्व एवं छत्व होने पर>**यावच्छ्लोकम्। प्रत्युदाहरण**—'यावद् दत्तं तावद् भुक्तम्' (जब तक दिया तब तक खाया) वाक्य से भोजन के परिमाण का निश्चय न होने से समास नहीं हुआ।

(**६६३**) **पद**—सुप्, प्रतिना, मात्रार्थे। **अनुवृत्ति**—समासः, सह सुपा, अव्ययीभावः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—('मात्रा'—अर्थ में 'प्रति' शब्द के साथ समास होता है)। **उदाहरण**—शाकस्य लेशः>शाकप्रति। **प्रत्युदाहरण**—'मात्रार्थे' क्यों कहा ? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्।

विवरण—प्रकृत सूत्र में भी इसके पूर्व दो सूत्रों के अनुसार 'समासः', 'सह सुपा' तथा 'अव्ययीभावः' की अनुवृत्ति की जा रही है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "मात्रा अर्थात् स्वल्प अर्थ में वर्तमान 'प्रति' शब्द के साथ समर्थ सुबन्त का समास होता है और वह अव्ययीभाव संज्ञक हो"। **उदाहरण—स्वल्पार्थ में 'शाकप्रति'**-(थोड़ा शाक)। **लौकिक विग्रह**—शाकस्य लेशः। **अलौकिक विग्रह**—शाक+ङस्, प्रति+सु (मात्रार्थ में)। प्रक्रिया—उक्त सूत्र से समास। सूत्र में 'प्रतिना' पद का तृतीया विभक्ति में प्रयोग होने से 'प्रति' की उपसर्जन-संज्ञा नहीं हुई, अतः उसका पूर्वनिपात भी नहीं हुआ। विभक्तिलोप>शाकप्रति, अव्ययीभाव समास होने के बाद पुनः विभक्त्युत्पत्ति>शाकप्रति+सु>**शाकप्रति** (विभक्तिलोप)। इसी तरह अन्य उदाहरण—सूपप्रति (थोड़ीदाल)। **प्रत्युदाहरण**—प्रकृतसूत्र में यदि 'मात्रार्थे' पद न रहता तो 'वृक्षं वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्' इस वाक्य में लक्षणार्थक 'प्रति' शब्द के साथ 'वृक्ष' शब्द का समास हो जाता। वह न हो, अतः 'मात्रार्थे' पद का निवेश किया गया। इसके फलस्वरूप समास नहीं हुआ। 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'वृक्ष' में द्वितीया विभक्ति हुई।

विशेष—प्रकृत सूत्र में "सह सुपा" (२-१-४) से 'सुप्' की अनुवृत्ति आरही है। सूत्र में पुनः 'सुप्' ग्रहण करने से 'अव्यय' की निवृत्ति हो जाती है। अतः यहाँ 'सुप्' के आते हुए भी 'सुप्' का सम्बन्ध नहीं दिखाया गया।

(६६४) अक्षशलाकासंख्याः परिणा २ । १ । १० ॥ द्यूतव्यवहारे पराजय एवायं समासः । अक्षेण विपरीतं वृत्तमक्षपरि । शलाकापरि । एकपरि । **(६६५) विभाषा २ । १ । ११ ॥** अधिकारोऽयम् । एतत्सामर्थ्यादेव प्राचीनानां नित्यसमासत्वम् । 'सुप्सुपा'

---

(६६४) **अक्षशलाका ।** समस्यन्ते सोऽव्ययीभाव इति शेषः । **द्यूतव्यवहारे इति ।** वार्तिकमिदम् । इदं द्यूतं तावत् पञ्चभिः अक्षैः शलाकाभिर्वा भवति । यदि अक्षाः शलाका वा कृत्स्नाः उत्ताना आवाञ्चो वा पतन्ति, तदा पातयिता जयति । अन्यथा पराजयत इति स्थितिः । **अक्षेणेति ।** कर्तरि तृतीया । विपरीतं वृत्तमित्यत्र वृतेर्भावे क्तः । विपरीतमिति । क्रियाविशेषणम् । जये यथा परिवर्तितव्यं न तथा परिवृत्तमित्यर्थः । **शलाकापरीति ।** शलाकया विपरीतं वृत्तमिति भावः । **एकपरीति ।** एकेन विपरीतं वृत्तमित्यर्थः । एवं द्विपरि त्रिपरि इत्यादि ।

(६६५) **विभाषा । अधिकारोऽयमिति ।** ततश्च उत्तरत्र समासविधिषु एतदनुवर्तते इति लभ्यते । ननु 'प्राक्कडारात् समासः' इत्यत ऊर्ध्वं 'सह सुपा' इत्यतः प्रागेव कुतो विभाषाधिकारो न कृत इत्यत आह—**एतत्सामर्थ्यादिति ।** मध्ये विभाषाधिकारपाठसामर्थ्यदिवेतः प्राचीनानां नित्यसमासत्वं गम्यत इत्यर्थः । यद्यपीतः प्राचीनानां विकल्पे प्रमाणाभावादेव नित्यत्वं सिद्धं तथापि तस्यैव लिङ्गेन दृढीकरणमिति बोध्यम् । नन्वेवं सति 'सुप्सुपा' इत्यपि नित्यसमासः स्यात् । ततश्च पूर्वं भूतः इति लौकिकविग्रहवाक्यमनुपपन्नं स्यात् । 'सुप्सुपा' इति विषये विस्पष्टे पटुः विस्पष्टपटुरिति विग्रहप्रदर्शनपरम्

---

(६६४) पद—अक्ष-शलाका-संख्याः, परिणा । **अनुवृत्ति**—अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।**

मूलार्थ—द्यूतव्यवहार या पराजय में ही यह समास होता है । उदाहरण—अक्षेण विपरीतं वृत्तम्—(१) अक्षपरि । (२) शलाकापरि । (३) एकपरि ।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिये पूर्व-निर्दिष्ट सूत्रों के अनुसार आवश्यक पदों की अनुवृत्ति करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि "'अक्ष', 'शलाका' तथा 'संख्यावाची' शब्दों का 'परि' के साथ समास होगा और वह अव्ययीभाव हो" । जूए के खेल में पराजय (हार) अर्थ प्रतीयमान होने पर ही सूत्रोक्त शब्दों का 'परि' के साथ यह समास होता है । **उदाहरण**—अक्षपरि (एक पासा उल्टा गिरने से हार गया) । **लौकिक विग्रह**—हारना अर्थ में 'परि' के साथ–अक्षेण विपरीतं वृत्तम् । **अलौकिक विग्रह**—अक्ष+टा, परि+सु । **प्रक्रिया**—उक्त सूत्र से समास, 'अक्ष' का पूर्व निपात, अव्ययसंज्ञा>अक्षपरि>अक्षपरि+सु>**अक्षपरि** ("अव्ययादाप्सुपः" २-४-८२ से विभक्तिलोप) । इसी प्रकार—शलाकया विपरीतं वृत्तम्>**शलाकापरि** (शलाका उलटी पड़ गई) तथा एकेन विपरीतं वृत्तम्>**एकपरि** (एक की कमी से हार गया) । **प्रक्रिया**—'अक्षपरि' के समान जानें । इसी तरह **द्विपरि, त्रिपरि, चतुष्परि** रूप भी बनेंगे । 'पञ्च परि' में समास नहीं होगा, क्योंकि पाँच पासों (कौड़ियाँ) के उलटी या सीधी गिरने में जीत ही होती है, हार नहीं ।

(६६५) पद—विभाषा । **अधिकार-सूत्र ।**

मूलार्थ—यह अधिकार-सूत्र है । इसी के सामर्थ्य से पूर्व सूत्रों से विहित समास नित्य है । "सह सुपा" (२-१-४) से विधीयमान समास नित्य नहीं है, अन्यथा "अव्ययम् विभक्ति०" (२-१-६) सूत्र से समास-विधान की आवश्यकता नहीं रहती ।

विवरण—यह अधिकार सूत्र है । यहाँ से समास-विधि का विकल्प आरम्भ होता है । 'विभाषा' का अधिकार "चार्थे द्वन्द्वः" (२-२-२९) सूत्र पर्यन्त है । अत एव "विभाषा" (२-१-११) सूत्र से पूर्व अव्ययीभाव समास में समास-विधि नित्य थी । किन्तु "सुप्सुपा" ६५० से विधीयमान

इति तु न नित्यसमासः, 'अव्ययम्' इत्यादिसमासविधानज्ञापकात् । (६६६) अपपरि-

'आकडारात्' इति सूत्रस्थभाष्यमपि विरुध्येतेत्यत आह—सुप्सुपेति तु न नित्यसमास इति । कुत इत्यत आह—अव्ययमित्यादीति । 'आ कडारात्' इत्येव सिद्धे 'प्राक्कडारात्' इति प्राग्ग्रहणं समाससञ्ज्ञायाः अव्ययीभावादिसञ्ज्ञासमावेशार्थम् । अन्यथा एकसञ्ज्ञाधिकारात् पर्यायः स्यादिति 'आ कडारात्' इति सूत्रे भाष्ये स्थितम् । तत्र 'अव्ययं विभक्ति' इत्याद्यव्ययीभावादिविधिषु 'सुप्सुपा' इति समासमनूद्य नाव्ययीभावादिसञ्ज्ञा विधेयाः, 'उपपदमतिङ्' 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' 'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्य' इत्यादौ सुबन्तस्य सुबन्तेन समासस्य उद्देश्यस्याप्रसिद्धेः । अतस्तेषु समासविधानस्यावश्यकत्वात् अर्थाधिकारानुरोधात् सर्वत्र समास इत्यनुवृत्तं विधेयसमर्पकमित्यास्थेयम् । अत्र 'सुप्सुपा' इत्येव सिद्धे 'अव्ययं विभक्ति' इत्याद्यव्ययीभावादिविधिषु समाससञ्ज्ञाविधानं व्यर्थं सत् ततः प्राचीनविधेः वैकल्पिकत्वं ज्ञापयति । न चाव्ययीभावादिविधिषु समासविध्यभावे अव्ययादीनां समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वाभावेन उपसर्जनत्वाभावात् पूर्वनिपातनियमो न स्यात् । तदर्थमव्ययीभावादिविधिषु समासविधानं चरितार्थमिति वाच्यम्, 'प्रथमानिर्दिष्टम्' इति सूत्रे समास इत्यस्य समासत्वव्याप्याव्ययीभावादिविधायके शास्त्रे इत्यर्थाभ्युपगमेन अव्ययादीनाम् उपसर्जनत्वसिद्धेर्वक्तुं शक्यत्वात् । तस्मादव्ययीभावादिविधिषु समासविधानं 'सुप्सुपा' इति समासस्य वैकल्पिकत्वं ज्ञापयतीति स्थितम् । 'आ कडारात्' इति सूत्रे 'सुप्सुपा' इति समासविषये विस्पष्टं पटुः विस्पष्टपटुः इति विग्रहप्रदर्शनपरभाष्यं चेह लिङ्गमित्यलं बहुना । एवं च 'इवेन समासः'

समास नित्य नहीं रहा । यदि "सह सुपा" ६५० सूत्र के योगविभाग के द्वितीय अंश "सुपा" से विधीयमान समास भी नित्य हुआ होता तो "अव्ययम् विभक्ति०" सूत्र से विधीयमान समास की आवश्यकता न पड़ती । उसका पृथक् विधान किया है, अतः सुवन्त के साथ सुबन्त का समास नित्य नहीं होता । इसी कारण भाष्यकार ने 'विस्पष्टपटुः' का स्वपद विग्रह 'विस्पष्टः पटुः' किया है ।

विशेष—"विभाषा" तथा "अप परिवहिरञ्चवः पञ्चम्या" (२-६-११) इन दो सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र था, ऐसी कल्पना की गई है। भाष्यकार ने योगविभाग कर पहले अंश "विभाषा" का अधिकार स्वीकार कर उससे आगे आने वाले सूत्रों में 'विभाषा' की अनुवृत्ति होने से वैकल्पिक विधान द्वारा समास की वैकल्पिकता मानी है । वस्तुतः विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि एकार्थीभाव की विवक्षा होने पर अर्थ की दृष्टि से जो भी समास—तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि-अपेक्षित होता है, वही बताया जाता है । तथा जहाँ पर उन दोनों अर्थों का प्रतिपादन सम्भव हो वहाँ दो समास हो सकते हैं । इसके प्रमाण-स्वरूप "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" (२-१-१८) सूत्र में पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'वा' पद का सन्निवेश करना भाष्यकार ने माना है। अतः "विभाषा" (२-१-११) सूत्र व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि उससे पूर्ववर्ती सूत्रों से विधीयमान समास नित्य होते हैं । यह उसकी नियामकता है। इस नियम के फलस्वरूप जिस प्रकार कृष्णं श्रितः, वृकाद् भीतः आदि विग्रह-वाक्य समास के अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उसी तरह 'हरेः अधि', 'शाकं प्रति' प्रभृति वाक्य समास के अर्थ को प्रकट नहीं कर सकते, क्योंकि नित्य समास की विशेषता स्व-पदों (अपने पदों) से विग्रह न हो सकने में ही है (अस्वपद-विग्रहो नित्य-समासः) । कुछ स्थलों पर—उदाहरणार्थ 'कष्टश्रितः', 'अरण्यगतः' इत्यादि पदों में—एकार्थीभाव की विवक्षा रहते हुए 'तत्पुरुष-समास' किया जाय या 'बहुव्रीहि'—इस प्रकार की शङ्का होने पर यदि दोनों समासों में एक ही अर्थ निकलता हो तो जो सूत्रकार ने विशेष प्रकार से समास कहा हो वही माना जाय । इस से यह ज्ञात हुआ कि लक्षण (शास्त्र) को देखकर कार्य करने वालों को

बहिरञ्चवः पञ्चम्या २ । १ । १२ ॥ अपविष्णु संसारः—अप विष्णोः । परिविष्णु-परिविष्णोः । बहिर्वनम्—बहिर्वनात् । प्राग्वनम्—प्राग्वनात् । (६६७) आङ् मर्यादाऽभि-

---

इत्यादि वैकल्पिकमिति सिद्धम् । यद्यपि नित्यसमासाधिकारे 'कुगति' इत्यत्रापि इवेनेति वार्तिकं पठितम् तथापि 'सुप्सुपा' इत्यत्र पठितमेव तत्रापि स्मार्यत इति कैयटः ।

(६६६) **अपपरिबहिः** । समस्यन्ते सोव्ययीभाव इति शेषः । **अपविष्ण्विति** । अत्र अप इत्यव्ययं वर्जने । विष्णुं वर्जयित्वा संसरणमित्यर्थः । **अप विष्णोरिति** । लौकिकविग्रहवाक्यम्, समासस्य वैकल्पिकत्वेनास्वपदविग्रहनियमाभावात् । 'अपपरी वर्जने' इति अपेत्यव्ययस्य कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी । तदन्तेन अपेत्यस्याव्ययीभावसमासः, सुब्लुक्, अपेत्यव्ययस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात् पूर्वनिपातः । समासात् सुबुत्पत्तिः । 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुक् । एवं यथायथमग्रेऽपि ज्ञेयम् । **परिविष्णु-वति** । अत्रापि परिर्वर्जने । पञ्चम्यादि पूर्ववत् । **बहिर्वनम् बहिर्वनादिति** । अस्मादेव ज्ञापकात् बहिर्योगे पञ्चमी । इतरत् पूर्ववत् । अदन्तत्वादम्भावः । **प्राग्वनम् प्राग्वनादिति** । अञ्चूत्तरप्रयोगे पञ्चमी ।

यह ज्ञान हो सके कि समास एवं समासाभाव—ये दोनों ही नियमानुकूल हैं। यही "विभाषा" (२-१-११) के अधिकार की सार्थकता है।

(२) इस विभाषा अधिकार को वैयाकरण 'महाविभाषा' कहते हैं। इस अधिकार का यह फल हुआ कि समास एवं समासाभाव के कारण दो रूप होते हैं—जैसे राज्ञः पुरुषः, राजपुरुषः इत्यादि।

(६६६) पद—अपपरिबहिरञ्चवः, पञ्चम्या। **अनुवृत्ति**—विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—(अप, परि, बहिस् तथा अञ्चु—ये पञ्चम्यन्त के साथ विकल्प से समस्यमान हों।) उदा०—(१) अपविष्णु संसारः—अप विष्णोः। (२) परिविष्णु संसारः—परि विष्णोः। (३) बहिर्वनम्—बहिर्वनात्। (४) प्राग्वनम्—प्राग्वनात्।

विवरण—"विभाषा" अधिकार के फलस्वरूप यहाँ से विकल्प-विधान आरम्भ होता है। इसके अतिरिक्त सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए क्रमशः "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" (२-१-२) से 'सुप्', "प्राक् कडारात् समासः" (२-१-३) से 'समासः', "सह सुपा" (२-१-४) से 'सह सुपा' तथा "अव्ययीभावः" (२-१-५) से 'अव्ययीभावः' पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र से अभिव्यञ्जित होता है कि "अप, परि, बहिस् एवम् अञ्चु (अप च, परि च, बहिश्च, अञ्चुश्च—अप-परि-बहिरञ्चवः)—ये पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और यह अव्ययीभाव समास हो"। **उदाहरण**—(१) अपविष्णु—अपविष्णोः संसारः (विष्णु को छोड़कर संसार)। यहाँ 'अप' अव्यय वर्जनार्थक है। वह 'कर्मप्रवचनीय'-संज्ञक है—"अप-परी वर्जने" (१-४-८८)। जिसके फलस्वरूप उसके योग में पञ्चमी विभक्ति हुई—"पञ्चम्यपाङ्परिभिः" (२-३-१०)। अतः पञ्चम्यन्त 'विष्णोः' शब्द के साथ 'अप' का प्रकृत सूत्र से समास होगा। **विग्रह**—विष्णोः अप। **(प्रक्रिया)**>अप-विष्णु (सुप्-लुक्, 'अप' की उपसर्जन संज्ञा तथा पूर्व निपात)>अपविष्णु+सु (समास से पुनः विभक्त्युत्पत्ति)>**अपविष्णु** (विभक्ति का लोप—"अव्ययादाप्सुपः" (२-४-८२))। समास न होने पर—**अप विष्णोः**। (२) **परिविष्णु—परि विष्णोः** संसारः (विष्णु को छोड़कर संसार है)। यहाँ भी पूर्वोक्त (१) उदाहरण के समान समासादि विधान समझें। **बहिर्वनम्—बहिर्वनात्** (वन से बाहर)। 'बहिस्' के योग में कर्मप्रवचनीय संज्ञा एवं पञ्चमी-विधायक सूत्र नहीं हैं, किन्तु प्रकृत सूत्र में 'बहिस्' शब्द का पञ्चम्यन्त

विध्योः २।१।१३॥ एतयोराङ् पञ्चम्यन्तेन वा समस्यते सोऽव्ययीभावः। आमुक्ति संसारः—आ मुक्तेः। आबालं हरिभक्तिः—आ बालेभ्यः। (६६८) लक्षणेनाभिप्रती

---

(६६७) **आङ् मर्यादाभिविध्योः। एतयोरिति।** मर्यादाभिविध्योः विद्यमानादित्यर्थः। मर्यादायामुदाहरति—**आमुक्तीति**। मुक्तेः प्रागित्यर्थः। अभिविधावुदाहरति—**आबालमिति**। बालानारभ्य इत्यर्थः। 'आङ् मर्यादावचने' इत्युभयत्रापि कर्मप्रवचनीयत्वात् 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी।

समर्थ सुवन्त के साथ समास विधान होने के फलस्वरूप इससे यह ज्ञापित होता है कि 'बहिस्' के योग में भी पञ्चमी विभक्ति होती है। **लौकिक विग्रह**—वनात् बहिः। **प्रक्रिया**—समासादि कार्य पूर्व उदाहारण के अनुसार। विभक्त्युत्पत्ति के अनन्तर—बहिर्वन+सु>बहिर्वन+अम् (सु = अम्—"नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः"—६५८ सूत्र) >**बहिर्वनम्** (अ+अम्=अम्—पूर्वरूप)। (४) 'अञ्चु' उत्तर पद—**प्राग्वनम्**—**प्राग्वनात्** (वन से पूर्व दिशा की ओर)। **विग्रह**—प्राक् वनात्—'अञ्चु' उत्तर पद रहते पञ्चमी-विधायक सूत्र—अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" (२-३-२९)। पञ्चम्यन्त 'वनात्' के साथ 'प्राक्' शब्द का समास होगा। **प्रक्रिया**—पूर्ववत्। यहाँ भी 'वन' शब्द के अकारान्त होने के कारण विभक्ति को अम्-भाव होगा।

(६६७) **पद**—आङ्, मर्यादाभिविध्योः। **अनुवृत्ति**—विभाषा, पञ्चम्या, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन अर्थों में विद्यमान 'आङ्' का पञ्चम्यन्त के साथ वैकल्पिक समास हो और उसकी अव्ययीभाव संज्ञा होती है। उदा० आमुक्ति संसारः—आ मुक्तेः। आबालं हरिभक्तिः—आ बालेभ्यः।

विवरण—"विभाषा" (२-१-११) अधिकार के अन्तर्गत यह विधि भी वैकल्पिक है। सर्वप्रथम "अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या" (२-१-१२) से पञ्चमी की अनुवृत्ति की जा रहा है। इसके साथ ही सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" (२-१-२) से 'सुप्', "प्राक् कडारात् समासः" (२-१-३) से समासः', "सह सुपा" (२-१-४) से 'सह सुपा', "अव्ययीभावः" (२-१-५) से 'अव्ययीभाव' की अनुवृत्ति की जा रही है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "मर्यादा (सीमा) और अभिविधि (पर्यन्त) अर्थ में विद्यमान 'आङ्' अव्यय का पञ्चम्यन्त समर्थतदादि के साथ वैकाल्पिक समास हो और उसकी अव्ययीभाव संज्ञा हो"।

उदाहरण—(१) आमुक्ति संसारः—आमुक्तेः (मुक्ति होने तक संसार)। **लौकिक विग्रह**—आ मुक्तेः। **पूर्वप्रक्रिया**—समास होने के पूर्व 'मुक्ति' शब्द का पञ्चम्यन्त होना अपेक्षित है। 'कारक' प्रकरण में यह निरूपित किया गया है कि 'मर्यादा' तथा 'अभिविधि' अर्थों में 'आङ्' 'कर्मप्रवचनीय' होता है—"आङ् मर्यादावचने" (१-४-८२)। कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'आङ्' के योग में "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" (२-२-१०) से पञ्चमी विभक्ति हुई है। **समास प्रक्रिया**—प्रकृत सूत्र से 'आ मुक्तेः' में समास होकर, विभक्तिलोप, समुदाय से पुनः सुबुत्पत्ति, अव्ययीभाव होने के कारण "अव्ययादाप्सुपः" (२-४-८२) से सुप्-लोप होकर>'**आमुक्ति**' रूप बनता है। पक्ष में '**आ मुक्तेः**'। (२) इसी प्रकार 'आ बालेभ्यः'>से '**आबालम्**' (समास होने पर 'बाल' शब्द अकारान्त होने के कारण 'सु' के स्थान पर 'अम्' तथा पूर्वरूप)। पक्ष में **आ बालेभ्यः**।

विशेष—'**मर्यादा' और 'अभिविधि' का अन्तर**—जहाँ से किसी बात की अवधि बाँधी जाय उसको समाविष्ट कर 'अभिविधि' होती है तथा 'मर्यादा' उस अवधि से पूर्व तक समझी जाती है। उदाहरणार्थ 'आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः' से यह प्रकट होता है कि पाटलिपुत्र से पहले तक वर्षा हुई। यह 'मर्यादा' का उदाहरण है। इसी वाक्य से यदि यह अभिव्यञ्जित किया जाय कि 'पाटलिपुत्र तक वर्षा हुई' तब 'अभिविधि' का उदाहरण होगा।

आभिमुख्ये २।१।१४॥ आभिमुख्यद्योतकावभिप्रती चिह्नवाचिना सह प्राग्वत्। अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति, अग्निमभि। प्रत्यग्नि, अग्निं प्रति। (६६९) **अनुर्यत्समया २।१।१५॥** यं पदार्थं समया द्योत्यते तेन लक्षणभूतेनानुः समस्यते सोऽव्ययीभावः। अनुवनमशनिर्गतः। वनस्य समीपं गत इत्यर्थः। (६७०) **यस्य चायामः २।१।**

---

(६६८) लक्षणेनाभि। लक्षणेनेत्येतद्व्याचष्टे–चिह्नवाचिनेति। प्राग्वदिति। समस्यत सोऽव्ययीभाव इत्यर्थः। अभ्यग्नि शलभाः पतन्तीति। शलभाः क्षुद्रजन्तुविशेषाः स्थूलमक्षिकाः। अग्निमभीति। विग्रहोऽयम्। 'अभिरभागे' इति 'लक्षणेत्थम्' इति चाभिप्रत्योः कर्मप्रवचनीयत्वम्। अग्निज्ञाप्यं तदभिमुखं च शलभपतनमित्यर्थं।

(६६९) अनुर्यत्समया—लक्षणेनेत्यनुवर्तते। यदिति समयायोगे 'अभितः-परितः' इति द्वितीयान्त्वम्। सामान्ये नपुंसकम्। तदाह—यं पदार्थमिति। अनुवनमिति। वनशब्दः अत्र वनसमीपदेशे लाक्षणिकः। वनसमीपस्य लक्षणत्वं वस्तुसदेव निमित्तम्। तदाह—वनस्य समीपं गत इत्यर्थं इति। वस्तुतो लक्षणीभूतस्य वनस्य समीपं गत इति यावत्। 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना सिद्धे विभाषार्थमिदं सूत्रम्। ततश्च वनस्यानु इति लौकिकविग्रहवाक्यमुदाहार्यम्। नात्र कर्मप्रचनीयसंज्ञा शङ्क्या, वस्तुसत एवात्र लक्षणत्वस्य निमित्तत्वाश्रयणात्। लक्षणत्वस्य ज्ञातस्य निमित्तत्वे तु वनमनु इत्येव वाक्यमुदाहार्यम्।

---

(६६८) **पद**—लक्षणेन, अभिप्रती, आभिमुख्ये। **अनुवृत्ति**—विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः। विधि-(संज्ञा)-सूत्र।

मूलार्थ—आभिमुख्य-सूचक अभि तथा प्रति अव्यय चिह्नवाची सुबन्त के साथ पूर्ववत् हों। उदा० अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति—अग्निमभि। प्रत्यग्नि—अग्निं प्रति।

विवरण—प्रकृत प्रकरण के अन्तर्गत प्रमुख पाँचों अनुवृत्तियाँ चली आरही हैं। 'पञ्चम्या' की निवृत्ति हो गई है। तदनुसार सूत्र का अभिप्रेत अर्थ यह होगा कि "चिह्नवाची सुबन्त के साथ (लक्षणेन) सम्मुखता-सूचक 'अभि' तथा 'प्रति' अव्यय विकल्प से समस्यमान होते हैं और वह अव्ययीभाव संज्ञक होता है"। **उदाहरण**—(१) अभ्यग्नि तथा (२) प्रत्यग्नि। **लौकिक** विग्रह—अग्निम् अभि। **अलौकिक** विग्रह—अग्नि+अम्, अभि+सु>अग्नि अभि (सम्मुखता-सूचक 'अभि' के साथ 'अग्निम्' का समास, विभक्ति-लोप, 'अभि' का पूर्व प्रयोग) >अभ्यग्नि (यण् = इ = य्) >अभ्यग्नि+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) >**अभ्यग्नि** (अव्ययसंज्ञा तथा विभक्तिलोप—"अव्ययादाप्सुपः" २-४-८२)। **अर्थ**—शलभ अग्नि को लक्ष्य कर तदभिमुख होकर गिरते हैं—अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति। समास के अभाव में—**अग्निम् अभि**। (२) **लौकिक** विग्रह—अग्निं प्रति। **अलौकिक** विग्रह—अग्नि+अम्, प्रति+सु>प्रति अग्नि (समासादि कार्य पूर्ववत्) >प्रत्यग्नि (यण्) >प्रत्यग्नि+सु>**प्रत्यग्नि** (विभक्त्युत्पत्ति एवं लोप)। **अर्थ**—अग्नि के सामने पतंगे गिरते हैं। समास के न होने पर—**अग्निं प्रति**।

(६६९) **पद**—अनुः, यत्समया। **अनुवृत्ति**—लक्षणेन, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः। **विधि (संज्ञा) सूत्र**।

मूलार्थ—जिस पदार्थ का सामीप्य द्योतन किया जाय, उस लक्षणस्वरूप शब्द के साथ 'अनु' का वैकल्पिक समास होता है तथा वह अव्ययीभाव-संज्ञक होता है। **उदाहरण**—अनुवनम् अशनिर्गतः। **अर्थ**—वनके समीप वज्र गिरा (वनस्य समीपम् अशनिर्गतः)।

विवरण—पूर्व सूत्र (६६८) से 'लक्षणेन' तथा पूर्वसूत्र के अनुसार अन्य सभी पाँच पदों की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ निष्पन्न होता है। तदनुसार "जिसके समीप में 'अनु' शब्द हो

१६॥ यस्य दैर्घ्यमनुना द्योत्यते तेन लक्षणभूतेनानुः समस्यते। अनुगङ्गं वाराणसी, गङ्गाया अनु। गङ्गादैर्घ्यसदृशदैर्घ्योपलक्षितेत्यर्थः। (६७१) तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च

---

(६७०) **यस्य चायामः**। लक्षणेनेत्यनुवर्तते। अनुरित्यनुवर्त्यं आवर्त्यं तृतीयया विपरिणम्यते। तत्र एकं लक्षणेनेत्यत्र सम्बध्यते। द्वितीयं तु अनुनेत्येतद् 'यस्य चायामः' इत्यनन्तरं सम्बध्यते। द्योत्यत इति शेषः। आयामो दैर्घ्यम्। तदाह—**तस्य दैर्घ्यमिति**। यद्दैर्घ्यसदृशं दैर्घ्यमित्यर्थः। **समस्यते इति**। सोऽव्ययीभाव इत्यपि बोध्यम्। अनुगङ्गमिति समासः। लौकिकविग्रहं दर्शयति—**गङ्गाया अन्विति**। इहापि लक्षणत्वं वस्तुसदेव निमित्तम्, न त्वनुद्योत्यम्। अतो न कर्मप्रवचीयत्वम्। द्योत्यत्वेनान्वये तु गङ्गामन्विति

(यस्य समया = यत्समया—षष्ठी तत्पुरुष), उस लक्षणवाची सुबन्त के साथ 'अनु' शब्द का समास होता है और उसकी अव्ययीभाव संज्ञा होती है"। **उदाहरण**—वनस्य अनु>अनुवनम् (अशनिर्गतः)। **प्रक्रिया**—यहाँ 'वन' का समीपवाची 'अनु' शब्द है, अतः उस लक्षणवाची 'वन' शब्द के साथ 'अनु' का समास होकर अनुवन ('अनु' की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्वनिपात, विभक्तिलोप) >अनुवन+सु, पुनः विभक्त्युत्पत्ति के अनन्तर विभक्ति को अम्भाव—>अनुवन+अम्>**अनुवनम्** (अ+अम् = पूर्वरूप)। पक्ष में—**वनस्य अनु**। अर्थ—वन के समीप।

(६७०) यस्य, च, आयामः। **अनुवृत्ति**—अनुः, लक्षणेन, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जिसकी दीर्घता 'अनु' शब्द से द्योतित हो, ऐसे लक्षणवाची शब्द के साथ समास हो। उदाहरण—अनुगङ्गं वाराणसी (वाराणसी की लम्बाई गङ्गा के किनारे किनारे है)। अर्थ—गङ्गायाः अनु (गङ्गा के किनारे किनारे)।

विवरण—प्रकृत सूत्र में पूर्व सूत्र (६६९) से 'अनुः' तथा सूत्र ६६८ से "लक्षणेन" के अतिरिक्त अन्य प्रासङ्गिक पदों की अनुवृत्ति आरम्भिक सूत्रों से की जाती है। तब सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'अनु' शब्द से जिसका विस्तार सूचित हो (आयामः), उस लक्षणवाची समर्थ सुबन्त के साथ 'अनु' शब्द का वैकल्पिक समास हो तथा उसकी 'अव्ययीभाव संज्ञा हो"। **उदाहरण**—गङ्गायाः अनु>अनुगङ्गं (वाराणसी)। अर्थात् गङ्गा के विस्तार के साथ साथ वाराणसी का विस्तार अभिलक्षित है।[1] प्रक्रिया—अनुगङ्गा में 'अनु' का 'गङ्गा' के साथ समास होने पर अव्ययीभाव संज्ञा, नपुंसक लिङ्ग, ह्रस्व तथा अम्भाव होने के बाद> **अनुगङ्गम्** रूप बनता है। पक्ष में—**गङ्गायाः अनु**।[2] यहाँ 'गङ्गा के समीप' अर्थ होने से सामीप्य का ज्ञापक गङ्गा है। अतः 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं हुई।

---

१. 'असी' और 'वरुणा' के बीच (असी वरुणयोर्मध्ये वाराणसी) वाराणसी का स्वरूप ज्ञात होता है। तो भी वह नगरी पूर्व से पश्चिम की ओर अथवा दक्षिण की ओर फैली है इस प्रश्न का उत्तर—स्वरूप-वाक्य 'अनुगङ्गं वाराणसी है'। 'असी' से लेकर 'वरुणा' तक गङ्गा का विस्तार दक्षिण से उत्तर की ओर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। काशी में उत्तरवाहिनी गङ्गा होने से यह स्थिति है ('वाराणस्यां विशेषेण गङ्गा ह्युत्तरवाहिनी')।

२. गङ्गासमीपं गत इति बोधे गङ्गायां ज्ञापकत्वस्य नियमेन मनसा बोधाद् अन्यलभ्यत्वेन नात्र ज्ञापकत्वम्। ततश्च लक्ष्यलक्षणभावद्योतकत्वाभावेन नात्र द्वितीया, कर्मप्रवचनीयत्वाभावात्। अनोर्लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धेनान्वये तु 'गङ्गामनु' इति द्वितीयैव भवति। तथा च रामायणम्—'निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीम्' इति।

२।१।१७॥ एतानि निपात्यन्ते। तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले स तिष्ठद्गु दोहनकालः। आयतीगवम् इत्यादि। इह शत्रादेशः पुंवद्भावविरहः समासान्तश्च निपात्यते।

युक्तम्। अनुगङ्गमित्यत्र गङ्गाशब्देन गङ्गादैर्घ्यसदृशं दैर्घ्यं लक्ष्यते। तदेवानुद्योत्यम्। तदाह—गङ्गादैर्घ्येति।

(६७१) **तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च। एतानीति।** शब्दरूपाणीत्यर्थः। **तिष्ठन्ति गाव इति।** फलितार्थकथनम्। तिष्ठन्त्यो गावो यस्मिन् काले स तिष्ठद्गु इत्येव वक्तव्यम्, 'सुप्सुपा' इत्यनुवृत्तेः। **दोहनकाल इति।** तदा गवां शयनोपवेशनयोरभावादिति भावः। **आयतीगवमिति।** आयत्यो गावो यस्मिन् काले इति विग्रहः। **इहेति।** उदाहरणद्वये इत्यर्थः। **शत्रादेश इति।** तिष्ठन्त्यो गाव इति आयत्यो गाव इति च प्रथमासमानाधिकरणत्वात् 'लटश्शतृशानचौ' इत्यप्राप्तौ तन्निपातनमिति भावः। **पुंवद्भावेति।** तिष्ठन्तीशब्दस्येव आयतीशब्दस्यापि 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वस्य प्राप्तौ तदभावो निपात्यते इति भावः। **समासान्तश्चेति।** आयतीगोशब्दस्य टच् समासान्तो निपात्यते, तत्पुरुष एव गोशब्दस्य टज्विधेरिति भावः। समासान्तश्चेति चकारात् अव्ययीभावश्च निपात्यते इति ज्ञेयम्। तथा च तिष्ठद्गोशब्दस्य नपुंसकह्रस्वत्वम्। अव्ययत्वात् सुपो लुक्। आयतीगवशब्दात्तु 'नाव्ययीभावात्' इत्यम्भाव इत्यादि फलति। **इत्यादीति।** खलेयवं खलेबुसम् इति सप्तम्या अलुक् इत्यादि ग्राह्यम्।

---

(६७१) **पद**—तिष्ठद्गुप्रभृतीनि, च। **अनुवृत्ति**—अव्ययीभावः, समासः। **विधि (संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—'तिष्ठद्गु' आदि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। उदा० (१) 'तिष्ठन्ति गावः यस्मिन् काले>(स) तिष्ठद्गुः—दोहनकालः (जिस समय गायें दुहाने के लिए अपने स्थान पर ठहरती हैं)। (२) आयतीगवम् इत्यादि। इन उदाहरणों में शतृ-आदेश, पुंवद्भाव का अभाव तथा समासान्त का निपातन किया गया है।

विवरण—अव्ययीभाव समास के अन्तर्गत इन शब्दों को सिद्ध किया जारहा है (निपातन)। अतः सूत्रार्थ की पूर्ति लिये केवल 'अव्ययीभावः, तथा 'समासः'—ये दो पद अनुवृत्ति द्वारा लाये गए हैं। सूत्र में 'च' शब्द 'ही' अर्थ (एव) का बोधक है[1]। इस प्रकार 'तिष्ठद्गु' गणपठित समस्त शब्द अव्ययीभाव संज्ञक ही होते हैं। अर्थात् ये शब्द दूसरे समास में प्रयुक्त नहीं होंगे। **उदाहरण**—तिष्ठद्गु—कालः। **विग्रहः**—तिष्ठन्त्यः गावः यत्र सः (दुहाते समय गायों के स्थिर रहने का समय)। **प्रक्रिया**—√स्था = तिष्ठ+शतृ+ङीप्+जस्, गो+जस्>तिष्ठद्-गो (समास होने के साथ 'शतृ' आदेश का निपातन, क्योंकि यहाँ प्रथमा—समानाधिकरण होने के कारण शतृ—आदेश प्राप्त नहीं था, कारण यह है कि 'गावः' में जस्—प्रथमाविभक्ति के अर्थ कर्ता का 'तिष्ठन्ती' पदस्थ कर्ता अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य है, पुंवद्भाव) > तिष्ठद्-गु ("गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य"—६५६—ह्रस्व, अव्ययसंज्ञा) > तिष्ठद्गु+सु > **तिष्ठद्गु** (सु का लोप)। (२) आयतीगवम्। **विग्रह**—आयत्यः गावः यस्मिन् काले (गायों का दुहाने आने का समय) >आयती-गो (समास, शतृ-आदेश, "स्त्रियाः पुंवद्०"—से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध) >आयती-गो+अ ("गोरतद्धितलुकि" ५-४-९२ से तत्पुरुष-समास में विधीयमान टच् प्रत्यय का निपातन) >आयतीगव्+अ (ओ+अ = अव्—"एचोऽयवायावः") >आयतीगव+सु (विभक्त्युत्पत्ति) **आयतीगवम्** (सु = अम् तथा पूर्वरूप)।

---

१. चकार एवकारार्थो वृत्त्यन्तरप्रवेशनिरासार्थः।

(६७२) पारे-मध्ये षष्ठ्या वा २ । १ । १८ ॥ पारमध्यशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह वा समस्येते । एदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते । पक्षे षष्ठीतत्पुरुषः । पारेगङ्गादानय-गङ्गापारात् । मध्येगङ्गात्-गङ्गामध्यात् । महाविभाषया वाक्यमपि । गङ्गायाः पारात्, गङ्गाया मध्यात् ।

---

(६७२) **पारे-मध्ये षष्ठ्या वा** । पारे मध्ये इति न सप्तम्यन्तयोर्ग्रहणम् । किंतु पारमध्यशब्दयोरेवेत्याह—**पारमध्यशब्दाविति** । **समस्येते इति** । अव्ययीभावसंज्ञौ चेत्यपि बोध्यम् । ननु पारमध्यशब्दयोरकारान्तयोः ग्रहणे कथमेकारनिर्देश इत्यत आह—**एदन्तत्वं चेति** । ननु 'विभाषा' इत्यधिकारादेव सिद्धे वाग्रहणं किमर्थमित्यत आह—**पक्षे षष्ठीतत्पुरुष इति** । वाग्रहणाभावेऽयमव्ययीभावसमासः विशेषविहितत्वात् षष्ठीसमासं बाधेत । तदबाधार्थं वाग्रहणमिति भावः । **पारेगङ्गादानयेति** । गङ्गायाः पारात् इति विग्रहे अव्ययीभावसमासे सति सुब्लुकि पारशब्दस्य पूर्वनिपाते निपातनादेत्वे नपुंसकह्रस्वत्वे पारेगङ्गशब्दात् समासात् पुनः पञ्चम्युत्पत्तिः । 'अव्ययादाप्' इति न लुक् अदन्ततया 'नाव्ययीभावात्' इति निषेधात् । अपञ्चम्या इति पर्युदासादम्भावश्च नेति भावः । **गङ्गापारादिति** । षष्ठीसमासपक्षे ज्ञेयम् । **मध्येगङ्गादिति** । पारेगङ्गादितिवद्रूपम् । **गङ्गामध्यादिति** । षष्ठीसमासे ज्ञेयम् । पारे मध्ये इति सप्तम्यन्ते षष्ठ्या समस्येते इति व्याख्याने तु गङ्गायाः पारे मध्ये इति विग्रहे समासे सति 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलग्रहणात् सप्तम्योरलुकि नपुंसकह्रस्वत्वे समासात् पुनरुत्पन्नायाः सप्तम्याः अम्भावे पारेमध्यं पारेगङ्गम् इति सिद्धेः एकारनिर्देशो व्यर्थः स्यात् । अतो यत्र सप्तम्यर्थो न सम्भवति तदर्थमेकारनिपातनमिति भाष्ये स्पष्टम् । एतत्सूचनार्यैव पञ्चम्यन्तोदाहरणमिति बोध्यम् । ननु यदि वाग्रहणमिह पक्षे षष्ठीसमासप्राप्त्यर्थमेव स्यात्, तर्हि गङ्गायाः पारात् गङ्गाया मध्यादिति वाक्यं न स्यादित्यत आह—**महाविभाषयेति** । विभाषेत्यधिकृता महाविभाषा । सर्वेषु समासविधिषु प्रायेण

विशेष—'आ-तिष्ठद्गु जपन् सन्ध्यां पश्चिमामायतीगवम्' गायों के वापस आने के समय से उनके दुहाने के समय की स्थिरता तक (सायं सन्ध्या करते हुए)—इस भट्टिमहाकाव्य के श्लोक (४-१४) में उपर्युक्त दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

(६७२) पद—पारेमध्ये, षष्ठ्या, वा । **अनुवृत्ति**—अव्ययीभावः, विभाषा, सुप् , सह सुपा, समासः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'पार' तथा 'मध्य' शब्दों का षष्ठ्यन्त के साथ विकल्प से समास होता है । इन्हें एकारान्त कर दिया जाता है । पक्ष में षष्ठीतत्पुरुष समास होगा । उदाहरण—(१) पारेगङ्गात् आनय—गङ्गापारात् । (२) मध्येगङ्गात्—गङ्गामध्यात् । विभाषा अधिकार के कारण पक्ष में वाक्य का प्रयोग भी होगा—(१) गङ्गायाः पारात् एवं (२) गङ्गायाः मध्यात् ।

विवरण—इस सूत्र में पुनः अनेक पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । निपातन के अतिरिक्त अन्य पूर्व सूत्रों के अनुसार ऊपर लिखे हुए पदों की अनुवृत्ति करने पर सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है—"पार' तथा 'मध्य' शब्दों का षष्ठ्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभाव समास हो तथा इन शब्दों के अन्त में एकार का निपातन किया जाय" । "विभाषा" (२-१-११) अधिकार होने पर पक्ष में विग्रहवाक्य का प्रयोग होगा । इसके अतिरिक्त प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'वा' पद से षष्ठीतत्पुरुष समास भी पक्ष में होता है, क्योंकि यह सूत्र षष्ठी समास का अपवाद है । इस प्रकार यहाँ तीन रूप बनेंगे । **उदाहरण**-पारेगङ्गम् । **लौकिक-विग्रह**—गङ्गायाः पारात्>पारेगङ्गा (समास तथा एकारान्त निपातन) >पारेगङ्ग (ह्रस्वत्व) >पारेगङ्ग+ङसि, ङसि = आत्—>पारेगङ्गात् (दीर्घ—अ+आ = आ) अर्थ—गङ्गापार । समुदाय से पञ्चमी विभक्ति में अम्-भाव

(६७३) सङ्ख्या वंश्येन २ । १ । १९ ॥ **वंशो द्विधा, विद्यया जन्मना च । तत्र भवो वंश्यः । तद्वाचिना सह सङ्ख्या वा समस्यते । द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि । व्याकरणस्य त्रिमुनि । विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां त्रिमुनि व्याकरणम् । एकविंशति भारद्वाजम् ।**

तस्यानुवृत्तेः महत्त्वं बोध्यम् । ननु अव्ययीभावसमासस्य षष्ठीसमासापवादत्वेऽपि तस्य महाविभाषया वैकल्पिकत्वात् तदभावपक्षे उत्सर्गतः षष्ठीतत्पुरुषः प्रवर्तत एव । तस्यापि षष्ठीसमासस्य विभाषाधिकारस्थत्वेन वैकल्पिकत्वात् तदभावपक्षे वाक्यमपि सिध्यत्येव । तस्मादिह सूत्रे वाग्रहणं व्यर्थमेवेति चेत्–उच्यते–'यत्र उत्सर्गापवादौ महाविभाषया विकल्पितौ तत्रापवादेन मुक्ते पुनरुत्सर्गो न प्रवर्तते' इति ज्ञापनार्थमिह वाग्रहणम् । तेन पूर्वं कायस्येत्यत्र एकदेशिसमासेन मुक्ते षष्ठीसमासो न भवति । दक्षस्यापत्यं दाक्षिरित्यत्र अत इञा मुक्ते 'तस्यापत्यम्' इत्यण् न भवति, किं तु वाक्यमेवेति भाष्ये स्पष्टम् ।

(६७३) **सङ्ख्या वंश्येन । वंशो द्विधेति ।** वंशः सन्ततिः । 'सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ । वंशोऽन्ववायः सन्तानः'–इत्यमरः । **विद्यया जन्मनेति ।** तत्र जन्मना वंशः पुत्रादिपरम्परेति प्रसिद्धमेव । विद्यया तु वंशः गुरुपरम्परा, 'यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः । तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन । स हि विद्यातस्तं जनयति । तच्छ्रेष्ठं जन्म । शरीरमेष मातापितरौ जनयतः' इत्याद्यापस्तम्बस्मरणात् । **तत्र भवो वंश्य इति ।** दिगादित्वात् यत् । **वा समस्यते इति ।** सोऽव्ययीभाव इत्यपि बोध्यम् । **द्वौ मुनी वंश्याविति ।** विग्रहोऽयम् । मुनिशब्दो विद्यावंश्यवाचीति सूचनाय वंश्यावित्युक्तम् । **द्विमुनि व्याकरणस्येति ।** द्वौ च तौ मुनी चेति विग्रहे **'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'** इति कर्मधारयं बाधित्वा अव्ययीभावः । अव्ययत्वात् सुब्लुक् । व्याकरणविद्यायाः प्रवर्तकौ द्वौ मुनी पाणिनिकात्यायना-

---

नहीं होता—"नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः"—६५७ । अतः ङस् = आत्—"टा-ङसि-ङसामिनात्स्याः" (७-१-१२) । तदनन्तर दीर्घ हो जाता है । पक्ष में **गङ्गायाः पारात्** विग्रहवाक्य एवं **गङ्गापारात्**—षष्ठी तत्पुरुष में भी प्रयोग होंगे । प्रथमाविभक्ति में षष्ठीतत्पुरुष होकर **गङ्गापारम्** । षष्ठी-समास-पक्ष में 'गङ्गा' की उपसर्जन-संज्ञा होने के कारण "उपसर्जनं पूर्वम्" (२-२-३०) से उसका पूर्वनिपात हुआ है । नपुंसकलिङ्ग होने से 'सु' विभक्ति को "अतोऽम्" (७-१-२४) से अम् तथा पूर्वरूप होगा । अव्ययीभाव के न होने पर 'पारे गङ्गायाः' विग्रह वाक्य का प्रयोग होगा । **अर्थ**—गङ्गा के पार ।

इसी तरह (२) (क) अव्ययीभाव—**मध्येगङ्गम्** (ख) विग्रहवाक्य—**गङ्गायाः मध्यात्** (ग) तत्पुरुष—**गङ्गामध्यम्** तीन रूप बनेंगे । **अर्थ**—गङ्गा के बीच में । पञ्चमी-विभक्ति की अपेक्षा में **मध्येगङ्गात्, गङ्गामध्यात्** एवं **गङ्गायाः मध्यात्** का प्रयोग होगा ।

(६७३) **पद**—संख्या, वंश्येन । **अनुवृत्ति**—विभाषा, अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

मूलार्थ—विद्या एवं जन्म से वंश दो प्रकार का है । वंश में उत्पन्न होना यह 'वंश्य' शब्द का अर्थ है । वंश्य-बोधक शब्द के साथ संख्यावाचक शब्द का वैकल्पिक समास होता है । (विद्यावंश का उदाहरण)—(१) (क) द्वौ मुनी वंश्यौ > द्विमुनि । (ख) त्रिमुनि व्याकरणस्य । विद्या एवं विद्यावान्—इन दोनों में परस्पर अभेद-विवक्षा होने पर 'त्रिमुनि' शब्द व्याकरण का बोधक है । (२) (जन्म सम्बन्ध का उदाहरण) एकविंशति भारद्वाजम् ।

विवरण—सूत्रस्थ 'वंश्य' शब्द का अर्थ है—'वंश में उत्पन्न होना' (वंशे भवः—वंश्यः—उत्पन्न होना अर्थ में "दिगादिभ्यो यत्"—४-३-५४ से यत् प्रत्यय—वंश+यत्) । इसके

वित्यर्थः। **त्रिमुनीति।** त्रयो मुनयः पाणिनिकात्यायनपतञ्जलय इति विग्रहः। नन्वेवं त्रिमुनिव्याकरणमिति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरित्यत आह—**विद्यातद्वतामिति।** यद्यपि बहुव्रीहिणाप्येतत् सिद्धम्, तथापि विभक्त्यन्तरेषु रूपभेद इत्याहुः। अथ जन्मना वंश्यमुदाहरति—**एकविंशतिभारद्वाजमिति।** एकविंशतिः भरद्वाजा इति कर्मधारयं बाधित्वा अव्ययीभावः। तत्र विग्रहवाक्ये भरद्वाजशब्दात् बिदादित्वादञ्। 'यञञोश्च' इति लुक्। समासे तु 'उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे' इति लुगभावः। 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इति सूत्रे 'एकविंशतिभारद्वाजम्' इतिप्रयोगदर्शनेन उपकादिषु भारद्वाजशब्दस्य पाठानुमानात्।

साथ ही यह सूचित किया जारहा है कि 'वंश' का प्रतिनिधित्व दो रूप में होता है—(१) विद्या तथा (२) जन्म से। अनुवृत्तिलभ्य पदों के साथ 'संख्या' एवं 'वंश्येन' की एकवाक्यता करने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "संख्या-वाची सुवन्त-शब्दों का वंश्यबोधक समर्थ सुवन्त के साथ वैकल्पिक अव्ययीभाव समास होगा"। (१) **विद्यावंश के उदाहरण—** (क) द्विमुनि (व्याकरण के दो मुनि—पाणिनि तथा कात्यायन) व्याकरणस्य। (ख) त्रिमुनि व्याकरणस्य (व्याकरण के तीन मुनि—पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि)। (क) **विग्रह—** द्वौ मुनी (व्याकरणस्य) वंश्यौ। **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, मुनि+औ। **प्रक्रिया**—प्रकृत सूत्र से समास, उपसर्जन संज्ञा, संख्यावाची 'द्वि' शब्द का पूर्वनिपात, विभक्तिलोप होकर>द्वि-मुनि; पुनः विभक्त्युत्पत्ति>द्विमुनि+सु०>**द्विमुनि** (विभक्तिलोप—"अव्ययादाप्सुपः" २-४-८२)। (ख) **विग्रह**—त्रयः मुनयः (व्याकरणस्य) वंश्याः। **अलौकिक विग्रह**—त्रि+जस्, मुनि+जस्। **प्रक्रिया**—पूर्ववत्—'द्विमुनि' शब्द के समान। **निष्पन्न रूप**—**त्रिमुनि**। (२) **जन्म-सम्बन्ध का उदाहरण**—एकविंशति भारद्वाजम् (भारद्वाज से इक्कीस पीढ़ी अनन्तर का कुल)। विग्रह—एकविंशतिः भरद्वाजाः वंश्याः[1]। **अलौकिक विग्रह**—एकविंशति+सु, भारद्वाज+जस्>एकविंशतिभारद्वाज (समास, विभक्तिलोप)>एकविंशतिभारद्वाज+सु (विभक्त्युत्पत्ति)>एकविंशतिभारद्वाजम्[2] (सु = अम्, पूर्वरूप)।

विशेष—(१) 'व्याकरण' और 'भारद्वाज' शब्दो के वंश्यवाची न होने पर भी विद्या और विद्यासम्पर्सों में अभिन्नता मानकर दोनों का समानविभक्तिक (सामानाधिकरण्य) होना युक्तिसंगत माना गया है। तदनुसार 'द्विमुनि व्याकरणम्' (दो मुनियों से अभिन्न व्याकरण), त्रिमुनि व्याकरणम्, (तीन मुनियों से अभिन्न व्याकरण) तथा 'एकविंशति भारद्वाजम्' (इक्कीस भारद्वाज वंशीयों से अभिन्न कुल) ये तीनों प्रयोग समीचीन माने गए।

(२) "सङ्ख्या वंश्येन" (२-१-१८), "नदीभिश्च" (२-१-१९) तथा "अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्" (२-१-२०)—इन तीनों सूत्रों से विधीयमान समास स्वपदार्थ—(समासान्तर्गत पदार्थ)—प्रधान है[3]। अर्थात् स्वपदाश्रित होने के कारण वह अव्ययीभाव होता है[4]।

---

१. 'एकविंशतिभारद्वाजम्' 'त्रिपञ्चाशद्गौतमम्' इति "तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम्" (२-४-८४) इतिसूत्रस्थ-भाष्यप्रयोगात् उपकादिषु गोतम-भरद्वाजयोः पाठाद् वृत्तौ "यञञोश्च" (२-४-६४) इति लुगभावः। समस्त-पाठाद् विग्रहे लुक् भवत्येव। तेन 'एकविंशतिः भरद्वाजाः' इत्येव विग्रहीयो युक्तः पाठ इति बोध्यम्। —म० म० पं० नित्यानन्द पन्त पर्वतीय कृत 'लघुशब्देन्दुशेखर'—'दीपक'—व्याख्या—पृ० ५४१।

२. इह पूर्वपदार्थः उत्तरपदार्थे, स च समासार्थे वंश्ये विशेषणमित्यन्वयः।

३. संख्येत्यादि-त्रिसूत्री स्वभावात् समानाधिकरणविषया। —लु० श० शे०।

४. स्वपदाश्रयः अव्ययीभावः। —महाभाष्यम्—२-१-२०।

(६७४) नदीभिश्च २ । १ । २० ॥ नदीभिः सह सङ्ख्या प्राग्वत् । 'समाहारे चायमिष्यते' (वा १२४६) । सप्तगङ्गम् । द्वियमुनम् । **(६७५) अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्**

---

(६७४) नदीभिश्च । **प्राग्वदिति ।** नदीभिः सङ्ख्या समस्यते सोऽव्ययीभाव इत्यर्थः । **समाहारे चेति ।** वार्तिकम् । चकार एवार्थे । माष्ये चकारविहीनस्यैव पाठात् । **सप्तगङ्गमिति ।** सप्तानां गङ्गानां समाहार इति विग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति द्विगुसमासं बाधित्वा अव्ययीभावसमासः । **द्वियमुनमिति ।** द्वयोर्यमुनयोः समाहार इति विग्रहः । अत्र नदीशब्देन नदीशब्दविशेषस्य नदीवाचकानां च ग्रहणम् इति सङ्ख्यासंज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । तेन पञ्चनदं सप्तगोदावरमित्यादि सिध्यति ।

---

(६७४) पद—नदीभिः, च । **अनुवृत्ति**—संख्या, विभाषा, अव्ययीभावः, सुप् , सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा) सूत्र ।**

मूलार्थ—संख्या-वाचक शब्दों का नदी-बोधक शब्दों के साथ पहले की तरह (समास) हो । वा० यह समास समाहार में ही इष्ट है । **उदाहरण**—(१) सप्तगङ्गम् । (२) द्वियमुनम् ।

विवरण—सूत्रार्थ साकाङ्क्ष है । अतः इससे पूर्व सूत्र "संख्या वंश्येन" (२-१-१९) से 'संख्या' एवम् ऊपर उल्लिखित अन्य पदों की अनुवृत्ति होने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "संख्यावाची सुबन्त शब्दों का नदी-विशेषवाची सुबन्तों के साथ अव्ययीभाव समास हो" । इस समास के अर्थ-विशेष का ज्ञान कराने के लिये वार्तिक द्वारा यह निर्धारित किया जा रहा है कि 'इस प्रकार का समास समुदाय-रूप (समाहार) अर्थ को सूचित करने में ही होगा' । **उदाहरण**—(१) सप्तगङ्गम् (सात नदियों का संगम) । (२) द्वियमुनम् (दो नदियों का संगम) । **विग्रह**—(१) सप्तानां गङ्गानाम् समाहारः । **अलौकिक विग्रह**—सप्तन्+आम्, गङ्गा+आम् । **प्रक्रिया**— सप्तन्-गङ्गा (संख्यावाचक शब्द का नदीबोधक शब्द-गङ्गा-के साथ समास, विभक्ति-लोप) >सप्त—गङ्गा ('न्'-लोप) > सप्तगङ्गा + सु > (विभक्त्युत्पत्ति), सप्तगङ्ग+सु (अव्यय-संज्ञा, नपुंसकलिङ्गविधान—'अव्ययीभावश्च'—२-४-१५ तथा 'आ' को ह्रस्व 'अ'—"ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य"—१-२-४७) >सप्तगङ्ग+अम् (सु = अम्-"नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः"—६५८) >**सप्तगङ्गम्**—(पूर्वरूप) । (२) इसी तरह द्वयोः यमुनयोः समाहारः (द्वि+ओस्, यमुना+ओस)>**द्वियमुनम् ।**

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र में 'नदीभिः' पद का प्रयोग बहुवचन विभक्ति में किया गया है, अतः 'नदी' पद से शास्त्रीय 'नदी' संज्ञा ("यू स्त्र्याख्यौ नदी" १-४-२) एवं स्वरूपात्मक 'नदी' शब्द का ग्रहण नहीं होता, किन्तु लोक में प्रसिद्ध नदी-वाचक गङ्गा, यमुना, गोदावरी आदि शब्दों का ग्रहण होता है[1] । (२) समाहार अर्थ में ही संख्या-वाचक शब्दों का नदी-वाचक शब्दों के साथ समास-विधान करने के फलस्वरूप 'एकनदीतरः'[2] में अव्ययीभाव समास नहीं हुआ, किन्तु "पूर्वकालैक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः समानाधिकरणेन" (२-१-४९) सूत्र से समानाधिकरण तत्पुरुष समास होता है । समाहार ग्रहण न करने पर 'पुरस्ताद् अपवादाः अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' न्याय से यह समास "पूर्वकालैक०" इत्यादि सूत्र से विहित

---

१. 'एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न तद्विशेषेभ्यो भवतीति यदयं विपाट्—शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति । इह तर्हि प्राप्नोति—"नदीभिश्च" इति (२-१-२०) । बहुवचन-निर्देशात् न भविष्यति । स्वरूपविधिस्तर्हि प्राप्नोति । बहुवचन-निर्देशादेव न भविष्यति' । —महाभाष्यम्—"बहु-गण-वतु-डति संख्या" (१-१-२३) ।

२. 'नदीभिः संख्यायाः समाहारेऽव्ययीभावो वक्तव्यः । स चावश्यं वक्तव्यः, सर्वमेकनदीतरे' । महाभाष्यम्—"नदीभिश्च" (२-१-२०) ।

२।१।२१॥ अन्यपदार्थे विद्यमानं सुबन्तं नदीभिः सह नित्यं समस्यते संज्ञायाम्। विभाषाधिकारेऽपि वाक्येन संज्ञानवगमादिह नित्यसमासः। उन्मत्तगङ्गं नाम देशः।

---

(६७५) **अन्यपदार्थे च**। सङ्ख्येति निवृत्तम्। नदीभिरित्यनुवर्तते। तदाह— **सुबन्तं नदीभिरिति**। **समस्यत इति**। सोऽव्ययीभाव इत्यपि बोध्यम्। **संज्ञानवगमादिति**। सम्यक् ज्ञायते इति संज्ञा। 'आतश्चोपसर्गे' इति कर्मण्यङ्। उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्निति वाक्येन देशविशेषस्यानवगमादिह नित्यसमास इत्यर्थः। ततश्च नास्ति लौकिकविग्रहः, अस्वपदविग्रहो वेति फलति। वस्तुतस्तु विभाषाधिकारादयमपि समासो वैकल्पिक एव। अत एव 'द्वितीयतृतीय' इति सूत्रे अन्यतरस्याङ्ग्रहणेन उत्सर्गापवादयोर्महाविभाषाविषयत्वात् अपवादाभावे उत्सर्गस्याप्रवृत्तिरिति ज्ञापितेऽर्थे उन्मत्तगङ्गमित्युदाहृतम्। 'अव्ययीभावेन मुक्ते बहुव्रीहिर्न' इति चोक्तं भाष्ये। अस्य समासस्य नित्यत्वे तु तदसङ्गतिः स्पष्टैव, कदाप्यव्ययीभावमुक्त्यसम्भवात्।

समास का बाधक होगा। समाहार अर्थ में पर होने के कारण संख्या-वाचक शब्द को मानकर द्विगु समास की प्राप्ति होगी। इसके फलस्वरूप 'एकनदी' शब्द में अव्ययीभाव होने पर अव्ययीभाव-समास-प्रयुक्त 'टच्' प्रत्यय ("नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः") तथा नपुंसकलिङ्ग-प्रयुक्त ह्रस्व की प्राप्ति होने से अनिष्ट रूप का प्रसङ्ग होने लगेगा।

(६७५) पद—अन्यपदार्थे, च, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—नदीभिः, अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—संज्ञा के विषय में अन्यपदार्थ गम्यमान होने पर सुबन्त का नदीवाचकों से नित्य समास होता है। "विभाषा" (१–१–११) अधिकार होने पर भी वाक्य से संज्ञा का बोध न होने के कारण यह समास नित्य (अ–स्वपद विग्रह वाला) है। **उदाहरण**—(१) उन्मत्तगङ्गम्—देशविशेष का नाम। (२) लोहितगङ्गम्।

विवरण—संज्ञा के विषय में अन्यपदार्थ अपेक्षित होने पर सुबन्त का नदी-वाचक सुबन्त के साथ समास होने पर नित्य अव्ययीभाव का विधान किया जारहा है। इसके साथ ही उक्त समास के नित्य होने की भी व्यवस्था की जारही है। इस हेतु "नदीभिः" (२–१–२०) सूत्र से केवल 'नदीभिः' तथा पूर्व–निर्दिष्ट सूत्रों से 'अव्ययीभावः' 'सुप्', 'सह सुपा' तथा 'समासः' पदों की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "समस्त–पद से संज्ञा–विशेष का बोध हो तो अन्य पदार्थ (अन्यः पदार्थः यस्य सः अन्यपदार्थः, तस्मिन्) गम्यमान होने पर भी (च) सुबन्त का नदीवाची सुबन्त के साथ नित्य-समास सदृश अव्ययीभाव समास हो"। नित्य समास के सदृश समास विधान करने का प्रयोजन यह है कि अन्य पदार्थ में विग्रहवाक्य से संज्ञा की प्रतीति न होने के कारण पाक्षिक समास निरर्थक प्रतीत होगा। अतः "विभाषा" अधिकार होने पर भी उसकी अनुवृत्ति नहीं की जाती। नित्य-समास[1] होने से इसे भी अ–स्वपदविग्रह वाला समास कहा जायगा।

उदाहरण—(१) उन्मत्तगङ्गम् (जिस प्रदेश में गङ्गा उच्छृङ्खलता से बहे)। **विग्रह**—उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्। **अलौकिक विग्रह**—उन्मत्ता+सु, गङ्गा+सु (प्रक्रिया) >उन्मत्ता-गङ्गा ('उन्मत्ता' शब्द का नदी–वाची 'गङ्गा' के शब्द के साथ समास, सुबन्त 'उन्मत्त' का पूर्वनिपात, विभक्तिलोप, >उन्मत्तगङ्गा ("स्त्रियाः पुंवद्" ६–३–३४ से उपसर्जन 'उन्मत्ता'

---

१. 'तत्सदृश' इत्यर्थः। तत्सादृश्यं च समाससमानार्थकवाक्याभावेन समासघटकपदानां विग्रहस्त्वस्येव'। —ल० श० शे० प्रकृतसूत्रे।

लोहितगङ्गम् । (६७६) **समासान्ताः ५ । ४ । ६८ ॥** इत्यधिकृत्य । (६७७) **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । ५ । ४ । १०७ ॥** शरदादिभ्यष्टच् स्यात्समासान्तोऽ-

---

(६७६) **समासान्ताः । इत्यधिकृत्येति ।** आपादपरिसमाप्तेरिति भावः । अत्र समासपदम् अलौकिकविग्रहवाक्यपरमेव । अत एव बहुकुमारीक इत्यत्र ह्रस्वो न । 'गोस्त्रियोः' इति सूत्रे 'अन्तः' इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टमेतत् । एवं चालौकिकविग्रहवाक्ये समाससंज्ञासमकालमेव समासान्ता इति सिद्धान्तः । अन्तशब्दश्चरमावयववाची । अत एव उपशरदमित्यादौ 'नाव्ययीभावात्' इत्यम् । तत्र टचस्तदनवयवत्वे टजन्तस्याव्ययीभाव-समासत्वाभावादम् न स्यात् । तथा च टचस्तदनवयवत्वे 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इति प्रसज्येत । टचस्तदवयवत्वे तु तदन्तस्यैवाव्ययीभावसमासतया अव्ययत्वादुपशरद इत्यस्याव्ययत्वाभावान्न टिलोपः । समासान्तप्रत्ययाश्चालौकिकविग्रहवाक्ये सुपः परस्तादेव भवन्ति । अत एव 'प्रत्ययस्थात्' इति सूत्रभाष्ये 'बहुचर्मिका' इत्युदाहृतं सङ्गच्छते । विस्तरस्तु शब्देन्दुशेखरे ज्ञेयः ।

(६७७) **अव्ययीभावे ।** 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इत्यतः टजित्यनुवर्तते । तदाह— **शरदादिभ्य इति ।** अव्ययीभावे उत्तरपदं यत् शरदादिप्रकृतिकं सुबन्तं तदन्तात् टच्

को पुंवद्भाव) >उन्मत्तगङ्गा+सु (विभक्त्युत्पत्ति) >उन्मत्तगङ्ग+सु (अव्ययीभाव-निमित्तक नपुंसकलिङ्ग होने के कारण ह्रस्व—"ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४७) > उन्मत्तगङ्ग+ अम् (सु = अम्—"नाव्ययीभावदतोऽम् त्वपञ्चम्याः" ६५७) > **उन्मत्तगङ्गम्** (अ+अम् = अम्—पूर्वरूप) । (२) **लोहितगङ्गम्** (जिस प्रदेश में गङ्गा लोहित वर्ण की हो गई हो) । **विग्रह**—लोहिता गङ्गा यस्मिन् देशे । **अलौकिक विग्रह**—एवं **प्रक्रिया**—पूर्ववत् ।

(६७६) **पद**—समासान्ताः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—इसको अधिकृत कर (आगे कार्य किया जाय) ।

विवरण—यह अधिकारसूत्र है । इसका प्रभाव इस पाद के अन्त तक रहेगा । इस पाद का अन्तिम सूत्र है—"निष्प्रवाणिश्च" (५-४-१६०) । इससे सम्बद्ध पूर्व अधिकार-सूत्रों का प्रभाव भी यथास्थित है । ये अधिकारसूत्र हैं—१-"तद्धिताः" (४-१-७६), २-"ङ्याप्-प्रातिपदिकात्" (४-१-१), ३-"प्रत्ययः" (३-१-२), तथा ४-"परश्च" (३-१-२) । प्रकृत सूत्र में 'समास' पद अलौकिक विग्रहवाक्य का बोधक है तथा 'अन्त' पद अवयव का पर्यायवाची है (समासस्य अन्ताः—समासान्ताः) । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "अष्टाध्यायीक्रम में इस सूत्र के अनन्तर पाद की समाप्ति-पर्यन्त जिन प्रत्ययों (प्रत्ययाः) का विधान किया जायगा वे सब समास के अवयव = एकदेश (समासान्ताः) होंगे" । अर्थात् अलौकिक-विग्रहवाक्य में समास-संज्ञा होते ही समासान्त-प्रत्यय भी संयुक्त हो जायेंगे । इसके फलस्वरूप समासान्त-प्रत्यय समास के ही अवयव माने जाते हैं ।[1]

(६७७) **पद**—अव्ययीभावे, शरत्प्रभृतिभ्यः । **अनुवृत्ति**—टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अव्ययीभाव में शरदादिशब्दों से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है । **उदा०**—

---

१. तत्र तावत् प्रकृतसूत्रे महाभाष्ये समीपवचनमन्तशब्दं मत्वा "अन्तग्रहणं किमर्थम्" इति प्रश्नः कृतः । तदनन्तरम् तत्रैव अवयववचनाश्रयेण शङ्कायाः समाधानं च कृतम्—अन्तो यथा स्यादिति" ।

व्ययीभावे। शरदः समीपमुपशरदम्। प्रतिविपाशम्। शरद्। विपाश्। अनस्। मनस्। उपानह्। दिव्। हिमवत्। अनडुह्। दिश्। दृश्। विश्। चेतस्। त्यद्। तद्। यद्। कियत्। 'जराया जरस् च' (ग १४७)। उपजरसम्। 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' (ग १४८) 'यस्येति च' (सू ३११) प्रत्यक्षम्। अक्ष्णः परम् इति विग्रहे समासान्तविधान-सामर्थ्यादव्ययीभावः। 'परोक्षे लिट्' (सू २१७१) इति निपातनात्परस्यौकारा-देशः। परोक्षम्। 'परोक्षा क्रिया' इत्यादि तु अर्श आद्यचि। समक्षम्। अन्वक्षम्।

स्यात्। स च अलौकिकविग्रहवाक्यान्तावयव इत्यर्थः। उपशरदमिति। 'अव्यय विभक्ति' इत्यादिना समीपार्थकस्य उपेत्यव्ययस्य शरद इति षष्ठ्यन्तेनाव्ययीभावः। टच्। टचः समासावयवत्वेन तदन्तस्याव्ययीभावसमासत्वात् 'नाव्ययीभावात्' इत्यम्। उपशरद् इत्यस्य अव्ययीभावसमासत्वाभावात् अनव्ययत्वात् 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इति न भवति। विपाट्शब्दो नदीविशेषे वर्तते। 'विपाशा तु विपाट् स्त्रियाम्' इत्यमरः। 'लक्षणेनाभिप्रती' इति अव्ययीभावसमासः। शरदादिगणं पठति—शरदित्यादिना। अत्र झयन्तानां 'झयः' इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः। 'जराया जरश्च' इति शरदादि-गणसूत्रम्। जराशब्दस्य जरसादेशश्चास्मिन् गणे वाच्य इत्यर्थः। उपजरसमिति। जरायाः

१–(शरद् ऋतु के समीप) शरदः समीपम् > उपशरदम्। २–प्रतिविपाशम्। शरदादिगण-पठित शब्द—१–शरद्, २–विपाश्, ३–अनस् ४–मनस्, ५–उपानह्, ६–दिव्, ७. हिम-वत्, ८–अनडुह्, ९–दिश्, १०–दृश्, ११–विश्, १२–चेतस्, १३–चतुर्, १४–त्यद्, १५–तद्, १६–यद्, १८–कियत्। **गणसूत्र**—'जरा' शब्द को 'जरस्' आदेश भी हो—१८–उप-जरसम्। **गणसूत्र**—प्रति, पर, सम् तथा अनु से युक्त 'अक्षि'–शब्दान्त से भी टच् प्रत्यय हो। 'इ' का लोप—"यस्येति च"—१९–प्रत्यक्षम्। अक्ष्णः परम्—इस विग्रह में समासान्त-विधान होने से अव्ययीभाव–समास का निपातन है, 'पर' को ओकार आदेश—परोक्षम्। २०–परोक्षा क्रिया' इत्यादि में "अर्श आदिभ्यः" से 'अच्' प्रत्यय है। २१–समक्षम्, २२–अन्वक्षम्।

विवरण—सर्वप्रथम विधि–बोधक 'टच्' पद की अनुवृत्ति "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" (५-४-९१) से की जारही है। अधिकार-क्षेत्र होने के कारण "समासान्ताः" (५-४-६८) की उपस्थिति से 'टच्' प्रत्यय अव्ययीभाव का अवयव होगा। अतः सूत्र का यह आशय है कि "अव्ययीभाव समास में शरदादि–गण–पठित प्रातिपादिकों से समासान्त टच् प्रत्यय हो"। 'टच्' प्रत्यय में ट–कार तथा च–कार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर 'अ' शेष रहता है। **उदाहरण**—१–उपशरदम् (शरद् ऋतु के समीप)। **विग्रह**—समीप अर्थ में ('उप') शरदः समीपम्। **अलौकिक विग्रह**—शरद्+ङस्, (उप+सु) **(प्रक्रिया)**>उप–शरद् ("अव्ययं विभक्त०–६५२ से समीपार्थ में समास तथा विभक्तिलोप, पूर्वनिपात आदि कार्य) > उपशरद्+अ (प्रकृत सूत्र से 'टच्' प्रत्यय) > उप-शरद+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) >उपशरद+अम् ('टच्' प्रत्यय समास का अवयव होने के कारण 'टच्'–सहित 'उपशरद'–पद अव्ययीभाव माना गया, इसके फलस्वरूप "नाव्ययी-भावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः"—६५७ से अकारान्त अव्ययीभाव मानकर सु = अम्) > **उपशरदम्** (अ+अम्=अम्—पूर्वरूप "अमि पूर्वः" ६-१-१०३)। २—प्रतिविपाशम् (विपाशा–व्यास नदी के समीप)। **विग्रह**—समीपार्थ में 'प्रति'—विपाशः समीपम्। **अलौकिक विग्रह**—विपाश्+ङस्, प्रति+सु>प्रति–विपाश् ("अव्ययं विभक्ति०" ६५२ से समीपार्थ में 'प्रति' का 'विपाश्' के साथ समास, विभक्तिलोप, उपसर्जनसंज्ञा, 'प्रति' का पूर्वनिपात) > प्रतिविपाश्+अ (टच्) >प्रतिविपाश+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) >प्रतिविपाश+अम् (सु = अम्) >**प्रति-विपाशम्** (पूर्वरूप)।

समीपमित्यर्थः। सामीप्ये उपेत्यव्ययस्य जराया इति षष्ठ्यन्तेनाव्ययीभावसमासे कृते टच्, सुब्लुक्, उपेत्यस्य पूर्वनिपातः। टचो विभक्तित्वाभावात् तस्मिन् परेऽप्राप्ते जरसि अनेन जरस्। टजन्ताद्यथायथं सुपः अम्भाव इति भावः। 'प्रतिपरसम' इत्यपि गणसूत्रम्। एतेभ्यः परस्याक्षिशब्दस्य इह गणे पाठः इत्यर्थः। **यस्येति चेति**। टचस्तद्धितत्वात्तस्मिन् परे इकारस्य लोप इति भावः। **प्रत्यक्षमिति**। अक्षिणी प्रतीति विग्रहः। अक्ष्णोरभिमुखमित्यर्थः। 'लक्षणेत्थम्' इति कर्मप्रवचनीयत्वात् द्वितीया। 'लक्षणेनाभिप्रती' इत्यव्ययीभावः। टच्। सुब्लुक्। 'यस्येति च' इति इकारलोपः। प्रत्यक्षशब्दात् यथायथं सुबुत्पत्तिः, अम्भाव इति भावः। **परमिति**। व्यवहितमित्यर्थः। अविषय इति यावत्। अक्ष्णः परमिति विग्रहे अव्ययीभावः इत्यन्वयः। ननु परशब्दस्यानव्ययत्वात् कथमिहाव्ययीभाव इत्यत आह—**समासान्तविधानसामर्थ्यादिति**। प्रतिपरसमिति परशब्दात् परस्याक्षिशब्दस्य टजर्थं शरदादिगणे पाठोऽवगतः। 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इत्यव्ययीभावे टज्विहितः। तत्सामर्थ्यादनव्ययस्यापि परशब्दस्याव्ययीभाव इत्यर्थः। **परोक्षमिति**। अक्ष्णः परमिति विग्रहे परमित्यस्य अक्षि इत्यनेनाव्ययीभावसमासः। टच्, सुब्लुक्, परशब्दस्य ओकारोऽन्तादेशः, पररूपम्। परोक्षाद्यथायथं सुप्, अम्भाव इति भावः। **अर्श आद्यचीति**। परोक्षमस्यास्तीत्यर्थे परोक्षशब्दात् धर्मप्रधानात् 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति मत्वर्थीये अच्प्रत्यये कृते 'यस्येति च' इत्यकारलोपे टापि च कृते परोक्षा क्रिया

विशेष—शरदादि-गण-पठित शब्दों में 'टच्' प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य विशेष-विधान भी हैं। उनका निरूपण गणसूत्रों के माध्यम से किया जारहा है। तदनुसार 'उपजरसम्' (वृद्धावस्था के समीप) की सिद्धि में उपयोगी **गणसूत्र** से यह प्रतिपादित किया जारहा है कि 'समासान्त में टच् प्रत्यय के साथ ही 'जरा' शब्द के स्थान पर 'जरस्' आदेश भी होता है'। 'टच्' प्रत्यय विभक्तिरूप न होने से "जराया जरसन्यतरस्याम्" (७-२-१०१) से 'जरस्' आदेश की प्राप्ति नहीं थी। अतः पृथक् विधान किया गया है। **विग्रह**—जरायाः समीपम् (अप)। **अलौकिक विग्रह**—जरा+ङस्, अप+सु। **विशेष विधान**—समासान्त 'टच्' प्रत्यय तथा जरा = जरस्। **प्रक्रिया**—उपजरस्+अ (समासादि-कार्य, टच्, जरा = जरस्) > उपजरस+सु > उपजरस+अम् > **उपजरसम्** (विभक्त्युत्पत्ति, सु = अम् तथा पूर्वरूप)।

इसी गण में पढ़े हुए 'प्रत्यक्षम्' (आँखों के सामने), 'परोक्ष' (आँखों से ओझल) 'समक्षम्' (आँखों के सामने) तथा 'अन्वक्षम्' (आँखों के पीछे) शब्दों की सिद्धि में उपयोगी **गणसूत्र** द्वारा यह विदित होता है कि 'प्रति', 'परि', 'सम्' तथा 'अनु' शब्दों से 'अक्षि' शब्द परवर्ती होने पर समासान्त में 'टच्' प्रत्यय होता है। क्रमशः **उदाहरण**—(१) प्रत्यक्षम्। **लौकिक विग्रह**—अक्षिणी प्रति। **अलौकिक-विग्रह**—अक्षि+औ, प्रति+सु। (**प्रक्रिया**) > प्रत्यक्षि ("लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये"—६६८ से समास, 'प्रति' का पूर्वनिपात, विभक्तिलोप, 'इ' को 'य्'-यण्), > प्रत्यक्षि+अ 'टच्', > प्रत्यक्ष ('इ' का लोप—"यस्येति च"—६-४-१४८) > प्रत्यक्ष+सु (पुनः विभक्ति) > प्रत्यक्ष+अम् (सु = अम्) > **प्रत्यक्षम्** (पूर्वरूप)। (२) परोक्षम्। **लौकिक विग्रह**—अक्ष्णः परम्। **अलौकिक विग्रह**—अक्षि+ङस्, परम्+सु। (**प्रक्रिया**) > पर-अक्षि (सामर्थ्य से 'अव्ययीभाव' समास, विभक्तिलोप, 'पर' का पूर्वनिपात) > पर-अक्षि+अ (टच्) > पर-अक्ष ('भ' संज्ञानिमित्तक 'इ' का लोप) > परो-अक्ष्-अ ('अ' = 'ओ'-निपातन "परोक्षे लिट्" ३-२-११५ में निर्देश होने के कारण, ततः पूर्वरूप) > परोक्ष+सु (विभक्ति) > परोक्ष+अम् (सु = अम्) > **परोक्षम्** (पूर्वरूप)। (३) समक्षम्।

(६७८) अनश्च ५ । ४ । १०८ ॥ अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच्स्यात् । (६७९) नस्तद्धिते ६ । ४ । १४४ ॥ नान्तस्य भस्य टेर्लोपः स्यात्तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् । (६८०)

इत्यादि ज्ञेयमित्यर्थः । अत्र गणसूत्रे परग्रहणं प्रक्षिप्तमिति युक्तम्, 'परोक्षे लिट्' इति सूत्रस्थभाष्यकैयटयोरत्र समासान्तस्यापि निपातनेनैव साधितत्वात् । **समक्षमिति** । अक्ष्णोर्योग्यमित्यर्थः । यथार्थेऽव्ययीभावः । टच्, इकारलोप इति भावः । **अन्वक्षमिति** । अक्ष्णोः पश्चादित्यर्थः । पश्चादर्थे अव्ययीभावः । शेषं समक्षवत् ।

(६७८) अनश्च । 'अव्ययीभावे' इत्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणम्यते । अन इति तद्विशेषणम् । तदन्तविधिः । तदाह—**अन्नन्तादिति** ।

(६७९) नस्तद्धिते । न इति षष्ठ्यन्तम् । तेन भस्येत्यधिकृतं विशेष्यते । तदन्तविधिः । टेरिति सूत्रमनुवर्तते । 'अल्लोपोऽनः' इत्यस्माल्लोप इति च । तदाह—**नान्तस्येति** । **उपराजमिति** । राज्ञः समीपमित्यर्थः । सामीप्ये उपेत्यस्याव्ययीभावः । **'अनश्च'** इति

विग्रह—अक्ष्णोः योग्यम् । **अलौकिक विग्रह**—अक्षि+ओस्, सम्+सु (योग्यार्थ में) **(प्रक्रिया)** >समक्षि > समक्षि+अ > समक्ष > समक्ष+सु > समक्ष+अम् > **समक्षम्** (योग्यार्थ में अव्ययीभाव–समास, विभक्तिलोप, टच्, 'इ' लोप, विभक्ति, अम्, पूर्वरूप) आँखों के सामने । (४) अन्वक्षम् । **लौकिक विग्रह**—अक्ष्णोः पश्चात् । **अलौकिक विग्रह**—अक्षि+ओस्, अनु+सु (पश्चात् अर्थ) । **(प्रक्रिया)** >अन्वक्षि> अन्वक्षि+अ> अन्वक्ष>अन्वक्ष+सु>अन्वक्ष+अम्> **अन्वक्षम्** (समासादि पूर्ववत्) अर्थ—आँखों से परे ।

विशेष—(१) 'परोक्ष' शब्द में किसी अव्यय पद के अभाव रहनेपर भी अव्यय–प्रकरण में समासान्त–प्रत्यय का विधान किये जाने के कारण किसी विधायक–सूत्र के न होने पर भी उसे 'अव्ययीभाव' माना गया है । (२) परोक्ष काल में हुई क्रिया इस अर्थ में 'टच्' प्रत्ययान्त परोक्ष शब्द से "अर्श आदिभ्योऽच्" ५-२-१२७ से अच् प्रत्यय करने के पश्चात् स्त्रीत्व-विवक्षा में टाप् होने के कारण 'परोक्षा क्रिया' आदि उदाहरण समीचीन होंगे ।

(६७८) पद—अनः, च । **अनुवृत्ति**—अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अन्नन्त अव्ययीभाव से 'टच्' प्रत्यय होता है ।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिये "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" (५-४-१०७) से 'अव्ययीभावे' तथा "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" (५-४-९१) से 'टच्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । प्रकरणवश अन्य पदों की अनुवृत्ति भी पूर्वोक्त सूत्रों से आरही है । सप्तम्यन्त 'अव्ययीभावे' पद का पञ्चमी-विभक्ति में परिवर्तन (विपरिणाम) किया जाता है । सूत्रस्थ पञ्चम्यन्त 'अनः' पद इसका विशेषण होने के कारण उसमें तदन्तविधि हो जाती है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "अन्नन्त (जिसके अन्त में 'अन्' हो) अव्ययीभाव से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है ।

(६७९) पद—नः, तद्धिते । **अनुवृत्ति**—टेः, लोपः, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तद्धित पर रहते नकारान्त भसंज्ञक की 'टि' का लोप होता है । **उदाहरण**—१—उपराजम् । २—अध्यात्मम् ।

विवरण—सूत्रार्थ सम्पन्न करने के लिये "भस्य" (६-४-१२९), "टेः" (६-४-१४३) तथा "अल्लोपोऽनः (६-४-१३४) से 'लोपः' की अनुवृत्ति लाना आवश्यक है । इसके अतिरिक्त "अङ्गस्य" (६-४-१) का अधिकार-जन्य प्रभाव विद्यमान है । सूत्रस्थ 'नः' पद 'भस्य' का

नपुंसकादन्यतरस्याम् ५।४।१०९॥ अन्नन्तं यत्क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात्। उपचर्मम्–उपचर्म। (६८१) नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ५।४।११०॥

टच्, सुब्लुक्, टिलोपः, उपराजशब्दाद्यथायथं सुप्, अम्भावः। टजन्तस्यैवाव्ययीभाव-समासत्वाट्टचि परे अव्ययानां भमात्रे टिलोपाप्रवृत्तेः 'नस्तद्धिते' इत्यारम्भः। अध्यात्म-मिति। आत्मनीत्यर्थः। विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। शेषं पूर्ववत्।

(६८०) **नपुंसकादन्यतरस्याम्**। अन इत्यनुवृत्तं नपुंसकस्य विशेषणम्। तदन्त-विधिः। अन्नन्तात् क्लीबादिति लब्धम्। तेनाव्ययीभावे इत्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणतं विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—**अन्नन्तादिति**। **उपचर्मम् उपचर्मेति**। **चर्मणः** समीप-मित्यर्थः। सामीप्ये उपेत्यव्ययस्याव्ययीभावः। टचि टिलोपः, अम्भावः। टजभावे उप-चर्मेति रूपम्।

विशेषण है, अतः तदन्तविधि होगी। इस प्रकार समष्टिगत सूत्रार्थ यह होगा कि "तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर नकारान्त भ-संज्ञक अङ्ग के 'टि' भाग का (अन्तिम-अच्सहित-परवर्ती समुदाय) लोप होता है"। **उदाहरण**—(१) उपराजम् (राजा के समीप)। **लौकिक विग्रह**—राज्ञः समीपम् (उप)! **अलौकिक विग्रह**—राजन्+ङस्, उप+सु। इस स्थिति में **प्रक्रिया**>उप-राजन् (सामीप्यार्थ में अव्ययीभाव समास, विभक्तिलोप) >उपराजन्+अ ("अनश्च" ६७८ से "टच्") > उपराज्+अ ('अन्' भाग-'टि'–का लोप) > उपराज+सु (पुनः विभक्त्यु-त्पत्ति) >अपराज+अम् (सु = अम्–"नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः" २-४-८३) >**उपराजम्** (पूर्वरूप–"अमि पूर्वः" ६-१-१०३)। (२) अध्यात्मम् (आत्मा के विषय में) **लौकिक विग्रह**—आत्मनि (इति)। **अलौकिक विग्रह**—आत्मन्+ङि (अधि+सु)। प्रक्रिया>अधि–आत्मन् (विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास > अध्यात्मन्+अ ("अनश्च"—६७८ से समासान्त 'टच्' प्रत्यय) > अध्यात्म ('टि'–लोप) > अध्यात्म+सु (पुनः विभत्युत्पत्ति) > अध्यात्म+अम् (सु = अम्) > **अध्यात्मम्** (पूर्वरूप)। अर्थ—आत्मा के विषय में।

विशेष—समासान्त प्रत्यय समास के ही अवयव माने जाते हैं। अतः 'टच्'-प्रत्ययान्त समुदाय अव्ययीभावसमास समझा जायगा। तदनुसार 'टच्' के परवर्ती होने पर 'भ'संज्ञा के विषय में 'टि' लोप की प्रवृत्ति सम्भव नहीं होगी। इस हेतु "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) सूत्र आवश्यक है।

(६८०) **पद**—नपुंसकाद्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—अनः, अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अव्ययीभाव में अन्नन्त नपुंसकलिङ्ग शब्द से समासान्त 'टच्' विकल्प से होता है। उदा० उपचर्मम्—उपचर्म।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए प्रमुखरूप में "राजाहःसखिभ्यष्टच्" (५-४-९१) से 'टच्', "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" (५-४-१०७) से 'अव्ययीभावे', "अनश्च" (५-४-१०८) से 'अनः' तथा अधिकारसूत्र "समासान्ताः" (५-४-६८) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'अव्ययी-भावे'—सप्तमी विभक्ति यहाँ भी पूर्ववत् पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित होती है। अनुवृत्त 'अनः' पद 'नपुंसकात्'–का विशेषण है। अतः उसमें तदन्तविधि होगी। इसके फलस्वरूप सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "नपुंसक लिङ्ग में विद्यमान 'अन्'–अन्तवाले अव्ययीभाव से समासान्त 'टच्' प्रत्यय विकल्प से हो"। **उदाहरण**—उपचर्मम्—उपचर्म (चर्म के समीप)। **लौकिक विग्रह**—चर्मणः समीपम् (उप)। **अलौकिक विग्रह**—चर्मन्+ङस्, उप+सु। (**प्रक्रिया**)

वा टच्स्यात् । उपनदम्—उपनदि । उपपौर्णमासम्—उपपौर्णमासि । उपाग्रहायणम्—उपा-

---

(६८१) **नदीपौर्णमासी।** शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**वा टजिति।** अन्यतरस्यामिति टजिति चानुवर्तते इति भावः। नदी पौर्णमासी आग्रहायणी एतदन्तादव्ययीभावसमासाट्ट-ज्वा स्यादिति यावत्। अत्र नदीसञ्ज्ञकस्य न ग्रहणम्, पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणाल्लिङ्गात्। **उपनदमिति।** नद्याः समीपमित्यर्थः। सामीप्ये उपेत्यस्याव्ययीभावसमासः। टच्। 'यस्येति च' इतीकारलोपः। उपनदशब्दात् सुप्। अम्भाव इति भावः। **उपनदीति।** टज-भावे रूपम्। नपुंसकह्रस्वः। 'अव्यायादाप्सुपः' इति लुक्। **उपपौर्णमासमिति।** पौर्ण-मास्याः समीपमित्यर्थः। टचि उपनदमितिवद्रूपम्। **उपपौर्णमासीति।** टजभावे रूपम्। एवम् उपाग्रहायणम् उपाग्रहायणीति ज्ञेयम्। अग्रे हायनमस्याः आग्रहायणी मार्गशीर्ष-

---

उपचर्मन् (समीपार्थ में अव्ययीभाव), उपचर्मन्+अ (अन्नन्त नपुंसकलिङ्ग 'चर्मन्' अव्ययी-भावान्त से 'टच्') >उपचर्म्+अ (टि–लोप) >उपचर्म+सु>उपचर्म+अम् > **उपचर्मम्** (पूर्ववत् पुनः विभक्त्युत्पत्ति, अम्भाव, पूर्वरूप)। 'टच्' प्रत्यय न होने पर—उपचर्मन्+सु> उपचर्मन् ('अव्ययीभाव' समास की अव्यय-संज्ञा होने के कारण विभक्तिलोप) > **उपचर्म** ('न्' का लोप—"न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" ८-२-७)।

(६८१) **पद**—नदी-पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नदी आदि शब्दों से वैकल्पिक समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो। **उदाहरण**—उपनदम्—उपनदि। २—उपपौर्णमासम्—उपपौर्णमासि। ३—उपाग्रहायणम्—उपाग्रहायणि।

विवरण—प्रकरणवश "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" (५-४-९१) तथा "नपुंसकादन्यतरस्याम्" (५-४-१०८) से 'टच्' तथा 'अन्यतरस्यां' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। सूत्र में एक ही पद है तथा इतरेतरद्वन्द्व समास है—नदी च, पौर्णमासी च, आग्रहायणी च—नदीपौर्णमास्या-ग्रहायण्यः, ताभ्यः। "समासान्ताः" (५-४-६८) का अधिकार है। पूर्ववत् 'अव्ययीभावे' का पञ्चमी-विभक्ति में विपरिणाम होगा। तदनुसार सूत्रस्थ 'नदीपौर्णमा-स्याग्रहायणीभ्यः' पद 'अव्ययीभावे' का विशेषण हो जाता है, अतः उसमें तदन्त-विधि होगी। इस प्रकार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होगा कि "नदी, पौर्णमासी तथा आग्रहायणी—ये शब्द जिस अव्ययीभाव के अन्त में हों, तदन्त शब्द से वैकल्पिक समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) उपनदम् (नदी के समीप)। **विग्रह अलौकिक**—नद्याः समीपम्। **अलौकिक विग्रह**—नदी+ङस् उप+सु। **प्रक्रिया**—उपनदी (सामीप्य अर्थ में 'उप' अव्यय के साथ 'नदी' शब्द का समास—"अव्ययं विभक्ति०" ६५१ तथा विभक्तिलोप, पूर्वनिपातादि) >उपनदी+अ (टच्) >उपनद+सु (ईकार का लोप "यस्येति च"–६-४-१४८) >उपनद+अम् (सु = अम्) >**उपनदम्** (पूर्वरूप)। 'टच्' न होने पर—उतनदि (अव्ययीभाव समास होने के पश्चात् नपुंसकलिङ्ग-निमित्तक ह्रस्व–"ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४७ तथा विभक्तिलुक्)। **उपपौर्णमासम्** (टच् होने पर)। **उपपौर्णमासि** ('टच्' न होने पर) (पौर्णमासी के समीप)। **विग्रह**—पौर्णमास्याः समीपम्। **प्रक्रिया**—पूर्ववत्। (३) **उपाग्रहायणम्** (टच्)। 'टच्' न होने पर **उपग्रहायणि** (अगहन मास की पूर्णिमा के समीप)। **विग्रह**—आग्रहायण्याः समीपम्। **प्रक्रिया**—सामीप्यार्थ में अव्ययीभावादि पूर्ववत्।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'नदी' पद आनुपूर्वी शब्द ('नदी') का बोधक है, व्याकरण-शास्त्र में वर्णित शास्त्रीय 'नदी'संज्ञावाचक ("यूस्त्र्याख्यौ नदी" १-४-३) शब्दों का बोधक नहीं है। अन्यथा सूत्र में 'पौर्णमासी' तथा 'आग्रहायणी' शब्दों का पृथक् ग्रहण अपेक्षित नहीं था, क्योंकि

प्रहायणि । (६८२) झयः ५ । ४ । १११ ॥ झयन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात् । उपसमिधम्–उपसमित् । (६८३) गिरेश्च सेनकस्य ५ । ४ । ११२ ॥ गिर्यन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात् । सेनकग्रहणं पूजार्थम् । उपगिरम्–उपगिरि ।

इत्यव्ययीभावसमासप्रकरणम् ।



पौर्णमासी । अत ऊर्ध्वं मकरायनप्रवृत्त्या उदगयनप्रवृत्तेः । उदगयनादिरेव हि संवत्सरस्यादिः, 'अयने द्वे गतिरुदग्दक्षिणाऽर्कस्य वत्सरः'—इति प्रसिद्धेः ।

(६८२) झयः । झया अव्ययीभावे इत्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणतं विशेष्यते । तदन्तविधिः । अन्यतरस्यामिति टजिति चानुवर्तते, तदाह—**झयन्तादिति** ।

(६८३) गिरेश्च सेनकस्य । सेनको नामाचार्यः । **पूजार्थमिति** । 'अन्यतरस्यां' ग्रहणानुवृत्त्यैव विकल्पसिद्धेरिति भावः । **उपगिरमिति** । गिरेः समीपमित्यर्थः । टचि

दीर्घ ईकारान्त होने के कारण उनका ग्रहण हो जाता । अतः यहाँ इन दोनों शब्दों के पृथक् ग्रहण करने से ही 'नदी' शब्द स्वरूपपरक माना गया है ।

(६८२) पद—झयः । **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—झयन्त अव्ययीभाव से वैकल्पिक 'टच्' प्रत्यय होता है । उदा० उपसमिधम्—उपसमित् ।

विवरण—सूत्रार्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए प्रमुख रूप में पूर्ववत् 'टच्', 'अव्ययीभावे' तथा 'अन्यतरस्याम्' पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'समासान्ताः' का अधिकारजन्य-प्रभाव भी विद्यमान है । सूत्रस्थ 'पञ्चम्यन्त 'झयः' पद अनुवृत्त एवं विपरिणमित 'अव्ययीभावे' का विशेषण होने से तदन्तविधि का बोधक है । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "झयन्त अव्ययीभाव (झय् = वर्ग के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय एवं प्रथम वर्ण) से वैकल्पिक समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—उपसमिधम्—उपसमित् (समिधा—हवन के लिये इन्धन—के समीप) । **विग्रह**—समिधः समीपम् । **अलौकिक विग्रह**—समिध्+ङस्, उप+सु । (प्रक्रिया)–> उपसमिध् (पूर्ववत् "अव्ययं विभक्ति०" ६५१ से समासादि) > उपसमिध्+अ (अव्ययीभाव के अन्त में 'झय्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण होने के कारण 'टच्' प्रत्यय) > उपसमिध+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) > उपसमिध+अम् (सु = अम्) > **उपसमिधम्** (पूर्वरूप) । 'टच्' न होने पर **उपसमित्** (समासादि होने पर पुनः विभक्ति तथा लोप, ध् = द्—जश्त्व, द् = त्—चर्त्व) ।

(६८३) पद—गिरेः, च, सेनकस्य । **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'गिरि' शब्दान्त अव्ययीभाव से वैकल्पिक टच् हो । उदा० उपगिरम्—उपगिरि । 'सेनक' ग्रहण आदरार्थ है ।

विवरण—पूर्व सूत्र के अनुसार यहाँ भी पूर्ववत् 'समासान्ताः' का अधिकार है । 'अन्यतरस्याम्' तथा 'टच्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप में यहाँ भी अपेक्षित है । अनुवृत्त 'अव्ययीभावे' पद भी पञ्चमी-विभक्ति में विपरिणमित होता है । उसके प्रभाव से विशेषणवाची सूत्रस्थ 'गिरेः' पद तदन्तविधि का बोधक हो जायगा । तदनुसार समवेत होकर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होगा कि "गिरि-शब्दान्त अव्ययीभाव-समास से भी समासान्त 'टच्'प्रत्यय सेनक आचार्य के मत में (विकल्प से) होता है ।" **उदाहरण**—उपगिरम् ('टच्' होने पर), 'टच्' न होने पर उपगिरि (पर्वत

'यस्येति च' इति इकारलोपः, अम्भावः। इह सेनकग्रहणात् 'नदीपौर्णमासी' इत्यत्र 'झयः' इत्यत्र चान्यतरस्यां ग्रहणं नानुवर्तत इति केचित्।

इति श्रीमद्वासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमाख्यायाम् अव्ययीभावसमासप्रकरणम्।

के समीप)। **लौकिक विग्रह**—गिरेः समीपम्। **अलौकिक विग्रह**—गिरि+ङस्, उप+सु। **प्रक्रिया**—उपगिरि (समीपार्थ में अव्ययीभाव), >उपगिरि+अ (टच्), उपगिर्+अ ('इ' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > उपगिर+सु > उपगिर+अम् > **उपगिरम्** (पूर्ववत् सुबुत्पत्ति, सु = अम्, पूर्वरूप)। 'टच्' न होने पर अव्ययीभावसमासादि होने के पश्चात् पुनरागत विभक्ति का "अव्ययादाप्सुपः" (२-४-८२) से लोप होकर **उपगिरि** रूप बनेगा।

विशेष—प्रकृत सूत्र में पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य सेनक को सम्मान सूचित करने के लिये उनका नामोल्लेख किया गया है। 'टच्' प्रत्यय की विकल्पसिद्धि तो 'अन्यतरस्यां' पद की अनुवृत्ति से हो जाती है। अतः 'सेनक' पद विकल्पार्थबोधक नहीं है, किन्तु उनकी संमति को बताने के लिये सम्मानपरक है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के सम्बन्ध में वैयाकरणों में मतभेद है। इसका कारण यह है कि पाणिनि-सूत्र में प्रयुक्त 'सेनक' पद का उल्लेख होने से यह प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त दो सूत्रों—"नदी-पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः" (६८१) तथा "झयः" (६८२)—सूत्रों में 'अन्यतरस्यां' पद की अनुवृत्ति नहीं होती है। अन्यथा विकल्प की प्रतीति के लिये 'सेनक' पद की आवश्यकता नहीं रही। इस सम्बन्ध में "बहुगणवतुडतिसंख्या" (१-१-२३) सूत्र में उल्लिखित "नदीपौर्णमास्याग्रहा-यणीभ्यः" (५-४-११०) सूत्र के प्रसङ्ग में स्वरूप-बोधक 'नदी' शब्द के ग्रहण किये जाने पर 'शरदादि-गण' में पठित 'विपाश्' शब्द प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया जाता है। यदि लोक-प्रसिद्ध नदी-वाचक शब्दों से 'टच्' प्रत्यय अभीष्ट होता तो शरदादि-गण में 'विपाश्' शब्द पढ़ने की आवश्यकता नहीं थी, क्यों कि "नदीपौर्णमासी०" ५-४-११० से वैकल्पिक टच् का विधान सम्भव था। शरदादि गण में 'विपाश्' शब्द का पाठ होने से वहाँ स्वरूपात्मक 'नदी' शब्द का ग्रहण होता है। यद्यपि ५-४-११० से 'पाक्षिक टच्'-विधान होने से 'नित्य-टच्' प्रत्यय की प्राप्ति सम्भव न होने के कारण 'विपाश्' शब्द का शरदादिगण में पाठ करना सार्थक माना जा सकता है, तथापि "शरदादि गण में 'विपाश्' शब्द पढ़ा गया है"[1]—इस कथन से भाष्यकार का यह मत अभिव्यञ्जित होता है कि "नदी-पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः" (५-४-११०) तथा "झयः" (५-४-१११) इन दोनों सूत्रों में **'अन्यतरस्याम्'** की अनुवृत्ति नहीं की जाती। अतः "गिरेश्च सेनकस्य" (५-४-११२) सूत्र में वैकल्पिक 'टच्'-विधान के लिए **सेनक** पद सार्थक एवं सम्मानार्थक भी है।

अव्ययीभावप्रकरण समाप्त।

---

१. यदि तर्हि कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति "नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः" इति अत्रापि प्रसज्येत। पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणसामर्थ्यात् न भविष्यति। तद्विशेषेभ्यस्तर्हि प्राप्नोति गङ्गायमुने इति। एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न तद्विशेषेभ्यो भवतीति। यदयं **'विपाट्शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति'**।—महाभाष्यम्—१-१-२३।

अथ तत्पुरुषसमासप्रकरणम्

(६८४) तत्पुरुषः २ । १ । २२ ॥ अधिकारोऽयम् । प्राग्बहुव्रीहेः । **(६८५) द्विगुश्च २ । १ २३ ॥** द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञः स्यात् । इदं सूत्रं त्यक्तुं शक्यम् । 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुश्च' इति पठित्वा चकारबलेन संज्ञाद्वयसमावेशस्य सुवचत्वात् ।

अथ तत्पुरुषसमासनिरूपणम् ।

(६८४) तत्पुरुषः । प्रागिति । 'शेषो बहुव्रीहिः' इत्यतः प्रागित्यर्थः ।

(६८५) द्विगुश्च । द्विगुरपीति । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति वक्ष्यमाण-समासस्य 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञा विधास्यते । स द्विगुसमासोऽपि तत्पुरुषसंज्ञक इति यावत् । एतत्सूत्राभावे एकसंज्ञाधिकारात् द्विगुसंज्ञया तत्पुरुषसंज्ञा बाध्येतेति भावः । इदमिति । 'द्विगुश्च' इत्येतदित्यर्थः । तर्हि द्विगुसंज्ञया तत्पुरुषसंज्ञा बाध्येतेत्यत आह— सङ्ख्येति । 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञाविधायकं सूत्रम् । तत्र चकारः पठनीयः । ततश्च सङ्ख्यापूर्वसमासः द्विगुसंज्ञकस्तत्पुरुषसंज्ञकश्च स्यादिति लभ्यते । एवं च चकारेण

---

(६८४) पद—तत्पुरुषः । **अनुवृत्ति**—सुप् , सह सुपा, समासः । **अधिकार (संज्ञा) सूत्र ।**

मूलार्थ—बहुव्रीहि के पूर्व इसका अधिकार है ।

विवरण—क्रमप्राप्त तत्पुरुष-समास का निर्वचन आरम्भ होता है । प्रकृत सूत्र अधिकार-सूत्र होने के साथ ही संज्ञासूत्र भी है । अतः "शेषो बहुव्रीहिः (२-२-२३) सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में वर्णित समास-विधान **तत्पुरुष-संज्ञक** होगा ।

विशेष—तत्पुरुष समास प्रायः उत्तरपदार्थ–प्रधान होता है । उदाहरणार्थ 'राजपुरुषः' (राज्ञः पुरुषः) शब्द में पुरुष की प्रधानता है । 'राजपुरुषम् आनय' (राजा के कर्मचारी को लाओ)—कहने पर पुरुष (राज-कर्मचारी) को लाया जाता है न कि राजा को । तत्पुरुष समास का निर्वचन ६ प्रकार से किया जाता है:—(१) **सामान्य तत्पुरुष**—जिसमें मध्यगत विभक्तियों का लोप है । (२) **नञ् तत्पुरुष**—निषेधार्थक 'न' शब्द का किसी दूसरे शब्द के साथ समास । (३) **कर्मधारय समास**—विशेषण–विशेष्यवाची पदों का परस्पर समास । इसे **समानाधिकरण तत्पुरुष** भी कहा जाता है । अर्थात् **कर्मधारय** के विग्रहवाक्य में दोनों पदों में एक ही विभक्ति होगी । इसी का भेद **द्विगु** भी है । विशेषण-वाचक पद यदि संख्याबोधक हो तो 'द्विगु' समास होता है । **प्रादि तत्पुरुष**—तत्पुरुष समास में जिन पदों के प्रारम्भ में उपसर्ग होते हैं, उन्हें वैयाकरणों ने **प्रादि-समास** कहा है । (५) **गति-तत्पुरुष**—गतिसंज्ञक शब्दों के साथ समर्थ-सुबन्त के समास को **गति-तत्पुरुष** कहा गया है । (६) **उपपद-समास**—उपपद सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास । ये उपपद संज्ञक शब्द प्रायः विशेषण या क्रिया-विशेषण के रूप में व्यवहृत होते हैं । उपपद समासों में उत्तरपद तिङन्त–धातुरूप नहीं होना चाहिये और ऐसा शब्द भी न हो जो पूर्वपद की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्ररूप से निष्पन्न हो सके ।

(६८५) पद—द्विगुः, च । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—द्विगु भी तत्पुरुषसंज्ञक होता है । यह सूत्र अनावश्यक है । "संख्यापूर्वो द्विगुश्च" इस प्रकार सूत्र पढ़कर 'च' शब्द से दोनों संज्ञाओं का समावेश सरलता से हो सकता है । (द्विगु की तत्पुरुष संज्ञा का) प्रयोजन समासान्त-विधान में है । जैसे—पञ्चराजम् ।

विवरण—पूर्वसूत्र का अधिकारजन्य प्रभाव होने के कारण "तत्पुरुषः" (२-१-२२) की अनुवृत्ति की जाती है । तदनुसार 'द्विगु' भी तत्पुरुष संज्ञक होता है । इसलिये 'द्विगु' का तत्पुरुष-

समासान्तः प्रयोजनम्। पञ्चराजम्। (६८६) द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः २। १। २४॥ द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते स

लघुना तत्पुरुषसंज्ञासमुच्चयलाभात् 'द्विगुश्च' इति गुरुभूतं सूत्रं न कर्तव्यमित्यर्थः। ननु माऽस्तु द्विगोस्तत्पुरुषत्वमित्यत आह—**समासान्तः प्रयोजनमिति**। तदुदाहृत्य दर्शयति—**पञ्चराजमिति**। पञ्चानां राज्ञां समाहार इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः। तस्य तत्पुरुषत्वात् 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति टच्। 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम्। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम्' इति तु न भवति, समासान्तस्य टचः समुदायावयवत्वेन उत्तरपदावयवत्वाभावात्। न च 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुश्च' इति पाठे द्विगुतत्पुरुषसंज्ञयोः पर्यायेण प्रवृत्तिः स्यात्। अतः समुच्चयार्थं 'द्विगुश्च' पृथक्सूत्रमस्त्विति वाच्यम्, सङ्ख्यापूर्वं इति द्विगुरिति च योगौ विभज्य पूर्वेण सङ्ख्यापूर्वस्य तत्पुरुषसंज्ञाविधिः, द्विगुरित्यनेन द्विगुसञ्ज्ञाविधिरित्याश्रयणे सति, चकाराकरणेऽपि पर्यायेण प्रवृत्तिसिद्ध्या चकारस्य समुच्चयार्थत्वोपपत्तेः।

(६८६) द्वितीया श्रित। द्वितीयान्तमिति। प्रत्ययग्रहणपरिभाषालभ्यस्तदन्तविधिः। ननु सुपेत्यनुवृत्तं बहुवचनान्ततया विपरिणतं प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सुबन्तपरम्। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया च प्रत्ययग्रहणे प्रकृतिप्रत्ययसमुदायग्रहणं लभ्यते। तथा च सुबन्तैरित्यस्य सुप्-प्रकृतिसमुदायैरित्यर्थः पर्यवस्यति। श्रितादिशब्दास्तु क्तप्रत्ययान्ता एव न तु सुबन्ताः, तेषां सुब्घटितसमुदायात्मकत्वाभावादित्यत आह—**श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तै-**

समास के अन्तर्गत समावेश होता है। द्विगु-संज्ञा का विधायक सूत्र "संख्यापूर्वो द्विगुः" (२-१-५१) है। इसके अनुसार तद्धित का विषय उपस्थित होने पर उत्तरपद रहते तथा समाहार गम्यमान होने पर संख्यावाची सुबन्तों का समर्थ समानाधिकरणवाची सुबन्त के समास होने के फलस्वरूप द्विगु संज्ञा होती है। यह द्विगुसंज्ञक समास तत्पुरुष-समास होगा। तत्पुरुष करने का यह प्रयोजन है कि तत्पुरुष-समास को अभिलक्षित कर होने वाले समासान्त प्रत्यय द्विगु-समास से भी विहित होंगे[1]। जैसे—पञ्चराजम् (पाँच-राजाओं का समूह)। **विग्रह**—पञ्चानां राज्ञां समाहारः। **प्रक्रिया**—पञ्चन्+आम्, राजन्+आम्>पञ्चराजन् (संख्यापूर्वक होने से द्विगु समास)> पञ्चराजन्+अ (टच् समासान्त प्रत्यय)> पञ्चराज्+अ (अन् = टि लोप)>पञ्चराज+सु > पञ्चराजम् (सु = अम् तथा पूर्वरूप)। प्रकृत उदाहरण में द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा होने के कारण "राजाहःसखिभ्यष्टच्" (५-४-९१) से 'टच्' प्रत्यय हुआ।

विशेष—'द्विगु' की तत्पुरुष-संज्ञा का विधान दूसरे प्रकार से भी सम्भव है। "संख्यापूर्वो द्विगुः" (२-१-५२) सूत्र में 'च' शब्द संयोजित करने से तत्पुरुष-संज्ञा का भी समावेश हो सकता है, अतः यह सूत्र (द्विगुश्च २-१-२३) अनावश्यक है। इस अरुचि को भट्टो जी दीक्षित ने प्रदर्शित किया है।

(६८६) पद—द्वितीया, श्रितातीत···प्राप्तापन्नैः। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि (संज्ञा) सूत्र।**

उपक्रम—**सामान्य तत्पुरुष द्वितीया** से आरम्भ कर **सप्तमी** विभक्ति तक किसी भी विभक्ति का समास होता है। द्वितीया से सप्तमी विभक्ति तक ६ विभक्तियों के आधार पर इसके भी ६ भेद हैं। सर्वप्रथम **द्वितीया-तत्पुरुष** का निर्वचन किया जा रहा है।

मूलार्थ—द्वितीयान्त का श्रितादि-प्रकृतिक सुबन्त समर्थ के साथ समास होता है और वह

---

१. द्विगोस्तत्पुरुषत्वे समासान्ताः प्रयोजयन्ति। महाभाष्यम्—२-१-२३।

तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः। दुःखमतीतो दुःखातीतः इत्यादि। 'गम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्' (वा १२०७) ग्रामं गमी ग्रामगमी। अन्नं बुभुक्षुः अन्नबुभुक्षुः। (६८७)

रिति। श्रितादिशब्दाः श्रितादिप्रकृतिकेषु लाक्षणिका इति भावः। 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' इत्यस्य तु नायं विषयः, 'कर्तृकरणे कृता' 'साधनं कृता' इतिवत् कारणविशेषानुपादानादिति प्रौढमनोरमायां स्थितम्। न च श्रितादीनां समर्थविशेषणत्वात्तदन्तविधौ श्रितान्तादिशब्दप्रकृतिकैरित्यर्थलाभात् कृष्णं परमश्रित इत्यत्रापि समासः स्यादिति वाच्यम्, समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात्। **कृष्णं श्रित इति।** श्रयतेर्गतिविशेषार्थकत्वात् 'गत्यर्थाकर्मक' इति कर्तरि क्तः। 'न लोक' इति कृद्योगषष्ठीनिषेधात् कर्मणि द्वितीया। समासविधौ द्वितीयेति प्रथमानिर्दिष्टत्वात् कृष्णशब्दस्य पूर्वनिपातः। **दुःखातीत इति।** दुःखमतीत इति विग्रहः। 'इण् गतौ'। अतिपूर्वात् कर्तरि क्तः। **इत्यादीति।** गर्तं पतितो गर्तपतितः। 'पत्लृ गतौ' कर्तरि क्तः। तनिपतिदरिद्रातिभ्यः सनो वेट्कत्वेन 'यस्य विभाषा' इति इण्निषेधप्राप्तावपि अत एव निपातनादिट्। ग्रामं गतः ग्रामगतः। ग्राममत्यस्तः। अतिक्रान्तः ग्रामात्यस्तः। ग्रामं प्राप्तः ग्रामप्राप्तः। संशयमापन्नः संशयापन्नः। **गम्यादीनामिति।** गम्यादिप्रकृतिकैः

तत्पुरुष होता है। **उदाहरण** १—कृष्णं श्रितः>कृष्णश्रितः। २—दुःखम् अतीतः>दुःखातीतः इत्यादि। वा० 'गमी' आदि के साथ भी कहा जाय। उदा० १-ग्रामं गमी>ग्रामगमी। २-अन्नं बुभुक्षुः>अन्नबुभुक्षुः।

विवरण—सूत्रार्थ के निर्वचन हेतु "प्राक् कडारात् समासः" (२-१-३), "सह सुपा" (२-१-२), "विभाषा" (२-१-११) तथा "तत्पुरुषः" (२-१-२२) अधिकार सूत्रों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ श्रिता···पन्नैः' पद में इतरेतरद्वन्द्व समास है—श्रितश्च, अतीतश्च, पतितश्च, गतश्च, अत्यस्तश्च, प्राप्तश्च, आपन्नश्च इति श्रितातीत···पन्नाः, तैः। समस्यमान 'श्रित' आदि शब्द तदनुरूप शब्दों में लाक्षणिक हैं। सूत्रस्थ 'द्वितीया' पद में तदन्तविधि होती है—'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः'। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "द्वितीयान्त सुबन्त शब्दों का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त तथा आपन्न सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष-संज्ञक होता है"। क्रमशः उदाहरण—१-**श्रित** के साथ। **विग्रह**—कृष्णम् श्रितः। **अलौकिक विग्रह**—कृष्ण+अम्, श्रित+सु>कृष्णश्रित (द्वितीयान्त 'कृष्ण' का 'श्रितः' के साथ समास, उपसर्जन संज्ञा, 'कृष्ण' का पूर्वनिपात, विभक्ति-लोप)>कृष्णश्रित+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) >कृष्णश्रित+र् (स् = र्–"ससजुषो रुः"–८-२-६६) >**कृष्णश्रितः** (र् = :–"खरवसानयोर्विसर्जनीयः"–८-३-१५)। अर्थ—कृष्ण को प्राप्त हुआ। २—**अतीत** के साथ। **विग्रह**—दुःखम्+अतीतः (दुःख को पार कर गया)। **सिद्धि**—दुःख+अम्, अतीत+सु>दुःखातीत>दुःखातीत+सु>दुःखतीत+र्>**दुःखातीतः**। प्रक्रिया पूर्ववत् समझें। ३-**पतित** के साथ। **विग्रह**—नरकम्+पतितः (नरक में पड़ा हुआ हुआ)। नरक+अम्, पतित+सु >नरकपतित>नरकपतित+सु>नरकपतित+र्>**नरकपतितः**। ४—**गत** के साथ-स्वर्गम् गतः (स्वर्ग को गया हुआ)। **सिद्धि**—स्वर्ग+अम्, गत+सु>स्वर्ग-गत>स्वर्गगत+सु>स्वर्गगत+र्>**स्वर्गगतः**। ५—**अत्यस्त** के साथ—कूपम्+अत्यस्तः (कूएँ में फेंका हुआ)। **सिद्धि**—कूप+अम्+अत्यस्त+सु,>कूपात्यस्त (समासादि करने के बाद सवर्ण दीर्घ)>कूपात्यस्त+सु (=र्)>**कूपात्यस्तः**। ६—**प्राप्त** के साथ—सुखम् प्राप्तः (सुख को प्राप्त हुआ)। **प्रक्रिया**—सुख+अम्, प्राप्त+सु>

स्वयं क्तेन २ । १ । २५ ॥ 'द्वितीया'—(सू० ६८६) इति न सम्बध्यते, अयोग्यत्वात् । स्वयङ्कृतस्यापत्यं स्वायङ्कृतिः । **(६८८) खट्वा क्षेपे २ । १ । २६ ॥**

सुबन्तैरपि द्वितीयान्तं समस्यते स तत्पुरुष इति यावत् । **ग्रामं गमीति** । 'गमेरिनिः' इति औणादिक इनि-प्रत्ययः, स च 'भविष्यति गम्यादयः' इति वचनात् भविष्यति काले भवति । 'अकेनोः' इति कृद्योगषष्ठीनिषेधात् कर्मणि द्वितीया । ग्रामं गमिष्यन्नित्यर्थः । **अन्नं बुभुक्षुरिति** । भुजेः सन् । 'सनाशंसभिक्ष उः', 'न लोक' इति कृद्योगषष्ठीनिषेधात् कर्मणि द्वितीया । बुभुक्षुशब्दो गम्यादौ पठित इति भावः ।

(६८७) स्वयं क्तेन । क्तप्रत्ययान्तप्रकृतिकसुबन्तेन स्वयमित्यव्ययं समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । **अयोग्यत्वादिति** । स्वयमित्यव्ययस्य आत्मनेत्यर्थकस्य कर्तृशक्तिप्रधानतया तृतीयाया एवोचितत्वादिति भावः । स्वयमित्यव्ययस्य समासे असमासेऽपि को भेदः ? असमासेऽपि 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुकः प्रवृत्तेरित्यत आह—**स्वयंकृतस्यापत्यं स्वायंकृतिरिति** । स्वयंकृतस्यापत्यमित्यर्थे 'अत इञ्' इति स्वयंकृतशब्दात् षष्ठ्यन्तादिञि तद्धितान्तप्रातिपदिकावयवत्वात् सुब्लुकि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे आदिवृद्धौ स्वायंकृतिशब्दः । समासाभावे तु कृतशब्दस्यैव षष्ठ्यन्तत्वात्तत इञि ऋकारस्यादिवृद्धौ रपरत्वे स्वयंकार्तिः इत्येव स्यादिति भावः । वस्तुतस्तु असामर्थ्यादिह न तद्धितः । स्वयंकृतशब्दस्य समासस्वरः प्रयोजनम् ।

सुख–प्राप्त > सुखप्राप्त + सु > सुखप्राप्त + र् > **सुखप्राप्तः** । **७—आपन्नः** के साथ—संकटम् + आपन्नः (संकट में पड़ा हुआ) । **प्रक्रिया**—संकट + अम्, आपन्न + सु > संकटापन्न > संकटापन्न + सु > संकटापन्न + र् > संकटापन्नः । **वार्तिकार्थ**—'गमिन्' आदि का भी द्वितीयान्त सुबन्त के साथ वैकल्पिक तत्पुरुष समास होता है । **उदाहरण—१—गमिन्—ग्रामगमी**[1] (गाँव जाने वाला) । **प्रक्रिया**—ग्रामम् + गमी । ग्राम + अम्, गमिन् + सु > ग्राम-गमिन् > ग्रामगमिन् + सु > ग्रामगमीन् + सु (उपधादीर्घ) > ग्रामगमीन् ('सु' लोप) > **ग्रामगमी** ('न्' लोप) । पक्ष में ग्रामं गमी । **२—बुभुक्षु—अन्नबुभुक्षुः**[2] (खाने का इच्छुक) । **विग्रह**—अन्नं बुभुक्षुः । **सिद्धि**—अन्न + अम्, बुभुक्षु + सु > अन्नबुभुक्षु > अन्नबुभुक्षु + सु > अन्नबुभुक्षु + र् > अन्नबुभुक्षुः ।

(६८७) **पद**—स्वयम्, क्तेन । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।**

मूलार्थ—'सामर्थ्य' न होने से द्वितीय का सम्बन्ध नहीं है । उदा० स्वयंकृत की सन्तति—स्वायंकृतिः ।

विवरण—पूर्व सूत्रानुसार उपर्युक्त अधिकार सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि ""स्वयम्' इस अव्यय शब्द का 'क्त' प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ वैकल्पिक समास हो एवम् उसकी तत्पुरुष संज्ञा हो" । यहाँ 'स्वयम्' शब्द अव्यय है, अतः 'द्वितीया' की अनुवृत्ति नहीं दिखाई गई है, क्योंकि 'अव्यय' द्वितीयान्त नहीं हो सकता । **उदाहरण**—स्वयंकृतम् (स्वयं किया हुआ) । **फल**—स्वायंकृतिः (स्वयंकृत की सन्तति) । **प्रक्रिया**—स्वयम् + कृतम् इस विग्रह में प्रस्तुत सूत्र से समास होता है । समास संज्ञा का फल 'स्वयंकृतस्य अपत्यम्' इस

---

१. गम् + इन् ('गमेरिनिः' उणादि सूत्र ४५४) ।
२. भुज् + सन् > बुभुक्षु + उ ("सनाशंसभिक्ष उः" ३-२-१६८) ।

खट्वाप्रकृतिकं द्वितीयान्तं क्तान्तप्रकृतिकेन सुबन्तेन समस्यते निन्दायाम्। खट्वारूढो जाल्मः। नित्यसमासोऽयम्। नहि वाक्येन निन्दाऽवगम्यते। (६८९) सामि

---

(६८८) खट्वा क्षेपे। क्तेनेत्यनुवर्तते। प्रत्ययग्रहणात्तदन्तविधिः। क्षेपो निन्दा। द्वितीयेति सुपेति चानुवर्तते। तदुभयमपि प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तपरं सत् प्रकृति-प्रत्ययसमुदायपरम्। खट्वाशब्दस्य च सुब्घटितसमुदायात्मकत्वासम्भवात् अत्र खट्वा शब्दः क्तप्रत्ययान्तशब्दश्च तत्प्रकृतिके लाक्षणिक इत्याह—खट्वाप्रकृतिकमिति। खट्वा-रूढो जाल्म इति। 'जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी' इत्यमरः। खट्वा अम् आरूढ सु इत्य-लौकिकविग्रहः। लौकिकविग्रहस्तु नास्तीत्याह—नित्यसमासोऽयमिति। तत् कुत इत्यत आह—न हि वाक्येन निन्दाऽवगम्यत इति। वृत्त्यर्थबोधकं वाक्यं लौकिकविग्रहः। तत्र खट्वामारूढ इति वाक्यं हि गृहस्थाश्रमिणि निन्दां न गमयति। खट्वारूढ इति समासस्तु रूढ्या निन्दां गमयति। तथा च भाष्यम्—'अधीत्य स्नात्वा गुर्वनुज्ञातेन

अर्थ में समुदाय से तद्धित 'इञ्' प्रत्यय करने पर आदि-अच् 'स्व' के अकार की वृद्धि 'आ' होने से 'स्वायंकृतिः' रूप निष्पन्न होता है। यदि समास न होता तो 'स्वयं' तथा 'कृतं' दोनों पद पृथक् होते और तद्धित-प्रत्यय किये जाने पर 'कृत' के आदि 'अच्'–'ऋ' को वृद्धि होकर 'स्वयं-कार्तिः' रूप बनता।

(६८८) पद—खट्वा, क्षेपे। **अनुवृत्ति**—क्तेन, द्वितीया, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि (संज्ञा) सूत्र**।

मूलार्थ—निन्दा सूचित होने पर द्वितीयान्त खट्वा शब्द का क्त-प्रत्ययान्त-तदादि के साथ समास हो। उदा० खट्वारूढः (जाल्मः)। यह नित्य समास है, क्योंकि वाक्य से निन्दार्थ प्रतीत नहीं होता।

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'विभाषा' के अतिरिक्त अन्य अधिकार सूत्रों की अनुवृत्ति के साथ पूर्व दो सूत्रों (२-१-२४ तथा २-१-२३) से क्रमशः 'क्तेन' तथा 'द्वितीया' की अनुवृत्ति भी आ रही है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "निन्दा (क्षेपे) गम्यमान होने पर द्वितीयान्त 'खट्वा' शब्द 'क्त' प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त हो एवं तत्पुरुष-संज्ञ भी हो"। **उदाहरण—खट्वारूढः**[1] जाल्मः[2] (दुष्ट खाट पर बैठ गया—ब्रह्मचर्याश्रम में)। यहाँ पर लौकिक विग्रह नहीं होगा, क्योंकि वाक्य से निन्दार्थ की प्रतीति नहीं होती। **अलौकिक विग्रह**—खट्वा +अम्, आरुढ+सु>खट्वारुढ (प्रकृत सूत्र से समास तथा 'खट्वा' का पूर्वनिपात एवं विभक्ति-लोप, सवर्णदीर्घ) >खट्वारुढ+सु> खट्वारुढ+र्>खट्वारुढः।

विशेष—यहाँ विग्रह-वाक्य से क्षेप (निन्दा) की प्रतीति नहीं होती, अतः 'विभाषा' का अधिकार होते हुए भी उसका सम्बन्ध नहीं किया जाता। एतदर्थं इस समास को नित्य (अस्वपद-विग्रह) माना गया है[3]।

---

१. 'अधीत्य स्नात्वा गुर्वनुज्ञातेन खट्वा आरोढव्या। यस्तावद् अन्यथा करोति स खट्वारूढोऽयं जाल्म इत्युच्यते'।—महाभाष्यम्।

२. 'जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्'—अमरकोषः।

३. "येन स्यात् कर्मणा रुढः खट्वामनुशयी नरः।
आदितस्तत्र कर्तव्यमिच्छता भावमात्मनः॥" इत्यादौ वाक्येन निन्दानवगमाद्विभाषाधि-कारेऽपि समासस्य नित्यत्वम्।—व्या० सि० सु० पृ० ९३८।

२ । १ । २७ ॥ सामिकृतम् । (६९०) कालाः २ । १ । २८ ॥ 'क्तेन' इत्येव । अनत्यन्तसंयोगार्थं वचनम् । मासप्रमितः प्रतिपच्चन्द्रः । मासं परिच्छेत्तुमारब्धवानित्यर्थः ।

खट्वा आरोढव्या । यस्तावदन्यथा करोति, स खट्वारूढोऽयं जाल्म इत्युच्यते इति । अत्र जाल्म इत्यनेन उद्वृत्ते अयं शब्दो रूढः । अवयवार्थे तु नाभिनिवेष्टव्यम् इति सूचितम् ।

(६८९) सामि । सामीत्यव्ययमर्धे वर्तते । तत् क्तान्तप्रकृतिकसुबन्तेन समस्यत इत्यर्थः । सामिकृतमिति । समासाभावे तु तद्धितवृत्तौ सामिकार्तिरिति स्यादिति भावः ।

(६९०) कालाः । क्तेनेत्येवेति । क्तेनेत्यनुवर्तते एवेत्यर्थः । कालवाचिप्रकृतिकद्वितीयान्ताः क्तप्रत्ययान्तप्रकृतिकसुबन्तेन वा समस्यन्त इत्यर्थः । ननु 'अत्यन्तसंयोगे च' इत्युत्तरसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अनत्यन्तेति । मासप्रमित इति । मासं प्रमित इति विग्रहः । प्रपूर्वकात् माधातोः 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इति कर्तरि क्तः । तदाह—मासं परिच्छेत्तुमिति । इह प्रतिपच्चन्द्रेण मासस्य नात्यन्तसंयोग इति भावः ।

---

(६८९) पद—सामि । अनुवृत्ति—क्तेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । विधि (संज्ञा) सूत्र ।

विवरण—पूर्ववत् उपर्युक्त पदों की अनुवृत्ति करने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि " 'सामि' इस अव्यय शब्द का 'क्त'-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ वैकल्पिक तत्पुरुष समास हो" । 'समि' अव्यय 'आधा' एवं 'जुगुप्सित' अर्थ में प्रयुक्त होता है । **उदाहरण—सामिकृतम्** (आधा किया हुआ) । **विग्रह**—सामि+कृतम्>सामिकृतम् (प्रकृतसूत्र से समासादि तथा अन्य कार्य पूर्ववत्) ।

विशेष—१–यहाँ भी 'सामि' शब्द के अव्यय होने के कारण 'द्वितीया' पद का सम्बन्ध नहीं किया जाता है । २–समास न होने पर 'सामिकृत' शब्द से तद्धित 'इञ्' प्रत्यय होने पर 'सामिकार्तिः' रूप होने लगेगा ।

(६९०) पद—कालाः । अनुवृत्ति—क्तेन, द्वितीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । नियम-विधि (संज्ञा) सूत्र ।

मूलार्थ—'क्त' प्रत्ययान्त के साथ ही (समास हो) । अत्यन्त संयोग होने पर यह विधान है । उदा० मासप्रमितः (प्रतिपच्चन्द्रः) । अर्थात् मास को बनाना आरम्भ किया ।

विवरण—पुनः द्वितीया का सम्बन्ध किया जारहा है । अतः "स्वयं क्तेन" (२-१-२३) से 'क्तेन' की अनुवृत्ति के अतिरिक्त उपर्युक्त अधिकारसूत्रों की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होगा कि "कालवाची द्वितीयान्त शब्द का 'क्त' प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ वैकल्पिक तत्पुरुष समास होता है" । **उदाहरण**—मासप्रमितः (महीने का प्रारम्भ चन्द्रमा)[1] । **विग्रह**—(क) मासम्+प्रमितः (ख) मास+अम्, प्रमित+सु > मासप्रमित (प्रकृत सूत्र से समास तथा विभक्तिलोपादि) मासप्रमित+सु > मासप्रमित+र् > **मासप्रमितः** ।

विशेष—प्रकृत सूत्र की उपयोगिता यह है कि कालवाचक शब्द का एकदेशिक सम्बन्ध होने पर भी समास होता है । अन्यथा पाणिनि "काला अत्यन्तसंयोगे" एक ही सूत्र पढ़ते । पृथक् सूत्र "कालाः" (२-१-२८) की विद्यमानता का यही फल है ।

---

१. प्रतिपद् के चन्द्रमा से क्रमशः मास बढ़ना आरम्भ होता है । पूरे मास भर प्रतिपद् का चन्द्रमा नहीं रहता अतः 'अनत्यन्तसंयोग' है ।

(६९१) अत्यन्तसंयोगे च २।१।२९ ॥ 'काला' इत्येव । अक्तान्तार्थं वचनम् । मुहूर्तं सुखम् मुहूर्तसुखम् । **(६९२) तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २ । १ । ३० ॥** 'तत्कृत' इति लुप्ततृतीयाकम् । तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थशब्देन च सह प्राग्वत् ।

---

(६९१) अत्यन्तसंयोगे च । काला इत्येवेति । तेन अत्यन्तसंयोगे कालवाचिनो द्वितीयान्ताः सुबन्तेन सह वा समस्यन्त इति लभ्यत इत्यर्थः । ननु 'कालाः' इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—**अक्तान्तार्थमिति** । अत्र क्तेनेति निवृत्तमिति भावः । **मुहूर्तं सुखमिति** । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । मुहूर्तव्यापि सुखमित्यर्थः ।

(६९२) तृतीया तत्कृत । तत्कृतेत्यस्याव्यवहितमप्यर्थेनेति परित्यज्य गुणवचनेनेत्यत्रान्वयं वक्तुमाह—**तत्कृतेति लुप्ततृतीयाकमिति** । तत्र तृतीयेत्यनेन तृयीयान्तं विवक्षितम् । तत्कृतेति लुप्ततृतीयाकं भिन्नं पदम् । तच्छब्देन तृतीयान्तपरामर्शिना तदर्थो लक्ष्यते । तत्कृतेत्येतच्च गुणद्वारा गुणवचनेऽन्वेति । ततश्च तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतो यो गुणः तद्वाचिना समस्यते, अर्थशब्देन न च तृतीयान्तं समस्यत इति वाक्यद्वयं सम्पद्यत इति भाष्ये स्थितम् । तदाह—**तृतीयान्तमित्यादिना** । गुणेत्यस्य तत्कृतत्वसापेक्षत्वेऽपि सौत्रः समासः । इदं सूत्रं कृतशब्दार्थद्वारक एव सामर्थ्ये प्रवर्तते, न तु साक्षात्परस्परान्वये इति भाष्ये स्पष्टम् । न च घृतेन पाटवमित्यत्रातिप्रसङ्गः शङ्क्यः,

---

(६९१) पद—अत्यन्तसंयोगे, च । **अनुवृत्ति**—कालाः, द्वितीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **नियम-विधि (संज्ञा) सूत्र ।**

मूलार्थ—कालवाचक शब्दों का ही (अत्यन्त संयोग में समास होता है) । क्त-प्रत्ययान्त-शब्दों के साथ समास-विधान का कथन है । उदा० मुहूर्तं सुखम्>मुहूर्तसुखम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र "कालाः" (२-३-२८) से 'कालाः' तथा "द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः" (२-१-२३) से द्वितीया की अनुवृत्ति के अतिरिक्त उपर्युक्त अधिकार सूत्रों की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप सूत्र से यह अभिव्यक्षित होता है कि "अत्यधिक संयोग गम्यमान होने पर कालवाची द्वितीयान्त शब्दों का अन्य सुबन्तों (क्तप्रत्ययान्तभिन्न) के साथ वैकल्पिक तत्पुरुष समास हो" । अत्यन्त संयोग से अभिप्राय लगातार संयोग का रहना है । **उदाहरण**—**मुहूर्तसुखम्** (दो घड़ी तक सुख) । **विग्रह**—(क) मुहूर्तं सुखम् । (ख) मुहूर्त+अम्, सुख+सु>मुहूर्तसुख>मुहूर्त-सुख+सु>मुहूर्तसुख+अम्>**मुहूर्तसुखम्** ।

विशेष—१-इस सूत्र की उपयोगिता 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों के साथ 'कालवाची' शब्दों का समास-विधान करने में है । २—विग्रह-वाक्य में 'मुहूर्त' पद में द्वितीया विभक्ति हुई—"कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (२-३-५) ।

(६९२) पद—तृतीया, तत्कृताऽर्थेन, गुणवचनेन । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा) सूत्र ।**

मूलार्थ—'तत्कृत' लुप्ततृतीयान्त पद है । तृतीयान्त का तृतीयान्त के अर्थ से किए गए गुणवाचक शब्द के साथ तथा 'अर्थ' शब्द के साथ पहले की तरह (तत्पुरुष समास) हो । उदा० १-शङ्कुलया खण्डः > शङ्कुलाखण्डः । २-धान्येन अर्थः > धान्यार्थः । 'तत्कृत' क्यों कहा ? अक्ष्णा काणः (समास नहीं हुआ) ।

प्रसङ्गसङ्गति—तृतीया तत्पुरुष आरम्भ होता है ।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए समास-प्रकरण के अधिकार सूत्र "प्राक् कडारात् समासः" (२-१-३) से 'समासः', "सह सुपा" (२-१-४) संपूर्ण सूत्र तथा "तत्पुरुषः" संपूर्ण सूत्र

शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः। धान्येनार्थो धान्यार्थः। 'तत्कृत' इति किम्? अक्ष्णा

गुणेनेति सिद्धे वचनग्रहणात् गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिशब्दो गृह्यत इति व्याख्यानात्। **शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्ड इति**। देवदत्त इति शेषः। शङ्कुलाखण्डो देवदत्तः इत्येव भाष्ये उदाहृतम्। 'खडि भेदने' भावे घञ्। खण्डनं खण्डः। मत्वर्थीयः अर्श आद्यच्। शङ्कुलयेति करणे तृतीया। शङ्कुलाकृतखण्डनक्रियावानित्यर्थः। यत्तु 'आकडारात्' इति सूत्रभाष्ये 'समासकृदन्ततद्धितान्ताव्ययसर्वनामजातिसङ्ख्यासंज्ञाशब्दभिन्नमर्थवच्छब्द-स्वरूपं गुणवचनसंज्ञं भवति' इत्युक्तम्। तदेतत् प्रकृते न प्रवर्तते। गुणमुक्तवता गुण-वचनेनेति भाष्येण यौगिकत्वावगमात्। अतोऽत्र गुणशब्देन धर्ममात्रं विवक्षितम्। एवञ्च खण्डशब्दस्य क्रियावचनत्वेऽपि न क्षतिः। तत्त्वबोधिन्यां तु 'वोतो गुणवचनात्' इत्यत्र 'सत्त्वे निविशतेऽपैति' इत्यादिलक्षणलक्षितो गुणोऽत्र गृह्यत इत्युक्तम्। तद्व्याख्यावसरे क्रियाया गुणत्वं नास्तीत्यप्युक्तम्। इह तु खण्डशब्दस्य क्रियावाचिनोऽपि गुणवचनत्व-मास्थितम्। तत्तु प्रकृतसूत्रस्थभाष्यविरुद्धत्वात् पूर्वोत्तरविरुद्धत्वाच्चोपेक्ष्यम्। अर्थशब्देन समासमुदाहरति—**धान्येनेति**। अर्थशब्दो धनपरः। हेतौ तृतीया। धान्यहेतुकं धन-मित्यर्थः। अत्र धनस्य धान्यहेतुकत्वेऽपि तत्कारणकत्वाभावादप्राप्तौ पृथगुक्तिः। धान्येनेति प्रकृत्यादित्वात्तृतीया। धान्यामिन्नं धनमित्यर्थं इति केचित्। ननु शङ्कुलया खण्ड इत्यत्र 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इत्येव सिद्धे तत्कृतेति व्यर्थमिति पृच्छति—**तत्कृत इति किमिति**। गुणवचनेन चेत् तत्कृतेनैवेति नियमार्थं तत्कृतग्रहणमित्यभिप्रेत्य प्रत्युदाहरति—**अक्ष्णा काण इति**। न ह्यक्ष्णा काणत्वं कृतं किन्तु रोगादिनेति भावः। गुणवचनेनेति किम्? गोभिर्वपावान्। गोसम्बन्धिक्षीरादिभोजनेन देवदत्तस्य वपावत्त्वमित्यस्ति तत्कृतत्वम्, किन्तु न गुणवचनोऽसौ।

की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त "विभाषा" (२-१-११) अधिकार का प्रभाव भी विद्यमान है। सूत्रस्थ 'तत्कृत' पद में 'तृतीया' विभक्ति लोप की गई है, तदनुसार अर्थ की दृष्टि से उसका स्वरूप 'तत्कृतेन' माना जाता है। इस कारण 'तत्कृत' पद दूरान्वयी माना गया है। अतः वह 'गुणवचनेन' के साथ अन्वित होता है। इसके साथ ही 'तृतीया' पद 'तृतीयान्त' का बोधक है (प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः)। जिसके फलस्वरूप 'तत्कृत' पद के 'तद्' अंश से 'तृतीयान्त अर्थ' का बोध होता है। तथा 'तत्कृत' पद 'गुणवचनेन' के साथ सम्बद्ध होकर एवम् अवशिष्ट पृथक् पद 'अर्थेन' से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "तृतीयान्त सुबन्त का तृतीयान्त के अर्थ द्वारा सम्पादित गुणवाची प्रातिपदिक के साथ एवम् तृतीयान्त का सुबन्त 'अर्थ' शब्द के साथ विकल्प से 'तत्पुरुष' समास हो"। **उदाहरण—(१) लौकिक विग्रह—शङ्कुलया खण्डः** (सरौते से किया हुआ टुकड़ा)। **अलौकिक विग्रह—शङ्कुला+टा, खण्ड+सु>शङ्कुला-खण्ड** (प्रकृत सूत्र से तृतीयान्त 'शङ्कुलया' का तत्कृत-गुणवाचक सुबन्त 'खण्डः' के साथ समास, विभक्ति-लोप आदि कार्य) > शङ्कुलाखण्ड+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) > **शङ्कुलाखण्डः** (रुत्व, विसर्ग)। (२) **लौकिक विग्रह—धान्येन अर्थः** (धान्य से प्रयोजन)। **अलौकिक विग्रह—धान्य+टा, अर्थ+सु >धान्य-अर्थ** (तृतीयान्त सुबन्त 'धान्येन' का 'अर्थः' के साथ समास, विभक्ति-लोप आदि कार्य) > धान्यार्थ+सु (दीर्घ, पुनः विभक्ति) > **धान्यार्थः** (स्=र्=:)। **प्रत्युदाहरण**—प्रकृत सूत्र में 'तत्कृत' पद का क्या प्रयोजन है? इस पद के न होने पर 'गुणवाची' पद तृतीयान्त सुबन्त के अर्थ द्वारा सम्पादित न होने पर भी तृतीयान्त

काणः । (६९३) पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः २ । १ । ३१ ॥ तृतीयान्तमेतैः प्राग्वत् । मासपूर्वः । मातृसदृशः । पितृसमः । ऊनार्थे—माषोनं कार्षापणम्, माषविकलम् । वाक्कलहः । आचारनिपुणः । गुडमिश्रः । आचारश्लक्ष्णः । मिश्रग्रहणे

---

(६९३) पूर्वसदृश । एतैरिति । पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण, मिश्र, श्लक्ष्ण एतैरित्यर्थः । मासपूर्व इति । मासेन पूर्व इति विग्रहः । मासात् प्रागुत्पन्न इत्यर्थः । यद्यप्यवधित्वसम्बन्धे 'अन्यारादितरर्ते' इति दिक्शब्दयोगे पञ्चमी प्राप्ता, दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्द इत्यभ्युपगमात् । तथाप्यत एव ज्ञापकात् तृतीया । हेतौ तृतीयेत्यन्ये । मातृसदृश इति । मात्रा सदृश इति विग्रहः । पितृसम इति । पित्रा सम इति विग्रहः । 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम्' इति तृतीया । 'तुल्यार्थैः' इति षष्ठ्यां षष्ठीसमासेनैव सिद्धमित्याहुः । ऊनार्थेति । उदाहरणसूचनमिदम् । माषोनमिति । माषाख्यपरिमाणविशेषेण ऊनं परिमाणमित्यर्थः । अत एव ज्ञापकादवधित्वे तृतीया, हेतौ वा । अर्थग्रहणं च ऊनेनैव च सम्बध्यते, न तु पूर्वादिभिरपि, समसदृशयोः पृथगुपादानात् । अर्थग्रहणस्य प्रयोजनमाह—माषविकलमिति । माषेण विकलमिति विग्रहः । हीनमित्यर्थः । पूर्ववत् तृतीया । वाक्कलह इति । वाचा कलह इति विग्रहः । आचारनिपुण इति । आचारेण

सुबन्त के साथ सामासिक स्थिति को प्राप्त हो जाता । तदनुसार 'अक्ष्णा काणः' (आँख से काना) में भी समास-प्राप्त हो जाता । किन्तु यहाँ समास नहीं होता, क्योंकि कानापन आँख के द्वारा सम्पादित है, तथा वह दुष्कर्मों का परिणाम है ।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र में महाभाष्यकार ने 'तत्कृतार्थेन' पद में योगविभाग किया है ।[1] अर्थात् 'तत्कृत' (तत्कृतेन) को 'गुणवचनेन' का विशेषण माना है तथा 'अर्थेन' को पृथक् माना है ।

(२) 'गुणवचन' से यह तात्पर्य है कि 'पहले जिसने गुण को कहा था, किन्तु वही अब तद्वान् (= द्रव्य) को कहता है । जैसे उदाहरण में 'खण्ड' शब्द खण्डनरूप (काटना) गुण का बोधक था, किन्तु अब वह 'खण्ड-गुण' वाले पदार्थ (द्रव्य) को सूचित करता है ।[2]

(६९३) पद—पूर्वपद······श्लक्ष्णैः । अनुवृत्ति—तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा) सूत्र ।**

मूलार्थ—तृतीयान्त का पूर्वादि के साथ पहले की तरह (समास हो) । उदा० (१) मासपूर्वः, (२) माससदृशः, (३) पितृसमः । ऊनार्थ—अ-(४) माषोनं कार्षापणम्, ब-माषविकलम् । (५) वाक्कलहः । (६) आचारनिपुणः । (७) गुडमिश्रः । (८) आचारश्लक्ष्णः ।

---

१. तथा च भाष्यम्—'योगाङ्गमिदं निर्दिश्यते । सति च योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते । तृतीया तत्कृतेन गुणवचनेन समस्यते ततोऽर्थेन । अर्थशब्देन च तृतीया समस्यते । धान्यार्थः, वसनार्थः, हिरण्यार्थः । "पूर्वसदृशसमोनार्थ" (२-१-३१) इत्यर्थग्रहणं न कर्तव्यं भवतीति' । (म० भा० २-१-३०) ।

२. गुणेन इतीयता सिद्धे वचनग्रहणाद् 'गुणमुक्तवतेत्यर्थ' इति भाष्याच्च गुणपदेन धर्ममात्रमत्र उह्यते । तेन खण्डशब्दस्य क्रियावचनत्वेऽपि न दोषः । तथा हि—"गुणवचनेति किमर्थम् ? गोभिर्धनवान्, धान्येन धनवान् । किं पुनरिहोदाहरणम् ? शङ्कुलया खण्डो देवदत्त इति । कथं पुनर्गुणवचनेन समास उच्यमानो द्रव्यवचनेन स्यात् ? इह "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणेन" इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेवं सिद्धे सति यद्वचनग्रहणं करोति तस्यैतत् प्रयोजनम्—एवं यथा विज्ञायेत—गुणमुक्तवता गुणवचनेनेति' ।—(तत्रैव महाभाष्यम्) ।

सोपसर्गस्यापि ग्रहणम्, 'मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ' (सू ३८८५) इत्यत्रानुपसर्गग्रहणात् । गुडसम्मिश्रा धानाः । 'अवरस्योपसङ्ख्यानम्' (वा १२५६) मासेनावरो मासावरः ।

निपुण इति विग्रहः । आचारहेतुकनैपुण्यवानित्यर्थः । **गुडमिश्र इति** । गुडेन मिश्र इति विग्रहः । **आचारश्लक्ष्ण इति** । आचारेण श्लक्ष्ण इति विग्रहः । आचारहेतुककुशलत्ववानित्यर्थः । ननु गुडसंमिश्रा इत्यत्र कथं समासः ? सुबन्तविशेषणत्वेऽपि समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तत्राह—**मिश्रग्रहणे सोपसर्गस्यापि ग्रहणमिति** । कुव इत्यत आह—**मिश्रं चेति** । असन्धौ मिश्रेत्युत्तरपदमुपसर्गहीनं तृतीयान्तात् परमन्तोदात्तमिति तदर्थः । अत्रानुपसर्गग्रहणादितरत्र मिश्रग्रहणे सोपसर्गग्रहणं विज्ञायत इत्यर्थः । **मासेनावर इति** । मासेन पूर्वं इत्यर्थः । न्यून इत्यर्थ ऊनार्थकत्वादेव सिद्धम् ।

'मिश्र' शब्द उपसर्ग-सहित का भी ग्राहक है । प्रमाण—'मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ' सूत्र में 'अनुपसर्ग' पद का निवेश इसका द्योतक है । अतः यहाँ भी समास हुआ—'गुडसंमिश्रा' धानाः । वार्तिक—'अवर' शब्द का भी (तृतीयान्त सुबन्त के साथ) समास होता है । उदा० मासेन अवरः > मासावरः ।

विवरण—सूत्र में केवल एक ही पद है । वह पद इतरेतरद्वन्द्वसमासपरक है । विग्रह—पूर्वश्च, सदृशश्च, समश्च, ऊनार्थश्च, कलहश्च, निपुणश्च, मिश्रश्च, श्लक्ष्णश्च—पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णाः, तैः । पूर्वसूत्र (६९३) से तृतीया की अनुवृत्ति आ रही है । अन्य पदों की अनुवृत्ति भी पूर्व सूत्र (६९३) के अनुसार अपेक्षित है । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "तृतीयान्त सुबन्त का—पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण, मिश्र तथा श्लक्ष्ण सुबन्तों के साथ—विकल्प से तत्पुरुष समास होता है" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **लौकिक-विग्रह**—मासेन[1] पूर्वः (एक मास पहले का पैदा हुआ) । **अलौकिक विग्रह**—मास+टा, पूर्व+सु > मासपूर्व (तृतीयान्त 'मासेन' का 'पूर्वः' सुबन्त के साथ समास, विभक्तिलोप आदि) > **मासपूर्वः** (विभक्त्युत्पत्ति, र्, विसर्ग । (२) **लौकिक विग्रह**—[2]मात्रा सदृशः (माता के समान) । **अलौकिक विग्रह**—मातृ+टा, सदृश+सु > मातृसदृश ('मात्रा' तृतीयान्त का 'सदृशः' के साथ समास) > **मातृसदृशः** (सु, रु, विसर्ग) । (३) **लौकिक विग्रह**—पित्रा[3] समः (पिता के समान) । **अलौकिक विग्रह**—पितृ+टा, सम+सु > पितृसम (पूर्ववत् समासादि) > **पितृसमः** (सु, रु, विसर्ग) । (४) 'ऊन' शब्द ऊनार्थ (कमी को बतलाने वाला) का बोधक है । **उदाहरण**—(अ) **लौकिक विग्रह**—माषेण[4] ऊनम् (माष से कम परिमाण) । **अलौकिक विग्रह**—माष+टा+ऊन+सु (समासादि) >**माषोनम्** (गुण, विभक्त्युत्पत्ति सु, अम्, पूर्वरूप) । (ब) माषेण विकलम् (माष से हीन परिमाण) > माषविकल (पूर्ववत् समासादि) > **माषविकलम्** (सु, अम्, पूर्वरूप) । (५) **लौकिक विग्रह**—वाचा कलहः (वाणी के द्वारा झगड़ा) । **अलौकिक विग्रह**—वाच्+टा, कलह+सु>वाक्कलह (पूर्ववत् समासादि, कुत्व) >**वाक्कलहः** (सु, रु, विसर्ग) । (६) **लौकिक विग्रह**—आचारेण निपुणः (आचरण द्वारा निपुण) । **अलौकिक विग्रह**—आचार+टा,

---

१. यद्यपि अवधि (मास) की प्रतीति होने से "अन्यारादितरर्ते०" (२-२-२९) से पञ्चमी विभक्ति की प्राप्ति है, तथापि समास-विधान के कारण ज्ञापक-वश तृतीया विभक्ति हुई ।

२. तथा ३. तृतीया विभक्ति—"तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीया" (२-२-७२) ।

४. यहाँ भी अवधि-अर्थ में ज्ञापक-वश तृतीया ।

(६९४) कर्तृकरणे कृता बहुलम् २ । १ । ३२ ॥ कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रातः । नखैर्भिन्नो नखभिन्नः । कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (प २९)—नखनिर्भिन्नः । कर्तृकरणे इति किम् ? भिक्षाभिरुषितः ।

---

(६९४) **कर्तृकरणे** । कर्ता च करणं चेति समाहारद्वन्द्वात् सप्तमी । तृतीयेत्यनुवर्तते । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम् । कृतेत्यपि तथैव । तदाह—**कर्तरि करणे चेति** । **प्राग्वदिति** । समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । इह कृद्ग्रहणे क्तप्रत्यय एव गृह्यते, बहुलग्रहणादिति भाष्यम् । अतः क्तान्तमेवोदाहरति—**हरिणा त्रात इति** । पालित इत्यर्थः । ननु कृदन्तस्य समर्थविशेषणत्वेऽपि समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधान्नखनिर्भिन्न इत्यत्र न स्यादित्यत आह—**कृद्ग्रहणे इति** । परिभाषेयम् 'गतिरनन्तरः' इति सूत्रे भाष्ये स्थिता । **पचतितरामिति** । अतिशयेन पचतीत्यर्थः । 'अतिशायने', 'तिङश्च'

निपुण+सु >आचारनिपुण (समासादि) > **आचारनिपुणः** (सु, रु, विसर्ग) । (७) **लौकिक विग्रह**—गुडेन मिश्रः (गुड़ मिलाया हुआ) । **अलौकिक विग्रह**—गुड+टा, मिश्र+सु>गुडमिश्र (समासादि) > **गुडमिश्रः** (सु, रु, विसर्ग) । (८) **लौकिक विग्रह**—आचारेण श्लक्षणः (आचार से अच्छा) । **लौकिक विग्रह**—आचार+टा, श्लक्ष्ण+सु>आचारश्लक्ष्ण (समासादि पूर्ववत्) > **आचारश्लक्ष्णः** (सु, रु, विसर्ग) । उपर्युक्त निर्दिष्ट पदों में 'मिश्र' पद से उपसर्ग-सहित मिश्र का भी ग्रहण होता है । "मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ" (६-२-१५४) सूत्र में 'अनुपसर्ग' पद का निवेश इस सम्बन्ध में प्रमाण दिया जाता है । प्रकृत सूत्र तृतीया-समास में अन्तोदात्त का विधान करता है । इस सूत्र का अर्थ यह है—'तृतीयान्त से परवर्ती अनुपसर्ग 'मिश्र' शब्द को अन्तोदात्त होता है' । 'तिलसंमिश्राः' में 'मिश्र' के पूर्व 'सम्' उपसर्ग होने से अन्तोदात्त नहीं होता । यदि "पूर्वसदृश०" (२-१-३१) समास-विधायक सूत्र से उपसर्ग-सहित 'मिश्र' के साथ तृतीयान्त सुबन्त का समास इष्ट न होता तो 'संमिश्र' आदि उत्तर पद रहते समास इष्ट न होने पर उपर्युक्त सूत्र (६-२-१५४) से अन्तोदात्त स्वर की प्राप्ति ही नहीं थी, अतः 'अनुपसर्ग' पद व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि 'मिश्र' शब्द उपसर्ग-पूर्वक का भी ग्राहक है । अतः '**गुड-संमिश्राः**' (अच्छी तरह गुड़ मिला हुआ—गुडेन संमिश्राः) में भी तृतीया समास हुआ । **वार्तिक अर्थ**—तृतीयान्त सुबन्त के साथ सुबन्त 'अवर' का समास होता है । **उदाहरण—लौकिक विग्रह**—मासेन अवरः (एक महीना पहिले) । **अलौकिक विग्रह**—मास+टा, पूर्व+सु >मास-पूर्व (समासादि) >**मासपूर्वः** (सु, रु, विसर्ग) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'ऊन' शब्द के साथ प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द सान्निध्यवश केवल 'ऊन' (कमी बतलाने वाले शब्द) के पर्यायवाची शब्दों के समाकलन तक ही सीमित है । सूत्र में 'ऊन' शब्द से पूर्व में प्रयुक्त 'पूर्व' 'सदृश' तथा 'सम' शब्द समानार्थक शब्दों के ग्राहक नहीं हैं । उसका कारण यह है कि सूत्र में 'सदृश' और 'सम' शब्द समानार्थक होते हुए भी पृथक् पढ़े गए हैं ।

(६९४) पद—कर्तृकरणे, कृता, बहुलम् । **अनुवृत्ति**—तृतीया, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, **विधि (संज्ञा) सूत्र ।**

मूलार्थ—कर्ता और करण तृतीयान्त का कृदन्त के साथ पहले की तरह विकल्प से (तत्पुरुष समास) हो । **उदाहरण**—(१) हरिणा त्रातः>हरित्रातः । (२) नखैः भिन्नः>नखभिन्नः । परि० 'कृत्' के ग्रहण में गति-कारक-पूर्वक शब्दों का भी ग्रहण होता है । उदा० नखनिर्भिन्नः । कर्तृ-करणे का क्या प्रयोजन है ? भिक्षाभिः उषितः । यहाँ हेतु-तृतीया है । 'बहुल'

हेतावेषा तृतीया। बहुलग्रहणं सर्वोपाधिव्यभिचारार्थम्। तेन 'दात्रेण लूनवान्' इत्यादौ

इत्यनुवृत्तौ 'द्विवचनविभज्य' इति तरप्। 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्याम्। अत्र तद्धितान्तेन समासनिवृत्यर्थं कृद्ग्रहणमिति भावः।

शब्द का निवेश सर्वोपाधिव्यभिचारार्थक है। अतः 'दात्रेण 'लूनवान्' में समास नहीं हुआ। प्रकृत सूत्र में 'कृता' का क्या प्रयोजन है? काष्ठैः पचतितराम्।

विवरण—तृतीया समास का प्रकरण चल रहा है। सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए पूर्व सूत्र के अनुसार सभी आधिकारिक अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। प्रकृत सूत्र में 'बहुल' शब्द का निवेश करने से 'अधिक' अर्थ का लाभ होता है। 'विभाषा' की अनुवृत्ति यहाँ नहीं की जाती। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कर्तृवाची और करणवाची (कर्तृकरणे—कर्ता च करणं च—कर्तृकरणं, तस्मिन्—समाहार द्वन्द्व) तृतीयान्त सुबन्त का कृदन्त सुबन्त के साथ अधिकतर तत्पुरुष समास हो"। भाष्यकार के अनुरूप प्रकृत सूत्र में 'कृत्' प्रत्यय केवल क्त-प्रत्यय का बोधक है। अतः केवल क्त-प्रत्ययान्तके ही उदाहरण दिए जा रहे हैं। सूत्र में 'बहुल' ग्रहण करने का यही स्वारस्य भाष्यकार ने माना है[१]। (१) **उदाहरण—लौकिक विग्रह**—हरिणा[२] त्रातः (हरि से रक्षित)। **अलौकिक विग्रह**—हरि+टा, त्रात+सु>हरित्रात (कर्तृतृतीयान्त 'हरिणा' के साथ 'क्त' प्रत्ययान्त 'त्रातः' के साथ समास) >**हरित्रातः** (विभक्ति-सु, रु, विसर्ग)। (२) नखैः[३] भिन्नः (नाखूनों से तोड़कर निकाला) >नख+सु, भिन्न+सु>नखभिन्न (करण-तृतीयान्त 'नखैः' के साथ 'क्त' प्रत्यायान्त 'भिन्नः' का समास)>**नखभिन्नः**, (सु, रु, विसर्ग), (३) नखैः निर्भिन्नः (नाखूनों से तोड़कर निकाला हुआ) >नखनिर्भिन्न ('निर्' उपसर्ग के योग में भी 'भिन्न' पद कृदन्त का बोधक माना गया है, अतः समास। 'गति' तथा 'कारक' पूर्वपद रहने पर भी 'कृत्' संज्ञक प्रत्यय उसी रूप में ग्राह्य है, अर्थात् इस परिभाषा के अनुसार गतिविशिष्ट एवं कारकविशिष्ट में कृदन्ततदादि का आरोप किया गया है।) > **नख-निर्भिन्नः** (सु, रु, विसर्ग)। **प्रत्युदाहरण**—(१) सूत्र में 'कर्तृ-करणे' पद के अभाव में 'हेतु'-तृतीयान्त सुबन्त का 'क्त' प्रत्ययान्त कृदन्त के साथ समास होने लगता। उसके निवारणार्थ 'कर्तृ-करणे' पद का निवेश आवश्यक है। अतः 'भिक्षाभिः उषितः' (भिक्षा के हेतु रहा) में 'हेतु' तृतीया होने के कारण समास नहीं हुआ। (२) इसी प्रकार सूत्र में यदि 'कृता' पद समाविष्ट न होता तो भी "सह सुपा" (२-१-४) से 'सुपा' का सम्बन्ध होने पर एवं 'कर्ता' तथा 'करण-वाचक' शब्द से समास-विधान होने के कारण स्वभावतः 'कृदन्त' के साथ समास सिद्ध होने के कारण 'कृता' पद के व्यर्थ-प्रयोग की आशंका की जा रही है। उसका निवारण इस प्रकार किया जाता है—'पचतितराम्' (अत्यधिक पकाता है) में तिङन्त 'पचति' में आधिक्य अर्थ को सूचित करने के लिए तद्धित प्रत्यय 'तरप्' एवम् 'आम्' संयुक्त किया गया है। इस प्रकार 'पचतितराम्' शब्द सुबन्त माना जाता है। अतः करण-तृतीयान्त के पश्चात् 'पचतितराम्' में सुबन्त के साथ 'कृता' पद के न रहने पर समास की प्राप्ति होती है। 'कृता' पद का सूत्र में निवेश करने पर 'काष्ठैः पचतितराम्' वाक्यस्थ पाक-क्रिया का बोध होने में 'काष्ठ' करण है, किन्तु उत्तरवर्ती 'पचतितराम्' शब्द के साथ प्रयुक्त होने पर वह तद्धितान्त-तदादि है (न कि कृदन्त—तदादि), अतः समास नहीं होता।

---

१. "कर्तृकरणे कृता क्तेनेति वक्तव्यम्। अहिहतः। नखनिर्भिन्नः। दात्रलूनम्। परशुच्छिन्नम्। कृता क्तेनेति किमर्थम्? इह मा भूत्—दात्रेण लूनवान्, परशुणा छिन्नवान्। तर्हि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। बहुलवचनात् सिद्धम्" इति।—(म० भा०—२-३-३२)

२. तथा ३. "कर्तृकरणयोस्तृतीया" (२-३-१८) से क्रमशः 'कर्ता' और 'करण' में तृतीया विभक्ति।

न । कृता किम् ? काष्ठैः पचतितराम् । (६९५) कृत्यैरधिकार्थवचने २ । १ । ३३ ॥ स्तुतिनिन्दाफलकमर्थवादवचनमधिकार्थवचनम् । तत्र कर्तरि करणे च तृतीया कृत्यैः सह

---

(६९५) कृत्यैरधिकार्थवचने । अर्थवादवचनमिति । अविधायकोक्तिरित्यर्थः । वातच्छेद्यं तृणमिति । वातेन छेद्यमिति विग्रहः । छेत्तुं योग्यमित्यर्थः । 'ऋहलोर्ण्यत्' इति कृत्यप्रत्ययः । कोमलत्वेन स्तुतिः, दुर्बलत्वेन निन्दा वा । काकपेयेति । 'अचो यत्' इति यत्, 'ईद्यति' इति ईत्वं, गुणः । अत्र पूर्णाम्भस्त्वेन स्तुतिः, अल्पाम्भस्त्वेन निन्दा वा ।

विशेष—बहुल शब्द का यौगिक अर्थ है—अनेक अर्थों को प्राप्त कराना (बहून् अर्थान् लाति—बहु+√ला+क)। इन अनेक अर्थों की संभावना व्याकरण-शास्त्र में चार रूपों में की गई है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कारिका प्रसिद्ध है—

> क्वचित् प्रवृत्तिः, क्वचिद् अप्रवृत्तिः, क्वचिद् विभाषा, क्वचिदन्यदेवं ।
> विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

अर्थात् कहीं पर विधान न होते हुए भी कार्य होना, कहीं विधि प्राप्त होने पर भी कार्य न होना, कहीं विकल्प से होना तथा कहीं कुछ और ही हो जाना। अतः जहाँ कहीं 'बहुल' पद का प्रयोग किया गया हो वहाँ विधि के विधान की अनेकरूपता के सदृश विधि की विविधता (वैकल्पिकता) जानी जाती है। **उदाहरण**—(१) नखैः निर्भेदः > नखनिर्भेदः (समास की प्रवृत्ति)। (२) दात्रेण लूनवान् (समास की अप्रवृत्ति)। (३) पादाभ्यां ह्रियते > पादहारकः[1] (कर्म में 'ण्वुल्' प्रत्यय तथा पञ्चमी से भी समास की प्रवृत्ति। (४) गले चोप्यते > गलेचोपकः[2] (सप्तमी विभक्ति का लोप न होना) अधिकरण अर्थ होने पर भी 'कर्म' में ण्वुल्।

(६९५) **पद**—कृत्यैः, अधिकार्थवचने। **अनुवृत्ति**—कर्तृकरणे, तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सुपा, समासः। **विधि (संज्ञा) सूत्र**।

मूलार्थ—निन्दा एवं स्तुतिरूप फल को अर्थवाद कहा गया है। दूसरे शब्दों में वही अधिकार्थ-कथन है। वहाँ कर्ता और करण में तृतीया का 'कृत्य' प्रत्ययों के साथ पहले की तरह (समास) हो। उदा० १—वातच्छेद्यं तृणम्। २—काकपेया नदी।

विवरण—तृतीया-समास का ही प्रकरण चल रहा है। 'कृत' संज्ञक प्रत्ययों के अनन्तर 'कृत्य' संज्ञक प्रत्ययों के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की जा रही है। 'कर्तृ' एवं 'करण'-वाची तृतीया के सम्बन्ध में समास-विधान होने के कारण पूर्व सूत्र (६९५) से 'कर्तृकरणे' की अनुवृत्ति प्रधानरूप में अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्वसूत्र (६९५) के समान आ रही हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कर्ता तथा करणवाची तृतीयान्त सुबन्त का 'कृत्य' प्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ अधिक अर्थ गम्यमान होने पर पूर्ववत् तत्पुरुष समास हो"। किसी की स्तुति-निन्दा या कुछ बढ़ कर अधिक बात बोल देना अधिकार्थ-वचन होता है। इसी को अर्थवाद भी कहा गया है। **उदाहरण—लौकिक विग्रह**—वातेन छेद्यम् (हवा से उखड़ने योग्य-घास) **अलौकिक विग्रह**—वात+टा, छेद्य+सु > वातछेद्य (कर्त्रर्थ तृतीयान्त पद 'वातेन' का [3]ण्यत् (कृत्य) प्रत्ययान्त सुबन्त 'छेद्यम्' के साथ समास) > **वातछेद्यम्** (सु, अम्, पूर्वरूप)। प्रकृत

१, पादहारकादिषु तु "कृत्यैरधिकार्थवचने" (२-१-३३) इति सूत्रभाष्यस्थं 'साधनं कृतेति वा पादहारकाद्यर्थम्' इति वार्तिकं समासप्रवृत्तौ मानमिति पूर्वसूत्रे (२-१-३२) भाष्ये कैयट आह।

२. "अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकाये" (६-३-१२)—सूत्र से सप्तमी का अलुक्।

३. "ऋहलोर्ण्यत्" (३-१-१२४)।

प्रागवत् । वातच्छेद्यं तृणम् । काकपेया नदी । (६९६) अन्नेन व्यञ्जनम् २ । १ । ३४ । संस्कारकद्रव्यवाचकं तृतीयान्तमन्नेन प्रागवत् । दध्ना ओदनो दध्योदनः । इहान्तर्भूतोपसेक-

---

(६९६) अन्नेन व्यञ्जनम् । व्यञ्जनशब्दं व्याचष्टे—**संस्कारेति** । संस्क्रियते गुणविशेषवत्तया क्रियते अनेनेति संस्कारः, उपसेकादिसाधनं दध्यादि, तद्वाचकमित्यर्थः । **अन्नेति** । अन्नम् ओदनः । तद्वाचकशब्देनेत्यर्थः । 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इति कोशः । **दध्ना ओदनो दध्योदन इति** । नन्विह दध्नेति करणत्वस्य उपसिक्तपदापेक्षत्वात् असामर्थ्यात् कथमिह समास इत्यत आह—**अन्तर्भूतेति** । उपसेकक्रियां विना दध्नः अन्न-संस्कारकत्वानुपपत्त्या दध्ना इत्यस्य दधिकरणकोपसेके वृत्तेर्नासामर्थ्यमिति भावः । तदुक्तं भाष्ये—'युक्तार्थसम्प्रत्ययाच्च सामर्थ्यम्' इति ।

उदाहरण में दो अर्थ निकलते है—(क) घास की कोमलता के कारण हवा से उखड़ना (प्रशंसार्थ) (ख) तृण की तुच्छता का हवा के झोंके से आभास होना (निन्दार्थ)। (२) **विग्रह**—(अ) काकैः पेया (इतने कम जल वाली नदी जिसे कौआ भी पी डाले)। (ब)—काक+भिस्, पेया+सु > काकपेया (कर्त्रर्थ तृतीयान्त के साथ 'कृत्य' संज्ञक यत्'[1]—प्रत्ययान्त पेया का समास) > काकपेया+सु (विभक्त्युत्पत्ति) > **काकपेया** (विभक्ति लोप—"हल्ङ्या-भ्यो दीर्घात्०"—६-१-६८)। इस उदाहरण से भी दो अर्थ अभिव्यञ्जित होते हैं—(क) कम जल वाली क्षुद्र नदी (निन्दार्थ)। (ख) तरङ्गों से युक्त एवं जल से परिपूर्ण नदी, जिसके तट पर सुखपूर्वक कौए जलपान कर सकें।

(६९६) पद—अन्नेन, व्यञ्जनम् । **अनुवृत्ति**—तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

मूलार्थ—व्यञ्जनवाची (संस्कारक द्रव्यवाचक) तृतीयान्त सुबन्त का अन्नवाचक शब्द के साथ पूर्व की तरह (समास) हो। उदा०—दध्ना ओदनः > दध्योदनः । समास में (इह) अन्तर्भूत (उपसेक) मिश्रणरूप क्रिया द्वारा सामर्थ्य (योग्यता) है।

विवरण—तृतीया-समास का ही प्रकरण चल रहा है। अतः पूर्व सूत्रों से उपर्युक्त पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र से यह आशय विदित होता है "कि अन्न को स्वादु बनाने के लिये उपयोगी व्यञ्जनवाची तृतीयान्त सुबन्त का अन्नवाची सुबन्त शब्दों के साथ विकल्प से तृतीया तत्पुरुष समास हो।" **उदाहरण—विग्रह-लौकिक**—दध्ना (उपसिक्तः) ओदनः (दही मिला हुआ भात)। **अलौकिक विग्रह**—दधि+टा, ओदन+सु > दधि-ओदन (व्यञ्जनवाची तृतीयान्त 'दध्ना' के साथ 'ओदनः'—अन्नवाची का समास) > दध्योदन (यण्—"इको यणचि"—६-१-७७) > **दध्योदनः** (सु, रु, विसर्ग)।

विशेष—'दध्योदनः' में तृतीयान्त 'दध्ना' का अर्थ 'दही से साना हुआ' है। यह कर्त्रर्थ तृतीया का उदाहरण है, अतः 'दही' (दधि) कर्ता है तथा 'ओदन' कर्म है। 'मिश्रण करना' (सानना) क्रिया का प्रयोग प्रकट रूप में नहीं किया गया है, किन्तु उसका आक्षेप होता है (अन्तर्भूत)। उस आक्षिप्त क्रिया (उपसेक = मिलाना) द्वारा ही 'दधि' तथा 'ओदन' में परस्पर अन्वयरूप सामर्थ्य कल्पित है[2]।

---

१. "अचो यत्" (३-१-९७) तथा "ईद्यति" (६-४-६५)—√पा-ई+यत् (य) > पेय (गुण)+टाप् (आ) > पेया।

२. "इह कारकाणां परस्परानन्वयेऽपि वृत्तौ अन्तर्भूतया उपसेकक्रियया सामर्थ्यसम्पत्तिः। उपसेकं विना द्वयोः संस्कार्य-संस्कारकभावस्य प्रतीयमानस्यानुपपत्तेः"।—व्या० सि० सु० पृ० ९४२ ।

क्रियाद्वारा सामर्थ्यम् । (६९७) भक्ष्येण मिश्रीकरणम् २ । १ । ३५ ॥ गुडेन धानाः गुडधानाः । मिश्रणक्रियाद्वारा सामर्थ्यम् । (६९८) चतुर्थीतदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः २ । १ । ३६ ॥ चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिना अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते, बलिरक्षितग्रहणाज्ज्ञापकात् । यूपाय दारु यूपदारु ।

---

(६९७) **भक्ष्येण मिश्रीकरणम्** । मिश्रीक्रियते खाद्यं द्रव्यमनेनेति मिश्रीकरणं गुडादि । तद्वाचकं तृतीयान्तं भक्ष्यवाचकेन समस्यत इत्यर्थः । कठिनद्रव्यं खाद्यम् । पृथुकादि भक्ष्यं विवक्षितम् । **गुडेन धाना गुडधाना इति** । 'धाना भृष्टयवे स्त्रियः' इत्यमरः । गुडेन मिश्रा धाना इत्यर्थः । ननु गुडकरणत्वस्य मिश्रपदापेक्षत्वान्न सामर्थ्यमित्यत आह—**मिश्रणेति** । गुडेनेत्यस्य गुडकरणकमिश्रणे वृत्तेर्नासामर्थ्यमिति भावः ।

(६९८) **चतुर्थी** । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया चतुर्थीत्यनेन चतुर्थ्यन्तं गृह्यते । तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षित एषां द्वन्द्वः । चतुर्थ्यन्तम् एतैः षड्भिः समस्यते, स तत्पुरुष इति फलितम् । तदर्थेत्यत्र तच्छब्देन चतुर्थ्यन्तार्थो विवक्षितः । तस्मै चतुर्थ्यन्तार्थाय इदं तदर्थम् । अर्थेन 'नित्यसमासः' इति वक्ष्यमाणः समासः । चतुर्थ्यन्तवाच्यप्रयोजनकं यत् तत् तदर्थमिति पर्यवस्यति । तदाह—**चतुर्थ्यन्तार्थायेत्यादिना** । **तदर्थेनेति** । तदर्थेन समास इति यदुक्तं तत्प्रकृतिविकृतिभाव एव भवति न त्वन्यत्रेत्यर्थः । कुतः इत्यत आह—**बलिरक्षितेति** । यदि तादर्थ्यमात्रे अयं समासः स्यात्, प्रकृतिविकृतिभाव एवेति नोच्येत, तर्हि बलिरक्षितग्रहणं व्यर्थं स्यात् । भूतेभ्यो बलिः, गोभ्यो रक्षितं तृणमित्यत्रापि बलेर्भूतार्थतया, रक्षिततृणस्य गवार्थतया च तदर्थेत्येव समाससिद्धेरिति भावः । **यूपायेति** । अत्र चतुर्थ्यन्तवाच्ययूपार्थं दारु । अतो दारुशब्देन यूपायेत्यस्य समासः,

---

(६९७) पद—भक्ष्येण, मिश्रीकरणम् । **अनुवृत्ति**—तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

मूलार्थ—मिश्रित करने वाले अर्थ के वाचक तृतीयान्त सुबन्तों के साथ (भक्ष्यवाची शब्दों का समास हो) । उदा० गुडधानाः । यहाँ मिश्रण-क्रिया द्वारा सामर्थ्य है ।

विवरण—पूर्व सूत्र (६९६) के समान ही यहाँ भी अनुवृत्ति आ रही है । तृतीया-समास का यह अन्तिम सूत्र है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "मिश्रण करना (मिलाना) अर्थ के पर्यायवाची तृतीयान्त शब्दों का मिश्रित-पदार्थ-सूचक अन्नवाची सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास हो" । **उदाहरण—लौकिक विग्रह**—गुडेन धानाः (गुड़ मिले हुए धान—गुड़धानी) । **अलौकिक विग्रह**—गुड+टा, धान+जस् > गुडधान (मिलाई जाने वाली वस्तु = 'गुडेन' तृतीयान्त का भक्ष्यवाची सुबन्त 'धानाः' के साथ समास) > गुडधान+ जस् (अस्) (विभक्त्युत्पत्ति) > गुडधानाः (दीर्घ—"प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" ६-१-१०२) ।

विशेष—'गुडधानाः' में भी सामासिक योग्यता की सूचक 'मिश्रण'—क्रिया छिपी हुई है । 'गुडधानाः' से 'गुड-मिश्राः धानाः' अर्थ की प्रतीति होती है । मिश्रण-क्रिया द्वारा 'गुडेन' तथा 'धानाः' में परस्पर अन्वय-योग्यता सम्पादित होती है ।

(६९८) पद—चतुर्थी, तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

मूलार्थ—चतुर्थ्यन्त-अर्थ के लिए जो पदार्थ—तद्वाचक शब्द के साथ तथा अर्थ आदि के साथ चतुर्थ्यन्त का विकल्प से समास होता है । तदर्थ से प्रकृति-विकृतिभाव ही लिया जाता है । सूत्रस्थ बलि तथा रक्षित पद यह ज्ञापन करते हैं । उदा० यूपाय दारु > यूपदारु ।

नेह—रन्धनाय स्थाली। अश्वघासादयस्तु षष्ठी समासाः। 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' (वा १२७३–१२७४)। द्विजायायं द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः।

यूपस्य दारुविकृतित्वाच्च, तक्षादिना अष्टाश्रीकृतवृक्षस्यैव यूपशब्दार्थत्वात्। अथ प्रकृतिविकृतिभावग्रहणस्य प्रयोजनमाह—**नेहेति**। **रन्धनायेति**। पाकायेत्यर्थः। 'रध हिंसायाम्'। इह पाको विवक्षितः। भावे ल्युट्, अनादेशः। 'रधिजभोरचि' इति नुम्। स्थाल्याश्चतुर्थ्यन्तवाच्यपाकार्थत्वेऽपि प्रकृतिविकृतिभावविरहान्न समासः। ननु अश्वेभ्यो घासः अश्वघासः, धर्माय नियमः धर्मनियमः इत्यादौ कथं तदर्थेन समासः, प्रकृति-विकृतिभावविरहादित्यत आह—**अश्वघासादयस्तु षष्ठीसमासा इति**। न चैवं रन्धनाय स्थालीत्यत्रापि षष्ठीसमासः स्यादेवेति प्रकृतिविकृतिभावनियमो व्यर्थ इति वाच्यम्, शाब्द-बोधे संबन्धत्वतादर्थ्यत्वकृतवैलक्षण्येन उक्तनियमसाफल्यात्। एवञ्च रन्धनाय स्थालीति सम्बन्धत्वेन भाने षष्ठीसमास इष्ट एव। तादर्थ्यत्वेन भाने चतुर्थीसमासवारणाय तु प्रकृति-विकृतिभावनियमाश्रयणमित्यास्तां तावत्। तदेवं तदर्थेत्यंशः प्रपञ्चितः। अथेदानीमर्थ-शब्देन चतुर्थ्यन्तस्य समासे विशेषमाह—**अर्थेनेति**। अर्थशब्देन चतुर्थ्यन्तस्य नित्यसमास इति वक्तव्यम्। अन्यथा विभाषाधिकाराद्विकल्पः स्यात्। विशेष्यस्य प्रधानस्य यल्लिङ्गं तल्लिङ्गमित्यपि वक्तव्यम्। अन्यथा अर्थशब्दस्य नित्यं पुंल्लिङ्गत्वात् 'परवल्लिङ्गम्' इति सर्वत्र पुंल्लिङ्गतैव स्यादित्यर्थः। अर्थशब्दोऽत्र वस्तुपरः। 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजन-निवृत्तिषु' इत्यमरः। इह उपकारकं वस्तु विवक्षितमित्यभिप्रेत्योदाहरति—**द्विजायायं द्विजार्थः सूप इति**। तत्र द्विजायायमित्यस्वपदविग्रहः। तत्र अर्थशब्दस्थाने अयमिति शब्दः,

---

यहाँ (समास) नहीं हुआ—रन्धनाय स्थाली। 'अश्वघासः' इत्यादि में षष्ठी समास है। वा० अर्थ शब्द के साथ नित्य समास हो और विशेष्य के समान लिङ्ग हो। उदा० द्विजाय अयं > द्विजार्थः (सूपः)। द्विजाय इयं > द्विजार्था (यवागूः)। द्विजाय इदं > द्विजार्थं पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोरक्षितम्।

विवरण—चतुर्थी-तत्पुरुष का प्रकरण आरम्भ होता है। तदर्थार्थ…रक्षितैः में इतरेतरद्वन्द्व समास है। विग्रह—तस्मै इदं तदर्थम्। तदर्थं च अर्थश्च, बलिश्च, हितश्च, सुखं च, रक्षितं च तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितानि, तैः। समास-प्रकरण के आवश्यक अधिकार सूत्रों की अनुवृत्ति सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए स्मरणीय है। पूर्व सूत्रों के अनुसार "प्राक् कडारात् समासः" (२-१-३) से 'समासः', "सह सुपा" (२-१-२) पूरा सूत्र, "विभाषा" (२-१-११) तथा "तत्पुरुषः" (२-१-२२) का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। तदन्तविधि से प्रभावित होकर 'चतुर्थी' पद चतुर्थ्यन्त' का बोधक है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "चतुर्थ्यन्त सुबन्त का तद्वाचक अर्थ में प्रयोग किये जाने वाले प्रातिपदिक के साथ, तथा अर्थ, बलि, हित, सुख एवं रक्षित इन समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है"। क्रमशः **उदाहरण—(१) तदर्थवाचक**—इस समास में यह आवश्यक है कि चतुर्थ्यन्त सुबन्त और तदर्थवाचक सुबन्त में परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव रहे। तात्पर्य यह है कि चतुर्थ्यन्त सुबन्त के लिए गृहीत वस्तु से यदि चतुर्थ्यन्त पदार्थ (वस्तु) में विकार सम्भव होगा तो परस्पर समास होगा, अन्यथा नहीं। जैसे—**लौकिक विग्रह**—यूपाय दारु (यज्ञस्तम्भ के लिए लकड़ी)। **अलौकिक विग्रह**—यूप+ङे, दारु+सु>यूपदारु (सुबन्त 'दारु' प्रकृति है और उसकी विकृति है 'यूप', क्योंकि खम्भा लकड़ी से बनता है, अतः समास हुआ) > यूपदारु+सु (विभक्त्युत्पत्ति) >

द्विजार्थं पयः । भूतबलिः । गोहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् । (६९९) पञ्चमी भयेन

नित्यसमासत्वेनास्वपदविग्रहौचित्यात् । द्विजायेति तादर्थ्यचतुर्थी । तदन्तस्य अर्थशब्देन समासः, विशेष्यसूपशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वात् समासस्य पुंल्लिङ्गता च । द्विजस्य उपकारकः सूप इत्यर्थः । **द्विजार्था यवागूरिति** । द्विजायेयमिति विग्रहः । अर्थशब्दस्य नित्यपुंल्लिङ्गत्वेऽपि 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंल्लिङ्गं बाधित्वा अनेन विशेष्यलिङ्गानुसारेण स्त्रीलिङ्गता । **द्विजार्थं पय इति** । द्विजायेदमिति विग्रहः । अत्र विशेष्यलिङ्गानुसारान्नपुंसकत्वम् । भाष्ये तु चतुर्थ्यैव तादर्थ्यस्योक्तत्वात् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेन अर्थशब्देन विग्रहाप्रसक्तेर्नित्यसमासत्वं न्यायसिद्धमेव । गुरोरिदं गुर्वर्थमित्यादाविव लिङ्गमपि लोकत एव सिद्धमिति वार्तिकमिदं प्रत्याख्यातम् । **भूतबलिरिति** । भूतेभ्यो बलिरिति विग्रहः । तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तस्य बलिशब्देन समासः । **गोहितमिति** । गोभ्यो हितमिति विग्रहः । गवामनुकूलमित्यर्थः । 'हितयोगे च' इति शेषषष्ठ्यपवादचतुर्थी । तदन्तस्य हितशब्देन समासः । **गोरक्षितमिति** । तृणादिकमिति शेषः । गोभ्यो रक्षितमिति विग्रहः । तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तस्य रक्षितशब्देन समासः ।

यूपदारु[1] (विभक्तिलोप—"स्वमोर्नपुंसकात्" ७-१-२३)। पूर्वोक्त कथन के विपरीत तदर्थवाचक सुबन्त से चतुर्थ्यन्त सुबन्त में किसी प्रकार का विकार न होने पर समास नहीं होगा। उदाहरणार्थ 'रन्धनाय स्थाली' (पकाने के लिए बटलोई) में तदर्थवाचक सुबन्त 'स्थाली' है, किन्तु पकने पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसा कि लकड़ी के छीले जाने के बाद खम्भा बनने पर हो जाता है। अतः यहाँ समास नहीं हुआ। इसी प्रकार अश्वस्य घासः > अश्वघासः में षष्ठी-तत्पुरुष समास होता है न कि चतुर्थी तत्पुरुष, क्योंकि 'अश्व' और 'घास' में भी 'यूप' तथा 'दारु' के समान प्रकृति-विकृतिभाव नहीं है। (२) **अर्थ शब्द के साथ**—इस समास में वार्तिककार ने 'विभाषा' के प्रभाव को निष्क्रिय कर दिया है। अतः तदनुसार चतुर्थ्यन्त का 'अर्थ' सुबन्त के साथ नित्य समास होकर समस्त पद का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। तत्पुरुष समास में उत्तर-पद के अनुसार प्राप्त लिङ्ग का यह बाधक है। (क) **अस्वपद विग्रह**—द्विजाय अयम् > **द्विजार्थः सूपः** (द्विज के लिये दाल)। पुंलिङ्ग 'अर्थ' शब्द के स्थान में 'अयम्' का प्रयोग किया गया है। द्विजाय = 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' (वा०)। नित्यसमास होने के कारण विग्रह-वाक्य का प्रयोग समीचीन नहीं होगा। (ख) द्विजाय इयम् > **द्विजार्था यवागूः** (द्विज के लिए लपसी)। यहाँ स्त्रीलिङ्ग 'अर्थ' के स्थान पर 'इयम्' का प्रयोग किया गया है। (ग) द्विजाय इदम् > **द्विजार्थं पयः** (द्विज के लिए दूध)। यहाँ नपुंसक-लिङ्ग 'अर्थ' के स्थान पर 'इदम्' पद का प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में विशेष्य के अनुसार क्रमशः पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग हुए हैं। (३) **बलि शब्द** के साथ—**विग्रह**—भूताय बलिः (भूत के लिये बलि)। **अलौकिक विग्रह**—भूत+ङे, बलि+सु > **भूतबलि** (समास) > **भूतबलिः** (सु, रु, विसर्ग)। (४) **हित** शब्द के साथ—**लौकिक विग्रह**—गवे हितम् (गाय के लिये हितकारी)। **अलौकिक विग्रह**—गो+ङे, हित+सु > गोहित > गोहित+सु > गोहित+अम् (सु = अम्—"अतोऽम्"—७-१-२४) > **गोहितम्** (पूर्वरूप—"अमि पूर्वः" ६-१-१२७)। (५) **सुख** शब्द के साथ—**विग्रह लौकिक**—गोभ्यः सुखम् (गायों के लिए सुख)। **अलौकिक विग्रह**—गो+भ्यस्, सुख+सु > गो सुख (समास) > गोसुख+सु>

१, द्वन्द्व और तत्पुरुष में उत्तर पद के लिङ्ग के समान ही समस्त-शब्द से विभक्ति आती है—"परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः" (पा० सू० २-४-२६)।

२ । १ । ३७ ॥ चोराद्भयं चोरभयम् । 'भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्' (वा १२७५) । वृकभीतः । (७००) अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः २ । १ । ३८ । एतैः सहाल्पं पञ्चम्यन्तं समस्यते, स तत्पुरुषः । सुखापेतः । कल्पनापोढः । चक्रमुक्तः । स्वर्गपतितः ।

---

(६९९) **पञ्चमी भयेन** । पञ्चम्यन्तं भयशब्देन सुबन्तेन समस्यत इत्यर्थः । **चोराद्भयं चोरभयमिति** । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानत्वात् पञ्चमी । **भयभीतभीतिभीभिरिति** । सूत्रे भयशब्दस्यैव ग्रहणात् भीतादेरप्राप्ते समासे वचनम्—**वृकभीत इति** । वृकभीतिः, वृकभीरित्यप्युदाहार्यम् । अत्र भाष्ये अपर आहेत्युक्त्वा 'भयनिर्गतजुगुप्सुभिरिति, वक्तव्यम्' इत्युक्त्वा वृकभयं, ग्रामनिर्गतः, अधर्मजुगुप्सुः इत्युदाहृतम् । चोरत्रस्तः, भोगोपरत इत्यादौ 'सुप्सुपा' इति वा मयूरव्यंसकादित्वाद्वा समासः ।

(७००) **अपेतापोढ** । अल्पशः इति स्वार्थे शस्, अत एव निपातनात् । तदाह—

गो सुख+अम् (सु = अम्) > **गोसुखम्** (पूर्वरूप) । (६) **रक्षित** शब्द के साथ—**विग्रह लौकिक**—गवे रक्षितम् (गाय के लिए रक्षित) । **अलौकिक विग्रह**—गो+ङे, रक्षित+सु > गो-रक्षित > गोरक्षित+सु > गोरक्षित+अम्> **गोरक्षितम्** ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में चतुर्थ्यर्थ प्रकृति-विकृति भाव तक ही सीमित रखा गया है । अन्यथा तादर्थ्य रूप में चतुर्थी होने के कारण सामान्यतः चतुर्थी समास का विधान होने पर प्रकृत सूत्र में 'बलि' तथा 'रक्षित' पद ग्रहण करने की कोई आवश्यकता न होती । कारण यह है कि 'भूतेभ्यः बलिः' 'गोभ्यो रक्षितं तृणम्' इत्यादि वाक्यों में 'बलि' के भूतार्थ होने से तथा 'रक्षित तृण' गाय के लिये होने के कारण 'तदर्थ' पद के अन्तर्गत ही चतुर्थी-तत्पुरुष सनास की सम्भावना स्पष्ट रही । इन दोनों पदों के पृथक् ग्रहण करने से यहाँ चतुर्थ्यर्थ 'प्रकृति-विकृतिभाव' के रूप में ही स्वीकृत है ।

(६९९) **पद**—पञ्चमी, भयेन । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप् , सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

मूलार्थ—(पञ्चम्यन्त का 'भय' शब्द के साथ समास हो) । उदा० चोराद् भयम् > चोरभयम् । वा० भय, भीति तथा भी शब्दों के साथ भी (पञ्चम्यन्त शब्दों का समास) कहा जाय । उदा० वृकभीतः ।

विवरण—पञ्चमी तत्पुरुष का प्रकरण आरम्भ होता है । प्रकृत विधायक सूत्र में भी पूर्व सूत्र (६९८) की तरह उपर्युक्त आवश्यक आधिकारिक पदों का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "पञ्चम्यन्त का सुबन्त भय शब्द समर्थ के साथ विकल्प से समास हो" । **उदा०—लौकिक विग्रह**—चोराद्[1] भयम् (चोर से भय) । **अलौकिक विग्रह**—चोर+ङसि, भय+सु > चोर-भय > चोरभय+सु > चोरभय+अम् (उत्तर-पदवाची शब्द के समान नपुंसक-लिङ्ग) > **चोरभयम्** (अ+अम् पूर्वरूप) । **वार्तिक—व्याख्या**—भयसूचक 'भय' 'भीत' 'भीति' तथा 'भी' सुबन्त समर्थों के साथ पञ्चम्यन्त सुबन्त का वैकल्पिक समास समझा जाय । उदाहरण क्रमशः—(१) वृकेभ्यः भयम् > **वृकभयम्** (भेड़िये से डर) । (२) वृकेभ्यः भीतः > **वृकभीतः** । (३) वृकेभ्यः भीतिः > **वृकभीतिः** । (४) वृकेभ्यः भीः > **वृकभीः** । सामासिक प्रक्रिया पूर्ववत् ।

(७००) **पद**—अपेताऽपोढ-मुक्त-पतिताऽपत्रस्तैः, अल्पशः । **अनुवृत्ति**—पञ्चमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप् , सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

---

१. पञ्चमी विभक्ति—"भीत्रार्थानां भयहेतुः" (१-४-२४)

तरङ्गापत्रस्तः। अल्पशः किम्? प्रासादात्पतितः। **(७०१) स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन २।१।३९॥** स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः। अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः। दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्रादागतः। 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' (सू ९५९) इत्य-

---

अल्पं पञ्चम्यन्तमिति। 'बह्वल्पार्थात्' इति शस् तु न भवति, 'बह्वल्पार्थान्मङ्गलवचनम्' इति वक्ष्यमाणत्वात्।

(७०१) स्तोकान्तिक। स्तोक, अन्तिक, दूर एतदर्थकानि, कृच्छ्र, एतानि पञ्चम्यन्तानि क्तप्रत्ययान्तेन समस्यन्त इत्यर्थः। अर्थग्रहणं स्तोकान्तिकदूरेषु सम्बध्यते।

मूलार्थ—अल्प पञ्चम्यन्त शब्दों का इन (सूत्रोक्त) शब्दों के साथ तत्पुरुष समास हो। उदा० १–सुखापेतः, २–कल्पनापोढः, ३–चक्रमुक्तः, ४–स्वर्गपतितः, ५–तरङ्गापत्रस्तः। 'अल्पशः' का क्या प्रयोजन है? प्रासादात् पतितः।

विवरण—कुछ सीमित शब्दों के साथ 'पञ्चमी' तत्पुरुष का विधान किया जा रहा है। अतः "पञ्चमी भयेन" (२-१-३७) सूत्र से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त अन्य पदों का आधिकारिक प्रभाव भी विद्यमान है। सूत्र में पाँच शब्दों का निर्देश है। वे शब्द हैं—अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित तथा अपत्रस्त (अपेतश्च, अपोढश्च, मुक्तश्च, पतितश्च, अपत्रस्तश्च, तैः—इतरेतर द्वन्द्व)। अर्थात् ये पाँचों शब्द कुछ पञ्चम्यन्त शब्दों के साथ (अल्पशः) विकल्प से समस्यमान होते हैं और वह समास तत्पुरुष-संज्ञक होता है। **उदाहरण**—(१) **विग्रह**—(अ) सुखात् अपेतः (सुख से दूर)। (ब)—सुख+ङसि, अपेत+सु > सुख-अपेत (पञ्चम्यन्त 'सुखात्' के साथ 'अपेतः' का समास) > सुखापेत (सवर्ण दीर्घ) > **सुखापेतः** (विभक्त्युत्पत्ति–सु, रु, विसर्ग)। (२) **विग्रह**—(अ) कल्पनया अपोढः (कल्पना से बाधित)। (ब) कल्पना+टा, अपोढ+सु > कल्पनापोढ (समासादि पूर्ववत्) > **कल्पनापोढः** (सु, रु, विसर्ग)। (३) **विग्रह**—(अ) चक्रात् मुक्तः (चक्र से छूट गया)। (ब) चक्र+ङसि, मुक्त+सु > चक्रमुक्त > **चक्रमुक्तः** (समासानन्तर विभक्ति = सु, रु, विसर्ग)। (४) **विग्रह**—(अ) स्वर्गात् पतितः (स्वर्ग से गिरा हुआ)। (ब) स्वर्ग+ङसि, पतित+सु > स्वर्ग-पतित (पञ्चम्यन्त 'स्वर्गात्' के साथ 'पतित' का समास) > **स्वर्गपतितः** (पुनः विभक्ति सु, रु, विसर्ग)। (५) **विग्रह**—(अ) तरङ्गेभ्यः अपत्रस्तः (तरङ्गों से फेंका हुआ)। (ब) तरङ्ग+भ्यस्, अपत्रस्त+सु > तरङ्गापत्रस्त (समासादि एवं दीर्घ) > **तरङ्गापत्रस्तः** (विभक्तिकार्य)।

विशेष—(१) सूत्र में 'अल्पशः' कहने का यह अभिप्राय है कि थोड़े ही पञ्चम्यन्त शब्दों का 'अपेत' आदि पाँच सुबन्तों के साथ समास होता है, सब पञ्चम्यन्तों का नहीं। **प्रत्युदाहरण**—अतः **'प्रासादात् पतितः'** (महल से गिरा हुआ) में समास नहीं हुआ। (२) प्रकृत सूत्र वस्तुतः "कर्तृ-करणे कृता बहुलम्" (२-१-३२) सूत्रस्थ 'बहुल' ग्रहण के विस्तार का ही द्योतक है[1]।

(७०१) पद—स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि, क्तेन। **अनुवृत्ति**—पञ्चमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि (संज्ञा) सूत्र।**

मूलार्थ—(स्तोकादि पञ्चम्यन्तों का क्तान्त के साथ समास हो)। उदा०—१–स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः। २–अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः। ३–दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः। ४–कृच्छ्रादागतः।

---

१. 'बाहुलकस्यैवायं प्रपञ्चः'—व्या० सि० सु०, पृ० ९४५।

लुक्। (७०२) षष्ठी २।२।८॥ राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। (७०३) याजकादि-

---

अल्पान्मुक्त इति। स्तोकपर्यायस्योदाहरणम्। **अभ्याशादागत इति।** अन्तिकपर्यायस्योदाहरणम्। **विप्रकृष्टादागत इति।** दूरशब्दपर्याय उदाहार्यः। 'करणे च स्तोक' इति पञ्चमी। दूरादागत इत्यत्र तु 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' इति पञ्चमी। अत्र 'सुपो धातु:' इति लुकमाशङ्क्याह—**पञ्चम्याः स्तोकादिभ्य इत्यलुगिति।**

(७०२) षष्ठी। षष्ठयन्तं सुबन्तेन समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः। **राजपुरुष इति।** राजन् अस् पुरुष स् इत्यलौकिकविग्रहवाक्ये समासे सति सुब्लुकि अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिं प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य नलोपः। न च लुका लुप्तत्वान्न प्रत्ययलक्षणमिति वाच्यम्, पदत्वस्य सुब्घटितसमुदायधर्मत्वेन तस्य अङ्गकार्यत्वाभावादिति भावः।

विवरण—पूर्वसूत्र (७००) के अनुसार उपर्युक्त पदों की अनुवृत्ति की जारही है। सूत्र में समस्यमान शब्दों का निर्देश किया गया है। वे हैं—१-स्तोकार्थक, २-अन्तिकार्थक, ३-दूरार्थक तथा ४-कृच्छ्र शब्दार्थक (स्तोकश्च, अन्तिकश्च, दूरश्च स्तोकान्तिकदूराः, ते अर्था येषां ते—स्तोकान्तिकदूरार्थाः; स्तोकान्तिकदूरार्थाश्च कृच्छ्रश्च, तानि—स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि—बहुव्रीहिगर्भ-इतरेतरद्वन्द्व)। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "स्तोकार्थक, अन्तिकार्थक और दूरार्थक पञ्चम्यन्त सुबन्त एवं कृच्छ्रार्थक पञ्चम्यन्त सुबन्त का 'क्त' प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष हो"। **उदाहरण क्रमशः—१. विग्रह** (अ) स्तोकात् मुक्तः (थोड़े से ही छूट गया)। (ब)—स्तोक+ङसि, मुक्त+सु > स्तोकात्मुक्त ("सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" २-४-७१ नियमानुसार प्राप्त विभक्ति के लोप का "पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः"—६-३-२ से निषेध-अलुक्)> **स्तोकान्मुक्तः** (त्=न्—"यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा"—८-४-४४, पुनः विभक्ति—सु = रु = विसर्ग)। २. **विग्रह**—(अ) अल्पात् मुक्तः (थोड़े से ही छूट गया)। (ब) अल्प+ङसि, मुक्त+सु > अल्पात्मुक्तः (पूर्ववत् अलुक्) > **अल्पान्मुक्तः** (त् = न् तथा विभक्तिकार्य पूर्ववत्) (ब)—**विग्रह**—(अ) अन्तिकात् आगतः (समीप से आया हुआ)। ब—अन्तिक+ङसि, आगत+सु > अन्तिकात्आगत (पूर्ववत् समास एवम् अलुक्) > **अन्तिकादागतः** (त = द्—"झलां जशोऽन्ते" ८-४-४४ तथा विभक्तिकार्य)। इसी प्रकार अभ्याशात् आगतः (समीप से आया) > **अभ्याशादागतः** (पूर्ववत्)। ३—**विग्रह**—दूरात् आगतः (दूर से आया हुआ) > **दूरादागतः** (समास, अलुक् एवं जश्त्व, विभक्तिकार्य)। विप्रकृष्टात् आगतः (दूर से आया हुआ)> **विप्रकृष्टादागतः** (पूर्ववत् सब कार्य)। ४—कृच्छ्रात् आगतः (कठिनाई से आया हुआ) > **कृच्छ्रादागतः** (पूर्ववत् समास, अलुक्, जश्त्व, विभक्ति-कार्य)।

विशेष—समास होने का यह फल है कि समस्यमान पदों की विभक्ति का लोप होने पर भी समास होने के पश्चात् समुदाय एक-पद माना जाता है। इसके साथ ही सामासिक पद का एक स्वर होता है।

(७०२) पद—षष्ठी। अनुवृत्ति—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः।
विधि-(संज्ञा)-सूत्र।

मूलार्थ—(षष्ठ्यन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास हो) उदा० राज्ञः पुरुषः > राजपुरुषः।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए प्रकरणानुसार सभी अधिकारसूत्रों "प्राक् कडारात् समासः" (२-१-३), "सह सुपा" (२-१-४), "तत्पुरुषः" (२-१-२२) तथा "विभाषा" (२-१-११) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'षष्ठी' पद तदन्त का बोधक है। तदनुसार सूत्र

भिश्च २ । २ । ९ ॥ एभिः षष्ठ्यन्तं समस्यते । 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (सू ७०९) इत्यस्य प्रतिप्रसवोऽयम् । ब्राह्मणयाजकः । देवपूजकः । 'गुणात्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम्' (वा ३८४१) । तरबन्तं यद् गुणवाचि तेन सह समासस्तरलोपश्च । 'न निर्धारणे' (सू ७०४) इति 'पूरणगुण'—(सू ७०५) इति च निषेधस्य प्रतिप्रसवोऽयम् । सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः । सर्वेषां महत्तरः सर्वमहान् । 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वाच्यम्'

---

(७०३) याजकादिभिश्च । ननु 'षष्ठी' इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—तृजकाभ्यामिति । ब्राह्मणयाजक इति । 'ब्राह्मणस्य याजकः' इति विग्रहः । यजतेर्ण्यन्तात् कर्तरि ण्वुल्, अकादेशः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी । देवपूजक इति । देवानां पूजक इति विग्रहः । पूजकशब्दो याजकादिरिति भावः । भूभर्तेति तृजन्तस्योदाहार्यम्, भर्तृशब्दस्य याजकादित्वात् । गुणात्तरेणेति । वार्तिकमिदं 'सर्वं गुण' इति सूत्रे भाष्ये स्थितम् । गुणवाचकात् विहितो यस्तरप् तदन्तेन षष्ठी वा समस्यते, तरपो लोपश्चेत्यर्थः । फलितमाह—तरबन्तं यदिति । ननु 'षष्ठी' इति सूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—न निर्धारणे इति । 'सर्वं गुण' इति सूत्रे भाष्ये तु 'पूरणगुण' इत्यस्यापवाद इत्येवोक्तम् । सर्वशब्दानुवृत्तेः सर्वशब्द एवेदं वार्तिकमित्यभिप्रेत्योदाहरति—सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेत इति । बकानां गुण इति शेषः । द्रव्यान्तरवृत्तिश्वेतरूपापेक्षया सर्वेषां बकानां श्वेतगुणोऽयमधिक इत्यर्थः । 'द्विवचनविभज्य' इति विभक्तव्योपपदे तरप् । अत्र

से यह आशय विदित होता है कि "षष्ठ्यन्त सुबन्त का (उससे भिन्न) समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास हो" । उदाहरण—विग्रह लौकिक—राज्ञः पुरुषः (राजसम्बन्धी पुरुष)। अलौकिक विग्रह—राजन्+ङस्, पुरुष+सु > राजन्पुरुष (षष्ठ्यन्त 'राज्ञः' का 'पुरुषः' के साथ समास, षष्ठ्यन्त की उपसर्जन संज्ञा तथा पूर्व-निपात, विभक्तिलोप) > राजपुरुष (विभक्ति-लोप होने पर प्रत्यय-लक्षण का आश्रय लेकर 'न्' लोप—"न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य"—८-२-७)>राजपुरुष+सु (पुनः विभक्ति) > राजपुरुषः (स् = र् = :) ।

(७०३) पद—याजकादिभिः, च । अनुवृत्ति—षष्ठी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । विधि (संज्ञा) सूत्र ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त का याजकादि के साथ समास होता है । यह विधान 'तृजकाभ्यां कर्तरि' का प्रतिप्रसव है (विपरीत कार्य का होना) । १–ब्राह्मणयाजकः । २–देवपूजकः । वा० तरप्–प्रत्ययान्त गुणवाचक का षष्ठ्यन्त के साथ समास हो एवं 'तरप्' का लोप भी हो । यह विधान "न निर्धारणे" तथा "पूरण गुण०" इत्यादि से प्राप्त निषेध का प्रतिप्रसव है । उदाहरण—१–सर्वेषां श्वेततरः > सर्वश्वेतः । २–सर्वेषां महत्तरः > सर्वमहान् । वा० कृदन्त के योग में षष्ठ्यन्त का समास होता है । उदा० इध्मस्य प्रव्रश्चनः > इध्मप्रव्रश्चनः ।

विवरण—प्रकरणवश "षष्ठी" (२-२-८) सूत्र से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आरही है । उपर्युक्त अन्य पदों का आधिकारिक प्रभाव पूर्वसूत्र (७०२) के अनुसार विद्यमान है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "षष्ठ्यन्त सुबन्त तदादि का याजकादि (याजकः आदिर्येषां ते याजकादयः, तैः) सबन्तों के साथ भी (च) विकल्प से तत्पुरुष समास हो" । सामान्यतया षष्ठी-समास की प्राप्ति तो "षष्ठी" (७०१) सूत्र से रही, किन्तु उसका निषेध "तृजकाभ्यां कर्तरि" (२-२-१५) सूत्र से सम्भावित है । अतः उस निषेध का बाधक (प्रतिप्रसव) होकर यह चरितार्थ होता है । उदाहरण—(१) विग्रह लौकिक—ब्राह्मणस्य[1] याजकः (ब्राह्मण का

---

१. "कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-४२) इति कर्मणि षष्ठी ।

(वा १३१७) । इध्मस्य प्रव्रश्चनः इध्मप्रव्रश्चनः । (७०४) न निर्धारणे २ । २ । १० ॥ निर्धारणे या षष्ठी सा न समस्यते । नृणां द्विजः श्रेष्ठः । 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत

सर्वेषामिति षष्ठ्यन्तस्य श्वेततरशब्देन समासे तरपो लोपे सर्वश्वेत इति रूपम् । **सर्वमहानिति** । ईश्वरः इति शेषः । पूर्ववत्तरप् । सर्वेषां महत्तरः इति विग्रहः । इतरसम्बन्धिमहत्त्वापेक्षया ईश्वरस्य महत्त्वमधिकमित्यर्थः । **कृद्योगेति** । कृता योगो यस्या इति विग्रहः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति विहितेति भाष्यम् । **इध्मप्रव्रश्चन इति** । कुठार इति शेषः । प्रवृश्च्यतेऽनेनेति प्रव्रश्चनः । करणे ल्युट् । इध्मानां प्रव्रश्चन इति विग्रहः । कर्मणि षष्ठी । 'प्रतिपदविधाना' इति वक्ष्यमाणनिषेधस्यापवादोऽयम् ।

(७०४) न निर्धारणे । नृणां द्विजः श्रेष्ठ इति । अत्र नृणामिति षष्ठ्यन्तस्य द्विज-

---

यज्ञ कराने वाला) । **अलौकिक विग्रह**—ब्राह्मण+ङस्, याजक+सु > ब्राह्मणयाजक (षष्ठ्यन्त 'ब्राह्मणस्य' का प्रथमान्त 'याजकः' के साथ समास) > ब्राह्मणयाजक (विभक्तिलोप) >**ब्राह्मणयाजकः** (विभक्तिकार्य) । २-देवानां पूजकः (देवताओं का पूजक) । देव+आम्, पूजक+सु > देवपूजक (समासादि कार्य) > देवपूजकः (पूर्ववत् विभक्ति-कार्य) । **वार्तिक**—गुणवाचक शब्द से विहित 'तरप्' प्रत्ययान्त का षष्ठ्यन्त के साथ वैकल्पिक तत्पुरुष समास हो तथा 'तरप्' प्रत्यय का लोप भी हो । **उदाहरण—लौकिक विग्रह**—सर्वेषां महत्तरः[1] (सब में बढ़कर = ईश्वर) । **अलौकिक विग्रह**—सर्व+आम्, महत्तर+सु > सर्व-महत् (षष्ठ्यन्त 'सर्वेषां' का 'महत्तरः' गुणवाचक के साथ समास तथा 'तरप्' का लोप) > सर्वमहत्+सु (पुनः विभक्ति) > सर्वमहन्-त्-स् ('महत्' शब्द को 'शतृ' प्रत्यय के समान माने जाने के कारण 'नुम्' आगम) > सर्वमहान्-त्-स् (उपधा—दीर्घ'-"सान्तमहतः संयोगस्य" ६-४-१०) > सर्वमहान्-त् (हल्ङ्यादिलोप—"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" ६-१-३८) > सर्वमहान् ('त्' का लोप—"संयोगान्तस्य लोपः") > **सर्वमहान्** (संयोगान्तलोप असिद्ध होने के कारण 'न्' का लोप नहीं होता) । २. सर्वेषां श्वेततरः (सबसे बढ़कर श्वेत—बगुला) **अलौकिक विग्रह**—सर्व+आम्, श्वेततर+सु>सर्वश्वेत (पूर्ववत् समास तथा 'तरप्' का लोप) > सर्वश्वेत+सु (पुनः विभक्ति) > **सर्वश्वेतः** (स् = र् = :) । प्रकृत वार्तिक की उपयोगिता "षष्ठी" के निषेधक "न निर्धारणे" (७०४) तथा "पूरण-गुण०" (७०५) दोनों सूत्रों का बाध करने (प्रतिप्रसव) में है । **वार्तिकार्थ**—'कृत्' प्रत्यय के योग में षष्ठी (कृता योगः यस्याः इति कृद्योगा) का समर्थ सुबन्त के साथ समास हो । भाष्यकार ने इस प्रकार की षष्ठी का विधायक सूत्र "कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-६५) माना है । **उदा०**—इध्मप्रवश्चनः[2] (लकड़ी को काटनेवाला कुठार) । **लौकिक विग्रह**—इध्मानां प्रव्रश्चनः । **अलौकिक विग्रह**—इध्म+आम्+प्रवश्चन+सु > इध्मप्रवश्चन (समासादि कार्य), > इध्मप्रव्रश्चन+सु (पुनः विभक्ति) > **इध्मप्रव्रश्चनः** (स् = र् = :) ।

विशेष—प्रकृत वार्तिक की उपयोगिता यह है कि सामान्यतः प्राप्त 'षष्ठी' समास के निषेधक 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' को बाधकर षष्ठीसमास होता है (प्रतिप्रसव) ।

(७०४) पद—न, निर्धारणे । **अनुवृत्ति**—षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(निषेध)-सूत्र** ।

---

१. महत्+तरप्—"द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" (५-३-५७) ।

२. प्रवृश्च्यते अनेन इति प्रव्रश्च्यनः । करण अर्थ में ल्युट्—√ व्रश्च्+ल्यु (यु) > व्रश्च्+अन (यु = अन) । 'इध्मानां' = कर्म में षष्ठी—"कर्तृकर्मणोः कृति" २-३-६५ ।

इतिवाच्यम्' (१३२०) । सर्पिषो ज्ञानम् । (७०५) पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन २।२।११ ॥ पूरणाद्यर्थैः सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते । पूरणे-सतां

शब्देन समासो न भवति । पुरुषाणामुत्तमः पुरुषोत्तम इत्यत्र तु शेषषष्ठ्येव, न तु निर्धारणषष्ठी । यतो निर्धारणम्, यच्च निर्धार्यते, यश्च निर्धारणहेतुः, एतत्त्रितयसन्निधान एव तस्याः प्रवृत्तेरिति कैयटः । गुणेन निषेधस्त्वनित्य इति तरप्सूत्रे कैयटः । केचित्तु 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' इति गीतावाक्यात् कर्मधारय एव । उत्तमशब्दस्य विशेषणत्वेऽपि राजदन्तादित्वात् परनिपात इत्याहुः । **प्रतिपदविधानेति** । पदं पदं प्रतीति वीप्सायामव्ययीभावः । प्रतिपदं विधानं यस्याः सा प्रतिपदविधाना । 'षष्ठी शेषे' इति शेषलक्षणां षष्ठीं वर्जयित्वा सर्वा षष्ठी प्रतिपदविधानेति भाष्यम् । **सर्पिषो ज्ञानमिति** । अत्र 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' इति विहितषष्ठ्याः समासो न भवति । 'न निर्धारणे' इति प्रत्याख्येयमेवेति भाष्ये स्पष्टमित्यलम् ।

(७०५) पूरणगुण । पूरणगुणसुहितानि अर्था येषां ते पूरणगुणसुहितार्थाः, ते च सच्च अव्ययं च तव्यश्च समानाधिकरणं चेति समाहारद्वन्द्वात् तृतीया । तदाह—**पूरणाद्यर्थैरिति** । **पूरणे इति** । उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः । **सतां षष्ठ इति** । षण्णां पूरण

मूलार्थ—निर्धारणार्थक षष्ठी समास नहीं होता । उदा० नृणां द्विजः श्रेष्ठः । वा० प्रत्येक पद को मानकर होने वाली षष्ठी का समास नहीं होता । उदा० सर्पिषः ज्ञानम् ।

विवरण—षष्ठी समास का निषेध बतलाया गया है । अतः सूत्र में पूर्व सूत्र "षष्ठी" (२-२-८) से प्राप्त विधान के निषेध-सूचक 'न' शब्द का समावेश किया गया है । निषेध की इयत्ता निर्धारण की जारही है । अतः सूत्र में 'निर्धारणे' पद का सन्निवेश कर यह अभिव्यञ्जित किया गया है कि "यतश्च निर्धारणम्" (२-३-४१) सूत्र से विहित षष्ठी का समास नहीं होगा" । **उदाहरण**—**नृणां द्विजः श्रेष्ठः** (मनुष्य-समाज में द्विज श्रेष्ठ है) । प्रकृत उदाहरण 'नृणां' में निर्धारणार्थक षष्ठी विभक्ति हुई है, अतः समास नहीं हुआ । **वार्तिकार्थ**—जहाँ पर किन्हीं विशेष शब्दों को अभिलक्षित कर षष्ठी का विधान किया जाता है वहाँ पर समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता । **उदाहरण**—**सर्पिषः ज्ञानम्** (घी की पहचान) में षष्ठी समास नहीं हुआ, क्योंकि प्रकृत उदाहरण में "ज्ञोऽविदर्थस्य करणे" (२-३-५१) से 'ज्ञा' धातु को अभिलक्षित कर षष्ठी विभक्ति का विधान है ।

विशेष—पतञ्जलि ने महाभाष्य में "षष्ठी शेषे" (२-३-५०) सूत्र से विहित शेष-लक्षण षष्ठी के अतिरिक्त कारक-विशेष को अभिलक्षित कर होने वाली षष्ठी विभक्ति 'प्रतिपदविधाना षष्ठी' माना है । इस के फलस्वरूप "तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्" (२-३-७२) सूत्र से विहित पाक्षिक षष्ठी का निषेध नहीं होता ।[1]

(७०५) पद—पूरण...समानाधिकरणेन । **अनुवृत्ति**—न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप् , सह सुपा, समासः । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—'पूरण' आदि अर्थ तथा 'सत्' आदि (संज्ञावाचक शब्दों) के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता । १–पूरण अर्थ में—सतां षष्ठः, २–गुण में—काकस्य कार्ष्ण्यम्, ब्राह्मणस्य

---

१. अस्मिन् प्रसङ्गे प्रतिपदविधाना का ? इति प्रश्ने "सर्वा प्रतिपदविधाना शेषलक्षणां वर्जयित्वा, कर्तृकर्मणोः कृतीति च कृद्योगा" इति भाष्ये उक्तम् । तत्र शेषलक्षणामित्यस्य शेषमात्रलक्षणामित्यर्थ उक्तः । 'प्रतिपदविधाने'त्यस्य कारकविशेषोपादानेन विहितेत्यर्थश्च परिकल्पितः । तेन "तुल्यार्थैः०" २-३-७२ इत्यादेर्न प्रतिपदविधानत्वमिति फलितम् ।

षष्ठः । गुणे-काकस्य कार्ष्ण्यम् । ब्राह्मणस्य शुक्लाः । यदा प्रकरणादिना दन्ता इति विशेष्यं ज्ञातं तदेदमुदाहरणम् । अनित्योऽयं गुणेन निषेधः, 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' (सू १२९५) इत्यादिनिर्देशात् । तेन अर्थगौरवम्, बुद्धिमान्द्यम् इत्यादि सिद्धम् । सुहितार्थास्तृप्त्यर्थाः । फलानां सुहिताः । तृतीयासमासस्तु स्यादेव । स्वरे विशेषः । सत्-द्विजस्य कुर्वन्, कुर्वाणो वा, किंकर इत्यर्थः । अव्ययम्-ब्राह्मणस्य कृत्वा । पूर्वोत्तरसाहचर्यात्कृदव्ययमेव गृह्यते । तेन तदुपरि इत्यादि सिद्धमिति रक्षितः । तव्यः-ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् । तव्यता तु भवत्येव, स्वकर्तव्यम् । स्वरे भेदः । समानाधिकरणेन-तक्षकस्य

इत्यर्थे 'तस्य पूरणे डट्' 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' । न च कुम्भपूरणमित्यत्रापि स निषेधः स्यादिति वाच्यम्, 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्' इति निर्देशेन पूरणार्थकप्रत्ययस्यैव ग्रहणात् 'उञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि' इत्यत्र तु उञ्छात्मकः षष्ठ इति व्याख्येयम् । **गुणे** इति । उदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः । प्रधानत्वेन वा उपसर्जनत्वेन वा गुणवाची गुणशब्दः, व्याख्यानात् । तदाह-**काकस्य कार्ष्ण्यम्, ब्राह्मणस्य शुक्ला इति** । कृष्णशब्दात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' इति भावे ष्यञ् । शुक्लशब्दात्तु 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्' इति लुक् । ननु दन्ता इति शेषपूरणेन ब्राह्मणस्य दन्ताः शुक्ला इत्यर्थे ब्राह्मणशब्दस्य दन्तशब्देनैवान्वयात् शुक्लशब्देनान्वयाभावादसामर्थ्यात् कथमिह समासप्रवृत्तिरित्यत आह—**यदा प्रकरणादिनेति** । प्रकरणादर्थाद्वेत्यर्थः । दन्ताः संयुक्ताः शुभावहाः, न तु विरला इत्यादिदन्तवर्णने प्रकृते यदा ब्राह्मणस्य शुक्ला इत्युच्यते, तदा प्रकरणात् दन्ता इति विशेष्योपस्थितिः । यदि वा सर्ववर्णेषु दन्तवस्त्रभूषणेषु प्रकृतेषु ब्राह्मणस्य शुक्ला इत्युच्यते, तदा अर्थात् दन्ता इति विशेष्योपस्थितिः, तत्र सामर्थ्यसत्त्वात् समासे प्राप्ते निषेध इत्यर्थः । अत्र 'आकडारात्' इति सूत्रोक्तगुणवचनसञ्ज्ञकानां 'तृतीया तत्कृत' इति सूत्रे प्रपञ्चितानां गुणानां न ग्रहणम्, अत्र गुणवचनशब्दाभावात् । किन्तु 'वोतो गुणवचनात्' इति सूत्रभाष्ये प्रपञ्चितानां 'सत्त्वे निविशतेऽपैति' इत्यादिलक्षणलक्षितगुणानामेव ग्रहणमिति बोध्यम् । एतेन 'आकडारात्' इति सूत्रभाष्ये तद्धितान्तस्य गुणवचनत्वपर्युदासात् कथं कार्ष्ण्यादिशब्दानां गुणवाचित्वमिति निरस्तम् । अथ अर्थगौरवमित्यादौ षष्ठीसमासं साधयितुमाह—**अनित्योऽयमिति** । **सञ्ज्ञाप्रमाणत्वादिति** । सञ्ज्ञायाः प्रमाणत्वं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वं तस्मादिति विग्रहः । अत्र प्रमाणत्वस्य गुणत्वात् तेन षष्ठीसमासनिषेधात्समासनिर्देशोऽनुपपन्नः स्यात् । अतो

शुक्लाः । जब प्रकरण आदि से विशेष्य वाची 'दन्ताः' की प्रतीति हो जाय तो यह उदाहरण माना जायगा । गुण के साथ यह समास-निषेध अनित्य है । पाणिनि द्वारा प्रयुक्त "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्" निर्देश ही इस (अनित्य-विधि) में प्रमाण है । अतः 'अर्थगौरवम्' 'बुद्धिमान्द्यम्' आदि प्रयोग समीचीन माने गए हैं । ३-सुहितार्थ पद तृप्त्यर्थ का बोधक हैं । उदा० फलानां सुहितः । तृतीयासमास हो जायगा । स्वर की भिन्नता है । ४-सत् (शतृ-शानच्)—ब्राह्मणस्य कुर्वन् अथवा कुर्वाणः (किङ्कर = सेवक) । ५-अव्यय-ब्राह्मणस्य कृत्वा । पूर्व एवम् उत्तर पठित शब्दों के साहचर्य से यहाँ 'कृत्'—अव्यय ही गृहीत है । अतः 'तदुपरि' शब्द सिद्ध होता है, यह रक्षिताचार्य का मत है । ६-तव्य—ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् । 'तव्यत्' प्रत्यय में समास होता है । जैसे—स्वकर्तव्यम् । (दोनों स्थितियों में) स्वर की भिन्नता है । ७-समाना-

सर्पस्य। विशेषणसमासस्त्विह बहुलग्रहणान्न। 'गोर्धेनोः' इत्यादिषु 'पोटायुवति–'

गुणेन समासनिषेधः अनित्य इति विज्ञायत इत्यर्थः। **इत्यादीति**। आदिना गुणकात्स्र्न्य-मित्यादिसङ्ग्रहः। वस्तुवस्तु अनित्योऽयं गुणेन निषेध इत्ययमर्थो भाष्ये न दृश्यते। न च कृष्णैकत्वमित्यादौ समासानुपपत्तिरिति वाच्यम्, 'पङ्क्तिविंशति' इति सूत्रे विंशत्यादिशब्दा भाववचना भवन्तीत्युक्त्वा गवां विंशतिर्गवां सहस्रमित्यर्थे गोविंशतिर्गोसहस्रमित्यादिप्रयो-गात्। अर्थगौरवमित्यादौ तु अर्थगतं गौरवमिति मध्यमपदलोपिसमासो बोध्य इति शब्दे-न्दुशेखरे प्रपञ्चितम्। सुहितपदं व्याचष्टे—**सुहितार्थाः तृप्त्यर्था इति**। नपुंसके भावे क्तः इति भावः। **फलानां सुहिता इति**। करणत्वस्याविवक्षायां सम्बन्धविवक्षायां षष्ठी। अर्थ-ग्रहणात् फलानां तृप्तिरित्यादावपि न समासः। फलसुहितमिति कथं समास इत्यत आह—**तृतीयासमासस्तु स्यादेवेति**। करणत्वविवक्षायां तृतीया। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समास इति भावः। तर्हि सुहितयोगे षष्ठीसमासनिषेधो व्यर्थ इत्यत आह—**स्वरे विशेष इति**। तृतीयासमासे 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। षष्ठीसमासे तु समासस्ये-त्यन्तोदात्तत्वमिति फलभेद इति भावः। **सदिति**। सद्योगे षष्ठीसमासनिषेध उदाह्रियत इत्यर्थः। 'तौ सत्' इति शतृशानचोः सदिति सञ्ज्ञा वक्ष्यते। ननु द्विजस्य कुर्वन्निति न कर्मणि षष्ठी, 'न लोक' इति निषेधात्। नापि द्विजस्य घटं कुर्वन्निति घटाद्यपेक्षया शेष-षष्ठी, तर्हि सापेक्षत्वेनासामर्थ्यात् कुर्वन्नित्यनेन समासाप्रवृत्तेरित्यत आह—**किङ्कर इत्यर्थ**

धिकरण—तक्षकस्य सर्पस्य। 'बहुल' पद निवेश होने के कारण यहाँ विशेषण समास (कर्मधारय) नहीं होता। 'गोः धेनोः' इत्यादि में "पोटायुवति०" इत्यादि से प्राप्त निषेध विभक्त्यन्तर में चरितार्थ होने से तथा "षष्ठी" सूत्र पर होने के कारण पुनः समास प्राप्त होने की स्थिति में इस निषेध से उसका निवारण होता है।

विवरण—विशेष परिस्थितियों में षष्ठी-समास का निषेध किया जारहा है। अतः "न निर्धारणे" (२-२-१०) से 'न' तथा "षष्ठी" (२-२-८) से षष्ठी की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। शेष उपर्युक्त अनुवृत्तियाँ सूत्रार्थ की पूर्ति में सहायक हैं। सूत्र में एक ही दीर्घ समस्त पद है। उसका विग्रह इस प्रकार है—पूरणं च, गुणश्च, सुहितार्थाश्च, सत् च, अव्ययञ्च, तव्यश्च, समानाधिकरणं च-पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणं, तेन (समाहार-द्वन्द्व)। तदनुसार षष्ठी–तत्पुरुष–समास का निषेध होने में इस सूत्र द्वारा सात प्रकार की स्थिति-विशेष का निर्वचन किया जारहा है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "१–'पूरणप्रत्ययान्त शब्द, २–गुणवाची शब्द, ३–तृप्त्यर्थक (सुहितार्थ) शब्द, ४–'सत्'–संज्ञक प्रत्यय, ५–अव्यय शब्द, ६–'तव्य' प्रत्ययान्त शब्द तथा ७–समानाधिकरणवाची शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त का समास न हो"। क्रमशः **उदाहरण १—'पूरण' अर्थ** में होने वाला प्रत्यय–**सतां षष्ठः** (सज्जनों में छठवाँ)। 'षष्ठ' शब्द में 'षण्णां पूरणः' इस अर्थ में (षष्+डट्) तद्धित प्रत्यय डट् ("तस्य पूरणे डट्" ५-२-४८) होने पर "षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्" (५-२-५१) सूत्र से 'थुक्' आगम का विधान किया गया है (षष्+थ्+अ), तदनन्तर ष्टुत्व होकर 'षष्ठ' शब्द निष्पन्न होता है। षष्ठ्यन्त 'सतां' के साथ 'षष्ठ' का समास न होने से विभक्ति लोप नहीं हुआ। २–**गुणवाची शब्द**—(क) **काकस्य काष्र्ण्यम्** (कौवे का कालापन)। काष्र्ण्यम् (कृष्णस्य भावः—कृष्ण+ष्यञ्–"गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च—५-१-१२४) गुणवाचक शब्द है, अतः षष्ठी–समास नहीं हुआ। इसी प्रकार (ख) **ब्राह्मणस्य शुक्लाः**—दन्ताः (ब्राह्मण के सफेद दाँत) में 'शुक्ल' शब्द से उसके दाँतों की सफेदी (गुण) सूचित होती है (शुक्लः गुणः एषाम्

इति। द्विजं परिचरन्तित्यर्थं इति यावत्। कृञ्धातुरिति परिचरणे वर्तत इति फलितम्। **अव्ययमिति**। उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः। **पूर्वोत्तरेति**। सत्तव्याभ्यां कृद्भ्यामित्यर्थः। 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सूत्रभाष्ये सर्वपश्वादिति प्रयोगश्चेह लिङ्गम्। **तव्य इति**। उदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः। **ब्राह्मणस्य कर्तव्यमिति**। 'अर्हे कृत्यतृचश्च' 'तव्यत्तव्यानीयर' इति कृत्यस्तव्यः। 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी। **तव्यता तु भवत्येवेति**। षष्ठीसमास इति शेषः। तकारानुबन्धरहितस्यैव तव्यस्य सूत्रे ग्रहणात्तव्यतो न ग्रहणमिति भावः। **स्वकर्तव्यमिति**। स्वस्य कर्तव्यमिति विग्रहः। 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी। अत्र तव्यता योगात् समासनिषेधो नेति भावः। ननु तव्यप्रत्ययमाश्रित्य ब्राह्मणकर्तव्यमिति समाससम्भवात् किं तव्ययोगे तन्निषेधेनेत्यत आह—**स्वरे भेद इति**। तव्यति कृते कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण प्रकृतिस्वरः, तव्ये तु नेति फलभेद इति भावः। **समानाधिकरण इति**। समानाधिकरणेन षष्ठ्यन्तं न समस्यते इत्यत्रोदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः। **तक्षकस्य सर्पस्येति**। अत्र समासे सति पुनः समासात् षष्ठ्युत्पत्तौ तक्षकसर्पस्येति न भवतीत्यर्थः। ननु षष्ठीसमासस्य निषेधेऽपि 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्, इति कर्मधारयसमासो दुर्वारः। अतः किं षष्ठीसमासनिषेधेनेत्यत आह—**विशेषणसमासस्त्विति**। ननु षष्ठीसमासनिषेधसामर्थ्यादेवात्र कर्मधारयो न भविष्यति। तत् किमगतिकगत्या बहुलग्रहणाश्रयणेन। न च कर्मधारयस्वर एव यथा स्यात्, न तु षष्ठीसमासस्वर इत्येतदर्थः षष्ठीसमासनिषेध इति वाच्यम्, उभयथापि 'समासस्य' इत्यन्तोदात्तत्वस्याविशिष्टत्वादिति चेत्, मैवम्—कर्मधारये हि सति गमनस्य

अस्ति—शुक्ल + मतुप् > शुक्ल ('गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः'—मतुप् का लोप), अतः षष्ठी-समास का निषेध हुआ। प्रकृत उदाहरण में विशेष्यवाची 'दन्त' शब्द का अध्याहार करने पर ही विशेषण-वाची 'शुक्ल' शब्द गुण का बोधक होगा। उसी स्थिति में यह उदाहरण हो सकता है। गुणवाचक शब्दों के साथ षष्ठी-समास के निषेध की अनित्यता को सूचित करने के लिये भट्टोजी दीक्षित पाणिनि के "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्" (१-२-५३) का स्मरण करा रहे हैं। तदनुसार पाणिनि ने गुणवाची 'प्रमाण' शब्द के साथ 'संज्ञायाः' षष्ठ्यन्त सुबन्त का समास किया है (संज्ञायाः प्रमाणत्वात् = संज्ञाप्रमाणत्वात्)। अतः **अर्थगौरवम्** (अर्थस्य गौरवम्), **बुद्धिमान्द्यम्** (बुद्धेः मान्द्यम्) आदि शब्दों में समास का होना युक्तिसंगत हो जाता है। **३—सुहितार्थ (तृप्त्यर्थक) शब्द—फलानां सुहितः** (फलों की तृप्ति)। षष्ठी-समास नहीं हुआ। इसके विपरीत 'फलैः सुहितः' (फलों से तृप्त) में तृतीया तत्पुरुष की विवक्षा करने पर समास होकर 'फलसुहितः' रूप निष्पन्न होगा। ऐसी स्थिति में "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" (२-१-३२) सूत्र से समास होगा। तब षष्ठीसमास के निषेध का प्रयोजन क्या रहा? इसके उत्तर में बतलाया जा रहा है कि तृतीया-समास होने पर "तृतीया कर्मणि" (६-२-४८) के अनुसार पूर्वपदप्रकृति स्वर होता है। षष्ठीसमास होने पर तो अन्तोदात्त होता है। यह स्वर की भिन्नता है। **४—सत्संज्ञक शब्द—द्विजस्य कुर्वन्** (शतृ) अथवा **कुर्वाणः** (शानच्) (ब्राह्मण का करता हुआ = सेवक)। षष्ठी समास का निषेध हुआ। 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्ययों की 'सत्' संज्ञा की गई है—"तौ सत्" (३-२-१२७)। 'द्विजस्य कुर्वन्' प्रयोग में कर्म की विवक्षा में शेष षष्ठी हुई है। तदनुसार 'ब्राह्मण की सेवा करते हुए'—यही उसका अर्थ अभीष्ट है (सेवक)। अतः "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" (२-३-६९) से कर्मषष्ठी के निषेध की सम्भावना का

श्रेयस इत्यादौ 'अज्यावमकन्पापवत्सु भावे' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। षष्ठीसमासे त्वन्तोदात्तत्वं स्यात् तन्माभूदित्येतदर्थं षष्ठीसमासनिषेध आवश्यक इति समासनिषेधस्य चरितार्थत्वान्न तस्य विशेषणसमासनिवृत्तिसामर्थ्यमिति बहुलग्रहणमाश्रितम्। न चैवमपि तक्षकसर्प इति प्रथमान्तविग्रहे कर्मधारये सति तक्षकसर्पस्येति दुर्निवारमिति वाच्यम्, निषेधसामर्थ्यादेव प्रथमान्तकर्मधारयमाश्रित्य तक्षकसर्पस्येत्येवंजातीयकप्रयोगाभावोन्नयनात्। अथ समानाधिकरणेन निषेधे उदाहरणान्तरमाह—**गोर्धेनोरिति**। गोर्धेनोरित्यादिषु षष्ठीसमासः प्राप्तः, सोऽप्यनेन वार्यत इत्यन्वयः। आदिना यूनः खलतेरित्यादिसङ्ग्रहः। ननु षष्ठीसमास एवात्र न प्रसज्यते 'पोटायुवति', 'युवा खलति' इत्यादिविशेषविहितकर्मधारयेणात्र परस्यापि षष्ठीसमासस्य बाधितत्वादित्यत आह—**पोटायुवतीत्यादीनां विभक्त्यन्तरे चरितार्थानां परत्वाद् बाधक इति**। पोटायुवति, युवा खलति इत्यादिविषयः गोर्धेनुः, युवा खलतिरित्यादिषु प्रथमाविभक्त्यन्तेषु सावकाशाः। षष्ठीसमासस्तु राज्ञः पुरुषः इत्यादावसमानाधिकरणे सावकाशः। गोर्धेनोः, यूनः खलतेरित्यादिषु उभयं प्राप्तम्। तत्र पोटायुवति, युवा खलति, इत्यादिविधीन् बाधित्वा षष्ठीसमासः प्राप्तः। सोऽप्यनेन समानाधिकरणेनेति निषेधेन वार्यत इत्यर्थः। नच निषेधसामर्थ्यादेव पोटायुवतीत्यादिसमासोऽपि बाध्यतामिति वाच्यम्, षष्ठीसमासे गोर्धेनोरित्यादौ अन्यतरस्य पूर्वनिपातः। 'पोटायुवति' इत्यादिसमासे तु गोयुवादिशब्दस्यैवेति फलभेदस्य स्पष्टत्वात्। समानाधिकरणेन निषेधश्चार्थं

निवारण भी हो जाता है। तथा 'कृ' धातु का प्रयोग यहाँ 'परिचरण' अर्थ में हुआ है। ५—**अव्यय—ब्राह्मणस्य कृत्वा** (ब्राह्मण का कार्य करके)। यहाँ पर कृ+क्त्वा > कृत्वा में 'क्त्वा' प्रत्यय "क्त्वा-तोसुन्-कसुनः" (१-१-४०) के अनुसार अव्यय-संज्ञक है, अतः षष्ठी—समास का निषेध हुआ। प्रकृत सूत्र में 'अव्यय' के पूर्व पठित 'सत्' संज्ञा तथा उत्तरत्र पठित 'तव्यत्' प्रत्यय दोनों ही कृदन्त से सम्बद्ध हैं, अतः पूर्वापर-साहचर्य से केवल कृदन्त अव्यय ही ग्राह्य हैं। इसके फलस्वरूप तद्धित प्रत्ययान्त अव्ययों में षष्ठी-समास का निषेध न होने से समास की प्रवृत्ति होगी। इसी कारण रक्षिताचार्य ने तस्य उपरि>तदुपरि इत्यादि प्रयोगों को समीचीन बतलाया है। भाष्यकार ने भी 'सर्वपश्चात्' (सर्वस्य पश्चात्) शब्द का प्रयोग किया है[1]। ६—तव्य प्रत्यय—**ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्** (ब्राह्मण के करने योग्य)। कृ+तव्य > कर्तव्य ("तव्यत्तव्यानीयरः" ३-१-९६) में 'तव्य' के योग में षष्ठी-समास का निषेध हो गया। इससे भिन्न 'तव्यत्' प्रत्यय करने पर कर्तृषष्ठी के साथ समास होगा—स्वस्य कर्तव्यम् > स्वकर्तव्यम्। समास होने के फलस्वरूप कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर के कारण प्रकृतिस्वर होता है। तव्य प्रत्यय में समास न होने से उसकी प्राप्ति नहीं है। ७ **समान अधिकरण** में **तक्षकस्य सर्पस्य** (तक्षक सर्प का)। यहाँ दोनों शब्द समान-अधिकरण हैं। तक्षक ही सर्प है और सर्प ही तक्षक है। अतः एकार्थ-बोधक होने से समास का निषेध हो गया। प्रकृत उदाहरण में "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" (२-१-४७) सूत्र से कर्मधारय की सम्भावना का निवारण 'बहुल' पद की अनेकार्थकता से किया जा सकता है। इसी प्रकार **'गोर्धेनोः'** (गाय-धेनु का) में समानाधिकरण-जन्य षष्ठी समास के निषेध की उपयोगिता बतलाई जारही है। यहाँ पर यद्यपि "पोटा युवति०" (२-१-६२) सूत्र से समास-निषेध प्राप्त है किन्तु वह षष्ठी—विभक्ति के अतिरिक्त 'गोर्धेनुः' आदि प्रथमान्त स्थलों में

---

१. अत एव 'सर्वपश्चात्' इति भाष्यप्रयोगः संगच्छते। प्रकृतसूत्रभाष्येऽपि अकृदव्ययैः उच्चैरादिभिः असामर्थ्येन समासाभावमुक्त्वा कृदव्ययमेवोदाहृतमिति लघुशब्देन्दुशेखरे स्पष्टम्। तेन अन्याव्ययैः सति सामर्थ्ये समास इष्ट इति गम्यते।

सोऽप्यनेन वार्यते। **(७०६) क्तेन च पूजायाम् २।२।१२॥** 'मतिबुद्धि–' (सू ३०८९) इति सूत्रेण विहितो यः क्तस्तदन्तेन षष्ठी न समस्यते। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा। राजपूजितः इत्यादौ तु भूते क्तान्तेन सह तृतीयान्तस्य समासः। **(७०७) अधिकरणवाचिना च २।२।१३॥** क्तेन षष्ठी न समस्यते। इदमेषामासितं गतं

क्वाचित्क एव, अन्यस्य पदस्यार्थं इत्यन्यपदार्थं इति निर्देशात्। तेन नीलोत्पलस्य गन्ध इत्यादिः सिद्धः।

(७०६) क्तेन च पूजायाम्। अत्र पूजाग्रहणं 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति सूत्रोपलक्षणम्। तदाह—**मतिबुद्धीति सूत्रेणेति। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वेति।** राज्ञा इष्यमाणः ज्ञायमानः पूज्यमान इति क्रमेणार्थः। 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्तमाने क्तः। 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी। नन्वेवं सति राजपूजितः राजमतः राजबुद्ध इति कथं समास इत्यत आह—**राजपूजित इत्यादाविति।**

(७०७) अधिकरणवाचिना च। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**क्तेनेति। इदमेषामासितं**

चरितार्थ हो चुका है, अतः समानाधिकरण समास को बाधकर "षष्ठी (२-२-८) सूत्र से प्राप्त समास को पुनः बाध करने के लिए "पूरणगुण०" सूत्र में समानाधिकरण की उपयोगिता पुनरपि सिद्ध होती है। इस प्रकार यह बाधक-बाधनार्थ प्रकरण माना गया है—१-"पोटायुवति' → २-"षष्ठी" → ३-"पूरणगुण०"।

(७०६) पद—क्तेन, च, पूजायाम्। **अनुवृत्ति**—न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ—"मतिबुद्धि०" इत्यादि सूत्र से पूजा अर्थ में विहित 'क्त' प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी का समास नहीं होता।

विवरण—षष्ठी-समास के निषेध का ही प्रकरण चल रहा है। अतः प्रमुखरूप में 'षष्ठी' तथा 'न' ये दो अनुवृत्त पद विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। शेष अनुवृत्ति पूर्ववत् है। "पूजार्थक 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के साथ षष्ठी-समास का निषेध प्रकृत सूत्र से किया जारहा है"। कृदन्त में पूजार्थक 'क्त' प्रत्यय का विधायक सूत्र "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" (३-२-१८८) है। प्रकृत सूत्र में 'पूजायाम्' पद उसी का परिचायक है। **उदाहरण—राज्ञां मतः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां पूजितः** (राजाओं का माना हुआ, राजाओं का जाना हुआ अथवा राजाओं पूजित)। प्रकृत उदाहरणों में वर्तमान अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है—"क्तस्य च वर्तमाने" (२-३-६७)। अतः षष्ठी विभक्ति हुई (राज्ञां)। फल यह हुआ कि षष्ठी-समास का निषेध हो गया। **राजपूजितः** (राजभिः पूजितः) आदि उदाहरणों में भूतकालिक 'क्त' प्रत्यय ("निष्ठा" ३-२-१०२) विहित है, अतः वहाँ तृतीया-समास होता है।

(७०७) पद—अधिकरणवाचिना, च। **अनुवृत्ति**—क्तेन, न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(निषेध)-सूत्र।**

मूलार्थ—(अधिकरण अर्थ में विहित) 'क्त' प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी का समास नहीं होता। **उदाहरण**—इदमेषामासितं भुक्तं वा।

विवरण—षष्ठी-निषेध का ही प्रकरण चल रहा है, वह भी 'क्त' प्रत्ययान्त के योग में। अतः "क्तेन च पूजायाम्" (२-२-१२) सूत्र से 'क्त' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। 'षष्ठी' तथा 'न' इन दो अनुवृत्त पदों एवं समासादि अधिकारवाची पदों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान

भुक्तं वा। (७०८) कर्मणि च २। २। १४॥ 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (सू ६२४) इति या षष्ठी सा न समस्यते। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन। (७०९) तृजकाभ्यां कर्तरि २। २। १५॥ कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः। अपां स्रष्टा। वज्रस्य भर्ता। ओदनस्य पाचकः। कर्तरि किम् ? इक्षूणां भक्षणमिक्षुभक्षिका। पत्यर्थभर्तृशब्दस्य तु याज-

---

शयितं गतं भुक्तं वेति। 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' इत्यधिकरणे क्तः। 'अधिकरणवाचिनश्च' इति षष्ठी।

(७०८) कर्मणि च। क्तेनेति निवृत्तम्। कर्मणि या षष्ठी सा न समयस्ते इत्यर्थं अपां स्रष्टेत्यादावपि निषेधसिद्धे 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति व्यर्थं स्यात्। किं तु चकार इति पर्यायः। कर्मणीति सप्तम्येकवचनमुच्चार्य या षष्ठी विहिता सा न समस्यत इत्यर्थः। फलित-माह—उभयेत्यादिना। आश्चर्य इति। यद्यप्यत्र कर्तृकर्मणोः कृति' इत्येव कर्मणि षष्ठी, न तु 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति सूत्रेण, तस्य सूत्रस्य कर्मण्येव षष्ठी, न तु कर्तरीति नियमपर-त्वात्। तथापि नियमसूत्राणां विधिरूपेण निषेधरूपेण च द्वेधा प्रवृत्तेः स्वीकारान्न दोषः। शब्दानुशासनमित्यत्र तु वस्तुतः आचार्यस्य कर्तृत्वेऽपि तस्यानुपादानादुभयप्राप्तावित्यस्या-प्रवृत्तेर्नायं निषेधः, 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे' इत्यतः प्रयोगे इत्यनुवृत्त्या कर्तृकर्मणोरुभयोः प्रयोग एव तस्य प्रवृत्तेः। यद्वा शेषे विभाषा अविशेषेण विभाषेत्याश्रित्य उभयप्राप्तावित्यभावपक्षे 'कर्तृकर्मणो. कृति' इत्येव षष्ठ्याः प्राप्तेर्नायं निषेध इत्यलम्।

(७०९) तृजकाभ्यां कर्तरि। कर्तरीति तृजकयोरेव विशेषणम्, श्रुतत्वात्, नतु षष्ठ्याः। तदाह—कर्त्रर्थतृजकाभ्यामिति। अपां स्रष्टा, वज्रस्य भर्तेति। 'ण्वुल्तृचौ' इति कर्तरि तृच्, 'कर्तृकर्मणोः' इति कर्मणि षष्ठी। एवमोदनस्य पाचक इति पचेः कर्तरि ण्वुल्।

है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसा-नार्थेभ्यः" (३-४-७६) सूत्र से अधिकरण अर्थ में विहित 'क्त' प्रत्यय के योग में 'षष्ठी-समास' का निषेध होगा"। ऊपर उल्लिखित सूत्र से 'क्त' प्रत्यय होने पर "अधिकरणवाचिनश्च" (२-३-६८) सूत्र से षष्ठी विभक्ति होती है। **उदाहरण—इदम् एषाम् आसितं गतं भुक्तं वा** (यह उनके बैठने का स्थान, जाने का रास्ता, भोजन का स्थान)। यहाँ षष्ठी-समास नहीं हुआ।

(७०८) पद—कर्मणि, च। **अनुवृत्ति**—न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(निषेध)-सूत्र।**

मूलार्थ—"उभयप्राप्तौ" सूत्र से कर्म में विहित षष्ठी का समास नहीं होता।

विवरण—षष्ठी-समास के निषेध का ही प्रकरण चल रहा है, किन्तु प्रसङ्ग बदल गया है। प्रमुख अनुवृत्ति 'न' तथा 'षष्ठी'—इन दोनों की है। सूत्र के अनुसार "कर्म में विहित षष्ठी का अन्य समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता"। **उदाहरण—आश्चर्यो गवां दोहः अगोपेन** (गोप से अतिरिक्त व्यक्ति का दूध दुहना आश्चर्य का विषय है) में "उभयप्राप्तौ कर्मणि" (२-३-६६) सूत्र से 'गवां' में षष्ठी होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'दोहः' के साथ समास का निषेध हो गया, क्योंकि 'गायों को दुहा जाना' विवक्षित होने से 'गो' कर्म है।

(७०९) पद—तृजकाभ्यां, कर्तरि। **अनुवृत्ति**—कर्मणि, न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—कर्तृ-बोधक 'तृच्' तथा 'अक' प्रत्ययों से षष्ठी का समास नहीं होता। **उदाहरण**—१-(क) अपां स्रष्टा, (ख) वज्रस्य भर्ता। २–ओदनस्य पाचकः। 'कर्तरि' का क्या प्रयोजन

कादित्वात्समासः । भूभर्ता । कथं तर्हि 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः' इति ।

अकादेश इति विशेषः । **इक्षुभक्षिकेति** । 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारे धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् । कर्मणि षष्ठ्याः समासः । 'कर्मणि च' इति निषेधस्तु न, कर्तुः प्रयोगः एव तत्प्रवृत्तेः । ननु भुवो भर्ता भूभर्तेत्यत्रापि निषेधः स्यात् । न च भर्तृशब्दस्य याजकादौ पाठात् भवत्येव षष्ठीसमासः, 'याजकादिभिश्च' इत्यस्य प्रतिप्रसवार्थत्वादिति वाच्यम्, एवं तर्हि वज्रस्य भर्तेत्यत्रापि समासप्रसङ्गादित्यत आह—**पत्यर्थेति** । याजकादौ पत्यर्थकस्यैव भर्तृशब्दस्य ग्रहणं, व्याख्यानात् । ततश्च वज्रस्य भर्तेत्यत्र 'याजकादिभिश्च' इति समासो नेति भावः ।

है ? इक्षूणां भक्षणम् इक्षुभक्षिका। पत्यर्थक-भर्तृ-शब्द का याजकादिगण में पाठ होने से 'भूभर्ता' में समास हुआ है। (यदि ऐसा है तो) 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः' में समास कैसे हुआ ? शेष षष्ठी का समास हुआ है, यह कैयट की व्यवस्था है।

विवरण—षष्ठी-समास के निषेध का ही प्रकरण है। अतः 'न', 'षष्ठी' तथा (पूर्वसूत्र से) 'कर्मणि'–इन तीन पदों की प्रमुख अनुवृत्ति अपेक्षित है। समासादि अधिकार–पदों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। सूत्रस्थ 'कर्तरि' पद 'तृच्' तथा 'अकः' इन दोनों का विशेषण है, षष्ठी का नहीं। उसका कारण यह है कि सूत्र में इन दोनों पदों का साक्षात् प्रवेश (श्रवण) किया गया है। 'षष्ठी' पद प्रकरण-वश अनुवृत्त (अनुमित) है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कर्त्ता कारक के अर्थ में 'तृच्' और 'अक' प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ कर्म में विहित षष्ठी का समास नहीं होगा"। कर्म में षष्ठी–विधायक सूत्र **"कर्तृकर्मणोः कृति"** (२-३-६५) है। **उदाहरण**—(१) **तृच्–प्रत्यय**—(क) अपां स्रष्टा (जल को उत्पन्न करने वाला—सृज्+तृच्—"ण्वुल्–तृचौ"–३-१-१३३)। (ख) **वज्रस्य भर्ता** (वज्र को धारण करने वाला—भृ+तृच्)। दोनों उदाहरणों में कर्म में षष्ठी हुई है—**"कर्तृकर्मणोः कृति"** (२-३ ६५)। अतः प्रकृत सूत्र से षष्ठी-समास का निषेध हो गया। (२) **अक-प्रत्यय**—ओदनस्य पाचकः (भात को पकाने वाला—√पच्+ण्वुल् = अक)। वस्तुतः 'अक' प्रत्यय नहीं है। प्रत्यय तो कर्ता के अर्थ में ण्वुल् है—**'ण्वुल्–तृचौ'** (३-१-१३३)। प्रत्ययावयव 'वु' के स्थान पर अक आदेश होता है—"युवोरनाकौ" (७-१-१)। अतः षष्ठी–समास का निषेध हो गया। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'कर्तरि' पद के अभाव में भावार्थ में विहित 'ण्वुल्' प्रत्यय के योग में षष्ठी–समास का निषेध हो जाता, वह न हो। अतः 'कर्तरि' पद सार्थक है। तदनुसार **इक्षुभक्षिका** (अर्थ—इक्षूणां भक्षणम् अर्हति—गन्ने को खाने वाली) में षष्ठी-समास हो गया। यहाँ भी 'इक्षूणाम्' पद कर्म–षष्ठी का बोधक है।

विशेष—(१) भुवः भर्ता = **भूभर्ता** (पृथ्वी को पालने वाला) में यद्यपि कर्म में षष्ठी का विधान हुआ है, तथापि वहाँ प्रकृत सूत्र से षष्ठी–समास का निषेध नहीं होता। कारण यह है कि याजकादिगण में पत्यर्थ–बोधक 'भर्तृ' शब्द पढ़ा गया है। अतः विशेष विधान होने से "याजकादिभिश्च" (२-२-९) सूत्र प्रकृतसूत्र का बाधक है। इसके फलस्वरूप षष्ठीसमास होगया (प्रथम-प्राप्ति—"षष्ठी"–(२-२-८, उसका अपवाद–"तृजकाभ्यां कर्तरि"–२-२-१५ तथा उसका प्रति-प्रसव "याजकादिभ्यश्च" २-२-९)। (२) प्रकृत सूत्र के अनुसार विपरीत उदाहरण की सङ्गति बैठायी जारही है। तदनुसार कैयट[1] ने यह समाधान दिया है कि 'घटानां निर्मातुस्त्रि-

---

१. "बहुषु बहुवचनम्" (१-४-४१) इति सूत्रस्थ–'गुणिविशेषक' इति भाष्यप्रतीकमादाय षष्ठी-समासाभावस्यानित्यत्वं कल्पयन् कैयट आह—'अत एव वचनाद् अनित्यस्तृजकाभ्यां कर्तरीति षष्ठीसमासप्रतिषेधः । शेषषष्ठ्या वा समास इति'।

शेषषष्ठ्या समास इति कैयटः। (७१०) कर्तरि च २।२।१६॥ कर्तरि षष्ठ्या अकेन न समासः। भवतः शायिका। नेह तृजनुवर्तते। तद्योगे कर्तुरभिहितत्वेन कर्तृषष्ठ्या

कथं तर्हीति। त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं, 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम्' इति तु न भवति, पात्राद्यन्तस्य नेत्युक्तेः। त्रिभुवनस्य विधातेति तृचा योगे कथं कर्मणि षष्ठ्याः समास इत्याक्षेपः। परिहरति—शेषषष्ठ्येति। प्रत्यासत्त्या कारकषष्ठ्या एवायं निषेध इति बहुष्विति सूत्रे कैयट आहेत्यर्थः।

(७१०) कर्तरि च। कर्तरीत्येतत् षष्ठीत्यनुवृत्ते अन्वेति। तदाह—**कर्तरि षष्ठ्या इति। अकेनेति।** 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। **भवतः शायिकेति।** 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारे धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्, अकादेशः, टाप्। 'कर्तृकर्मणोः' इति कर्तरि षष्ठी। अत्र अकस्य कर्त्रर्थकत्वाभावात् 'तृजकाभ्याम्' इत्यस्य न प्राप्तिः। ननु पूर्वसूत्रे 'तृजकाभ्याम्' इति समस्तपदोपादानात् कथमिहाकस्यैवानुवृत्तिः, न तु तृच इत्यत

भुवनविधातुश्च कलहः' (घड़ों को बनाने वाले कुम्हार (प्रजापति) एवं तीनों भुवनों को बनाने वाले ब्रह्मा (प्रजापति) में कलह कैसा) में (त्रिभुवनस्य विधातुः>त्रिभुवनविधातुः) 'त्रिभुवनस्य' के साथ 'विधातुः' का "शेषे" षष्ठी होकर समास किया गया है। यहाँ पर कारक-षष्ठी नहीं है, अतः यह निषेध का विषय नहीं है। न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि ने 'तृन्' प्रत्यय की कल्पना कर 'विधातुः' में समास-विधान का संकेत किया है।[1]

(७१०) पद—कर्तरि, च। **अनुवृत्ति**—अक, न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ—कर्ता में (विहित) षष्ठी का अक-प्रत्ययान्त के साथ समास नहीं होता। **उदा०** भवतः शायिका। यहाँ 'तृच्' की अनुवृत्ति नहीं आती। उसके योग में कर्ता के उक्त होने से कर्त्रर्थक षष्ठी नहीं रहती।

विवरण—षष्ठी-समास का निषेध किया जारहा है। अतः 'न', 'षष्ठी', 'कर्तरि' तथा 'अक' (पूर्वसूत्र से)—ये चार प्रमुख अनुवृत्त पद हैं। इनको अभिलक्षित कर अधिकारजन्य पदों के साथ एकवाक्यता करते हुए प्रकृत सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि "कर्ता के अर्थ में विहित षष्ठी भी 'अक' प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समस्यमान नहीं होती"। 'अक' स्वयं प्रत्यय नहीं है। 'ण्वुल्' के स्थान में होने वाला आदेश है। उसी का पूर्व सूत्र तथा इस सूत्र में ग्रहण है। **उदाहरण—भवतः शायिका** (शी+ण्वुल्[2] > अक,[3] शै[4]+अक+टाप्[5]> शाय्+अक+आ>शाय्+इ+क+आ)। 'शायिका' कृदन्त शब्द है। उसके योग में "कर्तृ-कर्मणोः कृति"-३-३-६५ से 'भवतः' में षष्ठी हुई है। अतः "षष्ठी"-२-२-८ से षष्ठी-समास प्राप्त था, किन्तु 'शायिका' में अक-प्रत्यय होने के कारण प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया। **अर्थ**—आपके सोने की बारी।

---

१. 'अत्र न्यासकारः—तृन्-समासोऽयम्। न च तत्र "न लोकेति" षष्ठी-निषेधः। प्रकृतसूत्रेऽनुवन्धनिर्देशेन तदनित्यत्वसिद्धेः'। व्या० सि० सु० पृ० ९९०।

२. "पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुल्" (३-३-१११)।

३. "युवोरनाकौ" वु = अक।

४. "अचो ञ्णिति" ई = ऐ।

५. "अजाद्यतष्टाप् (४-१-४)। "प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" (७-३-४४)—अ = इ।

अभावात् । (७११) नित्यं क्रीडाजीविकयोः २ । २ । १७ ॥ एतयोरर्थयोरकेन नित्यं षष्ठी समस्यते । उद्दालकपुष्पभञ्जिका । क्रीडाविशेषस्य संज्ञा । 'संज्ञायाम्' (सू ३२८६) इति भावे ण्वुल्[1] । जीविकायां दन्तलेखकः । तत्र क्रीडायां विकल्पे जीविकायां 'तृजकाभ्यां

आह—नेहेति । तद्योगे इति । तृचः कर्तरि विहितत्वेन 'स्रष्टा कृष्ण' इत्यादौ कर्तुः कृताभिहिततया तत्र कर्तरि षष्ठ्या एवाप्रसक्त्या तत्समासनिषेधस्य शशशृङ्गेण कण्डूयनं न कर्तव्यमितिवदसम्भवपराहतत्वादित्यर्थः ।

(७११) नित्यं क्रीडाजीविकयोः । उद्दालकपुष्पभञ्जिकेति । उद्दालकः श्लेष्मातकः, तस्य पुष्पाणि, तेषां भञ्जनमित्यस्वपदविग्रहः । **संज्ञायामिति** । 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारे 'संज्ञायाम्' इति भावे ण्वुलित्यर्थः । अत्र कर्मणि षष्ठ्याः समासः । वस्तुवस्तु 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारे 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्' इति भावे ण्वुलित्येव युक्तम् । 'संज्ञायाम्' इति तु अधिकरणार्थमिति कृदन्ते वक्ष्यते । तथा सति उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायामिति विग्रहः । **जीविकायामिति** । उदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः । **दन्तलेखक इति** । दन्तानां लेखनेन जीवतीत्यस्वपदविग्रहः । लिखेः कर्तरि ण्वुल् । अकादेशः । जीविका समासगम्या ।

शङ्का-निवारण—यहाँ 'अक' के साथ 'तृच्' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित नहीं है। कारण यह है कि 'तृच्' प्रत्यय 'कर्ता' के अर्थ में विधीयमान होने के फलस्वरूप 'कर्तृ'-रूप अर्थ स्वयम् उक्त हो जाता है। उसके योग में कर्त्रर्थक षष्ठी न होने के कारण 'षष्ठी' समास की प्राप्ति ही नहीं है, तो निषेध कैसा ?

(७११) पद—नित्यं, क्रीडाजीविकयोः। **अनुवृत्ति**—अक, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि (संज्ञा) सूत्र।**

मूलार्थ—इन दोनों अर्थ में 'अक' के साथ षष्ठ्यन्त का नित्य समास होता है। उदाहरण—उद्दालकपुष्पभञ्जिका। विशेष प्रकार के खेल का नाम। "संज्ञायाम्" (३-३-१०९) से भाव में ण्वुल् प्रत्यय। जीविका अर्थ में—दन्तलेखकः। क्रीडा अर्थ में विकल्प तथा जीविका अर्थ में "तृजकाभ्यां कर्तरि (७०९) निषेध प्राप्ति के बाधार्थ यह सूत्र है।

विवरण—समास-निषेध-प्रकरण समाप्त होकर पुनः **समास-विधान** की व्यवस्था की जारही है। तदनुसार पूर्व-सूत्र से सम्बद्ध 'क्रीडा' और 'जीविका' अर्थ में 'अक' प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त-सुबन्त का नित्य समास होता है। 'विभाषा' अधिकार की निवृत्ति होने के लिये सूत्र में 'नित्य' पद का प्रयोग सार्थक है। उसके फलस्वरूप पक्ष में विग्रहवाक्य नहीं होगा। क्रीडा अर्थ में **उदाहरण**—१-उद्दालकपुष्पभञ्जिका (उद्दालकों के पुष्प तोड़ने का कोई खेल)। इस अर्थ में उद्दालकस्य पुष्पाणि, तेषां भञ्जनम्—**अस्वपद** विग्रह। भञ्ज्+अक+टाप् > भञ्जक+आ > भञ्जिका, अ = इ) पुष्पाणां भञ्जिका > पुष्पभञ्जिका। उद्दालकस्य पुष्पभञ्जिका—उद्दालक+ङस्, पुष्पभञ्जिका+सु > उद्दालकपुष्पभञ्जिका—प्रकृतसूत्र से नित्य समास > उद्दालकपुष्पभञ्जिका+सु > **उद्दालकपुष्पभञ्जिका** (विभक्त्युत्पत्ति), लोप। २-जीविका अर्थ में-दन्तलेखकः (दाँत की कला-विशेष से जीविका चलाने वाला)। **अस्वपद विग्रह**—दन्तानां लेखनेन जीवति=लेखकः। दन्त+ङस्, लेखक+सु > दन्तलेखक (समास-प्रकृत सूत्र से) > दन्तलेखक+सु > दन्तलेखक+र् > दन्तलेखकः (पुनः विभक्त्युत्पत्ति, स् = र्, र् = :)।

---

१. भावे इत्युपलक्षणम्। अधिकरणे णुल्यपि बाधकाभावादिति मत्वा 'संज्ञायाम्' इति सूत्रे कृदन्ते मनोरमायाम्।

कर्तरि' (सू ७०९) इति निषेधे प्राप्ते वचनम्। (७१२) **पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २।२।१॥** अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वसङ्ख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकदेशिना किम्? पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरणे किम्? पूर्वश्छात्राणाम्। सर्वोऽप्येकदेशोऽह्ना समस्यते,

---

ननु 'षष्ठी' इति सूत्रेणैवात्र षष्ठीसमाससिद्धेः किमर्थमिदमित्यत आह—तत्रेति। तत्र तस्मिन् उदाहरणद्वये क्रीडाबोधके उद्दालकपुष्पभञ्जिकेत्यत्र विभाषाधिकारात् षष्ठीसमासनिषेधे प्राप्ते इदं सूत्रमारब्धमित्यर्थः।

(७१२) **पूर्वापर**। 'पूर्वापराधरोत्तरम्' इति समाहारद्वन्द्वात् प्रथमैकवचनम्। एकदेशशब्दः अवयवे रूढः। एकदेशः अस्यास्तीत्येकदेशी अवयवी, तेनेति लभ्यते। अधिकरणं द्रव्यम्। एकमधिकरणम् एकाधिकरणम्। एकत्वविशिष्टद्रव्ये वर्तमानेन अवयविवाचकसुबन्तेन पूर्वापराधरोत्तरशब्दाः सुबन्ताः समस्यन्ते, स तत्पुरुष इत्यर्थः। फलितमाह—**अवयविना सहेत्यादिना**। ननु पूर्वश्चासौ कायश्चेति कर्मधारयेणैव पूर्वकाय इत्यादि सिद्धम्। भक्त्या कायशब्दस्य कायावयववाचित्वेन सामानाधिकरण्योपपत्तेरित्यत आह—**षष्ठीसमासापवाद इति**। पूर्वं कायस्येति विग्रहे 'षष्ठी' इति सूत्रेण समासे सति षष्ठ्यन्तस्य समासविधौ प्रथमानिर्दिष्टत्वात् पूर्वनिपातः स्यात्। तन्निवृत्त्यर्थमिदं वचनमित्यर्थः। **पूर्वं कायस्येति**। अत्र पूर्वं कायस्येति विग्रहवाक्यम्। अर्धमिति गम्यम् विशेष्याभिप्रायं नपुंसकत्वम्। 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति निर्देशादवयववृत्तिदिक्शब्दयोगे पञ्चम्यभावात् षष्ठी। **पूर्वकाय इति**। पूर्वशब्दस्य समासविधौ प्रथमानिर्दिष्टत्वात् पूर्वनिपातः। 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंस्त्वमिति भावः। 'यत्र उत्सर्गापवादौ महाविभाषया विकल्प्येते तत्रापवादेन मुक्ते पुनरुत्सर्गो न प्रवर्तते इति' 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यत्रोक्तम्। ततश्च एकदेशिसमासाभावे षष्ठीसमासो न भवति। **अपरकाय इति**। अपरं कायस्येति विग्रहः। अधरकायः। उत्तरकायः। **एकदेशिना किमिति**। एकद्रव्यवाचिना पूर्वादयः समस्यन्त इत्येवास्त्वित्यर्थः। **पूर्वं नाभेः कायस्येति**। अत्र नाभेरिति पूर्वशब्देऽन्वेति। दिग्योगे पञ्चमी। नाभ्यपेक्षया यत् पूर्वमर्धं तत् कायावयवभूतमित्यर्थः। अत्र नाभिशब्दस्य नाभ्यपेक्षया पूर्वांशेऽन्वयः। अत्र पूर्वस्यांशस्य नाभिरवधिरेव, न त्ववयवी। अतो नाभिशब्देन पूर्वशब्दस्य समासो न भवतीत्यर्थः। **पूर्वश्छात्राणामिति**। अत्र छात्रशब्दः छात्रसमुदायपरः। उद्भूतावयव-

---

विशेष—यद्यपि इन दोनों उदाहरणों में "षष्ठी" (२-२-८) सूत्र से समास प्राप्त था ही, तथापि इस सूत्र की सार्थकता इस बात में निहित है कि (१) 'क्रीडा'-अर्थ में नित्य-समास ही हो—पक्ष में 'विभाषा' अधिकार के फलस्वरूप विग्रह-वाक्य न रहे, तथा (२) 'जीविका' अर्थ में षष्ठी-समास का "तृजकाभ्यां कर्तरि" (२-२-१५) से प्राप्त निषेध का बाध होकर वहाँ भी समास हो जाय।

(७१२) **पद**—पूर्वापराधरोत्तरम्, एकदेशिना, एकाधिकरणे। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—यदि अवयवी एकत्व-संज्ञा-विशिष्ट हो तो उसके साथ पूर्व आदि शब्दों का समास हो। 'षष्ठी' समास का अपवाद है। **उदाहरण**—(१) पूर्वं कायस्य > पूर्वकायः। (२) अपरकायः। एकदेशिना क्यों कहा? पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरणे क्यों कहा? पूर्वश्छात्रा-

'संख्याविसाय'—(सू २३८) इति ज्ञापकात्[1]। मध्याह्नः। सायाह्नः। केचित्तु—सर्व एकादेशः कालेन समस्यते न त्वह्नैव, ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वात्। तेन मध्यरात्रः,

---

समुदायापेक्षं बहुवचनम्। अवयवावयविभावसम्बन्धे षष्ठी। छात्रसमुदायस्य पूर्वमर्धमित्यर्थः। अत्र छात्रसमुदायस्य एकत्वेऽपि उद्भूतावयवकतया बहुत्वादेकत्वसङ्ख्यावैशिष्ट्याभावान्न समास इति भावः। ननु अह्नो मध्यं मध्याह्नमित्यत्र कथमेकदेशिसमासः। मध्यशब्दस्य पूर्वादिष्वनन्तर्भावादित्यत आह—**सर्वोऽप्येकदेश इति**। पूर्वादिभिन्नोऽपीत्यर्थः। **ज्ञापकादिति**। 'तत्पुरुषस्य' इति 'अहस्सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च' इति च प्रकृते, 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' इत्येकदेशवाचकात् परस्य अहन्शब्दस्य अह्नादेशो विधीयते। ततश्चाह्नः साय इति विग्रहे अवयविवृत्तिना अहन्शब्देन षष्ठ्यन्तेन अवयववृत्तिसायशब्दस्य तत्पुरुषसमासे सति प्रथमानिर्दिष्टत्वात् सायशब्दस्य पूर्वनिपाते सति एकदेशवृत्तिसायशब्दात् परस्य अहन्शब्दस्य अह्नादेशे 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे सायाह्न इति भवति। तस्मात् सप्तम्येकवचने परे 'सङ्ख्याविसाय' इति सायशब्दपूर्वकस्य अह्नशब्दस्य अहन्नादेशविकल्प उक्तः। सायाह्नि सायाहनि सायाह्ने इत्युदाहरणम्। तत्र अह्नः साय इति विग्रहे यदि सायशब्दस्य पूर्वाद्यप्रविष्टत्वादहन्शब्देन समासो न स्यात्, तदा 'षष्ठी' इति सूत्रेण अहन्शब्दस्य षष्ठ्यन्तस्य सायशब्देन समासे सति षष्ठ्यन्तस्यैव समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वात् पूर्वनिपाते सति सायशब्दात् परस्याह्नशब्दस्य अहन्नादेशविधानं निर्विषयं स्यात्। अतः 'सर्वोऽप्येकदेशोऽह्ना समस्यते' इति विज्ञाप्यते इत्यर्थः। **मध्याह्न इति**। अह्नो मध्यमिति विग्रहे अयं समासः। 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति टच्। 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः'

णाम्। सभी एकदेश 'अहन्' शब्द के साथ समस्यमान होता है। इसमें ज्ञापक "संख्याविसाय०" ६-३-११० सूत्र है। (१) मध्याह्नः (२) सायाह्नः। ज्ञापक सामान्यापेक्ष होने से कुछ विद्वानों के मत में सब एकदेशों (अवयववाचक शब्दों) का कालवाचकों के साथ समास होता है, न कि केवल अहन् शब्द के साथ। इस से मध्यरात्रः, पश्चिमरात्रगोचरः आदि रूप सिद्ध होते हैं।

विवरण—प्रसङ्गवश षष्ठी-समास के बाधक स्थलों का निदर्शन किया जारहा है। एकदेश शब्द अवयवार्थक है तथा एकदेशी समुदायार्थक (अवयवी) है। तदनुसार "पूर्व, अपर, अधर, उत्तर, (पूर्वं च, अपरं च, अधरं च, उत्तरं च तत्—पूर्वापराधरोत्तरम्) अवयववाची शब्द एकद्रव्यवाची=एकवस्तुवाची के ही अवयव होने पर (एकं च तद् अधिकरणं च एकाधिकरणम्, तस्मिन्) अवयवी (एकदेशिवाचक) के साथ समस्यमान होते हैं, यदि समुदाय (एकदेशी) और अवयव (एकदेश) इन दोनों की स्थिति एक ही पदार्थ (द्रव्य) में विद्यमान रहे तभी यह सम्भव होगा"। **उदाहरण**—(१) पूर्वं कायस्य (शरीर का पूर्व भाग)। **विग्रह**—काय+ङस्, पूर्व+सु > काय-पूर्व (प्रकृत सूत्र से समास, 'षष्ठी' सूत्र से प्राप्त समास का बाध होने से 'काय' शब्द का पूर्व-निपात नहीं हुआ, किन्तु 'पूर्व' शब्द के समास होने से उसका पूर्वनिपात) >काय-पूर्व+सु (विभक्ति—पुंलिङ्ग, नियम—"परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः")> कायपूर्व+र् (स् = र्) >**कायपूर्वः** (र् = :)। (२) अपरकायः (शरीर का दूसरा भाग)→**लौकिक विग्रह**—अपरं कायस्य → **अलौकिक विग्रह**—काय+ङस्, अपर+सु > अपर-काय (समास आदि पूर्ववत) >**अपरकायः** (स् = र् = :)। इसी प्रकार (३) अधरकायः (शरीर का निम्न भाग) →अधरं कायस्य (काय+ङस् अधर+सु) >अधर-काय>(समासादि कार्य) >**अधरकायः**

---

१. अन्यथा अह्नस्य सायपूर्वत्वं न स्यादिति भावः।

'उपरताः पश्चिमरात्रगोचरात्' इत्यादि सिद्धमित्याहुः । **(७१३) अर्धं नपुंसकम् २ । २ । २ ॥ समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत् । 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्त-**

इत्यह्लादेशः । **सायाह्न इति** । अह्नः साय इति विग्रहः मध्याह्नवत् । ननु 'सर्वोऽप्येकदेशः कालेन समस्यते' इत्युक्तम्, 'सङ्ख्याविसाय' इति सूत्रे अहन्शब्दस्यैवोपात्ततया तदितर-कालवाचिना सर्वस्यैकदेशस्य समासज्ञापनानुपपत्तेरित्यत आह—**ज्ञापकस्येति** । अहन्-शब्देन सह सायशब्दस्य एकदेशिसमासं सिद्धवत्कृत्य सायशब्दादह्नशब्दोपादानात् सर्वेणापि अवयविवृत्तिकालवाचिना सर्वस्यैकदेशस्य समासो ज्ञाप्यते, ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षतत्वात् न त्वहन्शब्देन सायशब्दस्यैव पूर्वाद्यप्रविष्टत्वेऽपि समासो ज्ञाप्यत इति भावः । **मध्यरात्र इति** । रात्रेर्मध्यमित्यर्थः । **पश्चिमरात्रेति** । रात्रेः पश्चिममिति विग्रहः । 'अहस्सर्वैकदेश' इत्यच्समासान्तः ।

(७१३) अर्धं नपुंसकम् । अर्धमिति नपुंसकलिङ्गनिर्देशादेव नपुंसकत्वे लब्धे पुनर्नपुंसकग्रहणं नित्यनपुंसकलिङ्गस्य ग्रहणमित्यभिप्रेत्याह—**समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीब**

(विभक्तिकार्य) । (४) उत्तरकायः (शरीर का उत्तरभाग) । विग्रह—उत्तरं कायस्य । काय+ ङस्, उत्तर+सु > **उत्तरकायः** (समासादि तथा पुनर्विभक्त्युत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत्) ।
प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'एकदेशिना' पद का समावेश करने से अवयवी (समुदायात्मक वस्तु) का पूर्व आदि शब्दों के साथ समास-विधान किये जाने के कारण 'पूर्वं नाभेः कायस्य' में 'काय' शब्द के साथ 'पूर्व' शब्द का समास नहीं हुआ । यहाँ 'पूर्व' शब्द 'नाभि' (अवधिभूत अवयवय-वाचक शब्द) के पूर्वभाग का द्योतक है न कि 'काय' (अवयवी) शब्द का । (२) सूत्र में 'एकाधिकरणे' पद का समावेश होने के कारण अवयव का समष्टिगत एकरूप में बोध अपेक्षित होने से 'पूर्वश्छात्राणाम्' (छात्र-समुदाय का पहला = आधा भाग) में भी समास नहीं हुआ । कारण यह है कि समुदाय-वाची छात्रों की संज्ञा अनेक रूप में है न कि एक रूप में ।

विशेष—(१) 'अहन्' शब्द के साथ केवल उपर्युक्त 'पूर्व' आदि अवयव-वाची शब्दों का समास हो—ऐसी बात नहीं है । किन्तु सभी अवयववाचक शब्दों का 'अहन्' शब्द के साथ समास अपेक्षित है । इस ज्ञापन में पाणिनि का "संख्या-विसाय-पूर्वस्या-हस्याऽहनन्यतरस्यां ङौ" (६-३-११०) सूत्र प्रमाण है । इस सूत्र में 'सायाह्न' (साय+अहन्) शब्द से सप्तमी-विभक्ति के एकवचन में 'अहन्' आदेश विकल्प से होता है । 'सायाह्न' (सायंकाल) शब्द बिना समास के निष्पन्न नहीं हो सकता, अतः 'अहन्' शब्द के साथ कोई भी अवयव-वाची शब्द समस्यमान होता है । इसी तरह 'मध्याह्नः' (दोपहर)→ अह्नः मध्यम् →मध्य+सु, अहन्+ङस् > मध्याहन्> मध्याहन्+टच्+सु>**मध्याह्नः** ("अह्नोह्न एतेभ्यः"–अह्न, विभक्तिकार्य)—(२) उपर्युक्त ज्ञापक को और व्यापक बनाया जारहा है । तदनुसार कोई भी अवयवाचक शब्द कालवाची षष्ठ्यन्त शब्द के साथ समासयुक्त हो जाता है । जहाँ कोई बाधक न हो वहाँ ज्ञापक सर्वसुलभ होना अपेक्षित है—'असति बाधके सर्वसामान्यं ज्ञापकम्' । इसके फलस्वरूप (क) 'रात्रेः मध्यम्' → मध्यरात्रः (आधीरात) में समास होगया । समास होने के कारण समासान्त 'अच्' प्रत्यय मध्यरात्रि+अच् = मध्यरात्र—अकारान्त शब्द निष्पन्न हुआ है । (ख) इसी तरह रात्रेः पश्चिमम् → 'पश्चिमरात्रः' (रात के बारह बजे के बाद का समय) में भी समास सिद्ध हुआ । कौमुदीस्थ 'उपरताः पश्चिमरात्रगोचराः' वाक्य का यह उदाहरण है ।

स्मरणीय—एकदेशि-समास के अभाव में षष्ठी-समास नहीं होता ।

(७१३) पद—अर्धं, नपुंसकम् । **अनुवृत्ति**—एकदेशिनैकाधिकरणे, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

वचनम्' (वा ६७३)। एकदेशिसमासविषयकोऽयमुपसर्जनसंज्ञानिषेधः। तेन 'पञ्चखट्वी' इत्यादि सिध्यति। अर्धं पिप्पल्या अर्धपिप्पली। 'क्लीबे' किम्' ? ग्रामार्धः। द्रव्यैक्य एव।

इति। वर्तते इति शेषः। 'वा पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके' इति कोशादिति भावः। अंशसामान्यवाची अर्धशब्दः पुंसि वा नपुंसके वा भवति। समे त्वंशे अर्धशब्दो नपुंसकलिङ्ग एवेत्यर्थः। भाष्ये तु समप्रविभागे नपुंसकलिङ्गोऽर्धशब्दः। अंशसामान्यवाची तु पुंल्लिङ्ग इत्युक्तम्। **स प्राग्वदिति**। सः नित्यनपुंसकलिङ्गः अर्धशब्दः अवयविवाचिना समस्यत इत्यर्थः। अर्धशब्दस्य पूर्वाद्यन्तर्भावात् पूर्वेण न प्राप्तिः। ननु अर्धं पिप्पल्याः अर्धपिप्पलीत्युदाहरणं वक्ष्यति। तत्र अर्धं पिप्पल्याः अर्धपिप्पली, अर्धेन पिप्पल्याः अर्धपिप्पल्याः, अर्धाय पिप्पल्याः अर्धपिप्पल्यै, अर्धात्पिप्पल्याः अर्धपिप्पल्याः, अर्धस्य पिप्पल्याः अर्धपिप्पल्याः, अर्धे पिप्पल्याः अर्धपिप्पल्याम् इति विग्रहेषु पिप्पलीशब्दस्य नियतविभक्तिकतया 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्युपसर्जनत्वात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वः स्यादित्यत आह—**एकविभक्ताविति**। 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इति सूत्रे 'अषष्ठयन्तम्' इति वक्तव्यमित्यर्थः। ततश्च पिप्पलीशब्दस्य षष्ठ्यन्तत्वान्नोपसर्जनत्वमिति न ह्रस्व इत्यर्थः। नन्वेवं सति पञ्चानां खट्वानां समाहारः, समाहारं, समाहारेणेत्यादिविग्रहेषु खट्वाशब्दस्य

मूलार्थ—नित्य नपुंसक लिङ्ग में वर्तमान समासवाचक 'अर्ध' का (अवयवि–वाचक के साथ) पूर्ववत् समास हो। उदा० अर्धं पिप्पल्याः > अर्धपिप्पली। वा० "एक विभक्तौ" सूत्र में अषष्ठ्यन्त ग्रहण करना चाहिये। यह उपसर्जन-संज्ञा-निषेध एकदेशि-समास-विषयक है। अतः 'पञ्चखट्वी' आदि रूपसिद्ध होते हैं। सूत्र में 'क्लीबे' पद क्यों रखा ? ग्रामार्धम् (में समास न हो)। अवयवी के एक होने पर ही हो। (अतः) अर्धं पिप्पलीनाम् (में समास नहीं हुआ)।

विवरण—'अर्ध' शब्द अनेक लिङ्गों में प्रयुक्त होता है, किन्तु समान अंश–वाचक (दो बराबर टुकड़े) 'अर्ध' शब्द नित्य नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। पूर्व–सूत्र–विषयक एकाधिकरणवाची एकदेशी समास का विस्तार किया जारहा है। "समान-अंशवाचक नित्य नपुंसकलिङ्गमें वर्तमान 'अर्ध' शब्द का एकाधिकरणवाची एकदेशी (अवयवी) के साथ तत्पुरुष समास का विधान किया जारहा है।" यह भी षष्ठी–समास का अपवाद है। **उदाहरण**—अर्धपिप्पली (आधी पीपल)। **विग्रह-लौकिक**—अर्धं पिप्पल्याः → **अलौकिक विग्रह**—अर्ध+सु, पिप्पली +ङस्० > अर्धपिप्पली (प्रकृतसूत्र से समास, विभक्ति–लोप, 'अर्ध' शब्द का पूर्व-निपात) > अर्धपिप्पली +सु (पुनः विभक्ति, हल्-ङ्यादिलोप)।

शङ्का-समाधान—प्रकृत उदाहरण में "एकविभक्तिचाऽपूर्वनिपाते" १-२-४४ सूत्र से 'पिप्पली' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने पर उसकी पूर्व में स्थिति यद्यपि प्राप्त नहीं होती, तो भी उसे "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" १-२-४८ से ह्रस्व की प्राप्ति संभव है। कारण यह है कि विभिन्न विभक्तियों में विद्यमान 'अर्ध' शब्द के साथ 'पिप्पली' शब्द का समास होने पर 'पिप्पली' शब्द का समान रूप में विग्रह षष्ठी विभक्ति में ही प्रयोग होता है—(क) अर्धं पिप्पल्याः > अर्धपिप्पली। (ख) अर्धेन पिप्पल्याः > अर्धपिप्पल्या। (ग) अर्धाय पिप्पल्याः > अर्धपिप्पल्यै। (घ) अर्धात् पिप्पल्याः > अर्धपिप्पल्याः। (ङ) अर्धस्य पिप्पल्याः > अर्धपिप्पल्याः। (च) अर्धे पिप्पल्याः > अर्धपिप्पल्याम्। इस सम्भावना की निवृत्ति **वार्तिक** द्वारा की जारही है। तदनुसार "एकविभक्ति चापूर्वनिपाते" १-२-४४ सूत्र से प्राप्त उपसर्जन संज्ञा का निवारण कर 'पिप्पल्याः अर्धे' में पूर्व-निपात (पिप्पली शब्द) के प्रसंग का समाधान किया गया है। इसी के फलस्वरूप 'पञ्चानां खट्वानां समाहारः' → पञ्चखट्वी (पाँच खाटें) में टाप् नहीं हुआ। भाष्यकार ने "अपथं नपुंसकम्" (२-४-३०) सूत्र में यही उदाहरण उपर्युक्त

अर्धं पिप्पलीनाम्। (७१४) द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् २।२।३॥

नियतविभक्तिकत्वेऽपि षष्ठ्यन्तत्वादनुपसर्जनत्वात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वाभावे अदन्तत्वाभावेन 'द्विगोः' इति ङीबभावे पञ्चखट्वेति स्यात्, पञ्चखट्वीति न स्यादित्यत आह— **एकदेशिसमासविषयकोऽयमिति**। 'अपथं नपुंसकम्' इति सूत्रभाष्ये पञ्चखट्वीत्युदाहरणमत्र लिङ्गमिति भावः। **अर्धपिप्पलीति**। प्रथमानिर्दिष्टमित्यर्धशब्दस्योपसर्जनत्वात् पूर्वनिपातः। पिप्पलीशब्दस्य तु विग्रहे नियतविभक्तिकत्वेऽपि 'एकविभक्तौ' इति निषेधादुपसर्जनत्वाभावान्न ह्रस्व इति भावः। **ग्रामार्धं इति**। ग्रामस्यार्धं इति विग्रहः। ग्रामस्यांश इत्यर्थः। अर्धशब्दस्य समांशवाचित्वाभावेन नित्यनपुंसकत्वाभावान्नायं समासः, किन्तु 'षष्ठी' इत्येव समास इति षष्ठ्यन्तस्य पूर्वनिपातः। **द्रव्यैक्य एवेति**। एकाधिकरण इत्यनुवर्तत एवेत्यर्थः। **अर्धं पिप्पलीनामिति**। अत्र द्रव्यैक्याभावान्न समासः। सति समासे अर्धपिप्पलीत्येव स्यात्, विशेष्यैक्यात्। इदं सूत्रं 'परवल्लिङ्गम्' इति सूत्रभाष्ये प्रत्याख्यातम्[1]।

वार्तिक का ज्ञापक माना है। 'पञ्चखट्वी' में पञ्चानां खट्वानां समाहारः, समाहारं, समाहारेण इत्यादि विग्रह संभव होते हैं। यहाँ 'खट्वा' शब्द एक विभक्ति में (षष्ठी में) नियत है, अतः प्रकृत वार्तिक के सहकार से उपसर्जन संज्ञा की प्राप्ति न होने पर ह्रस्व (खट्वा के आकार को) के न होने से अकारान्त शब्द (खट्व) के अभाव में "द्विगोः" ४-१-२१ से ङीप् की संभावना नहीं होगी। इस हेतु प्रकृत वार्तिक द्वारा सूचित किये जाने वाले निषेध को सीमित कर दिया गया है। तदनुसार यह निषेध एकदेशिसमास में ही प्रवृत्त होगा। "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च"—२-१-५१ से विधीयमान समास के स्थलों पर प्रवृत्त नहीं होगा।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त 'अर्ध' शब्द की अपेक्षा होने से 'ग्रामस्य अर्धः' > ग्रामार्धः में 'अर्ध' शब्द पुंलिंग में प्रयुक्त होने के कारण उपर्युक्त सूत्र के क्षेत्र के बाहर है। अतः षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ।

विशेष—पूर्व सूत्र से 'एकाधिकरणे' की अनुवृत्ति होने के फलस्वरूप यहाँ भी अवयविवाचक शब्द की एकता विवक्षित है। अतः 'अर्धं पिप्पलीनाम्' में पिप्पलियों की अनेकता होने से इस सूत्र से समास नहीं होता। एकाधिकरण अर्थ की आकाङ्क्षा न रहने पर षष्ठी-तत्पुरुष समास होगा।

भाष्यकार ने इस सूत्र के न रहने पर भी 'अर्धपिप्पली' आदि उदाहरणों की सिद्धि कर्मधारय समास द्वारा संभावित मानी है। कारण यह है कि समुदाय में प्रयोग होने वाले शब्दों का अवयवों में भी प्रयोग होता है। अन्यथा अर्धाकारः (आधा आकार), अर्धोक्तम् (आधा कथन) आदि शब्दों में 'अर्ध' शब्दार्थ केवल समविभाग होने से समास की प्रसक्ति कैसे संभव होगी? प्रकृत विषय का विचार "अपथं नपुंसकम्" २-४-३० सूत्र के भाष्य में वर्णित है[2]।

---

१. तद्यथा—अर्धं पिप्पलीति हि कर्मधारयेण सिद्धम्। 'समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इति न्यायात्। अन्यथा अर्धाकारः अर्धजरतीयम्, अर्धोक्तम्, अर्धविलोकितमित्यादौ समविभागविरहादनिर्वाहात्।

१. तत्र हि "वाऽऽबन्तः" इत्युक्तवता भाष्यकारेण आबन्त-स्त्रीलिङ्गशब्दानां द्विगौ स्त्रीत्वस्य वैकल्पिकत्वं प्रतिपादितम्। अन्यथा अकारान्तोत्तरपदस्य द्विगोः स्त्रीत्वस्य नित्यत्वेन केवलं ङीबन्तं रूपमेव सम्पद्येत। कैयटस्त्वेवमाह—'पञ्चखट्वीत्यत्र टापः उपसर्जनह्रस्वत्वे कृते द्विगोरिति ङीप्। यदा तु समूहोऽभिधेयस्तदा तु उपसर्जनह्रस्वत्वं सिध्यति न तु समाह्रियमाणाभिधेये इति तत्रैव सूत्रे उक्तम्। पञ्चखट्वमित्यत्र तु असति उपसर्जनत्वे नपुंसकह्रस्वत्वं सिध्यति। उपसर्जनत्वे तु परत्वात् तदाश्रयं ह्रस्वत्वम्"। म० भा० २-४-३०।

एतान्येकदेशिना सह प्राग्वद्वा । द्वितीयं भिक्षाया द्वितीयभिक्षा । 'एकदेशिना' किम् ? द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य । अन्यतरस्यांग्रहणसामर्थ्यात् 'पूरणगुण—' (सू ७०५) इति

---

(७१४) द्वितीयतृतीय । द्वितीयं भिक्षाया इति । विग्रहोऽयम् । भिक्षाया द्वितीयमर्धमित्यर्थः । द्वितीयभिक्षेति । द्वितीयशब्दस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात् पूर्वनिपातः । 'परवल्लिङ्गम्' इति स्त्रीत्वम् । द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्येति । भिक्षाया द्वितीयं भागं भिक्षुकस्येत्यन्वयः । भिक्षाया इत्यवयवषष्ठी द्वितीयमित्यत्रान्वेति । द्वितीयमित्येतत्तु भिक्षुकस्येत्यत्र कर्मत्वेनान्वेति । 'न लोक' इति निषेधान्न षष्ठी । अत्र द्वितीयमित्यस्य भिक्षुकस्येत्यनेन समासो न भवति, द्वितीयं प्रति भिक्षुकस्य एकदेशित्वाभावादित्यर्थः । ननु विभाषाधिकारेण विकल्पे सिद्धे अन्यतरस्यां ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—अन्यतरस्यामिति । अन्यतरस्यां ग्रहणसामर्थ्यात् पक्षे षष्ठीसमास इत्यन्वयः । अन्यथा षष्ठ्यपवादभूतेनानेन समासेन मुक्ते उत्सर्गो न प्रवर्तेत । महाविभाषाधकारे 'अपवादेन मुक्ते उत्सर्गो न प्रवर्तते' इति 'पारे

---

(७१४) पद—द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्याणि, अन्यतरस्याम् । अनुवृत्ति—एकदेशिनैकाधिकरणे, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।

सूत्रार्थ—इनका एकदेशी-शब्दों के साथ पूर्ववत् समास विकल्प से हो। उदाहरण—द्वितीयं भिक्षायाः > द्वितीयभिक्षा । एकदेशिना क्यों कहा ? द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य । (सूत्र में) 'अन्यतरस्यां' पद के सामर्थ्य से "पूरणगुण०" ७०५—द्वारा प्राप्त निषेध का बाध कर पक्ष में षष्ठी समास होगा—भिक्षाद्वितीयम् ।

विवरण—एकदेशि-समास का प्रकरण चल रहा है। अतः प्रधान रूप में २-२-१ सूत्र से उसकी अनुवृत्ति अपेक्षित है । अधिकारगत 'समासः' 'तत्पुरुषः' आदि यथाप्राप्त उपर्युक्त पद भी अनुवृत्त होकर सूत्रार्थ को सम्पन्न करते हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "एकाधिकरण गम्यमान होने पर—द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा तुर्य—ये सुबन्त (द्वितीयं च, तृतीयं च, चतुर्थं च, तुर्यं च—इतरेतर-द्वन्द्व) शब्द एकदेशिवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, साथ ही तत्पुरुष-संज्ञक भी होते हैं" । यह सूत्र भी "षष्ठी"-समास का अपवाद है । यहाँ विभाषा का अधिकार होने के फलस्वरूप पक्ष में विग्रह-वाक्य भी रहेगा । इसके अतिरिक्त 'अन्यतरस्याम्' का निवेश होने से "पूरणगुण०" ७०५ से प्राप्त 'षष्ठी'-समास-निषेध को बाधकर षष्ठी-समास भी होगा । षष्ठी-समास होने पर षष्ठ्यन्त शब्द की उपसर्जन-संज्ञा होने से उसकी पूर्व-स्थिति रहेगी ।

उदाहरण—(१) द्वितीयभिक्षा (भिक्षा का दूसरा भाग) । लौकिक विग्रह → द्वितीयं भिक्षायाः । अलौकिक विग्रह—द्वितीय+सु, भिक्षा+ङस् > द्वितीय-भिक्षा ('द्वितीय' का एकदेशि-वाची 'भिक्षा' के साथ समास) > द्वितीयभिक्षा+सु > द्वितीय-भिक्षा (पुनः विभक्त्युत्पत्ति, हल्ङ्यादि-लोप) । (२) तृतीयं भिक्षायाः > तृतीय-भिक्षा (भिक्षा का तीसरा भाग) । (३) चतुर्थं भिक्षायाः > चतुर्थभिक्षा (भिक्षा का चौथा भाग) । (४) तुर्यं भिक्षायाः > तुर्यभिक्षा (भिक्षा का चौथा भाग) । प्रकृत सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट होने के कारण इन चारों उदाहरणों में क्रमशः द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा तुर्य शब्दों का नियमानुसार पूर्वनिपात हुआ है । इसके अतिरिक्त तत्पुरुष-समास में उत्तर-पदस्थ भिक्षा शब्द के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में ये शब्द प्रयुक्त हैं । पक्ष में—षष्ठी-समास होने पर (१) भिक्षाद्वितीयम्, (२) भिक्षातृतीयम्, (३) भिक्षाचतुर्थम्, (४) भिक्षातुर्यम्—शब्द भी प्रयुक्त होंगे । प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'एकदेशिना' पद की अनुवृत्ति न करने पर 'द्वितीयं भिक्षायाः भिक्षुकस्य' वाक्यस्थ 'द्वितीय' पद के साथ 'भिक्षुकस्य' का समास संभावित होजाता है । वस्तुतः वाक्यस्थ

निषेधं बाधित्वा पक्षे षष्ठीसमासः। भिक्षाद्वितीयम्। (७१५) प्राप्तापन्ने च द्वितीयया २।२।४॥ पक्षे 'द्वितीया श्रित—' (सू ६८६) इति समासः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः—जीविकाप्राप्तः। आपन्नजीविकः—जीविकापन्नः। इह सूत्रे 'द्वितीयया अ' इति छित्वा अकारोऽपि विधीयते। तेन जीविकां प्राप्ता स्त्री प्राप्तजीविका। आपन्नजीविका।

मध्ये षष्ठ्या वा' इति वाग्रहणेन ज्ञापितत्वादिति भावः। ननु 'पूरणगुण' इति निषेधात् कथमिह षष्ठीसमास इत्यत आह—**पूरणगुणेति निषेधं बाधित्वेति**। अन्यथा अन्यतरस्यां ग्रहणवैयर्थ्यादिति भावः। **इत्येकदेशिसमासनिरूपणम्।**

(७१५) प्राप्तापन्ने च द्वितीयया। प्राप्त-आपन्न एतौ शब्दौ द्वितीयान्तेन समस्येते इत्यर्थः। चकारो द्वितीयासमाससमुच्चयार्थः। तदाह—**पक्ष इति**। वस्तुतस्तु 'द्वितीया श्रित' इति सूत्रे 'प्राप्तापन्नशब्दाभ्यां द्वितीयायाः समासविधानमपि निरवकाशमेव इति तत्समुच्चयस्य सिद्धत्वात् 'चकारो न तत्समुच्चयार्थः' इति भाष्ये स्थितम्। तत्र प्रकृत-सूत्रेण समासे प्राप्तापन्नयोः पूर्वनिपातः। 'द्वितीया श्रित' इति समासे तु द्वितीयान्तस्य

'भाग' शब्द का 'द्वितीयं' शब्द के साथ अन्वय है और उसका अर्थ है—भिक्षुक की भिक्षा का दूसरा भाग। अतः 'एकदेशिना' पद के रहने पर 'द्वितीय' शब्द का 'भिक्षुक' शब्द के साथ समास नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'द्वितीय' शब्द का 'भिक्षा' शब्द के साथ भी समास नहीं हुआ, क्योंकि 'भिक्षा' अवयवी-वाचक नहीं है। 'भिक्षायाः'—षष्ठी विभक्ति अवयवार्थक है। इसका अन्वय 'द्वितीयम्' के साथ है। 'द्वितीयं' का अन्वय कर्मरूप से 'भिक्षुकस्य' पद के साथ होता है। "न लोकाव्यय०" ६२७-सूत्र से षष्ठी का बाध होने के कारण "द्वितीयम्" में द्वितीया विभक्ति होती है।

(७१५) पद—प्राप्तापन्ने, च, द्वितीयया। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—(प्राप्त और आपन्न शब्द द्वितीयान्त के साथ विकल्प से समासयुक्त हों) पक्ष में "द्वितीयाश्रित०"—६८६ से समास होगा। उदा० प्राप्तः जीविकां > प्राप्तजीविकः, जीविका-प्राप्तः। आपन्नजीविकः, जीविकापन्नः। इस सूत्र में 'द्वितीयया+अ' इस प्रकार खण्ड कर 'अकार' का भी विधान है। तब जीविकां प्राप्ता स्त्री > प्राप्तजीविका तथा आपन्नजीविका (रूप निष्पन्न होते हैं)।

विवरण—एकाधिकरण का प्रकरण समाप्त हो गया। षष्ठी के अपवाद में प्रसङ्गवश द्वितीया-तत्पुरुष-समास के बाधक स्थल को प्रस्तुत किया जारहा है। प्रमुख अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से "अन्य-तरस्याम्" आरही है। अन्य पदों की अनुवृत्ति अधिकार-वश स्वतः सिद्ध है। अतः सूत्र से यह निष्कर्ष निकला कि "प्राप्त तथा आपन्न (प्राप्तश्च आपन्नं च प्राप्तापन्ने) शब्द भी (च) द्वितीयान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समस्यमान होते हैं और वे तत्पुरुष-संज्ञक भी हों"। **उदाहरण**—(१) प्राप्तजीविकः (जीविका को प्राप्त किया)। **लौकिक विग्रह**—प्राप्तः जीविकाम्। **अलौकिक विग्रह**—प्राप्त+सु, जीविका+अम् >प्राप्त-जीविका ('प्राप्त' का 'जीविका' के साथ समास) > प्राप्तजीविक ("एकविभक्ति चापूर्वनिपाते"—१-२-४४ से 'जीविका' की उपसर्जन-संज्ञा किन्तु पूर्व-निपात नहीं, "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य"-१-२-४८ से ह्रस्व) > प्राप्तजीविक+सु (पुनः विभक्ति) >**प्राप्तजीविकः** (स् = र् = :)। (२) आपन्नजीविकः (जीविका को प्राप्त)। **विग्रह**—आपन्नः जीविकाम्। आपन्न+सु, जीविका+अम् > आपन्न-जीविक (समासादि पूर्ववत्) > **आपन्नजीविकः** (विभक्ति-कार्य)। पक्ष में क्रमशः (१) **जीविकाप्राप्तः** तथा

(७१६) कालाः परिमाणिना २ । २ । ५ ॥ परिच्छेद्यवाचिना सुबन्तेन सह कालाः समस्यन्ते । मासो जातस्य मासजातः[1] । द्व्यहजातः । द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः । द्व्यहो जातस्य यस्य स इति विग्रहः । उत्तरपदेन परिमाणिना द्विगोः सिद्धये बहूनां तत्पुरुष-

---

पूर्वनिपातः । तदाह—**प्राप्तजीविक इत्यादि** । अथ जीविकां प्राप्ता स्त्री, जीविकामापन्ना स्त्रीति विग्रहे प्रकृतसूत्रेण समासे सति पूर्वपरयोरकारमन्तादेशं साधयितुमाह—**इह सूत्र इति । अकारोऽपीति** । प्राप्तापन्ने द्वितीयया समस्येते । तयोरकारोऽन्तादेशश्चेत्यर्थलाभादिति भावः । **तेनेति** । प्राप्तापन्नयोराकारस्यान्तस्य स्थाने अकारविधानेनेत्यर्थः ।

(७१६) कालाः परिमाणिना । परिमाणिपदं व्याचष्टे—**परिच्छेद्यवाचिनेति** । काला इति बहुवचनात् कालविशेषवाचका इत्यर्थः । **मासो जातस्य मासजात इति** । अत्र विग्रहे मासः प्रधानम् । समासे तु जातः प्रधानम् । मासजातो दृश्यतामित्यादौ जातस्यैव दर्शन-कर्मत्वादिप्रतीतेः । विशेषणविशेष्यभावस्तु एकार्थीभावसम्बन्धसाध्यः । एतदेवाभिप्रेत्य मूले क्वचित् पुस्तके मासो जातस्य यस्य स इति पठितम् । तत्र विग्रहे जातस्येति परिच्छे-द्यपरिच्छेदकभावे षष्ठी । जातपरिच्छेदको मास इति विग्रहवाक्ये बोधः । मासपरिच्छेद्यो जात इति समासाद् बोधः । तत्र मासस्तावत् जननं साक्षात् परिच्छिनत्ति । जननाश्रयं तु देवदत्तं जननद्वारा परिच्छिनत्ति । तथा च मासपरिच्छेद्यजननाश्रयो देवदत्त इति समासाद् बोधः फलति । षष्ठीसमासापवादोऽयम् । षष्ठीसमासे तु जातमास इति स्यात् ।

---

(२) **जीविकापन्नः**—"द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः" (सू० सं० ६८६) से द्वितीया-तत्पुरुष में द्वितीयान्त-पद 'जीविकाम्' की पूर्व-स्थिति रहेगी ।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र के विधेयांश में कुछ विस्तार किया गया है । तदनुसार 'द्वितीयया' पद दीर्घसन्धिजन्य ('द्वितीयया+अ' का रूपान्तर माना गया है । दीर्घान्त (स्त्रीप्रत्ययान्त) 'प्राप्ता' एवम् 'आपन्ना' शब्दों के आकार को अकार भी होता है । इसके फलस्वरूप जीविकां+ प्राप्ता > प्राप्त-जीविका, एवं जीविकाम्+आपन्ना > आपन्नजीविका—इन दोनों उदाहरणों में 'आ' = 'अ' होकर समास हो गया । अन्यथा 'प्राप्ता' तथा 'आपन्ना' ह्रस्व-अकारान्त नहीं हो पाते, क्योंकि ये—दोनों यहाँ पर 'उपसर्जन' नहीं हैं । पक्ष में द्वितीया-समास होने पर क्रमशः जीविकाप्राप्ता तथा जीविकापन्ना रूप होंगे ।

(२) भाष्यकार ने सूत्रस्थ 'च' शब्द से 'आ' के स्थान पर 'अ' होने की कल्पना की है,[2] न कि पदच्छेद द्वारा ।

(७१६) पद—कालाः, परिमाणिना । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—परिच्छेद्यवाची सुबन्त के साथ कालवाचक शब्दों का समास हो । उदा० मासो जातस्य > मासजातः । द्व्यहजातः । दो दिनों का समाहार = द्व्यहः । विग्रह—द्व्यहः जातस्य (यस्य सः) । वा० परिमाणवाचक उत्तरपद के साथ द्विगु समास की सिद्धि के लिये अनेक

---

१. एकत्वं चात्र मासस्य गम्यते शब्दस्वाभाव्यात्, द्वित्वादि-संख्यायाः सापेक्षत्वात् । अत एव हरिणा वाक्यपदीये उक्तम्—

शौर्पिके मासजाते च परिमाणे स्वभावतः । उपाधिभूतमाश्रित्य संख्याभेदेन वर्तते ॥ इति ॥

२. "एवं तर्हि नायमनुकर्षणार्थश्चकारः । किं तर्ह्यत्वमनेन विधीयते । प्राप्तापन्ने द्वितीयान्तेन समस्येते, अत्वं च भवति प्राप्तापन्नयोरिति" । —म० भा० २-२-४ ।

स्योपसङ्ख्यानम्' (वा १२८८) । द्वे अहनी जातस्य यस्य स द्व्यह्नजातः । 'अह्नोऽह्नः—' (सू ७९०) इति वक्ष्यमाणोऽह्नादेशः । पूर्वत्र तु 'न सङ्ख्यादेः समाहारे' (सू ७९३)

न च मासो जातस्य यस्य सः मासजात इति बहुव्रीहिणैवैतत्सिद्धमिति वाच्यम् । समानाधिकरणानामेव बहुव्रीहिविधानात् 'निष्ठा' इति जातशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तेश्च । 'जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या' इति जातशब्दस्य परनिपातस्तु न । सुखादावस्य पाठकल्पनायां प्रमाणाभावादित्यलम् । **द्व्यह्नो जातस्येति** । 'तद्धितार्थ' इति समाहारे द्विगुः । 'राजाहस्सखिभ्यः' इति टच् । 'रात्राह्नाहाः' पुंसि' इति पुंस्त्वम् । **उत्तरपदेनेति** । 'तद्धितार्थ' इति सूत्रभाष्ये इदं वार्तिकं पठितम् । तेन हि सूत्रेण उत्तरपदे परे दिक्सङ्ख्ययोस्सुबन्तेन द्विगुसमासो विहितः । उत्तरशब्दश्च समासस्य चरमावयवे रूढः । ततश्च द्वे अहनी जातस्य यस्येति विग्रहे त्रयाणां समासे सति जातशब्दे उत्तरपदे सम्पन्ने पूर्वयोस्सुबन्तयोर्द्विगुसमासप्रवृत्तिर्वक्तव्या । स च समासस्त्रयाणां 'कालाः परिमाणिना' इति पूर्वसूत्रेण न सम्भवति । 'सुप्सुपा' इत्येकत्वस्य विवक्षितत्वात् । अतः उत्तरपदेन परिमाणिना परिच्छेद्यवाचिना परनिमित्तभूतेन हेतुना द्विगोस्सिद्धये बहूनां तत्पुरुषस्योपसङ्ख्यानं वक्तव्यमित्यर्थः । उत्तरपदभूतपरनिमित्तकद्विगुसिद्धये त्रिपदतत्पुरुषो वाच्य इति यावत् । 'सुप्सुपा' इत्येकत्वं विवक्षितमित्यत्र इदमेव लिङ्गम् । **द्वे अहनी इति** । द्वे अहनो जातस्येति विग्रहे त्रयाणां समासे सुब्लुकि द्व्यहन् जात इति जातशब्दे उत्तरपदे परे द्वि अहन्

पदों का तत्पुरुष समास किया जाय । उदा० द्वे अहनी जातस्य (यस्य सः) द्व्यह्नजातः । आगे आने वाले "अह्नोऽह्नः०" ५-४-८८ सूत्र से अहन् = अह्न आदेश । पहले उदाहरण में "न "सङ्ख्यादेः समाहारे" ६-४-८९ से 'अह्न' आदेश का निषेध है ।

विवरण—प्रकरणवश षष्ठी-समास का अपवादसूचक विधान है । आधिकारिक अनुवृत्तियों को परिलक्षित कर सूत्रार्थ निष्पन्न करने के लिए सूत्रस्थ पदों का स्पष्टीकरण आवश्यक है । तदनुसार सूत्रस्थ 'परिमाणिन्' शब्द परिच्छेद्यवाची अर्थात् इयत्ता का बोधक है, क्योंकि काल की निश्चित अवधि उसी के द्वारा सूचित होती है । यहाँ समस्यमान दोनों शब्द एक प्रकार से 'काल'-वाची ही हैं—यदि एक उसकी अवधि को सूचित करता है तो दूसरा उस अवधि को पूरा करने वाले समय-विशेष को द्योतित करेगा । यही परिच्छेदक-परिच्छेद्य-भाव (विशेषण-विशेष्यभाव) एकार्थीभावसम्बन्ध से सिद्ध होता है । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "परिमाणवाची काल-विशेष को सूचित करने वाले शब्द परिमाणि-वाची (काल के अवधि-सूचक) सुबन्त शब्दों के साथ विकल्प से समस्त होकर तत्पुरुषसंज्ञक हों" । **उदाहरण**—(१) मासजातः (एक महीने का पैदा हुआ) । **लौकिक विग्रह**—मासः जातस्य । **अलौकिक विग्रह**—मास+सु, जात+ङस् > मास-जात (अवधि-सूचक 'जात' शब्द का काल-विशेष-बोधक 'मास' के साथ समास तथा अन्य सामासिक कार्य) > मास-जात+सु > **मासजातः** (विभक्ति-सु = र् = :) । प्रकृत उदाहरण में विग्रह प्रदर्शन करते समय तो 'मासः' (= महीनाभर) का प्राधान्य सूचित होता है, किन्तु समास होने पर 'जातस्य' (= हो गया) की प्रधानता विदित होती है । 'मास' शब्द से उत्पन्न होने के निश्चित समय का पता चलता है । (२) द्व्यह्नजातः (दो दिन का पैदा हुआ) । **लौकिक विग्रह**—द्व्यह्नः जातस्य । **अलौकिक विग्रह**—द्व्यह्न+सु, जात+ङस् > द्व्यह्नजात (पूर्वोक्त समासादि कार्य) > द्व्यह्नजात+सु > **द्व्यह्नजातः** (विभक्ति, र्, :) । इस उदाहरण में 'द्व्यह्न' शब्द समाहारार्थ में द्विगु-समास होने पर निष्पन्न हुआ है—द्वयोः अह्नोः समाहारः । **प्रक्रिया**—द्वि+ओस्, अहन्+ओस् > द्वि-अहन् > द्वि-अहन्+टच् (= अ—"राजाहः

इति निषेधः। (७१७) सप्तमी शौण्डैः २।१।४०॥ सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वद्वा। अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः। अधिशब्दोऽत्र पठ्यते। '—अध्युत्तरपदात्—'

इत्यनयोः 'तद्धितार्थ' इति द्विगुसमासे 'राजाहस्सखिभ्यः' इति टचि 'अह्नोऽह्नएतेभ्यः' इत्यह्लादेशे द्व्यह्नजात इति रूपमित्यर्थः। अत्र पूर्वयोर्द्विगुतत्पुरुषत्वाभावे टच् अह्नादेशश्च न स्यातामिति भावः। ननु द्वयोरह्नोस्समाहारो द्व्यह इति कथं पूर्वमुक्तम्, तत्राप्यह्नादेश-प्रसङ्गादित्यत आह—**पूर्वत्र त्विति। निषेध इति।** अह्नादेशनिषेध इत्यर्थः। **इति षष्ठी-समासनिरूपणम्।**

(७१७)सप्तमी शौण्डैः। शौण्डादिभिरिति। बहुवचननिर्देशात् गणपाठाच्च शौण्ड-शब्दस्तदादिपरः। **अक्षेषु शौण्ड इति।** शौण्डः क्रियाकुशलः। वैषयिकाधिकरणत्वे सप्तमी। अक्षविषयकक्रीडाकुशल इत्यर्थः। **अत्रेति।** शौण्डादावित्यर्थः। **ईश्वराधीन इति।** प्रपञ्च

सखिभ्यष्टच्"—(५-४-९१)>द्वि+अह्+अ (टि-अन्-लोप-"अह्नष्टखोरेव" ६-४-१४) >द्व्यह (इ+अ = यण्) > द्व्यह+सु > द्व्यहः (पुंलिंग—"रात्राह्नाहाः" पुंसि—२-४-२९)। इस प्रकार एक शब्द हो गया, अतः 'जात' शब्द के साथ समास हुआ। (३) **लौकिक विग्रह**—द्वे अहनी जातस्य > द्व्यह्नजातः (जिसको दो दिन हुए)। प्रकृत उदाहरण में तीन पदों का समास किया गया है। तत्पुरुष-समास में दो ही पद ग्राह्य हैं, अतः इस **वार्तिक** से विशेष व्यवस्था की जारही है। **वार्तिक** से यह सूचित होता है कि दो से अधिक 'समस्यमान शब्दों में यदि परिमाणि-वाचक शब्द उत्तर-पद में स्थित हो तो वह अनेक कालवाचक शब्दों के साथ समास को प्राप्त होगा, क्योंकि उसके पूर्ववर्ती (कालवाची = परिमाणवाची) शब्दों का द्विगु-समास निष्पन्न होगा'। **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, अहन्+औ, जात+सु > द्वि > अहन्-जात (वार्तिक से समास) > द्वि-अहन्+टच्+जात (समास, टच् "अह्नोऽह्न एतेभ्यः"—५-४-८८) > द्व्यह्न-जात (अह्न—आदेश उत्तरपद—अर्थ में) > द्व्यह्नजात+सु > **द्व्यह्नजातः** (विभक्तिकार्य)।

विशेष—(१) 'मासजातः' आदि में बहुव्रीहि-समास समानाधिकरण न होने से नहीं हो सकता। विग्रह में केवल स्पष्टीकरण के लिये (यस्य 'सः') लिखा गया है। अतः 'बहुव्रीहि'-समास की भ्रान्ति न हो। 'द्व्यहः' में संख्यावाचक शब्द आदि में होने से निषेध होने के कारण 'अहन्' = 'अह्न' आदेश नहीं हुआ—"न संख्यादेः समाहारे"—५-४-८९। 'द्व्यह्नजातः' में अहन् = 'अह्न' आदेश होने का कारण यह है कि सर्वप्रथम उपर्युक्त 'वार्तिक' से त्रिपद तत्पुरुष होने के पश्चात् 'द्वे-अहनी-जाते' इस स्थिति में 'जात' शब्द उत्तरपद रहते 'द्वि+अहन्' में उत्तरपद-निमित्तक द्विगु होता है न कि 'समाहारार्थक'। तदनन्तर समासान्त 'टच्' प्रत्यय होने के पश्चात् अहन् = अह्न आदेश की प्रसक्ति होती है।

(२) 'सुप् सुपा'—सूत्र से सुबन्त का एक ही सुबन्त पद के साथ समास होने में उपर्युक्त वार्तिक ही प्रमाण है। यदि दो सुबन्तों के साथ सुबन्त पद का समास अभीष्ट होता तो उपर्युक्त वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं थी।

(७१७) पद—सप्तमी, शौण्डैः। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—सप्तम्यन्त शब्द शौण्ड आदि के साथ विकल्प से पहले की तरह (समासयुक्त) हों। उदा० अक्षेषु शौण्डः > अक्षशौण्डः। 'अधि' शब्द का पाठ यहाँ है। 'ईश्वराधीनः' में "अध्युत्तरपदात् खः" ५-४-७ से 'ख' प्रत्यय है।

विवरण—सप्तमी तत्पुरुष का निरूपण आरम्भ होता है। आधिकारिक पदों की पूर्ववत्

(सू० २०७९) इति खः। ईश्वराधीनः। (७१८) **सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च २।१।४१॥**

एतैः सप्तम्यन्तं प्राग्वत्। साङ्काश्यसिद्धः। आतपशुष्कः। स्थालीपक्वः। चक्रबन्धः।

इति शेषः। ईश्वरे अधि इति विग्रहः। 'अधिरीश्वरे' इत्यधेः कर्मप्रवचनीयत्वम्। 'यस्मादधिकम्' इति सप्तमी। तदन्तस्य अधिना समासः। सुब्लुक् 'अषडक्ष' इति अध्युत्तरपदत्वात् खः, ईनादेशः—ईश्वराधीन इति रूपम्।

(७१८) **सिद्धशुष्क।** सप्तमीत्यनुवर्तते तदाह—**एतैस्सप्तम्यन्तं प्राग्वदिति। साङ्काश्यसिद्ध इति।** सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरं साङ्काश्यम्। तत्र सिद्धः उत्पन्नो ज्ञातो वेत्यर्थः। **आतपशुष्क इति।** आतपे शुष्क इति विग्रहः। **स्थालीपक्व इति।** स्थाल्यां पक्व इति विग्रहः। **चक्रबन्ध इति।** चक्रे बन्ध इवि विग्रहः। शौण्डादिगणे एतेषां पाठाभावात् पृथगुक्तिः।

अनुवृत्ति आरही है। अतः सूत्र का यह तात्पर्य है कि "सप्तम्यन्त सुबन्त पद 'शौण्ड' आदि सुबन्त शब्दों के साथ विकल्प से समस्यमान हों, उसे तत्पुरुष-समास जाना जाय"। **उदाहरण**—अक्ष-शौण्डः (जूआ खेलने में धूर्त)। **लौकिक विग्रह**—अक्षेषु (वैषयिक-अधिकरण में सप्तमी) शौण्डः। **अलौकिक विग्रह**—अक्ष+सुप्, शौण्ड+सु > अक्ष-शौण्ड (समास एवं विभक्तिलोप, पूर्वनिपात—अक्ष का) > अक्षशौण्ड+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) > **अक्षशौण्डः** (स् = र् = :)।

विशेष—(१) सूत्रस्थ 'शौण्ड' पद का बहु वचन में (शौण्डैः) प्रयोग होने से शौण्डादि गण लिया जाता है।

(२) शौण्डादि गण में आधेय-प्रधान 'अधि' शब्द का भी समावेश किया गया है। अतः 'ईश्वराधीनः' (ईश्वर में अधिष्ठित) में भी सप्तमी-समास होता है। **विग्रह**—(क) ईश्वरे अधि ('अधि'—कर्मप्रवचनीय "अधिरीश्वरे" १-४-९७, पश्चात् "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनम्" २-३-९ से सप्तमी) > ईश्वर-अधि (सप्तमी-समास) > ईश्वर+अधि+ख ("अषडक्षाशित-ङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात् खः"—५-४-७) > ईश्वराधि+ईन (ख = ईन—"आयनेयी-नीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" ७-१-२) > ईश्वराध्+ईन ('इ' लोप—"यस्येति च"—६-४-१४८) > ईश्वराधीन+सु (विभक्ति) > **ईश्वराधीनः** (स् = र् = :)।

(७१८) पद—सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैः, च। **अनुवृत्ति**—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—इन शब्दों के साथ सप्तम्यन्त सुबन्तों का पूर्ववत् (समास हो)। उदा० साङ्काश्य-सिद्धः, आतपशुष्कः, स्थालीपक्वः, चक्रबन्धः।

विवरण—प्रमुख अनुवृत्ति 'सप्तमी' पूर्व सूत्र "सप्तमी शौण्डैः" २-१-४० से की जारही है। समासोपयोगी अन्य अनुवृत्तियों का यथापूर्व प्रभाव विद्यमान है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ इस प्रकार समझें—"सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध—शब्दों के साथ भी (च) सप्तम्यन्त सुबन्त का विकल्प से समास हो और वह 'तत्पुरुष' माना जाय।" **उदाहरण**—(१) साङ्काश्यसिद्धः (साङ्काश्य नगर में उत्पन्न अथवा ज्ञात)। **विग्रह**—साङ्काश्ये+सिद्धः। साङ्काश्य+ङि, सिद्ध+सु (साङ्काश्ये भवः = सङ्काश+ण्य—"वुञ्छण्कठ०" ४-२-८०, सप्तमी विभक्ति में 'सिद्ध' शब्द के साथ समास तथा विभक्तिलोपादि) > साङ्काश्यसिद्ध+सु > **साङ्काश्यसिद्धः** (पुनः विभक्ति-स् = र्, र् = :)। (२) आतपशुष्कः (धूप में सूखा हुआ)। **विग्रह**—आतपे+शुष्कः—आतप+ङि, शुष्क+सु > आतपशुष्क ('शुष्क' के साथ 'आतप' का समास) > आतपशुष्क+सु > **आतपशुष्कः** (पूर्ववत् विभक्त्यादि कार्य)। (३) स्थालीपक्वः (बटलोही में पका हुआ)। **विग्रह**—

(७१९) ध्वाङ्क्षेण क्षेपे २ । १ । ४२ ॥ ध्वाङ्क्षवाचिना सह सप्तम्यन्तं समस्यते निन्दायाम् । तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः । तीर्थकाक इत्यर्थः । **(७२०) कृत्यैर्ऋणे २।१।४३ ॥** सप्तम्यन्तं कृत्यप्रत्ययान्तैः सह प्राग्वदावश्यके । मासेदेयम् ऋणम् । ऋणग्रहणं

---

(७१९) ध्वाङ्क्षेण क्षेपे । ध्वाङ्क्षेत्यर्थग्रहणम्, व्याख्यानात् । तदाह—**ध्वाङ्क्षवाचिना सह सप्तम्यन्तं समस्यत इति ।** क्षेपपदं व्याचष्टे—**निन्दायामिति । तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्ष इति ।** ध्वाङ्क्षः काकः, स इव यो गुरुकुले चिरं न तिष्ठति स इत्यर्थः । एवं हि निन्दा भवति । अर्थग्रहणस्य प्रयोजनमाह—**तीर्थकाक इति ।**

(७२०) कृत्यैर्ऋणे । सप्तमीत्यनुवर्तते । कृत्यग्रहणेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया कृत्यसंज्ञकप्रत्ययान्तग्रहणम् । 'ऋणपदमावश्यकोपलक्षणम्' इति भाष्यम् । तदाह—**सप्तम्यन्तं कृत्यप्रत्ययान्तैः सह प्राग्वदावश्यके इति । मासे इति ।** सामीप्याधिकरणत्वे सप्तमी ।

स्थाल्यां पक्वः—स्थाली+ङि, पक्व+सु > स्थालीपक्व ('पक्व' शब्द के साथ 'स्थाली' का समास) > **स्थालीपक्वः** (विभक्ति सु—स् = र् = :) । (४) चक्रबन्धः (पहिये में लिपटा हुआ) । **विग्रह**—चक्रे बन्धः—चक्र+ङि, बन्ध+सु > चक्रबन्ध (समासादि) > **चक्रबन्धः** (पुनः विभक्त्युत्पत्ति–सु–स् = र् = :) ।

विशेष—इन शब्दों का शौण्डादि गण में पाठ न होने के कारण पृथक् विधान किया गया है ।

(७१९) पद—ध्वाङ्क्षेण, क्षेपे । **अनुवृत्ति**—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सह सुपा, सुप्, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।**

मूलार्थ—काक–वाची सुबन्त के साथ (निन्दा गम्यमान होने पर) सप्तम्यन्त सुबन्त का विकल्प से समास हो । उदा० तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव>तीर्थध्वाङ्क्षः । तीर्थकाक अर्थ है ।

विवरण—सप्तमी का ही प्रकरण है, अतः २-१-४० से सप्तमी एवम् अन्य आधिकारिक समासादि पदों की अनुवृत्ति करनेपर सूत्रार्थ निष्पन्न होता है । सबका संकलन करने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "ध्वाङ्क्षार्थक सुबन्त शब्दों के साथ (निन्दार्थ गम्यमान होने पर) सप्तम्यन्त सुबन्त विकल्प से समस्यमान हों तथा वे तत्पुरुष–संज्ञक माने जायँ ।" **उदाहरण**—तीर्थध्वाङ्क्षः (तीर्थकाक—जैसे कौआ एक स्थान पर नहीं रह सकता, वैसे ही जो छात्र एक स्थान पर न पढ़कर यत्र तत्र पढ़ता फिरे उसे 'तीर्थध्वाङ्क्ष' कहा गया है—विद्यार्थी के एक जगह मन न लगने के कारण भागना ही 'क्षेप' = निन्दा है) । **विग्रह**—तीर्थे (गुरुकुले) ध्वाङ्क्षः (काकः) इव—तीर्थ+ङि, ध्वाङ्क्ष+सु > तीर्थध्वाङ्क्ष (समास) > **तीर्थध्वाङ्क्षः** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्) ।

विशेष—(१) 'इव' का अर्थ समानता है । समास में अन्तर्भूत होने के कारण विग्रह में उसके द्वारा ('इव' शब्द का प्रयोग दिखाकर) आशय स्पष्ट किया जाता है ।

(२) 'निन्दा' की प्रतीति न होने पर समास नहीं होगा—तीर्थे ध्वाङ्क्षः तिष्ठति (तीर्थ में कौआ बैठा है ।)

(७२०) पद—कृत्यैः, ऋणे । **अनुवृत्ति**—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।**

मूलार्थ—सप्तम्यन्त सुबन्त, कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ, (आवश्यक अर्थ में) पूर्ववत् (समासयुक्त) हों । **उदाहरण**—मासेदेयम्—ऋणम् । ऋण पद निर्धारण-सूचक है । पूर्वाह्णेगेयं साम ।

नियोगोपलक्षणार्थम् । पूर्वाह्णेगेयं साम । (७२१) संज्ञायाम् २ । १ । ४४ ॥ सप्तम्यन्तं सुपा प्राग्वत्संज्ञायाम् । वाक्येन संज्ञानवगमान्नित्यसमासोऽयम् । अरण्येतिलकाः । वनेकसे-

---

मासाव्यवहितोत्तरकाले प्रत्यर्पणीयमृणमित्यर्थः । ऋणपदस्यावश्यकोपलक्षणतायाः प्रयोजनमाह—पूर्वाह्णेगेयं समेति । 'तत्पुरुषे कृति' इत्यलुक् । यत् प्रत्यय एव कृत्योऽत्र विवक्षित इति भाष्यम् । तेनेह न । पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षेति ।

(७२१) संज्ञायाम् । सप्तमीत्यनुवर्तते । सप्तम्यन्तं सुपा प्राग्वत् संज्ञायामिति । अरण्येतिलका इति वनेकसेरुका इति च संज्ञाशब्दौ । 'हलदन्तात् सप्तम्याः' इत्यलुक् ।

विवरण—पूर्ववत् सप्तमी समास का विधान है। अनुवृत्तियाँ भी यथानिर्दिष्ट चली आरही हैं। सूत्र का शाब्दिक अर्थ तो सामान्य है। तदनुसार "सप्तम्यन्त शब्दों का कृदन्त प्रकरण के अन्तर्गत 'कृत्य'-प्रत्ययान्तों के साथ, ऋण गम्यमान होने पर, वैकल्पिक समास हो और वह तत्पुरुषसंज्ञक भी हो"। वृत्ति के अनुसार 'ऋण की अवधि निश्चित होने के कारण' यहाँ ऋण शब्द आवश्यक अर्थ का सूचक है। **उदाहरण**—(१) मासेदेयम्-ऋणम् (महीने भर में 'अवश्य' चुका दिया जाने वाला ऋण)। **विग्रह**—मासे+देयम् (देयम् = दा+यत्—"अचो यत्"—३-१-९७ एवं "कृत्याः"—३-१-९५ अधिकार के अन्तर्गत > दा+ई+य—आकार के अनन्तर 'ई'—"ईद्यति"—६-४-६५ > देयम् (गुण एवं विभक्तिकार्य) > मासेदेय (प्रकृत सूत्र से समास के पश्चात् "तत्पुरुषे कृति बहुलम्"—६-३-१४ के अनुसार विभक्ति का लोप नहीं हुआ) > मासेदेय+सु (समस्त शब्द से विभक्ति) > **मासेदेयम्** (नपुंसकलिंग होने से सु = अम्—पूर्वरूप)। (२) पूर्वाह्णेगेयं-साम (दिन के पूर्वभाग में गेय-साम)। विग्रह—पूर्वाह्णे+गेयम् (√ गै+यत् > गा+य—ऐ = आ—"आदेच उपदेऽशिति" ६-१-४५ > गा+ई+य ('आ' के अनन्तर 'ई') > गेय—(गुण) > पूर्वाह्णेगेय (सप्तमी-समास तथा विभक्ति का पूर्ववत् अलुक्) > **पूर्वाह्णेगेयम्** (विभक्तिकार्य—सु = अम्, पूर्वरूप)।

विशेष—भाष्यकार पतञ्जलि ने 'कृत्य' संज्ञक केवल 'यत्' प्रत्यय तक इस समास को सीमित रखा है। उसका कारण यह है कि 'आवश्यक' अर्थ केवल 'यत्' प्रत्यय ('कृत्य' संज्ञकों) में दिखाई पड़ता है। इसके फलस्वरूप "पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षा" में समास नहीं होता[1]। नागेश ने भी यही सूचित किया है[2]।

(७२१) पद—संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—सप्तमी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—सप्तम्यन्त सुबन्त, संज्ञा गम्यमान होने पर, अन्य सुबन्तों के साथ पूर्ववत् हो। वाक्य से संज्ञा का बोध न होने से यह नित्य समास है। उदा० अरण्येतिलकाः। वनेकसेरुकाः। सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं हुआ—"हलदन्तात् सप्तम्याः"०।

विवरण—प्रधान अनुवृत्ति 'सप्तमी' पद के साथ ही 'विभाषा' को छोड़कर अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति यथास्थित है। उसका कारण यह है कि विग्रह-वाक्य से संज्ञारूप अर्थ की प्रतीति न होने से उद्देश्य की पूर्ति होने के लिये वह नित्यसमास के सदृश है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "संज्ञावाची शब्दों में सुबन्त के साथ सप्तम्यन्त सुबन्त का नित्य तत्पुरुष समास हो"। **उदाहरण**—(१) अरण्येतिलकाः (जंगली तिल)। **विग्रह**—अरण्ये तिलकाः > अरण्य+ङि, तिलक+जस् > अरण्येतिलक (सप्तम्यन्त 'अरण्य' का 'तिलक' के साथ समास तथा यथाप्राप्त सप्तमी विभक्ति के लोप का बाध "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" ६-३-९)

---

१. तदुक्तं भाष्ये—'यद्ग्रहणं कर्तव्यम्' । इह मा भूत—पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षेति।

२. अयं समासो यत्प्रत्यान्तेनैव अभिधानस्वाभाव्यात् । —ल० श० शे० प्रकृतसूत्र।

रुकाः। 'हलदन्तात्सप्तम्याः—' (सू ९६६) इत्यलुक्। (७२२) क्तेनाहोरात्रावयवाः २।१।४५॥ अह्नो रात्रेश्चावयवाः सप्तम्यन्ताः क्तान्तेन सह प्राग्वत्। पूर्वाह्णकृतम्। अपररात्रकृतम्। अवयवग्रहणं किम्? अह्नि दृष्टम्। (७२३) तत्र २।१।४६॥ 'तत्र' इत्येतत्सप्तम्यन्तं क्तान्तेन सह प्राग्वत्। तत्रभुक्तम्। (७२४) क्षेपे २।१।४७॥

---

(७२२) क्तेनाहोरात्रावयवाः। अहोरात्रयोः अवयवा इति विग्रहः। सप्तमीत्यनुवर्तते। क्तेनेति तदन्तग्रहणम्। तदाह—अह्नो रात्रेश्चावयवा इति। अहरवयवस्योदाहरति—पूर्वाह्णकृतमिति। रात्र्यवयवस्योदाहरति—अपररात्रकृतमिति।

(७२३) तत्र। तत्रेति शब्दस्वरूपग्रहणम्। सप्तमीति क्तेनेति चानुवर्तते। तदाह—तत्रेत्येतत् सप्तम्यन्तं क्तेन सह प्राग्वदिति। तत्रभुक्तमिति। समासस्वरः प्रयोजनम्। तत्रभुक्तस्येदं तात्रभुक्तम् इति च।

> अरण्येतिलक+जस् > **अरण्येतिलकाः** (विभक्ति-कार्य—पूर्वसवर्णदीर्घ)। (२) वनेकसेरुकाः (जंगली कसेरू)। विग्रह—वने कसेरुकाः—वन+ङि, कसेरुक+जस् > वनेकसेरुक (समास एवं सप्तमी-विभक्ति के लोप का अभाव) > वनेकसेरुक+जस् (विभक्ति) > **वनेकसेरुकाः** (विभक्तिकार्य—पूर्वसवर्णदीर्घ)।

विशेष—यह भी अ-प्राप्त-विधि है।

(७२२) पद—क्तेन, अहोरात्रावयवाः। **अनुवृत्ति**—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—दिन और रात्रि के अवयववाची, सप्तम्यन्त क्तप्रत्ययान्त के साथ, पूर्ववत् हों। उदा०—पूर्वाह्णकृतम्। अपररात्रकृतम्। अवयवग्रहण क्यों किया? अह्नि दृष्टम्।

विवरण—पूर्ववत् आधिकारिक पदों एवं 'सप्तमी' की अनुवृत्ति चल रही है। 'क्त' प्रत्यय से तदन्त-विधि द्वारा क्त-प्रत्ययान्त का बोध होगा। तदनुसार प्रकृत सूत्र का यह अर्थ है कि "दिन एवं रात्रि के अवयववाची (अहश्च रात्रिश्च-अहोरात्रौ, तयोः अवयवाः) सप्तम्यन्त सुबन्तों का क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से सप्तमी-तत्पुरुष समास हो"। दिन के अवयव का **उदाहरण**—(१) पूर्वाह्णकृतम् (दिन के पूर्व भाग में सम्पादित)। **विग्रह**—पूर्वाह्णे कृतम् = पूर्वाह्ण+ङि, कृत+सु > पूर्वाह्णकृत ('पूर्वाह्ण' का 'कृत' के साथ समास, विभक्तिलोप, पूर्वनिपातनादि) > पूर्वाह्णकृत+सु (विभक्त्युत्पत्ति) > **पूर्वाह्णकृतम्** (सु = अम्, पूर्वरूप)। रात्रि के अवयव का उदाहरण—(२) अपररात्रम् (रात्रि के उत्तर भाग में संपादित)। **विग्रह**—अपररात्रौ कृतम्—अपररात्रि+ङि, कृत+सु > अपररात्रिकृत>अपररात्र-कृत+सु > **अपररात्रकृतम्** (प्रक्रिया पूर्ववत्)। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'अवयव' ग्रहण करने से 'अह्नि दृष्टम्' (दिन में दिखाई पड़ा) में समास नहीं होता, क्योंकि यहाँ 'अह्नि' से पूर्ण दिवस का तात्पर्य है।

विशेष—(१) 'अपररात्र' में अकार (अन्तिम) का श्रवण (रात्रि+टच्) समासान्त 'टच्' प्रत्यय के कारण हुआ है। (२) यह भी अप्राप्त-विधि है।

(७२३) पद—तत्र। **अनुवृत्ति**—क्तेन, सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—सप्तम्यन्त—'तत्र' शब्द भी 'क्त'-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ पूर्ववत् हो। उदा० तत्रभुक्तम्।

विवरण—पूर्व सूत्र के विषय का विस्तार प्रतिपादित किया जा रहा है। अतः प्रमुख रूप में 'क्तेन' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र (२-१-४५) से अपेक्षित है। प्रकरण-जन्य 'सप्तमी' तथा अन्य आधि-

सप्तम्यन्तं क्तान्तेन प्राग्वन्निन्दायाम्। 'अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्'। (७२५) पात्रेसमितादयश्च २।१।४८॥ एते निपात्यन्ते क्षेपे। पात्रेसमिताः। भोजनसमय एव

---

(७२४) क्षेपे। सप्तमीति वचनेति चानुवर्तते। तदाह—**सप्तम्यन्तं क्तान्तेन प्राग्वन्निन्दायामिति। अवतप्तेनकुलस्थितं त एतदिति।** स्थितमिति भावे क्तः। नकुलेन स्थितम्। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः। 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया नकुलस्थितशब्दोऽपि क्तान्तः। तेन सहावतप्ते इति सप्तम्यन्तस्य अनेन समासे कृते 'तत्पुरुषे कृति' इत्यलुक्। हे देवदत्त, ते तव, एतत् अवस्थानम्, अवतप्ते नकुलस्थितमित्यन्वयः। यथा अवतप्तप्रदेशे नकुलाः न चिरं तिष्ठन्ति तथा कार्याण्युपक्रम्य तान्यनिवर्त्य इतस्ततो धावनमित्यर्थः। अव्यवस्थितोऽसीति निन्दा ज्ञेया।

(७२५) **पात्रे समितादयश्च निपात्यन्त इति।** कृतसमासादिकार्या एते शब्दा निर्दिश्यन्त इत्यर्थः। **पात्रेसमित इति।** इण् गतौ सम्पूर्वात् 'गत्यर्थाकर्मक' इति कर्तरि क्तः।

कारिक पदों की उल्लिखित अनुवृत्तियाँ सूत्रार्थ को पूर्ण करती हैं। अतः सूत्र के अनुसार "तत्र—इस सप्तम्यन्त–शब्द का 'क्त'–प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास होगा एवं वह तत्पुरुष-संज्ञक होगा"। **उदाहरण**—तत्रभुक्तम् (वहाँ खाया)। **विग्रह**—तत्र (तत्र = तस्मिन् + त्रल्—"सप्तम्यास्त्रल्" ५-३-१०) भुक्तम् > तत्र + भुक्त सु, > तत्रभुक्त ('तत्र' का 'क्त'-प्रत्ययान्त 'भुक्त' के साथ समास) > तत्रभुक्त + सु > तत्रभुक्तम् (विभक्तिकार्य–सु = अम्, पूर्वरूप)।

विशेष—(१) 'तत्र' तद्धितान्त अव्यय है, अतः विभक्ति के 'अलुक्' का प्रश्न नहीं उठता। (२) यहाँ समास होने एवं समासाभाव की स्थिति में यद्यपि रूप की समानता है तथापि समास में 'एकपद' होने के कारण समासस्वर हो जाता है।

(७२४) पद—क्षेपे। **अनुवृत्ति**—क्तेन, सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—सप्तम्यन्त सुबन्त, 'क्त'–प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ, निन्दा गम्यमान रहते, पूर्ववत् हो। उदा० अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्।

विवरण—'क्त'-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ समास को भी कुछ सीमित किया जा रहा है। उल्लिखित पदों की पूर्ववत् अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'निन्दा गम्यमान होना' अर्थ विशेषतया अपेक्षित है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह है कि "सप्तम्यन्त सुबन्तवाची शब्द, 'क्त'–प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ, निन्दा (क्षेप) गम्यमान होने पर, विकल्प से समास को प्राप्त हो तथा उसकी 'तत्पुरुष' संज्ञा हो"। **उदाहरण**—अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत् (तपी हुई भूमि में जिस प्रकार न्यौला अस्थिर होकर इधर-उधर भागता है, उसी प्रकार तुम्हारा भी यह कार्य है अर्थात् अव्यवस्थित होने से निन्दा गम्यमान है)। **विग्रह**—अवतप्ते + नकुलस्थितम् (नकुलस्थितम् = नकुलेन स्थितम्—समास–'कर्तृकरणे कृता बहुलम्', 'कृद्-ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्'—परिभाषा के बल से 'नकुलस्थित' शब्द भी क्त-प्रत्ययान्त माना गया) > अवतप्त + ङि, नकुलस्थित + सु > अवतप्ते-नकुलस्थित (समास-कार्य तथा सप्तमी-विभक्ति का अलुक्—"तत्पुरुषे कृति बहुलम्" ६-३-१४) > अवतप्ते नकुलस्थित + सु (समासोत्तर विभक्ति) > **अवतप्तेनकुलस्थितम्** (विभक्ति-कार्य पूर्ववत्)। इसी प्रकार (२) **प्रवाहेमूत्रितम्** (बहती नदी में मूत्रोत्सर्जन), (३) **भस्मनिहुतम्** (राख में आहुति देना) आदि उदाहरण समझे जायँ।

(७२५) पद—पात्रेसमितादयः, च। **अनुवृत्ति**—क्षेपे, सप्तमी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

सञ्ज्ञताः, न तु कार्ये। गेहेशूरः। गेहेनर्दी। आकृतिगणोऽयम्। चकारोऽवधारणार्थः। तेनैषां समासान्तरे घटकतया प्रवेशो न। परमाः पात्रेसमिताः। (७२६) **पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन २।१।४९॥** 'विशे-

---

निपातनात् सप्तम्या अलुक्। भोजनपात्रे निहिते सति सञ्ज्ञता इत्यर्थः। फलितमाह—**भोजनेति**। **गेहेशूर इति**। गेह एव प्रकटितशौर्यः, नतु युक्त इत्यर्थः। **गेहेनर्दीति**। नर्द शब्दे 'सुप्यजातौ' इति णिनिः। समासे सति निपातनादलुक्। गेह एव गर्जति, युद्धादौ तु न प्रवर्तते इत्यर्थः। **चकारोऽवधारणार्थं इति**। ततश्च एते यथा गणे पठितास्तथैव भवन्तीत्यर्थः। ततः किमित्यत आह—**तेनेति**। ततश्च परमाश्च ते पात्रेसमिताश्चेत्यादौ समासो न भवति।

(७२६) **पूर्वकालैक**। सुबित्यनुवृत्तं बहुवचनेन विपरिणम्यते। सुपेति चानुवर्तते। पूर्वःकालो यस्य स पूर्वकालः। पूर्वकालवृत्तिरित्यर्थः। ततश्च पूर्वकालेत्यनेन पूर्वकाल-

---

मूलार्थ—निन्दार्थ में इनका निपातन है। उदा० पात्रेसमिताः–भोजन के समय ही इकट्ठे हुए, काम के समय नहीं। गेहेशूरः। गेहेनर्दी। आकृतिगण है। (सूत्र में) 'च' शब्द अवधारणार्थक है। इस कारण इनका अन्य समास में अवयव रूप से प्रवेश नहीं होता। उदा० परमाः पात्रेसमिताः।

विवरण—लोक-प्रचलित निन्दार्थक शब्दों का सप्तमी-समास (तत्पुरुष) के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है। 'पात्रेसमित' गण में पठित शब्दों का यथार्थ रूप में साधुत्व मान्य है, इसी का विधान निपातन द्वारा बतलाया जा रहा है। उनकी नित्यता है, अतः 'विभाषा' की अनुवृत्ति छोड़नी पड़ेगी। सूत्रार्थ के सामञ्जस्य के लिये प्रधानरूप में 'क्षेपे' २-१-४६ की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य अनुवृत्त पद पूर्ववत् अपना प्रभाव रखे हुए हैं। तदनुसार सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—"पात्रेसमित आदि शब्द भी निन्दा गम्यमान होने पर जैसे गण में पढे गए हैं (अप्राप्त विभक्ति के अलुक् आदि सहित) उन्हें इसी प्रकार मान्यता दी जाती है, तथा वे तत्पुरुष समास के अन्तर्गत समझें जायँगे"। **उदाहरण**—(१) पात्रेसमिताः (भोजन के समय में आये, काम के समय नहीं) **विग्रह**—पात्रे+समिताः (सम्—√इण्+क्त>समित) > पात्र+ङि, समित+जस् ⊳ पात्रेसमित (समास तथा अप्राप्त सप्तमी विभक्ति का लोप न होना) ⊳ पात्रेसमित+जस् > **पात्रेसमिताः** (पुनः विभक्तिकार्य—पूर्वसवर्ण दीर्घ)। (२) गेहेशूरः (घर में ही वीर बने रहना)। **विग्रह**—गेहे+शूरः–गेह+ङि, शूर+सु > गेहेशूर (पूर्ववत् समास एवं सप्तमी का अलुक्) ⊳ गेहेशूर+सु > **गेहेशूरः** (विभक्ति-कार्य—स् = र् = :)। (२) गेहे-नर्दी (घर में ही गरजने वाला, युद्धादि से भागने वाला)। **विग्रह**—गेहे+नर्दी–गेह+ङि, नर्दिन्+सु ⊳ गेहेनर्दिन् (पूर्ववत् समासादि) > गेहेनर्दिन्+सु > **गेहेनर्दी** (दीर्घ तथा हल्ङ्यादिलोप, न–लोप)।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र में पठित 'च' शब्द से यह द्योतित होता है कि 'पात्रेसमित' आदि गणपठित शब्दों का समासान्तर में प्रवेश नहीं होता। अर्थात् इनकी स्वतन्त्रता-सत्ता बनी रहती है। अतः 'परमाः पात्रेसमिताः' में कर्मधारय समास नहीं हुआ। किन्तु वाक्य के रूप में ही उसका प्रयोग होता है।

(७२६) पद—पूर्वकालैक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः, समानाधिकरणेन। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **नियमविधि-(संज्ञा)-सूत्र**।

मूलार्थ—"विशेषणं विशेष्येण०" २-१-५७ सूत्र से सिद्ध होने पर पूर्वनिपात का नियमन

षणं विशेष्येण—' (सू ७३६) इति सिद्धे पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम्। एकशब्दस्य 'दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम्' (सू० ७२७) इति नियमबाधनार्थं च। पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नातानुलिप्तः। एकनाथः। सर्वयाज्ञिकाः। जरन्नैयायिकाः। पुराणमीमांसकाः।

वृत्त्यर्थकशब्दस्य ग्रहणम्। एकादिशब्दास्तु षट् स्वरूपपरा एव। तथा च पूर्वकालादयस्सप्त सुबन्ताः समानाधिकरणेन सुबन्तेन समस्यन्ते, स तत्पुरुष इत्यर्थः। समानम् एकम् अधिकरणं वाच्यम् यस्येति विग्रहः। एकार्थवृत्तित्वं सामानाधिकरण्यमिति फलितम्। **पूर्वनिपातेति**। पश्चादनुलिप्तः पूर्वं स्नातत्वेन, पूर्वं स्नातो वा पश्चादनुलिप्तत्वेन विशेष्टुं शक्यते। अतो 'विशेषणं विशेष्येण' इति समासे सति अन्यतरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते पूर्वकालवृत्तिशब्दस्यैव पूर्वनिपातार्थमिदं वचनम्। एवमेकादीनामपीत्यर्थः। एकशब्दविषये प्रयोजनान्तरमप्याह—**एकशब्दस्येति**। 'दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायां समस्येते' इति नियमस्य वक्ष्यमाणतया एकनाथ इत्यत्र विशेषणसमासस्य बाधे प्राप्ते तत्प्रतिप्रसवार्थमप्येकग्रहणमित्यर्थः। **स्नातानुलिप्त इति**। विग्रहवाक्यवदिह पूर्वपश्चाच्छब्दाभावेऽपि स्नानानुलेपनयोः पौर्वापर्यं समासगम्यमेव। पूर्वकालः समस्यते इत्युक्ते परकालेनेत्यर्थात्प्रतीतेः। **एकनाथ इति**। एकश्चासौ नाथश्चेति विग्रहः। **सर्वयाज्ञिका इति**। यज्ञमधीयते विदन्ति वा

करने के लिए यह सूत्र है। 'एक' शब्द का ग्रहण "दिक्संख्ये च संज्ञायाम्" २-१-५० द्वारा प्राप्त नियम का बोध कराने के लिए है। उदा० पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः > स्नातानुलिप्तः। एकनाथः। सर्वयाज्ञिकाः। जरन्नैयायिकाः। पुराणमीमांसकाः। नवपाठकाः। केवलवैयाकरणाः।

विवरण—समान-अधिकरण में पूर्वकाल-वाचक आदि सात शब्दों की विशेष व्यवस्था की जा रही है। सामान्यतया समान-आश्रय होने पर 'कर्मधारय' समास होता है, किन्तु इन सात शब्दों में समान अधिकरण होने पर 'तत्पुरुष' समास ही होता है। भट्टोजी दीक्षित ने वृत्ति न देकर इस नियम की उपयोगिता ही बतलाई है। सूत्रार्थ सम्पन्न करने के लिये उपर्युक्त 'तत्पुरुष' आदि पाँच पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इन पदों में अनुवृत्त 'सुप्' पद बहुवचन में विपरिणमित होता है। इसके अतिरिक्त सूत्रस्थ 'पूर्वकाल' शब्द आनुपूर्वी न होकर अपने अर्थ का सूचक है। शेष शब्द—एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल—स्वरूपात्मक हैं। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह है कि "पूर्वकाल-वाचक शब्द एवम् एक, जरत्, पुराण, नव तथा केवल-इन सुबन्तों का समान आश्रय में रहने वाले सुबन्तों के साथ विकल्प से 'तत्पुरुष' समास हो"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) पूर्वकालवाचक—स्नातानुलिप्तः। **लौकिक विग्रह**—स्नातश्चासौ अनुलिप्तः। **अलौकिक विग्रह**—स्नात+सु, अनुलिप्त+सु > स्नात-अनुलिप्त (पहले सम्पन्न 'स्नात' शब्द के साथ समास, विभक्तिलोप, 'स्नात' की उपसर्जन संज्ञा तथा पूर्वत्र स्थिति) > स्नातानुलिप्त (दीर्घ—"अकः सवर्णे दीर्घः"—६-१-११०) > स्नातानुलिप्त+सु (पुनः विभक्ति) > **स्नातानुलिप्तः** (स् = र् = :)। अर्थ—पहले नहाया, पीछे अनुलेपन किया। (२) **एक शब्द** के साथ—**एकनाथः** (सन्तविशेष का नाम)। **लौकिक विग्रह**—एकश्चासौ नाथश्च। **अलौकिक विग्रह**—एक+सु, नाथ+सु > एक-नाथ ('एक' का 'नाथ' के साथ समासादि) > एकनाथ+सु (पुनः विभक्ति) > **एकनाथः** (रुत्व, विसर्ग)। (३) **'सर्व'** के साथ—**सर्वयाज्ञिकाः** (सब याज्ञिक)। **लौकिक विग्रह**—सर्वे च ते याज्ञिकाः। **अलौकिक विग्रह**—सर्व+जस्, याज्ञिक+जस् > सर्व-याज्ञिक ('सर्व' का 'याज्ञिक' के साथ समासादि) > सर्वयाज्ञिक+जस् > **सर्वयाज्ञिकाः** (विभक्ति-कार्य—पूर्वसवर्णदीर्घ—"प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" ६-१-१०२, रुत्व,

याज्ञिकाः। क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्। सर्वे च ते याज्ञिकाश्चेति विग्रहः। **जरन्नैयायिका इति।** जरन्तश्च ते नैयायिकाश्चेति विग्रहः। न्यायमधीयते विदन्ति वा नैयायिकाः। पूर्ववत् ठक्। 'न य्वाभ्याम्' इत्यैजागमो वृद्धिनिषेधश्च। 'जीर्यतेरतृन्' इति भूते अतृन्। जीर्णनैयायिका इत्यर्थः। **पुराणमीमांसका इति।** मीमांसामधीयते मीमांसकाः। 'क्रमादिभ्यो वुन्'। पुराणाश्च ते मीमांसकाश्चेति विग्रहः। **नवपाठका इति।** नवाश्च ते पाठकाश्चेति विग्रहः। अत्र पुराणसाहचर्यान्नवशब्दो नूतनवाच्येव गृह्यते। न तु सङ्ख्याविशेषवाची। **केवलवैयाकरणा इति।** व्याकरणमधीयते विदन्ति वा वैयाकरणाः। 'तदधीते तद्वेद' इत्यण्। 'न य्वाभ्याम्' इति वृद्धिनिषेध ऐजागमश्च। केवलाश्च ते वैयाकरणाश्चेति विग्रहः।

विसर्ग)। (४) **'जरत्'** शब्द के साथ—**जरन्नैयायिकाः** (वृद्धनैयायिक)। **लौकिक विग्रह**—जरन्तश्च ते नैयायिकाश्च। **अलौकिक विग्रह**—जरत्+जस्, नैयायिक+जस् (प्रक्रिया) > जरत्-नैयायिक ('जरत्' का नैयायिक के साथ समासादि) > जरद्-नैयायिक (त् = द्-"झलां जशोऽन्ते" ८-२-३९) > जरन्नैयायिक (द् = न्-"यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" ८-४-४५) > जरन्नैयायिक+जस् > **जरन्नैयायिकाः** (विभक्ति-कार्य पूर्ववत्)। (५) **'पुराण'** शब्द के साथ—पुराणमीमांसकाः (प्राचीन मीमांसक)। **लौकिक विग्रह**—पुराणाश्च ते मीमांसकाश्च। **अलौकिक विग्रह**—पुराण+जस्, मीमांसक+जस् > पुराणमीमांसक ('पुराण' का 'मीमांसक' के साथ समासादि) > पुराणमीमांसक+जस् (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) > **पुराणमीमांसकाः** (पूर्वसवर्ण-दीर्घ, रुत्व, विसर्ग)। (६) **'नव'** शब्द के साथ-नवपाठकाः (नये अध्येता)। **लौकिक विग्रह**--नवाश्च ते पाठकाः। **अलौकिक विग्रह**—नव+जस्+पाठक+जस् > नव-पाठक (समास, विभक्ति-लोप, 'नव' का पूर्वनिपात) > नवपाठक+जस् > **नवपाठकाः** (पुनः विभक्त्युपत्ति, दीर्घ, रुत्व, विसर्ग)। (७) **केवल** शब्द के साथ—केवलवैयाकरणाः (केवल व्याकरणवेत्ता)। **लौकिक विग्रह**--केवल+जस्+वैयाकरण+जस् > केवलवैयाकरण ('केवल' का 'वैयाकरण' के साथ समास, विभक्तिलोप, पूर्व-निपातादि) > केवलवैयाकरण+जस् > **केवलवैयाकरणाः** (पूर्वसवर्ण दीर्घ, रुत्व, विसर्ग)।

विशेष--(१) प्रकृत सूत्र द्वारा निष्पादित रूपों की सिद्धि कर्मधारय समास में भी संभावित रही। तथापि कर्मधारय समास में 'पूर्वनिपात' के सम्बन्ध में समस्यमान पदों के पौर्वापर्य का क्रम निश्चित नहीं होता। ऐसी स्थिति में स्नातानुलिप्तः एवम् अनुलिप्तस्नातः--दोनों रूपों की समीचीनता कर्मधारय समास में निर्विवाद रहती। अतः "पूर्वकालैक०" (२-१-४९) सूत्र से समास-विधान करने के फलस्वरूप सूत्र में निर्दिष्ट पदों का पूर्व-निपात होने से एक ही रूप निष्पन्न होगा। (२) दूसरी बात प्रकृत सूत्र में 'एक' शब्द का ग्रहण करने के सम्बन्ध में कही गई है। वह यह है कि 'एक' शब्द का किसी विशेष्यवाची शब्द के साथ समास केवल संज्ञावाचक पदों में ही "दिक्-संख्ये च संज्ञायाम्" (२-१-५०) सूत्र द्वारा नियमित था। तदनुसार **'एकनाथः'** में किसी का नाम होने पर तो समास होता, किन्तु 'एकमात्र स्वामी'—इस अर्थ में प्रयुक्त 'एकनाथः' शब्द की समीचीनता के लिए प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'एक' शब्द की उपयोगिता असन्दिग्ध है। इस प्रकार उक्त नियम के बाधन में 'एक' शब्द की चरितार्थता है।

---

१. व्याकरणमधीयते विदन्ति वा वैयाकरणाः। व्याकरण+अण् ("तदधीते तद्वेद" ४-२-४९) > वैयाकरण्+अ (वृद्धिनिषेध तथा ऐच् आगम-"न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" ७-३-३) > वैयाकरणः ('अ' लोप-"यस्येति च" ६-४-१४८ तथा विभक्तिकार्य)।

नवपाठकाः। केवलवैयाकरणाः। **(७२७) दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम् २।१।५०॥** 'समानाधिकरणेन' इत्यापादपरिसमाप्तेरधिकारः। संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। नेह, उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः। **(७२८) तद्धि-**

---

(७२७) दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायाम्। **अधिकार इति।** 'पूर्वकालैक' इति सूत्रस्थं समानाधिकरणेनेत्येतत् आपादसमाप्तेरनुवर्तत इत्यर्थः। ततश्च दिक्सङ्ख्ये समानाधिकरणेन सुबन्तेन समस्येते, स तत्पुरुष इत्यर्थः। ननु 'विशेषणं विशेष्येण' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदं वचनमित्यत आह—**सञ्ज्ञायामेवेति।** नचैवं सति पञ्च गावो यस्य सः पञ्चगुरिति बहुव्रीहिर्न स्यात्, पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवमित्यत्र 'तद्धितार्थं' इति समासश्च न स्यादिति वाच्यम्। 'विशेषणं विशेष्येण' इति यदि दिक्सङ्ख्ययोस्समासः स्यात् तर्हि सञ्ज्ञाया-मेवेति नियमशरीराभ्युपगमात्। 'पूर्वसूत्रं, पूर्वभासः, पूर्वसमुद्रः' इत्यादौ तु सञ्ज्ञा-त्वाभावेऽपि कालदेशवाचकत्वात् समासो भवत्येव। ननु 'त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः' इति कथं कालिदासप्रयोगः। त्रिलोकशब्दस्य असञ्ज्ञात्वात्। त्रयाणां लोकानां समाहार इति विग्रहे 'तद्धितार्थः' इति द्विगुसमासे तु 'द्विगोः' इति ङीप्प्रसङ्गः। 'अकारान्तोत्तर-पदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति स्त्रीलिङ्गत्वात्। पात्रादित्वात् न स्त्रीत्वमित्यभ्युपगमे 'यदि त्रिलोकीगणना परा स्यात्' इत्यादिप्रयोगाः न युज्येरन्निति चेत्, सत्यम्। लोकशब्दोऽत्र लोकसमुदायपरः। त्र्यवयवो लोकस्त्रिलोक इति मध्यमपदलोपी समासः। एतच्च 'द्विगो-र्लुगनपत्ये' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। षोडशपदार्थानामित्यत्र तु षोडशसङ्ख्याकाः पदार्था इति मध्यमपदलोपी समास इत्यलम्। **पूर्वेषुकामशमीति।** पूर्वशब्दस्य इषुकामशमीशब्देन

---

(७२७) पद—दिक्संख्ये संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **नियम-विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—'समानाधिकरणेन' का पादसमाप्ति-पर्यन्त अधिकार है। संज्ञा में ही नियमन करने के लिए सूत्र है। **उदाहरण**—पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। (समास) यहाँ नहीं (हुआ)— उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः।

विवरण—यह समान-अधिकरण-वाची समास का विधान करता है। अतः "पूर्वकालैक०"—(२-१-४९) सूत्र से 'समानाधिकरणेन' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। इस अनुवृत्ति का प्रभाव द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद की समाप्ति ("मयूरव्यंसकादयश्च"—२-१-७१) तक रहेगा। इसके साथ ही तत्पुरुष-समास में अपेक्षित अन्य उपर्युक्त पदों की अनुवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "दिशावाची और संख्यावाची सुबन्तों का समानाधिकरण सुबन्तों के साथ संज्ञा-विषय में ही तत्पुरुष समास होता है"। "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्"—२-१-५७ सूत्र से प्राप्त कर्मधारय समास का यह नियमन करता है। अर्थात् संज्ञा के अतिरिक्त दिशावाचक और संख्यावाचक शब्दों का परस्पर समास नहीं होगा। **उदाहरण**—पूर्वेषुकामशमी (किसी नगर का नाम)। **लौकिक विग्रह**—दिशावाची—पूर्वा इषुकामशमी। **अलौकिक विग्रह**—पूर्वा+सु, इषुकामशमी+सु > पूर्वा—इषुकामशमी (संज्ञा में दिशा—वाची 'पूर्वा' शब्द का 'इषुकामशमी' के साथ समास, विभक्तिलोप, पूर्वनिपात) > पूर्वेषुकाम—शमी+सु (पुंवद्भाव—"पुंवत्कर्मधारय" ६-३-४, गुण, पुनः विभक्ति) > **पूर्वेषुकामशमी** (विभक्ति-लोप)। संख्यावाची शब्द—सप्तर्षयः (सप्तर्षि—सातऋषि)। **लौकिक विग्रह**—सप्त च ते ऋषयः। **अलौकिक विग्रह**—सप्तन्+जस् ऋषि+सु > सप्तन्—ऋषि (समास, विभक्तिलोप, पूर्वनिपात) > सप्त-ऋषि ('न्' लोप—'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' ८-२-७) > सप्तर्षि+जस् (गुणसन्धि=

तार्थोत्तरपदसमाहारे च २ । १ । ५१ ॥ तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्सङ्ख्ये प्राग्वद्वा । पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः । समासे कृते 'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः' (सू १३२८) इति ञः । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' (वा १३७६) । आपरशालः । पूर्वा शाला प्रिया यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते प्रियाशब्दे उत्तरपदे पूर्वयोस्तत्पुरुषः । तेन शालाशब्दे आकारः उदात्तः । पूर्वशालाप्रियः ।

समासः । देशविशेषस्य सञ्ज्ञेयम् । सप्तर्षय इति । मरीच्यत्रिप्रभृतीनां सप्तानामृषीणां सञ्ज्ञेयम् । नेहेति । असंज्ञात्वादिति भावः ।

(७२८) तद्धितार्थो । एकापि सप्तमी विषयभेदात् । भिद्यते । तत्र तद्धितार्थेत्यंशे वैषयिकाधारत्वे वर्तते । उत्तरपदेत्यंशे सामीपिकमाधारत्वमादाय परसप्तमी पर्यवस्यति । समाहारांशे तु वाच्यतया आधारत्वे सप्तमी । पूर्वसूत्रात् दिक्सङ्ख्ये इत्यनुवर्तते । तदाह—तद्धितार्थे विषये इति । तद्धितार्थे भविष्यत्तद्धितजन्यज्ञानविषये सतीत्यर्थः । तद्धिते भविष्यतीति यावत् । प्राग्वदिति । समानाधिकरणेन समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । तद्धितार्थे दिक्समासमुदाहरति—पूर्वस्यामिति । समासे कृते इति । पूर्वस्यां शालायां भव इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति समासे कृते 'दिक्पूर्वपदात्' इति ञप्रत्यये कृते 'यस्येति च' इत्याकारलोपे आदिवृद्धिरिति भावः । सर्वनाम्न इति । मात्रशब्दः कार्त्स्न्ये । समासतद्धितादिवृत्तिगतसर्वनाम्नां पुंवत्त्वमिति तदर्थः । यदि तु तद्धिते परे दिक्सङ्ख्ये समस्येते इत्युच्यते, तर्हि उत्पन्ने तद्धिते समासः, समासे कृते दिक्पूर्वपदत्वात्तद्धित इत्यन्योन्याश्रयप्रसङ्गः । तद्धितार्थे वाच्ये दिक्सङ्ख्ये समस्येते इति तु न व्याख्यातम् । तद्धितार्थस्य तद्धितवाच्यतया समासार्थत्वाभावात् । अतस्तद्धिते भविष्यती-

---

अर्, पुनः विभक्ति) > सप्तर्षे+अस् ("जसि च" ७-३-१०९→ गुण) > सप्तर्षयः (अय्—आदेश, रुत्व, विसर्ग) । संज्ञा न होने के कारण **'उत्तरा वृक्षाः'** (उत्तर के वृक्ष) तथा **'पञ्च ब्राह्मणाः'** (पाँच ब्राह्मण) में समास नहीं हुआ । वाक्य में ही इनका प्रयोग होगा ।

(७२८) पद—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे, च । **अनुवृत्ति**—दिक्संख्ये, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—तद्धितार्थ के विषय में उत्तरपद परे रहते तथा समाहार वाच्य होने पर दिशावाचक और संख्यावाचक शब्दों का पहले की तरह विकल्प से (समास) हो । उदा० पूर्वस्यां शालायां भवः >पौर्वशालः । समास करने पर 'दिक्पूर्वपदात् असंज्ञायां ञः' (१३२८) से 'ञ' प्रत्यय होगा । वा० सर्वनाम को (पाँचों) वृत्तियों में पुंवद्भाव हो । आपरशालः । पूर्वा शाला प्रिया यस्य—इस त्रिपद बहुव्रीहि में 'प्रिया' शब्द उत्तरपद रहते पहले दो शब्दों का तत्पुरुष समास । इस कारण 'शाला' शब्द में 'आ'को उदात्त होता है→पूर्वशालाप्रियः । दिशावाचक शब्दों का समाहार-अर्थ में समास नहीं कहा गया है । तद्धितार्थ में संख्या का उदाहरण—षण्णां मातॄणाम् अपत्यं> षाण्मातुरः । पञ्च गावः धनं यस्य—इस त्रिपद बहुव्रीहि में अवान्तर तत्पुरुष को विकल्प प्राप्त होने पर 'द्वन्द्व—तत्पुरुष समास में उत्तरपद परे रहते नित्य समास समझा जाय' ।

विवरण—विशेष प्रकार का तत्पुरुष समास बतलाया जारहा है । प्रकृत सूत्र के अर्थ में विशेष आयाम अपेक्षित है । पूर्व दो सूत्रों (७२७, ७२८) से 'दिक्संख्ये' तथा 'समानाधिकरणेन' की अनुवृत्ति के साथ ही अन्य पदों की अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् आरही हैं । सूत्रस्थ 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' समस्त—सप्तम्यन्त पद है (तद्धितार्थश्च, उत्तरपदं च, समाहारश्च—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहाराः, तस्मिन्) । इस प्रकार 'तद्धितार्थे' 'उत्तरपदे' तथा 'समाहारे' ये तीनों पद सप्तम्यन्त हैं । किन्तु तीनों में विषय-भेद से सप्तमी के भिन्न-भिन्न अर्थ अभिप्रेत हैं । तदनुसार

दिक्षु समाहारो नास्त्यनभिधानात्। सङ्ख्यायास्तद्धितार्थे—षण्णां मातृणामपत्यं षाण्मातुरः। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहाववान्तरतत्पुरुषस्य विकल्पे प्राप्ते 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्' (१२८७)। (७२९) गोरतद्धितलुकि

त्येव व्याख्यातुमुचितम्। आपरशाल इति। अपरस्यां शालायां भव इति विग्रहः। समासादि पौर्वशालवत्। उत्तरपदे परतो दिक्समासमुदाहरति—पूर्वा शाला प्रिया यस्येत्यादिना। ननु बहुव्रीहिसमासे कृते सुपां लुप्तत्वात् उत्तरपदे परतः पूर्वयोः किमनेन समासेनेत्यत आह—तेन शालाशब्दे आकार उदात्त इति। अवान्तरतत्पुरुषे सति समासान्तोदात्तत्वेन लकारादाकार उदात्त इत्यर्थः। असति त्ववान्तरतत्पुरुषे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वं स्यादिति भावः। ननु पूर्वेषां पुरुषाणां समाहार इत्यत्रापि समासः स्यादित्यत आह—दिक्ष्विति। दिक्षु समाहारो द्विगुविषयो न भवतीत्यर्थः। समाहारे दिक्पूर्वपदसमासो नास्तीति यावत्। सङ्ख्यायास्तद्धितार्थे इति। समास उदाह्रियत इत्यर्थः। तत्र तद्धितार्थे उदाहरति-षाण्मातुर इति। 'मातुरुत्सङ्ख्यासम्भद्रपूर्वायाः' इत्यण्, प्रकृतेरुकारश्चादेशः, आदिवृद्धिश्च। अथ उत्तरपदे परत उदाहरति—पञ्च गाव इति। अवान्तरतत्पुरुष-

---

१—'तद्धितार्थ' के साथ विषय-सप्तमी, २—'उत्तरपद' के साथ पर-सप्तमी तथा ३—'समाहार' में गम्यमानार्थ-सप्तमी अपेक्षित है। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "तद्धित का विषय उपस्थित होने पर उत्तरपद परे रहते तथा समाहार गम्यमान होने पर भी (च) दिशावाची तथा संख्यावाची सुबन्तों का समर्थ समानाधिकरणवाची सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष-समास होता है"। तद्धितार्थ-विषय की उपस्थिति दो प्रकार से सम्भव है—(१) तद्धित-प्रत्यय का अर्थ प्रतीयमान होते हुए, अथवा (२) समासोत्तर तद्धित-प्रत्यय की उत्पत्ति होते हुए। एक विशेषता यह है कि उपर्युक्त दिशावाची तथा संख्यावाची सुबन्तों में संख्यावाचक समास के तो तीनों स्थलों में उदाहरण मिलते हैं, किन्तु दिशावाचक के दो ही स्थलों में उदाहरण मिलते हैं—दिशावाचक का समाहार अर्थ में समास नहीं होता। तदनुसार इस सूत्र के पाँच उदाहण मिलते हैं—१—तद्धितार्थ में दिक्समास→ पौर्वशालः। २—उत्तरपद में दिक्समास→ पूर्वशालाप्रियः। ३—तद्धितार्थ में संख्यातत्पुरुष→ षाण्मातुरः। ४—उत्तरपद में संख्यातत्पुरुष→ पञ्चगवधनः। ५—समाहार में संख्यातत्पुरुष→ पञ्चगवम्। क्रमशः **उदाहरणों** का निदर्शन—(१) पौर्वशालः (पूर्व शाला में होना) **विग्रह लौकिक**—पूर्वस्यां शालायां भवः। **अलौकिक विग्रह**—पूर्वा+ङि, शाला+ङि > पूर्वा-शाला (भवार्थ तद्धित के विषय में इस सूत्र से समास, विभक्तिलोप, पूर्व-निपातनादि कार्य) > पूर्वाशाला+अ ("दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः—४-२-१०७—'ञ' = 'अ'-प्रत्यय) > पूर्वा शाल्+अ ("यस्येति च"—६-४-१४८—'आ' का लोप) > पौर्वाशाल (आदिवृद्धि) > पौर्वशाल ('सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' वा० से 'पूर्वा' को पुंवद्भाव) > **पौर्वशालः** (विभक्तिकार्य)। आपरशालः (दूसरी शाला में होना)। **लौकिक विग्रह**—अपरस्यां शालायां भवः। **अलौकिक विग्रह**—अपरा+ङि+शाला+ङि> अपराशाला (पूर्ववत् समास) > अपराशाला+अ ('ञ' प्रत्यय) > अपराशाल ('आ' का लोप) >आपराशाला>आदिवृद्धि) >आपरशाल (पुंवद्भाव)>**आपरशालः** (पुनः विभक्त्युत्पत्ति तथा रुत्व एवं विसर्ग)। २—पूर्वशालाप्रियः (जिसे पूर्वशाला प्रिय है)। **लौकिक-विग्रह**—पूर्वा शाला प्रिया यस्य सः। **अलौकिक विग्रह**—पूर्वा सु-शाला+सु, प्रिया+सु > पूर्वा-शाला-प्रिया (प्रकृत सूत्र से उत्तर-पद में दिशा-वाची शब्द का समास) > पूर्वशाला-प्रिया (पुंवद्भाव-'पूर्व' शब्द को "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" वार्तिक) > पूर्वशाला-प्रिय ("एकविभक्तिचाऽपूर्वनिपाते" १-२-४४ से 'प्रिया' की उपसर्जन संज्ञा तथा "गोस्त्रियोरुप-

५।४।९२॥ गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच्स्यात्समासान्तो न तद्धितलुकि। **पञ्चगवधनः।** पञ्चानां गवां समाहारः। (७३०) **सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५२॥** 'तद्धितार्थ—'

स्येति। उत्तरपदे परतो विहितस्येत्यर्थः। **विकल्पे प्राप्ते इति।** महाविभाषाधिकरादिति शेषः। ततश्च पञ्चगोशब्दयोस्तत्पुरुषाभावपक्षे 'गोरतद्धितलुकि' इति तत्पुरुषप्रयुक्तटजभावे पञ्चगोधन इत्यपि स्यादिति भावः। **द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति।** उत्तरपदे परतः यौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ तयोर्नित्यत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। समासग्रहणं तु सम्पातायातम्, अनन्वयात्, उत्तरपदे परतः समाससञ्ज्ञाया अव्यभिचाराच्च, उत्तरपदशब्दस्य समासोत्तरखण्डे रूढत्वात्।

(७२९) **गोरतद्धितलुकि।** 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' इत्यतस्तत्पुरुषस्येत्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणतं गोरित्यनेन विशेष्यते। तदन्तविधिः। 'राजाहस्सखिभ्यः' इत्यतष्टजित्यनुवर्तते। समासान्त इत्यधिकृतम्। तदाह—**गोऽन्तादित्यादिना।** अतद्धितलुकीति किम्? पञ्चभि-र्गोभिः क्रीतः पञ्चगुः। अत्र तद्धितस्य 'अध्यर्ध' इति लुक्। **पञ्चगवधन इति।** त्रिपद-

---

सर्जनस्य" १-२-४८ से 'प्रिया' को ह्रस्व) > **पूर्वशालाप्रियः** (पुनः विभक्त्युत्पत्ति तथा रुत्व एव विसर्ग)। ३—षाण्मातुरः (छह माताओं की सन्तान, कार्तिकेय)। **लौकिक विग्रह**—षण्णां मातॄणाम् अपत्यम्। **अलौकिक विग्रह**—षड्+आम्, मातृ+आम् > षड्-मातृ (संख्यावाची 'षण्णां' का सुबन्त के साथ समास, विभक्तिलोपादि) > षण्मातृ (ड्=ण्—'यरोऽनुनासि-केऽनुनासिको वा' ८-४-४५) > षण्मातृ+अ > षण्मातुर्+अ ('मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः' ४-१-११५ से ऋ=उत्=उर्+अण् प्रत्यय) > षाण्मातुर (आदिवृद्धि-'तद्धितेष्वचामादेः' ७-२-११७) > **षाण्मातुरः** (विभक्त्युत्पत्ति, रुत्व, विसर्ग)। ४—पञ्चगव-धनः (पाँच गायों का स्वामी)। **लौकिक विग्रह**—पञ्च गावः धनं यस्य। **अलौकिक विग्रह**—पञ्चन्+जस्, गो+जस्, धन+सु > पञ्चन्-गो-धन ('धन' पद परे रहते 'पञ्चन्' का 'गो' शब्द के साथ समास) > पञ्च-गो-धन ('न्' का लोप-'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' ८-२-७) > पञ्च-गो+अ+धन ('गोरतद्धितलुकि' ५-४-९२-'टच्' प्रत्यय) > पञ्चगवधन (अवादेश) > **पञ्चगवधनः** (विभक्ति-कार्य)। ५—पञ्चगवम् (पाँच गायों का समुदाय)। **लौकिक विग्रह**—पञ्चानां गवां समाहारः। **अलौकिक विग्रह**—पञ्चन्+आम्, गो+आम् > पञ्च-गो (संख्यावाची 'पञ्चन्' का 'गो' शब्द के साथ समास, न-लोप) > पञ्च-गो+अ ('टच्' प्रत्यय—'गोरतद्धितलुकि' ५-४-९२) > पञ्चगव (ओ+अ=अव) > **पञ्चगवम्** (विभक्त्युत्पत्ति तथा 'स नपुंसकम्' २-४-१७ से समाहारार्थ समुदायवाचक शब्द के एकवचन एवं नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग होने से सु=अम् तथा पूर्वरूप)।

विशेष—(१) संज्ञा-भिन्न शब्दों में इस सूत्र की उपयोगिता है।

(२) त्रिपद बहुव्रीहि में अवान्तर तत्पुरुष का विधान प्रकृत सूत्र से 'विभाषा' अधिकार के फलस्वरूप विकल्प से प्राप्त था, उसका बाधकर वार्तिककार ने उत्तरपद-परक द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास को नित्य समास बतलाया है।

(७२९) पद—गोः, अतद्धितलुकि। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, टच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—गो-शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय हो, किन्तु तद्धित प्रत्यय के लोप होने पर न हो। उदा० पञ्चगवधनः। पञ्चानां गवां समाहारः (इस अर्थ में आगे सिद्धि बतलायी जा रही है)।

विवरण—तद्धित के प्रसङ्ग में समासान्त 'टच्' प्रत्यय का विधान बतलाया जा रहा है। सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये "तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः" (५-४-८६) से 'तत्पुरुषस्य' तथा

(सू ७२८) इत्यत्रोक्तस्त्रिविधः सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः स्यात् । (७३१) **द्विगुरेकवचनम्** २।४।१॥ द्विग्वर्थः समाहार एकवत्स्यात् । 'स नपुंसकम्' (सू० ८२१) इति

बहुव्रीहौ कृते सति धनशब्दे उत्तरपदे परे पूर्वयोस्तत्पुरुषे टचि अवादेश इति भावः। अत्र 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति वार्तिके द्वन्द्वस्योदाहरणं तु वाक् च त्वक् च प्रिया यस्य सः वाक्त्वचप्रिय इति बोध्यम् । इह त्रिपदबहुव्रीहौ कृते पूर्वयोर्नित्यद्वन्द्वः । तेन 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे' इति टजपि नित्य एव । न च वाक्त्वक्छब्दयोः परस्परसामानाधिकरण्याभावात् कथमिह त्रिपदबहुव्रीहिरिति वाच्यम् । द्वयोः प्रियाशब्दसामानाधिकरण्यमादाय तदुपपत्तेः । 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इति ज्ञापकेन कण्ठेकाल इत्यादाविव व्यधिकरणबहुव्रीहिसम्भवाच्च । 'वाक्त्वचप्रियः' इति भाष्ये उदाहरणमेवात्र लिङ्गमित्यलम् । अथ समाहारे उदाहर्तुं विग्रहं दर्शयति—**पञ्चानां गवां समाहार इति** ।

(७३०) अत्र समासे सति 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि अवादेशे पञ्चगवशब्दस्य द्विगुकार्यं विधास्यन् 'द्विगुसंज्ञामाह—**सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः** । सङ्ख्या पूर्वोऽवयवो यस्येति बहुव्रीहिः । 'तद्धितार्थ' इति पूर्वसूत्रविहितसमासः अन्यपदार्थः प्रत्यासत्तेः । तदाह—**तद्धितार्थेत्यत्रोक्तस्त्रिविध इति** । तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये इत्येवं त्रिप्रकारो यः सङ्ख्यापूर्वः समास उक्तः स द्विगुरिति यावत् । यथा च पञ्चगवशब्दस्य समाहारे वाच्ये विहितसमासत्वात् द्विगुसञ्ज्ञा स्थिता । तद्धितार्थे तु पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः पञ्चकपालः । 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यण् । 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक् । उत्तरपदे यथा, पञ्चनावप्रियः । 'नावो द्विगोः' इति समासान्तष्टच् ।

(७३१) **द्विगुरेकवचनम्** । अत्र 'समाहारग्रहणं कर्तव्यम्' इति वार्तिकात् समाहार

"राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" (५-४-९१) से 'टच्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'गोः' पद 'तत्पुरुषस्य' 'का विशेषण है तथा पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित (विपरिणमित) किया गया है, अतः 'तदन्त-विधि' होने के फलस्वरूप सूत्र का यह आशय है कि "गो-शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, किन्तु तद्धित प्रत्यय का लोप अभिलक्षित होने पर यह नहीं होता"। **उदाहरण**—पञ्चगवधनः । प्रक्रिया—पूर्व सूत्र में प्रदर्शित की गई है।

प्रत्युदाहरण—पञ्चगुः (पाँच गायों से खरीदा हुआ)। **विग्रह**—पञ्चभिः गोभिः क्रीतः। यहाँ क्रीतार्थक 'ठक्' (तद्धित) प्रत्यय का "अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५-१-२८) से लुक् (लोप) होने पर 'गो' शब्द को ह्रस्व-"गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१-२-४८)—होकर विभक्तिकार्य हुआ है।

(७३०) पद—संख्यापूर्वः, द्विगुः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—"तद्धितार्थ०"—इस सूत्र में विहित तीन प्रकार का संख्यापूर्व समास द्विगु-संज्ञक होता है।

विवरण—यह अष्टाध्यायी-क्रम में पूर्व पठित सूत्र "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" (२-१-५०) का अवशेष है। अतः सूत्रार्थ में इसके साथ उसका सम्बन्ध दिखाया जा रहा है। तदनुसार यहाँ सूत्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि "तद्धितार्थ, उत्तरपद तथा समाहार में संख्यापूर्व समास 'द्विगु'-संज्ञक होगा"। यहाँ पर 'द्विगु' संज्ञा है तथा 'संख्यापूर्वः' संज्ञी। 'संज्ञी' के विस्तार के लिये पूर्व सूत्र की स्मृति आवश्यक है।

(७३१) पद—द्विगुः, एकवचनम् । **विधिसूत्र (अतिदेश)** ।

मूलार्थ—द्विगु-अर्थक समाहार एकवचन हो। 'स नपुंसकम्' (८२१) से नपुंसक (लिङ्ग) हो। उदा० पञ्चगवम् ।

नपुंसकत्वम्। पञ्चगवम्। (७३२) कुत्सितानि कुत्सनैः २।१।५३ ॥ कुत्स्यमानानि कुत्सनैः सह प्राग्वत्। वैयाकरणखसूचिः। मीमांसकदुर्दुरूढः। (७३३) पापाणके

इति लभ्यते। वक्तीति वचनम्। बाहुलकः कर्तरि ल्युट्। सामान्ये नपुंसकम्। समाहारे द्विगुः एकार्थप्रतिपादकः स्यादिति लभ्यते। तत्र यदि समाह्रियत इति कर्मणि घञि समाहारशब्दः समाहृतप्रधानः, तदा समाहृतगतद्वित्वबहुत्वयोः एकत्वानुपपत्तेरतिदेशस्सम्पद्यते। तदाह—**द्विग्वर्थः समाहार एकवदिति**। यदा समाहरणं समाहारः समूहः, तदा तस्यैकत्वादेव सिद्धमिति नेदं सूत्रमारम्भणीयमिति भाष्ये स्पष्टम्। केचित्तु समूहस्य वस्तुत एकत्वेऽपि उद्भूतावयवभेदविवक्षया द्विबहुवचनव्यावृत्त्यर्थमिदम्। एवं चात्र उद्भूतावयवभेदविवक्षा न कर्तव्येति फलतीत्याहुः। **स नपुंसकमिति**। समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यादिति तदर्थो मूले वक्ष्यते। इति द्विगुसमासः।

(७३२) कुत्सितानि कुत्सनैः। वर्तमाने क्तः, व्याख्यानात्। तदाह—**कुत्स्यमानानीति**। कुत्सनैरिति करणे ल्युट्। **प्राग्वदिति**। समानाधिकरणेन समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः। **वैयाकरणखसूचिरिति**। वैयाकरणश्चासौ खसूचिश्चेति विग्रहः। यः प्रक्रियां पृष्टस्सन् प्रश्ने विस्मारयितुमाकाशं दर्शयति पश्यति वा स एवमुच्यते। अत्र वैयाकरणः

विवरण—प्रासङ्गिक 'द्विगु'-संज्ञा-प्रकरण के अन्तर्गत तदुपयोगी कार्य का निर्देश किया जा रहा है। तदनुसार "समाहारार्थ द्विगु-समास एकवचन अर्थात् एक अर्थ का वाचक होता है" (एकस्य वचनम्)। इसके फलस्वरूप समाहारार्थक द्विगु-समास भी समाहार-द्वन्द्व के समान नपुंसक लिङ्ग एक-वचन में प्रयुक्त समझा जाय। **उदाहरण**—'पञ्चगवम्'। प्रक्रिया सू० ७२९ में देखें।

विशेष—'समाहार' शब्द का अर्थ समाहरण (समूह) मानने पर उसकी एकवचनता स्वतः सिद्ध होने से भाष्यकार पतञ्जलि ने प्रकृत सूत्र के बिना भी कार्य-सिद्धि की सम्भावना सूचित की है।

(७३२) पद--कुत्सितानि, कुत्सनैः। **अनुवृत्ति**--समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र**।

मूलार्थ—निन्द्यमान का निन्द्य के साथ तत्पुरुष समास होता है। उदा० वैयाकरणखसूचिः। मीमांसकदुर्दुरूढः।

विवरण—पुनः प्रकरणप्राप्त समान अधिकरण सम्बद्ध समास का विधान किया जा रहा है। अतः "पूर्वकालैकसर्वजरत०" २-१-४९ से 'समानाधिकरणेन' तथा अन्य आधिकारिक उपर्युक्त अनुवृत्तियाँ आने के फलस्वरूप "निन्दावाचक सुबन्त (कुत्सित)—निन्दापात्र (कुत्स्यमान) समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं तथा वे तत्पुरुषसंज्ञक होते हैं"। **उदाहरण**—(१) वैयाकरणखसूचिः[1] (आकाश की ओर देखने वाला वैयाकरण—अर्थात् ऐसा वैयाकरण, जो व्याकरण की बात पूछने पर आकाश को ओर देखने लगे, बता न सके)। **लौकिक विग्रह**—वैयाकरणश्चासौ खसूचिश्च। **अलौकिक विग्रह**—वैयाकरण+सु, खसूचि+सु > वैयाकरणखसूचि (कुत्सित वैयाकरण का कुत्स्यमान 'खसूचि' के साथ समास, 'वैयाकरण' का पूर्वनिपात) > वैयाकरणखसूचि+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) > **वैयाकरणखसूचिः** (विभक्ति-

---

१. वैयाकरणः = व्याकरण+अण् ("तदधीते तद्वेद" ४-२-५९) > व्-ऐ-याकरण ('ऐच्' आगम 'य्' के पूर्व—"न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" ७-३-३) > वैयाकरणः (विभक्तिकार्य)।

कुत्सितैः २ । १ । ५४ ॥ पूर्वसूत्रापवादः । पापनापितः । अणककुलालः । (७३४)

प्रक्रियाविस्मरणान्निन्द्यः । खसूचनं निन्दाहेतुः । **मीमांसकदुर्दुरूढः इति** । 'दुल उत्क्षेपे' चुरादिः । दुपूर्वादौणादिकः कूटप्रत्ययः । 'बहुलमन्यत्रापि' इति णेर्लुक् । रलयोरभेदात् रः । यो मीमांसामधीत्यान्यथा जानानो दुराक्षेपं करोति स एवमुच्यते । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं सूत्रम् । विशेषणसमासे तु विशेषणस्य पूर्वनिपातः स्यात् ।

(७३३) 'पापाणके कुत्सितैः' । पापशब्दः अणकशब्दश्च कुत्सितवाचकैः समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । ननु विशेषणसमासेनैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—पूर्वसूत्रेति । पापमस्यास्तीति मत्वर्थीयः अर्शआद्यच् । पापशब्दः पापवति वर्तते । अणकशब्दः कुरूपिणि वर्तते । 'कुरूपकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकास्समाः'—इत्यमरः । ततश्च पापाणकशब्दौ निन्दाहेतुभूतपापकुरूपात्मकप्रवृत्तिनिमित्तौ कुत्सनाभिधायिनौ । ततश्चानयोः पूर्वसूत्रेण समासे

कार्य—स् = र = :) (२) मीमांसक[1]दुर्दुरूढः[2] (नास्तिक मीमांसक) । **लौकिक विग्रह**—मीमांसकश्चासौ दुर्दुरूढश्च । **अलौकिक विग्रह**—मीमांसक+सु, दुर्दुरूढ+सु > मीमांसक दुर्दुरूढ (निन्द्यमान का निन्द्य के साथ समास) > मीमांसक-दुर्दुरूढ+सु > **मीमांसकदुर्दुरूढः** (पूर्ववत् विभक्तिकार्य) ।

विशेष—(१) प्रथम उदाहरण में प्रक्रिया के विस्मृत होने से वैयाकरण निन्द्य है । आकाश की ओर देखना निन्दा का हेतु है । द्वितीय उदाहरण में ईश्वरवादी मीमांसक अज्ञानवश ईश्वर के खण्डनार्थ कुतर्क करने से निन्द्य है तथा कुतर्क करना निन्दा का हेतु है ।

(२) प्रकृत सूत्र "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७ का अपवाद है । अन्यथा कर्मधारय समास होने पर विशेषण-वाची शब्द का पूर्वनिपात होता । किन्तु यहाँ बाधक होने से विशेष्यवाची शब्द की पूर्व में स्थिति रही ।

स्मरणीय—(१) अष्टाध्यायी-क्रम में इस सूत्र के पहले द्वितीयाध्याय प्रथम पाद के अन्तर्गत तत्पुरुष-समास-विधायक सभी सूत्र प्रायः "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५६ के अपवाद हैं । उनके उदाहरणों में विशेष्य-वाची शब्दों का ही पूर्व-निपात हुआ है ।

(२) सूत्रस्थ 'कुत्सित' पद में वर्तमानार्थक 'क्त' प्रत्यय है, न कि भूतकालार्थक । इसके फलस्वरूप 'कुत्सित' शब्द का अर्थ 'कुत्स्यमान' = निन्द्यमान किया गया है । भाष्यकार पतञ्जलि ने प्रकृत सूत्र के व्याख्यान में यही व्यवस्था दी है[3] ।

(७३३) पद—पापाणके, कुत्सितैः । **अनुवृत्ति**—कुत्सितैः, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि (संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—पहले सूत्र का अपवाद है । उदा० पापनापितः । अणककुलालः ।

---

१. मीमांसकः = मीमांसा+वुन् ("क्रमादिभ्यो वुन्" ४-२-६१) > मीमांसा+अक (वु = अक "युवोरनाकौ" ७-१-१) > मीमांसक ('आ'-लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > मीमांसकः (विभक्तिकार्य) ।

२. दुर्–√दुल+णिच्+कूट (औणादिक प्रत्यय, णिलोप) > दुर्दुर्+ऊट (ल् = र्—रलयोः अभेदः) > दुर्दुरूट > दुर्दुरूट (ट = ढ–निपातन) ।

३. प्रकृतसूत्रभाष्ये—"किमुदाहरणम् ? वैयाकरणखसूचिः । किं व्याकरणं कुत्सितम् आहोस्विद् वैयाकरणः कुत्सितः । तस्मिन् कुत्सिते तत्स्थमपि कुत्सितं भवति" इत्युक्तम् । एतेन प्रवृत्तिनिमित्तस्य आश्रयकुत्सया यत्र कुत्सा गम्यते तत्रैव एतत्सूत्रप्रवृत्तिः इति लभ्यते । आश्रयकुत्सा च शब्दप्रयोगसमानकालिकी तत्र प्रयोजिका" इति भाष्यव्याख्यानात् लभ्यते ।

उपमानानि सामान्यवचनैः २ । १ । ५५ ॥ घन इव श्यामो घनश्यामः । इह पूर्वपदं तत्सदृशे लाक्षणिकमिति सूचयितुं लौकिकविग्रहे इवशब्दः प्रयुज्यते । पूर्वनिपातनियमार्थं

परनिपातः स्यात् । अतः पूर्वनिपातनियमार्थमिदं सूत्रमित्यर्थः । **पापनापित इति ।** पापश्चासौ नापितश्चेति विग्रहः । **अणककुलाल इति ।** अणकश्चासौ कुलालश्चेति विग्रहः ।

(७३४) उपमानानि सामान्यवचनैः । उपमीयन्ते सदृशतया परिच्छिद्यन्ते यैस्तान्युपमानानि सादृश्यनिरूपकाणीत्यर्थः । सामान्यः उपमानोपमेयसाधारणधर्मः तमुक्तवन्तः शब्दाः सामान्यवचनाः । बाहुलकः कर्तरि ल्युट् । पूर्वं सामान्यमुक्त्वा तद्वति द्रव्ये ये पर्यवस्यन्ति ते सामान्यवचना इति यावत् । तथा च सादृश्यनिरूपकशब्दापरपर्याया उपमानशब्दाः उपमानोपमेयसाधारणधर्मविशिष्टवाचिभिः समानाधिकरणैः समस्यन्ते स तत्पुरुषः इत्यर्थः । **घन इव श्यामो घनश्याम इति ।** नन्विह घन इव श्याम इति विग्रहे घनशब्दस्य श्यामशब्दस्य चैकार्थवृत्तित्वलक्षणसामानाधिकरण्याभावात् कथमिह समासः, इवशब्दापेक्षत्वेनासामर्थ्याच्चेत्यत आह—**इह पूर्वपदमिति ।** एवञ्च घनशब्दो लक्षणया घनसदृशे

विवरण—पूर्व सूत्र २-१-५३ से 'कुत्सनैः' की अनुवृत्ति के अतिरिक्त प्रकरणवश उपर्युक्त अन्य अनुवृत्तियों को समाकलित करने के फलस्वरूप प्रकृत सूत्र से "कुत्सितवाचक (निन्द्यमान) शब्दों के साथ 'पाप' और 'अणक' (पापं च अणकं च पापाणके) शब्दों का विकल्प से तत्पुरुष समास होता है"। **उदाहरण**—(१) पापनापितः (निन्दित नाई) **लौकिक विग्रह**—पापश्चासौ नापितश्च। **अलौकिक विग्रह**—पाप+सु, नापित+सु > पापनापित (समासादि कार्य) > पापनापित+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) > **पापनापितः** (स् = र् = :)। (२) अणककुलालः (घृणित कुम्हार) **लौकिक विग्रह**—अणकश्चासौ कुलालश्च। **अलौकिक विग्रह**—अणक+सु कुलाल+सु > अणककुलाल > **अणककुलालः** (सामासिक प्रक्रिया पूर्ववत्)।

विशेष—यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। अन्यथा कुत्सनवाची 'पाप' तथा 'अणक' शब्दों का नापित एवं कुलाल शब्दों के साथ समास पूर्वसूत्र ("कुत्सितानि कुत्सनैः" २-१-५३) से सिद्ध था। पुनः अपवादस्वरूप आरम्भ पूर्व-निपातार्थ है।

(७३४) पद—उपमानानि, सामान्यवचनैः । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **नियम-सूत्र।**

मूलार्थ—उदा० घन इव श्यामः > घनश्यामः। यहाँ पूर्वपद 'अपने सदृश' अर्थ में लाक्षणिक है। इसे सूचित करने के लिये 'इव' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पूर्व-निपात का नियम इस सूत्र का कार्य है।

विवरण—सूत्र में समस्यमान शब्दों का स्वरूप बतला दिया गया है। किन्तु उनकी स्थिति के सम्बन्ध में "पूर्वकालैकसर्वजरत्०" २-१-४९ सूत्र से आने वाली अनुवृत्ति 'समानाधिकरणेन' विशेष महत्त्वपूर्ण है। शेष सामासिक उपर्युक्त अनुवृत्त पदों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर प्रकृत सूत्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि "उपमानवाची सुबन्तों का सामान्यवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास हो"। **उदाहरण**—घनश्यामः (बादल की तरह काला)। **लौकिक विग्रह**—घनः इव श्यामः। **अलौकिक विग्रह**—घन+सु, +श्याम+सु > घनश्याम (उपमान वाची 'घन' का सामान्यवाची 'श्याम' के साथ समास, विभक्तिलोप, 'घन' शब्द का पूर्वनिपात) > घनश्याम+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) > **घनश्यामः** (स्=र्=:)।

(१) जिस वस्तु से किसी की उपमा दी जाय, वह वस्तु **'उपमान'** होती है। जिसकी उपमा दी जाय, वह **'उपमेय'** होता है। 'घनश्यामो देवदत्तः' में 'घन' उपमान है तथा 'देवदत्त'

सूत्रम् । (७३५) **उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २ । १ ५६ ॥** उपमेयं व्याघ्रादिभिः सह प्राग्वत्साधारणधर्मस्याप्रयोगे सति । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं सूत्रम् ।

रामे वर्तते, श्यामशब्दोऽपि रामे वर्तत इति सामानाधिकरण्यम् । अत एव मृगीव चपला मृगचपला इत्यत्र 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवत्त्वं सिध्यति । घनशब्दस्य भूतपूर्वगत्योपमान-परत्वं निर्वाह्यम् । तथा च 'घनसदृशश्यामः' इति बोधः । सादृश्यं तद्भिन्नत्वे सति तद्गत-धर्मवत्त्वम् । एवञ्च सादृश्यप्रतियोग्यनुयोगिनोस्साधारणधर्मवत्त्वं लब्धम् । स चेह साधारणधर्मः उत्तरपदोपस्थाप्य एव गृह्यते, सन्निहितत्वात् । तथा च घनगतश्यामत्वसदृश-श्यामत्ववान् इति बोधकपर्यवसानम् । ननु विशेषणसमासेन सिद्धे किमर्थमिदं सूत्रमित्यत आह—पूर्वनिपातेति । अन्यथा उभयोरपि गुणवचनतया विशेषणविशेष्यभावे कामचारात् । खञ्जकुब्जः कुब्जखञ्ज इतिवदनियमः स्यादिति भावः ।

(७३५) **उपमितम् । प्राग्वदिति ।** समानाधिकरणैस्समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः ।

उपमेय है । जिस विशेष गुण को लेकर उपमेय में उपमान का साम्य दिखाया जाय उसे 'साधारण-धर्म कहते हैं । जो शब्द समानता को बतायें, वे तद्वाचक शब्द कहलाते हैं । पूर्वोक्त उदाहरण में 'श्यामत्व' धर्म है तथा 'इव' तद्वाचक शब्द है ।

(२) प्रकृत सूत्र का मुख्य प्रयोजन उपमान-वाचक शब्द का पूर्व-निपातन है । अन्यथा कर्मधारय समास में वक्ता की इच्छा के अनुसार 'घन' तथा 'श्याम' इन दोनों शब्दों में से किसी का भी पूर्व-निपात संभव था, क्योंकि दोनों ही गुणवाचक विशेषण-पद हैं । तथापि यहाँ उपमान-पद का पूर्व प्रयोग अपेक्षित है । सूत्र में 'उपमानानि' प्रथमान्त पद है, अतः "प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्" १-२-४३ के अनुसार उसकी उपसर्जन-संज्ञा होने के फलस्वरूप उसका पूर्व प्रयोग होगा ।

(३) पतञ्जलि के अनुसार यहाँ उपमान और उपमेय में सादृश्यमूलक अभेद[1] समान अधि-करण में ही अपेक्षित है । अतः 'उपमान' और 'उपमेय' का समान-विभक्तिक होना आवश्यक है ।

(४) प्रकृत सूत्र के उदाहरण **'घनश्यामः'** (कृष्णः) में उपमान-वाचक 'मेघ' और उपमेय-वाचक 'विष्णु' में समान धर्म 'श्यामत्व' है । अतः दोनों पदों का—'घनश्चासौ श्यामश्च' घन और श्याम का समास हुआ । तथापि यहाँ 'घन' पद लक्षणावृत्ति से घन-सदृश में लाक्षणिक है । इस अर्थ को द्योतित करने के लिये 'इव' (घन इव श्यामः) का प्रयोग विग्रह—वाक्य में किया जाता है ।

(७३५) पद—उपमितं, व्याघ्रादिभिः, सामान्य-वचनैः । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **नियम-सूत्र ।**

मूलार्थ—सामान्य धर्म का प्रयोग न होने पर उपमेय का व्याघ्र-आदि के साथ पहले की तरह (समास) हो । विशेष्य के पूर्व-निपातार्थ सूत्र (की उपयोगिता) है । उदा० पुरुषव्याघ्रः । नृसोमः । व्याघ्रादि आकृतिगण है । 'सामान्याप्रयोगे' क्यों कहा ? पुरुषो व्याघ्र इव शूरः (में समास न हो) ।

विवरण—व्याघ्रादि-गण-पठित शब्दों का साधुत्व (औचित्य) बतलाने के लिये पूर्व सूत्र

---

१. तत्र हि "यत्र किञ्चित्समानञ्चकिञ्चिच्च विशेषस्तत्रोपमानोपमेये भवतः" इत्युक्त्वा मानं हि नाम अनिर्ज्ञात-ज्ञानार्थमुपादीयते तत्समीपे यन्नात्यन्ताय मिमीते तदुपमान'मेवमुक्त्वा 'शस्त्रीश्यामा' इति सूत्रोदाहरणमित्युक्तम् । 'समानाधिकरणेन' इति वर्तते इति चोक्तम्" । तेन उपमानोपमेययोः अभेदान्वय इति स्पष्टमेव लक्ष्यते । म० भा० २-१-५५ ।

पुरुषव्याघ्रः । नृसोमः । व्याघ्रादिराकृतिगणः । सामान्याप्रयोगे किम् ? पुरुषो व्याघ्र इव

अत्रोपमितस्य नित्यमुपमानाकाङ्क्षत्वादुपमानभूतव्याघ्रादिभिरित्यर्थंसिद्धम् । ननु विशेषण-समासेनैव सिद्धे किमर्थमिदं सूत्रमित्यत आह—**विशेष्यस्येति** । उपमानोपमेयसमभिव्याहारे उपमानस्यैव विशेषणत्वात्पूर्वनिपाते प्राप्ते विशेष्यस्य पूर्वनिपातनार्थमिदमित्यर्थः । **पुरुष-व्याघ्र इति** । पुरुषो व्याघ्र इवेति विग्रहः । अत्र सादृश्योपपादकः शौर्यात्मकः साधारण-धर्मः, स इह नोपात्त इति भवति समासः । **पुरुषो व्याघ्र इव शूर इति** । शौर्येण व्याघ्र सदृश इति यावत् । अत्र शौर्यस्योपमानोपमेयसाधारणधर्मस्य प्रयोगान्न समास इति भावः । 'भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः' इति कैयटप्रयोगस्तु मयूरव्यंसकादित्वात्समाधेयः । भाष्य-मेवाब्धिरिति रूपकं वा । न च पुरुषशब्दस्य शूरशब्दसापेक्षत्वादसामर्थ्यदिवात्र समासस्य न प्रवृत्तिः । अतः 'सामान्याप्रयोगे' इति व्यर्थमिति वाच्यम्, समस्यमानेष्वप्रधानस्यैव हि सापेक्षत्वं सामर्थ्यविघातकं, न तु प्रधानस्य । तथा चात्र पुरुषस्य प्रधानतया तस्य शूरापेक्षत्वेऽपि अस्त्येव सामर्थ्यमिति समासप्रवृत्तेः, तन्निवृत्त्यर्थं सामान्याप्रयोग इति वचनम् । इदमेव प्रधानस्य सापेक्षत्वेऽपि न सामर्थ्यविघातकत्वमिति ज्ञापयति । तेन राजपुरुषः सुन्दर इत्यादौ समासः सिद्धो भवतीति भाष्ये स्पष्टम् ।

(२-१-५५) में वर्णित सामासिक विशेषताओं का कुछ विस्तार किया जारहा है । तदनुसार पूर्व सूत्र के अपवाद-स्वरूप इस सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "साधारण धर्म का प्रयोग न होने पर उपमेय-वाची सुबन्त का समानाधिकरणवाची व्याघ्रादि समर्थ सुबन्तों के साथ वैकल्पिक तत्पुरुष समास होगा" । **उदाहरण**—(१) पुरुषव्याघ्रः (व्याघ्र के समान शूर वीर पुरुष) । **लौकिक विग्रह**—पुरुषः व्याघ्रः इव । **अलौकिक विग्रह**—पुरुष+सु, व्याघ्र+सु > पुरुषव्याघ्र (उपमेयवाची 'पुरुष' का 'व्याघ्र' के साथ समास, विभक्तिलोप, सूत्र में 'उपमितं' पद के प्रथमा-निर्दिष्ट होने से तद्वाची 'पुरुष' की उपसर्जन संज्ञा तथा पूर्व-निपात) > पुरुषव्याघ्र +सु > **पुरुषव्याघ्रः** (समासानन्तर विभक्तिकार्य) । (२) नृसोमः (सोम के समान पुरुष) । **लौकिक विग्रह**—ना सोमः इव । **अलौकिक विग्रह**—नृ+सु, सोम+सु > नृ-सोम (समा-सादि कार्य पूर्ववत्) > नृसोम+सु > **नृसोमः** (पुनः विभक्ति-कार्य) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'सामान्याप्रयोगे' पद का उल्लेख होने से तद्विपरीत साधारण-धर्म का प्रयोग होने पर 'व्याघ्र' आदि शब्दों के साथ 'उपमेय' का समास नहीं होगा । अतः **पुरुषः व्याघ्रः इव शूरः**—इस प्रकार विग्रह करने पर इस सूत्र से समास नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ '**शूरः**' पद का प्रयोग किया गया है, जो साधारण-धर्म का बोधक है ।

विशेष—(१) सूत्रस्थ प्रथम उदाहरण में 'पुरुष' उपमेय है, 'व्याघ्र' उपमान है, साधारण-धर्म 'शूरता' है । अर्थात् शूरत्व को अभिलक्षित कर उपमा दी गई है, किन्तु सामासिक वाक्यों में उसका प्रयोग नहीं किया गया है । अतः समास हुआ । इसी तरह दूसरे उदाहरण में भी समझें ।

(२) कर्मधारय समास करने पर 'पुरुषश्चासौ व्याघ्रश्च' इस लौकिक विग्रह में विशेषण-वाची पद 'व्याघ्र' का पूर्व प्रयोग होता, उसे रोकने के लिये इस सूत्र की उपयोगिता है ।

(४) व्याघ्रादि शब्दों के साथ उपमान-वाची शब्दों का प्राचीन अभियुक्तों द्वारा किया गया सामासिक प्रयोग देखकर ही पाणिनि ने व्याघ्रादि-गण की कल्पना की होगी । उसे आकृति-गण भी माना है । इस प्रकार गणपठित शब्दों के अतिरिक्त भी तत्सदृश शब्दों का औचित्य-सिद्ध किया जाता है । तदनुसार मुखपद्मम्, मुखकमलम्, करकिसलयम्, पार्थिवचन्द्रः आदि प्रयोग भी इसी के अन्तर्गत समाविष्ट किये गए हैं ।

शूरः । (७३६) **विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २ । १ । ५७ ॥** भेदकं समानाधिकरणेन भेद्येन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलं > नीलोत्पलम् । बहुलग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्–कृष्णसर्पः ।

---

(७३६) **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** । विशिष्यते अनेनेति विशेषणम्, इतरस्माद् व्यावर्तकम् । व्यावर्त्यं तु विशेष्यं भिन्नत्वेन ज्ञायमानम् । समानाधिकरणेनेत्यधिकृतम् । तदाह—भेदकमिति । प्राग्वदिति । समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । नीलमुत्पलं नीलोत्पलमिति । नीलपदं तावदुत्पलमनीलादुत्पलाद्व्यावर्तयतीति विशेषणसमर्पकम् । तस्य उत्पलपदेन विशेष्यसमर्पकेण समासः । प्रथमानिर्दिष्टत्वाद्विशेषणस्य पूर्वनिपात इति भावः । न च उत्पलपदम् अनुत्पलान्नीलं व्यावर्तयतीत्युत्पलपदस्यापि विशेषणत्वं स्यादिति वाच्यम्, जातिशब्दो गुणक्रियाशब्दसमभिव्याहारे विशेष्यसमर्पक एव, न तु विशेषणसमर्पकः, स्वभावात् । यथा–नीलोत्पलं, पाचकब्राह्मण इति । गुणशब्दयोः समभिव्याहारे विशेषण-

---

(७३६) पद—विशेषणं, विशेष्येण, बहुलम् । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—विशेषण (भेदक) का समान-अधिकरण वाले विशेष्य (भेद्य) के साथ विकल्प से समास होता है । उदा० नीलम् उत्पलम् > नीलोत्पलम् । 'बहुल' ग्रहण करने से कहीं नित्य भी होता है । उदा० कृष्णसर्पः । कहीं नहीं भी होता । जैसे—रामः जामदग्न्यः ।

विवरण—तत्पुरुष का ही भेद कर्मधारय समास है । इसमें दोनों पद प्रथमान्त होते हैं । एक पद विशेषण का बोधक होता है, दूसरा विशेष्य का । विशेषण और विशेष्य—ये दोनों एक ही पदार्थ को सूचित करते हैं । अतः इन्हें समानाधिकरण कहा जाता है । तदनुसार उपर्युक्त सभी अनुवृत्त पदों के साथ एकवाक्यता होने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "विशेषणवाची सुबन्त का विशेष्यवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ, प्रायः (बहुलम् – अधिकतर) तत्पुरुष समास होगा" । **उदाहरण**—नीलोत्पलम् (नील कमल) । **लौकिक विग्रह**—नीलम् च तत् उत्पलम् । **अलौकिक विग्रह**—नील+सु , उत्पल+सु > नील-उत्पल (विशेषण–वाची 'नील' तथा विशेष्यवाची "उत्पल" का समास, विभक्तिलोप, विशेषण–वाची (विशेषण) 'नील' की उपसर्जन–संज्ञा तथा पूर्व निपात) > नीलोत्पल (अ+उ = ओ—गुणसन्धि) > नीलोत्पल+सु (समासोत्तर विभक्त्युत्पत्ति) > नीलोत्पल + अम् (सु – अम्—"अतोऽम्" ७-१-२४) > **नीलोत्पलम्**—(अ+अम् = अम्—पूर्वरूप—"अमि पूर्वः" ६-१-१०७) । पक्ष में **नीलम् उत्पलम्** भी प्रयोग होगा ।

विशेष—(१) सूत्र में 'बहुल' पद का प्रयोग किया गया है । इसके ४ अर्थों का विवरण पहले (सूत्र संख्या ६९४ पर) दिया जाचुका है । जिसके अनुसार कहीं-कहीं इस समास की नित्य प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है । जैसे **कृष्णसर्पः**—यहाँ पर विग्रहात्मक प्रयोग समीचीन नहीं है । कृष्ण सर्पः की सिद्धि पूर्ववत् समझें । **विग्रह**—कृष्णः च असौ सर्पः । **लौकिक विग्रह**—कृष्ण+सु , सर्प +सु > कृष्णसर्प > कृष्णसर्प+सु > कृष्णसर्पः । इसके साथ ही कहीं कहीं समास होता ही नहीं । जैसे—**रामः जामदग्न्यः** । यहाँ समास की समीचीनता स्वीकृत नहीं है । अन्यथा 'रामजामदग्न्यः' प्रयुक्त होता ।

(२) सूत्र की वृत्ति में 'भेदक' और 'भेद्य' शब्द क्रमशः विशेषण और विशेष्य के पर्यायवाची (समानार्थक) बतलाये हैं । भेदक शब्द का अर्थ है 'रोकने वाला' । इसी को 'व्यावर्तक' भी कहा जाता है । इस अर्थ का सूचक 'विशेषण' (विशिष्यते येन इति विशेषणम्—वि-शिष्+ ल्युट् > वि- √ शिष्+अन (यु = अन) > विशेषन (लघूपध–गुण–इ = ए) > विशेषण

क्वचिन्न-रामो जामदग्न्यः। **(७३७) पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च २।१।५८॥** पूर्वनिपातनियमार्थमिदम्। पूर्ववैयाकरणः। अपराध्यापकः।

विशेष्यभावस्य न नियमः। यथा-खञ्जकुब्जः कुब्जखञ्ज इति। क्रियाशब्दयोरप्यनियमः। यथा-पाचकपाठकः पाठकपाचक इति। तथा गुणक्रियाशब्दयोरप्यनियमः। यथा-खञ्जपाचकः पाचकखञ्ज इति भाष्ये स्पष्टम्। तथा कैलासाद्रिः, मन्दराद्रिः, अयोध्यानगरी इत्यादौ सञ्ज्ञाशब्दा अपि विशेषणसमर्पका एव स्वभावात्। सामान्यजातिविशेषजातिशब्दयोः समभिव्याहारे तु विशेषजातिरेव विशेषणम्। शिंशपावृक्ष इत्यादि ज्ञेयम्। ननु वाग्रहणेन सिद्धे बहुलग्रहणं किमर्थमित्यत आह—बहुलग्रहणादिति।

(७३७) पूर्वापर। पूर्वादयः समानाधिकरणेन समस्यन्ते इत्यर्थः। विशेषणसमासेनैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—पूर्वनिपातेति। अपराध्यापक इति। बहुलग्रहणानुवृत्त्या पाचकादिक्रियाशब्दैः पूर्वादीनामेषां न समास इति समर्थसूत्रे भाष्ये स्थितम्। ततश्च 'अपराध्यापकः' इत्युदाहरणमुपेक्ष्यम्। अपरमीमांसक इत्युदाहरणमुचितम्।

(न = ण)] पद है। जिसकी व्यावृत्ति की जाय उसे विशेष्य = भेद्य = व्यावर्त्य कहा जाता है। तदनुसार 'नीलकमलम्' में नील-पद नीलगुणाश्रय अर्थ का बोधक है, क्योंकि वहाँ पर 'नील' शब्द से विहित 'मतुप्' (वान्) प्रत्यय का लोप हो गया है। अतः वह कमल (नीलोत्पल) नीलगुणाश्रय से अभिन्न है। अर्थात् 'नील' विशेषण से रक्त, पीत आदि गुणों की व्यावृत्ति होती है और केवल 'नील' गुण की ही स्थिति विद्यमान रहती है।

(३) कर्मधारय समास में अधिकतर विशेषण—विशेष्यभाव वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है। अतः 'पाचकपाठकः' (पाचकश्चासौ पाठकः) एवं 'पाठकपाचकः' (पाठकश्चासौ पाचकः) इत्यादि उभयविध प्रयोग समीचीन माने जाते हैं। इसी प्रकार 'नीलोत्पलम्' की तरह 'उत्पलनीलम्' आदि प्रयोग भी समीचीन क्यों न माने जायँ? किन्तु ऐसा नहीं माना जाता। कारण यह है कि विशेषण—विशेष्य भाव में मनमानी (कामचार) सर्वत्र नहीं चल सकती। उसकी भी थोड़ी-बहुत सीमायें हैं। इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की जाती है कि जहाँ दोनों गुण-वाची शब्द या दोनों क्रियावाची शब्द अथवा दोनों गुण-क्रियावाची शब्द समानाधिकरण में प्रयुक्त हों वहीं पर विशेषण-विशेष्यभाव में परिवर्तन हो सकता है, अन्यत्र नहीं। अर्थात् द्रव्यवाची शब्दों की तो गुणवाचक एवं क्रियावाचक शब्दों के प्रति विशेष्यता ही रहती है, वे विशेषण नहीं हो सकते। इसके फलस्वरूप 'कृष्णतिलाः', 'नीलोत्पलम्', 'पाचकब्राह्मणः' इत्यादि में द्रव्यवाची 'तिल' तथा 'उत्पल' शब्द विशेष्यवाची ही रहेंगे, क्योंकि वाक्यार्थ में द्रव्य की ही प्रधानता है। वहाँ गुण का एक क्रिया में अन्वय द्रव्य-परिच्छेद द्वारा ही होता है[1]।

(७३७) पद—पूर्वापर...वीराः, च। **अनुवृत्ति**—विशेषणं विशेष्येण, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **नियम-सूत्र**।

मूलार्थ—यह सूत्र पूर्वनिपात के नियम के लिये है। उदा० पूर्ववैयाकरणः। अपराध्यापकः।

---

१. अत्र भाष्यम् "द्वाविमौ प्रधानशब्दौ (तिलकृष्णौ) एकस्मिन्नर्थे अवरुध्येते। न च द्वयोः प्रधानशब्दयोः एकस्मिन्नर्थे युगपदवरुध्यमानयोः किं चिदपि प्रयोजनमस्ति, तत्र प्रयोगादेतत् गन्तव्यं नूनमन्यतरत् प्रधानं तद्विशेषकं चापरमिति। तत्र त्वेतावान् सन्देहः किं प्रधानं, किं विशेषणमिति? स चापि क्व सन्देहः यत्र उभौ गुणशब्दौ? तद्यथा—खञ्जकुब्जः, कुब्जखञ्ज इति। यत्र हि अन्यतरद् द्रव्यम् अन्यतरो गुणः तत्र यद् द्रव्यं तत् प्रधानम्। तद्यथा—शुक्लमालभेत कृष्णमालभेत" इति। म० भा० २-१-५७।

'अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः' (वा ३२५३) । अपरश्चासावर्धश्च पश्चार्धः । कथम् 'एकवीरः' इति । 'पूर्वकालैक–' (सू ७२६) इति बाधित्वा परत्वादनेन समासे 'वीरैकः'

अपरस्यार्धे इति । 'पश्चात्' इति सूत्रभाष्ये इदं वार्तिकं स्थितम् । प्रथमवैयाकरणः, चरमवैयाकरणः, 'मध्यान्मः' मध्यमवैयाकरणः, वीरवैयाकरणः । आक्षिपति—**कथमेकवीर इति ।** हि यतः, अनेन प्रकृतसूत्रेण, वीरशब्दस्यैकशब्देन समासे सति वीरशब्दस्य पूर्वनिपाते सति वीरैक इति स्यात् । अतः 'एकवीरः' इति कथमित्यन्वयः । ननु 'पूर्वकालैक' इति सूत्रेणैकशब्दस्य वीरशब्देन समासे सति 'एकवीरः' इति निर्बाधमित्यत आह—**पूर्वकालैकेति बाधित्वा परत्वादिति ।** परिहरति—**बाहुलकादिति ।** बहुलग्रहणानुवृत्तेरस्य सूत्रस्याप्रवृत्तौ पूर्वकालेत्येव समासो भवतीत्यर्थः ।

वा० 'अपर' का अर्ध-शब्द के साथ समास होने पर उसके स्थान में 'पश्च' आदेश हो । उदा० अपरश्चासौ अधश्च > पश्चार्धः । 'एकवीरः' का प्रयोग कैसे ? क्योंकि 'पूर्वकालैक" ७२७ का बाध कर, पर होने के कारण प्रकृत सूत्र से समास होने पर 'वीरैकः' निष्पन्न होना चाहिये । 'बहुल' की अनुवृत्ति करने से यह सिद्ध होगा ।

विवरण—समानाधिकरण विशेषण-विशेष्य-समास का ही विस्तार किया जा रहा है । अतः "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७ से 'विशेषणं विशेष्येण' अंश की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्तियाँ यथानुरूप चली आरही है । सूत्रस्थ 'पूर्वापर··· वीराः' में इतरेतर द्वन्द्व समास है । **विग्रह**—पूर्वश्च, अपरश्च, प्रथमश्च, चरमश्च, जघन्यश्च, समानश्च, मध्यश्च, वीरश्च—पूर्वापर···वीराः । सबको समाकलित कर सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम तथा वीर—इन विशेषणवाची सुबन्तों का भी विशेष्यवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है" । **उदाहरण**—पूर्ववैयाकरणः (प्राचीन वैयाकरण) । **लौकिक विग्रह**—पूर्वश्चासौ वैयाकरणः । **अलौकिक विग्रह**—पूर्व+सु+ वैयाकरण+ सु >पूर्व-वैयाकरण ('पूर्व' के साथ 'वैयाकरण' का समास, विभक्तिलोप, 'पूर्व' शब्द की उपसर्जन संज्ञा तथा उसका पूर्व-निपात) ▷ पूर्ववैयाकरण+सु (समासोत्तर विभक्त्युत्पत्ति) ▷ **पूर्ववैयाकरणः** (स् = र् = :) । (२) (क) अपराध्यापकः (नवीन अध्यापक) । **लौकिक विग्रह**—अपरश्चासौ अध्यापकः । **अलौकिक विग्रह**—अपर+सु, अध्यापक+सु, > अपर-अध्यापक (पूर्ववत् समासादि) ▷ अपराध्यापक (अ+अ = आ—सवर्णदीर्घ—"अकः सवर्णे दीर्घः" ६-१-१०१) > अपराध्यापक+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) ▷**अपराध्यापकः** (स् = र् = :) । (२) (ख) पश्चार्धः (नीचे का आधा भाग) । **लौकिक विग्रह**—अपरश्चासौ अर्धश्च । **अलौकिक विग्रह**—अपर+सु, अर्ध+सु ▷ अपर-अर्ध (पूर्ववत् समासादि) ▷ पश्च-अर्ध ('अपर-स्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः' (वा०) से अपर = पश्च) ▷ पश्चार्ध (अ+अ = आ–सवर्ण दीर्घ) > पश्चार्ध+सु (पुनः विभक्ति) ▷ **पश्चार्धः** (स् = र् = :) ।

शङ्का-समाधान—(१) पूर्व, अपर आदि विशेषणवाची सुबन्तों का समानाधिकरण विशेष्यवाची सुबन्तों के साथ "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७ सूत्र से समास सम्भव था, किन्तु उसमें गुणवाचक एवं क्रिया-शब्दों का पौर्वापर्य निश्चित नहीं रहता । उदाहरणार्थ—खञ्ज-कुब्जः, कुब्जखञ्जः की तरह पाचकपाठकः, तथा पाठकपाचकः—प्रयोग होते हैं । उसी प्रकार गुण क्रिया-शब्दों में भी खञ्जपाचकः एवं पाचकखञ्जः के समान उपर्युक्त पूर्वापर शब्दों के साथ भी विवक्षानुसार दोनों तरह प्रयोग होने लगते, उसके निवारणार्थ "पूर्वापर०" (२-१-५८) सूत्र में समस्यमान पदों में पूर्व आदि शब्दों का पूर्व-निपात-नियमन होता है ।

इति हि स्यात् । बहुलग्रहणाद्भविष्यति । (७३८) श्रेण्यादयः कृतादिभिः २।१।५९॥ 'श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनं कर्तव्यम्' (वा १२९६)। अश्रेणयः श्रेणयः कृताः 'श्रेणीकृताः'।

(७३८) **श्रेण्यादयः** । श्रेण्यादयः कृतादिभिः समानाधिकरणैः समस्यन्ते स तत्पुरुष इत्यर्थः । **श्रेण्यादिष्विति** । श्रेण्यादिषु समासविधौ च्व्यर्थवचनं च्विप्रत्ययार्थेऽभूततद्भावे गम्ये श्रेण्यादीनां समासो वक्तव्य इत्यर्थः । **अश्रेणय इति** । शिल्पेन पण्येन वा जीविनां समूहाः श्रेणयः । पूर्वं शिल्पेन पण्येन वा जीवितुमसमर्थाः इदानीं तेन जीवितुं समर्थाः कृता इत्यर्थे समासे सति 'श्रेणिकृताः' इति भवतीत्यर्थः । श्रेणिशब्दो ह्रस्वान्तः भाष्ये तथैवोदाहरणात् । यदा तु सिद्धा एव श्रेणयः परिष्कृतास्तदा तु न समासः, च्व्यर्था-भावात् । च्विप्रत्ययान्तस्य तु परत्वात् 'कुगति' इति नित्यसमासः । ततः 'च्वौ च' इति श्रेणिशब्दस्य दीर्घः ।

---

(२) प्रकृत सूत्र में विहित 'वीर' पद के साथ 'एक' शब्द का समास करने पर 'वीर' शब्द का पूर्व-निपात सम्भावित रहा, तदनुसार 'वीरैकः' प्रयोग समीचीन होना चाहिये न कि 'एक-वीरः' । इसका समाधान भट्टोजि दीक्षित ने इस प्रकार दिया है कि 'एकश्चासौ वीरः'—इस विग्रह में "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन" (२-१-४९) से प्राप्त समास को बाध कर प्रकृत सूत्र में "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७ से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति कर "पूर्व-कालैक०" २-१-४९ से समास होकर 'वीर' शब्द के पूर्व-निपात द्वारा 'एकवीरः' शब्द निष्पन्न होता है" । 'एकवीरः' की प्रक्रिया पूर्ववत् समझें[1] । 'बहुलम्' पद की अनुवृत्ति न करने पर भी 'एकवीरः' का औचित्य 'पूर्वविप्रतिषेध' की कल्पना कर "पूर्वकालैक०" २-१-४९ सूत्र से ही समास किये जाने से पुनरपि स्वतः सिद्ध है ।

(७३८) पद—श्रेण्यादयः, कृतादिभिः । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—वा० श्रेण्यादि में 'च्वि'-प्रत्यय के अर्थ में समास कहना चाहिये । उदा० अश्रेणयः श्रेणयः कृताः > श्रेणीकृताः ।

विवरण—समान-अधिकरण का ही प्रकरण चल रहा है । प्रकरण-सूत्र के अनुसार उपर्युक्त अनुवृत्तियों का लाभ कर सूत्रस्थ पदों के साथ एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "श्रेणी आदि सुबन्त—कृतादि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ–विकल्प से समस्त होकर तत्पुरुष-संज्ञक होंगे" । इस समास के सम्बन्ध में **वार्तिक** द्वारा यह स्पष्ट किया जा रहा है कि 'श्रेणी आदि शब्दों का समास 'च्वि'–प्रत्यय के अर्थ में कहा जाय' । **उदाहरण**—श्रेणीकृताः (जो श्रेणी नहीं थे उन्हें श्रेणी किया गया) । **लौकिक विग्रह**—अश्रेणयः श्रेणयः कृताः । **अलौकिक विग्रह**—श्रेणी + जस्, कृत + जस् > श्रेणी कृत ('च्वि'–प्रत्यय के अर्थ में 'श्रेणी' शब्द का 'कृत' शब्द के साथ समास, विभक्तिलोप, 'श्रेणी' का पूर्वनिपात) > श्रेणीकृत + जस् > **श्रेणीकृताः** (अ + अस् = पूर्वसवर्णदीर्घ, स् = र् = :) ।

विशेष—(१) 'च्वि' प्रत्यय अभूत-तद्भाव अर्थ में होता है । अर्थात् जो घटना नहीं हुई है, उसका कथन 'अभूत-तद्भाव' है । **'श्रेणी'** शब्द से यहाँ तात्पर्य ऐसे शिल्पियों से है जो समान 'पण्य' अथवा 'शिल्प' से अपना जीवन-यापन करें । यहाँ ऐसे समुदाय से तात्पर्य है जो पहले

---

१. "यद्यपि 'दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः' इत्यत्र पूर्वकालैकेति बाधित्वा परत्वादस्यैव प्रवृत्त्या वीरैक इति युक्तम् । तथापि पूर्वविप्रतिषेधो बोध्य इति केचित् । बाहुलकात्तदित्यन्ये ।—व्या० सि० सु० पृ० ९६० ।

(७३९) क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् २ । १ । ६० ॥ नञ्विशिष्टेन क्तान्तेनानञ् क्तान्तं समस्यते । कृतं च तदकृतं च कृताकृतम् । 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' (वा १३१०) । शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । देवब्राह्मणः । (७४०)

(७३९) **क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्** । नञ्विशिष्टेन क्तान्तेन समानाधिकरणेन सह नञ्रहितं क्तान्तं समस्यते, स तत्पुरुष इत्यर्थः । **कृतं च तदिति** । एकदेशस्य करणात्कृतम् एकदेशान्तरस्वीकरणात्तदेवाकृतम् । पूर्वनिपातनियमार्थम् । सिद्धं च तदभुक्तं चेत्यत्र तु नायं समासः, विशिष्टशब्दो ह्यत्राधिकवाची । यथा देवदत्ताद्यज्ञदत्तः स्वाध्यायेन विशिष्ट इत्युक्ते अधिक इति गम्यते । नञैव विशिष्टं नञ्मात्राधिकेन क्तान्तेनेति लभ्यते । एवञ्च समानप्रकृतिकत्वं क्तान्तयोः पर्यवसन्नमिति बोध्यम् । **शाकपार्थिवादीनामिति** । 'वर्णो वर्णेन' इति सूत्रभाष्ये इदं वार्तिकं पठितम् । **शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिव इति** । शाकः प्रियः यस्य स शाकप्रियः । 'वा प्रियस्य' इति प्रियशब्दस्य परनिपातः । शाकप्रियश्चासौ पार्थिवश्च इति विग्रहे बहुव्रीहिगर्भो विशेषणसमासः । तत्र पूर्वखण्डे बहुव्रीहौ उत्तरपदस्य प्रियशब्दस्य लोपः । **देवब्राह्मणः इति** । देवाः प्रियाः यस्य स देवप्रियः, स चासौ ब्राह्मणश्चेति विग्रहः । पूर्ववदुत्तरपदलोपः । देवपूजको ब्राह्मणः इति वा विग्रहः ।

समान-शिल्प से अपना निर्वाह नहीं करते थे, किन्तु बाद में उन्हें वैसा (समान-शिल्पधारी) बनाया गया[1] । माघ-काव्य में 'वणिक्पथे **पूगकृतानि** यत्र' दूसरा उदाहरण दिया है ।

(२) जहाँ समान-शिल्पियों की श्रेणी वास्तविक है, वहाँ समास नहीं होगा ।

(३) सूत्र में 'श्रेण्यादयः' पदस्थ 'आदि' शब्द 'व्यवस्था'–वाची है तथा 'कृतादिभिः' पदस्थ 'आदि' शब्द 'प्रकार'-वाची है । 'श्रेणी' आदि शब्द गण-पठित हैं और वे संख्या में २३ हैं । अन्त में गणपाठ देखें । 'कृत' आदि आकृतिगण माने गए हैं[2] ।

(७३९) पद—क्तेन, नञ्विशिष्टेन, अनञ् । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **नियम-(विधि)-सूत्र** ।

मूलार्थ—नञ् विशिष्ट 'क्त'-प्रत्ययान्त के साथ नञ्-रहित क्तान्त पद का समास होता है । उदा० कृतं च अकृतं च > कृताकृतम् । वा० शाकपार्थिवादि की सिद्धि के लिये उत्तर पद का लोप कहा जाय । उदा० १—शाकप्रियः पार्थिवः > शाकपार्थिवः । २—देवपूजकः ।

विवरण—समानाधिकरणोपयोगी सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् चली आ रही हैं । सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता कर यह अभिव्यंजित होता है कि "नञ्–विशिष्ट 'क्त' प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ नञ्–रहित क्त–प्रत्ययान्त सुबन्त का विकल्प से तत्पुरुष समास हो" । **उदाहरण**—कृताकृतम् (किया न किया बराबर ही) । **लौकिक विग्रह**—कृतं च अकृतं च । **अलौकिक विग्रह**—कृत + सु, अकृत सु > कृत-अकृत (क्तान्त 'कृत' का नञ्–सहित क्तान्त 'अकृत' के साथ समास, विभक्तिलोप, 'कृत' की उपसर्जन संज्ञा तथा पूर्व निपात) > कृताकृत (अ = आ–सवर्ण दीर्घ– "अकः सवर्णे दीर्घः" ६-१-१०१) > कृताकृत + सु > **कृताकृतम्** (पुनः विभक्तिकार्य) । **वार्तिकार्थ**—शाकपार्थिव आदि शब्दों की समीचीनता के लिये उत्तर-पद का लोप अभीष्ट है । **उदाहरण**—(१) शाकपार्थिवः (शाकप्रिय राजा) । **लौकिक विग्रह**—शाकप्रियः पार्थिवः ।

---

१. 'एकशिल्पपण्याश्रयणेन जीविनां सङ्घः **श्रेणिः** । तत्र यदा पृथक् संस्थितानां श्रेणीकरणं तदा समासो यथा स्यात् । यदा तु श्रेणीस्थानामेव दण्डनादिरूपप्रकरणं तदा मा भूत्' ।—कैयटः—म० भा० २-१-५९ ।

२. श्रेण्यादयः पठ्यन्ते । कृतादिराकृतिगणः । म० भा० २-१-५९ ।

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः २ । १ । ६१ ॥ सद्वैद्यः । वक्ष्यमाणेन महतः आकारः । महावैयाकरणः । पूज्यमानैः किम् ? उत्कृष्टो गौः । पङ्कादुद्धृत इत्यर्थः ।

---

(७४०) **सन्महत्परम** । 'समानाधिकरणैः समस्यन्ते स तत्पुरुषः' इति शेषः । **सद्वैद्य इति** । सन् वैद्य इति विग्रहः । चिकित्साशास्त्रकूलङ्कषज्ञानवत्वं सत्त्वम् । तेन वैद्यस्य पूजा गम्यते । पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम् । **वक्ष्यमाणेनेति** । महांश्चासौ वैयाकरणश्चेति विग्रहे अनेन समासे सति महच्छब्दस्य 'आन्महतः' इति वक्ष्यमाणेन आकारेऽन्तादेशे सवर्णदीर्घे वीरवैयाकरण इति भवतीत्यर्थः । ननु उत्कृष्टो गौरित्यत्रोत्कृष्टशब्दस्य अतिशयितवाचितया तेन गोः पूजावगमात् कथमिह समासो न भवतीत्यत आह—पङ्कादुद्धृत इत्यर्थं इति । उत्पूर्वकः कृष्धातुरिहोद्धरणार्थक इति भावः । परमवैद्यः उत्तमवैद्यः, उत्कृष्टवैद्यः । गुणक्रियाशब्दैः समासे सदादीनां पूर्वनिपातनियमार्थमिदं सूत्रम् ।

अलौकिक विग्रह—शाकप्रिय्+सु, पार्थिव+सु>शाकपार्थिव (विशेषण-वाची पद 'शाकप्रिय' का विशेष्य-वाची पद 'पार्थिव' के साथ—"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २.१-५७ समास तथा इस **वार्तिक** से 'शाकप्रिय' के उत्तरपद 'प्रिय' का लोप) > शाकपार्थिव+सु > **शाकपार्थिवः** (पुनः विभक्तिकार्य) । (२) देवब्राह्मणः (देवताओं का पूजक ब्राह्मण) । **लौकिक विग्रह**—देवपूजकः ब्राह्मणः । **अलौकिक विग्रह**—देवपूजक्+सु, ब्राह्मण+सु>देवब्राह्मण (पूर्ववत् समास एवं 'पूजक' का लोप) > देवब्राह्मण+सु > **देवब्राह्मणः** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्) ।

विशेष—(१) प्रथम उदाहरण के 'शाकप्रियः' अंश में बहुव्रीहि समास है। विग्रह है—शाकं प्रियं यस्य सः । तदनन्तर 'शाकप्रियश्चासौ पार्थिवः' विग्रह कर रूप सिद्धि होगी। पार्थिव = पृथिवी+अण् ("तस्येश्वरः" ५-४-४२ → पृथिव्याः ईश्वरः) > पार्थिव्+अ (आदिवृद्धि एवं 'ई' का लोप) >पार्थिवः (तद्धितानन्तर विभक्तिकार्य) । इसी तरह दूसरे उदाहरण में भी 'देवानां पूजकः = देवपूजकः में षष्ठी तत्पुरुष समास करने के पश्चात् देवब्राह्मणः रूप निष्पन्न किया जाय ।

(२) सूत्र की उपयोगिता पूर्व-निपात-नियमन के लिये है ।

(७४०) पद—सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः, पूज्यमानैः-। **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **नियम-विधि-सूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १-सद्वैद्यः । २-महावैयाकरणः—आगे आने वाले सूत्र से 'महत्' को आकार अन्तादेश । पूज्यमान क्यों कहा ? उत्कृष्टः गौः (पूज्य न होने से समास नहीं) ।

विवरण—गुण तथा क्रियावाची शब्दों के साथ समास होने पर पूर्व-निपात की ही व्यवस्था की जा रही है। प्रासङ्गिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विद्यमान हैं। सूत्र में सत्, महत्, परम, उत्तम तथा उत्कृष्ट शब्दों का उल्लेख है। अतः "इन शब्दों का पूज्यमान समानाधिकरणों के साथ वैकल्पिक तत्पुरुष समास होती है"। **उदाहरण**—सद्वैद्यः (अच्छा वैद्य) । **लौकिक विग्रह**—सन् चासौ वैद्यः । **अलौकिक विग्रह**—सत्+सु, वैद्य+सु । > सद्वैद्य ('सत्' का 'वैद्य' शब्द के साथ समास विभक्तिलोप, 'सत्' का पूर्वनिपात, जश्त्व आदि) > सद्वैद्य+सु (पुनः विभक्ति) **सद्वैद्यः** (रुत्व, विसर्ग) । (२) महावैयाकरणः (श्रेष्ठ वैयाकरण) । **लौकिक विग्रह**—महाँश्चासौ वैयाकरणः । **अलौकिक विग्रह**—महत्+सु, वैयाकरण+सु > महत्-वैयाकरण (समासादि कार्य पूर्ववत्)>मह-आ-वैयाकरण (त् = आ—"आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" ६-३-४६) > महावैयाकरण (अ+आ = आ-सवर्णदीर्घ) > **महावैयाकरणः** (विभक्ति, स् = र् = :) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'पूज्यमानः' पद का सन्निवेश करने से **'उत्कृष्टः गौः'** (कीचड़ से

(७४१) वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् २ । १ । ६२ ॥ गोवृन्दारकः । व्याघ्रादेः आकृतिगणत्वादेव सिद्धे सामान्यप्रयोगार्थं वचनम् । **(७४२) कतरकतमौ जातिपरि-**

---

(७४१) **वृन्दारकनागकुञ्जरैः** । समानाधिकरणैः समस्यत इति शेषः । विशेषण-समासेनैव सिद्धे विशेष्यस्य पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम् । **गोवृन्दारक इति** । वृन्दारक-शब्दो देवतावाची । 'अमरा निर्जरा देवाः' इत्युपक्रम्य, 'वृन्दारका दैवतानि' इत्यमरः । गौः वृन्दारक इवेति विग्रहः । गौः नाग इव गोनागः । गौः कुञ्जर इव गोकुञ्जरः । नागशब्दः कुञ्जरशब्दश्च गजवाची । अत्र गोर्वृन्दारकादितुल्यत्वात् श्रैष्ठ्यं गम्यत इति पूज्यमानता । ननु व्याघ्रादेराकृतिगणत्वात् 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्येव सिद्धे किमर्थं-मिदमित्यत आह—**व्याघ्रादेरिति । सामान्येति** । गोकुञ्जरः श्रेष्ठ इत्यादाविति भावः ।

निकाला गया बैल) में समास नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ इस वाक्य में 'उत्कृष्ट' शब्द श्रेष्ठतासूचक नहीं है । वह 'खींचने' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

शेष **उदाहरण**—(३) **परमपुरुषः**, (४) **उत्तमपुरुषः**, (५) **उत्कृष्टपुरुषः** भी इसी प्रकार समझें जायँ ।

विशेष—यह सूत्र भी एक प्रकार से "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५१ का विस्तार ही है ।

(७४१) पद—वृन्दारकनागकुञ्जरैः, पूज्यमानम् । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप् , सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—(सूत्रोक्त शब्दों के साथ पूज्यमान का समास हो) उदा० गोवृन्दारकः । व्याघ्रादि के आकृतिगण होने से ही समास सिद्ध था, केवल सामान्य के प्रयोग होने पर समास का कथन है ।

विवरण—विशेषण-वाची शब्दों के साथ विशेष परिस्थिति में समास-विधान की व्याख्या की जा रही है । उपर्युक्त पदों एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियों के सामञ्जस्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि "पूज्यमानवाची सुबन्तों का नाग, कुञ्जर शब्दों के साथ समानाधिकरण की स्थिति में विकल्प से तत्पुरुष समास हो" । **उदाहरण**—गोवृन्दारकः (बैल देवता के समान है) । **लौकिक विग्रह**—गौः वृन्दारकः इव । **अलौकिक विग्रह**—गो+सु, वृन्दारक+सु > गोवृन्दारक ('गो' शब्द का पूज्यमान 'वृन्दारक' शब्द के साथ समास, विभक्तिलोप, 'गो' शब्द का पूर्व—निपात) > **गोवृन्दारकः** (पुनः विभक्ति, स् = र् = ः) ।

शङ्का-समाधान—"उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" (२-१-५६) सूत्र में व्याघ्रादि गण को आकृतिगण माना है, अतः उसी सूत्र से समास की प्राप्ति संभव थी । पुनः इस सूत्र की क्या उपयोगिता है ? इसका समाधान यह दिया गया है कि उपर्युक्त सूत्र में 'सामान्याऽप्रयोगे' पद का निवेश होने से 'साधारण धर्म' का प्रयोग न होने पर ही उस सूत्र की प्रवृत्ति होगी । प्रकृत सूत्र साधारण धर्म का प्रयोग होने पर भी सामासिक प्रवृत्ति में सहायक होता है । अतः इसका क्षेत्र व्यापक है । तात्पर्य यह है कि साधारण धर्म के प्रयोग होने अथवा न होने—दोनों अवस्थाओं में "वृन्दाकरक०" २-१-६२ की प्रवृत्ति होती है । अतः यह सूत्र 'वृन्दारक, नाग, कुञ्जर शब्दों के समास होने में पूर्व सूत्र २-१-५६ को प्रवृत्त नहीं होने देता ।

शेष उदाहरण **गोनागः** (उत्तम गौ), **गोकुञ्जरः** (बलशाली गौ) भी इसी प्रकार जानें ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'पूज्यमानम्' पद प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त है, अतः 'गो' का पूर्वनिपात हुआ है । इस सूत्र के न होने पर "सन्महत्परमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" २-१-६१ सूत्र से 'गो' आदि शब्दों की परत्र स्थिति रहती । अतः पूर्व-निपातार्थ भी इस सूत्र की उपयोगिता है ।

प्रश्ने २ । १ । ६३ ॥ कतरकठः । कतमकलापः । 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वम् ।

---

(७४२) **कतरकतमौ** । जातिपरिप्रश्ने गम्ये कतरकतमौ समानाधिकरणेन समस्येते इत्यर्थः । **कतरकठ इति** । अनयोः कः कठ इत्यर्थः । 'किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्' । कठेन प्रोक्तमधीते कठः । वैशम्पायनान्तेवासित्वात् प्रोक्ते णिनिः । 'कठचरकाल्लुक्' इति तस्य लुक् । ततः 'तदधीते' इत्यणः 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुक् । **कतमकलाप इति** । एषां कः कलाप इतिविग्रहः । कलापिना प्रोक्तमधीते कलापः । 'कलापिनोऽण्' 'सब्रह्मचारि' इति टिलोपः 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' । ननु घटत्वादिवत् कठशाखाध्येतृत्वादिकं न जातिः ।' आकृतिग्रहणा जातिः' इति लक्षणस्य 'लिङ्गानां च न सर्वभाक्, सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' इति लक्षणस्य च तत्राप्रवृत्तेरित्यत आह—**गोत्रं चेति** । अत्र कतमशब्दस्य जातिपरिप्रश्न एव व्युत्पादनात् कतरार्थमेव जातिपरिप्रश्नग्रहणम् । एवञ्च अनयोः कतरो देवदत्त इत्यत्र न भवति समासः । एषां कतमो देवदत्तः इति तु नास्त्येव । जाति-

---

(७४२) पद—कतर-कतमौ, जातिपरिप्रश्ने । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप् , सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

सूत्रार्थ—(जातिगत–प्रश्न पूछने पर कतर और कतम शब्दों का समान-अधिकरण के साथ समास हो) उदा० १–कतरकठः । २–कतमकलापः । 'जाति' शब्द गोत्र और चरण का बोधक है ।

विवरण—समान-अधिकरण-समास का ही प्रकरण चल रहा है । उपर्युक्त अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विद्यमान हैं । विशेष परिस्थित में "कतर-कतम शब्दों के वैकल्पिक तत्पुरुष समास की व्यवस्था की जा रही है" । "समास भी तभी होगा जब 'गोत्र' और चरण-वाची शब्द समान-अधिकरण में होंगे" । **उदाहरण**—१–[1]कतरकठः[2] (इन दोनों में कौन कठ–शाखाध्यायी है ?) । **लौकिक विग्रह**—कतरः कठः । **अलौकिक विग्रह**—कतर+सु, कठ+सु > कतर-कठ ('कतर' शब्द का 'कठ' शब्द के साथ जाति-गत प्रश्न होने से समास, विभक्तिलोप, 'कतर' का पूर्व निपात) > कतरकठ+सु (पुनः विभक्ति)> **कतरकठः** (विभक्तिकार्य–स्=र् तथा विसर्ग) । २—कतम[3]-कलापः[4] (इन सब में कौन कलाप है) । **लौकिक विग्रह**—कतमः कलापः । **अलौकिक विग्रह**—कतम+सु, कलाप+सु > कतम-कलाप ('कतम' शब्द का 'कलाप' के साथ समासादि) > कतमकलाप+सु (विभक्त्युत्पत्ति) > **कतमकलापः** (स् = र् = :) ।

---

१. कतरः = किम्+डतरच् ("किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्" ५-३-९२) > क्+अतर ('टि' = 'इम्'–लोप) > कतर+सु > कतरः ।

२. कठेन प्रोक्तम् अधीते । कठ+णिनि (वैशम्पायन के अन्तेवासी होने से 'प्रोक्त' अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय "तेन प्रोक्तम्" ४-३-१०१ तथा उसका लोप "कठचरकाल्लुक्" ४-३-१०७) । तदनन्तर अधीत-अर्थ में विहित 'अण्' प्रत्यय–"तदधीते तद्वेद" ४-२-५९ का "प्रोक्ताल्लुक्"–४-२-६४ से लोप होकर 'कठ' शब्द निष्पन्न हुआ है ।

३. कतम=किम्+डतमच् ("वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्" ५-३-९३) > क्+अतम (टिलोप) > कतमः ।

४. कलापिना प्रोक्तम् अधीते–कलापः = कलाप्+णिनि (प्रोक्तार्थ में) > कलापिन् ('अ' का लोप) । कलापिन्+अण् > कलाप्+अ ('अधीत' अर्थ में अण् प्रत्यय तथा 'सब्रह्मचारि०' वार्तिक से 'टि' = 'इन्' का लोप) > कलापः (तद्धितान्त प्रातिकपदिक से विभक्ति, रुत्व तथा विसर्ग) ।

(७४३) किं क्षेपे २ । १ । ६४ ॥ कुत्सितो राजा>किंराजा, यो न रक्षति । (७४४)

परिप्रश्न एव डतमचो विधानात् । वस्तुतस्तु डतरडतमविधौ द्वयोरिति बहूनामिति जातिपरिप्रश्ने इतिं प्रत्याख्यातं भाष्ये । एवञ्च कतम एषां देवदत्त इत्यप्यस्ति । तत्र समासाभावाय जातिपरिप्रश्नग्रहणम् इति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् ।

(७४३) किं क्षेपे । क्षेपो निन्दा । तत्र गम्ये किमित्यव्ययं समानाधिकरणेन कुत्सितपदमिति ज्ञेयम्, वाक्येन निन्दानवगमेन स्वपदलौकिकविग्रहासम्भवात् । **किं राजेति** । 'राजाहस्सखिभ्यः' इति टच् तु न, 'किमः क्षेपे' इति निषेधात् । ननु राज्ञो बहुसम्पत्तिशालिनः कथं कुत्सितत्वमित्यत आह—**यो न रक्षतीति** । स किंराजेत्यन्वयः ।

विशेष—(१) 'कठ' और 'कलाप' शब्द—यहाँ वेद की शाखा (चरण) के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'जाति' शब्द का व्यापक अर्थ स्वीकार करने से 'गोत्र' तथा 'चरण' भी जाति के अन्तर्गत समाविष्ट किये गए हैं।

(२) यद्यपि 'कतम' शब्द तो "वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्" ५-३-९३ सूत्र से 'जातिपरिप्रश्न' (जाति के विषय में विविध प्रश्न) अर्थ में ही व्युत्पादित है एवं साहचर्य से 'कतर' शब्द के भी उसी अर्थ को अनुसरण करने से प्रकृत सूत्र की उपयोगिता के सम्बन्ध में कैयट आदि ने अरुचि प्रदर्शित की है तथापि 'जातिपरिप्रश्न' अर्थ के अतिरिक्त भी 'कतम' शब्द का प्रयोग मिलने से इस सूत्र की सार्थकता सिद्ध को गई है। तदनुसार 'जातिपरिप्रश्न' के अतिरिक्त अर्थ में **कतरः भवतः देवदत्तः** (आप दोनों में देवदत्त कौन है?) तथा **कतमः भवतां देवदत्तः** (आप तीनों में देवदत्त कौन है?) में समास नहीं हुआ। ये **प्रत्युदाहरण** हैं।

(३) जहाँ 'कठ' और 'कलाप' की चर्चा है, वहाँ अनेक चरणों (शाखापाठियों) के सम्बन्ध में प्रश्न हैं, अतः समास होता है।

(७४३) पद—किं, क्षेपे। **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र**।

मूलार्थ—(निन्दा अर्थ में 'किम्' अव्यय का समास हो)। उदा० कुत्सितः राजा>किंराजा। अर्थात् जो रक्षा नहीं करता।

विवरण—पूर्व प्रसङ्ग के अनुसार उपर्युक्त सभी अनुवृत्तियों का लाभ मिल रहा है। सूत्रस्थ 'क्षेप' शब्द निन्दावाचक है। 'किम्' शब्द अव्ययवाची है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि " 'किम्' शब्द का निन्दा गम्यमान होने पर समानाधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है"। **उदाहरण**—किंराजा (यह कैसा राजा है, जो प्रजा की रक्षा नहीं करता)। **लौकिक अस्वपद विग्रह**—कुत्सितः राजा। **अलौकिक विग्रह**—किं+सु, राजन्+सु>किंराजन् (निन्दा अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'किं' अव्यय का 'राजन्' के साथ समास, विभक्ति-लोप, "किं" शब्द का पूर्व-प्रयोग) > किंराजन्+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) >किं राजान्+सु ('अ' को उपधा दीर्घ—"सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ"–६-४-८) > **किं राजा** (विभक्ति='स्'—लोप "हल्ङ्याभ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्" ६-१-६८, 'न्' लोप)।

विशेष—(१) 'किंराजा' इस स्थिति में समासान्त 'टच्' प्रत्यय ("राजाहःसखिभ्यष्टच्" ५-४-९१) प्राप्त था, उसका निषेध "किमः क्षेपे" ५-४-७० से हो जाता है।

(२) निन्दार्थ न होने पर "कः राजा" में समास नहीं होता। यहाँ सामान्यतया कहा जारहा है कि "कौन राजा है"? यह प्रत्युदाहरण दिया गया है।

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्वष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः २ । १ । ६५ ॥ (७४५) तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १ । २ । ४२ ॥ (७४६) पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६ । ३ । ४२ ॥ कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परतो भाषितपुंस्कात्पर ऊङभावो यस्मिंस्तथाभूतं पूर्वं पुंवत् । पूरणीप्रियादिष्वप्राप्तः

---

(७४४) पोटायुवति । पोटादिभिः समानाधिकरणैर्जातिवाचकं समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । अथ कर्मधारयकार्यं वक्ष्यन् कर्मधारयसंज्ञामाह—

(७४५) तत्पुरुषः समाना । समानम् एकमधिकरणं वाच्यं ययोः पदयोः, ते समानाधिकरणे पदे, ते अस्य स्त इति समानाधिकरणः, मत्वर्थीयः अर्शआद्यच् । समानाधिकरणानेकपदावयवकस्तत्पुरुषः कर्मधारयसञ्ज्ञको भवतीत्यर्थः । तत्पुरुषाधिकारे इयं सञ्ज्ञा न कृता, तथा सत्येकसञ्ज्ञाधिकारात् कर्मधारयसंज्ञया तत्पुरुषसंज्ञा बाध्येतेत्याहुः ।

(७४६) पुंवत्कर्मधारय । स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङिति वर्तते । एकापि सप्तमी विषयभेदाद् भिद्यते । कर्मधारयांशे अधिकरणसप्तमी । जातीयदेशीयविषये परसप्तमी । तदाह—कर्मधारये इति । तथाभूतमित्यनन्तरं स्त्रीवाचकमिति शेषः । भाषितपुंस्कादनूङित्येतत् 'स्त्रियाः पुंवत्' इति सूत्रे स्फुटीकरिष्यते । ननु कर्मधारये 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यनेन सिद्धं पुंवत्त्वम्, जातीयदेशीययोस्तु 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इत्यनेन सिद्धमित्यत आह—पूरणीप्रियादिष्वप्राप्त इति । अपूरणीप्रियादिष्विति पर्युदासादिति भावः ।

---

(७४४) पद—पोटायुवति······धूर्तैः, जातिः । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **नियम-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—(समानाधिकरणस्थ पोटादि शब्दों के साथ जातिवाचक शब्द विकल्प से तत्पुरुष समास को प्राप्त होते हैं) । उदाहरण आगे दिये जायेंगे ।

विवरण—"पोटा, युवति आदि बारह समानाधिकरणवाची समर्थ सुबन्तों के साथ जातिवाचक शब्दों का वैकल्पिक तत्पुरुष समास हो" । अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् आरही हैं । तदनुसार यह अर्थ किया गया है (पोटा च, युवतिश्च, स्तोकश्च, कतिपयं च, गृष्टिश्च, धेनुश्च, वशा च, वेहच्च, वष्कयणी च, प्रवक्ता च, श्रोत्रियश्च, अध्यायश्च, धूर्तश्च = पोटायुवति···धूर्ताः, तैः—इतरेतरद्वन्द्व समास) ।

(७४५) पद—तत्पुरुषः, समानाधिकरणः, कर्मधारयः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—(समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा है ।)

विवरण—तत्पुरुष का ही भेद 'कर्मधारय' है । समानधिकरण शब्द समान विभक्त्यन्त पद का बोधक है । तात्पर्य यह है कि समान-अधिकरण में पूर्वपद और उत्तरपद—दोनः ही समान विभक्ति में रहते हैं । अतः समान-विभक्तिक अनेक-पदावयवक तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा होगी ।

विशेष—'तत्पुरुष' अधिकार के अन्तर्गत कर्मधारय संज्ञा का विधान इस हेतु नहीं किया गया कि एक-संज्ञा के अधिकारगत प्रभाव से 'कर्मधारय' संज्ञा द्वारा 'तत्पुरुष' संज्ञा बाधित हो जाती ।

(७४६) पद—पुंवत्, कर्मधारयजातीयदेशीयेषु । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाः भषितपुंस्कादनूङ् । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—कर्मधारय में 'जातीय' और 'देशीय' शब्दों के पर रहते भाषितपुंस्क और ऊङ-रहित स्त्रीलिङ्गवाची पूर्वपद को पुंवद्भाव होता है । पूरणी, प्रिया आदि शब्दों में अप्राप्त पुंवद्भाव

पुंवद्भावोऽनेन विधीयते । महानवमी । कृष्णचतुर्दशी । महाप्रिया । तथा कोपधादेः प्रतिषिद्धः पुंवद्भावः कर्मधारयादौ प्रतिप्रसूयते । पाचकस्त्री, दत्तभार्या, पञ्चमभार्या, स्रौघ्नभार्या, सुकेशभार्या, ब्राह्मणभार्या । एवं पाचकजातीया पाचकदेशीया इत्यादि । इभपोटा । 'पोटा स्त्रीपुंसलक्षणा' । इभयुवतिः । अग्निस्तोकः । उदश्वित्कतिपयम् । गृष्टिः सकृत्प्रसूता ।

महानवमीति । महती चासौ नवमी चेति विग्रहः । 'सन्महत्' इत्यादिना समासः । नवानां पूरणी नवमी, 'तस्य पूरणे डट्', 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' । टित्वात् ङीप् । अत्र नवमीशब्दस्य पूरणप्रत्ययान्तत्वात्तस्मिन् परे 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वमप्राप्तमनेन विधीयते । कृते पुंवत्त्वे 'आन्महतः' इत्यात्वमिति भावः । **कृष्णचतुर्दशीति** । चतुर्दशानां पूरणी चतुर्दशी । डट् । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । टित्त्वान्ङीप् । कृष्णा चासौ चतुर्दशी चेति विग्रहः । **महाप्रियेति** । महती चासौ प्रिया चेति कर्मधारयः । अत्रापि प्रियादिपर्युदासादप्राप्तमनेन विधीयत इति भावः । 'पुंवत्कर्मधारय' इत्यस्य प्रयोजनान्तरमाह— **तथा कोपधादेरिति** । 'न कोपधायाः', 'संज्ञापूरण्योश्च', 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे', 'स्वाङ्गाच्चेतः', 'जातेश्च' इति पञ्चसूत्र्या प्रतिषिद्ध इत्यर्थः । **कर्मधारयादाविति** । कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परयोरित्यर्थः । **पाचकस्त्रीति** । पाचिका चासौ स्त्री चेति कर्मधारयः । अत्र 'न कोपधायाः' इति पुंवत्त्वस्य प्रतिषेधः प्राप्तः । **दत्तभार्या, पञ्चमभार्येति** । दत्ता चासौ भार्या चेति, पञ्चमी चासौ भार्या चेति च कर्मधारयः । अत्र 'संज्ञापूरण्योश्च' इति प्रतिषेधः प्राप्तः । **स्रौघ्नभार्येति** । स्रौघ्नी चासौ भार्या चेति कर्मधारयः । अत्र 'वृद्धिनिमित्तस्य च' इति प्रतिषेधः प्राप्तः । **सुकेशभार्येति** । सुकेशी चासौ भार्या चेति कर्मधारयः । अत्र 'स्वाङ्गाच्च' इति निषेधः प्राप्तः । **ब्राह्मणभार्येति** । ब्राह्मणी चासौ भार्या चेति कर्मधारयः । अत्र 'जातेश्च' इति निषेधः प्राप्तः । अथ जातीयदेशीययोः प्रतिप्रसवमुदाहरति—**एवं पाचकजातीया पाचकदेशीयेति** । 'प्रकारवचने' इति जातीयर्, 'ईषदसमाप्तौ' इति देशीयर् । उभयत्रापि 'तसिलादिषु' इति पुंवत्त्वस्य 'न कोपधायाः' इति निषेधः प्राप्तः । **इत्यादीति** । दत्तजातीया, दत्तदेशीया, पञ्चमजातीया, पञ्चमदेशीया, स्रौघ्नजातीया, स्रौघ्नदेशीया, सुकेशजातीया, सुकेशदेशीया, ब्राह्मणजातीया, ब्राह्मणदेशीया । तदेवं 'पुंवत्कर्मधारय' इति सूत्रं निरूप्य 'पोटायुवति' इति सूत्रस्य क्रमेणोदाहरणान्याह—**इभपोटेति** । पोटा चासौ इभी चेति कर्मधारयः । इभीशब्दस्य पुंवत्त्वम् । जातेः पूर्वनिपातनार्थमिदं सूत्रम् । **पोटा स्त्रीपुंसलक्षणा इति** । कोशवाक्यमिदम् । स्त्रीपुंसयोर्लक्षणानि चिह्नानि यस्या इति बहुव्रीहिः । **इभयुवतिरिति** । युवतिश्चासौ इभी चेति विग्रहः । कर्मधारये पुंवत्त्वम् । **अग्निस्तोक इति** । स्तोकः अल्पः, स चासौ अग्निश्चेति

का विधान किया गया है । **उदाहरण**—महानवमी, कृष्णचतुर्दशी, महाप्रिया । इसके साथ ही ककारोपधक आदि से निषिद्ध पुंवद्भाव का कर्मधारयादि में प्रतिप्रसव (पुनर्विधान) माना गया है । **उदाहरण**—पाचकस्त्री, दत्तभार्या, पञ्चमभार्या, स्रौघ्नभार्या, सुकेशभार्या, ब्राह्मणभार्या । इसी प्रकार पाचकजातीया तथा पाचकदेशीया आदि (भी हैं) । (सूत्र सं० ७४४ के) **उदाहरण**— १. इभपोटा । स्त्री और पुरुष के लक्षणों से युक्त महिला को 'पोटा' (कहा जाता है) । २. इभयुवतिः । ३. अग्निस्तोकः । ४. उदश्वित्कतिपयम् । ५. गोगृष्टिः—पहली बार ब्याही गाय ।

गोगृष्टिः । धेनुर्नवप्रसूता । गोधेनुः । वशा वन्ध्या । गोवशा । वेहद् गर्भघातिनी । गोवेहत् । वष्कयण्यतरुणवत्सा । गोवष्कयणी । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । कठाध्यापकः । कठधूर्तः ।

विग्रहः । उदश्वित्कतिपयमिति । 'तक्रं ह्युदश्वित्' इत्यमरः । कतिपयं च तदुदश्विच्चेति कर्मधारयः । **गृष्टिः सकृत्प्रसूतेति** । कोशवाक्यमिदम् । **गोगृष्टिरिति** । गृष्टिश्चासौ गौश्चेति विग्रहः । **वशा वन्ध्येति** । कोशवाक्यमिदम् । **गोवशेति** । वशा चासौ गौश्चेति विग्रहः । **वेहद् गर्भघातिनीति** । कोशवाक्यमिदम् । **गोवेहदिति** । वेहच्चासौ गौश्चेति विग्रहः । **वष्कयण्यतरुणवत्सेति** । 'चिरप्रसूता वष्कयणी' इत्यमरः । तरुणवत्सेत्यपपाठः । **गोवष्कयणीति** । वष्कयणी चासौ गौश्चेति विग्रहः । **कठप्रवक्तेति** । प्रवक्ता अध्यापकः, स चासौ कठश्चेति विग्रहः । **कठाध्यापक इति** । अध्यापकश्चासौ कठश्चेति विग्रहः । **कठधूर्त इति** । धूर्तश्चासौ कठश्चेति विग्रहः । 'धूर्तोऽक्षदेवी' इत्यमरः । विट इत्यन्ये । न च 'कुत्सितानि कुत्सनैः' इत्यनेन सिद्धिः शङ्कया, प्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामेव तत्प्रवृत्तेः । न हि कठत्वं कुत्सितम् ।

---

६. गोधेनुः—नई ब्याही धेनु । ७. गोवशा—वन्ध्या गाय । ८. गोवेहत्—गर्भघातिनी गाय । ९. गोवष्कयणी—वयस्क बछड़े वाली गाय । १०. कठप्रवक्ता । ११. कठश्रोत्रियः । १२. कठाध्यापकः । १३. कठधूर्तः ।

विवरण—प्रसङ्गवश अतिदेशसूत्र की अवतारणा की जारही है। सूत्रार्थ की निष्पत्ति में "स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु" (६-३-३४ सूत्र से 'स्त्रियाः भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे, स्त्रियाम्, अपूरणीप्रियादिषु' पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अनुवृत्त 'भाषितपुंस्कादनूङ्'—समस्त पद है। 'अनूङ्' में पष्ठी विभक्ति का लोप माना गया है। इसके साथ ही 'भाषितपुंस्कात्' में पञ्चमी विभक्ति का निपातन कर लोप नहीं किया गया है। 'भाषितपुंस्कात्' शब्द में बहुव्रीहि-समास है—'भाषितः पुमान् यस्मिन् सः' = तत्प्रातिपदिकः शब्दोऽपि भाषितपुंस्कः, तस्मात् । पुनः इसके साथ 'अनूङ्' पद का समास भी बहुव्रीहिपरक है—'भाषितपुंस्काद् अनूङ् यस्यां सा, तस्याः' । तदनुसार अनुवृत्त पदों की सूत्रस्थ पदों के साथ एकवाक्यता करने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कर्मधारय समास में तथा 'जातीयर्' एवं 'देशीयर्' प्रत्ययों के पर रहते ऊङ्-वर्जित भाषित-पुंस्क स्त्रीलिङ्गवाचक शब्दों के स्थान में पुंलिङ्गवाचक शब्दों का प्रयोग किया जाय (पुंवद्भाव हो)।" सर्वप्रथम इस सूत्र के उपयोगी **तीन उदाहरण**—दिये जारहे हैं—१. महानवमी (आश्विन शुक्ला नवमी), २. कृष्णचतुर्दशी (कृष्णपक्ष की चतुर्दशी—मासशिवरात्रि), ३. महाप्रिया (अत्यधिक प्रिय स्त्री) । १. महानवमी—**लौकिक विग्रह**—महती चासौ नवमी च । **अलौकिक विग्रह**—महती+सु, नवमी+सु > महती-नवमी ("सन्महत्परमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" २-१-६१ से 'महत्' (महती) शब्द का 'नवमी' शब्द के साथ समास, विभक्तिलोप, 'महती' का पूर्वनिपात) > महत्-नवमी । ('महती' को पुंवद्भाव = महत्—"पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" ६-३-४२) > मह—आ+नवमी (त् = आ—"आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" ६-३-४६) > महानवमी (अ+आ = आ—सवर्णे दीर्घे) > महानवमी+सु (पुनः विभक्त्युत्पत्ति) > **महानवमी** (सु—लोप "हल्ङ्याभ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८) । प्रकृत उदाहरण में 'नवमी' शब्द तद्धित-प्रकरणस्थ 'पूरण' प्रत्ययान्त है। 'नवमी' शब्द का अर्थ है—नवानां पूरणी (संख्या) = नौ की पूर्ति करने वाली । तदनुसार "तस्य पूरणे डट्" ५-२-४८ से डट् (= अ) प्रत्यय (नव+अ) तथा "नान्तादसंख्यादेर्मट्" ५-२-४९ से 'मट्' आगम (नव+म्+अ) एवं ङीप् ("टिड्ढाणञ्०" ४-१-१५) प्रत्यय (नवम्+ई) तथा 'अ' का लोप होकर 'नवमी' शब्द निष्पन्न होता है। 'पूरण' प्रत्ययान्त परे होने के कारण "स्त्रियाः पुंवद्०"

६-३ ३४ सूत्र से पुंवद्भाव की प्राप्ति नहीं थी, अतः प्रकृत सूत्र अप्राप्त पुंवद्भाव का विधायक है (पूरणी एवं प्रियादि शब्द उत्तर पद होने पर)। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण २. 'कृष्णचतुर्दशी' में भी यही स्थिति है। **लौकिक विग्रह**—कृष्णा चासौ चतुर्दशी च। **अलौकिक विग्रह**—कृष्णा+सु, चतुर्दशी+सु > कृष्णा–चतुर्दशी ("विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७ से कर्मधारय समास, विभक्तिलोपादि कार्य) > कृष्णचतुर्दशी (पुंवद्भाव से 'कृष्णा' शब्दस्थ 'टाप्' (आ) की निवृत्ति) > कृष्णचतुर्दशी+सु > **कृष्णचतुर्दशी** (विभक्त्युत्पत्ति एवं 'सु'–लोप पूर्ववत्)। यह उदाहरण भी पूरणप्रत्ययान्तपरक है। चतुर्दशानां पूरणी—चतुर्दशी (डट् टि–लोप प्रत्यय, एवं 'ङीप्' प्रत्यय)। ३. महाप्रिया में 'प्रिया' शब्द परे होने से "स्त्रियाः पुंवद्०" ६-३-३४ की प्राप्ति नहीं थी, अतः पृथक् विधान की चरितार्थता है। **अलौकिक विग्रह**—महती+सु, प्रिया+सु > महती–प्रिया (समासादि पूर्ववत्)>महत्+प्रिया (पुंवद्भाव से ङीप् की निवृत्ति) > मह–आ+प्रिया (त् = आ) > महाप्रिया (सवर्ण दीर्घ) > महाप्रिया+सु > **महाप्रिया** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्)। **लौकिक विग्रह**—महती चासौ प्रिया च।

प्रकृत सूत्र की अन्य उपयोगिता यह है कि "न कोपधायाः" ६-३-३७, "संज्ञापूरण्योश्च" ६-३-३८, "वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे" ६-३ ३९, "स्वाङ्गाच्चेतः" ६-३-४० तथा—"जातेश्च" ६-३-४१—इन पाँच सूत्रों से प्रतिषिद्ध पुंवद्भाव का कर्मधारय समास में पुनः विधान किया जारहा है। इन स्थलों के क्रमशः उदाहरण दिये जारहे हैं। १. पाचकस्त्री (महिला रसोई बनाने वाली)। **लौकिक विग्रह**—पाचिका चासौ स्त्री च। **अलौकिक विग्रह**—पाचिका+सु, स्त्री+सु, > पाचिका–स्त्री (कर्मधारय समास "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्"–२-१-५७) > पाचकस्त्री ("न कोपधायाः" ६-३-३४ सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव के निषेध का पुनः प्रतिषेध होने के फलस्वरूप "पुंवत्कर्मधाय-जातीय-देशीयेषु" ६-३-४२ से पुंवद्भाव = 'टाप्' तथा 'इ' की निवृत्ति) > पाचक-स्त्री+सु > **पाचकस्त्री** (पुनः विभक्ति तथा 'सु'–लोप)। २. क—दत्तभार्या (दत्ता नाम की भार्या)। **लौकिक विग्रह**—दत्ता चासौ भार्या च। **अलौकिक विग्रह**—दत्ता+सु, भार्या+सु > **दत्तभार्या** (पूर्ववत् 'कर्मधारय' समास, यहाँ "संख्यापूरण्योश्च" ६-३ ३८ सूत्र से संज्ञा-शब्द–निमित्तक प्राप्त पुंवद्भाव के निषेध का बाध होकर पुंवद्भाव—"पुंवत्कर्मधारय०" ६-३-४२, विभक्ति कार्य आदि पूर्ववत्)। २. ख—पञ्चमभार्या (पाँचवी पत्नी)। **लौकिक विग्रह**—पञ्चमी चासौ भार्या च। **अलौकिक विग्रह**—पञ्चमी+सु, भार्या+सु > पञ्चमीभार्या > **पञ्चमभार्या** (पूर्ववत् समासादि कार्य, यहाँ भी "संज्ञापूरण्योश्च" ६-३ ३८ से 'पूरण' प्रत्ययनिमित्त पुंवद्भाव का निषेध प्राप्त था, उसे बाधकर प्रकृत सूत्र (७४६) से पुंवद्भाव तथा विभक्ति–कार्य आदि पूर्ववत्। ३. स्रौघ्नभार्या (स्रुघ्नदेश की पत्नी)। **लौकिक विग्रह**—स्रौघ्नी चासौ भार्या च। **अलौकिक विग्रह**—स्रौघ्नी+सु, भार्या+सु > स्रौघ्नीभार्या > **स्रौघ्नभार्या** (यहाँ पर "वृद्धि-निमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे" ६-३-३९ सूत्र से पुंवद्भाव प्राप्त था, उसके निषेध स्वरूप पुंवद्भाव तथा अन्य कार्य पूर्ववत्)। ४. सुकेशभार्या (सुन्दर केशों वाली भार्या)। **लौकिक विग्रह**—सुकेशी चासौ भार्या च। **अलौकिक विग्रह**—सुकेशी+सु, भार्या+सु>सुकेशीभार्या> (यहाँ पर "स्वाङ्गाच्चेतः" ६-३-४० सूत्र से पुंवद्भाव का निषेध प्राप्त था, उसका बाधकर पुनः प्रकृत सूत्र–७४६–से पुंवद्भाव तथा अन्य कार्य पूर्ववत्) ५. ब्राह्मणभार्या (ब्राह्मणी भार्या)। **लौकिक विग्रह**—ब्राह्मणी चासौ भार्या च। **अलौकिक विग्रह**—ब्राह्मणी+सु, भार्या+सु > ब्राह्मणी-भार्या > **ब्राह्मणभार्या** ("जातेश्च" ६-३-४१ सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव-निषेध के पुनः अपवाद-स्वरूप प्रकृत सूत्र (७४६) से पुंवद्भाव तथा अन्य कार्य पूर्ववत्) ६. क—पाचकजातीया (रसोइये के समान)। **लौकिक विग्रह**—पाचका चासौ जातीया च। **अलौकिक विग्रह**—पाचका+सु, जातीयर्+सु > पाचका-जातीया > पाचकजातीया ("तसिलादिष्वाकृत्वसुचः" ६-३ ३५ सूत्र से 'जीतीयर्' प्रत्यय परे रहते प्राप्त पुंवद्भाव का 'न कोपधायाः' ६-३-४२ से निषेध

प्राप्त था, उसका बाधकर पुनः प्रकृतसूत्र से पुंवद्भाव आदि कार्य पूर्ववत् ६. ख—पाचकदेशीया (प्रायः रसोइया)। **लौकिक विग्रह**—पाचका चासौ देशीया च। **अलौकिक विग्रह**—पाचिका + सु, देशीयर् + सु > **पाचकदेशीया** (६. क—के समान पुंवद्भावादि कार्य समझें)।

अब क्रमप्राप्त "पोटायुवति०" (सूत्र ७४४) के उदाहरण दिये जा रहे हैं। १–इभपोटा (स्त्री-पुरुष के चिह्नों से युक्त हथिनी)। **लौकिक विग्रह**—पोटा चासौ इभी च। **अलौकिक विग्रह**—पोटा + सु, इभी + सु > पोटा-इभी ("पोटायुवति०"–सू० ७४४ से समास, विभक्ति-लोप)> इभी-पोटा ('पोटा' की उपसर्जन संज्ञा तथा पूर्वत्र स्थिति) > इभपोटा ("तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः"—१-२-४२ से कर्मधारय संज्ञा होने के फलस्वरूप "पुंवत्कर्मधारय-जातीयदेशीयेषु" ६-३-४२ से पुंवद्भाव होने के कारण 'इभी' के ङीप् प्रत्यय की निवृत्ति) > इभपोटा + सु (पुनः विभक्ति) > **इभपोटा** ('सु'–लोप–"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८)। २–इभयुवतिः (युवावस्थायुक्त हथिनी)। **लौकिक विग्रह**—युवतिश्चासौ इभी च। **अलौकिक विग्रह**—युवति + सु, इभी + सु > युवति-इभी (पूर्ववत् समास) > इभयुवति (पूर्वनिपात तथा कर्मधारय-संज्ञा-निमित्तक पुंवद्भाव पूर्ववत्) > **इभयुवतिः** (समासोत्तर विभक्तिकार्य—स् = र् = :)। ३–अग्निस्तोकः (थोड़ी आग)। **लौकिक विग्रह**—स्तोकश्चासौ अग्निश्च। **अलौकिक विग्रह**—स्तोक + सु, अग्नि + सु > स्तोक-अग्नि > अग्नि-स्तोक > **अग्निस्तोकः** (समास-एवं पूर्व-निपात, पुनः विभक्ति तथा विभक्तिकार्य—स् = र् = :–पूर्ववत्)। ४–उदश्वित्कतिपयम् (थोड़ी मठा)। **लौकिक विग्रह**—कतिपयं च तद् उदश्विच्च। **अलौकिक विग्रह**—कतिपय + सु, उदश्वित् + सु > कतिपय-उदश्वित् (समास पूर्ववत्) > उदश्वित्कतिपय ('उदश्वित्' का पूर्वनिपात) > **उदश्वित्कतिपयम्** (विभक्तिकार्य—सु = अम्, पूर्वरूप) ५–गोगृष्टिः (एक बार ब्याही गाय)। **लौकिक विग्रह**—गृष्टिश्चासो गौश्च। **अलौकिक विग्रह**—गृष्टि + सु गो + सु > गृष्टि–गो (समास पूर्ववत्) > गोगृष्टि ('गो' शब्द का पूर्वनिपात) > **गोगृष्टिः** (पुनः विभक्त्युत्पत्ति, विभक्तिकार्य–स् = र् = :)। ६–गोधेनुः (तत्काल ब्याही हुई गाय) **लौकिक विग्रह**—धेनुश्चासौ गौश्च। **अलौकिक विग्रह**—धेनु + सु, गो + सु > धेनु-गो > गो धेनु > गोधेनु + सु > **गोधेनुः** (समास, 'गो' का पूर्व निपात, पुनः विभक्ति, विभक्ति-कार्य–स् = र् = :)। ७–गोवशा (वन्ध्या गाय)। **लौकिक विग्रह**—वशा चासौ गौश्च। **अलौकिक विग्रह**—वशा + सु, गो + सु > वशा-गो (समास एवं विभक्तिलोप) > गो-वशा ('गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा तथा पूर्व निपात) > गो-वशा + सु (पुनः विभक्ति) > **गोवशा** (सु–लोप)। ८–गोवेहत् (गर्भपातिनी गाय)। **लौकिक विग्रह**—वेहच्चासौ गौश्च। **अलौकिक विग्रह**—वेहत् + सु, गो + सु > वेहत्गो > गोवेहत् > गोवेहत् + सु > **गोवेहत्** (समासादि कार्य पूर्ववत्)। ९–गोवष्कयणी (बकैनी गाय)। **लौकिक विग्रह**—वष्कयणी चासौ गौश्च। **अलौकिक विग्रह**—वष्कयणी + सु, गो + सु > वष्कयणी-गो > गोवष्कयणी > गोवष्कयणी + सु > **गोवष्कयणी** (समासादि-प्रक्रिया पूर्ववत्)। १०–कठप्रवक्ता (कठ-शाखीय व्याख्याता)। **लौकिक विग्रह**—प्रवक्ता चासौ कठश्च। **अलौकिक विग्रह**—प्रवक्तृ + सु, कठ + सु > प्रवक्तृकठ > कठप्रवक्तृ > कठप्रवक्तृ + सु > **कठप्रवक्ता** (समासादि कार्य पूर्ववत्)। ११–कठश्रोत्रियः[1] (कठवेदाध्येता)। **लौकिक विग्रह**—श्रोत्रियश्चासौ कठश्च। **अलौकिक विग्रह**—श्रोत्रिय + सु, कठ + सु > श्रोत्रिय-कठ > कठश्रोत्रिय > कठश्रोत्रिय + सु > **कठश्रोत्रियः** (समासादि कार्य पूर्ववत्)। १२–कठाध्यापकः (कठशाखीय अध्यापक)। **लौ० वि०**—अध्यापकश्चासौ कठश्च। **अलौ० वि०**—अध्यापक + सु, कठ + सु > अध्यापक-

१. श्रोत्रियः = वेदाध्येता। छन्दः अधीते। छन्दस् + घन् (श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते–५-२-८४) > श्रोत् + इय (छन्दस् = श्रोत्र, घ = इय > श्रोत्रिय ('अ'–लोप) > **श्रोत्रियः** (विभक्तिकार्य)।

(७४७) प्रशंसावचनैश्च २ । १ । ६६ ॥ एतैः सह जातिः प्राग्वत् । गोमतल्लिका । गोमर्चिका । गोप्रकाण्डम् । गवोद्धः । गोतल्लजः । प्रशस्ता गौरि-

---

(७४७) प्रशंसावचनैश्च । एतैरिति । रूढ्या प्रशंसावाचकैरित्यर्थः । जातिरिति । 'पोटायुवति' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । प्राग्वदिति । समानाधिकरणैः समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । जातेः पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम् । गोमतल्लिकेति । मतल्लिका चासौ गौश्चेति विग्रहः । गोमर्चिकेति । मर्चिका चासौ गौश्चेति विग्रहः । गोप्रकाण्डमिति । प्रकाण्डं चासौ गौश्चेति विग्रहः । गवोद्ध इति । उद्धश्चासो गौश्चेति विग्रहः । 'अवङ् स्फोटायनस्य' । 'आद्गुणः' । गोतल्लज इति । तल्लजश्चासौ गौश्चेति विग्रहः । सर्वत्र परवल्लिङ्गता । मतल्लिकादिशब्दानामप्रसिद्धत्वाद्व्याचष्टे—प्रशस्ता गौरित्यर्थं इति । गोशब्दस्य

कठ > कठ-अध्यापक > कठाध्यापक (दीर्घ) > कठाध्यापक+सु>**कठाध्यापकः** (समासादि कार्य पूर्ववत्) । १३–कठधूर्तः (धूर्त कठ-शाखी) । लौ० वि०—धूर्तश्चासौ कठश्च। अलौकिक विग्रह—धूर्त+ सु, कठ+सु > धूर्त-कठ >कठधूर्त > कठधूर्त+सु > **कठधूर्तः** (समासादि पुनः विभक्तिपर्यन्त कार्य पूर्ववत्, स् = र् = :) ।

विशेष—"पोटा युवति०" (७४४) सूत्र में इभ, गो, कठ आदि जातिवाची सुबन्त हैं। प्रकृत सूत्र में 'जाति' विशेष्य है, 'पोटादि' शब्द विशेषण हैं। अतः सामान्यतया "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७ से समास प्राप्त था, किन्तु प्रकृत सूत्र से पुनः विधान करने का यह फल है कि विशेष्यवाची शब्दों का पूर्व-निपात हो। कारण यह है कि सूत्र में 'जातिः' पद प्रथमा विभक्ति में पठित है, तदनुसार जातिवाची 'इभ' आदि शब्दों की उपसर्जन संज्ञा होती है और उनकी "उपसर्जनं पूर्वम्" २-२-३० नियम से पूर्वत्र स्थिति रहती है।

(७४७) पद—प्रशंसावचनैः, च। **अनुवृत्ति**—जातिः, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **नियम-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—इनके साथ जाति का समास होता है। उदा० गो–मतल्लिका । गोमर्चिका । गोप्रकाण्डम् । गवोद्धः । गोतल्लजः । प्रशस्त गौ—अर्थ है। मतल्लिकादि शब्द निश्चितलिङ्ग-वाची हैं, विशेष्य का अनुसरण नहीं करते। 'जातिः' क्यों कहा ? कुमारी मतल्लिका (समास न हो) ।

विवरण—'समानाधिकरण' तथा 'जाति' शब्द की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। समस्यमान शब्दों में एक (प्रमुख) पद 'जाति' तो अनुवृत्ति-सापेक्ष्य ("पोटायुवति०" २-१-६६) है तथा दूसरा पद 'प्रशंसावचन' सूत्र में निर्दिष्ट है। अन्य आधिकारिक प्रभावी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् चली आ रही हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जातिवाची सुबन्तों का प्रशंसावाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास हो"। 'जाति' शब्दों के पूर्वनिपात करने में सूत्र नियामक है। **उदाहरण**—१–गोमतल्लिका (प्रशस्त गाय)। **लौकिक विग्रह**—मतल्लिका चासौ गौश्च। **अलौकिक विग्रह**—मतल्लिका+सु, गो+सु>मतल्लिकागो (जातिवाची 'गो' शब्द का प्रशंसावाची 'मतल्लिका' शब्द के साथ समास) > गो-मतल्लिका ('गो' का पूर्वनिपात) > गोमतल्लिका+सु > **गोमतल्लिका** (विभक्ति-कार्य) । (२) गोमर्चिका (प्रशस्त गाय)। **लौकिक विग्रह**—मर्चिका चासौ गौश्च >**गोमर्चिका** (शेष कार्य पूर्ववत्) । (३) गोप्रकाण्डम् (प्रशस्त गाय)। **लौकिक विग्रह**—प्रकाण्डं चासौ गौश्च । **अलौकिक विग्रह**—प्रकाण्ड+सु, गो+सु > गोप्रकाण्ड (समास, विभक्ति-लोप, 'गो' का पूर्व निपात) > गोप्रकाण्ड+सु > गोप्रकाण्ड + अम् (सु = अम्—"अतोऽम् ७-१-२४) >

त्यर्थः। मतल्लिकादयो नियतलिङ्गाः, न तु विशेष्यनिघ्नाः। जातिः किम्? कुमारी मतल्लिका। (७४८) युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः २।१।६७॥ पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम्। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया युवतिशब्दोऽपि समस्यते। युवा खलति-

---

स्त्रीलिङ्गत्वाभिप्रायात्प्रशस्तेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। गोशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वे तु प्रशस्त इति पाठ्यम्। ननु गोशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वे मतल्लिकामचर्चिकाप्रकाण्डशब्दानामपि विशेष्यनिघ्नत्वात् पुंल्लिङ्गतापत्तिः। गोशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वे तु प्रकाण्डोद्घतल्लजानामपि स्त्रीलिङ्गतापत्तिश्चेत्यत आह—मतल्लिकादय इति। 'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्घतल्लजौ। प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यमरः। कुमारी मतल्लिकेति। अवस्थाविशेषात्मकयोर्विशेषवाचित्वान्न जातिवाची कुमारीशब्द इति न समासः। समासे तु 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवत्त्वं स्यादिति भावः।

(७४८) युवा खलति। युवन्शब्दः खलत्यादिभिः समानाधिकरणैः समस्यते, स तत्पुरुष इत्यर्थः। विशेषणसमासेन सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—पूर्वेति। युवन्शब्दस्य खलत्यादिशब्दानां च गुणवाचित्वाद्विशेषणत्वे कामचारात्पूर्वनिपातस्यानियमे प्राप्ते तन्नि-

---

गोप्रकाण्डम् (अ+अम् = अम्–पूर्वरूप—"अमि पूर्वः" ६-१-१०७)। (४) गवोद्घः (प्रशस्त गाय)। लौकिक विग्रह—उद्घश्चासौ गौश्च। अलौकिक विग्रह—उद्घ+सु, गो+सु > उद्घ-गो (समास) > गो-उद्घ ('गो' का पूर्वनिपात) > ग्–अवङ्–उद्घ (ओ = अवङ्–'अवङ् स्फोटायनस्य' ६-१-१२३) > गव+उद्घ > गवोद्घ (गुण–अ+उ = ओ > गवोद्घ + सु > गवोद्घः (स् = र् = :)। (५) गोतल्लजः (प्रशस्त गाय)। लौकिक विग्रह—तल्लजश्चासौ गौश्च > तल्लज-गो > गोतल्लज > गोतल्लज+सु > गोतल्लजः (समासादि कार्य पूर्ववत्)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'जाति' पद का निवेश होने से जहाँ 'जाति' नहीं है, वहाँ प्रशंसावाचक शब्दों के होने पर भी समास नहीं होता। इसके फलस्वरूप 'कुमारी मतल्लिका' में 'कुमारी' शब्द के वयोवाचक होने के कारण समास नहीं हुआ। अन्यथा "पुंवत्कर्मधारय०" ६-३-४२ सूत्र की प्राप्ति होने से पुंवद्भाव हो जाता।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'वचन' शब्द का प्रयोग करने से प्रशंसा-वाची रूढ–शब्दों का ही ग्रहण होता है। अतः यौगिक प्रशस्त आदि शब्द और विशेषता-बोधक 'शुचि' आदि शब्दों के साथ समास नहीं होता है[1]। मतल्लिका आदि पाँचों शब्द प्रशंसार्थक रूढ हैं। 'अमरकोष' में इसका उल्लेख मिलता है—'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्घतल्लजौ। प्रशस्तवाचकान्यमूनि'। प्रशंसावाचक इन शब्दों का लिङ्ग निश्चित है। ये शब्द अन्य विशेषण-वाचक शब्दों की तरह विशेष्यवाचक शब्दों का लिङ्गानुसरण नहीं करते। अर्थात् विशेष्य इन शब्दों के लिङ्ग का द्योतक नहीं है।

(७४८) पद—युवा, खलतिपलितवलिनजरतीभिः। अनुवृत्ति—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। नियम-(संज्ञा)-सूत्र।

मूलार्थ—पूर्वनिपात का नियामक सूत्र है। लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से 'युवति' शब्द का भी समास हो जाता है। उदा० १—(क) युवाखलतिः > युवखलतिः १—(ख) युवतिः खलती >

---

१. "वचनग्रहणं यौगिकानां प्रशस्तादीनां विशेषार्थकानां च शुचिप्रभृतीनां स्वार्थभिन्ने प्रयोगाद् प्रशंसागमकाना व्याघ्रादिपदानां च निरासेन प्रशंसामात्ररूढशब्दपरिग्रहार्थम्"। व्या० सि० सु०–पृ० ९६५।

युवखलतिः । युवतिः खलती युवखलती । युवजरती । युवत्यामेव जरतीधर्मोपलम्भेन तद्रूपारोपात्सामानाधिकरण्यम् । (७४९) कृत्यतुल्याख्या अजात्या २ । १ । ६८ ॥

यमार्थमिदं सूत्रमित्यर्थः । खलतिः केशहीनशिराः । 'पलितं जरसा शौक्लयम्' 'वलिनो वलिभः समौ' इत्यमरः । **युवा खलतिः युवखलतिरिति** । अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वान्नलोपः । ननु युवेति पुंल्लिङ्गनिर्देशात् कथं युवतिशब्दस्य समास इत्यत आह—**लिङ्गविशिष्टेति । युवतिः खलती युवखलती इति** । 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवत्त्वम् । **युवजरतीति** । जरती वृद्धा । युवतिश्चासौ जरती चेति विग्रहः । 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवत्त्वम् । ननु युवतिः कथं जरती स्यादित्यत आह—**युवत्यामेवेति** ।

युवखलती । २—युवजरती । युवति में ही जरती-(वार्धक्य)-धर्म का आरोप करने से समान-अधिकरण हो जाता है ।

विवरण—समान अधिकरण का प्रकरण अभी चल रहा है । उसकी अनुवृत्ति (६-३-३४) प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ भी यथापूर्व आ रही हैं । सूत्र में समस्य-मान पदों (पूर्व पद तथा उत्तर पद) का उल्लेख किया गया है । वे हैं—'युवा' तथा 'खलति' इत्यादि । पूर्वानुवृत्त पदों के साथ एकवाक्यता कर सूत्र का यह आशय विदित होता है कि " 'युवन्' शब्द का खलति, पलित, वलिन तथा जरती शब्दों के साथ समानाधिकरण में विकल्प से तत्पुरुष समास हो" । **उदाहरण**—(१) (क) युवखलतिः (खल्वाटयुक्त युवक) । **लौकिक विग्रह**—युवा चासौ खलतिश्च । **अलौकिक विग्रह**—युवन्+सु, खलति+सु > युवन्-खलति ('युवन्' शब्द का 'खलति' के साथ समास, विभक्ति-लोप, युवन्' का पूर्वनिपात) > युवं-खलति 'न' कार-लोप-"न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" ८-२-७) > युवखलति+सु > युवखलति +र् (स्=र्) > **युवखलतिः** (र्=:) । (१) (ख) युवखलती (खल्वाटयुक्त युवती) । **लौकिक विग्रह**—युवतिश्चासौ खलती च (सूत्र में सामान्य 'युवन्' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग का भी बोधक माना गया है । उसमें प्रमाणस्वरूप परिभाषा 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' का उल्लेख किया जाता है) । **अलौकिक विग्रह**—युवति+सु, खलती+सु > युवति-खलती (पूर्वोक्त परिभाषा के कारण समास, विभक्तिलोप एवं पूर्वनिपात) > युवन्-खलती (पुंवद्भाव-"पुंवत् कर्मधारय०" सू० ७४६) > युवखलती ('न्' का लोप) > युवखलती+सु (पुनः विभक्ति) > **युवखलती** ('सु'-लोप "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८) । (२) युवजरती (वृद्धावस्था के चिह्नों से युक्त युवती) । **लौकिक विग्रह**—युवतिश्चासौ जरती च । **अलौकिक विग्रह**—युवति+सु, जरती+सु > युवति-जरती (प्रकृत सूत्र में 'युवन्' शब्द केवल पुंलिङ्ग का ही बोधक नहीं है, अपि तु 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा के अनुसार स्त्री-वाचक युवति-शब्द का भी बोधक है—अतः समास तथा विभक्तिलोप एवं 'युवति' का पूर्व-निपात) > युवन्-जरती (पुंवद्भाव-"पुंवत्-कर्मधारयजातीयदेशीयेषु"-६-३-४२-युवति = युवन्) > युवजरती ('न्'-का लोप—"न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" ८-२-७) > युवजरती +सु > **युवजरती** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्) ।

विशेष—(१) 'युवजरती' में सामानाधिकरण्य की व्यवस्था इस प्रकार है । यद्यपि युवावस्था तथा वृद्धावस्था दोनों समान-कालिक नहीं हैं, क्योंकि युवावस्था के अनेक वर्षों बाद वृद्धावस्था आती है । तथापि भिन्न-कालगत वार्धक्य के चिह्नों का रोगादि के कारण युवावस्था में भी प्रत्यक्ष होने से 'जरती-धर्म' का 'युवति' में आरोप किया गया है । अतः समानाधिकरण होने से समास की प्रवृत्ति होती है ।

भोज्योष्णम् । तुल्यश्वेतः । सदृशश्वेतः । अजात्या किम् ? भोज्य ओदनः । प्रतिषेध-

---

(७४९) **कृत्यतुल्याख्या** । कृत्यप्रत्ययान्ताः तुल्यवाचकाश्च जातिभिन्नवाचकेन समानाधिकरणेन समस्यन्ते स तत्पुरुष इत्यर्थः । **भोज्योष्णमिति** । भोज्यं च तदुष्णं चेति विग्रहः । 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् । अर्हे कृत्यप्रत्ययः । भोज्योष्णशब्दयोः क्रियागुण-शब्दत्वात् विशेषणत्वे कामचारादनियतपूर्वनिपाते प्राप्ते नियमार्थमिदम् । **तुल्यश्वेत इति** । तुल्यश्चासौ श्वेतश्चेति विग्रहः । उभयोर्गुणवचनतया विशेषणत्वानियमेऽपि तुल्यशब्दस्यैव पूर्वनिपातः । आख्याग्रहणस्य प्रयोजनमाह—**सदृशश्वेत इति** । सदृशशब्दस्य तुल्यपर्याय-त्वादिति भावः । **भोज्य ओदन इति** । अत्र ओदनशब्दस्य जातिवाचित्वात्तेनायं समासो

---

(२) 'युवखलतिः' आदि उदाहरणों में "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्"—२-१-५७ से भी समास सम्भव है, किन्तु दोनों शब्दों के गुणवाचक होने से किसी एक शब्द के पूर्व-निपात की व्यवस्था सम्भव नहीं थी, अतः प्रकृत सूत्र से समास होने पर 'युवन्' शब्द के प्रथमा-निर्दिष्ट होने से उसी की पूर्वत्र स्थिति रहती है ।

(७४९) पद—कृत्यतुल्याख्या, अजात्या । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **नियमविधि-(संज्ञा)-सूत्र ।**

मूलार्थ—उदा० —(१) भोज्योष्णम् । (२) तुल्यश्वेतः । (३) सदृशश्वेतः । अजात्या क्यों कहा ? भोज्य ओदनः । प्रतिषेध के बल से विशेषण-समास भी नहीं होता ।

विवरण—सूत्र में समस्यमान पूर्व-पद एवं उत्तर-पद दोनों का निवेश किया गया है । पूर्वपद-वाचक शब्द हैं—कृत्यप्रत्यान्त तथा तुल्यवाचक शब्द । उत्तरपदवाचक शब्द हैं—जातिभिन्न-वाचक शब्द । समास का विधान अब भी समान-अधिकरण में ही अपेक्षित है । अतः अन्य उपर्युक्त अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् चली आ रही हैं । 'कृत्य-तुल्याख्याः' पद इतरेतर-द्वन्द्व-समास में निष्पन्न है—'कृत्याश्च तुल्याख्याश्च' । तदनुसार समस्यमान शब्दों में या तो कृत्यप्रत्ययान्त शब्द पूर्व-पद में रहेंगे अथवा तुल्यार्थक शब्द । अतः "कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्त तथा तुल्यार्थक सुबन्तों का जाति-भिन्नवाची समानाधिकरण समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होगा" । **उदाहरण**—(१) भोज्योष्णम् (गरम भोजन) । **लौकिक विग्रह**—भोज्यं च तदुष्णं च । **अलौकिक विग्रह**—भोज्य+सु, उष्ण+सु > भोज्य-उष्ण (कृत्यप्रत्ययान्त 'भोज्य' का जाति-वाची समानाधिकरण 'उष्ण' के साथ समास) >भोज्योष्ण (अ+उ = ओ—गुण, "आद् गुणः" ६-१-८७) > भोज्योष्ण+सु (पुनः विभक्ति) > **भोज्योष्णः** (स् = र् = :) । (२) अ-तुल्यश्वेतः (समान सफेद रङ्ग का) । **लौकिक विग्रह**—तुल्यश्चासौ श्वेतश्च । **अलौकिक विग्रह**—तुल्य+सु, श्वेत+सु > तुल्यश्वेत ('तुल्य' शब्द का जातिवाची समानाधिकरण 'श्वेत' के साथ समास) > तुल्यश्वेत+सु > तुल्यश्वेत+र् > **तुल्यश्वेतः** (विभक्तिकार्य) । (२) ब-सदृशश्वेतः (समान सफेद रंग का) **लौकिक विग्रह**—सदृशश्चासौ श्वेतश्च । **अलौकिक विग्रह**—सदृश+सु, श्वेत+सु >सदृशश्वेत (तुल्यार्थक 'सदृश' का 'श्वेत' के साथ समास) > सदृशश्वेत+सु > सदृशश्वेत+र् > **सदृशश्वेतः** (विभक्ति-कार्य पूर्ववत्) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में समस्यमान उत्तरपदवाची शब्द के जातिभिन्न (अजात्या) अपेक्षित होने से 'भोज्यः ओदनः' (खाने योग्य भात) में समास नहीं होता, क्यों कि 'ओदन' शब्द जातिवाचक है । अन्यथा कृत्यप्रत्ययान्त 'भोज्य' का समानाधिकरण 'ओदन' सुबन्त के साथ समास हो जाता । दूसरी विशेषता यह भी है कि 'भोज्यः ओदनः' में कर्मधारय समास भी नहीं होता, क्योंकि 'अजात्या' पद (पर्युदास) से सूचित होने वाला जातिभिन्न-विषयक निषेध "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७ सूत्र को भी प्रवृत्त होने नहीं देता ।

सामर्थ्याद्विशेषणसमासोऽपि न । (७५०) वर्णो वर्णेन २ । १ । ६९ ॥ समानाधिकरणेन सह प्राग्वत् । कृष्णसारङ्गः । (७५१) कडाराः कर्मधारये २ । २ । ३८ ॥ कडारादयः शब्दाः कर्मधारये वा पूर्वं प्रयोज्याः । कडारजैमिनिः । जैमिनिकडारः ।

न भवतीत्यर्थः । नन्वेतत्समासाभावेऽपि विशेषणसमासो दुर्वार इत्यत्र आह—प्रतिषेधेति । भोज्यशब्दपूर्वनिपातस्योभयत्राप्यविशिष्टतया 'अजात्या' इति पर्युदासवैयर्थ्यादिति भावः ।

(७५०) वर्णो । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—समानाधिकरणेनेति । वर्णवाचिना समानाधिकरणेन वर्णवाची समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । कृष्णसारङ्ग इति । सारङ्गश्चित्रवर्णवान् । कृष्णशब्दः कृष्णावयवके लाक्षणिक इति सामानाधिकरण्यम् । कृष्णश्चासौ सारङ्गश्चेति विग्रहः । विशेषणसमासेन सिद्धे इदं प्रपञ्चार्थमेव । यत्तु 'वर्णो वर्णेष्वनेते' इति स्वरविधौ प्रतिपदोक्तत्वादस्यैव ग्रहणार्थमिदम् । तेन सारङ्गस्यावयवः कृष्णः सारङ्गकृष्ण इत्यत्र 'वर्णो वर्णेषु' इति स्वरो नेति, तच्चिन्त्यम्, कर्मधारयस्वरप्रकरणे 'वर्णो वर्णेष्वनेते' इति सूत्रस्य पाठेनैव सिद्धेरिति दिक् ।

(७५१) कडाराः कर्मधारये । 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यतः पूर्वमित्यनुवर्तते । कडाराः

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र की उपयोगिता अन्य सूत्रों की तरह कृत्यप्रत्ययान्त तथा तुल्यार्थक शब्दों के पूर्व-निपातन करने में है ।

(२) √भुज् धातु से 'ण्यत्' ("ऋहलोर्ण्यत्" ३-१-१२४) प्रत्यय "कृत्याः" ३-१-९५ अधिकार के अन्तर्गत है ।

(७५०) पद—वर्णः, वर्णेन । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप् , सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—समानाधिकरण के साथ पूर्ववत् हो । उदा० कृष्णसारङ्गः ।

विवरण –प्रकरणवश सभी उपर्युक्त अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् चली आ रही हैं । सूत्र में उल्लिखित समस्यमान दोनों पद 'वर्ण' वाची अपेक्षित हैं । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "कोई रूप-विशेष-वाचक शब्द दूसरे रूप-विशेष-बोधक समानाधिकरण समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होकर तत्पुरुष-संज्ञक हो" । **उदाहरण**—कृष्णसारङ्गः (काला और चितकबरा) । **लौकिक विग्रह**—कृष्णश्चासौ सारङ्गश्च । **अलौकिक विग्रह**—कृष्ण + सु, सारङ्ग + सु > कृष्णसारङ्ग (दोनों वर्णवाची शब्दों का समास, प्रथम 'कृष्ण' शब्द का विग्रह में प्रथम विवक्षा होने से पूर्व-निपात, विभक्तिलोप) > **कृष्णसारङ्गः** (विभक्तिकार्य—सु = स् = र् = :) ।

विशेष—(१) उपर्युक्त उदाहरण में 'सारङ्ग' शब्द चित्र = 'चितकबरा' अर्थ का वाचक है । किन्तु यह 'चित्र'–गुण–सम्पन्न वस्तु का बोधक भी है (चीतल = मृग) । इसके साथ ही 'कृष्ण' शब्द 'कृष्णावयववान्' (मत्वर्थीय) अर्थ में लाक्षणिक है । तदनुसार ये दोनों शब्द लाक्षणिक अर्थ द्वारा सामानाधिकरण्य के सूचक हैं ।

(२) अनेक व्याख्याताओं ने इस सूत्र के बिना भी 'कृष्णसारङ्गः' आदि उदाहरणों की सिद्धि "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७ सूत्र से सम्भावित होना बतलाया है । अतः उस सूत्र का प्रपञ्च मात्र यह सूत्र है ।

(७५१) पद—कडाराः, कर्मधारये । **अनुवृत्ति**—वा, पूर्वम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कर्मधारय समास में 'कडार' आदि शब्दों का विकल्प से पूर्व प्रयोग होता है उदा० कडारजैमिनिः, जैमिनिकडारः ।

विवरण—प्रसङ्गवश उपसर्जन-सम्बन्धी पूर्वनिपात प्रकरण का निर्वचन किया जा रहा है ।

(७५२) कुमारः श्रमणादिभिः २ । १ । ७० ॥ कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा । इह गणे श्रमणा, प्रव्रजिता, गर्भिणीत्यादयः स्त्रीलिङ्गाः पठ्यन्ते । लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया

इति बहुवचननिर्देशात्तदादिग्रहणम् । तदाह—कडारादय इति । 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । कडारजैमिनिरिति । कडारश्चासौ जैमिनिश्चेति विग्रहः ।

(७५२) कुमारः श्रमणादिभिः । कुमारशब्दः श्रमणादिभिः समानाधिकरणैः समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । **कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणेति** । 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवत्त्वम् । श्रमणा परित्यक्तसर्वसङ्गा । ननु सूत्रे कुमारशब्दस्य पुंलिङ्गस्यैव पाठात् कथमिह स्त्रीलिङ्गस्योदाहरणमित्यत आह—इहेति । ननु गणे स्त्रीलिङ्गानामेव पाठे सूत्रस्य कथं तेषु प्रवृत्तिः । न च लिङ्गविशिष्टपरिभाषयेति वाच्यम्, तत्सद्भावे प्रमाणाभावादित्यत

पाणिनि–अष्टाध्यायी-क्रम में "उपसर्जनं पूर्वम्" (२-२-३०) सूत्र से यहाँ 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। एवं "वाऽऽहिताग्न्यादिषु" (२-२-३७) से 'वा' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कर्मधारय-समास में कडार आदि गणपठित शब्दों का विकल्प से पूर्व प्रयोग हो"। **उदाहरण**—कडारजैमिनिः (पीला जैमिनि)। **लौकिक विग्रह**—कडारश्चासौ जैमिनिश्च । **अलौकिक विग्रह**—कडार+सु, जैमिनि+सु > **कडारजैमिनिः** अथवा **जैमिनिकडारः** (वही अर्थ–पीला जैमिनि)। पूर्ववत् कर्मधारय समास तथा प्रकृत सूत्र से 'कडार' शब्द की वैकल्पिक पूर्व स्थिति हुई।

विशेष—"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-४७ से समास होने पर विशेषण-वाची शब्द का "उपसर्जनं पूर्वम्" २-१३० सूत्र से पूर्व-निपात नित्य प्राप्त रहा, यहाँ विकल्प-विधान होने से सूत्र की चरितार्थता है।

(७५२) पद—कुमारः, श्रमणादिभिः। **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा) सूत्र**।

सूत्रार्थ—उदा० कुमारी श्रमणा > कुमारश्रमणा। यहाँ गण में श्रमणा, प्रव्रजिता, गर्भिणी आदि स्त्रीलिङ्ग शब्द पढ़े गये हैं। यही लिङ्ग-विशिष्ट परिभाषा का ज्ञापक समझा जाय।

विवरण—पुनः तत्पुरुष समास के प्रकरण में परावर्तित होना पड़ रहा है। अतः सूत्र सं० ७५० के अनुसार आधिकारिक एवं प्रासङ्गिक सभी अनुवृत्तियाँ समाविष्ट हो यह सूचित करती हैं कि "कुमार शब्द, समानाधिकरणवाची श्रमणादि सुबन्तों के साथ, विकल्प से तत्पुरुष समास को प्राप्त होता है"। **उदाहरण**—कुमारश्रमणा (कुमारी संन्यासिनी)। **लौकिक विग्रह**—कुमारी चासौ श्रमणा च। **अलौकिक विग्रह**—कुमारी+सु, श्रमणा+सु > कुमारी-श्रमणा ('कुमारी' शब्द का 'श्रमणा' शब्द के साथ समास, विभक्तिलोप, पूर्वनिपात) > कुमारश्रमणा ('कुमारी' शब्द को पुंवद्भाव = कुमार—"पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" ६-३-४२) > **कुमारश्रमणा** (विभक्ति-कार्य–'सु' लोप)।

विशेष—प्रकृत सूत्र में समस्यमान शब्दों का क्रमशः निर्देश किया गया है। पूर्वपदस्थ शब्द 'कुमारः' तथा उत्तरपदस्थ शब्द 'श्रमणा' आदि हैं। इन शब्दों में परस्पर लिङ्ग की विभिन्नता है। कारण यह है कि पूर्वपदस्थ शब्द 'कुमारः' तो पुंलिङ्ग में पढ़ा गया है तथा उत्तरपदस्थ श्रमणा, प्रव्रजिता, गर्भिणी आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में पढ़े हैं। अतः समास कैसे हो? इसका समाधान भट्टोजी दीक्षित 'लिङ्ग-विशिष्ट-परिभाषा' द्वारा करते हैं—"प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्"। अर्थात् 'कुमारः' पुंलिङ्ग में पढ़ा जाने पर भी वह अपने स्त्रीलिङ्गवाची शब्द का ग्रहण कराने में समर्थ होगा। अन्यथा "कुमारः श्रमणादिभिः" २-१-७० सूत्र में स्त्रीवाचक 'श्रमणा' शब्द से

एतदेव ज्ञापकं बोध्यम्। (७५३) **चतुष्पादो गर्भिण्या २।१।७१॥** चतुष्पाज्जातिवाचिनो गर्भिणीशब्देन सह प्राग्वत्। गोगर्भिणी। 'चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम्' (वा १३११)। नेह—स्वस्तिमती गर्भिणी। (७५४) **मयूरव्यंसकादयश्च २।१।७२॥**

आह—लिङ्गेति। एतदेवेति। एतदपीत्यर्थः, 'युवा खलति' इति सूत्रे जरतीग्रहणस्यापि तज्ज्ञापकत्वात्। न हि युवन्शब्दस्य जरतीसामानाधिकरण्यमस्ति।

(७५३) **चतुष्पादो गर्भिण्या।** 'जातिग्रहणं कर्तव्यम्' इति वार्तिकमभिप्रेत्याह—**चतुष्पाज्जातीति। गोगर्भिणीति।** गर्भिणी चासौ गौश्चेति विग्रहः। विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थमिदं सूत्रम्। जातिरिति किम्। कालाक्षी गर्भिणी।

पुंवाचक 'कुमारः' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव होता? इसके लिये 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा का यह विधान (सूत्र) ज्ञापक माना गया है।

इसमें एक बात खटकती है। वह यह कि "युवा खलति०" (सू० ७४८) में भी 'युवन्' शब्द से 'युवति' का ग्रहण होने में 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा को ही कारण बताया जा चुका है। अन्यथा वहाँ पर सूत्रपठित 'जरती' शब्द के साथ 'युवन्' का सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं था। इसलिये 'जरती' शब्द व्यर्थ होकर 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा का ज्ञापक है। तदनुसार सिद्धान्त-कौमुदी के मूल में इस सूत्र का 'एतदेव' पद लिङ्गविशिष्ट परिभाषा के ज्ञापनार्थ प्रयुक्त किया जाना रुचिकर प्रतीत नहीं होता। अतः नागेश भट्ट ने 'एतदेव' शब्द का अर्थ 'एतदपि' (यह भी) कह कर इस अरुचि का समाधान किया है[1]।

(७५३) **पद**—चतुष्पादः, गर्भिण्या। **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—जातिवाचक गर्भिणी शब्द के साथ चतुष्पाद-वाचक शब्द का पूर्ववत् (समास) हो। उदा० गोगर्भिणी। वा० 'चतुष्पाद' से जाति का ग्रहण करना चाहिये। यहाँ (समास) नहीं—स्वस्तिमती गर्भिणी।

विवरण—समाना-धिकरण-सम्बन्धी आधिकारिक एवम् प्रासङ्गिक सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विद्यमान हैं। अतः सूत्र में गृहीत समस्यमान 'पूर्व' एवम् 'उत्तर' पदों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर यह निष्कर्ष निकलता है कि "चतुष्पादवाची समर्थ सुबन्त शब्द, गर्भिणी शब्द के साथ, विकल्प से समास को प्राप्त कर तत्पुरुष-संज्ञक हों"। **उदाहरण**—गोगर्भिणी (गर्भिणी गाय)। **लौकिक विग्रह**—गर्भिणी चासौ गौश्च। **अलौकिक विग्रह**—गर्भिणी+सु, गो+सु > गर्भिणी-गो (चतुष्पाद वाचक 'गो' शब्द का गर्भिणी के साथ समास, विभक्तिलोप) > गो-गर्भिणी (सूत्र में प्रथमाविभक्ति-निर्दिष्ट 'चतुष्पाद' वाचक उदाहरणस्थ 'गो' शब्द का पूर्व निपात) > गोगर्भिणी+सु > **गोगर्भिणी** (पुनः विभक्ति-प्रयुक्त 'सु' का लोप—"हल्-ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८)। वा० सूत्र में प्रयुक्त 'चतुष्पाद' शब्द से चतुष्पाद-जाति का बोध होता है। इसके फलस्वरूप **स्वस्तिमती** में समास नहीं हुआ। कारण यह है कि यहाँ 'स्वस्तिमती' किसी गाय का नाम रखा गया है। अतः चतुष्पाद व्यक्ति-विशेष का बोधक शब्द समास को प्राप्त नहीं हुआ।

विशेष—विशेष्यवाची शब्द के पूर्व-निपातार्थ सूत्र की उपयोगिता है।

---

१. "एतदपीत्यर्थः। 'युवा खलति" २-१-६७ इति सूत्रे जरतीग्रहणस्यापि ज्ञापितत्वात्"।—ल० श० शे० (प्रकृतसूत्रव्याख्यायाम्)।

एते निपात्यन्ते। मयूरो व्यंसकः मयूरव्यंसकः। व्यंसको धूर्तः। उदक्चावाक्चोच्चावचम्। निश्चितं च प्रचितं च निश्चप्रचम्। नास्ति किञ्चन यस्य सोऽकिञ्चनः। नास्ति कुतो भयं यस्य सोऽकुतोभयः। अन्यो राजा राजान्तरम्। चिदेव चिन्मात्रम्। 'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये' (ग २०)। अश्नीत पिबतेत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा अश्नीतपिबता। पचतभृज्जता। खादतमोदता। 'एहीडादयोऽन्यपदार्थे' (ग १८)। एहीड

---

(७५४) मयूरव्यंसकादयश्च। एते निपात्यन्त इति। कृतसमासकार्या निर्दिश्यन्त इत्यर्थः। मयूरव्यंसक इति। व्यंसकश्चासौ मयूरश्चेति विग्रहः। व्यंसको धूर्त इति। अत्र कोशो मृग्यः। गुणवचनत्वात् व्यंसकशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते इदं वचनम्। उच्चावचमिति। उदक्शब्दस्य उच्चेत्यादेशः। अवाक्शब्दस्य अवचादेशश्च। 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः। निश्चप्रचमिति। निश्चितशब्दस्य निश्चादेशः। प्रचितशब्दस्य प्रचादेशः। नास्ति किञ्चनेति। चनेत्यव्ययमप्यर्थे। नास्ति किमपि यस्येत्यर्थे बहुव्रीह्यपवादस्त्रिपदस्तत्पुरुषः। नञो नकारस्य लोपश्च निपात्यते। 'न लोपो नञः' इति तु 'नात्र प्रवर्तते' किंशब्दस्य उत्तरपदत्वाभावात्, समासचरमखण्ड एव उत्तरपदशब्दस्य रूढत्वात्। नास्ति कुत इति। कुतोऽपि भयमस्य नास्तीति विग्रहस्यार्थः। अकुतोभय इति। बहुव्रीह्यपवादस्तत्पुरुषः। अन्यो राजा राजान्तरमिति। अत्र अन्तरशब्दः अन्यपर्यायः। तस्य स्थाने अन्यशब्दो विग्रहवाक्ये ज्ञेयः, नित्यसमासत्वेन अस्वपदविग्रहौचित्यात्। नित्यसमासत्वं च राजान्तरमित्यस्य व्याख्यानादेव ज्ञेयम्। अत्र अन्तरशब्दस्य परनिपातः। चिदेव चिन्मात्रमिति। 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः। नित्यसमासत्वसूचनाय अस्वपदविग्रहः। निपातनादनुनासिकनित्यतेत्याहुः। आख्यातमिति। गणसूत्रम्। क्रियासातत्ये गम्ये तिङन्तं तिङन्तेन समस्यते, स तत्पुरुष इत्यर्थः। अश्नीत पिबतेति। इहासुबन्तत्वेऽपि समासः। क्रियारूप-

---

(७५४) पद—मयूरव्यंसकादयः, च। अनुवृत्ति—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। विधि-(संज्ञा)-सूत्र।

मूलार्थ—इनका निपातन किया जाता है। उदा०—१-मयूरो व्यंसकः > मयूरव्यंसकः। व्यंसक का अर्थ धूर्त है। २-उदक् च अवाक् च > उच्चावचम्। ३-निश्चितं च प्रचितं च > निश्चप्रचम्। ४-नास्ति किञ्चन यस्य सः > अकिञ्चनः। ५-नास्ति कुतो भयं यस्य सः > अकुतोभयः। ६-अन्यः राजा > राजान्तरम्। ७-चिदेव > चिन्मात्रम्। गणसूत्र—क्रिया का नैरन्तर्य रहते क्रिया का क्रिया के साथ (समास होता है)। उदा०—१-अश्नीत पिबत इत्येवं सततं यत्र अभिधीयते सा > अश्नीतपिबता। २-पचतभृज्जता। ३-खादतमोदता। गणसूत्र—अन्य पदार्थ में एहीड आदि का समास होता है। उदा-१-एहीड इति यस्मिन् कर्मणि तद् > एहीडम्। २-एहियाडम्। ३-उद्धर कोष्ठाद् उत्सृज देहि इति यस्यां क्रियायां सा > उद्धरोत्सृजा। ४-उद्धमविधमा। इस गण में सातत्य का ग्रहण नहीं है। गणसूत्र—पौनःपुन्य में समास से कर्ता का कथन होने पर कर्म के साथ 'जहि' का विकल्प से समास हो। उदा० १-जहिजोडः। २-जहिस्तम्बः।

विवरण—समानाधिकरण प्रकरण का समाप्ति-सूचक यह विधान है। विशेष्यवाची पद के पूर्व-निपातन में इसकी उपयोगिता है। नित्यसमास होने के कारण 'विभाषा' की अनुवृत्ति अपेक्षित नहीं है। अन्य आधिकारिक उपर्युक्त अनुवृत्तियाँ यथापूर्व चली आ रही हैं। "मयूरव्यंसक आदि गणपठित समुदायात्मक शब्दों की तत्पुरुष समास में साधुता प्रतिपादित की जा

इति यस्मिन्कर्मणि तदेहीडम् । एहियवम् । उद्धर कोष्ठादुत्सृज देहीति यस्यां क्रियायां सोद्धरोत्सृजा । उद्धमविधमा । असातत्यार्थमिह पाठः । 'जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति' (ग २९)। जहीत्येतत्कर्मणा बहुलं समस्यते आभीक्ष्ण्ये गम्ये

स्यात्न्यपदार्थस्य प्राधान्यात् स्त्रीत्वाट्टाप् । एवं पचतभृज्जतेत्यादावपि । एहीडादय इति । इदमपि गणसूत्रम् । अन्यपदार्थे एहीडादयो निपात्यन्त इत्यर्थः । एहि ईडे इति विग्रहः । ईडे इति लडुत्तमपुरुषैकवचनम् । डकारादेकारस्य अकारादेशः । एहियवमिति । यौमीत्यस्य यवादेशः । उत्सृजेत्यस्य विवरणम्—देहीति । इह पाठ इति । एहीडादिष्वित्यर्थः । 'जहि कर्मणा बहुलम्' इत्यपि गणसूत्रम् । कर्ता अभिधीयते इति । उक्तः कर्तेत्यर्थः । जहिजोड

रही है"। अतः अधिकतर समस्त शब्दों का लौकिक विग्रह सम्भव नहीं। किन्तु अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये **'अस्वपद विग्रह'** का प्रदर्शन मात्र सम्भव है। तदनुसार निपातन के द्वारा समास-कार्यों का निर्देश किया जायगा। **उदाहरण**—१-मयूरव्यंसकः (चतुर मोर)। **लौकिक विग्रह**—व्यंसकश्चासौ मयूरश्च। **अलौकिक विग्रह**—व्यंसक+सु, मयूर+सु > मयूरव्यंसक (निपातन से समास तथा इसके फलस्वरूप 'मयूर' का पूर्व निपात) > मयूर-व्यंसकः (पुनः विभक्ति, स् = र् = :)। प्रकृत सूत्र "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-४८ का बाधक है। अन्यथा विशेषण-वाची 'व्यंसक' शब्द की पूर्व में स्थिति रहती। २-उच्चावचम् (ऊँचा नीचा)। **लौकिक विग्रह**—उदक् च अवाक् च। **अलौकिक विग्रह**—उदञ्च्+सु, अवाञ्च्+सु > उच्च-अवच (समास तथा उदक् = उच्च, अवाक् = अवच) > उच्चावच (सवर्ण दीर्घ) > उच्चावच + सु > उच्चावचम् (अ+अम् = अम्—पूर्वरूप-"अमि पूर्वः" ६-१-१०) ३-निश्चप्रचम् (निश्चित की हुई और बटोरी हुई)। **लौकिक विग्रह**—निश्चितं च प्रचितं च **अलौकिक विग्रह**—निश्चित+सु, प्रचित+सु > निश्च-प्रच (समास-कार्य तथा निश्चित = निश्च, प्रचित = प्रच) > निश्चप्रच+सु (विभक्ति) > निश्चप्रच+अम् (सु = अम्) > **निश्चप्रचम्** (अ+अम्=अम्–पूर्वरूप)। ४-अकिञ्चनः[1] (जिसके पास कुछ भी न हो, निर्धन)। **लौकिक विग्रह**—नास्ति किञ्चन यस्य सः। **अलौकिक विग्रह**—नञ्+सु, किञ्चन+सु > अकिञ्चन (तत्पुरुष समास का निपातन, बहुव्रीहि का अपवाद तथा 'नञ्' के 'न्' का लोप भी निपातनवश हुआ) > अकिञ्चन+सु > **अकिञ्चनः** (स् = र् = :)। ५-अकुतोभयः (जिसे किसी का भय न हो—निर्भय)। **लौकिक विग्रह**—नास्ति कुतो भयं यस्य सः। **अलौकिक विग्रह**—नञ्+सु , कुतोभय+सु > अकुतोभय (बहुव्रीहि समास का बाध कर निपातन-वश तत्पुरुष समास तथा 'नञ्' के नकार का लोप) > अकुतोभय+सु > **अकुतोभयम्** (सु = अम् , पूर्वरूप)। ६-राजान्तरम् (दूसरा राजा)। **लौकिक (अस्वपद) विग्रह**—अन्यः राजा। > **अलौकिक विग्रह**—अन्य+सु , राजन्+सु > राजन्+अन्तर (विशेषण-समास के अपवादस्वरूप नित्य समास एवम् अन्यार्थवाची 'अन्तर' शब्द का पूर्व निपात) > राज+अन्तर ('न्' का लोप) > राजान्तर (सवर्ण दीर्घ) > **राजान्तरम्** (विभक्ति–सु = अम् तथा पूर्व-रूप)। ७-चिन्मात्रम् (केवल चैतन्य रूप, ब्रह्म)। **लौकिक अस्वपद विग्रह**—चिद् एव। **अलौकिक विग्रह**—चिद्+सु, एव (= मात्र) + सु > चिद्-मात्र (मात्र अर्थ में नित्य समास) > चिन्मात्र (द् = न्-"प्रत्यये भाषायां नित्यम्"-वा०) > चिन्मात्र+सु > **चिन्मात्रम्** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्)।

तिङन्त के साथ समास होने की स्थिति में अपेक्षित **गणसूत्र** प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका आशय यह है कि "जब क्रिया से नैरन्तर्य अर्थ का बोध होता हो तो तिङन्त का तिङन्त के

---

१. "राघवः प्रोष्य पापीयान् जहीहि तमकिञ्चन"—भट्टिः।

समासेन चेत्कर्ताभिधीयत इत्यर्थः। जहिजोडः। जहिस्तम्बः। (७५५) ईषदकृता

इति। जोड इति कस्यचित् सञ्ज्ञा। जहि जोडं जहि जोडमित्याभीक्ष्ण्येन य आह स जहिजोडः। जहिस्तम्ब इति। जहिस्तम्बम्, जहिस्तम्बमिति—य आहेति विग्रहः। इति समानाधिकरणाधिकारः।

साथ समास हो"। उदाहरण—अश्नीतपिवता (निरन्तर खाओ और पियो)। **लौकिक अस्वपद विग्रह**—अश्नीत पिवत इति एवं सततं यत्र अभिधीयते सा। **अलौकिक विग्रह**–(√अश्+लिङ्, √पा+लिङ् =) अश्नीत पिवत (सुबन्त न होने पर भी निपातन-वश तत्पुरुष समास) > अश्नीतपिवता (क्रियारूप अन्य-पदार्थ की प्रधानता होने से सामासिक शब्द अकारान्त प्रातिपदिक होने के कारण टाप्–"अजाद्यतष्टाप्") > अश्नीतपिवता+सु (पुनः विभक्ति) > [1]**अश्नीतपिबता** (विभक्ति-लोप–"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८)। २–पचतभृज्जता (निरन्तर पकाओ और भूनो कही जाने वाली क्रिया)। **अस्वपद विग्रह**—पचत, भृज्जत इत्येवं सततं यत्र अभिधीयते सा > पचतभृज्जत (दोनों क्रियापदों का निपातनवश तत्पुरुष समास > पचतभृज्जत+टाप् (क्रियारूप अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से स्त्रीप्रत्यय टाप्) > पचतभृज्जता (दीर्घ) > पचतभृज्जता+सु (पुनः विभक्ति) > **पचतभृज्जता** ('सु'–लोप पूर्ववत्)। ३–खादतमोदता (खूब खाओ और आनन्द मनाओ कही जानेवाली क्रिया)। **लौकिक अस्वपद विग्रह**—खादत मोदन्ताम् इत्येवं सततं यत्र अभिधीयते सा > खादत-मोदत (पूर्ववत् तत्पुरुष समास का निपातन एवं 'मोदन्ताम्'–आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद–'मोदत' आदेश) > **खादतमोदता** (पूर्ववत् टाप्, विभक्ति तथा 'सु' लोप)।

प्रसङ्गवश मयूरव्यंसकादि-गण के अन्तर्गत दूसरा **गणसूत्र** प्रस्तुत किया जा रहा है तदनुसार एहि ईडे–आदि क्रिया-पदों का अन्य-पद के अर्थ में तत्पुरुष समास होता है। **उदाहरण**—१—एहीडम् (आओ और प्रशंसा के गीत गाओ—इस प्रकार कहे जाने वाला कार्य)। **लौकिक विग्रह**—एहि ईडे—इति यस्मिन् कर्मणि तत्>एहि-ईड (दोनों क्रिया पदों का तत्पुरुष समास तथा 'ईडे'—लट्-लकार के रूप के एकार के स्थान पर अकार-आदेश का भी निपातन) > एहीड (इ+ई = दीर्घ) > **एहीडम्** (पुनः विभक्ति, सु = अम्, पूर्वरूप)। २–एहियवम् (आओ और जाओ इस क्रिया का प्रत्यायक कार्य)। **लौकिक विग्रह**—एहि यौमि इति यस्मिन् कर्मणि तत्। **अलौकिक स्वपद विग्रह**—एहि+यौमि > एहियव (निपातनवश समास तथा यौमि = यव–आदेश) > **एहियवम्** (पूर्ववत् विभक्ति कार्य—सु = अम् तथा पूर्वरूप)। ३–उद्धरोत्सृजा (कोठे से निकलो और दो–इस अर्थ की बोधिका क्रिया)। **लौकिक विग्रह**—उद्धर (कोष्ठाद्), उत्सृज (= देहि) इति यस्यां क्रियायां सा। **अलौकिक स्वपद विग्रह**—उद्धर उत्सृज (दोनों तिङन्त पदों का समास) > उद्धरोत्सृज (अ+उ = ओ–गुणसन्धि) > **उद्धरोत्सृजा** (टाप्, विभक्ति तथा 'सु' लोप)। ४–उद्धमविधमा (श्वास को बाहर निकालो और खींचो—इस अर्थ की प्रत्यायिका क्रिया)। **लौकिक विग्रह**—'उद्धम विधम' इति यस्यां क्रियायां सा। **अलौकिक स्वपद विग्रह**—उद्धम+विधम > उद्धम-विधम (लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन में निष्पन्न दोनों तिङन्त रूपों का निपातनवश समास) > **उद्धमविधमा** (टाप् तथा विभक्तिकार्य)।

विशेष—इसके पूर्व व्याख्यात गणसूत्र में सतत और निरन्तर अर्थों का बोध कराने वाले क्रिया पदों का समास बताया गया है। किन्तु प्रकृत गणसूत्र "एहीडादयः०" में यह विशेषता है कि 'इससे विहित तिङन्त पदों के समास में सतत अर्थ अपेक्षित नहीं है'।

---

१. "अश्नीत-पिबतीयन्ती प्रसिता स्मरकर्मणि'—भट्टिकाव्यम्।

२ । २ । ७ ॥ ईषत्पिङ्गलः । 'ईषद्गुणवचनेनेति वाच्यम्' (वा १३१६) । ईषद्रक्तम् ।

---

(७५५) **ईषदकृता** । ईषच्छब्दः अकृदन्तप्रकृतिकसुबन्तेन समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । **ईषत्पिङ्गल इति** । पिङ्गलशब्दः अव्युत्पन्नप्रातिपदिकमिति भावः । **ईषद्गुण-वचनेनेति** । अकृतेत्यपहायेति शेषः ।

गणसूत्र--पूर्वोक्त गण-सूत्रों से भिन्न स्थिति में भी निपातन किया जारहा है। उसके सम्बन्ध में कहा जा रहा है। तदनुसार " 'लोट्' लकार के मध्यम पुरुष में निष्पन्न 'जहि' रूप का अपने कर्म के साथ पौनःपुन्य बोध कराने की स्थिति में बहुलता से समास होगा, यदि समस्त-पद कर्ता का बोधक हो" । **उदाहरण**—१-जहिजोडः (बन्धन तोड़ो, बन्धन तोड़ो—इस प्रकार बार बार कहने वाला)। **लौकिक विग्रह**—"जहि जोडम्, जहि जोडम्" इति यः पुनः पुनः आह, सः । **अलौकिक विग्रह**—जहि+जोडम् > **जहिजोडः** (निपातन वश 'जहि' क्रिया का 'जोडम्'-कर्म के साथ समास, अन्य पदार्थ में कर्ता के पुंलिङ्ग होने से पुनः विभक्ति-'सु' = रु = :) । २–जहिस्तम्बः (खम्बे को काटो, खम्बे को काटो—इस प्रकार बार बार कहने वाला) । **लौकिक विग्रह**—'जहि स्तम्बं, जहि स्तम्बं'—यः पुनः पुनः आह, सः । **अलौकिक विग्रह**—जहि+स्तम्बम् > **जहिस्तम्बः** (निपातन एवं सामासिक कार्य पूर्ववत्) ।

विशेष—(१) मयूरव्यंसकादि आकृतिगण है। अतः गणपठित शब्दों के अतिरिक्त अनेक शब्दों का निर्वचन इसके अन्तर्गत किया जाता है। तदनुसार अकुतोभयः, कान्दिशीकः, आहो-पुरुषिका[1] अहमहमिका, यदृच्छा, एहिरे याहिरा, उन्मृजावमृजा, वनान्तरम्[2], अवश्यकार्यम् आदि शब्द 'मयूरव्यंसकादि' का आश्रय लेकर साधु माने गए हैं।

(२) यहाँ समानाधिकरण-अधिकार समाप्त होता है।

(७५५) पद—ईषद्, अकृता । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—(कृदन्त-भिन्न के साथ 'ईषत्' का तत्पुरुष समास हो) उदा० ईषत्पिङ्गलः । वा० 'ईषत्' का गुणवाची के साथ समास कहा जाय । उदा० ईषद्रक्तम् ।

विवरण—आधिकारिक उपर्युक्त अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। सूत्र में सामासिक दोनों पदों का उल्लेख किया गया है। तदनुसार "ईषत् शब्द का कृदन्तभिन्न शब्दों के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास होता है" । **उदाहरण**—ईषत्पिङ्गलः (थोड़ा पीला) । **लौकिक विग्रह**—ईषत्+पिङ्गलः । **अलौकिक विग्रह**—ईषत्+सु, पिङ्गल+सु > ईषत्पिङ्गल ('ईषत्' का कृदन्तभिन्न 'पिङ्गल' शब्द के साथ समास) > ईषत्पिङ्गल+सु > ईषत्पिङ्गलः (पुनः विभक्ति, स् = र् = :) । **वार्तिक**—गुणवाची कृदन्त शब्दों के साथ भी 'ईषत्' शब्द का समास हो ऐसा समझा जाय। तदनुसार सूत्र की व्यापकता पर वार्तिककार ने विचार किया है। **उदाहरण**—ईषद्रक्तम् (थोड़ा लाल)। यहाँ 'रक्त' शब्द कृदन्त-प्रत्ययान्त है—√रञ्ज्+क्त। अतः सूत्र से समास-विधान सम्भव नहीं था। वार्तिकानुसार—ईषत्+रक्तम् > ईषद्रक्तम्—समास हुआ (प्रक्रिया पूर्ववत्) ।

विशेष—'ईषद्-गार्ग्यः' आदि उदाहरणों में 'गार्ग्य' शब्द तद्धित-प्रत्ययान्त होने पर भी गुणवाची न होने से समास नहीं हुआ ।

---

१. "कमलकुशलावधाने मानोरहो पुरुषव्रतम्"—इति श्रीहर्षः ।

२. अन्यद् वनम् इति विग्रहः । अत्र अन्तरशब्दो भिन्नार्थः । स च अभेदेन वने विशेषणम्, वनान्तरं गच्छतीत्यादौ अस्माद् वनाद् भिन्नं वनं गच्छति इत्यर्थस्यैव प्रतीतिसम्भवात् ।

(७५६) नञ् २।२।६॥ नञ्सुपा सह समस्यते। (७५७) नलोपो नञः ६।३।७३॥ नञो नस्य लोपः स्यादुत्तरपदे। न ब्राह्मणोऽब्राह्मणः (७५८) तस्मान्नुडचि ६।३।७४॥

---

(७५६) नञ्। इदं समानाधिकरणाधिकारस्थं नेत्यभिप्रेत्याह–**सुपा समस्यत इति।**

(७५७) न लोपो नञः। नेति लुप्तषष्ठीकं पदम्। तदाह—**नञो नस्येति। उत्तरपदे इति।** 'अलुगुत्तरपदे' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। नञोऽशिवि सिद्धे लोपवचनम् अकब्राह्मण इति साकच्कार्थमित्याहुः। **अब्राह्मण इति।** अत्रारोपितत्वं नञर्थः। आरोपितत्वं च ब्राह्मणत्वद्वारा ब्राह्मणे अन्वेति। आरोपितब्राह्मणत्ववानिति बोधः। अर्थात् ब्राह्मणभिन्न इति पर्यवस्यति। केचित्तु नञ्भिन्नवाची, ब्राह्मणादिभिन्न इत्यर्थं इत्याहुः। तदयुक्तम्, ब्राह्मणाद्भिन्न इत्यर्थे पूर्वपदार्थप्राधान्यापत्तेः। तथा च 'उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः' इति भाष्योद्घोषो विरुध्येत। किञ्च, अते, अतस्मै, अतस्मादित्यादौ सर्वनामकार्यं शीभावस्मायादिकं न स्यात्, तच्छब्दार्थस्य नञर्थं प्रति विशेषणत्वे अप्रधानत्वात् 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' इत्युक्तेः। तथा अस इत्यादौ 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति सर्वाद्यन्तर्गतत्यदादिकार्यं सत्वं च न स्यात्। अनेकमित्यत्र एकवचनानुपपत्तिश्च। एकभिन्नस्य एकत्वासम्भवेन द्वित्वबहुत्वनियमेन च द्विबहुवचनापत्तेः। तथा सति 'अनेकमन्यपदार्थे' इति नोपपद्येत। 'एतत्तदोः सुलोपः' इत्यत्र अनञ्समासग्रहणं चात्र लिङ्गम्। तद्धि असः शिवः, अनेषः शिवः इत्यादौ सुलोपाभावार्थम्। तद्भिन्नः एतद्भिन्नः इत्यर्थे तु तच्छब्दाद्यर्थस्य उपसर्जनतया त्यदाद्यत्वानापत्तौ हल्ङ्यादिलोपस्य दुर्वारत्वात्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। तस्मादुत्तरपदार्थप्राधान्यं भाष्योक्तमनुसृत्य आरोपितत्वमेव नञर्थ इति युक्तम्। विस्तरस्तु प्रौढमनोरमायां शब्दरत्ने मञ्जूषायां च ज्ञेयः। प्राचीनास्तु—

'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥'

इति पठित्वा अब्राह्मणः, अपापम्, अनश्वः, अनुदरा कन्या, अपशवो वा अन्ये गोश्वेभ्यः, अधर्म इत्युदाजह्रुः। तत्र सादृश्यादिकं प्रकरणादिगम्यमित्याहुः।

---

(७५६) पद—नञ्। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—नञ् का सुबन्त के साथ समास होता है।

विवरण—'नञ्'–तत्पुरुष की व्याख्या की जारही है। सूत्र में केवल एक ही पद उल्लिखित है। पूर्वपद 'नञ्' अपने सहयोगी उत्तरपद 'सुपा' का लाभ अनुवृत्ति-वश करता है। अतः आधिकारिक अन्य अनुवृत्त पदों के साथ समन्वित हो सूत्रार्थ निष्पन्न होगा। तदनुसार "नञ्-अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होगा"।

(७५७) पद—न लोपः, नञः। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उत्तरपद रहते 'नञ्' के नकार का लोप हो। **उदाहरण**—न ब्राह्मणः > अब्राह्मणः।

विवरण—'नञ्' तत्पुरुष-सम्बन्धी विशेष कार्यों का निर्वचन किया जारहा है। प्रकृत सूत्र में "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ से उत्तरपदे की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'न' (= नस्य) पद में षष्ठी विभक्ति का लोप हुआ है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यजित होता है कि "'नञ्' तत्पुरुष-सम्बन्धी 'न'कार का लोप उत्तरपद के रहने पर हो"। **उदाहरण**—अब्राह्मणः (ब्राह्मणेतर)। **लौकिक**

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुमागमः स्यात् । अनश्वः । अर्थाभावेऽव्ययीभावेन सहायं विकल्प्यते । 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति 'अद्रुतायामसंहितम्' (वा ११६७) इति च भाष्यवार्तिकप्रयोगात् । तेन अनुपलब्धिः, अविवादः, अविघ्नम् इत्यादि

---

(७५८) तस्मान्नुडचि । तच्छब्देन पूर्वसूत्रावगतो लुप्तनकारो नञ् परामृश्यते । उत्तरपद इत्यनुवृत्तमचीत्यनेन विशेष्यते । तदादिविधिः । 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् परत्वात्' इति परिभाषया सप्तमी षष्ठीं प्रकल्पयति । तदाह—लुप्तनकारादिति । अनश्व इति । समासे सति नञो नकारस्य लोपे तत्परिशिष्टाकारस्य नुट् । टकार इत् । उकार उच्चारणार्थः । टित्वादाद्यवयव इति भावः । नुक् तु न कृतः, ङमुट्प्रसङ्गात् । ननु 'उत्तरे कर्मण्यविघ्नमस्तु' इत्यादौ विघ्नानामभाव इत्यर्थे नञ्तत्पुरुषे सति परवल्लिङ्गत्वे अविघ्न इति स्यात् । न च अर्थाभावे अव्ययीभावेन तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, अव्ययीभावस्य निर्मक्षिकमित्यादौ सावकाशतया परत्वात्तत्पुरुषस्यैव प्रसङ्गादित्यत आह—अर्थाभावे इति । रक्षेति । परस्पशाह्निकभाष्ये इदं वाक्यम् । रक्षा च ऊहश्च आगमश्च लघु च असन्देहश्च इति द्वन्द्वः । 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंस्त्वम् । अत्र सन्देहाभाव इत्यर्थे असन्देहशब्दस्य असन्देहा इति प्रयोगात् तत्पुरुषो विज्ञायते । अव्ययीभावे रक्षोहागमलघ्वसन्देहमिति स्यात् । अद्रुतायामसंहितमिति । 'परः सन्निकर्षः संहिता' इति सूत्रे पठितमिदं वार्तिकम् । अद्रुतायां वृत्तौ संहिताभाव इत्यर्थः । अत्र अव्ययीभावे सति असंहितमिति प्रयोगात् अव्ययीभावेऽपि अर्थाभावो नञा गम्यो भवतीति विज्ञायते । अन्यथा तत्पुरुषे सति परवल्लिङ्गत्वादसंहितेति स्यात् । ततश्च नञा गम्ये अभावे तत्पुरुषाव्ययीभावयोर्विकल्प इति स्थितम् । तेनेति । अनुपलब्धिरित्यत्र अविवाद इत्यत्र तत्पुरुषः,

---

विग्रह—न ब्राह्मणः । **अलौकिक विग्रह**—नञ्, ब्राह्मण+सु > अब्राह्मण ('नञ्' = 'न' का सुबन्त 'ब्राह्मणः' के साथ समास तथा 'न्' का लोप) > **अब्राह्मणः** (विभक्ति–स्=र्=ः) ।

विशेष—"नञ्" २-२-६ सूत्र में 'नञ्' का निवेश करने से 'नञ्' अव्यय के साथ ही तत्पुरुष समास होता है, निषेधार्थक 'न' के साथ 'नञ्'–तत्पुरुष समास नहीं होगा । जिसके फलस्वरूप 'नैकधा' में पूर्वपद-प्रकृति-स्वर नहीं हुआ, क्योंकि नैकधा (न+एकधा) में "सुप्सुपा" २-१-४ सूत्र से समास हुआ है ।

(७५८) पद—तस्मात्, नुट्, अचि । **अनुवृत्ति**—नञः, उत्तरपदस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'नञ्'–सम्बन्धी नकार का लोप होने पर उससे परवर्ती अजादि उत्तरपद को 'नुट्' आगम हो । उदाहरण अनश्वः । अर्थाभाव में अव्ययीभाव के साथ विकल्प से यह समास होता है । इस में 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' भाष्य तथा 'अद्रुतायाम् असंहितम्' वार्तिक प्रमाणस्वरूप हैं । इस तरह अनुपलब्धिः, अविवादः, अविघ्नम् आदि सिद्ध होते हैं । 'नञो नलोपस्तिङि क्षेपे' 'अपचसि त्वं जाल्म', 'नैकधा' इत्यादि में 'न' के साथ "सह सुपा" २-१-४ से समास हुआ है ।

विवरण—'नञ्'-तत्पुरुष में अजादि उत्तरपद के रहने पर विशेष विधान किया जारहा है । विधान भी आगम के रूप में विहित है । प्रकृत सूत्र में पूर्व सूत्र का सन्दर्भ अपेक्षित है, अतः पूर्वसूत्र ६-३-७३ से 'नञः' एवं प्रकरणवश 'उत्तरपदे' की अनुवृत्तियाँ चली आरही हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "उस लुप्त नकार वाले 'नञ्' से अजादि (स्वर वर्णों से आरम्भ होने वाले) शब्द उत्तर पद रहते 'नुट्' आगम हो" । 'नुट्' में 'ट्' तथा 'उ'

सिद्धम् । 'नञो नलोपस्तिङि क्षेपे' (वा ३९८४) । अ-पचसि त्वं जाल्म । नैकधा इत्यादौ तु न-शब्देन 'सह सुपा' (सू ६४९) इति समासः । (७५९) नभ्राण्नपान्न-

---

अविघ्नमित्यत्र अव्ययीभावश्च सिध्यतीत्यर्थः । शब्देन्दुशेखरे तु अन्यथा प्रपञ्चितम् । **नञो नलोपस्तिङि क्षेपे इति** । 'नलोपो नञः' इति सूत्रस्थवार्तिकमिदम् । नञो नकारस्य लोपः स्यात् तिङि परे निन्दायामिति वक्तव्यमित्यर्थः । **अ-पचसि त्वं जाल्मेति** । कुत्सितं पचसीत्यर्थः । अत्र अ इति भिन्नं पदं तिङन्तेन समासाभावात् । वार्तिकमिदं प्रसङ्गादुपन्यस्तम् । नञ् समानार्थकेन 'अ' इत्यव्ययेनापि सिद्धमिदमिति वार्तिकं विफलमेव । केचित्तु अस्मादेव वार्तिकादव्ययेषु अ इत्यस्य पाठः अप्रामाणिक इत्याहुः । ननु नैकधेत्यत्रापि नञ्समासे 'नलोपो नञः' इति नकारस्य लोपे 'तस्मान्नुडचि' इति नुटि अनेकधेत्येव स्यादित्यत आह—**नैकधेत्यादौ त्विति** । एतदर्थमेव 'नञ्' इति सूत्रे 'नलोपो नञः' इति सूत्रे च ञकारानुबन्धग्रहणमिति भावः ।

की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर केवल 'न्' शेष रहेगा । टित् आगम होने से वह अजादि शब्द का पूर्वावयव होगा । **उदाहरण**—अनश्वः (घोड़े से भिन्न) । **लौकिक विग्रह**—न अश्वः । **अलौकिक विग्रह**—नञ्, अश्व+सु > न्-अश्व ('नञ्' का सुबन्त 'अश्वः' के साथ समास) > अ-अश्व ('न्' का लोप—"नलोपो नञः" ६-३-७३) > अ-न्+अश्व ('अश्व' के पूर्व नुट् = 'न्' आगम) > **अनश्वः** (विभक्तिकार्य) ।

विशेष—पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' वाक्य में 'असन्देहाः' पुंलिङ्ग शब्द का प्रयोग किया है तथा वार्तिककार ने 'अद्रुतायामसंहितम्' वार्तिक में असंहितम्-नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग किया है । इससे यह विदित होता है कि 'अर्थाभाव' में अव्ययीभाव तथा नञ्-तत्पुरुष दोनों समास अभीष्ट हैं, क्योंकि पतञ्जलि ने 'असन्देहाः' (नञ्-तत्पुरुष) और वार्तिककार ने 'असंहितम्' (अव्ययीभाव) शब्दों का प्रयोग किया है । उक्त प्रमाणों के आधार पर 'अनुपलब्धिः' (नञ्-तत्पुरुष–न+उपलब्धिः), अविवादः (नञ्-तत्पुरुष) और अविघ्नम् (विघ्नस्य अभावः-अव्ययीभाव-नपुंसकलिङ्ग) आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं । सन्देहस्य अभावः इस अर्थ में 'असन्देहम्' अव्ययीभाव-समास भी होता है । उसी प्रकार 'न संहिता' = 'असंहिता'—तत्पुरुष समास में भी इष्ट है ।

वार्तिक—निन्दा गम्यमान रहने पर 'नञ्' का तिङन्ततदादि के साथ समास होता है एवं नकार का लोप भी होता है । **उदाहरण**—अपचसि त्वं जाल्म (नीच, तू बुरी तरह पकाता है) । **लौकिक विग्रह**—नञ्+पचसि > **अपचसि** ('न्' का लोप) ।

विशेष—(१) नैकधा (न+एकधा) में नञ् तत्पुरुष समास नहीं है, किन्तु "सह सुपा" २-१-४ से विहित सामान्य समास है । नञ्-तत्पुरुष होने पर तो 'अनेकधा' रूप बनता इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने "नलोपो नञः" ६-३-७३ सूत्र में पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'नञः' पद की सार्थकता सिद्ध की है । सामान्यतः "न लोपो नस्य" कहने पर भी नकार का लोप-विधान हो सकता था, किन्तु 'नञः'–अनुबन्धसहित–'न' का ग्रहण करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि सानुबन्धक निषेधार्थक 'नञ्' अव्यय का ही "नञ्" सूत्र से समास होता है ।

(२) सूत्र में सप्तमी-विभक्ति 'अचि' का प्रयोग होने पर भी उसे षष्ठी विभक्ति के अर्थ में विपरिणत किया गया है । सप्तमी विभक्ति का प्रयोग करने से 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे'—परिभाषा की प्रवृत्ति होती है । तदनुसार वृत्ति में 'अजादि पद' को 'नुट्' आगम होता है'—कहा गया है ।

वेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या ६ । ३ । ७५ ॥ पाद् इति शत्रन्तः । वेदाः इत्यसुन्नन्तः । न सत्या असत्याः । न असत्या नासत्याः । न मुञ्चतीति नमुचिः । न कुलमस्य नकुलम् । न खमस्य नखम् । न स्त्री पुमान् नपुंसकम् । स्त्रीपुंसयोः पुंसकभावो निपातनात् । न क्षरतीति नक्षत्रम् । क्षीयतेः क्षरतेर्वा क्षत्रमिति निपा-

. (७५९) नभ्राण्नपात् । सुगमम् ।

(३) न-पचसि-दो भिन्न पद हैं। एक सुबन्त तथा दूसरा तिङन्त। कारण यह है कि नियमतः 'नञ्' का तिङन्त के साथ समास प्राप्त नहीं होता। अतः यहाँ पर-लोप के प्रसङ्ग में समास-विधान भी इस वार्तिक से ध्वनित होता है।

(५५९) पद—नभ्राण्न…नाकेषु, प्रकृत्या । अनुवृत्ति—नञः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—(उपर्युक्त शब्दों में 'नञ्' को प्रकृतिभाव होता है।) उदा० 'पाद्'—शतृ-प्रत्ययान्त है। 'वेदस्'-असुन् प्रत्ययान्त है। न सत्याः > असत्याः, न असत्याः > नासत्याः। न मुञ्चति > नमुचिः। न कुलम् अस्य > नकुलम्। न खमस्य > नखम्। न स्त्री पुमान् > नपुंसकम्। स्त्री-पुंस के स्थान में निपातनवश पुंसक आदेश हुआ। न क्षरति > नक्षत्रम्। √ क्षि अथवा √ क्षर धातु से 'क्षत्र' निपातन किया गया। न क्रामति > नक्रः। √क्रम् धातु से 'ड' प्रत्यय का निपातन हुआ। न अकम् अस्मिन् > नाकः।

विवरण—'नञ्' तत्पुरुष में न-कार की स्थिति किन प्रयोगों में परम्परया समीचीन मानी गई है, उनका समावेश इस सूत्र में पाणिनि ने किया है। इसके साथ ही प्रत्येक शब्द में कुछ अप्राप्त अन्य विधानों का भी निदर्शन किया गया है। ऐसे ग्यारह शब्द इस सूत्र में परिगणित हैं। उनकी निष्पत्ति दी जारही है। (१) नभ्राट् (काला बादल)। **१-लौकिक विग्रह एवं प्रक्रिया**—न भ्राजते तच्छीलः > न-भ्राज् (√ भ्राज् + क्विप् "भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप्" ३-२-१७७, ज् = ष् → "व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः" ७-२-३६, ष् = ड् → "झलां जशोन्ते" ८-२-३९, ड् = ट् → "वाऽवसाने" ८-४-५६, नञ् तत्पुरुष-समास में 'न'-लोप के अभाव का निपातन, तथा अन्य सामासिक कार्य पूर्ववत्)। २-नपात् (अरक्षक, पोता, नाती)। **लौकिक विग्रह** एवं प्रक्रिया—न पाति > **न-पात्** (√पा + शतृ[1] (=अत्), नुम् के अभाव की कल्पना नपुंसक-लिङ्ग न मानने के कारण[2] → न + पात् है। (अथवा पा + 'क्विप्' करने के पश्चात् निपातन-वश तुक् आगम तथा 'नञ्' तत्पुरुष में न-लोपाभाव का निपातनादि कार्य पूर्ववत्)। ३-नवेदाः (जो न जानता हो)। **लौकिक विग्रह**—न वेत्ति। **प्रक्रिया**—न-√ विद् + असुन् = अस्-"सर्वधातुभ्योऽसुन्" ४-१८९-उणादि > न-वेदस् + सु > न-वेदास् + सु ('नञ्' समास में 'न' लोपाभाव, द को दीर्घ → दा—"अत्वसन्तस्य चाऽधातोः" ६-४-१४ > न-वेदास् (विभक्तिलोप-हल्ङ्यादिलोप) **न-वेदाः**-(स् = र् = :)। ४-नासत्याः (आश्विनी-कुमार) **प्रक्रिया**—न विद्यते सत्यं येषां ते > असत्याः → न-असत्याः → नासत्याः (प्रथम-'असत्य' शब्द की सिद्धि करने के पश्चात्' न + असत्याः' में 'नञ्' तत्पुरुष-जन्य 'न'-लोपाभाव का निपातन एवं विभक्तिकार्य पूर्ववत्)[3]। ५-नमुचिः (न √ मुञ्च् + इन् → उणादि →

१. "पातेः क्विपि निपातनात्तुक् इति "उभे वनस्पत्यादिषु" ६-२-१४० सूत्रे वृत्तिः"। ल० श० शे०-भैरवी टीका सहितम्—पृ० ५४।

२. (क) नपुंसकत्वादसत्यां सर्वनामसंज्ञायाम् उगिल्लक्षणो नुम् न भवति।—पदमञ्जरी।

(ख) अपात्रपादित्यादौ अनपुंसकेऽपि दर्शनात् "उभे वनस्पत्यादिषु" इत्यत्र पातेः क्विपि निपातनात् तुगित्यभिधानाच्च अपपाठोऽयम्। पादिति क्विबन्तोऽयमिति पाठ.।—पदमञ्जरी।

३. 'नासत्याः' इति बहुवचनं वैचित्र्यार्थम्, न तु बहुवचनान्तस्यैव साधुत्वार्थम्। 'नासत्यावश्विनौ दस्रौ' इत्यमरविरोधात्। अश्विनोरेवायं साधुः। अयं तदर्थे रूढः।

त्यते । न क्रामतीति नक्रः । 'क्रमेर्डः' । न अकमस्मिन्निति नाकः । (७६०) नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् । ६ । ३ । ७७ ।। नग इत्यत्र नञ्प्रकृत्या वा । नगाः–अगाः पर्वताः । अप्राणिष्विति किम् ? अगो वृषलः शीतेन । 'नित्यं क्रीडा'–(सू ७११) इत्यतः नित्यम्

---

(७६०) अनुवर्तमान इति । समासविषयो वक्ष्यन्त इति शेषः ।

"सर्वधातुभ्य इन्" ४-११८ तथा उसे 'कित्' माना गया → "इगुपधात् कित्" उणादि ४-१२ एवं 'नञ्'–समासजन्य 'न'–लोपाभाव निपातन तथा विभक्तिकार्य) ६–नकुल (न्यौला)। **लौकिक विग्रह**—न कुलम् अस्य । **प्रक्रिया**—न+कुल > नञ्+सु, कुल+सु > नकुल (नञ् समास तथा 'न' लोपाभाव–निपातन) > **नकुलः** (विभक्तिकार्य)। ७–नख (नाखून) **विग्रह**—न खम् अस्य > **नखः** ('नञ्'समासजन्य 'न'लोपनिपातनाभावादि पूर्ववत् । ८–नपुंसक (प्रसिद्ध है)। **विग्रह**—न स्त्री न पुमान् । **प्रक्रिया**—न–स्त्री+सु, न–पुमान् +सु > नपुंसक (स्त्री-पुंस के स्थान पर 'पुंसक' निपातन > **नपुंसकम्** ('न' लोपाभाव तथा विभक्तिकार्य)। ९–नक्षत्रम् (तारा)। **विग्रह**—न क्षरति अथवा न क्षीयते । **प्रक्रिया**—न √क्षर् (या √क्षि) > न-क्षत्र (क्षि अथवा क्षर् के स्थान पर 'क्षत्र' निपातन') > **नक्षत्रम्** ('न'–लोपाभाव तथा विभक्ति-कार्य)। १०–नक्रम् (नाका)। **विग्रह**—न क्रामति दूरस्थम् । **प्रक्रिया**—न–√क्रम्+ड ('अन्यत्रापि दृश्यते' वा०) > न–क्र ('टि'–लोप = 'अम्' का न रहना) > **नक्रम्** ('न'–लोपाभाव का निपातन तथा विभक्तिकार्य)। ११–नाक (स्वर्ग)। **विग्रह**—न अकम् अस्मिन् । इसके पूर्व 'अक' शब्द की सिद्धि करनी होगी → कं = सुखम्, तद्विरुद्धम् अकम् = दुःखम् । तदनन्तर 'नञ्, अक+सु' में 'नञ्' में न–लोपाभाव, दीर्घ, विभक्तिकार्य पूर्ववत् ।

(७६०) पद—नगः अप्राणिषु, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—प्रकृत्या, नञः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'नगः' में नञ् को विकल्प से प्रकृतिभाव हो । उदा० नगाः—अगाः = पर्वत । अप्राणिषु क्यों कहा ? अगः वृषलः शीतेन, (प्रकृतिभाव नहीं)। "नित्यं क्रीडा०" (७११) से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति आने पर (आगे के सूत्र से सम्बन्ध है)।

विवरण—पूर्व सूत्र के अतिरिक्त दूसरे शब्द में 'नञ्' के न-लोप के अभाव (प्रकृतिभाव) की वैकल्पिक व्यवस्था की जारही है । तदनुसार पूर्व सूत्र (७५९) से 'प्रकृत्या' तथा "न-लोपो नञः" ६-३-७३ से 'नञः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अतः सूत्र से यह विदित होता है कि "प्राणिभिन्न अर्थ में 'नग' शब्द के 'नञ्' को विकल्प से प्रकृतिभाव हो"। **उदाहरण**—नगाः—अगाः (पर्वत)। **लौकिक विग्रह**—न गच्छन्ति । **अलौकिक विग्रह**—न √गम्+ड (= अ → 'अन्येष्वपि दृश्यते' वा० ३-२-४८) > न ग्+अ (टि–'अम्' लोप) > न–ग ("नञ्" २-२-६ से समास तथा प्रकृत सूत्र से प्रकृतिभाव–'नञ्' के 'न' का लोप नहीं हुआ) > **नगाः** (विभक्ति—'जस्', पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा स् = र् = :)। पक्ष में 'न्' का लोप → "नलोपो नञः" ६-३ ७३ होने पर **अगाः** रूप बनेगा ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में प्रकृतिभाव होने में 'प्राणिभिन्न' (अप्राणिषु) अर्थ की अपेक्षा होने से 'अगः वृषलः शीतेन' (शीत के कारण न चलने वाला वृषल) में विकल्प से प्रकृति भाव नहीं हुआ, क्योंकि 'वृषल' प्राणिवाचक है। उसके साथ 'अगः' का प्रयोग किया गया है। अतः 'नञ्' समास होने पर 'न्' का "नलोपो नञः" ६-३-७३ से नित्य लोप हो गया ।

इत्यनुवर्तमाने-(७६१) कुगतिप्रादयः २ । २ । १८ ॥ एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः । 'गतिश्च' (सू २३) इत्यनुवर्तमाने । (७६२) ऊर्यादिच्विडाचश्च १ । ४ । ६१ ॥ एते क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । ऊरीकृत्य । शुक्लीकृत्य । पटपटाकृत्य । 'कारिकाशब्दस्योपसङ्ख्यानम्' (वा ११३२) । कारिका क्रिया । कारिकाकृत्य ।

---

(७६१) **कुगतिप्रादयः** । **समस्यन्त इति** । स तत्पुरुष इत्यपि ज्ञेयम् । **कुत्सितः पुरुष इति** । नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । कुत्सितार्थकस्य कु इत्यव्ययस्यैवात्र ग्रहणम्, न तु पृथ्वीपर्यायस्य, गत्यादिसाहचर्यात् । **गतिश्चेत्यनुवर्तमान इति** । क्रियायोग इति चेति बोध्यम् ।

(७६२) **ऊर्यादिच्विडाचश्च** । च्विडाचौ प्रत्ययौ । **ऊरीकृत्येति** । ऊरीत्यव्ययमङ्गीकारे, तस्य कृत्वेत्यनेन गतिसमासः । समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । **शुक्लीकृत्येति** । अशुक्लं शुक्लं कृत्वेत्यर्थः । 'कृभ्वस्तियोगे' इत्यभूततद्भावे च्विः । गतिसमासे सति क्त्वा ल्यप्, वेरपृक्तस्येति वलोपः । 'अस्य च्वौ' इति ईत्वम् । **पटपटाकृत्येति** । पटपटा इति शब्दं कृत्वेत्यर्थः । 'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्' इति पटच्छब्दाड्डाचि द्वित्वम्,

---

(७६१) पद—कुगतिप्रादयः । **अनुवृत्ति**—नित्यं, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—इनका समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है । उदा० कुत्सितः पुरुषः > कुपुरुषः । "गतिश्च" (सू० २२) की अनुवृत्ति करने पर (आगे के सूत्र से सम्बन्ध है) ।

विवरण—'गति' समास (तत्पुरुष का ही भेद) पर विचार किया जा रहा है । सूत्र में पूर्व स्थिति प्राप्त करने वाले समस्यमान शब्दों का निर्देश किया गया है । उनका साहचर्य अनुवृत्त "सह सुपा" पदों से विदित होगा । 'कुगतिप्रादयः' पद बहुव्रीहि-गर्भ द्वन्द्वपरक है—प्र-आदिः येषां ते प्रादयः । कुश्च, गतिश्च, प्रादयश्च—कुगतिप्रादयः । तदनुसार अन्य अनुवृत्त पदों के साथ पूर्वापर एकवाक्यता करने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कुत्सितार्थक 'कु' शब्द, गति-संज्ञक शब्द तथा प्रादि शब्द—किसी अन्य समर्थ सुबन्त के साथ—नित्य समास को प्राप्त हों और वे तत्पुरुष संज्ञक भी हों" । क्रमशः **उदाहरण**—कुपुरुषः (दुष्ट मनुष्य) । **लौकिक अस्वपद विग्रह**—कुत्सितः पुरुषः । **अलौकिक विग्रह**—कु + सु, पुरुष + सु > कु – पुरुष > (कुत्सितार्थक 'कु' अव्यय का सुबन्त 'पुरुष' के साथ समास, विभक्ति-लोप, 'कु' का पूर्वनिपात) कुपुरुष + सु > **कुपुरुषः** (पुनः विभक्ति, स् = र् = :) ।

संगति—'गति' संज्ञक शब्दों का अन्य सुबन्तों के साथ तत्पुरुष समास होने के सन्दर्भ में 'गति-संज्ञक' शब्दों का स्वरूप-कथन आवश्यक है । अतः उसके स्वरूप का स्मरण आगे कराया जा रहा है ।

(७६२) पद—ऊर्यादिच्विडाचः, च । **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—क्रिया के योग में ये गति-संज्ञक हों । उदा० ऊरीकृत्य, शुक्लीकृत्य । पटपटाकृत्य । वा० 'कारिका' शब्द का भी कथन होना चाहिये । कारिका अर्थात् क्रिया । उदा० कारिकाकृत्य ।

विवरण—सन्दर्भ-वश संज्ञा-प्रकरण के अन्तर्गत गति-संज्ञा का स्मरण कराया जा रहा है । प्रमुख अनुवृत्ति "गतिश्च" १-४-६० सूत्र से 'गति' पद की तथा "उपसर्गाः क्रियायोगे" १-४-५९ एवं "प्राग्रीश्वरान्निपाताः" १-४-५७ से आधिकारिक 'निपात' पद की अनुवृत्ति का लाभ होता है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "ऊरी आदि शब्द तथा 'च्वि'-प्रत्ययान्त और 'डाच्'-प्रत्ययान्त शब्दों की भी क्रिया के योग में 'गति' और 'निपात' संज्ञा हो" (ऊरी आदिः

(७६३) अनुकरणं चानितिपरम् १।४।६२॥ खाट्कृत्य । अनितिपरम् किम् ? खाडिति

टिलोपः । 'नित्यमाम्रेडिते डाचि' इति तकारपकारयोः पकार एकादेशः । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । कारिकाशब्दस्योपसंख्यानमिति । गतिसंज्ञाया इति शेषः । कारिकाशब्दं व्याचष्टे—कारिका क्रियेति । 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारे धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् । कारिका-कृत्येति । क्रियां कृत्वेत्यर्थः । द्वितीयान्तस्य गतिसमासे क्त्वो ल्यप्, सुब्लुक्, कारिका-शब्दोऽत्र न कर्त्रीवाची, न श्लोकवाची च, व्याख्यानात् ।

(७६३) अनुकरणं चानितिपरम् । अनुकरणं गतिसंज्ञं स्यात् इतिपरं वर्जयित्वे-

---

येषां ते ऊर्यादयः । ऊर्यादयश्च, च्विश्च, डाच्च—ऊर्यादिच्विडाचः-बहुव्रीहिगर्भित द्वन्द्व) । **उदाहरण**—१—ऊरीकृत्य (स्वीकार करके) । **लौकिक (अस्वपद) विग्रह**—ऊरी कृत्वा । **अलौकिक विग्रह**—ऊरी, कृ+क्त्वा > ऊरीकृत्य (स्वीकारार्थक 'ऊरी' शब्द की गति-संज्ञा होने पर "कु-गति-प्रादयः" २-२-१८ से समास) > ऊरीकृत्य (क्त्वा = ल्यप्—"समासेऽनञ्-पूर्वे क्त्वो ल्यप्" ७-१-३७ तथा 'कृ' को तुक्–आगम—"ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" ६-१-७१) । २—'च्वि' प्रत्यय का उदाहरण—शुक्लीकृत्य (सफेद करके) । **लौकिक (अस्वपद) विग्रह**—अशुक्लं शुक्लं कृत्वा । **अलौकिक विग्रह**—शुक्ल+च्वि, कृ+क्त्वा > शुक्ली, कृ+क्त्वा (अ = ई – "अस्य च्वौ" ७-४-३२ तथा 'च्वि' प्रत्यय में च् तथा इ की इत्संज्ञा एवं लोप तथा 'व्' का लोप "वेरपृक्तस्य" ६-१-६५; तदनन्तर 'शुक्ली' की गति–संज्ञा होने पर क्रिया के योग में 'कृ' धातु के पूर्व उसकी स्थिति—"ते प्राग् धातोः" १-४-७९) > शुक्ली–कृत्वा (गतिसंज्ञक 'शुक्ली' का 'कृ' के साथ समास) > शुक्लीकृत्य (समास होने के कारण क्त्वा = 'ल्यप्'–"समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" ७-१-३७ तथा 'कृ' को तुक् आगम) > शुक्लीकृत्य+सु > **शुक्लीकृत्य** ('क्त्वा' प्रत्यय अव्यय होने के कारण 'ल्यप्' होने पर भी स्थानिवद्भाव से अव्यय होने के फलस्वरूप 'विभक्ति' का लोप "अव्ययादाप् सुपः" २-४-८२ । ३—'डाच्' प्रत्ययान्त का **उदाहरण**—पटपटाकृत्य (पट-पट शब्द करके) । **लौकिक अस्वपद विग्रह**—पटत्-पटत् इति कृत्वा । **अलौकिक विग्रह**—पटत्+डाच् , कृ+क्त्वा > पटत्-पटत्+डाच् , कृ+क्त्वा ('कृ' धातु के योग 'पटत्' से 'डाच्' प्रत्यय—"अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्" ५-४-५७–होने पर 'डाचि द्वे भवतः' वा० से द्वित्व) > पट-पटत् +आ, कृत्वा ('पूर्व'–पटत् की आम्रेडित संज्ञा—"तस्य परमाम्रेडितम्" ८-१-२–होने से उस 'त्' तथा 'प' को 'प' आदेश–'नित्यमाम्रेडिते डाचि' वा०) > पट-पट्–आ, कृत्वा (टि-'अत्' का लोप "टेः" ६-४-१४३) > पटपटाकृत्वा ('डाच्' प्रत्ययान्त का 'कृत्वा' के साथ गतिसंज्ञक-समास) > **पटपटाकृत्य** (ल्यप् , विभक्ति तथा उसका अव्यय परक होने से पूर्ववत् लुक्) ।

वार्तिक—विशेष परिस्थिति में 'कारिका' शब्द की भी गतिसंज्ञा में गणना की जाय । **उदाहरण**—कारिकाकृत्य (क्रिया अर्थात् कार्य करके) । **लौकिक विग्रह**—कारिकां कृत्वा । **अलौकिक विग्रह**—कारिका+अम् , कृ+क्त्वा > कारिका-कृत्वा (प्रकृत वार्तिक से 'गति' संज्ञा होने के कारण समास) > **कारिकाकृत्य** (समास होने से क्त्वा = ल्यप् प्रत्ययादि कार्य पूर्ववत्) ।

विशेष—प्रकृत वार्तिकस्थ 'कारिका' शब्द न तो श्लोकवाची है न दासीवाची; किन्तु क्रिया अर्थात् मर्यादा एवं स्थिति का सूचक है, क्योंकि 'क्रिया के योग' में 'कारिका' शब्द की गति-संज्ञा का विधान किया गया है । 'कारिका' शब्द के विशेषण होने से यहाँ 'क्रियावृत्ति' (मर्यादा या स्थिति) से ही उसका तात्पर्य कहा गया है ।

(७६३) पद—अनुकरणं, च, अनितिपरम् । **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र** ।

कृत्वा निरष्ठीवत्। (७६४) आदरानादरयोः सदसती १।४।६३॥ सत्कृत्य। असत्कृत्य। (७६५) भूषणेऽलम् १।४।६४॥ अलङ्कृत्य। भूषणे किम्? अलं कृत्वौदनं गतः। पर्याप्तमित्यर्थः। अनुकरणम्—(सू ७६३) इत्यादित्रिसूत्री स्वभावात्कृञ्वि-

---

त्यर्थः। **खाट्कृत्येति**। खाडिति शब्दं कृत्वेत्यर्थः। गतिसमासे क्त्वो ल्यप्। **खाडिति कृत्वेति**। न चात्र इतिशब्देन व्यवहितत्वे क्रियायोगाभावादेव गतिसंज्ञा न भविष्यति, तत्किमनितिपरग्रहणेनेति वाच्यम्, यथाकथञ्चित्क्रियायोगसत्त्वात्। 'ते प्राग्धातोः' इति सूत्रे तु ते गत्युपसर्गाः धातोः प्रागेव प्रयोज्याः, न तु परत इति प्रयोगनियमपरमेवेति भावः।

(७६४) आदरानादरयोः सदसती। सदिति असदिति च अव्यये आदरानादरयोः क्रमेण विद्यमाने गतिसंज्ञके स्त इत्यर्थः। **सत्कृत्येति**। आदरं कृत्वेत्यर्थः। **असत्कृत्येति**। अनादरं कृत्वेत्यर्थः। गतिसमासे क्त्वो ल्यप्।

(७६५) भूषणेऽलम्। भूषणे विद्यमानमलमित्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः।

मूलार्थ—उदा० खाट्कृत्य। 'अनितिपरम्' क्यों कहा? 'खाट् इति कृत्वा'—('खाट्' करके, निरष्ठीवत् = थूक दिया) में नहीं।

विवरण—गति-संज्ञा का ही प्रकरण है। "विशेष अवस्था में अनुकरण-वाची शब्दों की गति-संज्ञा का विधान किया गया है"। "वह भी 'इति' शब्द-परक न होने पर ही सम्भव हो सकेगी"। क्रिया-योग की अपेक्षा तो है ही। **उदाहरण**—खाट्कृत्य ('खाट्'—थूकने की ध्वनि का अनुकरण करके)। **लौकिक विग्रह**—खाट् कृत्वा। **अलौकिक विग्रह**—खाट्, कृ+क्त्वा > खाट्कृत्वा ('खाट्' की गति संज्ञा, तदनन्तर गति-समास) > **खाट्कृत्य** (समास के कारण क्त्वा = ल्यप्, तुक् तथा विभक्ति का अव्यय परे होने से लुक्)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'इति' शब्द परे रहते गति-संज्ञा का विधान न करने से (अनिति) 'खाट् इति कृत्वा' में गति-संज्ञा नहीं हुई, अतः समास भी नहीं हुआ, क्योंकि इस वाक्य में अनुकरण-वाची शब्द 'खाट्'—के अनन्तर 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(७६४) पद—आदरानादरयोः, सदसती। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—सत्कृत्य। २—असत्कृत्य।

विवरण—पूर्व सूत्रवत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति आ रही है। गति-संज्ञा है तथा संज्ञी हैं—'सत्' एवम् 'असत्' अव्यय। दोनों का क्रमशः अपेक्षित अर्थ है—आदर एवम् अनादर। तदनुसार सूत्र का अभीप्सित अर्थ यह है कि "'सत्' और 'असत्' शब्द (सदसती–सत् च असत् च) क्रमशः आदर तथा अनादर अर्थ में विद्यमान हों तो उनकी क्रियायोग में गति संज्ञा हो"। **उदाहरण**—१–सत्कृत्य (सत्कार करके)। **लौकिक विग्रह**—सत्+कृत्वा। **अलौकिक विग्रह**—सत्, कृ+क्त्वा > सत्कृत्वा (आदरार्थ में 'सत्' की गति-संज्ञा तथा 'कृ' धातु के साथ समास) > **सत्कृत्य** (पूर्ववत् क्त्वा = ल्यप्, तुगागम, अव्ययसंज्ञा, विभक्तिलोप)। २—असत्कृत्य (अनादर करके)। **लौकिक विग्रह**—असत् कृत्वा। **प्रक्रिया**—असत्, कृ+क्त्वा > असत्-कृत्वा > **असत्कृत्य** (प्रक्रिया पूर्ववत्)।

(७६५) पद—भूषणे, अलम्। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—उदा० अलंकृत्य। 'भूषणे' क्यों कहा? अलं कृत्वा ओदनं गतः। (यहाँ 'अलं' शब्द) पर्याप्त अर्थ का सूचक है। 'अनुकरणम्' (सू० ७६२) इत्यादि तीन सूत्र स्वभावतः कृञ्-विषयक हैं।

थया। **(७६६) अन्तरपरिग्रहे । १ । ४ । ६५ ॥** अन्तर्हत्य। मध्ये हत्वेत्यर्थः। अपरिग्रहे किम् ? अन्तर्हत्वा गतः। हतं परिगृह्य गत इत्यर्थः। **(७६७) कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते १ । ४ । ६६ ॥** कणेहत्य पयः पिबति। मनोहत्य। कणेशब्दः सप्तमी-

---

अलङ्कृत्येति। कटकादिधारणेन परिष्कारं कृत्वेत्यर्थः। **कृञ्विषयेति**। कृञ्योग एव भवतीत्यर्थः। वस्तुतस्तु सङ्कोचे प्रमाणाभावात् धात्वन्तरयोगेऽपि त्रिसूत्रीप्रवृत्तिर्युक्ता। अत एव अलं भुक्त्वा ओदनं गत इति वृत्तिकृता प्रत्युदाहृतम्।

(७६६) अन्तरपरिग्रहे। अपरिग्रहे वर्तमानम् अन्तरित्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः। **हतं परिगृह्येति**। हत्वा गमनं, हतम् अपरिगृह्य परिगृह्य वा भवति। तत्र आद्यमुदाहरणं, द्वितीयं प्रत्युदाहरणमित्यर्थः। अपरिग्रह इति प्रयोगोपाधिरेव, न तु वाच्यकोटिप्रविष्टम्।

(७६७) कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते। कणेशब्दो मनश्शब्दश्च श्रद्धाप्रतीघाते गति-

---

विवरण—'संज्ञा' का लाभ "गतिश्च" १-४-६० की अनुवृत्ति आने के कारण होता है। "सूत्र में निर्दिष्ट संज्ञी—भूषण अर्थ में विद्यमान 'अलम्' शब्द गति-संज्ञक होता है"। तदनुसार उसका फल भी "कुगतिप्रादयः" २-२-१८ से समास तथा 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' आदेश होता है। **उदाहरण**—अलंकृत्य (सजाकर)। **लौकिक विग्रह**—अलम्+कृत्वा > **अलंकृत्य** ('अलं' के साथ 'कृत्वा' का तत्पुरुष समास एवं क्त्वा = ल्यप् तथा विभक्ति-लोप पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—'भूषण' अर्थ के अतिरिक्त 'पर्याप्त' अर्थ में 'अलं' का 'कृत्वा' के साथ समास नहीं होता, अतः '**अलं कृत्वा**'—असमस्त पद होने के कारण 'कृत्वा' के स्थानपर 'ल्यप्' नहीं हुआ।

विशेष—१—"अनुकरणं चानिति परम्" १-४-६२, २—"आदरानादरयोः सदसती" १-४-६३ तथा ३—"भूषणेऽलम्" १-४-६४ इन तीनों सूत्रों से विधीयमान समास शब्द-शक्ति स्वभाव से 'कृञ्' के योग में होता है—यह भट्टोजी दीक्षित ने सूचित किया है[1]। तथापि इसके विपरीत भी प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। अतः वृत्तिकार ने 'अलं भुक्त्वा ओदनं गतः' (पर्याप्त खाकर गया) में भी समास नहीं किया है।

(७६६) पद—अन्तः, अपरिग्रहे। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—उदा० अन्तर्हत्य। युद्ध के चलते हुए मारकर—यह अर्थ है। 'अपरिग्रहे' क्यों कहा ? अन्तर्हत्वा गतः। हत व्यक्ति को उठाकर चला गया।

विवरण—उपर्युक्त आधिकारिक अनुवृत्तियों का आश्रय लेकर सूत्र में निर्दिष्ट अपरिग्रह अर्थ में क्रिया के योग में 'अन्तर्' अव्यय की निपात संज्ञा के साथ 'गति'-संज्ञा की जारही है। **उदाहरण**—अन्तर्हत्य (मारने के पश्चात् मृत को छोड़कर)। **विग्रह**—अन्तर्+हत्वा > **अन्तर्हत्य** (अस्वीकारार्थक 'अन्तर' अव्यय की गतिसंज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप्, तुक्, अनुनासिकलोप, अव्यय-संज्ञा-जन्य विभक्तिलोपादि कार्य पूर्ववत्)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में अपरिग्रह (अस्वीकार) अर्थ का निर्देश होने के कारण '**अन्तर्हत्वा गतः**' (मृत व्यक्ति को उठाकर चला) में स्वीकारार्थक होने से गति-संज्ञा न होने के फलस्वरूप समासाभाव तथा ल्यप्-आदेशाभाव ही रहा।

(७६७) पद—कणेमनसी, श्रद्धाप्रतीघाते। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

---

१. अनुकरणमित्यादि योगत्रयं स्वभावात् कृञ्विषयमिति सम्प्रदायः।—व्या० सि० सु० पृ० ८७६।

प्रतिरूपको निपातः अभिलाषातिशये वर्तते। मनश्शब्दोऽप्यत्रैव। (७६८) पुरोऽव्ययम् १।४।६७॥ पुरस्कृत्य। (७६९) अस्तं च १।४।६८॥ अस्तमिति मान्तम-

---

संज्ञकौ स्तः। अत्यन्ताभिलाषः श्रद्धा, तस्याः निवृत्तिः प्रतीघातः। **कणेहत्येति**। गति-समासे क्त्वो ल्यप्। **मनोहत्येति**। पयः पिबतीत्यनुषज्यते। ननु समासे कृते इति सप्तम्याः कथं न लुगित्यत आह—**कणेशब्द इति**। ननु श्रद्धाप्रतीघातस्य कथमिहावगतिः, श्रद्धा-वाचकशब्दाभावात्। मनसो घाते सति कथं वा पयः पानमित्यत आह—**अभिलाषाति-शये इति**। कणेशब्द इत्यनुषज्यते। 'परावरयोगे च' इति सूत्रेण क्त्वा। अभिलाष-निवृत्तिपर्यन्तं पयः पिबतीत्यर्थः। श्रद्धाप्रतीघाते किम्? कणे हत्वा गतः। सूक्ष्मस्तण्डु-लावयवः कणः, तद्विषये हत्वा गत इत्यर्थः। मनो हत्वा गतः, विषपानादौ मनःप्रवृत्ति प्रतिबध्य गत इत्यर्थः।

(७६८) **पुरोऽव्ययम्**। पुर इत्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यात्। **पुरस्कृत्येति**। गतिसमासे क्त्वो ल्यप्। अव्ययं किम्? पुरम्, पुरौ, पुरः—कृत्वा गतः।

मूलार्थ—उदाहरण—कणेहत्य पयः पिबति। मनोहत्य। यहाँ 'कणे' शब्द सप्तमी प्रतिरूपक 'निपात' है, जिसका अर्थ अभिलाष की अधिकता है। 'मनस्' शब्द भी अभिलाषातिशय का बोधक है।

विवरण—गत्यादि की अनुवृत्ति पूर्ववत् चली आरही है। तदनुसार सूत्र से यह अभि-व्यञ्जित होता है कि "श्रद्धा के प्रतिघात = तीव्र उत्कण्ठा की पूर्ति होने पर 'कणे' तथा 'मनस्' शब्द क्रिया के योग में गतिसंज्ञक हों"। **उदाहरण**—१–कणेहत्य (तृप्तिपर्यन्त दूध पीता है)। **लौकिक विग्रह**—कणे+हत्वा > **कणे**हत्य ('कणे' की 'हत्वा' क्रिया के योग में गतिसंज्ञा, गति-समास, क्त्वा = ल्यप्, तुक् आगम, अनुनासिक लोपादि सामासिक कार्य पूर्ववत्) २–**मनो-हत्य** (मन भर दूध पीता है) में भी 'मनस्' शब्द के साथ 'हत्वा' क्रिया के योग में गतिसंज्ञा, गतिसमास, ल्यप्, तुक्, अनुनासिकलोप, स् = र्, र् = उ, अ+उ = ओ—गुण, अव्यय-संज्ञादि कार्य पूर्ववत्।

विशेष—१–'कणे' शब्द सप्तमी-सदृश निपात तथा 'मनस्' शब्द इच्छाधिक्यार्थक निपात है।[1]

२–श्रद्धा-प्रतिघात (अत्यधिक अभिलाष की पूर्ति) अर्थ के अतिरिक्त 'कण' (चावल के टुकड़े) तथा 'मनस्' (मन की प्रवृत्ति) शब्दों को 'हन्' धातु के योग में गतिसंज्ञा नहीं होगी। **उदाहरण—१–कणे (सप्तम्यन्त कण) हत्वा** गतः (चावल के टुकड़ों में तोड़कर) तथा **२–मनो हत्वा** (मन की प्रवृत्ति रोककर) चला गया। दोनों प्रयोगों में समास नहीं हुआ।

३–सूत्रोपात्त 'मनस्' शब्द भी अभिलाष की अधिकता का प्रतीक है।

(७६८) **पद**—पुरः, अव्ययम्। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—उदा० पुरस्कृत्य।

विवरण—क्रिया के योग में अव्यय-वाची 'पुरस्' शब्द की गतिसंज्ञा होता है। **उदाहरण**—पुरस्कृत्य (आगे करके)। **विग्रह**—पुरस्+कृत्वा। **अलौकिक विग्रह**—पुरस्, कृ+क्त्वा > **पुरस्कृत्य** (समास, ल्यप्, तुक्-आगम, अव्यय-संज्ञानिमित्तक—विभक्ति का लोप)।

---

१. 'कणे' इति सप्तमी प्रतिरूपको मनः शब्दश्च इच्छातिशयार्थौ निपातौ। —व्या० सि० सु० ८७६।

व्ययं गतिसंज्ञं स्यात् । अस्तङ्गत्य । (७७०) अच्छगत्यर्थवदेषु १ । ४ । ६९ ॥ अव्ययम् इत्येव । अच्छगत्य । अच्छोद्य । अभिमुखं गत्वा, उक्त्वा चेत्यर्थः । अव्ययम् किम् ?

---

(७६९) अस्तं च । पूर्वसूत्रादव्ययमित्यनुवर्तत इत्याह—नान्तमव्ययमिति । अस्तङ्गत्येति । तिरोधानं प्राप्येत्यर्थः । अव्ययं किं काण्डम् अस्तं कृत्वा । प्रक्षिप्तं कृत्वेत्यर्थः ।

(७७०) अच्छगत्यर्थवदेषु । गत्यर्थधातुषु वदधातौ च प्रयुज्यमानेषु अच्छेत्यव्ययं गतिसंज्ञं स्यात् । अच्छगत्येति । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । अच्छोद्येति । वदधातोः क्त्वा । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । अच्छेत्यव्ययमाभिमुख्ये । तद्यथा—बहिरच्छैतीति । तदाह—अभिमुखमिति । जलमच्छं गच्छतीति । अत्राच्छशब्दस्य नाव्ययत्वम्, न गतिसञ्ज्ञा, नापि 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' इत्यधिकृतनिपातसञ्ज्ञा । निपातत्वे सति हि अव्ययत्वात् विभक्तिलुक् स्यादिति भावः ।

विशेष—'असि' (अस्) प्रत्ययान्त 'पुरस्' (अव्यय) शब्द ही गति-संज्ञक होगा[1] । तदतिरिक्त 'पुर्' (नगरवाची) शब्द की गति-संज्ञा न होने से **'पुरः कृत्वा'** में समास न होने के कारण 'ल्यप्' नहीं हुआ (द्वितीया-बहुवचन का रूप 'पुरः' ।

(७६६) पद—अस्तं, च । **अनुवृत्ति**—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—मकारान्त अव्यय 'अस्तम्' की गति-संज्ञा होती है । उदा० अस्तंगत्य ।

विवरण—पूर्व सूत्र "पुरोऽव्ययम्" १-४-६७ से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप 'अस्तम्' पद मकारान्त अव्यय का बोधक है । अतः उसकी ही क्रिया-योग में गतिसंज्ञा होती है । **उदाहरण**—अस्तंगत्य पुनः उदेति (छिपने के बाद सूर्य पुनः उदित होता है) । **लौकिक विग्रह**—अस्तम्+गत्वा । **अलौकिक विग्रह**—अस्तम्, गम्+क्त्वा > अस्तंगत्य (प्रकृत सूत्र से गति-संज्ञा, पुनः गति समास, ल्यप् , तुक्-आगम तथा अनुनासिक = 'म्' का लोप) ।

प्रत्युदाहरण—अव्यय के अतिरिक्त 'अस्त' शब्द का प्रयोग होने पर गति-संज्ञा नहीं होगी । अतः **'अस्तं कृत्वा काण्डं गतः'** (शाखा को फेंककर चला गया) में गतिसंज्ञा नहीं हुई हुई । 'यहाँ 'अस्तम्' द्वितीया का एकवचन है ।

(७७०) पद—अच्छ, गत्यर्थवदेषु । **अनुवृत्ति**—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—(अच्छ) अव्यय ही (गतिसंज्ञक होता है) । उदा० १—अच्छगत्य । २—अच्छोद्य । 'अव्ययम्' क्यों कहा ? जलम् अच्छं गच्छति । इनका अर्थ क्रमशः अभिमुख होकर तथा सामने कहकर है ।

विवरण—"प्रमुख अनुवृत्ति 'अव्ययम्' के फलस्वरूप 'अच्छ' शब्द भी अव्यय-वाची लिया गया है । तदनुसार 'अच्छ'-अव्यय की 'गत्यर्थक' धातुओं के योग में तथा 'वद' धातु के योग में (गतिः अर्थो येषां ते गत्यर्थाः, गत्यर्थाश्च वदश्च, तेषु) गतिसंज्ञा होगी" । क्रमशः **उदाहरण**—१—अच्छगत्य (सामने जाकर) **लौकिक विग्रह**—अच्छ गत्वा । **अलौकिक विग्रह**—अच्छ, गम्+क्त्वा > **अच्छगत्य** (गतिसंज्ञा, समास, ल्यप् , अनुनासिक लोप आदि कार्य पूर्ववत) । २—**अच्छोद्य** (सामने कहकर) । **लौकिक विग्रह**—अच्छ उदित्वा । **अलौकिक विग्रह**—अच्छ, वद्+क्त्वा > अच्छोद्य ('वद्' धातु के योग में गति संज्ञा, समास, ल्यप् = अच्छ-वद्-य, ततः 'व्' = उ—सम्प्रसारण "वचिस्वपियजादीनां किति" ६-१-१५ एवं पूर्वरूप = अच्छ+उद्य के पश्चात् गुण होकर यह रूप निष्पन्न होगा) ।

---

१. 'पूर्वाधरावराणामिति' व्युत्पादितोऽसिप्रत्ययान्तः पुरः-शब्द उक्तसंज्ञः । व्या० सि० सु० पृ० ८८७ ।

जलमच्छं गच्छति । **(७७१) अदोऽनुपदेशे १ । ४ । ७० ॥** अदःकृत्य, अदःकृतम् । परं प्रत्युपदेशे प्रत्युदाहरणम् । अदः कृत्वा, अदः कुरु । **(७७२) तिरोऽन्तर्धौ १ । ४ । ७१ ॥** तिरोभूय । **(७७३) विभाषा कृञि १ । ४ । ७२ ॥** तिरस्कृत्य, तिर

---

(७७१) अदोऽनुपदेशे । अदश्शब्दः अनुपदेशे गतिसञ्ज्ञः स्यात् । **अदःकृत्येति** । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । अमुं यज्ञं कृत्वेत्यर्थे तु सुब्लुक् च । **अदःकृतमिति** । 'गतिरनन्तरः' इति स्वरः फलम् । यदा स्वयमेव पर्यालोचयति तदेदमुदाहरणम् । **परं प्रतीति** । अदः कृत्वा अदः कुर्वित्यादावित्यर्थः ।

(७७२) तिरोऽन्तर्धौ । अन्तर्धिः व्यवधानम्, तत्र तिरस् इत्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः । **तिरोभूयेति** । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । व्यवहितो भूत्वेत्यर्थः ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आने के कारण अकारान्त अव्ययातिरिक्त 'अच्छ' शब्द के योग में गति संज्ञा न होने के फलस्वरूप जलम् अच्छं गच्छति में गति-संज्ञा नहीं हुई (यहाँ 'अच्छ' से स्वच्छ अर्थ की प्रतीति है, वह 'जलम्' का विशेषण है—द्वितीया एकवचन में, अर्थ—स्वच्छ जल में प्रवेश करता है) । अव्यय न होने के कारण आधिकारिक निपात संज्ञा भी नहीं हुई तथा विभक्ति का लुक् (लोप) भी नहीं हुआ ।

(७७१) पद—अदः, अनुपदेशे । **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० अदःकृत्य । अदःकृतम् । किन्तु दूसरे को समझाने में प्रत्युदाहरण माना जायगा ।

विवरण—" 'गति' संज्ञा को अभिलक्षित कर त्यदादिगणपठित 'अदस्' शब्द के क्रिया-समन्वित होने पर यदि अर्थ की प्रतीति स्वतन्त्र रूप में होती हो—अर्थात् यदि उस वाक्य से किसी को समझाने की प्रतीति न हो[1]—तो उसकी 'गति'-संज्ञा होगी" । **उदाहरण**—अदःकृत्य, अदःकृतम् (पहले—यह करके दूसरा यह काम करो) । इस काम को करने की स्वतः योग्यता होने के कारण किसी को समझाने की आवश्यकता नहीं हैं । **लौकिक विग्रह**—अदस्+कृत्वा । **अलौकिक विग्रह**—अदस् + अम्₀, कृ+क्त्वा > **अदस्-कृत्य** (गतिसंज्ञा, समास, ल्यप्, तुक्-आगम, स् = र्, विसर्ग एवं उसके स्थान पर जिह्वामूलीय) ।

प्रत्युदाहरण—**अदः कृत्वा अदः कृतम्** (यह इस तरह करके पुनः दूसरा काम करो) में दूसरे को समझाने की प्रक्रिया का निर्देश किया गया है, अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई ।

(७७२) पद—तिरः, अन्तर्धौ । **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० तिरोभूय ।

विवरण—" 'तिरस्' शब्द के अनेक अर्थ हैं—तिरछापन, चुपचाप, प्रच्छन्नरूप से, अनादर करना, (क्रिया के योग में) छिपना, दूर हटाना आदि । इनमें से केवल व्यवधान अर्थ में (अन्तर्धौ) 'तिरस्' शब्द की क्रिया के योग में गति एवं निपात संज्ञा होगी" । **उदाहरण**—तिरोभूय (छिपकर) । **लौकिक विग्रह**—तिरस्+भूत्वा । **अलौकिक विग्रह**—तिरस्, भू+क्त्वा > **तिरोभूय** (गति-संज्ञा, समास, ल्यप्, स् = र् = उ "हशि च" ६-१-११४ तथा गुण आदि कार्य पूर्ववत्) ।

प्रत्युदाहरण—**तिरो भूत्वा** स्थितः (बगल से जाकर बैठ गया) में छिपना अर्थ न होने के कारण 'तिरस्' की गति-संज्ञा नहीं हुई । उसके फलस्वरूप समास एवं 'ल्यप्' नहीं हुए ।

---

१. स्वयमेव पर्यालोचने इदम् । परप्रेरणे मा भूत् ।—व्या० सि० सु० पृ० ८७७ ।

ऽकृत्य; तिरः कृत्वा । (७७४) **उपाजेऽन्वाजे १।४।७३ ॥ एतौ कृञि वा गतिसंज्ञौ स्तः । उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा । अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा । दुर्बलस्य बलमाधायेत्यर्थः ।**

---

(७७३) **विभाषा कृञि ।** कृञि प्रयुज्यमाने तिरस् इत्यव्ययं गतिसञ्ज्ञं वा स्यादित्यर्थः । **तिरस्कृत्य, तिरऽकृत्येति ।** गतिसञ्ज्ञापक्षे गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' इति सत्वविकल्पः । **तिरः कृत्वेति ।** गतित्वाभावपक्षे सत्वमपि न भवति तद्विधौ गतिग्रहणानुवृत्तेरित्याहुः । केचित्तु तिरस्कार इति परिभवे प्रयोगदर्शनात् सत्वविधौ गतिग्रहणं नानुवर्तयन्ति ।

(७७४) **उपाजेऽन्वाजे । उपाजेकृत्य ।** गतिसंज्ञापक्षे गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । अन्वाजेकृत्येत्यपि तथैव । उपाजे, अन्वाजे—इत्यव्यये दुर्बलस्य बलाधाने वर्तते । तदाह—**दुर्बलस्येति ।**

---

(७७३) पद—विभाषा, कृञि । **अनुवृत्ति**—तिरोऽन्तर्धौ, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—उदा० तिरस्कृत्य, तिरऽकृत्य, तिरः कृत्वा ।

विवरण—पूर्व सूत्र के क्षेत्र को 'कृ' धातु के योग में अधिक व्यापक बनाया जा रहा है। पूर्व सूत्र से प्राप्त नित्य गति-संज्ञा को वैकल्पिक-विधान द्वारा प्राप्त-विभाषा का स्वरूप दिया गया है। अतः पूर्व सूत्र की पूरी अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "छिपने अर्थ में 'तिरस्' शब्द की केवल 'कृञ्' धातु के योग में विकल्प से (विभाषा) गति और निपात संज्ञा होती हैं"। **उदाहरण**—तिरस्कृत्य→तिरःकृत्य←तिरःकृत्वा (छिपकर)। **लौकिक विग्रह**—तिरस् कृत्वा। **अलौकिक विग्रह**—तिरस्, कृ+क्त्वा। **प्रक्रिया**—पूर्ववत् । विशेष कार्य—"तिरसोऽन्यतरस्याम्" ८-३-४२ से 'तिरः' के विसर्ग को वैकल्पिक 'स्' आदेश→**तिरस्कृत्य**। 'स्' के न होने पर→**तिरःकृत्य**। गतिसंज्ञा न होने पर→**तिरः कृत्वा**। विसर्ग के स्थान पर "तिरसोऽन्यतरस्याम्" ८-३-४२ सूत्र से 'स्' आदेश गति-संज्ञा होने पर ही सम्भाव्य है। गति-संज्ञा न होने पर 'ल्यप्' भी नहीं होता।

(७७४) पद—उपाजे, अन्वाजे। **अनुवृत्ति**—विभाषा, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—इन दोनों की 'कृ' के योग में विकल्प से गति-संज्ञा होती है। उदा० उपाजेकृत्य—उपाजे कृत्वा। अन्वाजेकृत्य—अन्वाजे कृत्वा। दुर्बल को बल देना—यह अर्थ है।

विवरण—'कृ' धातु के योग में 'उपाजे' तथा 'अन्वाजे' इन दो अव्ययों को विकल्प से गति-संज्ञा का विधान किया जा रहा है। इस हेतु सम्पूर्ण पूर्व सूत्र "विभाषा कृञि" १-४-७२ की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य अपेक्षित उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व चली आ रही हैं। **उदाहरण**—(१) उपाजेकृत्य-उपाजे कृत्वा (निर्बल की सहायता करके)। **लौकिक विग्रह**—उपाजे कृत्वा। **अलौकिक विग्रह**—उपाजे, कृ+क्त्वा > **उपाजेकृत्य** (गति-संज्ञा के अनन्तर समासादि कार्य पूर्ववत्)। पक्ष में गतिसंज्ञा न होने पर समास एवं ल्यप् भी नहीं हुआ—**उपाजे कृत्वा**। (२) अन्वाजेकृत्य—अन्वाजे कृत्वा (दुर्बल की सहायता करके)। गति-संज्ञा होने पर समास एवं ल्यप्—**अन्वाजे कृत्य**। गति-संज्ञा न होने पर समास तथा 'ल्यप्' भी नहीं होता—**अन्वाजे कृत्वा**। प्रक्रिया पूर्ववत्।

(७७५) साक्षात्प्रभृतीनि च १ । ४ । ७४ ॥ कृञि वा गतिसंज्ञानि स्युः । 'च्व्यर्थे इति वाच्यम्' (वा ११४२) । साक्षात्कृत्य, साक्षात् कृत्वा । लवणंकृत्य, लवणं कृत्वा । मान्तत्वं निपातनात् । **(७७६) अनत्याधान उरसिमनसी १ । ४ । ७५ ॥** उरसिकृत्य, उरसि

---

(७७५) साक्षात्प्रभृतीनि च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**कृञि वेति** । साक्षादित्यव्ययम् । **च्व्यर्थे इति** । अभूततद्भावे गम्ये सतीति वक्तव्यमित्यर्थः । **साक्षात्कृत्येति** । अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं कृत्वेत्यर्थः । गतित्वपक्षे क्त्वो ल्यप् । तत्र मुल्लुकमाशङ्क्याह—**मान्तत्वमिति** । लवणम्, उष्णम्, शीतम्, उदकम्, आम् इति पञ्चानां साक्षात्प्रभृतिगणे मान्तत्वं निपात्यत इत्यर्थः ।

(७७६) अनत्याधाने । उरसि, मनसि—इति विभक्तिप्रतिरूपके अव्यये गतिसंज्ञे वा

---

(७७५) पद—साक्षात्प्रभृतीनि, च । **अनुवृत्ति**—विभाषा, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—'कृ' के योग में विकल्प से गति संज्ञा हो । वा० 'च्वि' के अर्थ में हो—ऐसा कहा जाय । उदा० साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा । लवणं कृत्य, लवणं कृत्वा । निपातन से अकारान्त है ।

विवरण—"'साक्षात्' इत्यादि-गणान्तर्गत (अव्यय) शब्दों की 'कृ' धातु के योग में विकल्प से गति-संज्ञा होती है । एतदर्थ पूरा सूत्र "विभाषा कृञि" १-४-७२ एवं गतिसंज्ञोपयोगी अन्य उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव भी विद्यमान है । इसके साथ ही **वार्तिकद्वारा** यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि 'साक्षात्' प्रभृति शब्दों की 'कृ' धातु के योग में 'च्वि' प्रत्यय के अर्थ की विवक्षा में ही गति-संज्ञा होगी, सामान्य अर्थ में नहीं । तदनुसार **उदाहरण**—(१) साक्षात्कृत्य (अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं कृत्वा)—साक्षात्कृत्वा (अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष करके) । गति संज्ञा होने के फलस्वरूप समास होने पर 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्'—साक्षात् कृत्वा > **साक्षात्कृत्य** । गतिसंज्ञा न होने पर समास तथा 'ल्यप्' भी नहीं—**साक्षात् कृत्वा** । विग्रह एवं प्रक्रिया पूर्ववत् । (२) लवणं कृत्य (अलवणं लवणं कृत्वा—बिना नमकीन को नमकीन करके) । 'लवण' में मकारान्त निपातन होने से 'लवणम्' शब्द बन गया है । गति-संज्ञा होने पर समास एवं क्त्वा = ल्यप्—लवणं कृत्वा > **लवणं कृत्य** । पक्ष में (गतिसंज्ञा के अभाव में) समास तथा 'क्त्वा' के स्थान पर ल्यप् भी नहीं—**लवणं कृत्वा** । प्रक्रिया पूर्ववत् ।

विशेष—'लवण' शब्द को मकारान्त निपातन करने पर ही गति संज्ञा होती है । इस सूत्र से वैकल्पिक गतिसंज्ञा के अभाव में भी पूर्व विप्रतिषेध से "ऊर्यादिच्विडाचश्च" १-४-६१ से नित्य गति संज्ञा होने पर 'लवणीकृत्य' तीसरा रूप भी निष्पन्न होगा । इस स्थिति में 'लवण' शब्द मान्त नहीं है[1] । अथवा लवण शब्द के स्थान पर मान्त आदेश की कल्पना कर वैकल्पिक विधान माने जाने पर पूर्व-विप्रतिषेध के विना भी तीसरे शब्द 'लवणीकृत्य' की सिद्धि सम्भव हो सकेगी[2] ।

(७७६) पद—अनत्याधाने, उरसि-मनसी । **अनुवृत्ति**—विभाषा, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र** ।

---

१. "च्व्यन्तेषु तु पूर्वविप्रतिषेधात् ऊर्यादीति नित्यैव गतिसंज्ञा, तेन लवणीकृत्येत्यत्र न मान्तत्वम् । विकल्पसन्नियोगेन गणे तन्निपातनात्" ।—व्या० सि० सु० पृ० ८७८ ।

२. "यद्वा लवणशब्दस्य लवणमिति मान्तादेशः । तथा च पूर्वविप्रतिषेधं विनाऽपि त्रैशब्द्यसिद्धिः—लवणंकृत्य, लवणं कृत्वा, लवणीकृत्येति । च्व्यन्ताच्व्यन्तयोः पाक्षिके मान्तादेशे तुल्यं रूपम् । विकल्पस्य परत्वेऽपि तन्निर्मुक्ते च्व्यन्तस्य नित्यसंज्ञाप्रवृत्तेः ।—व्या० सि० सु० पृ० ८७८ ।

कृत्वा । अभ्युपगम्येत्यर्थः । मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा । निश्चित्येत्यर्थः । अत्याधानमुपश्लेषणं, तत्र न । उरसि कृत्वा पाणिं शेते । (७७७) मध्ये-पदे-निवचने च १ । ४ । ७६ ॥ एते कृञि वा गतिसंज्ञाः स्युरनत्याधाने । मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य, पदे

स्वः अनत्याधाने । **उरसिकृत्येति** । गतित्वपक्षे क्त्वो ल्यप् । इह अत्याधानं न गम्यत इत्याह—**अभ्युपगम्येत्यर्थ इति** । **मनसिकृत्येति** । गतित्वपक्षे क्त्वो ल्यप् । इहापि नात्याधानं गम्यत इत्याह—**निश्चित्येत्यर्थ इति** । अत्याधानशब्दं विवृण्वन् तस्य प्रयोजनमाह—**अत्याधानमुपश्लेषणमिति** । संयोग इत्यर्थः । **उरसि कृत्वेति** । उरसि पाणिं निधाय शेत इत्यर्थः । अत्र पाणिसंश्लेषणावगमान्न गतिसंज्ञेति भावः ।

(७७७) **मध्येपदे** । गतित्वे तदभावे च त्रयाणामेदन्तत्वं निपात्यते । **मध्येकृत्येति** । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । मध्यं कृत्वेत्यर्थः । **पदेकृत्येति** । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । पदं

मूलार्थ—उदा० १—उरसिकृत्य–उरसि कृत्वा । अन्तःकरण में रखकर अर्थ है । २—मनसिकृत्य—मनसिकृत्वा । मन में निश्चय करके–अर्थ है । 'अत्याधानम्' से तात्पर्य किसी अङ्ग का संयोग होना (चिपटना) है । अतः 'उरसि कृत्वा पाणिं शेते' में समास नहीं हुआ ।

विवरण—" 'उरसि' तथा 'मनसि' निपातों में विकल्प से गति-संज्ञा होती है" । पूर्ववत् सभी पांचों उल्लिखित अनुवृत्तियों के फलस्वरूप उपश्लेष अर्थ के अतिरिक्त इन दोनों निपातों की गति-संज्ञा होगी । **उदाहरण**—(१) उरसिकृत्य—उरसि कृत्वा (समझकर) । (२) मनसिकृत्य—मनसि कृत्वा (मन में निश्चय कर) । इन दोनों उदाहरणों में 'उरसि' तथा 'मनसि'—विभक्त्यन्त प्रतिरूपक अव्यय (निपात) हैं । अतः 'कृ' के साथ इनकी गति-संज्ञा होने से समास एवं क्त्वा के स्थान पर ल्यप् तथा 'तुक्' आगम होने पर क्रमशः **'उरसिकृत्य'** तथा **'मनसिकृत्य'** रूप निष्पन्न होंगे । गति-संज्ञा के न होने पर समास तथा ल्यप् प्रत्यय नहीं होंगे । 'उरसि कृत्वा' एवं 'मनसि कृत्वा' स्थिति बनी रहेगी ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में संयोगरहित (अनत्याधान) स्थिति अपेक्षित होने के कारण 'उरसि कृत्वा पाणिं शेते' (छाती पर हाथ रख कर सोता है) में छाती के साथ हाथ का संयोग होने के कारण गति–संज्ञा नहीं हुई । फल—समास तथा (क्त्वा =) ल्यप् आदेश भी नहीं हुए ।

(७७७) पद—मध्ये–पदे–निवचने, च । **अनुवृत्ति**—अनत्याधाने, विभाषा, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ।

मूलार्थ—'कृञ्' के योग में इनकी संयोग-रहित अर्थ में विकल्प से गति-संज्ञा होती है । उदा० १–मध्येकृत्य—मध्येकृत्वा । २–पदेकृत्य--पदे कृत्व । ३–निवचनेकृत्य--निवच ने कृत्वा । वाणी का नियमन कर अर्थ है ।

विवरण—गति–संज्ञा का ही वैकल्पिक प्रकरण है । 'कृञ्' धातु का योग भी सापेक्ष है । पूर्व सूत्रानुसार 'अनत्याधान' अर्थ की विवक्षा में ही "सूत्रोक्त मध्ये, पदे तथा निवचने--इन तीनों विभक्ति-प्रतिरूपक निपातों (अव्ययों) की विकल्प से गति संज्ञा होगी" । **उदाहरण**–(१) मध्येकृत्य—मध्ये कृत्वा (बीच में लेकर) । (२) पदेकृत्य--पदे कृत्वा (पद में गिन कर) । (३) निवचनेकृत्य—निवचने कृत्वा (वाणी को संयमित कर) । **क्रमशः विग्रह**—(१) मध्ये कृत्वा > **मध्येकृत्य** (गति–समासादि कार्य पूर्ववत्) । (२) पदे कृत्वा > **पदेकृत्य** (गति-

कृत्वा। निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा। वाचं नियम्येत्यर्थः। (७७८) नित्यं हस्ते पाणावुपयमने १।४।७७॥ कृञि। उपयमनं विवाहः। स्वीकारमात्रमित्यन्ये। हस्तेकृत्य, पाणौकृत्य। (७७९) प्राध्वं बन्धने १।४।७८॥ प्राध्वम् इत्यव्ययम्।

कृत्वेत्यर्थः। निवचनेकृत्येति। वचनाभावं कृत्वेत्यर्थः। तदाह—वाचं नियम्येत्यर्थ इति। वचनस्य अभावः निवचनम्। अर्थाभावे अव्ययीभाव इति भावः।

(७७८) नित्यं हस्ते। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—कृञीति। हस्ते इति पाणाविति च शब्दौ कृञि नित्यं गतिसंज्ञौ भवतः। उपयमन इति यावत्। हस्तेकृत्य, पाणौकृत्येति। कन्यां स्वीकर्तुं पाणिं गृहीत्वेत्यर्थः। एदन्तत्वमौदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते। उपयमने किम्? हस्ते कृत्वा सुवर्णं गतः। अन्यदीयमिति बुद्धया दातुं परावृत्त इत्यर्थः।

(७७९) प्राध्वं बन्धने। प्राध्वमिति न द्वितीयान्तमित्याह—प्राध्वमित्यव्ययमिति।

समासादि पूर्ववत्) (३)—निवचने कृत्वा > निवचनेकृत्य (गति-समासादि पूर्ववत्)। समासाभाव में क्रमशः मौलिक स्थिति मध्ये कृत्वा, पदे कृत्वा तथा निवचने कृत्वा—रहेगी।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में अनुवृत्तिवश 'अनत्याधाने' अर्थ की विवक्षा होने के कारण 'हस्तिनः पदे कृत्वा शिरः शेते' (हाथी के पाँव पर सिर रख कर सोता है) में गति-संज्ञा नहीं हुई, क्योंकि 'पद' के साथ सिर का संयोग (उपश्लेष) है। अतः समासाभाव तथा (क्त्वा =) ल्यप् भी नहीं हुआ।

विशेष—'मध्ये' 'पदे' ये दोनों एकारान्त 'निपात' हैं। 'निवचन' शब्द का अर्थ है—वचनाभाव। वचनाभावः > निवचनम्—अर्थाभाव में अव्ययीभाव समास। निपातवश इसे भी एकारान्त बना दिया गया है। गति-संज्ञा न होने पर भी इन तीनों को निपातनवश एकारान्त मान लिया गया है।

(७७८) **पद**—नित्यं, हस्ते, पाणौ, उपयमने। **अनुवृत्ति**—कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—'कृञ्' धातु के योग में (गति-संज्ञा)। 'उपयमन' का अर्थ विवाह है। अन्य लोगों के मत में 'विवाह की स्वीकृति' अर्थ है। उदा० १-हस्तेकृत्य। २-पाणौकृत्य।

विवरण—सूत्र में 'नित्य' पद का उल्लेख होने से 'विभाषा' की अनुवृत्ति समाप्त होती है। प्रकरणवश 'गति' संज्ञा के सन्दर्भ में 'हस्ते' और 'पाणौ' शब्दों को 'कृञ्' धातु का योग अभीप्सित है"। प्रयोग-साधुत्व के लिये 'हस्ते' तथा 'पाणौ' शब्द सप्तमी-विभक्ति-प्रतिरूपक एकारान्त तथा औकारान्त निपात माने गए हैं। "इन दोनों शब्दों का 'कृञ्' धातु के साथ समास होने पर सामासिक शब्दों का अर्थ विवाह करके या विवाह की स्वीकृति देकर रूढ हो गया है"। (१) हस्तेकृत्य (विवाह करके)। (२) पाणौकृत्य (विवाह करके)। दोनों में क्रमशः विग्रह—(१) हस्ते कृत्वा (हस्ते, कृ+क्त्वा) तथा (२) पाणौ कृत्वा (पाणौ, कृ+क्त्वा) हैं। गतिसंज्ञा तथा समास होने पर क्त्वा के स्थान पर ल्यप् प्रत्यय तथा 'कृ' को 'तुक्' आगम होने पर क्रमशः (१) हस्तेकृत्य तथा (९) पाणौकृत्य रूप निष्पन्न होंगे।

प्रत्युदाहरण—'उपयमन' (विवाह) अर्थ के अतिरिक्त इन शब्दों को 'कृञ्' के योग में गति-संज्ञा न होने के फलस्वरूप हस्ते कृत्वा स्वर्णं गतो भृत्यः' (नौकर सोना हाथ में लेकर चल दिया) में गति-संज्ञा नहीं हुई। उसके फलस्वरूप 'गति-समास' तथा 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश नहीं हुए।

(७७९) **पद**—प्राध्वम्, बन्धने। **अनुवृत्ति**—नित्यं, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

प्राध्वंकृत्य । बन्धनेनानुकूल्यं कृत्वेत्यर्थः । प्रार्थनादिना त्वानुकूल्यकरणे, प्राध्वं कृत्वा ।
(७८०) जीविकोपनिषदावौपम्ये १ । ४ । ७९ ॥ जीविकामिव कृत्वा जीविकाकृत्य । उपनिषदमिव कृत्वा उपनिषत्कृत्य । औपम्ये किम् ? जीविकां कृत्वा । प्रादिग्रहणमगत्यर्थम् । सुपुरुषः । अत्र वार्तिकानि ।'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' (वा १३३५)। प्रगत आचार्यः

बन्धने गम्ये प्राध्वमित्यव्ययं गतिसञ्ज्ञकं स्यादित्यर्थः । **प्राध्वंकृत्येति** । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । अत्र प्राध्वमिति मान्तमव्ययं बन्धनेन आनुकूल्ये वर्तते । तदाह—**बन्धनेति** । बन्धन-ग्रहणस्य प्रयोजनमाह—**प्रार्थनादिनेति** ।

(७८०) **जीविकोपनिष** । उपमैव औपम्यं, तस्मिन्विषये जीविकाशब्दः उपनिष-च्छब्दश्च कृञा योगे गतिसञ्ज्ञौ स्तः । **जीविकामिवेति** । अशनपानादिजीवनोपायो जीविका । तामिव अवश्यं कृत्वेत्यर्थः । **जीविकाकृत्येति** । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । **उपनिषदमिव कृत्वेति** । उपनिषत् वेदान्तभागः, तामिव रहसि ग्राह्यत्वेन कृत्वेत्यर्थः । **उपनिषत्कृत्वेति** । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । उभयत्रापि सुब्लुक् । तदेवं 'कुगतिप्रादयः' इत्यत्रत्यगतिसमासाः प्रपञ्चिताः । ननु गतिग्रहणेनैव सिद्धे प्रादिग्रहण व्यर्थमित्यत आह—**प्रादिग्रहणमगत्यर्थमिति** । **सुपुरुष इति** । अत्र क्रियायोगाभावादगतित्वेऽपि समासः । सोः पूजार्थकत्वेऽपि धातुवाच्य-क्रियायोगाभावान्न गतित्वम् । भाष्ये तु 'कुगतिप्रादयः' इति सूत्रमपनीय तत्स्थाने 'स्वाङ्-स्वतिदुर्गतयः समस्यन्त इति वक्तव्यम्' इत्युक्त्वा 'कुब्राह्मणः, आकडारः, सुब्राह्मणः, अति-ब्राह्मणः, दुर्ब्राह्मणः दूरीकृत्य' इत्युदाहृतम् । स्वती पूजायाम्, दुर्निन्दायाम्, आङीषदर्थे, कुः पापार्थे इति सौनागव्याकरणवचनम् इति भाष्ये स्पष्टम् । **अत्र वार्तिकानीति** । 'प्रादयो गताद्यर्थे समस्यन्ते इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकं पठित्वा तत्र व्यवस्थापाकानि पञ्च वार्तिकानि सौनागव्याकरणसिद्धानि भाष्ये यानि पठितानि तानि प्रदर्श्यन्त इत्यर्थः । **प्रादय इति** । गताद्यर्थे विद्यमानाः प्रादयः समस्यन्त इत्यर्थः । **प्रगत आचार्य इति** ।

मूलार्थ—'प्राध्वम्'—यह अव्यय है । उदा० प्राध्वंकृत्य । बन्धन से वश में करके—यह अर्थ है । मनाने से वश में करने पर—प्राध्वं कृत्वा ।

विवरण—"मकारान्त 'प्राध्वम्' निपात[1] (अव्यय) की बन्धन-विषयक अनुकूलता अर्थ में, 'कृञ्' के योग में, नित्य गतिसंज्ञा होती है" । **उदाहरण**—प्राध्वंकृत्य (बन्धन से वश में कर) । **लौकिक विग्रह**—प्राध्वम्+कृत्वा । **अलौकिक विग्रह**—प्राध्वम्, कृ+क्त्वा > प्राध्वम्-कृत्य (गतिसंज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप् , तुक्-आगम) > प्राध्वंकृत्य (म् = अनुस्वार एवं अव्यय-संज्ञा होने के कारण विभक्ति का लुक्) । इसके विपरीत अर्थ—'मानने से वश में करने पर'—में गति संज्ञा न होने के कारण **'प्राध्वं कृत्वा'** में समास तथा 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' नहीं हुए । यही प्रत्युदाहरण है ।

(७८०) पद—जीविकोपनिषदौ, औपम्ये । **अनुवृत्ति**—नित्यं, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—उ० १–जीविकामिव कृत्वा > जीविकाकृत्य । २–उपनिषदमिव कृत्वा > उपनिष-त्कृत्य । औपम्ये क्यों कहा ? जीविकां कृत्वा (समास न हो) । (कुगति० सूत्र में) 'गति' से भिन्न प्रादि का ग्रहण किया गया है—सुपुरुषः । यहाँ वार्तिक हैं—१–गत आदि अर्थ में 'प्र' आदि का प्रथमान्त के साथ (समास हो) । उदा० प्रगतः आचार्यः > प्राचार्यः । २–'क्रान्त' आदि में

---

१. चादौ प्राध्वमिति मान्त आनुकूल्यवृत्तिर्निपातः ।—व्या० सि० पृ० ८८० ।

प्राचार्यः। अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' (वा १३३६)। अतिक्रान्तो मालामतिमालः। अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया' (वा १३३७)। अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः। पर्यादयो

प्रेत्यस्य विवरणं गत इति, गत आचार्यं इत्येव अस्वपदविग्रहः, नित्यसमासत्वात्। अभिगतो मुखम् अभिमुखः, प्रतिगतोऽक्षं प्रत्यक्ष इत्यादि। **अत्यादय इति**। क्रान्ताद्यर्थे अत्यादयः समस्यन्त इत्यर्थः। **अतिक्रान्तो मालामिति**। अतिशब्दः क्रान्ते वर्तते। क्रान्तो मालामित्यस्वपदविग्रहः। तत्र क्रमुधातोरतिक्रमणमर्थः। **अतिमाल इति**। 'एकविभक्ति च' इति मालाशब्दस्य उपसर्जनत्वात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वः। **अवादय इति**। क्रुष्टाद्यर्थे अवादयः समस्यन्त इत्यर्थः। **अवकोकिल इति**। कोकिलया आहूत इत्यर्थः। **पर्यादय इति**। ग्लानाद्यर्थे पर्यादयः समस्यन्त इत्यर्थः। अध्ययनाय अध्ययनार्थं, तेन

'अति' आदि का द्वितीयान्त के साथ (समास हो)। उदा० अतिक्रान्तः मातरम् > अतिमातः। ३-'क्रुष्ट' आदि अर्थ में 'अव' आदि का तृतीयान्त के साथ (समास हो)। उदा० अवक्रुष्टः कोकिलया > अवकोकिलः। ४-'परि' आदि का चतुर्थ्यन्त के साथ 'ग्लानि' आदि अर्थ में (समास हो)। उदा० परिग्लानः अध्ययनाय > पर्यध्ययनः। ५-'निर्' आदि का पञ्चम्यन्त के साथ 'क्रान्त' आदि अर्थ में (समास हो)। उदा० निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः > निष्कौशाम्बिः। वा० ('प्र' आदि) कर्मप्रवचनीयों का समासविषयक प्रतिषेध है। उदाहरण—वृक्षं प्रति।

विवरण—"गति-संज्ञा-विषयक यह अन्तिम सूत्र है। यहाँ संज्ञी केवल दो शब्द हैं—जीविका तथा उपनिषद्। इन दोनों शब्दों के साथ 'कृञ्' धातु का योग अपेक्षित है। इसके साथ ही उस वाक्य से 'तुलना' गम्य होना भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में नित्य गति-संज्ञा और निपात संज्ञा होंगी"। **उदाहरण**—(१) जीविकाकृत्य (जीविका के समान करके)। **लौकिक विग्रह**—जीविकाम् इव कृत्वा। **अलौकिक विग्रह**—जीविका+अम्, कृ+क्त्वा > जीविका-कृत्वा ('जीविका' की गतिसंज्ञा, समास तथा विभक्ति-लोप) >**जीविकाकृत्य** (समास होने पर क्त्वा = ल्यप्, 'कृ' को तुक्='त्' आगम, पुनः विभक्ति तथा उसका अव्ययसंज्ञा होने के कारण लुक्)। (२) उपनिषत्कृत्य (उपनिषद् की तरह करके)। **लौकिक विग्रह**—उपनिषदम् इव कृत्वा। **अलौकिक विग्रह**—उपनिषद्+अम्, +कृ+क्त्वा >उपनिषत्—कृत्वा (औपम्य अर्थ में 'कृ' धातु के योग में 'उपनिषद्' की गति संज्ञा, तन्निमित्तक "कुगतिप्रादयः" २-२-१८ समास, द् = त्—चर्त्व) > **उपनिषत्कृत्य** (क्त्वा = ल्यप्, तुक् (= त्)। शेष पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'औपम्य' पद का निवेश होने से उपमार्थक 'जीविका' और 'उपनिषद्' शब्द अपेक्षित हैं। अतः **'जीविकां कृत्वा'** में उपमार्थ के अभाव में 'गति'-संज्ञा नहीं हुई।

विशेष—(१) 'गति' समास के अन्तर्गत गति-संज्ञा के स्थल-विशेषों का निर्देश आवश्यक था। इस हेतु "कुगतिप्रादयः" २-२-२८ सूत्र से विधीयमान तत्पुरुष-विशेष का निर्वचन करने के पश्चात् भट्टोजी दीक्षित ने प्रसङ्गवश उपर्युक्त प्रथमाध्यायस्थ सूत्रों की सङ्गति बैठा दी है। इसी सन्दर्भ में यह शङ्का उपस्थित होती है कि 'प्र' आदि की भी गति संज्ञा होने के कारण "कुगति-प्रादयः" २-२-१८ सूत्र में केवल 'गति' शब्द का निवेश करने से ही समास सिद्ध रहा, पुनः सूत्र में 'प्रादि' ग्रहण करने की क्या आवश्यकता थी? इसका समाधान यह है कि "प्रादि की क्रिया-योग में ही गति-संज्ञा होती है"—इस प्रकार अर्थ की अपेक्षा होने के कारण क्रियायोग में 'प्रादि' का गति-समास 'प्रादि' शब्द रखे बिना भी सम्भव रहा, किन्तु क्रिया का योग न होने पर भी 'प्रादि' को समास करने के लिये "कुगतिप्रादयः" २-२-१८ सूत्र में पृथक् 'प्रादि' पद की सार्थकता है। अतः शोभनः पुरुषः > सुपुरुषः में समास सिद्ध होता है। यहाँ 'सु' प्रादि है

ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' (वा १३३८)। परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' (वा १३३९)। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः। 'कर्मप्रवचनीयानां

श्रान्त इत्यर्थः। परिरत्र ग्लाने वर्तते। **निरादय इति। क्रान्ताद्यर्थे** निरादयः समस्यन्त इत्यर्थः। **निष्कौशाम्बिरिति।** अतिमालवत् ह्रस्वः। निरित्यव्ययं निर्गमने वर्तते। **कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेध इति।** वार्तिकमेतत्। **वृक्षं प्रतीति।** 'लक्षणेत्थम्' इति कर्मप्रवचनीयत्वान्न प्रादिसमासः। इदं तु वार्तिकं भाष्ये प्रत्याख्यातम्।

तथा क्रिया का योग न होने से इसकी गति-संज्ञा नहीं होती। **लौकिक विग्रह**—शोभनः पुरुषः। **अलौकिक विग्रह**—सु+सु, पुरुष+सु > सुपुरुष (समास) > सुपुरुषः (समासानन्तर विभक्तिकार्य)।

(२) "कुगतिप्रादयः" २-२-१८ सूत्र में 'प्रादि' समास को अभिलक्षित कर भाष्योक्त पाँच वार्तिकों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। इन वार्तिकों द्वारा 'प्रादि' के समासगत अर्थ-विशेषों का निर्देश किया गया है। विभक्तियों के क्रमानुसार ये वार्तिक इस प्रकार हैं। (१) गतादि अर्थ में प्र, परा आदि का प्रथमान्त सुबन्त के साथ समास होता है[1]। उदा०—प्राचार्यः (प्रतिष्ठित आचार्य)। **लौकिक अस्वपद विग्रह**—(प्र) गतः आचार्यः। **अलौकिक विग्रह**—प्र+सु, आचार्य +सु > प्र–आचार्य ('प्र' का आचार्य के साथ समास, विभक्तिलोप, 'प्र' का पूर्वनिपात) > प्राचार्य (सवर्ण दीर्घ) > **प्राचार्यः**[2] (पुनः विभक्ति-कार्य)। (२) क्रान्त आदि[3] अर्थों में विद्यमान 'अति' आदि का द्वितीयान्त (सुबन्त) के साथ समास हो। **उदाहरण**—अतिमालः (माला का अतिक्रमण करनेवाला)। **लौकिक अस्वपद विग्रह**—(अति)क्रान्तः मालाम्। **लौकिक विग्रह**—अति+सु, माला+अम् > अतिमाला (समास एवं 'अति' का पूर्व निपात) > अतिमाला + सु > अतिमाल+सु ("एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते" १-२-४४ से 'माला' की उपसर्जन संज्ञा अतः उसे ह्रस्व—"गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" १-२-४८) > **अतिमालः** (विभक्तिकार्य—सु = रु = :)। (३) 'क्रुष्ट' अर्थ में विद्यमान 'अव' का तृतीयान्त पद के साथ समास हो[4]। **उदाहरण**—अवकोकिलः (कोयल से कुपित)। **लौकिक अस्वपद विग्रह**—(अव)क्रुष्टः कोकिलया। **अलौकिक विग्रह**—अव+ सु, कोकिला+टा> अवकोकिला ('अव' का 'कोकिला' के साथ समास, विभक्तिलोप, 'अव' का पूर्वनिपात) >अवकोकिला + सु > अवकोकिल+ सु (कोकिला को पूववत् ह्रस्व) > **अवकोकिलः** (विभक्तिकार्य—स् = र् = :)। (४) 'ग्लान' आदि[5] अर्थ में 'परि' आदि का चतुर्थ्यन्त सुबन्त के साथ समास हो। **उदाहरण**—पर्यध्ययनः (अध्ययन के लिए अनुत्साही)। **लौकिक अस्वपद विग्रह**–(परि)ग्लानः अध्ययनाय। **अलौकिक विग्रह**—परि+सु, अध्ययन+ङे > परि–अध्ययन (समासादि कार्य पूर्ववत्) > पर्यध्ययन

---

१. भाष्य में इस वार्तिक का स्वरूप यह है—"प्रादयः क्तार्थे"। प्रादयः क्तार्थे समस्यन्ते इति वक्तव्यम्। प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः, प्रान्तेवासी, प्रपितामहः। एतदेव च सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्"।—म० भा० २-२-१८।

२. एवं प्रगतः पितामहः > प्रपितामहः, प्रमातामहः इत्यादि सिद्धम्।

३. आदि पदादभिगतो मुखमभिमुखः, उद्गतो वेलामुद्वेलः, प्रतिगतोऽक्षं प्रत्यक्ष इत्यादि सिद्धम्।

४. आदिपदात् परिणद्धो वीरुधा–परिवीरुत्, सन्नद्धा वर्मणा संवर्मेति च सिध्यति।

५. आदिपदात् उद्युक्तः संग्रामाय > उत्संग्रामः इति सिध्यति।

प्रतिषेधः' (वा १३३९)। वृक्षं प्रति। (७८१) तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३ । १ । ९२ ॥ सप्तम्यन्ते पदे 'कर्मणि' (सू २९१३) इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादि तद्वाचकं

---

(७८१) अथोपपदसमासं वक्ष्यन्नुपपदसञ्ज्ञामाह—**तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्**। अधिकारोऽयम्। सप्तमीति तदन्तग्रहणम्। सप्तम्यन्ते पदे वाच्यवाचकभावसम्बन्धेन तिष्ठतीति सप्तमीस्थम्। सप्तम्यन्तवाच्यमिति यावत्। धातोरित्यधिकारसूत्रादुत्तरसूत्रमिदम्। ततश्च तदधिकारान्तर्गतेषु 'कर्मण्यण्' इत्यादिसूत्रेषु यत्सप्तम्यन्तमुच्चारितं तदेव इह विवक्षितम्। एवञ्च तदुदाहरणे कुम्भं करोति कुम्भकार इत्यत्र सप्तम्यन्तवाच्यं कुम्भादीति पर्यवसन्नम्। कुम्भादेश्च उपपदसञ्ज्ञायां प्रयोजनाभावात्तद्वाचकपदेषु विश्राम्यति। तथा च धातोरित्यधिकारान्तर्गते कर्मणीत्यादिसूत्रे यत्सप्तम्यन्तं कर्मणीत्यादि तद्वाच्यं यत् कुम्भादि तद्वाचकं पदम् उपपदसञ्ज्ञं स्यादित्यधिकृतं वेदितव्यमित्यर्थः फलति। तदाह—**सप्तम्यन्ते पद इत्यादिना**। तत्र 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकात्' इति, 'धातोरेकाचो हलादेः' इति 'धातोः' इति च क्रमेण त्रयो धात्वधिकाराः। तत्र प्रत्यासत्त्या तृतीयधात्वधिकारस्थसप्तम्यन्तस्यैव ग्रहणात् 'धातोरेकाचः' इत्यधिकारे 'च्लि लुङि' इत्यत्र सप्तम्यन्तं न गृह्यते। अन्यथा कर्मणीत्यादाविव लुङन्ते अभूदित्यादावुपपदे धातोः च्लिरित्यर्थः स्यात्। ननु तत्रेति व्यर्थम्, तृतीयधात्वधिकारस्य प्रकृतत्वादेव ग्रहणसम्भवादित्याशङ्क्याह—**तस्मिश्च**

(यण्) > पर्यध्ययन+सु > **पर्यध्ययनः** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्)। (५) 'क्रान्त' आदि[1] अर्थ में 'निर्' आदि का पञ्चम्यन्त पद के साथ समास हो। **उदाहरण**—निष्कौशाम्बिः (कौशाम्बी से निकल चुका)। **लौकिक अस्वपद विग्रह**—(निर्)गतः कौशाम्ब्याः। **अलौकिक विग्रह**—निर्+सु, कौशाम्बी+ङसि > निः-कौशाम्बी ('निर्' का 'कौशाम्बी' के साथ समास आदि कार्य, 'निर्' के र् को विसर्ग) > निष्कौशाम्बी+सु (विसर्ग = 'ष्'—"इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य" ८-३-४१) > निष्कौशाम्बि+सु (ह्रस्व-"गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" १-२-४८) **निष्कौशाम्बिः** (विभक्तिकार्य)।

(३) इसी प्रसङ्ग में कर्मप्रवचनीय संज्ञक 'प्रादि' का समर्थ सुबन्त के साथ समास का निषेध करने हेतु **वार्तिक** प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार '**वृक्षं प्रति**' में समास नहीं हुआ। यहाँ 'प्रति' की "लक्षणेत्थम्भूताख्यान'''प्रतिपर्यनवः" १-४-९० से कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है। उसके योग में 'वृक्षं' में द्वितीया विभक्ति हुई—"कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" २-३-८।

(७८१) पद— तत्र, उपपदं, सप्तमीस्थम्। **अनुवृत्ति**—धातोः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—"कर्मणि" इत्यादि सूत्रों में सप्तम्यन्त पद-'कर्मणि'-के वाच्यरूप में स्थित कुम्भ आदि के वाचक पद की 'उपपद' संज्ञा होती है। उसके होने पर ही आगे बतलाया जाने वाला प्रत्यय होगा।

विवरण—गति-समास के अनन्तर उपपद (तत्पुरुष) समास का निर्वचन किया जारहा है। तदनुसार 'उपपद' संज्ञा-विधायक सूत्र को यहाँ प्रस्तुत किया गया है। 'उपपद' का अर्थ है—'वह शब्द जो किसी से पूर्व लगाया गया हो (समीपोच्चारितं पदम्)। किन्तु यहाँ लाक्षणिक रूप में अर्थ-विस्तार किया गया है। अतः उसके स्वरूप को बतलाया जारहा है। यह 'अन्वर्थ-संज्ञा' (=जो अपना अर्थ स्वयं प्रकट करे) है। 'संज्ञी' है—'तत्र सप्तमीस्थम्'। 'तत्र'

---

१. आदिपदात् उत्क्रान्तः कुलात् > उत्कुलः, निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः > निरङ्गुलम् इत्यादि प्रयोगाः सिध्यन्ति।

पदमुपपदसंज्ञं स्यात्। तस्मिंश्च सत्येव वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यात्। (७८२) उपपदमतिङ् २।२।१९॥ उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते। अतिङन्तश्चायं समासः।

सत्येव वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यादिति। अयमाशयः—तत्रेति भिन्नं वाक्यं क्रमव्यत्यासेन योज्यम्। सप्तमीस्थमुपपदसञ्ज्ञं स्यात्। तत्र, तस्मिन्सति इति चाधिकृतं वेदितव्यमिति। तथा चोपपदे सति वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यादिति तत्रेत्यस्यार्थः फलति। तथा च 'कर्मण्यण्' इत्यत्र इदं सूत्रमुपस्थितम्। कर्मणीति सप्तम्यन्तं प्रथमान्तत्वेन विपरिणम्यते। सप्तमीनिर्देशस्तु उपपदसञ्ज्ञाप्रवृत्त्यर्थः। धातोरण् स्यात् कर्तर्यर्थे, कर्मवाचकं तु कुम्भादिपदम् उपपदसञ्ज्ञं प्रत्येतव्यम्, तस्मिन्नुपपदे सत्येव अण् स्यादिति फलति। तस्मिन् सत्येवाण् स्यादित्यभावे तु कार इत्येवं केवलादपि धातोः कर्तर्यर्थे अण्प्रत्ययः स्यात्। कर्मणीति सप्तम्यन्तनिर्देशस्तु कुम्भकार इत्यादौ उपपदसञ्ज्ञां प्रापय्य 'उपपदमतिङ्' इति नित्यसमाससम्पादनेन कुम्भ इत्यस्य कार इत्यस्य च साधुत्वप्रापणार्थतया चरितार्थः। तस्मिन्नुपपदे सत्येवाण् स्यादित्युक्ते तु कुम्भाद्युपपदस्य अण्प्रत्ययोत्पत्तौ निमित्तत्वावगमान्न केवलादण्प्रत्ययः, उपपदसञ्ज्ञायाः प्रत्ययविधिसन्नियोगशिष्टत्वलाभात्। 'घः कर्मणि ष्ट्रन्', 'भुवो भावे' इत्यादौ सप्तम्यन्तमर्थनिर्देशपरमेव, व्याख्यानादिति भाष्यकैयटादिषु स्पष्टम्।

(७८२) उपपदमतिङ्। सुबन्तमिति। 'सुबामन्त्रिते' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। समर्थेनेति। प्रथमान्तं समर्थग्रहणं तृतीयान्ततया विपरिणम्यत इति भावः। अतिङन्तश्चायं समास इति। सूत्रे तिङिति तदन्तग्रहणमिति भावः। समासः तिङन्तघटितो न भवतीत्यर्थः। अतिङ् किम्? कारको व्रजति। 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति व्रजतावुपपदे कृञो ण्वुल्, अकादेशः। उपपदं समर्थेनेत्येतावत्युक्ते इहाप्युपपदसमासः स्यात्। अतः अतिङ्ग्रहणम्। न चैवं सुबित्यनुवृत्तेः प्रयोजनाभाव इति वाच्यं, चर्मकार इत्यत्र

पद साकाङ्क्ष है, अतः उसकी पूर्ति (विषय-निर्देशार्थ) "धातोः" ३-१-९१ की आधिकारिक अनुवृत्ति द्वारा होती है। अन्यथा प्रत्येक सूत्र में अधिकार का आश्रयण करने से गौरव होगा[1]। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "इस धातु के अधिकार में जो सप्तमी-विभक्ति से निर्दिष्ट पद हैं, उनकी उपपद संज्ञा होती है"। उदाहरणार्थ "कर्मण्यण्" ३-२-१ में कर्मणि पद सप्तम्यन्त है, उसकी उपपद संज्ञा होने से 'कर्म उपपद रहते'—इस प्रकार सूत्र का अर्थ किया गया है"। इस तरह सप्तमी निर्दिष्ट पद कहीं उपपदसंज्ञक तथा कहीं अर्थवाचक भी लिया गया है। यह भेद तत्तत् सूत्रों में ही विदित होगा। तदनुसार ('कुम्भकारः' में) समास के पूर्व 'कुम्भं करोति' ऐसी विग्रहावस्था में "कर्मण्यण्" ३-२-१ सूत्र से होने वाले 'अण्' प्रत्यय के निमित्तस्वरूप सप्तम्यन्त पद—'कर्मणि'—के वाच्यरूप में 'कुम्भम्' (द्वितीयान्तपद) को इङ्गित करता है, अतः तद्वाचक 'कुम्भ' की उपपद संज्ञा होने के फलस्वरूप 'कुम्भ+कृ' से अण् प्रत्यय होता है।

(७८२) पद—उपपदम्, अतिङ्। **अनुवृत्ति**—नित्यम्, तत्पुरुषः, सुप्, (सुपा), समासः। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—उपपद सुबन्त का समर्थ के साथ नित्य समास हो। यह समास तिङन्त के साथ नहीं होता। उदा० कुम्भं करोति > कुम्भकारः। यहाँ 'कुम्भ+अम्, कार' यह अलौकिक प्रक्रिया-वाक्य है। 'अतिङ्' क्यों कहा? मा भवान् भूत्। यहाँ "माङि लुङ्" (३-३-१७५) में

---

१. "तत्र ग्रहणं विषयनिर्देशार्थम्। तत्रैतस्मिन् धात्वधिकारे इति। अन्यथा प्रतिसूत्रम् अधिकाराश्रयणे गौरवात्"। व्या० सि० सु० पृ० १२९९।

कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। इह कुम्भ अस् कार इत्यलौकिकं प्रक्रियावाक्यम्। अतिङ् किम्? मा भवान्भूत्। 'माङि लुङ्' (१२१९) इति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम्। अतिङ्-

---

नलोपार्थकत्वात्। उपपदमतिङन्तं समर्थेन समस्यत इति व्याख्याने तु सुबिति नानुवर्तेत। ततश्च चर्मकार इत्यत्र नलोपो न स्यादिति भावः। **कुम्भमिति**। कुम्भं करोतीत्यर्थे 'कर्मण्यण्' इति कर्मीभूतकुम्भवाचकपदे उपपदे कृञ्धातोः कर्तरि अण्प्रत्यये 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरत्वे कारशब्दः। तेन कुम्भशब्दस्य समासे कुम्भकारशब्द इत्यर्थः। ननु कुम्भं करोतीति कथं विग्रहप्रदर्शनम्, अतिङन्तः समास इत्युक्तत्वादित्यत आह—**कुम्भ अस् कार इत्यलौकिकं प्रक्रियावाक्यमिति**। लोके प्रयोगानर्हत्वमलौकिकत्वम्। 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति सूत्रभाष्यरीत्या अलौकिकविग्रहवाक्य एव समासप्रवृत्तिः। कुम्भं करोतीति तदर्थप्रदर्शनमात्रमिति भावः। कुम्भ-अम् कार इत्यपपाठः, कृद्योगे षष्ठ्या विधानात्। **मा भवान् भूदिति**। अत्र भूदिति तिङन्तेन माङः समासनिवृत्त्यर्थमतिङ्ग्रहणमिति भावः। भवानिति पदं तु समासाभावसूचनाय मध्ये प्रयुक्तम्। ननु माङस्तृतीयधात्वधिकारे सप्तमीनिर्दिष्टत्वं तु अदृष्टं, येन तस्य उपपदत्वात् समासः प्रसज्येत इत्यत आह—**माङिति**। ननु अतिङ्ग्रहणं व्यर्थं, मा भवान् भूदित्यत्र सुपेत्यनुवृत्त्यैव समासनिवृत्तिसम्भवादित्यत आह—**अतिङ्ग्र-**

'माङि' सप्तम्यन्त पद होने से 'माङ्' 'उपपद' है। (प्रकृतसूत्र में) 'अतिङ्' ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि यहाँ 'सुपा' की अनुवृत्ति नहीं होती। पूर्व सूत्र (कुगतिप्रादयः २-२-१८) में भी 'गति' ग्रहण को पृथक् कर इस सूत्र से 'अतिङ्' का अपकर्षण कर वहाँ भी 'सुपा' की निवृत्ति हो जाती है। (इसके फलस्वरूप) "गति, कारक और उपपद का कृदन्त पदों के साथ समास सुप्–उत्पत्ति के पूर्व होता है"। **उदा०**—१–व्याघ्री। २–अश्वक्रीती। ३–कच्छपी।

विवरण—प्रसङ्गप्राप्त उपपद संज्ञा का स्मरण कराने के अनन्तर उपपद (तत्पुरुष) समास का निर्वचन किया जा रहा है। सूत्र में समस्यमान पूर्व पद (उपपदम्) का उल्लेख है। उत्तरपद के सम्बन्ध में उल्लिखित 'अतिङ्' का आश्रय लिया जाता है। उनमें से समस्यमान पूर्वपद (उपपद) सुबन्त अपेक्षित है, क्योंकि "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे" २-१-२ से प्रथमान्त 'सुप्' की अनुवृत्ति यहाँ आरही है। उसमें तदन्तविधि होने से 'उपपद संज्ञक सुबन्त'—यह अर्थ स्वीकार किया जाता है। उपपद संज्ञक सुबन्त का किसके साथ समास हो? इस आकाङ्क्षा में "समर्थः पदविधिः" २-१-१ सूत्र के प्रभाव से 'समर्थ' पद का आश्रय लेकर कार्य-निर्वाह होता है। "सह सुपा" २-१-४ सूत्रस्थ 'सह' पद के प्रभाव से प्रथमान्त 'समर्थः' पद तृतीयान्त में विपरिणत होकर इस सूत्र के अर्थ को निष्पन्न करता है। तदनुसार "उपपद सुबन्त का समर्थ पद के साथ नित्य समास होता है एवं उसकी तत्पुरुष संज्ञा भी होगी"। सूत्रस्थ द्वितीय पद 'अतिङ्' से यह अभिव्यञ्जित होता है कि उपपद समास का उत्तरपद तिङन्त-तदादि नहीं होना चाहिये (अतिङन्तश्चायं समासः = 'अतिङ्' में तदन्तविधि द्वारा 'अतिङन्त' अर्थ गृहीत है)। **उदाहरण**—कुम्भकारः (कुम्हार)। **लौकिक विग्रह**—कुम्भं करोति। इस अर्थ में द्वितीयान्त कुम्भवाचक पद के उपपद रहने पर "कर्मण्यण्" ३-२-१ सूत्र से 'अण्' = (अ) प्रत्यय होकर (कुम्भ+अम्, कृ+अ, 'कृ' के 'ऋ' को "अचो ञ्णिति" ७-२-११५ से 'आर्' वृद्धि होकर > कुम्भ+अम्, कार)—समास के पूर्व **अलौकिक विग्रह**—का स्वरूप→कुम्भ+अस्, कार+सु[1] > कुम्भकार (उपपद 'कुम्भ' का तिङ्भिन्न 'कार' के साथ समास, विभक्तिलोप, 'कुम्भ' का पूर्व-निपात)

---

१. कारण यह है कि कृदन्त 'कार' के योग में "कर्तृकर्मणोः कृति" २-३-६५ सूत्र से 'कुम्भ' के साथ षष्ठी-विभक्ति विहित है।

ग्रहणं ज्ञापयति सुपा इत्येतन्नेहानुवर्तत इति। पूर्वसूत्रेऽपि गतिग्रहणं पृथक्कृत्यातिङ्ग्रहणं तत्रापकृष्यते। सुपा इति च निवृत्तम्। तथा च 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समास-

---

हणमिति। एवञ्च उपपदम् असुबन्तेन समस्यत इति फलितम्। गतिसमासोऽप्यसुबन्ते-नेत्याह—**पूर्वसूत्र इति**। उत्तरसूत्रात्पूर्वसूत्रे अनुवृत्तिरपकर्षः। 'कुप्रादयः' इति 'गति' इति च योगो विभज्यते। कुप्रादयः सुबन्तेन समस्यन्ते। गतिस्तु समर्थेन समस्यते। अतिङन्तश्च समास इति व्याख्येयमिति यावत्। ततः किमित्यत आह—**तथा चेति**। गतिकारकोपपदानां कृदन्तैः सह सुबुत्पत्तेः प्राक् समासो वक्तव्य इति प्राचीनव्याकरणोक्तं सिद्धं भवतीत्यर्थः। यद्यप्युक्तरीत्या गत्युपपदयोरेव लाभः, तथाप्येकदेशानुमतिद्वारा प्राचीनपरिभाषेयं सिध्यति। अथ परिभाषायाः फलं दर्शयितुं गतिसमासमुदाहरति—**व्याघ्रीति**। व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः। व्याङ्पूर्वात् घ्राधातोः 'आतश्चोपसर्गे' इति कः, 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः। 'पाघ्राध्माधेट्दृशश्शः' इति तु न भवति, 'जिघ्रतेः संज्ञायां नेति वाच्यम्' इति निषेधात्। आङो घ्रशब्देन गतिसमासः। आघ्रशब्देन वेः गतिसमासः। तत्र यदि घ्रशब्दस्य सुबन्तत्वमपेक्ष्येत तर्हि स्त्रीप्रत्यये उत्पन्ने सुबुत्पत्तिः स्यात्, स्वार्थद्रव्यलिङ्गसङ्ख्याकारकप्रयुक्तकार्याणां क्रमिकत्वस्य

> कुम्भकार+सु ('एकदेशविकृतमनन्यतवत्' न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा, सुबुत्पत्ति) > **कुम्भकारः** (स् = र् = :)।

प्रत्युदाहरण—मा भवान् भूत्। सूत्र में 'अतिङ्' पद का उल्लेख होने के कारण उपपद समास तिङन्त के साथ नहीं होता। अन्यथा इस उदाहरण में 'माङ्' के योग में 'भूत्' (=अभूत) के साथ समास होने लगता। 'माङ्' के योग में "माङि लुङ्" ३-३-१७५ सूत्र से लुङ् लकार होता है। उस सूत्र में 'माङि' पद सप्तम्यन्त होने के कारण 'माङ्' उपपद—संज्ञक है। अतः समास की प्राप्ति रही। उदाहरण में 'अट्' का अभाव 'माङ्' का योग होने से है—"न माङ्योगे" ६-४-७४। बीच में 'भवान्' का प्रयोग 'अट्'-आगम की सत्ता को न दिखाने के लिये किया गया है।

शङ्का-समाधान—यहाँ यह शङ्का होती है कि "सह सुपा" २-१-४ सूत्र की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप तो 'उपपद का सुबन्त के साथ' ही समास होगा, अतः "उपपदमतिङ्" २-२-१९ सूत्र में 'अतिङ्' ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? उससे यह ज्ञापित होता है कि यहाँ केवल 'सह' की अनुवृत्ति होती है, 'सुपा' की नहीं। उसकी सम्पूर्ण अनुवृत्ति होने पर 'अतिङ्' ग्रहण निरर्थक होता। यह प्रथम प्रयोजन है। दूसरा प्रयोजन 'अतिङ्' ग्रहण करने का यह है कि पूर्व सूत्र "कुगतिप्रादयः" २-२-१८ में योग-विभाग किया जाय। उसका स्वरूप इस प्रकार होगा—(१) कु-प्रादयः। (२) गतिः। इस योग-विभाग में दूसरे भाग 'गतिः' के साथ 'अतिङ्' का अपकर्ष कर तथा सुपा की निवृत्ति करने पर सूत्र का यह अर्थ होगा कि (१) 'कु' और 'प्रादि' सुबन्तों का समर्थ सुबन्त के साथ समास हो तथा (२) गत्यर्थक सुबन्त का तिङ्भिन्न के साथ समास होता है। इन दोनों के अतिरिक्त प्रयोजन 'कारक' का भी 'तिङन्त' के साथ समास न होने में है। इसके फलस्वरूप इन तीनों का (गति, कारक तथा उपपद का) समास कृदन्त-तदादि के साथ होता है, जिसकी सूचक यह परिभाषा है—**गति-कारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः**—अर्थात् "गति, कारक और उपपद का कृदन्त पदों के साथ समास 'सुप्' (विभक्तियाँ) आने के पूर्व होता है"। इस प्रकार एकदेश = "सुपा" की निवृत्ति से यह परिभाषा ज्ञापित की गई है।

वचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' (प ७६) इति सिद्धम्। व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छपी।

'कुत्सिते' इति सूत्रस्थभाष्यदर्शितस्य 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यत्रास्माभिः प्रपञ्चितत्वात्। ततश्च सुबुत्पत्तये लिङ्गसङ्ख्याकारकं क्रमेण अपेक्ष्यमिति प्रथमं लिङ्गसंयोगे सति अदन्तत्वात् टाप् स्यात्। न तु जातिलक्षणङीष्, घ्रशब्दमात्रस्य जातिवाचित्वाभावात्। ततश्च घ्राशब्देन सुबन्तेन समासे सति व्याघ्राशब्दस्य अदन्तत्वाभावात् जातिलक्षणो ङीष् न स्यादिति भावः। यद्यप्युपपदत्वेनाप्येतत्सिद्धम्, तथापि गतित्वसम्भवमात्रेणेदमित्याहुः। वस्तुतस्तु आङो घ्राशब्देन उपपदसमासः, 'आतश्चोपसर्गे' इति सप्तमीनिर्देशात्। वेस्तु आघ्रशब्देन गतिसमास इति तदंशे गतिसमासोदाहरणमित्याहुः। अथ कारकसमासमुदाहरति—**अश्वक्रीतीति**। अश्वेन क्रीतेति विग्रहे 'कर्तृकरणे कृता' इति समासः 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इति ङीष्। सुबन्तेन समासे तु उक्तरीत्या पूर्वं टापि अदन्तत्वाभावात् ङीष् न स्यादिति भावः। उपपदसमासमुदाहरति—**कच्छपीति**। कच्छः

इनके क्रमशः उदाहरण दिये जारहे हैं। गति–समास का उदाहरण—(१) व्याघ्री (बाघिन)। **विग्रह**—वि = विशेषेण, आ = समन्तात्, जिघ्रति। सर्वप्रथम वि—आ √घ्रा+क ("आतश्चोपसर्गे" ३-१-१३६) > वि–आ—√ घ्र्+अ (आ—लोप "आतो लोप इटि च" ६-४-६४) > वि-आघ्र (प्रकृत परिभाषा के अनुसार सर्वप्रथम विभक्ति आने के पूर्व 'आ' के साथ 'घ्र' का उपपद समास) > व्याघ्र। पुनः 'वि' का 'आघ्र' शब्द के साथ गति समास एवं 'यण्' > व्याघ्र+ङीष् (जातिवाचक 'व्याघ्र' शब्द से ङीष् = ई—"जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" ४-१-६३) > व्याघ्री ('अ'—लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > व्याघ्री+सु (सुप्—उत्पत्ति) > **व्याघ्री** ('सु' लोप—"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८)।

विशेष—इस परिभाषा के अभाव में 'घ्र' शब्द की सिद्धि होने पर सुबन्त की अपेक्षा होने से प्रथम स्त्री-प्रत्यय की उत्पत्ति होने के पश्चात् 'सुप्' (विभक्ति) उत्पत्ति होगी। ऐसी स्थिति में 'स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-संख्या कारक-प्रयुक्तकार्याणां क्रमिकत्वम्' इस नियम से अकारान्त होने के कारण पहले लिङ्ग-विधायक टाप् प्रत्यय प्राप्त होगा। उसका कारण यह है कि केवल 'घ्र' शब्द जातिवाचक नहीं है। तदनन्तर 'घ्रा' शब्द का सुबन्त के साथ समास होने पर 'व्याघ्रा' शब्द के ह्रस्व अकारान्त न होने के कारण 'जातिलक्षण'—ङीष् की प्राप्ति असम्भव होगी।

कारक-समास का उदाहरण—(१) अश्वक्रीती (घोड़े से खरीदी हुई)। **विग्रह**—अश्वेन क्रीता। **अलौकिक विग्रह**—अश्व+टा, क्रीत > अश्व-क्रीत (सुबुत्पत्ति के पूर्व ही प्रथम "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" २-१-३२ से समास, प्रातिपदिक संज्ञा, विभक्तिलोप) > अश्वक्रीत+ङीष् ("क्रीतात् करणपूर्वात्" ४-१-५० ङीष् = ई) > अश्वक्रीती 'क्रीत' के अन्त्य-अकार का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > अश्वक्रीती+सु (पुनः विभक्ति) > **अश्वक्रीती** (विभक्ति-लोप)।

विशेष—इस उदाहरण में भी उपर्युक्त परिभाषा के अभाव में सुबुत्पत्ति के अनन्तर समास होने पर 'टाप्' प्रत्यय की पूर्व-प्रसक्ति होने से ह्रस्व अकारान्त शब्द के अभाव में 'ङीष्' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। उस अवस्था में 'अश्वक्रीता' रूप बनता।

उपपद का उदाहरण (३) कच्छपी (कछुई)। **विग्रह**—कच्छेन पिबति। इस स्थिति में उपर्युक्त परिभाषा के नियम से '√पा+क' = 'प' शब्द के साथ 'कच्छेन' का कृदन्त 'प' के साथ उपपद समास होकर > कच्छप (रूप बनेगा), तत्पश्चात् "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" ४-१-६३ से ङीष् → कच्छप + ई > कच्छपी ('प' के 'अ' का लोप "यस्येति च" ६-४-१४८) > कच्छपी+सु (पुनः विभक्ति) > **कच्छपी** (विभक्तिलोप)।

विशेष—यहाँ भी पूर्व परिभाषा के अभाव में 'प' शब्द की सिद्धि होने पर सुबन्त की अपेक्षा

(७८३) अमैवाव्ययेन २ । २ । २० ॥ अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तदेवाव्ययेन सह समस्यते । स्वादुङ्कारम् । नेह । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' (सू ३१७९) । कालः समयो

तीरं, तेन तस्मिन् वा पिबतीति कच्छपी । 'सुपि स्थः' इत्यत्र 'सुपि' इति योगविभागात्कः, उपपदसमासः । तस्य सुबन्तापेक्षायाम् उक्तरीत्या टाबेव स्यात्, न तु जातिलक्षणङीषिति भावः ।

(७८३) **अमैवाव्ययेन** । अमैवेत्यनन्तरं तुल्यविधानमित्यध्याहार्यम् । 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम्' इति तृतीया । **अमैव तुल्येति** । अम्प्रत्ययमात्रविधायकशास्त्रेण अमैव सह यस्य उपपदसञ्ज्ञा विधीयते तदुपपदमव्ययेन समस्यत इति यावत् । पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—**तदेवेति** । विवरणवाक्ये द्वितीय एवकारो नियमलभ्यः, न तु सूत्रस्थः, तस्य अप्राप्ते अमा तुल्यविधानत्वे अवधारणार्थत्वात् । **स्वादुङ्कारमिति** । स्वादुं कृत्वेत्यर्थः । ओदनं भुङ्क्त इति शेषः । 'स्वादुमि णमुल्' इति णमुल्, स्वादुशब्दस्य

होने से प्रथम स्त्रीप्रत्यय की उत्पत्ति होने के पश्चात् सुप (विभक्ति) उत्पत्ति होगी । ऐसी स्थिति में लिङ्ग–विधायक प्रत्यय 'टाप्' प्राप्त होगा, क्योंकि केवल 'प' शब्द जातिवाचक नहीं है । टावन्त 'पा' शब्द का 'कच्छेन' के साथ समास होने पर 'कच्छपा' के ह्रस्व अकारान्त न होने पर "जातेरस्त्री०" ४-१-६३ ङीप् प्राप्त नहीं हो सकता । कच्छ=किनारा ।

(७८३) पद—अमा, एव, अव्ययेन । **अनुवृत्ति**—उपपदम्, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—'अम्' के साथ तुल्य-विधान उपपद ही अव्यय के साथ समस्त होता है । उदा० स्वादुङ्कारम् । 'कालः समयः वेला वा भोक्तुम्' में समास नहीं हुआ, क्योंकि 'कालसमयवेलासु तुमुन्' (३-१-७९) सूत्र तुमुन् का विधान करता है । 'अमैव' क्यों कहा ? अग्रे भोजम्, अग्रे भुक्त्वा । इन उदाहरणों में 'विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु' से 'क्त्वा' और 'णमुल्' प्रत्ययों का विधान है । (अर्थात्) एक तो अम् (णमुल्) और दूसरे (क्त्वा) से समान रूप में यह विधान है ।

विवरण –अव्यय-वाची शब्दों के साथ उपपद समास की विशेष व्यवस्था की जारही है । तदनुसार "उपपदमतिङ्" २-२-१९ से प्रधान अनुवृत्ति 'उपपदम्' की अपेक्षित है । इसके अतिरिक्त तत्पुरुष समास के अन्तर्गत अन्य अपेक्षित उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व आ रही हैं । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "अव्यय के साथ यदि उपपद का समास हो तो केवल अमन्त अव्यय के साथ ही हो, किसी अन्य अव्यय के साथ नहीं ।" इस प्रकार यह नियामक बन कर अन्य अव्ययों की निवृत्ति करता है । **उदाहरण**—स्वादुङ्कारम् (स्वादिष्ट बनाकर) । **लौकिक विग्रह**—स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते । **अलौकिक विग्रह**—स्वादु+अम्, कृ+णमुल् > ("तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्" ३-१-९२ से 'स्वादु' की उपपद संज्ञा, "स्वादुमि णमुल्" ३-४-२६ से 'स्वादुम्' उपपद रहते 'कृ' धातु से 'णमुल्' (अम्) प्रत्यय हुआ तथा 'स्वादु' को मकारान्तत्व निपातन) > स्वादुम्+अम्, कार्-अम् (कृ = कार्–वृद्धि–"अचो ञ्णिति" ७-२-११५) > स्वादुम्कारम् (मकारान्त कृदन्त होने के कारण 'कारम्' की "कृन्मेजन्तः" १-१-३९ से अव्यय-संज्ञा होने के फलस्वरूप "अमैवाव्ययेन" २-२-२० से समास, विभक्तिलोपादि) > स्वादुंकारम् (म् = ं "नश्चापदान्तस्य झलि" ८-३-२४) > स्वादुङ्कारम्+सु (परसवर्ण तथा विभक्त्युत्पत्ति) स्वादुङ्कारम् (विभक्तिलोप) ।

विशेष—(१) सामान्यतः 'कृत्' अव्यय के साथ उपपद समास नहीं होता, किन्तु प्रकृत सूत्र के नियम से कृत्–'णमुल्' (= अम्) अव्यय के साथ उपपद समास विशेष परिस्थिति में हो जाता है । यह तभी सम्भव होता है, जब 'णमुल्'–विधायक सूत्र ही उपपद संज्ञा का भी विधान

वेला वा भोक्तुम् । अमैवेति किम् ? अग्रे भोजम्—अग्रे भुक्त्वा । 'विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु' (सू ३३४५) इति क्त्वाणमुलौ । अमा चान्येन च तुल्यविधानमेतत् । (७८४) तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् २ । २ । २१ ॥ 'उपदंशस्तृतीयायाम्' (सू ३३६८) इत्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा समस्यन्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते>मूलकोपदंशम् ।

मान्तत्वं निपातनात् । 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वम् । तदेवेति । नियमस्य प्रयोजनमाह—**नेहेति** । उपपदसमास इति शेषः । **भोक्तुमिति** । यद्यपि 'कालसमयवेलासु' इति सप्तमी-निर्देशात् कालसमयवेलानामुपपदत्वम्, तथापि कालादीनामुपपदसंज्ञा तुमुना तुल्यविधानेनैव, न त्वमा । अतः कालादीनामुपपदत्वेपि न समास इत्यर्थः । **अमैवेति किमिति ?** अमैवेत्येवकारः किमर्थं इति प्रश्नः । **अमा चान्येन चेति** । अम्प्रत्ययेन क्त्वाप्रत्ययेन च सह उपपदसञ्ज्ञा अग्रेप्रथमपूर्वशब्दानां विहिता, ततश्च उपपदत्वस्य अमैव तुल्यविधानत्वाभावात् न उपपदसमास इति भावः ।

(७८४) **तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्** । तृतीयाशब्देन 'उपदंशस्तृतीयायाम्' इत्यारभ्य 'अन्वच्चानुलोम्ये' इत्यन्तसूत्रोपात्तान्युपपदानि विवक्षितानि । अमेति, अव्ययेनेति चानुवर्तते, एवकारस्तु नानुवर्तते, अस्वरितत्वात् । अमेत्येतदव्ययविशेषणम् । तदाह—**उपदंशस्तृतीयायामित्यादिना । मूलकेन उपदंशं भुङ्क्ते मूलकोपदंशमिति** । 'उपदंशस्तृतीयायाम्' इति णमुल् । अमैव तुल्यविधानत्वात् पूर्वसूत्रेण नित्यं प्राप्ते विकल्पोऽयम् । ननु मूलकेनेत्यस्य भुङ्क्त इत्यत्रैवान्वयात् उपदंश इत्यत्रानन्वयादसामर्थ्यात् कथमिह

करता हो । ऐसी स्थिति में **'कालः भोक्तुं, समयः भोक्तुं, वेला भोक्तुम्'** (भोजन करने का समय) में 'तुमुन्' (= तुम्) के साथ काल, समय, वेला शब्दों के उपपद रहते हुए उनके साथ समास नहीं होता । यद्यपि "कालसमयवेलासु तुमुन्" ३-३-१६७ सूत्र उपपद संज्ञा का प्रयोजन होकर भी 'तुमुन्' का विधान करता है—अर्थात् उभय-प्रयोजक तो है, किन्तु 'णमुल्' (अम्) का विधायक नहीं है ।

(२) **प्रत्युदाहरण**—प्रकृत सूत्र द्वारा 'अम्' का ही विधान करने पर उपपद का अव्यय के साथ समास होने का विधान किया गया है । किन्तु जब कोई सूत्र उपपद-संज्ञा का प्रयोजक होते हुए 'अम्' के साथ किसी दूसरे प्रत्यय का भी विधान करेगा तो उस अवस्था में उपपद—समास नहीं होगा । उदाहरणार्थ—**'अग्रे भुक्त्वा—अग्रे भोजम्'** में "विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु" ३-४-२४ से 'क्त्वा' तथा 'णमुल्' (= अम्) दोनों प्रत्ययों का विधान होने के कारण उपपद-समास की प्रवृत्ति नहीं हुई ।

. **(७८४) पद**—तृतीयाप्रभृतीनि, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—अमा, अव्ययेन, उपपदम्, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः । **नियम-(विभाषा)-सूत्र** ।

मूलार्थ—'उपदंशस्तृतीयायाम्' इत्यादि विहित उपपदों का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प से समास होता है । उदाहरण—मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते—मूलकोपदंशम् । उच्चैःकृत्वा—उच्चैःकारम् । तृतीया-प्रभृतीनि क्यों कहा ? अलं कृत्वा, खलु कृत्वा (समास नहीं हुआ) ।

विवरण—विशेष परिस्थिति में अमन्त अव्यय का वैकल्पिक उपपद-समास बताया जारहा है । पूर्व सूत्र की तरह यहाँ भी मुख्य विषय 'णमुल्-विधायक सूत्र का उपपद-संज्ञा-प्रयोजक' होना है । अतः सम्पूर्ण पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति के अतिरिक्त 'उपपदम्' आदि उल्लिखित अनुवृत्तियाँ आरही हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "उपदंशस्तृतीयायाम्" ३-४-४७ सूत्र से लेकर "अन्वच्यानुलोम्ये" ३-४-६४ सूत्र के अन्त तक गृहीत उपपदों का अमन्त

उच्चैःकारम् । (७८५) क्त्वा च २ । २ । २२ ॥ तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि **क्त्वान्तेन**

समास इति चेत्, मैवम्—उपदंशनक्रियां प्रति हि मूलकस्य आर्थिकं कर्मत्वमादाय सामर्थ्यमुपपाद्यम् । तृतीया तु प्रधानक्रियानुरोधात् परत्वाच्चोपपाद्येत्यन्यत्र विस्तरः । **उच्चैःकारमिति ।** उच्चै कृत्वेत्यत्र तु 'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ' । तत्र उच्चैःकारमित्यत्र उपपदत्वस्य अमैव तुल्वविधानत्वाभावात् 'अमैवाव्ययेन' इत्यप्राप्ते अनेन विकल्पः । समासपक्षे 'आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम्' इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः आद्युदात्तत्वम् । असमासपक्षे तु उच्चैरिति फिट्सूत्रेण अन्तोदात्तत्वमिति फले भेदः । अमन्तेनेति किम् ? पर्याप्तो भोक्तुम् । 'पर्याप्तिवचनेषु' इति तुमुन् ।

(७८५) क्त्वा च । तृतीयाप्रभृतीनीति पूर्वसूत्रमनुवर्तते । **क्त्वेति** तृतीयार्थे

अव्यय के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास हो" । **उदाहरण**—(१) मूलकोपदंशम् (मूली को दाँत से काटकर खाता है) । **विग्रह-वाक्य**—मूलकेन उपदंशं भुङ्क्ते । **प्रक्रिया**—मूलकेन (मूलक+टा), उपदंशम् (उप √ दंश्—णमुल् = अम्)—इस स्थिति में "उपदंशस्तृतीयायाम्" ३-४-४७ सूत्र से तृतीया-निर्दिष्ट 'मूलकेन' की उपपद संज्ञा होने के कारण तथा उसी सूत्र से ही 'णमुल्' का भी विधान होने के कारण प्रकृत सूत्र से समास होता है→मूलक-उपदंशम् । तदनन्तर गुण → मूलकोपदंशम् । तत्पश्चात् अव्ययान्त होने से 'सु' विभक्त्युत्पत्ति तथा उसके स्थान में अम् तथा पूर्वरूप होकर **मूलकोपदंशम्** रूप निष्पन्न होगा । पूर्व सूत्र से प्राप्त नित्य समास का बाधकर इस विधान के वैकल्पिक होने से पक्ष में **मूलकेन उपदंशं भुङ्क्ते**—वाक्य रहेगा । (२) उच्चैःकारम् (ऊँचे स्वर से) । **विग्रह-वाक्य**—उच्चैः कृत्वा । **प्रक्रिया**—'उच्चैः' अव्यय के अनन्तर कृ+क्त्वा तथा कृ+णमुल् प्रत्यय पाक्षिक हैं → "अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ" ३-४-५९ । तदनुसार णमुलन्त प्रयोग **'उच्चैःकारम्'** में नित्य उपपद समास "अमैवाव्ययेन" २-२-२० से प्राप्त नहीं था, क्योंकि यहाँ केवल 'णमुल्' का विधान नहीं हुआ है, उसके साथ 'क्त्वा' का भी विधान है । अतः प्रकृतसूत्र से णमुलन्त रूप में विकल्प से—समास हुआ ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'तृतीयाप्रभृतीनि' पद का निवेश करने से यह सूचित होता है कि "उपदंशस्तृतीयायाम्" ३-४-४७ सूत्र से लेकर "अन्वच्यानुलोम्ये" ३-४-६४ सूत्र तक निर्दिष्ट तृतीयान्त उपपदों का क्त्वान्त अव्ययों के साथ समास नहीं होता । अतः अलं कृत्वा (निश्चय कर) में समास नहीं हुआ, क्यों कि इन दोनों उदाहरणों में 'अलं' और 'खलु' के योग में √कृ से क्त्वा प्रत्यय एवं सप्तम्यन्त पद से उपपद संज्ञा का निर्देश हुआ है ("अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" ३-४-१८) तथा यह सूत्र "तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्"—उसके मध्य स्थित नहीं है ।

विशेष—(१) समास-प्रकरणस्थ महा-विभाषा का अधिकार होते हुए भी प्रकृत सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' पद की उपयोगिता "नित्यं क्रीडाजीविकयोः" २-२-१७ सूत्र से आने वाली 'नित्य' पद की अनुवृत्ति को हटाने में चरितार्थ होती है ।

(२) यह प्राप्ताऽप्राप्त विभाषा का स्थल है । केवल अमन्त अव्ययों के सन्दर्भ में प्राप्त-विभाषा है, क्योंकि ऐसे स्थलों में "अमैवाव्ययेन" २-२-२० से नित्य समास प्राप्त था । अमन्त प्रत्यय के साथ दूसरे प्रत्यय का विधान होने वाले उपपद-संज्ञा के स्थलों में अप्राप्त-विभाषा है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर नित्य समास की प्राप्ति नहीं थी ।

(७८९) पद—क्त्वा, च । **अनुवृत्ति**—तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः । **नियम-(विकल्प)-सूत्र ।**

सह वा समस्यन्ते । उच्चैःकृत्य–उच्चैः कृत्वा । 'अव्ययेऽयथाभिप्रेत' (सू ३३८१) इति क्त्वा । तृतीयाप्रभृतीनीति किम् ? अलं कृत्वा, खलु कृत्वा । (७८६) तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सङ्ख्याव्ययादेः ५ । ४ । ८६ ॥ सङ्ख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य समा-

---

प्रथमा । टायां 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्ण' इति पूर्वसवर्णदीर्घं इत्यपरे । तदाह–**तृतीयेति** । ननु 'उपदंशस्तृतीयायाम्' इत्यतः प्रागेव समासकर्तृकयोरिति क्त्वाविधेः पाठात् कथमुच्चैः कृत्वेत्युदाहरणमित्यत आह—**अव्ययेऽयथेति** । 'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ' इति सूत्रेणेत्यर्थः । **अलं कृत्वेति** । 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इत्येतद् 'उपदंशस्तृतीयायाम्' इत्यतः पूर्वमेव पठितम् । अतः तद्विहितक्त्वो मान्तेन सह समासाभावात् न ल्यबिति भावः । **इत्युपपदसमासः** ।

(७८६) अथ तत्पुरुषेषु असाधारणसमासान्तान् वक्तुमुपक्रमते—**तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सङ्ख्याव्ययादेः** । 'अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्' इत्यतः अजित्यनुवर्तते, समासान्त इत्यधिकृतम् । तेन समासस्य अन्तावयव इति लभ्यते । प्रत्ययः परश्च इत्यधिकारात् अच्प्रत्ययस्य तत्पुरुषात् परत्वेऽपि तस्य तदवयवत्वात् अङ्गुलेरिति अवयवषष्ठी । अङ्गुलेरिति तत्पुरुषविशेषणं तदन्तविधिः । तदाह—**सङ्ख्याव्ययादेरिति** । सङ्ख्या च अव्ययं च

मूलार्थ—तृतीया प्रभृति उपपदों का क्त्वान्त के साथ विकल्प से समास होता है । उदा० उच्चैःकृत्य, उच्चैः कृत्वा । 'अव्ययेऽयथाभिप्रेत०" (सू० ३३७१) से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है । तृतीयाप्रभृतीनि क्यों कहा ? अलं कृत्वा, खलु कृत्वा (समास न हो) ।

विवरण—पूर्व सूत्र का क्षेत्र कुछ व्यापक बनाया जारहा है । अतः यहाँ "तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्" २-२-२१ की पूरी अनुवृत्ति अपेक्षित है । अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । प्रथमान्त 'क्त्वा' पद तृतीया के अर्थ का बोधक है । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "तृतीया-प्रभृति उपपदों का क्त्वा-प्रत्ययान्त पदों के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास हो" । **उदाहरण**—उच्चैःकृत्य–उच्चैःकृत्वा (ऊँचा करके) ? पूर्व सूत्रस्थ उदाहरण 'उच्चैः कृत्वा' में अमन्त न होने से समास प्राप्त नहीं था । प्रकृत सूत्र से—'क्त्वा' प्रत्यय के साथ भी विकल्प से समास-विधान करने का फल यह होता है कि 'उच्चैः कृत्वा' (उच्चैः √ कृ+क्त्वा) में समास होने पर "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" ७-१-३७ से क्त्वा = ल्यप् होकर > **'उच्चैःकृत्य'** रूप बनेगा । समास न होने पर—**उच्चैः कृत्वा** (क्त्वा के स्थान पर ल्यप् नहीं होगा) । 'णमुल्' प्रत्यय के विकल्प होने के कारण 'क्त्वा' प्रत्यय होता है । इसका विधायक-सूत्र है—"अव्ययेऽयथाभिप्रेत०" ३-४-५९ ।

विशेष—पूर्व सूत्र से केवल अमन्त में वैकल्पिक समास प्राप्त था, किन्तु यह सूत्र उसके अतिरिक्त 'क्त्वा' प्रत्यय में भी समास-विधान करने में चरितार्थ होता है ।

(७८६) पद—तत्पुरुषस्य, अङ्गुलेः, संख्याव्ययादेः । **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संख्यादि एवम् अव्ययादि अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष से समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है । उदा०—१-द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य > द्व्यङ्गुलम् । २–निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः > निरङ्गुलम् ।

विवरण—तत्पुरुष–समास-विधायक नियमों का निरूपण करने के उपरान्त प्रसङ्गवश तत्पुरुष समास के अङ्गभूत समासान्त प्रत्ययों का निर्वचन किया जा रहा है । उसका विधायक यह सूत्र है । प्रस्तुत समासान्त-प्रत्यय पाणिनि की अष्टाध्यायी में पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत हैं । पाँचवें

सान्तोऽच् । स्यात् । द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलं दारु । निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् । (७८७) अहस्सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च रात्रेः ५ । ४ । ८७ ॥ एभ्यो रात्रेरच्स्यात्, चात्सङ्ख्याव्ययादेः । 'अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्' (वा ३३५३) । अहश्च रात्रि-

---

सङ्ख्याव्यये ते आदी यस्येति विग्रहः । द्व्यङ्गुलमिति । 'तद्धितार्थं इति द्विगुः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः', 'प्रमाणे लः', 'द्विगोर्नित्यम्' इति लुक् । द्व्यङ्गुलिशब्दादचि तस्य तद्धितत्वात्तस्मिन् परे 'यस्येति च' इति इकारलोपः । निरङ्गुलमिति । 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः, अच्, इलोपः ।

(७८७) **अहस्सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च । एभ्यो रात्रेरिति ।** अहन्; सर्व, एकदेश, सङ्ख्यात, पुण्य एभ्यः परस्य रात्रिशब्दस्येत्यर्थः । अहन्नादिपूर्वपदकस्य रात्र्यन्तस्य तत्पुरुषस्येति यावत् । ननु अहरादिः रात्र्यन्तस्तत्पुरुषो नास्त्येव । अह्नो रात्रिरिति वा अहश्चासौ रात्रिश्चेति वा असम्भवादित्यत आह—**अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थमिति ।** न च ब्रह्मणो यदहः तस्यावयवभूता या मानुषी रात्रिरिति षष्ठीतत्पुरुषः सम्भवतीति वाच्यम्, अहर्ग्रहणं

अध्याय में प्रमुख रूप से तद्धित-प्रत्ययों का निर्वचन है । अतः प्रत्ययोपयोगी सभी अनुवृत्तियों का स्मरण कराना आवश्यक है । तदनुसार आधिकारिक अनुवृत्तियों में "तद्धिताः" ४-१-७६, "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" ४-१-१, "प्रत्ययः" ३-१-१, "परश्च" ३-१-२, तथा "समासान्ताः" ५-४-६८ सूत्रों का प्रभाव पूरे समासान्त प्रकरण में विद्यमान रहेगा । उसके साथ ही प्रकृत सूत्र से विहित 'अच्' प्रत्यय का लाभ भी अनुवृत्ति के द्वारा ही होता है । 'अच्' की अनुवृत्ति "अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः" ५-४-७५ से आ रही है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "संख्यावाची शब्द तथा अव्यय-वाची शब्दों की आदि में स्थिति रहने पर अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष-समास का अन्तावयव 'अच्' प्रत्यय हो" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) संख्यावाची शब्द आदि में रहने पर—द्व्यङ्गुलम् (दो अङ्गुल नाप की लकड़ी) । **लौकिक विग्रह**—द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य । **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, अङ्गुलि+औ > द्वि-अङ्गुलि ('तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" २-१-५१ से तद्धितार्थ प्रमाण में 'द्वि' का 'अङ्गुलि' के साथ समास, विभक्तिलोप) > द्वि-अङ्गुलि+मात्रच् ("संख्या पूर्वो द्विगुः" २-१-५२ से द्विगु संज्ञा, "प्रमाणे द्वयसच्०" ५-२-३७ से 'मात्रच्' प्रत्यय) > द्वि-अङ्गुलि ('मात्रच्' का लोप→ 'द्विगोर्नित्यम्' वा० ३-१-२९) > द्व्यङ्गुलि (इ+अ = य→यण्-सन्धि) > द्व्यङ्गुलि+अ ("तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः"–५-४-८६ से 'अच्' प्रत्यय) > द्व्यङ्गुल् +अ ('इ' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > द्व्यङ्गुल+सु (पुनः विभक्ति) > द्व्यङ्गुल+अम् (सु = अम्–"अतोऽम्" ७-१-२४) > **द्व्यङ्गुलम्** (अ+अम् = अम्, पूर्वरूप→ "अमि पूर्वः" ←६-१-१०७) । (२) अव्ययादि-अङ्गुल्यन्त शब्द—निरङ्गुलम् (अङ्गुलियों से बड़ी) । **लौकिक विग्रह** –निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः । **अलौकिक विग्रह**—निर+सु अङ्गुलि+भ्यस् > निर्–अङ्गुलि ('निर्' अव्यय का निर्गत अर्थ में 'अङ्गुलि' शब्द के साथ समास, विभक्तिलोप, 'निर्' का पूर्व निपात) > निरङ्गुलि+अ ('अच्' प्रत्यय-समासान्त) > निरङ्गुल ('इ' लोप) > निरङ्गुल+सु > निरङ्गुल+अम् > **निरङ्गुलम्** (पुनः विभक्ति–उत्पत्ति तथा तन्निमित्तक कार्य पूर्ववत्) ।

(७८७) **पद**—अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्यात्, च, रात्रेः । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषस्य, संख्याव्ययादेः, अच् , समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्–प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—इन से पर रात्रि-शब्दान्त तत्पुरुष समास से 'अच्' प्रत्यय हो । वा० अहन् शब्द का ग्रहण द्वन्द्व के लिये है । उदा०—१—अहः च रात्रिः च > अहोरात्रः । २—सर्वा रात्रिः

श्चाहोरात्रः। सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः। पूर्वं रात्रेः पूर्वरात्रः। सङ्ख्यातरात्रः। पुण्य-

---

द्वन्द्वार्थमिति भाष्यप्रामाण्येन एवञ्जातीयकतत्पुरुषस्य प्रयोगाभावोन्नयनात्। **अहोरात्र इति।** द्वन्द्वादच्, इलोपः, 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवत्त्वम्। 'स नपुंसकम्' इति बाधित्वा 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वम्। **सर्वा रात्रिः सर्वरात्र इति।** सर्वा रात्रिरिति विग्रहे 'पूर्वकालैक' इति कर्मधारयः। अच्, इकारलोपः। 'रात्राह्न' इति पुंस्त्वम्। 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पुंवत्त्वम्। एकदेशेत्यर्थग्रहणमित्यभिप्रेत्योदाहरति—**पूर्वमिति।** पूर्वं रात्रेरिति विग्रहे 'पूर्वापराधरोत्तरम्' इत्येकदेशिसमासः। अच्, इलोपः। 'रात्राह्ना' इति पुंस्त्वम्। **सङ्ख्यातरात्र इति।** सङ्ख्याता रात्रिरिति विग्रहे कर्मधारयः। 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवत्त्वम्। **पुण्यरात्र इति।** पुण्या रात्रिरिति विग्रहे कर्मधारयः। 'पुंवत्कर्मधारय'

> सर्वरात्रः। २—पूर्वं रात्रेः > पूर्वरात्रः। ४—संख्यातरात्रः ५—पुण्यरात्रः। ६—द्वयोः रात्र्योः समाहारः > द्विरात्रम्। ७—अतिक्रान्तः रात्रिम् > अतिरात्रः।

विवरण—रात्रि–शब्दान्त समस्त शब्दों के अवयवस्वरूप 'अच्' प्रत्यय का निर्वचन किया जा रहा है। रात्रि-शब्दान्त तत्पुरुष समास के आद्यवयव शब्दों के सम्बन्ध में निर्वचन करते हुए पाणिनि ने पूर्व सूत्र "तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः" ५-४-८६ से अनुवृत्त **संख्या** तथा **अव्ययादि** पदों का लाभ उठाया है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् हैं। इनके अतिरिक्त सूत्र में निर्दिष्ट अहन्, सर्व, एकदेश, संख्यात तथा पुण्य शब्दों से परवर्ती 'रात्रि' शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'अच्' प्रत्यय का विधान किया गया है"। 'अहन्' इत्यादि पाँच शब्दों में से 'अहन्' शब्द का 'रात्रि' शब्द के साथ तत्पुरुष समास नहीं मिलता। अतः उस सम्बन्ध में 'द्वन्द्व' समास लिया जाय। इसका सूचक **वार्तिक** यहाँ उद्धृत किया गया है कि "अहन् और रात्रि का द्वन्द्व समास ही अभीष्ट है।" इसके अतिरिक्त सूत्र में निर्दिष्ट 'एकदेश' शब्द 'एकदेश-वाची' शब्द का बोधक है। क्रमशः सूत्रोपात्त पदों के अनुसार उदाहरण दिये जा रहे हैं। १—अहोरात्रः (दिन-रात)। **लौकिक विग्रह**—अहश्च रात्रिश्च। **अलौकिक विग्रह**—अहन्+सु, रात्रि+सु > अहन्–रात्रि ("चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९ से द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप) > अहर्–रात्रि ('रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्' वा० से न् = रुत्व = र्) > अह-उ–रात्रि (र् = उ→ "हशि च" ६-१-११४) > अहो-रात्रि (गुण→अ+उ+ओ) > अहोरात्रि+अ (समासान्त 'अच्' प्रत्यय) > अहोरात्र ('इ' लोप) > अहोरात्र+सु (पुनः विभक्ति) > अहोरात्र+र् प्राप्त नपुंसकलिङ्ग → "स नपुंसकम्" २-४-१७ को बाध कर→ "रात्राह्नाहाः पुंसि" २-४-२९ पुंलिङ्ग ←स् = र्) > **अहोरात्रः** (र् = :)। (२) सर्वरात्रः (सारी रात)। **लौकिक विग्रह**—सर्वा रात्रिः। **अलौकिक विग्रह**—सर्वा+सु, रात्रि+सु > सर्वारात्रि ("पूर्वकालैक" सू० ७२६ से समास, विभक्तिलोप) > सर्व-रात्रि (सर्वा को पुंवद्भाव = 'सर्व' →वा० "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भावः") > सर्व-रात्रि+अ (प्रकृत सूत्र से 'अच्' प्रत्यय) > सर्वरात्र > सर्वरात्र+सु > सर्वरात्र + र् > **सर्वरात्रः** (टिलोप, पुंस्त्व, पुनः विभक्ति, तत्प्रयुक्त कार्य पूर्ववत्)। (३) पूर्वरात्रः (रात का पहला भाग)। **लौ० वि०**—पूर्वम् रात्रेः। **अलौकिक विग्रह**—पूर्व + सु, रात्रि + ङस् > पूर्वरात्रि ("पूर्वापराधरोत्तर०" ७१६ से एकदेशि-समास, विभक्तिलोप) > पूर्वरात्रि + अ (समासान्त 'अच्' प्रत्यय) > पूर्वरात्र ('इ' लोप) > पूर्वरात्र + सु > पूर्वरात्र + र् > **पूर्वरात्रः** (पुंस्त्व एवं विभक्ति-कार्य पूर्ववत्)। (४) संख्यातरात्रः (गिनी हुई रात)। **लौकिक विग्रह**—संख्याता रात्रिः। **अलौकिक विग्रह**—संख्याता+सु, रात्रि+सु > संख्याता–रात्रि

---

१. "अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थं द्रष्टव्ययम्। किमुच्यते द्वन्द्वार्थमिति? तत्पुरुषाभावात्। नहि रात्र्यन्तोऽहरादिस्तत्पुरुषोऽस्ति"।—महाभाष्यम्।

रात्रः। द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रम्। अतिक्रान्तो रात्रिमतिरात्रः। (७८८) राजाहस्सखिभ्यष्टच् ५।४।९१॥ एतदन्तात्तत्पुरुषाट्टच्स्यात्। परमराजः। अतिराजी।

इति पुंवत्त्वम्। अच्, इलोपः। 'रात्राह्न' इति पुंस्त्वम्। **द्विरात्रमिति**। 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः। सङ्ख्यादित्वादच्, इलोपः। 'सङ्ख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' इति नपुंसकत्वम्। **अतिरात्र इति**। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः। अव्ययादित्वादच्, 'इलोपः', 'रात्राह्न' इति पुंस्त्वम्।

(७८८) राजाहस्सखिभ्यष्टच्। 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' इत्यतः 'तत्पुरुषस्येत्यनुवृत्तं पञ्चमीबहुवचनत्वेन विपरिणतं राजाहस्सखिभ्य इत्यनेन विशेष्यते। तदन्तविधिः, तदाह—**एतदन्तादिति**। **परमराज इति**। परमश्चासौ राजा चेति विग्रहः। समासान्तष्टच्। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। **अतिराज इति**। अतिक्रान्तो राजानमिति विग्रहः। 'अत्यादयः' इति समासः। टचि टिलोपः। **कृष्णसख इति**। कृष्णस्य सखेति विग्रहः। समासान्तष्टच्। 'यस्येति च' इति इकारलोपः।

(कर्मधारय समास—"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" सू० ७३६, विभक्तिलोप) ▷ संख्यात-रात्रि (पुंवद्भाव—"पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" ६-३-४२) > संख्यातरात्रि+अ ('अच्' प्रत्यय) > संख्यातरात्र ('इ' का लोप) > संख्यातरात्र+सु ▷**संख्यातरात्रः** (पुंस्त्व, पुनः विभक्ति-कार्य पूर्ववत)। (६) पुण्यरात्रः (पवित्र रात)। **लौकिक विग्रह**—पुण्या रात्रिः। **अलौकिक विग्रह**—पुण्या+सु, रात्रि+सु>पुण्या-रात्रि (समास—"विशेषणं विशेष्येण०" सू० ७३६, विभक्ति-लोप) > पुण्यरात्रि > पुण्यरात्र+अ ▷पुण्यरात्र ▷पुण्यरात्र+सु > **पुण्यरात्रः** (पुंवद्भाव, समासान्त 'अच्' प्रत्यय, 'इ' लोप, पुंस्त्व तथा पुनः विभक्ति-कार्य पूर्ववत)। संख्यापूर्वक 'रात्रि' का उदाहरण—(६) द्विरात्रम् (दो रात)। **लौकिक विग्रह**—द्वयोः रात्र्योः समाहारः। **अलौकिक विग्रह**—द्वि+ओस्, रात्रि+ओस् ▷द्वि-रात्रि ('द्वि' का 'रात्रि' के साथ समास—"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च"—सू० ७२८, विभक्ति-लोप) > द्विरात्रि + अ (समासान्त 'अच्' प्रत्यय)>द्विरात्र ('इ' का लोप) >द्विरात्र+सु (विभक्ति) ▷द्विरात्र+अम् ('संख्या-पूर्वं रात्रेः क्लीबम्' वा०—से नपुंसक लिङ्ग होने के कारण सु = अम्) > **द्विरात्रम्** (पूर्वरूप)। (६) अव्ययपूर्वक रात्र्यन्त शब्द—अतिरात्रः (जिसने रात बिता दी हो)। **लौकिक विग्रह**—अतिक्रान्तः रात्रिम्। **अलौकिक विग्रह**—अति+सु, रात्रि+अम् > अतिरात्र ('अति' का रात्रि के साथ समास—"अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" वा०, विभक्ति-लोप) ▷ अतिरात्रि+अ ('अच्' प्रत्यय) > अतिरात्र ('इ'—लोप) > अतिरात्र+सु (पुनः विभक्ति, पुंस्त्व—"रात्राह्नाहाः पुंसि" २-४-२९) ▷**अतिरात्रः** (स् = र् = ः)।

(७८८) पद—राजाहःसखिभ्यः, टच्। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तत्पुरुष में इन शब्दों के अन्त में रहने पर 'टच्' प्रत्यय होता है। उदा०—१—परमराजः। २—अतिराजी।

विवरण—उपर्युक्त छह अनुवृत्तियों में सूत्रार्थ के स्पष्टीकरण हेतु "तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०" ५-४-८६ से 'तत्पुरुषस्य' की अनुवृत्ति उल्लेखनीय है। षष्ठ्यन्त-'तत्पुरुषस्य' पद पञ्चमी बहुवचन में विपरिणत हो 'राजाहःसखिभ्यः' का विशेषण बनता है। विशेषण-वाची 'राजाहःसखिभ्यः' में तदन्त-विधि होती है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "यदि तत्पुरुष के अन्त में राजन्, अहन् तथा सखि शब्द हों तो उससे समासान्त 'टच्' (अ) प्रत्यय होता है"। उदाहरण (१) परमराजः (श्रेष्ठ राजा)। **लौकिक विग्रह**—परमश्च असौ राजा च। **लौकिक विग्रह**—परम+

कृष्णसखः। (७८९) अह्नष्टखोरेव ६।४।१४५ ॥ एतयोरेव परतोऽह्नष्टिलोपः स्यात्, नान्यत्र। उत्तमाहः। द्वे अहनी भृतो द्व्यहीनः क्रतुः। तद्धितार्थे द्विगुः। 'तमधीष्टः—'

---

(७८९) **अह्नष्टखोः।** शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**टिलोपः स्यादिति।** टेरित्यनुवर्तते, 'अल्लोपोऽनः' इत्यस्मात् लोप इति चेति भावः। 'नस्तद्धिते' इत्येव सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—**नान्यत्रेति।** एवकारस्तु अह्न एव टखोरिति विपरीतनियमव्यावृत्त्यर्थः। टखोरेवेति किम्? अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम्, 'कालाट्ठञ्' इत्यधिकारे 'तेन निर्वृत्तम्' इति ठञ्। टिलोपाभावादल्लोपः। टप्रत्यये उदाहरति—**उत्तमाह इति।** उत्तमं च तदहश्चेति विशेषणसमासः। 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति टच् 'अह्नष्टखोरेव' इति प्रकृतसूत्रेण टिलोपः 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वम्। खे उदाहरति—**द्वे अहनी भृत इति।** अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। भृतः परिक्रीत इत्यर्थः। द्व्यहीन इत्यत्र प्रक्रियां दर्शयति—**तद्धितार्थे द्विगुरिति।** कोऽत्र तद्धित इत्यत आह—**तमधीष्ट इत्यादि।** तथा च

सु, राजन्+सु > परमराजन् (कर्मधारय समास—"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७, विभक्तिलोप) > परमराजन् + अ (प्रकृत सूत्र से 'टच्' प्रत्यय) > परमराज्+अ (टि=अन्–लोप "नस्तद्धिते" ६७९)। (२) अतिराजी (राजा से बढ़कर श्रेष्ठ रानी)। **लौकिक विग्रह**—राजानम् अतिक्रान्ता। **अलौकिक विग्रह**—अति+सु, राजन्+अम् > अतिराजन् (समास—"अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया"–वा०, विभक्तिलोप) > अतिराजन् +अ ('टच्') > अतिराज्+अ ('टि'–लोप–"नस्तद्धिते" ६७९) > अतिराज+ई (स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्'–"टिड्ढाणञ्०" ४-१-१५ 'टच्' के टित् होने के कारण) > अतिराज्+ई ('अ'–कार–लोप—"यस्येति च" ६-४-११८) > अतिराजी+सु > अतिराजी (पुनः विभक्ति तथा उसका लोप)। (३) कृष्णसखः (कृष्ण का मित्र)। **लौकिक विग्रह**—कृष्णस्य सखा। **अलौकिक विग्रह**—कृष्ण+ङस्, सखि+सु > कृष्णसखि ("षष्ठी" २-२-८ से समास) > कृष्णसखि+अ ('सखि'–शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय) > कृष्णसख ('इ'–लोप) > कृष्णसख+सु > कृष्णसख+र् > कृष्णसखः (पुनः विभक्ति, स् = र् = :)।

(७८९) **पद**—अह्नः, टखोः, एव। **अनुवृत्ति**—तद्धिते, टेर्लोपः, भस्य, अङ्गस्य। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—इनके ('ट' तथा 'ख') परे रहते 'अहन्' का 'टि'लोप होता है, अन्यत्र नहीं। उदा० उत्तमाहः। द्वे अहनी भृतो द्व्यहीनः क्रतुः। तद्धितार्थ में द्विगु समास। 'तमधीष्टः' १७४४ इस अधिकार में 'द्विगोर्वा' की अनुवृत्ति होने पर 'रात्र्यहःसंवत्सराच्च' १७५१ से 'ख' प्रत्यय (हुआ है)। मद्राणां राज्ञी > मद्रराज्ञी में 'लिङ्गविशिष्ट परिभाषा' की अनित्यता से नहीं हुआ।

विवरण—"राजाहःसखिभ्यष्टच्" ५-४-९१ सूत्रस्थ 'अहन्' शब्द के सन्दर्भ में प्रसङ्ग-वश अन्य कार्यों का निर्वचन किया जारहा है। इस प्रसङ्ग में 'अहन्' शब्द के 'टि'—लोप की सीमा निर्धारित की जारही है। इस सूत्र के पूर्व तद्धित में सामान्यतः नकारान्त शब्दों के टि–लोप का निरूपण किया गया है। अतः "नस्तद्धिते" ६-४-१४४ सूत्र से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके साथ ही "टेः" ६-४-१४३ सूत्र की अनुवृत्ति, "अल्लोपोऽनः" ६-४-१३४ सूत्र से 'लोपः' तथा आधिकारिक अनुवृत्तियों में "भस्य" ६-४-१२९ एवं "अङ्गस्य" ६-४-१ का प्रभाव भी विद्यमान है। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि 'ट' तथा 'ख' प्रत्ययों के परवर्ती होने पर ही 'अहन्'–अङ्ग की 'टि' का लोप होता है—अन्यत्र नहीं"। **उदाहरण**—(१) उत्तमाहः (उत्तम

(सू १७४४) इत्यधिकारे 'द्विगोर्वा' इत्यनुवृत्तौ 'रात्र्यहस्संवत्सराच्च' (सू १७५१) इति खः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वान्नेह । मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी । (७९०)

द्व्यहन्शब्दात् खस्य ईनादेशे 'अह्नष्टखोरेव' इति टिलोपे द्व्यहीन इति रूपमित्यर्थः । नन्वत्र 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' इत्यह्नादेशः कुतो न स्यात् । न च खे टिलोपविधिसामर्थ्यान्नाह्नादेश इति वाच्यम् । अहीन इत्यत्र खे टिलोपविधेः चरितार्थत्वात् इति चेत्, न— समासान्ते पर एवाह्नादेशविधानात् । प्रकृते तु समासान्तविधेरनित्यत्वात् 'राजाहस्सखिभ्यः' इति न टच् । यद्यपि उत्तमाह इत्यत्र द्व्यहीन इत्यत्र च 'नस्तद्धिते' इत्येव टिलोपः सिद्धः । तथापि आह्निकमित्यादावावश्यकस्य नियमविधेर्विधिमुखेनापि प्रवृत्त्यभ्युपगमादिह तदुपन्यासः । ननु मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञीत्यत्रापि लिङ्गविशिष्टपरिभाषया 'राजाहस्सखिभ्यः' इति टच् स्यादित्याशङ्क्याह—लिङ्गेति । अनित्यत्वादिति । समासान्तप्रकरणे लिङ्गविशिष्टपरिभाषा नेति 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यत्र भाष्ये उक्तत्वादिति भावः । मद्रराज्ञीति । न च टचि सत्यपि 'यस्येति च' इतीकारलोपे मद्रराजशब्दात् टित्वात्

दिन)। लौकिक विग्रह—उत्तमं च तदहश्च । अलौकिक विग्रह—उत्तम+सु, अहन्+सु < उत्तम-अहन् ("विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" सू० ७३६ से समास, विभक्तिलोप) > उत्तमाहन् +अ (सवर्ण दीर्घ; टच् → "राजाहःसखिभ्यष्टच्"—सू० ७८८) > उत्तमाह्+अ (टि—लोप) > उत्तमाह+सु (पुनः विभक्ति) > उत्तमाहः (विभक्ति-कार्य→स् = र् = :) । (२) द्व्यहीनः (दो दिन में सम्पन्न होने वाला) । लौकिक विग्रह—द्वे अहनी (भृतः) । अलौकिक विग्रह— द्वि+औ, अहन्+औ > द्वि-अहन् (समास—"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" सू० ७२८) > द्व्यहन्+ख ('यण्' तथा "तमधीष्टो भृतो भूतो भावी" ५-१-८० अधिकार के अन्तर्गत "द्विगोर्वा" ५-१-८६ की अनुवृत्ति किये जाने पर "रात्र्यहःसंवत्सराच्च" ५-१-८७ से तद्धित— 'ख' प्रत्यय) > द्व्यहन् +ईन्—अ (ख् = ईन्—"आयनेयीनियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" ७-१-२) > द्व्यह्+ईन्—अ ('टि' = अन्—लोप—"अह्नष्टखोरेव" ६-४-१४५) > द्व्यहीन+ सु > द्व्यहीनः (विभक्ति-कार्य पूर्ववत्) ।

शङ्का-समाधान—मद्राणां राज्ञी (मद्र देश की रानी) > मद्रराज्ञी के औचित्य बताने हेतु "प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्" परिभाषा की अनित्यता का प्रतिपादन किया जारहा है। शङ्का यह उपस्थित होती है कि "राजाहःसखिभ्यष्टच्" ५-४-९१ सूत्र में पठित 'राजन्' शब्द से स्त्री-प्रत्ययान्त 'राज्ञी' शब्द का भी ग्रहण हो सकता है। उसकी विधायिका उपर्युक्त परिभाषा है। तदनुसार मद्रराज्ञी+टच् इस स्थिति में "भस्याढे तद्धिते" वार्तिक से पुंवद्-भाव होने पर > मद्रराजन् +टच् > तदनन्तर टिलोप होने से मद्रराज्+अ > तत्पश्चात् 'ङीप्' (ई) होने पर प्रथमा के एक-वचन में > 'मद्रराजी' रूप होना चाहिये। इस शंका का निवारण करने के लिये ही समासान्त विधि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया है[1]। इसके प्रमाण-स्वरूप 'शक्ति-लाङ्गूला-ङ्कुश-तोमर-यष्टि-घट-घटीधनुष्षु ग्रहेरुपसंख्यानम्'

---

१. पूर्वं तावत् "ङ्याप्प्रातिकात्" ४-१-१ सूत्रे भाष्यकारेण लिङ्गविशिष्टपरिभाषायाः प्रयोजनानि दर्शयता अस्याः समासान्तविधावस्वीकारे 'समासान्तेषु च अतिप्रसङ्गो भवति' इति कथितम् । तथा हि मद्रराज्ञीत्यत्र ईकारान्तात् टचः प्रसक्त्या पुंवद्भाव-टिलोपयोः प्राप्तिसंभवेन मद्रराजीत्य-निष्टरूपापत्तिरपि दर्शिता । अनया रीत्या दोषाणां साकल्येन परिगणनं कृतम् । तस्मात् अस्याः परिभाषायाः अनिवार्यत्वं नैव स्वीकृतम् भाष्यकारेण । आवश्यकस्थलेषु एषा स्वीकरणीया । अन्ते "प्रतिविधेयं च दोषेषु" इति कथयता अरुचिः प्रदर्शिता । विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः ।

अह्नोऽह्न एतेभ्यः ५ । ४ । ८८ ॥ सर्वादिभ्यः परस्याहन्शब्दस्याह्नादेशः स्यात् समासान्ते परे । (७९१) अह्नोऽदन्तात् ८ । ४ । ७ ॥ अदन्तपूर्वपदस्थाद्रेफात्परस्याऽह्ना-

---

ङीपि मद्राराज्ञीति निर्बाधमिति वाच्यम्, टचि हि सति 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवत्त्वे टिलोपे मद्राराजी इति स्यादिति भावः ।

(७९०) **अह्नोऽह्न एतेभ्यः** । पूर्वसूत्रे अहस्सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्यशब्दा निर्दिष्टाः । तत्र चकारेण सङ्ख्याव्यये अनुकृष्टे । अहश्शब्दवर्जं ते सर्वे एतच्छब्देन परामृश्यन्ते, न त्वहश्शब्दः, अहश्शब्दात् परस्य अहन्शब्दस्य तत्पुरुषे असम्भवादित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—**सर्वादिभ्य इति । समासान्ते पर इति** । एतत्तु प्रकरणाल्लब्धम् ।

(७९१) **अह्नोऽदन्तात्** । 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इत्यतः पूर्वपदादित्यनुवृत्तम् । अदन्ता-

---

वार्तिक प्रस्तुत किया जाता है । इस वार्तिक में 'घट' तथा 'घटी' दोनों शब्दों का उल्लेख होने से लिङ्गविशिष्ट-परिभाषा की अनित्यता सूचित होती है । अन्यथा 'घटी' शब्द का पृथक् उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं रही, 'घट' से ही 'घटी' का बोध उक्त परिभाषा से सम्भव रहा ।

(७६०) पद—अह्नः, अह्नः, एतेभ्यः । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषस्य, संख्याव्ययादेः, सर्वैकदेशपुण्यात, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—समासान्त परे रहते सर्वादि से परे अहन् शब्द को 'अह्न' आदेश होता है ।

विवरण—'अहन्' शब्द के स्थान पर 'अह्न' आदेश का विधान किया जारहा है[1] । सूत्रस्थ पूर्व 'अह्नः' पद षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त है । अतः वह स्थानी है । आदेश है—'अह्नः' । यह प्रथमा—विभक्ति में प्रयुक्त है । स्थानी और आदेश की प्रसक्ति कब हो ? इसके लिये पूर्व दो सूत्रों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः "अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच रात्रेः" ५-४-८७ से 'सर्वैकदेशसंख्यातपुण्यात्' तथा "तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः" ५-४-८६ से 'तत्पुरुषस्य' तथा 'संख्याव्ययादेः' की अनुवृत्तियाँ भी चली आरही हैं । इनके अतिरिक्त ऊपर उल्लिखित आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव भी विद्यमान है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "सर्व, एकदेश, संख्यात, पुण्य, एवं संख्यावाचक और अव्यय शब्दों से परे तत्पुरुष समास में 'अहन्' शब्द के स्थान पर समसान्त 'अह्न' आदेश होता है" । अनेक-वर्णात्मक होने के कारण आदेश की व्याप्ति सम्पूर्ण 'अहन्' शब्द के स्थान पर होगी → "अनेकाल्शित् सर्वस्य" १-१-५५ ।

विशेष—सामर्थ्यवश 'अहन्' शब्द से परे 'अहन्' शब्द की स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों शब्द समानार्थक हैं । पुण्य शब्द से उत्तर 'अहन्' शब्द के उदाहरण को भी आगे "उत्तमैकाभ्यां च" ५-४-९० सूत्र में प्रतिषेध करेंगे । अतः उसका उदाहरण भी नहीं बन सकता । तथा 'अहन्' से परे 'अहन्' का उदाहरण नहीं बन सकता ।

(७६१) पद—अह्नः, अदन्तात् । **अनुवृत्ति**—पूर्वपदात, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

---

१. भाष्यकार ने इस सूत्र को दूसरे रूप में स्वीकार किया है । उन्होंने "अह्न एतेभ्यः" इस रूप में सूत्र को पढ़कर 'अच्' प्रत्यय-विधान में इसकी सार्थकता मानी है । कारण यह है कि 'टच्' तथा 'अच्' में अनुबन्धों को हटाने पर केवल 'अ' ही बचता है । रात्रि तथा अहन्–शब्दान्त शब्दों में स्त्री-प्रत्ययों की प्राप्ति न होने से 'ट' तथा 'अच्' में कोई वैषम्य नहीं हो सकता । 'पूर्वाह्ण' आदि शब्दों की सिद्धि भी बिना 'अह्न' आदेश के सम्भव है, क्योंकि 'ट' तथा 'ख' में ही टिलोप है, अतः 'अच्' प्रत्यय में (पूर्व+अहन्+अच्) केवल 'अ' लोप हो जायगा— "अह्नोऽह्नवचनानर्थक्यं चाहष्टखोर्नियमवचनात्" ।

देशस्य नस्य णः स्यात् । सर्वाह्णः । पूर्वाह्णः । सङ्ख्याताह्नः । द्वयोरह्नोर्भवः । 'कालाट्ठञ्' (सू १३८१) । 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (सू १०८०) इति ठञो लुक् । द्व्यह्नः ।

दित्यत्रान्वेति । 'रषाभ्यां नो णः' इति सूत्रं षकारवर्जमनुवर्तते । पूर्वपदादित्यनेन पूर्वपदस्थादिति विवक्षितम् । तदाह—**अदन्तपूर्वेति** । तदन्तविधिनैव सिद्धे अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम् । लक्षेषु अहस्सु भवो लक्षाह्ण इत्यत्र णत्वार्थं षादित्यपि बोध्यम् । समासान्ते पर इति किम् ? द्वे अहनी भृतो द्व्यहीनः । अत्र समासान्तविधेरनित्यत्वात् टजभावे अह्नादेशो न । **सर्वाह्ण इति** । सर्वमहरिति विग्रहे 'पूर्वकाल' इति समासे 'राजाहस्सखिभ्यः' इति टच्, अह्नादेशः, णत्वं, 'रात्राह्नाहाः' इति पुंस्त्वम् । **पूर्वाह्ण इति** । समासादि सर्वाह्णवत् । **संख्याताह्न इति** । संख्यातमहरिति विग्रहः । विशेषणसमासः, टच्, अह्नादेशः । निमित्ताभावान्न णत्वम् । पुण्यपूर्वस्य त्वग्रे वक्ष्यते । संख्यापूर्वस्य उदाहरति—**द्वयोरह्नोरित्यादि** । **द्व्यह्न इति** । तद्धितार्थे द्विगुः । टच् । ततो भवार्थे ठञ्, तस्य लुक्, अह्नादेशः । प्रसङ्गादाह—**स्त्रियामिति** । **द्व्यह्नेति** । द्वयोरह्नोर्भवेत्यर्थः । ठञ् लुक् च पूर्ववत् । 'अपरिमाणबिस्त' इति न ङीप् । ठञ्निमित्तस्तु ङीप् नेत्यपरिमाणबिस्तेत्यत्रोक्तम् । टचष्टित्वेऽप्युपसर्जनत्वात् 'ठिड्ढ' इति न ङीप् । वस्तुतस्तु स्त्रीत्वमेवात्र नास्ति । 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इत्युक्तेरिति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् । सङ्ख्यापूर्वस्योदाहरणान्तरमाह—**द्व्यह्नप्रिय इति** ।

मूलार्थ—अकारान्तपूर्वपदस्थ रेफ से परवर्ती अह्नादेशसम्बन्धी 'न' को 'ण' होता है। **उदाहरण**—१–सर्वाह्णः । २–पूर्वाह्णः । ३–संख्याताह्नः । ४–द्वयोरह्नोभवः द्व्यह्नः→ 'कालाट्ठञ्' सू० १३८१ से 'ठञ्' तथा 'द्विगोर्लुगनपत्ये' सू० १०८० से उसका लोप हुआ । स्त्री–लिङ्ग में ह्रस्व अकारान्त होने से 'टाप्' होकर—द्व्यह्ना । द्व्यह्नप्रियः । अत्यह्नः ।

विवरण—समासान्त 'टच्' प्रत्यय का निरूपण करने के प्रसङ्ग में 'अहन्' शब्द के सन्दर्भ में प्राप्त णत्व-विधान की चर्चा की जा रही है । तदनुसार यह सूत्र णत्व-प्रकरण से सम्बद्ध है । अतः तदुपयोगी अनुवृत्तियों का अनुसन्धान करना होगा । इस हेतु "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८-४-१), "अट्कुप्वाङ्नुम् व्यवायेऽपि" (८-४-२)–ये दोनों सम्पूर्ण सूत्र एवं "पूर्वपदात् संज्ञायाम् अगः" (८-४-३) से 'पूर्वपदात्' तथा आधिकारिक "तयोर्य्वावचि संहितायाम्" (८-२-१०८) से 'संहितायाम्' की अनुवृत्ति आती हैं । अनुवृत्त 'पूर्वपदात्' पद का साहचर्य सूत्रस्थ 'अदन्तात्' के साथ होता है, क्योंकि दोनों समान विभक्तिक हैं । इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "ह्रस्व–अकारान्त पूर्व पद में स्थित रेफ से उत्तरवर्ती 'अह्न' सम्बन्धी नकार के स्थान पर णकार आदेश होता है" । **उदाहरण**—(१) सर्वाह्णः (पूरा दिन) । **लौकिक विग्रह**—सर्वम् अहः । **अलौकिक विग्रह**—सर्व+सु, अहन्+सु >सर्व–अहन् ("पूर्वकालैकदेश०" सू० ७२६ से समास, विभक्ति–लोप) > सर्व–अहन्+अ ('टच्'–"राजाहः-सखिभ्यष्टच्" ७८८) > सर्व–अह्न+अ ("अह्नोऽह्न एतेभ्यः" ७९० से अहन्=अह्न) > सर्वाह्न+अ (अ+अ=आ–सवर्ण दीर्घ) > सर्वाह्ण+अ ("अह्नोऽदन्तात्=न्=ण्") > सर्वाह्ण्+अ > ('अ'–लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > सर्वाह्ण+सु> (विभक्ति) सर्वाह्ण+र् (स्=र्) >**सर्वाह्णः** (र् = :) । यहाँ पर "रात्राह्नाहाः पुंसि" २-४-२९ से पुंलिङ्ग प्रयोग हुआ है । (२) पूर्वाह्णः (दिन का पहला भाग) । **लौकिक विग्रह**—पूर्वम् अहः । **अलौकिक विग्रह**—पूर्व+सु, अहन्+सु > पूर्व–अहन् ("पूर्वापराधरोत्तर०"–७१२ से समास, विभक्तिलोप) > पूर्व–अहन्+अ (टच्) > पूर्व–अह्न+अ (अहन्=अह्न) > पूर्वाह्न+अ (दीर्घ) > पूर्वाह्ण+अ (णत्व) > पूर्वाह्ण्+अ ('अ' लोप) > पूर्वाह्ण+सु (पुनः विभक्ति) > **पूर्वाह्णः** (रेफ, विसर्ग) । (३) संख्याताह्नः

स्त्रियामदन्तत्वाट्टाप्। द्व्यह्ना। द्व्यह्नप्रियः। अत्यह्नः। (७९२) क्षुम्नादिषु च

द्वे अहनी प्रिये यस्येति विग्रहः। तद्धितार्थेत्युत्तरपदे द्विगुः। टच् अह्नादेश इति भावः। अव्ययपूर्वस्योदाहरति—अत्यह्न इति। अहरतिक्रान्त इति विग्रहः। अत्यादय इति समासः। टच् अह्नादेश इति भावः।

(गिना हुआ दिन)। **लौकिक विग्रह**—संख्यातम् अहः। **अलौकिक विग्रह**—संख्यात+सु, अहन्+सु > संख्यात-अहन्। (समास—"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" ७३६, विभक्ति-लोप) > संख्यात-अहन्+अ (टच्) > संख्यात-अह्न+अ (अहन्=अह्न) > संख्याताह्न+अ (दीर्घ) > संख्याताह्न (अ-लोप) > संख्याताह्न+सु > **संख्याताह्नः** (विभक्तिकार्य)। रेफ से पर न होने के कारण 'न' को 'ण' प्राप्त नहीं है। (४) द्व्यह्नः (दो दिन में होने वाला कार्य)। **लौकिक विग्रह**—द्वयोः अह्नोः भवः। **अलौकिक विग्रह**—द्वि+ओस्, अहन्+ओस् > द्वि-अहन् (समास—"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" ७५८, विभक्ति-लोप) > द्वि-अहन्+ठञ् ("संख्यापूर्वो द्विगुः" ७३० से द्विगु संज्ञा, "कालाट्ठञ्" ४-३-११ से 'ठञ्') > द्वि-अहन् ('ठञ्'-लोप—"द्विगोर्लुगनपत्ये" ४-१-८८) > द्वि-अहन्+अ (टच्) > द्वि-अह्न+अ (अहन् = अह्न) > द्व्यह्न+अ (यण्) > द्व्यह्न ('अ'-लोप) > द्व्यह्नः (विभक्ति-कार्य→ सु = र् = :)। द्व्यह्ना (दो दिन में होने वाली क्रिया)। **लौकिक विग्रह**—द्वयोः अह्नोः भवा। 'द्व्यह्न' शब्द की पूर्ववत् सिद्धि करने के पश्चात् "अजाद्यतष्टाप्" ४-१-४ > द्व्यह्न+आ > द्व्यह्ना (दीर्घ) > द्व्यह्ना+सु > **द्व्यह्ना** (विभक्ति-लोप) निष्पन्न होगा।

शङ्का-समाधान—(१) यहाँ पर तत्पुरुष-समास में "रात्राह्नाहाः पुंसि" २-४-२९ के नियमानुसार स्त्री-लिङ्ग नहीं होना चाहिये, तथापि 'सर्वाह्नः' आदि में चरितार्थ वह वचन लुप्त-तद्धित-स्थल में प्रवृत्त नहीं होता। इसमें "लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने" १-२-५१ का लिङ्गातिदेश प्रमाणभूत माना गया है। (२) यहाँ दूसरी शङ्का यह उपस्थित होती है कि 'द्व्यह्ना' में भवार्थक 'ठञ्' प्रत्यय हुआ है, अतः "टिड्ढाणञ्०" ४-१-१५ सूत्र से 'ङीप्' क्यों न हो? उत्तर—लोप होने के कारण उसकी प्राप्ति नहीं। पुनः शङ्का—प्रत्यय-लक्षण से तो 'ङीप्' की सम्भावना हो सकती है? उत्तर—वर्ण को निमित्त मानकर होने वाले कार्य में प्रत्यय-लक्षण नहीं होता 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्', क्योंकि 'ठञ्' के अकार को मान कर 'ङीप्' की प्राप्ति होती है। पुनः शङ्का—'टच्' प्रत्यय तो 'टित्' है अतः तदन्त को अभिलक्षित कर पुनरपि "टिड्ढाणञ्"० ४-१-१५ सूत्र से ङीप् क्यों नहीं? उत्तर—'टच्' प्रत्यय समासान्त होने से तदन्त शब्द तद्धितार्थ के प्रति उपसर्जन (गौण) हो जाता है, अतः 'ङीप्' नहीं, क्योंकि "टिड्ढाणञ्०" ४-१-१५ में "अनुपसर्जनात्" ४-१-१४ अधिकार का प्रभाव विद्यमान है[1]।

संख्यावाचक-पूर्व-अहन् का उदाहरण—(५) द्व्यह्नप्रियः (जिसे दो दिन में होनेवाला कार्य प्रिय हो)। **लौकिक विग्रह**—द्वे अहनी प्रिये यस्य। **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, प्रिय+औ > द्वि-अहन्-प्रिय (समास—"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" ७२८, विभक्तिलोप) > द्वि-अहन्-अ-प्रिय ('टच्'—"राजाहःसखिभ्यष्टच्" ७८८) > द्वि-अह्न-अ-प्रिय (अहन् = अह्न→"अह्नोऽह्न एतेभ्यः" ७९०) > द्वि-अह्न्-अ-प्रिय (अ-लोप) > द्व्यह्नप्रिय (इ+अ=य-यण्) > द्व्यह्न-प्रिय+सु > **द्व्यह्नप्रियः** (विभक्ति कार्य—स्=र्=:)। (६) अव्ययपूर्वपदक-अहन्-शब्द का उदा-

---

१. 'न च इह ठञन्तत्वात् ङीप् स्यादिति शङ्क्यम्, ठञो लुप्तत्वात्तस्या अप्रवृत्तेः। न च प्रत्ययलक्षणम्, वर्णाश्रयत्वात्। ठञो यः अकारः तदन्तात् ङीप् इति व्याख्यातत्वात्। न चैवमपि टजन्तत्वात् ङीप् स्यादेवेति वाच्यम्, टचः समासान्ततया तदन्तस्य तद्धितार्थं प्रति उपसर्जनत्वात्'। अत एव आपिशलिना प्रोक्तमधीयाना ब्राह्मणी आपिशलेत्युदाहृतं भाष्ये।

८।४।३९॥ एषु णत्वं न स्यात्। दीर्घाह्नी प्रावृट्। एवं चैतदर्थमह्न इत्यदन्तानुकरणक्लेशो न कर्तव्यः। 'प्रातिपदिकान्त—' (सू १०५५) इति णत्ववारणाय

---

(७९२) क्षुभ्नादिषु च। रषाभ्यामित्यतो ण इति 'न माभूपूकमि' इत्यवो नेति चानुवर्तते। तदाह—एष्विति। दीर्घाह्नी प्रावृडिति। वर्षर्तौ प्रावृट्शब्दः स्त्रीलिङ्गः। 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः' इत्यमरः। दीर्घाण्यहानि यस्मिन्निति बहुव्रीहिः। 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति ङीप् 'अल्लोपोऽनः' इत्युपधालोपः। 'अह्नोऽदन्तात्' इति णत्वं तु क्षुभ्नादित्वान्नेति भावः। ननु क्षुभ्नादिषु दीर्घाह्नीत्यस्य पाठो व्यर्थः 'अह्नो ऽदन्तात्' इत्यत्र हि अह्न इत्यदन्तात् षष्ठ्यर्थे प्रथमा। अदन्तपूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य अह्नशब्दस्य नस्य णत्वं स्यादिति तदर्थः। दीर्घाह्नीत्यत्र च अह्नादेशस्याप्रसक्त्या अदन्तत्वाभावादेव णत्वस्याप्राप्तौ किं तन्निवृत्त्यर्थेन क्षुभ्नादिपाठेनेत्यत आह—एवञ्चेति। एवं

हरण–अत्यहः (एक दिन से अधिक)। **लौकिक विग्रह**—अतिक्रान्तः अहः। **अलौकिक विग्रह**—अति+सु, अहन्+सु > अति–अहन् (समास–'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' वा०, विभक्ति-लोप) > अति-अहन्+अ (टच्) > अति-अह+अ (अहन्=अह) > अत्यह्+अ (यण्) > अत्यह्+अ (अ–लोप) > अत्यह+सु (विभक्ति, पुंस्त्व) > **अत्यहः** (स् = र् = :)।

(७९२) **पद**—क्षुभ्नादिषु, च। **अनुवृत्ति**—न, अट्कुप्वाङ्नुम्-व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्। **विधि-(निषेध)-सूत्र**।

मूलार्थ—इनमें णत्व न हो। उदा० दीर्घाह्नी प्रावृट्। इस प्रकार इसके लिये 'अह्नः' में ह्रस्व अकारान्त का अनुकरण करने का क्लेश न किया जाय। यहाँ तो 'प्रातिपदिकान्त' (१०५५) सूत्र से प्राप्त णत्व का निवारण करने के लिये क्षुभ्नादिगण में (दीर्घाह्न) पाठ समावेश आवश्यक है। 'अदन्तात्' में (अत्) तपरकरण से पराह्नः (परागतम् अहः) में णत्व नहीं हुआ।

विवरण—'अहन्' शब्द के प्रसङ्ग में प्राप्त णत्व का निषेध बताया जा रहा है। अष्टाध्यायी-क्रम में अष्टमाध्याय का आरम्भिक सूत्र "रषाभ्यां नो णः समानपदे" ८-४-१ णत्व-विधान का मूल सूत्र है। इसका ही पूरक "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" ८-४-२ तथा अन्य कई सूत्र हैं। इन सूत्रों पर आधारित कुछ प्रयोगों में णत्व की समीचीनता नहीं मानी गई। अतः उनका समायोजन करने के लिये "क्षुभ्नादिगणपठित शब्दों में नकार के स्थान पर णत्व का निषेध किया जा रहा है"। इस प्रकार निषेध के लिये "नभाभूपूकमि०" ८-४-३४ से 'न' की अनुवृत्ति आई है। **उदाहरण**—दीर्घाह्नी प्रावृट् (बड़े दिनों वाली वर्षा ऋतु)। **लौकिक विग्रह**—दीर्घाणि अहानि यस्याम्। **अलौकिक विग्रह**—दीर्घ+जस्, अहन्+जस् > दीर्घ–अहन् ("अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ →बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप) > दीर्घाहन् (अ+अ = आ → सवर्ण दीर्घ ← "अकः सवर्णे दीर्घः" ६-१-१०१) > दीर्घाहन्+ई ("अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्" ४-१-२८ से ङीप् > दीर्घाह्+ई ('अन्' के अकार का लोप "अल्लोपोऽनः" ६-४-१३४) > दीर्घाह्नी+सु > **दीर्घाह्नी** (विभक्ति तथा उसका लोप—"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्"० ६-१-६८)। यहाँ 'दीर्घाह्नी' में "अह्नोऽदन्तात्" (७६१) से 'न्' को 'ण्' प्राप्त रहा, किन्तु "क्षुभ्नादिषु च" ८-४-३९ से उसका निषेध किया गया। तत्पुरुष समास न होने से 'दीर्घाह्नी' में 'टच्' नहीं होता।

विशेष—(क) कुछ प्राचीन वृत्तिकारों ने क्षुभ्नादिगण में 'दीर्घाह्नी' शब्द की गणना नहीं की है। वे 'दीर्घाह्नी' में प्राप्त णत्व-निवारण के लिये "अह्नोऽदन्तात्" ८-४-७ सूत्र में 'अह्नः' पद को 'अहन्' शब्द की षष्ठी विभक्ति न मान कर 'अह्न' शब्द की प्रथमा विभक्ति का रूप 'अह्नः' मानते हैं। तदनुसार "अह्नोऽदन्तात्" ८-४-७ सूत्र का अर्थ यह होगा कि "अकारान्त-पूर्वपदस्थ रेफ से

क्षुभ्नादिषु पाठस्यावश्यकत्वात्। अदन्तादिति तपरकरणान्नेह—परागतमहः पराह्णः।
(७९३) न सङ्ख्यादेः समाहारे ५।४।८९॥ समाहारे वर्तमानस्य सङ्ख्यादेर-

---

सति दीर्घाह्णीशब्दस्य क्षुभ्नादिपाठे सति, एतदर्थम् 'अह्नोऽदन्तात्' इति णत्वनिवृत्त्यर्थम्, अह्न इत्यस्य अदन्तत्वानुसरणं षष्ठ्यर्थे व्यत्ययेन प्रथमानुसरणं क्लेशावहं न कर्तव्यमित्यर्थः। क्षुभ्नादिपाठादेव णत्वनिवृत्तिसिद्धेरिति भावः। ननु दीर्घाह्णीत्यस्य णत्वाभावाय किं क्षुभ्नादिपाठोऽभ्युपगम्यताम् उत अह्न इत्यस्य अदन्तत्वमित्यत्र विनिगमनाविरह इत्यत आह—**प्रातिपदिकान्तेति।** अथ 'अह्नोऽदन्तात्' इत्यत्र पूर्वपदविशेषणे अदन्तादिति तपरत्वस्य प्रयोजनमाह—**अदन्तादिति। पराह्ण इति।** 'प्रादयो गताद्यर्थे' इति समासः, टच्, अव्ययात्परत्वादह्नादेशः। परेति पूर्वपदस्यादन्तत्वाभावात् न णत्वमिति भावः।

(७९३) न सङ्ख्यादेः समाहारे। अह्नादेश इति। 'अह्नोऽह्नः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। ननु संख्यादिभिन्नस्य तत्पुरुषस्य समाहारे अभावादेव सिद्धे संख्यादेरिति

परवर्ती अकारान्त 'अह्न' के 'न्' को 'ण्' होता है"। 'दीर्घाह्णी' में मूल रूप में नकारान्त 'अहन्' शब्द है (दीर्घाणि अहानि यस्याम्)। अनन्तर 'अह्न' आदेश हुआ है। अतः अकारान्त 'अह्न' न होने से "अह्नोऽदन्तात्"—७९१ की प्राप्ति ही नहीं है, अतः उसके निषेध का उपाय क्यों किया जाय?

भट्टोजी दीक्षित उपर्युक्त विचार से सहमत नहीं हैं। वे उपर्युक्त 'अह्न'-सम्बन्धी अकारान्त कल्पना को क्लिष्ट मानते हैं। उनके मत में 'अह्नः' पद 'अहन्' शब्द की षष्ठी का रूप ही है। तदनुसार 'दीर्घाह्णी' में प्राप्त णत्व के निवारण के लिये क्षुभ्नादिगण में गणना करना उचित है।

इस सम्बन्ध में उन्होंने एक और कारण बताया है। वह यह है कि 'दीर्घाह्णी' में "प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिषु च" ८-४-११ से वैकल्पिक णत्व प्राप्त है। उसके निवारणार्थ और कोई उपाय नहीं है। अतः क्षुभ्नादि-गण में 'दीर्घाह्णी' के पाठ की कल्पना आकृतिगण होने के कारण करनी ही पड़ेगी। 'अह्नः' को षष्ठ्यर्थक प्रथमा की कल्पना करने पर भी "अह्नोऽदन्तात्"—७९१ से णत्व की प्राप्ति न भी हो, तो भी "प्रातिपदिकान्त०" ८-४-११ से प्राप्त वैकल्पिक णत्व को रोकने का कोई उपाय तो करना ही होगा। अतः क्षुभ्नादिगण में 'दीर्घाह्णी' की गणना करने में लाघव है।

(ख) इसके अतिरिक्त भाष्यकार[1] के मत को उद्धृत करते हुए नागेश ने 'लघुशब्देन्दुशेखर' में "अह्नोऽदन्तात्"—७९१ सूत्र में षष्ठी के स्थान पर व्यत्यय से प्रथमा विभक्ति की कल्पना करने पर "प्रातिपदिकान्त०" ८-४-११ सूत्र से वैकल्पिक णत्व के निवारणार्थ युवादि-गण में 'दीर्घाह्णी' का पाठ करने पर यह दोष हटाया है, क्योंकि 'युवादिगण' को 'क्षुभ्नादि' के अन्तर्गत माना गया है।

(२) "अह्नोऽदन्तात्"—७९१ सूत्र में 'अत्' में तपरकरण से ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होता है। इसके फलस्वरूप जहाँ पूर्वपद आकारान्त होगा, वहाँ 'अह्न' के 'न्' को 'ण्' नहीं होता। उदाहरणार्थ 'पराह्णः' में 'परा' के आकार के अनन्तर नकार होने से 'ण' नहीं होता। यद्यपि यहाँ पूर्वपदस्थ आकारान्त उपसर्ग 'परा' में णत्व का निमित्त रेफ विद्यमान है, तो भी वह दीर्घ-अकार है, अतः 'ण' नहीं हुआ।

(७९३) पद—न, संख्यादेः, समाहारे। **अनुवृत्ति**—अह्नोऽह्नः, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधि**—(निषेध)—सूत्र।

---

१ "अदन्तादन्तस्येति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—दीर्घाह्णी शरदिति। तत्तर्हि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। नैषा अह्न-शब्दात् षष्ठी। का तर्हि? अह्नशब्दात् प्रथमा। पूर्वसूत्रनिर्देशश्च। अथवा युवादिषु पाठः करिष्यते"। महाभाष्यम्—८-४-७।

ह्लादेशो न स्यात्। सङ्ख्यादेः इति स्पष्टार्थम्। द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः। त्र्यहः।
(७९४) उत्तमैकाभ्यां च ५।४।९०॥ आभ्यामह्लादेशो न। उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः पुण्यशब्दमाह। 'पुण्यैकाभ्याम्' इत्येव सूत्रयितुमुचितम्। पुण्याहम्। सुदिनाहम्। सुदिन-

---

व्यर्थमित्यत आह—**स्पष्टार्थमिति**। **द्व्यह इति**। समाहारे द्विगुः। टच्, 'रात्राह्न' इति पुंस्त्वम्। सङ्ख्यात्वात्प्राप्तस्य अह्लादेशस्य निषेधः। **त्र्यह इति**। त्रयाणामह्नां समाहार इति विग्रहः। समासादि द्व्यहवत्।

(७९४) उत्तमैकाभ्यां च। ननु उत्तमशब्दात् परस्याहन्शब्दस्य अह्लादेशाप्रसक्ते-रुत्तमग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—**उत्तमशब्द इति**। उत्तमशब्दः अन्त्ये वर्तते। यथा द्वादशाहे 'उदयनीयातिरात्र उत्तममहः' इति अन्त्यमिति गम्यते। 'अहस्सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्या' दित्युपात्तेषु अन्त्यः पुण्यशब्दो विवक्षित इत्यर्थः। तर्हि पुण्यैकाभ्याम् इत्येव कुतो न

मूलार्थ—समाहार में वर्तमान संख्यादि से परे 'अहन्' को 'अह्न' आदेश न हो। (यहाँ) 'संख्यादेः' (पद) स्पष्टार्थ है। **उदाहरण**—१–द्वयोः अह्नोः समाहारः > द्व्यहः। २–त्र्यहः।

विवरण—अष्टाध्यायी-क्रम में पूर्व सूत्र "अह्नोऽह्न एतेभ्यः" ५-४-८८ से प्राप्त 'अहन्' शब्द के स्थान पर 'अह्न' आदेश का यह सूत्र निषेध करता है। निषेध-सूचक 'न' शब्द की आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिए "अह्नोऽह्न एतेभ्यः" ५-४-८८ से 'अह्नोऽह्नः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। अन्य उल्लिखित अनुवृत्तियाँ "अह्नोऽह्न एतेभ्यः" ५-४-८८ के समान यहाँ भी विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "समाहारार्थक तत्पुरुष समास में संख्यादि से परे 'अहन्' शब्द को 'अह्न' आदेश न हो"। संख्यापूर्व-अहन् का **उदाहरण**—(६) क–द्व्यहः (दो दिन)। **लौकिक विग्रह**—द्वयोः अह्नोः समाहारः। **अलौकिक विग्रह**—द्वि+ओस्, अहन्+ओस् > द्वि–अहन् ("तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" ७२८ से समास, विभक्तिलोप) > द्वि–अहन्+अ ('टच्', तदनन्तर प्राप्त 'अह्न' आदेश का प्रकृत सूत्र से निषेध) > द्वि–अह्+अ ('टि' लोप–"अह्नष्टखोरेव" ६-४-१४५) ▷ द्व्यह (यण्) ▷ द्व्यह+सु (पुनः विभक्ति) ▷ द्व्यहः (स = र् = :)। (६) ख–त्र्यहः (तीन दिन)। **लौकिक विग्रह**—त्रयाणाम् अह्नाम् समाहारः। **अलौकिक विग्रह**—त्रि+आम्, अहन्+आम् ▷ त्रि–अहन् > त्रि–अहन् +अ > त्रि–अह ▷ त्र्यह ▷ त्र्यह+सु > त्र्यहः। प्रक्रिया पूर्ववत् (द्व्यहः के समान)।

विशेष—सूत्र में 'संख्यादेः' पद के न रहने पर भी कोई दोष नहीं रहा। कारण यह है कि समाहार में संख्यादि से भिन्न तत्पुरुष का समास होता ही नहीं। केवल 'न समाहारे' कहने से ही सूत्र में उपात्त 'अहन्' शब्द के स्थान पर 'अह्न' आदेश का निषेध हो जाता। अतः 'संख्यादेः' पद केवल स्पष्टार्थक है।

(७९४) पद—उत्तमैकाभ्यां, च। **अनुवृत्ति**—न, अह्नोऽह्नः, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधि-(निषेध)-सूत्र**।

मूलार्थ—इन दोनों से पर ('अहन्' को) 'अह्न' आदेश न हो। उत्तम शब्द अन्त्यार्थक है। 'अन्त्य' शब्द पुण्यवाची है। 'पुण्यैकाभ्याम्' सूत्र-पाठ उचित था। उदा० १–पुण्याहम् २–सुदिनाहम्। सुदिन शब्द प्रशस्तवाचक है। ३–एकाहः। कुछ वैयाकरणों के मत में 'उत्तम' पद उपान्त्य का भी संग्राहक है। ४–संख्याताहः।

विवरण—प्रकृत सूत्र भी अहन् के स्थान पर 'अह्न' आदेश का निषेध करता है। अतः पूर्व सूत्र "न संख्यादेः समाहारे" ५-४-८९ से 'न' तथा "अह्नोऽह्न एतेभ्यः" ५-४-८८ से 'अह्नोऽह्नः' की अनुवृत्तियाँ प्रमुख रूप में अपेक्षित हैं। शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ तथा 'तत्पुरुषस्य' भी (पूर्व सूत्र के अनुसार) प्रभावी हैं। सूत्र में दो शब्द विद्यमान हैं—'उत्तम' तथा 'एक'। 'उत्तमैकाभ्याम्'

शब्दः प्रशस्तवाची । एकाहः । 'उत्तमग्रहणमुपान्त्यस्यापि सङ्ग्रहार्थम्' इत्येके । सङ्ख्या-

---

सूचितमित्याशङ्क्य स्वतन्त्रेच्छत्वान्महर्षेरित्याह—पुण्यैकाभ्यामित्येवेति । पुण्याहमिति । पुण्यमहरिति विग्रहे विशेषणसमासः, टच्, टिलोपः, 'पुण्यसुदिनाभ्यां च' इति नपुंसकत्वम् । **एकाह इति** । एकमहरिति विग्रहे 'पूर्वकाल' इति समासः । टच्, टिलोपः । उपान्त्यस्यापीति । लक्षणयेति शेषः । पुण्येत्यनुक्त्वा उत्तमग्रहणमेव लक्षणाबीजम्, उत्तमे च एकं चेति द्वन्द्वः, सौत्रं द्विवचनमिति भावः । **सङ्ख्याताह इति** । सङ्ख्यातमहरिति विग्रहे विशेषणसमासः, टच्, टिलोपः । 'रात्राह्नाहा' इति पुंस्त्वम् । उपान्त्यसङ्ख्यातशब्दपूर्वं-त्वात् नाह्नादेशः ।

पञ्चमी विभक्ति में प्रयुक्त है । अतः "तस्मादित्युत्तरस्य" १-१-६७ परिभाषा की उपस्थिति से 'पर-वर्ती' अर्थ लब्ध होगा । तदनुसार 'उत्तम' और 'एक' शब्दों से परवर्ती 'अहन्' शब्द को तत्पुरुष समास में 'अह्न' आदेश नहीं होगा । **उदाहरण** –(१) पुण्याहम् (पवित्र दिन) । **लौकिक विग्रह**—पुण्यम् अहः । **अलौकिक विग्रह**—पुण्य+सु, अहन्+सु > पुण्य–अहन् (समास–"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" ७३६, विभक्ति-लोप) > पुण्य–अहन्+अ ('टच्', तदनन्तर प्राप्त 'अह्न' आदेश का इस सूत्र से निषेध) > पुण्याहन्+अ (अ+अ=आ–सवर्ण दीर्घ) > पुण्याह्+अ ('टि'='अन्'–लोप) > पुण्याह+सु (पुनः विभक्ति) > पुण्याह+अम् ("रात्राह्नाहाः पुंसि" २-४-२९ से प्राप्त पुंलिङ्ग का निषेध–'पुण्य–सुदिनाभ्यां च' वा०, इसलिये नपु० लिङ्ग होने से सु=अम्–"अतोऽम्" ७-१-२४) > **पुण्याहम्** (पूर्वरूप) । (२) सुदिनाहम् (अच्छा दिन) । **लौकिक विग्रह**—सुदिनम् अहः । **अलौकिक विग्रह**—सुदिन+सु, अहन्+सु > सुदिन+अहन् (समास एवं विभक्तिलोप) > सुदिन+अहन्+अ (टच्) > सुदिन–अह्+अ (टिलोप) > सुदिनाह (दीर्घ) > सुदिनाह+सु (पुनः विभक्ति) > सुदिनाह+अम् (प्राप्त पुंलिङ्ग का 'पुण्यसुदिनाभ्यां च' वा० से निषेध, अतः नपुंसक लिङ्ग में सु=अम्) > **सुदिनाहम्** (पूर्वरूप) । (३) एकाहः (एक दिन) । **लौकिक विग्रह**—एकम् अहः । **अलौकिक विग्रह**—एक+सु, अहन्+सु > एक–अहन् (समास–"पूर्वकालैक०" ७२६ तथा विभक्ति-लोप) > एक–अहन्+अ ('टच्') > एक–अह्+अ (टि-लोप) > एकाह (दीर्घ) > एकाह+सु (पुंलिङ्ग विभक्ति—"रात्राह्नाहाः पुंसि" २-४-२९) > **एकाहः** (स् = र् = :) । यहाँ पर भी प्राप्त 'अह्न' आदेश का निषेध प्रकृत–सूत्र से हुआ है । (४) संख्याताहः (गिना हुआ दिन) । **लौकिक विग्रह**—संख्यातम् अहः । **अलौकिक विग्रह**—संख्यात+सु, अहन्+सु > संख्यात–अहन् (समास—"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" ७३६, विभक्तिलोप) > संख्यात–अहन्+अ ('टच्') > संख्यात–अह्+अ (टि–लोप) > संख्याताह (सवर्णदीर्घ) > संख्याताह+सु > **संख्याताहः** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'पुण्य' शब्द अन्त्यार्थक है । इस अर्थ की कल्पना में "अहःसर्वैकदेश-संख्यातपुण्याच्च रात्रेः" ५-४-८७ सूत्र में 'पुण्य' शब्द का सर्वान्त प्रयोग करना माना गया है । अच्छा तो यह होता कि सूत्र को "उत्तमैकाभ्यां" के स्थान पर "पुण्यैकाभ्यां च" ५-४-८० पढ़ा गया होता । किन्तु ऐसा न करके अन्त्यवाची उत्तम शब्द का प्रयोग करने से यह अभि-व्यञ्जित होता है कि 'उत्तम' शब्द अन्त्य के अतिरिक्त 'उपान्त्य' का भी बोधक है । इसमें प्रमाण स्वरूप "अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः" (५-४-८७) सूत्र में प्रयुक्त अन्तिम 'पुण्य' शब्द से पूर्व (उपान्त्य) 'संख्यात' शब्द का प्रयोग माना गया है । इस कारण **संख्याताहः** में 'अहन्'

ताहः। (७९५) अग्राख्यायामुरसः ५।४।९३॥ टच्स्यात्। अश्वानामुर इव अश्वोरसम्। मुख्योऽश्व इत्यर्थः। (७९६) अनोऽश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः ५।४।९४॥ टच्स्याज्जातौ संज्ञायां च। उपानसम्, अमृताश्मः, कालायसम्, मण्डूकसरसम् इति

---

(७९५) अग्राख्यायामुरसः। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**टच् स्यादिति।** पञ्चम्यर्थे सप्तमी। अग्रं प्रधानं तद्वाची य उरश्शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यादित्यर्थः। 'अग्रचाख्यायाम्' इति पाठान्तरम्। अग्रे भवमग्र्यं, मुख्यमिति यावत्। **अश्वानामुर इवेति।** उरो यथा प्रधानं तथेत्यर्थः। उरश्शब्दस्य मुख्ये वृत्तौ लक्षणाबीजमिदम्। **अश्वोरसमिति।** उरश्शब्देन मुख्यवाचिना षष्ठीसमासः, टच्, 'परवल्लिङ्गम्' इति नपुंसकत्वम्। अग्राख्यायामिति किम्? देवदत्तस्योरः देवदत्तोरः।

(७९६) अनोऽश्मायस्। **उपानसमिति।** उपगतमन इति प्रादिसमासः। **अमृताश्म इति।** अमृतः अश्मेति विग्रहः। टचि टिलोपः। **कालायसमिति।** कालम् अय इति विग्रहः,

---

से पूर्व 'संख्यात' का प्रयोग होने के कारण "अह्नोऽह्न एतेभ्यः" ७९० से प्राप्त 'अह्नन्' के स्थान पर 'अह्न' आदेश का "उत्तमैकाभ्यां च" (५-४-९०) से निषेध हो जाता है।

(७९५) पद—अग्राख्यायाम्, उरसः। **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—(अग्र अर्थ में उरस् शब्द से) 'टच्' हो। उदा० अश्वानाम् उरः इव > अश्वोरसम्। इसका अर्थ मुख्य अश्व है।

विवरण—समासान्त 'टच्' का ही प्रकरण चल रहा है। अतः 'टच्' की प्रमुख अनुवृत्ति "राजाहःसखिभ्यष्टच्" (५-४-९१) से चली आ रही है। शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ सूत्र ७८८ के समान समझें। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "अग्र (मुख्य) अर्थ में वर्तमान 'उरस्'-शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय हो"। जैसे शरीर के अवयवों में 'उरस्' (छाती) प्रमुख अङ्ग है, उसी प्रकार जो अन्य सजातीयों में प्रधान हो उसे भी 'उरस्' कहा जाता है। **उदाहरण**—अश्वोरसम् (मुख्य घोड़ा)। **लौकिक विग्रह**—अश्वानाम् उरः (इव)। **अलौकिक विग्रह**—अश्व+आम्, उरस्+सु > अश्व-उरस् (समास-"षष्ठी"-७०९, विभक्तिलोप) > अश्व-उरस्+अ ('टच्-"अग्राख्यायाम् उरसः"-५-४-९३) > अश्वोरस्+अ (गुण) > अश्वोरस +सु (पुनः विभक्ति) > **अश्वोरसम्** (सु = अम्, अ+अम् = पूर्वरूप)।

(७९६) पद—अनोऽश्मायस्सरसां, जातिसंज्ञयोः। **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—जाति और संख्या अर्थ में (इनसे) 'टच्' हो। **उदाहरण**—१–उपानसम्। २–अमृताश्मः। ३–कालायसम्। ४–मण्डूकसरसम्। (ये सब) जाति के उदाहरण हैं। ५–महानसम्, ६–पिण्डाश्मः। ७–लोहितायसम्। ८–जलसरसम्। (ये सब) संज्ञा के उदाहरण हैं।

विवरण—समासान्त 'टच्' प्रत्यय का ही प्रसङ्ग है। सभी अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र (७९५) के समान प्रभावी हैं। 'टच्' प्रत्यय की प्रकृति के सन्दर्भ में सूत्र में अनस्, अश्मन्, अयस् तथा सरस्-शब्दों का उल्लेख है। तदनुसार "सूत्र में उल्लिखित जाति और संज्ञा के बोधक-चारों शब्दों—से तत्पुरुष में समासान्त 'टच्' प्रत्यय होगा"। सर्वप्रथम जाति के बोधक क्रमशः चारों उदाहरण दिये जा रहे हैं—(१) उपानसम् (छकड़े जैसा)। **लौकिक विग्रह**—उपगतम् अनः। **अलौकिक विग्रह**—उप+सु, अनस्+सु > उप-अनस् (प्रादि समास-"कुगतिप्रादयः" २-२-१८, विभक्तिलोप, 'उप' का पूर्वनिपात) > उपानस्+अ (सवर्णदीर्घ तथा 'टच्'—७९६

जातिः । महानसम्, पिण्डाश्मः, लोहितायसम्, जलसरसम् इति संज्ञा । (७९७) ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ५ । ४ । ९५ ॥ ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः । साधारण इत्यर्थः ।

टच्, 'परवल्लिङ्गम्' इति नपुंसकत्वम् । **मण्डूकसरसमिति** । षष्ठीसमासः । टच् । जातिविशेषा एते । महानसं, पिण्डाश्मः, लोहितायसं, जलसरसमिति संज्ञाविशेषाः ।

(७९७) **ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः** । **आभ्यां टजिति** । ग्रामकौटाभ्यां परो यस्तक्षन्शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यादित्यर्थः । **ग्रामतक्ष इति** । टचि टिलोपः । **साधारण इति** । ग्रामे यावन्तो जनाः सन्ति तावतां विधेय इत्यर्थः । **कुट्यां भव इति** । कुटीमेकां

सू०) >उपानस+सु>उपानस+अम् (सु = अम्)>**उपानसम्** (विभक्ति-कार्य—सु = अम्, पूर्वरूप) । (२) अमृताश्मः (चमकीला पत्थर) **विग्रह**— अमृतः अश्मा । **अलौकिक विग्रह**— अमृत+सु, अश्मन्+सु > अमृत–अश्मन् (समास—"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्", विभक्तिलोपादि) > अमृताश्मन् (दीर्घ) > अमृताश्मन्+अ (टच्) > अमृताश्म ('टि' लोप) > **अमृताश्मः** (विभक्ति-स् = र् = :) । (३) कालायसम् (लोहा) । **लौकिक विग्रह**— कालं च तद् अयश्च । **अलौकिक विग्रह**—काल+सु, अयस्+सु > काल+अयस् ("विशेषणं विशेष्येण०" २-१-५६← समास) > कालायस् > (दीर्घ) कालायस् + अ (टच्) > कालायस+सु > **कालायसम्** (सु = अम् तथा पूर्वरूप) । (४) मण्डूकसरसम् (मेंढकों का तालाब) । **विग्रह**—मण्डूकस्य सरः । **अलौकिक विग्रह**—मण्डूक+ङस्, सरस्+सु > मण्डूकसरस् (षष्ठी-समास) > मण्डूक-सरस्+अ (टच्),> मण्डूकसरस+सुँ (विभक्ति) > **मण्डूकसरसम्** (नपुंसकलिङ्ग विभक्तिकार्य) । संज्ञा शब्दों के क्रमशः उदाहरण—(१) महानसम् (रसोई) । **लौकिक विग्रह**—महत् च तत् अनः । **अलौकिक विग्रह**—महत्+सु, अनस्+सु > महत्–अनस् (समास–"सन्महत्-परमोत्तम०" २-१-६०), मह–आ, अनस् (त् = आ– "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" ६-३-४६) > महा+अनस् (दीर्घ) > महानस्+अ (टच्) > महानस+सु > **महानसम्** (विभक्तिकार्य–अम् तथा पूर्वरूप) । (२) पिण्डाश्मः (लोहे का पत्थर) । **विग्रह**—पिण्डस्य अश्मा > **पिण्डाश्मः** (षष्ठी–समास, टच् , टिलोप, विभक्ति कार्य आदि पूर्ववत्) । (३) लोहितायसम् (ताँबा) । **विग्रह**—लोहितम् अयः > **लोहितायसम्** (कर्मधारय समास, टच् , विभक्ति-कार्य आदि पूर्ववत्) । (४) जलसरसम् (प्रभूत जलवाला तालाब) । **विग्रह**—जलस्य सरः > **जलसरसम्** (षष्ठी-समास, टच् , विभक्तिकार्यादि पूर्ववत्) ।

विशेष—१—'उपानसम्' आदि शब्द रूढ हैं, अतः तदनुसार व्युत्पत्ति की कल्पना की गई है[1] ।

(२) उपर्युक्त आठों शब्दों में "परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः" २-४-२६ से उत्तर-पदवाची शब्द के समान लिङ्ग का प्रयोग हुआ हैं ।

(७९७) पद—ग्रामकौटाभ्यां, च, तक्ष्णः । **अनुवृत्ति**—टच् , तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० ग्रामस्य तक्षा > ग्रामतक्षः—अर्थात् गाँव का मामूली बढ़ई । कुट्यां भवः > कौटः–अर्थात् स्वतन्त्र । स चासौ तक्षा च—कौटतक्षः—अर्थात् अपनी कुटी पर ही काम करने वाला बढ़ई ।

---

१. रूढानां शब्दानां यथाकथञ्चिद् व्युत्पादनं कर्तव्यम् इत्ययमेवार्थः स्वीकार्यः ।—ल० श० शे० टीका—भैरवी ।

कुट्यां भवः कौटः—स्वतन्त्रः। स चासौ तक्षा च कौटतक्षः। (७९८) अतेः शुनः ५।४।९६॥ अतिश्वो वराहः। अतिश्वी सेवा। (७९९) उपमानादप्राणिषु ५।४।९७॥ अप्राणिविषयकोपमानवाचिनः शुनष्टच्स्यात्। आकर्षः श्वेवाकर्षश्वः।

क्रयादिना सम्पाद्य तत्र यो वसति, न तु परकीयभूमिप्रदेशे, स कौट इत्यर्थः। फलित-माह—**स्वतन्त्र इति। कौटतक्ष इति।** टचि टिलोपः।

(७९८) **अतेश्शुनः।** अतीत्यव्ययात् परो यः श्वन्शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टजित्यर्थः। **अतिश्व इति।** श्वानमतिक्रान्त इति विग्रहः। 'अत्यादय' इति समासः। टचि टिलोपः। श्वापेक्षयाधिकवेगवान् वराह इत्यर्थः। **अतिश्वी सेवेति।** श्वानमतिक्रान्तेत्यर्थः, श्वापेक्षया नीचा सेवेति यावत्, टच्, टिलोपः। टित्त्वात् ङीप्, यस्येति चेत्यकारलोपः।

(७९९) **उपमानादप्राणिषु। आकर्षः श्वेवेति।** आकृष्यते कुसूलादिगतधान्यमनेने-

---

विवरण—'टच्' का ही प्रकरण है। पूर्व सूत्र के समान सब अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार " 'ग्राम' तथा 'कौट' शब्दों से परवर्ती जो 'तक्षन्' शब्द–तदन्त तत्पुरुष से भी समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) ग्रामतक्षः (गाँव का बढ़ई)। **विग्रह**—ग्रामस्य तक्षा। ग्राम+ङस्, तक्षन्+सु > ग्रामतक्षन् (षष्ठी–समास) > ग्रामतक्षन् + अ (टच्) ▷ ग्रामतक्ष ('टि' लोप) ▷ **ग्रामतक्षः** (पुंलिङ्ग में विभक्तिकार्य–स् = र् = :)। (२) कौटतक्षः (अपनी दूकान पर बैठकर काम करने वाला बढ़ई)। **विग्रह**—कौटश्चासौ तक्षा च। **अलौकिक विग्रह**—कौट+सु, तक्षन्+सु > कौटतक्षन् ("विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५७–समास) > कौटतक्षन् +अ (टच्) > कौटतक्ष (टिलोप) ▷ **कौटतक्षः** (विभक्ति-कार्य)। 'कौट' शब्द की निष्पत्ति—कुटी+अण् > कुटी+अ (भवार्थक 'अण्' प्रत्यय तथा आदि वृद्धि) > **कौट** ('ई' का लोप)।

(७९८) **पद**—अतेः, शुनः। **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० अतिश्वः अर्थात् वराह। अतिश्वी–अर्थात् (-नीच कोटि की) सेवा।

विवरण—उल्लिखित सभी अनुवृत्तियों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। समासान्त 'टच्' प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि " 'अति' शब्द से उत्तरवर्ती 'श्वन्' शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—(१) अतिश्वः (सूअर)। **लौकिक विग्रह**—श्वानम् अतिक्रान्तः। **अलौकिक विग्रह**—अति+सु, श्वन्+अम् ▷ अति-श्वन् ("अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया"—वा० से समास, विभक्तिलोप) > अतिश्वन् + अ (टच्) ▷ अतिश्व्+अ (टि–लोप-"नस्तद्धिते" ६-४-१४४) > **अतिश्वः** (विभक्तिकार्य–स् = र् = :)। (२) अतिश्वी (नीच सेवा)। स्त्री-लिङ्ग में अतिश्व+ई (ङीप् ←'टच्' में 'ट्'–इत् होने के कारण→ "टिड्ढाणञ्०" ४-१-१५) > अतिश्वी (अकार-लोप-"यस्येति च" ६-४-१४८) > अतिश्वी+सु ▷ **अतिश्वी** (विभक्तिलोप)। **विग्रह**—श्वानम् अतिक्रान्ता—कुत्ते से भी अधम–सेवा। कुत्ता तो स्वतन्त्र विचरण भी कर सकता है किन्तु चाटुकार सेवक तो उससे भी वञ्चित है।

(७९९) **पद**—उपमानात्, अप्राणिषु। **अनुवृत्ति**—शुनः, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

अप्राणिषु किम् ? वानरः श्वेव वानरश्वा । (८००) उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः ५ । ४ । ९८ ॥ चादुपमानात् । उत्तरसक्थम् । मृगसक्थम् । पूर्वसक्थम् । फलकमिव

त्याकर्षः । पञ्चाङ्गुलो दारुविशेषः । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः । टच्, टिलोपः, आकर्षश्वः इति रूपम् । उपमानात् किम् ? शुनो निष्क्रान्तः निश्श्वा ।

(८००) उत्तरमृग । उत्तर, मृग, पूर्व एभ्यः उपमानाच्च परो यः सक्थिशब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यादित्यर्थः । उत्तरसक्थमिति । उत्तरं सक्थीति विग्रहः । पूर्वं

मूलार्थ—अप्राणिविषयक उपमानवाची 'श्वन्' शब्द से 'टच्' प्रत्यय होता है । उदा० आकर्षः श्वा इव > आकर्षश्वः । अप्राणिषु क्यों कहा ? वानरः श्वा इव—वानरश्वा ('टच्' नहीं हुआ) ।

विवरण—पूर्व सूत्र "अतेः शुनः" (५-४-९६) से 'शुनः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । अन्य अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । 'शुनः' पञ्चमी विभक्ति में होने के कारण "तस्मादुत्तरस्य" परिभाषा के सहकार से 'श्वन्' शब्द से अव्यवहित उत्तरवर्ती समासान्त प्रत्यय होगा । वह भी प्राणिभिन्न उपमानवाची होना चाहिये । (अर्थात् कुत्ते की आकृति के समान पाँच उँगली लम्बी लकड़ी से बनाया हुआ अपेक्षित है ।) **उदा०**—आकर्षश्वः (खलिहान में धान्य आदि खींचने के लिये कुत्ते की तरह लकड़ी का बना काठ) । **लौकिक विग्रह**—आकर्षः श्वा इव । **अलौकिक विग्रह**—आकष+सु, श्वन्+सु > आकर्ष–श्वन् ("उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यवचनैः"–७३५ से समास, विभक्तिलोप) > आकर्ष–श्वन् + अ ('टच्') > आकर्षश्व (टि-लोप– "नस्तद्धिते" ६-४-१४४) > **आकर्षश्वः** (पुनः विभक्तिकार्य पूर्ववत्) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अप्राणिषु' पद के न रहने पर वानरः श्वा इव > वानरश्वा (कुत्ते के समान बन्दर) में भी 'टच्' प्रत्यय होने लगेगा, वह न हो—अतः 'अप्राणिषु' पद का निवेश किया गया । वानरश्वा में 'श्वन्' प्राणिवाचक है, अतः टच् नहीं हुआ । समास होने के पश्चात् उपधा-दीर्घ, विभक्ति-लोप तथा नकार-लोप होते हैं ।

(८००) पद—उत्तरमृगपूर्वात् , च, सक्थ्नः । **अनुवृत्ति**—उपमानात् , टच् , तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'च' से उपमान अपेक्षित है । उदा० १–उत्तरसक्थम् । २–मृगसक्थम् । ३–फलकमिव सक्थि>फलकसक्थम् ।

विवरण—प्रकरण 'टच्' का ही है । उसकी अनुवृत्ति के अतिरिक्त दूसरा उपयोगी अनुवृत्त 'उपमानात्' पद पूर्वसूत्र—"उपमानादप्राणिषु" ५-४-९७ से लिया गया है । शेष अनुवृत्त पद यथापूर्व अनुसरण कर रहे हैं । तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होगा कि "उत्तर, मृग, पूर्व तथा उपमान-वाची शब्दों से परवर्ती 'सक्थि' शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है" । क्रमशः उदाहरण दिये जा रहे हैं । (१) उत्तरसक्थम् (टाँग का ऊपरी भाग) । **लौकिक विग्रह**—उत्तरं सक्थि । **अलौकिक विग्रह**—उत्तर+सु , सक्थि+सु > उत्तरसक्थि ("विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" ७६६–से समास, विभक्तिलोप, पूर्वनिपातादि) > उत्तरसक्थि+अ ('टच्') > उत्तरसक्थ ('इ' का लोप–"यस्येति च" ६-४-१५८) > **उत्तरसक्थम्** (विभक्तिकार्य नपुंसक लिङ्ग में पूर्ववत्) । (२) मृगसक्थम् (हिरन की टांग) । **लौकिक विग्रह**—मृगस्य सक्थि । **अलौकिक विग्रह**—मृग+ङस् , सक्थि+सु > मृगसक्थि ("षष्ठी"–७०२ से षष्ठी समास) > मृगसक्थि+अ (टच्) > मृगसक्थ ('इ' का लोप) > **मृगसक्थम्** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्) । (३) पूर्वसक्थम् (टांग का निचला भाग) । **लौकिक विग्रह**—पूर्वं सक्थि । **अलौकिक विग्रह**—पूर्व+सु, सक्थि+सु > पूर्वसक्थि ("पूर्वकालैक०" ७२६ से समास) >

सक्थि फलकसक्थम् । (८०१) नावो द्विगोः ५ । ४ । ९९ ॥ नौशब्दान्ताद् द्विगोष्ट-च्स्यात्, न तु तद्धितलुकि । द्वाभ्यां नौभ्यामागतो द्विनावरूप्यः । 'द्विगोर्लुगनपत्ये'

सक्थीति विग्रहे 'पूर्वकाल' इति समासः । **फलसक्थमिति** । फलकमिव सक्थीति विग्रहे मयूरव्यंसकादित्वात् इति समासः । सर्वत्र टच्, टिलोपः ।

(८०१) नावो द्विगोः । न तु तद्धितलुकीति । 'गोरतद्धितलुकि' इत्यतो मण्डूक-प्लुत्या तदनुवृत्तेरिति भावः । **द्विनावरूप्य इति** । तद्धितार्थे समासः, टच्, आवादेशः । हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः, तस्य 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुकमाशङ्कयाह—**द्विगोर्लु-गनपत्ये इत्यत्रेति** । **अपकर्षणादिति** । 'गोत्रेऽलुगचि' इत्युत्तरसूत्रादित्यर्थः । **पञ्चनावप्रिय इति** । पञ्च नावः प्रियाः यस्येति विग्रहे उत्तरपदे द्विगुः, टच्, आवादेशः, **द्विनावमिति** ।

पूर्वसक्थि + अ ('टच्') > पूर्वसक्थ ('इ'–का लोप) > **पूर्वसक्थम्** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्) । (४) (उत्तरपद का उदाहरण) फलकसक्थम् (पटरी के समान टाँग) । **लौकिक विग्रह**—फलकमिव सक्थि । **अलौकिक विग्रह**—फलक+सु, सक्थि+सु > फलकसक्थि ("मयूरव्यंस-कादयश्च"–७५४–से समास) > फलकसक्थि + अ (टच्) > फलकसक्थ > **फलकसक्थम्** ('इ' का लोप तथा विभक्तिकार्य पूर्ववत्) ।

(८०१) पद—नावः, द्विगोः । **अनुवृत्ति**—(अतद्धितलुकि) टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'नौ'–शब्दान्त द्विगु से 'टच्' प्रत्यय हो, किन्तु तद्धित (प्रत्यय) का लोप होने पर न हो । "द्विगोर्लुगनपत्ये" ४-१-८८ सूत्र में 'अचि' पद का अपकर्ष करने से हलादि का लोप नहीं होता । उदा० १–पञ्चनावप्रियः । २–द्विनावम् । ३–त्रिनावम् । अतद्धितलुकि क्यों कहा ? पञ्चभिः नौभिः क्रीतः > पञ्चनौः ।

विवरण—ऊपर उल्लिखित अनुवृत्तियाँ प्रकरणवश चली आरही हैं । "नौशब्दान्त द्विगु से समासान्त प्रत्यय का विधान किया गया है" । उसमें भी कुछ प्रतिबन्ध है । वह यह है कि तद्धित प्रत्यय का लोप होने पर 'टच्' प्रत्यय नहीं होता । सूत्र में इस प्रतिबन्ध का सूचक कोई पद नहीं है । उसके लिये विशेष आयाम अपेक्षित है । अतः "गोरतद्धितलुकि" ५-४-९२ से (मण्डूकप्लुति की तरह) 'अतद्धितलुकि' की अनुवृत्ति विशेष प्रकार से लाई गई है । **उदाहरण**—१—द्विनावरूप्यः (दो नावों से आया हुआ मनुष्य) । **लौकिक विग्रह**—द्वाभ्याम् नौभ्याम् आगतः । **अलौकिक विग्रह**—द्वि+भ्याम्, नौ+भ्याम् > द्वि–नौ-रूप्य (आगत अर्थ में "हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः" ४-३-८१ से 'रूप्य' प्रत्यय, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" ७२८ से समास, विभक्तिलोप) > द्वि–नौ+अ+रूप्य ('टच्'–प्रकृत सूत्र ७०१ से) > द्वि-नाव्-अ+रूप्य ('आव्' आदेश—"एचोऽयवायावः" ६-१ ७८) > **द्विनावरूप्यः** (विभक्ति-कार्य) । प्रकृत उदाहरण में "द्विगोर्लुगनपत्ये" ४-१-८८ से 'रूप्य' प्रत्यय के लोप का निवारण करने के लिये यह उपाय बतलाया गया है कि वहाँ "गोत्रे लुगचि" ४-१-८९ से उससे पूर्वपठित सूत्र में 'अचि' का अपकर्ष करने पर केवल अजादि प्रत्यय का लोप सम्भव है । प्रचलित रूपों की निष्पत्ति के लिये सम्भाव्य उपायों में वैपरीत्य भी उचित माना जाता है । २—पञ्चनावप्रियः (जिसे पाँच नावें प्रिय हों) । **लौकिक विग्रह**—पञ्च नावः प्रियाः यस्य । **अलौकिक विग्रह**—पञ्चन्+जस्, नौ+जस्, प्रिय+जस् > पञ्च-नौ-प्रिय (त्रिपद बहुव्रीहि में 'पञ्चन्' का 'नौ' के साथ द्विगु समास—"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" ७२८, विभक्तियों का लोप तथा 'न्'लोप) > पञ्चनौ+अ+प्रिय ('टच्') > पञ्चनाव्–अ+प्रिय (औ = आव्) > **पञ्चनाव-**

(सू १०८०) इत्यत्र अचि इत्यस्यापकर्षणाद्धलादेर्न लुक् । पञ्चनावप्रियः । द्विनावम् । त्रिनावम् । अतद्धितलुकीति किम् ? पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः । **(८०२) अर्धाच्च** ५ । ४ । १०० ॥ अर्धान्नावष्टच्स्यात् । नावोऽर्धम्—अर्धनावम् । क्लीबत्वं लोकात् । **(८०३) खार्याः प्राचाम्** ५ । ४ । १०१ ॥ द्विगोरर्धाच्च खार्याष्टज्वा स्यात् । द्विखा-

---

द्वयोः नावोः समाहार इति विग्रहे द्विगुः, टच्, आवादेशः, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम् । त्रिनावमिति । तिसृणां नावां समाहार इति विग्रहः । द्विनाववत् । पञ्चनौरिति । तद्धितार्थे समासः । आर्हीयष्ठक्, 'अध्यर्ध' इति लुक् ।

(८०२) अर्धाच्च । अर्धशब्दात् परो यो नौशब्दः तदन्तात् तत्पुरुषाट्टजित्यर्थः । **अर्धनावमिति** । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः, टच्, आवादेशः । अत्र 'परवल्लिङ्गम्' इति स्त्रीत्वमाशङ्क्याह—**क्लीबत्वं लोकादिति** ।

(८०३) खार्याः प्राचाम् । खारीशब्दान्तात् द्विगोः, अर्धपूर्वकात् खारीशब्दान्ता-

---

प्रियः (विभक्तिकार्य) । ३–द्विनावम् (दो नौकाएँ) । **लौकिक विग्रह**—द्वयोः नावोः समाहारः । **अलौकिक विग्रह**—द्वि+ओस्, नौ+ओस् > द्वि–नौ (समाहार अर्थ में द्विगु समास सू० ७२८, विभक्तिलोप) > द्वि–नौ+अ (टच्) > **द्विनावम्** (आवादेश, विभक्तिकार्य नपुंसक-लिङ्ग के अनुसार—"स नपुंसकम्" २-४-१७) । ३–त्रिनावम् (तीन नौकाएँ) । **लौकिक विग्रह**—तिसृणां नावां समाहारः । **अलौकिक विग्रह**—त्रि+आम्, नौ+आम् > त्रि–नौ (समाहार में द्विगु समास) > त्रि–नौ+अ (टच्) > त्रिनाव (आव् आदेश) > **त्रिनावम्** (विभक्तिकार्य) ।

प्रत्युदाहरण—पञ्चनौः । यहाँ पर 'टच्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि सूत्र में 'अतद्धित-लुकि' की अनुवृत्ति होने से 'पञ्चनौः' में क्रीतार्थक (पञ्चभिः नौभिः क्रीतः) तद्धित 'ठक्' प्रत्यय का "अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" ५-१-१८ से लोप हो गया है ।

(८०२) पद—अर्धात्, च । **अनुवृत्ति**—नावः द्विगोः, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अर्ध से परे नौ शब्द से 'टच्' हो । उदा० नावः अर्धम् > अर्धनावम् । लोक-व्यवहार के कारण नपुंसकलिङ्ग ।

विवरण—पूर्व सूत्र के विषय को विस्तृत किया जा रहा है, अतः समग्र सूत्र "नावो द्विगोः" ५-४-९९ की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही है । तदनुसार "अर्ध शब्द से परवर्ती 'नौ' शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होगा" । **उदाहरण**—अर्धनावम् (आधी नौका) । **लौकिक विग्रह**—नावः अर्धम् । **अलौकिक विग्रह**—नौ+ङस्, अर्ध+सु > अर्ध-नौ ("अर्धं नपुंसकम्" ७१३ से समास, विभक्ति-लोप, 'अर्ध' का पूर्वनिपात) > अर्ध–नौ+अ ('टच्') > अर्धनाव्+अ (औ = आव्) > **अर्धनावम्** (विभक्तिकार्य) ।

विशेष—सामान्यतः तत्पुरुष तथा द्वन्द्व समास में परवर्ती शब्द के अनुसार समस्त-शब्द का लिङ्ग माना जाता है, तदनुसार 'अर्धनावम्' में भी 'नौ' शब्द का अनुसरण कर स्त्री-लिङ्ग-सम्मत विभक्तिकार्य होना चाहिये, किन्तु लोक-परम्परा के अनुसार नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग ही किया गया ।

(८०३) पद—खार्याः, प्राचाम् । **अनुवृत्ति**—द्विगोः, अर्धात्, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

रम्—द्विखारि। अर्धखारम्अ-र्धखारि(री)। (८०४) द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ५।४।१०२॥ टज्वा स्याद् द्विगौ। द्व्यञ्जलम्-द्व्यञ्जलि। अतद्धितलुकीत्येव। द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो

तत्पुरुषाच्चेत्यर्थः। **द्विखारमिति।** द्वयोः खार्योः समाहार इति विग्रहे द्विगुः। टच्, 'यस्येति च'। 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम्'। टजभावपक्षे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वान्नपुंसकह्रस्वः। **अर्धखारमिति।** खार्या अर्धमिति विग्रहः। 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः, टच्, यस्येति च। क्लीबत्वं लोकात्। **अर्धखारीति।** पूर्ववत् समासः। टजभावपक्षे 'परवल्लिङ्गम्' इति स्त्रीत्वम्। एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनादुपसर्जनत्वाभावान्न ह्रस्वः। अर्धखारि इति क्वचिद्ध्रस्वान्तपाठः। तदा क्लीबत्वं लोकात्, ततो नपुंसकह्रस्वः।

(८०४) द्वित्रिभ्यामञ्जलेः। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**टज्वा स्यादिति। द्विगाविति। द्व्यञ्जलमिति।** द्वयोरञ्जल्योः समाहार इति विग्रहे द्विगुः, टच्, 'यस्येति च' 'स नपुंसकम्'। **द्व्यञ्जलिरिति।** समाहारे द्विगुः। टजभावे सति नपुंसकह्रस्वत्वम्। **अतद्धितलुकीत्येवेति।** अनुवर्तत एवेत्यर्थः। **अञ्जलिभ्यां क्रीत इति।** अञ्जलिशब्दः

मूलार्थ—द्विगु तथा अर्धपूर्वक खारी-शब्दान्त तत्पुरुष से विकल्प से 'टच्' हो। उदा०—(१) द्विखारम्—द्विखारि। (२) अर्धखारम्—अर्धखारि।

विवरण—सूत्र में केवल 'खारी' शब्द से 'टच्' प्रत्यय होने का संकेत मिलता है। प्रकरण-वश तत्पुरुष-समासान्त का बोध होना स्वाभाविक है। तो भी खारी शब्द से किस स्थिति में 'टच्' प्रत्यय हो—यह जिज्ञासा बनी रहती है। उसका समाधान 'द्विगोः' तथा 'अर्धात्' इन दो अनुवृत्त पदों की सहायता से होता है। ये दोनों पद क्रमशः "नावो द्विगोः" ५-४-९९ तथा "अर्धाच्च" ५-४-१०० सूत्रों से लिये गये हैं। शेष आधिकारिक एवम् प्राकरणिक अनुवृत्तियों के साथ समन्वित होकर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "खारीशब्दान्त द्विगुसंज्ञक तत्पुरुष से अर्धशब्दोत्तरवर्ती खारीशब्दान्त तत्पुरुष से प्राचीन आचार्यों के मत से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो"। तदनुसार टच् होने पर **'द्विखारम्'**। तथा पाणिनि के मत में 'टच्' न होने पर **'द्विखारि'**—ये दो रूप बनेंगे (दो खारी = ३२ द्रोण)।

प्रक्रिया—द्वयोः खार्योः समाहारः—द्वि+ओस्, खारी+ओस् > द्विखारी (द्विगु समास, विभक्तिलोप) > द्विखारी+अ (टच्) > द्वि-खार्+अ (ई-लोप→"यस्येति च" ६-४-११८) > **द्विखारम्** (विभक्तिकार्य नपुंसकलिङ्ग मे—"स नपुंसकम्" २-४-१७)। 'टच्' न होने पर **द्विखारि** (विभक्ति-उत्पत्ति, "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४७ से ह्रस्व तथा 'सु' विभक्ति का लोप "स्वमोर्नपुंसकात्" ७-१-२३)। इसी प्रकार २—**अर्धखारम्** में 'टच्' (ई-लोप, सामासिक प्रक्रिया "अर्धं नपुंसकम्" ७१३ आदि पूर्ववत्) हुआ। 'टच्' न होने पर **अर्धखारि** (ह्रस्व) रूप बनेगा। शेष कार्य पूर्ववत्। **विग्रह**—खार्याः अर्धम्। **अर्थ**—आधी खारी=८ द्रोण।

(८०४) पद—द्वित्रिभ्याम्, अञ्जलेः। **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—द्विगु में विकल्प से 'टच्' हो। उदा०—(१) द्व्यञ्जलम्—द्व्यञ्जलि। तद्धित का लोप न होने पर ही (यह होगा)। (अन्यथा नहीं) → द्वाभ्याम् अञ्जलिभ्यां क्रीतः > द्व्यञ्जलिः।

विवरण—'द्वि' तथा 'त्रि' शब्दपूर्वक 'अञ्जलि' शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय का वैकल्पिक विधान किया जारहा है। विकल्पार्थक 'प्राचाम्' पद की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र "खार्याः प्राचाम्" ५-४-१०१ से अपेक्षित है। 'द्वि' तथा 'त्रि' शब्द संख्यावाची हैं, अतः तत्पूर्वक

द्व्यञ्जलिः । (८०५) **ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ५ । ४ । १०४ ॥** ब्रह्मान्तात्तत्पुरुषाट्टच्स्यात्समासेन जानपदत्वमाख्यायते चेत् । सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः । (८०६) कुम-

---

अञ्जलिपरिमितधान्यादौ वर्तते, केवलस्याञ्जलेः मूल्यत्वासम्भवात् । परिणामत्वात् ठञ् । 'अध्यर्ध' इति तस्य लुक् ।

(८०५) **ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम्** । जनपदे भवो जानपदः, भावप्रधानो निर्देशः । तस्य केनाख्यायत इत्याकाङ्क्षायाम् प्रकृतत्वात् समासेनेति लभ्यते । तदाह—**समासेन जानपदत्वमाख्यायते चेदिति** । जानपदत्वमित्यनन्तरं ब्रह्मण इति शेषः । **सुराष्ट्रे ब्रह्मेति** । ब्रह्मशब्दोऽत्र पुल्लिङ्गः । ब्रह्मा विप्रः । 'वेदास्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' इत्यमरः । सप्तमीति योगविभागात् समासः । टच्, टिलोपः, 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंस्त्वम् । जानपदेति किम् ? देवब्रह्मा नारदः ।

'अञ्जलि' शब्द द्विगु-समास में मिलेगा । यह 'टच्' प्रत्यय तद्धित (प्रत्यय) का लोप न होने पर ही होगा । अतः यहाँ भी "गोरतद्धितलुकि" ५-४-९२ से मण्डूकप्लुति के समान "अतद्धितलुकि" पद का सम्बन्ध करना पड़ता है। **उदाहरण**—१. द्व्यञ्जलम्—द्व्यञ्जलि (दो अञ्जलि)। **लौकिक विग्रह**—द्वयोः अञ्जल्योः समाहारः । **अलौकिक विग्रह**—द्वि+ओस्, अञ्जलि+ओस् > द्वि-अञ्जलि (द्विगु समास, विभक्तिलोप) > द्व्यञ्जलि+अ (यण् तथा टच्) > द्व्यञ्जल्+अ ('इ'–लोप) > द्व्यञ्जलम् (नपुंसकलिङ्ग के अनुसार विभक्तिकार्य)। टच् न होने पर द्व्यञ्जलि (विभक्ति का लोप "स्वमोर्नपुंसकात्" ७-१-२३, शेष कार्य पूर्ववत्)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अतद्धितलुकि' का सम्बन्ध होने के कारण 'द्व्यञ्जलिः' में टच् नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ पर (द्वाभ्याम् अञ्जलिभ्यां क्रीतः) क्रीत अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय का लोप हुआ है । सामासिक कार्य द्विगुसमासवत् ।

(८०५) **पद**—ब्रह्मणः, जानपदाख्यायाम् । **अनुवृत्ति**—टच् , तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—जनपद-विशेषवाची गम्यमान होने पर ब्रह्मन्–शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' होता है। उदाहरण—सुराष्ट्रे ब्रह्मा > सुराष्ट्रब्रह्मः ।

विवरण—'ब्रह्मन्' शब्दान्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय का विधान किया जारहा है । वह भी विशेष परिस्थिति में → अर्थात् यदि उस समस्त शब्द से ब्रह्मा का किसी जनपद–विशेष के के साथ सम्बन्ध बोधित होता हो तभी 'टच्' प्रत्यय सम्भावित होगा → अन्यथा नहीं (जनपदे भवः = जानपदः, तस्य आख्या–जानपदाख्या, तस्याम्)। प्रकृत सूत्र में 'ब्रह्मन्' शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है और उसका अर्थ है ब्राह्मण । इसमें अमरकोष प्रमाणस्वरूप दिया जाता है— "वेदास्तत्त्वं तपः ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः" । **उदाहरण**—सुराष्ट्रब्रह्मः (सुराष्ट्र जनपद में होने वाला ब्रह्मा)। **लौकिक विग्रह**—सुराष्ट्रे ब्रह्मा । **अलौकिक विग्रह**—सुराष्ट्र+ङि, ब्रह्मन्+सु > सुराष्ट्र-ब्रह्मन् ("सप्तमी शौण्डैः" २-१-४०" सूत्रस्थ 'सप्तमी' योगविभाग करने से समास, विभक्तिलोप तथा 'सुराष्ट्र' का पूर्वनिपात) > सुराष्ट्रब्रह्मन्+अ (टच्) > सुराष्ट्रब्रह्म्+अ ('अन्' = टि–लोप) > **सुराष्ट्रब्रह्मः** ("परवल्लिङ्गम्०" के अनुसार पुंलिङ्ग में अकारान्त शब्द के समान विभक्तिकार्य)।

प्रत्युदाहरण—देवब्रह्मा (अर्थात् नारद अर्थ) में 'टच्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि (देवानां ब्रह्मा) 'ब्रह्मन्' शब्द का सम्बन्ध जनपद से नहीं है, किन्तु देवों से है । अतः षष्ठी समास होने पर विभक्ति-कार्य के पश्चात् नकारान्त पुंलिङ्ग में रूप बनेगा ।

हृद्भ्यामन्यतरस्याम् ५।४।१०५॥ आभ्यां ब्रह्मणो वा टच्स्यात्तत्पुरुषे। कुत्सितो ब्रह्मा कुब्रह्मः-कुब्रह्मा। **(८०७) आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६॥** महतः आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाब्रह्मः—

---

(८०६) कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम्। 'कुब्रह्मेति। टजभावे रूपम्। 'कुगतिप्रादयः' इति समासः। कुब्रह्म इति। टचि रूपं, टिलोपः।

(८०७) अथ महत्पूर्वस्य टज्विकल्पमुदाहरिष्यन् विशेषमाह—आन्महतः। 'अलुगुत्तरपदे' इत्युत्तरपदाधिकारस्थमिदं सूत्रम्। उत्तरपदे इत्यनुवृत्तं समानाधिकरणपदे अन्वेति, न तु जातीय इति तस्य प्रत्ययत्वात्। तदाह—महत आत्वमित्यादिना। महाब्रह्म इति। महांश्चासौ ब्रह्मा चेति विग्रहः। 'सन्महत्' इत्यादिना समासः। आत्त्वम्। सवर्णदीर्घः। 'कुमहद्भ्याम्' इति टच्। टिलोपः, 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंस्त्वम्। महाब्रह्मेति। टजभावे आत्वे रूपम्। अथ प्रसङ्गादुक्तमात्त्वविधिं प्रपञ्चयिष्यन् समानाधिकरणे पुनरुदा-

---

(८०६) पद—कुमहद्भ्याम्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—ब्रह्मणः, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इनसे पर ब्रह्मन् से 'टच्' विकल्प से हो। उदा०—कुत्सितः ब्रह्मा > कुब्रह्मः—कुब्रह्मा।

विवरण—'कु' तथा 'महत्' शब्द से परवर्ती 'ब्रह्मन्' शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय करने में कोई विशेष अर्थ अपेक्षित नहीं है। अर्थात् पूर्वसूत्र के अनुसार कोई प्रतिबन्ध नहीं है। प्रकरण 'टच्' का ही है। किस से हो-इस आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिये पूर्वसूत्र (८०६) से 'ब्रह्मणः' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। 'अन्यतरस्याम्' पद विकल्प का बोधक है। **उदाहरण**—(१) कुब्रह्मः—कुब्रह्मा (निन्दनीय ब्राह्मण)। **लौकिक विग्रह**—कुत्सितः ब्रह्मा। **अलौकिक विग्रह**—कु, ब्रह्मन्+सु > कुब्रह्मन् (कु-गति-प्रादयः' २-२-१८ से समास, विभक्तिलोप, 'कु' का पूर्वनिपात) > कुब्रह्मन्+अ (टच्) > कुब्रह्म (टि = 'अन्' का लोप) > कुब्रह्मः (विभक्तिकार्य)। 'टच्' न होने पर कुब्रह्मा (कुब्रह्मन्+सु > कुब्रह्मान्+स्>कुब्रह्मा = उपधादीर्घ, सुलोप, तथा न-लोप)।

(८०७) पद—आत्, महतः, समानाधिकरणजातीययोः। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—समानाधिकरण 'उत्तरपद' और 'जातीय' प्रत्यय परे रहते महत् शब्द को आकार अन्तादेश हो। उदा—१—महाब्रह्मः—महाब्रह्मा। (२) महादेवः (३) महाजातीयः। 'समानाधिकरणे' क्यों कहा ? महतः सेवा > महत्सेवा। लाक्षणिक समास को छोड़कर "सन्महत्" २-१-६१ सूत्र से विहित प्रतिपदोक्त समास का ग्रहण करने से 'महाबाहुः' रूप निष्पन्न नहीं होगा। अतः सूत्र में 'समानाधिकरण' पद के सामर्थ्य से 'लक्षणप्रतिपदोक्त' परिभाषा यहाँ प्रवृत्त नहीं होती। 'आत्' योगविभाग से अथवा "प्राग्गेकादशभ्यः" ५-३-४९ सूत्र के निर्देश से 'एकादश' में आकार अन्तादेश हो जाता है। 'महती' शब्द को 'पुंवत्कर्मधारय' (७४६) से पुंवद्भाव करने पर आत्व होता है—महाजातीया। वा० घास, कर तथा विशिष्ट—इन शब्दों के पर रहते 'महत्' को आत्व होता है तथा (महती को) पुंवद्भाव भी हो। यह वार्तिक असमान अधिकरण के लिये है। उदा०—१-महतः महत्याः वा घासः > महाघासः। २-महाकरः। ३-महाविशिष्टः। वा० हविष् अर्थ में 'अष्टन्' शब्द से 'कपाल' शब्द पर रहते आत्व हो। उदा० अष्टाकपालः। वा० युक्तार्थ गम्यमान होने पर 'अष्टन्' से 'गो' शब्द परे रहते आकार अन्तादेश हो। उदा०—अष्टागवं शकटम्। "अच् प्रत्यन्वव०" ५-४-७५ सूत्र में 'अच्'

महाब्रह्मा। महादेवः। महाजातीयः। समानाधिकरणे किम्? महतः सेवा महत्सेवा।

हरति—**महादेव इति**। जातीये उदाहरति—**महाजातीय इति**। महत्सदृश इत्यर्थः। प्रकारवचने जातीयर्, आत्त्वम्, सवर्णदीर्घः। **समानाधिकरणे किमिति?** 'आन्महतो जातीये चे'त्येवास्तु। चकारादुत्तरपदसमुच्चये सति महव आत्त्वं स्यात्। उत्तरपदे जातीये च परत इत्यर्थलाभादेव महादेव इत्यादिसिद्धेः, किं समानाधिकरणेनेति प्रश्नः। **महतः सेवा महत्सेवेति**। अत्र षष्ठीसमासे आत्त्वनिवृत्त्यर्थं समानाधिकरणग्रहणमिति भावः।

योगविभाग करने से बहुव्रीहि में भी 'अच्' होगा। उदा० अष्टानां गवां समाहारः > अष्टगवम्। उससे युक्त होने पर गाड़ी (के अर्थ में)—अष्टागवम्।

विवरण—प्रकृत सूत्र "अलुक् उत्तरपदे" ६-३-१ अधिकार के अन्तर्गत है। अतः 'उत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति अपेक्षित है। अनुवृत्त 'उत्तरपदे' पद सूत्रस्थ 'समानाधिकरणे' पद के साथ अन्वित होता है। 'जातीये' पद के साथ अन्वित नहीं होता, क्योंकि 'जातीयर्' तो प्रत्यय है। 'महत्' शब्द के सन्दर्भ में विशेष कार्यवश इस सूत्र का यहाँ निवेश किया गया है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "समानाधिकरण उत्तरपद रहते तथा 'जातीयर्' प्रत्यय परे रहते 'महत्' शब्द को आकार अन्तादेश हो"। "अलोऽन्त्यस्य" १-१-५२ परिभाषा के अनुसार आकार आदेश अन्त्य तकार के स्थान पर होगा। **उदाहरण**—(१)—महाब्रह्मः—महाब्रह्मा (महाब्राह्मण)। **लौकिक विग्रह**—महाँश्चासौ ब्रह्मा च। **अलौकिक विग्रह**—महत्+सु, ब्रह्मन्+सु > महत्-ब्रह्मन् (समानाधिकरण उत्तरपद में "सन्महत्०" ७४० से समास, विभक्तिलोप) > मह+आ ब्रह्मन् (त्=आ-प्रकृत सूत्र ८०७ से) > महाब्रह्मन् (दीर्घ) > महाब्रह्मन् + अ (टच्—"कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम्" ८०६) > महाब्रह्म (टि=अन्-लोप) > **महाब्रह्मः** (विभक्तिकार्य)। 'टच्' के न होने पर **महाब्रह्मा** (समास होने पर त्=आ तथा सामासिक कार्य एवं विभक्ति-कार्य 'कुब्रह्मा' के समान हैं)। (२) **महादेवः** (श्रेष्ठ देव, शंकर)। **विग्रह**—महाँश्चासौ देवः। महत्+सु, देव+सु > महत्-देव > मह-आ-देव (त्=आ) >महादेव > **महादेवः** (सामासिक आदि कार्य पूर्व उदाहरण के समान)। (३) महाजातीयः (बड़ों के समान पुरुष)। **विग्रह**—महाँश्चासौ जातीयश्च > महत्+सु, जातीय+सु (पहले 'जातीय' शब्द की सिद्धि के लिए 'महान् प्रकारः' इस अर्थ में 'महत्' शब्द से "प्रकारवचने जातीयर्" ५-३-६९ से जातीयर् प्रत्यय करने के पश्चात् "सन्महत्०" ७४० से समास, विभक्ति-लोप, 'महत्' का पूर्वनिपात) > महत्-जातीय > महत्-आ-जातीय ('जातीयर' परे रहते त्=आ) > महाजातीय > **महाजातीयः** (दीर्घ तथा विभक्ति-कार्य पूर्ववत्)।

विशेष उदाहरण—१—एकादश (ग्यारह)। विग्रह—एकश्च दश च > एक+सु, दशन्+ जस् > एक दशन् ("चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९ से द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप) > एकादशन् ('महत्' शब्द न होने पर भी सूत्र को दो भागों में विभक्त करने से प्रथम भाग 'आत्' से 'एक' शब्द को आकारान्त आदेश करने पर 'एकादशन्' निष्पन्न होगा) >**एकादश** (तदनन्तर पुनर्विभक्तिकार्य होने के पश्चात् विभक्ति-लुक् तथा न-लोप होकर रूप सिद्ध होगा)।

'एकादश' में एक शब्द को आकारान्त आदेश की यह कल्पना इसलिए की गई है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी के क्रम में इस सूत्र के अनन्तर "द्व्यष्टनः संख्यायाम् अबहुव्रीह्यशीत्योः" ६-३-४७ सूत्र के अनुसार 'द्वि' तथा 'अष्टन्' शब्दों में आकारान्त आदेश का विधान होने से 'द्वादश' तथा 'अष्टादश' रूप तो निष्पन्न हो जायेंगे, किन्तु 'एकादश' नहीं सिद्ध हो सकेगा। यह उपाय

लाक्षणिकं विहाय प्रतिपदोक्तः 'सन्महत्' (सू० ७४०) इति समासो ग्रहीष्यत इति चेत्,

---

ननु षष्ठीसमासो लाक्षणिकः, समस्यमानपदं विशिष्य अनुच्चार्य सामान्यशास्त्रत एव निर्वर्तितत्वात् । 'सन्महत्' इत्ययं समासस्तु सन्महदादिशब्दं समस्यमानं विशिष्योच्चार्य विहितत्वात् प्रतिपदोक्तः । ततश्च लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया 'आन्महतो जातीये चे'त्यत्र 'सन्महत्' इति प्रतिपदोक्तसमासोत्तरपदग्रहणे सति तत एव षष्ठीसमासोत्तरपदनिराससंभवाद्

बतलाने पर भी यहाँ अरुचि दिखलाते हुए दूसरा उपाय बतलाया जारहा है। तदनुसार पाणिनि का → "प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि" ५-३-४९ ←सूत्र ही एकादश में आत्व की साधुता के लिये मानना उचित है। इसका कारण यह है कि महाभाष्य में "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" ६-३-४६ के योगविभाग की कल्पना का संकेत विद्यमान नहीं है। नागेश ने 'लघुशब्देन्दुशेखर' में "अन्येषामपि दृश्यते" ६-३-१३७ सूत्र से 'एक' शब्द को दीर्घ करने पर 'एकादश' शब्द की निष्पत्ति का तीसरा उपाय भी बतलाया है।

(२) **महाजातीया** (बड़ों के समान स्त्री) की सिद्धि के सम्बन्ध में महती (त) को 'आत्व' होने में विशेष आयाम करना पड़ता है। कारण यह है कि यहाँ पुलिङ्ग में निर्दिष्ट 'महत्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग 'महती' का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि लिङ्ग-विशिष्ट परिभाषा की प्रवृत्ति समास-प्रकरण में नहीं होती। अतः 'महाजातीया' शब्द की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम 'महती' शब्द को "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" ६४६ से पुंवद्भाव करने के पश्चात् 'महत्' के 'त्' को आकारादेश विधान करने में कोई आपत्ति नहीं होगी[1]। अतः 'महत्याः प्रकार इव प्रकारो यस्याः' विग्रह करने पर महती शब्द से जातीयर् प्रत्यय किया। तदनन्तर महती–जातीय > महत्–जातीय (पुंवद्भाव) > महत्–आ–जातीय > (आत्व) > महाजातीय (दीर्घ) > महाजातीय+आ (टाप्) > महाजातीया (दीर्घ) > महाजातीया+सु > **महाजातीया** (विभक्तिकार्य)।

(३) 'महत्' के ही तकार के स्थान पर 'आ' होने के प्रसङ्ग में 'महत्सेवा' तथा 'महाबाहुः' शब्दों को अभिलक्षित कर कुछ आपत्तियों का निराकरण किया जा रहा है। शास्त्र की प्रवृत्ति के दो प्रकार हैं—कहीं लाक्षणिक तथा कहीं प्रतिपदोक्त (साक्षात् निर्दिष्ट)। प्रकृत विषयानुसार समास प्रकरण की लाक्षणिक विधि में समस्यमान पद का सूत्र में उल्लेख नहीं होता है। जैसे "षष्ठी" २-२-८ सूत्र से विहित षष्ठी तत्पुरुष समास में सामान्यतः सभी षष्ठ्यन्त पदों का (उत्तर पद के साथ समास होने में) ग्रहण होता है, जब कि इसके विपरीत "सन्महत्परमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" २-१-६१ सूत्र में महत्, परम आदि समस्यमान पदों का साक्षात् निर्देश किया गया है। अतः वह प्रतिपदोक्त समास है। इन दोनों में परस्पर निर्बल-प्रबल-भाव को इस परिभाषा द्वारा सूचित किया जाता है—"लक्षण–प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्"। इस प्रसङ्ग में महतः सेवा > **महत्सेवा** पद को अभिलक्षित कर यह ज्ञापित किया गया है कि यहाँ लक्षण-प्रतिपदोक्त परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। स्थिति इस प्रकार है—(महतः सेवा) **'महत्सेवा'** में "षष्ठी" २-२-८ से होने वाला समास लाक्षणिक है। अतः वहाँ 'त्' के स्थान पर आकार होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि "आन्महतः०" ६-३-४६ सूत्र में 'महत्' शब्द साक्षात् उच्चरित है। इस प्रकार सूत्र में 'समानाधिकरण' पद के निवेश की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। "आन्महतो जातीये च" इतनी ही शब्दावलि पर्याप्त रही। किन्तु पाणिनि द्वारा प्रयुक्त उस शब्द

---

१. "आन्महत इत्यत्र लिङ्गविशिष्टपरिभाषाऽभावस्य ङ्याप्सूत्रे (२-२-२९) भाष्ये उक्ततया परत्वात् पुंवत्त्वं बाधित्वाऽऽत्वं स्यादिति न शङ्क्यम् इति भावः"। ल० श० शे० ६-३-४६।
महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यादौ च्व्यन्ते गौणत्वात् न आत्वमित्यपि भाष्ये स्पष्टम्।

महाबाहुः न स्यात् । तस्मात् 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्य' (प ११४) इति परिभाषा नेह प्रवर्तते, समानाधिकरणग्रहणसामर्थ्यात् । 'आत्' इति योगविभागादात्वं, 'प्रागेकादशभ्यः' (सू० १९९५) इति निर्देशाद्वा । एकादश । महतीशब्दस्य 'पुंवत्कर्म-

---

व्यर्थमेव समानाधिकरणग्रहणमिति शङ्कते—**लाक्षणिकमित्यादिना** । परिहरति—**महाबाहुर्न स्यादिति** । महान्तौ बाहू यस्येति विग्रहः । अस्य समासस्य 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सामान्यविहितत्वात् प्रतिपदोक्तत्वाभावात्तदुत्तरपदे परे आत्वं न स्यात्, अतः समानाधिकरणग्रहणमित्यर्थः । ननु कृतेऽपि समानाधिकरणग्रहणे लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाप्रवृत्तेर्दुर्वारत्वात् महाबाहुरित्यत्रात्त्वं न स्यादेवेत्यत आह—**तस्मादिति** । तच्छब्दार्थमाह—**समानाधिकरणग्रहणसामर्थ्यादिति** । एवं च लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषां बाधित्वा लाक्षणिकस्यापि ग्रहणार्थं समानाधिकरणग्रहणमिति भावः । न च सुमहान्तौ बाहू यस्य स सुमहाबाहुरित्यत्र कथमात्त्वम् ? आत्त्वविधेः पदाङ्गाधिकारस्थत्वाभावेन तदन्तविध्यभावादिति वाच्यम्, उत्तरपदाक्षिप्तपूर्वपदस्य महता विशेषणे इति तदन्तविधिलाभात् । परममहत्परिमाणवानित्यत्र तु महतः परिमाणं महत्परिमाणं, परमं महत्परिमाणमिति षष्ठीसमासगर्भः कर्मधारय इति दिक् । ननु 'आन्महतः' इत्यत्र महत एव ग्रहणात् 'द्व्यष्टनः' इत्युत्तरसूत्रे द्व्यष्टनोरेव ग्रहणात् एकादशेत्यत्र कथमात्त्वमित्यत आह—**आदिति योगविभागादात्वमिति** । योगविभागस्य भाष्यादृष्टत्वादाह—**प्रागेकादशभ्य इति निर्देशाद्वेति** । **एकादशेति** । एकश्च दश चेति द्वन्द्वः । एकाधिका दशेति वा । 'आन्महत' इत्यत्र लिङ्गविशिष्टपरिभाषया महतीशब्दस्यापि जातीयर् प्रत्यये परे महाजातीयेति स्यादित्यत आह—**महतीशब्दस्येति** ।

की व्यर्थता से लक्षण-प्रतिपदोक्त परिभाषा की सामासिक स्थलों में प्रवृत्ति न होने का ज्ञापन मानना पड़ा । इसके फलस्वरूप "आन्महतः" ८०० सूत्र से विधीयमान आकार–अन्तादेश 'लाक्षणिक' तथा 'प्रतिपदोक्त'—'दोनों प्रकार के समासों में प्राप्त हो सकता है । 'महत्सेवा' में इसकी निवृत्ति के लिये 'समानाधिकरण' पद की सार्थकता सिद्ध हो जाती है ।

उपर्युक्त कथन का समर्थन रघुवंश में प्रयुक्त **'महाबाहुः'** (विग्रह—महान्तौ बाहू यस्य) शब्द से किया जारहा है । 'महाबाहुः' में बहुव्रीहि समास है—'महान्तौ बाहू यस्य सः' । समास विधायक सूत्र है—"अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ । इस सूत्र से विहित समास 'लाक्षणिक' होगा, क्योंकि इस सूत्र में समस्यमान पदों का निर्देश नहीं है । इस स्थिति में 'त्' को आकार-आदेश की सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि "आन्महतः०" ६-३-४६ सूत्र में 'महत्' पद का साक्षात् उल्लेख किये जाने से लक्षण-प्रतिपदोक्त परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी । अतः "सन्महत्०" ७४० सूत्र से विधीयमान प्रतिपदोक्त समास के स्थलों पर ही उसकी प्रवृत्ति होगी । इसके फलस्वरूप "महद्-बाहुः" रूप होना चाहिये । किन्तु 'महाबाहुः' की समीचीनता प्रामाणिक तभी हो सकती है, जब लक्षण–प्रतिपदोक्त परिभाषा को अनित्य माना जाय । अनित्य मानने पर लाक्षणिक स्थलों में भी आकारान्त विधान होने के फलस्वरूप 'महाबाहुः' रूप की युक्तता प्रमाणित हो जाती है ।

प्रत्युदाहरण—"आन्महतः०" ८०७ सूत्र में 'समानाधिकरण' पद के अभाव में व्यधिकरण स्थलों में (अर्थात् जहाँ समस्यमान पदों की विभक्तियां भिन्न भिन्न हों) भी 'महत्' के 'त्' को आकार-आदेश होने के फलस्वरूप 'महत्सेवा' (महतः सेवा) के स्थान पर 'महासेवा' रूप बनेगा, जो कि इष्ट नहीं हैं । 'समानाधिकरण' पद का निवेश करने से 'महत्सेवा' में 'त्' को आकार इसलिये नहीं होता कि दोनों पदों ('महतः' तथा 'सेवा') की कारक-विभक्तियाँ भिन्न भिन्न हैं ।

धारय—' (सू७४६) इति पुंवद्भावे कृते आत्वम्। महाजातीया। 'महदात्वे घासकरविशिष्टेषूपसङ्ख्यानं पुंवद्भावश्च' (वा ३९५०)। असामानाधिकरण्यार्थमिदम्। महतो महत्या वा घासो महाघासः। महाकरः। महाविशिष्टः। 'अष्टनः कपाले हविषि' (वा ३९५१) अष्टाकपालः। 'गवि च युक्ते' (वा ३९५२)। गोशब्दे परे युक्त इत्यर्थे गम्ये अष्टन आत्वं स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः। अष्टागवं शकटम्। 'अच्प्रत्यन्वव—'

न च परत्वात्पुंवत्त्वं बाधित्वा आत्वं स्यादिति वाच्यम्, आन्महतः इत्यत्र लिङ्गविशिष्टपरिभाषा न प्रवर्तत इति ङ्याप्सूत्रे भाष्ये उक्तत्वादिति भावः। **महदात्वे इति।** घास, कर, विशिष्ट-एषु परतः महत आत्वं पुंवत्त्वं च वक्तव्यमित्यर्थः। ननु 'आन्महतः' इत्यात्वे 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवत्त्वे च सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—**असामानाधिकरण्यार्थमिदमिति। महाकर इति।** महतो महत्या वा कर इत्यर्थः। **महाविशिष्ट इति।** महतो महत्या वा विशिष्टः अधिक इत्यर्थः। **अष्टन इति।** कपाले उत्तरपदे हविषि वाच्ये अष्टन आत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। **अष्टाकपाल इति।** अष्टसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाश इत्यर्थे तद्धितार्थे द्विगुः। 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यण्। 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक्। आत्वं सवर्णदीर्घः। **गवि च युक्ते इति।** वार्तिकमिदम्। तत्सूचयितुमाह-**वक्तव्यमित्यर्थ इति। अष्टागवं शकटमिति।** अष्टौ गावौ यस्येवि बहुव्रीहिः। आत्वं, सवर्णदीर्घः। अष्टभिर्गोभिर्युक्तमित्यर्थः। ननु

वार्तिक—१-अर्थ—घास, कर तथा विशिष्ट—इन शब्दों के परवर्ती रहने पर 'महत्' शब्द को आकार-अन्तादेश हो। इस वार्तिक की उपयोगिता समानाधिकरण से भिन्न स्थलों के लिये है। **उदाहरण**—(१) **महाघासः** (विग्रह—महतः महत्याः वा घासः—बड़े आदमी की घास)। (२) **महाकरः** (विग्रह—महतः करः अथवा महत्याः करः—बड़े आदमी का हाथ)। (३) **महाविशिष्टः** (विग्रह—महतः विशिष्टः अथवा महत्याः विशिष्टः—बहुत बड़ा)। इन तीनों स्थलों में षष्ठी तत्पुरुष समास है, तथा समस्त पदों में स्त्रीवाचक 'महती' पद को पुंवद्भाव होने के पश्चात् आकारान्तादेश होगा। शेष सामासिक कार्य यथानियम होंगे।

वार्तिक—२-यदि समस्त शब्द हविर्वाचक हो तो 'अष्टन्' शब्द से 'कपाल' शब्द के परवर्ती होने पर 'अष्टन्' को आकारान्त आदेश होता है। **उदाहरण**—अष्टाकपालः (आठ सकोरों में तैयार किया गया पुरोडाश)। **विग्रह**—अष्टसु कपालेषु संस्कृतः। अष्टन्+सुप्, कपाल+सुप्+अण् > अष्टन्–कपाल ("संस्कृतं भक्षाः" ४-२-१६ से तद्धित अण् प्रत्यय, तद्धितार्थ विषय में समास, विभक्तिलोप, 'अण्' का लोप—"द्विगोर्लुगनपत्ये" ४-१-८८) > अष्ट–आ–कपाल (न् = आ) > अष्टा–कपाल (सवर्णदीर्घ) > **अष्टाकपालः** (विभक्तिकार्य)।

वार्तिक—३-यदि समस्त शब्द 'युक्त' अर्थ का बोधक हो तब 'अष्टन्' शब्द से 'गो' शब्द परवर्ती होने पर 'अष्टन्' को आकारान्त आदेश होता है। **उदाहरण**—अष्टागवम् शकटम् (आठ बैलों से जोती गई (= युक्त गाड़ी)। **विग्रह**—अष्टौ गावः सन्ति (यस्य शकटस्य अथवा यत्र शकटे) > अष्टन्+जस् गो+जस् > अष्टन्–गो ("अनेकमन्य०" २-२-२४ से बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप) > अष्टन्–गो+अ ("अच्प्रत्ययन्ववपूर्वात् सामलोम्नः" ५-४-७५ सूत्र में 'अच्'–इस योग-विभाग के कारण बहुव्रीहि में भी 'अच्') > अष्ट–आ–गो+अ > अष्टा–गो+अ (सवर्ण दीर्घ) > अष्टागव (ओ+अ = अव्) > **अष्टागवम्** (विभक्तिकार्य)। योगविभाग की कल्पना भाष्यकार द्वारा न करने से दूसरा उपाय बतलाया जारहा है। तदनुसार 'अष्टानां गवां समाहारः' यह विग्रह करने पर भी "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" ७२८ से समाहार

(सू ९४३) इत्यत्र अच् इति योगविभागाद् बहुव्रीहावप्यच् । अष्टानां गवां समाहारोऽष्टगवम्, तद्युक्तत्वाच्छकटमष्टागवमिति वा । (८०८) द्व्यष्टनः सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६ । ३ । ४९ ॥ आत्स्यात् । द्वौ च दश च द्वादश । द्व्यधिका दश इति वा । द्वाविंशतिः ।

'गोरतद्धितलुकि' इति टज्विधेस्तत्पुरुषमात्रविषयत्वात् अष्टागवमिति कथमित्यत आह— **अच्प्रत्यन्ववेत्यत्रेति** । तत्पुरुषत्वे अष्टगवशब्दष्टजन्त एवेत्याह—**अष्टानामिति** । तथा च समाहारद्विगोस्तत्पुरुषत्वात् 'गोरतद्धितलुकि' इति टच् सुलभ इत्यर्थः । नन्वष्टानां गवां समाहार इत्यर्थे शकटे कथमन्वयः, युक्तार्थवृत्तित्वाभावात्, कथं वा आत्वमित्यत आह— **तद्युक्तत्वादिति** । समाहारद्विगुरूपतत्पुरुषाट्टचि उपपन्नस्य अष्टगवशब्दस्य लक्षणया अष्टभिर्गोभिर्युक्ते वर्तमानस्य आत्वमित्यर्थः ।

(८०८) द्व्यष्टनः । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**आत्स्यादिति** । द्विशब्दस्य अष्टन्शब्दस्य च सङ्ख्यावाचके उत्तरपदे परे आत्स्यात्, न तु बहुव्रीह्यशीत्योरित्यर्थः । द्विशब्दस्योदाहरति—**द्वादशेति** । द्वौ च एकश्च द्व्येकाः, द्व्यधिकः एकः द्व्येक इत्यादौ तु नास्ति 'एकादिनवान्तानां परस्परं द्वन्द्वतत्पुरुषौ न स्तः' इति 'चार्थे' इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितत्वादिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । **द्वाविंशतिरिति** । द्वौ च विंशतिश्चेति समाहारद्वन्द्वः ।

द्विगुरूप तत्पुरुष समास→अष्ट–गो, तदनन्तर "गोरतद्धितलुकि" ७२९ से (अ) टच् प्रत्यय→ अष्ट-गो+अ—करने के पश्चात् अवादेश होने पर—अष्टगव; तत्पश्चात् "गवि च युक्ते" वा० से आकार-आदेश होकर—अष्टागवम् रूप निष्पन्न हो सकता है ।

विशेष—समाहार–अर्थ में युक्तार्थ की प्रतीति के बिना 'आकार–अन्तादेश' की सिद्धि कैसे की जाय ? इसके लिए यह उपाय बताया गया है कि 'अष्टगवम् अस्य अस्ति' (आठ बैल जिसमें लगे हैं)—यह विग्रहपरक लाक्षणिक अर्थ कल्पित कर युक्तार्थ की प्रतीति सम्भव हो सकती है ।

(८०८) पद— द्व्यष्टनः, संख्यायाम्, अबहुव्रीह्यशीत्योः । **अनुवृत्ति**—आत् , उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आकार हो । उदा० १–(क) द्वौ च दश अथवा द्व्यधिकाः दश > द्वादश । १–(ख) द्वाविंशतिः । २–(क) अष्टादश । २–(ख) अष्टाविंशतिः । अबहुव्रीह्यशीत्योः क्यों कहा ? द्वित्राः । द्व्यशीतिः । वा० (सूत्र में) 'प्राक्शतात्'–यह कहना चाहिये । (अतः) यहाँ नहीं—द्विशतम् । द्विसहस्रम् ।

विवरण—सूत्र में आदेशार्थक पद की पूर्ति पूर्व सूत्र ८०७ से 'आत्' की अनुवृत्ति-द्वारा की जाती है । आधिकारिक 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध सप्तम्यन्त—संख्यायाम् तथा अबहुव्रीह्यशीत्योः इन दो पदों के साथ किया जाता है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "बहुव्रीहि समास तथा अशीति उत्तर पद को छोड़कर 'द्वि' तथा 'अष्टन्' शब्दों को संख्यावाची शब्दों के परवर्ती रहने पर—आकार-अन्तादेश ("अलोऽन्त्यस्य" १-१-५२ के अनुसार) होता है" । द्विशब्द का **उदाहरण**—१–(क) द्वादश (बारह) । **लौकिक विग्रह**—द्वौ च दश च । **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, दशन्+जस् > द्वि–दशन् (द्वन्द्व समास–"चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९) > द्वा–दशन् ('द्वि' के 'इ' को आकार = द्वा) > द्वादशन्+सु > द्वादशन् (विभक्ति लोप) > द्वादश ('न्' का लोप) । १–(ख) द्वाविंशतिः (बीस) । **लौकिक विग्रह**— द्वौ च विंशतिश्च । **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, विंशति+सु > द्वि–विंशति (समाहार द्वन्द्व समास) > द्वा–विंशति (द्वि = द्वा–आकार–अन्तादेश) > द्वाविंशति+सु > द्वाविंशतिः (विभक्तकार्य—स् = र् = :) । यहाँ पर समाहार-द्वन्द्व-विषयक नपुंसकलिङ्ग न होने में लोक-

अष्टादश । अष्टाविंशतिः । अबहुव्रीह्यशीत्योः किम् ? द्वित्राः । द्व्यशीतिः । "प्राक्शतादिति वक्तव्यम्" (वा ३९५३) । नेह । द्विशतम् । द्विसहस्रम् । (८०९) त्रेस्त्रयः ।

'स नपुंसकम्' इति क्लीवत्वं तु न। किन्तु लोकात् स्त्रीत्वम् । इतरेतरयोगस्तु न, अनभिधानात् । द्व्यधिका विंशतिरिति तत्पुरुषो वा । अथाष्टन्शब्दस्योदाहरति—**अष्टादशेति** । अष्टौ च दश चेति द्वन्द्वः । अष्टाधिका दशेति वा । **अष्टाविंतिरिति** । अष्टौ च विंशतिश्चेति समाहारद्वन्द्वः । स्त्रीत्वं लोकात् । अष्टाधिका विंशतिरिति वा । **द्वित्रा इति** । द्वौ वा त्रयो वेति विग्रहः । 'संख्ययाव्यय' इति बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ संख्येये डच्' इति डच् । बहुव्रीहित्वादत्र द्विशब्दस्य आत्वं न । **द्व्यशीतिरिति** । द्वौ चाशीतिश्चेति समाहारद्वन्द्वः । स्त्रीत्वं लोकात् । द्व्यधिका अशीतिरिति वा । अत्राशीतिपरकत्वात् द्विशब्दस्यात्वं न । **प्राक्शतादिति** । 'द्व्यष्टनः सङ्ख्यायाम्' इत्येतत् शतप्रभृतिसङ्ख्याशब्दे परे न भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः । **द्विशतमिति** । द्वौ च शतं चेति समाहारद्वन्द्वः । द्व्यधिकं शतमिति वा । एवं द्विसहस्रमित्यत्रापि ।

व्यवहार को कारण बताया गया है। **अष्टन्** शब्द के **उदाहरण**—२ (क) अष्टादश (अठारह) । **लौकिक विग्रह**—अष्टौ च दश च। **अलौकिक विग्रह**—अष्टन्+जस्, दशन्+जस् > अष्टन्-दशन् > अष्ट-आ-दशन् (न् = आ) > अष्टादशन् (दीर्घ) > अष्टादशन्+सु > अष्टादशन् > **अष्टादश** (सभी कार्य द्वादश के समान हैं) । २-(ख) **अष्टाविंशतिः** (अठाईस) । **लौकिक विग्रह**—अष्टौ च विंशतिः च। **अलौकिक विग्रह**—अष्टन्+जस् +विंशति+सु > अष्टन्-विंशति (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप) > अष्ट-आ-विंशति (न्=आ) > अष्टाविंशति (दीर्घ) > अष्टाविंशति+सु > **अष्टाविंशतिः** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अबहुव्रीहि तथा अशीति' पदों का निवेश यदि न किया गया होता तो **'द्वित्राः'** (दो या तीन) तथा **'द्व्यशीतिः'** (बयासी) में भी 'द्वि' शब्द के इकार को आकारान्त आदेश हो जाता। इन पदों के निवेश करने से 'द्वित्राः' में बहुव्रीहि समास होने से (विग्रह—द्वौ वा त्रयो वा, समास-विधायक सूत्र—"संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये" २-२-२५) आकारान्त आदेश नहीं हुआ । इसी प्रकार 'द्व्यशीतिः' में 'द्वि' शब्द से 'अशीति' शब्द पर होने के कारण आकारान्त आदेश नहीं हुआ।

प्रकृत सूत्र का पूरक **वार्तिक** प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अनुसार सूत्र का क्षेत्र कुछ संकुचित हो जाता है। तदनुसार वार्तिक का यह आशय है कि 'द्वि' शब्द तथा 'अष्टन्' शब्द से परवर्ती शब्द 'शत' से पूर्व (अर्थात् 'नवनवति' तक) कोई संख्यावाची हो तभी इन दोनों शब्दों को 'आकारान्त' आदेश होगा—अन्यथा नहीं। तदनुसार **'द्विशतं'** (द्वौ च शतं च) तथा **'द्विसहस्रं'** (द्वौ च सहस्रं च) में आकारान्त आदेश नहीं हुआ। अन्यथा 'द्वाशतं' तथ तथा 'द्वासहस्रं' अनिष्ट रूप क्रमशः बनते।

विशेष—प्रकृत सूत्र के उदाहरणों में 'द्वादश' तथा 'द्वाविंशतिः' शब्दों का दूसरा लौकिक विग्रह भी दिखाया गया है—'द्व्यधिका दश' तथा 'द्व्यधिका विंशतिः'। इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' वार्तिक के सहकार से अथवा 'सिद्धं तु अधिकान्ता०' वार्तिक की सहायता से समास तथा "अधिक" शब्द का लोप करने पर उपर्युक्त दोनों इष्ट शब्दों की सिद्धि हो सकेगी। इस अरुचि का क्या बीज है? इसके सम्बन्ध में भाष्यकार के मत का संकेत नागेश ने लघुशब्देन्दुशेखर में यह किया है कि "एक शब्द से नव शब्द पर्यन्त "चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९ से विहित द्वन्द्व-समास की प्रवृत्ति नहीं होती। इसका कारण यह

६।३।४८॥ त्रिशब्दस्य त्रयस् स्यात्पूर्वविषये। त्रयोदश। त्रयोविंशतिः। बहुव्रीहौ तु, त्रिर्दश त्रिदशाः। सुजर्थे बहुव्रीहिः। अशीतौ तु त्र्यशीतिः। प्राक्शतादित्येव।

---

(८०९) **त्रेस्त्रयः।** सन्धिवेलादिषु त्रयोदशेति पाठात् सकारान्तोऽयमादेश इत्याह—**त्रयस् स्यादिति। पूर्वविषये इति।** प्राक्शतात् सङ्ख्याशब्दे उत्तरपदे परतः, न तु बहुव्रीह्यशीत्योरित्यर्थः। **त्रयोदशेति।** त्रयश्च दश चेति, त्र्यधिका दशेति वा विग्रहः। सुब्लुकि त्रिशब्दस्य त्रयस्, रुत्वम्, उत्त्वम्, आद्गुणः। एवं त्रयोविंशतिरित्यपि। त्रिदशा

बताया गया है कि एकादि नवान्त शब्दों का द्वन्द्व समास होने पर 'एकविंशतिः' 'द्वाविंशतिः' आदि शब्दों में द्वि-वचन-बहुवचन का प्राप्ति होगी, एकवचन नहीं हो सकेगा। इस प्रकार वहां एकादश तथा द्वादश शब्दों के सम्बन्ध में विचार करने से एकादि नवान्त संख्यावाची शब्दों के द्वन्द्व समास की सम्भावना का उल्लेख न होने से द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास के प्रति उदासीनता दिखाई है[1]।

(८०९) पद—त्रेः, त्रयः। **अनुवृत्ति**-संख्यायाम् अबहुव्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पूर्वोक्त विषय में 'त्रि' को 'त्रयस्' आदेश हो। उदा० १-त्रयोदश। २ त्रयोविंशतिः। बहुव्रीहि में त्रिर्दश > त्रिदशाः (आदि रूप होंगे)। (यहाँ पर भी) 'शत' से पूर्व का ही (ग्रहण है)—१-त्रिशतम्। २-त्रिसहस्रम्।

विवरण—'त्रि' शब्द के स्थान में 'त्रयस्' आदेश की व्यवस्था की जा रही है। 'उत्तरपदे' का अधिकार है। इसके साथ ही पूर्वसूत्र से 'संख्यायाम्' तथा 'अबहुव्रीह्यशीत्योः' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि बहुव्रीहि समास तथा अशीति शब्द को छोड़कर संख्यावाची शब्द उत्तरपद रहते 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश हो"। **उदाहरण**—(१) त्रयोदश (तेरह)। **लौकिक विग्रह**—त्रयश्च दश च (अथवा त्र्यधिकाः दश)। **अलौकिक विग्रह**—त्रि+जस्, दशन्+जस् > त्रि-दशन् (द्वन्द्वसमास-"चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९, विभक्ति-लोप) > त्रयस्-दशन् (त्रि = त्रयस्) > त्रयर्-दशन् (स् = र्-"ससजुषो रुः" ८-२-६६) > त्रय+उ, दशन् (र् – उ-'हशि च" ६-१-११४) > त्रयोदशन् (अ+उ = ओ-गुण) > त्रयोदशन्+सु > त्रयोदशन् (विभक्ति एवं उसका लोप) > त्रयोदश ('न्'-लोप)। (२) त्रयोविंशतिः (तेईस)। **लौकिक विग्रह**—त्रयश्च विंशतिश्च (अथवा त्र्यधिका विंशतिः)। **अलौकिक विग्रह**—त्रि+जस्, विंशति+सु > त्रि-विंशति (द्वन्द्वसमास एवं विभक्तिलोप) > त्रयस्-विंशति (त्रि = त्रयस्) > त्रयर्-विंशति > त्रय+उ-विंशति > त्रयोविंशति > **त्रयोविंशतिः** (र् = उ, गुण तथा विभक्तिकार्य पूर्ववत्)।

---

१. "चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९ सूत्रे भाष्ये—"एकादश द्वादशेति-कोऽयं समासः? एकादीनां दशादिभिर्द्वन्द्वसमासः। एकादीनां दशादिभिर्द्वन्द्व इति चेत् विंशत्यादिभिर्वचनं प्राप्नोति-एकविंशतिः द्वाविंशतिः"। एवं पूर्वपक्षिणा उक्ते सिद्धान्तिना उक्तम्—"सिद्धं तु अधिकान्ता संख्या, समानाधिकरणाऽधिकारे अधिकलोपश्चेति वक्तव्यम्। एकाधिका विंशतिः = एकविंशतिः। द्व्यधिका विंशतिः = द्वाविंशतिरिति। यदि समानाधिकरणः स्वरो न सिध्यति। यद्धि तत्संख्यापूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवतीति द्वन्द्व इत्येवं तत्। किं पुनः कारणं द्वन्द्व इत्येवं तत्? इह मा भूत्-शतसहस्रमिति। षष्ठीतत्पुरुषोऽयम्। अस्तु तर्हि द्वन्द्वः। ननु विंशत्यादिषु वचनं न सिध्यति। नैवं दोषः। "सर्वो द्वन्द्वः विभाषैकवद्भवति" इत्युक्तम्। अत्र एकादश-द्वादशविषये एव शङ्कासमाधानयोः करणात् एकादि नवान्तानां द्वन्द्वतत्पुरुषयोः अनभिधानमिति सूचितम्। सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवदित्यनेन समाहारद्वन्द्वाभिधानेन एक-वचनस्योपपत्तिकरणेन एकवचनमेवेष्यते इति कल्प्यते।

त्रिशतम् । त्रिसहस्रम् । (८१०) विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् ६ । ३ । ४९ ॥ द्व्यष्टनोस्त्रेश्च प्रागुक्तं वा स्याच्चत्वारिंशदादौ परे । द्विचत्वारिंशत्—द्वाचत्वा-

---

इति । त्रिरावृत्ता दशेत्यर्थः । 'बहुव्रीहौ संख्येये डच्' इति डच् । नन्वत्र त्रिरित्यस्य 'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुजन्तत्वात् समासेऽपि सुचः श्रवणापत्तिरित्यत आह—**सुजर्थे बहुव्रीहिरिति** । सुजर्थे क्रियाभ्यावृत्तौ लक्षणया विद्यमानस्य त्रिशब्दस्यैवात्र 'सङ्ख्ययाव्यय' इति बहुव्रीहिः न तु सुजन्तस्येत्यर्थः । **त्र्यशीति-रिति** । त्रयश्चाशीतिश्चेति समाहारद्वन्द्वः । स्त्रीत्वं लोकात् । त्र्यधिकाशीतिरिति वा । **त्रिशतमिति** । त्रयश्च शतं चेति समाहारद्वन्द्वः, त्र्यधिकं शतमिति वा । एवं त्रिसहस्रमित्यपि ।

(८१०) विभाषा चत्वारिंशत् । व्यवहितस्यापि द्व्यष्टनोरिस्यस्य सम्बन्धाय—**सर्वेषामिति** । द्व्यष्टनोस्त्रेश्चेत्यर्थः । तदाह—**द्व्यष्टनोस्त्रेश्चेति** ।

प्रत्युदाहरण—(१) 'अबहुव्रीहौ' पद का निवेश होने से बहुव्रीहि समास में 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश नहीं होता । अतः त्रिदशाः में (त्रिः दश = त्रिरावृत्ताः दश = तीन से गुणित दश) 'त्रयस्' आदेश नहीं हुआ । **अलौकिक विग्रह**—त्रि+जस्, दशन्+जस् > त्रि-दशन् (बहुव्रीहि समास—"संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये" २-२-२५) > त्रि-दशन् +अ ('डच्'—"बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगुणात्" ५-४-७२) > त्रि-दश्+अ (टि-लोप) > त्रि-दश+जस् > **त्रिदशाः** (पूर्वसवर्ण दीर्घ) । यहाँ पर 'सुच्' प्रत्यय के अर्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है । 'सुच्' प्रत्यय क्रिया की बार बार आवृत्ति' (क्रियाभ्यावृत्तिगणने) करना अर्थ में होता है । विग्रह-वाक्यस्थ 'त्रिः' पद में 'सुच्' (स्) का श्रवण होता है । समास करने पर 'सुच्' प्रत्यय का श्रवण इस कारण नहीं होता कि 'त्रि' शब्द में 'सुच्' प्रत्यय के अर्थ (अभ्यावृत्ति) की लक्षणा करने पर 'दशन्' शब्द का संख्यावाची 'त्रि' शब्द के साथ समास होता है । (२) इसी प्रकार 'अशीति' शब्द परे रहते भी 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश नहीं होता । अतः त्र्यशीतिः (तिरासी) में 'त्रयस्' आदेश नहीं हुआ । **लौकिक विग्रह**—त्रयश्च अशीतिश्च । **अलौकिक विग्रह**—त्रि+जस्, अशीति+सु > त्रि-अशीति (समाहार द्वन्द्व) > त्र्यशीति (यण्) > **त्र्यशीतिः** (विभक्तिकार्य) ।

विशेष—१-पूर्व सूत्र के अनुसार इस सूत्र के साथ भी 'प्राक् शतादिति वक्तव्यम्'—वार्तिक का अनुसरण करना आवश्यक है । तदनुसार 'त्रि' शब्दोत्तर शत एवं उससे अधिक संख्यावाची शब्दों के रहने पर **त्रिशतम्** (एक सौ तीन) तथा **त्रिसहस्रम्** (एक हजार तीन) आदि प्रयोगों में 'त्रि' के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश नहीं होता ।

२—उपर्युक्त त्रयोदश, त्रयोविंशतिः, त्र्यशीतिः, त्रिशतम्, त्रिसहस्रम्-उदाहरणों में पूर्वनिर्दिष्ट विग्रह के अतिरिक्त क्रमशः-त्र्यधिका दश, त्र्यधिका विंशतिः, त्र्यधिका अशीतिः, त्र्यधिकं शतम्, त्र्यधिकं सहस्रम्-विग्रह भी हो सकता है । इस विग्रह में मध्यमपद-लोपी समास करने से 'अधिक' शब्द का लोप कर 'त्रि' के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश होगा ।

(८१०) पद—विभाषा, चत्वारिंशत्प्रभृतौ, सर्वेषाम् । **अनुवृत्ति**—संख्यायाम् अबहुव्रीह्य-शीत्योः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'द्वि' तथा 'अष्टन्' को एवं 'त्रि' शब्द को भी 'चत्वारिंशत्' आदि शब्दों के उत्तरवर्ती रहने पर पूर्वनिर्दिष्ट कार्य विकल्प से हो । उदा० १—द्विचत्वारिंशत्—द्वाचत्वारिंशत् । २—अष्टचत्वारिंशत्-अष्टाचत्वारिंशत् । ३—त्रिचत्वारिंशत्-त्रयश्चत्वारिंशत् । इसी प्रकार पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, नवति शब्दों के परवर्ती होने पर (यथाप्राप्त उपर्युक्त कार्य हों) ।

रिंशत् । अष्टचत्वारिंशत्—अष्टाचत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत्—त्रयश्चत्वारिंशत् । एवं पञ्चाशत्षष्टिसप्ततिनवतिषु । (८११) **एकादिश्चैकस्य चादुक् ६ । ३ । ७६ ॥** एकादिर्नञ्प्रकृत्या स्यादेकस्य चादुगागमश्च । नञो विंशत्या सह समासे कृते एकशब्देन सह

---

(८११) **एकादिश्च** । 'न लोपो नञः' इति नञः इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते, तच्च प्रथमया विपरिणम्यते । 'नभ्राण्नपात्' इत्यतः प्रकृत्येत्यनुवर्तते । तदाह—**एकादिर्नञ् प्रकृत्येति** । एकः आदिर्यस्येति विग्रहः । **एकस्य चादुगागमश्चेति** । आदुगिति अदुगिति वा छेदः । **नञो विंशत्येति** । न विंशतिरिति विग्रहे नञ्समासे सति नविंशतिशब्दस्य एकशब्देन तृतीयान्तेन सह एकेन नविंशतिरिति विग्रहे समास इत्यन्वयः । ननु तत्कृतत्वाद्य-

---

विवरण—प्रकृत सूत्र का 'सर्वेषाम्' पद पूर्वोक्त दो सूत्रों के स्थानी तथा आदेशों की ओर संकेत करता है । केवल उत्तरपदस्थ संख्यावाचक शब्दों का पार्थक्य एवं वैकल्पिक विधान ही इस सूत्र का प्रमुख नियम है । अतः पूर्वोक्त दोनों सूत्रों ८०८, ८०९ के विषय की व्यापकता द्वारा इस सूत्र की उपादेयता बढ़ जाती है । उल्लिखित अनुवृत्तियों से समन्वित हो सूत्रोक्त पद यह अभिव्यञ्जित करते हैं कि "द्वि एवं अष्टन् तथा त्रि को (सर्वेषाम्) चत्वारिंशत् आदि संख्या उत्तरपद रहते (चत्वारिंशत्प्रभृतौ) विकल्प से आकारान्तादेश तथा त्रयस् आदेश हो, किन्तु 'बहुव्रीहि' समास तथा 'अशीति' शब्द उत्तर पद रहते यह आदेश न हो" । क्रमशः—**उदाहरण**—(१) **द्वि-चत्वारिंशत्—द्वा-चत्वारिंशत्** (बयालीस) । (२) **त्रि-चत्वारिंशत्—त्रयश्चत्वारिंशत्** (तेतालीस) । (३) **अष्टचत्वारिंशत्-अष्टाचत्वारिंशत्** (अड़तालीस) । इसी प्रकार आगे की संख्याओं के उत्तरपद रहते भी द्वि=द्वा, अष्टन् = अष्टा तथा त्रि = त्रयस् आदेश होंगे । तदनुसार—(१) **द्वि-पञ्चाशत्-द्वा-पञ्चाशत्** । (२) **अष्टपञ्चाशत्—अष्टापञ्चाशत्** तथा (३) **त्रि-पञ्चाशत्-त्रयःपञ्चाशत्** रूप बनेंगे । प्रक्रिया पूर्ववत् जानें ।

(८११) पद—एकादिः, च, एकस्य च, आदुक् । **अनुवृत्ति**—प्रकृत्या, नञः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—एक है आदि में जिसके ऐसे नञ् को प्रकृतिभाव हो तथा एक शब्द को 'आदुक्' आगम हो । 'नञ्' का 'विंशति' के साथ समास करने पर 'एक' शब्द के साथ 'तृतीया' इस योग-विभाग से समास हुआ है । ('द्' को) विकल्प से अनुनासिक हुआ । उदा० एकेन न विंशतिः > एकोनविंशतिः—एकाद्-न-विंशतिः । अर्थात् उन्नीस । वा० दात् (शब्द), दशन् (शब्द) तथा धा प्रत्यय उत्तरपद रहते षष् शब्द को उकार और उत्तरपदस्थ दत्, दशन् एवं धा-प्रत्यय-सम्बन्धी आदिम दकार तथा धकार को ढुत्व हो किन्तु धकार के स्थान में विकल्प से हो" । उदा० १-षोडन् । २-षोडश । ३-षड्धा-षोढा ।

विवरण—कुछ संख्यावाची शब्दों के परस्पर समास के प्रसङ्ग में विहित आदेशों के साथ प्रसङ्गवश अन्य कार्यों का निर्वचन किया जारहा है । प्रकृत सूत्र में 'आदुक्' आगम का विधान किया गया है । ककार एवं उकार की इत्संज्ञा होने से 'अद्' शेष रह जाता है । ककार इत्संज्ञक होने के कारण आगम अन्तावयव होगा । इसके अतिरिक्त यह भी विदित होता है कि इसके साथ यहाँ एक विशेष विधान और भी है । वह है—प्रकृतिभाव । प्रकृतिभाव के सन्दर्भ में 'एक' शब्द से उत्तरवर्ती 'नञ्' समास-परक पद अपेक्षित है । वह अनुवृत्ति-लभ्य है । अष्टाध्यायी-क्रम में इस सूत्र के पूर्व "नभ्राण्-नपात्०" ६-३-७५ सूत्र है । वहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति आरही है । इसके साथ ही अधिकारलभ्य अनुवृत्ति 'उत्तरपदे' तथा "न-लोपो नञः" ६-३-७३ से 'नञः' पद का अनुवृत्ति-जन्य लाभ भी होता है । षष्ठ्यन्त 'नञः' पद प्रथमा में विपरिणत हुआ है ।

'तृतीया' इति योगविभागात्समासः । अनुनासिकविकल्पः । एकेन न विंशतिः> एकान्नविंशतिः—एकाद्नविंशतिः । एकोनविंशतिरित्यर्थः । 'षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेष्टुत्वं

भावात् कथमिह तृतीयासमास इत्यत आह— **तृतीयेति योगविभागादिति । अनुनासिकविकल्प इति ।** तृतीयासमासे कृते सुब्लुकि एक नविंशति इति स्थिते 'नलोपो नञः' इति प्राप्तस्य नकारलोपस्य प्रकृतिभावान्निवृत्तौ एकशब्दस्यादुगागमः । तत्र ककार इत्, उकार उच्चारणार्थः । कित्त्वादन्तावयवः, सवर्णदीर्घः, एकाद्-नविंशतिरिति स्थिते 'यरोऽनुनासिके' इति दकारस्य पक्षे अनुनासिकनकार इत्यर्थः । अदुगागमपक्षेऽपि पररूपं तु अकारोच्चारणसामर्थ्यान्न भवति । एकेन न विंशतिरिति विग्रहवाक्यम् । एकेन हेतुना विंशतिर्न भवतीत्यर्थः । **एकान्नविंशतिः, एकाद्नविंशतिरिति ।** अनुनासिकत्वे तदभावे च रूपम् । **एकोनविंशतिरित्यर्थं इति ।** पर्यवस्यतीति शेषः । एकेन ऊनेति विग्रहः । 'पूर्वसदृश' इति समासः । सा चासौ विंशतिश्च । **षष उत्वमिति ।** दतृशब्दे दशन्—शब्दे च उत्तरपदे परे

इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "एकशब्दपूर्वक उत्तरपदस्थ 'नञ्' समास को प्रकृतिभाव होता है तथा 'एक' शब्द को 'आदुक्' आगम होता है"। **उदाहरण—एकान्नविंशतिः—एकाद्नविंशतिः** (उन्नीस)। प्रकृत उदाहरण में पहले नञ्+विंशतिः > न–विंशतिः—नञ् समास होता है। तत्पश्चात् 'एकेन न-विंशतिः' विग्रह वाक्य में तृतीया तत्पुरुष समास होगा → एक+टा, न–विंशति+सु > एक-न-विंशति (समास तथा प्रकृतिभाव से 'न' की स्थिति) एक–आद्+न–विंशति ('आदुक्' आगम) > **एकान्नविंशतिः** (सवर्ण दीर्घ तथा द् = न्—अनुनासिक—"यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" ८-४-४४ तथा विभक्ति-कार्य)। अनुनासिक न होने पर—**एकाद्-नविंशतिः** ।

विशेष—१–तृतीया तत्पुरुष की सम्भावना पर विचार करते हुए भट्टोजिदीक्षित ने इष्ट रूप की सिद्धि के लिये तृतीया-तत्पुरुषसमास-विधायक सूत्र "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन" २-१-३० के **योग-विभाग** की कल्पना की है। इसका कारण यह है कि तृतीया-तत्पुरुष समास में तृतीयान्त पूर्वपद से उत्तरवर्ती समस्यमान शब्द का तृतीयान्तार्थकृत गुणवाची होना आवश्यक है। जैसा कि शङ्कुलया खण्डः > शङ्कुलाखण्डः में 'सरौते का काटनारूपी' गुण का कथन 'खण्डः' से किया गया है। किन्तु 'एकेन न–विंशतिः' में तृतीयान्त पद 'एकेन' का तत्कृतार्थ गुणकथन 'न विंशतिः' से नहीं होता है। अतः योगविभाग की कल्पना करनी पड़ी।

२—'एकान्नविंशतिः' का अर्थ 'एकोनविंशतिः' (अर्थात् बीस में एक कम = १९) है। 'एकोनविंशतिः' भी समस्त शब्द है। उसका विग्रह है—एकेन ऊना > एकोना (समास—"पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः" २-१-३१)। एकोना चासौ विंशतिः> एकोनाविंशतिः > **एकोनविंशतिः** (कर्मधारय समास)।

३—'आदुक्' के स्थान पर 'अदुक्' पदच्छेद भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में एक+अद् में सवर्ण दीर्घ होगा। सवर्ण दीर्घ का बाधक पररूप अवश्य प्राप्त था, किन्तु 'अदुक्' में अकार का उच्चारण व्यर्थ हो जाता, उसके सामर्थ्य से पररूप नहीं होता।

वार्तिक—" 'षष्' शब्द से दतृ शब्द, शत शब्द तथा धा (प्रत्यय) के परवर्ती होने पर 'षष्' के अन्त्य वर्ण को 'उ'-कार आदेश होता है एवम् उत्तरपदस्थ आदिम वर्ण (द) के स्थान में ष्टुत्व (ड) हो, किन्तु 'धा' के धकार को विकल्प से ष्टुत्व (ढ) हो"। (हरदत्त के अनुसार) उकार तथा ढकार (ष्टुत्व) की प्रवृत्ति साथ ही होती है। अर्थात् जब ष्टुत्व नहीं होगा तो 'उ'कार भी नहीं होता—"सन्नियोग-शिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः" (न्याय)।

च धासु वेति वाच्यम्' (वा ४००१-४००२)। षोडन्। षोडश। षड्धा-षोढा।

धाप्रत्यये च परे षष्-शब्दस्य उत्त्वं, उत्तरखण्डस्य दतृशब्दस्य दशन्शब्दस्य धाप्रत्ययस्य च आदेर्दकारस्य धकारस्य च ष्टुत्वं च वक्तव्यमित्यर्थः। ष्टुत्वमित्येव छेदः, न तु ष्टुत्वमिति प्रयोजनाभावात्। 'धासु वा' इति बहुवचनाद्विधार्थधाप्रत्ययस्यैव ग्रहणमिति भाष्यम्। धाप्रत्यये परे षष उत्त्वं वा स्यात्। ष्टुत्वं तु उत्त्वपक्षे तदभावपक्षे च पूर्ववाक्यान्नित्यमेवेति कैयटः। उत्त्वपक्ष एव नित्यं ष्टुत्वमिति हरदत्तः। **षोडन्निति**। षट् दन्ता यस्येति बहुव्रीहौ 'वयसि दन्तस्य दतृ' इति दत्रादेशः, ऋकारस्य इत्त्वम्। अन्त्यषकारस्य उत्त्वम्। आद्गुणः, दकारस्य ष्टुत्वेन डकारः, सुप्रत्यये उगित्त्वान्नुम्, सुलोपः, संयोगान्तलोपः। तस्यासिद्धत्वान्न दीर्घः। षोडन् इति रूपम्। **षोडशेति**। षट् च दश चेति, षडधिका दशेति वा विग्रहः। अन्त्यस्य षकारस्य उत्त्वम्, आद् गुणः, दकारस्य ष्टुत्वेन डकारः। हरदत्तमतमनुसृत्य उत्वाभावपक्षे धासु वेत्यस्योदाहरति—**षड्धेति**। 'संख्याया विधार्थे धा'। अन्त्यस्य षकारस्य उत्त्वाभावपक्षे तु ष्टुत्वमपि न भवति। 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन षकारस्य ड इति भावः। उत्त्वपक्षे उदाहरति—**षोढेति**। धाप्रत्ययः, अन्त्यस्य

क्रमशः **उदाहरण**—(१) षोडन् (छह दाँतों वाला)। **विग्रह**—षड् दन्ताः यस्य। **अलौकिक विग्रह**—षष्+जस्, दन्त+जस् > षष्-दन्त (समास-"अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४, विभक्तिलोप) > षष्-दत् (दन्त = दत् – "वयसि दन्तस्य दतृ" ५-४-१४१) > ष-उ-दत् (ष् = उ) > षोडत् (द् = ड्-ष्टुत्व – उपर्युक्त वार्तिक से तथा गुण-सन्धि) > षोडत्+सु (विभक्त्युत्पत्ति) > षोडन्-त्+सु ('नुम्' आगम-"उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" ७-१-७०) > षोडन्-त् (विभक्तिलोप) > **षोडन्** ('त्'-लोप-"संयोगान्तस्य लोपः" ८-२-२३)। (२) षोडश (सोलह)। **विग्रह**—षट् च दश च। **अलौकिक विग्रह**—षष्+जस्, दशन्+जस् > षष्-दशन् (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप) > ष-उ-दशन् (ष् = उ) > षोडशन् (द् = ड्) > षोडशन् + सु > षोडशन् > **षोडश** (पुनः विभक्ति, उसका लोप, 'न्'-लोप)। (३) षड्धा-षोढा (छह प्रकार का)। **विग्रहात्मकवाक्य**—षड्भिः प्रकारैः। **प्रक्रिया**—षष्+धा (तद्धित प्रत्यय-'धा'-"संख्याया विधार्थे धा" ५-३-४२) > **षड्धा** ("षष उत्वम्०" उपर्युक्त वार्तिक से हरदत्त के मत में 'ष्' के स्थान पर उकार न होने पर 'ध्' को 'ढ्'-ष्टुत्व भी नहीं होगा, अतः ष् = ड्—जश्त्व-"झलां जशोऽन्ते" ८-२-३९)। किन्तु जहाँ उत्व होगा वहाँ 'ध्' को 'ढ्' भी होगा, ऐसी स्थिति में **षोढा** (ष् = उ, गुण तथा ध् = ढ्)।

विशेष—१-भट्टोजि दीक्षित ने वार्तिक के अर्थ में हरदत्त का अनुसरण किया है। कैयट ने भाष्यकार के मत का उल्लेख कर यह सूचित किया है कि उत्व न होने पर भी ष्टुत्व की प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं है। उसमें उन्होंने यह युक्ति दी है कि उपर्युक्त वार्तिक में 'धासु वा' अंशस्थ सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त 'धासु' पद केवल धकारनिमित्तक कार्य (उकार) के विकल्प को सूचित करता है। अतः उत्व ही विकल्प से होगा। उकार न होने पर भी ष्टुत्व की प्रवृत्ति होगी। इस हेतु भाष्यकार ने उत्वाभाव पक्ष में 'षड्ढा' उदाहरण दिया है[1]। उत्व पक्ष में षोढा।

---

१. 'उत्तरपदादेः' इत्यत्र उत्तरपदशब्दः प्रत्यासत्त्या प्रकृतवाक्यघटकनिमित्तपरः। तेन धाप्रत्ययस्योत्तरपदत्वाभावेऽपि न क्षतिः। वाक्यभेदेन च ष्टुत्वविधानम्। विधेयभेदे वाक्यभेदस्य न्याय्यत्वात्। विभिन्नवाक्ये च वा-शब्दो न सम्बध्यते, तेन तस्य उत्वाभावेऽपि प्रवृत्तिः। अत एव भाष्ये "षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च वक्तव्यम्" "धासु चेति वक्तव्यम्" "उत्तरपदादेः ष्टुत्वं वक्तव्यम्" इति पृथक् वचनानि पठितानि"।

(८१२) परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २ । ४ । २६ ॥ एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्धपिप्पली । 'द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्व-

---

षकारस्य उत्त्वम्, आद् गुणः, ढुत्वेन धस्य ढ इति भावः । कैयटमते तु उत्त्वाभावपक्षेऽपि ढुत्वं नित्यमेव । कैयटमतमेव युक्तम्, षोढा–षड्ढा इत्येव भाष्ये उदाहृतत्वादिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् ।

(८१२) **परवल्लिङ्गम्** । परवदिति षष्ठ्यन्ताद्वतिः । तदाह–**एतयोः परपदस्येवेति** । द्वन्द्वपदमत्र इतरेतरयोगद्वन्द्वपरम्, समाहारद्वन्द्वे 'स नपुंसकम्' इत्यस्य तदपवादत्वात् । **कुक्कुटमयूर्याविमे इति** । अत्र द्वन्द्वे अवयवलिङ्गेनानियमे प्राप्ते नियमार्थमिदम् । **अर्धपिप्पलीति** । 'अर्धं नपुंसकम्' इति तत्पुरुषः । अस्य एकदेशिसमासस्य पूर्वपदार्थप्रधानतया पूर्वपदलिङ्गे प्राप्ते उत्तरपदलिङ्गार्थं विधिः । अत्र 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति षष्ठ्यन्तमर्थपरम् । द्वन्द्वतत्पुरुषार्थयोरित्यर्थः । एवञ्च कुक्कुटमयूर्याविमे इत्यनुप्रयोगेऽपि तदेव लिङ्गम् । **द्विगुप्राप्तेति** । द्विगु, प्राप्त, आपन्न, अलम्पूर्व, गतिसमास एतेषु परवल्लिङ्गस्य प्रतिषेधो

२—वार्तिक में 'धा' पद धा–प्रत्यय का ही बोधक है । यदि धकार मात्र की विवक्षा होती तो 'धासु' के स्थान पर 'धे च' कहा जाता । बहुवचन में 'धासु' निर्देश करने से यह विदित होता है कि विभिन्न अधिकरणवाची संख्यावाचक शब्द से अनेकत्वबोधक अर्थ में विधीयमान 'धा' प्रत्यय का ही यहाँ ग्रहण किया गया है । अतः 'षड् दधाति' इस अर्थ में 'धा' धातु से कृदन्त 'क' प्रत्यय होने के पश्चात् 'टाप्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'षड्धा' में प्रकृत वार्तिक की प्रवृत्ति नहीं होती । अतः 'उत्व' और 'ढत्व' दोनों ही नहीं हुए[1] ।

(८१२) पद—परवत् , लिङ्गं, द्वन्द्वतत्पुरुषयोः । **नियम·(अतिदेश)-सूत्र ।**

मूलार्थ—इन में पर (अन्तिम) शब्द के समान लिङ्ग होता है । उदा० १–कुक्कुटमयूर्यौ (इमे)—मयूरीकुक्कुटौ (इमौ) । २–अर्धपिप्पली । वा०–द्विगु समास एवं प्राप्त, आपन्न और अलंपूर्वक समास तथा गति–समास में पर-शब्द के समान लिङ्ग न हो । उदा० १–पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः > पञ्चकपालः । २–प्राप्तः जीविकां > प्राप्तजीविकः । ३–आपन्नजीविकः । ४–अलं कुमार्यै > अलंकुमारिः । निषेध-ज्ञापन से समास की भी कल्पना । ५–निष्कौशाम्बिः ।

विवरण—समास होने के पश्चात् लिङ्ग के विषय में सन्देह हो सकता है कि पूर्व-पद के अनुसार लिङ्ग हो या उत्तर पद के अनुसार । इस सन्देह का निराकरण करने के लिए द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में विशेष लिङ्ग-व्यवस्था की जा रही है । तदनुसार "द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास के अर्थ में पर पद के समान अर्थात् उत्तरपद को अभिलक्षित कर लिङ्ग का प्रयोग किया जाता है" । तात्पर्य यह है कि जो लिङ्ग उत्तर पद का होता है, वही लिङ्ग समस्त-पद का भी होगा । **उदाहरण**—(१) क–**कुक्कुटमयूर्यौ** । **विग्रह**—कुक्कुटश्च मयूरी च । समास–द्वन्द्व समास । उत्तरपद 'मयूरी' के समान स्त्रीलिङ्ग । स्त्री–लिङ्ग में द्वि-वचन की स्पष्टता के लिए 'इमे' (सर्वनाम) का प्रयोग किया गया है । ख–**मयूरीकुक्कुटौ** । **विग्रह**—मयूरी च कुक्कुटश्च । द्वन्द्व समास । उत्तर-पद 'कुक्कुट' के समान पुंलिङ्ग । द्विवचन पुंलिङ्ग की स्पष्टता के लिए 'इमौ' का प्रयोग किया गया है । (२) **अर्धपिप्पली** । **विग्रह**—पिप्पल्याः अर्धम् । "समास–"अर्धं नपुंसकम्" ७१३ । समास होने के पश्चात् प्रकृत सूत्र के सहयोग से अन्तिम पद 'पिप्पली' के समान स्त्रीलिङ्ग हुआ ।

---

१. "धे चेत्येव वक्तव्ये धास्विति बहुवचनोपादानेन नानाधिकरणवाचिनः संख्याशब्दाद् बहुत्व-वदर्थे वर्तमानाद् यो धा-प्रत्ययो विहितः तस्यैव ग्रहणम् । अत एव उत्तरपदाधिकारबाधः तदंशे कल्प्यते इत्येव प्राचीनैः व्याख्यातम्" ।—ल० श० शेखरटीकायां भैरवमिश्रः—पृ० ७६ ।

गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः' (वा १५४५)। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः। आपन्नजीविकः। अलं कुमार्यै >अलंकुमारिः। अत एव ज्ञापकात्समासः। निष्कौशाम्बिः। (८१३) पूर्ववदश्ववडवौ २।४।२७॥

वक्तव्य इत्यर्थः। **पञ्चस्विति**। उत्तरपदस्य नपुंसकत्वम् समासस्य नपुंसकत्वं प्राप्तं न भवति, किन्तु विशेष्यलिङ्गमेव। **प्राप्तजीविक इति**। अत्र उत्तरपदस्य जीविकाशब्दस्य यल्लिङ्गं तत्समासस्य न भवति। अलम्पूर्वस्योदाहरति—**अलंकुमार्यै अलङ्कुमारिरिति**। अत्र उत्तरपदकुमारीलिङ्गं समासस्य न भवति। नन्वत्र तदर्थादियोगाभावान्न चतुर्थीसमासः। 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे' इत्यपि न भवति, तस्य समासस्य नित्यत्वेन अलं कुमार्यै इति भाष्ये विग्रहप्रदर्शनानुपपत्तेरित्यत आह—**अत एवेति**। 'एकविभक्ति च' इति कुमारी शब्दस्योपसर्जनत्वाद्ध्रस्वः। गतिसमासमुदाहरति—**निष्कौशाम्बिरिति**। अत्र कौशाम्बीशब्दलिङ्गं समासस्य न भवति। यद्यपि निरादिसमास एवायम्, न तु गतिसमासः, प्रादिग्रहणमगत्यर्थमित्युक्तेः। तथापि गतिसमासग्रहणं प्रादिसमासोपलक्षणमित्याशयः।

(८१३) पूर्ववदश्ववडवौ। अश्वश्च वडवा च इति द्वन्द्वे परवल्लिङ्गं बाधित्वा पूर्व-

---

कुछ परिस्थितियों में उत्तरवर्ती पद के लिङ्ग का अनुसरण नहीं किया जाता। अतः सूत्रार्थ में संकोच किया जा रहा है। उसके विधायक **वार्तिक** द्वारा यह बतलाया जा रहा है कि "द्विगु समास, एवं प्राप्त, आपन्न तथा अलं-पूर्वक समास और गति-समास में उत्तरपद के समान लिङ्ग नहीं होता"। तदनुसार (१) **पञ्चकपालः** में नपुंसक-लिङ्ग नहीं हुआ। **विग्रह**—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः। यहाँ तद्धितार्थ में 'द्विगु' समास (सूत्र ७२८) हुआ है। अतः पर पद के अनुसार नपुंसक-लिङ्ग न होकर पुंलिङ्ग हुआ। (२) इसी प्रकार **प्राप्तजीविकः** (**विग्रह**—प्राप्तः जीविकाम्) तथा (३) **आपन्नजीविकः** (विग्रह—आपन्नः जीविकाम्) में भी 'जीविका' शब्द के अनुसार स्त्रीलिङ्ग का बाध कर वार्तिक के अनुसार पुंलिङ्ग (विशेष्य-वाची शब्द के अनुसार) हुआ। यहाँ "प्राप्तापन्ने च द्वितीयया"–७१५ से तत्पुरुष समास हुआ है। (४) **अलंकुमारिः**– (कुमारी के योग्य)। यहाँ समस्त पद अलं पूर्वक होने के कारण 'पर'–शब्दानुसार स्त्रीलिङ्ग का निषेध हो गया। 'अलं' शब्द के साथ परपदानुसार लिङ्ग का निषेध करने से यह ज्ञापित होता है कि 'अलं' का भी समास होता है। **विग्रह**—अलं कुमार्यै। (५) गति–समास का उदाहरण—**निष्कौशाम्बिः**। **विग्रह**—निर्गतः कौशाम्ब्याः। **समास**—'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' वा०। यहाँ उत्तर–पद 'कौशाम्बी' के अनुसार स्त्रीलिङ्ग न होकर वार्तिक के सहयोग से पुंलिङ्ग हुआ। 'गति' समास से तात्पर्य यहाँ प्रादि-समास है।

विशेष—समास में जब प्रत्येक पद भिन्न लिङ्गों वाला होता है तभी लिङ्ग का निर्णय आवश्यक होता है। द्वन्द्व में तो सभी पद प्रधान होते हैं, अतः किसी भी पद का लिङ्ग हो सकता था। इस सन्देह का निवारण 'इतरेतर द्वन्द्व' में किया जाता है, जिससे वहाँ पर-पदानुसार लिङ्ग हो। समाहार-द्वन्द्व में तो नपुंसक लिङ्ग ही होता है—"स नपुंसकम्" २-४-१७। तत्पुरुष समास उत्तरपद प्रधान ही होता है, उस स्थिति में इस परवर्ती पदानुसार लिङ्ग की उपादेयता केवल एकदेशी तत्पुरुष समास में है, क्योंकि वह उत्तर पद-प्रधान नहीं होता।

(८१३) पद—पूर्ववद्, अश्ववडवौ। अतिदेश-सूत्र।

मूलार्थ—द्विवचन अविवक्षित है। **उदाहरण**—अश्ववडवौ। अश्ववडवान्। अश्ववडवैः।

विवरण—द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समासों में समस्त शब्द की लिङ्ग–व्यवस्था पूर्व सूत्र (८१२)

द्विवचनमतन्त्रम्। अश्ववडवौ। अश्ववडवान्। अश्ववडवैः। (८१४) रात्राह्नाहाः पुंसि २।४।२९॥ एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव। अनन्तरत्वात्परवल्लिङ्गतापवादोऽपि

वल्लिङ्गार्थमिदम्। अश्ववडवाविति द्वन्द्वः पूर्वपदस्य लिङ्गं लभते इत्यर्थे बहुवचने विभक्त्यन्तरे च न स्यादित्यत आह—**द्विवचनमतन्त्रमिति**। उपलक्षणमिदम्। द्विवचनं विभक्तिश्चेति द्वयमपि अविवक्षितमित्यर्थः। पूर्ववद्ग्रहणमत्र लिङ्गम्। अन्यथा निपातनादेव सिद्धे किं तेनेति भावः।

(८१४) रात्राह्नाहाः। द्वन्द्वतत्पुरुषयोरित्यनुवृत्तं प्रथमाबहुवचनेन विपरिणतं रात्रादिभिर्विशेष्यन्ते, तदन्तविधिः। रात्राह्नाहान्तद्वन्द्वतत्पुरुषाः। पुंसीत्यर्थः। फलितमाह—**एतदन्ताविति**। **परवल्लिङ्गतापवादः**। ननु अहोरात्र इति समाहारद्वन्द्वे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वप्रसङ्गः। न च नपुंसकत्वस्याप्ययं पुंस्त्वविधिरपवाद इति वाच्यम्,

---

द्वारा सामान्यतया की जा चुकी है। अब विशेष विधान द्वारा सामान्य-नियम के अपवादस्वरूप स्थल-विशेषों का उल्लेख किया जारहा है। तदनुसार "अश्व तथा वडवा—इन दो शब्दों के समास में जो लिङ्ग पूर्वपद का होता है, वही समस्त पद का होगा"। इस प्रकार यह सूत्र "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" २-४-२६ सूत्र से प्राप्त द्वन्द्व समास में पर-पदानुसारी लिङ्ग का बाधक है। **उदाहरण**—अश्ववडवौ (घोड़ा और घोड़ी)। **लौकिक विग्रह**—अश्वश्च वडवा च। समास-द्वन्द्व। पूर्व सूत्र से प्राप्त स्त्री-लिङ्ग का बाध कर 'अश्व' पद के समान समस्त-शब्द में पुंलिङ्ग हुआ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अश्व-वडवौ' द्वि-वचनान्त प्रयोग किया गया है। इससे यह न समझा जाय कि केवल द्वि-वचन में ही पूर्ववर्ती शब्द का अनुसरण कर लिङ्ग का प्रयोग किया जाय, क्योंकि सूत्रस्थ दूसरे पद 'पूर्ववत्' के कहने से ही 'अश्व' शब्द के समान 'वडवा' शब्द का पुंलिङ्ग में विधान संभव होने के कारण 'टाप्' (स्त्रीत्वविधायक प्रत्यय) की निवृत्ति होने के फलस्वरूप द्विवचन में 'अश्ववडवौ' रूप निष्पन्न हो जाता। अतः 'अश्व-वडवौ' द्विवचन प्रयोग एक प्रकार से अविवक्षित ही है, केवल उपलक्षण मात्र समझा जाय। इसके फलस्वरूप 'अश्ववडवान्' तथा 'अश्ववडवैः' आदि प्रयोगों की बहुवचन में भी समीचीनता मानी गई है। अन्यथा यह सम्भव नहीं रहा।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जासकता है कि यदि केवल द्वि-वचन (अश्ववडवौ) में ही पूर्व पद का लिङ्ग-वचन अभीष्ट होता तो उसका निपातन किया जा सकता था। 'पूर्ववत्' अतिदेश की क्या आवश्यकता थी? इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि 'अश्व-वडवौ' में द्विवचन प्रयोग केवल उन दोनों शब्दों की ही पूर्व-लिङ्गता का परिचायक है, न कि लिङ्ग तथा वचन का[1]।

(८१४) पद—रात्राह्नाहाः, पुंसि। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वतत्पुरुषयोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन शब्दों के अन्त में रहने पर द्वन्द्व और तत्पुरुष समास पुंलिङ्ग में ही हो। अनन्तर होने के कारण परवल्लिङ्गता का बाधक होने के साथ ही पर होने के कारण यह समाहार में नपुंसकता का भी बाधक है। उदा० १—क—अहोरात्रः। ख—रात्रेः पूर्वभागः > पूर्वरात्रः। २—पूर्वाह्नः। ३—द्व्यहः। लि० संख्यापूर्वक रात्रि शब्द नपुंसक लिङ्ग (में होता है)। **उदाहरण**—द्विरात्रम्, त्रिरात्रम्, गणरात्रम्।

---

१. "अत एव पूर्ववदिति चरितार्थम्। अन्यथा निपातनादेव सिद्धे किं तेन? समुदायस्य पूर्ववल्लिङ्गत्वेऽपि उत्तरपदेऽश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् इति निर्देशाट्टापो निवृत्तिः। अश्ववडवाविति समुदायस्य आबन्तत्वाभावात् शीभावाप्राप्त्या वृद्ध्या सिद्धम्। अतिदेशस्तु अनुप्रयोगे चरितार्थः स्यात्, अश्ववडवशब्दार्थः पूर्ववल्लिङ्गं भजते इत्यर्थात्। ल० श० शे० (प्रकृतसूत्रस्थः)।

परत्वात्समाहारनपुंसकतां बाधते । अहोरात्रः । रात्रेः पूर्वभागः पूर्वरात्रः । पूर्वाह्णः । द्व्यहः । 'सङ्ख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' (लि १३१) द्विरात्रम्, त्रिरात्रम्, गणरात्रम् ।

'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायेन अस्य पुंस्त्वविधेः परवल्लिङ्गतामात्रापवादत्वात् । तस्मादहोरात्राविति इतरेतरद्वन्द्व एवेहोदाहर्तुमुचित इत्यत आह—**अनन्तरत्वादिति** । **अयमिति** । पुंस्त्वविधिरिति शेषः । **अहोरात्र इति** । अहश्च रात्रिश्च तयोस्समाहार इति द्वन्द्वे परत्वान्नपुंसकत्वम्, अपवादत्वात् परवल्लिङ्गमपि बाधित्वा अनेन पुंस्त्वम् । 'अहस्सर्वैकदेश' इत्यच् । **पूर्वाह्ण इति** । अह्नः पूर्वमित्येकदेशिसमासः । 'राजाहस्सखिभ्यः' इति टच् । 'अह्नोऽह्नः' इत्यह्नादेशः । परवल्लिङ्गं नपुसकं च बाधित्वा पुंस्त्वम् । **द्व्यह्न इति** । द्वयोरह्नोस्समाहार इति विग्रहे द्विगुः, टच्, 'न सङ्ख्यादेस्समाहारे' इत्यह्नादेशनिषेधः । परवल्लिङ्गं बाधित्वा पुंस्त्वम् । उत्तरपदस्याहन्शब्दस्य अकारान्तत्वाभावान्न स्त्रीत्वम्, समासान्तस्य समासभक्तत्वात् । **सङ्ख्यापूर्वम्** । लिङ्गानुशासनसूत्रमिदम् । न त्वष्टाध्यायीस्थं सूत्रम्, नापि वार्तिकम्, भाष्ये अदर्शनात् । 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इत्यस्यायमपवादः । **त्रिरात्रमिति** । समाहारद्विगुः । 'अहस्सर्वैकदेश' इत्यच् । **गणरात्रमिति** । गणशब्दो बहुपर्यायः, 'बहुगणवतु' इति संख्यात्वम् । गणानां रात्रीणां समाहार इति द्विगुः, अच् ।

विवरण—परवल्लिङ्गता के बाधस्वरूप अन्य शब्दों की समीचीनता के लिए पाणिनि का यह उपक्रम आगे भी चलेगा । तदनुसार "कृतसमासान्त 'रात्र', 'अह्न' तथा 'अह' शब्दों का द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में—पुंलिङ्ग में ही प्रयोग हो" । प्रकरणवश "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" २-४-२६ से 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' पद धाराप्रवाह के समान अनुवर्तमान होकर प्रथमा बहुवचन में विपरिणत होता हुआ सूत्रस्थ 'रात्राह्नाहाः' पद का विशेष्य बनता है । अतः विशेषण में तदन्त-विधि होने पर 'रात्राह्नाहान्त' (रात्र, अह्न तथा अह-शब्दान्त) द्वन्द्व-तत्पुरुष अर्थ का लाभ होता है। रात्र-शब्दान्त का **उदाहरण**—(१) क-अहोरात्रः (दिन और रात)। **लौकिक विग्रह**—अहश्च रात्रिश्च, तयोः समाहारः । **अलौकिक विग्रह**—अहन्+सु, रात्रि+सु > अहोरात्रः। रूपसिद्धि सूत्र सं० ७८७ के अनुसार जानें ।

विशेष—यहाँ पर सामान्यतया 'पर' शब्द के समान स्त्रीलिङ्ग की प्राप्ति रही (सू० ८१२), किन्तु प्रकृत सूत्र ने समीपस्थ होने से अपवाद-स्वरूप उसका बाध कर पुंलिङ्ग का विधान किया । इसके अतिरिक्त यह पुंस्त्व-विधान समाहार-अर्थ में विशेषतया प्राप्त नपुंसक-लिङ्ग ("स नपुंसकम्" २-४-१७) का भी (पाणिनि अष्टाध्यायी-क्रम में पर होने के कारण) बाधक है ।

उदाहरण—१-पूर्वरात्रः (रात का पहला भाग)। **विग्रह**—रात्रेः पूर्वम् । **अलौकिक विग्रह**—रात्रि+ङस्, पूर्व+सु > पूर्वरात्रः (एकदेशि समास सू० ७८७)। रूपसिद्धि ७८७ सूत्र में देखें। (२) 'अह्न'-शब्दान्त का उदाहरण—**पूर्वाह्णः** (दिन का पहला भाग)। **विग्रह**—अह्नः पूर्वम् (यहाँ भी एकदेशि समासान्त 'टच्' प्रत्यय तथा 'अहन् = अह्न आदेश तथा णत्व होते हैं)। प्रकृत सूत्र द्वारा पुंलिङ्ग का विधान हुआ है। (३) 'अह' शब्दान्त का उदाहरण—**द्व्यहः** (दो दिन)। द्वयोः अह्नोः समाहारः—द्विगुसमास, समासान्त 'टच्' प्रत्यय, समाहार अर्थ में "न संख्यादेः समाहारे" ७९३ से 'अहन्' के स्थान पर 'अह्न' आदेश का निषेध तथा प्रकृत सूत्र से पुंलिङ्ग का विधान। उत्तरपदस्थ 'अहन्' शब्द अकारान्त न होने के कारण स्त्रीलिङ्ग नहीं । समासान्त 'टच्' प्रत्यय होने के पश्चात् यद्यपि अकारान्त है, किन्तु वह समास का ही अङ्ग है—अतः उसे मान कर स्त्रीलिङ्ग का विधान नहीं हो सकता।

(८१५) अपथं नपुंसकम् २ । ४ । ३० ॥ तत्पुरुषः इत्येव । अन्यत्र तु अपथो देशः । कृतसमासान्तनिर्देशान्नेह । अपन्थाः । **(८१६) अर्धर्चाः पुंसि च २ । ४ । ३१ ॥**

---

(८१५) अपथं नपुंसकम् । न पन्थाः इति विग्रहे नञ्समासो नञो नस्य लोपे 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्यये टिलोपे अपथशब्दः स नपुंसकमित्यर्थः । परवल्लिङ्गतापवादः । तत्पुरुष इत्येवेति । 'परवल्लिङ्गम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । द्वन्द्वग्रहणं तु नानुवर्तते, अयोग्यत्वात् । अन्यत्र त्विति । बहुव्रीहावित्यर्थः । अपन्था इति । 'पथो विभाषा' इति समासान्तविकल्पः । 'पथः सङ्ख्याव्ययादेः' इति वक्ष्यमाणवार्तिकेन गतार्थमेवेदं सूत्रम् ।

विशेष—इस सन्दर्भ में संख्यापूर्वक 'रात्र' शब्द की नपुंसक लिङ्ग में समीचीनता बताने हेतु भट्टोजी दीक्षित '**लिङ्गानुशासन**' प्रकरणस्थ नियम की ओर ध्यान दिलाते हुए तीन उदाहरणों को प्रस्तुत कर रहे हैं। वे हैं—(१) **द्विरात्रम्** (दो रात), (२) **त्रिरात्रम्** (तीन रात) तथा (३) **गणरात्रम्** (बहुत सी रातें)। इन तीनों उदाहरणों के विग्रह क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) द्वयोः रात्र्योः समाहारः, (२) तिसृणां रात्रीणां समाहारः तथा (३) गणानां (= बहूनां) रात्रीणां समाहारः। यहाँ 'गण' शब्द संख्यावाचक बहुत्वार्थक है। इसमें पाणिनि का सूत्र "बहुगण-वतुडति संख्या" १-१-२३ ही प्रमाण है। तीनों उदाहरणों में 'द्विगु' समास है तथा समासान्त 'अच्' प्रत्यय होने से अकारान्त शब्द हो गया है। लिङ्गानुशासन सूत्र[1] के अनुसार परवत् लिङ्ग के बाधक पुंस्त्व-विधान को भी बाध कर यहाँ नपुंसक लिङ्ग हुआ। यह 'प्रतिप्रसव' समाहार द्विगु में ही प्रवृत्त होता है।[2]

(८१५) पद—अपथं, नपुंसकम् । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तत्पुरुष में ही ('अपथं' नपुंसक लिङ्ग में हो)। अन्यत्र अपथः (अर्थात् देश)। समासान्त-प्रत्यय-युक्त निर्देश होने के कारण 'अपन्थाः' में नपुंसक लिङ्ग नहीं हुआ।

विवरण—यह भी परवत्-लिङ्ग-विधान का अपवाद है। प्रकृत सूत्र का विधान तत्पुरुष-समास तक ही सीमित है। इसलिये "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" २-४-२६ से केवल 'तत्पुरुष' पद की अनुवृत्ति ली जाती है। द्वन्द्व समास में 'अपथ' पद निष्पन्न नहीं हो सकता। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "नञ्-तत्पुरुष–समास में प्रयुक्त 'अपथ' शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त हो"। **उदाहरण—अपथम्** (बुरा मार्ग) **विग्रह**—न पन्थाः। प्रक्रिया पूर्ववत्→नञ् समास, 'नञ्' के 'न्' का लोप, "ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" ५-४-७४ से 'अ' प्रत्यय, टि-लोप←न–पथिन् > अ-पथिन् > अपथिन् + अ > अपथ→नपुंसकलिङ्ग←**अपथम्**।

विशेष—(१) तत्पुरुष समास के अतिरिक्त बहुव्रीहि समास में नपुंसक लिङ्ग नहीं होता—अपथः (बिना मार्ग का)। **विग्रह**—अविद्यमानः पन्थाः यस्य सः। 'अ'–प्रत्यय (वैकल्पिक समासान्त) के न होने पर विशेष्य पद (अन्य पदार्थ देश) के पुंलिङ्ग में होने के कारण विशेषण-वाची 'अपद' भी पुंलिङ्ग में हुआ।

(२) सूत्रस्थ 'अपथ' पद समासान्त-प्रत्यय युक्त है। अतः पथिन् शब्द से समासान्त प्रत्यय न होने पर नपुंसक लिङ्ग नहीं होगा। जैसे—अपन्थाः (बिना मार्ग का)। यहाँ "पथो विभाषा" ५-४-७२ से विहित वैकल्पिक समासान्त 'अ' प्रत्यय के अभाव में नपुंसक-लिङ्ग नहीं हुआ। 'अपथिन्' शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में **अपन्थाः** रूप बनेगा।

---

१. "संख्यापूर्वा रात्रिः" इति लिङ्गानुशासने विशिष्टपुंस्त्वविधानात् वृत्त्याद्युक्तं पुंस्त्वं चिन्त्यम्"।—व्या० सु० सि० पृ० ११९८।

२. "इदं तत्पुरुषाधिकारे लिङ्गानुशासने पाठात् प्रतिप्रसवलाघवानुरोधाच्च समाहारद्विगावेव प्रवर्तते" इति भावः।—ल० श० शे०।

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः । अर्धर्चः-अर्धर्चम् । ध्वजः-ध्वजम् । एवं तीर्थ-शरीरमण्डपीयूषदेहाङ्कुशकलशेत्यादि । (८१७) जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचन-

---

(८१६) अर्धर्चाः । बहुवचनात्तदादीनां ग्रहणमित्याह—अर्धर्चादय इति । अर्धर्चमिति । ऋचोऽर्धमिति विग्रहे 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः । 'ऋक्पूः' इति अच् । परवल्लिङ्गं स्त्रीत्वं बाधित्वा पुन्नपुंसकत्वविकल्पः ।

---

(८१६) पद—अर्धर्चाः, पुंसि, च । अनुवृत्ति—नपुंसकम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अर्धर्च आदि शब्द पुंलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग में हों । **उदाहरण**—१-अर्धर्चः—अर्धर्चम् । २-ध्वजः-ध्वजम् । इसी प्रकार तीर्थ, शरीर, मण्ड, पीयूष, देह, अङ्कुश, कलश आदि (भी है) ।

विवरण—क्रमप्राप्त उभय-लिङ्ग में प्रयुक्त शब्दों की व्यवस्था की जारही है । 'अर्धर्चाः'-पद बहुवचन आदि अर्थ का बोधक है । सूत्र में 'पुंसि' पद पुंलिङ्ग का बोधक है । एवं 'च' पद के कारण पूर्व सूत्र-"अपथं नपुंसकम्" २-४-३०—में प्रयुक्त 'नपुंसक' पद का अनुसरण किया जाता है । तदनुसार "अर्धर्च–गण-पठित शब्द पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग दोनों में प्रयोग किये जाते हैं" । कुछ शब्दों का उदारणस्वरूप निर्देश किया जा रहा है । (१) अर्धर्चः—अर्धर्चम् (आधी ऋचा) । **विग्रह**—ऋचः अर्धम् । **प्रक्रिया**—अर्ध–ऋच् (समास–"अर्धं नपुंसकम्" ७१३) > अर्ध–ऋच् +अ (समासान्त–'अ' प्रत्यय–"ऋक्-पू-रब्-धूः-पथाम् आनक्षे" ५-४-७४) > अर्धर्च (गुण–अ+ऋ = अर्) > **अर्धर्चः** (पुंलिङ्ग में विभक्ति)—**अर्धर्चम्** (नपुंसकलिङ्ग में विभक्ति) । इसी प्रकार (२) ध्वजः (पुंलिङ्ग)—ध्वजम् (नपुंसकलिङ्ग) (३) तीर्थः—तीर्थम्, (४) **शरीरः–शरीरम्**, (५) **मण्डः–मण्डम्**, (६) **पीयूषः-पीयूषम्**, (७) **देहः–देहम्**, (८) **अङ्कुशः–अङ्कुशम्**, (९) **कलशः-कलशम्** आदि शब्द भी पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग दोनों में होते हैं । यह भी परवत्-लिङ्ग का बाधक है ।

विशेष—अर्धर्चादि-गण अन्त में देखें । यह गण बहुत बड़ा है । इसमें लगभग १०९ शब्द हैं[1] ।

---

१. प्रस्तुत गणपाठ के शब्दों की वर्णक्रमानुसार स्वरचित वर्णान्त-कारिकायें व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि में श्रीविश्वेश्वर पाण्डेय ने दी हैं (पृ० १११८-१११९) । देखें—

अर्धर्च-कूर्च-कवचावर्चस्क-पङ्क-वलीकाः ।
निष्कानीक-पिनीका-ढक-मोदक-कटक-टङ्क-पिण्याकाः ॥ १ ॥
मन्चक-पञ्चक-दण्डक-तण्डक-षष्ठिक-चषक-सरक-शोकाः ।
शाकाशोकौ शुल्कं मस्तक-वरका विटङ्क-पिटक-शूकाः ॥ २ ॥
फलक-नपुंसक-मूलक-पातक-नख-पुङ्ख-शङ्खाश्च ।
शृङ्ग-विडङ्ग-तडागोद्योग-निदाघा ध्वज-व्रजाम्भोजाः ॥ ३ ॥
कुञ्जो वाजः कुक्कुट-किरीट-कुट-कूट-कर्वट-कपाटाः ।
नट-निकट-शकट-कङ्कट-पट-पेट-मठ-कण्ठ-काण्ड-दण्डानि ॥ ४ ॥
नीडा-ण्ड-मण्ड-खण्डा खाढ-तृण-स्थाणु-वेणु-रेणु-तृणाः ।
तोरण–सुवर्ण–भूषण–कार्षापण–वारण–चरण–रणाः ॥ ५ ॥
बाण–व्रणा–पराह्ण–द्रोणा वृत–हस्त–पलित–घृत–मृताः ।
कुस्त–क्ष्वेडित–वृत्त–प्रयुत–वसन्ता–मृता–युता वास्तु ॥ ६ ॥
पुन्नपुंसकयोः शेषोऽर्ध–पिण्याक–कण्टकाः ।
मोदकस्तण्डकष्टङ्कः शाटकः खर्वटोऽर्बुदः ॥ ७ ॥

मन्यतरस्याम् १।२।५८॥ एकोऽप्यर्थो वा बहुवद्भवति। ब्राह्मणाः पूज्याः—

---

(८१७) जात्याख्यायाम्। आकृत्यधिकरणन्यायेन घटादिशब्दानां जातिवाचकत्वाज्जातेश्चैकत्वादेकवचनमेव स्यादित्यारम्भः। जातिशब्दे एकत्वे बहुवचनं वा स्यादित्यक्षरार्थः। तथा सति ब्राह्मणाः भोज्याः इत्यादौ विशेषणान्न स्यादित्याशङ्क्य एकस्मिन्नर्थे विद्यमानः शब्दः बहूनर्थान् वक्ति, एकार्थो बहुवद्भवतीति लभ्यते इत्यभिप्रेत्याह—**एकोऽप्यर्थ इति।** बहुत्वप्रयुक्तं कार्यं लभत इत्यर्थः।

---

(८१७) पद—जात्याख्यायाम्, एकस्मिन्, बहुवचनम्, अन्यतरस्याम्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ—(जाति का कथन होने पर) एकता अर्थ में बहुवचन विकल्प से होता है। उदा० ब्राह्मणाः पूज्याः—ब्राह्मणः पूज्यः।

विवरण—'जाति' अर्थात् 'समान धर्म' एक ही होता है, वह अन्य भिन्न वस्तुओं से उस वस्तु को पृथक् करता है। जहाँ भावार्थक प्रत्यय के बिना प्रधानतया जाति का बोध होता हो वहाँ पर एकत्व (एकवचन) ही नित्य प्राप्त था। किन्तु यहाँ पक्ष में बहुवचन का विधान किया जा रहा है। 'अन्यतरस्याम्' पद विकल्प का बोधक है। इस प्रकार इस विधान से "भावार्थक प्रत्यय के बिना भी प्रधानतया जाति का बोध होने पर एकत्व अर्थ में पाक्षिक बहुवचन का अतिदेश (आरोप) किया जा रहा है"[1]। **उदाहरण—ब्राह्मणाः** पूज्याः (बहुवचन)—**ब्राह्मणः** पूज्यः (एकवचन)। **अर्थ**—ब्राह्मणजाति पूजनीय है। बहुत्व होने पर "बहुषु बहुवचनम्" १-४-२१ तथा एकत्व होने पर "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" १-४-२२ के अनुसार क्रमशः बहुवचन एवम् एकवचन में विभक्तियाँ होंगी।

विशेष—पतञ्जलि ने इस सूत्र के न रहने पर भी कार्यसिद्धि प्रदर्शित की है। उन्होंने यह युक्ति दी है कि जाति में समष्टिगत एकता की प्रतीति होने से उसके साथ संख्या का अन्वय

घातकोद्योगचरक-तमाला-मलका नडः।
कुष्टं मुण्डं सीधु पुस्तं क्ष्वेडितं क्षेमकुट्टिमम्॥ ८॥
संगमं शतमानार्ध-शम्बला-न्वय-ताण्डवम्।
कवियं कन्दकार्पासं पारावारं युगन्धरम्॥ ९॥
पूयं पत्रीव-पात्रीवे यूषं चमस-चिक्कसौ।
अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं वैदिकं ध्रुवम्॥ १०॥
तत्रोक्तमिह लोकेऽपि तच्चेदस्त्यस्तु शेषवत्।

पिण्याकं तिलखलि। **तण्डकं** परिस्वारः—छन्दोगानां ग्रन्थविशेषः। **दण्डकं** छेदः। **खर्वटः** चतुःशतग्रामाणां संग्रहस्थानम्। **अर्बुदः** अक्षिरोग-संख्याभेदौ। **पातकः** गोहत्यादिः। **चरकं** वैद्यविशेषः। **नडोऽन्तः सुषिरं** तृणम्। **पुस्तं** मांसशष्कुली।

"द्वे कृष्णले रूप्यमाषौ धरणं षोडशैव ते।
शतमानं तु दशभिः धरणैः पलमेव च"॥ इति स्मृतिः।

अर्मः अक्षिरुक्। **शंबलः** पथि व्ययः। **कवियम्** अश्वमुखबन्धनम्। **पारम्** अवारं च नदीतीरे। **पूयं** क्लिन्नासृक्। **प्रग्रीवम्**—वातायनम्। **पात्रीवं** यज्ञोपकरणम्। **चिक्कसं** यवपृष्ठम्।

१. "जातेः प्राधान्येन आख्यायाम् इत्यर्थः। भावप्रत्ययं विना प्राधान्येन जातिबोधे यवादिशब्दानां साधुत्वे इदमेव सूत्रं मानम्। तत्र जातेः एकत्वेन एकवचनमेव प्राप्नोतीत्ययमारम्भः। एकत्वञ्चात्र बहुवचनार्थः। तदुक्तं भाष्ये—"यावद् ब्रूयाद् एकोऽर्थो बहुवद् भवतीति तावद् एकस्मिन् बहुवचनम्" इति।—ल० श० शे० (प्रकृतसूत्रस्थः)।

ब्राह्मणः पूज्यः। (८१८) अस्मदो द्वयोश्च १।२।५९॥ एकत्वे च विवक्षितेऽस्मदो बहुवचनं वा स्यात्। वयं ब्रूमः। पक्षे—अहं ब्रवीमि, आवां ब्रूव इति वा। 'सविशेषणस्य प्रतिषेधः' (वा ७२१) पटुरहं ब्रवीमि। **(८१९) फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च**

---

(८१८) अस्मदो द्वयोश्च। सविशेषणस्येति। 'त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः' इत्यत्र तु अवयवगतबहुत्वाभिप्रायं बहुवचनम्।

होने पर एकवचन ही होगा। उसी तरह जातिगत व्यक्तियों का संख्या के साथ सम्बन्ध होने पर स्वतः बहुवचन की प्रसक्ति होगी[1]।

(८१८) पद—अस्मदः, द्वयोः, च। **अनुवृत्ति**—एकस्मिन् बहुवचनम् अन्यतरस्याम्। **अतिदेश-सूत्र।**

मूलार्थ—एकत्व तथा द्वित्व की विवक्षा होने पर 'अस्मद्' शब्द को विकल्प से बहुवचन होता है। उदा० वयं ब्रूमः। पक्ष में अहं ब्रवीमि—आवां ब्रूवः। वा० विशेषण-सहित होने पर इसका निषेध है। उदा० पटुः अहं ब्रवीमि।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय (बहुत्व-विधान) चल रहा है। इस तरह यहाँ 'अस्मद्' शब्द को अभिलक्षित कर एकवचनार्थ तथा द्विवचनार्थ में बहुत्व का विकल्प आरोप किया जा रहा है। तदनुसार विषय को व्यापक बनाने हेतु सूत्र में 'द्वयोः' पद का सन्निवेश किया गया है। विषय का प्रतिपादन करने के लिये पूर्वसूत्रस्थ तीन पद-'एकस्मिन्', 'बहुवचनम्' तथा 'अन्यतरस्याम्'–अनुवृत्त होते हैं। प्रकृत सूत्रस्थ 'च' शब्द उसका सूचक है। **उदाहरण**—एकत्व अर्थ में—अहं ब्रवीमि (मैं बोलता हूँ) तथा द्वित्व अर्थ में आवां ब्रूवः (हम दो बोलते हैं) के स्थान पर विकल्प से वयं **ब्रूमः** (हम लोग बोलते हैं) प्रयोग किया जा सकता है। यह व्यवस्था केवल निर्विशेषण 'अस्मद्' शब्द के रहने पर ही सम्भव हो सकती है। अतः विशेषण–सहित 'अस्मद्' शब्द का प्रयोग होने पर उसके अपवाद-स्वरूप **वार्तिक** द्वारा यह सूचित किया जारहा है कि "विशेषण-युक्त 'अस्मद्' शब्द में एकत्व अथवा द्वित्व अर्थ की विवक्षा होने पर वही स्थिति रहती है"। उदाहरण—पटुः **अहं ब्रवीमि** (मैं पटु कहता हूँ)। यहाँ एकवचन ही रहा।

विशेष—भाष्यकार ने इस सूत्र को भी अनावश्यक बताया है। इस प्रकार के प्रयोग लोक सिद्ध हैं। इसमें इन्द्रियों का स्वातन्त्र्य तथा पारतन्त्र्य विवक्षित है। जैसे—'इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति' (मेरी आँख इसे ठीक देखती है) वाक्य में आंख के द्वारा देखे जाने में (मत्सम्बन्धी) आँख की स्वतन्त्रता सूचित होती है। इसी प्रकार 'अनेन अक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि' (इस आँख से मैं ठीक तरह देखता हूँ) वाक्य में आंख की परतन्त्रता सूचित होती है। अतः देखने वाले का प्राधान्य है। अतः इन्द्रियों के स्वातन्त्र्य होने पर बहुवचन तथा उनके अप्राधान्य होने पर एकवचन तथा द्वि-वचन हो जायगा[2]।

---

१. "अशिष्यं वा बहुवत् पृथक्त्वाभिधानात्" इति भाष्यवचनेन ज्ञायते यद् जातिप्राधान्यविवक्षायामेकवचनस्य, द्रव्यप्राधान्यविवक्षायां तु बहुवचनस्य सिद्धत्वात् सूत्रं नारम्भणीयम्।

२. "अयमपि योगः शक्यः अवक्तुम्। कथम्? अहं ब्रवीमि, आवां ब्रूवः, वयं ब्रूमः। इमानीन्द्रियाणि कदाचित् स्वातन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति। तद्यथा—इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति। कदाचित् पारतन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति–अनेन अक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि। तद्यदा स्वातन्त्र्येण विवक्षा तदा बहुवचनं भविष्यति। यदा पारतन्त्र्येण तदा एकवचन-द्विवचने भविष्यतः"।

—म० भा० १-२-५९।

नक्षत्रे १।२।६०॥ द्वित्वे बहुत्वप्रयुक्तं कार्यं वा स्यात्। पूर्वे फल्गुन्यौ–पूर्वाः फल्गुन्यः। पूर्वे प्रोष्ठपदे–पूर्वाः प्रोष्ठपदाः। नक्षत्रे किम्? फल्गुन्यौ माणविके। **(८२०) तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् १।२।६३॥** बहुत्वं द्वित्ववद्भवति। तिष्यश्च पुनर्वसू च—तिष्यपुनर्वसू। तिष्येति किम्? विशाखानुराधाः। नक्षत्रेति किम्?

---

(८१९) फल्गुनी। नक्षत्रे इति प्रथमाद्विवचनम्। नक्षत्रे यद्यभिधीयते इत्यर्थः। चेन द्वयोरित्यनुकर्षः। तदाह—द्वित्वे इति। पूर्वे प्रोष्ठपदे इति। स्त्रीत्वादौङश्शीभावः। 'प्रोष्ठपदा भाद्रपदा स्त्रियाम्' इत्यमरः। फल्गुन्यौ माणविके इति। फल्गुनीनक्षत्रयुक्तकाले जाते इत्यर्थः। 'नक्षत्रेण युक्तः' इत्यण्। 'लुबविशेषे' इति लुप्। ततो जातार्थे 'फल्गुन्याषाढाभ्यां टानौ' इति टः। टित्वात् ङीप्।

(८२०) तिष्यपुनर्वस्वोः। विशाखानुराधा इति। विशाखे च अनुराधा चेति विग्रहः। तिष्यपुनर्वसव इति। तिष्यश्च पुनर्वसू चेति विग्रहे तिष्यशब्दात् पुनर्वसुशब्दाच्च

---

(८१९) पद—फल्गुनी-प्रोष्ठपदानां, च, नक्षत्रे। **अनुवृत्ति**—द्वयोः, बहुवचनम्, अन्यतरस्याम्। **अतिदेश-सूत्र।**

मूलार्थ—द्वित्व में बहुवचन-प्रयुक्त कार्य विकल्प से हो। उदा० १–पूर्वे फल्गुन्यौ—पूर्वाः फल्गुन्यः। २–पूर्वे प्रोष्ठपदे–पूर्वाः प्रोष्ठपदाः। नक्षत्रे क्यों कहा? फल्गुन्यौ माणविके (बहुत्व नहीं हुआ)।

विवरण—सूत्र में 'फल्गुनी' तथा 'प्रोष्ठपदा' दोनों नक्षत्रवाची शब्द हैं। ये दोनों शब्द दो-दो समूहों में विभक्त हैं। जैसे १–फल्गुनी=पूर्वा फल्गुनी तथा उत्तरा फल्गुनी। २–प्रोष्ठप्रदा=पूर्वा भाद्रपदा तथा उत्तरा भाद्रपदा। इस तरह दो में द्वि-वचन ही प्राप्त था, अतः पक्ष में बहुवचन का विधान कर दिया है। इस प्रकार अर्थ करने में "अस्मदो द्वयोश्च" १-२-५९ से 'द्वयोः' तथा "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनम् अन्यतरस्याम्" १-२-५८ से 'बहुवचनम्' एवम् 'अन्यतरस्याम्' पदों की अनुवृत्ति सहायक है। **उदाहरण**—(१) **उत्तरे फल्गुन्यौ** (द्वि-वचन में)—**उत्तराः फल्गुन्यः** (बहुवचन में) तथा (२) **पूर्वे प्रोष्ठपदे** (द्वि-वचन में)—**पूर्वाः प्रोष्ठपदाः** (बहुवचन में)।

प्रत्युदाहरण—उपर्युक्त दोनों नक्षत्रों का समूह यदि 'नक्षत्र'-वाची हो तभी 'द्विवचन' में बहुवचन का आरोप सम्भव हो सकेगा। अन्यथा नहीं। इसी हेतु सूत्र में 'नक्षत्रे' पद का सन्निवेश किया गया है। अतः **'फल्गुन्यौ माणविके'**—इस वाक्य में दो बालिकाओं के नाम-वाची (फल्गुनी में उत्पन्न बालिकायें) फल्गुनी शब्द की विवक्षा में नक्षत्र-वाची फल्गुनी शब्द न होने पर यथा-नियम द्वि-वचन ही हुआ।

विशेष—भाष्यकार ने इस सूत्र के प्रति भी अरुचि प्रकट की है। फल्गुनी नक्षत्र के समीप चन्द्रमा के जाने पर 'उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः' इस प्रकार प्रयोग हो सकता है, क्योंकि वहाँ दो फल्गुनियों के अतिरिक्त चन्द्रमा भी विद्यमान है। जब 'चन्द्रमा' की विवक्षा नहीं होगी तो यथा-नियम द्विवचन प्रयोग होगा।[1]

(८२०) पद—तिष्यपुनर्वस्वोः, नक्षत्रद्वन्द्वे, बहुवचनस्य, द्विवचनं, नित्यम्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ—बहुवचन द्विवचन के समान हो। उदा० तिष्यश्च पुनर्वसवः च > तिष्यपुनर्वसू। 'तिष्य' क्यों कहा? विशाखानुराधाः। 'नक्षत्र' क्यों कहा? तिष्य पुनर्वसवः माणवकाः।

---

१. "अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्।—फल्गुनीसमीपगते चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो वर्तते। बहवस्तेऽर्थास्तत्र युक्तं बहुवचनम्। यदा तयोरेवाभिधानं तदा द्विवचनं भविष्यति";—म० भा०१-२-६०।

तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः। (८२१) स नपुंसकम् २।४।१७॥ समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। परवल्लिङ्गापवादः। पञ्चगवम्। दन्तोष्ठम्। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' (वा १५५६)। पञ्चमूली। 'आबन्तो वा' (वा १५५७)

'नक्षत्रेण युक्तः' इत्यण्। 'लुबविशेषे' इति लुप्। ततो जातार्थे सन्धिवेलाद्यण्। 'श्रविष्ठाफल्गुनी' इत्यादिना लुक्। जात्याख्यायामित्यादिचतुस्सूत्र्या अत्र सङ्गतिश्चिन्त्या।

(८२१) स नपुंसकम्। 'द्विगुरेकवचनम्' इति द्विगुः। 'द्वन्द्वश्च प्राणि' इति द्वन्द्वश्च तच्छब्देन परामृश्यते। तौ च समाहारार्थावेव विवक्षितौ, व्याख्यानात्। तदाह—**समाहारे इति। पञ्चगवमिति।** पञ्चानां गवां समाहार इति द्विगुः। **दन्तोष्ठमिति।** दन्ताश्च ओष्ठौ चेति विग्रहः। 'द्वन्द्वश्च प्राणि' इति समाहारद्वन्द्वः। **अकारान्तेति।** अकारान्तम् उत्तरपदं यस्येति विग्रहः। 'स नपुंसकम्' इत्यस्यापवादः। **पञ्चमूलीति।** समाहारद्विगुः, स्त्रीत्वं, 'द्विगोः' इति ङीप्। **आबन्तो वेति।** स्त्रियां वेति वक्तव्यमित्यर्थः। **पञ्चखट्वमिति।**

विवरण—'तिष्य' (पुष्य) एक नक्षत्र है। तथा 'पुनर्वसु' दो नक्षत्र हैं। (मिलकर तीन होने से) इनके द्वन्द्व समास में यथानियम बहुवचन ही प्राप्त रहा। प्रकृत सूत्र ने उसके स्थान पर नित्य द्विवचन विधान कर दिया। इस प्रकार सूत्र के पदों से ही पूरा अर्थ विदित हो जाता है। **उदाहरण**—तिष्यः च पुनर्वसू च > **तिष्यपुनर्वसू** (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, पुनः विभक्ति, प्रकृत सूत्र से द्वि-वचन में 'औ' विभक्ति तथा पूर्वसवर्ण दीर्घ)।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'तिष्यपुनर्वसु' पद का निर्देश न होने पर किन्हीं दो अन्य नक्षत्रों के मिलने से तीन अथवा उससे अधिक संख्या का बोध होने पर द्वन्द्व समास में 'द्विवचन' होने लगता। वह न हो। अतः **विशाखानुराधाः** में बहुवचन ही रहा। **विग्रह**—विशाखे च अनुराधाश्च। यहाँ पर 'विशाखा'—दो नक्षत्र हैं तथा 'अनुराधा'—तीन हैं। इनका द्वन्द्व-समास बहुवचनान्त ही रहा। (२) इसी प्रकार सूत्र में 'नक्षत्रे' पद का सन्निवेश होने से व्यक्ति-विशेषों के संज्ञावाची शब्दों में द्विवचन की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः **तिष्यपुनर्वसवः** माणवकाः (तिष्य और पुनर्वसु नाम के बालक) में यथानियम बहुवचनान्त द्वन्द्व ही हुआ। **विग्रह**—तिष्यश्च (माणवकः) पुनर्वसू च (माणवकौ)। **प्रक्रिया**—"नक्षत्रेण युक्तः कालः" ४-२-३—अण्, लुप (लोप), समास होने पर समस्तशब्द से जातार्थ में "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रे० ४-३-१६—अण्, फिर उसका भी लोप—"श्रविष्ठाफल्गुनी०" ४-३-३४। तदनन्तर विभक्त्युत्पत्ति।

विशेष—इस सन्दर्भ में भाष्यकार ने यह शङ्का उपस्थित की है कि "फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे" १-२-६० सूत्र से यहाँ पर 'नक्षत्रे' पद की अनुवृत्ति द्वारा नक्षत्र-वाची तिष्य-पुनर्वसु का ही ग्रहण होगा, पुनः पृथक् 'नक्षत्रे' पद का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार ने यह समाधान दिया है कि 'तिष्य-पुनर्वसु' के नक्षत्रार्थक पर्यायवाची शब्दों का भी ग्रहण करने के लिए 'नक्षत्रे' पद का पुनः निवेश उपयोगी है। **उदाहरण**—तिष्यपुनर्वसू की तरह **सिध्यपुनर्वसू** में भी द्वि-वचन हुआ। इसके अतिरिक्त दूसरा समाधान यह दिया है कि 'तिष्य-पुनर्वसु' शब्द अनेकार्थक है—नक्षत्रवाची एवं कालवाची। नक्षत्रवाची के अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ में बहुवद्भाव न हो, इस हेतु पुनः 'नक्षत्रे' पद का सन्निवेश किया गया है।

(८२१) पद—सः, नपुंसकम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—समाहार में 'द्विगु' और 'द्वन्द्व' नपुंसक लिङ्ग में हों। परवत्-लिङ्ग का यह अपवाद है। उदा० १—पञ्चगवम्। २—दन्तोष्ठम्। वा० अकारान्त—उत्तरपद-युक्त द्विगु स्त्री-लिङ्ग में वाञ्छित है। उदा० पञ्चमूली। वा० आबन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग विकल्प से होता है। उदा० पञ्चखट्वम्—

पञ्चखट्वम्—पञ्चखट्वी । 'अनो नलोपश्च, वा द्विगुः स्त्रियाम्' (वा १५५८)। पञ्चतक्षी—पञ्चतक्षम् । 'पात्राद्यन्तस्य न' (वा १५५९)। पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् । चतुर्युगम् । 'पुण्यसुदिनाभ्यामहः क्लीबतेष्टा' (वा० १५५३)। पुण्याहम् । सुदिनाहम् । 'पथः

समाहारद्विगुः । नपुंसकत्वे ह्रस्वः । **पञ्चखट्वीति** । 'उपसर्जनह्रस्वत्वे अदन्तत्वात्' 'द्विगोः' इति ङीप् । **अनो नलोपश्चेति** । अन इत्यावर्तते । एकं प्रथमया विपरिणतं द्विगुरित्यत्रान्वेति । तदन्तविधिः । अन्नन्तो द्विगुः स्त्रियां वा स्यात्, अनो नस्य लोपः स्यादित्यर्थः । वाग्रहणं स्त्रियामित्यत्रैव सम्बध्यते, न तु नलोपेऽपि । तेन स्त्रीत्वाभावेऽपि नलोपः । **पञ्चतक्षीति** । पञ्चानां तक्ष्णां समाहार इति द्विगुः, स्त्रीत्वं, नलोपः, 'द्विगोः' इति ङीबिति भावः । **पञ्चतक्षमिति** । समाहारद्विगुः । स्त्रीत्वाभावपक्षे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वं, नलोप इति भावः । न चान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य तक्षन्शब्दस्य सुबन्तत्वेन पदत्वात् 'नलोपः प्रातिपदिक' इत्यनेन नलोपो भविष्यतीति वाच्यम्, 'उत्तरपदत्वे च' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधात् । **पात्राद्यन्तस्य नेति** । पात्रादिर्गणः । तदन्तस्य समाहारद्विगोः न स्त्रीत्वमिति वक्तव्यमित्यर्थः । **पञ्चपात्रम्, त्रिभुवनम्, चतुर्युगमिति** । स्त्रीत्वाभावे 'स

पञ्चखट्वी । वा० 'अन्'—अन्तवाला द्विगु स्त्री-लिङ्ग में विकल्प से होता है और 'अन्' के 'न्' का लोप होता है । उदा० पञ्चतक्षी-पञ्चतक्षम् । वा० पात्रादि अन्त वाला समाहार द्विगु स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता । उदा० १—पञ्चपात्रम् । २—त्रिभुवनम् । ३—चतुर्युगम् । वा० पुण्य और सुदिन शब्दों से परे अहन्—शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है । उदा० १—पुण्याहम् । २—सुदिनाहम् । वा० संख्या अथवा अव्यय-पूर्वक समासान्त पथ शब्द (नपुंसकलिङ्ग में होता है)। उदा० १—त्रयाणां पन्थाः > त्रिपथम् । २—विरूपः पन्थाः > विपथम् । कृत-समासान्त निर्देश होने के कारण—'सुपन्थाः' तथा 'अतिपन्थाः' में (नपुंसक लिङ्ग नहीं हुआ)। वा० (अनिश्चित लिङ्ग में) नपुंसक लिङ्ग होता है । उदा० १—मृदु पचति । २—प्रातः कमनीयम् ।

विवरण—यहाँ से अष्टाध्यायी में समस्त शब्दों के सम्बन्ध में लिङ्ग—निर्वचन किया गया है और इसके पूर्व एकवद्भाव प्रकरण विद्यमान हैं । उससे सम्बद्ध १६ सूत्र हैं । यह प्रकरण अष्टाध्यायी के २ (द्वितीय) अध्याय के ४ (चतुर्थ) चरण के १ (प्रथम) सूत्र से १६ वें सूत्र तक निरूपित है (२-४-१ से २-४-१६) तक । इस प्रकार "द्विगुरेकवचनम्" २-४-१ सूत्र से प्रारम्भ कर "विभाषा समीपे" २-४-१६ पर्यन्त यह प्रकरण (एकवद्भाव) विद्यमान है । अतः सूत्रस्थ 'तत्'—पद (=सः) का अभिप्राय एकवद्—भाव से है । तदनुसार इस एकवद्भाव प्रकरण में जिनको एकवद्भाव किया गया है, वे नपुंसक लिङ्ग में होंगे ।" इतने पर भी यह आकाङ्क्षा रह जाती है कि किनका एकवद्भाव हुआ है ? उस आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिये "द्विगुरेकवचनम्" २-४-१ से द्विगु एवं "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" २-४-२ से द्वन्द्व शब्द विवक्षित हैं । तब सूत्रार्थ निष्पन्न होगा—"इस एकवद्भाव प्रकरण में जिस समाहार द्विगु एवं समाहार द्वन्द्व को एकवद्भाव विधान किया गया है, वह नपुंसकलिङ्ग में होता है" । यह सूत्र "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" २-४-२६ का अपवाद है । **उदाहरण—समाहार द्विगु—(१) पञ्चगवम्** (पाँच गायों का समुदाय)। सिद्धि→सूत्र सं० ७३१ में देखें । **समाहार द्वन्द्व—२—**दन्तोष्ठम् (दांत और ओष्ठ)। **विग्रह**—दन्ताश्च ओष्ठौ च तेषां समाहारः । **प्रक्रिया**—दन्त+जस् , ओष्ठ+औ > दन्त-ओष्ठ (द्वन्द्व-समास) > दन्तोष्ठ (पररूप → अ+ओ =ओ ← "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" वा०—"ओत्वोष्ठयोः समासे वा" वा०) > दन्तोष्ठ+सु ("द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" २-४-२ → एकवद्भाव होने पर 'सु' विभक्ति) ▷ दन्तोष्ठ+अम् (नपुंसक लिङ्ग में होने से 'अम्') ▷ **दन्तोष्ठम्** (पूर्वरूप)।

सङ्ख्याव्ययादेः' (वा १५७४)। **सङ्ख्याव्ययादेः परः कृतसमासान्तः पथशब्दः क्लीब-**

नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वमिति भावः। **पुण्येति**। पुण्यसुदिनाभ्यां परः यः अहन्शब्दः तदन्तस्य तत्पुरुषस्य नपुंसकत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। 'रात्राह्नाहा' इत्यस्यापवादः। **पुण्याह-मिति**। पुण्यम् अहरिति कर्मधारयः, 'राजाहः' इति टच्, टिलोपः। 'उत्तमैकाभ्यां च' इति अह्लादेशनिषेधः। **सुदिनाहमिति**। सुदिनम् अहरिति कर्मधारयः, टच्, टिलोपः, प्रशस्त-पर्यायः सुदिनशब्द इति न पौनरुक्त्यम्। **पथः सङ्ख्याव्ययादेरिति**। नपुंसकत्वं वक्तव्य-मिति शेषः। सङ्ख्याव्ययेति समाहारद्वन्द्वः। संख्याव्ययमादिरिति कर्मधारयः, दिग्योगे पञ्चमी, पर इति शेषः, पथ इति कृतसमान्तादकारान्तात् प्रथमा। तदाह—**सङ्ख्या-व्ययादेरिति**। परवल्लिङ्गतापवादः। **त्रिपथमिति**। 'ऋक्पूः' इति अप्रत्ययः, टिलोपः।

प्रसङ्गवश इस सूत्र के अपवाद-स्वरूप छह वार्तिकों का उल्लेख किया जा रहा है। **वार्ति-कार्थ**—१-अकारान्त शब्द यदि द्विगु समास का उत्तर पद है तो उसे स्त्री-लिङ्ग समझा जाय। यह वार्तिक नपुंसक लिङ्ग का निषेधक है। **उदाहरण**—पञ्चमूली (पांच जड़ें)। **विग्रह**—पञ्चानां मूलानां समाहारः। प्रक्रिया—समाहार द्विगु होने पर प्रकृत वार्तिक से स्त्रीत्व का विधान होने के कारण "द्विगोः" ४-१-२१ से ङीप्—पञ्चमूल्+ई > पञ्चमूली ('अं'-लोप) > पञ्चमूली +सु (विभक्ति) > पञ्चमूली (विभक्ति-लोप)। **वार्तिक**—२-द्विगु समास में अकारान्त शब्द उत्तर-पद रहने पर विकल्प से स्त्रीलिङ्ग होता है। **उदाहरण**—पञ्चखट्वा-पञ्चखट्वी (पांच खाटें)। **विग्रह**—पञ्चानां खट्वानां समाहारः। **प्रक्रिया**—पञ्चन्+आम्, खट्वा+आम् > पञ्चन्-खट्वा (समाहार द्विगु-समास) > पञ्च-खट्वा ('न्'-लोप) > पचखट्व (उपसर्जन ह्रस्व) > पञ्चखट्वी (ङीप्) > पञ्चखट्वी+सु > **पञ्चखट्वी** (स्त्री-लिङ्ग में रूप)। पक्ष में "स नपुंसकम्" सू० ८२१ से नपुंसकलिङ्ग होने के कारण 'खट्वा' के आकार को "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४७ से ह्रस्व होने के पश्चात् प्रथमा एकवचन में सु = अम् तथा पररूप होकर **पञ्चखट्वम्** रूप निष्पन्न होगा। **वार्तिक**—३-प्रकृत वार्तिक में 'अनः' की आवृत्ति की गई है। पहला 'अनः' तो षष्ठी विभक्ति में है। दूसरा 'अनः' पद प्रथमा विभक्ति में विपरिणत होता है तथा उसका अन्वय 'द्विगुः' पद के साथ होता है। तदन्तविधि होकर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "अन्नन्त उत्तरपदक द्विगु समास में वैकल्पिक स्त्री-लिङ्ग समझा जाय तथा 'अन्' के नकार का लोप भी हो"। **उदाहरण**—पञ्चतक्षी-पञ्चतक्षम् (पांच बढ़ई) **विग्रह**—पञ्चानां तक्ष्णां समाहारः। **प्रक्रिया**—पञ्चन्+आम्, तक्षन्+आम् > पञ्चन्-तक्षन् (द्विगु समास) > पञ्च-तक्षन् (पूर्व नकार लोप) > पञ्च-तक्ष्+ई (वार्तिक से स्त्रीत्व तथा 'न्' लोप, ततः ङीप्) > **पञ्चतक्षी** ('अ'-लोप, पुनः विभक्ति तथा 'सु' का लोप)। पक्ष में स्त्रीत्व न होने पर "स नपुंसकम्" सू० ८२१ से नपुंसकलिङ्ग होकर **पञ्चतक्षम्** रूप बनेगा।

विशेष—१-वार्तिक सं० ३ में प्रयुक्त 'वा' का सम्बन्ध स्त्रीत्व के साथ ही है, न कि 'अन्' के अवयव 'न-लोप' के साथ। अतः स्त्रीत्व (स्त्रीलिङ्ग) के अभाव में 'न्' का लोप होता है।

(२) 'पञ्चतक्षम्' में 'तक्षन्' सम्बन्धी 'नकार' के लोप करने के लिये दूसरा उपाय बताते हुए यह शङ्का उपस्थित की जाती है कि द्विगुसमास होने पर पूर्व नकार का लोप तो यथाप्राप्त है, किन्तु तदनन्तर लुप्त विभक्ति (आम्) का आश्रय लेकर पूर्व नकार के लोप के समान "न लोपः प्राति-पदिकान्तस्य" ८-२-७ से नकार का लोप क्यों न हो? इसका समाधान यह दिया जाता है कि 'उत्तरपद' में प्रत्ययलक्षण नहीं होता—"उत्तरपदत्वे च"। अतः इस वार्तिक (३) का आश्रय लिया जाना ही सम्भाव्य उपाय है।

मित्यर्थः । त्रयाणां पन्थास्त्रिपथम् । विरूपः पन्थाः विपथम् । कृतसमासान्तनिर्देशान्नेह ।

एवं विपथमित्यपि । 'प्रादयो गताद्यर्थे' इति समासः सुपन्थाः, अतिपन्थाः इति । 'स्वती पूजायाम्' इति समासः । 'न पूजनात्' इति समासान्तनिषेधः । आवश्यकत्वादनेन सिद्धे 'अपथं नपुंसकम्' इति न कार्यम् । सामान्ये नपुंसकमिति । न्यायसिद्धमेतत्, विशेष्य-विशेषसन्निधाने सति, स्त्रीत्वपुंस्त्वयोरत्राभिव्यक्तौ 'उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्' इति लक्षणलक्षितनपुंसकत्वस्यैव न्याय्यत्वात् । अत एव 'दाण्डिनायन' इति सूत्रभाष्ये एकश्रुतिः स्वरसर्वनाम, नपुंसकं लिङ्गसर्वनामेत्युक्तम् । मृदु पचतीति । क्रियाविशेषणमिदं द्वितीयान्तम् । पचेर्हि विक्लित्त्यनुकूलव्यापारोऽर्थः । तत्र विक्लित्त्यंशे मृदुत्वमन्वेति । विक्लित्तिश्च व्यापारे साध्यत्वेनान्वेति । तथा च मृदुपाकं करोतीत्यर्थः । तथा च धातूपात्त-

---

वार्तिक—४-पूर्व वार्तिक (३) को कुछ सीमित किया जारहा है। तदनुसार "पात्रादिगण-पठित शब्दों का समाहार-द्विगु में स्त्री-लिङ्ग नहीं होता"। तीन **उदाहरण**—प्रस्तुत हैं—(१) **पञ्चपात्रम्** (पांच बर्तन)। **विग्रह**—पञ्चानां पात्राणां समाहारः। स्त्रीलिङ्ग न होने के कारण इसके फलस्वरूप 'द्विगु'-समासान्त शब्दों में "द्विगोः" से 'ङीप्' नहीं होता। "स नपुंसकम्" सू० ८२१ से नपुंसक लिङ्ग ही हुआ। गणपठित अन्य शब्दों के उदाहरण (२) **त्रिभुवनम्** (तीनों भुवन)। **विग्रह**—त्रयाणां भुवनानां समाहारः। (३) **चतुर्युगम्** (चारों युग): **विग्रह**—चतुर्णां युगानां समाहारः। तीनों उदाहरणों में 'द्विगु' समास तथा नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा एकवचन का प्रयोग है। **वार्तिक**—५-नपुंसक लिङ्ग के सन्दर्भ में ही 'पुण्य' तथा 'अहन्' शब्द से परे 'अहन्'-शब्दान्त तत्पुरुष का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग होने का निर्देश दिया गया है। यह निर्देश "रात्राह्नाहाः पुंसि" ८१४ से प्राप्त पुंलिङ्ग का बाधक है। **उदाहरण**—(१) **पुण्याहम्** (शुभ दिन)। **विग्रह**—पुण्यं च तद् अहः। **प्रक्रिया**—पुण्य-अहन् (कर्मधारय समास) > पुण्य-अह्न्+अ (टच्) > पुण्याह्+अ (टि-लोप) > पुण्याहम् (विभक्ति, सु = अम्, पूर्वरूप)। (२) **सुदिनाहम्** (प्रशस्त दिन)। **विग्रह**—सुदिनम् च तद् अहः। **प्रक्रिया**—'पुण्याह' शब्दवत्। "उत्तमैकाभ्यां च" ७९४ से निषेध होने के कारण अहन् = 'अह्न' आदेश नहीं हुआ। **वार्तिक**—६-विशेष अवस्था में समासयुक्त 'पथिन्' शब्दान्त का लिङ्ग-निर्देश किया जा रहा है। वार्तिक में केवल दो पद हैं—'संख्याव्ययादेः' तथा 'पथः'। 'विधान' का निर्देशक कोई पद नहीं है। वह सूत्र में ही अन्तर्भूत है। अतः विधेयस्थ 'नपुंसकम्' का लाभ हो जाता है। कृत-समासान्त 'पथिन्' शब्द की प्रथमा विभक्ति का रूप 'पथः' है। वह उत्तरपद में स्थित रहेगा। उसके पूर्ववर्ती शब्द 'संख्यावाची' अथवा 'अव्यय' में से किसी का भी होना आवश्यक है (संख्या च अव्ययं च तयोः समाहारः-संख्याव्ययम्, संख्याव्ययम् च तद् आदिः इति कर्मधारयः, तस्मात् → दिगर्थवाची 'आदि' शब्द के योग में पञ्चमी ← संख्याव्ययादेः)। "इन से परे ("तस्मादित्युत्तरस्य" १-१-६७ के नियम से) कृतसमासान्त 'पथ' शब्द में नपुंसकलिङ्ग इष्ट है"। **उदाहरण**—(१) **त्रिपथम्** (तीन रास्ते)। **विग्रह**—त्रयाणां पन्थाः। **प्रक्रिया**—त्रिपथिन् (षष्ठीसमास) > त्रिपथिन् + अ ("ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" ५-४-७४-'अ' प्रत्यय) > त्रिपथ ('टि' लोप) > **त्रिपथम्** (नपुंलिङ्ग में विभक्तिकार्य)। (२) **विपथम्** (बुरा मार्ग)। **विग्रह**—विरूपः पन्थाः। **निर्देश**—यहाँ पर "प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया" (वा०) से समास होगा। शेष कार्य पूर्ववत्। यह वार्तिक परवल्लिङ्गविधान का अपवाद है। अन्यथा 'पथिन्' शब्द पुंलिङ्ग होने के कारण समस्त शब्द में पुंलिङ्ग हो जाता। 'त्रिपथम्' में समाहार द्विगु किया जाता तो "स नपुंसकम्" ८२१ से ही नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था।

सुपन्थाः, अतिपन्थाः। 'सामान्ये नपुंसकम्' (वा० ५०४३)। मृदु पचति। प्रातः

व्यापारं प्रति कर्मीभूतेन विक्लित्त्यंशेन सामानधिकरण्यात् मृद्विति द्वितीया। यत्र तु धात्वर्थः करणत्वेनान्वेति 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादौ, तत्र हि यागेन स्वर्गं कुर्यादित्यर्थः। तत्र क्रियाविशेषणस्य तृतीयान्तत्वमेव 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादावित्यन्यत्र विस्तरः। **प्रातः कमनीयमिति**। रमणीयमित्यर्थः। अत्रापि प्रातरित्यव्ययस्य विशेष्यस्यालिङ्गत्वात् तद्विशेषणस्य कमनीयशब्दस्यानव्ययस्य लिङ्गविशेषावगमकत्वाभावात् नपुंसकत्वमेवेति भावः। इदं चानियतलिङ्गविषयम्। तेन आर्दि पचति प्रातरादिरित्यत्र न भवति, आदिशब्दस्य नियतलिङ्गत्वात्।

विशेष—(१) वार्तिक में पथः' शब्द कृत-समासान्त का प्रतीक है। जहाँ समासान्त-प्रत्यय नहीं होगा, वहाँ नपुंसक लिङ्ग भी नहीं होगा। अतः यथाप्राप्त 'पर' (उत्तरपद) शब्द के समान पुंलिङ्ग होता है। जैसे—(१) **'सुपन्थाः'** (अच्छा मार्ग)। **विग्रह**—शोभनः पन्थाः। प्रादिसमास। "न पूजनात्" ५-४-६९ से समासान्त 'अ' प्रत्यय का निषेध होने के फलस्वरूप उपर्युक्त वार्तिक से नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ। 'सुपथिन्' शब्द के प्रथमा एकवचन में रूप। (२) **अतिपन्थाः** (सुन्दर मार्ग)। **विग्रह**—अतिक्रान्तः पन्थानम्। प्रादिसमास—"अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" वा०। शेष कार्य पूर्ववत्। वार्तिक (६) के अनुसार **'अपथम्'** रूप भी निष्पन्न हो सकता है। अतः भाष्यकार ने "अपथं नपुंसकम्" २-४-१० सूत्र के सम्बन्ध में अरुचि प्रदर्शित की है। **वार्तिक**—(७) इस सन्दर्भ में अन्तिम वार्तिक उपसंहार के रूप में प्रस्तुत किया जारहा है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। अतः "जहाँ पुंस्त्व एवं स्त्रीत्व की अविवक्षा रहे वहाँ नपुंसक लिङ्ग ही रहता है"। **उदाहरण**—(१) **मृदु पचति** (मृदु पाक करता है)। प्रकृत वाक्य में √पच् धातु का अर्थ है पकाना या पकना। पकने या पकाने में अन्न (चावल) अपने मौलिक कठोर रूप में न रह कर जल और अग्नि के संयोग से खिला हुआ (= रूपान्तरित) हो जाता है। वैयाकरण इसी रूपान्तरण के कारण √पच् धातु का अर्थ 'विक्लित्ति जनक व्यापार' कहते हैं। उस व्यापार का फल है पाक का (पदार्थ का) कोमल होना। इस प्रकार पाक और मृदुता दोनों अभिन्न हैं। अभिन्न होने पर भी उनमें विशेष्य–विशेषण भाव कल्पित है। इस हेतु 'मृदु पदार्थ' फलरूप क्रिया का विशेषण होने से यद्यपि क्रिया–विशेषण है तथापि व्यपदेशिवद्भाव से वह 'कर्म' है। तदनुसार द्वितीया विभक्ति में "सामान्ये नपुंसकम्" से नपुंसकत्व मान कर 'अम्' प्रत्यय का लुक् (लोप) किया गया है। (२) **प्रातः कमनीयम्** (सुन्दर प्रभात)। इस वाक्य में भी √कम् धातु का अर्थ इच्छाजनक व्यापार है। उसमें इच्छा का विशेषण 'प्रातः' पदार्थ है। तदनुसार 'प्रातर्' के अनन्तर यहाँ भी पूर्ववत् 'अम्' (नपुसक लिङ्ग–द्वितीया एक वचन) का लुक्' (लोप) समझा जाय।

विशेष—"सामान्ये नपुंसकम्" वार्तिक द्वारा प्रतिपादित नियम स्वतः न्यायसिद्ध है। कारण यह है कि जिन वस्तुओं के गुण पूर्णतया ज्ञात न हों अथवा सन्दिग्ध हों, वे वस्तुएँ नपुंसक लिङ्ग द्वारा व्यक्त की जाती हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलू हैं, जिनमें से लिङ्ग उनके विभिन्न स्वरूपों में प्रत्यायक हैं। अतः स्वरूप–विशेष एवं गुण-विशेष की अज्ञातावस्था ही 'सामान्ये नपुंसकम्' नियम का आधार है[1]।

---

१. 'अनिर्ज्ञातेऽर्थे गुणसन्देहे च नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्यते'।—महाभाष्यम्—१-२-६९।

कमनीयम् । (८२२) तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः २ । ४ । १९ ॥ अधिकारोऽयम् । (८२३) संज्ञायां कन्थोशीनरेषु २ । ४ । २० ॥ कन्थान्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात्, सा चेदुशीनरदेशोत्पन्नायाः कन्थायाः संज्ञा । सुशमस्यापत्यानि सौशमयः । तेषां कन्था सौशमिकन्थम् । संज्ञायाम् किम् ? वीरणकन्था । उशीनरेषु किम् ? दाक्षिकन्था । (८२४)

---

(८२२) तत्पुरुषोऽनञ् । नञ्समासकर्मधारयाभ्यां भिन्नस्तत्पुरुषो वक्ष्यमाणकार्यभागित्यर्थः । तदाह—अधिकारोयमिति । 'परवल्लिङ्गम्' इत्यतः प्रागिति शेषः ।

(८२३) संज्ञायां कन्थो । सुगममेव ।

---

(८२२) पद—तत्पुरुषः, अनञ्-कर्मधारयः । **अनुवृत्ति**—नपुंसकम् । अधिकारसूत्र ।

मूलार्थ—यह अधिकार है ।

विवरण—सूत्र में विधान-बोधक पद के अभाव में अर्थ की स्पष्टता के लिये "स नपुंसकम्" २-४-१७ से 'नपुंसकम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "नञ् तत्पुरुष तथा कर्मधारय को छोड़ कर अन्य तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में हो" । इस अधिकार का प्रभाव "विभाषा सेना-सुरा-च्छाया-निशानाम्" २-४-२५ तक रहेगा ।

इससे प्रभावित उदाहरण आगे के सूत्रों में मिलेगें ।

(८२३) पद—संज्ञायां, कन्था, उशीनरेषु । **अनुवृत्ति**–तत्पुरुषोऽनञ्–कर्मधारयः, नपुंसकम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कन्थान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग में होता है, यदि वह उशीनर देश में उत्पन्न कन्था का नाम हो । उदा० सुशमस्य अपत्यानि > सौशमयः, तेषां कन्था > सौशमिकन्थम् । संज्ञायां क्यों कहा ? वीरणकन्था (नपुंसक-लिङ्ग नहीं) ।

विवरण—पूर्वोक्त दोनों सूत्रों की अनुवृत्ति आने से प्रकृत सूत्र का अर्थ निष्पन्न होता है । तदनुसार "संज्ञा-विषय में नञ् तथा कर्मधारय तत्पुरुष को छोड़ कर कन्थान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है, यदि वह कन्था उशीनर[1] जनपद सम्बन्धी हो" । **उदाहरण**—सौशमिकन्थम् (सुशमिनामक-व्यक्ति के पुत्रों की कन्था) । **प्रक्रिया**—सुशम् + इञ् > सौशमिः (आदि वृद्धि तथा 'अ' का लोप) । तदनन्तर **विग्रह**—सौशमीनां कन्था > **सौशमिकन्थम्** (षष्ठीतत्पुरुष समास, प्रकृत सूत्र से नपुंसकलिङ्ग होने के कारण कन्था को ह्रस्व तथा विभक्तिकार्य–सु = अम् एवं पूर्वरूप) ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'संज्ञायां' पद का यह प्रयोजन है कि समस्त-पद उशीनर देश की कन्था का बोधक होने पर ही कन्थान्त शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होगा, अन्यथा नहीं । इसके फलस्वरूप **वीरणकन्था** में नपुंसक लिङ्ग नहीं हुआ । यथानियम "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" २-४-२६ । यह कन्था उशीनर देश की तो है, किन्तु इस नाम से ख्यात नहीं है । (२) सूत्र में 'उशीनरेषु' पद का निवेश होने से केवल उशीनर देश की कन्था के होने पर ही नपुंसक लिङ्ग होगा, अन्यथा नहीं । इसके फलस्वरूप **दाक्षिकन्था** (दक्ष की सन्तति-विशेष की कन्था) में भी नपुंसक लिङ्ग नहीं हुआ । यद्यपि यह कन्था-विशेष की संज्ञा तो अवश्य है, किन्तु उशीनर देश की कन्था[2] नहीं है ।

---

१. उशीनर जनपद में 'रावी' और 'चिनाव' नदियों का निचला भूभाग सम्मिलित था—पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० ६८ ।

२. प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'कन्था' शब्द नगर का पर्याय-वाची माना है । देखें—पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० ८२ ।

उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् २।४।११॥ उपज्ञान्तः उपक्रमान्तश्च तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् तयोरुपज्ञायमानोपक्रम्यमानयोरादिः प्राथम्यं चेदाख्यातुमिष्यते। पाणिनेरुपज्ञा पाणिन्युपज्ञं ग्रन्थः। नन्दोपक्रमं द्रोणः। (८२५) छाया बाहुल्ये २।४।

---

(८२४) उपज्ञा। उपज्ञायते प्रथमं ज्ञायत इत्युपज्ञा। 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारे 'आतश्चोपसर्गे' इति कर्मण्यङ्। उपक्रम्यते आरभ्यते इत्युपक्रमः। कर्मणि घञ्। 'नोदात्तोपदेशस्य' इति वृद्धिनिषेधः। उपज्ञा चोपक्रमश्चेति समाहारद्वन्द्वः। तत्पुरुषः इत्यस्य विशेषणमिदम्, तदन्तविधिः, 'स नपुंसकम्' इत्यतो नपुंसकमित्यनुवर्तते। तदाह— **उपज्ञान्तः उपक्रमान्तश्चेति**। तच्छब्देन उपज्ञोपकक्रमौ विवक्षितौ। आदिशब्दो भावप्रधानः प्राथम्ये वर्तते। तयोरादिः प्राथम्यं तदादिः। तस्य आचिख्यासा आख्यातुमिच्छा, विवक्षायामिति यावत्। तदाह—**तयोरादिरित्यादि**। **पाणिनेरुपज्ञेति**। कर्तरि षष्ठी। **पाणिन्युपज्ञं ग्रन्थ इति**। पाणिनिना प्रथमं ज्ञायमान इत्यर्थः। इदं प्रकरणं परवल्लिङ्गत्वस्य विशेष्यनिघ्नत्वस्य चापवादः। **नन्दोपक्रमं द्रोण इति**। नन्देनारभ्यमाण इत्यर्थः। कर्तरि षष्ठ्याः समासः।

---

(८२४) **पद**—उपज्ञोपक्रमं, तदाद्याचिख्यासायाम्। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषोऽनञ्-कर्मधारयः, नपुंसकम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उपज्ञा और उपक्रमान्त तत्पुरुष शब्द नपुंसक लिङ्ग में होते हैं, यदि उपज्ञेय तथा उपक्रम्य के आदि को कहने की इच्छा हो। उदा० १—पाणिनेः उपज्ञा—पाणिन्युपज्ञः ग्रन्थः। (२) नन्दोपक्रमं द्रोणः।

विवरण—लिङ्ग-प्रकरण के सन्दर्भ में उपज्ञान्त तथा उपक्रमान्त शब्दों के (उपज्ञा च उपक्रमश्च उपज्ञोपक्रमं, समाहार द्वन्द्व) तत्पुरुष-समास में प्रयुक्त होने का विशेष विधान बताया जा रहा है। "इस प्रकार के शब्द नञ्—तत्पुरुष तथा कर्मधारय को छोड़ कर शेष तत्पुरुष समास में नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त किये जायँ, यदि उन समस्त-शब्दों से उपज्ञेय तथा उपक्रम्य के प्रथम कर्ता का कथन होता हो"। नपुंसक-विधान एवं उसका 'नञ्-समास' तथा 'कर्मधारय' में प्रवृत्ति न होना—ये दोनों बातें क्रमशः "स नपुंसकम्" २-४-१७ तथा "तत्पुरुषोऽनञ्-कर्मधारयः" २-४-१९ सूत्रों के प्रभाव से विदित होती हैं। ('उपज्ञोपक्रमं' पद 'तत्पुरुषः' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि हुई)।

प्रकृत सूत्र में 'उपज्ञा' तथा 'उपक्रम'—ये दो शब्द मननीय हैं। **'उपज्ञा'** किसी नई सूझ को कहते हैं तथा **'उपक्रम'** किसी वस्तु के प्रारम्भ करने को कहते हैं। उपज्ञा तथा उपक्रम में यह भेद है कि 'उपज्ञा' सर्वथा नई वस्तु नहीं होती, किन्तु उसमें विशेष सूझ होती है। जैसे कि पाणिनि से पूर्व भी और व्याकरण थे किन्तु उसमें 'अकालक व्याकरण' बनाने की उपज्ञा पाणिनि ने की है, किन्तु 'उपक्रम' सर्वथा नव-निर्माण के अर्थ का द्योतक है। जैसे बाटों का नया प्रारम्भ नन्द का ही है। अतः उपज्ञान्त तत्पुरुष का **उदाहरण**—(१) **पाणिन्युपज्ञं** (ग्रन्थ अर्थात् काल की परिभाषा से रहित पाणिनि की रचना)। **विग्रह**—पाणिनेः उपज्ञा। षष्ठी तत्पुरुष समास। समास-युक्त शब्द का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में प्रकृत नियमानुसार हुआ। (२) उपक्रमान्त शब्द का उदाहरण—(२) **नन्दोपक्रमम्**, (द्रोणः→बाट←नन्द के द्वारा सर्वप्रथम चलाया हुआ)। **विग्रह**—नन्दस्य उपक्रमम्। समासादि कार्य पूर्ववत्। समास—युक्त शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ। इन दोनों उदाहरणों में कर्ता के अर्थ में षष्ठी-समास है।

विशेष—सूत्र में 'तदाद्याचिख्यासायाम्' पद महत्त्वपूर्ण है। इसके फलस्वरूप केवल सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'उपज्ञान्त' और 'उपक्रमान्त' शब्दों का विशेष्य के अनुसार ही लिङ्ग होगा।

२२ ॥ छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात्पूर्वपदार्थबाहुल्ये । इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम् । 'विभाषा सेना'—(सू ८३८) इति विकल्पस्यायमपवादः । 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इति तु 'आ समन्तान्निषादिन्यः' इत्याङ्श्लेषो बोध्यः । (८२६) सभाराजाऽमनुष्य-पूर्वा २ । ४ । २३ ॥ राजपर्यायपूर्वोऽमनुष्यपूर्वश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् ।

---

(८२५) छाया बाहुल्ये । छायया तत्पुरुषस्य विशेषणात् तदन्तविधिमभिप्रेत्याह—छायान्त इति । पूर्वपदार्थेति । कस्य बाहुल्ये इत्याकाङ्क्षायाम् आपादकद्रव्यनिमित्त-कत्वात् छायायाः तद्बाहुल्ये इति गम्यते । तच्चापादकद्रव्यमर्थात् पूर्वपदार्थभूतमिति भावः । बाहुल्ये किम् ? कुड्यस्य छाया कुड्यच्छाया ।

(८२६) सभा । राजा च अमनुष्यश्च राजामनुष्यौ, तौ पूर्वौ यस्याः सा राजामनुष्य-पूर्वा इति विग्रहः । छायया तत्पुरुषविशेषणात्तदन्तविधिः । राजपर्याय एव विवक्षितः,

---

जैसे 'देवदत्तोपज्ञः रथः' (देवदत्त सम्बन्धी रथ) तथा 'देवदत्तोपक्रमः यागः' (देवदत्त का प्रारम्भ किया यज्ञ) इन वाक्यों में उपज्ञेय और उपक्रम्य के आदि–कर्ता के कथन की इच्छा नहीं है। सामान्यतः सम्बन्ध का कथन है । अतः पुंलिङ्ग में प्रयोग हुआ ।

(८२५) **पद**—छाया, बाहुल्ये । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषोऽनञ्-कर्मधारयः, नपुंसकम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—छायान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग में होता है, यदि पूर्व पद बहुवचन में प्रयुक्त हो । उदा० इक्षूणां छाया > इक्षुच्छायम् । (आगे आने वाले सूत्र) "विभाषा सेना" ८२८ सूत्र का यह अपवाद है । 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' प्रयोग में 'आ निषादिन्यः' पद-च्छेद द्वारा 'आङ्' प्रश्लेष जाना जाय ।

विवरण—ऊपर उल्लिखित पूर्वोक्त दोनों सूत्रों की अनुवृत्ति द्वारा सूत्रार्थ निष्पन्न होता है । तदनुसार "पूर्वपद का बाहुल्य अर्थात् बहुवचन गम्यमान हो तो नञ् समास तथा कर्मधारय को छोड़ कर छायान्त तत्पुरुष (तदन्तविधि होने के कारण) नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है" । **उदाहरण**—**इक्षुच्छायम्** (ईख की छाया) । **विग्रह**—इक्षूणां छाया । षष्ठी–तत्पुरुष समास । प्रकृत उदाहरण में ईख का बाहुल्य प्रकट हो रहा है । केवल एक ईख की छाया पर्याप्त नहीं होती । अतः नपुंसकलिङ्ग होने से 'छाया' शब्द को ह्रस्व होने के पश्चात् प्रथमा-विभक्ति के एकवचन में 'छायम्' रूप निष्पन्न होता है । 'इक्षु' के अनन्तर 'छ' होने से तुक्–आगम→"छे च" ३-१-७३← तथा त् = च्–श्चुत्व ।

विशेष—छायान्त तत्पुरुष को "विभाषा सेना-सुरा-च्छाया-शाला-निशानाम्" २-४-२५ से वैकल्पिक नपुंसक लिङ्ग प्राप्त रहा, किन्तु बाहुल्य गम्यमान होने पर उसके अपवादस्वरूप नित्य विधान किया गया है ।

शङ्का-समाधान—कालिदास ने रघुवंश में 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' उदाहरण द्वारा छायान्त तत्पुरुष का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग किस प्रकार किया है ? उत्तर—भट्टोजिदीक्षित ने उपर्युक्त समस्त पद का विग्रह इस प्रकार किया है—इक्षूणां छाया > इक्षुच्छायम्, इक्षुच्छाये आ (= समन्तात्) निषादिनी > इक्षुच्छायानिषीदिनी, ताः = इक्षुच्छायानिषादिन्यः । इस कल्पना में 'इक्षुच्छायम्' पद नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयुक्त हुआ है, अतः सूत्रार्थ से विरोध नहीं होता ।

(८२६) **पद**—सभा, राजा, अमनुष्यपूर्वा । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषोऽनञ्—कर्मधारयः, नपुंसकम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—राजपर्यायपूर्वक एवं अमनुष्यपूर्वक समासान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग में हो । उदा०–

इनसभम् । ईश्वरसभम् । 'पर्यायस्यैवेष्यते' (वा ५१९) । नेह—राजसभा, चन्द्रगुप्तसभा । अमनुष्यशब्दो रूढ्या रक्षःपिशाचादीनाह । रक्षस्सभम्, पिशाचसभम् । (८२७) अशाला च २ । ४ । २४ ॥ सङ्घातार्था या सभा तदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात् । स्त्रीसभम् । स्त्रीसङ्घात इत्यर्थः । अशाला किम् ? धर्मसभा । धर्मशालेत्यर्थः । (८२८)

न तु राजन्शब्दः । तदाह—**राजपर्यायपूर्व इति । इनसभम्, ईश्वरसभमिति** । इनस्य ईश्वरस्य वा सभेति विग्रहः । इनेश्वरशब्दौ राजपर्यायाविति पर्यायमात्रग्रहणे प्रमाणं दर्शयति—**पर्यायस्यैवेष्यत इति** । भाष्यकृतेति शेषः । 'स्वं रूपम्' इति सूत्रे 'जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम्' इति वार्तिकं भाष्ये पठितमिति भावः । **राजसभेति** । राजन्शब्दपूर्वकत्वेऽप्यत्र राजपर्यायपूर्वकत्वं नास्तीति भावः । **चन्द्रगुप्तसभेति** । चन्द्रगुप्त इति राजविशेषस्य नाम, न तु तत्पर्याय इति भावः । नन्वमनुष्यपूर्वत्वात् देवसभेत्यादावपि स्यादित्यत आह—**अमनुष्यशब्दो रूढ्येति** । असुरशब्दो दैत्यानिवेति भावः ।

(८२७) **अशाला च** । अशालार्थः सभाशब्दः शालायां सङ्घातार्थे च वर्तते । तत्र राजामनुष्यपूर्वकस्य शालावाचिनः सभाशब्दस्य पूर्वसूत्रे क्लीबत्वमुक्तम् । सम्प्रति

१—इनसभम् । २—ईश्वरसभम् । वा० (राज) पर्याय का ही ग्रहण अपेक्षित है । अतः यहाँ नहीं—१—राजसभा । २—चन्द्रगुप्तसभा । अमनुष्य शब्द रूढि-शक्ति से राक्षस एवं पिशाच आदि का बोधक है । (अतः नपुंसकलिङ्ग) १—रक्षःसभम्, २—पिशाचसभम् ।

विवरण—लिङ्ग-विधान का ही प्रकरण हैं । अतः पूर्वोक्त ऊपर उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव यथास्थित विद्यमान है ।

सूत्र में दो प्रकार के शब्द उल्लिखित हैं—(१) राज-शब्द-पूर्वक सभान्त शब्द तथा (२) मनुष्यभिन्नवाची-शब्दपूर्वक सभान्त शब्द । इनमें भी राजन् शब्द स्वरूपात्मक अपेक्षित नहीं है । यद्यपि "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" १-१-६८ के नियम से उसका ही ग्रहण होना चाहिये, तथापि 'जित्पर्यायस्यैव राजाद्यर्थम्' (वा० १-१-६८) इस वार्तिक के आधार पर पर्याय-वाची शब्द ही लिये जायेंगे । इसी तरह 'अमनुष्य' शब्द में भी रूढि-शक्ति का आश्रय लिया जाता है । तदनुसार 'अमनुष्य' पद से मनुष्यभिन्न 'रक्षस्', 'पिशाच' आदि का ही बोध होता है । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **इनसभम्** (राजा की सभा—राजपर्यायवाची 'इन' शब्द से पर सभान्तशब्द) । **विग्रह**—इनस्य सभा । षष्ठी तत्पुरुष समास । प्रकृत सूत्र से नपुंसकलिङ्ग । (१) ख—**ईश्वरसभम्** (राजा की सभा—'ईश्वर' शब्द भी राजा का पर्यायवाची है) । समासादि कार्य पूर्ववत् । 'अमनुष्य' पूर्वक सभान्त का उदाहरण—(२) क—**रक्षःसभम्** (राक्षसों की सभा) । **विग्रह**—रक्षसां सभा । समासादि कार्य पूर्ववत् । (२) ख—**पिशाचसभम्** (पिशाचों की सभा) । **विग्रह**—पिशाचानां सभा । समासादि कार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—'राजा' पद के स्वरूपात्मक ग्रहण न होने से **राजसभा** (राजा की सभा) तथा **चन्द्रगुप्तसभा** (चन्द्रगुप्त राजा की सभा) आदि उदाहरणों में नपुंसक लिङ्ग नहीं हुआ । षष्ठी समास होने पर परवर्ती शब्द के समान स्त्रीलिङ्ग हुआ । इसी प्रकार 'अमनुष्य' शब्द भी केवल रुढिपरक लिये जाने से स्वतः ग्राह्य यौगिक-परक नहीं लिया जाता । अतः **काष्ठसभा** (लकड़ियों की शाला) में भी नपुंसक लिङ्ग नहीं हुआ ।

(८२७) **पद**—अशाला, च । **अनुवृत्ति**—सभा, तत्पुरुषोऽनञ्-कर्मधारयः, नपुंसकम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संघातार्थक सभा-शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग में होता है । उदा० स्त्रीसभम् ।

विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् २।४।२५॥ एतदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं वा स्यात्। ब्राह्मणसेनम्–ब्राह्मणसेना। यवसुरम्–यवसुरा। कुडचच्छायम्–कुडचच्छाया।

संघातवाचिनः समाशब्दस्य क्लीबत्वमुच्यत इत्याह—**सङ्घायां या सभेति**। सभाशब्द इत्यर्थः।

(८२८) **विभाषा सेना**। प्रथमार्थे षष्ठी। तत्पुरुष इत्यनुवृत्तं सेनादिभिर्विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—**एतदन्त इति**। प्रत्येकाभिप्रायमेकवचनम्। **श्वनिशमिति**। शुनो निशेति विग्रहः। कृष्णचतुर्दशीत्याहुः। 'शुनश्चतुर्दश्यामुपवसतः पश्यामः' इति तिर्यगधिकरणे शाबरभाष्ये स्थितम्। **दृढसेन इति**। दृढा सेना यस्येति बहुव्रीहिः। तत्पुरुषत्वाभावात् न

इसका अर्थ—स्त्रियों का समूह। अशाला क्यों कहा? धर्मसभा। इसका अर्थ है धर्मशाला (अतः नपुंसक नहीं)।

विवरण—सभा शब्द के दो अर्थ हैं—शाला एवं समूह (संघात)। पूर्व सूत्र में सामान्यतया दोनों अर्थ लिये जाते हैं। प्रकृत सूत्र से "शाला-भिन्नार्थक (अशाला) अर्थात् समूह-वाचक सभा शब्दान्त तत्पुरुष को नपुंसक लिङ्ग का विधान किया जारहा है"। **उदाहरण—स्त्रीसभम्** (स्त्रियों का समुदाय)। **विग्रह—**स्त्रीणां सभा (षष्ठी तत्पुरुष समास एवं नपुंसक-विधान आदि कार्य पूर्ववत्)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अशाला' पद का निवेश होने से **धर्मसभा** (धर्मशाला) में सभा शब्द गृहवाची होने के कारण नपुंसक लिङ्ग नहीं हुआ। यथानियम पर-पद के अनुसार स्त्रीलिङ्ग हुआ।

(८२८) पद—विभाषा, सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम्। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषोऽनञ्-कर्मधारयः, नपुंसकम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन शब्दों में से कोई भी शब्द जिसके अन्त में हो वह तत्पुरुष विकल्प से नपुंसक लिङ्ग में होता है। उदा०–१–ब्राह्मणसेनम्–ब्राह्मणसेना। २–यवसुरम्–यवसुरा। ३–कुडयच्छायम्–कुडयच्छाया। ४–गोशालम्–गोशाला। ५–श्वनिशम्–श्वनिशा। 'तत्पुरुषोऽनञ्–कर्मधारयः' (८२२) सूत्र की अनुवृत्ति होने से 'दृढसेनः' राजा, 'असेना' तथा 'परमसेना' में नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ।

विवरण—तत्पुरुष समास में लिङ्ग-विधान का यह अन्तिम सूत्र है। सूत्रार्थ की निष्पत्ति में "तत्पुरुषोऽनञ्"–की अनुवृत्ति यथापूर्व चली आ रही है। 'विभाषा' पद से विकल्प अर्थ सूचित होता है। "सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम्" पद में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग प्रथमा विभक्ति के अर्थ में हुआ है। अतः उसे अनुवृत्त 'तत्पुरुषः' का विशेषण माना जाता है। इस कारण तदन्त-विधि होकर "सेना, सुरा, छाया, शाला तथा निशान्त तत्पुरुष का विकल्प से नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग सिद्ध होगा (सेना च, सुरा च, छाया च, शाला च, निशा च →सेना⋯निशाः, तासाम्←इतरेतरद्वन्द्व)"। 'अनञ्–कर्मधारयः' पद के प्रभाव से यह भी सूचित होता है कि इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग यदि "नञ् समास एवं कर्मधारय समास में हुआ हो तो नपुंसक लिङ्ग नहीं होगा"। क्रमशः—**उदाहरण**—(१) **ब्राह्मणसेनम्** (नपुंसक-लिङ्ग होने पर)—**ब्राह्मणसेना** (नपुंसकलिङ्ग न होनेपर यथानियम परपदानुसार स्त्रीलिङ्ग)। **विग्रह**—ब्राह्मणस्य सेना। षष्ठी-तत्पुरुष समास। अर्थ—ब्राह्मण की सेना। (२) **यवसुरम्** [नपुं]—**यवसुरा** [स्त्रीलिङ्ग] (जौ की शराब)। प्रक्रिया पूर्ववत्। (३) **कुड्यच्छायम्** (नपुं०)—**कुड्यच्छाया** (स्त्रीलिङ्ग)। प्रक्रिया पूर्ववत्। अर्थ दीवार की छाया। (४) **गोशालम्** (नपुं०)—**गोशाला** (स्त्रीलिङ्ग)। प्रक्रिया पूर्ववत्। अर्थ—गायों के रहने का स्थान। (५) **श्वनिशम्** (नपुं०)—

गोशालम्–गोशाला । श्वनिशम्–श्वनिशा । 'तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः' (सू ८२२) इत्यनुवृत्तेर्नेह । दृढसेनो राजा । असेना । परमसेना ।

इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ।

क्लीबत्वविकल्पः । **असेनेति** । तत्पुरुषत्वेऽपि नञ्समासत्वान्न क्लीबत्वविकल्पः । **परमसेनेति** । कर्मधारयत्वात् न क्लीबत्वम् । 'तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः' इत्यधिकारस्य अत्रैव प्रयोजनमिति कैयटे प्रपञ्चितम् ।

इति श्रीमद्वासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमाख्यायां तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ।

श्वनिशा (स्त्रीलिङ्ग) । षष्ठी तत्पुरुष समास । **विग्रह**—शुनां निशा । अर्थ—कुत्तों की रात=कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी ।

प्रत्युदाहरण—अनुवृत्त 'तत्पुरुषः' पद का प्रयोजन यह है कि सूत्रोल्लिखित शब्दों की स्थिति अन्त में रहने पर भी यदि तत्पुरुष समास होगा तभी नपुंसक लिङ्ग विकल्प से होगा—अन्यथा नहीं । अतः **दृढसेनः** राजा (बलवती सेना वाला राजा) में बहुव्रीहि समास होने के कारण प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई । विशेष्य के अनुसार पुंलिङ्ग हुआ । **विग्रह**—दृढा सेना यस्य सः । समास—बहुव्रीहि—"अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ । पुंवद्भाव तथा उपसर्जन ह्रस्व होकर प्रथमा विभक्ति के एकवचन में उक्त रूप बनेगा । इसी प्रकार (२) **असेना** (जो सेना न हो) में 'नञ्' समास (न सेना = असेना) होने के कारण नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ । पर पद के अनुसार स्त्रीलिङ्ग हुआ एवं (३) **परमसेना** (उत्तम सेना) में कर्मधारय समास (परमा चासौ सेना च) होने के फलस्वरूप वैकल्पिक नपुंसक-लिङ्ग प्रवृत्त नहीं होता । यथानियम पर पद को अभिलक्षित कर स्त्रीलिङ्ग हुआ ।

विशेष—(१) पूर्व सूत्रों में से किसी एक से भी नपुंसकलिङ्ग प्राप्त न होने के कारण यह "अप्राप्त विभाषा" का स्थल है ।

(२) "तत्पुरुषोऽनञ्-कर्मधारयः" २-४-२९ अधिकार का वास्तविक प्रयोजन इसी सूत्र (८२८) से सिद्ध होता हैं । 'संज्ञायां कन्थोशीनरेषु" आदि सूत्र (८२३ से ८२७ तक) "तत्पुरुषोऽनञ्-कर्मधारयः" २-४-१९ अधिकार का प्रयोजन सिद्ध नहीं करते । महाभाष्य में यह प्रतिपादित किया गया है कि इन पाँचों सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय को अभिलक्षित कर कोई भी लक्ष्य तत्पुरुष-भिन्न नञ् समास अथवा कर्मधारय समास का नहीं मिल सकता । केवल (सूत्र सं० ८२८) "विभाषा सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम्" २-४-२५ सूत्रस्थ लक्ष्य ही नञ्-भिन्न एवं कर्मधारय-भिन्न तत्पुरुष समासान्त को अभिलक्षित कर प्राप्त होते हैं[1] ।

स्मरणीय—परवत्-लिङ्ग-विधान के अनन्तर जो नपुंसकादि लिङ्ग का विशेष विधान किया गया है, उसे परवत्लिङ्ग का बाधक जानें ।

तत्पुरुषसमास-प्रकरण समाप्त ।

---

१. "विभाषा सेना०" २-४-२५ इति सूत्रे एव अधिकारस्य प्रयोजनं भाष्ये दर्शितम्, न तु "संज्ञायां कन्थोशीनरेषु" २-४-२० इत्यादि पञ्चसूत्र्याम् (सू० ८१३ तः ८२७ पर्यन्तम्), अतत्पुरुषस्य नञ्-समासस्य कर्मधारयस्य च तत्राऽसम्भवात् । अन्यत्र तु स्पष्टार्थमेव तत्-सम्बन्धः । विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः ।—म० भा० २-४-२५ ।

अथ बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्

(८२९) **शेषो बहुव्रीहिः** २ । २ । २३ ॥ अधिकारोऽयम् । 'द्वितीया श्रित'— (सू ६८३) इत्यादिना यस्य त्रिकस्थ विशिष्य समासो नोक्तः स शेषः प्रथमान्तमित्यर्थः ।

---

(८२९) **शेषो बहुव्रीहिः** । त्रिकस्येति । विभक्तेरित्यर्थः । ननु 'द्वितीया श्रित' इति, 'तृतीया तत्कृत' इति 'चतुर्थी तदर्थ' इति 'पञ्चमी भयेन' इति, 'षष्ठी' इति, 'सप्तमी शौण्डैः' इति च द्वितीयादिविभक्तीनां षण्णां समासो विहितः । विशेषणं विशेष्येणेत्यादिना

उपक्रम—समास-प्रकरण के आरम्भ में बताया गया है कि बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ प्रधान होता है—'**अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः**' । बहुव्रीहि समास के चार अवान्तर भेद हो सकते हैं—(१) समानाधिकरण, (२) व्यधिकरण, (३) तुल्ययोग और (४) व्यतिहार । जब समास में आने वाले पदों की एक ही प्रकार की विभक्तियाँ होती हैं तो (१) **समानाधिकरण** बहुव्रीहि होता है । जैसे निर्गतं भयं यस्मात् **निर्गतभयः** (पुरुषः) । यहाँ पर 'निर्गत+सु, भय+सु'—ये दोनों पद प्रथमा के एक-वचन में प्रयुक्त हैं, अतः समानाधिकरण बहुव्रीहि है । (२) जब विग्रह में आने वाले पद भिन्न-भिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त हों तो समस्त-शब्द **व्यधिकरण** बहुव्रीहि होगा । जैसे—**धनुष्पाणिः** (राम) । **विग्रह**—धनुः पाणौ यस्य सः । इस उदाहरण में आने वाले दोनों पद भिन्न-विभक्तिक हैं—'धनुः' प्रथमा विभक्ति में तथा 'पाणौ' सप्तमी विभक्ति में । (३) **तुल्ययोग** शब्द का अर्थ समान सम्बन्ध है (तुल्य = समान, योग = सम्बन्ध) । इसका उदाहरण **सपुत्रः** है । विग्रह—सह पुत्रेण आगतः (पुत्र के साथ पिता आया है) । 'सपुत्रः' शब्द में तुल्ययोग (समान सम्बन्ध) का सूचक 'सह' अव्यय है । 'तुल्ययोग' का सूचक शब्द जब अन्य तृतीयान्त सुबन्त के साथ समस्यमान होता है तो वह '**तुल्ययोग**' बहुव्रीहि होगा । (४) **व्यतिहार** शब्द का अर्थ है साध्य-साधनभाव में व्यत्यास (विनिमय) होना । अर्थात् जब एक सम्बन्धी क्रिया को दूसरा व्यक्ति करने लगता है, दूसरे के लिये नियत क्रिया को जब पहला व्यक्ति करने लगता है तब कर्म-व्यतिहार होता है—"यत्र अन्यसम्बन्धिनीं क्रियाम् अन्यः करोति, इतरसम्बन्धिनीं च इतरः, स कर्मव्यतिहारः" (काशिका—१-३-१४) । कर्मव्यतिहार द्योत्य होने पर वहाँ बहुव्रीहि होता है जहाँ 'युद्ध प्रवृत्त होता है'—अर्थ को अभिलक्षित कर ग्रहण-वाचक समानरूपी सप्तम्यन्त पद तथा प्रहरणवाची तृतीयान्त पद परस्पर समास को प्राप्त हों' ("तत्र तेनेदमिति सरूपे" २-२-२७) । जैसे—**केशाकेशि** । **विग्रह**—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम् । **अर्थ**—एक दूसरे के बालों को पकड़ कर परस्पर युद्ध । यहाँ विग्रह-वाक्य में सप्तम्यन्त समान पदों (केशेषु केशेषु) का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार **दण्डादण्डि** में ('दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धम्' लाठी का प्रहार कर परस्पर युद्ध) तृतीयान्त समान पदो का प्रयोग किया गया है ।

बहुव्रीहिसमास में वचन एवं लिङ्ग-सम्बन्धी भी कुछ विशेषतायें हैं । समास में पड़े हुए शब्दों में कोई भी वचन आ सकता है । पर लिङ्ग तो वही होगा, जिस लिङ्ग में विशेष्यवाची शब्द (अन्य पदार्थ) की उपस्थिति होगी । जैसे—**पीताम्बर** शब्द का—एक वचन में पीतम् अम्बरं यस्य, पीते अम्बरे यस्य–द्विवचन में, पीतानि अम्बराणि यस्य—बहुवचन में, विग्रह करने पर तो 'पीत' शब्द अपने विशेष्यवाची 'अम्बर' शब्द का अनुसरण कर वचन को बदलता है, किन्तु समास हो चुकने पर विशेष्यवाची शब्द (पीताम्बरधारी व्यक्ति) के अनुसार पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार 'स्त्री-लिङ्ग' तथा 'नपुंसक-लिङ्ग' में क्रमशः **पीताम्बरा** (पीतम् अम्बरं यस्याः सा) तथा **पीताम्बरम्** (पीतम् अम्बरं यस्य तत्) रूपों में विशेष्य के अनुसार लिङ्ग-भेद होगा ।

तु प्रथमाया अपि समासो विहितः, अतः शेषविभक्तिदुर्लभेत्यत आह—विशिष्येति। विशेषणसमासस्य वस्तुतः प्रथमाविभक्तौ प्रवृत्तावपि प्रथमाविर्भक्ति विशिष्य उच्चार्य विधानाभावात् समासविधिषु विशिष्यनिर्दिष्टद्वितीयादिविभक्तिषट्कापेक्षया शेषः प्रथमा-विभक्तिरिति भावः। तदाह—**प्रथमान्तमित्यर्थं इति**। एतच्च भाष्ये स्पष्टम्।

अर्थात् समास में प्रयुक्त शब्दों के विशेष्य-विशेषण तो यथास्थित बने रहते हैं किन्तु वे गौण हो जाते हैं तथा समासयुक्त-पद मिलकर अन्य पदार्थ के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हो जाते हैं।

इसके विपरीत कर्मधारय समास में विशेषण-विशेष्य ज्यों के त्यों बने रहते हैं। दोनों पदों के अर्थ अपनी अभिव्यक्ति करते हुए अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। जैसे—पीतम् अम्बरम् > पीताम्बरम् कहने से पीले वस्त्र का बोध होता है।

इन चार भेदों के अतिरिक्त **'तद्गुण-संविज्ञान'** तथा **'अतद्गुण-संविज्ञान'** बहुव्रीहि के दो भेद और भी किये गए है। जहाँ समासगत पदों के अर्थ का भी आश्रय अन्य-पदार्थ में लिया जाय वहाँ 'तद्गुण-संविज्ञान' बहुव्रीहि होता है। उदाहरणार्थ—'चित्रवाससम् आनय' (चितकबरे वस्त्रधारी को लाओ) में उसी व्यक्ति-विशेष को लाया जाता है, जिसके कपड़े चितकबरे हों—"भवति बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि। तद्यथा—चित्रवाससम् आनय। लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति। तद्गुण आनीयते, तद्गुणाश्च प्रचरन्ति" (म० भा० १-१-२७)। पाणिनि के "सर्वादीनि सर्वनामानि" (१-१-२७) सूत्र में प्रयुक्त पद 'सर्वादीनि' भी इसका द्योतक है। वहाँ 'सर्वादीनि' का विग्रह→ 'सर्वः आदिः येषां तानि' ← है। अतः सर्वनाम संज्ञा में 'सर्व' शब्द का भी ग्रहण होता है। अर्थात् जहाँ अन्य-पदार्थ के गुणों की कार्य में अन्वयिता (योग्यता) के होने से संविज्ञान हो वहाँ 'तद्गुण-संविज्ञान' बहुव्रीहि होता है। केवल स्वस्वामिभाव सम्बन्ध की प्रतीति होने पर 'अतद्गुणसंविज्ञान' होता है। जैसे—'चित्रगुम् आनय' (चित्रगु को लाओ)। यहाँ चितकबरी गायों का मालिक (व्यक्ति-विशेष) ही बुलाया जाता है।

प्रकरण की विशेषता से तत्पुरुष (कर्मधारय) और बहुव्रीहि समास के सन्दर्भ में एक मनोरञ्जक आख्यायिका प्रसिद्ध है। एक बार एक याचक फटे हुए कपड़े पहन कर किसी राजा के पास जाकर बोला—'अहं च त्वं च राजेन्द्र! लोकनाथावुभावपि' (हे राजन्! मैं और आप दोनों लोकनाथ हैं)। याचक की इस उक्ति को सुनकर राजकर्मचारी उस पर बिगड़ उठे। तब वह भिक्षुक फिर बोला—'बहुव्रीहिरहं राजन्! षष्ठीतत्पुरुषो भवान्'॥ (मैं 'बहुव्रीहि' हूँ और आप 'तत्पुरुष' हैं)। अर्थात् मेरी दुर्दशा 'बहुव्रीहि' समास करने पर **लोकनाथः** पद के अर्थ से विदित हो जायगी (लोकाः = प्रजाः, नाथाः = पालकाः यस्य सः → जिसकी सभी लोग रक्षा और पालन करें ←) तथा आपकी महत्ता तत्पुरुष समास से विदित होगी (लोकस्य नाथः = लोकनाथः → संसार भर के स्वामी ←)। यही शब्द-सामर्थ्य समास की शक्ति द्वारा प्रकट होता है।

(८२९) पद—शेषः, बहुव्रीहिः। अधिकारसूत्र।

मूलार्थ—यह अधिकार है। 'द्वितीया श्रित०'—६८६ इत्यादि सूत्र से विशेषतः जिस त्रिक का समास नहीं कहा हो, वह 'शेषः' अर्थात् प्रथमान्त है।

विवरण—तत्पुरुष-समास के अनन्तर क्रमप्राप्त 'बहुव्रीहि-समास' का निरूपण किया जारहा है। अष्टाध्यायी-क्रम में द्वन्द्व-समास के पूर्व ("चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९) तक 'बहुव्रीहि' का अधिकार है। अर्थात् "शेषो बहुव्रीहिः" २-२-२३ से लेकर "तेन सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८ तक बहुव्रीहि-संज्ञक समास होगा। सूत्रस्थ 'शेष' पद पूर्ववर्णित समास से अवशिष्ट समास-संज्ञा का बोधक है—'उक्ताद् अन्यः शेषः'। अष्टाध्यायीक्रम में इसके पूर्व समास-शास्त्र में "द्वितीया श्रितातीत०" २-१-२४, "तृतीया तत्कृतार्थ०" २-१-३०, "चतुर्थी तदर्थार्थ०" २-१-३६, "पञ्चमी

(८३०) अनेकमन्यपदार्थे २ । २ । २४ ।। अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः । अप्रथमाविभक्त्यर्थे बहुव्रीहिरिति समानाधिकरणानामिति च फलितम् । प्राप्तमुदकं यं सः प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढरथोऽनड्वान् । उपहृतपशू रुद्रः । उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः । वीरपुरुषको ग्रामः । प्रथमार्थे तु न । वृष्टे देवे

---

(८३०) **अनेकमन्यपदार्थे ।** प्रथमान्तमिति । शेषग्रहणानुवृत्तिलभ्यमिदम् । एवं च सुप्सुपेति नानुवर्तते, प्रयोजनाभावात् । अनेकं सुबन्तमिति पाठेऽपि प्रथमान्तमित्यर्थः । अन्येति । उपस्थितप्रथमान्तातिरिक्तेत्यर्थः । एवञ्च पञ्चभिर्भुक्तमन्नं यस्य सः पञ्चभुक्तः इति बहुव्रीहिनिवृत्त्यर्थं 'बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामिति वक्तव्यम्' इति वार्तिकं यद्भाष्ये स्थितं, यच्च वृष्टे देवे यो गतः सः वृष्टदेव इति बहुव्रीहिनिवृत्त्यर्थम् 'अप्रथमाविभक्त्यर्थे बहुव्रीहिर्वक्तव्यः' इति वार्तिकं, तदुभयमपि न कर्तव्यमित्याह—**अप्रथमाविभक्त्यर्थे बहुव्रीहिरिति समानाधिकरणानामिति च फलितमिति ।** शेषग्रहणादिति शेषः । शेषग्रहणात् प्रथमान्त इति लभ्यत इति हि भाष्यम् । पञ्चभिर्भुक्तमस्य इत्यत्र च समस्यमानपदयोरेकस्याप्रथमान्तत्वान्न बहुव्रीहिरिति फलितम् । प्रथमान्तातिरिक्तस्य पदस्यार्थे वर्तमानं समस्यते इत्यर्थाश्रयणाद् वृष्टे देवे गतः इत्यत्रापि न बहुव्रीहिरिति फलितमिति भावः । तत्र द्वितीयार्थबहुव्रीहिमुदाहरति—**प्राप्तमिति ।** 'गत्यर्थाकर्मक' इति कर्तरि क्तः । अत्र विग्रहवाक्ये ग्रामकर्मकप्राप्तिकर्तृ उदकमित्येवं ग्रामस्य विशेषणतया, विशेष्यत्वेन तु प्राप्तस्य उदकस्य बोधः । समासे तु एकार्थीभावमहिम्ना उदककर्तृकप्राप्तिकर्मीभूतः ग्राम इत्येवं ग्रामस्य विशेष्यतया, तद्विशेषणतया तु प्राप्तस्य उदकस्य बोधः । एवमुत्तरत्रापि विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासो ज्ञेयः । अथ तृतीयार्थबहुव्रीहिमुदाहरति—**ऊढरथोऽनड्वानिति ।** ऊढो रथो येनेति विग्रहः । अथ चतुर्थ्यर्थबहुव्रीहिमुदाहरति—**उपहृतपशू रुद्र इति ।** उपहृतः पशुः यस्मै इति विग्रहः । अथ पञ्चम्यर्थबहुव्रीहिमुदाहरति—**उद्धृतौदना स्थालीति ।** उद्धृतः ओदनः यस्या इति बहुव्रीहिः । अथ षष्ठ्यर्थबहुव्रीहिमुदाहरति—**पीताम्बरो हरिरिति ।** पीतमम्बरं यस्येति विग्रहः । अथ सप्तम्यर्थबहुव्रीहिमुदाहरति—**वीरपुरुषको ग्राम इति ।** वीराः पुरुषा यस्मिन्निति विग्रहः । 'शेषाद्विभाषा' इति कप् । अत्र कर्मादीनां समासेना-

---

भयेन" २-१-३७, "षष्ठी" २-१-३८ तथा "सप्तमी शौण्डैः" २-१-४०—सूत्रों से विभक्तियों का निर्देश कर तत्पुरुष समास का निरूपण किया गया है । इनके अतिरिक्त प्रथमान्त का समास नहीं कहा गया है, अतः प्रकृतसूत्रस्थ प्रथमा विभक्ति 'शेषः' से 'प्रथमान्त' का बहुव्रीहि-संज्ञक समास ध्वनित होता है ।

(८३०) **पद**—अनेकम्, अन्यपदार्थे । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।**

मूलार्थ—अन्य पद के अर्थ में वर्तमान अनेक प्रथमान्त विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, वह समास बहुव्रीहि कहलाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि 'बहुव्रीहि' प्रथमा विभक्ति के अर्थ में नहीं होता, किन्तु समानाधिकरणों का होता है । उदा०—१–प्राप्तम् उदकं यं सः > प्राप्तोदकः ग्रामः । २–ऊढरथः (अनड्वान्) । ३–उपहृतपशुः (रुद्रः) । ४–उद्धृतौदना (स्थाली) । ५–पीताम्बरः (हरिः) । ६–वीरपुरुषकः (ग्रामः) । प्रथमा के अर्थ में नहीं होता—वृष्टे देवे गतः । व्याधिकरण पदों का भी नहीं होता—पञ्चभिः भुक्तम् अस्य । वा० प्र-आदि से पर धातु

गतः । व्यधिकरणानामपि न । पञ्चभिर्भुक्तमस्य । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (वा १३६०) । प्रपतितपर्णः प्रपर्णः । 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (वा १३६१) । अविद्यमानपुत्रः अपुत्रः । 'अव्ययानां च' । उच्चैर्मुखः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च' । सप्तम्यन्तम् उपमानं च पूर्वपदं यस्य तस्य पदान्तरेण समासः उत्तरपदलोपश्च भवतीत्यर्थः । कण्ठेस्थः कालः यस्य सः कण्ठेकालः । उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य

भिहितत्वात् प्रथमैव । प्रथमार्थे तु नेति । अन्यपदार्थशब्देन प्रथमान्तातिरिक्तद्वितीयाद्यन्तार्थस्यैव विवक्षितत्वादिति भावः । व्यधिकरणानामपि नेति । अनेकं प्रथमान्तमित्युक्तेरिति भावः । प्रादिभ्यः । प्रादिभ्यः परं यद्धातुजप्रकृतिकप्रथमान्तं तस्य अन्येन प्रथमान्तेन बहुव्रीहिर्वाच्यः । तत्र बहुव्रीहौ प्रादिभ्यः परस्य उत्तरपदस्य धातुजस्य लोपश्च विकल्पेन वाच्य इत्यर्थः । अत्र बहुव्रीहिरित्यनुवादः, लोपस्यैव विधिः । प्रपतितपर्ण इति । प्रकृष्टं पतितं प्रपतितम् । 'प्रादयो गताद्यर्थे' इति समासः । प्रपतितं पर्णं यस्मादिति विग्रहः । प्रपर्ण इति । प्रपतितेति पूर्वपदे धातुजस्य उत्तरपदस्य लोपे रूपम् । नञोऽस्त्यर्थानाम् । नञः परेषामस्त्यर्थवाचिनां सुबन्तानां बहुव्रीहिर्वाच्यः । तत्रास्त्यर्थवाचिनामुत्तरपदभूतानां लोपश्च वा वक्तव्य इत्यर्थः । अविद्यमानपुत्र इति । न विद्यमान इति नञ्समासः । नञो नलोपः । अविद्यमानः पुत्रो यस्येति विग्रहः । अपुत्र इति । अस्त्यर्थकविद्यमानशब्दस्य लोपे रूपम् । अत्रापि बहुव्रीहिरित्यनुवादः । अव्ययानां चेति । बहुव्रीहिर्वाच्य इति शेषः । उच्चैर्मुख इति । उच्चैरित्यस्याधिकरणशक्तिप्रधानतया सप्तम्यन्तत्वेन प्रथमान्तत्वाभावादप्राप्ते बहुव्रीहौ वचनम् । सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्चेति । सप्तम्यन्तोपमानसहिते पूर्वपदे यस्य तत् सप्तम्युपमानपूर्वपदम्, तस्य समस्तपदस्य पदान्तरेण बहुव्रीहिर्वाच्यः । समस्तपदात्मके पूर्वपदे यदुत्तरपदे तस्य लोपश्च वक्तव्य इत्यर्थः । तत्र सप्तम्यन्तसहितसमस्तपूर्वपदकं बहुव्रीहिमुदाहरति—कण्ठेस्थः कालो यस्य सः कण्ठेकाल इति । 'सुपि स्थः' इति कः । कण्ठे तिष्ठतीति कण्ठेस्थः । उपपदसमासः । 'अमूर्धमस्तकात्' इति सप्तम्या अलुक् । कण्ठेस्थ इति समस्तपदम् । तस्य कालशब्देन बहुव्रीहिरित्यनुवादः । सुपो लुक् । तत्र कण्ठेस्थेत्येतद्बहुव्रीहेः पूर्वपदं सप्तम्यन्तपदसहितं तस्मिन् यदुत्तरपदं स्थेत्येतत् तस्य लोपो वाचनिकः । कण्ठेकाल इति सप्तम्यन्तपदघटितसमासगर्भो बहुव्रीहिः । तदवयवभूतसप्तम्याः 'अमूर्धमस्तकात्' इत्यलुक् । अथ उपमानसहितसमस्तपूर्वपदकं बहुव्रीहिमुदाहरति—उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य सः उष्ट्रमुख इति । उष्ट्रस्य मुखमिवेति विग्रहे षष्ठीतत्पुरुषः । मुखशब्दो मुखसदृशे लाक्षणिक इति सूचयितुमिवशब्दः । उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिरित्यनुवादः । तत्र उष्ट्रमुखेत्येतद्बहुव्रीहेः पूर्वपदं, तस्मिन् उत्तर-

---

से निष्पन्न शब्द का अन्य पद के साथ समास होता है तथा विकल्प से उत्तरपद का लोप भी होता है । उदा० प्रपतितपर्णः > प्रपर्णः । वा० नञ् से परे अस्त्यर्थ-वाचक शब्द का अन्य पद के साथ समास होता है और उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है । उदा० अविद्यमानपुत्रः > अपुत्रः । अव्ययों का भी बहुव्रीहि समास होता है । उदा० उच्चैर्मुखः । सप्तम्यन्त अथवा उपमानवाचक पूर्व पद का समास होता है तथा उत्तरपद का लोप भी होता है । जैसे—१–कण्ठेकालः यस्य सः > कण्ठेकालः । २–उष्ट्रमुखम् इव मुखं यस्य सः > उष्ट्रमुखः । संघात और विकारान्त षष्ठ्यन्त पद का समास हो और उत्तरपद का लोप भी हो । उदा० १–केशानां संघातः

सः उष्ट्रमुखः । 'सङ्घातविकारषष्ठ्याश्चोत्तरपदलोपश्च' । केशानां सङ्घातश्चूडा यस्य सः केशचूडः । सुवर्णस्य विकारः अलङ्कारो यस्य सः सुवर्णालङ्कारः । 'अस्तिक्षीरादयश्च' ।

पदस्य मुखशब्दस्य लोपो वाचनिकः । सङ्घातविकारषष्ठ्याश्चोत्तरपदलोपश्चेति । षष्ठ्यन्तात्परस्य उत्तरपदस्य पदान्तरेण बहुव्रीहिर्वाच्यः । षष्ठ्यन्तादुत्तरपदस्य लोपश्च । केशानां सङ्घातश्चूडा यस्य सः केशचूड इति । सङ्घातशब्दस्य लोपे रूपम् । सुवर्णस्य विकारोऽलङ्कारः यस्य सः सुवर्णालङ्कार इति । अत्र विकारशब्दस्य उत्तरपदस्य लोपे रूपम् ।

चूडा यस्य सः > केशचूडः । २–सुवर्णस्य विकारः अलङ्कारः यस्य सः > सुवर्णालङ्कारः । अस्तिक्षीरा आदि भी बहुव्रीहि हैं । उदा० अस्तिक्षीरा (गौः) । 'अस्ति'—यह विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है ।

विवरण—सूत्रस्थ दोनों पद विधेयांश का लाभ करने के लिये अनुवृत्ति के अपेक्षी हैं । अतः "समर्थः पदविधिः" २-१-१ की आधिकारिक अनुवृत्ति के साथ समासोपयोगी अन्य अनुवृत्तियाँ—"प्राक् कडारात् समासः" २-१-३, "सह सुपा" २-१-४ तथा प्राकरणिक "शेषो बहुव्रीहिः" २-२-२३—अनुसरण कर रही हैं । इस प्रकार सूत्रस्थ 'अनेकं' शब्द—'सुप्' पद की अनुवृत्ति द्वारा—विशेषण के रूप में तदन्तविधि होने पर सूत्रार्थ की निष्पत्ति में सहायक होता है । तदनुसार 'अनेक सुबन्त' (= प्रथमान्त पद) बहुव्रीहि समास के प्रमुख अङ्ग होते हैं । 'सुबन्त' का प्रथमान्त रूप में आक्षेप 'शेष' पद की व्याख्या से किया जाता है । 'शेष' शब्द का अर्थ है—'पूर्व-कथित से अवशिष्ट' । बहुव्रीहि प्रकरण से पूर्व तत्पुरुष-प्रकरण में द्वितीयादि-षष्ठ्यन्त विभक्तियों का (त्रिक = २×३ = ६) समास बताया गया है । अतः उनसे अवशिष्ट "प्रथमान्त समानाधिकरण पदों का समस्यमान पदों से भिन्न अन्य-पदार्थ गम्यमान रहने पर परस्पर समास विकल्प से होता है और उसकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है" । 'अनेक पद' से तात्पर्य यहाँ दो से अधिक पदों का संकेत मिलता है । बहुव्रीहि के अतिरिक्त अन्य समास प्रायः दो पदों के ही होते हैं । तात्पर्य यह है कि समास में आये हुए पद यदि अपने अतिरिक्त किसी अन्य पद के अर्थ का बोध कराते हों तो बहुव्रीहि समास होता है ।

बहुव्रीहि समास के विग्रह करने में 'यत्' शब्द की विभक्ति से द्वितीयादि समानाधिकरण बहुव्रीहि की प्रतीति होती है । इन छहों विभक्तियों के समानाधिकरण के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(१) **द्वितीयानिष्ठ समानाधिकरण बहुव्रीहि**—प्राप्तोदकः (ग्रामः→ऐसा गाँव जहाँ पानी पहुँच चुका हो) । **विग्रह**—प्राप्तम् उदकं यं सः ।

(२) **तृतीयानिष्ठ समानाधिकरण बहुव्रीहि**—ऊढरथः (= अनड्वान् → ऐसा बैल जिसने रथ खींचा हो) । **विग्रह**—ऊढः रथः येन सः ।

(३) **चतुर्थीनिष्ठ समानाधिकरण बहुव्रीहि**—उपहृतपशुः (= रुद्रः→जिसके लिये पशु लाया गया हो) । ← **विग्रह**—उपहृतः पशुः यस्मै सः ।

(४) **पञ्चमीनिष्ठ समानाधिकरण बहुव्रीहि**—उद्धृतौदना (= स्थाली→ऐसी बटलोई जिससे भात निकाल लिया गया हो) । **विग्रह**—उद्धृतम् ओदनं यस्मात् सा ।

(५) **षष्ठीनिष्ठ समानाधिकरण बहुव्रीहि**—पीताम्बरः (= हरिः→जिसका कपड़ा पीला हो) । **विग्रह**—पीतम् अम्बरं यस्य सः ।

(६) **सप्तमीनिष्ठ समानाधिकरण बहुव्रीहि**—वीरपुरुषकः (= ग्रामः→ऐसा गाँव जिसमें वीर पुरुष हों) । **विग्रह**—वीराः पुरुषाः यस्मिन् सः ।

अस्तिक्षीरादयश्चेति । अस्तिक्षीरादयो बहुव्रीहावुपसङ्ख्येया इत्यर्थः । अस्तिक्षीरा गौरित्यत्र अस्तीत्यस्य तिङन्ततया प्रथमाविभक्त्यन्तत्वाभावादप्राप्ते बहुव्रीहाविदं वचनम् । वस्तुतस्तु वचनमिदं नारब्धव्यमित्याह—**अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययमिति** । विभक्तिप्रतिरूपकत्वेन निपातितत्वादस्तीति 'स्वरादिनिपातमव्यय'मित्यव्ययं विद्यमानार्थकम् । ततः

उपर्युक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकला कि बहुव्रीहि समास प्रथमा विभक्ति के अर्थ में नहीं होता । अतः **वृष्टे देवे गतः**—(वर्षा हो जाने पर गया)—इस वाक्य में बहुव्रीहि समास नहीं हुआ । कारण यह है कि वह अन्य पद के अर्थ में होता है । प्रथमा विभक्ति समास के भीतर रहती है, वह अन्य पद नहीं ।

यदि समस्यमान पदों की विभक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं तो भी समास नहीं होता है । जैसे—**पञ्चभिः भुक्तम् अस्य** (इसका भोजन पाँच के साथ हुआ) । इस वाक्य में 'पञ्चभिः' और 'भुक्तम्'—इन दोनों पदों की विभक्तियाँ समान नहीं हैं ।

प्रसङ्गवश वार्तिकों द्वारा विशेष प्रकार के बहुव्रीहि का विधान किया जारहा है । १–**वार्तिक**—'प्र' आदि से परवर्ती यदि धातुज-शब्द हो तो तदन्त शब्द का उत्तर पद के साथ समास होता है तथा 'प्र' आदि के उत्तर-पद का लोप भी विकल्प से होता है । **उदाहरण**—प्र–पतितपर्णः > प्रपर्णः (जिससे पत्ते गिर चुके हों) । **लौकिक विग्रह**—प्रपतितानि पर्णानि यस्मात् । **अलौकिक विग्रह**—प्र–पतित+जस् , पर्ण+जस् > प्र–पतित–पर्ण (समास एवं विभक्तिलोप) > प्र–पर्ण ('पतित' शब्द का वैकल्पिक लोप) > **प्रपर्णः** (विभक्तिकार्य पूर्ववत्) । पक्ष में **प्रपतितपर्णः** ('प्र' से उत्तरवर्ती 'पतित' का लोप न होने पर) । **वार्तिक**—२–'नञ्' से परवर्ती विद्यमानार्थ शब्द के रहने पर तदन्त का उत्तरपद के साथ समास होता है तथा 'नञ्' के उत्तरवर्ती पद का लोप भी विकल्प से होता है । **उदाहरण**—अपुत्रः (जिसके पुत्र न हो) । **लौकिक विग्रह**—अविद्यमानः पुत्रः यस्य सः । **अलौकिक विग्रह**—न विद्यमान+सु, पुत्र+सु>न–विद्यमान-पुत्र (समास तथा विभक्तिलोप) > न–पुत्र ('न' के परवर्ती 'विद्यमान' का लोप) >अ-पुत्र ("नलोपो नञः" ६-३-७३ से 'न्' लोप) > **अपुत्रः** (पुनः विभक्त्युत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत्) । पक्ष में 'विद्यमान' शब्द का लोप न होने पर **अविद्यमानपुत्रः** रूप बनेगा । **वार्तिक**—३—अव्यय पदों का भी उत्तर पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है । **उदाहरण**—उच्चैर्मुखः (ऊँचा-मुख किये हुए) । **लौकिक विग्रह**—उच्चैः मुखं यस्य सः । **अलौकिक विग्रह**—उच्चैः, मुख+सु > उच्च-मुख > **उच्चमुखः** → यहाँ 'उच्चैः' अधिकरण-शक्ति-प्रधान अव्यय है। अतः यह सप्तम्यन्त शब्द समझा जायगा । सप्तम्यन्त 'उच्चैः' पद का प्रथमान्त 'मुखम्' के साथ सामानाधिकरण्य न होने से "अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ से समास की प्राप्ति न होने के कारण यह विशेष विधान है । अन्य सामासिक कार्य पूर्ववत् होंगे । **वार्तिक**—४–सप्तम्यन्त पद अथवा उपमानवाचक पूर्व पद का उत्तर-पद के साथ समास होता है एवम् पूर्वपदस्थ उत्तर-वर्ती पद का लोप होता है । क्रमशः **उदाहरण**—(क) कण्ठेकालः (जिसके गले में काल हो) । **लौकिक विग्रह**—कण्ठे कालः यस्य सः (इससे पूर्व 'कण्ठेस्थः कालः यस्य सः' इस विग्रह में प्रकृत वार्तिक से 'कण्ठे' से परवर्ती 'स्थ' पद का लोप होता है) । **अलौकिक विग्रह**—कण्ठ+ङि, कालः+सु > कण्ठेकाल (समास तथा 'काल' शब्दोत्तर केवल 'सु'–विभक्ति का लोप, किन्तु 'कण्ठ' शब्दोत्तर 'ङि' का लोप "अमूर्धमस्तकात्" ६-३-१२ से निषेध होने के कारण नहीं हुआ) > **कण्ठेकालः** (विभक्ति-कार्य पूर्ववत्) । (ख) उष्ट्रमुखः (ऊँट के समान जिसका मुख हो) । **लौकिक विग्रह**—उष्ट्रमुखम् इव मुखं यस्य सः । **अलौकिक विग्रह**—उष्ट्रमुख+सु, मुख+सु > उष्ट्रमुख (पहले 'उष्ट्रस्य मुखम्' में षष्ठी तत्पुरुष समास, पुनः पूर्वपदस्थ उपमान-वाचक 'मुख,

अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । अस्तिक्षीरा गौः । (८३१) स्त्रियाः पुंवद्भाषित-पुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ६ । ३ । ३४ ॥ भाषित-पुंस्कादनूङ् ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिः । निपातनात्पञ्चम्या अलुक्, षष्ठ्याश्च लुक् ।

सोः 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुकि प्रत्ययलक्षणेन प्रथमान्तत्वादेव सिद्धेरिदं वचनं न कर्तव्यमिति भावः । तदुक्तं भाष्ये—'अस्तिक्षीरादिवचनं न वाऽव्ययत्वात्' इति ।

(८३१) **स्त्रियाः पुंवत्** । भाषितपुंस्कादनूङिति समस्तमेकपदं स्त्रिया इति षष्ठ्यन्तस्य विशेषणमित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—**भाषितपुंस्कादिति** । अनूङित्यस्य व्याख्यानम्—**ऊङोऽभाव इति** । अर्थाभावेऽव्ययीभावः नञ्तत्पुरुषो वा । भाषितपुंस्का-दिति दिग्योगे पञ्चमी । पर इति प्रथमान्तमध्याहार्यम् । तथा च भाषितपुंस्कात् परः अनूङ् यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिरिति फलति । ननु समासे सति पञ्चम्या लुक्प्रसङ्ग इत्यत आह—**निपातनात् पञ्चम्या अलुगिति** । इदमुपलक्षणम् । निपातनात् अप्रथमान्तस्यापि बहुव्रीहिः परशब्दलोपश्चेत्यपि बोध्यम् । यद्वा, अत एव निपातनादप्रयुज्यमानेऽपि परशब्दे तदर्थे गम्ये पञ्चमी । नन्वेवमपि स्त्रिया इति षष्ठ्यन्तस्य 'भाषितपुंस्कादनूङ्' इति यदि विशेषणं स्यात्, तर्हि भाषितपुंस्कादनूङ् इति षष्ठी श्रूयेतेत्यत आह—**षष्ठ्याश्च लुगिति** । निपातनादित्यनुषज्यते । भाषितः पुमान् येन तद्भाषितपुंस्कम् तदस्यास्तीति

शब्द का लोप एवं बहुव्रीहि समास) > **उष्ट्रमुखः** (विभक्तिकार्यादि पूर्ववत्) । **वार्तिक**—५—संघातपदान्त अथवा विकारपदान्त षष्ठ्यन्त पद का उत्तर पद के साथ समास होता है एवं संघात-वाची पदों का लोप भी होता है। क्रमशः **उदाहरण**—(क) केशचूडा (बालों के गुच्छे की चोटी वाला) । **लौकिक विग्रह**—केशानां संघातः चूडा यस्य सः । **अलौकिक विग्रह**—केश+आम् , संघात+सु , चूडा+सु > केश-सङ्घात्-चूडा (समास तथा विभक्तिलोप) > केश-चूडा ('केशानां' से परवर्ती 'संघात' शब्द का लोप) > **केशचूडः** ('चूडा' की उपसर्जन संज्ञा एवं ह्रस्व तथा विभक्ति-कार्य पूर्ववत्) । (ख) सुवर्णालङ्कारः (सोने के बने हुए आभूषण वाला) । **लौकिक विग्रह**—सुवर्णस्य विकारः अलङ्कारः यस्य सः । **अलौकिक विग्रह**—सुवर्ण+ङस् , विकार+सु , अलङ्कार+सु > सुवर्ण–विकार, अलङ्कार > सुवर्ण-अलंकार > सुवर्णा-लङ्कार > **सुवर्णालङ्कारः** (विकारपदान्त षष्ठ्यन्त का समास तथा 'विकार' शब्द का लोप एवम् अन्य सामासिक कार्य पूर्ववत्) । **वार्तिक**—६–'अस्तिक्षीरा' आदि पदों को भी बहुव्रीहि माना जाय । 'अस्ति' शब्द विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय है । **उदाहरण**—**अस्तिक्षीरा** (दूध देने वाली गाय) । **लौकिक विग्रह**—अस्ति क्षीरं यस्याः सा । **अलौकिक विग्रह**—अस्ति, क्षीरा+सु > **अस्तिक्षीरा** (समास, विभक्तिलोप, पुनः विभक्त्युत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत्) ।

विशेष—भाष्यकार ने 'अस्तिक्षीरा' आदि की सिद्धि के लिये इस पृथक् कथन में अरुचि प्रकट की है। कारण यह है कि 'अस्ति' पद विद्यमानार्थक अव्यय है, उसके पश्चात् आने वाली 'सु' विभक्ति का "अव्ययादाप्-सुपः" २-४-८२ से लोप हो जाता है—समास करने पर प्रत्यय-लक्षण द्वारा प्रथमान्त की कल्पना से बहुव्रीहि समास हो सकता है—"अस्तिक्षीरादिवचनं न वा अव्ययत्वात्" ।

(८३१) पद—स्त्रियाः, पुंवत्, भाषितपुंस्कात्, अनूङ्, समानाधिकरणे, स्त्रियाम्, अपूरणी-प्रियादिषु । **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे । **अतिदेश-सूत्र** ।

मूलार्थ—'भाषित-पुंस्कादनूङ्' पदस्थ 'अनूङ्' पद का विग्रह–ऊङः अभावः अस्याम्–बहुव्रीहि-परक है । निपातन-वश पञ्चमी विभक्ति का लोप नहीं हुआ, जब कि 'अनूङः' में षष्ठी का लोप हुआ

तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकस्य शब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात्समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे, न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोः-(सू ६५६) इति ह्रस्वः। चित्रा गावो यस्येति लौकिकविग्रहे 'चित्रा अस् गो अस्' इत्यलौकिकविग्रहे चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। चित्रा जरती गौर्यस्येति विग्रहे अनेकोक्तेर्बहूनामपि बहुव्रीहिः। अत्र केचित्—चित्राजरतीगुः—जरतीचित्रागुर्वा। एवं

अर्शआद्यच्। पुंस्त्वे स्त्रीत्वे च एकप्रवृत्तिनिमित्तकमिति यावत्। 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कम्' इत्यत्र व्याख्यातमेतत्। तदाह—तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते इति। स्त्रीवाचकस्य शब्दस्येति। स्त्रीलिङ्गस्येत्यर्थः। स्त्रिया इति षष्ठ्यन्तं न स्त्रीप्रत्ययपरमिति भावः। पुंवदिति रूपातिदेशः पुंस इव पुंवदिति षष्ठ्यन्ताद्वतिः तदाह—पुंवाचकस्येव रूपमिति। स्त्रियामिति सप्तम्यन्तमपि न स्त्रीप्रत्ययपरं किन्तु स्त्रीलिङ्गपरम्। तच्च 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकृते उत्तरपदेऽन्वेति। तदाह—स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे इति। अपूरणीप्रियादिष्वित्येतद्व्याचष्टे—न तु पुरण्यां प्रियादौ तु परत इति। पूरणीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् स्त्रीलिङ्गः पूरणप्रत्ययान्तो विवक्षित इति ज्ञेयम्। तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते इति किम्? कुटीभार्यः। अत्र पुंवत्त्वं न भवति, कुटीशब्दो घटे पुंल्लिङ्गः, गेहे तु स्त्रीलिङ्ग इति प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्। स्त्रीप्रत्ययः पुंवत्स्यादित्युक्ते तु स्त्रीप्रत्ययस्य लोपः पर्यवस्येत्। ततश्च पट्वी भार्या यस्य सः पटुभार्यः इत्यत्र उत्तरपदं परनिमित्तमाश्रित्य ङीपो लोपे तस्य 'अचः परस्मिन्' इति स्थानिवत्त्वादुकारस्य यण् स्यात्। ह्रस्व इति। चित्रा गावो यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे सुब्लुकि सति अनेकमिति प्रथमान्तनिर्दिष्टतया, विग्रहे नियतविभक्तिकतया वा उपसर्जनत्वे सति चित्रगोशब्दे ओकारस्य 'गोस्त्रियोः' इत्युकारो ह्रस्व इत्यर्थः। ननु चित्रा गाव इति लौकिकसमासाभ्युपगमे सुपो लुकः प्राक् चित्रा अस् इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घे गो अस् इत्यत्र पूर्वरूपे च एकादेशे कृते तस्य परादिवत्त्वेन असो लुकि चित्रशब्दे अकारो न श्रूयेत, चित्रगुरित्यत्र उकारश्च न श्रूयेत, पूर्वान्तवत्त्वे तु परिशिष्टस्य सकारमात्रस्य सुप्त्वाभावाल्लुक् न स्यादित्यत आह—चित्रा अस् इति। गोशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् तद्विशेषणत्वाच्चित्रेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति सूत्रभाष्यरीत्या 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' इति न्यायात् प्रागेव पूर्वसवर्णदीर्घात् सुब्लुगिति भावः। चित्रगुरिति। बहुव्रीहौ ह्रस्वत्वे चित्राशब्दस्य पुंवत्त्वमिति भावः। रूपवद्भार्य इति। रूपवती भार्या यस्येति विग्रहः। अत्र उपसर्जनह्रस्वः। रूपवतीशब्दस्य पुंवत्त्वम्। ननु चित्रा जरती गौर्यस्येति विग्रहे कथं त्रिपदबहुव्रीहिः, 'सुप् सुपा' इत्येकत्वस्य विवक्षितत्वादित्यत आह—अनेकोक्तेरिति।

है। जिस शब्द के प्रयोग का कारण पुंलिंग और स्त्रीलिङ्ग में तुल्य हो तथा जिसके परे 'ऊङ्' प्रत्यय न हो ऐसे स्त्री-वाचक शब्द का पुंवाचक के समान रूप हो, समानाधिकरण स्त्री-लिङ्ग उत्तरपद परे रहते, यदि 'पूरणी संख्या' और 'प्रिया' आदि शब्द उससे परे न रहते हों। "गोस्त्रियोः" ६५६ से ह्रस्व होगा। 'चित्राः गावः यस्य'—इस लौकिक विग्रह में तथा 'चित्र+जस्, गो+जस्'—इस अलौकिक विग्रह में १–'चित्रगुः' (रूप बनता है)। २–रूपवद्भार्यः। ३–'चित्रा-जरती गौः यस्य'—विग्रह में 'अनेक' कहने से बहुत शब्दों का भी बहुव्रीहि समास होता है। इस सन्दर्भ में कुछ लोग चित्राजरती-गुः, जरतीचित्रागुः रूप भी (स्वीकार करते हैं)। इसी

दीर्घातन्वीजङ्घः–तन्वीदीर्घाजङ्घः। त्रिपदे बहुव्रीहौ प्रथमं न पुंवत्। उत्तरपदस्य मध्यमेन व्यवधानात्। द्वितीयमपि न पुंवत् पूर्वपदत्वाभावात्। उत्तरपदशब्दो हि समासस्य चरमावयवे रूढः। पूर्वपदशब्दस्तु प्रथमावयवे रूढ इति वदन्ति। वस्तुतस्तु नेह पूर्वपद-

---

शेषग्रहणात् प्रथमान्तमिति लब्धम्। एकस्य प्रथमान्तस्य समासो नोपपद्यते, समास इत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात्। ततश्चार्थादनेकं प्रथमान्तमिति सिद्धे पुनरनेकग्रहणात् द्विबहूनां प्रथमान्तानां बहुव्रीहिरिति भाष्ये स्पष्टमिति भावः। अत्रेति। त्रिपदबहुव्रीहावित्यर्थः। चित्राजरतीगुः, जरतीचित्रागुर्वेति। गां प्रति चित्रात्वस्य जरतीत्वस्य च विशेषणत्वाविशेषात् अन्यतरस्य 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इति पूर्वनिपात इति भावः। एवं दीर्घेति। दीर्घे तन्व्यौ जङ्घे यस्येति विग्रहः। उभयत्रापि पूर्वमध्यपदयोः पुंवत्त्वमाशङ्क्याह–त्रिपदे इति। उत्तरपदस्येति। समासचरमावयवपदस्य उत्तरपदत्वात् तृतीयमेव पदमत्रोत्तरपदं वाच्यम्। तत्परकत्वं च मध्यमपदस्यैव, न तु प्रथमपदस्यापि, तस्य मध्यमेन पदेन व्यवधानादित्यर्थः। ननु तर्हि मध्यमपदस्य पुंवत्त्वं दुर्वारम्, उत्तरपदपरकत्वसत्त्वादित्यत आह––द्वितीयमपि न पुंवादिति। पूर्वपदत्वाभावादिति। उत्तरपदेन पूर्वपदमाक्षेपाल्लभ्यते। समासप्रथमावयवपदमेव पूर्वपदम्। ननु मध्यमावयवपदमपीति भावः। ननु मध्यमपदापेक्षया प्रथमपदस्य पूर्वपदत्वमस्ति मध्यमपदस्य च प्रथमपदापेक्षया उत्तरपदत्वमस्तीत्यत आह––उत्तरपदशब्दो हीति। रूढ इति। वैया-

---

प्रकार तन्वीदीर्घाजङ्घः एवं दीर्घातन्वीजङ्घः (भी समझें)। त्रिपद बहुव्रीहि में उत्तरपद का मध्यम पद के साथ व्यवधान होने के कारण पहला पद पुंवत् नहीं होता। दूसरा पद भी पूर्वपद न होने के कारण पुंवत् नही होता। 'उत्तरपद' शब्द समास के चरम अवयव में रूढ है। 'पूर्वपद' शब्द समास के प्रथम अवयव में रूढ है। "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" ९२१ की तरह वस्तुतः यहाँ पूर्व पद का आक्षेप नहीं होता। अतः उपान्त्य ही पुंवत् (होता) है। जैसे—चित्राजरद्-गुः इत्यादि। इसी हेतु 'चित्रा जरत्यौ गावौ यस्य'—इस द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि में भी 'चित्रा-जरद्-गुः' शब्द भाष्य-सम्मत है। कर्मधारय पूर्वपद में तो दोनों पुंवत् होंगे। जैसे—जरच्चित्रगुः। कर्मधारयोत्तरपद में—चित्रजरद्-गवीकः। सूत्र में 'स्त्रियाः' क्यों कहा? ग्रामणिकुलं दृष्टिः अस्य > ग्रामणिदृष्टिः (में पुंवद्भाव न हो)। 'भाषितपुंस्कात्' क्यों कहा? गङ्गाभार्यः (पुंवद्भाव न हो)। 'अनूङ्' क्यों कहा? वामोरू-भार्यः (पुंवद्भाव न हो)। 'समानाधिकरणे' क्यों कहा? कल्याण्याः माता > 'कल्याणी-माता (में पुंवद्भाव न हो)। 'स्त्रियाम्' क्यों कहा? 'कल्याणीप्रधानः' (पुंवद्भाव न हो)।

विवरण—प्रकृत सूत्र "अलुगुत्तरपदे" ६-२-१ अधिकार के अन्तर्गत है। अनुवृत्त पद 'उत्तरपदे' का अन्वय सूत्रस्थ 'समानाधिकरणे' तथा 'स्त्रियाम्'—इन पदों के साथ होता है। इसके अतिरिक्त 'भाषितपुंस्कादनूङ्'—यह समस्त पद है। इस पद में दो विशेषतायें हैं। प्रथम पद 'भाषितपुंस्कात्' में पञ्चमी विभक्ति का निपातन वश लोप का न होना तथा दूसरा समास के पश्चात् 'अनूङ्' पद में नियमतः प्राप्त षष्ठी विभक्ति के लोप की व्याख्यावश कल्पना करना। लुप्त-षष्ठ्यन्त 'अनूङ्' को अर्थवश 'अनूङः' माना गया है तथा उसे बहुव्रीहि-समास समझकर ('ऊङः अभावः यस्याम्') सूत्रस्थ 'स्त्रियाः' पद के विशेषण के रूप में उपस्थापित कर 'ऊङ्-प्रत्यय के न होने वाले स्त्री-वाचक शब्दों' तक उसे सीमित कर दिया है। सूत्रार्थ में उपयोगी 'भाषितपुंस्कात्' पद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'ऐसे शब्द जो पुंलिङ्ग और स्त्रीलिंग या नपुंसक दोनों लिङ्गों में भी प्रयोग किये जाने के साथ ही अर्थ (प्रवृत्तिनिमित्त) की समानता भी रखते हों—'भाषितः पुमान् यस्मिन्–सः'। इस आशय को इस कारिका में स्पष्ट किया गया है—

माक्षिप्यते। 'आनङ् ऋतः' (सू ९२१) इत्यत्र यथा। तेनोपान्त्यस्य पुंवदेव। चित्राजरद्गुः इत्यादि। अत एव 'चित्राजरत्यौ गावौ यस्येति द्वन्द्वगर्भेऽपि चित्राजरद्गुः' इति

करणसमयसिद्ध इत्यर्थः। इति वदन्तीति। एवं प्रकारेण केचिद्वदन्वीत्यन्वयः। तत्र प्रथमपदस्य त्रिपदबहुव्रीहौ नास्ति पुंवत्त्वमिति युज्यते, उत्तरपदपरकत्वाभावात्। मध्यमपदस्य तु पूर्वपदत्वाभावेऽप्यस्त्येव पुंवत्त्वम्, 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यत्र तु पूर्वपदस्याश्रवणात् अनुवृत्त्यभावाच्च, किन्तु उत्तरपदे इत्यनेन पूर्वपदस्य पुंवत्त्वमित्यर्थात् गम्यत इति वक्तव्यम्। तदपि न सम्भवतीत्यत आह—नेह पूर्वपदमाक्षिप्यत इति। इह 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यत्र उत्तरपदे इत्यनुवृत्तेन पूर्वपदं नाक्षिप्यते, नार्थादगम्यत इत्यर्थः। कुत इत्यत आह—आनङ्ऋत इत्यत्र यथेति। ऋदन्तानां द्वन्द्व आनङ् स्यात् उत्तरपदे इति तदर्थः। अत्र चतुर्णां द्वन्द्वे 'होतृपोतृनेष्टोद्गातारः' इत्युपान्त्यस्य नेष्टुरानङ्‌दाहृतः 'समर्थः पदविधिः' इत्यत्र भाष्ये। तत्रोत्तरपदेन पूर्वपदाक्षेपनियमे नेष्टुरुपान्त्यस्य पूर्वपदत्वाभावात् आनङ् नोपपद्येत। तस्मान्नावश्यमुत्तरपदे विहितं कार्यं पूर्वपदस्यैवेति नियम इत्यर्थः। तेनेति। पूर्वपदानाक्षेपेणेत्यर्थः। उपान्त्यस्येति। अन्त्यस्य समीपमुपान्त्यम्। चरमावयवसमीपवर्तिनः मध्यमस्येत्यर्थः। पुंवदेवेति। रूपमिति शेषः। तदेव दर्शयति—चित्राजरद्गुरिति। अत्र चित्राशब्दस्य न पुंवत्त्वम्। मध्यमेन व्यवधानात् उत्तरपदपरकत्वाभावाच्चेति भावः। इत्यादीति। जरतीचित्रगुः, तन्वीदीर्घजङ्घः, दीर्घातन्वीजङ्घः। ननु 'आनङृतः' इत्यत्र 'होतृपोतृनेष्टोद्गातारः' इति भाष्योदाहरणान्मास्तु पूर्वपदाक्षेपः। 'स्त्रियाः पुवत्' इति सूत्रे तदनाक्षेपे किं प्रमाणमित्यत आह—अत एवेति। 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यत्रापि पूर्वपदानाक्षेपादित्यर्थः। द्वन्द्वगर्भेऽपीत्यनन्तरं

"यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते। क्लीबवृत्तौ तदेव स्यात् उक्तपुंस्कं तदुच्यते॥
पीलुर्वृक्षं फलं पीलु 'पीलुने' न तु 'पीलवे'। वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः॥"

अर्थात् जिस निमित्त (अर्थ) को लेकर पुंलिङ्ग में शब्द प्रवृत्त होता है, यदि नपुंसक लिङ्ग में प्रवृत्ति का भी वही निमित्त हो, तो उस शब्द को 'भाषित-पुंस्क' कहते हैं। 'पीलु' शब्द वृक्ष और उसके फल का भी वाचक है। इस तरह 'पुंलिङ्ग' और 'नपुंसक लिङ्ग' में प्रयुक्त होने पर भी दोनों का प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थ) भिन्न है—अतः वह भाषितपुंस्क नहीं है। इस कारण चतुर्थी के एक वचन में 'पीलुने' (नपुंसक लिङ्ग) तथा 'पीलवे' (पुंलिङ्ग)—दो भिन्न रूप बनेंगे। कारण यह है कि 'पीलु' शब्द की वृक्ष—अर्थ में प्रवृत्ति का निमित्त 'पीलुत्व' है और फल अर्थ में 'पीलुजत्व'। अतः दोनों का अर्थ भिन्न-भिन्न है। भाषित-पुंस्क में प्रवृत्ति—निमित्त की एकरूपता अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "जिस शब्द का प्रयोग-कारण अर्थात् उसका अर्थ पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में तुल्य हो और जो शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता हो तथा जिसके परे 'ऊङ्' प्रत्यय न हो—ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवाचक के समान रूप हो, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे रहते, यदि 'पूरणी-संख्या' और 'प्रिया' आदि शब्द उत्तर पद में न हों।" **उदाहरण**—(१) चित्रगुः (जिसकी गायें चितकबरी हों)। **लौकिक विग्रह**—चित्राः गावः यस्य सः। **अलौकिक विग्रह**—चित्रा+जस्, गो+जस् > चित्रा-गो ("अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ से समास, विभक्तिलोप) > चित्र-गो (स्त्री-वाचक 'चित्रा' पद को पुंवद्भाव) > चित्रगु ("एकविभक्ति चापूर्वनिपाते" १-२-४४ से विग्रह में निश्चित-विभक्ति होने के कारण 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा तथा "गोस्त्रियोरु-

भाष्यम्। कर्मधारयपूर्वपदे तु द्वयोरपि पुंवत्। जरच्चित्रगुः। कर्मधारयोत्तरपदे तु चित्रजरद्गवीकः। स्त्रियाः किम्? ग्रामणि कुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः। भाषितपुंस्कात्

बहुव्रीहाविति शेषः। भाष्यमिति। यद्यपि कृत्स्नभाष्यपरिशोधनायां चित्राजरद्गुरित्युदाहरणं भाष्ये क्वापि न दृश्यते, अथापि चित्राजरद्गुरितीत्यनन्तरं प्रयोगमिति शेषः। भाष्यमित्यस्य पट्वीमृदुभार्यः इति प्रकृतसूत्रस्थभाष्यमित्यर्थः। सूचयतीति शेषः। 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्रकृतसूत्रभाष्ये हि पट्व्यौ मृद्व्यौ हि भार्ये यस्येति द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहौ पट्वीमृदुभार्यः इत्युदाहृतम्। तत्र पट्वीमृदुशब्दात्मको द्वन्द्वः पूर्वपदं न तस्य भाषितपुंस्कत्वमस्तीति न पुंवत्त्वम्, द्वन्द्वस्य परवल्लिङ्गतानियमात्। तत्र द्वन्द्वे पूर्वपदस्य पट्वीशब्दस्य तु न पुंवत्त्वम्। मध्यमपदेन व्यवधानादुत्तरपदपरकत्वाभावात्। मध्यमपदस्यानुत्तरपदत्वादसमानाधिकरणत्वाच्च न तस्मिन्परे पुंवत्त्वसम्भवः। मृद्वीशब्दस्य तु केवलस्य भाषितपुंस्कत्वात् उत्तरपदपरकत्वाच्च पुंवत्त्वमिति तदाशयः। 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यत्र पूर्वपदाक्षेपे तु मृदुशब्दस्य पूर्वपदत्वाभावेन पुंवत्त्वाप्रवृत्तेः तदसङ्गतिः स्पष्टैव। ततश्च पट्वीमृदुभार्य इति भाष्यं चित्राजरद्गुरिति प्रयोगं गमयतीत्यर्थः। कर्मधारयेति। जरती चासौ चित्रा चेति कर्मधारयः। 'पुंवत्कर्मधारय' इति जरतीशब्दस्य पुंवत्त्वात् ङीपो निवृत्तिः। ततश्च जरच्चित्रा गौर्यस्येति कर्मधारयपूर्वपदत्वे बहुव्रीहौ पूर्वपदस्य जरच्चित्राशब्दस्य 'स्त्रियाःपुंवत्' इति पुंवत्त्वात् टापो

पसर्जनस्य" १-२-४८ से उत्तरपद 'गो' को ह्रस्व—ओ = उ) > चित्रगुः (विभक्तिकार्य)। (२) रूपवद्भार्यः (जिसकी पत्नी सुन्दर हो)। **लौकिक विग्रह**—रूपवती भार्या यस्य सः। **अलौकिक विग्रह**—रूपवती+सु, भार्या+सु > रूपवती-भार्या (समास एवं विभक्तिलोप) > रूपवत्-भार्या (पुंवद्भाव) > रूपवद्भार्या (त् = द्—जश्त्व—"झलां जशोऽन्ते" ८-२-३९) > रूपवद्भार्य (ह्रस्व—भार्या = भार्य—"गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" १-२-४८) > रूपवद्भार्यः (विभक्तिकार्य)।

विशेष—"अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ सूत्र में 'अनेक' पद का निवेश होने से तीन पदों का भी बहुव्रीहि समास अभीष्ट है, अतः चित्रा जरती गौः यस्य > 'चित्राजरतीगुः' (चितकबरी बूढी गाय का स्वामी) तथा जरती चित्रा गौः 'जरती-चित्रा-गुः' एवम् दीर्घे तन्व्यौ जङ्घे यस्य > 'दीर्घातन्वीजङ्घः' (बड़ी और विस्तृत जङ्घा वाला व्यक्ति) तथा तन्वी दीर्घा जङ्घा यस्य > "तन्वीदीर्घाजङ्घः' आदि रूप सिद्ध होते हैं। इन उदाहरणों में पुंवद्भाव इस कारण नहीं होता कि तीनों पदों में से प्रथम पद तथा अन्तिम तृतीय पद के बीच में स्थित मध्य पद का व्यवधान होने से वह (प्रथम पद) अव्यवहित पूर्व नहीं है। द्वितीय पद (मध्यस्थित पद) को पुंवद्भाव इसलिये नहीं हुआ कि वह पूर्वपद नहीं है। उत्तर-पद से तात्पर्य यहाँ समास-घटक अन्तिम शब्द अभिलक्षित है, एवम् पूर्व-पद भी समास के आदिम पद में रूढ है। यद्यपि सूत्र में 'पूर्व-पद' का उल्लेख नहीं है, किन्तु अधिकार-लभ्य 'उत्तरपदे' शब्द अर्थापत्ति प्रमाण से 'पूर्वपद' का आक्षेप कर अन्वित होता है—"येन विना यद् अनुपपन्नं तत् तेन आक्षिप्यते"।

इसके विपरीत भाष्यकार के मतानुसार उत्तरपद से पूर्वपद का आक्षेप मान्य नहीं है। इसमें प्रमाण-स्वरूप "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" ६-३-२५ सूत्र को अभिलक्षित कर 'होतृपोतृनेष्टोद्गातारः' उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। प्रकृत उदाहरण में 'नेष्टृ' शब्द में 'आनङ्' (आन्) हुआ है। यद्यपि समस्यमान पदों में 'नेष्टृ' शब्द पूर्वावयव नहीं है, तथापि उत्तरपद का समीपवर्ती होने के कारण उसे पूर्वपद मानकर 'आनङ्' हो गया है। वैसे ही "स्त्रियाः पुंवद्०" ८३१ सूत्रस्थ

किम् ? गङ्गाभार्यः । अनूङ् किम् ? वामोरूभार्यः । समानाधिकरणे किम् ? कल्याण्या माता कल्याणीमाता । स्त्रियां किम् ? कल्याणी प्रधानं यस्य सः कल्याणीप्रधानः । पूरण्यां तु ।

निवृत्तिरिति भावः । **कर्मधारयोत्तरेति ।** जरती चासौ गौश्चेति कर्मधारये 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि अवादेशे 'पुंवत्कर्मधारय' इति जरतीशब्दस्य पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ टित्त्वात् ङीपि जरद्गवीशब्दः । ततश्चित्रा जरद्गवी यस्येति कर्मधारयोत्तरपदके बहुव्रीहौ 'नद्यृतश्च' इति कपि चित्राशब्दस्य 'स्त्रियाः पुंवद्' इति पुंवत्त्वे चित्रजरद्गवीक इति रूपमित्यर्थः । **स्त्रियाः किमिति ।** षष्ठ्यन्तस्य प्रश्नः । **ग्रामणि कुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिरिति ।** ग्रामणीशब्दस्य नपुंसकत्वे 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वे ग्रामणिशब्द इदन्तः कुलशब्दो नपुंसकत्वस्फोरणार्थः । दृष्टिशब्देन नेत्रस्थानापन्नं विवक्षितम् । ग्रामणि दृष्टिरस्येति विग्रहः । 'स्त्रियाः' इत्यस्याभावे ग्रामणीशब्दस्य पुंवत्त्वे नपुंसकह्रस्वनिवृत्ती ग्रामणीकुलमिति स्यादिति भावः । **गङ्गाभार्य इति ।** अत्र गङ्गाशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गतया भाषितपुंस्कत्वाभावात् न पुंवत्त्वमिति भावः । **वामोरूभार्यः इति ।**

'पूर्वपद' की व्याख्या भी इसी प्रकार की गई है। तदनुसार 'पट्वीमृदुभार्यः' उदाहरण में 'मृद्वी' पद को पुंवद्भाव कर 'मृदु' पद का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार 'चित्राजरद्गुः' तथा 'जरतीचित्रगुः' रूप समीचीन माने गए हैं। इसी के अनुसार द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि-समास को अभिलक्षित कर 'चित्राजरत्यौ गावः यस्य' इस प्रकार विग्रह करने पर भी 'जरती' को ही पुंवद्भाव होगा तथा वहाँ भी 'चित्राजरद्गुः' रूप बनेगा। इसके पूर्व द्वन्द्व-समास का विग्रह 'चित्रा च जरती च' होगा।

उपर्युक्त भाष्य-प्रामाण्य के अनुसार कर्मधारय-गर्भित बहुव्रीहि में भी उत्तरपद के समीपवर्ती पद को पुंवद्भाव होने से **जरच्चित्रगुः** रूप निष्पन्न होगा। विग्रह—जरती चासौ चित्रा च—पहले कर्मधारय समास—"पूर्वकालैक०" ७२६—होने पर, "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" ७४६ सूत्र से 'जरती' को पुंवद्भाव (जरत्-चित्रा), पश्चात् 'जरत्-चित्रा गौः यस्य'—इस कर्मधारयपूर्वक बहुव्रीहि-समास में "स्त्रियाः पुंवत्०" ८३१ से 'चित्रा' को पुंवद्भाव (जरत्-चित्र-गो) होकर 'गो' शब्द को "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" ६५६ से ह्रस्व होने पर 'जरच्चित्रगुः' रूप सिद्ध होता है।

कर्मधारय उत्तर-पद रहने पर **चित्रजरद्गवीकः** शब्द निष्पन्न होगा। सर्वप्रथम 'जरती चासौ गौश्च' विग्रह करने पर कर्मधारय समास में 'जरती' शब्द को "पुंवत्कर्मधारय०" ७४६ से पुंवद्भाव होकर 'जरद्गवी', तदनन्तर 'चित्रा जरद्गवी यस्य' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर "स्त्रियाः पुंवत्" ८३१ सूत्र से 'चित्रा' को पुंवद्भाव होकर "नद्यृतश्च" ५-४-१५३ सूत्र से 'कप्' (क) प्रत्यय समासान्त में होने के पश्चात् विभक्ति-कार्य होंगे।

प्रत्युदाहरण—(१) प्रकृत सूत्र में 'स्त्रियाः' पद के अभाव में नपुंसक-लिङ्ग में पूर्वपदस्थ शब्द को भी पुंवद्भाव होने लगेगा। ऐसी स्थिति में ग्रामणि (कुलं) दृष्टिः अस्य इस विग्रह में नपुंसक-लिङ्ग-वाची 'ग्रामणि' शब्द को पुंवद्भाव होने पर "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४७ सूत्र प्रवृत्त न होता एवम् 'ग्रामणीदृष्टिः' अनिष्ट रूप बनने लगता न कि **ग्रामणिदृष्टिः**। उसके निवारण के लिये 'स्त्रियाः' पद का निवेश किया गया है। (२) इसी प्रकार सूत्र में 'भाषितपुंस्कात्' पद के अभाव में नित्य-स्त्रीलिङ्ग-वाची शब्दों को पुंवद्भाव होने लगता। ऐसी स्थिति में गङ्गा भार्या यस्य सः > **गङ्गाभार्यः** में भी पुंवद्भाव होकर गङ्गा शब्द को ह्रस्व हो जाता। (३) इसी प्रकार 'अनूङ्' पद के अभाव में वामौ ऊरू यस्याः सा > वामोरूः। वामोरू भार्या

(८३२) अप्पूरणीप्रमाण्योः ५ । ४ । ११६ ॥ पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् स्यात् । कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणी-

---

वामौ सुन्दरौ ऊरू यस्या इति बहुव्रीहिः । 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' । तदन्तस्य पुंवत्त्वे ऊङो निवृत्तौ वामोरुभार्य इति पूर्वपदमुदन्तमेव स्यादिति भावः । **स्त्रियां किमिति** । सप्तम्यन्तस्य प्रश्नः । **कल्याणी प्रधानं यस्य सः कल्याणीप्रधान इति** । अत्र प्रधानशब्दस्य नित्यनपुंसकत्वात् कल्याणीशब्देन सामानाधिकरण्येऽपि स्त्रीलिङ्गत्वाभावात्तस्मिन्परे पुंवत्त्वं नेति । **पूरण्यां त्विति** । पुंवत्त्वनिषेधोदाहरणे विशेषो वक्ष्यत इति शेषः ।

(८३२) **अप्पूरणी** । अवितिच्छेदः । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवृत्तं पूरणीप्रमाणीभ्यां विशेष्यते, तदन्तविधिः । स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् पूरणप्रत्ययान्तस्त्रीलिङ्गमिह गृह्यते । तदाह—**पूरणार्थेत्यादिना** । **अपः स्यादिति** । समासान्तस्तद्धित इत्यपि बोध्यम् । **पञ्चमीति** । पञ्चानां पूरणीत्यर्थः । 'तस्य पूरणे डट्' 'नान्तादसङ्ख्यादेः' इति तस्य मडागमः । टित्वात् ङीप् । **कल्याणीपञ्चमा रात्रय इति** । बहुव्रीहौ कृते पञ्चमीशब्दे पूरणार्थप्रत्ययान्ते परे कल्याणीशब्दस्य पुंवत्त्वनिषेधः, अप्, सामासान्तस्तद्धितः, टाप्, 'यस्येति च' इतीकारलोपः । ननु पञ्चमी रात्रिरन्यपदार्थप्रविष्टा वा न वा ? नाद्यः, तस्याः समस्यमानपदार्थत्वेन तदन्यत्वानुपपत्तेः । नान्त्यः,

---

यस्य सः > **वामोरूभार्यः** में 'ऊङन्त' वामोरू पद को पुंवद्भाव होने पर 'ऊरू' भाग को ह्रस्व हो जाता । वह न हो । अतः 'अनूङ्' पद का निवेश किया गया है । (४) यदि सूत्र में 'समानाधिकरणे' पद का निवेश न होता तो **कल्याणीमाता** में भी पुंवद्भाव होने लगता । यहाँ 'कल्याण्याः' षष्ठ्यन्त पद है और 'माता' प्रथमान्त पद है । 'समानाधिकरण' रहने पर भिन्न-विभक्तिक होने के कारण 'कल्याणी' पद को पुंवद्भाव नहीं हुआ । (५) सूत्र में 'स्त्रियाम्' पद का निवेश होने से जहाँ उत्तरपद में स्त्री-वाची शब्द नहीं होगा वहाँ पुंवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होती । अतः कल्याणी प्रधानं यस्य सः > **कल्याणीप्रधानः** (कल्याणी जिसकी प्रधान हो) में उत्तर-पदस्थ 'प्रधान' शब्द के नपुंसक लिङ्ग में होने से पूर्वपद 'कल्याणी' को पुंवद्भाव नहीं हुआ । (६) सूत्र में 'अपूरणीप्रियादिषु' कहा है । इसका आशय यह है कि जहां 'पूरणी' प्रत्ययान्त और प्रिय शब्द परे हों वहाँ स्त्री-वाचक पूर्व पद को पुंवद्भाव नहीं होता । इसके फलस्वरूप कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः > **कल्याणीपञ्चमाः** (जिन रात्रियों में पाँचवीं कल्याणमय हो) में पूर्वपदस्थ 'कल्याणी' शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता, क्योंकि उत्तरपदस्थ पञ्चमी शब्द पूरण-प्रत्ययान्त (स्त्री-लिङ्ग) है । कल्याणी-पञ्चमी+अ > कल्याणपञ्चम (बहुव्रीहि समास होने के पश्चात् आगे आने वाले सूत्र "अप्पूरणी-प्रमाण्योः" ५-४-११६ से पुंवद्भाव का निषेध तथा अप् प्रत्यय) > कल्याण-पञ्चमाः ('ई' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८ तथा 'टाप्' एवं प्रथमा बहुवचन में विभक्तिकार्य) । (६) इसी प्रकार स्त्री प्रमाणी यस्य सः > **स्त्री-प्रमाणः** (जिसे स्त्री प्रमाण हो) में बहुव्रीहि समास होने पर 'प्रमाणी' शब्दान्त से 'अप्' प्रत्यय होगा (स्त्री-प्रमाणी+अ > स्त्रीप्रमाण) ।

(८३२) पद—अप्, पूरणीप्रमाण्योः । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूरणार्थक प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग से तथा प्रमाण्यन्त बहुवचन से 'अप्' प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—१-कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः > कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । २-स्त्री

पञ्चमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणी यस्य सः स्त्रीप्रमाणः । 'पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्प्रत्ययश्च प्रधान-पूरण्यामेव' (वा ३३५९–३९१०)। रात्रिः पूरणी वाच्या चेत्युक्तोदाहरणे मुख्या ।

पञ्चम्या रात्रेरन्यपदार्थप्रवेशाभावे कल्याणी पञ्चमा इति समासात्पञ्चमीं रात्रिं विना चतुर्णामेव बोधनापत्तौ पञ्चमपदस्यासङ्गत्यापादनादिति चेत्, सत्यम्——पञ्चानां रात्रीणाम् उद्भूतावयवभेदः समुदाय एवान्यपदार्थः। तत्र पञ्चम्या रात्रेः प्रवेशेऽपि तद्घटित-समुदायस्यान्यपदार्थत्वं न विरुध्यते. समुदायस्यावयवापेक्षया अन्यत्वात् रात्रय इति बहुवचनं तु अवयवबहुत्वापेक्षम् यथा चैतत्तथा सर्वनामसञ्ज्ञासूत्रे प्रपञ्चितम्। अथ प्रमाण्यन्तादब्विधेरुदाहरणमाह——**स्त्री प्रमाणी यस्य सः स्त्रीप्रमाण इति।** प्रमाणशब्दोऽत्र करणल्युडन्तः, विशेष्यनिघ्नः, टित्वात् ङीप्। बहुव्रीहौ सति अप्प्रत्यये 'यस्येति च' इति ईकारलोपे स्त्रीप्रमाण इति रूपम्। पूर्वपदस्य तु नित्यस्त्रीलिङ्गत्वादभाषित-पुंस्कत्वान्न पुंवत्त्वप्रसक्तिः। **प्रधानपूरण्यामेवेति।** 'स्त्रियाः पुंवत्' इति सूत्रे 'अप्पूरणी' इति सूत्रे च प्रधानपूरणीग्रहणं कर्तव्यमिति भावः। ननु कल्याणीपञ्चमाः रात्रय इत्यत्र पञ्चम्या रात्रेः समस्यमानपदार्थत्वात् कथं प्राधान्यं, बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वादित्यत आह——**रात्रिः पूरणी वाच्या चेत्युक्तोदाहरणे मुख्येति।** कल्याणीपञ्चमाः रात्रय इत्युक्तोदाहरणे पञ्चानां पूरणी रात्रिः समस्यमानपञ्चमीपदार्थत्वेऽपि अन्यपदार्थसमुदाय-घटकतया बहुव्रीहिसमासवाच्यापि भवतीति कृत्वा मुख्या भवतीत्यर्थः। उद्भूतावयवस्य रात्रिसमुदायस्य प्रधानत्वेऽपि तद्घटकतया यथा प्रथमाद्याश्चतस्रो रात्रयः समासा-

---

प्रमाणः। वा० पुंवद्भाव का प्रतिषेध और 'अप्' प्रत्यय–ये (दोनों) कार्य प्रधान पूरणी प्रत्ययान्त के होने पर ही हों। 'रात्रि' शब्द उक्त उदाहरण में पूरणीवाच्य है, अतः उसका प्राधान्य है।

विवरण—प्रसङ्गवश समासान्त-प्रकरण का सूत्र यहाँ उद्धृत किया गया है। अतः सूत्रार्थ की पूर्ति के लिये उस प्रकरण की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। तदनुसार "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" ५-४-११२ से बहुव्रीहौ की अनुवृत्ति तथा "समासान्ताः" ५-४-६१ का अधिकार-जन्य प्रभाव प्रधान रूप में विद्यमान हैं। ऊपर उल्लिखित शेष अनुवृत्तियाँ प्रासङ्गिक अर्थ को निष्पन्न करने में उपयोगी हैं। अनुवृत्त 'बहुव्रीहौ' पद सूत्रस्थ 'पूरणी-प्रमाण्योः' का विशेष्य है। विशेषण होने के कारण 'पूरणी–प्रमाण्योः' में तदन्तविधि होगी। सूत्रस्थ 'पूरणी' पद पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का बोधक है[1]। "प्रत्ययः" ३-१-१ तथा "परश्च" ३-१-२ के आधिकारिक प्रभाव से 'अप्' प्रत्यय बहुव्रीहि के अन्त में होगा। इसी कारण सूत्रस्थ सप्तम्यन्त पद 'पूरणी–प्रमाण्योः' को पञ्चमी में परिणत किया जाता है। इस प्रकार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जिस बहुव्रीहि समास के अन्त में पूरणार्थक प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग या प्रमाणी शब्द हो, उससे समासान्त 'अप्' (=अ) प्रत्यय होगा। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **कल्याण–पञ्चमाः** तथा (२) **स्त्रीप्रमाणः।** रूप सिद्धि पूर्व सूत्र (८३१) में देखें।

विशेष—"स्त्रियाः पुंवत्" ६-३-३४ सूत्र में तथा "अप्–पूरणी–प्रमाण्योः" ५-४-११६ सूत्र में 'पूरणी' पद से प्रधान पूरणी का ग्रहण करना उचित है, न कि गौण पूरणी का। इस आशय को सूचित करने के लिये यहाँ **वार्तिक** प्रतुत किया गया है। तदनुसार 'पुंवद्भाव का प्रतिषेध' तथा 'अप्' प्रत्यय—ये दोनों प्रधान पूरणी में प्रवृत्त होंगे। इसके फलस्वरूप पूर्वोक्त उदाहरण **'कल्याणी-पञ्चमाः'** रात्रयः में 'पञ्चमी' शब्द का 'रात्रि' के साथ सम्बन्ध है। यहाँ पूरणी–प्रत्ययान्त 'पञ्चमी' प्रधान है न कि रात्रि, अतः पुंवद्भाव नहीं हुआ, किन्तु 'अप्' प्रत्यय हुआ। जहाँ 'पूरणी' प्रत्यय

---

१. पूरण–प्रत्ययान्ताः स्त्रलिङ्गाः शब्दाः पूरणीग्रहणेन गृह्यन्ते।—काशिका।

अन्यत्र तु । (८३३) नद्यृतश्च ५।४।१५३ ॥ नद्युत्तरपदादृदन्तोत्तरपदाच्च बहुव्रीहेः कप्स्यात् । पुंवद्भावः । (८३४) केऽणः ७।४।१३ ॥ के परेऽणो ह्रस्वः स्यात् । इति

भिधेयाः, एवं पञ्चम्यपि रात्रिः समासाभिधेया भवतीति समस्यमानपञ्चमीपदार्थस्य अन्यपदार्थानुप्रवेशात् प्राधान्यमिति भावः । अन्यत्र त्विति । कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इत्यत्र पूरण्या रात्रेरन्यपदार्थप्रवेशाभावात् अप्राधान्यादप्प्रत्ययाभावे सति विशेषो वक्ष्यत इत्यर्थः ।

(८३३) नद्यृतश्च । नदी च ऋच्चेति समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणम्यते । तदाक्षिप्तमुत्तरपदं नद्यृद्भ्यां विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'उरःप्रभृतिभ्यः' इत्यतः कबित्यनुवर्तते । तदाह—नद्युत्तरपदादिति । नद्यन्तोत्तरपदादित्यर्थः । कप् स्यादिति । तद्धितः समासान्तश्चेत्यपि बोध्यम् । तथा च कल्याणी पञ्चमी यस्य पक्षस्येति विग्रहे बहुव्रीहौ सति व्यपदेशिवत्त्वेन पञ्चम्युत्तरपदस्य नद्यन्तत्वात्तदुत्तरपदकबहुव्रीहेः कबिति भावः । नद्यन्तात् बहुव्रीहिरिति न व्याख्यातम् । बहुधीवरीति बहुव्रीहेः नद्यन्तत्वात् कबापत्तेः । नद्यन्तोत्तरपदादिति व्याख्याने तु न दोषः । धीवन्शब्दस्योत्तरपदस्य नकारान्तत्वेन नदीत्वाभावादिति शब्देन्दुशेखरे विस्तरः । पुंवद्भाव इति । पूरण्याः रात्रेः समासवाच्यत्वाभावेन निषेधाभावादिति भावः ।

(८३४) केऽणः । ह्रस्वः स्यादिति । 'शृद्प्राम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।

मुख्य नहीं है वहाँ पूर्व पद को पुंवद्भाव होकर 'कल्याण-पञ्चमीकः' पक्षः रूप बनेगा, क्योंकि यहाँ 'पञ्चमी' शब्द मुख्यतः रात्रि को बोधित करता है और 'रात्रि' शब्द 'पक्ष' को बोधित करता है । रात्रि गौण है, पक्ष प्रधान है । अतः रात्रि को बोधित करने वाला पूरणी-प्रत्ययान्त 'पञ्चमी' शब्द प्रधान नहीं है । इस उदाहरण में 'अप्' न होने से आगे आने वाले सूत्र (८३३) से 'कप्' (=क) प्रत्यय तथा 'क' प्रत्यय परे रहते 'ई' (अण्) को ह्रस्व का निषेध (८३४) भी हुआ है ।

(८३३) पद—नद्यृतः, च । अनुवृत्ति—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—नदी-संज्ञक उत्तरपद और ऋकारान्त उत्तरपद बहुव्रीहि से 'कप्' प्रत्यय हो ।

विवरण—विधेयांश का लाभ "उरःप्रभृतिभ्यः कप्" ५-४-१५१ सूत्र से 'कप्' की अनुवृत्ति करने से होता है । शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ सूत्र ८३१ के अनुसार विद्यमान हैं । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "नदी-संज्ञक तथा ऋकारान्त बहुव्रीहि समास से भी समासान्त 'कप्' प्रत्यय होता है ।"

(८३४) पद—के, अणः । अनुवृत्ति—ह्रस्वः, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'क' परे रहते अण् को ह्रस्व हो । ऐसा प्राप्त होने पर (आगे निषेध होगा) ।

विवरण—प्रासङ्गिक ह्रस्व का विधान बतलाया जारहा है । सूत्र में विधेयांश का उल्लेख नहीं है । अतः "शृद्प्रां ह्रस्वो वा" (७-४-१२) सूत्र से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति करने पर उसका लाभ होता है । "अङ्गस्य" (६-४-१) की आधिकारिक अनुवृत्ति का प्रभाव भी विद्यमान है । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि ""क' प्रत्यय परे रहते अङ्ग को ह्रस्व हो" । कल्याणपञ्चमीकः में 'ई' को ह्रस्व की प्राप्ति होती है (उसका निषेध आगे के सूत्र से किया जारहा है) ।

प्राप्ते। (८३५) **न कपि ७।४।१४॥** कपि परे अणो ह्रस्वो न स्यात्। कल्याणपञ्चमीकः पक्षः। अत्र तिरोहितावयवभेदस्य पक्षस्यान्यपदार्थतया रात्रिरप्रधानम्। बहुकर्तृकः। अप्रियादिषु किम्? कल्याणीप्रियः। प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, भक्तिः, सचिवा, स्वसा, कान्ता, क्षान्ता, समा, चपला, दुहिता, वामा, अबला, तनया। 'सामान्ये नपुंसकम्। दृढं भक्तिर्यस्य सः दृढभक्तिः। स्त्रीत्वविवक्षायां तु दृढा भक्तिः।

---

(८३५) न कपि। अणो ह्रस्व इति। 'केऽणः' इत्यतः 'शृद्रप्राम्' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः। ननु कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इत्यत्र पञ्चदशाहोरात्रात्मके पक्षे अन्यपदार्थे पञ्चम्या रात्रेः प्रवेशात् प्राधान्यं दुर्वारमित्यत आह—अत्र तिरोहितेति। रात्रेः तत्प्रवेशाभावात् अप्राधान्यमिति भावः। भाष्ये एवमुदाहरणमेवात्र लिङ्गम्। ऋदन्तोत्तरपदात्कपमुदाहरति—बहुकर्तृक इति। बहवः कर्तारो यस्येति विग्रहः। तदेवमपूरणीप्रियादिष्वित्यत्र पूरणीविषयं प्रपञ्च्य प्रियादिषु परेषु पुंवद्भावनिषेधस्य प्रयोजनं पृच्छति—अप्रियादिषु किमिति। कल्याणीप्रिय इति। कल्याणी प्रिया यस्येति विग्रहः। प्रियादिगणं पठति—प्रिया मनोज्ञेत्यादि। ननु भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठे दृढा भक्तिर्यस्य सः दृढभक्तिरित्यत्र कथं पुंवत्त्वमित्यत आह—सामान्ये नपुंसकमिति। आश्रित्येति शेषः। दृढमिति। पदसंस्कारपक्षे सामान्यपरत्वमाश्रित्य दृढशब्दो नपुंसकलिङ्गो

---

(८३५) पद—न, कपि। अनुवृत्ति—अणः, ह्रस्वः, अङ्गस्य। विधि-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—'कप्' परे रहते अण् को ह्रस्व न हो। उदाहरण १—कल्याणपञ्चमीकः पक्षः। यहाँ तिरोहित अवयवगत-भेद पक्ष का अन्य पदार्थता के कारण रात्रि शब्द को गौण बतलाया है। २—बहुकर्तृकः। सूत्र में अप्रियादिषु क्यों कहा? कल्याणीप्रियः (पुंवद्भाव न हो)। प्रियादि शब्दों की गणना १-प्रिया, २-मनोज्ञा, ३-कल्याणी, ४-सुभगा, ५-दुर्भगा, ६-भक्तिः, ७-सचिवा, ८-स्वसा, ९-कान्ता, १०-क्षान्ता, ११-समा, १२-चपला, १३-दुहिता, १४-वामा, १५-अबला, १६-तनया। 'सामान्य में नपुंसक लिङ्ग हो'। दृढं भक्तिः यस्य सः>दृढभक्तिः। स्त्रीत्व की विवक्षा में दृढा भक्तिः।

विवरण—सामान्यतः 'क' प्रत्यय परे रहते प्राप्त ह्रस्व का विशेष स्थिति में निषेध करने के लिये प्रकृत सूत्र की अवतारणा की जारही है। अतः पूर्वसूत्र "केऽणः" ५-४-१३ से 'अणः' तथा ५-४-१२ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्तियाँ प्रमुख रूप में अपेक्षित हैं। तदनुसार सूत्र का आशय यह है कि "कप् प्रत्यय परे रहते 'अण्' को ह्रस्व नहीं होता"। (१) **नद्यन्त** उदाहरण सिद्धि ८३२ सूत्र में देखें। (२) **ऋकारान्त का उदाहरण**—बहुकर्तृकः (जिस के बहुत कर्ता हों)। **लौकिक विग्रह**—बहवः कर्तारः यस्य सः। **अलौ० वि०**—बहु+जस् कर्तृ+जस् >बहु-कर्तृ ("अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ से समास) > बहुकर्तृ+क (ऋकारान्त बहुव्रीहि से "नद्यृतश्च ५-४-१५३ 'कप्' प्रत्यय)>बहुकर्तृक+सु (पुनः विभक्ति) >**बहुकर्तृकः** (विभक्ति कार्य—स् = र = :)।

विशेष—(१) "स्त्रियाः पुंवद्०" ८३१ सूत्र से पुंवद्भाव होने में प्रियादि शब्द का 'परवर्ती न होना' अपेक्षित हैं। अतः उसके अवशिष्ट प्रत्युदाहरणों को अभिलक्षित कर प्रियादि शब्दों का उल्लेख किया जारहा है। तदनुसार **कल्याणी प्रियः** (जिसे कल्याणीप्रिय हो) में उत्तरपद-'प्रिया' होने के कारण पुंवद्भाव नहीं हुआ। **विग्रह**—कल्याणी प्रिया यस्य सः। 'प्रिया' शब्द को "गोस्त्रियोरुप०" ६५६ से ह्रस्व हुआ। शेष सिद्धि पूर्ववत्।

(२) यहाँ प्रियादि शब्दों का परिगणन किया गया है। वे १७ हैं। परिगणित शब्दों में से दृढभक्तिः में 'भक्ति' शब्द का 'दृढ' के साथ बहुव्रीहि समास करने पर प्रसङ्गवश पद-संस्कार पक्ष

(८३६) तसिलादिष्वाकृत्वसुचः ६ । ३ । ३५ ॥ तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेषु परेषु स्त्रियाः पुंवत्स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम्, अव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहाराय । 'त्रतसौ' (वा ३९१८) । 'तरप्तमपौ' (वा ३९१९) । 'चरट्जातीयरौ' (वा ३९२०) । 'कल्पब्देशीयरौ' (वा ३९२१) । 'रूपप्पाशपौ' (वा ३९२२) । 'थाल्' (वा ३९२३) । 'तिल्थ्यनौ' (वा ३९२५) । बह्वीषु, बहुत्र । बहुतः । दर्शनीयतरा । दर्शनीयतमा । 'घरूप'–(सू ९८५) इति वक्ष्यमाणो ह्रस्वः परत्वात्पुंवद्भावं बाधते । पट्वितरा । पट्वि-

---

व्युत्पाद्य ततस्तस्य भक्तिशब्देनान्वये पूर्वप्रवृत्तं नपुंसकत्वं नापैति, लिङ्गविशेषस्याविवक्षितत्वात्, वेदाः प्रमाणमितिवत् । अत्र चार्थे पस्पशाह्निकभाष्ये 'शक्यं च अनेनाश्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्' इति प्रयोगो लिङ्गम् । नन्वेवं सति प्रियादिषु भक्तिशब्दपाठो व्यर्थ इत्यत आह—स्त्रीत्वविवक्षायां त्विति । वाक्यसंस्कारपक्षे विशेष्यानुसारेण स्त्रीत्वप्रतीतेर्नियमादिति भावः ।

(८३६) तसिलादिष्वाकृत्वसुचः । 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यनुवर्तते । आ कृत्वसुच इत्याङ् अभिविध्यर्थकः, तमभिव्याप्येत्यर्थः । तदाह—तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेष्विति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यारभ्य 'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इत्येतत्पर्यन्तसूत्रविहितेष्वित्यर्थः । उत्तरपदपरकत्वाभावात् स्त्रियाः पुंवदित्यप्राप्ते वचनमिदम् । ननु तिल्थ्यन्शसां कृत्वसुचः परत्रैव पाठात् तसिलादिष्वनन्तर्भावात्तेषु परेषु वृकतिः, अजथ्या, बहुश इत्यत्र पुंवत्त्वं न स्यादित्यव्याप्तिः । 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इति देश्यस्य 'षष्ठया रूप्यं च' इति रूप्यस्य च तसिलादिष्वन्तर्भावात् तयोः परतः पट्वीदेश्येत्यत्र शुभ्रारूप्येत्यत्र च पुंवत्त्वं स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यत आह—परिगणनमिति । अव्याप्त्यतिव्याप्तीति । इष्टस्थले अप्रवृत्तिरव्याप्तिः । अनिष्टस्थले प्रवृत्तिः अतिव्याप्तिः । परिगणनप्रकारमाह—त्रतसावित्यादिना । बह्वीषु बहुत्रेति । बह्वीष्वित्यर्थे बह्वीशब्दात् 'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रलि पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तौ बहुत्रेति रूपमित्यर्थः । बहुत इति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति बह्वीशब्दात् तसिल्, पुंवत्त्वात् ङीषो निवृत्तिरिति भावः । दर्शनीयतरेति । अनयोरियमतिशयेन दर्शनीयेत्यर्थे दर्शनीयाशब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरप्' इति तरप् । पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः । दर्शनीयतमेति । आसामियमतिशयेन दर्शनीयेत्यर्थे दर्शनीयाशब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इति तमप् । पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति

में सामान्यतः परत्व का आश्रय लेकर 'सामान्ये नपुंसकम्' नियमानुसार 'दृढं भक्तिः यस्य सः' विग्रह किया जायगा । स्त्रीत्व की विवक्षा में वाक्य-संस्कार-पक्ष में विशेष्य के अनुसार विशेषणवाची पद को स्त्रीलिङ्ग में रखने से 'दृढा भक्तिः' यस्य सः विग्रह करने पर "स्त्रियाः पुंवद्भाषित०" ८३१ से 'दृढा' शब्द को पुंवद्भाव नहीं हुआ, अतः दृढाभक्तिः (जिसकी भक्ति दृढ है) रूप बनेगा ।

(८३६) पद—तसिलादिषु, आकृत्वसुचः । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु । **अतिदेशसूत्र ।**

मूलार्थ—तसिलादि से कृत्वसुच् पर्यन्त प्रत्ययों के परे रहते स्त्रीवाचक पद को पुंवद्भाव होता है । अव्याप्ति और अतिव्याप्ति के परिहारार्थ परिगणन करना चाहिये । वा० १—त्रल्, तस्, तरप्, तमप्, चरट्, जातीयर्, कल्पप्, देशीयर्, रूपप्, पाशप्, थाल्, तिल्, थ्यन्—प्रत्यय तसिलादि हैं । 'बह्वीषु' इस अर्थ में—बहुत्र, बहुतः । दर्शनीयतरा, दर्शनीय-तमा । यहाँ "घरूप"

तमा। पटुचरी। पटुजातीया। दर्शनीयकल्पा। दर्शनीयदेशीया। दर्शनीयरूपा। दर्शनीयपाशा। बहुथा। प्रशस्ता वृकी वृकतिः। अजाभ्यो हिता अजथ्या। 'शसि बह्वल्पार्थस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः' (वा ३९२६) बह्वीभ्यो देहि बहुशः। अल्पाभ्यो देहि अल्पशः। 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' (वा ३९२७)। शुक्लाया भावः शुक्लत्वम्, शुक्लता। गुणवचनस्य किम्? कर्त्र्या भावः कर्त्रीत्वम्। 'शरदः कृतार्थता' इत्यादौ तु सामान्ये नपुंसकम्। 'भस्याढे तद्धिते' (वा ३९२८)। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्। अढे किम्? रौहिणेयः।

भावः। ननु पट्वीशब्दात्तरपि तमपि च पट्वीतरा पट्वीतमा इत्यत्रापि पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तौ पटुतरा पटुतमेति स्यादित्यत आह—घरूपेति। तथा च ह्रस्वेन पुंवत्त्वे बाधिते सति ङीषो निवृत्त्यभावे तस्य ह्रस्वे सति पट्वितरा पट्वितमेति रूपमित्यर्थः। पटुचरीति। पट्वीशब्दात् 'भूतपूर्वे चरट्' इति पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तिरिति भावः। पूर्वं पट्वीत्यर्थः। पटुजातीयेति। पट्वीशब्दात् 'प्रकारवचने जातीयर्' इति पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तिरिति भावः। पटुसदृशीत्यर्थः। दर्शनीयकल्पेति। 'ईषदसमाप्तौ' इति दर्शनीयाशब्दात् कल्पप्। पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः। प्रायेण दर्शनीयेत्यर्थः। दर्शनीयदेशीयेति। "ईषदसमाप्तौ' इतिदर्शनीयाशब्दात् देशीयर्। पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः। प्रायेण दर्शनीयेत्यर्थः। दर्शनीयरूपेति। दर्शनीयाशब्दात् 'प्रशंशायां रूपप्', इति रूपपि पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः। प्रशस्तत्वेन द्रष्टुं योग्येत्यर्थः। दर्शनीयपाशेति। दर्शनीयाशब्दात् 'याप्ये पाशप्' पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः। कुत्सितत्वेन द्रष्टुं योग्येत्यर्थः। बहुथेति। बह्वीशब्दात् प्रकारवचने थाल्। पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तिरिति भावः। बहुप्रकारेत्यर्थः। वृकतिरिति। प्रशंसायामित्यनुवृत्तौ 'वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि' इति वृकीशब्दात् जातिलक्षणङीषन्त्वात् तिल्। पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तिरिति भावः। अजथ्येति। 'तस्मै हितम्' इत्यधिकारे 'अजाविभ्यां थ्यन्' इत्यजाशब्दात् थ्यन्। पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः। 'वृकतिरजथ्या' इत्यत्र 'जातेश्च' इति पुंवत्त्वनिषेधो न, परिगणनसामर्थ्यात्। शसीति। शसि परे बह्वर्थकस्य अल्पार्थकस्य पुंवत्त्वं वक्तव्यमित्यर्थः। त्रतसावित्यादिपरिगणितेष्वनन्तर्भावाद्वचनमिदम्। बह्वीभ्य इति। बह्वीभ्यो देहीत्यर्थे 'बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्' इति बह्वीशब्दात् शस्। पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तिरिति भावः। सम्प्रदानकारकत्वस्फोरणाय देहीति शब्दः। अल्पश इति। अल्पाभ्यो देहीत्यर्थः। पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः। त्वतलोरिति। त्वप्रत्यये तल्प्रत्यये च परे गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिनः पुंवत्त्वं वक्तव्यमित्यर्थः। कर्त्रीत्व-

---

९८५—आगे आनेवाले सूत्र से ह्रस्व, पर होने के कारण, पुंवद्भाव का बाधक है। पक्तितरा, पक्तितमा। पटुचरी, पटुजातीया। दर्शनीयकल्पा, दर्शनीय-देशीया, दर्शनीयरूपा, दर्शनीयपाशा। बहुधा। प्रशंसनीया वृका—वृकतिः। अजाओं के लिये लाभदायक-अजथ्या। वा० शस् प्रत्यय परे रहते बहु और अल्पार्थक शब्दों को पुंवद्भाव हो। बह्वीभ्यः देहि > बहुशः। अल्पाभ्यः देहि > अल्पशः। वा० 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय परे रहते गुणवाचक शब्द को पुंवद्भाव हो। शुक्लायाः भावः > शुक्लत्वम्। गुणवचनस्य क्यों कहा? कर्त्र्याः भावः>कर्त्रीत्वम्। 'शरदः कृतार्थता' इत्यादि में सामान्य अर्थ में नपुंसक लिङ्ग जानना। वा० 'ढ' प्रत्यय से भिन्न तद्धित प्रत्यय परे रहते 'भ'—संज्ञक को पुंवद्भाव हो। हस्तिनीनां समूहः>हास्तिकम्। (वार्तिक में) 'अढे' क्यों कहा? रौहिणेयः।

'स्त्रीभ्यो ढक्' (सू ११२३) इति ढोऽत्र गृह्यते। 'अग्नेर्ढक्' (सू १२३६) इति ढकि तु पुंवदेव। अग्नायी देवता अस्य स्थालीपाकस्य आग्नेयः। सपत्नीशब्दस्त्रिधा। शत्रुपर्याया-त्सपत्नशब्दाच्छार्ङ्गरवादित्वान्ङीन्येकः। समानः पतिर्यस्या इति विग्रहे विवाहनिबन्धनं

मिति। कर्त्रीशब्दस्य क्रियानिमित्तत्वान्न गुणवचनत्वमिति भावः। 'आकडारात्' इति सूत्र-भाष्ये समासकृदन्ततद्धितान्ताव्ययसर्वनामजातिसङ्ख्यासंज्ञाशब्दभिन्नमर्थवच्छब्दरूपं गुण-वचनसंज्ञकं भवतीति स्थितम्। प्रकृते च गुणवचनशब्देन एतदेव विवक्षितम्। 'वोतो गुण-वचनात्' इति सूत्रभाष्यस्थं 'सत्त्वे निविशतेऽपैति' इत्यादिगुणलक्षणं तु नात्र प्रवर्तते। अत एव 'एकतद्धिते च' इति सूत्रभाष्ये एकस्याः भावः एकत्वमित्यत्र एकशब्दस्य गुणवचनत्वा-भावात् 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' इत्यप्राप्तं पुंवत्त्वमत्र विधीयत इत्युक्तं सङ्गच्छते। सखीत्व-मित्यादि तु असाध्वेवेति शब्देन्दुशेखरे विस्तरः। ननु कृतः अर्थः कृत्यं यया सा कृतार्था, तस्या भावः कृतार्थतेत्यत्र कथं पुंवत्त्वम्। कृतार्थशब्दस्य समासत्वेन उक्तगुणवचनत्वा-भावादित्यत आह—शरद इति। दृढभक्तिरित्यत्रानुपदोक्तरीत्या कृतः अर्थः येन तत् कृतार्थ-मिति सामान्याभिप्रायं कृतार्थशब्दं प्रथमतो व्युत्पाद्य तस्मादविवक्षितलिङ्गात् तल्प्रत्ययो व्युत्पाद्य इति भावः। भस्याऽढे इति। ढभिन्ने तद्धिते परे स्त्रियाः पुंवत्त्वं वक्तव्यमित्यर्थः, परिगणितेष्वनन्तर्भावाद्वचनम्। हास्तिकमिति। 'तस्य समूहः' इत्यधिकारे 'अचित्तहस्ति-धेनोः' इति ठक्। ठस्येकः। पुंवत्त्वे सति नान्तलक्षणङीपो निवृत्तिः। 'नस्तद्धिते' इति टिलोप इति भावः। न च पुंवत्त्वाभावेऽपि 'यस्येति च' इति ईकारलोपे टिलोपे च हास्तिकमिति सिद्धमिति वाच्यम्। 'यस्य' इति लोपस्याभीयत्वेनासिद्धतया स्थानिवत्त्वेन च तद्धितपरकत्वाभावेन टिलोपानापत्तेः। 'ठक्छसोश्च' इति पुंवत्त्वादेव सिद्धिस्त्वना-शङ्कया। छसः साहचर्येण 'भवतष्ठक्छसौ' इति ठक् एव तत्र ग्रहणात्। रौहिणेय इति। 'वर्णादनुदात्तात्' इति रोहितशब्दात् ङीप् तकारस्य नकारश्च। रोहिण्याः अपत्यमित्यर्थे 'स्त्रीभ्यो ढक्', एयादेशः, 'भस्य' इति पुंवत्त्वे ङीब्नकारयोः निवृत्तिः स्यादिति भावः। गृह्यत इति। व्याख्यानादिति भावः। अग्नायीति। अग्नेः स्त्री अग्नायी। 'वृषाकप्यग्नि' इति ङीप्। अग्नेरिकारस्य ऐकारादेशः। अग्नायी देवता अस्येत्यर्थे 'अग्नेर्ढक्' इति ढक्। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात्। ततो ढस्य एयादेशः। पुंवत्त्वे सति

(पुंवद्भाव न हो)। यहाँ "स्त्रीभ्यो ढक्" (११२३) से विहित 'ढक्' प्रत्यय किया जाता है। इस लिए "अग्नेर्ढक्" (१२३६) से विहित 'ढक्' प्रत्यय परे रहते पुंवद्भाव होगा ही। अग्नायी देवता अस्य स्थालीपाकस्य>आग्नेयः। 'सपत्नी' शब्द तीन प्रकार का है—(१) शत्रुपर्याय-वाची 'सपत्न' शब्द के उत्तर 'शार्ङ्गरवादि' गण के कारण 'ङीन्' प्रत्यय युक्त, (२) 'समानः पतिः यस्याः' इस विग्रह में विवाह-निबन्धन पति शब्द का आश्रय लेकर निष्पन्न नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द और (३) स्वामि-पर्याय-वाची 'पति' शब्द से निष्पन्न 'सपत्नी' शब्द भाषितपुंस्क है। इनमें से प्रथम और द्वितीय 'सपत्नी' शब्द के उत्तर शिवादिगण में पाठ होने के कारण 'सपत्न्याः अपत्यम्' इस विग्रह में 'अण्' प्रत्यय से 'सापत्नः' रूप बना है। तृतीय 'सपत्नी' शब्द के उत्तर 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा से पति-उत्तरपद-निमित्तक 'ण्य' ही होता है। 'अण्' नहीं होता। कारण यह है कि शिवादि गण में प्रथम और द्वितीय प्रकार के रूढ 'सपत्नी' शब्द का ही ग्रहण है। अतः (तीसरे प्रकार के उत्तर 'ण्य' होने से) 'सापत्यः' रूप बनता है। वा० 'ठक्' और 'छस्'

पतिशब्दमाश्रित्य नित्यस्त्रीलिङ्गो द्वितीयः। स्वामिपर्यायपतिशब्देन भाषितपुंस्कस्तृतीयः। आद्ययोः शिवाद्यण्। सपत्न्या अपत्यं सापत्नः। तृतीयात्तु लिङ्गविशिष्टपरिभाषया पत्यु-

---

ङीबत्वनिवृत्तौ अग्नि एय इति स्थिते 'यस्येति च' इति इकारलोपे आदिवृद्धौ आग्नेय इति रूपम्। पुंवत्त्वनिषेधे तु आग्नायेय इति स्यादिति भावः। वस्तुतस्तु अग्नित्वं पुंसि प्रवृत्तिनिमित्तं, स्त्रियां तु अग्निसम्बन्ध इति प्रवृत्तिनिमित्तभेदादेवात्र न पुंवत्त्वमिति बोध्यम्। **सपत्नीशब्दस्त्रिधेति**। व्युत्पादनभेदादिति शेषः। **शत्रुपर्यायादिति**। 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इति कोशादिति भावः। अयं भाषितपुंस्कः। **विवाह-निबन्धनमिति**। विवाहजनितसंस्कारविशेषनिमित्तकमित्यर्थः। 'पतित्वं सप्तमे पदे' इत्या-दिस्मरणादिति भावः। आश्रित्येत्यनन्तरं प्रवृत्त इति शेषः। समानः पतिः यस्या इति बहुव्रीहिः। 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति निपातनात् सभावः, ङीप्, नत्वं च। **नित्य-स्त्रीलिङ्ग इति**। अन्यपदार्थस्य स्त्रीत्वे सत्येव विवाहनिबन्धनपतिशब्दस्य सभावादि-विधानादिति भावः। 'पतिर्नाम धवः' इति कोशादिति भावः। **आद्ययोरिति**। शत्रुपर्यायं सपत्नशब्दं विवाहनिबन्धनं पतिशब्दं चाश्रित्य प्रवृत्तयोः सपत्नीशब्दयोरित्यर्थः। **सापत्न इति**। सपत्न्याः अपत्यमित्यर्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यणं बाधित्वा 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढकि प्राप्ते 'शिवादिभ्योऽण्' इत्यणि आद्यस्य सपत्नीशब्दस्य भाषितपुंस्कतया पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ 'सापत्न' इति रूपम्, न तु नकारस्यापि निवृत्तिः शत्रुपर्यायसपत्नशब्दस्य अव्युत्पन्नप्रातिपदिकतया तत्र नकारस्य स्त्रीत्वनिमित्तकत्वाभावात्, द्वितीयस्य तु सपत्नी-शब्दस्य ङीब्नत्वाभ्याम् उत्पन्नस्य शिवाद्यणि कृते भाषितपुंस्कत्वाभावात् न पुंवत्त्वम्, किंतु ङीपो 'यस्येति च' इति लोपे सापत्न इति रूपम्। सति तु पुंवत्त्वे ङीब्नकारयोः निवृत्तौ 'सापत' इति स्यात्। **तृतीयात्त्विति**। स्वामिपर्यायं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तात्

प्रत्यय परे रहते पुंवद्भाव हो। भवत्याः छात्राः>भावत्काः, भवदीयाः। 'ठक्-छसोश्च' वार्तिक तथा "एकतद्धिते च" (१०००)—सूत्र अनावश्यक हैं, क्योंकि सर्वनाम को वृत्तिमात्र में पुंवद्भाव होने के नियम से ये दोनों गतार्थ हो जाते हैं। (तदनुसार) सर्वमयः, सर्वकाम्यति, सर्विका भार्या यस्य सः>सर्वकभार्यः, सर्वप्रियः आदि (शब्द) हैं। "भस्त्रैषा०" ४६६ सूत्र-निर्देश से पूर्वपद को ही पुंवद्भाव होता है। इस कारण 'अकच्' प्रत्यय और एकशेषवृत्ति के विषय में पुंवद्भाव नहीं होता। जैसे सर्विका, सर्वाः आदि। वा० अण्डादि शब्द परे रहते कुक्कुटी-आदि शब्दों को पुंवद्भाव हो। जैसे १—कुक्कुट्याः अण्डम्>कुक्कुटाण्डम्। २—मृग्याः पदम्>मृगपदम्। ३—मृग्याः क्षीरम्>मृगक्षीरम्। ४—काकस्य शावः>काकशावः आदि।

विवरण—पुंवद् भाव का ही प्रकरण है। अष्टाध्यायीक्रम में यह सूत्र "स्त्रियाः पुंवद्—भाषित०" ६-३-३४ के अनन्तर पढ़ा गया है। अतः सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए 'स्त्रियाः पुंवद्' अंश की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'आकृत्वसुचः' पद में 'आङ्' का प्रयोग अभिविधि अर्थ में हुआ है। अर्थात् तसिल्—आदि प्रत्ययों में 'तसिल्' से प्रारम्भ कर 'कृत्वसुच्' पर्यन्त इस की सीमा है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'तसिल्' आदि प्रत्ययों में से 'कृत्वसुच्' प्रत्ययों में पुंवद्भाव नहीं होगा। तद्धित प्रकरण के अन्तर्गत "पञ्चम्यास्तसिल्" ५-३-७ से लेकर "क्रियाभ्यागणने कृत्वसुच्" ५-४-१७ तक कहे गए प्रत्यय तसिलादि से गृहीत हैं। उनका परिगणन ७ वार्तिको द्वारा किया जा रहा है। तदनुसार वे प्रत्यय १३ हैं—त्र, तस्, तरप्, तमप्, चरट्, जातीयर्, कल्पप्, देशीयर्, रूपप्, पाशप्, थाल्, तिल्, तथा थ्यन्। परिगणन का कारण अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष का परि-

त्तरपदलक्षणो ण्य एव, न त्वण्—शिवादौ रूढयोरेव ग्रहणात्। सापत्यः। 'ठक्छसोश्च' (वा ३९२९)। भवत्याश्छात्राः भावत्काः, भवदीयाः। एतद्वार्तिकम्, 'एकतद्धिते च'

सपत्नीशब्दात् पत्युत्तरपदलक्षणो ण्य एवेत्यन्वयः। सपत्न्याः अपत्यमित्यर्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यणं बाधित्वा 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्य एवेत्यन्वयः। ननु सपत्नीशब्दो न पत्युत्तरपद इत्यत आह—लिङ्गविशिष्टपरिभाषयेति। एवशब्दस्य व्यावर्त्यमाह—न त्वणिति। ननु ण्यप्रत्ययस्यापि शिवाद्यण् अपवाद इत्यत आह—शिवादौ रूढयोरेवेति। सपत्नशब्दः शत्रौ केवलरूढः। विवाहनिबन्धनं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तस्तु योगरूढः, विवाहकर्तरि पाति रक्षतीति योगस्यापि सत्त्वात्। स्वामिपर्याये तु पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तः केवलयौगिकः शिवादौ रूढयोरेव ग्रहणम्, न तु केवलयौगिकस्य, योगाद्रूढेर्बलवत्त्वादिति भावः। ततः किमित्यत आह—सापत्य इति। स्वामिपर्यायपतिशब्दघटितसपत्नीशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवत्त्वे सति ङीब्नत्वयोर्निवृत्तौ 'यस्येति च' इतीकारलोपः। 'सापत्य' इति रूपमित्यर्थः। ठक्छसोश्चेति। वार्तिकमेतत्। एतयोः परतः पुंवत्त्वं वक्तव्यमिति शेषः। अभत्त्वादप्राप्तौ वचनम्। भावत्काः भवदीया इति। 'तस्येदम्' इत्यधिकारे भवतष्ठक्छसौ' इति भवतीशब्दात् ठक्छसौ, लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात्। तत्र ठकि इकादेशात्प्राक् ठावस्थायामेव पुंवत्त्वे इकादेशं बाधित्वा 'इसुसुक्तान्तात् कः' इति कादेशः। न च इकादेशे सति भत्वात् 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवत्त्वे कृते इकस्य स्थानिवत्त्वेन ठक्त्वात् 'इसुसुक्तान्तात्' इति कादेशे भावत्क इति रूपसिद्धौ किं ठग्ग्रहणेनेति वाच्यम्, इकादेशे कृते हि मथितं पण्यमस्य माथितिकः इत्यत्रेव अल्विधितया स्थानिवत्त्वाभावेन सन्निपातपरिभाषया कादेशानापत्तेः। अतष्ठग्ग्रहणम्। भवतीशब्दाच्छसि तु 'सिति च' इति पदत्वेन भत्वस्य बाधात् 'भस्याढे' इत्यप्राप्ते पुंवत्त्वे अनेन पुंवत्त्वम्। एतदिति। 'ठक्छसोश्च' इति वार्तिकमित्यर्थः। एकतद्धिते चेति। एकशब्दस्य तद्धिते उत्तरपदे च परे

हार है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "तसिलादि कृत्वसुजन्त प्रत्ययों के परे रहते स्त्रीवाची शब्दों को पुंवद्भाव हो"। पूर्व सूत्र में उत्तरपद परे रहते पुंवद्भाव कहा था, यहाँ उत्तरपद की अपेक्षा होने से अनुत्तरपद के सम्बन्ध में पृथक् विधान किया गया है। **क्रमशः उदाहरण**—(१) बहुत्र (बहुतों में)। **विग्रह**—बह्वीषु। बह्वी+त्र (त्रल्—"सप्तम्यास्त्रल्" ५-३-१०) > **बहुत्र** (पुंवद्भाव—बह्वी=बहु)। (२) बहुतः (बहुतों से)। **विग्रह**—बह्वीभ्यः। बह्वी+तस् (तसिल्—"पञ्चम्यास्तसिल्"—५-३-७) > **बहुतः** (पुंवद्भाव)। (३) दर्शनीयतरा (इन दो में सुन्दर)। **विग्रह**—अनयोः मध्ये इयं दर्शनीया। दर्शनीया+तर (तरप्—"द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" ५-३-५७) > **दर्शनीयतरा** (पुंवद्भाव, टाप्, विभक्तिकार्य)। (३ क) पट्वितरा (इन दो में अधिक पटु)। **विग्रह**—अनयोः मध्ये इयं पट्वी। पट्वी+तर (तरप्) > **पट्वितरा** (यहाँ प्रकृत सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव को "घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्र०" ६-३-४३ से विधीयमान ह्रस्व, पर होने के कारण, बाध करता है, ततः टाप् एवं विभक्तिकार्य पूर्ववत्)। (४) दर्शनीयतमा (इन सब में सुन्दर)। **विग्रह**—आसु इयं दर्शनीया। दर्शनीया+तम (तमप्—"अतिशायने तमबिष्ठनौ" ५-३-५५) > **दर्शनीयतमा** (पुंवद्भावादि कार्य पूर्ववत्)। (४ क) पट्वितमा (इन सबमें कुशल)। **विग्रह**—आसु अतिशयेन पट्वी। पट्वी+तम (तमप्) > **पट्वितमा**—(शेष कार्य पूर्ववत्)। (५) पटुचरी (जो पहले कुशल रही हो)। **विग्रह**—या पूर्वं पट्वी। पट्वी+चर (चरट्—"भूतपूर्वे चरट्" ५-३-५३) > **पटुचरी** (पुंवद्भाव, चरट्

(सू १०००) इति सूत्रं च न कर्तव्यम्—'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति भाष्यकारेष्टया गतार्थत्वात् । **सर्वमयः । सर्वकाम्यति । सर्विका भार्या यस्य सर्वकभार्यः । सर्व-**

ह्रस्वः स्यादिति तदर्थः । एकस्या भावः एकत्वं, एकता, एकस्याः शाटी एकशाटी । वृत्तिमात्र इति । कृत्तद्धितादयो वृत्तयः । मात्रशब्दः कात्स्न्र्ये । 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिसूत्रगतनिमित्ताभावेऽपि भवति । भाष्यकारेष्टयेति । भाष्यकारवचनेनेति यावत् । इदञ्च 'दक्षिणोत्तराभ्याम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । गतार्थत्वादिति । निवृत्तप्रयोजनकत्वात् इति भावः । एतत्प्रयोजनस्य 'सर्वनाम्नः' इति वचनेनैव सिद्धत्वादिति यावत् । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इत्यस्य तद्धितवृत्तौ उदाहरति—**सर्वमय इति** । सर्वस्या आगत इत्यर्थः । 'तत आगतः' इत्यधिकारे 'मयट् च' इति मयट्, 'सर्वनाम्नः' इति पुंवत्त्वम् । चिन्मयमित्यादिवदत्यन्तस्वार्थिको वा मयट् । अथ 'सनाद्यन्तधातुवृत्तावुदाहरति—**सर्वकाम्यतीति** । सर्वामात्मन इच्छतीत्यर्थे 'काम्यच्च' इति सर्वाशब्दात् काम्यच् । 'सर्वनाम्नः' इति पुंवत्त्वम् । सनाद्यन्ताः इति धातुत्वाल्लङादि । मयट्काम्यचोस्त्रतसावित्यादिपरिगणितेष्वनन्तर्भावात्तसिलादिष्विति पुंवत्त्वमत्र न स्यादिति भावः । तद्धितवृत्तौ उदाहरणान्तरमाह—**सर्वकभार्य**

प्रत्यय में टकार इत्संज्ञक होने से ङीप्, विभक्ति-कार्य) । (६) पटुजातीया (निपुण के समान) । **विग्रह**—पट्वी प्रकारा । पट्वी+जातीय (जातीयर्—"प्रकारवचने जातीयर्" ५-३-६९ > पटुजातीया (पुंवद्भाव, स्त्रीवाचक होने से 'टाप्'; विभक्तिकार्य) । (७) दर्शनीयकल्पा (प्रायः दर्शनीय) । **विग्रह**—ईषद् असमाप्ता दर्शनीया । दर्शनीया+कल्प (कल्पप्—"ईषदसमाप्तौ कल्पब्—देश्य-देशीयरौ" ५ ३-६७) > **दर्शनीयकल्पा** (पुंवद्भाव, अन्त में टाप् तथा विभक्तिकार्य) । (८) **दर्शनदेशीया** (प्रायः दर्शनीय) । देशीयर् प्रत्यय में विग्रह एवं अन्य कार्य पूर्ववत् । (९) दर्शनीयरूपा (अत्यन्त दर्शनीय) । **विग्रह**—प्रशस्ता दर्शनीया । दर्शनीया+रूप (रूपप्–"प्रशंसायां रूपप्" ५-३-६६) > **दर्शनीयरूपा** (पुंवद्भावादि कार्य पूर्ववत्) । (१०) दर्शनीयपाशा (निन्दनीय सुन्दरी) । **विग्रह**—कुत्सिता दर्शनीया । दर्शनीया+पाश (पाशप्–"याप्ये पाशप्" ५-३ ४७) > **दर्शनीयपाशा** (पुंवद्भावादि पूर्ववत्) । (११) बहुथा (अनेक प्रकार की) । **विग्रह**—बह्वी प्रकारा । बह्वी+था (थाल्–"प्रकारवचने थाल्" ५-३-२३) > **बहुथा** (पुंवद्भाव, 'थाल्' के अव्यय होने से विभक्ति-लोप) । (१२) वृकतिः (प्रशंसनीय भेड़िया–मादा) । **विग्रह**—प्रशस्ता वृकी । वृकी+ति (तिल्—"वृक-ज्येष्ठाभ्यां तिल्–तातिलौ च च्छन्दसि" ५-४-४१) > **विकृतिः** (पुंवद्भाव, विभक्ति-कार्य–स्=र्=ः) । प्रत्ययों के परिगणन करने से 'तिल्' प्रत्यय में भी प्रकृति को पुंवद्भाव हो गया । अन्यथा 'तिल्' प्रत्यय के 'तसिल्' तथा 'कृत्वसुच्' प्रत्ययों के मध्य पठित न होने के कारण पुंवद्भाव की प्राप्ति नहीं थी । (१३) अजथ्या (बकरियों के लिये लाभदायक) । **विग्रह**—अजाभ्यो हिता । अजा+थ्य (थ्यन्—"अजाविभ्यां थ्यन्" ५-१-८) > **अजथ्या** (पुंवद्भाव से 'अजा' के टाप् की निवृत्ति, किन्तु तद्धित शब्द के स्त्रीवाची विवक्षित होने के कारण 'अजथ्य' से टाप्' तथा विभक्ति कार्य) । यह उदाहरण भी परिगणन के फलस्वरूप ही मान्य है । अन्यथा 'तसिल्' प्रत्यय से पूर्व 'थ्यन्' प्रत्यय के पढ़े जाने से पुंवद्भाव प्राप्त नहीं था ।

उपर्युक्त प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य प्रत्ययों के परवर्ती होने पर स्त्रीवाचक पद को पुंवद्भाव करने लिये वार्तिकों का उल्लेख किया जा रहा है । तदनुसार (१) वार्तिक द्वारा यह सूचित किया जा रहा है कि "'शस्' प्रत्यय परे रहते बह्वर्थक तथा अल्पार्थक शब्दों को पुंवद्भाव हो" । अर्थात् इस 'शस्' प्रत्यय को भी तसिलादि में परिगणन किया जाय । **उदाहरण क्रमशः**—(१)

प्रियः इत्यादि । पूर्वस्यैवेदम् । 'भस्त्रैषाजाज्ञाद्वा'—(४६६) इति लिङ्गात् । तेनाकच्ये-

---

इति । समासवृत्तिरेवैषा । सर्वप्रिय इति । सर्वा प्रिया यस्येति विग्रहः । समासवृत्ति-रियम् । प्रियादिपर्युदासो रूपवतीप्रिय इत्यादौ उपयुज्यत इति भावः । वस्तुतस्तु एक-शब्दे अकच्प्रत्यये 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वे एकिका, तस्या भावः एकिकत्वम् । अत्र पुंवत्त्वे टाप इत्वस्य च निवृत्तौ एककत्वमिति स्यात् । इकारो न श्रूयेत । इत्वनिमित्तस्य टापो निवृत्तत्वात् पाचिकाशब्दात् जातीयरि पाचकजातीयेतिवत् । ह्रस्वे सति स्थानिवत्त्वेन टापः सत्त्वात् प्राप्तजीविकवदित्यश्रवणमिति फलभेदसत्त्वात् 'एकतद्धिते च' इति न गतार्थमित्याहुः । ननु तदितरा तदन्येत्यादावुत्तरपदस्य सर्वनामत्वात् पुंवत्त्वं स्यादित्यत आह—पूर्वस्यैवेदमिति । वृत्तिप्रविष्टानेकभागानां मध्ये किञ्चिदपेक्षया पूर्वस्यैवेदं सर्वनाम्नः पुंवत्त्वविधानमित्यर्थः । भस्त्रैषाजाज्ञाद्वेति लिङ्गादिति । 'भस्त्रैषा' इति सूत्रेण एषा द्वा

बहुशः (बहुत सी स्त्रियों को दो) । विग्रह—बह्वीभ्यः देहि । बह्वी+श (शस्—"बह्वल्पार्थात् शस् कारकादन्यतरस्याम्" ५-४-४२)>बहुशः (पुंवद्भाव तथा विभक्तिकार्य) । (२) अल्पशः (कम स्त्रियों को दो) । विग्रह—अल्पाभ्यः देहि । शेष कार्य पूर्ववत् । (२) दूसरे वार्तिक द्वारा 'त्व' तथा 'तल्' प्रत्यय परे रहते भी गुणवाचक शब्दों को पुंवद्भाव का विधान बताया गया है । तदनुसार १–'शुक्लत्वम्' (सफेदी) तथा २–शुक्लता (सफेदी) में पुंवद्भाव हुआ । दोनों उदाहरणों में विग्रह—शुक्लायाः भावः । क्रमशः प्रत्यय—'त्व' तथा 'तल्'—"तस्य भावस्त्व-तलौ" (५-१-१९) । पुंवद्भाव होने के पश्चात् 'त्व' प्रत्ययान्त नपुंसक लिङ्ग में तथा 'तल्' प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होगा । प्रकृत वार्तिक में 'गुणवचनस्य' पद का निवेश होने के फल-स्वरूप कर्त्रीत्वम् (कर्त्र्याः भावः=कर्त्री का भाव) में पुंवद्भाव नहीं हुआ, क्योंकि 'कर्त्री' पद क्रिया-निमित्त होने से गुणवाचक नहीं है । उक्त वार्तिक के सन्दर्भ में यह शङ्का उपस्थित होती है कि "निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थताम्" इस वाक्य में 'कृतार्थताम्' (कृतार्थायाः भावः विग्रह करने पर) पद गुणवाची न होने पर भी पुंलिङ्ग में क्यों प्रयुक्त हुआ ? उत्तर यह दिया जाता है कि "प्रकृत वाक्यस्थ कृतार्थता शब्द की व्युत्पत्ति दूसरे प्रकार से है—'कृतः अर्थः येन तत्—कृतार्थम्' । इस प्रकार सामान्य अभिप्राय कृतार्थ शब्द "सामान्ये नपुंसकम्" (वा०) नियम से नपुंसक लिङ्ग है, तदनन्तर ("कृतार्थस्य भावः"=कृतार्थता) 'तल्' प्रत्यय तथा 'टाप्' करने के पश्चात् 'कृतार्थता' रूप निष्पन्न होगा । ३–पुनः अन्य वार्तिक द्वारा परिगणन में वृद्धि की जा रही है । अतः इसके अनुसार 'ढ' प्रत्यय से भिन्न तद्धित प्रत्यय परे रहते भ-संज्ञक को पुंवद्भाव होगा । इसके फलस्वरूप हास्तिकम् (हथिनियों का समूह) में 'हस्तिनी' शब्द को पुंवद्भाव हुआ । विग्रह—हस्तिनीनां समूहः । हस्तिनी+ठ (ठक्—"अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्" ४-२-४७)>हस्तिनी +इक (ठ=इक–"ठस्येकः" ७-३-५०)>हस्तिन् +इक (पुंवद्भाव–हस्तिनी=हस्तिन्)>हस्त्+ इक (टि–लोप–"नस्तद्धिते" ६-४-१४४) >हास्तिक (आदि-वृद्धि—"किति च" ७-२-११८) >हास्तिकम् (विभक्तिकार्य–नपुंसक लिङ्ग में) । यहाँ शंका की जाती है कि पुंवद्भाव न करने पर भी ठ=इक तथा "यस्येति च" ६-४-१४८ से ईकार का लोप कर 'हास्तिन्' इस स्थिति में टि = इन् का लोप होनेपर 'हास्तिकम्' रूप निष्पन्न हो सकता है । उत्तर में यह कहा जाता है कि 'आभीय' प्रकरण में पठित होने से "यस्येति च" ६-४-१४८ सूत्र की प्रवृत्ति पहले नहीं होगी । अथवा स्थानिवद्भाव होने से टि-लोप सम्भव नहीं हो सकेगा । 'भस्याढे तद्धिते' वार्तिक में 'अढे' पद का निवेश होने से 'ढ' प्रत्यय परे रहते पुंवद्भाव नहीं होगा । अतः रौहिणेयः (रोहिणी की सन्तति)

कशेषवृत्तौ च न । सर्विका । सर्वाः । 'कुक्कुटयादीनामण्डादिषु' (वा ३९३०) । कुक्कुट्या

इत्येतयोः साकच्कयोरपि कात्पूर्वस्य इत्वविधानम्, अन्यथा निर्विषयं स्यात् । तद्धितवृत्तौ तयोः सर्वनामतया पुंवत्त्वनियमादिति भावः । अकचि तद्धितवृत्तावुदाहरति—**सर्विकेति** । सर्वाशब्दात् साकच्कात्टापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्त्वे पुंवत्त्वे टाबित्वयोः निवृत्तिः स्यादिति भावः । एकशेषवृत्तावुदाहरति—**सर्वा इति** । टाबन्तस्य प्रथमाबहुवचनमिदम् । पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिः स्यादिति भावः । **कुक्कुटयादीनामण्डादिष्विति** । पुवत्त्वं वक्तव्यमिति शेषः । असमानाधिकरणार्थमिदमिति सूचयन् षष्ठीसमासमुदाहरति—**कुक्कुट्या अण्डं**

में 'ढ' प्रत्यय (स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२०) होने से पुंवद्भाव नहीं हुआ, अन्यथा 'ढ' पद के न रहने पर 'रौहितेयः' बनता—क्योंकि यहाँ 'रोहिणी' शब्द 'रोहित' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है । पुंवद्भाव होने से 'रोहिणी' के स्थान पर 'रोहित' प्रयुक्त होता, ततः 'ढक्' प्रत्यय-जन्य 'एय' आदेश होने से अनिष्ट रूप की प्रसक्ति होती । 'ढक्' प्रत्यय के सम्बन्ध में एक विशेषता और है । वह यह है कि यहाँ "स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२० सूत्र से विहित 'ढक्' प्रत्यय परे रहते पुंवद्भाव का निषेध होता है न कि "अग्नेर्ढक्" ४-२-३३ से विहित 'ढ' प्रत्यय के परे रहने से" । अतः **'आग्नेयः'** (जिस स्थालीपाक की अधिष्ठात्री देवता अग्नि की स्त्री हो) में पुंवद्भाव हो जाता है। **विग्रह**—अग्नायी देवता अस्य (अग्नायी=अग्नि+ङीप् तथा 'इ'=ऐ, अग्नै+ई = अग्नायी—"वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः" ४-१-३७) । अग्नायी+ढक् ("अग्नेर्ढक्" ४-२-३३)> अग्नायी+एय (ढ=एय) > अग्नि+एय (पुंवद्भाव) >अग्न्+एय ('इ'–लोप)>आग्नेय (आदि वृद्धि)>**आग्नेयः** (विभक्तिकार्य) । पुंवद्भाव का निषेध होने पर 'आग्नायेयः' अनिष्ट रूप बनता । 'सपत्नी' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य तीन अर्थ हैं—(१) शत्रु स्त्री (२) सौत (विवाह-जन्य पति की दूसरी भार्या) (३) समान-स्वामिक स्त्री । इन में से प्रथम (१) सपत्नी शब्द शत्रुपर्यायवाची 'सपत्न' शब्द से 'ङीन्' प्रत्यय ("शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्" ४-१-७३) तथा अ-लोप करनेपर प्रथमा एकवचन में 'सपत्नी' शब्द निष्पन्न होता है । इस 'सपत्नी' शब्द में मूलभूत 'सपत्न' शब्द भाषितपुंस्क है । दूसरे अर्थ (२) में प्रयुक्त—विवाह-जन्य संस्कार-विशिष्ट 'पति' शब्द का आश्रय लेकर 'समानः पतिः यस्याः' इस विग्रह में "नित्यं सपत्न्यादिषु" ४-१-३५ सूत्र से 'समान' शब्द को 'स' आदेश तथा 'सपति' शब्द से 'न' का आगम एवं 'ङीप्' प्रत्यय होने पर 'सपत्नी' रूप बनता है । यह नित्य स्त्रीलिङ्ग होने से 'भाषितपुंस्क' नहीं है । तीसरे (३) अर्थ में 'समानः पतिः यस्य' इस विग्रह में स्वामि—पर्यायवाची 'पति' शब्द से 'समान' को 'स' आदेश तथा 'सपति' से 'न' आगम तथा 'ङीप्' होकर निष्पन्न 'सपत्नी' शब्द 'भाषितपुंस्क' है । इन तीनों में से प्रथम शत्रु-पर्याय एवं द्वितीय विवाह-निबन्धन पति शब्द का आश्रय लेकर प्रवृत्त 'सपत्नी' शब्द क्रमशः 'रूढ' और 'योगरूढ' हैं । अतः 'सपत्न्याः अपत्यम्' इस अर्थ में दोनों प्रयोगों में 'सापत्नः' रूप निष्पन्न होगा (सपत्नी+अण्—"शिवादिभ्योऽण्" ४-१-११२, आदिवृद्धि, तथा 'अ' का लोप एवं विभक्ति—कार्य) । किन्तु तीसरे प्रकार के स्वामि—पर्यायवाची 'पति' शब्द का आश्रय लेकर प्रवृत्त 'सपत्नी' शब्द के विशुद्ध यौगिक होने से "शिवादिभ्योऽण्"–४-१-११२ सूत्र प्रवृत्त नहीं होता । अतः 'ण्य' प्रत्यय ("दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" ४-१-८५), ततः सपत्नी को पुंवद्भाव = सपति+य, आदिवृद्धि = सापति+य तथा 'इ' कार का लोप होकर 'सापत्य'–रूप बनेगा । यहाँ 'ण्य' प्रत्यय के होने में 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा सहायक होती है । इसके अनुसार 'सपत्नी' शब्द में 'सपति' शब्द का आरोप हो जाता है । निष्कर्ष यह है कि इन तीनों शब्दों में से प्रथम प्रकार में पुंवद्भाव होने या न होने से प्रयोग में कोई अन्तर नहीं आता है । द्वितीय में नित्य स्त्रीलिङ्ग (अभाषितपुंस्क) होने से पुंवद्भाव नहीं होता । यदि होता तो नकारादेश की निवृत्ति से 'सापतः' प्रयोग होने लगता ।

कुक्कुटाण्डमिति। पुंवत्त्वेन जातिलक्षणङीषो निवृत्तिरिति भावः। एवमग्रेऽपि। **मृगक्षीर-मिति।** मृग्याः क्षीरमिति विग्रहः। **काकशाव इति।** काक्याः शाव इति विग्रहः। 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः।

४—अन्य वार्तिक द्वारा 'ठक्' तथा 'छस्' प्रत्यय परे रहते पूर्ववर्ती शब्द को पुंवद्भाव का विधान किया जारहा है। उदाहरण—क्रमशः—१-भावत्काः छात्राः (आप = किसी स्त्री के छात्र) विग्रह—भवत्याः छात्राः। भवती + ठ (ठक्—"भवतष्ठक्छसौ ४-२-११५) > भवद् + इक (पुंवद्भाव तथा ठ='क') > भावत्कः (आदि वृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। २-इसी प्रकार भवदीयाः छात्राः। अर्थ-पूर्वोक्त। विग्रह-पूर्ववत्। भवती + छ (छस्) > भवद् + ईय (पुंवद्भाव तथा छ=ईय) > भवद् + ईय (त=द्-जश्त्व) > भवदीयाः (विभक्ति-कार्य)।

विशेष—प्रसङ्गवश यह बताया जारहा है कि उक्तवार्तिक तथा "एकतद्धिते च" ६-३-६२ सूत्र-ये दोनों अनावश्यक हैं। भाष्यकार ने "वृत्तिमात्र में सर्वनाम शब्दों को पुंवद्भाव" होने का संकेत दिया है[1]। इस प्रकार 'भावत्काः' एवं 'भवदीयाः' की सिद्धि होने के साथ ही "एकतद्धिते च" ६-३-६२ सूत्र के उदाहरण 'एकत्वम्' (एकस्याः भावः) आदि में भी उक्त भाष्येष्टि से निर्वाह हो सकता है, क्योंकि 'एक' शब्द भी 'सर्वनाम' में पठित है। इस भाष्येष्टि से **सर्वमयः** (सर्वा + मयट्→सर्वस्याः आगता←सब स्त्रियों से आगत) में 'सर्वा' को पुंवद्भाव होकर 'सर्व' हुआ है। इसी प्रकार नामधातु-वृत्ति में—**सर्वकाम्यति** (सर्वा + काम्यच्→सर्वाम् आत्मनः इच्छति←सब स्त्रियों को चाहता है) उदाहरण प्रस्तुत कर पुंवद्भाव की सिद्धि की है। इसी प्रकार अकच्-प्रत्यय सहित 'सर्वा' शब्द के उदाहरण **सर्वकभार्यः** (सर्विका + भार्या→सर्विका भार्या यस्य सः← जिसकी पत्नी सर्विका नाम वाली हो) में भी पुंवद्भाव हुआ है। एवं **सर्वप्रियः** (सर्वा + प्रियाः→ सर्वाः प्रियाः यस्य सः←जिस को सब स्त्रियाँ प्रिय हैं) में बहुव्रीहि समास होने पर भी पुंवद्भाव की चरितार्थता व्यक्त की है।

उपर्युक्त भाष्येष्टि का प्रभाव उत्तर पद रहने पर ही होता है, अतः जहाँ उत्तरपद नहीं होगा वहाँ पूर्वपद का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार एकशेष समास—सर्वा च सर्वा च सर्वा च—**सर्वाः** (सब स्त्रियाँ) में पुंवद्भाव न होने से 'टाप्' की निवृत्ति नहीं होगी। इसी तरह अकच्-सहित स्त्री-लिङ्ग केवल **सर्विका** पद में भी उत्तर-पद न रहने से पुंवद्भाव नहीं होता।

पूर्ववती सर्वनाम को ही पुंवद्भाव होता है—इस कथन के समर्थन में "भस्त्रैषाजाज्ञाद्वा०" ७-३-४७ सूत्रस्थ 'एषा' तथा 'द्वा' पद का सन्निवेश करना ही प्रमाण है। उक्त सूत्र से 'अकच्' प्रत्यय परे रहते विकल्प से अकार को इकार होता है। किन्तु यह आदेश स्त्री-वाचक 'टाप्' प्रत्यय परे रहते ही होता है। यदि 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इस भाष्येष्टि से सर्वनाम-पदे के परवर्ती न रहते हुए भी पुंवद्भाव अपेक्षित होता तो 'अकच्' प्रत्यय परे रहते "भस्त्रैषाजा-ज्ञाद्वा०" ७-३-४७ सूत्र से स्त्री-प्रत्ययान्त 'एषिका' और 'द्विका' में इत्व विधान व्यर्थ होजाता, क्यों कि पुंवद्भाव होने पर 'टाप्' प्रत्यय की निवृत्ति हो जाने से इत्व की भी निवृत्ति स्वतः सिद्ध रही। अतः "भस्त्रैषाजाज्ञाद्वा०" ७-३-४७ सूत्र में 'एषा' और 'द्वा' सर्वनामों का निवेश-व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "उत्तरपद के अभाव में सर्वनाम को पुंवद्भाव नहीं होता"।

कुछ अन्य शब्दों के साथ समास होने पर पुंवद्भाव की व्यवस्था की जारही है। प्रकृत (५) वर्तिक के अनुसार "'अण्ड' आदि शब्दों के परवर्ती होने पर 'कुकुटी' आदि स्त्री-वाची शब्दों को पुंवद्भाव हो"। **उदाहरण—कुक्कुटाण्डम्** (मुर्गी का अण्डा)। विग्रह—कुक्कुट्याः अण्डम्।

---

१. अष्टाध्याय्याम् अपाठात् अन्यवार्तिकानामिव अत्र प्रकरणेऽपाठात् अन्यकर्तृकत्वानुक्तेश्च भाष्य-कारीयत्वमेव कल्प्यते इति भावः। इद च "दक्षिणोत्तराभ्याम्" ५-३-२८ इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

अण्डं कुक्कुटाण्डम् । मृग्याः पदं मृगपदम् । मृगक्षीरम् । काकशावः । (८३७) क्यङ्मानिनोश्च ६ । ३ । ३६ ॥ एतयोः परतः पुंवत् । एनीवाचरति एतायते । श्येनीवाचरति श्येतायते । स्वभिन्नां काञ्चिद्दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानिनी । दर्शनीयां स्त्रियं मन्यते

---

(८३७) **क्यङ्मानिनोश्च ।** एतयोरिति । क्यङि मानिनि च उत्तरपदे परत इत्यर्थः । एनीवेति । एता चित्रवर्णा । 'चित्तं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः । एतशब्दः श्वेतपर्याय इति याज्ञिकाः । 'वर्णादनुदात्तात्' इति ङीप् नकारश्च । 'उपमानादाचारे' इत्यनुवर्तमाने 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति एनीशब्दात् क्यङि पुंवत्त्वे ङीब्नत्वयोर्निवृत्तौ, 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे एतायते इति रूपमिति भावः । श्येनीवेति । श्येतशब्दः श्वेतपर्यायः । 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डुराः' इत्यमरः । क्यङादि पूर्ववत् । ननु 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्येव मानिनीत्युत्तरपदे परतः पुंवत्त्वसिद्धेः मानिन्ग्रहणं किमर्थमित्याशङ्क्य मानिन्ग्रहणसमानाधिकरणार्थम् अस्त्रीलिङ्गार्थं चेत्यभिप्रेत्य असमानाधिकरणे परे तावदुदाहरति—**स्वभिन्नामिति । दर्शनीयमानिनीति ।** दर्शनीयामिति द्वितीयान्ते उपपदे सुप्यजातौ णिनिरित्यनुवृत्तौ 'मन' इति णिनिप्रत्ययः, उपपदसमासः, सुब्लुक्, असमानाधिकरणेऽपि मानिन्शब्दे उत्तरपदे परे अनेन पुंवत्त्वे टापो निवृत्तौ 'ऋन्नेभ्य' इति ङीपि दर्शनीयमानिनीति रूपम् । या त्वात्मानमेव दर्शनीयां मन्यते तस्या दर्शनीयायाः 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्येव पुंवत्त्वं सिद्धमिति ध्वनयितु स्वभिन्नामित्युक्तम् । एकस्या एव दर्शनीयायाः मनधात्वर्थं प्रति कर्मत्वकर्तृत्वसम्भवेऽपि वास्तवाभेदेन मानिनीशब्दसामानाधिकरण्यसत्त्वादिति भावः । अथास्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे उदाहरति—**दर्शनीयामिति ।** स्त्रियमित्यनन्तरमात्मानमिति शेषः । आत्मानं यः दर्शनीयां स्त्रियं मन्यते सः दर्शनीयमानी चैत्र इत्यन्वयः । अत्र उत्तरपदवाच्यस्य मानेः न वस्तुतो दर्शनीयस्त्रीभेदेऽपि आरोपिततदभेदमादाय सामानाधिकरण्यं यद्यप्यस्ति, तथापि मानिन्शब्दस्य उत्तरपदस्य पुंलिङ्गत्वात् तस्मिन् परे पुंवत्त्वं न प्राप्तमित्यनेन तद्विधिरिति भावः ।

कुक्कुटी+अण्डम् > **कुक्कुटाण्डम्** (षष्ठी समास, पुंवद्भाव, दीर्घसन्धि, नपुंसक-लिङ्गानुसार विभक्तिकार्य)। २—मृगपदम् (हिरणी का पैर)। **विग्रह**—मृग्याः पदम्> **मृगपदम्** (पुंवद्भावादि कार्य पूर्ववत्)। ५—**काकशावः** (मादा कौए का बच्चा)। **विग्रह**—काक्याः शावः > काकशावः (पुंवद्भाव, पुंलिङ्ग में प्रथमा विभक्ति परवत्-लिङ्ग के अनुसार)।

(८३७) पद—क्यङ्मानिनोः, च । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाः पुंवद्भाषित-पुंस्कात् अनूङ्, उत्तरपदे । अतिदेशसूत्र ।

मूलार्थ—इनके परे रहते पुंवद्भाव हो । उदा० १-क-एनी इव आचरति > एतायते । १-ख-श्येनीव आचरति>श्येतायते—जो मादा बाज की तरह व्यवहार करता है । २—दर्शनीयमानिनी—जो स्त्री अपने से भिन्न किसी दूसरी स्त्री को सुन्दर समझती है । ३—दर्शनीयमानी चैत्रः—स्त्री की तरह दर्शनीय समझने वाला—चैत्र ।

विवरण—पुंवद्भाव का ही प्रकरण है । सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये "स्त्रियाः पुंवत्०" ६-३-३४ सूत्र से 'स्त्रियाः पुंवत् भाषितपुंस्कात्' तथा अधिकारगत 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ से यथापूर्व चली आ रही हैं । साकाङ्क्ष उत्तरपद की जिज्ञासा को दूर करने के लिये सूत्रस्थ दो शब्द 'क्यङ्' तथा 'मानिन्' सहायक होते हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित

दर्शनीयमानी चैत्रः । (८३८) न कोपधायाः ६।३।३७ ॥ कोपधायाः स्त्रियाः न पुंवत् । पाचिकाभार्यः । रसिकाभार्यः । मद्रिकायते । मद्रिकामानिनी । 'कोपधप्रतिषेधे तद्धितवु-

---

(८३८) न कोपधायाः । पाचिकाभार्य इति । पाचिका भार्या यस्येति विग्रहः । पचो ण्वुल् । अकादेशटाबित्वानि, पुंवत्त्वनिषेधश्च । पुंवत्त्वे टाबित्वयोर्निवृत्तिः स्यात् । रसिकेति । रसोऽस्या अस्तीति रसिका, 'अत इनिठनौ' इति ठन् । ठस्येकः, टाप्, पुंवत्त्व-निषेधः । पुंवत्त्वे तु टापो निवृत्तिः स्यात् । मद्रिकायते इति । मद्राख्ये देशविशेषे भवा मद्रिका 'मद्रवृज्योः कन्' टाप्, इत्वम् । मद्रिकेवाचरतीत्यर्थः । 'क्यङ्मानिनोश्च' इति पुंवत्त्वं प्राप्तमिह निषिध्यते । मद्रिकामानिनीति । मद्रिकां मन्यत इत्यर्थे 'मनश्च' इति णिनिः, उपपदसमासः । इहापि 'क्यङ्मानिनोश्च' इति पुंवत्त्वं प्राप्तं निषिध्यते । उभयत्रापि पुंवत्त्वे टाबित्वयोर्निवृत्तिः स्यात् । तद्धितवुग्रहणमिति । 'न तद्धितवुकोपधायाः' इति सूत्रं पठनीयमिति यावत् । तद्धितसम्बन्धी वुसम्बन्धी च यः ककारः तदुपधायाः स्त्रिया न पुंवत्त्वमिति फलति । मद्रिकायते इति । तद्धितकोपधोदाहरणम् । पचिकाभार्य इति तु वुसंबन्धिकोपधोदाहरणम् । तद्धितवुग्रहणस्य प्रयोजनमाह—नेहेति । पाकेति । 'अर्भकपृथुक-पाका वयसि' इत्युणादिषु कप्रत्ययान्तो निपातितः । अयं तद्धितस्य वुप्रत्ययस्य वा न ककार इति नात्र पुंवत्त्वनिषेध इति भावः ।

होता है कि " 'क्यङ्' (प्रत्यय) तथा 'मानिन्' शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को पुंवद्भाव हो" । पुंवद्भाव होने का फल यह होगा कि 'ङीप्' की निवृत्ति होने से स्त्री-प्रत्यय-निमित्तक अन्य कार्यों की भी निवृत्ति हो जाती है। उदाहरण क्रमशः—(१) क—एतायते (जो माँदा—चीतल की तरह व्यवहार करता है)। विग्रह—एनी इव आचरति। (श्वेतपर्यायवाची एत) एनी = एन+ई (ङीप् "वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तो नः" ४-१-३९ तथा त=न) > एनी+य (क्यङ्—"कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" ३-१-११) > एत+य (पुंवद्भाव) > एताय ('त' को दीर्घ—"अकृत्सा-र्वधातुकयोर्दीर्घः" ७-४-२५) > एतायते (आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन का रूप)। (१) ख—श्येतायते (जो माँदा—बाज की तरह व्यवहार करता है)। विग्रह—श्येनी इव आचरति। सिद्धि पूर्व उदाहरण के समान। (२) क—दर्शनीयमानिनी (जो अपने से भिन्न किसी स्त्री को सुन्दर समझती है) यहाँ पुंवद्भाव के पूर्व 'दर्शनीयमानिनी' की सिद्धि जाननी आवश्यक है—दर्शनीयाम्, मन्+णिनि ("मनश्च" ३-२-८२) > दर्शनीया+अम्, मन्+इन् ("उपपदमतिङ्" २-२-१९ से समास तथा विभक्तिलोपादि कार्य) > दर्शनीया-मानिन् (मन्=मान्—उपधा वृद्धि "अत उपधायाः" ७-२-११६) > दर्शनीयमानिन् (पुंवद्भाव) > दर्शनीयमानिनी ('ङीप्' तथा विभक्तिकार्य । इसी प्रकार (२) ख—दर्शनीयमानी (अपने को दर्शनीय स्त्री मानने वाला चैत्र) विग्रह—आत्मानं दर्शनीयाम् स्त्रियं मन्यते। यहाँ भी दर्शनीयां+√मन्+णिनि > दर्शनीया—मन्+इन् (समासादिकार्य पूर्ववत्) > दर्शनीयामानिन् (उपधावृद्धि) > दर्शनीयमानिन् (पुंवद्भाव) > दर्शनीयमानी (पुनः विभक्त्युपत्ति, उपधादीर्घ, सु-लोप तथा न-लोप)। सूत्र में 'मानिनि' पद अस्त्र्यर्थ तथा असमानाधिकरणार्थ है।

(८३८) पद—न, कोपधायाः। अनुवृत्ति—स्त्रियाः पुंवद्भाषित पुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे। विधि-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—ककारोपधक स्त्रीवाचक शब्द से पुंवद्भाव न हो। उदा० १—पाचिकाभार्यः। २—रसिकाभार्यः। ३—मद्रिकायते। ४—मद्रिकामानिनी। वा० ककारोपध के निषेध में तद्धित और 'वु'-सम्बन्धी 'क' का ही ग्रहण हो। अतः पाकाभार्या यस्य सः > पाकभार्यः में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ।

ग्रहणम्' (वा ३९३१)। नेह। पाका भार्या यस्य सः पाकभार्यः। (८३९) सञ्ज्ञा-पूरण्योश्च ६।३।३८॥ अनयोर्न पुंवत्। दत्ताभार्यः। दत्तामानिनी। दानक्रियानिमित्तः

---

(८३९) ननु दत्ताशब्दस्य सञ्ज्ञात्वेन एकद्रव्यनिवेशितया भाषितपुंस्कत्वाभावात् 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यस्य प्रसक्तेरेवाभावात् किं तन्निषेधेनेत्यत आह—**दानक्रियानिमित्त** इति। दत्तशब्दोऽयं डित्थादिशब्दवन्न, किन्तु दानक्रियां पुरस्कृत्यैव स्त्रियां पुंसि च सञ्ज्ञा-भूतः प्रवृत्तः, अतस्तस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवत्त्वे प्राप्ते निषेधोऽयमित्यर्थः। पूरण्याः

विवरण—पूर्वोक्त तीनों सूत्रों से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध किया जा रहा है। अतः भाषित-पुंस्क ककार उपधा वाले स्त्री-वाचक शब्दों को पुंवद्भाव नहीं होगा। **उदाहरण**—(१) पाचिका-भार्यः (जिसकी भार्या रसोइया है)। **विग्रह**—पाचिका भार्या यस्य सः। पाचिका+सु, भार्या+सु (√पच्+ण्वुल्=अक, उपधावृद्धि=पाचक+टाप्, एवं ककार से पूर्व 'अ' को 'इ'→"प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वात् इदाप्यसुपः" ७-३-४४ ←पाचिका, तदनन्तर भार्या के साथ बहुव्रीहि समास) ▷ पाचिका-भार्या > ("स्त्रियाः पुंवद्भाषित" ६-३-३४ से प्राप्त पुंवद्भाव का प्रकृत सूत्र से निषेध) > **पाचिकाभार्यः** ("एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते" १-२-४४ से 'भार्या' शब्द की उपसर्जन संज्ञा तथा उसे "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" १-२-४८ से ह्रस्व एवं समासोत्तर विभक्तिकार्य)। (२) रसिका-भार्यः (जिसकी भार्या रसिका है)। **विग्रह**—रसिका भार्या यस्य सः। रसिका+सु, भार्या+सु ▷ रसिका भार्या ▷ **रसिकाभार्यः** (पुंवद्भाव-निषेध आदि सामासिक कार्य पूर्ववत्)। (३) मद्रिकायते (मद्रिका के समान आचरण करता है)। **विग्रह**—मद्रिका इव आचरति ▷ **मद्रिकायते** (आचार अर्थ में क्यङ् प्रत्यय, "क्यङ्मानिनोश्च" ६-३-३६ सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव का प्रकृत सूत्र से निषेध)। मद्रिका शब्द–मद्र+कन् ("मद्रवृज्योः कन्" ४-२-१३० तथा 'द्र' के अकार को इकार) प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। (४) **मद्रिकामानिनी** (जो स्त्री अपने को मद्रिका समझती हो)। **प्रक्रिया**—मद्रिकां मन्यते इस अर्थ में "मनश्च" ३-२-८२ णिनि तथा उपपद समास होने पर "क्यङ्मानिनोश्च" ६-३-३६ से प्राप्त पुंवद्भाव का प्रकृत सूत्र से निषेध। शेष कार्य पूर्ववत्।

विशेष—इसी तरह '**मद्रिकाकल्पा**' में भी "तसिलादिष्वाकृत्वसुचः" ६-३-३४ से पुंवद्भाव प्राप्त था, उसका निषेध हो गया।

वार्तिक—"तद्धित-प्रत्यय-सम्बन्धी तथा जहाँ 'ण्वुल्' या 'वुन्' आदि के 'वु' को "युवो-रनाकौ" ७-१-१ सूत्र से 'अक' आदेश होता है—तत्सम्बन्धी 'क' की उपधा को ही पुंवद्भाव का निषेध किया जाय"। इस वार्तिक के प्रभाव से **पाकभार्यः** (जिसकी भार्या युवती है) में "न कोपधायाः" ६-३-३७ सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ। कारण यह है कि 'पाकभार्यः' में 'पाका' शब्दावयव 'क' न तो तद्धितप्रत्यय–सम्बन्धी है न 'वु'—सम्बन्धी है, प्रत्युत औणादिक 'क' प्रत्यय है—"अर्भकपृथुकपाका वयसि" उणादि—५।५३।

(८३९) पद—संज्ञापूरण्योः, च। **अनुवृत्ति**—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्काद् अनूङ्, उत्तर-पदे। **विधि-(निषेध)-सूत्र**।

मूलार्थ—इन दोनों को पुंवद्भाव न हो। उदा० १—दत्ताभार्यः। २—दत्तामानिनी। स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग में दानक्रियानिमित्त संज्ञाभूत 'दत्ता' शब्द भाषितपुंस्क है। ३—पञ्चमीभार्यः। ४—पञ्चमीपाशा।

विवरण—प्रकरण-वश पूर्वोक्त पुंवद्भाव का निषेध ही चल रहा है। अतः "न कोपधायाः" ६-३-३७ से 'न' की अनुवृत्ति प्रमुख-रूप में अपेक्षित है। उसके अतिरिक्त "स्त्रियाः पुंवत्" ० ६-३-३४

स्त्रियां पुंसि च सञ्ज्ञाभूतोऽयमिति भाषितपुंस्कत्वमस्ति। पञ्चमीभार्यः। पञ्चमीपाशा।
(८४०) वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे ६।३।३९॥ वृद्धिशब्देन विहिता या वृद्धिस्तद्धेतुर्यस्तद्धितोऽरक्तविकारार्थस्तदन्ता स्त्री न पुंवत्। स्रौघ्नीभार्यः। माथुरी-

---

पुंवत्त्वनिषेधमुदाहरति—**पञ्चमीभार्य इति**। पञ्चमी भार्या यस्येति विग्रहः। अत्र 'स्त्रियाः पुंवत्' इति निषिध्यते। **पञ्चमीपाशेति**। निन्दिता पञ्चमीत्यर्थः। 'याप्ये पाशप्'। अत्र तसिलादिषु' इति प्राप्तं पुंवत्त्वं निषिध्यते।

(८४०) वृद्धिनिमित्तस्य च। वृद्धिर्निमित्तं हेतुरिति विग्रहः। रक्तं च विकारश्चेति समहारद्वन्द्वः। ततो नञ्तत्पुरुषः। विकारभिन्नेऽर्थे विद्यमानस्येत्यर्थः। वृद्धिशब्देन विहितैव वृद्धिरिह विवक्षिता, व्याख्यानात्। तदाह—**वृद्धिशब्देनेत्यादिना**। **तदन्तेति**। प्रत्ययग्रहण-परिभाषालभ्यम्। **स्रौघ्नीति**। स्रुघ्नो देशः, तत्र भव इत्यण्। 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। णित्त्वादादिवृद्धिः, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्। स्रौघ्नी भार्या यस्येति विग्रहः। 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तमिह निषिध्यते। **माथुरीयते माथुरीमानिनीति**। मथुरायां भवा माथुरी, 'तत्र भवः' इत्यण्, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः, आदिवृद्धिः, 'टिड्ढ' इति ङीप्। माथुरीवाचरतीत्यर्थे

की आंशिक अनुवृत्ति धारा-प्रवाह के समान अनुसरण कर रही है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "संज्ञावाची तथा पूरणीप्रत्ययान्त भाषितपुंस्क स्त्रीवाची शब्दों को भी पुंवद्भाव नहीं होगा"। **संज्ञावाची शब्दों के उदाहरण (१) दत्ताभार्यः** (जिसकी भार्या का नाम दत्ता हो)। (२) **दत्तामानिनी** (जो स्त्री अपने को दत्ता समझती हो)। (१) **विग्रह**—दत्ता भार्या यस्य सः। बहुव्रीहि समास, "स्त्रियाः पुंवत्"० ६-३-३४ से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध। (२) **विग्रह**—आत्मानं या दत्ता मन्यते। पूर्ववत् √मन् + णिनि, उपपद-समास तथा "क्यङ्-मानिनोश्च" ६-३-३६ से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध।

विशेष—(१) 'दत्ताभार्यः' तथा 'दत्तामानिनी' शब्दावयव 'दत्त' शब्द भषितपुंस्क है, क्योंकि 'दत्तः' (पुं०) तथा 'दत्ता' (स्त्री०) दोनों में प्रवृत्तिनिमित्त 'दान' एक ही प्रकार से विद्यमान है, अतः 'दत्ता' भाषितपुंस्क शब्द है। इसी प्रकार आगे दिये जाने वाले उदाहरणस्थ 'पञ्चमी' को भी 'पञ्चम' की तरह 'पञ्चमत्व' के प्रवृत्ति-निमित्त होने से भाषितपुंस्क मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

(२) 'दत्ता' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है:—√दा + त (क्त → "क्तिच्-क्तौ च संज्ञायाम्" ३-३-१७४ ← आशीर्वाद अर्थ—दत्तात्) > दद् + त (दा = दद्—"दो दद् घोः" ७-४-४६) > दत् + त (द् = त—चर्त्व) > दत्ता (टाप्)।

पूरणी-प्रत्ययों के उदाहरण—(१) **पञ्चमीभार्यः** (जिसकी पत्नी पाँचवीं हो)। **विग्रह**—पञ्चमी भार्या यस्य सः। बहुव्रीहि समास। "स्त्रियाः पुंवत्०" ६-३-३४ से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध।

(२) **पञ्चमीपाशा** (निन्दनीया पाँचवीं)। **विग्रह**—कुत्सिता पञ्चमी। निन्दा अर्थ में "याप्ये पाशप्" ५-३-४७ से पाशप् प्रत्यय। "तसिलादिष्वाकृत्वसुचः" ६-३-३५ से प्राप्त पुंवद्भाव का इस से निषेध हुआ।

(८४०) पद—वृद्धिनिमित्तस्य, च, तद्धितस्य, अरक्तविकारे। **अनुवृत्ति**—न, स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्काद् अनूङ्, उत्तरपदे। **विधि-(निषेध)-सूत्र**।

मूलार्थ—वृद्धि शब्द से जिस वृद्धि का विधान किया गया है, उस वृद्धि का कारण जो रक्त और विकारार्थ से भिन्न तद्धित प्रत्यय, तदन्त स्त्रीवाचक शब्द को पुंवद्भाव हो। **उदाहरण**—

यते। माथुरीमानिनी। वृद्धिनिमित्तस्य किम्? मध्यमभार्यः। तद्धितस्य किम्? काण्डलावभार्यः। वृद्धिशब्देन किम्? तावद्भार्यः। रक्ते तु, काषायी कन्था यस्य स काषायकन्थः।

'कर्तुः क्यङ्' इति क्यङ्। 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वाल्लडादि, माथुरीयते। माथुरीं मन्यते माथुरीमानिनी, 'मनः' इति णिनिः, उपधावृद्धिः। उपपदसमासः, सुब्लुक्, नान्तत्वान्ङीप्। इहोभयत्रापि 'क्यङ्मानिनोश्च' इति प्राप्तं पुंवत्त्वं निषिध्यते। **मध्यमभार्यं इति।** मध्ये भवा मध्यमा, 'मध्मान्मः' इति मः। मध्यमा भार्या यस्येति विग्रहः। 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वम्। अत्र मप्रत्ययस्य तद्धितस्य वृद्धिनिमित्तत्वाभावान्न पुंवत्त्वनिषेधः। **काण्डलावभार्यं इति।** काण्डं लुनातीति काण्डलावी, 'कर्मण्यण्' इत्यण्प्रत्ययः कृतः, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः, आवादेशः, उपपदसमासः, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्। काण्डलावी भार्या यस्येति विग्रहः, पुंवत्त्वात् ङीपो निवृत्तिः। अत्राणः कृत्वात्तद्धितत्त्वाभावात् न पुंवत्त्वनिषेधः। **तावद्भार्यं इति।** तत् परिमाणमस्यास्तावती, यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् इति तच्छब्दाद्वतुप् तद्धितः, 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारः, उगित्त्वात् ङीप्। तावती भार्या यस्येति विग्रहः। पुंवत्त्वात् ङीपो निवृत्तिः, 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारात्मिकां वृद्धिं प्रति वतुपो निमित्तत्वेऽपि आकारस्य वृद्धिशब्देन विधानाभावात्तन्निमित्तवतुबन्तस्य न पुंवत्त्वनिषेधः। **रक्ते त्विति।** रक्तेऽर्थे विद्यमानस्य तद्धितस्य न पुंवत्त्वनिषेध इत्यर्थः। **काषायीति।** कषायो

१—स्रौघ्नीभार्यः। २—माथुरीयते। ३—माथुरीमानिनी। वृद्धिनिमित्तस्य क्यों कहा? मध्यमभार्यः (पुंवद्भाव का निषेध नहीं)। तद्धितस्य क्यों कहा? काण्डलावभार्यः। वृद्धिशब्देन क्यों कहा? तावद्भार्यः। रक्तार्थक प्रत्यय में तो काषाया कन्था यस्य सः > काषायकन्थः (पुंवद्भाव हो गया)। विकारार्थक में हैमी मुद्रिका यस्य सः > हैममुद्रिकः (पुंवद्भाव का निषेध न हो)। यहाँ 'वृद्धि' शब्द से 'वृद्धि' के फलीभूत होने—अर्थ की विवक्षा होने से वैयाकरणभार्यः एवं सौवश्वभार्यः में (पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ) पुंवद्भाव हुआ।

विवरण—पुंवद्भाव के निषेध का ही प्रसङ्ग चल रहा है। अतः पूर्वोक्त अनुवृत्तियाँ धाराप्रवाह की तरह विद्यमान हैं। किन परिस्थितियों में यह निषेध प्रवृत्त होगा उसके सन्दर्भ में कुछ सीमायें निर्धारित की जारही हैं। तदनुसार सूत्रस्थ दो पद महत्त्वपूर्ण हैं—'वृद्धिनिमित्तस्य' तथा 'तद्धितस्य'। 'वृद्धि-निमित्तस्य' पद का विग्रह है—वृद्धिः निमित्तं यस्य सः। 'निमित्त' पद का अर्थ 'हेतु' है। अतः "वृद्धि के हेतुभूत रक्तार्थक एवं विकारार्थक तद्धित प्रत्ययों से भिन्न (अरक्तविकारे—रक्तं च विकारश्च रक्तविकारं न रक्तविकारं = अरक्तविकारं तस्मिन्) अन्य तद्धितप्रत्ययान्त (प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः) स्त्रीवाचक शब्दों को पुंवद्-भाव नहीं होगा"। तद्धित में वृद्धि के निमित्तक—ञित्, णित् तथा कित् प्रत्यय हैं। अतः ऐसे ही प्रत्ययों में इस सूत्र की प्रसक्ति होगी। **उदाहरण**—(१) स्रौघ्नीभार्यः (जिसकी भार्या स्रुघ्न जनपद की हो)। **लौ० वि०**—स्रौघ्नी भार्या यस्य सः। **अलौ० विग्रह**—स्रौघ्नी+सु, भार्या+सु > स्रौघ्नीभार्या (समास) > **स्रौघ्नीभार्यः** ("स्त्रियाः पुंवत०" ६-३-३४ से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध, उपसर्जन ह्रस्व तथा विभक्तिकार्य)। इस उदाहरण में 'स्रौघ्नी' शब्द की निष्पत्ति पर विचार करना आवश्यक है। स्रुघ्न+अण् ("तत्र भवः" ४-३-५३) > स्रौघ्न ('अण्' प्रत्यय 'णित्' होने के कारण 'स्रुघ्न' के उकार को वृद्धि) > स्रौघ्नी (ङीप् तथा 'अ' का लोप एवं विभक्तिकार्य)। यहाँ तद्धित में आदि वृद्धि का विधान 'वृद्धि' शब्द से उपात्त होने के कारण प्रकृत सूत्र से पुंवद्भाव का निषेध हुआ। (२) माथुरीयते (मथुरावासिनी के समान आचरण करनेवाली स्त्री)। **विग्रह**—माथुरी इव आचरति। **प्रक्रिया**—माथुरी+क्यङ् > माथुरी+य+ते ('क्यङ' प्रत्यय को मान कर आत्मनेपद धातु-प्रत्यय,

विकारे तु, हैमी मुद्रिका यस्येति हैममुद्रिकः। वृद्धिशब्देन वृद्धिं प्रति फलोपधानाभावा-

---

गैरिको धातुविशेषः, तेन रक्ता काषायी 'तेन रक्तं रागात्' इत्यणि 'यस्येति च' इति लोपः, आदिवृद्धिः, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्। काषायाकन्थ इति। पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तिः। अत्राणः तद्धितस्य रक्तार्थकत्वात् न पुंवत्त्वनिषेधः। विकारे त्विति। विकारार्थे विद्यमानस्य तद्धितस्य न पुंवत्वनिषेध इत्यर्थः। हैमीति। हेम्नो विकारभूतेत्यर्थः। 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञ्, टिलोपः, आदिवृद्धिः, 'टिड्ढ' इति ङीप्, हैमीति रूपम्। हैमी मुद्रिका यस्येति विग्रहः। पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तिः। अत्राञस्तद्धितस्य विकारार्थकत्वान्न पुंवत्त्वनिषेधः। स्यादेतत्। व्याकरणमधीते वेत्ति वा स्त्री वैयाकरणी, 'तदधीते तद्वेद' इत्यण् तद्धितः। 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। अणो णित्त्वात् तन्निमित्तिकायाः यकाराकारस्य पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या प्राप्तायाः वृद्धेः 'न य्वाभ्याम्' इति निषेधः। यकारात् प्रागैकारागमश्च, टिड्ढाणञ् इति ङीप्। वैयाकरणी भार्या यस्येति बहुव्रीहौ पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ वैयाकरणभार्य इति रूपम्। तथा स्वश्वस्यापत्यं स्त्री 'अत इञ्' इति इञोऽपवादः शिवाद्यण्, 'यस्येति च' इति 'अ'–लोपः। प्रथमवकारात् परस्य अकारस्यादिवृद्धेः 'न य्वाभ्याम्' इति निषेधः। प्रथमवकारात् प्रागौकारागमश्च, 'टिड्ढ' इति ङीप्। सौवश्वी भार्या यस्येति बहुव्रीहौ पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ सौवश्वभार्य इति रूपमिति स्थितिः। अत्रोभयत्रापि आदिवृद्धेः 'न य्वाभ्याम्' इति निषेधेऽपि अणः तद्धितस्य णित्त्वेन स्वरूपयोग्यवृद्धिनिमित्तत्वान-

---

'लट्' लकार का एक वचन) > **माथुरीयते** ("क्यङ्-मानिनोश्च" ६-३-३६ से प्राप्त पुंवद्भाव का प्रकृत सूत्र से निषेध)। प्रकृत उदाहरण में भी भवार्थक 'अण्' प्रत्यय को मान कर णित्व-प्रयुक्त आदि वृद्धि हुई है (मथुरायां भवा–माथुरी)। (३) **माथुरीमानिनी** (जो स्त्री अपने को मथुरावसिनी समझती है)। **विग्रह**—माथुरीं मन्यते। यहाँ भी पूर्ववत् (उदाहरण २ के समान) सूत्र ८३७ से पुंवद्भाव प्राप्त था, उसका निषेध। शेष कार्य पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'वृद्धिनिमित्तस्य' पद का निवेश होने के कारण तद्धित प्रत्ययेतर वृद्धि निमित्त होने पर **मध्यमभार्यः** (जिसकी भार्या मझली है) में मध्यमा के 'आकार' को पुंवद्भाव का निषेध नही हुआ। कारण यह है कि 'मध्यमा' शब्द 'मध्यम' (मध्य+कृदन्त–म) शब्द के स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय होने पर सिद्ध हुआ है—तद्धित-प्रत्यय को मान कर वृद्धि होने से नहीं बना है। (२) सूत्र में 'तद्धितस्य' पद का निवेश होने के कारण वृद्धि-निमित्तक प्रत्यय तद्धित प्रकरण का ही होना अपेक्षित है। अतः **काण्डलावभार्यः** (जिसकी भार्या डण्ठल काटने वाली है) में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ। काण्डलावी भार्या यस्य यस्य सः—**विग्रह** करने पर बहुव्रीहि समास तथा पुंवद्भाव होकर **काण्डलावभार्यः** रूप बनेगा। इसका कारण यह है कि 'काण्डलावी' पद में अण् प्रत्यय कृदन्त प्रकरण (काण्डलू+अण्—"कर्मण्यण्" ३-२-१) का है, उसे मान कर वृद्धि हुई है। (३) सूत्र की व्याख्या में यह स्पष्ट किया गया है कि वृद्धि शब्द से ही वृद्धि का विधान होने पर पुंवद्भाव का निषेध होगा। अतः **तावद्भार्यः** (जिसकी भार्या उतनी है) में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ। **विग्रह**—तावती भार्या यस्य सः। इस विग्रह में तत्+वतुप् > त+आ–वत् > तावत् (सवर्ण दीर्घ) (त = आ—"आ सर्वनाम्नः" ६-३-९१) > तावत् + ई (ङीप्) > तावती। इस प्रकार 'तावत्' का 'आ'कार वृद्धि-निमित्तक नहीं है, अपि तु दीर्घ-सन्धिजन्य है। (४) सूत्र में 'अरक्तविकारे' पद का निवेश करने के फलस्वरूप काषायी कन्था यस्य सः > **काषायकन्थः** (जिसकी कन्था गेरुए रंग की हो) में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ, क्यों कि 'काषायी' शब्द में 'कषायेन

दिह पुंवत् वैयाकरणभार्यः। सौवश्वभार्यः। (८४१) स्वाङ्गाच्चेतः ६।३।४०॥ स्वाङ्गाद्य: ईकारस्तदन्ता स्त्री न पुंवत्। सुकेशीभार्यः। स्वाङ्गात् किम्? पटुभार्यः।

पायात् पुंवत्त्वनिषेधो दुर्वार इत्यत आह—वृद्धिं प्रति फलोपधानाभावादिह पुंवदिति। प्रवीत्यनन्तरं निमित्तस्य तद्धितस्येति शेषः। अणः वृद्धिनिमित्तस्य यत् फलं वृद्धिस्तेन उपधानं तात्कालिकसाहित्यं तदभावादित्यर्थः। 'वृद्धेस्तद्धितस्य' इत्येतावत्युक्तेऽपि निमित्तत्वसम्बन्धे वृद्धेरिति षष्ठीमाश्रित्य 'वृद्धिनिमित्तद्धितस्य' इत्यर्थलाभे सति निमित्तग्रहणात् फलोपहितनिमित्तत्वं विवक्षितमिति विज्ञायत इति भावः। यद्यप्यैजागमसिद्धि-वृद्धिं प्रति अण्प्रत्ययः फलोपहितमेव निमित्तम्, तथापि वृद्धिशब्देन विहितां वृद्धिं प्रति फलोपहितं निमित्तं न भवत्येवेति न दोषः। वृद्धिशब्देन विहितैव वृद्धिरिह गृह्यत इत्यत्रापि इदमेव निमित्तग्रहणं लिङ्गम्। अन्यथा ऐजागमादत्र फलोपहितनिमित्तत्वस्यापि सत्त्वात् तन्निमित्तग्रहणं निष्फलं स्यात्। विस्तरस्तु शब्देन्दुशेखरे द्रष्टव्यः।

(८४१) स्वाङ्गाच्चेतः। ईत इति च्छेदः तदाह—स्वाङ्गाद्य ईकार इति। सुकेशीभार्यं इति। सु शोभनाः केशाः यस्याः सा सुकेशी—'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' इति ङीष्। 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तस्य निषेधः। पटुभार्यं इति। पट्वी भार्या यस्येति विग्रहः। पटुत्वस्य अस्वाङ्गत्वान्न पुंवत्त्वनिषेधः। किन्तु पुंवत्त्वे 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीषो

रक्ता' (रक्तार्थ) में "तेन रक्तं रागात्" ४-२-१ से 'अण्' प्रत्यय हुआ है, वही वृद्धि का निमित्त है। अतः'काषायी' में पुंवद्भाव होकर 'काषाय-कन्थः' रूप निष्पन्न हो गया। (५) इसी प्रकार विकारार्थक 'अण्' प्रत्यय होने के कारण हैमीमुद्रिका यस्य सः>हैममुद्रिकः (जिसकी अँगुठी सोने की है) में भी पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ।

विशेष—"वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे" (६-३-३९) सूत्र से पुंवद्भाव का निषेध वृद्धि-प्राप्ति की संभावना मात्र होनेपर नहीं होता, किन्तु वृद्धि क फलीभूत होने पर ही पुंवद्भाव का निषेध होगा। इसके फलस्वरूप (१) वैयाकरणी भार्या यस्य सः>**वैयाकरणभार्यः** में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ। यहाँ पर तद्धित 'अण्' प्रत्यय के णित् होने के कारण (व्याकरणम् अधीते वेत्ति वा इस अर्थ में→व्याकरण+अण्←"तदधीते तद्वेद" ४-२-५९ करने पर आदिवृद्धि प्राप्त थी, किन्तु "न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" ७-३-३ से उसका निषेध होकर ऐच् आगम हुआ है। अतः वृद्धि फलीभूत नहीं हुई। तदनुसार पुंवद्भाव हुआ। इसी प्रकार (२) सौवश्वी-भार्या यस्य सः>**सौवश्वभार्यः** (जिस की भार्या सुन्दर घोड़े वाले पुरुष की सन्तान है) में भी पूर्व उदाहरण की तरह पुंवद्भाव का निषेध नहीं होगा। **विग्रह**—सौवश्वी भार्या यस्य सः। **प्रक्रिया**—स्वश्व+अण् ('इञ्' को बाध कर अपत्यार्थ में "शिवादिभ्योऽण्" ४-१-११२) >सौवश्व (वृद्धि का निषेध होने के कारण 'व्' से पूर्व 'औ' आगम) >सौवश्व+ङीप्>**सौवश्वी**। वृद्धि न होने के कारण 'सौवश्वी' को "स्त्रियाः पुंवत्" ६-३-३४ से पुंवद्भाव हो गया। अतः 'ङीप्' की निवृत्ति हुई।

(८४१) **पद**—स्वाङ्गात्, च, ईतः। **अनुवृत्ति**—न, स्त्रियाः पुंवद्-भाषितपुंस्काद् अनूङ्, उत्तरपदे। विधि-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—स्वाङ्गवाची शब्द से परे ईकारान्त-स्त्री-वाची शब्द को पुंवद्भाव न हो। **उदा०**—सुकेशीभार्यः। 'स्वाङ्गात्' क्यों कहा? पटुभार्यः। 'ईतः' क्यों कहा? अकेशभार्यः। वा० 'मानिनी' शब्द से भिन्न कहा जाय। उदाहरण सुकेशमानिनी।

विवरण—पुंवद्भाव का निषेध ही चल रहा है। अतः धाराप्रवाह के समान अनुवृत्तियाँ का पूर्ववत् प्रभाव विद्यमान है। सूत्र में केवल उन शब्दों की ओर संकेत किया गया है जो पुंवद्भाव

ईतः किम् ? अकेशभार्यः। 'अमानिनीति वक्तव्यम्' (वा ३९३२)। सुकेशमानिनी।
(८४२) जातेश्च ६।३।४१ ॥ जातेः परो यः स्त्रीप्रत्ययस्तदन्तं न पुंवत्। शूद्राभार्यः। ब्राह्मणीभार्यः। सौत्रस्यैवायं निषेधः। तेन हस्तिनीनां समूहो हास्तिकमित्यत्र 'भस्याढे'

निवृत्तिरिति भावः। अकेशभार्य इति। अविद्यमानाः केशाः यस्याः सा अकेशा। 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति बहुव्रीहिः, विद्यमानशब्दस्य लोपश्च। स्वाङ्गत्वेऽपि न ङीष्, 'सहनञ्विद्यमान' इति निषेधात्। अतष्टावेव। अकेशा भार्या यस्येति विग्रहः। स्वाङ्गत्वेऽपि ईकाराभावान्न-पुंवत्वनिषेधः, किन्तु पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः। अमानिनीति। स्वाङ्गाच्चेति निषेधः मानिन्शब्दे परतः न भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः। सुकेशमानिनीति। सुकेशीं मन्यत इत्यर्थे 'मनश्च' इति 'णिनिः', उपधावृद्धिः, उपपदसमासः, सुब्लुक्, पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तिरिति भावः।

(८४२) जातेश्च। ईत इति अस्वरितत्वान्नानुवर्तत इत्यभिप्रेत्याह—जातेः परो यः स्त्रीप्रत्यय इति। शूद्राभार्य इति। 'शूद्रा चामहत्पूर्वा' इति जातिलक्षणङीषोऽपवादष्टाप्। पुंवत्वनिषेधान्न टापो निवृत्तिः। ब्राह्मणीभार्य इति। पुंवत्वनिषेधात् न शार्ङ्गरवादिङीनो निवृत्तिः। ननु हस्तिनीनां समूहो हस्तिकमित्यत्र 'अचित्तहस्ति' इति ठकि हस्तिनीशब्दस्य

के निषेध से प्रभावित नहीं हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "अपने अङ्गवाची शब्द से उत्तर जो ईकार ('ईत्' में तपरकरण से केवल दीर्घ ईकार का ग्रहण होगा), वह जिसके अन्त में है—उस स्त्री-वाचक शब्द को पुंवद्भाव न हो"। यह भी "स्त्रियाः पुंवत्०" ६-३-३४ का अपवाद है। **उदाहरण—सुकेशीभार्यः** (जिसकी भार्या सुन्दर बालों वाली है)। **विग्रह—** सुकेशी भार्या यस्य सः। **समास—**बहुव्रीहि। पुंवद्भाव का निषेध। 'भार्या' को ह्रस्व (=भार्य)— "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१-२-४८)। विभक्ति-कार्यादि पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'स्वाङ्गात्' पद का निवेश होने से **'पटुभार्यः'** (जिसकी भार्या निपुण है) में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ ईकारान्त स्त्री-वाची 'पट्वी' शब्द स्वाङ्ग-वाची नहीं है। **विग्रह—**पट्वी भार्या यस्य सः। शेष कार्य पूर्ववत्। (२) सूत्र में 'ईतः' पद का निवेश होने से **अकेशभार्यः** (जिसकी भार्या केशवाली न हो) में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ, क्योंकि अकेशा भार्या यस्य सः—इस विग्रह में स्वाङ्गवाची 'अकेश' शब्द ईकारान्त नहीं है। अतः पुंवद्भाव होकर अकेशभार्यः रूप बना। 'अकेशा' में "सहनञ् विद्यमान०" से निषेध होने के कारण 'ङीष्' नहीं हुआ।

वार्तिक—स्वाङ्गवाची दीर्घ ईकारान्त शब्द से परे यदि 'मानिनी' शब्द हो तो पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता। **उदाहरण—सुकेशमानिनी** (अपने बालों को सुन्दर मानने वाली स्त्री)। 'सुकेशीं मन्यते' इस अर्थ में 'मानिनी' (मन्+णिनि) शब्द पर होने के कारण दीर्घ ईकारान्त 'सुकेशी' शब्द को पुंवद्भाव (= सुकेश) हो गया।

(८४२) पद—जातेः, च। **अनुवृत्ति—**न, स्त्रियाः पुंवद्भाषित-पुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे। **विधि-(निषेध)-सूत्र।**

मूलार्थ—जातिवाचक शब्द से विहित स्त्री-प्रत्ययान्त शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता। **उदाहरण १—शूद्राभार्यः।** २—ब्राह्मणीभार्यः। सूत्र-सम्बन्धी पुंवद्भाव का ही यह निषेध है। अतः हस्तिनीनां समूहः>हास्तिकम् में 'भस्याढे' (वा० ३९२८) से पुंवद्भाव हो गया।

विवरण—पूर्ववत् सभी अनुवृत्तियाँ विद्यमान हैं। अतः इस सूत्र द्वारा "जातिवाचक स्त्री-वाची शब्दों को भी पुंवद्भाव के निषेध की व्यवस्था की गई है"। **उदाहरण—(१) शूद्राभार्यः** (जिसकी भार्या शूद्रा है)। **विग्रह—**शूद्रा भार्या यस्य सः। बहुव्रीहि समास। "स्त्रियाः पुंवत्०" ६-३-३४ से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध होने से 'शूद्रा' शब्द में 'टाप्' ('शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा'—वा०)

(वा ३९२८) इति तु भवत्येव । **(८४३) सङ्ख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये २ । २ । २५ ॥** सङ्ख्येयार्थया सङ्ख्यया अव्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः ।

'भस्याढे' इति कथं पुंवत्त्वं 'जातेश्च' इति निषेधादित्यत आह—**सौत्रस्यैवायं निषेध इति ।** सूत्रविहितस्येत्यर्थः । 'भस्याढे' इति तु वार्तिकमिति भावः । एतच्च 'न कोपधायाः' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

(८४३) **सङ्ख्या ।** शेषग्रहणम् 'अनेकमन्यपदार्थे' इति च निवृत्ते । बहुव्रीहिरित्यनुवर्तते । 'सुप्सुपा' इति च सङ्ख्येये इत्येतत्सङ्ख्ययेत्यत्रान्वेति । सङ्ख्यापरिच्छेद्यं सङ्ख्येयम्, तत्रार्थे विद्यमानया सङ्ख्ययेति लभ्यते । सङ्ख्याशब्दश्चायं न स्वरूपपरः, किन्तु एकादिशवान्तशब्दपरः । तदाह—**सङ्ख्येयार्थया सङ्ख्ययेति ।** एकादिशब्देन सुबन्तेनेत्यर्थः । **अव्ययादय इति ।** अव्यय आसन्न अदूर अधिके सङ्ख्या एते सुबन्ता इत्यर्थः । अत्रापि सङ्ख्याशब्दो न स्वरूपपरः, किन्तु एकादिशब्दपर एव । अत्रेदमवधेयम्—विंशतेः प्रागेकादिशब्दाः सङ्ख्येयेषु वर्तन्ते विशेष्यलिङ्गाश्च । दशादयो नित्यबहुवचनान्ताः । विंशत्यादिशब्दास्तु नित्यमेकवचनान्ताः सङ्ख्यायां सङ्ख्येये च वर्तन्ते नवतिपर्यन्ताः नित्यस्त्रीलिङ्गाश्च । यथा विंशतिर्ब्राह्मणः, ब्राह्मणानां विंशतिरिति । यदा विंशत्यादिः सङ्ख्या, ततो द्वित्वबहुवचने स्तः । यथा गवां द्वे विंशती इति, चत्वारिंशदिति गम्यते । गवां तिस्रो विंशतय इति, षष्टिरिति गम्यते ।

'विंशत्याद्याः सदैकत्वे सङ्ख्याः सङ्ख्येयसङ्ख्ययोः ।
सङ्ख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः ॥'

की निवृत्ति नहीं हुई । इसी प्रकार **ब्राह्मणीभार्यः** (जिसकी भार्या ब्राह्मण है) में भी पुंवद्भाव का निषेध होने से 'ब्राह्मणी' शब्द में 'ङीष्' ("जातेरस्त्रीविषादयोपधात्" ४-१-६३) की निवृत्ति नहीं हुई ।

विशेष—वार्तिककार ने प्रकृत सूत्र से विधीयमान पुंवद्भाव को थोड़ा सीमित कर दिया है । तदनुसार "जातेश्च" ६-३-४१ सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध उन्हीं स्थलों पर किया जा सकता है, जहाँ "न कोपधायाः" ६-३-३७ सूत्र को छोड़कर अन्य किसी सूत्र से पुंवद्भाव की प्राप्ति हो[1] । इसके फलस्वरूप हस्तिनीनां समूहः > **हास्तिकम्** (हथिनियों का झुंड) में पुंवद्भाव नहीं होता, क्योंकि यहाँ 'भस्याढे तद्धिते' वार्तिक से पुंवद्भाव हुआ है । पुंवद्भाव होने के कारण हस्तिनी शब्द से समूहार्थक 'ठक्' प्रत्यय होने के पश्चात् 'ङीप्' की निवृत्ति होने के कारण हस्तिन् + इक > हास्तिकम् (आदिवृद्धि तथा 'टि'लोप होकर) रूप बनता है ।

(८४३) पद—संख्यया, अव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः, संख्येये । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः । **विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।**

मूलार्थ—संख्येय अर्थ में संख्यावाचक शब्दों के साथ अव्यय आदि शब्दों का बहुव्रीहि समास होता है । उदा० दशानां समीपे ये सन्ति ते > उपदशाः । इसका अर्थ—नौ या ग्यारह । "बहुव्रीहौ संख्येये" (८५१)—इस आगे आने वाले सूत्र से 'डच्' प्रत्यय होता है ।

विवरण—प्रकरण-प्राप्त विशेष अवस्था में बहुव्रीहि समास का विधायक यह सूत्र है । तदनुसार "शेषो बहुव्रीहिः" २-२-२३ से 'बहुव्रीहिः' की अनुवृत्ति तथा आधिकारिक अनुवृत्तियों में

---

१. "अथ पुंवद्भावमात्रस्य विषये हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् इत्यत्र जातिलक्षणः पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोति । एवं तर्हि 'न कोपधायाः' ६-३-३७ इत्ययं योगः पुंवद्भावमात्रस्य विषये । तत उत्तरम् एवम् आद्यनुक्रमणम् आद्यस्य योगस्य विषये" ।—म० भा० ६-३-३७ ।

दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः। नव एकादश वेत्यर्थः। 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये'-(सू ८५१) इति वक्ष्यमाणो डच्। (८४४) ति विंशतेर्डिति ६। ४। १४२॥ विंशते-

---

इत्यमरः। अत्राव्ययस्योदाहरति—दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशा इति। उपशब्दस्य समीपार्थकस्याव्ययीभाव उक्तः। इह तु समीपवर्तिनि उपशब्दो वर्तते। दशसमीपवर्तिन इत्यर्थः। ततश्च अन्यपदार्थवृत्तित्वाभावादप्रथमान्तत्वाच्च 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यप्राप्ते वचनमिदम्। तस्य दशानां वृक्षादीनां समीपवर्तिनो गवादय इत्यर्थभ्रमं वारयति—नवैकादश वेत्यर्थ इति। सामीप्यमिह दशन्शब्दार्थगतदशत्वापेक्षम्, एकार्थीभावबलात्। तथा च दशत्वसमीपवर्तिसङ्ख्यावत्सु उपशब्द इति फलति। ततश्च दशत्वसमीपवर्तिसङ्ख्यावन्त इति बोधपर्यवसानं भवति। डजिति। उपदशन्शब्दात् डचि 'नस्तद्धिते' इति टिलोप इति भावः। आसन्नशब्दस्य विंशतिशब्देन षष्ठ्यन्तेन समासे डचि कृते 'टेः' इति इकारमात्रस्य लोपे प्राप्ते आह।

(८४४) ति विंशतेर्डिति। तीति लुप्तषष्ठीकम्। 'भस्य' इत्यधिकृतम्। 'अल्लो-

---

"प्राक् कडारात् समासः" २-१-३ से 'समासः' एवं "विभाषा" २-१-११ से 'विभाषा' तथा "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" २-१-२ से 'सुप्' का प्रभाव विद्यमान है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "संख्येय में वर्तमान जो संख्या, उसके साथ—अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक तथा संख्या इन सुबन्तों का विकल्प से बहुव्रीहि समास हो"—(अव्ययं च, आसन्नश्च, अदूरश्च, अधिकश्च, संख्या च—अव्यया···संख्याः)। आरम्भ में "अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ सूत्र से अन्यपदार्थ में बहुव्रीहि—समास का विधान बताया जा चुका है। अन्य पदार्थ से अन्यत्र बहुव्रीहि-समास के निदर्शनार्थ इस सूत्र की उपयोगिता है। जिस पदार्थ की गिनती की जाय, वह **संख्येय** होता है।

उदाहरण—उपदशाः (दस के लगभग—नौ या ग्यारह)। **विग्रह**—दशानां समीपे ये सन्ति। **अलौकिक विग्रह**—दशन्+आम्, उप > उपदशन् (पहले सामीप्य अर्थ में अव्ययीभाव समास कहा गया है, किन्तु यहाँ समीपवर्ती अर्थ में 'उप' अव्यय है—अतः "संख्ययाव्ययासन्ना०" ८४३ से बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, पूर्व-निपात आदि कार्य) > उपदशन् + अ ('डच्'→ "बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्" ५-४-७३) > उपदश (टि-लोप "नस्तद्धिते" ६-४-१४४) > उपदश + जस् (पुनः विभक्ति) > उपदशाः (प्रथमा बहुवचन में विभक्ति-कार्य)।

विशेष—प्रकृत सूत्र में '**संख्यया**' तथा '**संख्या**' ये दोनों शब्द स्वरूपपरक नहीं हैं, किन्तु एकादि-शतान्त शब्द-परक हैं। '**संख्यया**' पद के साथ '**संख्येये**' पद अन्वित होता है। तदनुसार संख्येय अर्थ में संख्याबोधक शब्द—अव्यय, आसन्न आदि शब्दों के साथ-समस्त होकर बहुव्रीहि-संज्ञक होंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि "विंशति (बीस) से पहले एक आदि शब्द संख्येय अर्थ में रहते हैं, अतः उनका लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होगा। 'दशन्' आदि शब्द नित्य बहुवचनान्त हैं। विंशति-आदि शब्द (विंशति के बाद आने वाले शब्द) संख्या एवं संख्येय—दोनों अर्थों में—नित्य एक वचनान्त ही रहते हैं[1] और इसके साथ ही 'नवति' शब्दपर्यन्त नित्य स्त्रीलिङ्ग भी। जैसे—**विंशतिः ब्राह्मणाः**, **ब्राह्मणानां विंशतिः**। जब 'विंशति' आदि शब्द संख्या के बोधक होंगे तो द्वि-वचन और बहुवचन भी होंगे। जैसे—**गवां द्वे विंशती** कहने से चालीस गायों का बोध होगा। इसी प्रकार **गवां तिस्रः विंशतयः** कहने से साठ गायों का बोध होगा। इस सम्बन्ध में **अमरकोष** का निम्नलिखित श्लोक प्रमाण रूप में उद्धृत किया जाता है—

"विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येय-संख्ययोः।
संख्यार्थे द्वि-बहुत्वे स्तः, तासु चाऽऽनवतेः स्त्रियः॥" (अ० को० २-८३,८४)

(८४४) **पद**—ति, विंशतेः, डिति। **अनुवृत्ति**—लोपः, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

---

१. भाष्ये च कथितम्—"आदशभ्यः संख्याः संख्येये वर्तन्ते। ऊर्ध्वं संख्याने संख्येये च"।

भस्य तिशब्दस्य लोपः स्याड्डिति । आसन्नविंशाः । विंशतेरासन्ना इत्यर्थः । अदूरत्रिंशाः । अधिकचत्वारिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । द्विरावृत्ताः दश द्विदशाः । विंशतिरि-

---

पोऽनः' इत्यस्माल्लोप इत्यनुवर्तते । तदाह—विंशतेर्भस्येति । 'अलोऽन्त्यस्य' इति न भवति, 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिः' इत्युक्तेः । आसन्नविंशा इति । विंशतिसङ्ख्यासन्नसङ्ख्यावन्त इत्यर्थः । डचि कृते आसन्नविंशति—अ—इति स्थिते, 'ति'लोपे सवर्णदीर्घं बाधित्वा 'अतो गुणे' इति पररूपे, आसन्नविंशशब्दः अदन्तः । 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः' इति प्रत्ययलक्षणाभावेनापदत्वात् । अथादूरशब्दस्योदाहरति—अदूरत्रिंशा इति । त्रिंशतः अदूरा इति विग्रहः । त्रिंशत्सङ्ख्यायाः अदूरसङ्ख्यावन्त इत्यर्थः । डचि टिलोपः । अधिकस्योदाहरति—अधिकचत्वारिंशा इति । चत्वारिंशतोऽधिका इति विग्रहः । चत्वारिंशत्सङ्ख्याया अधिकसङ्ख्यावन्त इत्यर्थः । डचि टिलोपः । सङ्ख्यावाचकशब्दस्य सङ्ख्यावाचकशब्देन समासमुदाहरति—द्वौ त्रयो वा द्वित्रा इति । वार्थे बहुव्रीहिः । द्वित्र्यन्यतरा इत्यर्थः । डचि टिलोपः । ननु द्वित्रा आनीयन्तामित्युक्ते कदाचित् द्वावानयति, तदा कथं बहुवचनमिति चेत्, अत्र भाष्ये, 'अनिश्चये बहुवचनं प्रयोक्तव्यम्' इति वचनात् समाहितम् । तथा 'कार्यान्वये विकल्पः शब्दात्तु नियमेन कोटिद्वयोपस्थितिः । तदुपस्थित्यनन्तरमन्यतरानयनानिच्छया अतः शब्दान्नियमेन पञ्चानामुपस्थिति'रित्यपि समाहितम् । न च वार्थप्राधान्यात् 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्येवात्र सिद्धमिति वाच्यम्, 'शेषाद्विभाषा' इति कबभावार्थकत्वात् । स हि कप् 'अनेकमन्यपदार्थे' इति विहितबहुव्रीहावेव प्रवर्तेत' इति भाष्ये स्पष्टम् । अथ संख्यायाः संख्यया समासे उदाहरणान्तरमाह—द्विरावृत्ता दश द्विदशा इति ।

मूलार्थ—भसंज्ञक विंशति शब्द से डित् प्रत्यय परे रहते 'ति' का लोप होता है। उदा० १—आसन्नविंशाः । बीस के लगभग (अर्थ है)। २—अदूरत्रिंशाः । ३—अधिकचत्वारिंशाः । ४—द्वौ वा त्रयो वा—द्वित्राः । ५—द्विदशाः—अर्थात् बीस ।

विवरण—समस्यमान संख्यावाची शब्दों के सम्बन्ध में उपयोगी होने के कारण प्रसङ्गवश यह सूत्र उद्धृत किया गया है। सूत्रार्थ के लिये 'लोपः' ("अल्लोपोऽनः ६-४-१३४) तथा अधिकारगत "भस्य" (६-४-१) एवं "अङ्गस्य" (६-४-१२९) की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "भ-संज्ञक विंशति-अङ्ग के 'ति' का डकार-इत्संज्ञक प्रत्यय परे रहते लोप होगा"। **उदाहरण**—(१) आसन्नविंशाः (उन्नीस या इक्कीस)। **विग्रह**—विंशतेः आसन्नाः। अलौकिक विग्रह विंशति+जस्, आसन्न+जस् ▷ आसन्न-विंशति (समास—"संख्ययाव्ययासन्ना०" २-२-२५) ▷आसन्नविंशति+अ (डच् प्रत्यय) ▷ आसन्नविंश+अ ('ति' का लोप) ▷आसन्नविंश (दीर्घ को बाध कर पररूप-"अतो गुणे" ६-१-९७) ▷ **आसन्नविंशाः** (प्रथमा बहुवचन)। (२) अदूरत्रिंशाः (उनतीस या इकतीस)। **विग्रह**—त्रिंशतः अदूराः। **अलौकिक विग्रह**—त्रिंशत्+जस्, अदूर+जस्। प्रक्रिया पूर्ववत्। उल्लेखनीय—अत्-'टि'लोप। प्रथमा-बहुवचन में **अदूरत्रिंशाः**। (३) **अधिकचत्वारिंशाः** (एकतालिस)। **विग्रह**—चत्वारिंशतः अधिकाः। **अलौकिक विग्रह**—चत्वारिंशत्+जस्, अधिक+जस्। समासादि कार्य पूर्ववत्। (४)-क-द्वित्राः (दो या तीन)। **विग्रह**—द्वौ वा त्रयः वा[1]। **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, त्रि+जस् ▷ द्वि-त्रि+अ (डच्) ▷ द्वित्र ('टि'—लोप) ▷ **द्वित्राः** (प्रथमा बहुवचन)। (४) ख-**द्विदशाः** (बीस)। **विग्रह**—द्विः आवृत्ताः दश। समासादि कार्य पूर्ववत्[2]।

---

१. यहाँ 'वा' के अर्थ में बहुव्रीहि है। 'वा' का अर्थ विकल्प नहीं, किन्तु सन्देहार्थ है। अतः अनियत संख्या में बहुवचन होगा।

२. 'सुच्' प्रत्यय के अर्थ में बहुव्रीहि है। समास से सुजर्थ उक्त होने के कारण उसका प्रयोग नहीं हुआ।

त्यर्थः । (८४५) दिङ्नामान्यन्तराले २ । २ । २६ ॥ दिशो नामान्यन्तराले वाच्ये प्राग्वत् । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालं दक्षिणपूर्वा । नामग्रहणाद्यौगिकानां न । ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्चान्तरालं दिक् । (८४६) तत्र तेनेदमिति सरूपे २ । २ । २७ ॥

शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्सुजर्थान्तर्भाविण पूर्वपदस्य वृत्त्याश्रयणात् समासे सुचो न श्रवणमिति भाष्ये स्पष्टम् । द्वित्वसंख्याकदशत्ववन्त इत्यर्थः । फलितमाह—विंशतिरित्यर्थं इति ।

(८४५) दिङ्नामानि । नामानीत्यनन्तरं सुबन्तानि परस्परमिति शेषः । प्राग्वदिति । समस्यन्ते स च बहुव्रीहिरित्यर्थः । नामानीति बहुत्वमविवक्षितमित्यभिप्रेत्योदाहरति—दक्षिणस्याश्चेति । दक्षिणपूर्वेति । स्त्रीत्वं लोकात् । यद्वा अन्तरालमिह दिगेव गृह्यते । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवत्त्वम्' इति भाष्यम् । यद्यप्युपसर्जनत्वान्न सर्वनामत्वम् । तथापि भूतपूर्वगत्या सर्वनामत्वमादाय पुंवत्त्वं भवति, अत एव भाष्यात् । ननु दिशोरन्तराले इत्येव सिद्धे नामग्रहणं किमर्थमित्यत आह—नामग्रहणादिति । दिक्षु रूढाः शब्दाः दिङ्नामानीत्यनेन विवक्षिताः । ऐन्द्रीशब्दः कौबेरीशब्दश्चेन्द्रसम्बन्धात् कुबेरसम्बन्धाच्च प्रवृत्तौ यौगिक एव, न रूढ इति भावः ।

(८४६) तत्र तेन । समास इति, बहुव्रीहिरिति चाधिकृतम् । तत्र इत्यनेन सप्तम्यन्ते पदे विवक्षिते । ग्रहणविषये इति प्रथमाद्विवचनान्तं तद्विशेषणमध्याहार्यम् । तेन इत्यनेन

---

(८४५) पद—दिङ्नामानि, अन्तराले । अनुवृत्ति—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः । विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।

मूलार्थ—दिशा का मध्य विवक्षित होने पर दिशाओं के नामों का पूर्ववत् (समास) हो । उदा०—दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशः अन्तरालं > दक्षिणपूर्वा । 'नाम' ग्रहण करने से यौगिक शब्दों का (बहुव्रीहि) नहीं होता । जैसे—'ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्च अन्तरालं दिक्' (समास नहीं हुआ) ।

विवरण—प्रकरणवश "शेषो बहुव्रीहिः" २-२-२३ से 'बहुव्रीहिः', एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ—'विभाषा', 'सुप्' तथा 'समासः'—यथापूर्व विद्यमान हैं । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "दिशा के नामवाची सुबन्तों का अन्तराल—अर्थात् दो दिशाओं के बीच की दिशा-वाच्य हो तो परस्पर विकल्प से समास होता है और वह बहुव्रीहि-संज्ञक होता है" । उदाहरण—दक्षिणपूर्वा (दक्षिण-पूर्व का कोना) । विग्रह—दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च अन्तरालम् । अलौकिक विग्रह—दक्षिणा + ङस्, पूर्वा ङस् > दक्षिणा-पूर्वा (प्रकृत सूत्र से बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप) > दक्षिणपूर्वा ('दक्षिणा'—को पुंवद्भाव—'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' वा०) > दक्षिणपूर्वा + सु > दक्षिणपूर्वा (विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'नाम' शब्द का ग्रहण न करने पर भी दिशावाची शब्द परस्पर दिशाओं के बोधक शब्दों के साथ समास को प्राप्त हो सकते थे । किन्तु 'नाम' पद ग्रहण करने का रहस्य यह है कि "दिशा-वाची रूढि शब्दों से ही बहुव्रीहि समास होगा, अन्य प्रकार के दिशावाची—अर्थात् यौगिक दिशा-वाची—शब्दों से बहुव्रीहि समास नहीं होगा" । अतः 'ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्च अन्तरालं दिक्' इस विग्रह-वाक्य में समास नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'ऐन्द्री' (पूर्व दिशा) तथा 'कौबेरी' (उत्तर दिशा) शब्द क्रमशः 'इन्द्र' और 'कुबेर' से तद्धित 'अण्' प्रत्यय ("साऽस्य देवता" ४-२-२४) होने के कारण निष्पन्न हुए हैं । ये दोनों शब्द दिशा-वाची रूढ नहीं हैं ।

(८४६) पद—तत्र, तेन, इदम्, इति, सरूपे । अनुवृत्ति—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः । विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।

सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे द्योत्ये स बहुव्रीहिः। इतिशब्दादयं विषयविशेषो लभ्यते। 'अन्येषामपि दृश्यते' (सू ३५३९) दीर्घं इत्यनुवर्तते। इचि कर्मव्यतिहारे बहुव्रीहौ पूर्वपदान्तस्य दीर्घः। इचसमासान्तो वक्ष्यते। तिष्ठद्गुप्रभृतिष्विचप्रत्ययस्य पाठादव्ययीभावत्वमव्ययत्वं

तु तृतीयान्ते पदे विवक्षिते। प्रहरणविषये इति प्रथमाद्विवचनान्तं तद्विशेषणमध्याहार्यम्। सरूपे इति प्रथमाद्विवचनान्तं पदविशेषणम्। ग्रहणविषये इति तु प्रहरणविषये इति तु सप्तम्यन्तयोस्तृतीयान्तयोश्च यथासंख्यमन्वेति इदम् इत्यर्थनिर्देशः। युद्धं प्रवृत्तमिति तद्विशेष्यमध्याहार्यम्। कर्मव्यतिहारे द्योत्ये इत्यप्यध्याहार्यम्। तदाह—सप्तम्यन्ते इति। प्रथमाद्विवचनमिदम्। ग्रहणविषये इति। गृह्यते अस्मिन्निति ग्रहणम्—केशादि, अधिकरणे ल्युट्, तत् विषयः वाच्यं ययोस्ते, ग्रहणविषये—ग्रहणवाचके इति यावत्। प्रहरणविषये इति। प्रह्रियते अनेनेति प्रहरणं दण्डादि तत् विषयः वाच्यं ययोस्ते प्रहरणविषये प्रहरणवाचके इति यावत्। अत्रापि सरूपे पदे इत्यन्वेति। इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे इति। इदमिति सामान्यार्थनिर्देशः। युद्धमिति विशेषनिर्देशः। केशाकेशि युद्धमिति न पुनरुक्तिः। परस्परग्रहणं परस्परप्रहरणं च कर्मव्यतिहारः। ननु ग्रहणविषयप्रहरणविषये इत्यध्याहारे किं प्रमाणमित्यत आह—इति शब्दादिति। इतिशब्दो लौकिकप्रसिद्धप्रकारवचनः। केशाकेशीत्यादिलौकिकप्रयोगे यावानर्थः प्रसिद्धस्तावत्यर्थेऽयं बहुव्रीहिर्भवतीत्यर्थः। अन्येषामपि दृश्यते। अनुवर्तते इति। 'ढ्रलोपे' इत्यत इति शेषः। 'नहिवृतिवृषि' इत्यादिपूर्वसूत्रोक्तादन्येषामपि दीर्घो दृश्यत इत्यर्थः'। अतिप्रसङ्गमाशङ्क्याह—कर्मव्यतिहारे बहुव्रीहौ पूर्वपदान्तस्य दीर्घ इति। बहुव्रीहौ चेत् कर्मव्यतिहारे इव पूर्वपदान्तस्यैव दीर्घ इत्यर्थः। तेन तुराषाडित्यादौ दीर्घो निर्बाधः। दृशिग्रहणादयमर्थो लभ्यते।

मूलार्थ—पकड़ने के विषय में समान-रूपी सप्तम्यन्त पदों का तथा प्रहार करने के विषय में समानरूपी तृतीयान्त पदों का 'युद्धप्रवृत्त हुआ है' इस अर्थ में कर्मव्यतिहार द्योत्य होने पर बहुव्रीहि समास होता है। 'इति' शब्द से इस विशेष-विषय का लाभ होता है। "अन्येषामपि दृश्यते" (३५३९) सूत्र में 'दीर्घ' पद की अनुवृत्ति आती है। (तदनुसार) 'इच्' परे रहते कर्मव्यतिहार में बहुव्रीहि के पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है। 'इच्' प्रत्यय समासान्त में कहा जायगा। 'तिष्ठद्गु' प्रभृति में 'इच्' प्रत्यय का पाठ होने से (तदन्त शब्द) अव्ययीभाव और अव्यय होंगे। उदा० १—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्ध प्रवृत्तम् > केशाकेशि। २—दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं > दण्डादण्डि। ३—मुष्टामुष्टि।

विवरण—विशेष प्रकार के बहुव्रीहि का विधान किया जा रहा है। प्राकरणिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। सूत्रस्थ 'तत्र' पद विवक्षित सप्तम्यन्त दोनों पदों का बोधक है। इसी तरह 'तेन' पद विवक्षित तृतीयान्त दोनों पदों का सूचक है। 'सरूपे' पद प्रथमाविभक्ति के द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है, वह 'पद' का विशेषण है। अध्याहार-वश 'ग्रहणविषये' (पकड़ने में) तथा 'प्रहरणविषये' (प्रहार करने में)—ये दो पद अर्थ की सुगमता के लिये क्रमशः सप्तम्यन्त (तत्र) तथा तृतीयान्त (तेन) समस्यमान पदों के साथ अन्वित होते हैं। 'इदम्' पद अर्थ निर्देशक है। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'पकड़ना'—अर्थ सूचित करने वाले सप्तम्यन्त समानरूपी पदों का तथा 'प्रहार करना'—अर्थ के बोधक तृतीयान्त समानरूपी पदों का क्रमशः 'परस्पर ग्रहण' एवं 'परस्पर प्रहरण' द्योत्य होने पर (कर्मव्यतिहारे) 'युद्ध प्रवृत्त हुआ है' इस अर्थ में विकल्प से बहुव्रीहि समास होता है"। **क्रमशः उदाहरण**—(१) केशाकेशि (एक दूसरे के बालों को पकड़ कर लड़ा जाने वाला युद्ध)। **लौकिक विग्रह**—केशेषु केशेषु गृही-

च । केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि । दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तं दण्डादण्डि । मुष्टीमुष्टि । (८४७) ओर्गुणः ६ । ४ । १४६ ॥ उवर्णान्तस्य भस्य गुणः

वक्ष्यत इति । 'इच्कर्मव्यतिहारे' इति सूत्रेणेति शेषः । तिष्ठद्गुप्रभृतिष्विति । वृत्तिग्रन्थ एवात्र प्रमाणम् । अव्ययीभावत्वमिति । तत्र अव्ययीभावः इत्यनुवृत्तेरिति भावः । अव्ययत्वमिति । 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेनेति शेषः । 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुब्लुक् तत्फलमिति भावः । गृहीत्वेति । परस्परमिति शेषः । न च केशग्रहणस्य पुरुषकर्तृकत्वात् प्रवृत्तेश्च युद्धकर्तृकत्वात् समानकर्तृकत्वाभावात् कथमिह क्त्वाप्रत्यय इति वाच्यम्, गृहीत्वेत्यनन्तरं स्थितयोरित्यध्याहारात् । ततश्च अस्य केशेषु सः, तस्य केशेष्वयमित्येवं परस्परं गृहीत्वा स्थितयोरिदं युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहवाक्यं फलितम् । केशाकेशीति । केशेषु केशेष्वित्यनयोर्ग्रहणाद्यन्तर्भावेन वृत्तिघटकयोः समासे सति सुब्लुक्, पूर्वपदस्य दीर्घः, इच्समासान्तः । 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । अव्ययत्वात्सुब्लुगिति भावः । अन्यपदार्थवृत्तित्वेऽपि एकशेषापवादोऽयं बहुव्रीहिसमासः अप्रथमान्तार्थश्च । दण्डैश्चेति । अस्य दण्डैः सः, तस्य दण्डैरयमित्येवं परस्परं प्रहृत्य स्थितयोरिदं युद्धं प्रवृत्तमितिविग्रहार्थः । दण्डादण्डीति । दण्डैर्दण्डैरित्यनयोः प्रहरणाद्यन्तर्भावेन समासघटकयोः समासे सति सुब्लुक्, पूर्वपदस्य दीर्घः, इच्, 'यस्येति च' इति अकारलोपः । अव्ययत्वात् सुब्लुक् । मुष्टीमुष्टीति । अस्य मुष्टिभिः सः, तस्य मुष्टिभिश्चायमित्येवं परस्परं प्रहृत्य स्थितयोरिदं युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहः । मुष्टया मुष्टया इत्यनयोः समासे सति सुब्लुगादि पूर्ववत् । मुष्टामुष्टीति पूर्वपदान्तस्य आत्वमपाणिनीयमेव ।

(८४७) ओर्गुणः । ओः इत्युकारात् षष्ठ्येकवचनम् । तेन भस्येत्यधिकृतं विशेष्यते ।

त्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम् । अलौकिक विग्रह—केश+सुप्, केश+सुप् > केश-केश (प्रकृत सूत्र से बहुव्रीहि समास) > केशाकेश ('केश' को दीर्घ—"अन्येषामपि दृश्यते" ६-३-१३७) > केशा-केश्+इ ("इच् कर्मव्यतिहारे" ५-४-१२७) > केशाकेशि ('अ'—का लोप "यस्येति च" ६-४-१४८) > केशाकेशि+सु (विभक्त्युत्पत्ति) > केशाकेशि ("तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च" २-१-१७ में 'इच्' का पाठ होने के कारण इच्-प्रत्ययान्त के अव्ययीभाव होने के कारण "अव्ययीभावश्च" १-१-४१ से अव्यय-संज्ञा होने के फलस्वरूप "अव्ययादाप्सुपः" २-४-८२ से विभक्ति का लोप हुआ) । (२) क—दण्डादण्डि (लाठी का प्रहार कर लड़ा जाने वाला युद्ध) । लौकिक विग्रह—दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम् । अलौकिक विग्रह—दण्ड+भिस्, दण्ड+भिस् > दण्ड–दण्ड > दण्डादण्ड > दण्डादण्डि (प्रक्रिया पूर्ववत्) । (२) ख—मुष्टीमुष्टि (घूँसों का प्रहार कर होने वाला युद्ध) । लौकिक विग्रह—मुष्टिभिः मुष्टिभिः प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम् । अलौकिक विग्रह—मुष्टि+भिस्, मुष्टि+भिस् > मुष्टि-मुष्टि > मुष्टीमुष्टि (प्रक्रिया पूर्ववत्) ।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्रस्थ 'इति' पद के प्रयोग से सूत्रार्थ का अभीष्ट विस्तार किया जासका है ।

(२) प्रकृत सूत्र व्यधिकरण-बहुव्रीहि का सूचक है । इसके अतिरिक्त इसकी उपयोगिता यह भी है कि समान रूप में प्राप्त 'एकशेष' को भी यह नहीं होने देता[१] ।

(८४७) पद—ओः, गुणः । अनुवृत्ति—तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

---

१. "इदं सूत्रं वैयधिकरण्यार्थम् । सरूपत्वात् प्राप्तः एकशेषश्च अनवकाशेन अनेन बाध्यते" ल० श० शे० २-२-२७ ।

स्यात्तद्धिते। अवादेशः। बाहूबाहवि। 'ओरोत्' इति वक्तव्ये गुणोक्तिः 'सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (प ९४) इति ज्ञापयितुम्। तेन स्वायम्भुव इत्यादि सिद्धम्। सरूपे इति

तदन्तविधिः। 'नस्तद्धिते' इत्यतस्तद्धिते इत्यनुवर्तते। तदाह—उवर्णान्तस्येति। बाहूबाहवीति। बाहौ बाहौ च परस्परं गृहीत्वा स्थितयोरिदं युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहः। समासः, सुब्लुक्, पूर्वपदस्य दीर्घः, इच्। 'यस्येति च' इति बाधित्वा ओर्गुणः, अवादेशः। अव्ययत्वात् सुपो लुक्। ननु गुणः उकारस्थाने भवन् स्थानसाम्यादोकार एव भवति। ततश्च लाघवात् 'ओरोत्' इत्येव सिद्धे गुण इति गुरुनिर्देशो व्यर्थं इत्यत आह—ओरोत् इति। न चैवमपीह तद्धितसंज्ञापूर्वकत्वं दुर्वारमिति वाच्यम्, विधेयसमर्पकं पदं यत्र संज्ञारूपं स एव संज्ञापूर्वकविधिरित्यभ्युपगमात्। न च 'ओत्' इति 'तपरः तत्कालस्य' संज्ञेति वाच्यम्, विधीयमानत्वादेव तत्कालत्वसिद्धया तकारस्य उच्चारणार्थत्वात्। स्वायम्भुवमिति। स्वयम्भुवोऽपत्यमित्यर्थे अण्, स्वायम्भुवः, संज्ञापूर्वकत्वेनानित्यत्वादोर्गुणाभावे उवङ्, आदिवृद्धिरिति भावः। स्वायम्भुवमिति पाठे तस्येदमित्यण्। हलेन मुसलेनेति। अत्र असरूपत्वात् हलामुसलीति न भवतीति भावः।

मूलार्थ—'भ'-संज्ञक उवर्णान्त को तद्धित-प्रत्यय परे रहते गुण हो। (तदनन्तर) 'अव्' आदेश। उदा०—बाहूबाहवि। 'ओरोत्' कहना ही पर्याप्त था, 'गुण' (पद) का कथन 'संज्ञा-निर्देश-पूर्वक विधान' की अनित्यता सूचित करता है। तब 'स्वायम्भुवः' आदि (प्रयोग) सिद्ध होते हैं। 'सरूपे' पद का निवेश ("तत्र तेनेदमिति सरूपे"—२-२-२७ में) क्यों किया? 'हलेन मुसलेन' (समास नहीं हुआ)।

विवरण—"तत्र तेनेदमिति सरूपे" २-२-२७ सूत्रस्थ ओकारान्त शब्दों में प्रासङ्गिक विशेष विधान को सूचित करने के लिये 'तद्धित' के अधिकार-वश उपयोगी 'गुण'-विधान को यहाँ अङ्कित किया जा रहा है। अतः प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। तदनुसार आधिकारिक अनुवृत्तियाँ—"भस्य" ६-४-१२९ तथा "अङ्गस्य" ६-४-१—का प्रभाव विद्यमान है। इसके अतिरिक्त "नस्तद्धिते" ६-४-१४४ से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "उवर्णान्त भ-संज्ञक अङ्ग को 'तद्धित' प्रत्यय उत्तरवर्ती होने पर 'गुण' (= ओ) हो"। सूत्रस्थ 'ओः' पद 'उ' शब्द की षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है। आधिकारिक पद 'भस्य' का विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हुई है। **उदाहरण**—बाहूबाहवि (भुजाओं से प्रहार किया जाने वाला युद्ध)। **लौकिक विग्रह**—बाहौ बाहौ च परस्परं गृहीत्वा स्थितयोः इदं युद्धं प्रवृत्तम्। **अलौकिक विग्रह**—बाहु+ङि, बाहु+ङि > बाहु–बाहु (समास "तत्र तेनेदमिति सरूपे" २-२-२७) > बाहू-बाहु (पूर्व पदान्त के उ को दीर्घ—"अन्येषामपि दृश्यते" ६-३-१३७) > बाहू-बाहु+इ ("इच् कर्मव्यतिहारे" ५-४-१२७—'इच्' प्रत्यय) > बाहू+बाहो+इ (उत्तरपदस्थ 'उ' को गुण—"ओर्गुणः" ६-४-१४६) > बाहूबाहवि (ओ = अव्—"एचोऽयवायावः" ६-१-७८) > बाहूबाहवि+सु (पुनः विभक्ति) > बाहूबाहवि ('सु' का लोप "अव्ययादाप्सुपः" २-४-८२)।

शङ्का-समाधान—'उ' कार के स्थान में 'ओकार' का विधान करने के लिये "ओरोत्" ('ओः'—उकार के स्थान में 'ओत्' = ओ हो) निर्देश से ही कार्यसाधन हो सकता था, अतः 'गुण' शब्द का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता रही? इसके उत्तर में यह समाधान दिया गया है कि सूत्रों में संज्ञा-वाची शब्दों का प्रयोग करने पर विधीयमान कार्य नित्य नहीं होता। अर्थात् कहीं कहीं 'गुण' न होने के प्रयोगों की समीचीनता सिद्ध हो जाती है। 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' परिभाषा को ज्ञापित करने के लिये 'गुण' पद के प्रयोग की सार्थकता है। इसके

किम् ? हलेन मुसलेन । (८४८) तेन सहेति तुल्ययोगे २।२।२८ ।। तुल्ययोगे वर्तमानं सह इत्येतत्तृतीयान्तेन प्राग्वत् । (८४९) वोपसर्जनस्य ६ । ३ । ८२ ।। बहुव्रीहेरवयवस्य सहस्य सः स्याद्वा । पुत्रेण सह सपुत्रः, सहपुत्रो वा आगतः । तुल्ययोगवचनं

---

(८४८) तेन सहेति तुल्ययोगे । तुल्ययोगे इति । युगपत्कालिकक्रियायोगे इत्यर्थः । तृतीयान्तेनेति । तेनेत्यनेन तल्लाभादिति भावः । प्राग्वदिति । समस्यते स बहुव्रीहिरित्यर्थः । असामानाधिकरण्यार्थं कबभावार्थं चेदम् ।

(८४९) वोपसर्जनस्य । उत्तरपदे इत्यधिकृतम् । 'सहस्य सः संज्ञायाम्' इत्यतः सहस्य स इत्यनुवर्तते । उपसर्जनम् अस्यास्तीत्युपसर्जनः । मत्वर्थे अर्श आद्यच् । उत्तरपदाक्षिप्तसमासो विशेष्यम् । उपसर्जनवतः समासस्येत्यर्थः । यद्यपि सर्वेषामपि समासानां कश्चिदवयवः उपसर्जनमेव । तथापि सामर्थ्यादुपसर्जनसर्वावयवकस्येति लभ्यते । तथा च

फलस्वरूप 'स्वायम्भुवः' आदि प्रयोग समीचीन मान लिये गए हैं (स्वयम्भू+अण् > स्वायम्भुव +सु→स्वायम्भुवः←गुण न होने से उ = उवङ् एवम् आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य)[1] ।

प्रत्युदाहरण—समास-विधायक सूत्र "तत्र तेनेदमिति सरूपे" २-२-२७ में 'सरूपे' पद का निवेश करने से उत्तर-पदस्थ शब्द के असरूप (असमान) होने पर समास नहीं होगा । इसके फलस्वरूप हलेन मुसलेन में समास नहीं हुआ । अन्यथा 'हलामुसली' रूप निष्पन्न होने लगता ।

(८४८) पद—तेन, सह, इति, तुल्ययोगे । अनुवृत्ति—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः । विधि-(संज्ञा)-सूत्र ।

मूलार्थ—तुल्ययोग में वर्तमान 'सह' पद का तृतीयान्त के साथ पूर्ववत् हो (=समास हो) ।

विवरण—पुनः बहुव्रीहि-विधायक सूत्र उपस्थित किया जा रहा है । इसके पूर्व अष्टाध्यायी के क्रम में "तत्र तेनेदमिति सरूपे" २-२-२७ की व्याख्या एवं तत्सम्बद्ध प्रासङ्गिक कार्यों का निर्वचन किया जा चुका है । उसी सूत्र के (८४६) अनुसार यहाँ भी समास-प्रक्रियोपयोगी ऊपर उल्लिखित अनुवृत्तियाँ का प्रभाव विद्यमान है । सूत्र में 'तुल्ययोगे' पद विशेष अवस्था को सूचित करता है । "तदनुसार एक साथ होने वाली दो क्रियाओं को एकत्र करने वाले 'सह' अव्यय का 'तृतीयान्त' प्रातिपदिक के साथ विकल्प से बहुव्रीहि समास होगा" ।

विशेष—'असमानाधिकरण्य' अर्थ में बहुव्रीहि समास होने पर आगे बतलाये जाने वाले 'कप्' प्रत्यय के न होने में प्रकृत सूत्र की उपयोगिता है । उदाहरण आगे के सूत्र में दिये जायेंगे ।

(८४९) पद—वा, उपसर्जनस्य । अनुवृत्ति—सहस्य, सः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि के अवयव 'सह' के स्थान में 'स' आदेश विकल्प से हो । उदा० पुत्रेण सह > सपुत्रः, सहपुत्रो वा आगतः । 'तुल्ययोग' कथन प्रायिक (वैकल्पिक) है । अतः 'सकर्मकः' तथा 'सलोमकः' में समास हो गया ।

विवरण—बहुव्रीहि समास के प्रसङ्ग में समस्यमान 'सह' शब्द के स्थान में 'स' आदेश के विधान की आवश्यकता होने पर उसके उपयोगी सूत्र का यहाँ उपस्थापन किया जा रहा है । सूत्र

---

१ नागेश भट्ट ने लघुशब्देन्दुशेखर में यहाँ अरुचि प्रकट की है । उन्होंने "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" परिभाषा को भाष्यकार-सम्मत नहीं बतलाया है । अतः उपर्युक्त कल्पना उनके मत में न्यायसंगत नहीं है । भट्टोजी दीक्षित ने वह कल्पना कैयट एवं हरदत्त आदि के मतानुसार की है । तदनुसार 'स्वयम्भू' शब्द से 'इदम्' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय से निष्पन्न 'स्वायम्भुव' आदि शब्द लोक में असमीचीन माने हैं—"इदं कैयटहरदत्ताद्यनुरोधेन उक्तम् । भाष्ये तु न दृश्यते । भाष्यानुक्तज्ञापितार्थस्य साधुतानियामकत्वे मानाभावात् । भाष्याविचारितप्रयोजनकानां सौत्राक्षराणां पारायणादौ अदृष्टमात्रार्थकत्वकल्पनाया एवं औचित्यात्" ।

प्रायिकम् । सकर्मकः । सलोमकः । (८५०) प्रकृत्याशिषि ६ । ३ । ८३ ॥ सहशब्दः प्रकृत्या स्यादाशिषि । स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय, सहामात्याय । 'अगोवत्सहलेष्विति वाच्यम्'

उपसर्जनस्येत्यनेन बहुव्रीहेरिति लब्धम् । अवयवषष्ठ्येषा । तदाह—बहुव्रीहेरवयवस्येत्यादिना । बहुव्रीहेरिति किम् ? सहयुद्ध्वा । 'राजनि युधिकृञः', 'सहे च' इति क्वनिप् । उपपद-समासः । अबहुव्रीह्यवयवस्य सहस्य सत्वं न । सपुत्र इति । सभावे रूपम् । पुत्रेण युगपदागत इत्यर्थः । प्रायिकमिति । इतिशब्दादिदं लभ्यते । 'विभाषा सपूर्वस्य' इत्यादिनिर्देशाच्चेति भावः । सकर्मक इति । विद्यमानकर्मक इत्यर्थः । अत्र तुल्ययोगाभावेऽपि सहस्य सः ।

(८५०) प्रकृत्याशिषि । 'सहस्य सः संज्ञायाम्' इत्यतः सहस्येत्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते । तदाह—सहशब्द इति । प्रकृत्येति । स्वभावेन स्थितः स्यादित्यर्थः । सभावो नेति यावत् । स्वस्तीति । भूयादिति शेषः । सहपुत्रायेति । तेन सहेतिसमासे कृते,

---

में 'स्थानी' तथा 'आदेश'—दोनों ही पूर्वानुवृत्ति से ज्ञात होते हैं । अतः आधिकारिक "उत्तरपदे" ६-३-१ की अनुवृत्ति के साथ "सहस्य सः संज्ञायाम्" ६-३-७८ की अनुवृत्ति द्वारा स्थानी (सह) तथा आदेश (स) विदित हो जाते हैं । प्रकृत सूत्र में उपसर्जन पद 'बहुव्रीहि' अर्थ का द्योतक है । कारण यह है कि सभी समासों में कोई न कोई पद तो उपसर्जन होता ही है । अतः सूत्र में 'उपसर्जन' का ग्रहण करने से यह अभिव्यञ्जित होता है कि यहाँ उपसर्जन पद 'सह' का विशेषण न होकर पूरे समास के पदों का विशेषण है । समग्र शब्द उपसर्जन के रूप में 'बहुव्रीहि' समास में ही दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि वह अन्यपदार्थ-प्रधान है । तदनुसार सूत्र का आशय यह है कि "बहुव्रीहि समास के अवयवस्वरूप 'सह' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश विकल्प से हो" । **उदाहरण** सपुत्रः—सहपुत्रः (पुत्र के साथ आया) । **विग्रह**—पुत्रेण सह । **अलौकिक विग्रह**—पुत्र+टा, सह > पुत्र-सह (समास—"तेन सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८) > सह-पुत्र (उपसर्जन होने से 'सह' की पूर्व स्थिति) > सपुत्र (सह = स) > **सपुत्रः** (विभक्तिकार्य) । 'सह' के स्थान पर 'स' न होने पर **सहपुत्रः** ।

विशेष—"तेन सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८ सूत्र के अनुसार तुल्ययोग होने पर ही तृतीयान्त पद 'सह' शब्द के साथ समास को प्राप्त होता है, किन्तु कहीं कहीं तुल्ययोग न होने पर भी 'सह' शब्द के साथ समास होने के उदाहरण मिलते हैं । इससे यह विदित होता है कि 'तुल्ययोग' वचन प्रायिक है । इस कल्पना में सूत्रस्थ 'इति' पद का समावेश होना ही प्रमाण माना गया है । भैरव मिश्र ने लघुशब्देन्दुशेखर की टीका में यह निर्देश दिया है कि "तेन सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८ की प्रवृत्ति उदाहरणों के अनुसार मानी जाय[1] । अतः **सकर्मकः** (विद्यमान कर्म का) तथा **सलोमकः** (विद्यमान रोम का) में तुल्ययोग न होने पर भी समास हो गया ।

(८५०) पद—प्रकृत्या, आशिषि । **अनुवृत्ति**—सहस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आशीर्वाद में 'सह' शब्द को प्रकृतिभाव हो । **उदा०**—स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय, सहामात्याय । वा० गो, वत्स तथा हल शब्दों से भिन्न में कहा जाय । **उदाहरण** १—सगवे । २—सवत्साय । ३—सहलाय ।

विवरण—विशेष स्थलों पर 'सह' के स्थान पर 'स' होने के अपवाद का निर्वचन किया जा रहा है । उसे 'प्रकृतिभाव' के रूप में प्रस्तुत किया गया है । 'स्थानी' और 'आदेश' पूर्व सूत्र से अनुमित हैं । तदनुसार सूत्र से यह ध्वनित होता है कि "आशीर्वाद अर्थ में 'सह' शब्द को 'प्रकृतिभाव' हो" । **उदाहरण**—स्वस्ति राज्ञे **सहपुत्राय, सहामात्याय** (पुत्र तथा मन्त्री के साथ

---

१ 'इति' शब्दोपादानाद् अस्य सूत्रस्य प्रयोगदर्शनाद् प्रवृत्तिरिति भावः । ल० श० शे० टीका "वोपसर्जनस्य"—६-३-८२ ।

(वा ३९९०) । सगवे । सवत्साय । सहलाय । (८५१) बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात् ५।४।७३ ॥ सङ्ख्येये यो बहुव्रीहिस्तस्माड्डच्स्यात् । उपदशाः । अबहुगणात् किम् ? उपबहवः, उपगणाः । अत्र स्वरे विशेषः । 'सङ्ख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः' (वा ३३४८) ।

आशीर्योगान्न स-भावः । सहामात्यायेति । अगोवत्सेति । गोवत्सहलेषु परतः सहस्य प्रकृतिभावो नेत्यर्थः । सगवेति । राज्ञे स्वस्तीति शेषः ।

(८५१) अथ बहुव्रीहावसाधारणसमासान्तास्वानाह—बहुव्रीहौ । सङ्ख्येये यो बहुव्रीहिरिति । 'सङ्ख्ययाव्यय' इति विहित इति शेषः । तस्मादिति । बहुव्रीहाविति पञ्चम्यर्थे सप्तमीति भावः । डच्स्यात् इति । समासान्तस्तद्धितश्चेति ज्ञेयम् । उपदशा इति । दशानां समीपे ये सन्तीति विग्रहः । 'सङ्ख्ययाव्यय' इति बहुव्रीहिः । सुब्लुक् । उपदशन्शब्दाड्डचि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । उपबहवः, उपगणा इति । बहूनां समीपे ये सन्तीति, गणस्य समीपे ये सन्तीति च विग्रहः । 'बहुगणवतुडति सङ्ख्या' इति सङ्ख्यात्वात् 'सङ्ख्ययाव्यय' इति समासः । अबहुगणादिति निषेधान्न डच् । ननु उपगणाः इत्यत्र डचि सति असति च रूपसाम्यात् किं तन्निषेधेनेत्यत आह—अत्र स्वरे विशेष इति । डचि सति 'चित' इति अन्तोदात्तत्वं स्यादित्यर्थः । सङ्ख्याया इति । सङ्ख्यान्ततत्पुरुषस्य समासान्तो

राजा का कल्याण हो) । समास होने पर 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश नहीं हुआ । इस प्रकृतिभाव के भी अपवाद-स्वरूप वार्तिक द्वारा यह सूचित किया जा रहा है कि "गो, 'वत्स' एवं 'हल' विषयक आशीर्वाद में सह का स्वरूपावस्थान (प्रकृतिभाव) नहीं होता" । अर्थात् वहाँ 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो जायगा । **उदाहरण (१) सगवे** (गाय के साथ), (२) **सवत्साय** (बछड़े के साथ), (३) **सहलाय** (हल के साथ) । तीनों स्थलों में सह = स हो गया ।

(८५१) पद—बहुव्रीहौ, संख्येये, डच्, अबहुगुणात् । **अनुवृत्ति**—समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संख्येयार्थक बहुव्रीहि से 'टच्' हो । उदा० उपदशाः । अबहुगुणात् क्यों कहा ? उपबहवः । उपगणाः (टच् न हो) । यहाँ स्वर में विशेषता है । वा० संख्यावाचक से (उत्तरवर्ती) तत्पुरुष से भी 'डच्' कहा जाय । उदा० १—निर्गतानि त्रिंशतः > निस्त्रिंशानि (वर्षाणि चैत्रस्य) । २—निर्गतः त्रिंशतः अङ्गुलिभ्यः > निस्त्रिंशः (खड्गः) ।

विवरण—बहुव्रीहि समास से सम्बद्ध विशेष तरह के समासान्त प्रत्ययों का विधान बतलाया जा रहा है । तदुपयोगी आधिकारिक अनुवृत्तियों का स्मरण करना आवश्यक है । अतः "तद्धिताः" ४-१-७६, "समासान्ताः" ५-४-६८, "ङ्याप्प्रादिकात्" ४-१-१ एवं "प्रत्ययः" ३-१-१ तथा "परश्च" ३-१-२ का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । सूत्र में सप्तम्यन्त 'बहुव्रीहौ' पद 'पञ्चमी' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अतः बहुव्रीहि-समास के उत्तर-पद का अवयव 'डच्' प्रत्यय होगा । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "बहु तथा गणशब्दान्त बहुव्रीहि से भिन्न संख्येय अर्थ में वर्तमान बहुव्रीहि-समास के उत्तर 'डच्' प्रत्यय हो" । 'डच्' में 'ड्' तथा 'च्' की इत्संज्ञा होने से 'अ' शेष रहेगा । **उदाहरण**—उपदशाः (दस के लगभग—नौ या ग्यारह) **लौकिक विग्रह**—दशानां समीपे ये सन्ति । **अलौकिक विग्रह**—दशन्+आम्०, उप+जस्० > उप-दशन् (संख्यावाची 'दशन्' के साथ 'उप' अव्यय का समास→"संख्ययाव्ययासन्न" २-२-२५) ⊳ उपदशन्०+अ ('डच्' समासान्त प्रत्यय) >उपदश्+अ ("टेः" ६-४-१४३ से 'अन्' का लोप) ⊳उपदश+जस् (पुनः विभक्ति) > **उपदशाः** (विभक्ति-कार्य) । इसी प्रकार **उपविंशाः, आसन्नदशाः, अदूरदशाः** आदि उदाहरण भी जाने जायँ । **'उपविंशाः'** में "तिविंशतेर्डिति" ६-४-१४२ से 'ति' का लोप होता है ।

निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि वर्षाणि चैत्रस्य । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः । (८५२) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ५ । ४ । ११३ ॥ व्यत्ययेन षष्ठी । स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच्स्यात् । दीर्घे सक्थिनी यस्य सः दीर्घसक्थः ।

डज्वक्तव्य इत्यर्थः । निस्त्रिंशानीति । 'निरादयः क्रान्त' इति तत्पुरुषः, डच्, 'टे.' इति टिलोपः । त्रिंशतोऽधिकानीति यावत् । निस्त्रिंश इति । समासादि पूर्ववत् । त्रिंशदधिकाङ्गुलिरित्यर्थः । न च गवां विंशतिर्गोविंशतिरित्यत्रातिप्रसङ्गः शङ्क्यः, 'अव्ययादेः' इति विशेषणादिति भाष्ये स्पष्टम् । नचैकाधिका विंशतिरेकविंशतिरित्यत्र 'सङ्ख्ययाव्यय' इति समासे सति 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये' इति डच् शङ्क्यः, अन्यत्राधिकलोपादिति वार्तिकादित्यास्तां तावत् ।

(८५२) बहुव्रीहौ । व्यत्ययेनेति । सक्थ्यक्ष्णोरिति षष्ठी पञ्चम्यर्थे, 'व्यत्ययो बहुलम्' इति छन्दसि वचनादित्यर्थः । 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति' भाष्यम् । 'बहुव्रीहा'विति सप्तमी व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे तदाह—स्वाङ्गवाचीति । सक्थ्यक्ष्यन्तादिति । बहुव्रीहिविशेषणत्वात् तदन्तविधिरिति भावः । षच् स्यादिति । समासान्तस्तद्धितश्चेति ज्ञेयम् । दीर्घसक्थ इति ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अबहुगणात्' पद का निवेश होने से **उपबहवः** (लगभग बहुत) में 'डच्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'बहूनां समीपे ये सन्ति' विग्रह करने पर 'बहु' शब्द (संख्यावाची) का 'उप' से बहुव्रीहि समास हुआ है। इसी प्रकार **उपगणाः** में भी (लगभग बहुत) 'गण' शब्द के साथ बहुव्रीहि समास होने के कारण 'डच्' प्रत्यय नहीं हुआ।

शङ्का—'उपगणाः' में 'डच्' प्रत्यय के होने तथा न होने पर रूपसाम्य के कारण निषेध करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—समासान्त 'डच्' प्रत्यय में 'च्' की इत्संज्ञा करने का यह फल है कि 'डच्' प्रत्ययान्त शब्द "चितः" ६-१-१६३ से अन्तोदात्त होते हैं। तदनुसार 'उपगणः' में भी अन्तोदात्त होने लगता। 'डच्' न होने के कारण यथानियम "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" ६-२-१ से पूर्वपद-प्रकृतिस्वर होने के कारण पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है।

वार्तिक—संख्या शब्द के उत्तरवर्ती रहने पर तत्पुरुष समास में भी समासान्त 'डच्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—निस्त्रिंशानि [वर्षाणि चैत्रस्य] (चैत्र नामक व्यक्ति के तीस वर्ष से अधिक दिन बीत गए)। **लौकिक विग्रह**—(१) निर्गतानि त्रिंशतः वर्षाणि। **अलौ० वि०**—त्रिंशत्+ङसिँ, निस्>निस्+त्रिंशत् ('निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' वा० से तत्पुरुष समास)> निस्त्रिंशत्+अ ('डच्' प्रत्यय)>निस्त्रिंश्+अ (टि→'अत्'←लोप)>**निस्त्रिंशानि** (प्रथमा बहुवचन नपुंसक लिङ्ग में रूप)। (२) निस्त्रिंशः [खड्गः] (तीस अंगुल से बड़ी तलवार)। **लौ० वि०**—निर्गतः त्रिंशतः अङ्गुलिभ्यः। **अलौ० वि०**—त्रिंशत्+ङसिँ, निस्>निस्त्रिंशत्> निस्त्रिंशत् +अ>निस्त्रिंश>**निस्त्रिंशः** (पुंलिङ्ग प्रथमा एकवचन में रूप)।

(८५२) **पद**—बहुव्रीहौ, सक्थ्यक्ष्णोः, स्वाङ्गात्, षच्। **अनुवृत्ति**—समासान्ताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—व्यत्यय से षष्ठी का प्रयोग हुआ है। अपने अङ्ग-वाची सक्थि और अक्षि-शब्दान्त बहुव्रीहि से 'षच्' प्रत्यय हो। उदा० १—दीर्घे सक्थिनी यस्य सः>दीर्घसक्थः। २—जलजाक्षी। स्वाङ्गात् क्यों कहा ? वेणुयष्टिः (षच् नहीं)। (यहाँ) "अक्ष्णोऽदर्शनात्" (सू०९४४) से 'अच्' प्रत्यय हुआ है।

जलजाक्षी। 'स्वाङ्गात्' किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' (सू ९४४) इत्यच्। (८५३) अङ्गुलेर्दारुणि ५।४।११४॥ अङ्गुल्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच्स्याद्दारुण्यर्थे। पञ्च अङ्गुलयो यस्य तत्पञ्चाङ्गुलं दारु। अङ्गुलि-

---

षच्, 'यस्येति च' इति लोपः। जलजाक्षीति। जलजे इव अक्षिणी यस्या इति विग्रहः। समासे षचि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः, षित्त्वात् ङीष्। षित्त्वं ङीषर्थमिति भावः। दीर्घसक्थि शकटमिति। दीर्घे सक्थिनी सक्थिसदृशावीषादण्डौ यस्येति विग्रहः। अत्र सक्थिशब्दार्थयोरीषादण्डयोः 'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गम्' इत्यादिस्वाङ्गलक्षणाभावान्न षजिति भावः। अत्र 'स्वाङ्गात्' इत्यस्य प्रत्युदाहरणान्तरमाह—स्थूलाक्षेति। स्थूलानि अक्षीणि पर्वग्रन्थयो यस्या इति बहुव्रीहिः। अस्वाङ्गत्वादिह न षजिति भावः। ननु षजभावेऽपि नान्तलक्षणङीपि स्थूलाक्षिणोति स्यादित्यत आह—अक्ष्णोऽदर्शनादित्यजिति। षचि तु षित्त्वलक्षणङीष् स्यादिति भावः।

(८५३) अङ्गुलेर्दारुणि। बहुव्रीहावित्यनुवृत्तस्य पञ्चम्यर्थे सप्तम्यन्तस्य अङ्गुल्या विशेषणात् तदन्तविधिरित्यभिप्रेत्याह—अङ्गुल्यन्तादिति। पञ्चाङ्गुलं दार्विति। षचि

विवरण—समासान्त प्रत्यय का ही प्रकरण चल रहा है। सूत्रस्थ 'सक्थ्यक्ष्णोः' पद में षष्ठी विभक्ति की विसंगति का निराकरण किया जा रहा है। कारण यह है कि 'षष्ठी' विभक्ति से 'पर' अर्थ सूचित नहीं होता। अतः 'सक्थ्यक्ष्णोः' इस पद में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी माननी पड़ती है। 'षच्' में यथानियम 'ष्' तथा 'च्' इत्संज्ञक हैं। केवल 'अ' अवशेष रहता है। पृथक् विधान करने का फल यह है कि तदन्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग में "षिद्गौरादिभ्यश्च" (४-१-४१) सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय होगा। **उदाहरण**—(१) दीर्घसक्थः (जिसकी जाँघें लम्बी हों)। **लौ० वि०**—दीर्घे सक्थिनी यस्य सः। **अलौ० वि०**—दीर्घ+औ, सक्थि+औ>दीर्घसक्थि ("अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ समास) > दीर्घसक्थि+अ ('षच्' प्रत्यय) > दीर्घसक्थ (टि-लोप) > **दीर्घसक्थः** (विभक्तिकार्य)। (२) जलजाक्षी (कमल के समान नेत्रों वाली स्त्री)। **लौकिक विग्रह**—जलजे इव अक्षिणी यस्याः। **अलौ० वि०**—जलज+औ, अक्षि+औ>जलज-अक्षि (समास एवं विभक्तिलोप) > जलज-अक्षि+अ (षच्) > जलज-अक्ष (टिलोप) > जलजाक्ष (दीर्घ) > जलजाक्ष+ई (ङीष्) > जलजाक्षी+सु (अ लोप) > **जलजाक्षी** (विभक्तिकार्य)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'स्वाङ्गात्' शब्द का निवेश होने के कारण (१) **'दीर्घसक्थि'** शकटम् (जिसके फड़ लम्बे हों, ऐसी गाड़ी) में 'षच्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि 'शकट' प्राणिवाचक नहीं है, अतः 'सक्थि' उसका अङ्ग नहीं है। इसके फलस्वरूप समासान्त 'षच्' प्रत्यय नहीं हुआ। **विग्रह**—दीर्घे सक्थिनी यस्य। बहुव्रीहि समास। 'शकटम्' का विशेषण-वाची होने के कारण नपुंसक लिङ्ग प्रथमा के एकवचन में रूप। (२) इसी प्रकार **'स्थूलाक्षा'** वेणुयष्टिः (बड़ी गाँठो वाली छड़ी) में भी 'षच्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि 'वेणुयष्टि' प्राणिवाचक शब्द नहीं है। **विग्रह**—स्थूले अक्षिणी यस्याः सा (बड़ी आँखों वाली)। यहाँ समासान्त 'अच्' प्रत्यय ("अक्ष्णोऽदर्शनात्" ५-४-७६) होकर अकारान्त 'स्थूलाक्ष' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय होकर प्रथमा एकवचन में **स्थूलाक्षा** रूप होता है।

(८५३) पद—अङ्गुलेः, दारुणि। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, षच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—लकड़ी के अर्थ में अङ्गुल्यन्त बहुव्रीहि से 'षच्' होता है। उदा० पञ्च अङ्गुलयः यस्य तत् > पञ्चाङ्गुलं दारु—पाँच अंगुलियों की तरह आकारवाली एक लकड़ी, जो धान आदि

सदृशावयवं धान्यादिविक्षेपणकाष्ठमुच्यते। बहुव्रीहेः किम्? द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्याः द्व्यङ्गुला यष्टिः। तद्धितार्थे तत्पुरुषे 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' (सू ७८६) इत्यच्। दारुणि किम्? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः। (८५४) द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ५।४।११५॥ आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः। 'नेतुर्नक्षत्रे अब्-वक्तव्यः' (वा ३३६०)। मृगो

'यस्येति च' इति इकारलोपः। ननु दारुणः कथं अङ्गुलय इत्यत आह—अङ्गुलिसदृशावयवमिति। अङ्गुलिसदृशाः अवयवाः यस्येति विग्रहः। धान्येति। कुसूलादिस्थितधान्याद्याकर्षमिति यावत्। उच्यत इति। लक्षणयेति शेषः। द्व्यङ्गुलेति। 'प्रमाणे द्वयसच्' इति विहितस्य मात्रचः 'द्विगोर्नित्यम्' इति लुक्। अबहुव्रीहित्वादत्र न षजिति भावः। तर्हि द्व्यङ्गुलिरिति स्यादित्यत आह—तद्धितार्थं इति। षचि तु ङीष् स्यादिति भावः।

(८५४) द्वित्रिभ्याम्। षेति लुप्तप्रथमाकं पदम्। द्विमूर्ध इति। द्वौ मूर्धानौ यस्येति विग्रहः। त्रिमूर्ध इति। त्रयो मूर्धानो यस्येति विग्रहः। समासान्तः। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। षचि अनुवर्तमाने षग्रहणं चित्स्वरनिवृत्त्यर्थम्। नेतुरिति। नक्षत्रे विद्यमाने यो नेतृशब्दः तदन्ताद् बहुव्रीहेरप् वक्तव्य इत्यर्थः। नेता नायकः। मृगो नेतेति। मृगः—

को धूप में बखेरने के काम में आती है। बहुव्रीहेः क्यों कहा? द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य > द्व्यङ्गुला यष्टिः (षच् नहीं हुआ)। तद्धितार्थ तत्पुरुष में 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' (सू० ७८६) सूत्र से 'अच्' प्रत्यय होता है। 'दारुणि' क्यों कहा? पञ्चाङ्गुलिः हस्तः (षच् नहीं हुआ)।

विवरण—समासान्त 'षच्' प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। पूर्व सूत्र के समान सब अनुवृत्तियाँ विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "अङ्गुलिशब्दान्त बहुव्रीहि-समास से 'षच्' प्रत्यय ससासान्त होता है, यदि उस शब्द से लकड़ी (दारु) वाच्य हो"।

उदाहरण—पञ्चाङ्गुलम् दारु (पाँचा-लकड़ी)। लौ० वि०—पञ्च अङ्गुलयः यस्य तत्। अलौ० वि०—पञ्चन्+जस्, अङ्गुलि+जस् > पञ्चन्-अङ्गुलि (समास—"अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४) > पञ्च-अङ्गुलि (न-लोप) > पञ्चाङ्गुलि (दीर्घ) > पञ्चाङ्गुलि+अ (षच्) > पञ्चाङ्गुल ('इ'—लोप) > **पञ्चाङ्गुलम्** (विभक्तिकार्य नपुंसक-लिङ्ग प्रथमा एकवचन)। 'पाँचा' लकड़ी धान आदि को धूप में बखेरने के लिये काम में लाई जाती थी।

प्रत्युदाहरण—(१) 'बहुव्रीहि' पद की अनुवृत्ति होने के कारण द्व्यङ्गुला यष्टिः (दो अङ्गुल छड़ी) में 'षच्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्याः' विग्रह में तद्धितप्रकरण के अन्तर्गत 'मात्रच्' प्रत्यय के अर्थ में (द्वे अङ्गुली) "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" (७२८) से तत्पुरुष समास हुआ है। अतः "तत्पुरुषस्याङ्गुलेः"० (७८६) से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हुआ। प्रमाण अर्थ में 'मात्रच्' प्रत्यय का "द्विगोर्लुगनपत्ये" (४-१-८८) सूत्र से लोप हो जाता है। (२) सूत्र में 'दारुणि' पद का निवेश होने के कारण पञ्चाङ्गुलिः हस्तः (पाँच उंगलियों वाला हाथ) में 'षच्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'पाँच उंगलियाँ' लकड़ी की न होकर प्राणी की है। 'अच्' की प्राप्ति न होने से इकारान्त पुंलिङ्ग के प्रथमा एकवचन की तरह रूप होगा।

(८५४) **पद**—द्वित्रिभ्यां, ष, मूर्ध्नः। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन दोनों से परे 'मूर्धन्' शब्द को बहुव्रीहि में 'ष' प्रत्यय हो। उदा० १—द्विमूर्धः। (२) त्रिमूर्धः। वा० नक्षत्रवाची 'नेतृ' शब्द से 'अप्' हो। उदा० १—मृगः नेता यासां रात्रीणां ताः > मृगनेत्राः रात्रयः। २—पुष्यनेत्राः।

विवरण—प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विद्यमान हैं। समासान्त 'ष' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। सूत्र में उसका 'ष' पद से निर्देश किया गया है। वहाँ प्रथमा-विभक्ति का लोप

नेता यासां ताः मृगनेत्राः रात्रयः । पुष्यनेत्राः । (८५५) **अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ५।४।११७॥** आभ्यां लोम्नोऽप्स्याद् बहुव्रीहौ । अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः । (८५६) **अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ५।४।११८॥** नासिकान्ताद् बहुव्रीहेरच्स्यान्नासिका-

---

मृगशीर्षम् । रात्रिनेता चन्द्रः । तद्योगान्नक्षत्रस्यापि बोध्यम् । मृगनेत्रा इति । मृगनेतृ-शब्दादप्, ऋकारस्य यण्, रेफः, टाप् । पुष्यनेत्रा इति । पुष्यो नेता यासामिति विग्रहः ।

(८५५) अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः । अन्तर्लोम इति । अन्तः लोमानि यस्येति विग्रहः, अप्, टिलोपः । एवं बहिर्लोमः ।

(८५६) अञ्नासिकायाः । अच् इतिच्छेदः । नासिकाया इत्यस्य बहुव्रीहेर्विशेषण-

---

किया गया है । 'षः' होना चाहिये । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि ""द्वि' तथा 'त्रि' से उत्तरवर्ती 'मूर्धन्' शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'ष' प्रत्यय हो" ।

उदाहरण—(१) द्विमूर्धः (दो सिर वाला) । **लौ० वि०**—द्वौ मूर्धानौ यस्य सः । **अलौ० वि०**—द्वि+औ, मूर्धन्+औ > द्वि-मूर्धन् (बहुव्रीहि समास) > द्वि-मूर्ध्न् +अ ('ष' प्रत्यय) > द्वि-मूर्धन् (अन् = टि-लोप "नस्तद्धिते" ६-४-१४४) द्विमूर्धन्+सु > द्विमूर्धः (विभक्ति कार्य) । (२) **त्रिमूर्धः** (तीन सिर वाला) । विग्रह आदि कार्य पूर्व उदाहरण के समान हैं ।

वार्तिक—नक्षत्र अर्थ में विद्यमान 'नेतृ' शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'अप्' प्रत्यय हो । 'प्' की इत्संज्ञा होने पर 'अ' शेष रहेगा । **उदाहरण**—(१) मृगनेत्राः [रात्रयः] (जिन रातों का नेता मृगशीर्ष नामक नक्षत्र हो) । **विग्रह**—मृगो नेता यासां ताः । **अलौ० वि०**—मृग+सु, नेतृ+सु > मृगनेतृ (समास—"अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४) > मृगनेतृ+अ ('अप्' प्रत्यय) > मृगनेत्र (ऋ+अ = र—यण्) > **मृगनेत्राः** (विभक्ति-कार्य → प्रथमा-बहुवचन) । (२) **पुष्यनेत्राः** (जिन रात्रियों का नेता पुष्य नक्षत्र हो) । विग्रह आदि सब कार्य पूर्व उदाहरण के समान ।

विशेष—'षच्' तथा 'ष' दोनों प्रत्ययो में केवल 'अ' अवशेष रहने के कारण रूपसाम्य है, तथापि पृथक् विधान करने का उद्देश्य स्वर की विशेषता है । 'षच्' प्रत्यय में चकार भी इत्संज्ञक है अतः समासान्त 'षच्'-प्रत्ययान्त शब्दों में "चितः" (६-१-१३७) सूत्र से अन्तोदात्त होगा । यह विशेषता है ।

(८५५) पद—अन्तर्बहिर्भ्यां, लोम्नः । **अनुवृत्ति**—अप् , बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन दोनों से परे लोमन्-शब्दान्त बहुव्रीहि से 'अप्' प्रत्यय हो । उदा० १—अन्तर्लोमः । २—बहिर्लोमः ।

विवरण—अष्टाध्यायी-क्रम में इस सूत्र के पूर्व "अप्-पूरणी-प्रमाण्योः" ५-३-११६ सूत्र है । अतः विधेय-प्रत्यय 'अप्' की अनुवृत्ति प्रमुख-रूप में अपेक्षित है । अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । तदनुसार "अन्तर् तथा बहिर्—शब्दों से परवर्ती लोमन्-शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'अप्' प्रत्यय होगा । **उदाहरण**—(१) अन्तर्लोमः (जिसके लोम अन्दर को हैं—अर्थात् सूक्ष्म हैं) । **लौ० वि०**—अन्तर्गतानि लोमानि यस्य सः । **अलौ० वि०**—अन्तर् , लोम+जस् > अन्तर्-लोमन् (बहुव्रीहि समास) > अन्तर्लोमन् +अ (अप्) > अन्तर्लोम्+अ (टि-लोप) > **अन्तर्लोमः** (विभक्तिकार्य) । इसी प्रकार (२) **बहिर्लोमः** (जिसके लोम बाहर को हैं) की भी प्रक्रिया है ।

(८५६) पद—अच् , नासिकायाः, संज्ञायां, नसं, च, अस्थूलात् । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

शब्दश्च नसं प्राप्नोति न तु स्थूलपूर्वात्। (८५७) पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः ८।४।३॥ पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य णः स्यात्संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने। द्रुरिव नासिका यस्य द्रुणसः। खरणसः। अगः किम्? ऋचामयनम् ऋगयनम्। 'अणृगयनादिभ्यः' (सू १४५२) इति निपातनाण्णत्वाभावमाश्रित्य अगः इति प्रत्याख्यातं भाष्ये। अस्थूलात्

त्वात् तदन्तविधिमभिप्रेत्याह—नासिकान्तादिति। नसमित्यनन्तरं प्राप्नोतीत्यध्याहार्यम्। उपस्थितत्वान्नासिकाशब्द इति लभ्यते। तदाह—नासिकाशब्दश्च नसं प्राप्नोतीति।

(८५७) पूर्वपदात्। 'रषाभ्याम्' इत्यनुवृत्तम् पूर्वपदशब्देन पूर्वपदस्थं लक्ष्यते। 'रषाभ्याम्' इत्यनेन लब्धो रेफः षश्च प्रत्येकमन्वेति तदाह—पूर्वपदस्थान्निमित्तादिति। रेफषकारात्मकादित्यर्थः। अग इति पञ्चम्यन्तम्। गकारभिन्नात्परस्येत्यर्थः। गकारात्परस्य नेति यावत्। तदाह—न तु गकारव्यवधान इति। अनेन 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इत्यनुवृत्तिः सूचिता। अन्यथा अग इत्यस्य वैयर्थ्यं स्यात्। खण्डपदत्वादप्राप्तौ वचनमिदम्। द्रुरिवेति वृक्ष इवेत्यर्थः। द्रुणस इति। बहुव्रीहेरच्। नासिकाशब्दस्य नसादेशः। णत्वम्। ऋगयनमिति। 'ऋवर्णात्' इति वार्तिकस्याप्यत्रानुवृत्त्या णत्वं प्राप्तं गकारेण व्यवधानान्न भवतीति भावः। अत्र ऋचामयनमिति विग्रहप्रदर्शनं चिन्त्यम्, वाक्येन सञ्ज्ञानवगमात्। नच रघुनाथ इत्यादौ सञ्ज्ञायां णत्वं शङ्क्यम्, णत्वेन चेत्सञ्ज्ञा

मूलार्थ—नासिकान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो तथा नासिका के स्थान पर 'नस्' आदेश हो, यदि (पूर्वपद में) 'स्थूल' (शब्द) न हो।

विवरण—आधिकारिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् हैं। विधीयमान प्रत्यय 'अच्' है। सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह है कि "नासिकाशब्दान्त बहुव्रीहि समास से संज्ञाविषय में समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो, यदि 'स्थूल' शब्द से उत्तरवर्ती नासिका शब्द न हो"। उदाहरण अग्रिम सूत्र में दिये जायेंगे।

(८५७) पद—पूर्वपदात्, संज्ञायाम्, अगः। अनुवृत्ति—रषाभ्यां नो णः, अट्कुप्वाङ्नुम्-व्यवायेऽपि, संहितायाम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—पूर्वपद में स्थित (रेफषकारात्मक) निमित्त से परे संज्ञा में 'न' को 'ण' होता है, किन्तु 'ग' के व्यवधान में नहीं होता। उदा० १—द्रुः इव नासिका यस्य>द्रुणसः। २—खरणसः। अगः क्यों कहा? ऋचाम् अयनम्>ऋगयनम् ('ण' नहीं हुआ)। भाष्य में "अणृगयनादिभ्यः" (सू० १४५२) इस निपातन से यहाँ णत्व के अभाव का आश्रयण कर 'अगः' अंश का प्रत्याख्यान किया है। अस्थूलात् क्यों कहा? स्थूलनासिकः (णत्व न हो)। वा० 'खुर' और 'खर' शब्द से (परे नासिका के स्थान में) 'नस्' आदेश विकल्प से हो। उदा० १—खुरणाः। २—खरणाः। पक्ष में 'अच्' भी होगा। उदा० १—खुरणसः। २—खरणसः।

विवरण—प्रकरणोपयोगी णत्व का विधायक सूत्र यहाँ उद्धृत किया गया है। णत्व-प्रकरण अष्टाध्यायी के आठवें अध्याय में उल्लिखित है। अतः प्रकृत सूत्र के अर्थ की पूर्णता के लिये उस प्रकरण के पूर्ववर्ती सूत्र "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८-४-१) से 'रषाभ्यां नो णः' अंश तथा "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" (८-४-२) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। इनके अतिरिक्त "तयोर्य्वावचि संहितायाम्" (८-२-१०८) से 'संहितायाम्' की आधिकारिक अनुवृत्ति धारावाहिक रूप में चली आ रही है। स्थानी 'न' है तथा आदेश 'ण'। अनुवृत्त रेफ और षकार निमित्त हैं। ये दोनों वर्ण सूत्र के अनुसार पूर्वपद में अपेक्षित हैं। 'अगः' (अविद्यमानः गकारः यस्मिन् सः, तस्मात्) पद गकार के व्यवधान का प्रतिबन्धक है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "गकारभिन्न किन्तु पूर्वपद में स्थित रेफ-षकारात्मक निमित्त से परवर्ती 'न' के स्थान पर

किम् ? स्थूलनासिकः । 'खुरखराभ्यां वा नस्' (वा ३३६३)। खुरणाः । खरणाः । 'पक्षेऽजपीष्यते' । खुरणसः । खरणसः । (८५८) उपसर्गाच्च ५।४।११९ ॥ प्रादेर्यो

गम्यत इत्यर्थात् । इह तु कृते णत्वे सञ्ज्ञात्वभङ्गापत्तेर्न णत्वम् । अत एव 'भृशोऽसञ्ज्ञायां' सूत्रभाष्ये 'य एते सञ्ज्ञायामिति विधीयन्ते, तेषु नैवं विज्ञायते सञ्ज्ञायामभिधेयायामिति । किं तर्हि प्रत्ययान्तेन चेत्सञ्ज्ञा गम्यते' इत्युक्तम् । **खुरेति** । खुरखराभ्यां परस्य नासिका-शब्दस्य बहुव्रीहौ सञ्ज्ञायां नसादेशो वेति वक्तव्यमित्यर्थः । प्रकृतत्वादेव सिद्धे नसादेश-वत्त्वम् अच्प्रत्ययानुवृत्तिनिवृत्त्यर्थम् । **खुरणा इति** । खुराविव नासिके यस्येति विग्रहः । नसादेशः । 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्' इति णत्वम् । 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । **खरणा इति** । खररूपा नासिका यस्येति विग्रहः । पक्षे खुरनासिका इति । खरनासिका इति च न भवती-त्याह—**पक्षे अजपीष्यते इति** । अच्प्रत्ययसहितः नसादेश इत्यर्थः । भाष्ये त्विदं न दृश्यते ।

(८५८) उपसर्गाच्च । नन्वञ्नासिकाया इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—असञ्ज्ञार्थमिति ।

संज्ञाविषय में 'ण' आदेश हो" । **उदाहरण**—(१) **द्रुणसः** (वृक्ष के समान नाक वाला)। **विग्रह**—द्रुः इव नासिका यस्य । **अलौ० वि०**—द्रु+सु, नासिका+सु > द्रु-नासिका > द्रु–नस्+अ (समास करने के पश्चात् सू० ८५६ से 'अच्' प्रत्यय तथा नासिका = 'नस्') > द्रुणस (सूत्र ८५७ से न = ण) > **द्रुणसः** (विभक्तिकार्य)। इसी प्रकार (२) **खरणसः** (नुकीली नाक वाला) में भी पूर्वोक्त कार्य होंगे । **विग्रह**—खरा नासिका यस्य सः ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अगः' पद के स्थित रहने का यह फल है कि पूर्वपदस्थ रेफ तथा षकार से पर नकार के स्थान में 'गकार' का व्यवधान होने पर 'ण' नहीं होगा । तदनुसार **ऋगयनम्** (मन्त्रों का घर) में 'न' को 'ण' नहीं हुआ । (२) "अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं चाऽस्थूलात्" ५-४-११८ सूत्र में 'अस्थूलात्' पद निवेश करने से जहाँ पूर्वपद 'स्थूल' हो वहाँ नासिकान्त बहुव्रीहि से 'अच्' प्रत्यय तथा 'नासिका' शब्द को 'नस्' आदेश न होने के फलस्वरूप **स्थूलनासिकः** (मोटी नाक वाला) में 'अच्' प्रत्यय तथा 'नस्' आदेश नहीं हुए। **विग्रह**—स्थूला नासिका यस्य सः । समासादि कार्य यथापूर्व समझें ।

विशेष—(१) अष्टाध्यायी-क्रम के अनुसार "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" (८-४-३) सूत्र से पूर्व "अट्-कु-प्वाङ्-नुम्-व्यवायेऽपि" (८-४-२) सूत्र की अनुवृत्ति होने के कारण 'गकार' क व्यवधान में भी णकार की प्राप्ति थी, 'अगः' के द्वारा उसका निषेध सूचित किया गया है ।

(२) "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८-४-१) सूत्र के प्रभाव से केवल समान पद (= एक पद) में स्थित 'न' के स्थान पर 'ण' की संभावना थी, किन्तु इस सूत्र में 'पूर्वपदात्' पद का निवेश करने के फलस्वरूप पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तरवर्ती पद में विद्यमान 'न' के स्थान पर 'ण' विधान किया गया है ।

(३) महाभाष्यकार ने "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" (८-४-३) सूत्र में **अगः** पद को अनावश्यक बताया है । कारण यह है कि पाणिनि ने "अणृगयनादिभ्यः" (४-३-७३) सूत्र में '**ऋगयन**' पद नकारान्त पढ़ा है । इसी ज्ञापक से नकार के स्थान पर णकार का न होना सम्भव था[1] ।

(८५८) पद—उपसर्गात्, च । **अनुवृत्ति**—अञ्नासिकायाः नसं चाऽस्थूलात्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

---

१. "इह इदानीं किं निपातनम् ? इहापि निपातनम् अस्ति । किम् ? 'अणृगयनादिभ्य' इति । नैव वा पुनरत्र णत्वं प्राप्नोति । किं कारणम् ? समानपद इत्युच्यते । न चैतत् समानपदम् । समासे

नासिकाशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरच् नासिकाया नसादेशश्च । असञ्ज्ञार्थमिदं वचनम् । उन्नता नासिका यस्य सः उन्नसः । उपसर्गादनोत्परः इति सूत्रम् । तद्भङ्क्त्वा भाष्यकार आह—(८५९) उपसर्गाद् बहुलम् ८।४।२८ ।। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नसो नस्य णः स्याद् बहुलम् । प्रणसः । 'वेर्ग्रो वक्तव्यः' (वा ३३६५) । विगता नासिका यस्य विग्रः ।

---

(८५९) उपसर्गादनोत्पर इति सूत्रमिति । तत्र हि 'नश्च धातुस्थो' इति सूत्रान्नसिति लुप्तषष्ठीकमनुवर्तते । 'रषाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते । उपसर्गस्थाद्रेफषकारात्परस्य नसो नस्य णः स्यात्, ओत्परस्तु नकारो णत्वं न प्राप्नोतीत्यर्थः । खण्डपदस्थत्वादप्राप्ताविदं सूत्रम् । 'प्र ण आयूंषि तारिषत्' इत्याद्युदाहरणम् । अनोत्परः किम् ? 'प्र नो मुञ्चतम्' । अत्र ओत्परकत्वान्न णत्वमिति स्थितिः । तद्भङ्क्त्वेति । 'अनोत्परः' इत्यपनीय तत्स्थाने बहुलमिति च कृत्वा भाष्यकार आहेत्यर्थः । तथा च फलितं सूत्रमाह—उपसर्गाद् बहुलम् । निमित्तादिति । रेफषकारात्मकादित्यर्थः । 'उपसर्गादनोत्परः' इति यथाश्रुते तु 'प्रणो नय' इत्यादावव्याप्तिः, 'प्र न〜पूषा' इत्यादावतिव्याप्तिश्चेति भावः । प्रणस इति । प्रगता नासिका यस्येति विग्रहः । 'उपसर्गाच्च' इत्यच्, नासिकाया नस् । 'उपसर्गाद् बहुलम्'

मूलार्थ—प्रादि से परे नासिकान्त बहुव्रीहि से 'अच्' प्रत्यय हो तथा नासिका को 'नस्' आदेश हो । यह कथन भी 'असंज्ञा' के विषय में है । उदा० उन्नता नासिका यस्य सः > उन्नसः ।

विवरण—विशेष परिस्थिति में (८५६ सूत्र से भिन्न) नासिका के स्थान पर 'नस्' आदेश तथा समासान्त 'अच्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । यहाँ णत्व होने में कारण भिन्न है । वह 'उपसर्गात्' पद से विदित होता है । प्रमुख अनुवृत्ति (सूत्र ८५६) "अच्-नासिकायाः संज्ञायां नसं चाऽस्थूलात्" (५-४-११८) सूत्र की अपेक्षित है । शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ धारावाही रूप में प्रभावी हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "प्रादि उपसर्गों से परवर्ती नासिकाशब्दान्त बहुव्रीहि से 'अच्' प्रत्यय हो तथा नासिका शब्द के स्थान पर नस् आदेश भी हो" । अतः इस सूत्र की उपयोगिता यह है कि समस्त-शब्द संज्ञा का बोधक न होने पर भी उल्लिखित दोनों कार्यों के विधान की चरितार्थता सिद्ध होती है ।

उदाहरण—उन्नसः (जिसकी नाक ऊँची हो) । **विग्रह**—उन्नता नासिका यस्य सः । **अलौ० वि०**—उत्, नासिका+सु > उत्-नासिका (समास) > उत्-नस्+अ ('अच्'-प्रत्यय एवं 'नस् आदेश) > उन्नस (त्=न्-अनुनासिक) > **उन्नसः** (विभक्तिकार्य) ।

(८५९) पद—उपसर्गात्, बहुलम् । **अनुवृत्ति**—नः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—"उपसर्गादनोत्परः—यह सूत्र (मूल रूप में) है । उसे परिवर्तित कर भाष्यकार ने "उपसर्गाद् बहुलम्" पढ़ा है । उसी की व्याख्या भट्टोजी दीक्षित ने की है । उपसर्गस्थ निमित्त से पर 'नस्' के नकार को विकल्प से णकार हो । उदा० प्रणसः । वा० 'वि' से परवर्ती नासिका को 'ग्र' आदेश हो । उदा० विग्रः । वा० 'ख्य' आदेश भी हो । उदा० विख्यः । भट्टिकाव्य का 'विनसा हतबान्धवाः' प्रयोग कैसे सम्भव है ? (वहाँ) 'विगतया नासिकया उपलक्षिता'—इस प्रकार व्याख्या की जाय ।

विवरण—पाणिनि के अनुसार इस सूत्र का स्वरूप 'उपसर्गादनोत्परः' ८-४-२८ है । जिसका पदच्छेद इस प्रकार होगा—उपसर्गाद्, अनोत्परः । इस मौलिक सूत्र में अनुवृत्तियों का उल्लेख

कृते समानपदम् । समानपदमेव यन्नित्यं, न चैतन्नित्यं समानपदमेव । किं वक्तव्यमेतत् ? नहि । कथमनुच्यमानं गंस्यते ? समानग्रहणसामर्थ्यात् । यदि हि यत् समानं चासमानं च तत्र स्यात्, समानग्रहणमनर्थकं स्यात्" ।—म० भा० ८-४-३ ।

'ख्यश्च' (वा ३३६६)। विख्यः। कथं तर्हि 'विनसा हतबान्धवा' इति भट्टिः। विगतया

इति णत्वमिति भावः। वेरेति। वेः परो यो नासिकाशब्दः स ग्रादेशं प्राप्नोतीति भावः। विग्र इति। विगता नासिका यस्येति विग्रहः। प्रकृतवार्तिकेन नासिकाशब्दस्य ग्रादेश इति भावः। विगता नासिका यस्येति विग्रहे अचि नसादेशे टापि च विनसेति भट्टिप्रयोगो न युज्यते। ग्रादेशस्यास्य नसादेशं प्रत्यपवादत्वादित्याक्षिपति—कथं तर्हीति। समाधत्ते—विगतयेति। विगता नासिका विनासिका, प्रादिसमासः। अबहुव्रीहित्वात् न ग्रादेशः। किन्तु टायां 'पद्दन्' इति नसादेशे विनसेति तृतीयान्ते रूपम्। उपलक्षितेत्यध्याहार्यमिति भावः।

ऊपर पदच्छेद के बाद किया गया है। सूत्रस्थ 'अनोत्परः' पद का विग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) ओकारात्परः > ओत्परः (पञ्चमी तत्पुरुष), न ओत्परः > अनोत्परः (नञ् तत्पुरुष)। (२) ओकारात् परः अस्मात् सः > ओत्परः (बहुव्रीहिः)। न ओत्परः > अनोत्परः (नञ्)। अतः मूलसूत्र के अनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती 'नस्' के नकार को णत्व होता है, किन्तु ओकार से परे अथवा ओकार परे रहते नहीं होता"। इस तरह अर्थ करने पर प्रणोनय में 'प्र' से परवर्ती 'न' को 'ण' नहीं होगा, क्योंकि यहाँ 'न्' से परे ओकार विद्यमान है। वस्तुतः 'न' को 'ण' होना इष्ट है, अतः अव्याप्ति दोष है। इसके साथ ही प्र नः पूषा में अतिव्याप्ति दोष आता है। यहाँ 'नः' से पर अथवा पूर्व ओकार न होने के कारण 'न' को 'ण' प्राप्त होता है, जब कि वह इष्ट नहीं है। इस हेतु भाष्यकार ने इस सूत्र का योगविभाग किया है—(१) उपसर्गात् और (२) अनोत्परः। प्रथम अंश 'उपसर्गात्' के साथ 'बहुलम्' का समावेश कर "उपसर्गाद् बहुलम्" के रूप में सूत्र परिवर्तित कर दिया। तदनुसार योगविभागस्थ प्रथम अंश का यह अर्थ होगा कि "उपसर्गस्थ रेफ, षकार आदि निमित्त से परवर्ती न के स्थान में बाहुल्य से 'ण' हो"। 'बहुल' पद से यह ध्वनित किया गया कि "कहीं ण की प्रवृत्ति नहीं भी होगी"। **उदाहरण**—प्रणसः (अच्छी नाक वाला)। लौ० वि०—प्रगता नासिका यस्य सः। अलौ० वि०—प्रगता, नासिका+सु > प्रगतानासिका > प्रगता, नस्+अ > प्रनस > **प्रणसः** (क्रमशः कार्य—समास, अच्-प्रत्यय तथा नासिका को नस् आदेश, वैकल्पिक 'गत' शब्द का लोप, प्रकृत सूत्र ८५९ से णत्व तथा विभक्तिकार्य)। पक्ष में धातुज 'गत' शब्द का लोप न होने पर प्रगतनासिकः रूप बनेगा। 'प्रगत' शब्द के प्रादि (उपसर्ग) न होने के कारण "उपसर्गाच्च" सू० ८५८ से 'अच्' प्रत्यय नहीं होगा। इसके अतिरिक्ति समस्त शब्द के संज्ञावाचक न होने के कारण "अन्नासिकायाः" ५-४-११८ की भी प्राप्ति नहीं है।

वार्तिक—(१) 'वि' उपसर्गपूर्वक नासिका शब्द के स्थान में बहुव्रीहि समास होने पर 'ग्र' आदेश हो। **उदाहरण**—विग्रः (जिसकी नाक कट गई हो)। **विग्रह**—विगता नासिका यस्य सः। समासादि कार्य 'उन्नसः' के समान। (२) दूसरे **वार्तिक** द्वारा नासिका शब्द के स्थान में बहुव्रीहि समास होने पर 'ख्य' आदेश किया जा रहा है। **उदाहरण**—विख्यः (जिसकी नाक कट गई हो)। **विग्रह**—विगता नासिका यस्य सः। समासादि कार्य पूर्ववत्।

शङ्का-समाधान—उपर्युक्त वार्तिकों के सन्दर्भ में भट्टिकाव्य (५–८) के "**विनसा हतबान्धवाः**" प्रयोग की समीचीनता के विषय में शंका उपस्थित की गई है।

इसके उत्तर में यह कहा जा रहा है कि भट्टिद्वारा प्रयुक्त 'विनसा' शब्द तृतीया विभक्ति का रूप है न कि प्रथमा विभक्ति का। सर्वप्रथम विगता नासिका > विनासिका (प्रादि तत्पुरुष एवं 'गत' शब्द का लोप)। तदनन्तर विनासिका+टा (तृतीया एकवचन) > विनस्+आ (नसिका=

नासिकयोपलक्षितेति व्याख्येयम्। **(८६०) सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः ५।४।१२०॥** एते बहुव्रीहयोऽच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः। शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः। शोभनं दिवा अस्य सुदिवः। शारेरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः। चतस्रोऽश्रयोऽस्य चतुरश्रः। एण्या इव पादावस्यैणीपदः। अजपदः।

---

(८६०) **सुप्रातेति।** **सुप्रात इति।** अच्प्रत्ययः। 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः'। **सुश्व इति।** अच्, पूर्ववट्टिलोपः। **सुदिव इति।** शोभनं दिवा यस्येति विग्रहः। दिवेत्याकारान्तमव्ययम्। 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः'। **शारिकुक्ष इति।** शारिः पक्षिविशेषः। अचि, 'यस्येति च' इति इकारलोपः इति टिलोपः। **चतस्रोऽश्रय इति।** कोणा इत्यर्थः। अचि, 'यस्येति च' इति इकारलोपः। **एण्या इवेति।** एणी मृगी। **अजपद इति।** अजः छागः, तस्येव पादावस्येति विग्रहः। एणीपदादिषु अच्। निपातनात् पादः पत्।

नस्—"पदन्नोमास्०" ६-१-६३) > **विनसा** निष्पन्न होता है। अतः बहुव्रीहि समास न होने के कारण 'नासिका' शब्द के स्थान में 'ग्र' अथवा 'ख्य' आदेश नहीं हुए। प्रादि तत्पुरुष में 'विगतया नासिकया उपलक्षिता' अर्थात् 'कटी हुई नाक वाली शूर्पणखा'—यह अर्थ कल्पित कर 'विनसा' शब्द की साधुता सम्पादित की गई है।

(८६०) पद—सुप्रात······प्रोष्ठपदाः। अनुवृत्ति—अच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सूत्रोक्त आठ शब्द बहुव्रीहि में 'अच्' प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं। उदा० १—शोभनं प्रातः अस्य > सुप्रातः। २—शोभनं श्वः अस्य > सुश्वः। ३—शोभनं दिवा अस्य > सुदिवः। ४—शारेः कुक्षिः अस्य > शारिकुक्षः। ५—चतुरः आश्रयः अस्य > चतुरश्रः। ६—एण्याः इव पादौ अस्य > एणीपदः। ७—अजपदः। ८—प्रोष्ठः = गौः—तस्य इव पादौ अस्य > प्रोष्ठपदः।

विवरण—सूत्र में आठ शब्दों के सम्बन्ध में 'अच्'-प्रत्ययान्त निपातन का निर्देश किया गया है। बहुव्रीहि में विधीयमान 'अच्' प्रत्यय का अनुवृत्ति द्वारा बोध होगा। अतः "अच्—नासिकायाः संज्ञायां नसं चाऽस्थूलात्" ५-४-११८ सूत्र से उसकी अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार निपातित आठ शब्दों की सिद्धि इस प्रकार है—
(१) **सुप्रातः** (वह दिन या व्यक्ति जिसका प्रातःकाल अच्छा हो)। **विग्रह—**शोभनं प्रातः अस्य > सु—प्रातर्̥+अ (बहुव्रीहि-समास, शोभन = सु, प्रकृत सूत्र से 'अच्' प्रत्यय) > सु-प्रात्+अ ('टि' = अर्̥—लोप 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' वा०) > **सुप्रातः** (विभक्तिकार्य)।
(२) **सुश्वः** (जिसका आनेवाला दिन शुभ हो)। **विग्रह—**शोभनं श्वः अस्य > सु-श्व्̥+अ (अच्) > सुश्व ('टि' लोप) > **सुश्वः** (विभक्ति कार्य)। (३) **सुदिवः** (वह व्यक्ति जिसका दिन शुभ हो)। **विग्रह—**शोभनं दिवा अस्य > सुदिव्̥ा+अ > सुदिव > **सुदिवः** (समास, 'अच्' प्रत्यय, टिलोप, विभक्तिकार्यादि पूर्ववत्। (४) **शारिकुक्षः** (जिसका पेट मैना के समान हो)। **विग्रह—**शारेः इव कुक्षिः अस्य > शारि+ङस्̥, कुक्षि+सु̥ > शारिकुक्षि̥+अ (समास तथा 'अच्' प्रत्यय) > शारिकुक्ष्+अ ('इ'—का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > **शारिकुक्षः** (विभक्तिकार्य)। (५) **चतुरश्रः** (चौकोर)। **विग्रह—**चतस्रः अश्रयः अस्य > चतुर्̥+जस्̥, अश्रि+जस्̥ > चतुरश्रि̥+अ (समास तथा 'अच्' प्रत्यय) > **चतुरश्रः** ('इ'—का लोप एवं विभक्ति-कार्य)। दन्त्य सकारान्त 'अस्र' शब्द भी कोने का पर्यायवाची है, अतः **चतुरस्र** शब्द का भी प्रयोग मिलता है। वहाँ **विग्रह—**'चत्वारः अस्राः अस्य' होगा। (६) **एणीपदः** (हिरनी

प्रोष्ठो गौः, तस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः। (८६१) नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् ५।४।१२१ ॥ अच्स्यात्। अहलः—अहलिः। असक्थः—असक्थिः। एवं दुःसुभ्याम्।

---

(८६१) **नञ्दुस्सुभ्यः।** शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**अच् स्यादिति। अहलः अहलिरिति।** अविद्यमानः हलिः यस्येति विग्रहः। हलिशब्द इदन्तो हलपर्यायः। तदन्तादचि 'यस्येति च' इकारलोपे तदभावे च रूपम्। यद्यपि हलशब्देन हलिशब्देन च रूपद्वयं सिद्धम्, तथापि अनुक्तसमासान्ततया शैषिकस्य कपः प्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमिदं वचनम्। अस्य वैकल्पिकत्वेऽपि अनुक्तसमासान्तत्वाभावादत्र न कप्। **असक्थः, असक्थिरिति।** अविद्यमानं सक्थि यस्येति विग्रहः। **एवं दुस्सुभ्यामिति।** दुर्हलः, दुर्हलिः। दुस्सक्थः, दुस्स-

---

के समान पैरों वाला)। **विग्रह**—एण्याः इव पादौ अस्य > एणीपाद्+अ (समास एवम् 'अच्'-प्रत्यय) > एणी-पत्+अ (पाद = पत्–निपातन-वश "पादः पत्" ६-४-१३०) > एणीपद्+अ (त् = द्—"झलां जशोऽन्ते" ८-२-३९) > **एणीपदः** (विभक्तिकार्य)। (७) **अजपदः** (बकरे के समान पैरों वाला)। **विग्रह**—अजस्य इव पादौ अस्य। शेष कार्य पूर्ववत्। (८) **प्रोष्ठपदः** (गौ की तरह पैरों वाला)। **विग्रह**—प्रोष्ठस्य इव पादौ अस्य)। शेष कार्य पूर्ववत्।

विशेष—प्रातर्, श्वस् तथा दिवा—ये तीनों अव्यय हैं।

(८६१) **पद**—नञ्-दुः-सुभ्यः, हलि-सक्थ्योः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—अच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अच् हो। उदा० १—अहलः—अहलिः। २—असक्थः—असक्थिः। इसी प्रकार 'दुस्' और 'सु' शब्दों से भी। शक्त्योः—यह पाठान्तर भी है।

विवरण—सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' पद विकल्प का सूचक है। विधीयमान समासान्त 'अच्' प्रत्यय अनुवृत्ति-द्वारा सूचित किया गया है। अतः पूर्व सूत्र (८६१) के समान यहाँ भी अनुवृत्तियाँ विद्यमान हैं। सूत्र में उन शब्दों का प्रकार निर्देश किया गया है, जिन से बहुव्रीहि में समासान्त 'अच्' प्रत्यय विकल्प से होगा। तदनुसार "नञ्, दुस् तथा सु—इनसे परवर्ती 'हलि' तथा 'सक्थि' शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'अच्' प्रत्यय विकल्प से होता है"। **उदाहरण क्रमशः**—(१) 'नञ्' से पर हलि **अहलः**—(जिसके पास हल न हो)। **विग्रह**—अविद्यमानः हलिः यस्य। **अलौ० वि०**—न विद्यमान+सु, हलि+सु > न–विद्यमान्–हलि (समास—'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः') > न-हलि (पूर्वोक्त वार्तिक से 'नञ्' से उत्तरवर्ती 'विद्यमान' पद का लोप) > न-हलि+अ ('अच्' प्रत्यय) > न-हल्+अ ('इ' का लोप) > अ–हल (न्–लोप "नलोपो नञः" ६-३-७३) > **अहलः** (विभक्तिकार्य)। पक्ष में 'अच्' प्रत्यय न होने पर **अहलिः** (पूर्वोक्त वार्तिक से समास तथा अन्य कार्य पूर्ववत्)। (२) 'नञ्' से पर सक्थि—**असक्थः–असक्थिः** (जिसकी टांग न हो)। **विग्रह**—अविद्यमानं सक्थि यस्य। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। (३) 'दुस्' एवं 'दुर्' पूर्वक 'हलि' शब्द **दुर्हलः—दुर्हलिः** (दोषयुक्त हल वाला)। **विग्रह**—दुर्निन्दितः हलिः यस्य। शेष समासादि कार्य पूर्ववत्। (४) 'दुस्' या 'दुर्' पूर्वक सक्थिशब्द—**दुस्सक्थः—दुस्सक्थिः** (दोषयुक्त टांग वाला)। **विग्रह**—दुर्निन्दितं सक्थि यस्य। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। (५) 'सु' पूर्वक 'हलि' शब्द **सुहलः—सुहलिः** (अच्छे हल वाला)। **विग्रह**—शोभनः हलिः यस्य। शेष कार्य पूर्ववत्। (६) 'सु' शब्दपूर्वक 'सक्थि' शब्द—**सुसक्थः, सुसक्थिः** (अच्छी टाँग वाला)। **विग्रह**—शोभनं सक्थि यस्य। समासादि कार्य पूर्ववत्।

विशेष—(१) कुछ प्राचीन विद्वानों ने यहाँ 'सक्थि' शब्द के स्थान पर 'शक्ति' पाठभेद की कल्पना की है। तदनुसार 'हलि-शक्त्योः' पाठ माना है। उनके मत में १—**'अशक्तः'—'अशक्तिः'**, २—**दुश्शक्तः—दुश्शक्तिः** तथा ३—**सुशक्तः—सुशक्तिः** रूप निष्पन्न होंगे।

शक्त्योः इति पाठान्तरम् । अशक्तः—अशक्तिः । (८६२) **नित्यमसिच्प्रजामेधयोः ५।४। १२२ ॥** नञ्दुःसुभ्यः इत्येव । अप्रजाः । दुष्प्रजाः । सुप्रजाः । अमेधाः । दुर्मेधाः ।

ग्रिथः । शक्त्योरिति । 'हलिशक्त्योः' इति केचित् पाणिनीयाः पठन्तीत्यर्थः । केचिच्छिष्याः पाणिनिना तथा पाठिता इति वदन्तीति भावः ।

(८६२) नित्यमसिच् । नञ्दुस्सुभ्य इत्येवेति । पूर्वसूत्रादनुवर्तत इति भावः । एतेभ्यः पराभ्यां प्रजामेधाशब्दाभ्यां नित्यमसिच् समासान्तः स्यात् स तद्धिव इत्यर्थः । असिचः चकार इत्, इकार उच्चारणार्थः । अन्यतरस्यामित्यनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणम् । अस्वरितत्वादेव तदनुवृत्त्यभावे सिद्धे स्पष्टार्थमिति तत्त्वम् । अप्रजा इति । अविद्यमाना प्रजा यस्येति विग्रहः । 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति समासः । असिचि 'यस्येति च' इत्याकारलोपादप्रजश्शब्दात् सुबुत्पत्तिः । सौ तु 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । 'हल्ङ्याप्' इति सुलोपः । यद्यप्यकारं विना सिचि विहितेऽपि सिद्धमिदम्, तथापि सिच्यभत्वेन आकारलोपाभावादप्रजास्शब्दात् सुबुत्पत्तौ, प्रथमैकवचने अप्रजाः इति रूपसिद्धावपि अप्रजसाविति न स्यात्, किन्तु अप्रजासावित्यादि स्यात् । तस्मादकारोच्चारणं भत्वसम्पादनार्थमावश्यकम् । दुष्प्रजा इति । दुर्गता प्रजा यस्येति विग्रहः । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति समासः । असिजादि पूर्ववत् । 'इदुदुपधस्य' इति षत्वम् । सुप्रजा इति ।

---

(२) प्रकृत सूत्र में 'हलि' ग्रहण की उपयोगिता यह है । यद्यपि 'अहलः' 'अहलिः' रूप 'नञ्' समास करने पर निष्पन्न हो सकते थे, तथापि साधारण 'नञ्' समास करने पर समासान्त-प्रत्यय के अभाव में शैषिक 'कप्' प्रत्यय की प्राप्ति रही, उसके निवारणार्थ यहाँ 'हलि' शब्द से समासान्त 'अच्' प्रत्यय विकल्प से किया गया है ।

(८६२) पद—नित्यम्, असिच्, प्रजा-मेधयोः । **अनुवृत्ति**—नञ्-दुस्-सुभ्यः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नञ्, सु दुस् (दुर्) से परवर्ती होने पर ही ('असिच्' हो) । उदा० १—अप्रजाः । २—दुष्प्रजाः । ३—सुप्रजाः । ४—अमेधाः । ५—दुर्मेधाः । ६—सुमेधाः ।

विवरण—समासान्त 'असिच्' प्रत्यय के विधान की व्यवस्था की जा रही है । अतः सूत्र में 'असिच्' पद पढ़ा गया है । 'विकल्प' की निवृत्ति के लिये 'नित्य' पद का प्रयोग सार्थक है । 'प्रजा' और 'मेधा' शब्दों के पूर्व 'नञ्', 'दुस्' तथा 'सु' शब्दों की विद्यमानता आवश्यक है । अतः पूर्व सूत्र (८६१) से 'नञ्-दुः-सुभ्यो' की अनुवृत्ति आ रही है । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र के समान हैं । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "नञ्, दुस् (दुर्) तथा सु—इन से परवर्ती प्रजा तथा मेधान्त बहुव्रीहि से नित्य समासान्त असिच् ('अस्') प्रत्यय हो, उसके साथ ही वह तद्धित-संज्ञक समझा जाय" । **क्रमशः उदाहरण**—(१) क-नञ्-पूर्वक प्रजा-शब्द→अप्रजाः (जिसकी कोई सन्तान न हो) । **विग्रह**—अविद्यमाना प्रजा यस्य । **अलौ० वि०**—न विद्यमाना+सु, प्रजा+सु>न—प्रजा ("नञोऽस्त्यर्थानां०" वा० से समास, अस्त्यर्थक शब्द—'विद्यमाना' का लोप>अप्रजा ('न्' का लोप—"न लोपो नञः" ६-३-७३) > अ—प्रजा+अस् (प्रकृत सूत्र से 'असिच्' प्रत्यय) >अ—प्रजस् ('आ' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४४)> अप्रजस्+सु> (पुनः विभक्ति, उसका "हल्ङ्याभ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८ से लोप) > अप्रजास् ('ज' के अकार को उपधादीर्घ "अत्वसन्तस्य चाऽधातोः" ६-४-१४) > अप्रजाः (स्=र्=:) । (१) ख—'नञ्' पूर्वक मेधा शब्द—अमेधाः (जो बुद्धिहीन हो) । **विग्रह**—न विद्यमाना मेधा यस्य । प्रक्रिया पूर्व उदाहरण के समान । (२) क—दुस् (दुर्) पूर्वक प्रजा शब्द—

सुमेधाः । (८६३) धर्मादनिच्केवलात् ५।४।१२४ ।। केवलात्पूर्वपदात्परो यो धर्म-शब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरनिच्स्यात् । कल्याणधर्मा । केवलात् किम् ? परमः स्वो धर्मो यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ मा भूत् । स्वशब्दो हीह न केवलं पूर्वपदम्, किं तु मध्यमत्वादापेक्षिकम् ।

शोभना प्रजा यस्येति विग्रहः । असिजादि पूर्ववत् । **अमेधा इत्यादि** । अविद्यमाना मेधा यस्येति विग्रहः । असिजादि पूर्ववत् । केचित्तु नित्यग्रहणमन्यतो विधानार्थम्, तेनाल्पमेधसः इत्यादि सिध्यतीत्याहुः ।

(८६३) धर्मादनिच्केवलात् । पूर्वपदादित्यध्याहृत्य केवलादित्यस्य तद्विशेषणत्वमाह—**केवलात्पूर्वपदादिति** । अनिचि चकार इत् । इकार उच्चारणार्थः । मध्यमपदत्वानाक्रान्तत्वं केवलपूर्वत्वम् । **कल्याणधर्मेति** । कल्याणो धर्मो यस्येति विग्रहः । अनिचि 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । **परम इति** । परमः स्वः धर्मो यस्येति बहुव्रीहौ परमस्वधर्मशब्दे स्वशब्दस्य धर्मशब्दापेक्षया पूर्वपदत्वात् ततः परम-स्वधर्मशब्दादप्यचः प्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थं केवलग्रहणमिति भावः । केवलग्रहणे कृते तु न दोष इत्याह—**स्वशब्दो हीह न केवलं पूर्वपदमिति** । **किं त्विति** । किं तु स्वशब्दः धर्मपदापेक्षया पूर्वत्वात्पूर्वपदं, न तु केवलं, मध्यमत्वात् । केवलशब्देन च पदान्तरराहित्यवाचिना मध्यमपदत्वानाक्रान्तत्वलाभादित्यर्थः । इदं च 'इजादे.' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । एवं च त्रिपदबहुव्रीहौ परमस्वधर्म इत्येव भवति, नत्वनिच् । 'सर्वनामसङ्ख्ययोरुपसङ्ख्यानम्' इति स्वशब्दस्य पूर्वनिपातस्तु 'वाहिताग्न्यादिषु' इति पाक्षिकत्वान्न भवति । नन्वेवं सति सन्दिग्धः साध्यः धर्मो यस्य स सन्दिग्धसाध्यधर्मा इत्यत्र कथमनिच् ? अत्र हि सन्दिग्धेति केवलं

दुष्प्रजाः (जिस की सन्तान बुरी हो) । लौ० वि०—दुर्गता प्रजा यस्य । अलौ० वि०—दुर्गता+सु, प्रजा+सु । प्रक्रिया पूर्ववत् (२) ख—दुस् (दुर्) पूर्व मेधा शब्द—**दुर्मेधाः** (जिसकी बुद्धि बुरी हो) । **विग्रह**—दुर्गता मेधा यस्य । प्रक्रिया पूर्ववत् । (३) क—'सु'-पूर्वक प्रजा—**सुप्रजाः** (जिसकी सन्तान अच्छी हो) । **विग्रह**—शोभना प्रजा यस्य । प्रक्रिया पूर्ववत् । (३) ख—'सु'-पूर्वक मेधा **सुमेधाः** (जिसकी बुद्धि अच्छी हो । **विग्रह**—शोभना मेधा यस्य । प्रक्रिया पूर्ववत् ।

(८६३) पद—धर्माद्, अनिच्, केवलात् । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-सूत्र** ।

मूलार्थ—किसी एक पूर्व पद से परवर्ती कर्मशब्दान्त बहुव्रीहि में 'अनिच्' प्रत्यय होता है । उदा० कल्याणधर्मा । केवलात् क्यों कहा ? परमः स्वः धर्मः यस्य—इस त्रिपद बहुव्रीहि में न हो । यहाँ पर 'स्व' पद केवल पूर्वपद नहीं है, किन्तु मध्यम पद होने से आपेक्षिक है । 'सन्दिग्धसाध्यधर्मः' इत्यादि स्थलों में कर्मधारयपूर्वपद बहुव्रीहि है । इसी प्रकार 'परमस्वधर्मा' इत्यादि प्रयोग भी 'निवृत्तिधर्मा' 'अनुच्छित्तिधर्मा' आदि की तरह समीचीन हैं । (ऐसे स्थलों में) पूर्वपद बहुव्रीहि से आक्षिप्त होता है ।

विवरण—पूर्वसूत्र के अनुसार सभी उल्लिखित अनुवृत्तियाँ विद्यमान हैं । तदनुसार विशेष स्थिति में समासान्त 'अनिच्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । सूत्रस्थ 'केवल' पद दूसरे पूर्वपद का निवारक है । अर्थात् "किसी एक शब्द के पूर्वपद में स्थित रहने पर धर्म-शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'अनिच्' प्रत्यय होगा" । इस परिस्थिति में केवल द्विपद बहुव्रीहि ('धर्म'-शब्द परक) का ही ग्रहण होगा । अतः धर्म-शब्दान्त 'त्रिपद-बहुव्रीहि' में समासान्त 'अनिच्' प्रत्यय की प्रसक्ति नहीं होगी । **उदाहरण**—कल्याणधर्मा (जिसका धर्म कल्याणकारी हो) ।

'सन्दिग्धसाध्यधर्मा' इत्यादौ तु कर्मधारयपूर्वपदो बहुव्रीहिः। एवं च परमस्वधर्मा इत्यपि साध्वेव। निवृत्तिधर्मा, अनुच्छित्तिधर्मा इत्यादिवत्। पूर्वपदं तु बहुव्रीहिणा आक्षिप्यते।

पूर्वपदं, धर्मशब्दस्तस्मात् परो न भवति। यस्मात् साध्यशब्दात् परो धर्मशब्दः, तस्य तु न पूर्वपदत्वम्, मध्यमपदत्वादित्यत आह—**सन्दिग्धेति**। सन्दिग्धश्चासौ साध्यश्चेति कर्मधारयः। सन्दिग्धसाध्यः धर्मो यस्येति कर्मधारयगर्भो बहुव्रीहिः। एवं च सन्दिग्ध-साध्यशब्दस्य केवलपूर्वपदत्वात् तत्रानिच् निर्बाध इति भावः। **एवं चेति**। उक्तरीत्या परमश्चासौ स्वश्च परमस्वः धर्मो यस्येति कर्मधारयाश्रयणे तु केवलपूर्वपदत्वादनिच्। परमस्वधर्मेत्यपि साध्वेवेत्यर्थः। **निवृत्तीति**। निवृत्तिः धर्मो यस्येति, अनुच्छित्तिः धर्मो यस्येति च विग्रहः। अत्र समासे निवृत्तिशब्दस्य अनुच्छित्तिशब्दस्य च केवलपूर्वपदत्वात्

विग्रह—कल्याणः धर्मः यस्य। **अलौकिक विग्रह**—कल्याण+सु, धर्म+सु ▷ कल्याण-धर्म (समास—"अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४) ▷कल्याण-धर्म +अन् ('अनिच्' प्रत्यय) >कल्याण-धर्मन् ('अ' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४४) > कल्याणधर्मन्+सु (पुनः विभक्ति) > **कल्याणधर्मा** (उपधादीर्घ, सु-लोप, 'न्'—लोप)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'केवलात्' पद की उपयोगिता के फलस्वरूप त्रिपद—बहुव्रीहि में धर्म-शब्द से पूर्व दो पदों के रहने के कारण 'परमः स्वः धर्मः यस्य' विग्रह करने पर 'अनिच्' प्रत्यय नहीं होता। इस स्थिति में 'परमस्वधर्मः' रूप बनेगा। उसका करण यह है कि यहाँ पर 'धर्म' शब्द से पूर्ववर्ती 'स्व' शब्द बहुव्रीहि समास होने में स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु अपने पूर्ववर्ती 'परम' शब्द की अपेक्षा रखता है। 'अतः 'स्व' शब्द मध्यमपद के रूप में व्यवहृत है।

विशेष—यदि 'धर्म' पद के पूर्ववर्ती दो पदों का पहले 'कर्मधारय' समास हो गया हो तो वे दो पद मिलकर समष्टि-रूप में एक-पदात्मक हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में उस समष्टि के पूर्ववर्ती रहने पर 'धर्मान्त' बहुव्रीहि में 'अनिच्' प्रत्यय मान्य होता है। तदनुसार **'सन्दिग्धसाध्यधर्मा'** में अनिच् प्रत्यय हो गया। उसके विग्रह में द्विपद बहुव्रीहि की विवक्षा नहीं है। वहाँ पर पहले सन्दिग्धश्चासौ साध्यश्च (सन्दिग्ध होने के साथ साध्य भी)—विग्रह कर कर्मधारय समास निष्पन्न करने के बाद 'सन्दिग्धसाध्यः धर्मः यस्य' विग्रह कर धर्मान्त बहुव्रीहि में 'अनिच्' प्रत्यय की समीचीनता सिद्ध होती है। इसी प्रकार **निवृत्तिधर्मा** (निवृत्तिः धर्मः यस्य) तथा **अनु-च्छित्तिधर्मा** (अनुच्छित्तिः धर्मः यस्य) में भी 'अनिच्' प्रत्यय हुआ है। इन दोनों शब्दों में बहुव्रीहि समास में क्रमशः 'धर्म' शब्द के पूर्ववर्ती **'निवृत्ति'** एवं **'अनुच्छित्ति'** 'पद अपनी सिद्धा-वस्था में एकरूपता को प्राप्त कर चुके हैं। इसी के अनुसार यदि 'परमश्चासौ स्वश्च'—'परम' तथा 'स्व' पदार्थ कर्मधारय समास कर 'परमस्वः' एक पद माना जाय तो उसके साथ 'परमस्वः धर्मः यस्य' बहुव्रीहिपरक विग्रह कर प्रकृत सूत्र से 'अनिच्' प्रत्यय की सम्भावना का निवारण नहीं किया जा सकता। तदनुसार उस स्थिति में **'परस्वधर्मा'** प्रयोग मान्य है।

(२) यद्यपि "धर्मादनिच् केवलात्" ५-४-१२४ सूत्र में 'पूर्वपद' का उल्लेख नहीं है एवं वह अनुवृत्ति-लभ्य भी नहीं है, तथापि विशेषणवाची 'केवलात्' पद विशेष्यवाची 'पूर्वपद' का आक्षेप (अध्याहार) करता है—'येन विना यद् अनुपपन्नं तत् तेन आक्षिप्यते'। अन्यथा 'केवलात्' पद की उपयोगिता नहीं रह जाती[1]।

---

१. "बहुव्रीहिणा पूर्वपदाक्षेपे तस्य च समासप्रथमावयवे रूढत्वेन ततः परत्वाभावेनैव त्रिपद-बहुव्रीहौ न दोषः इति प्रश्नः। उत्तरन्तु पूर्वपदशब्दस्य तत्प्रथमावयवे रूढौ न मानम्" इति। —ल० श० शे० प्रकृतसूत्रस्थः। 'रूढौ न मानम्' इत्यस्य 'रूढौ एव न मानम्' इत्यर्थः कृतः टीकाकृता भैरवमिश्रेण।

(८६४) जम्भासुहरिततृणसोमेभ्यः ५।४।१२५॥ जम्भा इति कृतसमासान्तं निपात्यते। 'जम्भो भक्ष्ये दन्ते च'। शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा। हरितजम्भा। तृणं भक्ष्यं यस्य, तृणमिव दन्ता यस्येति वा तृणजम्भा। सोमजम्भा। स्वादिभ्यः किम् ?

यथायोग्यमनिजिति भावः। नन्विह सूत्रे पूर्वपदशब्दस्याश्रवणादनुवृत्त्यभावाच्च कथं पूर्व-पदादिति लभ्यत इत्यत आह—**पूर्वपदं त्विति**।

(८६४) **जम्भा सुहरित**। जम्भेति नकारान्तं पदम्। तदाह—**जम्भेति कृतसमा-सान्तमिति**। अनिजन्तमित्यर्थः। सु, हरित, तृण, सोम इत्येतेभ्यः परो यो जम्भशब्दः तदन्तात् बहुव्रीहेः अनिच्प्रत्ययो निपातित इति भावः। **जम्भो भक्ष्ये दन्ते चेति**। अत्र कोशो मृग्यः। **सुजम्भेति**। सुजम्भशब्दादनिचि 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। **हरित-जम्भेति**। हरितो जम्भो यस्येति विग्रहः। **तृणमिवेति**। तृणशब्दस्य दन्तवाचिना जम्भ-शब्देन सामानाधिकरण्यलाभाय तृणशब्दस्य तत्सदृशे लक्षणेति भावः। **सोमजम्भेति**। सोमः चन्द्रः स इव शुभ्राः जम्भाः दन्ताः यस्येति विग्रहः। सोमः सोमलता वा, सैव जम्भः भक्ष्यं यस्येति विग्रहः। **पतितजम्भ इति**। पतिताः जम्भाः दन्ताः यस्येति विग्रहः।

---

(८६४) पद—जम्भा, सुहरिततृणसोमेभ्यः। **अनुवृत्ति**—अनिच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जम्भा शब्द कृतसमासान्त निपातित है। 'जम्भ' शब्द भक्ष्य और दन्त अर्थ में है। उदा० (१) शोभनः जम्भः अस्य > सुजम्भा। (२) हरितजम्भा। (३) तृणं भक्ष्यं यस्य अथवा तृणम् इव दन्ताः यस्य > तृणजम्भा। (४) सोमजम्भा। स्वादिभ्यः क्यों कहा ? पतितजम्भः ('अनिच्' नहीं हुआ)।

विवरण—सूत्र से 'अनिच्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। वह पूर्व सूत्र (८६३) से अनुवृत्ति-लभ्य है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विद्यमान हैं। समासान्त 'अनिच्' प्रत्यय का विधान किस 'शब्द' से अपेक्षित है ? इस जिज्ञासा की शान्ति सूत्र में 'जम्भा' पद का प्रयोग कर की गई है। 'जम्भ' शब्दान्त बहुव्रीहि से 'अनिच्' (= अन्) प्रत्यय कर निपातित **'जम्भा'** शब्द का प्रयोग इसका द्योतक है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "सु, हरित, तृण तथा सोम से उत्तरवर्ती **'जम्भा'** शब्द कृतसमासान्त निपातित है"। अतः उपर्युक्त तीनों शब्दों से परे 'जम्भा' शब्द का बहुव्रीहि समास होने पर 'अनिच्' प्रत्यय होगा। जम्भ शब्द खाने-पीने का वाचक एवं दन्तवाचक भी है। **क्रमशः उदाहरण**—(१) 'सु' पूर्वक जम्भ शब्द—सुजम्भा (जिसके दाँत सुन्दर हों)। **विग्रह**—शोभनः (सु) जम्भः अस्य > **सुजम्भा** (समास एवम् 'अनिच्' प्रत्ययादि कार्य पूर्व सूत्रोक्त (८६४) उदाहरण के समान हैं)। (२) हरितशब्द पूर्वक जम्भ शब्द—**हरितजम्भा** (जिसका भोजन घास हो)। **विग्रह**—हरितः जम्भः यस्य। समासादि कार्य पूर्ववत्। (३) 'तृण' शब्दपूर्वक 'जम्भ' शब्द—**तृणजम्भा** (जिसका भोजन घास हो अथवा जिसके दाँत घास के समान हों)। **विग्रह**—तृणं जम्भः यस्य। समासादि कार्य पूर्ववत्। (४) 'सोम' शब्दपूर्वक जम्भ शब्द—**सोमजम्भा** (जिसका भोजन सोम हो)। **विग्रह**—सोमः जम्भः यस्य। समासादि कार्य पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'सु' आदि चार शब्दों का उल्लेख होने के कारण **पतितजम्भः** (जिसके दाँत टूट गए हों) में समासान्त 'अनिच्' प्रत्यय नहीं हुआ। अतः प्रथमाविभक्ति में अकारान्त पुंलिङ्ग-वाची शब्द के समान रूप बना। **विग्रह**—पतितः (पतिताः) जम्भः (जम्भाः) यस्य।

पतितजम्भः। (८६५) **दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे** ५।४।१२६॥ दक्षिणे ईर्मं व्रणं यस्य दक्षिणेर्मा मृगः। व्याधेन कृतव्रण इत्यर्थः। (८६६) **इच्कर्मव्यतिहारे** ५।४।१२७॥ कर्मव्यतिहारे यो बहुव्रीहिस्तस्मादिच्स्यात्समासान्तः। केशाकेशि। मुसलामुसलि। (८६७) **द्विदण्डयादिभ्यश्च** ५।४।१२८॥ तादर्थ्ये चतुर्थ्येषा। एषां

---

(८६५) **दक्षिणेर्मा**। लुब्धो व्याधः, तद्योगे 'दक्षिणेर्मा' इत्यनिच्प्रत्ययः, बहुव्रीहिश्च निपात्यते। दक्षिणे ईर्मं यस्येति विग्रहः। ईर्ममित्यस्य व्याख्यानं व्रणमिति। व्यधिकरणत्वेऽपि बहुव्रीहिर्निपातनात्। अनिचि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे दक्षिणेर्मेति रूपम्। लुब्धशब्दं विवृण्वन्नाह—**व्याधेनेति**। रोगादीनां व्रणे तु दक्षिणेर्मः इत्येवेति भावः।

(८६६) **इच् कर्मव्यतिहारे**। **समासान्त इति**। तद्धित इत्यपि ज्ञेयम्। **केशाकेशीति**। अत्र प्रक्रियां प्रागेव प्रदर्शिता।

(८६७) **द्विदण्डयादिभ्यश्च**। द्विदडयादिषु इदन्तानामेव निपातनात् तेभ्यः परत्वेन इच्प्रत्ययविधिरनर्थक इत्याशङ्क्य नेयं पञ्चमीत्याह—**तादर्थ्ये चतुर्थ्येवेति**।

---

(८६५) पद—दक्षिणेर्मा, लुब्धयोगे। **अनुवृत्ति**—अनिच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—('दक्षिणेर्म' से अनिच् प्रत्यय तथा बहुव्रीहि समास का लुब्ध-योग में निपातन हो)। उदा० दक्षिणे ईर्मं = व्रणं यस्य > दक्षिणेर्मा मृगः। अर्थात् व्याध से घायल मृग।

विवरण—'दक्षिणेर्मन्' शब्द की बहुव्रीहि समास में समीचीनता बतलाने के लिये अर्थ-विशेष में (व्याध का सम्बन्ध होने पर) निपातन किया जा रहा है। निपातन में 'अनिच्' प्रत्यय पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति-लभ्य है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् चली आ रही हैं। 'ईर्म' शब्द घाव का पर्यायवाची है। **उदाहरण**—दाक्षिणेर्मा—मृगः (व्याध के द्वारा दाहिने भाग में घाव किया गया मृग)। **विग्रह**—दक्षिणे ईर्मं यस्य। **अलौकिक विग्रह**—दक्षिण+ङि, ईर्म+सु > दक्षिणेर्म (समास एवं गुण) >दाक्षिणेर्म+अन् (अनिच्) >दक्षिणेर्मन् ('अ' का लोप) >दक्षिणेर्मा (प्रथमा विभक्ति का एकवचन)।

(८६६) पद—इच्, कर्मव्यतिहारे। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कर्मव्यतिहार में बहुव्रीहि से समासान्त 'इच्' प्रत्यय हो। **उदा०** १—केशाकेशि। २—मुसला-मुसलि।

विवरण—"परस्पर ग्रहण और परस्पर प्रहरण अर्थ में बहुव्रीहि से समासान्त इच् प्रत्यय हो"। "तत्र तेनेदमिति सरूपे" सू० ८४६ से जो बहुव्रीहि समास किया जाता है, वह यहाँ 'कर्मव्यतिहार' शब्द से लिया गया है। **उदाहरण (१) केशाकेशि** (जिस युद्ध में एक दूसरे के बालों को पकड़ कर लड़ा जाय)। (२) **मुसलामुसलि** (जिस युद्ध में एक दूसरे पर मूसलों के प्रहार से लड़ा जाय)। दोनों की रूपसिद्धि सूत्र ८४६ में देखें।

(८६७) पद—द्विदण्ड्यादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—इच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्विदण्ड्यादिभ्यः—तादर्थ्य में चतुर्थी है। इनकी सिद्धि के लिये 'इच्' प्रत्यय हो। उदा० १—द्वौ दण्डौ यस्मिन् प्रहरणे तद् > द्विदण्डि प्रहरणम्। २—द्विमुसलि। ३—उभाहस्ति। ४—उभयाहस्ति।

सिद्धयर्थमिच्प्रत्ययः स्यात् । द्वौ दण्डौ यस्मिन्प्रहरणे तद् द्विदण्डि प्रहरणम् । द्विमुसलि । उभाहस्ति । उभयाहस्ति । (८६८) प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः ६ । ४ । १२९ ॥ आभ्यां परयोर्जानुशब्दयोर्ज्ञुरादेशः स्याद् बहुव्रीहौ । प्रगते जानुनी यस्य प्रज्ञुः । सञ्ज्ञुः । (८६९)

द्वौ दण्डाविति । कर्मव्यतिहाराभावेऽपि वैरूप्येऽपि बहुव्रीहिः इच्प्रत्ययश्च निपात्यते । **द्विदण्डीति ।** दण्डादण्डीतिवत् प्रक्रिया । कर्मव्यतिहाराभावात् पूर्वपदस्य न दीर्घं इति विशेषः । **द्विमुसलीति ।** द्वे मुसले यस्मिन् प्रहरणे इति विग्रहः । **उभाहस्ति । उभयाहस्तीति ।** उभौ हस्तौ यस्मिन् प्रहरण इति विग्रहः । उभयोऽन्यत्रेति नित्यमयचि प्राप्ते निपातनेन विकल्प्यते । कर्मव्यतिहाराभावेऽपि दीर्घश्च ।

(८६८) प्रसंभ्यां । जानुशब्दयोरिति । प्र सम् इति पूर्वपदद्वित्वात् उत्तरपदभूतजानुशब्दस्यापि द्वित्वं बोध्यम् । जानुन इत्युक्ते तु 'प्रत्ययः, परश्च' इत्यधिकारात् पञ्चम्यन्तत्वसम्भवात् ज्ञोः प्रत्ययत्वं च सम्भाव्येत । तस्यादेशत्वसिद्धये षष्ठीद्विवचननिर्देशः । तदाह—**ज्ञुरादेश इति । प्रज्ञुरिति ।** 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति समासः । **सञ्ज्ञुरिति ।** सङ्गते जानुनी यस्येति विग्रहः ।

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'द्विदण्ड्यादिभ्यः' पद पञ्चम्यन्त नहीं है । यदि 'पञ्चम्यन्त' माना जाता तो उससे पर 'इच्' प्रत्यय करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि 'द्विदण्डि' आदि शब्दों के अन्त में निपातनवश इकार स्वतः सिद्ध था । अतः यहाँ तादर्थ्य में चतुर्थ्यन्त पद का प्रयोग समझा जाय । तदनुसार कर्मव्यतिहार एवं समान रूप के न रहने पर भी कर्मव्यतिहार के अर्थ में प्रयुक्त बहुव्रीहि में समासान्त 'इच्' प्रत्यय होता है । अतः विधेयांश में 'इच्' प्रत्यय पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति-लभ्य है । **उदाहरण**—(१) द्विदण्डि (जिस युद्ध में दो लाठियों से प्रहार किया जाय) । **विग्रह**—द्वौ दण्डौ यस्मिन् (प्रहरणे) । **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, दण्ड+औ > द्विदण्ड (समास—"अनेकमन्यपदार्थे" सू० ८३०) > द्विदण्ड+इ (इच्) > द्विदण्डि ('अ'-लोप) > द्विदण्डि+सु > **द्विदण्डि** (पुनः विभक्ति—नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में 'सु' का लोप "स्वमोर्नपुंसकात्" ७-१-२३) । (२) द्विमुसलि (जिस युद्ध में दो मुसलों से प्रहार किया जाय) । **विग्रह**—द्वे मुसले यस्मिन् (प्रहरणे) । **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, मुसल+औ > द्वि-मुसल (समास) > द्विमुसलि (इच्) > द्विमुसलि+सु > **द्विमुसलि** (विभक्तिकार्य पूर्ववत् । (३) **उभाहस्ति** (जिस युद्ध में दोनों हाथों से प्रहार किया जाय) । **लौकिक विग्रह**—उभौ हस्तौ यस्मिन् (प्रहरणे) । **अलौकिक विग्रह**—उभ+औ, हस्त+औ > उभ—हस्त (समास) > उभहस्त+इ (इच्) > उभहस्ति ('अ' लोप) > उभाहस्ति (दीर्घ-"अन्येषामपि दृश्यते" ६-३-१३७) > उभाहस्ति+सु > **उभाहस्ति** (विभक्ति-कार्य पूर्ववत्) । (४) **उभयाहस्ति** (जिस युद्ध में दोनों हाथों से प्रहार किया जाय) । **विग्रह**—उभयौ हस्तौ यस्मिन् । **अलौकिक विग्रह**—उभय+औ, हस्त+औ । रूपसिद्धि 'उभाहस्ति' के समान है ।

(८६८) पद—प्रसंभ्यां, जानुनोः, ज्ञः । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में इन दोनों ('प्र' तथा 'सम्') से पर 'जानु' शब्द को 'ज्ञु' आदेश होता है । उदा० १—प्रगते जानुनी यस्य > प्रज्ञुः । २—संज्ञुः ।

विवरण—आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । यहाँ प्रत्यय आदेशपरक है । अतः बहुव्रीहि समास में 'प्र' एवं 'सम्' से उत्तरवर्ती 'जानु' शब्द के स्थान में समासान्त 'ज्ञु' आदेश होगा" । **उदाहरण क्रमशः** (१) प्रज्ञुः (जिसके घुटने फैले हों) । **लौकिक विग्रह**—प्रगते

ऊर्ध्वाद्विभाषा ५।४।१३०॥ ऊर्ध्वज्ञुः—ऊर्ध्वजानुः। (८७०) धनुषश्च ५।४।१३२॥ धनुरन्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशः स्यात्। द्विधन्वा। शार्ङ्गधन्वा। (८७१) वा सञ्ज्ञा-

---

(८६९) ऊर्ध्वाद्विभाषा। ऊर्ध्वशब्दात् परो यो जानुशब्दः तस्य ज्ञुरादेशो वा स्यात्। बहुव्रीहावित्यर्थः। ऊर्ध्वज्ञुरिति। ऊर्ध्वे जानुनी यस्येति विग्रहः।

(८७०) धनुषश्च। 'ऊधसोऽनङ्' इति पूर्वसूत्रं स्त्रीप्रत्ययाधिकारे व्याख्यातम्। तस्मादनङित्यनुवर्तते। तदाह—अनङादेश इति। ङित्वादन्तादेशः। 'प्रत्ययः, परश्च' इत्यधिकारस्थत्वेऽपि ङित्त्वादन्तादेश इति भावः। द्विधन्वेति। द्वे धनुषी यस्येति विग्रहः। समासे द्विधनुश्शब्दे सकारस्य अनङादेशः। ङकार इत्। अकार उच्चारणार्थः। उकारस्य यणिति भावः। शार्ङ्गधन्वेति। श्रृङ्गस्येदं शार्ङ्गं 'तस्येदम्' इत्यण्, तत् धनुर्यस्येति विग्रहः। समासे शार्ङ्गधनुश्शब्दे सकारस्यानङ्, ङकार इत्, अकार उच्चारणार्थः, उकारस्य यणिति भावः। महिम्नस्स्तवे 'स्वलावण्याशंसाधृतधनुषम्' इति प्रयोगस्त्वार्षः।

जानुनी यस्य। **अलौकिक विग्रह**—प्रगत्+औ, जानु+औ > प्र-जानु ('प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' वा० से समास तथा 'गत' शब्द का लोप) > प्रज्ञु (जानु = ज्ञु) > **प्रज्ञुः** (प्रथमा एक वचन में रूप)। (२) **संज्ञुः** (जिसके घुटने सटे हुए हों)। **लौकिक विग्रह**—संगते जानुनी यस्य। रूपसिद्धि 'प्रज्ञुः' के समान है।

(८६९) पद—ऊर्ध्वाद्, विभाषा। **अनुवृत्ति**—जानुनोः ज्ञुः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—('ऊर्ध्व' पूर्वक जानु को वैकल्पिक 'ज्ञु' आदेश हो) उदा० ऊर्ध्वज्ञुः—ऊर्ध्वजानुः।

विवरण—पूर्व सूत्र ८६८ से 'जानुनोः ज्ञुः' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप 'ऊर्ध्व' शब्द से उत्तरवर्ती 'जानु' शब्द प्रमुख रूप में अपेक्षित है। तदनुसार स्थानी और आदेश का लाभ होता है। अतः 'जानु' के स्थान पर बहुव्रीहि समास में 'ज्ञु' आदेश विकल्प से होता है। विकल्प होने के कारण पृथक् सूत्र की सार्थकता है। **उदाहरण**—(१) **ऊर्ध्वज्ञुः—ऊर्ध्वजानुः** (जिसके घुटने ऊँचे हों)। **विग्रह**—ऊर्ध्वे जानुनी यस्य। समासादि कार्य पूर्व सूत्र के उदाहरण 'प्रज्ञुः' के समान हैं। 'ज्ञु' आदेश न होने पर 'ऊर्ध्वजानुः'।

(८७०) पद—धनुषः, च। **अनुवृत्ति**—अनङ्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्यय, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में 'धनुष्' के अन्तिम वर्ण को 'अनङ्' आदेश होता है। उदा० १–द्विधन्वा। २–शार्ङ्गधन्वा।

विवरण—अष्टाध्यायी-क्रम में इस सूत्र के पूर्व "ऊधसोऽनङ्" ५-४-१३१ सूत्र है। अतः 'अनङ्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व चली आ रही हैं। स्थानी बहुव्रीह्यन्त 'धनुस्' शब्द है, समासान्त आदेश 'अनङ्' ङित् होने के कारण "ङिच्च" १-१-५२ से अन्त्य 'अल्'='ष्' के स्थान पर होगा। **उदाहरण**—(१) **द्विधन्वा** (जिसके पास दो धनुष हैं)। **विग्रह**—द्वे धनुषी यस्य। **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, धनुष्+औ > द्विधनुष् (बहुव्रीहि) > द्वि-धनु+अन् (ष्–स् = अनङ्) > द्विधन्वन् (यण्→उ = व्) > द्विधन्वन्+सु (विभक्त्युत्पत्ति) > **द्विधन्वा** (प्रथमा एकवचन में—उपधा-दीर्घ, सु-लोप, 'न्' लोप)। (२) **शार्ङ्गधन्वा** (जिसका धनुष सींग का हो)। **विग्रह**—शार्ङ्गं धनुः यस्य। **अलौकिक विग्रह**—शार्ङ्ग+सु, धनुष्+सु। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। महिम्नस्तोत्र का 'धृतधनुषम्' प्रयोग आर्ष है।

याम् ५।४।१३३॥ शतधन्वा—शतधनुः। (८७२) जायाया निङ् ५।४।१३४॥ जायान्तस्य बहुव्रीहेर्निङादेशः स्यात्। (८७३) लोपो व्योर्वलि ६।१।६६॥ वकारयकारयोर्लोपः स्याद्वलि। पुंवद्भावः। युवतिर्जाया अस्य युवजानिः। (८७४)

---

(८७१) वा सञ्ज्ञायाम्। 'धनुषश्च' इत्युक्तः अनङ् सञ्ज्ञायां वा स्यादित्यर्थः। शतधन्वेति। शतधन्वा नाम राजविशेषः स्यमन्तकोपाख्याने प्रसिद्धः।

(८७२) जायाया निङ्। आदेश इति। 'प्रत्ययः, परश्च' इत्यधिकारस्थत्वेऽपि ङित्त्वादन्तादेशोऽयमिति भावः।

(८७३) लोपो व्योर्वलि। व् य् अनयोर्द्वन्द्वात् षष्ठीद्विवचनम्। तदाह—वकार-

---

(८७१) पद—वा, संज्ञायाम्। अनुवृत्ति—धनुषः, अनङ्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—(संज्ञा में विकल्प से आदेश हो)। **उदाहरण**—शतधन्वा—शतधनुः।

विवरण—पूर्व सूत्र का विस्तार है, किन्तु कुछ सीमा के साथ। अतः स्थानी तथा आदेश के लिये पूर्व दो सूत्रों ५-४-१३२ तथा ५-४-१३१ से क्रमशः 'धनुषः' तथा 'अनङ्' का अनुवृत्तिजन्य लाभ होता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "संज्ञा-विषय में धनुष्-शब्दान्त बहुव्रीहि को विकल्प से समासान्त 'अनङ्' आदेश हो"। **उदाहरण**—शतधन्वा (जिसके पास सौ धनुष हों—एक वीर का नाम)[1]। **विग्रह**—शतानि धनूंषि यस्य। **अलौकिक विग्रह**—शत+जस्, धनुष्+जस्। शेष प्रक्रिया पूर्व सूत्र के समान। 'अनङ्' के न होने पर शतधनुः→शत-धनुष्+सु > शतधनुष् ('सु'–लोप) > शतधनुर् (स् = र) > शतधनुः (र् = :)। पूर्व सूत्र से नित्य अनङ् प्राप्त था। संज्ञाविषय में विकल्प कर दिया।

(८७२) **पद**—जायायाः, निङ्। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—जायान्त बहुव्रीहि को 'निङ्' आदेश होता है।

विवरण—समासान्त आदेश-रूप प्रत्यय के विधान का प्रकरण ही चल रहा है। उल्लिखित अनुवृत्तियों का लाभ कर सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "जाया-शब्दान्त बहुव्रीहि को समासान्त 'निङ्' आदेश होता है"। आदेश 'ङित्' होने के कारण "ङिच्च" १-१-५२ से अन्त्यावयव होगा। उदाहरण आगे दिया गया है।

(८७३) **पद**—लोपः, व्योः, वलि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'वल्' प्रत्याहार परे रहते 'व्' और 'य्' का लोप होता है। (आगे दिये जाने वाले उदाहरण में) पुंवद्भाव। उदा० युवजानिः।

विवरण—प्रसङ्गवश पूर्वसूत्र (८७१) के उदाहरण में उपयोगी इस सूत्र को यहाँ उद्धृत किया

---

१. हृदिक यादव का पुत्र एक वीर योद्धा। अक्रूर और कृतवर्मा के उकसाने पर सत्यभामा के पिता सत्राजित् के सोते समय वध करने के अपराध में श्रीकृष्ण ने इसे मारा था—

"लब्ध्वैतदन्तरं राजन् शतधन्वानमूचतुः।
अक्रूरकृतवर्माणौ मणिः कस्मान्न गृह्यते॥"
"प्रत्याख्यातः स तेनाऽपि शतधन्वा महामणिम्।
तस्मिन् न्यस्याश्वमारुह्य शतयोजनगं ययौ॥"
"तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना।
कस्मिंश्चित् पुरुषे न्यस्तः तमन्वेष पुरं व्रज॥"

भागवत १०-५७-३।१८।२३

गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ५ । ४ । १३५ ॥ एभ्यो गन्धस्येकारोऽन्तादेशः स्यात् । उद्गन्धिः । पूतिगन्धिः । सुगन्धिः । सुरभिगन्धिः । 'गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणम्' (वा

यकारयोरिति । पुंवद्भाव इति । 'स्त्रियां पुंवत्' इत्यनेनेति शेषः । युवजानिरिति । जायाशब्दे यकारादाकारस्य निङ् । ङकार इत्, 'लोपो व्योः' इति यकारलोपः । युवतिशब्दस्य पुंवत्त्वात् तिप्रत्ययस्य निवृत्तिः । नलोप इति भावः ।

(८७४) गन्धस्येदुत् । गन्धस्य इत् इति च्छेदः । एभ्य इति । उत्, पूति, सु, सुरभि एतेभ्य इत्यर्थः । इकारोऽन्तादेश इति । पूर्वोत्तरसाहचर्यादिकार आदेश एवेति भावः । समासान्ताधिकारात् 'आदेः परस्य' इति न भवति । उद्गन्धिरिति । उद्गतो गन्धो यस्येति विग्रहः । पूतिगन्धिरिति । पूतिशब्दः असुरभौ । पूतिः गन्धो यस्येति विग्रहः । सुगन्धिरिति । शोभनो गन्धो यस्येति विग्रहः । सुरभिगन्धिरिति । सुरभिः गन्धो यस्येति विग्रहः । सर्वत्र 'वायुः' इति विशेष्यम् । तदेकान्तेति । तस्य विशेष्यभूतद्रव्यस्य

जा रहा है । यह सूत्र रचना में पूर्ण है । तदनुसार "'वल्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के उत्तरवर्ती रहने पर 'व्' तथा 'य्' का लोप होगा" । 'वल्' प्रत्याहार में स्वरवर्ण तथा यकार को छोड़कर शेष सभी वर्ण आ जाते हैं । **उदाहरण**—युवजानिः (जिसकी पत्नी युवति हो) । **विग्रह**—युवतिः जाया यस्य । **अलौ० वि०**—युवति+सु, जाया+सु > युवति-जाया (बहुव्रीहि समास) > युवति-जाय् नि (आ=नि→"जायाया निङ्" सू० ८७२)>युवति-जानि (य्-लोप—"लोपो व्योर्वलि" सू० ८७३) > युवन्-जानि ("स्त्रियाः पुंवद्०" सू० ८३९ से पुंवद्भाव युवति = युवन्) > युवजानि (न-लोप) > युवजानिः (विभक्ति-कार्य) ।

(८७४) पद—गन्धस्य, इत्, उत्-पूति-सु-सुरभिभ्यः । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात् । प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन शब्दों से परे गन्ध को इकार-अन्तादेश हो । उदा० १—उद्गन्धिः । २—पूतिगन्धिः । ३—सुगन्धिः । ४—सुरभिगन्धिः । वा० 'गन्ध' शब्द के इत्व में उसके एकान्त का ग्रहण हो । एकान्त=एकादेश की तरह अविभाजित रूप से लक्षित होना (अभीष्ट है) । उदा० १—सुगन्धि पुष्पं सलिलं च । २—सुगन्धिः वायुः । (विभाजित रूप में रहने पर) सु शोभनाः गन्धाः द्रव्याणि अस्य > सुगन्धः आपणः में ('इ' आदेश) नहीं हुआ ।

विवरण—प्रासङ्गिक प्रकरण के उपरान्त यथाक्रम पुनः बहुव्रीहि-समास के सन्दर्भ में समासान्त प्रत्यय का आदेशात्मक विधान बतलाया जा रहा है । स्थानी है 'गन्ध' शब्द का अन्तिम वर्ण = अ ("अलोन्त्यस्य" १-१-५२ के आधार पर) । आदेश है—ह्रस्व 'इ'कार (आदेशवाची 'इ' में तकार का उच्चारण किये जाने से "तपरस्तत्कालस्य" १-१-७० के आधार पर) । निमित्त-विशेष है—'वल्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों का उत्तरवर्ती होना । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "उत्, पूति, सु तथा सुरभि शब्दों से 'गन्ध' शब्द के उत्तरवर्ती होने पर उसके अन्तिम 'अकार' को बहुव्रीहि समास में समासान्त इकार-आदेश हो" । **क्रमशः उदाहरण**—(१) 'उत्' पूर्वक गन्ध शब्द—उद्गन्धिः (जिसका गन्ध उत्कट हो) । **विग्रह**—उद्गतः गन्धः यस्य । **अलौ० वि०**—उद्गत+सु, गन्ध+सु > उद्गन्ध ("प्रादिभ्यो धातुजस्य" वा० से समास तथा 'गत' शब्द का लोप, विभक्तिलोप) > उद्गन्धि ("गन्धस्येदुत०" ८७४ से 'अ' को 'इ' आदेश) > उद्गन्धिः (प्रथमा एक वचन में रूप) । (२) 'पूति' पूर्वक गन्ध शब्द—पूतिगन्धिः (जिसकी गन्ध बुरी हो) । **विग्रह**—पूतिः गन्धः यस्य । बहुव्रीहि समास । 'अ' को 'इ' आदेश आदि कार्य पूर्ववत् (३) 'सु' पूर्वक 'गन्ध' शब्द—सुगन्धिः (जिसकी गन्ध

३३६८)। एकान्तः एकदेश इवाविभागेन लक्ष्यमाण इत्यर्थः । सुगन्धि पुष्पं सलिलं च । सुगन्धिर्वायुः । नेह, शोभनाः गन्धाः = द्रव्याण्यस्य सुगन्ध आपणः । (८७५) अल्पाख्यायाम् ५ । ४ । १३६ ॥ सूपस्य गन्धो लेशो यस्मिंस्तत्सूपगन्धि भोजनम् । घृतगन्धि ।

एकान्तः एकदेश इव प्रतीयमान इत्यर्थः । अत्र गन्धस्य गुणस्य द्रव्यैकदेशत्वं न युज्यत इत्याशङ्क्य एकान्तशब्दः एकदेशवदविभक्ते लाक्षणिक इत्याह—एकान्तः एकदेश इवेति । सुगन्धि पुष्पं सलिलं चेति । अत्र गन्धस्य पुष्पात् सलिलाच्च द्रव्यात् पृथगलक्ष्यमाणत्वादिति भावः । सु शोभना इति । सु इत्यस्य व्याख्यानं शोभना इति । गन्धा इति । गन्धवन्त इत्यर्थः । 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः' इति लुक् । द्रव्याणीति । चन्दनादीनीत्यर्थः । गन्धा इत्यस्य विशेष्यमेतत् । गन्धशब्दस्य नपुंसकद्रव्यविशेषणत्वेपि नियतलिङ्गत्वात् पुंस्त्वं युज्यते—

'गन्धस्तु सौरभे नृत्ये गन्धके गर्वलेशयोः ।
स एव द्रव्यवचनो बहुत्वे पुंसि च स्मृतः ॥'

इति कोशात् । सुगन्ध आपण इति । अत्र गन्धशब्दवाच्यानां चन्दनादिद्रव्याणां विशेष्यभूतापणापेक्षया पृथक् लक्ष्यमाणत्वादित्वं नेति भावः ।

(८७५) अल्पाख्यायाम् । अल्पवचने सति गन्धशब्दस्य इकारोऽन्तादेशः स्यात् बहुव्रीहावित्यर्थः । लेश इति गन्धशब्दस्य विवरणम् । सूपस्य गन्धः यस्मिन्नित्येव विग्रहः । सूपगन्धि भोजनमिति । उत्पूतिसुसुरभिपूर्वकत्वाभावादेकान्तत्वाभावाच्चाप्राप्ते वचनमिदम् ।

अच्छी हो)। विग्रह—सु (शोभनः) गन्धः यस्य । समासादि कार्य एवं 'अ' = 'इ' आदेश कार्य पूर्ववत् । (४) 'सुरभि'—पूर्वक गन्ध शब्द—सुरभिगन्धिः (जिसकी गन्ध उत्तम हो)। लौ० वि०—सुरभिः गन्धः यस्य । समासादि कार्य पूर्ववत् ।

सूत्र की प्रवृत्ति को वार्तिक द्वारा सीमित किया जा रहा है। "तदनुसार 'उत्' आदि शब्दों से उत्तरवर्ती 'गन्ध' शब्द के अन्त्य अकार के स्थान में तभी 'इ' आदेश होगा जब गन्ध अर्थात् पार्थिव गुण किसी द्रव्य के साथ अविभाजित रूप से लक्षित हो"। इस के विपरीत 'गन्ध' यदि द्रव्य के साथ विभाजित रूप में अर्थात् पृथक् रहेगा तो 'अकार' के स्थान में 'इकार' आदेश नहीं होगा। अतः सुगन्धि पुष्पं (उत्तम गन्ध वाला फूल—शोभनः गन्धः यस्य तत्) तथा सुगन्धि सलिलं (सुगन्ध-युक्त जल—शोभनः गन्धः यस्य तत्)—इन दोनों उदाहरणों में तथा सुगन्धिः वायुः (उत्तम गन्धयुक्त हवा—शोभनः गन्धः यस्य सः) में क्रमशः पुष्प, जल और वायु में 'गन्ध' समवेत रूप में (अर्थात् अविभाजित) रहता है, अतः अ='इ' आदेश हो गया। इसके विपरीत सुगन्धः आपणः (उत्तम गन्ध-युक्त व्यापारी—शोभनाः गन्धाः=द्रव्याणि अस्य) में 'गन्ध' शब्द के अन्तिम अ-कार को इ-कार आदेश नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ आपण (व्यापारी) और गन्ध की स्थिति समवेत रूप में नहीं हैं, किन्तु विभक्त है।

(८७५) पद—अल्पाख्यायाम् । अनुवृत्ति—गन्धस्य इत्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—('गन्ध' का अल्प कथन होने पर 'इ' आदेश हो) उदा० सूपस्य गन्धः यस्मिन् तत् ▷ सूपगन्धि भोजनम् । विश्वकोष में 'गन्ध' शब्द अल्पार्थक है—'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्ध-गर्वयोः' ।

विवरण—पूर्व सूत्र का विस्तार है। अतः मुख्य रूप में 'गन्धस्य इत्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यजित होता है कि "थोड़ा अर्थ कथन

'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः-' इति विश्वः। (८७६) उपमानाच्च ५।४। १३७॥ पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः। (८७७) पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५।४। १३८॥ हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ।

व्यधिकरणपदानामपि क्वचिदस्ति बहुव्रीहिरिति मूल एवानुपदं वक्ष्यते। **घृतगन्धीति।** घृतस्य गन्धः लेशः यस्मिन्निति विग्रहः। गन्धशब्दस्याल्पवाचित्वे प्रमाणमाह—**गन्धो गन्धक इति।**

(८७६) **उपमानाच्च।** उपमानवाचिपूर्वपदात् परस्यापि गन्धशब्दस्य इकारोऽन्तादेशः स्यात् बहुव्रीहावित्यर्थः। **पद्मस्येवेति।** फलितार्थकथनमिदम्। पद्मगन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहः। पद्मपदं पद्मसम्बन्धिगन्धसदृशे लाक्षणिकम्। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इति समासः।

(८७७) **पादस्य लोपः।** अहस्त्यादिभ्य इति च्छेद.। उपमानादित्यनुवर्तते। तदाह—**हस्त्यादिवर्जितादिति।** 'आदेः परस्य' इत्यप्रवृत्तये आह—**समासान्तो बहुव्रीहाविति।** शैषिकस्य कपो निवृत्त्यर्थमपि लोपस्य समासान्तत्वम्। अन्यथा अनुक्तसमासान्त-

---

होने पर बहुव्रीहि समास में 'गन्ध' शब्द को समासान्त इकार आदेश हो"। **उदाहरण**—(१) **सूपगन्धिः** (जिस भोजन में थोड़ी दाल है)। **विग्रह**—सूपस्य गन्धः यस्मिन्। **अलौ० वि०**—सूप+ङस्, गन्ध+सु। नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा एक-वचन। शेष कार्य पूर्ववत्। (२) **घृतगन्धिः** (वह भोजन जिसमें घी थोड़ा हो) विग्रह आदि समस्त कार्य पूर्ववत्।

(८७६) पद—उपमानात्, च। **अनुवृत्ति**—गन्धस्य इत्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० पद्मस्य इव गन्धः अस्य > पद्मगन्धिः।

विवरण—विशेष परिस्थिति में 'गन्ध' के अन्तिम अ-कार को इ-कार का विधान किया जा रहा है। अतः सभी अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र ८७५ के समान विद्यमान हैं। तदनुसार "उपमानवाची शब्दों से उत्तरवर्ती 'गन्ध' शब्द को भी बहुव्रीहि में समासान्त इ-कार आदेश होता है"। **उदाहरण—पद्मगन्धिः** (जिसमें कमल की सी गन्ध हो)। **लौ० वि०**—पद्मगन्धस्य इव गन्धः अस्य। **अलौ० वि०**—पद्मगन्ध+सु, गन्ध+सु > पद्मगन्ध ('सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य०' वा० से समास तथा उत्तर पद का लोप) > पद्मगन्धि (अ = इ) > **पद्मगन्धिः** (विभक्ति-कार्य)।

विशेष—भट्टोजी दीक्षित ने मूलार्थ में विग्रह को फलितार्थ-कथन के रूप में बतलाया है। तदनुसार कमलार्थ पद्म-शब्द गन्ध-सदृशार्थक है। अर्थात् 'पद्म' शब्द पद्मसम्बन्धि गन्ध की समानता को लक्षणा द्वारा सूचित करता है। अतः व्यधिकरण बहुव्रीहि का यह उदाहरण है।

(८७७) पद—पादस्य लोपः, अहस्त्यादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—उपमानात्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—बहुव्रीहि में हस्ति आदि से भिन्न उपमानवाचक से परे 'पाद' (के अन्त्य) का लोप हो। 'अ' का लोप स्थानिद्वारा समासान्त है। उदा० व्याघ्रस्य इव पादौ अस्य > व्याघ्रपात्। अहस्ति आदि क्यों कहा? हस्तिपादः तथा कुसूलपादः (अकार लोप-आदेश नहीं हुआ)।

विवरण—'पाद' शब्द के सम्बन्ध में समासान्त प्रत्यय की 'लोप' रूप में व्यवस्था की जा रही है। लोप की भावात्मक स्थिति को स्थानिद्वारा समासान्त (प्रत्यय) के रूप में ग्रहण करने का निर्देश भी दिया जा रहा है। तदनुसार समासान्त अधिकार में उसके औचित्य द्वारा यह सूचित किया जा रहा है कि आदेशरूप लोप में स्थानिस्वरूप अकार का आरोप कर लोप को भी समासान्त के रूप में स्वीकार किया जाय। अतः सूत्रार्थ की निष्पत्ति इस रूप में की जाती है कि

स्थानिद्वारेणायं समासान्तः। व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः। कुसूलपादः। (८७८) कुम्भपदीषु च ५। ४। १३९॥ कुम्भपद्यादिषु पादस्य लोपो ङीप् च निपात्यते स्त्रियाम्। 'पादः पत्' (सू० ४१४) कुम्भपदी। स्त्रियाम्

त्वात् कप् प्रसज्येत। नचाभावात्मकस्य लोपस्य कथं समासान्तावयवत्वमित्यत आह— **स्थानीति। व्याघ्रस्येवेति।** फलितार्थकथनमिदम्। व्याघ्रपादाविव पादावस्येति विग्रहः। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इति समासः।

(८७८) कुम्भपदीषु च। कुम्भपदीष्विति बहुवचननिर्देशात् गणपाठाच्च कुम्भपद्यादिग्रहणमिति भावः। **ङीप् चेति।** 'पादोऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पापवाद इति भावः। **स्त्रियामिति।** कुम्भपद्यादीनां स्त्रीलिङ्गानामेव गणे पाठादिति भावः। **कुम्भपदीति।**

"हस्ति-आदि शब्दों से भिन्न उपमान-वाचक से परवर्ती 'पाद' शब्द का समासान्त लोप हो"। "अलोऽन्त्यस्य" १-१-५१ परिभाषा के सहकार से 'पाद' शब्दावयव अन्त्य अकार का ही लोप होगा। **उदाहरण**—व्याघ्रपात् (जिसके पाँव बाघ की तरह हों, कटहल वृक्ष भी)। **विग्रह**—व्याघ्रस्य पादौ इव पादौ यस्य। **अलौ० वि०**—व्याघ्रपाद्+औ, पाद+औ ▷ व्याघ्रपाद् ('सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य०' वा० से समास तथा उत्तरपद का लोप) >व्याघ्रपाद् ('पाद' के अन्त्य का लोप) ▷ **व्याघ्रपात्** (विभक्ति-कार्य तथा द्=त्—चर्त्व—"वाऽवसाने" ५-४-१३८)। पक्ष में **व्याघ्रपादः**।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अहस्त्यादि' पद का निवेश करने से **हस्तिपादः** (जिसके पैर हाथी की तरह हों) तथा **कुसूलपादः** (जिसके पैर अन्न रखने के लिये मिट्टी के गोल पात्र की तरह हों) में हस्त्यादि 'पाद' के उपमान रहने पर अन्त्य अकार का लोप नहीं हुआ, क्योंकि ये शब्द 'हस्ति' आदि गण में पठित हैं। विग्रह तथा सिद्धि पूर्व उदाहरणों के समान है।

विशेष—(१) यदि इस अन्त्य-लोप को समासान्त के प्रकरण में नहीं पढ़ा जाता तो "आदेः परस्य" १-१-५४ परिभाषा के अनुसार यह आदेश आदि के स्थान में प्रवृत्त होता। 'समासान्त' अधिकार के साथ 'तद्धित' का भी अधिकार होने से प्रत्यय की स्थिति प्रकृति से पर होने के फलस्वरूप 'अन्तिम' अकार का अभीष्ट लोप होता है। इसके अतिरिक्त "शेषाद् विभाषा" ५-४-१५४ से वैकल्पिक 'कप्' की प्राप्ति सम्भव थी। उसके निवारणार्थ ही प्रकृत-सूत्र से अकार-लोप-रूपी प्रत्यय के समासान्त होने के कारण, लोप को स्थानिवद्भाव होने के फलस्वरूप, अन्य समासान्त प्रत्यय (कप्) का निवारण किया जाता है। समासान्त 'कप्' प्रत्यय तभी होता है, जब कोई अन्य समासान्त प्रत्यय न हुआ हो।

(२) यद्यपि लोप अदर्शन—(अभाव)—स्वरूप है, वह किसी का अवयव नहीं हो सकता है, अतः उसका समासान्त अधिकार में पाठ करने में कोई औचित्य नहीं—यह शंका उपस्थित होती है, तथाऽपि यहाँ आदेशरूप लोप में (= 'पाद' शब्द के अन्त्य अकार में) स्थानिवद्भाव से समासावयवत्व का आरोप कर लोप को भी समासान्त माना गया है।

(८७८) पद—कुम्भपदीषु, च। **अनुवृत्ति**—पादस्य लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कुम्भपदी आदि में स्त्री-लिङ्ग की विवक्षा में 'पाद' का लोप तथा 'ङीप्' निपातन किया जाता है। उदा० कुम्भपदी। यहाँ 'पाद' के स्थान पर 'पद्' आदेश—"पादः पत्" सू० ४१४। स्त्रियाम् क्यों कहा? कुम्भपादः (पुंलिङ्ग में 'अ' का लोप न हो)।

विवरण—'कुम्भपदी' आदि गणपठित शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग होने का नियमन करने हेतु पृथक् सूत्र का निवेश किया जा रहा है। अतः पूर्व सूत्र ("पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः"

किम् ? कुम्भपादः । (८७९) सङ्ख्यासुपूर्वस्य ५ । ४ । १४० ॥ पादस्य लोपः स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ । द्विपात् । सुपात् । **(८८०) वयसि दन्तस्य दतृ ५।४।१४१ ॥** सङ्ख्यासुपूर्वस्य दन्तस्य दतृ इत्यादेशः स्याद्वयसि । द्विदन् । चतुर्दन् । षट् दन्ता अस्य

कुम्भस्येव पादावस्येति विग्रहः । 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' इति लोपे सिद्धे तदनुवादेन नित्यं ङीबर्थं वचनम् ।

(८७९) **सङ्ख्यासुपूर्वस्य** । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**पादस्येति** । उपमानात् परत्वाभावादप्राप्तौ वचनम् । **द्विपादिति** । द्वौ पादावस्येति विग्रहः । **सुपादिति** । शोभनौ पादावस्येति विग्रहः ।

(८८०) **वयसि दन्तस्य दतृ** । **द्विदन्निति** । द्वौ दन्तौ यस्येति विग्रहः । शिशुत्वं गम्यते । दन्तस्य दत्रादेशः । ऋकार इत् । उगित्त्वान्नुम् । सुलोपः । संयोगान्तलोपः । तस्यासिद्धत्वादुपधादीर्घो न । **चतुर्दन्निति** । चत्वारो दन्ता यस्येति विग्रहः । दत्रादि

५-४-१३८) के विषय को अभिलक्षित कर "कुम्भपदी आदि शब्दों में कुम्भ पूर्वक 'पाद' के अन्त्य का लोप एवम् 'ङीप्' प्रत्यय का निपातन किया गया है" । अर्थात् समुदाय-रूप में इन शब्दों की समीचीनता है । **उदाहरण**—कुम्भपदी (जिस स्त्री के पैर हाथी के सिर के समान हैं)। **विग्रह**—कुम्भस्य इव पादौ यस्याः । **अलौ० वि०**—कुम्भ+ङस् , पाद+औ > कुम्भपाद् (समास) ▷ कुम्भपाद्+ई ('अ' का लोप तथा ङीप्—"पादोन्यतरस्याम्" ४-१-८) ▷ कुम्भपत्+ई (पाद=पत्—"पादः पत्" ६-४-१३०) ▷ कुम्भपदी (त्=द्—"झलां जशोऽन्ते" ८-२-३९) ▷ कुम्भपदी+सु (पुनः विभक्ति) > **कुम्भपदी** (विभक्ति-लोप "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८) ।

प्रत्युदाहरण—'कुम्भपदी' आदि गणपाठ के अनुसार स्त्रीलिङ्गान्त शब्दों का समावेश होने से स्त्रीलिङ्ग में ही कुम्भपूर्वक 'पाद' के अन्त्य 'अ' का लोप होगा, पुंलिङ्ग में नहीं, अतः पुंलिङ्ग में **कुम्भपादः** रूप बनता है ।

(८७९) पद—संख्या-सु-पूर्वस्य । **अनुवृत्ति**—पादस्य लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में 'पाद' के अन्त्य का समासान्त लोप होता है । उदा० १—द्विपात् २—सुपात् ।

विवरण—"संख्यावाचक एवं 'सु' शब्दपूर्वक 'पाद' शब्द के 'अन्त्य'—अकार का बहुव्रीहि में समासान्त लोप होता है" (संख्या च सुश्च—संख्या-सू, तौ पूर्वौ यस्य) । क्रमशः **उदाहरण**—(१) द्विपात् (जिसके दो पैर हों—मनुष्य) । **विग्रह**—द्वौ पादौ यस्य । **अलौ० वि०**—द्वि+औ पाद+औ ▷ द्विपाद् (समास—"अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४) > द्विपाद् ('अ' का लोप) ▷द्विपात्+सु (पुनः विभक्ति) >द्विपाद् (विभक्ति लोप) ▷**द्विपात्** (द्=त्—चर्त्व) । (२) **सुपात्**—(जिसके पैर अच्छे हों) । **विग्रह**—शोभनौ पादौ अस्य । शेष कार्य पूर्ववत् ।

(८८०) पद—वयसि, दन्तस्य, दतृ । **अनुवृत्ति**—संख्या-सु-पूर्वस्य, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'संख्या' एवं 'सु'-पूर्वक 'दन्त' को 'दतृ' आदेश हो, जब समस्त शब्द अवस्था-विशेष का बोधक हो । उदाहरण १—क—द्विदन् । १—ख—चतुर्दन् । १—ग—षड् दन्ताः अस्य ▷ षोडन् । २—सुदन्—सुदती । वयसि क्यों कहा ? १—द्विदन्तः (हाथी) । २—सुदन्तः—नट ।

विवरण—सूत्र में 'स्थानी' तथा 'आदेश'-वाचक दोनों पद विद्यमान हैं । आदेशात्मक रूप

षोडन् । **सुदन्—सुदती** । **वयसि किम्** ? **द्विदन्तः करी** । **सुदन्तो नटः** । (८८१) **स्त्रियां सञ्ज्ञायाम् ५ । ४ । १४३ ॥** दन्तस्य दतृ स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ । अयोदती । फाल-

---

पूर्ववत् । षोडन्निति । षट् दन्ता यस्येति विग्रहः । दत्रादि पूर्ववत् । 'षष उत्त्वमिति ष्टुत्वोत्त्वे । **सुदन्निति** । सु शोभना दन्ताः समस्ता जाता यस्येति विग्रहः । वयो-विशेषावगतये समस्तस्य निवेशः । **सुदतीति** । शोभना दन्ताः समस्ता यस्या इति विग्रहः । दत्रादेशः । 'उगितश्च' इति ङीप् । **द्विदन्तः करोति** । हस्तिनः सर्वदा द्विदन्तत्वेन वयो-विशेषानवगतिरिति भावः ।

(८८१) **स्त्रियां सञ्ज्ञायाम्** । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**दन्तस्येति** । वयोविशेषा-

---

समासान्त–प्रकरण में पठित होने से उसी स्थिति में समीचीन माना जायगा। पूर्वसूत्र "संख्यासु-पूर्वस्य" ५·४·१४० की अनुवृत्ति का लाभ होने के फलस्वरूप "'संख्या' अथवा 'सु' शब्द-पूर्वक 'दन्त' शब्द के स्थान में अवस्था (वय) गम्यमान होने पर बहुव्रीहि में समासान्त 'दतृ' ('दत्') आदेश होता है"। "अनेकाल्-शित् सर्वस्य" १·१·५१ परिभाषा की सहायता से समग्र 'दन्त' शब्द 'दतृ' (='दत्') में परिवर्तित हो जायगा। आदेश ('दतृ') में ऋकार की इत्संज्ञा का फल 'नुम्' आगम ("उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" ७·१·७०) का होना है। **उदाहरण**—संख्या–पूर्वक 'दन्त' शब्द—१ क–द्विदन् (जिस बच्चे को केवल दो दाँत निकले हों)। **विग्रह—द्वौ** दन्तौ यस्य। **अलौ० वि०**—द्वि+औ, दन्त+औ > द्विदन्त (बहुव्रीहि समास) ⊳ द्विदत् (दन्त=दतृ)⊳ द्विदत्+सु (पुनः विभक्ति) > द्विदन्-त्–सु (नुम्) > द्विदन्–त् (सु-लोप)> **द्विदन्** (त्=लोप–"संयोगान्तस्य लोपः" ८·२·२३)। १—ख–**चतुर्दन्** (जिस बालक के चार दाँत निकले हों)। **विग्रह**—चत्वारः दन्ताः यस्य। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। १—ग–**षोडन्** (छह दाँतों वाला बालक)। **विग्रह**—षट् दन्ताः यस्य। **अलौ० वि०**—षष्+जस्, दन्त+जस् ⊳ षष्-दन्त (समास) > षष्-दत् (दन्त=दतृ) > ष–उ, ढत् (ष=उ तथा द=ढ—'षष उत्वं दतृ-दश-धा-सूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च धासु वेति वाच्यम्' वा०) ⊳ षोढत् (अ+उ=ओ-गुण) ⊳ षोढत्+सु (पुनः विभक्ति) ⊳ षोडन्-त्-सु (नुम्–आगम) > षोडन्-त् (विभक्तिलोप) > **षोडन्** (त्–का संयोगान्त लोप)। संयोगान्त लोप के असिद्ध होने के कारण 'न्' का लोप नहीं होता। २—**सु-पूर्वक** 'दन्त' का **उदाहरण—सुदन् सुदती** (जिस स्त्री के सुन्दर दाँत हों)। **विग्रह**—शोभनौ दन्तौ यस्य। **अलौ० वि०**—सु, दन्त+औ > सुदन्त (बहुव्रीहि समास) > सुदत् (दन्त=दतृ) > सुदत्+सु ⊳ सुदन्-त्-सु ('नुम्' आगम) > सुदन्-त् (विभक्तिलोप) ⊳ **सुदन्** ('त्'-लोप=संयोगान्तलोप)। स्त्रीलिङ्ग में–**सुदती** ("उगितश्च" ४·१·६ ङीप्, विभक्ति तथा विभक्ति-लोप)। 'द्विदन्' तथा 'सुदन्' में संयोगान्त-लोप असिद्ध होने से उपधा-दीर्घ नहीं होगा।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'वयसि' पद का सन्निवेश होने के कारण **द्विदन्तः** (= हाथी) में 'दन्त' के स्थान पर 'दतृ' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ समस्त पद='द्विदन्त' (द्वौ दन्तौ यस्य सः) अवस्था-विशेष का बोधक नहीं है। कारण यह है कि हाथी के दो दाँत सर्वदा बाहर निकले रहते हैं। (२) इसी प्रकार **सुदन्तः** (अच्छे दाँतों वाला नट) में भी 'दन्त' के स्थान पर 'दत्' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि 'नट' शब्द भी अवस्था-विशेष का बोधक नहीं है।

(८८१) **पद**—स्त्रियाम्, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—दन्तस्य दतृ, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में 'दन्त' के स्थान पर समासान्त 'दतृ' आदेश हो। उदाहरण १—अयो-दती। २—फालदती। 'संज्ञायाम्' क्यों कहा ? समदन्ती ('दतृ' आदेश नहीं हुआ)।

दती । सञ्ज्ञायाम् किम् ? समदन्ती । (८८२) विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ५ । २ । १४४ ॥ दन्तस्य दतृ स्याद् बहुव्रीहौ । श्यावदन्-श्यावदन्तः, अरोकदन्-अरोकदन्तः ।

नवगमेऽपि प्राप्त्यर्थमिदम् । **अयोदतीति** । **फालदतीति** । सञ्ज्ञाविशेषाविमौ । **समदन्तीति** । समा दन्ता यस्या इति विग्रहः । 'नासिकोदर' इति ङीष् ।

(८८२) **विभाषा श्यावारोकाभ्याम्** । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**दन्तस्येति** । **श्यावदन्निति** । श्यावा धूम्रा दन्ताः यस्येति विग्रहः । 'श्यावः स्यात् कपिशो धूम्रः' इत्यमरः । **अरोकदन्निति** । अरोका अदीप्ताः अच्छिद्राः वा दन्ता यस्येति विग्रहः ।

विवरण—पूर्व विषय का ही प्रसङ्ग चल रहा है । अतः **स्थानी** (दन्त) तथा **आदेश** (दतृ) दोनों का लाभ सू० ८८० से अनुवृत्ति-वश प्राप्त होता है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । सूत्र की उपयोगिता के द्योतक दोनों पद 'संज्ञायां' तथा 'स्त्रियाम्' महत्त्वपूर्ण हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ यदि स्त्रीवाच्य (स्त्रियाम्) हो तो संज्ञा के विषय में (संज्ञायाम्) 'दन्त' के स्थान पर 'दतृ' समासान्त आदेश हो" । **उदाहरण**—(१) **अयोदती** (लोहे के समान कठोर दाँतों वाली । **विग्रह**—अयः इव दन्ताः अस्याः । **अलौकिक विग्रह**—अयस्+सु, इव, दन्त+जस् > अयस्-दन्त > अयर्-दन्त (स् = र्) > अय-उ-दन्त (र = उ—"हशि च" ६-१-११४) > अयोदन्त (अ+उ = ओ-गुणसन्धि) > अयोदत् (दन्त = दतृ) > अयोदत्+ङीप् > अयोदती > अयोदती+सु > **अयोदती** ('सु'—लोप) । (२) **फालदती** (हल के फाल के समान तीक्ष्ण दाँतों वाली) । **विग्रह**—फालः इव दन्ताः अस्याः । शेष कार्य पूर्व उदाहरण के समान ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'संज्ञायाम्' पद का निवेश होने से **समदन्ती** (समान दाँतों वाली स्त्री) में 'दन्त' के स्थान पर 'दतृ' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ पर 'समदन्ती' पद किसी का नाम नहीं है । सामान्यतः बराबर दाँतों वाली किसी भी स्त्री का बोध इस पद से किया जा सकता है । **विग्रह**—समाः दन्ताः यस्याः । **अलौकिक विग्रह**—सम+जस्, दन्त+जस् > समदन्त (समास) > समदन्त्+ई (स्त्री-लिङ्ग में ङीप्—"नासिकोदरोष्ठ-जङ्घा-दन्त-कर्ण-शृङ्गाच्च" ४-१-५५ तथा 'टि'लोप) > **समदन्ती** (विभक्त्युत्पत्ति तथा 'सु'-लोप) ।

(८८२) **पद**—विभाषा, श्यावारोकाभ्याम् । **अनुवृत्ति**—दन्तस्य दतृ, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में 'श्याव' और 'अरोक' शब्द से परवर्ती 'दन्त' के स्थान पर 'दतृ' आदेश (विकल्प से) हो । **उदाहरण**—१-श्यावदन्—श्यावदन्तः । २-अरोकदन्-अरोकदन्तः ।

विवरण—समासान्त 'दतृ' आदेश का प्रकरण अभी चल रहा है । अतः समग्र उल्लिखित अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र के अनुसार (८८१) विद्यमान हैं । 'विभाषा' पद विकल्पार्थक है । 'श्यावारोकाभ्याम्' पद पञ्चमी विभक्ति में होने से 'पर' अर्थ का बोधक है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'श्याव' तथा 'अरोक' शब्दों से उत्तरवर्ती 'दन्त' शब्द को विकल्प से समासान्त 'दतृ' आदेश हो" । **उदाहरण**—(१) **श्यावदन्-श्यावदन्तः** (पीले दाँतों वाला) । **विग्रह**—श्यावाः दन्ताः यस्य । शेष कार्य 'सुदन्' के समान हैं । 'दतृ' आदेश न होने पर श्यावदन्तः । (२) **अरोकदन्—अरोकदन्तः** (मैले दाँतों वाला) । **विग्रह**—अरोकाः दन्ताः यस्य । शेष प्रक्रिया उदाहरण (१) के समान । 'रोक' शब्द का अर्थ 'दीप्ति' है । अतः 'अरोक' शब्द का अर्थ निर्दीप्ति होगा । न रोकः—अरोकः—नञ् तत्पुरुष) ।

(८८३) अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ५ । ४ । १४५ ॥ एभ्यो दन्तस्य दतृ वा । कुड्मलाग्रदन्–कुड्मलाग्रदन्तः । (८८४) ककुदस्यावस्थायां लोपः ५ । ४ । १४६ ॥

---

(८८३) अग्रान्तः । अग्रः अग्रशब्दोऽन्तेऽवसाने यस्य सः अग्रान्तः इत्यभिप्रेत्योदाहरति—कुड्मलाग्रदन्निति । कुड्मलानां मुकुलानां अग्राणि तानीव दन्ता यस्येति विग्रहः । शुद्धदन्–शुद्धदन्तः । शुभ्रदन्–शुभ्रदन्तः । वृषदन्–वृषदन्तः । वराहदन्–वराहदन्तः ।

(८८४) ककुदस्य । अवस्थायां गम्यमानायां ककुदस्य लोपः स्यात् बहुव्रीहाविति त्यर्थः । आहारकालादिकृतोऽवयवानामुपचयोऽपचयश्चावस्थेत्युच्यते । बलीवर्दंदोर्मूलगतो बाल्ये उद्भूतोऽवयवः ककुदम् । **अजातककुदिति** । अजातं ककुदमस्येति विग्रहः । बाल इत्यर्थः । **पूर्णककुदिति** । पूर्णंककुदमस्येति विग्रहः । युवेत्यर्थः ।

---

(८८३) पद—अग्रान्त-शुद्ध-शुभ्र-वृष-वराहेभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—विभाषा, दन्तस्य दतृ, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे (परवर्ती) 'दन्त' के स्थान पर 'दतृ' आदेश विकल्प से हो । उदा० कुड्मलाग्रदन्—कुड्मलाग्रदन्तः ।

विवरण—पूर्व सूत्र "विभाषा श्यावारोकाभ्याम्" ५-४-१४४ से **'विभाषा'** की अनुवृत्ति आ रही है । शेष प्राकरणिक उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । स्थानी-'दन्त' तथा आदेश-'दतृ' है । निमित्तवाची—१-अग्रान्त शब्द, २-शुद्ध शब्द, ३-शुभ्र शब्द, ४-वृष शब्द तथा ५-वराह शब्दों के पञ्चमी विभक्ति में रहने के कारण (अग्र शब्दः अन्ते यस्य सः अग्रान्तः; अग्रान्तश्च, शुद्धश्च, शुभ्रश्च, वृषश्च, वराहश्च-अग्रान्त···वराहाः, तेभ्यः–इतरेतर द्वन्द्व) उनसे 'पर' अर्थ का बोध कराते हैं । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "अग्रशब्दान्त पद तथा शुद्ध, शुभ्र, वृष, वराह—शब्दों से परवर्ती 'दन्त' के स्थान पर समासान्त 'दतृ' आदेश बहुव्रीहि में विकल्प से होता है" । **क्रमशः उदाहरण**—(१) 'अग्र' शब्दान्त—**कुड्मलाग्रदन्—कुड्मलाग्रदन्तः** (जिसके दाँत कली के अग्रभाग की तरह नुकीले हों) । **विग्रह**—कुड्मलाग्राणि इव दन्ताः यस्य । **अलौकिक विग्रह**—कुड्मलाग्र+जस्, इव, दन्त+जस् > कुड्मलाग्रदन्त (समास एवम् उत्तरपद 'इव' का लोप) > कुड्मलाग्रदत् (दन्त=दतृ) > कुड्मलाग्रदत्+सु (पुनः विभक्ति) > कुड्मलाग्रदन्-त्-सु (नुम् आगम) > कुड्मलाग्रदन् त् (विभक्तिलोप) > कुड्मलाग्रदन् ('त्'–संयोगान्तलोप) । पक्ष में 'दतृ' आदेश न होने के कारण—**कुड्मलाग्रदन्तः** । इसके पूर्व 'कुड्मलाग्र' शब्द में 'कुड्मलस्य अग्रम्' विग्रह होकर **'कुड्मलाग्रम्'** शब्द निष्पन्न हुआ । अन्य उदाहरण (२) **शुद्धदन्—शुद्धदन्तः**, (३) **शुभ्रदन्—शुभ्रदन्तः**, (४) **वृषदन्—वृषदन्तः** तथा (५) **वराहदन्—वराहदन्तः** भी निष्पन्न होंगे ।

(८८४) पद—ककुदस्य, अवस्थायां, लोपः । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—(वय द्योतित होने पर 'ककुद्' का लोप हो) । उदा० १—अजातककुत् । २—पूर्णककुत् ।

विवरण—समासान्त प्रकरण के अन्तर्गत "वय-विशेष गम्यमान होने पर बहुव्रीहि समास में 'ककुद' शब्द के अन्त्य 'अल्' अर्थात् अकार का ("अलोन्त्यस्य" १-१-५२ के अनुसार) लोप होगा" । बैल के कन्धे पर उठे हुए ऊपरी भाग को 'ककुद' कहते हैं । यह ककुद जितना ही उन्नत होता है, उतना ही बैल स्वस्थ तथा बली समझा जाता है । 'अवस्था' शब्द वय का सूचक है । **उदाहरण**—(१) अजातककुत् (जिसके अभी ककुद उत्पन्न नहीं हुआ—अर्थात् बछड़ा) ।

अजातककुत् । पूर्णककुत् । (८८५) त्रिककुत्पर्वते ५ । ४ । १४७ ॥ त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुत् । सञ्ज्ञैषा पर्वतविशेषस्य । त्रिककुदोऽन्यः । (८८६) उद्विभ्यां काकुदस्य ५ । ४ । १४८ ॥ लोपः स्यात् । उत्काकुत् । विकाकुत् । काकुदं तालु ।

---

(८८५) त्रिककुत् पर्वते । पर्वतविशेषे गम्ये इत्यर्थः । त्रिककुदिति कृताकारलोपो निपात्यते । त्रीणि ककुदानि शृङ्गाणि यस्येत्यर्थः ।

(८८६) उद्विभ्यां काकुदस्य । लोप इति । उद्विभ्यां परस्य काकुदस्य लोपः स्यात् बहुव्रीहावित्यर्थः । उत्काकुदिति । उन्नतं काकुदं यस्येति विग्रहः । काकुदशब्दं व्याचष्टे—काकुदं तालिवति ।

विग्रह—अजातं ककुदम् अस्य । अलौकिक विग्रह—अजात+सु, ककुद+सु > अजातककुद् (बहुव्रीहि समास) > अजातककुद् (अन्त्य अकार का लोप) > अजातककुद्+सु (पुनः विभक्ति) > अजातककुत्-द् ('सु'-लोप तथा द्=त—वैकल्पिक चर्त्व→"वाऽवसाने" ८-४-५६)। इसी प्रकार (२) पूर्णककुत् (जिसका ककुद बढ़ कर पूरा हो चुका है—युवा बैल)। विग्रह—पूर्णं ककुदम् अस्य । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् ।

विशेष—'अजात' और 'पूर्ण' शब्दों से अवस्था (वय) की स्पष्ट प्रतीति हो रही है ।

(८८५) पद—त्रिककुत्, पर्वते । अनुवृत्ति—लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—(पर्वत अर्थ में 'त्रि-ककुत्' होता है)। उदा०—त्रीणि ककुदानि अस्य > त्रिककुत् । यह पर्वत-विशेष का नाम है । अन्य अर्थ में—त्रिककुदः ।

विवरण—समासान्त 'लोप' का विधान किया जा रहा है । अवस्था-विशेष का परित्याग होने के कारण प्रकृत सूत्र की उपयोगिता है । पर्वत-विशेष के 'त्रिककुत्' नाम की सार्थकता को सिद्ध करने के लिये "त्रि-पूर्वक 'ककुद' शब्द के अन्त्य अकार का बहुव्रीहि समास में समासान्त लोप किया जा रहा है"। अतः मुख्य रूप में पूर्वसूत्र "ककुदस्यावस्थायां लोपः" ५-४-१४६ से 'लोपः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। पर्वत-विशेष के अर्थ में यह एक प्रकार से निपातन है । 'ककुद' शब्द का अर्थ शृङ्ग हैं । उदाहरण—त्रिककुत् (तीन शृङ्गों से युक्त पर्वत-विशेष की संज्ञा[1])। विग्रह—त्रीणि ककुदानि अस्य । अलौकिक विग्रह—त्रि+जस्, ककुद+जस् । शेष कार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—त्रिककुदः (जिसकी तीन चोटियाँ हों)। सूत्र में 'पर्वत' पद का उल्लेख होने से समस्त पद के पर्वत-विशेष की संज्ञा न होने पर 'अन्त्य अकार' का लोप नहीं हुआ। विग्रह आदि बहुव्रीहि-समास के समान होंगे।

(८८६) पद—उद्विभ्यां, काकुदस्य । अनुवृत्ति—लोपः, बहुव्रीहौ समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—लोप हो । उदा०—१–उत्काकुत् । २–विकाकुत् । तालु को 'काकुद' कहते हैं ।

विवरण—बहुव्रीहि में "'उत्' एवं 'वि' पूर्वक 'काकुद' शब्द में 'अन्त्य अकार' के समासान्त-लोप का विधान किया जा रहा है"। अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र (८८५) के समान हैं । क्रमशः

---

१. पुराणों में वर्णित 'ककुदमान्' पर्वत के निकट का एक पहाड़, जहाँ पितरों का श्राद्ध तथा तर्पण विहित है । यहां 'जातवेद' नाम की एक शिला भी है और वह तीर्थरूप में परिगणित हो गया है । सप्तर्षियों ने यहाँ स्नान किया था । देखें ब्रह्माण्ड पु० ३।११-६७, १३-५८ । मत्स्यपु० १२१-१५ तथा वायु० ४७–१३, ७७।५७-६४)।

(८८७) पूर्णाद्विभाषा ५ । ४ । १४९ ॥ पूर्णकाकुत्–पूर्णकाकुदः । (८८८) सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ५ । ४ । १५० ॥ सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते । सुहृन्मित्रम् । दुर्हृदमित्रः । अन्यत्र सुहृदयः । दुर्हृदयः । (८८९) उरःप्रभृतिभ्यः कप्

---

(८८७) पूर्णाद्विभाषा । पूर्णात् परस्य काकुदस्य लोपो वा स्यादित्यर्थः । पूर्णं काकुदं यस्येति विग्रहः ।

(८८८) सुहृद्दुर्हृदौ । यथासङ्ख्यमभिप्रेत्योदाहरति—सुहृन्मित्रमिति । सु शोभनं हृदयं यस्येति विग्रहः ।

(८८९) उरः प्रभृतिभ्यः कप् । बहुव्रीहौ समासान्तः तद्धित इति विशेषः । तद्धित-

---

उदाहरण—(१) 'उत्'—पूर्वक **काकुद** शब्द का **उत्काकुदः** (जिसका उठा हुआ तालु है)। **विग्रह**—उद्गतं काकुदम् अस्य । **अलौकिक विग्रह**—उद्गत+सु, काकुद+सु > उत्काकुद् ('प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' वा० से समास एवं उत्तरपद 'गत' का लोप) > उत्काकुद् ('अन्त्य अकार' का लोप) > उत्काकुद्+सु > **उत्काकुत्** (विभक्ति-लोप एवम् द्–त्—वैकल्पिक चर्त्व)। (२) वि-पूर्वक काकुद—**विकाकुत्** (जिसका तालु ठीक नहीं है)। **विग्रह**—विगतं काकुदं यस्य । शेष कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—'काकुद' शब्द तालु का पर्याय-वाची है ।

(८८७) पद—पूर्णात्, विभाषा । **अनुवृत्ति**—काकुदस्य, लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १–पूर्णकाकुत्—पूर्णकाकुदः ।

विवरण—"'पूर्ण' पद-पूर्वक 'काकुद' शब्द का बहुव्रीहि समास होने पर समासान्त अन्त्य अकार का पाक्षिक लोप बतलाया जा रहा है" । इस पाक्षिक लोप के लिये पूर्व सूत्र "उद्विभ्यां काकुदस्य" ५-४-१४८ से 'काकुदस्य' पद तथा "ककुदस्यावस्थायां लोपः" ५-४-१४६ से 'लोपः' पद की अनुवृत्तियाँ प्रमुख रूप में अपेक्षित हैं । शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । **उदाहरण**—**पूर्णकाकुत्—पूर्णकाकुदः** (जिसका तालु पूरा हो)। **विग्रह**—पूर्णं काकुदम् अस्य । बहुव्रीहि समास एवम् पाक्षिक अन्त्य-अकार का लोप होने तथा न होने पर क्रमशः उपर्युक्त दोनों रूप बनेंगे ।

(८८८) पद—सुहृद्-दुर्हृदौ, मित्रामित्रयोः । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'सु' और 'दुर्' से पर हृदय को 'हृद्' निपातन हो । १—सुहृद् अर्थात् मित्र । २—दुर्हृद् अर्थात् शत्रु । अन्यत्र (१) सुहृदयः तथा (२) दुर्हृदयः ।

विवरण—यथासंख्य होने से मित्र अर्थ में **'सुहृद्'** और अमित्र (शत्रु) अर्थ में 'दुहृद्' का निपातन होता है । इसके फलस्वरूप 'सु' शब्द से उत्तर हृदय को 'हृद्' आदेश (मित्र वाच्य होने पर) तथा 'दुर्' शब्द से उत्तर हृदय को 'हृद्' आदेश अमित्र (शत्रु) वाच्य होने पर क्रमशः (१) **'सुहृद्'** तथा (२) 'दुर्हृद्' शब्द निष्पन्न होते हैं । **विग्रह**—सु = शोभनं हृदयं यस्य । **अलौ० वि०**—सु, हृदय+सु > सुहृदय > सुहृद्+सु (पुनः विभक्ति) > **सुहृद्** । इसी प्रकार (२) **दुर्हृद्** शब्द का विग्रह 'दुष्टं हृदयम् अस्य' होगा । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—'मित्र' और 'शत्रु' से भिन्न अर्थों में **सुहृदयः** (अच्छे हृदयवाला) तथा **दुर्हृदयः** (बुरे हृदय वाला) रूप बनेंगे ।

(८८९) पद—उरःप्रभृतिभ्यः, कप् । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

५।४।१५१॥ व्यूढोरस्कः। प्रियसर्पिष्कः। इह पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः इत्येकवचनान्तानि पठ्यन्ते। द्विवचनबहुवचनान्तेभ्यस्तु 'शेषाद्विभाषा' (सू ८९१) इति विकल्पेन कप्। द्विपुमान्, द्विपुंस्कः। 'अर्थान्नञः' (ग १४९)। अनर्थकम्। नञः किम्?

त्वाद् ककारस्य नेत्सञ्ज्ञा। **व्यूढोरस्क इति।** व्यूढं विशालम्' उरः वक्षः यस्येति विग्रहः। कप्। 'सोऽपदादौ' इति सत्त्वम्। **प्रियसर्पिष्क इति।** प्रियं सर्पिः यस्येति विग्रहः। कप्। 'इणः षः' इति षत्वम्। ननु द्वौ पुमांसौ यस्य सः, द्विपुमानित्यनुपपन्नम्। उरः प्रभृतिषु पुमानिति पुंस्शब्दस्य पाठादित्यत आह—**इहेति।** गणे अविभक्तिकानामेव पाठः। इह तु केषाञ्चिदेकवचनान्तानामेव पाठस्तद्विवक्षार्थं इति भावः। **द्विपुंस्क इति।** 'सम्पुङ्कानाम्' इति सः। **अर्थान्नञ इति।** गणसूत्रम्। नञ्परो योऽर्थशब्दस्तदन्तात् बहुव्रीहेः कप् स्यादिति तदर्थः। **अनर्थकमिति।** अविद्यमानोऽर्थो यस्येति विग्रहः। **अपार्थम्—अपार्थक-**

मूलार्थ—उदा० (१) व्यूढोरस्कः। (२) प्रियसर्पिष्कः। सूत्र में पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः—इन एकवचनान्त शब्दों का ग्रहण होता है। द्विवचनान्त तथा बहुवचनान्त शब्दों से "शेषाद् विभाषा" सू० (८९१) सूत्र से वैकल्पिक 'कप्' होगा। जैसे—द्विपुमान्—द्विपुंस्कः। गणसूत्र—नञ्परक 'अर्थ शब्द' से 'कप्' प्रत्यय हो। उदा० अनर्थकम्। (गणसूत्र में) नञ् क्यों कहा? अपार्थम्—अपार्थकम् ('रूप' नहीं बनेंगे)।

विवरण—बहुव्रीहि में समासान्त प्रकरण के सामान्य प्रत्यय 'कप्' का निरूपण किया जा रहा है। प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र का यह तात्पर्य है कि ""उरस् इत्यादि (गणपठित) अन्तवाले शब्दों से बहुव्रीहि समास में 'कप्' प्रत्यय हो"। 'कप्' में पकार की इत्संज्ञा होगी। 'तद्धित' अधिकार के अन्तर्गत समासान्त प्रत्ययों के होने से 'कप्' प्रत्यय के आदिम ककार की "लशक्वतद्धिते" १-३-८ से इत्संज्ञा नहीं होती। **उदाहरण**—व्यूढोरस्कः (जिसका वक्षःस्थल विशाल हो)। **विग्रह**—व्यूढम् उरः यस्य। **अलौ० वि०**—व्यूढ+सु, उरस्+सु > व्यूढ-उरस् (बहुव्रीहि समास) ▷ व्यूढ-उरस्+क (कप्) ▷ व्यूढोरस्+क (गुण-सन्धि) > व्यूढोरर्+क (रुत्व) ▷ व्यूढोरःक (र्=विसर्ग) ▷ व्यूढोरस्क (: = स्- "सोऽपदादौ" ८-३-३८) व्यूढोरस्क+सु ▷ **व्यूढोरस्कः** (स्-र्=:)। (२) प्रियसर्पिष्कः (जिसे घी प्रिय हो)। **विग्रह**—प्रियं सर्पिः यस्य। **अलौ० वि०**—प्रिय+सु, सर्पिस्+सु ▷ प्रियसर्पिस् > प्रियसर्पिस्+क ▷प्रियसर्पिर्+क >प्रियसर्पिः+क ▷ **प्रियसर्पिष्क** (: = ष्- "इणः षः" ८-३-३९)।

विशेष—इस गण में एक-वचनान्त जो शब्द पठित हैं, उन्हीं को समासान्त कप् प्रत्यय नित्य होगा। अर्थात् द्विवचनादि में "शेषाद्विभाषा" ५-४-१३४ सूत्र से वैकल्पिक 'कप्' प्रत्यय होगा। इसके फलस्वरूप **द्विपुमान्—द्विपुंस्कः** (जिसके पास दो पुरुष हों)—ये दो रूप बनते हैं। **विग्रह**—द्वौ पुमांसौ यस्य। **अलौकिक विग्रह**—द्वि+औ, पुंस्+औ>द्वि-पुंस् (बहुव्रीहि समास) >द्वि-पुंस्+सु (पुनः विभक्ति) > द्वि-पुम्-अस्+सु (असुङ्—"पुंसोऽसुङ्" ७-१-८९) > द्वि-पुम-न्-स्+सु (नुम् आगम) ▷ द्वि-पुमान-स्+सु ("सान्तमहतः संयोगस्य" ६-४-१० दीर्घ) >द्विपुमान्-स् (विभक्तिलोप) **द्विपुमान्** ('न्' लोप नहीं होता)। 'कप्' प्रत्यय होनेपर 'द्वि-पुंस्+क' इस अवस्था में "कस्कादिषु च" ८-३-४८ से मूर्धन्य षकार प्राप्त रहा, किन्तु 'सं-पुं-कानां सो वक्तव्यः' वार्तिक के द्वारा उसका बाध होने के कारण 'स्' के स्थान पर 'स्' ही रहा। प्रथमा एक वचन में—द्वि-पुंस्क+सु > द्विपुंस्कः (स् = र् = :) रूप बनेगा।

गणसूत्र—प्रसङ्गवश **'अनर्थकम्'** (जिसका कोई अर्थ न हो) शब्द की समीचीनता के लिये इस गणसूत्र द्वारा यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि "बहुव्रीहि समास में नञ् से पर अर्थ

अपार्थम्-अपार्थकम् । (८९०) इनः स्त्रियाम् । ५ । ४ । १५२ ॥ बहुदण्डिका नगरी । 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति' (प १७)—बहुवाग्मिका ।

मिति । अपगतोऽर्थो यस्मादिति विग्रहः । अत्र नञ्पूर्वकत्वाभावात् न नित्यः कबिति भावः ।

(८९०) इनः स्त्रियाम् । इन्नन्तात् कप् स्यात् बहुव्रीहावित्यर्थः । **बहुदण्डिका नगरीति** । दण्डः यस्यास्तीति दण्डी, 'अत इनिठनौ' इति इनिः । बहवः दण्डिनः यस्याम् इति विग्रहः । **बहुवाग्मिकेति** । वागस्यास्तीति वाग्मी । 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनि-प्रत्ययः । नकारादिकार उच्चारणार्थः । तद्धितत्वात् गकारस्य नेत्सञ्ज्ञा, चकारस्य कुत्वम्, जश्त्वम् वाग्मीति रूपम् । बहवो वाग्मिनो यस्यामिति विग्रहः । अत्रेन अनर्थकत्वेऽपि

शब्द से 'कप्' प्रत्यय हो" । **विग्रह**—अविद्यमानः अर्थः यस्य । इसके विपरीत **(प्रत्युदाहरण)** 'नञ्' से भिन्न किसी अन्य शब्द से परवर्ती अर्थ शब्द को अग्रिम सूत्र "शेषाद् विभाषा" से पाक्षिक 'कप्' प्रत्यय होने के फलस्वरूप **अपार्थम्** (कप्-रहित) तथा **अपार्थकम्** (कप् सहित) दो रूप बनेंगे । **विग्रह**—अपगतः अर्थः अस्मात् । **अर्थ**—अर्थरहित, जिसका कोई अर्थ न हो ।

(८९०) पद—इनः, स्त्रियाम् । **अनुवृत्ति**—कप् , बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० बहुदण्डिका (= नगरी) । परिभाषा—"जहाँ अन्, इन्, अस् , मन् का ग्रहण हो, वहाँ अर्थवान् एवम् अनर्थक—दोनों से तदन्त विधि हो जाती है" । उदा० बहुवाग्मिका । (सूत्र में) स्त्रियाम् क्यों कहा ? बहुदण्डी–बहुदण्डिकः ग्रामः (में नित्य कप् नहीं हुआ) ।

विवरण—बहुव्रीहि में समासान्त 'कप्' प्रत्यय का ही प्रकरण चल रहा है । अतः पूर्वसूत्र ("उरःप्रभृतिभ्यः कप्" ५-४-१५१) से प्रमुख अनुवृत्ति (= कप्) अपेक्षित है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विद्यमान हैं । तदनुसार "'स्त्रीलिङ्ग के विषय में (स्त्रियाम्) इन्-अन्त बहुव्रीहि समास से समासान्त 'कप्' प्रत्यय होगा" । **उदाहरण**—बहुदण्डिका=नगरी (जिस नगरी में बहुत संन्यासी हों) । **विग्रह**—बहवः दण्डिनः यस्याम् । **अलौ० वि०**—बहु+जस् , दण्डिन्+जस् >बहुदण्डिन् (बहुव्रीहि समास) >बहुदण्डिन् +क ('कप्') ▷ बहुदण्डिक (न्-लोप) ▷ बहुदण्डिक+आ (टाप्) ▷ बहुदण्डिका+सु (पुनः विभक्ति) ▷ **बहुदण्डिका** ('सु'-लोप) ।

विशेष—सूत्रोक्त 'इन्' पद के सम्बन्ध में भट्टोजिदीक्षित उसके अर्थ-विस्तार पर प्रमाणसहित विचार कर रहे हैं । इस सन्दर्भ में एक परिभाषा प्रस्तुत की गई है—"अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति" । इस परिभाषा के अनुसार अन्, इन्, अस् तथा मन् प्रत्ययों से केवल शुद्ध अन्नन्त, इन्नन्त, असन्त और मन्नन्त प्रत्ययों का ही ग्रहण न किया जाय किन्तु अन्, इन्, अस् , और मन् शब्द किसी अन्य प्रत्यय के अवयव हों, तो भी वे तदन्त प्रत्ययों के समान ही प्रभावी समझे जायँ" । वस्तुतः यह परिभाषा उपर्युक्त प्रत्ययों के सम्बन्ध में "प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः" सामान्य नियम का विस्तार है । इसके फलस्वरूप **बहुवाग्मिका** (जिस नगरी में बहुत से वक्ता हों) में भी समासान्त 'कप्' प्रत्यय की समीचीनता सिद्ध होती है । **विग्रह**—बहवः वाग्मिनः यस्याम् । **अलौ० वि०**—बहु+जस् , वाग्मिन्+जस् >बहुवाग्मिन्>बहुवाग्मिक (उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर 'कप्' प्रत्यय, क्योंकि यहाँ पर 'इन्' अंश 'ग्मिन्' प्रत्यय का अवयव है) > **बहुवाग्मिका** (टाप् , सु-विभक्ति तथा उसका लोप) । **वाग्मी शब्द** तद्धित प्रत्ययान्त है→वाच्+ग्मिन् ("वाचो ग्मिनिः" ५-२-१२४) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'स्त्रियाम्' पद का सन्निवेश होने पर अन्य पदार्थ के पुंलिङ्गपरक होने

स्त्रियाम् किम् ? बहुदण्डी—बहुदण्डिको ग्रामः । (८९१) शेषाद्विभाषा ५।४।१५४ ॥ अनुक्तसमासान्ताच्छेषाधिकारस्थाद् बहुव्रीहेः कब्वा स्यात् । महायशस्कः—महायशाः । अनुक्त इत्यादि किम् ? व्याघ्रपात् सुगन्धिः । प्रियपथः । शेषाधिकारस्थात् किम् ? उपबहवः ।

'अनिनस्मन्' इति वचनात्तदन्तस्याप्यत्र ग्रहणमिति भावः । **बहुदण्डी बहुदण्डिको ग्राम इति ।** बहवः दण्डिनः यस्मिन्निति विग्रहः । अत्र समासस्यास्त्रीलिङ्गत्वान्न नित्यः कबिति भावः ।

(८९१) शेषाद्विभाषा । इतः पूर्वं येभ्यः समासान्ता विहिताः तेभ्योऽन्यः शेषः । तदाह—**अनुक्तमासान्तादिति । शेषाधिकारस्थादिति ।** शेषादित्यनेन शेषाधिकारस्थादित्यपि विवक्षितमिति भावः । **महायशस्क इति ।** महत् यशः यस्येति च विग्रहः । 'आन्महतः' इत्यात्त्वे, कपि, 'सोऽपदादौ' इति सत्वम् । **महायशा इति ।** कबभावे 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । **व्याघ्रपादिति ।** 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' इत्युक्तसमासान्तोऽयम्' स्थानिद्वारा लोपस्यापि समासान्तत्वात् । **सुगन्धिरिति ।** 'गन्धस्येदुत्पूति' इति कृतसमासान्तोऽयम् ।

पर "इनः स्त्रियाम्" ५-४-१५२ सूत्र से समासान्त 'कप्' प्रत्यय नहीं होगा । अतः **बहुदण्डी—बहुदण्डिकः**=ग्रामः (जिस गाँव में बहुत संन्यासी हों) में नित्य 'कप्' नहीं हुआ । फलतः "शेषाद् विभाषा" ५-४-१५४ से वैकल्पिक 'कप्' होने से दो रूप बने । **विग्रह**— बहवः दण्डिनः यस्मिन् सः । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् ।

(८९१) पद—शेषाद्, विभाषा । **अनुवृत्ति**—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—समासान्तों से भिन्न शेषाधिकारस्थ बहुव्रीहि से वैकल्पिक 'कप्' हो । उदा० महायशस्कः—महायशाः । (वृत्ति में) 'अनुक्त' इत्यादि क्यों कहा ? व्याघ्रपात, सुगन्धिः, प्रियपथः (में 'कप्' न हो) । शेषाधिकारस्थात क्यों कहा ? उपबहवः, उत्तरपूर्वा, सपुत्रः (में 'कप्' न हो) । विशेष कारणवश 'शेष' शब्द के दो अर्थ हैं ।

विवरण—बहुव्रीहि समास के अन्तर्गत समासान्त प्रत्ययों के विधान का प्रकरण चला आ रहा है । सूत्र में '''उरःप्रभृतिभ्यः कप्" ५-४-१५४ से समासान्त प्रत्यय 'कप्' की अनुवृत्ति मुख्य रूप में अपेक्षित है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व चली आ रही हैं । सूत्रार्थ में 'शेष' पद को भूमिका महत्त्वपूर्ण है । सामान्यतः 'शेष' शब्द का अभिप्राय यह है—'पूर्वोक्त कथन के अतिरिक्त अवशेष कथन' । तदनुसार सूत्र का अक्षरार्थ यह होगा—"अष्टाध्यायी—क्रम में इस सूत्र के पूर्व बहुव्रीहि समास में यदि किसी समासान्त प्रत्यय का विधान न किया गया हो, तो समासान्त में उससे 'कप्' प्रत्यय हो" । किन्तु 'शेष' शब्द में 'शेषश्च शेषश्च' इति शेषः—इस प्रकार एकशेष की कल्पना कर भट्टोजि दीक्षित ने वृत्ति में अर्थ का विस्तार किया है । एकशेष करने पर भी द्विवचन में 'शेष' शब्द का न होना यद्यपि खटकता है, तथापि आर्ष प्रयोग मानकर उसकी समीचीनता मानी गई है । तदनुसार दो 'शेष' शब्दों में से एक का अर्थ तो 'उक्त समासान्तों से भिन्न' है और दूसरे 'शेष' पद का अर्थ "शेषो बहुव्रीहिः" २-२-२३ सूत्र से विहित 'शेषाधिकार में स्थित' माना गया है । तदनुसार बहुव्रीहि में "पूर्व निरूपित समासान्तों से भिन्न एवं "शेषो बहुव्रीहिः" २-२-२३ सूत्र के द्वारा शेष अधिकार में आए हुए बहुव्रीहि से 'कप्' प्रत्यय होगा" । **उदाहरण**—महायशस्कः-महायशाः (जिसका यश बहुत हो) । **विग्रह**—महद् यशः यस्य । **अलौकिक विग्रह**—महत +सु, यशस्+सु > महत-यशस् (बहुव्रीहि समास) > महायशस् (त = आ "आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः" ६-३-४६ तथा सवर्ण-दीर्घ) > महायशस्क ('कप्' प्रत्यय) > महायशर्-क (स्=र्) > महायशः क (र् = :) > महायशस्क (: = स्–"सोऽपदादौ" ८-३-३८) >

उत्तरपूर्वा । सपुत्रः । तन्त्रादिना शेषशब्दोऽर्थद्वयपरः । (८९२) आपोऽन्यतरस्याम्

प्रियपथ इति । 'ऋक्पूः' इति कृतसमासान्तोऽयम् । **उपबहव इति ।** 'सङ्ख्ययाव्यय' इति बहुव्रीहिरयं, न शेषाधिकारस्थः । **उत्तरपूर्वेति ।** अयमपि 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिः न शेषाधिकारस्थः । **सपुत्र इति ।** 'तेन सह' इत्ययमपि बहुव्रीहिः, न शेषाधिकारस्थः । ननु सकृदुच्चारिताच्छेषशब्दात् कथमर्थद्वयलाम इत्यत आह—**तन्त्रादिनेति ।** आदिना आवृत्तिसङ्ग्रहः । एकमनेकोपयोगि तन्त्रम् । उच्चारयित्रा तन्त्रेणोच्चारितात् शब्दात् आवृत्त्या बोध इति बोध्यम् । 'श्वेतो धावति' इत्यादौ सकृदुच्चारणेऽपि 'श्वा इतो धावति, श्वेतगुणको धावति इत्येवमनेकार्थबोधदर्शनादिति भावः ।

महायशस्कः (प्रथमा एकवचन में रूप)। 'कप्' न होने पर **महायशाः** ("अत्वसन्तस्य०" ६-४-१० दीर्घ, विभक्तिलोप, रुत्व एवम् विसर्ग)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि पूर्वोक्त समासान्तों से भिन्न समासान्त वाले बहुव्रीहि से 'कप्' प्रत्यय अपेक्षित है। इसके फलस्वरूप **व्याघ्रपात्** में वैकल्पिक कप् प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि "पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः" ५-४-१३८ से अकार-लोप-रूप समासान्त उक्त है। इसी प्रकार **सुगन्धिः** में भी "गन्धस्येदुत्पूति-सु-सुरभिभ्यः" (सू० ८७४) से अन्त्य अकार के स्थान में समासान्त 'इ'कार आदेश उक्त है। इसी तरह **प्रियपथः** (जिसको मार्ग प्रिय हो—प्रियः पन्थाः यस्यः) में "ऋक्–पूरब्धूः पथामानक्षे" ५-४-७४ सूत्र से विहित समासान्त 'अप्' प्रत्यय उक्त है।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र में 'शेषात्' (शेषाधिकारस्थात्) पद का निवेश होने से वहीं वैकल्पिक 'कप्' प्रत्यय होगा जहाँ "शेषो बहुव्रीहिः" २-२-२३ सूत्र का अधिकार हो। इसके फलस्वरूप **उपबहवः** (लगभग बहुत) में भी (वैकल्पिक) 'कप्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ "संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये" २-२-२५ से बहुव्रीहि समास हुआ है, जो शेषाधिकार में नहीं है। इसी तरह **उत्तरपूर्वा** (उत्तर तथा पूर्व दिशा का मध्य) में भी वैकल्पिक 'कप्' नहीं हुआ, क्योंकि "दिङ्नामान्यन्तराले" २-२-२६ सूत्र से होने वाला बहुव्रीहि समास भी शेषाधिकार के बाद पठित है। एवं **सपुत्रः** (पुत्र के साथ) में भी (वैकल्पिक) 'कप्' की प्रसक्ति नहीं हुई, क्योंकि यहाँ "तेन सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८ सूत्र से समास हुआ है। इस विवरण से यह निष्कर्ष निकला कि "शेषो बहुव्रीहिः" २-२-२३ सूत्र से 'शेष' पद की अनुवृत्ति केवल "अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ सूत्र में ही की जाती है। "संख्ययाव्ययासन्ना०" २-२-२५ आदि सूत्रों में उसकी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार शेषाधिकार के अभाव में 'कप्' प्रत्यय नहीं हुआ। इस तरह "संख्यया-व्ययासन्ना०" २-२-२५ आदि सूत्रों की बहुव्रीहि समास में पृथक् उपयोगिता है।

(२) 'शेष' शब्द के दो अर्थों का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। एक ही 'शेष' शब्द से दो अर्थों का लाभ होने के सम्बन्ध में दो मत हैं—(१) अर्थ भेद से शब्द-भेद तथा (२) अर्थ की भिन्नता होने पर भी शब्द की अभिन्नता (समानता)। प्रथम मत में शब्द की आवृत्ति द्वारा दो भिन्न अर्थों का ग्रहण होता है। दूसरे मत में **'तन्त्र'** द्वारा दो भिन्न अर्थ लिये जाते हैं। अर्थात् उच्चारण करने वाला तो तन्त्र (लाघव) से एक ही शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु बोद्धा (जानने वाले) को आवृत्ति-द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों का बोध होता है।[1]

---

१ उच्चारयित्रा तन्त्रेण उच्चारितं, बोद्धुस्तु आवृत्त्या बोध इति बोध्यम् ।

—ल० श० शे० ५-४-१५४ ।

७।४।१५॥ कप्यावन्तस्य ह्रस्वो वा स्यात्। बहुमालाकः, बहुमालकः। कबभावे बहुमालः। (८९३) न सञ्ज्ञायाम् ५।४।१५५॥ 'शेषात्' (सू ८९१)

---

(८९२) **आपोऽन्यतरस्याम्।** कपीति। 'न कपि' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। **आबन्तस्येति।** प्रत्ययग्रहणपरिभाषया लब्धमिदम्। **ह्रस्वो इति।** 'ङ्यापोः सञ्ज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' ... 'शूद्रप्रां ह्रस्वो वा' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः। 'न कपि' इति नित्ये निषेधे प्राप्ते विकल्पार्थमिदं वचनम्। **बहुमालाक इति।** बह्व्यो माला यस्येति विग्रहः। ह्रस्वपक्षे बहुमालक इति भवति। कपो वैकल्पिकत्वात् पक्षे बहुमालः। सर्वत्र 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वम्।

(८९३) **न संज्ञायाम्। शेषादिति प्राप्त इति।** 'अनन्तरस्य' इति न्यायात् 'शेषा-

---

(८९२) पद—आपः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—न कपि, ह्रस्वः, अङ्गस्य। **विधि-सूत्र।**

मूलार्थ—'कप्' परे रहते आबन्त को विकल्प से ह्रस्व हो। उदा० बहुमालाकः—बहुमालकः। 'कप्' न होने पर—बहुमालः।

विवरण—समासान्त 'कप्' के प्रसङ्ग में उपयोगी दीर्घ-निषेध का वैकल्पिक विधान किया जा रहा है। अतः तदुपयोगी अनुवृत्तियों का स्मरण कराना आवश्यक है। इस प्रकरण में सामान्यतया 'क' प्रत्यय परे रहते अण्-अन्त अङ्ग के ह्रस्व-विधायक सूत्र "केऽणः" ७-४-१३ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति आती है। उसके निमित्त हेतु उपयोगी पूरा "न कपि" ७-४-१४ निषेधसूत्र अनुवर्तमान है। आधिकारिक "अङ्गस्य" ६-४-१ की अनुवृत्ति का प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार स्थानी है—'आपः' (अङ्गस्य) = आबन्त अङ्ग, उसे "केऽणः" ७-४-१३ से प्राप्त दीर्घ का नित्य निषेध "न कपि" ७-४-१४ से प्राप्त था, उसका 'कप्' प्रत्यय परे रहते वैकल्पिक निषेध किया जा रहा है"। **उदाहरण—बहुमालाकः—बहुमालकः** (जिसके पास बहुत-सी मालायें हैं)। **विग्रह**—बह्व्यः मालाः यस्य। **अलौकिक विग्रह**—बह्वी+जस्, माला+जस् ▷ बह्वीमाला (बहुव्रीहि समास) > बह्वीमाला + क ('कप्'—"शेषाद् विभाषा" ६-४-१५४) ▷ बहुमालाक (पुंवद्-भाव-बह्वी = बहु) > बहुमालाकः (प्रथमा विभक्ति का एक वचन)—बहुमालकः (वैकल्पिक ह्रस्व)। वैकल्पिक 'कप्' न होने पर बहुमालः।

(८९३) पद—न, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधि-(निषेध)-सूत्र।**

मूलार्थ—संज्ञा में "शेषाद् विभाषा" सू० ८९१ से प्राप्त 'कप्' नहीं होता। उदा० विश्वे देवाः अस्य > विश्वदेवः।

विवरण—पुनः समासान्तोपयोगी सूत्र का उल्लेख किया जारहा है। "बहुव्रीहि में समस्त-पद यदि संज्ञा का बोधक हो तो "शेषाद् विभाषा" ५-४-१५४ सूत्र से प्राप्त 'कप्' नहीं होता। **उदाहरण**—विश्वदेवः (संज्ञावाचक शब्द)। **विग्रह**—विश्वे देवाः अस्य। **अलौकिक विग्रह**—विश्व+जस्, देव+जस् ▷ विश्वदेव (समास) ▷ विश्वदेवः (प्रथमा विभक्ति के एक वचन में रूप)। संज्ञावाची शब्द होने के कारण 'कप्' नहीं हुआ।

विशेष—(१) विग्रह में 'विश्व' शब्द का बहुवचन में प्रयोग इस लिये दिखाया गया है कि वह 'गण' अर्थात् समुदाय-विशेष के रूप में लिया गया है[1]। नागेश भट्ट ने उदाहरण में 'विश्वेदेवाः' को अपपाठ बताया है।

---

१. अत्र विग्रहे 'विश्वाख्यदेवगणविशेष इत्यर्थः' इति नागेशः प्राह। उद्भूतावयवभेदत्वाद् बहुवचनमिति च उक्तवान्। तस्य च व्याख्यानं भैरवमिश्रेण अनया रीत्या कृतम्—"विश्वाख्येत्यु-

इति प्राप्तः कब्न स्यात्सञ्ज्ञायाम्। विश्वे देवा अस्य विश्वदेवः। (८९४) ईयसश्च ५।४।१५६॥ ईयसन्तोत्तरपदान्न कप्। बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान्। 'गोस्त्रियोः—' (सू ६५६) इति ह्रस्वत्वे प्राप्ते। 'ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम्' (वा ६९६)।

द्विभाषा' इति विहितस्य कप एवायं निषेधः, न तु व्यवहितस्य 'नद्यृतश्च' इत्यादिकप इति भावः। विश्वे देवा अस्येति। अत्र सञ्ज्ञायां समासस्य नित्यत्वात् लौकिकविग्रहप्रदर्शनं चिन्त्यमेव।

(८९४) ईयसश्च। बहुश्रेयसीशब्दे श्रेयसीशब्दस्यैव प्रत्ययग्रहणपरिभाषा ईयसन्तत्वादाह—ईयसन्तोत्तरपदादिति। बहुव्रीहिणा उत्तरपदादित्याक्षिप्यत इति भावः। न कबिति। 'न सञ्ज्ञेयसोः' इति वक्तव्ये पृथग्योगकरणात् नित्यस्य वैकल्पिकस्य च कपोऽयं निषेध इति भावः। श्रेयांस इति। अतिशयेन प्रशस्ता इत्यर्थः। 'द्विवचनविभज्य' इति ईयसुन्। 'प्रशस्यस्य श्रः' इति 'श्रः'। 'आद्गुणः' इति गुणः। बहुश्रेयानिति शैषिकः कब्निषिध्यते। ह्रस्वत्वे प्राप्ते इति। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्येति बहुव्रीहिः। तत्र श्रेयसीशब्द-

---

(२) प्रकृत सूत्र (५-४-१५५) 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' न्याय से केवल "शेषाद् विभाषा" ५-४-१५४ सूत्र से प्राप्त समीपस्थ 'कप्' का ही बाध करता है, व्यवहित "नद्यृतश्च" ५-४-१५३ इत्यादि सूत्रों से विहित 'कप्' प्रत्यय का बाध नहीं करता। इसके फलस्वरूप संज्ञा में ही "उरः—प्रभृतिभ्यः कप्" ५-४-१५० सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

(८९४) पद—ईयसः, च। अनुवृत्ति—न, कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधि-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—'ईयस्' प्रत्ययान्त उत्तरपद से 'कप्' न हो। उदा० बहवः श्रेयांसः अस्य > बहुश्रेयान्। "गोस्त्रियोः" (सू० ६५६) से ह्रस्व की प्राप्ति होने पर—वा० ईयस्-प्रत्ययान्त बहुव्रीहि को ह्रस्व नहीं होता। उदा० बह्व्यः श्रेयस्यः यस्य बहुश्रेयसी। 'बहुव्रीहेः' क्यों कहा? अतिश्रेयसिः (बहुव्रीहिभिन्न) में ह्रस्व हो गया।

विवरण—'कप्' के प्रतिषेध का प्रकरण विद्यमान है। अतः "न संज्ञायाम्" ५-४-१५५ सूत्र से निषेधार्थक 'न' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। अतः सूत्र का अर्थ यह होगा कि "ईयस् (ईयसुन्) प्रत्ययान्त बहुव्रीहि-समास से भी समासान्त 'कप्' प्रत्यय नहीं होता"। तदनुसार प्रकृत सूत्र का यह फल है कि उपर्युक्त किसी भी सूत्र से प्राप्त 'कप्' प्रत्यय का यह प्रतिषेध करेगा। **उदाहरण**—(१) बहुश्रेयान् (जिसके पास उत्तम गुण हों)। **विग्रह**—बहवः श्रेयांसः अस्य। **अलौ० वि०**—बहु+जस्, श्रेयस्+जस् > बहु-श्रेयस् (समास) > बहुश्रेयस्+सु ("शेषाद् विभाषा" ५-४-१४४ से प्राप्त कप् का प्रकृत सूत्र से निषेध, पुनः विभक्ति) > बहुश्रेयान् (प्रथमा विभक्ति का एक वचन—नुम् आगम, उपधा-दीर्घ, 'सु'-लोप, संयोगान्त-लोप)। (२) बहुश्रेयसी (जिसके पास बहुत-सी उत्तम स्त्रियाँ हों) **विग्रह**—बह्व्यः श्रेयस्यः यस्य। **अलौ० वि०**—बह्वी+जस्, श्रेयसी+जस् > बह्वी-श्रेयसी (समास) > बहु-श्रेयसी ("गोस्त्रियोः उपसर्जनस्य" १-२-४८ से 'श्रेयसी' शब्द को प्राप्त उपसर्जन-ह्रस्व का वार्तिक द्वारा निषेध तथा 'बह्वी' शब्द को पुंवद्भाव=बहु→ "स्त्रियाः पुंवत्०" ६-३-३४)

पादानेन तस्य गण-विशेषस्य विश्व इत्यपि संज्ञा। गणश्च उद्भूतावयवभेद एव प्रतीयते शब्दशक्तिस्वभावात्"। इदमत्र बोध्यम्—"न संज्ञायाम्" ५-४-१५५ इति निषेधो नावयवस्य संज्ञात्वमादाय, किन्तु समुदायस्यापि संज्ञात्वादेव-कप्-रहिता चेत् संज्ञा विवक्षिता तदा कप् न भवतीति सूत्रार्थः। सा च संज्ञा लोके विभक्त्यन्तविश्वशब्दघटितैवोच्चार्यते।

बह्वृचः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी । बहुव्रीहेः किम् ? अतिश्रेयसिः । **(८९५) वन्दिते भ्रातुः ५ । ४ । १५७ ॥** पूजितेऽर्थे यो भ्रातृशब्दस्तदन्तान्न कप्स्यात् । प्रशस्तो भ्राता यस्य प्रशस्तभ्राता । सुभ्राता । 'न पूजनात्' (सू ९५४) इति निषेधस्तु 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' (सू ८५२) इत्यतः प्रागेवेति वक्ष्यते । वन्दिते किम् ? मूर्खभ्रातृकः । (८९६)

स्योपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तत्वात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वे प्राप्ते इत्यर्थः । **ईयसो बहुव्रीहेरिति ।** ईयसन्तात् बहुव्रीहेः परस्य स्त्रीप्रत्ययस्य ह्रस्वो नेति वाच्यमित्यर्थः । **बहुश्रेयसीति ।** 'नद्यृतश्च' इति नित्यः कबिह निषिध्यते, लिङ्गविशिष्टपरिभाषया ईयस्ग्रहणेन स्त्रीप्रत्ययान्तश्रेयसीशब्दस्यापि ग्रहणादिति भावः । **बहुव्रीहेः किमिति ।** 'ईयसो बहुव्रीहेः' इत्यत्रेति शेषः । **अतिश्रेयसिरिति ।** श्रेयसीमतिक्रान्त इति तत्पुरुषोऽयमिति भावः ।

(८९५) वन्दिते भ्रातुः । पूजितेऽर्थे इति । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' इत्युभयार्थकवदिधातोरिह उभयसाधारणपूजार्थकत्वमाश्रीयत इति भावः । **प्रशस्तभ्रातेति ।** 'नद्यृतश्च' इति प्राप्तः कबिह निषिध्यते । **सुभ्रातेति ।** सु शोभनो भ्राता यस्य स इति विग्रहः । अत्रापि 'नद्यृतश्च' इति प्राप्तस्य कपो निषेधः । ननु 'न पूजनात्' इत्येव निषेधे सिद्धे किमर्थमित्यत आह—**न पूजनादिति प्रागेवेति ।** एवं च 'नद्यृतश्च' इत्यादिकपः तेन निषेधात् किमर्थमित्यत आह—**न पूजनादिति प्रागेवेति ।** एवं च 'नद्यृतश्च' इत्यादिकपः तेन निषेधाप्राप्तौ इदं वचनमिति भावः ।

>बहुश्रेयसी+सु>**बहुश्रेयसी** (विभक्तिकार्य—'सु' का हल्ङ्यादि लोप) । यहाँपर "नद्यृतश्च" ५-४-१५३ से प्राप्त 'कप्' का इस सूत्र से निषेध हुआ ।

वार्तिक—व्याख्या—"'ईयस्' प्रत्ययान्त बहुव्रीहि में परवर्ती स्त्री-प्रत्यय को ह्रस्व न हो" । अर्थात् बहुव्रीहि के अतिरिक्त किसी अन्य समास के स्त्री-प्रत्यय के परवर्ती होने पर यह निषेध नहीं होगा । अतः **अतिश्रेयसिः** (गुणवती स्त्री से बढ़कर) इस प्रत्युदाहरण में स्त्रीप्रत्यय ('श्रेयसी'-गत ङीप्) तत्पुरुष समास का परवर्ती है (श्रेयसीम् अतिक्रान्तः—इस विग्रह में 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' वा० से तत्पुरुष समास तथा श्रेयसी=श्रेयसि—उपसर्जन ह्रस्व होकर प्रथमा विभक्ति का एकवचन—अतिश्रेयसिः) न कि बहुव्रीहि समास का परवर्ती । अतः उक्त वार्तिक से ह्रस्व का निषेध नहीं हुआ ।

विशेष—सामान्यतः ईयसुन् प्रत्यय से समासान्त 'कप्' प्रत्यय का निषेध अभीष्ट होने पर "न संज्ञायाम्" तथा "ईयसश्च"—दोनों-सूत्रों को मिलाकर एक ही सूत्र "न संज्ञेयसोः" से काम चल सकता था, पृथक् दो सूत्र पढ़े जाने से यह विदित होता है कि नित्य और वैकल्पिक—दोनों प्रकार के—कप् प्रत्यय का यह प्रतिषेध करता है ।

(८९५) पद—वन्दिते, भ्रातुः । **अनुवृत्ति**—न, कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(निषेध)-सूत्र ।**

मूलार्थ—पूजित अर्थ में भ्रातृशब्दान्त से 'कप्' न हो । उदा० १—प्रशस्तः भ्राता यस्य > प्रशस्तभ्राता । २—सुभ्राता । "न पूजनात्" (सू० ९५४) से 'कप्' के निषेध की प्रवृत्ति "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०" (सू० ८५२) सूत्र के पहले तक होती है । वन्दिते क्यों कहा ? मूर्खभ्रातृकः (में निषेध नहीं हुआ) ।

विवरण—'कप्' के निषेध का ही प्रकरण है तथा पूर्ववत् सभी अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं । अतः सूत्र का यह आशय है कि "वन्दित (संमानित) अर्थ में विद्यमान भ्रातृ-शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'कप्' प्रत्यय नहीं होता" । इस सूत्र द्वारा "नद्यृतश्च" से प्राप्त 'कप्' का निषेध हो

नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे ५ । ४ । १५९ ॥ स्वाङ्गे यौ नाडीतन्त्रीशब्दौ तदन्तात्कप् न स्यात् । बहुनाडिः कायः । बहुतन्त्रीर्ग्रीवा । बहुतन्त्रीर्धमनी । स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावाद्ध्रस्वो न । स्वाङ्गे किम् ? बहुनाडीकः स्तम्भः । बहुतन्त्रीका वीणा । (८९७) निष्प्रवाणिश्च ५ । ४ । १६० ॥ कबभावोऽत्र निपात्यते । प्रपूर्वाद्वयतेर्ल्युट् । प्रवाणी तन्तुवायशलाका ।

---

(८९६) नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे । बहुनाडिः काय इति । प्राणिस्थत्वात् स्वाङ्गत्व-सूचनाय काय इति विशेष्यम् । उपसर्जनह्रस्वः । 'नद्यृतश्च' इति प्राप्तः कप् न भवति । बहुतन्त्रीर्ग्रीवेति । बह्व्यस्तन्त्र्यो यस्या इति विग्रहः । वीणातन्तुषु तन्त्रीशब्दस्य प्रसिद्ध-त्वादाह—बहुतन्त्रीर्धमनीति । बहुतन्त्रीशब्दे 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वमाशङ्क्याह—स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावादिति । 'अवितॄस्तॄतन्त्रीभ्य ईः' इत्यौणादिकस्य 'स्त्रियाम्' इत्य-धिकारेऽविहितत्वादिति भावः ।

(८९७) निष्प्रवाणिश्च । प्रपूर्वादिति । 'वेञ् तन्तुसन्ताने' इत्यस्मात् प्रपूर्वात् 'करणा-

---

जाता है। **उदाहरण**—(१) प्रशस्तभ्राता (जिसका भाई प्रशंसनीय हो)। **विग्रह**—प्रशस्तः भ्राता यस्य । **अलौकिक विग्रह**—प्रशस्त—सु, भ्रातृ+सु > प्रशस्तभ्रातृ (समास तथा प्रकृत सूत्र से 'कप्' का निषेध) > **प्रशस्तभ्राता** (प्रथमा विभक्ति का एकवचन)। (२) इसी प्रकार **सुभ्राता** (जिसका भाई सुन्दर हो)। **विग्रह**—शोभनः भ्राता यस्य । शेष कार्य पूर्ववत् ।

(८९६) पद—नाडीतन्त्र्योः, स्वाङ्गे । **अनुवृत्ति**—न कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(निषेध)-सूत्र ।**

मूलार्थ—स्वाङ्गवाची नाडी तथा तन्त्री-शब्दान्त बहुव्रीहि से 'कप्' न हो। उदा० १-बहुनाडिः (शरीर)। २—क-बहुतन्त्रीः (गर्दन)। २—ख-बहुतन्त्रीः (धमनी)। स्त्रीप्रत्ययान्त न होने से ह्रस्व नहीं हुआ। स्वाङ्गे क्यों कहा ? बहुनाडीकः (खम्भा) तथा बहुतन्त्रीका (वीणा)—कप् का निषेध नहीं हुआ।

विवरण—'कप्'—निषेध के प्रसङ्ग में उल्लिखित अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र के समान आ रही हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "स्वाङ्ग-वाचक 'नाडी' एवम् 'तन्त्री' शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'कप्' प्रत्यय न हो"। यह सूत्र भी "नद्यृतश्च" ५-४-१५३ से नदी-संज्ञा को अभिलक्षित कर प्राप्त समासान्त 'कप्' का निषेध करता है। **उदाहरण**—(१) बहुनाडिः (बहुत सी नाडियों वाला शरीर)। **विग्रह**—बह्व्यः नाड्यः यस्य सः। **अलौकिक विग्रह**—बह्वी—जस्, नाडी+जस्, > बह्वी-नाडी (समास) > बहु-नाडी (बह्वी=बहु-पुंवद्भाव) > बहु-नाडि (नाडी=नाडि-उपसर्जन ह्रस्व) > **बहुनाडिः** (प्रथमा विभक्ति का रूप)। (२) क-बहुतन्त्रीः (बहुत सी नसों वाली गर्दन)। **विग्रह**—बह्व्यः तन्त्र्यः यस्यां ग्रीवायां सा। शेष कार्य पूर्ववत्। विशेष उल्लेखनीय यह है कि 'तन्त्री' शब्द स्त्री-प्रत्ययान्त नहीं है, किन्तु 'अवि-तृ-स्तृ-तन्त्रिभ्य ईः' उणादि सूत्र (४४६) से विहित 'ई' प्रत्यय हुआ है, अतः उपसर्जन ह्रस्व नहीं हुआ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'स्वाङ्गे' पद का निवेश होने के फलस्वरूप **बहुनाडीकः** (बहुत सी नालियों वाला खम्भा) तथा **बहुतन्त्रीका** (बहुत से तारों वाली वीणा) में प्रकृत सूत्र से 'कप्' का निषेध नहीं हुआ, क्योंकि खम्भे का 'नाड़ी' और वीणा का 'तन्त्री' अङ्ग नहीं हैं। इस प्रकार 'कप्' का निषेध न होने के कारण "नद्यृतश्च" ५-४-१५३ से 'कप्' प्रत्यय हो गया।

(८९७) पद—निष्प्रवाणिः, च। **अनुवृत्ति**—न, कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधि-(निषेध)-सूत्र ।**

मूलार्थ—यहाँ 'कप्' का अभाव निपातित है। प्र—√वेञ्+ल्युट्=प्रवाणी, जिसका अर्थ है—

निर्गता प्रवाण्यस्य निष्प्रवाणिः पटः। समाप्तवानः। नव इत्यर्थः। (८९८) **सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ २।२।३५॥** सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं प्रयोज्यम्। कण्ठेकालः। अतएव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः। चित्रगुः। 'सर्वनाम-सङ्ख्य-

---

धिकरणयोश्च' इत्यधिकरणे ल्युट्। प्रीयते अस्यामिति प्रवाणी। 'पूर्वपदात् सञ्ज्ञायाम्' इति णत्वम्। समाप्तवान् इति। समाप्त वानं वानक्रिया यस्येति विग्रहः। अत्र शैषिककब-भावो निपात्यते।

(८९८) सप्तमीविशेषणे। 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यतः पूर्वमित्यनुवर्तते। 'प्रत्ययग्रहण-परिभाषया सप्तमीति तदन्तग्रहणम्। तदाह—सप्तम्यन्तमिति। कण्ठेकाल इति। कण्ठे तिष्ठतीति कण्ठेस्थः, स कालो यस्येति विग्रहः। सुपीति योगविभागात् कः। 'सप्तम्युपमानपूर्व-पदस्य' इति बहुव्रीहिसमासः, स्थशब्दलोपश्च, इति 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम्। 'अमूर्धमस्तकात्' इति सप्तम्या अलुक्। अत एवेति। यद्यपि कण्ठेस्थशब्दः प्रथमान्त एवात्र बहुव्रीहौ पूर्वपदम्, तस्य कालशब्देन सामानाधिकरण्यमस्त्येवेति कथं सप्तमीग्रहणं व्यधि-करणपदबहुव्रीहिज्ञापकम्। किञ्च विशेषणत्वादेव सिद्धे किं वा सप्तमीग्रहणेन। तथापि यदा स्थपदमनादृत्य कण्ठे इत्यस्याधिकरणत्वं तस्य च कालरूपे उत्तरपदार्थे उपसङ्क्रमः, तदा कण्ठे इत्यस्याप्रथमान्तत्वात् बहुव्रीहेरप्रसक्तेः। तत्र सप्तम्यन्तस्य पूर्वनिपातविधिरभित्ति-चित्रायितः स्यात्। ततश्च सप्तमीग्रहणात् अप्रथमान्तोऽपि बहुव्रीहिः क्वचिदस्तीति विज्ञायते इति योज्यम्। तेन 'सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभः' इत्यादि सिद्धम्। चित्रगुरिति। उभयोरपि प्रथमानिर्दिष्टत्वेन विग्रहे नियतविभक्तिकत्वेन चान्यतरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते उत्तरपदविशेषणस्यैव पूर्वनिपातार्थं विशेषग्रहणमिति भावः। सर्वनामसङ्ख्ययोरिति।

जुलाहे की शलाका। उदा० निर्गता प्रवाणी अस्य > निष्प्रवाणिः → जो करघे से निकाल लिया हो—नवीन पट।

विवरण—'कप्' के निषेध का ही प्रकरण है। सूत्रस्थ 'च' शब्द से उसका संकेत है। अतः 'न' तथा 'कप्' की प्रमुख अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अपेक्षित हैं। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व चली आ रही हैं। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "बहुव्रीहिसमास करने पर 'निष्प्रवाणि' शब्द में भी समासान्त 'कप्' प्रत्यय न हो"। यहाँ भी "नद्यृतश्च" ५-४-१५३ से प्राप्त नदी-लक्षण 'कप्' का निपातन से निषेध किया जारहा है। **उदाहरण**—निष्प्रवाणिः (नवीन कपड़ा)। **विग्रह**—निर्गता प्रवाणी यस्य सः। **अलौकिक विग्रह**—निर्—प्रवाणी+सु > निर्-प्रवाणी (बहुव्रीहि समास) > निःप्रवाणी (र् = :) > निष्प्रवाणी (: = ष्) > निष्प्रवाणिः (गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" १-२-४८→णी = णि) > **निष्प्रवाणिः** (प्रकृत सूत्र से 'कप्' का अभाव निपातित, प्रथमा एकवचन का रूप)।

विशेष—प्रवाणी (तन्तुवाय-शलाका) उस कंघी को कहते हैं, जिसे सूत के बीच में लगा कर कपड़ा बुना जाता है। कपड़ा बुने जाने पर उसे अलग कर दिया जाता है ('निर्गता प्रवाणी यस्य सः')। **प्रवाणी**=प्र+√वेञ्+ल्युट् (अन) → प्र-ऊयते अस्याम्←"करणाधिकरणयोश्च" ३-३-११७। ङीप्। न=ण—"पूर्वपदात् संज्ञायामगः" ८-४-३।

(८९८) पद—सप्तमी-विशेषणे, बहुव्रीहौ। **अनुवृत्ति**—पूर्वम्। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त और विशेषण-पद का पूर्व प्रयोग हो। उदा० १—कण्ठेकालः। अत एव व्यधिकरण-पद बहुव्रीहि ज्ञापित है। (२) चित्रगुः। वा० सर्वनाम तथा संख्यावाचक

योरुपसङ्ख्यानम्' (वा १४२९) । सर्वश्वेतः । त्रिशुक्लः । 'मिथोऽनयोः समासे सङ्ख्या-पूर्वम् शब्दपरविप्रतिषेधात्' (वा ५०४४) । द्व्यन्यः । 'संख्याया अल्पीयस्याः' (वा

बहुव्रीहौ पूर्वनिपातस्येति शेषः । सर्वश्वेत इति । सर्वः श्वेतः यस्येति विग्रहः । उभयोरपि गुणवचनत्वेन विशेषणविशेष्यभावे कामचारात् अन्यतरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते सर्वनामत्वात् सर्वशब्दस्यैव पूर्वनिपातः । उपसर्जनत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या सर्वनामत्वम् । त्रिशुक्ल इति । त्रयः शुक्ला यस्येति विग्रहः । उभयोरपि कामचारेण पूर्वनिपाते प्राप्ते सङ्ख्यात्वात् त्रिशब्दस्यैव पूर्वनिपातः । द्विशुक्लः इत्यत्र तु सर्वनामत्वादेव सिद्धम् । ननु द्वौ अन्यौ यस्य द्व्यन्य इति बहुव्रीहौ सर्वनामसङ्ख्ययोरन्यतरस्य पाक्षिकः पूर्वनिपातः स्यादित्यत आह— मिथोऽनयोरिति । सर्वनामसङ्ख्ययोरित्यर्थः । सङ्ख्या पूर्वमिति । प्रयोज्येति शेषः । शब्दपरेति । एकस्मिन्नेव सूत्रे सर्वनामसंख्ययोः समासोपात्तत्वेऽपि सर्वनामसंख्याशब्दयोः संख्याशब्दस्य पाठतः परत्वमादाय विप्रतिषेधसूत्रप्रवृत्तेरित्यर्थः । सङ्ख्याया अल्पीयस्या इति । न्यूनाधिकसंख्यावाचकशब्दानां समासे न्यूनसंख्यायाः पूर्वं प्रयोग इति वक्तव्य-

---

शब्द भी पूर्व पद रखे जायँ । उदा०—१-सर्वश्वेतः । २-क-द्विशुक्लः । २-ख-त्रिशुक्लः । वा० इन दोनों (सर्वनाम एवं संख्यावाचक) का परस्पर समास होने की स्थिति में परवर्ती होने के कारण संख्यावाचक का पूर्व निपात हो । उदा० द्व्यन्यः । वा० दो संख्याओं के समास में छोटी संख्या (का पूर्वनिपात हो) । उदा० १-द्वित्राः । २-द्वादश (द्वन्द्व में) । वा० प्रिय-शब्द का वैकल्पिक पूर्व-निपात हो । उदा० गुडप्रियः—प्रियगुडः । वा० गडु आदि शब्दों में सप्तम्यन्त (का पूर्व निपात हो) । उदा० गडुकण्ठः । कहीं पर नहीं भी—वहेगडुः ।

विवरण—बहुव्रीहि-प्रकरण के अन्त में भट्टोजि दीक्षित पूर्व-निपात-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख कर रहे हैं । इस प्रकार अष्टाध्यायी-क्रम में प्रकृत सूत्र समास-प्रकरण को अभिलक्षित कर रहा है। तदनुसार विधायक पद के अभाव में "उपसर्जनं पूर्वम्" २-२-३० से पूर्व पद की अनुवृत्ति वाञ्छित है । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' नियम के अनुसार सूत्रस्थ 'सप्तमी' पद तदन्त का बोधक है । इस तरह सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त पद एवं विशेषण-वाची पदों का पूर्व प्रयोग किया जाय" । बहुव्रीहि समास में सभी पद उपसर्जन होते हैं, अतः किसी भी पद का पूर्व प्रयोग किया जा सकता था, इस हेतु उसका नियमन आवश्यक था । (१) **सप्तम्यन्त का उदाहरण**—कण्ठेकालः (कण्ठ में स्थित है काल जिसके—अर्थात् शिव अथवा मरने वाला व्यक्ति) । **अलौकिक विग्रह**—कण्ठ+ङि, काल+सु > कण्ठेकाल ('सप्तम्युपमानपूर्वपद-स्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः'–वार्तिक से समास, प्रकृत सूत्र से सप्तम्यन्त पद 'कण्ठे' का पूर्व-प्रयोग एवं 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' ६-३-९ सूत्र से सप्तमी विभक्ति का 'अलुक्' अर्थात् लोप नहीं हुआ) > कण्ठेकालः (पुनः विभक्त्युत्पत्ति, प्रथमा एकवचन) । (२) **विशेषण-वाची बहुव्रीहि का उदाहरण**—चित्रगुः (जिसके पास चितकबरी गायें हैं) । 'चित्रा गावः सन्ति' इस विग्रह में 'चित्राः' तथा 'गावः' दोनों पद प्रथमान्त हैं, अतः दोनों का पूर्व प्रयोग प्राप्त था, उसका नियमन कर विशेषण-वाची 'चित्र' शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ । रूप-सिद्धि सू० ८३१ में देखें ।

शङ्का-समाधान—'कण्ठेकालः' प्रयोग में तो 'कण्ठ' पद की "प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्" १-२-४३ से ही उपसर्जन संज्ञा सिद्ध थी, क्योंकि "सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ" २-२-३५ सूत्र में 'सप्तमी' पद प्रथमा विभक्ति में निर्दिष्ट है, अतः "उपसर्जनं पूर्वम्" २-२-३० सूत्र से 'कण्ठे' पद का पूर्वप्रयोग स्वतः सम्भव था—तब सप्तम्यन्त पद का पृथक् पूर्व-प्रयोग-नियम क्यों ? इसके साथ ही यह भी शंका उपस्थित होती है कि 'कण्ठे-कालः' में समानाधिकरण न होने से जब बहुव्रीहि समास की प्राप्ति ही नहीं, तो सप्तम्यन्त पद के पूर्व-निपात की सम्भावना कैसी ?

१४१७)। द्वित्राः। द्वन्द्वेऽपि। द्वादश। 'वा प्रियस्य' (वा १४२०)। गुडप्रियः, प्रियगुडः। 'गड्वादेः परा सप्तमी' (वा १४२१)। गडुकण्ठः। क्वचिन्न। वहेगडुः। (८९९)

मित्यर्थः। द्वित्रा इति। द्वौ वा त्रयो वेति विग्रहे 'सङ्ख्ययाव्यय' इति बहुव्रीहिः। ननु 'द्वन्द्वे घि' इत्यतः द्वन्द्वे इत्यनुवृत्तौ 'अल्पाच्तरम्' इति सूत्रभाष्येऽस्य वार्तिकस्य पाठात् बहुव्रीहौ कथमस्य प्रवृत्तिरित्यत आह—द्वन्द्वेऽपीति। इदञ्च वार्तिकं द्वन्द्वेऽद्वन्द्वेऽपि प्रवर्तत इत्यर्थः। द्वादशेति। द्वौ च दश च इति द्वन्द्वः। तत्पुरुषे तु शतानां विंशतिः विंशति-शतमित्युदाहार्यम्। 'तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः' इति सूत्रभाष्ये सहस्राणां शतम् इत्यर्थे शतसहस्रमिति भाष्यकैयटयोः प्रयोगोऽत्र मानमिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्। वा प्रियस्येति। बहुव्रीहौ पूर्वं प्रयोगो वक्तव्य इत्यर्थः। गड्वादेः परा सप्तमीति। बहुव्रीहौ योज्येति वक्तव्यमिति शेषः। गडुकण्ठ इति। गडुः कण्ठे यस्येति विग्रहः। गडुर्नाम ग्रीवादि-गतो दुर्मांसगोलः। (असञ्ज्ञात्वात् 'हलदन्तात्' इत्यलुक् न)। क्वचिन्नेति। व्याख्यान-मेवात्र शरणम्। वहेगडुरिति। वहः स्कन्धः तस्मिन् गडुः—दुर्मांसग्रन्थिर्यस्येति विग्रहः।

इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त पद के पूर्व-प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि पाणिनि को भिन्न विभक्ति (व्यधिकरण) में बहुव्रीहि समास इष्ट है। इसके अतिरिक्त 'सप्तमी' पद यह भी ज्ञापित करता है कि समानाधिकरण बहुव्रीहि में ही विशेषण पद का पूर्व प्रयोग हो, अन्यथा 'कण्ठेकालः' प्रयोग में भी 'कण्ठे' पद विशेषण होने के फलस्वरूप पूर्व में प्रयुक्त हो सकता था, तब 'सप्तमी' पद की उपयोगिता क्या होती? इस प्रकार व्यधिकरण बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त पद के पूर्व-प्रयोगार्थ उक्त सूत्र में 'सप्तमी' पद की सार्थकता है। इससे यह भी लाभ हुआ कि व्यधिकरण में केवल सप्तमी का ही बहुव्रीहि समास होगा, द्वितीयादि अन्य विभक्तियों का नहीं।

विशेष—पूर्व प्रयोग के सम्बन्ध में इसके पूरक **पाँच वार्तिकों** को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। तदनुसार (१) **प्रथम वार्तिक** द्वारा यह निर्देश दिया गया है कि "बहुव्रीहि में (क) सर्वनाम और (ख) **संख्यावाचक** शब्दों का पूर्वप्रयोग किया जाय"। इनके क्रमशः उदाहरण (१) **सर्व-श्वेतः** (बिलकुल सफेद→सर्वः श्वेतः यस्य) तथा (२) क–**द्विशुक्लः** (जिसके दो सफेद हों→ द्वौ शुक्लौ यस्य)। (२) ख–**त्रिशुक्लः** (जिसके तीन सफेद हों→त्रयः शुक्लाः यस्य)। (२) **द्वितीय वार्तिक** द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'सर्वनाम-संज्ञक और संख्यावाचक शब्दों का परस्पर समास करने पर शब्दजन्य परत्व के कारण **संख्यावाचक** शब्द का पूर्व प्रयोग होगा"। **उदाहरण—द्व्यन्यः** (जिसके दो अन्य हों→ द्वौ अन्यौ यस्य सः)। (३) **"तीसरे वार्तिक** से दो न्यून तथा अधिक संख्यावाचक शब्दों का परस्पर बहुव्रीहि समास होने पर न्यून संख्यावाचक शब्द का पूर्व प्रयोग होता है"। **उदाहरण—द्वित्राः** (दो या तीन→द्वौ वा त्रयो वा)। बहुव्रीहि के अतिरिक्त द्वन्द्व समास में भी न्यूनाधिक संख्याओं के सन्दर्भ में यही नियम लगता है। अतः **द्वादश** (बारह→द्वौ च दश च) शब्द में 'द्वि' शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ, अन्यथा द्वन्द्व में दोनों पदों के प्रधान होने के कारण किसी एक शब्द का पूर्व-प्रयोग किया जा सकता था। (४) **चौथे वार्तिक** द्वारा "बहुव्रीहि में प्रिय शब्द के वैकल्पिक पूर्व प्रयोग होने के सम्बन्ध में निर्देश दिया गया है"। **उदाहरण**—(क) **गुडप्रियः**—(ख) **प्रियगुडः** (जिसे गुड़ प्रिय हो→'गुडः प्रियः यस्य')। (५) **पाँचवें वार्तिक** से यह विदित होता है कि "गडु' आदि शब्दों के साथ बहु-व्रीहि समास होनेपर सप्तम्यन्त पद का अन्त में प्रयोग होता है'। **उदाहरण—गडुकण्ठः** (जिसके गले में कण्ठमाल हो→गडुः कण्ठे यस्य। संज्ञा न होने के कारण "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञा-याम्" ६-३-९ सूत्र से विभक्ति का लोप न होने की प्रक्रिया का अभाव होने से सप्तमी विभक्ति का

निष्ठा २ । २ । ३६ ॥ निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । कृतकृत्यः । 'जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या' (वा १४२२) । सारङ्गजग्धी । मासजाता । सुखजाता । प्रायिकं

---

(८९९) निष्ठा । निष्ठान्तमिति । 'क्तक्तवतू निष्ठा' इति वक्ष्यति, तदन्तमित्यर्थः । कृतकृत्य इति । कृतं कृत्यं येनेति विग्रहः । उभयोरपि क्रियाशब्दत्वात् विशेषणत्वे कामचारात् अन्यतरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते निष्ठान्तस्य पूर्वनिपातः । जातिकालेति । 'जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तः' इति स्वरविधिना ज्ञापितमिदमिति भाष्ये स्पष्टम् । जातिपूर्वस्योदाहरणमाह—सारङ्गजग्धीति । सारङ्गः हरिणः, जग्धः-भक्षितः यया इति विग्रहः । 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इति ङीष् । कालपूर्वस्योदाहरति—मासजातेति । मासः जातः यस्या इति विग्रहः । टाप् । सुखपूर्वस्योदाहरति—सुखजातेति । सुखं जातं यस्या इति विग्रहः । प्रायिकमिति । व्याख्यानमेवात्र शरणम् । कृतकट इति । कृतः कटः येनेति

लोप हो गया)। कहीं-कहीं पर 'गडु' शब्द के होने पर भी सप्तम्यन्त पद का पर-प्रयोग नहीं होता । तदनुसार 'वहेगडुः (जिसके कन्धे पर बुरा मांसपिण्ड हो→ वहे गडुः यस्य सः) में सप्तम्यन्त पद 'वहे' का पूर्व प्रयोग हो गया ।

इसके लिये नागेश ने अन्य उपाय यह बतलाया है कि 'वा प्रियस्य' वार्तिक से यहाँ 'वा' पद की अनुवृत्ति कर व्यवस्थित विभाषा का आश्रय लिया जाय ।

वस्तुतः भाष्य में इस प्रकार का निर्देश न होने के कारण इस व्यवस्थित विभाषा के मानने में कोई प्रबल तर्क उपस्थित नहीं किया जा सकता[1]।

(८९९) पद—निष्ठा । अनुवृत्ति—बहुव्रीहौ, पूर्वम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में निष्ठान्त का पूर्व-निपात होता है । उदा० कृतकृत्यः । वा० जाति, काल, सुख आदि शब्दों के साथ समास में 'निष्ठा' का पर प्रयोग होता है । उदा० १—सारङ्गजग्धी । २—मासजाता । ३—सुखजाता । यह वार्तिकोक्त नियम प्रायिक है । जैसे—कृतकटः, पीतोदकः (में निष्ठा का पूर्व निपात है)।

विवरण—पूर्व निपात का ही प्रकरण है । अतः सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये पूर्व सूत्र "सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ" २-२-३५ से 'बहुव्रीहौ' तथा "उपसर्जनम् पूर्वम्" २-२-३० से 'पूर्वम्' की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं । 'निष्ठा' शब्द कृदन्त 'क्त' तथा 'क्तवतु' प्रत्ययों का बोधक है । अतः तदन्तविधि होगी । तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "बहुव्रीहि समास में निष्ठा-प्रत्ययान्त पद का पूर्व प्रयोग हो" । **उदाहरण—कृतकृत्यः** (जिसने कर्तव्य पूरा कर लिया) । **विग्रह**—कृतं कृत्यं येन । यहाँ कृत (√कृ+क्त) शब्द निष्ठान्त है, अतः पूर्वनिपात । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् ।

कहीं इसके विपरीत पर निपात भी होता है, उस सम्बन्ध में वार्तिक का समावेश किया जा रहा है । तदनुसार '(१) जातिवाचक, (२) कालवाचक एवं (३) सुख आदि शब्द जहाँ समास-घटक रहें वहाँ निष्ठाप्रत्ययान्त पद का पर-प्रयोग होता है' । प्रत्येक का क्रमशः **उदाहरण (१) सारङ्गजग्धी**[2] (जिस स्त्री ने मृग खाया है → जग्धः सारङ्गः यया) । (२) **मासजाता** (जिसे पैदा हुए एक महीना हुआ हो→मासः जातः यस्याः) । (३) **सुखजाता** (जिसका जन्म सुख से हुआ हो→सुखं जातं यस्याः) ।

उपर्युक्त वार्तिक के विपरीत कुछ प्रयोगों की समीचीनता के लिये पर-प्रयोग में विकल्प की संभावना की गई है । अतः **कृतकटः** (जिसने चटाई बना ली हो→कृतः कटः येन सः) तथा

---

१. भाष्यानुक्तत्वेन सिद्धान्ते व्यवस्थितविभाषात्वे मानाभावः ।

—भैरवी टीका—ल० श० शे० पृ० १२३ ।

२. अत्र "अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा" ४-१-५३ इति ङीष् ।

चेदम्। कृतकटः। पीतोदकः। (९००) वाऽऽहिताग्न्यादिषु २।२।३७॥ आहिताग्निः। अग्न्याहितः। आकृतिगणोऽयम्। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' (वा १४२५)। अस्युद्यतः। दण्डपाणिः। क्वचिन्न विवृतासिः।

॥ इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्॥

विग्रहः। अत्र कटत्वस्य जातित्वेऽपि न कृतशब्दस्य पर-निपातः। पीतोदक इति। पीतम् उदकं येनेति विग्रहः। उदकत्वस्य जातित्वेऽपि न पीतशब्दस्य परपिनातः।

(९००) वाऽऽहिताग्न्यादिषु। निष्ठायाः पूर्वं प्रयोग इति शेषः। आहिताग्निरिति। आहिताः आधानेन संस्कृताः अग्नयः येनेति विग्रहः। प्रहरणार्थेभ्य इति। आयुधार्थेभ्य इत्यर्थः। निष्ठायामुदाहरति—अस्युद्यत इति। असिः उद्यतो येनेति विग्रहः। सप्तम्या उदाहरति—दण्डपाणिरिति। दण्डः पाणौ यस्येति विग्रहः। 'निष्ठा' इत्यस्य 'सप्तमीविशेषणे' इत्यस्य चायमपवादः। क्वचिन्नेति। व्याख्यानमेवात्र शरणम्। विवृतासिरिति। विवृतः कोशान्निष्कासितः असिर्येनेति विग्रहः। एवञ्जातीयान्याहिताग्न्यादित्वकल्पनया समाधेयानीत्याहुः।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमायां बहुव्रीहिसमासनिरूपणम्।

पीतोदकः (जिसने पानी पी लिया है—पीतम् उदकं येन सः) में 'कृत' एवं 'पीत' शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ।

(९००) पद—वा, आहिताग्न्यादिषु। **अनुवृत्ति**—निष्ठा, बहुव्रीहौ, पूर्वम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—(आहिताग्नि आदि में निष्ठा का पूर्व प्रयोग विकल्प से हो। उदा० आहिताग्निः—अग्न्याहितः। यह आकृतिगण है। वा० आयुधार्थक के उत्तर निष्ठान्त एवं सप्तम्यन्तों का प्रयोग होता है। उदा० १—अस्युद्यतः। २—दण्डपाणिः। कहीं नहीं भी—विवृतासिः।

विवरण—निष्ठा-प्रत्ययान्त शब्दो में कुछ विशिष्ट प्रयोगों की समीचीनता के लिये पूर्व सूत्रोक्त नियम में शिथिलता लाई गई है, अतः उन शब्दों का परिगणन गण-पाठ के द्वारा किया गया है। विधान के बाहुल्य को सूचित करने के लिये 'वा' पद का निवेश किया गया है। अतः "'निष्ठा' २-२-३६ सूत्र की पूरी अनुवृत्ति तथा उल्लिखित 'बहुव्रीहौ' एवं 'पूर्वम्' की अनुवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र से यह ध्वनित होता है कि "आहिताग्न्यादि-गण मे निष्ठा-प्रत्ययान्त शब्दों का बहुव्रीहि समास में विकल्प से पूर्व प्रयोग अपेक्षित है"। अर्थात् पर-प्रयोग तथा पूर्व-प्रयोग दोनों ही अभीष्ट हैं। इस प्रकार पूर्व सूत्र से प्राप्त नित्य पूर्व-प्रयोग का विकल्प-विधान कर दिया। **उदाहरण—आहिताग्निः—अग्न्याहितः** (जो अग्न्याधान कर चुका→आहिताः अग्नयः येन सः)। आहिताग्नि—गण आकृतिगण है।

कुछ विशिष्ट शब्दों में इसके विपरीत विधान की समीचीनता **वार्तिक** द्वारा सूचित की गई है। तदनुसार 'बहुव्रीहि समास में **आयुधार्थक** शब्दों से **निष्ठान्त** और **सप्तम्यन्त पद** परत्र स्थित रहेंगे'। जैसे (१) **अस्युद्यतः** (जिसने तलवार उठा ली है→ असिः उद्यतः येन सः) तथा (२) **दण्डपाणिः** (जिसके हाथ में लाठी है→ दण्डः पाणौ यस्य सः)—में 'उद्यत' (निष्ठान्त) तथा 'पाणि' (सप्तम्यन्त) शब्दों का परत्र प्रयोग हुआ। यह वार्तिक "निष्ठा" २-२-३६ तथा

अथ द्वन्द्वसमासप्रकरणम्

(९०१) **चार्थे द्वन्द्वः २।२।२९॥** अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः। समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः। परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मि-

---

(९०१) अथ द्वन्द्वसमासनिरूपणम्—चार्थे द्वन्द्वः। 'सुबामन्त्रिते' इत्यतः सुबिति, 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यतः अनेकमिति चानुवर्तते। समास इति विभाषा इति चाधिकृतम्। तदाह—अनेकमित्यादिना। कश्चार्थं इत्यत आह—समुच्चयेति। 'चान्वाचयसमाहारेतरेतर-समुच्चये' इत्यमरः। तत्र समुच्चयं निर्वक्ति—परस्परेति। एकस्मिन्निति। एकस्मिन् क्रियापदे आवृत्ते एकस्य असमस्यमानपदस्य प्रथममन्वयः, तदनन्तरमन्यस्यान्वयो यत्र, तत्र

"सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ" २-२-३५ का अपवाद है। इसके साथ ही यह भी सूचित किया गया है कि कहीं कहीं निष्ठान्त और सप्तम्यन्त पदों का आयुधार्थक पदों से उत्तर प्रयोग नहीं भी होता'। अर्थात् पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—विवृतासिः (जिसने म्यान से तलवार निकाल ली है→विवृतः असिः येन सः) में 'विवृत' (निष्ठान्त) पद का पूर्व प्रयोग हुआ है।

विचारणीय—भट्टोजि दीक्षित ने "सिद्धान्तकौमुदी" में बहुव्रीहि समास के अन्त में 'पूर्व-प्रयोग-सम्बन्धी' सूत्रों को रखा है। वस्तुतः इस प्रकरण को बहुव्रीहि समास के आरम्भ में रखना युक्तिसंगत रहा। कारण यह है कि बहुव्रीहि-समास-सम्बन्धी उपयोगी नियमों का आरम्भ में समावेश करना ही समुचित प्रतीत होता है। इस त्रुटि को किसी अंश तक दूर करने में वरदराज भट्टाचार्य ने "मध्यसिद्धान्तकौमुदी" में सूझ-बूझ से काम लिया है। उन्होंने बहुव्रीहि-समास के विधायक प्रमुख सूत्र "अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ के बाद ही पूर्वापर शब्दों के क्रम के सम्बन्ध में जिज्ञासा होते ही "सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ" २-२-३५ सूत्र का सन्निवेश कर औचित्य दिखलाया है। किन्तु "निष्ठा" २-२-३६ तथा "वाऽऽहिताग्न्यादिषु" २-२-४७ सूत्रों को बहुव्रीहि-प्रकरण के अन्त में ही रखा है। इस सम्बन्ध में धर्मकीर्ति ने रूपावतार में दूरदर्शिता दिखलाई है। उन्होंने बहुव्रीहि समास के आरम्भ में ही 'चित्रगुः' की सिद्धि करते समय 'चित्र' तथा 'गो' दोनों शब्दों के प्रथमा निर्दिष्ट होने से पूर्वनिपात का सन्देह उपस्थित होनेपर वहीं "अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ के बाद "सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ" २-२-३५ सूत्र का सन्निवेश किया है; तथा उसी के अनन्तर "निष्ठा" २-२-३६ सूत्र को रख कर तारतम्य को बिगड़ने नहीं दिया है।

बहुव्रीहिसमास-प्रकरण समाप्त।

उपक्रम—अब द्वन्द्व समास के सम्बन्ध में विचार आरम्भ किया जा रहा है। समास-प्रकरण के आरम्भ में यह बतलाया जा-चुका है कि "द्वन्द्व समास 'च' (= और) के अर्थ में विद्यमान दो या अधिक सुबन्तों का समास है" (**चकारबहुलो द्वन्द्वः**)। अर्थात् अनेक शब्द विग्रह की अवस्था में 'च' (= और) अव्यय के द्वारा सम्बद्ध होते हैं। इसके भेद आदि का विवरण भट्टोजि-दीक्षित ने इस प्रकरण के आरम्भ में ही दिया है। अतः उसी के साथ विमर्श किया जायगा।

(९०१) **पद**—चार्थे, द्वन्द्वः। **अनुवृत्ति**—विभाषा, सुप्, समासः, अनेकम्। **विधि-(संज्ञा)-सूत्र।**

मूलार्थ—'च' के अर्थ में विद्यमान अनेक सुबन्तों का विकल्प से समास होता है और उसकी 'द्वन्द्व' संज्ञा होती है। 'च' के चार अर्थ हैं—(१) समुच्चय, (२) अन्वाचय, (३) इतरे-तरयोग और (४) समाहार। (१) परस्पर निरपेक्ष अनेकों का एक में अन्वय 'समुच्चय'

अन्वयः समुच्चयः। अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेऽन्वाचयः। मिलितानामन्वये इतरेतरयोगः। समूहः समाहारः। तत्रेश्वरं गुरुं च भजस्व इति समुच्चये, भिक्षामट गां चानय इत्यन्वाचये

समुच्चयः चार्थः इत्यर्थः। यथा–ईश्वरं गुरुं च भजस्व इति। तत्र हि चशब्दयोगात् गुरोः ईश्वरसापेक्षत्वम्, न त्वीश्वरस्य गुरुसापेक्षत्वम्, तस्य चकारयोगाभावात्। अत एवात्र एक एव चशब्दः प्रयुज्यते। एवञ्च ईश्वरं च भजस्व गुरुं च भजस्व इति वाक्यद्वयं पर्यवस्यति। अथान्वाचयं लक्षयति––**अन्यतरस्येति**। यत्रान्यतरस्य पदस्यैकस्मिन् क्रियापदे आनुषङ्गिकत्वेन परार्थप्रवृत्तिविषयत्वेनान्वयः, इतरस्य तु पदस्यान्यस्मिन् क्रियापदे उद्देश्यत्वेनान्वयश्च तत्रान्वाचयश्चार्थं इत्यर्थः। यथा–भिक्षामट गां चानय इति। 'अट गतौ'। भिक्षामटनेन प्राप्नुहीत्यर्थः। भिक्षामट, तदा गौः सङ्गवा चेत् तामप्यानय, न तु गवानयने ऐदम्पर्येण प्रयतितव्यमिति तात्पर्यार्थः। इतरेतरयोगं लक्षयति–**मिलितानामिति**। परस्परापेक्षितानां समुदितानामेकस्मिन् क्रियापदेऽन्वयो यत्र, तत्रेतरेतरयोगः। परस्परसाहचार्यं चार्थः प्रत्येतव्य इत्यर्थः। यथा धवश्च खदिरश्च धवखदिराविति। अत्र परस्परसाहित्यसूचनाय चकारद्वयप्रयोगः। अथ समाहारं लक्षयति––**समूहः समाहार इति**। परस्परसाहित्यमित्यर्थः। यथा सञ्ज्ञापरिभाषयोः समूहः सञ्ज्ञापरिभाषमिति। तत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वे साहित्यं द्रव्यविशेषणम्। यथा धवखदिरौ छिन्धीति। समुदितादिति गम्यते। समाहारद्वन्द्वे तु समूहो विशेष्यम्। तथा सञ्ज्ञापरिभाषमिति। तयोः समूह इति गम्यते। सञ्ज्ञापरिभाषमधीते इत्यादौ समूहस्य क्रियान्वयस्तु समूहि-द्वारा बोध्य इत्यलम्। **तत्रेति**। तेषु चार्थेषु समुच्चयेऽन्वाचये च न द्वन्द्वसमास इत्यन्वयः। **ईश्वरं गुरुं च भजस्वेति**। समुच्चयोदाहरण-

---

कहलाता है। (२) एक का आनुषङ्गिक अन्वय अन्वाचय कहलाता है। (३) मिलित का अन्वय इतरेतरयोग है। (४) समूह को समाहार कहते हैं। इनमें से 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व'—इस समुच्चय में तथा 'भिक्षाम् अट, गां च आनय' इस अन्वाचय में भी असामर्थ्य होने के कारण समास नहीं होता। (द्वन्द्व के उदाहरण) १—धवखदिरौ। २—संज्ञापरिभाषम्। (अनुवृत्तिलभ्य) 'अनेक पद के निवेश से—होतृपोतृनेष्टोद्गातारः (अनेक पदों का द्वन्द्व समास)। दो दो (शब्दों) का द्वन्द्व करने पर पुनः (समूहात्मक) द्वन्द्व किये जाने पर—होतापोतानेष्टोद्गातारः।

विवरण—बहुव्रीहि समास के अनन्तर क्रमप्राप्त 'द्वन्द्व' समास का निरूपण किया जा रहा है। यह समास भी अनेक पदों का होता है, अतः "अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ सूत्र से 'अनेकम्' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। शेष समासोपयोगी अनुवृत्तियाँ—"प्राक् कडारात् समासः" २-१-३, "सुबामन्त्रिते०" २-१-२ तथा "विभाषा" २-१-१६ सूत्रस्थ पदों की भी–विद्यमान हैं। तब सूत्र का समष्टिगत अर्थ होगा कि "'च' (अव्यय) के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तशब्द समस्त होकर 'द्वन्द्व' संज्ञक होते हैं"। 'च' के अर्थसम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये उसके चार भेदों के सम्बन्ध में निर्वचन किया जा रहा है। वे हैं—(१) **समुच्चय**—अर्थात् परस्पर निरपेक्ष अनेक-पदार्थों के एक क्रिया में पृथक् अन्वय करने को 'समुच्चय' कहते हैं। उदाहरण के लिये '**ईश्वरं गुरुं च भजस्व**' (ईश्वर और गुरु की सेवा करो) में 'ईश्वर' और 'गुरु' दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं—वे एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते। यहाँ दोनों का स्वतन्त्र रूप से भजन-क्रिया में अन्वय होने के कारण 'च' से समुच्चय सूचित होता है। किन्तु समुच्चयार्थ में समास नहीं होता, क्योंकि समुच्चय में समास की योग्यता नहीं है। (२) **अन्वाचय**—जब समुच्चीयमान (जिनका समुच्चय अभीष्ट है) पदार्थों में एक का अप्रधान रूप से अन्वय हो, तो उसे अन्वाचय कहते हैं। उदाहरणार्थ—**भिक्षाम् अट, गां च आनय**' (भिक्षा के लिये जाओ और गाय भी ले आओ)—

च न समासोऽसामर्थ्यात् । धवखदिरौ । सञ्ज्ञापरिभाषम् । अनेकोक्तेर्होतृपोतृनेष्टोद्गातारः ।

मिदम् । भिक्षामट गां चानयेत्युदाहरणं चानुपदमेव व्याख्यातम् । **असामर्थ्यादिति** । ईश्वरं गुरुं च इत्यत्रोक्तरीत्या ईश्वरगुरुशब्दयोः परस्परनिरपेक्षयोरावृत्ते भजस्वेति पदे क्रमेणान्वयात् परस्परमन्वयाभावादसामर्थ्यम् । भिक्षामट गां चानय इत्यत्र तु भिक्षागवोरटने आनयने च क्रमेण परस्परवार्तानभिज्ञयोरेवान्वयात् परस्परान्वयाभावसामर्थ्यं स्पष्टमेव । ततश्च इतरेतरयोगसमाहारयोरेव चार्थयोः परस्परसाहित्यसत्त्वात् समर्थत्वेन द्वन्द्वसमासः । विस्तरस्तु मञ्जूषायां द्रष्टव्यः । इतरेतरयोगमुदाहरति—**धवखदिराविति** । धवश्च खदिरश्चेति द्वन्द्वः । धवो वृक्षविशेषः, खदिरः प्रसिद्धः, तौ समुदिताविति बोधः । समाहारे तूदाहरति—**सञ्ज्ञेति** । सञ्ज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहार इति विग्रहः । समाहारस्यैकत्वादेकवचनम् । 'स नपुंसकत्वम्' इति नपुंसकत्वम् । ननु 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यत्र 'सुप्सुपा' इत्यनुवृत्त्यैव धवखदिरावित्यादिसिद्धेरनेकग्रहणानुवृत्तिर्व्यर्थेत्यत आह—**अनेकोक्तेरिति** । **होतृपोत्रिति** । होता च पोता च नेष्टा च उद्गाता च इति विग्रहे बहूनामपि द्वन्द्वार्थमनेक-

---

इस वाक्य में भिक्षा के लिये घूमते समय यदि गाय मिल जाय तो उसे भी ले आने का आदेश दिया गया है । इस प्रकार मुख्य उद्देश्य तो 'भिक्षा' है । 'गाय का लाना' गौण कार्य है । 'भिक्षाटन' तथा 'गवानयन'—इन समुच्चीयमान पदार्थों में 'गवानयन'–(गाय लाना)–रूप अप्रधान पदार्थ का अन्वय होने से 'च' का अर्थ—अन्वाचय है । यहाँ भी दोनों पदों में समकक्षता न होने के कारण (असामर्थ्य होने से) समास नहीं होगा । वाक्य ही बना रहेगा । (३) **इतरेतरयोग**—जहाँ पदार्थ मिलकर आगे अन्वित होते हैं (अर्थात् जहाँ समस्त पद पृथक्-पृथक् अर्थ विदित कराते हुए अन्वित हों) तब उसे इतरेतरयोग कहा जाता है । जैसे "धवखदिरौ छिन्धि" ('धव और 'खैर' को काटो)—इस वाक्य में 'धव' और 'खदिर' पदार्थ परस्पर मिलकर आगे 'छेदन' क्रिया में अन्वित होते हैं । अतः इनमें सहविवक्षा है । इस प्रकार 'च' का अर्थ इतरेतरयोग (एक का दूसरे से सम्बन्ध) है । यहाँ सामर्थ्य (सह-विवक्षा-पदार्थ) होने के कारग समास होगा । तदनुसार इतरेतरयोग द्वन्द्व में अवयव-गत संख्या द्वित्व एवं बहुत्व आदि उद्भूत होती हैं । अतः समासोत्तर पद में तदर्थक संख्यावाचक विभक्तियों–दोनों द्वि-वचन एवं बहुवचन–का प्रयोग होता है । प्रकृत वाक्य में धवगत एकत्व तथा खदिरगत एकत्व मिलकर द्वित्व संख्या के उत्पादक होते हैं । इस कारण 'धवखदिरौ' में 'कर्मत्व' रूप द्वि-वचन हुआ । (४) **समाहार**—द्वन्द्व समास का वह भेद है, जिसमें अनेक वस्तुओं के समूह या संग्रह का भाव प्रदर्शित किया जाता है । जैसे **संज्ञापरिभाषम्** (संज्ञा और परिभाषा→संज्ञा च परिभाषा च, तयोः समाहारः) में 'च' का प्रयोग समूह अर्थ में हुआ है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समाहार-द्वन्द्व में समस्यमान पदार्थगत-संख्या तिरोहित होती है । समुदाय के एकरूपात्मक (समष्टि) होने के कारण एक-वचन एवं नपुंसक लिङ्ग ही होता है—"स नपुंसकम्" २·४·१७ ।

विशेष—"चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९ सूत्र में "अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ सूत्र से **'अनेकम्'** पद की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप दो, तीन, या इससे भी अधिक सुबन्तों का द्वन्द्व समास होता है । उदाहरणस्वरूप होतृ-पोतृ-नेष्टोद्गातार में चार पदों का द्वन्द्व समास हुआ (होता च, पोता च, नेष्टा च, उद्गाता च) । यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व है । इस उदाहरण में 'उद्गातृ' उत्तर पद है । अतः पूर्व-पद 'नेष्टृ' को "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" ६-३-२५ सूत्र से आनङ् आदेश हुआ है । 'आनङ्' आदेश-विधायक सूत्र में 'पूर्वपद' (पूर्वं च तत् पदं च) शब्द यौगिकार्थ का बोधक है, रूढ नहीं है । इस प्रकार 'उद्गातृ' पद से पूर्ववर्ती 'नेष्टृ' के ऋकार को ही 'आनङ्' होता है, न कि समस्त-पद के पूर्वपद 'होतृ' पद को । यदि पूर्वोक्त चार पदों में से दो दो पदों का भिन्न भिन्न समास

द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वं कृत्वा पुनर्द्वन्द्वे तु होतापोतानेष्टोद्गातारः। (९०२) राजदन्तादिषु परम् २।२।३१॥ एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात्। दन्तानां राजा>राजदन्तः। 'धर्मादिष्वनियमः' (वा १४१८)। अर्थधर्मौ–धर्मार्थौ। दम्पती–जम्पती–जायापती। जायाशब्दस्य

ग्रहणमिति भावः। 'आनङृतो द्वन्द्वे' इति नेष्टृशब्दस्यैव उत्तरपदपरकत्वात् आनङ्। ननु होतृपोतृशब्दयोरपि, उत्तरपदस्य मध्यमपदव्यवहितत्वेन होतृपोतृशब्दयोरुत्तरपदपरकत्वाभावात्। ननु तर्हि होतापोतानेष्टोद्गातारः इति कथमित्यत आह—द्वयोरिति। होता च पोता चेति द्वयोर्द्वन्द्वः। होतृशब्दस्य आनङ्, ततश्च नेष्टा च उद्गाता चेति द्वयोर्द्वन्द्वः। नेष्टृशब्दस्यानङ्। ततः होतापोतारौ च नेष्टोद्गातारौ चेति द्वन्द्वद्वयगर्भो द्वन्द्वः। तत्र नेष्टोद्गातृशब्दे उत्तरपदे होतापोतृशब्दस्य आनङित्यर्थः। आनङि ङकार इत्। ङित्वादन्तादेशः। अकार उच्चारणार्थः। अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वान्नस्य लोपः। नेष्टोद्गातृशब्दे आद्गुणश्च।

(९०२) राजदन्तादिषु परम्। 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यनुवर्तते। तदाह—एष्विति। राजदन्तादिष्वित्यर्थः। पूर्वप्रयोगार्हमित्यतः प्राक् उपसर्जनमिति शेषः। राजदन्त इति। दन्तशब्दस्य षष्ठीतत्पुरुषेऽप्रधानतयोपसर्जनत्वेऽपि परनिपातः। इह गणे राजदन्ताग्रेवणादिशब्दास्तत्पुरुषाः, विष्वक्सेनार्जुनादयः द्वन्द्वाश्च पठिताः, अतो द्वन्द्वप्रकरणे तदुपन्यासः।

किया जाय तथा उन दो समासों का पुनः द्वन्द्व-समास किया जाय तो होता-पोता-नेष्टोद्गातारः रूप बनेगा। **प्रथम स्थिति** यह है—(क) होता च पोता च→होतापोतारौ। इसमें दो पद हैं—'होतृ' तथा 'पोतृ'। पूर्वपद 'होतृ' को आनङ्-आदेश—होता-पोतृ+औ>होतापोतारौ (इतरेतरयोग में द्विवचन)। (ख) नेष्टा च उद्गाता च=नेष्टोद्गातारौ (पूर्व उदाहरण के समान आनङ् तथा द्विवचन)। **दूसरी स्थिति**—होता-पोतारौ च नेष्टोद्गातारौ च>होतापोतानेष्टोद्गातारः। इन दो द्वन्द्वों के समास में पूर्वपदस्थ 'होतृ' तथा 'पोतृ' को आनङ् आदेश हुआ है। दोनों समुदायों में अवयवार्थगत संख्या प्रकट होने से द्वन्द्व में बहुवचन विभक्ति हुई। **सूत्रोदाहरण**—इतरेतरयोग में (१) धवखदिरौ। **विग्रह**—धवश्च खदिरश्च। **अलौकिक विग्रह**—धव+सु, खदिर+सु> धवखदिर (द्वन्द्व-समास, प्रातिपदिक संज्ञा, विभक्ति-लोप)> धवखदिर+औ (पुनः प्रातिपदिक संज्ञा, 'धव' तथा 'खदिर' गत अवयवार्थरूप द्वित्व संख्या उद्भूत होने से प्रथमा विभक्ति का द्वि-वचन)> **धवखदिरौ** (वृद्धि सन्धि)। (२) समाहार में संज्ञापरिभाषम्। **विग्रह**—संज्ञा च परिभाषा च—तयोः समाहारः। **अलौकिक विग्रह**—संज्ञा+सु, परिभाषा+सु> संज्ञा-परिभाषा (द्वन्द्व समास, विभक्ति-लोप)> संज्ञा-परिभाषा+सु (प्रातिपदिक संज्ञा, पुनः विभक्ति—नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा का एक वचन "स नपुंसकम्" २-४-१७)> संज्ञापरिभाष+अम् ('षा' के 'आ' को ह्रस्व "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४७ तथा सु = अम् "अतोऽम्" ७-१-२४)> **संज्ञापरिभाषम्** (अ+अम् = अम्–पूर्वरूप–"अमिपूर्वः" ६-१-१०७)।

(९०२) पद—राजदन्तादिषु, परम्। **अनुवृत्ति**—उपसर्जनम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इनमें पूर्वप्रयोगार्ह का पर निपात होता है। उदा० दन्तानां राजा > राजदन्तः। वा० धर्म आदि (शब्दों) में कोई नियम नहीं है। उदा० १—अर्थधर्मौ—धर्मार्थौ। २—दम्पती—जम्पती—जायापती। 'जाया' शब्द के स्थान में 'जम्' अथवा 'दम्' का निपातन होता है। यह आकृतिगण है।

विवरण—अष्टाध्यायी-क्रम में इस से पूर्व "उपसर्जनं पूर्वम्" २-२-३० सूत्र है। अतः सूत्र के अर्थ की पूर्णता के लिये 'उपसर्जनम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र से यह ध्वनित

जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते । आकृतिगणोऽयम् । (९०३) द्वन्द्वे घि २ । २ । ३२ ॥ द्वन्द्वे घिसञ्ज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरौ । 'अनेकप्राप्तावेकत्र नियमोऽनियमः शेषे'

विष्वक्सेनार्जुनावित्यत्र 'अजाद्यदन्तम्' इत्यर्जुनशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातः । धर्मादिष्वनियम इति । गणसूत्रमिदम् । अन्यतरस्य पूर्वनिपात इत्यर्थः । अर्थधर्माविति । अजाद्यदन्तशब्दस्य पूर्वनिपातनियमे प्राप्ते तदनियमः वक्तव्य इत्यर्थः । निपात्यत इति । पाक्षिको राजदन्तादिगण इत्यर्थः । पत्युरभ्यर्हितत्वेऽपि परनिपातश्च । आकृतिगणोऽयमिति । वृत्तौ तु कृत्स्नोऽयं गणः पठितः ।

(९०३) द्वन्द्वे घि । पूर्वमित्यनुवर्तते । तदाह—पूर्वं स्यादिति । हरिहराविति । हरिशब्दस्य घित्त्वात् पूर्वनिपातः । ननु हरिहरगुरवः इत्यत्र गुरुशब्दस्यापि घित्त्वात् पूर्वनिपातः

होता है कि "राजदन्त आदि गण में पठित शब्दों में पूर्वप्रयोग के योग्य पद अर्थात् 'उपसर्जन' का पर प्रयोग हो" । **उदाहरण**—राजदन्तः (दाँतों में श्रेष्ठ) । **विग्रह**—दन्तानां राजा । **अलौकिक विग्रह**—दन्त+आम्, राजन्+सु > दन्तराजन् (षष्ठी तत्पुरुष) >दन्तराजन्+सु (षष्ठ्यन्त 'दन्त' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्व-निपात प्राप्त था, उसका बाधकर पर-निपात) > **राजदन्तः** (विभक्ति-कार्य—स् = र् = :) ।

विशेष—राजदन्तादि गण में भी कुछ शब्द ऐसे हैं जिनमें यह नियम प्रवृत्त नहीं होता । अतः वार्तिक द्वारा उनके सम्बन्ध में यह निर्देश दिया जा रहा कि 'धर्म आदि शब्दों में इच्छानुसार कोई भी शब्द पहले रख लिया जाय' । अतः (क) **धर्मार्थौ** (धर्म और अर्थ) तथा **अर्थधर्मौ** दोनों ही रूप बनेंगे । इसी प्रकार (ग) **कामार्थौ** एवं (घ) **अर्थकामौ** तथा (ङ) **शब्दार्थौ** तथा **अर्थशब्दौ** भी मान्य होंगे । पति-पत्नी अर्थ में तीन शब्दों का प्रयोग किया जाता है—(१) **दम्पती**—(२) **जम्पती**—(३) **जायापती** (पति-पत्नी **विग्रह**—जाया च पतिश्च) । यहाँ 'जाया' शब्द को (१) **दम्पती** में निपातन से 'दम्' तथा (२) जम्पती में 'जम्' हुआ है । सभी शब्द पुंलिङ्ग प्रथमा द्विवचन में प्रयुक्त हैं—"परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" २-४-२६ ।

मननीय—(१) 'अर्थधर्मौ' आदि शब्दों में आगे आनेवाले सूत्र "अजाद्यन्तम्" (२-२-३३) से अजादि—अकारान्त 'अर्थ' शब्द का पूर्व-निपात प्राप्त था, उसका यह बाधक है । (२) राजदन्तादिगण में **राजदन्त, अग्रेवण** आदि कुछ शब्द तत्पुरुष समास के हैं किन्तु अधिक शब्द द्वन्द्व समास के हैं । इसलिये यह सूत्र द्वन्द्व-प्रकरण में पढ़ा गया है । (३) कुछ विद्वान् 'धर्मादिष्वनियमः' को गणसूत्र कहते हैं, क्योंकि इसका राजदन्तादि-गण में पाठ है । (४) प्रकृत सूत्र में 'उपसर्जन' की अनुवृत्ति होने पर भी केवल 'उपसर्जन' का ही पर-प्रयोग नहीं होता, किन्तु अन्य पूर्वप्रयोगार्ह शब्दों का भी पर-प्रयोग होता है[1] । इसी प्रकार राजदन्तादिगण में अग्रेवणम् शब्द में (वनस्य अग्रे—वन के आगे) 'अग्रे' पद में निपातन से सप्तमी का 'अलुक्' माना है । "वनं पुरगा-मिश्रका-सिध्रका-सारिका-कोटराऽग्रेभ्यः" ८-४-४ सूत्र से 'वन' में 'न' को 'ण' होता है ।

राजदन्तादि आकृतिगण है ।

(९०३) पद—द्वन्द्वे, घि । अनुवृत्ति—पूर्वम् । विधि-(नियम)-सूत्र ।

मूलार्थ—द्वन्द्व में 'घि' संज्ञक का पूर्व प्रयोग हो । उदा० हरिश्च हरश्च > हरिहरौ । वा० अनेक की प्राप्ति में एक पद के पूर्व निपात का नियम है, शेष पदों में नियम नहीं है । उदा० (क) हरिगुरुहराः । (ख) हरिहरगुरवः ।

---

१. "न केवलम् उपसर्जनस्य, अन्यस्यापि यथालक्षणं विहितस्य पूर्वनिपातस्य अपवादः" परनिपातो विधीयते—काशिका ।

(वा १४१०)। हरिगुरुहराः—हरिहरगुरवः। (९०४) अजाद्यदन्तम् २।२।३३ ॥ इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईशकृष्णौ। बह्वष्वनियमः। अश्वरथेन्द्राः—इन्द्राश्वरथाः। 'द्यन्तादजाद्य-

---

स्यादित्यत आह—अनेकेति। अनेकस्य घिसञ्ज्ञकपदस्य द्वन्द्वप्राप्तौ सत्यामेकस्य घिसञ्ज्ञकस्य पूर्वनिपातनियमः। शेषेऽन्यस्मिन् घिसञ्ज्ञकपदविषये पूर्वनिपातस्य विकल्प इत्यर्थः। इदम् 'अल्पाच्तरम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। जातिपक्षे तावत् आकृतिं पुरस्कृत्य सर्वासु व्यक्तिषु तत्तच्छास्त्राणि सकृदेव प्रवर्तन्ते, सकृच्छ्रुतत्वात्। न तु प्रतिव्यक्ति, तथा सति प्रतिव्यक्त्यावृत्तिप्रसङ्गात्। ततश्च अनेकघिसञ्ज्ञकसमवाये एकस्य घिसञ्ज्ञकस्य पूर्वनिपाते सति पुनः शास्त्रं न प्रवर्तते, सकृत्प्रवृत्त्यैव शास्त्रस्य शान्ताकाङ्क्षत्वात्। व्यक्तिपक्षस्तु नेहाश्रीयते। लक्ष्यानुरोधादित्याहुः। हरिहरगुरव इति। हरगुरुशब्दयोर्न नियम इति भावः।

(९०४) अजाद्यदन्तम्। इदमिति। अजादित्वे सत्यदन्तमित्यर्थः। ईशकृष्णाविति। अत्र कृष्णस्यादन्तत्वेऽप्यजादित्वाभावान्न पूर्वनिपातः। बह्वष्वनियम इति। वक्तव्य इति

विवरण—प्रकरण पूर्व-प्रयोग का है। अतः सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये "उपसर्जनं पूर्वम्" २-२-३० सूत्र से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति आवश्यक है। तब सूत्र से यह विदित होता है कि "द्वन्द्व समास में 'घि-संज्ञक' का पूर्व प्रयोग हो"। द्वन्द्व समास में सभी पद प्रधान होते हैं, अतः किसी भी पद का पूर्व प्रयोग हो सकता था, इस सूत्र के नियम से 'घि-संज्ञक' पद की पूर्वत्र स्थिति रहती है। **उदाहरण—हरि-हरौ** (हरि और हर)। **विग्रह**—हरिश्च हरश्च। समास करने पर **'हरि'**शब्द का पूर्व प्रयोग होगा, क्योंकि उसकी "शेषो घ्यसखि" (१-४-७) सूत्र से 'घि' संज्ञा है।

विशेष—अनेक 'घि-संज्ञक' शब्दों के पूर्व प्रयोग के सम्बन्ध में किस का पूर्व-निपात हो—इस सन्देह का निराकरण करने के लिये वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है। तदनुसार 'जहाँ एक से अधिक घि-संज्ञक पद हों वहाँ एक ही घि-संज्ञक पद के पूर्व-निपात का नियम है, अन्य घि-संज्ञक पदों को इच्छानुसार कहीं भी रखा जा सकता है'। **उदाहरण**—(क) **हरिगुरुहराः** (विष्णु, गुरु तथा शिव), (ख) **हरिहरगुरवः** (विष्णु, शिव तथा गुरु)। यहाँ ह्रस्व इकारान्त 'हरि' तथा उकारान्त 'गुरु' शब्द दोनों ही घि-संज्ञक हैं। अतः (क) एक 'घि-संज्ञक'—'हरि' शब्द का पूर्व प्रयोग तो निश्चित रहा, दूसरे (ख) 'गुरु' शब्द के प्रयोग में पौर्वापर्य की व्यवस्था इच्छानुसार रही। विग्रह एवं समासादि कार्य पूर्ववत्।

(९०४) पद—अजाद्यदन्तम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वे, पूर्वम्। **विधि-(नियम)-सूत्र**।

मूलार्थ—इनका (अजादि और अकारान्त का) द्वन्द्व में पूर्व निपात हो। उदा० ईशकृष्णौ। अनेक होने पर (यह) नियम नहीं है। उदा० अश्वरथेन्द्राः (अथवा) इन्द्राश्वरथाः। वा० घिसंज्ञक तथा अजादिरूप अदन्त शब्दों के रहने पर विप्रतिषेध से (अजादिरूप अदन्त का पूर्व निपात समझा जाय)। उदा० इन्द्राग्नी।

विवरण—विधेय अंश की पूर्ति के लिये "उपसर्जनं पूर्वम्" २-२-३० से 'पूर्वम्' तथा "द्वन्द्वे घि" २-२-३२ सूत्र से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति करनी होगी। तब सूत्र से अभिव्यञ्जित होगा कि "द्वन्द्व समास में स्वर वर्णों से आरम्भ होने वाले अकारान्त (अच् आदिः यस्य तत् अजादि। 'अत्' अन्ते यस्य तत् अदन्तम्। अजादि चादः अदन्तं च—अजाद्यदन्तम्) पद का पूर्व प्रयोग होता है"। अर्थात् जिस पद केआदि में स्वर-वर्ण हो और अन्त में अकार भी हो—ऐसे शब्द को पहले रखा जायगा। **उदाहरण—ईशकृष्णौ**—(ईश्वर और कृष्ण—ईशः च, कृष्णः च)। इस उदाहरण में 'ईश' शब्द अजादि एवम् अकारान्त भी है—अतः उसका पूर्व प्रयोग हुआ। 'कृष्ण' शब्द केवल ह्रस्व-अकारान्त है, अजादि नहीं है। अतः वह पहले नहीं रखा गया। प्रक्रिया पूर्ववत्।

दन्तं विप्रतिषेधेन' (वा १४२६)। इन्द्राग्नी। (९०५) अल्पाच्तरम् २।२।३४॥ शिवकेशवौ। 'ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येण' (वा १४२१)। हेमन्त-शिशिर-वसन्ताः। कृत्तिकारोहिण्यौ। समाक्षराणाम् किम्? ग्रीष्मवसन्तौ। 'लघ्वक्षरं पूर्वम्'

शेषः। ननु इन्द्राग्नी इत्यत्र घित्वादग्निशब्दस्य पूर्वनिपातः किं न स्यादित्यत आह— घ्यन्तादिति। घ्यन्तशब्देन 'द्वन्द्वे घि' इति सूत्रं विवक्षितम्। ल्यब्लोपे पञ्चमी। विप्रतिषेधसूत्रेण 'द्वन्द्वे घि' इत्येतत् बाधित्वा 'अजाद्यदन्तम्' इति प्रवर्तत इत्यर्थः।

(९०५) अल्पाच्तरम्। अल्पः अल्पसङ्ख्यः अच् यस्य तदल्पाच्, तदेवाल्पाच्तरम्। अत एव निपातनात् स्वार्थे तरप्, कुत्वाभावश्च। अल्पसङ्ख्याच्कपदं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोज्यमित्यर्थः। शिवकेशवाविति। हरिहरयोरन्यतरोत्कर्षवादस्य पाषण्डवादत्वादिति भावः। यदि तु 'द्विवचनविभज्य' इत्यतिशयार्थे तरप्स्यात्, तदा धवखदिरपलाशाः इत्यत्र बहुषु न स्यादिति प्राञ्चः। शब्देन्दुशेखरे तु प्रकर्षार्थक एवायं तरप् इति स्थितम्। ऋतुनक्षत्राणामिति। समानसङ्ख्याच्कानाम् ऋतूनां नक्षत्राणां च द्वन्द्व आनुपूर्व्येण लोकप्रसिद्धम्। एवं कृत्तिकादिनक्षत्राणामपि। ग्रीष्मवसन्ताविति। विषमाक्षरत्वान्न वसन्तस्य पूर्वनिपातः। किन्तु अल्पाच्त्वात् ग्रीष्मस्य पूर्वनिपातः। लघ्वक्षरं पूर्वम्। लघु अक्षरमच् यस्य तत् द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोज्यमिति वक्तव्यमित्यर्थः। कुशकाशमिति। समाहारद्वन्द्वोऽयम्। अभ्यर्हितं चेति। श्रेष्ठः पूर्वः प्रयोज्य इति वक्तव्यमित्यर्थः। तापसपर्वताविति। पर्वतस्य स्थावर-

---

विशेष—(१) जहाँ द्वन्द्व समास में कई अजादिरूप अदन्त शब्द होंगे वहाँ **'बहुषु अनियमः'** इस वचन से कोई भी अजादिरूप अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) शब्द पहले आ सकता है। **उदाहरण**—(क) अश्वरथेन्द्राः अथवा (ख) इन्द्राश्वरथाः (घोड़ा, रथ और इन्द्र→अश्वः च, रथः च, इन्द्रः च)। प्रस्तुत उदाहरण (क) में अजादि रूप अदन्त-दो शब्द हैं→'अश्व' तथा 'इन्द्र'। इनमें से एक शब्द 'अश्व' का पहले प्रयोग किया गया। तथा दूसरे 'इन्द्र' शब्द को मध्य में न रख कर अन्त में रख दिया गया। दूसरे (ख) उदाहरण में भी इसी नियम के अनुसार एक अजादि-अदन्त शब्द 'इन्द्र' का पूर्व प्रयोग हुआ। तदनन्तर दूसरे 'अश्व' शब्द को मध्य में रख दिया गया। समास प्रक्रिया पूर्ववत्। अवयव-गत बहुत्व के कारण प्रथमा का बहुवचन।

(२) जहाँ पर "द्वन्द्वे घि" २-२-३२ तथा "अजाद्यदन्तम्" २-२-३३ दोनों की प्राप्ति हो वहाँ "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" १-४-२ सूत्र से विहित नियम के अनुसार परवर्ती सूत्र "अजाद्यदन्तम्" २-२-३३ की प्रवृत्ति होगी। अतः **इन्द्राग्नी** (इन्द्र और अग्नि—इन्द्रः च, अग्निः च) में 'इन्द्र' शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ, क्योंकि 'इन्द्र' शब्द के 'प्रारम्भ' में स्वर-वर्ण है तथा 'अन्त' में ह्रस्व-अकार भी है। 'अग्नि' शब्द के घि-संज्ञक होने के कारण पूर्व सूत्र "द्वन्द्वेघि" २-२-३२ से उसका पूर्व-निपात प्राप्त था, किन्तु उत्तर सूत्र की प्रधानता होने से 'इन्द्र' शब्द का पूर्व प्रयोग ही हुआ।

(९०५) पद—अल्पाच्तरम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वे, पूर्वम्। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—(जिस शब्द में कम स्वर हो उसे पहले रखा जाय)। शिवकेशवौ। वा० समान-अक्षरों वाले ऋतु और नक्षत्र-वाचक शब्दों का आनुपूर्वी क्रम से पूर्व-निपात हो। उदा० १—हेमन्त-शिशिर-वसन्ताः। २—कृत्तिकारोहिण्यौ। समाक्षराणां क्यों कहा? ग्रीष्म-वसन्तौ (में नहीं हुआ)। वा० लघु अक्षर वाले शब्द का पूर्व (निपात होता है)। उदा० कुशकाशम्। वा० श्रेष्ठ (अभ्यर्हित) का (पूर्व निपात होता है)। उदा० तापसपर्वतौ। वा० वर्णों का आनुपूर्वी क्रम से (पूर्व निपात होता है)। उदा० ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः। वा० ज्येष्ठ भाई के बोधक शब्द का (पूर्व निपात हो)। उदा० युधिष्ठिरार्जुनौ।

(वा १४१३)। कुशकाशम्। 'अभ्यर्हितं च' (वा १४१४)। तापसपर्वतौ। 'वर्णानामानुपूर्व्येण' (वा १४१५)। ब्राह्मणक्षत्रियविट्छूद्राः। 'भ्रातुर्ज्यायसः' (वा १४१६)।

जन्मतया तापसस्य तदपेक्षया अभ्यर्हितत्वं बोध्यम्। भाष्ये तु मातापितरावित्युदाहृतम्। 'गर्भधारणपोषाभ्यां पितुर्माता गरीयसी' इत्यादिस्मृतेरिति तदाशयः। वर्णानामानुपूर्व्येणेति। एषां क्रमेण पूर्वनिपातः। 'ब्रह्मक्षत्रियविट्छूद्रा वर्णाः' इत्यमरः। तेषामानुपूर्व्यं तु 'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति, स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादितैत्तिरीयब्राह्मणादिसिद्धम्। भ्रातुर्ज्यायसः इति। ज्येष्ठभ्रातुः पूर्वनिपात इत्यर्थः। अत्र 'द्वन्द्वे घि', 'अजाद्यन्तम्' इति विधिद्वयम् 'अल्पाच्तरम्', 'लघ्वक्षरं पूर्वम्', 'ऋतुनक्षत्राणाम्', 'अभ्यर्हितं च', 'भ्रातुर्ज्यायसः' इति विधिभिः परत्वात् बाध्यते। भाष्ये तु सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्वनिपातमिति मतान्तरं स्थितम्।

विवरण—पूर्व प्रयोग का ही प्रकरण है। सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये यहाँ भी पूर्व सूत्र की भाँति 'पूर्वम्' तथा 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तब सूत्र का अर्थ यह होगा कि "द्वन्द्व समास में अल्प स्वरवर्ण वाले पद का पूर्व प्रयोग हो"। उच्चारण की सुविधा का यह मनोवैज्ञानिक आधार है। **उदाहरण—शिवकेशवौ** (शिव और विष्णु→शिवश्च केशवश्च)। यहाँ समस्त-शब्द में 'शिव' पद में दो स्वरवर्ण हैं तथा 'केशव' पद में तीन स्वर। अतः 'शिव' पद का पूर्व प्रयोग हुआ।

इसी प्रसङ्ग में समान वर्ण वाले ऋतु-संज्ञक तथा नक्षत्र-वाचक शब्दों के पौर्वापर्य क्रम को सूचित करने के लिये (१) प्रथम **वार्तिक** प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार "समानाक्षर-युक्त **ऋतुवाचक एवं नक्षत्रवाचक** शब्दों का **कालक्रमानुसार** पूर्व-निपात होगा"। अर्थात् इस पूर्व-प्रयोग में ऋतुओं का प्रादुर्भाव-क्रम तथा नक्षत्रों का उदयकृत-क्रम—स्वाभाविक कारण हैं। क्रमशः **उदाहरण—(१) हेमन्त-शिशिर-वसन्ताः** (हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त→हेमन्तश्च, शिशिरश्च, वसन्तश्च←हेमन्त+सु, शिशिर+सु, बसन्त+सु—"चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९ से समास)। ऋतुओं के प्रादुर्भाव के अनुसार शब्दों का पौर्वापर्य है। (२) **कृत्तिका-रोहिण्यौ** (कृत्तिका और रोहिणी—कृत्तिका च रोहिणी च)। द्वन्द्व समास की प्रक्रिया पूर्ववत्। उक्त वार्तिक के अनुसार नक्षत्रों के उदयक्रम के अनुसार पौर्वापर्य है। **प्रत्युदाहरण**—वार्तिक में उपर्युक्त नियम समानाक्षर-युक्त शब्दों तक ही सीमित रहने के फलस्वरूप **ग्रीष्म-वसन्तौ** (वसन्त और ग्रीष्म—वसन्तश्च ग्रीष्मश्च) में "अल्पाच्तरम्" २-२-३४ सूत्र के अनुसार संख्या में न्यून स्वर-वर्ण-युक्त 'ग्रीष्म' पद का पूर्व-प्रयोग हुआ।

(२) **दूसरे वार्तिक** द्वारा यह सूचित किया जा रहा है कि ऋतु तथा नक्षत्र-वाची शब्दों के अतिरिक्त समान-अक्षर वाले शब्दों में दीर्घ स्वर-अक्षर-युक्त पद की अपेक्षा लघु स्वर-अक्षरयुक्त-पद का पूर्व-प्रयोग हो। जैसे—**कुश-काशम्** (कुश-और काश→कुशश्च काशश्च, तेषां समाहारः) में लघु 'अच्' होने से 'कुश' का पूर्व-निपात हुआ। समाहार-द्वन्द्व होने के कारण नपुंसक लिङ्ग के एक वचन में प्रयोग किया गया है।

(३) **तृतीय वार्तिक** द्वारा 'द्वन्द्व' में पूज्य के पूर्व प्रयोग की व्यवस्था की गई है'। जैसे—**तापस-पर्वतौ** (तपस्वी तथा पर्वत—तापसश्च पर्वतश्च) में पर्वत के लघु-स्वरवर्ण युक्त होने पर भी तपस्वी के अधिक पूज्य होने से उसका पूर्व प्रयोग हुआ। स्थावर पर्वत की अपेक्षा तपस्वी को पूज्य सूचित किया गया है। महाभाष्य में **माता-पितरौ** उदाहरण दिया है। पिता की अपेक्षा माता की अधिक पूजनीयता के कारण पूर्वनिपात है। सन्तति के गर्भ-धारण तथा पोषणादि करने से माता को अधिक श्रेष्ठ माना जाता है।

युधिष्ठिरार्जुनौ। (९०६) द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २।४।२॥ एषां द्वन्द्व एकवत्स्यात्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकपाणविकम्। रथिकाश्वारोहम्। समाहारस्यैकत्वा-

(९०६) द्वन्द्वश्च प्राणि। प्राणितूर्यसेनाङ्गानीति द्वन्द्वगर्भषष्ठीसमासः। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः अङ्गशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते इत्यभिप्रेत्य आह—एषामिति। प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां चेत्यर्थः। द्वन्द्व इति। समाहारद्वन्द्वः इत्यर्थः। 'द्विगुरेकवचनम्' इति पूर्वसूत्रे 'समाहारग्रहणं कर्तव्यम्' इति वार्तिकस्यात्राप्यनुवृत्तेः। एकवदिति। एकवचनमित्यनुवर्तते। एकं वक्तीत्येकवचनम्। कर्तरि ल्युट्। सामान्याभिप्रायं नपुंसकम्। पाणिपादमिति। पाण्योः पादयोश्च समाहार इति विग्रहः। अत्र समाहारे एकवत्त्वं 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वं च। पाण्योः पादयोश्च प्राण्यवयवत्वात् प्राण्यङ्गोदाहरणमिदम्। अथ तूर्याङ्गद्वन्द्वे उदाहरति—मार्दङ्गिकपाणविकमिति। मृदङ्गपणवशब्दौ वाद्यविशेषपरौ। इह तु तद्वादनेऽपि वर्तते। मृदङ्गवादनं शिल्पमस्येत्यर्थे 'शिल्पम्' इति ठक्। मार्दङ्गिकपाणविकयोः समाहार इति विग्रहः। तूर्याङ्गत्वादेकवचनम्, तूर्याङ्गत्वं च तद्वादकतया बोध्यम्। 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम्। सेनाङ्गद्वन्द्वे उदाहरति—रथिकाश्वारोहमिति। रथेन चरन्तीति रथिकाः। पर्पादिभ्यः ष्ठन्। रथिकानामश्वारोहाणां च समाहार इति विग्रहः। सेनावयवत्वादेकवत्त्वम्। पूर्ववन्नपुंसकत्वम्। ननु समाहारद्वन्द्वे समाहारस्य विशेष्यत्वात्

(४) चौथे वार्तिक द्वारा 'समाज के विभाजक चारों वर्णों में प्रचलित ब्राह्मणादि-वर्णों का यथाक्रम विन्यास होगा। जैसे—ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ब्राह्मणश्च, क्षत्रियश्च, विट् च, शूद्रश्च) में शास्त्रोक्त उत्पत्ति-क्रम के अनुसार यथाक्रम प्रयोग हुआ है।

(५) पाँचवें वार्तिक 'द्वारा द्वन्द्व समास में भ्राताओं के मध्य ज्येष्ठ भ्राता का पूर्व-निपात किया गया है'। तदनुसार युधिष्ठिरार्जुनौ (युधिष्ठिर और अर्जुन—युधिष्ठिरश्च अर्जुनश्च) में ज्येष्ठ-भ्रातृ-वाची युधिष्ठिर शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ।

विशेष—"अल्पाच्तरम्" २-२-३४ सूत्र एवम् उपर्युक्त पाँचों वार्तिकों के विषय से यह विदित होता है कि "द्वन्द्वे घि" २-२-३२ तथा "अजाद्यदन्तम्" २-२-३३ सूत्रों के विधान का सूत्रक्रम में पर होने के कारण बाध हो जाता है।

(९०६) पद—द्वन्द्वः, च, प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्। अनुवृत्ति—एकवचनम्। अतिदेश—(नियम)-सूत्र।

मूलार्थ—इन (सूत्रोक्त शब्दों) का द्वन्द्व एकवचनान्त हो। उदा० १—पाणि-पादम्। २—मार्दङ्गिक-पाणविकम्। ३—रथिकाश्वारोहम्। समाहार में एकत्व के कारण एकवचन स्वतः सिद्ध होने पर भी यह प्रकरण नियामक है कि प्राण्यङ्गादि का समाहार-द्वन्द्व ही हो।

विवरण—अब समाहार द्वन्द्व की विशेषताओं का निदर्शन आरम्भ होता है। कतिपय स्थलों में होने वाले एकवद्भाव के माध्यम से समाहार-द्वन्द्व की नियामकता हेतु प्रकृतसूत्र की प्रस्तुति की जा रही है। सूत्रार्थ की पूर्णता हेतु अष्टाध्यायी-क्रम में इसके पूर्व सूत्र "द्विगुरेकवचनम्" २-४-१ से 'एकवचनम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'अङ्ग' शब्द का अन्वय प्राणि, सूर्य तथा सेना—इन तीनों शब्दों के साथ अलग अलग होता है (प्राणी च, तूर्यश्च, सेना च—प्राणि-तूर्य सेनाः—तासाम् अङ्गानि)। यहाँ अङ्ग शब्द अवयवार्थक है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "प्राणी के अङ्ग, तूर्य (बाजे) के अङ्ग और सेना के अङ्गों के द्वन्द्व-समास को भी (च) एकवद्भाव हो जाय"। एकवद्भाव करने का सर्वत्र यही प्रयोजन है कि दो में द्विवचन तथा बहुत

देकत्वे सिद्धे नियमार्थं प्रकरणम्। प्राण्यङ्गादीनां समाहार एव यथा स्यात्। (९०७) अनुवादे चरणानाम् २।४।३॥ चरणानां द्वन्द्वः एकवत् स्यात्सिद्धस्योपन्यासे। 'स्थेणोर्लुङीति वक्तव्यम्' (१५-३५-३६)। उदगात्कठकालापम्, प्रत्यष्ठात्कठकौथुमम्।

तस्य चैकत्वादिदं सूत्रं व्यर्थमित्यत आह--समाहारस्यैकत्वादिति। समाहार एवेति। न त्वितरेतरयोगः। एषां द्वन्द्वनियमार्थं सूत्रमित्यर्थः। एवमुत्तरसूत्राण्यपि समाहार एवेति नियमार्थानि। न चेतरेतरयोगद्वन्द्वे एषामेकत्वविधानार्थमिदं सूत्रमस्तु, तथा च पाणिपाद इति पुंल्लिङ्गमेकवचनान्तं रूपं फलमिति वाच्यम्, 'समाहारग्रहणं कर्तव्यम्' इति पूर्व-सूत्रस्थवार्तिकस्यात्रानुवृत्तेः, एकवद्भावप्रकरणेऽस्मिन् सर्वत्र समाहारद्वन्द्वानामेव भाष्ये उदाहृतत्वाच्च। न च रथिकमार्दङ्गिकावित्यादावतिप्रसङ्गः शङ्क्यः, प्राण्यङ्गानां परस्परद्वन्द्व एकवत्, तूर्याङ्गानां परस्परद्वन्द्व एकवत्, सेनाङ्गानां परस्परद्वन्द्व एकवदित्य-भ्युपगमादिति भाष्ये स्पष्टम्।

(९०७) **अनुवादे चरणानाम्। चरणानां द्वन्द्व एकवदिति।** शाखाध्येतृविशेषा-श्चरणाः, तद्वाचिनां परस्परद्वन्द्व एकवदित्यर्थः। अनुवाद इत्येतद्व्याचष्टे--**सिद्धस्योपन्यासे इति।** अवगतार्थस्य प्रतिपादने इत्यर्थः। **स्थेणोरिति।** लुङीति प्रत्येकमन्वयाभिप्रायमेक-वचनम्। लुङन्ते स्थाधातौ लुङन्ते इण्धातौ च प्रयुज्यमान एव अनुवादे चरणानां द्वन्द्वः एकवदिति वक्तव्यमित्यर्थः। **उदगादिति।** प्रादुरभूदित्यर्थः। इण्धातोर्लुङि रूपम्। **कठ-कालापमिति।** कठेन प्रोक्तमधीयते इति कठाः। वैशम्पायनान्तेवासित्वाण्णिनिः। तस्य

में बहु-वचन न होकर एक-वचन ही हो। इसके द्वारा यह भी नियम किया गया कि प्राणि-आदि अङ्गों का समाहार अर्थ में ही द्वन्द्व समास होता है, इतरेतर-योग में नहीं। **उदाहरण**—(१) **प्राण्यङ्ग**—पाणिपादम् (हाथ और पैर→पाणी च पादौ च, तयोः समाहारः)। पाणि+औ, पाद +औ > पाणिपाद ('द्वन्द्व' समास तथा 'पाणि' का 'पूर्व निपात'—"द्वन्द्वे घि" २-२-३२) > **पाणिपादम्** (नपुंसकलिङ्ग प्रथमा का एक वचन)। (२) **तूर्य** (बाजे) के अङ्ग—मार्दङ्गिक-वैणविकम् (मृदग बजाने वाला और वंशी बजाने वाला)—मार्दङ्गिकाश्च वैणविकाश्च, तेषां समाहारः, द्वन्द्व समास तथा एकवद्भाव, नपुंसकलिङ्ग प्रथमा का एकवचन। (३) **सेना** के अङ्ग—**रथिकाश्वारोहम्** (रथ-सैनिक तथा अश्वसैनिक—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च, तेषां समाहारः)। द्वन्द्व समास, 'रथिक' का पूर्व-निपात "अल्पाच्तरम्" २-२-३४। तथा प्रकृतसूत्र से एकवद्भाव होने के कारण नपुंसक लिङ्ग प्रथमा का एकवचन।

(९०७) **पद**—अनुवादे, चरणानाम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेश-(नियम)-सूत्र।**

मूलार्थ—सिद्ध वस्तु के कथन में चरणों (शाखाध्येतृवाची) का परस्पर द्वन्द्व एकवचन में हो। वा० लुङन्त 'स्था' तथा 'इण्' धातु के योग में कहना चाहिये। उदा० (क) उदगात् कठ-कालापम्। (ख) प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।

विवरण—विशेष परिस्थिति में द्वन्द्व समास होने पर एकवद्भाव का निपातन किया जा रहा है। अतः सूत्रार्थ की सम्पन्नता में पूर्व सूत्र के अनुसार यहाँ भी 'द्वन्द्वः' तथा 'एकवचनम्' अनुवर्त-नीय हैं। तब सूत्र से यह ध्वनित होता है कि "सिद्ध वस्तु का पुनः कथन होने पर, अर्थात् अवगत हुए अर्थ का प्रतिपादन करने पर, चरण-वाचक शब्दों के द्वन्द्वसमास में एक-वचन का प्रयोग किया जाय"। 'चरण' शब्द शाखा के आदि ग्रन्थ का सूचक है। कठ-कलाप आदि उसके अवान्तर भेद हैं। 'कठ' 'कलाप' आदि शब्द शाखा-भेदों में 'मुख्य' हैं तथा अध्येताओं में 'गौण' है। 'गोत्रं च चरणैः सह'—इस कथन से इन के समुदाय-विशेष (जाति) का भी बोध होता है। वहाँ तो "जातिर-

(९०८) अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् २ । ४ । ४ ॥ यजुर्वेदे विहितो यः क्रतुस्तद्वाचिनाम-

---

'कठचरकात्' इति लुक् । ततोऽध्येतृप्रत्ययस्य 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुक् । कलापिना प्रोक्तमधीयते इति कलापाः । प्रोक्तार्थे 'कलापिनोऽण्' । 'सब्रह्मचारिपीठसर्पि' इत्यादिना टिलोपः । ततोऽध्येत्रणः 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुक् । कठानां कालापानां च समाहार इति विग्रहः । प्रत्यष्ठादिति । प्रतिपूर्वात् स्थाधातोर्लुङि रूपम् । कठकौथुममिति । कठेन प्रोक्तमधीयत इति कठाः । कौथुमिना प्रोक्तमधीयते इति कौथुमाः । प्रोक्तेऽर्थे 'तेन प्रोक्तम्' इत्यण् । 'सब्रह्मचारि' इत्यनेन टिलोपः । ततोऽध्येत्रणो लुक् । कठानां कौथुमानां च समाहार इति विग्रहः । यदा कठाः कालापाश्च उदिताः, यदा कठाः कौथुमाश्च प्रतिष्ठिताः, तदा किञ्चिदिदं वक्तव्यमिति कृतसङ्केतयोरिदं वाक्यद्वयम् । अत्रोदयप्रतिष्ठयोः पूर्वसिद्धयोरनुवादादेकत्वम् । स्थेणोः किम् ? अभूवन् कठकालापाः । लुङि किम् ? अतिष्ठन् कठकालापाः ।

(९०८) अध्वर्युक्रतुः । अध्वर्युशब्दोऽत्राध्वर्युकर्मविधायकयजुर्वेदपरः । तदाह—

प्राणिनाम्" २-४-६ सूत्र से ही एकवद्भाव सिद्ध था, अतः अध्येतृ-सम्बन्धी पुरुषभेद को सूचित करने के लिये एकवद्भाव की सार्थकता प्रमाणित होती है। तदनुसार (१) '**उदगात् कठकालापम्** (कठ तथा कालाप शाखा पुनः उदित हुई—कठाश्च कालापश्च, तेषां समाहारः) तथा (२) **प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्** (कठ तथा कौथुम शाखा पुनः प्रतिष्ठित हुई—कठाश्च कौथुमाश्च, तेषां समाहारः) में समाहार द्वन्द्व होने पर एकवद्भाव हुआ। इस एकवद्भाव के कुछ प्रतिबन्धों को वार्तिक द्वारा अभिव्यक्त किया जा रहा है। तदनुसार 'उपर्युक्त एकवद्भाव लुङन्त स्था धातु तथा लुङन्त इण् धातु के प्रयोग किये जाने पर ही होगा'। उपर्युक्त दोनों वाक्यों में क्रमशः **उदगात्**√इण् धातु तथा **प्रत्यष्ठात्** प्रति-√स्था धातु के लुङ्-लकार के रूप है। लुङ् में √ इण् धातु के स्थान पर 'गा' आदेश हो जाता है—"इणो गा लुङि" २-४-४५।

विशेष—उपर्युक्त सन्दर्भ के उदाहरण में निर्दिष्ट दोनों वाक्यों से यह सूचित होता है कि दो छात्रों के परस्पर वार्तालाप के प्रसंग में 'कठों के प्रतिष्ठित होने पर' एवं 'कलापों के उदय होने पर'—ये दोनों उक्तियाँ पुरानी बात का स्मरण दिला रही हैं कि उस स्थान पर पहुँचने का उचित समय उपस्थित हो गया है; अतः चलना चाहिये। 'कठ-प्रोक्त' शाखा के अध्येताओं को भी 'कठाः' एवं 'कलाप-प्रोक्त' शाखा के अध्येताओं को 'कलापाः' कहा जाता है। इन दोनों शब्दों की सिद्धि तद्धित प्रकरण के अनुसार इस तरह है—(१) **कठाः—विग्रह**—कठेन प्रोक्तम् अधीयते—कठ+णिनि (वैशम्पायन के अन्तेवासी होने से "कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च" ४-३-१०४) >कठ ('णिनि' प्रत्यय का लोप—"कठ-चरकाल्लुक्" ४-३-१०६) > कठाः (अध्येतृ प्रत्यय का लोप होकर प्रथमा बहुवचन)। (२) **कालापाः—विग्रह**—कलापिना प्रोक्तम् अधीयते—कलापिन् +अण् ("कलापिनोऽण्" ४-३-१०८) > कलाप्+अ (प्रकृतिभाव का 'नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचरि०' वार्तिक से "इनण्यनपत्ये" ६-४-१६४ से प्राप्त प्रतिषेध होने पर "नस्तद्धिते" ६-४-१४४ सूत्र से टि-भाग-'इन्' का लोप) > कालापाः (आदि वृद्धि होकर पुनः अध्येतृ-प्रत्यय का लोप, प्रथमा बहुवचन का रूप)। (३) **कौथुमाः—विग्रह**—कौथुमिना प्रोक्तम् अधीयते—कौथुमिन् +अण् > कौथुम्+अ (टि लोप) > कौथुमाः (पुनः अध्येतृ-अण् का लोप होकर प्रथमा बहुवचन)। (१) **कठाः** का अर्थ—कठ के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ को जो पढते एवं जानते हों। (२) **कलापाः** का अर्थ—जो कलापि के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ को पढ़ते एवं जानते हों।

(९०८) पद—अध्वर्युक्रतुः, अनपुंसकम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ—यजुर्वेद में विहित नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त न होने वाले पदों का द्वन्द्व में एकवद्भाव

नपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवत्स्यात् । अर्काश्वमेधम् । अध्वर्युक्रतुः किम् ? इषुवज्रौ । सामवेदे विहितौ । अनपुंसकं किम् ? राजसूयवाजपेये । अर्धर्चादी । (९०९) अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् २ । ४ । ५ ॥ अध्ययनेन प्रत्यासन्ना आख्या येषां तेषां द्वन्द्वः एकवत् ।

यजुर्वेद इति । अर्काश्वमेधमिति । अर्को महाक्रतुः । अश्वमेधो नाम प्रसिद्धः । उभौ यजुर्वेदविहितक्रतू । अर्कस्य चाश्वमेधस्य च समाहार इति विग्रहः । इषुवज्राविति । क्रतुविशेषावेतौ न यजुर्वेदविहिताविति भावः । तर्हि कस्मिन् वेदे विहितावित्यत आह—सामेति । राजसूयवाजपेये इति । एतयोर्यजुर्वेदविहितत्वेऽपि नपुंसकत्वान्नैकवत्त्वमिति भावः । राजसूयवाजपेययोः पुंल्लिङ्गतया प्रसिद्धेराह—अर्धर्चादी इति ।

(९०९) अध्ययनतः । अविप्रकृष्टाख्यानामिति च्छेदः । अध्ययनत इति तृतीयार्थे तसिः । तदाह—अध्ययनेन प्रत्यासन्नेति । सन्निकृष्टेत्यर्थः । पदकक्रमकमिति । पदान्यधीयते पदकाः । क्रमान् अधीयते क्रमकाः । क्रमादिभ्यो वुन् । पदकानां क्रमकाणां च समाहार इति विग्रहः । पदाध्ययनानन्तरं क्रमाध्ययनमित्यध्ययनगता प्रत्यासत्तिरध्येतर्यारोप्यत इति भावः । पदक्रममिति नोदाहृतम्, 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येव सिद्धेः । तदध्येतृत्वे तु न जातिरिति भावः ।

होता है । उदा० अर्काश्वमेधम् । 'अध्वर्यु-क्रतुः' क्यों कहा ? इषुवज्रौ (सामवेद के यज्ञों में नहीं हुआ) । 'अनपुंसकम्' क्यों कहा ? राजसूय-वाजपेये (ये दोनों क्रतु अर्धर्चादि गण में नपुंसक-लिङ्ग में पढ़े गये हैं, अतः एकवचन नहीं) ।

विवरण—पूर्ववत् उल्लिखित दोनों अनुवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में सूत्र से यह विदित होता है कि "यजुर्वेद (अध्वर्योः क्रतुः=अध्वर्युक्रतुः) में विहित नपुंसकलिङ्ग से भिन्न यज्ञवाची शब्दों का द्वन्द्व-समास एक-वचन में प्रयुक्त हो" । **उदाहरण—अर्काश्वमेधम्** (अर्क और अश्वमेध नाम के यज्ञ→अर्कश्च अश्वमेधश्च, तयोः समाहारः) । शेषकार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अध्वर्युक्रतुः' पद न रहा होता तो यजुर्वेद से भिन्न वेदों में विहित यज्ञवाची शब्दों के द्वन्द्व-समास में भी एकवद्भाव होने लगता । ऐसी स्थिति में सामवेद में विहित 'इषु' और 'वज्र' यज्ञ-वाची शब्दों का परस्पर द्वन्द्व समास होने पर एक-वचन हो जाता, वह न हो । अतः **इषुवज्रौ** में एक-वचन नहीं हुआ । इतरेतर द्वन्द्व होकर द्वि-वचन ही रहा । (२) इसी प्रकार सूत्र में 'अनपुंसके' पद का समावेश होने से **राजसूय-वाजपेये** (राजसूयं च वाजपेयं च) में एक-वचन नहीं हुआ, क्यों कि ये दोनों शब्द—'राजसूय' तथा 'वाजपेय'—अर्धर्चादिगण में नपुंसक-लिङ्ग में निर्दिष्ट हैं । अतः नियमप्राप्त द्वि-वचन हुआ ।

(९०९) पद—अध्ययनतः, अविप्रकृष्टाख्यानाम् । **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम् । **अतिदेश-सूत्र** ।

मूलार्थ—अध्ययनकृत-सामीप्य-सूचक पदों का द्वन्द्व एकवत् हो । उदा० पदकक्रमकम् ।

विवरण—एकवद्भाव का ही प्रकरण है । सूत्र में 'अध्ययनतः' पद तृतीयार्थक 'असि' प्रत्यय का सूचक है । विप्रकृष्ट शब्द दूरार्थक है, उसका विरोधी शब्द **सन्निकृष्ट** (न विप्रकृष्टः) अर्थ का सूचक है । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "अध्ययन के निमित्त से जिनका सामीप्य है, तद्वाची शब्दों के द्वन्द्व-समास का प्रयोग एकवचन में हो" । **उदाहरण—पदकक्रमकम्**—(पद-पाठ और क्रम-पाठ करने वाले) **विग्रह**—पदकानां क्रमकाणां च समाहारः । वेद में पदपाठ के अनन्तर क्रमपाठ पढ़े जाने से अध्ययनगत प्रत्यासत्ति (सामीप्य) का अध्येता में आरोप किया जाता है । 'पदक' तथा '**क्रमक**' शब्द 'वुन्' (वु = अक) प्रत्ययान्त हैं । इस सूत्र से एकवद्भाव होने के कारण समाहार में नपुंसकलिङ्ग प्रथमा विभक्ति हुई ।

पदकक्रमकम्। (९१०) जातिरप्राणिनाम् २।४।६॥ प्राणिवर्जंजातिवाचिनां द्वन्द्वः एकवत्। धानाशष्कुलि। प्राणिनां तु, विट्छूद्राः। द्रव्यजातीयानामेव। नेह— रूपरसौ। गमनाकुञ्चने। जातिप्राधान्य एवायमेकवद्भावः। द्रव्यविशेषविवक्षायां तु,

---

(९१०) जातिरप्राणिनाम्। जातिरिति षष्ठीबहुवचनस्थाने व्यत्ययेन प्रथमा, जातिवाचिनामित्यर्थः। धानाशष्कुलीति। धानाश्च शष्कुल्यश्च तासां समाहार इति विग्रहः। जातिवाचित्वादेकवत्त्वम्, नपुंसकत्वाद्ध्रस्व इति भावः। विट्छूद्रा इति। विशश्च शूद्राश्चेति विग्रहः। द्रव्यजातीयानामेवेति। अप्राणिनामिति पर्युदासे सति नञिव-युक्तन्यायादिदं लभ्यत इति भावः। रूपरसाविति। गुणगतजातिवाचिनावेतौ। गमना-कुञ्चने इति। क्रियागतजातिविशेषवाचिनावेतौ। ननु बदर्याः फलानि बदराणि, आमलक्याः फलान्यामलकानि—'फले लुक्' इति विकारप्रत्ययस्य लुकि 'लुक्तद्धितलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययस्य लुक्। फलत्वव्याप्यजातिविशेषवाचिनावेतौ। ततश्च बदराणि चामल-कानि च बदरामलकं बदरामलकानीति कथं रूपद्वयम्। 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवत्त्वस्य नित्यत्वादित्यत आह—जातिप्राधान्ये इति। व्यक्तिविशेषानादरेण सकलतत्तद्व्यक्त्यनु-स्यूतजातिविवक्षायामित्यर्थः। घटमानयेत्यादौ हि घटादिशब्दानामाकृत्यधिकरणन्यायेन घटत्वादिजातिरर्थः। जातेश्च निराश्रयाया उपस्थित्यसम्भवात् आश्रयभूतव्यक्त्याकाङ्क्षाया-मविशेषात् कृत्स्नाप्युपस्थिता। तत्र घटमानयेत्यादिप्रयोगेषु जातेरतीतानागतवर्तमानकृत्स्न-

---

विशेष—'पदक्रमम्' ('पदानां क्रमाणां च समाहारः')—उदाहरण भी दिया जा सकता था, किन्तु वहाँ तो "जातिरप्राणिनाम्" २-४-६ से एकवद्भाव सिद्ध है। अध्येताओं के सम्बन्ध में जाति-वाचक न होने के कारण उसकी प्राप्ति नहीं होगी। अतः पृथक् विधान किया गया है।

(९१०) पद—जातिः, अप्राणिनाम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेश-सूत्र**।

मूलार्थ—प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्दोंका द्वन्द्व एकवत् हो। उदा० धानाशष्कुलि। प्राणियों में—विट्-शूद्राः (एकवचन नहीं)। द्रव्यवृत्ति जातिवाचकों का ही (एकवद्भाव हो)। (अतः) रूप-रसौ तथा गमनाकुञ्चने (में नहीं हुआ)। जातिवाचकों के प्राधान्य में ही यह—एकवद्भाव है। द्रव्य-(व्यक्ति)-विशेष की विवक्षा में तो 'बदरामलकानि' रूप होगा।

विवरण—सूत्र में प्रथमान्त 'जातिः' पद षष्ठी विभक्ति के अर्थ का बोधक है, क्योंकि विभक्ति-विपरिणाम द्वारा 'प्रथमा' में उसका प्रयोग किया गया है। एकवद्भाव के सन्दर्भ में "प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्दों का द्वन्द्व में एकवचन का नियमन किया जा रहा है"। **उदाहरण**—धाना-शष्कुलि (भुने हुए यव तथा पूड़ी—धानाश्च शष्कुल्यश्च, तासां समाहारः)। यहाँ 'धाना' एवं 'शष्कुली' ये दोनों शब्द प्राणिभिन्न जातिवाचक हैं, अतः समाहार—द्वन्द्व में एकवद्भाव, नपुंसक-लिङ्ग आदि कार्य हुए। उसके फलस्वरूप समास के अन्तिम पद 'शष्कुली' को "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४७ से ह्रस्व हुआ है।

विशेष—(१) सूत्रस्थ 'जाति' पद केवल द्रव्यवृत्ति-जाति का ही बोधक है, गुणवृत्ति तथा क्रियावृत्ति जाति का बोधक नहीं माना गया है। अतः **रूपरसौ** (रूप और रस—रूपं च रसश्च← इतरेतर द्वन्द्व) में एकवद्भाव नहीं होता, क्योंकि 'रूप' और 'रस'—ये दोनों गुण हैं। तदनुसार यह गुणवृत्ति जाति का उदाहरण हो गया। इसी प्रकार **गमनाकुञ्चने** (जाना तथा सिकुड़ना→ गमनं च आकुञ्चनं च←इतरेतर द्वन्द्व) में एकवद्भाव नहीं होता, क्योंकि 'गमन' (जाना) तथा 'आकुञ्चन' (सिकुड़ना)—ये दोनों क्रियाएँ हैं। तदनुसार यह क्रिया-वृत्ति जाति का उदाहरण है। अतः एकवचन नहीं हुआ। द्विवचन ही हुआ।

बदरामलकानि। **(९११) विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः २।४।७॥** ग्रामवर्जनदीदेशवाचिनां भिन्नलिङ्गानां समाहारे द्वन्द्वः एकवत्स्यात्। उद्ध्यश्च इरावती च

व्यक्तीनां च क्रियान्वयासम्भवात् व्यक्तिविशेषमेव कञ्चिदादाय क्रिया विश्राम्यति। इदमेव च जातेः प्राधान्यं तत्तज्जात्याश्रयसकलतत्तद्व्यक्तिबोधकत्वात्मकम्। घटाः शुक्लाः इत्यादिप्रयोगेषु पदान्तरसमभिव्याहारादिवशाद्व्यक्तिविशेषानेव जातिरुपस्थापयतीति जातेरप्राधान्यम्, जात्याश्रयसकलव्यक्त्यनुपस्थापकत्वादिति 'तस्यादितः' इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम्। ततश्च फलत्वव्याप्यया बदरत्वजात्या आमलकत्वजात्या चाविशेषात्तदाश्रयसकलव्यक्त्युपस्थितौ बदरामलकमित्येकवद्भावः। **द्रव्यविशेषेति।** आरण्यानि बदरामलकानीत्यादौ फलत्वव्याप्यबदरत्वामलकत्वादिजातिभ्याम् आरण्यत्वादिविशेषितकतिपयव्यक्तीनामेवोपस्थितिः, ग्राम्याणां व्यक्तीनामनुपस्थितेः। तयोर्जात्योरप्राधान्यात् नायमेकवद्भाव इत्यर्थः। क्षीरोदके सम्पृक्ते इत्यन्तादिवत्सूत्रभाष्यप्रयोगोऽत्र लिङ्गमित्याहुः।

(९११) विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः। अग्रामा इति च्छेदः। व्यत्ययेन बहुत्वे एकवचनम्। विपूर्वकशिषधातुः भेदे वर्तते—विशेषणं विशेष्येणेत्यादौ यथा। विशिष्टं लिङ्गं

---

(२) दूसरी बात यह भी विदित होती है कि एकवद्भाव के लिये जाति का प्राधान्य ही अपेक्षित है, व्यक्ति का प्राधान्य अपेक्षित नहीं। इसके फलस्वरूप **इमानि बदरामलकानि मह्यं रोचन्ते** (बेर तथा आँवले मुझे अच्छे लगते हैं→बदराणि च आमलकानि←इतरेतर द्वन्द्व) में भी एकवद्भाव नहीं होता, क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ **व्यक्ति-विशेष** के समक्ष रखे हुए बेर और आँवलों का बोधक होने से द्रव्यगत प्राधान्य का सूचक है। इसके विपरीत यदि **सामान्यतः** फलों की समष्टि के रूप में बेर तथा आँवलों का बोध अपेक्षित होगा तो जातिगत-प्राधान्य ही माना जायगा। ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्र (९१०) से एकवद्भाव होकर **बदरामलकम्** रूप बनेगा। जातिगत-बोध का समाहार में साधक होना स्वाभाविक है।

(३) सूत्र में प्राणि-भिन्नवाचक जातिशब्दों की अपेक्षा होने के फलस्वरूप **विट्शूद्राः** (वैश्य और शूद्र→विशः च, शूद्राः च←इतरेतर द्वन्द्व) में एकवद्भाव नहीं हुआ, क्योंकि 'वैश्य' और 'शूद्र' प्राणिभिन्न शब्द नहीं है। इस प्रकार सूत्र में लोकप्रसिद्ध प्राणि-वाचक-भिन्न शब्दों तक यह एकवद्भाव सीमित है। इसके फलस्वरूप वृक्षों में प्राणसम्बन्ध की भावना होने पर भी **प्लक्षन्यग्रोधौ** आदि उदाहरणों में द्वन्द्व-सम्बन्धी नित्य एकवद्भाव नहीं होता।[1]

(४) 'अप्राणिनाम्' पद में 'पर्युदास' होने से 'नञिवयुक्त'-न्याय के आधार पर द्रव्यजातीय का लाभ होता है, अन्यथा सूत्र में 'जाति' पद का स्वारस्य नहीं रह जाता।

(९११) पद—विशिष्टलिङ्गः, नदीदेशः, अग्रामाः। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेश-सूत्र।**

---

१. अस्मिन् प्रसङ्गे भाष्यमेव प्रमाणम्। तत्र हि "फल-सेना-वनस्पति-मृग-शकुनि-क्षुद्रजन्तु-धान्य-तृणानाम् इति वक्तव्यम्" इति वार्तिकोक्तनियमविषये शङ्कितम्—किम्पुनरनेन या प्राप्तिः सा नियम्यते, आहोस्विद् अविशेषेण? किं चातः? यद्यनेन या प्राप्तिः सा नियम्यते, **प्लक्षन्यग्रोधौ**—"जातिरप्राणिनाम्" २-४-६ इति नित्यो द्वन्द्वैकवद्भावः प्राप्नोति। अथाविशेषेण न दोषो भवति। यथा न दोषस्तथास्तु इत्युक्तम्। यदि प्राणिपदं प्राणसम्बन्धवन्मात्रपरं स्यात् तदा प्लक्षन्यग्रोधयोरपि प्राणसम्बन्धत्वादप्राणित्वाभावेन "जातिरप्राणिनामिति नित्यो द्वन्द्वैकवद्भावः प्राप्नोति" इति भाष्यम् असंगतं स्यात्। अतः तद्भाष्यात् लोकप्रसिद्धानामिह ग्रहणम् इत्यर्थः अङ्गीकार्यः। विस्तरस्तु "विभाषा वृक्षमृग०" २-४-१२ इति सूत्रे भाष्ये द्रष्टव्यः। यद्यपि क्षतप्ररोहणादिना वृक्षादीनामपि प्राणित्वं तथापीह लोकप्रसिद्ध-मनुष्यादय एव प्राणिशब्देन गृह्यन्ते।

उद्ध्येरावति । गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम् । कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम् । भिन्नलिङ्गानां किम् ? गङ्गायमुने । मद्रकेकयाः । अग्रामाः किम् ? जाम्बवं नगरम् शालूकिनी

येषामिति विग्रहः । तथा च ग्रामवाचकभिन्नाः भिन्नलिङ्गकाः ये नदीवाचिनः ये देशवाचिनश्च तेषां द्वन्द्व एकवत् स्यादिति लभ्यते । तदाह—ग्रामवर्जेति । समाहारे द्वन्द्व इति । एकवत्त्वविधेः फलाभिप्रायमेतत्, अस्यैकवद्भावप्रकरणस्य समाहार एव द्वन्द्व इति नियमार्थताया अनुपदमेवोक्तत्वात् । उद्धचश्चेति । उद्धचो नाम नदविशेषः, इरावती नाम काचिन्नदी । तयोर्नदीविशेषवाचकत्वादेकवत्त्वम् । नदीशब्देन नदस्यापि ग्रहणात्, अन्यथा भिन्नलिङ्गत्वासम्भवादिति भावः । जाम्बवशालूकिन्याविति । 'अग्रामाः' इत्यनेन ग्रामावयवकद्वन्द्वपर्युदासो विवक्षितः । अयं च द्वन्द्वे नगरग्रामोभयावयवकोऽपि ग्रामावयवक इति तस्य पर्युदास इति भावः ।

मूलार्थ—ग्रामभिन्न एवम् असमान लिङ्ग वाले नदीवाचक तथा देशवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् हो । उदा० १—क-उद्धयश्च इरावती च > उद्ध्येरावति । १—ख-गङ्गा च शोणश्च > गङ्गाशोणम् । २—कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च > कुरुकुरुक्षेत्रम् । 'भिन्नलिङ्गानां' क्यों कहा ? गङ्गायमुने, मद्रकेकयाः (में एकवचन न हो)। अग्रामाः क्यों कहा ? जाम्बवं नगरम्, शालूकिनी ग्रामः > जाम्बव-शालूकिन्यौ (एक-वचन न हो)।

विवरण—सूत्र में दोनों उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । इस प्रकार एकवद्भाव-श्रृङ्खला की यह भी कड़ी है । इस कड़ी में "ग्रामवाची शब्दों को छोड़कर विभिन्न लिङ्ग वाले नदीवाची तथा देशवाची (नदीदेशः) शब्दों का द्वन्द्व एकवद्भाव को प्राप्त होता है"। **उदाहरण**—(१) क—**उद्ध्येरावति** (उद्धय नद[1] तथा इरावती नदी→उद्धयश्च इरावती च तयोः समाहारः) में दोनों शब्द नदी-वाचक हैं, किन्तु भिन्न-लिङ्ग वाले हैं । 'उद्धय' शब्द पुंलिङ्ग है तथा 'इरावती' शब्द स्त्रीलिङ्ग है । अतः प्रकृत सूत्र से समाहार में एकवद्भाव हो गया । समासादि कार्य पूर्ववत् । (१) ख—**गङ्गाशोणम्** (गङ्गा और सोन नदी→गङ्गा च शोणश्च←एकवद्भाव, समाहार)। यह भी भिन्न-लिङ्गक नदीवाचक शब्दों का समाहार द्वन्द्व है । 'गङ्गा' स्त्रीलिङ्गवाची है तथा 'शोणः' पुंलिङ्ग-वाची । (२) कुरु-कुरुक्षेत्रम् (कुरु देश तथा कुरुक्षेत्र नगर→कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च←देश तथा नगरवाची शब्दों का द्वन्द्व समास, अतः एकवद्भाव)। इस उदाहरण में 'कुरु' देश है, अतः विग्रह में उसका बहुवचन में प्रयोग किया है, 'कुरुक्षेत्र' सुप्रसिद्ध स्थान है । समासादि कार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में **भिन्नलिङ्गानाम्** पद का निवेश न करने पर समानलिङ्गक नदी वाची एवं देशवाची शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवद्भाव होने लगता, वह न हो । इसके फलस्वरूप (क) **गङ्गायमुने** (गङ्गा और यमुना—गङ्गा च यमुना च) तथा (ख) **मद्रकेकयाः** (मद्राश्च केकयाश्च—मद्र और केका देश) में क्रमशः (क) समानलिङ्गक (स्त्री-लिङ्गक) नदी वाची शब्दों का तथा (ख) समानलिङ्गक देशवाची शब्दों के द्वन्द्व-समास में एकवचन नहीं हुआ । (२) इसी प्रकार 'अग्रामाः' पद के अभाव में भिन्न लिङ्गवाची ग्रामवाचक शब्दों के परस्पर द्वन्द्व समास में भी एकवचन हो जाता, वह न हो । अतः **जाम्बव-शालूकिन्यौ** (जाम्बव नगर और शालूकिनी गाँव →जाम्बवं च शालूकिनी च) में एकवद्भाव नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ दोनों पद ग्राम (नगर) वाचक हैं ।

---

१. 'उद्धय' का वर्तमान नाम 'उज्झ' है । यह जम्मू प्रान्त के जसरोटा जिले में होती हुई कुछ दूर पंजाब में बह कर गुरुदासपुर जिले में रावी के दाहिने किनारे पर मिल गई है । 'इरावती' वर्तमान 'रावी' का नाम है । —पाणिनिकालीन भारतवर्ष" पृ० ५२।

ग्रामः—जाम्बवशालूकिन्यौ । (९१२) क्षुद्रजन्तवः २ । ४ । ८ ॥ एषां समाहारे एव द्वन्द्वः एकवत्स्यात् । यूकालिक्षम् । आनकुलात्क्षुद्रजन्तवः । (९१३) येषां च विरोधः शाश्वतिकः २ । ४ । ९ ॥ एषां प्राग्वत् । अहिनकुलम् । गोव्याघ्रम्, काकोलूकम् इत्यादौ

---

(९१२) क्षुद्रजन्तवः । एतेषां द्वन्द्वः एकवदित्यर्थः । फलितमाह—एषां समाहारे एव द्वन्द्व इति । यूकालिक्षमिति । यूकाश्च लिक्षाश्चेति विग्रहः । केशबहुले शिरःप्रदेशे स्वेदजा जन्तुविशेषा यूका लिक्षाश्च प्रसिद्धाः । एकवत्त्वं नपुंसकह्रस्वत्वं च । आ नकुलादिति । 'नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः' इति भाष्यादिति भावः ।

(९१३) येषां च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—एषां प्राग्वदिति । समाहारद्वन्द्वः एकवदित्यर्थः । शश्वदित्यव्ययं सदेत्यर्थे वर्तते । ततो भवार्थे ठञ् । निपातनात् अव्ययानां भमात्रे टिलोपः, 'इसुसुक्तान्तात्कः' इति कादेशश्च न भवति । स्वाभाविक इत्यर्थः । अहिनकुलमिति । अहयो नकुलाश्चेति विग्रहः । अनयोः स्वाभाविको विरोधः प्रसिद्धः । विरोधो वैरम्, न तु सहानवस्थितिः । तेन छायातपावित्यत्र न भवति । देवासुराः इत्यत्र तु नायमेकवद्भावः, तद्विरोधस्य कादाचित्कत्वात् । अमृतादिप्रयुक्ताः कादाचित्क एव हि तेषां विरोधः, अमृतमन्थनादिकाले तेषां विरोधाभावात् । ननु 'विभाषा वृक्षमृग' इति सूत्रे पशुशकुनिद्वन्द्व-

---

(९१२) पद—क्षुद्रजन्तवः । **अनुवृत्ति—**द्वन्द्वः, एकवचनम् । **अतिदेश-सूत्र ।**

मूलार्थ—समाहार में ही इनके द्वन्द्व को एकवद्भाव हो । उदा० यूकालिक्षम् । नेवले से छोटे सभी जीव-जन्तु क्षुद्र श्रेणी में आते हैं ।

विवरण—एकवद्भाव के क्रम में ही "क्षुद्रजन्तुवाची (क्षुद्राश्च ते जन्तवश्च) शब्दों के द्वन्द्व को एकवद्भाव की कोटि में समाविष्ट किया जा रहा है" । नेवले से लेकर अन्य छोटे सूक्ष्म जीवों—तक को **'क्षुद्रजन्तु'** कहा गया है । **उदाहरण—यूकालिक्षम्** (जूँ और लीख→यूकाश्च लिक्षाश्च← क्षुद्रजन्तुओं 'यूक' तथा 'लिक्षा' का समाहार द्वन्द्व में एकवचन) । समासादि अन्य कार्य पूर्ववत् ।

(९१३) पद—येषां, च, विरोधः, शाश्वतिकः । **अनुवृत्ति—**द्वन्द्वः, एकवचनम् । **अतिदेश-(नियम)-सूत्र ।**

मूलार्थ—इनके विषय में पहले के समान हो । उदा० (१) अहिनकुलम् (२) गोव्याघ्रम् । (३) काकोलूकम् । अन्तिम दो उदाहरणों में (इस सूत्र के) परवर्ती होने के कारण "विभाषा वृक्षमृग०" (९१६) सूत्र से प्राप्त वैकल्पिक एकवद्भाव का ('च' शब्द से) बाध होता है ।

विवरण—"जिन जीवों का स्वाभाविक विरोध होता है, उनका समाहार द्वन्द्व एकवत् ही (च) होता है" उदाहरणों को देखने से विदित हो जायगा कि इस प्रकार का परस्पर विरोध सनातन काल से चला आ रहा है । **उदाहरण—(१) अहिनकुलम्** (साँप और नेवला—अहयश्च नकुलाश्च । अहि+जस्, नकुल+जस्, समासादि कार्य पूर्ववत् । **(३) काकोलूकम्** (कौआ तथा उल्लू—काकाश्च उलूकाश्च । **(२) गोव्याघ्रम् ।** (गाय तथा शेर—गावश्च व्याघ्राश्च, तेषां समाहारः) । समासादि कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—(१) यद्यपि (क) 'गोव्याघ्रम्' तथा (ख) 'काकोलूकम्' में अष्टाध्यायीपाठ-क्रम के अनुसार आगे आने वाले—"विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुनि०" २-४-१२—सूत्र से क्रमशः (क) में 'पशु' वाची तथा (ख) में शकुनि (पक्षि) वाची शब्दों का द्वन्द्व होने के कारण परत्वात् वैकल्पिक एकवद्भाव स्वतः सिद्ध रहा । उसका कारण यह है कि दोनों सूत्रों में अपने अपने स्थल पर अवकाश होने के फलस्वरूप 'तुल्यबल' की स्थिति विद्यमान है । प्रकृत सन्दर्भ में 'गो-महिषम्'—'गोमहिषाः' (पशुवाची)—आदि तथा 'हंस-चक्रवाकं'—'हंसचक्रवाकाः' (पक्षि-

परत्वात् 'विभाषा वृक्षमृग'–(सू ९१६) इति प्राप्तं चकारेण बाध्यते । (९१४) शूद्राणामनिरवसितानाम् २ । ४ । १० ॥ अबहिष्कृतानां शूद्राणां प्राग्वत् । तक्षायस्कारम् ।

योरेकवद्भावविकल्पो वक्ष्यते । तस्य तावत् गोमहिषं गोमहिषाः, हंसचक्रवाकं हंसचक्रवाकाः–इत्यत्रावकाशः । येषां चेत्यस्य अहिनकुलमित्यवकाशः । गोव्याघ्रं काकोलूकमित्यादौ तदुभयं प्रसक्तम् । तत्र परत्वाद्वक्ष्यमाणविभाषा प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह—**गोव्याघ्रमिति । चकारेणेति** । येषां चेति चकारेणेत्यर्थः । एतच्च भाष्ये स्पष्टम् ।

(९१४) शूद्राणाम् । अनिरवसितशब्दं व्याचष्टे—**अबहिष्कृतानामिति** । 'यैर्भुक्तं पात्रं क्षारोदकप्रक्षालनेन संस्कारेणापि न शुध्यति ते निरवसिताः चाण्डालादयः । 'यैस्तु भुक्तं पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः' इति भाष्ये स्पष्टम् । **शूद्राणामिति** । त्रैवर्णिकेतरः शूद्रशब्देन विवक्षितः, अनिरवसितानामिति लिङ्गात् । **प्राग्वदिति** । समाहरद्वन्द्व एकवदित्यर्थः । **तक्षायस्कारमिति** । तक्षाणश्च अयस्काराश्चेति विग्रहः ।

वाचक) आदि उदाहरणों में "विभाषा वृक्ष-मृग०" २-४-१२ सूत्र की प्रवृत्ति निर्विरोध (सावकाश) है । इसी प्रकार 'अहिनकुलम्' में "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" २-४-९ को अवकाश मिलता है । किन्तु 'गोव्याघ्रम्' तथा 'काकोलूकम्' में दोनों की प्राप्ति होने पर उत्तरवर्ती सूत्र (२-४-१२) से बाध होकर एकवद्भाव की वैकल्पिक स्थिति हो जाती । उसके निवारण करने के लिये "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" २-४-९ सूत्र में 'च' का समावेश होने से इन स्थानों में पूर्व-विप्रतिषेध की संभावना नहीं बतलाई गई है । अतः नित्य एकवद्भाव हुआ । महाभाष्य में यही प्रतिपादित है[1] ।

(२) सूत्र में 'विरोध' शब्द का अर्थ वैर है, न कि साथ न रहना । अतः **छायातपौ** (छाया और धूप) में एकवद्भाव नहीं होता । **देवासुराः** में भी एकवद्भाव नहीं होगा, क्योंकि देवों और असुरों का विरोध शाश्वतिक नहीं है, किन्तु अमृत-प्राप्ति आदि कारण-विशेष उपस्थित होने पर ही विरोध होता है । अमृतमन्थन के समय तो वे सभी संयुक्त रहे । अतः शाश्वतिक वैर की स्थिति में द्वन्द्व को नित्य एकवद्भाव होगा, अन्यत्र नहीं ।

(९१४) पद—शूद्राणाम्, अनिरवसितानाम् । **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम् । **अतिदेश-सूत्र** ।

मूलार्थ—अबहिष्कृत शूद्रों के द्वन्द्व समास में एक-वचन होता है । उदा० तक्षायस्कारम् । (मार्जनीय) पात्रों की अग्राह्यता के फलस्वरूप बहिष्कृत (निरवसित) शूद्रवाची शब्दों के द्वन्द्व समास करनेपर 'चण्डालमृतपाः' में एकवद्भाव नहीं होगा ।

विवरण—सामाजिक स्थिति के परिचायक द्वन्द्व समास के उदाहरणों द्वारा एकवद्भाव की सीमा में संकोच किया जा रहा है । सूत्र में **अनिरवसित** शब्द इस प्रकार के द्वन्द्व का नियामक है । 'अनिरवसित' शब्द का अर्थ अबहिष्कृत किया गया है । बहिष्कृत होने में स्मृति-प्रतिपादित नियमों की ओर ध्यान दिलाया गया है । त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के अतिरिक्त वर्ण के लिये सामान्यतः शूद्र शब्द का प्रयोग किया जाता है । उसमें भी कुछ ग्राह्य तथा अन्य अग्राह्य बताये गए हैं । ग्राह्य तथा अग्राह्य में हेतु उच्छिष्ट (जूठे) पात्रों की शुद्धता एवम् अशुद्धता को बतलाया है । जिन शूद्रों के उच्छिष्ट पात्र खटाई आदि से क्षार मिश्रित जल के माँजने पर भी

---

१. किमर्थश्चकारः ? एवकारार्थः चकारः । येषां विरोधः शाश्वतिकः तेषां द्वन्द्व एकवचनमेव यथा स्यात् । यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूदिति । किं चान्यत् प्राप्नोति ? पशु-शकुनि-द्वन्द्वे विरोधिनां पूर्वविप्रतिषिद्धमित्युक्तं तन्न वक्तव्यं भवति" । —महाभाष्यम् (२-४-९) ।

पात्राद् बहिष्कृतानां तु चण्डालमृतपाः। (९१५) गवाश्वप्रभृतीनि च २।४।११॥ यथोच्चारितानि साधूनि स्युः। गवाश्वम्। दासीदासमित्यादि। (९१६) विभाषा

अनिरवसितानामित्यस्य प्रयोजनमाह—**पात्रादिति**। **चण्डालमृतपा इति**। एतद्भुक्तपात्रस्य संस्कारेणापि नास्ति शुद्धिरिति अत एव भाष्याद्विज्ञेयम्। धर्मशास्त्रेषु च प्रसिद्धमेतत्।

(९१५) **गवाश्वप्रभृतीनि च**। यथा गणे पठितानि तथैव साधूनीत्यर्थः। **गवाश्वमिति**। गावश्चाश्वाश्चेति विग्रहः। अत्र 'विभाषा वृक्ष' इति पशुद्वन्द्वत्वात् विकल्पे प्राप्ते नित्योऽयं विधिः। अत्र 'सर्वत्र विभाषा' इति प्रकृतिभावे पूर्वरूपे च गो अश्वं गोऽश्वमिति

शुद्ध न माने जायँ वे निरवसनीय हैं। इसके विपरीत क्षार आदि से माँजने पर जिनके काँस्य पात्र शुद्ध माने जायँ, वे अनिरवसनीय होंगे। निरवसनीय में चाण्डाल आदि की गणना की जाती है। **अनिरवसनीय** (अबहिष्कृत) शूद्र का **उदाहरण—तक्षायस्कारम्** (बढ़ई तथा लोहार—तक्षाणश्च अयस्काराश्च, तेषां समाहारः-तक्षन्+जस्, अयस्कार+जस् > तक्षन्–अयस्कार (द्वन्द्व समास) > तक्ष—अयस्कार (न्-लोप) > तक्षायस्कार (दीर्घ) > तक्षायस्कार+सु (पुनः विभक्ति नपुंसक लिङ्ग में) > **तक्षायस्कारम्** (सु = अम् तथा पूर्वरूप)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में अनिरवसित पद का समावेश होने से 'निरवसित' शूद्रों के द्वन्द्व समास के उदाहरणों में एकवद्भाव नहीं होगा। अतः **चण्डालमृतपाः** (चाण्डाल और डोम—चण्डालाश्च मृतपाश्च) में समाहार द्वन्द्व एवम् एकवचन नहीं हुआ। इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि चाण्डाल आदि चतुर्थ वर्ण के लोग जिस धातु-पात्र में भोजन करते हैं, वह पात्र किसी तरह शुद्ध नहीं माना जाता। इस प्रकार पात्र-बहिष्कृत निकृष्ट-वर्ण-वाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवचन नहीं होता[1]।

(९१५) **पद**—गवाश्वप्रभृतीनि, च। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेश-सूत्र**।

मूलार्थ—(गवाश्व-गणपठित) जैसे उच्चरित हैं, उन्हें वैसे ही समीचीन माना जाय। **उदाहरण**—१—गवाश्वम्। २—दासीदासम्।

विवरण—"इस एकवद्भाव के अधिकार में 'गवाश्व' (गवाश्वं प्रभृति येषां तानि) इत्यादि शब्द एकवद्भाव किये हुए जिस तरह गणपाठ में निर्दिष्ट हैं, वैसे ही समीचीन समझे जायँ"। **उदाहरण** (१) गवाश्वम् (गाय और घोड़े—गावश्च अश्वाश्च, तेषां समाहारः)। गो+जस्, अश्व+जस् > गो–अश्व (द्वन्द्व समास) > गव+अश्व (अवङ् आदेश, ओ = अव) > गवाश्व (दीर्घ) > **गवाश्वम्** (एकवद्भाव होने से नपुंसक लिङ्ग प्रथमा विभक्ति का एकवचन)। "विभाषा वृक्ष-मृग०" २-४-१२ सूत्र से पशुवाची द्वन्द्व होने से 'गवाश्वम्' में वैकल्पिक एकवद्भाव की प्राप्ति थी। यह निपातन उसका बाधक है।

---

१. "अनिरवसितानाम् इत्युच्यते। कुतः अनिरवसितानाम्? आर्यावर्ताद् अनिरवसितानाम्। कः पुनः आर्यावर्तः? प्राक् आदर्शात्, प्रत्यक् कालकवनात्, दक्षिणेन हिमवन्तम्, उत्तरेण पारियात्रम्। यद्येवं किष्किन्धगान्धिकं, शकयवनं, शौर्यक्रौञ्चम्—इति न सिध्यति। एवं तर्हि आर्यनिवासाद् अनिरवसितानाम्। कः पुनः आर्यनिवासः? ग्रामो, घोषो, नगरं, संवाह इति। एवमपि य एते महान्तः संस्त्यायाः तेष्वभ्यन्तराश्चण्डाला मृतपाश्च वसन्ति, तत्र चण्डालमृतपा इति न सिध्यति। एवं तर्हि याज्ञात् कर्मणोऽनिरवसितानाम्। एवमपि तक्षायस्कारं, रजकतन्तुवायम् इति न सिध्यति। एवं तर्हि 'पात्राद् अनिरवसितानाम्'। "यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति ते अनिरवसिताः। यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति ते निरवसिता इति"। —महाभाष्यम् २-४-१०।

वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् २।४।१२॥
वृक्षादीनां सप्तानां द्वन्द्वः, अश्ववडवेत्यादि द्वन्द्वत्रयं च प्राग्वद्वा। 'वृक्षादौ विशेषाणामेव ग्रहणम्' (वा ५१८)। प्लक्षन्यग्रोधम्-प्लक्षन्यग्रोधाः। रुरुपृषतम्-रुरुपृषताः। कुशकाशम्-कुशकाशाः। व्रीहियवम्-व्रीहियवाः। दधिघृतम्-दधिघृते। गोमहिषम्-गोम-

---

नैकवत्त्वनियमः, यथोच्चारितानीत्युक्तेः, गणे च गवाश्वमित्येव निर्देशात् गवाश्वादिषु 'यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तम्' इति वार्तिकमत्र मानम्। दासीदासमिति। अत्रैकवत्त्वनियमः। 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषस्तु निपातनान्न। इत्यादीति। गवाविकं गवैडकमित्यादि वृत्तौ स्पष्टम्।

(९१६) विभाषा वृक्ष। द्वन्द्व इत्यनुवृत्तम्। एकापि षष्ठी विषयभेदात् भिद्यते। वृक्षादिसप्तानामवयवत्वेनान्वयः—वृक्षादीनां द्वन्द्व इति। वृक्षाद्यवयवको द्वन्द्व इति लभ्यते। अश्ववडवादियुगलत्रयस्य त्वभेदेनान्वये—अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर इत्यात्मको द्वन्द्व इति। तदाह—वृक्षादीनामिति। प्राग्वदिति। विकल्पेन एकवदित्यर्थः। वृक्षादाविति। वृक्षविशेषवाचिनां, तृणविशेषवाचिनां, धान्यविशेषवाचिनां, पशुविशेषवाचिनां चेत्यर्थः। 'स्वं रूपम्' इति सूत्रे भाष्यवार्तिकयोस्तथोक्तत्वादिति भावः। तथा च वृक्षाश्च धवाश्चेत्यादौ नायं विधिरिति फलितम्। किं तु 'जातिरप्राणिनाम्' इति नित्यमेवैकवत्त्वम्। तत्र वृक्षाद्यवयवकद्वन्द्वेषु सप्तसु वृक्षद्वन्द्वमुदाहरति—प्लक्षेति। प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्चेति विग्रहः। मृगद्वन्द्वमुदाहरति—रुरुपृषतमिति। रुरवश्च पृषताश्चेति विग्रहः। तृणद्वन्द्वमुदाहरति—कुशेति। कुशाश्च काशाश्चेति विग्रहः। धान्यद्वन्द्वमुदाहरति—व्रीहीति। व्रीहयश्च यवाश्चेति विग्रहः। व्यञ्जनद्वन्द्वमुदाहरति—दधीति। दधि च घृतं चेति

शङ्का समाधान—'गो+अश्वम्' इस स्थिति में "सर्वत्र विभाषा गोः" ६.१-१२२ सूत्र से पाक्षिक प्रकृतिभाव होने पर 'गो अश्वम्' तथा प्रकृतिभाव के न होने पर 'गोऽश्वम्'—ये दो रूप क्यों नहीं स्वीकार्य हैं? इसके उत्तर में यही समाधान दिया जाता है कि गवाश्वादि शब्दों की समीचीनता गणपाठ में उच्चरित शब्दों के कारण निर्विवाद है। इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार ने एक वार्तिक भी प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है—**गवाश्वप्रभृतिषु यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तम्।** कैयट ने और अधिक स्पष्ट कर यहाँ तक कह दिया है कि वैकल्पिक अवङ् के न होने पर आगे आने वाले सूत्र (९१६) से वैकल्पिक एकवद्भाव की प्रवृत्ति से 'गोऽश्वं' तथा 'गोऽश्वाः' रूप होने लगेंगे। इस तरह गणपाठ का रूप ही विवक्षित है।[1]

सूत्र का दूसरा उदाहरण—दासीदासम्—(दासी और दास—दास्यश्च दासाश्च तेषां समाहारः)। 'गवाश्व'-गण में पाठ होने से समाहार-द्वन्द्व में एकवद्भाव हुआ। निपातन होने के कारण "पुमान् स्त्रिया" से प्राप्त एकशेष का बाध हो गया। पृथक् सूत्र का यही फल है।

(९१६) पद—विभाषा, वृक्ष···धरोत्तराणाम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवत्। **अतिदेश-सूत्र।**

मूलार्थ—वृक्ष, मृग आदि सातों तथा अश्व, वडव आदि तीनों के द्वन्द्व को विकल्प से एकवद्भाव हो। वा० वृक्ष आदि में विशेष का ही ग्रहण होता है। उदा० १—प्लक्षन्यग्रोधम्—प्लक्षन्यग्रोधाः। २—रुरुपृषतम्—रुरुपृषताः। ३—कुशकाशम्—कुशकाशाः। ४—व्रीहियवम्—व्रीहियवाः। ५—दधिघृतम्—दधिघृते। ६—गोमहिषम्—गोमहिषाः। ७—शुक-

---

१. गणे यादृशः कृतावङः पठिता द्वन्द्वास्तादृशानामेवेदं कार्यम् एकवद्भावलक्षणं भवतीत्यर्थः। यदा तु अवङ् नास्ति विकल्पितत्वात् तदा पशुद्वन्द्वे विभाषा भवति 'गोऽश्वं' 'गोऽश्व' इति। एतेन गणपाठरूपं विवक्षितम् इत्युक्तं भवति"।

हिषाः। शुकबकम्–शुकबकाः। अश्ववडवम्–अश्ववडवौ। पूर्वापरम्–पूर्वापरे। अधरोत्तरम्–अधरोत्तरे। 'फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवदिति वाच्यम्' (वा १५४०)। बदराणि चामलकानि च बदरामलकम्। 'जातिरप्राणिनाम्' (सू ९१०) इत्येकवद्भावः। नेह–बदरामलके, रथिकाश्वारोहौ, प्लक्षन्यग्रोधावित्यादिः।

विग्रहः। पशुद्वन्द्वमुदाहरति—गोमहिषमिति। गावश्च महिषाश्चेति विग्रहः। शकुनिद्वन्द्वमुदाहरति—शुकेति। शुकाश्च बकाश्चेति विग्रहः। अश्ववडवादिद्वन्द्वमुदाहरति—अश्ववडवमिति। अश्वाश्च वडवाश्चेति विग्रहः। 'पूर्ववदश्ववडवौ' इति अश्ववडवावित्यत्र पूर्वपदवत् पुंल्लिङ्गता। फलसेनेति। एकवद्भावप्रकरणशेषभूतमिदं वार्तिकम्। 'द्वन्द्वश्च प्राणि' इत्यादिसूत्रैः फलसेनादीनां द्वन्द्व एकवद्भवन् बहुवचनान्तावयवक एव एकवत् भवति नत्वेकद्विवचनान्तावयवक इत्यर्थः। तत्र फलद्वन्द्वमुदाहरति—बदराणि चेति। बदरीफलानि आमलकीफलानि चेत्यर्थः। विकारतद्धितस्य फले लुक्। 'लुक्तद्धितलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययस्य लुक्। जातिरिति। बहुवचनान्तावयवकद्वन्द्वत्वात् 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवत्त्वमित्यर्थः। बहुप्रकृतिरेवेत्यस्य प्रयोजनमाह—नेहेति। बदरामलके इति। बदरं चामलकं चेति विग्रहः। बहुवचनान्तावयवकद्वन्द्वत्वाभावान्न 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवत्त्वम्। रथिकाश्वारोहाविति। अत्र सेनाङ्गत्वेऽपि नैकवत्त्वम्। प्लक्षन्यग्रोधाविति। इह वृक्षद्वन्द्वत्वेऽपि 'विभाषा वृक्ष' इत्येकवत्त्वं न। इत्यादीति। रुरुपृषतौ, अत्र मृगद्वन्द्वत्वेऽपि नैकवत्त्वम्। हंसचक्रवाकौ, अत्र शकुनिद्वन्द्वत्वेऽपि नैकवत्त्वम्। यूकालिक्षे, अत्र क्षुद्रजन्तुद्वन्द्वत्वेऽपि नैकवत्त्वम्। व्रीहियवौ, अत्र धान्यद्वन्द्वत्वेऽपि नैकवत्त्वम्। कुशकाशौ, अत्र तृणद्वन्द्वत्वेऽपि नैकवत्त्वम्। ननु 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यनेनेतरेतरयोगसमाहारद्वन्द्वाभ्यामेव

बकम्–शुकबकाः। ८—अश्ववडवम्—अश्ववडवौ:। ९—पूर्वापरम्-पूर्वापरे। ९—अधरोत्तरम्–अधरोत्तरे। वा० फल, सेना, वनस्पति, मृग, शकुनि, क्षुद्रजन्तु, धान्य तथा तृण—इनके द्वन्द्व में बहुवचन ही एकवद् होता है। उदा० बदराणि च आमलकानि च बदरामलकम्। "जातिरप्राणिनाम्" (९१० सू०) से एकवद्भाव। बदरामलके, रथिकाश्वारोहौ, प्लक्षन्यग्रोधौ में एकवद्भाव नहीं होता। "विभाषा वृक्षमृग०" इत्यादि सूत्र में पशु-पद का ग्रहण इसलिये किया गया है कि सेना के अङ्गभूत हस्ती आदि के समास में "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य०" सूत्र से नित्य एकवद्भाव न हो। (उक्त सूत्र में) मृग, और शकुनि शब्दों का ग्रहण भी सप्रयोजन है। मृग का मृग के साथ, शकुनि का शकुनि के साथ वैकल्पिक एकवद्भाव (समाहार) होता है। किन्तु यदि मृग और शकुनि का अन्यार्थवाचक पदों के साथ समास करना हो तो इतरेतर द्वन्द्व होगा। ऐसे ही पूर्वापरम्, अधरोत्तरम् में भी। (प्रकृत सूत्र में) अश्व-वडव का समावेश करने से पक्ष में समाहार द्वन्द्व होकर नपुंसकलिङ्गान्त रूप भी बनता है। अन्यथा 'पूर्ववदश्ववडवौ" (सू० ८१३) के अनुसार नित्य इतरेतर-योग होकर पुंलिङ्गान्त रूप बनता है।

विवरण—एकवद्भाव का ही प्रकरण है। कुछ विशेष शब्दों के सम्बन्ध में निपातन की प्रक्रिया बतलाई जा रही है। सूत्र में केवल दो पद हैं—(१) विभाषा तथा (२) वृक्ष......त्तराणाम्। इनमें प्रथम 'विभाषा' पद विधान के पाक्षिक होने का द्योतक है। द्वितीय 'वृक्षादि०' समस्तपद शब्द-विशेषों का सूचक है। अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। द्वितीय पद षष्ठ्यन्त है। वह विषयभेद से भिन्न अर्थों का सूचक है। 'वृक्षादि०' समस्त पद में इतरेतर-द्वन्द्व समास है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होगा कि "वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि—इन सात शब्दों का एवम् अश्ववडव, पूर्वापर, तथा अधरोत्तरवाची शब्दों का द्वन्द्व समास विकल्प से एकवद्भाव को प्राप्त हो"। 'वृक्ष' शब्द के सम्बन्ध

'विभाषा वृक्ष—'(सू० ९१६) इति सूत्रं येऽप्राणिनस्तेषां ग्रहणं 'जातिरप्राणिनाम्' (सू ९१०) इति नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थम् । पशुग्रहणं हस्त्यश्वादिषु सेनाङ्गत्वान्नित्ये प्राप्ते

एकवत्त्वविकल्पस्य सिद्धत्वात् 'विभाषा वृक्ष' इति सूत्रं व्यर्थमित्याशङ्क्याह— विभाषेत्यादिविकल्पार्थमित्यन्तम् । वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनद्वन्द्वेषु प्लक्षन्यग्रोधं, रुरुपृषतं, कुशकाशं, व्रीहियवं दधिघृतम् इत्येतेषु 'जातिरप्राणिनाम्' इति नित्यविहितैकवत्त्वानित्यत्वार्थमप्राणिवृक्षादिग्रहणमित्यर्थः । नन्वेवमपि पशुग्रहणं व्यर्थम्, तदुदाहरणे गोमहिषमित्यत्र 'जातिरप्राणिनाम्' इति नित्यैकवत्त्वनियमस्याप्राप्त्या तन्निवृत्त्यर्थत्वायोगादित्यत आह——पशुग्रहणं हस्त्यश्वादिषु सेनाङ्गत्वात् नित्ये प्राप्ते इति । विकल्पार्थमित्यनुषज्यते । नन्वेवमपि मृगशकुनिग्रहणं व्यर्थम्, तदुदाहरणे रुरुपृषतं शुकबकमित्यादौ 'जातिरप्राणिनाम्' इति एकवत्त्वस्य सेनाङ्गनिबन्धनैकवत्त्वस्य च अप्राप्त्या तन्निवृत्त्यर्थत्वाभावेन 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्येवेतरेतरयोगसमाहारद्वन्द्वाभ्यामेकवत्त्वविकल्पसिद्धेरित्यत

में स्पष्टीकरण करने हेतु वार्तिक द्वारा बतलाया जारहा है कि 'प्रकृत सूत्र में वृक्षों के भिन्न प्रकारों का ग्रहण किया जाय' । अतः वृक्ष-विशेष-वाचक शब्दों का द्वन्द्व में एकवद्भाव होगा । समाहार में विकल्प से निपातन होने का फल यह होगा कि पक्ष में इतरेतरयोग द्वन्द्व-समास होने पर अवयवगत संख्या के अनुसार द्वि-वचन एवं बहुवचन आदि होंगे । वृक्षादि के उदाहरण **क्रमशः** दिये जा रहे हैं—(१) वृक्ष—(क) **प्लक्षन्यग्रोधम्**—(ख) **प्लक्षन्यग्रोधाः** (पाकड़ तथा बरगद—प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च) **प्रक्रिया**—समाहार-द्वन्द्व में **नपुंसकलिङ्ग** में (एकवचन) होगा । दूसरे रूप (ख) में एकवद्भाव न होने से इतरेतर-द्वन्द्व की स्थिति में वृक्ष-गत अनेकता के कारण बहुवचन पुंलिङ्ग का प्रयोग हुआ है—"परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २-४-२६ । (२) मृग—(क) **रुरुपृषतम्**—(ख) **रुरुपृषताः** (काले हिरन—रुरवश्च पृषताश्च) । समाहार की विवक्षा से (क) में एकवद्भाव । पक्ष में इतरेतरयोग द्वन्द्व । अतः (ख) में बहुवचन । समासादि प्रक्रिया पूर्ववत् । (३) तृण-(क) **कुशकाशम्**—(ख) **कुशकाशाः** (कुश और काँस—कुशाः च काशाः च) । (क) में एकवद्भाव, (ख) में इतरेतरयोग । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् । (४) धान्य—(क) **व्रीहियवम्**— (ख) **व्रीहियवाः** (धान और जौ—व्रीहयश्च यवाश्च) । निपातन के फलस्वरूप (क) में एकवद्भाव । पक्ष में इतरेतरयोग द्वन्द्व होने पर (ख) में बहुवचन । (५) व्यञ्जन—(क) **दधिघृतम्**—(ख) **दधिघृते** (दही और घी—दधि च घृतं च) । (क) में पूर्ववत् एकवद्भाव तथा (ख) में इतरेतर योग । अतः वस्तुगत अवयव के उद्भूत होने से "परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः" २-४-२६ के अनुसार 'घृत' शब्द को अभिलक्षित कर द्विवचन हुआ । (६) पशु—(क) **गोमहिषम्**—(ख) **गोमहिषाः** (गायें और भैंसें—गावः च, महिषाः च) । (क) में एकवचन नपुंसकलिङ्ग (समाहार) तथा (ख) में पुंलिङ्ग बहुवचन (इतरेतरयोग) । (७) शकुनि—(क) **तित्तिरिकपिञ्जलं**— (ख) **तित्तिरिकपिञ्जलाः** (तीतर और चातक—तित्तिरयश्च कपिञ्जलाश्च) । निपातन होने पर (क) में समाहार द्वन्द्व, एकवचन तथा (ख) में इतरेतरयोग होने से पुंलिङ्ग प्रथमा—बहुवचन । सूत्रोक्त प्रकार-बोधक इन सात शब्दों के अतिरिक्त अवशिष्ट तीन शब्द आनुपूर्वी लिये गए हैं । तदनुसार उनके उदाहरण दिये जा रहे हैं—(८) (क) **अश्ववडवम्**—(ख) **अश्ववडवौ** (घोड़े और घोड़ियाँ—अश्वाश्च वडवाश्च) । (क) में यथापूर्व समाहार-द्वन्द्व, एकवचन तथा (ख) में इतरेतरयोग होने पर समास-कार्य के अतिरिक्त "पूर्ववदश्ववडवौ" (सू० ८१३) के आधार पर पूर्वपद 'अश्व' के अनुसार 'वडवा' शब्द का प्रयोग भी पुंलिङ्ग में किया गया । द्विवचन । (९) (क) **पूर्वापरम्**—(ख) **पूर्वापरे** (पहला और अन्तिम—पूर्वं च अपरं च) । निपातन के अनुसार (क) में समाहार द्वन्द्व एवं नपुंसकलिङ्ग में एकवद्भाव तथा (ख) में इतरेतरयोग में प्रथमा का

'मृगाणां मृगैरेव शकुनीनां तैरेवोभयत्र द्वन्द्वः, अन्यैस्तु सहेतरेतरयोग एव' इतिनियमार्थं मृगशकुनिग्रहणम्। एवं पूर्वापरम् अधरोत्तरम् इत्यपि। अश्ववडवग्रहणं तु पक्षे नपुंस-

---

आह—मृगाणां मृगैरेवेत्यादि मृगशकुनिग्रहणमित्यन्तम्। मृगाणां मृगैरेव सह उभयत्र इतरेतरयोगे समाहारे च 'चार्थे' इति द्वन्द्वः। यथा-रुरुपृषतं-रुरुपृषताविस्यादि। तथा शकुनीनां शकुनिभिरेव उभयत्र इतरेतरयोगे समाहारे च 'चार्थे' इति द्वन्द्वः। यथा—शुकबकम्, शुकबकाविति। मृगाणां तदितरैः शकुनीनां तदन्यैश्च सह इतरेतरयोगद्वन्द्व एव भवति, न समाहारद्वन्द्वः। यथा—रुरुशुका इति। एतादृशनियमार्थं मृगशकुनिग्रहणमित्यर्थः। ननु पूर्वापरग्रहणम् अधरोत्तरग्रहणं च व्यर्थम्, 'चार्थे' इत्येव सिद्धेः। 'जातिरप्राणिनाम्' इत्यादिनित्यैकवत्त्वस्य तत्र अप्रवृत्त्या तन्निवृत्त्यर्थत्वासम्भवादित्यत आह—एवं पूर्वापरम् अधरोत्तरम् इत्यपीति। यथा मृगशकुनिग्रहणं मृगैरेव मृगाणां शकुनीनां तैरेव उभयत्र द्वन्द्वः, एवं पूर्वशब्दस्य अपरशब्देनैव, अधरशब्दस्य उत्तरशब्देनैव उभयत्र इतरेतरयोगे समाहारे च द्वन्द्वः। अन्येन तु सह पूर्वोत्तरावित्यादौ इतरेतरयोग एवेति नियमार्थं

द्विवचन परवत् लिङ्ग होने के कारण नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। (१०) इसी प्रकार (क) **अधरोत्तरम्** (नीचे का और ऊपरी- अधरं च उत्तरं च)-(ख) **अधरोत्तरे** में भी दो रूप बनेंगे।

विशेष—(१) अन्त में अब एकवद्भाव प्रकरण का उपसंहारस्वरूप **वार्तिक** प्रस्तुत किया जा रहा है। तदनुसार **'फल, सेना, वनस्पति, मृग, शकुनि, क्षुद्रजन्तु, धान्य** तथा **तृण**—इन शब्दों के **बहुवचन-प्रकृतिक** (विग्रहावस्था में बहुवचन सूचित करने वाले) द्वन्द्व को ही एकवद्भाव होता है। अर्थात् एकवचन एवं द्विवचनान्तावयवक द्वन्द्व को एकवद्भाव नहीं होगा। तदनुसार 'बदराणि च आमलकानि' (बेर और आँवले—बदर+जस्, आमलक+जस्) विग्रह में बहुवचनान्त प्रकृतिक 'बदर' तथा 'आमलक' शब्दों का प्रयोग होने के कारण "जातिरप्राणिनाम्" (सू० ९१०) से एकवद्भाव होकर **बदरामलकम्** रूप निष्पन्न होगा। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि आमलकम् में विकारार्थक तद्धित-प्रत्यय का "फले लुक्" ४-३-१६३ से लोप होने के साथ ही "लुक् तद्धितलुकि" १-२-४९ से स्त्री-प्रत्यय का भी लोप हुआ है। 'आमलकी' (ङीष् प्रत्ययान्त है) +मयट् (विकारार्थ में "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" ४-२-१४२) > आमलकी ('मयट्' का लोप) > **आमलकम्** (नपुंसकलिङ्ग प्रथमा के एकवचन में)। इसी प्रकार 'बदर' शब्द भी 'बदरी' (गौरादि गण में पाठ होने से ङीष्) शब्द से विकारार्थक 'अण्' ("अनुदात्तादेश्च" ४-३-१३८) का लोप होने के पश्चात् स्त्री-प्रत्यय (ङीष्) का लोप होने के अनन्तर पुनः विभक्ति की उत्पत्ति के पश्चात् प्रथमा एकवचन में **'बदरम्'** रूप बनेगा।

उपर्युक्त वार्तिक में 'बहुप्रकृतिक' पद का निवेश होने के फलस्वरूप (१) **बदरामलके** (बेर तथा आँवला—बदरं च आमलकं च) में एकवचनान्तावयवक द्वन्द्व होने के कारण "जातिरप्राणिनाम्" (सू० ९१०) से एकवद्भाव नहीं हुआ। इसी तरह (२) **रथिकाश्वारोहौ** (रथिकश्च अश्वारोहश्च) में सेना का अङ्ग होने पर भी "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" (सू० ९०६) से एकवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं हुई। इसी प्रसङ्ग में (३) **प्लक्षन्यग्रोधौ** (प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च) में वृक्षों का द्वन्द्व समास होने पर (४) **रुरुपृषतौ** में मृगवाची शब्दों का द्वन्द्व समास होने पर (५) तथा **हंसचक्रवाकौ** में शकुनि अर्थात् पक्षिवाचक शब्दों का द्वन्द्व होने पर भी "विभाषा वृक्ष-मृग-तृण०" (सू० ९१६) से एकवचन नहीं हुआ। एवमेव (६) **यूकालिक्षे** में "क्षुद्रजन्तवः" (सू० ९१२) से (७) **व्रीहियवौ** में धान्यवाची-द्वन्द्व तथा (८) **कुशकाशाः** में तृण-द्वन्द्व होने पर "विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य०" (सू० ९१६) से एकवद्भाव नहीं हुआ।

कत्वार्थम्। अन्यथा परत्वात् 'पूर्ववदश्ववडवौ' (सू ८१३) इति स्यात्। (९१७)

पूर्वापरग्रहणम् अधरोत्तरग्रहणं चेत्यर्थः। ननु अश्ववडवग्रहणं व्यर्थम्, सेनाङ्गत्वेऽपि पशुद्वन्द्वत्वादेव एकवद्भावविकल्पसिद्धेरित्यत आह—अश्ववडवेति। नपुंसकत्वविकल्पार्थमित्यर्थः। ननु समाहारस्य एकत्वादेव एकवत्त्वसिद्धेः इदम् एकवत्त्वप्रकरणं समाहार एव द्वन्द्व इति नियमार्थमित्युक्तम्। तथा च पशुद्वन्द्वत्वात् एकवत्त्वविकल्पे सति समाहारे वा इतरेतरयोगे वा द्वन्द्व इत्यनियमः पर्यवस्यति। एवञ्च समाहारद्वन्द्वपक्षे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम्, इतरेतरयोगे तु नेति नपुंसकत्वविकल्पस्य सिद्धत्वात् अश्ववडवग्रहणं व्यर्थमेवेत्यत आह---अन्यथेति। [इह नपुंसकत्वविध्यभावे समाहारद्वन्द्वपक्षेऽपि 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वं बाधित्वा परत्वात् 'पूर्ववदश्ववडवौ' इति पुंस्त्वं स्यात्। नपुंसकविधौ तु तत्सामर्थ्यात् समाहारद्वन्द्वपक्षे 'पूर्ववदश्ववडवौ' इत्येतत् बाधित्वा नपुंसकत्वं भवत्येव। 'अधिकारप्राप्तपूर्ववदश्वेत्येतत्तु, इतरेतरयोगद्वन्द्वे सावकाशमिति भावः।

शङ्का समाधान—द्वन्द्व-विधायक "चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९ सूत्र "विभाषा" २-१-११ अधिकार के अन्तर्गत होने के कारण इतरेतरयोग तथा समाहार-द्वन्द्व में एकवत्त्व विकल्प स्वतः सिद्ध रहा। इस स्थिति में "विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य०" सूत्र (९१६) से एकवचन विकल्प की क्या आवश्यकता रही? इसके उत्तर में यह कहा गया है कि "जातिरप्राणिनाम्" (सू० ९१०) से प्राप्त नित्य एकवद्भाव न हो, किन्तु विकल्प ही हो। अतः इस सूत्र की चरितार्थता सप्रयोजन मानी गई। इसी प्रकार "विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-पशु०" (९१६) सूत्र में 'पशु' पद के समावेश की आवश्यकता को बतलाते हुए कहा गया है कि 'सेना के अङ्गभूत हस्ती-अश्व आदि के समास में "द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्" (सू० ९०६) से प्राप्त नित्य एकवद्भाव न हो"। विकल्प के लिये इसकी चरितार्थता है। इसी प्रकार सूत्र में मृग-शकुनि शब्दों का ग्रहण भी इसलिये आवश्यक है कि "मृग का मृग के साथ, शकुनि का शकुनि के साथ ही एकवद्भाव हो"। तदर्थवाची शब्दों के साथ एकवद्भाव अभीष्ट नहीं है। इसके विपरीत यदि मृग और शकुनि का तदर्थवाची पदों के साथ समास न होकर अन्यार्थवाचक शब्दों के साथ समास किया जायगा तो **रुरुशुकाः** आदि में केवल इतरेतर-योग द्वन्द्व होगा। इसी प्रकार 'पूर्व' शब्द का 'अपर' शब्द के साथ ही तथा 'अधर' शब्द का 'उत्तर' शब्द के साथ ही द्वन्द्व समास होने पर वैकल्पिक एकवद्भाव अभीष्ट है। यदि 'पूर्व' तथा 'अधर' शब्दों का क्रमशः 'अपर' तथा 'उत्तर' शब्दों के अतिरिक्त द्वन्द्व समास किया जायगा तो **पूर्वोत्तरौ, अधरापरौ** आदि में इतरेतर-योग ही होगा। इस प्रकार "विभाषा मृग०" (९१६) सूत्र की नियामकता सप्रयोजन है। अन्त में अश्व-वडव शब्दों के द्वन्द्व समास के सम्बन्ध में भी इस सूत्र में प्रयुक्त इन दोनों शब्दों के वैयर्थ्य की आशंका की गई है, क्यों कि "चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९ से समाहार तथा इतरेतरयोग दोनों ही सम्भव थे। इसका निराकरण इस प्रकार किया गया है कि "चार्थे द्वन्द्वः" का बाधकर "पूर्ववदश्ववडवौ" सूत्र (९१३) से नित्य इतरेतरयोग होकर 'वडव' शब्द का पुंलिङ्ग में प्रयोग होकर 'अश्ववडवौ' एक ही रूप बनता। उसके अपवाद-स्वरूप पक्ष में समाहारद्वन्द्व होने के लिये सूत्र में 'अश्व-वडव' पद की सार्थकता है। तदनुसार 'अश्ववडवम्' रूप भी बनेगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि वृक्ष, तृण, धान्य तथा व्यञ्जन-वाचियों के द्वन्द्व में प्राणिरहित जातिवाची शब्द होने से "जातिरप्राणिनाम्" २-२-६ से नित्य एकवद्भाव प्राप्त था, उसे विकल्प कर दिया गया। शेष शब्दों से नित्य एकवद्भाव की प्राप्ति किसी प्रकार न होने के कारण विकल्प विधान करने से यह **प्राप्ताऽप्राप्त विभाषा** कही जा सकती है।

विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि २।४।१३ ॥ विरुद्धार्थानामद्रव्यवाचिनां द्वन्द्व एकवद्वा स्यात् । शीतोष्णम्–शीतोष्णे । वैकल्पिकः समाहारद्वन्द्वः 'चार्थे' (सू ९०१) इति सूत्रेण प्राप्तः, सः विरुद्धार्थानां यदि भवति तर्ह्यद्रव्यवाचिनामेवेति नियमार्थमिदम् । तेन द्रव्य-

---

(९१७) विप्रतिषिद्धं च । विभाषा इत्यनुवर्तते । विप्रतिषेधो विरोधः सहानवस्थान-लक्षणः । अधिकरणं द्रव्यम् । अद्रव्यवाचि विरुद्धार्थकं च यदनेकं सुबन्तं तदवयवको द्वन्द्वो विभाषैकवद्भावक इत्यर्थः । फलितमाह––विरुद्धार्थानामिति । गोत्वाश्वत्वं गोत्वाश्वत्वे, सुखदुःखं सुखदुःखे इत्याद्युदाहरणम् । ननु 'चार्थे' इति इतरेतरयोगसमाहाराभ्यामेवात्र एकवत्त्वविकल्पसिद्धेः इदं व्यर्थम् । न च 'जातिरप्राणिनाम्' इति नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थमिति वाच्यम्, जातिप्रवृत्तिनिमित्तकद्रव्यवाचिनां द्वन्द्व एव तत्प्रवृत्तेरित्यत

---

(९१७) **पद**—विप्रतिषिद्धं, चं, अनधिकरणवाचि । **अनुवृत्ति**–विभाषा, द्वन्द्वः, एकवचनम् । **अतिदेश-(नियम)-सूत्र** ।

मूलार्थ—द्रव्यभिन्न विरुद्धार्थवाची सुबन्तों का द्वन्द्व में विकल्प से एकवद्भाव होता है । उदा० शीतोष्णम्—शीतोष्णे । "चार्थे द्वन्द्वः" (सू० ९०१) सूत्र से 'च'के अर्थ में वैकल्पिक समाहार द्वन्द्व प्राप्त था । प्रकृत सूत्र यह नियम करता है कि विरुद्धार्थक पदों के समाहार-द्वन्द्व में द्रव्यभिन्न सुबन्तों का ही ग्रहण किया जाय । तब द्रव्यवाची सुबन्तों का इतरेतर-योग ही होगा । उदा० शीतोष्णे । विप्रतिषिद्धम् क्यों कहा ? नन्दकपाञ्चजन्यौ (इतरेतर-योग हुआ) । पक्ष में समाहार-द्वन्द्व भी होगा ।

विवरण—पूर्वसूत्र (९१६) के अनुसार वैकल्पिक एकवद्भाव का प्रसङ्ग प्रकृत सूत्र का वर्ण्य-विषय है । अतः "विभाषा वृक्ष-मृग०" २-४-१२ से विभाषा की अनुवृत्ति मुख्यतः अपेक्षित है । शेष प्राकरणिक उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ 'अधिकरण' शब्द द्रव्यार्थक है, क्योंकि अधिकरण किसी मूर्त पदार्थ (द्रव्य) का ही हो सकता है, क्रिया या गुण का नहीं । अतः अनधिकरण शब्द का अर्थ अमूर्त पदार्थ-वाची होगा—'अधिकरणं वक्ति इति अधिकरण-वाचि, न अधिकरणवाचि ▷ अनधिकरण-वाचि) । 'विप्रतिषिद्ध' शब्द का अर्थ 'परस्पर विरुद्ध' है । विधेयांश की पूर्णता अनुवर्तमान-पदों से होती है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "परस्पर विरुद्ध अमूर्त पदार्थवाची शब्दों का द्वन्द्व विकल्प से एकवत् (एकवचन में प्रयुक्त) हो" ।

प्रकृत सूत्र द्वारा किया जानेवाला विधान तो "चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९ से 'च' के अर्थ में विहित वैकल्पिक समाहार-द्वन्द्व स्वतः सिद्ध है । अतः यह सूत्र नियामक होकर चरितार्थ होता है । तदनुसार इससे यह ज्ञापित होता है कि 'यदि परस्पर विरुद्धार्थक शब्दों का समाहार-द्वन्द्व समास हो तो अमूर्तपदार्थ-वाची शब्दों का ही हो' । इससे यह सिद्ध हुआ कि मूर्तपदार्थ-वाची शब्दों का इतरेतर-योग द्वन्द्व ही होगा । **उदाहरण—शीतोष्णम्–शीतोष्णे** (सरदी और गरमी—शीतं च उष्णं च) । ठण्डा और गरम–परस्पर विरोधी हैं तथा अमूर्तपदार्थ-वाची भी हैं । अतः समाहार-द्वन्द्व होने पर नपुंसकलिङ्ग एकवचन का वैकल्पिक प्रयोग हुआ—**शीतोष्णम्** । पक्ष में द्विवचन **शीतोष्णे** । इसी प्रकार **सुख-दुःखम्—सुखदुःखे, जीवितमरणं—जीवितमरणे** आदि उदाहरण भी होंगे ।

जब जलार्थक 'शीत' एवम् 'उष्ण' का द्वन्द्व समास होगा तो जल के द्रव्यवाची होने से केवल इतरेतर-योग ही होगा । इस अवस्था में **शीतोष्णे उदके स्तः**–(ठण्डा और गरम जल)–वाक्यगत **शीतोष्णे** पद इतरेतरयोग द्वन्द्व में निष्पन्न होगा, क्योंकि परस्पर विरोधी शीत और उष्ण गुणों का परस्पर अत्यन्ताभावरूप सामानाधिकरण्य परम्परया जल की उष्णता है । उसके माध्यम से गुणद्वय-

वाचिनामितरेतरयोग एव। शीतोष्णे उदके स्तः। विप्रतिषिद्धम् किम्? नन्दकपाञ्चजन्यौ। इह पाक्षिकः समाहारद्वन्द्वो भवत्येव। (९१८) न दधिपयआदीनि २।४।१४॥ एतानि नैकवत्स्युः। दधिपयसी। इध्मावर्हिषी। निपातनाद्दीर्घः। ऋक्सामे।

आह—वैकल्पिक इत्यादि नियमार्थमिदमित्यन्तम्। तेनेति। उक्तनियमेनेत्यर्थः—शीतोष्णे उदके स्त इति। अत्र विरुद्धार्थकत्वेऽपि द्रव्यवाचित्वात् न समाहारद्वन्द्व इति भावः। नन्दकपाञ्चजन्याविति। विष्णोः खड्गः नन्दकः, शङ्खस्तु पाञ्चजन्यः, तयोरेकत्र विष्णौ सहावस्थानात् न विरुद्धत्वमिति स्थितिः। इह विप्रतिषिद्धग्रहणाभावे 'चार्थे' इति समाहारद्वन्द्वः अद्रव्यवाचिनामेवेति नियमो लभ्येत। एवं सति नन्दकपाञ्चजन्यमिति पाक्षिकसमाहारद्वन्द्वो न स्यात्, समाहारद्वन्द्वस्य सर्वस्यापि अद्रव्यवाचिष्वेव नियमितत्वात्। विप्रतिषिद्धमित्युक्तौ तु विरुद्धार्थानां समाहारद्वन्द्वश्चेत् तर्हि अद्रव्यवाचिनामेवेति नियमो लभ्यते। नन्दकपाञ्चजन्ययोश्चाविरुद्धत्वादयं नियमो न प्रवर्तते। ततश्च द्रव्यवाचित्वेऽपि 'चार्थे' इति कदाचित् समाहारद्वन्द्वः, कदाचित् इतरेतरयोगद्वन्द्वश्च भवत्येव तदाह—इह पाक्षिकः समाहारद्वन्द्वो भवत्येवेति।

(९१८) न दधिपयआदीनि। एतानि नैकवत् स्युरिति। एषां समाहारद्वन्द्वो नास्तीत्यर्थः। दधिपयसी इति। दधि च पयश्चेति विग्रहः। 'जातिरप्राणिनाम्' इति नित्यमेकवत्त्वं प्राप्तं बाधित्वा व्यञ्जनद्वन्द्वत्वाद्विकल्पः प्राप्तः, सोऽपि न भवति। इध्माबर्हिषी इति। इध्मं च बर्हिश्चेति विग्रहः। दीर्घं इति। इध्मशब्दस्येति शेषः। ऋक्सामे

युक्त दो जलों—शीत और उष्ण—का परस्पर विरोध है[1]। अतः केवल द्वि-वचन का ही प्रयोग होगा। अतः यह प्रत्युदाहरण है ('अनधिकरणवाचि' पद न रखते तो यहाँ भी वैकल्पिक समाहार द्वन्द्व हो जाता)। (२) सूत्र में विप्रतिषिद्ध पद का निवेश करने से द्वन्द्व में समस्यमान पदों के विरुद्धार्थक न होने पर द्रव्य-वाची पदों का इतरेतरयोग और पक्ष में समाहार द्वन्द्व हो जाता है। तदनुसार नन्दकपाञ्चजन्यौ (विष्णु की तलवार और शङ्ख—नन्दकश्च पाञ्चजन्यश्च) में विष्णु के आयुध होने के कारण अविरोधी हैं। इतरेतरयोग होने पर पदार्थगत द्वित्व संख्या के उद्भूत होने से पुंलिङ्ग में द्विवचन हुआ। पक्ष में समाहार द्वन्द्व होने से नन्दक-पाञ्चजन्यम् भी होगा।

(९१८) पद—न, दधिपयआदीनि। अनुवृत्ति—द्वन्द्वः, एकवचनम्। अतिदेश-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—इनका समाहार द्वन्द्व न हो। उदा० १—दधिपयसी। २—इध्माबर्हिषी। यहाँ निपातन से दीर्घ हुआ। ३—ऋक्सामे। ४—वाङ्मनसे।

विवरण—पूर्वप्राप्त एकवद्भाव के निषेध की सीमा दधिपय आदि गण के रूप में निर्धारित की जा रही है। अतः "द्विगुरेकवचनम्" २-४-१ से 'एकवचनम्' की अनुवृत्ति का स्मरण रखना होगा। अनुवर्तमान द्वन्द्व का प्रकरण चल ही रहा है। अतः सूत्र का आशय यह होगा कि "दधिपयसी आदि शब्दों को (दधि च पयश्च दधिपयसी, दधिपयसी आदिः येषां तानि दधिपयआदीनि) द्वन्द्व में एकवद्भाव नहीं होता है"। अर्थात् 'दधिपयसी' आदि शब्दों का समाहार-द्वन्द्व नहीं होगा। 'दधि' तथा 'पयस्' शब्दों के व्यञ्जन-वाची होने के कारण "विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-

---

१. "नियमार्थमिदम्। एकवद्भावविशिष्टो यो द्वन्द्वो विकल्पेन प्राप्तः स विरुद्धवचनानां यदि भवति तदा अद्रव्यवाचिनामेवेति। तेन विरुद्धद्रव्यार्थानाम् इतरेतरयोग एव। शीतोष्णे उदके स्तः। अत्र विरुद्धत्वं परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं परम्परया जलस्योष्णत्वं, तद्द्वारको गुणद्वयविशिष्टजलयोर्विरोधः"। —व्या० सि० सु०, पृ० ११०६।

वाङ्मनसे । (९१९) अधिकरणैतावत्त्वे च २ । ४ । १५ ॥ द्रव्यसङ्ख्यावगमे एकव-

---

इति । ऋक् च साम चेति विग्रहः । 'अचतुर' इत्यादिनाऽच्समासान्तः । **वाङ्मनसे इति ।** वाक् च मनश्चेति विग्रहः पूर्ववत्समासान्तः । अत्र गणे ब्रह्मप्रजापती इत्यादि पठितम् । समाहारद्वन्द्व एवेति नियमप्रक्रमेऽपि नानेन नियमस्यैव निषेधः, ब्रह्मप्रजापती इत्यादौ नियमस्याप्राप्तेः । किन्त्वेकवत्त्वस्यैव । तथा च 'चार्थे' इति समाहारद्वन्द्वस्य निषेधः फलति ।

(९१९) अधिकरणैतावत्त्वे च । अधिकरणं द्रव्यं, तस्य एतावत्त्वमियत्ताविशेषः । तदाह—**द्रव्यसङ्ख्यावगमे इति ।** समस्यमानपदार्थस्येयत्ताविशेषे पदान्तरसमभिव्याहारगम्ये इत्यर्थः । **नियमो नेति ।** ब्रह्मप्रजापती इत्यादौ समाहार एव द्वन्द्व इति नियमस्य प्रकृतस्याप्रवृत्तेरेकवत्त्वनिषेधः पूर्वसूत्रे आश्रितः । इह तु बाधकाभावात्, प्रकृतस्य नियमस्यैव निषेध आश्रित इति भावः । **दश दन्तोष्ठा इति ।** दन्ताश्च ओष्ठाश्चेति विग्रहः । इतरेतरयोगद्वन्द्वोऽयम्, न तु समाहारद्वन्द्वः । समासार्थसमाहारविशेषणीभूतसमस्यमानपदार्थानां पदान्तरलभ्यदशत्वसापेक्षत्वेनासामर्थ्यात् । इतरेतरयोगद्वन्द्वस्तु भवत्येव, तत्र समस्यमानपदार्थानामेव प्रधानत्वात् 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति सूत्रभाष्ये प्रधानस्य सापेक्षत्वेऽपि समासाभ्युपगमात् । ततश्चात्रैकवदेवेति नियमाभावे सति असामर्थ्यात्समाहारत्वे निवृत्ते परिशेषादितरेतरयोगत्वमेवावतिष्ठते । यदि त्वेकवन्न स्यादित्येव व्याख्यायेत, तर्हि समाहारद्वन्द्वो नेत्यर्थः पर्यवस्येत् । तथा सति दश दन्तोष्ठाः इतीतरेतरयोग-

---

व्यञ्जन०" २-४-१२ सूत्र से प्राप्त एकवद्भाव का यह निषेधक है। 'गण' के अन्य शब्दों में भी पूर्व सूत्रों से एकवद्भाव प्राप्त होने पर यह बाधक (निषेध-सूत्र) है। **उदाहरण—(१) दधिपयसी** (दही और दूध—दधि च पयश्च)। यहाँ पर एकवद्भाव का निषेध होने से समाहार द्वन्द्व नहीं हुआ। अतः इतरेतर द्वन्द्व में द्वि-वचन हुआ। (२) इध्मावर्हिषी (हवन की लकड़ी और कुश—इध्मं च बर्हिश्च)। उपर्युक्त नियम से द्विवचन। निपातन होने के कारण 'इध्म' शब्द को दीर्घ। (३) **ऋक्सामे** (ऋग्वेद और सामवेद—ऋक् च साम च > ऋक्सामन् > ऋक्सामन्+अ (अच्—"अचतुर-विचतुर०" ५-४-७७)> ऋक्साम ('टि' लोप) > ऋक्साम+औ > ऋक्साम+ई (शी) > ऋक्सामे (गुण)। (४) **वाङ्मनसे**—(वाणी और मन) वाक् च मनश्च—यहाँ भी पूर्ववत् समासान्त 'अच्' प्रत्यय होकर प्रथमा द्विवचन में 'वाङ्मनसे'। गणपाठ में **ब्रह्मप्रजापती, मधुसर्पिषी, श्रद्धामेधे** आदि अन्य शब्द विद्यमान हैं।

(९१९) पद—अधिकरणैतावत्त्वे, च। **अनुवृत्ति**—न, द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेश-(निषेध)-सूत्र।**

मूलार्थ—मूर्तपदार्थगत संख्या की प्रतीति होने पर एकवद्भाव का नियम नहीं लगता। उदा० दश दन्तोष्ठाः।

विवरण—विशेष परिस्थिति में एकवद्भाव का निषेध किया जा रहा है। 'च' अव्यय पूर्वत्र प्रतिपादित निषेध की पुष्टि करता है। अतः "न दधि-पय-आदीनि" २-४-१४ से 'न' की अनुवृत्ति आरही है। शेष दो अनुवृत्तियाँ प्रासङ्गिक हैं। 'अधिकरण' शब्द द्रव्यवाची है। 'एतावत्त्व' का अर्थ इयत्ता अर्थात् परिमाण है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "मूर्त पदार्थ के परिमाण (एतावतः भावः एतावत्त्वम्) की उक्ति में द्वन्द्व समास को एकवद्भाव न हो"। **उदाहरण—दश दन्तोष्ठाः** (दस दाँत और होठ—दन्ताश्च ओष्ठाश्च)। समासप्रक्रिया पूर्ववत्। पदार्थ-गत दस का अधिकरण दन्तोष्ठ है। दन्तोष्ठों की इयत्ता दस संख्या से प्रकट हो रही है। इस प्रकार अधिकरण

देवेति नियमो न स्यात् । दश दन्तोष्ठाः । (९२०) विभाषा समीपे २ । ४ । १६ ॥ अधिकरणैतावत्त्वस्य सामीप्येन परिच्छेदे समाहार एव इत्येवंरूपो नियमो वा स्यात् । उपदशम् दन्तोष्ठम् । उपदशाः दन्तोष्ठाः । (९२१) आनङ्‌ऋतो द्वन्द्वे ६ । ३ । २५ ॥ विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनामृदन्तानां द्वन्द्वे आनङ् स्यादुत्तरपदे परे । होतापोतारौ । होतृ-

---

द्वन्द्वो न स्यात्, 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य' इति तन्निषेधात् । तथा च वाक्यमेव स्यात् । किञ्च समाहारद्वन्द्वनिषेधोऽयं व्यर्थ एव, उक्तरीत्या सापेक्षत्वेनासामर्थ्यादेवाप्राप्तेः । अत एक-वदिति नियमो न स्यादित्येव व्याख्येयम् । एवं च प्राण्यङ्गनिबन्धनस्य एकवदेव स्यादिति नियमस्य इतरेतरयोगद्वन्द्वनिवृत्तिफलकस्यानेन निषेधे सति इतरेतरयोगद्वन्द्वस्यावस्थितिः फलतीति पदमञ्जर्यां स्पष्टम् ।

(९२०) विभाषा समीपे । अधिकरणैतावत्त्वे इत्यनुवर्तते । समीपे इत्यस्य सामी-प्येन परिच्छिन्ने सतीत्यर्थः । फलितमाह—अधिकरणेति । उपदशं दन्तोष्ठमिति । दशानां समीपे इत्यर्थेऽव्ययीभावः उक्तरीत्याऽसामर्थ्येऽपि वचनसामर्थ्यात्समाहारद्वन्द्वः । समान-लिङ्गवचनत्वादव्ययीभावस्यैवानुप्रयोगः इति भाष्यम् । अत एवोपदशं दन्तोष्ठेनेत्यादि सिद्धम् । समीपसमीपिनोरभेदविवक्षायां सामानाधिकरण्यम् । नवत्वसङ्ख्यदन्तोष्ठसमूहः । एकादशत्वसङ्ख्यदन्तोष्ठसमूहः इति वा बोधः । उपदशा दन्तोष्ठा इति । इतरेतरयोग-द्वन्द्वोऽयम् । दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशा इति बहुव्रीहिः । नव एकादश वेत्यर्थः । बहुव्रीहेरेवात्रानुप्रयोगः समानलिङ्गवचनत्वात् इति भाष्यम् ।

(९२१) आनङ्‌ऋतो द्वन्द्वे । विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनामिति । विद्यासम्बन्धवाचिनां

की इयत्ता कही जा रही है । 'दन्तोष्ठ' प्राणियों का अवयव (अङ्ग) होने से "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य-सेनाङ्गानाम्" २-४-२ से एकवद्भाव प्राप्त था । उसका निषेध हो गया । अतः यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व हुआ । प्रकृत उदाहरण में समस्यमान पदार्थों के अवबोधन में 'दश' संख्या की अपेक्षा होने से समुदाय-रूप सामर्थ्य नहीं है ।

(९२०) पद—विभाषा, समीपे । अनुवृत्ति—अधिकरणैतावत्त्वे, द्वन्द्वः, एकवचनम् । अतिदेश-(विकल्प)-सूत्र ।

मूलार्थ—द्रव्य की इयत्ता का सामीप्य कथन होने पर एकवद्भाव का नियम विकल्प से होता है । उदा० उपदशं दन्तोष्ठम्—उपदशा दन्तोष्ठाः ।

विवरण—"मूर्त पदार्थ की इयत्ता की सूचक संख्या न्यूनाधिक रूप में हो तो समाहार द्वन्द्व ही हो—इस नियम की प्रवृत्ति विकल्प से होती है" । **उदाहरण**—समाहार द्वन्द्व→उपदशम्—**दन्तोष्ठम्**, इतरेतर-योग→उपदशाः दन्तोष्ठाः—(लगभग दस दाँत और होठ–दन्ताश्च ओष्ठाश्च । यहाँ दन्त और ओष्ठ की संख्या (इयत्ता) का सामीप्य 'उप' से विदित होता है । अतः प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक समाहार द्वन्द्व हुआ । पूर्व सूत्र से निषेध प्राप्त था, विकल्प हो गया ।

(९२१) पद—आनङ्, ऋतः, द्वन्द्वे । अनुवृत्ति—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—विद्या एवं रक्त-सम्बन्धवाचक ऋकारान्त शब्दों के द्वन्द्व में उत्तरपद पर रहते 'आनङ्' आदेश होता है । उदा० १—होतापोतारौ । २—होतृपोतृनेष्टोद्गातारः । ३—मातापितरौ । यहाँ "पुत्रेऽन्यतरस्याम्" सू० ९८० से 'पुत्रे' पद की अनुवृत्ति करने पर 'पितापुत्रौ' ।

विवरण—द्वन्द्व-समास-सम्बन्धी अन्य उपयोगी विधानों का निर्देश किया जा रहा है । प्रकृत

पोतृनेष्टोद्गातारः । मातापितरौ । 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (सू ९८०) इत्यतो मण्डूकप्लुत्या

योनिम्बन्धवाचिनां चेत्यर्थः । 'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । ऋदन्तानामिति । बहुत्वे व्यत्ययेन 'ऋतः' इत्येकवचनम् । ऋदन्तसर्वावयवकानामित्यर्थः । ऋत इत्यनुवर्तमाने पुनः ऋतः इत्युक्तिः एतदर्थेति भावः । **उत्तरपदे परे इति ।** 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकारादिति भावः । **होतापोताराविति ।** होता च पोता चेति विग्रहः । विद्याद्वारकैकयज्ञर्त्विक्त्वकृतः सम्बन्धः । आनङि ङकार इत्, अकार उच्चारणार्थः, ङिच्च' इत्यन्तादेशः, नलोपः, नकारस्तु रपरत्वनिवृत्यर्थं इति भाष्ये स्पष्टम् । **होतृपोत्रिति ।** अत्र होतृशब्दस्य पोतृशब्दस्य च नानङ्, नेष्टृशब्देन व्यवधानात् उत्तरपदपरकत्वाभावात् । तथा च नेष्टृशब्दस्यैवानङ् । उत्तरपदेन तु न पूर्वपदमाक्षिप्यते, समर्थसूत्रे नेष्टृशब्दस्याऽऽनङ्दर्शनात् । अथ योनिसम्बन्धमुदाहरति—**मातापितराविति ।** पितृपितामहावित्यादौ तु नानङ्, ऋदन्तसर्वावयवकत्वाभावादिति भावः । तर्हि पितापुत्राविति कथमित्यत आह—**पुत्रेऽन्यतरस्यामिति ।** 'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' इत्यत्र 'विभाषा स्वसृपत्योः' इत्यत्र च मध्येऽसम्बन्धादाह—**मण्डूकेति । अनुवृत्तेरिति ।** वाक्यभेदेन व्याख्यानात् ।

सूत्र 'आनङ्' आदेश का विधायक है। ऋकारान्त शब्दों की विशेषता को बतलाने के लिये "ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः" ६-३-२२ पूरे सूत्र की अनुवृत्ति आ रही। इसके साथ ही "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। 'ऋतः' पद षष्ठी के बहुवचन अर्थ में प्रथमा के एकवचन में प्रयुक्त हुआ है। तदनुसार "विद्यासम्बन्धी एवं रक्तसम्बन्ध-वाची ह्रस्व ऋकारान्त शब्दों के द्वन्द्व समास में उत्तरपद परे रहते 'आनङ्' आदेश होगा"। 'ङ' इत्संज्ञक होने के कारण 'आनङ्' आदेश अन्त्य 'अल्' के स्थान पर होगा—"ङिच्च" १-१-५१। **उदाहरण—** (१) विद्यासम्बन्धी—**होतापोतारौ** (होता और ऋत्विक्—होता च पोता च। होतृ+सु, पोतृ+सु > होतृ-पोतृ > होतान् -पोतृ+औ > (ऋ=आन्) > होता-पोतृ+औ ('न्' लोप) > होता-पोतर्+औ (ऋ = अर्—गुण) > **होतापोतारौ** ('पोत' सम्बन्धी 'अ'कार को दीर्घ—"अप्-तृन्-तृच्०" ६-४-११)। (२) ख-**होतृपोतृनेष्टोद्गातारः** (होता, पोता, ऋत्विक् तथा उद्गाता—होता च, पोता च, नेष्टा च, उद्गाता च)। केवल उत्तरपदस्थ उद्गातृ से पूर्व 'नेष्टृ' शब्द को 'आनङ्'। इतरेतर द्वन्द्व में अवयवगत संख्या के उद्भूत होने से बहुवचन। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। (२) रक्तसम्बन्धी—**मातापितरौ** (माता और पिता—माता च पिता च)। 'मातृ' शब्दावयव 'ऋ' के स्थान में आनङ्। समास-प्रक्रिया पूर्ववत्।

विशेष—पितापुत्रौ शब्द में—द्वन्द्व (पिता च पुत्रश्च) समास होने पर "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" ६-३-२५ से 'आनङ्' की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उक्त सूत्र से ह्रस्व ऋकारान्तों का ह्रस्व ऋकारान्त शब्दों के साथ द्वन्द्व समास होने पर ही 'आनङ्' आदेश होता है। इसलिये 'पितृपितामहौ' में आनङ् नहीं होता। इसके समाधान के लिये विशेष आयाम किया जा रहा है। वह यह कि "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" ६-३-२५ सूत्र में "पुत्रेऽन्यतरस्याम्" ६-३-२२ से मण्डूक-प्लुति द्वारा 'पुत्रे' पद की अनुवृत्ति करने से उसके परवर्ती होने पर भी पूर्वपद को 'आनङ्' की सम्भावना की जाती है। यद्यपि अष्टाध्यायीक्रम में "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" ६-३-२५ तथा "पुत्रेऽन्यतरस्याम्" ६-३-२२ के मध्य में—"ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः" ६-३-२३ तथा "विभाषा स्वसृपत्योः०" ६-३-२४—ये दो सूत्र विद्यमान हैं, तथापि मण्डूकप्लुति के बिना कोई दूसरा उपाय सम्भव नहीं है। इसके फलस्वरूप मध्यवर्ती दोनों सूत्रों में 'पुत्र' की अनुवृत्ति नहीं ली जाती।

'पुत्रे' इत्यनुवृत्तेः। पितापुत्रौ। (९२२) देवताद्वन्द्वे च ६।३।२६॥ इहोत्तरपदे परे आनङ्। मित्रावरुणौ। 'वायुशब्दप्रयोगे प्रतिषेधः' (वा ३९०७)। अग्निवायू—वाय्वग्नी। पुनर्द्वन्द्वग्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिग्रहार्थम्। तेन ब्रह्मप्रजापती इत्यादौ नानङ्। एतद्धि नैकहविर्भागित्वेन श्रुतम्, नापि लोके प्रसिद्धं साहचर्यम्। (९२३) ईदग्नेः सोमवरुणयोः ६।३।२७॥ देवताद्वन्द्वे इत्येव। (९२४) अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः

---

(९२२) देवताद्वन्द्वे च। मित्रावरुणाविति। इह ऋदन्तत्वाभावात् पूर्वेणाप्राप्ते विधिरयम्। वायुशब्देति। वायुशब्दस्य पूर्वपदत्वेनोत्तरपदत्वेन वा प्रयोगे सत्यानङ् प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः। ननु पूर्वसूत्रात् द्वन्द्वग्रहणे अनुवर्तमाने पुनः द्वन्द्वग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—पुनरिति। निर्वापादौ प्रसिद्धसाहित्यकदेवतावाचकशब्दग्रहणार्थमित्यर्थः। तेनेति। प्रसिद्धसाहचर्यग्रहणेनेत्यर्थः। एतदिति। एतत् ब्रह्मप्रजापतियुगलं हविर्भागित्वेन न वेदे प्रसिद्धमित्यर्थः। नापि लोके इति। प्रौढिवादमात्रमेवेदम्, वेदे ये सहनिर्वापनिर्दिष्टाः इत्येव भाष्ये दर्शनात्, लोकाप्रसिद्धसाहचर्यग्रहणे पार्वतीपरमेश्वरावित्यादावतिप्रसङ्गाच्च।

(९२३) ईदग्नेः। इत्येवेति। देवताद्वन्द्वे इत्यनुवर्तत एवेत्यर्थः। सोमशब्दे वरुणशब्दे च उत्तरपदे परे अग्नेरीदादेशः स्यात् देवताद्वन्द्वे इत्यर्थः। आनङोऽपवादः।

---

(९२२) पद—देवताद्वन्द्वे, च। अनुवृत्ति—आनङ्, उत्तरपदे। विधिसूत्र।

मूलार्थ—देवताद्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते 'आनङ्' हो। उदा० मित्रावरुणौ। वा० वायुशब्द के प्रयोग में इसका प्रतिषेध है। उदा० अग्निवायू—वाय्वग्नी। (सूत्र में) पुनः 'द्वन्द्व' पद का निवेश प्रसिद्ध देवता-साहचर्य का ग्राहक हैं। अतः ब्रह्म-प्रजापती में आनङ् नहीं हुआ। लोक और वेद में न तो इनका साहचर्य प्रसिद्ध है, न इन दोनों के एक साथ हविष् देने का विधान है।

विवरण—"देवता-वाची शब्दों के द्वन्द्व समास में भी उत्तरपद परे रहते पूर्व पद को 'आनङ्' होता है"। ऋदन्त न होने के कारण पूर्व सूत्र (९२१) से 'आनङ्' सम्भव नहीं था, अतः स्वतन्त्र विधान है। **उदाहरण—मित्रावरुणौ** (मित्र अर्थात् सूर्य और वरुण—मित्रश्च वरुणश्च)। 'मित्र' के अन्त्य अकार को आनङ्। शेष कार्य पूर्ववत्।

वार्तिक—"'वायु' शब्द के पूर्वपद अथवा उत्तरपद रहने पर 'आनङ्' नहीं होता है। अतः अग्नि-वायू (अग्नि और वायु—अग्निश्च वायुश्च) एवम् **वाय्वग्नी** (वायुश्च अग्निश्च) में द्वन्द्व समास होने पर आनङ् नहीं हुआ। "द्वन्द्वे घि" (सू० ९०३) से किसी भी 'घि'संज्ञक शब्द की पूर्व स्थिति हो सकती है।

विशेष—पूर्व सूत्र "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" ६-३-२५ से द्वन्द्व की अनुवृत्ति करने पर देवता-द्वन्द्व में 'आनङ्' सम्भव था। पुनः 'द्वन्द्व' ग्रहण करने का यह प्रयोजन है कि उन्हीं देवताओं के द्वन्द्व समास में 'आनङ्' अनिवार्य है, जिनका साहचर्य वेद तथा लोक में सर्वविदित हो। इसके फलस्वरूप **ब्रह्मप्रजापती** (ब्रह्मा और प्रजापति—ब्रह्मा च प्रजापतिश्च) में 'ब्रह्म' के अन्त्य 'अ'कार को आनङ् नहीं हुआ, क्योंकि ब्रह्मा और प्रजापति का लोक में या वेद में एक हविष् का उपभोग-रूप साहचर्य प्रसिद्ध नहीं है[1]।

(९२३) पद—ईत्, अग्नेः, सोमवरुणयोः। अनुवृत्ति—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे। विधिसूत्र।

मूलार्थ—(यह विधान) देवता-द्वन्द्व में ही (होता है)।

---

१. "'द्वन्द्व' इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्। लोकवेदयोर्यो द्वन्द्वः तत्र यथा स्यात्। कश्च लोकवेदयोर्द्वन्द्वः? वेदे ये सहनिर्वापनिर्दिष्टाः। न चैते वेदे सहनिर्वापनिर्दिष्टाः।"

—महाभाष्यम् ६-३-२६।

८।३।८२॥ अग्नेः परेषामेषां सस्य षः स्यात्समासे। अग्निष्टुत्। अग्निष्टोमः।

---

(९२४) अग्नेः स्तुत्। स्तुत्, स्तोम, सोम इति द्वन्द्वात् षष्ठ्यर्थे प्रथमा। 'सहेः साडः सः' इत्यतः स इति षष्ठ्येकवचनान्तमनुवर्तते। अग्नेरिति पञ्चमी। 'समासेऽङ्गुलेः' इत्यतः समासे इत्यनुवर्तते। तदाह—अग्नेः परेषामिति। षः स्यादिति। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यनुवृत्तेरिति भावः। 'सात्पदाद्योः' इति षत्वनिषेधापवादोऽयम्। अग्निष्टुदिति। क्रतुविशेषोऽयम्। अग्निष्टोम इति। स्तोत्रविशेषस्य संस्थाविशेषस्य च

विवरण—अनुवर्तमान पदों के साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता होने पर सूत्र से यह ध्वनित होता है कि "देवतावाची द्वन्द्व-समास में सोम और वरुण शब्द उत्तर पद रहते 'अग्नि' शब्द को दीर्घ ईकार आदेश हो"। "अलोऽन्त्यस्य" १-१-५२ के सहकार से अन्त्य 'अल्' के स्थान पर ईकार आदेश होगा। उदाहरण आगे के सूत्र में दिया जायगा।

(९२४) **पद**—अग्नेः, स्तुत-स्तोम-सोमाः। **अनुवृत्ति**—समासे, सः, नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—समास में अग्नि शब्द से पर इनके सकार को (मूर्धन्य) षकार हो। उदा० क—अग्निष्टुत्। ख—अग्निष्टोमः। ("ईदग्नेः०" के) १—अग्नीषोमौ। २—'अग्नीवरुणौ।

विवरण—प्रसङ्गवश 'षत्व' प्रकरण का यह सूत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। 'षत्व' प्रकरण अष्टाध्यायी के अष्टम अध्याय में है। तदनुसार इस सूत्र में "तयोर्य्वावचि संहितायाम्" ८-२-१०८ सूत्र से 'संहितायाम्', "समासेऽङ्गुलेः सङ्गः" ८-३-८० से समासे, "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" ८-३-५५ पूरा सूत्र, "सहेः साडः सः" ८-३-५६ से षठ्यन्त 'सः', तथा "नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि" ८-३-५८ सम्पूर्ण सूत्र—इन सबकी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। 'अग्नेः' पद पञ्चमी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है, अतः उससे अव्यवहित 'पर' स्तुत् आदि शब्द अपेक्षित होंगे। सूत्रस्थ 'स्तुत-स्तोम-सोमाः' प्रथमान्त पद षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "अग्नि शब्द से उत्तरवर्ती स्तुत्, स्तोम तथा सोम के सकार को समास में मूर्धन्य षकार आदेश हो"। **उदाहरण**—(क) **अग्निष्टुत्** (एक यज्ञ का नाम) अग्निः स्तूयते अत्र—इस विग्रह में अग्नि+स्तु+क्विप् > अग्निस्तु ('क्विप्' का सर्वापहार लोप, ष्=स्—"धात्वादेः षः सः" ६-१-६४)—अग्निस्तुत् ('तुक्' आगम तथा उपपद-समास) > अग्निष्टुत् (प्रकृत सूत्र से स्=ष्)। (ख) **अग्निष्टोमः** (स्तोत्र विशेष) अग्नेः स्तोमः > अग्निस्तोमः (षष्ठी-तत्पुरुष) > अग्निष्-तोमः (स्=ष्—प्रकृत सूत्र से) > अग्निष्टोमः (त्=ट्-ष्टुत्व। प्रथमा एकवचन का रूप)। (१) **अग्नीषोमौ** (यज्ञ विशेष—अग्निश्च, सोमश्च) > अग्निसोम (द्वन्द्व समास) > अग्नीसोम (इ=ईत्—"ईदग्नेः सोमवरुणयोः" सू० ९२३) > अग्नीषोमौ (प्रकृत सूत्र से स्=ष्, प्रथमा द्विवचन में रूप)। (४) **अग्नीवरुणौ** (अग्नि और वरुण—अग्निश्च वरुणश्च > अग्निवरुण (द्वन्द्व समास) > अग्नीवरुण (इ=ई—"ईदग्नेः सोमवरुणयोः" सू० ९२३) > अग्नीवरुणौ (प्रथमा द्विवचन)।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र से देवता-द्वन्द्व में षत्व विधान किया गया है। अतः किसी व्यक्ति का नाम 'अग्नि' तथा दूसरे व्यक्ति का नाम 'सोम' हो तो उनके द्वन्द्व समास में 'षत्व' तथा 'इ' को दीर्घ ईकार (ईत्) नहीं होगा। **अग्नि-सोमौ** रूप बनेगा। इस सन्दर्भ में 'अग्नेर्दीर्घात् सोमस्य इष्यते'—यह वार्तिक प्रमाण-स्वरूप माना है।

(२) उपर्युक्त चारों उदाहरणों में "सात्पदाद्योः" ८-३-१११ से पदादिलक्षण षत्व-निषेध सर्वत्र प्राप्त था, पृथक् विधान करने से यह षत्व उसका अपवाद है। (क) अग्नि+ष्टु+क्विप् > अग्निस्तुत् (ष्=स्—"धात्वादेः षः सः" ६-१-६४ तथा 'तुक्' आगम "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्"

अग्नीषोमौ । अग्नीवरुणौ । (९२५) इद्वृद्धौ ६ । ३ । २८ ॥ वृद्धिमत्युत्तरपदे अग्ने-रिदादेशः स्याद्देवताद्वन्द्वे । अग्नामरुतौ देवते अस्य आग्निमारुतं कर्म । अग्नीवरुणौ देवते अस्य आग्निवारुणम् । 'देवताद्वन्द्वे च' (सू १२३९) इत्युभयपदवृद्धिः । अलौकिके

नाम । अग्नीषोमाविति । अग्निश्च सोमश्चेति विग्रहः । ईत्त्वषत्वे । अग्नीवरुणाविति । अग्निश्च वरुणश्चेति विग्रहः, ईत्त्वम् । देवताद्वन्द्वे किम् ? अग्निर्नाम कश्चित्, सोमो नाम कश्चित् । अग्निसोमौ । अदेवताद्वन्द्वत्वादीत्त्वं न । अत एव च न षत्वम्, अग्नेर्दीर्घात् सोमस्य इष्यते' इति वार्तिकात् ।

(९२५) इद्वृद्धौ । अग्नेरिति देवताद्वन्द्वे इति चानुवर्तते । वृद्धिशब्देन वृद्धि-मल्लक्ष्यते, देवताद्वन्द्वे केवलवृद्धिरूपोत्तरपदासम्भवात् । तदाह—वृद्धिमतीति । इदिति तकार उच्चारणार्थः । प्रयोजनाभावान्नेत्संज्ञा । नापि तपरकरणम्, विधीयमानत्वा-देव सवर्णाग्राहकत्वम् । अग्नामरुताविति । अग्निश्च मरुच्चेति विग्रहः । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् । आग्निमारुतं कर्मेति । 'साऽस्य देवता' इत्यण् । तद्धितान्तप्रादिपदिकावयव-त्वात् सुपो लुक् । अग्नीवरुणाविति । 'ईदग्नेः' इतीत्त्वम् । आग्निवारुणमिति । 'साऽस्य देवता' इत्यण् । ननु 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादेरचो वृद्धिविधानात् कथमुत्तरपदस्यादि-वृद्धिरित्यत आह—देवताद्वन्द्वे चेत्युभयपदवृद्धिरिति । नन्वग्नेरिकारस्य इकारविधिर्व्यर्थ इत्यत आह—आनङमीत्वं च बाधित्वेति । आग्निमारुतमित्यत्रानङः, आग्निवारुणमित्यत्र

६-१-७१, प्रकृत सूत्र से षत्व, प्रथमा एकवचन में विभक्ति लोप)। (ख) अग्नि—स्तु+मन् "अर्ति-स्तु-सु-हु-सृ-भिक्षु-भा-या-वा-पदि-यक्षि-नीभ्यो मन्" (उणादि १४५)। (३) अग्नि-षु (सु) +मन् (उणादि)। इस प्रकार इन तीनों शब्दों में 'पद' के आदि में 'स्' होने से मूर्धन्य ष-कार का निषेध सात्पदाद्योः" ८-३-११ से प्राप्त रहा।

(९२५) पद—इत्, वृद्धौ । अनुवृत्ति—अग्नेः, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—देवता द्वन्द्व में उत्तरपद को वृद्धि होने पर 'अग्नि' शब्द को ह्रस्व इकार आदेश हो । उदा० १—अग्नि-मरुतौ देवते अस्य > आग्निमारुतं कर्म । २—अग्नीवरुणौ देवते अस्य > आग्निवारुणम् । "देवताद्वन्द्वे च" (सू० १२३९) से उभयपद-वृद्धि हुई है । अलौकिक विग्रह-वाक्य में 'आनङ्' और 'ईकार' को बाध कर 'इ' (इत्) आदेश होता है। 'वृद्धौ' क्यों कहा ? आग्नेन्द्रः । "नेन्द्रस्य परस्य" (सू० १२४०) सूत्र से उत्तर-पद-वृद्धि का निषेध हो जाता है। वा० 'विष्णु' शब्द परे रहते (यह आदेश) नहीं होता । उदा० आग्नावैष्णवम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र "ईदग्नेः सोमवरुणयोः' ६-३-२७ से 'अग्नेः' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । देवताद्वन्द्व का प्रकरण है। 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति भी प्रभावी है। आदेश-वाची पद 'इत्'—सूत्र में निर्दिष्ट है। स्थानी 'अग्नि' शब्द अनुवृत्तिलभ्य है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "देवता-द्वन्द्व में उत्तरपदस्थ शब्द यदि वृद्धि किया हुआ हो तो पूर्व-पदस्थ 'अग्नि' शब्द को 'ह्रस्व' इकार (इत्) अन्तादेश ("अलोऽन्त्यस्य" १-१-५२ के आधार पर) हो। उदाहरण—(१) आग्निमारुतं कर्म (जिस कर्म के अधिष्ठाता अग्निदेव तथा मरुत् हों—अग्निश्च मरुत् च > अग्नामरुतौ (द्वन्द्व समास तथा 'इ' के स्थान पर आनङ् अन्तादेश—"देवताद्वन्द्वे च" (सू० ९२२), 'न्' लोप, प्रथमा द्विवचन । तदनन्तर 'अग्नामरुतौ देवते अस्य' इस अर्थ में "साऽस्य देवता" (४-२-२४) सूत्र से अण्—अग्नामरुत्+औ+अण्>अग्नामरुत्+अ ("सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः" २-४-७१-विभक्ति लोप) > आग्नामारुत (उभयपदवृद्धि—"देवताद्वन्द्व च" ७-३-२१)>आग्निमारुत (उत्तरपदस्थ शब्द की वृद्धि होने के कारण "इद्वृद्धौ"

विग्रहवाक्ये आनङमीत्वं च बाधित्वा इत् । वृद्धौ किम् ? आग्नेन्द्रः । नेन्द्रस्य परस्य (सू १२४०) इत्युत्तरपदवृद्धिप्रतिषेधः । 'विष्णौ न' (वा ३९०९) । आग्नावैष्णवम् ।

ईत्वस्य च बाधनार्थमग्नेरिकारस्य पुनरिकारविधानमित्यर्थः । ननु 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्यत्र परिनिष्ठितात् तद्धितोत्पत्तिरिति वक्ष्यते । तथा च अग्नामरुतौ देवते अस्येति, अग्नीवरुणौ देवते अस्येति च विग्रह अग्नामरुच्छब्दात् अग्नीवरुणशब्दाच्च आनङीत्वाभ्यां परिनिष्ठितात् देवताद्वन्द्वात् 'साऽस्य देवता' इत्यण् तद्धितः उत्पद्यते । ततस्तन्निमित्तकोभय-पदवृद्धिः । ततः 'इद्वृद्धौ' इत्यस्य प्रवृत्तिरिति क्रमः । ततश्च तद्धितोत्पत्तेः प्रागेव प्रवृत्त-योरानङीत्वयोः कथम् 'इद्वृद्धौ' इत्यनेन बाधः ? युगपत्प्रवृत्तावेव बाध्यबाधकभावाभ्यु-पगमात् । उक्तं च भाष्ये—'भुक्तवन्तं प्रति मा भुङ्क्था इत्युक्ते, किं तेन कृतं स्यात्' इति । अत आह—अलौकिके विग्रहवाक्ये इति । अग्नि मरुत् औ देवते अस्येति, अग्नि-वरुण औ देवते अस्येति च तद्धितालौकिकविग्रहवाक्ये आनङीत्वे प्रवर्तमाने बाधित्वा इद्विधिः प्रवर्तत इत्यर्थः । यद्यपि तदानीम् उत्तरपदस्य वृद्धिमत्त्वं नास्ति, तद्धिताभावात् । तथाप्युत्तरपदस्य भाव्येव वृद्धिमत्त्वमिह विवक्षितमिति भावः । आग्नेन्द्र इति । अग्निश्च इन्द्रश्च अग्नेन्द्रौ । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्, आद्गुणः । अग्नेन्द्रौ देवते यस्येत्याग्नेन्द्रः । 'साऽस्य देवता' इत्यण्, आदिवृद्धिः । अत्रेन्द्रशब्दस्योत्तरपदस्य वृद्धिमत्त्वाभावात् 'इद्वृद्धौ' इति नेति भावः । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपदवृद्धिमाशङ्क्याह—नेन्द्रस्येति । विष्णौ

६-३-२८ से 'ग्ना' के आकार को 'इत्' अन्तादेश) > **आग्निमारुतम्** (प्रथमा एकवचन नपुंसक लिङ्ग) । इसी प्रकार (२) **आग्निवारुणम्** (जिस कर्म के अधिष्ठाता अग्नि-देव तथा वरुण हों) **विग्रह**—अग्नीवरुणौ देवते यस्य ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'वृद्धि' पद का निवेश न होने पर 'इन्द्र' को वृद्धि न होने से 'आग्नेन्द्रः' में 'अग्नि' शब्द को इकार हो जाता । वह न हो । वहाँ पर "देवताद्वन्द्वे च" ७-३-२१ से प्राप्त वृद्धि का "नेन्द्रस्य परस्य" ७-३-२२ से निषेध हुआ है । प्रक्रिया इस प्रकार है । पूर्व स्थिति—अग्निश्च इन्द्रश्च—अग्नेन्द्रौ→अग्नि-इन्द्र (द्वन्द्व समास) > अग्नान् -इन्द्र (आनङ्) >अग्ना-इन्द्र ('न्' लोप) > अग्नेन्द्र (गुण सन्धि) > अग्नेन्द्रौ (पुनः विभक्ति, प्रथमा द्विवचन) । दूसरी स्थिति—अग्नेन्द्रौ देवते अस्य-विग्रह में "साऽस्य देवता" ४-२-२४ से 'अण्'—अग्नेन्द्र+अ > आग्नेन्द्र+अ (उभयपद वृद्धि का निषेध होने से आदि वृद्धि—अ=आ) > आग्नेन्द्र ('अ' लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > **आग्नेन्द्रः** (प्रथमा एकवचन) ।

वार्तिक—देवता-द्वन्द्व में 'विष्णु' पद के उत्तरत्र होने पर पूर्व पद में विद्यमान अग्नि शब्द के 'इ' के स्थान पर 'इ' आदेश नहीं होता । इसके फलस्वरूप **आग्नावैष्णवम्** में 'इ' कार नहीं हुआ । **प्रक्रिया**—अग्निश्च विष्णुश्च > अग्ना-विष्णू । अनन्तर **विग्रह**—अग्नाविष्णू देवते अस्य । अग्नाविष्णु+अण् > आग्नावैष्णु+अ (दोनों पदों को वृद्धि—"देवताद्वन्द्वे च" ७-३-२१) > आग्नावैष्णो+अ (उ=ओ "ओर्गुणः" ६-४-१४६) > आग्नावैष्णव (ओ=अव्) > आग्ना-वैष्णवम् (प्रथमा एकवचन) । यहाँ पर उत्तरपदस्थ 'विष्णु' पद को वृद्धि होने के कारण "इद्-वृद्धौ" ६-३-२८ से प्राप्त 'इ' आदेश नहीं हुआ ।

विशेष—"इद्वृद्धौ" ६-३-२८ सूत्र में आदेशरूप 'इत्' पद में तकार केवल उच्चारणार्थक है । कोई दूसरा प्रयोजन न होने के कारण उसकी इत्-संज्ञा भी नहीं होती । वस्तुतः ह्रस्व इकार होने के लिये यहाँ तपर करना आवश्यक नहीं है । साक्षात् 'इ'कार का विधान किये जाने के फल-स्वरूप वह सवर्णों का ग्राहक नहीं होगा, अतः दीर्घ ईकार आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

(९२६) दिवो द्यावा ६ । ३ । २९ ॥ देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे । द्यावाभूमी । द्यावाक्षामे ।
(९२७) दिवसश्च पृथिव्याम् ६ । ३ । ३० ॥ दिवः इत्येव, चाद्द्यावा । आदेशेऽकारोच्चारणं सकारस्य रुत्वं माभूदित्येतदर्थम् । द्यौश्च पृथिवी च दिवस्पृथिव्यौ—द्यावापृथिव्यौ ।

नेति । विष्णुशब्दे परे अग्नेरिकारो नेति वक्तव्यमित्यर्थः । आग्नावैष्णवमिति । अग्निश्च विष्णुश्च अग्नाविष्णू । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् । अग्नाविष्णूदेवते अस्येत्यर्थे 'साऽस्य देवता' इत्यण् । आग्नावैष्णवं हविः । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपदवृद्धिः । इत्त्वाभावादानङेव ।

(९२६) दिवो द्यावा । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**देवताद्वन्द्वे इति । द्यावाभूमी इति ।** द्यौश्च भूमिश्चेति विग्रहः । **द्यावाक्षामे इति ।** 'द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति' इति ऋचि पठितमिदम् । द्यावापृथिव्योरित्यर्थः । द्यौश्च क्षामा चेति विग्रहः । क्षामाशब्दो भूमिपर्यायः वेदे । तत्र द्वन्द्वे दिवो द्यावादेशः । षष्ठ्यास्तु 'सुपां सुलुक्' इति डादेशः, 'देवताद्वन्द्वे च' इति पूर्वोत्तरपदयोः प्रकृतिस्वरे इति वेदभाष्ये स्पष्टम् ।

(९२७) दिवसश्च पृथिव्याम् । दिव इत्येवेति । दिव इत्यनुवर्तत एवेत्यर्थः । स्वरितत्वादिति भावः । तर्हि चकारो व्यर्थ इत्यत आह—**चादिति ।** तथा च दिव्शब्दस्य दिवसादेशः द्यावादेशश्च स्यात् पृथिवीशब्दे उत्तरपदे परे देवताद्वन्द्वे इत्यर्थः । दिवस्पृथिव्याः इत्यत्र सकारादकारस्यश्रवणाद्दिवसादेशस्य सकारान्तत्वावश्यम्भावात् आदेशे सकारादकारोच्चारणस्य किं प्रयोजनमित्यत आह—**आदेशेऽकारोच्चारणमिति ।** सामर्थ्यात्

---

(२) प्रकृत सूत्र से 'इकार' के स्थान पर 'इ'कार के विधान का क्या प्रयोजन है ? स्थानी और आदेश के समान रूप होने से शब्द-रूप में कोई परिवर्तन तो होता नहीं—अतः सूत्र की क्या उपयोगिता है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि 'आग्निमारुतम्' में प्राप्त 'आनङ्' तथा 'आग्निवारुणम्' में प्राप्त 'ईत्व' को बाध करने में उसकी उपयोगिता है ।

(९२६) पद—दिवः, द्यावा । **अनुवृत्ति**—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—देवताद्वन्द्व उत्तरपद रहते (दिव्' के स्थान पर 'द्यावा' आदेश हो)। उदा० १—द्यावाभूमी । २—द्यावाक्षमे ।

विवरण—देवताद्वन्द्व का ही प्रकरण है। 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति होने के कारण दो देवतावाची शब्दो में से पूर्ववर्ती 'दिव्' शब्द के स्थानपर 'द्यावा' आदेश हो" । (१) **उदाहरण-द्यावाभूमी** (आकाश तथा पृथ्वी, विग्रह—द्यौश्च भूमिश्च । समासादि कार्य पूर्ववत् । प्रकृत सूत्र से "अनेकाल्शित् सर्वस्य" (१-१-५४) के आधार पर सम्पूर्ण 'दिव्' के स्थान पर 'द्यावा' आदेश । प्रथमा द्विवचन में द्यावाभूमी । (२) **द्यावाक्षमे** (आकाश तथा पृथ्वी) विग्रह—द्यौश्च क्षामा च । समासादि कार्य पूर्ववत् । 'दिव्' के स्थान पर द्यावा आदेश । वेद में 'क्षामा' शब्द भूमि-पर्यायवाची है ।

(९२७) पद—दिवसः, च, पृथिव्याम् । **अनुवृत्ति**—दिवो द्यावा, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'दिव्' के स्थान में ही 'दिवस' तथा 'द्यावा' आदेश हों । आदेश में अकार का उच्चारण 'स्' को 'रु' न होने के लिये है । उदा० द्यौश्च पृथिवी च > दिवस्पृथिव्यौ—द्यावापृथिव्यौ । वेद में (प्रयुक्त शब्द) यथानुरूप समीचीन माने जाते हैं। जैसे—(क) 'द्यावाचिदस्मै पृथिवी' । (ख) पद-पाठ करने वाले 'दिवस्पृथिव्योररतिः' में विसर्ग पढ़ते हैं ।

विवरण—'दिव्' शब्द से 'पृथिवी' शब्द उत्तर-पद रहते देवताद्वन्द्व में 'दिवस' आदेश होता

'छन्दसि दृष्टानुविधिः'। 'द्यावा चिदस्मै पृथिवी'। 'दिवस्पृथिव्योररतिः' इत्यत्र पदकाराः विसर्गं पठन्ति। (९२८) उषासोषसः ६।३।३१॥ उषश्शब्दस्योषासादेशो देवताद्वन्द्वे। उषासासूर्यम्। (९२९) मातरपितरावुदीचाम् ६।३।३२॥ मातर-

---

'ससजुषो रुः' इति रुत्वं नेति भावः। ननु 'द्यावा चिदस्मै पृथिवी संनमेते' इत्यत्र दिव्-शब्दपृथिवीशब्दयोः कथं द्वन्द्वः? कथं वा दिवो द्यावादेशः? उत्तरपदस्य चिदस्मै इत्यनेन व्यवहितत्वादित्यत आह—छन्दसि दृष्टानुविधिरिति। भाष्यवाक्यमेतत्। वेदे दृष्टानुसरणमित्यर्थः। यथा दृष्टं तथा प्रक्रिया कल्पनीयेति भावः। पदकारा इति। 'दिवस्पृथिव्योः' इत्यवग्रहे विसर्गं पठन्तीत्यर्थः। पदकारा इत्यनेन पदपाठस्याधुनिकत्वं सूचितम्। तथा च विसर्गपाठः प्रामादिक इति सूचितम्, अकारोच्चारणेन रुत्वनिवृत्तेरुक्तत्वात्।

(९२८) उषासोषसः। उषासासूर्यमिति। उषाश्च सूर्यश्चेति समाहारद्वन्द्वः।

(९२९) मातरपितरावुदीचाम्। उदीचां मते मातरपितराविति भवतीत्यर्थः।

है"। सूत्र में निर्दिष्ट 'च' पद पूर्वसूत्र में आदिष्ट 'द्यावा' पद को भी आदेश के रूप में खींच लेता है। इस प्रकार दोनों आदेश होंगे। वस्तुतः आदेश तो सकारान्त (दिवस्) ही होता है। तथापि सूत्रस्थ 'दिवस' आदेश में अकार का उच्चारण इसलिये किया गया है कि अकार के उच्चारण-सामर्थ्य से 'दिवस्' के 'स' को 'रु' ("ससजुषो रुः" ८-२-६६) नहीं होता। यहाँ भी आनङ् प्राप्त था, किन्तु यह आदेश उसका बाधक है। **उदाहरण**—(क) दिवस्पृथिव्यौ—(ख) **द्यावापृथिव्यौ** (आकाश तथा पृथिवी), विग्रह—द्यौश्च पृथिवी च। समासादि कार्य पूर्ववत्। प्रकृत सूत्र से (क) में दिव् = दिवस् तथा (ख) में द्यावा आदेश। प्रथमा द्विवचन।

शङ्का-समाधान—'द्यावा चिदस्मै पृथिवी संनमेते' इस मन्त्र में 'द्यावा' तथा 'पृथिवी' के मध्य 'चिदस्मै' पद के व्यवहित होनेसे 'द्वन्द्व' की सम्भावना किस प्रकार होगी? तथा 'द्वन्द्व' न होने पर 'द्यावा' आदेश कैसे होगा? इसका समाधान भाष्यकार पतञ्जलि ने यह दिया है कि वेद में प्रयुक्त पदों की साधुता के लिये तदनुकूल प्रक्रिया की कल्पना करनी होगी। उन प्रयोगों के अनुसार निपातन की व्यवस्था की जाती है।

इसके साथ ही दूसरी शंका यह की जाती है पक मन्त्र के अंश दिवस्पृथिव्योररतिः में पदपाठकर्ता 'दिवस्' के स्थान पर 'दिवः' इस प्रकार विसर्गान्त पाठ करते हैं। तब तो सूत्रस्थ 'दिवस' में अकार उच्चारण करने का प्रयोजन निष्फल ही है? इसके सम्बन्ध में समाधान यह है कि मूल ऋचा के शब्दों का प्रामाण्य स्वीकृत है। पदपाठकर्ताओं की विकृति (परिवर्तन) में स्वतः-प्रामाण्य नहीं है।

(९२८) पद—उषासा, उषसः। **अनुवृत्ति**—देवताद्वन्द्वे, उत्तर-पदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देवताद्वन्द्व में 'उषस्' शब्द के स्थान में 'उषासा' आदेश हो। उदा० उषासासूर्यम्।

विवरण—"देवताद्वन्द्व मे उत्तरपद परे रहते 'उषस्' शब्द के स्थान में 'उषासा' आदेश होता है"। **उदाहरण**—**उषासासूर्यम्** (उषा तथा सूर्य), विग्रह—उषाश्च सूर्यश्च, तयोः समाहारः। समासादि कार्य पूर्ववत्। प्रकृत सूत्र से उषस् = उषासा आदेश। यह भी 'आनङ्०' ६-३-२५ का अपवाद-सूत्र है।

(९२९) पद—मातरपितरौ, उदीचाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० मातरपितरौ। 'उदीचां' क्यों कहा? मातापितरौ में आनङ् हुआ।

विवरण—"जननी और जनक-वाची 'मातृ' तथा 'पितृ' शब्दों के द्वन्द्व समास में उदीच्य

पितरौ। उदीचाम् किम् ? मातापितरौ। (९३०) द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ५। ४। १०६॥ चवर्गान्ताद्दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात्समाहारे। वाक्च त्वक्च वाक्त्वचम्। त्वक्स्रजम्। शमीदृषदम्। वाक्त्विषम्। छत्रोपानहम्। समाहारे किम् ? प्रावृट्छरदौ।

इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम्।



अत्र मातृशब्दस्यारङादेशो निपात्यते। मातापितराविति। अरङभावे 'आनङृतः' इत्यानङ्।

(९३०) द्वन्द्वाच्चुदष। समासान्ताधिकारस्थं तद्धिताधिकारस्थं चेदं सूत्रम्। टच्स्यादिति। 'राजाहस्सखिभ्यः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। वाक्त्वचमिति। वाक्च त्वक्च इति समाहारद्वन्द्वः। कुत्वस्यासिद्धत्वाच्चवर्गान्तत्वाट्टच्। एवं त्वक्स्रजमित्यत्रापि। त्वक्च स्रक्चेति विग्रहः। शमीदृषदमिति। शमी च दृषच्चेति विग्रहः। दकारान्तत्वाट्टच्। वाक्त्विषमिति। वाक्च त्विट् चेति विग्रहः। षान्तत्वाट्टच्, जश्त्वस्या-

---

(उत्तरभागस्थ) आचार्यों के मत में 'मातरपितरौ' शब्द निपातित है"। तदनुसार 'पितृ' शब्द परे रहते 'मातृ' शब्द को 'अरङ्' अन्तादेश होता है। **उदाहरण—मातरपितरौ**—माता च पिता च। मातृ+सु पितृ+सु > मातृ-पितृ (द्वन्द्व समास) ▷ मातर-पितृ (ऋ=अर) ▷ मातरपितृ +औ ▷ मातरपितरौ (प्रथमा द्विवचन में रूप)। प्राच्य आचार्यों के मत में—**मातापितरौ** ("आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" ६-३-२५ सूत्र से 'आनङ्' होकर प्रथमा द्विवचन)।

(९३०) पद—द्वन्द्वात्, चुदषहान्तात्, समाहारे। **अनुवृत्ति**—टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—समाहार में चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त द्वन्द्व से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है। उदा० १—वाक् च् त्वक् च ▷ वाक्त्वचम्। २—त्वक्-स्रजम्। ३—शमीदृषदम्। ४—वाक्-त्विषम्। ५—छत्रोपानहम्। 'समाहारे' क्यों कहा? प्रावृट्छरदौ। ('टच्' नहीं हुआ)।

विवरण—प्रसङ्गवश समाहार-द्वन्द्व में प्रक्रियोपयोगी समासान्त 'टच्' प्रत्यय के विधायक सूत्र को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। अतः "राजाहःसखिभ्यष्टच्" ५-४-९१ से 'टच्' की प्रमुख अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। शेष उल्लिखित आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार सूत्र से यह ध्वनित होता है कि "समाहार द्वन्द्व में विद्यमान चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त तथा हकारान्त—(चुश्च, दश्च, षश्च, हश्च—चु-द-ष-हम् अन्ते यस्य तत्—चुदहषहान्तम्, तस्मात्)—शब्दों से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो"। चवर्गान्त का **उदाहरण**-१-(क) **वाक्त्वचम्** (वाणी तथा त्वचा—वाक् च त्वक् च, तयोः समाहारः)। समाहार द्वन्द्व में समास→वाच्-त्वच्+अ ('कुत्व' असिद्ध होने से चवर्गान्त से 'टच्') ▷ वाक्-त्वच+सु (पूर्व पद के 'च' को कुत्व, पुनः विभक्ति) > **वाक्-त्वचम्** (विभक्ति-कार्य)। (१) ख—**त्वक्-स्रजम्** (त्वचा और माला—त्वक् च स्रक् च)। समासादि कार्य पूर्ववत्। (२) दकारान्त-शब्द—**शमीदृषदम्** (शमी-पत्र तथा सिल—शमी च दृषद् च)। शेष कार्य पूर्ववत्। (३) षकारान्त उत्तर पद का उदाहरण—**वाक्-त्विषम्** (वाणी और कान्ति—वाक् च त्विट् च)। 'जश्त्व' के असिद्ध होने के कारण 'ष्' के अनन्तर 'टच्' हुआ। (४) हकारान्त का **उदाहरण—छत्रोपानहम्** (छाता तथा जूता—छत्रं च उपानत् च)। 'ह' के स्थान पर होने वाले 'ध' के असिद्ध होने के कारण 'ह्' के अनन्तर 'टच्' हुआ। शेष कार्य पूर्ववत्।

एकशेषप्रकरणम्

अथैकशेषः । 'सरूपाणाम्—' (सू १८८) रामौ, रामाः । 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्' (वा ७४७) । वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च वक्रदण्डौ कुटिलदण्डौ । (९३१)

सिद्धत्वादिति भावः । छत्रोपानहमिति । छत्रं च उपानच्चेति विग्रहः । हान्तत्वाट्टच् । प्रावृट्छरदाविति । प्रावृट् च शरच्चेति विग्रहः । इतरेतरयोगद्वन्द्वत्वान्न टजिति भावः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमायां द्वन्द्वसमासप्रकरणं समाप्तम् ।

अथैकशेषो निरूप्यते—तदेवं द्वन्द्वे निरूपिते तदपवादमेकशेषप्रकरणमारभते—**अथैकशेष इति** । निरूप्यत इति शेषः । तत्रैकशेषसूत्राणि व्याचिख्यासुः पूर्वं व्याख्यातमपि सूत्रं

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'समाहारे' पद का निवेश होने के कारण इतरेतर-योग द्वन्द्व में 'टच्' नहीं होता । अतः प्रावृट्-छरदौ (वर्षा और शरद्—प्रावृट् च शरद् च) में 'टच्' नहीं हुआ । नियमप्राप्त प्रथमा विभक्ति का द्विवचनान्त रूप है ।

द्वन्द्वसमास-प्रकरण समाप्त ।

उपक्रम—'एकशेष' प्रकरण के सम्बन्ध में कुछ बातें जाननी आवश्यक हैं । कुछ लोग 'एकशेष' को द्वन्द्व समास का उपभेद मानने का संकेत करते हैं । किन्तु यह तर्कसंगत नहीं है । समास-प्रकरण के आरम्भ में 'वृत्तियों' के पाँच भेदों का निरूपण किया जा चुका है । तदनुसार समास की तरह **'एकशेष'** भी **पृथक् वृत्ति है** । भट्टोजिदीक्षित ने यह तर्क उपस्थित किया है कि एकशेष में एक से अधिक सुबन्त नहीं होते हैं, अतः उसे द्वन्द्व समास नहीं कहा जा सकता । दूसरा कारण इसे द्वन्द्व-समास न कहने का यह भी है कि द्वन्द्व-समास का अन्तिम स्वर उदात्त होता है, परन्तु एकशेष की समास में गणना न होने के कारण इसका अन्तिम स्वर उदात्त नहीं होता । एकशेष की प्रमुख विशेषता यह है कि समान रूप या समान अर्थ वाले अनेक शब्दों में से केवल एक शब्द शेष रहकर सभी शब्दों का अर्थ प्रकट करता है । द्वन्द्व समास के अनन्तर इसका समावेश इस हेतु किया गया है कि विग्रह में 'च' शब्द का प्रयोग यहाँ भी किया जाता है । इस भ्रम का निराकरण करने के लिये **'अथ एकशेषः'** इस वाक्य की संगति बैठाई है । नागेश आदि टीकाकारों ने **'द्वन्द्व का अपवाद-स्वरूप एकशेष प्रकरण आरम्भ होता है'**—इस प्रकार उसकी व्याख्या की है ।

मूलार्थ—अब एकशेष आरम्भ होता है । जैसे—'सरूपाणम्०' सू० १८८ (के आश्रय से) रामौ, रामाः । वा० एकार्थक विरूपों का भी एकशेष होता है । उदा० वक्रदण्डश्च, कुटिलदण्डश्च—> वक्रदण्डौ, कुटिलदण्डौ ।

---

१. "द्वन्द्वापवादसंगतया" इत्यर्थः । न च अपवादस्यापि संगतित्वे—

"सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा ।
निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा संगतिरिष्यते ॥"

इत्यनेन षोढात्वकथनविरोध इति वाच्यम् । अपवादेत्यनेन अपवाद्यापवादकभावरूपस्य सूचनात् ।
—लघुशब्देन्दुशेखरस्य भैरवमिश्रकृता टीका पृ० १४२ ।

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः १ । २ । ६५ ॥ यूना सहोक्तौ गोत्रं शिष्यते, गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं चेत्तयोः कृत्स्नं वैरूप्यं स्यात् । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ ।

सन्दर्भशुद्धये आह—सरूपाणामिति । तदुदाहरणमपि स्मारयति—रामौ । रामाः इति । विरूपाणामिति । 'सरूपाणाम्' इत्यनेन सूत्रेणार्थभेदेऽपि शब्दैकरूप्ये एकशेषः उक्तः, एकार्थकत्वे विरूपाणामप्येकशेषो वक्तव्य इत्यर्थः । वक्रदण्डश्चेति । अत्र शब्दवैरूप्येऽप्यर्थैक्यात् अन्यतरः शिष्यत इति भावः ।

(९३१) वृद्धो यूना । रूपतोऽर्थतश्च भेदेऽपि प्राप्त्यर्थमिदम् । यूनेति । 'जीवति तु वंश्ये युवा' इति वक्ष्यमाणयुवप्रत्ययान्तेनेत्यर्थः । सहोक्ताविति । अध्याहारलब्धमेतत् । गोत्रमिति । वृद्धशब्देन 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' इति सूत्रोक्तं गोत्रं विवक्षितम् । अपत्यमन्तरितं वृद्धमिति पूर्वाचार्यपरिभाषितत्वादिति भावः । गोत्रप्रत्ययान्तमिति यावत् । न च 'गोत्रं यूना' इत्येव कुतो न सूत्रितमिति वाच्यम्, अपत्याधिकारादन्यत्र गोत्रग्रहणेन लौकिकं गोत्रं विवक्षितमिति सिद्धान्तज्ञापनार्थत्वात् । शिष्यत इति । शेष इति कर्मणि

विवरण—द्वन्द्व समास के अनन्तर उसके अपवादस्वरूप एकशेष प्रकरण के सम्बन्ध में निरूपण किया जा रहा है । पाणिनि ने अष्टाध्यायी में प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तिम दस सूत्रों में **एकशेष** (१-२-६४ से १-२-७३ तक) का निदर्शन किया गया है । उसके स्वरूप का विवेचन सर्वप्रथम "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" १-२-६४ सूत्र में किया है । यह प्रसङ्ग प्रातिपदिक शब्दों की सिद्धि करते समय द्विवचन एवं बहुवचन में विभक्ति के पूर्व प्रातिपदिक शब्दों की द्विरावृत्ति अथवा त्रिरावृत्ति-जन्य गौरव को दूर करने का सुखमय उपाय बतलाया है । तदनुसार उसका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है । उस सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि "एक विभक्ति के विषय में जो समान रूप मिलें, उनमें एक ही शेष रहता है, अन्य शब्दों का लोप हो जाता है"[1] । **उदाहरण—रामौ** (दो राम—रामश्च रामश्च) तथा **रामाः** (रामश्च, रामश्च, रामश्च) में "चार्थे द्वन्द्वः" २-४-२९ से द्वन्द्व प्राप्त हुआ था, जिसके अपवाद-स्वरूप एकशेष-विधायक शास्त्र बाधक हो जाता है । एकशेष-विधायक शास्त्र निरवकाश होने के कारण द्वन्द्व का बाधक होता है । इस प्रकार एक ही 'राम' शब्द अवशिष्ट रह जाता है । 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी' नियम से अवशिष्ट शब्द औरों के अर्थ को भी कहता है । अत एव समुदाय से द्वि-वचन तथा बहुवचन की व्यवस्था सम्भव होती है । उक्त प्रयोगों में द्वित्व विवक्षा में द्विवचन (= रामौ) तथा बहुत्व विवक्षा में बहुवचन होने से विभक्ति कार्यों द्वारा उनकी सिद्धि होती है (= रामाः) ।

विशेष—केवल समान-रूपात्मक शब्दों में ही एकशेष सीमित नहीं रहे, किन्तु 'एकार्थक विरूप शब्दों का भी एकशेष होने के सम्बन्ध में **वार्तिक** की प्रस्तुति की गई है । तदनुसार **वक्रदण्डौ—कुटिलदण्डौ** (दो टेढ़ी लाठी वाले—वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च) में यद्यपि 'वक्र' तथा 'कुटिल' शब्द समानरूपात्मक नहीं हैं तथापि समानार्थक हैं (वक्र तथा कुटिल दोनों शब्दों का अर्थ टेढा है), अतः **वार्तिक** द्वारा एकशेष होने पर विवक्षानुसार पाक्षिक दोनों रूप बनेंगे ।

(९३१) पद—वृद्धः, यूना, तल्लक्षणः, चेद्, एव, विशेषः । **अनुवृत्ति**—शेषः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'युव'-संज्ञक के साथ 'गोत्र'-संज्ञक का कथन होने पर, गोत्र-संज्ञक ही शेष रहता है, यदि दोनों में गोत्र-प्रत्यय और युव-प्रत्ययों का ही एक मात्र अन्तर हो । उदा० गार्ग्यश्च गार्ग्या-

---

१. "समानं रूपम् एषाम् इति सरूपाः । सरूपाणां शब्दानाम् एकविभक्तौ परतः एकशेषो भवति । एकः शिष्यते । इतरे निवर्तन्ते । वृक्षश्च, वृक्षश्च = वृक्षौ । वृक्षश्च, वृक्षश्च, वृक्षश्च = वृक्षाः । प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेन (= अनेकेन) अनेकस्याभिधानम् । तत्र अनेकार्थविधानेऽनेकशब्दत्वं प्राप्तं, तस्माद् एकशेषः" ।—काशिका ।

वृद्धः किम् ? गर्गगार्ग्यायणौ । यूना किम् ? गर्गगार्ग्यौ । तल्लक्षणः किम् ? भागवित्ति-

---

घन्तमनुवर्तत इति भावः । **तल्लक्षण इति** । सः गोत्रप्रत्ययः युवप्रत्ययश्च लक्षणं निमित्तं यस्येति विग्रहः । विशेषः वैलक्षण्यम् । तथा च गोत्रयुवप्रत्ययान्तयोर्विशेषः वैरूप्यम् । तल्लक्षणश्चेत् । गोत्रयुवप्रत्ययनिमित्तकश्चेदित्यर्थः । अन्यनिमित्तको न चेदित्यर्थः सिद्धः । तदाह—**गोत्रयुवेति कृत्स्नमिति** । एवकारलभ्यमिदम् । **गार्ग्यश्चेति** । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । गर्गादिभ्यो यञ् **गार्ग्यायण इति** । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । तस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः । 'यञिञोश्च' इति फक् । **गार्ग्याविति** । अत्र गार्ग्यशब्दस्य गार्ग्यायणशब्दस्य च गोत्रयुवप्रत्ययकृतमेव वैरूप्यमिति गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दः शिष्यत इति भावः । **गर्गगार्ग्यायणाविति** । गर्गश्च गार्ग्यायणश्चेति विग्रहः । अत्र गर्गशब्दस्य गार्ग्यायणशब्दस्य च युवप्रत्ययमात्रकृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तत्वाभावान्नैकशेष इति भावः । **गर्गगार्ग्याविति** । अत्र गर्गशब्दस्य गार्ग्यशब्दस्य च गोत्रप्रत्ययमात्रकृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दो न शिष्यते, यूना सहोक्त्यभावादिति भावः । **भागवित्तिभागवित्तिकाविति** । भगवित्तस्य

यणश्च > गार्ग्यौ । 'यूना' क्यों कहा ? गर्गगार्ग्यौ ('गार्ग्य' का शेष नहीं हुआ) । 'वृद्धः' क्यों कहा ? गर्गगार्ग्यायणौ ('वृद्ध' प्रत्ययान्त न होने से गर्ग का शेष नहीं हुआ) । 'तल्लक्षणः' क्यों कहा ? भागवित्ति-भागवित्तिकौ (केवल 'युव' एवं 'गोत्र' प्रत्यय-जन्य वैरूप्य न होने से एकशेष नहीं) । 'कृत्स्नम्' क्यों कहा ? गार्ग्यवात्स्यायनौ (प्रकृतिकृत वैरूप्य होने से एकशेष नहीं) ।

विवरण—एकशेष प्रकरण का यह दूसरा सूत्र है । अतः "सरूपाणामेकशेष एव एकविभक्तौ" १-२-६४—प्रथम सूत्र से 'शेषः' की अनुवृत्ति की जा रही है । "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्"—(१-१६२) सूत्रस्थ 'वृद्ध' शब्द से 'गोत्र' अर्थ लिया जाता है । पूर्वाचार्यों ने गोत्र के लिये तद्धित प्रकरण में इसका उपयोग किया है । इसी प्रकार मूल पुरुष से चतुर्थ व्यक्ति की 'युव' संज्ञा की गई है, यदि उसके पिता आदि जीवित रहें ("जीवति तु वंश्ये युवा" ४-१-१६३) । इन दोनों पारिभाषिक शब्दों (संज्ञा विशेषों) को अभिलक्षित कर तद्धित प्रकरण में प्रत्ययों का विधान है । यहाँ 'यूना' सहार्थ में तृतीया है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "गोत्र (वृद्ध) प्रत्ययान्त शब्द का 'युव' प्रत्ययान्त के साथ कथन होने पर गोत्रवाची शेष रह जाता है, युवप्रत्ययान्त शब्द निवृत्त हो जाता है, यदि वृद्ध-युव-निमित्तक प्रत्यय का (सः गोत्रप्रत्ययो युवप्रत्ययश्च लक्षणं निमित्तं यस्य सः=तल्लक्षणः) ही भेद (लक्षित) हो, अर्थात् अन्य सब प्रकृति आदि समान हों" । **उदाहरण—गार्ग्यौ** (गर्ग का पौत्र और प्रपौत्र) विग्रह—गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च । यहाँ क्रमशः 'गार्ग्य' शब्द में अपत्यार्थक गोत्र—पौत्र—अर्थ का सूचक ('गर्ग' से) यञ् प्रत्यय ('गर्गादिभ्यो यञ्' ४-१-१०५) हुआ है तथा 'गार्ग्यायण' शब्द अपत्यार्थक 'युव' संज्ञक 'फक्'प्रत्ययान्त है । दोनों के समास होने पर, वृद्धसंज्ञक अर्थात् गोत्र प्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शब्द रह गया, क्योंकि इन दोनों में प्रत्ययमात्र कृत ('यञ्' तथा तथा 'फक्') वैरूप्य है, प्रकृतिगत (गर्ग) साम्य है ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'वृद्धः' पद का निवेश होने के कारण **'गर्ग-गार्ग्यायणौ'** (गर्ग और गर्ग का प्रपौत्र—गर्गश्च गार्ग्यायणश्च) में एकशेष नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'गर्ग' शब्द गोत्र-प्रत्ययान्त नहीं है । केवल दूसरा शब्द युव-प्रत्ययान्त है । (२) इसी प्रकार 'यूना' पद का निवेश होने के कारण **गर्ग-गार्ग्यौ** (गर्ग और उसका पौत्र—गर्गश्च गार्ग्यश्च) में भी एकशेष नहीं हुआ, क्योंकि 'यञ्' प्रत्ययान्त 'गार्ग्य' के साथ समास को प्राप्त होने वाला 'गर्ग' पद युव-प्रत्ययान्त नहीं है । (३) सूत्र में 'तल्लक्षण' पद का निवेश होने से **भागवित्ति-भागवित्तिकौ** (भगवित्ति का पौत्र और निन्दित प्रपौत्र) में एकशेष नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त एवं युवप्रत्ययान्त

भागवित्तिकौ। कृत्स्नम् किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ। (९३२) स्त्री पुंवच्च १।२। ६६॥ यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यते तदर्थश्च पुंवत्। गार्गी च गार्ग्यायणी च गर्गाः। 'अस्त्रियाम्' इत्यनुवर्तमाने 'यञञोश्च' (सू ११०८) इति लुक्। दाक्षी

गोत्रापत्यं भागवित्तिः। अत इञ्, भागवित्तेः सौवीरस्यापत्यं युवा कुत्सितो भागवित्तिकः। 'वृद्धाट्ठक् सौवीरेषु' इति ठक्। अत्र भागवित्तिशब्दस्य भागवित्तिकशब्दस्य च न गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं वैरूप्यम्, कुत्सासौवीरत्वकृतस्यापि वैरूप्यस्य सत्त्वात्। अतो गोत्रप्रत्ययान्तो भागवित्तिशब्दो न शिष्यत इति भावः। **गार्ग्यवात्स्यायनाविति।** गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः, वत्सस्य गोत्रापत्यं वात्स्यः, गर्गादित्वाद्यञ्। वत्सस्यापत्यं युवा वात्स्यायनः। 'यञिञोश्च' इति फक्। गार्ग्यश्च वात्स्यायनश्चेति विग्रहः। अत्र गार्ग्यशब्दस्य वात्स्यायनशब्दस्य च गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं वैरूप्यम्, प्रकृतिवैरूप्यस्य गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतत्वाभावात्। अतो गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दः न शिष्यत इति भावः।

(९३२) **स्त्री पुंवच्च।** वृद्धो यूनेत्यनुवर्तते। वृद्धेति स्त्रीलिङ्गेन विपरिणम्यते। तदाह—**यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यत इति।** गोत्रप्रत्ययान्तः स्त्रीवाचकः शब्दः शिष्यत इति भावः। स्त्रीत्वस्य वैरूप्यकारणस्याधिकस्य सत्त्वात् पूर्वेणाप्राप्ते वचनमिदम्। **तदर्थं इति।** तस्य शिष्यमाणस्य स्त्रीवाचकगोत्रप्रत्ययान्तस्यार्थः पुमानिव स्यादित्यर्थः। **गार्गी चेति।** गर्गस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः। गर्गादियञन्तात् 'यञश्च' इति ङीप्। **गार्ग्यायणी चेति।** गर्गाद्यञन्तात् यून्यपत्ये 'यञिञोश्च' इति फक्। **गर्गा इति।** अत्र स्त्रीत्वकृतवैरूप्याधिक्ये गोत्रप्रत्ययान्तः स्त्रीवाचको गार्गीशब्दः शिष्यते। स पुंवत्। तर्हि यञ् कुतो न श्रूयत इत्यत आह—**अस्त्रियामितीति।** उपलक्षणमिदम्। 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्'

के अतिरिक्त 'कुत्सित' अर्थ का आधिक्य होने से वैरूप्य हुआ है, न कि केवल युव-संज्ञक के कारण। स्थिति यह है—भगवित्तस्य गोत्रापत्यं=भागवित्तिः ('इञ्' प्रत्यय) तथा भागवित्तेः (सौवीरस्य अपत्यं युवा कुत्सितः) गोत्रापत्यं भागवित्तिकः ('ठक्' प्रत्यय—"वृद्धाट्ठक् सौवीरेषु बहुलम्" ४-१-७२)। इस प्रकार अर्थाधिक्य होने से गोत्रप्रत्ययान्त 'भागवित्ति' शब्द एकशेष के रूप में नहीं रहा। (४) सूत्र में "एव" शब्द से उपलक्षित 'कृत्स्न' अर्थ स्वीकार होने से **गार्ग्यवात्स्यायनौ** (गर्ग का पौत्र और वत्स का युवा प्रपौत्र) में एकशेष नहीं हुआ। यद्यपि यहाँ गोत्र-प्रत्यय तथा युव-प्रत्यय कृत वैरूप्य नहीं है (गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः–यञ् प्रत्यय, वत्सस्य अपत्यं युवा वात्स्यायनः—'फक्' प्रत्यय, गार्ग्यश्च वात्स्यायनश्च) तथापि प्रकृतिकृत वैरूप्य है ('गार्ग्यः' में प्रकृति गर्ग है तथा 'वात्स्यायनः' में प्रकृति 'वत्स' है)।

(९३२) पद—स्त्री-पुंवत्, च। **अनुवृत्ति**—वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः। **(विधि) अतिदेश-सूत्र।**

मूलार्थ—'युव'-प्रत्ययान्त के साथ वृद्ध-संज्ञक स्त्री-वाचक शब्द के रहने पर वृद्ध-संज्ञक स्त्री-वाची शब्द शेष रहता है, और उसे पुंवद्भाव होता है। उदा॰ गार्गी च, गार्ग्यायणी च गर्गाः। 'अस्त्रियाम्' अनुवृत्ति के रहने पर "यञञोश्च" (सू॰ ११०८) से ('यञ्' का) लोप हुआ। २-दाक्षी च दाक्षायणश्च > दाक्षी।

विवरण—पूर्व सूत्र (१-२-६५) की अनुवृत्ति द्वारा सूत्रार्थ सम्पन्न किया जा रहा है। प्राकरणिक अनुवर्तमान 'शेषः' पद भी सूत्रार्थ के विधेयांश का बोधक है। अनुवर्तमान 'वृद्धः' पद का स्त्रीलिङ्ग में विपरिणाम किया जाता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "युवप्रत्ययान्त के साथ गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग-वाची शब्द की स्थिति होने पर गोत्र-प्रत्ययान्त स्त्रीवाची शब्द

च दाक्षायणश्च दाक्षी। (९३३) पुमान् स्त्रिया १।२।६७॥ स्त्रिया सहोक्तौ पुमाञ्छिष्यते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। हंसी च हंसश्च हंसौ। (९३४) भ्रातृपुत्रौ

इत्यतः अस्त्रियामिति, तेनैवेति, बहुष्विति चानुवर्तमाने सतीत्यर्थः, एतेन पुंवदित्यस्य प्रयोजनमुक्तम्। गार्गी च गार्ग्यायणश्चेति विग्रहस्तु न दर्शितः। तथा सति अबहुत्वात् यञो लुगभावे सति पुंस्त्वे स्त्रीत्वे च रूपं तुल्यम्—गार्ग्याविति। तत्र पुंवत्त्वं निरर्थकं स्यात्। उदाहरणान्तरमाह—दाक्षी चेति। दक्षस्य गोत्रापत्यं स्त्री दाक्षी। 'अत इञ्' इतीञन्तात् 'इतो मनुष्यजातेः' इति ङीष्। दाक्षायणश्चेति। दक्षस्यापत्यं पुमान् दाक्षी, तस्यापत्यं युवा दाक्षायणः। 'यञिञोश्चेति' फक्। दाक्षी च दाक्षायणश्चेतिविग्रहे दाक्षीशब्दः शिष्यते। तस्य पुंवत्त्वे सति ङीषो निवृत्तौ दाक्षिशब्दात् प्रथमाद्विवचने दाक्षी इति भवति। अत्र तल्लक्षणश्चेदेव विशेष इत्यप्यनुवर्तते। ततश्च भागवित्तिकश्च, गार्गी च वात्स्यायनश्चेत्यत्र न भवति।

(९३३) पुमान्स्त्रिया। तल्लक्षणे एवेति। 'वृद्धो यूना' इत्यस्वदनुवृत्तेरिति भावः। हंसी चेति। अत्र पुंस्त्वस्त्रीत्वमात्रकृतवैरूप्यात् पुंल्लिङ्गो हंसशब्दः शिष्यते। स्त्रीत्वपुंस्त्वकृतवैरूप्यादेव 'सरूपाणाम्' इत्यस्याप्राप्तिः। मातृमातरावित्यत्र जननीवाचकपरिच्छेत्तृवाचकमातृशब्दयोस्तु नायमेकशेषः। एकविभक्तौ सरूपाणामित्यनुवर्त्य एकविभक्तौ सरूपाणां स्त्रीत्वपुंस्त्वेतरकृतवैरूप्यरहितानामित्याश्रयणात्। इह च मातरावित्यत्र 'अप्तृन्' इति दीर्घतदभावाभ्यामपि वैरूप्यात्। अत एव हंसश्च वरटा चेत्यत्रापि नेत्यलम्।

अवशिष्ट रहे तथा साथ ही उसे पुंवद्भाव भी हो"। **उदाहरण**—(१) गर्गाः (गर्ग को पौत्री तथा गर्ग के दो प्रपौत्र—गार्गी च गार्ग्यायणौ च)। यहाँ पर 'गार्गी' शब्द गोत्र प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्गवाची (गर्ग-यञ्-ङीप्) है तथा 'गार्ग्यायण' शब्द युवप्रत्ययान्त (गर्ग+यञ् = गार्ग्य+फक् = आयन) है, अतः वैरूप्य होने पर भी 'गार्गी' अवशिष्ट रहा, बहुत्व विवक्षा में पुंवद्भाव होने पर "यञञोश्च" २-४-६४ से 'यञ्' का लोप होने से 'गर्ग+जस् = गर्गाः'। (२) दाक्षौ (दक्ष की पौत्री तथा प्रपौत्र। दाक्षी (दक्ष+इञ्+ङीप्) च दाक्षायणश्च (फक्) प्रत्यय। यहाँ पर भी सुबुत्पत्ति से पूर्व स्त्री-वाचक 'दाक्षी' शब्द शेष रह जाता है तथा पुंवद्भाव होने पर दाक्षि+औ = दाक्षी (पूर्वसवर्ण दीर्घ)।

विशेष—(१) "यञञोश्च" २-४-६४ सूत्र में "तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्" २-४-६२ सूत्र से 'अस्त्रियाम्' पद की अनुवृत्ति आने पर गार्गी शब्द में पुंवद्भाव होने के उपरान्त ही 'यञ्' प्रत्यय का लोप होता है।

(२) इन उदाहरणों में भी गोत्र-प्रत्यय तथा युव-प्रत्ययों का वैरूप्य होने के कारण पूर्व सूत्र से एकशेष प्राप्त नहीं था, क्योंकि यहाँ पर गोत्र-प्रत्ययान्त शब्दों के स्त्री-लिङ्गवाची होने के कारण 'स्त्रीत्व' अर्थ 'युव'-प्रत्ययान्त की अपेक्षा अधिक है। यही प्रकृत सूत्र की उपयोगिता है।

(९३३) पद—पुमान्, स्त्रिया। **अनुवृत्ति**—तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—स्त्रीवाचक शब्द के साथ पुरुष-वाचक का कथन होने पर पुरुषवाचक शब्द शेष रहता है—यदि उनमें केवल प्रत्ययगत विशेषता हो। उदा० हंसी च हंसश्च > हंसौ।

विवरण—प्रकरण-साम्य होने से 'तल्लक्षणः' तथा 'शेषः' दोनों पद क्रमशः १-२-६५ तथा १-२-६४ सूत्र से अनुवृत्तिलभ्य हैं। 'स्त्रिया' पद में सहार्थक तृतीया है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "स्त्रीवाचक शब्द के साथ पुंलिङ्गवाची शब्द रहने पर स्त्रीलिङ्गवाची शब्द हट जाता है, यदि उन शब्दों में स्त्रीत्व एवं पुंस्त्व कृत ही विशेषता हो तथा अन्य प्रकृति आदि सब

स्वसृदुहितृभ्याम् १।२।६८। भ्राता च स्वसा च>भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च>पुत्रौ। (९३५) नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् १।२।६९॥ अक्लीबेन सहोक्तौ क्लीबं शिष्यते, तच्च वा एकवत्स्यात्तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। शुक्लः

---

(९३४) भ्रातृपुत्रौ। स्वसृदुहितृभ्यां सहोक्तौ क्रमात् भ्रातृपुत्रौ शिष्येते। स्वरूपतोऽपि वैरूप्यादप्राप्तौ वचनम्।

(९३५) नपुंसकम्। अन्यतरस्याङ्ग्रहणम् एकवदित्यनेनैवान्वेति, आनन्तर्यात्, नत्वेकशेषेणेत्याह—तच्चेति। तल्लक्षण एवेति। नपुंसकत्वानपुंसकत्वमात्रकृतवैरूप्यं चेदित्यर्थः। शुक्लः पटः शुक्ला शाटी शुक्लं वस्त्रमिति। पटशब्दसमभिव्याहारात् शुक्लशब्दः पुंल्लिङ्गः, शाटीशब्दसमभिव्याहारात् स्त्रीलिङ्गः, वस्त्रशब्दसमभिव्याहारे तु नपुंसकलिङ्गः, 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति' इत्यमरोक्तेरिति भावः। तच्च सा च इदं च तत्। अयं च इयं च इदं च इदम्। शुक्लश्च शुक्ला च शुक्लं च शुक्लम्। अत्र नपुंसकान्येव शिष्यन्ते एकवच्च भवन्ति। तानीमानि शुक्लानीति। नपुंसकत्वे एकशेषे सति एकवत्त्वाभावे रूपाणि। न चेतरेतरयोगविवक्षायां द्विबहुवचनान्तयोः, समाहारद्वन्द्व-

---

समान ही हों"। उदाहरण—हंसौ (हंस और हंसी—हसश्च हंसी च)। विग्रह के दोनों शब्दों में प्रकृति (मूल शब्द) एक ही है। एक पुंलिङ्गवाची है, दूसरा स्त्रीलिङ्गवाची है। नियमानुसार पुंलिङ्गवाची 'हंस' शेष रह गया। 'द्विवचन' में 'हंसौ' रूप निष्पन्न हुआ। स्त्री-लिङ्ग एवं पुंलिङ्ग-वाची दोनों में लिङ्गात्मक वैरूप्य होने के कारण "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" १-२-६४ की प्राप्ति न होने से पृथक् विधान की चरितार्थता है।

प्रत्युदाहरण—यदि प्रत्ययगत विशेषता के अतिरिक्त प्रकृतिगत विशेषता हो तो एकशेष नहीं होगा। जैसे 'हंसश्च वरटा च' में प्रकृतिगत अन्तर होने के कारण एकशेष नहीं हुआ।

(९३४) पद—भ्रातृपुत्रौ, स्वसृदुहितृभ्याम्। अनुवृत्ति—शेषः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १—भ्राता च स्वसा च > भ्रातरौ। २—पुत्रश्च दुहिता च—पुत्रौ।

विवरण—'विधेय' का लाभ होने के लिये 'शेषः' पद की अनुवृत्ति यथापूर्व चली आरही है। 'स्वसृदुहितृभ्यां'—सहार्थक तृतीया है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "स्वसृ और दुहितृ शब्दों के साथ भ्रातृ और पुत्र शब्द का कथन होनेपर 'पुत्र' और 'दुहितृ' शब्द शेष रह जाते हैं। अर्थात् 'भ्रातृ' और 'स्वसृ' के साथ भ्रातृ तथा 'पुत्र' और 'दुहितृ' के साथ पुत्र शेष रह जाते हैं। अवशिष्ट 'स्वसृ' एवं 'दुहितृ' शब्द हट जाते हैं। उदाहरण—(१) भ्रातरौ (भ्राता च स्वसा च—भाई और बहन)। यहाँ पर 'भ्राता च स्वसा च' इस विग्रह में सुबुत्पत्ति से पूर्व प्रकृत सूत्र से एकशेष होने पर 'भ्रातृ' शब्द रह गया। प्रथमा विभक्ति के द्विवचन में—भ्रातृ+औ > भ्रातरौ। (२) पुत्रौ (पुत्र और पुत्री) 'पुत्रश्च दुहिता च' में 'पुत्र' शब्द शेष रह गया। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। प्रथमा द्विवचन।

विशेष—दोनों उदाहरणों के स्वरूप में समानता न होने के कारण एकशेष की प्राप्ति नहीं थी, अतः पृथक् उपाय की सार्थकता है।

(९३५) पद—नपुंसकम्, अनपुंसकेन, एकवत्, च, अस्य, अन्यतरस्याम्। अनुवृत्ति—तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः। विधि-(अतिदेश)-सूत्र।

मूलार्थ—अनपुंसक के साथ नपुंसक का कथन होने पर नपुंसक शेष रहता है तथा दोनों में एकवद्भाव होता है, यदि दोनों में नपुंसकत्व और अनपुंसकत्व मात्र विशेष हो। उदा० १—क-शुक्लः (पटः), शुक्ला (शाटी), शुक्लं (वस्त्रम्) > तदिदं शुक्लम्। ख-तानि इमानि शुक्लानि।

पटः । शुक्ला शाटी । शुक्लं वस्त्रम् । तदिदं शुक्लम् । तानीमानि शुक्लानि । (९३६)

विवक्षायामेकवचनस्य च सिद्धत्वात् एकवदिति व्यर्थमिति वाच्यम्, अत एवैकशेषप्रकरणस्य समाहारेऽप्रवृत्तिज्ञापनात् । तेन ओदनश्च ओदनं च तयोः समाहारे ओदनमिति न भवति । ओदनशब्दो ह्यर्धर्चादिः । ओदनश्च ओदनं चेति इतरेतरयोगद्वन्द्वेऽपि ओदनमिति न अन-

---

विवरण—नपुंसक लिङ्ग तथा तद्‌भिन्न शब्दों के युग्म-साहचर्य के सम्बन्ध में एकशेष की विशेषता का निर्देश दिया जा रहा है। सूत्र में प्रयुक्त 'अन्यतरस्याम्' (विकल्पार्थक) पद अपने समीपवर्ती पद 'एकवत्' के साथ अन्वित होकर एकवचन के विकल्प का बोधक है, न कि दूरस्थ पद 'एकशेष' का। प्राकरणिक 'शेषः' (एकशेष) पद की अनुवृत्ति के अतिरिक्त "वृद्धो यूना"० १-२-६५ सूत्रस्थ 'तल्लक्षणश्चेद् एव विशेषः' पद की अनुवृत्ति के प्रभाव से 'नपुंसक एवम् अन-पुंसक गुणों' का वैशिष्ट्य होने पर ही एकवद्भाव विकल्प से होगा। अतः सूत्र का यह आशय है कि "नपुंसकलिङ्ग-वाची तथा नपुंसक-लिङ्ग-भिन्न-वाची (अर्थात् पुंलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग वाची) शब्दों का साहचर्य होने पर स्त्रीलिङ्ग एवं पुंलिङ्गवाची शब्द हट जाते हैं तथा अवशिष्ट नपुंसक-लिङ्ग-वाची शब्द को विकल्प से एकवद्भाव हो, यदि उन शब्दों में नपुंसक-गुण एवं नपुंसक-भिन्न गुणों की ही विशेषता हो तथा शेष प्रकृति आदि समान ही हों"। **उदाहरण—शुक्लानि**—सफेद वस्त्र । यहाँ पर शुक्लः (पटः), शुक्ला (शाटी), शुक्लं (वस्त्रम्)—इन भिन्न लिङ्ग-वाचक पदों के साहचर्य में नपुंसक-गुण तथा तद्भिन्न पुंस्त्व एवं स्त्रीत्व गुणों की विशेषता है तथा प्रकृति (शुक्ल) समान है, अतः बहुवचन ही होना चाहिये था, किन्तु इस सूत्र के प्रभाव से पक्ष में एकवचन होकर **(तदिदं) शुक्लम्** तथा पक्ष में बहुवचन **(तानि इमानि) शुक्लानि** रूप बनते हैं। 'पट' शब्द के साहचर्य से विशेषवाची 'शुक्ल' शब्द पुंलिङ्ग में, 'शाटी' के साहचर्य से 'शुक्ला' स्त्रीलिङ्ग तथा 'वस्त्र' के साहचर्य से 'शुक्ल' नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह सर्वनाम-वाची भिन्न लिङ्गों के साहचर्य में स्थिति इस प्रकार होगी—(क) तच्च, सा च, इदं च > तत् । (ख) अयं च, इयं च, इदं च > इदम् । 'शुक्ल' शब्द में—शुक्लश्च, शुक्ला च, शुक्लम् > **शुक्लम्** । इनमें नपुंसक-लिङ्ग-वाची शब्द शेष रहा तथा एकवचन हुआ। पाक्षिक एकवचन होने के कारण अन्यत्र बहुवचन होगा—**तानि इमानि शुक्लानि** ।

विशेष—भाष्यकार ने अनपुंसक-वाची शब्दों के साथ नपुंसक-लिङ्ग-वाची शब्दों का साह-चर्य होने पर नपुंसक लिङ्ग-वाची शब्द के शेष को स्वतःसिद्ध मानकर इस विधान के प्रति अरुचि दिखलाई है। कारण यह है कि लोक में सामान्यतः अनिर्ज्ञात अर्थ में तथा गुणों के सन्देह में नपुंसक लिङ्ग का ही प्रयोग होता है। वस्तु के निर्णीत होने तक प्रायः प्रश्न करने पर 'किमिदम्' तथा उत्तर देने पर 'शुक्लमिदम्'—इस प्रकार नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग व्यवहारसिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि पाक्षिक एकवद्भाव के लिये इस विधान की आवश्यकता है तो उसे भी भाष्यकार ने अनावश्यक कहा है। जातिगत प्राधान्य का आश्रयण करने पर 'एकवचन' सिद्ध हो सकता है[1] ।

---

१. "अयं योगः शक्यं वक्तुम् । कथम् ? शुक्लः कम्बलः, शुक्ला च बृहतिका, शुक्लं च वस्त्रं, तदिदं शुक्लं, तानीमानि शुक्लानि । प्रधाने कार्य-सम्प्रयात् शेषः । प्रधाने कार्यसम्प्रयाच्छेषो भविष्यति । किं च प्रधानम् ? नपुंसकम् । कथं पुनर्ज्ञायते नपुंसकं प्रधानमिति ? एवं हि दृश्यते लोके अनिर्ज्ञातेऽर्थे गुणसन्देहे च नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्यते । किं जातमित्युच्यते ? द्वयं चैव हि जायते । स्त्री वा पुमान् वा । तथा विदूरे अव्यक्तरूपं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति महिषीरूपमिव, ब्राह्मणीरूपमिव । प्रधाने कार्यसम्प्रयात् नपुंसकस्य शेषो भविष्यति । इदं तर्हि प्रयोजनम् । एकवच्चास्यान्यतरस्या-मिति वक्ष्यामि । एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । आकृतिवाचकत्वाद् एकवचम्" ।

—महाभाष्यम् ।

पिता मात्रा १। २। ७०॥ मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च पितरौ—मातापितरौ वा। (९३७) **श्वशुरः श्वश्र्वा १। २। ७१॥** श्वश्र्वा सहोक्तौ श्वशुरो वा शिष्यते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ—श्वश्रूश्वशुरौ वा। (९३८) **त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् १। २। ७२॥** सर्वैः सहोक्तौ त्यदादीनि नित्यं शिष्यन्ते। स च देवदत्तश्च तौ। 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' (वा ८०१)।

भिधानात्। एवञ्च क्वचिदनभिधानस्याश्रयणीयतया मात्रस्यैकशेषविषयेऽनभिधानमाश्रित्य एकस्य शब्दस्यार्थत्वं चाश्रित्य एकशेषप्रकरणं भाष्ये प्रत्याख्यातम्।

(९३६) पिता मात्रा। 'पुमान् स्त्रिया' इत्यत्र सरूपाणामित्यनुवृत्तेरप्राप्ताविदं वचनं विकल्पार्थं च। मातापितराविति। 'पितुर्दशगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते' इति स्मृत्या-मातुरभ्यर्हितत्वात्पूर्वनिपातः। 'आनङृतः' इत्यानङ्।

(९३७) श्वशुरः श्वश्र्वा। श्वश्रूश्वशुराविति। श्वश्र्वा अपि मातृतुल्यत्वोक्तेरभ्यर्हितत्वम्। 'श्वश्रूः पूर्वजपत्नी च मातृतुल्या प्रकीर्तिता' इति स्मृतेः। इह तल्लक्षणग्रहणा-नुवृत्तिः स्पष्टार्था, 'श्वशुरः श्वश्र्वा' इति शब्दग्रहणात्।

(९३८) त्यदादीनि। सर्वैरिति। त्यदादिभिरितरैश्चेत्यर्थः। ताविति। अत्र देवदत्तशब्दो निवर्तते। तच्छब्दस्तु शिष्यते। तद्देवदत्ताविति न भवति। सर्वैः किम्?

---

(९३६) पद—पिता, मात्रा। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्यां, शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—माता के साथ पिता की उक्ति में विकल्प से पिता शेष रहता है। उदा० माता च पिता च > पितरौ—मातापितरौ।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये "सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ" १-२-६४ से 'शेषः' तथा "नपुंसकमनपुंसकैकवच्चास्यान्तरस्याम्" १-२-६९ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। तदनुसार "माता के साथ पिता का कथन होने पर 'पितृ' पद विकल्प से शेष रह—जायगा"। **उदाहरण—पितरौ** (माता और पिता)। **विग्रह**—माता च पिता च। 'मातृ' पद का लोप होने पर पितृ+औ–पितरौ (गुण–अर्–"ऋतो ङि–सर्वनामस्थानयोः" ७-३-११०)। पक्ष में एकशेष न होने पर—मातृ–पितृ+औ > मातान्-पितृ + औ ("आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" ६-३-२५—आनङ्) > **मातापितरौ** ('न्' लोप तथा गुण)। 'मातापितरौ' में पिता की अपेक्षा 'माता' की महनीयता अधिक होने के कारण 'मातृ' शब्द का पूर्वनिपात हुआ है।

विशेष—"पुमान् स्त्रिया" १-२-६७ में "सरूपाणाम्" की अनुवृत्ति होने के कारण 'मातृ' तथा 'पितृ' शब्द में वैरूप्य होने से अप्राप्ति होने के कारण इस सूत्र की उपादेयता पृथक् प्रतीत होती है।

(९३७) पद—श्वशुरः, श्वश्र्वा। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्यां, शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—श्वश्रू के साथ श्वशुर की उक्ति में विकल्प से 'श्वशुर' शेष रहता है। उदा० श्वशुरौ-श्वश्रू-श्वशुरौ।

विवरण—यहाँ भी पूर्ववत् उल्लिखित दोनों अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार उपर्युक्त सूत्रार्थ निष्पन्न होता है। **उदाहरण—श्वशुरौ** (सास और ससुर)। **विग्रह**—श्वश्रूश्च श्वशुरश्च। एकशेष न होने पर—श्वश्रूश्वशुरौ (पक्ष में इतरेतर-द्वन्द्व समास, प्रथमा के द्विवचन में रूप।

(९३८) पद—त्यदादीनि, सर्वैः, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अन्य शब्दों के साथ त्यदादियों की उक्ति हो तो त्यदादि नित्य शेष रहते हैं। उदा० स च देवदत्तश्च > तौ। वा० त्यदादियों की परस्पर सहोक्ति हो तो परवर्ती शेष रहता है। उदा०

स च यश्च यौ, (सा च या च ये)। 'पूर्वशेषोऽपि दृश्यते' इति भाष्यम्। स च यश्च तौ। 'त्यदादितः शेषे पुन्नपुंसकतो लिङ्गवचनानि' (वा ७९९)। सा च देवदत्तश्च—तौ। तच्च देवदत्तश्च यज्ञदत्ता च—तानि। पुन्नपुंसकयोस्तु परत्वान्नपुंसकं शिष्यते। तच्च देवदत्तश्च

प्रत्यासत्त्या त्यदादिभिरेव सहोक्तावित्यर्थो मा भूदित्येतदर्थम्। त्यदादीनां मिथ इति। भाष्ये स्थितमेतत्। यत् परमिति। त्यदादिगणे यत् परं पठितं तच्छिष्यत इत्यर्थः, शब्दपरविप्रतिषेधाश्रयणादिति भावः। स च यश्च यौ, सा च या च ये इति। त्यदादिगणे यच्छब्दस्य तच्छब्दादूर्ध्वं पाठात् परत्वात् स एव शिष्यते इति भावः। पूर्वशेषोऽपीति। परशब्दस्येष्टवाचित्वात् क्वचित्पूर्वमपि शिष्यत इति भावः। अत्र 'द्विपर्यन्तानाम्' इति न भवति। अहं च भवांश्चावामिति भाष्योक्तेः। त्यदादित इति। आद्यादित्वात् षष्ठ्यर्थे तसिः। त्यदादीनां स्त्रीशेषेऽपि सहविवक्षितेषु यः पुमान् यच्च नपुंसकं तद्वशेन लिङ्गप्रतिपादकानि भवन्तीत्यर्थः। कानीत्याकाङ्क्षायामर्थात्त्यदादीन्येव सम्बध्यन्ते। सा च देवदत्तश्च ताविति। अत्र तच्छब्दः शिष्यते समभिव्याहृतदेवदत्तशब्दलिङ्गश्च। देवदत्तशब्दस्तु निवर्तत एव। पुन्नपुंसकयोरिति। सहोक्ताविति शेषः। परत्वादिति। पुंनपुंसकता

स च यश्च > यौ। सा च या च (ये)। भाष्यकार के मत में कहीं पूर्ववर्ती शब्द भी शेष रहता है। वा० त्यदादि के एकशेष में जो त्यदादि शेष रहता है, उसके लिङ्ग का निर्धारण एकशेष के पूर्व विद्यमान पुंलिङ्ग अथवा नपुंसक लिङ्ग-वाची शब्दों से होता है। उदा० स च देवदत्तश्च तौ। तच, देवदत्ता च, यज्ञदत्तश्च > तानि।

विवरण—प्रसङ्गप्राप्त त्यदादि–'सर्वनाम'—शब्दों के सम्बन्ध में 'एकशेष' का विधान बतलाया जा रहा है। 'अन्यतरस्याम्' का प्रभाव हटाने के लिए 'नित्य' पद का निवेश किया है। सूत्र द्वारा पहले यह निर्देश दिया जा रहा है कि "अन्य शब्दों के साथ प्रयुक्त त्यद्, तद् आदि सर्वनाम वाची शब्द शेष रह जाते हैं"। **उदाहरण**—तौ (वह और देवदत्त)। **विग्रह**—स च देवदत्तश्च। 'तद्' शब्द शेष रह गया। द्विवचन में 'तौ' (द् = अ, पररूप, वृद्धि) रूप बनेगा।

जब अनेक त्यदादि-शब्द परस्पर साथ रहें, तो वार्तिक द्वारा यह व्यवस्था की जा रही है कि "त्यदादि-गण-पाठ के अनुसार पूर्ववर्ती शब्दों की अपेक्षा उत्तरवर्ती पद शेष रह जाते हैं"। **उदाहरण**—यौ (वह और जो कोई) । **विग्रह**—स च यश्च। त्यदादि-गण में 'तद्' के अनन्तर 'यद्' का पाठ होने से वह शेष रह गया। इस प्रकार स्त्री-लिङ्ग के दोनों शब्दों में 'सा च या च' विग्रह होने पर 'ये' निष्पन्न होगा। भाष्यकार के अनुसार इस नियम में शिथिलता दिखलाई पड़ती है। अर्थात् कहीं कहीं गणपाठ के पूर्ववर्ती शब्द का प्रयोग भी दिखलाई पड़ता है। जैसे—स च यश्च—तौ[1] (वह और जो कोई) । इसके साथ ही दूसरे वार्तिक द्वारा यह भी सूचित किया जा रहा है कि 'त्यदादि शब्दों के एकशेष होने पर जो शब्द शेष रहता है उसके लिङ्ग का निर्धारण एकशेष होने के पूर्व विद्यमान पुंलिङ्गवाचक अथवा नपुंसक-लिङ्ग-वाचक शब्दों से होता है'। **उदाहरण**—(१) 'स च देवदत्तश्च=तौ (वह और देवदत्त)। इस उदाहरण में विग्रहावस्था के 'तद्' शब्द के अनुसार पुंलिङ्ग हुआ। (२) तच्च, देवदत्तश्च, यज्ञदत्ता च=तानि (वह पुस्तक, देवदत्त तथा यज्ञदत्ता)। इस उदाहरण में 'तत्' शब्द नपुंसकलिङ्ग में तथा 'देवदत्त' पुंलिङ्ग तथा 'यज्ञदत्ता' स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होने के कारण, शेष 'तद्' शब्द नपुंसक-लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। जहाँ पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग एक साथ प्रयुक्त हुए हों वहाँ नपुंसक-लिङ्ग-वाची शब्द शेष

---

१. "पूर्वशेषदर्शनाच्च। पूर्वस्य खल्वपि शेषो दृश्यते। स च यश्च तावानय, यावानयेति"।

—महाभाष्यम्।

ते । 'अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानामिति वक्तव्यम्' (वा० ८००) । कुक्कुटमयूर्याविमे ।

लिङ्गवचनानीत्यत्र पुमपेक्षया नपुंसकस्य पाठतः परत्वावगमादित्यर्थः । अद्वन्द्वेति । द्वन्द्व-तत्पुरुषविशेषणानां त्यदादीनां स्त्रीशेषे 'त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि' इत्येतन्न भवतीत्यर्थः । द्वन्द्व उदाहरति—कुक्कुटमयूर्याविमे इति । अयं च इयं च —इमे इत्यत्र 'त्यदादितः शेषे' इति पुंल्लिङ्गत्वं न भवति, किन्तु विशेष्यनिघ्नतैव । यद्यपि द्वन्द्वे उभयपदार्थप्रधानत्वात् उभयमपि विशेष्यम् । तथापि 'परवल्लिङ्गम्' इति परपदलिङ्ग-त्वात्तदधीनतैव विशेषणस्येति बोध्यम् । न च अयं च इयं च इत्यत्र स्त्रीशेष एव न भवति, 'पुमान् स्त्रिया' इत्युक्तत्वात् । अतः पुंनपुंसकतः लिङ्गविधेः प्रसक्तिः कथमिति वाच्यम्, 'परवल्लिङ्गम्' इति हि द्वन्द्वतत्पुरुषयोः परवल्लिङ्गविधिः । अतः द्वन्द्वविशेषणस्य तत्पुरुषविशेषणस्य चानुप्रयोगे तदेव लिङ्गमिति भाष्यकैयटयोः स्थितम् । ततश्च 'कुक्कुट-मयूर्याविमे' इति उदाहरणे—अयं च इयं च इति विग्रहे 'पुमान् स्त्रिया' इति पुंशेषेऽपि 'परवल्लिङ्गम्' इति विशेषणत्वात् स्त्रीलिङ्गत्वे सति तस्य 'त्यदादितः' इति पुंवत्त्वं प्राप्तमनेन निषिध्यत इति नानुपपत्तिः । क्वचिन्मूलपुस्तकेषु तु मयूरीकुक्कुटाविमावित्यपि दृश्यते तत्तु प्रकृतानुपयुक्तम्, अत्र मयूरीकुक्कुटाविति द्वन्द्वार्थस्य पुंल्लिङ्गतया इयं चायं च इमाविति तद्विशेषणस्यानुप्रयुज्यमानस्यापि 'पुमान् स्त्रिया' इति परिशिष्टस्य पुंल्लिङ्गस्य

रहता है । जैसे—'तच्च देवदत्तश्च' (वह पुस्तक और देवदत्त) विग्रह करने पर नपुंसक-लिङ्गवाची 'शेष' रहने से (द्वि-वचन में) ते रूप निष्पन्न होगा । तीसरे वार्तिक द्वारा कतिपय स्थलों के सम्बन्ध में दूसरे वार्तिक की प्रवृत्ति न होने का विवरण दिया जा रहा है । तदनुसार "द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास के विशेषणीभूत त्यदादियों के स्त्री-वाची शब्द शेष रहें तो (लिङ्ग और वचन) पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग नहीं होंगे' । अर्थात् वहाँ पर 'द्वन्द्व' और 'तत्पुरुष' समास में 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' नियम मान्य होगा । द्वन्द्व **विशेषणीभूत त्यदादि के उदाहरण**—(क) **कुक्कुटयमयूर्यौ इमे** (ये दो–मुर्गा और मोरनी) । (ख) **मयूरी-कुक्कुटौ इमौ** (ये दो–मोरनी और मुर्गा) । इन दोनों उदाहरणों—(क) और (ख) में—क्रमशः विशेषणीभूत 'इदम्' शब्द स्त्री-लिङ्ग (इमे) तथा पुंलिङ्ग (इमौ) में हैं । स्थिति इस प्रकार है—(क) में विग्रह—अयं कुक्कुटः, इयं च मयूरी । (ख) में विग्रह—इयं मयूरी, अयं च कुक्कुटः । दोनों उदाहरणों में 'इदम्' शब्द विशेषण-वाची है । (क) में पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिंङ्गवाची विशेष्य-शब्दों के अनुसार (विग्रह वाक्य में)—'अयम्' तथा 'इदम्' भी क्रमशः पुंलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्गवाची हैं । इनका एकशेष होने पर (अयं च इयं च) द्वितीय वार्तिक के अनुसार पुंलिङ्ग का प्रयोग नहीं हुआ, किन्तु तीसरे वार्तिक से निषेध होने के कारण द्वन्द्व समास के उत्तरवर्ती विशेष्यवाची 'मयूरी' शब्द के अनुसार स्त्रीलिङ्ग (इमे) का प्रयोग हुआ । इसी प्रकार (ख) में भी विशेषणीभूत 'इमौ' पुंलिङ्ग में (इयं च अयं च) प्रयुक्त हुआ–"परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः"[१] । (२) **तत्पुरुष के विशेषणीभूत तद् (त्यदादि) शब्द का उदाहरण—अर्धपिप्पल्यौ ते** (वह पीपल और वह आधीपीपल) । विग्रह की स्थिति इस प्रकार है—(अ) पिप्पल्याः अर्धम् > अर्धपिप्पली "अर्धं नपुंसकम्" से तत्पुरुष समास । (ब) सा अर्धपिप्पली च तत् पिप्पल्यर्धं च > अर्धपिप्पल्यौ ते । (तच्च सा च > ते) । इस प्रकार उदाहरण में विशेषण वाची 'तत्' पद स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ, क्योंकि उत्तरवर्ती 'पिप्पली' शब्द स्त्रीलिङ्गवाची है ।

---

१. "परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः" इति समासार्थस्य लिङ्गातिदेशात् तद्विशेषणस्य सर्वनाम्नः तल्लिङ्गत्वसिद्धेः" ।

मयूरीकुक्कुटाविमौ। तच्च सा च अर्धपिप्पल्यौ–ते। (९३९) ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री १।२।७३॥ एषु सहविवक्षायां स्त्री शिष्यते। 'पुमान् स्त्रिया' (सू ९३३) इत्यस्यापवादः। गाव इमाः। ग्राम्य इति किम्? रुरव इमे। पशुग्रहणं किम्? ब्राह्मणा इमे। सङ्घेषु किम्? एतौ गावौ। अतरुणेषु किम्? वत्सा इमे। 'अनेकशफेष्विति

इदम्शब्दस्य स्त्रीत्वाप्रसक्त्या तत्र 'त्यदादितः शेषे' इति पुंस्त्वविधेरप्रवृत्तत्वेन 'अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानाम्' इति निषेधस्यानुपयोगात्। तत्पुरुषे उदाहरति—**तच्चेति**। पिप्पल्या अर्धम् अर्धपिप्पली। 'अर्धं नपुंसकम्' इति तत्पुरुषः। अर्धपिप्पली च पिप्पल्यर्धं च अर्धपिप्पल्यौ। तच्च सा च ते। तत्र पिप्पल्यर्धशब्दविशेष्याभिप्रायं तदिति नपुंसकत्वम्। सेति स्त्रीत्वं तु अर्धपिप्पलीति विशेष्याभिप्रायम्। अत्र 'पुमान् स्त्रिया' इत्यस्य नैव प्रसक्तिः। किन्तु 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवत्' इति नपुंसकं शिष्टम्। तत्र 'परवल्लिङ्गम्' इति स्त्रीत्वम्। तस्य स्त्रीलिङ्गतया तद्विशेषणस्यापि 'परवल्लिङ्गम्' इति स्त्रीत्वम्। तस्य 'त्यदादितः शेषे' इति नपुंसकत्वं प्राप्तं निषिध्यते। एवञ्च ते इति स्त्रीलिङ्गमेव सिध्यति। यद्यपि स्त्रीत्वे नपुंसकत्वे वा ते इति द्विवचनस्य न कोऽपि विशेषः। तथाप्यर्धपिप्पल्यस्ताः इत्युदाहार्यम्। तच्च तच्च सा चेति विग्रहः।

(९३९) **ग्राम्यपशु। एष्विति**। तरुणभिन्नेषु ग्राम्याणां पशूनां सङ्घेष्वित्यर्थः। इह अनपुंसकेनेत्यनुवर्तनादाह—**पुमान् स्त्रियेत्यस्यापवाद इति**। गौश्च गौश्च गौश्च इति पुंल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गेषु गोशब्देषु सहविवक्षितेषु 'पुमान् स्त्रिया' इत्येतदबाधित्वा स्त्री शिष्यत इति भावः। ननु स्त्रीशेषे पुंशेषे वा न कोऽपि रूपभेद इत्यत आह—**इमा इति**। अनुप्रयोगे रूपभेदः फलमिति भावः। 'त्यदादितः शेषे' इति न भवति, 'गाव इमाः' इति भाष्यप्रयोगादित्याहुः। **रुरव इमे इति**। रुरुः कृष्णाख्यो मृगः। अग्राम्यपशुत्वान्न स्त्री शिष्यते। किन्तु 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः। ततश्चानुप्रयोगे इमे इति पुंल्लिङ्गत्वमेव। **ब्राह्मणा इमे इति**। ब्राह्मणी च ब्राह्मणाश्चेति विग्रहः। अपशुत्वान्न स्त्री शिष्यते। किन्तु 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः। अन्यथा ब्राह्मण्यः इमा इति स्यात्। **एतौ गावाविति**। स्त्रीलिङ्गपुंल्लिङ्गयोः सहोक्तौ असङ्घत्वान्न स्त्री शिष्यते। सङ्घशब्दो हि बहूनां समुदाये वर्तते, अन्यथा एकशेषस्यानेकविषयत्वादेवानेकपरिग्रहे सिद्धे किं तेनेति भावः। स्त्रीशेषे तु एते इति अनुप्रयोगे रूपं स्यात्। **वत्सा इमे इति**। वत्साश्च वत्साश्च इति

विशेष—यद्यपि 'ते' रूप स्त्री-नपुंसक साधारण होने से ('तद्' के स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग, दोनों ही में प्रयोगाकार में समान रूप बनने से) द्वितीय-वार्तिक के बाध करने का फल दृष्टिगत नहीं होता, तथापि 'अर्धपिप्पल्यः ताः' (तच्च, तच्च, सा च > ताः) में स्त्रीलिङ्ग के प्रयोगार्थ अभीष्टसिद्धि के लिये तृतीय वार्तिक की आवश्यकता है। स्थिति इस प्रकार होगी—(अ) पिप्पल्याः अर्धम् > अर्धपिप्पली। (ब) तत् पिप्पल्यर्धं च, तत् पिप्पल्यर्धं च, सा अर्धपिप्पली च > अर्धपिप्पल्यः ताः।

(९३९) पद—ग्राम्यपशुसङ्घेषु, अतरुणेषु, स्त्री। **अनुवृत्ति**—शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तरुणभिन्न ग्राम्यपशुसङ्घ की सहोक्ति में स्त्री-वाचक शेष रहता है। "पुमान् स्त्रिया" (सू० ९३३) का यह अपवाद है। उदा० गावः इमाः। 'ग्राम्य क्यों कहा? रुरवः इमे (आरण्य होने से शेष नहीं हुआ)। 'पशु क्यों कहा? ब्राह्मणाः इमे (मनुष्य होने के कारण नहीं हुआ)। 'सङ्घेषु' क्यों कहा? एतौ गावौ ('दो' होने के कारण नहीं हुआ)। 'अतरुणेषु' क्यों कहा?

वाच्यम्' (वा ८०५)। अश्वा इमे। इह सर्वत्रैकशेषे कृतेऽनेकसुबन्ताभावाद् द्वन्द्वो न। तेन 'शिरसी' 'शिरांसि' इत्यादौ समासस्येत्यन्तोदात्तः प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावश्च न। पन्थानौ—पन्थानः इत्यादौ समासान्तो न।

इत्येकशेषप्रकरणम्।

विग्रहः। तरुणत्वान्न स्त्री शिष्यते। अन्यथा वत्सा इमा इत्यनुप्रयोगः स्यात्। अनेकशफेष्विति। वाच्यमिति। वार्तिकमिदम्। एकशफा अश्वादयः, तेषां सहोक्तौ ग्राम्यपश्विति न भवति। अश्वा इमे इति। एकशफत्वान्न स्त्री शिष्यते। ततश्चानुप्रयोगे पुंल्लिङ्गत्वमिति भावः। ननु 'सरूपाणाम्' इति सूत्रे 'तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे' इत्यतः द्वन्द्वग्रहणानुवृत्त्या द्वन्द्वे एकशेष इति भाष्यात् कृते द्वन्द्वे एकशेषः स्यादित्यत आह—इहेति। इहोदाहृतेषु एकशेषविषयेषु सर्वत्र प्रसक्तं द्वन्द्वमनवकाशत्वादेकशेषो बाधते। कृते त्वेकशेषेऽनेकाभावात् द्वन्द्वो नेत्यर्थः। द्वन्द्वसमासे एकशेषः इति भाष्यं तु द्वन्द्वे प्रसक्ते सहविवक्षायामेकशेष इति व्याख्येयम्। ननु कृत एव द्वन्द्वे एकशेषो भवतु, का हानिरित्यत आह—तेनेति। द्वन्द्वात् प्रागेवैकशेषाश्रयणेनेत्यर्थः। कृते द्वन्द्वे एकशेषाभ्युपगमे शिरसी इति द्विवचने शिरांसीति बहुवचने च समासस्येत्यन्तोदात्तः स्यात्, प्राण्यङ्गत्वात् 'द्वन्द्वश्च प्राणि' इत्यादिना एकवद्भावश्च स्यादित्यर्थः। आदिना शिरोभ्यां शिरोभिरित्यादिसङ्ग्रहः। पन्थानाविति। द्वन्द्वे कृते एकशेषाभ्युपगमे पन्थानौ पन्थानः, पथिभ्याम् पथिभिः

वत्साः इमे (तरुण होने से नहीं हुआ)। वा० (ग्राम्यपशु) अनेक शफवाले हों—यह कहा जाय। उदा० अश्वाः इमे (एक खुरवाले होने से "पुमान् स्त्रिया" (सू० ९३३) से एकशेष होगा)। उपर्युक्त उदाहरणों में एकशेष करने पर अनेक सुबन्तों के न होने से द्वन्द्व नहीं हुआ। इस कारण 'शिरसी' 'शिरांसि' इत्यादि प्रयोगों में "समासस्य" ६-१-१२३ से अन्तोदात्त एवम् प्राणी के अङ्ग होने से एकवद्भाव भी नहीं होता। 'पन्थानौ' 'पन्थानः' इत्यादि उदाहरणों में समासान्त ('अ'-प्रत्यय) भी नहीं होता।

विवरण—'एकशेष' प्रकरण का यह अन्तिम सूत्र है। केवल विधीयमान कार्य हेतु 'शेषः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्तिम सूत्र में 'पशुओं' को अभिलक्षित कर एकशेष की संभावना पर विचार किया जा रहा है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "तरुणावस्था-भिन्न ग्रामीण पशुओ के समूह का कथन होने पर स्त्री-पशु-वाची शब्द रह जाता है"। अर्थात् पुंलिङ्ग पशुवाची शब्द हट जाते हैं। इस सूत्र की उपादेयता यह बतलाई गई है कि "पुंमान् स्त्रिया" १-२-६७ का यह अपवाद है"। "पुमान् स्त्रिया" १-२-६७ से पुंलिङ्ग शब्द का शेष प्राप्त था, इस सूत्र (९३९) से ग्राम्य-पशुओं के समूह (पुरुष एवं स्त्री) के कथन में उसके विपरीत स्त्री-वाचक शेष रह गया। **उदाहरण—गावः इमाः** (ये बैल एवं गायें)। **विग्रह**—गौश्च, गौश्च, गौश्च। यद्यपि 'गो' शब्द के दोनों लिङ्गों में समान रूप होने से पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्गवाची किसी भी शब्द के शेष में कोई अन्तर नहीं था, तो भी अनुप्रयोग होने पर विशेषणवाची 'इदम्' शब्द के रूपों में अन्तर की प्रतीति हो जायगी। उस स्पष्ट प्रतीति के लिये 'इमाः' अनु-प्रयोग सार्थक है।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'ग्राम्य' पद का निवेश होने से रुरवः इमे (ये काले मृग रुरुश्च, रुरुश्च, रुरुश्च) में वन्य पशुसंघ होने पर स्त्रीलिङ्गवाची शब्द शेष नहीं रहा। अतः "पुमान् स्त्रिया" (सू० ९३३) के अनुसार पुंलिङ्ग-वाची शब्द अवशिष्ट रहा। उसकी प्रतीति 'इमे' अनु-

इत्यादौ 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्ययः समासान्तः स्यादिति भावः। न चात्र 'इतोऽत्सर्वनाम' इति सर्वनामस्थाने परेऽकारविधानाल्लिङ्गात् समासान्तः सुपरिहरः। 'इतोऽत्' इत्युक्तेऽपि सावित्यनुवर्त्यं पन्था इति सिद्धेरिति वाच्यम्, 'पथो विभाषा' इति समासान्ताभावे अपन्थानावित्यादौ 'इतोऽत्' इति सूत्रस्य सावकाशत्वात्।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमायाम् एकशेषप्रकरणं समाप्तम्।

प्रयोग से विदित होती है। (२) सूत्र में 'पशु' पद का निवेश होने से पशुभिन्न ग्राम्य प्राणियों के संघ की विवक्षा में उक्त सूत्र की प्रवृत्ति न होने के कारण **ब्राह्मणाः इमे** (ये ब्राह्मणी और ब्राह्मण—'ब्राह्मणी च ब्राह्मणाश्च') में 'ब्राह्मणी' शब्द शेष नहीं रहा। पुंलिङ्गवाची शब्द शेष रहा। (३) सूत्र में 'सङ्घे' पद का निवेश होने से द्वित्व संख्या की विवक्षा में **एतौ गावौ** (ये दो बैल और गाय) में स्त्रीलिङ्गवाची शब्द शेष नहीं रहा, किन्तु नियमानुसार पुंलिङ्गवाची शब्द शेष रहा। उसकी प्रतीति **एतौ** अनुप्रयोग से होती है। (४) 'अतरुणेषु' पद के निवेश का यह फल है कि तरुण-वाची ग्राम्य-पशु-संघ की विवक्षा होने से **वत्साः इमे** (ये बछिया और बछड़े—वत्साश्च वत्साश्च) में स्त्रीवाचक शब्द शेष नहीं रहा। पुंलिङ्गवाची शब्द शेष रहा। अन्यथा 'वत्साः इमाः'—इस प्रकार अनुप्रयोग होता।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र में जिन ग्राम्य पशुओं का समावेश हुआ है, उनके सम्बन्ध में वार्तिक द्वारा यह निर्देश दिया जा रहा है कि '**वे अनेक खुरवाले हों**'। इसके फल स्वरूप **अश्वाः इमे** (ये घोड़ी और घोड़े—अश्वाश्च अश्वाश्च) में स्त्री-वाचक 'अश्वाः' शेष नहीं रहा। अन्यथा 'अश्वाः इमाः' अनुप्रयोग होता। अश्व एक खुर वाला पशु है।

(२) उपर्युक्त एकशेष-प्रकरण के सभी उदाहरणों में द्वन्द्व-समास प्राप्त था, किन्तु द्वन्द्व-समास की प्रसक्ति होने पर एकशेष को कहीं भी अवसर नहीं मिलता। निरवकाश होने के कारण एकशेष होने के पश्चात् द्वन्द्व-समास की प्राप्ति नहीं होती, द्वन्द्व-समास के लिये अनेक सुबन्तों का रहना अनिवार्य है। यदि पहले द्वन्द्व-समास की प्रवृत्ति की जाय, तदनन्तर एकशेष किया जाय तो शब्द-रूप में साम्य होने पर भी स्वर-विधान की विषमता बाधक होगी। अतः द्वन्द्व-समास नहीं किया जाता। अन्यथा **शिरसी, शिरांसि** तथा '**शिरोभ्यां**' '**शिरोभिः**' इत्यादि प्रयोगों में "समासस्य" (६-१-१२३) सूत्र से अन्तोदात्त हो जाता तथा प्राणी का अङ्ग होने के कारण "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य-सेनाङ्गानाम्" २-४-२ सूत्र से एकवद्भाव (एकवचन) भी हो जाता। इसके अतिरिक्त **पन्थानौ-पन्थानः** एवं '**पथिभ्यां**'-'**पथिभिः**' इत्यादि प्रयोगों में "ऋक्-पूरब्धूःपथामानक्षे" ५-४-७४ सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय भी प्राप्त होता। अतः उपर्युक्त अन्तोदात्त, एकवद्भाव तथा समासान्त विधानों को अवसर न देने के लिये द्वन्द्व के अपवादस्वरूप एकशेष होने से ही अभीष्ट सिद्धि होती है।

एकशेष-प्रकरण समाप्त।

सर्वसमासशेषप्रकरणम्

कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः । परार्थाभिधानं वृत्तिः । वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः । स द्विविधः—लौकिकोऽलौकिकश्च । परिनिष्ठितत्वात्साधुर्लौकिकः । प्रयोगानर्होऽसाधुरलौकिकः । यथा राज्ञः पुरुषः, राजन् अस् पुरुष सु इति । अविग्रहो

अथ प्रसङ्गात् सर्वसमासोपयुक्तं प्रकीर्णकं प्रकरणमारभते—**कृत्तद्धितेति** । कृदन्ताः तद्धितघटिताः समासा एकशेषाः सनादिप्रत्ययान्तधातवश्चेति वृत्तयः पञ्चविधा इत्यर्थः । वृत्तिसामान्यलक्षणमाह—**परार्थाभिधानं वृत्तिरिति** । 'समर्थः पदविधिः' इति सूत्रे भाष्ये स्थितमेतत् । अभिधानमिति करणे ल्युट् । सामान्ये नपुंसकम् । विग्रहवाक्यावयवपदार्थेभ्यः परः अन्यः योऽयं विशिष्टैकार्थः तत्प्रतिपादिका वृत्तिरित्यर्थः, प्रक्रियादशायां प्रत्येकमर्थवत्त्वेन प्रथमविगृहीतानां पदानां समुदायशक्त्या विशिष्टैकार्थप्रतिपादिका वृत्तिरिति यावत् । समुदायशक्तिश्च 'समर्थः पदविधिः' इति परिभाषया लभ्या । तत्र समासतद्धितयोः पदविधित्वं स्पष्टमेव, 'सुप्सुपा' इत्यनुवर्त्य समासविधानात्, सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तेः वक्ष्यमाणत्वात् । कृतामपि केषाञ्चित् 'कर्मण्यण्' इति उपपदनिमित्तकानां पदविधित्वमस्त्येव । 'सुप आत्मनः क्यच्' इत्यादीनामपि पदविधित्वमस्त्येव । एकशेषविधावपि द्वन्द्वे इत्यनुवृत्तेः द्वन्द्वविषये तद्विधानात् एकार्थीभावोऽस्त्येव इति मञ्जूषादौ विस्तरः । **वृत्त्यर्थावबोधकमिति** । यद्यपि वृत्तावेव समुदायशक्त्या विशिष्टैकार्थप्रतिपादकता, न तु वाक्ये इति समर्थसूत्रे भाष्ये प्रपञ्चितम् । तथापि समासवृत्तियोग्यविभक्त्यन्तपदानां पृथक्प्रयुज्यमानानां समूहो विग्रहवाक्यमिति बोध्यम् । **परिनिष्ठितत्वादिति** । व्याकरणसंस्कृतत्वादित्यर्थः । **प्रयोगानर्ह इति** । व्याकरणसंस्कृतत्वाभावादित्यर्थः । यथेत्युदाहरणप्रदर्शने । **राज्ञः पुरुष इति** । लौकिकविग्रहवाक्यमिति शेषः । **राजन् + अस्**

मूलार्थ एवं विवरण—समास-विधान के अनन्तर तदुपयोगी विषयों का स्मरण कराने हेतु **सर्वसमासशेष** प्रकरण के अन्तर्गत प्रायः पूर्व-निरूपित सभी बातों का समाकलन किया जा रहा है। तदनुसार सर्वप्रथम पूर्व निरूपित पाँच वृत्तियों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया गया है। ये वृत्तियाँ हैं—१-कृत्, २-तद्धित, ३-समास, ४-एकशेष तथा ५-सनाद्यन्त धातु। प्रसङ्गप्राप्त 'वृत्ति' की व्याख्या आवश्यक है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि प्रक्रियादशा में प्रत्येक पद अर्थवत् होता है। प्रत्यय के संसर्ग से अथवा किसी दूसरे पद के संयोग से उससे जो विशेष अर्थ ध्वनित होता है—उसे वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार भट्टोजि दीक्षित ने वृत्ति के लक्षण (**परार्थाभिधानं वृत्तिः**) में कैयट के मतानुसार—'दूसरे शब्द के अर्थ का अभिधान' (परस्य शब्दस्य योऽर्थस्तस्याभिधानं शब्दान्तरेण यत्र सा)—इस प्रकार अर्थ स्वीकार किया है। समास-वृत्ति के सन्दर्भ मे सामान्यतः 'वृत्ति' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये विग्रह-वाक्य की उपयोगिता है। इस प्रकार वृत्ति के अर्थ का निदर्शक विग्रहवाक्य है। अतः समास का मूल आधार विग्रह-वाक्य ही है। वह विग्रह भी है और साथ ही वाक्य भी है[1]। **विग्रह** दो प्रकार का है—**१-लौकिक और २-अलौकिक**। व्याकरणानुसार प्रतिपादित पदों का विग्रह (लोक में प्रयुक्त होने के कारण) **लौकिक** है। जैसे—राज्ञः पुरुषः। व्याकरणोक्त नियमों से असंस्कृत पद लोक में प्रयुक्त नहीं होते। अतः उसे **अलौकिक विग्रह**—कहा गया है। अर्थात् वह लोकप्रयोग करने में अयोग्य माना

---

१. विग्रहं च तद् वाक्यं चेति विग्रहवाक्यम्। अथवा विशेषेण ग्रहणं विग्रहः। विग्रहार्थं तद् वाक्यं विग्रहवाक्यम्। विग्रह-वाक्यस्यार्थो विग्रहवाक्यार्थः। —न्यासः २-१-१।

नित्यसमासः, अस्वपदविग्रहो वा। समासश्चतुर्विध इति तु प्रायोवादः। अव्ययीभावतत्पुरुष-बहुव्रीहिद्वन्द्वाधिकारबहिर्भूतानामपि 'सह सुपा' (सू ६४९) इति समासविधानात्। पूर्व-पदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, उभय-पदार्थप्रधानो द्वन्द्वः, इत्यपि प्राचां प्रवादः प्रायोऽभिप्रायः। सूपप्रति, उन्मत्तगङ्गम्—इत्याद्यव्ययीभावे, अतिमालादौ तत्पुरुषे, द्वित्राः इत्यादिबहुव्रीहौ, दन्तोष्ठम् इत्यादिद्वन्द्वे

पुरुष+सु इति। अलौकिकविग्रहवाक्यमिति शेषः। **अविग्रहो नित्यसमास इति।** लौकिकविग्रहवाक्यरहित इत्यर्थः, समासस्य नित्यत्वादिति भावः। **अस्वपदेति।** समस्य-मानपदसमानार्थकपदान्तरकृतविग्रहो वा नित्यसमास इत्यर्थः। सञ्ज्ञाविषयसमासे तु वाक्येन सञ्ज्ञानवगमेऽपि वृत्तिघटकपदज्ञापनाय समस्यमानपदार्थबोधकवाक्यप्रयोगो भवत्येव। तत्र समासनित्यत्ववादस्तु वाक्यस्य वृत्तिसमानार्थकत्वाभावात् गौण इत्याहुः। **चतुर्विध इति।** अव्ययीभावः, तत्पुरुषः, बहुव्रीहिः, द्वन्द्वश्चेति चतुर्विध इत्यर्थः। **प्रायोवाद इति।** प्रायस् इत्यव्ययं बाहुल्ये। बाहुल्याभिप्रायकश्च तस्य चातुर्विध्यप्रवाद इत्यर्थः। कुत इत्यत आह—**अव्ययीभावेति।** **बहिर्भूतानामपीति।** समासानामिति शेषः। **प्रायोऽभिप्राय इति।** बाहुल्यतात्पर्यक इत्यर्थः। **सूपप्रतीति।** इह द्वन्द्वे चेत्यनन्तरं श्रुतम् अभावादितिपदम् अव्ययीभावे इत्यनन्तरं, तत्पुरुषे इत्यनन्तरं, बहुव्रीहावित्यनन्तरं चान्वेति। सूपप्रतीत्यव्ययीभावे उत्तरपदार्थप्रधानतया, उन्मत्तगङ्गं देशः, लोहितगङ्गं देशः इत्यव्ययीभावेऽन्यपदार्थप्रधानतया पूर्वपदार्थप्राधान्याभावादित्यर्थः। अतिमालादौ तत्पुरुषे पूर्वपदार्थप्रधानतया उत्तरपदार्थप्राधान्याभावादित्यर्थः। द्वित्रा इति बहुव्रीहौ

जाता है। अतः शास्त्रीय सर्वविध कार्यों का सम्पादन अलौकिक विग्रह-वाक्य में किया जाता है। जैसे—राजन्+ङस्, पुरुष+सु। **नित्य समास में लौकिक विग्रह नहीं होता।** अथवा उसका विग्रह अपने पद से नहीं होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समास में आये हुए पदों के पर्यायवाची शब्दों से विग्रह किया जाने वाला नित्य समास कहा जाता है, अतः उसे **अस्वपद विग्रह** भी कहते हैं। अर्थात् नित्यसमास में समस्यमान पदों के साथ विग्रह न होकर उसके पर्याय-वाचक किसी शब्द के साथ विग्रह का निर्वाह किया जाता है।

प्रायः ऐसी मान्यता है कि समास चार प्रकार के हैं। वे अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व हैं। इनके अतिरिक्त एक ऐसा समास और है, जो अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व के अधिकार में नहीं आता। उसकी समास संज्ञा है तथा उसका विधायक सूत्र है—"सह सुपा" २-१-४। इसका योगविभाग कर 'सुबन्त का सुबन्त के साथ' (सह सुपा) समास होता है। वरद-राज भट्टाचार्य ने इसे **केवल-समास** कहा है। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित क्रमप्राप्त चारों समासों के लक्षणों को बतलाया जा रहा है। ये लक्षण सर्वत्र निर्दोष नहीं हैं। तथापि लोकव्यवहारो-पयोगी हैं। लक्षण के दो प्रयोजन बतलाये गए हैं—१–इतर-व्यावृत्ति तथा २–व्यवहार—"व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्"। निर्दोष लक्षण में इन तीनों का अभाव होना चाहिये—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव। लक्ष्य में लक्षण की अप्रवृत्ति को **अव्याप्ति** कहा गया है। अलक्ष्य में लक्षण की प्रसक्ति को **अतिव्याप्ति** कहते हैं। किसी भी अभिमत लक्ष्य में लक्षण न जाना **असम्भव** कहलाता है। अतः प्राचीनोक्त समास के लक्षण व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी समझे जायें। अन्यथा उन लक्षणों का निर्देश कर दूषणोपन्यास न किया गया होता।

प्राचीनोक्त लक्षण इस प्रकार हैं—जिसमें पूर्वपद का अर्थ प्रधान हो, वह **अव्ययीभाव** समास है। इस लक्षण की निर्दोषता के बाधक दो उदाहरण दिये जारहे हैं, जिनमें पूर्व पद का अर्थ प्रधान

चाभावात्। तत्पुरुषविशेषः कर्मधारयः। तद्विशेषो द्विगुः। अनेकपदत्वं द्वन्द्वबहुव्रीह्योरेव। तत्पुरुषस्य क्वचिदेवेत्युक्तम्। किं च—

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥

सुपां सुपा, राजपुरुषः। तिङा, पर्यभूषयत्। नाम्ना, कुम्भकारः। धातुना, कटप्रूः—

उभयपदार्थप्रधानतयाऽन्यपदार्थप्राधान्याभावादित्यर्थः। दन्तोष्ठमित्यादिद्वन्द्वे समाहारस्यैव प्रधानतया उभयपदार्थप्राधान्याभावादित्यर्थः। तत्पुरुषविशेषः कर्मधारय इति। 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय' इत्युक्तेरिति भावः। तद्विशेषो द्विगुरिति। कर्मधारयविशेष इत्यर्थः। 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः' इत्यादिरिति भावः। अनेकपदत्वमिति। द्वित्रिचतुरादिपदकत्वमित्यर्थः। 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिगतस्यानेकग्रहणस्य द्वन्द्वविधावप्यनुवृत्तेरिति भावः। क्वचिदेवेति। द्व्यह्नजाव इत्यादावित्यर्थः। इत्युक्तमिति। भाष्यादाविति शेषः। किञ्चेति। अव्ययमिदं विशेषान्तरप्रदर्शने। सुपां सुपेति। सुबन्तानां सुबन्तेन तिङन्तेन प्रातिपदिकेन धातुना च समासः। अथेति पूर्ववाक्यव्यवच्छेदे। तिङामिति। तिङन्तानां तिङन्तेन सुबन्तेन च समास इत्येवं षड्विधः समासो ज्ञेय इत्यर्थः। सुपेति। सुपेत्यस्योदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः। राजपुरुष इति। राज्ञ इत्यस्य षष्ठ्यर्थान्तस्य पुरुष इति सुबन्तेन समासः। तिङेति। सुपा तिङेत्यस्योदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः। पर्यभूषयदिति। 'सह सुपा' इत्यत्र सहेति योगविभागात् परीति सुबन्तस्य तिङन्तेन समासः। नाम्नेति। सुपां प्रातिपदिकेन समासे उदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः।

नहीं हैं। वे हैं—सूपप्रति तथा उन्मत्तगङ्गम्। 'सूपप्रति' में उत्तरपद का अर्थ प्रधान है। विग्रह से यह स्पष्ट हो जायगा—सूपस्य लेशः (दाल की कुछ मात्रा)। यहाँ लेश अर्थ में 'प्रति' अव्यय है। वह उत्तर पद में है तथा उसका ही अर्थ मुख्य है। दूसरे अव्ययीभाव के उदाहरण 'उन्मत्तगङ्गम्' में अन्यपदार्थ प्रधान है। २–प्राचीनोक्त तत्पुरुष समास का लक्षण यह है—जिसमें उत्तर पद का अर्थ प्रधान हो। यह लक्षण भी 'अतिमालः' में अव्याप्त है, क्योंकि यहाँ (अतिक्रान्तः मालाम्) पूर्वपद का अर्थ प्रधान है, न कि उत्तर पद का। ४–उभय अर्थात् दोनों पदों का अर्थ जहाँ प्रधान हो, वहाँ द्वन्द्व समास होता है। 'द्वन्द्व' में भी "द्वन्द्वे च" २-२-२९ सूत्र में 'अनेकम्' पद की अनुवृत्ति के कारण चार्थ में अनेक पदों का समास होता है। यह लक्षण भी दन्तोष्ठम् में असम्भव होने से दोषग्रस्त है, क्योंकि दन्तोष्ठम् में समूह के अर्थ का प्राधान्य है, न कि दोनों पदों का अर्थ। ३–समस्यमान पदों के अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की जहाँ प्रधानता हो उसे बहुव्रीहि कहते हैं। इस लक्षण में भी 'द्वित्राः' उदाहरण में दोष दिखलाया गया है, क्योंकि द्वित्राः में दोनों पदों का अर्थ प्रधान है। तत्पुरुष का व्याप्य भेद कर्मधारय है। वही यदि संख्यापूर्वक रहे तो 'द्विगु' कहलाता है।

बहुव्रीहि और द्वन्द्व में दो से अधिक (अनेक) पद होते हैं। बहुव्रीहि में यह लाभ "अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ सूत्र में प्रयुक्त 'अनेकम्' पद के कारण होता है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार भी सहमत हैं। तत्पुरुष में भी दो पदों से अधिक पदों का समास कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है। जैसे द्व्यह्नजातः। इस उदाहरण में तीन पद हैं—द्वि, अहन् तथा जात—द्वे अहनी जाते।

एक प्राचीन कारिका में समासों के छह भेद इस प्रकार बतलाये हैं—

"सुपां-सुपा, तिङा, नाम्ना, धातुनाऽथ तिङां तिङा।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥"

अजस्रम् । तिङां तिङा **पिबतखादता, खादतमोदता** । तिङां सुपा, **कृन्त विचक्षणेति यस्यां क्रियायां सा कृन्तविचक्षणा** । **एहीडादयोऽन्यपदार्थे इति मयूरव्यंसकादौ पाठात्समासः** ।

इति सर्वसमासशेषप्रकरणम् ।

कुम्भकार इति । 'उपपदमतिङ्' इति कुम्भस्येति षष्ठयन्तस्य कारेति प्रातिपदिकेन समासः । 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इत्युक्तेरिति भावः । **धातुनेति** । सुपां धातुना समासे उदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः । **कटप्रूरिति** । 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च' इति वार्तिकेन 'प्रु गतौ' इति धातुना समासो निपातितः, नतु तिङन्तेनोपपदसमास इति भ्रमितव्यम्, क्विब्विधाविह सप्तमीनिर्देशाभावेन उपपदत्वाभावात् । अथ सुपां धातुनोदाहरणान्तरमाह—**अजस्रमिति** । 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' इति सूत्रे रप्रत्ययविधौ जस्धातुना सह नञ्समासो निपातितः । **तिङां तिङेति** । समासे उदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः । **पिबतखादतेति** । मयूरव्यंसकादित्वात् तिङन्तस्य तिङन्तेन समासः । **तिङां सुपेति** । समासे उदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः । **कृन्तविचक्षणेति** । हे विचक्षण कृन्त छिन्धीत्यर्थः । इह तिङन्तस्य सुबन्तेन समासः कथमित्यत आह—**एहीडादय इति** । अत्र सुपां तिङेत्यनेनैव तिङां सुबन्तेनेत्यस्यापि

अर्थात् १–सुबन्त का सुबन्त के साथ, २–सुबन्त का तिङन्त के साथ, ३–सुबन्त का नाम के साथ, ४–सुबन्त का धातु के साथ, ५–तिङन्त का तिङन्त के साथ तथा ६–तिङन्त का सुबन्त के साथ समास होता है । इनके क्रमशः उदाहरण भी दिये जाते हैं—१–पदद्वय सुबन्त का समास—**राजपुरुषः** (षष्ठी तत्पुरुष) । २–पूर्वपद सुबन्त एवं उत्तरपद तिङन्त का समास—**पर्यभूषयत्** । यह समास "सह सुपा" २-१-२९ सूत्र के योगविभाग के कारण सम्भव हुआ है । ३–पूर्वपद सुबन्त एवम् उत्तरपद प्रातिपदिक का समास—**कुम्भकारः** ('गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' को अभिलक्षित कर उपपद समास) । ४–पूर्वपद सुबन्त एवम् उत्तरपद धातु का समास—**कटप्रः**—'क्विब्वचि-प्रच्छि-आयत-स्तु-कटप्रु-जु-श्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च' वार्तिक द्वारा निपातित । तथा **अजस्रम्**—"नमि-कम्पि-स्मि-अजस-कम-हिंस-दीपो रः" ३-२-१६७ सूत्र द्वारा 'र' प्रत्यय के विधान में 'जस्' धातु के साथ निपातित 'नञ्' समास । ५-तिङन्त तथा तिङन्त का समास—**पिबतखादता** (मयूरव्यंसकादि गण में पठित) ६–तिङन्त तथा सुबन्त का समास—**कृन्तविचक्षणा** । 'हे विचक्षण कृन्त' अर्थात् 'हे बुद्धिमान्, काटो' इस प्रकार कीजानेवाली क्रिया—इस अर्थ में 'एहीडादयोऽन्यपदार्थे' गणसूत्र के निर्देशानुसार "मयूरव्यंसकादयश्च" (७५४) सूत्र से अन्यपद के अर्थ में तत्पुरुष समास का निपातन है । 'कृन्त' शब्द तिङन्त है तथा 'विचक्षण' सुबन्त । अन्यपदार्थ में स्त्रीत्व की विवक्षा होने पर 'टाप्' प्रत्यय होकर 'विचक्षणा' रूप निष्पन्न हुआ है ।

विशेष—(१) कुछ लोगों को पाँच प्रकार का कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है । 'सुपां तिङा' अर्थात् 'सुबन्त का तिङन्त' के साथ समास होता है—इस कथन से ही 'तिङन्त का सुबन्त के साथ समास' होने की ध्वनि स्वतः सिद्ध है ।

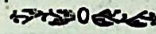
(२) दूसरे आचार्यों ने 'सुपां तिङा' इसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है । वे सुबन्त की स्थिति पूर्वपद में तथा तिङन्त की स्थिति उत्तरत्र मानते हैं । एवं 'तिङां सुपा' की व्याख्या में भी

सर्वसमासान्तप्रकरणम्

(९४०) ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ५ । ४ । ७४ ॥ अ अनक्षे इति च्छेदः । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः स्यात्, अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अर्धर्चः ।

ग्रहणात् समासस्य षड्विधत्वं चिन्त्यम् । पञ्चविधत्वमेव युक्तम्, उभयत्रापि सुप्तिङ्घटितत्वाविशेषादित्याहुः । अन्ये तु सुपां तिङन्त्यनेन सुबन्तपूर्वपदकतिङन्तोत्तरपदकसमासस्य ग्रहणम् । तिङां सुबन्तेनेत्यनेन तु तिङन्तपूर्वपदकः सुबन्तोत्तरपदकसमासस्य ग्रहणमित्याहुः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमायां सर्वसमासशेषप्रकरणं समाप्तम् ।



(९४०) अथ सर्वसमाससाधारणसमासान्ता निरूप्यन्ते—ऋक्पूरब्धूः । छेद इति । सूत्रे अ इति लुप्तप्रथमान्तनिर्देश इति भावः । 'समासान्ता' इत्यधिकृतम् । ऋगादिभिः

'तिङन्त' पद पूर्व में तथा सुबन्त पद का उत्तरत्र होना अनिवार्य है । तदनुसार छह भेदों का सामञ्जस्य किया गया है ।

स्मरणीय—इस प्रकार पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट पाँचों वृत्तियों के अन्तर्गत 'समास' तथा 'एकशेष' का निरूपण कर इस प्रकरण के उपसंहार-स्वरूप समासोपयोगी सभी बातों का स्मरण करा दिया गया है । इस हेतु भट्टोजि दीक्षित ने इस प्रकरण का नाम **सर्वसमासशेष** रखा है । इस प्रकरण की सारभूत व्याख्या उन्होंने अपने शब्दों में की है । अतः यह प्रकरण सूत्रों से रहित है । समास-सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातें समास-प्रकरण के आरम्भ में विस्तार के साथ 'उपक्रम' के अन्तर्गत समाविष्ट हो चुकी हैं । अतः जिज्ञासु वहीं देखें ।

सर्वसमासशेष-प्रकरण समाप्त ।



प्रसङ्गसंगति—'समास' प्रकरण के अनन्तर भट्टोजि दीक्षित समान्यतः सब समासों में उपयोगी 'समासान्त' प्रत्ययों का निरूपण कर रहे हैं । वैसे उन्होंने प्रत्येक समास के प्रकरण में भी प्रसङ्ग-प्राप्त समासान्त—प्रत्ययों का निरूपण उन उदाहरणों की सिद्धि के समय भी किया है । इस सन्दर्भ मे यह सूचनीय है कि "समासान्ताः" ५-४-६८ अधिकार के साथ ही "तद्धिताः" ४-१-७६ का भी अधिकार है । दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो प्रत्यय समासान्त के रूप में विहित हैं, वे सब समास के अवयव अर्थात् एकदेश होंगे । उसका फल यह है कि समासान्त प्रत्ययों सहित शब्द तत्तत्समास का परिचायक होता है । जैसे 'उपराजम्' में 'टच्' प्रत्यय समासान्त हुआ है, अतः टच्-सहित अकारान्त 'उपराज' पद अव्ययीभाव कहलाता है । अकारान्त अव्ययीभाव होने से तदनन्तर 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है—"नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः" २-४-८३ ।

(९४०) पद—ऋक्-पू-रब्-धूः-पथाम्, अ, अनक्षे । **अनुवृत्ति**—समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'आनक्षे' में 'अ'+'अनक्षे' ऐसा पदच्छेद है । ऋगाद्यन्त समास का अन्तावयव 'अ' प्रत्यय होता है, (किन्तु) अक्ष-सम्बन्धी 'धुर्' वाचक धूः-शब्दान्त को नहीं होता । उदा० १—

अनृचबह्वृचावध्येतर्यैव । नेह—अनृक्साम । बह्वृक्सूक्तम् । विष्णोः पूर्विष्णुपुरम् । क्लीबत्वं

समासो विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—**ऋगाद्यन्तस्येति** । ऋक्, पुर्, अप्, धुर्, पथिन् एतदन्तस्येत्यर्थः । **अप्रत्यय इति** । अकारात्मकप्रत्यय इत्यर्थः । **अक्षे या धूरिति** । अक्षसम्बन्धिनी या धूरित्यर्थः । सूत्रे सम्बन्धिनोऽधिकरणत्वविवक्षया अनक्षे इति सप्तमी । अनक्षे इति च धुर्शब्देनैव सम्बध्यते, अन्यैरसम्भवादिति भावः । **अर्धर्च इति** । ऋचोऽर्धमिति विग्रहः । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः । अकारः समासान्तः । 'अर्धर्चाः पुंसि च' इति पुंस्त्वम् । **अनृचबह्वृचावध्येतर्यैवेति** । अविद्यमानाः ऋचः यस्येति विग्रहः । अनृचः केवलयजुरध्येता । बहवः ऋचः यस्येति बह्वृचः ऋक्छाखी इत्युदाहरणम् । अध्येतर्यैवेति नियमस्य प्रयोजनमाह—**नेहेति** । **अनृक् सामेति** । अविद्यमानाः ऋचः यस्मिन्निति विग्रहः । ऋच्यनध्यूढं प्रजापतेर्हृदयं साम । **बह्वृक्सूक्तमिति** । बहवो ऋचः

अर्धर्चः । 'अनृच्' तथा 'बहृच्' से अध्येता अर्थ में ही (हो) । अतः 'अनृक्'–(साम) तथा 'बहृक्' (सूक्त) में नहीं हुआ । २—विष्णुपुरम् । ३—विमलापः (सरोवर) ।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये प्रमुख रूप में "समासान्ताः" ५-४-६८ की अनुवृत्ति उपयोगी है । शेष आधिकारिक उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव भी विद्यमान है । समासान्तों के निरूपग में "प्रत्ययः" ३-१-१ अधिकार के प्रभावी होने से "परश्च" ३-१-२ की प्रवृत्ति स्वयंसिद्ध है । अतः इनके समास का अवयव होने में कोई बाधा नहीं होती । विधीयमान 'अ' प्रत्यय के स्वरूप का पृथक् स्पष्ट उल्लेख न होने से सूत्रस्थ 'आनक्षे' पद की दीर्घ-सन्धि का विश्लेषण कर **'अ+अनक्षे'** पदच्छेद द्वारा सन्देह का निराकरण किया जा रहा है । अत 'अः' लुप्त प्रथमान्त पद है । 'ऋक्-पू-रब्धूः-पथाम्' पद में इतरेतर योग द्वन्द्व समास है—ऋक् च, पुर् च, अप् च, धुर् च पन्थाश्च—ऋक्-पूरब्धूःपन्थानः, तेषाम् । यह पद समास का विशेषण है । तदनुसार तदन्तविधि होगी । सम्बन्ध षष्ठी के अर्थ में व्यत्यय से 'अनक्षे' में सप्तमी होने के कारण इसका अन्वय सूत्रस्थ 'धुर्' शब्द से ही होता है । समष्टि रूप में सूत्र का यह अर्थ होगा कि "जिस समास के अन्त में ऋक्, पुर्, अप्, पथिन् और अक्षभिन्न अर्थ में धुर्—अन्त वाले शब्द हों, उनसे समासान्त 'अ' प्रत्यय होता है । **क्रमशः उदाहरण**—(१) 'ऋक्' शब्दान्त—**अर्धर्चः** (आधी ऋचा) । **विग्रह**—ऋचाम् अर्धम् । "अर्ध नपुंसकम्" २-२-२ से समास—अर्ध+ऋच्+अ ⊳ अर्धर्च ('अ' प्रत्यय तथा गुण) ⊳ **अर्धर्चः** ("अर्धर्चाः पुंसि च" २-४-३१ के अनुसार विभक्ति कार्य) । दूसरा रूप **अर्धर्चम्** भी होगा । (२) पुर्-शब्दान्त—**विष्णुपुरम्** (विष्णु का नगर) । **विग्रह**—विष्णोः पूः—विष्णु+ङस्, पुर्+सु ⊳ विष्णुपुर् (षष्ठी तत्पुरुष) ⊳ विष्णुपुर्+अ (समासान्त 'अ' प्रत्यय) > **विष्णुपुरम्** (नपुंसक लिङ्ग प्रथमा का एक वचन, क्योंकि लोक में 'पुर' शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है अतः 'परवत्-लिङ्ग' के अनुसार स्त्रीलिङ्ग नहीं हुआ । (३) अप्-शब्दान्त—**विमलापं सरः** (स्वच्छ जलवाला सरोवर) । **विग्रह**—विमलाः आपः यत्र—विमल+जस्, अप्+जस् >विमल+अप् (बहुव्रीहि समास) >विमल+अप्+अ (समासान्त 'अ' प्रत्यय) > विमलाप (दीर्घ) > **विमलापम्** सरः (नपुंसक लिङ्ग प्रथमा एकवचन—विशेष्यवाची शब्द 'सरः' के अनुसार) ।

'धुर्' तथा 'पथिन्' शब्दान्त उदाहरण सूत्र ९४२ में दिये जायेंगे । कारण यह है कि कुछ 'अप्' शब्दान्त रूपों की निष्पत्ति के लिये विशेष विधान आवश्यक हैं । मध्य में प्रसङ्गवश उनका उल्लेख किया गया है ।

लोकात् । **विमलापं सरः** । **(९४१) द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ६ । ३ । ९७ ॥ अप इति कृतसमासान्तस्यानुकरणम् । षष्ठयर्थे प्रथमा । एभ्योऽपस्य ईत्स्यात् । द्वयोर्गता आपो यस्मिन्निति द्वीपम् । अन्तरीपम् । प्रतीपम् । समीपम् । 'समापो देवयजन'मिति तु समा**

यस्मिन्निति विग्रहः । अथ पुर्शब्दान्तस्योदाहरति—**विष्णोरिति** । ननु पुर्शब्दस्य स्त्रीत्वात् 'परवल्लिङ्गम्' इति विष्णुपुर्शब्दस्य स्त्रीत्वं युक्तमित्यत आह—**क्लीबत्वं लोकादिति** । अथाप्शब्दान्तस्योदाहरति—**विमलापं सर इति** । विमला आपः यस्मिन्निति विग्रहः ।

(९४१) द्व्यन्तरुप । **कृतसमासान्तस्येति** । अकारप्रत्ययान्तस्येत्यर्थः । **एभ्य इति** । द्वि, अन्तर्, उपसर्ग एतेभ्य इत्यर्थः । **अपस्येति** । अकारप्रत्ययान्तस्याप्शब्दस्येत्यर्थः । **ईत्स्यादिति** । 'आदेः परस्य' इति परिभाषया आदेरकारस्येत्यर्थः । **द्वयोर्गता इति** । द्वयोः पार्श्वयोर्गताः आपो यस्मिन्निति विग्रहः । व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । अकारप्रत्ययः, ईत्वं, सवर्णदीर्घश्च । **अन्तरीपमिति** । अन्तर्गता आपो यस्मिन्निति विग्रहः । **प्रतीपमिति** । प्रतिकूलाः आपो यस्मिन्निति विग्रहः । उपसर्गात् परत्वात् ईत्वम् । **समीपमिति** । सङ्गताः आपो यस्मिन्निति विग्रहः । उपसर्गात् परस्योदाहरणान्तरमिदम् । **समापो देवयजनमिति** । **श्रुतिरेषा** । अत्र उपसर्गात् परत्वाभावात् ईत्वं नेति भावः । देवा इज्यन्ते अस्मिन्निति देवयजनं यज्ञभूमिः । समाप इति पुंस्त्वं छान्दसम् । भाष्ये तु समाप ईत्वं नेत्युक्त्वा समापं नाम देवयजनमित्युदाहृतम् । तत्र समापशब्दो देवयजन-विशेषवाच्येव विवक्षितः, 'समीपसमृद्धि' इति निर्देशात्, समीपमिति भाष्ये उदाहरणाच्च । **स्वबिति** । शोभना आपो यस्येति विग्रहः । 'न पूजनात्' इति समासान्त-

---

विशेष—**'अनृचः'** (केवल यजुर्वेद का अध्येता) एवम् **'बह्वृचः'** (ऋक्-शाखाध्यायी)—इन दोनों शब्दों में अध्येता अर्थ में ही समासान्त 'अ' प्रत्यय होता है, अन्यत्र नहीं । (१) 'अनृचः' का **विग्रह**—अविद्यमानाः ऋचः यस्य । न विद्यमाना+जस्, ऋच्+जस् >न विद्यमाना+ऋच् ('नञोऽस्त्यर्थानां'० वार्तिक से समास) >न-ऋच् ('विद्यमाना' का लोप) > अ-ऋच् ('न्' लोप) अ-न्-ऋच् ('नुट्' आगम—"तस्मान्नुडचि" ६-३-७४) अनृच्+अ (समासान्त 'अ') **अनृचः** (विभक्ति कार्य) । (२) **'बह्वृचः'** का **विग्रह**—बहवः ऋचः यस्य । बहु+जस्, ऋच्+जस् > बहु-ऋच् (बहुव्रीहि) > बहु-ऋच्+अ (समासान्त 'अ') > बह्वृच (यण्—उ+ऋ=वृ) > **बह्वृचः** (विशेष्य के अनुसार पुंलिङ्ग प्रथमा एकवचन) । अध्येता से भिन्न अर्थ में 'ऋच्' शब्दान्त से समासान्त 'अ' प्रत्यय न होने के फलस्वरूप साम अर्थ में (क) **अनृक्**, तथा सूक्त अर्थ में (ख) **बह्वृक्** रूप बनेंगे । इन दोनों के क्रमशः विग्रह—(क) न विद्यमानाः ऋचः यस्मिन् तत्—'अनृक्'—साम । ऋचाओं रहित साम । (ख) बहवः ऋचः यस्मिन् तत्—'बह्वृक्'—सूक्तम् (बहुत मन्त्रों वाला सूक्त) । इन दोनों उदाहरणों में समासान्त 'अ' प्रत्यय न होने के कारण 'च'कारान्त शब्द से विभक्ति-कार्य सम्पन्न होने के फलस्वरूप 'च्' को कुत्व होगा । बहुव्रीहि समास होने के कारण इन दोनों शब्दों में "शेषाद् विभाषा" ५-४-१५४ सूत्र से पाक्षिक 'कप्' प्रत्यय हो सकता है ।

(९४१) पद—द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः, अपः, ईत् । **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अप' यह कृत-समासान्त है । 'अपः' षष्ठी के अर्थ में प्रथमा है । (द्वि, अन्तर् तथा उपसर्ग)—इनसे परे (कृतसमासान्त) 'अप' के अकार को ईकार हो । उदा० १—द्वयोः गताः आपः यस्मिन् > द्वीपम् । २—अन्तरीपम् । ३—प्रतीपम् । ४—समीपम् । समान जलवाली

आपो यस्मिन्निति बोध्यम्। कृतसमासान्तग्रहणान्नेह—स्वप्, स्वपी। 'अवर्णान्ताद्वा' (वा ५०४५)। प्रेपम्। परेपम्। प्रापम्। परापम्। (९४२) ऊदनोर्देशे ६।३।९८॥

निषेधः। अकृतसमान्तत्वादीत्वं न। स्वपी इति। प्रथमाद्विवचनमिदम्। अवर्णान्ताद्वेति। अवर्णान्तादुपसर्गात् परस्यापस्य ईत्वं वा वक्तव्यमित्यर्थः। प्रेपम् प्रापमिति। प्रगता आपो यस्येति विग्रहः। परेपम् परापमिति। परागता आपो यस्येति विग्रहः।

भूमि (समाः आपः यस्मिन्) इस अर्थ में 'समापः' (रूप होगा)। (सूत्र में) कृतसमासान्त 'अप' का ग्रहण होने से 'स्वप्' तथा 'स्वपी' में—'ई' नहीं हुआ। वा० अवर्णान्त से परे 'अप्' के अकार को 'ई' विकल्प से होता है। उदा० १—प्रेपम्। २—परेपम्। ३—प्रापम्। ४—परापम्।

विवरण—'अप्'-शब्दान्त उदाहरणों में अपेक्षित अन्य विधानों की प्रस्तुति की जा रही है। इस सन्दर्भ में—अष्टाध्यायी के छठे अध्याय का सूत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। सूत्र के अर्थ की पूर्णता के लिये "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ से 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति अनुसरण करती है। सूत्र में प्रयुक्त अपः शब्द समासान्त 'अ'-प्रत्यय-युक्त 'अप्' शब्द का बोधक है। वस्तुतः 'अपः' पद में षष्ठी विभक्ति है। इस प्रकार 'अपः' को षष्ठी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति का प्रतीक माना गया है। 'अप्' शब्दावयव समासान्त 'अ' प्रत्यय-युक्त-'अप'—**स्थानी है** तथा उसके स्थान में होने वाला आदेश 'ई' (ईत्) है। "आदेः परस्य" १-१-५४ परिभाषा के आधार पर 'अप्' के 'अ' कार को 'ई' आदेश होगा। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "द्वि, अन्तर् तथा उपसर्ग से उत्तरवर्ती (द्विश्च, अन्तश्च, उपसर्गश्च—द्व्यन्तरुपसर्गाः, तेभ्यः) 'अप्' के 'अ'कार को 'ई' होता है"। **उदाहरण—द्वि-पूर्वक 'अप्'**—द्वीपम् (जिसमें दोनों ओर पानी हो—टापू)। **विग्रह**—द्वयोः गताः आपः यस्मिन्—द्वि+ओस्, अप्+जस् > द्वि—अप् ("अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४—व्यधिकरण बहुव्रीहि) > द्वि—अप्+अ (समासान्त-'अ' प्रत्यय—"ऋक्-पूरब्-धूः-पथामानक्षे" ५-४-७४) > द्वि-ईप्+अ ('अप्' का 'अ'='ई' "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" ६-३-९७) > द्वीप (सवर्णदीर्घ—इ+ई=ई) > **द्वीपम्** (नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन—विशेष्य के अनुसार)। (२) **अन्तरीपम्** (जिसमें पानी भीतर तक चला गया हो)। **विग्रह**—अन्तर्गताः आपः यस्मिन् तत्→अन्तर+जस्, अप्+जस् > अन्तर्—अप् (समास) > अन्तर्+अप्+अ ('अ' प्रत्यय) ▷ अन्तर्+ईप्+अ (अ=ई) > **अन्तरीपम्** (विभक्ति कार्य)। (३) **समीपम्** (जहाँ पानी मिल जाता है—संगताः आपः यस्मिन् तत्)। प्रक्रिया पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'उपसर्ग' का निवेश होने के कारण **समापः** में 'अ' के स्थान पर 'ई' नहीं हुआ। **विग्रह**—समाः आपः यस्मिन्। सम+जस्, अप्+जस् ▷ सम—अप् (बहुव्रीहि समास) > सम+अप्+अ (समासान्त 'अ' प्रत्यय) ▷ समाप (दीर्घ) ▷ **समापः** (पुंलिङ्ग में विभक्ति कार्य)। श्रुतिवाक्य इस प्रकार है—**समापः देवयजनम्**—देवयजनम्=यज्ञ-भूमि—देवाः इज्यन्ते यस्मिन्। पूरे वाक्य का अर्थ—समान जलवाली यज्ञभूमि। 'समापः' में पुंलिङ्ग का प्रयोग वेद में प्रयुक्त होने से समीचीन है। (२) सूत्र में कृतसमासान्त 'अप' (अकारान्त) का निवेश होने से (क) **स्वप्** तथा (ख) **स्वपी** में (हलन्त) 'अप्' के 'अ' को 'ई' नहीं हुआ। **विग्रह**—शोभनाः (सु) आपः यस्य। यहाँ "न पूजनात्" सूत्र से समासान्त प्रत्यय का निषेध हुआ है। 'स्वप्' से प्रथमा के द्विवचन में (नपुंसक लिङ्ग) **स्वपी** रूप है।

विशेष—उपसर्गों के सम्बन्ध में वैकल्पिक 'ई' आदेश की **वार्तिक** द्वारा प्रस्तुति की जारही है। तदनुसार 'अकारान्त प्र-आदि उपसर्गों के उत्तरवर्ती कृतसमासान्त 'अप' के प्राथमिक 'अ' के स्थान पर 'ई' आदेश विकल्प से होगा'। **उदाहरण**—(१) **प्रेपम्** (गड्ढी)। **विग्रह**—प्रगताः

अनोः परस्यापस्य ऊत्स्याद् देशे। अनूपो देशः। राजधुरा। अक्षे तु-अक्षधूः।

---

(९४२) ऊदनोर्देशे। ईत्त्वस्यापवादः। ऊत् स्यादिति। 'आदेः परस्य' इति ज्ञेयम्। अनूपो देश इति। अनुकूलाः आपः यस्मिन्निति विग्रहः। अप्रत्ययः, ऊत्वं सवर्णदीर्घश्च। अनूपः इत्यत्र ऊपोऽवग्रहणार्थं दीर्घोच्चारणमिति भाष्यम्। बह्वृचास्तु अनूपो गोमान् गोभिरित्यत्र नावगृह्णन्ति। तदेवम्, 'ऋक्पूः' इति सूत्रगतः अप्शब्दः प्रपञ्चितः। अथ धुर्शब्दान्तस्योदाहरति—राजधुरेति। राज्ञो धूरिति विग्रहः। धुर्शब्दोऽत्र राज्ये लाक्षणिकः। 'परवल्लिङ्गम्' इति स्त्रीत्वम्। टाप्। अक्षे त्विति। अक्षसम्बन्धिनी या धूस्तदन्तात् अकारप्रत्ययो न। अक्षधूरिति। 'अक्षो नाम रथावयवदण्डविशेषः' इति व्याख्यानेऽत्र निषेधो न स्यादिति सूचितम्। दृढधूरक्ष इति। दृढा धूर्यस्येति विग्रहः। एतेनाक्षे पूर्वपदे धुरो नाकारप्रत्यय इति व्याख्याने अत्र निषेधो न स्यादिति सूचितम्। तदेवं 'ऋक्पूः' इति सूत्रे धुर्शब्दः प्रपञ्चितः। अथ पथिन्शब्दस्योदाहृति—

आपः यस्य। समासादि कार्यं पूर्ववत्। प्र-अप्+अ ⊳ प्र-ईप्+अ (अ=ई) > प्रेपम् (गुण एवं विभक्तिकार्य)। पक्ष में **प्रापम्**। (२) **परेपम्** (जल निकलने का मार्ग)। **विग्रह**—परागताः आपः यस्मिन्। प्रक्रिया 'प्रेपम्' के समान। 'ई' न होने पर **परापम्**।

(९४२) पद—ऊत्, अनोः, देशे। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'अनु' से परवती 'अप' के स्थान में 'ऊ' हो। उदा० अनूपो देशः (३) राजधुरा। अक्ष में—अक्षधूः ('ई' नहीं)। दृढधूः अक्षः ('ई' नहीं)। ५–(क) सखिपथः। ५–(ख) रम्यपथः देशः।

विवरण—प्रासङ्गिक प्रकरण—'अनु' उपसर्ग से परवर्ती 'अकार' के स्थान में 'ऊ' आदेश का—है। अकारान्त उपसर्ग न होने के कारण पूर्वसूत्र से 'ई' आदेश की प्राप्ति नहीं है। 'अ' के स्थान में 'ऊ' आदेश करना उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक है। 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति विद्यमान है। अतः सूत्र का आशय यह है कि "देश-विशेष का कथन होने पर 'अनु' उपसर्ग से उत्तरवर्ती 'अप्' शब्द को 'ऊ'कार (ऊत्) आदेश हो।" यह 'ईत्व' का अपवाद है। **उदाहरण**—**अनूपः** (देशः) (जिस देश में जल न हो)। **विग्रह**—अनुगताः आपः यस्मिन्। बहुव्रीहि समास। अनु अप्+अ (समासान्त 'अ' प्रत्यय) ⊳ अनु–ऊप्+अ (अ=ऊ) अनूप (उ+ऊ= सवर्ण दीर्घ) > अनूपः (विशेष्य के अनुसार पुंलिङ्ग प्रथमा विभक्ति एकवचन)। (४) 'धुर्' शब्दान्त का उदाहरण—**राजधुरा** (राजा का शासनभार)। **विग्रह**—राज्ञः धूः। षष्ठी तत्पुरुष समास—राजन्-धुर् > राज–धुर् ('न'लोप) > राज-धुर्+अ ⊳ राजधुर ('अ' प्रत्यय) ⊳ राजधुरा ('टाप्' तथा विभक्ति-कार्य)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अनक्षे' (=अक्षभिन्न) पद का निवेश करने से समस्त पद के 'अक्ष की धुरी' का वाचक होनेपर समासान्त 'अ'प्रत्यय नहीं होगा। उदाहरण (क) **अक्षधूः** (गाड़ी के अगले हिस्से में लगा हुआ फड़) है। **विग्रह**—अक्षे धूः। सप्तमी तत्पुरुषसमास। (ख) **दृढधूः अक्षः** (जिस गाड़ी में मजबूत जुआ लगा हो। **विग्रह**—दृढा धूः यस्य। बहुव्रीहि समास। 'दृढा' को उपसर्जन ह्रस्व—'दृढ'। 'विशेष्य' के अनुसार पुंलिङ्ग में प्रथमा एकवचन। 'धुर्' के उकार को उपधा-दीर्घ—"र्वोरुपधाया दीर्घ इकः" (८-२-७६)। ५—(क) **पथिन्–पूर्वक उदाहरण**—सखिपथः (मित्र की सड़क)। **विग्रह**—सख्युः पन्थाः। सखि—पथिन् (षष्ठी तत्पुरुष) ⊳ सखि-पथिन् +अ ('अ'–"ऋक्-पूरब्-धूः पथामानक्षे" सू० ९४०) > सखि पथ्-अ ('टि'–'इन्' का लोप "नस्तद्धिते" ६-४-१४४) ⊳ **सखिपथः** (विभक्ति-कार्य)। ५—(ख) **रम्यपथः** (जिस देश का मार्ग सुन्दर है)। **विग्रह**—रम्यः पन्थाः यस्य सः। बहुव्रीहि समास। शेष कार्य पूर्ववत्।

दृढधूरक्षः। सखिपथो, रम्यपथो देशः। (९४३) **अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः ५ । ४ । ७५ ॥** एतत्पूर्वात्सामलोमान्तात्समासादच् स्यात् ।। प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् । 'कृष्णोदक्पाण्डुसङ्ख्यापूर्वाया भूमेरजिष्यते' (वा ५०४६) । कृष्णभूमः । उदग्भूमः । पाण्डुभूमः । द्विभूमः प्रासादः ।

सखिपथाविति । सखा च पन्थाश्चेति द्वन्द्वः । अकारप्रत्ययः । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । सखिपथ इति पाठे तु सख्युः पन्थाः इति तत्पुरुषः । **रम्यपथ इति** । रम्यः पन्था यस्येति विग्रहः ।

(९४३) **अच्प्रत्यन्वव** । **एतत्पूर्वादिति** । प्रति, अनु, अव एतत्पूर्वकादित्यर्थः । **प्रतिसाममिति** । प्रतिगतं सामेति विग्रहः । अच्, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । **अनुसाममिति** । अनुगतं सामेति विग्रहः । अच्, टिलोपः । **अवसाममिति** । अवक्रुतं सामेति विग्रहः । अच् टिलोपः । **प्रतिलोममिति** । प्रतिगतं लोमेति विग्रहः । **अनुलोममिति** । अनुगतं लोमेति विग्रहः । **अवलोममिति** । अवगतं लोमेति विग्रहः । सर्वत्राच्, टिलोपः । **कृष्णोदगिति** । नेदं वार्तिकम् । किं त्वचप्रत्येत्यत्र अजिति योगविभागमूलाभियुक्तोक्तिरेषा । **कृष्णेति** । कृष्णा भूमिः यस्य, उदीची भूमिः यस्य, पाण्डुः भूमिः यस्य, द्वे भूमी यस्य, तिस्रो भूमयः यस्येति च विग्रहः । प्रासादः सर्वत्र विशेष्यः । **सङ्ख्याया इति** ।

---

(९४३) पद—अच्, प्रत्यन्ववपूर्वात्, सामलोम्नः । **अनुवृत्ति**—समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन (उपसर्गों) से पूर्व 'सामन्' और 'लोमन्'—अन्तवाले शब्दों से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो । १—प्रतिसामम् । २—अनुसामम् । ३—अवसामम् । ४—प्रतिलोमम् । ५—अनुलोमम् । ६—अवलोमम् । वा० 'कृष्ण, उदच्, पाण्डु एवं संख्यावाचक शब्दों के पूर्व में रहने पर 'भूमि' से 'अच्' प्रत्यय हो । उदा० १—कृष्णभूमः । २—उदग्भूमः । ३—द्विभूमः प्रासादः । वा० संख्या-वाची शब्दों के पहले रहने पर नदी एवम् गोदावरी शब्द से समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है । उदा० १—पञ्चनदम् । २—सप्तगोदावरम् । "'अच्'—इस योगविभाग से अन्य शब्दों से भी समासान्त 'अच्' (प्रत्यय) हो" । उदा० पद्मनाभः ।

विवरण—प्रासङ्गिक विधान के अनन्तर पुनः 'समासान्त'—प्रकरणस्थ विधान का निर्देश किया जा रहा है । अतः सू० ९४० के अनुसार सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । विधीयमान प्रत्यय='अच्' का समावेश प्रकृत सूत्र में विद्यमान है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'प्रति' 'अनु' एवम् 'अव'—उपसर्गों के पूर्व–(प्रतिश्च, अनुश्च, अवश्च–प्रत्यन्वम्, प्रत्यन्ववं पूर्वं यस्य तत्) में रहते हुए 'सामन्' और 'लोमन्' प्रातिपदिकों से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण**—(१) क–'प्रति' पूर्वक 'सामन्'—**प्रतिसामम्** (रूखेपन से) । **विग्रह**—प्रतिगतं साम । विवक्षानुसार अव्ययीभाव समास, प्रादि समास अथवा बहुव्रीहि समास । प्रति-सामन् + अ > प्रतिसाम् + अ ('टि' ='अन्' लोप—"नस्तद्धिते" ६-४-१४४) > प्रति-**सामम्** (विभक्ति-कार्य) । (१) ख–'अनु'–पूर्वक 'सामन्'—**अनुसामम्** (सौहार्द से) । **विग्रह**—अनुगतं साम । समासादि कार्य पूर्ववत् । (१) ग–'अव' पूर्वक—'सामन्'—**अवसामम्** (असज्जनता से) । **विग्रह**—अवगतं साम । समासादि कार्य पूर्ववत् । (२) क–**प्रतिलोमम्** (विलोम) । **विग्रह**—प्रतिगतं लोम । (२) ख–**अनुलोमम्** (यथाक्रम) । **विग्रह**—अनुगतं लोम । (२) ग–**अवलोमम्** (ज्ञातक्रम) । **विग्रह**—अवगतं लोम । विवक्षानुसार सर्वत्र समासादि कार्य एवम् अच्-प्रत्यय, टिलोप तथा विभक्ति-कार्य पूर्ववत् ।

'सङ्ख्याया नदीगोदावरीभ्यां च' (वा ५०४७)। पञ्चनदम् । सप्तगोदावरम् । अच् इति योगविभागादन्यत्रापि । पद्मनाभः । (९४४) अक्ष्णोऽदर्शनात् ५ । ४ । ७६ ॥

इदमप्यजिति योगविभागमूलकमेव । सङ्ख्यायाः परो यो नदीशब्दः गोदावरीशब्दश्च ताभ्यामजिष्यत इत्यर्थः । **पञ्चनदमिति** । पञ्चानां नदीनां समाहार इति विग्रहः । **सप्तगोदावरमिति** । सप्तानां गोदावरीणां समाहार इति विग्रहः । 'नदीमिश्च' इत्यव्ययीभावः । अचि 'यस्येति च' इति लोपः । 'नाव्ययीभावात्' इत्यम् । अन्यत्रापीति । अजिति शेषः । **पद्मनाभ इति** । पद्मं नाभौ यस्येति विग्रहः । वस्तुवस्तु योगविभागस्य भाष्येऽदर्शनात् पृषोदरादित्वमेवोचितम् ।

विशेष—'अच्' प्रत्यय के सन्दर्भ में वार्तिक प्रस्तुत किया गया है। जिसका अर्थ यह है कि "कृष्ण, उदक्, पाण्डु एवं संख्यावाचक शब्दों से परवर्ती भूमिशब्दान्त समास से 'अच्' प्रत्यय हो'। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **कृष्णभूमः** (जिस महल की भूमि काली हो)। **विग्रह**—कृष्णा भूमिः यस्य (बहुव्रीहि समास) > कृष्ण–भूमि (पुंवद्भाव "स्त्रियाः पुंवत्०" ६-३-३४) >कृष्णभूमि+अ ('अच्' प्रत्यय) >कृष्णभूमः ('इ' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) तथा विभक्तिकार्य । (२) **उदग्भूमः** (जिस महल की भूमि उत्तर की ओर झुकी हो)। **विग्रह**—उदीची भूमिः यस्य । (३) **पाण्डुभूमः** (जिस महल की भूमि सफेद हो)। **विग्रह**—पाण्डुः भूमिः यस्य । (४) **द्विभूमः** (दो फर्श वाला अथवा दो मन्जिला महल)। **विग्रह**—द्वे भूमी यस्य । सर्वत्र 'प्रासादः'–यह विशेष्यवाची शब्द है। अतः समास एवं 'अच्' प्रत्ययादि कार्य पूर्ववत् ।

मननीय—'कृष्णोदक्०' इत्यादि वाक्य वस्तुतः वार्तिक नहीं है। किन्तु सूत्र में योग-विभाग द्वारा 'अच्' इस अंश से अन्य शब्दों में भी समासान्त 'अच्' के विधान की कल्पना अभियुक्तों ने की है। उन्हीं के कथन का यह अनुवाद है। इसी प्रकार दूसरे वार्तिक के रूप में प्रस्तुत विधान भी 'अच्—इस योगविभाग से गतार्थ हो जाता है। तदनुसार 'संख्यावाचक शब्द पूर्व रहने पर **नदी** अथवा **गोदावरी** शब्द से समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **पञ्चनदम्**—(पाँच नदियों वाला प्रदेश—पंजाब)। **विग्रह**—पञ्चानां नदीनां समाहारः। पञ्च-नदी ("नदीमिश्च" २-१-२० से अव्ययीभाव समास)>पञ्चनदी+अ ('अच्') > पञ्चनद ('ई'-लोप–"यस्येति-च" ६-४-१६८) > **पञ्चनदम्** (समाहार में नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन । "नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः" । (२) **सप्तगोदावरम्** (सातगोदावरीवाला प्रदेश)। **विग्रह**—सप्तानां गोदावरीणां समाहारः। समास तथा 'टच्' प्रत्यय आदि कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—(१) कुछ प्राचीन व्याख्याताओं ने "अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः" ५-४-७५ सूत्र को दो भागों में विभक्त कर प्रथम भागस्थ "अच्" के सहकार से 'पद्मं नाभौ यस्य' विग्रह में बहुव्रीहि समास करने पर 'गड्वादेः परा सप्तमी' वार्तिक से सप्तम्यन्त पद 'नाभौ' का पर-निपात दिखा कर समासान्त 'अच्' प्रत्यय तथा 'इ' का लोप एवं विभक्ति कार्य होने पर—**पद्मनाभः** (विष्णु) रूप निष्पन्न किया है।

(२) अमरकोष के टीकाकार 'मुकुट' ने यह निरूपित किया है कि नाभ्यन्त शब्दो में सर्वत्र समासान्त 'अच्' प्रत्यय नहीं होता । पद्मनाभः रूप की निष्पत्ति के लिये किसी पूर्वाचार्य ने 'इस' योग विभाग की कल्पना की है। अन्यथा माघ कवि का यह प्रयोग असमीचीन हो जाता—"प्रजा इवाङ्गाद् अरविन्दनाभेः" । माघ ने इकारान्त शब्द का ही प्रयोग किया है[1] ।

---

१. मुकुटस्तु—"योगविभागस्य हि पूर्वाचार्येष्टमात्रसाधकत्वं, न तु नाभ्यन्तस्य सर्वत्रैवाच् समासान्त इति नियमः" इति प्राह । तेन "प्रजा इवाङ्गादरविन्दनाभेः" इति माघोक्तिः संगच्छते ।

अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच्स्यात्समासान्तः। गवामक्षीव गवाक्षः। (९४५) अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तन्दिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः ५।४।७७॥ एते पञ्चविंशतिरजन्ता निपात्यन्ते। आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः। अविद्यमानानि चत्वारि यस्य अचतुरः। विचतुरः। सुचतुरः 'त्र्युपाभ्यां

---

(९४४) अक्ष्णोऽदर्शनात्। अदर्शनादिति च्छेदः। दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुः। करणे ल्युट्। अचक्षुर्वाचिन इति फलितम्। तदाह—अचक्षुःपर्यायादिति। गवामक्षीवेति। अक्षिशब्दस्तत्सदृशे लाक्षणिक इति सूचयितुमिवशब्दः प्रयुज्यते मुख्यवृत्त्या चक्षुर्वाचकत्वाभावादच्। पुंस्त्वं लोकात्।

(९४५) अचतुर। आद्यास्त्रयो बहुव्रीहय इति। बहुव्रीहय एवेत्यर्थः। भाष्यवाक्यमिदम्। अचतुर इति। 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति विद्यमानपदलोपः। विचतुर इति। विगतानि चत्वारि यस्येति विग्रहः। सुचतुर इति। सु शोभनानि चत्वारि यस्येति विग्रहः। 'न पूजनात्' इति निषेधो बाध्यते। त्र्युपाभ्यामिति। वार्तिकमिदम्। त्रि उपआभ्यां परो यश्चतुर्शब्दस्तस्मादजिष्यते। त्रिचतुरा इति। त्रयो वा चत्वारो वेति विग्रहः। 'सङ्ख्ययाव्ययासन्न' इति बहुव्रीहिः। 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डच्' इति डचं

---

(३) भाष्यकार पतञ्जलि ने योगविभाग की चर्चा नहीं की है। अतः "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" ६-३-१०९ के अनुसार **पृषोदरादिगण** में कल्पना कर **पद्मनाभः** की सिद्धि की जा सकती है।

(९४४) पद—अक्ष्णः, अदर्शनात्। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—चक्षुभिन्न-अर्थ-सूचक 'अक्षि' शब्द से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो। उदा० गवाम् अक्षि इव > गवाक्षः।

विवरण—प्राकरणिक "समासान्ताः" ५-४-६८ तथा उल्लिखित आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व प्रभावी हैं। 'विधीयमान' समासान्त 'अच्' प्रत्यय का लाभ पूर्वसूत्र "अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः" ५-४-७५ से अनुवृत्ति द्वारा होता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "यदि 'अक्षि' शब्द नेत्र-वाचक न हो, तो तदन्त से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो"। लोक में 'अक्षि' शब्द नेत्र का वाचक है। अतः जहाँ मुख्यार्थवृत्ति से उसका 'दर्शन' अर्थ होगा, वहाँ समासान्त 'अच्' प्रत्यय नहीं होता। **उदाहरण**—गवाक्षः (झरोखा)। **विग्रह**—गवाम् अक्षि इव। गो+आम्, अक्षि+सु > गो-अक्षि (षष्ठी तत्पुरुष) > गो-अक्षि+अ (अच्) > गो-अक्ष्+अ ('इ' का लोप) > **गवाक्षः** (अवङ् आदेश, दीर्घ तथा विभक्तिकार्य)। शिष्टजनों द्वारा प्रयोग किये जाने के कारण पुंलिङ्ग में समीचीन माना गया है।

प्रत्युदाहरण—दर्शन अर्थ में प्रयोग होने पर 'अक्षि'—शब्दान्त से समासान्त 'अच्' प्रत्यय नहीं होगा। जैसे ब्राह्मणस्य अक्षि—(ब्राह्मण का नेत्र)—विग्रह होने पर 'ब्राह्मणाक्षि' रूप बनेगा।

(९४५) पद—अचतुर…गोष्ठश्वाः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ये पचीस शब्द 'अच्' प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं। इनमें प्रथम तीन बहुव्रीहि हैं। उदा० १—अविद्यमानानि चत्वारि यस्य > अचतुरः। २—विचतुरः। ३—सुचतुरः। वा० 'त्रि' तथा 'उप' शब्द से परे 'चतुर्' शब्द से 'अच्' प्रत्यय होता है। उदा० (क) त्रिचतुराः। (ख) चतुर्णां समीपे > उपचतुराः। तदनन्तर ग्यारह 'द्वन्द्व' समास हैं। ४—स्त्रीपुंसौ। ५—धेन्वनडुहौ।

चतुरोऽजिष्यते' (वा ३३५१) । त्रिचतुराः । चतुर्णां समीपे उपचतुराः । तत एकादश द्वन्द्वाः । स्त्रीपुंसौ । धेन्वनडुहौ । ऋक्सामे । वाङ्मनसे । अक्षिणी च भ्रुवौ च–अक्षिभ्रुवम् । दाराश्च गावश्च दारगवम् । ऊरू च अष्ठीवन्तौ च–ऊर्वष्ठीवम् । निपातनाट्टिलोपः । पदष्ठीवम् । निपातनात्पादशब्दस्य पद्भावः । नक्तं च दिवा च–नक्तन्दिवम् । रात्रौ च दिवा च–रात्रिन्दिवम् । रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यते । अहनि च दिवा चाहर्दिवम् । वीप्सायां

बाधित्वाऽच् । डचि तु टिलोपः स्यात् । उपचतुरा इति । त्रयः पञ्च वेत्यर्थः । 'सङ्ख्ययाव्यया' इति बहुव्रीहिः । अच् । तत एकादश द्वन्द्वा इति । द्वन्द्वा एवेत्यर्थः । इदमपि भाष्यवाक्यम् । स्त्रीपुंसाविति । स्त्री च पुमांश्चेति विग्रहः । अच् । स्त्रीपुमांसाविति न भवति । धेन्वनडुहाविति । धेनुश्च अनड्वांश्चेति विग्रहः । अच् । धेन्वनड्वाहाविति न भवति । समाहारद्वन्द्वे तु 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्' इत्येव सिद्धम् । ऋक्सामे इति । ऋक्च साम चेति विग्रहः । अच्, टिलोपः । ऋक्सामनी इति न भवति । वाङ्मनसे इति । वाक् च मनश्चेति विग्रहः । अच् । वाङ्मनसी इति न भवति । अक्षिभ्रुवमिति । अच् । 'प्राण्यङ्गत्वादेकवत्त्वम्' । अक्षिभ्रु इति न भवति । दारगवमिति । समाहारद्वन्द्वादच् । दारगु इति न भवति । इतरेतरयोगद्वन्द्वे तु दारगावः । ऊर्वष्ठीवमिति । प्राण्यङ्गत्वादेकवत्त्वम् । ऊरू सक्थिनी । अष्ठीवन्तौ जानुनी । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इति 'जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियाम्' इति चामरः । नन्वडित्त्वादनान्तत्वाच्च कथं टिलोप इत्यत आह—निपातनाट्टिलोप इति । पदष्ठीवमिति । पादौ चाष्ठीवन्तौ चेति द्वन्द्वादच् । प्राण्यङ्गत्वादेकवत्त्वम् । नन्वभत्वात् कथमिह पादशब्दस्य पद्भाव इत्यत आह—निपातनादिति । नक्तमिति मान्तमव्ययम् । दिवेत्याकारान्तमव्ययम् । नक्तन्दिवेति द्वन्द्वादच् । 'यस्येति च' इत्याकारलोपः, 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वम्, नपुंसकत्वं च । 'नाव्ययीभावात्' इत्यम्भावः । मान्तत्वमिति । रात्रौ च दिवा चेति द्वन्द्वे कृते सुब्लुकि कृते रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यत इत्यर्थः । 'यस्येति च' इति आकारलोपः, अम्भावश्च । अहर्दिवमिति । द्वन्द्वे कृते सुब्लुकि, लुका लुप्ते प्रत्ययलक्षणं नेति प्रत्ययलक्षणाभावात् 'रोऽसुपि' इति रत्वम्, अच्, 'यस्येति च' इत्याकारलोपः, अम्भावश्च । नन्वहन्शब्दार्थस्य दिवाशब्दार्थस्य

६—ऋक्सामे । ७—वाङ्मनसे । ८—अक्षिणी च भ्रुवौ च > अक्षिभ्रुवम् । ९—दाराश्च गावश्च > दारगवम् । १०—ऊरू च अष्ठीवन्तौ च>ऊर्वष्ठीवम् । निपातन से 'टि' लोप । ११—पदष्ठीवम् । निपातन से पाद=पद् । १२—नक्तं च दिवा च >नक्तन्दिवम् । १३—रात्रौ च दिवा च >रात्रिन्दिवम् । 'रात्रि' को मकारान्त निपातन किया गया । १४—अहनि च दिवा च > अहर्दिवम् । वीप्सा में 'द्वन्द्व' का निपातन किया जा रहा है । अर्थ है—प्रतिदिन । १५—सरजसम् में साकल्यार्थ अव्ययीभाव है । बहुव्रीहि में सरजः पङ्कजम् । १६—निःश्रेयसम् । 'निःश्रेयस' में तत्पुरुष में ही (अच् प्रत्यय), अतः 'निःश्रेयान् पुरुषः' में नहीं । १७—पुरुषस्य आयुः > पुरुषायुषम् । १८—द्व्यायुषम् । १९—त्र्यायुषम् । तदनन्तर फिर द्वन्द्व—२०—ऋग्यजुषम् । तत्पश्चात् तीन कर्मधारय—२१—जलोक्षः । २२—महोक्षः । २३—वृद्धोक्षः । २४—उपशुनम् । 'टि' लोप का अभाव तथा सम्प्रसारण—दोनों का निपातन । २५—गोष्ठे श्वा > गोष्ठश्वः ।

विवरण—पाणिनि की अष्टाध्यायी के दीर्घकाय सूत्रों में यह प्रमुख सूत्र है । उल्लिखित प्राकरणिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियों के अतिरिक्त विधीयमान समासान्त प्रत्यय 'अच्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । सूत्र में २५ प्रयोगों की समीचीनता के लिये निपातन का

द्वन्द्वो निपात्यते । अहन्यहनीत्यर्थः । सरजसमिति साकल्येऽव्ययीभावः । बहुव्रीहौ तु सरजः पङ्कजम् । निश्चितं श्रेयो—निःश्रेयसम् । तत्पुरुष एव । नेह । निःश्रेयान् पुरुषः । पुरुषस्यायुः

च एकत्वात् साहित्याभावात् कथमिह द्वन्द्वः । अहर्व्यक्तिभेदमादाय द्वन्द्वप्रसक्तावपि 'विरूपाणामपि समानार्थकानाम्' इत्येकशेषो दुर्वार इत्यत आह—**वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यत** इति । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विर्वचने कृते एकशेषं बाधित्वा द्वन्द्वो निपात्यत इत्यर्थः । **सरजसमिति** । रजोऽप्यपरित्यज्य इत्यस्वपदविग्रहः । रजः धूलिः । साकल्ये सहशब्दस्य रजःशब्देनाव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहशब्दस्य सभावः । अच् । **अव्ययीभाव इति** । भाष्ये तथावचनात् अव्ययीभावस्य ग्रहणमिति भावः । **सरजः पङ्कजमिति** । रजोभिः परागैः सहेति विग्रहः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सः । बहुव्रीहित्वात् नाच् । **निःश्रेयसमिति** । कर्मधारयादच् । **तत्पुरुष एवेति** । तथा भाष्यादिति भावः । **निःश्रेयानिति** । निश्चितं श्रेयो यस्येति बहु-

---

आश्रय लिया जा रहा है । ये सब प्रयोग सूत्र में एक लम्बे समस्त पद द्वारा बतलाये गए हैं । अतः सूत्रस्थ समस्त-पद इतरेतर द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ है कि "'अचतुर' आदि पच्चीस शब्दों की समीचीनता समासान्त 'अच्' प्रत्यय के साहचर्य से निपातन द्वारा प्रमाणित की जाय" । अतः 'अच्' प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य क्या निपातन हैं, उनका निर्देश भी यथास्थान किया जायगा । अर्थात् व्याख्यानादि से जो विशेष विधान निपातन के लिये निर्धारित हो जाते हैं, तदतिरिक्त स्थलों में वैसा (निपातित) रूप मान्य नहीं होता है । **उदाहरण**—सूत्रोक्त २५ शब्दों में आरम्भ के **तीन** शब्द भाष्यकार के अनुसार बहुव्रीहि समास में ही निपातित हैं । वे हैं—(१) **अचतुरः** (जिसके पास चार न हों) । **विग्रह**—अविद्यमानानि चत्वारि यस्य । 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' वार्तिक से समास तथा 'विद्यमान' का लोप—अचतुर्+अ (अच्)>अचतुरः (पुंलिङ्ग प्रथमा एकवचन) । (२) **विचतुरः** (जिसके चार नष्ट हो गये) । **विग्रह**—विगतानि चत्वारि यस्य । (३) **सुचतुरः** (जिसके चार सुन्दर हों) । यहाँ "न पूजनात्" ५-४-६९ निषेध का बाध हुआ है । **विग्रह**—सु=शोभनानि चत्वारि यस्य सः । बहुव्रीहि के अतिरिक्त तत्पुरुष समास में निपातन नहीं होगा । अतः तत्पुरुष में **अचत्वारः**, **विचत्वारः** रूप बनेंगे । इस सन्दर्भ में एक **वार्तिक** प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अनुसार त्रि तथा उप से परवर्ती 'चतुर्' शब्द से भी 'अच्' प्रत्यय होगा । दोनों उदाहरण—**क्रमशः** (क) **त्रिचतुराः** (जिसके पास तीन या चार हों) । **विग्रह**—त्रयः वा चत्वारः वा यस्य । "संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये" २-२-२५ बहुव्रीहि समास । प्रकृत सूत्र से 'अच्' प्रत्यय । 'बहुव्रीहौ संख्येये डच्०' का यह बाधक है । (ख) **उपचतुराः** (चार के लगभग अर्थात् तीन या पाँच) । **विग्रह**—चतुर्णां समीपे ये सन्ति । अव्ययीभाव । शेष कार्य पूर्ववत् । तदनन्तर **ग्यारह** शब्द भाष्यकार के अनुसार द्वन्द्व समास के ही हैं । वे इस प्रकार हैं—(४) **स्त्रीपुंसौ** (स्त्री और पुरुष) । **विग्रह**—स्त्री च पुमान् च । इतरेतरद्वन्द्व समास तथा 'अच्' । 'स्त्रीपुमांसौ' नहीं हुआ । (५) **धेन्वनडुहौ** (गाय और बैल) । **विग्रह**—धेनुः च अनड्वान् च । इतरेतरयोग द्वन्द्व तथा 'अच्' । 'धेन्वनड्वाहौ' नहीं होता । समाहार द्वन्द्व में "द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे" (सू० ९३०) से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होने पर नपुंसकलिङ्ग एकवचन में 'धेन्वनड्वाहम्' रूप होगा । (६) **ऋक्सामे** (ऋग्वेद और सामवेद) । **विग्रह**—ऋक् च साम च । इतरेतरयोग द्वन्द्व, अच् तथा टिलोप । 'ऋक्सामनी' नहीं हुआ । (७) **वाङ्मनसे** (वाणी और मन) । **विग्रह**—वाक् च मनश्च । अच् । अकारान्त नपुंसक लिङ्ग प्रथमा द्विवचन । 'वाङ्-मनसी' नहीं होता । (८) **अक्षि-भ्रुवम्** (आँख और भौंह) । **विग्रह**—अक्षिणी च भ्रुवौ च । अच् । प्राणी के अङ्ग-(अवयव)-वाची शब्द होने के

पुरुषायुषम् । ततो द्विगुः । द्व्यायुषम् । त्र्यायुषम् । ततो द्वन्द्वः । ऋग्यजुषम् । ततस्त्रयः कर्मधारयाः । जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः । शुनः समीपमुपशुनम् । टिलोपाभावः सम्प्र-

---

व्रीहित्वान्नाच् इति भावः । 'ईयसश्च' इति निषेधान्न कप् । पुरुषायुषमिति । षष्ठीसमासात् अजिति भाष्यम् । ततो द्विगुरिति । भाष्यवाक्यमिदम् । द्व्यायुषम् त्र्यायुषमिति । द्वयो-रायुषोः समाहार इति, त्रयाणामायुषां समाहार इति च विग्रहः । 'तद्धितार्थे' इति द्विगो-रच् । ततो द्वन्द्व इति । भाष्यवाक्यमिदम् । ऋग्यजुषमिति । ऋचश्च यजूंषि च एषां समाहार इति समाहारद्वन्द्वः । ततस्त्रयः कर्मधारया इति । तथा भाष्यादिति भावः । जातोक्ष इति । जातश्चासावुक्षा चेति विग्रहः । अचि सत्युक्षन् शब्दे टिलोपः महोक्ष इति । महांश्चासावुक्षा चेति विग्रहः । 'आन्महतः' इत्यात्त्वम् । अचि टिलोपः । वृद्धोक्ष इति । वृद्धश्चासावुक्षा चेति विग्रहः । अचि टिलोपः । उपशुनमिति । अव्ययीभावादच्, तथा

कारण "द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्" सू० ९०६ से एकवद्भाव (नपुंसकलिङ्ग का एक वचन)। 'अक्षिभ्रु' नहीं हुआ । (९) **दारगवम्** (भार्या और गायें)। **विग्रह**—दाराः च गावः च । समाहार द्वन्द्व, अच्, अवादेश । 'दारगु' नहीं होता । इतरेतरयोग द्वन्द्व करने पर पदार्थगत संख्या के अनुसार बहुवचन में 'दारगावः' रूप होगा । (१०) **ऊर्वष्ठीवम्** (जाँघें तथा घुटने)। **विग्रह**—ऊरू च अष्ठीवन्तौ च । प्राणी का अङ्ग होने के कारण एकवद्भाव । यहाँ 'टि' लोप ('इन्' का लोप) का भी निपातन किया जा रहा है । (११) **पदष्ठीवम्** (पाँव तथा घुटने)। **विग्रह**—पादौ च अष्ठीवन्तौ च । द्वन्द्व समास तथा 'अच्' । 'पाद' शब्द के स्थान में 'पद्' आदेश भी निपातनवश होता है । (१२) **नक्तन्दिवम्** (रात-दिन)। **विग्रह**—नक्तं च दिवा च । 'नक्तम्'—मकारान्त तथा 'दिवा'—आकारान्त अव्यय सप्तम्यर्थ-द्योतक हैं। निपातन-वश द्वन्द्व समास, अच् । 'दिवा' शब्दावयव 'आ' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८ । "अव्ययी-भावश्च" १-१-४१ से अव्ययत्व तथा "अव्ययभीवश्च" २-४-१८ से नपुंसक लिङ्ग । "नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः" २-४-८३ से अम्-भाव । पररूप । (१३) **रात्रिन्दिवम्** । (रात और दिन)। **विग्रह**—रात्रौ च दिवा च । यहाँ द्वन्द्व तथा विभक्ति का लोप होने पर 'रात्रि' शब्द में 'मकारान्त' का निपातन है । तदन-न्तर 'दिवा' शब्दावयव 'आ' का लोप, अव्ययत्व, नपुंसक-लिङ्ग तथा अम्भाव एवम् पूर्वरूप । (१४) **अहर्दिवम्** (प्रतिदिन)। **विग्रह**—अहनि च दिवा च। यहाँ वीप्सा अर्थ 'अहनि अहनि' अपेक्षित है । वीप्सा अर्थ में "नित्यवीप्सयोः" ८-१-४ से द्वित्व करने पर 'विरूपाणा-मपि समानार्थकानाम्' वार्तिक से प्राप्त एकशेष के बाधकस्वरूप निपातनवश वीप्सा में द्वन्द्व समास होता है । समास करने पर विभक्तिलोप । 'लुक्' शब्द से लोप होने के कारण "रोऽसुपि" ८-२-६९ से 'अहन्' शब्दावयव 'न्' के स्थान पर 'र्' आदेश । ततः समासान्त 'अच्' प्रत्यय, 'आ' का लोप, अव्ययत्व, नपुंसकलिङ्ग—'अम्'-भाव तथा पूर्वरूप होगे । इसके अनन्तर भाष्यकार के अनुसार एक शब्द अव्ययीभाव है । वह है—(१५) **सरजसम्** (धूल से भरा हुआ)। **लौकिक विग्रह**—रजः अपि अपरित्यज्य । सह-रजस् (साकल्य अर्थ में अव्ययीभाव समास) > स-रजस् (सह=स–"अव्ययीभावे चाकाले" ६-३-८१) > स-रजस्+अ (अच्) > सरजसम् (विभक्ति एवम् अम्भाव)। बहुव्रीहि समास करने पर सरजः (कमल) रूप होगा । इसका विग्रह—रजोभिः सहितः । "तेन सहेति तुल्ययोग" २-२-२८ से बहुव्रीहि-समास तथा "वोपसर्जनस्य" ६-३-८२ से सह=स । बहुव्रीहि होने के कारण समासान्त 'अच्' नहीं हुआ । (१६) **निःश्रेयसम्** (परम कल्याण)। **विग्रह**—निश्चितं श्रेयः (कर्मधारय)। भाष्यकार ने तत्पुरुष समास में ही 'अच्' प्रत्यय का निपातन स्वीकार किया है । अतः बहुव्रीहि समास में 'निश्चितं श्रेयः यस्य' विग्रह करने पर निःश्रेयान् पुरुषः (परमकल्याण वाला पुरुष) शब्द समीचीन माना जायगा ('निःश्रेयस्'

सारणं च निपात्यते । गोष्ठे श्वा गोष्ठश्वः । (९४६) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ५ । ४ । ७८ ॥ अच्स्यात् । ब्रह्मवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् । 'पल्यराजभ्यां चेति वक्तव्यम्' (वा ३३-

---

भाष्यात् । नन्वत्र 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः कुतो न स्यात् । 'अतद्धिते' इति पर्युदासात् 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति कथं वा सम्प्रसारणं स्यादित्यत आह—**टिलोपाभावः सम्प्रसारणं च निपात्यत इति । गोष्ठश्व इति ।** सप्तमीसमासादजिति भाष्यम् । अत एव भाष्यात् सप्तमीसमासः । टिलोपः । 'अतद्धिते' इति निषेधान्न सम्प्रसारणम् । षष्ठीतत्पुरुषे तु गोष्ठश्वा ।

(९४६) **ब्रह्म ।** शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**अच्स्यादिति । ब्रह्मवर्चसमिति ।** ब्रह्मणो वर्चं इति विग्रहः । **हस्तिवर्चसमिति ।** हस्तिनो वर्चं इति विग्रहः । **पल्यराजभ्यामिति ।**

से पुंलिङ्ग प्रथमा विभक्ति मे एकवचन)। "ईयसश्च" ५-४-१५६ से निषेध होने के कारण समासान्त 'कप्' भी नहीं हुआ। (१७) **पुरुषायुषम्** (पुरुष की आयु तक)। **विग्रह**—पुरुषस्य आयुः। षष्ठीतत्पुरुष समास तथा निपातन-वश 'अच्' प्रत्यय। भाष्यकार के मतानुसार यहाँ भी 'तत्पुरुष' समास में ही 'अच्' प्रत्यय मान्य है। तदनन्तर भाष्यकार के अनुसार—(१८) **द्व्यायुषम्** (दो पुरुषों की आयु तक) तथा (१९) **त्र्यायुषम्** (तीन पुरुषों की आयु तक)-दो शब्द द्विगु समास के बतलाये गये हैं। दोनों उदाहरणों के विग्रह क्रमशः—'द्वयोः आयुषोः समाहारः' तथा 'त्रयाणाम् आयुषां समाहारः' हैं। इन उदाहारणों में "तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च" २-१-५१ से समास होने के अनन्तर 'अच्' प्रत्यय होगा। तदनन्तर विभक्तिकार्य। मध्य में एक शब्द (२०) **ऋग्यजुषम्** (ऋग्वेद और यजुर्वेद)—'द्वन्द्व' समास में अच्-प्रत्ययान्त निपातन है। **विग्रह**—ऋचः च यजूंषि च, एषां समाहारः। इसके पश्चात् **तीन शब्द कर्मधारय** में 'अच्' प्रत्ययान्त निपातित हैं। वे हैं—(२१) **जातोक्षः** (युवा बैल)। **विग्रह**—जातश्चासौ उक्षा च। जात-उक्षन् + अ (अच्) > जातोक्ष् + अ ('टि' लोप) > जातोक्षः (विभक्तिकार्य)। (२२) **महोक्षः** (बड़ा बैल)। **विग्रह**—महान् चासौ उक्षा च। महत्-उक्षन् (कर्मधारय) > मह + आ + उक्षन् (त्=आ—"आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" ६-३-४६) महा + उक्षन् + अ (अच्) > महा + उक्ष् + अ ('टि' लोप) > महोक्ष (गुण) > महोक्षः (विभक्तिकार्य)। (२३) **वृद्धोक्षः** (बूढ़ा बैल)। **विग्रह**—वृद्धः उक्षा। शेषकार्य पूर्ववत्। दो विविध शब्द (२४) **उपशुनम्** (कुत्ते के पास)। **विग्रह**—शुनः समीपम्। इस शब्द में अव्ययीभाव समास के अनन्तर भाष्यकार ने 'अच्' प्रत्यय के निपातन का निर्देश दिया है। उप-श्वन् + अच् > उप-शुन् + अ ('टिलोप' का अभाव तथा 'व्' को सम्प्रसारण का निपातन एवं पूर्वरूप) > उपशुनम् (विभक्ति-कार्य)। (२५) **गोष्ठश्वः** (गोशाला में बैठा हुआ कुत्ता, अकर्मण्य व्यक्ति)। **विग्रह**—गोष्ठे श्वा। भाष्यकार के अनुसार सप्तमी तत्पुरुष समास तथा 'अच्' समासान्त एवं टिलोप। 'समासान्त' के साथ 'तद्धित' का अधिकार होने के कारण यहाँ "श्व-युव-मघोनामतद्धिते" ६-४-१३३ सूत्र से सम्प्रसारण की प्रवृत्ति नहीं हुई। अतः षष्ठी तत्पुरुष में 'अच्' नहीं होगा—गोष्ठश्वा।

(९४६) **पद**—ब्रह्महस्तिभ्यां, वर्चसः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अच्' हो। उदा० १—ब्रह्मवर्चसम्। २—हस्तिवर्चसम्। वा० 'पल्य' तथा 'राजन्' से भी 'अच्' किया जाय। उदा० १—पल्यवर्चसम्। २—राजवर्चसम्।

विवरण—विधीयमान 'अच्' का लाभ पूर्ववत् अनुवृत्ति से ही होता है। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि ""ब्रह्मन् एवं 'हस्तिन्' शब्द से उत्तरवर्ती 'वर्चस्'-शब्दान्त से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—(१) **ब्रह्मवर्चसम्**

५२)। पल्यवर्चसम्। राजवर्चसम्। (९४७) अवसमन्धेभ्यस्तमसः ५। ४। ७९॥ अवतमसम्। सन्तमसम्। अन्धयतीत्यन्धम्। पचाद्यच्। अन्धं तमोऽन्धतमसम्। (९४८) श्वसो वसीयःश्रेयसः ५। ४। ८०॥ वसुशब्दः प्रशस्तवाची। तत ईयसुनि वसीयः।

आभ्यां पुरो यो वर्चश्शब्दः तस्मादपि अजिति वक्तव्यमित्यर्थः। पल्यवर्चसमिति। पलं मांसं तदर्हति पल्यः, मांसभोजीत्यर्थः। तस्य वर्च इति विग्रहः। राजवर्चसमिति। राज्ञां वर्च इति विग्रहः।

(९४७) **अवसमन्धेभ्यस्तमसः।** अव सम् अन्ध एभ्यः परो यस्तमश्शब्दस्तस्मादच्स्यादित्यर्थः। अवतमसमिति। अवहीनं तम इति विग्रहः। प्रादिसमासः। सन्तमसमिति। सन्ततं तमः इति विग्रहः। प्रादिसमासः। अन्धयतीत्यन्धमिति। 'अन्ध दृष्ट्युपघाते' चुरादिः, दृष्टिं प्रतिबध्नातीत्यर्थः। पचाद्यजिति। 'नन्दिग्रहपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इति पचादित्वप्रयुक्तोऽच्प्रत्यय इत्यर्थः। अचि णिलोपेऽन्धमिति रूपम्। गाढमित्यर्थः फलति। गाढस्यैव तमसः दर्शनप्रतिबन्धकत्वात्। अन्धतमसमिति। कर्मधारयादच्।

(९४८) **श्वसः।** श्वस् इत्यव्ययात् परो यो वसीयश्शब्दः श्रेयश्शब्दश्च तस्मादच् स्यादित्यर्थः। वसुशब्दः प्रशस्तवाचीति। 'यं कामयेत् वसीयान् स्यात्' इत्यादौ तथा

(ब्रह्मतेज)। **विग्रह**—ब्रह्मणः वर्चः। ब्रह्मन्+ङस्, वर्चस्+सु > ब्रह्मन्–वर्चस्+अ (अच्) > ब्रह्मवर्चस्+अ+सु ('न्'-लोप) ⊳ ब्रह्मवर्चसम् (विभक्ति-कार्य)। (२) **हस्तिवर्चसम्** (हाथी का बल)। **विग्रह**—हस्तिनः वर्चः। शेष कार्य पूर्ववत्।

वार्तिक—वार्तिक के अनुसार "पल्य एवम् 'राजन्' शब्द के उत्तरवर्ती 'वर्चस्' शब्द से समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **पल्यवर्चसम्** (मांसाहारी का बल)। **विग्रह**—पल्यस्य वर्चः। षष्ठी तत्पुरुष समास, 'अच्' प्रत्यय, नपुंसक-लिङ्ग प्रथमा एकवचन। 'पल' शब्द माँस का पर्याय-वाची है। 'अर्ह' अर्थ में तद्धित 'य' प्रत्यय (पल+य) होने पर 'पल्य' शब्द निष्पन्न होता है। (२) **राजवर्चसम्** (राजाओं की शक्ति)। **विग्रह**—राज्ञां वर्चांसि। शेष कार्य पूर्ववत्।

(९४७) **पद**—अव-समन्धेभ्यः, तमसः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—अवतमसम्। २—सन्तमसम्। ३—'अन्ध' शब्द में पचादि-'अच्' प्रत्यय है। अन्धं तमः ⊳ अन्धतमसम्।

विवरण—समासान्त 'अच्' प्रत्यय का विधान है। सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विधमान हैं। सूत्र का यह आशय है कि "'अव', 'सम्' तथा 'अन्ध' शब्दों के उत्तरवर्ती 'तमस्' शब्द से 'अच्' प्रत्यय हो"। **क्रमशः उदाहरण**—(१) **अवतमसम्** (साधारण अन्धकार)। **विग्रह**—अवहीनं तमः। प्रादि समास। 'अच्' प्रत्यय। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन। (२) **सन्तमसम्** (अधिक अन्धकार)। **विग्रह**—सन्ततं तमः। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। (३) **अन्धतमसम्** (घोर अन्धकार)। **विग्रह**—अन्धं तमः। कर्मधारय समास। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। 'अन्धम्' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में निर्देश दिया जा रहा है—√अन्ध्+णिच्+अ ('अच्')—पचादि गण में पाठ होने से "नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३-१-१३४। तथा 'णि' लोप "णेरनिटि" ६-४-५१)।

(९४८) **पद**—श्वसः, वसीयः, श्रेयसः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'वसु' शब्द प्रशंसार्थक है। उससे 'ईयसुन्'—वसीयः। 'श्वस्' के प्रयोग से उत्तर-

श्वस्शब्दः उत्तरपदार्थप्रशंसामाशीर्विषयमाह। मयूरव्यंसकादित्वात्समासः। श्वोवसीयसम्, श्वःश्रेयसं ते भूयात्। (९४९) अन्ववतप्ताद्रहसः ५।४।८१॥ अनुरहसम्। अव-

---

दर्शनादिति भावः। तत इति। अतिशयेन वसुरिति विग्रहे 'द्विवचनविभज्योपपदे' इतीयसुनि, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इत्यनुवृत्तौ टेरिति टिलोपे वसीयश्शब्द इत्यर्थः। श्वस्शब्द इति। यद्यपि श्वश्शब्दः कालविशेषवाची। तथापि प्रकृते शब्दशक्तिस्वभावादुत्तरपदार्थभूतां प्रशंसाम् आशीर्विषयं द्योतयतीत्यर्थः। आशिषो विषयः आशीर्विषयः तमिति षष्ठीसमासः। प्रशंसाविशेषणम्। विषयशब्दस्य नित्यपुंल्लिङ्गत्वात् न स्त्रीलिङ्गता। एवञ्च श्वस्शब्दः उत्तरपदार्थगतप्राशस्त्यस्य द्योतक इति फलितोऽर्थः। ननु तर्हि श्वस्शब्दस्योत्तरपदार्थगतप्राशस्त्यद्योतकत्वेऽप्युत्तरपदसामानाधिकरण्याभावात् कथं विशेषणसमास इत्यत आह—मयूरेति। तथाचाशीर्लिङादिप्रयोग एव अस्य साधुत्वमित्यभिप्रेत्योदाहरति—श्वोवसीयसमिति। अतिशयेन प्रशस्तमित्यर्थः। श्वःश्रेयसमिति। अतिशयेन प्रशस्तमिति विग्रहे प्रशस्तशब्दादीयसुन्, 'प्रशंस्यस्य श्रः, 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः। आद्गुणः। श्रेयस् इति रूपम्। श्वस्शब्दस्तु उत्तरपदार्थगतप्रशंसाद्योतकः। 'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रम्' इत्यमरः। ते भूयादिति तु उभयत्रापि सम्बध्यते—श्वोवसीयसं ते भूयात्, श्वःश्रेयसं ते भूयादिति।

(९४९) अन्ववतप्ताद्रहसः। अनु अव तप्त एतेषां समाहारद्वन्द्वः। एभ्यः परो यो रहश्शब्दः तस्मादचस्यादित्यर्थः। रहः अप्रकाशप्रदेशः। अनुरहसमिति। अनुगतं रह इति विग्रहः। अवरहसमिति। अवहीनं रह इति विग्रहः। उभयत्र प्रादिसमासः। तप्तरहसमिति। तप्तं रह इति विग्रहः।

पदबोध्य प्रशंसा का आशीर्वाद मिलता है। मयूरव्यंसकादि होने से समास। उदा० श्वोवसीयम्। अर्थ—कल तुम्हारा कल्याण हो।

विवरण—कुछ अन्य शब्दों की समीचीनता के लिये समासान्त 'अच्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'श्वस्'-शब्द से उत्तरवर्ती 'वसीयस्' और 'श्रेयस्' शब्दों से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—(१) **श्वोवसीयसम्** ते भूयात (कल अति प्रशस्त हो)। **विग्रह**—श्वः वसीयः। "मयूरव्यंसकादयश्च" २-१-७२ से समास। ततः प्रकृत सूत्र से 'अच्'। विभक्तिकार्य। (२) **श्वःश्रेयसम्** (कल अत्यधिक कल्याण हो)। **विग्रह**—श्वः श्रेयः। पूर्ववत् समास तथा अच् प्रत्यय।

विशेष—यद्यपि 'श्वस्' शब्द आगामी दिन के अर्थ में प्रयुक्त होता है तथापि यहाँ 'अमरकोष' के अनुसार उत्तरपद 'श्रेयस्' शब्द-सम्बन्धी प्रशंसा के अर्थ में लिया गया है—'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रम्'। अतः यहाँ भावी आशीर्वाद का द्योतक माना गया है। 'ते भूयात्' यह कल्याण-कामना दोनों शब्दों से अभिप्रेत है। 'वसीयस्' शब्द वसु+ईयसुन (प्रशंसार्थक) प्रत्यय होने से निष्पन्न हुआ है।

(९४९) **पद**—अन्ववतप्तात्, रहसः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—अनुरहसम्। २—अवरहसम्। ३—तप्तरहसम्।

विवरण—उल्लिखित अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "'अनु', 'अव' तथा 'तप्त' शब्दों से (अनुश्च, अवश्च, तप्तश्च—अन्ववतप्तम्, तस्मात्) उत्तरवर्ती 'रहस्' शब्दान्त से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—(१) **अनुरहसम्** (निर्जन स्थान)। **विग्रह**—अनुगतं रहः। "कु-गति-प्रादयः" २-२-१८ से प्रादि समास। 'अच्'

रहसम् । तप्तरहसम् । (९५०) **प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ५ । ४ । ८२ ॥** उरसि प्रति– प्रत्युरसम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । (९५१) **अनुगवमायामे ५ । ४ । ८३ ॥** एतन्निपात्यते दीर्घत्वे । अनुगवं यानम् । 'यस्य चायामः' (सू ६७०) इति समासः । (९५२) **द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः ५ । ४ । ८४ ॥** अच्प्रत्ययष्टिलोपः समासश्च

---

(९५०) **प्रतेरुरसः** । सप्तम्यर्थे द्योतकतया वर्तत इति सप्तमीस्थम् । सप्तम्यर्थद्योतकात् प्रतेः परो यः उरश्शब्दः तस्मादच् स्यादित्यर्थः । **उरसीति** । अनेन यदुच्यते तदेव प्रत्युरसमित्यनेनोच्यत इत्यर्थः । सप्तम्यर्थद्योतकः प्रतिः । तस्य विभक्त्यर्थे विद्यमानस्य 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिनाऽव्ययीभाव इति भावः ।

(९५१) **अनुगवमायामे** । **एतदिति** । अनुगवमित्येतदित्यर्थः । अनुना दीर्घत्वे द्योत्येऽच्प्रत्ययान्तो निपात्यत इत्यर्थः । आयामशब्दो दीर्घपर इति भावः । **अनुगवं यानमिति** । अनुगोशब्दादचि अवादेश इति भावः । **यस्य चेति** । 'यस्य चायामः' इत्यव्ययीभावसमासः । तथा च गोदैर्घ्यसदृशदैर्घ्यकं यानमित्यर्थः फलतीति भावः ।

(९५२) **द्विस्तावा** । **यावती प्रकृतावििति** । यतोऽङ्गकलापस्यातिदेशः सा प्रकृतिः । अश्वमेधस्य प्रकृतिरग्निष्टोमः, तत्राम्नाताऽङ्गकलापानामश्वमेधेऽतिदेशात् । तदुक्तं कल्पसूत्रेषु

प्रत्यय । नपुंसक लिङ्ग प्रथमा एकवचन । (२) **अवरहसम्** (अधिक एकान्त) । **विग्रह**—अवहीनं रहः । 'अच्' प्रत्यय । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् । (३) **तप्तरहसम्** (दूसरे से अप्राप्य स्थान) । **विग्रह**—तप्तं रहः । "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" २-१-५६ से समास । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् ।

(९५०) **पद**—प्रतेः, उरसः सप्तमीस्थात् । **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० उरसि प्रति ▷ प्रत्युरसम् ।

विवरण—पूर्ववत् समासान्त 'अच्' प्रत्यय का विधान ही चल रहा है । सूत्रोक्त पद एवम् अनुवृत्तियों की एकवाक्यता से यह निष्कर्ष निकलता है कि "'प्रति' शब्द से उत्तरवर्ती सप्तमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त 'उरस्' शब्दान्त से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण**—प्रत्युरसम् (हृदय में वर्तमान) । **विग्रह**—उरसि प्रति । प्रति+सु, उरस्+ङि > प्रत्युरस् (विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव—"अव्ययं विभक्ति०" २-१-६) ▷ प्रत्युरस्+अ (अच्) ▷ प्रत्युरसम् (विभक्तिकार्य, अम्भाव) ।

(९५१) **पद**—अनुगवम्, आयामे । **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लम्बाई (दीर्घत्व) अर्थ में 'अनुगवम्' यह निपातन होता है । उदा० अनुगवम् (अर्थात् बैलों के बराबर लम्बी सवारी) । "यस्य चायामः" सू० ६७० से समास ।

विवरण—उल्लिखित अनुवृत्तियों के सन्दर्भ में "'अनु' से **आयाम** अभिधेय होने पर 'अच्'-प्रत्ययान्त 'अनुगव' शब्द निपातन किया जाता है" । **उदाहरण**—**अनुगवम्** (वह सवारी (यान), जो बैल की लम्बाई के बराबर हो) । **विग्रह**—गोः अनु । गो+ङस्, अनु+सु ▷ अनु-गो (समास—"यस्य चायामः" २-१-१६) ▷ अनु-गु (गो=गु-उपसर्जन-ह्रस्व) अनु-गो ("ओर्गुणः" ६-४-१४६ से गुण) > अनु-गो+अ (अच्) > **अनुगवम्** (अवादेश तथा विभक्तिकार्य) ।

(९५२) **पद**—द्विस्तावा, त्रिस्तावा, वेदिः । **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

निपात्यते । यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा त्रिगुणा वा अश्वमेधादौ, तत्रेदं निपातनम् । 'वेदिः' इति किम् ? द्विस्तावती–त्रिस्तावती रज्जुः । (९५२) उपसर्गादध्वनः ५ ।

'सर्वसोमक्रतूनामग्निष्टोमः प्रकृतिः' इति । तस्मिन् अग्निष्टोमे वेदिपरिमाणं श्रुतम् । तत्र च 'त्रिंशत्पदानि प्रक्रमा वा पश्चात्तिरश्ची, षट्त्रिंशत् प्राची, चतुर्विंशतिः पुरस्तात्तिरश्ची'ति प्रकृतौ वेदिपरिमाणमुक्तम् । अस्यां तु वेद्यां ततो द्विगुणितं त्रिगुणितं च क्षेत्रपरिमाणमुक्तं कल्पसूत्रेषु 'अष्टाविंशत्यूनं पदसहस्रं महावेदिः' इति । पदग्रहणमत्र प्रक्रमस्याप्युपलक्षणम् । तथा च प्रकृतौ अग्निष्टोमे यावती वेदिस्तदपेक्षया द्विगुणा त्रिगुणा वा अश्वमेधादौ वेदिरस्ति, तत्र आश्वमेधिकवेद्यामभिधेयायां द्विस्तावेति त्रिस्तावेति च भवतीत्यर्थः । 'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति द्विशब्दात् क्रियाभ्यावृत्तौ सुचि कृते द्विरिति त्रिरिति च रूपम् । तत् प्राकृतं परिमाणम् अस्या अस्तीति तावती । प्राकृतपरिमाणेति यावत् । द्विरिति तच्छब्दार्थे प्रकृतिपरिमाणेऽन्वेति । द्विः तावतीति विग्रहः । द्विरावृत्तं प्राकृतं यत् परिमाणं तद्वत्याश्वमेधिकी वेदिरित्यर्थः । अत एव निपातनात् समासः, अच्प्रत्ययः, तावतीशब्दस्य 'भस्याढे' इति पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ प्रत्ययस्याडित्त्वेऽपि प्रकृतेर्नान्त्वत्वाऽभावेऽपि टिलोपः । **द्विस्तावती त्रिस्तावती रज्जुरिति ।** अत्र वेद्यामप्रवृत्तेरच्प्रत्ययटिलोपसमासा न भवन्तीत्यर्थः । तथा च प्रत्युदाहरणे 'द्वि'रिति भिन्नं पदम् ।

मूलार्थ—'अच्' प्रत्यय, टि-लोप तथा समास का निपातन है । प्रकृति में जितनी वेदी विहित है, उसकी अपेक्षा दुगुनी अथवा तिगुनी अश्वमेध आदि में होती है, वहीं यह निपातन है । 'वेदिः' क्यों कहा ? द्विस्तावती, त्रिस्तावती (रस्सी अर्थ में निपातन नहीं) ।

विवरण—विशेष अभिधान होने पर 'द्विस्तावा' तथा 'त्रिस्तावा' शब्द निपातन किये जाते हैं । उस अर्थ-विशेष का द्योतक 'वेदि' शब्द है । इन दोनों शब्दों में 'अच्' प्रत्यय के साथ टिलोप तथा समास भी निपातन किये गए हैं । **उदाहरण**—(१) **द्विस्तावा** (दुगुनी) । **विग्रह**—द्विः तावती । निपातन-वश समास । द्विस्तावती+अ (सत्व तथा अच्) > द्विस्तावत्+अ ('भस्याढे' तद्धिते वा० से पुंवद्भाव) > द्विस्ताव (टि='अत्' का लोप-निपातन) > द्विस्तावा ('टाप्' तथा विभक्ति-कार्य) । (२) **त्रिस्तावा** (तिगुनी) । **विग्रह**—त्रिः तावती । शेष कार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'वेदिः' शब्द का निवेश होने से रस्सी का अभिधान होने पर दुगुनी अथवा तिगुनी लम्बाई सूचित करने से निपातन नहीं होगा । तब **द्विस्तावती** तथा **त्रिस्तावती** रज्जुः (दुगुनी या तिगुनी रस्सी) रूप बनेंगे । इस अवस्था में 'द्विः' तथा 'त्रिः' पद पृथक् रहेंगे, क्योंकि समास भी नहीं होगा । विसर्ग के स्थान पर 'स्' हो गया है ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में वेदि की दुगुनी तथा तिगुनी करने का निर्देश है । 'अग्निष्टोम' याग सोमयागों की प्रकृति है । तदनुसार वेदि का स्वरूप—पश्चिम की ओर दक्षिण से उत्तर ३० प्रक्रम, पश्चिम से पूर्व की ओर ३६ प्रक्रम तथा पूर्व की ओर दक्षिण से उत्तर २४ प्रक्रम । उससे दुगुनी अथवा तिगुनी वेदि विकृति याग में (अश्वमेधादि में) विहित है । 'कल्पसूत्रों' में (१०००-२८) ९७२ प्रक्रम (क्षेत्रफल) को 'महावेदि' कहा है, जिसमें 'चिति' का निर्माण होता है । इस प्रकार **द्विस्तावा** तथा **त्रिस्तावा** का प्रयोग आश्वमेधिक वेदि के अर्थ में किया जायगा ।

इस सन्दर्भ में 'द्विः' तथा 'तावती' शब्दों की सिद्धि भी जानना आवश्यक है । (क) 'द्विः आवृत्तम्' अर्थ में द्वि+सुच् (तद्धित—"द्वि-त्रि-चतुर्भ्यः सुच्" ५-४-१८) > द्वि-स् > द्विः

४।८५॥ प्रगतोऽध्वानं-प्राध्वो रथः। (९५४) न पूजनात् ५।४।६९॥ पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः। सुराजा। अतिराजा। 'स्वतिभ्यामेव' (वा ३३४६)। नेह। परमराजः। पूजनात् किम्? गामतिक्रान्तोऽतिगवः। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः—'

---

(९५३) उपसर्गादध्वनः। उपसर्गात् परो योऽध्वन्शब्दस्तस्मादच् स्यादित्यर्थः। प्राध्वो रथ इति। 'अत्यादयः' इति समासादच्। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः।

(९५४) न पूजनात्। परेभ्य इत्यध्याहार्यम्। समासान्ता इति पूर्वसूत्रमनुवर्तते। तदाह—पूजनार्थादिति। 'पूजायां स्वतिग्रहणं कर्तव्यम्' इति वार्तिकमभिप्रेत्योदाहरति—सुराजेति। सु शोभनो राजेति प्रादिसमासः। अतिराजेति। पूज्यो राजेत्यर्थः। उभयत्रापि 'राजाहस्सखिभ्यः' इति टच् न भवति। स्वतिभ्यामेवेति। स्वतिभ्यां परो यो राजन् शब्दस्तस्मादेवेत्यर्थः। तथा वार्तिकादिति भावः। नेहेति। निषेध इति शेषः। परमराज इति। परमश्चासौ राजा चेति विग्रहः। अतिगव इति। 'अत्यादयः' इति समासः। अतेः

(रुत्व तथा विसर्ग)। (ख) 'तत् परिमाणम् अस्याः अस्ति' अर्थ में-'तद्+वतुप्' ("यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्" ५-२-३९) > त-आ+वत् (द्=आ "आ सर्वनाम्नः" ६-३-९१) > तावत् (सवर्ण दीर्घ) > तावत्+ई (ङीप्)।

(९५३) पद—उपसर्गात्, अध्वनः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० प्रगतः अध्वानम् > प्राध्वः—रथः।

विवरण—सभी उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। समासान्त 'अच्' प्रत्यय किस शब्द से हो—इस जिज्ञासा के उत्तर-स्वरूप सूत्रस्थ 'सोपसर्ग अध्वन्' शब्द विद्यमान है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "उपसर्ग से उत्तरवर्ती 'अध्वन्' शब्दान्त से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**-प्राध्वः (गतिशील रथ)। **विग्रह**—प्रगतः अध्वानम्। प्र-अध्वन् (प्रादि समास—'अत्यादयः कान्ताद्यर्थे द्वितीयया' वा०) > प्र-अध्व॒न्॒+अ > प्र-अध्व्+अ (टि-लोप) > प्राध्व (दीर्घसन्धि) > प्राध्वः (विभक्ति-कार्य)।

(९५४) पद—न, पूजनात्। **अनुवृत्ति**—समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधि-(निषेध)-सूत्र**।

मूलार्थ—पूजनार्थकों से पर समासान्त न हो। उदा० सुराजा, अतिराजा। वा० 'सु' और 'अति' शब्द से परवर्ती ही (यह नियम है)। अतः 'परमराजः' में निषेध नहीं हुआ। 'पूजनात्' क्यों कहा? गाम् अतिक्रान्तः-अतिगवः (यहाँ निषेध नहीं हुआ)। यह निषेध "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" (८५२) सूत्र से पहले ही प्रवृत्त होता है। अतः 'सुसक्थः' 'स्वक्षः' में यह निषेध नहीं लगा।

विवरण—'समासान्त' प्रत्ययों के विधान के अनन्तर अब उसके निषेध की प्रस्तुति की जा रही है। अतः सूत्रार्थ की निष्पत्ति में प्रमुख अनुवर्तमान 'समासान्ताः' पद ही विशेष महत्त्व रखता है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "पूजार्थक शब्दों से 'समासान्ताः' अधिकार में कहे गये प्रत्यय नहीं होते"। पूजार्थक सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि इस समासान्त प्रत्यय के विधायक प्रमुख सूत्र हैं—(१) "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" (५-४-९१) तथा "गोरतद्धितलुकि" (५-४-९२)। इन सूत्रों में 'राजन्'—अन्त वाले एवं 'गो'—अन्तवाले शब्दों से 'टच्' प्रत्यय का विधान कहा गया है। अतः वह 'टच्' प्रत्यय पूजन-वाची 'सु' तथा 'अति' से उत्तरवर्ती 'राजन्' और 'गो' शब्द से नहीं होगा—इस अर्थ की योजना 'स्वतिभ्यामेव' वार्तिक द्वारा की जाती है। **उदाहरण**—(क)

(सू ८५२) इत्यतः प्रागेवायं निषेधः। नेह। सुसक्थः। स्वक्षः। (९५५) किमः क्षेपे ५।४।७० ॥ क्षेपे यः किंशब्दस्ततः परं यत्तदन्तात्समासान्ता न स्युः। कुत्सितो राजा—किंराजा। किंसखा। किंगौः। क्षेपे किम् ? किंराजः। किंसखः। किंगवः। (९५६) नञ्-

---

पूजनार्थत्वाभावात् न टचो निषेधः। एवं परमराज इत्यत्रापि। **इत्यतः प्रागिति।** 'प्राग्बहुव्रीहिग्रहणं कर्तव्यम्' इति वार्तिकार्थसङ्ग्रहोऽयम्। **सुसक्थः स्वक्ष इति।** सु शोभने सक्थिनी यस्य, सु शोभने अक्षिणी यस्येति च विग्रहः। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इति षच्।

(९५५) किमः क्षेपे। किंराजा। किंसखेति। इह 'राजाहस्सखिभ्यः' इति टच् न भवति। 'किंक्षेपे' इति समासः। **किंराजः। किंसख इति।** किंशब्दोऽत्र प्रश्ने। कस्य राजा, को राजेति वा विग्रहः। निन्दानवगमान्न टचो निषेधः।

सु-राजा (अच्छा नृप)। **विग्रह**—शोभनः राजा। प्रादि समास होने पर—सु-राजन् > सु-राजा ('टच्' का निषेध, प्रथमा विभक्ति में एकवचन, उपधा-दीर्घ, सुलोप, न लोप। (२) **अतिराजा** (सम्माननीय राजा)। **विग्रह**—अतिशयितः राजा। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार 'सु' और 'अति' शब्दों के अतिरिक्त अन्य पूजार्थक शब्दों में निषेध प्रवृत्त न होने के फलस्वरूप **परमराजः** में समासान्त 'टच्' का निषेध नहीं हुआ। अतः यहाँ "राजाहःसखिभ्यष्टच्" ५-४-९१ से 'टच्' प्रत्यय हो गया। **विग्रह**—परमः च असौ राजा च। कर्मधारय समास। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में संमानार्थक 'पूजनात्' पद का निवेश होने के कारण **अतिगवः** (बैल से भी बढ़कर = मूर्ख) में 'अति' शब्द पूजनार्थक न होने से निषेध प्रवृत्त नहीं हुआ। **विग्रह**—गाम् अतिक्रान्तः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' वा० से समास—अति-गो > अति-गो+अ ('टच्'—"गोरतद्धितलुकि" ५-४-९१) > अतिगवः ('अव्' आदेश तथा विभक्ति-कार्य)।

विशेष—प्रकृत सूत्र से समासान्त प्रत्ययों के निषेध करने की सीमा का निर्धारण भाष्य में पठित वार्तिक—**प्राग्बहुव्रीहि-ग्रहणं च** के आधार पर "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" ५-४-११३ सूत्र के पूर्व (अर्थात् ५-४-११२) तक ही यह निषेध प्रवृत्त होता है। इसके फलस्वरूप (१) **सुसक्थः** (सुन्दर जाँघ वाला) तथा **स्वक्षः** (सुन्दर आँख वाला) में समासान्त 'षच्' प्रत्यय हो गया। (१) **विग्रह**—सु (शोभने) सक्थिनी यस्य सः। बहुव्रीहि समास-सु-सक्थिन् > सु-सक्थिन् + अ (षच् "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०" ५-४-११२) > सुसक्थ् + अ (टि-'इन्' का लोप) > **सुसक्थः** (विभक्तिकार्य)। (२) **स्वक्षः** (अच्छी आँखों वाला)। **विग्रह**—सु (शोभने) अक्षिणी यस्य सः। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

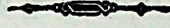
(९५५) पद—किमः, क्षेपे। **अनुवृत्ति**—न, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधि-(निषेध)-सूत्र।**

मूलार्थ—निन्दार्थक 'किम्' शब्द से पर जो शब्द हो, तदन्त से समासान्त प्रत्यय नहीं होते। उदा० १—कुत्सितः राजा > किंराजा। २—किंसखा। ३—किंगौः। 'क्षेपे' क्यों कहा ? १—किंराजः। २—किंसखः। ३—किंगवः।

विवरण—समासान्त प्रत्ययों के निषेध की श्रृङ्खला की यह दूसरी कड़ी है। अतः "न पूजनात्" ५-४-६९ से 'न' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। शेष प्राकरणिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "निन्दार्थक 'किं' शब्द से परवर्ती शब्दों से समासान्त प्रत्यय नहीं होता"। **उदाहरण**—(१) **किंराजा** (निन्दनीय राजा)। **विग्रह**—कुत्सितः राजा। **अलौकिक विग्रह**—किं+सु, राजन्+सु > किंराजन् (निन्दार्थक तत्पुरुष समास—"किं क्षेपे" २-१-६४) > किंराजन्+सु ("राजाहः-

स्ततपुरुषात् ५ । ४ । ७१ ॥ समासान्तो न । अराजा । असखा । तत्पुरुषात् किम् ? अधुरं शकटम् । (९५७) पथो विभाषा ५ । ४ । ७२ ॥ नञ्पूर्वात्पथो वा समासान्तः । अपथम्—अपन्थाः । तत्पुरुषात् इत्येव । अपथो देशः । अपथं वर्तते ।

इति सर्वसमासान्तप्रकरणम् ।



---

(९५६) **नञस्ततपुरुषात्** । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**समासान्तो नेति** । नञ्पूर्वपदात्तत्पुरुषात् समासान्तो नेति फलितम् । **अधुरं शकटमिति** । अविद्यमाना घूर्यस्येति विग्रहः । नञ्पूर्वपदत्वेऽप्यतत्पुरुषत्वात् 'ऋक्पूः' इति समासान्तस्य न निषेधः ।

(९५७) **पथो विभाषा** । **पथ इति** । पथिन्शब्दादित्यर्थः । **अपथमिति** । न पन्था इति विग्रहे नञ्तत्पुरुषः । 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्यये सति 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । 'पथः सङ्ख्या-

---

सखिभ्यष्टच्" ५-४-९१ से प्राप्त 'टच्' का प्रकृत सूत्र से निषेध, पुनः विभक्ति) ▷ किंराजा (प्रथमा-विभक्ति एकवचन) । (२) **किंसखा** (बुरा मित्र) । **विग्रह**—कुत्सितः सखा । किं-सखि > किंसखा ('टच्' निषेध आदि कार्य पूर्ववत्, विभक्ति-कार्य—अनङ्, उपधादीर्घ, सुलोप, न-लोप । (३) **किंगौः** (दुष्ट बैल) । **विग्रह**—कुत्सितः गौः । पूर्ववत् समासादि के अनन्तर "गोरतद्धितलुकि" से प्राप्त 'टच्' का निषेध—किंगो+सु ▷ किंगौ+सु (णिद्वद्भाव एवं वृद्धि) ▷ किंगौः (रुत्व, विसर्ग) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'क्षेपे' पद का निवेश होने से (१) **किंराजा** (कैसा राजा) (२) **किंसखा** (कैसा मित्र) तथा (३) **किंगवः** (कैसा बैल)—में निन्दार्थक न होने से 'टच्' का निषेध नहीं हुआ । अर्थात् 'टच्' हुआ । क्रमशः **विग्रह**—(१) कः राजा, अथवा कस्य राजा । (२) कः सखा, अथवा कस्य सखा । (३) कस्य गौः, अथवा कः गौः । इनमें से प्रथम दो में "राजाहः-सखिभ्यष्टच्" ५-४-९१ से 'टच्' तथा तीसरे में "गोरतद्धितलुकि" ५-४-९२ से 'टच्' हुआ ।

(९५६) पद—नञः, तत्पुरुषात् । **अनुवृत्ति**—न, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(निषेध)-सूत्र** ।

मूलार्थ—समासान्त नहीं होता । उदा० १—अराजा । २—असखा । 'तत्पुरुषात्' क्यों कहा ? अधुरं शकटम् (बहुव्रीहि में समासान्त हो गया) ।

विवरण—समासान्तनिषेध की तीसरी कड़ी है । तदनुसार "नञ्-तत्पुरुष से समासान्त ('टच्') प्रत्यय नहीं होता" । **उदाहरण**—(१) **अराजा** (जो राजा न हो) तथा (२) **असखा** (जो मित्र न हो) । दोनों में 'नञ्' समास होने के कारण "राजाहःसखिभ्यष्टच्" ५-४-९१ से प्राप्त 'टच्' नहीं हुआ । **विग्रह** (१) न राजा । (२) न सखा । शेषकार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'तत्पुरुषात्' पद का समावेश करने से 'अधुरं' शकटम् (बिना जुए की गाड़ी) में बहुव्रीहि-घटक-'अविद्यमाना धूः यस्य'-विग्रह अभीष्ट होने से समासान्त का निषेध नहीं हुआ । अतः "ऋक्-पू-रब्-धूः-पथामानक्षे" ५-४-७४ से 'अ' प्रत्यय हो गया ।

(९५७) पद—पथः, विभाषा । **अनुवृत्ति**—नञस्तत्पुरुषात्, न, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(निषेध)-सूत्र** ।

मूलार्थ—'नञ्'-पूर्वक पथिन् शब्द से समासान्त-प्रत्यय विकल्प से हो । उदा० १—अपथम्—अपन्थाः । यह नियम तत्पुरुष में ही है । अतः अपथः देशः तथा अपथं वर्तते (बहुव्रीहि में 'टच्' हो गया) ।

अलुक्समासप्रकरणम्

(९५८) अलुगुत्तरपदे ६ । ३ । १ ।। अलुगधिकारः प्रागानङः, उत्तरपदाधिकार-

---

व्ययादेः' इति नपुंसकत्वम् । अपन्था इति । अप्रत्ययाभावे रूपम् । तत्पुरुषादित्येवेति । अनुवर्तत एवेत्यर्थः । अपथो देश इति । अविद्यमानः पन्था यस्येति विग्रहः । बहुव्रीहित्वात् 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्ययस्य पाक्षिकोऽपि न निषेधः । अपथं वर्तते इति । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । अतत्पुरुषत्वात् 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्ययस्य न पाक्षिकोऽपि निषेधः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां
बालमनोरमायां सर्वसमासान्तप्रकरणं समाप्तम् ।



अथालुक्समासो निरूप्यते—अलुगुत्तरपदे । नायं विधिः, राजपुरुष इत्यादावतिप्रसङ्गात्, 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्याद्यारम्भाच्च । किन्तु पदद्वयमधिक्रियते । अस्य किय-

---

विवरण—समासान्त प्रत्यय के निषेध में विकल्प की स्थिति का निदर्शन कराया जारहा है। सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए सम्पूर्ण पूर्व-सूत्र "नञस्तत्पुरुषात्" ५-४-७१ की अनुवृत्ति मुख्यतः अपेक्षित है। इसके साथ ही समासान्त के निषेध के लिये "न पूजनात्" (५-४-६८) से 'न' की अनुवृत्ति भी प्रभावी है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। सूत्रस्थ 'पथः' शब्द 'नञः' का विशेष्य है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "नञ्-पूर्वक 'पथिन्'—शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त प्रत्यय का निषेध विकल्प से होता है"। **उदाहरण**—(क) **अपथम्**—(ख) **अपन्थाः** (मार्ग का अभाव) । **विग्रह**—न पन्थाः । अ-पथिन् (नञ् तत्पुरुष समास) ▷ अ-पथिन् + अ ("ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" ५-४-७४ से प्राप्त 'अ' प्रत्यय का पूर्व सूत्र "नञस्तत्पुरुषात्" (सू० ९५६) से नित्य निषेध होना था, उसके विकल्प से होने के फलस्वरूप 'अ'प्रत्यय—"ऋक्पूरब्धूः" (सू० ९४०) ▷ अपथ् + अ (टिलोप-"नस्तद्धिते" ६-४-१४४) ▷ अपथम् ('पथः संख्याव्ययादेः' वा० के आधार पर नपुंसकलिङ्ग, प्रथमा एकवचन)। पक्ष में 'अपन्थाः' ('अ' प्रत्यय न होने पर पुंलिङ्ग प्रथमा एकवचन)।

विशेष—(१) पूर्व सूत्र "नञस्तत्पुरुषात्" ५-४-७१ की अनुवृत्ति होने के फलस्वरूप तथा 'तत्पुरुषात्' का प्रभाव होने के कारण बहुव्रीहि समास में नित्य समासान्त 'अ' प्रत्यय होगा। इसके फलस्वरूप **अपथः** (वह देश जिस में मार्ग न हो)—इस उदाहरण में पाक्षिक निषेध न होने से 'अ' प्रत्यय हुआ। **विग्रह**—अविद्यमानः पन्थाः यस्य। शेष कार्य पूर्ववत्। इसी प्रकार **अपथं वर्तते**-(मार्ग का अभाव है) में अभावार्थ में अव्ययीभाव समास करने पर 'तत्पुरुष' समास न होने के कारण वैकल्पिक निषेध के अभाव में नित्य समासान्त 'अ' प्रत्यय ("ऋक्पूरब्धूः०" ९४०) हुआ। नपुंसक लिङ्ग प्रथमा एकवचन—"पथः संख्याव्ययादेः" वा०।

(२) 'अपथम्' रूप की सिद्धि उपर्युक्त विधान से होने के फलस्वरूप भाष्यकार ने "अपथं नपुंसकम्" २-४-३० सूत्र का प्रत्याख्यान किया है।

सर्वसमासान्त-प्रकरण समाप्त।



उपक्रम—पहले यह बतलाया जा चुका है कि 'समास' होने पर समस्यमान पदों की मध्यवर्तिनी विभक्तियों का लोप होता है। किन्तु कहीं-कहीं 'युधिष्ठिरः', 'कण्ठेकालः' आदि में मध्य-

स्त्वापादसमाप्तेः । (९५९) पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६ । ३ । २ ॥ एभ्यः पञ्चम्या अलुक्स्यादुत्तरपदे । स्तोकान्मुक्तः । एवमन्तिकार्थदूरार्थकृच्छ्रेभ्यः । उत्तरपदे किम् ? निष्क्रान्तः स्तोकान्निस्तोकः । 'ब्राह्मणाच्छंसिन उपसङ्ख्यानम्' (वा ३८७८) । ब्राह्मणे

त्पर्यन्तमनुवृत्तिरित्यत आह—अलुगधिकारः प्रागानङ इति । 'आनङृतः' इत्यतः प्रागित्यर्थः । उत्तरपदेति । षष्ठस्य तृतीये पादे आद्यमिदं सूत्रम् । इत उत्तरमेतत्पादपरिसमाप्तिपर्यन्तमुत्तरपदाधिकार इत्यर्थः । अत्रोत्तरपदाधिकारनियमे भाष्यमेव प्रमाणम् ।

(९५९) पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः । एभ्य इति । स्तोकादिभ्यः परा या पञ्चमी तस्याः 'सुपो धातु' इति लुङ् न स्यादित्यर्थः । उत्तरपदे । उत्तरपदशब्दः समासचरमावयवे रूढः, पदे इत्येव सिद्धे उत्तरग्रहणात् । स्तोकान्मुक्त इति । एवमल्पान्मुक्तः । 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' इति समासः । अत्र पञ्चम्या अलुक् । एवमिति । आदिपदेन समासविधौ गृहीतानामन्तिकादीनां ग्रहणादिति भावः । अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः, दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः, कृच्छ्रादागतः । निस्तोक इति । 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः । अतः स्तोकशब्दस्य उत्तरपदपरकत्वाभावात् पञ्चम्या अलुक् न । स्तोकान्मुक्तः इत्यादौ समासप्रयोजनं तु समासस्वरः, सर्वस्मात् स्तोकान्मुक्त इति विशेषणयोगाभावश्च । किञ्च, स्तोकान्मुक्तस्यापत्यं स्तौकान्मुक्तिरित्यादौ समुदायात्तद्धितोत्पत्तिश्च । स्तोकान्मुक्तौ, स्तोकान्मुक्ताः इति द्विबहुवचनान्तैर्न समासः, अनभिधानादिति भाष्ये स्पष्टम् । ब्राह्मणाच्छंसिन उपसङ्ख्यानमिति । पञ्चम्या अलुक् इति शेषः । ननु

वर्तिनी विभक्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इसके साथ ही कहीं-कहीं पूर्वपद एवम् उत्तरपद में भी रूपपरिवर्तन होता हुआ दिखलाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि उन स्थलों में समास हुआ है या नहीं। इसका निराकरण करने के लिये 'अलुक्'—(विभक्ति का लोप न होना)—विधि का आश्रय लिया जारहा है। उसे अभिलक्षित कर समाससम्बन्धी अलुक् आदि विधान का परिज्ञान कराने के लिये समास-प्रकरण के अन्त में भट्टोजि दीक्षित ने इस प्रकरण का समावेश किया है।

(९५८) पद—अलुक्, उत्तरपदे । अधिकार-सूत्र ।

मूलार्थ—'आनङ्' के पहले तक 'अलुक्' का अधिकार है तथा पाद की समाप्ति-पर्यन्त 'उत्तरपदे' का अधिकार है।

विवरण—समासोपयोगी विशेष विधान के अन्तर्गत 'अलुक्' अधिकार की प्रस्तुति की जा रही है। इस अधिकार का प्रभाव "आनङ्ऋतो द्वन्द्वे" ६-३-२४ से पूर्वतक रहेगा (अर्थात् "विभाषा स्वस-पत्योः" ६-३-२३ तक यह प्रभावी होगा)। तात्पर्य यह है आगे के २२ सूत्रों में 'अलुक्' (मध्यवर्तिनी विभक्तियों का लोप न होना) सम्बन्धी प्रयोगों की सिद्धि की जायगी।

विशेष—'समास' में दो या दो से अधिक पदों का समावेश होता है। अतः प्रथम पद के अनन्तर दूसरे पद की स्थिति अवश्यम्भावी है। इस हेतु 'उत्तरपदे' अधिकार भी आवश्यक है। यह अधिकार "सम्प्रसारणस्य" ६-३-१३८ सूत्र पर्यन्त है। मध्यवर्तिनी विभक्तियों के लोप का विधायक सूत्र है—"सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः" २-४-७१। इस प्रकार 'सुप्'-विभक्तियों का लोप प्राप्त होने पर उसका प्रतिषेध करने के लिये 'अलुक्' की चरितार्थता है।

(९५९) पद—पञ्चम्याः, स्तोकादिभ्यः । अनुवृत्ति—अलुक्-उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उत्तरपद पर रहते इनसे 'पञ्चमी' का लोप न हो। उदा० स्तोकान्मुक्तः। इसी प्रकार 'समीपार्थ' एवं 'दूरार्थवाची' तथा 'कृच्छ्र' शब्द की (पञ्चमी विभक्ति का लोप नहीं होगा)।

विहितानि शस्त्राण्युपचाराद् ब्राह्मणानि, तानि शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विग्विशेषः।

ब्राह्मणानि शंसतीत्यर्थे कथं पञ्चमी। विधायकवाक्यानि हि ब्राह्मणशब्देनोच्यन्ते, 'कर्म-चोदनाब्राह्मणानि' इति कल्पसूत्रात् 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इति मन्त्रभिन्नवेदभागे ब्राह्मण-शब्दस्य जैमिनिना सङ्केतितत्वाच्च। एतादृशब्राह्मणभागस्य न क्वापि शंसनं विहितम्, 'ऋचः शंसति निविदः शंसति' इति श्रुतिष्वित्यत आह—ब्राह्मणे इति। शस्त्राणीति। ऋचां निविदां च सङ्घः शस्त्रम्। उपचारादिति। लक्षणयेत्यर्थः। द्वितीयार्थे इति। पञ्चम्या अलुगुपसङ्ख्यानबलादेव द्वितीयार्थे पञ्चमीत्यर्थः।

'उत्तरपदे' क्यों कहा? निष्क्रान्तः स्तोकात् > निःस्तोकः (निषेध नहीं)। वा० 'ब्राह्मणाच्छंसी' पद की गणना करनी चाहिये। ब्राह्मण-प्रोक्त शस्त्र (शास्त्र) का पारायण-कर्ता ऋत्विक्–विशेष है। इस कथन के ही कारण यहाँ द्वितीया के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

विवरण—यह 'अलुक्' विधि का प्रथम सूत्र है। विधेयांश की पूर्ति के लिये पूर्व सूत्र "अलुक् उत्तरपदे" ६-३-१ का पूरा प्रभाव है। तदनुसार "उत्तरपद परे रहते 'स्तोक' आदि शब्दों की पञ्चमी विभक्ति का लोप नहीं होता"। **उदाहरण—स्तोकान्मुक्तः** स्तोक+ङसि, मुक्त+सु > स्तोक+ङसि, मुक्त ("स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन" २-१-३८ से (पञ्चमी) तत्पुरुष समास होने के पश्चात्, "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" २-४-७१ से प्राप्त पञ्चमी विभक्ति का 'लुक्' नहीं हुआ) > स्तोकात्–मुक्त (ङसि=आत्—"टा-ङसि-ङसामिनात्स्याः" ७-१-१२) > स्तोकान्मुक्त (त्=न्—"यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" ८-४-४५) > **स्तोकान्मुक्तः** (पुनः विभक्ति, रु, विसर्ग)। सूत्रस्थ 'स्तोकादि' पद से स्तोकार्थक, अन्तिकार्थक, दूरार्थक तथा कृच्छ्र—शब्द गृहीत हैं[1]। इसी कारण **दूरादागतः, अन्तिकादागतः** तथा **कृच्छ्रान्मुक्तः** में भी पञ्चमी का लोप नहीं हुआ है। इन उदाहरणों में "करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य" (२-३-३३) तथा "दूरान्तिकार्थैः पञ्चम्यन्यतरस्याम्" (२-३-३५) से यथाप्राप्त पञ्चमी विभक्ति होती है।

प्रत्युदाहरण—अधिकार-लभ्य 'उत्तरपदे' का निवेश होने से 'निःस्तोकः' (थोड़े से निकला हुआ) में उत्तरपद-परक (पूर्वपदस्थ) 'स्तोक' शब्द न होने के कारण विभक्ति-लोप का निषेध नहीं हुआ, प्रत्युत पञ्चमी विभक्ति का लोप (निष्क्रान्तः स्तोकात् विग्रह में) हो गया। वह भी इस लिये कि वहाँ स्वयं 'स्तोक' शब्द उत्तरपद में स्थित है।

वार्तिक—वार्तिककार के अनुसार पञ्चमी के अलुक्-विधान में **ब्राह्मणाच्छंसी** (ब्राह्मणात्-शंसी) शब्द का भी समावेश होना चाहिये। तदनुसार यह ध्वनित होता है कि पञ्चम्यन्त 'ब्राह्मण' से पर 'शंसिन्' पद पर हो तो 'पञ्चमी' का अलुक् होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित गुणनुवाद को भी लक्षणा से ब्राह्मण ही माना है तथा उसके वाचक ऋत्विक् को **ब्राह्मणाच्छंसी** कहा गया है। यहाँ वाचन का कर्म 'ब्राह्मण' है, अतः कर्मार्थक द्वितीया की प्राप्ति थी, किन्तु प्रकृत वार्तिक द्वारा पञ्चमी के 'अलुक्' विधान से यहाँ द्वितीया के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति मानी गई है।

विशेष—(१) 'स्तोकान्मुक्तः' इत्यादि उदाहरणों में समास होने के पश्चात् अलुक् होने पर एवं समास न करने पर–दोनों में रूपसाम्य होने के कारण समास-विधान करने से क्या लाभ है? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि समास करने से अन्तोदात्त स्वर होता है। इसके अतिरिक्त दोनों पदों का समास होने पर समष्टि-गत पद एक हो जाता है। अतः रूपसाम्य होने से समास-गत एवम् असमास-गत विशेषता नहीं है—यह भ्रम न किया जाय।

(२) 'अलुक्' शब्द में प्रसज्य-प्रतिषेध है—'क्रियया सह यत्र नञ्'। तदनुसार 'अलुक्' का अर्थ—लुक् नहीं होता—यह माना गया है।

---

१. 'स्तोकान्तिकदूरार्थ-कृच्छ्राणि स्तोकादीनि'। —काशिका।

द्वितीयार्थे पञ्चमी उपसङ्ख्यानादेव। (९६०) ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः ६। ३। ३॥ ओजसाकृतमित्यादि। 'अञ्जस उपसङ्ख्यानम्' (वा ३८८०)। अञ्जसाकृतम्। आर्जवेन कृतमित्यर्थः। 'पुंसानुजो जनुषान्ध इति च' (वा ३८८१)। यस्याग्रजः पुमान्स पुंसानुजः। जनुषान्धो जात्यन्धः। (९६१) मनसः संज्ञायाम् ६।३।४॥ मनसागुप्ता।

---

(९६०) ओजस्। ओजस्, सहस्, अम्भस् तमस् एषां समाहारद्वन्द्वः। एभ्यः परस्यास्तृतीयाया अलुक् स्यादुत्तरपदे इत्यर्थः। ओजसाकृतमिति। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः। 'ओजो दीप्तौ बले' इत्यमरः। इत्यादीति। सहसाकृतम्, अम्भसाकृतम्। तमसावृतम्। तमोवृतमिति तु असाध्वेव। शेषषष्ठ्या वा समासः। अञ्जस उपसङ्ख्यानमिति। अञ्जश्शब्दात् तृतीयाया अलुक् उपसङ्ख्यानमित्यर्थः। अञ्जसाकृतमिति। अञ्जश्शब्दः आर्जवे वर्तते, यथा क्षेत्रज्ञोऽञ्जसा नयतीत्यादौ तथा दर्शनात्। तदाह—आर्जवेनेति। पुंसानुजः। तृतीयाया अलुकि साधुरिति शेषः। यस्येति। यस्य पुमान् पूर्वजः स पुंसा हेतुना अनुजः कनीयान् इत्यर्थः। जनुषेति। 'जनुर्जननजन्मानि' इत्यमरः। जनुषा जन्मना हेतुना अन्ध इत्यर्थः। फलितमाह—जात्यन्ध इति। ब्राह्मण्यादिजातितुल्यान्व्यवानित्यर्थः। उत्पत्तिप्रभृत्यन्ध इति यावत्।

(९६१) मनसः संज्ञायाम्। मनसस्तृतीयाया अलुक् स्यादुत्तरपदे इत्यर्थः। मनसागुप्तेति। कस्याश्चित् सञ्ज्ञेयम्। असञ्ज्ञायां तु मनोगुप्ता।

---

(९६०) **पद**—ओजःसहोऽम्भस्तमसः, तृतीयायाः। **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० ओजसाकृतम्। वा० 'अञ्जस्' की (तृतीया का) भी अलुक् कहा जाय। उदा० अञ्जसाकृतम्। अर्थ—अच्छी तरह से सम्पन्न। वा० (क) 'पुंसानुजः' तथा (ख) 'जनुषान्धः' में भी (अलुक् हो)। जिसका बड़ा भाई हो वह (क) 'पुंसानुजः' है। जन्म से ही अन्धा व्यक्ति (ख) 'जनुषान्धः'।

विवरण—तृतीया के 'अलुक्' का प्रकरण है। "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। सूत्रोक्त पदों के साथ अनुवर्तमान पदों की एकवाक्यता करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि "ओजस्, सहस्, अम्भस् तथा तमस् (ओजश्च, सहश्च, अम्भश्च, तमश्च—ओजःसहोम्भस्तमसः, तस्मात्) शब्दों से उत्तरवर्तिनी तृतीया विभक्ति का उत्तरपद परे रहते 'अलुक्' होगा"। **उदाहरण—ओजसाकृतम्** (शक्ति से किया गया)। विग्रह और समास करने पर समान रूप है। **वार्तिक** (१) **अर्थ**—'अञ्जस्' शब्द की **तृतीया** का 'अलुक्' हो। "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" २-१-३२ से तृतीया समास हुआ है। **उदाहरण—अञ्जसाकृतम्** (ठीक तरह से किया गया)। **वार्तिक** (२)—'अनुज' शब्द परे रहते 'पुंस्' शब्द की तृतीया तथा 'अन्ध' शब्द परे रहते 'जनुष्' शब्द की तृतीया-विभक्ति का 'अलुक्' हो'। **उदाहरण**—(१) **पुंसाऽनुजः** (जिसका बड़ा भाई हो)। (२) **जनुषाऽन्धः** (जो जन्म से अन्धा हो)। विग्रह एवं समास होने पर समान रूप हैं। "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन" २-१-३० से समास हुआ है।

(९६१) **पद**—मनसः, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० मनसागुप्ता।

विवरण—आधिकारिक अनुवर्तमान सूत्र 'अलुगुत्तरपदे' के साथ प्रकृतसूत्र की एकवाक्यता करने पर यह ध्वनित होता है कि "संज्ञा-अर्थ में 'मनस्' शब्द से उत्तरपद परे रहते उत्तरवर्तिनी तृतीया विभक्ति का लोप न हो"। **उदाहरण—मनसागुप्ता** (किसी का नाम)। "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" २-१-३२ से तृतीया समास है, क्योंकि उत्तरपदस्थ 'गुप्ता' शब्द (√गुप्+क्त) क्त-प्रत्ययान्त

(९६२) आज्ञायिनि च ६ । ३ । ५ ॥ मनसः इत्येव । मनसा ज्ञातुं शीलमस्य मनसाज्ञायी । **(९६३) आत्मनश्च ६ । ३ । ६ ॥** आत्मनस्तृतीयाया अलुक्स्यात् । 'पूरण इति वक्तव्यम्' (वा ३८८२) । पूरणप्रत्ययान्ते उत्तरपदे इत्यर्थः । आत्मना-

---

(९६२) आज्ञायिनि च । मनस इत्येवेति । अनुवर्तते एवेत्यर्थः । मनसस्तृतीयायां अलुक् स्यात् आज्ञायिनि परे इत्यर्थः । असञ्ज्ञार्थमिदम् । ज्ञातुमिति । प्रेरयितुमित्यर्थः । मनसाज्ञायीति । 'सुप्यजातौ' इति णिनिः । 'आतो युक्चिण्कृतोः' इति युक् ।

(९६३) अत्र सूत्रभाष्ये 'आत्मनश्च पूरणे उपसङ्ख्यानम्' इति वार्तिकं पठितम् । तत्रात्मनश्चेत्यंशं व्याख्यातुं पृथगुपादत्ते—आत्मनश्चेति । चकारात्तृतीयाया अलुगिति चानुकृष्यत इत्याह—आत्मनस्तृतीयाया अलुगिति । उत्तरपदे इति शेषः । पूरण इति वक्तव्यमिति । नात्र पूरणशब्दो गृह्यते किन्तु स्वरितत्वबलेन पूरणाधिकारविहितप्रत्यय-ग्रहणात् 'प्रत्ययग्रहणे' इति तदन्तविधिरित्यभिप्रेत्याह—पूरणप्रत्ययान्त इति । आत्मना

कृदन्त है । संज्ञा न होने पर विभक्ति का लोप होकर **मनोगुप्ता** (मनसा गुप्ता—मन से रक्षित) रूप होगा ।

(९६२) पद—आज्ञायिनि च । **अनुवृत्ति**—मनसः, तृतीयायाः, अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'मनस्' से ही (तृतीया का अलुक्) । उदा० मनसा ज्ञातुं शीलम् अस्य ⊳ मनसाज्ञायी ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है, किन्तु संज्ञार्थक न होने से पृथक् कथन है । अतः केवल 'मनसः' पद की प्रमुख अनुवृत्ति सू० ९६२ से आ रही है । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "'आज्ञायिन्' शब्द के उत्तर-वर्ती रहने पर 'मनस्' शब्द के अनन्तर 'तृतीया' विभक्ति का 'अलुक्' हो" । **उदाहरण—मनसाज्ञायी** (मन से जानने वाला) । **विग्रह**—मनसा ज्ञातुं शीलम् अस्य । **'आज्ञायिन्'** शब्द की सिद्धि इस प्रकार है—आङ्+√ज्ञा+णिनि ⊳ आ-ज्ञा+य्-इन् (ताच्छील्य अर्थ में णिनि तथा 'युक्'—"आतो युक् चिण्कृतोः" ७-२-३३) । मनसा+आज्ञायिन्+सु ⊳ मनसाऽऽज्ञायी (दीर्घसन्धि, प्रथमा-विभक्ति) ।

(९६३) पद—आत्मनः, च । **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे, तृतीयायाः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'आत्मन्' शब्द की तृतीया का 'अलुक्' होता है । वा० 'पूरण' प्रत्यय पर रहते कहना चाहिये । उदा० आत्मनापञ्चमः । 'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थः' में बहुव्रीहि है । 'पूरणे' क्यों कहा ? आत्मकृतम् ।

विवरण—विधेयांश की पूर्ति उल्लिखित अनुवृत्तियों से की जाती है । तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "'आत्मन्' शब्द से परे—भी (च) किसी शब्द के उत्तरपद पर रहने पर तृतीया का 'अलुक्' हो" ।

इस सम्बन्ध में **वार्तिक** को प्रस्तुत करते हुए सूत्र के विषय को सीमित किया गया है । अतः पूरण-प्रत्ययान्त परे रहते ही 'आत्मन्' शब्द से पर तृतीया विभक्ति का 'अलुक्' होगा । **उदाहरण—आत्मनापञ्चमः** (अपने सहित पाँचवाँ) । यहाँ पर तृतीया-विभक्ति 'प्रथमा' के अर्थ में—'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' वार्तिक के आधार पर हुई है । अथवा 'करोति' क्रिया का अन्तर्भाव मानकर करण अर्थ में तृतीया विभक्ति हो सकती है । "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन" २-१-३० सूत्र में 'तृतीया' योग-विभाग से यहाँ तृतीया-समास होगा । 'पञ्चम' शब्द पूरणार्थ-प्रत्ययान्त है—पञ्चानां पूरणः—पञ्चन्+डट् । 'डट्' के स्थान पर 'मट्' "नान्तादसंख्यादेर्मट्" ५-२-४९ ।

विशेष—'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थः'—इस स्थल में 'समास' होने के सम्बन्ध में (अलुक न होने में) यह युक्ति दी जा रही है कि यहाँ पर—'आत्मा चतुर्थः यस्य'—बहुव्रीहि समास है । पूरणार्थ प्रत्यय की विवक्षा नहीं है ।

पञ्चमः । 'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव' इति बहुव्रीहिर्बोध्यः । पूरणे किम् ? आत्मकृतम् ।
(९६४) वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ६ । ३ । ७ ॥ आत्मनः इत्येव । आत्मनेपदम् । आत्मनेभाषा । तादर्थ्ये चतुर्थी । चतुर्थी इति योगविभागात्समासः । **(९६५) परस्य च ६ । ३ । ८ ॥** परस्मैपदम् । परस्मैभाषा । **(९६६) हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्**

पञ्चम इति । आत्मा पञ्चम इत्यर्थः । प्रकृत्यादित्वात् प्रथमार्थे तृतीया । यद्वा आत्मकृत-पञ्चमत्ववानित्यर्थः । करणे तृतीया । करोतिक्रियान्तर्भावेण तस्याः 'तृतीया तत्कृता' इति समासः । पक्षद्वयमपीदं भाष्ये स्थितम् । ननु सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धास्त्रयो विष्णुव्यूहाः । जनार्दनस्तु एषां नियन्तेति विष्णुपुराणादौ स्थितम् । तत्रेदमाहुः पौराणिकाः—जनार्दन-स्त्वात्मचतुर्थ एवेति । तत्र तृतीयाया अलुकि आत्मना चतुर्थ इति भवितव्यमित्यत आह—जनार्दनस्त्विति । बहुव्रीहिरिति । आत्मा चतुर्थो यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिरित्यर्थः । एकस्याप्यौपाधिकभेदं परिकल्प्य वृत्तिपदार्थत्वमन्यपदार्थत्वं च विवक्षणीयमिति भावः । तदिदं भाष्ये स्पष्टम् ।

(९६४) वैयाकरणाख्यायाम् । आत्मन इत्येवेति । अनुवर्तत एवेत्यर्थः । न च 'आत्मनश्च' इत्यस्य वार्तिकत्वे कथमिह सूत्रे एवदनुवृत्तिरिति वाच्यम् । 'सोऽपदादौ' इति सूत्रे पठितस्य 'काम्ये रोरेवेति वाच्यम्' इति वार्तिकस्य 'इणः षः' इति सूत्रेऽनु-वृत्तिवदुपपत्तेः व्याकरणे भवा वैयाकरणी, सा चासावाख्या च वैयाकरणाख्या तस्यां या चतुर्थी तस्या अलुगित्यर्थः । आत्मनेभाषेति । पूर्वाचार्यकृतमात्मनेपदस्य सञ्ज्ञान्तरमिदं धातुपाठे प्रसिद्धम् । तादर्थ्ये चतुर्थीति । तथा चात्मने इत्यस्यात्मार्थमित्यर्थः । आत्मगा-मिनि फले प्रायेण तद्विधानादिति भावः । ननु प्रकृतिविकाराभावात् कथमिह तादर्थ्ये चतुर्थ्याः समास इत्यत आह—चतुर्थीति योगविभागादिति । पस्पशाह्निकभाष्ये धर्माय नियमो धर्मनियम इति भाष्यमिह लिङ्गम् ।

(९६५) परस्य च । वैयाकरणाख्यायां परशब्दस्यापि चतुर्थ्या अलुगित्यर्थः ।

---

(९६४) पद—वैयाकरणाख्यायां, चतुर्थ्याः । **अनुवृत्ति**—आत्मनः, अलुगुत्तरपदे । **विधि-सूत्र ।**

मूलार्थ—'आत्मन्' शब्द की ही (चतुर्थी का अलुक् हो) । उदा० १—आत्मनेपदम् । २—आत्मनेभाषा । 'चतुर्थी' योग विभाग से समास होगा ।

विवरण—'चतुर्थी' के अलुक् का प्रकरण है । इसके द्वारा वैयाकरणों की व्यावहारिक संज्ञा (आत्मनेपद) को अभिलक्षित कर 'आत्मन्' शब्द से उत्तरवर्ती चतुर्थी विभक्ति के लोप न होने का सार्थकता सूचित की गई है । **उदाहरण—आत्मनेपदम्** (व्याकरण की संज्ञा—कर्तृगामी क्रियाफल होने पर—आत्मनेपद होता है । संज्ञा का परिचायक सूत्र "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" १-३-१२ है) । पूर्वाचार्यों के प्रयुक्त आत्मनेभाषा शब्द में भी चतुर्थी-विभक्ति का 'अलुक्' समझा जाय । इन उदाहरणों में 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' वार्तिक से चतुर्थी विभक्ति हुई है । तथा "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः" २-१-३६ सूत्रस्थ 'चतुर्थी' योगविभाग का आश्रयण कर समास होगा । तदनन्तर 'अलुक्' होने पर अभीष्ट रूप-सिद्धि होती है ।

(९६५) पद—परस्य, च । **अनुवृत्ति**—वैयाकरणाख्यायां, चतुर्थ्याः, अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उदा० १—परस्मैपदम् । २—परस्मैभाषा ।

विवरण—'आत्मनेपद' की तरह व्याकरणशास्त्र में प्रयुक्त परस्मैपद शब्द में भी 'चतुर्थी'

६ । ३ । ९ ॥ हलन्तादवन्ताच्च सप्तम्या अलुक्संज्ञायाम् । त्वचिसारः । (९६७) गवियुधिभ्यां स्थिरः ८ । ३ । ९५ ॥ आभ्यां स्थिरस्य सस्य षः स्यात् । गविष्ठिरः । अत्र गवीति वचनादेवालुक् । युधिष्ठिरः । अरण्येतिलकाः । अत्र 'संज्ञायाम्' (सू०

---

(९६६) हलदन्तात् । त्वचिसार इति । अत एव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । 'वंशे त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वनाः' इत्यमरः । अथ हलन्तस्योदाहरणान्तरं वक्ष्यति—युधिष्ठिर इति । अत्र 'अजिरशिशिरस्थिर' इत्युणादिसूत्रेण स्थाधातोः किरचि स्थिरशब्दो व्युत्पादितः । तत्र 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वस्य 'सात्पदाद्योः' इति निषेधे प्राप्ते—

(९६७) इदमारभ्यते—गवियुधिभ्यां स्थिरः । गवीति युधीति च सप्तम्या अनुकरणम् । स्थिर इति प्रथमा षष्ठ्यर्थे । 'सहेः साडः सः' इत्यस्मात् स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । तदाह— आभ्यामिति । ननु 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' इति परिभाषया अवादेशात् पूर्वमेव ङेर्लुकि प्रवृत्तेः हलन्तत्वाभावात् कथमिहालुगित्यत आह—अत्र गवीति । युधिष्ठिर इति ।

विभक्ति का अलुक्-विधान किया जा रहा है। यहाँ भी पूर्वाचार्यों की संज्ञा का निर्देश करने हेतु २—दूसरा उदाहरण **परस्मैभाषा** भी दिया गया है। इस संज्ञा का परिचायक सूत्र "शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्" १-३-७८ है। शेष विवरण पूर्व उदाहरण के समान समझें।

विशेष—वस्तुतः 'आत्मनेपद' एवं 'परस्मैपद' में चतुर्थी विभक्ति का 'अलुक्' पाणिनि-सूत्रों में प्रयुक्त संज्ञावाची शब्दों द्वारा ही सम्भव रहा, अतः 'आख्या' पद से यह सूचित होता है कि केवल पारिभाषिक अर्थों तक ही इन दोनों शब्दों का अलुक्-विधान सीमित है[1]।

(९६६) पद—हलदन्तात्, सप्तम्याः, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संज्ञा के विषय में हलन्त और अकारान्त शब्दों की सप्तमी विभक्ति का अलुक् हो। उदा० त्वचिसारः।

विवरण—विधेयांश की पूर्ति के लिये आधिकारिक "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ की अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "संज्ञा के विषय में हलन्त (व्यञ्जनान्त) तथा ह्रस्व अकारान्त शब्दों से उत्तरपद परे रहते सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं होता"। हलन्त का प्रथम **उदाहरण**—१-(क) **त्वचिसारः** (जिसकी त्वचा दृढ़ हो, बाँस)। विग्रह भी यही है। "संज्ञायाम्" २-१-४३ से सप्तमी तत्पुरुष समास होगा। दूसरे उदाहरण १-(ख) 'युधिष्ठिरः' में मूर्धन्य षकार होने के प्रसङ्ग में अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

(९६७) पद—गवि-युधिभ्यां, स्थिरः । **अनुवृत्ति**—सः, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, संहितायाम् । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन दोनों से परे 'स्थिर' के 'स' को 'ष' हो। उदाहरण गविष्ठिरः। यहाँ 'गवि' प्रयोग के कारण अलुक् (होगा)। युधिष्ठिरः। अरण्येतिलकाः। यहाँ "संज्ञायाम्" (सू० ७२१) से सप्तमी समास।

विवरण—इस प्रासङ्गिक सूत्र के सन्दर्भ में पुनः अष्टमाध्याय के षत्व-प्रकरण की अनुवृत्तियों का स्मरण करना होगा। "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" ८-३-५५ का अधिकार है। "सहेः साडः सः"

---

१. "आत्मनेपद—परस्मैपदशब्दयोर्निपातनादेव अलुकः सिद्धत्वात् आख्याशब्देन संव्यवहारमात्रमुच्यते—इत्यर्थः" इति महाभाष्ये कैयटः।

७२१) इति सप्तमीसमासः। 'हृद्द्युभ्यां च' (३८८५)। हृदिस्पृक्। दिविस्पृक्।

युध्धातोर्भावे क्विपि युधशब्दात् सप्तम्येकवचनम्। हलन्तत्वादलुक्, षत्वं च। पाण्डवस्य धर्मपुत्रस्य नामेदम्। तदेवं हलन्तादलुकं प्रपञ्च्य अदन्तादलुकमुदाहरति—अरण्येतिलका इति। ननु तिलकशब्दस्य शौण्डादिगणेऽभावात् कथं तेन सप्तमीसमास इत्यत आह—अत्र सञ्ज्ञायामिति। हृद्द्युभ्यां चेति। हृच्छब्दात् दिव्शब्दाच्च सप्तम्या अलुग्वक्तव्य इत्यर्थः। असञ्ज्ञार्थमिदम्। हृदिस्पृगिति। 'पद्दन्' इति ङौ हृदयस्य हृदादेशः, हृदयं स्पृशतीत्यर्थः। दिविस्पृगिति। दिवं स्पृशतीत्यर्थः। इहोभयत्रापि सप्तम्या अलुग्विधान-

८-३-५६ से षष्ठ्यन्त 'सः' की अनुवृत्ति से स्थानी का ज्ञान होता है। "संहितायाम्" ६-१-७२ का प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "सप्तम्यन्त 'गवि' तथा 'युधि' से उत्तरवर्ती 'स्थिर' शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश (षकार) होता है"। 'गवि' तथा 'युधि' सप्तम्यन्त के प्रतीकात्मक शब्द हैं। प्रकृत सूत्र से षत्व-विधान की सार्थकता यह है कि 'स्थिर' शब्दस्थ 'स' को "आदेश-प्रत्यययोः" ८-३-५९ से प्राप्त 'ष' का बाधक (पदादि होने के कारण) "सात्पदाद्योः" ८-३-१११ रहा, उसके निवारण के लिये यह विधान आवश्यक है। अतः १-(ख) **युधिष्ठिरः** (प्रसिद्ध पाण्डव धर्मराज) में सप्तमी विभक्ति का 'अलुक्' होने पर 'स्' को 'ष्' हुआ। विग्रह में 'ष्' नहीं लिखा जायगा—युधि स्थिरः। (२) **गविष्ठिरः** (आकाश में स्थिर रहने वाला—अत्रिकुल के एक ऋषि का नाम)। **विग्रह**—गवि स्थिरः। प्रकृत सूत्र से 'स्' के स्थान में षकार हुआ है। 'गो' शब्द के हलन्त तथा अदन्त न होने के कारण सप्तमी विभक्ति का लोप प्राप्त था, किन्तु इस षकार-विधायक सूत्र में 'गवि' से पर 'स्थिर' शब्द-सम्बन्धी सकार को षकार-विधान करने के कारण निपातनवश सप्तमी-समास की कल्पना की जाती है। ह्रस्व-अकारान्त-शब्द की सप्तमी का (२) **उदाहरण—अरण्येतिलकाः** (जंगली तिल, जिनसे तेल नहीं निकलता)। शौण्डादिगण में तिलक शब्द का पाठ न होने से सप्तमी समास कैसे सम्भव है—इसके उत्तर में यह समाधान दिया जा रहा है कि "संज्ञायाम्" २-१-४४ से ही यहाँ भी सप्तमी समास किया जाय। यह नित्य समास है (देखें सूत्र ७२१)।

तदनन्तर सप्तमी विभक्ति के 'अलुक्'—प्रकरण में **वार्तिक** द्वारा यह निरूपण किया जा रहा है कि "हृद्' और 'दिव्' शब्दों की सप्तमी का भी 'अलुक्' हो। **उदाहरण**—(१) **हृदिस्पृक्** (हृदय-स्पर्शी)। शब्दार्थ—एवं **लौकिक विग्रह**—हृदयं स्पृशति। **अलौकिक विग्रह**—हृदय+ङि, स्पृश्+सु>हृद्+इ, स्पृश् (सप्तमी-समास तथा हृदय = हृद्—"पद्दन्नोमास् हृद्०" ६-१-६३) > हृदि-स्पृश् (सप्तमी का अलुक्) > हृदिस्पृश्+सु (पुनः विभक्ति) > हृदिस्पृक् (विभक्ति-कार्य—'सु' लोप, श् = ष्, ष् = ड्→जश्त्व, ड् = ग्→कुत्व, ग् = क्→चर्त्व)। (२) **दिविस्पृक्** (आकाशस्पर्शी)। विग्रह एवम् 'अलुक्' आदि कार्य पूर्ववत्। ये शब्द संज्ञार्थक नहीं हैं, अतः वार्तिक की सार्थकता है।

विशेष—(१) "गवि-युधिभ्यां स्थिरः" ८-३-९५ सूत्र में 'गवि' सप्तम्यन्तपाठ होने से ही सप्तमी विभक्ति के 'लुक् न होने की कल्पना करनी पड़ती है। अन्यथा 'गो' शब्द से पर 'स्थिर' शब्द के मिलने से षत्व विधान व्यर्थ रहा। अतः षत्व-विधान के लिये तदनुरूप सप्तम्यन्त की स्थिति हेतु ज्ञापन के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं था।

पुनरपि यह शङ्का उपस्थित होती है कि 'गो+इ' (ङि), स्थिर+'सु' इस स्थिति में 'अव्' आदेश तथा सुब्-लुक् ('ङि' का लोप) दोनों की प्राप्ति होने पर केवल 'अच् परक ओकार' की अपेक्षा रहने से 'अन्तरङ्ग' होने के कारण अव्-आदेश प्रथम प्रवृत्त होगा। सुब्-लुक् होने में पद-द्वयसम्बन्धी समासजन्य-प्रातिपदिक अपेक्षित है। इस प्रकार अधिक निमित्तों की अपेक्षा होने से

(९६८) कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ६ । ३ । १० ॥ प्राचां देशे यत्कारनाम तत्र हलादावुत्तरपदे हलदन्तात्सप्तम्या अलुक् । मुकुटेकार्षापणम् । दृषदिमाषकः । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थम्, कारनाम्न्येव प्राचामेव हलादावेवेति । कारनाम्नि किम् ? अभ्यर्हितपशुः ।

बलादेव कर्मणि सप्तमीति भाष्यम् । 'अमूर्धमस्तकात्' इत्यनेन त्वलुक् न सिध्यति तत्र सञ्ज्ञायामित्यनुवृत्तेः ।

(९६८) कारनाम्नि । यत् कारनामेति । राजग्राह्यो भागः करः, स एव कारः, तद्विशेषवाचक इत्यर्थः । नियमार्थमिति । प्राचां देशे हलादौ यदि भवति कारनाम्न्येव, कारनाम्नि हलादौ चेत् प्राचामेव, प्राचां कारनाम्नि चेत् हलादावेवेति नियमत्रयार्थं-

---

वह 'बहिरङ्ग' है । अतः अन्तरङ्ग अव्-आदेश के होने पर 'गव्-इ' इस स्थिति में 'गव्' हलन्त है तथा उससे उत्तरवर्तिनी 'ङि' विभक्ति का 'इ'कार है, तब "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" ६-३-९ सूत्र से ही 'अलुक्' हो जाता, तो 'गवि' पद की क्या सार्थकता है ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-भाव की बाधक एक दूसरी परिभाषा भी है—"अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते" (अन्तरङ्ग-विधियों का बहिरङ्ग 'लुक्' बाधक है) । ऐसी परिस्थिति में 'लुक्' द्वारा बाध होने पर तो ओकारान्त 'गो' शब्द के हलन्त न होने से 'अलुक्' की प्राप्ति नहीं थी, अतः विशेष ज्ञापन-वश 'अलुक्' विधान किया गया ।

(२) 'हृदिस्पृक्' तथा 'दिविस्पृक्' शब्द संज्ञावाची नहीं है, अतः 'अलुक्' विधान किया गया । यहाँ सप्तमी विभक्ति कर्मार्थक है न कि अधिकरणार्थक । अधिकरणार्थक सप्तमी में उल्लिखित दोनों शब्दों से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती । अथवा 'कर्म' रूप अर्थ की अधिकरणार्थ में विवक्षा कर सप्तमी विभक्ति का 'अलुक् किया जाय'[1] ।

(९६८) पद—कारनाम्नि, च, प्राचां, हलादौ । **अनुवृत्ति**—हलदन्तात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्वी प्रदेश में जो 'करो' के नाम (कार) हैं, उनमें हलादि उत्तरपद पर रहते हलन्त एवम् अदन्त से परवर्ती सप्तमी का 'अलुक्' होता है । उदा० १–मुकुटेकार्षापणम् । २–दृषदिमाषकः । पूर्वसूत्र से सिद्ध था । अतः यह नियमार्थ है—कारनाम में ही, प्राच्य देश में ही तथा हलादि में ही (सप्तमी विभक्ति का लुक् न हो) । 'कारनाम्नि' क्यों कहा ? अभ्यर्हितपशुः । यह 'कार' से भिन्न देय की संज्ञा है (अतः लुक् हो गया) । 'प्राचां' क्यों कहा ? यूथपशुः (प्राच्य देश से बाहर लगने वाला कर होन से 'अलुक्' नहीं) । 'हलादि' क्यों कहा ? अविकटोरणाः (उत्तरपद हलादि न होने से 'अलुक्' नहीं) । 'हलदन्तात्' क्यों कहा ? नद्यां दोहः > नदीदोहः (पूर्वपद के ईकारान्त होने से लुक् हुआ) ।

विवरण—पूर्वसूत्र (९६७) से 'हलदन्तात् सप्तम्याः' की अनुवृत्ति तथा "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ सूत्र का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । पाणिनि ने देश में उस समय के प्राच्य-भाग में प्रचलित करों के (कर एव कारः तस्य नाम, तस्मिन्) संज्ञा-वाची शब्दों में भी उत्तरपद परे रहते 'सप्तमी' के अलुक्-विधान की व्यवस्था की है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "भारत के प्राच्यभाग में करों के जो प्रचलित शब्द हैं, उन में भी हलादि शब्दो के परे रहते, हलन्त तथा ह्रस्व-अकारान्त शब्दों की उत्तरवर्तिनी सप्तमी विभक्ति का लोप होता है" । संज्ञार्थक शब्द होने के कारण सप्तमी का 'अलुक्' पूर्व सूत्र (९६७) से ही सिद्ध था, पुनः इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है । तदनुसार तीन नियम यहाँ होते हैं । (१) प्रथम—कार-नाम (करों के

---

१. अत्र भाष्ये "हृद्-द्युभ्यां ङेरुपसंख्यानम्" इत्यस्यानन्तरं 'हृदिस्पृक्', 'दिविस्पृक्' शब्दयोः सिद्ध्यर्थम् 'अन्यार्थे चैषा सप्तमी द्रष्टव्या', इति वचनमुदीरितम् ।

कारादन्यस्यैतद्देयस्य नाम। प्राचाम् किम् ? यूथपशुः। हलादौ किम् ? अविकटोरणः। हलदन्तात् किम् ? नद्यां दोहो नदीदोहः। (९६९) मध्याद् गुरौ ६।३।११॥ मध्ये-गुरुः। 'अन्ताच्च' (वा ३८९४) अन्तेगुरुः। (९७०) अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे ६।३।१२॥ कण्ठेकालः। उरसिलोमा। अमूर्धमस्तकात् किम् ? मूर्धशिखः। मस्तक-

---

मित्यर्थः। अविकटोरण इति। अविशब्दात् सङ्घाते कटच्, उरणो मेषः। नद्यामिति। नद्युत्तारणे तात्कालिको दोहः करः।

(९६९) मध्याद् गुरौ। गुरुशब्दे परे मध्यशब्दात् सप्तम्या अलुक् स्यादित्यर्थः। असञ्ज्ञार्थमिदम्। अन्ताच्चेति। सप्तम्या अलुक् स्यात् गुरौ परे इत्यर्थः।

(९७०) अमूर्धमस्तकात्। मूर्धमस्तकशब्दवर्जितात् स्वाङ्गवाचकात् सप्तम्या अलुक्

नाम) में ही, (२) द्वितीय—प्राच्य देश में व्यवहृत नामों में ही, (३) तृतीय—हलादि शब्द परे रहते ही, 'अलुक्' हो। **उदाहरण**—(१) **मुकुटेकार्षापणम्** (प्राच्य भारत में प्रति व्यक्ति लगने वाला कर)। सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं हुआ है। (२) **दृषदिमाषकः** (प्राच्य भारत में प्रति चक्की लगने वाला कर)। सप्तमी विभक्ति का अलुक्। दोनों उदाहरणों में परवर्ती शब्द 'कार्षापण' तथा 'माषक' शब्द हलादि एवम् करवाची हैं,' मुकुट' तथा 'दृषद्' दोनों पूर्ववर्ती शब्द क्रमशः ह्रस्व अकारान्त एवं हलन्त हैं।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'कारनाम्नि' पद का निवेश होने से '**अभ्याहितपशुः**' (दक्षिणास्वरूप आचार्य को दिया जाने वाला पशु) में सप्तमी विभक्ति का लोप हो गया, क्योंकि 'अभ्याहित' कार (कर) नहीं है। (२) सूत्र में 'प्राचाम्' पद का समावेश होने के फलस्वरूप **यूथपशुः** (एक झुण्ड के पीछे एक पशु चुंगी) में भी सप्तमी का अलुक् नहीं हुआ, क्योंकि इस प्रकार का कर 'प्राच्य प्रदेश' में प्रचलित नहीं था, किन्तु 'उदीच्य प्रदेश' में रहा। (३) 'हलादौ' पद का निवेश होने के कारण **अविकटोरणः** (प्राच्य-उदीच्य दोनों देशों में भेड़ों के प्रत्येक झुण्ड के पीछे एक भेड़ चुंगी) में 'अलुक्' नहीं हुआ[1] क्योंकि उत्तरपदस्थ 'उरण' शब्द अजादि है। **विग्रह**—अविकटे उरणः। (४) 'हलदन्तात्' पद का निवेश होने से **नदीदोहः** (प्राच्यदेश में नदी का घाट पार करनेवाले प्रत्येक दूधिये से एक छोटी दोहनी दूध-उतराई या चुंगी) में भी सप्तमी विभक्ति का 'अलुक्' नहीं हुआ, क्योंकि ('नद्यां दोहः' इस विग्रह में) 'नदी' शब्द न तो ह्रस्व अकारान्त है, न हलन्त।

(९६९) पद—मध्याद्, गुरौ। **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० मध्येगुरुः। वा० 'अन्त' से भी (सप्तमी का अलुक् हो)। उदा० अन्तेगुरुः।

विवरण—'गुरु' शब्द पर रहते 'मध्य' शब्द की सप्तमी का 'अलुक्' हो। **उदाहरण**—**मध्येगुरुः** (मध्य में गुरु)। यह भी असंज्ञार्थ है। सप्तमी का लोप नहीं हुआ। विग्रह और समास में समान रूप। **वार्तिक**—'अन्त' शब्द की सप्तमी का भी 'गुरु' शब्द परे रहते 'अलुक्' हो। **उदाहरण**—**अन्तेगुरुः** (अन्त में गुरु)। सप्तमी का अलुक्।

(९७०) पद—अमूर्धमस्तकात, स्वाङ्गात, अकामे। **अनुवृत्ति**—हलदन्तात, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—कण्ठेकालः। २—उरसिलोमा। 'अमूर्धमस्तकात' क्यों कहा ? मूर्धशिखः तथा मस्तकशिखः (अलुक् नहीं हुआ)। अकामे क्यों कहा ? मुखे कामः अस्य > मुखकामः।

---

१. "प्राचामेव कारनाम्नीति नियमात् उदीचां कारे 'अविकटोरणे' अलुक् निवर्त्यते। प्राचामपि कारे 'अविकटोरणे' हलादौ इत्यनेन द्वितीयेन नियमेन अलुग्निवृत्तः"।

—कैयटकृता टीका महाभाष्ये—६-३-१०।

शिखः। अकामे किम्? मुखे कामोऽस्य मुखकामः। (९७१) बन्धे च विभाषा ६।३।१३॥ हलदन्तात्सप्तम्या अलुक्। हस्तेबन्धः–हस्तबन्धः। हलदन्त इति किम्?

स्यात्, न तु कामशब्दे उत्तरपदे इत्यर्थः। अत्र सञ्ज्ञायामित्यनुवर्तते। अत एव 'हृद्द्युभ्यां च' इत्यत्र हृद्ग्रहणमर्थवत्। कण्ठेकाल इति। शिवस्य नाम। उरसिलोमेति। कस्यचिन्नाम। अत एव ज्ञापकात् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः।

(९७१) बन्धे च विभाषा। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—हलदन्तादिति। हस्तेबन्ध इति। सञ्ज्ञायामिति सप्तमीतत्पुरुषोऽयम्। इह तत्पुरुष इति सम्बध्यते, बन्ध इति घञन्तम्, अन्यत्र तु 'नेन्सिद्ध' इति निषेध इति स्पष्टं भाष्ये।

विवरण—कुछ विशिष्ट स्वाङ्गवाची शब्दों में सप्तमी-विभक्ति का अलुग्विधान किया जा रहा है। उल्लिखित अनुवृत्तियों के साथ सूत्रस्थ पदों का सामञ्जस्य करने के फलस्वरूप यह विदित होता है कि "'मूर्धन्' तथा 'मस्तक' शब्द-वर्जित हलन्त एवम् ह्रस्व अकारान्त स्वाङ्गवाची शब्दों से उत्तरवर्तिनी सप्तमी विभक्ति का, 'काम' भिन्न शब्द उत्तरपद परे रहते, अलुक् हो"। **उदाहरण**—(१) **कण्ठेकालः** (जिसके गले में काला वर्ण हो अथवा विष हो—शिव)। 'सप्तमी' का अलुक्। (२) **उरसिलोमा** (जिसके छाती पर बाल हों, किसी व्यक्ति का नाम)। सप्तमी का अलुक्। **विग्रह**—उरसि लोमानि यस्य सः। विभक्ति-लोप न होने का विधान करने से ही व्यधिकरणपद बहुव्रीहि ज्ञापित होता है।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अमूर्धमस्तकात्' पद का निवेश होने से (क) **मूर्धशिखः** (जिसके सिर पर चोटी हो) तथा (ख) **मस्तकशिखः** (जिसके मस्तक पर चोटी हो)—इन दोनों उदाहरणों में यद्यपि स्वाङ्गवाची होने के कारण अलुक् प्राप्त था, किन्तु 'मूर्धन्' तथा 'मस्तक' वर्जित होने के कारण 'अलुक्' की प्रसक्ति नहीं होती। (२) सूत्र में 'अकामे' पद का निवेश होने से 'काम' शब्द परे रहते हुए उत्तरवर्तिनी सप्तमी विभक्ति का अलुक् नहीं होगा। अतः **मुखकामः** (जिसके मुख में काम हो) में सप्तमी विभक्ति का लोप हो गया। **विग्रह**—मुखे कामः यस्य।

(९७१) **पद**—बन्धे, च, विभाषा। **अनुवृत्ति**—हलदन्तात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'बन्ध' परे रहते हलन्त और अदन्त शब्दों की सप्तमी का विकल्प से अलुक् हो। उदा० हस्तेबन्धः। 'हलदन्त' क्यों कहा? गुप्तिबन्धः ('अलुक्' नहीं हुआ)।

विवरण—"'बन्ध' शब्द के परवर्ती होने पर भी हलन्त तथा ह्रस्व अकारान्त शब्द से उत्तरवर्तिनी सप्तमी विभक्ति का विकल्प से 'अलुक्' होता है"। पृथक् सूत्र की उपयोगिता यह है कि बहुव्रीहि समास में पूर्व सूत्र से नित्य 'अलुक्' प्राप्त था, तथा तत्पुरुष में "नेन्सिद्ध-बध्नातिषु च" ६-३-१९ से निषेध प्राप्त था, इसके द्वारा उभयत्र←विकल्प विधान होता है। **उदाहरण**—(क) **हस्तेबन्धः** ←'अलुक्' होने पर। **हस्तबन्धः**→ 'अलुक्' न होने पर (जिसके हाथ में बन्धन हथकड़ी हो)। यहाँ "संज्ञायाम्" २-१-४४ से सप्तमी-तत्पुरुष समास हुआ है। इसका कारण यह है कि अग्रिम सूत्र "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" ६-३-१४ से यहाँ 'तत्पुरुषे' का अपकर्ष किया गया है। प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'बन्ध' शब्द √बन्ध्+घञ् प्रत्ययान्त है, न कि केवल धातु का निर्देशक। अतः घञ्-प्रत्ययान्त निष्पन्न 'बन्ध' शब्द का ही इस विभाषा में परवर्ती होना अपेक्षित है। तत्पुरुष के बहुव्रीहि (चक्रे बन्धः अस्य—चक्रबन्धः) में ६-३-१९ से नित्य निषेध होता है।

प्रत्युदाहरण—अनुवृत्तिलभ्य 'हलदन्तात्' पद का निवेश होने से **गुप्तिबन्धः** (जो कारागार में पड़ा हो) में 'गुप्ति' पद के इकारान्त होने से अर्थात् हलन्त अथवा ह्रस्व-अकारान्त दोनों में से एक के भी न रहने के कारण 'अलुक्' नहीं हुआ। 'गुप्तौ बन्धः' विग्रह करने पर यथाप्राप्त सप्तमी विभक्ति का लोप हो गया।

गुप्तिबन्धः। (९७२) तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६।३।१४॥ स्तम्बेरमः-(स्तम्बरमः)। कर्णेजपः-(कर्णजपः)। क्वचिन्न। कुरुचरः। (९७३) प्रावृट्छरत्कालदिवां जे ६।३।१५॥ प्रावृषिजः। शरदिजः। कालेजः। दिविजः। पूर्वस्यायं प्रपञ्चः।

---

(९७२) तत्पुरुषे कृति। तत्पुरुषे सप्तम्या बहुलमलुक् स्यात् कृदन्ते उत्तरपदे सञ्ज्ञायामित्यर्थः। स्तम्बेरम इति। तृणसमूहः स्तम्बः, तस्मिन् रमत इति स्तम्बेरमः हस्ती। कर्णेजप इति। कर्णे जपति परदोषमुपांश्वाविष्करोतीति कर्णेजपः पिशुनः। 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः' इत्यच्। उपपदसमासः। क्वचिन्नेति। बहुलग्रहणादिति भावः। कुरुचर इति। 'चरेष्टः' इत्यधिकरणे उपपदे चरेष्टः। उपपदसमासः। यद्यपि हलदन्तादित्यनुवृत्त्यैव सिद्धमिदम्, तथापि बहुलग्रहणादेव सिद्धे 'हलदन्तात्' इति नानुवर्तनीयमिति भावः।

(९७३) प्रावृट्छरत्। प्रावृट्, शरत्, काल, दिव् एषां सप्तम्या अलुक् स्यात्

---

(९७२) पद—तत्पुरुषे, कृति, बहुलम्। **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—स्तम्बेरमः—स्तम्बरमः। २—कर्णेजपः—कर्णजपः। कहीं नहीं भी (होता है)। जैसे कुरुचरः (लोप हो गया)।

विवरण—विधेयांश की पूर्णता उल्लिखित अनुवृत्तियों द्वारा होती है। ये अनुवृत्तियाँ हैं—(क) "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ सूत्र तथा (ख) "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" ६-३-९ से 'सप्तम्याः' पद। सूत्रस्थ 'कृति' पद 'उत्तरपदे' का विशेषण है। अतः उसमें तदन्त-विधि होगी। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद रहनेपर पूर्वपद से उत्तरवर्तिनी सप्तमी विभक्ति का बहुधा लोप नहीं होता"। **उदाहरण—१—स्तम्बेरमः**←अलुक् होने पर। **स्तम्बरमः**→लुक् होने पर (घास के ढेर में सुखी–हाथी)। **विग्रह**—स्तम्बे रमते > स्तम्बे रम्+अ (स्तम्ब+ङि, रम्+अच्—"स्तम्बकर्णयो रमिजपोः" ३-२-१३) > स्तम्बेरम (समास—"उपपदमतिङ्" २-२-१९ तथा 'अलुक्') > स्तम्बेरमः (विभक्ति-कार्य)। अलुक् न होने पर स्तम्बरमः। (२) **कर्णेजपः**←'अलुक्' होने पर। अलुक् न होने पर→**कर्णजपः** (कानाफूँसी करने वाला—चुगलखोर) **विग्रह**—कर्णे जपति। शेष कार्य पूर्ववत्।

विशेष—यदि प्रकृत सूत्र में "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" ६-३-९ सूत्र से 'हलदन्तात्' पद की भी अनुवृत्ति की गई होती तो 'कुरुचरः' आदि उदाहरणों में पूर्वपद के 'हलन्त' एवं ह्रस्व अकारान्त न होने के कारण स्वतः 'अलुक्' की निवृत्ति सम्भव थी, किन्तु पाणिनि के द्वारा "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" ६-३-१४ सूत्र में 'बहुल' पद का निवेश किये जाने से यहाँ 'हलदन्तात्' पद की अनुवृत्ति नहीं की जाती। तदनुसार 'बहुल' शब्द के अनेकार्थक होने के कारण कहीं 'अलुक्' नहीं भी होता है। अतः 'कुरुषु चरति' इस विग्रह में यथाप्राप्त सप्तमी विभक्ति का लोप होने पर कुरुचरः समीचीन माना जाता है। चरति इति चरः√चर्+अ (ट—"चरेष्टः" ३-२-१६)। उपपद समास। इसके फलस्वरूप 'गोषुचरः' प्रयोग भी समीचीन सिद्ध होता है। 'हलदन्तात्' की अनुवृत्ति होने पर 'गोषुचरः' में 'अलुक्' सम्भव नहीं था। इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ बहुल पद विकल्पार्थक एवम् अप्रवृत्त्यर्थक है।

(९७३) पद—प्रावृट्-शरत्-कालदिवां, जे। **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—प्रावृषिजः। २—शरदिजः। ३—कालेजः। ४—दिविजः। यह सूत्र पूर्वसूत्र का विस्तार है।

विवरण—आधिकारिक एवम् प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् हैं। सूत्रस्थ पदों के साथ उनकी

(९७४) विभाषा वर्षक्षरशरवरात् ६ । ३ । १६ ॥ एभ्यः सप्तम्या अलुग्जे। वर्षेजः-वर्षजः । क्षरेजः-क्षरजः । शरेजः-शरजः । वरेजः-वरजः । **(९७५) घकालतनेषु कालनाम्नः ६ । ३ । १७ ॥** सप्तम्या विभाषयाऽलुक् स्यात् । घे—पूर्वाह्णेतरे-

---

जशब्दे परे सञ्ज्ञायमित्यर्थः । ननु 'हलदन्तात्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—**पूर्वस्यैवायं प्रपञ्च इति** । विस्तर इत्यर्थः ।

(९७४) विभाषा वर्ष । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**एभ्यस्सप्तम्या इति** ।

(९७५) घकालतनेषु । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**सप्तम्या इति** । घेति । घे परे उदाहरणसूचनमिदम् । तरसमपौ घः । **पूर्वाह्णेतरे इति** । अतिशायने सप्तम्यन्तात् तरसमपौ । अत एव तत्तद्विभक्त्यन्तात् तरसमपाविति विज्ञायते । कालेति । उदाहरणसूचनमिदम् । **पूर्वाह्णकाले इति** । अत एव विशेषणादिसमासोऽपि तत्तद्विभक्त्यन्तानामेव ।

एकवाक्यता करने पर यह आशय विदित होता है कि "प्रावृट्, शरद्, काल तथा दिव् शब्दों की सप्तमी का 'ज' उत्तरपद परे रहते 'अलुक्' हो" । **उदाहरण—(१) प्रावृषिजः** (वर्षा में उत्पन्न होने वाला—झंझावात) । (२) **शरदिजः** (शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाला) । (३) **कालेजः** (उपयुक्त समय में उत्पन्न होने वाला) । (४) **दिविजः** (स्वर्ग में उत्पन्न होने वाला) । क्रमशः **विग्रह—**(१) प्रावृषि जायते । (२) शरदि जायते । (३) काले जायते । (४) दिवि जायते । उपपद समास । 'जः'—√जन्+ड ("सप्तम्यां जनेर्डः" ३-२-९७ से 'ड') प्रत्यय हुआ है ।

विशेष—इस सूत्र के सभी उदाहरण "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" ६-३-८ सूत्र के विषय में ही समाविष्ट हो सकते हैं, क्योंकि 'ज' शब्द √जन् धातु से कृदन्त 'ड' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है । रही नित्य होने की बात, वह भी 'बहुल' पद की विविधार्थता से सिद्ध हो सकती है । अतः इस सूत्र के न रहने पर भी निर्वाह हो सकता है—यह वृत्तिकारों ने अवगत कराया है ।

(९७४) पद—विभाषा, वर्ष-क्षर-शर-वरात् । **अनुवृत्ति—**जे, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—इन से 'ज' शब्द परे रहते सप्तमी का विकल्प से अलुक् हो । **उदाहरण—**१-वर्षेजः—वर्षजः । २-क्षरेजः—क्षरजः । ३ शरेजः—शरजः । ४ वरेजः—वरजः ।

विवरण—'ज' शब्द परे रहने पर कुछ अन्य शब्दों से उत्तरवर्तिनी विभक्ति का 'अलुक्' विधान किया जा रहा है । अतः पूर्वसूत्र (९७३) से 'जे' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । तदनुसार सूत्र में निर्दिष्ट "वर्ष, क्षर, शर तथा वर-शब्दों से 'ज' के उत्तरपदस्थ रहते सप्तमी विभक्ति का विकल्प से अलुक् होगा" । केवल विकल्प विधान होने से इस सूत्र की सार्थकता है । अन्यथा "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" ६-३-१४ सूत्र से यह सूत्र भी गतार्थ हो जाता है । यदि 'बहुल' पद का केवल 'विकल्प' अर्थ ग्रहण किया जाय, तो गतार्थता और स्पष्ट है । किन्तु आगे के सूत्रों में 'विभाषा' की अनुवृत्ति जाने के लिये पृथक् विधान की चरितार्थता है । **उदाहरण—(१) वर्षेजः**←'अलुक्' होने पर । **वर्षजः**→पक्ष में विभक्ति लोप होने पर (वर्ष में उत्पन्न होने वाला) । (२) **क्षरेजः**←'अलुक्' होने पर । **क्षरजः**→पक्ष में विभक्ति-लोप होने पर (मेघ से उत्पन्न होने वाला) । (३) **शरेजः**←'अलुक्' होने पर । **शरजः**→पक्ष में विभक्ति का 'लुक्' होने पर (कार्तिकेय) (४) **वरेजः**←विभक्ति का लोप न होने पर । **वरजः**→विभक्ति का लोप होने पर (वरदान से उत्पन्न होने वाला) । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् ।

(९७५) पद—घकालतनेषु, कालनाम्नः । **अनुवृत्ति—**विभाषा, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सप्तमी का विकल्प से 'अलुक्' हो । उदा० घ-संज्ञक में १—क-पूर्वाह्णेतरे-पूर्वाह्णतरे ।

पूर्वाह्णतरे। पूर्वाह्णेतमे–पूर्वाह्णतमे। काले–पूर्वाह्णेकाले–पूर्वाह्णकाले। तने–पूर्वाह्णेतने–पूर्वाह्णतने। (९७६) शयवासवासिष्वकालात् ६।३।१८॥ खेशयः–खशयः। ग्रामेवासः–ग्रामवासः। ग्रामेवासी–ग्रामवासी। 'हलदन्तात्' इत्येव। भूमिशयः। 'अपो योनि-

---

तेनेति। उदाहरणसूचनमिदम्। पूर्वाह्णेतने इति। 'विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' इति टघुटघुलौ तुट् च।

(९७६) शयवास। शय, वास, वासिन् एतेषु परेषु कालभिन्नात् सप्तम्या अलुक्स्यादित्यर्थः। अपो योनि। योनिशब्दे यत्प्रत्यये मतुपि च परेऽप्शब्दात् सप्तम्या अलुक्

१–ख–पूर्वाह्णेतमे–पूर्वाह्णतमे। २–काल शब्द परे रहते—पूर्वाह्णेकाले–पूर्वाह्णकाले। ३–'तन' परे रहते–पूर्वाह्णेतने–पूर्वाह्णतने।

विवरण—पूर्वसूत्र (९७४) से 'विभाषा' की अनुवृत्ति तथा 'सप्तम्याः' एवम् 'अलुगुत्तरपदे' की अनुवृत्तियाँ यथापूर्व आरही हैं। सूत्रस्थ 'कालनाम्नः' पद 'पञ्चमी' विभक्ति में प्रयुक्त होने से 'पर' का बोधक है। अतः "सूत्र के अनुसार काल के नामवाची शब्दों से (कालस्य नाम–कालनाम, तस्मात्) परे सप्तमी विभक्ति का—'घ' संज्ञक प्रत्यय के उत्तरत्र रहते हुए—विकल्प से 'अलुक्' होता है"। तद्धित प्रकरण के अन्तर्गत 'तरप्' और 'तमप्'—'घ'-संज्ञक प्रत्यय हैं—"तरप्-तमपौ घः" (१-१-२१)। तथा 'तन' से 'तुट्' आगम सहित 'टघु'-'ट्युल' प्रत्यय लिये गए हैं—"विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्" (४-३-२४)। क्रमशः उदाहरण—(१) 'घ'-संज्ञक शब्द (तरप्-तमप् प्रत्ययान्त) पर रहने पर—(क) पूर्वाह्णेतरे←'अलुक्' होनेपर। पूर्वाह्णतरे→विभक्ति का 'लुक्' होने पर (अधिक पूर्वाह्ण में)। विग्रह—अह्नः पूर्वम्। अहन्+ङस्, पूर्व+सु > पूर्व अहन् ("पूर्वापराधरोत्तराणामेकदेशिनैकाधिकरणे" २-२-१ से समास) > पूर्व-अहन्+अ ('टच्'—"राजाहःसखिभ्यष्टच्" ५-४-९१) > पूर्व-अह्न (अहन्=अह्न—"अह्नोऽह्न एतेभ्यः" ५-४-८८) > पूर्व+अह्न (न्=ण्–"अह्नोऽदन्तात्" ८-४-७) > पूर्वाह्ण (दीर्घसन्धि) > पूर्वाह्णः। अनयोः अतिशयेन पूर्वाह्णे > पूर्वाह्णेतरे (पूर्वाह्णे+तरप्—"द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" ५-३-५७)। 'तरप्' तथा 'तमप्' स्वार्थिक प्रत्यय हैं, अतः प्रातिपदिकगत सप्तम्यन्त दिखलाने के लिये तरप्-तमप्-प्रत्ययान्त से सप्तमी का उदाहरण दिया गया है। इसी प्रकार (ख) तमप्-प्रत्ययान्त उदाहरण—पूर्वाह्णेतमे←'अलुक्' होने पर। पूर्वाह्णतमे→'लुक्' होने पर (बिलकुल पूर्वाह्ण में)। विग्रह—अह्नः पूर्वम् > पूर्वाह्णः। एषु अतिशयेन पूर्वाह्णे > पूर्वाह्णतमे ('तमप्' प्रत्यय—"अतिशायने तमबिष्ठनौ" ५-३-५५)। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। (२) 'काल' शब्द परे रहते—पूर्वाह्णेकाले←'अलुक्' होने पर। पूर्वाह्णकाले→लुक् होने पर (पूर्वाह्ण के समय)। विग्रह—पूर्वाह्णे काले। 'काल' शब्द के साथ समानाधिकरण समास होने से सप्तम्यन्त का उदाहरण दिया गया है। (३) 'तन'-प्रत्ययान्त परे रहते—पूर्वाह्णेतने←सप्तमी का 'अलुक्' होने पर। पूर्वाह्णतने→'सप्तमी' का 'लुक्' होने पर (पूर्वाह्ण के समय)। यहाँ पर 'तन' प्रत्ययान्त (ट्यु-ट्युल्—यु=अन तथा तुट्='त्' आगम) में सप्तम्यन्त निर्देश साहचर्य के कारण है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

(९७६) पद—शयवासवासिषु, अकालात्। अनुवृत्ति—विभाषा, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १—खेशयः—खशयः। २—ग्रामेवासः—ग्रामवासः। ३—ग्रामेवासी—ग्रामवासी। हलदन्तों की सप्तमी का ही हो। (अतः) भूमिशयः (में नहीं हुआ)। वा० 'योनि' शब्द, 'यत्' प्रत्यय तथा 'मतुप्' प्रत्यय परे रहते 'अप्' शब्द (की सप्तमी का अलुक् हो)। उदा० १—जल में जिसकी उत्पत्ति हो—अप्सुयोनिः। २—जल में होने वाला—अप्सव्यः। ३—हविषान्न के भागद्वय अर्थ में—अप्सुमन्तौ।

यन्मतुषु' (वा ३८७६) । अप्सु योनिरुत्पत्तिर्यस्य सोऽप्सुयोनिः । अप्सु भवः अप्सव्यः ।

स्यादित्यर्थः । अप्सव्य इति । दिगादित्वाद्यत् । 'ओर्गुणः', 'वान्तो यि' इत्यवादेशः । अप्सुमन्ताविति । अप्सु इति पदं यदीयमन्त्रयोरस्ति तावप्सुमन्तौ, आज्यभागाविति कर्मविशेषौ ।

विवरण—वैकल्पिक विधान हेतु "विभाषा वर्षक्षरशरवरात्" ६-३-१६ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। विधेयांश की पूर्णता के लिये आधिकारिक एवं प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथा-पूर्व विद्यमान हैं। अनुवर्तमान एवं सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता के फलस्वरूप सूत्र का आशय यह है कि "'शय', 'वास' और 'वासिन्' शब्द परे रहते कालवाचक शब्द से भिन्न शब्द की (अकालात्) सप्तमी का विकल्प (विभाषा) से 'अलुक्' हो।" इस सूत्र की प्रवृत्ति तभी होती है जब समास-गत शब्दों में पूर्वपद हलन्त अथवा ह्रस्व अकारान्त रहे। **उदाहरण**—(१) **खेशयः**← सप्तमी का अलुक् होने पर। **खशयः**→पक्ष में सप्तमी का 'लुक्' होने पर (आकाश में सोने वाला)। उपपद समास। **विग्रह**—खे शेते। शय = √शीङ्+अच् प्रत्यय–अधिकरण अर्थ में—"अधिकरणे शेतेः" ३-२-१५। (२) **ग्रामेवासः**←'अलुक्' होने पर। **ग्रामवासः**→पक्ष में 'लुक्' होने पर। **विग्रह**—ग्रामे वसति। उपपद समास। √वस्+घञ् "हलश्च" ३-३-१२१। (३) **ग्रामेवासी** ←'अलुक्' होने पर। **ग्रामवासी**→पक्ष में लुक् होने पर (गाँव में रहने वाला)। **विग्रह**—ग्रामे वासः अस्य। √वस्+घञ्—वास+इन्=वासी।

वार्तिक—अर्थ—'योनि' शब्द, 'यत्'-प्रत्यय तथा 'मतुप्'-प्रत्यय परे रहते 'अप्' शब्द की सप्तमी का 'अलुक्' हो। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **अप्सुयोनिः** (जिसकी उत्पत्ति जल में हो)। **विग्रह**—अप्सु योनिः अस्य। विग्रह एवं **समास** में (अलुक् होने के कारण) समान रूप होता है। (२) **अप्सव्यः** (जल में होने वाला)। **विग्रह**—अप्सु भवः। अप्सु+य (यत्–'दिगादिभ्यो यत्' ४-३-५४) > अप्सो+य ("उ = ओ—"ओर्गुणः" ६-४-१४६) > अप्सव्य (ओ = अव्—"वान्तो यि प्रत्यये" ६-१-७९)। ▷ अप्सव्यः (विभक्ति-कार्य)। कैयट ने महाभाष्य की टीका में 'अप्सव्यम्' प्रतीक का आश्रय लेकर अप्सु साधुः—अर्थ में "तत्र साधुः" से 'यत्' प्रत्यय माना है। (३) **अप्सुमन्तौ**—आज्यभागौ (दो घृताहुतियाँ, जिनके वितरण में 'अप्सु' मन्त्र का उच्चारण किया जाता हो)। **विग्रह**—'अप्सु' इति यदीयमन्त्रयोः अस्ति, तौ। अप्सु+मत्(मतुप्)+औ ▷ अप्सुमत् ('सप्तमी' योग-विभाग से समास, ततः सप्तमी का अलुक् ▷ अप्सु+मत्+औ (पुनः विभक्ति) ▷ अप्सु-मन्-त्+औ ('नुम्' आगम) > अप्सुमन्तौ।

विशेष—प्रकृत वार्तिकस्थ 'मतुषु' पद की स्थिति के सम्बन्ध में विवाद है। नागेश का कथन है कि 'मतुषु' के स्थान पर 'मतिषु' पाठ होना चाहिये। 'मतुषु' पाठ हरदत्त के अनुसार व्याख्यात है। 'मति' शब्द के रखने पर इसका उदाहरण **अप्सुमतिः** (जल में बुद्धि) होगा। महाभाष्य में 'अलुक्' के सम्बन्ध में यह वार्तिक नहीं पढ़ा गया है। भाष्यकार ने "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ सूत्र का व्याख्यान करते समय प्रसङ्गवश 'अपो योनियन्मतिषु चोपसंख्यानम्' वार्तिक की चर्चा की है। वार्तिककार ने 'अलुक्' विधान के प्रसङ्ग में 'एकवच्च' कथन द्वारा केवल एकवचन के विग्रहों तक ही उसे सीमित करने का प्रस्ताव किया था। उसकी अनावश्यकता दिखलाते हुए शंका की है कि 'गोषुचरः' 'वर्षासुजः' 'अप्सुयोनिः', 'अप्सव्यः', 'अप्सुमतिः' आदि में बहुवचन के विग्रह में 'अलुक्' की संगति कैसे की जा सकेगी? 'अप्सुमन्तौ' में तो 'एकवद्भाव' का प्रसङ्ग नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ 'अप्सुमत्' कथन एकत्व मात्र का बोधक है, क्यों कि आहुतियों के वितरण में 'अप्सु' शब्द-युक्त मन्त्रों में प्रयुक्त होने वाले 'अप्सु' शब्द से एक संख्या का ही

अप्सुमन्तावाज्यभागौ। (९७७) नेन्सिद्धबध्नातिषु च । ६ । ३ । १९ ॥ इन्नन्तादिषु सप्तम्या अलुग्न । स्थण्डिलशायी । सङ्काश्यसिद्धः । चक्रबद्धः । (९७८) स्थे च भाषा-

---

(९७७) नेन्सिद्धबध्नातिषु च । चक्रबद्ध इति । "साधनं कृता" इति क्तान्तेन सप्तम्यन्तस्य समासः ।

बोध होता है। इसके अतिरिक्त 'मतुपु' पाठ का फल भी सन्दिग्ध है। उसका कारण यह है कि 'अप्सुमत्' शब्द के अनुकरणात्मक होने से "सुपोधातु-प्रातिपदिकयोः" २-४-७१ से सुब्लुक् की प्राप्ति ही नहीं है। इसलिये अलुक्-विधान का विषय उपस्थित ही नहीं होता[1]।

(९७७) पद—न, इन्-सिद्ध-बध्नातिषु, च । अनुवृत्ति—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे । विधि- (निषेध) सूत्र ।

मूलार्थ—इन्नन्त आदि में सप्तमी का 'अलुक्' नहीं होता। उदा० १—स्थण्डिलशायी। २—साङ्काश्यसिद्धः। ३—चक्रबद्धः।

विवरण—सप्तमी के अलुक् का निषेध सूचित किया जा रहा है। तदनुसार विधिसूचक अनुवर्तमान पदों के साथ तथा सूत्रस्थ अन्य शब्दों के साथ 'न' पद का अन्वय करने से यह सूचित होता है कि 'इन-प्रत्ययान्त', 'सिद्ध' शब्द और बन्धनार्थक 'बन्ध्' धातु परे रहते पूर्वपदस्थ सप्तमी विभक्ति का 'अलुक्' न हो"। क्रमशः उदाहरण—(१) इन्नन्त—स्थण्डिलशायी (यज्ञभूमि पर सोने वाला)। विग्रह—स्थण्डिले शेते। स्थण्डिल+ङि, शी+इन् (णिनि)+सु>स्थण्डिल-शायिन् ("तत्पुरुषे कृति बहुलम्" ६-३-१३ से प्राप्त 'अलुक्' का प्रकृत सूत्र से निषेध—अतः विभक्तिलुक्) > स्थण्डिलशायी (वृद्धि–शी–शै, आम्, ततः पुनः विभक्ति-प्रथमा एक-वचन)। (२) सिद्ध-शब्दान्त—सांकाश्यसिद्धः (सांकाश्य में तैयार हुआ)। विग्रह—साङ्काश्ये सिद्धः। अलुक् न होने के कारण—सप्तमी समास होने पर—साङ्काश्यसिद्धः। (३) क्रयादिगण-पठित 'बन्ध्' धातु—चक्रबद्धः (पहिये में बँधा हुआ)। विग्रह—चक्रे बद्धः। 'अलुक्' न होने के कारण सप्तमी-समास। √बन्ध्+क्त=बन्ध्+त > बध्+त ('न्' का लोप–"अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" ६-४-२४) > बध्+ध (त=ध—"झषस्तथोर्धोऽधः" ८-२-४०) > बद्+ध (ध्=द्—जश्त्व) > बद्धः। इन उदाहरणों में 'सप्तमी' योगविभाग के कारण सप्तमी समास हुआ है।

विशेष—(१) 'सांकाश्य' की स्थिति फर्रुखाबाद जनपद में विद्यमान इक्षुमती नदी (प्रचलित नाम–ईखन) के किनारे 'संकिसा' नामक स्थान है, जहाँ अशोककालीन स्तम्भ के चिह्न मिले हैं। 'संकाशादि' गण में काम्पिल्य भी है, जो संप्रति कायमगंज तहसील में 'कंपिल' के नाम से जाना जाता है।

(२) 'घञ्' प्रत्ययान्त 'बन्ध' शब्द निष्पन्न होने पर, बहुव्रीहि में "बन्धे च विभाषा" ६-३-१३ से वैकल्पिक 'अलुक्' होने के कारण दो रूप बनेंगे—चक्रेबन्धः-चक्रबन्धः। प्रकृतसूत्रस्थ 'बध्नाति' में 'तिप्' का निर्देश होने से धातुगत रूप ही गृहीत है।

---

१. कारीर्याम् 'अप्स्वग्ने सधिष्टव' 'अप्सु मे सोमो अब्रवीत्'—इति आज्यभागमन्त्रौ स्तः। अत्र हि 'अप्सु' शब्दः अस्ति, इति तद्द्वारा आज्यभागयोः अपि 'अप्सुमत्त्वम्'। प्राचीनैः तु 'मतिपु' इति पठित्वा 'अप्सुमतिः' इत्युदाहृतम्। अत्र केचित्—'अप्सु' इत्येतदनुकरणशब्दः, सप्तम्यन्तो वा। आद्ये सप्तम्यन्तात् प्रथमाया अभावेन मतुबेव दुर्लभः। अन्त्ये तु लुकः प्राप्तिरेव नास्ति, सप्तम्यभावात्। अतः 'मतिपु' इति प्राचोक्तः पाठ एव युक्तः। न च स पाठो भाष्यादौ न दृष्ट इति वाच्यम्—मतिषु इति पाठस्य, 'अप्सुमतिः' इत्युदाहरणस्य च भाष्यवृत्त्यादिपुस्तकेषु दृश्यमानत्वेन 'मतुष्विति' पाठस्य अदर्शनात् व्यर्थत्वाच्च। 'अस्यवामीयम्' 'कथाशुभीयम्' इत्यादाविव लुकि कर्तव्ये "प्रकृतिवदनुकरणम्' इत्यतिदेशात् प्रवृत्त्यैवेष्टसिद्धिरित्याहुः"। एवतसर्वं तत्त्वबोधिन्यां निरूपितम्। तत्तत्रैवावगन्तव्यम्।

याम् ६ । ३ । २० ॥ सप्तम्या अलुग्न । समस्थः । भाषायाम् किम् ? कृष्णोऽस्याखरेष्ठः ।
(९७९) षष्ठ्या आक्रोशे ६।३।२१ ॥ चौरस्यकुलम् । आक्रोशे किम् ? ब्राह्मणकुलम् ।

---

(९७८) स्थे च भाषायाम् । 'अनन्तरस्य' इति न्यायात् 'तत्पुरुषे कृति' इत्यस्यैवायं निषेधः । अत एव 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सूत्रभाष्ये 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इति वार्तिकव्याख्यावसरे कण्ठेस्थः कालो यस्येति विग्रहे कण्ठेस्थशब्दस्य समासत्वमभ्युपगम्य उपन्यस्तः सङ्गच्छते । यदा तु 'अमूर्धमस्तकात्' इत्यस्याप्ययं निषेधः स्यात्तर्हि तदसङ्गतिः स्यात्, लुक्प्रसङ्गात् ।

(९७९) षष्ठ्या आक्रोशे । अलुगुत्तरपदे इति शेषः । आक्रोशो निन्दा । **वाग्दिक् ।** वाक्, दिक्, पश्यत् एतेभ्यः परस्याः षष्ठ्या अलुक् स्यात् युक्ति, दण्ड, हर एतेषु

---

(९७८) पद—स्थे, च, भाषायाम् । **अनुवृत्ति**—न, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे । **विधि-(निषेध)-सूत्र ।**

मूलार्थ—'सप्तमी' का 'अलुक्' न हो । उदा० समस्थः । भाषायां क्यों कहा ? कृष्णोऽस्याखरेष्ठः (वैदिक प्रयोग में निषेध नहीं) ।

विवरण—'निषेध'हेतु पूर्वसूत्र = "नेन्-सिद्ध-बध्नातिषु च" ६-३-१८ से 'न' की अनुवृत्ति अनिवार्य है । अतः "भाषा में (लौकिक प्रयोगों में) 'स्थ' शब्द के उत्तरपद रहने पर पूर्वपद की सप्तमी का 'अलुक्' नहीं होगा" । **उदाहरण—समस्थः** (समतल भूमि पर स्थिर रहने वाला) । **विग्रह**—समस्मिन् तिष्ठति । सम+ङि, स्था+क ("आतोऽनुपसर्गे कः" ३-२-३) । सम+स्थ ('अलुक्' न होने से विभक्ति का लुक्) > समस्थः (पुनः विभक्तिकार्य) । स्था+क ("सुपि स्थः" ३-२-४) > स्थ्+अ ("आतो लोप इटि च"—६-४-६४—धातुसम्बन्धी 'आ' का लोप) > स्थः । समास-विधायक सूत्र—"उपपदमतिङ्" २-२-१९ । इसी प्रकार **विषयस्थः, कूटस्थः, पर्वतस्थः** आदि रूप निष्पन्न होंगे ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'भाषायाम्' पद का निवेश होने के फलस्वरूप 'आखरेष्ठः' (सारथि-आखर=अश्वशाला) में 'अलुक्' का निषेध नहीं हुआ । यह वैदिक प्रयोग है । **विग्रह**—आखरे तिष्ठति । वैदिक वाक्य इस प्रकार है—**कृष्णोऽस्याखरेष्ठः** (इस का सारथि कृष्ण अर्थात् काला है) । 'अलुक्' निषेध न होने से "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" ६-३-९ से सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं हुआ । 'स्'=ष्-"पूर्वपदात्" ८-३-१०३ । शेष कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—यह निषेध "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" ६-३-१४ सूत्र का ही है । इस में प्रमाण-स्वरूप इस न्याय की उद्भावना की गई है—"अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" । इस सन्दर्भ में "अनेकमन्यपदार्थे" २-३-२४ सूत्र में भाष्यकार पतञ्जलि ने 'कण्ठेकालः' शब्द की निष्पत्ति के पूर्व 'कण्ठेस्थः कालः अस्य'—विग्रह-प्रदर्शनपूर्वक 'कण्ठेस्थः' शब्द का उल्लेख किया है । जिससे यह विदित होता है कि वहाँ "अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे" ६-३-१२ सूत्र से सप्तमी विभक्ति का 'अलुक्' हुआ है । अन्यथा वहाँ भी "स्थे च भाषायाम्" ६-३-२० सूत्र से निषेध सम्भव था । अतः उपर्युक्त न्याय से उसके अनन्तर आने वाले उत्सर्ग-शास्त्र "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" ६-३-१४ का ही यह अपवाद माना गया । तभी "अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४ सूत्र में पठित वार्तिक 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च' से 'कण्ठेस्थः' में बहुव्रीहि समास होने के पश्चात् 'स्थ' का लोप होकर 'कण्ठेकालः' रूप निष्पन्न होता है ।

(९७९) पद—षष्ठ्याः, आक्रोशे । **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उदा० चौरस्यकुलम् । आक्रोशे क्यों कहा ? ब्राह्मणकुलम् (निन्दार्थक न होने से अलुक् नहीं) । वा० १—वाक्, दिक् तथा पश्यत् शब्दों से क्रमशः युक्ति, दण्ड तथा हर शब्द परे

'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु' (वा ३८९७)। वाचोयुक्तिः। दिशोदण्डः। पश्यतोहरः। 'आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति च' (वा ३८९८–३८९९)। अमुष्यापत्यमामुष्यायणः। नडादित्वात्फक्। अमुष्यपुत्रस्य भावः आमुष्यपुत्रिका। मनोज्ञादित्वाद्

क्रमादुत्तरपदेषु परष्वित्यर्थः। वाचोयुक्तिरति। शब्दप्रयोग इत्यर्थः। दिशोदण्ड इति। अधिकरणस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी। पश्यतोहर इति। पश्यन्तमनादृत्य हरतीत्यर्थः 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी। आमुष्यायणेति। वार्तिकमिदम्। एते निपात्यन्ते। अमुष्येति। अमुष्यापत्यमित्यर्थे 'नडादिभ्यः फक्' इति फकि आयन्नादेशे आदिवृद्धौ तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकतया तदवयवत्वात् प्राप्तस्य सुब्लुको निषेधे नस्य णत्वे आमुष्यायण इति रूपमित्यर्थः। अमुष्य पुत्र इति विग्रहे षष्ठीसमासे षष्ठ्या अलुकि अमुष्यपुत्रशब्दः। अमुष्यपुत्रस्य भाव इत्यर्थे 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति वुञि अकादेशे पुत्रशब्दात् सुपो लुकि आदिवृद्धौ स्त्रीत्वाट्टापि 'प्रत्ययस्थात्' इतीत्त्वे आमुष्यपुत्रिकाशब्द इत्यर्थः। एवमिति। अमुष्य कुलमिति षष्ठीसमासे षष्ठ्या अलुकि अमुष्यकुलशब्दाद्

रहते (षष्ठी का अलुक् हो)। उदा० १—वाचोयुक्तिः। २—दिशोदण्डः। ३—पश्यतोहरः। वा० २—आमुष्यकायणादि तीनों शब्द (षष्ठी के अलुक् में निपातित हैं)। उदा० १—अमुष्य अपत्यम् > आमुष्यायणः। नडादिगण में पाठ होने से 'फक्' प्रत्यय। २—अमुष्यपुत्रस्य भावः > आमुष्यपुत्रिका। मनोज्ञादि गण में पाठ होने से 'वुञ्'। इसी तरह आमुष्य-कुलिका भी है। वा० ३—मूर्ख अर्थ में 'देवानांप्रियः' निपातित है। अन्यत्र देवप्रियः (होगा)। वा० ४—'श्वन्' शब्द से शेप, पुच्छ तथा लाङ्गूल शब्द परे रहते (षष्ठी का अलुक् हो)। उदा० १—शुनःशेपः। २—शुनःपुच्छः। ३—शुनो-लाङ्गूलः। वा० ५—'दिव' से दास शब्द परे रहते षष्ठी का (अलुक् होता है)। उदा० दिवोदासः।

विवरण—षष्ठी के 'अलुक्' का प्रसङ्ग है। "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'आक्रोश' अर्थात् निन्दा गम्यमान होने पर 'षष्ठी' का 'अलुक्' हो"। **उदाहरण**—(१) चौरस्यकुलम् (चोर का कुल)। "षष्ठी" २-२-८ से तत्पुरुष समास। "षष्ठी चानादारे" २-३-३८ से षष्ठी विभक्ति।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'आक्रोशे' पद का निवेश होने से **ब्राह्मणकुलम्** में, तत्त्वकथन होने के कारण, 'अलुक्' नहीं हुआ। अतः षष्ठी समास होने पर 'विभक्ति' का 'लुक्' हो गया।

वार्तिक—षष्ठी के 'अलुक्' प्रसङ्ग में ५ वार्तिक उपस्थापित किये जा रहे हैं। जिनमें से **प्रथम** वार्तिक से तीन शब्दों की सिद्धि की जा रही है। उसके अनुसार वाच्, दिश् तथा पश्यत् शब्दों से क्रमशः 'युक्ति, दण्ड और हर शब्द यदि परवर्ती हों तो 'षष्ठी' विभक्ति का 'लुक्' नहीं होगा'। **उदाहरण**—(१) **वाचोयुक्तिः** (वचन का प्रामाण्य)। पूर्ववत् षष्ठी—तत्पुरुष समास तथा प्रकृत वार्तिक से षष्ठी का अलुक्। वाचस्+युक्ति > वाचर्ँ+युक्ति (स्=र्) > वाच+उ, युक्ति (र्=उ—"हशि च" ६-१-११४) > वाचोयुक्ति (गुण) > वाचोयुक्तिः (विभक्ति-कार्य)। (२) **दिशोदण्डः** (आकाशीय तारों की दण्डाकार स्थिति)। 'अलुक्' एवं शेष कार्य पूर्ववत्। (३) **पश्यतोहरः** (देखते देखते चुराने वाला—डाकू)। 'पश्यत्'–दृश् (= पश्य)+शतृ+ङस्। दूसरे वार्तिक द्वारा तीन शब्दों में षष्ठी-विभक्ति का 'अलुक्' कर निपातन किया गया है। वे शब्द हैं—**आमुष्यायणः, आमुष्यपुत्रिका** तथा **आमुष्यकुलिका**। उदाहरण (१) आमुष्यायणः का विग्रह है—अमुष्य अपत्यम्। 'अदस्' शब्द की षष्ठी का एकवचन। इससे गोत्रापत्य अर्थ में—अमुष्य+फक् ("नडादिभ्यः फक्" ४-१-९९) > आमुष्य+आयन (वृद्धि-

वुञ् । एवमामुष्यकुलिका । 'देवानाम्प्रिय इति च मूर्खे' (वा ३९००) । अन्यत्र देवप्रियः । शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः (वा ३९०१) । शुनश्शेपः । शुनःपुच्छः । शुनोलाङ्गूलः ।

वुञादिः पूर्ववदित्यर्थः । देवानामिति । वार्त्तिकमिदम् । मूर्खः अज्ञः । दिवु क्रीडायाम् । 'देवाः क्रीडासक्ताः मूर्खाः' तेषां प्रियोऽपि मूर्ख एव, मूर्खप्रियस्यावश्यं मूर्खत्वादिति 'अजेर्वी' इत्यत्र कैयटः । शेपपुच्छेति । वार्तिकमिदम् । षष्ठ्या अलुगिति शेषः । सञ्ज्ञायामिति भाष्यम् । शुनश्शेप इति । शुनःशेप इव शेपो यस्येति विग्रहः । (मेढ्रो मेहनशेफसी) शेफशब्दोऽप्यस्ति । 'शेफाय स्वाहा' इति दर्शनात् । शुनःपुच्छ इति । शुनःपुच्छमिव पुच्छं

"क्ङिति च" ७-२-११८) ▷ आमुष्यायन ('अ'-लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) ▷ आमुष्यायण (न=ण) ▷ **आमुष्यायणः** (विभक्तिकार्य) । (२) **आमुष्यपुत्रिका** (इसके पुत्र का स्वभाव) । **विग्रह**—अमुष्यपुत्रस्य भावः । अमुष्य-पुत्र + वुञ् ("द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च" ५-१-१३३) ▷ अमुष्य-पुत्र + अक (वु=अक) > आमुष्यपुत्र् + अक (आदिवृद्धि) ▷ आमुष्यपुत्रक + टाप् > आमुष्य-पुत्रक + आ ▷ आमुष्यपुत्रका (दीर्घ) > आमुष्यपुत्रिका (अ = इ—"प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वात् इदाप्यसुपः" ७-३-४४) > आमुष्यपुत्रिका (विभक्तिकार्य) । (३) **आमुष्यकुलिका** (इस के कुल का स्वभाव) । **विग्रह**—अमुष्यकुलस्य भावः । शेष कार्य उदाहरण (२) के समान । इन दोनों उदाहरणों में लौकिक प्रयोग के अनुसार स्त्री-लिङ्ग है ।

तीसरे वार्तिक द्वारा **देवानांप्रियः** शब्द की सिद्धि 'मूर्ख' अर्थ में षष्ठी-विभक्ति के 'अलुक्' द्वारा निपातित की जा रही है । समास—षष्ठीतत्पुरुष ।

विशेष—देवानांप्रियः शब्द का अर्थ **'मूर्ख'** होने के सम्बन्ध में अनेक धारणायें हैं । भट्टोजि दीक्षित ने वार्तिक में 'मूर्खे' पद का निवेश किया है । किन्तु भाष्य में 'मूर्खे' पद विद्यमान नहीं है । वहाँ वार्तिक का स्वरूप **'देवानांप्रिय इति चोपसंख्यानं कर्तव्यम्'** है । कैयट ने यहाँ पर अपने विवरण में किसी अर्थ-विशेष का उल्लेख नहीं किया है । किन्तु "अजेर्व्यघञपोः" २-४-५६ सूत्र में प्रसङ्गवश एक शब्द के औचित्य को अभिलक्षित कर संवाद के रूप में भाष्य में प्रयुक्त 'देवानां-प्रियः' शब्द का अर्थ 'मूर्ख' किया है । यह वार्तालाप वैयाकरण तथा सूत में (रथ हाँकने वाला) हुआ है । वह इस प्रकार है:—वैयाकरण—"इस रथ का प्रवेता कौन है" ? सूत—"मैं इस रथ का प्राजिता (हाँकने वाला) हूँ" । वैयाकरण—"'प्राजिता' तो अपशब्द है" । सूत—"देवानांप्रिय ! (महाशय) आप प्राप्तिज्ञ हैं, इष्टिज्ञ नहीं । यह प्रयोग इष्ट है, यही रूप अभिलषित है । वैयाकरण—"अरे यह 'दुरुत' (दुष्ट सूत) हमें बाधा पहुँचा रहा है" । सूत—"आपका 'दुरुत' प्रयोग सार्थक नहीं है । 'सूत' शब्द √सू (षू) धातु से ('क्त' प्रत्यय जुड़ने पर) निष्पन्न हुआ है, 'वेञ्' (बुनना) धातु से नहीं । यदि आपको निन्दा अभीष्ट है तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें" । इस संवाद द्वारा शब्दों के प्रयोग के औचित्य पर प्रकाश पड़ता है । पतञ्जलि के समय में तो इस शब्द का महत्त्व घटा नहीं था । वह सम्मानार्थक ही रहा, क्योंकि इस संवाद में वैयाकरण के प्रति सूत (रथ हाँकने वाले) की श्रद्धा-भावना विद्यमान है । दूसरी बात इस संवाद से लोकव्यवहार में प्रचलित अर्थ के प्रामाण्य पर बल दिया गया है—'प्राप्तिज्ञ' की अपेक्षा 'इष्टिज्ञ' अधिक प्रामाणिक है[1] । वैसे तो यह शब्द महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है । कारण यह है कि सुप्रसिद्ध सम्राट् अशोक की उपाधि 'देवानांप्रियः' रही । यदि उस समय इस शब्द में इस प्रकार का अर्थ-परिवर्तन हुआ

---

१. 'एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति । सूत आह—अहमायुष्मन्, अस्य रथस्य प्राजितेति । वैयाकरण आह—अपशब्द इति । सूत आह—"प्राप्तिज्ञो देवानांप्रियः, न तु इष्टिज्ञः" । इष्यते एतद्रूपमिति । वैयाकरण आह—"अहो खलु एतेन दुरुतेन बाध्यामहे" इति । सूत आह—"न खलु वेञः सूतः, सुवतेरेव सूतः । यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या, दुःसूतेनेति वक्तव्यम्" ।

—महाभाष्यम्—२-४-५६ ।

'दिवसश्च दासे' (वा ३९०२)। दिवोदासः। (९८०) पुत्रेऽन्यतरस्याम् ६।३।२२॥ षष्ठ्याः पुत्रे परेऽलुग्वा निन्दायाम्। दास्याः पुत्रः दासीपुत्रः। निन्दायाम् किम्?

यस्येति विग्रहः। एवं शुनोलाङ्गूल इत्यपि। ऋषिविशेषाणां सञ्ज्ञा एताः। दिवश्च दासे इति। वार्त्तिकम् षष्ठ्या अलुगिति शेषः। दिवोदास इति? कश्चिद्राजर्षिरयम्।

(९८०) पुत्रेऽन्यतरस्याम्। निन्दायामिति। आक्रोशे इत्यनुवृत्तिलभ्यमिदम्। स्पष्टं चेदम् 'आनङ्ऋतः' इत्यत्र भाष्ये।

होता तो वह कदापि इसे स्वीकार न करता। नागेश ने **लघुशब्देन्दुशेखर** में भट्टोजिदीक्षित द्वारा प्रयुक्त मूर्ख शब्द की व्याख्या में कैयट के अन्यत्र व्याख्यान की शरण ली है। वहाँ कैयट ने यह हेतु प्रदर्शित किया है कि 'मूर्खों के प्रिय मूर्ख होते हैं'[1]। देवताओं को प्रसन्न करने लिये मूर्ख लोग यत्न करते रहते हैं अतः उनकी भक्ति फलप्राप्ति के लिये की जाने से बन्धन-परक है। उस बन्धन के प्रति अरुचि दिखलाने के लिये **अर्थपरिवर्तन** की यह युक्ति लोक में प्रचलित हुई। कदाचित् बौद्धों के मत का खण्डन करने के लिये इस शब्द के महत्त्व को घटाना उस समय के लोगों का उद्देश्य रहा हो।

चौथे वार्तिक द्वारा कुछ संज्ञावाची शब्दों की समीचीनता के लिये षष्ठी का 'अलुक्' बतलाया गया है। वे शब्द हैं—शुनःशेपः, शुनःपुच्छः तथा शुनोलाङ्गूलः। अर्थात् 'श्वन्' शब्द से 'शेप', 'पुच्छ', तथा 'लाङ्गूल' शब्दों के परवर्ती होने पर समासगत षष्ठी-विभक्ति का लोप नहीं होता। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **शुनःशेपः** (ऋषि का नाम)। **विग्रह**—शुनः शेप इव शेपः अस्य। बहुव्रीहि समास। 'शेपस्' एवं 'शेप' दोनों शब्द हैं। 'श्वन्' के 'व्' के स्थान में उ=सम्प्रसारण—"श्वयुवमघोनामतद्धिते" ६-४-१३३ तथा पररूप। (२) **शुनःपुच्छः** (ऋषिविशेष) **विग्रह**—शुनः पुच्छम् इव पुच्छम् अस्य। बहुव्रीहि समास। षष्ठी का अलुक्। (३) **शुनोलाङ्गूलः** (ऋषि-विशेष)। **विग्रह**—शुनः लाङ्गूलमिव लाङ्गूलं यस्य। बहुव्रीहि समास। षष्ठी का अलुक्।

पाँचवें वार्तिक द्वारा संज्ञा-विशेष **दिवोदासः** की सिद्धि हेतु षष्ठी विभक्ति का अलुक् किया जा रहा है। तदनुसार "'दिव' शब्द से 'दास' शब्द परे रहते षष्ठी-विभक्ति का लोप होगा"। **उदाहरण—दिवोदासः** (काशी के प्राचीन राजा का नाम)[2]। **विग्रह**—दिवः दासः। षष्ठी समास। विभक्ति का अलुक्। दोनों शब्दों में सन्धि होने के फल स्वरूप—स्=र्= उ, पुनः गुण—अ+उ=ओ।

(९८०) पद—पुत्रे, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—आक्रोशे, षष्ठ्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—निन्दा अर्थ में 'पुत्र' शब्द परे रहते षष्ठी विभक्ति का विकल्प से 'अलुक्' हो। उदा० दास्याः पुत्रः—दासीपुत्रः। 'निन्दायां' क्यों कहा? ब्राह्मणीपुत्रः (अलुक् हो गया)।

विवरण—स्थल-विशेष में निन्दा गम्यमान होने पर षष्ठी का विकल्प से 'अलुक्' किया जा रहा है। अतः सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' पद का निवेश किया गया है। शेष विषय पूर्व सूत्र "षष्ठ्या आक्रोशे" ६-३-२१ का होने के फलस्वरूप 'आक्रोशे' तथा 'षष्ठ्याः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित हैं। आधिकारिक अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। केवल 'पुत्र' शब्द परे रहते आक्रोश गम्यमान होने पर ही "विकल्प से 'अलुक्' होगा"। अन्यत्र नहीं। **उदाहरण**—दास्याःपुत्रः

---

१. 'देवशब्दो मूर्खवाची। मूर्खाणां च प्रिया मूर्खा एव भवन्ति। अथवा सुखासक्ततया शास्त्रे अनभियोगः अनेन प्रतिपाद्यते'।

२. काशीखण्ड के अनुसार पहले इनका नाम रिपुञ्जय था। नागराज से अनङ्गमोहिनी नाम की उनकी पुत्री तथा आकाश से देवताओं द्वारा पुष्प और रत्न आदि मिलने के कारण इनका नाम दिवोदास हुआ।

ब्राह्मणीपुत्रः । (९८१) ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः ६ । ३ । २३ ॥ विद्यासम्बन्ध-योनिसम्बन्धवाचिनः ऋदन्तात्षष्ठ्या अलुक् । होतुरन्तेवासी होतुःपुत्रः । पितुरन्तेवासी

---

(९८१) ऋतो विद्या । एकत्वे बहुवचनम् । तदाह—विद्यासम्बन्ध-योनिसम्बन्ध-वाचिन ऋदन्तादिति । अलुक् स्यादिति । उत्तरपदे परत इति शेषः । विद्यासम्बन्ध-वाचिनमुदाहरति—होतुरन्तेवासीति । ऋग्वेदविहितकर्मविशेषकर्ता होता । अतो होतृशब्दः विद्यासम्बन्धवृत्तिनिमित्तक इति भावः । होतुः पुत्र इति । विद्यासम्बन्धवाचिनः । उदाहरणान्तरमिदम् । अथ योनिसम्बन्धवाचिनमुदाहरति—पितुरन्तेवासीति, पितुः पुत्र इति च । ननु होतृधनं पितृधनमित्यत्राप्यलुक् स्यादित्यत आह—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः तत्पूर्वोत्तरपदग्रहणमिति । विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः इत्यत्र विद्यासम्बन्धयोनिसम्बन्ध-वाचिनोः पूर्वोत्तरपदयोः ग्रहणमित्यर्थः । पूर्वोत्तरपदयोरुभयोरपि विद्यासम्बन्धयोनिसम्ब-

---

←अलुक् होने पर । दासीपुत्रः→अलुक् न होने पर । अर्थात् विभक्ति-लोप होने पर । (दासी का पुत्र है—कहकर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'निन्दायाम्' पद का निवेश होने से ब्राह्मणीपुत्रः (ब्राह्मणी का पुत्र) में षष्ठी-विभक्ति का लोप हो गया, क्योंकि यहाँ निन्दा गम्यमान नहीं है ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण स्पष्टार्थक है । अन्यथा पृथक् विधान से विकल्प तो स्वतः सिद्ध रहा ।[1]

(९८१) पद—ऋतः, विद्या-योनिसम्बन्धेभ्यः । **अनुवृत्ति**—षष्ठ्याः, अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विद्यासम्बन्ध और जन्म-सम्बन्ध वाचक ऋदन्तसे परे षष्ठी का 'अलुक्' हो । उदा० १—(क) होतुरन्तेवासी । १—(ख) होतुःपुत्रः । २—(क) पितुरन्तेवासी । २—(ख) पितुः-पुत्रः । वा० विद्या-योनि-सम्बन्धवाचकों से पूर्व और उत्तरपदों का ग्रहण हो । अतः 'होतृधनम्' में 'अलुक्' नहीं हुआ ।

विवरण—'षष्ठी' के 'अलुक्' का ही विधान है । अतः "षष्ठ्या आक्रोशे" ६-३-२१ से केवल "षष्ठ्याः" पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । आधिकारिक 'अलुगुत्तरपदे' का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । किन शब्दों से पर षष्ठी विभक्ति का लोप न हो—इस जिज्ञासा को दूर करने के लिये "ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः" सूत्रस्थ दोनों पद सार्थक हैं । एकवचनान्त 'ऋतः' पद के साहचर्य से बहुवचनान्त 'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' की एकवाक्यता होने के लिये बहुवचन-पद को एकत्वार्थसूचक मानना पड़ता है । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "विद्यासम्बन्धवाची तथा जनन-सम्बन्ध-वाची ह्रस्व-ऋकारान्त शब्द से उत्तरपद परे रहते षष्ठी-विभक्ति का 'अलुक्' होता है" । उदाहरण—विद्यासम्बन्ध—(१) क-**होतुरन्तेवासी** (होता का शिष्य) । **विग्रह**—होतुः अन्ते-वासी । षष्ठीतत्पुरुष समास । विभक्ति का अलुक् । 'अन्तेवासी' शब्द उत्तरपद में होने के कारण 'खर्' परे न होने से 'होतुर्' के 'र्' को विसर्ग नहीं हुआ । होता से शिष्य का विद्याकृत सम्बन्ध है । वैदिक यज्ञों में ऋग्वेद में विहित कार्य-विशेष (स्तुति-विधान) का निर्वाहक **होता** कहलाता है । (१) ख-**होतुःपुत्रः** (होता का पुत्र) । समास एवम् षष्ठी-विभक्ति का अलुक् । विसर्ग के अनन्तर 'पुत्रः' में पवर्ग होने के कारण "कुप्वो ≍ क ≍ पौ च" ८-३-३७ के अनुसार विसर्ग ही रहा । यह भी विद्याकृत सम्बन्ध का उदाहरण है । (२) क-जननसम्बन्धवाची—**पितुरन्तेवासी**

---

१. "एवं च आरम्भसामर्थ्यादेव सिद्धे 'अन्यतरस्याम्' ग्रहणं स्पष्टार्थम्"—इति लघुशब्देन्दु-शेखरे उक्तम् ।

पितुःपुत्रः । 'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यस्तत्पूर्वोत्तरपदग्रहणम् (वा ३९०३) । नेह, होतृधनम् ।
(९८२) विभाषा स्वसृपत्योः ६ । ३ । २४ ॥ ऋदन्तात् षष्ठ्या अलुग्वा स्वसृपत्योः परयोः । **(९८३) मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ८ । ३ । ८५ ॥** आभ्यां स्वसुः सस्य षो वा स्यात्समासे । मातुःष्वसा—मातुःस्वसा । पितुःष्वसा—पितुःस्वसा । लुक्पक्षे तु ।

न्धान्तरवाचित्वं विवक्षितमिति भावः । होतृधनं पितृधनमित्यत्र उत्तरपदस्य विद्यासम्बन्धयोनिसम्बन्धान्यतरवाचित्वाभावात् न षष्ठ्या अलुगिति भावः । अन्यतरसम्बन्धवाचित्वस्य विवक्षितत्वादेव होतुःपुत्र इत्यादि सिद्धम् ।

(९८२) विभाषा स्वसृपत्योः । ऋदन्तादिति । विद्यासम्बन्धयोनिसम्बन्धान्यतरवाचिन इति शेषः । ततश्च मोक्तृस्वसेत्यत्र नातिव्याप्तिः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । अलुक्पक्षे विशेषमाह—

(९८३) मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम् । 'मातृपितृभ्यां स्वसा' इति पूर्वसूत्रात् स्वसेत्यनुवर्तते । षष्ठ्यर्थे प्रथमा । 'सहेः साडस्सः' इति सूत्रात् स इति षष्ठ्यन्तं पदमनुवर्तते । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । तदाह—आभ्यामिति । मातुः पितुरिति षष्ठ्यन्ताभ्यामित्यर्थः । समासे इति । 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।

(पिता का छात्र) । विग्रह—पितुः अन्तेवासी । षष्ठी-तत्पुरुष एवम् 'विभक्ति' का अलुक् । यहाँ जनन-कृत सम्बन्ध है । इसी प्रकार (२)—ख–पितुःपुत्रः (पिता का पुत्र) में भी जनन-कृत-सम्बन्ध है । यहाँ भी विग्रह एवम् अन्य कार्य पूर्ववत् । 'पूर्वपद' एवम् 'उत्तरपद'—दोनों—में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये वार्तिक द्वारा यह स्पष्ट किया जा रहा है कि "विद्या और जनन-सम्बन्धवाचक ऋकारान्त शब्द की षष्ठी विभक्ति का अलुक् तभी होगा, जब उत्तरपदवर्ती शब्द भी विद्या तथा जननसम्बन्धवाची हो" । इसके फलस्वरूप होतृधनम् (याज्ञिक का धन) तथा पितृधनम् (पिता का धन) में उत्तरपदवर्ती 'धन' शब्द के विद्या एवं जनन-सम्बन्धी न होने से षष्ठी विभक्ति का 'अलुक्' नहीं हुआ । अतः यथाप्राप्त षष्ठी-विभक्ति का लुक् हो गया ।

(९८२) पद—विभाषा, स्वसृपत्योः । **अनुवृत्ति**—ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, अलुगुत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ऋदन्त से 'स्वसृ' और 'पति' शब्द उत्तरपद परे रहते षष्ठी का 'अलुक्' विकल्प से होता है ।

विवरण—पूर्वसूत्र के विषय को कुछ सीमित किया जा रहा है । अतः पूर्वसूत्र (९८१) एवम् अधिकार-सूत्र 'अलुगुत्तरपदे' ६-३-१—दोनों का पूर्ण प्रभाव होने से उल्लिखित अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "विद्या तथा जनन-सम्बन्धवाची ऋकारान्त शब्दों से 'स्वसृ' तथा 'पति' शब्द उत्तरपद रहते षष्ठी-विभक्ति का विकल्प से 'अलुक्' हो" । उदाहरण आगे के सूत्र में दिये जा रहे हैं ।

(९८३) पद—मातुःपितुर्भ्याम्, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—स्वसा, समासे, सः, नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'मातुः' तथा 'पितुः' से परे 'स्वसृ' शब्द के सकार को समास में षत्व विकल्प से हो । उदा० १—मातुःष्वसा—मातुःस्वसा । २—पितुःष्वसा—पितुःस्वसा । लुक्-पक्ष में (अग्रिम सूत्र ९८४ से षत्व होगा) ।

विवरण—प्रसङ्गवश पुनः 'षत्व' का प्रकरण उपस्थित हुआ है । तदनुसार अष्टाध्यायी के आठवें अध्याय की ओर ध्यान देना होगा । समास का प्रकरण है । सूत्र में 'स्थानी' का निर्देश

(९८४) मातृपितृभ्यां स्वसा ८ । ३ । ८४ ॥ आभ्यां परस्य स्वसुः सस्य षः स्यात्समासे । मातृष्वसा । पितृष्वसा । असमासे तु—मातुःस्वसा ।

इत्यलुक्समासप्रकरणम् ।

मातुःष्वसा पितुःष्वसेति अलुकि षत्वे रूपम् । मातुःस्वसा पितुःस्वसेत्यलुकि षत्वाभावे रूपम् । लुक्पक्षे त्विति । विशेषो वक्ष्यत इति शेषः ।

(९८४) **मातृपितृभ्यां स्वसा** । **स्वसुरिति** । सूत्रे षष्ठयर्थे प्रथमेति भावः । **मातृष्वसा पितृष्वसेति** । लुक्पक्षे नित्यमेव षत्वम् । आदेशप्रत्ययसकारत्वाभावादप्राप्ते विधिरयम् । षत्वविधौ समासग्रहणानुवृत्तेः फलं दर्शयति—**समासे त्विति** । वाक्ये वैकल्पिकं षत्वमपि नास्तीत्यर्थः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमायाम् अलुक्समासप्रकरणं समाप्तम् ।

नहीं है । अतः "मातृ-पितृभ्यां स्वसा" ८-३-८४ सूत्र से 'स्वसा' पद की प्रमुख रूप में अनुवृत्ति अपेक्षित है । अनुवर्तमान 'स्वसा' पद में प्रथमा विभक्ति षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त है । षष्ठी का अर्थ स्वीकार किये जाने से 'स्वसृ शब्द के स्थान में'—इस अर्थ की प्रतीति होती है । तब "आदेः परस्य" १-१-५४ परिभाषा के अनुसार 'स्वसृ' शब्द के आदिम 'स'कार के स्थान में ("सहेः साडः सः" ८-३-५६ से अनुवृत्ति-लभ्य) विसर्ग का व्यवधान होने पर भी ("नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि" ८-३-५८ से अनुवृत्ति-जन्य) मूर्धन्य 'ष'कार ("अपदान्तस्य मूर्धन्यः" ८-३-५५ से अनुवर्तमान) आदेश विकल्प से होगा" । **उदाहरण—मातुःष्वसा**←पूर्वसूत्र (९८२) से 'अलुक्' होने पर एवं प्रकृत सूत्र से 'षत्व' होने पर । **मातुःस्वसा**→'अलुक्' होने पर 'षत्व' के अभाव में । 'अलुक्' न होने पर जब षष्ठी-विभक्ति का नियमप्राप्त लुक् होगा तब उस स्थिति में षत्व-विधायक सूत्र का उल्लेख आगे किया जा रहा है ।

(९८४) पद—मातृ-पितृभ्यां, स्वसा । **अनुवृत्ति**—समासे, सः, नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे परे 'स्वसृ' शब्द के स-कार को (मूर्धन्य) 'ष' आदेश हो । उदा० १—मातृष्वसा । समास न होने पर विग्रहावस्था में मातुः स्वसा ।

विवरण—प्रासङ्गिक प्रकरण षत्व का है । तत्सम्बन्धी उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ पदों के साथ अनुवर्तमान पदों की एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि ""मातृ' तथा 'पितृ' शब्द से उत्तरवर्ती 'स्वसृ' शब्द के 'स'कार को समास में मूर्धन्य षकार आदेश होगा" । १—**मातृष्वसा** (मौसी) ←षष्ठी-समास में विभक्ति का 'लुक्' होने पर षत्व हुआ । २—इसी प्रकार—**पितृष्वसा** (बूआ) में भी होगा । आदेशावयव 'स' न होने के कारण "आदेशप्रत्यययोः" ८-३-५९ से षत्व प्राप्त नहीं था, अतः पृथक् विधान की चरितार्थता है । "समासेऽङ्गुलेः सङ्गः" ८-३-८० से समास की अनुवृत्ति आने के कारण विग्रह में **मातुःस्वसा** रूप रहेगा । वहाँ षत्व नहीं होता, क्योंकि वाक्य में वैकल्पिक षत्व का विधान नहीं किया गया है ।

अलुक्समास-प्रकरण समाप्त ।

समासाश्रयविधिप्रकरणम्

(९८५) घ-रूप-कल्प-चेलड्-ब्रुव-गोत्र-मत-हतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः ६ । ३ । ४३ ॥ भाषितपुंस्काद्यो ङी तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वः स्याद् घरूपकल्पप्प्रत्ययेषु परेषु चेलडादिषु चोत्तरपदेषु । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमा । ब्राह्मणिरूपा । ब्राह्मणिकल्पा । ब्राह्मणिचेली । ब्राह्मणिब्रुवा । ब्राह्मणिगोत्रा इत्यादि । ब्रूञः पचाद्यचि वच्या-

---

(९८५) अथ समासाश्रयविधिः निरूप्यते—घरूप । उत्तरपदे इत्यधिकृतं चेलडादिष्वन्वेति न तु घरूपकल्पेषु, घशब्दवाच्यतरप्तमपो रूपप्कल्पपोश्च प्रत्ययत्वात् । न च तदन्तग्रहणे सति तेषूत्तरपदत्वं सम्भवतीति वाच्यम् 'हृदयस्य हृल्लेख' इत्यत्र उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणाभाव इति भाष्ये उक्तत्वात् । 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यतो भाषितपुंस्कादित्यनुवृत्तम् । ङ्य इति तदन्तग्रहणं, केवलस्यानेकाच्त्वाभावात् । तदाह—भाषितपुंस्काद्यो ङी इति । एतदर्थमेव 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यत्र भाषितपुंस्कादिति पञ्चम्यन्तमुपात्तम् । तत्र भाषितपुंस्काया इति षष्ठ्यन्तोपादाने तु इह तदनुवृत्तिर्न स्यात्, असम्भवात् । नहि ङीप्प्रत्ययस्य तदन्तस्य भाषितपुंस्कत्वमस्ति । न च तत्रापि नार्थवत्स्यात्, अनूङिति पर्युदासात् स्त्रीप्रत्ययलाभेन तदन्तस्य भाषितपुंस्कत्वाभावादिति वाच्यम्, तत्र 'स्त्रियाः' इत्यस्वरितत्वात् स्त्रीप्रत्ययग्रहणं नेत्युक्तत्वात् । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमेति । अतिशायने

उपक्रम—समास-गत भेदों एवम् उपभेदों का निरूपण करने के उपरान्त समास-प्रकरण के अन्त में परिशिष्ट-स्वरूप **'समासाश्रयविधि'** के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिये जा रहे हैं। इस प्रकरण में संकलित विधियाँ सामान्यतया सभी समासों, उपपद एवं तद्धितार्थोत्तरपद समास को अभिलक्षित कर अष्टाध्यायी के भिन्न-भिन्न 'अध्यायों' से संकलित की गई हैं। इन विधियों के द्वारा सामासिक पदों में वार्णिक परिवर्तन, पद-सम्बन्धी परिवर्तन तथा निपातन आदि की व्यवस्था की गई है।

(९८५) पद—घरूप'''हतेषु, ङ्यः, अनेकाचः, ह्रस्वः । **अनुवृत्ति**—भाषितपुंस्कात्, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

सूत्रार्थ—भाषितपुंस्क से पर जो 'ङी'–तदन्त–'एकाच्' को—घ, रूपप् और कल्पप् प्रत्यय तथा 'चेलट्' आदि शब्द परे रहते—ह्रस्व होता है। उदा० १—क-ब्राह्मणितरा। १—ख-ब्राह्मणितमा। २—ब्राह्मणिरूपा। ३—ब्राह्मणिकल्पा ४—ब्राह्मणिचेली। ५—ब्राह्मणिब्रुवा। ६—ब्राह्मणिगोत्रा इत्यादि। 'ब्रूञ्' धातु से पचादि-अच् होने पर ('ब्रुवः' में) 'वच्' आदेश तथा गुणाभाव का निपातन है। 'वृत्ति' के विषय में 'चेलट्' आदि निन्दावाची हैं। इनके साथ "कुत्सितानि कुत्सनैः" (सू. ७३२) से समास हुआ है। 'ङ्यः' क्यों कहा ? दत्तातरा (ह्रस्व नहीं हुआ)। भाषितपुंस्कात् क्यों कहा ? आमलकीतरा। कुवलीतरा (दोनों में ह्रस्व नहीं हुआ)।

प्रसङ्ग-संगति—अष्टाध्यायी-क्रम में इसके पूर्व इस पाद के आरम्भ में कई विधान बतलाये गए हैं, जिनमें 'अलुक्' तथा 'पुंवद्भाव' प्रमुख हैं। भट्टोजि दीक्षित ने 'अलुक्' को तो पृथक् समास-प्रकरण के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया। तथा 'पुंवद्भाव' के सूत्रों को प्रकरणोपयोगी विषय के साथ समाविष्ट कर दिया है। अब रह गए ऐसे विधान जो सर्व-साधारण-विषयों में उपयोगी हैं। अर्थात् जहाँ विग्रह की स्थिति के अनुसार अन्य वृत्तियों में भी समास की तरह जिन विधानों की उपयोगिता है, उनका समावेश 'सर्वसमासाश्रयविधिः' के अन्तर्गत किया जा रहा है। तदनुसार प्रकृत सूत्र की प्रस्तुति की जा रही है।

देशगुणयोरभावोऽपि निपात्यते। चेलडादीनि वृत्तिविषये कुत्सनवाचीनि। तैः 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (सू ७३२) इति समासः। ङ्यः किम्? दत्ततरा। भाषितपुंस्कात्

तरप्तमपौ। नच 'तसिलादिषु' इति पुंवत्त्वेन ङीपो निवृत्तिः शङ्क्या, 'जातेश्च' इति निषेधात्। ब्राह्मणिरूपेति। प्रशंसायां रूपप्। ब्राह्मणिकल्पेति। 'ईषदसमाप्तौ' इति कल्पप्। ब्राह्मणिचेलीति। 'चिल वसने' तस्मादचि चेलडिति पचादौ पठितम्। टित्वात् ङीप्। इत्यादीति। ब्राह्मणिमता। ब्राह्मणिहता। ब्रूञ् हति। ब्रूञ्धातोरचि कृते 'ब्रुवो वचिः' इति वच्यादेशस्य लघूपधगुणस्य च अभावो निपात्यत इत्यर्थः। चेलडादीनीति। समासवृत्तिविषये चेलड्ब्रुवगोत्रमतहता इत्युत्तरपदानि कुत्सनवाचीनीति कृत्वा 'कुत्सितानि कुत्सनैः' इति कर्मधारय इत्यर्थः। आमलकीतरेति। आमलकीशब्दस्य वृक्षवाचित्वे नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् भाषितपुंस्कत्वाभावेन न ह्रस्व इति भावः। ननु 'न पदान्त' इति सूत्रे भाष्ये बिम्बबदर्यामलकशब्दानां भाषितपुंस्कत्वावगमात् कथमामलकीशब्दस्य वृक्ष-

---

विवरण—यह ह्रस्व-विधायक सूत्र है। 'ह्रस्व' का 'स्थानी' है—'ङ्यः अनेकाचः'। अर्थात् 'ङी' (ङीप्, ङीष् तथा ङीन्) स्त्री-प्रत्यय से निष्पन्न होने वाले दीर्घ ईकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग अनेकाच् शब्द। इनमें भी स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी 'अन्तिम' ईकार को ही ("अलोऽन्त्यस्य" १-१-५२ के अनुसार) ह्रस्व का स्थानी माना जायगा। 'ङ्यन्त' शब्दों की स्थिति के सम्बन्ध में सूत्रस्थ 'घ-रूप-कल्प चेलट्-ब्रुव-गोत्र-मत-हतेषु' सप्तम्यन्त पद उपयोगी है। अनुवर्तमान 'उत्तरपदेषु' के साथ इसका अन्वय होता है। पुनरपि सूत्रार्थ पूर्ण नहीं हो पाता, जब तक दूसरे अनुवर्तमान पद 'भाषितपुंस्कात्' के साथ एकवाक्यता नहीं हो जाती। 'भाषितपुंस्कात्' की अनुवृत्ति "स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु" ६-३-३३ सूत्र से की गई है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "भाषितपुंस्क शब्द से उत्तर जो 'ङी'—तदन्त अनेकाच् शब्द को—घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत तथा हत शब्दों के परे रहते—ह्रस्व होता है"। यहाँ 'घ' से 'घ'संज्ञक तरप् तथा तमप् प्रत्यय लिये गए हैं—"तरप्-तमपौ घः" १-१-२१। रूप से रूपप्-प्रत्यय का ग्रहण है—"प्रशंसायां रूपप्" ५-३-६६। कल्प से 'कल्पप्' प्रत्यय लिया गया है—"ईषदसमाप्तौ कल्पब्-देश्य-देशीयरः" ५-३-६७। समासावयव चेलट्, ब्रुव, गोत्र—ये तीन शब्द कुत्सा (निन्दा) वाची हैं। इनमें भी √चिल से निष्पन्न 'चेलट्' का पाठ पचादिगण में किया गया है। 'टकार' इत्संज्ञक होने से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। 'ब्रवीति' अर्थ में (√ब्रू धातु से पचादि-गण में होने के कारण 'अच्' प्रत्ययान्त) ब्रुव शब्द निष्पन्न हुआ है। 'ब्रू' के स्थान में यथाप्राप्त 'वचि' आदेश ("ब्रुवो वचिः" २-४-५३) तथा 'गुण' भी निपातन-वश नहीं होते, अतः 'उवङ्' आदेश होने पर 'ब्रुव' शब्द निष्पन्न हुआ है। मत (मन्+क्त) तथा हत—(हन्+क्त) शब्द भी आनुपूर्वी लिये गए हैं। क्रमशः **उदाहरण**—(१) क—**ब्राह्मणितरा** (दो में श्रेष्ठ ब्राह्मणी)। **विग्रह**—इयम् अनयोः अतिशयेन उत्कृष्टा ब्राह्मणी—ब्राह्मणीतर (तरप्)+टाप्>ब्राह्मणितरा+सु (अनेकाच्, भाषितपुंस्क एवं ङ्यन्त ब्राह्मणी में 'ई' को ह्रस्व)>ब्राह्मणितरा ('सु' विभक्ति एवं उसका हलङ्यादि-लोप)। 'ब्राह्मणी' शब्द ब्राह्मणस्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुंलिङ्ग का भी बोध कराता है, अतः भाषितपुंस्क है[1]। (१) ख—**ब्राह्मणितमा**। **विग्रह**—इयम् एषाम् अतिशयेन उत्कृष्टा स्त्री ब्राह्मणी। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। (२) **ब्राह्मणिरूपा** (प्रशस्त ब्राह्मणी)। **विग्रह**—प्रशस्ता ब्राह्मणी। (३) **ब्राह्मणिकल्पा** (पूरी ब्राह्मणी होने में कुछ न्यून)। **विग्रह**—ईषद् असमाप्ता ब्राह्मणी। (४) **ब्राह्मणिचेली** (निन्दित आचरण वाली ब्राह्मणी)।

---

१. उपलक्षणमेतत्। 'भाषितपुंस्कः' इत्यपि नेह सम्बन्ध्यते इत्याशयेनापि अस्य उदाहरणस्य सार्थक्यम् अस्ति।

किम् ? आमलकीतरा । कुवलीतरा । (९८६) नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ६ । ३ । ४४ ॥ अङ्यन्तनद्याः ङ्यन्तस्यैकाचश्च घादिषु ह्रस्वो वा स्यात् । ब्रह्मबन्धूतरा-ब्रह्मबन्धुतरा । स्त्रितरा-स्त्रीतरा । 'कृन्नद्या न' (वा ३९३८) । लक्ष्मीतरा ।

विशेषे नित्यस्त्रीलिङ्गत्वमित्यरुचेराह—कुवलीतरेति । वृक्षविशेषे नित्यस्त्रीलिङ्गोऽयमिति भावः । अमरस्तु 'कर्कन्धूर्बदरी कोली घोण्टा कुवलफेनिले' इति नपुंसकत्वमाह ।

(९८६) नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् । उक्तादन्यः शेषः । ङ्यन्तस्यानेकाच इति पूर्वसूत्रे स्थितम्, तदन्यत्वं च अनेकाचो ङ्यन्तत्वाभावे ङ्यन्तस्यानेकाच्त्वाभावेऽपि सम्भवति । तदाह—अङ्यन्तनद्याः ङ्यन्तस्यैकाचश्चेति । 'ऊङन्तः' इति ब्रह्मबन्धूशब्दः ऊङन्तः । भाषितपुंस्कस्येति तु नेहानुवर्तत इत्यभिप्रेत्योदाहरति—स्त्रितरेति । कृन्नद्या-

---

विग्रह—नीचा ब्राह्मणी । ब्राह्मणी+चेलट् (√चिल्+अच्) । स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्'-"टिड्ढाणञ्०" ४-१-१५, 'ट्' इत्संज्ञक पचादि में पाठ होने से—ब्राह्मणीचेली । तदनन्तर ह्रस्व > ब्राह्मणिचेली । "कुत्सितानि कुत्सनैः" २-१-५२ से समास हुआ है । इसी प्रकार निन्दा अर्थ में (५) **ब्राह्मणिब्रुवा** (नीच ब्राह्मणी), (६) **ब्राह्मणिगोत्रा** (निन्दिता ब्राह्मणी), (७) **ब्राह्मणिमता** (निन्दिता ब्राह्मणी) तथा (८) **ब्राह्मणिहता** (निन्दिता ब्राह्मणी) में भी ह्रस्व होता है । सर्वत्र समास-"कुत्सितानि कुत्सनैः" २-१-५२ से हुआ है ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'ङ्यन्त' पद का निवेश होने से **दत्तातरा** (अधिक दी हुई) में 'दत्ता' शब्द के टाबन्त होने के कारण ह्रस्व नहीं हुआ । (२) 'भाषितपुंस्कात्' पद का निवेश होने के फलस्वरूप (क) **आमलकीतरा** (अच्छा आँवले का वृक्ष) में भी ह्रस्व नहीं होता, क्योंकि 'आमलकी' शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है—भाषितपुंस्क नहीं है । अर्थात् 'आमलकी' शब्द का प्रवृत्तिनिमित पुंलिङ्ग शब्द 'आमलक' नहीं है । (ख) इसी प्रकार **कुवलीतरा** (अच्छा उन्नाव का वृक्ष) में भी ह्रस्व नहीं हुआ ।

(९८६) पद—नद्याः, शेषस्य, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—घरूपचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अङ्यन्त नदी-संज्ञक को तथा ङ्यन्त एकाच् को 'घ' आदि परे रहते विकल्प से ह्रस्व होता है । उदा० १—ब्रह्मबन्धुतरा—ब्रह्मबन्धूतरा । २—स्त्रितरा-स्त्रीतरा । वा० कृत्प्रत्ययान्त 'नदी' संज्ञक को ह्रस्व न हो । उदा० लक्ष्मीतरा ।

विवरण—पूर्वसूत्र (९८५) का ही विषय है । अतः उस सूत्र की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । तथा "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ से 'उत्तरपदे' की प्राकरणिक अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है । पूर्वसूत्र में 'ङ्यन्त' नदी-संज्ञकों को ह्रस्व का विधान कहा गया है । यहाँ 'शेषः' पद से अङ्यन्त-अर्थात् ङ्यन्त से भिन्न—नदी-संज्ञक शब्दों का ग्रहण होगा । पाक्षिक विधान के लिये 'अन्यतरस्याम्' पद का निवेश है । अतः सूत्र का यह आशय है कि "दीर्घ ईकारान्त नदी-संज्ञक शब्दों से भिन्न नदी संज्ञक शब्दों को तथा ङ्यन्त एकाच् शब्दों को-'घ', 'रूप', 'कल्प', 'चेलट्', 'ब्रुव', 'गोत्र', 'मत' तथा 'हत'—इनके परवर्ती होने पर ह्रस्व हो" । 'नदी'संज्ञक शब्दों में ईकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों के अतिरिक्त दीर्घ ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द भी निर्दिष्ट हैं ("यू स्त्र्याख्यौ नदी" १-४-३) । तदनुसार 'ब्रह्मबन्धू' आदि दीर्घ ऊकारान्त नित्य-स्त्रीलिङ्ग शब्दों का ग्रहण होता है । इसके साथ ही पूर्वसूत्र में 'ङ्यन्त अनेकाच्' शब्द गृहीत रहे, यहाँ उनसे भिन्न 'अङ्यन्त एकाच्' शब्दों का समावेश होने से 'स्त्री' आदि शब्दों को भी ह्रस्व होगा[1] । **उदाहरण**—(१) **ब्रह्मबन्धुतरा**←ह्रस्व होने पर । **ब्रह्मबन्धूतरा**→ह्रस्व न होने पर (केवल नाम मात्र की ब्राह्मणी) । ब्रह्मबन्धु+ऊङ्

---

१. "कश्च शेषः ? अ-ङी च या नदी, ङ्यन्तं च यदेकाच्"—काशिका ।

(९८७) उगितश्च ६ । ३ । ४५ ।। उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु ह्रस्वो वा स्यात् । विदुषितरा । ह्रस्वाभावपक्षे तु 'तसिलादिषु—' (सू ८३६) इति पुंवत् ।

नेति । कृदन्ता या नदी तस्या ह्रस्वो नेति वाच्यमित्यर्थः । लक्ष्मीतरेति । 'लक्षेर्मुट् च' इति औणादिके ईप्रत्यये मुडागमे च लक्ष्मीशब्दः कृदन्त इति भावः ।

(९८७) उगितश्च । विदुषितरेति । 'विदेः शतुर्वसुः' इति वसुप्रत्ययः । उगिदन्तमिदम् । अनेकाच्त्वात् नद्याः शेषत्वस्याप्राप्तेरिदमिति भावः । विद्वत्तरेति । पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ विद्वत्तरेति रूपमित्यर्थः । तन्निर्मूलमिति । पुंवत्त्वस्य दुर्वारत्वादित्यर्थः । 'विद्वच्छ्रे-

---

(ऊङुतः ४-१-६६) प्रत्यय होने पर 'ब्रह्मबन्धू' दीर्घ ऊकारान्त है। (२) स्त्रितरा←'स्त्री' को ह्रस्व होने पर। स्त्रीतरा→ह्रस्व न होने पर (श्रेष्ठ स्त्री) इसी प्रकार स्त्रितमा-स्त्रीतमा आदि उदाहरण होंगे। पूर्वसूत्र से 'भाषितपुंस्कात्' की अनुवृत्ति न होने के कारण ही 'स्त्री' शब्द को ह्रस्व हुआ है।

वार्तिक—'कृत-प्रत्ययान्त नदी संज्ञक शब्दों (कृदन्त शब्द) को ह्रस्व का निषेध होता है'। 'कृत्' संज्ञा का विधायक सूत्र है—"कृदतिङ्" ३-१-९३। तदनुसार धातुओं से विहित—'तिङ्' प्रत्ययों से भिन्न-प्रत्यय 'कृत्' संज्ञक होते हैं। अतः **लक्ष्मीतरा** (श्रेष्ठ लक्ष्मी) में 'लक्ष्मी' शब्द को ह्रस्व नहीं हुआ। 'लक्ष्मी' शब्द में ईकार अन्त में होने से ङ्यन्त (प्रत्यय) का भ्रम न हो, क्योंकि यहाँ √लक्ष् धातु (चुरादि) से औणादिक 'ई' प्रत्यय-"लक्षेर्मुट् च" (उणादिसू० पाद-३) तथा 'मुट्' आगम होते हैं—√लक्षि + म् + ई > लक्ष्मी (चुरादि के 'णिच्' का लोप "णेरनिटि" ६-४-५१)। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

(९८७) पद—उगितः, च। **अनुवृत्ति**—नद्याः, अन्यतरस्याम्, घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, उत्तरपदे। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उगित् से पर नदी-संज्ञक शब्दों को 'घ' आदि परे रहते विकल्प से ह्रस्व हो। ह्रस्व के अभाव-पक्ष में 'तसिलादिषु०' सू० ८३६ से पुंवद्भाव होगा। उदा० विद्वत्तरा। वृत्त्यादि ग्रन्थों में 'विदुषीतरा' उदाहरण भी दिया गया है, किन्तु वह निर्मूल है।

विवरण—नदी-संज्ञक शब्दों के ह्रस्व होने का ही प्रकरण है। अतः पूर्वसूत्र ९८६ से 'नद्याः' तथा 'अन्यतरस्याम्' पदों की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में आ रही है। "घरूप०" ६-३-४३ सूत्र से तथा आधिकारिक "अलुगुत्तरपदे" सूत्र से आने वाली शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ भी प्रभावी हैं। सूत्रस्थ 'उगितः' पद के साथ अनुवर्तमान पदों की एकवाक्यता करने पर यह ध्वनित होता है कि "उगित् (उ, ऋ, लृ-इत्संज्ञक) शब्द से परे नदी-संज्ञकान्त शब्दों को भी 'घ' आदि के परे रहते विकल्प से ह्रस्व हो"। **उदाहरण—विदुषितरा**←ह्रस्व होने पर। **विद्वत्तरा**→ह्रस्व न होने पर। यहाँ पर 'विदुषी' को 'विद्वस्' पुंवद्भाव होगा ("तसिलादिष्वाकृत्वसुचः" ६-३-३५) तथा 'ङीप्' की निवृत्ति होगी (अर्थ-दो में अधिक विदुषी)। 'विद्वस्' शब्द में √विद् + शतृ—(= वस्) (उसके स्थान में 'वस्' तथा 'व' को सम्प्रसारण 'उ') प्रत्यय हुआ है। 'शतृ' में ऋकार की इत्संज्ञा है—अतः उगित् है। उगित् होने से स्त्रीप्रत्यय में पठित "उगितश्च" ४-१-६ सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है (विदुषी)। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। इसी प्रकार 'रूप' 'कल्प' आदि में भी उदाहरण होंगे।

विशेष—(१) कुछ प्राचीन वृत्तिकारों ने पाक्षिक ह्रस्व के न होने पर **विदुषीतरा** उदाहरण दिया है। किन्तु भाष्य में 'विद्वच्छ्रेयसोः पुंवत्त्वं न वक्तव्यम्'—इस प्रकार का कथन नहीं है। अतः 'पुंवद्भाव' का निवारण असंभव है[1]।

(२) "यूस्त्र्याख्यौ नदी" १-४-३ आदि संज्ञा-विधायक सूत्रों में दो पक्ष हैं—वर्णसंज्ञा-पक्ष

---

१. 'नहि स्वयम् अप्रवर्तमानोऽपि ह्रस्वः पुंवत्त्वं पूर्वं बाधते इति न्याय्यमिति भावः'।

—ल० श० शेखरः।

विद्वत्तरा। वृत्त्यादिषु विदुषीतरा इत्यप्युदाहृतम्, तन्निर्मूलम्। (९८८) **हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु** ६। ३। ५०॥ हृदयं लिखतीति–हृल्लेखः। हृदयस्य प्रियं–हृद्यम्। हृदयस्येदं–हार्दम्। हृल्लासः। लेख—इत्यणन्तस्य ग्रहणम्। घञि तु हृदयलेखः।

यसोः पुंवत्त्वं न वक्तव्यम्' इति वृत्तिः। परन्तु वचनमिदं भाष्यादृष्टत्वादुपेक्ष्यमिति भावः। अत्रोगितः परा या नदीति मूलं वर्णयोरेव नदीसञ्ज्ञे मताभिप्रायकम्।

(९८८) **हृदयस्य**। लेख, यत्, अण्, लास एषु परेषु हृदयस्य हृदादेश इत्यर्थः। हृदयं लिखतीति हृल्लेखः। कर्मण्यण्। हृदयस्य प्रियं हृद्यमिति। 'हृदयस्य प्रियः' इति यत्प्रत्ययः। हार्दमिति। 'तस्येदम्' इत्यण्, हृदादेशः। हृल्लास इति। घञन्तोऽयमिति भावः। लेखेत्यणन्तस्य ग्रहणमिति। अण्प्रत्ययसाहचर्यादिति प्राञ्चः। व्याख्यानादिति तत्त्वम्। तर्हि लेखग्रहणमेव व्यर्थम्, अणैव सिद्धेरित्यत आह—ज्ञापकमिति। ज्ञाप्यां-

---

एवं तदन्त-संज्ञा पक्ष। वर्णसंज्ञा-पक्ष में ङीप्, ङीष्, ङीन्–आदि के 'ई'कार की नदी-संज्ञा होती है। इस पक्ष का समाश्रयण यहाँ किया गया है। तदनुसार यहाँ वृत्ति में "उगितः परा या 'नदी'—इन शब्दों का प्रयोग किया है। अतः इस वाक्य में 'विहिता' पद का अध्याहार किया जायगा।

(९८८) पद—हृदयस्य, हृत्, लेख-यत्-अण-लासेपु। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—हृदयं लिखति इति–हृल्लेखः। २—हृदयस्य प्रियं–हृद्यम्। ३—हृदयस्य इदं—हार्दम्। ४—हृल्लासः। 'लेख' शब्द अण्-प्रत्ययान्त लिया गया है। 'घञ्' प्रत्यय में 'हृदय-लेखः'। 'उत्तरपदे' अधिकार में तदन्तविधि नहीं होती'—इसमें 'लेख' पद ही ज्ञापक है।

विवरण—आधिकारिक 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप 'स्थानी' से परे 'लेख' आदि की स्थिति आवश्यक है। आदेश 'हृत्' है। स्थानी 'हृदय' शब्द है। "अनेकाल्-शित् सर्वस्य" (१-१-५५) परिभाषा के अनुसार सर्वादेश होगा। अतः सूत्र का यह अर्थ होगा कि "हृदय शब्द के स्थान में–लेख, यत्, अण् तथा लास परे रहते 'हृद्' आदेश हो"। इन चारों शब्दों में 'लेख' तथा 'लास्य' आनुपूर्वी हैं। 'यत्' तथा 'अण्' प्रत्ययपरक हैं। क्रमशः **उदाहरण**—(१) लेख-**हृल्लेखः** (हृदय की पीड़ा)। **लौकिक विग्रह**—हृदयं लिखति। इस अर्थ में द्वितीयान्त हृदयवाचक पद के रहने पर "कर्मण्यण्" ३-२-१ सूत्र से 'अण्' प्रत्यय (=अ) होकर ('हृदय+अम्, लिख्+अ', ततः 'लिख्' धातु के 'इ'कार को लघूपधं-गुण—"पुगन्तलघूपधस्य च" ७-३-८६—हृदय+अम्, लेख। समास के पूर्व **अलौकिक विग्रह**—का स्वरूप—हृदय+ङस्, लेख+सु[१] > हृदयलेख (उपपद समास) > हृद्-लेख (प्रकृत सूत्र से 'हृद्' आदेश) > हृत्-लेख (द् = त्—चर्त्व) > हृल्लेख (त=ल—"तोर्लि" ८-४-५९) > **हृल्लेखः** (पुनः विभक्ति-कार्य)। (२) यत्—**हृद्यम्** (प्रिय, मनोहर)। **विग्रह**—हृदयस्य प्रियम्। हृदय+यत् (प्रिय अर्थ में—"हृदयस्य प्रियः" ४-४-९५) > हृद्+य (हृदय = हृद्) > हृद्यम् (विभक्ति-कार्य)। (३) अण्–**हार्दम्** (हृदयसम्बन्धी)। **विग्रह**—हृदयस्य इदम्। हृदय+अ (अण्—"तस्येदम्" ४-३-१२०) > हृद्+अ (हृदय = हृद्) > हार्द (ऋ = आदिवृद्धि आर्—"तद्धितेष्वचामादेः" ७-२-११७) > हार्दम् (विभक्ति कार्य)। (४) लास शब्द–**हृल्लासः** (हृदय की धड़कन) **विग्रह**—हृदयस्य लासः। √'लस्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय (लस्+अ) करने पर "अत उपधायाः" ७-२-११६ से उपधावृद्धि---लास। 'हृदय' के स्थान पर 'हृद्' आदेश। विभक्ति-कार्य।

विशेष—'लेख' शब्द की निष्पत्ति 'अण्' तथा 'घञ्' दोनों प्रत्यय करने से हो सकती है। अतः सूत्र में प्रयुक्त 'अण्' शब्द से भी 'हृल्लेखः' में 'हृद्' आदेश का निर्वाह हो सकता था। पृथक

---

१. कारण यह है कि कृदन्त निष्पन्न 'लेख' के योग में "कर्तृकर्मणोः कृति" २-३-६५ सूत्र से 'हृदय' शब्द के साथ षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग किया गया।

लेखग्रहणं ज्ञापकम् 'उत्तरपदाधिकारे तदन्तविधिर्नास्ति' (प २६) इति । (९८९) वा शोकष्यञ्रोगेषु ६।३।५१ ॥ हृच्छोकः–हृदयशोकः । सौहार्द्यम्–सौहृदय्यम् । हृद्रोगः–हृदयरोगः । हृदयशब्दपर्यायो हृच्छब्दोऽप्यस्ति । तेन सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम् । (९९०)

ज्ञमाह–उत्तरपदाधिकारे तदन्तविधिर्नास्तीति । तत्फलं तु घरूपकल्पग्रहणे तदन्तविध्यभावः ।

(९८९) वा शोक । सौहार्द्यमिति । ब्राह्मणादित्वात् भावे ष्यञि 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते' इत्युभयपदवृद्धिः । सौहृदय्यमिति । भावे ष्यञि हृच्छब्दत्वाभावात् आदिवृद्धौ 'यस्येति' च इति लोपे रूपमिति भावः ।

'लेख' पद ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है—यह जिज्ञासा हो सकती है । इसका उत्तर यह दिया जाता है कि वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'उत्तरपदे' अधिकार में उत्तरपद-विशेष्यक प्रातिपदिक-विशेषणक तदन्तविधि नहीं होती (अर्थात् 'प्रत्ययग्रहणे०' परिभाषा–विषयक नियम का प्रभाव नहीं होता)। इस ज्ञापन के अनुसार 'लेखान्त उत्तरपद'—यह अर्थ नहीं किया जाता। इसके फलस्वरूप उत्तरपद के अधिकार में 'प्रत्ययग्रहणे०' परिभाषा तदादि शब्दस्वरूप की उपस्थिति करती है[1]। तब तो इस सन्दर्भ में 'अण्-रूप उत्तरपद' अर्थ होकर 'हृल्लेखः' में सूत्रस्थ 'अण्' पद से कार्य-निर्वाह नहीं हो सकता। एतदर्थ पृथक् 'लेख' ग्रहण स्वांश में चरितार्थ होता है। इस ज्ञापन के फलस्वरूप "घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः" ६-३-४३ सूत्र में 'घ', 'रूप' तथा 'कल्प' प्रत्ययों में तदन्तविधि नहीं होती। उपर्युक्त ज्ञापन के अनुसार 'घञ्' प्रत्ययान्त 'लेख' शब्द का ग्रहण न होने से वहाँ हृदयलेखः प्रयोग मान्य होगा न कि हृल्लेखः।

(९८९) पद—वा, शोकष्यञ्रोगेषु । **अनुवृत्ति**—हृदयस्य, हृत्, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १—हृच्छोकः—हृदयशोकः । २—सौहार्द्यम्—सौहृदय्यम् । ३—हृद्रोगः—हृदयरोगः । 'हृदय' शब्द का पर्याय 'हृद्' शब्द भी है, अतः इन सबकी सिद्धि होने पर यह सूत्र केवल विस्तार मात्र के लिये है ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है । अतः पूर्वसूत्र से 'हृदयस्य' तथा 'हृत्'–ये दोनों पद यहाँ अनुवृत्ति-लभ्य हैं। तदनुसार "'शोक' शब्द, 'ष्यञ्'-प्रत्यय तथा 'रोग' शब्द के परवर्ती होने पर पूर्वपदस्थ 'हृदय' शब्द को विकल्प से 'हृद्' आदेश होगा"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) शोक शब्द—**हृच्छोकः**←'हृद्' आदेश होने पर। **हृदयशोकः**→'हृत्' आदेश न होने पर (हृदय का शोक)। **विग्रह**—हृदयस्य शोकः। शोक=√शुच्+घञ् ("भावे" ३-३-१८)। (२) 'ष्यञ्' प्रत्यय—**सौहार्द्यम्**←'हृद्' आदेश होने पर। सुहृदय+य ('ष्यञ्'—"गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" ५-१-१२४) > सुहृद्+य (हृदय=हृद्) > सौहार्द (उभयपद-वृद्धि "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" ७-३-१९) >सौहार्द्यम् (विभक्ति-कार्य)। **सौहृदय्यम्**→पाक्षिक 'हृद्' आदेश न होने पर। सुहृदय+य ('ष्यञ्') > सौहृदय्+य (आदिवृद्धि) > सौहृदय्य ('अ' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > सौहृदय्यम् (विभक्ति-कार्य)। **विग्रह**—सुहृदयस्य भावः कर्म वा। शोभनं हृदयम् अस्य—सुहृदयः। अर्थ—हृदयालु, सज्जन। 'मित्र' अर्थ अभीष्ट न होने से 'हृदय' के स्थान पर "सुहृद्-दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" ५-४-१४० से

---

१. "अण्-ग्रहणे रूपग्रहणं द्रष्टव्यम् । कुतः ? लेखग्रहणात् । यदयं लेखग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयति आचार्यो न यदणन्ते भवतीति"—पतञ्जलिः प्राह । अत्र कैयटः—'रूपग्रहणमिति स्वरूपस्य ग्रहणं, न तु तदन्तस्येत्यर्थः । अस्मिन्नेव प्रसङ्गे अग्रे स एवमाह—'एतद्वचनान्यथानुपपत्त्या लेखशब्दोऽत्राणन्तो गृह्यते न तु घञन्त इति, अतो घञि 'हृदयलेखः' इत्येव भवति' । —६-३-५० ।

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ६ । ३ । ५२ ॥ एषूत्तरपदेषु पादस्य 'पद' इत्यदन्त आदेशः स्यात् । पादाभ्यामजतीति पदाजिः । पदातिः । 'अज्यतिभ्यां पादे च' (उ० ५७०-५७१) इतीण्प्रत्ययः । अजेर्व्यभावो निपातनात् । पदगः । पदोपहतः । (९९१)

---

(९९०) पादस्य पद । पद इति लुप्तप्रथमाकं पृथक्पदम् । एष्विति । आजि, आति, ग, उपहत इत्येतेष्वित्यर्थः । अदन्त इति । उत्तरसूत्रे पदिति हलन्तस्य ग्रहणादिति भावः । अजतीति । 'अज गतिक्षेपणयोः' । पदातिरिति । पादाभ्यामततीति विग्रहः । 'अत गतौ' । अज्यतिभ्यामिति । पादे उपपदे अजधातोरतधातोश्च इण् स्यादिति तदर्थः । अजीत्यस्य 'अजेर्व्यघञपोः' इति वीभावमाशङ्क्याह—अजेर्व्यभावो निपातनादिति । आजीति निर्देशादित्यर्थः । पदग इति । पादाभ्यां गच्छतीत्यर्थः । 'गमश्च, 'अन्वात्यं-

---

'हृद्' आदेश नहीं हुआ । (३) रोगशब्द—हृद्रोगः←'हृद्' आदेश होने पर । हृदयरोगः→ 'हृद्' आदेश न होने पर । अर्थ—हृदय-रोग । विग्रह—हृदयस्य रोगः ।

विशेष—'हृदय' शब्द का समानार्थक 'हृद्' शब्द भी है, अतः उसके साथ रोग-शोकादि शब्दों का समास होने पर इस सूत्र के विना भी 'हृद्रोगः' आदि रूप निष्पन्न हो सकते थे । तथापि पाणिनि ने वैकल्पिक आदेश के लिये (शास्त्रविस्तार हेतु) पृथक् सूत्र पढ़ा है[1] ।

(९९०) पद—पादस्य, पद, आज्याति-गोप-हतेषु । **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन शब्दो के उत्तरपद रहने पर 'पाद' के स्थान पर 'पद' आदेश होता है । उदा० १—पादाभ्याम् अजति—पदाजिः । २—पदातिः । यहाँ "अज्यतिभ्यां पादे च" (उ० ५७०-५७१) से 'इण्' प्रत्यय हुआ है । 'अज्' को 'वी' आदेश ("अजेर्व्यघञपोः" २-४-५६) का अभाव निपातन (से हुआ है) । ३—पदगः । ४—पदोपहतः ।

विवरण—"'आजि', 'आति', 'ग' तथा 'उपहत' शब्दों के उत्तरपद रहने पर 'पाद' शब्द के स्थान पर 'पद' (अकारान्त)-आदेश होता है" । सूत्र मे पठित 'पद' शब्द लुप्त-प्रथमा-विभक्तिक है । तभी वह 'आदेश'-विधायक हो सकता है । **उदाहरण**—(१) **आजि शब्द उत्तरपद**—पदाजिः (पैदल चलने वाला)। **विग्रह**—पादाभ्याम् अजति । पाद–√अज्+इण्[2] ("अज्यतिभ्यां पादे च"—उणादि अ० ४-१३१) > पाद+आजि (उपधावृद्धि—"अत उपधायाः" ७-२-११६) >पद+आजि (पाद=पद)>पदाजि (दीर्घ)>पदाजिः (विभक्ति-कार्य) । (२) **अति उत्तर-पद रहते—पदातिः** (पैदल चलने वाला) । **विग्रह**—पादाभ्याम् अतति—पाद–√अत्+इण् । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् । 'पदाजिः' में "अजेर्व्यघञपोः" २-४-५६ सूत्र से 'अज्' के स्थानपर प्राप्त 'वी' आदेश का निवारण प्रकृत सूत्र में 'आजि' निर्देश के माध्यम से निपातन-वश किया जा रहा है । (३) **'ग' उत्तरपद रहते—पदगः** (पैदल चलने वाला) । **विग्रह**—पादाभ्यां गच्छति । पाद–गम् +ड (गमेर्डः–"अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः" ३-२-४८ सूत्रस्थ **वार्तिक**—'अन्यत्रापि दृश्यत इति वक्तव्यम्') > पाद+ग('टि' लोप='अम्' का लोप) > पदग (पाद=पद) > पदगः (विभक्तिकार्य) । दकारान्त आदेश होने पर 'पद्गः' रूप होता । (४) **उपहत-परक पादशब्द—पदोपहतः** (पैरों से मारा गया) । **विग्रह**—पादाभ्याम् उपहतः । "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" से २-१-३२ समास । उप–√हन्+क्त = उपहतः । पाद=पद । दकारान्त आदेश होने पर 'पदुपहतः' रूप बनता ।

---

१. "हृत–शब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति, तेनैव सिद्धे विकल्पविधानं प्रपञ्चार्थम् ।" —काशिका ।

२. मुकुटस्तु 'इञजादिभ्यः' (वा० ३-३-१०८) इति 'इञ्' इत्याह, तन्न—'स्त्रियाम्' 'अकर्तरि च कारके' 'भावे' इत्यधिकारे तस्य विहितत्वेन 'अतति' 'अजति' विग्रहस्य विरुद्धत्वात् ।

पद्यत्यतदर्थे ६ । ३ । ५३ ॥ पादस्य पत्स्यादतदर्थे यति परे। पादौ विध्यन्ति पद्याः शर्कराः। अतदर्थे किम् ? पादार्थमुदकं पाद्यम्। 'पादार्घाभ्यां च' (सू २०९३) इति यत्। 'इके चरतावुपसङ्ख्यानम्' (वा ३९५८)। पादाभ्यां चरति पदिकः। पर्पादित्वात्

न्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति सूत्रस्थेन 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वार्तिकेन गमधातोर्डः। तदन्ते गशब्दे परे पादस्यादन्तः पदादेशः। दकारान्तादेशे तु पद्गः इति स्यात्। पदोपहत इति। पादाभ्यामुपहत इति विग्रहः। अत्रापि दकारान्तादेशे पदुपहत इति स्यात्।

(९९१) **पद्यत्यतदर्थे।** पद्यति अतदर्थे इतिच्छेदः। **पद्य इति।** 'विध्यत्यधनुषा' इति यत्प्रययः। **पाद्यमिति।** 'पादार्घाभ्यां च' इति तादर्थ्ये यत्प्रत्ययः। **इके चरताविति।** चरत्यर्थे विहितस्य छनो य इकादेशः, तस्मिन् परे पादस्य पत्स्यादित्युपसङ्ख्यानमित्यर्थः।

विशेष—प्रकृत सूत्र में अकारान्त 'पद' आदेश का विधान होने से अग्रिम सूत्र में आचार्य पाणिनि ने दकारान्त (पद्) आदेश का विधान किया है।

(९९१) पद्—पद्, यति, अतदर्थे। **अनुवृत्ति**—पादस्य, उत्तरपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अतदर्थ में 'यत्' प्रत्यय परे रहते 'पाद' को 'पद्' आदेश हो। उदा० (पैरों को चुभने वाला)-पद्याः (शर्कराः)—काँटे। 'अतदर्थे' क्यों कहा ? पाद्यम्–पैरों को धोने के लिये जल ('पद्' आदेश नहीं)। "पादार्घाभ्यां च" (सू० २०९३) से 'यत्' प्रत्यय। वा० 'चरति' अर्थ में 'इक' परे रहते भी कहा जाय। पादाभ्यां चरति—पदिकः। पर्पादि के कारण 'छन्' प्रत्यय।

विवरण—पूर्व सूत्र का अवशिष्ट विषय है। किन्तु 'पद्' **आदेश** हलन्त है। अतः प्रकृत सूत्र में 'पद्' शब्द का पृथक् निवेश किया गया है। किन्तु 'स्थानी' का लाभ पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति-वश-ही होता है। 'उत्तरपदे' का अधिकार यथापूर्व विद्यमान है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "तादर्थ्य-भिन्न 'यत्' प्रत्यय परे रहते 'पाद'[1] शब्द को 'पद्' आदेश हो"। **उदाहरण—पद्याः**—शर्कराः (पैरो में चुभने वाले कंकड़)। **विग्रह**—पादौ विध्यन्ति। पाद+य (विध्यति अर्थ में 'यत्'—अतः अतदर्थ है—"विध्यत्यधनुषा" ४-४-८३) > पद्+य (पाद = पद्) >पद्य >पद्याः (विभक्ति-कार्य प्रथमा बहुवचन)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अतदर्थे' का निवेश होने से 'पद्' आदेश वहीं होगा जहाँ पैरों के हित में वह वस्तु न हो। अतः **पाद्यम्** में (जल = उदक–पैरों के धोने में–तदर्थ में है), 'पद्' आदेश नहीं हुआ। **विग्रह**—पादार्थम् उदकम्। पाद्+य (यत्—"पादार्घाभ्यां च" ५-४-२५) > पाद्य ('अ' का लोप) > पाद्यम् (विभक्तिकार्य)।

वार्तिक—'पद्' आदेश का क्षेत्र कुछ विस्तृत किया जा रहा है। तदनुसार "'चरति' अर्थ में विहित 'छन्' प्रत्यय के स्थान में होने वाले 'इक' आदेश के परवर्ती रहने पर 'पाद' शब्द के स्थान में 'पद्' आदेश किया जाय"। **उदाहरण—पदिकः** (पैदल चलने वाला)। **विग्रह**—पादाभ्यां चरति। पाद+ठ ('छन्'—"पर्पादिभ्यः छन्" ४-४-१०) >पाद+इक (ठ = इक—"ठस्येकः" ७-३-५०) > पदिकः। (पाद = पद्, 'अ'लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

---

१. शरीरावयवस्य पादशब्दस्य ग्रहणमिष्यते। तथैव पूर्वाचार्यैः व्याख्यानं कृतम्। तेन "पण-पाद-माष-शताद्यत्" ५-१-३४ इत्यत्र पदादेशो न भवति। अयं भावः—पूर्वस्मिन् सूत्रे "पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु" ६-३-५२ इत्यत्र प्राण्यङ्गस्यैव हि पादस्य ग्रहणं, तस्यैव आज्यातिगोपहतिभिः गतिवचनैः सम्बन्धसम्भवात्। तथा च अस्मिन् सूत्रेऽपि तस्यैव अनुवृत्तिर्भवति।

छन् । (९९२) हिमकाषिहतिषु च ६ । ३ । ५४ ॥ पद्धिमम् । पत्काषी । पद्धतिः । (९९३) ऋचः शे ६ । ३ । ५५ ॥ ऋचः पादस्य पत्स्याच्छे परे । गायत्रीं पच्छः शंसति । पादंपादमित्यर्थः । ऋचः किम् ? पादशः कार्षापणं ददाति । (९९४) वा

---

(९९२) हिमकाषि । एषु परेषु पादस्य पत्स्यादित्यर्थः । पद्धिममिति । पादस्य हिममिति विग्रहः । पत्काषीति । पादौ पादाभ्यां वा कषतीत्यर्थः । 'सुप्यजातौ' इति णिनिः । पद्धतिरिति । हन्यते इति हतिः । कर्मणि क्तिन् । पादाभ्यां हतिरिति विग्रहः । 'कर्तृकरणे कृता' इति समासः ।

(९९३) ऋचः शे । शस्य शस्प्रत्ययैकदेशस्यानुकरणात् सप्तमीत्यभिप्रेत्योदाहरति—पच्छ इति । 'सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' इति पादशब्दात् शस् । 'तद्धितश्चा-

---

(९९२) पद—हिम-काषि-हतिषु, च । **अनुवृत्ति**—पद्, पादस्य, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—पद्धिमम् । २—पत्काषी । ३—पद्धतिः ।

विवरण—'पद्' आदेश का ही विषय है । **स्थानी**—'पाद' शब्द है तथा **आदेश**—'पद्' शब्द । सूत्र में दोनों का समावेश नहीं है, अतः अनुवृत्तिलभ्य हैं । तदनुसार 'पादस्य' की अनुवृत्ति "पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु" ६-३-५२ सूत्र से तथा "पद्यतदर्थे" ६-३-५३ सूत्र से 'पद्' की अनुवृत्ति आ रही है । 'उत्तरपदे' का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'हिम', 'काषिन्', तथा 'हति'—शब्दों के उत्तरपद रहते भी 'पाद' शब्द को 'पद्' आदेश हो" । **उदाहरण**—क्रमशः—(१) **पद्धिमम्** (पैर की सर्दी) । **विग्रह**—पादस्य हिमम् । पाद+ङस्, हिम+सु > पाद-हिम (षष्ठी तत्पुरुष) ⊳ पद्-हिम (पाद=पद्) ⊳ पद्धिम (ह्=ध्—पूर्वसवर्ण—"झयो होऽन्यतरस्याम्" ८-४-६१) > पद्धिमम् (विभक्ति-कार्य) । (२) **पत्काषी** (पैर घसीटने वाला, कष्ट से चलने वाला) । **विग्रह**—पादौ पादाभ्यां वा कषति । पाद-√कष्+इन् ('णिनि'—"सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" ३-२-७८) > पाद-काषिन् (उपधावृद्धि) ⊳ पद्-काषिन् (पाद=पद्) > पत्काषिन् (द्=त्—"खरि च" ८-४-५५) > पत्काषिन्+सु ⊳ पत्काषी (विभक्ति-कार्य→उपधा-दीर्घ, सु-लोप, न्-लोप) । (३) **पद्धतिः** (पैरों से घिसा या बना हुआ मार्ग) । **विग्रह**—पादाभ्यां हन्यते । पाद—√हन्+क्तिन् (कर्मणि) ⊳पाद-हन्+ति (अनन्तर 'पादाभ्यां हतिः'—विग्रह के स्वरूप में समास होकर) ⊳पाद-हति ('न्'-लोप-"गम-हन-जन-सन-घसां लोपः क्ङित्यनङि" ६-४-९८) ⊳ पद्-हति (पाद=पद्) > पद्धति (ह्=ध्—परसवर्ण) > पद्धतिः (विभक्ति-कार्य) ।

(९९३) पद—ऋचः, शे । **अनुवृत्ति**—पद्, पादस्य, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'श' परे रहते मन्त्रसम्बन्धी 'पाद' शब्द को 'पद्' आदेश हो । उदा० गायत्रीं 'पच्छः' शंसति । एक एक पाद (पृथक् कर) गायत्री पढ़ता है । 'ऋचः' क्यों कहा ? 'पादशः' कार्षापणं ददाति (पदादेश नहीं हुआ) ।

विवरण—पूर्व सूत्र के समान यहाँ भी वही अनुवृत्तियाँ आ रही हैं । तदनुसार "ऋचा सम्बन्धी 'पाद' शब्द को 'श' परे रहते 'पद्' आदेश होता है । वीप्सार्थक 'शस्' प्रत्यय का अवयवस्वरूप 'श' यहाँ ग्रहण किया गया है । सप्तमी में 'शे' प्रयोग करने से 'उत्तरपदे' के साथ यह अन्वित होता है, क्योंकि 'लोमादि'—गण में 'पाद' शब्द का पाठ न होने से मतुप्-अर्थ में 'श' प्रत्यय सम्भव नहीं है । **उदाहरण**—**पच्छः** (एक एक पाद) । **विग्रह**—पादं पादं शंसति । पाद+शस् (वीप्सा द्योत्य रहते शस्—"संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" ५-४-४३) > पद्+शस् गायत्री को एक एक पाद कर पढ़ता है—अर्थ में पाद=पद्)>पद्-छस् (श=छ) ⊳पज्+छस्

घोषमिश्रशब्देषु ६ । ३ । ५६ ॥ पादस्य पत् । पद्घोषः—पादघोषः । पन्मिश्रः–पादमिश्रः । पच्छब्दः–पादशब्दः । 'निष्के चेति वाच्यम्' (वा ३९५९) । पन्निष्कः–

सर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वम्, न त्विह लोमादि–शस्य ग्रहणम्, लोमादौ पादशब्दस्य पाठाभावात् । पादशः कार्षापणं ददातीति । कार्षापणाख्यपरिमाणविशेषं सुवर्णादिकं पादं पादं ददातीत्यर्थः ।

(९९४) वा घोष । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—पादस्य पदिति । निष्के चेति । पादस्य पदिति शेषः ।

(द्=ज्—श्चुत्व) > पच्+छस् (ज=च्—चर्त्व) > पच्छस्+सु ("तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" १-१-३८ अव्यय संज्ञा) > पच्छः ("अव्ययदाप्सुपः" २-४-८२ से सुप्-लोप, ततः स्=र्=ः) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'ऋचः' पद का निवेश होने के कारण **पादशः** कार्षापणं ददाति (चौथाई चौथाई कार्षापण देता है) में 'पाद' शब्द के स्थान में 'पद्' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि इस वाक्य में ऋचासम्बन्धी कार्य सूचित नहीं किया गया है ।

विशेष—प्राचीन भारत का सबसे प्रसिद्ध सिक्का चाँदी का **कार्षापण** था । इसका नाम मनुस्मृति में **धरण** और **राजतपुराण** मिलता है । पाणिनि ने इन सिक्कों को **आहत** (५-२-१२०) कहा है[1] । उसी के अनुसार ये सिक्के अंग्रेजी में पंच-मार्क्ड (Punch marked) के नाम से प्रसिद्ध हैं । ये सिक्के बुद्ध से भी प्राचीन हैं । कौटिल्य ने इसका संक्षिप्त नाम 'पण' दिया है । मनुस्मृति के अनुसार चाँदी के कार्षापण का वजन ३२ रत्ती था । सोने और ताँबे के कर्ष का वजन ८० रत्ती था । उसके बराबर तौल के सोने के सुवर्ण और ताँबे के कार्षापण सिक्के की तोल भी ८० रत्ती होती थी । इसका पालि भाषा में नाम 'कहापण' था ।

(९९४) पद्—वा, घोषमिश्रशब्देषु । **अनुवृत्ति**—पद्, पादस्य, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'पाद' के स्थान में विकल्प से 'पद्' हो । उदा० १—पद्घोषः—पादघोषः । २—पन्मिश्रः—पादमिश्रः । पच्छब्दः—पादशब्दः । वा० 'निष्क' शब्द परे रहते भी कहा जाय । उदा० पन्निष्कः—पादनिष्कः ।

विवरण—'पद्' आदेश का ही विषय है । पूर्वोक्त उल्लिखित सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार सूत्र के साथ उनकी एकवाक्यता होने पर सूत्र का यह आशय है कि "'घोष', 'मिश्र' तथा 'शब्द' उत्तरपद रहते 'पाद' शब्द को विकल्प से 'पद्' आदेश हो" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **पद्घोषः**←'पद्' आदेश होनेपर । **पादघोषः**→'पद्' आदेश न होनेपर सामासिक स्थिति । **अर्थ** पैरों की आवाज । **विग्रह**—पादयोः घोषः । षष्ठी तत्पुरुष समास । (२) **पन्मिश्रः**←'पद्' आदेश होने पर । **पादमिश्रः**→'पद्' आदेश न होने पर । **अर्थ**—पैरों से मिलाया गया । **विग्रह**—पादाभ्यां मिश्रः । समास—तृतीया–तत्पुरुष—"पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः" २-१-३० । 'पद्' का द् = न्—"यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" ८-४-४४ । (३) **पच्छब्दः**←'पद्' आदेश होने पर । **पादशब्दः**→'पद्' आदेश न होने पर । **अर्थ**—पैरों का शब्द । **विग्रह**—पादयोः शब्दः । षष्ठी-तत्पुरुष । 'पच्छब्दः' में सन्धि-कार्य आदि 'पच्छः' (उदाहरण सूत्र ९९३) के समान है ।

वार्तिक—सूत्रोक्त तीन शब्दों के अतिरिक्त "'निष्क' शब्द उत्तरपद रहते भी 'पाद' शब्द के स्थान में पाक्षिक 'पद्' आदेश वार्तिक-कार के अनुसार अभीष्ट है" । तदनुसार—**पन्निष्कः**←

---

१. 'द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः' । ८।१३५
ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश्चैव राजतः । ८।१३६

पादनिष्कः। (९९५) उदकस्योदः संज्ञायाम् ६ । ३ । ५७ ॥ उदमेघः। 'उत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम्' (वा ३९६९) । क्षीरोदः। (९९६) पेषंवासवाहनधिषु च ६ । ३ ।

---

(९९५) उदकस्योदः। उदकशब्दस्य उद इत्यादेशः स्यात् उत्तरपदे सञ्ज्ञायामित्यर्थः। उदमेघ इति। उदकपूर्णमेघसादृश्यात् कस्यचिदियं सञ्ज्ञा। उत्तर पदस्य चेति। उत्तरपदस्य उदकशब्दस्य उदः इत्यादेशः स्यात् सञ्ज्ञायामित्यर्थः। क्षीरोद इति। क्षीरम् उदकस्थानीयं यस्येति विग्रहः। क्षीरोदं सर इति त्वसाध्वेव, असञ्ज्ञात्वात्।

(९९६) पेषंवास। पेषमिति णमुलन्तमव्ययम्। तस्मिन् वासवाहनधिषु च

'पद्' आदेश होने पर। पादनिष्कः->'पद्' आदेश न होने पर रूप बनेंगे। **अर्थ**—'निष्क' नामक स्वर्ण-मुद्रा का चतुर्थांश। **विग्रह**—पादमितं निष्कम्।

विशेष—पाणिनि ने 'निष्क' शब्द का प्रयोग सिक्का तथा तौल दोनों अर्थों में किया है। सिक्के की बराबर तोल भी निष्क नाम से व्यवहृत हुई है। **शतपथ ब्राह्मण** में भी निष्क का उल्लेख है। इस सन्दर्भ में वहाँ उद्दालक आरुणि तथा स्वैदायन आचार्य के साथ शास्त्रार्थ की चर्चा करते हुए एक सुवर्ण-निष्क की शर्त बदने का उल्लेख किया गया है[1]। 'पादनिष्क' उदाहरण से ऐसा विदित होता है कि ये 'निष्क' के छोटे सिक्के थे। पालिभाषा में भी '**निक्ख**' रूप मिलता है। मनु ने (८।१३७) निष्कः की तोल ४ सुवर्ण या ३२० रत्ती के बराबर मानी है। कहीं कहीं आभूषण के अर्थ में भी निष्क का प्रयोग हुआ है।

(९९५) पद—उदकस्य, उदः, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० उदमेघः। वा० 'उदक' शब्द उत्तरपदस्थ होने पर भी कहा जाय। उदा० क्षीरोदः।

विवरण—'उदक' शब्द के स्थान में 'उद' आदेश का विधान बतलाया जा रहा है। 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति रहने से 'उदक' के स्थान में 'उद' आदेश तभी होगा जब "सामासिक शब्द से 'संज्ञा' का बोध होता हो"। **उदाहरण—उदमेघः** (जल से भरे हुए मेघ के समान व्यक्तिविशेष का नाम)[2]। **विग्रह**—उदकस्य मेघः। उदमेघः (षष्ठी तत्पुरुष तथा उदक=उद)।

वार्तिक—सूत्र द्वारा 'उदक' शब्द की पूर्वत्र स्थिति होने पर 'उदक' के स्थान पर 'उद' आदेश का विधान किया गया था, **वार्तिककार** के अनुसार समस्यमान—पदों में 'उदक' शब्द की उत्तरत्र स्थिति होने पर भी 'उद' आदेश होगा। तदनुसार **क्षीरोदः** (दूध का समुद्र—नामविशेष[3]) में 'उदक' के स्थान पर 'उद' आदेश हो गया। **विग्रह**—क्षीरम् उदकं यस्य। बहुव्रीहि समास।

(९९६) पद—पेषं-वास-वाहन-धिषु, च। **अनुवृत्ति**—उदकस्योदः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

---

१. द्रष्टव्य—वासुदेव शरण अग्रवाल : 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पृ० २४९।

२. यहीं पर काशिका में 'औदमेघिः' (उदमेघस्य पुत्रः) अपत्यवाचक शब्द का भी निर्देश किये जाने से व्यक्तिविशेष का नाम 'उदवाह' हो सकता है। इसी तरह 'उदवाहो नाम यस्य औदवाहिः पुत्रः।

३. पुराणानुसार सात समुद्रों में से एक का नाम, जो दूध से भरा माना जाता है। विष्णु भगवान शेष-शय्या पर इसी समुद्र में सोते हैं। इसके क्षीरसागर, क्षीरपयोनिधि तथा क्षीराब्धि आदि पर्याय हैं। अमृत-मन्थन यहीं किया गया था। —ब्रह्माण्ड ३-२८-८।

'ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह। जगाम स त्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः' ॥

—श्रीमद्भागवत-१०-१।१९।

५८ ॥ उदपेषं पिनष्टि । उदवासः । उदवाहनः । उदधिर्घटः । समुद्रे तु पूर्वेण सिद्धम् । (९९७) एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् ६ । ३ । ५९ ॥ उदकुम्भः—उदककुम्भः । एक—इति किम् ? उदकस्थाली । पूरयितव्ये इति किम् ? उदकपर्वतः ।

परतः उदकशब्दस्य उदः स्यादित्यर्थः । असञ्ज्ञार्थं वचनम् । **उदपेषं** पिनष्टीति । उदकेन पिनष्टीत्यर्थः । 'स्नेहने पिषः' इति णमुल् । कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । **उदवास** इति । उदकस्य वास इति विग्रहः । **उदवाहन** इति । करणे ल्युट् । उदकस्य वाहक इत्यर्थः । **उदधिर्घट** इति । उदकं धीयतेऽस्मिन्निति विग्रहः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किप्रत्ययः । असञ्ज्ञात्वस्फोरणाय घटः इति विशेष्यम् । **समुद्रे** त्विति । तत्र उदधिशब्दस्य सञ्ज्ञात्वेन 'उदकस्योदः' इति पूर्वसूत्रेण सिद्धमित्यर्थः ।

(९९७) **एकहलादौ** । हल्त्वस्य एकैकवर्णधर्मत्वादेव सिद्धे एकग्रहणादसंयुक्तत्वं लभ्यते । पूरयितव्यं पूरणार्हं कुम्भादि । असंयुक्तहलादौ पूरयितव्यवाचके उत्तरपदे परे उदकस्य उद इत्यादेशः स्यादित्यर्थः ।

मूलार्थ—उदा० उदपेषं पिनष्टि । २—उदवासः । ३—उदवाहनः । ४—उदधिः—घटः । 'समुद्र' अर्थ में पूर्व सूत्र से सिद्ध है ।

विवरण—'उत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है । पूर्वसूत्र ("उदकस्योदः संज्ञायाम्" ६-३-५७) से 'उदकस्य' तथा 'उदः' की अनुवृत्ति आने से **स्थानी** तथा **आदेश** दोनों का लाभ होता है । समस्यमान पदों की स्थिति-विशेष के सम्बन्ध में सूत्रोक्त पद सहायक हैं । तदनुसार सब की एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "'पेषं', 'वास', 'वाहन' तथा 'धि' शब्दों के उत्तरपद रहते भी 'उदक' के स्थान पर 'उद' आदेश हो" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) 'पेषम्' उत्तरपद रहते—**उदपेषं** पिनष्टि (पानी डालकर पीसता है) । **विग्रह**—उदकेन पिनष्टि । उदक+टा, पिष्+णमुल् ("स्नेहने पिषः" ३-४-३८) > उदक–पिष्+अम् (उपपद-समास—"उपपदमतिङ्" २-२-२९) > उदक-पेषम् (लघूपध—गुण-"पुगन्तलघूपधस्य च" ७-३-८६) > **उदपेषम्** (उदक=उद आदेश) । (२) वास-शब्द-**उदवासः** (जल में रहना) । **विग्रह**—उदकस्य वासः । षष्ठी-तत्पुरुष समास । उदक=उद आदेश । (३) वाहन-शब्द—**उदवाहनः** (जल ढोनेवाला) । **विग्रह**—उदकस्य वाहकः (वाहनः) । षष्ठी तत्पुरुष तथा उदक=उद । (४) 'धि' शब्द—**उदधिः** (जिसमें जल रखा जाय—अर्थात् घड़ा) । **विग्रह**—उदकं धीयते अस्मिन् । उदक+सु, धा+कि ("कर्मण्यधिकरणे च" ३-३-९३) > उदक+ध्+इ ('आ' का लोप-"आतो लोप इटि च" ६-४-६४) > उदधि (उदक=उद) > उदधिः (विभक्तिकार्य) ।

विशेष—समुद्र अर्थ विवक्षित होने पर संज्ञा में पूर्व सूत्र "उदकस्योदः संज्ञायाम्" ६-३-५७- से 'उदक' के स्थान पर 'उद' आदेश होने पर **उदधि** शब्द निष्पन्न होगा ।

(९९७) पद—एकहलादौ, पूरयितव्ये, अन्यतरस्याम् । उदकस्योदः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० उदकुम्भः—उदककुम्भः । 'एकः' क्यों कहा ? उदकस्थाली (दो 'हल्' होने से आदेश नहीं) । 'पूरयितव्ये' क्यों कहा ? उदकपर्वतः (नाम होने से आदेश नहीं) ।

विवरण—कुछ विशेष प्रकार के शब्दो में 'उदक' शब्द के स्थान पर वैकल्पिक 'उद' आदेश का विधान किया जा रहा है । **स्थानी** तथा **आदेश**—दोनों ही पूर्ववत् अनुवृत्तिलभ्य हैं । स्थिति एवम् अर्थविशेष के सूचक शब्द सूत्र में विद्यमान हैं । अनुवर्तमान पदों के साथ उनकी एकवाक्यता होने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "एकमात्र व्यञ्जन है आदि में जिसके-ऐसे भरा जाना (पूरयितव्य) अर्थ के सूचक शब्द के उत्तरपद रहते, 'उदक' शब्द के स्थान पर 'उद' आदेश

(९९८) मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च ६ । ३ । ६० ॥ उदमन्थः–उदकमन्थः । उदौदनः—उदकौदनः इत्यादि । **(९९९) इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ६ । ३ । ६१ ॥** इगन्तस्याङ्यन्तस्य ह्रस्वो वा स्यादुत्तरपदे । ग्रामणीपुत्रः—ग्रामणिपुत्रः ।

---

(९९८) मन्थौदन । उदकस्य उदादेशो वेति शेषः । अपूरयितव्यार्थं वचनम् । **उदमन्थः उदकमन्थ इति** । उदकमिश्रो मन्थ इति विग्रहः । द्रवद्रव्यसम्पृक्ताः सक्तवो मन्थः । भर्जितयवपिष्टानि सक्तवः । **उदौदनः उदकौदन इति** । उदकमिश्र इत्यर्थः । इत्यादीति । उदसक्तवः उदकसक्तवः । उदबिन्दवः–उदकबिन्दवः । उदवज्रः–उदकवज्रः । उदभारः–उदकभारः । उदहारः–उदकहारः । उदवीवधः–उदकवीवधः । उदगाहः–उदकगाहः । वीवधस्तु जलाद्याहरणयोग्यः उभयतः शिक्यः स्कन्धवाह्यः काष्ठविशेषः ।

(९९९) इको ह्रस्वः । अङ्य इति च्छेदः । **ग्रामणीपुत्र इति** । कर्मधारयः षष्ठीसमासो वा । नीधातोरीकारोऽयं, न तु ङीप्रत्यय इति भावः । ननु गालवग्रहणस्य

हो" । **उदाहरण**—**उदकुम्भः**←'उद' आदेश होने पर । **उदककुम्भः**→'उद' आदेश न होने पर । **अर्थ**—जल का (भरा हुआ) घड़ा । **विग्रह**—उदकस्य कुम्भः—षष्ठी तत्पुरुष । अथवा उदकपूर्णः कुम्भः । शाकपार्थिवादि समास ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'एकहलादौ' पद का निवेश होने के कारण **उदकस्थाली** (जल की बटलाई) शब्द में उदक के स्थान पर 'उद' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि उत्तरपदस्थ 'स्थाली' शब्द के आदि में 'स्' तथा 'थ्' दो हल् हैं । (२) 'पूरयितव्ये' पद का निवेश होने से **उदकपर्वतः** (पर्वत की एक चोटी) में 'उदक' के स्थान पर 'उद' आदेश नहीं होता, क्योंकि पर्वत घड़े की तरह ऐसा पदार्थ नहीं है कि उसे जल से भरा जा सके ।

(९९८) पद—मन्थौदन···गाहेषु, च । **अनुवृत्ति**—उदकस्य, उदः, अन्यतरस्याम्, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—**उदाहरण**—१—उदमन्थः—उदकमन्थः । २—उदौदनः—उदकौदनः । इत्यादि ।

विवरण—वैकल्पिक विधान के लिये पूर्वसूत्र (९९७) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । सूत्रस्थ 'च' पद से उसका अपकर्ष हो रहा है । शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । 'उदक' शब्द से उत्तरवर्ती ९ शब्दों का उल्लेख सूत्र में किया गया है । तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "'मन्थ', 'ओदन' 'सक्तु', बिन्दु', 'वज्र', 'भार', 'हार', 'वीवध' तथा 'गाह'—शब्दों के उत्तरपद रहते 'उदक' शब्द के स्थान पर 'उद' आदेश विकल्प से हो" । **उदाहरण**—(१) **उदमन्थः**←'उद' आदेश होने पर । **उदकमन्थः**→'उद' आदेश न होने पर (जल मिला हुआ सत्तू) । **विग्रह**—उदकेन मन्थः । तृतीया-तत्पुरुष समास । **अथवा**—उदकमिश्रितः मन्थः—मध्यमपदलोपी समास । इसी प्रकार (२) **उदौदनः**—**उदकौदनः** (जल में पकाया गया भात) भी जाना जाय । **शेष** उदाहरण इस प्रकार हैं—(३) उदकेन सक्तुः > **उदसक्तुः**–**उदकसक्तुः** (जल में सना हुआ सत्तू) । (४) उदकस्य बिन्दुः > **उदबिन्दुः**—**उदकबिन्दुः** (पानी की बूंद) । (५) उदकस्य वज्रः > **उदवज्रः**—**उदकवज्रः** (उपलवृष्टि) । (६) उदकं बिभर्ति—**उदभारः**—**उदकभारः** । (७) उदकं हरति—**उदहारः**—**उदकहारः** । (८) उदकस्य वीवधः > **उदवीवधः**—**उदकवीवधः** (बहँगी) (९) उदकं गाहते > **उदगाहः**—**उदकगाहः** ।

(९९९) पद—इकः, ह्रस्वः, अङ्यः, गालवस्य । **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उत्तरपद परे रहते इगन्त अङ्यन्त शब्द को विकल्प से ह्रस्व होता है । उदा०

इकः किम् ? रमापतिः । अङ्यः इति किम् ? गौरीपतिः । गालवग्रहणं पूजार्थम् । अन्यतरस्याम् इत्यनुवृत्तेः । 'इयङुवङ्भाविनामव्ययानां च नेति वाच्यम्' (वा ३९६३)। श्रीमदः । भ्रूभङ्गः । शुक्लीभावः । 'अभ्रुकुंसादीनामिति वक्तव्यम्' (वा ३९६४)। भ्रुकुंसः—भ्रूकुंसः । भ्रुकुटिः—भ्रूकुटिः । 'अकारोऽनेन विधीयते' इति व्याख्यान्तरम् ।

विकल्पार्थकत्वं किं न स्यादित्यत आह—अन्यतरस्यामित्यनुवृत्तेरिति । इयङुवङ्भाविनामिति । तदर्हाणामित्यर्थः । श्रीमदः । भ्रूभङ्ग इति । श्रीभ्रूशब्दौ अजादिप्रत्यये परे इयङुवङर्हाविति भावः । शुक्लीभाव इति । अभूततद्भावे च्विप्रत्यये 'अस्य च्वौ' इति ईत्वम् । 'च्वौ' इति दीर्घः । 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' इति निपातत्वादव्ययत्वमिति भावः । अभ्रुकुंसादीनामिति । भ्रूशब्दस्य उवङ्भावितया ह्रस्वनिषेधो यः प्राप्तः स नेत्यर्थः । अकारोऽनेनेति । 'अभ्रुकुंसादीनाम्' इति वार्तिके अ इति लुप्तप्रथमाकं पृथक्पदम् । तथा च भ्रुकुंसादीनामवयवो यो भ्रूशब्दः तस्य अकारः अन्तादेशः स्यादिति व्याख्यानान्त-

---

ग्रामणिपुत्रः—ग्रामणीपुत्रः । 'इकः' क्यों कहा ? रमापतिः । 'अङ्यः' क्यों कहा ? गौरीपतिः । 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति होने से 'गालव' ग्रहण पूजार्थक है । वा० 'इयङ् और उवङ्'—स्थानी और 'अव्यय' को ह्रस्व न हो । उदा० श्रीमदः । भ्रूभङ्गः । शुक्लीभावः । वा० भ्रुकुंसादि शब्दों से भिन्न कहा जाय । उदा० भ्रुकुंसः—भ्रूकुंसः । भ्रुकुटिः—भ्रूकुटिः । (वार्तिक से) अकार का विधान है—इस प्रकार दूसरा अर्थ भी है । जैसे—भ्रकुंसः, भ्रकुटिः । भौंह से जिसकी शोभा हो अथवा जिसका सम्भाषण हो—भ्रकुंसः—स्त्री-वेषधारी नट । भौंह का तिरछापन—भ्रकुटिः ।

विवरण—ह्रस्व-विधि का प्रकरण है । **स्थानी** (इकः) तथा **आदेश** (ह्रस्वः)—विधायक दोनों पद सूत्र में विद्यमान हैं । 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति (सू० ९९७) के फलस्वरूप ह्रस्व-विधान वैकल्पिक है । 'इकः' का विशेषण 'अङ्यः' है । 'ङी' से ईकारान्त स्त्रीप्रत्यय—ङीप्, ङीष् तथा 'ङीन्' का बोध होता है । विशेषण होने के कारण तदन्तविधि होगी । अतः "ङ्यन्त से भिन्न (न ङी-अ-ङी, तस्य=अङ्यः) इक् प्रत्याहारान्तर्गत (दीर्घ) वर्णों (ई, ऊ,) के अन्त में रहनेवाले शब्दों के उत्तरपद परे रहते (आचार्य गालव के मत में) विकल्प से ह्रस्व होगा" । **उदाहरण**—(१) **ग्रामणीपुत्रः**←ह्रस्व न होने पर । **ग्रामणिपुत्रः**→ह्रस्व होने पर । (अर्थ—गाँव के मुखिया का पुत्र) । **विग्रह**—ग्रामण्याः पुत्रः । षष्ठी समास । 'ग्रामणी' शब्द इगन्त है, किन्तु ङ्यन्त नहीं है । वहाँ 'ई'कार 'नी' धातु का है । 'ग्रामं नयति' इस अर्थ में (ग्राम—√नी+क्विप् "सत्सूद्विष०" ३-२-६१) 'क्विप्' प्रत्यय होने पर प्रत्यय का अवशेष न रहने के कारण ईकारान्त रह जाता है । 'न' के स्थान पर 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से 'ण' होता है । इसी प्रकार (२) **ब्रह्मबन्धूपुत्रः—ब्रह्मबन्धुपुत्रः** में भी वैकल्पिक ह्रस्व होगा । नदी-संज्ञक भिन्न ऊकारान्त इगन्त होने के कारण यह दूसरा उदाहरण है ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में (१) 'इकः'पद का निवेश होने के कारण **रमापतिः** (लक्ष्मीपति) में 'रमा' शब्द के 'आ' को 'ईकारान्त' न होने से ह्रस्व नहीं हुआ । (२) 'अङ्यः' पद का समावेश होने से **गौरीपतिः** (शिव) में 'ई' को इसलिये ह्रस्व नहीं हुआ कि 'गौरी' शब्द में "षिद्गौरादिभ्यश्च" से दीर्घ ईकारान्त स्त्री-प्रत्यय 'ङीष्' हुआ है ।

विशेष—प्रकृत सूत्र से पाणिनि को यदि वैकल्पिक ह्रस्व ही अभीष्ट था तो "एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्" ६-३-५९ सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति करना ही पर्याप्त रहा, पुनः सूत्र में 'गालव' ग्रहण करने की क्या आवश्यकता रही ? इस सन्दर्भ में 'गालव' ऋषि को भी विकल्प अभीष्ट था—यह बात सूचित करने के लिये उनके प्रति सम्मान प्रकट किया गया है ।

भ्रकुंसः। भ्रकुटिः। भ्रुवा कुंसो भाषणं शोभा वा यस्य सः—स्त्रीवेषधारी नर्तकः। भ्रुवः कुटिः कौटिल्यम्। (१०००) एक तद्धिते च ६। ३। ६२॥ एकशब्दस्य ह्रस्वः स्यात्तद्धिते उत्तरपदे च। एकस्य आगतमेकरूप्यम्। एकक्षीरम्। (१००१)

रमित्यर्थः। भ्रुवा कुंसो भाषणमिति। तत्तदर्थज्ञापनमित्यर्थः। 'भ्रकुंसश्च भ्रुकुंसश्च भ्रूकुंसश्चेति नर्तकः' इत्यमरः, 'भ्रकुटिर्भ्रुकुटिर्भ्रूकुटिः स्त्रियाम्' इति च।

(१०००) एक तद्धिते च। एकेति लुप्तषष्ठीकम्। तदाह—एकशब्दस्येति। स्त्रीप्रत्ययान्तस्येति शेषः, अन्यथा ह्रस्वविधिवैयर्थ्यात्। उत्तरपदे चेति। चकारात्तदनुकर्ष इति भावः। एकस्या आगतम् एकरूप्यमिति। 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः'। एकक्षीरमिति। एकस्याः क्षीरमिति विग्रहः।

वार्तिक—(१) अङ्यन्त-इगन्त शब्दों में भी ह्रस्व-विधान का क्षेत्र सीमित किया जा रहा है। तदनुसार "इगन्त' शब्दों में 'इयङ्' तथा 'उवङ्' आदेशों की अर्हता रखने वाले 'ई' तथा 'ऊ' को सूत्र से प्राप्त ह्रस्व का निषेध किया जा रहा है। इसके साथ ही 'दीर्घ ईकारान्त एवं ऊकारान्त अव्ययों को भी ह्रस्व न होने का निर्देश दिया जा रहा है"। अतः श्रीमदः (लक्ष्मी का गर्व) तथा भ्रूभङ्गः (भौंहों का सिकुड़ना) में ह्रस्व नहीं हुआ, क्योंकि 'श्री' शब्द का 'ई'कार तथा 'भ्रू'—शब्द का 'ऊ'कार क्रमशः 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश की अर्हता रखने वाले हैं। उसका कारण यह है कि 'अच्'-परक विभक्तियों में "अचि श्नु-धातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ" ६-४-७७ सूत्र से 'ई' और 'ऊ' को 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश होते हैं। दीर्घ ईकारान्त 'अव्यय' में भी ह्रस्व का निषेध करने के फलस्वरूप शुक्लीभावः (सफेद न होने पर भी सफेद होना) में 'ई' को ह्रस्व नहीं हुआ, क्योंकि 'शुक्ली' शब्द 'च्वि'—प्रत्ययान्त है और उसे "ऊर्यादिच्विडाचश्च" १-४-६१ से निपात-संज्ञा हुई है →शुक्ल+च्वि भाव (=भू+णिच् तथा णिलोप) > शुक्ल-भाव ('च्वि' का लोप) >शुक्लीभाव (अ = ई—"अस्य च्वौ" ७-४-३२ तथा "च्वौ च" ७-४-२६ से दीर्घ) > शुक्लीभावः ('च्वि' की निपात संज्ञा होने से "स्वरादि-निपातमव्ययम्" १-१-३७)। वार्तिक—(२) प्रथम वार्तिक के निषेध में कुछ शब्दों की छूट दी जा रही है। अतः 'उवङ्' की अर्हता रखने वाले 'दीर्घ' ऊकारान्त शब्दों में "भ्रुकुंस आदि शब्द ह्रस्व निषेध की परिधि में नहीं आयेंगे"। इसके फलस्वरूप वैकल्पिक ह्रस्व होकर भ्रुकुंसः एवं भ्रूकुंसः (भौंहों से जिसकी शोभा हो) दो रूप बनेंगे। इसी प्रकार भ्रूकुटिः तथा भ्रुकुटिः (भौंहों का तिरछापन) भी निष्पन्न होंगे। भ्रूकुंसः (भ्रुवोः कुंसः अस्य) बहुव्रीहि समास तथा भ्रकुटिः (भ्रुवोः कुटिः) में षष्ठी तत्पुरुष है। उपर्युक्त वार्तिक—'अभ्रुकुंसादीनाम्०'—में कुछ व्याख्याता 'अ' को लुप्त प्रथमा-विभक्त्यन्त मान कर वार्तिक का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि "भ्रुकुंसादि शब्दों के उकार को 'अ' आदेश हो"। तदनुसार भ्रकुंस तथा भ्रकुटि शब्द भी निष्पन्न होते हैं। कुछ कोषकारों ने 'पृषोदरादिगण' में पाठ कल्पित कर ऋकारात्मक भृकुटि तथा भृकुंस शब्दों का भी उल्लेख किया है।

(१०००) पद—एक, तद्धिते, च। अनुवृत्ति—ह्रस्वः, उत्तरपदे। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'तद्धित' उत्तरपद रहते 'एक' शब्द को ह्रस्व हो। उदा० १—एकरूप्यम् (एक से आया हुआ) २—एकक्षीरम्।

विवरण—सूत्र में 'एक' पद अविभक्तिक-निर्देश-परक है। वस्तुतः वही स्थानी है—अतः षष्ठ्यन्त की कल्पना की जाय। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि ""एक' शब्द को तद्धित तथा उत्तरपद परे रहते ह्रस्व हो"। उदाहरण—(१) तद्धित-परक—एकरूप्यम् (एक स्त्री से आया हुआ)। विग्रह—एकस्याः आगतम्। एका+ङसि, रूप्य ("हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः" ४-३-८१) >एका-रूप्य>एकरूप्य (आ=अ—ह्रस्व)। (२) उत्तरपदपरक—

ङ्यापोः सञ्ज्ञाछन्दसोर्बहुलम् ६ । ३ । ६३ ॥ रेवतिपुत्रः । अजक्षीरम् । **(१००२) त्वे च ६ । ३ । ६४ ॥** त्वप्रत्यये ङ्यापोर्वा ह्रस्वः । अजत्वम्–अजात्वम् । रोहिणि-

---

(१००१) ङ्यापोः । उत्तरपदे ह्रस्वः स्यादिति शेषः । **रेवतिपुत्र इति** । कस्यचित्सञ्ज्ञेयम् । अथ छन्दस्युदाहरति—**अजक्षीरमिति** । अजायाः क्षीरमिति विग्रहः । 'परमं वा एवत्पयो यदजक्षीरम्' इति तैत्तिरीये ।

(१००२) त्वे च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**त्वप्रत्यये ङ्यापोर्वा ह्रस्व इति** । **अजत्वं रोहिणित्वमिति** । सञ्ज्ञात्वाभावात् छन्दस्येवायमिति वृत्तिः । अनुत्तरपदार्थं वचनम् ।

एकक्षीरम् (एक स्त्री का दूध) । **विग्रह**—एकस्याः क्षीरम् । एका + ङस्, क्षीर + सु > एका-क्षीर (षष्ठी तत्पुरुष) > एकक्षीरम् (आ=अ—ह्रस्व) एक-क्षीरम् > (विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—यहाँ सामर्थ्य-वश स्त्रीलिङ्ग-विशिष्ट एक शब्द (एका) का ग्रहण है, क्योंकि दीर्घ को ही ह्रस्व-विधान सम्भव है । इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि यह ह्रस्व-विधान व्यधिकरणार्थक है । समान अधिकरण में तो "स्त्रियाः पुंवद्भाषित०" ६-३-३४ सूत्र से पुंवद्भाव होकर ह्रस्व-रूप स्वतः सिद्ध है ।

(१००१) पद—ङ्यापोः, संज्ञाछन्दसोः, बहुलम् । **अनुवृत्ति**-ह्रस्वः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा०—रेवतिपुत्रः । अजक्षीरम् ।

विवरण—"संज्ञा और वेद में 'ङ्यन्त' और 'आबन्त' शब्दों को प्रायशः ह्रस्व हो" । अर्थात् कहीं ह्रस्व की प्रवृत्ति हो और कहीं न भी हो । ङ्यन्त = ङीप्, ङीष् तथा ङीन् प्रत्ययान्त शब्द । आबन्त = टाप्, डाप् तथा चाप् प्रत्ययान्त । **उदाहरण**—(१) क-संज्ञा में—ङ्यन्त का—**रेवतिपुत्रः** (रेवती का पुत्र बलराम)→'रेवती' में 'ई' को ह्रस्व हुआ । **विग्रह**—रेवत्याः पुत्रः । षष्ठी तत्पुरुष समास । (१) ख-ङ्यन्त का छन्द में—**कुमारिदा** (कुमारीं ददाति) । (२) क-लोक में आबन्त—**शिलप्रस्थः** (चट्टानीभाग) (२) ख-**वेद में आबन्त-अजक्षीरम्** (बकरी का दूध) । **विग्रह**—अजायाः क्षीरम् > अजाक्षीरम् (षष्ठी तत्पुरुष) > अजक्षीरम् (अजा=अज-ह्रस्व) । **तैत्तिरीय संहिता में—'परमं वा एतत् पयो यदजक्षीरम्'**—प्रयोग मिलता है ।

विशेष—सूत्र में 'बहुल' ग्रहण करने के फलस्वरूप ङ्यन्त का लोक में **नान्दीकरः**, ङ्यन्त का वेद में—**जगतीच्छन्दः**, आबन्त का लोक में—**लोमकागृहम्**, आबन्त का वेद में—**ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति**—इन उदाहरणों में ह्रस्व नहीं हुआ ।

(१००२) पद—त्वे, च । **अनुवृत्ति**—ङ्यापोः, बहुलम्, ह्रस्वः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'त्व' प्रत्यय परे रहते भी 'ङ्यन्त' और 'आबन्त' को विकल्प से ह्रस्व हो । उदा० १—अजत्वम्—अजात्वम् । २—रोहिणित्वम्—रोहिणीत्वम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय (ह्रस्व-विधान) है । अतः वहाँ से स्थानिस्वरूप 'ङ्यापोः' तथा 'बहुलम्' पद अनुवृत्ति-लभ्य हैं । इनके अतिरिक्त "इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य" ६-३-६१ सूत्र से 'ह्रस्व' पद की अनुवृत्ति भी आ रही है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'त्व' प्रत्यय परे रहते भी 'ङ्यन्त' तथा 'आबन्त' शब्दों को अधिकतर ह्रस्व हो" । **उदाहरण**—(१) आबन्त—**अजत्वम्**←ह्रस्व होने पर । **अजात्वम्**→ह्रस्व न होने पर (बकरी का स्वभाव) । **विग्रह**—तद् अजायाः भावः । अजा + त्व ("तस्य भावस्त्वतलौ" ५-१-११९) । (२) ङ्यन्त—**रोहिणित्वम्** ←ह्रस्व होने पर । **रोहिणीत्वम्**→ ह्रस्व न होने पर । **विग्रह**—तद् रोहिण्याः भावः—रोहिणी + त्व ।

विशेष—भावार्थ में लौकिक संज्ञाओं में इस प्रकार के उदाहरणों के न मिलने से छन्द में ही

त्वम्—रोहिणीत्वम्। (१००३) ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ६। १। १३॥ ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्य सम्प्रसारणं स्यात्पुत्रपत्योरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे। (१००४) सम्प्रसारणस्य ६। ३। १३९॥ सम्प्रसारणस्य दीर्घः स्यादुत्तरपदे। कौमुदगन्ध्यायाः

(१००३) ष्यङः सम्प्रसारणम्। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया ष्यङ इति तदन्तग्रहणम्। तदाह—ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्येति। तस्य सूत्रस्य उत्तरपदाधिकारस्थत्वेऽपि तत्पुरुषग्रहणेन पूर्वपदलाभ इति भावः। उत्तरपदयोरिति। इदमपि तत्पुरुषपदलभ्यम्। यद्वा उत्तरपदाधिकारेण पूर्वपदमाक्षिप्यते।

(१००४) सम्प्रसारणस्य दीर्घ इति। 'ढ्रलोपे' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। उत्तरपदे इति। 'अलुगुत्तरपदे' इति तदधिकारादिति भावः। कौमुदगन्ध्यायाः पुत्र इति। विग्रहवाक्यमिदम्। कुमुदगन्ध इव गन्धो यस्य सः कुमुदगन्धिः। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहिः, कुमुदगन्धशब्दे पूर्वखण्डे उत्तरस्य गन्धशब्दस्य लोपश्च। 'उपमानाच्च' इति इत्वम्। कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्री इत्यर्थे तस्यापत्यमित्यण्। 'अणिञोरनार्षयोः' इति तस्य ष्यङादेशः। 'यस्येति च' इति इकारलोपः। आदिवृद्धिः। यङश्चाप्। कौमुदगन्ध्याशब्द इति भावः। कौमुदगन्ध्यायाः पुत्र इति षष्ठीसमासः। सुब्लुकि कौमुदगन्ध्यापुत्र इति स्थिते ष्यङः सम्प्रसारणेन यकारस्य इकारः। तस्य तदुत्तराकारस्य च 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपेण इकारे 'सम्प्रसारणस्य' इति दीर्घः कौमुदगन्धीपुत्र इति रूपमिति भावः। 'हलः' इति दीर्घस्य तु नात्र प्रसक्तिः, सम्प्रसारणात् पूर्वस्य हलः सम्प्रसारणनिमित्तनिरूपिताङ्गावयवत्वा-

---

ऐसे उदाहरण समझे जायँ—यह काशिका-कार ने उल्लेख किया है। जिनेन्द्रबुद्धि ने भी काशिका की व्याख्या 'न्यास' में इसी अर्थ को पल्लवित किया है[1]।

(१००३) पद—ष्यङः, सम्प्रसारणम्, पुत्रपत्योः, तत्पुरुषे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ष्यङ्प्रत्ययान्त पूर्वपद को 'पुत्र' तथा 'पति' शब्दों के उत्तरपद रहने पर तत्पुरुष समास में संप्रसारण हो।

विवरण—सूत्र स्वतः में पूर्ण है। प्रसङ्गवश सम्प्रसारण-विधान यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। सूत्रस्थ 'ष्यङ्' पद में 'प्रत्यय-ग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' नियमानुसार तदन्त का ग्रहण होगा। अतः "ष्यङ्-प्रत्ययान्त पद के तत्पुरुष समास में पूर्वपदस्थ होने पर तथा उनसे 'पुत्र' अथवा 'पति' शब्द के उत्तरत्र होने की स्थिति में—'ष्यङ्' के 'य' को सम्प्रसारण होगा"।

(१००४) पद—सम्प्रसारणस्य। **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सम्प्रसारण को उत्तरपद परे रहते दीर्घ हो। उदा० १—कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः—कौमुदगन्धीपुत्रः। २—कौमुदगन्धीपतिः। व्यवस्थित-विभाषा के कारण ह्रस्व नहीं हुआ। उपसर्जन-भिन्न स्त्रीप्रत्यय में तदादि-नियम का प्रतिषेध न होने से 'परम-कारीषगन्धीपुत्रः' में (संप्रसारण तथा दीर्घ हुआ)। उपसर्जन में तदादि-नियम होने से 'अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः' (में सम्प्रसारण तथा दीर्घ नहीं हुए)।

विवरण—सम्प्रसारण के दीर्घ-विधान-हेतु यह सूत्र भी यहाँ प्रसङ्गवश प्रस्तुत किया गया है। सूत्र में केवल स्थानि-वाचक पद 'सम्प्रसारणस्य' का उल्लेख किया गया है। आदेश-वाचक पद की

---

१. "न हि त्व-प्रत्यये ङ्यापोर्ह्रस्वत्वे कृते कस्यचित् संज्ञा गम्यते। तेन संज्ञायामसम्भवात् छन्दस्येवोदाहरणानि भवन्ति"।—न्यासः ६-३-६४।

पुत्रः कौमुदगन्धीपुत्रः। कौमुदगन्धीपतिः। 'व्यवस्थितविभाषया ह्रस्वो न'। 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' (प २७) इति तदादिनियमप्रतिषेधात् परमकारीषगन्धीपुत्रः।

भावात्। कौमुदगन्धीपतिरिति। कौमुदगन्ध्यायाः पतिरिति विग्रहः। पूर्ववत्प्रक्रिया। 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इति पाक्षिकं ह्रस्वमाशङ्क्याह—व्यवस्थितविभाषया ह्रस्वो नेति। अत्र तु व्याख्यानमेव शरणम्। स्यादेतत्। करीषं गोमहिषादिपुरीषम्, करीषगन्ध इव गन्धो यस्य सः करीषगन्धिः, तस्यापत्यं स्त्री कारीषगन्ध्या, परमा चासौ कारीषगन्ध्या-परमकारीषगन्ध्या, तस्याः पुत्रः परमकारीषगन्धीपुत्रः इत्यत्रापि ष्यङः सम्प्रसारणं, तस्य दीर्घश्चेति स्थितिः। अत्र सम्प्रसारणं दुर्लभम्। ष्यङः करीषगन्धिशब्दादेव विहितत्वेन परमकारीषगन्ध्याशब्दस्य पूर्वपदस्य ष्यङन्तत्वाभावात्प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणादित्यत आह—स्त्रीप्रत्यये चेति। ष्यङः स्त्रियां विहितत्वात् स स्त्रीप्रत्ययः। ततश्च 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' इति परिभाषया तदादि नियमाभावात्परमकारीषगन्ध्याशब्दोऽपि ष्यङन्त एवेति तत्र सम्प्रसारणे दीर्घे च परमकारीषगन्धीपुत्र इति रूपमिति भावः। इयं परिभाषा 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इति प्रकृतसूत्रे भाष्ये पठिता। तत्रानुपसर्जनग्रहणस्य प्रयोजनमाह—उपसर्जने त्विति। कारीषगन्ध्यामतिक्रान्तः अतिकारीष-

---

प्रमुख रूप में अनुवृत्ति अपेक्षित है। अतः "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" ६-३-१११ सूत्र से 'पूर्वस्य दीर्घः अणः'—यह अंश अनुवृत्त होकर सूत्रार्थ को निष्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ से 'उत्तरपदे' एवं "संहितायाम्" ६-३-११४ से 'संहितायाम्'—ये दोनों आधिकारिक अनुवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। तदनुसार सब की एकवाक्यता होने पर सूत्र से यह अभिव्यक्ति होता है कि "सम्प्रसारणान्त पूर्व-पद के 'अण्' को उत्तरपद परे रहते दीर्घ हो"। दोनों सूत्रों से सम्बद्ध उदाहरण—(१) कौमुदगन्धीपुत्रः (कौमुदगन्ध्या नाम की स्त्री का पुत्र)। विग्रहार्थ—कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः। प्रक्रिया—कुमुदस्य गन्ध इव गन्धः यस्य। कुमुद+ङस्, (गन्ध+सु), गन्ध+सु > कुमुदगन्ध ('सप्तम्युप-मानपूर्वपदस्य' वा० से समास तथा उत्तरपद का लोप) > कुमुदगन्धि ("उपमानाच्च" ५-४-१३७ से समासान्त अ='इ') > कुमुदगन्धि+अ (अण्-अपत्य अर्थ में—"तस्यापत्यम्" ४-१-९२) >कुमुदगन्ध्+अ ('इ' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८)> कौमुदगन्ध (आदिवृद्धि—उ=औ—"तद्धितेष्वचामादेः" ७-२-११७) > कौमुदगन्ध्य (अ=य-'अण' के स्थान में—"अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे" ४-१-७४) >कौमुदगन्ध्य+आ (आ—स्त्रीवाची 'चाप्' प्रत्यय—"यङश्चाप्" ४-१-७४) >कौमुदगन्ध्या (दीर्घ)। तदनन्तर विग्रह—कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः > कौमुदगन्ध्यापुत्र (षष्ठीतत्पुरुष समास) > कौमुदगन्धिपुत्र (य्=इ—सम्प्रसारण—सू० १००३ तथा इ+अ=इ पूर्वरूप) > कौमुदगन्धीपुत्र (इ=ई—प्रकृतसूत्र १००४ से दीर्घ) > कौमुदगन्धीपुत्रः (विभक्तिकार्य)। इसी प्रकार कौमुदगन्धीपतिः (कौमुदगन्ध्या नाम की स्त्री का पति) की भी सिद्धि होगी।

विशेष—यहाँ यह शङ्का उपस्थित होता है कि उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में दीर्घ होने के अनन्तर 'गन्धी' शब्दावयव 'ई'कार के स्थान में "इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य" ६-३-६१ से विकल्प ह्रस्व क्यों न हो? कारण यह है कि 'गन्धी' शब्द का 'ई'कार 'ङीप्' आदि स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं है, एवं वह इगन्त भी है—अतः ह्रस्व की प्राप्ति है। इसके उत्तर में यह समाधान दिया जा रहा है कि वहाँ "एकहलादौ पूरयित-व्येऽन्यतरस्याम्" ६-३-५९ से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति—होने के फलस्वरूप उसे व्यवस्थित-विभाषा माना गया है, क्योंकि ह्रस्व की पाक्षिक प्रवृत्ति होने पर भी पक्ष में दीर्घ होने का अवसर मिलता ही है, अतः वह दीर्घ अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम में पर होने

उपसर्जने तदादिनियमान्नेह—अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः । (१००५) बन्धुनि बहुव्रीहौ

गन्ध्यः, 'अत्यादयः' इति समासे, उपसर्जनह्रस्वः । तस्य पुत्रः अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः, अत्र 'स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमो न' इति निषेधो न भवति, अनुपसर्जन एव स्त्रीप्रत्यये तस्य निषेधस्य प्रवृत्तेः । ष्यङ् त्वयं स्त्रीप्रत्ययोऽत्र उपसर्जन एव । अतस्तत्र तदादिनियमसत्त्वात् अतिकारीषगन्ध्यशब्दो नैव ष्यङन्त इति न सम्प्रसारणमिति भावः ।

के कारण ह्रस्व का बाध करता है[1] । इस पर भी पुनः यह आक्षेप होता है कि फिर भी दीर्घ होने पर प्राप्त ह्रस्व क्यों न हो ? इसका यह समाधान है—"सकृद्गतौ विप्रतिषेधेन यद् बाधितं तद् बाधितमेव" । अर्थात् एक बार जिसका बाध कर दिया जाय उसकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होती—इस परिभाषा के आश्रय से ह्रस्व का बाध ही होता है[2] ।

शङ्का-समाधान—यह एक नियम है कि "प्रत्यय का ग्रहण होने पर 'तदन्त-तदादि-स्वरूप' को उपस्थिति होती है—**"प्रत्यय-ग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्"**। तदनुसार प्रकृत सन्दर्भ में "ष्यङः सम्प्रसारणम्" ६-१-१३ सूत्र से सम्प्रसारण की प्रवृत्ति तभी सम्भव होगी, जब ष्यङन्त-तदादि रूप उदाहरण की प्रस्तुति हो । अतः **परमकारीषगन्धीपुत्रः** (परमकारीषगन्ध्या नाम की स्त्री का पुत्र) में 'परमकारीषगन्ध्या' अंशस्थ 'य्' को सम्प्रसारण होने में उपर्युक्त परिभाषा के सन्दर्भ में शंका की जा रही है । यहाँ विग्रह की स्थिति इस प्रकार है—(१) करीषस्य गन्ध इव गन्धः यस्य—करीषगन्धिः, तस्य अपत्यं कारीषगन्ध्या । (२) परमा चासौ कारीषगन्ध्या=परमकारीषगन्ध्या । (३) तस्याः पुत्रः परमकारीषगन्धीपुत्रः । इस प्रकार ष्यङन्त-तदादि की मौलिक स्थिति 'कारीषगन्ध्या' है। 'परमा' शब्द के साथ समास होने पर 'परमकारीष-गन्ध्या'—यह समुदाय ष्यङन्त-तदादि कैसे होगा ? यह शंका का स्वरूप है। इसका समाधान यह दिया जाता है कि उपर्युक्त परिभाषा की बाधिका एक दूसरी परिभाषा है-**'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न'** अर्थात् जहाँ प्रधान रूप में (अनुपसर्जने) स्त्री-प्रत्यय स्त्री-रूप का बोधन कराता है वहाँ 'तदादि' की उपस्थिति नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुपसर्जन (प्रधान) स्त्री-प्रत्यय में तदादि-विशेष्यक तदन्त-विधि स्वीकृत नहीं है । वहाँ पर सामान्यतया ष्यङन्त पूर्वपद मात्र का ग्रहण होने से **परमकारीषगन्ध्या**—पद ष्यङन्त माना गया, अतः उससे परवर्ती पुत्र शब्द के रहने पर सम्प्रसारण होने में कोई बाधा नहीं है। कर्मधारय समास होने पर विशेषण-वाची पद प्रधान स्वरूप ही माने जाते हैं ।

इसके विपरीत उपसर्जन (अप्रधान=गौण) में तदादि नियम के कारण **अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः** (कारीषगन्ध्या नाम की स्त्री के अतिक्रामक का पुत्र) में सम्प्रसारण नहीं हुआ । यहाँ विग्रह की स्थिति देखकर यह स्पष्ट होगा—(१) करीषस्य गन्ध इव गन्धः यस्य करीषगन्धिः, तस्य अपत्यं—स्त्री कारीषगन्ध्या । (२) कारीषगन्ध्याम् अतिक्रान्ता—अतिकारीषगन्ध्यः । (३) तस्य पुत्रः—अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः । इस प्रकार उदाहरणस्थ शब्द से विदित होता है कि यहाँ 'अति शब्दार्थ (अतिक्रमणकर्मी) विशेष्य है, उसके विशेषण 'कारीषगन्ध्या' पद का अर्थ होगा—'करीष-गन्धिसम्बन्धि स्त्रीत्वप्रधान अपत्य' । इस प्रकार 'अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः' पद का यहाँ अर्थ होगा—'करीषगन्धिसम्बन्धि-स्त्रीवाचकसन्तान को अतिक्रमण करने वाले का पुत्र । इस तरह 'अतिकारीष-गन्ध्य' में ष्यङ् प्रत्यय के उपसर्जनीभूत होने से वह ष्यङन्त-तदादि नहीं है । अतः पूर्वोक्त परिभाषा के आधार पर सम्प्रसारण नहीं होता ।

१. "अकृते एव दीर्घत्वे ह्रस्वाभावपक्षे कृतार्थेनापि दीर्घेण पक्षान्तरे परत्वाद् ह्रस्वो बाध्यते" ।
—काशिका ।

२. "पुनः प्रसङ्गविज्ञानं च न भवति । सकृद्गतौ विप्रतिषेधेन यद् बाधितं तद् बाधितमेव" ।
—काशिका ।

६।१।१४ ।। बन्धुशब्दे उत्तरपदे ष्यङः सम्प्रसारणं स्याद् बहुव्रीहौ । कारीषगन्ध्या बन्धुरस्येति कारीषगन्धीबन्धुः । बहुव्रीहौ इति किम् ? कारीषगन्ध्यायाः बन्धुः कारीषगन्ध्याबन्धुः । क्लीबनिर्देशस्तु शब्दस्वरूपापेक्षया । 'मातज्मातृकमातृषु वा' (वा० ३४४९) । कारीषगन्धीमातः—कारीषगन्ध्यामातः । कारीषगन्धीमातृकः—कारीषगन्ध्यामातृकः । कारीषगन्धीमाता—कारीषगन्ध्यामाता । अत एव निपातनान्मातृशब्दस्य मातजादेशः । 'नद्यृतश्च' (सू ८३३) इति कब्विकल्पश्च । बहुव्रीहावेवेदम् । नेह । कारीषगन्ध्याया माता कारीष-

---

(१००५) बन्धुनि बहुव्रीहौ । कारीषगन्धीबन्धुरिति । अत्र पत्युत्तरपदत्वाभावात् तत्पुरुषत्वाभावाच्च पूर्वेण न प्राप्तिः । मातज्मातृकमातृषु वेति । वार्तिकमिदम् । मातच्, मातृक, मातृ एषु परेषु ष्यङः सम्प्रसारणं वा वक्तव्यमित्यर्थः । मातचि उदाहरति—कारीषगन्धीमातः—कारीषगन्ध्यामात इति । मातृशब्दस्य मातजादेशः । अदन्तमेतत् । मातृके उदाहरति—कारीषगन्धीमातृकः—कारीषगन्ध्यामातृक इति । 'नद्यृतश्च' इति कप् । मातृशब्दे उदाहरति—कारीषगन्धीमाता—कारीषगन्ध्यामातेति । शैषिककबभावे रूपम् । ननु मातृशब्दस्य मातजादेशे किं प्रमाणम्, 'नद्यृतश्च' इति नित्यविधानात् पाक्षिककप् च

(१००५) पद—बन्धुनि, बहुव्रीहौ । **अनुवृत्ति**—ष्यङः, सम्प्रसारणम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में 'बन्धु' शब्द उत्तरपद रहते ष्यङन्त को संप्रसारण हो । उदा० कारीषगन्धीबन्धुः (जिसका बन्धु कारीषगन्ध्या हो) । 'बहुव्रीहौ' क्यों कहा ? (कारीषगन्ध्यायाः बन्धुः—तत्पुरुष में)—कारीषगन्ध्याबन्धुः ('ष्यङ्' नहीं हुआ) । (सूत्रस्थ 'बन्धुनि' पद में) नपुंसकलिङ्ग का निर्देश शब्दस्वरूप की अपेक्षा से जाना जाय । वा० मातच्, मातृक और मातृ-शब्द परे रहते विकल्प से 'ष्यङ्' हो । उदा० १—कारीषगन्धीमातः—कारीषगन्ध्यामातः २—कारीषगन्ध्यामातृकः—कारीषगन्धीमातृकः । ३—कारीषगन्धीमाता—कारीषगन्ध्यामाता । इस निपातन के कारण 'मातृ' शब्द को 'मातच्' आदेश एवं 'कप्' विकल्प से होता है । इसके बहुव्रीहि में होने के कारण कारीषगन्ध्यायाः माता—कारीषगन्ध्यामाता (=तत्पुरुष) में ('ष्यङ्' को सम्प्रसारण) नहीं हुआ । ('मातच्' में) चकार की इत्संज्ञा होने के कारण अन्त-उदात्त स्वर (चितः) बहुव्रीहि-स्वर का बाध करता है ।

विवरण—'ष्यङ्' का विषय होने के फलस्वरूप "ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे" ६-१-१५ से **स्थानी** तथा **आदेश**-वाचक दोनों पदों-'ष्यङः' तथा 'सम्प्रसारणं' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । निमित्त-वाचक सूत्रस्थ पदों के साथ अनुवर्तमान पदों की एकवाक्यता होने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "बहुव्रीहि समास में 'बन्धु' शब्द उत्तरपद रहते 'ष्यङ्' प्रत्ययान्त को सम्प्रसारण हो" । **उदाहरण—कारीषगन्धीबन्धुः** (जिसका बन्धु कारीषगन्ध्या हो) । **विग्रह**—कारीषगन्ध्या बन्धुः अस्य । बहुव्रीहि-समास । समासगत शेष प्रक्रिया पूर्व सूत्र के उदाहरणों के समान । प्रकृत सूत्र से 'य्' को सम्प्रसारण ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'बहुव्रीहौ' पद का निवेश होने के फलस्वरूप तत्पुरुष-समास में 'बन्धु' शब्द उत्तरपद रहने पर 'ष्यङ्' के 'य्' को सम्प्रसारण नहीं हुआ—कारीषगन्ध्यायाः बन्धुः—**कारीषगन्ध्याबन्धुः** ।

वार्तिक—सूत्र की सीमा को विस्तृत करने के उद्देश्य से वार्तिक द्वारा यह निर्देश दिया जा रहा है कि "**मातच्, मातृक और मातृ** शब्द परे रहते भी **ष्यङ्प्रत्ययान्त** को विकल्प से सम्प्रसारण हो" । **उदाहरण क्रमशः**—मातच् प्रत्यय—(१) **कारीषगन्धीमातः**←सम्प्रसारण होने पर । **कारीषगन्ध्यामातः**→सम्प्रसारण न होने पर । शब्द का अर्थ जिसकी माता कारीष-

गन्ध्यामाता। चित्त्वसामर्थ्याच्चित्स्वरो बहुव्रीहिस्वरं बाधते। (१००६) इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु ६।३।६५॥ इष्टकादीनां तदन्तानां च पूर्वपदानां चितादिषु क्रमादुत्तरपदेषु ह्रस्वः स्यात्। इष्टकचितम्—पक्वेष्टकचितम्। इषीकतूलम्—

दुर्लभ इत्यत आह—अत एवेति बहुव्रीहावेवेदमिति। 'बन्धुनि बहुव्रीहौ' इति सूत्रे अस्य वार्तिकस्य पठितत्वादिति भावः। मातजिति चित्करणं स्वरार्थमित्याह—चित्त्वसामर्थ्यादिति।

(१००६) इष्टकेषीका। उत्तरपदे इत्यधिकृतम्। तल्लब्धं पूर्वपदम् इष्टकादिभिर्विशेष्यते। तदन्तविधिः। व्यपदेशिवद्भावात् तेषामपि ग्रहणम्। उत्तरपदाधिकारस्यापि पदाधिकाराभ्युपगमात् 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति वचनेन वा तेषां ग्रहणम्। 'इको ह्रस्वः' इत्यतः ह्रस्व इत्यनुवर्तते। तदाह–इष्टकादीनां तदन्तानां चेति। इष्टकचितमिति। इष्टकाभिश्चितमिति विग्रहः। 'कर्तृकरणे कृता' इति समासः। तदन्तविधेः

गन्ध्या हो)। (२) मातृक-शब्द—कारीषगन्धीमातृकः←सम्प्रसारण होने पर। कारीषगन्ध्या मातृकः→संप्रसारण न होनेपर। 'बहुव्रीहि' में समासान्त 'कप्'-प्रत्यय—"नद्यृतश्च"–५-४-१५३। (३) मातृ-शब्द—कारीषगन्धामाता←सम्प्रसारण होने पर। कारीषगन्ध्यामाता→सम्प्रसारण न होने पर। विग्रह आदि शेष कार्य पूर्ववत्। उपर्युक्त वार्तिक "बन्धुनि बहुव्रीहौ" ६-१-१४ सूत्र में पढ़े जाने के कारण इसकी प्रवृत्ति भी बहुव्रीहि समास में होगी। अतः तत्पुरुष–समास की विवक्षा में 'मातच्' आदि के उत्तरवर्ती होने पर पाक्षिक सम्प्रसारण की प्रवृत्ति नहीं होती—कारीपगन्ध्यायाः माता—कारीषगन्ध्यामाता।

विशेष—(१) 'पति' शब्दोत्तरपद तथा तत्पुरुष-समास न होने से पूर्वसूत्र की प्रवृत्ति का विषय नहीं रहा, अतः पृथक् विधान की उपयोगिता है।

(२) 'बन्धु' शब्द तो पुंलिङ्गवाची है अतः उस की सप्तमी में 'बन्धौ' रूप का प्रयोग सूत्र में उचित था। नपुंसक-लिङ्ग में 'बन्धुनि' का क्या औचित्य है? इसके सम्बन्ध में व्याख्याकारों ने यह समाधान दिया है कि 'शब्दस्वरूप' विशेष्य मान कर 'सामान्ये नपुंसकम्' के अनुसार यह प्रयोग किया गया है। वस्तुतः 'बन्धु' शब्द का अभिधेय पुंलिङ्गवाची ही है।

(३) 'मातृ' शब्द के स्थान में 'मातच्' आदेश में केवल 'च्' ही इत्संज्ञक है। 'मात'—अकारान्त (आदेश) प्रत्यय है। यहाँ निपातन-वश 'मातृ' शब्द को 'मातच्' आदेश एवं 'कप्' विकल्प से होते हैं। फलतः 'मातच्' आदेश 'कप्' के न होने पर होगा। अतः वार्तिक में 'मातृ' तथा 'मातृक' का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है। 'मातच्' आदेश में 'च्' की इत्संज्ञा होने के फलस्वरूप "चितः" ६-१-१३३ सूत्र से 'मातच्' आदेश-परक रूप में अन्तोदात्त स्वर होगा। तदनुसार शेष स्वरवर्ण निघात (अनुदात्त) होंगे। इस प्रकार उस स्थल में "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" ६-२-१ से पूर्वपद-प्रकृति-स्वर नहीं होगा।

(१००६) पद—इष्टकेषीकामालानां, चिततूलभारिषु। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इष्टका आदि शब्दों तथा तदन्त पूर्वपदयुक्त शब्दों को क्रमशः चित—आदि उत्तर-पद परे रहते ह्रस्व होता है। उदा० १—इष्टकचितम्—पक्वेष्टचितम्। २—इषीकतूलम्—मुञ्जेषीकतूलम्। ३—मालभारी—उत्पलमालभारी।

विवरण—ह्रस्व का ही विषय है। पूर्वसूत्र के समान उल्लिखित अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं। उत्तर-पदाधिकार "पदस्य" (८-१-१६) अधिकार के अन्तर्गत है। अतः "पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च" इस परिभाषा के अनुसार तदन्तविधि के साथ ही मौलिक शब्दों का भी ग्रहण होने के

मुञ्जेषीकतूलम् । **मालभारी—उत्पलमालभारी** । **(१००७) कारे सत्यागदस्य** ६ । ३ । ७० ॥ मुम्स्यात् । सत्यङ्कारः । अगदङ्कारः । 'अस्तोश्चेति वक्तव्यम्' (वा ३९७३) । अस्तुङ्कारः । 'धेनोर्भव्यायाम्' (वा ३९७५) । धेनुम्भव्या । 'लोकस्य पृणे'

प्रयोजनमाह—**पक्वेष्टकचितमिति** । **इषीकतूलमिति** । इषीकायास्तूलमिति विग्रहः । तूलमग्रं, शष्पमित्यन्ये । **मुञ्जेषीकतूलमिति** । मुञ्जेषीकायास्तूलमिति विग्रहः । **मालभारीति** । 'सुप्यजातौ' इति णिनिः । (सूत्रे) हारिष्विति पाठान्तरम् ।

(१००७) **कारे सत्यागदस्य** । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**मुम् स्यादिति** । 'अरुर्द्विषत्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । सत्यस्य अगदस्य च कारे परे मुम् स्यादिति फलितम् । मुमि मकार इत् । उकार उच्चारणार्थः । मित्त्वादन्त्यादचः परः । **सत्यङ्कार इति** । भावे घञ् । सत्यस्य कार इति विग्रहः । शपथकरणमित्यर्थः । **अगदङ्कार इति** । गदो रोगः तस्याऽभाव: अगदः । अर्थाभावे अव्ययीभावेन सह तत्पुरुषस्य विकल्पोक्तेः । अगदस्य कार इत्यर्थः । **अस्तोश्चेति** । कारे मुमिति शेषः । **अस्तुङ्कार इति** । अस्त्विति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययमभ्युपगमे वर्तते । **धेनोरिति** । मुम् वक्तव्य इति शेषः । **धेनुम्भव्येति** । नवप्रसवात्प्रागियमुक्तिः । भविष्यन्ती धेनुरित्यर्थः । 'भव्यगेय' इति कर्तरि निपातनात् कृत्यप्रत्ययः । धेनुश्चासौ भव्या चेति विग्रहः । मयूरव्यंसकादित्वात् भव्याशब्दस्य

फलस्वरूप सूत्र में निर्दिष्ट "'इष्टका' आदि मूलभूत शब्दों तथा 'तदन्त शब्दों'—दोनों को ही ह्रस्व होगा। अतः सूत्र से यह विदित होता है कि "'इष्टका', 'इषीका' और 'माला' तथा तदन्तान्त शब्दों को—क्रमशः ('यथासंख्य' नियम के अनुसार) 'चित', 'तूल', तथा 'भारिन्' शब्दों के परवर्ती होने पर—ह्रस्व आदेश हो"। **उदाहरण** क्रमशः—(१) क–**इष्टका** शब्द—इष्टकाचितम् (ईंटों से चुना गया)। **विग्रह**—इष्टकाभिः चितम् । तृतीया तत्पुरुष समास—"कर्तृकरणे कृता बहुलम्" २-१-३२ । प्रकृतसूत्र से 'इष्टका' के 'आ' को ह्रस्व हुआ। (१) ख–पूर्वपदयुक्त-इष्टकान्त-शब्द–**पक्वेष्टकचितम्** (पक्की ईंटों से चुना हुआ)। **विग्रह**—पक्वाः इष्टकाः पक्वेष्टकाः, ताभिः चितम् । कर्मधारय-युक्त तृतीया-तत्पुरुष समास। 'इष्टका' के 'आ' को ह्रस्व–अ । (२) क–**इषीकतूलम्** (सींकों का गुच्छा)। **विग्रह**—इषीकायाः तूलम् । षष्ठी-तत्पुरुष समास। 'इषीका' में 'आ' को ह्रस्व हुआ। (२) ख–इषीकान्त—**मुञ्जेषीकतूलम्** (मूँज की सींकों का गुच्छा)। **विग्रह**—मुञ्जेषीकायाः तूलम् । षष्ठी-तत्पुरुष समास। 'आ' को ह्रस्व 'अ'कार हुआ। (३)–क–मालशब्द–**मालभारी** (माला लिये हुए)। **विग्रह**—मालां बिभर्ति । भारी=√भृ+णिनि–"सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" ३-२-७८ । 'माला' के 'आ' को 'अ'। (३) ख–भारिन्-अन्त—**उत्पलमालभारी** (कमल के फूलों की माला लिए हुए)। **विग्रह**—उत्पलानां माला उत्पलमाला । उत्पलमालां बिभर्ति । 'आ' को ह्रस्व 'अ'कार ।

विशेष—लेखकों की लेखनी ने 'भारिषु' के स्थान पर किन्हीं पुस्तकों में हारिषु लिख दिया। तदनुसार मालहारी एवम् उत्पलमालहारी रूप बनेंगे।

(१००७) पद—कारे, सत्यागदस्य । अनुवृत्ति—मुम्, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'मुम्' हो। उदा० १—सत्यङ्कारः। २—अगदङ्कारः। वा० 'अस्तु' शब्द को भी कहा जाय। उदा० अस्तुङ्कारः। वा० 'भव्या' परे रहते 'धेनु' शब्द को भी हो। उदा० धेनुम्भव्या। वा० 'पृण' शब्द परे रहते 'लोक' शब्द को भी हो। उदा० लोकम्पृणः। 'पृण' शब्द में मूलविभुजादि से 'क' प्रत्यय हुआ है। वा० 'इत्य' परे रहते 'अनभ्याश' शब्द को हो। दूर से त्याग ने योग्य अर्थ में—अनभ्याशमित्यः। वा० 'इन्ध' परे रहते 'भ्राष्ट्र' और 'अग्नि' शब्दों को (मुम्

(वा ३९७६)। लोकम्पृणः। पृणः इति मूलविभुजादित्वात्कः। 'इत्येऽनभ्याशस्य' (वा ३९७७)। अनभ्याशमित्यः। दूरतः परिहर्तव्य इत्यर्थः। 'भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे' (वा

परनिपातः। लोकस्य पृणे इति। मुम्वक्तव्य इति शेषः। ननु लोकं पृणातीति विग्रहे कर्मण्यणि लघूपधगुणे रपरत्वे पर्णं इति स्यादित्यत आह—पृण इति मूलविभुजादित्वात् क इति। इत्येऽनभ्याशस्येति। मुम् वक्तव्य इति शेषः। अनभ्याशमित्य इति। अभ्याशः समीपम्, अनभ्याशं दूरं, द्वितीयान्तमिदम्। इण्धातोः। प्रापणार्थकात् 'एतिस्तुशास्' इत्यादिना क्यप्, 'गम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्' इति द्वितीयासमासः। सुब्लुकि मुम्। दूरं प्रापयितव्यः, न तु समीपमित्यर्थं मनसि निधायाह—दूरतः परिहर्तव्य इति। भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे इति। मुम् वक्तव्य इति शेषः। भ्राष्ट्रमिन्ध इति। भ्राष्ट्रं धानादिभर्जनार्हं पात्रम्,

---

आगम) भी हो। उदा० १—भ्राष्ट्रमिन्धः। २—राष्ट्रमिन्धः। वा० 'गिल' परे रहते गिलभिन्न शब्द को 'मुम्' हो। उदा० तिमिङ्गिलः। 'अगिलस्य' क्यों कहा ? गिलगिलः ('मुम्' नहीं हुआ)। वा० 'गिलगिल' परे रहते भी (गिल-भिन्न शब्द को) 'मुम्' हो। उदा० तिमिङ्गिलगिलः। वा० 'करण' परे रहते 'उष्ण' और 'भद्र' शब्द को 'मुम्' हो। उदा० १—उष्णङ्करणम्। २—भद्रङ्करणम्।

विवरण—प्रासङ्गिक 'मुम्' आगम का विधान बतलाया जा रहा है। अतः इस सन्दर्भ में अष्टाध्यायी के क्रमानुसार "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" ६-३-६७ सूत्र से 'मुम्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। आधिकारिक 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति ('अलुगुत्तरपदे' ६-३-१) भी प्रभावी है। 'कारे' पद 'उत्तरपदे' के साथ अन्वित होगा। स्थानिवाचक दोनों पद सूत्र में विद्यमान हैं—'सत्य' तथा 'अगद'। अतः सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'कार' शब्द उत्तरपद रहते 'सत्य' तथा 'अगद' शब्दों को 'मुम्' आगम होता है"। 'मुम्' (म्) आगम में 'म्' की इत्संज्ञा होने के कारण "मिदचोऽन्त्यात्परः" १-१-४७ परिभाषा के आधार पर वह अन्त्य अच् ('सत्य' में यकारोत्तरवर्ती अकार) के उत्तरत्र स्थित रहेगा। आगम में अन्त्य 'म्' तथा उपान्त्य 'उ' उत्संज्ञक है। **उदाहरण**—(१) सत्यङ्कारः (शपथ ग्रहण करना)। विग्रह—सत्यस्य कारः। सत्य-कार षष्ठी-तत्पुरुष समास>सत्य-म्-कार ('मुम्' आगम)>सत्यं-कार (म्= ं ←"मोऽनुस्वारः" ८-३-२४) > सत्यङ्कारः (ं =ङ्←परसवर्ण "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" ८-४-५७ एवं विभक्तिकार्य)। 'कार' शब्द√कृ+घञ् (भावे) प्रत्ययान्त है। अथवा 'सत्यं करोति' विग्रह में 'कार' शब्द "कर्मण्यण्" ३-२-१ से कर्म में 'अण्' प्रत्ययान्त निष्पन्न होगा। (२) अगदङ्कारः (नीरोग करने वाला वैद्य)। पूर्वप्रक्रिया—गदस्य अभावः > अगदः (अर्थाभाव में अव्ययीभाव समास→ "अव्ययं विभक्ति-समीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभाव०" २-१-६)। तदनन्तर विग्रह—अगदस्य कारः। षष्ठीतत्पुरुष समास। शेष कार्य पूर्ववत्।

प्रकृत सन्दर्भ में अन्य शब्दों में भी उत्तरपद रहते 'मुम्'आगमयुक्त प्रयोगों की समीचीनता के लिये ८ वार्तिकों का उल्लेख किया जा रहा है। उनका क्रमशः सोदाहरण विवरण दिया जा रहा है। (१) कार शब्द परे रहते तिङन्त-प्रतिरूपक 'अस्तु' अव्यय को भी 'मुम्' आगम हो। **उदाहरण**—अस्तुङ्कारः—(ऐसा होने दो इस प्रकार कहने वाला, समर्थ)। विग्रह—'अस्तु' (इत्यभ्युपगमस्य) करणम्। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। (२) भव्या शब्द परे रहते धेनु शब्द को 'मुम्' आगम हो। **उदाहरण**—धेनुम्भव्या (श्रेष्ठगाय—बच्चा देने वाली गाय)। विग्रह—धेनुश्चासौ भव्या च। कर्मधारय समास। 'मयूरव्यंसकादि' में पाठ होने से 'भव्या' का 'पर' प्रयोग। 'धेनु' को मुम्' आगम। भवति इति—भव्या = √ भू+य ("भव्य-गेय-प्रवचनीयोपस्थानीय-जन्याप्लाव्यापात्या वा" ३-४-६८ सूत्र से कर्त्रर्थ में कृत्य=यत्-प्रत्ययान्त निपातन, ततः स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्')। (३) 'क' प्रत्ययान्त 'पृण' शब्द परे रहते लोक शब्द को 'मुम्' आगम हो।

३९७८)। भ्राष्ट्रमिन्धः। अग्निमिन्धः। 'गिलेऽगिलस्य' (वा ३९७९)। तिमिङ्गिलः। अगिलस्य किम्? गिलगिलः। 'गिलगिले च' (वा ३९८०)। तिमिङ्गिलगिलः। 'उष्णभद्रयोः करणे' (वा ३९८१)। उष्णङ्करणम्। भद्रङ्करणम्। (१००८) रात्रेः

तत् इन्धे वापयतीति भ्राष्ट्रमिन्धः, कर्मण्यणि उपपदसमासः। सुब्लुकि मुम्। अग्निमिन्ध इति। अग्निं प्रज्वलयतीत्यर्थः। गिलेऽगिलस्येति। अगिलस्येतिच्छेदः। गिले परे गिल-भिन्नस्य मुम् वाच्य इत्यर्थः। तिमिङ्गिल इति। 'गॄ निगरणे'। तिमिर्मत्स्यविशेषः, तं गिलतीति मूलविभुजादित्वात् कः। 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे 'अचि विभाषा' इति लत्वम्, उपपदसमासः। सुब्लुकि मुम्। गिलगिल इति। अयमपि मत्स्यविशेषः। गिलगिले चेति। अगिलस्य मुम् वाच्य इत्यर्थः। तिमिङ्गिलगिल इति। गिलं गिलतीति

उदाहरण—लोकम्पृणः (संसार में व्याप्त होने वाला)। **विग्रह**—लोकं पृणाति : पृणः=√पृण+क ('मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' वार्तिक) अतः (क प्रत्यय 'कित्' होने से) लघूपध गुण नहीं हुआ। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। (४) **'इत्य'** शब्द परे रहते **अनभ्याश** शब्द को 'मुम्' आगम हो। **उदाहरण—अनभ्याशमित्यः** (जिसके पास न जाया जा सके, दूर से त्यागने योग्य)। **विग्रह**—अनभ्याशम् (=दूरम्) इत्यः (=गन्तव्यम्)। द्वितीया तत्पुरुष-समास—'गम्यादीनामुपसंख्यानम्' वार्तिक। अभ्याशम्=समीप। तद्भिन्न अर्थात् दूर = अनभ्याशम्। इत्यः=√इण्+य-क्यप्—"एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्" ३-१-१०९। (५) **इन्ध** शब्द परवर्ती रहते **भ्राष्ट्र** और **अग्नि** शब्द को 'मुम्' हो। **उदाहरण**—(१) **भ्राष्ट्रमिन्धः** (भाड़ में भूनने वाला)। **विग्रह**—भ्राष्ट्रस्य इन्धः। षष्ठी तत्पुरुष। (२) **अग्निमिन्धः** (आग जलानेवाला)। 'इन्धः'=√इन्ध्+(अ) घञ्। अथवा कर्म में 'अण्' प्रत्यय। उस स्थिति में उपपद-समास। (६) **गिल** शब्द उत्तरत्र स्थित होने पर **गिल-भिन्न** शब्द को 'मुम्' आगम हो। **उदाहरण—तिमिङ्गिलः** ('तिमि' नाम की मछली को निगलने वाली बड़ी मछली)। **विग्रह**—तिमिं गिलति। उपपद समास, विभक्ति-लोप होने पर 'मुम्'। गिलः = √गॄ+अ ('क' मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्') > गिर्+अ (ॠ-इ—"ऋत इद्धातोः" ७-१-१००, तथा इ=इर् "उरण् रपरः" १-१-५१) > गिल्+अ (र्=ल्—"अचि विभाषा" ८-२-२१)। **प्रत्युदाहरण—गिलगिलः** (मत्स्यविशेष) में 'मुम्' आगम नहीं हुआ, क्योंकि वार्तिक में 'अगिल' शब्द का निवेश है, अतः उसके अतिरिक्त (भिन्न) किसी अन्य शब्द का पूर्ववर्ती होना अपेक्षित है। (७) **गिलगिल** शब्द के परवर्ती होने पर **गिलभिन्न** शब्द को 'मुम्' आगम हो। **उदाहरण**—तिमिङ्गिलगिलः (तिमिंगिल को भी निगलने वाली बहुत बड़ी मछली)। **विग्रह**—तिमीनां गिलगिलः। सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी विवक्षा, अतः षष्ठी-तत्पुरुष। 'तिमिषु गिलगिलः' विग्रह में निर्धारणार्थ सप्तमी विभक्ति का आश्रयण कर "संज्ञायाम्" २-१-४४ से सप्तमी-तत्पुरुष समास। 'मुम्' आगम। गिलगिलः—गिलं गिलति—पूर्ववत् (मूलविभुजादि में पाठ होने से गॄ+'क' प्रत्यय (अथवा 'गिल' की पूर्ववत् सिद्धि कर 'गिल' को उपसर्जन=उपसर्ग मान कर, गिल+गॄ+क—"आतश्चोपसर्गे" ३-१-१३६ सूत्र में 'च' पद का उल्लेख आकारान्त धातुओं के अतिरिक्त भी अन्य धातुओं के संग्रहार्थक है—यह कल्पना न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने की है)। प्रत्यय करने के उपरान्त अन्य सामासिक कार्य किये जायँ। प्रकृत वार्तिक में 'तिमीनां गिलगिलः' यही अर्थ विवक्षित है। अन्यथा तिमिं गिलति—तिमिङ्गिलः, तिमिङ्गिलं गिलति—इस प्रकार अर्थ करने पर पूर्ववार्तिक से भी उक्त रूप सिद्ध हो सकता था[1]। (८) **करण** शब्द पर-

---

१. "तिमीनां गिलगिल इत्यस्मिन्नर्थे विवक्षित इदं वक्तव्यम्। अथ तिमिं गिलतीति तमिङ्गिलः, तिमिङ्गिलं गिलतीत्येषोऽर्थो यदा विवक्षितस्तदा पूर्वेणैव सिद्धमिति नार्थं एतेन"।

—जितेन्द्रबुद्धिकृतः न्यासः।

कृति विभाषा ६ । ३ । ७२ ॥ कृदन्ते परे । रात्रिञ्चरः-रात्रिचरः । रात्रिमटः-रात्र्यटः । अखिदर्थमिदं सूत्रम् । खिति तु 'अरुर्द्विषत्-' (सू १९४२) इति नित्यमेव

गिलगिलः, तिमीनां गिलगिल इति विग्रहः । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । तिमिषु गिलगिल इति निर्धारणसप्तमी वा । 'सञ्ज्ञायाम्' इति सप्तमीसमासः । उष्णभद्रयोः करणे इति । मुम् वाच्य इत्यर्थः । उष्णङ्करणम्, भद्रङ्करणमिति षष्ठीसमासः ।

(१००८) रात्रेः कृति विभाषा । अस्य उत्तरपदाधिकारस्थत्वेन 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इति तु इह न भवति । कृतः धातुकृतिकत्वेन रात्रेः कृतः असम्भवात् तदन्तविधिरित्यभिप्रेत्य आह—कृदन्ते परे इति । रात्रेर्मुम् वा स्यादित्यर्थः । रात्रिञ्चरः—रात्रिचर इति । सुप्युपपदे चरेष्टः, उपपदसमासः, सुब्लुकि पक्षे मुम् । रात्रिमटः-रात्र्यट इति । सुप्युपपदे मूलविभुजादित्वात् कः । उपपदसमासः । सुब्लुक् । पक्षे मुम् । ननु रात्रिम्मन्यः इत्यत्रापि मुम्विकल्पः स्यादित्यत आह—अखिदर्थमिदं सूत्रमिति । खिति त्विति ।

वर्ती होने पर उष्ण और भद्र शब्द को 'मुम्' हो । उदाहरण—(१) उष्णङ्करणम् (गर्म करना) । उष्णस्य करणम् । षष्ठीतत्पुरुष समास तथा 'मुम्' । (२) भद्रङ्करणम् (कल्याण करना) । पूर्ववत् षष्ठीसमास तथा 'मुम्' ।

(१००८) पद—रात्रेः, कृति, विभाषा । **अनुवृत्ति**—मुम्, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कृदन्त परे रहते ('रात्रि' शब्द को 'मुम्' आगम विकल्प से हो) । उदा० १—रात्रिञ्चरः—रात्रिचरः । २—रात्रिमटः—रात्र्यटः । 'खकार' इत्संज्ञक के अतिरिक्त स्थलों में यह सूत्र उपयोगी है । खकार-इत्संज्ञक प्रत्यय परे रहते तो नित्य 'मुम्' होने के लिये 'अरुर्द्विषद' (सू० १९४२) सूत्र आगे कहेंगे । उदा० रात्रिम्मन्यः ।

विवरण—'मुम्' आगम का ही प्रकरण है । अतः "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" ६-३-६७ सूत्र से उसकी अनुवृत्ति अपेक्षित है । अधिकार-वश 'उत्तरपदे' प्रभावी है । **स्थानी** ('रात्रि' शब्द) तथा **निमित्तवाचक** (कृति) शब्द सूत्र में समाविष्ट हैं । 'विभाषा' पद विकल्पार्थ का सूचक है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "कृदन्त उत्तरपद रहते 'रात्रि' शब्द को विकल्प से 'मुम्' आगम हो[1] । **उदाहरण**—(१) **रात्रिञ्चरः**←'मुम्' आगम होने पर । **रात्रिचरः**→'मुम्' आगम न होने पर । **अर्थ**—रात्रि में विचरण करने वाला, राक्षस । **विग्रह**—रात्रौ चरति । रात्रि+ङि, चर्+अ ('ट' प्रत्यय अधिकरण उपपद रहते "चरेष्टः" ३-२-१६) ▷ रात्रिचर (उपपद-समास) > रात्रिम्-चर ('मुम्' आगम) । ▷ रात्रिं-चर (म् = ं अनुस्वार) ▷ रात्रिञ्चर (ं = ञ्—परसवर्ण) > **रात्रिञ्चरः** (विभक्तिकार्य) । मुम् न होने पर 'ट' तथा उपपद समास । (२) **रात्रिमटः**←मुम् होने पर । **रात्र्यटः**→मुम् न होने पर । **विग्रह**—रात्रौ अटः । अटति—अटः—√अट्+अ ('अच्'—"नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३-१-१३४) । 'सप्तमी' योग-विभाग से समास, मुम् आगम । 'मुम्' आगम के अभाव में समास होने पर 'यण्' आदेश—**रात्र्यटः** ।

विशेष—(१) यह सूत्र 'खकार' इत्संज्ञक-भिन्न कृदन्त पद उत्तरवर्ती होने पर विकल्प से प्रवृत्त होता है । रात्रि शब्द से खकार-इत्संज्ञक कृदन्त परे होने पर तो पूर्व-विप्रतिषेध से "अरुर्द्विषद-

---

१. अप्राप्तविभाषेयम् । यतः खिति पूर्वविप्रतिषेधेन "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" ६-३-६७ सूत्रेण 'मुम्' भवति । एवं च खितः अन्यदेव कृदन्तम् अस्य वचनस्य अवकाशः । न च केनचित् तत्र प्राप्नोतीति युक्तमस्य अप्राप्तविभाषात्वम् ।

वक्ष्यते । रात्रिम्मन्यः । (१००९) सहस्य सः सञ्ज्ञायाम् ६ । ३ । ७८ ॥ उत्तरपदे । सपलाशम् । 'सञ्ज्ञायाम्' किम् ? सहयुध्वा । (१०१०) ग्रन्थान्ताधिके च ६।३।७९ ॥

खिति तु इमं मुम्विकल्पं बाधित्वा पूर्वविप्रतिषेधेन 'अरुर्द्विषदजन्तस्य' इति नित्यमेव मुमो विधानं कृदधिकारे वक्ष्यत इत्यर्थः । रात्रिम्मन्य इति । 'आत्ममाने खश्च' इति खश् । खशः शित्त्वेन सार्वधातुकत्वात् तस्मिन् परे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि खित्त्वान्नित्यं मुमिति भावः ।

(१००९) सहस्य सः । उत्तरपदे इति । शेषपूरणेनोक्तमिदम् । सह इत्यस्य स इत्यादेशः स्यादुत्तरपदे इत्यर्थः । 'वोपसर्जनस्य' इत्यस्यापवादः । सपलाशमिति । 'तेन सह' इति बहुव्रीहिः । वनविशेषस्य सञ्ज्ञेयम् । सहयुध्वेति । 'सहे च' इति क्वनिप् । असञ्ज्ञात्वान्न सभावः ।

जन्तस्य मुम्" ६-३-६७ की प्रवृत्ति होने के फलस्वरूप **रात्रिम्मन्यः** में नित्य 'मुम्' आगम होगा । **विग्रह**—आत्मानं रात्रिं मन्यते (अपने को रात मानता है ।) रात्रि मन्यते→रात्रि+अु म्, मन्-य (श्यन्)+अ ('खश्'—"आत्ममाने खश्च" ३-२-८३) > रात्रि-म्, मन्य+अ > रात्रि-म् मन्य (अ+अ=अ-पररूप "अतो गुणे" ६-१-९७)>रात्रिम्मन्यः (अनुस्वार, परसवर्ण, विभक्तिकार्य)।

(२) यद्यपि "हृदयस्य हृल्लेख-यदण्-लासेषु" ६-३-५० सूत्रस्थ 'लेख' पद द्वारा यह ज्ञापित किया जा चुका है कि 'उत्तरपदे' अधिकार में तदन्त का ग्रहण नहीं होता (उत्तरपदाधिकारे न तदन्तग्रहणम्), तदनुसार प्रकृत सूत्र का अर्थ केवल ""कृद्रूप उत्तरपद रहते रात्रि शब्द को 'मुम्' आगम हो'—इस प्रकार होना चाहिये । किन्तु परिस्थितिवश यहाँ उसका अपवाद स्वीकार किया गया है । कारण यह है कि 'रात्रि' शब्द से पर कृद्रूप असम्भव है, क्योंकि 'कृत्' प्रत्यय तो धातु से विहित हैं । अतः 'कृदन्त' अर्थ स्वीकार करना पड़ता है[1] ।

(१००९) पद—सहस्य, सः, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उत्तरपद परे रहते ('सह' को 'स' आदेश हो) । उदा० सपलाशम् । 'संज्ञायाम्' क्यों कहा ? सहयुध्वा ('स' आदेश नहीं हुआ) ।

विवरण—'सह' के स्थान पर 'स' आदेश के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं । तदनुसार सूत्र में **स्थानी** (सह) तथा **आदेशवाचक** (स) दोनों पद विद्यमान हैं । आधिकारिक 'उरत्तपदे' शब्द निमित्त का कार्य करता है । विशेष स्थिति के सम्बन्ध में 'संज्ञायाम्' पद द्वारा संज्ञा के अतिरिक्त अन्य प्रकार के शब्दों में 'स' आदेश की सम्भावना नहीं रहती । तदनुसार सूत्र से यह ध्वनित होता है कि "संज्ञा के विषय में उत्तरपद परे रहते 'सह' शब्द के स्थान में 'स' आदेश हो" । **उदाहरण—सपलाशम्** (पत्ते के साथ, वन-विशेष का नाम) । **विग्रह**—सह पलाशेन । पलाश+टा, सह+सु > सह-पलाश ("तेन सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८ से समास तथा 'सह' का पूर्व निपात) > स-पलाश (सह=स > सपलाशम् (विभक्ति-कार्य) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'संज्ञायाम्' का निवेश होने के फलस्वरूप **सहयुध्वा** में 'सह' को 'स' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि यह संज्ञा नहीं है । इस शब्द का अर्थ है—साथ युद्ध करने वाला । **विग्रह**—सह योधितवान् । सह-√युध्+वन् (क्वनिप्-"सहे च" ३-२-९६)> सहयुध्वन्+सु> (विभक्ति) सहयुध्वान्+सु (दीर्घ-"सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ" ६-४-८) > सहयुध्वान् ('सु'-लोप) > सहयुध्वा ('न्'-लोप—"न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" ८-२-७) ।

---

१. "कृतोऽसम्भवात् कृदन्त इत्यर्थ इत्यस्य सूत्रारम्भसामर्थ्यात् लेखग्रहणेन ज्ञापितं वचनमनित्यमिति कल्प्यते । आचार-क्विबन्त-रात्रिशब्दात् कृतः सम्भवेऽपि "अभिव्यक्तपदार्था ये" इति न्यायेन तत्रापि अप्रवृत्तिरिति भावः" —इति लघुशब्देन्दुशेखरटीकायां भैरवमिश्रः ।

अनयोरर्थयोः सहस्य सः स्यादुत्तरपदे । समुहूर्तं ज्योतिषमधीते । सद्रोणा खारी । (१०११) द्वितीये चानुपाख्ये ६।३।८०॥ अनुमेये द्वितीये सहस्य सः स्यात् । सराक्षसीका निशा । राक्षसी साक्षादनुपलभ्यमाना निशयाऽनुमीयते । (१०१२) समा-

---

(१०१०) ग्रन्थान्ताधिके च । ग्रन्थान्तश्च अधिकश्चेति समाहारद्वन्द्वः । अनयोरर्थयोरिति । विद्यमानस्येति शेषः । समुहूर्तमिति । मुहूर्तविधिपरग्रन्थपर्यन्तं ज्योतिःशास्त्रमधीत इत्यर्थः । अन्तवचने अव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे चाकाले' इत्यत्र कालपर्युदासादप्राप्ते सभावे ग्रन्थान्तग्रहणम् । सद्रोणा खारीति । द्रोणपरिमाणादधिकेत्यर्थः । मयूरव्यंसकादित्वात् सहशब्दस्याधिकवाचिनः समासः, सभावश्च ।

(१०११) द्वितीये चानुपाख्ये । अप्रधानेऽसहाये द्वितीयशब्दो लाक्षणिकः । उपाख्यायते प्रतीयते उपलभ्यते इत्युपाख्यम् प्रत्यक्षम्, तदन्यदनुपाख्यम्, अनुमेयमिति यावत् । तदाह—अनुमेय इति । सहायवाचिन्युत्तरपदे परत इत्यर्थः । सराक्षसीका निशेति । 'तेन सह' इति बहुव्रीहिः । 'नद्यृतश्च' इति कप् । अनुमेयराक्षसीसहिता निशेत्यर्थः । तदाह—राक्षसी साक्षादिति ।

(१०१०) पद—ग्रन्थान्ताधिके, च । अनुवृत्ति—सहस्य सः, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इन दोनों अर्थों में उत्तरपद परे रहते 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो । उदा० १—समुहूर्तं-ज्योतिषम् अधीते । २—सद्रोणा—खारी ।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'सहस्य सः' की अनुवृत्ति होने के कारण स्थानी तथा आदेश—दोनों का लाभ होता है । सूत्र में अर्थ-विशेष के द्योतक 'ग्रन्थान्त' और 'अधिक' शब्द विद्यमान हैं । आधिकारिक 'उत्तरपदे' शब्द निमित्त का कार्य करता है । अतः "'ग्रन्थान्त' और 'अधिक' अर्थ में वर्तमान 'सह' शब्द को भी उत्तरपद परे रहते 'स' आदेश होगा" । उदाहरण—स-मुहूर्तम् ज्योतिषम् अधीते (मुहूर्त-पर्यन्त ज्योतिष का अध्ययन करता है) । लौकिक विग्रह—मुहूर्तपर्यन्तम् अधीते (सह मुहूर्तेन वर्तते) । अलौ० वि०—मुहूर्त+टा, सह+सु > सह-मुहूर्त (अन्त वचन में अव्ययीभाव—"अव्ययं विभक्ति०" २-१-६) > स-मुहूर्त (सह=स) > समुहूर्तम् (विभक्तिकार्य) । (२) अधिक अर्थ में—सद्रोणा-खारी (द्रोण से अधिक खारी) । विग्रह—द्रोणेन सहिता । द्रोण+टा, सह+सु > सह-द्रोण ("तेन-सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८) > सद्रोण (सह = स) > सद्रोण+आ ('टाप्') > सद्रोणा (दीर्घ) सद्रोणा+सु (विभक्ति) > सद्रोणा ('सु'-लोप) ।

(१०११) पद—द्वितीये, च, अनुपाख्ये । अनुवृत्ति—सहस्य सः, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अनुमेयार्थक द्वितीय-पद परे रहते 'सह' को 'स' आदेश हो । उदा० सराक्षसीका निशा । यहाँ साक्षात् अनुपलभ्यमान राक्षसी का अनुमान रात्रि से किया जाता है ।

विवरण—पूर्ववत् 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश का विषय है । सन्दर्भ की भिन्नता है । उसके सूचक सूत्र में दो शब्द हैं—(१) द्वितीये तथा (२) अनुपाख्ये । यहाँ द्वितीय शब्द का अर्थ अप्रधान है, क्योंकि प्रधान तथा अप्रधान दोनों के होने पर अप्रधान को ही द्वितीय कहा जाता है । अनुपाख्य शब्द अनुमेय अर्थ का बोधक है, क्योंकि प्रत्यक्ष उपलभ्यमान को उपाख्य कहा जाता है । उससे भिन्न अनुपाख्य होगा । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "अप्रधान अनुमेय के उत्तरपद रहते भी 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो" । उदाहरण—सराक्षसीका निशा (राक्षसियों वाली रात) । विग्रह—राक्षस्या सह । पूर्ववत् "तेन सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८ से बहुव्रीहि समास, "नद्यृतश्च" ५-४-१५३ से कप , टाप् विभक्ति तथा 'सु'-लोप ।

नस्य च्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु ६ । ३ । ८४ ॥ समानस्य सः स्याद्युत्तरपदे न तु मूर्धादिषु । 'अनु भ्राता सगर्भ्यः । अनु सखा सयूथ्यः । यो नः सनुत्यः । 'तत्र भवः' इत्यर्थे 'सगर्भसयूथसनुताद्यत्' (सू ३४६०) । अमूर्धादिषु किम् ? समानमूर्धा । समानप्रभृतयः ।

(१०१२) **समानस्य ।** न तु **मूर्धादिष्विति ।** मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क—एषु परेषु नेत्यर्थः । **सगर्भ्य इति ।** समाने गर्भे भव इत्यर्थः । **सयूथ्य इति ।** समाने यूथे भव इत्यर्थः । **सनुत्य इति ।** समाने नुते भव इत्यर्थः । सर्वत्र 'तद्धितार्थ' इति समासे समानस्य सभावः । **समानमूर्धेति ।** समानो मूर्धा यस्येति विग्रहः । **समानप्रभृतय इति ।** समानः प्रभृतिराद्यवयवो येषामिति विग्रहः । **समानोदर्का इति ।** समानः उदर्कः येषामिति विग्रहः । तैत्तिरीये 'सजूर्ऋतुभिः, सजूर्विधाभिः, सजूर्वसुभिः, सजूर्देवैः, सजू रुद्रैः, सजूरादित्यैः, सजूर्विश्वेदेवैः, सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यु सादयतामिह त्वा' इति मन्त्राः संसृष्टाः पञ्च पठिताः । पञ्चस्वपि मन्त्रेषु सजूर्ऋतुभिः, सजूर्विधाभिरित्ययम् आद्यवयवः, सजूर्देवैर्वयोनाधैरित्यन्तावयवश्च समानः, सजूर्वसुभिः इत्यादिपञ्चानाम् एकैकस्य

विशेष—प्रकृत उदाहरण के अर्थ में साक्षात् राक्षसी उपलभ्यमान नहीं होती, किन्तु रात्रि में घोर अन्धकार होने के कारण अनुमेय होने से अप्रधान है । रात्रिगत अन्धकार से ही उसका आभास होता है, अतः 'रात्रि' प्रधान है ।

(१०१२) पद—समानस्य, छन्दसि, अमूर्धप्रभृत्युदर्केषु । **अनुवृत्ति**—सः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—(वेद में) मूर्धादि के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द के उत्तरपद परे रहते 'समान' को 'स' आदेश हो । उदा० १—अनुभ्राता सगर्भ्यः । २—अनुसखा सयूथ्यः । ३—यो नः सनुत्यः । यहाँ "तत्र भवः" इस अर्थ में (यत् प्रत्यय हुआ है)—"सगर्भ-सयूथ-सनुताद्यत्" (सू० ३४६०) । अमूर्धादिषु क्यों कहा ? समानमूर्धा, समानप्रभृतयः, समानोदर्काः—में 'स' आदेश नहीं हुआ । 'समानस्य'—योगविभाग किया जाता है । अतः सपक्षः, साधर्म्यम्, सजातीयम् आदि पद सिद्ध होते हैं—ऐसा काशिका में है । अथवा 'सह' शब्द सदृशवाचक भी है । सदृशः सख्या ससखि । इस कारण 'सपक्षः' आदि में समानः पक्षः अस्य इत्यादि अस्वपद-विग्रह में बहुव्रीहि समझा जाय ।

विवरण—'समानस्य' शब्द **स्थानी है । आदेशात्मक** 'सः' पद "सहस्य सः संज्ञायाम्" ६-३-७८ सूत्र से अनुवृत्तिलभ्य है । आदेश का विषय वैदिक प्रयोगों तक ही सीमित है (छन्दसि) । 'उत्तरपदे' का अधिकार यथापूर्व विद्यमान है । उत्तरपदस्थ शब्दों में भी तीन शब्द—'मूर्धन्' 'प्रभृति' तथा 'उदर्क' अपेक्षित नहीं हैं (अमूर्द्ध-प्रभृत्युदर्केषु) । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "वैदिक प्रयोगों में 'मूर्धन्', 'प्रभृति' तथा 'उदर्क' इन तीन शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों के उत्तरपद रहते 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश हो" । **उदाहरण**—अनुभ्राता **सगर्भ्यः** (एक गर्भ से उत्पन्न होने वाला) । **विग्रह**—समानः गर्भः । समान+सु, गर्भ+सु > समान-गर्भ ("पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमवीराश्च" २-१-५८ से कर्मधारय समास) ततः समाने गर्भे भवः—सगर्भ्यः । (२) अनुसखा **सयूथ्यः** (एक झुण्ड में रहने वाला) । **विग्रह**—समानं यूथम्—समानयूथम् (पूर्ववत् समास) । समाने यूथे भवः >सयूथ्यः (भवार्थ में—यन् प्रत्यय—"सगर्भसयूथसनुताद्यन्" ४-४-११४) । (३) यो नः **सनुत्यः** (शत्रु, डाकू) । **विग्रह**—समानं नुतम् (नु+क्त—"नपुंसके भावे क्तः" ३-३-११४) । समान-नुतम् (पूर्ववत् समास) । समाने नुते भवः—सनुत्यः (सनुत+यन्—पूर्ववत्) । तद्धितार्थक विग्रह में "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" २-१-५१ से समास होगा । तदनन्तर सर्वत्र समान='स' आदेश भी होगा ।

समानोदर्काः। समानस्य इति योगो विभज्यते। तेन सपक्षः साधर्म्यं सजातीयमित्यादि सिद्धमिति काशिका। अथवा सहशब्दः सदृशवचनोऽस्ति। सदृशः सख्या ससखीति यथा। तेनायमस्वपदविग्रहो बहुव्रीहिः। समानः पक्षोऽस्येत्यादि। (१०१३) ज्योतिर्जनपद-

---

क्रमेण एकैकस्मिन् मन्त्रे मध्ये निवेश इति याज्ञिकमर्यादा। ननु लोके सपक्षादिशब्देषु कथं समानस्य सभाव इत्यत आह—समानस्येति योगो विभज्यत इति। तथा च समानस्य सः स्यादिति वाक्यान्तरं सम्पद्यते। तत्र छन्दसोत्यभावाल्लोकेऽपि क्वचिद्भवतीति लभ्यत इति भावः। सपक्ष इति। समानः पक्षो यस्येति विग्रहः। साधर्म्यमिति। समानो धर्मो यस्य सः सधर्मा, समानस्य सभावः। तस्य भावः साधर्म्यम्। ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। सजातीयमिति। समाना जातिर्यस्य इति विग्रहः। समानस्य सभावः। 'जात्यन्ताच्छः। 'बन्धुनि' इति छः। इत्यादीति। सग्राम इत्यादि सङ्ग्रहः। योगविभागस्य भाष्यादृष्टत्वात् युक्त्यन्तरमाह—अथवेति। तेनेति। तेन सदृशवचनेन सहशब्देन बहुव्रीहिरित्यन्वयः। तथा च 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सभाव इति भावः। ननु तर्हि समानः पक्षः यस्य इति कथं विग्रहः, सहशब्दस्यैव विग्रहे प्रवेशौचित्यादित्यत आह—अस्वपद इति। वृत्तावेव सहशब्दः सदृशवचन इति भावः।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अमूर्धादिषु' पद का निवेश करने के फलस्वरूप **समानमूर्धा** (जिनका मस्तक समान हो), **समानप्रभृतयः** (जिनका आदि अवयव समान हो) तथा **समानोदर्काः** (समान परिणाम वाले)—इन तीनों उदाहरणों में 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि ये तीनों शब्द उत्तरपद में अनपेक्षित हैं। इन तीनों स्थलों पर पूर्ववत् कर्मधारय-समास होगा।

विशेष—प्रकृत सूत्र को काशिका-कार ने दो सूत्रों में विभक्त करने की योजना की है—(१) समानस्य तथा (२) छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु। योगविभागस्य प्रथम अंश द्वारा सामान्यतया सभी लौकिक उदाहरणों में 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होने के फलस्वरूप **सपक्षः** (समान-पक्षवाला), **साधर्म्यम्** (समान धर्म होना—समानः धर्मः) तथा **सजातीयम्** (समान जाति का होना—समाना जातिः) आदि पदों की समीचीनता सिद्ध की गई है। योगविभाग के द्वितीय अंश में 'समानस्य' की अनुवृत्ति करने के फलस्वरूप सूत्रस्थ उदाहरण एवं प्रत्युदाहरण निष्पन्न होंगे।

अन्य विद्वान् इस मत (योगविभाग) से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार 'सदृश' अर्थ का वाचक 'सह' शब्द भी है। जिसके अनुसार 'सदृशः सख्या' विग्रह करने पर **ससखि** शब्द की सिद्धि की जाती है। तदनुसार ही **सपक्षः** आदि शब्दों में **समानः पक्षः अस्य**—इस प्रकार विग्रह करने पर अस्वपद बहुव्रीहि समास किया जा सकता है। इन उदाहरणों में "वोपसर्जनस्य" ६-३-८२ से पाक्षिक 'स' आदेश होगा। योगविभाग करने पर तो नित्य-विधि होने के फलस्वरूप बहुव्रीहि में पाक्षिक 'स' भाव निष्फल हो जायगा। अतः पदमञ्जरी-कार हरदत्त ने भी इस योग-विभाग में अरुचि प्रदर्शन करते हुए यह सूचित किया है कि वार्तिककार एवं भाष्यकार ने योग-विभाग सम्बन्धी उल्लेख कहीं नहीं किया है[1]।

---

१. "अपर आह—सह-शब्दः सदृशवचनोऽस्ति। यथा—सदृशः सख्या ससखीति। तस्याय-मस्वपदविग्रहो बहुव्रीहिः—समानः धर्मः अस्य, समानः पक्षः अस्य, समाना जातिः अस्य। "वोपसर्जनस्य" इति स-भावः। समान-शब्दस्य तु समानजातीय इत्यादि भवति। योगविभागे तु तस्य नित्यत्वाद् नैतत् सिध्यति। अत एव भाष्यवार्तिकयोः योगविभागस्य नोपन्यासः इति"।

रात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु । ६ । ३ । ८५ ॥ एषु द्वादशसूत्तर-पदेषु समानस्य सः स्यात् । सज्योतिः । सजनपद इत्यादि । **(१०१४) चरणे ब्रह्म-चारिणि ६ । ३ । ८६ ॥** ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे समानस्य सः स्याच्चरणे समानत्वेन

(१०१३) ज्योतिर्जनपद । अच्छन्दोऽर्थं वचनमिदम् । सज्योतिरिति । समानं ज्योतिर्यस्येति विग्रहः । एवं सजनपद इत्यादीति । सरात्रिः, सनाभिः, सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्थानः, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सबन्धुः ।

(१०१४) चरणे ब्रह्मचारिणि । समानस्येति स इति चानुवर्तते । उत्तरपदे इत्य-धिकृतम् । तदाह—ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे समानस्य सः स्यादिति । चरणे इति सप्तमी समानस्येत्यत्रान्वेति । चरणे विद्यमानस्येत्यर्थः । फलितमाह—चरणे समानत्वेन गम्यमाने

(१०१३) पद—ज्योति···बन्धुषु । **अनुवृत्ति**—समानस्य सः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन बारह शब्दों के उत्तरपद रहते 'समान' को 'स' आदेश हो । उदा० सज्योतिः । सजनपदः । इत्यादि ।

विवरण—'उत्तरपदे' अधिकार के अन्तर्गत 'समान' के स्थान पर 'स' आदेश का प्रकरण है । वैदिक प्रयोगों से भिन्न होने के कारण पृथक् सूत्र पढ़ा गया है । सूत्र में प्रयुक्त बारह शब्दों के उत्तरपद रहते 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होगा । ये शब्द हैं—ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नामन्, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, तथा बन्धु (ज्योतिश्च, जनपदश्च, रात्रिश्च, नाभिश्च, नाम च, गोत्रं च, रूपं च, स्थानं च, वर्णश्च, वयश्च, वचनं च, बन्धुश्च—ज्योति-र्जनपद······बन्धवः, तेषु) । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **सज्योतिः** (अशौच का वह काल जो सूर्यास्त अथवा नक्षत्रों के उदय होने तक हो) । **विग्रह**—समानं ज्योतिः यस्य । समान्+सु, ज्योतिस्+सु>समान-ज्योतिस् (बहुव्रीहि समास) >सज्योतिस् (समान=स) >सज्योतिस्+सु (विभक्ति) > सज्योतिस् ('सु'-लोप) > सज्योतिर् (स्=र्) > सज्योतिः (र् = :) । (२) **सजनपदः** (एक जनपद का) । **विग्रह**—समानः जनपदः यस्य । बहुव्रीहि समास तथा 'समान' = 'स' आदेश । अन्य उदाहरण इस प्रकार होंगे (३) **सरात्रिः** (एक रात्रि वाला) (४) **सनाभिः** (एक नाभिवाला) । (५) **सनामा** (समान नाम वाला) । (६) **सगोत्रः** (समान गोत्रज) । (७) **सरूपः** (समान रूप वाला) । (८) **सस्थानः** (एक स्थान का) । (९) **सवर्णः** (एक वर्ण का) । (१०) **सवयाः** (एक अवस्था वाला) । (११) **सवचनः** (एक वाणी का) । (१२) **सबन्धुः** (समान भाई वाला) । इन उदाहरणों में से **सनामा** में "सर्वनाम-स्थाने चाऽसम्बुद्धौ" ६-४-८ तथा **सवयाः** में "अत्वसन्तस्य चाऽधातोः" (६-४-१४) से क्रमशः दीर्घ होगा ।

विशेष—यद्यपि "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" १-२-६४ सूत्रस्थ 'सरूप' पद बहुव्रीहि समास में ही सार्थक है[1], तथापि सभी उदाहरणों के विग्रह बहुव्रीहि के अतिरिक्त तत्पुरुष (कर्मधारय) समास में भी संभावित हैं ।

(१०१४) पद—चरणे, ब्रह्मचारिणि । **अनुवृत्ति**—समानस्य सः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यदि समान रूप से वेद का चरण गम्यमान हो तो 'ब्रह्मचारिन्' उत्तरपद रहते 'समान' को 'स' आदेश हो । 'चरण' का अर्थ शाखा है । 'ब्रह्म' वेद को कहते हैं । वेदाध्ययनार्थ

---

१. "'सरूपाणामेकशेषः', 'स्थानान्ताद् विभाषा', 'सस्थानेन' इति निर्देशाद् बहुव्रीहावप्ययं 'स'-भावो भवति, न तु 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमान०'—इति प्रतिपदोक्त एव तत्पुरुषे" ।

—पदमञ्जरीकारः हरदत्तः ।

गम्यमाने। चरणः शाखा। ब्रह्म वेदः। तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म। तच्चरतीति ब्रह्मचारी। समानस्य सः। सब्रह्मचारी। (१०१५) तीर्थे ये ६।३।८७॥ तीर्थे उत्तरपदे यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः स्यात्। सतीर्थ्यः—एकगुरुकः। 'समानतीर्थे

इति। तत्र चरणपदं व्याचष्टे—चरणः शाखेति। वैदिकप्रसिद्धिरेवात्र मूलम्। ब्रह्मचारिपदं निर्वक्तुमाह—ब्रह्म वेद इति। 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' इत्यमरः। तच्चारणार्थमिति। तस्य वेदस्य चरणम् अध्ययनं तच्चरणं व्रतमपि ब्रह्मशब्देन विवक्षितमित्यर्थः। गौण्या वृत्त्येति शेषः। तच्चरतीति। तत् व्रतं चरति अनुतिष्ठतीत्यर्थे ब्रह्मचारिशब्द इत्यर्थः। 'सुप्यजातौ' इति णिनिः। समानस्य स इति। समानो ब्रह्मचारीति कर्मधारये सति प्रकृतसूत्रेण समानस्य सभावे सति सब्रह्मचारीति रूपमित्यर्थः। समानत्वं च वेदद्वारा बोध्यम्। तथा च समानवेदाध्ययनार्थं व्रतचारीति फलितोऽर्थः। भाष्ये तु समाने ब्रह्मणि व्रतं चरतीत्यर्थे चरेर्णिनिः व्रतशब्दस्य लोपश्च अत्र निपात्यत इत्युक्तम्।

(१०१५) तीर्थे ये। यशब्दात् अकारान्तात्सप्तम्येकवचनम्, अकारो न विवक्षितः। प्रत्यय इति विशेष्यमध्याहार्यम्। 'यस्मिन् विधिः' इति तदादिविधिः। तदाह—यादौ प्रत्यये

व्रतविशेष भी 'ब्रह्म' ही है। 'ब्रह्म' (वेद-व्रत) को आचरण करने वाला—ब्रह्मचारी। 'समान' के स्थान पर 'स' आदेश होने पर—सब्रह्मचारी।

विवरण—विशेष अर्थ के द्योतक 'सब्रह्मचारी' शब्द को अभिलक्षित कर सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है। 'उत्तरपदे' एवं 'समानस्य सः' की अनुवृत्तियाँ विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र का यह अभिप्राय है कि "'चरण' गम्यमान होने पर 'ब्रह्मचारिन्' शब्द उत्तरपद रहते 'समान' शब्द को 'स' आदेश हो"। 'ब्रह्म' शब्द वेद का बोधक है। उसके अध्ययन के लिये व्रत भी वेद कहलाता है। उस व्रत में जो चले (आचरण करे), उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। **उदाहरण—सब्रह्मचारी** (समान वेद में व्रत करने वाला अर्थात् वेद की समान शाखा को पढ़ने वाला छात्र) **विग्रह—** समानः ब्रह्मचारी—(समाने ब्रह्मणि व्रतचारी इत्यर्थः)। समान+सु, ब्रह्मचारिन्+सु>समानब्रह्मचारिन् (कर्मधारय समास) >स-ब्रह्मचारिन् (समान=स) > सब्रह्मचारिन्+सु>समानब्रह्मचारीन्+सु (विभक्ति तथा उपधादीर्घ) > सब्रह्मचारीन् ('सु'लोप) > सब्रह्मचारी ('न्'-लोप)। ब्रह्मचारिन्->ब्रह्म चरति—ब्रह्मन्—√चर्+इन् (णिनि-"व्रते" ३-२-८०) >ब्रह्मचारिन् (चर्=चार्—उपधावृद्धि "अत उपधायाः" ६-२-११६)। 'भाष्य में समाने ब्रह्मणि व्रतं चरति' विग्रह कर व्रत शब्द का लोप किया है।

विशेष—ऊपर यह सूचित किया गया है कि 'ब्रह्म' शब्द वेद का पर्यायवाची भी है। तदनुसार यदि 'ब्रह्म' पद से प्रधान ऋग्वेदादि चार वेदों को ही लिया जाय तो ऋग्वेद की समस्त शाखाओं के अध्येता परस्पर सब्रह्मचारी होंगे, किन्तु यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार शाकल, वाजसनेय आदि शाखाओं तक ही यदि 'ब्रह्म' पद को सीमित रखा जाय तो केवल उस शाखा के अध्येता ही परस्पर 'सब्रह्मचारी' होंगे, किन्तु 'सब्रह्मचारी' शब्द इतने तक ही सीमित नहीं है। अतः पाणिनि ने प्रकृत सूत्र में **चरण** पद का अर्थ-विस्तार किया है। तदनुसार एक मूल शाखा की अवान्तर शाखाओं का समूह **चरण** कहलाता है। जैसे ऋग्वेद की शाकल आदि पाँच मुख्य शाखायें हैं। उनकी फिर अवान्तर शाखायें भी हैं, वे सब अवान्तर शाखायें शाकल आदि मुख्य **चरण** शब्द से व्यवहृत होती हैं। इस तरह शाकल-चरण के अन्तर्गत अनेक उपशाखाओं के अध्येता एकचरणान्तर्गत होने से **सब्रह्मचारी** होते हैं।

(१०१५) **पद**—तीर्थे, ये। **अनुवृत्ति**—समानस्य सः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'तीर्थ' शब्द उत्तरपद रहते यदि यकारादि प्रत्यय विवक्षित हो तो 'समान' के

वासी' (सू १६५८) इति यत्प्रत्ययः । (१०१६) **विभाषोदरे ६ । ३ । ८८ ॥** यादौ प्रत्यये विवक्षिते इत्येव । सोदर्यः—समानोदर्यः । (१०१७) **दृग्दृशवतुषु ६ ।**

इति । नात्र यप्रत्ययान्ते तीर्थशब्दे परे इति व्याख्यातुं शक्यते । 'समानतीर्थे वासी' इति समानतीर्थशब्दात् कृतसमासादेव वासीति तद्धितार्थे यप्रत्ययविधानात् । स च यप्रत्ययः अन्तरङ्गे सभावे कृते एव भवति । 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इति सूत्रेण परिनिष्ठितादेव तद्धितोत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्, कृतेऽपि सभावे एकदेशविकृतन्यायेन भूतपूर्वगत्या वा समान-तीर्थशब्दसत्त्वात् । अतः यप्रत्ययपरकत्वं समानशब्दस्य कथमित्यत आह—विवक्षिते इति । सतीर्थ्य इति । समाने तीर्थे वासीत्यर्थः । अत्र सामीप्ये सप्तमी । समानशब्दस्त्वेकपर्यायः । तीर्थशब्दो गुरौ । तदाह—एकगुरुक इति । तद्धितार्थे समासप्रवृत्तये तद्धितं दर्शयति—समानेति । 'निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ' इत्यमरः ।

(१०१६) विभाषोदरे । उदरशब्दे परे समानस्य सभावो वा स्यादित्यर्थः । इत्येवेति । अनुवर्तत एवेत्यर्थः ।

स्थान पर 'स' आदेश हो । उदा० एक गुरु के छात्र—सतीर्थ्यः । 'समानतीर्थे वासी' (सू १६५८) से 'यत्' प्रत्यय ।

विवरण—पूर्व सूत्र की तरह यहाँ भी 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश का विधान है । तदनुसार वे ही अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं । अतः सूत्र का यह अर्थ होगा कि "तीर्थ शब्द उत्तर-पद रहते यदि 'य' (यकारादि) प्रत्यय परे हो तो 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश हो ।" **उदाहरण**—सतीर्थ्यः (सहपाठी) । **प्रक्रिया**—समानं तीर्थं > समानतीर्थम् (कर्मधारय समास) । समाने तीर्थे वसति→समानतीर्थ+य ('तद्धित' प्रकरणस्थ 'यत्' प्रत्यय "समानतीर्थे वासी" ४-४-१०७) > सतीर्थ+य (समान=स) > सतीर्थ्य ('अ' का लोप) > सतीर्थ्यः (विभक्ति कार्य) ।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र में 'ये' पद अकारान्त 'य' शब्द की सप्तमी के एकवचन में प्रयुक्त हुआ है । 'प्रत्यये' का अध्याहार किया गया है । अतः 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा के अनुसार तदादि-विधि होने के फलस्वरूप 'यकारादि प्रत्यय परे रहते'—यह अर्थ विवक्षित है (न कि 'य'-प्रत्ययान्त 'तीर्थ' शब्द परे रहते) । कारण यह है कि तद्धित-प्रकरणस्थ 'यत्' प्रत्यय समास करने के पश्चात् ही प्रवृत्त होता है । एवम् अन्तरङ्ग-कार्य होने के कारण यत् प्रत्यय 'स' आदेश करने के पश्चात् प्रवृत्त होगा । इसमें भी यह हेतु है कि ("समर्थानां प्रथमाद्वा" अधिकार के प्रभाव से) तद्धित-प्रत्यय पाँच वृत्तियों में परिगणित होने के कारण परिनिष्ठित शब्दों से विहित हैं ।

(२) 'तीर्थ' शब्द गुरु का पर्यायवाची है । 'तीर्थे' पद में सप्तमी विभक्ति 'सामीप्य' अर्थ का बोध कराती है । 'समान' शब्द 'एक' का पर्यायवाची है । अतः एक गुरु के पास अध्ययन करने वाले छात्र 'सतीर्थ्य' कहलाते हैं ।

(१०१६) पद—विभाषा, उदरे । **अनुवृत्ति**—ये, समानस्य सः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यकारादि प्रत्यय परे रहते ही ('उदर' शब्द के परवर्ती होने पर 'समान' शब्द को विकल्प से 'स' आदेश हो) । उदा० सहोदर अर्थ में—सोदर्यः—समानोदर्यः ।

विवरण—"तीर्थे ये" ६-३-८७ सूत्र से 'ये' की अनुवृत्ति आ रही है । शेष प्राकरणिक एवम् आधिकारिक उल्लिखित अनुवृत्तियाँ भी यथापूर्व प्रभावी हैं । 'विभाषा' पद विकल्पार्थक है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "यकारादि प्रत्यय विवक्षित होने पर 'उदर' शब्द परे रहते 'समान' शब्द को विकल्प से 'स' आदेश हो" । **उदाहरण—सोदर्यः**←'स' आदेश होने पर । **समानोदर्यः**→'स' आदेश न होने पर । **अर्थ**—सहोदर भाई । **प्रक्रिया**—समानः उदरः→

३। ८९॥ सदृक्। सदृशः। 'दृक्षे चेति वक्तव्यम्' (वा ३९९२)। सदृक्षः। वतुरुत्तरार्थः। (१०१८) इदङ्किमोरीश्की ६। ३। ९०॥ दृग्दृशवतुषु इदम ईश् किमः की

(१०१७) दृग्दृशवतुषु। समानस्य स इति शेषः। सदृक्। सदृश इति। समानो दृश्यते इत्यत्र 'समानान्ययोश्च' इति दृशेः क्विन् कञ् च। दृक्षे चेति। समानस्य सत्वमिति शेषः। सदृक्ष इति। 'क्सोऽपि वाच्यः' इति दृशेः क्सः। वतुरुत्तरार्थं इति। यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुपः समानशब्दादसम्भवादिति भावः।

(१०१८) इदं किमोरीश्की। ईश् की इति द्वे पदे। ईदृक्। ईदृश इति। इदमिव दृश्यते इत्यर्थे त्यदादिषु दृशेः क्विन्कञौ। ईशः शित्त्वं सर्वादेशत्वाय। वक्ष्यत इति।

समानोदरः—कर्मधारय समास। समाने उदरे वसति→समान-उदर+य ▷सोदर्+य (समान=स तथा "सोदराद्यः" ४-४-१०९) ▷ सोदर्यः ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। 'स' आदेश न होने पर—समानोदर्यः ("समानोदरे शयित ओ चोदात्तः" ४-४-१०८ से 'य' प्रत्यय)।

(१०१७) पद—दृक्-दृश-वतुपु। **अनुवृत्ति**—समानस्य सः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १–सदृक्। २–सदृशः। वा० 'दृक्ष' परे रहते भी कहा जाय। उदा० सदृक्षः। वतु-ग्रहण उत्तरार्थ है।

विवरण—'समान' के स्थान पर 'स' आदेश का ही विषय है। सूत्रस्थ 'दृक्-दृश-वतुपु' पद अनुवर्तमान 'उत्तरपदे' के साथ अन्वित होगा। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "दृक्, दृश तथा वतु शब्दों के परवर्ती होने पर 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश हो"। इन तीनों में भी 'समान' शब्द से 'वतुप्' प्रत्यय के सम्भव न होने से उस से परे 'वतुप्' का उदाहरण नहीं दिया जायेगा, क्योंकि 'वतुप्' प्रत्यय 'यत्', 'तद्' तथा 'एतद्' शब्दों से ही विहित है—"यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्" ५-२-३९)। अतः 'वतुप्' पद की उपयोगिता अगले सूत्र में अनुवृत्ति जाने के लिये है। **उदाहरण**—(१) सदृक् (समान)। **विग्रह**—समानम् आत्मानं पश्यति—समान+अम्–√दृश्+क्विन् ('समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्' वा० ३-२-६०) > समान-दृश् ('क्विन्' का सर्वापहार तथा उपपद-समास) सदृश्+सु (समान=स, 'कृदन्त' के अनन्तर पुनः विभक्ति) >सदृक्+सु (श्=क्—"क्विन्-प्रत्ययस्य कुः" ८-२-६२) > सदृक् ('सु' का हल्-ङ्यादि-लोप)। (२) सदृशः (समान)। **विग्रह**—समानं पश्यति। समान–√दृश्+अ (कञ्—"समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्' वा० ३-२-६०) >समान-दृश (उपपद समास) > सदृश (समान=स) > सदृशः (विभक्तिकार्य)। **वार्तिक**—सदृक्ष पद की समीचीनता के लिये वार्तिक द्वारा 'दृक्ष' शब्द उत्तरपद रहने पर भी 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होने का विधान किया जा रहा है। 'दृक्ष' शब्द की निष्पत्ति के लिये √दृश्+'क्स' प्रत्यय (=दृश्+स>दृष्+स > दृक्+स > दृक्+ष) की कल्पना की गई है।

विशेष—भाष्यकार द्वारा **सदृक्षासः, प्रतिदृक्षासः** आदि उदाहरण दिये जाने के फलस्वरूप दृक्ष शब्द उत्तरपद रहते समान शब्द के स्थान पर 'स' आदेश वैदिक प्रयोगों तक ही सीमित किया जा सकता है[1]।

(१०१८) पद—इदङ्किमोः, ईश्–की। **अनुवृत्ति**—दृग्दृशवतुपु, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दृक्, दृश तथा वतुप् परे रहते 'इदम्' को 'ईश्' तथा 'किम्' को की आदेश हो।

---

१. तथा च भाष्ये—"दृग्दृशवतुषु दृक्ष उपसंख्यानं कर्तव्यम्" इत्यस्यानन्तरं **सदृक्षासः प्रतिदृक्षासः**—इत्युदाहरणद्वयप्रदर्शनेनेदं पर्यवसीयते। यतो जसि परतः असुगागमो वैदिकप्रयोगेष्वेव भवति न तु लौकिकेषु प्रयोगेषु।

स्यात् । ईदृक् । ईदृशः । कीदृक् । कीदृशः । वतूदाहरणं वक्ष्यते । 'दृक्षे चेति वक्तव्यम्' (वा ३९९२) ईदृक्षः । कीदृक्षः । 'आ सर्वनाम्नः' (सू ४३०) । 'दृक्षे च' (वा ३९९२) ।

तद्धितप्रकरणे इयान् इत्युदाहरण वक्ष्यत इत्यर्थः । **दृक्षे चेति** । इदं किमोः ईश्की वक्तव्यौ इति शेषः । **आ-सर्वनाम्न इति** । आ इति लुप्तप्रथमाकम् । **तादृक्** । **तादृश इति** । तदिव दृश्यत इत्यर्थे 'त्यदादिषु दृशः' इति क्विन्कञौ । तदो दकारस्य आत्वे सवर्णदीर्घः । **तावानिति** । तत्परिमाणमस्येति विग्रहे 'यत्तदेतेभ्यः' इति वतुप् । **तादृक्ष इति** । तदिव

उदा० १–ईदृक् । २–ईदृशः । ३–कीदृक् । ४–कीदृशः । 'वतुप्' का उदाहरण आगे दिया जायगा । वा० 'दृक्ष' परे रहते भी कहा जाय । १-ईदृक्षः । २–कीदृक्षः । सर्वनामों को आकार होता है— 'आ सर्वनाम्नः' (सू० ४३०) । पुनः स्मरण कराया जा रहा है कि 'दृक्ष' परे रहते भी आकार हो । उदा० १–तादृक् । २–तादृशः । ३–तावान् । ४–तादृक्षः । ('अदस्'-शब्द के अनन्तर 'दृक्' आदि परे रहते दीर्घ, मकार तथा 'ऊ' आदेश होने पर—१–अमूदृक्, २–अमूदृशः, तथा ३–अमूदृक्षः ।

विवरण—'दृक्', 'दृश', 'वतुप्' तथा 'दृक्ष' के उत्तरवर्ती होने के सन्दर्भ में 'ईदृक्' आदि शब्दों की समीचीनता के लिये सूत्र पढ़ा गया है । अतः पूरे पूर्व सूत्र "दृग्-दृश-वतुपु" ६-३-८९ की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'उत्तरपदे' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । अतः **स्थानी** शब्द हैं—'इदम्' तथा 'किम्' । एवम् आदेश-वाची शब्द हैं—'ईश्' तथा 'की' ('ईश्–की' लुप्तप्रथमान्त निर्देश) । दोनों आदेश सर्वादेश होंगे, क्योंकि 'ईश्' तो शकार-इत्संज्ञक है तथा 'की' अनेक-अल्- (एक से अधिक वर्ण-क्+ई) युक्त है→"अनेकाल्-शित् सर्वस्य" । अथवा "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" सूत्र के आधार पर दोनों स्थानियों को क्रमानुसार आदेश होंगे । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "दृक्", 'दृश', तथा 'वतु' शब्दों के उत्तरवर्ती होने पर 'इदम्' तथा 'किम्' को क्रमानुसार'ईश्' तथा 'की' आदेश' हों" । **उदाहरण**—(१) **'इदम्' से 'दृश्'** परवर्ती—**ईदृक्** (ऐसा) । **विग्रह**—इदम् इव दृश्यते । इदम्–√दृश्+क्विन् > इदम्-दृश् > ईदृश् (इदम्= ई) > ईदृक् (विभक्ति कार्य पूर्ववत्) । (२) **'दृश' उत्तरपद रहते–ईदृशः** (ऐसा) । पूर्ववत् इदम्–√दृश्+'कन्' प्रत्यय । प्रकृत सूत्र से 'ई' आदेश । (३) **'किम्' से परवर्ती 'दृश्'— कीदृक्** (कैसा) । **विग्रह**—किम् इव दृश्यते । किम्–√दृश्+क्विन् > किम्+दृश् > कीदृश (किम् = की) > कीदृक् (प्रक्रिया पूर्ववत्) (४) 'किम्' से दृश उत्तरपद रहते—कीदृशः (कैसा) । यहाँ भी पूर्ववत् 'कन्' (=अ) प्रत्यय करने पर 'की' आदेश आदि कार्य पूर्ववत् जानें ।

वार्तिकानुसार 'दृक्ष' परे रहते भी **'इदम्'** तथा **'किम्'** शब्दों को क्रमशः **'ईश्'** तथा **'की'** आदेश होने के फलस्वरूप (१) **ईदृक्षः** (ऐसा) तथा (२) **कीदृक्षः** (कैसा) रूप निष्पन्न होंगे । 'दृक्षः' की सिद्धि (√दृश्+क्स) पूर्ववत् । विग्रहादि समग्र प्रक्रिया पूर्व उदाहरणों के समान जानें ।

'वतुप्' प्रत्यय परवर्ती होने के सम्बन्ध में पुनः **तद्धित प्रकरणस्थ 'इयान्' 'कियान्'** आदि शब्दों की ओर संकेत किया जा रहा है । तदनुसार (१)—कियान् (कितना) । **विग्रह**—किं परिमाणम् अस्य । किम्+सु+वत् = घत् ("किमिदम्भ्यां वो घः" ५-२-४० से वतुप् एवं 'व' के स्थान पर 'घ' आदेश) > किम्+इय्+अत् (घ्=इय्—"आयनेयीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" ७-१-२) > की+इयत् (किम् = की—"इदंकिमोरीश्-की" ६-३-९०) > कियत्+सु ('ई' का लोप) > कियात्+सु (यत्=यात् दीर्घ–"अत्वसन्तस्य चाधातोः" ६-४-१४) > कियान्-त्+सु ('नुम्' आगम) > कियान्-त् ('सु' लोप) > कियान् ('त' का संयोगान्त लोप) । इसी प्रकार (२) **इयान्** (इतना) । **विग्रह**—इदम् परिमाणम् अस्य । इदम्+वतुप् >

तादृक् । तादृशः । तावान् । तादृक्षः । दीर्घः । मत्वोत्वे । अमूदृक् । अमूदृशः । अमूदृक्षः ।

दृश्यते इति विग्रहः । अमूदृगित्यत्र प्रक्रियां दर्शयति—दीर्घ इति । अदसः आत्वे कृते सवर्णदीर्घः । ततः ऊत्वमत्वे इत्यर्थः । अः सेरिति व्याख्यानेऽपि अकारेण आकारस्यापि ग्रहणात् ऊत्वमत्वे ।

इदम्+घत (व=घ) > इदम्+इयत (घ्=इय्) ▷ ई०-इय्-अत (इदम्=ईश्) ▷इयत ('ई' का लोप "यस्येति च" ६-४-१४८) ▷ इयान् (विभक्ति कार्य पूर्ववत्)।

शङ्का समाधान—'वतुप्' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'इदम्' तथा 'किम्' शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'ईश्' तथा 'की' आदेश का विधान "इदङ्किमोरीश्-की" ६-३-९० सूत्र द्वारा बतलाया गया है। 'वतुप्' प्रत्यय तद्धित-प्रकरणस्थ है। वह परिमाण अर्थ में होता है। उसका विधायक सूत्र है—"यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्" ५-२-३९। इस सूत्र में 'यत्' 'तद्' तथा 'एतद्' शब्द ही निर्दिष्ट हैं न कि 'किम्' तथा 'इदम्' शब्द। अष्टाध्यायी-क्रमानुसार इससे आगे का सूत्र है—"किमिदम्भ्यां वो घः" ५-२-४०। इस सूत्र में 'किम्' तथा 'इदम्' शब्दों से विहित 'वतुप्'-सम्बन्धी 'व' के स्थान पर 'घ' आदेश किया गया है। जब इन दोनों शब्दों से 'वतुप्' का विधान ही नहीं तो 'घ' आदेश की सम्भावना कैसे की जाय? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि 'वतुप्' के स्थान पर 'घ' आदेश का विधान ही इस बात का ज्ञापक है कि उसी सूत्र ५-२-४० से ही स्थानी अर्थात् 'वतुप्' की भी कल्पना की जाय, क्योंकि 'वतुप्' के बिना 'घ' आदेश किया ही नहीं जा सकता। इसके साथ ही भाष्यकार ने इसका दूसरा समाधान भी दिया है। उन्होंने "किमिदम्भ्यां वो घः" ५-२-४० सूत्र के योगविभाग की कल्पना की है। तदनुसार प्रथम अंश का स्वरूप होगा—"**किमिदम्भ्याम्**"। इस अंश में पूर्व सूत्र ५-२-३९ से 'वतुप्' की अनुवृत्ति आने पर 'किम्' तथा 'इदम्' शब्दों से परिमाण अर्थ में 'वतुप्' प्रत्यय किया जाय। तदनन्तर द्वितीयांश "वो घः" से 'वतुप्' सम्बन्धी 'व' को 'घ' आदेश हो। इस प्रकार इष्टसिद्धि की है[1]।

प्रकृत विषय से असम्बद्ध किन्तु प्रसङ्गवश 'यावान्' 'तावान्' के सन्दर्भ में आकार-विधायक सूत्र "आ सर्वनाम्नः" ६-३-९१ को अभिलक्षित कर 'अदस्' शब्द-पूर्वक दृक्-दृश-दृक्ष-शब्दान्त उदाहरण भी दिये जाते हैं—(१) **अमूदृक्, अमूदृशः,** तथा **अमूदृक्षः**। इनका अर्थ है—ऐसा अथवा इस तरह करके। **विग्रह**—अद इव दृश्यते। अदस्+दृक् ▷ अद-आ+दृक् (स्=आ—"आ सर्वनाम्नः" ६-३-९१) > अदादृक् (सवर्ण दीर्घ) > अमूदृक् (द्=म् तथा आ=ऊ—"अदसोऽसेर्दादुदो मः" ८-२-८०)। इसी प्रकार अमूदृशः तथा अमूदृक्षः भी निष्पन्न होंगे। **दृक्, दृश तथा दृक्ष** शब्दों की निष्पत्ति पूर्ववत् जानें। 'वतुप्' प्रत्यय तथा दृक्, दृश एवं दृक्ष के प्रसङ्ग में **तावान्** (उतना) **तादृक्, तादृशः** तथा **तादृक्षः** (वैसा) उदाहरण भी प्रस्तुत किये गए हैं। इनमें से 'तावान्' का विग्रह है—तत् परिमाणम् अस्य। तद्+वत् (वतुप्—"यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्" ५-२-३९) ▷ त-आ+वत् (द्=आ—"आ सर्वनाम्नः" ६-३-९१) ▷ तावत् (दीर्घ) > तावान् (प्रथमा एकवचन)। इसी प्रकार दृक्, दृश तथा दृक्ष—उत्तरपद रहते 'द्' को आकार होगा। **विग्रह**—तदिव दृश्यते। 'दृक्' 'दृश' तथा 'दृक्ष' शब्दों में क्रमशः 'क्विन्', 'कञ्' तथा 'क्स' प्रत्यय एवं प्रक्रिया पूर्ववत् समझें।

---

१. "केन विहितस्य किमिदम्भ्यां विहितस्य वतुपो वो घत्वमुच्यते। एतदेव ज्ञापयति—भवति **किमिदम्भ्यां वतुबिति**। यदयं किमिदम्भ्यामुत्तरस्य वतुपो वो घत्वं शास्ति। अथवा योगविभागः करिष्यते। किमिदम्भ्यां वतुप् भवति। ततो वो घ इति।" —महाभाष्यम्—५-२-४०।

अत्र आदेशविधानान्यथानुपपत्त्या प्रत्ययोऽनुमीयते इति भावः।

(१०१९) समासेऽङ्गुलेः सङ्गः ८ । ३ । ८० ॥ अङ्गुलिशब्दात्सङ्गस्य सस्य मूर्धन्यः स्यात्समासे । अङ्गुलिषङ्गः । समासे किम् ? अङ्गुलेः सङ्गः । **(१०२०) भीरोः स्थानम् ८।३।८१ ॥** भीरुशब्दात्स्थानस्य सस्य मूर्धन्यः स्यात्समासे । भीरुष्ठानम् । असमासे तु भीरोः स्थानम् । **(१०२१) ज्योतिरायुषः स्तोमः ८।३।८३ ॥** आभ्यां स्तोमस्य सस्य मूर्धन्यः स्यात् समासे । ज्योतिष्टोमः । आयुष्टोमः । समासे किम् ? ज्योतिषः स्तोमः । **(१०२२)**

(१०१९) समासेऽङ्गुलेः सङ्गः । (१०२०) भीरोः स्थानम् । (१०२१) ज्योतिरायुषः स्तोमः । अत्र त्रिसूत्र्याम् अङ्गुलेः सङ्गः, भीरोः स्थानम्, ज्योतिषः स्तोमः, आयुषः स्तोमः इत्याद्यर्थे प्रत्यासत्त्या तयोः पदयोः समासे सति उत्तरपदस्थस्य सस्य ष इत्यर्थः । तद् ध्वनयन् प्रत्युदाहरति—अङ्गुलेः सङ्ग इत्यादि । नेह 'इण्कोः' इत्यनुवर्तते, व्याख्यानात् ।

(१०१९) पद—समासे, अङ्गुलेः, सङ्गः । **अनुवृत्ति**—सः, नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—समास में 'अङ्गुलि' शब्द से परवर्ती 'सङ्ग' शब्द के सकार को मूर्धन्य हो । उदा० अङ्गुलिषङ्गः । 'समासे' क्यों कहा ? अङ्गुलेः सङ्गः (विग्रह में ष नहीं हुआ) ।

विवरण—प्रासङ्गिक षत्व-विधान हेतु अष्टाध्यायी के अष्टमाध्याय का सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है । तदनुसार उल्लिखित अनुवृत्तियाँ का स्मरण कराना आवश्यक है । इसके अतिरिक्त सूत्र में प्रयुक्त प्रथमान्त 'सङ्गः' पद षष्ठी के अर्थ में लिया गया है (विभक्ति-विपरिणाम) । अतः वह 'स्थानी' है । तदनुसार समष्टिरूप में सूत्र का यह अर्थ है कि "समास में 'अङ्गुलि' शब्द से उत्तरवर्ती 'सङ्ग' शब्द के सकार को मूर्धन्य षकार हो" । **उदाहरण**—**अङ्गुलिषङ्गः** (उंगली में लगा हुआ) । **विग्रह**—अङ्गुलेः सङ्गः । षष्ठी-तत्पुरुष होने पर 'स' के स्थान में 'ष' हुआ ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'समासे' पद का निवेश होने से विग्रह-वाक्य **अङ्गुलेः सङ्गः** में 'ष' नहीं हुआ ।

(१०२०) पद—भीरोः, स्थानम् । **अनुवृत्ति**—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—एवं विवरण—सामासिक प्रयोग में ही 'भीरु' शब्द से उत्तरवर्ती 'स्थान' शब्द के 'स'कार को मूर्धन्य 'ष'कार अभीष्ट होने के कारण पूर्व सूत्र ("समासेऽङ्गुलेः सङ्गः" ८-३-८०) से 'समासे' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष उल्लिखित प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । यहाँ भी 'स्थानम्' पद षष्ठी के अर्थ में है । **उदाहरण**—**भीरुष्ठानम्** (डरपोक का स्थान) । **विग्रह एवं प्रत्युदाहरण**—**भीरोः स्थानम्** । यहाँ 'ष' नहीं हुआ ।

(१०२१) पद—ज्योतिरायुषः, स्तोमः । **अनुवृत्ति**—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्-व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—समास में इन दोनों से परवर्ती 'स्तोम' के 'स' को मूर्धन्य 'ष' हो । उदा० **आयुष्टोमः** । 'समासे' क्यों कहा ? ज्योतिषः स्तोमः ।

विवरण—पूर्ववत् 'समासे' तथा षत्वोपयोगी अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं । प्रथमान्त पद 'स्तोमः' षष्ठ्यर्थ का बोधक है । अतः वह स्थानी है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'ज्योतिस्' तथा 'आयुस्' शब्दों से उत्तरवर्ती 'स्तोम' शब्द के 'स'कार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है" । **उदाहरण**—(१) **ज्योतिष्टोमः** (सोलह ऋत्विजों से सम्पाद्यमान यागविशेष) । (२) **आयुष्टोमः** (दीर्घायु के निमित्त किया जाने वाला यागविशेष) । दोनों उदाहरणों में 'ज्योतिस्'

सुषामादिषु च ८ । ३ । ९८ ॥ सस्य मूर्धन्यः । शोभनं साम यस्य—सुषामा । सुषन्धिः ।
(१०२३) एति सञ्ज्ञायामगात् ८ । ३ । ९९ ॥ (ग १८२) सस्य मूर्धन्यः । हरिषेणः । एति किम् ? हरिसक्थम् । सञ्ज्ञायाम् किम् ? पृथुसेनः । अगकारात् किम् ?

(१०२२) सुषामादिषु च । स्पष्टम् ।

(१०२३) एति सञ्ज्ञायामगात् । एकारे परे सस्य षः स्यादित्यर्थः ।

एवम् 'आयुस्' के 'स्' को 'र्' तथा विसर्ग होने के पश्चात् 'स्तोम' शब्द परे रहते "वा शरि" (८-३-३६) से पक्ष में 'सत्व' एवं 'स्तोम' के 'स्' को 'ष्' करने पर पूर्वसकार को ष्टुत्व होने के पश्चात् **ज्योतिष्ष्टोमः** एवम् **आयुष्ष्टोमः** शब्द बनेंगे । पक्ष में "वा शरि" ८-३-३६ से विसर्ग हुआ तो **ज्योतिःष्टोमः** एवम् **आयुःष्टोमः** रूप । विसर्ग का लोप होने पर ज्योतिष्टोमः ।

विशेष—उपर्युक्त तीनों सूत्रों में "सात्पदाद्योः" ८-३-१११ से पदादिलक्षण षत्व का प्रतिषेध सर्वत्र प्राप्त था । अतः पृथक् षत्व-विधान की चरितार्थता है । विग्रह-वाक्यों में षत्व न होने के कारण **ज्योतिषः स्तोमः** तथा **आयुषः स्तोमः** रूप बनेंगे । यही **प्रत्युदाहरण** भी हैं ।

(१०२२) पद—सुषामादिषु, च । **अनुवृत्ति**—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि, संहितायाम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'स' को मूर्धन्य ('ष') हो । उदा० १-शोभनं साम यस्य>सुषामा । २-सुषन्धिः ।

विवरण—यह भी 'षत्व' प्रकरण के अन्तर्गत है, किन्तु इस सूत्र के निमित्त-वाची शब्दों में कुछ अन्तर है । उसका कारण यह है कि यहाँ "इण्कोः" ८-३-५७ का आधिकारिक प्रभाव भी है । अतः "'सुषामा' आदि शब्दों में 'इण्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के परवर्ती सकार को भी मूर्धन्य षकार होगा" । **उदाहरण—(१) सुषामा** (सामवेद का सुन्दर गान करने वाला) । **विग्रह**—शोभनं साम यस्य । बहुव्रीहि समास । 'सामन्' के 'स' को 'ष' । प्रथमा एकवचन का रूप । (२) **सुषन्धिः** (सुन्दर सन्धि करने वाला) । **विग्रह**—शोभनः सन्धिः यस्य । समास एवं षत्व ।

(१०२३) पद—एति, संज्ञायाम्, अगात् । **अनुवृत्ति**—सः, इण्कोः, नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, संहितायाम् । **नियम(विधि)सूत्र ।**

मूलार्थ—(ग १८२) 'स' को मूर्धन्य ('ष') हो । उदा० हरिषेणः । 'एति' क्यों कहा ? हरिसक्थम् ('ष' नहीं हुआ) । 'संज्ञायां' क्यों कहा ? पृथुसेनः ('ष' नहीं हुआ) । 'अगकारात्' क्यों कहा ? विष्वक्सेनः ('ष' नहीं हुआ) । 'इण्' तथा 'कवर्ग' से पर ही (षत्व होगा) कहने पर 'सर्वसेनः' में (षत्व नहीं हुआ) ।

विवरण—यह सूत्र भी 'सुषामादि' के अन्तर्गत ही है । अतः निमित्तवाची शब्दों में 'इण्कोः' का प्रभाव विद्यमान है । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् प्रभावी हैं । षत्व होने वाले कुछ शब्दों की विशेषता हेतु इस विधान की चरितार्थता है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ है कि "संज्ञा में 'ए'कार परे रहते (एति) 'ग'कार से भिन्न 'इण्' तथा 'क'वर्ग से उत्तरवर्ती 'स'कार को मूर्धन्य 'ष'कार हो" । **उदाहरण—हरिषेणः** (जिसकी बन्दर सेना हो) । **विग्रह**—हरयः सेना अस्य । हरि+जस् , सेना+सु > हरि-सेना (बहुव्रीहि समास) > हरि-सेन (आ=अ—ह्रस्व—"गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" १-२-४८) > हरिसेन+सु (विभक्ति) > हरिषेन (स=ष) > हरिषेण (न=ण) > हरिषेणः (विभक्ति-कार्य) ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'एति' (='एत्' की सप्तमी) पद का निवेश करने के फलस्वरूप **हरिसक्थम्** (बन्दर की जाँघ) में 'इ'कार के बाद 'सक्थम्' में 'स' को एकार परे न होने से 'ष' नहीं हुआ । (२) 'संज्ञायाम्' पद का निवेश होने से **पृथुसेनः** (जिसकी विशाल सेना हो) में

विष्वक्सेनः । इण्कोः इत्येव । सर्वसेनः । (१०२४) नक्षत्राद्वा ८ । ३ । १०० ॥ (ग १८३) एति सस्य सञ्ज्ञायामगकारान्मूर्धन्यो वा । रोहिणीषेणः-रोहिणीसेनः । अगकारात् किम् ? शतभिषक्सेनः । आकृतिगणोऽयम् । (१०२५) अषष्ठचतृतीयास्थ-

---

(१०२४) नक्षत्राद्वा । स्पष्टम् ।

संज्ञा की विवक्षा न होने से 'स' को 'ष' नहीं हुआ । (३) 'अगकारात्' पद का निवेश होने से **विष्वक्सेनः** (जिसकी सेना सर्वत्र विचरण करे—विष्णु) में सेना शब्द के 'स' को 'ग' से परे (चर्त्व असिद्ध होने से विष्वग्) होने के कारण मूर्धन्य 'ष' नहीं हुआ । **विग्रह**—विषूची सेना यस्य । विषूची→विषु (=नाना-नानार्थकः निपातः) अञ्चति । विषु-√अञ्चु+क्विन् ⊳विषु-अञ्च् ('क्विन्' का सर्वापहार) ⊳विषु-अच् ('न्'-लोप) ⊳विष्वच् (यण्) > विष्वच्+ई (ङीप्—"उगितश्च" ४-१-६) > विषूची (व्=उ-सम्प्रसारण, पूर्वरूप तथा 'उ' को दीर्घ) । **विष्वक्सेनः**—विषूची+सु, सेना+सु ⊳ विषूचीसेना (बहुव्रीहि समास) > विष्वच्-सेना (विषूची = विष्वच्-पुंवद्भाव-"स्त्रियाः पुंवद्भाषित०" ६-३-३४) ⊳ विष्वज्-सेना (च्=ज्-"झलां जशोऽन्ते" ८-२-३९) ⊳ विष्वग्-सेना (ज्=ग्-कुत्व—"क्विन्प्रत्ययस्य कुः" ८-२-६२) ⊳ विष्वग्सेन (सेना=सेन-ह्रस्व—"गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" १-२-४८) > विष्वक्-सेन (ग्=क्-चर्त्व) > विष्वक्सेनः (विभक्तिकार्य) । (४) 'इण्-कोः' के अनुवृत्ति जन्य प्रभाव से 'इण्' और 'क'वर्ग से ही परे 'स' को 'ष' होने के फलस्वरूप **सर्वसेनः** (सम्पूर्ण सेना का स्वामी, ब्रह्मदत्त के एक पुत्र का नाम—दे० हरिवंश) में 'अ' से पर होने के कारण 'स' को 'ष' नहीं हुआ, क्योंकि 'अ' 'इण्' प्रत्याहार में नहीं आता ।

विशेष—यह सूत्र सुषामादि-गण में 'गणपाठ' के अन्तर्गत पढ़ा गया है ।

(१०२४) पद—नक्षत्राद्, वा । **अनुवृत्ति**—एति संज्ञायामगात्, सः, इण्कोः, नुम्-विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, संहितायाम् ।

मूलार्थ—(ग० १८३) संज्ञा में गकारान्त-भिन्न नक्षत्रवाचक शब्द से परे विकल्प से 'स' को 'ष' हो । उदा० रोहिणीषेणः—रोहिणीसेनः । 'अगकारात्' क्यों कहा ? शतभिषक्सेनः ('ष' नहीं हुआ) । यह सुषामादि आकृतिगण है ।

विवरण—नक्षत्र-वाची शब्दों से निष्पन्न सामासिक शब्दों में विशेष परिस्थिति-वश वैकल्पिक षत्व की व्यवस्था की जा रही है । प्राकरणिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियों के अतिरिक्त विषय-गत लाभ होने के लिये पूर्व सूत्र "एति संज्ञायामगात्" ८-३-९९ की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "गकारान्तभिन्न नक्षत्र-वाची (अगात् नक्षत्रात्) शब्दों से उत्तरवर्ती एकार-परक 'स' के स्थान में (संज्ञा के विषय में) विकल्प से 'ष' हो" । **उदाहरण**—**रोहिणीषेणः**←'ष' होने पर । **रोहिणीसेनः**→'ष' न होने पर (व्यक्ति-विशेष का नाम) । **विग्रह**—रोहिणी सेना यस्य सः । समासादि कार्य पूर्ववत् । रोहिणी नक्षत्रवाची शब्द है । 'सेना' के 'स' को वैकल्पिक 'ष' हुआ । 'ष' होने पर 'न' के स्थान पर 'ण'—"अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" ८-४-२) । 'ष' के न होने पर 'ण' नहीं हुआ ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में अनुवर्तमान 'अगात्' (=अगकारात्) पद का प्रभाव होने से **शतभिषक्सेनः** (व्यक्ति का नाम) में गकारान्त नक्षत्रवाची होने से 'स' के स्थान में 'ष' नहीं हुआ । उसके फलस्वरूप 'न' को 'ण' भी नहीं हुआ ।

विशेष—प्रकृत सूत्र भी इसी रूप में सुषामादि-गण के अन्तर्गत गण-पाठ में निर्दिष्ट है । सुषामादि-गण आकृति-गण है ।

स्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु ६ । ३ । ९९ ॥ अन्यशब्दस्य दुगागमः स्यादाशीरादिषु परेषु । अन्यदाशीः । अन्यदाशा । अन्यदास्था । अन्यदास्थितः । अन्यदुत्सुकः । अन्यदूतिः । अन्यद्रागः । अन्यदीयः । 'अषष्ठी'—इत्यादि किम् ?

(१०२५) **अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य** । अषष्ठ्याम् अतृतीयायां च परतस्तिष्ठतीति अषष्ठ्यतृतीयास्थः तस्य अषष्ठीतृतीयान्तस्येत्यर्थः । अषष्ठीतृतीयास्थस्येत्येव सिद्धे नञ्द्वयोपादानं स्पष्टार्थम् । आशीरादिष्विति । आशीः, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इत्येतेषु इत्यर्थः । दुकि ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्त्वादन्ता-

---

(१०२५) पद—अषष्ठ्य-तृतीयास्थस्य, अन्यस्य, दुक्, आशीराशाऽऽस्थाऽऽस्थितोत्सुकोतिकारक-राग-च्छेषु । **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'आशिस्' आदि शब्द परे रहते 'अन्य' शब्द को 'दुक्' आगम हो । उदा० १–अन्यदाशीः । २–अन्यदाशा । ३–अन्यदास्था । ४–अन्यदास्थितः । ५–अन्यदुत्सुकः । ६–अन्यदूतिः । ७–अन्यद्रागः । ८–अन्यदीयः । 'अषष्ठी' इत्यादि क्यों कहा ? अन्यस्य अन्येन वा आशीः > अन्याशीः ('दुक्' आगम नहीं हुआ) । वा० 'कारक' और 'छ' में यह निषेध नहीं (प्रवृत्त होता) । उदा० १–अन्यस्य कारकः > अन्यत्कारकः । २–अन्यस्य अयम् > अन्यदीयः । यहाँ 'गहादि' के आकृति-गण होने से 'छ' प्रत्यय हुआ है ।

विवरण—प्रासङ्गिक विधान के अनन्तर पुनः प्राकरणिक समासाश्रय-विधि के अन्तर्गत 'दुक्' (द्) आगम का विधान बतलाया जा रहा है । स्थानि-वाचक शब्द अन्य है । आगम-विधायक पद 'दुक्' है । 'क'कार इत्संज्ञक होने से आगम अन्त्यावयव ('अन्य' शब्द के अकार के अनन्तर) होगा–"आद्यन्तौ टकितौ" (१-१-४६) । वह भी सभी सामासिक विभक्तियों को अभिलक्षित कर नहीं होगा । 'षष्ठ्यन्त' और 'तृतीयान्त' अन्य शब्द को 'दुक्' आगम की परिधि से बाहर रखा गया है (अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य—न षष्ठी=अषष्ठी, न तृतीया = अतृतीया; अषष्ठी च अतृतीया च= अषष्ठ्यतृतीये, तयोः तिष्ठति इति अषष्ठ्यतृतीयास्थः, तस्य) । आगम होने में 'अन्य' शब्द से 'आशिस्' आदि ९ शब्दों का परवर्ती होना आवश्यक है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होगा कि '"षष्ठी' तथा 'तृतीया' विभक्तियों से भिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त 'अन्य' शब्द से 'आशिस्', 'आशा', 'आस्था', 'आस्थित', 'उत्सुक', 'ऊति', 'कारक' तथा 'छ'-प्रत्यय—इनके परवर्ती होने पर 'दुक्' (द्) आगम हो" । आगम में 'क्' की इत्संज्ञा तथा उकार के उच्चारणार्थ होने से केवल 'द्' शेष रहता है । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **अन्यदाशीः** (दूसरा आशीर्वाद) । **विग्रह**—अन्या आशीः । अन्या+सु, आशिस्+सु > अन्या-आशिस् (कर्मधारय समास), अन्य-आशिस् (अन्या=अन्य-पुंवद्भाव–"पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" ६-३-४२) > अन्यद्+आशिस् (दुक्= द्-आगम) > अन्यदाशिस्+सु > अन्यदाशिस् (विभक्तिलोप) > अन्यदाशिर् (स्=र्) > अन्यदाशीर् (शि = शी–दीर्घ—"र्वोरुपधाया दीर्घ इकः" ८-२-७६) > अन्यदाशीः (र् = :) । (२) **अन्यदाशा** (दूसरी आशा) । **विग्रह**—अन्या आशा । समासादि-कार्य पूर्ववत् । (३) **अन्यदास्था** । (दूसरे में आसक्ति) । **विग्रह**—अन्यस्मिन् आस्था । सप्तमी तत्पुरुष-समास, 'दुक्' आगम । (४) **अन्यदास्थितः** (दूसरे के पास गया) । **विग्रह**—अन्यम् आस्थितः । (५) **अन्यदुत्सुकः** (दूसरे के लिये उत्सुक) । **विग्रह**—अन्यस्मै उत्सुकः । समासादि कार्य पूर्ववत् । (६) **अन्यदूतिः** (दूसरी सहायता अथवा बनावट) । **विग्रह**—अन्या ऊतिः । कर्मधारय समास, पुंवद्भाव तथा 'दुक्'–आगम । (७) **अन्यद्रागः** (दूसरा राग) । **विग्रह**—अन्यः रागः । कर्मधारण समास एवं 'दुक्' आगम ।

अन्यस्यान्येन वाशीरन्याशीः। 'कारके छे च नायं निषेधः' (वा ५०४८)। अन्यस्य कारकोऽन्यत्कारकः। अन्यस्यायमन्यदीयः। गहादेराकृतिगणत्वाच्छः। (१०२६) अर्थे

वयवः। अन्यदाशीरित्यादयः कर्मधारयः। नायं निषेध इति। 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य' इति निषेधः कारकच्छयोर्नास्तीत्यर्थः। भाष्योक्तमिदम्।

(१०२६) अर्थे विभाषा। अन्यस्य दुगिति शेषः।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में अषष्ठी एवम् अतृतीया पदों का निवेश करने के फलस्वरूप 'अन्यस्य' अथवा 'अन्येन' आशीः—इस प्रकार विग्रह करने पर अन्याशीः रूप निष्पन्न होगा, क्योंकि यहाँ विग्रह में 'अन्य' शब्द से षष्ठी एवम् तृतीया विभक्तियाँ आई हैं। अतः 'दुक्' आगम नहीं होता। अर्थ—दूसरे का आशीर्वाद अथवा दूसरे के द्वारा दिया हुआ आशीर्वाद।

वार्तिक—सूत्रकार के मत में षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग किये जाने पर 'अन्य' शब्द को 'दुक्' आगम अभीष्ट नहीं था, विशेष परिस्थिति में वार्तिक द्वारा प्रतिप्रसव किया जा रहा है। तदनुसार 'कारक' शब्द और 'छ' प्रत्यय परे रहते 'षष्ठयन्त' और 'तृतीयान्त' 'अन्य' पद को 'दुक्' आगम का निषेध नहीं होता। क्रमशः **उदाहरण**—(८) **अन्यत्कारकः** (दूसरे का करने वाला)। **विग्रह**—अन्यस्य कारकः। 'षष्ठी' तत्पुरुष एवं 'दुक्' आगम। (९) **अन्यदीयः** (दूसरे का)। **विग्रह**—अन्यस्य इदम्। अन्य+छ (गहादि-गण में 'अन्य' शब्द का पाठ मानने से 'छ' प्रत्यय—"गहादिभ्यश्च" ४-२-१३८)>अन्यद्+ईय (दुगागम तथा 'छ'=ईय)>अन्यदीयः (विभक्तिकार्य)।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र-स्थ 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य' पद में 'षष्ठी' तथा 'तृतीया' दोनों शब्दों में 'नञ्' समास द्वारा 'षष्ठी' तथा 'तृतीया' विभक्तियों से भिन्न विभक्तियाँ अपेक्षित हैं। दोनों पदों के पूर्व भिन्न भिन्न नञ् समास की अपेक्षा दोनों समस्त-पदों के पूर्व एक ही 'नञ्' समास कर 'अषष्ठीतृतीयास्थस्य'—इस रूप में पढ़ना समुचित रहा। तथापि अधिक स्पष्ट-प्रतीति के लिये पृथक् दो 'नञ्' समासों सहित पद का प्रयोग किया गया है।

(२) 'अन्यदीयम्' तथा 'अन्यत्कारकम्'—इन प्रयोगों की सिद्धि के लिये भट्टोजि दीक्षित ने 'कारके छे च नायं निषेधः' वाक्य को वार्तिक के रूप में प्रस्तुत किया है। महाभाष्य में वार्तिक के रूप में इसका उल्लेख नहीं किया गया है। वहाँ पर इन दोनों प्रयोगों की सिद्धि के लिये उपाय-स्वरूप यह निर्देश दिया गया है कि सर्वप्रथम सामान्य रूप में 'अन्य' शब्द को 'छ' प्रत्यय तथा 'कारक' शब्द परवर्ती होने पर 'दुक्' आगम का विधान कर तदनन्तर प्रकृत-सूत्रस्थ शब्दों से यह बोध कराया जायगा कि "षष्ठी तथा तृतीया विभक्त्यन्त 'अन्य' शब्द को 'आशिस्' आदि सात शब्दों के परवर्ती होने पर 'दुक्' आगम हो"[1]। इस कल्पना में दो 'नञ्' पदों का पृथक् उपादान ही इस बात का द्योतक है कि 'षष्ठी' तथा 'तृतीयान्त' विभक्ति-सम्बन्धी प्रतिषेध सर्वत्र प्रवृत्त नहीं होता। इसके फलस्वरूप कहीं-कहीं षष्ठी तथा तृतीया विभक्तियों में भी 'दुक्' आगम होने से उपर्युक्त दोनों उदाहरणों की इष्टसिद्धि हो जाती है। काशिका मे इसे कारिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है[2]।

---

१. "अषष्ठ्यतृतीयास्थस्येत्युच्यते। तत्रेदं न सिध्यति—अन्यस्य इदम्>**अन्यदीयम्**, अन्यस्य कारकः>अन्यत्कारकः इति। एवं तर्ह्यविशेषेण **अन्यस्य दुक्छकारयोः** इत्युक्त्वा ततो वक्ष्यामि—**अषष्ठ्यतृतीयास्थस्याशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिरागेष्विति**"।—महाभाष्यम्।

२. "दुगागमोऽविशेषेण वक्तव्यः कारकच्छयोः।
षष्ठी-तृतीययोर्नेष्ट आशीरादिषु सप्तसु॥"—काशिका।

विभाषा ६ । ३ । १०० ॥ अन्यदर्थः–अन्यार्थः । (१०२७) कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ६ । ३ । १०१ ॥ अजादावुत्तरपदे । कुत्सितोऽश्वः–कदश्वः । कदन्नम् । तत्पुरुषे किम् ? कूष्ट्रो राजा । 'त्रौ च' (वा ३९९८) । कुत्सितास्त्रयः—कत्त्रयः । (१०२८) रथवदयोश्च

(१०२७) कोः कत्तत्पुरुषेऽचि । कत् इति च्छेदः । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे— अजादावुत्तरपदे इति । कदश्वः । कदन्नमिति । 'कुगति' इति समासः । कूष्ट्रो राजेति । कुत्सितः उष्ट्रो यस्येति बहुव्रीहित्वात् न कदादेशः । त्रौ चेति । त्रिशब्दे परे कदादेशो वक्तव्य इत्यर्थः । उत्तरपदस्याजादित्वाभावात् वचनम् ।

(१०२६) पद—अर्थे, विभाषा । **अनुवृत्ति**—अषष्ठयतृतीयास्थस्य अन्यस्य दुक्, उत्तरपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उदा० अन्यदर्थः—अन्यार्थः ।

विवरण—"'अन्य' शब्द को 'अर्थ' शब्द परवर्ती रहते विकल्प से 'दुक्' (द्) आगम का विधान किया जा रहा है"। अतः पूर्वसूत्र (६-३-९९) से 'अषष्ठयतृतीयास्थस्य अन्यस्य' अंश की उपस्थिति अनुवृत्ति-वश होती है। अनुवृत्ति के प्रभाव से 'षष्ठी' तथा 'तृतीया' विभक्त्यन्त 'अन्य' शब्द से 'अर्थ' शब्द के परवर्ती होने पर 'दुक्' आगम नहीं होगा। **उदाहरण—अन्यदर्थः**←'दुक्' आगम होने पर। **अन्यार्थः**→'दुक्' आगम न होने पर। अर्थ—दूसरा अर्थ। **विग्रह**—अन्यः अर्थः। कर्मधारय समास तथा पाक्षिक 'दुक्' आगम। अथवा दूसरा विग्रह—अन्यस्मै इदम्। समास—"चतुर्थी तदर्थार्थ"० (२-१-३६) ।

(१०२७) पद—कोः, कत्, तत्पुरुषे, अचि। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अजादि उत्तरपद रहते (तत्पुरुष में 'कु' के स्थान में 'कत्' हो)। उदा० १—कुत्सितः अश्वः > कदश्वः। २—कदन्नम्। 'तत्पुरुषे' क्यों कहा ? कूष्ट्रो राजा (बहुव्रीहि होने से 'कत्' आदेश नहीं हुआ)। वा० 'त्रि' शब्द परे रहते भी 'कत्' आदेश कहा जाय। उदा० कुत्सिताः त्रयः > कत्त्रयः।

विवरण—सूत्र स्वतः में पूर्ण है। केवल आधिकरिक अनुवृत्ति 'उत्तरपदे' का प्रभाव विद्यमान है। सूत्रस्थ 'तत्पुरुषे अचि' अंश के साथ वह अन्वित होगा। **स्थानी** 'कु' (कुत्सितार्थक) है तथा **आदेश**-'कत्' है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "तत्पुरुष समास में अजादि शब्द (=स्वर-वर्ण से प्रारम्भ होने वाला शब्द) उत्तरपद रहते 'कु' (कुत्स्थितार्थक) के स्थान पर 'कत्' आदेश हो"। "अनेकाल्-शित्सर्वस्य" (१-१-५५) परिभाषा के प्रभाव से 'कत्' आदेश समग्र 'कु' को अभिव्याप्त करेगा। **उदाहरण** (१)—कदश्वः (बुरा घोड़ा)। **विग्रह**—कुत्सितः अश्वः > कु-अश्वः (समास—"कुगतिप्रादयः" २-२-१८) > कत्-अश्व (कु=कत्) > कद्-अश्व (त्–द्–"झलां जशोऽन्ते" ८-२-३९) >कदश्वः (विभक्तिकार्य)। (२) इसी तरह **कदन्नम्** (बुरा अन्न)।

वार्तिक—'अजादि' शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों के उत्तरवर्ती होने पर 'कत्' आदेश की व्यवस्था करने के फलस्वरूप 'त्रि' शब्द उत्तरपद रहते 'कु' शब्द के स्थान पर 'कत्' आदेश का कथन चरितार्थ हो रहा है। इस प्रतिपादन के अनुसार आगे के सूत्र ("रथवदयोश्च" ६-३-१०२) में 'च' शब्द पूर्व-प्रतिपादित अर्थ का बोधक होगा। जिसके फलस्वरूप वहाँ 'त्रि' शब्द उत्तरपद रहते 'कु' के स्थान पर 'कत्' आदेश होगा। **उदाहरण—कत्त्रयः** (दुष्ट तीन) **विग्रह**—कुत्सिताः त्रयः।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'तत्पुरुषे' पद का समावेश होने से **कूष्ट्रः**—राजा (दुष्ट ऊँट वाला राजा) में 'कु' के स्थान पर 'कत्' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ पर बहुव्रीहि-समास किया गया है—कुत्सितः उष्ट्रः यस्य।

६।३।१०२॥ कद्रथः। कद्वदः। (१०२९) तृणे च जातौ ६।३।१०३॥ कत्तृणम्। (१०३०) का पथ्यक्षयोः ६।३।१०४॥ कापथम्। काक्षः। अक्षशब्देन तत्पुरुषः,

---

(१०२८) रथवदयोश्च। 'कोः कत्तत्पुरुषे' इति शेषः। कद्रथः। कद्वद इति। 'कुगति' इति समासः। वदतीति वदः। कुत्सितो वदः कद्वदः।

(१०२९) तृणे च जातौ। तृणशब्दे कोः कत्स्यात् जातौ वाच्यायाम्। कत्तृणमिति। तृणजातिविशेषोऽयम्। 'अस्त्री कुशं कुथो दर्भः पवित्रमथ कत्तृणम्' इत्यमरः।

(१०३०) का पथ्यक्षयोः। पथिन्, अक्ष—अनयोः परतः कोः का इत्यादेशः स्यादित्यर्थः। कापथमिति। कुत्सितः पन्था इति विग्रहः। 'कुगति' इति समासः। 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्ययः। 'पथः सङ्ख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम्। कापथ इति पाठे तु बहुव्रीहिः। काक्षशब्दे समासं दर्शयति—अक्षशब्देन तत्पुरुष इति। कुत्सितमक्षमिन्द्रियमिति विग्रहे

विशेष—प्रकृत सूत्रस्थ 'तत्पुरुषे' पद से यह ज्ञापित होता है कि अनिर्दिष्ट (अर्थात् तत्पुरुष से भिन्न) समास में भी 'कु' को 'कत्' आदेश की सम्भावना है। अन्यथा 'तत्पुरुषे' पद की कोई सार्थकता नहीं थी, क्योंकि 'कु' शब्द का समास-विधान "कुगति-प्रादयः" २-२-१८ से होता है और वह विधान 'तत्पुरुष' में ही विहित है। इसके फलस्वरूप "ज्योतिर्जनपद०" (६-३-८५) से विहित 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश की प्रवृत्ति बहुव्रीहि समास में भी हो जाती है।

(१०२८) पद—रथ-वदयोः, च। **अनुवृत्ति**—कोः कत् तत्पुरुषे, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—कद्रथः। २—कद्वदः।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है। पूर्वसूत्र में 'अचि' पद का निवेश होने से केवल अजादि शब्दों के परवर्ती होने पर ही 'कु' को 'कत्' आदेश प्राप्त रहा। अतः हलादि वर्णों में केवल 'रथ' तथा 'वद' शब्दों के उत्तरवर्ती होने पर 'कत्' आदेश होने के लिये पृथक् विधान अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ है कि "'रथ' तथा 'वद' शब्द यदि उत्तरपद हों तो भी तत्पुरुष-समास में 'कु' के स्थान पर 'कत्' आदेश हो"। **उदाहरण**—(१) कद्रथः (बुरा रथ)। **विग्रह**—कुत्सितः रथः। समास एवं 'कत्' आदेश पूर्ववत्। (२) कद्वदः (बुरा बोलने वाला)। **विग्रह**—कुत्सितः वदः। वदः—√वद्+अ (अच्)। समास एवं 'कत्' आदेश पूर्ववत्।

(१०२९) पद—तृणे, च, जातौ। **अनुवृत्ति**—कोः कत् तत्पुरुषे, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० कत्तृणम्।

विवरण—"'तृण' शब्द उत्तरपद रहते भी जाति अभिधेय होने पर 'कु' के स्थान पर 'कत्' आदेश हो"। **उदाहरण**—**कत्तृणम्** (विशेष घास)। **विग्रह**—कुत्सितं तृणम्। 'कुगतिप्रादयः' २-२-१८ समास तथा 'कु' के स्थान पर 'कत्' आदेश।

(१०३०) पद—का, पथ्यक्षयोः। **अनुवृत्ति**—कोः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—कापथम्। २—काक्षः। (यहाँ पर) 'अक्ष' शब्द के साथ तत्पुरुष समास अथवा 'अक्षि' शब्द के साथ बहुव्रीहि समास (हुआ है)।

विवरण—'कु' के स्थान पर 'का' आदेश-विधान का प्रसङ्ग है। अतः स्थानि-वाचक 'कु' शब्द (६-३-१०१ से) अनुवृत्तिलभ्य है। आदेश-वाचक 'का' शब्द सूत्र में निर्दिष्ट है। वह लुप्त-प्रथमा—विभक्त्यन्त है। 'पथ्यक्षयोः' पद अनुवर्तमान 'उत्तरपदे' के साथ अन्वित हो रहा है। तदनुसार सूत्र का समाष्टगत अर्थ यह होगा कि "'पथिन्' और 'अक्षि' शब्द परे रहते 'कु' शब्द को 'का' आदेश हो"। **उदाहरण**—(१) **कापथम्** (बुरा मार्ग)। **विग्रह**—कुत्सितः पन्थाः। 'कुगतिप्रादयः' से समास तथा समासान्त 'अ' प्रत्यय—"ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" ५-४-७४ तथा 'टि=इन्' का लोप। (२) क-**काक्षः** (खराब पासा, बुरी आँख वाला)। 'पासे' के अर्थ में 'अक्ष' शब्द को अभिलक्षित कर **विग्रह**—कुत्सितः अक्षः। 'कुगतिप्रादयः' से

अक्षिशब्देन बहुव्रीहिर्वा । (१०३१) ईषदर्थे ६ । ३ । १०५ ॥ ईषज्जलं—काजलम् । अजादावपि परत्वात्कादेशः । काम्लः । (१०३२) विभाषा पुरुषे ६ । ३ । १०६ ॥ कापुरुषः—कुपुरुषः । अप्राप्तविभाषेयम् । ईषदर्थे हि पूर्वविप्रतिषेधान्नित्यमेव । ईषत्पुरुषः कापुरुषः । (१०३३) कवं चोष्णे ६ । ३ । १०० ॥ उष्णशब्दे उत्तरपदे कोः कवं का

'कुगति' इति समास इत्यर्थः । अक्षिशब्देनेति । कुत्सिते अक्षिणी यस्येति विग्रहे 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्षणोः' इति षजित्यर्थः ।

(१०३१) ईषदर्थे । ईषदर्थे विद्यमानस्य कोः का इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । ईषज्जलं काजलमिति । ईषत् जलमिति विग्रहे 'कुगति' इति समासः । नित्यसमासत्वात् अस्वपदविग्रहप्रदर्शनम् । कुत्सितः अम्लः काम्लः इत्यत्र 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कदादेशमाशङ्क्याह—अजादावपीति ।

(१०३२) विभाषा पुरुषे । कोः का इत्यादेश इति शेषः । अप्राप्तविभाषेति । ननु कोः ईषदर्थकत्वे सति 'ईषदर्थे' इति नित्ये कादेशे प्राप्ते विकल्पसम्भव इत्यत आह—ईषदर्थे हीति । वृत्त्यनुसारेणेदमुक्तम्, पूर्वविप्रतिषेधस्य भाष्यानुक्तत्वात् ।

समास, कु='का' तथा दीर्घ एवं विभक्तिकार्य । (ख) 'आँख' अर्थ वाले 'अक्षिन्' को अभिलक्षित कर विग्रह—कुत्सिते अक्षिणी यस्य । यहाँ पर बहुव्रीहि समास तथा समासान्त 'षच्' प्रत्यय—"बहुव्रीहौ सक्थ्यक्षणोः स्वाङ्गात् षच्" ५-४-११३→कु-अक्षिन् >का-अक्षिन् +अ >का-अक्ष्+अ > काक्षः (इन् का लोप—"नस्तद्धिते" ६-४-१४४ तथा विभक्तिकार्य)

(१०३१) पद—ईषदर्थे, च । अनुवृत्ति—का, कोः, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० ईषज्जलम्—काजलम् । 'अजादि' शब्द परे रहते भी 'परत्व' के कारण 'कु' के स्थान में 'का' आदेश हो । उदा० काम्लः ।

विवरण—स्थानिवाचक शब्द की अनुवृत्ति "को कत् तत्पुरुषेऽचि" ६-३-१०१ से आरही है । आदेश-वाचक 'का' शब्द भी पूर्वसूत्र "का पथ्यक्षयोः' (६-३-१०४) से अनुवृत्ति-लभ्य है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'ईषत्' (थोड़ा) अर्थ में 'कु' शब्द के स्थान पर उत्तरपद परे रहते 'का' आदेश हो" । **उदाहरण**—(१) **काजलम्** (थोड़ा पानी) । **विग्रह**—ईषत् जलम् । कु-जल+सु >का-जल>का-जलम् (समास-"कु-गतिप्रादयः", 'का' आदेश तथा विभक्ति-कार्य । (२) **काम्लम्** (थोड़ा खट्टा) **विग्रह**—ईषत् अम्लम् । समासादि कार्य पूर्ववत् जानें । यहाँ पर (अजादि) 'अम्ल' पद उत्तरवर्ती होने पर "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' (६-३-१०१) सूत्र से 'कत्' प्राप्त रहा, किन्तु अष्टाध्यायी सूत्र-क्रम में परवर्ती होने से 'का' आदेश ही होता है—"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" १-४-२ ।

(१०३२) पद—विभाषा, पुरुषे । अनुवृत्ति—का, कोः, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० कापुरुषः—कुपुरुषः । यह अप्राप्तविभाषा है । 'ईषत्' अर्थ में तो पूर्व-विप्रतिषेध से नित्य ही 'का' आदेश होता है । उदा० ईषत्पुरुषः—का-पुरुषः ।

विवरण—'का' आदेश का ही प्रकरण है । केवल 'पुरुष' शब्द उत्तरवर्ती होने पर वैकल्पिक विधान किये जाने से पृथक् सूत्र की उपयोगिता है । तथा आगे भी 'विभाषा' की अनुवृत्ति जाना इसका उद्देश्य है । **उदाहरण**—**कापुरुषः**←'का' आदेश होने पर । **कुपुरुषः**→'का' आदेश न होने पर । **विग्रह** आदि कार्य पूर्ववत् । **अर्थ**—कुछ-कुछ पुरुष (जिस व्यक्ति में मनुष्यता की कमी हो) ।

(१०३३) पद—कवं, च, उष्णे । अनुवृत्ति—विभाषा, का, कोः, उत्तरपदे । विधिसूत्र ।

च वा स्यात्। कवोष्णम्—कोष्णम्—कदुष्णम्। **(१०३४) पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ६।३।१०९॥** पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि स्युः। पृषदुदरं पृषोदरम्। तलोपः। वारिवाहको बलाहकः। पूर्वपदस्य बः। उत्तरपदादेश्च लत्वम्।

(१०३३) कवं चोष्णे। कवं का च वेति। विभाषेत्यनुवृत्तेरिति भावः। उभयाभावे कदादेशः। तथा च रूपत्रयम्। तदाह—कोष्णम्—कवोष्णम्—कदुष्णमिति।

(१०३४) पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्। आदिशब्दो न प्रभृतिवाची, गणपाठे पृषोदरादिपाठस्यादर्शनात्, यथोपदिष्टपदस्य वैयर्थ्याच्च। किन्तु प्रकारवाची, तदाह—पृषोदरप्रकाराणीति। प्रकारः सादृश्यं, तच्च शास्त्रोक्तलोपागमादेशादिरहितत्वेन बोध्यम्। व्याकरणशास्त्रागृहीतानीति यावत्। उपपूर्वको दिशिरुच्चारणार्थः। भावे क्तः। उपदिष्टमुपदेशः उच्चारणं, तदनतिक्रम्य यथोपदिष्टम्। पदार्थानतिवृत्तावव्ययीभावः। शिष्टैरित्यध्याहार्यम्। तथा च फलितमाह—शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनीति। शिष्टास्तु शब्दतत्त्वसाक्षात्कारवन्तः योगिन इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्। तलोप इति। षष्ठीसमासे सुब्लुकि तलोपे 'आद् गुणः' इति भावः। पूर्वपदस्येति। वारिवाहकशब्दे वारिशब्दस्य पूर्वपदस्य बकारः सर्वादेशः। वाहशब्दः उत्तरपदं तदादेर्वकारस्य लकारादेश इत्यर्थः।

मूलार्थ—'उष्ण' शब्द उत्तरपद रहते 'कु' शब्द को विकल्प से 'कव' आदेश हो। उदा० कवोष्णम्—कोष्णम्।

विवरण—'कव' आदेश का विधान है। **स्थानी**—'कु' शब्द है। विधान वैकल्पिक है। अतः 'कु' तथा 'विभाषा' पद दोनों ही अनुवृत्तिलभ्य हैं। तदनुसार सूत्र से यह ध्वनित होता है कि "उष्ण शब्द उत्तरवर्ती होने पर 'कु' शब्द को विकल्प से 'कव' आदेश हो"। **उदाहरण**—**कवोष्णम्** (कुछ गर्म) ←'कव' आदेश होने पर। **विग्रह**—ईषद् उष्णम्। कु—उष्ण>कव+उष्ण >कवोष्ण (गुण सन्धि) >कवोष्णम्। **कोष्णम्**→पक्ष में 'का' आदेश होने पर। **कदुष्णम्**→ पूर्वोक्त दोनों आदेशों के न होने पर "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" ६-३-१०० से कु='कत्' आदेश होगा।

(१०३४) पद—पृषोदरादीनि, यथोपदिष्टम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पृषोदरादि शब्द शिष्टों द्वारा जिस तरह उच्चारित हैं, उसी रूप में समीचीन मानें जायँ। उदा० १—पृषत् उदरम् >पृषोदरम्। (यहाँ) 'त्' लोप हुआ है। २—वारिवाहकः >बलाहकः। (यहाँ पर) पूर्वपद के स्थान में 'ब' तथा उत्तरपद के आदिम वर्ण को 'ल' हुआ। वर्णागम के कारण 'हंस' शब्द तथा वर्ण-विपर्यय से 'सिंह', वर्ण के विकार से 'गूढोत्मा' तथा वर्ण-लोप से 'पृषोदर' शब्द निष्पन्न हुए हैं। वा० (१) दिशावाचक शब्दों से परवर्ती 'तीर' को विकल्प से 'तार' आदेश हो। उदा० १—दक्षिणतारम्—दक्षिणतीरम्। २—उत्तरतारम्-उत्तरतीरम्। वा० (२) 'दाश', 'नश', 'दभ' और 'ध्य' शब्द परे रहते 'दुर्' को उत्व हो तथा उत्तरपद के आदिम वर्ण को ष्टुत्व हो। उदा० १—दुःखेन दाश्यते > दूडाशः। २—दुःखेन नाश्यते इति>दूणाशः। ३—दुःखेन दम्यते > दूडभः। इन तीनों उदाहरणों में 'खल्' प्रत्यय है तथा 'दम्भ' धातु के अनुनासिक का लोप भी निपातनवश हुआ है। ४—दुःखेन ध्यायति > दूढ्यः। यहाँ √ध्या से "आतश्चोपसर्गे" (सू० २८९८) से 'क' प्रत्यय हुआ है। ५—ब्रुवन्तः अस्यां सीदन्ति >वृसी। यहाँ 'ब्रुवत्' के स्थान पर 'वृ' आदेश तथा √सद् धातु से अधिकरण में 'डट्' प्रत्यय हुआ है। यह आकृतिगण है।

विवरण—सूत्र स्वतः में पूर्ण है। शिष्ट पुरुषों द्वारा प्रयुक्त सूची में किसी लौकिक पुरुष को परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार का विधान निपातन भी कहलाता है। प्रकृत

'भवेद्वर्णागमाद् हंसः सिंहो वर्णविपर्ययात् ।
गूढोऽऽत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरम्' ॥

'दिक्छब्देभ्यस्तीरस्य तारभावो वा' (वा ३९९९)। दक्षिणतारम्—दक्षिणतीरम्। उत्तरतारम्—उत्तरतीरम्। 'दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च' (वा ४००१)।

भवेद्वर्णागमाद्धंस इति। हसधातोः पचाद्यचि अनुस्वारागमे हंस इति रूपमित्यर्थः। हन-धातोरचि सगागमे 'नश्चापदान्तस्य' इति अनुस्वार इत्यन्ये। सिंहो वर्णविपर्ययादिति। 'हिसि हिंसायाम्' इत्यतः पचाद्यचि इदित्त्वान्नुम्। 'नश्च' इत्यनुस्वारः। हकारस्य सकारः, सकारस्य हकारश्च—सिंह इति रूपमित्यर्थः। यद्यपि हंससिंहयोरुणादौ व्युत्पत्तिरुक्ता। तथाप्युणादिसूत्राणां शाकटायनप्रणीतत्वेन शास्त्रान्तरत्वादिह व्युत्पादने न दोष इत्याहुः। गूढोत्मा वर्णविकृतेरिति। गूढः आत्मा यस्येति बहुव्रीहौ उत्तरपदादेराकारस्य उकारे रूपमिति भावः। वर्णनाशात्पृषोदरमिति। पृषत् उदरमित्यत्र तकारलोपे सति आद्गुणे पृषोदरमिति भवतीत्यर्थः।

दिक्छब्देभ्यस्तीरस्येति। वार्तिकमिदम्। दुरो दाशेति। इदमपि वार्तिकम्। दुर इत्यस्य दाश, नाश, दभ, ध्य इत्येतेषु परेषु उत्वम् उत्तरपदादेः ष्टुत्वं च वक्तव्यमित्यर्थः।

सूत्र के द्वारा यह निर्वचन किया जारहा है कि "'पृषोदर' इत्यादि शब्दरूप शिष्टों के द्वारा जिस प्रकार उच्चारित हैं, वे वैसे ही समीचीन माने जाते हैं"। उनकी समीचीनता में किन परिवर्तनों की अपेक्षा रहती है उसे आगे यास्क के निरुक्त ग्रन्थ के आधार पर एक कारिका द्वारा स्पष्ट किया जारहा है। तदनुसार जहाँ लोप, आगम, वर्ण-विकार, वर्णविपर्यय आदि देखे जायँ, किन्तु शास्त्र द्वारा उसका विधान न हो, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट पुरुषों द्वारा उच्चारित होने के कारण समीचीन समझना चाहिये[1]।

शिष्ट कौन हैं? इस सम्बन्ध में प्रकृतसूत्र के महाभाष्य में पतञ्जलि ने कहा है कि "आर्यावर्त में रहने वाले जो मनीषी घर में केवल एक घड़ा भर धान्य ही संचित रखते हैं तथा लोभरहित एवं बिना किसी कारण निष्काम भाव से किसी विद्या में पारंगत हैं—ऐसे व्यक्ति शिष्ट[2] कहलाते हैं। धर्मशास्त्रों में षडङ्गवेत्ता को शिष्ट कहा गया है। ऐसे महाविद्वान् शिष्ट पुरुषों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के यथार्थ ज्ञान के लिये महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की[3]। अतः सभी आर्ष शब्द साधु हैं।

इस अर्थ का प्रतिपादन सूत्र के शब्दों द्वारा टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—'आदि' शब्द प्रकार-वाची है। 'यथोपदिष्टम्' शब्द वीप्सा अथवा पदार्थानतिवृत्ति में अव्ययीभाव-समासपरक है। उसका अस्वपद लौकिक विग्रह होगा—'यानि यानि उपदिष्टानि' अथवा 'उपदिष्टम् अनति-क्रम्य'। उपदिष्टानि=उच्चारितानि, क्योंकि √दिश् धातु का अर्थ उच्चारण करना है, उससे भावार्थक 'क्त' प्रत्यय है। तदनुसार पृषोदरादिगण-प्रयुक्त शब्दों को यथानुरूप रखना ही व्याकरण-सम्मत है।

---

१. "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्" ॥
'निश्चयेन उच्यते अर्थः अनेन'—इति निरुक्तम्।

२. 'एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्याया पारगास्ते तत्र भवन्तः शिष्टाः'।—महाभाष्यम्।

३. 'शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी'। अष्टाध्यायीमधीयानोऽनधीताष्टाध्यायीकमपि येऽस्यामष्टा-ध्याय्यां विहिताः शब्दास्तान् प्रयुञ्जानं पश्यन्नेवमध्यवस्यति शिष्टोऽयमिति'।—महाभाष्यम्।

दुःखेन दाश्यते दूडाशः । दुःखेन नाश्यते दूणाशः । दुःखेन दभ्यते दूडभः । खल् त्रिभ्यः । दम्भेर्नलोपो निपात्यते । दुःखेन ध्याययीति दूढ्यः । 'आतश्च–' (सू २८९८) इति कः ।

दूडाश इति । दुर्–दाश इति स्थिते रेफस्य उत्वं सवर्णदीर्घः । दाशेः दकारस्य ष्टुत्वेन डकारः । दूणाश इति । दुर्नाश इति स्थिते रेफस्य उत्तरं सवर्णदीर्घः, नाशेर्नकारस्य ष्टुत्वेन णत्वम् । दूडभ इति । दुर् दभ इति स्थिते रेफस्य उत्वं, सवर्णदीर्घः । दभेर्दकारस्य ष्टुत्वेन डकारः । खल् त्रिभ्य इति । 'दाशृ दाने' 'णश अदर्शने' ण्यन्तः, 'दभ हिंसायाम्' इति त्रिभ्यः धातुभ्यः 'ईषद्दुस्सुषु' इति खल्प्रत्यय इत्यर्थः । ननु क्ङित्परकत्वाभावात् कथमिह 'अनिदिताम्' इति नलोप इत्यत आह—दम्भेर्नलोपो निपात्यत इति । दूढ्य इति । दुर् ध्यः इति स्थिते रेफस्य उत्वं सवर्णदीर्घः, धस्य ष्टुत्वेन ढत्वम् । आतश्चेति । 'ध्यै चिन्तायाम्' 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्यये 'आदेच उपदेशे' इति आत्वे 'आतो लोप

उनके विषय में किसी प्रकार का सन्देह करने का अवसर ही नहीं है। **उदाहरण**—(१) **पृषोदरम्** (चितकबरे मृग का पेट)। **विग्रह**–पृषद् उदरं यस्य या पृषतः उदरम् । पृषत् -उदर (बहुव्रीहि-समास या तत्पुरुष) > पृष-उदर ('त्' लोप) > पृषोदरम् (गुण)। (२) **बलाहकः** (मेघ)। **विग्रह**—वारिणः वाहकः > वारि-वाहक (समास) > बलाहक ('वारि' = ब तथा 'वाहक' शब्दस्य 'व'=ल) > बलाहकः (प्रथमा विभक्ति एकवचन)। **दूसरा प्रकार**—बलाकाभिः हायते=गम्यते । बलाका—√ हा+वु (क्वुन्—"जहातेर्द्वे च" उणादि–२।३७) > बलाका-हा+अक > बलाका-हक > बलाहक—पृषोदरादि के कारण 'का'- लोप ।

प्रसङ्गवश 'हंस' आदि शब्दों का निर्वचन दिखाया जारहा है। (१) (क) **वर्णागम**—**हंस** (इसी नाम से प्रसिद्ध)। **विग्रह**—हसति इति। √हस्+अच् ("नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३-१-१३४) > हन्+स ('न्'—आगम) > हंस (न् = ं-अनुस्वार) > हंसः (विभक्तिकार्य)। **दूसरा प्रकार**—हन्ति (गच्छति) इति हंसः। √हन्+स (वृ–तॄ–वदि-हनि–कमि–कशिभ्यः सः"–उणादि ३।६२)। > हंसः (न्=ं=अनुस्वार तथा विभक्तिकार्य)। (२) (क) **वर्ण-विपर्यय**—**सिंहः** (शेर)। **विग्रह**—हिनस्ति इति। √हिंस्+अच् (पचादि) > हिन्-स्+अ (नुम्) > हिंस्+अ (न् = अनुस्वार) > सिंह (ह = स तथा स = ह—वर्णविपर्यय) > सिंहः (विभक्तिकार्य)। (२) (ख) **दूसरा प्रकार**—**विग्रह**—सिञ्चति इति। √षिच्+नुम्—च् = ह > सि-न्-ह > सिंहः (न् = अनुस्वार, विभक्ति-कार्य)। (३) **वर्ण-विकार**—**गूढोत्मा** (छिपा हुआ आत्मा)। **विग्रह**—गूढः आत्मा यस्य। गूढ-आत्मन् (बहुव्रीहि समास) > गूढ-उ-त्मन् (आ = उ) > गूढोत्मन् (गुण सन्धि) > गूढोत्मा (प्रथमा विभक्ति)। (४) **वर्णनाश**—**पृषोदरम्** । प्रक्रिया दिखाई जाचुकी है।

प्रसङ्गवश अन्य शब्दों के सन्दर्भ में अनेक **वार्तिकों** का उल्लेख किया गया है। तदनुसार वार्तिक (१) दिशावाची शब्दों से परवर्ती तीर शब्द के स्थान में विकल्प से तार आदेश होता है। **उदाहरण**—(क) **दक्षिणतारम्**←तार आदेश होने पर। **दक्षिणतीरम्**←'तार' आदेश न होने पर। **विग्रह**–दक्षिणस्याः तीरम् (षष्ठी-तत्पुरुष) अथवा दक्षिणं च तत् तीरम् (कर्मधारय)। अर्थ—दक्षिणी तट। समास में दिशावाची 'दक्षिणा' शब्द को पुंवद्भाव–(=दक्षिण)—'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' वा०। (ख) **उत्तरतारम्** ←'तार' आदेश होने पर। **उत्तरतीरम्**→'तार' आदेश न होने पर। विग्रहादि कार्य पूर्ववत्। अर्थ—उत्तरी तट। वार्तिक—(२) **दाश, नाश, दभ** तथा ध्य शब्दों से पूर्ववर्ती **दुर्** शब्द को उकार हो तथा उत्तरपदस्थ आदिम वर्ण को ष्टुत्व भी हो। **क्रमशः उदाहरण**—(क) दूडाशः (जिसको कठिनाई से दिया जा सके या कष्ट

ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति बृसी । ब्रुवच्छब्दस्य बृ आदेशः । सदेरधिकरणे डट् । आकृतिगणोऽयम् । (१०३५) संहितायाम् ६ । ३ । ११४ ॥ अधिकारोऽयम् । (१०३६)

इटि च' इत्याल्लोपे ब्यशब्द इत्यर्थः । सदेरिति । सद्धातोरधिकरणेऽर्थे डटि डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे स इति रूपम् । ब्रुवत् स इति स्थिते उपपदसमासे सुब्लुकि ब्रुवच्छब्दस्य बृ इत्यादेशे बृसशब्दात् 'टिड्ढ' इति ङीपि बृसीति रूपमिति भावः । दिक्छब्देभ्य इत्यारभ्य एतदन्तः सन्दर्भः पृषोदरादीनीत्यस्यैव प्रपञ्चः । आकृतिगणोऽयमिति । पृषोदरादिरित्यर्थः । तेन कर्तुंकामः कर्तुंमनाः इत्यादिसङ्ग्रहः ।

(१०३५) संहितायाम् । सुगमम् ।

पहुँचाया जा सके) । **विग्रह**—दुःखेन दाश्यते । दुर्-√दाश्+अ (कर्म में 'घञ्' प्रत्यय अथवा 'खल्' प्रत्यय—"ईषद्-दुःसुषु०") > दुर्-दाश (प्रादि-समास) > दु-उ-दाश (र्=उ तथा द्=ड्—ष्टुत्व) > दूडाशः (दीर्घ एवं विभक्तिकार्य) । (ख) **दूणाशः** (जिसको कठिनता से नष्ट किया जा सके) । **विग्रह**—दुःखेन नाश्यते । समासादि कार्य पूर्ववत् । (ग) **दूडभः** (जिसको कठिनता से दबाया जा सके) । दुर्-दम्भ्+अ > दु-उ-दभ (र्=उ, 'म्'—अनुनासिक का निपातनवश लोप) > दूडभः (दीर्घ तथा विभक्ति-कार्य) । (घ) **दूढ्यः** (जो कठिनता से ध्यान करे) । **विग्रह**—दुःखेन ध्यायति अथवा—दुष्टं ध्यायति । दुर्-√ध्यै+क—"आतश्चोपसर्गे" ३-१-१३६ > दुर्-ध्या+अ > दुर्-ध्य्+अ ('आ' का लोप) > दु-उ-ढ्य (र्=उ, ध्=ढ्) > दूढ्यः (दीर्घ तथा विभक्ति कार्य) । (ङ) **बृसी** (ऋषि का आसन) । **विग्रह**—ब्रुवन्तः अस्यां सीदन्ति । ब्रुवत्+जस्, √सद्+अ (अधिकरण अर्थ में डट् प्रत्यय) > ब्रुवत्+स्—अ ('अद्'—टि का लोप—डित्वसामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः' नियम के अनुसार) > ब्रुवत्+जस्, स+सु > ब्रुवत्—स (उपपद समास, विभक्ति-लोप) > बृ-स (ब्रुवत्='बृ' आदेश) > बृसी (बृस+ई—'ङीप्' तथा विभक्ति कार्य) ।

विशेष—पृषोदरादिगण के प्रायः सभी अन्य शब्द लोकोपयोगी हैं । अतः उनका संक्षेप में निदर्शन किया जा रहा है । (१) **जीमूतः** (मेघ) । **विग्रह**—जीवनस्य=जलस्य, मूतः=भाजनम् । यहाँ 'वन' शब्द का लोप हुआ है । (२) **श्मशानम्** (प्रसिद्ध शब्द) । **विग्रह**—शवानां शयनम् । शव=श्म तथा शयन=शान आदेश । (३) **उलूखलम्** (ओखली) । **विग्रह**—ऊर्ध्वं खम् अस्य । ऊर्ध्व=उलू तथा ख=खल आदेश । (४) **पिशाचः** (राक्षस) । **विग्रह**—पिशितम् अश्नाति । पिशित=पिश तथा अश=अच आदेश । **मयूरः** (मोर) । **विग्रह**—मह्यां रौति । मही=मयू, तथा +ड मे 'टि' का लोप (रौ+अ में 'औ' का लोप) । (५) **अश्वत्थः** (पीपल) । **विग्रह**—न श्वः=चिरं तिष्ठति । स्थः=स्था+अ (क-"सुपि स्थः" ३-५-४) । स्=त् आदेश । (६) **कपित्थः** (कैथ) । **विग्रह**—कपयः तिष्ठन्ति अत्र । स्=त् आदेश । यह आकृतिगण माना गया है । अतः **कर्तुंकामाः, कर्तुंमनाः** आदि प्रयोगों मे 'म्' का लोप हो जाता है[1] ।

(१०३५) पद—संहितायाम् । अधिकारसूत्र ।

मूलार्थ—यह भी 'अधिकार' सूत्र है ।

विवरण—यह अधिकार सूत्र है । षष्ठाध्याय के तृतीय पाद की समाप्ति पर्यन्त इसका प्रभाव रहेगा । अष्टाध्यायी क्रम में इस पाद का अन्तिम सूत्र है—"द्व्यचस्तिङः" (६-३-१३५) । वहाँ

---

१. "लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं-काम-मनसोरपि ।
समो वा हित-ततयोर्मांसस्य पचि युड्-घञोः" ॥ इत्यपि संगृहीतम् ।

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ६ । ३ । ११५ ॥
कर्णशब्दे परे लक्षणवाचकस्य दीर्घः । द्विगुणाकर्णः । लक्षणस्य किम् ? शोभनकर्णः ।

(१०३६) कर्णे लक्षणस्य । दीर्घविधिः, 'ढ्रलोपे' इत्यतस्तदनुवृत्तेः । यत्पशूनां स्वामिविशेषसम्बन्धज्ञानार्थं दात्रशूलचक्राद्याकारचिह्नं क्रियते तल्लक्षणशब्देन विवक्षितम् । तेन लम्बकर्णः इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । द्विगुणाकर्ण इति । द्विगुणरेखौ कर्णौ यस्येति

तक होने वाले विधान संहिता के विषय में होंगे। 'संहिता' का पारिभाषिक अर्थ "परः सन्निकर्षः संहिता" १-४-१०९ सूत्र से विदित होता है । तदनुसार वर्णों के अत्यन्त सामीप्य की 'संहिता' संज्ञा कही गई है । इसका फल सन्धि-कार्य का होना है । इसी को अभिलक्षित कर निम्न-लिखित कारिका में उसकी अभिव्याप्ति सूचित की गई है—

संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षाम् अपेक्षते" ॥

अर्थात् एक पद के भिन्न भिन्न अवयवों में, धातु एवम् उपसर्ग में तथा समास में संहिता (=सन्धि) आवश्यक है । वाक्यस्थ पृथक् पृथक् शब्दों में सन्धि करना या न करना इच्छा पर निर्भर है ।

विशेष—इस अधिकार के पूर्व षष्ठ-अध्याय के प्रारम्भिक सूत्र "अलुगुत्तरपदे" ६-३-१ द्वारा इस अध्याय की समाप्ति-पर्यन्त **उत्तरपदे** का अधिकार भी सूचित किया जा चुका है । इस प्रकार 'संहिता' अधिकार के अन्तर्गत अन्य विधान तो उत्तरपद को अभिलक्षित कर अपेक्षित होने के कारण समास में होंगे तथा समास में संहिता के नित्य होने से इसका फल वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होगा । अतः काशिका आदि ग्रन्थों में इस अधिकार के फलस्वरूप वैदिक उदाहरण विद्मा हि त्वा **सत्पति-शूर गोनाम्** में पदपाठ के समय **विद्म** (दीर्घरहित) रूप साधु माना गया है । कारण यह है कि 'विद्मा' इस तिङन्त प्रयोग में समास न होने से 'उत्तरपदे' अधिकार का प्रभाव न होने के कारण इस अधिकार के साथ सामञ्जस्य नहीं हो सकेगा तथा वहाँ दीर्घ की प्रवृत्ति संहिता-पाठ में कैसे सम्भव होगी ? अतः यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जहाँ उत्तरपद में कार्य का विधान हो वहाँ उत्तरपद के न रहने पर भी इस नियम का उल्लङ्घन कर **संहितायाम्** अधिकार की उपयोगिता स्वीकार की जाय[1] । **विद्मा** उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगी—√ विद्+मस् लट्—उत्तमपुरुष बहुवचन) >विद्+म (मस्=म–"विदो लटो वा" ३-४-८३) >विद्मा ("द्व्यचोऽतस्तिङः" ६-३-१३५ सूत्र से दो-अच् वाले तिङन्त 'विद्म' के ह्रस्व अकार-द्म-को दीर्घ हुआ)। यहाँ 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति होने के फलस्वरूप दीर्घ की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि (तिङन्त में) कोई दूसरा पद उत्तरवर्ती नहीं होता । अतः अनुत्तरपदस्थ 'विद्म' शब्द में भी संहिता के विषय में 'अ' को दीर्घ हो जाता है । पदपाठ और अवग्रह में पद की सत्ता स्वतन्त्र होने के कारण वहाँ दीर्घ नहीं पढ़ा जायगा ।

(१०३६) पद—कर्णे, लक्षणस्य, अविष्टाष्ट······कस्य । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य दीर्घः, अणः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संहिता के विषय में 'कर्ण' शब्द परे रहते लक्षण-वाचक शब्द को दीर्घ हो । उदा०

---

१. "'उत्तरपदे' इति वर्तते । उत्तरपदं च समासे भवति । तत्र च अन्तरेणापि वचनं नित्यमेव संहितायां भवितव्यम् । तस्मादुत्तरपदे परतो वक्ष्यमाणानां यत् कार्यं न तदर्थताधिकारस्योपपद्यते इति यदनुत्तरपदे तदर्थमेवायमधिकारः । तेन यैर्योगैरुत्तरपदे कार्यं विधीयते तानुल्लङ्घ्य येन योगेनानुत्तरपदे कार्यं विधीयते तत्रास्योपयोगः"—इति काशिकाव्याख्यायां न्यासकारेण जिनेन्द्र-बुद्धिना तत्रैव निरूपितम् । तथैव लघुशब्देन्दुशेखरेऽपि प्रपञ्चितम् इति तत्तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

अविष्टादीनाम् किम् ? विष्टकर्णः । अष्टकर्णः । पञ्चकर्णः । मणिकर्णः । भिन्नकर्णः । छिन्नकर्णः । छिद्रकर्णः । स्रुवकर्णः । स्वस्तिककर्णः । **(१०३७) नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ६ । ३ । ११६ ॥** क्विबन्तेषु एषु परेषु पूर्वपदस्य दीर्घः । उपानत् । नीवृत् । प्रावृट् । मर्मावित् । नीरुक् । अभीरुक् । ऋतीषट् । परीतत् । क्वौ इति

विग्रहः । अष्टकर्ण इत्यादेरष्टसङ्ख्यालिपिचिह्नकर्ण इत्यादिरर्थः । अष्टसङ्ख्याकरेखाचिह्नकर्ण इति वा ।

(१०३७) नहिवृति । उपानदिति । 'णह बन्धने' 'णो नः' सम्पदादित्वात्कर्मणि क्विप् । उपनह्यते इत्युपानत् । पूर्वपदस्य दीर्घः । 'नहो धः' । निवर्तते इति नीवृत् । 'वृतु वर्तने'—कर्तरि क्विप्, दीर्घः । प्रवर्षतीति प्रावृट् । 'वृषु सेचने' क्विप्, दीर्घः । मर्माणि

द्विगुणाकर्णः । 'लक्षणस्य' क्यों कहा ? शोभनकर्णः (दीर्घ नहीं हुआ) । 'अविष्टादि' क्यों कहा ? १–विष्टकर्णः, २–अष्टकर्णः, ३–मणिकर्णः, ४–पञ्चकर्णः, ५–भिन्नकर्णः, ६–छिन्नकर्णः, ७–छिद्रकर्णः, ८–स्रुवकर्णः, ९–स्वस्तिककर्णः (इन उदाहरणों में दीर्घ नहीं हुआ) ।

विवरण—प्रसङ्गवश संहिताधिकार के अन्तर्गत दीर्घविधान के सन्दर्भ में प्रकृत सूत्र पढ़ा गया है । अतः "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" ६-३-१११ से 'पूर्वस्य दीर्घोऽणः' की अनुवृत्ति आती है । 'उत्तरपदे' तथा 'संहितायाम्' का आधिकारिक प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । अतः सूत्रस्थ पदों के साथ एकवाक्यता करने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "संहिता के विषय में 'कर्ण' शब्द उत्तरपद रहते विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव तथा स्वस्तिक शब्दों से भिन्न (अविष्ट···स्वस्तिकस्य–द्वन्द्वगर्भिते नञ्तत्पुरुष) लक्षणवाची (लक्षणस्य) पूर्वपदस्थ शब्द के 'अण्' को दीर्घ हो" । जिससे लक्षित किया जाय वह लक्षण (अर्थात् चिह्न)[1] होता है । **उदाहरण**—**द्विगुणाकर्णः** (जिस पशु के कान पर दुगुनी रेखायें हों) । **विग्रह**—द्विगुणरेखौ कर्णौ यस्य । बहुव्रीहि समास होने पर 'द्विगुण' लक्षण है । उसी से वह अभिलक्षित किया गया है ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'लक्षणस्य' पद का निवेश होने के कारण **शोभनकर्णः** (जिसका कान सुन्दर हो) में दीर्घ नहीं हुआ । 'शोभन' शब्द प्रशंसा-बोधक है, लक्षण-बोधक नहीं । **विग्रह**—शोभनौ कर्णौ यस्य । इसी प्रकार 'अविष्टादि' पद का निवेश होने के फलस्वरूप 'विष्टादि' पदों के लक्षणवाची होने पर भी उनसे भिन्न शब्दों की पूर्व पद में स्थिति अपेक्षित होने के कारण (१) **विष्टकर्णः** (जिसके कान सुन्दर हों), (२) **अष्टकर्णः** (जिसके कान पर आठ अंक चिह्नित हों), (३) **पञ्चकर्णः** (जिसके कान पर पाँच अङ्क अंकित हों), (४) **मणिकर्णः** (जिसके कान पर मणि का चिह्न हो), (५) **भिन्नकर्णः** (जिस पशु के कान फटे हों), (६) **छिन्नकर्णः** (जिसके कान कटे हों), (७) **स्रुवकर्णः** (जिसके कान पर स्रुव का चिह्न हो) तथा (८) **स्वस्तिककर्णः** (जिसके कान पर स्वस्तिक का चिह्न हो)—शब्दों में पूर्वपदस्थ विष्टादि शब्दों के अन्तिम 'अ' को दीर्घ नहीं हुआ । इन प्रत्युदाहरणों में सर्वत्र बहुव्रीहि समास है ।

(१०३७) पद—नहि...तनिषु, क्वौ । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य दीर्घः, अणः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—क्विप्-प्रत्ययान्त 'नह्' आदि धातु परे रहते पूर्व पद को दीर्घ हो । उदाहरण

---

१. 'लक्ष्यते' इति लक्षणम्—इति व्युत्पत्त्या चिह्नापरपर्यायो यदि 'लक्षण' शब्दोऽत्र गृह्येत चेत् तदा चिह्नस्येत्येवं ब्रूयात्, सूत्रं च लघु भवेत् । तस्माच्चिह्नग्रहणे कर्तव्ये यल्लक्षणग्रहणं सूत्रकारेण कृतं तेनेदं प्रतीयते यदत्र लक्षणविशेषो ग्राह्यः, न तु लक्षणमात्रमित्यस्यार्थस्य प्रतिपादनं कृतमिति व्यज्यते । तथा चोक्तम्—'इङ्गितेनोन्मिषितेन महता सूत्रप्रबन्धेन वा ह्याचार्याणामभिप्राया लक्ष्यन्ते' इति ।

किम् ? परिणहनम् । 'विभाषा पुरुषे' (सू १०३२) इत्यतो मण्डूकप्लुत्या विभाषा अनुवर्तते । सा च व्यवस्थिता । तेन गतिकारकयोरेव । नेह । पटुरुक् । तिग्मरुक् ।

विध्यतीति मर्माविद् । क्विप्, 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणम् । उपपदसमासः, सुब्लुक्, नलोपः, दीर्घः । नि रोचत इति नीरुक्, 'रुच दीप्तौ' क्विप्, दीर्घः । ऋतिं सहते इति ऋतीषट् । 'षह मर्षणे' क्विप्, दीर्घः, 'हो ढः', 'सात्पदाद्योः' इति षत्वनिषेधे प्राप्ते 'पूर्वपदात्' इति षत्वमिति हरदत्तः । सुषामादित्वादित्यपरे । परि तनोतीति परीतत् । 'तनु विस्तारे' क्विप्, 'गमः क्वौ' इत्यत्र गमादीनामित्युपसङ्ख्यानात् अनुनासिकलोपः । तुक्, दीर्घः । अथ पटुरुक्, तिग्मरुगित्यादौ दीर्घमाशङ्क्याह—विभाषेति । पटुरुगिति । पटु

१—उपानह् । २—नीवृत् । ३—प्रावृट् । ४—मर्मावित् । ५—(अ) नीरुक्—(ब) अभीरुक् । ६—ऋतीषट् । ७—परीतत् । 'क्वौ' ऐसा क्यों कहा ? परिणहनम् (दीर्घ नहीं हुआ) । 'विभाषा पुरुषे' (सू० १०३२) से मण्डूकप्लुति के समान 'विभाषा' की अनुवृत्ति होती है और वह व्यवस्थित विभाषा है । इस कारण 'गति' और 'कारक'—इन दोनों को ही (दीर्घ होता है) । अतः 'पटुरुक्' तथा 'तिग्मरुक्' में (दीर्घ नहीं हुआ) ।

विवरण—पूर्ववत् दीर्घ का ही प्रकरण है । अतः ऊपर निर्दिष्ट अनुवृत्तियाँ ही अनुसरण कर रही हैं । किन स्थलों पर दीर्घ का प्रभाव होगा उन सब पदों का निवेश सूत्र में किया गया है । तदनुसार "क्विप्-प्रत्ययान्त नह् (√णह) वृत् (√वृतु), वृष् (√वृषु), व्यध् (√व्यध), रुच् (√रुच), सह् (√षह) तथा तन् (√तनु)—इन धातुओं के परवर्ती होनेपर पूर्वस्थित पदों के अन्तिम 'अण्' को दीर्घ होता है" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **उपानत्** (जूता) । **विग्रह**—उप नह्यते । उप–√नह्+क्विप् ('सम्पदादिभ्यः क्विप्') > उप-नह् ('क्विप्' का सर्वापहार) > उपानह् ('उप' के 'प' को दीर्घ) > उपानह्+सु > उपानह् (विभक्ति लोप) > उपानध् (ह्=ध्—"नहो धः" ८-२-३४) > उपानद् (जश्त्व) > उपानत् (चर्त्व) । (२) **नीवृत्** (जो देश बसा हुआ हो, एक राज्य) । **विग्रह**—निवर्तते इति । नि–√वृत्+क्विप् ("अन्येभ्योऽपि दृश्यते" ३-२-१७८) > नीवृत् (दीर्घ तथा विभक्ति-कार्य) । (३) **प्रावृट्** (वर्षा काल) । **विग्रह**—प्र-वर्षति इति । प्र–√वृष्+क्विप् > प्र-वृष् > प्रा-वृष् ('प्र' को दीर्घ) > प्रावृष्+सु > प्रावृष् > प्रावृड् (ष्=ड्—जश्त्व) > प्रावृट् (ड्=ट्—चर्त्व) । (४) **मर्मावित्** । (मर्म-स्थल में छेद करने वाला) । **विग्रह**—मर्माणि विध्यति । मर्म√व्यध्+क्विप् > मर्म-व्यध् (क्विप्-का सर्वापहार) > मर्मा-व्यध् (दीर्घ) > मर्मा-विध् (य्=इ-सम्प्रसारण, पूर्वरूप) >मर्मावित् (जश्त्व, चर्त्व एवं विभक्तिकार्य) । (४) **नीरुक्** (रोगरहित) । **विग्रह**—नि-रोचते इति । नि–√रुच्+क्विप् >नि-रुच् > नीरुच् (दीर्घ) > नीरुच्+सु >नी–रुक् (विभक्ति कार्य तथा कुत्व—"चोः कुः" ८-२-३०) (५) ख-**अभीरुक्** । (प्रसन्न करने वाला) । **विग्रह**—अभितः रोचते इति । दीर्घ आदि कार्य पूर्ववत् । (६) **ऋतीषट्** (आक्रान्ता को दबाने वाला) । **विग्रह**—ऋतिं सहते । ऋति–√सह+क्विप् > ऋतीसह् ('इ' को दीर्घ) > ऋतीसह्+सु > ऋतीषह् (विभक्ति-कार्य, स्=ष्—"सहेः पृतनर्ताभ्यां च" ८-३-१०९ अथवा "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" ८-४-३ अथवा "सुषामादिषु च" ८-३-९८) > ऋतीषह्+सु > ऋतीषट् (ह=ढ् , जश्त्व, चर्त्व) । (७) **परीतत्** । (चारों ओर फैलाने वाला) । **विग्रह**—परि तनोति । परि–√तन्+क्विप् > परितन् > परीतन् (दीर्घ) >परीत ('न्' लोप—'गमादीनामिति वाच्यम्' वा०) > परीतत्+सु (तुक्-आगम) > परीतत् (विभक्तिकार्य) ।

(१०३८) वनगिर्योः सञ्ज्ञायां कोटरकिंशुलुकादीनाम् । ६ । ३ । ११७ ॥ कोटरादीनां वने परे, किंशुलुकादीनां गिरौ परे च दीर्घः स्यात्सञ्ज्ञायाम् । **(१०३९) वनं पुरगामिश्रकासिध्रकासारिकाकोटराग्रेभ्यः ८ । ४ । ४ ॥** वनशब्दस्योत्तरपदस्य एभ्य एव णत्वं नान्येभ्यः । इह कोटरान्ताः पञ्च दीर्घविधौ कोटरादयो बोध्याः । तेषां कृत-

---

रोचत इति विग्रहः । उभयत्र कर्तरि क्विप् । पूर्वपदयोर्गतिकारकान्यतरत्वाभावान्न दीर्घः । व्यवस्थितविभाषाश्रयणे व्याख्यानमेव शरणम् ।

(१०३८) वनगिर्योः । वनगिर्योरिति सप्तमी । कोटरश्च किंशुलुकश्च कोटरकिंशुलुकौ तावादी येषामिति विग्रहः । कोटरादीनां किंशुलुकादीनां चेति लभ्यते । यथासङ्ख्यसमन्वयः । तदाह—कोटरादीनामित्यादिना । पुरगावणमित्युदाहरणानि वक्ष्यन्ते ।

(१०३९) तत्र णत्वविधिं दर्शयति—वनं पुरगा । वनमिति षष्ठयर्थे प्रथमा इत्यभिप्रेत्याह—वनशब्दस्येति । एभ्य इति । पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, सारिका, कोटर, अग्रे इत्येतेभ्य एव परस्य उत्तरपदस्य वनशब्दस्य यो नकारस्तस्य णत्वमित्यन्वयः, 'रषाभ्याम्' इत्यतो 'नो णः' इत्यनुवृत्तेः । सूत्रे अग्रे इति सप्तम्यन्तस्यानुकरणम् । नन्विह भिन्नपदत्वात्

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'क्वौ' पद का समावेश होने से **परिहणनम्** (चारों और फैलाने वाला) में 'रि' के इकार को दीर्घ नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ उत्तरपदस्थ 'हनन' शब्द ल्युट्-प्रत्ययान्त है न कि क्विबन्त ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में प्राचीन व्याख्याताओं—जिनेन्द्र बुद्धि आदि—के अनुसार "विभाषा पुरुषे" ६-३-१०६ सूत्र से **मण्डूकप्लुति** न्याय का अनुसरण कर 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति की जाती है । वह भी **व्यवस्थित विभाषा** (इष्ट स्थलों तक ही सीमित) मानी गई है । तदनुसार गति और कारक पूर्वपदस्थ स्थलों में ही दीर्घ-कार्य प्रवृत्त होता है । अन्यत्र नहीं । इसके फलस्वरूप **पटुरुक्** (कठिन रोगवाला) तथा **तिग्मरुक्** (तीव्र रोग वाला) शब्दों में पूर्वपदस्थ 'अण्' को दीर्घ नहीं हुआ, क्यों कि इन दोनों उदाहरणों के पूर्वपद 'गति' संज्ञक अथवा 'कारक' उपपदक नहीं हैं ।

(१०३८) पद—वनगिर्योः, संज्ञायाम्, कोटरकिंशुलुकादीनाम् । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संज्ञा में 'वन' शब्द परे रहते 'कोटरादि' तथा 'गिरि' शब्द परे रहते 'किंशुलुकादि' शब्दों को दीर्घ हो ।

विवरण—पूर्वपदस्थ 'अण्' के दीर्घ-विधान प्रसङ्ग में कुछ विशिष्ट संज्ञावाची शब्दों के सम्बन्ध में निर्देश दिया जा रहा है । अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । 'वनगिर्योः' सप्तम्यन्त पद है । अतः 'वन' तथा 'गिरि' शब्दों का 'कोटरादि' एवं 'किंशुकादि' शब्दों से उत्तरवर्ती होना अपेक्षित है । तदनुसार "'वन' शब्द तथा 'गिरि' शब्द उत्तर पद रहते यथासंख्य 'कोटरादि' एवं 'किंशुलुकादि' गणपठित' शब्दों के अण् को संज्ञा के विषय में दीर्घ होगा" । अर्थात् 'वन' शब्द के उत्तरवर्ती होने पर 'कोटरादि' को तथा गिरि' शब्द के उत्तरवर्ती होने पर 'किंशुलुकादि' को दीर्घ होगा । इस प्रकार के शब्दों में 'न' के स्थान पर 'ण' होने के फलस्वरूप आगे के सूत्र में उदाहरण दिये जायेंगे ।

(१०३९) पद—वनम्, पुरगा-मिश्रका-सिध्रका-सारिका-कोटराग्रेभ्यः । **अनुवृत्ति**—पूर्वपदात् संज्ञायाम्, रषाभ्यां नो णः, अट्-कुप्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम् । **नियम-विधि-सूत्र** ।

मूलार्थ—'पुरगा' आदि शब्दों से ही परवर्ती 'वन' शब्द के 'न' को 'ण' हो, न कि अन्य शब्दों से । यहाँ 'कोटरा' पर्यन्त पाँच शब्द दीर्घ-विधि में कोटरादि जाने जायँ । दीर्घ किये हुए

दीर्घाणां णत्वविधौ निर्देशो नियमार्थः । अग्रेशब्दस्य तु विध्यर्थः । पुरगावणम् । मिश्रकावणम् । सिध्रकावणम् । शारिकावणम् । कोटरावणम् । 'एभ्य एव' इति किम् ? असि-

---

'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वस्याप्राप्तेः अपूर्वविध्यर्थंकत्वावश्यकत्वात् एभ्य एवेति कथं नियमलाभ इत्यत आह—इह कोटरान्ता इति । इह णत्वविधौ उपात्ताः पुरगा मिश्रका सिध्रका सारिका कोटर इत्येवं पञ्च शब्दाः, त एव वनगिर्योरिति दीर्घविधौ कोटरादिशब्देन विवक्षिता इत्यर्थः । ततः किमित्यत आह—तेषामिति । णत्वविधौ तावत्पुरगादिशब्दाः पञ्च दीर्घान्ता एव निर्दिष्टाः । दीर्घस्तु तेषां सञ्ज्ञायामेव वनगिर्योरिति विहितः । एवञ्च एतेषामसञ्ज्ञायां दीर्घाभावात् सञ्ज्ञायामेव 'वनं पुरगा' इति णत्वविधिरिति पर्यवस्यति । ततश्च तेषु वनशब्दनकारस्य 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः' इत्येव णत्वे सिद्धे पुनरपि कृतदीर्घस्य पुरगादिपञ्चकस्य णत्वविधौ निर्देशो नियमार्थः सम्पद्यत इत्यर्थः । अग्रेशब्दस्य त्विति । णत्वविधौ अग्रेशब्दस्य निर्देशस्तु अग्रेवणशब्दे अपूर्वणत्वविध्यर्थं एव, न तु नियमार्थः । अग्रेवणशब्दस्यासञ्ज्ञात्वादिति भावः । न च पुरगावणशब्दे गकारव्यवधानात् 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्' इत्यस्य प्राप्त्यसम्भवात् अत्र अपूर्वणत्वविध्यर्थमेव पुरगाग्रहणमिति वाच्यम् । अग इति हि पञ्चमी । गकारान्तात्पूर्वपदात्परस्य णत्वं नेति लभ्यते । पुरगाशब्दस्त्वयम् आकारान्त एव, न तु गकारान्त इति, तत्र अग इति निषेधाप्राप्त्या 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्' इत्येव सिद्धे, पुरगाग्रहणमपि नियमार्थमेवेति भावः । पुरगावण-

---

इन शब्दों का णत्व-विधि-निर्देश नियमार्थक है और 'अग्रे' शब्द का विध्यर्थक है। उदा० १–पुरगावणम् । २–मिश्रकावणम् । ३–सिध्रकावणम् । ४–सारिकावणम् । ५–कोटरावणम् । 'इन्हीं' से क्यों कहा ? असिपत्रवनम् ('ण' नहीं हुआ)। उदा० वनस्य अग्रे—अग्रेवणम् । राजदन्तादि में पाठ होने से निपातनवश सप्तमी का लोप नहीं हुआ । प्रातिपदिकार्थ मात्र (की विवक्षा) में प्रथमा विभक्ति हुई । उदा० किंशुलुकागिरिः ।

विवरण—पूर्व सूत्र (१०३९) के सन्दर्भ में 'णत्व' विधान का प्रसङ्गवश यहाँ उल्लेख किया जा रहा है । तदनुसार अष्टाध्यायी-क्रम में आठवें अध्याय के उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । सूत्रस्थ 'वनम्' पद में प्रथमा विभक्ति षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त है । अतः 'वन' शब्द का 'न'कार स्थानी है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, सारिका, कोटरा, तथा अग्रे—शब्दों से उत्तरवर्ती 'वन' शब्द के 'न'कार को (संज्ञा के विषय में) 'ण'कार आदेश हो ।" **उदाहरण**—(१) **पुरगावणम्**[1] (नरक-विशेष का नाम)। **विग्रह**—पुरगायाः वनम् । षष्ठी-समास तथा 'न' को 'ण' । (२) **मिश्रकावणम्**[2] (मिसरिख—सीतापुर के पास-का वन)। **विग्रह**—मिश्रकायाः वनम् । षष्ठी-तत्पुरुष समास तथा 'न'= 'ण'—

---

१. गणरत्न-महोदधि के अनुसार **'पुरगा'** पाटलिपुत्र नगर की एक यक्षिणी थी । अतः 'पुरगावण' का, उस यक्षिणी के नाम पर, पाटलिपुत्र के समीप होना प्रतीत होता है ।

२. नैमिषारण्य के पास **मिसरिख** नाम से प्रसिद्ध है । यह वन सीतापुर से १३ मील दक्षिण है । विधुरपण्डित जातक के अनुसार स्वर्ग में नन्दन वन के समान पृथ्वी पर **मिस्सक** या मिश्रका-वन प्रसिद्ध था ('मिस्सकं नन्दन-वनम्'—जातक ६।२७८)। **मिश्रेय**—शब्द का अर्थ अमरकोष के अनुसार **वनसौंफ है—'शालेयः स्याच्छीतशिवश्छत्रा मधुरिका मसिः । मिश्रेयोऽपि"** । मिश्रा चासौ एया च । शकन्ध्वादित्वात् पररूपसन्धिः । मिश्रयति इति मिश्रः । मिश्रा एव मिश्रका ।

पत्रवनम् । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । राजदन्तादिषु निपातनात्सप्तम्या अलुक् । प्रातिपदिकार्थ-

मित्यादयः नरकविशेषाणां सञ्ज्ञाः । असिपत्रवनमिति । नरकविशेषोऽयम् । अत्र सञ्ज्ञा-त्वेऽपि 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्' इति णत्वं न भवति । एभ्य एवेति नियमादिति भावः । अग्रेवणमिति । वनशब्दस्य षष्ठ्यन्तस्य अग्रेशब्देन सह षष्ठीसमास इति भावः । ननु तर्हि 'सुपो धातु' इति सप्तम्या अपि लुक् स्यादित्यत आह—राजदन्तादिष्विति । अनेन वन-शब्दस्य परनिपातोऽपि सूचितः । ननु सप्तम्यर्थप्राधान्यात्सप्तमी स्यादित्यत आह—प्राति-

पूर्ववत् (३) **सिध्रकावणम्**[1] (स्वर्ग के एक जंगल का नाम, सिध्रका नाम की लकड़ियों का जंगल) । विग्रह एवं समासादि कार्य पूर्ववत् । (४) **सारिकावणम्**[2] (एक जंगल का नाम) । विग्रह एवं समासादि कार्य पूर्ववत् । (५) **कोटरावणम्**[3] (एक जंगल का नाम) । विग्रहादि कार्य पूर्ववत् । (६) **अग्रेवणम्**[4] (एक वन का नाम) । **विग्रह**—वनस्य अग्रे । षष्ठीसमास । "राजदन्तादिषु परम्" (२-२-३१) सूत्र के अनुसार गण में पाठ होने के कारण निपातन-वश सप्तमी का 'अलुक्' तथा 'वन' का पर-निपात होता है—अग्रेवनेन । तदनन्तर प्रातिपदि-कार्थ मात्र में साधुत्वार्थिका प्रथमा विभक्ति का प्रयोग कर प्रकृत सूत्र से न=ण होकर **अग्रेवणम्** रूप निष्पन्न किया गया है । प्रातिपदिक में सप्तम्यर्थ का अन्तर्भाव होने से सप्तम्यर्थ की प्रतीति स्वतः सिद्ध है ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में पुरगा आदि सात शब्दों का निर्देश होने से तदुत्तरवर्ती 'वन' शब्द के नकार को ही णकार होगा, अन्यत्र नहीं । अतः **असिपत्रवनम्** (नरक-विशेष का नाम) में 'वन' के 'न' के स्थान पर 'ण' नहीं हुआ ।

विशेष—प्रकृत सूत्र नियामक एवं विधायक—दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है । नियामकता का कारण यह है कि संज्ञावाची शब्दों में तो "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" ८-४-३ सूत्र से 'न' के स्थान पर 'ण' विधान स्वतः सिद्ध रहा । अतः पुरगा आदि पाँच शब्दों के दीर्घ आकारान्त रूप में सूत्र में निर्दिष्ट होने के कारण ऐसा नियम किया गया कि णत्व-विधायक शास्त्र में कोटरादि शब्द दीर्घ किये हुए ही लिये जायँ । अर्थात् संज्ञावाची पुरोगादि शब्दों से परवर्ती 'वन' शब्द के 'न'कार को दीर्घ होने के पश्चात् ही 'ण' होगा । इसके फलस्वरूप संज्ञातिरिक्त स्थल में **पुरगवनम्** रूप स्वीकार्य है । वहाँ न तो 'ण' होगा और न 'पुरोग' शब्द के अकार को दीर्घ ही होगा । अतः इसकी नियामकता का यह स्वरूप हुआ कि **कृतदीर्घ पुरगादि से ही णत्व होता है** । दीर्घरहित पुरगादि से पर 'वन' शब्द के नकार को णकार नहीं होता । व्याख्याकारों ने सूत्रस्थ 'अग्र' शब्द के समावेश से णकार को विध्यर्थक माना है । इसका कारण यह बतलाया गया है कि 'अग्रेवणम्' शब्द संज्ञावाची नहीं है ।

शङ्का-समाधान—**पुरगा-वण** शब्द में 'ग' का व्यवधान होने के कारण "पूर्वपदात्

---

१. सामविधान ब्राह्मण में सैध्रिकमयी समिधाओं को घी में डुबाकर सहस्र आहुतियों से हवन करने का उल्लेख है—**सैध्रिकमयीनां समिधां घृताक्तानां सहस्रं जुहुयात्** (सामविधान ३।६।९) । **सैध्रकं सारवृक्षविशेषः** (सायण) ।

२. अर्वाचीन **सारन** (बिहार) का पुराना नाम जान पड़ता है ।

३. लखीमपुर जिले का कोई जंगल ज्ञात होता है । यहाँ **कोटरा** नामक रियासत है, जहाँ अधिकतर साखू और शीशम के वृक्ष हैं ।

४. संभवतः प्राचीन अग्र जनपद (जिसकी राजधानी **अग्रोदक**—आधुनिक—**अगरोहा** थी) में स्थित वन का नाम था ।

—पाणिनिकालीन भारतवर्ष—वा० श० अग्रवाल पृ० ४७-४८ ।

मात्रे प्रथमा। किंशुलुकागिरिः। (१०४०) वले ६।३।११८॥ वलप्रत्यये परे दीर्घः स्यात्सञ्ज्ञायाम्। कृषीवलः। (१०४१) मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् ६।३।११९॥ अमरावती। अनजिरादीनाम् किम्? अजिरवती। बह्वचः किम्? व्रीहिमती।

पदिकेति। सप्तम्यर्थस्य प्रातिपदिकेऽन्तर्भावादिति भावः। किंशुलुकादीनामुदाहरणमाह—किंशुलुकागिरिरिति। अञ्जनागिरिरित्यप्युदाहार्यम्।

(१०४०) वले। कृषीवल इति। कृषिरस्यास्तीति विग्रहे 'रजःकृष्यासुति' इत्यादिना वलच्।

(१०४१) मतौ। मतुप्प्रत्यये परे बह्वचो दीर्घः स्यात्संज्ञायां, न त्वजिरादीनामित्यर्थः। अमरावतीति। इन्द्रनगर्याः सञ्ज्ञेयम्। अमराः अस्यां सन्तीति विग्रहः। 'मादु-

---

संज्ञायामगः" ८-४-३ सूत्र से 'ण' की प्राप्ति ही नहीं है, तो इस शब्द के समावेश की नियामकता कैसे सम्भव होगी? समाधान यह दिया जाता है कि उस सूत्र में अगः पद पञ्चम्यन्त है। तदनुसार यह अर्थ किया जायगा कि 'पूर्वपद यदि गकारान्त हो तभी 'ण' का निषेध होगा'। यहाँ तो 'पुरोगा' शब्द आकारान्त निर्दिष्ट है, अतः 'अगः' इस निषेध की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार 'ण' की प्राप्ति होने के कारण उसका समावेश भी नियामकता में स्वीकार्य है।

विशेष—'ण' विधान की सार्थकता के साथ ही पूर्व-सूत्रोक्त (दीर्घ-विधायक-सूत्र के) अवशिष्ट किंशुलुकादि शब्दों से 'गिरि' शब्द के उत्तरवर्ती होने पर 'किंशुलुक' आदि शब्दों के अन्तिम 'अण्' को दीर्घ होने का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—**किंशुलुकागिरिः**[1] (मकरान पत्थरों की शृङ्खला, हिंगुला नदी का उद्गम, इसी पर हिंगुला देवी का मन्दिर है)। इसके अतिरिक्त 'आदि' पद से अञ्जनागिरिः प्रभृति उदाहरण लिये गए हैं।

(१०४०) पद—वले। **अनुवृत्ति**—संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम्। **नियम-(विधि)-सूत्र।**

मूलार्थ—संज्ञा में 'वल' प्रत्यय परे रहते दीर्घ हो। उदा० कृषीवलः।

विवरण—स्थानी और आदेश दोनों ही अनुवृत्तिलभ्य हैं। केवल निमित्त-वाचक शब्द ही सूत्र में निर्दिष्ट है। अतः "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" ६-३-१११ से 'पूर्वस्य अणः दीर्घः' की अनुवृत्ति द्वारा सूत्रार्थ निष्पन्न हो जाता है। आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र से यह ध्वनित होता है कि "संज्ञा के विषय में 'वलच्' प्रत्यय परवर्ती होने पर पूर्वपद के अन्तिम 'अण्' को दीर्घ हो"। **उदाहरण—कृषीवलः** (किसान)। **विग्रह**—कृषिः अस्य अस्ति। कृषि+वल (वलच्—"रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्" ५-२-११२) > कृषीवल (दीर्घ—इ=ई) > कृषीवलः (विभक्तिकार्य)।

(१०४१) पद—मतौ, बह्वचः, अनजिरादीनाम्। **अनुवृत्ति**—संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम्। **नियम-(विधि)-सूत्र।**

मूलार्थ—उदा० अमरावती। 'अनजिरादीनां' क्यों कहा? अजिरवती (दीर्घ नहीं हुआ)। 'बह्वचः' क्यों कहा? व्रीहिमती (दीर्घ नहीं हुआ)। 'संज्ञा' के विषय में ही होने के कारण 'वलयवती' में दीर्घ नहीं हुआ।

विवरण—पूर्ववत् दीर्घ का ही प्रकरण है। 'मतुप्' प्रत्यय परवर्ती होने पर कुछ शब्दों के सन्दर्भ में दीर्घविधान किया जारहा है। उसमें भी अजिरादि शब्दों को छोड़ दिया गया है। इस के साथ ही पूर्वपदस्थ शब्द अनेक स्वरवर्णों से युक्त होने चाहियें। अनेक से यहाँ दो से अधिक संख्या अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "संज्ञा के विषय

---

१. 'किंशुलु' का प्राकृत रूप 'हिंगुल' है।

सञ्ज्ञायाम् इत्येव । नेह । वलयवती । (१०४२) शरादीनां च ६ । ३ । १२० ॥

पधायाश्च' इति 'सञ्ज्ञायाम्' इति वा मस्य वः । अजिरवतीति । नदीविशेषस्य संज्ञेयम् । वलयवतीति । अनजिरादित्वेऽप्यसंज्ञात्वान्न दीर्घं इति भावः ।

(१०४२) शरादीनां च । मतौ दीर्घः सञ्ज्ञायामिति शेषः । अबह्वच्कत्वात्पूर्वेण न प्राप्तिः । शरावतीति । शराः अस्यां सन्तीति विग्रहः । नदीविशेषस्य नाम ।

में अजिरादि शब्दों को छोड़कर 'मतुप्' प्रत्यय परवर्ती होने पर पूर्वपदस्थ बह्वच् शब्दों के अन्तिम अच् 'को दीर्घ हो' । **उदाहरण—अमरावती** । (इन्द्र की नगरी) । **विग्रह**—अमराः यस्यां सन्ति । अमर+मत् (मतुप्—"तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्" ५-२-९४) > अमर+वत् (म्=व्—"मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" ८-२-९) > अमरावत् (दीर्घ) > अमरावती (ङीप् तथा विभक्ति कार्य) ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में "अनजिरादीनां" पद का समावेश होने से **अजिरवती**[1] (राप्ती नदी) में 'र' को दीर्घ नहीं हुआ । 'अजिर' शब्द बह्वच् होते हुए भी 'अजिरादि भिन्न' नहीं है । (२) सूत्र में 'बह्वचः' पद का निवेश होने से **व्रीहिमती** (बहु-धान्य वाली स्त्री) में 'व्रीहि' के अन्तिम 'इ' कार को दीर्घ नहीं हुआ, क्योंकि 'व्रीहि' शब्द में दो ही 'अच्' हैं—दो से अधिक नहीं है । (३) आधिकारिक 'संज्ञायाम्' का प्रभाव होने के फलस्वरूप **वलयवती** (जिस स्त्री के पास कंगन हो) में 'य' को दीर्घ नहीं हुआ, क्योंकि 'वलयवती' किसी का नाम नहीं है । केवल सम्पत्तिस्वरूप वलयों की वह स्वामिनी है ।

(१०४२) पद—शरादीनां, च । **अनुवृत्ति**—मतौ, संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० शरावती ।

विवरण—दीर्घ का ही विषय है । अनेक अजन्त भिन्न शब्दों से 'मतुप्' प्रत्ययान्त संज्ञावाले शब्दों की निष्पत्ति में दीर्घ-विधान के लिये सूत्र की चरितार्थता सम्पन्न होती है । अतः पूर्व सूत्र "मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्" ६-३-११९ से 'मतौ' की प्रमुख अनुवृत्ति अपेक्षित है । शेष प्राकरणिक एवं आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ है कि "संज्ञा के विषय में मतुप्' प्रत्यय परवती होने पर शरादि शब्दों के अन्तिम 'अण्' को दीर्घ हो" ।

उदाहरण—शरावती[2] (नदी) । **विग्रह**—शराः सन्ति अस्याम् । शर+मत् (मतुप्—"नद्यां मतुप्" ४-२-८५) > शरवत् (म्=व्) > शरा-वत् (शर=शरा—दीर्घ) > शरावती (ङीप् एवं विभक्ति-कार्य) ।

---

१. इसे अचिरवती भी कहा गया है । इसी नदी (वर्तमान राप्ती नदी) के किनारे प्राचीन श्रावस्ती नगरी स्थित रही ।

२. नागेश ने (१-१-७५ में) एक प्रचीन श्लोक का उद्धरण देते हुए यह लिखा है कि शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य देशों के बीच की सीमा थी । "प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरापके यथा । विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती" ॥ अमरकोष से भी यही ज्ञात होता है—"लोकोऽयं भारतं वर्षं शरावत्यास्तु योऽवधेः । देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्य उदीच्यः पश्चिमोत्तरः" ॥ (अ० को० २-१-६)—अर्थात् व्याकरण शास्त्र में शब्दों के रूपों का भेद बताने के लिये प्राच्य और उदीच्य का विचार शरावती नदी से किया जाता था । सम्प्रति अम्बाला जिले में बहने वाली घग्घर नदी शरावती कही जाती रही ।

शरावती। (१०४३) **इको वहेऽपीलोः ६।३।१२१॥** इगन्तस्य दीर्घः स्याद्वहे। ऋषीवहम्। कपीवहम्। इकः किम्? पिण्डवहम्। अपीलोः किम्? पीलुवहम्। 'अपील्वादीनामिति वाच्यम्' (वा ४००५)। दारुवहम्। (१०४४) **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२॥** उपसर्गस्य बहुलं दीर्घः स्याद् घञन्ते परे, न तु

(१०४३) इको वहेऽपीलोः। अपीलोरिति च्छेदः। इगन्तस्येति। पूर्वपदस्येति शेषः।

(१०४४) उपसर्गस्य। परीपाक इति। पचेर्भावे घञ्, उपधावृद्धिः। 'चजोः कु-घिण्ण्यतोः, इति कुत्वम्। निषाद इति। पुलिन्दो नाम मनुष्यजातिविशेषः। निषीदत्य-

---

(१०४३) पद—इकः, वहे, अपीलोः। **अनुवृत्ति**—दीर्घः, उत्तरपदे, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'वह' शब्द उत्तरपद रहते इगन्त को दीर्घ हो। उदा० १—ऋषीवहम् २—कपीवहम्। 'इकः' क्यों कहा? पिण्डवहम् (दीर्घ नहीं हुआ)। 'अपीलोः' क्यों कहा? पीलुवहम् (दीर्घ नहीं हुआ)। वा० अपीलु के स्थान पर 'अपीलु आदि शब्दों' से भिन्न कहा जाय। उदा० दारुवहम् (दीर्घ नहीं हुआ)।

विवरण—कुछ अन्य शब्दों में दीर्घ-विधान की व्यवस्था की जा रही है। आधिकारिक एवं प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। 'इकः' पद में तदन्तविधि है। वही स्थानी है। तदनुसार "वह" शब्द परवर्ती होने पर 'पीलु' शब्द के अतिरिक्त पूर्वपदस्थ संज्ञावाची इगन्त शब्दों (इ, उ, ऋ—वर्णान्त) को दीर्घ होगा"।

उदाहरण—(१) **ऋषीवहम्** (वाहीक देश का ग्रामविशेष)। **विग्रह**—ऋषेः वहम्। षष्ठी तत्पुरुष तथा दीर्घ। 'वहम्'—√वह्+अ (अच्—"नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३-१-१३४)। (२) **कपीवहम्** (वाहीक देश का ग्राम-विशेष)। समासादि कार्य पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'इकः' पद का निवेश होने के फलस्वरूप **पिण्डवहम्** (वाहीक देश का ग्राम-विशेष) में 'पिण्ड' शब्द को पीलु भिन्न इगन्त शब्द न होने के कारण दीर्घ नहीं हुआ। (२) सूत्र में 'अपीलोः' पद का समावेश होने से **पीलुवहम्** (वाहीक देश का ग्राम विशेष) में दीर्घ नहीं हुआ।

वार्तिक—केवल एक मात्र इगन्त 'पीलु' शब्द को दीर्घ की सीमा के बाहर न रखा जाय। उसके साथ ही दीर्घ-निषेध में 'पीलु' आदि शब्दों का समावेश कर दिया जाय। इसके फलस्वरूप **दारुवहम्** (वाहीक देश का ग्राम-विशेष) में भी 'दारु' शब्द में उ को दीर्घ नहीं हुआ।

(१०४४) पद—उपसर्गस्य, घञि, अमनुष्ये, बहुलम्। **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—घञन्त शब्द परे रहते उपसर्ग को बहुलता से दीर्घ हो, किन्तु मनुष्यवाच्य रहते दीर्घ न हो। उदा० परीपाकः-परिपाकः। 'अमनुष्ये' क्यों कहा? निषादः (दीर्घ नहीं हुआ)।

विवरण—दीर्घ का ही प्रकरण है। अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "मनुष्य अभिधेय न होने पर घञन्त उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ उपसर्ग के 'अण्' को विकल्प से दीर्घ होता है"।

उदाहरण—**परीपाकः** ←दीर्घ होने पर। **परिपाकः**→दीर्घ न होने पर। **अर्थ**—अच्छी तरह से पकना या पचना, परिणाम। **विग्रह**—परिपचनम्। परि-√पच्+अ (घञ्—"अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" ३-३-१) ▷ परिपाच्+अ (उपधा-वृद्धि) > परिपाक (च् = क्—कुत्व) ▷परीपाकः (दीर्घ)। पक्ष में दीर्घ नहीं—परिपाकः।

मनुष्ये । परीपाकः-परिपाकः । अमनुष्ये किम् ? निषादः । (१०४५) इकः काशे ६ । ३ । १२३ ॥ इगन्तस्योपसर्गस्य दीर्घः स्यात्काशे । नीकाशः । इकः किम् ? प्रकाशः ।

स्मिन् पापमिति निषादः । 'हलश्च' इत्यधिकरणे घञ् । दौवारिके प्रतीहारशब्दे दीर्घस्त्व-प्रामाणिकः । यद्वा प्रतीहारः द्वारम्, तत्स्थत्वात् मनुष्ये गौणः ।

(१०४५) इकः काशे । नीकाश इति । पचाद्यजन्तत्वात् पूर्वेण न प्राप्तिः ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अमनुष्ये' पद का निवेश होने से निषादः (वनवासी मनुष्य) शब्द के मनुष्य-वाची होने के कारण 'नि' उपसर्ग को दीर्घ नहीं हुआ । **विग्रह**—निषीदति पापम् अस्मिन् । नि√सद्+अ (घञ्—"हलश्च" ३-३-१२१) > नि-साद्+अ (उपधावृद्धि) > निषाद >(स् = ष्) > निषादः (विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—(१) द्वारपाल का पर्यायवाची प्रतीहारी शब्द मनुष्य-सम्बन्धी है । अतः यहाँ प्रकृत-सूत्र से दीर्घ की प्रसक्ति कैसे सम्भव है ? इस सम्बन्ध में दो मत हैं—(क) प्रतिहारी ही साधु है—अर्थात् द्वारपालार्थक प्रतीहारी शब्द असाधु है । (ख) अथवा यहाँ इस प्रकार कल्पना की जाय । 'प्रतीहार' शब्द द्वार का पर्यायवाची है । (प्रतिहरणम्-प्रति-√हृ+घञ्) द्वार शब्द मनुष्यवाची नहीं है, अतः "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" ६-३-१२२ से दीर्घ होगा । द्वारपाल के द्वार में स्थित रहने से उस रक्षक-पुरुष में प्रतीहारत्व का आरोपमात्र है, अतः दीर्घ हो सकता है (तात्स्थ्यात् तच्छब्दप्रयोगः) । जिस प्रकार 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मञ्चस्थ पुरुष में मञ्चत्व का आरोप कर अभीष्ट (अर्थ) की कल्पना की जाती है, वैसे ही यहाँ भी सम्भव है ।

(२) उपसर्ग से केवल 'घञ्' प्रत्यय का परवर्ती होना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'घञ्' प्रत्यय तो धातु से विहित है और उपसर्ग धातु से पूर्व स्थित रहता है । इस प्रकार 'उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय के मध्य धातु की स्थिति होने के कारण यहाँ 'उत्तरपदे' का अधिकार होने पर भी अभीष्ट सिद्धि के लिए तदन्तविधि मानी जाती है । इस हेतु अग्रिम सूत्र "इकः काशे" ६-३-१२३ में 'काश' शब्द 'अच्' प्रत्ययान्त (पचादि) लिया गया है, न कि 'घञ्' प्रत्ययान्त । काश धातु से 'अच्' और 'घञ्' प्रत्यय करने पर समान रूप ही बनते हैं । इस प्रकार यहाँ अग्रिम सूत्र की उपयोगिता बताई गई है ।

(१०४५) पद—इकः, काशे । **अनुवृत्ति**—उपसर्गस्य, दीर्घः, उत्तरपदे, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'काश' शब्द उत्तरपद रहते इगन्त उपसर्ग को दीर्घ हो । उदा० १—वीकाशः । २—नीकाशः । 'इकः' क्यों कहा ? प्रकाशः (दीर्घ नहीं हुआ) ।

विवरण—"उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" (६-३-१२२) से यथाक्रम 'उपसर्गस्य' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । 'उपसर्ग' ही स्थानी है । 'इकः' उस का विशेषण है—अतः तदन्तविधि होने के कारण सूत्र का अभीष्ट अर्थ यह होगा कि "इगन्त (इ, उ, ऋ, लृ वर्णान्त) उपसर्ग को 'काश' शब्द उत्तरपद रहते संहिता के विषय में दीर्घ होता है" । **उदाहरण**—(१) वीकाशः (प्रकाश, तेज, चमक) । **विग्रह**—विकाशनम् अथवा विशेषेण काशते । वि-√काश्+अच् । (२) नीकाशः (आकृति, ढंग, शोभा) । **विग्रह**—नितरां काशते । नि-√काश्+अ (अच् "पचादि०") ।

विशेष—'अच्'—प्रत्ययान्त (√ काश् धातु से) निष्पन्न 'काश' शब्द का यहाँ ग्रहण किया गया है । 'घञ्' प्रत्ययान्त से तो पूर्वसूत्र से ही दीर्घ सिद्ध था । 'बहुल' पद के अनेकार्थक होने के कारण यहाँ नैत्यिक दीर्घ होने में भी कोई बाधा नहीं थी । अतः यहाँ पचाद्यजन्त 'काश' शब्द ही लिया जाता है ।

(१०४६) अष्टनः सञ्ज्ञायाम् ६ । ३ । १२५ ॥ उत्तरपदे दीर्घः । अष्टापदम् । सञ्ज्ञायाम् किम् ? अष्टपुत्रः । **(१०४७) चितेः कपि ६ । ३ । १२७ ॥** एकचितीकः । द्विचितीकः । **(१०४८) नरे सञ्ज्ञायाम् ६ । ३ । १२९ ॥** विश्वानरः । (१०४९)

(१०४६) **अष्टनः सञ्ज्ञायाम्** । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—उत्तरपदे दीर्घ इति । अष्टापदमिति । सञ्ज्ञात्वमन्वेषणीयम् ।

(१०४७) **चितेः कपि** । दीर्घ इति शेषः । एकचितीक इति । अग्न्याख्यस्थण्डिल-विशेष इति शेषः । एका चितिर्यस्येति विग्रहः । शैषिकः कप् । द्विचितीक इति । द्वे चिती यस्येति विग्रहः ।

(१०४८) **नरे सञ्ज्ञायाम्** । विश्वस्य दीर्घ इति शेषः । 'विश्वस्य वसुराटोः' इति पूर्वसूत्रात् विश्वस्येत्यनुवर्तते ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'इकः' का समावेश होने से प्रकाशः (रोशनी) में 'प्र' उपसर्ग के इगन्त न होने के कारण दीर्घ नहीं हुआ । **विग्रह**—प्रकर्षेण काशते । शेष पूर्ववत् ।

(१०४६) पद—अष्टनः, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम्, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उत्तरपद रहते (अष्टन् को) दीर्घ हो । उदा० अष्टापदम् । 'संज्ञायाम्' क्यों कहा ? अष्टपुत्रः (दीर्घ नहीं हुआ) ।

विवरण—यदि 'अष्टन्' शब्द के अनन्तर कोई दूसरा पद हो और उनके परस्पर समस्त होने पर उस शब्द से संज्ञा-विशेष का बोध हो तो पूर्ववर्ती 'अष्टन्' शब्द के अन्त्य अच् को दीर्घ होता है" । **उदाहरण**—अष्टापदम् (सुवर्ण, मकड़ा) । **विग्रह**—अष्टौ पदानि यस्य । बहुव्रीहि समास । 'अष्ट' को दीर्घ, तथा विभक्तिकार्य ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'संज्ञायाम्' का निवेश होने के कारण अष्टपुत्रः में दीर्घ नहीं हुआ, क्योंकि यह किसी का नाम नहीं है । **विग्रह**—अष्टौ पुत्राः यस्य (जिसके आठ पुत्र हों) । बहुव्रीहि समास ।

(१०४७) पद—चितेः, कपि । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—एकचितीकः । २—द्विचितीकः ।

विवरण—दीर्घ का ही प्रकरण है । अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "संहिता के विषय में 'चिति' शब्द को 'कप्' प्रत्यय परवर्ती होने पर दीर्घरूपी अन्तादेश हो" । **उदाहरण**—(१) एकचितीकः (जिसके पास अग्नि नामक एक वेदी हो) । **विग्रह**—एका चितिः अस्य । बहुव्रीहि समास, 'एका' को पुंवद्भाव "स्त्रियाः पुंवद्भाव०" ६-३-३२ तथा "शेषाद् विभाषा" ५-४-१५४ से कप् । तदनन्तर दीर्घ । इसी प्रकार (२) द्विचितीकः (जिसके पास अग्नि नामक दो वेदी हों) । **विग्रह**—द्वे चिती अस्य । शेष कार्य पूर्ववत् ।

(१०४८) पद—नरे, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—विश्वस्य, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० विश्वानरः ।

विवरण—स्थानिवाचक 'शब्द' भी सूत्र में उल्लिखित नहीं है । अष्टाध्यायीक्रम में इस से पूर्व सूत्र है—"विश्वस्य वसुराटोः" ६-३-१२८ । अतः वहाँ से 'विश्वस्य' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । आदेश-वाचक अंश—'पूर्वस्य दीर्घः अणः' भी "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" ६-३-१११ से अनुवर्तमान है । शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ भी धाराप्रवाह के समान चल रही हैं । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'संज्ञा' के विषय में (संज्ञायाम्) 'नर' शब्द परवर्ती होने पर

मित्रे चर्षौ ६ । ३ । १३० ॥ विश्वामित्रः । ऋषौ किम् ? विश्वमित्रो माणवकः । 'शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः' (वा ५०४९) श्वादन्त इत्यादि । (१०५०) प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसञ्ज्ञायामपि ८।४।५ ॥ एभ्यो वनस्य णत्वं स्यात् । प्रवणम् । कार्ष्यवणम् । इह षात्परत्वाण्णत्वम् । (१०५१)

(१०४९) **मित्रे चर्षौ ।** मित्रशब्दे परे विश्वस्य दीर्घः स्यात् । ऋषौ वाच्ये इत्यर्थः । शुनो दन्तेति । श्वन्शब्दस्य दन्तादिषु परतः दीर्घ इत्यर्थः । श्वादन्त इति । शुनो दन्त इति विग्रहः । श्वादंष्ट्रा, षष्ठीसमासः । दीर्घान्त एव दंष्ट्राशब्दो वार्तिके पठ्यत इति केचित् । ह्रस्वान्त इत्यन्ये । श्वादंष्ट्रः । बहुव्रीहिरयम् । श्वाकर्णः, श्वाकुन्दः, श्वावराहः, श्वापुच्छम्, श्वापदः । श्वपुच्छमवनामितमित्यसाध्वेव ।

(१०५०) **प्रनिरन्त ।** एभ्य इति । प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा इत्येतेभ्य इत्यर्थः । वनस्येति । 'वनं पुरगा' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति

'विश्व' शब्द के अन्तिम 'अच्' को दीर्घ हो"। **उदाहरण**—विश्वानरः (अग्नि के पिता का नाम)। **विग्रह**—विश्वे नरा अस्य। बहुव्रीहि समास तथा 'विश्व' के अकार को दीर्घ।

(१०४९) पद—मित्रे, च, ऋषौ । अनुवृत्ति—विश्वस्य, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विश्वामित्रः । 'ऋषौ' क्यों कहा ? विश्वमित्रः—माणवक का नाम है (दीर्घ नहीं हुआ)। वा० दन्त, दंष्ट्रा, कर्ण, कुन्द, वराह, पुच्छ और पद शब्द परे रहते 'श्वन्' शब्द को दीर्घ हो। उदा० 'श्वदन्तः'।

विवरण—पूर्व सूत्र के अनुसार सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'मित्र' शब्द उत्तरपद रहते भी (च) 'ऋषि' अभिधेय होने पर 'विश्व' शब्द के अन्त्य "अच् को दीर्घ हो"। **उदाहरण**—**विश्वामित्रः** (सुप्रसिद्ध ऋषि)। **विग्रह**—विश्वं मित्रं यस्य। बहुव्रीहि समास तथा 'विश्व' के 'अ'कार को दीर्घ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'ऋषौ' पद का निवेश होने के कारण **विश्वमित्रः** (=माणवकः-किसी छात्र का नाम) में दीर्घ नहीं हुआ, क्योंकि यह ऋषिवाचक शब्द नहीं है।

वार्तिक—'श्वन्' शब्द को—दन्त, दंष्ट्रा, कर्ण, कुन्द, वराह, पुच्छ तथा पद—शब्दों के उत्तरवर्ती होने पर—दीर्घ आदेश हो"। **उदाहरण**—(१) श्वादन्तः (कुत्ते का दाँत)। **विग्रह**—शुनः दन्तः। षष्ठी तत्पुरुष समास तथा 'श्व' को दीर्घ। (२) **श्वादंष्ट्रा** (कुत्ते की दाढ़)। **विग्रह**—शुनः दंष्ट्रा। कुछ विद्वानों के मत में ह्रस्व अकारान्त 'दंष्ट्र' शब्द वार्तिक में पढ़ा गया है। तब श्वादंष्ट्रः में बहुव्रीहि समास होगा। (३) **श्वाकर्णः** (कुत्ते का कान) **विग्रह**—शुनः कर्णः। (४) **श्वाकुन्दः** (कुत्ते की लार)। **विग्रह**—शुनः कुन्दः। (५) **श्वावराहः** (वराह के सदृश कुत्ता) **विग्रह**—श्वा वराह इव। **समास**—"उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" २-१-५६। अथवा (कुत्तों का समूह)। 'वराह' शब्द का पर्याय 'मुस्त' शब्द भी है। वह संघातार्थक है—मुस्तयति इति मुस्तः (अच्-प्रत्यय)। √ मुस्त संघाते-चुरादि। (६) **श्वापुच्छम्** (कुत्ते की पूँछ)। **विग्रह**—शुनः पुच्छम्। (७) श्वापदः (शिकारी जानवर)। **विग्रह**—शुनः इव आपद् अस्मात्। श्वन्+आ√पद्+अच्।

(१०५०) पद—प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिपीयूक्षाभ्यः, असंज्ञायाम्, अपि। अनुवृत्ति—वनम्, पूर्वपदात, अट्कुप्वाङ्-नुम्-व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इनसे परवर्ती वन (के नकार) को 'ण' हो। उदा० १—प्रवणम्। २—कार्ष्यवणम्। यहाँ 'ष' से परवर्ती होने से 'ण' हुआ।

विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ८ । ४ । ६ ।। एभ्यो वनस्य णत्वं वा स्यात् । दूर्वावणम्-दूर्वावनम् । शिरीषवणम्-शिरीषवनम् । 'द्व्यच्त्र्यज्भ्यामेव' (वा ४९८४) । नेह—देव-

---

भावः । प्रवणमिति । प्रकृष्टं वनमिति विग्रहः । प्रादिसमासः । इहेति । कार्ष्यवणमित्यत्र षकारात्परत्वेन णत्वम्, न तु रेफात् परत्वमादाय अडादिभिन्नषकारेण व्यवधानादिति भावः । एतेन कार्श्येति तालव्यशकारमध्यपाठ अप्रामाणिक इति सूचितम् । तथा सति निमित्ताभावात् णत्वासम्भवात्, अट्कुप्वाङ्भिन्नेन शकारेण व्यवहिततया रेफस्य तन्निमित्तत्वासम्भवात् । निर्वणम्, अन्तर्वणम्, शरवणम्, इक्षुवणम्, प्लक्षवणम्, आम्रवणम्, कार्ष्यवणम्, खदिरवणम्, पीयूक्षावणम् ।

(१०५१) विभाषौषधि । वनस्य णत्वमिति । ओषधिवनस्पतिभ्यः परस्य वनस्य यो नकारस्तस्य णत्वं वेत्यर्थः । ओषधिभ्य उदाहरति—दूर्वावणमिति । 'ओषध्यः फलपाकान्ताः' इत्यमरः । अथ वनस्पतिभ्यः उदाहरति—शिरीषवणमिति । यद्यपि यः पुष्पैर्विना फलति स एव उदुम्बरादिर्वनस्पतिः 'वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिः'

विवरण—प्रसङ्गवश णत्व प्रकरण का सूत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है । इस हेतु अष्टाध्यायी के आठवें अध्याय के चौथे चरण की ओर ध्यान देना होगा । अतः इस सूत्रक्रम में अष्टाध्यायी सूत्र में पूर्वपठित सूत्र "वनं पुरगा–मिश्रका-सिध्रका-शारिका-कारणाऽग्रेभ्यः" ८-४-४ से 'वनम्' (षष्ठी के स्थान में प्रथमा) की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियों में आदेशार्थक 'ण' की अनुवृत्ति "रषाभ्यां नो णः समानपदे" ८-४-१ सूत्र से आ रही है । इसके साथ ही पूर्ववर्ती शब्दों का उल्लेख होने से सामासिक पदों में इस णत्व का विधान होने के कारण 'वन' शब्द का उत्तर पद में होना आवश्यक है । उसकी पूर्ति के लिये "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" ८-४-३ से 'पूर्वपदात्' पद अनुवर्तमान होता हुआ प्रनिर् आदि की पूर्वत्र-स्थिति बतलाता है । अतः सूत्रार्थ की निष्पत्ति में वह भी सहायक होता है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा—इन शब्दों से उत्तरवर्ती 'वन' शब्द के 'न'कार को, संज्ञा न होने पर भी, 'ण' आदेश हो" । 'अपि' शब्द का प्रयोग करने से 'संज्ञा' में भी यह आदेश होगा । **उदाहरण**—(१) **प्रवणम्** (उत्तम जंगल) । **विग्रह**—प्रकृष्टं वनम् । प्रादि-समास—"कुगतिप्रादयः" २-२-१८) । प्रकृत सूत्र से न=ण । (२) **कार्ष्यवणम्** (साल का जंगल) । **विग्रह**—कार्ष्यस्य वनम् । षष्ठी तत्पुरुष समास । प्रकृत सूत्र से 'वन' के 'न' को 'ण' होने में निमित्त 'ष' है अतः 'कार्श्य' पाठ संगत नहीं है । कारण यह है कि णत्व प्रकरण में मूर्धन्य षकार से पर 'न' का होना आवश्यक है । शेष उदाहरण इस प्रकार हैं—(३) **निर्वणम्** (वन से बाहर, वन से रहित, खुला हुआ) । **विग्रह**—निष्क्रान्तं वनात् । समासादि पूर्ववत् । (४) **अन्तर्वणम्** (भीतरी जंगल) । **विग्रह**—वने इति । समास—विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव (२-१-५) । (५) **शरवणम्** (काँस का जंगल) । **विग्रह**—शराणां वनम् । षष्ठी तत्पुरुष । (६) **इक्षुवणम्** (गन्नों का जंगल) । **विग्रह**—इक्षूणां वनम् । (७) **आम्रवणम्** (आम का जंगल) । विग्रहादि पूर्ववत् । (९) **खदिरवणम्** (खैर का जंगल) । **विग्रह**—खदिरस्य वनम् । (१०) **पीयूक्षावणम्** (प्लक्ष जाति के वृक्षों का जंगल) । **विग्रह**—पीयूक्षायाः वनम् ।

(१०५१) **पद**—विभाषा, ओषधिवनस्पतिभ्यः । **अनुवृत्ति**—वनम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्-नुम्-व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन से परवर्ती 'वन' के 'न' को 'ण' विकल्प से हो । उदा० १—दूर्वावणम्—दूर्वावनम् । २—शिरीषवणम्-शिरीषवनम् । वा० दो और तीन अचों से युक्त होने पर ही हो । उदा०

दारुवनम्। 'इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा ४९८५)। इरिकावनम्। मिरिकावनम्। तिमिरावनम्। (१०५२) वाहनमाहितात् ८।४।८॥ आरोप्य

इत्युक्तेः। शिरीषवृक्षश्चायं पुष्पफलवानेव न वनस्पतिः। तथापि वनस्पतिशब्देनात्र वृक्ष-सामान्यं विवक्षितम्। अत एव 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' इति सूत्रे भाष्ये शिरीषवण-मित्यत्र शिरीषे वनस्पतित्वं व्यवहृतमिति दिक्। **द्व्यच्त्र्यज्भ्यामेवेति**। परस्य वनस्य णत्वं वाच्यमिति शेषः। **देवदारुवनमिति**। प्रत्युदाहरणम्। **इरिकादिभ्य इति**। एभ्यः परस्य वनस्य णत्वप्रतिषेध इत्यर्थः।

देवदारुवनम् ('ण' नहीं हुआ)। वा० इरिका आदि शब्दों से (परवर्ती 'वन' शब्द में) णत्व का प्रतिषेध कहा जाय। उदा० १—इरिकावनम्। २—मिरिकावनम्। ३—तिमिरावनम्।

विवरण—अनुवृत्तियों का प्रभाव पूर्वसूत्र के समान विद्यमान है। पूर्वपदस्थ शब्दों की भिन्नता है। उत्तरपद में 'वन' शब्द अपेक्षित है। विकल्प-विधान के लिए 'विभाषा' पद की सार्थकता है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "ओषधि-वाची तथा वनस्पति-वाची पूर्वपदस्थ शब्दों से उत्तरवर्ती 'वन' शब्द के 'न' को विकल्प से 'ण' होता है'। ओषधि-वाची का **उदाहरण**—(१) **दूर्वावणम्—दूर्वावनम्** (दूब का जंगल)। **विग्रह**—दूर्वायाः वनम्। षष्ठी तत्पुरुष समास एवं पाक्षिक णत्व। (२) **वनस्पतिवाची शब्द—शिरीषवणम्—शिरीषवनम्** (सिरीस का जंगल)। **विग्रह**—शिरीषस्य वनम्।

वार्तिक—(१) प्रथम वार्तिक द्वारा पूर्वपदस्थ शब्दों में दो या तीन स्वर-वर्णों की सीमा निर्धारित की जा रही है। तदनुसार पूर्वपद यदि दो या तीन स्वर वर्णों से युक्त होगा तभी उस प्रकार के शब्दों से उत्तरवर्ती 'न' के स्थान पर 'ण' होगा। इसके फलस्वरूप **देवदारुवनम्** (देव-दारु का जंगल) में 'वन' से पूर्ववर्ती 'देवदारु' शब्द में चार स्वर-वर्णों के रहने से 'न' को 'ण' नहीं हुआ। (२) द्वितीय वार्तिक द्वारा तीन स्वर-युक्त वर्णों की भी सीमा निर्धारित का जा रही है। तदनुसार तीन स्वर-वाले वर्णों में **इरिका** आदि शब्दों के पूर्ववर्ती होने पर तदुत्तरवर्ती 'वन' के 'न' को 'ण' नहीं होगा। अतः **इरिकावनम्** (एक प्रकार की घास या पेड़)। ओषधि-विशेष होने के कारण सूत्र से प्राप्त वैकल्पिक णत्व का निषेध हो गया। इसी प्रकार **मिरिकावनम्** (एक पौधा) में भी 'न' को 'ण' नहीं हुआ।

विशेष—**ओषधि और वनस्पति** का भेद अमरकोषकार ने इस प्रकार बतलाया है। पुष्पों के बिना फल की उत्पत्ति होने वाले वृक्ष 'वनस्पति' कहलाते हैं। जैसे गूलर (उदुम्बर) आदि ('तैरपुष्पाद् वनस्पतिः')। तथा फल के पकने पर जो सूख जाय वह ओषधि है (**ओषध्यः फल-पाकान्ताः**)। इस परिभाषा के अनुसार वृत्तिकारों द्वारा दिये हुए उदाहरण **शिरीषवणम्** में 'ण' नहीं होना चाहिये, क्योंकि शिरीषवृक्ष में पुष्प एवं फल दोनों ही विद्यमान रहते हैं। इसका समा-धान भाष्यकार ने यह किया है कि यहाँ **वनस्पति** शब्द वृक्षमात्र का संग्राहक है, न कि वानस्पतिक सूक्ष्मता का। इसमें "लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने" १-२-५१ सूत्रस्थ भाष्य को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जाता है। वहाँ पर उपर्युक्त सूत्रस्थ 'व्यक्तिवचने' पद के निवेश पर विचार करते हुए यह सूचित किया गया है कि '**शिरीषवणम्**' में णत्व होने के लिये "विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः" ८-४-६ सूत्र में 'वनस्पति' शब्द सामान्यतः वृक्ष के अर्थ का ही बोधक है। अन्यथा वहाँ णत्व नहीं हो सकेगा। स्थिति इस प्रकार है—शिरीषाणाम् अदूरभवः ग्रामः=शिरीषाः, तेषां वनम्। प्रकृत उदाहरण में सर्वप्रथम तद्धित "अदूरभवश्च" ४-२-७० 'अण्' प्रत्यय का "वरणादिभ्यश्च" ४-२-८२ सूत्र से लोप होने के पश्चात् 'वन' शब्द के साथ समास होने पर युक्तवद्भाव से 'शिरीष' शब्द के मौलिक स्वरूप को देखते हुए उसे 'वनस्पति' नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि कोषग्रन्थों के अनुसार जिसमें

यदुह्यते तद्वाचिस्थान्निमित्तात्परस्य वाहननकारस्य णत्वं स्यात् । इक्षुवाहणम् । आहितात् किम् ? इन्द्रवाहनम् । इन्द्रस्वामिकं वाहनमित्यर्थः । वहतेर्ल्युटि वृद्धिरिहैव सूत्रे निपात-

---

(१०५२) वाहनमाहितात् । वाहने आधीयते वहनाय यत्, न तु स्वयमेवारोढुं शक्नोति तदाहितम् । तदाह—आरोप्येति । निमित्तादिति । रेफषकारान्यतरस्मादित्यर्थः । वाहननकारस्येति । वाहनस्य यो नकारस्तस्येत्यर्थः । अनेन सूत्रे वाहनमिति षष्ठ्यर्थे प्रथमेति सूचितम् । इक्षुवाहणमिति । इक्षवो हि वाहनाय परैरारोप्यन्ते, नतु स्वयमेवारोढुं शक्नुवन्ति इति तेषामाहितत्वं बोध्यम् । आरोपितेक्षुयुक्तं शकटादि वाहनमिति यावत् । इन्द्रवाहनमिति । ऐरावतादाविन्द्रस्य स्वयमेवारोहणान्नाहितत्वमिति भावः । यदि कदाचित् अन्येन वाहने आरोप्यते तदा आहितत्वमिन्द्रस्याप्यस्त्येव । यदा इन्द्रः स्वयमेवारोहति

बिना फूल आए हुए फल की उत्पत्ति हो वही 'वनस्पति' कहलायेगा । इस अवस्था में 'णत्व' की प्राप्ति नहीं होगी । अतः वहाँ 'वनस्पति' शब्द सामान्य वृक्ष का पर्यायवाची मान लिया गया है ।[1]

(१०५२) पद—वाहनम्, आहितात् । अनुवृत्ति—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—जो वस्तु उठा कर ले जायी जाय, तद्वाचिस्थ निमित्त से परवर्ती 'वाहन' शब्द के 'न' को 'ण' होता है । उदा० इक्षुवाहणम् । 'आहितात्' क्यों कहा ? इन्द्रवाहनम् । इन्द्रस्वामिक वाहन—यह अर्थ है (अतः 'ण' नहीं) । (वाहनम् में) √वह् धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर इसी सूत्र से निपातनवश वृद्धि हुई है ।

विवरण—णत्व का ही प्रकरण है । अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् प्रभावी हैं । "उठाकर ले जाने वाली विद्यमान वस्तु (= अचेतन वस्तु)[2] को आहित कहा जाता है (ढोई जाने वाली वस्तु) । तद्वाचक शब्दों के पूर्वपद में रहने पर, उसको निमित्त मानकर यदि 'वाहन' शब्द उत्तरपद हो तो उसके 'न'कार को 'ण' आदेश होता है" । उदाहरण—इक्षुवाहणम् (ईख ढोने की गाड़ी) । विग्रह—इक्षूणां वाहनम् । षष्ठी तत्पुरुष एवं 'न' को 'ण ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'आहितात्' शब्द का निवेश होने से इन्द्रवाहनम् (इन्द्र की सवारी) में 'न' को 'ण' नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ यह शब्द इन्द्रस्वामिक रथ का बोधक है, न कि गन्नों की तरह उठाकर ढोई जाने वाली वस्तु का । यहाँ षष्ठी स्व-स्वामिभाव की सूचक है ।

---

१. तथा हि तत्र 'व्यक्तिवचने' इति किमर्थम् ? शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः=शिरीषः, तस्य वनम्=शिरीषवनम् । अत्रादूरभवश्चेति अणः वरणादित्वाल्लुपि सति प्रकृतिशब्दार्थगतवनस्पतित्व-स्यापि अतिदेशः स्यात् तथा च "विभाषौषधि०" ८-४-६ इति सूत्रेण णत्वापत्तिः' इत्युक्तम् । पुष्पै-र्विना फलवान् हि वनस्पतिः इत्यभिधीयते । न च शिरीषस्तादृशः । एवं च तत्र वनस्पतित्वं नास्तीति वनस्पतित्वमतिदिश्येतेत्यसङ्गतं स्यात् । एतेन तत्र वनस्पतिशब्दो वृक्षत्वात्मकव्यापक-जात्यवच्छिन्नलाक्षणिक इति बोध्यम् ।

२. "वाहनमाहितात्" ८-४-८ इति सूत्रे यदाहितपदं तत्र भूतकालो न विवक्षितः, आहित-शब्दस्य स्वस्वामिभावनिवृत्तिमात्रपरत्वात् । एवं च वाहनं लोके यद्यपि स्वामिन एव प्रसिद्धं, तथापि यत्र स्वामित्वमारोप्य तद्वाहनत्वेन वाहनं विवक्षितं न तु तत्र वाहने वाह्यस्य स्थापनं कृतं तत्रापि भवति । वाह्य-वाहकभावमात्रविवक्षायाः सन्निधानमात्रेणापि संभवात् । एतेन पूर्वपदस्य वहनीयवाचकत्वविवक्षा तदा णत्वं भवति, स्वामिमात्रवाचकविवक्षायां तु न भवेत्—इति निष्कर्षः । अस्मिन्नर्थे प्रमाणं तु प्रकृतसूत्रस्थं भाष्यमेव । तथा हि—"आहितोपस्थितयोरिति वक्तव्यम्" इति तथा "वाहनं वाह्यादिति वक्तव्यम्", यदा हि गर्गाणां वाहनम् अपविद्धं तिष्ठति तदा मा भूत् गर्ग-वाहणम्" इति । यदा गर्गा वाह्यत्वेन विवक्षिता भवन्ति तदा णत्वं भवत्येवेति कैयटः ।

नात्। (१०५३) पानं देशे ८।४।९॥ पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य पानस्य नस्य णत्वं स्याद् देशे गम्ये। क्षीरं पानं येषां ते क्षीरपाणा उशीनराः। सुरापाणाः प्राच्याः। पीयत इति पानम्। कर्मणि ल्युट्। (१०५४) वा भावकरणयोः ८।४।१०॥

वाहनं, तदा प्रत्युदाहरणमिति मनसि निधायाह—इन्द्रस्वामिकमिति। ननु वहेः करणे ल्युटि कथमुपधादीर्घः, ञ्णित्प्रत्ययपरकत्वाभावादित्यत आह—वहेर्ल्युटीति।

(१०५३) पानं देशे। पानमिति षष्ठ्यर्थे प्रथमेत्यभिप्रेत्याह—पानस्येति। उशीनरा इति। देशविशेषे बहुवचनान्तोऽयम्। ननु पानशब्दस्य भावल्युडन्तत्वे क्षीरस्पानमिति कथं सामानाधिकरण्यमित्यत आह—पीयते इति।

विशेष—(१) 'वाहन' शब्द में √ वह्+ल्युट् (=अन) प्रत्यय होने पर वहन शब्द की निष्पत्ति सम्भव थी, क्योंकि 'ल्युट्' प्रत्यय में 'ट'कार की इत्संज्ञा है, न कि 'ञ्' अथवा 'ण्' की, अतः उपधावृद्धि की संभावना नहीं रही। इस हेतु यह कल्पना करनी पड़ती है कि सूत्र में उपधा-वृद्धि-युक्त 'वाहन' शब्द का प्रयोग किया गया है—अतः वह निपातन-वश है। अन्यथा 'वाहन' शब्द लोक में असमीचीन ही समझा जाता।

(१०५३) पद—पानं, देशे। **अनुवृत्ति**—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्। **विधिसूत्र।**

सूत्रार्थ—देश की प्रतीति होने पर पूर्वपदस्थ निमित्त से परवर्ती 'पान' के 'न' को 'ण' होता है। उदा० १—क्षीरं पानं येषां ते > क्षीरपाणाः—उशीनराः। २—सुरापाणाः—प्राच्याः। 'पान' शब्द की व्युत्पत्ति—(पीयते इति) पा+(कर्म मे) ल्युट् (= अन)।

विवरण—अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। णत्व का ही प्रकरण है। अनुवर्तमान पदों के साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "पूर्वपदस्थ निमित्त से उत्तरवर्ती 'पान' शब्द के 'न'कार को, देश का अभिधान होने पर, 'ण' आदेश हो"। **उदाहरण**—(१) **क्षीरपाणाः** (क्षीरपायी—दूध पीने वाले उशीनर देशवासी)। **विग्रह**—क्षीरं पानं येषां ते। बहुव्रीहि-समास होने पर 'न' को 'ण' आदेश। (२) **सुरापाणाः**—प्राच्याः (सुरा पान करनेवाले प्राच्य देश वासी)। **विग्रह**—सुरा पानं येषां ते। पूर्ववत् बहुव्रीहि समास तथा 'न' को 'ण'। यहाँ पर पान शब्द का प्रयोग 'पिया जाता है'—इस अर्थ में किया गया है (कर्म में √'पा' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'पान' शब्द निष्पन्न होता है)। भावार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'क्षीरं पानं' विग्रह में सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता था।

विशेष—जनपदों में विशेष पेय को अभिलक्षित कर इस सूत्र से णत्व विधान किया गया है। इस सूत्र की पृष्ठभूमि कुछ रोचक है। जिस जनपद के लोग जिस प्रकार के पेय पदार्थ के शौकीन थे, उससे उस जनपद का नाम भी पड़ जाता था। **क्षीरपाणाः उशीनराः** से ज्ञात होता है कि पंजाब में शिवि उशीनर-जनपद के लोग दूध पीने के शौकीन थे। शिवि उशीनर चन्द्रभागा (चनाब) के निचले काठे का पुराना नाम था, जहाँ आज झंग-मघियाना पाकपत्तन और मुलतान का इलाका है। यहाँ की गायें उत्तर भारत में विख्यात हैं। चरक के अनुसार भी प्राच्य जनपद में मत्स्यभोजन, सिन्धु-जनपद में क्षीरभोजन, एवं वाह्लीक (बल्ख), शूलिक (काशगर) और चीन के लोगों में माध्वीक का प्रचार रहा है (चिकित्सा स्थान ३०-३१७)[1]। काशिका में दीक्षित के द्वारा दिये गए उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य दो उदाहरण इस प्रकार हैं—(३) **सौवीरपाणाः**—वाह्लीकाः। (४) **कषायपाणाः**—गन्धाराः।

---

१. द्रष्टव्य—पाणिनिकालीन भारतवर्ष (पृ० १२५)।

पानस्य इत्येव । क्षीरपानम्-क्षीरपाणम् । 'गिरिनद्यादीनां वा' (वा० ४९८९) । गिरि-नदी-गिरिणदी । चक्रनितम्बा-चक्रणितम्बा । (१०५५) **प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च ८ । ४ । ११ ॥** पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य एषु स्थितस्य नस्य णो वा स्यात् । प्राति-

---

(१०५४) **वा भावकरणयोः । इत्येवेति ।** अनुवर्तत एवेत्यर्थः । भावे करणे च यः पानशब्दः तस्य उक्तविषये णो वा स्यादित्यर्थः । आदेशार्थं वचनम् । **क्षीरपानम्-क्षीर-पाणमिति ।** क्षीरस्य पानमिति विग्रहः । भावे करणे वा ल्युट् । पानक्रिया पानपात्र त्वेत्यर्थः । **गिरिनद्यादीनामिति ।** पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य उत्तरपदस्थस्य नस्य णो वेत्युप-सङ्ख्यानमित्यर्थः । **गिरेर्नदीति** विग्रहः । **चक्रनितम्बेति ।** चक्रमिव नितम्बो यस्याः सा इति विग्रहः ।

(१०५५) **प्रातिपदिकान्त । पूर्वपदस्थादिति ।** 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्' इत्यतस्तद-नुवृत्तेरिति भावः । **एषु स्थितस्येति ।** प्रातिपदिकान्ते, नुमि, विभक्तौ च विद्यमानस्येत्यर्थः । **वा स्यादिति ।** 'वा भावकरणयोः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । **प्रातिपदिकान्त इति ।** उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः । **माषवापिणाविति ।** माषान् वपत इति विग्रहः, बहुल-माभीक्ष्ण्ये' इति जातावपि सुप्युपपदे णिनिः । उपपदसमासः । वापिन्शब्दस्य कृदन्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् तदन्तस्य णत्वमिति भावः । **नुमीति ।** उदाह्रियत इति शेषः । **व्रीहिवापाणीति ।** कृषीवलकुलानीति शेषः । व्रीहीन्वपन्ति इति विग्रहः । कर्मण्यण् । व्रीहिवापशब्दान्नपुंसकात् 'जश्शसोश्शिः' 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः । नुमो नस्य णत्वमिति भावः । **विभक्ताविति ।** उदाह्रियते इति शेषः ।

(१०५४) पद—वा, भावकरणयोः । **अनुवृत्ति**—पानम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्-व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'पान' के ही ('न' को 'ण' का विधान) हो । उदा० क्षीरपानम्—क्षीरपाणम् । वा० गिरि-नदी आदि शब्दों के भी ('न' को 'ण') विकल्प से हो । उदा० १—गिरिनदी—गिरिणदी । २—चक्रनितम्बा—चक्रणितम्बा ।

विवरण—पूर्व सूत्र से सम्बद्ध विषय है । "पूर्वपदस्थ निमित्त से परवर्ती भाव और करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्ययान्त 'पान' शब्द के 'न' को विकल्प से 'ण' किया जाय" । **उदाहरण**—**क्षीर-पाणम्**←'ण' होने पर । **क्षीरपानम्**→'ण' न होने पर । **अर्थ**—दूध का पीना अथवा पीने का बर्तन । यहाँ यह शब्द देश का अभिधेय नहीं है । **विग्रह**—क्षीरस्य पानम् । अतः भाव में 'पान' शब्द का **विग्रह**—पीतिः—पानम् । तथा **करण** में **पीयते अनेन**=पानः । प्रत्यय तो ल्युट् ही है, किन्तु करण अर्थ में विधायक सूत्र पृथक् है—"करणाधिकरणयोश्च" ३-३-११७ ।

वार्तिक—गिरिनद्यादि शब्दों में पूर्वपदस्थ निमित्त से परवर्ती उत्तरपदस्थ 'न' के स्थान पर 'ण' आदेश विकल्प से हो । **उदाहरण**—(१) **गिरिणदी**←'ण' होने पर । गिरिनदी→'ण' न होने पर । **विग्रह**—गिरेः नदी । षष्ठी-तत्पुरुष समास । **अर्थ**—पहाड़ी नदी । (२) **चक्रणितम्बा**←'ण' होने पर । **चक्रनितम्बा**→'ण' न होने पर । **विग्रह**—चक्रम् इव नितम्बः यस्याः सा । बहुव्रीहि समास । **अर्थ**—जिस महिला का कटि-पश्चाद्-भाग चक्र के समान हो ।

(१०५५) पद—प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिषु, च । **अनुवृत्ति**—वा, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पूर्वपदस्थ निमित्त से परवर्ती प्रातिपदिक के अन्त, नुम् और विभक्ति में स्थित 'न' को विकल्प से 'ण' हो । उदा० १—प्रातिपदिकान्त—माषवापिणौ । २—नुम्—व्रीहिवापाणि । ३—

पदिकान्ते–माषवापिणौ । नुमि–व्रीहिवापाणि । विभक्तौ–माषवापेण । पक्षे–माषवापिना-वित्यादि । 'उत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तदन्तस्यैव णत्वम्' (वा ४९९०) । नेह–गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनी । अत एव नुम्ग्रहणं कृतम् । अङ्गस्य नुम्विधानात्तद्भक्तो हि नुम्, न

माषवापेणेति । तृतीयाविभक्तिस्थत्वान्नस्य णत्वम् । इत्यादीति । णत्वाभावपक्षे माषवापिनौ, माषवापानि, माषवापेन इत्युदाहार्यमिति भावः । ननु गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनीत्यत्र ङीप्प्रत्ययप्रकृतिभूतभगिन्शब्दात्मकप्रातिपदिकान्तत्वात् नकारस्य णत्वविकल्पः कुतो न स्यादित्यत आह—उत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तदन्तस्यैव णत्वमिति पूर्वपदेन उत्तरपद-माक्षिप्तम् । तच्च प्रातिपदिकस्यैव विशेषणम्, न तु तदन्तस्य । नापि नुम्विभक्त्योः, असम्भवादिति भावः । नेहेति । गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनीति षष्ठीसमासे भगिनीशब्द उत्तरपदं, न तु तत्प्रातिपदिकं, प्रत्ययान्तत्वात् । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया प्रातिपदिक-ग्रहणेन भगिनीशब्दस्य णेऽपि तदन्तम् ईकार एव, न तु नकारः । अतो न तस्येदं पाक्षिकं णत्वमिति भावः । प्रातिपदिकस्योत्तरपदत्वविशेषणं सूत्रकारस्य सम्मतमित्याह—अत एवेति । प्रातिपदिकस्य उत्तरपदत्वविशेषणादेव सूत्रकारेण कृतं नुम्ग्रहणमर्थवत्, अन्यथा तदनर्थकमित्यर्थः । कुत इत्यत आह—अङ्गस्येति । 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुम्विधौ अङ्गस्येत्यनुवृत्तम् । तथा च झलन्तस्याजन्तस्य चाङ्गस्य क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनाम-स्थाने इत्यर्थो लभ्यते । माषवापाणीत्यत्र तु सर्वनामस्थानं प्रति माषवापशब्दोऽङ्गम् । तस्य माषवापशब्दस्य विहितो नुमागमस्तदवयव एव भवति, न तु उत्तरपदभूतवापशब्द-स्यैवावयवः । तथा च उत्तरपदभूतप्रातिपदिकान्तत्वाभावात् 'प्रातिपदिकान्त' इत्यनेन णत्वविकल्पस्याप्राप्तौ नुम्ग्रहणम् । प्रातिपदिकस्य उत्तरपदत्वविशेषणाभावे तु माषवाप-

---

विभक्ति–माषवापेण । पक्ष में—माषवापिनौ इत्यादि । वा० उत्तरपदस्थ जो प्रातिपदिक, तदन्त 'न' को ही 'ण' होता है । (इस नियम से) गर्गाणां भगिनी>गर्गभगिनी में 'ण' नहीं हुआ । इसी कारण सूत्र में 'नुम्' ग्रहण किया गया है । अङ्ग को 'नुम्' विधान के कारण 'नुम्' अङ्गावयव होता है, न कि उत्तरपदसम्बन्धी । इसके साथ ही 'प्रहिण्वन्' इत्यादि में √हिवि धातुसम्बन्धी 'नुम्' के 'न'कार को 'ण'कार करने के लिये सूत्र में 'नुम्' ग्रहण है । 'प्रेन्वनम्' आदि में क्षुम्नादिगण के कारण णत्व नहीं होता । वा० युवादि में 'न' को 'ण' नहीं होता । उदा० १—रम्ययूना । २—परि-पक्वानि । वृत्रहणौ तथा हरिमाणी (हरिं मानयति—हरि√मान्+क्विप्) में "एकाजुत्तरपदे णः" (सू० ३०७) से नित्य 'ण' हुआ है । नुम् का उदाहरण क्षीरपाणिः । विभक्ति का उदा० १—क्षीर-पेण । २—रम्यविणा ।

विवरण—णत्व का ही प्रकरण है । वैकल्पिक विधान होने के कारण पूर्वसूत्र (१०५४) से 'वा' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । स्थानी 'न' तथा आदेश 'ण' है । स्थानि-सम्बन्धी 'न'कार के तीन प्रकार यहाँ अपेक्षित हैं । उनका उल्लेख प्रकृत सूत्र में 'प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिषु'—पदों से किया गया है (प्रातिपदिकान्तश्च, नुम् च, विभक्तिश्च—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तयः, तेषु) । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "पूर्वपदस्थ निमित्त से उत्तरवर्ती 'प्रातिपदिक के अन्त में जो नकार', तथा 'नुम्' एवं 'विभक्तिसम्बन्धी' जो 'न'कार–उसको भी विकल्प से णकार आदेश होता है" । (१) **उदाहरण—प्रातिपदिकान्त—माषवापिणौ**←'ण' होने पर । **माषवापिनौ**→'ण' न होने पर । **विग्रह—** माषान् वपत । माष-√वप्+इन् (णिनि—"बहुलमाभीक्ष्ण्ये" ३-२-८१) > माषवापिन् (उपधा-वृद्धि) ⊳ माषवापिन्+औ (द्वि-वचन में 'औ' विभक्ति) ⊳ माषवापिणौ (यहाँ पर 'न'कार

तूत्तरपदस्य। किञ्च 'प्रहिण्वन्' इत्यादौ हिवेर्नुमो णत्वार्थमपि नुम्ग्रहणम्। प्रेन्वनम् इत्यादौ तु क्षुभ्नादित्वान्न। 'युवादेर्न' (वा ४९९९)। रम्ययूना। परिपक्वानि।

शब्दान्तावयवस्य नुमः माषवापेति प्रातिपदिकान्तावयवत्वस्य सत्त्वात् 'प्रातिपदिकान्त' इत्येव सिद्धे नुम्ग्रहणं व्यर्थं स्यादित्यर्थः। तदेवं प्रातिपदिकस्य उत्तरपदत्वविशेषणे नुम्ग्रहणं लिङ्गमिति स्थितम्। वस्तुतस्तु नेदं लिङ्गमित्याह—**किञ्च प्रहिण्वन्नित्यादौ हिवेर्नुमो णत्वार्थमपि नुम्ग्रहणमिति।** किंचेति विशेषप्रदर्शने। 'हिवि प्रीणने' भ्वादिः, इदित्त्वात् नुम्, लटः शत्रादेशः। माषवापाणीत्यत्र नुमो नस्य प्रातिपदिकान्तत्वेऽपि प्रहिण्वन्शब्दे नुमो नस्य प्रातिपदिकान्तत्वाभावात् 'प्रातिपदिकान्त' इत्यनेन णविकल्पस्याप्राप्ते तदर्थं नुम्ग्रहणमावश्यकम्। अतः उत्तरपदत्वस्य प्रातिपदिकविशेषणत्वे कथं नुम्ग्रहणं लिङ्गं स्यात्। तस्मादुत्तरपदविशेषणे भाष्यमेव शरणमिति भावः। ननु माषवापिणाविस्यत्र वापिन् इति प्रातिपदिकस्य कथमुत्तरपदत्वम् 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनम्' इति सुबुत्पत्तेः प्रागेव समासप्रवृत्तेरिति चेत्, न—उत्तरपदशब्दस्य समासचरमावयवे रूढत्वादित्यलम्। ननु 'इवि व्याप्तौ' इदित्त्वान्नुम्। ल्युटि अनादेशः। प्रकृष्टमिन्वनमिति प्रादिसमासे नुमो नकारस्य णत्वविकल्पः स्यादित्यत आह—**प्रेन्वनमिति।** **युवादेर्नेति।** उक्तणत्वविकल्पः इति शेषः। वार्तिकमिदम्। **रम्ययूनेति।** रम्यश्चासौ युवा चेति विग्रहः। प्रातिपदिकान्तनकारत्वात्प्राप्तिः। **परिपक्वानीति।** इह नुमो नकारस्य 'प्रातिपदिकान्त' इति विकल्पं बाधित्वा 'कुमति च' इति नित्यं णत्वं प्राप्तम्। तदिह

को प्रातिपदिकान्त होने से 'ण' विकल्प हुआ)। अर्थ—उड़द बोने वाले दो व्यक्ति। २—नुम्-का **उदाहरण—व्रीहिवापाणि**←'ण' होने पर। **व्रीहिवापानि**→'ण' न होने पर। विग्रह—व्रीहीन् वपन्ति। व्रीहिवाप ("कर्मण्यण्" ३-२-१ से अण् प्रत्यय→व्रीहि-√वप्+अण्) ⊳ व्रीहिवाप+जस् (प्रथमा बहुवचन) > व्रीहिवाप+इ (जस्=शि-"जस्-शसोः शिः" ७-१-२०) > व्रीहिवाप+न्+इ ('नुम्' आगम—"नपुंसकस्य झलचः" ७-१-७२) > व्रीहिवापान्+इ ('प' कारोत्तरवर्ती 'अ' को दीर्घ—"सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ" ६-४-८) > व्रीहिवापानि > व्रीहिवापाणि (यहाँ पूर्वपदस्थ रेफ से निमित्त परवर्ती 'नुम्' के 'न'कार को 'ण' हुआ है। अर्थ—धान बोने वाले किसानों के कुल। ३—**विभक्ति का उदाहरण—माषवापेण**←'ण' होने पर। **माषवापेन**→'ण' न होने पर। विग्रहादि पूर्ववत्। **प्रक्रिया**—माषवाप+इन (टा-तृतीया एक-वचन, उसके स्थान में 'इन' आदेश) > माषवापेन (गुण-सन्धि) ⊳ माषवापेण (यहाँ पर नकार 'टा'='इन' तृतीया-एकवचन-विभक्ति-सम्बन्धी है, अतः पूर्वपदस्थ 'प'कार को निमित्त मान कर 'न' को 'ण' हुआ)।

वार्तिक—(१) पूर्वपदस्थ निमित्त से उत्तरवर्ती प्रातिपदिक के अन्त में विद्यमान 'न'कार को ही 'ण'कार होता है, अन्य 'न'कार को नहीं—इस प्रकार का नियम करने से **गर्गभगिनी** (गर्ग गोत्र-वाले की बहन) में 'न' को 'ण' नहीं हुआ। उसका कारण यह है कि 'भगिनी' शब्दस्थ नकार प्रातिपदिक के अन्त में नहीं है। वहाँ तो प्रातिपदिक के अन्त में ङीप् प्रत्यय-सम्बन्धी 'ई'कार है। प्रातिपदिक तो 'भगिन्' है। 'पूर्वपद' से 'उत्तरपद' का यहाँ आक्षेप किया गया है। 'गर्गभगिनी' शब्द में षष्ठी तत्पुरुष (गर्गाणां भगिनी) समास करने पर 'भगिनी' शब्द उत्तरपदवर्ती है, वह प्रत्ययान्त होने के कारण प्रातिपदिक नहीं है। लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से यद्यपि भगिनी शब्द भी प्रातिपदिक माना जा सकता है, तो भी अन्त में ईकार होने से (नकारान्त न होने से) पाक्षिक णत्व नहीं होता। इससे यह विदित होता है कि सूत्रकार ने उत्तरपद

'एकाजुत्तरपदे णः' (सू ३०७)। नित्यम् इत्युक्तम्। वृत्रहणौ। हरिं मानयतीति हरिमाणौ। नुमि–क्षीरपाणि। विभक्तौ–क्षीरपेण। रम्यविणा। (१०५६) कुमति च

युवादित्वान्निषिध्यते। एकाजुत्तरपदे णः। अजन्तस्त्रीलिङ्गे पुनर्भूशब्दनिरूपणे व्याख्यातमपि प्रकरणानुरोधात् स्मर्यते। नित्यमित्युक्तमिति। आरम्भसामर्थ्यान्नित्यमिदं णत्वमिति तत्रैवोक्तमित्यर्थः। हरिमाणीति। मनेर्ण्यन्तात् 'क्विप् च' इति क्विपि 'गतिकारकोपपदानाम्' इति सुबुत्पत्तेः प्राक् समासः। नान्तत्वात् ङीप्। अत्र मान् इति प्रातिपदिकमुत्तरपदं तदन्तत्वात् नकारस्य णत्वविकल्पे प्राप्ते नित्यं णत्वम्। नुमीति। उदाह्रियत इति शेषः। क्षीरपाणीति। कर्मण्युपपदे पाधातोः 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः, 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः। क्षीरपशब्दाज्जश्शसोश्शिः। अजन्तलक्षणो नुम्। दीर्घः। तस्य नित्यं णत्वम्। विभक्ताविति। उदाह्रियत इति शेषः। क्षीरपेणेति। विभक्तिस्थस्यात्रनस्य नित्यं णत्वम्। विभक्तावुदाहरणान्तरमाह—रम्यविणेति। विः पक्षी, रम्यश्चासौ विश्च तेनेति विग्रहः। न चात्र 'पदव्यवायेऽपि' इति निषेधः शङ्क्यः। किमिह प्रत्ययलक्षणेन अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य 'सुप्तिङन्तम्' इति पदत्वमभिमतम्, उत तृतीयाविभक्तौ परतः 'स्वादिषु' इति पदत्वम्। नाद्यः। 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ' इति प्रत्ययलक्षणप्रति-

को 'प्रातिपदिक' का विशेषण माना है। तभी सूत्र में 'नुम्' पद की पृथक् सार्थकता है। अन्यथा 'माषवापाणि' इत्यादि की सिद्धि के लिये 'नुम्' ग्रहण की चरितार्थता सिद्ध नहीं हो सकेगी। कारण यह है कि 'माषवापाणि' (माषवाप+न्+इ) में 'माषवाप' शब्द के अन्तावयव 'नुम्' आगम के 'माषवाप' शब्दस्वरूप प्रातिपदिक का भी अन्तावयव माने जाने से 'प्रातिपदिकान्त' ८-४-११—अंश से सूत्र से ही णकार सिद्ध हो सकता था। अतः 'नुम्' ग्रहण की सार्थकता हेतु उत्तरपदत्व को प्रातिपदिक का विशेषण मानने की युक्ति दी गई है।

इस युक्ति के अतिरिक्त 'नुम्' ग्रहण करने का दूसरा हेतु भी दिया जा रहा है। वह यह है कि प्रहिण्वन् (प्र+√हिवि+लट्=शतृ > प्र–हिन् व् (इकार इत्संज्ञक होने से 'नुम्' आगम, प्र–हिन्व् अत्>प्र–हिन्वन्) में 'नुम्' का न-कार प्रातिपदिकान्त नहीं है, अतः वहाँ णकार की सिद्धि के लिये सूत्र में 'नुम्' ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस प्रकार 'नुम्' की सार्थकता दिखाते हुए यह शङ्का उपस्थित की जा रही है कि प्रेन्वनम् (प्र–√इवि+ल्युट्>प्र-इन् व्+अन) में **प्रकृष्टम् इन्वनम्** विग्रह करने पर **प्रादि समास** करने के पश्चात् 'नुम्' के नकार को णकार की प्राप्ति हो सकती है। उसके निवारण के लिये **"क्षुभ्नादिषु च"** ८-४-३९ सूत्रस्थ क्षुभ्नादिगण में पाठ होने से णकार नहीं होता।

इसी प्रसङ्ग मे **रम्ययूना** (सुन्दर युवक द्वारा—रम्यश्चासौ युवा च, तेन) शब्द में पूर्वपदस्थ रेफ से नकार के परवर्ती होने पर भी प्राप्त णत्व के निषेध के लिये वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अनुसार **"युवादि के 'न' को 'ण' नहीं होता"**। इसी तरह **परिपक्वानि** (पके हुए) में भी समझा जाय। परिपक्व+जस् >परिपक्वन्+इ (शि) > परिपक्वानि (दीर्घ)। यहाँ पर 'नुम्' के नकार को **"प्रातिपदिकान्त०"** सूत्र से प्राप्त वैकल्पिक णत्व को बाधकर अग्रिम सूत्र "कुमति च" ८-४-१३ से प्राप्त नित्य णकार का निषेध युवादि गण में पाठ होने से हो गया।

स्मरणीय—अजन्तस्त्रीलिङ्ग प्रकरण में **पुनर्भू** शब्द के षष्ठी-बहुवचन के रूप **पुनर्भूणाम्** 'में न' के स्थान पर णकार किये जाने के प्रसङ्ग में यहाँ पुनः स्मरण कराया जा रहा है कि **एकाजुत्तरपदे णः** (८-४-१२) से विधीयमान णकार नित्य है। पुनः पुनः स्मरण कराये जाने से विषय अवगत हो जाता है।

८।४।१३॥ कवर्गवत्युत्तरपदे प्राग्वत्। हरिकामिणौ। हरिकामाणि। हरिकामेण।

षेधात्। न द्वितीयः। 'स्वादिषु' इत्यनेन हि रम्यविशब्दस्यैव पदत्वं लभ्यते, न तु विशब्दस्य, तृतीयाविभक्तेः समुदायादेव विधानात्। अत एव पुनर्भूणामित्यत्र नामि भूशब्दमात्रस्य पदत्वाभावात् 'पदव्यवायेऽपि' इति निषेधाभावाण्णत्वमिति प्राञ्चः। अत्र यद्वक्तव्यं तत् 'पदव्यवायेऽपि' इत्यत्रानुपदमेव वक्ष्यते।

(१०५६) कुमति च। प्राग्वदिति। प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य नित्यं णत्वं स्यादित्यर्थः। अनेकाजुत्तरपदार्थमिदम्। हरिकामिणाविति। 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिः। प्रातिपदिकान्तत्वाण्णत्वम्। हरिकामाणीति। अजन्तलक्षणनुमो नित्यं णत्वम्। हरिकामेणेति। विभक्तिस्थस्योदाहरणम्।

यहाँ उसी सूत्र के पृथक् उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। प्रातिपदिकान्त—वृत्रहणौ (वृत्रासुर को मारने वाले दो व्यक्ति)। वृत्रहन्+औ—इस स्थिति मे 'न्' को 'ण्' प्रातिपदिक का अन्तावयव होने से होता है। इसी प्रकार हरिमाणी (विष्णु को पूजने वाला) में भी 'न' को 'ण' होता है। विग्रह—हरिं मानयति। हरि+अम्, मन्+णिच्+क्विप् > हरिमान्+ई—"गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समास-वचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः"—नियम के अनुसार सुबुत्पत्ति के पहले ही समास होकर नकारान्त होने के कारण "ऋन्नेभ्यो ङीप्" ४-१-५ से ङीप् (ई) होता है। यहाँ पर 'मान्' यह प्रातिपदिक उत्तरपदस्थ है। उसके अन्त में 'न्' होने के कारण वैकल्पिक णकार की प्राप्ति होने के कारण "एकाजुत्तरपदे णः" से नित्य णत्व हुआ। 'नुम्' का उदाहरण—क्षीरपाणि (दूध पीने वाला)। विग्रह—क्षीरं पिबति। क्षीर—√पा+क (=अ) > क्षीरप+जस् ▷ क्षीरप+इ (शि) ▷ क्षीरप-न्+इ (नुम्) > क्षीरपानि (दीर्घ) ▷ क्षीरपाणि—'नुम्' के न कार को नित्य णकार हुआ। विभक्ति में—क्षीरपेण (दूध पीने वाले के द्वारा)। क्षीरप+टा ▷ क्षीरप+इन (टा=इन) ▷ क्षीरपेन (गुण) ▷ क्षीरपेण। यहाँ पर विभक्तिस्थ ('टा' सम्बन्धी) नकार को नित्य णकार हुआ। विभक्तिस्थ नकार का दूसरा उदाहरण रम्यविणा भी दिया जा रहा है (सुन्दर पक्षी द्वारा)। विग्रह—रम्यश्चासौ विश्च, तेन। रम्य-वि+टा > रम्यवि+ना > रम्यविणा। यहाँ पर भी नकार विभक्तिस्थ (टा-सम्बन्धी) है। अतः नित्य 'ण' हुआ। प्रकृत उदाहरण में यह शंका उपस्थित होती है कि पदव्यवायेऽपि (८-४-३८ से) णत्व का निषेध क्यों न हो? कारण यह है कि रम्यविणा में पूर्वपदस्थ निमित्त से परवर्ती 'न' से पूर्व 'वि' पद का व्यवधान है। इसके समाधान में यह उत्तर दिया जाता है कि यहाँ पर समास होने के बाद परिनिष्ठित 'रम्यवि' शब्द ही पद है और उसी से तृतीया एकवचन 'टा' विभक्ति विहित है। अतः व्यवधान होने की समस्या निर्मूल है।

(१०५६) पद—कुमति, च। अनुवृत्ति—प्रातिपदिकान्तनुम्-विभक्तिषु, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—क-वर्ग से युक्त उत्तरपद परे रहते पूर्ववत् हो। उदा० १—हरिकामिणौ। २—हरिकामाणि। ३—हरिकामेण।

विवरण—पूर्ववत् णत्व का ही प्रकरण है। सूत्र में उत्तरपदस्थ निमित्तसूचक एक मात्र पद 'कुमति' है। प्रमुख अनुवृत्ति ८-४-११ सूत्र से 'प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिषु' की अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र के अनुसार प्रभावी हैं। 'कु' शब्द क-वर्ग का बोधक है। 'मतुप्' प्रत्यय तद्वान् का द्योतक है। अतः 'पूर्वपदस्थ' निमित्त से उत्तर कवर्ग-वान् शब्द का पश्चाद्वर्ती होना अपेक्षित है। तदनुसार "कवर्गवान् शब्द के उत्तरपदस्थ होने पर प्रातिपदिक के अन्त में नकार, नुम् तथा विभक्तिस्थ नकार—इन तीनों को नित्य णकार आदेश होगा"। अष्टाध्यायी के क्रमानुसार

(१०५७) पदव्यवायेऽपि ८ । ४ । ३८ ॥ पदेन व्यवधानेऽपि णत्वं न स्यात् । माषकुम्भवापेन । चतुरङ्गयोगेन । 'अतद्धित इति वाच्यम्' (वा ५०१५) । आर्द्रगोमयेण ।

(१०५७) पदव्यवायेऽपि । पदेन व्यवधाने इति । पदेनेत्यनन्तरं निमित्तकार्यिणोरिति शेषः । न स्यादिति । 'न माभूपूकमिगमि' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । माषकुम्भवापेनेति । माषाणां कुम्भो माषकुम्भः, तस्य वाप इति षष्ठीसमासः । अत्र निमित्तकार्यिणोः षकारनकारयोः कुम्भपदेन व्यवधानात् न णत्वम् । चतुरङ्गयोगेनेति । चत्वारि अङ्गानि रथगजतुरगपदातिरूपाणि यस्य तत् चतुरङ्गं सैन्यम्, तेन योग इति विग्रहः । अत्र निमित्तकार्यिणोरङ्गपदेन व्यवधानान्न णत्वम् । उभयत्रापि कुम्भशब्दस्य अङ्गशब्दस्य च प्रत्ययलक्षणेन अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वं बोध्यम् । 'उत्तरपदे चापदादिविधौ प्रतिषेधः' इति निषेधस्तु नात्र प्रवर्तते, उत्तरखण्डस्य कार्यभाक्त्वे सत्येव तत्प्रवृत्तेः । अत एव 'न लुमताङ्गस्य' इत्यत्र परमवाचेत्येव तस्याः परिभाषाया उदाहरणमुक्तं भाष्ये । अत्र हि वाचछब्दस्य उत्तरपदस्य कुत्वरूपकार्यभाक्त्वमस्तीति तस्य अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वाभावात् कुत्वं न भवति । अत एव च 'कुमति च' इति सूत्रे भाष्ये माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, माषकुम्भस्य वापो माषकुम्भवापः तेन माषकुम्भवापेनेत्यत्र 'पदव्यवायेऽपि' इति निषेधप्रवृत्तये 'प्रातिपदिकान्त' इति णत्वप्रवृत्तिरुपन्यस्ता सङ्गच्छते । न चैवं सति रम्यविणा इत्यत्र वि इत्युत्तरखण्डस्य कार्यभाक्त्वाभावात् 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ'

पूर्वसूत्र ८-४-१२ ("एकाजुत्तरपदे णः") से एक स्वरवर्ण-युक्त उत्तरपद परवर्ती होनेपर ही णत्व प्राप्त होता था । अनेक स्वरयुक्त-वर्णों के उत्तरपद रहने पर भी णत्व हो जाय, इस लिये यह सूत्र चरितार्थ होता है । क्रमशः **उदाहरण—(१)** प्रातिपदिकान्त न-कार—**हरिकामिणौ** (हरि को चाहने वाले दो व्यक्ति)। विग्रह—हरिं कामयेते, तौ । हरि-√कम्+णिनि "बहुलमाभीक्ष्ण्ये" (इन्) ३-२-८१ > हरि-कामिन् (उपधा-वृद्धि) > हरिकामिन्+औ > हरिकामिणौ (पूर्वपद—'हरि' शब्द—में स्थित रेफ निमित्त से उत्तरवर्ती 'क'वर्गयुक्त शब्द–'कामिन्' के नकार को प्रातिपदिकान्त (हरिकामिन्) होने के कारण 'ण' हो गया । (२) नुम् का नकार—**हरिकामाणि** (विष्णु को चाहने वाले परिवार)। यहाँ पर (हरिकाम+जस् > हरिकामन्+इ (जस्=शि) > हरिकामानि (उपधा-दीर्घ) > हरिकामाणि (नुम्-सम्बन्धी न=ण)। (३) विभक्तिस्थ नकार—**हरिकामेण** (विष्णु की कामना करने वाले व्यक्ति के द्वारा)। यहाँ पर टा='इन' आदेश होने पर गुण सन्धि होकर न=ण हुआ । यह 'न'कार टा-विभक्ति-सम्बन्धी है ।

(१०५७) पद—पदव्यवाये, अपि । **अनुवृत्ति**—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । विधि-(**निषेध**)-सूत्र ।

मूलार्थ—पद से व्यवधान होने पर भी णत्व नहीं होता । उदा० १—माषकुम्भवापेन । २—चतुरङ्गयोगेन । वा० तद्धित-भिन्न कहा जाय । उदा० १—आर्द्रगोमयेण । २—शुष्कगोमयेण ।

विवरण—विशेष परिस्थिति में णत्व-निषेध की प्रस्तुति की जा रही है । सूत्र के अर्थ की निष्पत्ति के लिये णत्व-निषेध-प्रकरणस्थ सूत्र-क्रम पर ध्यान देना होगा । अतः निषेधार्थक 'न' की अनुवृत्ति के लिये "न भा-भू पू-कमि-गमि-प्यायी-वेपाम्" ८-४-३४ सूत्र का स्मरण करना पड़ता है । इस सूत्र से ही णत्व-निषेध-प्रकरण आरम्भ होता है । शेष निमित्त-सम्बन्धी अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है । सबकी एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "निमित्त (र, ष) तथा निमित्ती (न) के मध्य यदि कोई पद हो तो ऐसी स्थिति में भी 'न' के स्थान पर 'ण' नहीं होगा" । **उदाहरण—(१) माषकुम्भवापेन** (एक घड़ा उड़द के बोने योग्य खेत द्वारा)।

इति प्रत्ययलक्षणनिषेधस्याप्रवृत्तौ अन्तर्वर्तिविभक्त्याश्रयणेन पदत्वात् 'पदव्यवायेऽपि' इति णत्वनिषेधः स्यादिति वाच्यम्, पदे परे यत्पदं तेन व्यवाये णत्वं नेत्यर्थस्यैव भाष्यसम्मतत्वात्। तच्च अनुपदमेव स्पष्टीभविष्यति। रम्यविणेत्यत्र च विशब्दस्यान्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वेऽपि तस्य पदपरकत्वाभावान्न णत्वनिषेधः। एतेन पुनर्भूणामित्यत्रापि णत्वं निर्बाधम्। अतद्धिते इति। अतद्धिते परे यत्पदं तेन व्यवधाने अयं निषेधः, नतु तद्धितपरकपदेनेत्यर्थः। आर्द्रगोमयेणेति। गोः पुरीषं गोमयं, 'गोश्च पुरीषे' इति गोशब्दात् षष्ठ्यन्तात् मयट् तद्धितः, तद्धितान्तप्रातिपदिकावयवत्वात् सुपो लुक्। आर्द्रं गोमयमिति कर्मधारयः। यद्यपि प्रत्ययलक्षणेन अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य गोशब्दः मयटि पदम्। तथापि तस्य तद्धितपरकतया तेन व्यवधानेऽपि रेफात्परस्य णत्वं भवत्येव, अस्मिन् प्रकरणे अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायस्य अबाधकत्वात्। शुष्कगोमयेणेति। षात्परस्योदाहरणम्। भाष्ये तु 'पदान्तस्य' इति पूर्वसूत्रात्पदग्रहणानुवृत्तिमभिप्रेत्य पदे परतः पदेन व्यवाये णत्वं नेत्याश्रित्य वार्तिकमिदं प्रत्याख्यातम्। अथ 'सुट् कात्पूर्वः' इत्यतः सुडित्यनुवृत्तौ कतिचित्सूत्राणि व्याख्यातुमुपक्रमते।

प्रक्रिया—माषाणां कुम्भः > माषकुम्भः, तस्य वापः > माषकुम्भवापः (षष्ठी तत्पुरुष) तेन—माषकुम्भवापेन। यहाँ पर "प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिषु च" ८-४-११ से विभक्ति ('टा') के 'न' को 'ण' प्राप्त रहा। 'कुम्भ' पद का व्यवधान होने से निषेध हो गया। २—**चतुरङ्गयोगेन** (चार अंगों वाली सेना के सम्बन्ध से)। **प्रक्रिया**—चत्वारि अङ्गानि अस्य तत् > चतुरङ्गम् (बहुव्रीहि) चतुरङ्गेन योगः > **चतुरङ्गयोगः** (पुनः तत्पुरुष)। यहाँ "कुमति च" ८-४-१३ से 'ण' प्राप्त था, 'अङ्ग' पद का व्यवधान होने से 'ण' नहीं हुआ। दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'कुम्भ' शब्द तथा 'अङ्ग' शब्द को प्रत्ययलक्षण—द्वारा अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का आश्रय लेकर पद माना गया है।

वार्तिक—उत्तरवर्ती पद के सम्बन्ध में वार्तिककार कुछ संकोच करते हुए दिखाई पड़ते हैं। अतः वे व्यवहित पद के सम्बन्ध में यह व्यवस्था कर रहे हैं कि वह पद "तद्धित प्रत्ययान्त से भिन्न हो"। अर्थात् तद्धित प्रत्ययान्त पद के व्यवधान रहने पर इस निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी। तदनुसार **आर्द्रगोमयेण** (गीले गोबर से) तथा **शुष्कगोमयेण** (सूखे गोबर से) में णत्व का निषेध नहीं हुआ। **प्रक्रिया**—गोः पुरीषं—गो+मयट्>गोमयम् ("गोश्च पुरीषे" ४-३-१४५)। आर्द्रं च तत् गोमयम् > आर्द्रगोमयम् (कर्मधारय समास)। तेन—आर्द्रगोमयेण। यहाँ पर षष्ठ्यन्त 'गो' शब्द से तद्धित प्रत्यय 'मयट्' हुआ है तथा तद्धितान्तप्रातिपदिकावयव सुप् (षष्ठी विभक्ति) का 'लुक्' हुआ है। अतः 'आर्द्र' पद के रेफ को मान कर 'गोमयेन' के 'न' को 'ण' का निषेध नहीं लगा, क्योंकि 'गोमय' पद में 'मयट्' प्रत्यय तद्धित प्रकरण का है। इसी प्रकार 'ष'कार से परवर्ती (२) **शुष्कगोमयेण** में भी समझा जाय।

विशेष—भाष्यकार ने इस वार्तिक के बिना भी इन उदाहरणों की सिद्धि का उपाय बतलाया है। उन्होंने अष्टाध्यायी-क्रम में इसके पूर्वसूत्र "पदान्तस्य" ८-४-३७ से पश्चाद्वर्ती सूत्र "पदव्यवायेऽपि" ८-४-३८ में 'पद' ग्रहण की अनुवृत्ति कर "किसी पद के उत्तरवर्ती होने पर किसी दूसरे 'पद' का मध्य में व्यवधान हो तो 'णत्व' नहीं होता[1]—यह अर्थ किया है।

---

१. "पदव्यवाये अतद्धित इति वक्तव्यम्। इह मा भूत् ।आर्द्रगोमयेण। शुष्कगोमयेण। तत्तर्हि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। नैवं विज्ञायते पदेन व्यवायः पदव्यवाय इति। कथं तर्हि पदे व्यवायः पदव्यवायः पदव्यवाय इति"।

शुष्कगोमयेण । (१०५८) कुस्तुम्बुरूणि जातिः ६ । १ । १४३ ॥ अत्र सुण्निपात्यते । कुस्तुम्बुरुर्धान्याकम् । क्लीबत्वमतन्त्रम् । जातिः किम् ? कुतुम्बुरूणि । कुत्सितानि तिन्दुकीफलानीत्यर्थः । (१०५९) अपरस्पराः क्रियासातत्ये ६ । १ । १४४ ॥ सुण्निपात्यते । अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति । सततमविच्छेदेन गच्छन्तीत्यर्थः । क्रिया—इति

(१०५८) कुस्तुम्बुरूणि । अत्रेति । जातिविशेषे वाच्ये कुस्तुम्बुरुशब्दः ससुट्को निपात्यत इत्यर्थः । कुस्तुम्बुरुर्धान्याकमिति । गुल्मविशेषे प्रसिद्धः । क्लीबत्वमतन्त्रमिति । अविवक्षितमित्यर्थः । वचनमप्यतन्त्रमिति बोध्यम् । कुतुम्बुरूणीति । धान्याकजातिवाचकत्वाभावात् न सुडिति भावः । तदाह—कुत्सितानि तिन्दुकीफलानीत्यर्थं इति । तुम्बुरुशब्दस्य तिन्दुकवाचकत्वे कोशो मृग्यः ।

(१०५९) अपरस्पराः क्रियासातत्ये । स्पष्टम् ।

(१०५८) पद—कुस्तुम्बुरूणि, जातिः । **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यहाँ 'सुट्' का निपातन है । 'कुस्तुम्बुरुः' का अर्थ धनियाँ है । सूत्र में नपुंसक-निर्देश अविवक्षित है । 'जातिः' क्यों कहा ? कुतुम्बुरूणि ('सुट्' नहीं हुआ) । इसका अर्थ तेन्दू के खराब फल है ।

विवरण—पुनः अब समासाश्रय-विधि के विशेष विधानों की ओर संकेत किया जा रहा है । अतः अष्टाध्यायी के छठे अध्याय की ओर ध्यान देना होगा । इसी अध्याय के सूत्र "सुट् कात् पूर्वः" ६-१-१३५ से विधीयमान 'सुट्' की अनुवृत्ति प्रमुखरू प में अपेक्षित है । सामान्यतः टकार-इत्संज्ञक आगम आदि-अवयव होते है, किन्तु प्रकृत सूत्र में 'कुस्तुम्बुरु' शब्द का प्रयोग करने से यह सूचित होता है कि "यहाँ तकार से पूर्व 'सुट्' (स्) आगम निपातन किया जाता है, यदि उसका प्रयोग जातिवाचक के रूप में किया गया हो" । **उदाहरण**—कुस्तुम्बुरूणि (धनियें की विशेष किस्म)[1] ।

विशेष—(१) सूत्र में नपुंसक लिङ्ग एवं वहुवचन से निर्देश किया गया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं है । अतः कुस्तुम्बुरुः ओषधिः, कुस्तुम्बुरूणि फलानि आदि प्रयोगों में पुंलिङ्ग एकवचन तथा नपुंसक-लिङ्ग वहुवचन में भी 'सुट्' का निपातन किया जाता है ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में जातिः पद का निवेश करने से कुतुम्बुरूणि में 'सुट्' आगम नहीं हुआ, क्योंकि यह धनियें की विशेष किस्म का बोधक नहीं है । इसका अर्थ है—खराब तेन्दू के फल ।

(१०५९) पद—अपरस्पराः, क्रियासातत्ये । **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'सुट्' का निपातन है । उदा० अपरस्पराः सार्थाः गच्छन्ति । अर्थात् व्यापारी निरन्तर जाते हैं । 'क्रिया' क्यों कहा ? अपरपराः गच्छन्ति (भिन्न भिन्न लोग एक साथ जाते हैं) ।

विवरण—'सुट्' का ही प्रासङ्गिक प्रकरण है । अतः "क्रिया के निरन्तर गम्यमान होने पर 'अपरस्पराः' शब्द में 'सुट्' आगम निपातन किया जा रहा है" । **उदाहरण**—अपरस्पराः सार्थाः गच्छन्ति (व्यापारी लोग निरन्तर चले जा रहे हैं) । **विग्रह**—अपरे च परे च (इतरेतर द्वन्द्व) । अपर-पर+जस् > अपरस्पराः ('अपर' शब्द के 'र' के बाद 'सुट्' (स्) आगम) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में क्रिया शब्द का निवेश होने से अपरपराः गच्छन्ति में 'सुट्' आगम

---

१. धनियें के लिये संस्कृत का यह शब्द दक्षिण भारत की भाषाओं में मिलता है । इसे कन्नड़ में कोतम्बरि, तेलुगु में कोत्तिमिरि और तमिल में कोत्तमल्लि कहते हैं ।

किम् ? अपरपरा गच्छन्ति । अपरे च परे च सकृदेव गच्छन्तीत्यर्थः । (१०६०) **गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ६ । १ । १४५ ॥** सुट् सस्य षत्वं च निपात्यते । गावः पद्यन्तेऽस्मिन्देशे स गोभिः सेवितो गोष्पदः । असेविते—अगोष्पदान्यरण्यानि । प्रमाणे—गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् । सेवित-इत्यादि किम् ? गोः पदं—गोपदम् । (१०६१) **आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ६ । १ । १४६ ॥** आत्मयापनाय स्थाने सुट् निपात्यते ।

(१०६०) गोष्पदम् । असेविते गोष्पदशब्दस्य वृत्त्यसम्भवात् नञ्पूर्वमुदाहरति—अगोष्पदानीति । गवां सञ्चारो यत्र नैव सम्भवति तत्रापि सुडिति भावः । गोष्पदमात्रं क्षेत्रमिति । क्षेत्रस्याल्पप्रमाणत्वमनेन ज्ञाप्यते । अतः गोष्पदात् क्षेत्रस्याधिक्येऽपि न क्षतिः ।

(१०६१) आस्पदं प्रतिष्ठायाम् । आत्मेति । आत्मयापनं शरीरसंरक्षणं, तदर्थं यत्

नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ (भिन्न भिन्न लोग एक बार एक साथ जाते हैं) में गमन क्रिया निरन्तर नहीं हो रही है ।

विशेष—प्राचीन काल में देशान्तर से सामान लाने तथा ले जाने के लिये व्यापारियों (वैश्यों) का जो समूह चलता था, वह **'सार्थ'** कहलाता था । उनके नेता को **सार्थवाह** कहा जाता था ।

(१०६०) पद—गोष्पदं, सेवितासेवितप्रमाणेषु । **अनुवृत्ति**-सुट्, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सुट् तथा 'स' को 'ष' भी (हो) । उदा० गोष्पदः—जिस प्रदेश में गायें अधिक हों । असेवित अर्थ में—अगोष्पदानि अरण्यानि । प्रमाण अर्थ में—गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् । 'सेवित' आदि क्यों कहा ? गोः पदम् > गोपदम् ('सुट्' नहीं हुआ) ।

विवरण—'सुट्' का ही अधिकार है । अतः "गोष्पद शब्द में 'सुट्' आगम तथा षत्व निपातन किया जाता है" । किन्तु **गोष्पद** शब्द से सेवित, असेवित तथा प्रमाण—इन विशेष अर्थों की अभिधेयता आवश्यक है । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **सेवित** अर्थ में—गोष्पदः (जिस प्रदेश में गायें अधिक हों) । **विग्रह**—गोः पदम् । गो+ङस् , पद+सु > गोष्पदम् (तत्पुरुष समास एवं प्रकृत सूत्र से 'सुट् आगम तथा उसे षकार) । (२) **असेवित अर्थ**—अगोष्पदानि अरण्यानि (जिन जंगलों में गायें न हों) । **असेवित** अर्थ में 'गोष्पद' शब्द में 'वृत्ति' (अर्थप्रकाशन) सम्भव न होने के कारण 'नञ्'-पूर्वक 'गोष्पद' का उदाहरण दिया गया है । अर्थात् जहाँ गायों का सञ्चार न भी हो तो वहाँ 'सुट्' हो जायगा । (३) **प्रमाण** अर्थ में—**गोष्पदमात्रं** क्षेत्रम् (गाय के खुरके बराबर खेत) । इस वाक्य से खेत का बहुत छोटा होना सूचित होता है । अतः उससे बड़ा होने पर भी प्रमाण सूचित होने से शब्द-सिद्धि में कोई बाधा नहीं है । **विग्रह**—गोः पदं प्रमाणम् अस्य तत्-क्षेत्रम् । प्रमाण अर्थ में गोष्पद+मात्रच् प्रत्यय—"प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः" (५-२-३७) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में सेवित आदि पदों के प्रयोग द्वारा इन्हीं अर्थविशेषों के अभिधेय होने पर ही गोष्पद शब्द की साधुता स्वीकार की गई है । तदनुसार **गोपदम्** (गाय का पैर) में 'सुट्' आगम तथा उसे 'ष' नहीं होते । षष्ठी-तत्पुरुष ।

(१०६१) पद—आस्पदं, प्रतिष्ठायाम् । **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपनी शरीररक्षा हेतु स्थान के वाच्य रहने पर 'सुट्' का निपातन किया जा रहा है । उदा० आस्पदम् । 'प्रतिष्ठायाम्' क्यों कहा ? आपदापदम् (सुट् नहीं हुआ) ।

विवरण—'सुट्' का ही विषय है । "प्रतिष्ठा अर्थ गम्यमान होने पर 'आस्पद' शब्द में 'सुट्' का निपातन किया जा रहा है" । प्राणधारण अर्थात् अपनी स्थिति के लिये जो स्थान हो, वह 'प्रतिष्ठा' कहलाता है । **उदाहरण—आस्पदम्** (प्रतिष्ठित स्थान) । **विग्रह**—आपद्यते अस्मिन् । आ—√पद्+घ (अ—३-३-११७) आपदम् > आस्पदम् (सुट् आगम-'आ' के अनन्तर) । सूत्रकार के प्रयोग-सामर्थ्य से ही नपुंसक-लिङ्ग समझना चाहिये । अतः आस्पदमनेन लब्धम्—प्रयोग जाना जाय (अर्थात् प्राणरक्षणार्थं इसने स्थान प्राप्त कर लिया है) ।

आस्पदम् । प्रतिष्ठायाम् इति किम् ? आ पदात्—आपदम् । (आपदापदम्) । (१०६२) आश्चर्यमनित्ये ६ । १ । १४७ ॥ अद्भुते सुट् । आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । अनित्ये किम् ? आचर्यं कर्म शोभनम् । (१०६३) वर्चस्केऽवस्करः ६ । १ । १४८ ॥ कुत्सितं वर्चो वर्चस्कमन्नमलम् । तस्मिन् सुट् । अवकीर्यत इत्यवस्करः । वर्चस्के किम् ?

स्थानं तस्मिन् गम्ये सुडित्यर्थः । आपदादापदमिति । आ पदादिति विग्रहे अव्ययीभावे आपदमिति भवतीत्यर्थः । आपदापदमिति पाठे तु आपदमित्यस्य आपदित्यर्थः ।

(१०६२) आश्चर्यमनित्ये । अद्भुते गम्ये आङ्पूर्वकस्य चरेः सुट् । 'चरेराङि चागुरौ' इति यत् । अनित्यग्रहणमपनीय अद्भुते इति वक्तव्यमिति वार्तिकमभिप्रेत्याह—अद्भुते सुडिति । तेन आश्चर्यं नीला द्यौः, आश्चर्यमन्तरिक्षे यदबन्धनानि नक्षत्राणि न पतन्तीत्यादिसङ्ग्रहः । अनित्ये इत्यनेन कादाचित्कतया अद्भुतं लक्ष्यत इत्युक्ते तु एतन्न सिध्येत् ।

(१०६३) वर्चस्केऽवस्करः ।

'मूत्रं प्रस्राव उच्चारावस्करौ शमलं शकृत् ।
गूथं पुरीषं वर्चस्कमस्त्री विष्ठाविशौ स्त्रियाम् ॥' इत्यमरः ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में **प्रतिष्ठायाम्** पद का निवेश होने से **आपदापदम्** (आपत्तिरूप बनता है) में 'सुट्' आगम नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ प्रतिष्ठा-रूप अर्थ नहीं है। आपदम् में विभक्त्यर्थ अव्ययीभाव है । विग्रह—आ पदात् । 'आपदापदम्' (दुःख का स्थान)—इस पाठभेद में आपदस्य आपदम् विग्रह किया जाय । वहाँ 'आपदम्' का अर्थ 'आपद्' (आपत्ति) होगा ।

(१०६२) पद—आश्चर्यम्, अनित्ये । **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अद्भुत अर्थ में 'सुट्' हो । उदा० आश्चर्यम् यदि स भुञ्जीत । 'अनित्ये' क्यों कहा ? आचर्य—कर्म शोभनम् ('सुट्' नहीं हुआ) ।

विवरण—"'आश्चर्य' शब्द की सिद्धि हेतु 'आङ्' पूर्वक √चर से 'सुट्' का निपातन किया जा रहा है" । सूत्र में 'अनित्य' शब्द अद्भुत अर्थ का सूचक है । लोक में जो बात अदृष्टपूर्व हो अर्थात् पहले न हुई हो, वह अनित्यता से व्याप्त होती है, उसे ही अद्भुत कहा जाता है ।

उदाहरण—**आश्चर्यम्** यदि स भुञ्जीत (आश्चर्य है यदि वह खाना खाये) । आ–√चर्+यत् ('चरेराङि गुरौ' वा० ३-१-१००) >आ-स्-चर्य ('सुट्' आगम) >आश्चर्यम् (स्=श्–श्चुत्व) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में **अनित्य** पद का निवेश होने के कारण **आचर्यं** कर्म शोभनम् (अच्छे कर्म का आचरण करना चाहिये) में 'सुट्' आगम नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ (अद्भुत) अर्थ की प्रतीति नहीं है । अच्छे काम में नैरन्तर्य बना रहता है ।

(१०६३) पद—वर्चस्के, अवस्करः । **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कुत्सित 'वर्चस्' को वर्चस्क अर्थात् अन्नमल (विष्ठा) कहते हैं । उस अर्थ में (निपातन से) 'सुट्' हो । उदा० अवस्करः (मल रखने का स्थान) । 'वर्चस्क' क्यों कहा ? अवकरः ('धूल' अर्थ में 'सुट्' नहीं) ।

विवरण—"अन्नमल अर्थात् 'विष्ठा' अर्थ वाच्य होने पर अवस्कर शब्द में 'अव'+√कॄ धातु से अप् प्रत्यय ("ॠदोरप्" ३-३-५७) करने पर 'सुट्' आगम का निपातन किया जा रहा है" ।
विग्रह—अवकीर्यते इति=अवस्करः ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'वर्चस्क' पद का निवेश होने से 'मल' अर्थ न होने पर **अवकरः** (कूड़ा) में 'सुट्' आगम नहीं होता । शेष कार्य पूर्ववत् ।

अवकरः। (१०६४) **अपस्करो रथाङ्गम्** ६।१।१४९॥ अपकरोऽन्यः। (१०६५) **विष्किरः शकुनौ वा** ६। १। १५०॥ पक्षे विकिरः। वावचनेनैव सुड्विकल्पे सिद्धे 'विकिरग्रहणं तस्यापि शकुनेरन्यत्र प्रयोगो मा भूत्' इति वृत्तिः। तन्न। भाष्यविरोधात्।

(१०६४) अपस्करो। 'स्याद्रथाङ्गमपस्करः' इत्यमरः। 'चक्रं रथाङ्गम्' इति च।

(१०६५) विष्किरः। विकिरतीति विकिरः। 'कॄ विक्षेपे' 'इगुपधज्ञा' इति कः। शकुनौ गम्ये सुड् वा, 'परिनिविभ्यः' इति षत्वम्। 'नगौकोवाजिविकिरविविष्किरपतत्रयः' इत्यमरः। वा वचनेनैवेति। वृत्तिग्रन्थे 'विष्किरः शकुनौ विकिरो वा' इति सूत्रपाठः। तत्र वाग्रहणादेव सुड्विकल्पे सिद्धे विकिरग्रहणं विष्किरः विकिर इति शकुनावेवेति नियमार्थम्। अतः शकुनेरन्यत्र उभयोरपि शब्दयोः प्रयोगो 'नास्तीति लभ्यत इत्यर्थः। भाष्ये हि 'विष्किरः शकुनौ वा' इति सूत्रं पठित्वा वाग्रहणेन सुड्विकल्पः, न तु शकुनेरन्यत्र विकिरशब्दस्य प्रयोगो नेति स्थितम्। अन्यत्रापि 'विकिरं वैश्वदेविकम्' इत्यत्र दर्शनादिति भावः।

(१०६४) **पद**—अपस्करः, रथाङ्गम्। **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"रथ का अवयव अर्थ (=पहिया) अभिधेय होने पर अपस्कर शब्द ('सुट्' सहित) निपातन किया जाता है। **विग्रहार्थ**—अपकीर्यते इति अपकरः—अप-√कॄ+अप्। शेष कार्य पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—अपकरः। 'चक्र' अर्थ न होने पर 'सुट्' आगम नहीं होता। **अर्थ**—सिन्धु तट पर स्थित दक्षिणी रास्ते का एक नाका (भक्खर), जहाँ सिन्धु नदी पार करके प्राचीन गोमती (गोमल) के किनारे गोमल दर्रे से गजनी को रास्ता जाता था।

(१०६५) **पद**—विष्किरः, शकुनौ वा। **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—शकुनि अर्थात् पक्षी अर्थ अभिधेय होने पर 'विष्किर' शब्द में क-कार से पूर्व 'सुट्' आगम विकल्प से निपातन किया जाता है। **उदाहरण**—विष्किरः (पक्षी)। **प्रक्रिया**—वि-√कॄ+क (अ)—"इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" ३-१-१३५। **विग्रहार्थ**—वि-किरति। **पक्ष में**—'सुट्' न होने पर—विकिरः।

विशेष—प्राचीन वृत्तिकारों ने "विष्किरः शकुनौ विकिरो वा" इस प्रकार सूत्रपाठ किया है। उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। विकिर शब्द का पृथक् ग्रहण न करने पर भी सूत्र में 'वा' ग्रहण से दोनों रूप सिद्ध हो जाते हैं। वृत्तिकारों ने दोनों शब्दों को शकुनि अर्थ में ही सीमित करने की व्यवस्था की थी। किन्तु यह नियम भाष्यकार को इष्ट नहीं है। भाष्यकार केवल दो रूपों की साधुता अवश्य मानते हैं, किन्तु विकिर शब्द केवल पक्षि-वाचक ही है, यह नहीं मानते[1]। कारण यह है कि श्राद्धादि में विकिर शब्द का प्रयोग अन्न को बिखेरना अर्थ में प्रयुक्त होता है[2] ('विकिरं वैश्वदेविकम्')।

---

१. अत्र "'वा'—वचनेन शकुनिः न अभिसंबध्यते। किं तर्हि निपातनमभिसम्बध्यते? विष्किर इत्येतन्निपातनम्। शकुनौ वा निपात्यते—इति"।

२. अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम।
भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्ता यान्तु परां गतिम्॥
येषां न पचते माता येषां न पचते पिता।
उच्छिष्टं ये च काङ्क्षन्ति तेभ्योऽन्नं दत्तमक्षयम्॥ इति पठित्वा अन्नं विकिरेत्।

(१०६६) **प्रतिष्कशश्च कशेः** ६ । १ । १५२ ॥ 'कश गतिशासनयोः' इत्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचाद्यचि सुट् निपात्यते षत्वं च । सहायः पुरोयायी वा प्रतिष्कश इत्युच्यते । कशेः किम् ? प्रतिगतः कशां प्रतिकशोऽश्वः । यद्यपि कशेरेव कशा, तथापि कशेरिति धातोर्ग्रहणमुपसर्गस्य प्रतेर्ग्रहणार्थम् । तेन धात्वन्तरोपसर्गान्न । (१०६७) **प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी** ६ । १ । १५३ ॥ हरिश्चन्द्रग्रहणममन्त्रार्थम् । ऋषी इति किम् ? प्रकण्वो देशः । हरिचन्द्रो माणवकः । (१०६८) **मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राज-**

(१०६६) प्रतिष्कशश्च कशेः । कशेरिति कश इत्यत्रान्वेति । तथा च कशधातोः निष्पन्नस्य कशशब्दस्य प्रतेः परस्य सुट् स्यादित्यर्थः । कशेरेवेति । कशधातोरेव कशा-शब्दो निष्पन्न इत्यर्थः । धात्वन्तरेति । प्रतिगतः कशां प्रतिकश इत्यत्र गमिं प्रत्येव प्रतिरुपसर्गः, न तु कशिं प्रति, 'यत्क्रियायुक्ताः प्रादयः' इति नियमादित्यर्थः ।

(१०६७) प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी । अमन्त्रार्थमिति । मन्त्रे तु 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तर-पदे मन्त्रे'' इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धमिति भावः । तत्सूत्रं वैदिकप्रक्रियायां व्याख्यास्यते ।

(१०६६) **पद**—प्रतिष्कशः, च, कशेः । **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रति-पूर्वक गति एवं शासनार्थक √ कश धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'सुट्' तथा 'ष' का निपातन किया जाता है । सहायक या अग्रगामी को प्रतिष्कश कहा जाता है । 'कशेः' क्यों कहा ? प्रतिगतः कशाम् > 'प्रतिकशः अश्वः' में सुट् तथा षत्व नहीं हुआ । यद्यपि 'कशा' शब्द √कश धातु से ही निष्पन्न होता है तो भी (सूत्र में) पुनः 'कशेः' धातु-ग्रहण 'प्रति' उपसर्ग के ग्रहण में निमित्तभूत है । इसके अतिरिक्त अन्य धातु से सम्बद्ध (प्रति) उपसर्ग के योग में 'सुट्' आदि नहीं होंगे ।

विवरण—पूर्ववत् 'सुट्' के निपातन का ही प्रकरण है । तदनुसार सूत्रकार के अनुसार प्रतिष्कश (सहायक या अग्रगामी) शब्द प्रतिपूर्वक √कश धातु को 'सुट्' आगम तथा उसी 'सुट्' के स-कार को मूर्धन्य ष-कार करने पर–निपातन कर सिद्ध किया गया है । शब्द-सिद्धि इस प्रकार की गई है—प्रति-√कश्+अ (पचादि में होने से अच् प्रत्यय) > प्रति-स्-कश्+अ ('सुट्' आगम) > प्रतिष्कशः (स्=ष्) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में दूसरे 'कशेः' पद का ग्रहण करने से यह सूचित होता है कि जहाँ √कश् धातु का प्रति उपसर्ग के साथ साक्षात् सम्बन्ध होगा वहीं 'सुट्' तथा षत्व होंगे । अन्यत्र नहीं । इसके फलस्वरूप प्रतिगतः कशाम् > प्रतिकशः अश्वः में 'कश' के साथ 'प्रति' का सम्बन्ध न होने से 'सुट्' एवं 'षत्व' नहीं हुए । यहाँ पर √गम् के साथ 'प्रति' का योग है—'यत् क्रिया-युक्ताः प्रादयः' । अर्थ—कोड़ा खाने वाला घोड़ा ।

(१०६७) **पद**—प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ, ऋषी । **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—(सूत्र में) हरिश्चन्द्र ग्रहण अमन्त्रार्थ है । 'ऋषी' क्यों कहा ? प्रकण्वः देशः तथा हरिचन्द्रः माणवकः ('सुट्' नहीं होता) ।

विवरण—'''ऋषि' अभिधेय होने पर 'प्रस्कण्व' तथा 'हरिश्चन्द्र' शब्दों में 'सुट्' का निपातन है'' । प्रकृत सूत्र की उपयोगिता मन्त्रों में प्रयुक्त हरिश्चन्द्र तथा प्रस्कण्व शब्दों में 'सुट्' का निपातन होने के लिये नहीं है । मन्त्रों में प्रयुक्त इस प्रकार के शब्दों की सिद्धि के लिये अष्टाध्यायी-क्रम में इससे दो सूत्र पूर्व ''ह्स्वाच्चोत्तर-पदे मन्त्रे'' ६-१-१५१ से 'सुट्' का निपातन किया गया है । सूत्र को चरितार्थता के फलस्वरूप प्रकण्वः (किसी का नाम) तथा हरिचन्द्रः (किसी का नाम) में ऋषि-विशेष की अपेक्षा न होने से 'सुट्' आगम नहीं हुआ ।

कयोः ६।१।१५४॥ मकरशब्दोऽव्युत्पन्नः, तस्य सुडिनिश्च निपात्यते। वेणु— इति किम्? मकरो ग्राहः। मकरी समुद्रः। (१०६९) कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ६।१।१५५॥ ईषत्तीरमस्यास्तीति कास्तीरं नाम नगरम्। अजस्येव तुन्दमस्येति अजस्तुन्दं नाम नगरम्। नगरे किम्? कातीरम्। अजतुन्दम्। (१०७०) कारस्करो वृक्षः ६।१।१५६॥ (ग १५३) कारं करोतीति कारस्करो वृक्षः। अन्यत्र कारकरः! केचित्तु कस्कादिष्विदं पठन्ति, न सूत्रेषु। (१०७१) पारस्करप्रभृ-

---

(१०६८) मस्करमस्करिणौ। यथासङ्ख्यमन्वयः। मस्करिग्रहणात्परिव्राजक एव मस्करिशब्दः। अन्यत्र तु मकरीत्येवेत्याहुः।

(१०६९) कास्तीराजस्तुन्दे। कास्तीरशब्दः अजस्तुन्दशब्दश्च नगरे निपात्येते

(१०७०) कारस्करो वृक्षः। कारं करोतीति विग्रहः। 'कृञो हेतुताच्छील्ये' इति टः।

(१०६८) पद—मस्कर-मस्करिणौ, वेणु-परिव्राजकयोः। अनुवृत्ति—सुट्, संहितायाम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'मकर' शब्द अव्युत्पन्न है। उसे 'सुट्' तथा 'इनि' प्रत्यय निपातित हैं। 'वेणु' आदि क्यों कहा? मकरः ग्राहः तथा मकरी समुद्रः ('सुट्' नहीं हुआ)।

विवरण—'मस्कर' (बाँस) तथा 'मस्करिन्' (संन्यासी) शब्दों में यथासंख्य वेणु तथा परिव्राजक अभिधेय होने पर 'सुट्' तथा 'इनि' प्रत्यय का निपातन किया जा रहा है। 'मकर' शब्द व्युत्पत्ति-सिद्ध नहीं है। अतः 'मकर' शब्द में 'म' के अनन्तर 'सुट्' (स्) आगम का निपातन किया गया है। इसी तरह मस्करिन् (संन्यासी) में 'सुट्' के अतिरिक्त इनि (इन्) प्रत्यय भी निपातित है।

विशेष—'मकर' शब्द 'नक्र' का भी पर्यायवाची है। 'नक्र' हिंसक है, अतः भानुदीक्षित ने अमरकोष की रामाश्रमी टीका में उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—कृणाति इति करः (कृ+अच् (अ)—"नन्दिग्रहिपचादि०" ३-१-१३४)। मनुष्याणां करः > मनुष्यकरः > मकरः—पृषोदरादि गण में पाठ होने से 'नुष्य' का लोप। अथवा मङ्कते इति मकः (√मकि धातु से 'अच्' प्रत्यय किन्तु आगम शास्त्र के अनित्य होने के कारण 'नुम्' का न होना। मकं राति—√मक-रा+क ('अ'—"आतोऽनुपसर्गे कः" ३-२-३) > मकरः। इसी प्रकार 'मस्करिन्' शब्द की व्युत्पत्ति भी दी है—√मस्क्+अर > मस्कर अर्थात् ज्ञान। मस्करः अस्य अस्ति > मस्करिन् (मस्कर+इनि)।

प्रत्युदाहरण—'वेणु' तथा 'परिव्राजक' अर्थ विवक्षित न होने पर 'सुट्' आगम एवं 'इनि' प्रत्यय नहीं होंगे—मकरः (नाका) तथा मकरी (मगरों—अर्थात् नाकों-वाला समुद्र।

(१०६९) पद—कास्तीराजस्तुन्दे, नगरे। अनुवृत्ति—सुट्, संहितायाम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—१—'ईषत् तारम् अस्य अस्ति' इस विग्रह में 'कास्तारम्' नगरम्। २—अजस्य इव तुन्दम् अस्य > 'अजस्तुन्दम्' नगरम्। 'नगरे' क्यों कहा? कातीरम् तथा अजतुन्दम् (सुट् नहीं हुआ)।

विवरण—"कास्तीर (लाहौर जिले का 'कस्तूर' नामक नगर) तथा अजस्तुन्द (वाहीक देश का ग्राम) शब्दों के नगर अभिधेय होने पर 'सुट्' आगम का निपातन किया जा रहा है"।

प्रत्युदाहरण—नगर अर्थ अभिधेय न होने पर कातीरम् (खराब किनारा) तथा अजतुन्दम् (बकरे की तोंद) में 'सुट्' नहीं हुआ। (१) विग्रह—कुत्सितं तीरम्। (२) अजस्य तुन्दम्।

(१०७०) पद—कारस्करः, वृक्षः। अनुवृत्ति—सुट्, संहितायाम्। विधिसूत्र।

तीनि च सञ्ज्ञायाम् ६ । १ । १५७ ॥ एतानि ससुट्कानि निपात्यन्ते नाम्नि । पारस्करः । किष्किन्धा । 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (वा ३७१३) । तात्पूर्वं चत्र्वेन दकारोऽपि बोध्यः । तद्बृहतोर्दकारतकारौ लुप्येते । करपत्योस्तु सुट् । चोरदेवतयोः इति समुदायोपाधिः । तस्करः । बृहस्पतिः । 'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः' (वा ३७१८) । प्रायश्चित्तिः । प्रायश्चित्तम् । वनस्पतिरित्यादि । आकृतिगणोऽयम् ।

इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ।



(१०७१) पारस्करप्रभृतीनि च । पारस्कर इति । पारं करोतीति विग्रहः । पूर्ववट्टः । किष्किन्धेति । किं किमपि वानरसैन्यं धत्ते इति किष्किन्धा । 'आतोऽनुपसर्गे कः' । टाप्, निपातनात् किमो द्वित्वम् । मलोपः, सुट्, षत्वं च । रुढशब्दा एते कथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते । एषामवयवार्थो न विचारणीयः । तद्बृहतोरिति । पारस्करादिगणसूत्रमेतत् । तद्शब्दे तकारस्यान्त्याभावादाह—तात्पूर्वमिति । तलोपश्चेत्यत्र तकारात्पूर्वमित्यर्थः । तत् चौर्यं करोतीति विग्रहः । 'कृञो हेतुताच्छील्ये' इति टः । बृहस्पतिरिति । बृहती=वाक्

मूलार्थ—कारं करोति > कारस्करः वृक्षः । 'वृक्ष' से भिन्न अर्थ में कारकरः । कुछ लोग इस शब्द को 'कस्कादिगण' में पठित मानते हैं, न कि किसी सूत्र में ।

विवरण—'वृक्ष' अर्थ में कारस्कर शब्द में निपतन-वश 'सुट्' होता है । **विग्रह**—कारम् करोति । कार-√कृ+ट (= अ–''कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु'' ३-२-२०) > कार-कर (गुण) > कारस्करः (सुट्) । 'कुचिला' नाम से प्रसिद्ध है ।

प्रत्युदाहरण—'वृक्ष' अर्थ अभिधेय न होने पर कारकरः (कार्यकर्ता) ।

विशेष—कुछ आचार्यों ने कस्कादिगण में कारस्कर शब्द का पाठ होने के कारण पृथक् सूत्र-विधान की आवश्यकता नहीं बतलायी है ।

(१०७१) पद—पारस्करप्रभृतीनि, च, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—संज्ञा के विषय में इन शब्दों में 'सुट्' का निपातन किया जाता है । उदा०—१—पारस्करः । २—किष्किन्धा । वा० 'चोर और देवता अर्थ होने पर 'कर' और 'पति' शब्दों के परवर्ती होने पर 'तद्' और 'बृहत्' शब्दो को 'सुट्' आगम तथा 'त' का लोप भी हो' । 'त' से पहिले चर्त्व से दकार जाना जाय । 'तद्' और' बृहत्' के दकार और तकार लुप्त होते है । 'कर' और 'पति' को 'सुट्' आगम । (वार्तिक में) चोर तथा देवता शब्द समुदाय-सूचक हैं । ३—तस्करः । ४—बृहस्पतिः । वा० 'चित्त' और 'चित्ति' परे रहते 'प्राय' शब्द को 'सुट्' आगम हो' । उदा० १—प्रायश्चित्तिः । २—प्रायश्चित्तम् । ३—वनस्पतिः इत्यादि । यह आकृतिगण है ।

विवरण—'सुट्' सम्बन्धी निपातन का यह अन्तिम सूत्र है । अष्टाध्यायी में इसके बाद स्वर-प्रकरण आरम्भ होता है । सूत्र में 'पारस्कर' शब्द के साथ 'प्रभृति' शब्द का प्रयोग किये जाने से उसके गण-पाठ होने का संकेत मिलता है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि ''संज्ञा के विषय में 'पारस्कर' इत्यादि शब्दों में भी 'सुट्' आगम का निपातन किया जाता है'' । इसकी सीमा इतनी विस्तृत है कि 'जहाँ पर 'सुट्' आगम दिखाई पड़े किन्तु किसी सूत्र से विहित न हो, उसे 'पारस्कर' गण में पठित समझा जाय । 'पारस्कर' आदि शब्द रूढि-संज्ञाओं के वाचक हैं । **उदाहरण**—१—पारस्करः (ऋषि-विशेष का नाम) । **विग्रह**—पारं करोति । पार—√कृ+ट (''कृञो हेतु—ताच्छील्यानुलोम्येषु'' ३-२-२०) √पार-कर > पारस्करः ('सुट्' आगम) ।

तस्याः पतिः इति विग्रहः। 'कुक्कुट्यादीनामण्डादिष्वि'ति पुंवत्त्वम्, तलोपः, सुट्। 'वाग्घि बृहती तस्या एष 'पतिः' इति च्छन्दोगब्राह्मणम्। **प्रायस्य चित्तिचित्तयोरिति**। गणसूत्रमिदम्। प्रायस्य चित्तिः चित्तं वेति विग्रहः। 'प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं यस्य विशोधनम्' इति स्मृतिः। **वनस्पतिरिति**। वनस्य पतिरिति विग्रहः। आकृतिगणोऽयमिति। तेन शतात्पराणि परश्शतानीत्यादि सिद्धम्।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां
बालमनोरमायां समासाश्रयविधिप्रकरणं समाप्तम्।

२—**किष्किन्धा**—सुप्रसिद्ध रामायण-कालीन वालि की राजधानी)। **विग्रह**—किम् अपि धत्ते। किम्–√धा+क ("आतोऽनुपसर्गे कः" ३-२-३)>किंम्–किम्–ध+आ ('किम्' शब्द को द्वित्व, तथा टाप्—निपातन) > कि-किन्धा (पूर्व 'म्' का लोप भी निपातन-वश, द्वितीय 'म्' को अनुस्वार–परसवर्ण, दीर्घ) > किष्किन्धा ('सुट्' आगम तथा षत्व एवं विभक्ति-कार्य)। 'किं किं दधाति' विग्रह करने पर वीप्सा में द्वित्व स्वतः सिद्ध है। वस्तुतः रूढि-शब्दों की व्युत्पत्ति भले ही किसी तरह कर दी जाय किन्तु उनके पृथक् पदों के अर्थों की विशेषता पर आग्रह न किया जाय। (३) **वनस्पतिः** (वृक्षादि)। **विग्रह**—वनस्य पतिः > वन+ङस्, पति+सु> वनस्पतिः (षष्ठी तत्पुरुष तथा 'सुट्' आगम)।

वार्तिक—(१) 'तद्' शब्द से 'कर' शब्द परवर्ती होनेपर तथा 'बृहत्' शब्द से 'पति' शब्द परवर्ती होने पर 'तद्' और 'बृहत्' शब्द को 'सुट्' आगम होता है तथा 'तद्' का 'द्' एवं 'बृहत्' का 'त्' लुप्त हो जाते हैं। **उदाहरण**—**तस्करः** (चोर)। **विग्रह**—तत् करोति। तद्–√कृ+अ ('अच्'—'किंयत्तद्बहुषु'–वा० ३-२-२) > तद्-कर > तस्करः ('द्' का लोप, 'सुट्' आगम)। (२) **बृहस्पतिः** (देवगुरु)। **विग्रह**—बृहतां पतिः >बृहत्पतिः (षष्ठीतत्पुरुष) > बृहस्पतिः ('त्' लोप एवं 'सुट्' आगम)। उपर्युक्त वार्तिक वस्तुतः गणसूत्र के रूप में पठित है। (२) दूसरे वार्तिक द्वारा "'चित्त' और 'चित्ति' शब्द परवर्ती होने पर 'प्राय' शब्द को 'सुट्' आगम किया जा रहा है'। **उदाहरण**—(१) **प्रायश्चित्तम्** (पाप-शोधनार्थ कर्म)। **विग्रह**—प्रायस्य चित्तम्। प्राय-चित्त (षष्ठी तत्पुरुष समास) > प्रायस्-चित्त ('सुट्' आगम) > प्रायश्चित्तम् ('श्चुत्व' एवं विभक्ति-कार्य)। २—**प्रायश्चित्तिः** (पापी व्यक्ति के शोधन का कर्म)। **विग्रह**—प्रायस्य चित्तं विशोधनं यस्मात्। बहुव्रीहि समास तथा 'सुट्' आगम एवं विभक्ति-कार्य। वस्तुतः यह दूसरा वार्तिक भी गणसूत्र का ही रूपान्तर है। पारस्करादि आकृतिगण है। अतः **रथस्पा** (नदी), परश्शतानि (सैकड़ों) आदि शब्दों में 'सुट्' आगम कर रूपसिद्धि होती है।

विशेष—समासाश्रयविधि प्रकरण के समाप्त होने पर समास-प्रकरण की समाप्ति सूचित की गई है। इस प्रकरण के आरम्भ में सूचित किया जा चुका है कि पाँच प्रकार की वृत्तियों में समास नाम की वृत्ति महत्त्वपूर्ण है। कारण यह है कि **विग्रह** की जितनी स्पष्टता समास में दिखलाई पड़ती है उतनी अन्य वृत्तियों में नहीं। 'समास' के साथ ही एकशेष-वृत्ति का भी निरूपण किया जा चुका है।

समासाश्रयविधि-प्रकरण समाप्त।

अथ तद्धिताधिकारप्रकरणम्

अथापत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः ।

(१०७२) **समर्थानां प्रथमाद्वा ४ । १ । ८२ ॥** इदं पदत्रयमधिक्रियते । 'प्राग्दिशः–' (सू १९४७) इति यावत् । सामर्थ्यं परिनिष्ठितत्वम् । कृतसन्धिकार्यत्व-

---

(१०७२) तदेवं समासप्रपञ्चं निरूप्य तद्धितप्रकरणमारभते—**समर्थानां प्रथमाद्वा** । विधेयस्यादर्शनान्नायं स्वतन्त्रविधिरिति मत्वाह—**इदं पदत्रयमधिक्रियत इति** । स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलादिति भावः । अधिकारस्योत्तरावधिमाह—**प्राग्दिश इति यावदिति** । 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इति सूत्रम् उत्तरावधिरित्यर्थः । 'समर्थानाम्' इति निर्धारणषष्ठी । प्राथम्यं च 'तस्यापत्यम्' इत्यादितत्तत्सूत्रेषु प्रथमोच्चारितत्वम् । समर्थानां मध्ये प्रथमोच्चारितादित्यर्थः । 'समर्थात्प्रथमाद्वा' इति सुवचम् । केचित्तु बहुवचनबलादनेकसमर्थसमवाय एवास्य प्रवृत्तिः । एवञ्च 'प्राग्दिशः' इत्यादिषु स्वार्थिकप्रत्ययविधिषु नास्य प्रवृत्तिरिति लभ्यते इत्याहुः । ननु सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वेन तद्धितविधीनां पदविधितया 'समर्थः पदविधिः' इति परिभाषयैव एकार्थीभावरूपसामर्थ्यलाभादिह समर्थ-

---

उपक्रम—समास निरूपण करने के उपरान्त भट्टोजी दीक्षित सिद्धान्तकौमुदी के पूर्वार्ध के अन्तिम चरण में तद्धित-प्रकरण आरम्भ कर रहे हैं। संस्कृत में शब्दरचना की दृष्टि से दो प्रकार के प्रत्यय महत्त्वपूर्ण हैं—**कृत्** और **तद्धित**। 'कृत' प्रत्यय धातुओं से विहित हैं, किन्तु **तद्धित** प्रत्यय प्रातिपदिक (शुद्ध या कृदन्त) से विहित हैं। ये भिन्न भिन्न अर्थों को अभिलक्षित कर प्रयुक्त होते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में तद्धित प्रकरण सबसे बड़ा है। अष्टाध्यायी के चौथे तथा पाँचवें अध्याय में ये प्रत्यय वर्णित हैं।

प्रकरण-संगति—समास-प्रकरण के आरम्भ में यह निर्देश दिया जा चुका है कि शब्दों में सामर्थ्य (परिनिष्ठित होना—अभिव्यक्ति की योग्यता रहना) रहने पर ही एकर्थीभावरूप वैशिष्ट्य सम्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार पद-विधान में समस्त कार्य एकार्थीभावरूप सामर्थ्य में ही होते है। अतः समासानन्तर तद्धितवृत्ति के आरम्भ-स्वरूप अपत्यादि–विकारान्तार्थोपयोगी **'साधारण'** प्रत्ययों का निर्वचन किया जा रहा है। उसमें भी परस्पर-सम्बद्ध होने की उपयोगिता को अभिलक्षित कर परिभाषारूप से आधिकारिक प्रवृत्ति के द्योतक सूत्र "समर्थानां प्रथमाद्वा" ४-१-८२ की प्रस्तुति की जा रही है।

(१०७२) पद—समर्थानां, प्रथमाद्, वा। **अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ—इन तीन पदों द्वारा अधिकार बताया जा रहा है। 'प्राग्दिशः' (सू० १९४७) पर्यन्त इसका अधिकार है। सामर्थ्य का अर्थ परिनिष्ठित है। अर्थात् सन्धिकार्यादि पर्यन्त शब्द-निष्पत्ति मानी जाती है।

विवरण—यह अधिकार सूत्र है। इस सूत्र में तीन पद हैं—समर्थानां, प्रथमाद् तथा वा। इन तीनों पदों का अधिकृत सूत्रों में प्रभाव रहेगा। सूत्रस्थ 'समर्थानाम्' पद निर्धारणार्थक षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है। अधिकार की सीमा "प्राग् दिशो विभक्तिः" ५-३-१ सूत्र के पूर्व तक है। तदनुसार ५-२-१४० तक कहे जाने वाले प्रत्यय समर्थों (=सम्बद्ध अर्थों) में जो प्रथम हो, उससे वैकल्पिक होते हैं"। उदाहरणार्थ **औपगवः** की सिद्धि देखें। यहाँ पर विग्रह है—**उपगोः अपत्यम्**। ये दोनों पद—उपगोः तथा अपत्यं—परस्पर सम्बद्धार्थक हैं। अतः प्रत्यय उत्पन्न करने में दोनों ही समर्थ हैं। इस सन्देह का निवारण करने में यह अधिकार सूत्र सहायक होता

मिति यावत्। (१०७३) प्राग्दीव्यतोऽण् ४।१।८३॥ 'तेन दीव्यति–' (सू-१५५०) इत्यतः प्रागणधिक्रियते। (१०७४) अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४॥

ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—सामर्थ्यं परिनिष्ठितत्वमिति। समर्थः पटुः शक्त इति पर्यायाः। शक्तत्वं च कार्योत्पादनयोग्यत्वम्। शब्दस्य च कार्यमर्थप्रतिपादनमेव। तच्छक्तत्वं च कृतेष्वेव सन्धिकार्येषु सम्भवति। तथा च कृतसन्धिकार्यत्वमेव सामर्थ्यमिह पर्यवस्यति। तदाह—कृतसन्धिकार्यत्वमिति यावदिति।

(१०७३) प्राग्दीव्यतोऽण्। 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' इति सूत्रस्थदीव्यति-शब्दस्यैकदेशस्यानुसरणमिह दीव्यच्छब्दः। तेन च तद्घटितं तत्सूत्रं लक्ष्यते। तदाह–तेन

है। इस सूत्र के अनुसार समर्थ पदों में जो प्रथम 'प्रकृति' होगी, उसी से प्रत्यय जुड़ेगा। अतः प्रथम प्रकृति 'उपगु' है उसी से 'अण्' प्रत्यय अपत्यार्थ में होकर औपगवः→उपगु+अ > औपगु+अ (आदिवृद्धि) > औपगो+अ (उ = ओ—"ओर्गुणः" ६-४-१४६) > औपगवः ('अव्' आदेश तथा विभक्ति-कार्य)। सूत्रस्थ 'वा' पद के प्रभाव से पक्ष में—उपगोः अपत्यम्—यह विग्रह-वाक्य भी प्रयुक्त हो सकेगा।

सूत्रार्थ में विवक्षित 'सामर्थ्य' का तात्पर्य परिनिष्ठित से है। शब्द की निष्पत्ति जब पूर्णतः हो जाय—तभी वह परिनिष्ठित कहलायेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सन्धिकार्य हो जाने पर ही किसी शब्द की निष्पत्ति पर्यवसित समझी जाती है।

विशेष—यहाँ से आगे **समर्थानां प्रथमाद्वा** तथा **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** ४-१-१ से प्रातिपदिकात्—इन दोनों का अधिकार चलता है। इस सन्दर्भ में यह जिज्ञासा होती है कि 'समर्थ' तो 'सुबन्त' ही हो सकता है किन्तु सुबन्त प्रातिपदिक नहीं है। अतः किस प्रकार आगे सूत्रार्थ करने में 'समर्थ' एवं 'प्रातिपदिक'—इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित किया जाय? इसका समाधान यह है कि आगे "तस्यापत्यम्" आदि सूत्रों में 'षष्ठी-समर्थ–प्रातिपदिक से प्रत्यय हो' ऐसा कहने से 'षष्ठी विभक्ति-युक्त प्रातिपदिक'—यह तात्पर्य होगा। उस षष्ठ्यन्त से अणादि प्रत्यय होंगे। इस प्रकार इस प्रकरण में समर्थ एवं प्रातिपदिक—इन दोनों अधिकारों का समन्वयात्मक प्रभाव रहता है। केवल प्रातिपदिक से प्रत्यय न हों किन्तु समर्थ सुबन्त से हों—अतः समर्थ का भी अधिकार आवश्यक है। एवं आगे के प्रत्यय-विधायक सूत्रों में जो पञ्चम्यन्त पद हैं, वे प्रातिपदिक के विशेषण रहें, समर्थ के नहीं। इस प्रकार 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार भी सार्थक है। जैसे **अत इञ्** ४-१-९५ सूत्र में 'अतः' पद पञ्चम्यन्त है। वह 'प्रातिपदिक' का विशेषण माना जायगा। तदनुसार **ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक** लिया जायगा, न कि समर्थ सुबन्त। सुबन्त से तो केवल प्रत्ययोत्पत्ति होगी। अन्यथा (किसी का नाम 'ख' रख दिया जाय और उसके अपत्यार्थ की विवक्षा में) 'खस्य अपत्यम्' वाक्यस्थ 'खस्य' पद समर्थ एवम् अकारान्त है—अतः इससे भी 'अण्' प्रत्यय होने लगेगा। इसके बहुवचन 'खानाम् अपत्यम्' में ह्रस्व अकारान्त का विघात हो जाने से प्रत्यय नहीं हो सकता था, किन्तु 'अतः' पद जब प्रातिपदिक का विशेषण रहेगा, तो प्रातिपदिक 'ख' अकारान्त है—चाहे समर्थ सुबन्त ह्रस्व अकारान्त हो या न हो, ऐसी स्थिति में यथाप्राप्त प्रत्यय होने में कोई बाधा नहीं होगी। इस बात को सर्वत्र समझ लिया जाय।

(१०७३) पद—प्राक्, दीव्यतः, अण्। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः, परश्च। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—'तेन दीव्यति' (सू. १५५०) सूत्र के पूर्व तक 'अण्' का अधिकार है।

विवरण—"तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" (४-४-२) सूत्र से पहले तक 'अण्' प्रत्यय का अधिकार जायगा। अर्थात् वहाँ तक सब सूत्रों से 'अण्' प्रत्यय विहित होंगे। तथापि यह

एभ्योऽण् स्यात्प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु। वक्ष्यमाणस्य ण्यस्यापवादः। (१०७५) तद्धितेष्वचामादेः ७। २। ११७॥ ञिति णिति च तद्धिते परेऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात्।

दीव्यतीत्यतः प्रागणधिक्रियते इति। तथा च तस्यापत्यमित्याद्युत्तरसूत्रेषु केवलमर्थनिर्देशपरेषु विधेयप्रत्ययविशेषासंयुक्तेषु किं भवतीत्याकाङ्क्षायामणित्युपतिष्ठत इति लभ्यते। कस्माद्भवतीत्याकाङ्क्षायां 'समर्थात्प्रथमात्' इति प्रकृतिविशेषो लभ्यते। यत्र तु विधेयः प्रत्ययविशेषः श्रूयते तत्राणिति नोपतिष्ठते, अणित्यस्यौत्सर्गिकतया वैशेषिकेण इञादिना बाधात्।

(१०७४) अश्वपत्यादिभ्यश्च। चकारात् 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यनुकृष्यते। तदाह—एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्विति। दीव्यतः प्राक् प्राग्दीव्यत्। 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इत्यव्ययीभावः। 'झयः' इति टच् तु न, तस्य पाक्षिकत्वात्। प्राग्दीव्यति भवाः प्राग्दीव्यतीयाः। वृद्धाच्छः। 'अव्ययात्त्यप्' इति तु न, अव्ययीभावस्याव्ययत्वे 'लुङ्मुखस्वरोपचाराः प्रयोजनम्' इति परिगणनात्। अत एव 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इत्यपि न भवति। ननु 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदं सूत्रमित्यत आह—वक्ष्यमाणस्येति। 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति वक्ष्यमाणस्य पत्युत्तरपदत्वप्रयुक्तण्यप्रत्ययस्य बाधनार्थमित्यर्थः।

(१०७५) तद्धितेष्वचामादेः। 'अचो ञ्णिति' इत्यनुवर्तते। 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरिति च। अचामिति निर्धारणषष्ठी। तदाह—ञितीति।

बात ध्यान में रखनी होगी कि अण् प्रत्यय का अधिकार यद्यपि ४-४-२ तक सब सूत्रों में प्रभावी होगा, तो भी 'अण्' प्रत्यय की उत्पत्ति उत्सर्ग-सूत्रों में ही होगी, अपवाद—सूत्रों में नहीं। कारण यह है कि अपवाद-सूत्रों से उत्सर्ग-सूत्र का बाध हो जायगा।

(१०७४) पद—अश्वपत्यादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतोऽण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में इनसे 'अण्' प्रत्यय हो। आगे कहे जाने वाले 'ण्य' का अपवाद है।

विवरण—उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। सूत्रस्थ पदों से उनका अन्वय करने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'अश्वपति' आदि समर्थ प्रातिपदिकों से भी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'अण्' प्रत्यय हो"।

विशेष—(१) 'अश्वपति' आदि शब्दों में पति' शब्द उत्तरवर्ती है, अतः वहाँ "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" ४-१-८५ सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय प्राप्त रहा, उसका यह बाधक है।

(२) 'अश्वपति' आदि शब्दों में किस अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो यह नहीं बतलाया गया है। अतः यह 'अण्' प्रत्यय 'प्राग्दीव्यतः' तक कहे हुए सभी अर्थों में मान्य होगा। उदाहरण आगे दिये जायेंगे।

(१०७५) पद—तद्धितेषु, अचाम्, आदेः। **अनुवृत्ति**—अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ञित् एवं णित् तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर अचों में आदि 'अच्' को वृद्धि हो।

विवरण—तद्धित प्रत्ययों के होने पर तत्सम्बन्धी प्रक्रियोपयोगी अन्य कार्यों का उल्लेख किया जा रहा है। अतः 'अण्' प्रत्यय में प्रसङ्गप्राप्त वृद्धि-सन्धि के सूत्र को प्रस्तुत किया गया है। सूत्र में

(१०७६) किति च ७ । २ । ११८ ॥ किति तद्धिते च तथा । अश्वपतेरपत्याद्याश्वपतम् । गाणपतम् । 'गाणपत्यो मन्त्र' इति तु प्रामादिकमेव । (१०७७) दित्य-

---

(१०७६) किति च । तथेति । अचामादेरचो वृद्धिरित्यर्थः । इदं सूत्रं प्रकृतानुपयुक्तमपि व्याख्यासौकर्याय इहोपन्यस्तम् । अपत्यादीति । आदिना समूहाद्यर्थसङ्ग्रहः । आश्वपतमिति । अश्वपतेरणि आदिवृद्धौ 'यस्येति च' इति इकारलोपः । गाणपतमिति । अश्वपत्यादिषु गणपतिशब्दः पठित इति भावः । गाणपत्य इति । गणपतिर्देवता अस्य मन्त्रस्येति विग्रहः । प्रामादिकमेवेति । प्रमादादायातमित्यर्थः । गणपतिक्षेत्रपत्यादीनामश्वपत्यादिगणे पाठस्य वृत्तौ दर्शनादिति भावः ।

विधान-सम्बन्धी 'वृद्धि' पद की अनुवृत्ति "मृजेर्वृद्धिः" ७-२-११४ सूत्र से तथा स्थानिवाचक 'अचः' पद की अनुवृत्ति "अचो ञ्णिति" ७-२-११५ सूत्र से आ रही है । "अङ्गस्य" ६-४-१ का अधिकार है । उसका अन्वय 'अचाम्' के साथ होता है । 'ञ्णिति' का 'तद्धितेषु' तथा 'अचः' का 'आदेः' के साथ अन्वय हुआ है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'ञ्' एवं 'ण्' इत्संज्ञक तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'अङ्ग' के स्वरवर्णों में से आदिम स्वर-वर्ण को वृद्धि होती है" ।

(१०७६) पद—किति, च । **अनुवृत्ति**—तद्धितेष्वचामादेः, अचः, वृद्धिः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'कित्' तद्धित प्रत्यय के परवर्ती रहने पर भी वैसा ही हो । (पूर्वसूत्र) उदा० १—अश्वपतेः अपत्यादि—आश्वपतम् । २—गाणपतम् । गाणपत्यः मन्त्रः—प्रयोग असंगत है ।

विवरण—'वृद्धि' का ही प्रकरण है । 'क्' इत्संज्ञक तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर भी पूर्व सूत्र के समान विधान जाना जाय । अतः इससे पूर्व सम्पूर्ण सूत्र "तद्धितेष्वचामादेः" ७-२-११७ की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ अर्थ की पूर्णता के लिये पूर्व सूत्र के अनुसार अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'क्' इत्संज्ञक तद्धित-प्रत्यय परवर्ती होने पर आदि स्वरवर्ण को वृद्धि हो" । **उदाहरण**—(१) णकार इत्संज्ञक 'अण्' प्रत्यय सम्बन्धी—**आश्वपतम्** (अश्वपति की सन्तति आदि) । **विग्रहार्थ**—अश्वपतेः अपत्यम् । **प्रक्रिया**—अश्वपति+ङस्+अण् ("अश्वपत्यादिभ्यश्च" ४-१-८४) > अश्वपति+अ (विभक्ति-लोप—"सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" २-४-७१) > आश्वपति+अ (आदिम स्वर 'अ' को वृद्धि = 'आ' > आश्वपत+अ ('भ'संज्ञा-निमित्तक—'इ' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) > आश्वपत+सु ("कृत्तद्धितसमासाश्च" १-२-४६ से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर पुनः विभक्ति 'सु') > आश्वपत+अम् (सु=अम्—"अतोऽम्" ७-१-२४)>आश्वपतम् (अ+अम्=अम्—पूर्वरूप—"अमि पूर्वः" ६-१-१०७) । **गाणपतम्** (गणपति की सन्तति) । विग्रहादि समस्त कार्य पहले उदाहरण के समान जानें ।

विशेष—(१) 'गणपति' एवं 'क्षेत्रपति' आदि शब्दों का 'अश्वपत्यादि' गण में पाठ होने से 'अण्' प्रत्यय ही होगा । अतः "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" ४-१-८५ सूत्र से प्राप्त 'ण्य' प्रत्यय नहीं होगा । विशेष-विधान होने के कारण 'अण्' प्रत्यय 'ण्य' का बाधक है । इस प्रकार **गाणपत्यः** मन्त्रः—(गणपति सम्बन्धी मन्त्र)—ण्य-प्रत्ययान्त प्रयोग समीचीन नहीं है ।

(२) अपत्यादि पदस्थ आदि शब्द 'अपत्य' अर्थ के अतिरिक्त समूहादि अर्थ को उपलक्षित करता है ।

(३) 'प्राग्दीव्यतः' तक जितने अर्थों में प्रत्यय कहे हैं, उनमें मुख्य मुख्य अर्थनिर्देशक सूत्रों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—(१) **तस्यापत्यम्**—४-१-९२ । (२) **तेन रक्तं रागात्**—

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४ । १ । ८५ ॥ दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यादणोऽपवादः । दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा आदित्यः । प्राजापत्यः । 'यमाच्च' इति काशिकायाम् । याम्यः । 'पृथिव्या ञाञौ' (वा २५५४) । पार्थिवा-पार्थिवी । 'देवाद्यञञौ' (२५५५) । दैव्यम्-दैवम् । 'बहिषष्टिलोपो यञ् च' (वा २५५६) ।

(१०७७) दित्यदित्यादित्य । दित्यादिभ्य इति । दिति, अदिति, आदित्य एतेभ्य इत्यर्थः । पत्युत्तरपदादिति । पतिः उत्तरपदं यस्य तस्मादिति विग्रहः । प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्विति । प्राग्दीव्यत इत्यनुवृत्तेरिति भावः । अणोऽपवाद इति । विशेषविहितत्वादिति भावः । दैत्य इति । दितेरपत्यमिति विग्रहः । दितेर्ण्यप्रत्ययः । 'चुटू' इति णकार इत्, आदि वृद्धिः, 'यस्येति च' इति इकारलोपः । अदितेः आदित्यस्य वेति । अपत्यादीति शेषः । आदित्य इति । जाताद्यर्थे ण्ये आदिवृद्धौ 'यस्येति च' इति लोपे आदित्य इति रूपम् । आदित्यशब्दात् ण्ये आदिवृद्धौ 'यस्येति च' इति लोपे 'यणो मयः' इति पूर्वयकारस्य द्वित्वे सति 'हलो यमाम्' इत्याद्ययकारस्य लोपे द्वियकारं रूपम् । द्वित्वाभावे लोपे चासति द्वियकारमेव । असति द्वित्वे यकारलोपे च सत्येकयकारं रूपम् । अनपत्यत्वात् 'आपत्यस्य च' इति यलोपो न । आदितेरपत्ये ण्ये आदित्यशब्दात्पुनरपत्ये ण्ये 'आपत्यस्य च' इति यलोपः । प्राजापत्य इति । पत्युत्तरपदात् प्रजापतिशब्दात् ण्ये आदिवृद्धौ 'यस्येति च' इति लोपः । दैतेय इति त्वसाध्वेव । साधुत्वश्रद्धाजाड्ये तु पृषोदरादित्वात् समाधेयम् । काशिकायामिति । भाष्ये त्विदं न दृश्यत इति भावः । याम्य इति । यमस्यापत्यादीति विग्रहः । पृथिव्या ञाञाविति । ञश्च अञ् च वक्तव्यावित्यर्थः । पार्थिवेति । पृथिव्या अपत्यादीति विग्रहः । ञप्रत्यये 'चुटू' इति ञकार इत्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इति लोपः । स्त्रियामदन्तत्वाट्टाप् । पार्थिवीति । अञि 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् । ञप्रत्ययस्यैव विधौ ङीप् न स्यात् । अत एव विधौ टाप् न स्यात् । तस्मादुभयविधिः । एतत्सूचनाय स्त्रीलिङ्गोदाहरणमिति बोध्यम् । देवादिति । देवशब्दात् यञ् अञ् च प्रत्ययौ प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु वक्तव्यावित्यर्थः । दैव्यम्-दैवमिति । देवस्यापत्यादीति विग्रहः । यञि अञि य आदिवृद्धौ 'यस्येति च' इति लोपः । बहिस् इति । बहिस् इति

४-२-१ । (३) संस्कृतं भक्षाः—४-२-१५ । (४) सास्य देवता—४-२-२३ । (५) तस्य समूहः—४-२-३६ । (६) तदधीते तद्वेद—४-२-५८ । (७) तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि—४-२-६६ । (८) तेन निर्वृत्तम्—४-२-६७ । (९) तस्य निवासः—४-२-६८ । (१०) अदूरभवश्च—४-२-६९ । (११) तत्र जातः—४-३-२५ । (१२) तत्र भवः—४-३-५३ । (१३) तस्य व्याख्यान इति च० ४-३-६६ । (१४) तेन प्रोक्तम्—४-३-१०१ । (१५) तस्येदम्—४-३-१२० । (१६) तस्य विकारः—४-३-१३२ ।

(१०७७) पद—दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्, ण्यः । **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्राग्दीव्यतीय अर्थो में 'दिति' आदि तथा 'पत्युत्तरपदक' शब्दों से 'ण्य' प्रत्यय हो । 'अण्' का अपवाद है । उदा० १—दैत्यः । २-३—अदिति तथा आदित्य की सन्तान—आदित्यः । ४—प्राजापत्यः । 'यम' शब्द से भी 'ण्य' प्रत्यय काशिका में कहा है । उदा० याम्यः । वा० 'पृथिवी' से 'ञ' तथा 'अञ्' हों । उदा० पार्थिवा । पार्थिवी । वा० 'देव' शब्द से 'यञ्' तथा 'अञ्' हों । उदा० १—दैव्यम् । २—दैवम् । वा० 'बहिस्' का टिलोप तथा 'यञ्' प्रत्यय हो । उदा० बाह्यः ।

बाह्यः । 'ईकक्-च' (वा २५५७) । बाहीकः । 'स्थाम्नोऽकारः' (वा २५५९) । अश्वत्थामः । पृषोदरादित्वात्सस्य तः । 'भवार्थे तु लुग्वाच्यः' (वा २८८१) । अश्वत्थामा । 'लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारः' (वा २५६०) । बाह्वादीञोऽपवादः । उडुलोमाः । उडुलो-

---

सकारान्तमव्ययम् । तस्मात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु यञ्, प्रकृतेष्टिलोपश्चेति वक्तव्यमित्यर्थः । **बाह्य इति** । बहिर्भवः इत्यादिविग्रहः । यञि टिलोपे आदिवृद्धिः । 'अव्ययानां भमात्रे टिलोप' इत्यस्यानित्यत्वज्ञापनार्थमिह टिलोपविधानम् । तेन आराद्भवः आरातीयः इत्यादि सिध्यति । **ईकक् चेति** । बहिष ईकक् च स्यात् प्रकृतेष्टिलोपश्चेति वक्तव्यमित्यर्थः । **बाहीक इति** । बहिष ईककि टिलोपे 'किति च' इत्यादिवृद्धिः । **स्थाम्न इति** । स्थाम-न्शब्दात् अकारप्रत्ययः प्रादीव्यतीयेष्वर्थेषु वाच्य इत्यर्थः । अणोऽपवादः । **अश्वत्थाम इति** । अश्वस्येव स्थामा स्थितिर्यस्येति विग्रहः । अश्वत्थाम्नोऽपत्यं तत्र जातः इत्यादि-विग्रहः । प्रत्ययविधित्वेऽपि भाष्ये उदाहरणात् तदन्तविधिः । अश्वस्थामन्शब्दादकार-प्रत्यये 'नस्तद्धित' इति टिलोपः । अणि तु आदिवृद्धिः स्यात् । ननु उदः परत्वाभावा-त्कथमिह सकारस्य थकार इत्यत आह—पृषोदरादित्वादिति । **भवार्थे तु लुग्वाच्य इति** । अकारप्रत्ययस्येति शेषः । **लोम्न इति** । लोमन्शब्दाद् बहुषु अपत्येषु वाच्येषु अकारप्रत्ययो वक्तव्य इत्यर्थः । **बाह्वादीञ इति** । बाह्वादित्वप्रयुक्तस्य इञोऽपवाद इत्यर्थः । **उडुलोमा**

वा० 'ईकक्' भी हो । उदा० बाहीकः । वा० 'स्थामन्' से 'अ' प्रत्यय हो । उदा० अश्वत्थामा । वा० बहुत्व अर्थ में 'लोमन्' शब्द से 'अ' प्रत्यय हो । बाह्वादि 'इञ्' का यह अपवाद है । उदा० उडुलोमाः । उडुलोमान् । (इस वार्तिक में) 'बहुषु' क्यों कहा ? औडुलोमिः ('अ' नहीं हुआ) । वा० अजादि प्रत्यय के प्रसङ्ग में 'यत्' प्रत्यय हो । उदा० गव्यम् । 'अजादि-प्रसङ्गे' क्यों कहा ? गोभ्यः हेतुभ्यः आगतम्—गोरूप्यम् तथा गोमयम् (में 'यत्' नहीं हुआ) ।

विवरण—प्राग्दीव्यतः की प्रमुख आधिकारिक अनुवृत्ति के अतिरिक्त शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियों के साथ सूत्रोक्त पद अन्वित होकर सूत्रार्थ निष्पन्न करते हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "दिति, अदिति, आदित्य तथा पति–उत्तरपदक समर्थ प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय (उपर्युक्त अपत्यादि) अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय हो" । 'ण्य' में 'ण्' इत्संज्ञक है । विशेष विधान होने के कारण 'ण्य' प्रत्यय सामान्यतः विहित 'अण्' प्रत्यय ('प्राग्दीव्यतोऽण्" ४-१-८३) का अपवाद है । **उदाहरण**—क्रमशः—(१) दैत्यः (दिति की सन्तान) । **विग्रहार्थ**—दितेः अपत्यम् । दिति+ङस्, +ण्य>दिति+य ('ण्' को इत्संज्ञा तथा लोप) > दैत्+य (आदि-वृद्धि) > दैत्य (भसंज्ञा-निमितक 'अ' का लोप) > दैत्यः (विभक्तिकार्य) । (२) आदित्यः (अदिति की सन्तान–देवता) । **विग्रह**—अदितेः अपत्यम् । अदिति+ङस् +य (ण्य)>आदिति +य (आदिवृद्धि) > आदित्यः (भ–संज्ञानिमित्तक-'इ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) । (३) आदित्यः (आदित्य की सन्तान) । **विग्रह**—आदित्यस्य अपत्यम् । आदित्य+ङस् +य (ण्य) >आदित्य्+य (आदि वृद्धि—'पर्जन्य-वत्-लक्षण प्रवृत्तिः' नियम के अनुसार) > आदित्य्+य ('अ' का लोप) >आदित्य्–य्+य (पूर्व 'य्' को वैकल्पिक द्वित्व—'यणो मयो द्वे वाच्ये' वा०) > आदित्य्यः ('य्' का पाक्षिकलोप—"हलो यमां यमि लोपः" ८-४-६४) (आदित्य्यः—द्वित्व न होने तथा लोप न होने पर भी दो यकारात्मक) > आदित्यः (द्वित्व न होने पर एवं 'य्' का लोप होने पर एक यकारात्मक) । (३) पत्युत्तर शब्द—**प्राजापत्यः** (प्रजापति के अपत्य आदि) **विग्रह**—प्रजापतेः अपत्यादि । ण्य, आदि वृद्धि, 'इ' का लोप एवं विभक्तिकार्य आदि पूर्ववत् ।

मान् । बहुषु किम् ? औडुलोमिः । 'सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यत्' (वा २५६१) । गव्यम् । अजादिसप्रसङ्गे किम् ? गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोमयम् । (१०७८) उत्सादिभ्योऽञ्

इति । उडूनि नक्षत्राणीव लोमानि यस्य सः उडुलोमा, तस्यापत्यमिति विग्रहः । केवलस्य लोम्नः अपत्ययोगासम्भवात्प्रत्ययविधित्वेऽपि तदन्तविधिः । अकारप्रत्यये सति 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । औडुलोमिरिति । उडुलोम्नोऽपत्यमिति विग्रहः । अत्रापत्यबहुत्वाभावादकारप्रत्ययो न । किन्तु बाह्वादित्वादिञि टिलोप इति भावः । सर्वत्र गोरिति । लोम्नोऽपत्येष्विवि पूर्ववार्तिकानपत्यग्रहणानुवृत्तिनिवृत्तिनिवृत्त्यर्थं सर्वत्रग्रहणम् । अपत्ये तदन्येषु च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु गोशब्दादजादिप्रत्ययप्रसङ्गे सति यत्प्रत्ययो वाच्य इत्यर्थः । गव्यमिति । गवि भवं गोरागतमित्यादिविग्रहः । अणपवादो यत् । गोरूप्यम्—गोमयमिति । 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्याम्' इति रूप्य इत्यर्थः । 'मयड्वैतयोः' इति रूप्यमयटौ । हलादित्वान्नैतयोर्यत्प्रत्ययो बाधक इति भावः ।

वार्तिक—(१) अपत्यादि 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थ को अभिलक्षित कर पृथिवी शब्द से 'ञ' तथा 'अञ्' प्रत्यय होते हैं । क्रमशः उदाहरण—(क) पार्थिवा (पृथिवी के अपत्यादि) । विग्रह—पृथिव्याः अपत्यादि । पृथिवी+अ ('ञ' प्रत्यय में 'ञ्' की इत्संज्ञा—"चुटू" १-३-७) >पार्थिवी+अ (आदिवृद्धि) > पार्थिव ('ई' का लोप) > पार्थिवा (स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् एवं विभक्ति-कार्य)। (ख) पार्थिवी ('अञ्' प्रत्यय होने पर अन्तिम 'ञ्' की इत्संज्ञा, आदिवृद्धि, 'ई' का लोप होने पर स्त्रीत्व विवक्षा में "टिड्ढाणञ्"० ४-१-१५ सूत्र से ङीप् तथा विभक्तिकार्य)। (२) दूसरे वार्तिक द्वारा 'देव' शब्द से 'यञ्' एवम् 'अञ्' प्रत्यय अपत्यादि अर्थ में बतलाये गए हैं । क्रमशः उदाहरण-(क) दैव्यम् (देव की सन्तान) । विग्रह—देवस्य अपत्यादि । प्रक्रिया—देव+य (यञ्) > दैव+य (आदिवृद्धि) > दैव्यम् ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (ख) दैवम् (देवकी सन्तान आदि) । देव+अ (अञ्) > दैवम् (आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् । (३) बहिस् शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थो में 'यञ्' प्रत्यय तथा 'टि' (=इस्) का लोप होता है । उदाहरण—बाह्यः (बाहरी)। विग्रह—बहिर् भवः । बहिस् +य (यञ्)>बह्—य ('टि'='इस्' का लोप)>बाह्यः (आदिवृद्धितथा विभक्ति-कार्य)। (४) चतुर्थ वार्तिक द्वारा 'बहिस्' शब्द से 'ईकक्' प्रत्यय एवं प्रकृति भाग की 'टि' (=इस्) का लोप बतलाया गया है । उदाहरण—बाहीकः (बाहरी) । विग्रह आदि कार्य पूर्ववत् । प्रत्यय 'क्' इत्संज्ञक होने के कारण आदिवृद्धि "किति च" ७-२-११८ सूत्र से होगी । (५) पाँचवे वार्तिक द्वारा 'स्थामन्' शब्द से प्राग्दीव्यतीयादि अर्थो में 'अ' प्रत्यय का विधान है । उदाहरण—(क) अश्वत्थामा (अश्वत्थामा की सन्तान अथवा तत्सम्बन्धी) । विग्रह—अश्वत्थाम्नः अपत्यादि । अश्वत्थामन् +अ > अश्वत्थाम्+अ (टि='अन्' का लोप "नस्तद्धिते" ६-४-१४४) > अश्वत्थामः (विभक्ति-कार्य)। (६) छठे वार्तिक द्वार 'भवः' अर्थ में उपर्युक्त 'अ' प्रत्यय का लोप विदित कराया गया है । (ख) अश्वत्थामा (अश्वत्थामा सम्बन्धी) । अश्वत्थामन्+अ > अश्वत्थामन् ('अ' प्रत्यय का लोप) > अश्वत्थामन्+सु > अश्वत्थामा (विभक्तिकार्य) । 'अश्वत्थामन्' शब्द पृषोदरादि गण में पठित होने से 'स्थामन्' शब्दावयव 'स्' को निपातन-वश 'त्' होता है । विग्रह है—अश्वस्य इव स्थामा (=स्थितिः) यस्य। 'अश्वत्थामन्' शब्द 'स्थामन्' शब्दान्त है । तदनन्तर 'अ' प्रत्यय होने पर तदन्तविधि की संभावना का निषेध होना चाहिये (संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्ता अग्राह्याः) । भाष्यकार द्वारा इसी उदाहरण देने के फलस्वरूप यहाँ तदन्तविधि को मान्यता दी गई है । (७) सातवें वार्तिक द्वारा बहुत्व-विशिष्ट

४।१।८६॥ औत्सः। 'अग्निकलिभ्यां ढग्वक्तव्यः' (वा २६८९)। अग्नेरपत्यादि आग्नेयम्। कालेयम्।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणाः प्रत्ययाः।



(१०७८) उत्सादिभ्योऽञ्। प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्विति शेषः। अणिजाद्यपवादः। 'दृष्टं साम' इति सूत्रभाष्ये 'सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग्वक्तव्यः' इति वार्तिकं पठितम्। दृष्टं

'लोमन्' शब्दान्त से अपत्य अर्थ में 'अ' प्रत्यय होने का निर्देश दिया जा रहा है। यह 'अ'कार प्रत्यय 'इञ्' प्रत्यय ("बाह्वादिभ्यश्च" ४-१-८५) का बाधक है। उदाहरण—(क) **उडुलोमाः** (उडुलोमन् की बहुत सन्तान अथवा तत्सम्बन्धी)। **विग्रह**—उडुलोम्नः बहूनि अपत्यानि। उडुलोमन् + अ > उडुलोम (टि='अन्'–लोप) > उडुलोमाः (प्रथमा बहुवचन 'जस्')। (ख) **उडुलोमान्** (उडुलोमन् की सन्तान को)। द्वितीया बहुवचन का रूप। वार्तिक में **'बहुषु'** पद के निवेश करने के फलस्वरूप **औडुलोमिः** में 'अ' प्रत्यय नहीं हुआ। अतः यथाप्राप्त "बाह्वादिभ्यश्च" से 'इञ्' प्रत्यय हुआ—उडुलोमन्+इञ्–औडुलोमन् +इ>औडुलोमिः (आदिवृद्धि, टि='अन्' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (७) सातवें वार्तिक द्वारा **'गो'** शब्द से 'अच्' आदि प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर (सर्वत्र) अपत्यादि तथा प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है'। उदा० **गव्यम्** (गाय में होने वाला, जिसकी देवता गाय हो, गाय सम्बन्धी)। **विग्रह**—गवि भवम्, गोः आगतम्। **प्रक्रिया**—गो+यत् ('अण्' के अपवादस्वरूप) > गो+य > गव्यम् (ओ=अव्—"वान्तो यि प्रत्यये" ६-१-७९ तथा विभक्ति–कार्य)। प्रकृत वार्तिक में 'अजादि-प्रसङ्गे' कथन के फलस्वरूप व्यञ्जन-वर्णों से प्रारम्भ होने वाले प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर 'यत्' प्रत्यय नहीं होगा। अतः **गोरूप्यम्** (गाय के लिये) **गोमयम्** (गाय से प्राप्त) में क्रमशः "हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्याम्" ४-३-८१ से 'रूप्य' प्रत्यय तथा "मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः" ४-३-४३ सूत्र से वैकल्पिक 'मयट्' प्रत्यय हुए हैं।

विशेष—(१) भट्टोजी दीक्षित ने यह अवगत कराया है कि **यम** शब्द से भी 'ण्य' प्रत्यय कर **याम्यः** (यम की सन्तान अथवा यमसम्बन्धी) शब्द की सिद्धि काशिका-कार के मत में समीचीन है। किन्तु यह शब्द भाष्यकार के मत में समीचीन नहीं है।

(२) कोष-ग्रन्थों में **दैतेय** शब्द भी 'दिति' की सन्तान अर्थ में मिलता है। सूत्र १०७७ के अनुसार तो 'ण्य' प्रत्यय ही होना चाहिये न कि 'ढक्' (=एय) प्रत्यय। रामाश्रमी टीका में भानु दीक्षित ने 'ङीष्' प्रत्ययान्त की कल्पना कर "स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२० से 'ढक्' (=एय) प्रत्यय होने पर इसकी समीचीनता प्रतिपादित की है। बालमनोरमा-कार ने पृषोदरादि-गण में पाठ की कल्पना कर कथञ्चित् इसकी सिद्धि दिखलाई है।

(३) 'सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यत्' वार्तिक में, पूर्व वार्तिक 'लोम्नोऽपत्येषु०' से केवल अपत्यार्थ के निवारण के लिये, **'सर्वत्र'** पद का निवेश किया है।

(१०७८) पद—उत्सादिभ्यः, अञ्। **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० औत्सः। वा० "दृष्टं साम" सूत्रस्थ वार्तिक के अनुसार 'अग्नि' और 'कलि' शब्दों से 'ढक्' प्रत्यय हो। उदा० १—अग्नेः अपत्यादि > आग्नेयम्। २—कालेयम्।

सामेत्यर्थे ततोऽन्येष्वप्यर्थेषु ढग्वक्तव्य इत्यर्थः । तत्र सर्वत्रेति त्यक्त्वा लाघवात्प्राग्दीव्यतीयेष्वेवेदं वार्तिकं पठति—अग्निकलिभ्यामिति । अपत्यादीति । अग्निर्देवता अस्य इत्यादिसङ्ग्रहः । आग्नेयम् कालेयमिति । ढकि एयादेशे कित्त्वादादिवृद्धौ 'यस्येति च' इति लोपः ।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणाः प्रत्ययाः ।



विवरण—उल्लिखित अनुवृत्तियों का पूर्ववत् प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "'उत्स' आदि समर्थ प्रातिपदिकों से 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है"। अणादि प्रत्ययों का अपवाद है। **उदाहरण**—औत्सः (उत्स की सन्तान आदि)। उत्स+अ (अञ्) > औत्स् +अ (आदिवृद्धि) > औत्सः ('अ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

वार्तिक—"'अग्नि' और 'कलि' शब्दों से अपत्यादि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ढक्' प्रत्यय हो'। **उदाहरण क्रमशः**—(१) आग्नेयम् (अग्नि का अपत्य, अग्नि-देवता-सम्बन्धी)। **विग्रह**—अग्निः देवता अस्य। अग्नि+ढक् (ढक् में 'क्' की इत्संज्ञा) > अग्नि+एय (ढ=एय)> आग्नि+एय ('क्' इत् होने से आदिवृद्धि "किति च" ७-२-११८) > आग्न्+एय ('इ' का लोप) > आग्नेयम् (विभक्ति-कार्य)। (२) **कालेयम्** (कलि की सन्तति अथवा 'कलि' देवता-सम्बन्धी)। कलि+ढक् > कालेयम्। पूर्व उदाहरण के समान सिद्धि जानें।

विशेष—"दृष्टं साम" २-३-४७ सूत्र के भाष्य में 'सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग्वक्तव्यः' यह वार्तिक पढ़ा गया है। उसके अनुसार 'दृष्टं साम' तथा अन्य अर्थों में 'अग्नि' तथा 'कलि' शब्द से 'ढक्' प्रत्यय का विधान सूचित किया गया है। वहाँ पर प्रयुक्त 'सर्वत्र' शब्द को छोड़कर यहाँ सामान्यतः प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'अग्नि' तथा 'कलि' शब्द से 'ढक्' प्रत्यय का विधान करने में लाघव है।

स्मरणीय—तद्धित प्रकरण में सुबन्त से तद्धितोत्पत्ति होती है (कहीं कहीं प्रातिपदिक से भी)। इसके फलस्वरूप अवान्तर-विभक्ति (आश्वपतम् में अश्वपति+ङस्) का "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" १-४-७१ से तद्धितान्त-प्रयुक्त प्रातिपदिक होने के कारण 'लुक्' हो जाता है। तद्धित-प्रत्ययविधायक शास्त्र के निरवकाश होने के कारण समास-विधायक शास्त्रों का वह बाधक है (निरवकाशो विधिः अपवादः)। अतः जहाँ समास भी इष्ट है वहाँ 'अन्यतरस्याम्' आदि शब्द निवेश कर कार्यसिद्धि की जाती है। इन शास्त्रों में 'समर्थानाम्', 'प्रथमाद्' तथा 'वा'—तीनों पदों का स्वतन्त्र रूप से अधिकार चलता है। जिसके फलस्वरूप तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति सन्धि-कार्यादि करने पर ही होती है। अतः सौत्थितिः आदि रूप सिद्ध होते हैं। इसका विवरण "तस्यापत्यम्" ४-१-९२ सूत्र में दिया जायगा।

अपत्यादि-विकारान्तार्थ साधारण प्रत्यय समाप्त।



अथापत्याधिकारप्रकरणम्

(१०७९) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४ । १ । ८७ ॥ 'धान्यानां भवने–' (सू १८०२) इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ्स्नञौ स्तः । स्त्रैणः । पौंस्नः । वत्यर्थे न । 'स्त्री पुंवच्च' (सू ९३२) इति ज्ञापकात् । स्त्रीवत्, पुंवत् । (१०८०)

(१०७९) अथापत्याधिकारो निरूप्यते । स्त्रीपुंसाभ्याम् । भवनशब्देन 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' इति सूत्रं विवक्षितम् । प्राग्दीव्यत इत्यतः प्रागित्यनुवृत्तम् । तदाह— धान्यानामिति । स्त्रीपुंसाभ्यामिति । 'अचतुर' इत्यच् । स्त्रीशब्दात् पुंस्शब्दाच्चेत्यर्थः । **स्त्रैण इति ।** स्त्रिया अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः इत्यादिविग्रहः । नञ्, वृद्धिः, णत्वम् । **पौंस्न इति ।** पुंसोऽपत्यम्, पुंसि भवः, पुंसां समूहः इत्यादिविग्रहः । पुंस्शब्दात् स्नञि 'स्वादिषु' इति पदत्वात्संयोगान्तलोपः, आदिवृद्धिः । प्रत्ययसकारस्तु श्रूयते; उभाभ्यामपि नञ्प्रत्ययस्यैव विधौ तु पुंसः सकारस्य संयोगान्तलोपे पुन्नः इति स्यादिति भावः । **वत्यर्थे नेति ।** 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययो वक्ष्यते । तस्यार्थे स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ न भवत इत्यर्थः । कुत इत्यत आह—'स्त्रीपुंवच्चे'ति ज्ञापकादिति । अन्यथा पुंवदिति निर्देशोऽनुपपन्नः स्यादिति भावः । न च पुंवदिति निर्देशः पुंस्शब्दाद्वत्यर्थे स्नञभावं ज्ञापयेत्, न तु स्त्रीशब्दान्नञभावमपीति वाच्यम्, नञ्स्नञोरेकसूत्रोपात्ततया वत्यर्थे स्नञभावे ज्ञापिते सति स्त्रीशब्दान्नञभावस्यापि लाभात् ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वात् । तदुक्तं भाष्ये 'योगापेक्षं ज्ञापकम्' इति ।

(१०७९) पद—स्त्री-पुंसाभ्यां नञ्-स्नञौ, भवनात् । **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—"धान्यानां भवने"० इस सूत्र के पहले तक निर्दिष्ट अर्थों में 'स्त्री' शब्द से 'नञ्' तथा 'पुंस्' शब्द से 'स्नञ्' प्रत्यय हों । उदा० १—स्त्रैणः । २—पौंस्नः । 'स्त्री-पुंवत्' ज्ञापन से सादृश्य अर्थ में न हों । उदा० १—स्त्रीवत् । २—पुंवत् ।

विवरण—"प्राग् दीव्यतोऽण्" ४-१-८३ सूत्र से 'प्राक्' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । सूत्र में प्रयुक्त 'भवन' शब्द का अभिप्राय "धान्यानां भवने क्षेत्र खञ्" ५-२-१ सूत्र से है । 'प्राक्' शब्द 'भवनात्' से अन्वित होता है । 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा के प्रभाव से 'नञ्' और 'स्नञ्' प्रत्यय क्रमानुसार होंगे । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "धान्यानां भवने क्षेत्रे" ५-२-१ सूत्र से पहले जितने अर्थ कहे गये हैं, उन सभी (अपत्य, भव, समूह आदि) अर्थों में 'स्त्री' शब्द से 'नञ्' और 'पुंस्' शब्द से 'स्नञ्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण**—(१) स्त्रैणः (स्त्री की सन्तान आदि) । **विग्रह**—स्त्रियः अपत्यम्, स्त्रीणां समूहः आदि । **प्रक्रिया**—स्त्री+न (नञ्) > स्त्रै+न (आदिवृद्धि) > स्त्रैणः (णत्व तथा विभक्तिकार्य) । (२) **पौंस्नः** (पुरुष की सन्तान आदि) । **विग्रह**—पुंसः अपत्यम् आदि । पुंस् +स्न (स्नञ्) > पुम्+स्न ('स्' का लोप— "संयोगान्तस्य लोपः" ८-२-२३) > पौं+स्न (आदि-वृद्धि) > पौंस्नः (विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—(१) पाणिनि द्वारा पठित "स्त्रीपुंवच्च" १-२-६६ सूत्रस्थ 'पुंवत्' प्रयोग के अनुसार 'वति' (=सादृश्य) अर्थ में 'स्त्री' तथा 'पुंस्' शब्दों से क्रमशः 'नञ्' तथा 'स्नञ्' प्रत्यय नहीं होते । यदि यह कहा जाय कि "स्त्री-पुंवच्च" सूत्र में तो केवल 'पुंवच्च' प्रयोग दिया गया है, अतः स्त्री-शब्द से 'नञ्' प्रत्यय 'सादृश्य' अर्थ में क्यों न हो ? इसका उत्तर यह दिया जाता

द्विगोर्लुगनपत्ये ४ । १ । ८८ ।। द्विगोर्निमित्तं यस्तद्धितोऽजादिरनपत्यार्थः प्राग्दीव्यतीयस्तस्य लुक्स्यात् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः—पञ्चकपालः । द्विगोर्निमित्तम् इति किम् ? पञ्चकपालस्येदं खण्डं—पाञ्चकपालम् । अजादिः किम् ? पञ्चगर्गरूप्यम् ।

(१०८०) द्विगोर्लुगनपत्ये । द्विगोरिति हेतुत्वसम्बन्धे षष्ठी । लुक्श्रवणात् प्रत्ययस्येत्युपस्थितम्, प्रत्ययादर्शनस्यैव लुक्त्वात् । तथा च द्विगुनिमित्तस्य प्रत्ययस्य लुगिति लभ्यते । द्विगुनिमित्तश्च प्रत्ययः तद्धित एव भवति, तद्धितार्थे विषये तद्विधानात् । ततश्च द्विगुनिमित्तस्य तद्धितस्येति लभ्यते । प्राग्दीव्यत इत्यनुवृत्तेः प्राग्दीव्यतीयत्वं तद्धितविशेषणम् । 'गोत्रेऽलुगचि' इत्युत्तरसूत्रे अचीति सप्तम्यन्तस्य गोत्रविशेषणतया तदादि-

---

है कि 'नञ्' तथा 'स्नञ्' दोनों प्रत्यय एक सूत्र से विहित होने के कारण उन दोनों के अभाव का ज्ञापक भी एक साथ माना जायगा ('योगापेक्षं ज्ञापकम्'—महाभाष्य) ।

(२) 'पुंस्' शब्द से 'नञ्' प्रत्यय करने पर भी 'पौंस्नः' रूप की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि पुंस्+न—इस स्थिति में 'स्' का संयोगान्तलोप हो जाने से 'म्' को अनुस्वार एवं परसवर्ण होकर 'पुन्नः'—यह अनिष्ट रूप होने लगेगा ।

(१०८०) पद—द्विगोः, लुक्, अनपत्ये । **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्विगुसम्बन्धी अजादि एवम् अपत्यार्थ भिन्न तद्धित प्रत्यय का प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'लुक्' होता है । उदा० पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः > पञ्चकपालः । 'द्विगोर्निमित्तम्' क्यों कहा ? पञ्चकपालस्य इदं खण्डम् > पाञ्चकपालम् (लोप नहीं हुआ) । 'अजादिः' क्यों कहा ? पञ्चगर्गरूप्यम् (लोप नहीं हुआ) । 'अनपत्ये' क्यों कहा ? द्वयोर्मित्रयोः अपत्यम् > द्वैमित्रिः (लोप नहीं हुआ) ।

विवरण—अनुवृत्तियों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है ? विशेष परिस्थिति में 'तद्धित'—प्रत्यय का लोप बतलाया जा रहा है । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "प्राग्दीव्यतीय अर्थों में विहित अपत्य-अर्थ से भिन्न 'द्विगु' को मानकर होने वाले तद्धित-प्रत्यय का लोप (लुक्) हो" । **उदाहरण—पञ्चकपालः** (पाँच कपालों पर रखकर पकाया हुआ पुरोडाश) । **विग्रह**—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः । **प्रक्रिया**—पञ्चन्+सुप्, कपाल+सुप् > पञ्चन्-कपाल ('तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" २-१-५१ से समास ततः 'न्' लोप) > पञ्चकपाल+सुप्+अ (अण् प्रत्यय "संस्कृतं भक्षाः" ४-२-१५) > पञ्चकपाल+अ (विभक्तिलोप) > पञ्चकपाल ("संख्यापूर्वो द्विगुः" २-१-५१ से 'द्विगु' संज्ञा तथा "द्विगोर्लुगनपत्ये" ४-१-८८ से 'अण्' का लोप) > पञ्चकपाल+सु (तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर पुनः विभक्ति) > पञ्चकपालः[1] (स्=र्=ः) ।

---

१. यदि उदाहरण में "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" सूत्र से पहले समास किया जाय तो प्रातिपदिक संज्ञा होकर तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति होगी । इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि तद्धितार्थ में समास का विधान होने के कारण समास की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकेगी, जब तक तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होगी । अतः इस इतरेतराश्रय दोष के निवारणार्थ "तद्धितार्थ०" सूत्र में 'तद्धितार्थे' को विषय-सप्तमी मानकर 'तद्धितार्थ-विषय' की कल्पना कर पहले समास किया जाता है । पश्चात् तद्धित-प्रत्यय आता है ।

अनपत्ये किम् ? द्वयोर्मित्रयोरपत्यं द्वैमित्रिः । (१०८१) गोत्रेऽलुगचि ४ । १ । ८९ ।। अजादौ प्राग्दीव्यतीये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययस्यालुक् स्यात् । गर्गाणां छात्राः । 'वृद्धाच्छः'

विधिः । अजादावित्यर्थकमचीति पदमिहापकृष्यते । तच्च षष्ठ्या विपरिणतं तद्धित-विशेषणम् । तदाह—**द्विगोर्निमित्तमित्यादिना । पञ्चकपाल इति ।** 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यण्, तद्धितार्थे द्विगुः, अणो लुक् । प्रत्ययलक्षणाभावान्नादिवृद्धिः । **पञ्चकपालस्येदमिति ।** पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाश इत्यर्थे अणि विवक्षिते द्विगुसमासे अणो लुकि निष्पन्नात् पञ्चकपालशब्दात् 'तस्येदम्' इत्यणि आदिवृद्धौ पाञ्चकपालमित्यत्राणो लुङ् न भवति, अणो द्विगुनिमित्तत्वाभावादिति भावः । **पञ्चगर्गरूप्यमिति ।** पञ्चभ्यो गर्गेभ्यः आगतमित्यर्थे 'हेतुमनुष्येभ्यः' इति रूप्यप्रत्ययः । 'तद्धितार्थ' इति द्विगुसमासनिमित्तत्वेऽपि अजादित्वा-भावात् न लुगिति भावः । **द्वैमित्रिरिति ।** अत्र 'अत इञ्' इति इञोऽपत्यार्थकत्वान्न लुगिति भावः । न च तिस्रो विद्या अधीयात् स त्रैविद्यः इत्यत्राप्यणो लुक् स्यादिति वाच्यम्, अवयवा विद्या त्रिविद्या शाकपार्थिवादिः । त्रिविद्यामधीते त्रैविद्य इति विग्रहे त्रिविद्याशब्दादणो द्विगुनिमित्तत्वाभावात् । **प्राग्दीव्यतीयस्येति किम् ? पञ्चभ्यः कपालेभ्यो हितं पञ्चकपालीयम् ।**

(१०८१) गोत्रेऽलुगचि । अलुगिति च्छेदः । प्राग्दीव्यत इत्यनुवृत्तेः प्रत्ययाधि-काराच्च प्राग्दीव्यतीये प्रत्यये इति लब्धम् । अचीति तद्विशेषणं तदादिविधिः । विषय-सप्तम्येषा न तु परसप्तमी । तदाह—**अजादावित्यादिना । गोत्रप्रत्ययस्येति ।** गोत्रार्थक-प्रत्ययस्येत्यर्थः, लुकः प्रत्ययादर्शनत्वात् प्रत्ययस्येति लब्धम् । **गर्गाणां छात्रा इति ।** वक्ष्यमाणोदाहरणविग्रहप्रदर्शनमिदम् । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । 'गर्गादिभ्यो यञ्' । गर्गस्य गोत्रापत्यानीति बहुत्वविवक्षायां यञि कृते, तस्य 'यञञोश्च' इति लुकि गर्गा इति

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'द्विगोः' पद का निवेश करने से 'द्विगु' समास के अतिरिक्त अर्थ की विवक्षा में तद्धित प्रत्यय का लोप नहीं होगा । अतः **पाञ्चकपालम्** (पाँच कपालों अर्थात् सकोरों का एक टुकड़ा) में "तस्येदम्" से विहित 'अण्' प्रत्यय का लोप नहीं हुआ, क्योंकि वह 'द्विगु' का निमित्त नहीं है । **विग्रह**—पञ्चकपालस्य इदं खण्डम् । (२) सूत्र में 'अजादेः' पद साकाङ्क्ष होने से **पञ्चगर्गरूप्यम्** (पाँच गर्गों से आया हुआ या प्राप्त) में रूप्य प्रत्यय—"हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः" ४-३-८१—द्विगुनिमित्तक अवश्य है, किन्तु हलादि है—अजादि नहीं । अतः लोप नहीं हुआ । (३) सूत्र में 'अनपत्ये' पद का निवेश होने से द्वैमित्रिः (दो मित्रों की सन्तान) में अपत्यार्थक 'इञ्' प्रत्यय ("अत-इञ्" ४-१-९५) होने से उसका लोप नहीं होता—यद्यपि वह द्विगु का निमित्त भी है तथा अजादि भी है । (४) 'प्राग्दीव्यतीय' का आधिकारिक प्रभाव होने के कारण **पञ्चकपालीयम्** (पाँच कपालों के हित) में 'छ' प्रत्यय का लोप नहीं हुआ, क्योंकि यह 'छ' प्रत्यय ("तस्मै हितम्" ५-१-५) प्राग्दीव्यतीय अर्थों के पश्चात् कहा गया है ।

(१०८१) पद—गोत्रे, अलुक्, अचि । **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अजादि प्राग्दीव्यतीय विवक्षित रहते गोत्र-प्रत्यय का लुक् नहीं होता । उदा० गर्गाणां छात्राः । वृद्धाच्छः (छ प्रत्यय) ।

विवरण—विशेष परिस्थिति में तद्धित प्रत्यय के 'लुक्' न होने की व्यवस्था की जा रही है । सूत्र में 'अचि' विषय-सप्तमी है । सामान्यतः 'यञ्' और 'अञ्' गोत्रप्रत्ययों का बहुवचन में लुक् होता है ("यञञोश्च" २-४-६४), किन्तु "अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय की विवक्षा होनेपर 'गोत्र'—

(सू १३३७) । (१०८२) आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ६ । ४ । १५१ ॥ हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः स्यात्तद्धिते परे, न त्वाकारे । गार्गीयाः । प्राग्दीव्यतीये किम् ? गर्गेभ्यो हितं—गार्गीयम् । अचि किम् ? गर्गेभ्यः आगतं—गर्गरूप्यम् । (१०८३) यूनि

भवति । वृद्धाच्छ इति । गार्ग्यशब्दादुक्तेऽर्थे छप्रत्यय इत्यर्थः । छस्य ईयादेशः, तस्मिन्भविष्यति अजादौ परे 'यञञोश्च' इति प्राप्तो लुङ् न भवति । तथा च गार्ग्य ईय इति स्थिते 'यस्येति च' इति यञोऽकारस्य लोपे गार्ग्य ईय इति स्थिते परिशिष्टस्य यञो यकारस्य लोपमाह—

(१०८२) आपत्यस्य च । अनातीति च्छेदः । 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते । 'सूर्यतिष्य' इत्यतो य इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । 'हलस्तद्धितस्य' इत्यतो हल इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तदाह— हलः परस्यापत्यप्रयकारस्येति । अपत्यार्थकयकारस्येत्यर्थः । यञो लुकि तु आदिवृद्धिर्न स्यादिति भावः । अल्लोपस्याभीयत्वेऽपि नासिद्धत्वम्, आरम्भसामर्थ्यात् । 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपस्यात्र प्रसक्तावपि न्याय्यत्वादिदमेव भवति । गार्गीयमिति । 'तस्मै हितम्' इति गार्ग्यशब्दाच्छः । तस्य प्राग्दीव्यतीयत्वाभावात् तस्मिन्परे 'यञञोश्च' इति यञो लुग्भवत्येवेति नादिवृद्धिरिति भावः । गर्गरूप्यमिति । 'हेतुमनुष्येभ्यः' इति रूप्यप्रत्ययः । तस्य प्राग्दीव्यतीयत्वेऽप्यजादित्वाभावात्तस्मिन्परे यञः अलुङ् न । यदि तु अजादौ प्राग्दीव्यतीये परे इति व्याख्यायेत, तर्हि गर्ग्यशब्दाच्छे तस्य ईयादेशे कृते अलुग्विधिः प्रवर्तेत, न तु ततः-प्राक् । एवञ्च छप्रवृत्तेः प्राक् 'यञञोश्च' इति यञो लुकि कृते आदिवृद्धेर्निवृत्तौ गर्गशब्दस्य वृद्धत्वाभावात् ततः छो न स्यात् । अणि सति गार्गाः छात्राः इत्येव स्यात् । अजादौ प्रत्यये विवक्षिते इति व्याख्याने तु छप्रत्यये

प्रत्यय के लोप न होने का निर्देश दिया जा रहा है" । **उदाहरण**—गर्गीयाः (गर्गगोत्रजों के छात्रगण) । **विग्रह**—गर्गाणां छात्राः । **प्रक्रिया**—गर्गस्य गोत्रापत्यानि—गर्गाः→गर्ग+यञ् ("गर्गादिभ्यो यञ्" ४-१-१०५) > गार्ग्य+जुस् > गर्गाः ('यञ्' प्रत्यय का बहुवचन में लोप→ "यस्कादिभ्यो गोत्रे" २-४-६३) । किन्तु 'गर्गों के छात्रगण' इस अर्थ की विवक्षा में "वृद्धाच्छः" ४-२-११४ से प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय ('छ्' की इत्संज्ञा होने पर अवशिष्ट 'अ' मात्र) की संभावना होने के कारण यहाँ 'यञ्' प्रत्यय का लोप नहीं होगा । इस प्रकार गार्ग्य+छ (= ईय) में 'अ' का "यस्येति च" ६-४-१४८ से लोप होने पर आगे के सूत्र से (१०८१) 'य्' का लोप होकर>गार्गीयाः—प्रथमा बहुवचन में रूप बनेगा । इस तरह यह 'लुक्' का अपवाद है ।

(१०८२) **पद**—आपत्यस्य, च, तद्धिते, अनाति । **अनुवृत्ति**—हलः, यः, लोपः, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'तद्धित' (प्रत्यय) परवर्ती होने पर 'हल्' से परवर्ती अपत्यार्थक 'य'कार का लोप हो, किन्तु 'आ' परे रहते न हो । उदा० गार्गीयाः ।

विवरण—प्रासङ्गिक 'य्' के लोप होने का सूत्र यहाँ उद्धृत किया जारहा है । अतः छठे अध्याय की उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं । "अङ्गस्य" ६-४-१ तथा "यचि भम्" १-४-१८ अधिकारों के अन्तर्गत यह प्रकरण है । इसके साथ "हलस्तद्धितस्य" ६-४-१५० से 'हलः' तथा "सूर्यतिष्यागस्त्य०" ६-४-१४९ से 'यः' तथा "ढे लोपोऽकद्र्वाः" ६-४-१४७ से 'लोपः' की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं । सूत्रस्थ पदों के साथ एकवाक्यता करने पर यह अर्थ होगा कि "व्यञ्जन वर्ण से उत्तरवर्ती भ-संज्ञक अङ्ग के अपत्यप्रत्यय-सम्बन्धी 'य'कार का भी, आकार-भिन्न तद्धित प्रत्यय परे रहते, लोप होता है" । तदनुसार 'गार्गीयाः' में 'ईय' (छ) परे रहते 'य्' का लोप होता है । उसके पूर्व 'अ' का लोप हो चुका है ।

लुक् ४।१।९०॥ अजादौ प्राग्दीव्यतीये प्रत्यये विवक्षिते युवप्रत्ययस्य लुक्स्यात्। ग्लुचुकस्य गोत्रापत्यं ग्लुचुकायनिः। वक्ष्यमाणः फिन्। ततो यून्यण्। ग्लौचुकायनः। तस्य छात्रोऽपि ग्लौचुकायनः। अणो लुकि वृद्धत्वाभावाच्छो न। (१०८४) पैला-

---

विवक्षिते तत्प्रवृत्तेः प्रागेव यञि अलुग्विधेः प्रवृत्तौ यञन्तस्य वृद्धत्वात् छो निर्बाधः। यलोपविधौ आपत्यस्येति किम्, सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरं साङ्काश्यं 'साङ्काशादिभ्यो ण्यः', ततो भवार्थे 'धन्वयोपधात्' इति वुञ्। साङ्काश्यकः। तद्धिते किम्? गार्ग्यं गार्ग्ययोः। अनातीति किम्? गार्ग्यायणः।

(१०८३) यूनि लुक्। प्रादीव्यत इत्यनुवृत्तेः प्रत्ययाधिकाराच्च प्राग्दीव्यतीये प्रत्यये इति लभ्यते। अचीति प्रत्ययविशेषणं तदादिविधिः। विषयसप्तम्येषा, न तु परसप्तमी। तदाह—अजादौ प्राग्दीव्यतीये विवक्षिते इति। युवप्रत्ययस्येति। युवार्थकप्रत्ययस्येत्यर्थः। लुकः प्रत्ययादर्शनत्वात् प्रत्ययस्येति लभ्यत इति भावः। ननु ग्लुचुकस्य गोत्रापत्यं ग्लुचुकायनिरिति कथम्? 'अत इञ्' इति इञः प्राप्तेरित्यत आह—वक्ष्यमाण इति। 'प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्' इत्यनेनेति शेषः। आयन्नादेशे ग्लुचुकायनिरिति रूपमिति भावः। तत इति। ग्लुचुकायनेरपत्यार्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यणि आदिवृद्धौ 'यस्येति च' इति लोपे ग्लौचुकायन इति रूपमित्यर्थः। तस्येति। ग्लौचुकायनस्य छात्र इत्यर्थे तस्येद-मित्यणि युवापत्याणो लुकि ग्लौचुकायन इत्येव रूपमित्यर्थः। ननु युवापत्याणः 'यस्येति

प्रत्युदाहरण—तद्धित प्रत्यय में 'प्राग्दीव्यतीय' का प्रभाव होने से **गर्गीयम्** (गर्ग-वंशजों के लिये हितकारी) में "तस्मै हितम्" ५-१-५ से विहित 'छ' प्रत्यय प्राग्दीव्यतीय न होने के कारण 'लुक्' का अवरोधक नहीं हुआ। अतः "यञञोश्च" २-४-६४ से 'यञ्' का लुक् हो गया।

(२) "गोत्रेऽलुगचि" ४-१-८९ सूत्र में 'अचि' पद का निवेश होने से अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय की विवक्षा में गोत्रप्रत्यय का लोप नहीं होगा। अतः **गर्गरूप्यम्** (गर्गवंशजों से आगत) में 'यञ्' का लोप हो गया, क्योंकि 'रूप्य' प्रत्यय हलादि है।

(१०८३) पद—यूनि, लुक्। **अनुवृत्ति**—अचि, प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्ययों के विवक्षित रहते युवार्थक प्रत्यय का लोप होता है। उदा० ग्लुचुकस्य गोत्रापत्यं—ग्लुचुकायनिः। आगे आने वाला 'फिन्' प्रत्यय उससे 'युव' प्रत्यय अण् > ग्लौचुकायनः। उसका छात्र भी ग्लौचुकायनः। 'अण्' का लोप होने पर 'वृद्ध' संज्ञा प्राप्त न होने से 'छ' प्रत्यय नहीं हुआ।

विवरण—'लुक्' का ही प्रकरण है। 'प्राग्दीव्यतः' तथा "गोत्रेऽलुगचि" ४-१-८९ से 'अचि' की अनुवृत्तियाँ मुख्य रूप में प्रभावी हैं। "प्रत्ययः" का भी अधिकारगत प्रभाव विद्यमान है। सप्तम्यन्त 'अचि' पद विषय-सप्तमी का बोधक होने से प्रत्यय का विशेषण है, अतः तदादिविधि होती है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होगा कि "प्राग्दीव्यतीय अजादि प्रत्यय की विवक्षा होने पर 'युव'अर्थ में उत्पन्न होने वाले प्रत्यय का 'लुक्' हो जाय"। **उदाहरण—ग्लौचुकायनः** (ग्लुचुक के युवापत्य का छात्र)। **स्थिति** इस प्रकार है—(क) ग्लुचुकस्य गोत्रापत्यम्—**ग्लुचुकायनिः** (ग्लुचुक+फिन्→"प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्" ४-१-१६०>ग्लुचुक+आयन्+इ>ग्लुचुकायनि+अ (अण्)>ग्लौचुकायनः (आदि-वृद्धि, 'अ' का लोप)। (ख) पुनः 'ग्लौचु-कायनस्य छात्रः' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय ("तस्येदम्" ४-३-१२०) होकर प्रकृत सूत्र से उसका लोप करने पर (ग्लौचुकायन+अण्) 'ग्लौचुकायनः' ही रूप निष्पन्न होता है। इसका फल यह हुआ

दिभ्यश्च २।४।५०॥ एभ्यो युवप्रत्ययस्य लुक्। 'पीलाया वा' (सू ११२१) इत्यण्। तस्मात् 'अणो द्व्यचः' (सू ११८०) इति फिञ्। तस्य लुक्। पैलः पिता पुत्रश्च। 'तद्राजाच्चाणः (ग २१) 'द्व्यञ्मगध' इत्यणणन्तादाङ्गशब्दात् 'अणो द्व्यचः' (सू ११८०) इति फिञो लुक्। आङ्गः पिता पुत्रश्च। (१०८५) **इञः प्राचाम्**

च' इति लोपेनैव छात्रार्थे ग्लौचुकायन इति रूपसिद्धेस्तस्य लुग्विधिरनर्थक इत्यत आह— अणो लुकीति। छात्रार्थकप्रवृत्तेः प्रागेव युवप्रत्ययस्याणो लुकि आदिवृद्धेर्निवृत्तौ ग्लुचुकायनिशब्दस्य वृद्धत्वाभावात् छो न भवति। युवप्रत्ययस्य लुगभावे तु वृद्धत्वात् छः स्यात्। एतदर्थमेव युवप्रत्ययस्य लुग्विधानमित्यर्थः। स्थितश्चातुर्थिको युवप्रत्ययलुक्। तत्रसञ्ज्ञाद् द्वैतीयिको युवप्रत्ययलुगनुक्रम्यते।

(१०८४) पैलादिभ्यश्च। 'ण्यक्षत्रियार्ष' इत्यतो यूनि लुक् इत्यनुवर्तते। तदाह— एभ्यो युवप्रत्ययस्य लुगिति। अजादिप्रत्यये अविवक्षितेऽपि प्राप्त्यर्थमिदम्। पीलाया इति। पीलाया गोत्रापत्यमित्यर्थे 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढकं बाधित्वा 'पीलाया वा' इत्यणित्यर्थः तस्मादिति। पैलस्यापत्यं युवेत्यर्थे 'पैलादिभ्यश्च' इति लुक्। 'अणो द्व्यचः' इति फिञः इत्यर्थः। पीलाया गोत्रापत्यस्यापत्यं पीलाया युवापत्यमिति पर्यवस्यति। तस्येति। तस्य युवार्थकफिञ्प्रत्ययस्य अनेन लुगित्यर्थः। पीलाया गोत्रापत्ये युवापत्य च पैलशब्द-इत्याह— पैलः पिता पुत्रश्चेति। यूनः पिता युवा चेत्यर्थः। 'तद्राजाच्चाणः' इति पैलादिगणसूत्रम्। तद्राजप्रत्ययात्परस्य युवप्रत्ययस्याणो लुगित्यर्थः। द्व्यञ्मगधेति। अङ्गशब्दो देशविशेषे तस्य राजा आङ्गः। तस्य गोत्रापत्यमप्याङ्गः। 'द्व्यञ्मगधेति' इत्यण्। तस्यापत्यं युवाप्याङ्ग एव। 'अणो द्व्यचः' इति फिञ्। तस्यानेन लुक्।

कि तदनन्तर 'वृद्ध' संज्ञा को अभिलक्षित कर 'छ' प्रत्यय नहीं हुआ। कारण यह यह है कि 'छात्र'—रूप अर्थ की प्रवृत्ति के पहले ही युवार्थक 'अण्' प्रत्यय का लोप हो जाता है, क्योंकि लोप होने में विवक्षा मात्र अपेक्षित है। इस हेतु उसे मानकर आदि—वृद्धि की निवृत्ति होने के फलस्वरूप 'वृद्ध' संज्ञा को अभिलक्षित कर 'छ' प्रत्यय की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

(१०८४) पद—पैलादिभ्यः, च। अनुवृत्ति—यूनि लुक्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इनसे 'युव' प्रत्यय का लुक् (लोप) हो। 'पीलाया वा' (सू० ११२१) से वैकल्पिक अण्। तदनन्तर 'अणो द्व्यचः' (सू० ११८०) से फिञ्। उसका लोप होकर (पिता और पुत्र दोनों अर्थों में) पैलः रूप बनेगा। 'तद्राजाच्चाणः' (ग २१)—से अण्। 'द्व्यञ्मगध' से 'अण्' होकर अणन्त 'आङ्ग' शब्द से 'अणो द्व्यचः' (११८०) सूत्र से होने वाले 'फिञ्' का लोप होगा। इस प्रकार पिता और पुत्र—दोनों अर्थों में 'आङ्गः' रूप बनेगा।

विवरण—पूरे पूर्व सूत्र (१०८३) की अनुवृत्ति आने से सूत्रार्थ निष्पन्न होता है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "गोत्रवाची 'पैल'—आदि शब्दों से भी युवापत्यार्थक प्रत्यय का लुक् (लोप) होता है"। **उदाहरण—**पैलः (पीला के गोत्र में उत्पन्न सन्तान तथा उसके अनन्तर युवापत्य)। **प्रक्रिया—**(क) पीला+अण् ("स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२० से प्राप्त ढक् प्रत्यय के अपवाद-स्वरूप "पीलाया वा" ४-१-११८) > पैलः (आदि वृद्धि—ई=ऐ तथा 'आ' का लोप)। (ख) पुनः 'पैलस्य अपत्यं युवा' (युवापत्यार्थ की विवक्षा)—अर्थ में अणन्त पैल शब्द से विहित 'फिञ्' प्रत्यय ("अणो द्व्यचः" ४-१-१५६) का लोप होकर (पैल+फिञ्) 'पैलः' रूप ही होगा

(२) (क) आङ्गः (अङ्ग देश के राजा के गोत्र में उत्पन्न वृद्ध अथवा युवा)। 'अङ्ग' शब्द देश-विशेष का बोधक है। उस देश के राजा एवं उस राजा का गोत्रापत्य भी आङ्गः (अङ्ग+अण्-

२।४।६०॥ गोत्रे य इञ् तदन्ताद्युवप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तच्चेद् गोत्रं प्राचां भवति। पन्नागारस्य अपत्यम्। 'अत् इञ्' (सू १०९५)। 'यञिञोश्च' (सू ११०३) इति फक्; पान्नागारिः पिता पुत्रश्च। प्राचाम् किम्? दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः। (१०८६) न तौल्वलिभ्यः २।४।६१॥ तौल्वल्यादिभ्यः परस्य युवप्रत्ययस्य लुक्

(१०८५) इञः प्राचाम्। इञः इति पञ्चमी। प्रत्ययत्वात्तदन्तग्रहणम्। 'ण्यक्षत्रिय' इत्यतो यूनि लुगित्यनुवर्तते। इञन्तात्परस्य युवप्रत्ययस्य लुगित्यर्थः। अर्थादिञो गोत्रार्थकत्वं लभ्यते। तदाह—गोत्रे य इञ् तदन्ताद्युवप्रत्ययस्य लुगिति। प्राचाम् इति गोत्रविशेषणम्, न तु विकल्पार्थम् व्याख्यानात्। तदाह—तच्चेद् गोत्रं प्राचां भवतीति। प्राग्देशीयमित्यर्थः। पन्नागारस्येति। प्राग्देशे पन्नागारो नाम कश्चित्, तस्य गोत्रापत्यमित्यर्थे 'अत इञ्' इति इञि पान्नागारिः। पान्नागारेरपत्यं युवेत्यर्थे पान्नागारिशब्दात् 'यञिञोश्च' इति फक्। तस्यानेन लुक्। एवञ्च पन्नागारस्य गोत्रापत्ये युवापत्ये च पान्नागारिरित्येव रूपमित्यर्थः। प्राचां किमिति। गोत्रविशेषणं किमर्थमित्यर्थः। दाक्षिः पिता। दाक्षायणः पुत्र इति। दक्षस्य गोत्रापत्यं दाक्षिः, अत इञ्। तस्यापत्यं युवा दाक्षायणः। 'यञिञोश्च' इति फक्। तस्य लुक् न भवति, दाक्षिशब्दस्य प्राग्देशीयगोत्रप्रत्ययान्तत्वाभावेन न युवप्रत्ययस्य फकः प्राग्देशीयगोत्रार्थकादिञः परत्वम्।

(१०८६) न तौल्वलिभ्यः। बहुवचनात्तौल्वल्यादीनां ग्रहणमित्याह—तौल्वल्या-

---

"द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमत्स्यादण्" ४-१-१७०। (ख) 'आङ्गस्य युवापत्यम्'—अर्थ में भी आङ्गः रूप निष्पन्न होगा, क्योंकि अण्णन्त 'आङ्ग' शब्द से युवापत्य अर्थ में विहित 'फिञ्' प्रत्यय का प्रकृत सूत्र से लोप हो जाता है।

(१०८५) पद—इञः, प्राचाम्। **अनुवृत्ति**—यूनि लुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—गोत्रार्थक इञन्त से 'युव' प्रत्यय का 'लुक्' हो, यदि वह गोत्र प्राग्देशवासियों का हो। उदा॰ पन्नागारस्य अपत्यम्—पान्नागारिः। (पहले) 'अत इञ्' (सू॰ १०९५) से 'इञ्' (होकर), (पश्चात्) 'यञिञोश्च' (सू॰ ११०३) से 'फक्' होने पर प्रकृत 'सूत्र से उसका 'लुक्' हुआ। इस प्रकार पिता और पुत्र 'पान्नागारिः'। 'प्राचां' क्यों कहा? 'दाक्षिः'—पिता तथा उसका पुत्र 'दाक्षायणः' (उदीच्य होने से 'लुक्' नहीं हुआ)।

विवरण—'लुक्' का ही प्रकरण है। अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। सूत्रस्थ 'प्राचां' पद देशवाची है, न कि विकल्पार्थक। अतः सूत्र के अनुसार "प्राग्देशीय गोत्रापत्य में आने वाले प्रत्ययों का 'लुक्' (लोप) होता है।" **उदाहरण**—पान्नागारिः (प्राच्य देश के पन्नागार की सन्तान—वृद्ध अथवा युवा)। **विग्रह**—पन्नागारस्य गोत्रापत्यं युवा च। (क) पन्नागार+इञ् ("अत इञ्" ४-१-९५) > पान्नागारिः। पान्नागारेः अपत्यं युवा—(ख) पान्नागारि+फक् ("यञिञोश्च" ४-१-१०१)-युवापत्यार्थक 'फक्' प्रत्यय का प्रकृत सूत्र से लोप होकर पान्नागारिः ही निष्पन्न होता है (विभक्ति-कार्य)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'प्राचां' पद गोत्रापत्य का विशेषण निर्दिष्ट है। अतः 'दक्ष' का गोत्रापत्य दाक्षिः—दक्ष+इञ् "अत इञ्" ४-१-९५) तथा दाक्षेः युवा-पत्यम् **दाक्षायणः**—ये दो रूप बनेंगे (दाक्षि+फक्=आयन)। कारण यह है कि 'दक्ष' प्राग्देशवासी नहीं है।

(१०८६) पद—न, तौल्वलिभ्यः। **अनुवृत्ति**—यूनि लुक्। **विधि-(निषेध)-सूत्र।**

मूलार्थ—'तौल्वलि' आदि से परवर्ती 'युव' प्रत्यय का लोप नहीं होता। पूर्व सूत्र से प्राप्त रहा। 'तुल्वल' से गोत्रापत्य में तौल्वलिः—'अत इञ्'। उसका युवापत्य—तौल्वलायनः।

न स्यात्। पूर्वेण प्राप्तः। तुल्वलः। तत इञि फक्। तौल्वलिः पिता। तौल्वलायनः पुत्रः। (१०८७) फक्फिञोरन्यतरस्याम् ४।१।९१॥ 'यूनि लुक्' (सू १०८३) इति नित्ये लुकि प्राप्ते विकल्पार्थं सूत्रम्। कात्यायनस्य छात्राः कातीयाः—कात्यायनीयाः। यस्कस्यापत्यं यास्कः। शिवाद्यण्। तस्यापत्यं युवा यास्कायनिः। 'अणो द्व्यचः' (सू ११८०) इति फिञ्। तस्य छात्राः यास्कीयाः—यास्कायनीयाः। (१०८८) तस्या-

---

दिभ्यः परस्येति। पूर्वेणेति। 'इञः प्राचाम्' इत्यनेन प्राप्तो लुगनेन प्रतिषिध्यत इत्यर्थः। तुल्वल इति। तुल्वलो नाम प्राच्यः कश्चित्। तस्य गोत्रापत्यं तौल्वलिः। अत इञ्। तस्यापत्यं युवा तौल्वलायनः। 'यञिञोश्च' इति फक्। 'इञः प्राचाम्' इति लुङ् नेत्यर्थः।

(१०८७) अथ प्रकृतं चातुर्थिकं लुग्विधिमनुसरति— फक्फिञोरन्यतरस्याम्। यूनीत्येवेति। 'यूनि लुक्' इति पूर्वसूत्रमनुवर्तते इत्यर्थः। 'यूनि लुक्' इत्युक्तो लुक् फक्–फिञोर्वा स्यादित्यर्थः। तदाह–पूर्वेणेति। कात्यायनस्येति। कतस्य गोत्रापत्यं कात्यः। गर्गादित्वाद्यञ्। तस्यापत्यं युवा कात्यायनः। 'यञिञोश्च' इति फक्। कात्यायनस्य छात्राः इत्यर्थे 'तस्येदम्' इत्यनुवृत्तौ 'वृद्धाच्छः' इति छः। तस्य ईयादेशः। अत्र छात्रार्थकछप्रत्यये विवक्षिते युवार्थकफको लुकि सति, कात्य ईय इति स्थिते 'यस्येति च' इत्यकारलोपे 'आपत्यस्य च' इति यलोपे कातीयाः इति रूपम्। फको लुगभावे तु कात्या-

---

विवरण—पूर्व सूत्र से प्राप्त 'लुक्' का निषेध किया जा रहा है। विषय को अभिलक्षित कर 'गोत्रे' तथा 'यूनि लुक्' का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। अतः "गोत्रवाची 'तौल्वलि' आदि शब्दों से विहित युवापत्यार्थ प्रत्ययों का लोप नहीं होगा"। तौल्वलिभ्यः में बहुवचन प्रयोग तौल्वल्यादि गण का सूचक है। **उदाहरण—तौल्वलायनः** (तुल्वल की सन्तान-युवा)। **प्रक्रिया**—(क) तुल्वलस्य गोत्रापत्यम्—तौल्वलिः (तुल्वल+इञ्)। (ख) तौल्वलेः युवापत्यं—तौल्वलायनः (तौल्वलि+फक् "यञिञोश्च" ४-१-१०, फक्=आयन)। यहाँ पर "इञः प्राचाम्" २-४-६० से प्राप्त 'युव' प्रत्यय—'फक्' का लोप नहीं हुआ।

(१०८७) **पद**—फक्-फिञोः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—यूनि लुक्, अचि, प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'यूनि लुक्' (सू० १०८३) से नित्य 'लुक्' प्राप्त था, विकल्प-विधान के लिये यह सूत्र है। उदा० १—कात्यायन के छात्र—कातीयाः तथा कात्यायनीयाः। २—यस्क की सन्तान—यास्कः (शिवादि गण होने से अण्)। उसका युवापत्य—यास्कायनिः। 'अणो द्व्यचः' (सू० ११८०) से फिञ्। उसका छात्रवर्ग—यास्कीयाः अथवा यास्कायनीयाः।

विवरण—पूर्व सूत्र के विषय को कुछ सीमित किया जा रहा है। यहाँ भी प्राग्दीव्यतीय अजादि प्रत्यय की विवक्षा में केवल युवापत्यार्थक "'फक्' तथा 'फिञ्' प्रत्ययों का विकल्प से लोप होने की व्यवस्था की जा रही है"। अतः समग्र पूर्व सूत्र "यूनि लुक्" ४-१-९१ की अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। पूर्व सूत्र (१०८७) से नित्य लुक प्राप्त था, उसका वैकल्पिक विधान किया जा रहा है। **उदाहरण—कातीयाः—कात्यायनीयाः** (कात्यायन के छात्र)। **विग्रहार्थ**—कात्यायनस्य छात्राः। **प्रक्रिया**—(क) कात्यः (कतस्य गोत्रापत्यम्)—कत+य (यञ्—"गर्गादिभ्यो यञ्")। (ख) कात्यस्य युवापत्यं—कात्यायनः (कात्य+फक्–"यञिञोश्च" ४-१-१०)। (ग) कात्यायनस्य छात्राः इस अर्थ में कात्यायन+छ ("वृद्धाच्छः") छ=ईय—कात्य्ा्य्ुन्+ईय>कात्य्+ईय (पूर्वजात 'आयन' स्थानीय 'फक्' का लोप) > कातीयाः ('अ' का लोप तथा प्रथमा बहुवचन में विभक्ति-कार्य)। पक्ष में 'फक्' का

पत्यम् ४।१।९२॥ षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः। उपगोरपत्यमौपगवः। आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी बाधते।

यनीया इति रूपमित्यर्थः। **यस्कस्येति।** यस्कस्य गोत्रापत्यमित्यर्थे 'अत इञ्' इति इञपवादः शिवाद्यणित्यर्थः। **तस्येति।** यास्कस्यापत्यं युवेत्यर्थे 'अणो द्व्यचः' इति फिञि आयन्नादेशे यास्कायनिरिति रूपमित्यर्थः। **तस्य छात्रा इति।** यास्कायनेः छात्राः इत्यर्थे 'तस्येदम्' इत्यनुवृत्तौ 'वृद्धाच्छः' इति छः। तस्य ईयादेशः। यास्कायनीया इति रूपम्। अत्र छात्रार्थकछप्रत्यये विवक्षिते युवार्थकफिञो लुकि 'यस्येति च' इति अकारलोपे यास्कीया इति रूपमित्यर्थः।

(१०८८) तस्यापत्यम्। तद्धिता इति, प्रत्ययः, परश्च इति चाधिकृतम्। तच्छब्दः सर्वनामतया बुद्धिस्थपरामर्शित्वादुपग्वादिसर्वविशेषबोधकः। तस्य उपग्वादेरपत्यमित्यर्थे तद्धिताः प्रत्ययाः परे भवन्तीति लभ्यते। कस्मात्परे प्रत्यया भवन्तीत्याकाङ्क्षायां 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्यधिकारात्। प्रथमोच्चारितात्समर्थात्तच्छब्दलब्धोपग्वादेरिति लभ्यते। प्रातिपदिकादित्यधिकृतम्। 'घकालतनेषु कालनाम्नः' इति तरप्तमतनेषु तद्धितेषु परतः सप्तम्या अलुग्विधानात्सुपस्तद्धितोत्पत्तेर्ज्ञापितत्वात् सुब्विशिष्टात्प्रातिपदिकादिति लभ्यते। सुप् चेह तस्येति प्रथमोच्चारिते पदे उपस्थितत्वात् षष्ठ्येव गृह्यते। ततश्च षष्ठ्यन्तादिति फलति। सामर्थ्यं कृतसन्धिकार्यत्वमित्युक्तमेव। तदाह—**षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेरिति।** 'समर्थः पदविधिः' इति परिभाषया लब्धमाह—**समर्थादिति।** विशिष्टैकार्थ-

---

लुक् न होने पर 'कात्यायनीयाः'। (२) **यास्कीयाः—यास्कायनीयाः** (यास्कायनि के छात्र)। **विग्रहार्थ—**यास्कायनेः छात्राः। **प्रक्रिया—**(क) **यास्कः** ('यस्कस्य अपत्यम्' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय—यस्क+अ ("शिवादिभ्योऽण्" ४-१-११२)। (ख) यास्कस्य युवापत्यम्—**यास्कायनिः** (यास्क+फिञ्—"अणो द्व्यचः" ४-१-१५६)। (ग) यास्कायनेः छात्राः—इस अर्थ में यास्कायनि+छ > यास्क+ईय (छ=ईय तथा (आयनि) = फिञ् का लोप) > यास्कीयाः ('अ' लोप तथा प्रथमा बहुवचन विभक्ति)। पक्ष में 'फिञ्' का लोप न होनेपर 'यास्कायनीयाः'।

(१०८८) पद—तस्य, अपत्यम्। **अनुवृत्ति—**समर्थानां प्रथमाद् वा, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सन्धिकार्य करने के पश्चात् षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में पूर्वोक्त एवम् आगे कहे जाने वाले प्रत्यय विकल्प से होते हैं। उदा० उपगोः अपत्यम्—औपगवः। यहाँ (तद्धित-प्रकरण में) आदिवृद्धि, अन्त्य एवम् उपधा-वृद्धि की, बाधक है। **कारिका का अर्थ—**"तस्येदम्" ४-३-१२० सूत्र से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय सिद्ध होने पर भी "तस्येदम्" सूत्र के बाधक "वृद्धाच्छः" ४-१-११४ आदि का भी बाध करने के लिये (यह सूत्र) है। यह अपत्यार्थ 'शेष' ही है, अतः (योग-विभाग करने से) वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से (प्राप्त प्रत्यय का) बाध करना ही इसका (मुख्य) प्रयोजन है"। योगविभाग के कारण भानोः अपत्यम्—'भानवः' (में 'छ' प्रत्यय न होकर 'अण्' प्रत्यय हुआ)। सूत्रार्थ में 'कृतसन्धेः' क्यों कहा ? 'सौत्थितिः'। 'अकृतव्यूह' परिभाषा से 'सावुत्थितिः' न हो। समर्थ परिभाषा के कारण 'वस्त्रम् उपगोः अपत्यं चैत्रस्य' में (अणादि प्रत्यय) नहीं होते (किन्तु वाक्य ही रहता है)। (अनुवृत्त) 'प्रथमात्' क्यों कहा ? अपत्य-वाचक से षष्ठ्यर्थ में (प्रत्यय) न हो। 'वा' ग्रहण होने से पक्ष में वाक्य भी रहेगा। 'दैवयज्ञि' (सू० १२०१) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति होने के कारण 'उपग्वपत्यम्' में समास भी होता है। जातिवाचक होने से स्त्रीलिङ्ग में औपगवी (रूप निष्पन्न होगा)। (अन्य उदाहरण)—२–आश्वपतः। ३–दैत्यः। ४–स्त्रैणः। ५–पौस्नः आदि।

'तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत् ।
उत्सर्गः शेष एवासौ वृद्धान्यस्य प्रयोजनम् ॥' (वा २५८१–२५८४)

योगविभागस्तु, भानोरपत्यं भानवः । कृतसन्धेः किम् ? सौत्थितिः । अकृतव्यूहपरिभाषया सावुत्थितिर्मा भूत् । समर्थपरिभाषया नेह—वस्त्रमुपगोरपत्यं चैत्रस्य । प्रथमात् किम् ?

प्रतिपादकादित्यर्थः । सुबन्तात्तद्धितोत्पत्त्या तद्धितविधीनां पदविधित्वादिति भावः । उक्ता इति । 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्याद्या औत्सर्गिका इत्यर्थः । वक्ष्यमाणाश्चेति । 'अत इञ्' इत्याद्या वैशेषिका इत्यर्थः । वा स्युरिति । 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्यधिकृतत्वादिति भावः । 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' इति उत्तरसूत्रव्याख्यावसरे अपत्यशब्दो व्याख्यास्यते । औपगव इति । उपगोरणि आदिवृद्धिः । ओर्गुणः अवादेशः । अत्र प्रकृत्यैव उपगोर्लाभात् अपत्यमेव प्रत्ययार्थं इति स्थितिः । ननु उपगु अ इति स्थिते ओर्गुणात्परत्वात् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः स्यात्, ओर्गुणस्य पश्वव्य इत्यादौ चरितार्थत्वात् । कृते च गुणे अवादेशे सति अत उपधायाः इति वृद्धिर्दुर्निवारा । त्वष्टुरपत्यं त्वाष्ट्रः, मघवतोऽपत्यं माघवतः इत्यादौ गुणप्रसक्त्या अन्त्योपधावृद्ध्योर्निर्बाधत्वाच्च । न च परत्वादादिवृद्धौ अन्त्योपधावृद्धी बाध्येते इति वाच्यम्, विप्रतिषेधे हि परस्य पूर्वबाधकता, न चेह विप्रतिषेधोऽस्ति, देशभेदेनोभयसम्भवात् । नाप्यन्त्योपधावृद्ध्योरपवादः आदिवृद्धिरिति वक्तुं शक्यम्, सुश्रुतोऽपत्यं सौश्रुतः इत्यादौ अन्त्योपधावृद्ध्योरप्राप्तयोरप्यादिवृद्धेः प्रवृत्तेः, तस्मादादिवृद्धिस्थले अन्त्योपधावृद्धी स्यातामित्यत आह—आदिवृद्धिरिति । 'अचो ञ्णिति' इत्यन्त्यवृद्धिम्, 'अत

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'तस्य' एवम् 'अपत्यं' ये दोनों पद स्वरूप-परक नहीं हैं, किन्तु अर्थबोधक हैं । 'तस्य' का अर्थ है—कोई भी षष्ठ्यन्त पद । तथा 'अपत्यम्' का अभिप्राय है—अपत्य अर्थ का बोधक कोई भी प्रत्यय । इसके अतिरिक्त सभी उल्लिखित आधिकारिक सूत्रों का प्रभाव भी विद्यमान है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "प्रथम षष्ठ्यन्त समर्थ पद से अपत्यार्थ-वाचक प्रत्यय यथाविहित हों" । कहने का तात्पर्य यह है कि "अपत्य (सन्तान) अर्थ में जिन प्रत्ययों का इस सूत्र के पूर्व अथवा बाद में विधान किया गया है–वे सभी प्रत्यय प्रथम षष्ठयन्त समर्थ पद से ही होते हैं" । यह उत्सर्ग-सूत्र है । आगे के सूत्र इसके अपवाद हैं । षष्ठी-समर्थ-प्रातिपदिकों से तद्धित-प्रत्यय कहे गये हैं, अतः इस अपत्य प्रकरण में प्रातिपदिक के अनन्तर 'ङस्' विभक्ति लाकर सुबन्त से तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति होने से उसका 'लुक्' (लोप) हो जाता है ("सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः" २-४-७१) । **उदाहरण**—(१) **औपगवः** ('उपगु' की सन्तान) । **विग्रहार्थ**—उपगोः अपत्यम् । **प्रक्रिया**—उपगु+ङ्स्,+अण् ▷ उपगु+अ ('ङस्' विभक्ति का लुक्) ▷ औपगु+अ (आदिवर्ण 'उ' को वृद्धि "तद्धितेष्वचामादेः" ७-२-११७) ▷ औपगो+अ (उ=ओ-गुण—"ओर्गुणः" ६-४-१४६) ▷ औपगव (ओ=अव्) > औपगवः (तद्धितान्त को मानकर प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा विभक्ति के एक वचन में रूप) । उपगु—शब्द में 'उपगताः गावः यस्य' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास है । उपगु+अण्-प्रत्यय करने पर 'आदि-वृद्धि' (७-२-११७) की प्राप्ति के साथ ही "अचो ञ्णिति" ७-२-११५ सूत्र से अन्त्य-वर्ण को भी वृद्धि प्राप्त है, किन्तु सूत्र-क्रम में परवर्ती होने के कारण आदिवृद्धि उसकी बाधक हो जाती है । इसी प्रकार वह उपधा-वृद्धि की भी बाधक है । 'उपगोः अपत्यं स्त्री' इस विवक्षा में औपगव+ङीप् ("जातेरस्त्रीविषयाद-योपधात्" ४-१-६३) प्रत्यय होकर औपगवी रूप होगा । (२) **दैत्यः** (दिति की सन्तान) । दिति+ण्य ('अण्' के अपवादस्वरूप "दित्यदित्यादित्य०" ४-१-८५) > दैति+य (आदि-वृद्धि) ▷ दैत्यः ('इ'—लोप तथा विभक्तिकार्य) । (३) **आश्वपतः** (अश्वपति की सन्तान) । **विग्रह**—अश्वपतेः अपत्यम् । **प्रक्रिया**—अश्वपति+अण् (पत्युत्तरपद—लक्षणात्मक 'ण्य' का

अपत्यवाचकात्षष्ठ्यर्थे मा भूत्। वाग्रहणाद्वाक्यमपि। 'दैवयज्ञि' (सू० १२०१) इति सूत्रादन्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेः समासोऽपि। उपग्वपत्यम्। जातित्वान्ङीष्। औपगवी।

उपधायाः' इत्युपधावृद्धिं च आदिवृद्धिर्बाधते इत्यर्थः। पुष्करसदोऽपत्यमित्यर्थे बाह्वादित्वादिञ्, 'अनुशतिकादीनां च' इत्युभयोः पदयोरादिवृद्धिः। पुष्करसद्-शब्दस्य अनुशतिकादौ पाठात्। तत्र यद्यादिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी न बाधेत, तदा आदिवृद्ध्या उपधावृद्ध्या च पौष्करसादेः सिद्धत्वात् अनुशतिकादौ पुष्करसच्छब्दपाठोऽनर्थकः स्यात्। अतस्तक्रकौण्डिन्यन्यायात् सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति इति विज्ञायत इति भाष्ये स्पष्टम्। तस्येदमित्यपत्येऽपीत्यादि। श्लोकवार्तिकमिदम्। तत्र प्रथमचरणस्यायमर्थः—तस्येदमिति विहितः अण् अपत्येऽर्थेऽपि भवति, इदमर्थे तस्याप्यन्तर्भावात्। अतस्तस्यापत्यमित्यण्विधानं व्यर्थमित्याक्षेपः। न च 'अत इञ्' इत्याद्युत्तरसूत्रार्थं 'तस्यापत्यम्' इत्यावश्यकमिति वाच्यम्। एवं हि सति 'तस्यापत्यमत इञ्' इत्येकमेव सूत्रमस्तु। तथा च 'तस्यापत्यम्' इति पृथक्सूत्रकरणं व्यर्थमित्याक्षेपः पर्यवस्यति। अत्र समाधत्ते—बाधनार्थं कृतं भवेदिति। 'तस्येदम्' इत्यणं बाधित्वा 'वृद्धाच्छः' इति छः अपत्ये प्राप्तः, तद्बाधनार्थं 'तस्यापत्यम्' इति पृथक्सूत्रं कृतमित्यर्थः। ननु 'वृद्धाच्छः' इति सूत्रं शेषाधिकारस्थम्, अपत्यादिचतुर्थ्यन्तेभ्योऽन्यः शेषः। तथा च अपत्यार्थस्य शेषाधिकारस्थत्वाभावात् तस्मात्तत्र छप्रत्ययस्याप्रसक्तेस्तद्बाधनार्थत्वं 'तस्यापत्यम्' इत्यस्य कथमित्यत आह—उत्सर्गः शेष एवासाविति। उत्सृज्यते अदन्त—बाह्वादिप्रकृतिभ्यो वियुज्यत इत्युत्सर्गः। कर्मणि घञ्। अदन्त—बाह्वादिभिन्नप्रकृतिसम्बद्धः अपत्यार्थोऽसौ शेषो भवत्येवेत्यर्थः। आक्षेप्तुर्हि 'तस्यापत्यमत इञ्' इत्येकसूत्रमभिमतम्। विनियुक्तादन्यः शेषः। अदन्त—बाह्वादिप्रकृतिसंयुक्तापत्यार्थ एव विनियुक्तः, न तु तद्भिन्नप्रकृतिसंयुक्तापत्यार्थोऽपि। ततश्च तस्य शेषत्वात्तस्मिन्नपत्ये छस्य प्रसक्तत्वात् तद्बाधनार्थं 'तस्यापत्यम्' इति पृथक्सूत्रम्। सति

बाधकर 'अण्'—"अश्वापत्यादिभ्यश्च" ४-१-८४) > आश्वपति+अ (आदिवृद्धि) > आश्वपतः ('इ'लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (४) स्त्रैणः (स्त्री की सन्तति)। (५) पौंस्नः (पुरुष की सन्तति)। इनके विग्रह एवं सिद्धि सूत्र १०७९ में देखें। किन्तु (७) औत्सः (उत्स की सन्तान) में 'इञ्' प्रत्यय को बाधकर "उत्सादिभ्योऽञ्" ४-१-८६ से 'अञ्' प्रत्यय होगा। यद्यपि 'अण्' और 'अञ्' प्रत्यय में रूपसाम्य है तथापि 'ञ्' इत्संज्ञक होने से 'अञ्' प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होता है ("ञ्नित्यादिर्नित्यम्" ६-१-१९७)।

श्लोक-वार्तिक—इस सन्दर्भ में एक श्लोक-वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है। जिसके द्वारा इस सूत्र के यथोच्चरित स्वरूप का औचित्य सिद्ध किया गया है। सर्वप्रथम पूर्वपक्ष के रूप में यह शंका उठाई गई है कि "तस्येदम्" (४-३-१२०) सूत्र से अपत्य अर्थ में भी 'अण्' प्रत्यय संभावित है, क्योंकि 'इदम्' शब्द के अर्थ (=यह) में अपत्य अर्थ भी समाविष्ट किया जा सकता है। अतः इस सूत्र को पढ़ने की पृथक् आवश्यकता क्या है? इसका समाधान यह दिया जाता है कि "अत इञ्" ४-१-९५ इत्यादि सूत्रों में 'अपत्य' रूप अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये उसके पूर्व "तस्यापत्यम्" (४-१-९२) सूत्र आवश्यक है। यह तो दो सूत्रों की समष्टि "तस्यापत्यमत इञ्"—द्वारा भी संभव था। अतः पुनरपि पृथक् सूत्र क्यों पढ़ा गया? इस प्रकार पूर्वपक्ष को दृढ़ करते हुए उसका उत्तर आगे यह दिया जा रहा है कि "इस सूत्र के अभाव में 'आ', 'ऐ' 'औ' वर्णों से आरम्भ होने वाले ('वृद्ध'-संज्ञक) शब्दों में "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) सूत्र "तस्येदम्" (४-३-१२०) सूत्र का बाधक होगा, तब 'छ' प्रत्यय होकर अनिष्ट रूप बनने लगेंगे, उसका बाध करने के लिए "तस्यापत्यम्" (४-१-९२) पृथक् सूत्र आवश्यक है।

चास्मिन् पृथक्सूत्रे प्रकृतिसामान्यसंयुक्तापत्यार्थस्योपयुक्तत्वादशेषत्वाच्छस्य न प्राप्तिरित्यप्राप्तिसम्पादनद्वारा छबाधकत्वं 'तस्यापत्यम्' इति पृथक्सूत्रस्य सिद्धम्। अयमप्राप्तबाध इत्युच्यते। नन्वेवमपि उपगोरपत्यमित्यत्र उपगोरवृद्धत्वात् छस्य नैव प्रसक्तिरिति किं पृथक्सूत्रेणेत्यत आह—वृद्धान्यस्य प्रयोजनमिति। भानोरपत्यं भानव इत्यादौ यानि भान्वादिप्रातिपदिकानि वृद्धानि, यानि उपग्वादिप्रातिपदिकानि नामधेयत्वाद् वृद्धानि, तेभ्यः छप्रत्ययबाधनार्थं 'तस्यापत्यम्' इति पृथक्सूत्रमित्यर्थः। ननु 'तस्येदम्' इत्यणि इदन्त्वेन बोधः। 'तस्यापत्यम्' इत्यणि तु अपत्यत्वेन बोध इति शब्दबोधे वैलक्षण्यसत्त्वात्, 'तस्येदमित्यपत्येऽपि' इत्याक्षेप एवायमनुपपन्न इति चेत् न—एतद्वार्तिकभाष्यप्रामाण्येन 'तस्येदम्' इति इदं–शब्देन अपत्यस्य इदन्त्वेन ग्रहणाभावविज्ञानात्। 'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली' इति त्वार्षत्वान्न दुष्यतीत्यास्तां तावत्। कृतसन्धेः किमिति। 'समर्थानां' प्रथमाद्वा—इत्यधिकारसूत्रस्थसमर्थग्रहणलब्धं कृतसन्धेरित्येतत् किमर्थमिति प्रश्नः। सौत्थितिरिति। सु शोभनः उत्थितः सूत्थितः। प्रादिसमासे सवर्णदीर्घः। सूत्थितस्यापत्यं सौत्थितिः—'अत इञ्', सुब्लुक्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। कृतसन्धेरित्यभावे तु सु उत्थित इत्यस्यामेव दशायां सवर्णदीर्घात्परत्वादादिवृद्धौ कृतायामावादेशे सावुत्थितिरिति स्यादिति भावः। नन्वन्तरङ्गत्वा-

---

इस प्रसङ्ग में पुनः अवान्तर शंका की जा रही है कि "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) सूत्र तो "शेषे" (४-२-९२) अधिकार के अन्तर्गत है। "शेषे" (४-२-९२) अधिकार का प्रभाव तद्धित-प्रकरणस्थ अपत्य, देश, निवास, निवृत्त, अदूरभव—इन पाँच अर्थों से भिन्न अर्थों में बतलाया गया है (उक्ताद् अन्यः शेषः)। जब अपत्य अर्थ में 'छ' प्रत्यय की प्राप्ति ही नहीं है तब उसके बाध करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में "तस्यापत्यम्" (४-१-९२) पृथक् क्यों पढ़ा गया, क्योंकि भानोः अपत्यम्—'भानवः' आदि उदाहरणों में अपत्यार्थ में स्वतः ही 'छ' प्रत्यय प्राप्त नहीं होगा? इसका समाधान यह दिया गया है कि "तस्यापत्यमत इञ्" संयुक्त रूप में रखने पर अपत्य-सम्बन्ध से ह्रस्व-अकारान्त (अदन्त) शब्द-सम्बद्ध अपत्यरूप अर्थ उक्त होने पर भी इकारान्त एवम् उकारान्त-शब्द-सम्बद्ध अपत्यरूप अर्थ उक्त न होने के कारण उसे 'शेष' ही माना जायगा। ऐसी स्थिति में 'भानु' शब्द से अपत्यार्थ में 'छ' प्रत्यय होकर भानवीयः अनिष्ट रूप के निवारणार्थ अण् प्रत्यय होने में "तस्यापत्यम्" (४-१-९२) की चरितार्थता सिद्ध होती है।

स्मरणीय—तद्धित-प्रकरण के आरम्भ में यह कह दिया गया है कि इस प्रकरण में "समर्थानां प्रथमाद् वा (४-१-८२) सूत्रोक्त तीनों पदों की अनुवृत्ति अनुसरण करती है। जिसमें 'समर्थ' पद का तात्पर्य यह है कि तद्धित-प्रत्यय आने के पूर्व वह शब्द सन्धिकार्य आदि से युक्त रहे। जिसके फलस्वरूप **सौत्थितिः** (सूत्थित की सन्तान) में 'सु' तथा 'उत्थित' में परस्पर सवर्ण दीर्घ होने पर ही 'सूत्थितस्य अपत्यम्' अर्थ में "अत इञ्" (४-१-९५) सूत्र से 'इञ्' प्रत्यय होता है। अन्यथा 'सु-उत्थित+ङस्+इञ्'—इस स्थिति में अन्तरङ्ग दीर्घ को बाधकर वृद्धि (सु=सौ) होने के पश्चात् 'आव्' आदेश की प्राप्ति से 'सावुत्थितिः' अनिष्ट रूप निष्पन्न होने लगता। अन्तरङ्ग होने पर भी **अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः** परिभाषा के कारण दीर्घ की प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी। कारण यह है कि 'सु-उत्थित'+अण्—इस स्थिति में आदिवृद्धि तथा सवर्णदीर्घ दोनों की प्राप्ति है, अन्तरङ्ग होने पर भी दीर्घ न होने से 'वृद्धि' हो जाने पर दीर्घ का निमित्त-विनाश सम्भावित रहा है, अतः तत्प्रयुक्त कार्य की प्रवृत्ति न होने में—यह परिभाषा चरितार्थ होती है।

त्सवर्णदीर्घे कृते तदुत्तरमेव इञ्प्रत्यय उचितः, परादन्तरङ्गस्य बलवत्त्वात्। ततश्च सन्धेः प्राक् तद्धितोत्पत्तेरप्रसक्तेः कृतसन्धेरिति व्यर्थमेवेत्यत आह—अकृतेति। अन्तरङ्ग-परिभाषाया अप्यपवादभूतया अकृतव्यूहपरिभाषया सन्धेः प्रागेव प्रत्ययः स्यात्। ततश्च आदिवृद्ध्यपेक्षया अन्तरङ्गोऽपि सवर्णदीर्घः अकृतव्यूहपरिभाषया आदिवृद्धेः प्राक् न प्रवर्तते। एवञ्च सवर्णदीर्घात्प्रागेवादिवृद्धौ आवादेशे सावुत्थितिरिति स्यादित्यर्थः। न च इञि सति कृते सवर्णदीर्घे ऊकारस्य जायमानया वृद्ध्या सवर्णदीर्घनिमित्तस्य कस्यचिद्विनाशाभावादकृतव्यूहपरिभाषायाः कथमिह प्रवृत्तिरिति वाच्यम्, यदि सवर्णदीर्घो न स्यात्तदा सु उत्थित इत्यवस्थायां सकारादुकारस्य वृद्ध्या औकारे सति सवर्णदीर्घ-निमित्तस्य अको विनाशः स्यादिति सम्भावनया अकृतव्यूहपरिभाषायाः प्रवृत्तेरिति कथञ्चिद्योज्यम्। वस्तुतस्तु अकृतव्यूहपरिभाषा नास्त्येव, भाष्ये क्वाप्यव्यवहृतत्वात्, प्रत्युत भाष्यविरुद्धत्वाच्च। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति सूत्रभाष्ये हि परादन्तरङ्गं बलीयः इत्युक्त्वा सौत्थितिरित्यत्र परामप्यादिवृद्धिं बाधित्वा अन्तरङ्ग एकादेश इत्युक्तम्। पदस्य विभज्यान्वाख्याने सु उत्थित इति स्थिते परत्वाद् वृद्धिः प्राप्ता। अन्तरङ्गत्वादेकादेश इति कैयटः। अकृतव्यूहपरिभाषासत्त्वे तदसङ्गतिः स्पष्टैव। सेदुष इत्यादौ अकृत-व्यूहपरिभाषाफलस्यान्यथासिद्धिस्तु तत्र तत्र प्रपञ्चितैवेत्यास्तां तावत्। विस्तरस्तु शब्देन्दुशेखरे ज्ञेयः। **वस्त्रमुपगोरपत्यं चैत्रस्येति।** अत्र उपगुशब्दादपत्ये अण् न भवति, उपगोर्वस्त्रेणैवान्वयात्। यद्यपि तत्सम्बन्धापत्ये प्रत्ययविधानात् इह च अपत्यस्य तच्छब्द-वाच्योपगुसम्बन्धाभावादेव अत्र प्रत्ययस्य न प्रसक्तिः। तथाहि ऋद्धस्य औपगवमित्यादिवारणाय सामर्थ्यमेकार्थीभावलक्षणमाश्रयणीयमिति भावः। **अपत्यवाचकादिति।** उपगुरपत्यस्य देवदत्तस्येत्यर्थं औपगवो देवदत्त इति माभूदित्यर्थः। प्रथमादित्युक्तौ तु 'तस्यापत्यम्' इति सूत्रे षष्ठ्यन्तस्यैव प्रथमोच्चारितत्वादुपगुरिति प्रथमान्तात् न भवतीत्यर्थः। **वाग्रहणाद्वाक्यमपीति।** वाग्रहणाभावे हि तद्धितस्य नित्यत्वादुपगोरपत्यमिति वाक्यं न

भाष्यकार पतञ्जलि ने इस परिभाषा के अस्तित्व को ही नहीं माना है। उन्होंने "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" (१-४-२) सूत्र के भाष्य में प्रकृत सन्दर्भ को उद्धृत कर यह निर्णय किया है कि "पर और अन्तरङ्ग कार्यों में सूत्रक्रम के कारण विहित परवर्ती विधान की प्रमुखता नहीं रहती। वहाँ अल्प निमित्तों की अपेक्षा के कारण अन्तरङ्ग कार्य को ही प्राथम्य दिया जाना चाहिये। अतः सौत्थितिः में दीर्घ-सन्धि ही पहले होगी।

(२) जहाँ परस्पर अन्वयरूप सामर्थ्य नहीं है, वहाँ 'अण्' आदि प्रत्यय नहीं होते हैं। किन्तु वहाँ वाक्य ही रहता है। जैसे **वस्त्रम् उपगोः अपत्यं चैत्रस्य**—(उपगु का वस्त्र तथा चैत्र की सन्तान)—इस वाक्य में उपगु का अन्वय वस्त्र के साथ है, अपत्य के साथ नहीं। अपत्य के साथ चैत्र का अन्वय है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'समर्थः' का अधिकार होने के फलस्वरूप एकार्थीभाव सामर्थ्य के रहने पर ही 'अण्' आदि प्रत्यय होंगे। इसी प्रकार **प्रथमात्** पद के अधिकार का यह फल है कि प्रत्यय-विधायक सूत्रों में **प्रथम उच्चरित पद** से ही प्रत्यय की उत्पत्ति होने के फलस्वरूप **उपगुः अपत्यं यस्य**—(उपगु है अपत्य जिसका) इस अर्थ में प्रयुक्त बहुव्रीहिपरक 'उपगु' से 'अण्' प्रत्यय नहीं होता, अन्यथा वहाँ भी 'औपगवः' प्रयोग होने लगता। प्रत्यय-विधायक सूत्र "तस्यापत्यम्" (४-१-९२) में प्रथम उच्चरित पद **'तस्य'** षष्ठ्यन्त है। उक्त विग्रह में उच्चरित प्रथम पद 'उपगुः' प्रथमान्त है, अतः उससे 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ। तृतीय पद वा का भी अधिकारगत प्रभाव होने के कारण **उपगोः अपत्यम्**—वाक्य भी समीचीन माना जाता है।

आश्वपतः । दैत्यः । स्त्रैणः । पौंस्नः । (१०८९) अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४।१।१६२ ॥ अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसञ्ज्ञं स्यात् । (१०९०) जीवति तु वंश्ये युवा

स्यादिति भावः । ननु उपग्वपत्यमिति कथं षष्ठीसमासः, तद्धितानां समासापवादत्वात् । न च तद्धितानां पाक्षिकत्वात्तदभावपक्षे षष्ठीसमासो निर्बाध इति वाच्यम्, 'अपवादेन मुक्ते उत्सर्गो न प्रवर्तते' इति 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इति वाग्रहणेन ज्ञापितत्वादित्यत आह—दैवयज्ञीति । सूत्राविति । जातित्वादिति । अपत्यार्थकाणन्तस्य औपगवशब्दस्य 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वात् ङीषित्यर्थः । आश्वपत इति । अश्वपतेरपत्यमिति विग्रहः । पत्युत्तरपदलक्षणं ण्यं बाधित्वा 'अश्वपत्यादिभ्यश्च' इत्यणिति भावः । दैत्य इति । दितेरपत्यमिति विग्रहः । 'दित्यदिति' इति ण्यः । अणपवादः । औरस इति । उरसः कश्चित्, तस्यापत्यमिति विग्रहः । 'उरसादिभ्योऽञ्' इत्यञ् । इञाद्यपवादः । स्वरे विशेषः । स्त्रैणः । पौंस्न इति । स्त्रिया अपत्यं, पुंसोऽपत्यमिति विग्रहः । 'स्त्रीपुंसाभ्याम्' इति नञ्स्नञौ । अणोऽपवादः ।

(१०८९) अपत्यम् । अपत्याधिकारात् सिद्धे पुनरपत्यग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—अपत्यत्वेन विवक्षितमिति । एवञ्च पौत्रत्वादिना विवक्षितानां पौत्रादीनां न गोत्रसञ्ज्ञेति भावः । 'सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ' इति कोशतः गोत्रशब्दस्य सन्ततिवाचकत्वात् पुत्रस्यापि गोत्रत्वे प्राप्ते पौत्रादिग्रहणादिह शास्त्रे पुत्रस्य न गोत्रत्वम् । ननु

'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी ।
आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोः समे ॥'

इत्यादिकोशात् अपत्यशब्दस्य पुत्र एव रूढत्वात् कथम् 'अपत्यं पौत्रप्रभृति' इति सामानाधिकरण्यमिति चेत्, मैवम्—अपत्यशब्दो हि नात्मजपर्यायः, किन्तु पुत्रपौत्रादिसन्तति-

---

(३) प्रसङ्गप्राप्त "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" (२-१-१८) सूत्र में प्रयुक्त 'वा' पद की निष्फलता के फलस्वरूप 'अपवादेन मुक्ते उत्सर्गो न प्रवर्तते' (अपवाद से मुक्त होने पर उत्सर्गशास्त्र प्रवृत्त नहीं होता) इस ज्ञापन की सार्थकता दिखलाई जा रही है। तदनुसार षष्ठी-समास-युक्त उपग्वपत्यम् प्रयोग भी समीचीन माना गया है। इस सम्बन्ध में यह शंका की जाती है कि तद्धित-प्रत्यय तो समास के अपवाद-स्वरूप हैं—अतः षष्ठी-समास क्यों हो? यदि यह कहा जाय कि 'वा' ग्रहण होने से तद्धित-प्रत्यय पाक्षिक हैं, तथापि उपर्युक्त ज्ञापक से अपवाद के द्वारा मुक्त होने के पश्चात् पुनः उत्सर्गशास्त्र (समास) की प्रवृत्ति न होने के कारण समास-युक्त शब्द की समीचीनता में बाधा उत्पन्न हो सकती है। उसके निवारण के लिये "दैवयज्ञि-शौचि-वृक्षि-सात्यमुग्रि-काण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम्' ४-१-८१ सूत्र से अन्यतरस्याम् पद की अनुवृत्ति का आश्रय लिया जाता है। उस अनुवृत्ति के फलस्वरूप पक्ष में उपग्वपत्यम् प्रयोग भी समीचीन माना जा सकता है।

(१०८९) पद—अपत्यम्, पौत्रप्रभृति, गोत्रम्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—अपत्य (सन्तान) के रूप में विवक्षित पौत्रप्रभृति गोत्र-संज्ञक होते हैं।

विवरण—यह संज्ञासूत्र है। 'गोत्र' संज्ञा है तथा 'अपत्यं पौत्रप्रभृति' संज्ञी है। सामान्यतः पौत्र आदि अपत्य (=साक्षात् पुत्र) की परिधि में नहीं आते। अतः सूत्रस्थ 'अपत्यम्' शब्द विशिष्ट अर्थ का बोधक है। तदनुसार सूत्र का शाब्दिक अर्थ यह होगा कि "यदि पौत्र एवं प्रपौत्र—अर्थात् तीसरी या चौथी पीढ़ी की सन्तान को भी अपत्य कहना अभीष्ट हो तो उनकी गोत्र संज्ञा होती है"। इस प्रकार 'उपगु' के पौत्र एवं प्रपौत्र को भी गोत्रापत्य कहा जायगा। 'उपगु' के पुत्र को साक्षात् अपत्य।

४ । १६३ ।। वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसञ्ज्ञमेव, न तु गोत्र-

पर्यायः, न पतन्ति नरके पितरो येन तदपत्यमिति 'पङ्क्तिविंशति' इति सूत्रे भाष्ये व्युत्पादितत्वात् । तथा च पौत्रादयोऽपि पितामहादीनां नरकादुद्धर्तार इति तेषामप्यपत्यत्वमस्त्येवेति 'एको गोत्रे' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । एतच्च महाभारतादौ जरत्कार्वाद्युपाख्यानेषु प्रसिद्धमेव । कोशस्तु सूत्रभाष्यादिविरुद्धत्वात् उपेक्ष्य एव । न चैवमपि गर्गस्य पुत्रोऽपि अङ्गिरसः पौत्रत्वाद् गोत्रं स्यादिति वाच्यम्, यस्य यः पौत्रादिः तस्य तद् गोत्रमिति व्याख्यानादित्यलम् ।

(१०९०) जीवति । वंशः उत्पादकपित्रादिपरम्परा, तत्र भवो वंश्यः । दिगादित्वाद्यत् । तदाह—वंश्ये पित्रादौ जीवतीति । जीवतीति सप्तम्यन्तम् । पौत्रादेरिति । पूर्वसूत्रात्पौत्रप्रभृति इत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यत इति भावः । यदपत्यमिति । 'तस्यापत्यम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । तुरवधारणे युवेत्यनन्तरं द्रष्टव्यः । तदाह—युवसंज्ञमेवेति । तेन एकसञ्ज्ञाधिकारबहिर्भावेऽपि गोत्रसंज्ञाया अपि अस्मिन् न समावेश इति भावः । युवसञ्ज्ञया सह गोत्रसञ्ज्ञायाः समावेशे तु शालङ्का इति पैलीया इति च न स्यात् । शलङ्कुः कश्चित्, तस्य गोत्रापत्यं शालङ्किः । इञ् । पैलादिगणे शालङ्कीति पाठात् प्रकृतेः शलङ्कादेशश्च । शालङ्केरपत्यं युवापि शालङ्किरेव । 'यञिञोश्च' इति फक् । 'पैलादिभ्यश्च' इति तस्य लुक् । शालङ्केर्यूनः छात्रा इत्यर्थे 'इञश्च' इत्यणि शालङ्का इति रूपम् । तथा पीलाया गोत्रापत्यं पैलः । 'पीलाया वा' इत्यण् । पैलस्यापत्यं युवापि पैल एव । 'अणो द्व्यचः' इहि फिञ् । 'पैलादिभ्यश्च' इति तस्य लुक् । पैलस्य यूनः छात्रा इत्यर्थे वृद्धाच्छः । पैलीया इति रूपम् । युवगोत्रसञ्ज्ञयोः समावेशे तु 'गोत्रेऽलुगचि' इति फक्फिञोः अलुक् प्रसज्येतेत्यलम् ।

(१०९०) पद—जीवति, तु, वंश्ये, युवा । अनुवृत्ति—अपत्यं पौत्रप्रभृति । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—वंश में पिता आदि के जीवित रहते चतुर्थ आदि सन्तति (प्रपौत्र) की 'युव' संज्ञा होती है, गोत्र संज्ञा नहीं ।

विवरण—यह भी संज्ञा-सूत्र है । 'युव' संज्ञा है । 'जीवति तु वंश्ये पौत्रप्रभृति अपत्यम्' संज्ञी है । सूत्र में 'वंश्य' शब्द (वंशे भवः) 'सन्तति के नैरन्तर्य' का सूचक है । अर्थात् उस वंश में होने वाले जो पिता एवं चाचा आदि हैं वे वंश्य कहलायेंगे । पूर्व सूत्र से अनुवर्तमान प्रथमान्त पद 'पौत्रप्रभृति' का षष्ठी विभक्ति में विपरिणाम किया जा रहा है । तदनुसार सूत्रार्थ यह होगा कि "पिता आदि के जीवित रहने पर (वंश्ये जीवति) पौत्रप्रभृति की सन्तान (प्रपौत्र आदि) की 'युव' संज्ञा होती है, गोत्र संज्ञा नहीं" । यह भी पाणिनि-कृत विशिष्टार्थबोधक संज्ञा है ।

विशेष—उपर्युक्त दोनों सूत्रों द्वारा प्रतिपादित गोत्र तथा युव—ये दोनों संज्ञायें तद्धित-प्रत्ययों के सौकर्य के लिये पाणिनि द्वारा कल्पित हैं । कोषादि ग्रन्थों में साक्षात् अपने पुत्र एवं पुत्रियों की ही अपत्य संज्ञा की गई है—"आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी । आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोः समे ॥" किन्तु 'पाणिनि' द्वारा प्रयुक्त 'अपत्य' शब्द व्यापक अर्थ में लिया गया है । उनकी यह सूझ 'अपत्य' शब्द के व्यापक अर्थ को अभिलक्षित करने में कुछ महत्ता रखती है । 'अपत्य' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'पितृगण का पतन न होना' (न पतन्ति पितरः अनेन—न–√पत+य) । अर्थात् जो पितृगण का उद्धारक हो । श्राद्धादि में तीन पुरुष पर्यन्त पूर्वजों को पिण्डदानादि द्वारा तृप्त करनेवाली युवा पीढ़ी को भी 'अपत्य शब्द से अभिहित किया जासकता है । इसी मत को पाणिनि ने मुख्य माना है । अतः 'अपत्य' शब्द के इस पार्थक्य को सूचित करने के लिये उदाहरण में तीन प्रकार से विग्रह किये जाते हैं—(१) साक्षात् पुत्रादि के लिये 'अपत्य' तथा

सञ्ज्ञम् । (१०९१) भ्रातरि च ज्यायसि ४ । १ । १६४ ॥ ज्येष्ठे भ्रातरि जीवति कनीयांश्चतुर्थादिर्युवसञ्ज्ञश्च स्यात् । (१०९२) वान्यस्मिन्सपिण्डे स्थविरतरे जीवति

(१०९१) भ्रातरि च ज्यायसि । जीवतीत्यनुवर्तते । तदाह—ज्येष्ठे भ्रातरि जीवति कनीयानिति । अनुज इत्यर्थः । पौत्रप्रभृतीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । अपत्यमित्यधिकृतम् । पौत्रादेरपत्यमित्यर्थः । फलितमाह—चतुर्थादिरिति । मृतेष्वपि पित्रादिषु ज्येष्ठे भ्रातरि जीवति युवसञ्ज्ञार्थमिदम् ।

---

(२) पौत्रप्रपौत्र आदि के लिये 'गोत्रापत्य' तथा (३) तृतीय पुरुष के अनन्तर पित्रादि के जीवित रहने पर चतुर्थ पुरुष की 'युव' संज्ञा की गई है। इस प्रकार विशेष स्थिति में प्रपौत्र को 'युवापत्य' कहा जायगा। इन भेदों के द्वारा पाणिनि ने "एको गोत्रे" (४-१-९७) सूत्र के नियमन से उत्तरोत्तर अपत्यों की विवक्षा में यथाप्राप्त तद्धित प्रत्ययों का निगरण कर अनिष्ट रूपों एवं गौरव से बचाया है। जैसे 'मूल पुरुष' के अनन्तर सौवीं सन्तान की विवक्षा में साक्षात् पुत्र ही अपत्य है—इस पक्ष में (उदाहरणार्थ) 'उपगु' शब्द से 'अण्' तथा 'इञ्' प्रत्ययों की परम्परा से ९९ प्रत्यय आ सकते थे। जैसे—(१) औपगवः में 'अण्' प्रत्यय, (२) तदनन्तर अकारान्त 'औपगव' शब्द से 'इञ्' प्रत्यय होकर 'औपगविः', (३) तत्पश्चात् "यञिञोश्च" से 'फक्' प्रत्यय होकर 'औपगवायनः' (४) तदनन्तर 'इञ्' औपगवायनिः, (५) तत्पश्चात् 'फक्' होकर 'औपगवायनायनः' रूप बनेंगे। यह क्रम बराबर चलते रहने के फलस्वरूप १०० वें पुरुष तक ९९ अनिष्ट प्रत्यय होने लगेंगे। द्वितीय मत में पौत्र अर्थात् आगे की सन्तति को भी अपत्य मानकर प्रथम रूप 'औपगवः' (उपगु+अण्) तदनन्तर 'इञ्', 'फक्' तथा 'इञ्' की परम्परा से ९८ अनिष्ट प्रत्यय होने लगेंगे। इसकी निवृत्ति करने के लिये आगे "एको गोत्रे" (४-१-९३) सूत्र की नियामकता सार्थक होती है। इसी प्रकार "गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्" (४-१-९४) सूत्र में भी समझा जाय। अर्थात् वहाँ पर गोत्रप्रत्यय के बाद युवापत्य की विवक्षा में एक ही युवापत्य-प्रत्यय होगा। इस तरह 'अपत्य' शब्द का विशिष्टार्थ कर पाणिनि ने अनिष्ट प्रयोगों का निवारण किया है।

(१०९१) पद—भ्रातरि, च, ज्यायसि। **अनुवृत्ति**—जीवति, युवा, अपत्यं पौत्रप्रभृति। **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—बड़े भाई के जीवित रहने पर चतुर्थादि कनिष्ठ (कनिष्ठ पौत्रादि की सन्तति) की 'युव' संज्ञा होती है।

विवरण—विशेष अवस्था में पूर्व सूत्र से अप्राप्त 'युव' संज्ञा का विधान किया जा रहा है। पूर्व सूत्र (१०९०) से अनुवर्तमान 'ज्यायस्' पद का सम्बन्ध सूत्रस्थ दो पदों–'जीवति' तथा 'भ्रातरि' के साथ है। "अपत्यं पौत्रप्रभृति" से अनुवर्तमान 'पौत्रप्रभृति' पद यहाँ भी पूर्व सूत्र के अनुसार षष्ठी-विभक्ति में परिवर्तित किया जाता है। 'अपत्यम् पौत्रप्रभृति' का आधिकारिक प्रभाव भी विद्यमान है। स्पष्टार्थ के पहले यह जानना आवश्यक है कि 'पिता इत्यादि को 'वंश्य' (वंशे भवः) कहा जाता है। भाई 'वंश्य' में नहीं आ सकता। अवंश्य होने के कारण (पिता आदि के मर जाने पर) पूर्व सूत्र से बड़े भाई के जीवित रहते छोटे भाई को 'युव' संज्ञा प्राप्त नहीं थी, 'गोत्र' संज्ञा ही प्राप्त थी। अतः उसका विधान आवश्यक रहा। तदनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार होगा कि "बड़े भाई के जीवित रहते (पित्रादिकों के मर जाने पर भी) पौत्रप्रभृति का जो अपत्य छोटा भाई—उसकी भी 'युव' संज्ञा हो"। "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्" (४-१-१६२) से 'गोत्र' संज्ञा ही प्राप्त थी, यहाँ 'युव' संज्ञा का विधान कर दिया गया। **उदाहरणार्थ**—यदि 'गार्ग्य' (गर्ग का पौत्र) के दो पुत्र हों, उनके पित्रादिकों की मृत्यु हो चुकी हो, केवल दोनों भाई जीवित हों, तो उनमें से छोटे भाई की 'युव' संज्ञा होगी और उसे **गार्ग्यायण** (गार्ग्य+फक्=आयन) कहा जायगा। किन्तु बड़े भाई की 'गोत्र' संज्ञा ही होगी और वह गार्ग्य कहलायेगा।

४।१।१६५॥ भ्रातुरन्यस्मिन्सपिण्डे स्थविरतरे जीवति पौत्रप्रभृतेरपत्यं जीवदेव युवसञ्ज्ञं वा स्यात्। एकं जीवतिग्रहणमपत्यस्य विशेषणम्। द्वितीयं सपिण्डस्य। तरब्-निर्देश उभयोरुत्कर्षार्थः। स्थानेन वयसा चोत्कृष्टे पितृव्ये मातामहे भ्रातरि वा जीवति। गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः—गार्ग्यो वा। स्थविर—इति किम्? स्थानवयोन्यूने गार्ग्य

(१०९१) वाऽन्यस्मिन्। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—पौत्रप्रभृतेरपत्यं जीवदेव युवसञ्ज्ञं वा स्यादिति। सपिण्डस्तु—स्वयम्, पिता, पितामहः, प्रपितामहः—तस्य पितृपितामहप्रपितामहाश्चेति सप्त पुरुषाः। एवं मातृवंशेऽपीत्यादि धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम्। स्थविरतरः अतिवृद्धः। जीवतीति सप्तम्यन्तमनुवृत्तं सपिण्डे इति सप्तम्यन्तेऽन्वेति। अत्रत्यं तु जीवति-पदं तिङन्तम् अपत्येऽन्वेति—यदपत्यं जीवति तद्युवसञ्ज्ञक-मिति। ततश्च भ्रातुरन्यस्मिन्वृद्धतमे सपिण्डे जीवति सति पौत्रप्रभृतेरपत्यं जीवदेव युव-सञ्ज्ञं वा स्यादिति फलितम्। एकमिति। अत्रत्यमित्यर्थः। द्वितीयमिति। अनुवर्तमान-मित्यर्थः। उभयोरिति। हेतुत्वसम्बन्धे षष्ठी। उभयहेतुकोत्कर्षवाचकस्तरबित्यर्थः। तदेव विवृणोति—स्थानेन वयसा चेति। स्थानतः उत्कृष्टः पितृव्यः, तस्य पितृस्थानीयत्वात्। वयसा उत्कृष्टो मातामहः। भ्रातरीति सन्निहितत्वान्मातामहभ्रातरीत्यर्थं इति केचित्।

(१०९२) पद—वा, अन्यस्मिन्, सपिण्डे, स्थविरतरे, जीवति। अनुवृत्ति—जीवति युवा, अपत्यम् पौत्रप्रभृति। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—भ्राता से भिन्न अन्य कोई वृद्ध सपिण्ड जीवित हो, तो पौत्रादि के जीवित सन्तति की विकल्प से 'युव' संज्ञा होती है। यहाँ एक 'जीवति' पद 'अपत्य' का विशेषण है, दूसरा 'सपिण्ड' का। दोनों के उत्कर्ष का बोधक 'स्थविरतरे' पद का 'तरप्' प्रत्यय है। स्थान एवं वयःक्रम से उत्कृष्ट पितृव्य (चाचा) मातामह (नाना) एवं भ्राता (भाई) जीवित रहें तो (पौत्रादि के अपत्य की पाक्षिक 'युव' संज्ञा हो)। उदा० गार्ग्यस्य अपत्यं गार्ग्यायणः अथवा गार्ग्यः। 'स्थविर' क्यों कहा? 'स्थान' (पद) एवं 'वय' की न्यूनता होने पर 'गार्ग्यः' ही (होगा)। 'जीवति' क्यों कहा? मृत्यु होने पर या (अपत्य) मृत होने पर 'गार्ग्यः' रूप ही होगा। वा० 'पूजा' अर्थ होने पर प्राचीन मत में 'गोत्र' की वृद्ध संज्ञा होती है। अर्थात् 'पूज्य' अर्थ होने पर 'गोत्र' की 'युव'संज्ञा होती है। उदा० तत्र भवान् गार्ग्यायणः। 'पूजा' क्यों कहा? गार्ग्यः ('युव' संज्ञा नहीं हुई)। वा० 'निन्दा' अर्थ में 'युव' की 'गोत्र' संज्ञा होती है। उदा० गार्ग्यः (अर्थात् बिना विचार करने वाला)। (वार्तिक में) 'कुत्सा' क्यों कहा? गार्ग्यायणः ('निन्दार्थ' नहीं है)।

विवरण—अनुवर्तमान सप्तम्यन्त 'जीवति' पद सूत्रस्थ 'सपिण्डे' के साथ अन्वित होता है। सूत्रस्थ तिङन्त 'जीवति' पद अनुवर्तमान 'अपत्यम्' के साथ सम्बद्ध होता है। सूत्रस्थ 'अन्यस्मिन्' पद 'भ्रातरि' की अपेक्षा से कहा गया है। 'स्थविर' शब्द में 'तरप्' प्रत्यय लगाने से 'पद' तथा 'आयु' में जो बूढ़ा हो वही लिया जायगा। सपिण्ड[1] शब्द धर्मशास्त्र में व्याख्यात है। तदनुसार मूल-पुरुष से सप्तम-पुरुष पर्यन्त सन्तति (पिता के पक्ष में) सपिण्ड कहलाती है। मातृपक्ष में मूल पुरुष से पञ्चम पुरुष पर्यन्त सन्तति 'सपिण्ड' कहलाती है। विवाह के अवसर पर सपिण्ड-निवृत्ति धर्मशास्त्रानुसार आवश्यक है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि

---

१. समानः पिण्डो देहो मूलपुरुषो निर्वाप्यो वा अस्य। यद्वा सह पिण्डेन वर्तते। 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' इति मनुः (५-६०)। सप्तपुरुषावधिज्ञातिषु 'सपिण्ड' शब्दस्य प्रयोगः इति भानुदीक्षितः।—अ० को० २-६-३३।

एव। जीवति इति किम् ? मृते मृतो वा गार्ग्य एव। 'वृद्धस्य च पूजायामिति वाच्यम्' (वा २६५४)। गोत्रस्यैव वृद्धसञ्ज्ञा प्राचाम्। गोत्रस्य युवसञ्ज्ञा पूजायां गम्यमानायाम्। तत्रभवान् गार्ग्यायणः। 'पूजा'–इति किम् ? गार्ग्यः। 'यूनश्च कुत्सायां गोत्रसञ्ज्ञेति वाच्यम्' (वा २६५१)। गार्ग्यो जाल्मः। कुत्सा इति किम् ? गार्ग्यायणः। (१०९३)

पितृव्यपुत्र इत्यन्ये। **जीवतीति किमिति।** जीवतिद्वयस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्नः। **मृते मृतो वा गार्ग्य एवेति।** मृते सपिण्डे चतुर्थो गार्ग्य एव। मृतश्च चतुर्थो गार्ग्य एवेत्यर्थः। **वृद्धस्य चेति।** वार्तिकमिदम्। तत्र वृद्धपदं विवृणोति—**गोत्रस्यैव वृद्धसञ्ज्ञा प्राचामिति।** गोत्रमेव वृद्धमिति प्राचीनाचार्या व्यवहरन्तीत्यर्थः। तथा च वार्तिकस्य फलितमर्थमाह—**गोत्रस्य युवसञ्ज्ञा पूजायां गम्यमानायामिति।** उदाहरति—**तत्रभवान् गार्ग्यायण इति।** तत्रभवानिति पूज्यवाची, युवसञ्ज्ञकानामल्पवयस्कत्वेन वृद्धाधीनत्वेन सुखितया च पूजा। तां गोत्रप्रभृतिस्तृतीयोऽपि मन्यते। अत्र युवसञ्ज्ञाविधिसामर्थ्यात्स्वार्थे युवप्रत्ययो बोध्यः। **गार्ग्यो जाल्म इति।** यो वृद्धाननादृत्य स्वातन्त्र्यं भजते तद्विषयमिदम्।

"यदि सात पीढ़ियों (सपिण्ड) में से भाई से भिन्न कोई 'पद' तथा 'आयु' में वृद्ध व्यक्ति जीवित हो, तो पौत्र-प्रभृति का जो अपत्य (अर्थात् मूल पुरुष से चतुर्थ), उसके जीवित रहने पर ही विकल्प से 'युव' संज्ञा होती हैं। पक्ष में यथाप्राप्त 'गोत्र' संज्ञा ही होगी। निष्कर्ष यह है कि पिता के स्थानीय होने से चाचा अर्थात् पितृव्य तथा नाना स्थानतः एवं वय में उत्कृष्ट होने से उत्कृष्ट हैं। इनमें से किसी के जीवित रहते हुए पौत्रादि के जीवित अपत्य को विकल्प से 'युव' संज्ञा होगी। **उदाहरण—गार्ग्यायणः** (गर्ग कुल का युवा सदस्य) ←'युव' संज्ञा होने पर। **गार्ग्यः**→ (गर्ग-कुल का वृद्ध सदस्य) 'युव' संज्ञा न होने पर 'गोत्र' संज्ञा हुई। **प्रक्रिया**—(क) गर्गस्य गोत्रापत्यं—गार्ग्यः (यञ्)—गर्ग का पौत्र। गार्ग्यस्य अपत्यं—गार्ग्यायणः (गार्ग्य+फक् = आयन)। 'युव' संज्ञा न होने पर 'गार्ग्यः' ही रहेगा।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में **स्थविरतर** पद का निवेश करने से पद एवं वय की न्यूनता में 'युव' संज्ञा नहीं होगी। अतः वहाँ **गार्ग्यः** यही रूप रहेगा (गर्ग+यञ्)। (२) इसी प्रकार **जीवति** पद का निवेश करने पर किसी स्थविर सपिण्ड की मृत्यु होने पर या अपत्य मृत होने पर युव संज्ञा नहीं होगी—तो 'गार्ग्यः' (गर्ग+यञ्) रूप ही मान्य होगा।

वार्तिक—पूजार्थक गोत्र की ही प्राचीन मत में 'युव' संज्ञा होती है। तदनुसार **तत्रभवान् गार्ग्यायणः** (गर्ग कुल का आदरणीय युवा सदस्य) में 'युव' संज्ञा होने के फलस्वरूप 'फक्' (= आयन) प्रत्यय हुआ। 'तत्रभवान्' का प्रयोग किये जाने से पूज्यभाव सूचित होता है। विशेषता यह है कि युवसंज्ञकों को अल्पवयस्क होने एवं वृद्धों के अधीन होने से सुखी रहने के कारण उनमें आदर की भावना प्रदर्शित की गई है। उस भावना के गम्यमान रहने पर मूलपुरुष से तृतीय (पौत्र) भी पूजार्ह हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'युव' संज्ञा के प्रभाव से स्वार्थ में ही 'युव' प्रत्यय (फक्) की कल्पना की जाय। वार्तिक में 'पूजा' पद का निवेश होने से आदर की भावना प्रदर्शित न किये जाने पर **गार्ग्यः** में युवसंज्ञा नहीं होगी। (२) दूसरे वार्तिक द्वारा निन्दा अर्थ में 'युवा' को भी गोत्र-संज्ञा की जा रही है। **उदाहरण—गार्ग्यः** जाल्मः (गर्ग-कुल की नीच युवा सन्तान)। यहाँ सामान्यतः गार्ग्यायणः होना चाहिये था, किन्तु निन्दा अर्थ में गोत्र संज्ञा हो जाने से 'यञ्' प्रत्यय ही हुआ। वार्तिक में 'कुत्सा' पद का निवेश होने के कारण निन्दा गम्यमान न होने पर **गार्ग्यायणः** प्रयोग होगा।

एको गोत्रे ४ । १ । ९३ ॥ गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यमौपगवः । गार्ग्यः । नाडायनः ।

'गोत्रे स्वैकोनसङ्ख्यानां प्रत्ययानां परम्परा ।
यद्वा स्वद्व्यूनसङ्ख्येभ्योऽनिष्टोत्पत्तिः प्रसज्यते ॥
अपत्यं पितुरेव स्यात्ततः प्राचामपीति च ।
मतभेदेन तद्धान्यै सूत्रमेतत्तथोत्तरम् ॥'

(१०९३) एको गोत्रे । सङ्ख्याविशेषोपादाने तदितरसङ्ख्याव्यवच्छेदस्य स्वभावसिद्धत्वात् एक एवेति गम्यते । अपत्याधिकारात्प्रत्ययाधिकाराच्च अपत्यप्रत्यय इति तद्विशेष्यलाभः । तदाह—गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यादिति । औपगव इति । उपगोर्गोत्रापत्ये 'तस्यापत्यम्' इत्यण् । गार्ग्य इति । गर्गस्य गोत्रापत्ये 'गर्गादिभ्य' इति यञ् । नाडायन इति । नडस्य गोत्रापत्ये 'नडादिभ्यः' इति फक् । गोत्र एक एव प्रत्ययः स्यादित्येवोक्तौ तु अनन्तरापत्यप्रत्ययान्तादौपगवशब्दादिञ्प्रत्ययो न निवार्येत । नियमस्य सजातीयविषयतया गोत्रप्रत्ययान्तादेव गोत्रप्रत्ययो वार्येत, अतोऽपत्यग्रहणमित्याहुः । नन्वेकस्मिन्गोत्रे युगपदनेकप्रत्ययाप्रसक्तेर्व्यर्थमिदं सूत्रमिति चेत्, मैवम्—अपत्यशब्दो हि पुत्र एव रूढः इत्येकः पक्षः । पुत्रादिसाधारण इत्यन्यः पक्ष इति प्रकृतसूत्रभाष्ये स्थितम् । तदेतत् 'अपत्यं पौत्रप्रभृति' इति सूत्रव्याख्यावसरे प्रपञ्चितमस्माभिः । तत्र प्रथमपक्षे उपगोः पौत्रे अपत्यप्रत्ययेन बुबोधयिषिते सति तस्य उपगुपुत्रापत्यस्य उपगुम्प्रत्यपत्यत्वाभावात् 'तस्यापत्यम्' इत्यण् न सम्भवति । ततश्च उपगुपुत्रे वाच्ये 'तस्यापत्यम्' इत्यणा औपगवशब्दे व्युत्पादिते सति औपगवस्यापत्ये वस्तुतः उपगोः तृतीये गोत्रे विवक्षिते

(१०९३) पद—एकः, गोत्रे । अनुवृत्ति—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः । नियमसूत्र ।

मूलार्थ—'गोत्र' में एक ही अपत्य-प्रत्यय होता है । उदा० १—उपगोः गोत्रापत्यम्—औपगवः । २—गार्ग्यः । ३—नाडायनः । **कारिकार्थ**—(सूत्र के अभाव में) "गोत्र की अपेक्षा से एक कम (न्यून) संख्या के प्रत्ययों की परम्परा प्रसक्त हो जाती । अथवा गोत्र की अपेक्षा से दो न्यून-संख्यक प्रातिपदिकों से अनिष्ट प्रत्ययों की प्रसक्ति होने लगेगी ॥ १ ॥ पुत्र ही अपत्य है—इस पक्ष में, तदनन्तर पौत्रादि भी अपत्य हैं—इन दोनों मतों को लेकर अनिष्ट के निवारणार्थ यह तथा आगे का सूत्र—ये दोनों आवश्यक हैं ॥ २ ॥ पिता का पुत्र ही अपत्य है इस मत में 'उपगु' के तृतीय (पुरुष) की अपेक्षा में 'औपगव' से 'इञ्' (प्रत्यय) होने लगेगा । ज्येष्ठ भ्राता के जीवित न होते हुए पित्रादि के भी मृत होने पर 'औपगवि' से 'फक्' प्रत्यय प्राप्त होगा । इस प्रकार 'फक्' और 'इञ्' की परम्परा से मूल पुरुष से आगे सौ सन्तानों की अपेक्षा में ९९ प्रत्यय होंगे । पितामहादि का पौत्र अपत्य है—इस मुख्य पक्ष में तो तृतीय का अभिधान होने पर उसमें इष्ट 'अण्' प्रत्यय सिद्ध होने पर भी अणन्त से 'इञ्' भी प्राप्त होगा । ततः चतुर्थ में 'फक्' एवं आगे 'इञ्'—इस प्रकार 'फक्' तथा 'इञ्' की परम्परा में सौवें गोत्रापत्य में ९८ अनिष्ट प्रत्यय होंगे । इस लिये यह सूत्र नियमार्थ है । इसी प्रकार आगे के सूत्र में भी जाना जाय ।

विवरण—यह नियमसूत्र है । "तस्यापत्यम्" ४-१-९२ का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । 'अपत्यम्' से तात्पर्य है 'अपत्य' अर्थ-सूचक-प्रत्यय । अतः सूत्र का शब्दार्थ यह होता है कि "गोत्र अर्थ में एक ही अपत्यवाचक प्रत्यय हो" । कहने का आशय यह है कि "पौत्र से लेकर आगे की चौथी, पाँचवी, छठी आदि विभिन्न पीढ़ियों को बतलाने के लिये भिन्न भिन्न प्रत्ययों की आवश्यकता

पितुरेवापत्यमिति पक्षे ह्युपगोस्तृतीये वाच्ये औपगवादिञ्स्यात् । चतुर्थे त्वजीवज्ज्येष्ठे

औपगवशब्दात् 'अत इञ्' इति इञि औपगविरित्यनेनैव उपगोस्तृतीयो बोधनीयः स्यात् । एवञ्च उपगोस्तृतीये विवक्षिते उपगोरण् औपगवादिञिति प्रकृतिद्वयात्प्रत्ययद्वयमनिष्टं स्यात् । तत्र यद्यपि उपगोरणिष्टः, तथापि उपगोस्तृतीये विवक्षिते अनिष्टमिञ्प्रत्ययमणप्रत्ययो घटयतीति सोऽप्यनिष्ट एव । तथा च तत्रानिष्टप्रत्ययनिवृत्तये एको गोत्रे अपत्यप्रत्ययः स्यादित्यनपत्येऽपि उपगोस्तृतीये अपत्यप्रत्ययो विधीयते । स च वस्तुतः अणेव, न त्विञ्, अदन्तत्वाभावात् । विहिते च तस्मिन् औपगवादिञपि निवर्तते । गोत्रे बुबोधयिषिते एकस्यैवापत्यप्रत्ययस्य विधेः, अतः प्रत्ययद्वयमाला निवर्तते । एवमुपगोश्चतुर्थे विवक्षिते तस्य उपगुं तत्पुत्रं च प्रत्ययत्वाभावात् पौत्रं प्रत्येवापत्यत्वादौपगविशब्दात् 'यञिञोश्च' इति फकि प्रकृतित्रयादनिष्टा औपगवायन इति प्रत्ययत्रयमाला स्यात् । उपगोः पञ्चमे विवक्षिते तु औपगवायनशब्दादिञि औपगवायनिः इत्येवं प्रकृतिचतुष्टयात् प्रत्ययचतुष्टयमाला स्यात् । षष्ठे तु औपगवायनिशब्दात् फकि औपगवायनायन इत्येवं प्रकृतिपञ्चकात् पञ्च प्रत्ययाः

रही, उसका निवारण करने के लिये इस नियम की चरितार्थता है। तदनुसार एक ही अपत्यसंज्ञक प्रत्यय गोत्र में आये हुए सभी अपत्यों का बोध कराता है"। यहाँ तीन उदाहरण दिये जा रहे हैं। (१) **औपगवः** ('उपगु' का पौत्रादि) में 'उपगु' से गोत्र अर्थ में 'अण्' प्रत्यय ही हुआ। पौत्र की अभिधेयता के अनन्तर प्रपौत्रादि अर्थ को सूचित करने के लिये सर्वप्रथम चौथी पीढ़ी के बोधक इञ् ("अत इञ्" ४-१-९५) प्रत्यय की अब आवश्यकता नहीं रही। (२) ऐसे ही **गार्ग्यः** (गर्ग का पौत्र) में गर्ग से गोत्रापत्य सूचक 'यञ्' प्रत्यय ("गर्गादिभ्यो यञ्" ४-१-१०५) ही होगा। (३) **नाडायनः** (नड का पौत्र) में 'फक्' (= आयन) प्रत्यय नड के गोत्रापत्य का बोधक है ("नडादिभ्यः फक्" ४-१-९९)। इस सूत्र की नियामकता प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। प्रत्ययनियम पक्ष की संगति सूत्रार्थ द्वारा अभिव्यक्त की जा चुकी है। प्रकृति-नियम द्वारा यह अभिव्यञ्जित होता है कि गोत्रापत्य विवक्षित होने पर प्रथम प्रकृति अर्थात् मूलप्रकृति से ही प्रत्यय होगा, दूसरी तीसरी प्रत्ययान्त प्रकृतियों से नहीं होता। उदाहरणार्थ गार्ग्यः में 'गर्ग' प्रथम मूल प्रकृति है, उससे ही 'गोत्रापत्य' विवक्षित होने पर 'यञ्' प्रत्यय होगा। यही यञ्-प्रत्ययान्त शब्द आगे के सम्पूर्ण गोत्रापत्यों का ज्ञान करायेगा। वस्तुतः प्रत्यय-नियम करें या प्रकृति-नियम करें, तात्पर्य एक ही रहता है। किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि 'गर्गस्य अपत्यं गार्गिः (गर्ग का पुत्र) और गार्गेः अपत्यं गार्ग्यः (गार्गि का पुत्र) इन विग्रहों को देखकर यह नहीं समझना चाहिये कि 'गार्गि' से 'यञ्' प्रत्यय हुआ है, क्योंकि 'गार्गि' तो प्रथम प्रकृति है नहीं, अतः प्रथम प्रकृति 'गर्ग' से ही 'यञ्' प्रत्यय होगा। 'गार्गेः अपत्यम्'—यह विग्रह अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये किया जाता है। इस सूत्र में जब प्रत्यय-नियम मानते हैं तो 'एकः' पद 'प्रत्ययः' का विशेषण माना जाता है। प्रकृति-नियम पक्ष में 'एकः' पद 'प्रकृति' का विशेषण होगा।

विशेष—सूत्र का उपर्युक्त प्रयोजन सिद्ध करने हेतु **दो कारिकाओं** को यहाँ प्रस्तुत किया गया है। उनमें **'अपत्य'** शब्द के दो अर्थों को लेकर उत्पन्न होनेवाले मतभेद एवम् मूल पुरुष से सौवीं पीढ़ी पर्यन्त सन्तति का अभिधान होने पर अनिष्ट प्रत्ययमाला की आशंका को दिखाते हुए उसके निवारणार्थ सिद्धान्त पक्ष की स्वीकृति हेतु प्रकृतसूत्र की उपयोगिता बतलाई गई है। उन दो मतों में से प्रथम लौकिक मत कोशादि ग्रन्थों का आश्रय लेकर उद्धृत किया गया है। तदनुसार मूलपुरुष की प्रथम जनिष्यमाण सन्तान (अर्थात् पुत्र) ही अपत्य कहलाती है। द्वितीय अर्थात् शास्त्रीय

मृतवंश्ये वा औपगवेः फक् । इत्थं फगिञोः परम्परायां मूलाच्छततमे गोत्रे एकोनशतं प्रत्ययाः स्युः । पितमहादीनामपीति मुख्यपक्षे तु तृतीये वाच्ये उपगोरणा इष्टे सिद्धेऽप्य-ण्णन्तादिञपि स्यात् । ततश्चतुर्थे फगिति फगिञोः परम्परायां शततमे गोत्रेऽष्टनवतेरनिष्ट-

---

स्युः, तदेवं फगिञोः परम्परायां मूलप्रकृतेरुपगोः शततमे गोत्रे विवक्षिते एकोनशतात् प्रकृतिभ्यः एकोनशतमनिष्टप्रत्ययाः स्युः । अत्र तृतीयप्रभृति कस्मिंश्चिद्गोत्रे विवक्षिते उपगुं प्रत्यनपत्येऽपि तस्मिन् 'एको गोत्रे' इत्यणेव भवति, न तु इञादि । यदा त्वपत्यशब्दः पुत्र-पौत्रादिसाधारणः तदा यद्यपि उपगोरनन्तरापत्ये पुत्रे इव पौत्रादिष्वपि विवक्षितेषु 'तस्या-पत्यम्' इत्यणि औपगव इतीष्टं सिद्धयति । तथापि उपगोरनन्तरापत्ये अणि सति औपगव-स्यानन्तरापत्ये उपगोस्तृतीये विवक्षिते द्वितीयस्मादेकः प्रत्ययः अनिष्टः प्रसज्येत । एवमुपगोश्चतुर्थे विवक्षिते सिद्धेऽपि उपगोरणि औपगवे, तस्मादिञि औपगविः, तस्मात्फकि औपगवायनः—इत्येवं प्रत्ययत्रयमपि कदाचित् प्रसज्येत । तत्रापि उपगोर्मूलप्रकृतेर-निष्ट एव इञ्फकौ तु प्रत्ययावनिष्टौ । तथा उपगोश्चतुर्थे विवक्षिते द्वितीयस्मादेकः अनिष्टप्रत्ययः, तृतीयस्मादन्य इत्येव प्रकृतिद्वयादनिष्टौ द्वौ प्रत्ययाविति पर्यवस्यति । एवं पञ्चमे प्रकृतित्रयात्त्रयः प्रत्ययाः । षष्ठे प्रकृतिचतुष्टयात् चत्वारः प्रत्ययाः इत्येवं मूलाच्छततमे गोत्रे अष्टनवतेरष्टनवतिरनिष्टप्रत्ययाः स्युः । तत्र 'एको गोत्रे' इति नियमविधिः । गोत्रे 'एक एव प्रत्ययः स्यादि'ति । तत्रापि प्रथमातिक्रमे कारणाभावा-न्मूलप्रकृतेर्यः प्रत्ययः प्राप्तुं योग्यः स एवेति फलति । सूत्रे एकशब्दः प्रथमपर्यायः । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । मुखे भवो मुख्यः प्रथमः । 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा'—इति कोशान्तरम् । तथा च मूलप्रकृतेरेव गोत्रे विवक्षिते

सैद्धान्तिक मत का प्रतिपादक पाणिनि का "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्" ४-१-१६२ सूत्र है । तदनुसार मूलपुरुष से तृतीय एवं उसके आगे की सन्तान का बोध भी 'अपत्य' (गोत्रापत्य) शब्द से ही किया जाय । इन दोनों मतों को अभिलक्षित कर यहाँ दो कारिकायें प्रस्तुत की गई हैं । इन दोनों कारिकाओं में उपर्युक्त दोनों मतों के अनुसार क्रमशः मूल पुरुष से आगे सौ पीढ़ी तक सन्तान की विवक्षा में किस प्रकार प्रत्ययों एवं प्रातिपदिकों की परम्परा लग जायगी, उस गौरव को दूर करने के लिये "एको गोत्रे" ४-१-९३ सूत्र की उपयोगिता पर सैद्धान्तिक विचार किया गया है । विषय की प्रस्तुति इस प्रकार की गई है । **प्रथम मत**—केवल साक्षात् पुत्र (या पुत्री) ही 'अपत्य' है—इस सन्दर्भ में उदाहरणार्थ (१) **'उपगु'** के पुत्र (अपत्य) का बोध कराने में (२) **'औपगव'** (उपगु+अण्), (३) 'औपगव'का पुत्र **'औपगवि'** (औपगव+इञ्), (४) औपगवि' का पुत्र**'औपगवायन'** (औपगवि+फक् = आयन), (५) 'औपगवायन' का पुत्र **'औपगवायनि'** (औपगवायन+इञ्) तथा (६) औपगवायनि' का पुत्र **औपगवायनायन** (औपगवायनि+फक् =आयन), पुनः (७) **औपगवायनायनि** (औपगवायनायन+इञ्), ततः (८) **औपगवायनायना-यन** (औपगवायनायनि+फक्)। इस प्रकार द्वितीय पुरुष (पुत्र) में अण् ; तृतीय पुरुष में 'अण्' तथा 'इञ्'; चतुर्थ पुरुष में 'अण्', 'इञ्' तथा फक्; पञ्चम में 'अण्', 'इञ्' 'फक्' तथा इञ्; षष्ठ में 'अण्', 'इञ्', 'फक्', 'इञ्' तथा फक् ; **सप्तम** मे 'अण्', 'इञ्', 'फक्', 'इञ्' 'फक्' तथा 'इञ्', इन ६ प्रत्ययों का क्रम चलता रहेगा । इसी क्रम में सौवें पुरुष में ९९ प्रत्यय संलग्न हो जायेंगे । **प्रथम** अर्थात् मूलपुरुष में कोई प्रत्यय नहीं लगेगा, क्योंकि उससे आगे क्रमशः एक दूसरे के अपत्य अपेक्षित हैं । इस हेतु प्रथम कारिका द्वारा यह अभिव्यञ्जित किया गया है कि '"गोत्र' (पुत्ररूप अपत्य)

स्वयोग्यप्रत्ययलाभ इति व्याख्यान्तरम्। गोत्रे एकः प्रथमः एव शब्दः प्रत्ययोत्पादक इति। तदेतत्सर्वं श्लोकद्वयेन सङ्गृह्णाति—गोत्रे स्वैकोनेति। अत्र प्रथमश्लोकान्ते श्रुतं 'प्रसज्यते' इत्येतत्पदं पूर्वार्धे परम्परेत्यनन्तरमपि सम्बध्यते। तत्र स्वं गोत्रं मूलपुरुषोपगवपेक्षया यत्सङ्ख्याकं तदपेक्षया एकोनसङ्ख्याकानां अनिष्टप्रत्ययानां परम्परैवोक्तरीत्या प्रसज्येत। न तु कदाचिदपि गोत्रे औपगव इत्यणन्तमिष्टं सिध्यतीत्यर्थः। यद्वेति। स्वं गोत्रं तत् मूलपुरुषोपगवपेक्षया यत्सङ्ख्याकं तदपेक्षया द्व्यूनसङ्ख्याकप्रकृतिभ्यस्तावतां प्रत्ययानामनिष्टानामुत्पत्तिरुक्तरीत्या प्रसज्यत इत्यर्थः। ननु कथमिदं पक्षद्वयमित्यत आह—अपत्यमित्यादि-मतभेदेनेत्यन्तम्। पुत्र एवापत्यमिति पक्षे प्रथमः पक्ष उन्मिषतीति। 'पुत्र-पौत्रादिसाधारणोऽपत्यशब्द' इति पक्षे तु द्वितीयः पक्षः उन्मिषतीति भावः। तद्धान्यै इति। तस्य उक्तप्रकाराभ्याम् अनिष्टोत्पादनस्य हानिः निवृत्तिः, तदर्थमिदमित्यर्थः। तथोत्तरमिति। 'गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्' इत्युत्तरसूत्रमपि तथा योज्यमित्यर्थः। तत्रापत्यशब्दः पुत्र एव रूढ इति पक्षे अनिष्टं प्रपञ्चयति—पितुरेवेत्यादिना। औपगवादिञ् स्यादिति। 'अत इञ्' इत्यनेनेति शेषः। 'औपगवादेव इञ् स्यात्, न तु उपगोरणित्यर्थः, तृतीयस्य उपगुं प्रत्यपत्यत्वाभावादिति भावः। चतुर्थे त्वित्यतः पूर्वम् उपगोरिति शेषः। अजीव-ज्ज्येष्ठे इति। जीवन् ज्येष्ठो यस्येति विग्रहः। जीवति तु ज्येष्ठे चतुर्थस्य 'भ्रातरि च ज्यायसि' इति युवसञ्ज्ञया गोत्रत्वं बाध्येतेति भावः। मृतवंश्ये इति। मृतः वंश्यो यस्येति विग्रहः। वंश्ये जीवति तु 'जीवति तु वंश्ये युवा' इति युवसंज्ञया गोत्रत्वं बाध्येतेति भावः। औपगवेः फगिति। 'यञिञोश्च' इत्यनेनेति शेषः। एकोनेति। एकोनशतात्प्रकृतिभ्यः एकोन-शतं प्रत्यया अनिष्टाः स्युरित्यर्थः। अथापत्यशब्दः पुत्रपौत्रादिसाधारण इति पक्षे अनिष्टं प्रपञ्चयति—पितामहादीनामपीति। मुख्यपक्षत्वं त्वस्य भाष्ये पूर्वपक्षस्य निराकरणात्

की उत्तरोत्तर क्रमशः अपेक्षा होने पर अपने (स्व) अर्थात् मूल पुरुष की अपेक्षा (केवल) एक कम प्रत्ययों की परम्परा प्रसक्त हो जायगी। तदनन्तर द्वितीय कारिका द्वारा अपत्य को 'गोत्र' (पौत्र प्रभृति) के रूप में अभिलक्षित किया जाय तो मूल पुरुष से तृतीय पुरुष (अर्थात् पौत्र) भी 'अपत्य' शब्द से अभिहित होगा। उस स्थिति में प्रथम प्रत्यय द्वितीय पुरुष-रूप प्रकृति में नहीं लगेगा, किन्तु तृतीय पुरुष में संयुक्त होगा। इस प्रकार प्रथम प्रत्यय पुत्ररूप में संयुक्त न होकर किन्तु 'पौत्र' अर्थ में संयुक्त होकर 'औपगव' प्रातिपदिक निष्पन्न होगा। अतः मूल पुरुष एवं पुत्ररूपापत्य अपेक्षित न होने से उनमें भी कोई प्रत्यय नहीं लगेगा। इस तरह आगे सौ पीढ़ियों में ९८ प्रकृति-स्वरूप प्रातिपादिकों से ९८ संख्यक अनिष्ट प्रत्ययमाला की प्रसक्ति (३) अण्, (४) अण्+इञ्, (५) अण्+इञ्+फक्, तथा (६) में अण्+इञ्+फक्+इञ् के रूप में उसी प्रकार होगी।

दोनों पक्षों में ही यद्यपि अनिष्ट प्रत्यय-माला एवम् अनेक रूपों से अर्थाभिव्यक्ति की आशंका बतलाई गई है तथापि द्वितीय पक्ष को सैद्धान्तिक रूप दिया गया है। उस में लाघव यह है कि पौत्र को अपत्य मानकर तदनन्तर आगे आने वाली सन्तति भी अपत्य (गोत्रापत्य) ही कहलायेगी। अतः 'अपत्य' को विवक्षित कर मूल पुरुष से केवल एक प्रत्यय करने पर 'उपगु' के पौत्र के साथ ही प्रपौत्र आदि सभी 'गोत्रापत्य' औपगव शब्द से ही अभिहित हो सकेंगे। इस प्रकार प्रत्ययों की परम्परा का इस नियम द्वारा निवारण किया गया है। द्वितीय मत में यद्यपि 'अपत्य' शब्द का व्यापक अर्थ स्वीकार कर 'उपगु' से सर्वप्रथम अभीष्ट 'अण्' प्रत्यय तो "तस्यापत्यम्" ४-१-९२ सूत्र से निर्बाध होता ही है, किन्तु आगे 'औपगव'रूप प्रकृति के अकारान्त होनेपर 'इञ्' प्रत्यय की प्राप्ति भी संभावित है, उसकी निवृत्ति के लिये "एको गोत्रे" ४-१-९३ का नियमन चरितार्थ हो—

प्रत्ययाः स्युः। अतो नियमार्थमिदं सूत्रम्। एवमुत्तरसूत्रेऽप्यूह्यम्। (१०९४) गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ४।१।९४॥ यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेवापत्यप्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसञ्ज्ञा। गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। स्त्रियां गोत्रत्वादेक एव प्रत्ययः।

'अपत्यं पौत्रप्रभृति' इति सूत्रस्वरसाच्च बोध्यम्। इष्टे सिद्धेऽपीति। तृतीयादीनामप्यपत्यत्वेन तत्र 'तस्यापत्यम्' इत्यणो निर्बाधत्वादिति भावः। तत इति। इञन्तादित्यर्थः। अष्टनवतेरिति। प्रकृतिभ्यः इति शेषः। अनिष्टप्रत्ययाः स्युरिति। अष्टनवतिरिति शेषः। नियमार्थमिति। यद्यप्युपगोस्तृतीयादिषु अपत्यप्रत्ययविध्यर्थत्वमेव प्रथमपक्षे तथापि गर्गात्तृतीयादिषु विवक्षितेषु गोत्रविहितगर्गादियञा गार्ग्यशब्दस्येष्टस्य सिद्धावपि गर्गादिञि ततः फिञित्येवं प्रत्ययपरम्पराप्यनिष्टा प्राप्नोतीति नियमार्थत्वमपि प्रथमपक्षेऽप्यस्य सूत्रस्येति भावः। एवमुत्तरसूत्रेप्यूह्यमिति। तत्प्रकारस्तु उत्तरसूत्रे एव वक्ष्यते।

(१०९४) गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्। गर्गस्य गोत्रं गार्ग्यः—गर्गस्य तृतीयः। 'गर्गादिभ्यः' इति गोत्रे यञ्। गार्ग्यस्य तृतीयः—स गर्गस्य पञ्चमो युवापत्यं, तस्मिन् बुबोधयिषिते गार्ग्यशब्दात् गोत्रप्रत्ययान्तात् 'यञिञोश्च' इति फकि गार्ग्यायण इति रूपमिष्यते। तथा षष्ठादिष्वपि युवापत्येषु गार्ग्यायण इत्येवेष्यते। तदिदमपत्यशब्दः पुत्रपौत्रादिसाधारण इति पक्षे यद्यपि सुलभमेव, गर्गात्तृतीयं गार्ग्यं प्रति पञ्चमादीनामप्यपत्यत्वात्। तथापि गर्गस्य पञ्चमाद्यपत्ये यूनि विवक्षिते गर्गान्मूलप्रकृतरपि इञ् स्यात्। तथा गर्गस्य अनन्तरापत्ये इञि गार्गिः, तदपत्यत्वेन विवक्षिते गर्गस्य पञ्चमादौ यूनि गार्गेः फकि गर्गायण इत्यपि स्यात्। तथा गर्गस्य चतुर्थे यूनि गोत्रत्वाभावात् यञभावे इञि गार्गिः। तदपत्यत्वेन विवक्षिते गर्गस्य पञ्चमादौ यूनि गार्गेः फकि गर्गायण इति स्यात्। गोत्रप्रत्ययान्तादेव गार्ग्यशब्दात् गर्गस्य पञ्चमाद्यपत्ये यूनि फकि गार्ग्यायण इत्येवेष्यते। तदर्थं 'गोत्र-

---

जाता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'गोत्र' वाच्य होने पर एक ही शब्द 'प्रत्यय' की 'प्रकृति' हो सकेगा न कि अनेक शब्द"। अथवा 'एक' शब्द से 'प्रथम' अर्थ लिया जाय। इस प्रकार अर्थ करने पर "'प्रथम' शब्द ही 'गोत्रार्थ' में प्रत्ययोत्पादक हो सकता है। प्रथम से तात्पर्य सबका मूलभूत होना है"। आगे के सूत्र में भी इस विषय की संगति स्वयम् कर ली जाय।

(१०९४) पद—गोत्राद्, यूनि, अस्त्रियाम्। अनुवृत्ति—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः। नियम-सूत्र।

मूलार्थ—युवापत्य में गोत्रप्रत्ययान्त से ही अपत्य प्रत्यय हो, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में 'युव'-संज्ञा नहीं होती। उदा० गर्गस्य युवापत्यम्—गार्ग्यायणः। स्त्रीलिङ्ग में तो गोत्र-संज्ञा के कारण एक ही प्रत्यय होता है।

विवरण—"जीवति तु वंश्ये युवा" (४-१-१६३) सूत्र से विशेष स्थिति में 'गोत्रापत्य' की 'युव'-संज्ञा बतलाई गई है। उसी की प्रत्ययोत्पत्ति का यह नियम सूत्र है। अन्यथा पूर्ववत् मूल पुरुष से १०० युवाभिधान में ९९ या ९८ अनिष्ट प्रत्ययों की प्रसक्ति होने लगेगी। उसके निवारणार्थ यह नियम किया गया है कि "युवापत्य की विवक्षा होने पर गोत्र से ही युवापत्य में प्रत्यय हो, अनन्तरापत्य या प्रथम प्रकृति से नहीं"। इसके साथ ही "स्त्री-वाच्य में 'युव'-संज्ञा को वर्जित रखा गया है (अस्त्रियाम्)"।[1] इसके फलस्वरूप वहाँ गोत्रसंज्ञा के कारण एक ही प्रत्यय होगा।

---

१. "यूनि यदुक्तं तत् स्त्रियां न भवति, युवसंज्ञैव प्रतिषिद्धयते" —इति काशिकायाम् उक्तम्।

प्रत्ययान्तादेव' प्रत्यया इति नियमः क्रियते—गोत्राद्यूनीति । तदाह—यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेवेति । न तु मूलप्रकृतेस्तदनन्तरापत्यप्रत्ययान्तात् युवप्रत्ययान्ताच्चेति भावः । न चापत्यशब्दः पुत्र एव रूढ इति पक्षे पञ्चमादौ यूनि चतुर्थाद्यपत्यप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात् । न तु तृतीयवाचिगोत्रप्रत्ययान्तादिति तत्र विध्यर्थमेवेदं स्यात्, न तु नियमार्थमिति वाच्यम्, 'पुत्रपौत्रादिसाधारणोऽपत्यशब्द' इत्येव भाष्ये सिद्धान्तितत्वादिति भावः । स्त्रियां तु न युवसञ्ज्ञेति । इह 'अस्त्रियामि'ति योगो विभज्यते । यूनीत्यनुवर्तते । उभयमपि प्रथमया विपरिणम्यते । तथा च 'स्त्री उक्तयुवसञ्ज्ञिका ने'ति फलितमिति भावः । न च स्त्रीभिन्ने यूनि गोत्रादेवेत्यर्थः कुतो नाश्रीयते, एवं सत्येकवाक्यत्वलाभादिति वाच्यम्, पञ्चमादिषु युवतिषु प्रत्ययमालाप्रसङ्गात् । न च 'एको गोत्रे' इति नियमात्तन्निवृत्तिः सम्भवतीति वाच्यम्, युवसञ्ज्ञया गोत्रसञ्ज्ञाया बाधात् । न च सत्यपि योगविभागे 'स्त्रियां न युवप्रत्यय' इति व्याख्यायतामिति वाच्यम्, गोत्रप्रत्ययेन युवेत्यभिधानानापत्तेरित्यलम् । गर्गस्येति । गर्गस्य पञ्चमादौ यूनि गार्ग्यशब्दात् गोत्रे यञन्तात्फकि गार्ग्यायण इति रूपमित्यर्थः । स्त्रियां युवसञ्ज्ञानिषेधस्य प्रयोजनं दर्शयति—स्त्रियामिति । पञ्चमादियुवतीनां युवसञ्ज्ञाविरहेण गोत्रत्वात् 'एको गोत्रे' इति नियमाद् गार्गीत्येव भवति, न तु गार्ग्यायणीति रूपमित्यर्थः । स्त्रीभिन्ने यूनि गोत्रादेवेत्यर्थाश्रयणे तु युवसञ्ज्ञाया गोत्रसञ्ज्ञया बाधात् 'एको गोत्रे' इत्यस्याप्रवृत्तेः प्रत्ययमाला स्यादिति भावः ।

उदाहरण—**गार्ग्यायणः** (गर्ग का प्रपौत्र-पुत्र)। **विग्रह**—गार्ग्यस्य युवापत्यम्। **प्रक्रिया**—(क) गर्गस्य गोत्रापत्यम्—**गार्ग्यः** (गर्ग+यञ्—"गर्गादिभ्यो यञ्" ४-१-१०५) (ख) गार्ग्यस्य युवापत्यम्—**गार्ग्यायणः** (गार्ग्य+फक्—"यञिञोश्च" ४-१-१०१, फक्=आयन, अ-लोप, विभक्ति-कार्य)। इसी प्रकार षष्ठादि पुरुष में भी 'युव' संज्ञा होने के कारण 'गार्ग्यायणः' यही रूप होगा। प्रकृत सूत्र का योगविभाग किये जाने के फलस्वरूप सूत्र के दूसरे अंश "अस्त्रियाम्" में पूर्व अंश से 'यूनि' की अनुवृत्ति की जाती है। 'अस्त्रियाम्' तथा 'यूनि' दोनों ही सप्तम्यन्त पद प्रथमा विभक्ति में परिवर्तित किये जाते हैं। तब द्वितीयांश का 'स्त्री युवा न'—यह स्वरूप हो जायगा। तदनुसार यह अर्थ निष्पन्न होता है कि "स्त्रीवाचक शब्द को उक्त प्रकार से 'युव' संज्ञा नहीं होती"। अतः मूल पुरुष 'गर्ग' से पञ्चमादि युवतियों के अभिधान होने पर, युवसंज्ञा न होने से यथाप्राप्त गोत्र-संज्ञा के कारण "एको गोत्रे" नियमन से एक ही 'यञ्' प्रत्यय होकर गार्गी (गर्ग+यञ् = गार्ग्य+ङीप्—"यञश्च"—४-१-१६ > गार्ग्य् + ई > गार्गी—'अ' लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८ तथा 'य्' का लोप "हलस्तद्धितस्य" ६-४-१५० एवं विभक्ति-कार्य)।

स्मरणीय—प्रकृत सूत्र में भी 'अपत्य' शब्द पुत्र-पौत्रादि का वाचक है। तब तो गर्ग से तृतीय पुरुष (पौत्र) 'गार्ग्य' कहलायेगा, तदनन्तर मूल पुरुष से पञ्चमादि पुरुष भी 'अपत्य' वाच्य होने के कारण अनन्तर 'युव' संज्ञा की विवक्षा में 'फक्' प्रत्यय होकर यद्यपि अभीष्ट रूप सिद्ध हो सकता है तो भी 'गर्ग' से पाँचवे पुरुष युवा की विवक्षा में मूल प्रकृति 'गर्ग' से 'इञ्' प्रत्यय संभावित है। फिर 'गार्गि' के अपत्यरूप की विवक्षा में 'गर्ग' के पाँचवें युवा पुरुष में 'गार्गि' से ('इञ्' प्रत्ययान्त होने के कारण) 'फक्' होकर 'गार्गायणः' यह रूप भी निष्पन्न होने लगेगा। वैसे ही 'गर्ग' से चतुर्थ युवाऽपत्य में 'गोत्रसंज्ञा' न होने से 'यञ्' प्रत्यय के न होने पर 'इञ्' होकर 'गार्गिः' रूप होगा। गार्गि से आगे अपत्यों में 'गर्ग' के पञ्चमादि युवापत्य की विवक्षा में 'इञ्' प्रत्ययान्त 'गार्गि' से 'फक्' प्रत्यय होनेपर 'गार्गायणः' रूप निष्पन्न होगा। गोत्र-प्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शब्द से 'गर्ग' के पञ्चमादि युवा की अपेक्षा में 'गार्ग्यायणः' ही होगा। इस वैषम्य को

(१०९५) अत इञ् ४ । १ । ९५ ॥ अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तत्प्रकृतिकात्षष्ठ्यन्तादिञ्स्यादपत्येऽर्थे । दाक्षिः । **(१०९६) बाह्वादिभ्यश्च ४ । १ । ९६ ॥** बाहविः ।

(१०९५) अत इञ् । प्रातिपदिकादित्यधिकृतम् अतो विशेष्यते, तदन्तविधिः । तदाह—अदन्तं यत्प्रातिपदिकमिति । 'तस्यापत्यम्' इत्यनुवृत्तं 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इति च । ततश्च प्रथमोच्चारिततच्छब्दबोधितात्प्रातिपदिकादिति लब्धम् । सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिरिति सिद्धान्तात् सुबन्तादिति लभ्यते । सुप् चेहोपस्थितत्वात् षष्ठ्येव विवक्षिता । तथा च षष्ठ्यन्तात्प्रातिपदिकादिति लभ्यते । यद्यपि प्रातिपदिकं न षष्ठ्यन्तम्, प्रत्ययग्रहणपरिभाषया प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यैव लाभात् । तथापि प्रातिपदिकप्रकृतिकषष्ठ्यन्तादित्यर्थो विवक्षितः । तदाह—तत्प्रकृतिकात्षष्ठ्यन्तादिति । दाक्षिरिति । दक्षस्यापत्यमिति विग्रहः । इञ्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । 'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली' इति स्वार्थमिति 'तस्यापत्यम्' इत्यत्र निरूपितम् । प्रातिपदिकग्रहणाननुवृत्तौ तु अदन्तात्षष्ठ्यन्तादिति लभ्येत । तथा च दक्षयोरपत्यं दाक्षिरिति न सिध्येदिति भावः ।

(१०९६) बाह्वादिभ्यश्च । अपत्ये इञिति शेषः । बाहविरिति । बाहुर्नाम कश्चिदृषिः, अथ 'ऋषयः' इत्यधिकृत्य 'बाहविर्गार्ग्यगौतमौ' इत्याश्वलायनसूत्रे दर्शनात् ।

दूर करने के लिए प्रकृत सूत्र से यह नियम किया गया है कि "गोत्र-प्रत्ययान्त से ही 'युव' प्रत्यय होता है, न कि मूल प्रकृति से, उसके अनन्तर-अपत्य प्रत्ययान्त से अथवा 'युव'-प्रत्ययान्त से।" 'अपत्य' शब्द केवल 'पुत्र' में ही रूढ़ है—इस पक्ष में पञ्चमादि युवापत्य की विवक्षा में चतुर्थादि अपत्य-प्रत्ययान्त से प्रत्यय होगा, न कि तृतीय-वाची गोत्रप्रत्ययान्त से। अतः उसका विधान करने में इसकी चरितार्थता क्यों न मानी जाय ? इसका समाधान यह दिया जाता है कि भाष्यकार को पुत्र-पौत्रादि साधारण अर्थ में ही 'अपत्य' शब्द की वाच्यता अभीष्ट है। अतः 'प्रत्यय' के सम्बन्ध में यह सूत्र भी पूर्व सूत्र की तरह नियामक ही है।

(१०९५) पद—अतः, इञ् । अनुवृत्ति—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त ह्रस्व-अकारान्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय हो। उदा० दाक्षिः ।

विवरण—उल्लिखित आधिकारिक अनुवृत्तियों के साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता करने पर अनुवृत्त विशेष्यवाची 'प्रातिपदिकात्' पद का सूत्रस्थ 'अतः' पद विशेषण हो जायगा। उसमें तदन्तविधि होगी। इस प्रकार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "षष्ठ्यन्त समर्थ अकारान्त प्रतिपदिक से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय हो।" यह सूत्र तथा आगे के स्वतन्त्र प्रत्यय-विधायक सूत्र पूर्व-पठित उत्सर्ग-सूत्र "तस्यापत्यम्" ४-१-९२ के अपवाद हैं। **उदाहरण**—दाक्षिः (दक्ष का पुत्र अथवा पौत्र)। **विग्रह**—दक्षस्य अपत्यम् । **प्रक्रिया**—दक्ष+ङस्+इ>दक्ष+इ ('सुप्' लोप)>दाक्ष+इ (आदिवृद्धि)>दाक्षि (भ-संज्ञा को मानकर 'अ' का लोप)>दाक्षिः (विभक्ति-कार्य)।

विशेष—इस अपत्याधिकार में जिस सूत्र से सामान्य रूप में प्रत्यय का विधान किया गया हो, अर्थात् यह न कहा हो कि अनन्तरापत्य में या गोत्रापत्य में अथवा युवापत्य में प्रत्यय होता है, वहाँ वह प्रत्यय सामान्यतः सभी अपत्यों में (गोत्रापत्य एवम् अनन्तरापत्य—दोनों में) हुआ करेगा।

(१०९६) पद—बाह्वादिभ्यः, च । अनुवृत्ति—इञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १—बाहविः । २—औडुलोमिः । यह आकृतिगण है।

विवरण—'इञ्' पद की प्रमुख अनुवृत्ति पूर्व सूत्र "अत इञ्" ४-१-९५ से अपेक्षित है।

औडुलोमिः । आकृतिगणोऽयम् । (१०९७) सुधातुरकङ् च ४ । १ । ९७ ॥ चादिञ् । सुधातुरपत्यं सौधातकिः । 'व्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बानां चेति वक्तव्यम्' (वा

बाहोरपत्यमिति विग्रहः । 'इञि' ओर्गुणः । औडुलोमिरिति । उडुलोम्नोऽपत्यमिति विग्रहः । इञि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । आदिवृद्धिः । अदन्तत्वाभावादप्राप्तिः ।

(१०९७) सुधातुरकङ् च । चादिञिति । सुधातृशब्दात्षष्ठ्यन्तादपत्येऽर्थे इञ्प्रत्ययः, प्रकृतेरकङादेशश्चेत्यर्थः । अकङो ङकार इत्, अकार उच्चारणार्थः । ङिच्चेत्यन्तादेशः । तदाह—सौधातकिरिति । व्यासेति । व्यास, वरुड, निषाद, चण्डाल, बिम्ब एभ्यश्च इञ्, प्रकृतेरकङादेश इत्यर्थः ।

"तस्यापत्यम्" ४-१-९२ की प्राकरणिक अनुवृत्ति भी प्रभावी है। 'बाहु' आदि आकृतिगण है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "षष्ठयन्त समर्थ 'बाहु' आदि से 'अपत्य' अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय हो"। उदाहरण—बाहविः (बाहु ऋषि-विशेष की सन्तति)। प्रक्रिया—बाहु+इ (इञ्) > बाहु+इ (आदिवृद्धि-'पर्जन्यवत् लक्षण-प्रवृत्तिः' के अनुसार) > बाहो+इ (उ=ओ=गुण-"ओर्गुणः" ६-४-१४६) > बाहव्+इ (ओ=अव्) > बाहविः (विभक्तिकार्य) । (२) औडुलोमिः ('उडुलोमन्' का अपत्य) । विग्रह—उडुलोम्नः अपत्यम् । उडुलोमन् + इ (इञ्) > उडुलोमि ('टि'='अन्'-लोप-"नस्तद्धिते" ६-४-१४४) > औडुलोमिः (आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य)।

विशेष—(१) बाह्वादिगण-पठित शब्द अकारान्त न होने के कारण पूर्व सूत्र (१०९५) से 'इञ्' की प्राप्ति संभव नहीं थी, अतः पृथक् विधान आवश्यक रहा ।

(२) गणपाठ में 'लोमन्' शब्द पठित है, तो भी प्रयोजनवश तदन्तविधि मान ली गई ।[1]

(१०९७) पद—सुधातुः, अकङ्, च । अनुवृत्ति—इञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'च' इञ् का बोधक है। उदा० सुधातुः अपत्यम्—सौधातकिः । वा० व्यास, वरुण, निषाद, चण्डाल तथा बिम्ब—से भी (इञ्) कहा जाय ।

विवरण—अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। सूत्र का आशय यह है कि "षष्ठयन्त 'सुधातृ' शब्द से अपत्यार्थ में 'इञ्' प्रत्यय होता है तथा 'सुधातृ' शब्द को 'अकङ्' आदेश भी हो"। 'अकङ्' में 'ङ्' की इत्संज्ञा है। ककारोत्तरवर्ती अकार उच्चारण मात्र के लिये है। वह आदेश का अवयव नहीं है। आदेश केवल 'अक्' है। "ङिच्च" (१-१-५३) परिभाषा के कारण आदेश अन्तिम वर्ण (=ऋ) के स्थान में होगा। उदाहरण—सौधातकिः (सुधातृ की सन्तान)। प्रक्रिया—सुधातृ+अक् (.अकङ्) +इञ् > सुधात्+अक्+इ ('ऋ' के स्थान में अक्) > सौधातकि (आदिवृद्धि) > सौधातकिः (विभक्तिकार्य) ।

वार्तिक—कुछ विशिष्ट शब्दों को अभिलक्षित कर 'इञ्' प्रत्यय करने पर प्रकृति को 'अकङ्' आदेश का विधान किया जा रहा है। तदनुसार "व्यास, वरुड, निषाद, चण्डाल तथा बिम्ब शब्दों से भी 'इञ्' प्रत्यय हो तथा प्रकृति को 'अकङ्' आदेश भी हो"। (उदाहरण आगे के सूत्र में दिये जा रहे हैं)।

विशेष—सूत्रस्थ सुधातुः पद में वाक्यभेद से पञ्चमी एवं षष्ठी—दोनों विभक्तियाँ मानी गई हैं। तदनुसार 'इञ्' प्रत्यय को अभिलक्षित कर 'पञ्चमी' विभक्ति तथा 'अकङ्' आदेश को अभिलक्षित कर षष्ठी विभक्ति मानी जायगी ।

---

१. "यद्यपि गणे बाहु-कृष्ण-युधिष्ठिराऽर्जुन-प्रद्युम्नप्रभृतिषु केवलो 'लोमन्' शब्दः पठितस्तथापि सामर्थ्यात् तदन्तग्रहणम्" । —तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

२६११) । (१०९८) न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् । ७ । ३ । ३ ॥

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः । किं तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ स्तः ।

(१०९८) न य्वाभ्याम् । य् च व् च य्वाविति विग्रहः । वकारादकार उच्चारणार्थः । तदाह—यकारवकाराभ्यामिति । परस्येत्यध्याहारलभ्यम् । न वृद्धिरिति । मृजेर्वृद्धिरित्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । तुशब्दो विशेषप्रदर्शनार्थ इत्याह—किन्त्विति । ताभ्यामिति । यकारवकाराभ्यामित्यर्थः । पूर्वाविति । पूर्वावयवावित्यर्थः । तेन आगमत्वं लभ्यते । तदाह—ऐचावागमाविति । ऐच् प्रत्याहारः । यथासङ्ख्यं यकारात्पूर्वं ऐकारः, वकारात्पूर्वं औकारः । वैयासकिरिति । वेदान् व्यस्यति=विविधमस्यति=शाखाभेदेन विभजतीति वेदव्यासः । कर्मण्यण् । अत्र नामैकदेशग्रहणम् । व्यासस्यापत्यमिति विग्रहः । इञ्प्रत्ययः । प्रकृतेरकङादेशः । अत्र यकारः पदान्तः । तस्मात्परस्य आकारस्य पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या आदिवृद्धिः प्राप्ता न भवति । किन्तु यकारात्पूर्वः ऐकारः आगमः वैयासकिरिति रूपम् । स्वश्वस्यापत्यं सौवश्विरित्यत्र वकारात्परस्य न वृद्धिः, किन्तु ततः पूर्वं औकारः । न च ऐचो वृद्ध्यपवादत्वादत्वादेव वृद्ध्यभावसिद्धेस्तन्निषेधो व्यर्थ इति वाच्यम्, यत्र य्वाभ्यां

(१०९८) पद—न, य्वाभ्यां, पदान्ताभ्यां, पूर्वौ, तु, ताभ्याम्, ऐच् । अनुवृत्ति—किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । विधि-(निषेध)-सूत्र ।

मूलार्थ—पदान्त यकार-वकार से परवर्ती 'अक्' को वृद्धि नहीं होती, किन्तु उनसे पूर्व क्रमशः 'ऐ' और 'औ' आगम होते हैं । उदा० १—वैयासकिः । २—वारुडकिः इत्यादि ।

विवरण—वृद्धि-निषेध का प्रासङ्गिक प्रकरण है । अतः अष्टाध्यायी-क्रम में तदुपयोगी सातवें अध्याय की ओर ध्यान देना होगा । इस प्रकार सूत्रार्थ के लिये उपयोगी "मृजेर्वृद्धिः" (७-२-११४) सूत्र से 'वृद्धिः' तथा इन सम्पूर्ण सूत्रों—"अचो ञ्णिति" (७-२-११५), "तद्धितेष्वचामादेः" (७-२-११७) तथा "किति च" (७-२-११८)-की अनुवृत्ति करनी होगी । 'न' पद निषेध-सूचक है । 'ताभ्याम्' का अभिप्राय 'य्वाभ्याम्' से ही है । 'पूर्वौ' का अर्थ है पूर्वावयव । 'ऐच्' प्रत्याहार है, जिससे "ऐ' तथा 'औ' वर्णों का बोध होता है । "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" (१-३-१०) परिभाषा के आश्रय से ऐकार का अन्वय 'य'कार से तथा 'औ'कार का अन्वय 'व'कार से होता है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'ञित्', 'णित्' और 'कित्' तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर पदान्त 'य'कार और 'व'कार के पश्चात् आदि-अच् को वृद्धि नहीं होती, किन्तु 'य'कार के पूर्व 'ऐ'कार और 'व'कार के पूर्व 'औ'कार आगम क्रमशः होते हैं" । (१) **उदाहरण—वैयासकिः** (व्यास की सन्तति) । **विग्रह**—व्यासस्य अपत्यम् । **प्रक्रिया**—व्यास+इञ् ("अत इञ्" ४-१-९५)>व्यास्+अक्+इ (प्रकृति बोधक अर्थात् 'व्यास' को "व्यास-वरुड-चण्डाल०" —वार्तिक से, अक्-'अकङ्' आदेश—वह भी "ङिच्च" (१-१-५३) परिभाषा के आधार पर 'अन्त्य'-अल् = 'अ' के स्थान पर) > व्-ऐ-यास्+अक्+इ ('य्' से पूर्व 'ऐ' आगम होने पर आदि-वृद्धि का निषेध) वैयासकिः (विभक्ति-कार्य) । (२) 'व'कार से पर का उदाहरण—**सौवश्विः** (स्वश्व की सन्तान) । **विग्रह**—स्वश्वस्य अपत्यम् । स्वश्व+इञ् > स्-औवश्व+इ ('औ' आगम) > सौवश्विः ('अ' लोप तथा विभक्तिकार्य) । >वार्तिक का दूसरा उदाहरण—**वारुडकिः** (वरुड की सन्तान) । **विग्रह**—वरुडस्य अपत्यम् । **प्रक्रिया**—वरुड+अक्+इ ('इञ्' प्रत्यय तथा 'प्रकृति' के अन्त्य' 'अल्' को अक् (अकङ्) > वारुडकि (आदिवृद्धि) > वारुडकिः (प्रथमा विभक्ति का एकवचन) । इसी प्रकार उपर्युक्त वार्तिक से सम्बद्ध शब्दों के **उदाहरण—नैषादकिः, चाण्डालकिः, बैम्बकिः** भी इसी प्रकार समझें ।

वैयासकिः । वारुडकिः इत्यादि । (१०९९) गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ४ । १ । ९८ ॥ (११००) व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ५ । ३ । ११३ ॥ व्रातवाचिभ्यः च्फञन्तेभ्यश्च स्वार्थे ञ्यः स्यात् न तु स्त्रियाम् । कौञ्जायन्यः । बहुत्वे तद्राजत्वाल्लुग्वक्ष्यते । ब्राध्नायन्यः ।

परस्य प्रसक्ताया वृद्धेः निषेधः तत्रैव ऐजागमाविति विषयनिर्देशार्थत्वात् । तेन दाध्यश्विरित्यादौ न । वृद्धिनिषेधोऽयं येन नाप्राप्तिन्यायेन आदिवृद्धेरेव । तेन द्वे अशीती भृतो द्व्याशीतिक इत्यत्र 'सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च' इत्युत्तरपदवृद्धिर्भवत्येव । वरुडादयो जातिविशेषाः । वारुडकिः, नैषादकिः, चाण्डालकिः, बैम्बकिः ।

(१०९९) गोत्रे कुञ्ज । स्पष्टम् । इञोऽपवादः । च्फञि चञाविती ।

(११००) व्रातच्फञोः । व्रातश्च च्फञ्च इति द्वन्द्वाद्व्यत्ययेन षष्ठी । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । तदाह—व्रातवाचिभ्य इति । स्वार्थे ञ्यः स्यादिति । 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' इत्यतः ञ्यः इत्यनुवर्तते । स च स्वार्थिकः, 'ञ्याद्यः प्राग्वुनः' इति स्वार्थिकेषु परिगणनादिति भावः । कौञ्जायन्यः । कुञ्जस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहः । च्फञि चञाविती । आयन्नादेशः, आदिवृद्धिः, ततो ञ्यः । ञकार इत् । 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । तद्राजत्वादिति । 'ञ्यादयस्तद्राजाः' इति वचनादिति भावः । लुग्वक्ष्यते इति । 'तद्राजस्य बहुषु' इत्यनेनेति शेषः । ब्राध्नायन्य इति । ब्रध्नस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहः । च्फञादि पूर्ववत् । ञ्यविधाव-

---

विशेष—(१) 'व्यास' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है । **विग्रह**—वेदान् व्यस्यति (वेदों का विभाजन करने वाला) । **प्रक्रिया**—वेद-वि-√अस्+अण् ("कर्मण्यण्" ३-२-१) > वेद-वि-आस्+अ (उपधा-वृद्धि-"अत उपधायाः" ७-२-११६) > वेदव्यास (यण्-वि+आस=व्यास) > व्यास (पूर्वपद'वेद' का लोप—सत्यभामा आदि में 'भामा' आदि के समान→**नामैकदेशग्रहणम्**) व्यासः (प्रथमा विभक्ति) ।

(२) प्रकृत सूत्र से विधीयमान 'ऐच्' आगम से ही वृद्धि का अपवाद सिद्ध रहा, पुनः वृद्धि-निषेध करने की क्या आवश्यकता है ? इस सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि 'जहाँ यकार तथा वकार से परवर्ती वर्ण को वृद्धि की सम्भावना हो, वहीं आदि-वृद्धि का निषेध होगा' । इस प्रकार वृद्धि के निषेध द्वारा विषय का निर्देश किया गया है । तदनुसार द्व्याशीतिकः (१६० वर्ष या मास के लिये) (द्वे अशीती भृतः) में (द्वि-अशीति+ठञ् =इक-"तमधीष्टो भृतो भूतो भावी" ५-१-८०) उत्तरपद-वृद्धि—'अशीति' शब्द के 'अ'कार को—होती है । अन्यथा वहाँ "संख्यायाः संवत्सर-संख्यस्य च" ७-३-१५ से प्राप्त वृद्धि होती है ।

(१०९९) पद—गोत्रे, कुञ्जादिभ्यः, च्फञ् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—(आगे सूत्र के साथ संबद्ध है) ।

विवरण—प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । सूत्रोक्त पदों के साथ एकवाक्यता करने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कुञ्जादि षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में 'च्फञ्' प्रत्यय हो" । 'इञ्' का अपवाद है । 'च्फञ्' में 'च्' तथा 'ञ्' इत्संज्ञक हैं । केवल 'फ' अवशिष्ट रहता है । उसके स्थान पर 'आयन' आदेश होगा । उदाहरण आगे दिया जायगा ।

(११००) पद—व्रातच्-फञोः, अस्त्रियाम् । **अनुवृत्ति**—ञ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'च्फञ्'—प्रत्ययान्त शब्दों तथा व्रातवाची प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं । उदा० १—कौञ्जायन्यः । 'तद्राज' संज्ञा होने से बहुवचन की

स्त्रियां कौञ्जायनी । गोत्रत्वेन जातित्वाद् ङीष् । अनन्तरापत्ये कौञ्जिः । (११०१) नडादिभ्यः फक् ४ । १ । ९९ ॥ गोत्र इत्येव । नाडायनः । चारायणः । अनन्तरो

स्त्रियामित्यस्य प्रयोजनमाह—**स्त्रियां कौञ्जायनीति** । कुञ्जस्यापत्यं स्त्री इति विग्रहः । स्त्रीत्वादिह न ञ्यप्रत्यय इति भावः । अदन्तत्वादिह टापमाशङ्क्याह—**गोत्रत्वेनेति** । कृते तु ञ्यप्रत्यये योपधत्वाज्जातिलक्षणङीषभावे टाप् स्यादिति भावः । च्फञ्विधौ गोत्रग्रहणस्य प्रयोजनमाह—**अनन्तरापत्ये कौञ्जिरिति** ।

(११०१) **नडादिभ्यः फक्** । इञोऽपवादः । **अनन्तरो नाडिरिति** । अनन्तरापत्यस्य गोत्रत्वाभावात् फगभावे इञेवेत्यर्थः ।

विवक्षा में (.अण् का) लोप कहेंगे । २—ब्राध्नायन्यः । स्त्रीलिङ्ग में कौञ्जायनी । 'गोत्र' में जातिप्रयुक्त 'ङीष्' हुआ है । साक्षात् पुत्ररूप सन्तति में—कौञ्जिः ।

विवरण—उपर्युक्त पूर्व सूत्र (१०९९) के सन्दर्भ में यह सूत्र यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है । 'च्फञ्' प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्त्री-लिङ्ग के अतिरिक्त अन्य लिङ्गों की विवक्षा में एक दूसरे प्रत्यय का विधान बतलाया जा रहा है । सूत्रस्थ 'व्रातच्फञोः' षष्ठयन्त-पद (व्रातश्च च्फञ् च—व्रातच्फञौ, तयोः) पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है । 'विधान-सूचक 'ञ्यः' की अनुवृत्ति अष्टाध्यायी-क्रम में इससे पूर्ववर्ती सूत्र "पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्" (५-३-११२) से आती है । वह प्रत्यय स्वार्थ में ही होता है । शेष तद्धित-प्रकरण-सम्बन्धी अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "व्रातवाची तथा 'च्फञ्' प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है" । अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता । **उदाहरण**—(१) कौञ्जायन्यः (कुञ्ज का गोत्रापत्य) । **विग्रह**—कुञ्जस्य गोत्रापत्यम् । **प्रक्रिया**—(क) कुञ्ज+ङस्+च्फञ् ("गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्" ४-१-९८) ▷ कुञ्ज+फ ('च्' तथा 'ञ्' की इत्संज्ञा) > कुञ्ज+आयन (फ=आयन) >कौञ्ज+आयन (आदिवृद्धि) । (ख) कौञ्जायन+य (च्फञन्त से पुनः 'ञ्य'—"व्रातच्फञोरस्त्रियाम्" ५-३-११३) ▷कौञ्जायन्यः ('अ' का लोप "यस्येति च" ६-४-१४८ तथा विभक्ति-कार्य) । द्विवचन में कौञ्जायन्यौ । बहुवचन में कौञ्जायनाः । यहाँ तद्राजसंज्ञा होने के कारण 'ञ्य' प्रत्यय का लोप हो जाता है—"तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्"—२-४-६२) । (२) ब्राध्नायन्यः (ब्रध्न का पौत्र आदि) । **विग्रह**—ब्रध्नस्य गोत्रापत्यम् । सिद्धि पूर्ववत् । द्विवचन में ब्राध्नायन्यौ तथा बहुवचन में ब्राध्नायनाः ।

प्रत्युदाहरण—(१) प्रकृत सूत्र में 'अस्त्रियाम्' पद का निवेश होने के फलस्वरूप कौञ्जायनी (कुञ्ज की पौत्री आदि) में केवल 'च्फञ्' प्रत्यय ही हुआ, तदन्त से 'ञ्य' प्रत्यय नहीं हुआ । 'गोत्र' शब्द जाति-परक होने के कारण स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीष्' होता है—"जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (४-१-६३) । 'ङीष्' प्रत्यय 'टाप्' का बाधक है । इसी प्रकार ब्राध्नायनी आदि रूप होंगे ।

(२) पूर्व सूत्र से 'गोत्रे' की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप कौञ्जिः (कुञ्ज का पुत्र) में 'इञ्' प्रत्यय होता है—"अत इञ्" ४-१-९५ ।

विशेष—'च्फञ्' प्रत्यय में 'च्' की इत्संज्ञा होने के कारण तदन्त शब्द अन्तोदात्त होते हैं—"चितः" ६-१-६३ । 'ञ्' इत्संज्ञक होने से आदि-वृद्धि होती है । इसी प्रकार 'ञ्य' प्रत्यय में भी 'ञ्' की इत्संज्ञा होने का फल यही जानें ।

(११०१) पद—नडादिभ्यः, फक् । **अनुवृत्ति**—गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—गोत्र में ही ('फक्' होता है) । उदा०-१-नाडायनः । २-चारायणः । साक्षात्पुत्र-नाडिः ।

विवरण—सूत्र सं० १०९९ से 'गोत्रे' की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप "नडादि-गण-पठित

नाडिः। (११०२) हरितादिभ्योऽञः ४।१।१००॥ एभ्योऽञन्तेभ्यो यूनि फक्। हारितायनः। इह गोत्राधिकारेऽपि सामर्थ्याद्यून्ययम्। न हि गोत्रादपरो गोत्रप्रत्ययः। बिदाद्यन्तर्गणो हरितादिः। (११०३) यञिञोश्च ४।१।१०२॥ गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात्फक् स्यात्। 'अनाति' इत्युक्तेः 'आपत्यस्य' (सू १०८२) इति यलोपो न।

(११०२) हरितादिभ्योऽञः इत्यादि स्पष्टम्।

(११०३) यञिञोश्च। गोत्रे इत्यधिकृतं यञिञोर्विशेषणम्, न तु विधेयस्य फकः, व्याख्यानात्। तदाह—गोत्रे यौ यञिञाविति। सामर्थ्याद्यून्ययम्। न हि गोत्रप्रत्ययात् गोत्रप्रत्ययोऽस्ति, 'एको गोत्रे' इति नियमात्। अनातीति। गर्गस्य गोत्रं गार्ग्यः। गर्गादित्वाद्यञ्। गार्ग्यस्यापत्यं युवेत्यर्थे यञन्तात् फकि आयन्नादेशे अनातीति पर्युदासात् 'आपत्यस्य च' इति यलोपाभावे णत्वे गार्ग्यायण इति रूपमित्यर्थः। दाक्षायण इति।

षष्ठयन्त प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में 'फक्' प्रत्यय होता है"। "अत इञ्" ४-१-९५ से प्राप्त 'इञ्' प्रत्यय का यह अपवाद है। **उदाहरण—नाडायनः** (नड का गोत्रापत्य)। **विग्रह**—नडस्य गोत्रापत्यम्। **प्रक्रिया**—नड+फक्>नड+आयन (फ=आयन) नाड+आयन (आदि-वृद्धि "किति च" ७-२-११८)< नाडायनः (भसंज्ञक 'अ'कार का लोप तथा विभक्तिकार्य) (२) **चारायणः** (चर का गोत्रापत्य)। विग्रहादि कार्य पूर्ववत्। यहाँ 'न' के स्थान पर 'ण' भी होगा।

प्रत्युदाहरण—'गोत्रे' की अनुवृत्ति होने के कारण नड के साक्षात् पुत्र की विवक्षा में नाडिः (नड+इञ्)।

(११०२) पद—हरितादिभ्यः, अञः। **अनुवृत्ति**—फक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अञ्'—प्रत्ययान्त हरितादि से युवार्थ में 'फक्' हो। उदा० हारितायनः। 'गोत्रे' का अधिकार होने पर भी सामर्थ्य-वश यह (फक्) युवापत्य में होगा, क्योंकि एक गोत्र-प्रत्यय से दूसरा गोत्र-प्रत्यय नहीं हो सकता। बिदादि-गण के अन्तर्गत हरितादि (शब्द) हैं।

विवरण—सूत्र में विधेय-वाची पद 'फक्' का लाभ पूर्व सूत्र (११०१) से अनुवृत्ति-वश होता है। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। सबके साथ एकवाक्यता कर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'अञ्'-प्रत्ययान्त हरितादि प्रातिपदिकों से 'अपत्य' अर्थ में 'फक्' प्रत्यय हो"। हरितादि प्रातिपदिक 'बिदादि' के अन्तर्गत हैं। अतः उन शब्दों से पहले "अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्" (४-१-१०४) से 'अञ्' प्रत्यय होगा, तत्पश्चात् प्रकृत सूत्र से 'फक्' प्रत्यय होगा। **उदाहरण—हारितायनः** (हरित का प्रपौत्र)। **प्रक्रिया**—(क) हरित+अञ् ▷ हारितः। ततः (ख) हारित+फक् ▷ हारित+आयन ▷ हारितायनः।

विशेष—प्रकृत सूत्र में यद्यपि 'गोत्रे' का अधिकार है, एवं हरितादि शब्दों से पहले होने वाला 'अञ्' प्रत्यय गोत्रार्थ की विवक्षा में हुआ है, अतः यहाँ "एको गोत्रे" (४-१-९३) के नियमन से पुनः गोत्र में 'फक्' प्रत्यय नहीं हो सकता। इस प्रकार विधान-सामर्थ्य से यह प्रत्यय युवापत्य में होगा। इसीलिये यहाँ 'गोत्रे' की अनुवृत्ति नहीं दिखलाई गई है।

(११०३) पद—यञिञोः, च। **अनुवृत्ति**—फक्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गोत्र में विहित यञन्त एवम् इञन्त प्रत्ययों से 'फक्' हो। 'आकार-भिन्न' ('अनाति') कहने से "आपत्यस्य०" सूत्र से 'य्' का लोप नहीं होगा। उदा० १—गार्ग्यायणः। २—दाक्षायणः।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति में विधेय-वाची 'फक्' की अनुवृत्ति "नडादिभ्यः फक्" (४-१-९९) तथा 'गोत्रे' की अनुवृत्ति "गोत्रे कुञ्जादिभ्यः०" (४-१-९८) सूत्रों से आती है।

गार्ग्यायणः। दाक्षायणः। (११०४) शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु ४। १। १०२॥ गोत्रे फक्। अञिञोरपवादः। आद्यौ बिदादी। शारद्वतायनो भार्गवश्चेत्, शारद्वतोऽन्यः। शौनकायनो वात्स्यश्चेत्, शौनकोऽन्यः। दार्भायणः आग्रायणश्चेत्, दार्भि-

---

दक्षस्य गोत्रापत्यं दाक्षिः, अत इञ्, दाक्षेरपत्यं युवा दाक्षायणः। इञन्तात्फक्। गोत्रे किम्? सुतङ्गमस्यादूरभवः इत्यर्थे 'सुतङ्गमादिभ्य इञ्' इति इञि सौतङ्गमेरपत्ये न फक्।

(११०४) शरद्वच्छुनक। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—गोत्रे फगिति। आद्यौ बिदादी इति। शरद्वच्छुनकशब्दौ बिदादी। अतः तदुभयविषये अञपवाद इत्यर्थः। दर्भविषये त्विञोऽपवाद इति स्पष्टमेव। दर्भः कश्चिदृषिः। ऋष्यणं बाधित्वा बाह्वादित्वादिञ्। आग्रायणश्चेदिति। अग्रो नाम कश्चिदृषिः। नडादिफगन्तोऽयम्।

'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय हैं, अतः तदन्तविधि अपेक्षित है। तब सूत्रार्थ यह होगा कि "गोत्रार्थ में विहित 'यञ्'-प्रत्ययान्त और 'इञ्'-प्रत्ययान्त से 'फक्' प्रत्यय होता है"। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ भी "गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्" (४-१-९४) नियम के कारण 'फक्' प्रत्यय युवापत्य में ही होगा। अनुवृत्त गोत्रे पद 'यञिञोः' का विशेषण माना गया है। (१) उदाहरण—'यञ्'-प्रत्ययान्त का—**गार्ग्यायणः** (गर्ग का युवापत्य—प्रपौत्र)। **प्रक्रिया**—(क) गर्ग+यञ् ("गर्गादिभ्यो यञ्" ४-१-१०५) > गार्ग्यः। (ख) गार्ग्य+फक् > गार्ग्य+आयन्-अ > (फ्=आयन्) > गार्ग्यायणः (णत्व एवं विभक्तिकार्य)। (२) इञन्त का **उदाहरण**—**दाक्षायणः** (दक्ष का प्रपौत्र आदि)। **विग्रह**—दक्षस्य गोत्रापत्यम्। **प्रक्रिया**—(क) दक्ष+इञ् ("अत इञ्" ४-१-९५) > दाक्ष्+इ (आदिवृद्धि) ⊳ दाक्षिः। (ख) दाक्षेः युवापत्यम् दाक्षि+फक् > दाक्षि+आयन (फ=आयन) ⊳ दाक्षायण ('इ' का लोप तथा णत्व) > दाक्षायणः (विभक्ति-कार्य)।

विशेष—'गार्ग्यायणः में 'य्' का लोप 'आ'कार पर होने के कारण नहीं हुआ, क्योंकि "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" (६-४-१५१) सूत्र में 'अनाति' (न आति) पद का सन्निवेश होने से 'य्' से 'आ' का परवर्ती होना अपेक्षित नहीं है।

(११०४) पद—शरद्वच्छुनकदर्भात्, भृगुवत्साग्रायणेषु। **अनुवृत्ति**—फक्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गोत्रार्थ में 'फक्' हो। 'अञ्' और 'इञ्' का अपवाद है। आरम्भ के दो (शब्द) बिदादि (गणस्थ) हैं। उदा० १—शारद्वतायनः—भृगुवंशज हो तो। अन्यत्र—शारद्वतः। २—शौनकायनः—वत्स-वंशज हो तो। अन्यत्र—शौनकः। ३—दार्भायणः—यदि अग्र-ऋषि का वंशज हो तो। अन्यत्र—दार्भिः।

विवरण—"नडादिभ्यः फक्" (४-१-९९) से अनुवर्तमान 'फक्' का ही प्रकरण है। अर्थ-विशेष को अभिलक्षित कर "'शरद्वत्', 'शुनक' तथा 'दर्भ'—इन तीन प्रातिपदिकों से यथासंख्य भृगु, वत्स, आग्रायण गोत्रस्थ वाच्य होने पर 'फक्' प्रत्यय होता है"। यह सूत्र 'अञ्' तथा 'इञ्' प्रत्ययों का बाधक है। इन तीन प्रातिपदिकों मे से आदिम दो—'शरद्वत' तथा 'शुनक'—बिदादि-गण में पठित हैं। अतः उन स्थलों में "अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्" ४-१-१०४ का यह बाधक है। तथा तीसरे 'दर्भ' शब्द में "अत इञ्" (४-१-९५) से प्राप्त 'इञ्' का बाधक है। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **शारद्वतायनः** ('शरद्वत' के पौत्र आदि वंशज जो भार्गव हों)। **विग्रह**—शरद्वतः गोत्रापत्यम्। **प्रक्रिया**—शरद्वत+फक् > शरद्वत+आयन ⊳ शारद्वत+आयन (आदि-वृद्धि) ⊳ शारद्वतायनः। (२) **शौनकायनः** (शुनक के पौत्र आदि वंशज, जो

रन्यः । (११०५) द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम् ४ । १ । १०३ ॥ एभ्यो गोत्रे फग्वा । द्रौणायनः—द्रौणिः । पार्वतायनः—पार्वतिः । जैवन्तायनः—जैवन्तिः । अनादिरिह द्रोणः । अश्वत्थाम्न्यनन्तरे तूपचारात् । (११०६) अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ४ । १ । १०४ ॥ एभ्योऽञ् गोत्रे, ये त्वत्रानृषयः (पुत्रादयः) तेभ्यः

(११०५) द्रोणपर्वत । अनादिरिति । अश्वत्थाम्नः पिता यो महाभारते कलेरादौ प्रसिद्धः तदपेक्षया अन्य एवायं अनादिर्द्रोण इत्यर्थः । अश्वत्थाम्नीति । द्रोणाचार्यस्यानन्तरापत्ये अश्वत्थाम्नि द्रौणायन इति प्रयोग इत्यर्थः । तदिदं 'बाह्वादिभ्यश्च' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

(११०६) अनृष्यानन्तर्ये । अनृषीति लुप्तपञ्चमीकम् । बिदादिभ्योऽञ् इति द्विरावर्तते । तथा च 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्' इति कृत्स्नमेकं वाक्यम् । बिदादिभ्योऽञ् इति वाक्यान्तरम् । तत्र द्वितीयं वाक्यं व्याचष्टे । एभ्योऽञ् गोत्रे इति । गोत्रे विवक्षिते । बिदादिभ्यः अञ् स्यादित्यर्थः । अत्र प्रथमं वाक्यं कृत्स्नसूत्रं व्याचष्टे—ये त्विति । अनृषिभ्यो बिदादिभ्यः अनन्तरापत्ये अञ् स्यादित्यक्षरार्थः । बिदादौ हि ऋषयः अनृषयश्च पठिताः । तत्र ये अनृषयः तेभ्योऽनन्तरापत्ये अञिति फलितमिति भावः । ननु आनन्तर्ये

वात्स्य हों) । विग्रह—शुनकस्य गोत्रापत्यम् । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् । (३) दार्भायणः (दर्भ के पौत्र आदि वंशज जो आग्रायण हों) । विग्रह—दर्भस्य गोत्रापत्यम् । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् । उसके अतिरिक्त यहाँ 'न्' को 'ण्' भी होता है ।

प्रत्युदाहरण—(१) शारद्वतः (शरद्वत् के पौत्रादि, जो भार्गव न हों) । शरद्वत्+अञ् । (२) शौनकः—(शुनक के पौत्रादि, जो वात्स्य न हों) शुनक+अञ् । (३) दार्भिः (दर्भ के पौत्रादि जो आग्रायण न हों) । दर्भ+इञ् ।

(११०५) पद—द्रोणपर्वतजीवन्तात्, अन्यतरस्याम् । अनुवृत्ति—फक्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इनसे गोत्रार्थ में विकल्प से 'फक्' हो । उदा० १—द्रौणायनः—द्रौणिः । २—पार्वतायनः—पार्वतिः । ३—जैवन्तायनः—जैवन्तिः । यहाँ 'द्रोण' अनादि है । अश्वत्थामारूप द्रोण के साक्षात् पुत्र अर्थ में 'द्रौणायनः' प्रयोग लाक्षणिक है ।

विवरण—विशेष अर्थ को अभिलक्षित कर कुछ ऋषि-वाचक शब्दों से 'फक्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ—द्रोण, पर्वत तथा जीवन्त—इन तीन प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य वाच्य रहते विकल्प से 'फक्' प्रत्यय होता है" । यह सूत्र "अत इञ्" (४-१-९५) का अपवाद है । पक्ष में 'इञ्' भी होगा । क्रमशः उदाहरण—(१) द्रौणायनः→ फक् होने पर । द्रौणिः←'फक्' न होने पर ('इञ्' हुआ) । अर्थ—द्रोण के पौत्र आदि वंशज, जो महाभारत से भिन्न हों । (२) पार्वतायनः→'फक्' होने पर । पार्वतिः←फक् न होने पर ('इञ्' हुआ) । विग्रह—पर्वतस्य गोत्रापत्यम् । अर्थ—पर्वत के पौत्र आदि । (३) जैवन्तायनः →'फक्' होने पर । जैवन्तिः←'फक्' न होने पर (इञ्) । विग्रह—जीवन्तस्य गोत्रापत्यम् । अर्थ—जीवन्त के पौत्र आदि वंशज ।

(११०६) पद—अनृषि, आनन्तर्ये, बिदादिभ्यः, अञ् । अनुवृत्ति—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इनसे गोत्रार्थ में 'अञ्' हो, किन्तु ऋषि-भिन्नों से अपत्य अर्थ में 'अञ्' हो । सूत्रस्थ 'आनन्तर्य' पद (प्रकृत्यर्थ में) 'ष्यञ्' प्रत्यय से निष्पन्न है । उदा० बिदस्य गोत्रापत्यम्—बैदः ।

अनन्तरे । सूत्रे स्वार्थे यञ् । बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः अनन्तरो बैदिः । बाह्वादेराकृतिगणत्वादिञ् । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । दौहित्रः । (११०७) गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५ ॥

इति श्रवणादनन्तर इति कथमित्यत आह–**सूत्रे स्वार्थे ष्यञिति** । अनन्तरशब्दादिति शेषः । चतुर्वर्णादित्वादिति भावः । **बिदस्य गोत्रापत्यं बैद इति** । बिदस्य ऋषित्वात्ततो गोत्र एवाञिति भावः । ऋष्यणोऽपवादः । स्वरे विशेषः । ननु अनन्तरापत्ये अञभावे इञपवादः ऋष्येवोचित इति कथमनन्तरो बैदिरित्यत आह—**बाह्वादेरिति** । बिदादिगणस्थादनृषेरनन्तरापत्ये अञमुदाहरति—**पौत्रः दौहित्र इति** । पुत्रस्यानन्तरापत्यमिति दुहितुरनन्तरापत्यमिति च विग्रहः । यथायथमणिञोरपवादः अञ् ।

(११०७) गर्गादिभ्यो यञ् । गार्ग्यः । वात्स्य इति । गर्गस्य गोत्रापत्यमिति

बाह्वादि आकृतिगण होने से अनन्तरापत्य अर्थ में इञ्—बैदिः । (२) पुत्रस्य अपत्यम्—पौत्रः । (३) दौहित्रः ।

विवरण—सूत्रस्थ 'अनृषि' पद लुप्त-पञ्चम्यन्त है । अर्थ करने में 'अनृषिभ्यः' समझा जायेगा । यह पद 'बिदादिभ्यः' का विशेषण है । 'बिदादिभ्यः' की आवृत्ति की जाती है । प्रथम वाक्य की स्थिति होगी—**अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्यः अञ्** । द्वितीय वाक्य होगा—**बिदादिभ्यः अञ् गोत्रे** । इसके साथ ही सूत्रस्थ 'आनन्तर्य' पद 'ष्यञ्'—प्रत्ययान्त अवश्य है, किन्तु वहाँ प्रत्ययार्थ का बोध अपेक्षित नहीं है । अतः वहाँ 'ष्यञ्' प्रत्यय केवल अपने प्रकृतिभूत शब्द 'अनन्तर' (अर्थात् अपत्य) का ही बोधक है । आधिकारिक पदों के साथ सूत्रस्थ पदों का अन्वय करते हुए सूत्र का यह आशय विदित होता है कि "षष्ठी-समर्थ बिदादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में 'अञ्' प्रत्यय होता है, किन्तु इसी गण में पठित ऋषिवाची-भिन्न शब्दों से अनन्तरापत्य में ही 'अञ्' प्रत्यय होगा" । इससे यह निष्कर्ष निकला कि बिदादिगण के अन्तर्गत दोनों प्रकार के शब्द हैं—(१) ऋषिवाची तथा (२) ऋषिभिन्नवाची । सूत्र में प्रयुक्त पदों के सन्दर्भ में ऋषि-भिन्न-वाचकों से साक्षात् पुत्र और दुहितृ अर्थ को विदित कराने में ही 'अञ्' प्रत्यय होगा, गोत्रापत्य में नहीं । इस प्रकार कहने पर अर्थापत्ति द्वारा दूसरा अर्थ यह निकला कि "बिदादि-गण के अन्तर्गत ऋषिवाची शब्दों से गोत्रार्थ में 'अञ्' प्रत्यय होगा, अनन्तरापत्य में नहीं" । **उदाहरण**—(क) **ऋषिवाची-बैदः** (बिद ऋषि के पौत्र आदि) । बिदस्य गोत्रापत्यम् । **प्रक्रिया**—बिद+अञ् > बैद्+अ (आदिवृद्धि) > बैद ('अ' का लोप) > बैदः (विभक्ति-कार्य) । ऋषिवाचक से ही साक्षात् पुत्र-अर्थ में—**बैदिः** ("बाह्वादिभ्यश्च" ४-१-९६-इञ्) । (ख) **ऋषिभिन्न-वाची**-(१) **पौत्रः** (पुत्र का पुत्र) । **विग्रह**—पुत्रस्य अपत्यं पुमान् । **प्रक्रिया**—पुत्र+अञ् > पौत्र+अ > पौत्रः । सिद्धि पूर्ववत् । (२) **दौहित्रः** (नाती) । **विग्रह**—दुहितुः अपत्यं पुमान् । **प्रक्रिया**—दुहितृ+अञ् > दौहितृ+अ (आदिवृद्धि) > दौहित्र (ऋ+अ = र—यण्) > दौहित्रः (विभक्तिकार्य) ।

विशेष—(क) ऋषि-वाचक 'बिद' शब्द से गोत्रापत्य में "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" ४-१-११४ से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का यह अपवाद है । (ख) पौत्रः तथा दौहित्रः में प्रकृत सूत्र से विहित 'अञ्' प्रत्यय क्रमशः 'इञ्' ("अत इञ्" ४-१-९३) तथा 'अण्'—"तस्यापत्यम्" (४-१-९२) प्रत्ययों का बाधक है । 'अण्' एवम् 'अञ्' में यद्यपि रूपसाम्य है, तथाऽपि स्वर में भिन्नता है । 'ञ्' इत्संज्ञक प्रत्ययान्त शब्दों का आदि उदात्त होता है—"ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६-१-१९७) ।

(११०७) पद—गर्गादिभ्यः, यञ् । **अनुवृत्ति**—गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

गोत्रे इत्येव । गार्ग्यः । वात्स्यः । (११०८) यञञोश्च २ । ४ । ६४ ॥ गोत्रे यद्य-न्तमञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक्स्यात्तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः । विदाः । उर्वाः । तत्कृते इति किम् ? प्रियगार्ग्याः । स्त्रियां तु गार्ग्यः स्त्रियः । गोत्रे किम् ? द्वैप्याः । औत्साः । प्रवराध्यायप्रसिद्धमिह गोत्रम् । तेनेह न । पौत्राः । दौहित्राः ।

वत्सस्य गोत्रापत्यमिति च विग्रहः । रामो जामदग्न्यः, पाराशर्यो व्यासः इत्यादौ तु अनन्तरापत्ये गोत्रत्वारोपाद्यञित्याहुः ।

(११०८) यञञोश्च । द्वितीयचतुर्थपादे इदं सूत्रम् । न त्विदं चातुर्थिकमपत्या-धिकारस्थम् । तत्र प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम् । 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति सूत्रं तद्राजस्येतिवर्जमनुवर्तते । 'ण्यक्षत्रिय' इत्यतो लुगिति 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' इति गोत्रे च । तदाह—गोत्रे यदिति । एतयोरिति । यञञोरित्यर्थः । प्रत्ययादर्शनस्यैव लुक्त्वा-दिति भावः । तत्कृते इति । यञञ्प्रत्ययार्थगतबहुत्वे इति यावत् । गर्गा इति । गर्गस्याप-त्यानीत्यादिविग्रहः । प्रियगार्ग्या इति । प्रियो गार्ग्यो येषामिति विग्रहः । अत्र यञर्थगत-बहुत्वाभावान्न लुगिति भावः । द्वैप्या इति । द्वीपे भवा इत्यर्थः । 'द्वीपादनुसमुद्रम्' इति यण् । औत्सा इति । उत्से भवा इत्यर्थः । 'उत्सादिभ्योऽञ्' इहोभयत्रापि यञञोर्गोत्र-

---

मूलार्थ—गोत्रापत्य अर्थ में ही ('यञ्' हो) । उदा० १—गार्ग्यः । २—वात्स्यः ।

विवरण—सूत्रार्थ के लिये प्रमुख अनुवृत्ति 'गोत्रे' अपेक्षित है ("गोत्रे कुञ्जादिभ्यः च्फञ्" ४-१-९८) । आधिकारिक अनुवृत्तियों के साथ एकवाक्यता करने पर यह अर्थ होगा कि "गर्गादि षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में 'यञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) गार्ग्यः (गर्ग का पौत्रादि) । गर्गस्य गोत्रापत्यम् । गर्ग+यञ् > गर्ग+य > गार्ग+य (आदिवृद्धि) > गार्ग्यः ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) । (२) वात्स्यः (वत्स का पौत्रादि) । **विग्रह**—वत्सस्य गोत्रापत्यम् । शेष कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—जामदग्न्यः (=परशुराम) तथा पाराशर्यः (=व्यास) आदि प्रयोगों की समी-चीनता के लिये अनन्तरापत्य (पुत्र) अर्थ में 'गोत्र' का आरोप कर 'यञ्' प्रत्यय किये जाने की कल्पना की जाती है ।

(११०८) पद—यञञोः, च । **अनुवृत्ति**—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैवास्त्रियाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गोत्रार्थक यञन्त और अञन्त के अवयव 'यञ्' और 'अञ्' का तत्कृत बहुत्व गम्यमान होने पर लोप होता है । किन्तु स्त्री-लिङ्ग में 'लुक्' नहीं होता । उदा० १—गर्गाः । २—वत्साः । ३—विदाः । ४—उर्वाः । 'तत्कृते' क्यों कहा ? प्रियगार्ग्याः (लोप नहीं हुआ) । स्त्रीलिङ्ग में—गार्ग्यः स्त्रियः ('लुक्' नहीं हुआ) । 'गोत्रे' क्यों कहा ? द्वैप्याः तथा औत्साः ('लुक्' नहीं हुआ) । यहाँ प्रवराध्याय प्रसिद्ध 'गोत्र' लिया गया है । अतः 'पौत्राः', 'दौहित्राः' में भी लुक् नहीं होता है ।

विवरण—'यञ्' प्रत्ययान्त शब्दों के प्रसङ्ग में बहु-वचन की विवक्षा में 'यञ्' प्रत्यय का 'लुक्' (=लोप)—विधान बतलाया जा रहा है । अतः तदुपयोगी सूत्र को प्रसङ्गवश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है । प्रकृत सूत्र द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद में पठित है । तदनुसार वहाँ की अनुवृत्तियों पर विचार करना होगा । सर्वप्रथम विधेय की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये "ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः" २-४-५८ से 'लुक् की अनुवृत्ति अपेक्षित है । "तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्" २-४-६२ से 'बहुषु 'तेनैवास्त्रियाम्', एवं "यस्कादिभ्यो गोत्रे" २-४-६३ से 'गोत्रे' पद की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं । सूत्र में प्रयुक्त 'यञ्' और 'अञ्' दोनों पद प्रत्यय-वाची हैं । 'यञ्' का विधान "गर्गादिभ्यो यञ्" ४-१-१०५ आदि सूत्रों से और 'अञ्' का विधान "अनृष्या-

वाचित्वाभावान्न लुगिति भावः। ननु पौत्राः दौहित्राः इत्यत्राप्यनृषिबिदादिलक्षणाञो लुक् स्यात्। न च तस्यानन्तरापत्यवाचित्वाद् गोत्रवाचित्वाभावान्न लुगिति वाच्यम् 'यूनि लुक्' इति सूत्रभाष्ये अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकमेव गोत्रं गृह्यते इति सिद्धान्तितत्वादित्यत आह—**प्रवरेति**। 'कश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः। जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयः स्मृताः॥' 'तेषां यदपत्यं तद् गोत्रमित्याचक्षते' इति—बौधायनीयादिप्रवराध्याय-

---

नन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्" ४-१-१०४ आदि सूत्रों से होता है। प्रत्यय-ग्रहण परिभाषा से 'यञ्' और 'अञ्' में तदन्त-विधि होगी। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "स्त्री-लिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्गों में गोत्र–अर्थ में वर्तमान 'यञ्' प्रत्ययान्त एवम् 'अञ्' प्रत्ययान्त का बहुवचन में लोप होता है"। "निर्दिश्यमानस्य आदेशाः भवन्ति"—परिभाषा के आश्रय से यह लोप "'यञ्' और 'अञ्' प्रत्ययान्त के अवयवस्वरूप केवल 'यञ्' और 'अञ्' का ही लोप होगा"। **उदाहरण**—(१) 'यञ्' प्रत्यय का—**गर्गाः** (गर्ग के बहुत से गोत्रापत्य पुरुष)। **विग्रह**—गर्गस्य गोत्रापत्यानि पुमांसः। **प्रक्रिया**—गर्ग+ङस्+यञ् > गर्ग+य (विभक्तिलोप) ▷ गर्ग+य्+जस् > गर्ग+जस् ('यञ्' का लोप) > गर्गाः (पूर्वसवर्ण दीर्घ, रुत्व एवं विसर्ग)। इसी प्रकार '**वत्साः**' में भी जानें। (२) **'अञ्' लोप** का **उदहरण—बिदाः** (बिद के बहुत पौत्र आदि)। **विग्रह**—बिदस्य गोत्रापत्यानि। **प्रक्रिया**—बिद+ङस्–अञ्+जस् ("अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्" ४-१-११४) ▷ बिद+अ+जस् ▷ बैद+अ्+जस् ▷ बैद+अस् ('अञ्' का लोप > बैदाः। (३) इसी प्रकार **उर्वाः** (उर्व ऋषि के पौत्रादि) में भी 'अञ्' का लोप हुआ है। विग्रह आदि कार्य पूर्ववत्।

विशेष—'यञ्' एवम् 'अञ्' प्रत्ययों का लोप हो जाने पर प्रत्ययलक्षण का आश्रय लेकर प्राप्त आदिवृद्धि की सम्भावना का निराकरण "न लुमताङ्गस्य" १-१-६३ द्वारा निषेध किये जाने से हो जाता है।

प्रत्युदाहरण—(१) 'गोत्रे' की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप **प्रियगार्ग्याः** (जिनको गर्ग-गोत्रज प्रिय हों) में 'यञ्' (बहुवचन विभक्ति में) का लोप नहीं हुआ, क्योंकि वहाँ पर 'प्रियः गार्ग्यः येषां ते' बहुव्रीहि-परक विग्रह में अन्य-पदार्थगत बहुत्व विवक्षित है, न कि 'अपत्यकृत बहुत्व'। (२) 'अस्त्रियाम्' की अनुवृत्ति आने के फल-स्वरूप **गार्ग्यः**—स्त्रियः (गर्ग की पोती आदि) में 'यञ्' का 'लुक्' हुआ, क्योंकि यहाँ गोत्रापत्य कन्या-रूप में लिया गया है। (३) प्रकृत सूत्र में 'गोत्र' संज्ञक 'यञ्' तथा 'अञ्' का लोप ग्रहण करने के फलस्वरूप **द्वैप्याः** (द्वीप में रहने वाले→ द्वीपे भवाः) तथा **उत्साः** (उत्स में होने वाले→ उत्से भवाः) में बहुत्व विवक्षा होने पर भी 'यञ्' तथा 'अञ्' प्रत्ययों का क्रमशः लोप नहीं हुआ, क्योंकि वहाँ पर भवार्थक 'यञ्' तथा 'अञ्' प्रत्यय हैं। (४) सूत्रस्थ 'गोत्र' पद केवल धर्मशास्त्रोक्त प्रवराध्यीय में प्रसिद्ध कश्यप आदि सात ऋषियों की सन्तान के रूप में गृहीत है, जिसके फल-स्वरूप **पौत्राः** (पुत्र के अनेक पुत्र) तथा **दौहित्राः** (लड़की के बहुत से पुत्र) में भी बहुवचन-बिभक्ति का लुक् नहीं हुआ[1]।

---

१. तथा हि "यूनि लुक्" (४-१-९०) इति सूत्रे राजन्याद् वुञ् मनुष्याच्च ज्ञापकम्परङ्गोत्रम्। यदयं वुञ्-विधौ राजन्यमनुष्ययोर्वुञ् ग्रहणं करोति तज् ज्ञापयत्याचार्यः लौकिकम्परङ्गोत्रमिति। "गोत्रोक्षोष्ट्र०" (४-२-४९) इति सूत्रे राजन्यमनुष्यशब्दौ उपात्तौ। तौ च "गोत्रे कुञ्जादिभ्यः०" (४-१-९८) इत्यतो गोत्रग्रहणानुवर्तनात् शास्त्रीयगोत्राभिधायिनौ। ततश्च गोत्रग्रहणेनैव सिद्धे तयोर्ग्रहणम् अपत्याधिकाराद् अन्यत्र लौकिकं गोत्रमित्यस्य ज्ञापकम्। तथा च राजन्यमनुष्ययोः प्रवराध्यायप्रसिद्धत्वाभावेन गोत्रग्रहणेन एतयोः अग्रहणं स्यात् इति तयोः उपादानं सफलमिति। द्वितीये "अष्टाशीति सहस्राण्यूर्ध्वरेतसाम् ऋषीणां बभुवुः तत्र अगस्त्याष्टमैर्ऋषिभिः प्रजनोऽभ्युपगतः, तत्र भवतां यदपत्यान्तानि गोत्राणि" इत्युक्तम्।

(११०९) मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः ४ । १ । १०६ ॥ गोत्रे यञ् । माधव्यो ब्राह्मणः । माधवोऽन्यः । बाभ्रव्यः कौशिक ऋषिः । बाभ्रवोऽन्यः । बभ्रुशब्दस्य गर्गादिपाठात्सिद्धेऽपि नियमार्थमिदम् । गर्गादिपाठफलं तु लोहितादिकार्यम् । बाभ्रव्यायणी ।

प्रसिद्धः भार्गवादय एवेह गोत्रत्वेन विवक्षिता इत्यर्थः । कैयटेन लौकिकस्य गोत्रस्य ग्रहणमिति भाष्यमुपादाय तथैव व्याख्यातत्वादिति भावः । एवञ्च पौत्रा दौहित्राः इत्यादौ पौत्रदौहित्रयोः तथाविधगोत्रवाचित्वाभावान्न लुगिति स्थितम् । विस्तरस्तु शब्देन्दुशेखरे ज्ञेयः ।

(११०९) मधुबभ्र्वोः ब्राह्मणकौशिकयोः । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—गोत्रे यञिति । मधुशब्दाद् बभ्रुशब्दाच्च गोत्रापत्ये यञ् स्यात् ब्राह्मणे कौशिके च यथासङ्ख्यं वाच्ये इत्यर्थः । लोहितादिकार्यमिति । ष्फ इत्यर्थः । लोहितादिर्गर्गाद्यन्तर्गण इति भावः । बाभ्रव्यायणीति । बभ्रोर्गोत्रापत्यं स्त्रीति विग्रहः । गर्गादियञि बाभ्रव्यशब्दात् 'सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः' इति ष्फः । आयन्नादेशः । षित्वात् ङीषिति भावः ।

(११०९) पद—मधुबभ्र्वोः, ब्राह्मणकौशिकयोः । **अनुवृत्ति**—यञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(नियम)-सूत्र** ।

मूलार्थ—गोत्र में यञ् हो । उदा० १—माधव्यः—ब्राह्मणः । भिन्न अर्थ में—माधवः । २—बाभ्रव्यः—कौशिक ऋषिः । भिन्न अर्थ में—बाभ्रवः । 'बभ्रु' शब्द के गर्गादि में पठित होने से 'यञ्' हो ही जाता, तो भी नियम करने के लिये यह है । गर्गादि में पाठ करने का फल लोहितादि से 'ष्फ' प्रत्यय होने पर—बाभ्रव्यायणी रूप सिद्ध होता है ।

विवरण—विधेय 'यञ्' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र ('गर्गादिभ्यो यञ्' ४-१-१०५) से आती है । शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । तदनुसार "'मधु' तथा 'बभ्रु' शब्दों से क्रमशः (यथासंख्य) ब्राह्मण तथा कौशिक गोत्र वाच्य हों तो 'यञ्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण**—(१) माधव्यः (मधु नामक ब्राह्मण का गोत्रज) विग्रह—मधोः गोत्रापत्यम् । **प्रक्रिया**—मधु+य > मधो+य ("ओर्गुणः" ६-४-१४६) > मधव्य (ओ=अव्—"वान्तो यि प्रत्यये" ६-१-७६) > माधव्य (आदि-वृद्धि) > माधव्यः (विभक्ति-कार्य) । (२) बाभ्रव्यः (बभ्रु का वंशज कौशिक ऋषि) । विग्रहादि पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—(१) माधवः (ब्राह्मणेतर मधु नामक व्यक्ति का वंशज) । (२) बाभ्रवः (कौशिक गोत्र के अतिरिक्त किसी बभ्रु की सन्तान) । उक्त दोनों उदाहरणों में 'अण्' प्रत्यय ("तस्यापत्यम्" ४-१-९५) होकर आदिवृद्धि आदि कार्य होंगे ।

विशेष—(१) 'बभ्रु' शब्द गर्गादि गण में पठित है । तदनुसार 'यञ्' प्रत्यय स्वतः सिद्ध रहा । पुनः यहाँ 'यञ्' प्रत्यय का क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि "'बभ्रु' शब्द को कौशिक ऋषि वाच्य होनेपर ही 'यञ्' प्रत्यय हो" अन्यत्र नहीं । इस प्रकार नियमन से अन्य अर्थ में 'अण्' ही होता है । गर्गादि-गण में पाठ-वैयर्थ्य की कल्पना न करने के लिये यह उपाय बतलाया जा रहा है कि "गर्गादि के अन्तर्गत लोहितादि शब्द भी पठित हैं । लोहितादि में 'बभ्रु' शब्द का समावेश होने से "सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः" ४-१-१८ से स्त्रीत्व विवक्षा में 'ष्फ' (= आयन) प्रत्यय होने पर 'बाभ्रव्यायणी' (बभ्रु की पोती) शब्द निष्पन्न होता है" । यद्यपि यहाँ 'ष्फ' प्रत्यय में स्त्रीत्वरूप अर्थ उक्त है, तथापि "षिद्-गौरादिभ्यश्च" ४-१-४१ सूत्र में विशेषतया षकार-इत्संज्ञक प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से 'ङीष्' प्रत्यय का विधान होने के कारण उक्त रूप निष्पन्न होता है—बाभ्रव्य+आयन > बाभ्रव्यायन्+ई > बाभ्रव्यायणी (णत्व तथा विभक्तिकार्य) ।

(११११०) कपिबोधादाङ्गिरसे ४ । १ । १०७ ।। गोत्रे यञ्स्यात् । काप्यः । बौध्यः । अनाङ्गिरसे किम् ? कापेयः । बौधिः । **(११११) वतण्डाच्च ४ । १ । १०८ ।।** आङ्गिरसे इत्येव । वातण्ड्यः । अनाङ्गिरसे तु गर्गादौ शिवादौ च पाठाद्यञणौ । वातण्ड्यः–

(१११०) कपिबोधादाङ्गिरसे । गोत्रे यञ् स्यादिति । शेषपूरणमिदम् । कपिशब्दाद् बोधशब्दाच्च आङ्गिरसात्मके गोत्रे गम्ये यञ् स्यादित्यर्थः । कापेय इति । अत्र गोत्रस्य अनाङ्गिरसत्वात् यञभावे 'इतश्चानिञः' इति ढक् । बौधिरिति । अत्राप्यनाङ्गिरसत्वात् यञभावे ऋष्यणं बाधित्वा बाह्वादित्वादिञिति भावः । कपेर्गर्गादौ पाठेऽपि आङ्गिरस एवेति नियमार्थं ग्रहणम् । तस्य गर्गादौ पाठस्तु लोहितादिकार्यार्थः । काप्यायनी । बोधशब्दात्तु अप्राप्ते विधिः ।

(११११) वतण्डाच्च । वतण्डस्य गर्गादौ शिवादौ च पाठात् यञणोः प्राप्तयोराङ्गिरसे यञेवेति नियमार्थमिदम् ।

---

(२) हरदत्त आदि वृत्तिकारों ने गर्गादि-गण में ही 'बभ्रु' शब्द को कौशिकपरक अर्थ मानने की कल्पना कर यहाँ पुनरुक्ति न करने का लाघव सुझाया है ।[1]

(१११०) पद—कपिबोधाद्, आङ्गिरसे । **अनुवृत्ति**—यञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(नियम)-सूत्र** ।

मूलार्थ—गोत्र में 'यञ्' हो । उदा० १—काप्यः । २—बौध्यः । 'आङ्गिरसे' क्यों कहा ? १—कापेयः तथा बौधिः (नहीं हुआ) ।

विवरण—'यञ्' का ही प्रकरण है । उल्लिखित सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् प्रभावी हैं । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि ""कपि' तथा 'बोध' प्रातिपदिकों से आङ्गिरस गोत्र अभिधेय होने पर 'यञ्' प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) काप्यः (कपि का वंशज आङ्गिरस) । **विग्रह**—कपेः गोत्रापत्यम् । **प्रक्रिया**—कपि+यञ् > कापि्+य (आदिवृद्धि) > काप्यः ('इ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य) । (२) बौध्यः (बोध का वंशज—आङ्गिरस) । **विग्रह**—बोधस्य गोत्रापत्यम् । शेष कार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'आङ्गिरसे' पद का निवेश होने से आङ्गिरस से भिन्न अर्थ में कापेयः (कपि+ढक् "इतश्चानिञः" ४-१-१२२) तथा **बौधिः** (बोध+इञ्—"बाह्वादिभ्यश्च" ४-१-४५) रूप होंगे ।

विशेष—'कपि' शब्द का गर्गादि-गण में पाठ होने पर भी 'आङ्गिरस' गोत्र में ही 'यञ्' प्रत्यय की नियामकता सिद्ध की गई है । किन्तु 'बोध' शब्द से 'यञ्' प्रत्यय का स्वतन्त्र विधान है ।

(११११) पद—वतण्डात्, च । **अनुवृत्ति**—आङ्गिरसे, यञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(नियम)-सूत्र** ।

मूलार्थ—आङ्गिरस में ही हो । उदा० वातण्ड्यः । आङ्गिरस से भिन्न अर्थ वाच्य होने पर 'वातण्डेयः' तथा शिवादिगण में पठित होने से 'वातण्डः' शब्द निष्पन्न होंगे ।

विवरण—पूर्व सूत्र से (१११०) 'आङ्गिरसे' की अनुवृत्ति विधेयार्थ के लिये प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही है । अतः ""वतण्ड'समर्थ षष्ठ्यन्त से आङ्गिरस–गोत्र अभिधेय होने पर 'यञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—वातण्ड्यः** (वतण्ड का आङ्गिरस पौत्रादि) । **विग्रह**—वतण्डस्य गोत्रापत्यं पुमान् । वतण्ड+य > वातण्ड्+य > वातण्ड्यः ।

---

१. "गर्गादिगणे एव 'बभ्रुः कौशिके' इति पाठ्यम्" । एवं हि द्विर्बभ्रुग्रहणं न कर्तव्यं भवतीति हरदत्तादयः ।

वातण्डः । (११११२) लुक्स्त्रियाम् ४ । १ । १०९ ।। 'वतण्डाच्च' (सू ११११) इति विहितस्य लुक्स्यात्स्त्रियाम् । शार्ङ्गरवादित्वान्ङीन् । वतण्डी । अनाङ्गिरसे तु वातण्ड्यायनी । लोहितादित्वात्ष्फः । अणि तु वातण्डी । ऋषित्वाद्वक्ष्यमाणः ष्यङ् न ।

(१११२) लुक् स्त्रियाम् । वतण्डाच्चेति विहितस्येति । यञ इति शेषः । वतण्डीति । वतण्डस्य गोत्रापत्यं स्त्री आङ्गिरसीति विग्रहः । यञो लुकि आदिवृद्धिनिवृत्तौ ङीनिति भावः । **वातण्ड्यायनीति ।** यञि आदिवृद्धौ लोहितादिलक्षणः ष्फः, षित्त्वात् ङीषिति भावः । 'वतण्डाच्च' इति विहितस्येत्यस्य प्रयोजनमाह—**अणि तु वातण्डीति ।** शिवादित्वादणि गोत्रत्वेन जातित्वाज्जातिलक्षणे ङीषि तस्याणो वतण्डाद्विहितत्वेऽपि 'वतण्डाच्च' इति विहितत्वाभावान्न लुगिति भावः । ननु वतण्डादणि तस्य 'अणिञोरनार्षयोः' इति वक्ष्यमाणः ष्यङ् स्यादित्यत आह—**ऋषित्वादिति ।**

प्रत्युदाहरण—आङ्गिरस गोत्र वाच्य न होने पर **वातण्ड्यः** (गर्गादि में पाठ होने के कारण 'यञ्' प्रत्यय) एवम् वातण्डः (शिवादि-गण में पाठ होने से 'अण्' प्रत्यय)—ये दो शब्द क्रमशः निष्पन्न होंगे ।

विशेष—आङ्गिरस-गोत्र अभिधेय होने पर 'यञ्' ही होगा । अतः यह सूत्र भी नियामक है । आङ्गिरस के अतिरिक्त प्रत्युदाहरण के अनुसार उक्त दोनों शब्द भी समीचीन माने जायेंगे ।

(१११२) पद—लुक्, स्त्रियाम् । **अनुवृत्ति**—वतण्डात्, आङ्गिरसे, यञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'वतण्डाच्च' से विहित (प्रत्यय) का स्त्रीलिङ्ग में 'लुक्' (लोप) हो । शार्ङ्गरवादि-गण में पठित होने से 'ङीन्' हुआ । उदा० वतण्डी । 'आङ्गिरस' से भिन्न अर्थ में वातण्ड्यायनी । लोहितादि में होने से 'ष्फ' प्रत्यय हुआ । अण् होने पर वातण्डी । ऋषि वाच्य होने के कारण आगे कहा जाने वाला ष्यञ् ("अणिञोः०") नहीं ।

विवरण—प्रकृत सन्दर्भ में स्त्रीलिङ्ग-सम्बन्धी विशेष विधान किया जा रहा है । तदनुसार उद्देश्य अंश का लाभ तथा विधेयांश की पूर्ति भी अनुवृत्ति से होगी । अतः पूर्व सूत्र "वतण्डाच्च" ४-१-१०८ से 'वतण्डात्' पद उद्देश्यबोधक एवं "गर्गादिभ्यो यञ्" ४-१-१०५ से 'यञ्' पद विधेय रूप में अपेक्षित हैं । वह भी प्रकरण के अनुसार आङ्गिरसगोत्र-परक ही अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "आङ्गिरस-गोत्रापत्य में विहित 'यञ्' प्रत्यय का स्त्री-लिङ्ग में लोप हो" । यहाँ स्त्री-गोत्रापत्य का अभिप्राय पौत्र-प्रभृति स्त्री-अपत्य (= कन्या) से है । **उदाहरण**—**वतण्डी** (आङ्गिरस-गोत्र में उत्पन्न वतण्ड नामक पुरुष की पौत्री) । **विग्रह**—वतण्डस्य गोत्रापत्यं स्त्री आङ्गिरसी । **प्रक्रिया**—वतण्ड + यञ् + ङीन् (ई) ▷ वतण्डी ('यञ्' का लोप होने से आदिवृद्धि की निवृत्ति तथा शार्ङ्गरवादि-गण में पाठ होने के कारण ङीन्—"शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्" '४-१-७३' तथा 'अ' का लोप एवं विभक्तिकार्य) ।

प्रत्युदाहरण—'आङ्गिरस-गोत्र के अतिरिक्त वतण्ड' नामक पुरुष की पौत्री अर्थ में **वातण्ड्यायनी** शब्द मान्य होगा । वहाँ पर 'यञ्' का लोप नहीं होगा, प्रत्युत 'यञ्' प्रत्ययान्त से 'ष्फ' (= आयन) प्रत्यय होकर स्त्रीत्व-विवक्षा में 'ङीष्' ("षिद्गौरादिभ्यश्च" ४-१-४१) हुआ है (वतण्ड + यञ् = वातण्ड्य, वातण्ड्य + ष्फ = आयन + ङीन् = ई) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र से विधीयमान प्रत्यय का लोप तभी होगा जब वह प्रत्यय "वतण्डाच्च" ४-१-१०९ सूत्र से विहित हो । इसके फलस्वरूप **वातण्डी** (आङ्गिरस-भिन्न वतण्ड की वंशज स्त्री) में शिवादि-गण-पठित 'वतण्ड' शब्द से 'अण्' प्रत्यय तथा जातित्व-निमित्तक 'ङीष्' का

(१११३) अश्वादिभ्यः फञ् ४ । १ । ११० ॥ गोत्रे । आश्वायनः । 'पुंसि जाते' (ग सू ६९) । पुंसीति तु प्रकृतिविशेषणम् । जातस्य गोत्रापत्यं जातायनः । पुंसि इति किम् ? जाताया अपत्यं जातेयः । (१११४) भर्गात्त्रैगर्ते ४ । १ । १११ ॥ गोत्रे

(१११३) अश्वादिभ्यः । गोत्रे इति । शेषपूरणमिदम् । आङ्गिरसे इति निवृत्तम् । आश्वायन इति । अश्वस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहः । इञपवादः फञ् । पुंसि जाते इति । गणसूत्रम् । प्रकृतिविशेषणमिति । पुंसि विद्यमानो यो जातशब्दः तस्माद् गोत्रे फञित्यर्थः । जातेय इति । 'स्त्रीभ्यो ढक्' ।

(१११४) भर्गात्त्रैगर्ते । इदमपि गणसूत्रम् । त्रिगर्तो नाम भर्गस्य पुत्रः । तस्यापत्यं त्रैगर्तः । ऋष्यण् । तस्मिन्गोत्रे भर्गात् फञ् ।

विधान होने पर भी उसका लोप नहीं हुआ, क्योंकि 'अण्' प्रत्यय का विधायक सूत्र "वतण्डाच्च" ४-१-१०९ नहीं है ।

शङ्का-समाधान—प्रकृत सन्दर्भ में यह शंका की जा रही है कि 'वतण्ड' से शिवादि-गण-प्रयुक्त 'अण्' प्रत्ययान्त शब्द से "अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे" ४-१-७८ द्वारा 'ष्यङ्' प्रत्यय क्यों नहीं होता ? उसका निवारण इस प्रकार किया जा रहा है कि उक्त सूत्र में 'अनार्षयोः' पद से 'ऋषिभिन्न' अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। उपर्युक्त उदाहरण में 'ऋषि'–अर्थ (आङ्गिरस रूप में) अपेक्षित है, अतः 'ष्यङ्' नहीं होता ।

(१११३) **पद**—अश्वादिभ्यः, फञ् । **अनुवृत्ति**—गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गोत्र में (हो) । उदा० आश्वायनः । ग० सू० 'जात' शब्द में पुंलिङ्ग-वाची शब्द माना जाय । उदा० जातस्य गोत्रापत्यं > जातायनः । 'पुंसि' क्यों कहा ? जातायाः अपत्यं > जातेयः (फञ् नहीं हुआ) ।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ अश्वादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में 'फञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—आश्वायनः** (अश्व का पौत्र आदि) । **विग्रह**—अश्वस्य गोत्रापत्यम् । **प्रक्रिया**—अश्व+फञ् > अश्व्+आयन (फ=आयन) > आश्वायनः (आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) । यह 'फञ्' प्रत्यय 'इञ्' का अपवाद-स्वरूप है । **गणसूत्र**—"अश्वादि गण में पठित 'जात' शब्द से 'फञ्' प्रत्यय केवल पुंलिङ्ग अभिधेय होने पर ही होगा" । तदनुसार जातायनः ('जात' का पौत्र आदि) में तो 'फञ्' प्रत्यय होगा, किन्तु स्त्रीत्व विवक्षा में ('जातायाः अपत्यं' इस अर्थ की विवक्षा में) 'जाता' शब्द के स्त्री-लिङ्ग में होने के कारण जातेयः में 'ढक्' प्रत्यय (स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२०) ही हुआ ।

(१११४) **पद**—भर्गात्, त्रैगर्ते । **अनुवृत्ति**—फञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गोत्र में 'फञ्' हो । उदा० भार्गायणः—त्रिगर्तः । अन्यत्र–भार्गिः ।

विवरण—पूर्व सूत्र (१११३) से विधेयांश 'फञ्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि ""भर्ग' शब्द से गोत्रापत्य में त्रिगर्त' देश[1] में उत्पन्न अर्थ वाच्य होने पर 'फञ्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण**–

---

१. रावी, सतलज, व्यास—इन तीन नदी-दूनों के बीच का प्रदेश 'त्रिगर्त' कहलाता था । इसी का पुराना नाम 'जालन्धरायण' भी था, जिसका राजन्यादिगण (४-२-५३) में उल्लेख हुआ है । कांगड़ा का प्रदेश त्रिगर्त ही जलन्धर कहलाता है । इस प्रदेश का प्रचलित नाम 'कांगड़ा' भी है । इसका अधिक भाग आजकल 'हिमाचल' राज्य के अन्तर्गत चला गया है ।

फञ् । भार्गायणस्त्रैगर्तः । भार्गिरन्यः । (१११५) शिवादिभ्योऽण् ४ । १ । ११२ ॥ गोत्रे इति निवृत्तम् । शिवस्यापत्यं शैवः । गाङ्गः । पक्षे तिकादित्वात्फिञ् । गाङ्गायनिः ।

(१११५) शिवादिभ्योऽण् । निवृत्तमिति । वृत्तिकैयटयोः तथोक्तत्वादिति भावः । 'यूनि लुक्' इति सूत्रस्य भाष्यकैयटयोस्तु गोत्रसञ्ज्ञासूत्रपर्यन्तं गोत्राधिकार इति लभ्यते । तत्तु मतान्तरमित्येके । तदेव युक्तमिति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् ।

भार्गायणः ('त्रिगर्त' देशीय भर्ग का पौत्र आदि)। **विग्रह**—भर्गस्य गोत्रापत्यम् । भर्ग+फञ् > भर्ग+आयन > भार्गायणः । 'णत्व' के अतिरिक्त प्रक्रिया पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—'त्रिगर्त' से भिन्न वाच्य रहते भार्गिः प्रयोग होगा ('इञ्' प्रत्यय—भर्ग+इञ्)।

विशेष—बालमनोरमाकार ने त्रिगर्त को 'भर्ग' ऋषि का पुत्र लिखा है। त्रिगर्त का पुत्र 'त्रैगर्त' कहलायेगा। 'त्रैगर्त' शब्द 'अण्' प्रत्ययान्त बतलाया है ('ऋषि' होने के कारण)। उससे गोत्र की विवक्षा होने पर 'भर्ग' शब्द से 'फञ्' प्रत्यय का विधान कहा है। इसके साथ ही यह भी सूचित किया है कि 'भर्गात् त्रैगर्ते' भी गणसूत्र है।

(१११५) पद—शिवादिभ्यः, अण् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'गोत्र' की निवृत्ति हो गई है। उदा० १—शिवस्य अपत्यम्—शैवः । २—गाङ्गः । पक्ष में तिकादिगण में पाठ होने से गाङ्गायनिः । शुभ्रादि में पाठ होने से ढक्—गाङ्गेयः ।

विवरण—यहाँ पूर्वसूत्र "गोत्रे कुञ्जादिभ्यः०" ४-१-९८ से प्राप्त 'गोत्रे' का अधिकार समाप्त हो जाता है। अब केवल "तस्यापत्यम्" ४-१-९२ की अनुवृत्ति आयेगी। तदनुसार "षष्ठ्यन्त समर्थ शिवादि प्रातिपदिकों से सामान्य अपत्य में ही 'अण्' प्रत्यय होगा"। यह सूत्र "अत इञ्" ४-१-९३ आदि सूत्रों का बाधक है। **उदाहरण**—(१) शैवः (शिव का पुत्र)। विग्रह—शिवस्य अपत्यम् । शिव+अण् > शैव्+अ (आदिवृद्धि) > शैवः ('अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य)। (२) गाङ्गः (गङ्गा का पुत्र) **विग्रह**—गङ्गायाः अपत्यं पुमान् । गङ्गा+अण् > गाङ्ग्+अ (आदिवृद्धि) > गाङ्गः ('आ' का लोप एवं विभक्ति कार्य)। 'गङ्गा' शब्द का अनेक गणों में पाठ होने से और रूप भी बनेंगे। उदाहरणार्थ तिकादि-गण में पाठ होने से "फिञ्"—गाङ्गायनिः (गङ्गा+फिञ्—"तिकादिभ्यः फिञ्" ४-१-१५४, फिञ्=आयनि)। इसी प्रकार शुभ्रादि-गण में पाठ होने से गाङ्गेयः में "शुभ्रादिभ्यश्च" ४-१-१२३ से 'ढक्' (ढ=एय) प्रत्यय होगा।

विशेष—प्राचीन वृत्तिकारों के अनुसार यहाँ 'गोत्रे' पद की निवृत्ति होने के विषय में ऊपर निर्देश दिया जा चुका है। नागेश भट्ट ने 'शब्देन्दुशेखर' में लिखा है कि भाष्यकार पतञ्जलि ने "यूनि लुक्" सूत्र के भाष्य तथा उसके टीकाकार कैयट ने यह उल्लेख किया है कि गोत्र-संज्ञा-सूत्र पर्यन्त ही गोत्राधिकार का प्रभाव विद्यमान रहता है। किन्तु इस सम्बन्ध में मतभेद है। "यूनि लुक्" (४-१-९०) सूत्र के भाष्य में कैयट ने यह कहा है कि "कण्वादिभ्यो गोत्रे" (४-२-१११) सूत्र में 'गोत्र' पद का निवेश इस बात का सूचक है। यह सूत्र कण्वादि प्रातिपदिकों से गोत्र में विहित प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से शैषिक 'अण्' प्रत्यय का विधायक है। कण्वादि शब्द 'गर्गादि' गण में निविष्ट हैं। 'यञ्' प्रत्यय गोत्र में ही होता है। तदन्त प्रातिपदिक गोत्रप्रत्ययान्त ही रहेंगे। अतः 'गोत्रे' पद की ४-२-१११ सूत्र में पुनरुक्ति इस बात की सूचक है कि अपत्याधिकार के बाद 'गोत्र' पद 'लौकिक गोत्र' (अनन्तरापत्य) का सूचक है।[1]

---

१. "कण्वादयश्च गर्गादिषु पठिताः । तत्र च 'गोत्रे' इति वर्तते । अपत्याधिकारे च गोत्रग्रहणादेव शास्त्रीयं गोत्रं गृह्यते । तदेव अत्र अनूद्यते" । —कैयटव्याख्या ४-२-१११ ।

शुभ्रादित्वाड्ढक् । गाङ्गेयः । (१११६) अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः ४ । १ । ११३ ॥ अवृद्धेभ्यो नदीमानुषीनामभ्योऽण् स्यात् । ढकोऽपवादः । यामुनः । नार्मदः । चिन्तितताया अपत्यं चैन्तितः । अवृद्धाभ्यः किम् ? वासवदत्तेयः । नदी-इत्यादि किम् ? वैनतेयः । तन्नामिकाभ्यः किम् ? शोभनाया अपत्यं शौभनेयः । (१११७) ऋष्य-

---

(१११६) अवृद्धाभ्यो नदी । नदीमानुषीशब्दापेक्षमवृद्धाभ्य इति स्त्रीत्वम् । वस्तुतस्तु अवृद्धेभ्यो नदीमानुषीनामभ्यः इत्येव सूत्रयितुमुचितमिति व्याचष्टे—अवृद्धेभ्य इत्यादि । ननु 'तस्यापत्यम्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—ढकोऽपवाद इति । चिन्तिता नाम काचिन्मानुषी । वासवदत्तेय इति । वासवदत्ता नाम काचिन्मनुष्यस्त्री । तस्या अपत्यमिति विग्रहः । वृद्धसञ्ज्ञकत्वादणभावे ढगिति भावः । वैनतेय इति । विनतायाा अपत्यमिति विग्रहः । विनता नाम गरुडमाता, सा न मानुषी, नापि नदीति भावः । शौभनेय इति । शोभनाशब्दोऽयं न नदीमानुषीनामेति भावः ।

(१११६) पद—अवृद्धाभ्यः, नदी-मानुषीभ्यः, तन्नामिकाभ्यः । **अनुवृत्ति**—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वृद्धिसंज्ञक से भिन्न 'नदी' एवं 'मानुषी' नामक शब्दों से 'अण्' प्रत्यय हो । 'ढक्' का यह अपवाद है । उदा० १–क–यामुनः । १–ख–नार्मदः । २—चैन्तितः । 'अवृद्धाभ्यः' क्यों कहा ? वासवत्तेयः ('अण्' नहीं हुआ) । 'नदी' इत्यादि क्यों कहा ? वैनतेयः ('अण्' नहीं हुआ) । 'तन्नामिकाभ्यः' क्यों कहा ? शोभनायाः अपत्यम्—शौभनेयः ('अण्' नहीं हुआ) ।

विवरण—विधेयांश 'अण्' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र "शिवादिभ्योऽण्" ४-१-११२ से अपेक्षित है। शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ सभी प्रभावी हैं । अतः सूत्र का यह आशय है कि "वृद्ध-संज्ञक भिन्न (अवृद्धाभ्यः) 'नदी' तथा 'मानुषी' अर्थ वाले एवं 'नदी' 'मानुषी' नाम वाले (तन्नामिकाभ्यः) प्रातिपदिकों से 'अपत्य' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो" । यहाँ 'नदी' से तात्पर्य नदी-वाचक 'यमुना' आदि नाम-धारिणी किसी स्त्री का बोध कराना है, न कि शास्त्रीय 'नदी'-संज्ञक शब्दों का । 'शिक्षिता' 'संस्कृता' आदि स्त्री-लिङ्ग-वाची शब्दों के किसी स्त्री-व्यक्ति के नाम होने पर ही प्रकृत सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होगा । 'नदी' एवं 'मानुषी' नामधेय यदि 'द्व्यच्' होंगे तो उनसे 'द्व्यचः' ४-१-१२१ से 'ढक्' प्रत्यय होगा । **उदाहरण**—नदीवाची से—१—(क) **यामुनः** ('यमुना' नामक किसी स्त्री की सन्तति) । **विग्रह**—यमुनायाः अपत्यं पुमान् । यमुना+अण् > यामुना+अ (आदि-वृद्धि) > यामुनः ('आ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य) । १—(ख) **नार्मदः** ('नर्मदा' नामक किसी स्त्री की सन्तति) । विग्रह आदि पूर्ववत् । 'मानुषी' वाचक—(२) **चैन्तितः** (चिन्तिता नाम की किसी स्त्री की सन्तति) । **विग्रह**—चिन्तितायाः अपत्यम् । शेष कार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अवृद्धाभ्यः' पद का निवेश होने के फलस्वरूप **वासवदत्तेयः** (वासवदत्ता नामक स्त्री की सन्तति) में प्रथम स्वरवर्ण (आ) के वृद्धि-संज्ञक होने से 'अण्' नहीं हुआ, अतः "स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२० से 'ढक्' (=एय) प्रत्यय हुआ । (२) 'नदी' एवं 'मानुषी' पदों का निवेश होने से **वैनतेयः** (विनता का पुत्र गरुड) में 'अण्' नहीं हुआ, क्योंकि 'विनता' शब्द नदीवाचक नहीं है । अतः यथाप्राप्त 'ढक्' हुआ । इसी प्रकार 'तन्नामिका' पद रहने के फलस्वरूप शौभनेयः (शोभना अर्थात् किसी सुन्दर स्त्री का पुत्र) में 'अण्' नहीं हुआ, क्योंकि यह किसी स्त्री का नाम नहीं है ।

विशेष—सामान्यतः अपत्य अर्थ में तो "तस्यापत्यम्" ४-१-९२ सूत्र से 'अण्' प्रत्यय स्वतः सिद्ध रहा, तो भी इस सूत्र की उपयोगिता "स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२० सूत्र से प्राप्त 'ढक्' प्रत्यय का बाध करने के लिये सार्थक है ।

न्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ४ । १ । ११४ ॥ ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः । वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः, आनिरुद्धः । शौरिः इति तु बाह्वादित्वात् । कुरुभ्यः—नाकुलः, साहदेवः । इञ एवायमपवादः, मध्येऽपवादन्यायात् । अत्रिशब्दात्तु

(१११७) ऋष्यन्धक । प्रलीनाः वेदाः, तपोबलवशात् यान् अर्षन्ति प्राप्नुवन्ति ते ऋषयः । तथा च तैत्तिरीये श्रुतम्—अजान्ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्, त ऋषयोऽभवन्, तदृषीणामृषित्वम्' इति । अजाः नित्याः, पृश्नयः शुक्लाः शुद्धाः इति यावत् । तान् तपस्यमानान् तपश्चरतः स्वयम्भु अनादि ब्रह्म वेदः अभ्यानर्षत् । 'ऋष गतौ' आभिमुख्येन प्राप्नोत् । ते वेदस्य अर्षणात् ऋषिशब्दवाच्याः अभवन्निति वेदभाष्यम् । 'सर्गादिसमये वेदान्सेतिहासान्महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥' इति पुराणेषु प्रसिद्धम् । कात्यायनप्रणीतसर्वानुक्रमणिकाख्यग्रन्थे स्पष्टमेतत् । तदाह—ऋषयो मन्त्रद्रष्टार इति । अन्धकशब्देन वृष्णिशब्देन कुरुशब्देन च अन्धकादिवंश्या विवक्षिताः । ऋषिविशेषवाचिभ्यः अन्धकादिवंश्यवाचिभ्यश्चापत्ये अण् स्यादित्यर्थः । इञोऽपवादः । ऋषिभ्यः उदाहरति—वासिष्ठः वैश्वामित्र इति । अन्धकेभ्य इति । अन्धकवंश्यवाचिभ्यः उदाह्रियते इत्यर्थः । श्वाफल्क इति । श्वफल्कस्यापत्यमिति विग्रहः । वृष्णिभ्य इति । वृष्णिवंश्यवाचिभ्य उदाह्रियत इत्यर्थः । वासुदेव इति । वसुदेवस्यापत्यमिति विग्रहः ।

(१११७) पद—ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः, च । अनुवृत्ति—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—मन्त्रद्रष्टा 'ऋषि' कहलाते हैं । उदाहरण १—(क) वासिष्ठः । (ख) वैश्वामित्रः । २—अन्धकों से—श्वाफल्कः । ३—वृष्णियों से । क-वासुदेवः । ख—आनिरुद्धः । 'शौरिः' में 'शूर' शब्द बाह्वादि गण में होने के कारण 'इञ्' होगा । ४—कुरुओं से—(क) नाकुलः । (ख) साहदेवः । 'मध्ये अपवाद' न्याय से यह 'इञ्' का ही अपवाद है । परत्व के कारण 'अत्रि' शब्द से 'ढक्' होकर—आत्रेयः ।

विवरण—विधेयांश का लाभ (='अण्' प्रत्यय) "शिवादिभ्योऽण्" ४-१-११२ सूत्र की अनुवृत्ति से होता है । तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होगा कि ""ऋषि'-वाची तथा 'अन्धक', 'वृष्णि' और 'कुरु' वंश वाले समर्थ प्रातिपदिकों से भी 'अपत्य' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है'' । सूत्रस्थ 'ऋषि' पद वसिष्ठादि ऋषियों का वाचक है । 'अन्धक', 'वृष्णि' तथा 'कुरु' शब्द वंशवाची हैं । (१) ऋषिवाची के उदाहरण—(क) वासिष्ठः (वसिष्ठ का पुत्र) । विग्रह—वसिष्ठस्य अपत्यं पुमान् । वसिष्ठ+अण् > वासिष्ठः (आदिवृद्धि, 'अ' का लोप एवं विभक्ति-कार्य) (ख) वैश्वामित्रः (विश्वामित्र का पुत्र) । विग्रहादि कार्य पूर्ववत् । (२) अन्धक—वंश का उदाहरण—श्वाफल्कः (श्वफल्क का पुत्र) । विग्रहादि कार्य पूर्ववत् । (३) वृष्णि वंश के उदाहरण—(क) वासुदेवः (वसुदेव का पुत्र-कृष्ण) । (ख) आनिरुद्धः (अनिरुद्ध का पुत्र) । विग्रहादि कार्य पूर्ववत् । (४) कुरुवंश के उदाहरण—(क) नाकुलः (नकुल का पुत्र) । (ख) साहदेवः (सहदेव का पुत्र) । विग्रहादि कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—(१) ध्यान रहे कि उपर्युक्त उदाहरणों में अकारान्त होने के कारण सभी शब्दों में "अत इञ्" ४-१-९५ से 'इञ्' प्राप्त था, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका बाध हो जाता है ।

(२) 'वृष्णि' वंश में 'शूर' नामक व्यक्ति-विशेष की प्रसिद्धि होने से 'अण्' प्रत्यय की संभावना का निराकरण बाह्वादि-गण में पाठ होने के कारण इञ्-प्रत्ययान्त 'शौरिः' रूप की सिद्धि पुनरपि समीचीन मानी गई है ।

परत्वाड्ढक्—आत्रेयः । (१११८) मातुरुत्सङ्ख्यासम्भद्रपूर्वायाः ४ । १ । ११५ ॥ सङ्ख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्योदादेशः स्यादण्प्रत्ययश्च । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । साम्मातुरः । भाद्रमातुरः । आदेशार्थं वचनम् । प्रत्ययस्तूत्सर्गेण सिद्धः । स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽर्थापेक्षः । तेन धान्यमातुर्न । सङ्ख्या इति किम् ? सौमात्रः । शुभ्रादित्वात् द्वैमात्रेयः ।

आनिरुद्ध इति । अनिरुद्धस्यापत्यमिति विग्रहः । ननु शूरो नाम कश्चित् वृष्णिवंश्यः । तस्यापत्यं शौरिः कथम्, अण्प्रसङ्गादित्यत आह—शौरिरिति त्विति । बाह्वादित्वादित्यनन्तरम् इञा समाधेयमिति शेषः । कुरुभ्य इति । कुरुवंश्यवाचिभ्यः उदाह्रियते इत्यर्थः । नकुलसहदेवौ प्रसिद्धौ । ननु अत्रेरपत्यमित्यर्थे 'इतश्चानिञ' इति ढकि आत्रेय इति कथम्, ऋष्यणा इञ इव ढकोऽपि बाधौचित्यादित्यत आह—इञ एवेति । न तु ढकः इत्यर्थः ।

(१११८) मातुरुत्सङ्ख्यासम्भद्रपूर्वायाः । द्वैमातुर इति । द्वयोर्मात्रोरपत्यमिति विग्रहः । 'तद्धितार्थ' इति समासः । अण्, ऋकारस्योकारः, रपरत्वम् । एवं षाण्मातुरः साम्मातुर इति । समीचीना माता संमाता, संमातुरपत्यं सांमातुरः । अण्, उत्—रपरत्वम् । भाद्रमातुर इति । भद्रा चासौ माता चेति विग्रहः । अणादि पूर्ववत् । ननु 'तस्यापत्यम्' इत्येव सिद्धे अण्विधिर्व्यर्थं एवेत्यत आह—आदेशार्थं वचनमिति । उदादेशस्य अण्सन्नियोगेन विध्यर्थमित्यर्थः । ननु धान्यं यो मिमीते तस्यापि मातुर्ग्रहणं कुतो न स्यात् ।

---

(३) अत्रेः अपत्यम् (अत्रि का पुत्र) आत्रेयः में भी पूर्ववत् 'इञ्' के बाध की तरह 'अत्रि' से 'ढक्' ("इतश्चानिञः" ४-१-१२२ सूत्र से) प्रत्यय का बाध होना चाहिये। उसके न होने में यह तर्क दिया जाता है कि—"मध्ये अपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्"—इस न्याय के प्रभाव से मध्य में पठित अपवाद-शास्त्र उत्तरत्र पठित 'ढक्' प्रत्यय का बाध नहीं करता।

(४) मन्त्रों के द्रष्टा 'ऋषि' कहलाते हैं। यह 'ऋषि' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—ऋषति=जानाति इति ऋषिः→√ऋष्+इन् ('इगुपधात् कित्'—उणादि सू० ४-१२०)। प्रलय होने के कारण वेदों के विलीन होने की स्थिति में तपश्चर्या के बल से ऋषि-गणों को वेद स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। अतः उन्हें 'ऋषि' कहा जाता है। विशेषतः कात्यायन-प्रणीत सर्वानुक्रमणिका ग्रन्थ में यह विषय विवेचित है।

(१११८) पद—मातुः, उत्, संख्यासंभद्रपूर्वायाः। **अनुवृत्ति**—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संख्यादि-पूर्वक 'मातृ' शब्द को 'उ' आदेश और 'अण्' प्रत्यय भी हो। उदा० १—क-द्वैमातुरः। ख-षाण्मातुरः। २—साम्मातुरः। ३—भाद्रमातुरः। यह विधान (=उ) आदेश-परक है। प्रत्यय (अण्) तो उत्सर्ग से सिद्ध है। स्त्री-लिङ्ग-निर्देश अर्थापेक्ष है। अतः धान्यमाता में नहीं हुआ। 'संख्या' क्यों कहा ? सौमात्रः। शुभ्रादि में होने से—द्वैमात्रेयः ('ढक्' हुआ)।

विवरण—इस सूत्र से दो कार्य सिद्ध होते हैं। एक तो प्रकरणप्राप्त अपत्यार्थ में 'अण्' प्रत्यय तथा दूसरा 'ऋ' के स्थान पर ह्रस्व उकार-आदेश (=उर्)। इन दोनों कार्यों के लिये वाक्य-भेद से 'मातुः' पद 'पञ्चमी' एवं 'षष्ठी' दोनों विभक्तियों का सूचक है। 'अण्' प्रत्यय के विधानार्थ पञ्चमी विभक्ति तथा 'ऋ' के स्थान पर 'उ' आदेश होने के लिये षष्ठी विभक्ति मानी जायगी। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के अनुसार यह "मातृ' शब्दावयव 'ऋकार' स्थानी है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "संख्यावाचक (एक, द्वि आदि) शब्द, 'सम्' तथा 'भद्र'पूर्वक षष्ठ्यन्त समर्थ 'मातृ' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो और 'मातृ' शब्दावयव 'ऋ' के स्थान पर 'उ'

(१११९) कन्यायाः कनीन च ४ । १ । ११६ ॥ ढकोऽपवादोऽण्, तत्सन्नियोगेन

तथा च तत्रापि द्वैमातुरादिकं प्राप्नोतीत्यत आह—स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽर्थापेक्ष इति। मातृगणं स्त्रीत्वं शब्दे आरोप्य सङ्ख्यासम्भद्रपूर्वाया इति निर्दिश्यते। अतः स्त्रीलिङ्गस्य मातृशब्दस्य जननीवाचकस्य ग्रहणमित्यर्थः। तेन धान्यमातुर्नेति। अत्र मातृशब्दस्य परिच्छेत्तृवाचिनः पुँल्लिङ्गत्वादिति भावः। सौमात्र इति। सुमातुरपत्यमित्यर्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यण्। सङ्ख्यासम्भद्रपूर्वत्वाभावात् नायमण्, उत्वमपि तत्सन्नियोगशिष्टत्वान्नेति भावः। ननु द्वैमात्रेयः इति कथम्? सङ्ख्यापूर्वकतया अणः उत्वस्य च दुर्वारत्वादित्यत आह—शुभ्रादित्वादिति। 'शुभ्रादिभ्यश्च' इति ढकि रूपमित्यर्थः।

(१११९) कन्यायाः कनीन च। कनीनेति लुप्तप्रथमाकम्। ढक् इति। 'स्त्रीभ्यो

(='उर्') आदेश हो"। उदाहरण—संख्यापूर्वक—(१) क–द्वैमातुरः (दो माताएँ—जिसे माँ व चाची आदि पुत्र मानें)। विग्रह—द्वयोः मात्रोः अपत्यम्। प्रक्रिया—द्वि+ओस्, मातृ+ओस्+अण् > द्वि-मातृ+अण् (समास-"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" २-१-५) > द्वि-मात्-उर्+अ (ऋ=उर् तथा अण्) > द्वैमातुर (आदिवृद्धि) > द्वैमातुरः (विभक्ति-कार्य)। ख–षाण्मातुरः (छह माताओं द्वारा पालित) षष्+आम्, मातृ+आम्+अण्। विग्रह—षण्णां मातॄणाम् अपत्यम्। षट्-मातृ(उ)+अण् > षण्मातुर् (ऋ = उर् तथा अण् प्रत्यय होने से तद्धितार्थ समास) > षाण्मातुरः (आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य)। (२) 'सम्'-पूर्वकमातृशब्द—साम्मातुरः (अच्छी माता का पुत्र)। विग्रह—(क) समीचीना माता = संमाता। (ख) सम्मातुः अपत्यम्। पूर्व में कर्मधारय समास, अथवा 'कुगतिप्रादयः' समास। पुनः तद्धितार्थ समास करने के पश्चात् अण् प्रत्यय एवं 'उ' आदेश निमित्तक कार्य। (४) भद्र पूर्वक–भाद्रमातुरः (अच्छी माता का पुत्र)। विग्रह—(क) भद्रा चासौ माता (कर्मधारय समास)। (ख) भद्रमातुः अपत्यम्—'कर्मधारय होने पर पूर्व पद 'भद्रा' को पुंवद्भाव' के अनन्तर तद्धितार्थ समासादि कार्य पूर्ववत्।

विशेष—वास्तव में प्रकृत-सूत्र की उपयोगिता 'ऋ' के स्थान पर 'उ' (= उर्) आदेश के विधान में ही है, प्रत्यय तो उत्सर्गशास्त्र "तस्यापत्यम्" ४-१-९२ से ही सिद्ध रहा। तथाऽपि 'उ' आदेश 'अण्' प्रत्यय के साथ ही हो—इस अर्थ को सूचित करने के लिये यह विधान किया गया है।

(२) स्त्री-लिङ्गबोधक (स्त्रीत्वविशिष्टार्थक) 'मातृ' शब्द जहाँ जननी-बोधक होगा, वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'मातृ' शब्द के विशेषणवाची संख्यासंभद्रपूर्वायाः पद से यह ध्वनित होता है। इसके फलस्वरूप जहाँ अन्न को नापने वाला व्यक्ति पुरुष है, वहाँ धान्यमातृ (धान्यं मिमीते) शब्द से अपत्यार्थ की विवक्षा में प्रकृत सूत्र से 'उ' आदेश एवम् 'अण्' प्रत्यय नहीं होंगे।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में संख्या पद का निवेश होने से सौमात्रः (सुमाता का पुत्र) में 'उ' आदेश नहीं हुआ। यथाप्राप्त केवल 'अण्' प्रत्यय ही हुआ।

विशेष—द्वैमात्रेयः (दो माताओं द्वारा पालित—गणेश) में संख्यापूर्वक (द्विमातुः अपत्यम्) 'मातृ' शब्द के विद्यमान रहने पर भी प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति इस कारण नहीं होती कि शुभ्रादि-गण में 'द्विमातृ' शब्द का पाठ होने के कारण विशिष्ट विधान द्वारा 'ढक्' प्रत्यय ही ("शुभ्रादिभ्यश्च" ४-१-१२३) होता है।

(१११९) पद—कन्यायाः, कनीन, च। अनुवृत्ति—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

कनीनादेशश्च । कानीनो व्यासः कर्णश्च । अनूढाया एवापत्यमित्यर्थः । (११२०) **विकर्णशुङ्गच्छगलाद्वत्सभरद्वाजात्रिषु ४ । १ । ११७ ॥** अपत्येऽण् । वैकर्णो वात्स्यः । वैकर्णिरन्यः । शौङ्गो भारद्वाजः । शौङ्गिरन्यः । छागल आत्रेयः । छागलिरन्यः । केचित्तु 'शुङ्गा' इत्यावन्तं पठन्ति, तेषां ढक् प्रत्युदाहरणम् । शौङ्गेयः । (११२१) पीलाया

ढक्' इति विहितस्येत्यर्थः । कनीनादेशश्चेति । प्रकृतेर्भूतयौवनत्वात् पुंसंयोगाभावात् कथमपत्यसम्बन्ध इत्यत आह—अनूढाया इति । अलब्धविवाहाया इत्यर्थः । एतच्च भाष्ये स्पष्टम् ।

(११२०) विकर्ण । वत्सादिशब्दैस्तद्वंश्या विवक्षिताः । विकर्ण, शुङ्ग, छगल, एभ्योऽण् स्यात्, वत्सवंश्ये भरद्वाजवंश्ये अत्रिवंश्ये चापत्ये इत्यर्थः । एतेन वत्सादीनां मूलपुरुषत्वात् विकर्णादीन्प्रत्यपत्यत्वासम्भव इति निरस्तम् । विकर्णादिभ्यो वात्स्यादिष्वेव ऋष्यण् इति नियमार्थं सूत्रम् ।

मूलार्थ—'ढक्' का अपवादस्वरूप 'अण्' है । उसके संनियोग से 'कनीन' आदेश भी हो । उदा० कानीनः—अर्थात् व्यास तथा कर्ण । अविवाहित की सन्तति—यह शब्दार्थ है ।

विवरण—विधेयांश 'अण्' पद अनुवृत्ति-लभ्य है ("शिवादिभ्योऽण्" ४-१-११२) । शेष अनुवृत्तियों के साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता करने पर यह अभिव्यक्षित होता है कि '"षष्ठयन्त 'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो तथा 'कन्या' शब्द के स्थान पर 'कनीन' आदेश ("अनेकाल्-शित् सर्वस्य" १-१-५५) भी हो" । **उदाहरण**—**कानीनः** (कन्या अर्थात् अविवाहिता स्त्री की सन्तति—व्यास या कर्ण) । **विग्रह**—कन्यायाः अपत्यं पुमान् । कन्या+अण् > कनीन+अ (कन्या=कनीन आदेश तथा 'अण्' प्रत्यय) > कानीन्+अ (आदि-वृद्धि) > कानीनः ('भ'-संज्ञा-निमित्तक 'अ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—पाणिग्रहण से पूर्व ही जो लड़की पुरुष-संयोग को प्राप्त कर पुत्र उत्पन्न करे—वह पुत्र 'कानीन' कहलाता है । विवाहानन्तर अपत्य होने से पुनः उस पुत्री के लिये 'कन्या' शब्द का प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? इस विरोधोक्ति के विषय में भाष्यकार पतञ्जलि ने यहाँ यह उल्लेख किया है कि शास्त्रोक्त विवाह होने के पूर्व पुरुष के साथ संप्रयुक्त होने पर वह पुत्री 'कन्या' पद से व्यवहृत होती है" ।[1] कैयट ने इसकी व्याख्या करते हुए यह कहा है कि 'मुनि एवं देवता' के माहात्म्य से पुरुष-संयोग होने पर भी व्यास एवं कर्ण को 'कन्या' की सन्तति कहा जाता है ।[2]

(११२०) **पद**—विकर्ण-शुङ्ग-छगलात्, वत्स-भरद्वाजाऽत्रिषु । **अनुवृत्ति**—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **नियम-(विधि)-सूत्र** ।

मूलार्थ—अपत्य अर्थ में 'अण्' हो । **उदाहरण**—१—वैकर्णः—वात्स्यः । वात्स्य से अन्यत्र—वैकर्णिः । २—शौङ्गः—भारद्वाजः । अन्यत्र—शौङ्गिः । ३—छागलः—आत्रेयः । अन्यत्र-छागलिः । कुछ लोग आकारान्त 'शुङ्गा' मानते हैं, उनके मत में प्रत्युदाहरण—'शौङ्गेयः' होगा ।

विवरण—अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । विधेय प्रत्यय 'अण्' है । तदनुसार

---

१. "कन्या च अपत्यं चेति विप्रतिषिद्धम् । कथम् ? कन्याशब्दोऽयं पुंसाऽभिसम्बन्धपूर्वके संप्रयोगे निवर्तते । या च इदानीं प्रागभिसम्बन्धात् पुंसा सह संप्रयोगं गच्छति, तस्यां कन्याशब्दो वर्तत एव । कन्यायाः कन्योक्तायाः कन्याभिमतायाः सुदर्शनायाः यदपत्यं स कानीन इति" ।

—महाभाष्यम् ।

२. 'अन्ये त्वाहुः—मुनिदेवतामाहात्म्याद्या पुंयोगेऽपि अक्षतयोनिर्भवति । यथा कुन्ती मन्त्राहूत-दिनकरोत्पादितकर्णाख्यपुत्रापि पुनः कन्यैवाऽभूत् । तदपत्यं कानीनशब्दाभिधेयम् । —भाष्यटीका ।

वा ४ । १ । ११८ ॥ तन्नामिकाणं बाधित्वा 'द्व्यच' (सू ११२४) इति ढकि प्राप्ते पक्षेऽण्विधीयते । पीलाया अपत्यं पैलः—पैलेयः । **(११२२) ढक्च मण्डूकात् ४ । १ । ११९ ॥** चादण् । पक्षे इञ् । माण्डूकेयः—माण्डूकः—माण्डूकिः । **(११२३)**

(११२१) पीलाया वा । अपत्येऽणिति शेषः । पीला नाम काचिन्मानुषी । तन्नामिकाणमिति । वाग्रहणाभावे तु अनेनाणा नित्यमेव ढको बाधः स्यात् । न च महाविभाषया अणः पाक्षिकत्वात्तदभावे ढक् भवत्येवेति वाच्यम्, महाविभाषया अपवादे निषिद्धे उत्सर्गो न प्रवर्तत इति ज्ञापनात् । अन्यथा शैवः शैविरित्यादिः स्यात् ।

(११२२) ढक् च मण्डूकात् । मण्डूको नाम ऋषिः । पक्षे इञिति । पूर्वसूत्राद्वाग्रहणानुवृत्तेरिति भावः ।

सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'विकर्ण', 'शुङ्ग' तथा 'छगल' शब्दों से यथासंख्य—'वत्स', 'भरद्वाज' तथा 'अत्रि' वंश-सम्बन्धी अपत्य का अभिधान होने पर ही 'अण्' प्रत्यय होता है"। अतः यह नियामक है। इस प्रकार यह विधान "अत इञ्" ४-१-९५ का अपवाद है। जब उपर्युक्त वंश्य के अपत्य-विशेषों का अर्थ अभीष्ट न हो तो प्रत्युदाहरणों में 'इञ्' प्रत्यय होगा। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **वैकर्णः** ('वत्स'-कुलोत्पन्न विकर्ण नामक पुरुष की सन्तति)। विकर्णस्य (वत्सवंश्यस्य) अपत्यं पुमान् । विकर्ण+अण् > वैकर्ण्+अ > वैकर्णः । (२) **शौङ्गः** ('भरद्वाज' कुलोत्पन्न शुङ्ग-नामक पुरुष की सन्तान)। **विग्रह**—शुङ्गस्य (भरद्वाजवंश्यस्य) अपत्यं पुमान् । प्रक्रिया पूर्ववत् । (३) **छागलः** (अत्रिकुलोत्पन्न 'छगल' की सन्तान)। **विग्रह**—छगलस्य (अत्रिवंश्यस्य) अपत्यम् पुमान् । शेष कार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—उपर्युक्त तीनों वंश-विशेष की विवक्षा न होने पर तीनों प्रातिपदिकों से सामान्य अपत्य की विवक्षा में 'इञ्' प्रत्यय होने पर क्रमशः (१) **वैकर्णिः**, (२) **शौङ्गिः** तथा (३) **छागलिः** शब्द सिद्ध होंगे ।

विशेष—कुछ लोगों के मत में 'शुङ्ग' के स्थान पर 'शुङ्गा' आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द पढ़ा गया है। उनके मत में प्रत्युदाहरण शुङ्गा+ढक्→ ("स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२०)←शौङ्गेयः होगा ।

(११२१) पद—पीलायाः, वा । **अनुवृत्ति**—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तन्नामिक 'अण्' का बाध कर 'द्व्यचः' से प्राप्त 'ढक्' का भी यह 'अण्' विकल्प से बाध करता है। उदा० पीलायाः अपत्यम् > पैलः—पैलेयः ।

विवरण—विधेयांश की सभी अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। उद्देश्यवाचक पद 'पीला' सूत्र में निर्दिष्ट है। तदनुसार "'षष्ठी-समर्थ 'पीला' प्रातिपदिक से 'अपत्य' अर्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है"। यहाँ सर्वप्रथम "अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः" (सू० १११६) से तन्नामिक-लक्षण 'अण्' प्राप्त था, उसे बाधकर "द्व्यचः" (४-१-१२१) से नित्य 'ढक्' होता, किन्तु 'पीला' के सम्बन्ध में प्रकृत सूत्र द्वारा प्रतिपदोक्त विधान होने के कारण वैकल्पिक 'अण्' की व्यवस्था होने से पाक्षिक 'ढक्' भी होगा। **उदाहरण**—पैलः→अण् होने पर। पैलेयः←'ढक्' होने पर। **विग्रह**—पीलायाः अपत्यम् (पीला का पुत्र)। सिद्धि अन्य उदाहरणों के समान ।

(११२२) पद—ढक्, च, मण्डूकात् । **अनुवृत्ति**—वा, अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

स्त्रीभ्यो ढक् ४ । १ । १२० ॥ स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् स्यात् । वैनतेयः । बाह्वादित्वा-त्सौमित्रिः । शिवादित्वात् सापत्नः । **(११२४) द्व्यचः ४ । १ । १२१ ॥** द्व्यचः स्त्रीप्रत्ययान्तादपत्ये ढक् । तन्नामिकाणोऽपवादः । दात्तेयः । पार्थ इत्यत्र तु 'तस्येदम्'

(११२३) स्त्रीभ्यो ढक् । स्त्रीशब्देन टाबाद्याः स्त्रीप्रत्ययाश्चातुर्थिका गृह्यन्ते, न त्वन्येऽपि स्त्रीवाचकाः, व्याख्यानादित्याह—स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्य इति । विनता नाम गरुडमाता, तस्याः अपत्यमिति विग्रहः । प्रत्ययग्रहणं किम् ? दरत् कश्चित्क्षत्रियः, तस्यापत्यं स्त्री दरत् । 'द्व्यचञ्मगध' इत्यण् । 'अतश्च' इति तस्य लुक् । तस्या अपत्यं दारदः । अत्र दरच्छब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वेऽपि स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावान्न ढक् । ननु सुमित्राया अपत्यं सौमित्रिः, सपत्न्या अपत्यं सापत्न इति कथं ढक्प्रसङ्गादित्यत आह—बाह्वादित्वादित्यादि । सापत्नशब्दे पुंवत्त्वं नेति प्रागेवोक्तम् ।

(११२४) द्व्यचः । ननु 'स्त्रीभ्यो ढक्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—तन्नामिकेति । दात्तेय इति । दत्ता नाम काचिन्मानुषी, तस्या अपत्यमिति विग्रहः ।

मूलार्थ—(सूत्रस्थ) 'च' पद से 'अण्' भी होगा । पक्ष में 'इञ्' भी । उदा० माण्डूकेयः—माण्डूकः—माण्डूकिः ।

विवरण—पूर्व सूत्र (सू० ११२१) से 'वा' की अनुवृत्ति वैकल्पिक विधान की सूचक है। है। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार "षष्ठयन्त-समर्थ 'मण्डूक' प्रातिपदिक से 'अपत्य' अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है" । सूत्र में 'च' का सन्निवेश वैकल्पिक 'अण्' का सूचक है। 'अण्' के न होने पर ह्रस्व अकारान्त होने से "अत इञ्" (४-१-९५) से 'इञ्' होगा । इस प्रकार तीन रूप बनेंगे । **उदारण**—(क) **माण्डूकेयः** (मण्डूक+ढक्—ढ=एय) । (ख) **माण्डूकः** (अण् होने पर) । (ग) **माण्डूकिः** (इञ् होने पर) । **विग्रह**—मण्डूकस्य अपत्यं पुमान् । **अर्थ**—मण्डूक नामक ऋषि का पुत्र ।

(११२३) पद—स्त्रीभ्यः, ढक् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों से 'ढक्' हो । उदा० १—वैनतेयः । 'बाह्वादि' में पाठ होने से—'इञ्'–सौमित्रिः । 'शिवादि' गण में पाठ होने से—सापत्नः ।

विवरण—"स्त्री प्रत्ययान्त (जिनके अन्त में 'टाप्' आदि स्त्रीप्रत्यय हों) षष्ठयन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'अपत्य' अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है" । सूत्र में 'स्त्रीभ्यः' पद बहुवचन में प्रयुक्त होने से 'स्त्री'शब्दस्वरूप या स्त्री-वाचक का ग्रहण नहीं होता, किन्तु स्त्री-प्रत्ययान्त का ही ग्रहण होता है । **उदाहरण**—**वैनतेयः** (विनता का पुत्र—गरुड) । **विग्रह**—विनतायाः अपत्यं पुमान् । **प्रक्रिया**—विनता+ङस्, + ढक् > विनता+एय ('सुप्'लोप तथा ढ = एय) > वैनता+एय (आदि-वृद्धि) > वैनतेयः ('आ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—(१) **सौमित्रिः** (सुमित्रा का पुत्र-लक्ष्मण) तथा (२) **सापत्नः** (सौत का पुत्र) शब्दों में क्रमशः 'इञ्' तथा 'अण्' प्रत्ययों की समीचीनता के सम्बन्ध में यह निर्वचन किया गया है कि इन दोनों शब्दों में गणपाठप्रयुक्त विशेष विधान होने के कारण क्रमशः 'इञ्' ("बाह्वादिभ्यश्च" ४-१-९६) तथा 'अण्' ("शिवादिभ्योऽण्" ४-१-१२१) प्रत्यय ही होते हैं ।

(११२४) पद—द्व्यचः । **अनुवृत्ति**—स्त्रीभ्यो ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दो अच्-युक्त स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है। तन्नामिक 'अण्' का अपवाद है । उदा० दात्तेयः । 'पार्थः' में "तस्येदम्" से 'अण्' होगा ।

(सू १५००) इत्यण् । (११२५) इतश्चानिञः ४ । १ । १२२ ॥ इकारान्तात् द्व्यचोऽपत्ये ढक्स्यात्, न त्विञन्तात् । दौलेयः । नैधेयः । आत्रेयः । (११२६) शुभ्रादिभ्यश्च ४ । १ । १२३ ॥ ढक् स्यात् । शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः । (११२७)

ननु पृथाया अपत्यं पार्थं इति कथम्, तन्नामिकाणं बाधित्वा 'द्व्यचः' इति ढक्प्रसङ्गादित्यत आह—**पार्थं इत्यत्रेति** । शिवादित्वादपत्य एवाणित्यन्ये ।

(११२५) इतश्चानिञः । अस्त्रीप्रत्ययान्तार्थमिदम् । दुलिः निधिश्च कश्चित् । **आत्रेय इति** । अत्रिः प्रसिद्धः । परत्वादयमृष्यणमपि बाधत इति भावः ।

(११२६) शुभ्रादिभ्यश्च । **ढक् स्यादिति** । शेषपूरणम् । इञाद्यपवादः । **शुभ्रस्यापत्यमिति** । अस्त्रीत्वादप्राप्तौ ढगिति भावः ।

विवरण—प्रमुख अनुवृत्ति "स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२० सूत्र की अपेक्षित है। उसे कुछ सीमित किया जा रहा है। अब केवल "दो स्वर वर्ण वाले स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से 'ढक्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है"। इस तरह इस पुनर्विधान का यह फल हुआ कि "द्व्यच्क स्त्रीप्रत्ययान्त 'नदी' एवं 'मानुषी' नामधेय प्रातिपदिकों से "अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः" ४-१-११३ से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय को बाधकर 'ढक्' प्रत्यय ही होगा"। **उदाहरण**—दात्तेयः (दत्ता नाम की स्त्री का पुत्र) **विग्रह**—दत्तायाः अपत्यम् । दत्ता+ढक् > दत्त्+एय (ढ=एय) > दात्त्+एय ("किति च" ७-२-११८ से आदिवृद्धि) > दात्तेयः ('आ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

विशेष—पृथायाः अपत्यम्—**पार्थः** (पृथा का पुत्र—अर्जुन) में भी तन्नामिक 'अण्' का बाध कर 'ढक्' प्रत्यय की सम्भावना का निराकरण "तस्येदम्" ४-३-१२० सूत्र से पर होने के कारण 'अण्' प्रत्यय का विधान बतलाया गया है।

(११२५) पद—इतः, च, अनिञः। **अनुवृत्ति**—द्व्यचः, ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दो अचों से युक्त इकारान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय हो, किन्तु 'इञ्'-प्रत्ययान्त से नहीं होता। उदा० १—दौलेयः। २—नैधेयः। ३—आत्रेयः।

विवरण—पूर्व सूत्र (११२४) से 'द्व्यचः' तथा "स्त्रीभ्यो ढक्" (११२३) से 'ढक्' की अनुवृत्तियाँ प्रमुख रूप में अपेक्षित हैं। स्त्रीप्रत्ययान्त भिन्न दो 'अच्' वाले शब्दों को भी सीमित किया जा रहा है। यहाँ वे भी केवल 'ह्रस्व' इकारान्त मात्र अपेक्षित हैं और उसमें भी 'इञ्' प्रत्ययान्त शब्द इस परिधि से बाहर रखे गये हैं। तदनुसार "इञन्तभिन्न द्व्यच्क इकारान्त प्रातिपदिकों से भी अपत्यार्थ में 'ढक्' प्रत्यय होगा"। **उदाहरण**—(१) **दौलेयः** (दुलि का अपत्य)। **विग्रह**—दुलेः अपत्यम्। दुलि+ढक् (=एय) > दौलि्+एय (आदिवृद्धि) > दौलेयः ('इ' का लोप तथा विभक्तिकार्य)। (२) **नैधेयः** (निधि का पुत्र)। निधि+ढक् (=एय)। विग्रहादि कार्य पूर्ववत्। 'निधि' शब्द—नि-√धा+कि (= इ, "उपसर्गे घोः किः" ३-३-९२) प्रत्ययान्त है, इञन्त नहीं है। (३) **आत्रेयः** (अत्रि का पुत्र)। **विग्रह**—अत्रेः अपत्यम्। प्रक्रिया पूर्ववत्। यह शब्द भी इञन्त नहीं है। 'त्रिन्' प्रत्ययान्त है।

विशेष—ये तीनों शब्द ऋषिवाचक हैं, अतः "ऋष्यन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च" ४-१-११४ से प्राप्त 'अण्' का परत्वात् यह बाधक है।

(११२६) पद—शुभ्रादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ढक्' प्रत्यय हो। उदा० शुभ्रस्य अपत्यम्—शौभ्रेयः।

विकर्णकुषीतकात्काश्यपे ४ । १ । १२४ ॥ अपत्ये ढक् । वैकर्णेयः । कौषीतकेयः । अन्यो वैकर्णिः । कौषीतकिः । (११२८) **भ्रुवो वुक्च ४ । १ । १२५ ॥** चाड्ढक् ।

(११२७) **विकर्णकुषीतकात्काश्यपे ।** अपत्ये ढगिति । शेषपूरणम् । काश्यप एवेति नियमार्थं शुभ्रादिभ्यः पृथक् पाठः ।

(११२८) **भ्रुवो वुक् च ।** चाड्ढगिति । भ्रूशब्दादपत्ये ढक् स्यात् प्रकृतेर्वुगागमश्च । वुकि ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्त्वादन्तावयवः । **भ्रौवेय** इति । भ्रूर्नाम काचित्, तस्या अपत्यमिति विग्रहः । ढकि एयादेशे प्रकृतेर्वुकि आदिवृद्धिः । वुगभावे तु ऊकारस्य वृद्धौ आवादेशे भ्रावेय इति स्यात् ।

विवरण—"शुभ्रादि-गण-पठित षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिकों से भी अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय हो"। इन शब्दों के स्त्री-प्रत्ययान्त न होने से "स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२०.की प्राप्ति न होने के कारण इस सूत्र की चरितार्थता है। **उदाहरण—शौभ्रेयः** (शुभ्र का पुत्र)। **विग्रह**—शुभ्रस्य अपत्यम् । शुभ्र+ढक् (=एय) > शौभ्रेय (आदिवृद्धि, 'अ'लोप, विभक्ति-कार्य) ।

(११२७) पद—विकर्ण-कुषीतकात्, काश्यपे । **अनुवृत्ति**—ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **नियम-(विधि)-सूत्र** ।

मूलार्थ—अपत्य अर्थ में 'ढक्' हो । १—वैकर्णेयः । २—कौषीतकेयः । ('काश्यप' से) अन्यत्र—वैकर्णिः, कौषीतकिः ।

विवरण—'ढक्' का ही प्रकरण है। तदनुसार ""विकर्ण' तथा 'कुषीतक' शब्दों से काश्यप अपत्य-विशेष का अभिधान होने पर 'ढक्' प्रत्यय होगा"। **उदाहरण—वैकर्णेयः** (काश्यप विकर्ण का पुत्र)। विकर्णस्य अपत्यं पुमान् । विकर्ण+ढक् (=एय) > वैकर्णेयः । (२) **कौषीतकेयः** (काश्यप कुषीतक का पुत्र) । कुषीतकस्य अपत्यं पुमान् । कुषीतक+ढक् (=एय) > कौषीतकेयः ।

प्रत्युदाहरण—(१) **वैकर्णिः** तथा (२) **कौषीतकिः** । दोनों उदाहरणों में काश्यप गोत्र से भिन्न अर्थ अपेक्षित होने से 'इञ्' प्रत्यय हुआ ।

विशेष—"काश्यप' गोत्र का अभिधेय होने पर ही 'ढक्' प्रत्यय के नियमन से शुभ्रादिगण के अतिरिक्त इन दो शब्दों के सम्बन्ध में पृथक् निर्वचन की सार्थकता है ।

(११२८) पद—भ्रुवः, वुक्, च । **अनुवृत्ति**—ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ढक्' प्रत्यय भी हो । उदा० भ्रौवेयः ।

विवरण—'ढक्' का ही प्रसङ्ग है। अतः सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "षष्ठी-समर्थ 'भ्रू' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय हो तथा 'भ्रू' को 'वुक्' आगम भी हो"। 'वुक्' में 'क्' की इत्संज्ञा है तथा 'उ' उच्चारणार्थ है। 'कित्' होने से "आद्यन्तौ टकितौ" (१-१-४५) परिभाषा के अनुसार 'वुक्' आगम 'भ्रू' का अन्तावयव होगा। **उदाहरण—भ्रौवेयः** ('भ्रू' नाम की स्त्री का पुत्र)। **विग्रह**—भ्रुवः अपत्यम् । भ्रू-व्+ढक् (=एय) > भ्रौवेयः ('ढक्' प्रत्यय तथा 'वुक्' आगम, आदिवृद्धि, विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—वाक्यभेद से 'भ्रुवः' में 'षष्ठी' के अतिरिक्त पञ्चमी विभक्ति भी मानी गई है। अन्यथा 'वुक्' आगम के न होने पर 'उ' को वृद्धि एवम् 'आव्' आदेश होने पर 'भ्रावेयः' रूप बनता ।

ध्रौवेयः । (११२९) प्रवाहणस्य ढे ७ । ३ । २८ ॥ प्रवाहणशब्दस्योत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिः, पूर्वपदस्य तु वा ढे परे । प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेयः–प्रवाहणेयः । (११३०) तत्प्रत्ययस्य च ७ । ३ । २९ ॥ 'ढ'–प्रत्ययान्तस्य प्रवाहणस्योत्तरपदस्यादेरचो वृद्धिः पूर्वपदस्य तु वा । प्रवाहणेयस्यापत्यम् प्रावाहणेयिः–प्रवाहणेयिः ।

(११२९) प्रवाहणस्य ढे । उत्तरपदस्येत्यधिकृतम् । 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यतः अचामादेरित्यनुवर्तते । 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरिति 'अर्धात्परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा' इत्यतः पूर्वस्य वेति च । तदाह—प्रवाहणशब्दस्येति । प्रावाहणेयः–प्रवाहणेय इति । शुभ्रादित्वात् ढकि पूर्वपदस्य पाक्षिकी आदिवृद्धिः । उत्तरपदस्य नित्यम् । उत्तरपदे आकारस्य वृद्धेः फलं तु प्रवाहणेयीभार्य इत्यत्र 'वृद्धिनिमित्तस्य च' इति पुंवत्त्वप्रतिषेध एव ।

(११३०) तत्प्रत्ययस्य च । पूर्वसूत्रे यदनुवृत्तं तत्सर्वमिहाप्यनुवर्तते । तच्छब्देन ढप्रत्ययः परामृश्यते । तदाह—ढप्रत्ययान्तस्येति । प्रावाहणेयिः प्रवाहणेयिरिति । शुभ्रादिढगन्तादिञ् । ननु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धत्वादिदं व्यर्थमित्यत आह—बाह्येति ।

(११२९) पद—प्रवाहणस्य, ढे । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, तद्धितेष्वचामादेः, अचः वृद्धिः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ढ' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'प्रवाहण' शब्द के उत्तरपदस्थ आदि अच् को 'वृद्धि' होती है और पूर्व पद के (आदि अच्) को विकल्प से हो" । उदा० प्रवाहणस्य अपत्यम्—प्रावाहणेयः–प्रवाहणेयः ।

विवरण—प्रसङ्गवश वृद्धि-प्रकरण का यह सूत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है । वृद्धि-प्रकरण अष्टाध्यायी के सातवें अध्याय के तृतीय पाद में पठित है । अतः वहाँ के आदिवृद्धि-सम्बन्धी विषय पर ध्यान देना होगा । सूत्र में विधेयांश का लाभ अनुवृत्ति द्वारा ही होगा । "उत्तरपदस्य" ७-३-१० तथा "अङ्गस्य" ६-४-१ का अधिकार है । "अर्धात् परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा" (७-३-२६) सूत्र से 'पूर्वस्य तु वा' अंश, "तद्धितेष्वचामादेः" ७-२-११७ सूत्र, "अचो ञ्णिति" (७-२-११५) से 'अचः' पद, "मृजेर्वृद्धिः" ७-२-११४ से 'वृद्धिः' पद अनुवृत्त होते हैं । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'प्रवाहण' शब्दावयव उत्तरपद के अचों में 'आदि अच्' को नित्य वृद्धि होती है, किन्तु पूर्वपद को विकल्प से हो" । **उदाहरण**—**प्रावाहणेयः**→ (प्रवाहण+ढक् "शुभ्रादिभ्यश्च" ४-१-१२, ढ=एय तथा उत्तरपद 'वहण' के आदि 'अच्'='व'–के अकार को नित्य वृद्धि तथा पूर्वपद 'प्र' के 'अ' को वैकल्पिक वृद्धि होने पर । **प्रवाहणेयः**←पूर्वपदस्थ 'अच्' को 'वृद्धि' न होने पर । **विग्रह**—प्रवाहणस्य अपत्यं पुमान । **अर्थ**—प्रवाहण का पुत्र । 'प्रवाहण' प्र–√वह्+णिच् + ल्युट् = अन (उपधा-वृद्धि, "कृत्यल्युटो बहुलम्" ३-३-११३ से कर्ता अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय, प्रादि समास एवं "णेर्विभाषा" ८-४-२९ से 'न'=ण) ।

(११३०) पद—तत्प्रत्ययस्य, च । **अनुवृत्ति**—प्रवाहणस्य, पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वाचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ढ'-प्रत्ययान्त 'प्रवाहण' के उत्तरपदस्थ आदि 'अच्' को 'नित्य वृद्धि' एवम् पूर्वपदस्थ 'आदि अच्' को पाक्षिक वृद्धि हो । उदा० प्रवाहणेयस्य अपत्यम् प्रावाहणेयिः—प्रवाहणेयिः । 'ढ' प्रत्यय की आश्रित विकल्प वृद्धि 'ढ' प्रत्ययान्त से बहिर्भूत ('इञ्'–निमित्तक) नित्यवृद्धि का बाध नहीं कर सकती थी, (उसे रोकने के लिये) यह सूत्र आवश्यक है ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विस्तार है । अतः पूर्व सूत्र से 'प्रवाहणस्य' पद की प्रमुख अनुवृत्ति अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्वसूत्र के अनुसार सूत्रार्थ को निष्पन्न करने में सहायक

बाह्यतद्धितनिमित्ता वृद्धिर्ढाश्रयेण विकल्पेन बाधितुं न शक्यते इति सूत्रारम्भः। (११३१) **कल्याण्यादीनामिनङ् ४।१।१२६॥** एषामिनङादेशः स्यात्, ढक्च। काल्याणिनेयः। बान्धकिनेयः। (११३२) **कुलटाया वा ४।१।१२७॥** इनङ्मात्रं

ढक्प्रत्ययान्तात् बहिर्भूतो य इञ् तन्निमित्ता 'तद्धितेष्वचामादेः' इति नित्या आदिवृद्धिः। ढाश्रयेणेति। ढप्रत्यये परे विहितेनेति यावत्। तथाविधेन वृद्धिविकल्पेन पूर्वसूत्रविहितेन बाधितुं न शक्यते, भिन्ननिमित्तकत्वादित्यर्थः। पूर्वसूत्रं हि केवलढप्रत्ययान्ते ढप्रत्ययं परनिमित्तत्वेनाश्रित्य प्रवृत्तं ढङ्निमित्तामादिवृद्धिं बाधत इति युक्तं, न त्विञ्प्रत्यय-निमित्तामपि नित्यामादिवृद्धिम्। अतस्तस्या अपि बाधनार्थमिदं सूत्रमित्यर्थः। इदं वृद्धिविधिद्वयमपि 'शुभ्रादिभ्यश्च' इत्यत्रैव वक्तुं युक्तम्।

(११३१) कल्याण्यादीनामिनङ्। इनङि ङकार इत्। काल्याणिनेय इति। कल्याण्या अपत्यमिति विग्रहः। बान्धकिनेय इति। बन्धक्या अपत्यमिति विग्रहः। अत्र गणे स्त्रीप्रत्ययान्ता एव पठ्यन्ते। तेभ्यो ढक् सिद्ध एव। इनङेव तु विधीयते।

(११३२) कुलटाया वा। इनङ्मात्रमिति। व्याख्यानादिति भावः। पूर्वेणैवेति।

होती है। सूत्रस्थ सर्वनामवाची 'तत्' पद 'ढ' प्रत्यय का परामर्शक है (सः प्रत्ययः यस्मात् स तत्प्रत्ययः, तस्य)। तदनुसार "'ढ'प्रत्ययान्त 'प्रवाहण' शब्द (=प्रावाहणेय) के अङ्गभूत उत्तरपदस्थ 'आदि अच्' को नित्य वृद्धि एवम् पूर्वपदस्थ 'आदि अच्' को पाक्षिक वृद्धि होगी"। **उदाहरण**—'ढक्' प्रत्ययान्त ("शुभ्रादिभ्यश्च" ४-१-१२३) 'प्रावाहणेय' शब्द से 'इञ्' ("अत इञ्" ४-१-९५) प्रत्यय होकर—**प्रावाहणेयिः** एवं **प्रवाहणेयिः**—दो रूप बनेंगे।

विशेष—(१) 'प्रवाहण' शब्द को 'वृद्धि' पूर्व सूत्र से ही संभावित रही। पुनः यह विधान क्यों? इसका समाधान यह दिया गया है कि पूर्व सूत्र तो केवल 'ढ' प्रत्यय को अभि-लक्षित कर 'ढ' प्रत्यय-निमित्तक 'आदिवृद्धि' का बाधक अवश्य हो सकता है, किन्तु तदनन्तर होने वाले 'इञ्' प्रत्यय को आश्रित कर नित्य आदिवृद्धि का बाधक नहीं हो सकता था। अतः उसके भी बाधनार्थ इस सूत्र की उपयोगिता है।

(२) इन दोनों वृद्धि-विधायक सूत्रों को "शुभ्रादिभ्यश्च" ४-१-१२३ के साथ ही संयुक्त करने में लाघव था।

(११३१) पद—कल्याण्यादीनाम्, इनङ्। **अनुवृत्ति**—ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन (शब्दों) को 'इनङ्' आदेश होता है तथा 'ढक्' प्रत्यय भी हो। उदा० १—काल्याणिनेयः। २—बान्धकिनेयः।

विवरण—क्रमप्राप्त 'ढक्' प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। तदनुसार विधेय-वाचक पद='ढक्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से अपेक्षित है ("स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२०)। सूत्र में दूसरा विधेय-वाची पद 'इनङ्' है। दोनों में साहचर्य अपेक्षित है। तदनुसार "'कल्याणी" आदि शब्दों से 'अपत्य' अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होगा तथा इन शब्दों को 'इनङ्' आदेश (अन्त्यावयव—"ङिच्च १-१-५२) भी हो"। **उदाहरण**—(१) काल्याणिनेयः (कल्याणी नाम की स्त्री का पुत्र)। **विग्रह**—कल्याण्याः अपत्यम्। कल्याणी+इनङ्+ढक् > कल्याण्—इनङ् (इन्)+ढक् (=एय) ▷ काल्याणिनेयः (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। (२) **बान्धकिनेयः** (बन्धकी का अपत्य)। **विग्रह**—बन्धक्याः अपत्यम्। प्रक्रिया पूर्ववत्।

विशेष—यहाँ भी 'ढक्' प्रत्यय तो "स्त्रीभ्यो ढक्" (४-१-१२०) सूत्र से सिद्ध रहा। अतः उसका यहाँ अनुवाद मात्र है। अपूर्व विधेय 'इनङ्' आदेश ही है।

विकल्प्यते। ढक् तु नित्यः पूर्वेणैव। कौलटिनेयः-कौलटेयः। सती भिक्षुकयत्र कुलटा। या तु व्यभिचारार्थं कुलान्यटति तस्याः 'क्षुद्राभ्यो वा' (सू १९३७) इति पक्षे ढ्रक्। कौलटेरः। (११३३) **हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च** ७।३।१९॥ हृदाद्यन्ते पूर्वोत्तरपदयोरचामादेरचो वृद्धिर्ञिति णिति किति च। सुहृदोऽपत्यं सौहार्दः। सुभगाया अपत्यं सौभागिनेयः। सक्तुप्रधानाः सिन्धवः सक्तुसिन्धवः। तेषु भवः साक्तुसैन्धवः।

'स्त्रीभ्यो ढक्' इत्यनेनेत्यर्थः। कुलानि गृहाणि अटतीति कुलटा। शकन्ध्वादित्वात्पररूपम्। अत्रेति। 'कुलटाया वा' इति सूत्रे इत्यर्थः। पक्षे ढ्रगिति। ढ्रगपि कदाचिद्भवतीत्यर्थः। कौलटेर इति। कुलटाया ढ्रकि ढकारस्य एयादेशे 'लोपो व्योः' इति यकारलोप इति भावः।

(११३३) हृद्भग। हृदाद्यन्त इति। हृद, भग, सिन्धु एतदन्तेषु समासेष्वित्यर्थः। चकारादुत्तरपदस्येत्यनुकृष्यते। तदाह—पूर्वोत्तरपदयोरिति। सौहार्द इति। अणि उभयपदादिवृद्धिः। ऋकारस्य तु अकारो रपरः। सौभागिनेय इति। कल्याण्यादित्वात् ढकि इनङि उभयपदादिवृद्धिरिति भावः। एतत्प्रसङ्गादेव इदं सूत्रमत्रोपन्यस्तम्। 'महते

(११३२) पद—कुलटायाः, वा। **अनुवृत्ति**—ढक्, इनङ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—केवल 'इनङ्' विकल्प से हो। 'ढक्' तो पूर्व सूत्र से प्राप्त ही है। उदा० १—कौलटिनेयः-कौलटेयः। यहाँ 'कुलटा' शब्द सती भिक्षुकी के रूप में लिया गया है। दुराचारिणी-वाची 'कुलटा' शब्द में तो 'क्षुद्राभ्यो वा' (११३७) से 'ढ्रक्' प्रत्यय होकर 'कौलटेरः' रूप बनेगा।

विवरण—प्रमुख विधेय-वाची पद 'इनङ्' का सूत्र में निर्देश किया गया है। 'ढक्' का लाभ अनुवृत्ति-वश होता है। 'वा' पद विकल्प का सूचक है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'कुलटा' शब्द से अपत्यार्थ में 'ढक्' प्रत्यय हो तथा कुलटा को 'इनङ्' आदेश (अन्त्यावयव) विकल्प से हो"। अतः 'ढक्' प्रत्यय नित्य होगा किन्तु 'इनङ्' आदेश पाक्षिक रहेगा। **उदाहरण—कौलटिनेयः**→'ढक्' और 'इनङ्' आदेश होने पर ('कुलट्—इन्+एय' तथा आदिवृद्धि—"किति च" ७-२-११८)। **कौलटेयः**←'इनङ्' न होने पर केवल 'ढक्' प्रत्यय ('कुलट्+एय' एवम् आदिवृद्धि)। **विग्रह**—कुलटायाः अपत्यं पुमान्।

विशेष—(१) यहाँ पर 'कुलटा' शब्द व्यक्तिवाचक है। किसी महिला का नाम है। व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ (कुलानि अटति) को लेकर इस भ्रान्ति का निराकरण किया जा रहा है कि प्रकृत उदाहरण में उस सती साध्वी महिला का विचरण भिक्षा के लिये होता है।

(२) 'दुराचरणवश विचरण करनेवाली स्त्री' अर्थ अभिप्रेत होने पर तो आगे आने वाले सूत्र "क्षुद्राभ्यो वा" ४-१-१३१ से 'ढ्रक्' प्रत्यय होकर—कौलटेरः रूप निष्पन्न होगा—'कुलट्+एय्-र (ढ्रक्)', आदिवृद्धि एवं 'य्' का लोप।

(११३३) पद—हृद्-भग-सिन्ध्वन्ते, पूर्वपदस्य, च। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' प्रत्ययों के परवर्ती होने पर हृदादिशब्दान्त में पूर्वपद एवम् उत्तरपद के 'आदि अच्' को वृद्धि हो। उदा० १—सुहृदः अपत्यम्—सौहार्दः। २—सुभगायाः अपत्यम्—सौभागिनेयः। ३—सक्तुप्रधानाः सिन्धवः—सक्तुसिन्धवः, तेषु भवः—साक्तुसैन्धवः।

विवरण—पुनः प्रसङ्गप्राप्त वृद्धि-विधायक सूत्र प्रस्तुत किया जारहा है। अतः उस प्रकरण की उल्लिखित अनुवृत्तियों का स्मरण करना पड़ेगा। तदनुसार प्राकरणिक अनुवृत्ति 'उत्तरपदस्य' के

(११३४) चटकाया ऐरक् ४ । १ । १२८ ॥ **'चटकादिति वाच्यम्' (वा २६२४)।** **लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्त्रिया अपि । चटकस्य चटकाया वा अपत्यं चाटकैरः । 'स्त्रिया-मपत्ये लुग्वक्तव्यः' (वा २६२५) । तयोरेव स्त्र्यपत्यं चटका । अजादित्वाट्टाप् । (११३५)**

सौभगाय' इत्यत्र तु उद्गात्रादित्वाद्भावे अञ् । उत्तरपदादिवृद्ध्यभावश्छान्दसः । सिन्धव इति । अश्वा इत्यर्थः ।

(११३४) चटकाया ऐरक् । चटकाशब्दादपत्ये ऐरक्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ननु स्त्री-लिङ्गनिर्देशात् पुंल्लिङ्गान्न स्यादित्यत आह-**चटकादिति** । सूत्रे चटकाया इत्यपनीय चटका-दिति वाच्यमित्यर्थः । तर्हि स्त्रीलिङ्गान्न स्यादत आह—**लिङ्गेति** । **स्त्रिया अपीति** । स्त्रीलिङ्गादप्यैरगित्यर्थः । **तयोरिति** । चटकस्य चटकायाश्चेत्यर्थः । ननु चटकेति कथं जातित्वात् ङीष्प्रसङ्गादित्यत आह—**अजादित्वादिति** ।

साथ 'पूर्वपदस्य' का समन्वय करते हुए सूत्रार्थ निष्पन्न होता है। अतः "'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'हृत्' 'भग' तथा 'सिन्धु' शब्दान्त समासयुक्त ('अङ्गों') शब्दों के पूर्वपदस्थ एवम् उत्तर-पदस्थ अचों में 'आदि-अच्' को वृद्धि होगी"। **उदाहरण**— (१) **सौहार्दम्** ('सुहृद्' अर्थात् मित्र का अपत्य)। **विग्रह**—सुहृदः अपत्यम् । **प्रक्रिया**— सुहृद्+अण् ▷ सौहार्दः (पूर्वपदस्थ 'सु' को वृद्धि होकर 'सौ' एवम् 'हृद्' को वृद्धि होकर 'हार्द' एवं विभक्ति-कार्य)। (२) **सौभागिनेयः** (सब से प्रिय पत्नी की सन्तति)। **विग्रह**— सुभगायाः अपत्यम् । सुभगा+इन्—"कल्याणादीनामिनङ्" ४-१-१२६+एय (ढक्) एवम् दोनों शब्दों के आदिस्वर को वृद्धि—'सु' = सौ तथा भगा=भागा। इस उदाहरण के कारण ही यहाँ यह सूत्र प्रस्तुत किया गया है। (३) **साक्तुसैन्धवः** (सक्तुसिन्धु प्रदेश में होनेवाले घोड़े)। **विग्रह**—सक्तुसिन्धौ भवः । सक्तुसिन्धु+अण् ('भव' अर्थ में "तत्र भवः" ४-३-५३) ▷ साक्तु-सैन्धवः (पूर्व-पद 'सक्तु' के आदिम 'अच्' तथा सिन्धु' के आदि 'अच्' को वृद्धि) 'सक्तुसिन्धुः' शब्द में मध्यमपद लोपी समास । **विग्रह**—सक्तुप्रधानाः सिन्धवः यत्र । समास विधान—'शाक-पार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' वा० २-१-६० ।

(११३४) पद—चटकायाः, ऐरक् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वा० 'चटकस्य' कहा जाय । 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा से स्त्रीलिङ्ग का भी ग्रहण होगा। उदा० चटकस्य चटकायाः वा अपत्यम्—चाटकैरः । वा० स्त्रीलिङ्ग में ('ऐरक्' का) लोप किया जाय । 'चटक' एवं 'चटका' मादा की (तयोः एव) सन्तान चटका ।

विवरण—पुनः तद्धित प्रकरणोपयोगी सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है। 'ढक्' के अपवादस्वरूप 'ऐरक्' का विधान है। प्राकरणिक अनुवृत्तियों के साथ एकवाक्यता करने पर सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'चटका' शब्द से अपत्य अर्थ में 'ऐरक्' प्रत्यय हो"।

यहाँ दो **वार्तिक** उद्धृत किये जा रहे हैं। प्रथम वार्तिक द्वारा पुंल्लिङ्गवाची 'चटक' शब्द से भी 'ऐरक्' प्रत्यय का अभिधान किया गया है। 'लिङ्ग-विशिष्ट' परिभाषा से स्त्रीलिङ्गवाची मादा 'चटका' का भी ग्रहण हो सकेगा। तदनुसार **उदाहरण**—**चाटकैरः** (चिड़िया का अपत्य, सूत्र के अनुसार तथा नर 'चटक' का पुत्र—वार्तिक के अनुसार)। **विग्रह**—चटकायाः चटकस्य वा अपत्यम् पुमान् । चटका+ऐर > चटकैर ('आ' का लोप) > चाटकैरः (आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य)। 'चटक' शब्द में 'अ' का लोप होगा। शेष कार्य 'चटका' के समान ।

द्वितीय वार्तिक द्वारा यह विदित कराया गया है कि 'सन्तान यदि स्त्रीवाचक है तो 'ऐरक्' प्रत्यय का लोप होगा। तदनुसार 'चटकस्य अथवा चटकायाः अपत्यं स्त्री'—इस प्रकार विवक्षा में

गोधाया ढ्रक् ४ । १ । १२९ ॥ गौधेरः । शुभ्रादित्वात्पक्षे ढक् । गौधेयः । (११३६) **आरगुदीचाम् ४ । १ । १३० ॥** गौधारः । रका सिद्धे आकारोच्चारणमन्यतो विधानार्थम् । जडस्यापत्यं जाडारः । पण्डस्यापत्यं पाण्डारः । (११३७) **क्षुद्राभ्यो वा**

(११३५) **गोधाया ढ्रक्** । गौधेर इति । गोधाया अपत्यमिति विग्रहः । ढ्रकि ढकारस्य एयादेशे 'लोपो व्योः' इति यलोपः । कित्वादादिवृद्धिरिति भावः ।

(११३६) **आरगुदीचाम्** । गोधाया आरगवा स्यादित्यर्थः । अन्यत इति । आकारान्तादन्यत् अदन्तं, तस्मादपि क्वचिद्विधानार्थमित्यर्थः । जाडार इति । रग्विधौ आकारो न श्रूयेतेति भावः । पण्डो नपुंसकः, तस्यापत्यं क्षेत्रजातत्वादिना ।

(११३७) **क्षुद्राभ्यो वा** । अङ्गहीना इति । चक्षुरादिकतिपयावयवविकला

चटका रूप निष्पन्न होता है । चटक (चटका)+ऐरक् ▷चटक ('ऐरक्' का लोप) > चटका (जाति-सूचक 'ङीष्' का बाधकर "अजाद्यतष्टाप्" ४-१-४ से 'टाप्' प्रत्यय एवं विभक्ति-कार्य ।)

विशेष—स्त्रीलिङ्गवाची शब्द से 'ऐरक्' प्रत्यय का विधान 'ढक्' का बाधक है ।

(११३५) पद—गोधायाः, ढ्रक् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० गौधेरः । शुभ्रादि में पाठ होने से पक्ष में 'ढक्'—गौधेयः ।

विवरण—"'गोधा' शब्द से अपत्यार्थ में 'ढ्रक्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण—गौधेरः** (गोह का बच्चा) । गोधा+ढ्रक् ▷ गोधा+एय्-र (ढ्=एय्) ▷ गौध्+एय्-र (आदिवृद्धि) ▷ गौधेरः ('य्' का लोप—"लोपो व्योर्वलि" ६-१-६४) । इसके अतिरिक्त शुभ्रादि-गण में 'गोधा' शब्द का पाठ होने के कारण 'ढक्' प्रत्यय होने पर **गौधेयः** रूप भी बनेगा ।

(११३६) पद—आरक्, उदीचाम् । **अनुवृत्ति**—गोधायाः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० गौधारः । 'रक्' प्रत्यय से अभीष्ट रूप की सिद्धि रही, 'आ' का उच्चारण अन्य शब्दों से भी 'आरक्' प्रत्यय के विधान का सूचक है । (अतः) जडस्य अपत्यं 'जाडारः' तथा पण्डस्य अपत्यं 'पाण्डारः' (क्षेत्रज) प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

विवरण—पूर्व सूत्र (११३५) का विस्तार है । अतः वहाँ से उद्देश्य-वाचक 'गोधायाः' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "उदीच्य आचार्यों के मत में 'गोधा' शब्द से 'आरक्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण—गौधारः** (गोह का बच्चा) । विग्रह—गोधायाः अपत्यम् । गोधा+आरक् ▷ गौधारः ('आ' का लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—(१) सूत्र में 'आरक्' प्रत्यय का कथन होने के कारण 'ढ्रक्' की अनुवृत्ति आते हुए भी सम्बद्ध नहीं होती, क्योंकि 'उदीचाम्' पद का निवेश होने से प्राच्य आचार्यों के मत में पूर्व सूत्र से 'ढ्रक्' सिद्ध है ।

(२) 'गोधा' शब्द से 'रक्' प्रत्यय विधान करने पर भी गौधारः (गोधा+र>गौधारः) रूप आदिवृद्धि करने से सिद्ध हो सकता था, अतः 'आ'कार का पृथक् उच्चारण व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि 'गोधा से अतिरिक्त अन्य अकारान्त शब्दों से भी 'आरक्' प्रत्यय हो' । इसके फलस्वरूप 'जडस्य अपत्यम्' विग्रह करने पर जाडारः (मूर्ख का पुत्र—जड+आरक्) तथा पण्डस्य अपत्यम्-पाण्डारः (नपुंसक की सन्तति—अर्थात् अन्य पुरुष से उत्पन्न) प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

(११३७) पद—क्षुद्राभ्यः, वा । **अनुवृत्ति**—ढ्रक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

४।१।१३१॥ अङ्गहीनाः शीलहीनाश्च क्षुद्राः, ताभ्यो वा ढ्रक्। पक्षे ढक्। काणेरः–काणेयः। दासेरः–दासेयः। (११३८) पितृष्वसुश्छण् ४।१।१३२॥ अणोऽपवादः। पैतृष्वस्रीयः। (११३९) ढकि लोपः ४।१।१३३॥ पितृष्वसुरन्त्यस्य लोपः स्याड्ढकि। अत एव ज्ञापकाड्ढक्। पैतृष्वसेयः। (११४०) मातृष्वसुश्च

इत्यर्थः। शीलहीना इति। असदवृत्तीना इत्यर्थः। यथेष्टपुरुषसञ्चारिण्य इति यावत्। 'अनियतपुंस्का अङ्गहीना वा क्षुद्राः' इति भाष्यम्।

(११३८) पितृष्वसुश्छण्। पैतृष्वस्रीय इति। पितृष्वसुरपत्यमिति विग्रहः। छस्य ईयादेशे आदिवृद्धिः। सकाराहकारस्य यण्।

(११३९) ढकि लोपः। पितृष्वसुरित्यनुवर्तते। अलोऽन्त्यपरिभाषया अन्त्यस्य लोपः। तदाह—पितृष्वसुरन्त्यस्य लोप इति। ननु पितृष्वसुरपत्ये ढक एव दुर्लभत्वात्कथं तस्मिन् परे लोपविधिरित्यत आह—अत एवेति। शुभ्रादित्वात् ढगित्यन्ये। पैतृष्वसेय इति। ढकि अन्त्यस्य ऋकारस्य लोपे आदिवृद्धिः। 'मातृपितृभ्यां स्वसा' इति षत्वम्।

मूलार्थ—अङ्गहीन तथा शीलहीन स्त्रियाँ 'क्षुद्रा' हैं, उनसे पाक्षिक 'ढ्रक्' प्रत्यय हो। पक्ष में 'ढक्' भी होगा। उदा० १—काणेरः—काणेयः। २—दासेरः—दासेयः।

विवरण—विधेयांश 'ढ्रक्' की अनुवृत्ति "गोधाया ढ्रक्" (४-१-१२९) सूत्र से आ रही है। अतः सूत्र के अनुसार "क्षुद्रावाची प्रकृतियों से अपत्य अर्थ में 'ढ्रक्' प्रत्यय विकल्प से (वा) होता है"। पक्ष में 'ढक्' ("स्त्रीभ्यो ढक्" ४-१-१२०) प्रत्यय भी होगा। क्षुद्रा उसे कहते हैं, जो अङ्ग से या धर्म से हीन हो। **उदाहरण—काणेरः**→'ढ्रक्' होने पर (काणा+ढ्रक्> काण्+एय्-र > काणेय्-र > काणेर)। **काणेयः**←पक्ष में 'ढक्' (=एय) होने पर। **विग्रह**—काणायाः अपत्यं पुमान्। **अर्थ**—कानी स्त्री का 'पुत्र'। काणा शब्द अङ्गहीन स्त्री का बोधक है, अतः 'क्षुद्रा' के अन्तर्गत माना गया है। (२) **दासेरः** (शीलहीन दासी का पुत्र)→ 'ढ्रक्' होने पर। **विग्रह**—दास्याः अपत्यं पुमान्। असद् आचरण युक्त होने से 'दासी' भी क्षुद्रवाची है। पक्ष में **दासेयः**।

(११३८) **पद**—पितृष्वसुः, छण्। **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अण्' का अपवाद है। उदा० पैतृष्वस्रीयः।

विवरण—सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। उद्देश्य एवं विधेय-वाची शब्द सूत्र में निर्दिष्ट हैं। तदनुसार "'पितृष्वसृ' शब्द से अपत्य अर्थ में 'छण्' प्रत्यय होता है"। सामान्यतः "तस्यापत्यम्" (४-१-९२) सूत्र से प्राप्त 'अण्' का यह अपवाद है। **उदाहरण—पैतृष्वस्रीयः** (बुआ का लड़का)। **विग्रह**—पितृष्वसुः अपत्यं पुमान्। पितृष्वसृ+छण्>पितृष्वसृ+ईय (छ=ईय) > पैतृष्वसृ+ईय ('ण्' इत्-संज्ञा-निमित्तक आदिवृद्धि) > पैतृष्वस्रीयः (ऋ=र्—यण् सन्धि)।

(११३९) **पद**—ढकि, लोपः। **अनुवृत्ति**—पितृष्वसुः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'ढक्' परवर्ती होने पर 'पितृष्वसृ' के अन्त का लोप हो। ज्ञापन होने से ही 'ढक्' प्रत्यय होता है। उदा० पैतृष्वसेयः।

विवरण—"पितृष्वसुश्छण्" ४-१-१३२ सूत्र से उद्देश्यवाचक पद 'पितृष्वसुः' की अनुवृत्ति का लाभ होता है। 'निमित्त'-वाचक पद 'ढकि' सूत्र में विद्यमान है। किन्तु 'पितृष्वसृ' शब्द से

४।१।१३४॥ पितृष्वसुर्यदुक्तं तदस्यापि स्यात् । मातृष्वस्त्रीयः–मातृष्वसेयः । (११४१) चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ४।१।१३५॥ (११४२) ढे लोपोऽकद्र्वाः ६।४।१४६॥ कद्रूभिन्नस्योवर्णान्तस्य भस्य लोपः स्यात् ढे परे। कामण्डलेयः।

(११४०) मातृष्वसुश्च। चकाराच्छण्। ढकि लोपश्चानुकृष्यते। तदाह—पितृष्वसुर्यदुक्तमिति।

(११४१) चतुष्पाद्भ्यो ढञ्। चतुष्पादः पशवः। तद्विशेषवाचिभ्यः अपत्ये ढञित्यर्थः।

(११४२) ढे लोपोऽकद्र्वाः। भस्येत्यधिकृतम्। 'ओर्गुणः' इत्यतः ओरिति षष्ठ्यन्तेनानुवृत्तेन विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—कद्रूभिन्नस्येति। 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्त्यलोपः। ओर्गुणापवादः। कामण्डलेय इति। कमण्डलोरपत्यमिति विग्रहः। ढकि एयादेशे आदिवृद्धौ उकारलोपः। ननु कमण्डलुशब्दवाच्यस्य जलपात्रस्याचेतनस्य कथमपत्य-

---

'ढक्' प्रत्यय का विधायक कोई सूत्र नहीं है। 'ढक्' प्रत्यय न रहने पर लोप किसका हो? इस प्रकार सूत्र के वैयर्थ्य की सम्भावना का निराकरण ज्ञापन द्वारा किया जाता है। अतः "पितृष्वसृ शब्द से 'ढक्' प्रत्यय भी होगा"। तभी लोप-विधान की सार्थकता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'ढक्' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'पितृष्वसृ' शब्द के अन्त्य वर्ण ("अलोऽन्त्यस्य" १-१-५२ के आधार पर) का लोप हो"। उदाहरण—पितृष्वसृ+ढक् > पितृष्वसृ+एय (ढ=एय) > पैतृष्वसृ+एय (आदिवृद्धि—"किति च" ७-२-११८) > पैतृष्वस्+एय ('ऋ' का लोप) > पैतृष्वसेयः (विभक्तिकार्य)।

(११४०) पद—मातृष्वसुः, च। अनुवृत्ति—ढकि लोपः, पितृष्वसुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—जो कुछ 'पितृष्वसृ' के सम्बन्ध में कहा गया है, वह 'मातृष्वसृ' से भी हो। उदा० मातृष्वस्त्रीयः—मातृष्वसेयः।

विवरण—'बुआ के पुत्र' के समान 'मौसी के पुत्र' को अभिलक्षित कर 'ढक्' तथा 'छण्' प्रत्यय एवम् 'अन्तिम-वर्ण के लोप' का विधान किया जा रहा है। सूत्रस्थ 'च' पद पूर्व-निर्दिष्ट प्रत्ययों का अनुकर्षण कर लाघव सूचित करता है। उदाहरण—मातृष्वस्त्रीयः→'छण्' प्रत्यय होने पर। मातृष्वसेयः←'ढक्' प्रत्यय होने पर। विग्रह—मातृष्वसुः अपत्यं पुमान्। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। दोनों शब्दों में ('स्वसृ' सम्बन्धी) सकार को मूर्धन्य षकार होता है—"मातृपितृभ्यां स्वसा" (८-३-८४)।

(११४१) पद—चतुष्पाद्भ्यः, ढञ्। अनुवृत्ति—तस्यापत्यम्, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—(चौपायों के बोधक शब्दों से 'ढञ्' प्रत्यय हो)।

विवरण—"चतुष्पाद् अभिधायी (पशुवाचक शब्द) प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में 'ढञ्' प्रत्यय हो"।

(११४२) पद—ढे, लोपः, अकद्र्वाः। अनुवृत्ति—ओः, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'कद्रू'-भिन्न उवर्णान्त 'भ'-संज्ञक का 'ढ' प्रत्यय परवर्ती रहने पर लोप होता है। उदा० कामण्डलेयः। 'कमण्डलु' शब्द पशुविशेष का बोधक है।

विवरण—प्रासङ्गिक विधान का आवश्यक सूत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। यह सूत्र

कमण्डलुशब्दश्चतुष्पाज्जातिविशेषे । **(११४३) गृष्ट्यादिभ्यश्च ४ । १ । १३६ ॥** एभ्यो ढञ् स्यात् । अण्-ढकोरपवादः । गार्ष्टेयः । मित्रयोरपत्यम्, ऋष्यणि प्राप्ते ढञ् । **(११४४) केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः ७ । ३ । २ ॥** एषां यकारादेरियादेशः

योगः, तत्राह—कमण्डलुशब्दश्चतुष्पाज्जातिविशेषे इति । अत एव 'कमण्डलुपदे आदधीत' इति बह्वृचो ब्राह्मणं सङ्गच्छत इति भावः ।

(११४३) गृष्ट्यादिभ्यश्च । अण्ढकोरिति । गृष्टि, हृलि, बलि, कुठि, अगस्ति, मित्रयु एते गृष्ट्यादयः । अत्र अन्त्ययोः ऋषित्वादण् प्राप्तः । अन्येभ्यस्तु 'इतश्चानिञः' इति ढक् प्राप्त इति विवेकः । सकृत्प्रसूता मनुष्यादिरपि गृष्टिः, न तु गौरेव । ततश्च 'चतुष्पाद्भ्यः' इत्यनेन न प्राप्तिः ।

(११४४) केकयमित्रयु । 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यतस्तद्धितग्रहणमनुवर्तते । 'अचो ञ्णिति' 'किति च' इत्यतः ञ्णितीति, कितीति च । तदाह—एषामिति । आदेशे यकारादकार उच्चारणार्थः । केकयस्यापत्यं स्त्री कैकेयी । 'जनपदशब्दात्' इत्यञ् ।

'अष्टाध्यायी' के छठे अध्याय के अन्तर्गत है । तदनुसार उस प्रकरण की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं । उद्देश्यवाची पद ('ओः') की अनुवृत्ति "ओर्गुणः" ६-४-१४६ सूत्र से आती है । शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ उस प्रकरण के अधिकार सूत्रों से सम्बद्ध हैं । सूत्रस्थ निमित्त-वाची 'ढे' के साथ 'तद्धिते' पद सम्बद्ध होता है । उसकी अनुवृत्ति "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से आ रही है । तदनुसार प्रकृत सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "तद्धित-प्रकरणस्थ 'ढ' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'कद्रू' शब्द को छोड़ कर अन्य पशुवाची 'उ'वर्णान्त 'भ' संज्ञक अङ्ग के अन्तिम वर्ण का लोप हो" । **उदाहरण—कामण्डलेयः** (चौपाये पशु-विशेष का बच्चा) । **विग्रह—**कमण्डलोः अपत्यम् पुमान् । कमण्डलु+ढञ् > कमण्डलु+एय (ढ=एय) > कामण्डलु+एय (आदिवृद्धि) > कामण्डलेयः ('भ'-संज्ञान्वित 'उ' का लोप) ।

विशेष—'कमण्डलु' शब्द जलपात्र के अर्थ में विशेष प्रसिद्ध है, तथाऽपि चौपाये जानवर के अर्थ में भी 'कमण्डलु' शब्द का प्रयोग ऋक्-शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ में किया गया है ('कमण्डलुपदे आदधीत') ।

(११४३) पद—गृष्ट्यादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति—**ढञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—इन से 'ढञ्' हो । 'अण्' तथा 'ढक्' का अपवाद है । उदा० १—गार्ष्टेयः । 'मित्रयु' की सन्तान अर्थ में 'ऋष्यन्धक०' सूत्र से 'अण्' प्राप्त रहा, उसे बाध कर 'ढञ्' प्रत्यय संयुक्त होता है ।

विवरण—विधेयांश 'ढञ्' का लाभ अनुवृत्ति द्वारा होता है ("चतुष्पाद्भ्यो ढञ्" ४-१-१३५) । सूत्र का यह आशय है कि "गृष्टि आदि शब्दों से भी (च) अपत्य अर्थ में 'ढञ्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण—गार्ष्टेयः** (पहली बार प्रसव करने वाले पशु की सन्तान) । गृष्टि+ढ=एय > गार्ष्टि+एय (आदिवृद्धि) > गार्ष्टेयः ('इ' का लोप) । 'अगस्ति' एवं 'मित्रयु' शब्दों को ऋषिवाची होने के कारण 'अण्' प्रत्यय प्राप्त रहा तथा अन्य शब्दों से "इतश्चानिञः" ४-१-१२२ से ढक् प्राप्त था । उन दोनों का यह अपवाद है । इन उदाहरणों में अग्रिम सूत्रों की उपयोगिता है, अतः वहाँ दिये जायेंगे ।

(११४४) पद—केकय-मित्रयु-प्रलयानां, यादेः, इयः । **अनुवृत्ति—**किति, तद्धितेषु, ञ्णिति, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

स्यात् ञिति णिति किति च तद्धिते परे। इति इयादेशे प्राप्ते। (११४५) दाण्डि-नायन-हास्तिनायना-ऽऽथर्वणिक-जैह्माशिनेय-वाशिनायनि-भ्रौणहत्य-धैवत्य-सार-

---

मैत्रेयिकया श्लाघते मित्रयोर्भाव इत्यर्थे 'गोत्रचरणात्' इति वुञ्। प्रलयादागतं प्रालेयम्। अण्। अत्र सर्वत्र याद्वेरियादेशः इत्युदाहरणानि। प्राप्ते इति। मित्रयोरपत्ये ढञि एयादेशे मित्रयु एय इति स्थिते ओर्गुणं बाधित्वा यु इत्यस्य इयादेशे सति आद्गुणे मैत्रेयेय इति प्राप्ते सतीत्यर्थः।

(११४५) दाण्डिनायन। एतानि निपात्यन्ते इति। दण्डिनो हस्तिनश्चापत्यं दाण्डिनायनः, हास्तिनायनः। नडादित्वात्फक्। निपातनाट्टिलोपो न। अथर्वणा प्रोक्तो ग्रन्थः उपचारादथर्वा। तमधीते आथर्वणिकः। वसन्तत्वादित्वात् ठक्। निपातनान्न टिलोपः। जिह्माशिनोऽपत्यं जैह्माशिनेयः। शुभ्रादित्वाड्ढक्। निपातनान्न टिलोपः। वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः। 'उदीचां वृद्धात्' इति फिञ्। निपातनान्न टिलोपः। भ्रूणहन्, धीवन् एतयोर्भावे ष्यञ्। नकारस्य तकारश्च निपात्यते। न च 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इत्यनेनैव तकारः सिद्ध इति शङ्क्यम्—'धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति' इति परिभाषया 'हनस्तः' इति तत्त्वस्य धातुविहितप्रत्यये पर एव प्रवृत्तेः। इदमेव तकार-निपातनमस्यां परिभाषायां ज्ञापकमिति 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। तेन वार्त्रघ्न-मित्यत्र तत्त्वं न। सरय्वां भवं सारवम् उदकम्। अणि यू इत्यस्य व इत्यादेशो

मूलार्थ—'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' तद्धित के परवर्ती होने पर इनके यकारादि को 'इय' आदेश होता है। 'इय्' आदेश की प्राप्ति होने पर।

विवरण—विशेष आदेश का विधायक यह सूत्र है। वृद्धि-प्रकरण के अन्तर्गत होने के कारण वहाँ की उपयोगी अनुवृत्तियों का यहाँ आश्रय लेना पड़ता है। तदनुसार उल्लिखित अनुवृत्तियों के साथ सूत्र की एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "'ञित,' 'णित्' तथा 'कित्' तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने की स्थिति में 'केकय' 'मित्रयु' तथा 'प्रलय'—इन शब्दों के (अङ्गों के) 'यू' आदिवाले (यकारादि) भाग को 'इय' आदेश हो"।

(११४५) पद—दाण्डिनायन······हिरण्मयानि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इनका निपातन किया जाता है। इस प्रकार 'यु'लोप होने पर—मैत्रेयः, मैत्रेयौ (रूप बनते हैं)।

विवरण—दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वाशिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय तथा हिरण्मय—ये शब्द निपातन किये जाते हैं। इन शब्दों की सिद्धि इस प्रकार है—(१) 'दण्डिन्' तथा (२) 'हस्तिन्' शब्द नडादि-गण में पढ़े गए हैं, अतः "नडादिभ्यः फक्" (४-१-९९) से 'फक्' (= आयन) प्रत्यय हुआ है। निपातन-वश 'आयन' परे रहने यहाँ प्रकृतिभाव होता है। अर्थात् "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से 'टि' लोप नहीं होता। (३) आथर्वणिकः में 'अथर्वन्' शब्द वसन्तादिगण में पठित है। अतः "वसन्ता-दिभ्यष्ठक्" (४-२-६३) से 'ठक्' (= इक) प्रत्यय होने पर प्रकृतिभाव हुआ। यहाँ भी 'टि'—लोप नहीं हुआ। अथर्वन् ऋषि के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ 'अथर्वन्' उपचार-वश कहा जायगा। तदनुसार उस ग्रन्थ का अध्येता आथर्वणिकः कहलायगा। (४) जैह्माशिनेयः में "शुभ्रादिभ्यश्च" (४-१-१२३) से 'ढक्' प्रत्यय होने पर निपातनवश प्रकृतिभाव होता है। (५) वाशिनायनिः (वाशिन् की सन्तति) में 'वाशिन्' शब्द से "उदीचां वृद्धा०" (४-१-१५७) से 'फिञ्' प्रत्यय (= आयनि) होकर प्रकृतिभाव का निपातन हुआ है। (६) भ्रौणहत्यम् तथा (७) धैवत्यम् शब्दों में 'भ्रूणहन्' तथा 'धीवन्' शब्दों से 'ष्यञ्' (५-१-१२३) प्रत्यय परवर्ती होने पर 'त' आदेश

वैक्ष्वाक-मैत्रेय-हिरण्मयानि ६।४।१७४ ॥ एतानि निपात्यन्ते । इति युलोपः । मैत्रेयः । मैत्रेयौ । **(११४६) यस्कादिभ्यो गोत्रे २।४।६३ ॥** एभ्योऽपत्यप्रत्ययस्य लुक्स्यात्तत्कृते

निपात्यते । इक्ष्वाकोरपत्यमैक्ष्वाकः । जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् । उकारलोपो निपात्यते । बहुत्वे तु तद्राजत्वाल्लुक् इक्ष्वाकवः । इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवोऽप्यैक्ष्वाकः । कोपधादण् । उकारलोपश्च । सूत्रे ऐक्ष्वाकेत्यत्र अणन्तयोर्ग्रहणम् । बहुत्वे तद्राजत्वादञो लुक् । अणस्तु नेति विशेषः । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयः । मयटि णकाराद्यकाराकारयोर्लोपः । इति युलोप इति । मित्रयु एय इति स्थिते यु इत्यस्य लोपो निपातनादिति भावः । मैत्रेयीति 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् ।

(११४६) यस्कादिभ्यो गोत्रे । नेदं सूत्रमपत्याधिकारस्थम्, किन्तु द्वैतीयिकम् । अतो गोत्रशब्देन प्रवराध्यायप्रसिद्धमेव गोत्रमिह विवक्षितम्, अपत्याधिकारादन्यत्र

निपातित होता है ("अलोऽन्त्यस्य" से 'न्' को 'त्' आदेश) । (८) **सारवम्** (सरयू का जल) शब्द में 'अण्' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'सरयू' शब्दावयव 'यू' के स्थान पर 'व' आदेश निपातित है । (९) **ऐक्ष्वाकः** (इक्ष्वाकु का पुत्र) । इक्ष्वाकु + अञ् ("जन-पदशब्दात् क्षत्रियादञ्"—४-१-१६८ > ऐक्ष्वाकः (आदिवृद्धि) । यहाँ 'उ' का लोप निपातन किया जा रहा है । बहुवचन में तद्राज-संज्ञा होने के कारण प्रत्यय का लोप होने पर 'इक्ष्वाकवः' रूप निष्पन्न होगा । (१०) **मैत्रेयः** (मित्रयु की सन्तान) में "गृष्ट्यादिभ्यश्च" ४-१-१३६ से 'ढञ्' प्रत्यय (मित्रयु + एय) होने पर 'य्' आदिवाले अर्थात् 'यु' को "केकयमित्रयु०" ७-३-२ सूत्र से 'इय्' आदेश प्राप्त था, उसको बाधकर 'यु' का लोप निपातन किया गया । तदनन्तर (मित्र + एय > मैत्रेयः) आदि-वृद्धि एवं 'अ' का लोप होकर अभीष्ट रूप सिद्ध होता है । द्विवचन में **मैत्रेयौ** रूप होगा । (११) **हिरण्मयः** (सुवर्णमय) हिरण्यस्य विकारः अर्थ में हिरण्य + मयट् प्रत्यय होने पर 'य' का लोप निपातन किया गया है ।

विशेष—(१) 'भ्रौणहत्यः' में "हनस्तोऽचिण्णलोः" (७-३-३२) से 'न्' को तकार होने पर इस निपातन के बिना भी रूपसिद्धि संभावित रही—यह शंका होती है । इसका समाधान यह दिया जाता है कि उक्त सूत्र से होने वाला तकार-आदेश धातु से विहित है । तदनुसार 'धातु' सम्बन्धी प्रत्यय के परवर्ती होने पर ही उसकी प्रवृत्ति होगी । अतः निपातन आवश्यक है[1] ।

(२) 'इक्ष्वाकु' शब्द जनपद-वाची (इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवः) होने पर भी 'अण्' प्रत्यय होने पर 'ऐक्ष्वाकः' ही रूप बनेगा । तथाऽपि इस अर्थ में बहुवचन की विवक्षा में 'अण्' का लोप नहीं होगा । अतः वहाँ 'ऐक्ष्वाकाः' 'ऐक्ष्वाकैः' आदि रूप बनेंगे । यह दोनों में अन्तर है । तदनुसार दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं । 'इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे' (रघुवंश) एवम् 'ऐक्ष्वाकेषु च मैथिलेषु च फलन्त्वस्माकमद्याशिषः' (मुरारिः) ।

(११४६) पद—यस्कादिभ्यः, गोत्रे । **अनुवृत्ति**—लुक्, बहुषु, तेनैवास्त्रियाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे अपत्यकृत बहुत्व होने पर गोत्रार्थक प्रत्यय का 'लुक्' होता है, किन्तु स्त्री-रूप अपत्य में नहीं होता । उदा० मित्रयवः ।

विवरण—'मित्रयु' शब्द से 'मैत्रेयः' के निपातनानन्तर बहुवचन की विवक्षा में प्रसङ्गप्राप्त

---

१. इदमेव च 'भ्रूणहन्' शब्दस्य तत्वनिपातनं "धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति" इति परिभाषां ज्ञापयति । एतेन भ्रौणहत्यशब्दे कुत्वाभावोऽपि सिद्धः । एतत्सर्वं "मृजेर्वृद्धिः" ७-२-११४ सूत्रभाष्ये स्पष्टम् ।

बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । मित्रयवः । (११४७) अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतमा-ऽङ्गिरो-भ्यश्च २।४।६५ ॥ एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक्स्यात्तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । अत्रयः । भृगवः । कुत्साः । वसिष्ठाः । गोतमाः । अङ्गिरसः । (११४८) बह्वच इञः प्राच्य-

---

लौकिकमेव गोत्रं गृह्यते' इति 'यूनि लुक्' 'स्त्रीपुंसाभ्याम्' इत्यादिसूत्रभाष्ये सिद्धान्तितत्वात् । 'ण्यक्षत्रियार्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते । 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति सूत्रं तद्राजवर्जमनुवर्तते । तदाह—एभ्योऽपत्यप्रत्ययस्येति । मित्रयव इति । मित्रयोरपत्यानि पुमांस इत्यर्थः । गृष्ट्यादिढको लुकि आदिवृद्धिनिवृत्तिः ।

(११४७) अत्रिभृगु । 'पूर्वसूत्राद् गोत्र इति, तत्र यदनुवृत्तं तच्च सर्वमिहानुवर्तते । तदाह—एभ्यो गोत्रेति । अत्रेः, भृगोः, कुत्सस्य, वसिष्ठस्य, गोतमस्य, अङ्गिरसश्च अपत्यानि पुमांस इति विग्रहाः । तत्र अत्रेः 'इतश्चानिञः' इति ढकोऽनेन लुक् । इतरेभ्यस्तु ऋष्यण् इति बोध्यम् । लुकि आदिवृद्धिनिवृत्तिः ।

प्रत्यय के लोप का निर्देश दिया जा रहा है । प्रकृत सूत्र द्वितीयाध्याय का है । अतः विधेय-वाची 'लुक्' की अनुवृत्ति "ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः" (२-४-५८) सूत्र से आ रही है । इसके अतिरिक्त "तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्" (२-४-६२) सूत्र से अनुवर्तमान 'बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्' अंश के प्रभाव से सूत्रार्थ निष्पन्न होता है । तदनुसार "यस्कादिगण पठित शब्दों से स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर अन्यत्र बहुत्व अर्थ में विहित गोत्र प्रत्यय का 'लुक्' (लोप) होगा" । उदाहरण—मित्रयवः (मित्रयु के बहुत से पौत्र) । विग्रह—मित्रयोः अपत्यानि पुमांसः । मित्रयु+ढुक्+जस् > मित्रयु+अस् (यस्कादिगण में पाठ होने से 'ढक्' प्रत्यय का लोप) > मित्रयवः ('ढक्' प्रत्यय का लोप होने के कारण आदिवृद्धि नहीं होती, इसके अनन्तर विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—यहाँ 'गोत्र' पद प्रवराध्यायप्रसिद्ध लौकिक गोत्र (पुत्र) का बोधक है ।

(११४७) पद—अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतमाङ्गिरोभ्यः, च । अनुवृत्ति—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैवास्त्रियाम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त अपत्यप्रयुक्त बहुत्व होने पर—अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम तथा अङ्गिरस्–इन शब्दों से परवर्ती 'गोत्र'-प्रत्यय का 'लुक्' होता है । उदा० १—अत्रयः । २—भृगवः । ३—कुत्साः । ४—वसिष्ठाः । ५—गोतमाः । ६—अङ्गिरसः ।

विवरण—पूर्व सूत्र के अनुसार यहाँ भी उल्लिखित ६ शब्दों में बहुत्वप्रयुक्त अपत्य-प्रत्यय का लोप किया जा रहा है । अतः पूर्व सूत्र (११४६) से 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । अन्य अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र के समान अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, तथा अङ्गिरस् शब्दों से स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त तत्सम्बद्ध बहुवचन में विवक्षित गोत्रापत्य प्रत्यय का लोप होगा" । क्रमशः उदाहरण—(१) अत्रयः (अत्रि के अनेक पौत्र आदि) । अत्रि+ढुक् ("इतश्चानिञः—४-१-१२२)+जस् >अत्रि+जस् (प्रकृत सूत्र से 'ढक्' का लुक्) > अत्रे+अस् ("जसि च" ७-३-१०९ से गुण) > अत्रयः ('अय्' आदेश तथा विभक्तिकार्य) । शेष सूत्रस्थ उदाहरणों में "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" (४-१-११४) से बहुत्व विवक्षा में 'अण्' प्रत्यय होकर उसका लुक् हो जायगा । तदनुसार भृगवः (भृगु के पौत्र आदि), कुत्साः (कुत्स ऋषि के पौत्र आदि), वसिष्ठाः (वसिष्ठ ऋषि के पौत्र आदि) तथा अङ्गिरसः (अङ्गिरस् के पौत्र आदि) । फलतः 'लुक्' होने पर आदिवृद्धि की निवृत्ति हो जाती है ।

भरतेषु २।४।६६॥ बह्वचः परो य इञ् प्राच्यगोत्रे भरतगोत्रे च वर्तमानस्तस्य लुक्स्यात्। पन्नागाराः। युधिष्ठिराः। **(११४९) न गोपवनादिभ्यः २।४।६७॥** एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् न स्यात्। बिदाद्यन्तर्गणोऽयम्। गौपवनाः। शैग्रवाः। **(११५०) तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे २।४।६८॥** एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य बहुत्वे लुक्स्यात् द्वन्द्वे।

(११४८) बह्वच इञः। प्राच्ये उदाहरति—पन्नागारा इति। पन्नागारस्यापत्यानीति विग्रहः। अत इञो लुक्। भरतगोत्रे उदाहरति—युधिष्ठिरा इति। युधिष्ठिरस्यापत्यानीति विग्रहः। कुरुलक्षणं ण्यं बाधित्वा बाह्वादित्वात् इञ्। तस्य लुक्। अबहुत्वे तु यौधिष्ठिरः।

(११४९) न गोपवनादिभ्यः। बिदाद्यन्तर्गणोऽयमिति। ततश्च अञः 'यञञोश्च' इति प्राप्तस्य लुङ् नेति भावः।

(११५०) तिककितव। तैकायनयश्च कैतवायनयश्चेति 'द्वन्द्वविग्रहप्रदर्शनम्। तिककितवा इति। द्वन्द्वे इति सप्तमीनिर्देशात् पदद्वयादपि फिञो लुक्।

(११४८) पद—बह्वचः, इञः, प्राच्यभरतेषु। **अनुवृत्ति**—गोत्रे लुक्, बहुषु तेनैव। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्राच्यगोत्र एवं भरतगोत्र में उल्लिखित अनेक स्वरों वाले शब्दों से परवर्ती 'इञ्' का लुक् हो। उदा० १—पन्नागाराः। २—युधिष्ठिराः।

विवरण—पूर्व सूत्र के समान 'लुक्' का ही प्रकरण है। अतः उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। सूत्र में निर्दिष्ट पदों के साथ उनकी एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "प्राच्यगोत्र तथा भरतगोत्र में निर्दिष्ट अनेक स्वरवर्ण-युक्त शब्दों से परवर्ती 'इञ्' प्रत्यय का तत्कृत बहुवचन में 'लुक्' होगा"। प्राच्यगोत्र का **उदाहरण**—(१) **पन्नागाराः** तथा भरतगोत्र का (२) **युधिष्ठिराः**। ये दोनों शब्द अनेक स्वरवर्णों से युक्त हैं, अतः उनके बहुत से पौत्र आदि के रहने पर क्रमशः "अत इञ्" ४-१-९१ तथा "बाह्वादिभ्यश्च" ४-१-९६ से विहित 'इञ्' प्रत्यय का लोप हो जाता है। एकत्व एवं द्वित्व अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय का लुक् न होने से 'पान्नागारिः' तथा 'पान्नागारी' एवं 'यौधिष्ठिरिः' तथा 'यौधिष्ठिरी' रूप निष्पन्न होंगे।

(११४९) पद—न, गोपवनादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—गोत्रे, बहुषु तेनैव। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इनसे गोत्र-प्रत्यय का 'लुक्' न हो। ये शब्द बिदादि-गण के अन्तर्गत पठित हैं। उदा० १—गोपवनाः। २—शैग्रवाः।

विवरण—'लुक्' का निषेध-बोधक सूत्र है। उसकी सूचना सूत्र में प्रयुक्त 'न' शब्द से मिलती है। उसे 'गोपवनादि' शब्द तक सीमित किया गया है। 'गोपवन' आदि शब्द बिदादि-गण में पठित हैं। परिशिष्ट में देखने से विदित हो जायगा। ये २८ शब्द हैं। अतः सूत्र का अर्थ यह होगा कि "'गोपवन' आदि शब्दों से परवर्ती 'गोत्र'-प्रत्यय का तत्कृत बहुवचन में 'लुक्' नहीं होता"। इस प्रकार "अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्" (४-१-१०४) से विहित 'अञ्' प्रत्यय का बहुत्व अर्थ में "यञञोश्च" २-४-६४ से प्राप्त 'लुक्' का प्रतिषेध किया गया है। तदनुसार (१) **उदाहरण**—**गौपवनाः** (गोपवन के अनेक पौत्रादि) में 'अञ्' का लोप नहीं हुआ (गोपवन्+अञ्+जस् > गौपवन+अस् (आदिवृद्धि, 'अ' लोप) > गौपवनाः (विभक्तिकार्य—पूर्वसवर्ण-दीर्घ, रुत्व एवं विसर्ग)। इसी प्रकार (२) **शैग्रवः** (शिग्रु के अनेक पौत्रादि) में भी (शिग्रु+अञ्+जस्) 'अञ्' का लोप न होने पर आदिवृद्धि होकर विभक्ति-निमित्तक कार्य 'गुण' तथा अवादेश हुए।

(११५०) पद—तिककितवादिभ्यः, द्वन्द्वे। **अनुवृत्ति**—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैव। **विधिसूत्र।**

तैकायनयश्च कैतवायनयश्च। 'तिकादिभ्यः फिञ्' (सू १०७८), तस्य लुक्। तिककितवाः। (११५१) उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे २।४।६९॥ एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य बहुत्वे लुग्वा स्यात् द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे। औपकायनाश्च लामकायनाश्च। 'नडादिभ्यः फक्' (सू ११०१), तस्य लुक् उपकलमकाः—औपकायनलामकायनाः। भ्राष्टककपिष्ठलाः—भ्राष्टकिकापिष्ठलयः। उपकाः—औपकायनाः। लमकाः लामकायनाः।

(११५१) उपकादिभ्यो। चकारमध्याहृत्याह—द्वन्द्वे चेति। एवं च अस्वरितत्वादेव पूर्वसूत्राद् द्वन्द्वग्रहणाननुवृत्त्यैव सिद्धे अद्वन्द्वग्रहणं स्पष्टार्थमेव। न च द्वन्द्वे नेति निषेध एव किं न स्यादिति वाच्यम्, द्वन्द्वानामपि गणे पाठात्। तदेतत्सूचयन् द्वन्द्वमुदाहरति—भ्राष्टककपिष्ठला इति। इञो वा लुक्। अद्वन्द्वे उदाहरति—लमकाः लामकायना इति। अश्वादिफञो लुग्विकल्पः। उपकाः औपकायनाः इत्याद्यप्युदाहार्यम्।

मूलार्थ—इनसे परवर्ती गोत्रप्रत्यय का द्वन्द्व समास में 'लुक्' हो। उदा० तिककितवाः। विग्रह—तैकायनयश्च कैतवायनयश्च। 'तिकादिभ्यः फिञ्' (१०७८) से विहित 'फिञ्' का लोप हुआ है।

विवरण—'लुक्' का ही प्रकरण है। विशेष परिस्थिति में विधान किया जा रहा है। विधेय-वाचक पद (=लुक्) तो अनुवृत्तिलभ्य है। उद्देश्य-वाची 'तिककितवादिभ्यः' पद सूत्र में निर्दिष्ट है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "तिकादि एवं कितवादिगण-पठित शब्दों से द्वन्द्व समास में तत्कृत बहुवचन की विवक्षा में विहित गोत्र-प्रत्यय का 'लुक्' हो"। 'द्वन्द्व' समास-प्रयुक्त (चार्थे द्वन्द्वः" २-२-२९) **उदाहरण**—तिककितवाः (तिक और कितव के पौत्रादि)। **विग्रह**—तैकायनयश्च (तिक+फिञ्–"तिकादिभ्यः फिञ्" ४-१-१५४) कैतवायनयश्च (कितव+फिञ्)। यहाँ पर बहुवचन में विवक्षित 'तिक' तथा 'कितव' शब्द से उपात्त 'फिञ्' प्रत्यय का लोप होकर (तिक-कितव+जस्) प्रथमा बहुवचन में उक्त रूप बनता है।

(११५१) पद—उपकादिभ्यः, अन्यतरस्याम्, अद्वन्द्वे। अनुवृत्ति—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैव। विधिसूत्र।

मूलार्थ—द्वन्द्व तथा द्वन्द्व से भिन्न में इनसे विहित गोत्र-प्रत्यय का बहुत्व की विवक्षा में विकल्प से लोप होता है। उदा० उपकलमकाः। औपकायन-लामकायनाः। विग्रह—औपकायनाश्च लामकायनाश्च। 'नडादिभ्यः फक्' से विहित 'फक्' प्रत्यय का पाक्षिक लोप हुआ है। कुछ शब्दों में सभी समासों में बहुत्व अर्थ में २—भ्राष्टककपिष्ठलाः-भ्राष्टकिकापिष्ठलयः। ३—उपकाः-औपकायनाः। ४—लमकाः—लामकायनाः।

विवरण—तत्कृत प्रत्यय के पाक्षिक लोप का विधान किया जा रहा है। तदनुसार "उपकादि शब्दों से परवर्ती गोत्रार्थ में विहित बहुत्व-बोधक प्रत्यय का वैकल्पिक लोप होता है"। सूत्र में 'अद्वन्द्वे' पद पूर्वसूत्रोक्त 'द्वन्द्वे' अधिकार की निवृत्ति का सूचक है, न कि केवल द्वन्द्व-समास का निषेधक। अतः यहाँ—द्वन्द्व और अद्वन्द्व—दोनों में ही विकल्प होता है। उपकादि तीन शब्द तिक-कितवादि-गण में पढ़े गए हैं। ये शब्द हैं—उपकलमक, भ्रष्टककपिष्ठल तथा कृष्णाजिनकृष्ण-सुन्दर। इन्हें तो पूर्व सूत्र से ही 'लुक्' प्राप्त था। यहाँ 'अद्वन्द्व' में विकल्प के लिये पढ़ा गया है। उपक तथा लमक शब्दों से "नडादिभ्यः फक्" (४-१-९९) से विहित गोत्रप्रत्यय फक् का इससे 'लुक्' होता है। **उदाहरण**—(१) 'द्वन्द्व' में—उपकलमकाः (औपकायन और लामकायन)। **विग्रह**—औपकायनाश्च लामकायनाश्च ▷ औपकायन्-लामकायन्+जस् (द्वन्द्व समास) ▷ उपक-लमक+जस् ('फक्'=आयन का लोप) ▷ उपकलमकाः (विभक्ति-कार्य)। यहाँ पर इसके पूर्व 'उपक' तथा 'लमक' शब्दों से गोत्रापत्य में "नडादिभ्यः फक्" (४-१-९९)

यनाः । (११५२) आगस्त्य-कौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् २ । ४ । ७० ॥ एतयोरवयवस्य गोत्रप्रत्ययस्याणो यञश्च बहुषु लुक्स्यात् । अवशिष्टस्य प्रकृतिभागस्य यथासङ्ख्यम् अगस्तिकुण्डिनच् एतावादेशौ स्तः । अगस्तयः । कुण्डिनाः । (११५३) राजश्वशुराद्यत् ४ । १ । १३७ । 'राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्' (वा २६२७) । (११५४) ये चा-

---

(११५२) आगस्त्या । अगस्तयः कुण्डिना इति । अगस्त्यशब्दादृष्यणो लुक् । प्रकृतेरगस्त्यादेशः । कौडिन्यशब्दो गर्गादियञन्तः । बहुत्वे यञो लुक् । प्रकृतेः कुण्डिनादेशश्च । 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' इत्यारभ्य 'आगस्त्यकौण्डिन्ययोः' इत्यन्तं द्वैतीयिकम् ।

अथ प्रकृतं चातुर्थिकम् । (११५३) राजश्वशुराद्यत् । राजन्शब्दात् श्वशुरशब्दाच्चापत्ये यत्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । क्रमेण अणिञोरपवादः । राज्ञो जातावेवेति । जातिः समुदायवाच्या चेदित्यर्थः ।

से 'फक्' प्रत्यय (= आयन) हुआ था। उसी का द्वन्द्व समास में 'लुक्' हुआ है। लोप न होने पर औपकायनलामकायनाः। भ्राष्ट्रक-कपिष्ठलाः (भ्राष्ट्रकि और कापिष्ठलि)। विग्रह—भ्राष्ट्रकयश्च कापिष्ठलयश्च > भाष्ट्रकि-कापिष्ठलि+जस् > भ्राष्ट्रक-कपिष्ठल+जस् (गोत्रार्थ में विहित 'इञ्' प्रत्यय—"अत इञ्" ४-१-९५—का प्रकृत सूत्र से लुक्)>भ्राष्ट्रक-कपिष्ठलाः ('इञ्' का लुक् होने के कारण आदि-वृद्धि की भी निवृत्ति तथा विभक्तिकार्य)। 'इञ्' का 'लुक्' न होने पर—भ्राष्ट्रकिकापिष्ठलयः।

विशेष—(१) उपकादिगण-पठित 'उपकलमकाः' 'भ्राष्ट्रककपिष्ठलाः तथा 'कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः'—ये तीन शब्द द्वन्द्व-समास-युक्त तिककितवादि-गण में भी पढ़े हैं, अतः उन्हें पूर्व सूत्र से ही नित्य 'लुक्' प्राप्त रहा, यहाँ 'अद्वन्द्व' में विकल्प के लिये पाठ की चरितार्थता है। तदनुसार-उपकाः—औपकायनाः, लमकाः-लामकायनाः तथा भ्राष्ट्रकाः-भ्राष्टकायनाः आदि शब्द भी मान्य होंगे। शेष गणपठित शब्दों में 'द्वन्द्व' एवम् 'अद्वन्द्व'—दोनों में विकल्प होता है।

(११५२) पद—आगस्त्य-कौण्डिन्ययोः, अगस्ति-कुण्डिनच् । अनुवृत्ति—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैव । विधिसूत्र।

मूलार्थ—इन शब्दों के अवयवस्वरूप 'अण्' और 'यञ्' का बहुत्व अर्थ में 'लुक्' हो तथा अवशिष्ट प्रकृति-भाग को क्रमशः 'अगस्ति' एवं 'कुण्डिनच्' आदेश हों। उदा० १—अगस्तयः। २—कुण्डिनाः।

विवरण—अभी प्रासङ्गिक 'लुक्' का ही प्रकरण है। अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। सूत्रानुसार "'आगस्त्य' तथा 'कौण्डिन्य' शब्दों से गोत्र में विहित तत्कृत बहु-वचन प्रत्यय का लोप होता है तथा शेष प्रकृति-भाग ('अगस्त्य' तथा 'कुण्डिनी') के स्थान पर क्रमशः 'अगस्ति' और 'कुण्डिनच्' आदेश भी होते हैं। सूत्र में 'आगस्त्य' और 'कौण्डिन्य' (कुण्डिनी यञ्—गर्गादि) शब्द गोत्रप्रत्ययान्त निर्दिष्ट हैं। (अगस्त्यस्य गोत्रापत्यम्—अगस्त्य+अण्—ऋषित्वप्रयुक्त)। अतः 'अगस्त्यस्य गोत्रापत्यानि पुमांसः' विग्रह में (अगस्त्य+अण्+जस्) अण् का लुक् होकर प्रकृतिभाग को अगस्ति आदेश होने पर (अगस्ति+जस्) प्रथमा बहुवचन में 'अगस्तयः' (अगस्त्य के पौत्र आदि) प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'यञ्-प्रत्ययान्त 'कौण्डिन्य' शब्द से भी 'यञ्' प्रत्यय का लोप एवं 'कौण्डिन्य' के स्थान पर 'कुण्डिन' आदेश होने पर 'कुण्डिनाः' प्रयोग निष्पन्न होगा ('कौण्डिन्य' के पौत्र आदि)। **प्रासङ्गिक प्रकरण यहाँ समाप्त होता है।**

(११५३) पद—राजश्वशुरात्, यत्। अनुवृत्ति—तस्यापत्यम्, तद्धिताः। ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

भावकर्मणोः ६।४।१६६॥ यादौ तद्धिते परेऽन्प्रकृत्या स्यान्न तु भावकर्मणोः। राजन्यः। श्वशुर्यः। जातिग्रहणाच्छूद्रादावुत्पन्नो राजनः। (११५५) अन् ६।४।

(११५४) ये चाभावकर्मणोः। अनिति पूर्वसूत्रमनुवर्तते 'प्रकृत्यैकाच' इत्यतः प्रकृत्येति। अङ्गाधिकारलब्धप्रत्ययो यकारेण विशिष्यते। तदादिविधिः। तदाह–यादाविति। राजन्य इति। क्षत्रियात् क्षत्रियायां स्वभार्यायामुत्पन्नो राजन्य इति धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम्। यत्प्रत्यये प्रकृतिभावान्न टिलोपः। शूद्रादाविति। क्षत्रियात् शूद्रायां वा तदन्यस्यां वा अनूढायाम् उत्पन्नः इत्यर्थः। राजन इति। अणि रूपम्। तत्र 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे प्राप्ते····।

मूलार्थ—'राजन्' शब्द से जाति अर्थ में कहा जाय।

विवरण—अब तद्धित-प्रकरण की ओर पुनः वापस आया जाय। तदनुसार उल्लिखित अनुवृत्तियों के साथ सूत्रोक्त उद्देश्यवाची पदों के साथ अन्वित होकर "'राजन्' तथा 'श्वशुर' प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में 'यत्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है"।

किन्तु वार्तिक-कार 'राजन्' शब्द से 'जाति' अर्थ में ही 'यत्' प्रत्यय होने का निर्देश देते हैं। अर्थात् क्षत्रिय राजा से क्षत्रिया पत्नी में उत्पन्न सन्तान में क्षत्रियत्व जाति की प्रतीति होने पर ही 'यत्' प्रत्यय होगा, अन्यथा नहीं। 'श्वशुर' शब्द के सम्बन्ध में उन्होंने विशेष विचार नहीं किया है।

(११५४) पद—ये, च, अभावकर्मणोः। अनुवृत्ति—अन्, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—भाव और कर्मार्थक भिन्न यकारादि तद्धित परे रहते 'अन्' को प्रकृतिभाव हो। उदा० १—राजन्यः। २—श्वशुर्यः। (वार्तिक के अनुसार) 'जाति' ग्रहण करने से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र को 'राजनः' कहा जायगा।

विवरण—प्रासङ्गिक सूत्र पुनः उद्धृत किया जारहा है। यह सूत्र अष्टाध्यायी के छठे अध्याय में पठित प्रकृतिभाव के अन्तर्गत है। तदनुसार वहाँ की अनुवृत्तियों पर ध्यान देना होगा। अतः "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से 'तद्धिते', "प्रकृत्यैकाच्" (६-४-१६३) से 'प्रकृत्या' तथा सम्पूर्ण "अन्" (६-४-१६७) सूत्र की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। सूत्रस्थ 'ये' पद 'तद्धिते' पद का विशेषण है। अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इनके अतिरिक्त 'भ' तथा 'अङ्ग' संज्ञा का आधिकारिक प्रभाव भी है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'भाव' और 'कर्म' से भिन्न अन्य अर्थों में वर्तमान य-कार से प्रारम्भ होने वाले तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर भी अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव हो"। आशय यह है कि 'कर्म और 'भावार्थक' से भिन्न कर्त्रर्थ आदि में यकारादि प्रत्यय परवर्ती रहते हुए 'अन्' में कोई परिवर्तन नहीं होता'। **उदाहरण**—(१) राजन्यः (राजा का क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र)। **विग्रह**—राज्ञः क्षत्रियायां जातम् अपत्यम् पुमान्। राजन्+यत् ("राजश्वशुराद्यत्" ४-१-१३७) ▷ राजन्+य (प्रकृतिभाव) > राजन्यः (विभक्तिकार्य)। (२) श्वशुर्यः (श्वशुर का पुत्र—साला)। **विग्रह**—श्वशुरस्य अपत्यं पुमान्। श्वशुर+यत् ▷ श्वशुर्यः ('अ' का लोप एवं विभक्तिकार्य)।

प्रत्युदाहरण—वार्तिक में 'जाति' ग्रहण करने से राजा से भिन्न जाति में उत्पन्न पुत्र को अभिलक्षित कर राजनः प्रयोग सिद्ध होता है—राजन्+अण् ("प्राग्दीव्यतोऽण्" ४-१-८३)। 'टि'-लोप का अग्रिम सूत्र (११५५) से बाध हो जाने के फलस्वरूप प्रकृतिभाव हो गया।

१६७ ॥ अणि अन् प्रकृत्या स्यात् । इति टिलोपो न । अभावकर्मणोः किम् ? राज्ञः कर्म भावो वा राज्यम् । (११५६) संयोगादिश्च ६ । ४ । १६६ ॥ इन् प्रकृत्या स्यादणि परे । चक्रिणोऽपत्यं चक्रिणः । (११५७) न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः ६ । ४ । १७० ॥ मपूर्वोऽन् प्रकृत्या न स्यादपत्येऽणि । भाद्रसामः । मपूर्वः किम् ? सौत्वनः । अपत्ये किम् ? चर्मणा परिवृतश्चार्मणो रथः । अवर्मणः किम् ? चक्रवर्मणोऽपत्यं चाक्रवर्मणः । 'वा हितनाम्न इति वाच्यम्' (वा ४२१५) । हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामः—हैतनामनः ।

(११५५) अन् । 'इनण्यनपत्ये' इत्यतः अणीत्यनुवर्तते । 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतः प्रकृत्येति च तदाह—अणीति । राज्यमिति । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' इति ष्यञ् । टिलोपः ।

(११५६) संयोगादिश्च । इन् प्रकृत्येति । 'इनण्यनपत्ये' इत्यतः 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः । चक्रिणोऽपत्यं चाक्रिण इति । 'इनण्यनपत्ये' इत्यत्रानपत्ये इति पर्युदासादप्राप्तिः ।

(११५७) न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः । भाद्रसाम इति । भद्रसाम्नोऽपत्यमिति विग्रहः । अणि टिलोपः । अनो मपूर्वत्वान्न प्रकृतिभावः । सौत्वन इति । सुत्वनोऽपत्यमिति

(११५५) पद—अन् । अनुवृत्ति—अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'अण्' प्रत्यय परे रहते 'अन्' को प्रकृतिभाव होता है । अतः 'टि'लोप नहीं । 'अभावकर्मणोः' क्यों कहा ? राज्ञः कर्म भावः वा—राज्यम् ('टि'लोप हो गया) ।

विवरण—"'अण्' प्रत्यय परवर्ती होने पर भी 'अन्' अन्त वाले 'भ'संज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव होता है" । सामान्य 'अण्' परे रहते (अपत्यार्थक हो या उससे भिन्न) यह विधि है । उदाहरण—पूर्व सूत्र में दिया जा चुका है ।

प्रत्युदाहरण—"ये चाऽभावकर्मणोः" (६-४-१६८) सूत्र में 'अभावकर्मणोः' पद का निवेश होने के फलस्वरूप राज्यम् (राजा का कर्म या भाव) में > राज॒न॒ + यत् > राज् + य > राज्यम्) यथाप्राप्त "नस्तद्धिते" ६-४-१४४ से 'टि' (='अन्') का लोप हो गया ।

विशेष—यह सूत्र "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) का अपवाद है ।

(११५६) पद—संयोगादिभ्यः, च । अनुवृत्ति—इन्, अणि, प्रकृत्या । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'अण्' परे रहते 'इन्' को प्रकृतिभाव हो । उदा० चक्रिणः अपत्यम्—चक्रिणः ।

विवरण—प्रकृतिभाव की श्रृङ्खला में 'अन्' के साथ 'इन्' को भी रखा जा रहा है । तदनुसार "इनण्यनपत्ये" (६-४-१६४) सूत्र से 'इन्' की तथा 'अणि' एवं "प्रकृत्यैकाच्" (६-४-१६३) से प्रकृत्या की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं । अतः सूत्र का यह आशय है कि "'अण्' के परवर्ती होने पर संयोगादि 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है" । उदाहरण—चाक्रिणः (चक्री की सन्तति) । विग्रह—चक्रिणः अपत्यं पुमान् । चक्रिन् + अण् > चाक्रिन (आदिवृद्धि, संयोगादि 'इन्' को प्रकृतिभाव) > चाक्रिणः (न् = ण् तथा विभक्तिकार्य) ।

विशेष—"इनण्यनपत्ये" (६-४-१६४) सूत्र में अपत्य से भिन्न (अनपत्ये) 'इन्' के अपेक्षित होने से यहाँ अपत्यार्थ होने के कारण प्रकृतिभाव प्राप्त नहीं है, अतः पृथक् विधान चरितार्थ होता है ।

(११५७) पद—न, मपूर्वः, अपत्ये, अवर्मणः । अनुवृत्ति—अन्, अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अपत्यार्थ 'अण्' परे रहते 'म'-पूर्वक 'अन्' को प्रकृतिभाव न हो । उदा० भाद्रसामः । 'म'पूर्वः क्यों कहा ? सौत्वनः (प्रकृतिभाव हो गया) । 'अपत्ये' क्यों कहा ? चर्मणा

(११५८) ब्राह्मोजातौ ६ । ४ । १७१ ॥ योगविभागोऽत्र कर्तव्यः । ब्राह्मः इति निपात्यतेऽनपत्येऽणि । ब्राह्मं हविः । ततो जातौ । अपत्ये जातावणि ब्रह्मणष्टिलोपो न

निग्रहः । मपूर्वत्वाभावात्प्रकृतिभावः । चार्मण इति । 'परिवृतो रथः' इत्यणि टिलोपः । अणः आपत्यत्वाभावात्प्रकृतिभावः । वा हितनाम्न इति । 'न मपूर्वः' इति प्रतिषेध इति शेषः ।

(११५८) ब्राह्मो जातौ । ब्रह्मन्शब्दादपत्ये अणि 'न मपूर्वोऽपत्ये' इति प्रकृतिभावनिषेधो जातावेवेत्यर्थः फलति । तथा सति ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मण इति जातिविशेषे न सिध्येत्, 'न मपूर्वः' इति प्रकृतिभावनिषेधे सति 'नस्तद्धिते' इति टिलोपस्य दुर्वारत्वात् । किञ्च ब्रह्मा देवता अस्य ब्राह्मं हविरिति न सिध्येत् 'न मपूर्व' इति प्रकृतिभावनिषेधस्य जातावेवेति नियमितत्वेन अनिति प्रकृतिभावाट्टिलोपासम्भवात् । अत आह—योगविभाग इति । ब्राह्मः इत्येकं सूत्रम् । तत्र 'इनण्यनपत्ये' इत्यतः अनपत्येऽणीत्यनुवर्तते । तदाह—ब्राह्म इति निपात्यत अनपत्येऽणीति । तथा च ब्रह्मन्शब्दादनपत्येऽणि अनिति प्रकृतिभावनिवृत्तेष्टिलोपः फलित इति मत्वोदाहरति—ब्राह्मं हविरिति । ब्रह्मा देवता अस्येति

परिवृतः चार्मणः रथः—(अपत्यार्थ न होने से प्रकृतिभाव हुआ) । 'अवर्मणः' क्यों कहा ? चक्रवर्मणः अपत्यम्—चाक्रवर्मणः (निषेध नहीं हुआ) । वा० 'हितनामन्' को विकल्प से (प्रकृति भाव का निषेध) कहा जाय । उदा० हितनाम्नः अपत्यम् > हैतनामः—हैतनामनः ।

विवरण—विशेष स्थलों में 'प्रकृतिभाव' का निषेध बतलाया जा रहा है । अतः सूत्र में उसका सूचक 'न' पद विद्यमान है । विधेयांश 'अन्' की एवम् अन्य निमित्तवाचक पदों की उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । सूत्रस्थ पदों के साथ सबका समन्वय करते हुए यह विदित होता है कि "'वर्मन्' शब्द के अतिरिक्त 'म'-कार-पूर्वक 'अन्' को अपत्यार्थ में 'अण्' प्रत्यय के परवर्ती होने पर प्रकृतिभाव नहीं होगा"। **उदाहरण—भाद्रसामः** (भद्रसामन् की सन्तति) । **विग्रह**—भद्रसाम्नः अपत्यम् । भद्रसामन् + अण् ('म्'-पूर्वक 'अन्' को प्रकृतिभाव का निषेध होने से टिलोप) > भद्रसाम + सु > भद्रसामः (विभक्तिकार्य) । निष्कर्ष यह है कि "अन्" (६-४-१६७) से प्राप्त प्रकृतिभाव का निषेध हो जाने से टि = 'अन्' का लोप हो जाता है—"नस्तद्धिते" (६-४-१४४) ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'मपूर्वः' का निवेश होने से सौत्वनः ('सुत्वन्' का पुत्र) में प्रकृतिभाव का निषेध नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ पर 'अन्' अंश 'व्' पूर्वक है न कि 'म्'–पूर्वक । (२) 'अपत्ये' पद का निवेश होने से **चार्मणः** (चमड़े से मढ़ा हुआ रथ) में भी प्रकृतिभाव का निषेध नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'अण्' प्रत्यय 'मढ़ना' अर्थ में हुआ है ('परिवृतो रथः' ४-२-१०) न कि अपत्यार्थ में । (३) सूत्र में 'अवर्मणः' पद का निवेश होने से **चाक्रवर्मणः** (चक्रवर्मा का पुत्र) में प्रकृतिभाव का निषेध नहीं हुआ । यथाप्राप्त "अनः" (६-४-१६७) से प्रकृतिभाव हो जाता है ।

वार्तिक—"'हितनामन्' शब्द में म-पूर्वक 'अन्' को प्रकृतिभाव का निषेध वैकल्पिक कहा जाय" । तदनुसार (क) **हैतनामः**→प्रकृतिभाव का निषेध होने पर 'टि'=अन् का लोप । (ख) **हैतनामनः**←प्रकृतिभाव होने पर—टिलोपाभाव—ये दो रूप बनेंगे । **विग्रह**—हितनाम्नः अपत्यं पुमान् । **अर्थ**—हितनामन् का पुत्र ।

(११५८) पद—ब्राह्मः, जातौ । **अनुवृत्ति**—अपत्ये । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यहाँ योगविभाग किया जाय । अपत्यार्थभिन्न 'अण्' प्रत्यय में 'ब्राह्मः' निपातन है । उदा० ब्राह्मं—हविः । तदनन्तर 'जातौ' । जात्यर्थक अपत्य में 'ब्रह्मन्' की 'टि' का लोप न हो ।

स्यात् । ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः । अपत्ये किम् ? ब्राह्मी ओषधिः । (११५९) औक्षमन-

---

विग्रहः । 'सास्य देवता' इत्यण् । ततो जाताविति । ततः ब्राह्म इति सूत्रात्पृथगेव जाताविति सूत्रं कर्तव्यमित्यर्थः । इह 'न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः' इति सूत्रादपत्ये इति 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतः प्रकृत्येति चानुवर्तते । तदाह—अपत्ये जाताविति । ब्राह्मणः इति । ब्रह्मणः सकाशात्सजातीयायां भार्यायामुत्पन्न इत्यर्थः । योगविभागस्त्वयं भाष्ये स्पष्टः ।

उदा० ब्रह्मणः अपत्यम्—ब्राह्मणः । 'अपत्ये' क्यों कहा ? ब्राह्मी—औषधिः ('टि' लोप हो गया) ।

विवरण—'ब्राह्म' शब्द के निपातनार्थं इस सूत्र को उद्धृत किया जा रहा है । भाष्यकार पतञ्जलि ने यहाँ योगविभाग की कल्पना की है । तदनुसार सूत्र के दो अंश हैं—(१) ब्राह्मः तथा (२) जातौ । प्रथम अंश में "इनण्यनपत्ये" (६-४-१६४) सूत्र से 'अनपत्ये' तथा 'अणि'—इन दो पदों की अनुवृत्ति की जाती है । तदनुसार "'ब्रह्मन्' शब्द से अपत्यार्थ-भिन्न 'अण्' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'टि'लोप (='अन्' का लोप) का निपातन किया गया है" । **उदाहरण—ब्राह्मम्**—हविः (जिस 'हविष्' के देवता ब्रह्मा हों) । **विग्रह**—ब्रह्मा देवता अस्य । ब्रह्मन् + अण् ("साऽस्य देवता" ४-२-२४) ⊳ ब्रह्म्+अण् ('अन्' = 'टि'—लोप का निपातन) ⊳ ब्राह्म (आदि-वृद्धि) > ब्राह्मम् ('नपुंसक'—लिङ्ग प्रथमा एकवचन) । **योगविभागस्य द्वितीय अंश** "जातौ" का अर्थ यह होता है कि "जातिवाच्य अपत्यार्थ की विवक्षा में 'अण्' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'ब्रह्मन्' शब्द में 'टि'–लोप का अभाव हो" । तदनुसार **उदाहरण—ब्राह्मणः** (ब्रह्मा का सजातीय पुत्र) । **विग्रह**—ब्रह्मणः अपत्यम् । ब्रह्मन्+अण् > ब्राह्मन्+अ (आदिवृद्धि) > ब्राह्मणः ("अन्" ६-४-१६७ से प्राप्त 'टि'लोप के अभाव का निपातन, णत्व, सु-विभक्ति, रुत्व एवम् विसर्ग) ।

प्रत्युदाहरण—ब्राह्मी—औषधिः (ब्राह्मी जड़ी) । **विग्रह**—ब्रह्मणः इयम् । ब्रह्मन् + अण् ⊳ ब्रह्म्+अ ('टि'-लोप—"नस्तद्धिते" ६-४-१४४)>ब्राह्म्+अ (आदिवृद्धि) ⊳ ब्राह्म् +ई (ङीप्—"टिड्ढाणञ्०" ४-१-१५) > ब्राह्मी ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में यह सन्देह होता है कि द्वितीय अंश 'जातौ' है या 'अजातौ' । कारण यह है कि संहितापाठ में ("ब्राह्मोजातौ") पूर्वरूप सन्धि के करने या न करने पर समान रूप से लिखा जायगा । भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या करते समय यह पूर्वपक्ष स्थापित किया है कि 'अजाति' अर्थ में 'ब्राह्म' शब्द में 'अन्'–लोप (टि-लोप) का स्वतन्त्र विधान करने के लिये यह सूत्र है अथवा नियम करने के लिये ? इसके अनुसार द्वितीय पद 'अजातौ' माना जायगा । तदनुसार 'अजाति' शब्द में 'नञ्' समास प्रसज्यप्रतिषेधार्थक है । उसका अर्थ यह होगा कि 'जातिवाच्य होने पर न हो' । इस अंश में पूर्वसूत्र ("न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः" ६-४-१७०) से 'अपत्ये' पद की अनुवृत्ति आती है । तथा 'अजाति' शब्दावयव 'जाति' शब्द का सम्बन्ध अनुवर्तमान अपत्यार्थ के साथ किया जाता है तथा 'नञ्' (अ) का 'भवति' के साथ (= न भवति) । इस प्रकार द्वितीय अंश 'अजातौ' का अर्थ यह किया जायगा कि "अपत्यार्थ में जाति अभिधेय होने पर यदि विधीयमान 'अण्' प्रत्यय परवर्ती हो तो 'ब्रह्मन्' शब्द की 'टि' (= अन्) का लोप नहीं होता" । तदनुसार 'ब्राह्मणः' रूप निष्पन्न होता है । सूत्रस्थ पूर्व अंश 'ब्राह्मः' में (सूत्र में प्रयुक्त शब्दानुसार) सामर्थ्य-वश 'अपत्ये' की अनुवृत्ति नहीं की जाती, क्योंकि अपत्यार्थ में तो "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से 'टि'–लोप स्वतः सिद्ध है । अतः–'अपत्य' एवम् 'अनपत्य'–तथा 'जाति' एवम् 'अजाति' अर्थ अभिधेय होने पर 'ब्राह्मः' निपातन किया जाता है । इस प्रकार अपत्य अर्थ में 'ब्रह्मा के मानस-पुत्र' अभिधेय होने पर 'ब्राह्मः' (=नारदः) प्रयोग समीचीन होता है ।

पत्ये ६।४।१७३॥ अणि टिलोपो निपात्यते। औक्षम् पदम्। अनपत्ये किम्? उक्ष्णोऽपत्यमौक्ष्णः। (११६०) षपूर्व-हन्-धृत-राज्ञामणि ६।४।१३५॥ षपूर्वो योऽन् तस्य हनादेश्च भस्यातो लोपोऽणि। औक्ष्णः। ताक्ष्णः। भ्रौणघ्नः। धृतराज्ञोऽपत्यं धार्तराज्ञः। षपूर्व इति किम्? साम्नोऽपत्यं सामनः। अणि किम्? ताक्ष्ण्यः। (११६१)

(११५९) औक्षम्। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—अणि टिलोपो निपात्यते इति। 'अन्' इति प्रकृतिभावापवाद इति भावः। औक्षमिति। टिलोपे रूपम्। औक्ष्ण इति। अपत्येऽणि टिलोपाभावे अल्लोप इति भावः।

(११६०) ननु प्रकृतिभावादल्लोपो न स्यादत आह—षपूर्वहन्। 'अल्लोपोऽनः' इत्यनुवर्तते। भस्येत्यधिकृतम् तदाह—षपूर्व इति। ताक्ष्ण इति। 'तक्ष्णोऽण् उपसङ्ख्यानम्' इति कारिलक्षणण्यस्यापवादोऽण्। ताक्ष्ण्य इति। 'सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च' इति ण्यः।

(११५९) पद—औक्षम्, अनपत्ये। अनुवृत्ति—भस्य, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'अण्' प्रत्यय परे रहते टि-लोप का निपातन है। उदा० औक्षं—पदम्। अनपत्ये क्यों कहा? उक्ष्णः अपत्यम् अर्थ में आगे के सूत्र से 'अ' का लोप होने पर औक्ष्णः रूप बनेगा।

विवरण—'टि'लोप का ही निपातन है। आधिकारिक अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ है कि "अपत्यार्थक-भिन्न 'अण्' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'औक्षम्' प्रयोग की समीचीनता 'टि-लोप' के निपातन-वश की जायगी"। उदाहरण—औक्षम्—पदम् (बैल का पदचिह्न)। विग्रह—उक्ष्णः इदम्। उक्षन्+अण् ("तस्येदम्" ४-३-१२० से पदचिह्न अर्थबोधक 'अण्') > उक्ष्+अ (टि='अन्' लोप) > औक्षम् (आदिवृद्धि एवम् विभक्ति-कार्य—नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अनपत्ये' पद का निवेश किये जाने के फलस्वरूप 'उक्षन्' से अपत्यार्थक 'अण्' होने पर (उक्ष्णः अपत्यम्=बैल या बछड़ा) अग्रिम सूत्र (११६०) से केवल 'अ' का लोप होकर औक्ष्णः रूप बनेगा न कि 'अन्' का लोप होकर औक्षः।

(११६०) पद—षपूर्वहन्धृतराज्ञाम्, अणि। अनुवृत्ति—अल्लोपोऽनः, भस्य, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'अण्' प्रत्यय परवर्ती होने पर षकार-पूर्वक 'अन्' तथा 'हन्' आदि शब्दों के भ-संज्ञक 'अ'कार का लोप हो। उदा० १—औक्ष्णः। २—ताक्ष्णः। ३—भ्रौणघ्नः। ४—धृतराज्ञः अपत्यम्—धार्तराज्ञः। 'ष'पूर्व क्यों कहा? साम्नः अयम्—सामनः (अ—लोप नहीं हुआ)। 'अणि' क्यों कहा? ताक्ष्ण्यः (अ—लोप नहीं हुआ)।

विवरण—"अल्लोपोऽनः" ६-४-१३४ सूत्र से विधेय-वाची पद 'अल्लोपः' (अत्='अ' लोपः) की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "षकार-पूर्वक अन्नन्त—तथा 'हन्' एवं 'धृतराजन्'—भ-संज्ञक अङ्ग के 'अन्'—सम्बन्धी 'अ'कार का लोप हो"। ऐसे स्थलों में "अन्" (६-४-१६७) सूत्र से प्रकृति-भाव की प्राप्ति होने के कारण "अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४) सूत्र की प्राप्ति नहीं थी, अतः यह विधान चरितार्थ होता है। 'उक्षन्' तथा 'तक्षन्' शब्द 'ष'कार-पूर्वक हैं। अतः उदाहरण—(१) औक्ष्णः में अकार का लोप हुआ। इसी प्रकार (२) ताक्ष्णः (बढ़ई का पुत्र-तक्ष्णः अपत्यम्) में भी 'अ'का लोप होता है—तक्षन्+अण् ('तक्ष्णोऽण् उपसंख्यानम्' वा० से अण्, ण्य का अपवाद। (३) भ्रौणघ्नः (भ्रूण-हत्या करने वाले का पुत्र)। भ्रूण-√हन्+क्विप्—"ब्रह्म-भ्रूण-वृत्रेषु क्विप्" (३-२-८७)+अण्—"तस्यापत्यम्" (४-१-९२) > भ्रूण-घन्+अण् ('क्विप्'

क्षत्राद्धः ४ । १ । १३८ ॥ क्षत्रियः । जातौ इत्येव । क्षात्त्रिरन्यः । (११६२) **कुलात्खः ४ । १ । १३९ ॥** कुलीनः । तदन्तादपि । उत्तरसूत्रे अपूर्वपदात् इति

(११६१) क्षत्त्राद्धः । अपत्ये इति शेषः । क्षत्रिय इति । घस्य इयादेशो 'यस्येति च इत्यकारलोपः । क्षात्त्रिरन्य इति । क्षत्त्राच्छूद्रावुत्पन्न इत्यर्थः ।

(११६२) कुलात्खः । अपत्ये इति शेषः । कुलीन इति । खस्य ईनादेशः । ननु 'समासप्रत्ययविधौ' इति तदन्तविधिनिषेधात् आढ्यकुलीन इति कथमित्यत आह—तदन्तादपीति । आढ्यकुलीन इति । आढ्यकुलशब्दात्कर्मधारयात्खः । कुले आढ्यत्व—प्रतीतिरत्र फलम् । कुलीनशब्देन कर्मधारये तु तदप्रतीतिरिति भेदः ।

का लोप तथा ह=घ—"हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु" ७-४-५४) > भ्रूणघ्न ('घ' कारोत्तरवर्ती 'अ' का लोप) >भ्रौणघ्नः (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) । (४) **धार्तराज्ञः** (धृतराज का पुत्र) । विग्रह—धृतराज्ञः पुत्रः । धृतराजन्+अ (अण्) > धृतराजः ('अ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य) । 'धृतराजन्' शब्द में बहुव्रीहि-समास है ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'ष-पूर्व' पद का निवेश होने से **सामनः** (साम का पुत्र—साम्नः अयम्) में 'म' पूर्वक होने से 'अ' का लोप न होकर यथाप्राप्त टि-लोप का "अन्" ६-४-१६७ सूत्र से निषेध हो गया—अतः प्रकृतिभाव हुआ । (२) इसी प्रकार 'अणि' पद का निवेश होने से **ताक्षण्यः** (बढ़ई का पुत्र—तक्ष्णः अपत्यम्) में "सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च" ४-१-१५२ से 'ण्य' प्रत्यय होने के कारण 'ष'-पूर्व होने पर भी 'अ'-लोप नहीं होता । अतः "येऽचाभावकर्मणोः" (६-४-१६८) से प्रकृतिभाव हो गया ।

(११६१) पद—क्षत्राद्, घः । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकाद, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० क्षत्रियः । जातिरूप अर्थ में ही हो । अन्यत्र—क्षात्रिः ।

विवरण—प्रासङ्गिक प्रकरण को छोड़ पुनः तद्धित-प्रकरण का अनुसरण करें । तदनुसार पूर्ववत् उल्लिखित अनुवृत्तियों के साथ सूत्रोक्त पदों का अन्वय करने पर यह ज्ञात होता है कि "'क्षत्र' शब्द से 'अपत्य' अर्थ में 'घ' प्रत्यय हो" । **उदाहरण—क्षत्रियः** (क्षत्र अर्थात् रक्षा करने वाले का पुत्र) । **विग्रह**—क्षत्रस्य (रक्षकस्य) अपत्यम्=पुत्रः । क्षत्र+घ > क्षत्र्+इय (घ=इय—"आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" ७-१-२) > क्षत्रियः ('अ'-लोप तथा विभक्तिकार्य) ।

प्रत्युदाहरण—यहाँ पर भी समान-जातीय-सन्तान की विवक्षा होने के कारण क्षत्र से शूद्रा में उत्पन्न सन्तति अर्थ विवक्षित होने पर **क्षात्रिः** (क्षत्र+इञ्) प्रयोग किया जायगा ।

(११६२) पद—कुलात्, खः । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकाद, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० कुलीनः । अग्रिम सूत्र में 'अ-पूर्व' पद के सामर्थ्य से 'तदन्त' का ग्रहण भी (होता है)—आढ्यकुलीनः ।

विवरण—"षष्ठ्यन्त समर्थ 'कुल' शब्द से अपत्यार्थक 'ख' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—कुलीनः** (अच्छे कुल में उत्पन्न पुत्र) । कुल+ख > कुल्+ईन (ख=ईन) > कुलीनः ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) । **विग्रह**—कुलस्य अपत्यम् ।

विशेष—अग्रिम सूत्र में किसी शब्द के पूर्व में न रहने पर (अविद्यमानं पूर्वपदं यस्य तत) अर्थात् केवल 'कुल' शब्द से वैकल्पिक 'ख' प्रत्यय का विधान किया गया है । इससे यह ज्ञात होता है कि "प्रकृत सूत्र से (११६१) 'कुल' शब्दान्त प्रातिपदिक तथा केवल 'कुल'

लिङ्गात् । आढ्यकुलीनः । (११६३) **अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ ४ । १ । १४० ॥** कुलात् इत्येव । पक्षे खः । कुल्यः---कौलेयकः---कुलीनः । पदग्रहणं किम् ? बहुकुल्यः---बाहुकुलेयकः---बहुकुलीनः । (११६४) **महाकुलादञ्खञौ ४।१।१४१ ॥**

(११६३) अपूर्वपदादन्यतरस्याम् । कुलादित्येवेति । पूर्वपदरहितात् कुलादपत्ये यड्ढकञौ वा स्त इत्यर्थः । पक्षे ख इति । यड्ढकञोरभावपक्षे इत्यर्थः । बहुकुल्य इति । 'विभाषा सुपः' इति बहुच्प्रत्ययो न पदम् । अतः पूर्वपदरहितत्वात् यड्ढकञ्खा भवन्त्येवेत्यर्थः ।

(११६४) महाकुलादञ्खञौ । अनुवर्तत इति । अन्यथा महाविभाषाधिकारे अप-

---

शब्द-दोनों से ही—'ख' प्रत्यय होता है"। इसके फलस्वरूप **आढ्यकुलीनः** (धनीकुल में उत्पन्न पुत्र) में भी 'ख' (= ईन) प्रत्यय हो गया। अन्यथा 'समास एवं प्रत्यय-विधि में तदन्त-विधि न होने के कारण केवल 'कुल' शब्द से ही 'ख'-प्रत्यय होता, कुल-शब्दान्त से 'ख' की प्रसक्ति न होने के कारण 'अपूर्व' पद का प्रयोग व्यर्थ हो जाता।

शङ्का-समाधान—यदि तदन्त-विधि न भी की जाय तो 'कुल' शब्द से 'ख' प्रत्यय करने पर 'कुलीन' शब्द निष्पन्न होने के पश्चात् कर्मधारय-समास (आढ्यश्चासौ कुलीनः) कर 'आढ्य-कुलीन' शब्द तो सिद्ध हो जायगा—इस प्रकार कल्पना की जाय तो भी इष्टसिद्धि (विवक्षित अर्थ समन्वित) नहीं होती। कारण यह है कि कर्मधारय समास करने पर तो 'आढ्य'(=धनी) शब्द कुलीन अर्थ का विशेषण होगा। 'कुलगत-धनी' (कुलपरम्परागत आढ्यत्व) अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। अतः 'ख'-प्रत्यय आने के पूर्व ही कर्मधारय समास (आढ्यं च तत् कुलम्) होने पर 'आढ्य-कुल' शब्द निष्पन्न करने के पश्चात् अपत्यार्थ में 'ख' प्रत्यय करना अभीष्ट है।

(११६३) पद—अपूर्वपदात्, अन्यतरस्याम्, यड्ढकञौ। **अनुवृत्ति**—कुलात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'कुल' से ही (हो)। पक्ष में 'ख'। उदा० कुल्यः—कौलेयकः—कुलीनः। 'पद' ग्रहण क्यों ? बहुकुल्यः—बहुकौलेयकः—बहुकुलीनः (उपर्युक्त तीनों प्रत्यय हो जायँ)।

विवरण—पूर्वसूत्र का ही एक प्रकार से विस्तार है। तदनुसार वहाँ से अनुवर्तमान 'कुल' पद शेष प्राकरणिक अनुवृत्ति-लभ्य पदों के साथ अन्वित होकर सूत्रार्थ सम्पन्न होता है। अतः ""पूर्वपद-रहित 'कुल' शब्द से 'अपत्य' अर्थ में विकल्प से 'यत्' और 'ढकञ्' प्रत्यय हों।" 'ञ्' तथा 'अ' की इत्संज्ञा होने के फलस्वरूप 'ढक्' (= एयक्) अवशिष्ट रहेगा। 'ढकञ्' के साथ ही पक्ष में पूर्व सूत्र (११६२) से प्राप्त 'ख' प्रत्यय भी होगा। तदनुसार तीन रूप बनेंगे—(क) **कुल्यः** (कुल्+यत्)। (ख) **कौलेयकः** (कुल्+ढक्=एयक्)। (ग) **कुलीनः** (कुल्+ख= ईन)। अर्थ—श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न पुत्र। शेष कार्य पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में यदि केवल 'अपूर्व' अंश रखा जाता तो 'कुल' शब्द के पूर्व में किसी भी शब्द के रहने पर उपर्युक्त 'यत्' और 'ढकञ्' प्रत्यय नहीं होंगे। तदनुसार 'कुल' शब्द से पूर्व 'बहुच्' प्रत्यय की स्थिति रहने पर **बहुकुल्यः** ('यत्' प्रत्यय), **बहुकौलेयकः** ('ढकञ्' प्रत्यय) तथा **बहुकुलीनः** ('ख' प्रत्यय) आदि रूप निष्पन्न नहीं हो सकेंगे। 'पद' ग्रहण का निवेश करने से 'कुल' शब्दान्त का पूर्वावयव कोई 'पद' होना चाहिये। 'प्रत्यय' तो 'पद' नहीं होता। अतः बहुच्-प्रत्यय-युक्त 'बहुकुल' शब्द पूर्व-पद-रहित ही समझा जाता है। **विग्रह**—बहुकुलस्य (=ईषदसमाप्तकुलस्य) अपत्यम्। **अर्थ**—कुछ न्यून कुल में उत्पन्न पुत्र।

(११६४) पद—महाकुलात्, अञ्-खञौ। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

अन्यतरस्याम् इत्यनुवर्तते । पक्षे खः । माहाकुलः—माहाकुलीनः—महाकुलीनः । (११६५) दुष्कुलाड्ढक् ४ । १ । १४२ ॥ पूर्ववत्पक्षे खः । दौष्कुलेयः—दुष्कुलीनः । (११६६) ४ । १ । १४३ ॥ स्वस्रीयः । (११६७) भ्रातुर्व्यच्च ४ । १ । १४४ ॥ चाच्छः । अणोऽपवादः । भ्रातृव्यः—भ्रात्रीयः । (११६८) व्यन्सपत्ने ४ । १ । १४५ ॥

वादेन मुक्ते उत्सर्गस्याप्रवृत्तेः 'पीलाया वा' इत्यत्रोक्तत्वात्पूर्वसूत्रोक्तः खो न स्यादिति भावः । तदाह—पक्षे ख इति । तथा सति आदिवृद्धिर्नेति भावः ।

(११६५) दुष्कुलाड्ढक् । पूर्ववदिति । अन्यतरस्याङ्ग्रहणानुवृत्तेरिति भावः ।

(११६६) स्वसुश्छः । अपत्ये इति शेषः । स्वस्रीय इति । छस्य ईयादेशः, ऋकारस्य यण् ।

(११६७) भ्रातुर्व्यच्च । तकारः 'तित्स्वरितम्' इति स्वरार्थं इति बोध्यम् ।

मूलार्थ—'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। पक्ष में 'ख' भी होगा। उदा० माहाकुलः—माहाकुलीनः—महाकुलीनः ।

विवरण—" 'महाकुल' प्रातिपदिक से 'अञ्' और 'खञ्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं" । पक्ष में "कुलात् खः" (४-१-१३९) सूत्र से यथाप्राप्त 'ख' प्रत्यय भी होगा । इस प्रकार तीन रूप बनेंगे । (क) **माहाकुलः** (महाकुल् + अञ्=अ), (ख) **माहाकुलीनः** (महाकुल् + खञ्=ईन), (ग) **महाकुलीनः** (महाकुल् + ख=ईन) । **विग्रह**—महाकुलस्य अपत्यम् । **अर्थ**—अच्छे कुल की सन्तान ।

विशेष—'खञ्' तथा 'ख' में 'आदिवृद्धि' एवं 'स्वर' का भेद है । अर्थात् 'ख' में 'ञ्' इत्संज्ञा न होने से आदि वृद्धि नहीं होती तथा स्वरित स्वर भी नहीं होता ।

(११६५) पद—दुष्कुलात्, ढक् । **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पहले की तरह पक्ष में 'ख' प्रत्यय भी हो । उदा० दौष्कुलेयः—दुष्कुलीनः ।

विवरण—'अन्यतरस्याम्' पद की प्रमुख अनुवृत्ति के फलस्वरूप " 'दुष्कुल' प्रातिपदिक से 'अपत्य' अर्थ में विकल्प से 'ढक्' (=एय) होता है" । पक्ष में "कुलात् खः" (४-१-१३९) सूत्र से 'ख' (=ईन) प्रत्यय भी होगा । **उदाहरण**—(क)—**दौष्कुलेयः** (हीन कुल में उत्पन्न) । **विग्रहार्थ**—दुष्कुले जातः पुत्रः । दुष्कुल + ढक्, ढ=एय तथा आदिवृद्धि-"किति च" (७-२-११८) । (ख)—**दुष्कुलीनः** (दुष्कुल + ख=ईन) ।

(११६६) पद—स्वसुः, छः । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० स्वस्रीयः ।

विवरण—" 'स्वसृ' शब्द से अपत्यार्थ में 'छ' (=ईय) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**स्वस्रीयः** (भानजा) । **विग्रह**—स्वसुः अपत्यम् । स्वसृ + छ (=ईय) ▷ स्वस्रीयः (ऋ=र्—'यण्' तथा विभक्ति-कार्य) ।

(११६७) पद—भ्रातुः, व्यत्, च । **अनुवृत्ति**—छः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'च' पद से 'छ' प्रत्यय हो—यह अर्थ सूचित होता है । उदा० भ्रातुः पुत्रः—(क) भ्रातृव्यः । (ख) भ्रात्रीयः ।

भ्रातुर्व्यन् स्यादपत्ये, प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन शत्रौ वाच्ये। भ्रातृव्यः शत्रुः।

(११६८) व्यन्सपत्ने। अपत्ये इति। प्रत्ययेनापत्यमुच्यते। भ्रातृशब्दार्थस्तु न विवक्षितः। तथा च भ्रातृशब्दोत्तरत्वे व्यन्प्रत्ययार्थः शत्रुः इति भाष्ये स्पष्टम्। ननु

विवरण—"षष्ठ्यन्त 'भ्रातृ' शब्द से अपत्यार्थ में 'व्यत्' प्रत्यय होता है"। सूत्र में 'च' ग्रहण करने के फलस्वरूप 'छ' प्रत्यय भी होगा। **उदाहरण**—(क) भ्रातृव्यः (भतीजा)। **विग्रह**—भ्रातुः अपत्यं पुमान्। भ्रातृ+व्यत् > भ्रातृव्यः (विभक्ति-कार्य)। 'व्यत्' प्रत्यय में 'त्' का सन्निवेश स्वरित स्वर होने के लिये किया गया है—"तित् स्वरितम्" (६-१-१८५)। पक्ष में 'छ' होने पर (ख) भ्रात्रीयः। भ्रातृ+छ (ईय) > भ्रात्रीयः ('यण्' सन्धि तथा विभक्तिकार्य)।

(११६८) पद—व्यन्, सपत्ने। **अनुवृत्ति**—भ्रातुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रकृति-प्रत्यय-युक्त (परिनिष्ठित) शब्द से शत्रु-वाच्य होने पर 'भ्रातृ' शब्द से 'व्यन्' प्रत्यय होता है। उदा० भ्रातृव्यः अर्थात् शत्रु। 'पाप' का आरोप करने से—पाप्मना भ्रातृव्येण (पुंलिङ्ग में समीचीन है)।

विवरण—"यदि 'भ्रातृव्य' शब्द से 'दुष्ट भतीजा'—यह अर्थ अभिधेय हो तो उस स्थिति में 'भ्रातृ' शब्द से 'व्यन्' प्रत्यय होगा"[1]। **उदाहरण**—भ्रातृव्यः (शत्रु भतीजा)। **विग्रहार्थ**—भ्रातुः अपत्यम्—शत्रुः। भ्रातृ+व्यन्।

विशेष—(१) 'शत्रु' अर्थ में 'व्यन्' ही होता है। अर्थात् 'व्यन्' एवं 'छ'—दोनों नहीं होते हैं। यहाँ पर 'भ्रातृव्य'—घटक 'व्यन्' प्रत्यय से शत्रु-रूप अपत्यार्थ सूचित होता है। अर्थात् 'व्यन्' प्रत्यय 'शत्रु'-अर्थ का वाचक है। शत्रुरूप अर्थ 'वाच्य' है।

(२) श्रुतिगत पाप्मना भ्रातृव्येण में 'भ्रातृव्य' शब्द शत्रुरूप विशिष्ट अर्थ का बोधक न होने पर भी उसका औचित्य बतलाया जा रहा है। 'पाप्मना भ्रातृव्येण' वाक्य (=साक्षात् पापस्वरूप भतीजा) में पाप-वाचक अर्थ को बतलाने के लिये 'पाप्मन्' शब्द का पुंलिङ्ग में प्रयोग किया गया है। किन्तु देखा जाय तो भ्राता का पुत्र भतीजा 'पाप' नहीं हो सकता—पापी भले ही हो। ऐसी परिस्थिति में 'पाप्मना भ्रातृव्येण' यह प्रयोग कैसे? इसके समाधान में यह कहा जा रहा है कि भ्रातृ-पुत्र में पापरूपी धर्म आरोपित है।[2] अर्थात् वह भतीजा साक्षात् पाप का अवतार ही हो। पाप ही भ्रातृपुत्र-रूप में मूर्त माना गया है। इस प्रकार अर्थ में लक्षणा का आश्रय लिया गया है।

(३) 'सपत्नी' शब्द तो स्त्रीलिङ्ग में व्युत्पादित है ("नित्यं सपत्न्यादिषु" ४-१-३५)। अतः 'सपत्न' शब्द पुंलिङ्ग में कैसे माना जाय? यहाँ पर 'सपत्न' शब्द उपचार-वश (लक्षणा-वश) पुंलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् सपत्नी की तरह जो शत्रु दुःखदायी हो—वह 'सपत्न' होगा[3]।

---

१. "व्यन्-वचनमनर्थकम्। किं कारणम्? प्रत्ययार्थाभावात्। किमिदं प्रत्ययार्थाभावादिति? अपत्यार्थाभावात्"। —महाभाष्यम्।

२. "अनपत्ये चाऽपि 'भ्रातृव्य' शब्दो वर्तते—'पाप्मना भ्रातृव्येण'। अस्तु तावद् अपत्यं सपत्नश्च। तत्र भ्रातृव्य इति। कथं पाप्मना भ्रातृव्येणेति। उपमानात् सिद्धम्। भ्रातृव्य इव भ्रातृव्य इति"। —महाभाष्यम्।

३. "यथैव हि सपत्नी दुःखहेतुः, तथा शत्रुरपीति। यः सपत्नीव सपत्नः स उच्यते"—इति काशिकायाः न्यासटीका। एतेन इदं व्यज्यते यदत्र शत्रुपर्यायः सपत्न-शब्दः शब्दान्तरमव्युत्पन्नमेव। अत एव सपत्नी-शब्दादपरेऽकारम् इवार्थे निपातयन्ति—इति काशिकायाम् उक्तम्।

'पाप्मना भ्रातृव्येण' इति तूपचारात्। (११६९) रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४।१।१४६॥ (११७०) ठस्येकः ७।३।६०॥ अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः स्यात्। रैवतिकः। (११७१) गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च ४।१।१४७॥ गोत्रं या स्त्री तद्वाचकाच्छब्दाण्णठकौ स्तः कुत्सायाम्। सामर्थ्याद्यूनि। गार्ग्या अपत्यं गार्गः—गार्गिको वा

'पाप्मना भ्रातृव्येण' इति कथम्, पाप्मनोऽपत्यत्वाभावादित्यत आह—पाप्मना भ्रातृव्येण इति तूपचारादिति। हिंसकत्वगुणयोगाल्लाक्षणिक इत्यर्थः।

(११६९) रेवत्यादिभ्यष्ठक्। अपत्ये इति शेषः। ढगाद्यपवादः।

(११७०) ठस्येकः। अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते। तदाह—अङ्गात्परस्य ठस्येति। ठकारस्येत्यर्थः। रैवतिक इति। रेवत्याः अपत्यमिति विग्रहः। ठकि ककार इत्, अकार उच्चारणार्थः। ठकारस्य इकः अदन्त आदेशः। अङ्गात्किम्? कर्मठः इत्यत्र ठकारस्य न भवति। अत्र भाष्ये अङ्गसम्बन्धिठस्येति व्याख्याने कर्मठः इत्यत्र सुपं प्रति कर्मशब्दस्याङ्गत्वात्तदीयठस्य इकादेशमाशङ्क्य अङ्गसञ्ज्ञानिमित्तो यष्ठकारस्तस्येको भवति, तादृशश्च ठकारः प्रत्यय एव भवति, न चेह ठकारः प्रत्यय इति समाहितम्। ततश्च ठकि अकार उच्चारणार्थः, ठकार एव प्रत्ययः इति विज्ञायते। 'ठस्येति सङ्घातग्रहणम्' इत्यपि भाष्ये स्थितम्। अस्मिन्पक्षे ठकि अकार उच्चारणार्थो न भवति, सङ्घात एव प्रत्ययः, इकादेशे अकार उच्चारणार्थं एवेत्यलम्।

(११७१) गोत्रस्त्रियाः। ण इति लुप्तप्रथमाकम्। चात् ठगनुकृष्यते। तदाह—गोत्रं या स्त्री इत्यादिना। सामर्थ्यादिति। 'एको गोत्रे' इति नियमादिति भावः। गार्ग्या अपत्यमिति। गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्गी। 'गर्गादिभ्यः' इति यञ्। 'यञश्च' इति ङीप्। 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। 'हलस्तद्धितस्य' इति यकारलोपः। गार्ग्याः अपत्यं युवेति विग्रहः। पितुरविज्ञाने मात्रा व्यपदेशः कुत्सनम्। यद्यपि णप्रत्यये ठक इकादेशे च 'यस्येति च' लोपे गार्ग्यः गार्गिकः इति सिध्यति, तथापि वस्तुस्थितिमाह—पुंवद्भावादिति। 'भस्याऽढे' इति पुंवत्त्वे सति ङीपो निवृत्तौ भूतपूर्वगत्या स्त्रीवाचकत्वमादाय गार्ग्यशब्दा-

---

(११६९) पद—रेवत्यादिभ्यः, ठक्। अनुवृत्ति—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

विवरण—"'रेवत्यादि' शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। 'ढक्' आदि का यह अपवाद है।

(११७०) पद—ठस्य, इकः। अनुवृत्ति—अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—अङ्ग से पर 'ठ'कार को 'इक' आदेश हो। उदा० रैवतिकः।

विवरण—प्रासङ्गिक सूत्र यहाँ 'अष्टाध्यायी' के सप्तमाध्याय से उद्धृत किया जा रहा है। यह "अङ्गस्य" (६-४-१) (=अङ्गात्) अधिकार के अन्तर्गत है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'अङ्ग' के निमित्त (जिसके कारण अङ्ग संज्ञा हुई हो—ऐसे) 'ठ' के स्थान पर 'इक' आदेश हो"। उदाहरण—रैवतिकः (रेवती का पुत्र)। विग्रह—रेवत्याः पुत्रः। रेवती+ठ (ठक्)>रैवती+इक (ठ=इक तथा आदिवृद्धि)>रैवतिकः ('ई' का लोप तथा विभक्तिकार्य)।

(११७१) पद—गोत्रस्त्रियाः, कुत्सने, ण, च। अनुवृत्ति—ठक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—कुत्सा अर्थ में गोत्रार्थक-प्रत्ययान्त स्त्रीवाचक से 'ण' एवं 'ठक्' प्रत्यय होते हैं। सामर्थ्यवश युवापत्य में ही हों। उदा० गार्ग्याः अपत्यम् > गार्ग्यः अथवा गार्गिकः (जाल्मः)।

जाल्मः । 'भस्याऽढे तद्धिते' इति पुंवद्भावाद् गार्ग्यशब्दाण्णठकौ । 'यस्य–' (सू ३११) इति 'अ'-लोपः । 'आपत्यस्य–' (सू १०८२) इति यलोपः । (११७२) वृद्धाट्ठक्

णठकावित्यर्थः । न च 'वृद्धिनिमित्तस्य च' इति पुंवत्त्वनिषेधः शङ्क्यः, सौत्रस्यैवायं निषेधः न तु 'भस्याऽढे' इति वार्तिकस्येत्युक्तत्वात् । 'भस्याऽढे' इत्यस्य तद्धिते विवक्षिते प्रवृत्तिमभ्युपगम्य गार्ग्यशब्दादित्युक्तम् । तच्च समूहाधिकारे 'भिक्षादिभ्योऽण्' इत्यत्र स्फुटीभविष्यति । स्त्रियाः किम् ? औपगवस्यापत्यं युवा औपगविः । प्रकरणादिगम्या कुत्सा । गोत्रेति किम् ? कारिकेयः । णस्य णित्त्वं तु ग्लुचुकायन्या अपत्यं युवा ग्लौचुकायन इत्यत्र वृद्ध्यर्थम् ।

"भस्याढे तद्धिते" से पुंवद्भाव होने के कारण 'गार्ग्य' शब्द से क्रमशः 'ण' तथा 'ठक्' प्रत्यय हुए । 'यस्येति च' (सू० ३११) से 'अ' का लोप ।

विवरण—पूर्व सूत्र "रेवत्यादिभ्यष्ठक्" (४-१-१४६) का प्रत्यय-विस्तार है । प्रकृत-सूत्रस्थ 'च' पद 'ठक्' प्रत्यय के अनुकर्षणार्थ है तथा 'ण' पद लुप्त-प्रथमान्त है (= णः) । शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व प्रभावी हैं । सबके साथ एकवाक्यता करने पर सूत्र से यह विदित होता है कि "गोत्र में वर्तमान स्त्री-वाची प्रातिपदिक से निन्दा गम्यमान होने पर 'अपत्य' अर्थ में 'ण' तथा 'ठक्' प्रत्यय हों" । यहाँ 'गोत्र' पद साक्षात् 'पुत्र' अथवा 'पुत्री' का वाचक नहीं है, किन्तु पौत्र-प्रभृति अपत्य (गोत्र) का बोधक है । ऐसी स्थिति में एक गोत्रार्थक प्रत्यय से दूसरे गोत्रार्थक प्रत्यय का प्रतिबन्धक "एको गोत्रे" (४-१-९३) नियम है । अतः प्रकृत सूत्र व्यर्थ ही हो जायगा, उसके सामर्थ्य से 'युवापत्य' में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । **उदाहरण**—गार्गः (गार्गी का कुत्सित प्रपौत्र) अथवा गार्गिकः । **विग्रह**—गर्गस्य गोत्रापत्यं कन्या—गार्गी, गार्ग्याः अपत्यं युवा कुत्सितः । **प्रक्रिया**—गार्गी+ण (अ) > गार्ग्य +अ>गार्ग्यः (गार्गी=गार्ग्य→'ढ' प्रत्ययभिन्न होने से पुंवद्भाव← "भस्याढे तद्धिते" वा०) आदिवृद्धि, 'अ'—लोप, 'य्'लोप तथा विभक्तिकार्य) । 'ठक्' होने पर—गार्गी+ठक् (ठ) > गार्ग्य+ठ (पुंवद्भाव) > गार्ग्य+इक (ठ = इक) > गार्गिकः 'अ' तथा 'य्' का लोप एवं विभक्तिकार्य ।

विशेष—(१) उदाहरण में 'जाल्म' शब्द से 'कुत्सा' अर्थ सूचित किया गया है । वंशसम्बन्धी निन्दा दो प्रकार से दिखायी जाती है—मातृवंश्य तथा पितृवंश्य । प्रकृत उदाहरण में 'मातृवंश्य' के प्रति अरुचि दिखाई गई है—इस प्रकार साम्प्रतिक व्याख्याकार अर्थ करते हैं । किन्तु माता के कारण 'कुत्सा' गम्यमान नहीं होनी चाहिये, क्योंकि जाबालि के पिता के अज्ञात होने पर यदि उसके आचार्य उसके सत्यभाषण से प्रभावित न होते तो उसे ब्राह्मण के समान समझ कर शिक्षा न देते । अतः निन्दा का वास्तविक कारण अपना बुरा आचरण ही है । इस प्रकार गार्गः तथा गार्गिकः का अर्थ—गार्गी का निन्दित प्रपौत्र यही समझा जाय । तभी उत्तर सूत्रों में पितृनाम से व्यपदेश होने पर 'कुत्सन' अर्थ में प्रत्यय-विधान की सार्थकता सिद्ध होगी । वैसे ही यहाँ भी मातृ-नाम से व्यपदेश होने पर 'कुत्सा' अर्थ में 'ण' तथा 'ठक्' प्रत्ययों का विधान माना जाय ।

(२) उपर्युक्त उदाहरणों में 'भस्याढे तद्धिते' वार्तिक द्वारा प्रवृत्त पुंवद्भाव का निषेध "वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे" (६-३-३९) सूत्र से इस कारण नहीं होता कि यह सूत्र केवल सूत्रोपात्त पुंवद्भाव का निषेध करता है न कि वार्तिक द्वारा निर्दिष्ट पुंवद्भाव का ।

(३) 'गार्गः' तथा 'गार्गिकः' उदाहरणों में बिना पुंवद्भाव हुए भी 'ण' एवं 'ठक्' प्रत्यय करने पर "यस्येति च" (६-४-१४८) से 'ई' का लोप होने के बाद इष्ट रूप-सिद्धि संभव थी, तथापि प्राकरणिक शास्त्र की प्रवृत्ति होने के फलस्वरूप 'पुंवद्भाव' होने के पश्चात् ही 'ण' तथा 'ठक्' प्रत्यय होने पर 'भ'संज्ञा-निमित्तक 'अ' का तथा "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" (६-४-१५१) से 'य्' का लोप होगा ।

सौवीरेषु बहुलम् ४ । १ । १४८ ॥ सुवीरदेशोद्भवाः सौवीराः । वृद्धात्सौवीरगोत्रा-द्यूनि बहुलं ठक्स्यात्कुत्सायाम् । भागवित्तेः भागवित्तिकः । पक्षे फक् । भागवित्तायनः ।

(११७३) फेश्छ च ४ । १ । १४९ ॥ फिञन्तात्सौवीरगोत्रादपत्ये छः ठक्च कुत्सने गम्ये । यमुन्दस्यापत्यं यामुन्दायनिः । तिकादित्वात्फिञ् । तस्यापत्यं यामुन्दायनीयः—

(११७२) वृद्धाट्ठक्सौवीरेषु । पूर्वसूत्राद् गोत्रेत्येकदेशोऽनुवर्तते । सौवीरेष्विति । प्रकृतिविशेषणम् । तदाह—वृद्धादिति । 'वृद्धिर्यस्याचामादिः' इति वृद्धसञ्ज्ञकादित्यर्थः । ठग्ग्रहणं णस्य अनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थम् । भागवित्तेरिति । भगवित्तस्य सौवीरं गोत्रापत्यं भागवित्तिः, तस्यापत्यं युवेत्यर्थे ठकि इकादेशे भागवित्तिक इति रूपमित्यर्थः । पक्षे फगिति । 'यञिञोश्च' इत्यनेनेति शेषः ।

(११७३) फेश्छ च । छेति लुप्तप्रथमाकम् । यमुन्दस्येति । यमुन्दो नाम सुवीरदेशे कश्चित् । यामुन्दायनिरिति । यामुन्दायनेरपत्यं युवेत्यर्थे कुत्सनाभावात् छठगभावे 'तस्या-

---

(११७२) पद—वृद्धात्, ठक्, सौवीरेषु, बहुलम् । **अनुवृत्ति**—कुत्सने, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सुवीर देश में उत्पन्न लोग सौवीर कहलाते हैं । निन्दा अर्थ में युवापत्य गम्यमान होने पर वृद्धसंज्ञक सौवीर-गोत्र-वाची शब्दों से पाक्षिक 'ठक्' प्रत्यय होता है । उदा० भागवित्ति का युवापत्य—भागवित्तिकः । पक्ष में फक्—भागवित्तायनः ।

विवरण—अर्थ-विशेष 'कुत्सने' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र (११७१) से आ रही है । सूत्रस्थ 'वृद्ध' शब्द संज्ञावाची है (न कि वार्धक्यसूचक) । 'सौवीर' शब्द से तात्पर्य 'सुवीर' देश में उत्पन्न होने वाले लोगों से है और वह प्रकृति-वाची शब्द का विशेषण है । पूर्व सूत्र से अनुवृत्त 'गोत्रे' पद से उसका सम्बन्ध होने के कारण 'सौवीर-गोत्र-प्रत्ययान्त' प्रकृति-वाचक शब्द अपेक्षित होगा । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "सौवीर गोत्र के बोधक वृद्ध-संज्ञक प्रातिपदिकों से युवाऽपत्य अर्थ में 'कुत्सा' गम्यमान रहने पर विकल्प (बहुलम्) से 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—भागवित्तिकः** (व्यास के शिष्य भागवित्ति का निन्दित प्रपौत्र आदि वंशज) । **विग्रह**—भागवित्तेः कुत्सितम् अपत्यं युवा । **प्रक्रिया**—(क) भगवित्तस्य सौवीरं गोत्रापत्यं > भागवित्तिः (भगवित्त+इञ्) । (ख) भागवित्ति+ठक् >भागवित्त्+इक (ठ=इक) > भागवित्तिकः (आदिवृद्धि, 'इ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) । पक्ष में 'इञन्त' होने के कारण **भागवित्तायनः** । भागवित्ति+फक् ("यञिञोश्च" ४-१-१०१) > भागवित्त्+आयन (फ=आयन) > भागवित्तायनः (आदिवृद्धि, 'इ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) ।

(११७३) पद—फेः, छ, च । **अनुवृत्ति**—वृद्धात् ठक् सौवीरेषु बहुलम्, गोत्रे, कुत्सने, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—फिञन्त सौवीरगोत्र से अपत्य अर्थ में कुत्सा गम्यमान होने पर 'छ' तथा 'ठ' प्रत्यय हों । उदा० यमुन्दस्य अपत्यं—यामुन्दायनिः । तिकादि होने से 'फिञ्' प्रत्यय । यामुन्दायनि का युवापत्य->यामुन्दायनीयः—यामुन्दायनिकः । 'कुत्सने' क्यों कहा ? यामुन्दायनिः ('फ' नहीं हुआ) । औत्सर्गिक 'अण्' का "ण्यक्षत्रिय०" (सू० १२७६) से 'लुक्' हो गया । 'सौवीरेषु' क्यों कहा ? तैकायनिः ('फक्' प्रत्यय नहीं हुआ) ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विस्तार है । वह भी केवल 'फिञ्' प्रत्ययान्त शब्दों को अभिलक्षित कर किया जा रहा है । अतः समग्र पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । सूत्र में विधेय 'छ' पद लुप्तप्रथमान्त (=छः) है ।

यामुन्दायनिकः। कुत्सने किम् ? यामुन्दायनिः। औत्सर्गिकस्याणो 'ण्यक्षत्रिय—' (सू १२७६) इति लुक्। सौवीर इति किम् ? तैकायनिः। (११७४) फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ ४। १। १५०॥ सौवीरेषु। नेह यथासङ्ख्यम्। अल्पाच्तरस्य परनिपातात्लिङ्गात् इति वृत्तिकारः। भाष्ये तु यथासङ्ख्यमेव इति स्थितम्। फाण्टाहृतः—

पत्यम्' इत्यण्। 'ण्यक्षत्रियार्षं' इति तस्य लुगित्यर्थः। तैकायनिरिति। तैकायनेरपत्यं युवेत्यर्थे असौवीरत्वात् छठगभावे 'तस्यापत्यम्' इत्यण्। 'ण्यक्षत्रिय' इति तस्य लुगिति भावः।

(११७४) फाण्टाहृति। सौवीरेष्विति। शेषपूरणमिदम्। सौवीरगोत्रादित्यर्थः। फाण्टाहृतस्य गोत्रापत्यं फाण्टाहृतिः। अत इञ्। तस्यापत्यं युवेति विग्रहः। मैमत इति।

तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "फिञन्त वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक सौवीर गोत्रापत्य से कुत्सित युवापत्य वाच्य होने पर विकल्प से 'छ' प्रत्यय होता है तथा (च) 'ठक्' प्रत्यय भी हो"। यद्यपि इस सूत्र में 'फे'—यह सप्तमी विभक्ति है, अतः "फिञ्' तथा 'फिन्'—दोनों का ही ग्रहण हो सकता है, तथापि 'वृद्धात्' पद की अनुवृत्ति होने से 'फिञ्' का ही ग्रहण होगा, 'फिन्' का नहीं। कारण यह है कि 'फिञ्' प्रत्यय में 'ञ्' इत्संज्ञक होने से 'प्रकृति' को आदिवृद्धि होती है। अतः मूल शब्द वृद्धसंज्ञक हो जाता है। **उदाहरण—यामुन्दायनिकः** (यामुन्दायनि सौवीर गोत्रज का कुत्सित युवापत्य)। **प्रक्रिया**—(क) यमुन्द का गोत्रापत्य (यमुन्दस्य गोत्रापत्यम्) यामुन्दायनिः (यमुन्द+फिञ्—"तिकादिभ्यः फिञ्" ४-१-१५४, फि=आयनि) > यामुन्दायनि+छ ('यामुन्द' में वृद्धिजन्य 'आ' होने से वृद्धसंज्ञक शब्द है, अतः प्रकृत सूत्र से 'छ') यामुनायनि+ईय (छ=ईय) > यामुन्दायनीयः। 'ठक्' प्रत्यय होने पर—**यामुन्दायनिकः** (यामुन्दायनि+इक, ठ=इक)।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'कुत्सने' की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप **यामुन्दायनिः** में "तस्यापत्यम्" ४-१-९० से आगत अपत्यार्थक 'अण्' प्रत्यय का "ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः" (२-४-५८) से लुक् होता है, क्योंकि यहाँ कुत्सा गम्यमान नहीं है—अतः 'छ' अथवा 'ठक्' नहीं हुए (यामुन्दायनि+अण् > यामुन्दायनिः—'अण्' का लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

(२) इसी प्रकार 'सौवीरेषु' की अनुवृत्ति आने के फल-स्वरूप सौवीरातिरिक्त गोत्रस्थल **तैकायनिः** में भी 'छ' या 'ठक्' नहीं हुआ। किन्तु 'अण्' तथा उसका 'लुक्' ही हुआ।

(११७४) पद—फाण्टाहृतिमिमताभ्यां, ण-फिञौ। **अनुवृत्ति**—सौवीरेषु बहुलम्, गोत्रे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सौवीर देशवाचियों में ही (हो)। वृत्तिकार के अनुसार (सूत्र में) न्यून-संख्याक अच्-वर्णयुक्त शब्द का पूर्व-निपात होने से यहाँ प्रत्यय में यथासंख्य नहीं। अन्य (व्याख्याताओं) के मत में (प्रत्यय में) यथासंख्य स्वीकार्य है। उदा० १—फाण्टाहृतः—फाण्टाहृतायनिः। २—मैमतः—मैमतायनिः।

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'कुत्सने' की अनुवृत्ति नहीं आती। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "सौवीर देश वाले 'फाण्टाहृति' तथा 'मिमत' शब्दों से अपत्यार्थ में 'ण' तथा 'फिञ्' प्रत्यय होते हैं"।

विशेष—प्रकृत सूत्र में विधीयमान प्रत्यय दो हैं—'ण' तथा 'फिञ्'। उद्देश्य-वाचक शब्द भी दो हैं—'फाण्टाहृति' तथा 'मैमत'। अतः 'यथासंख्य' नियम के अनुसार 'फाण्टाहृति' से 'ण' तथा 'मैमत' शब्द से 'फिञ्' प्रत्यय होना उचित था, किन्तु वृत्तिकारों ने यहाँ यथा-संख्य-नियम

फाण्टाहृतायनिः । मैमतः-मैमतायनिः । (११७५) कुर्वादिभ्यो ण्यः ४।१।१५१॥ अपत्ये । कौरव्या ब्राह्मणाः । वावदूक्याः । 'सम्राजः क्षत्रिये' (ग सू ७५) ।

मिमतस्यापत्यमिति विग्रहः । मिमतशब्दे सौवीरगोत्रादिति न सम्बध्यते, व्याख्यानाद् गोत्रत्वाभावाच्चेति भावः ।

(११७५) कुर्वादिभ्यो ण्यः । अपत्ये इति । शेषपूरणमिदम् । सौवीरेष्विति निवृत्तम् । **कौरव्याः ब्राह्मणा इति ।** कुरुर्नाम कश्चिद् ब्राह्मणः । तस्यापत्यानीति विग्रहः ।

की उपेक्षा की है । इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि प्रकृत सूत्र में द्वन्द्व-समास के नियमानुसार पाणिनि ने स्वयम् न्यूनसंख्या-वाले अच्-युक्त 'मैमत' शब्द का परत्र सन्निवेश कर "अल्पाच्तरम्" (२-२-३४) सूत्र की उपेक्षा की है । अतः यहाँ यथासंख्यनियम की प्रवृत्ति नहीं होती । किन्तु भाष्य के प्रकृत सूत्रस्थ व्याख्याकार कैयट ने पूर्व-निपात प्रकरण की अनित्यता सूचित की[1] हैं । उनके मत में यथासंख्य-नियम की यहाँ प्रवृत्ति होने के फलस्वरूप ही क्रमशः 'फाण्टाहृति' से 'ण' तथा 'मैमत' से 'फिञ्' प्रत्यय होगा ।

उदाहरण—(१) क—**फाण्टाहृतः**→'ण' होने पर (फाण्टाहृति+ण=अ) > फाण्टाहृतः ('इ' लोप) । ख—**फाण्टाहृतायनः**←'फिञ्' प्रत्यय करने पर (फाण्टाहृति+फिञ्=आयनि, 'इ' लोप) । **अर्थ**—फाण्टाहृति की सन्तति–युवा । **विग्रह**—फाण्टाहृतेः अपत्यं युवा 'फाण्टाहृति' शब्द 'फाण्टाहृत' के गोत्रापत्य का सूचक है (फाण्टाहृत+इञ्) । (२) क—**मैमतः**→'ण' प्रत्यय आने पर (मिमत+ण=अ > मैमत्+अ←आदिवृद्धि > मैमतः←'इ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) । **अर्थ**—'मिमत' का पुत्र । **विग्रह**—मिमतस्य अपत्यम् । ख—**मैमतायनिः**←'फिञ्' प्रत्यय लगाने पर (मिमत+फिञ्=आयनि, आदिवृद्धि, 'अ' लोप) । 'मिमत' में 'सौवीर' अपेक्षित नहीं है ।

स्मरणीय—दोनों प्रत्ययों में से 'ण' प्रत्यय में 'ण्' इत्संज्ञा का फल 'मिमत' शब्द में आदि वृद्धि होना है, क्योंकि 'फाण्टाहृति' शब्द में तो पूर्वजात 'इञ्' प्रत्यय को मानकर आदिवृद्धि हो चुकी है, अतः वहाँ तो 'फा' स्वतः वृद्ध-संज्ञक वर्ण विद्यमान है । यदि यह कहा जाय कि फाण्टाहृताभार्यः (फाण्टाहृता भार्या यस्य सः) में बहुव्रीहि समास होने की स्थिति में 'वृद्धि' शब्द से विहित वृद्धिवर्णान्त शब्द को पुंवद्भाव का निषेध सार्थक होता है—तो वह भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि वहाँ "एको गोत्रे" (४-१-९३) नियम से गोत्रार्थक 'फिञ्' से दूसरे अपत्यार्थक प्रत्यय की सम्भावना नहीं रहती । दूसरे वहाँ पर युवार्थक प्रत्यय की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि स्त्रीलिङ्ग में युवार्थक प्रत्यय की प्रसक्ति नहीं होती ("गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्" ४-१-९४) । अतः 'फाण्टाहृता' शब्द समीचीन नहीं है, क्योंकि इञन्त 'फाण्टाहृति' शब्द से दूसरा गोत्रापत्य-प्रत्यय (अण्) नहीं आ सकता ।

(११७५) पद—कुर्वादिभ्यः, ण्यः । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपत्यार्थ में (ण्य) हो । उदा० १-कौरव्याः—ब्राह्मणाः । २-वावदूक्याः । वा० 'सम्राज्' शब्द से क्षत्रियार्थ में ('ण्य' प्रत्यय हो) । उदा० साम्राज्यः । क्षत्रियार्थ से भिन्न—साम्राजः ।

विवरण—'सौवीरेषु' की निवृत्ति हो गई है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कुरु आदि प्रातिपदिकों से 'अपत्य' अर्थ

---

१. 'पूर्वनिपातव्यवस्था तु नावश्यं सर्वत्र शास्त्रे आश्रीयते इति सर्वत्र तदनाश्रयणं न यथासंख्याभावसूचकम्'—इति कैयटः ।

साम्राज्यः । साम्राजोऽन्यः । (११७६) सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च ४ । १ । १५२ ॥ एभ्यो ण्यः । 'एति सञ्ज्ञायाम्–' (सू १०२३) इति सस्य षः । हारिषेण्यः । लाक्षण्यः । कारिः शिल्पी । तस्मात् तान्तुवाय्यः, कौम्भकार्यः, नापित्यः । (११७७)

ण्यप्रत्यये ओर्गुणे अवादेशः, आदिवृद्धिः । यस्तु 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' इति ण्यो वक्ष्यते, तस्य तद्राजत्वात् बहुषु लुकि कुरवः क्षत्त्रियाः इति भवति । एतत्सूचनार्थमेव बहुवचनं ब्राह्मणा इति विशेष्यं चोदाहृतम् । वावदूक्या इति । वावदूकस्यापत्यानीति विग्रहः । सम्राजः क्षत्त्रिये इति । कुर्वादिगणसूत्रम् । अपत्ये इति शेषः । क्षत्त्रिय एवेति नियमार्थमिदम् । साम्राजोऽन्य इति । सम्राजः शूद्रादौ उत्पन्न इत्यर्थः ।

(११७६) सेनान्त । एभ्य इति । सेनान्तलक्षणकारिभ्य इत्यर्थः । अकुर्वादित्वाद्वचनम् । हारिषेण्य इति । हरिषेणो नाम कश्चित् । 'एति सञ्ज्ञायाम्' इति षत्वम् । तस्यासिद्धत्वात्सेनान्तत्वाण्ण्यः । लाक्षण्य इति । लक्षणमस्यास्तीति लक्षणः, अर्श आद्यच्, तस्यापत्यमिति विग्रहः । कारिपदं व्याचष्टे कारिः शिल्पीति । तस्मादिति । कारिविशेष-

---

में 'ण्य' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—(१) **कौरव्याः** ('कुरु' नामक ब्राह्मण के अनेक पुत्र)। **विग्रह**—कुरोः अपत्यानि पुमांसः । कुरु+ण्य > कुरो+य (उ=ओ—"ओर्गुणः" ६-४-१४६) > कुरव्+य (ओ=अव् "वान्तो यि प्रत्यये" ६-१-७९) > कौरव्+य+जस् (आदिवृद्धि) > कौरव्याः (प्रथमा बहुवचन में विभक्ति-कार्य)। (२) **वावदूक्याः** (वावदूक के अनेक पुत्र)। **विग्रह**—वावदूकस्य अपत्यानि । वावदूक्+ण्य > वावदूक्य+जस् (आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप) > वावदूक्याः (विभक्तिकार्य)।

विशेष—'कौरव्याः' रूप बहुवचन में देने का यह प्रयोजन है कि आगे "कुरुनादिभ्यो ण्यः" (४-१-१७२) सूत्र से विहित 'ण्य' प्रत्ययान्त 'कौरव्य' शब्द के बहुवचन में तद्राज-संज्ञा को अभिलक्षित कर बहुवचन-विभक्ति का लोप हो जाने से 'कुरवः'—क्षत्रियाः रूप बनेगा । अतः यहाँ पर विशेषण एवं विशेष्य-वाची दोनों पदों से युक्त उदाहरण दिखाया गया है (कौरव्याः ब्राह्मणाः)।

गणसूत्र—(अर्थ) "'सम्राज्' शब्द से क्षत्रिया से उत्पन्न अपत्य अर्थ की ही विवक्षा में 'ण्य' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—साम्राज्यम् (सम्राट् का क्षत्रिया से उत्पन्न पुत्र)। **विग्रह**—सम्राजः अपत्यम् क्षत्रियः । सम्राज्+य (ण्य) > साम्राज्यम् (आदिवृद्धि, प्रथमा विभक्ति नपुंसकलिङ्ग एकवचन में रूप)।

प्रत्युदाहरण—गणसूत्र में 'क्षत्रिय' पद का निवेश होने से सम्राज् के क्षत्रियेतर पुत्र की विवक्षा में साम्राजः (सम्राज्+अण्) रूप बनेगा ।

स्मरणीय—क्षत्रिय-वाची 'कौरव्य' शब्द का तिकादिगण में पाठ होने से 'फिञ्' प्रत्यय भी होता है । तदनुसार वहाँ 'कौरव्यायणिः' रूप निष्पन्न होगा (कौरव्य+फिञ्=आयनि)।

(११७६) पद—सेनान्तलक्षणकारिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—ण्यः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन से 'ण्य' हो । 'एति संज्ञायाम्' (१०२३) सूत्र से 'स'='ष' । उदा० १—हारिषेण्यः । २—लाक्षण्यः । ३—कारि अर्थात् शिल्पिवाची—(क) तान्तुवाय्यः । (ख) कौम्भकार्यः । (ग) नापित्यः ।

विवरण—पूर्व सूत्र (११७५) से विधेयार्थक 'ण्यः' की अनुवृत्ति आ रही है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । अतः "'सेनान्त' प्रातिपदिकों से, 'लक्षण' शब्द से तथा 'शिल्पि'

उदीचामिञ् ४ । १ । १५३ ॥ हारिषेणिः । लाक्षणिः । तान्तुवायिः । कौम्भकारिः । नापितात्तु परत्वात्फिञेव । नापितायनिः । तक्ष्णोऽण उपसङ्ख्यानम् (वा २५४०) । 'षपूर्व-' (सू ११६०) इत्यनोऽकारलोपः । ताक्ष्णः । पक्षे ताक्षण्यः । (११७८)

वाचिनो ण्ये सतीत्यर्थः । तान्तुवाय्य इति । तन्तुवायस्यापत्यमिति विग्रहः । कौम्भकार्य इति । कुम्भकारस्यापत्यमिति विग्रहः । नापित्य इति । नापितस्यापत्यमिति विग्रहः ।

(११७७) उदीचामिञ् । सेनान्तलक्षणकारिभ्य इञ् स्यादुदीचां मते इत्यर्थः । नापितात्तु परत्वात् फिञेवेति । उदीचां वृद्धादित्यनेनेति शेषः । तक्ष्णोऽण उपसङ्ख्यान- मिति । उदीचां मते इति शेषः । ताक्ष्ण इति । अणि प्रकृतिभावान्न टिलोपः । अल्लोपस्तु 'षपूर्वहन्' इति वचनाद्भवति । पक्षे ताक्षण्य इति । प्राचां मते कारित्वलक्षणो ण्य इत्यर्थः । 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः ।

वाची (कारिवाची) प्रातिपदिकों से भी (च) अपत्यार्थ में 'ण्य' प्रत्यय होता है"। यहाँ 'लक्षण' शब्द का स्वरूपपात्मक ग्रहण है तथा 'कारि' शब्द 'शिल्पिवाची' का बोधक है। क्रमशः **उदाहरण**—(१) सेनान्त-शब्द—**हारिषेण्यः** (हरिसेन का पुत्र)। **विग्रह**—हरिषेणस्य अपत्यं पुमान्। हरिषेण् + य (ण्य) > हारिषेण्य (आदिवृद्धि 'अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (२) लक्षण-शब्द—**लाक्षण्यः** (लक्षण का पुत्र) लक्षण + ण्य। विग्रहादि पूर्ववत्। (३) शिल्पी-वाची—(क) **तान्तुवाय्यः** (जुलाहे का पुत्र)—तन्तुवाय् + ण्य। विग्रहादि पूर्ववत्। (ख) **कौम्भकार्यः** (कुम्हार का पुत्र)—कुम्भकार् + ण्य। विग्रहादि पूर्ववत्। (ग) **नापित्यः** (नाई का पुत्र)—नापित् + ण्य। विग्रहादि पूर्ववत्।

विशेष—'हरिषेण' शब्द में 'स' के स्थान पर सू० १०२६ "एति संज्ञायामगात्" (८-३-९९) से 'स' के स्थान पर मूर्धन्य 'ष' होने के पश्चात् 'सेनान्त' शब्द तो नहीं रह जाता, किन्तु 'षेनान्त' हो जाता है। तब 'ण्य' प्रत्यय कैसे हो? इसका समाधान यह है कि मूर्धन्य षकार का विधान अष्टाध्यायी के आठवें अध्याय में पठित है—वह सपाद-सप्ताध्यायीस्थ तद्धित-प्रत्यय 'ण्य' की दृष्टि में असिद्ध है—अतः सेनान्त ही समझा जाता है। 'न' के स्थान पर 'ण' "अट्कुप्वाङ्नुम्-व्यवायेऽपि" (८-४-२) से होता है। 'ण' भी 'ण्य' की दृष्टि में असिद्ध ही है।

(११७७) पद—उदीचाम्, इञ्। **अनुवृत्ति**—सेनान्तलक्षणकारिभ्यः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—हारिषेणिः। २—लाक्षणिः। ३—क—तान्तुवायिः। ख-कौम्भकारिः। अष्टाध्यायी—सूत्र-क्रम में परवर्ती होने के कारण 'नापित' शब्द से तो 'फिञ्' ही होता है—नापितायनिः। वा० 'तक्षन्' शब्द से 'अण्' प्रत्यय कहा जाय। 'षपूर्व०' (११६०) से 'अन्' के 'अ' का लोप। उदा० ताक्ष्णः। पक्ष में ताक्षण्यः।

विवरण—उद्देश्यवाची पद की अनुवृत्ति का लाभ पूर्व सूत्र (सू ११७४) से होता है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "उदीच्य आचार्यों के मत में सेनान्त, लक्षण तथा शिल्पी-वाची प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **हारिषेणिः** (हरिषेण + इञ्—आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत्)। (२) **लाक्षणिः** (लक्षण + इञ्)। (३) (क) **तान्तुवायिः** (तन्तुवाय + इञ्)। (ख) **कौम्भकारिः** (कुम्भकार + इञ्)। (ग) 'नापित' शब्द में' तिकादिगण में पाठ होने के कारण अग्रिम सूत्र से 'इञ्' का बाध होने से 'फिञ्' प्रत्यय होने के फलस्वरूप **नापितायनिः** रूप निष्पन्न होगा।

शिल्पीवाची 'तक्षन्' शब्द के सन्दर्भ में वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है। तदनुसार उदीच्य

तिकादिभ्यः फिञ् ४ । १ । १५४ ॥ तैकायनिः । (११७९) कौसल्यकार्मार्याभ्यां च ४ । १ । १५५ ॥ अपत्ये फिञ् । इञोऽपवादः । परमप्रकृतेरेवायमिष्यते । प्रत्ययसन्नियोगेन प्रकृतिरूपं निपात्यते । कोसलस्यापत्यं कौसल्यायनिः । कर्मारस्यापत्यं कार्मार्यायणिः । 'छागवृषयोरपि' (वा २६४३) । छाग्यायनिः । वार्ष्यायणिः । (११८०)

(११७८) तिकादिभ्यः फिञ् । इञोऽपवादः । तैकायनिरिति । फिञि आयन्नादेशः ।

(११७९) कौसल्यः । परमप्रकृतेरेवेति । कोसलकर्माराभ्यां फिञ्, तस्य युट् चेत्यर्थः । भाष्ये स्पष्टमेतत् । छागवृषयोरपीति । फिञ्, तस्य युट् चेति वक्तव्यमित्यर्थः ।

आचार्यों के मत में "'तक्षन्' शब्द से अपत्यार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। (घ) **उदाहरण**—(१) **ताक्ष्णः** (बढ़ई का पुत्र)। **विग्रह**—तक्ष्णः अपत्यं पुमान् । तक्षन्+अ (अण्) > ताक्ष्णः (वृद्धि, 'अन्' सम्बन्धी 'अ' का लोप—"षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि" ६-४-१३५ तथा विभक्ति-कार्य)। प्राच्य आचार्यों के मत में (२) **ताक्षण्यः** रूप निष्पन्न होगा। ▷ तक्षन्+ण्य ("सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च" (४-१-१५२) तथा आदिवृद्धि एवं "ये चाऽभावकर्मणोः" (६-४-१६८) से प्रकृतिभाव होने के कारण 'टि'-(= अन्) लोप नहीं हुआ)।

(११७८) पद—तिकादिभ्यः, फिञ् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० तैकायनिः ।

विवरण—"तिकादि-गण-पठित शब्दों से अपत्य अर्थ में फिञ् प्रत्यय होता है"। 'इञ्' का अपवाद है। **उदाहरण**—**तैकायनिः** (तिक का पुत्र)। तिक+फिञ् (= आयनि) तैक्+आयनि (आदिवृद्धि) >तैकायनिः ('अ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

(११७९) पद—कौसल्य-कार्मार्याभ्याम्, च । **अनुवृत्ति**—फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपत्यार्थ में 'फिञ्' हो। 'इञ्' का अपवाद है। वा० यह परम प्रकृति कोसलादि से हो। प्रत्यय के सन्नियोग से प्रकृतिरूप निपातित है। उदा० १—कोसलस्य अपत्यम्—कौसल्यायनिः। २—कर्मारस्य अपत्यम्—कार्मार्यायणिः। वा० 'छाग' और 'वृष' शब्दों से भी हो। उदा० १—छाग्यायनिः। २—वार्ष्यायणिः।

विवरण—विधेय-वाची 'फिञ्' शब्द की अनुवृत्ति "तिकादिभ्यः फिञ्" (४-१-१५४) सूत्र से आ रही है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'कौसल्य तथा 'कार्मार्य' शब्दों से भी अपत्य अर्थ में 'फिञ्' प्रत्यय होता है"। इस सूत्र में प्रकृति-वाचक (उद्देश्यवाचक) दो शब्द निर्दिष्ट हैं—'कौसल्य' तथा 'कार्मार्य'। ये दोनों शब्द 'कोसल' तथा 'कर्मार' स्वरूप प्रकृति से क्रमशः 'ञ्य' तथा 'ण्य' प्रत्यय होने पर निष्पन्न हुए हैं, अतः भाष्येष्टि के अनुसार 'ञ्य' एवं 'ण्य' प्रत्ययान्त 'कोसल' तथा 'कर्मार' के विकृत शब्द ही लिये गए हैं। अर्थात् यहाँ पर 'फिञ्' प्रत्यय के सान्निध्य में 'कौसल्य' एवं 'कार्मार्य' शब्द-रूप प्रकृति निपातन-वश मान ली जाय। **उदाहरण**—(१) **कौसल्यायनिः** (कोसल का युवापत्य)। **विग्रह**—कोसलस्य युवापत्यम् । कोसल+ञ्य ("वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्" ४-१-१७१) > कौसल्य (आदिवृद्धि)>कौसल्य्+फिञ् ▷ कौसल्य+आयनि ('फिञ्' = आयनि) > कौसल्यायनिः ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (२) **कार्मार्यायणिः** (कर्मार का प्रपौत्र)। कर्मार+ण्य ("सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च" ४-१-१५२)>कार्मार्य्+फिञ्>कार्मार्यायणिः (फिञ् = आयनि, 'अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

वार्तिक—**अर्थ**—"'छाग तथा 'वृष' शब्दों से भी अपत्यार्थ में 'फिञ्' (= आयनि) प्रत्यय तथा 'फ' (आयन) को 'युट्' आगम भी हो"। **उदाहरण**—(१) **छाग्यायनिः** (बकरे की

अणो द्व्यचः ४ । १ । १५६ ।। अपत्ये फिञ् । इञोऽपवादः । कार्त्रायणिः । अणः इति किम् ? दाक्षायणः । द्व्यचः किम् ? औपगविः । ['त्यदादीनां फिञ्वा वाच्यः' (वा-

---

(११८०) अणो द्व्यचः । अपत्ये फिञिति । शेषपूरणमिदम् । द्व्यचः अणप्रत्ययान्तादपत्ये फिञित्यर्थः । **कार्त्रायणिरिति ।** कर्तुः छात्रः कार्त्रः, 'तस्येदम्' इत्यण् । कार्त्रस्यापत्यं कार्त्रायणिः । फिञि आयन्नादेशे णत्वम् । **दाक्षायण इति ।** दक्षस्यापत्यं दाक्षिः । अत इञ् । दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः । 'यञिञोश्च' इति फक् । अणन्तत्वाभावान्न फञिति भावः । **औपगविरिति ।** उपगोर्गोत्रापत्यमौपगवः, तस्यापत्यमौपगविः युवा । द्व्यचत्वाभावान्न फिञिति भावः । कर्तुरपत्ये तु कुर्वादिगणे पाठात् ण्य एवेति बोध्यम् । 'त्यदादीनां फिञ्वा वाच्यः । त्यादायनिः, त्यादः' इति क्वचित्पुस्तके दृश्यते । तत्तु प्रामादिकम्, 'त्यदादीनि च' इति त्यदादीनां वृद्धत्वात् 'उदीचां वृद्धात्' इत्येव सिद्धेः, भाष्ये अस्य वार्तिकस्य अदर्शनाच्च ।

सन्तान)। **विग्रह**—छागस्य अपत्यम् । छाग्—य्+फिञ् (= आयनि तथा 'युक्' आगम) > छाग्यायनिः ('अ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य) । (२) **वार्ष्यायणिः** ('वृष' अर्थात् बैल की सन्तान) । **विग्रह**—वृषस्य अपत्यम् । वृष–य्+फिञ् (= आयनि) > वार्ष्–य्+आयनि (आदिवृद्धि) > वार्ष्यायनि ('अ' लोप) > वार्ष्यायणिः (णत्व तथा विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—यद्यपि 'न्य' एवं 'ण्य' प्रत्ययान्त—प्रकृतिक 'कौसल्य' तथा 'कार्मार्य' शब्दों से 'फिञ्' प्रत्यय करने पर इष्ट रूप तो निष्पन्न हो जाता है, किन्तु ऐसी स्थिति में प्रथम 'न्य' एवं 'ण्य' प्रत्यय अपत्यार्थ में होने के बाद युवार्थ में ही पुनः प्रत्यय हो सकेंगे, न कि अपत्यार्थ में । अतः प्रत्यय की निष्पत्ति 'परम प्रकृति' से की जाय तो 'कोसल' तथा 'कर्मार' शब्दों से 'फिञ्' प्रत्यय एवं 'युट्' आगम होंगे ।

(११८०) पद—अणः, द्व्यचः ।। **अनुवृत्ति**—फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपत्यार्थ में फिञ् हो । 'इञ्' का अपवाद है । उदा० कार्त्रायणिः । 'अणः' क्यों कहा ? दाक्षायणः । ('फिञ्' नहीं हुआ) । 'द्व्यचः' क्यों कहा ? औपगविः ('फिञ्' नहीं हुआ) । वा० त्यदादि शब्दों से विकल्प से हो । उदा० त्यादायनिः—इत्यादि ।

विवरण—'फिञ्' का ही प्रसङ्ग है । अतः "तिकादिभ्यः फिञ्" (४-१-१५४) से 'फिञ्' की अनुवृत्ति यहाँ भी आ रही है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व प्रभावी हैं । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "दो स्वरवर्णयुक्त प्रातिपदिकों से (द्वौ अचौ यस्मिन् सः द्व्यचः, तस्मात्) अपत्यार्थ में 'फिञ्' प्रत्यय होता है । **उदाहरण** (१)—**कार्त्रायणिः** (कार्त्र का पुत्र) । **विग्रह**—कार्त्रस्य अपत्यम् । कार्त्र्+फिञ् = आयनि (कर्तुः छात्रः—इस विग्रह में कर्तृ+अण्→"तस्येदम्" ४-३-१२०←कार्त्रः) > कार्त्रायनि ('अ'लोप) > कार्त्रायणिः (णत्व तथा विभक्तिकार्य) । (२) **हार्त्रायणिः** (हार्त्र का पुत्र) । **विग्रह**—हार्त्रस्य अपत्यम् । हार्त्र् (= हर्तृ+अण्)+फिञ् > हार्त्रायणिः । प्रक्रिया पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अणः' पद का निवेश होने से **दाक्षायणः** (दक्ष का वंशज) में 'फिञ्' नहीं हुआ, किन्तु दाक्षि शब्द 'इञ्' प्रत्ययान्त होने के कारण "यञिञोश्च" से 'फक्' प्रत्यय हुआ । (२) इसी प्रकार सूत्र में 'द्व्यचः' पद के निवेश का यह फल है कि **औपगविः** (औपगव का पुत्र) में अणन्त औपगव (उपगु+अण्) होने पर भी चार अचों से युक्त होने के कारण 'फिञ्' नहीं हुआ, किन्तु तदनन्तर 'इञ्' प्रत्यय हुआ ।

५०५०)। त्यादायनिः-त्यादः]। (११८१) उदीचां वृद्धादगोत्रात् ४। १। १५७॥ आम्रगुप्तायनिः। प्राचां तु आम्रगुप्तिः। वृद्धात् किम्? दाक्षिः। अगोत्रात् किम्? औपगविः। (११८२) वाकिनादीनां कुक् च ४। १। १५८॥ अपत्ये फिञ् वा। वाकिनस्यापत्यं वाकिनकायनिः—वाकिनिः। (११८३) पुत्रान्तादन्यतरस्याम्

(११८१) उदीचां वृद्धादगोत्रात्। वृद्धसञ्ज्ञकात् अगोत्रप्रत्ययान्तात्फिञ् स्यात् उदीचां मते इत्यर्थः। आम्रगुप्तायनिरिति। आम्रगुप्तस्यापत्यमिति विग्रहः। प्राचां त्विति। मते इति शेषः। आम्रगुप्तिः। अत इञ्। औपगविरिति। उपगोर्गोत्रापत्यम् औपगवः, तस्यापत्यं युवा औपगविः। औपगवस्य गोत्रत्वात्ततो यूनि फिञभावे इञेवेति भावः।

(११८२) वाकिनादीनाम्। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—अपत्ये फिञ्वेति। चकारादुदीचामिति फिञिति चानुवर्तते इति भावः। तथा च वाकिनादिभ्यः फिञ् वा स्यात्, प्रकृतीनां कुगागमश्चेति फलितम्।

वार्तिक—"त्यदादि-गण पठित शब्दों से अपत्यार्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय हो।" **उदाहरण**—त्यादायनिः (उसका पुत्र) → फिञ् होने पर (त्यद्+फिञ्=आयनि)। त्यादः ←पक्ष में 'अण्' होने पर (त्यद्+अण्)। **विग्रह**—त्यस्य अपत्यम्।

(११८१) पद—उदीचां, वृद्धाद्, अगोत्राद्। **अनुवृत्ति**—फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० आम्रगुप्तायनिः। प्राच्य विद्वानों के मत में—आम्रगुप्तिः। 'वृद्धात्' क्यों कहा? दाक्षिः ('फिञ्' नहीं हुआ)। 'अगोत्रात्' क्यों कहा? औपगविः ('फिञ्' नहीं हुआ)।

विवरण—"'गोत्र' प्रत्ययान्त से भिन्न वृद्ध-संज्ञक प्रातिपदिक से उदीच्य आचार्यों के मत में अपत्यार्थ में 'फिञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—आम्रगुप्तायनिः (आम्रगुप्त का पुत्र)→फिञ् होने पर (आम्रगुप्त+फिञ्=आयनि)। आम्रगुप्तिः←पक्ष में 'इञ्' (आम्रगुप्त+इञ्)। 'आम्रगुप्त' शब्द में आदि वर्ण 'आ' होने के कारण वृद्ध-संज्ञक है ("वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्" १-१-७२)।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'वृद्धात्' पद का निवेश होने के कारण दाक्षिः (दक्ष का पुत्र) में 'फिञ्' नहीं हुआ, क्योंकि 'दक्ष' शब्द में 'आ' न होने के कारण 'वृद्ध' संज्ञा नहीं हुई है। अतः 'इञ्' प्रत्यय हुआ (दक्ष+इञ्)। (२) इसी प्रकार सूत्र में 'अगोत्राद्' पद का निवेश होने के फलस्वरूप औपगविः (उपगु का गोत्रापत्य अर्थात् 'औपगव' का पुत्र) में भी 'फिञ्' नहीं हुआ, क्योंकि औपगव शब्द यद्यपि वृद्धसंज्ञक वर्ण से युक्त है किन्तु वह गोत्रप्रत्ययान्त है, अतः वहाँ 'इञ्' प्रत्यय युवार्थ में होगा (औपगव+इञ्)।

(११८२) पद—वाकिनकादीनाम्, कुक्, च। **अनुवृत्ति**—उदीचां वृद्धादगोत्राद्, फिञ्, तस्यापत्यम्, ङ्याप्प्रातिपदिकाद्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अपत्यार्थ में विकल्प से 'फिञ्' हो। उदा० वाकिनस्य अपत्यम्—वाकिनकायनिः—वाकिनिः।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति में समग्र पूर्व सूत्र ("उदीचां वृद्धादगोत्राद्" ४-१-१५७) की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "गोत्रप्रत्ययान्त-भिन्न वृद्धसंज्ञक 'वाकिन' आदि शब्दों से उदीच्य आचार्यों के मत में 'फिञ्' प्रत्यय तथा 'कुक्' का आगम होता है"।

४।१।१५९॥ अस्माद्वा फिञ् सिद्धः, तस्मिन्परे पुत्रान्तस्य वा कुग्विधीयते। गार्गीपुत्रिकायणिः—गार्गीपुत्रायणिः—गार्गीपुत्रिः। (११८४) प्राचामवृद्धात्फिन्बहुलम् ४।१।

(११८३) पुत्रान्तादन्यतरस्याम्। स्पष्टम्।

(११८४) प्राचामवृद्धात्। अवृद्धसंज्ञकात् अपत्ये बहुलं फिन् स्यादित्यर्थः। प्राचांग्रहणं पूजार्थम्। ग्लुचुकायनिरिति। ग्लुचुकस्यापत्यमिति विग्रहः। अवृद्धात्किम्? राजदन्तिः। बहुलग्रहणान्नेह—दाक्षिः।

उदाहरण—वाकिनकायनिः (वाकिनक का पुत्र)→ फिञ् तथा 'कुक्' (='क्') आगम होने पर (वाकिन-क्+फिञ् = आयनि)। इतर आचार्यों के मत में—वाकिनिः ←'इञ्' प्रत्यय (वाकिन +इञ्) रूप निष्पन्न होगा।

(११८३) पद—पुत्रान्ताद्, अन्यतरस्याम्। अनुवृत्ति—कुक्, उदीचां वृद्धादगोत्रात्, फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इस से पाक्षिक फिञ् तो सिद्ध है ही, किन्तु 'फिञ्' परे रहते पुत्रान्त शब्द को पाक्षिक 'कुक्' आगम का विधान किया जा रहा है। उदा० गार्गीपुत्रकायणिः।

विवरण—पूर्व सूत्र (११८२) में 'फिञ्' प्रत्यय का पाक्षिक विधान है। इस सूत्र में 'फिञ्' परवर्ती होने पर 'कुक्' आगम का भी वैकल्पिक (अन्यतरस्याम्) विधान किया जा रहा है। अतः "वाकिनादीनां कुक् च" (४-१-१५८) से 'कुक्' पद की प्रमुख अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सब के साथ एक-वाक्यता करने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "गोत्रप्रत्ययान्त-भिन्न वृद्धसंज्ञक 'पुत्र'-शब्दान्त प्रातिपदिक से 'फिञ्' प्रत्यय परवर्ती होने पर विकल्प से 'कुक्' (= 'क्') आगम हो"। 'क्' इत होने के कारण उसकी स्थिति आयनि (फिञ्) के पूर्व रहेगी। इस प्रकार यहाँ तीन रूप बनेंगे। उदाहरण—(१) गार्गीपुत्रकायणिः (गार्गीपुत्र का पुत्र)। विग्रह—गार्गीपुत्रस्य अपत्यम्। गार्गीपुत्र—क्+फिञ् = आयनि→'फिञ्' तथा 'कुक्' आगम होने पर। (२) गार्गीपुत्रायणिः→ केवल 'फिञ्' प्रत्यय होने पर (गार्गीपुत्र+फिञ् = आयनि)। (३) गार्गीपुत्रिः—'फिञ्' तथा 'कुक्'→दोनों के न होने पर←इञ् प्रत्यय। इस पक्ष में 'कुक्' आगम भी नहीं होगा, क्योंकि 'कुक्' आगम का विधान 'फिञ्' प्रत्यय के सन्निधान में ही है।

(११८४) पद—प्राचाम्, अवृद्धात्, फिन्, बहुलम्। अनुवृत्ति—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० ग्लुचुकायनिः।

विवरण—प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। उनके साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता करने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'वृद्ध-संज्ञक'से भिन्न अन्य किसी प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में प्राचीनों के मत में विकल्प से 'फिन्' प्रत्यय होता है"। 'बहुल' पद का प्रयोग करने से पक्ष में 'फिन्' प्रत्यय न होने पर "अत इञ्" (४-१-९५) से 'इञ्' प्रत्यय भी होगा। उदाहरण—ग्लुचुकायनिः (ग्लुचुक का पुत्र)। विग्रह—ग्लुचुकस्य अपत्यं पुमान्। ग्लुचुक+ फि (फिन्) > ग्लुचुक+आयनि (फि = आयनि) ⊳ ग्लुचुकायनिः ('अ' लोप तथा विभक्तिकार्य)। पक्ष में 'इञ्' प्रत्यय होने पर ग्लौचुकिः उदाहरण भी जाना जाय।

विशेष—प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'प्राचाम्' तथा 'बहुलम्' इन दोनों पदों के निवेश किये जाने के सम्बन्ध में भाष्यकार ने कोई विचार नहीं किया है। वृत्तिकारों में काशिकाकार ने इस सम्बन्ध में यह विदित कराया है कि 'प्रकृत सूत्र में इन दोनों पदों की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि 'प्राचाम्' 'बहुलम्' आदि पद विकल्पार्थ के सूचक हैं और विकल्पार्थ का लाभ पूर्व सूत्रस्थ

१६० ॥ ग्लुचुकायनिः । (११८५) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ४ । १ । १६१ ॥

(११८५) मनोर्जातौ । मनुशब्दात् अञ् यत् एतौ प्रत्ययौ स्तः, तयोः परयोः मनुशब्दस्य षुगागमश्च प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन जातौ गम्यायामित्यर्थः । तदाह—समुदायार्थो जातिरिति । नात्रापत्यग्रहणं सम्बध्यत इति भावः । अन्यथा मानुषा इत्यत्र 'यञञोश्च' इति लुक् स्यादिति बोध्यम् ।

(११२३) 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति करने से ही हो सकता था । अतः 'प्राचाम्' पद सम्मानार्थक माना जाय । 'बहुलम्' पद अनेकार्थक होने से विकल्प की प्रवृत्ति कहीं न होने में बाधक नहीं हो सकता । तदनुसार 'दाक्षिः' में 'फिन्' न होकर 'इञ्' ही होता है[1] ।

(११८५) पद—मनोः, जातौ, अञ्यतौ, षुक्, च । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'जाति' पद समुदाय अर्थ का बोधक है । उदा० मानुषः–मनुष्यः ।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । 'जाति' अर्थात् 'समुदाय' को उपलक्षित कर विशेष परिस्थिति-वश अपत्याधिकार में इस सूत्र का सन्निवेश किया जा रहा है । अतः "तस्यापत्यम्" की अनुवृत्ति का प्रभाव नहीं पड़ता । मानव-समुदाय इतना व्यापक है कि वह केवल अपत्यार्थ तक सीमित नहीं रह सकता था । आदि-पुरुष 'मनु' के नाम की सार्थकता मनुष्य-जाति का बोध कराने में ही है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ है कि "'मनु' शब्द से जाति अर्थात् समुदाय-विशेष का कथन होने पर 'अञ्' तथा 'यत्' प्रत्यय होते हैं तथा 'मनु' शब्द को 'षुक्' (= ष्) आगम भी हो" । अर्थात् यहाँ पर प्रकृति-वाचक शब्द (= 'मनु') तथा जायमान प्रत्यय (= 'अञ्' तथा 'यत्')—ये दोनों मनुष्य जाति के बोधक हैं । इस अर्थ-विशेष के कारण 'मानुष' शब्द से बहुवचन में "यञञोश्च" (२-४-६४) से 'अञ्' प्रत्यय का लोप नहीं होता ।

उदाहरण—(१) मानुषः (मानव-समुदाय) । **विग्रह**—मनोः अपत्यम् (जातिः) । **प्रक्रिया**—मनु–ष्+अ (अञ्) > मानुषः (आदिवृद्धि—"तद्धितेष्वचामादेः" ७-२-११७ तथा विभक्ति-कार्य) । (२) मनुष्यः । **प्रक्रिया**—मनु–ष्+य (यत्) > मनुष्यः (विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—निरुक्त-कार (यास्क) के कथन पर यदि विचार किया जाय तो अपत्यार्थ का परित्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं है । निरुक्त में 'मनुष्य' के २५ नामों की सूची दी गई है । उस सन्दर्भ में 'मनुष्य' शब्द की सिद्धि के प्रसङ्ग में यह कहा गया है कि वे समझ कर (√मन्) कार्यों से सम्बन्ध करते हैं (√षिव्) । बुद्धिमान् के द्वारा वे बनाये गये हैं । 'मनस्यति' का प्रयोग बुद्धिमान् होने के अर्थ में ही होता है । 'मनु' का या 'मनुस्' का पुत्र (मानव या मनुष्य जाना जाय)" ।[2]

अतः जैसे अन्यत्र कुत्सादि विशिष्ट अर्थ गम्यमान होने पर अपत्यार्थ में प्रत्ययों का विधान किया गया है । वैसे यहाँ भी जातिविशिष्ट अर्थ गम्यमान होने पर 'मनु' शब्द से अपत्यार्थ में ही उक्त दोनों प्रत्ययों का विधान करने पर 'अपत्यार्थ' का परित्याग करने की कल्पना नहीं

---

१. "उदीचाम्, प्राचाम्, अन्यतरस्याम्, बहुलमिति सर्वे एते विकल्पार्थाः, तेषाम् एकेनैव सिध्यति ? तत्राचार्यग्रहणं पूजार्थम् । बहुलग्रहणं वैचित्र्यार्थम् । क्वचिन्न भवत्येव—दाक्षिः, प्लाक्षिरिति" ।—काशिका ।

२. "मनुष्यनामानि उत्तराणि पञ्चविंशतिः (निघण्टुः–२।३) । मनुष्याः कस्मात् ? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति । मनस्यमानेन सृष्टाः । मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे । मनोः अपत्यं मनुषो वा ।"
—निरुक्तम् ३।२ ।

समुदायार्थो जातिः। मानुषः—मनुष्यः। (११८६) **जनपदशब्दात्क्षत्त्रियादञ् ४। १। १६६॥** जनपदक्षत्त्रिययोर्वाचकादञ् स्यादपत्ये। 'दाण्डिनायन' (सू ११४५) इति सूत्रे निपातनाट्टिलोपः। ऐक्ष्वाकः। ऐक्ष्वाकौ। '**क्षत्त्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्**' (वा २६६१)। तद्राजमाचक्षाणस्तद्राज इत्यन्वर्थसञ्ज्ञासामर्थ्यात्। पञ्चालानां

(११८६) जनपदशब्दात्। जनपदो देशः, तद्वाचकशब्दो जनपदशब्दः, तथाभूतो यः क्षत्त्रियवाचकशब्दः, तस्मादित्यर्थः। फलितमाह—जनपदक्षत्त्रिययोरिति। ऐक्ष्वाक इति। इक्ष्वाकुर्नाम देशः, राजा च। तस्य राज्ञोऽपत्यमिति विग्रहे अञ्, अणोऽपवादः। स्वरे विशेषः। ओर्गुणं बाधित्वा 'दाण्डिनायन' इति सूत्रे निपातनादुकारस्य टेर्लोपः। ऐक्ष्वाकाविति। बहुवचने तु लुग्वक्ष्यत इति भावः। क्षत्त्रियसमानेति। क्षत्त्रियवाचकशब्देन समानशब्दो जनपदवाचकः, तस्मात् षष्ठ्यन्तात् राजन्यर्थे अपत्यवत्प्रत्यया भवन्तीत्यर्थः। वार्तिकमेतत्सूत्रसिद्धार्थकथनपरमित्याह—तद्राजमिति। 'जनपदशब्दादित्यादि विहितानाम-

---

करनी पड़ेगी। अन्यथा 'अपत्यप्रकरण' में सूत्र का पाठ भी निष्प्रयोजन कहा जायेगा। इस प्रकार दोनों में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है।

(११८६) **पद**—जनपदशब्दात्, क्षत्त्रियात्, अञ्। **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जनपद-वाचक शब्द क्षत्त्रियार्थ का अभिधायक हो तो अपत्यार्थ में 'अञ्' प्रत्यय हो। 'दाण्डिनायन' (सू० ११४५) सूत्रानुसार निपातन-वश 'टि'-लोप हुआ। उदा० ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकौ। वा० क्षत्त्रिय-जातिवाचक के तुल्य जनपद-वाचक शब्द से राजा अर्थ में अपत्यार्थ के समान (प्रत्यय होते हैं)। सार्थक 'तद्राज' संज्ञा के सामर्थ्य से उक्त वार्तिक का अर्थ निष्पन्न हुआ है। उदा० पञ्चालानां राजा—पाञ्चालः। वा० 'पूरु' से 'अण्' प्रत्यय कहा जाय। उदा० पौरवः। वा० 'पाण्डु' से 'ड्यण्' हो। उदा० पाण्डयः।

विवरण—प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। सूत्रस्थ पदों के साथ एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "यदि जनपदवाची शब्द क्षत्त्रियवाची भी हो तो उससे अपत्य अर्थ में 'अञ्' (= अ) प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—ऐक्ष्वाकः (इक्ष्वाकु का पुत्र)। **विग्रह**—इक्ष्वाकोः राज्ञः अपत्यम्। इक्ष्वाकु+अ (अञ्) ▷ ऐक्ष्वाकु+अ (आदिवृद्धि) ▷ ऐक्ष्वाकः 'उ' को प्राप्त—गुण का बाध कर ("दाण्डिनायन" ११४५ सूत्र से) निपातन-वश 'उ'=टि—का लोप, विभक्तिकार्य)। प्रथमा-द्विवचन में **ऐक्ष्वाकौ**। बहुवचन में तद्राज-संज्ञा को अभिलक्षित कर प्रत्यय का लोप होगा—इक्ष्वाकवः।

प्रकरणोपयोगी **वार्तिक**—प्रस्तुत किये जा रहे हैं। तदनुसार—(१) "यदि क्षत्त्रिय-वाचक शब्द के समान ही जनपद-वाचक शब्द हो तो उससे राजा अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण के लिये जनपदवाची 'पञ्चाल' शब्द क्षत्त्रिय-वाची भी है, अतः 'अपत्य' के समान राजा अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होकर (पञ्चाल्+अञ्) **पाञ्चालः** रूप बनेगा (आदिवृद्धि, 'अ'—लोप तथा विभक्ति-कार्य)। **अर्थ**—'पञ्चाल' क्षत्रियों का या जनपद का राजा। **विग्रह**—पञ्चालानां राजा। **वार्तिक**—(२) अर्थ—"'पूरु' शब्द से राजा अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**पौरवः** ('पूरु' क्षत्रियों का राजा)। **विग्रह**—पूरूणां राजा। पूरु+अ (अण्) ▷ पूरो+अ (उ= ओ—गुण) > पौरवः (ओ = अव्, प्रथमा-विभक्ति)। 'पूरु' शब्द जनपद-वाची नहीं है अतः प्राग्दीव्यतीय 'अण्' प्रत्यय सिद्ध रहने पर भी तद्राज-संज्ञा होने के लिये इस वार्तिक की पृथक् चरितार्थता है। **वार्तिक**—(३) **अर्थ**—"'पाण्डु' शब्द से अपत्य और राजा अर्थ में 'ड्यण्'

राजा पाञ्चालः। 'पूरोरण्वक्तव्यः' (वा २६७०)। पौरवः। 'पाण्डोर्ड्यण्' (वा २६७९)। पाण्ड्यः। (११८७) साल्वेय-गान्धारिभ्यां च ४। १। १६७॥ आभ्यामपत्येऽञ्। 'वृद्धेत्-' (सू० ११८९) इति ञ्यङोऽपवादः। साल्वेयः। गान्धारः। तस्य राजन्यप्येवम्।

ञादीनां तद्राजसंज्ञा विहिता 'ते तद्राजाः' इति। प्रत्ययानां तद्राजत्वं तद्वाचकत्वाद् गौणम्। एवं च तद्राजवाचकास्तद्राजाः इत्यन्वर्थसंज्ञैषा, न तु टिघुभादिवदवयवार्थ-रहिता तथा च अञादिप्रत्ययानां तद्राजसंज्ञकानां राजवाचकत्वमपि विज्ञायत इति राजन्यपि वाच्ये ते भवन्तीति विज्ञायत इत्यर्थः। पञ्चालानामिति। बहुवचनान्तमिदं देश-विशेषनाम, भाष्ये तथैव प्रयोगदर्शनात्। 'द्व्यञ्मगध' इत्यत्र भाष्ये 'देशो नाम जनपदः' इति दर्शनात् देशवाचिनोऽप्येकवचनमिति ज्ञेयम्। जनपदशब्दादिति किम्? द्रुह्योरपत्यं द्रौह्यवः। अणेव। तद्राजत्वाभावाद् बहुत्वे न लुक्— द्रौह्यवाः। क्षत्रियादिति किम्? पञ्चालो नाम कश्चिद् ब्राह्मणः। तस्यापत्यं पाञ्चालिः। वैदेहिः। पूरोरणिति। पूरुशब्दस्य जनपदवाचित्वाभावात्प्राग्दीव्यतीये अणि सिद्धे तद्राजसंज्ञार्थं वचनम्। देशवाचित्वे तु 'द्व्यञ्मगध' इत्येव सिद्धम्। पाण्डोर्ड्यणिति। वाच्य इति शेषः। इह श्वेतगुणवाचिनो युधिष्ठिरपितृवाचिनश्च पाण्डोर्न ग्रहणम्, जनपदादित्युक्तेः। तस्य च पाण्डुदेशाधिपति-राजत्वाभावात्। पाण्ड्य इति। पाण्डोरपत्यं पाण्डुदेशस्य राजा वेत्यर्थः।

(११८७) साल्वेय। ननु साल्वेयगान्धारिशब्दौ अव्युत्पन्नौ देशक्षत्रियोभय-

---

(य) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—पाण्ड्यः (पाण्डु की सन्तान अथवा 'पाण्डु' क्षत्रियों का राजा)। विग्रह—पाण्डोः अपत्यम् अथवा पाण्डूनां राजा। पाण्डु+य (ड्यण्) > पाण्डय (आदिवृद्धि तथा 'उ'-का लोप—'डित्व-सामर्थ्याद् अभस्याऽपि टेर्लोपः' नियम के अनुसार)।

विशेष—(१) उपर्युक्त प्रथम वार्तिक का मूल आधार "ते तद्राजाः" (४-१-१७४) सूत्रस्थ 'तद्राज' संज्ञा का अन्वर्थ होना है। 'तद्राज' संज्ञा 'टि' 'घु' 'भ' आदि के समान 'कृत्रिम संज्ञा' नहीं है जो कि वर्ण-विशेष को सूचित करती हो। उसके सार्थक (व्युत्पत्ति के अनुसार) संज्ञा (तद्राजम् आचक्षणाः) होने के कारण 'तद्राज' के अभिधायी 'अञ्' आदि प्रत्यय गौण समझे जाते हैं। अतः तद्राज-संज्ञक अञादि-प्रत्ययों को राजबोधक माना गया है। इस तरह राजा को अभिलक्षित कर भी उन प्रत्ययों का विधान सार्थक है।

(२) 'ऐक्ष्वाकः' शब्द की सिद्धि अपत्यार्थक 'अण्' प्रत्यय करने पर भी हो सकती थी, किन्तु स्वर में भिन्नता (आद्युदात्त) अपेक्षित होने के कारण 'अञ्' प्रत्यय की चरितार्थता है।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'जनपद' शब्द का निवेश होने के कारण 'द्रुह्यु का पुत्र' अर्थ अभीष्ट होने पर 'अण्' प्रत्यय ही होगा तथा 'द्रौह्यवः' रूप निष्पन्न होगा। वहाँ पर तद्राज-संज्ञा न होने के कारण बहुवचन में 'विभक्ति' का लोप नहीं होगा, अतः 'द्रौह्यवाः' रूप निष्पन्न होगा। इसी प्रकार (२) 'क्षत्रिय' पद का निवेश होने के कारण किसी व्यक्तिविशेष का नाम 'पञ्चाल' 'विदेह' आदि होने पर अपत्यार्थ में 'इञ्' प्रत्यय ही होगा तथा 'पाञ्चालिः' 'वैदेहिः' आदि रूप बनेंगे। तदनुसार (३) वार्तिक में भी 'पाण्डु' (व्यक्ति-विशेष) के पुत्र की विवक्षा में 'अण्' प्रत्यय होने पर 'पाण्डवः' रूप बनेगा।

(११८७) पद—साल्वेय-गान्धारिभ्यां, च। **अनुवृत्ति**—जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन से अपत्यार्थ में 'अञ्' हो। यह 'वृद्धेत्०' (११८९) से प्राप्त 'ञ्यङ्' का निषेधक है। उदा० १—साल्वेयः। २—गान्धारः। राजन्य अर्थ में भी इसी प्रकार (समझें)।

(११८८) द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ४ । १ । १६८ ॥ अञोऽपवादः । द्व्यच्-आङ्गः, वाङ्गः, सौह्मः । मागधः । कालिङ्गः । सौरमसः । तस्य राजन्यप्येवम् ।

वाचिनौ, ताभ्याम् जनपदशब्दादिति सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—वृद्धेदिति ञ्यङोऽपवाद इति ।

(११८८) द्व्यञ्मगध । अञोऽपवाद इति । जनपदशब्दादिति विहितस्याञोऽपवाद इत्यर्थः । द्व्यजिति । उदाह्रियते इति शेषः ।अङ्ग, वङ्ग, सुह्म इत्येते द्व्यचः देशक्षत्त्रियवाचिनः । अङ्गस्यापत्यमिति विग्रहः । तस्य राजन्यप्येवमिति । अङ्गादिदेशस्य राजेति विग्रहः ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही प्रकरण है । अतः उस समग्र सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ भी यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "जनपदवाची क्षत्रियाभिधायी 'साल्वेय' तथा 'गान्धारि' शब्दों से भी (च) अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है" । इन दोनों शब्दों से तो पूर्व सूत्र (११८६) से ही 'अञ्' प्रत्यय प्राप्त था, किन्तु उसके अपवाद-स्वरूप "वृद्धेत्-कोसलाजादाञ्ञ्यङ" (४-१-१६९) से प्राप्त 'ञ्यङ' का निषेधक होने में इस सूत्र का औचित्य है । **उदाहरण**—(१) **साल्वेयः** (साल्वेय का राजा अथवा क्षत्रिय की सन्तान) । **विग्रह**—साल्वेयानाम् राजा अपत्यम् वा । साल्वेय्+अञ् । (२) **गान्धारः** (गान्धारि की सन्तान) । **विग्रह**—गान्धारीणाम् अपत्यम् । गान्धारि+अञ् ।

विशेष—'राजा' अर्थ वाच्य होने पर भी अपत्यार्थ के समान ही 'अञ्' प्रत्यय होगा ।

(११८८) पद—द्व्यज्-मगध-कलिङ्ग-सूरमसात्, अण् । **अनुवृत्ति**—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अञ्' का अपवाद है । द्व्यच् के उदा०—१—(क) आङ्गः, (ख) वाङ्गः, (ग) सौह्मः । २—मागधः । ३—कालिङ्गः । ४—सौरमसः । इसी प्रकार 'राजा' अर्थ में भी (जानें) ।

विवरण—सभी अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "क्षत्रियाभिधायी जनपद-वाची 'दो स्वर-वर्ण वाले' शब्दों से तथा 'मगध', 'कलिङ्ग' एवं 'सूरमस' प्रातिपदिकों से 'अपत्य' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) दो स्वरवर्णवाले शब्द—(क) **आङ्गः** (अङ्ग देश का राजा अथवा अङ्ग देश के क्षत्रिय का पुत्र) । **विग्रह**—अङ्गानां राजा अपत्यं वा । अङ्ग्+अण् । (ख) **वाङ्गः** (वङ्ग देश का राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । **विग्रह**—वङ्गानां राजा अपत्यं वा) । वङ्ग्+अण् । (ग) **सौह्मः** (सुह्म देश का राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । **विग्रह**—सुह्मानां राजा अपत्यं वा । सुह्म्+अण् । (२) **मागधः** (मगध देश का राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । **विग्रह**—मगधानां राजा अपत्यं वा । मगध्+अण् । (३) **कलिङ्गः** (कलिङ्ग देश का राजा अथवा पुत्र) । **विग्रह**—कलिङ्गानां राजा अपत्यं वा । कलिङ्ग्+अण् । (४) **सौरमसः** (सूरमस देश[1] का राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । **विग्रह**—सूरमसानां राजा अपत्यं वा । सूरमस्+अण् । आदिवृद्धि, अवर्णलोपादि प्रक्रिया पूर्ववत् ।

विशेष—'अङ्ग', 'वङ्ग' आदि प्रातिपदिकों से "जनपदशब्दात्०" (४-१-१६६) से 'अञ्' प्राप्त था, 'अण्'-विधान स्वर-भेद के कारण किया गया है ।

---

१. यह नाम केवल 'अष्टाध्यायी' में आया है । ज्ञात होता है कि असम प्रान्त में प्रसिद्ध 'सुरमा' नदी की दून और पर्वत-उपत्यका का प्राचीन नाम सूरमस था । द्रष्टव्य : 'पाणिनि-कालीन भारतवर्ष'—पृ० ७४ ।

(११८९) वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् ४ । १ । १७१ ॥ वृद्धात्—आम्बष्ठ्यः, सौवीर्यः । इत्—आवन्त्यः, कौन्त्यः । कौसल्यः । अजादस्यापत्यमाजाद्यः । (११९०) कुरुना-

---

(११८९) वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् । जनपदक्षत्त्रियोभयवाचकाद् वृद्धसंज्ञकात् इदन्तात् कोसलात् अजादाञ्चापत्ये ञ्यङित्यर्थः । वृद्धादिति । उदाह्रियते इत्यर्थः । आम्बष्ठ्यः सौवीर्य इति । आम्बष्ठसौवीरशब्दौ जनपदक्षत्त्रियोभयवाचकौ । इदिति । इदन्तोदाहरणसूचनमिदम् । आवन्त्य इति । अवन्तिशब्दो देशे राजनि च । कौसल्य इति । कोसलशब्दो देशे राजनि च । अजादस्यापत्यमिति । राजवाचकत्वे विग्रहोऽयम् । देशवाचकत्वे तु अजादानां राजेति विग्रहः ।

(११८९) पद—वृद्धेत्कोसलाजादात्, ञ्यङ् । अनुवृत्ति—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'वृद्ध'-संज्ञक से—उदा०—१-(क) आम्बष्ठ्यः । (ख) सौवीर्यः । २—इकारान्त से—आवन्त्यः । ३—कौसल्यः । ४—अजादस्य अपत्यम्—आजाद्यः ।

विवरण—सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "'क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची वृद्धसंज्ञक', 'इकारान्त', 'कोसल' एवम् 'अजाद' प्रातिपदिकों से (वृद्धश्च-इत्-च कोसलश्च-अजादिश्च-वृद्धेत्कोसलाजादम् , तस्मात्) अपत्य अर्थ में 'ञ्यङ्' प्रत्यय होता है" । 'ञ्यङ्' में 'ञ्' तथा 'ङ्' 'इत्' हैं । केवल 'य' अवशेष रहेगा । यह सूत्र भी "जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्" (४-१-१६६) का अपवाद है । **उदाहरण**— (१)—वृद्धसंज्ञक—(क) **आम्बष्ठ्यः**[1] (आम्बष्ठ देश के राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । **विग्रह**—आम्बष्ठानाम् राजा अपत्यं च) । आम्बष्ठ्+य (ञ्यङ्) । (ख) **सौवीर्यः**[2] (सौवीर के राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । **विग्रह**—सौवीराणां राजा अपत्यं च । सौवीर्+य (ञ्यङ्) । (२) इकारान्त—(क) **आवन्त्यः**[3] (अवन्ति देश के राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । अवन्ति+य (ञ्यङ्)>आवन्त्यः । आदिवृद्धि तथा 'इ' का लोप पूर्ववत् । (ख) **कौन्त्यः** ('कुन्ति' देश के राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । **विग्रह**—कुन्तीनाम् राजा अपत्यं वा । कुन्ति+य (ञ्यङ्) । **आजाद्यः**[4] (अजाद के राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । अजाद्+य (ञ्यङ्) । आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—सूत्र में 'इत्'—तपरकरण का फल यह है कि जनपद-वाची क्षत्रियाभिधायी 'कुमारी' शब्द से अपत्यार्थ में **कौमारः** (अण्) रूप बनेगा, न कि कौमार्यः ।

---

१. पाणिनि ने "अम्बाम्ब-गो-भूमि०" (८-३-९७) सूत्र में 'अम्बष्ठ' (अम्बा+स्थ) तथा 'आम्बष्ठ' (आम्ब+स्थ)—इन दो नामों की अलग-अलग सिद्धि की है । यह जनपद राजाधीन था और इसके निवासी 'आम्बष्ठ्य' कहलाते थे । महाभारत के अनुसार 'आम्बष्ठ' कौरवों की ओर से लड़े थे । उनकी गिनती औदीच्यों में की गई है । ये 'चिनाव' नदी के निचले भाग में बसे हुए थे । यूनानी लेखकों ने इनका उल्लेख 'संबस्तइ' (Sambastai) नाम से किया है ।

—(पाणिनि-कालीन भारतवर्ष'—पृ० ६७) । 'अम्बष्ठ' शब्द जाति-विशेष का भी बोधक है ।

२. सौवीर' जनपद की स्थिति 'सिन्धु' नद के निचले काँठे पर थी । इसकी राजधानी 'रोरुव' थी, जिसका वर्तमान नाम 'रोड़ी' है । यहाँ पुराने शहर के भग्नावशेष हैं ।

३. 'अवन्ति'—मध्य भारत का प्रसिद्ध जनपद, जिसकी राजधानी उज्जयिनी रही है ।

४. 'कुन्ति' जनपद भी 'अवन्ति' जनपद का पड़ौसी था । उस राज्य से 'अश्व' नदी बहती थी, जो 'चम्बल' की शाखा 'कुमारी' नदी थी । सम्भवतः 'कुन्ति' राष्ट्र पुराना ग्वालियर राज्य रहा हो, जो कोतवार कहलाता रहा है ।

दिभ्यो ण्यः ४ । १ । १७२ ॥ कौरव्यः । नैषध्यः । 'स नैषधस्यार्थपतेः' इत्यादौ तु शैषिकोऽण् । (११९१) साल्वावयव-प्रत्यग्रथ-कलकूटाऽश्मकादिञ् ४ । १ । १७३ ॥ साल्वो जनपदस्तदवयवा उदुम्बरादयस्तेभ्यः प्रत्यग्रथादिभ्यस्त्रिभ्यश्च इञ् । अञोऽपवादः । औदुम्बरिः । प्रात्यग्रथिः । कालकूटिः । आश्मकिः । राजन्यप्येवम् । (११९२) ते

(११९०) कुरुनादिभ्यो ण्यः । कुरुशब्दात् नकारादिभ्यश्च जनपदक्षत्त्रियवाचकेभ्योऽपत्ये राजनि च ण्यः स्यादित्यर्थः । कौरव्य इति । कुरोरपत्यं कुरूणां राजेति वा विग्रहः । नैषध्य इति । निषधशब्दो देशे राजनि च । शैषिक इति । तस्येदमित्यनेनेति शेषः ।

(११९१) साल्वावयव । उदुम्बरादय इति ।

'उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगन्धराः । भूलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वावयवसंज्ञिताः' ॥

इति प्रसिद्धिः । 'द्व्यञ्मगध' इति भाष्ये तु बुध आजमीड अजकन्दा अपि गृहीताः ।

(११९०) पद—कुरु-नादिभ्यः, ण्यः । अनुवृत्ति—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १—कौरव्यः । २—नैषध्यः । 'स नैषधस्यार्थपतेः' इत्यादि में शैषिक 'अण्' प्रत्यय है ।

विवरण—"क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची 'कुरु' तथा 'न'कार से आरम्भ होनेवाले प्रातिपदिकों से 'अपत्य' अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय होता है" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **कौरव्यः** ('कुरु' देश का राजा या क्षत्रिय का पुत्र) । **विग्रह**—कुरूणाम् राजा अपत्यम् वा । कुरु+य (ण्य) >कुरो+य (उ = ओ—गुण—"ओर्गुणः" ६-४-१४६)>कौरो+य (आदिवृद्धि) >कौरव्यः (ओ = अव्—"वान्तो यि प्रत्यये" ६-१-७९) । (२) नकारादि शब्द—नैषध्यः (निषध का पुत्र) । **विग्रह**—निषधस्य अपत्यम् (राजा वा) । निषध्+य (ण्य) >नैषध्यः (आदिवृद्धि तथा 'अ' का लोप) । 'नैषधः' प्रयोग की सम्भावना के सम्बन्ध में "तस्येदम्" (४-३-१२०) से शैषिक 'अण्' प्रत्यय करने पर स **नैषधस्य** प्रयोग की समीचीनता बतलाई गई है ।

विशेष—'कुरु' शब्द दो 'अच्'-(स्वर)-वर्णों से युक्त होने के कारण "अणो द्व्यचः" (४-१-१५६) से प्राप्त 'अञ्' के अपवादस्वरूप 'अण्' प्रत्यय का भी बाधक यह सूत्र है ।

(११९१) पद—साल्वावयव-प्रत्यग्रथ-कालकूटा-ऽश्मकाद्, इञ् । अनुवृत्ति—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—"साल्व नामक जनपद के 'अवयवस्वरूप' (उदुम्बरादि) शब्द, 'प्रत्यग्रथ', 'कलकूट' तथा 'अश्मक' प्रातिपदिकों से 'इञ्' प्रत्यय हो" । 'अञ्' का अपवाद है । उदा० १—औदुम्बरिः । २—प्रात्यग्रथिः । ३—कालकूटिः । ४—आश्मकिः । 'राजा' अर्थ में भी ऐसे ही (रूप) हैं ।

विवरण—"क्षत्रियाभिधायी जनपद-वाची 'साल्व' के अवयव-वाची 'उदुम्बरादि' शब्द तथा 'प्रत्यग्रथ', 'कलकूट' एवम् 'अश्मक' प्रातिपदिकों से 'इञ्' प्रत्यय होता है" । 'साल्व' नाम विशेष क्षत्रियों का है । उनका जनपद भी 'साल्व' कहा जाता है[1] (सू० ११८७) । उस जनपद के जो

१. 'साल्व' जनपद की स्थिति के सम्बन्ध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (पृ०७०) में यह बतलाया है कि "'मत्स्य' और 'कुरु-जाङ्गल' को छोड़ कर वर्तमान **अलवर से उत्तरी बीकानेर** तक का फैला हुआ भूभाग ही प्राचीन **साल्व** ज्ञात होता है । सम्भवतः **अलवर** में उस नाम का कुछ अंश सुरक्षित रह गया हो ।" साल्वों की प्रमुख नगरी 'सौभ' का उल्लेख महाभारत में मिलता है :—विराट० २९-२ तथा उद्योग ४-२४ ।

तद्राजाः ४।१।१७४॥ अञादय एतत्सञ्ज्ञाः स्युः। (११९३) **तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २।४।६२॥** बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक्स्यात्तदर्थकृतबहुत्वे, न तु

(११९२) **ते तद्राजाः।** ते इत्यनेन जनपदशब्दादित्याद्यारभ्य विहिता अञादयः परामृश्यन्ते। तदाह—अञादय इति।

(११९३) **तद्राजस्य।** 'ण्यक्षत्त्रियार्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते। तेनेत्यनन्तरं कृते बहुत्वे इत्यध्याहार्यः। तदाह—बहुष्विति। तदर्थकृतबहुत्वे इति। अञादिप्रत्ययान्त-

---

भिन्न-भिन्न खण्ड हैं, वे भी 'साल्व' के बोधक होंगे। 'काशिका' में उद्धृत एक श्लोक के अनुसार 'साल्व' जनपद के अवयव—**उदुम्बर** (गुरुदासपुर के आसपास), **तिलखल**, (होशियारपुर का भूभाग), **मद्रकर** (बीकानेर के उत्तर-पूर्वी कोने में स्थित 'भद्र' नामक स्थान), **युगन्धर** (अम्बाला जिले में सरस्वती से यमुना तक फैला हुआ भूभाग), **भूलिङ्ग** (आरावली के उत्तरपश्चिम में) तथा **शारदण्ड**—(कुरुक्षेत्र के आसपास)—ये ६ माने गए हैं। इन के अतिरिक्त महाभाष्य में **बुध, अजमीढ** तथा **अजकन्द**—इन तीनों को भी 'साल्व' जनपद के खण्डों में सम्मिलित किया गया है[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि 'साल्वों' ने अपना 'गण' बना लिया था और उनका विस्तार दूर-दूर तक हो गया था। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **औदुम्बरिः** (उदुम्बर देश का राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र)। विग्रह—उदुम्बराणां राजा अपत्यं वा। उदुम्बर्+इ (इञ्) ▷ औदुम्बरिः ('अ' का लोप तथा आदिवृद्धि एवं विभक्ति-कार्य)। (२) **प्रात्यग्रथिः** (प्रत्यग्रथ[2] का राजा अथवा पुत्र)। (३) **कालकूटिः** (कलकूट[3] का राजा अथवा पुत्र)। (४) **आश्मकिः** (अश्मक[4] जनपद का राजा अथवा उसका पुत्र)। विग्रहादि कार्य पूर्ववत्। उदुम्बरादि अन्य शब्दों में भी 'इञ्' होकर—**तैलखलिः, माद्रकरिः, यौगन्धरिः, भौलिङ्गिः, शारदण्डिः, बौधिः** तथा **आजमीढिः** रूप निष्पन्न होंगे।

(११९२) पद—ते, तद्राजाः। **अनुवृत्ति**—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, प्रत्ययः। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'अञ्' आदि की यह (तद्राज) संज्ञा होती है।

विवरण—यह संज्ञासूत्र है। 'संज्ञि'-वाचक 'ते'—सर्वनाम पूर्वनिर्दिष्ट प्रत्ययों का सूचक है। अतः "जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्" (४-१-१६६) से लेकर जो अञ्, अण्, ञ्यङ् आदि प्रत्यय कहे गए हैं—वे 'ते' पद से लिए जाते हैं। अतः "उनकी 'तद्राज'संज्ञा होगी"। उसका फल आगे के सूत्र में बतलाया जा रहा है।

(११९३) पद—तद्राजस्य, बहुषु, तेन, एव, अस्त्रियाम्। **अनुवृत्ति**—लुक्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त बहुत्व अर्थ में विद्यमान 'तद्राज' प्रत्यय का 'लुक्' होता है। उदा० १—इक्ष्वाकवः। २—पञ्चालाः—इत्यादि। 'कौरव्याः' 'पाण्ड्याः'—आदि शब्दों की समी-

---

१. "द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्" (४-१-१७०) सूत्रे भाष्ये कैयटेन 'बौधिः' इति प्रतीकमादाय **साल्वावयवलक्षणः इञ्** इति कथयता साल्वावयवेषु एतेषां गणना भवतीति सूचितम्।

२. कोषों के अनुसार पञ्चाल का ही नाम प्रत्यग्रथ था।—हेमचन्द्र : 'अभिधानचिन्तामणि' ४–२६। इस प्रदेश में बहने वाली रथस्था (रामगङ्गा) नदी थी।

३. म० भा० सभापर्व के अनुसार कलकूट 'कुलिन्द' प्रदेश में था (२६।३१४)। तदनुसार इसे यमुना की ऊपरी धारा का यामुन प्रदेश कहा जा सकता है। अथर्ववेद (४-९-१०) में यामुन अंजन का उल्लेख है (कालकूट)।

४. गोदावरी के दक्षिण सह्याद्रि पर्वत तक का विस्तृत भूभाग। अश्मक जनपद की राजधानी प्रतिष्ठान (गोदावरी के किनारे आधुनिक पैठण) थी।

स्त्रियाम् । इक्ष्वाकवः, पञ्चालाः इत्यादि । कथं तर्हि 'कौरव्याः पशवः' 'तस्यामेव 'रघोः पाण्ड्याः' इति च । कौरव्ये पाण्ड्ये च साधव इति समाधेयम् । 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' 'निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चित्' इति तु रघुयदुशब्दयोस्तदपत्ये लक्षणया ।

मात्रार्थगतबहुत्वे सतीत्यर्थः । तेनेति किम् ? प्रियो वाङ्गो येषां ते प्रियवाङ्गाः इत्यत्र बहुत्वस्यान्यपदार्थगतत्वात् वाङ्गशब्दात्परस्य न लुक् । यद्यपि वर्तिपदार्थविशिष्टान्यपदार्थगतं बहुत्वं वर्तिपदार्थगतमपि भवति, तथापि अञ्प्रत्ययान्तार्थवाङ्गमात्रगतं न भवतीति न लुक् । एतदर्थमेवकारग्रहणम् । इक्ष्वाकवः पञ्चाला इति । 'जनपदशब्दात्' इति विहितस्य अञो लुकि आदिवृद्धिनिवृत्तिः । इत्यादीति । अङ्गाः वङ्गाः इत्यादि बोध्यम् । कथं तर्हीति । कौरव्या इत्यत्र ण्यप्रत्ययस्य पाण्ड्य इत्यत्र ड्यण्प्रत्ययस्य च तद्राजतया बहुषु लुक्प्रसङ्गादित्यर्थः । साधव इतीति । कौरव्यशब्दात् पाण्ड्यशब्दाच्च 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्यये 'यस्येति च' इत्यकारलोपे यत्प्रत्ययस्य तद्राजत्वाभावान्न लुगित्यर्थः । ननु रघुयदुशब्दयोर्जनपदवाचित्वाभावात् प्राग्दीव्यतीयेऽणि तस्य तद्राजत्वाभावात् कथं बहुषु तस्य लुगित्याशङ्क्य परिहरति—रघूणामिति । लक्षणयेति । प्रयोग इति शेषः । ततश्च नेदमपत्यप्रत्ययान्तमिति भावः । लक्षणाबीजं तु रघुयदुसमानवृत्तिकत्वं बोध्यम् ।

चीनता क्रमशः " 'कौरव्ये' 'पाण्ड्ये' च साधवः" अर्थ में (यत् प्रत्यय करने पर) समझी जाय। इसी प्रकार 'रघूणाम्' तथा 'यदुभिः' प्रयोगों में उनके अपत्य में लक्षणा मान कर समीचीनता जानी जाय।

विवरण—विधेय-वाचक 'लुक्' पद की अनुवृत्ति "ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः" (२-४-५८) सूत्र से आ रही है। सूत्रस्थ 'बहुषु' पद का अन्वय 'तद्राजस्य' तथा 'तेनैव'—इन पदों के साथ होता है। 'तेन' सर्वनाम भी 'तद्राज' का बोधक है। अतः 'तेन बहुषु' से 'तद्राज बहुत्व' अर्थ अभिव्यक्त होता है। तदनुसार समग्र सूत्र का यह अर्थ होगा कि "स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त अन्य लिङ्गों में बहुत्व अर्थ में 'तद्राज'-प्रत्यय का लोप होता है, किन्तु यह बहुत्व 'तद्राज'-प्रत्यय के ही अर्थ का होना चाहिये"। **उदाहरण—इक्ष्वाकवः** (इक्ष्वाकुओं के राजा अथवा अपत्य)। **विग्रह**—इक्ष्वाकूणाम् राजानः अपत्यानि वा। इक्ष्वाकु+अञ्, जस्>ऐक्ष्वाकु+जस्> इक्ष्वाकु+अस् (बहुत्वार्थक 'अञ्' प्रत्यय का लोप होने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' नियम के अनुसार आदिवृद्धि की निवृत्ति) > इक्ष्वाकवः (प्रथमा बहुवचन में गुण "जसि च" ७-३-१०९, अवादेश, रुत्व एवं विसर्ग)। एकवचन तथा द्विवचन में ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकौ रूप होंगे। इसी प्रकार (२) **पञ्चालाः** (पञ्चालों का राजा अथवा अपत्य)। **विग्रह**—पञ्चालानां राजा अपत्यानि वा। यहाँ 'अञ्' प्रत्यय का लोप होगा। ऐसे ही **'अङ्गाः' 'वङ्गाः'** आदि उदाहरण भी जाने जायँ।

शङ्का-समाधान—उपर्युक्त विधान के अनुसार 'पाण्डु' शब्द से बहुवचन में ड्यण् प्रत्यय का लोप होनेपर 'पाण्डवः' ('ड्य' प्रत्यय का लोप) तथा 'कुरु' शब्द से 'कौरवाः' ('ण्य' प्रत्यय का लोप होने पर) रूप होना चाहिये, न कि (रघोः) 'पाण्ड्याः' तथा 'कौरव्याः' (पशवः)। इसका समाधान यह दिया जा रहा है कि 'कौरव्य' शब्द तथा 'पाण्ड्य' शब्दों से "तत्र साधुः" (४-४-९८) सूत्र से 'साधुः' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय करने पर 'अ' तथा 'य्' का लोप होने पर उक्त रूप समीचीन माने गये हैं—कौरव्य्+य (यत्) > कौरव्यः। इसी प्रकार पाण्ड्य्+य>पाण्ड्यः। 'यत्' प्रत्यय की तद्राज-संज्ञा न होने से उसका लोप नहीं हुआ।

पुनरपि कालिदास ने रघुवंश के आरम्भ में इस नियम के विरुद्ध **'रघूणाम्** अन्वयं वक्ष्ये' कप्रयोग र प्राग्दीव्यतीय 'अण्' प्रत्यय का लोप दिखाया है। राघवाणाम् प्रयोग नहीं किया है।

(११९४) कम्बोजाल्लुक् ४।१।१७५।। अस्मात्तद्राजस्य लुक्। कम्बोजः। कम्बोजौ। 'कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्' (वा २६७४)। चोलः। शकः। द्व्यज्लक्षणस्याणो लुक्। केरलः। यवनः। अञो लुक्। 'कम्बोजाः समरे' इति पाठः सुगमः।

(११९४) कम्बोजाल्लुक्। तद्राजा इत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। कम्बोजात् परस्य तद्राजस्य लुक् स्यादित्यर्थः। अबहुत्वार्थं सूत्रम्। तदाह—कम्बोजः। कम्बोजाविति। जनपदशब्दादिति विहितस्य अञो लुक्। चोलः शक इति। चोलशकौ देशविशेषौ राजविशेषौ च। द्व्यज्लक्षणस्येति। 'द्व्यच्मगध' इति विहितस्येत्यर्थः। केरल इति। केरलयवनशब्दौ देशराजोभयवाचिनौ। अञो लुगिति। जनपदशब्दादिति विहितस्येति

वह तो होना नहीं चाहिये, क्योंकि 'रघु' शब्द जनपद-वाची नहीं है, अतः 'तद्राज-संज्ञा' होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार 'निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चित्' में भी 'यादवैः' प्रयोग होना चाहिये। इसके समाधान में यह कहा जा रहा है कि यहाँ 'रघु' तथा 'यदु' की उनके अपत्य में लक्षणा की गई है। ये दोनों शब्द अपत्यप्रत्ययान्त नहीं हैं।

(११६४) पद—कम्बोजात्, लुक्। **अनुवृत्ति**—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तद्राजाः, प्रत्ययः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इस से 'तद्राज' प्रत्यय का लुक् हो। उदा० कम्बोजः। कम्बोजौ। वा० 'कम्बोज' आदि से कहा जाय। उदा० १—चोलः। २—शकः। 'द्व्यच्' निमित्तक 'अण्' का 'लुक्' है। ३-केरलः। ४-यवनः। 'अञ्' का लुक् है। रघुवंश में 'कम्बोजाः समरे' पाठ है। दीर्घ-पाठ में तो प्रथमान्त से अभिजन अर्थ में "सिन्धु-तक्ष-शिलादिभ्योऽणञौ" (४-३-९३) से 'अण्' प्रत्यय हुआ है।

विवरण—सूत्र में उद्देश्य-वाची पद 'तद्राजाः' (=तद्राजस्य) का लाभ पूर्व सूत्र "ते तद्राजाः" (४-१-१७२) की अनुवृत्ति द्वारा होता है। प्राकरणिक अनुवृत्तियों के साथ षष्ठी-विभक्ति में परिणमित 'तद्राज' की एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची 'कम्बोज' शब्द से अपत्यार्थ में विहित 'तद्राज'—प्रत्यय का लोप (लुक्) हो"। बहुवचन में तो "तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्" (२-४-६२) सूत्र से 'तद्राज'—प्रत्यय के लोप की प्राप्ति थी, अतः सामान्यतया सभी वचनों में लोप करने के लिये यह विधान चरितार्थ होता है।

वार्तिककार ने इसकी सीमा बढ़ा कर "कम्बोजादि शब्दों में भी तद्राज-प्रत्यय के लोप-विधान की मान्यता दी है"। **उदाहरण**—**कम्बोजः** (कम्बोज-जनपद[1] का राजा)। **विग्रह**—कम्बोजानां राजा। कम्बोज+अ॒+सु ('अञ्'—"जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्" ४-१-१६८) > कम्बोज+सु ('अञ्' का लुक्) > कम्बोजः (प्रथमा-विभक्ति-निमित्तक कार्य)। 'अञ्' का 'लुक्' होने के कारण आदिवृद्धि नहीं हुई। द्विवचन—**कम्बोजौ** (कम्बोज के दो राजा)। इसी प्रकार **चोलः**→ चोल+अण् (चोल जनपद का राजा)। **शकः**—शक+अण् (शकों का राजा)

---

१. आधुनिक 'पामीर' और 'बदख्शां' का सम्मिलित प्राचीन नाम **कम्बोज** जनपद था और उसी से सटा हुआ 'दरवाज' का इलाका था, जिसकी पहचान डा० मोतीचन्द ने द्वारका से की है। कम्बोज के दक्षिण में पूर्व-पश्चिम तक फैली हुई हिन्दुकुश की ऊँची पर्वत-शृङ्खला 'कम्बोज' को भारतवर्ष से अलग करती थी। 'बदख्शां' का प्राचीन नाम 'द्व्यक्ष' था। पाणिनि ने ऐषुकारिगण (४-२-५४) में 'द्व्यक्षायण' शब्द पढ़ा है। महाभारत में 'द्व्यक्ष', त्र्यक्ष और ललाटाक्ष—इन तीन जनपदों के नाम आए हैं। इनमें से 'ललाटाक्ष' की पहचान 'लद्दाख' के साथ की गई है।
—'पाणिनि-कालीन भारतवर्ष'—पृ० ६०।

दीर्घपाठे तु कम्बोजोऽभिजनो येषामित्यर्थः। 'सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ' (सू १४७३) इत्यण्। (११९५) स्त्रियामवन्ति-कुन्ति-कुरुभ्यश्च ४। १। १७६॥ तद्राजस्य लुक् स्यात्। अवन्ती। कुन्ती। कुरूः। (११९६) अतश्च ४।१।१७७॥ तद्राजस्याकारस्य

शेषः। ननु कम्बोज इति कथं, लुक्प्रसङ्गादित्यत आह—कम्बोजाः समरे इति। दीर्घपाठे त्विति। अचां मध्ये आदेरचो दीर्घभूतस्य पाठे त्वित्यर्थः। अभिजन इति। यत्र पूर्वैरुषितं सोऽभिजनः इत्यग्रे वक्ष्यति। सिन्धुतक्षेति। सिन्ध्वादौ कम्बोजशब्दस्य पाठादिति भावः।

(११९५) स्त्रियामवन्ति। अवन्ती कुन्तीति। अवन्तेः कुन्तेश्चापत्यं स्त्री राज्ञी वेति विग्रहः। 'वृद्धेत्कोसल' इति ञ्यङोऽनेन लुकि 'इतो मनुष्यजातेः' इति ङीष्। कुरूरिति। 'कुरुनादिभ्यः' इति ण्यस्य लुक्।

(११९६) अतश्च। तद्राजस्याकारस्येति। अत इति तद्राजविशेषणम्। तद्राजात्म-

---

में भी "द्व्यज्–मगध कलिङ्ग–सूरमसादण्" (४-१-१७०) से विहित 'अण्' का लोप होगा। वैसे ही **केरलः** (केरल जनपद का राजा) तथा **यवनः** (यवन देश[1] का राजा) में भी तद्राज-प्रत्यय ('अञ्') का लोप होता है।

विशेष—कहीं-कहीं 'काम्बोजाः' पाठ है। उस प्रयोग की समीचीनता का उपाय बतलाते हुए सूचित किया गया है कि "वहाँ पर" प्रथमान्त 'कम्बोज' शब्द से 'अभिजन' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय (सिन्ध्वादि-गण में 'कम्बोज' का पाठ है) कर (कम्बोजः अभिजनः येषां ते) यह रूप आदि-वृद्धि होकर निष्पन्न हो सकेगा"। वस्तुतः रघुवंश में 'कम्बोजाः समरे' यही प्रामाणिक पाठ माना गया है।

(११९५) पद—स्त्रियाम्, अवन्ति-कुन्ति-कुरुभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—लुक्, जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तद्राजाः, प्रत्ययः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'तद्राज'-प्रत्यय का 'लुक्' हो। उदा० १—अवन्ती। २—कुन्ती। ३—कुरूः।

विवरण—स्त्री-लिङ्ग में केवल तीन शब्दों से उत्तरवर्ती 'तद्राज'-प्रत्यय का लोप बतलाया जा रहा है। अतः विधेयवाची 'तद्राजाः' तथा 'लुक्'—ये दोनों पद अनुवृत्तिलभ्य हैं। तदनुसार "क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची 'अवन्ति', 'कुन्ति' तथा 'कुरु' शब्दों से परवर्ती 'तद्राज'-प्रत्यय का स्त्रीलिङ्ग में अभिधेय होने पर लोप होता है"। **उदाहरण**—(१) **अवन्ती** (अवन्ति-जनपद की राजकुमारी)। **विग्रह**—अवन्तेः अपत्यं स्त्री। अवन्ति+य़ (ह्रस्व इकारान्त होने से "वृद्धेत्-कोसलाजादाञ्ञ्यङ्" ४-१-१६९ से ञ्यङ्) > अवन्ति ('तद्राज' प्रत्यय 'ञ्यङ्' का लोप) > अवन्ति+ङीष् ("इतो मनुष्यजातेः" ४-१-६५) > अवन्ती+सु (प्रथमा विभक्ति एकवचन) > अवन्ती (विभक्ति का हल्-ङ्यादि लोप)। (२) **कुन्ती** (कुन्ति-जनपद की राजकुमारी)। **विग्रह**—कुन्तेः अपत्यं स्त्री। कुन्ति+ञ्यङ् > कुन्ति+ई (प्रत्यय-लोप तथा ङीष्) > कुन्ती। (३) **कुरूः** (कुरु जनपद की राजकुमारी)। **विग्रह**—कुरोः अपत्यं स्त्री। कुरु+ण्य ("कुरुनादिभ्यो ण्यः" ४-१-१७०) > कुरु ('ण्य' का लोप) > कुरु+ऊ ('ऊङ्'—"ऊङुतः" ४-१-६६) > कुरूः (दीर्घ एवं विभक्ति-कार्य)।

(११९६) पद—अतः, च। **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम्, जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, लुक्, तद्राजाः, प्रत्ययः। **विधिसूत्र**।

---

१. यूनान देश। यूनानी इतिहास-लेखक हेरीदोत ने लिखा है कि भारतीय सैनिकों की एक टुकड़ी क्षयार्ष के ईरानी कटक-दल के साथ यूनान के युद्ध में सम्मिलित हुई थी।
—पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ. ३०३।

स्त्रियां लुक्स्यात् । शूरसेनी । मद्री । कथं 'माद्रीसुतौ' इति ? 'ह्रस्व एव पाठः' इति हरदत्तः । भर्गादित्वं वा कल्प्यम् । (११९७) न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः ४ । १ । १७८ ॥ एभ्यस्तद्राजस्य न लुक् । पाञ्चाली । वैदर्भी । आङ्गी । वाङ्गी । मागधी । एते प्राच्याः । भार्गी । कारूशी । कैकेयी । केकयीत्यत्र तु जन्यजनकभावलक्षणे पुंयोगे ङीष् । युधा शुक्रा आभ्यां 'द्व्यचः' (सू १११४) इति ढक् । ततः स्वार्थे 'पर्श्वादियौधेयादि-

---

कस्य अकारस्येत्यर्थः । शूरसेनीति । अञो लुकि प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य अपत्यप्रत्ययान्तत्वेन जातित्वात् ङीष् । 'न लुमता' इति निषेधस्तु न, ङीष्विधेरङ्गकार्यत्वाभावात् । एवं मद्री ।

(११९७) न प्राच्य । एभ्य इति । प्राच्येभ्यः भर्गादिभ्यः यौधेयादिभ्यश्चेत्यर्थः । एते प्राच्या इति । क्षत्रिया इति शेषः, यथायथमञः अणश्च न लुक् । भर्गादीनुदाहरति— भार्गी, कारूशी, कैकेयीति । जन्यजनकभावेति । अत्र यद्वक्तव्यं तत् 'पुंयोगादाख्यायाम्' इत्यत्रोक्तम् । अथ यौधेयादिभ्यो लुक्प्रतिषेधदर्शयितुमाह—युधा, शुक्रा इत्यादिना ।

मूलार्थ—'तद्राज'-संज्ञक अकार-प्रत्यय का स्त्री-लिङ्ग में लोप होता है । उदा० १—शूरसेनी । २—शूद्री । 'माद्रीसुतौ' प्रयोग कैसे ? (मद्रीसुतौ) ह्रस्व पाठ ही है—यह हरदत्त का मत है । दीर्घान्त (माद्रीसुतौ) मानने में भर्गादि-गण में इसका पाठ माना जाय ।

विवरण—स्त्री-लिङ्ग में तद्राज-प्रत्यय का लोप-सम्बन्धी विस्तार किया जा रहा है । सूत्रस्थ 'अतः' पद 'तद्राज' (=तद्राजस्य) का विशेषण है । अनुवर्तमान 'स्त्रियाम्' पद "स्त्रियाम् अवन्ति-कुन्ति-कुरुभ्यश्च (४-१-१७४) से तथा 'लुक्' एवं 'तद्राजाः' की अनुवृत्तियाँ भी अनुसरण कर रही हैं । एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "स्त्रीलिङ्ग अभिधेय हो तो तद्राज-संज्ञक अकाररूप प्रत्यय का लोप हो" । 'अण्' एवम् 'अञ्'—ये दोनों अकाररूप प्रत्यय हैं, क्योंकि अनुबन्ध हटने पर केवल 'अ' ही अवशेष रह जाता है । **उदाहरण**—(१) **शूरसेनी** (शूरसेन देश की राज-कुमारी) । **विग्रह**—शूरसेनानामपत्यं स्त्री । शूरसेन+अ (=अञ्—"जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्" ४-१-१६८)>शूरसेन ('अञ्' का लोप) शूरसेन+ङीष् (प्रत्यय लक्षण का आश्रयण कर अपत्य प्रत्ययान्त होने से—"जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" ४-१-६५) > शूरसेनी+सु (अलोप तथा विभक्ति) > शूरसेनी (हल्-ङ्यादि लोप) । (२) **मद्री** (मद्र देश की राजकुमारी) । मद्राणाम् अपत्यं स्त्री । मद्र+अ (अण्—"अणो द्व्यचः" ४-१-१५६) > मद्र+ङीष् > मद्री ।

विशेष—इन दोनों उदाहरणों में "न लुमताङ्गस्य" (१-१-६३) से प्रत्यय-लक्षण का निषेध सम्भव नहीं है, क्योंकि 'ङीष्'-विधि अङ्ग-संज्ञाऽऽश्रित नहीं है । 'अञ्' तथा 'अण्' का लोप होने से आदि-वृद्धि नहीं हुई ।

शङ्का-समाधान—"माद्री-सुतौ पुष्पफले समृद्धे" में आदिवृद्धि-युक्त 'माद्री' प्रयोग समीचीन नहीं है, अतः पदमञ्जरीकार हरदत्त ने 'मद्रीसुतौ' पाठ ही प्रामाणिक माना है । दीर्घान्त 'माद्री' प्रयोग के अभिनिवेशियों के समाधान हेतु 'भर्गादि' की कल्पना कर 'अण्' का लोप न होने से दीर्घ-आकार-युक्त शब्द माना जाय ।

(११९७) **पद**—न, प्राच्य-भर्गादि-यौधेयादिभ्यः । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम्, तद्राजाः, लुक्, जनपदशब्दात्, क्षत्रियात्, प्रत्ययः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन से तद्राज-प्रत्यय का लोप न हो । १—प्राच्य के उदाहरण—(क) पाञ्चाली, (ख) वैदर्भी, (ग) आङ्गी तथा (घ) मागधी । २—भर्गादि (क) भार्गी, (ख) कारूशी, (ग) कैकेयी । 'केकयी' शब्द में तो जन्य-जनकभाव के कारण 'ङीष्' प्रत्यय हुआ है । ३—यौधेयादि—(क) यौधेयी, (ख) शौक्रेयी में क्रमशः 'युधा' तथा 'शुक्र' शब्दों से 'ढक्'

भ्योऽणञौ' (२०७०) इत्यञ् । 'शार्ङ्गरवाद्यञः—' (सू ५२७) इति ङीन् । 'अतश्च' (सू ११९६) इति लुकि तु ढगन्तत्वान्ङोप्युदात्तनिवृत्तिस्वरः स्यात् । यौधेयी । शौक्रेयी ।

ढगिति । युधाया अपत्यं, शुक्राया अपत्यमिति विग्रहे तन्नामिकाणं बाधित्वा 'द्वयचः' इति ढकि एयादेशे 'यस्येति च' इत्यकारलोपे आदिवृद्धिः । यौधेयशब्दात् शौक्रेयशब्दाच्च 'पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ' इति स्वार्थे तद्राजसंज्ञके पाश्चमिके अञि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे 'शार्ङ्गरवाद्यञः' इति ङीनि यौधेयी शौक्रेयीति रूपमिति भावः । नन्वत्र

(=एय) प्रत्यय करने पर स्वार्थ में क्रमशः 'अण्' एवं 'अञ्' होते हैं तथा शार्ङ्गरवादि-गण-प्रयुक्त 'ङीन्' हुआ है । 'अतश्च' से ('अ' का) लुक् होने पर 'ढक्' प्रत्ययान्त होने के कारण 'ङीप्' होने पर उदात्त-निवृत्ति-स्वर होगा ।

विवरण—पूर्व सूत्र से प्राप्त 'अ'काररूपी प्रत्यय के लोप का स्थल-विशेष में निषेध ('न') किया जा रहा है । उसकी सीमा निर्धारित की गई है । तदनुसार सूत्र में भौगोलिक आधार ग्रहण किया गया है । अतः सूत्रार्थ की निष्पत्ति में उन प्रदेशों का नाम लिया गया है । 'लुक्' का निषेध सूचित करने के लिये सूत्र में 'न' पद प्रयुक्त है । प्रमुख अनुवृत्तियाँ—'स्त्रियाम्'→"स्त्रियामवन्ति-कुन्ति-कुरुभ्यश्च" ४-१-१७६ सूत्र, 'तद्राजाः'→"ते तद्राजाः" (४-१-१७२) एवं 'लुक्'→"कम्बोजाल्-लुक्" (४-१-१७३) अपेक्षित हैं । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ पदों की सब के साथ एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची प्राग्देशीय शब्द तथा भर्गादि एवं यौधेयादि शब्दों से उत्पन्न जो तद्राज-संज्ञक प्रत्यय, उसका यदि स्त्रीत्व अभिधेय हो, तो लोप न हो" । **उदाहरण**—प्राच्य शब्द—(१) क—**पाञ्चाली** (पञ्चाल देश की राजकुमारी) । पञ्चालानाम् अपत्यं स्त्री । पञ्चाल+अञ् ("जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्" ४-१-१६६ से प्राप्त 'अञ्' को बाध कर "अतश्च" ४-१-१७५ से उसका 'लुक्' भी प्राप्त रहा, किन्तु उसका निषेध करने से 'अञ्' प्रत्यय हुआ) > पाञ्चाल्+अ (आदिवृद्धि) >पाञ्चाल ('अ' का लोप) > पाञ्चाल्+ई ('ङीन्'→"शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्" ४-१-७३) >पाञ्चाली ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) । इसी प्रकार (ख) **वैदर्भी** (विदर्भ की राजकुमारी) में जानें । (ग) **आङ्गी** ('अङ्ग' देश की कुमारी) तथा (घ) **वाङ्गी** (वङ्ग देश की राजकुमारी) तथा (ङ) **मागधी** (मगध देश[1] की राजकुमारी) में यथाप्राप्त "द्वयञ्–मगध–कलिङ्ग-सूरमसादण्" (४-१-६८) का "अतश्च" (४-१-१७५) से प्राप्त 'लुक्' का निषेध न होने से स्त्रीत्व में "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" ४-१-६३ से 'ङीष्' हुआ । (२) भर्गादि में—(क) **भार्गी** (भर्गदेश[2] की राजकुमारी), (ख) **कारूशी** (करूश[3] की राजकुमारी) तथा (ग) **कैकेयी** (केकय[4] की राजकुमारी)—के अन्तर्गत

---

१. गङ्गा के दक्षिण का प्रदेश 'मगध' जनपद था, पाणिनि के समय वहाँ 'राजतन्त्र' शासन था । इसे आधुनिक बिहार कहा जा सकता है । पुराणों के अनुसार यहाँ जरासन्ध का राज्य था ('भागवत'—३-३-१० तथा 'ब्रह्माण्ड'—३-३९, २, ८) । धार्मिक दृष्टि से मगध में 'गया' नगरी पितृ-कार्य में विशेष महत्त्व रखती है ।

२. बौद्ध-साहित्य के अनुसार 'भग्ग' एक संघ था, जिसकी राजधानी 'शिंशुमारगिर' थी ।

३. इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता ।

४. केकय जनपद वर्तमान झेलम, शाहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम था । इस समय जिसमें 'खिउड़ा' नमक की पहाड़ी है । यहाँ के निवासी 'कैकेय' कहलाते थे । भर्गादिगण में भी 'केकय' शब्द का पाठ है ।

'अतश्च' इति अञो लुकि सत्यपि 'टिड्ढ' इति ङीपि, यौधेयी शौक्रेयीति सिद्धेरिति यौधेयादिग्रहणमनर्थकमित्यत आह—अतश्चेति लुकि त्विति। उदात्तनिवृत्तीति। 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' इत्यनेन ङीबुदात्तः स्यात्। सिद्धान्ते त्वञन्तत्वात् ङीनि आद्युदात्तत्वमिति भावः।

(क) में द्व्यच्–लक्षण 'अण्' तथा (ख) एवं (ग) में "जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्" (४-१-१६६) से विहित प्रत्ययों के लोप का निषेध होने पर "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (४-१-६३) से 'ङीष्' एवं यथाविषय विभक्ति-कार्य हुआ। (३) यौधेयादि—(क) यौधेयी (यौधेय[1] की राजकुमारी) (ख) शौक्रेयी (शौक्रेय[2] की राजकुमारी) में—(क) यौधेय+अञ् (ख) शौक्रेय+अञ्→ "पर्श्वादि-यौधेयादिभ्योऽणञौ" (५-३-११७) से विहित 'अञ्' की "ञ्यादयस्तद्राजाः (५-३-११९) से तद्राज-संज्ञा होने के कारण प्राप्त लोप का निषेध होने पर "शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्" (४-१-७३) से 'ङीन्' तथा विभक्ति-कार्य जाने जायँ। प्रसङ्गवश यौधेय तथा शौक्रेय शब्दों की सिद्धि इस प्रकार है→युधा+ढक् (='एय') तथा शुक्रा+ढक्←"द्व्यचः" (सू. ११२४) (ढ=एय)।

विशेष—'केकयी' शब्द में 'केकयस्य अपत्यं कन्या'—('केकय' नामक क्षत्रिय की लड़की) अर्थ विवक्षित है। वहाँ पर 'केकय' देश की रानी यह अर्थ अभिलक्षित न होने से "पुंयोगादाख्यायाम्" (४-१-४८) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। उस स्थिति में गौरादि गण में पाठ होने से 'ङीष्' समझा जाय। तथापि भाष्यकार के मत में वहाँ दाम्पत्यभाव अर्थ ही अभीष्ट है न कि जन्यजनकभाव। तो भी पिता के साथ साक्षात् अपत्यार्थ में स्त्रीत्व की विवक्षा में "पुंयोगादाख्यायाम्" (४-१-४३) सूत्र से ङीष् (केकय+ङीष्) प्रत्यय किया गया है।

(२) यौधेयी, शौक्रेयी इत्यादि में स्वार्थ में विहित 'अञ्' प्रत्यय का लोप करने पर भी पूर्व विहित प्रत्यय 'ढक्' को अभिलक्षित कर "टिड्ढाणञ्०" (४-१-१५) सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय करने पर उक्त रूप-सिद्धि सम्भव थी, तथापि 'अञ्' का लोप न होने से 'ङीन्' प्रत्यय में 'न्' की इत्संज्ञा होने के फलस्वरूप "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६-१-१९७) सूत्र से आद्युदात्त होता है। अन्यथा यदि 'ङीप्' हुआ होता तो तद्राजप्रत्यय 'अञ्' का लोप होने के कारण पुनः 'ङीप्' प्रत्यय के पूर्ववर्ती 'अ' का भी लोप होने से 'ढक्'-प्रत्ययान्त समुदाय–'यौधेय'–के अन्तोदात्त होने के कारण "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" (६-१-१६१) सूत्र से 'ई' (ङीप्-सम्बन्धी) को उदात्त होता, तब अवशिष्ट पूर्वस्थ दोनों स्वर-वर्ण अनुदात्त होने लगते। सिद्धान्त में तो 'ङीन्' प्रत्ययान्त शब्द के आद्युदात्त होने पर अग्रिम वर्ण अनुदात्त होंगे।

शङ्का-समाधान—"अतश्च" (४-१-१७७) सूत्र केवल समीपस्थ चतुर्थाध्याय–पठित आकार-रूप प्रत्ययों का ही लोप नहीं करता, किन्तु दूरस्थ पञ्चमाध्याय–पठित स्वार्थ में विहित 'अ'-कार-रूप प्रत्ययों का भी लोप करता है। इस हेतु 'यौधेयादि' पद की सार्थकता है। उस पद से यह ज्ञापित होता है कि यह 'लुक्' तद्धित प्रकरण में सार्वत्रिक है।

---

१. यौधेय-संघ भारतीय इतिहास में बड़ा प्रसिद्ध है। महाभारत के अनुसार बहुधान्यक प्रदेश में 'रोहीतक' उनकी राजधानी थी। प्राचीन योधियों के वंशज पंजाब में आधुनिक 'जोहिए' राजपूत हैं।

२. शौक्रेय संघ की पहचान अनिश्चित है। शकों में 'सकरौलोइ' जाति का उल्लेख आता है। मथुरा के पुण्यशाला स्तम्भ में शकों की 'सरुक' शाखा का नाम आया है, सम्भव है ये दोनों 'शौक्रेय' से सम्बद्ध हों।

(११९८) अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ४ । १ । ७८ ॥ त्र्यादीनामन्त्यमुत्तमं, तस्य समीपमुपोत्तमम् । गोत्रे यावणिञौ विहितावनार्षौ तदन्तयोर्गुरूपोत्तमयोः प्रातिपदिकयोः स्त्रियां ष्यङादेशः स्यात् । 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (प १३) इत्यणिञोरेव । षङावितौ । 'यङश्चाप्' (सू ५२८) । कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्री कौमुदगन्ध्या ।

(११९८) अणिञो । त्र्यादीनामन्त्यमुत्तममिति । तथा माष्यादिवि भावः । तस्य समीपमुपोत्तममिति । सामीप्येऽव्ययीभावः । गुरु उपोत्तमम् उत्तमसमीपवर्ति ययोरिवि विग्रहः । प्रातिपदिकादित्यधिकृतं षष्ठीद्विवचनेन विपरिणम्यते । उपोत्तमगुरुवर्णकयोः प्रातिपदिकयोरिति लभ्यते । 'अणिञोः' इत्यनेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया अणिञन्तयोर्ग्रहणम् । गोत्रे इत्येतद् अणिञोरन्वेति । ऋषेरविहितौ अनार्षौ । इदमपि अणिञोर्विशेषणम् । स्त्रियामित्यधिकृतम् । तदाह—गोत्रे यावणिञावित्यादिना । आदेशः स्यादिति । स्थानषष्ठीनिर्देशादादेशत्वलाभः । ननु अणिञन्तयोः ष्यङादेशोऽयमनेकाल्त्वात् सर्वादेशः स्यादित्यत आह—निर्दिश्यमानस्येति । तथा च अणिञोरेवायमादेश इति भावः । 'ङिच्च' इत्यन्तादेश इति तु न युक्तम्, ङित्त्वस्य 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इत्यादौ चरितार्थत्वात् । कुमुदगन्धेरिति । कुमुदगन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहि-

---

(११९८) पद—अणिञोः, अनार्षयोः, गुरूपोत्तमयोः, ष्यङ्, गोत्रे । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गोत्र अर्थ में विहित अनार्ष (ऋषि-भिन्न) 'अण्' एवम् 'इञ्' प्रत्ययान्त गुरूपोत्तम शब्द को स्त्रीलिङ्ग में 'ष्यङ्' आदेश होता है । 'निर्दिश्यमानस्य आदेशाः भवन्ति' इस नियम के अनुसार 'अण्' और 'इञ्' के स्थान में ही होता है । 'ष्' तथा 'ङ्' की इत्संज्ञा है । "यङश्चाप्" (सू० ५२८) से 'चाप्' प्रत्यय । उदा० १—कुमुदगन्धेः अपत्यं स्त्री-कौमुदगन्ध्या । २—वाराह्या । 'अनार्षयोः' क्यों कहा ? वासिष्ठी तथा वैश्वामित्री में (अणन्त ऋषिवाची होने से) 'ष्यङ्' नहीं हुआ । 'गुरूपोत्तमयोः क्यों कहा ? औपगवी में (उपोत्तम वर्ण 'ग' के गुरु न होने से) ष्यङ् नहीं होता । अतः जातिलक्षण स्त्रीप्रत्यय 'ङीष्' हुआ । 'गोत्रे' क्यों कहा ? 'आहिच्छत्री' में (अहिच्छत्रे 'जाता'—अर्थ होने से) ष्यङ् नहीं हुआ ।

विवरण—तीनों आधिकारिक अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं । अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । अनुवर्तमान 'प्रातिपदिकात्' पद का षष्ठी-द्विवचन में विपरिणाम हुआ है । तदनुसार "गोत्र में विहित ऋषिवाची अपत्य से भिन्न (अनार्षयोः) 'अण्' और 'इञ्' प्रत्ययान्त उपोत्तम गुरुवर्णयुक्त प्रातिपदिकों को (गुरूपोत्तमयोः) स्त्री-लिङ्ग में 'ष्यङ्' आदेश होता है" । तीन या तीन से अधिक वर्णों वाले शब्दों के अन्तिम वर्ण की 'उत्तम' संज्ञा है । उसका समीपस्थ वर्ण 'उपोत्तम' (गुरु→ उपोत्तमम् = उत्तमसमीपवर्ति→ययोः, तौ (बहुव्रीहि) कहलायेगा । इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रातिपदिक में कम से कम तीनवर्ण होंगे वहीं पर इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी । जिसका उपोत्तम वर्ण 'गुरु' (द्वि-मात्रिक) होगा, उससे ही 'ष्यङ्' प्रत्यय संयुक्त होगा । उदाहरण में दिये हुए 'कौमुदगन्धि' शब्द में पाँच वर्ण हैं । इस में अन्तिम वर्ण 'धि' है तथा उससे पूर्व वर्ण 'ग'—संयुक्तवर्ण 'न्धि' के पूर्ववर्ती होने के कारण 'गुरु'संज्ञक है ("संयोगे गुरु" १-४-११) । अतः सूत्र की प्रवृत्ति होगी । **उदाहरण—कौमुदगन्ध्या** (कुमुदगन्धि की पौत्री आदि) । (क) **विग्रह**—कुमुदस्य गन्ध इव गन्धः यस्य । कुमुद+ङस्, गन्ध+सु, गन्ध+सु ▷ कुमुदगन्ध ('सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य०' वार्तिक से समास, पूर्व गन्ध का लोप) ▷ कुमुदगन्ध+इ ("उपमानाच्च" ५-४-१३७ से 'इत्'=इ) > कुमुदगन्धिः । (ख) **विग्रह**—कुमुदगन्धेः अपत्यम् स्त्री । कुमुदगन्धि+अण् ▷

वाराह्या । अनार्षयोः किम् ? वासिष्ठी । वैश्वामित्री । गुरूपोत्तमयोः किम् ? औपगवी । जातिलक्षणो ङीष् । गोत्रे किम् ? अहिच्छत्रे जाता आहिच्छत्री । (११९९) गोत्रावयवात् ४ । १ । ७९ ॥ गोत्रावयवा गोत्राभिमताः कुलाख्यास्ततो गोत्रे विहितयोरणिञोः

र्वाच्यः उत्तरपदलोपश्च' इति बहुव्रीहिः, पूर्वखण्डे उत्तरपदस्य गन्धशब्दस्य लोपश्च । 'उपमानाच्च' इति इत्त्वम् । कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्रीति विग्रहे अण् । 'यस्येति च' इति इकारलोपः, आदिवृद्धिः—कौमुदगन्धशब्दः, तत्र धकारादणोऽकार उत्तमः । तत्समीपवर्ती गुरुः गकारादकारः, 'संयोगे गुरु' इत्युक्तेः । न चानुस्वारधकारव्यवहितत्वात्कथमुत्तमसमीपवर्तित्वं गकारादकारस्येति वाच्यम्, 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि' इति न्यायेन हला व्यवधानस्यादोषत्वात् । नह्यणि परे अव्यवहितो गुरुः क्वचिदस्ति । एवञ्च गुरूपोत्तमं प्रातिपदिकं कौमुदगन्धेत्यणन्तं, तदवयवस्य अणः ष्यङादेशे, 'यङश्चाप्' इति चापि कौमुदगन्ध्या शब्द इत्यर्थः । इञन्तस्योदाहरति--वाराह्येति । वराहस्यापत्यं स्त्रीति विग्रहः, अत इञ्, अकारलोपः, वाराहिशब्दः । तत्र इकार उत्तमः । रेफादाकार उत्तमसमीपवर्ती गुरुः । इञः इकारस्य ष्यङादेशः, चाविति भावः । वासिष्ठी वैश्वामित्रीति । ऋष्यणन्तावेतौ । औपगवीति । अणन्तत्वेऽपि गुरूपोत्तमत्वाभावान्न ष्यङ् । जातिलक्षण इति । 'गोत्रं च चरणः सह' इति जातित्वम् । आहिच्छत्रीति । जातार्थं अणयं, न तु गोत्र इति न ष्यङ् । न च ष्यङ्प्रत्यय एव कुतो न विधीयते इति वाच्यम्, तथा सति उदमेयस्यापत्यं स्त्री इति विग्रहे अत इञि ष्यङि चापि औदमेय्या, तस्या अपत्यं औदमेयेय इति न सिध्येत्, अस्यापत्यप्रत्ययत्वाभावेन यलोपाप्राप्तेरिति स्पष्टं भाष्ये ।

(११९९) गोत्रावयवात् । गोत्रावयवशब्दं व्याचष्टे–गोत्रावयवा गोत्राभिमिता इति ।

कौमुदगन्धि+अ (आदिवृद्धि) > कौमुदगन्ध् + य (अण्=ष्यङ्) > कौमुदगन्ध्य ('अ' का लोप) > कौमुदगन्ध्य+आ (स्त्रीलिङ्ग में यङन्त से 'चाप्' प्रत्यय—"यङश्चाप्" ४-१-७४) > कौमुदगन्ध्या (दीर्घ तथा विभक्ति कार्य)। इञन्त का उदाहरण—(५) वाराह्या (वराह की पौत्री आदि)। विग्रह—वराहस्य अपत्यं स्त्री । वराह+इ (इञ्) > वाराहि ('अ' लोप तथा वृद्धि) वाराहि+य (रेफोत्तरवर्ति 'आ'—उपान्त्य के गुरुवर्ण होने से 'ष्यङ्') > वाराह्य+आ ('चाप्') > वाराह्या (दीर्घ तथा विभक्ति-कार्य)।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अनार्ष' पद देने के फलस्वरूप वासिष्ठी तथा वैश्वामित्री में 'अण्' के स्थान पर 'ष्यङ्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि ये दोनों शब्द ऋषि-वाचक हैं। (२) इसी प्रकार औपगवी में उपान्त्यवर्ण ('ग' का अकार) गुरु न होने से 'ष्यङ्' नहीं हुआ, क्योंकि सूत्र में 'गुरूपोत्तमयोः' पद विद्यमान है। अतः 'ङीष्' हुआ। (३) सूत्र में 'गोत्रे' पद का निवेश होने से 'जात' अर्थ में 'अण्' प्रत्ययान्त आहिच्छत्री में भी 'ष्यङ्' न होने पर स्त्रीप्रत्यय 'ङीप्' होता है।

विशेष—सूत्र में 'अण्' प्रत्ययान्त तथा 'इञ्' प्रत्ययान्त के स्थान पर 'ष्यङ्' आदेश का विधान कहा गया है। तदनुसार 'अणन्त' एवं 'इञन्त' शब्दों के अनेकाल् होने से सर्वादेश की प्राप्ति सम्भव थी, उसका निराकरण करने के लिये 'निर्दिश्यमानस्य आदेशाः भवन्ति' परिभाषा का आश्रयण लिया जाता है। अतः केवल 'अण्' तथा 'इञ्' मात्र ही स्थानी माने जाते हैं, क्योंकि सूत्र में इन्हीं दो पदों का षष्ठी विभक्ति में निवेश हुआ है (षष्ठीप्रकृतिजन्य–प्राथमिकोपस्थितिविषयत्वम् निर्दिश्यमानत्वम्)।

(११९९) पद—गोत्रावयवात् । अनुवृत्ति—अणिञोः, ष्यङ्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, परश्च । विधिसूत्र।

स्त्रियां ष्यङादेशः स्यात् । अगुरूपोत्तमार्थं आरम्भः । पौणिक्या । भौणिक्या । (१२००) क्रौड्यादिभ्यश्च ४ । १ । ८० ॥ स्त्रियां ष्यङ्प्रत्ययः स्यात् । अगुरुपोत्तमार्थोऽनणि-

---

गोत्रं कुलम् अभिमतं प्रख्यातं याभिरिति विग्रहः । कुलप्रख्यातिकृत इत्यर्थः । कुलव्यपदेश-कृत इति यावत् । तदाह—**कुलाख्या इति** । कुलम् आख्यायते व्यपदिश्यते आभिरिति कुलाख्याः । कुलनामानीत्यर्थः । पुणिकादिशब्दे हि कुलं व्यपदिश्यते—पुणिका वयं भुणिकाः वयमित्यादि । अवपूर्वकात् 'यु मिश्रणे' इति धातोरुपसर्गवशेन प्रख्यात्यर्थकात् पचाद्यचि अवयवशब्दः कुलस्यावयवः प्रख्यापकशब्दः कुलावयव इति लभ्यत इति भावः । ननु पूर्वेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—**अगुरूपोत्तमार्थं इति** । गोत्रादवयुतं मिश्रितम् अनन्तरापत्यं तदर्थमित्यपि भाष्ये स्पष्टम् । एवञ्च पूर्वसूत्रे अपत्याधिकारवहिर्भूतेऽपि पारिभाषिकमेव गोत्रं गृह्यत इति भाष्यस्वरसः । **पौणिक्येति** । पुणिकस्यापत्यं स्त्रीति विग्रहे अत इञन्तात् ष्यङि चाप् । एवं भौणिक्या । मनुष्यनामत्वे तन्नामिकाणः ष्यङ् ।

(१२००) **क्रौड्यादिभ्यश्च** । 'प्रत्ययविधिः' इति भाष्योक्तं पक्षान्तरमाश्रित्याह—**ष्यङ्प्रत्यय इति** । पूर्वेण सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह-**अगुरूपोत्तमार्थोऽनणिञन्तार्थश्चेति** ।

मूलार्थ—गोत्रावयव अर्थात् कुलनाम-वाचक शब्द से परे गोत्रार्थ में विहित 'अण्' एवम् 'इञ्' प्रत्ययों को स्त्री लिङ्ग में 'ष्यङ्' आदेश होता है । यह विधान गुरूपोत्तमार्थ–भिन्न के विषय में है । उदा० १—पौणिक्या । २—भौणिक्या ।

विवरण—कुछ विशिष्ट अर्थों के बोधक शब्दों के सम्बन्ध में पूर्व सूत्र (११९८) में वर्णित 'ष्यङ्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । अतः आदेश-वाची 'ष्यङ्' की अनुवृत्ति वहाँ से अपेक्षित है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्रानुसार अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ 'गोत्रा-वयव' पद 'गोत्र रूप से लोक में स्वीकृत कुल' (गोत्रं च तदवयवं च गोत्रावयवः[1]—तस्मात्) का बोधक है । अतः "कुल-सूचक प्रातिपदिकों से गोत्र में विहित अनार्ष 'अण्' और 'इञ्' प्रत्ययों के स्थान में स्त्रीलिङ्ग का अभिधान होनेपर 'ष्यङ्' आदेश होगा" । पूर्व सूत्र में 'गुरूपोत्तम' के विषय में 'ष्यङ्' आदेश बतलाया गया है । प्रकृत सूत्र उससे भिन्न विषय में भी 'ष्यङ्' आदेश का विधान करने के लिये सार्थक है । तदनुसार यह अभिव्यञ्जित होता है कि "(शास्त्रीय गोत्र) पौत्रप्रभृति अपत्य के वर्तमान न होने पर भी जिन्हें (लोक) व्यवहार में गोत्र मान लिया गया हो—(जैसे कि श्रुतिशीलसम्पन्न, श्रेष्ठतम, यशस्वी-कुल के आदिपुरुषों भरत आदि को लोकव्यवहार में गोत्ररूप से स्वीकृत किया जाता है)—इस प्रकार के शब्दों से विहित स्त्रीत्वाभिधायी 'अण्' एवम् 'इञ्' प्रत्यय ही 'ष्यङ्' आदेश के स्थानी माने जायँगे" । **उदाहरण**—(१) **पौणिक्या** (पुणिक—कुल में उत्पन्न स्त्री तथा (२) **भौणिक्या** (भुणिक-वंश में उत्पन्न स्त्री)—इन दोनों में प्रथम 'पुणिकस्य अपत्यं स्त्री' तथा द्वितीय में 'भुणिकस्य अपत्यं स्त्री' इस प्रकार विग्रह कर क्रमशः "अत इञ्" (४-१-९५) से 'इञ्' प्रत्यय एवम् "अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः" (४-१-११३) से 'अण्' प्रत्यय होकर—'पौणिकि' तथा 'भौणिक' शब्द निष्पन्न होते हैं । तब प्रकृत सूत्र से (स्त्रीत्व का अभिधान होने के कारण) 'इञ्' एवम् 'अण्' के स्थान पर 'ष्यङ्' प्रत्यय होने पर उपर्युक्त दोनों उदाहरण निष्पन्न होंगे ।

(१२००) **पद**—क्रौड्यादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, गोत्रे, ष्यङ्, स्त्रियाम्, प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्ग में 'ष्यङ्' प्रत्यय हो । 'अगुरूपोत्तमार्थ' तथा 'अण्' एवम् 'इञ्'–भिन्नार्थ

---

१. निपातनात् विशेषणस्य परनिपातः ।

न्तार्थश्चारम्भः । क्रौड्या । व्याड्या । गौकक्ष्या । 'सूत युवत्याम्' (ग सू० ५५) । सूत्या । 'भोजक्षत्रिये' (ग सू० ५६१) । भोज्या । (१२०१) दैवयज्ञि-शौचि-वृक्षि-सात्यमुग्रि-काण्डेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् ४ । १ । ८१ ॥ एभ्यश्चतुर्भ्यः ष्यङ् वा । अगोत्रार्थमिदम् । गोत्रेऽपि परत्वात्प्रवर्तते । पक्षे 'इतो मनुष्य—' (सू ५२०) इति ङीष् । दैवयज्ञ्या–दैवयज्ञी इत्यादि ।

इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ।

क्रौड्येति । क्रोडस्यापत्यं स्त्रीति विग्रहे अत इञन्तात्ष्यङ्, चाप् । इह 'त्र्यादीनामन्त्यमुत्तमम्' इत्युक्तेर्न गुरूपोत्तमत्वम् । मनुष्यनामत्वे त्वण् । गौकक्ष्यशब्दो गर्गादियञन्तः । तस्य अनणिञन्तत्वेऽपि ष्यङ् । सूत युवत्यामिति । गणसूत्रमिदम् । सूतशब्दो युवत्यां ष्यङं लभत इत्यर्थः । सूत्येति । प्राप्तयौवनेत्यर्थः । जातौ तु सूतीत्येव । भोजक्षत्रिये । इदमपि गणसूत्रम् ।

(१२०१) दैवयज्ञि । अगोत्रार्थमिति । अनन्तरापत्यार्थमित्यर्थः । प्रवर्तते इति । विकल्प इति शेषः । पक्षे इति । ष्यङभावपक्षे इत्यर्थः । दैवयज्ञीति । देवयज्ञस्यापत्यं

इस सूत्र की उपयोगिता है । उदा० १—क्रौड्या । २—व्याड्या । ३—गौकक्ष्या । वा० युवति—अर्थ में 'सूत' शब्द से 'ष्यङ्' हो । उदा० सूत्या । वा० क्षत्रिय अर्थ में 'भोज' से ष्यङ् हो । उदा० भोज्या ।

विवरण—'ष्यङ्'-आदेश का ही प्रकरण है । अतः प्रकृत सूत्र में 'च' का निवेश कर पूर्वसूत्रस्थ (११९९) 'अणिञोः' पद को छोड़ कर शेष सभी अनुवृत्तियों का अनुकर्षण होता है । तदनुसार "गोत्र में वर्तमान क्रौड्यादि प्रातिपदिकों से भी स्त्री-लिङ्ग में 'ष्यङ्' प्रत्यय होता है" । क्रौड्यादि-गण में पढ़े हुए कुछ शब्द इञन्त एवम् अणन्त होते हुए भी 'गुरूपोत्तम' नहीं हैं (जैसे क्रौडि, व्याडि आदि) तथा कुछ गुरूपोत्तम होते हुए भी इञन्त एवम् अणन्त नहीं हैं (जैसे गौकक्ष्य) । अतः यह सूत्र 'अगुरूपोत्तमार्थ' तथा 'अनणिञर्थ'—दोनों के विषय में सार्थक होता है । **उदाहरण**—(१) **क्रौड्या** (क्रौडि की स्त्री-सन्तान) । (२) **व्याड्या** (व्याडि की स्त्री-सन्तान) । (३) **गौकक्ष्या** (गौकक्ष्य की स्त्री-सन्तान) । इन तीनों उदाहरणों में प्रथम तथा द्वितीय उदाहरणों में इञ्-प्रत्यय के स्थान पर 'ष्यङ्' आदेश तथा 'चाप्' प्रत्यय हुआ है । ये दोनों शब्द—'क्रौडि' तथा 'व्याडि'—वस्तुतः गुरूपोत्तम होते हुए भी नहीं माने गए, क्योंकि ये तीन अक्षरों वाले शब्द नहीं हैं । अतः इन्हें 'अगुरूपोत्तम' ही कहा जायगा । तीसरा उदाहरण गौकक्ष्या (गर्गादि होने से) 'यञ्' प्रत्ययान्त है—न कि 'अण्' प्रत्ययान्त । अतः 'अण्' प्रत्ययान्त न होने पर भी 'ष्यङ्' प्रत्यय हुआ । तदनन्तर 'चाप्' होता है ।

यहाँ पर कुछ अन्य उदाहरणों की सिद्धि के लिये तत्सम्बद्ध दो **गण-सूत्रों** का उल्लेख किया जा रहा है । तदनुसार (१) "युवति वाच्य रहने पर 'सूत' शब्द से 'ष्यङ्' प्रत्यय होता है । इसका फल यह होगा कि तदन्त शब्द से यथाप्राप्त 'चाप्' प्रत्यय होने पर **सूत्या** (सूत की युवती कन्या) शब्द निष्पन्न होगा । जाति अर्थ विवक्षित होने पर 'सूती' शब्द निष्पन्न होगा । इसी प्रकार (२) क्षत्रियार्थ विवक्षित होने पर 'भोज' शब्द से 'ष्यङ्' प्रत्यय होता हैं । यहाँ पर भी यथा-नियम 'ष्यङ्'-प्रत्ययान्त से 'चाप्' प्रत्यय होने पर **भोज्या** (भोज क्षत्रियों की कन्या) रूप निष्पन्न होगा ।

(१२०१) **पद**—दैवयज्ञि···काण्डेविद्धिभ्यः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ष्यङ्, (अनुपसर्जनात्), स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

अथ तद्धिते रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्

(१२०२) तेन रक्तं रागात् ४ । २ । १ ॥ रज्यतेऽनेनेति रागः । कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् । माञ्जिष्ठम् । रागात् किम् ? देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम् । (१२०३)

स्त्रीति विग्रहे अत इञन्तात् ष्यङ्विकल्पः । इत्यादीति । शुचिवृक्षस्यापत्यं स्त्री शौचिवृक्ष्या–शौचिवृक्षी । सत्यमुग्रः निपातनान्मुम् । सत्यमुग्रस्यापत्यं स्त्री सात्यमुग्र्या–सात्यमुग्री । काण्डेन विद्धः काण्डेविद्धः । निपातनादेत्वम् । काण्डेविद्धस्यापत्यं स्त्री काण्डेविद्ध्या–काण्डेविद्धी । कण्ठेविद्धीति पाठान्तरम् । कण्ठे विद्धं वेधो यस्य तस्यापत्यम् काण्ठेविद्धिः ।

इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ।

(१२०२) अथ तद्धितरक्ताद्यर्थकप्रकरणं निरूप्यते । तेन रक्तं रागात् । रज्यत इति । रज्यते वर्णान्तरं प्राप्यते अनेनेत्यर्थे रञ्जेः करणे घञि कृते 'घञि च भावकरणयोः'

मूलार्थ—इन चारों से 'ष्यङ्' विकल्प से हो । यह विधान 'अगोत्रार्थ' है, किन्तु 'गोत्र' में भी 'पर' होने के कारण होता है । पक्ष में "इतो मनुष्यजातेः" (सू० ५२०) से ङीष् (भी होगा) । उदा० दैवयज्ञ्या—दैवयज्ञी इत्यादि ।

विवरण—सूत्रोपात्त चारों शब्द 'इञ्' प्रत्ययान्त हैं—दैवयज्ञि, शौचिवृक्षि, सात्यमुग्रि तथा काण्डेविद्धि । अतः इन से गोत्र-प्रत्यय विवक्षित होने पर "अणिञोरनार्षयोः गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे" (४-१-७८) से 'ष्यङ्' आदेश नित्य प्राप्त था । वह विकल्प से हो"—यही इस सूत्र की उपयोगिता है । साक्षात् सन्तान (= अनन्तरापत्य) की विवक्षा में जब 'इञ्' प्रत्यय होगा तो यह अप्राप्त-विभाषा होगी । इस प्रकार यह विभाषा प्राप्ताऽप्राप्त उभयात्मक है । उदाहरण—(१) दैवयज्ञ्या→ 'ष्यङ्' होने पर (देवयज्ञ की पुत्री एवं पौत्री आदि) दैवयज्ञी ←पक्ष में 'ष्यङ्' न होने पर "इतो मनुष्यजातेः" ४-१-६५ से ङीष् । विग्रह—देवयज्ञस्य अपत्यं स्त्री । इसी तरह (२) शौचिवृक्ष्या—शौचिवृक्षी (शुचिवृक्ष की पुत्री या पौत्री आदि) । (३) सात्यमुग्र्या—सात्यमुग्री (सत्यमुग्र की पुत्री या पौत्री आदि) तथा (४) काण्डेविद्ध्या—काण्डेविद्धी (कण्डेविद्ध की पुत्री या पौत्री आदि)—आदि उदाहरण निष्पन्न होंगे ।

विशेष—'सत्यमुग्र' शब्द में निपातन-वश 'मुम्' आगम की कल्पना की जाय । तथा 'कण्डेविद्ध' में निपातन-वश 'ए'कार जाना जाय । विग्रहादि कार्य पूर्ववत् हैं ।

अपत्याधिकार-प्रकरण समाप्त ।

उपक्रम—अपत्यार्थ में विहित प्रत्ययों का निर्वचन करने के उपरान्त लोकोपयोगी विभिन्न अर्थों के सूचक तद्धित प्रत्ययों का विधान किया जारहा है ।

(१२०२) पद—तेन, रक्तं, रागात् । **अनुवृत्ति**—समर्थानां प्रथमाद्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—जिससे रँगा जाय—वह राग है । उदा०—१-कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् । २-माञ्जिष्ठम् । 'रागात्' क्यों कहा ? देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम् (रंग अर्थ न होने से 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ) ।

लाक्षारोचनाट्ठक् ४।२।२॥ लाक्षिकः। रौचनिकः। 'शकलकर्दमाभ्यामुपसङ्ख्यानम्' (वा २६७९)। शाकलिकः। कार्दमिकः। 'आभ्यामणपि' इति वृत्तिः। शाकलः। कार्दमः। 'नील्या अन्' (वा २६८०)। नील्या रक्तं नीलम्। 'पीतात्कन्' (वा २६८१)।

इति नलोपे 'चजोः कुघिण्यतोः' इति कुत्वे उपधावृद्धौ रागशब्द इत्यर्थः। तथा च रागशब्देन रञ्जनसाधनं द्रव्यमुक्तं भवति। तेनेति सामान्यनिर्देशः। तथा च तेन रक्तं वर्णान्तरं प्राप्तमित्यर्थे रागात् रञ्जनद्रव्यवाचकात् तृतीयान्तादण् स्यादित्यर्थः, 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यधिकारात्। **कषायेणेति**। कषायो धातुविशेषः रञ्जनद्रव्यं, तेन रक्तं वर्णान्तरं प्राप्तं काषायमित्यर्थः। **माञ्जिष्ठमिति**। मञ्जिष्ठा नाम रञ्जनद्रव्यविशेषः।

(१२०३) **लाक्षारोचनाट्ठक्**। अणोऽपवादः। **लाक्षिक इति**। पट इति शेषः। लाक्षया रक्त इति विग्रहः। **रौचनिक इति**। (गो) रोचनया रक्त इति विग्रहः। **शाकलिक इति**। शकलं रागद्रव्यविशेषः। **वृत्तिरिति**। भाष्ये तु नैतद् दृष्टम्। **नील्या अनिति**।

विवरण—तद्धित प्रकरणस्थ पूर्वोक्त आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। सूत्रोक्त 'राग' शब्द रंग-विशेष का बोधक है (रज्यते अनेन—रागः—जिससे कोई वस्तु किसी दूसरे रूप में बदल जाय)। इस प्रकार 'राग' शब्द रँगने के साधन-स्वरूप पदार्थ (रंग) का सूचक है। आधिकारिक अनुवृत्तियों के साथ सूत्रस्थ पदों का समन्वय करने पर यह विदित होता है कि—"समर्थों में प्रथम तृतीया-विभक्ति-युक्त समर्थ (तेन) रङ्ग-विशेष-वाची प्रातिपदिक से 'रँगा गया' अर्थ में (रक्तम्) यथा-विहित अणादि प्रत्यय हों"। तदनुसार यहाँ पर तृतीयान्त रङ्गवाची पद से "प्राग्दीव्यतोऽण्" (४-१-८३) से प्राप्त होनेवाला 'अण्' प्रत्यय (कषायेण आदि से) होगा। **उदाहरण**—(१) काषायम् (गेरुए रंग से रँगा हुआ वस्त्र)। **विग्रह**—कषायेण रक्तं वस्त्रम्। **प्रक्रिया**—कषाय+टा, अण्>कषाय+अ (तद्धितान्त से प्रातिपदिकसंज्ञा तथा विभक्ति—लुक्) > काषाय+अ (आदि-वृद्धि) > काषाय+सु ('अ' का लोप) > काषायम् (विभक्ति-कार्य)। (२) **माञ्जिष्ठम्** (मँजीठ में रंगा हुआ कपड़ा)। **विग्रह**—मञ्जिष्ठया रक्तं वस्त्रम्। मञ्जिष्ठा+टा, अण्>मञ्जिष्ठा+अ > माञ्जिष्ठा+अ > माञ्जिष्ठ+सु > माञ्जिष्ठम्।

प्रत्युदाहरण—'रागात्' पद का सूत्र में निवेश होने के कारण **देवदत्तेन रक्तं वस्त्रं** में कोई रँगने वाली वस्तु न होने से (अर्थात् केवल कर्ता का प्रयोग होने से) 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ।

स्मरणीय—इसी प्रकार आगे भी जिस समर्थ प्रातिपदिक से प्रत्यय-विधान किया जायगा वही विभक्ति प्रातिपदिक से संयुक्त कर प्रत्ययोत्पत्ति होगी। यथा—चतुर्थी समर्थ का निर्देश होने पर 'ङे' तथा 'पञ्चमी' समर्थ कहने पर 'ङसि' आदि विभक्तियाँ रहेंगी और उनका 'लुक्' (लोप) यथानियम होगा। तदनन्तर तद्धित-प्रत्यय-निमित्तक कार्य होने के पश्चात् विभक्ति-निमित्तक कार्य सम्पन्न होंगे। यह प्रक्रिया चलती रहेगी। अब आगे केवल विशेष कार्यों का निर्देश ही किया जायगा।

(१२०३) **पद**—लाक्षारोचनात्, ठक्। **अनुवृत्ति**—तेन रक्तं रागात्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—लाक्षिकः। १—रौचनिकः। वा० 'शकल' तथा 'कर्दम' से भी कहा जाय। उदा० १—शाकलिक-। २—कार्दमिकः। वृत्तिकारों ने 'अण् का भी विधान किया है। तदनुसार—शाकलः तथा कार्दमः (रूप बनेंगे)। वा० 'नीली' शब्द से 'अन्' हो। उदा० नील्या रक्तं—नीलम्। वा० 'पीत' से 'कन्' प्रत्यय हो। उदा० पीतकम्। वा० 'हरिद्रा' तथा 'महारजन' शब्दों से 'अञ्' प्रत्यय हो। उदा० हारिद्रम्। २—माहारजनम्।

पीतकम् । 'हरिद्रामहारजनाभ्यामञ्' (वा २६८२)। हारिद्रम् । माहारजनम् ।
(१२०४) नक्षत्रेण युक्तः कालः ४ । २ । ३ ॥ पुष्येण युक्तं पौषमहः । पौषी रात्रिः ।

वक्तव्य इति शेषः । अणोऽपवादः । नीली ओषधिविशेषः । 'पीतात्कन्' अणोऽपवादः । पीतं हरितालकादि द्रव्यम् । हरिद्रामहेति । अणोऽपवादः । स्वरे विशेषः । हरिद्रा प्रसिद्धा । महारजनं नाम रागद्रव्यविशेषः । इति रक्ताधिकारः ।

(१२०४) नक्षत्रेण । अस्मिन्नर्थे प्रथमोच्चारिसात् नक्षत्रवाचकाच्छब्दात् प्राग्दीव्यतीयाः प्रत्यया यथायथं स्युरित्यर्थः । नक्षत्रयुक्तचन्द्रमाः नक्षत्रशब्देन विवक्षितः । पुष्येण युक्तमिति । पुष्ययुक्तचन्द्रमसा युक्तमित्यर्थः । पौषम् अहरिति । पुष्यशब्दादणि 'तिष्यपु-

---

विवरण—पूर्वोक्त सभी आधिकारिक सूत्रों के साथ समग्र पूर्वसूत्र "तेन रक्तं रागात्" (४-२-१) की प्रमुख अनुवृत्ति कर सूत्रस्थ पदों के साथ एकवाक्यता होने पर यह अभिव्यंजित होता है कि "तृतीयासमर्थ राग-विशेषवाची 'लाक्षा' तथा 'रोचना' प्रातिपदिकों से 'रँगा गया' अर्थ में 'ठक्' (= इक) प्रत्यय हो"। 'ठ' को "ठस्येकः" (७-३।५०) से 'इक' आदेश होगा। **उदाहरण**—(१) **लाक्षिकः** (लाख से रँगा हुआ वस्त्र)। **विग्रह**—लाक्षया रक्तः पटः। लाक्षा+ठ (ठक्) > लाक्षा+ इक > लाक्षिकम् । (२) **रौचनिकम्** (गोरोचन से रँगा गया वस्त्र)। **विग्रह**—रोचनया रक्तः पटः। रोचना+ठ (ठक्) > रोचना+इक > रौचना+इक (आदिवृद्धि) > रौचनिकम् ।

इसी अर्थ में अन्य प्रातिपदिकों से 'ठक्' आदि प्रत्ययों का विधान करने के लिये **चार वार्तिक** प्रस्तुत किये जा रहे हैं। प्रथम वार्तिकानुसार 'शकल' तथा 'कर्दम' शब्दों से भी 'रक्त' (रँगा हुआ) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **शाकलिकः** (काले रँग से रँगा हुआ)। **विग्रह**—शकलेन रक्तः। शकल+ठक् (= इक) > शाकलिकः। (२) **कार्दमिकः** (कीचड़ से रँगा हुआ)। **विग्रह**—कर्दमेन रक्तः। कर्दम+ठ (ठक्) >कार्दमिकः। इन दोनों शब्दों से 'अण्' प्रत्यय का भी विधान होने के कारण **शाकलम्** (शकल+अण्) तथा **कार्दमम्** (कर्दम+अण्) रूप निष्पन्न होंगे। किन्तु भाष्य में यह विधान नहीं कहा गया है। द्वितीय **वार्तिक** द्वारा तृतीयान्त **नीली** शब्द से भी 'रक्त' अर्थ में 'अन्' प्रत्यय होता है"। उसका फल यह होगा कि 'णित्' न होने से आदिवृद्धि नहीं होगी। तदनुसार **नीलं** (नील+अन् = अ) वस्त्रम् (नीला वस्त्र) रूप बनेगा। **तृतीय वार्तिक** द्वारा तृतीयान्त **'पीत'** शब्द से 'रक्त' अर्थ में 'कन्' प्रत्यय का विधान बतलाया जा रहा है। इसका उदाहरण **पीतकम्** (पीले रंग अथवा हरताल से रँगा हुआ वस्त्र—पीतेन रक्तं वस्त्रम्—पीत+कन्) है। यह भी 'अण्' का अपवाद है। 'न्' इत् होने से आद्युदात्त। **चतुर्थ वार्तिक** द्वारा "तृतीयान्त **हरिद्रा** तथा **महारजन** शब्दों से 'रक्त' अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय का विधान है"। तदनुसार **हारिद्रम्** (हल्दी से रँगा हुआ) तथा **माहारजनम्** (कुसुम रंग से रँगा हुआ) रूप हैं। 'अञ्' प्रत्यय 'ञित्' होने से आद्युदात्त स्वर होगा। अतः यह भी 'अण्' के बाध करने के लिये है। 'रक्त' अर्थ समाप्त हुआ।

(१२०४) **पद**—नक्षत्रेण युक्तः, कालः। **अनुवृत्ति**—तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—पुष्येण युक्तं—पौषम् अहः। २—पौषी रात्रिः।

विवरण—'युक्तः कालः' अर्थ को अभिलक्षित कर प्रत्यय-विधान किया जारहा है। 'तेन' तथा अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियों के फलस्वरूप सूत्र से यह अभिव्यंजित होता है कि "नक्षत्र-विशेषवाची तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'उन्हीं नक्षत्रों से युक्त काल' (युक्तः कालः) अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय हों"। सूत्र में नक्षत्र शब्द से 'नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा' अर्थ

(१२०५) लुबविशेषे ४ । २ । ४ ॥ पूर्वेण विहितस्य लुप्स्यात् षष्टिदण्डात्मककालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते । अद्य पुष्यः । कथं तर्हि 'पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी' इति ? 'विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः' (सू १२२५) इति निर्देशेन पौर्णमास्यामयं

ष्ययोर्नक्षत्राणि यलोपः' इति यलोपः । पौषी रात्रिरिति । पुष्ययुक्तचन्द्रमसा युक्तेत्यर्थः । अणि यलोपे 'टिड्ढ' इति ङीप् । नक्षत्रेणेति किम् ? चन्द्रेण युक्ता रात्रिः । कालः किम् ? पुष्येण युक्तश्चन्द्रमाः ।

(१२०५) लुबविशेषे । षष्टिदण्डेति । षष्टिघटिकापरिच्छिन्ने काले–एकैकस्मिन् एकैकेन नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्यत इति स्थितिः । तस्य षष्टिदण्डस्य कालस्य अवान्तरविशेषः अहर्वा रात्रिर्वेति न गम्यते चेदित्यर्थः । अद्य पुष्य इति । अद्येत्यव्ययम् अहोरात्रवाचि अधिकरणशक्तिप्रधानम्, इह तु अधिकरणशक्तिविनिर्मुक्तः अहोरात्रकालो विवक्षितः । तथा च अयमहोरात्रः पुष्ययुक्तचन्द्रमसा युक्त इत्यर्थः । अहर्वा रात्रिर्वेति विशेषानवगमादणो लुप् । कथं तर्हीति । पौर्णमास्याः षष्टिदण्डात्मिकाया अवान्तरविशेषानवगमा-

---

विवक्षित है । उदाहरण—(१) पौषम् अहः (पुष्य नक्षत्र से युक्त दिन अर्थात् जिस दिन चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र का हो) । विग्रह—पुष्येण युक्तम् अहः । पुष्य+अण् (अ) > पौष्य्+अ (आदिवृद्धि) > पौष्य् +अ ('अ'-लोप) ▷ पौष ('य्' का लोप—'तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि 'य'लोप इति वाच्यम्'-वा०) > पौषम् (विभक्ति-कार्य) । स्त्रीलिङ्ग में पौषी रात्रिः (पुष्य नक्षत्र से युक्त चन्द्रमा वाली रात—ङीप्—"टिड्ढाणञ्०" ४-१-१५) ।

विशेष—'पुष्य' शब्द अनेकार्थक है । मास, नक्षत्र तथा कलियुग आदि अर्थ का यह बोधक है । इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'कार्यों का साधन करने वाला—(पुष्णाति कार्याणि—√पुष् +य) । तदनुसार 'पुष्य' नक्षत्र (चन्द्रमा से युक्त) अतीव शुभ माना जाता है ।

(१२०५) पद—लुप्, अविशेषे । **अनुवृत्ति**—तेन, नक्षत्रेण युक्तः कालः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—साठ घड़ी काल का अवान्तर-विशेष गम्य न हो तो पूर्वविहित प्रत्यय का लोप हो । उदा० अद्य पुष्यः ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है । काल की अवधि का उल्लेख न होने पर विहित प्रत्यय का प्रसङ्ग-वश लोप बतलाया जा रहा है । अतः सूत्र में **अविशेष** पद महत्त्वपूर्ण है । जिसका अर्थ है—सामान्य । यहाँ सामान्य से तात्पर्य यह है कि 'रात या दिन के निश्चित क्षण का बोध न होना' । उद्देश्यवाची पद अणादि प्रत्यय का लाभ पूर्व सूत्र (१२०४) से होता है । अतः सूत्रार्थ यह होगा कि "यदि साठ घड़ी वाले (=२४ घण्टे) समय का अवान्तर भेद (=अविशेषे) न बतलाया गया हो तो पूर्वसूत्र से नक्षत्र-वाची शब्दों से विहित (अर्थात् सामान्यतया केवल नक्षत्र योग कहना हो तो) प्रत्यय का लोप होता है" । तदनुसार **उदाहरण**—अद्य पुष्यः से सामान्यतया यह बोध होता है कि 'आज का दिन पुष्य नक्षत्र से युक्त है' । किन्तु यह नहीं कहा गया कि २४ घण्टों में से कितनी अवधि तक (रात्रि में या दिन में) पुष्य नक्षत्र-युक्त चन्द्रमा है । इस प्रकार यहाँ कालघटित अवान्तर विभागों की विवक्षा नहीं है । अतः 'पुष्य' से विहित 'अण्' प्रत्यय का लोप होने पर "न लुमताङ्गस्य" (१-१-६२) से प्रत्यय-लक्षण का निषेध हो जाने के कारण आदिवृद्धि आदि कार्य नहीं होते ।

विशेष—इस सूत्र के अनुसार 'पौषी पौर्णमासी' प्रयोग की समीचीनता का उपाय बतलाया जा रहा है, यहाँ भी पौर्णमासी में पुष्य की अवधि का कोई उल्लेख नहीं है । अतः 'अण्' प्रत्यय

लुब्नेति ज्ञापितत्वात् । श्रवणशब्दात्तु अत एव लुप् युक्तवद्भावाभावश्च । अबाधकान्यपि निपातनानि । श्रावणी । (१२०६) सञ्ज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम् ४ । २ । ५ ॥ विशेषार्थोऽयमारम्भः । श्रवणा रात्रिः । अश्वत्थो मुहूर्तः । सञ्ज्ञायाम् किम् ? श्रावणी ।

दिह लुप् स्यादित्याक्षेपः । समाधत्ते—विभाषेति । फाल्गुनीकार्तिकीचैत्रीशब्दानां नक्षत्राण्विशिष्टानां पौर्णमास्यां प्रयोगदर्शनेन पौर्णमास्यां नक्षत्रयुक्तानां 'लुबविशेषे' इत्ययं लुप् नेति ज्ञापितत्वात् पौषी पौर्णमासीत्यत्र न लुबित्यर्थः । ननु तर्हि श्रवणयुक्तपौर्णमास्यां लुबभावात् कथं श्रवणेति निर्देश इत्यत आह—श्रवणशब्दात्त्वत एव लुबिति । श्रवणेति निपातनादेव पौर्णमास्यां लुबित्यर्थः । ननु 'कृत्तिका श्रवणः पुष्यः चित्रास्वात्योर्यदन्तरम् ।' इत्यादौ श्रवणशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वदर्शनेन तस्मादणो लुपि कृते 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' इति पुंल्लिङ्गत्वावश्यम्भावाच्छ्रवणेति कथं स्त्रीलिङ्गतेत्यत आह—युक्तवद्भावाभावश्चेति । निपातनादिति शेषः । ननु तर्हि श्रावणीति नैव स्यादित्यत आह—अबाधकान्यपि निपातनानीति । इयं परिभाषा वृत्तौ स्थिता । सर्वादिसूत्रभाष्ये तु 'बाधकान्येव निपातनानि' इत्युक्तम् ।

(१२०६) सञ्ज्ञायाम् । श्रवणाश्वत्थाभ्यां परस्य नक्षत्रप्रत्ययस्य लुप् स्यात्सञ्ज्ञायामित्यर्थः । ननु 'लुबविशेषे' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—विशेषार्थोऽयमारम्भ

का लोप हो जाने पर 'टाप्' प्रत्यय संयुक्त होकर 'पुष्या पौर्णमासी' प्रयोग किया जाना चाहिये । समाधान यह दिया गया है कि पाणिनि ने "विभाषा फाल्गुनी-श्रवणा-कार्तिकी-चैत्रीभ्यः" (४-२-२३) सूत्र में 'फाल्गुनी' 'कार्तिकी' तथा 'चैत्री' शब्दों का निवेश किया है, अतः यह ज्ञापित होता है कि 'पौर्णमासी' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय का लोप निपातन-वश नहीं होता । सूत्र में ही 'श्रवणा' पद का प्रयोग यह भी ज्ञापन करता है कि 'श्रवण' नक्षत्र के योग में 'पौर्णमासी' अर्थ की विवक्षा में 'अण्' प्रत्यय का लोप हो जाता है । अतः 'पौषी पौर्णमासी' समीचीन प्रयोग है ।

निपातन के विषय में दो मत हैं—(१) अबाधकानि निपातनानि तथा (२) बाधकानि निपातनानि । प्रथम मतानुसार 'श्रावणी' (श्रवणेन युक्ता पौर्णमासी) प्रयोग भी समीचीन माना जाता है, क्योंकि यहाँ 'अण्' प्रत्यय का लोप नहीं हुआ है । द्वितीय मतानुसार 'श्रवणा' शब्द का प्रयोग "विभाषा फाल्गुनी०" (४-२-२३) सूत्र के अनुसार 'फाल्गुनी' आदि अन्य प्रयोगों के कारण 'पौर्णमासी' के योग में सामान्यतया नहीं होना चाहिये था, किन्तु वहीं पर ही 'श्रवणा' का निवेश होने से उस निपातन का बाध किया गया है ।

वस्तुतः भाष्यमतानुसार 'श्रवणा' में 'लुप्' का विधान निपातन से न कर उक्त ज्ञापन की अनित्यता का आश्रयण लेते हुए किया जाय । जिससे "सर्वादीनि सर्वनामानि" (१-२-१) सूत्र के भाष्य में वर्णित 'बाधकान्येव निपातनानि'—इस सिद्धान्त की स्थिरता में कोई बाधा उपस्थित न हो[1] ।

(१२०६) पद—संज्ञायां, श्रवणाश्वत्थाभ्याम् । **अनुवृत्ति**—लुप् , तेन, नक्षत्रेण युक्तः कालः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—प्रयोजन-विशेष के लिये यह सूत्र है । उदा० १—श्रवणा रात्रिः । २—अश्वत्थः मुहूर्तः । 'संज्ञायाम्' क्यों कहा ? १—श्रावणी तथा २—आश्वत्थी (में 'अण्' का लोप नहीं हुआ) ।

---

१. "बाधकान्येव हि निपातनानि भवन्ति" (१-१-२६) ।

आश्वत्थी । (१२०७) द्वन्द्वाच्छः ४ । २ । ६ ॥ नक्षत्रद्वन्द्वाद्युक्ते काले छः स्याद्विशेषे सत्यसति च । तिष्यपुनर्वसवीयमहः । राधानुराधीया रात्रिः । (१२०८) दृष्टं साम

इति । श्रवणा रात्रिरिति । श्रवणयुक्तचन्द्रमसा युक्ता रात्रिरित्यर्थः । 'विभाषा फाल्गुनी-श्रवणा' इति सूत्रे श्रवणेति निर्देशस्य सामान्यापेक्षत्वात् अपौर्णमास्यामपि युक्तवद्भावो नेति विज्ञायते । अतः श्रवणा रात्रिरिति सिद्धमिति प्रकृतसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । अश्वत्थो मुहूर्त इति । अश्वत्थो नाम अश्विनीनक्षत्रम् । तेन युक्तः अश्वत्थः मुहूर्तविशेषो ज्योतिषे प्रसिद्धः ।

(१२०७) द्वन्द्वाच्छः । तिष्यपुनर्वसवीयमहरिति । तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसू, ताभ्यां युक्तमहरिति विग्रहः । छस्य ईयादेशे ओर्गुणः । राधानुराधीया रात्रिरिति । राधेति विशाखानक्षत्रमुच्यते । राधा च अनुराधाश्च राधानुराधाः तद्युक्ता रात्रिरित्यर्थः ।

विवरण—विशेष अर्थ को अभिलक्षित कर सूत्रोक्त दो शब्दों से 'अण्' के लोप का विधान किया जा रहा है । विषय पूर्व सूत्र से सम्बद्ध है, अतः उल्लिखित सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "तृतीया समर्थ नक्षत्र-वाची 'श्रवण' तथा 'अश्वत्थ' शब्दों से 'युक्तः कालः' अर्थ में विहित प्रत्यय का संज्ञा के विषय में सर्वत्र (विशेष अथवा अविशेष दोनों के कथन में) लोप होता है" । "लुबविशेषे" (४-२-३) सूत्र से अविशेष में ही लोप प्राप्त रहा, अतः विशेषार्थ के लिये यह पृथक् विधान है । **उदाहरण**—(१) श्रवणा रात्रिः (श्रवण नक्षत्र युक्त चन्द्रमा वाली रात) । **विग्रह**—श्रवणेन युक्ता रात्रिः । श्रवण+अण् > श्रवण+टाप् >श्रवणा यह उस रात की संज्ञा है । "विभाषा फाल्गुनी०" (४-२-२३) सूत्र में निर्दिष्ट 'श्रवणा' पद के ज्ञापकवश संज्ञा में भी 'श्रवण' शब्द में युक्तवद्भाव नहीं हुआ । (२) अश्वत्थः मुहूर्तः (अश्विनी नक्षत्र वाला एक विशेष मुहूर्त) । **विग्रह**—अश्वत्थेन युक्तः कालः । अश्वत्थ+अण् > अश्वत्थः ('अण्' का लोप) । दोनों स्थलों में विशेष अर्थ की प्रतीति है ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'संज्ञा' पद का निवेश होने से श्रावणी तथा आश्वत्थी दोनों उदाहरणों में यौगिक शब्द माने जाने के कारण 'अण्' प्रत्यय का लोप नहीं हुआ । अतः स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' होता है ।

(१२०७) पद—द्वन्द्वात्, छः । **अनुवृत्ति**—तेन, नक्षत्रेण युक्तः कालः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—नक्षत्र-वाचक शब्दों का द्वन्द्व समास होने पर तद्युक्त-काल में (विशेष अथवा अविशेष में) 'छ' प्रत्यय होता है । उदा० १-तिष्यपुनर्वसवीयम् अहः । २-राधानुराधीया रात्रिः ।

विवरण—'लुप्' का ही प्रकरण है । अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्रवत् अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "तृतीयान्त द्वन्द्व-समास-युक्त नक्षत्रवाची शब्दों से—विशेष एवम् अविशेष दोनों के ही कथन में—'युक्तः कालः' अर्थ में 'छ' प्रत्यय (= ईय) हो" । **उदाहरण**—(१) तिष्यपुनर्वसवीयम् अहः (पुष्य तथा पुनर्वसु नक्षत्रवाला दिन) । **विग्रह**—तिष्यश्च पुनर्वसू च—तिष्यपुनर्वसू (द्वन्द्व समास), ताभ्यां युक्तम् अहः । तिष्यपुनर्वसू+छ > तिष्यपुनर्वसू+ईय (छ=ईय) > तिष्यपुनर्वसो+ईय (ऊ=ओ-गुण→"ओर्गुणः ६-४-१४६) > तिष्यपुनर्वसवीयम् (ओ=अव् तथा नपुंसकलिङ्ग प्रथमा का एकवचन) । (२) राधानुराधीया रात्रिः (विशाखा तथा अनुराधा नक्षत्रवाली रात) । **विग्रह**—राधा च अनुराधाश्च—राधानुराधाः (द्वन्द्व समास), ताभिः युक्ता रात्रिः । राधानुराधा+छ > राधानुराध्+ईय > राधानुराधीय +टाप् >राधानुराधीया । 'मध्ये अपवाद' न्याय से "लुबविशेषे" (४-२-३) सूत्र 'अण्' प्रत्यय का ही लोप करता है, 'छ' का नहीं ।'नक्षत्रेण युक्तः कालः' अर्थ समाप्त होता है ।

४।२।७॥ तेनेत्येव। वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम। 'अस्मिन्नर्थेऽण् डिद्वा वक्तव्यः' (वा २६९०)। उशनसा दृष्टमौशनम्–औशनसम्। (१२०९) कलेर्ढक् ४।२।८॥

(१२०८) दृष्टं साम। तेनेत्येवेति। अनुवर्तत एवेत्यर्थः। तेन दृष्टं सामेत्यर्थे तृतीयान्तादणादयः स्युरित्यर्थः। अस्मिन्नर्थे इति। 'दृष्टं साम' इत्यर्थे यः अण् सः डिद्वेत्यर्थः। औशनमिति। अणि टिलोपपक्षे रूपम्।

(१२०९) कलेर्ढक्।

(१२०८) पद—दृष्टं, साम। अनुवृत्ति—तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—तृतीयान्त से ही हो। उदा० वसिष्ठेन दृष्टं—वासिष्ठं साम। वा० इस अर्थ में 'अण्' प्रत्यय विकल्प से 'ड'कार-इत्संज्ञक के समान जाना जाय। उदा० उशनसा दृष्टम् > औशनम्—औशनसम्।

विवरण—रक्तादि अर्थ के अन्तर्गत तीसरे अर्थ 'दृष्टं साम' के सम्बन्ध में बतलाया जा रहा है। "तेन रक्तं रागात्" (४-२-१) से 'तेन' पद की प्रमुख अनुवृत्ति चली आ रही है। शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार "तृतीयान्त समर्थ से 'सामवेद को देखा' (अर्थात् सामवेद की ऋचा का साक्षात्कार किया) अर्थ में यथाविहित (अण् आदि) प्रत्यय होते हैं"। उदाहरण—वासिष्ठं साम (सामवेद का वह भाग जिसको वसिष्ठ ऋषि ने देखा था)। विग्रह—वसिष्ठेन दृष्टं साम। वसिष्ठ+अण् (अ) > वासिष्ठम् ('अ' लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। वार्तिक—"दृष्ट अर्थ में 'अण्' प्रत्यय विकल्प से 'डित्' होता है। इसके फलस्वरूप औशनम् (शुक्राचार्य द्वारा देखा गया सामवेद का भाग) में उशनस्+अण् > औशनस्+अ > औशनः। "टेः" ६-४-१४३ सूत्र से 'भ' संज्ञक अङ्ग की (टि) 'अस्' का लोप हो गया। 'डित्' न होने से 'टि' का लोप प्राप्त नहीं था। पक्ष में (डिद्वद्भाव न होने पर) औशनसम् (उशनस्+अण्—आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य)। विग्रह—उशनसा दृष्टं साम।

(१२०९) पद—कलेः, ढक्। अनुवृत्ति—तेन, दृष्टं साम, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० कलिना दृष्टं—कालेयं साम।

विवरण—"तृतीयान्त समर्थ 'कलि' शब्द से 'दृष्टं साम' अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—कालेयं साम (कलि द्वारा देखा गया सामवेद का भाग)। विग्रह—कलिना दृष्टम्। कलि+ढ (ढक्) > कलि+एय (ढ = एय) > कल्+एय ('भ'-संज्ञाप्रयुक्त 'इ' का लोप > कालेयम् (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। यद्यपि क्रमविषय 'साम' नित्य है, वह 'कलि' से दृष्ट नहीं हो सकता तथापि साम-सम्बन्धी विशिष्ट कार्य-विषयक विनियोग का ज्ञान द्वारा दर्शन ही यहाँ अपेक्षित है।

विशेष—महाभाष्य में यह सूत्र के रूप में नहीं दिखाया गया है। "दृष्टं साम" (४-२-७) सूत्र में वार्तिक-द्वारा 'कलि' शब्द से 'दृष्टं साम' अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय का विधान किया गया है—"दृष्टं साम कलेर्ढक् च"। तदनन्तर प्राग्दीव्यतीय सभी अर्थों में अग्नि तथा कलि इन दोनों शब्दों से 'ढक्' प्रत्यय का विधान बतलाया है—"सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढक्"। 'बालमनोरमाकार' ने इस सूत्र की व्याख्या नहीं की है। शेखरकार नागेश ने भी इसे वार्तिक ही बतलाया है—"कलेर्ढगिति वार्तिकम्"।

कलिना दृष्टं कालेयं साम । (१२१०) वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ ४ । २ । ९ ॥ वामदेवेन दृष्टं साम् वामदेव्यम् ।

'सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थं ययतौ डितौ ।
ग्रहणं माऽतदर्थे भूद्वामदेव्यस्य नञ्स्वरे ॥'

(१२१०) वामदेवाड्डचड्डचौ । वामदेव्यमिति । डित्वाट्टिलोपः । तित्वं स्वरार्थम् । ननु 'यस्येति च' इति लोपेन सिद्धे किमर्थमिह डित्करणमिति चेत् ? सत्यम्—ययतोरेव विधौ 'ययतोश्चातदर्थे' इति नञः परस्य ययदन्तस्यान्तोदात्तस्वरविधौ अनयोर्ग्रहणं स्यात्, तदभावार्थं डित्करणम् । डित्करणे सति तु स्वरविधावनयोर्न ग्रहणम्, 'निरनुबन्धकग्रहणे सति न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्' इति परिभाषया 'तदनुबन्धकग्रहणे सति नातदनुबन्धकस्य' इति परिभाषया च तन्निवृत्तिर्भवति । एते तु परिभाषे इहैव ज्ञाप्येते । तथा च अवामदेव्यमित्यत्रायं स्वरो न भवति । एतत्सङ्ग्राहकं भाष्यस्थं श्लोकं पठति—सिद्धे यस्येत्यादि । अत्र पूर्वार्धमाक्षेपपरम् । 'यस्य' इति लोपेन सिद्धे ययतौ किमर्थं डितौ कृतावित्यर्थः । ग्रहणमिति । वामदेव्यशब्दस्य नञ्स्वरे नञाश्रयस्वरविधौ अतदर्थे 'ययतोश्चातदर्थे' इति सूत्रे अनयोड्यड्ड्ययोर्ग्रहणं मा भूदित्येतदर्थं डित्करणमित्यर्थः ।

(१२१०) पद—वामदेवात्, ड्यत्-ड्यौ । अनुवृत्ति—तेन, दृष्टं साम, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० वामदेवेन दृष्टं साम—वामदेव्यम् । भाष्य की कारिका का अर्थ—"'य' एवं 'यत्' प्रत्यय करने पर भी "यस्येति च" (६-४-१४८) सूत्र से 'अ' का लोप करने पर उक्त प्रयोग सिद्ध हो सकते थे, अतः डित्करण का क्या प्रयोजन है"? उत्तर यह है कि "अतदर्थ को अभिलक्षित कर 'अवामदेव्यम्' में ('वामदेव्य' के नञ्-स्वर में) 'डय' तथा 'डयत्' का ग्रहण न हो" ।

विवरण—'दृष्टं साम' अर्थ का ही प्रकरण है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्रवत् हैं" । अतः सूत्र से यह विदित होता है कि "तृतीयान्त 'वामदेव' शब्द से 'देखा गया साम' अर्थ में 'डयत्' और 'डय' प्रत्यय हों" । यह "प्राग्दीव्यतोऽण्" (४-१-८३) से प्राप्त सामान्य 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है । 'डयत्' में 'ड्' तथा 'त्' इत्संज्ञक हैं । केवल 'य' रह जाता है । इसी प्रकार 'डय' में भी 'ड्' की इत्संज्ञा होने से 'य' शेष रहता है । दोनों प्रत्ययों में अन्तर केवल स्वर का है । 'डयत्' प्रत्यय करने पर "तित्स्वरितम्" (६-१-१७९) से अन्त स्वरित (वामदेव्य) तथा 'डय' करने पर "आद्युदात्तश्च" (३-१-३) होने से अन्तोदात्त होगा (वामदेव्य) । उदाहरण—वामदेव्यम् (वामदेव ऋषि द्वारा देखा गया साम) । विग्रह—वामदेवेन दृष्टं साम । वामदेव्+य ('डयत्' अथवा डय) > वामदेव्यम् । 'डित्' होने से "टेः" ६-४-१४७ से 'अ' का लोप ।

शङ्का-समाधान—प्रकृत सूत्र से विधीयमान 'डयत्' और 'डय' प्रत्ययों के स्थान पर यदि 'यत्' और 'य' प्रत्ययों का विधान किया जाय तो इष्ट रूपों की सिद्धि के साथ ही स्वरों का अन्तर भी स्वतः सिद्ध रहा । इन प्रत्ययों में 'ड्' इत्संज्ञक का समावेश क्यों किया ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यद्यपि 'वामदेव' से 'यत्' एवं 'य' तथा 'डयत्' एवं 'डय' प्रत्ययों के करने पर 'वामदेव्यम्' रूपसाम्य तो अवश्य है, तथापि 'डित्' करण व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि 'निरनुबन्धक' (बिना इत्संज्ञक) के ग्रहण में 'सानुबन्धक' (इत्संज्ञक सहित) का ग्रहण नहीं होता' (निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्-परिभाषा) तथा 'एक अनुबन्धक के ग्रहण में दो अनुबन्धकों का ग्रहण नहीं होता' (एकानुबन्धकस्य ग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य ग्रहणम्—परि-

इति भाष्यम् । (१२११) **परिवृतो रथः ४ । २ । १० ॥** वस्त्रैः परिवृतो वास्त्रो रथः । रथः किम् ? वस्त्रेण परिवृतः कायः । समन्ताद्वेष्टितः परिवृत उच्यते । तेनेह न—छात्रैः परिवृतो रथः । (१२१२) **पाण्डुकम्बलादिनिः ४ । २ । ११ ॥** पाण्डुकम्बलेन परिवृतः पाण्डुकम्बली । पाण्डुकम्बलशब्दो राजास्तरणवर्णकम्बलस्य

(१२११) परिवृतो रथः । तेनेत्यनुवर्तते । तेन परिवृतो रथः इत्यर्थे तृतीयान्तादणादयः स्युरित्यर्थः । ननु छात्रैः परिवृतो रथ इत्यत्रापि स्यादित्यत आह—समन्ताद्वेष्टितः । परिवृत इत्युच्यत इति । रथस्य समन्तादाच्छादनार्थं यद्वस्त्रादिकं रथावयवभूतं तद्वाचकादेवेत्याशयः, एकान्तग्रहणमिति वार्तिकात् ।

(१२१२) पाण्डुकम्बलादिनिः । तेनेति परिवृतो रथ इति चानुवर्तते । इनिप्रत्यये

भाषा) । इस ज्ञापन के फलस्वरूप उत्तरपद के अन्त में उदात्त विधान करने वाले सूत्र "ययतोश्चातदर्थे" (६-२-१५६) में 'य' एवं 'यत' के कथन से रूपसाम्य होने पर उक्त दोनों परिभाषाओं के सहयोग से 'ङ्य' तथा ङ्यत्' प्रत्ययों का संग्रह नहीं होता । अतः अवामदेव्यम् (नञ्-पूर्वक वामदेव्यम्) में "ययतोश्चातदर्थे" (६-२-१५६) से विधीयमान 'नञ्' से पर 'य' एवम् 'यत' प्रत्ययान्त उत्तर पद को अन्तोदात्तत्व नहीं हुआ, क्योंकि सूत्र में निरनुबन्धक का ग्रहण है । तदनुसार 'अवामदेव्य' में 'नञ्' को अव्यय मान कर आद्युदात्त होता है—'निपाता आद्युदात्ताः' । अन्यथा यहाँ भी सामान्यतः उत्तरपद को अभिलक्षित कर अन्तोदात्त हो जाने से अनिष्ट रूप की प्रसक्ति होती ।

(१२११) पद—परिवृतः, रथः । अनुवृत्ति—तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० वस्त्रैः परिवृतः—वास्त्रः रथः । 'रथः' क्यों कहा ? वस्त्रेण परिवृतः कायः ('अण्' नहीं हुआ) । 'परिवृत' से 'लपेटा हुआ' अर्थ सूचित होता है ।

विवरण—'परिवृतः रथः' अर्थ का समावेश किया जा रहा है । 'तेन' की प्रमुख अनुवृत्ति चली आ रही है । वह प्राकरणिक अनुवर्तमान पदों के साथ अन्वित होकर सूत्रार्थ निष्पन्न करती है । अतः "'उससे ढका हुआ रथ' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—**वास्त्रः रथः** (कपड़े से ढका हुआ रथ) । **विग्रह**—वस्त्रेण परिवृतः रथः । वस्त्र+अ (अण्) > वास्त्रः (अलोप तथा आदिवृद्धि) ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'रथः' पद का निवेश होने से **वस्त्रेण परिवृतः कायः** (कपड़े से लिपटा हुआ शरीर) में वेष्टित वस्तु रथातिरिक्त अर्थात् शरीर होने के कारण 'अण्' नहीं होता । (२) 'परिवृत' का अर्थ वेष्टित रूप में अपेक्षित होने से **छात्रैः परिवृतः रथः** (छात्रों से घिरा हुआ रथ) में भी 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ ।

विशेष—कपड़े से वेष्टित रथ में 'कपड़ा' रथ के अवयव (अङ्ग) के रूप में समाविष्ट होता है । इस सम्बन्ध में 'तदेकान्तग्रहणम्' वार्तिक प्रमाण रूप में दिया जाता है । जिससे यह विदित होता है कि रथ को लपेटने वाला वस्त्र उसके अवयव (एकान्त) स्वरूप समझा जायगा—'येन परिवृतो रथस्तद् एकान्तवद्भवतीति वक्तव्यम्' । अर्थात् रथ के निर्माण में जहाँ वस्त्र का उपयोग किया जायगा वहाँ ही 'अण्' प्रत्यय होगा ।

(१२१२) पद—पाण्डुकम्बलात्, इनिः । अनुवृत्ति—परिवृतः रथः, तेन, तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

वाचकः। मत्वर्थीयेनैव सिद्धे वचनमणो निवृत्त्यर्थम्। (१२१३) द्वैपवैयाघ्रादञ् ४।२।१२॥ द्वीपिनो विकारो द्वैपम्। तेन परिवृतो द्वैपो रथः। एवं वैयाघ्रः। (१२१४) कौमारापूर्ववचने ४।२।१३॥ कौमार इत्यविभक्तिको निर्देशः। अपूर्वत्वे

नकारादिकार उच्चारणार्थः। ननु 'अत इनिठनौ' इति मत्वर्थीयेन इनैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अणो निवृत्त्यर्थमिति।

(१२१३) द्वैपवैयाघ्रादञ्। तेनेति परिवृतो रथ इति चानुवर्तते। तृतीयान्ताद् द्वैपशब्दाद्वैयाघ्रशब्दाच्च परिवृतो रथ इत्यर्थे अञ् स्यादित्यर्थः। अणोऽपवादः। स्वरे विशेषः। द्वीपिन इति। द्वीपी व्याघ्रः, तस्य विकारः चर्मेत्यर्थे 'प्राणिरजतादिभ्यः' इत्यञि द्वैपशब्द इत्यर्थः। एवं वैयाघ्र इति। व्याघ्रस्य चर्म, वैयाघ्रम्। अञि 'न य्वाभ्याम्' इत्यैच्। तेन परिवृतो वैयाघ्र इति भावः।

(१२१४) कौमारापूर्ववचने। तेनेति परिवृतो रथ इति च निवृत्तम्। अविभक्तिक

मूलार्थ—उदा० पाण्डुकम्बलेन परिवृतः—पाण्डुकम्बली। सफेद ऊनी कम्बल (राजाओं के आस्तरण) को 'पाण्डुकम्बल' कहते हैं। मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय की समानता होने पर भी 'अण्' का यह अपवाद है।

विवरण—पूर्व सूत्र ("परिवृतः रथः" ४-२-१०) का ही विषय है। विशेषता होने के कारण 'इनि' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। अतः "'तृतीयान्त समर्थ पाण्डुकम्बल प्रातिपदिक से 'ढका हुआ रथ' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है"। 'इनि' में अन्तिम 'इ' उच्चारणार्थ होने के फलस्वरूप उसकी इत्संज्ञा होने से 'इन्' अवशिष्ट रहता है। **उदाहरण—पाण्डुकम्बली रथः** (सफेद कम्बल से वेष्टित रथ)। पाण्डुकम्बल्+इन् (इनि) > पाण्डुकम्बलिन् ('अ' का लोप) > पाण्डुकम्बली (प्रथमा एकवचन में 'इ' को दीर्घ, 'सु' विभक्ति का लोप एवं 'न्' का लोप)।

विशेष—(१) श्वेत कम्बल से परिवेष्टित होने के कारण रथ की महत्ता सूचित होता है।

(२) मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय ("अत इनि-ठनौ" ५-२-११५) से इष्ट रूप सिद्ध होने पर भी यहाँ पृथक् 'इनि' प्रत्यय का विधान 'अण्' का बाध करने के लिये चरितार्थ होता है।

(१२१३) पद—द्वैपवैयाघ्राद्, अञ्। **अनुवृत्ति**—परिवृतो रथः, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—१—'द्वैप' अर्थात् हाथी का चमड़ा—उससे वेष्टित रथ-द्वैपः। एवं २—वैयाघ्रः।

विवरण—'परिवृतः रथः' अर्थ का ही प्रकरण है। अतः "तृतीयान्त समर्थ 'द्वैप' तथा 'वैयाघ्र' प्रातिपदिकों से 'आच्छादित हुआ रथ' अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है"। यह भी 'अण्' का अपवाद-सूत्र है। 'अण्' तथा 'अञ्' में स्वर का भेद है। **उदाहरण**—द्वैपः रथः (चीते के चमड़े से आच्छादित रथ)। **प्रक्रिया**—(क) द्वीपिनः विकारः—द्वैपम्-अर्थात् चर्म→चीते का चमड़ा←(द्वीपिन्+अञ्—"प्राणिरजदतादिभ्योऽञ्" ४-३-१५४) > द्वैप। (ख) पुनः विग्रह—द्वैपेन परिवृतः रथः। द्वैप्+अ (अञ्) > द्वैपः। (२) वैयाघ्रः (व्याघ्रचर्म से आच्छादित रथ)। **प्रक्रिया**—(क) व्याघ्र+अ (अञ्) > वैयाघ्रम्। ('ऐच्' आगम—"न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" ७-३-३)। (ख) विग्रह—वैयाघ्रेण परिवृतः रथः→वैयाघ्र्+अ (अञ्) > वैयाघ्रम (’अ’लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

(१२१४) पद—कौमार, अपूर्ववचने। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

निपातनमिदम् । अपूर्वपतिं कुमारीं पतिरुपपन्नः-कौमारः । यद्वा । अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना कौमारी-भार्या । (१२१५) तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ४ । २ । १४ ॥ शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः । उद्धरतिरिहोद्धरणपूर्वके निधाने वर्तते । तेन सप्तमी । उद्धृत्य

इति । लुप्तप्रथमाक इति भावः । अपूर्वशब्दो भावप्रधान इत्याह—अपूर्वत्वे निपातनमिद-मिति । न पूर्वः पतिर्यस्याः सा अपूर्वपतिः, तां कुमारीमुपयतवान् पतिरित्यर्थे द्वितीया-न्तात् कुमारीशब्दादण् स्यादित्येकोऽर्थः । कुमारी अपूर्वं पतिमुपपन्नेत्यर्थे प्रथमान्ता-त्कुमारीशब्दादण् स्यादित्यन्योऽर्थः । आद्ये उदाहरति—अपूर्वपतिमिति । द्वितीये उदा-हरति—यद्वेत्यादि । आद्ये उपयन्तरि प्रत्ययः । द्वितीये उपयतायां स्वार्थे प्रत्यय इति विवेकः ।

(१२१५) तत्रोद्धृतम् । तत्रोद्धृतमित्यर्थे अमत्रवाचकशब्दात् सप्तम्यन्तात् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । अमत्रं भाजनं शरावादि । ननु उद्धरणपृथक्करणे शरावस्यापादानत्वात् कथं सप्तमीत्यत आह—उद्धरतिरिहेति । 'सास्मिन्पौर्णमासी' इत्यतः प्राक् तत्रेत्यनुवर्तते ।

मूलार्थ—'कौमार' शब्द लुप्त-विभक्त्यन्त है । अपूर्वत्व में यह निपातन है । **उदाहरण**—'अपूर्वपति कुमारी को प्राप्त हुआ पति' अर्थ में कौमारः←पतिः । अथवा 'अपूर्वपति कुमारी पति को प्राप्त हुई' अर्थ में→कौमारी भार्या ।

विवरण—'परिवृतः रथः' अर्थ की निवृत्ति हो गई है । सूत्र में 'कौमार' पद लुप्त प्रथमा विभक्त्यन्त (= कौमारः) है । अर्थबोधक शब्द—'अपूर्ववचने' है । तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "अपूर्ववचन द्योतित होता हो तो अण्-प्रत्ययान्त 'कौमार' शब्द निपातन किया जाय" । जिसका पाणिग्रहण न हुआ हो—वह अपूर्ववचन है । यह 'अपूर्ववचन' कुमारी को अभि-लक्षित कर समझा जाय, पति को अभिलक्षित कर नहीं । पुरुष अपूर्व भार्यायुक्त रहे या न रहे । 'अपूर्व' शब्द भावसाधन होने के कारण 'कुमार' शब्दार्थगत ही लिया गया है, न कि 'पति' शब्दार्थ गत । इस प्रकार योग्यता-बल से ही 'द्वितीयान्त' अथवा 'प्रथमान्त' (कुमार शब्द) से अण् प्रत्यय कर 'कौमारः' यह निपातन समझा जाय । अतः यह निपातन 'पुंलिङ्ग' तथा 'स्त्रीलिङ्ग' दोनों में स्त्री के अपूर्वत्व कथन में ही होगा । तदनुसार पुंलिङ्ग में उदाहरण (क) कौमारः पतिः (अपूर्व पतिवाली कुमारी को प्राप्त हुआ पति) । **विग्रह**—अपूर्वपतिं कुमारीं पतिः उपपन्नः । **प्रक्रिया**—कुमारी+अ (अण्) > कौमारः ('ई' लोप आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य (द्वितीया समर्थ से उपयन्ता (पति) अर्थ में 'अण्' होगा—कुमारी+अम्, अण्) । (ख) पुंलिङ्ग में—कौमारी भार्या (अपूर्व पति वाली कुमारी पति को प्राप्त हुई) । **विग्रह**—अपूर्वपतिः कुमारी पतिम् उपपन्ना । **प्रक्रिया**—कुमारी+सु, अण् (प्रथमा समर्थ 'कुमारी' शब्द से स्वार्थ में 'अण्') > कुमारी+अ (विभक्ति लोप) ▷ कुमार्+अ ('ई' का लोप) ▷ कौमार (आदिवृद्धि) ▷ कौमार+ई (ङीप्—'टिड्ढाणञ्' ४-१-१५) > कौमारी ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) ।

(१२१५) **पद**—तत्र, उद्धृतम्, अमत्रेभ्यः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० शरावे उद्धृतः—शारावः ओदनः । उद्धरण से तात्पर्य यहाँ उँडेलने के साथ अन्यत्र रखने (निधान) में है । अतः सप्तमी हुई । निकाल कर (उठा कर) रखा यह अर्थ है ।

विवरण—'उद्धृत' अर्थ में यथाविहित प्रत्ययों का निरूपण किया जा रहा है । 'तत्र' शब्द सप्तम्यर्थ समर्थ का बोधक है । 'अमत्र' शब्द पात्रवाची है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ पात्रवाची

निहित इत्यर्थः। (१२१६) स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते ४। २। १५॥ तत्र इत्येव। समुदायेन चेद् व्रतं गम्यते। स्थण्डिले शेते स्थाण्डिलो भिक्षुः। (१२१७) संस्कृतं भक्षाः ४। २। १६॥ सप्तम्यन्तादण्स्यात्संस्कृतेऽर्थे, यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः। भ्राष्ट्रे संस्कृताः भ्राष्ट्रा

(१२१६) स्थण्डिलाच्छयितरि। स्थण्डिलशब्दात्सप्तम्यन्तात् व्रतनिमित्तकशयन-कर्तरि वाच्ये प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१२१७) संस्कृतं भक्षाः। भक्षयन्ति इति भक्षाः, कर्मणि घञ्। तत्रेत्यनुवर्तते। तदाह—सप्तम्यन्तादिति। एकवचनं बहुवचनं च सामान्याभिप्रायम्, 'जात्याख्यायामेक-स्मिन्बहुवचनम्' इत्युक्तेरित्यभिप्रेत्याह—यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युरिति। संस्कारो नाम पाकादिना गुणविशेषाधानम्। अष्टाकपाल इति। 'तद्धितार्थ' इति समासः। 'भक्षा' इति किम्? पुष्पपुटे संस्कृतं वस्त्रम्।

प्रातिपदिकों से भोजन के पश्चात् 'अवशिष्ट बचा हुआ' अर्थ में यथा-विहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—शारावः ओदनः (सकोरे में निकाल कर रखा भात)। **विग्रह**—शरावे उद्धृतः 'ओदनः'। शराव+अण् > शारावः। 'उद्धृत' शब्द का तात्पर्य यहाँ 'उद्धरण-पूर्वक (उठाते हुए) दूसरे में उडेल कर रखना' है। अतः निधान-निरूपित अधिकरण में ('शरावे') सप्तमी हुई। अर्थात् एक बर्तन से निकाल कर दूसरे में रखा हुआ ओदन—यह अर्थ विवक्षित है।

(१२१६) पद—स्थण्डिलात्, शयितरि, व्रते। **अनुवृत्ति**—तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तमी समर्थ से (विधान है)। 'समुदाय' से व्रतरूप अर्थ गम्यमान होने पर (यथाविहित प्रत्यय हों)। उदा० स्थण्डिले शेते—'स्थाण्डिलः' भिक्षुः।

विवरण—पूर्वसूत्र (१२१५) से 'तत्र' की प्रमुख अनुवृत्ति के फलस्वरूप 'सप्तम्यन्त समर्थ' स्थण्डिल से प्रत्यय होगा। अतः "सप्तम्यन्त समर्थ 'स्थण्डिल' प्रातिपदिक से 'शयन करने वाला' (शयितरि) अर्थ अभिधेय होने पर व्रत-विशेष की प्रतीति होते हुए (व्रते) यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—स्थाण्डिलः भिक्षुः (चबूतरे पर सोने का व्रती भिक्षुक)। **विग्रह**—स्थण्डिले शेते (=शयितुं व्रतम् अस्य)। स्थण्डिल+अण् > स्थाण्डिलः ('अ'लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)।

(१२१७) पद—संस्कृतं, भक्षाः। **अनुवृत्ति**—तत्र, (अण्), तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त समर्थ से 'संस्कृत' अर्थ में संस्कृत-वस्तु के भक्ष्य होने पर अणादि प्रत्यय होते हैं। उदा० १—भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः—भ्राष्ट्राः यवाः। २—अष्टसु कपालेषु संस्कृतः—अष्टाकपालः पुरोडाशः।

विवरण—('तत्र' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप) "सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संस्कार किया गया'[1] (=उत्कृष्ट की गई वस्तु) अर्थ में, संस्कृत-वस्तु के भक्ष्य-पदार्थ होने पर, यथा-विहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—भ्राष्ट्राः यवाः (भाड़ में भुने हुए यव)। **विग्रह**—भ्राष्ट्रे संस्कृताः। भ्राष्ट्र+अ (अण्) > भ्राष्ट्राः ('अ'लोप, आदिवृद्धि तथा प्रथमा बहुवचन में विभक्ति-कार्य)।

विशेष—सूत्र में 'संस्कृतम्' एकवचन में तथा 'भक्षाः' बहुवचन में किए गये प्रयोग सामान्यापेक्ष हैं। अर्थात् 'जाति' के कथन में एकवचन तथा 'वस्तु' के कथन में 'बहुवचन' प्रयोग समझा जाय।

---

१. "संस्कृतं हि नाम तद् भवति यत् तत एवापकृष्य अभ्यवह्रियते" (४-३-२५ सूत्रे भाष्ये वार्तिकम्)।

यवाः । अष्टसु कपालेषु संस्कृतोऽष्टाकपालः पुरोडाशः । (१२१८) शूलोखाद्यत् ४ । २ । १७ ॥ अणोऽपवादः । शूले संस्कृतं—शूल्यं मांसम् । उखा पात्रविशेषः । तस्यां संस्कृत-मुख्यम् । (१२१९) दध्नष्ठक् ४ । २ । १८ ॥ दध्नि संस्कृतं—दाधिकम् । (१२२०)

(१२१८) शूलोखाद्यत् । समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी । वत्रेति संस्कृतं भक्षा इति चानुवर्तते । सप्तम्यन्ताच्छूलशब्दादुखाशब्दाच्च 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यर्थे यत् स्यादित्यर्थः । उखा पात्रविशेष इति । 'पिठरं स्थाल्युखा कुण्डम्' इत्यमरः ।

(१२१९) दध्नष्ठक् । सप्तम्यन्ताद्दधिशब्दात् संस्कृतं भक्षा इत्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः । अणोऽपवादः । दाधिकमिति । ठकि इकादेशे 'यस्येति च' इति इकारलोपः । इह दध्नि अधिकरणे संस्कारो लवणादिना भवति । प्राग्वहतेरित्यत्र तु 'संस्कृतम्' इति तृतीयान्तात् ठग्वक्ष्यते ।

---

(२) अष्टाकपालः—पुरोडाशः (आठ कपालों में पकाया हुआ पुरोडाश)। विग्रह—अष्टसु कपालेषु संस्कृतः । प्रक्रिया—अष्टन्+सुप्, कपाल+सुप् > अष्टा-कपाल (तद्धितार्थ की विवक्षा में समास तथा न् = 'आ' "अष्टनः कपाले हविषि" वा०) > अष्टाकपाल+सुप्, अण् > अष्टाकपाल+अ (विभक्तिलोप) > अष्टाकपाल ('द्विगु'संज्ञा होने के कारण "द्विगोर्लुगनपत्ये" ४१-८८ से 'अण्' का लोप) > अष्टाकपालः (विभक्ति-कार्य)। 'अण्' का लोप होने से आदिवृद्धि नहीं होती ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'भक्षाः' पद का निवेश होने से 'पुष्पपुटे संस्कृतं वस्त्रम्' में 'पुष्पपुट' से 'अण्' प्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि 'वस्त्र' भक्ष्य नहीं है ।

(१२१८) पद—शूलोखात्, यत् । अनुवृत्ति—संस्कृतं भक्षाः, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'अण्' का अपवाद है । उदा० १—शूले संस्कृतं—शूल्यं—मांसम् । २—उखायां संस्कृतम्—उख्यम् ।

विवरण—यथाप्राप्त 'अण्' प्रत्यय का अपवाद-सूत्र है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'शूल' तथा 'उखा' प्रातिपदिकों से 'संस्कृतं भक्षाः' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—(१) शूल्यम् मांसम् (लोहे की छड़ में भूना हुआ मांस)। विग्रह—शूले संस्कृतम् । शूल+य (यत्) > शूल्यम् ('अ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (२) उख्यम् (पात्र विशेष—बटलोई या तवे पर भुना हुआ मांस)। विग्रह—उखायां संस्कृतम् । उखा+य (यत्) > उख्यम् ('आ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

(१२१९) पद—दध्नः, ठक् । अनुवृत्ति—संस्कृतं भक्षाः, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० दध्नि संस्कृतम्—दाधिकम् ।

विवरण—सप्तमी समर्थ 'दधि' प्रातिपदिक से 'संस्कृतं भक्षाः' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है । यह भी 'अण्' का अपवाद सूत्र है । उदाहरण—दाधिकम् (दही में बनाई गई वस्तु)। विग्रह—दध्नि संस्कृतम् । दधि+ठ (ठक्) > दधि+इक (ठ = इक) > दधिक ('इ' का लोप) > दाधिकम् (आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य)।

विशेष—यहाँ 'संस्कार' अर्थ में 'दही' आधारभूत है । जैसे 'दही की कढ़ी' में दही आधारभूत द्रव्य है । भोजन की प्रक्रियाओं की सूक्ष्मता को दिखाने के लिये "संस्कृतम्" (४-४-३) सूत्र "संस्कृतं भक्षाः" (४-२-१६) से पृथक् पढ़ा गया है । 'दध्ना संस्कृतम्' तथा 'दध्नि संस्कृतम्'

उदश्वितोऽन्यतरस्याम् ४ । २ । १९ ॥ ठक् स्यात् । पक्षेऽण् ॥ (१२२१) इसुसुक्तान्तात्कः ७ । ३ । ५१ ॥ इस् उस् उक् त् एतदन्तात्परस्य ठस्य कः स्यात् । उदकेन श्वयति वर्धते इत्युदश्वित् । तत्र संस्कृतः औदश्वित्कः–औदश्वितः । इसुसोः प्रतिपदोक्तयो-

---

(१२२०) उदश्वितोऽन्यतरस्याम् । ठक् स्यादिति । शेषपूरणमिदम् । उक्तविषये उदश्विच्छब्दाट्ठग्वा स्यादित्यर्थः ।

(१२२१) इसुसुक्तान्तात् कः । इसुसुक्ताः अन्ता यस्येति विग्रहः । तकारादकार उच्चारणार्थः । ठस्य कः स्यादिति । ठकि ककार इत्, अकार उच्चारणार्थः, ठकारस्य शिष्टस्य ककारः आदेश इति 'ठस्येकः' इत्यत्रोक्तम् । श्वयतीत्यस्य विवरणम्—वर्धते इति । 'टु ओ श्वि गतिवृद्धयोः' इति धातुरिह वृद्ध्यर्थक इति भावः । उदश्विदिति ।

दोनों अर्थों में दाधिकम् समान रूप ही बनेगा, किन्तु अर्थ में और बनाने की प्रक्रिया में भेद है । जहाँ दही के मिलाने (साधन) से स्वाद कुछ अच्छा हो जाय वहाँ 'दध्ना संस्कृतम्' अर्थ होगा । पर जहाँ दही में ही मुख्य रूप से कोई चीज बनाई जाय, जैसे शिखरन (श्रीखण्ड), पनीर आदि । उसके लिये 'दधिन संस्कृतम्' अर्थ होगा ।

(१२२०) पद—उदश्वितः, अन्यतरस्याम् । अनुवृत्ति—ठक्, संस्कृतं भक्षाः, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'ठक्' हो । पक्ष में अण् ।

विवरण—'संस्कृतं भक्षाः' का ही विषय है । 'तत्र' पद की अनुवृत्ति (सू० १२१५) होने से 'सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक' अपेक्षित है । तदनुसार "सप्तमी समर्थ 'उदश्वित्' प्रातिपदिक से 'संस्कृतं भक्षाः' अर्थ में विकल्प से 'ठक्' प्रत्यय होता है" ।

(१२२१) पद—इसुसुक्तान्तात्, कः । अनुवृत्ति—ठस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'इस्', 'उस्', 'उक्' तथा तकारान्त से परवर्ती 'ठ'कार को 'क' आदेश हो । जल से जो बढता है—वह उदश्वित् है । उदा० उदश्विति संस्कृतः—औदश्वित्कः–औदश्वितः । प्रतिपदोक्त 'इस्' तथा 'उस्' का ग्रहण होने से (आशिषा चरति) 'आशिष्कः' तथा (उषसा चरति) 'औषिकः' में 'क' नहीं हुआ । वा० 'दोष्' शब्द से भी कहा जाय । उदा० दोर्भ्यां चरति–दौष्कः ।

विवरण—सामान्यतः तद्धित-प्रकरण में 'ठ' के स्थान पर 'इक' आदेश होता है । कहीं-कहीं उसके अपवादस्वरूप 'क' आदेश का विधान बतलाया जा रहा है । सप्तमाध्याय का यह सूत्र है । अतः अङ्गाधिकार (६-४-१) का यहाँ प्रभाव है । षष्ठ्यन्त 'अङ्गस्य' पद पञ्चमी में विपरिणमित होता है तथा 'इसुसुक्तान्तात्' का विशेष्य बन जाता है । स्थानी = 'ठ' का लाभ "ठस्येकः" (७-३-५०) से अनुवृत्ति-वश होता है । अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'इस्—अन्त, उस्—अन्त, उक्—अन्त (उक्—प्रत्याहारान्त='उ', 'ऋ' तथा 'लृ') तथा तकारान्त अङ्ग से परवर्ती 'ठ' के स्थान पर 'क' आदेश हो" । यह सर्वादेश (ठ = क—निर्दिश्यमान के स्थान पर) है । उदाहरण—औदश्वित्कः (दही में जल डालने से बढ़ता है = मट्ठा, मट्ठे में बनाया गया) । विग्रह—उदश्विति संस्कृतः । उदश्वित्+ठ (ठक्) > उदश्वित्+क (तकारान्त होने से ठ = क) > औदश्वित्क (आदिवृद्धि) > औदश्वित्कः (विभक्ति-कार्य) । पक्ष में अ (अण्)—औदश्वितः (उदश्वित्+अण् , आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) । 'उदश्वित्' शब्द की व्युत्पत्ति—उदक-√श्वि+क्विप् > उदश्वि (उदक=उद) > उदश्वित् ('तुक्' आगम) ।

विशेष—ककारादेश होने में सूत्रस्थ 'इस्' तथा 'उस्' शब्द उद्देश्य रूप में प्रतिपदोक्त उणादि पठित उक्त प्रत्ययस्वरूप ग्रहण किये जायेंगे । इसके फलस्वरूप आशिषिकः (दूसरों को

ग्रहणान्नेह—आशिषा चरत्याशिषिकः। उषा चरति औषिकः। 'दोष उपसङ्ख्यानम्' (वा ५०५१) दोर्भ्यां चरति दौष्कः। (१२२२) क्षीराड्ढञ् ४।२।२०॥ अत्र संस्कृतम् इत्येव सम्बध्यते, न तु भक्षा इति। तेन यवाग्वामपि भवति। क्षैरेयी। (१२२३) सास्मिन्पौर्णमासीति ४।२।२१॥ इति शब्दात् 'सञ्ज्ञायाम्' इति लभ्यते। पौषी

क्विपि तुक्। 'उदकस्योदः सञ्ज्ञायाम्' इत्युदादेशः। 'तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम्' इत्यमरः। प्रतिपदोक्तयोरिति। इस्प्रत्ययस्य उस्प्रत्ययस्य च उणादौ प्रतिपदोक्तयोरिह ग्रहणमित्यर्थः। यथा सार्पिष्कः, धानुष्क इति। आशिषिक इति। चरतीति ठक्। शासुधातोः क्विपि 'आशासः क्वौ' इत्युपधाया इत्वम्। उषा चरति औषिक इति। वस धातोः क्विपि सम्प्रसारणे उषेति तृतीयान्तम्। 'शासिवसिघसीनां च' इत्युभयत्र षत्वम्। दोष इति। दोष्शब्दात् ठस्य कः स्यादित्यर्थः। दौष्क इति। तरतीति ठक्।

(१२२२) क्षीराड्ढञ्। क्षैरेयीति। क्षीरे संस्कृता यवागूरित्यर्थः। भक्षग्रहणानुवृत्तौ त्विह न स्यात्, यवाग्वाः पेयत्वेन खाद्यत्वाभावात्।

(१२२३) सास्मिन्पौर्णमासीति। तत्र इति, संस्कृतं भक्षाः इति च निवृत्तम्। सा पौर्णमासी अस्मिन्नित्यर्थे प्रथमान्तात्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। इति शब्दादिति। एतच्च भाष्ये

आशीर्वाद देने के लिये घूमने वाला व्यक्ति) में 'ठ' के स्थान पर क आदेश नहीं होता। कारण यह है कि यहाँ आ-√शास्+क्विप् प्रत्ययान्त = 'आशिस्' शब्द में शास् धातु के 'आ' को 'इ' आदेश ('आशासः क्वावुपधाया इत्वं वाच्यम्' वा०) होने पर होता है न कि उणादि प्रत्यय से निष्पन्न होने वाला रूप है। इसी प्रकार औषिकः में भी 'क' आदेश नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर भी 'वस्' धातु से 'क्विप्' करने के पश्चात् सम्प्रसारण होने के कारण 'व' कार के 'उ' में परिवर्तित होने के फलस्वरूप तृतीयान्त 'उषा' रूप निष्पन्न होता है। यहाँ भी प्रतिपदोक्त प्रत्यय नहीं है।

वार्तिक—'उस्' अन्त में न होने के कारण दौष्कः की सिद्धि के लिये वार्तिककार द्वारा पृथक् विधान किया जा रहा है। अतः "'दोष्' शब्द के परवर्ती 'ठ' (प्रत्यय स्वरूप) के स्थान पर भी 'क' आदेश हो"। **विग्रह**—दोर्भ्यां तरति (भुजाओं से पार करने वाला)। दोष्+ठ (ठक्—"तरति" ४-४-५) > दौष्कः (ठ = क्, वृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)।

(१२२२) पद—क्षीरात्+ढञ्। **अनुवृत्ति**—संस्कृतं (भक्षाः), तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—यहाँ केवल 'संस्कृतम्' अर्थ लिया जाता है, 'भक्षाः' नहीं। अतः 'यवागू' अर्थ में (ढक्) होता है। **उदाहरण**—क्षैरेयी।

विवरण—"सप्तमी समर्थ 'क्षीर' प्रातिपादिक से 'संस्कृत' अर्थ में 'ढञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—क्षैरेयी (दूध में पकाया गया दलिया)। **विग्रह**—क्षीरे संस्कृता यवागूः। क्षीर+ढ (ढक्) > क्षीर+एय (ढ = एय) > क्षैरेय ('अ' का लोप तथा आदिवृद्धि) > क्षैरेय्+ई (ङीप्) > क्षैरेयी ('अ' का लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

विशेष—अनुवर्तमान 'भक्ष' का सम्बन्ध न होने के कारण 'यवागू' अर्थ में भी 'ढक्' प्रत्यय हो गया, अन्यथा 'भक्षाः' की भी अनुवृत्ति करने पर 'यवागू' के पेय होने से 'भक्ष्य' न होने पर उक्त रूप सिद्ध नहीं होता। 'संस्कृतं भक्षाः' अर्थ यहाँ समाप्त होता है।

(१२२३) पद—सा, अस्मिन्, पौर्णमासी, इति। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

पौर्णमास्यस्मिन्पौषो मासः। (१२२४) आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक् ४।२।२२॥ अग्रे हायनमस्या इत्याग्रहायणी। प्रज्ञादेराकृतिगणत्वादण्। 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्—'(सू ८५७) इति णत्वम्। आग्रहायणी पौर्णमास्यस्मिन्नाग्रहायणिको मासः। अश्वत्थेन युक्ता

स्थितम्। पौषीति। पुष्येण युक्ता पौर्णमासी, सा यस्मिन्मासे स पौषो मासः। पौषीशब्दादणि 'यस्येति च' इति ईकारलोपः। एवं मघाभिर्युक्ता पौर्णमासी माघी, सा यस्मिन्सः माघो मासः। तथा फाल्गुन इत्यादि। सञ्ज्ञायां किम्? पौषी पौर्णमासी अस्मिन्पञ्चदशरात्रे।

(१२२४) आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक्। पूर्वसूत्रविषये आग्रहायणीशब्दादश्वत्थशब्दाच्च ठक् स्यादित्यर्थः। अणोऽपवादः। हायनमिति। संवत्सर इत्यर्थः। 'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री' इत्यमरः। यस्या ऊर्ध्वं संवत्सरस्यारम्भः सा पौर्णमासी आग्रहायणीत्यर्थः। तर्हि आग्रहायणेति स्यादित्यत आह—प्रज्ञादेरिति। 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थे

मूलार्थ—'इति' शब्द से 'संज्ञायाम्' अर्थ का लाभ होता है। उदा० पौषी पौर्णमासी अस्मिन्—पौषः मासः।

विवरण—"प्रथमा समर्थ (सा) पौर्णमासी विशेषवाची प्रातिपदिक से अधिकरण अभिधेय होने पर यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—पौषः मासः (पूस का महीना)। **विग्रह**—पौषी पौर्णमासी अस्मिन्। पौषी+अण् > पौष्+अ ('ई' का लोप) > पौषः (विभक्तिकार्य)। पौषी का अर्थ है—पुष्य नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी→ "नक्षत्रेण युक्तः कालः"—पुष्य्+अण् > पौष्य्+अ > पौष ('अ' तथा 'य्' लोप, आदिवृद्धि) > पौष+ङीप् > पौषी।

विशेष—'पौष' शब्द की निष्पत्ति द्वारा इस सूत्र से प्रत्येक मास का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ विदित होता है। तदनुसार 'चैत्रः' आदि शब्द भी इसी प्रकार (चैत्री पौर्णमासी अस्मिन् सः) निष्पन्न होंगे। ये मासवाचक शब्द 'योगरूढ' हैं। प्रायः प्रत्येक मास की पौर्णमासी को उन्हीं नक्षत्रों का चन्द्रमा के साथ संयोग होता है, किन्तु दिनों की संख्या ३० तथा नक्षत्रों की संख्या २७ होने के कारण सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए पूर्वापर नक्षत्रों के साथ संयोग होने पर भी 'मास' की संज्ञा निर्दिष्ट नक्षत्र के नाम पर ही रहती है। इसी सन्दर्भ में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

"अन्त्योपान्त्यौ त्रिभौ ज्ञेयौ फाल्गुनश्च त्रिभो मतः।
शेषा मासा द्विभा ज्ञेयाः कृत्तिकादिव्यवस्थया॥"

अर्थात् "'फाल्गुनी' में फाल्गुनी पद 'पूर्वा फाल्गुनी', 'उत्तरा फाल्गुनी' तथा 'हस्त' इन तीन नक्षत्रों का बोधक है। अवशिष्ट मास कृत्तिकादि से दो नक्षत्रों के बोधक हैं"।

(१२२४) **पद**—आग्रहायण्यश्वत्थात्, ठक्। **अनुवृत्ति**—सास्मिन् पौर्णमासीति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अग्रे हायनं यस्याः—आग्रहायणी (शब्द का अर्थ)। प्रज्ञादि के आकृतिगण होने से अण्। "पूर्वपदात् संज्ञायाम्" (८५७) से णत्व। उदा० आग्रहायणी 'पौर्णमासी' यस्मिन्—आग्रहायणिकः मासः। अश्वत्थेन युक्ता पौर्णमासी यस्मिन्—अश्वत्थः। निपातनवश पौर्णमासी अर्थ में भी 'अण्' का लुप् (लोप) हुआ। आश्वत्थिकः।

विवरण—'साऽस्मिन् पौर्णमासी' अर्थ में विशेष अवस्था में 'ठक्' प्रत्यय का विधान करने के लिये 'पृथक्' सूत्र का पाठ किया गया है। तदनुसार "प्रथमा समर्थ 'पौर्णमासी' शब्द के साथ समानाधिकरण वाले 'आग्रहायणी' तथा 'अश्वत्थ' शब्दों से सप्तम्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—आग्रहायणिकः (अग्रहायण नक्षत्र है जिस पौर्णमासी में वह मास)।

पौर्णमास्यश्वत्थः। निपातनात्पौर्णमास्यामपि लुप्। आश्वत्थिकः। (१२२५) विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः ४।२।२३॥ एभ्यष्ठग्वा, पक्षेऽण्। फाल्गुनिकः–

अणि 'टिड्ढा' इति ङीविरत्यर्थः। अश्वत्थेनेति। अश्विनीनक्षत्रेणेत्यर्थः। अश्वत्थ इति। नक्षत्राण: 'लुबविशेषे' इति लुबिति भावः। ननु 'विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः' इति निर्देशेन पौर्णमास्यां 'लुबविशेषे' इत्यस्याप्रवृत्तेरुक्तत्वात् कथमिह लुबित्यत आह—निपातनात्पौर्णमास्यामपि लुबिति। तथा च पौर्णमास्यां लुब् नेति ज्ञापनमेतद्व्यतिरिक्त-विषयमिति भावः।

(१२२५) विभाषा फाल्गुनी। एभ्यष्ठग्वेति। 'सास्मिन्' इत्युक्तविषये इति शेषः।

विग्रह—आग्रहायणी पौर्णमासी अस्मिन् मासे। आग्रहायणी+ठक् > आग्रहायणी+इक (ठ = इक) > आग्रहायणिकः ('ई' लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। 'आग्रहायणी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि 'अग्रे हायनम् (वत्सरः) अस्याः' (वर्ष के समीप) इस अर्थ में 'अग्रहायन' शब्द से "प्रज्ञादिभ्यश्च" (५-४-३८) सूत्र से अण्' प्रत्यय करने पर 'न' के स्थान में "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" (८-४-३) से णत्व होने के पश्चात् 'ङीप्' ("टिड्ढाणञ्०"–४-१-१५) प्रत्यय किया गया है।

इससे यह विदित होता है कि कभी वर्ष का आरम्भ मार्गशीर्ष मास से होता रहा। कदाचित् यह पुरातन 'वसन्त-सम्पात' का सूचक हो, क्योंकि 'मृगशिरा' नक्षत्र में भी वसन्त-सम्पात का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण आश्वत्थिकः (अश्विनी-नक्षत्र-युक्त पौर्णमासी वाला मास) से आश्विन मास का बोध होता है→अश्विनी+अण्←अश्वत्थेन नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी अश्वत्था ←(निपातनवश 'अण्' का लोप) सा अस्मिन् मासे (वह है जिसमें ऐसा महीना)। कुछ विद्वानों ने काठक संहिता के अनुसार अश्वत्थ का अर्थ 'श्रवण' नक्षत्र लिया है। उनके मत में 'आश्वत्थिकः' का अर्थ श्रवण-नक्षत्र-युक्त पौर्णमासी वाला मास अर्थात् श्रावण होगा। काशिका के अनुसार पीपल के पेड़ की 'पीपली' पकने का काल 'अश्वत्थ' कहलाता था[1]।

विशेष—उपर्युक्त उदाहरणों से 'पौर्णमासी' को मास का अन्तिम दिन माना गया है। इसी तरह पाणिनि ने कालविभागों में अहोरात्र, पक्ष, मास, षण्मास, वर्ष, अयन आदि का उल्लेख किया है। काल से ही मूर्त पदार्थों की वृद्धि और ह्रास जाने जाते हैं। आदित्य-गति के कारण दिन और रात का विभाग किया जाता है। अहोरात्र (दिनरात) को इकाई मान कर कालगणना की जाती है। व्यावहारिक दृष्टि से इस प्रकार चान्द्रमास को प्रधानता दी गई है और पूर्णिमा को मासान्त कहा गया है। चान्द्रमास भारतवर्ष में दो प्रकार से व्यवहृत होता है—(१) पूर्णिमान्त और दूसरा (२) अमावास्यान्त। उत्तर भारत में पूर्णिमान्त के अनुसार पहले 'कृष्णपक्ष' तथा 'शुक्लपक्ष'; किन्तु दक्षिणभारत में (अमान्त मानने से) पहले 'शुक्ल-पक्ष' तदनन्तर 'कृष्णपक्ष'। पाणिनीय उल्लेखों के अनुसार क्रान्तिवृत्त २७ नक्षत्रों में बँटा हुआ था। पूर्णिमा जिस नक्षत्र में होती थी, उसके अनुसार पौर्णमासी तिथि और मास का नाम भी पड़ जाता था। "लुबविशेषे" (४-२-४) सूत्र के अनुसार नक्षत्र के नाम से ही काल का नाम समझा जाता था। जैसे 'अद्य पुष्यः' (आज पुष्य है) कहने का तात्पर्य यह हुआ कि आज चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र के समीप है। अर्थात् आज पुष्य नक्षत्र का योग है। तीस दिन के मासात्मक काल का समन्वय २७ नक्षत्रों के साथ निर्दिष्ट नक्षत्रों के पौर्वापर्य (सामीप्य) द्वारा किया जाता है।

(१२२५) पद—विभाषा फाल्गुनी-श्रवणा-कार्तिकी-चैत्रीभ्यः। **अनुवृत्ति**—ठक्, सास्मिन्पौर्णमासीति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

---

१. 'यस्मिन् अश्वत्थाः फलन्ति सोऽश्वत्थः'—काशिका (४-२-४८)।

फाल्गुनो वा मासः। श्रावणिकः—श्रावणः। कार्तिकिकः—कार्तिकः। चैत्रिकः—चैत्रः।
(१२२६) साऽस्य देवता ४।२।२४॥ इन्द्रो देवता अस्येति ऐन्द्रं हविः। पाशुपतम्। बार्हस्पत्यम्। त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता, मन्त्रस्तुत्या च। ऐन्द्रो

फाल्गुनिकः—फाल्गुनो वा मास इति। फाल्गुनी पौर्णमास्यस्मिन्निति विग्रहः। एवं श्रावणिक इत्यादि। इति युक्ताद्यर्थकाः।

(१२२६) साऽस्य देवता। अस्मिन्नर्थे प्रथमान्तादणादयः स्युरित्यर्थः। ऐन्द्रं हविरिति। इन्द्रात्मकदेवतासम्बन्धीत्यर्थः। पाशुपतमिति। पशुपतिर्देवता अस्येति विग्रहः। ननु देवताशब्दस्य लोकप्रसिद्धजातिविशेषवाचकत्वे पितरो देवता अस्य पित्र्यमित्याद्यनुपपन्नमित्यत आह—त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवतेति। 'हविश्शेषमृत्विग्भ्यो ददाति', 'विप्राय गां ददाति' इत्यादौ ऋत्विग्विप्रादेर्देवतात्वव्यावृत्तये विशेषग्रहणम्। 'त्यज्यमान-

---

मूलार्थ—इनसे विकल्प से 'ठक्' हो। पक्ष में अण् (होगा)। उदा० १—फाल्गुनिकः—फाल्गुनः—मासः। २—श्रावणिकः—श्रावणः। ३—कार्तिकिकः—कार्तिकः। ४—चैत्रिकः—चैत्रः।

विवरण—विधेयांश 'ठक्' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र ("आग्रहायण्यश्वत्थात् ठक्" ४-२-२१) से आती है। अर्थ-विशेष का लाभ "साऽस्मिन् पौर्णमासीति" (४-२-२०) सूत्र से हो रहा है। मासविशेष के बोधक शब्द सूत्र में निर्दिष्ट हैं। सबके साथ एकवाक्यता करने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "प्रथमा समर्थ पौर्णमासी-समानाधिकरण-युक्त 'फाल्गुनी,' 'श्रवणा', 'कार्तिकी' तथा 'चैत्री' शब्दों से सप्तम्यर्थ में विकल्प से 'ठक्' प्रत्यय हो"। इसके फलस्वरूप पक्ष में 'अण्' होगा। **क्रमशः उदाहरण**—(१) (क) फाल्गुनिकः मासः (पूर्वा अथवा उत्तरा फाल्गुनी-नक्षत्र-युक्त पूर्ण-चन्द्रमा वाली रात जिस मास में हो)। **विग्रह**—फाल्गुनी पौर्णमासी अस्मिन् मासे। फाल्गुनी + ठ = (ठक्) > फाल्गुन्॰ + इक > फाल्गुनिकः। (ख) पक्ष में—फाल्गुनः (फाल्गुन्॰ + अण्)। (२) (क) श्रावणिकः (श्रवण-नक्षत्र-युक्त पौर्णमासी वाला महीना)। **विग्रह**—श्रवणा पौर्णमासी अस्मिन् मासे। श्रवणा + ठक् > श्रवण्॰ + इक > श्रवण् + इक > श्रावणिकः। (ख) पक्ष में श्रावणः (श्रवण्॰ + अण्)। (३) (क) कार्तिकिकः (कृत्तिका-नक्षत्र-युक्त पौर्णमासी वाला मास) **विग्रह**—कार्तिकी पौर्णमासी अस्मिन् मासे। कार्तिक्॰ + ठक् (= इक) > कार्तिकिकः। (ख) पक्ष में—कार्तिकः (कार्तिक्॰ + अण्)। (४) (क) चैत्रिकः (चित्रा-नक्षत्र-युक्त पौर्णमासी वाला महीना)। **विग्रह**—चैत्री पौर्णमासी अस्मिन् मासे। चैत्र्॰ + ठक् (= इक) > चैत्रिकः। (ख) पक्ष में चैत्रः (चैत्री + अण्)।

विशेष—'फाल्गुनी (फल्गुनी + अण् + ङीप्), 'कार्तिकी' (कृत्तिका + अण् + ङीप्) तथा 'चैत्री' (चित्रा + अण् + ङीप्) शब्दों की निष्पत्ति "साऽस्मिन् पौर्णमासीति" (४-२-२०) सूत्रस्थ 'पौषी' (पौर्णमासी) के अनुसार जानें। 'श्रवणा' शब्द से विहित 'अण्' प्रत्यय का निपातनवश लोप हो जाता है, अतः आदि वृद्धि तथा 'ङीप्' न होकर स्त्रीलिङ्ग में 'पौर्णमासी' अर्थ विवक्षित होने पर 'टाप्' प्रत्यय होता है।

(१२२६) **पद**—सा, अस्य, देवता। **अनुवृत्ति**—समर्थानां प्रथमाद्, वा, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—इन्द्रः देवता अस्य—ऐन्द्रं हविः। २—पाशुपतम्। ३—बार्हस्पत्यम्। हवनीय द्रव्य (वस्तु) में उद्देश्य-विशेष देवता है। अथवा मन्त्रों द्वारा की गई स्तुति या स्तुति किया जाने वाला भी देवता है। (अतः इन्द्र के स्तुतिपरक मन्त्र के अर्थ में भी) ऐन्द्रः मन्त्रः (प्रयोग होगा)। 'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया' इत्यादि वाक्यों में 'ठक्' प्रत्ययान्त आग्नेयः प्रयोग 'शेष' अर्थ में 'सर्वत्राग्नि०' (वा० २९८८) वार्तिक के माध्यम से (समीचीन जाना जाय)।

मन्त्रः । 'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया' इति तु शैषिकेऽर्थे 'सर्वत्राग्नि—' (वा २६८९)

हविस्साध्यः अस्मदाद्यप्रत्यक्षः यस्तृप्त्याद्युपकारः तदाश्रयो देवतेति' यावत् । मन्त्रस्तुत्या चेति । 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादिमन्त्रेषु 'यज्ञपुरोहितत्वादिगुणविशिष्टत्वेन या प्रतिपाद्यते' सापि देवतेत्यर्थः । ऐन्द्रो मन्त्र इति । इन्द्रस्तुत्यात्मको मन्त्र इत्यर्थः । ननु 'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया' इत्यत्र कथं देवतातद्धितः । अत्र अग्नेर्हविरुद्देश्यत्वस्य मन्त्रैः स्तुत्यत्वस्य चाभावादित्यत आह—आग्नेयो वै इति । शैषिकेऽर्थे इति । शेषे इति सूत्रलब्धे तदभिमानिकत्वे गम्ये इत्यर्थः । अग्निर्नाम यो देवताजातिविशेषो लोकवेदसिद्धः तदभिमानिको ब्राह्मण इति बोधः ।

विवरण—'अस्य देवता' अर्थ के सम्बन्ध में प्रत्यय-व्यवस्था की जा रही है । सूत्रस्थ प्रथमान्त आधिकारिक 'सा' पद का "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) सूत्र से अनुवर्तमान 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण होने से पञ्चमी विभक्ति में विपरिणाम होता है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि " 'वह इसका देवता है'—इस अर्थ में प्रथमान्त देवता-वाचक शब्द से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(१) ऐन्द्रं हविः (वह 'हविस्'—जिसका देवता इन्द्र है) । **विग्रह**—इन्द्रः देवता अस्य । इन्द्र+अ (अण्) > ऐन्द्र+अ (आदिवृद्धि—इ = ऐ) > ऐन्द्रम् ('अ' का लोप तथा नपुंसक लिङ्ग प्रथमा एकवचन में विभक्ति-कार्य) । इसी प्रकार (२) **पाशुपतम्** (जिस 'हविस्' के देवता पशुपति हैं—पशुपतिः देवता अस्य—पशुपति+अण् "अश्वपत्यादिभ्यश्च" ४-१-८४) तथा (३) **बार्हस्पत्यम्** (जिस 'हविस्' के देवता बृहस्पति हैं—बृहस्पतिः देवता अस्य→ बृहस्पति+ण्य ←"दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात् ण्यः" ४-१-८५) आदि में भी समझा जाय ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में देवता शब्द दो अर्थों को उद्दिष्ट कर अभिलक्षित हैं । प्रथम तो (१) सामान्यतया देवता उसे कहा गया है, जो यज्ञादि में देवता को उद्दिष्ट कर दिया जाने वाला हवनीय द्रव्य हो । तदनुसार 'इन्द्राय स्वाहा' उच्चारण कर अग्नि के माध्यम से इन्द्र को अभिलक्षित कर दिये जाने वाले हवनीय पदार्थ से इन्द्रादि का स्वत्व बोधित कराने के लिये 'न मम' शब्द द्वारा 'द्रव्यत्याग' से अपने स्वत्व का निवारण किया जाता है । (२) 'देवता' शब्द का दूसरा अर्थ उस स्तुत्यात्मक मन्त्र से है (मन्त्रेण स्तुत्या) जिसके द्वारा देवता को 'हविस्' अर्पित किया जाता हैं । यह मत 'निरुक्त' में प्रतिपादित है—"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति" । अर्थात् "जिस कामना को लेकर ऋषि जिस देवता की प्रस्तुति करते हैं, वह उस देवता का 'मन्त्र' कहलाता है" । 'ऋक् सर्वानुक्रमणी' में भी कहा है—**या तेनोच्यते सा देवता** । अर्थात् "मन्त्र के द्वारा जो कहा गया, वह उस मन्त्र का देवता होता है" । इन दोनों वचनों के आधार पर मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को 'देवता' कहा गया है । इस अर्थ को अभिलक्षित कर दूसरा उदाहरण (२) ऐन्द्रः मन्त्रः (इन्द्र का स्तुतिपरक मन्त्र) दिया गया है । इस प्रकार प्रत्ययार्थ कहीं 'प्रदेय वस्तु' है और कहीं 'मन्त्र' एवं स्तुत्य वस्तु इसका विग्रह भी—इन्द्रः देवता अस्य—होगा । यहाँ भी वही 'अण्' प्रत्यय सम्बन्धी आदिवृद्धि एवम् 'भ' संज्ञा-निमित्तक 'अ' का लोप आदि कार्य होंगे ।

शङ्का-समाधान—उपर्युक्त सूत्र के विधान से 'मन्त्र' और 'हविस्' अर्थ को अभिलक्षित कर 'अण्' प्रत्यय की साधुता के विपरीत "आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया" (अग्निदेवता-सम्बन्धी ब्राह्मण) वाक्य में 'ढक्' प्रत्ययान्त प्रयोग कैसे सम्भव है ? इसका समाधान यह दिया जाता है कि प्रकृत वाक्य में न तो हविस् को और न ही स्तुति किये जाते हुए मन्त्रों से अग्निरूपी देवता को अभिलक्षित किया गया है, अतः देवतार्थक 'अण्' प्रत्यय न कर "शेषे" (४-२-९२)

इति ढक् । (१२२७) कस्येत् ४ । २ । २५ ॥ कशब्दस्येदादेशः स्यात्प्रत्ययसन्नियोगेन । 'यस्य–' (सू ३११) इति लोपात्परत्वादादिवृद्धिः । को ब्रह्मा देवता अस्य कायं हविः ।

(१२२७) कस्येत् । प्रत्ययसन्नियोगेनेति । 'साऽस्य देवता' इति विहिते कशब्दादण्-प्रत्यये परे तत्सन्नियोगेन प्रकृतेरिकारोऽन्तादेश इत्यर्थः । तथा च कशब्दादणि प्रकृतेरि-कारे अन्तादेशे वृद्धौ आयादेशे कायमिति सिद्धम् । तत्र कि अ इति स्थिते 'यस्येति च' इति इकारलोपमाशङ्क्याह—यस्येति लोपात्परत्वादादिवृद्धिरिति । कशब्दस्य विवरणम् ब्रह्मेति । यद्यप्यत्र इत्वविधिबलादेव लोपो न भवतीति भाष्यम् । तथापि वस्तुस्थिति-कथनमिदम् । तस्य प्रयोजनमाह—श्रीर्देवता अस्य श्रायं हविरिति । अत्रेदमवधेयम् । 'कस्येत्' इत्यत्र कशब्दस्य अकारान्तस्य षष्ठ्येकवचनमित्येकः पक्षः । सर्वादिगणपठितस्य किंशब्दस्य षष्ठ्येकवचनमिति पक्षान्तरम् । तत्राद्यपक्षे हविःप्रचारे 'कायानुब्रूहि' इति प्रैष इति निर्विवादम्, सर्वादिगणबहिर्भूतत्वेन स्मैभावासम्भवात् । द्वितीयपक्षे तु किंशब्दस्य प्रजापतिनामत्वेन असर्वनामत्वान्न स्मैभावः, अन्वर्थसञ्ज्ञाबलेन एकार्थवृत्तेः सञ्ज्ञा-

---

प्रकरणस्थ "अग्नेर्ढक्" (४-२-३३) सूत्र से 'अग्नेः अयं' (अग्नि का भक्त) विग्रह में 'ढक्' प्रत्यय होता है। भाष्यकार ने "दृष्टं साम" (४-२-७) सूत्र में 'सर्वत्राग्निकलिभ्याम्' वार्तिक द्वारा 'अग्नि' तथा 'कलि' शब्दों से सर्वत्र 'ढक्' प्रत्यय होने का निर्देश दिया है।

(१२२७) पद—कस्य, इत् । अनुवृत्ति—सास्य देवता, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

सूत्रार्थ—प्रत्यय के सान्निध्य से 'क' शब्द को 'इत्' आदेश होता है। 'यस्येति च' से प्राप्त लोप की अपेक्षा परवर्ती होने के कारण पहले आदिवृद्धि हुई। उदा० कः (=ब्रह्मा) देवता यस्य—कायम्—अर्थात् हविस् । २—श्रीः देवता अस्य—श्रायम् ।

विवरण—"साऽस्य देवता" (४-२-२३) का ही प्रकरण है। प्रासङ्गिक आदेश-विधायक सूत्र को प्रस्तुत किया जा रहा है। स्थानी—'क' है। आदेश स्वरूप 'इत्' में 'त'पर करने से ह्रस्व इकार लिया गया है। तदनुसार देवतावाची 'क' प्रातिपादक से षष्ठ्यर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है, तथा 'क' को प्रत्यय के साथ-साथ 'इ'कार आदेश भी होता है"। स्थानी का अन्त्यावयव ह्रस्व इकार-आदेश होगा—"अलोन्त्यस्य" (१-१-५२)। 'क' शब्द प्रजापति का वाचक है, अतः देवता-वाची है। उदाहरण—(१) कायम् हविः (जिस हविष् के देवता प्रजापति हों)। विग्रह—कः देवता अस्य। प्रक्रिया—क्–इ+अ (अण् तथा 'इ') > कि+अ > कै+अ ('इ' लोप की अपेक्षा पर होने से आदि वृद्धि—इ = ऐ) > काय्+अ (ऐ+अ = आय् आदेश) > कायम् (नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन)। (२) श्रायम् (जिस हविष् की देवता लक्ष्मी हों)। विग्रह—श्रीः देवता अस्य। श्री+अ (अण् "साऽस्य देवता" ४-२-२४) > श्रै+अ ('ई' लोप की अपेक्षा पर होने से पहले आदि वृद्धि) > श्राय ('आय्' आदेश) > श्रायम् (विभक्ति-कार्य)।

विशेष—(१) 'कायम्' में तो वस्तुतः 'इ' (= इत्) विधान करने मात्र से ही लोप का निवारण सम्भव है, क्योंकि लोप की संभावना होने पर 'इ' कार (= इत्) आदेश की क्या उपयोगिता रही? इस कारण उपर्युक्त (परवर्ती होने से बाध की) कल्पना का उदाहरण भाष्यकार ने 'कायम्' नहीं माना है। उसका उदाहरण श्रायम् है, क्योंकि वहाँ पर 'ई' का लोप तथा आदि वृद्धि की एक साथ प्राप्ति है। अतः 'कायम्' प्रयोग "कस्येत्" का स्थल नहीं है।

(२) 'क' शब्द अनेकार्थक है। उसके इतने प्रसिद्ध अर्थ हैं—ब्रह्मा, आत्मा, अनिल, अर्क, शमन, सर्वनाम, पावक, मयूर, सुख, शीर्ष, जल आदि। सूत्र में 'कस्य' षष्ठ्यन्त प्रयोग है। इस

श्रीर्देवता अस्य श्रायम् । (१२२८) शुक्राद्धन् ४ । २ । २६ ॥ शुक्रियम् । (१२२९) अपोनप्त्रपांनप्तृभ्यां घः ४ । २ । २७ ॥ अपोनप्त्रियम्—अपांनप्त्रियम् । अपोनपात् अपांनपाच्च देवता । प्रत्ययसन्नियोगेन तूक्तं रूपं निपात्यते । अत एव अपोनपाते—अपां-

---

शब्दस्य सर्वनामत्वाभावात् । तथा च कायानुब्रूहीत्येव प्रैषः । यद्वा प्रजापतेः सर्वात्मकत्वेन तन्नाम्नः किंशब्दस्य सर्वनामत्वात् 'कस्मा अनुब्रूहि' इत्येव सम्प्रैष इति भाष्ये प्रपञ्चितम् । एवञ्च विष्णुसहस्रनामसु 'विश्वं विष्णुः' इति, 'एको नैकः सवः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम् ।' इति च पठितविश्वादिशब्देष्वप्ययं न्यायस्तुल्यः । तथा च विश्वस्मै नमः, विश्वाय नम इत्यादि प्रयोज्यमित्यास्तां प्रासङ्गिकम् ।

(१२२८) 'शुक्राद्धन्' । 'साऽस्य देवता' इत्यर्थे इति शेषः । शुक्रियमिति । शुक्रो देवता अस्येति विग्रहः ।

(१२२९) अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्यां घः । प्रत्ययसन्नियोगेनेति । घप्रत्ययसन्नियोगेन अपोनपाच्छब्दस्य अपोनप्तृभावः, अपान्नपाच्छब्दस्य अपान्नप्तृभावश्च निपात्यत इत्यर्थः । अत

प्रयोग से यह सन्देह होता है कि यह प्रजापतिवाची 'क' शब्द की षष्ठी-विभक्ति है अथवा सर्वनाम-वाची 'किम्' शब्द के स्थानपर 'क' आदेश होने से षष्ठी-विभक्ति का रूप है ? अकारान्त 'क' शब्द हविष् के प्रचार में कल्पसूत्रोक्त कायानुब्रूहि—इस चतुर्थ्यन्त प्रैष-वाक्य में सार्थक है । सर्वादिगण वाची न होने से "स्मै" आदेश नहीं हो सकता । 'सर्वनाम' संज्ञा को सार्थक महा-संज्ञा माना गया है । तब तो केवल प्रजापतिरूप अर्थ के वाचक 'क'शब्द को सर्वनाम नहीं माना जासकता । तथापि भाष्यकार ने प्रजापति को सकल ब्रह्माण्ड का स्रष्टा होने के कारण उसके पर्यायवाची 'क' को भी सर्वनाम-स्थानी माना है । अतः पतञ्जलि के मत में कस्मै अनुब्रूहि भी प्रैषवाक्य का स्वरूप है[1] । अन्यथा 'विष्णुसहस्रनाम' में विष्णु के पर्यायवाची नामों के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'विश्वं' का उल्लेख कर सर्वव्यापी होने का अर्थ सूचित कर विष्णु की 'विश्वं' संज्ञा दी गई है । इसी प्रकार 'किम्' शब्द को भी प्रजापति-वाची माने जाने पर 'कस्मै देवाय हविषा विधेम (प्रजापति के लिये हविष्) श्रुतिवाक्य में 'स्म' आदेश की युक्तता सिद्ध होती है । इसी प्रकार विष्णु-सहस्रनाम के—एको नैकः सवः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम्—इस उद्धरण में भी एकः, नैकः (न+एकः), कः, किम्, यत्, तत्—आदि शब्दों में 'किम्' के प्रयोग से सर्वनाम-संज्ञा की समष्टि पर प्रकाश पड़ता है ।

(१२२८) पद—शुक्रात्, घन् । अनुवृत्ति—साऽस्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० शुक्रियम् ।

विवरण—'अस्य देवता' का ही विषय है । अतः "प्रथमा-समर्थ 'शुक्र' शब्द से षष्ठ्यर्थ में 'साऽस्य देवता' अर्थ में 'घन्' (= इय) प्रत्यय होगा" । **उदाहरण**—शुक्रियम् (शुक्र है देवता जिस हविस् अथवा मन्त्र का) । विग्रह—शुक्रः देवता अस्य । शुक्र+घ (घन्) > शुक्र्+इय (घ = इय) > शुक्रियम् ('इ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) । सामान्य 'अण्' का अपवाद है ।

(१२२९) पद—अपोनप्त्रपांनप्तृभ्यां, घः । अनुवृत्ति—सास्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

---

१. "'यस्येति' लोपः कस्मान्न भवति ? इकारोच्चारणसामर्थ्यात् । अथ यत्कायं हविः । कथं तस्य सं-प्रैषः कर्तव्यः ? यदि तावत् किमः कादेशः । 'कस्मै अनुब्रूहि' इति भवितव्यम् । अथ न किमः । कायानुब्रूहीति भवितव्यम् । यद्यपि किमः । अथापि न किमः । उभयथा कस्मायानुब्रूहीति भवितव्यम् । सर्वस्य हि सर्वनामसंज्ञा क्रियते । सर्वश्च प्रजापतिः । प्रजापतिश्च कः" ।—महाभाष्यम् ।

नपातेऽनुब्रूहीति प्रैषः। (१२३०) छ च ४।२।२८॥ योगविभागो यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थः। अपोनप्त्रीयम्। अपांनप्त्रीयम्। छप्रकरणे पैङ्गाक्षीपुत्रादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा २७०१) पैङ्गाक्षीपुत्रीयम्। तार्णबिन्दवीयम्। 'शतरुद्राद्धश्च' (वा २७०२)। चाच्छः। शतं रुद्राः देवता अस्य शतरुद्रियम्–शतरुद्रीयम्। घच्छयोर्विधानसामर्थ्यात् 'द्विगोर्लुगनपत्ये'

एवेति। घप्रत्ययसन्नियोगेनैव उक्तादेशविधिरित्यर्थः। अत्र घप्रत्ययाभावान्नोक्तादेशाविति भावः।

(१२३०) छ च। उक्तविषये छोऽपीत्यर्थः। ननु अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्यां घच्छौ इत्येवास्तु। तत्राह—योगविभाग इति। पैङ्गाक्षीपुत्रीयमिति। पैङ्गाक्षीपुत्रो देवता अस्येति विग्रहः। तार्णबिन्दवीयमिति। तार्णबिन्दुः देवता अस्येति विग्रहः। शतरुद्राद्धश्चेति।

मूलार्थ—उदा० १—अपोनप्त्रियम्। २—अपांनप्त्रियम्। 'अपोनपात्' तथा 'अपांनपात्' से देवता अर्थ में ('घन्'-प्रत्ययान्त निपातन है)। (प्रत्यय के अभाव में) प्रैप का स्वरूप 'अपोनपाते' अनुब्रूहि तथा 'अपांनपाते अनुब्रूहि' है।

विवरण—विशिष्ट वैदिक प्रयोगों का 'साऽस्य देवता' अर्थ में निपातन किया जा रहा है। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ 'अपोनपात्' तथा 'अपांनपात्'—दोनों नकारान्त देवता-वाची शब्दों को 'घन्' प्रत्यय के साथ ही इसी सूत्र से क्रमशः उन दोनों के स्थान में 'अपोनप्तृ' तथा 'अपांनप्तृ' रूप निपातन भी किया जाता है।" उदाहरण—(१) अपोनप्त्रियम् तथा (२) अपांनप्त्रियम् (जिस हविस् के देवता 'अपोनप्तृ' = अग्नि हों)। विग्रह—(१) अपोनपात् देवता अस्य। (२) अपांनपात् देवता अस्य। प्रक्रिया—(१) अपोनपात् = अपोनप्तृ+घ (इय) > अपोनप्त्रियम् (ऋ+इ = र्–इ–यण् तथा विभक्ति-कार्य)। (२) अपांनपात् = अपांनप्तृ+घ (इय) > अपांनप्त्रियम्।

विशेष—'घन्' प्रत्यय के सन्नियोग में ही निपातन-वश उपर्युक्त दोनों शब्दों को आदेश-विधान होने से 'घ' प्रत्यय न होने पर 'अपोनप्तृ' तथा 'अपांनप्तृ' आदेश नहीं होंगे। अतः उस स्थिति में प्रैष-वाक्यों में अपोनिपाते अनुब्रूहि तथा अपांनिपाते अनुब्रूहि—तकारान्त चतुर्थ्यन्त विभक्ति में प्रयोग समीचीन माने जायेंगे। दोनों प्रैष-वाक्यों का अर्थ इस प्रकार है—अग्नि अथवा जल के अधिष्ठाता देवता का आवाहन करने वाले मन्त्र को बोलो।

(१२३०) पद—छ (= छः), च। अनुवृत्ति—अपोनप्त्रपांनप्तृभ्याम्, साऽस्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—योग-विभाग यथासंख्य की निवृत्ति के लिये है। उदा० १—अपोनप्त्रीयम्। २—अपांनप्त्रीयम्। वा० 'छ' प्रकरण में पैङ्गाक्षीपुत्रादि का भी कथन हो। उदा० १—पैङ्गाक्षीपुत्रीयम्। २—तार्णबिन्दवीयम्। वा० 'शतरुद्र' से भी 'घ' कहा जाय। 'च' पद से 'छ' प्रत्यय भी हो। उदा० शतं रुद्राः देवताः अस्य शतरुद्रियम्—शतरुद्रीयम्। 'घ' तथा 'छ' के विधान किये जाने से "द्विगोर्लुगनपत्ये" (सू० १०८०) से 'लुक्' नहीं हुआ।

विवरण—प्रकृत सूत्र में विधेयांश 'छ' पद लुप्त-प्रथमान्त (=छः) है। पूर्व सूत्र का ही विषय है। अतः पूर्व सूत्रोक्त दोनों शब्दों से 'घ' के अतिरिक्त 'छ' प्रत्यय का भी विधान किया जा रहा है। यदि ऐसा ही था तो "अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्यां घच्छौ" एक ही सूत्र पढ़ा जाता, किन्तु एक सूत्र पढ़ने पर यथासंख्य नियम से दोनों शब्दों से एक एक प्रत्यय भिन्न रूप में होता। अतः प्रत्येक शब्द से वैकल्पिक दोनों प्रत्यय होने के लिये योगविभाग की सार्थकता है। इस प्रकार "प्रथमा-समर्थ देवतावाची 'अपोनपात्' तथा 'अपांनपात्' शब्दों से षष्ठ्यर्थ में 'छ' प्रत्यय (= ईय) भी होता है"। उदाहरण—अपोनप्त्रीयम् (२) अपांनप्त्रीयम्। अर्थ एवं विग्रहादि पूर्ववत्।

(सू १०८०) इति न लुक् । (१२३१) महेन्द्राद्घाणौ च ४ । २ । २९ ॥ चाच्छः । महेन्द्रियम् हविः । माहेन्द्रम् । महेन्द्रीयम् । (१२३२) सोमाट्ट्यण् ४ । २ । ३० ॥

वार्तिकमिदम् । शतरुद्रियमिति । घस्य इयादेशः । शतरुद्रीयमिति । छस्य ईयादेशः । उभयत्र 'तद्धितार्थ' इति द्विगुसमासः । द्विगोर्लुगनपत्ये इति लुकमाशङ्क्याह—घच्छयोरिति ।

(१२३१) महेन्द्राद्घाणौ च । महेन्द्रियमिति । महेन्द्रो देवता अस्येति विग्रहः । घस्य इयादेशः । माहेन्द्रमिति । अणि रूपम् । महेन्द्रीयमिति । छस्य ईयादेशः ।

(१२३२) सोमाट्ट्यण् । सौम्यमिति । सोमो देवता अस्येति विग्रहः । टित्त्वस्य

---

(१) अपोनपात् = अपोनप्तृ + छ (= ईय) ▷ अपोनप्त्रीयम् । (२) अपांनपात् = अपांनप्तृ + छ (= ईय) ▷ अपांनप्त्रीयम् । सिद्धि में छ = ईयादेश तथा 'ईय' परे रहते 'ऋ' को यणादेश होगा।

प्रसङ्गवश 'साऽस्यदेवता' अर्थ में 'छ' प्रत्यय का विधान करने के लिये कुछ वार्तिक प्रस्तुत किये जा रहे हैं। (१) **प्रथम वार्तिक** द्वारा **'पैङ्गाक्षीपुत्र'** आदि शब्दों से 'छ' प्रत्यय का विधान कहा जा रहा है'। तदनुसार **पैङ्गाक्षीपुत्रीयम्** (पैङ्गाक्षीपुत्र देवता है जिस हविस् का)। **विग्रह**—पैङ्गाक्षीपुत्रः देवता अस्य। पैङ्गाक्षीपुत्र + छ (= ईय) > पैङ्गाक्षीपुत्रीयम् । (२) तार्णबिन्दवीयम् (तार्णविन्दु है देवता जिस हविस् का)। **विग्रह**—तार्णविन्दुः देवता अस्य। तार्णबिन्दु + छ (= ईय) ▷ तार्णविन्दो + ईय (उ = ओ—"ओर्गुणः" ६-४-१४६) ▷ तार्णबिन्दवीयम् (अवादेश तथा विभक्तिकार्य)। (२) **द्वितीय वार्तिक** से **शतरुद्र** शब्द से 'घ' तथा 'छ' प्रत्ययों का विधान किया गया है। **उदाहरण**—**शतरुद्रियम्**→ 'घ' (= इय) होने पर। **शतरुद्रीयम्**←छ (= ईय) होने पर। **अर्थ**—जिस हविस् के देवता शतरुद्र हों। **विग्रह**—शतं रुद्राः देवताः अस्य। **प्रक्रिया**—(क) शत + सु, रुद्र + जस् ▷ शतरुद्र (समास द्विगु—"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" २-१-५१)। (ख) शतरुद्र + घ > शतरुद्र् + इय (घ = इय) > शतरुद्रियम् ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। इसी प्रकार 'शतरुद्रीयम्' में छ = (ईय) होकर रूप निष्पन्न होगा।

विशेष—उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में 'छ' प्रत्यय का "द्विगोर्लुगनपत्ये" (४-१-८८) सूत्र से अपत्यार्थ-भिन्न होने के कारण लोप प्राप्त रहा, किन्तु विधान-सामर्थ्य से लोप-विधायक सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि लोप ही होना था तो 'घ' तथा 'छ' प्रत्ययों का विधान निरर्थक हो जाता।

(१२३१) पद—महेन्द्राद्, घाणौ, च। **अनुवृत्ति**—छ (:), साऽस्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—(सूत्र में) 'च' शब्द 'छ' का बोधक है। उदा० महेन्द्रियं (हविः)—माहेन्द्रम्—महेन्द्रीयम्।

विवरण—"साऽस्य देवता" का ही विषय है। अतः इस अर्थ में "प्रथमासमर्थ देवतावाची 'महेन्द्र' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'घ', 'अण्' तथा 'छ' प्रत्यय भी होंगे"। इस प्रकार तीन प्रत्ययों से तीन रूप निष्पन्न होंगे। **उदाहरण**—(क) **महेन्द्रियम्**←'घ' (= इय) होने पर। (ख) **माहेन्द्रम्**←'अण्' होने पर। (ग) **महेन्द्रीयम्** ←'छ' (= ईय) होने पर। **विग्रह**—महेन्द्रः देवता अस्य। **अर्थ**—जिस 'हविस्' के देवता इन्द्र हों।

(१२३२) पद—सोमात्, ट्यण्। **अनुवृत्ति**—साऽस्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० सौम्यम्। 'टित्' होने से (स्त्रीलिङ्ग में) 'ङीप्'। सौमी—ऋक्।

सौम्यम् । टित्त्वान्ङीप् । सौमी ऋक् । (१२३३) वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ४ । २ । ३१ ॥ वायव्यम् । एवम् ऋतव्यम् । (१२३४) रीङ्‌ऋतः ७ । ४ । २७ ॥ अकृद्यकारेऽसार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः स्यात् । 'यस्येति च' (सू ३११) । पित्र्यम् ।

प्रयोजनमाह—टित्त्वान्ङीबिति । सौमीति । सोमो देवता अस्या ऋचः इति विग्रहः । ङीपि 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः ।

(१२३३) वाय्वृतुपित्रुषसो यत् । वायु, ऋतु, पितृ, उषस् एभ्यः यदित्यर्थः । वायव्यमिति । वायुर्देवता अस्येति विग्रहः । यति ओर्गुणः । 'वान्तो यि' इत्यवादेशः । एवम् ऋतव्यमिति । ऋतुः देवता अस्येति विग्रहः ।

(१२३४) रीङ्‌ऋतः । अङ्गस्येत्यधिकृतम् ऋता विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'अयङ् यि क्ङिति' इत्यतः यि इत्यनुवर्तते । 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इत्यतः अकृत्सार्वधातुकयोरिति । 'च्वौ च' इति सूत्रं च तदाह—अकृदित्यादिना । पित्र्यमिति । पितरः देवता अस्येति विग्रहः । यति पितृशब्दस्य रीङ्, 'ङिच्च' इत्यन्तादेशः । 'यस्येति च' इति

विवरण—"प्रथमा समर्थ देवतावाची 'सोम' शब्द से षष्ठ्यर्थ में 'ट्यण्' प्रत्यय होता है"। अनुबन्ध ('ट्' तथा 'ण्') हटाकर 'ट्यण्' में 'य' शेष रह जाता है । **उदाहरण**—**सौम्यं** (हविः) (जिस 'हविस्' के सोम देवता हों)। **विग्रह**—सोमः देवता अस्य । सोम्+य (ट्यण्) > सौम्+य (भ-संज्ञानिमित्त 'अ' का लोप) > सौम्यम् (आदिवृद्धि तथा नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में विभक्ति-कार्य) । स्त्री-लिङ्ग में **सौमी** (सोमः देवता ऋचः अस्याः) रूप निष्पन्न होगा, क्योंकि 'ट्यण्' में 'ट्' इत्संज्ञक है, अतः "टिड्ढाणञ्०" (४-१-१५) से ङीप् होगा→सौम्य+ई (ङीप्) > सौम्य्+ई ('अ' का लोप) > सौम्+ई ('य्' का लोप—"हलस्तद्धितस्य" ६-४-१५०) >सौमी (विभक्ति-कार्य) ।

(१२३३) पद—वायु-ऋतु-पित्रुषसः, यत् । **अनुवृत्ति**—साऽस्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—वायव्यम् । इसी तरह—२—ऋतव्यम् ।

विवरण—पूर्ववत् 'साऽस्य देवता' अर्थ का ही प्रकरण है । अतः "प्रथमा-समर्थ देवतावाची 'वायु', 'ऋतु', 'पितृ' तथा 'उषस्' (वायुश्च, ऋतुश्च, पिता च, उषश्च—वाय्वृतुपित्र्युषः, तस्मात्) शब्दों से षष्ठ्यर्थ में 'यत्' प्रत्यय (=य) होता है"। **उदाहरण**—(१) **वायव्यम्** (जिस 'हविस्' के देवता वायु हों)। **विग्रह**—वायुः देवता अस्य । वायु+य (यत्) >वायो+य (उ=ओ—"ओर्गुणः" ६-१-१४६) > वायव्यम् (ओ=अव् "वान्तो यि प्रत्यये" ६-१-७९ तथा विभक्ति-कार्य) । (२) **ऋतव्यम्** (जिस हविस् का देवता ऋतु हो) । **विग्रह**—ऋतुः देवता अस्य—ऋतु+य > ऋतो+य > ऋतव्यम् ।

(१२३४) पद—रीङ्, ऋतः । **अनुवृत्ति**—च्वौ, अकृत्सार्वधातुकयोः, यि, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कृद्भिन्न एवं आर्धधातुकभिन्न यकार तथा 'च्वि' (प्रत्यय) परवर्ती होने पर ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को 'रीङ्' आदेश होता है । उदा० ३—'पित्र्यम्' । 'यस्येति च' (सू० ३११) से 'ई' लोप) । ४—उषस्यम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र के तृतीय उदाहरण 'पितृ+यत्' स्थिति में प्रसङ्ग-प्राप्त 'रीङ्' आदेश का विधायक सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है । यह विधान अष्टाध्यायी के सातवें अध्याय से लिया गया है । अतः सूत्रार्थ में अपेक्षित वहाँ की अनुवृत्तियों का स्मरण करना आवश्यक है । सूत्र में

उषस्यम्। (१२३५) **द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च ४।२।३२॥** चाद्यत्। द्यावापृथिवीयम्-द्यावापृथिव्यम्। शुनासीरीयम्—शुना-

---

ईकारलोपः। क्यचि पित्रीयतीत्यादौ 'अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्' इति वचनात् 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे अप्राप्ते ईकारोच्चारणम्। उषस्यमिति। उषः देवता अस्येति विग्रहः। भत्वेन पदत्वाभावात् सकारस्य न रुत्वादि।

(१२३५) द्यावापृथिवी। द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति, गृहमेध एतेभ्यः छो यच्च स्यादित्यर्थः। अणः पत्युत्तरपदण्यस्य चापवादः। द्यावापृथिवीयम्, द्यावापृथिव्यमिति। द्यावापृथिवी देवता अस्येति विग्रहः। छस्य ईयादेशः। उभयत्र 'यस्येति च' इति लोपः। शुनासीरीयमिति। शुनो वायुः, सीरः आदित्यः, शुनश्च सीरश्च शुनासीरौ। 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्। शुनासीरावस्य स्त इति

स्थानी ('ऋत्') तथा आदेश ('रीङ्') दोनों निर्दिष्ट हैं, किन्तु निमित्त-वाची पद निर्दिष्ट नहीं हैं। इस हेतु "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" (७-४-२५) से अकृत्सार्वधातुकयोः, "अयङ् यि क्ङिति" (७-४-२२) से 'यि' तथा "च्वौ च" (७-४-२६) से 'च्वौ' की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। इसके साथ ही "अङ्गस्य" (६-४-१) का अधिकार चला आ रहा है। वह सूत्रस्थ षष्ठयन्त 'ऋतः' पद का विशेष्य है। 'ऋतः' में तदन्त-विधि हो जाती है। तदनुसार "कृद्भिन्न और सार्वधातुकभिन्न 'य' कार तथा 'च्वि' प्रत्यय के परवर्ती होने पर ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग के स्थान में री ('रीङ्') आदेश होता है"। 'पितृ' शब्द को 'रीङ्' आदेश हो—यह अर्थ करने पर भी "ङिच्च" (१-१-५३) से 'पितृ' शब्द सम्बन्धी 'ऋ'कार के स्थान में ही 'री' आदेश होगा। उदाहरण—(२) **पित्र्यम्** (जिस हविस् के देवता पितृगण हों)। विग्रह—पितरः देवता अस्य। पितृ+य (यत्) ▷ पित्-री+य (कृद्भिन्न 'य' प्रत्यय होने के कारण ऋ = री) ▷ पित्र्यम् ('ई' का लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (४) **उषस्यम्** (जिस हविस् की देवता 'उषस्' हो)। विग्रह—उषः देवता अस्य। उषस्+य (यत्) > उषस्यम् (विभक्ति-कार्य)। 'भ' संज्ञा होने के कारण 'स्' के स्थान में 'रु' की प्राप्ति नहीं है।

(१२३५) पद—द्यावापृथिवी-शुनासीर-मरुत्वत्-अग्नीषोम-वास्तोष्पति-गृहमेधात्, छ (=छः), च। अनुवृत्ति—यत्, साऽस्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—(सूत्रस्थ) 'च' (पद) से 'यत्' प्रत्यय भी होगा। उदा० १—द्यावापृथिवीयम्—द्यावापृथिव्यम्। २—शुनासीरीयम्—शुनासीर्यम्।

विवरण—पुनः क्रमप्राप्त तद्धित प्रकरणस्थ 'साऽस्य देवता' की ओर ध्यान देना है। अतः सूत्रस्थ 'च' शब्द "वाय्वृतुपित्रुषसो यत्" (४-२-३०) सूत्र से अनुवर्तमान 'यत्' प्रत्यय का अनुकर्षण सूचित कर रहा है। सूत्र में 'छ' पद लुप्त-प्रथमा विभक्तिक है (=छः)। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ देवतावाची 'द्यावापृथिवी', 'शुनासीर', 'मरुत्वत्', 'अग्नीषोम', 'वास्तोष्पति' तथा 'गृहमेध' प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'छ' (= ईय) तथा यत् (= य) प्रत्यय होते हैं"। प्रकृत विधान 'अण्' तथा पत्युत्तर 'ण्य' का अपवाद है। क्रमशः उदाहरण—(१) (क) **द्यावापृथिवीयम्**→'छ' प्रत्यय (द्यावापृथिवी+ईय) होने पर। (ख) द्यावापृथिव्यम्←'यत्' प्रत्यय (द्यावापृथिवी+य) होने पर। विग्रह—द्यावापृथिव्यौ देवते यस्य (द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ, दिव् = द्यावा "दिवो द्यावा" ६-३-२९)। अर्थ—जिस 'हविस्' के देवता द्यावा (आकाश) तथा पृथिवी हों। (२) **शुनासीरीयम्**→'छ' (ईय) प्रत्यय होने पर (शुनासीर+छ=ईय)। **शुनासीर्यम्**—यत् प्रत्यय होने पर (शुनासीर+य)। विग्रह—शुनासीरौ देवते अस्य (शुनश्च सीरश्च इति शुनासीरौ—'शुन' के 'अ' को 'आनङ्' आदेश—"देवताद्वन्द्वे च" ६-३-२६)। अर्थ—जिसके देवता शुन =

सीयम्। (१२३६) अग्नेर्ढक् ४।२।३३॥ आग्नेयम्। (१२३७) कालेभ्यो भववत् ४।२।३४॥ मासिकम्। प्रावृषेण्यम्। (१२३८) महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ् ४।२।

शुनासीरः। 'वाय्वादित्यवानिन्द्रो विवक्षितः' इति वेदभाष्ये भट्टभास्करः। शुनासीरौ देवता अस्येति विग्रहः। मरुत्वान् देवता अस्य मरुत्वतीयम्, मरुत्वत्यम्। अग्नीषोमौ देवते अस्य अग्नीषोमीयम्। अग्नीषोम्यम्। वास्तुनः पतिः वास्तोष्पतिः रुद्रः। निपातनादलुक् षत्वं च। 'रुद्रः खलु वै वास्तोष्पतिः' इति ब्राह्मणम्। अमरस्तु इन्द्रपर्यायेषु 'वास्तोष्पतिः सुरपतिः' इत्याह। वास्तोष्पतिर्देवता अस्य वाष्तोष्पतीयं, वास्तोष्पत्यम्। गृहमेधो देवता अस्य गृहमेधीयम्। गृहमेध्यम्।

(१२३६) अग्नेर्ढक्। आग्नेयमिति। प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्वयम्। 'सर्वत्राग्निकलिभ्याम्' इति वचनात्।

(१२३७) कालेभ्यो भववत्। कालवाचिभ्यो भवेऽर्थे येन विशेषणेन ये प्रत्यया

वायु तथा सीर=सूर्य या इन्द्र हों। इसके अन्य उदाहरण ये हैं—**अग्नीषोमीयम्** (छ = ईय)—**अग्नीषोम्यम्** (यत्)। **विग्रह**—अग्नीषोमौ देवते अस्य। **अर्थ**—जिसके देवता अग्नि और सोम हों। **अग्नीषोमीयम्** में "ईदग्नेः सोमवरुणयोः" (६-३-२७) से 'अग्नि' को 'ईत्व' तथा "अग्नेः स्तुत्सोमयोः" (८-३-८२) से 'स' को 'ष' होता है। (३) **मरुत्वतीयम्** (छ=ईय)—**मरुत्वत्यम्** (यत्)। **विग्रह**—मरुत्वान् देवता अस्य। **अर्थ**—जिसका देवता इन्द्र हो। मरुतः अस्य सन्ति—इति मरुत्वान् = इन्द्रः। (५) **वास्तोष्पतीयम्** (छ = ईय)—**वास्तोष्पत्यम्** (यत्)। **विग्रह**—वास्तोष्पतिः देवता अस्य। **अर्थ**—वास्तोष्पति अर्थात् रुद्र जिसके देवता हों। **वास्तोष्पति** शब्द में निपातनवश 'षष्ठी' का लुक् (वास्तुनः = वास्तोः पतिः—समास में) नहीं हुआ तथा 'पुंलिङ्ग' प्रयोग भी हुआ। "षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु" (८-३-५३) से 'वास्तोस्' के 'स्' को 'ष्' हुआ। (६) **गृहमेधीयम्** (छ=ईय)—**गृहमेध्यम्** (यत्)। **विग्रह**—गृहमेधः देवता अस्य। **अर्थ**—जिसका देवता 'गृहमेध' है। यह विधान 'अण्' तथा 'ण्य' का बाधक है।

विशेष—ऋग्वेदी 'गृहमेध' शब्द को अकारान्त मानते हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'मरुद्भ्यो गृहमेधेभ्यः' प्रयोग मिलता है। 'गृहमेधास आगताः' मन्त्र भी है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में इकारान्त या नकारान्त 'गृहमेधि' प्रयोग मिलता है—'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्' (गृहमेधि देवताओं के लिये सब के दूध में सान्ध्यकालीन हवि के रूप में भात कहा है)।

(**१२३६**) **पद**—अग्नेः, ढक्। **अनुवृत्ति**—साऽस्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

विवरण—"साऽस्य देवता" का ही विषय है। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ देवतावाची 'अग्नि' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है"। 'अण्' का अपवाद है। **उदाहरण**—आग्नेयम् (अग्नि देवता है जिस 'हविस्' का)। **विग्रह**—अग्निः देवता अस्य हविषः। अग्नि+ढ (ढक्) = एय ▷ अग्न्+एय ('इ' का लोप) ▷ आग्नेयम् (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)।

विशेष—"कलेर्ढक्" (४-२-८) सूत्र के प्रसङ्ग में यह सूचित किया जा चुका है कि 'कलि' शब्द के समान 'अग्नि' शब्द से भी समग्र 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थों में 'ढक्' प्रत्यय होता है, न कि केवल 'अस्य' देवता अर्थ में—"प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु सर्वत्राग्निकलिभ्यां 'ढक्' वक्तव्यः" (वार्तिक)।

(**१२३७**) **पद**—कालेभ्यः, भववत्। **अनुवृत्ति**—साऽस्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—मासिकम्। २—प्रावृषेण्यम्।

३५ ॥ माहाराजिकम् । प्रौष्ठपदिकम् । (१२३९) देवताद्वन्द्वे च ७ । ३ । २१ ॥ अत्र पूर्वोत्तरपदयोराद्यचो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति किति च परे । आग्निमारुतम् । (१२४०)

वक्ष्यन्ते, ते 'साऽस्य देवता' इत्यर्थे कालवाचिभ्यस्तेनैव विशेषणेन भवन्तीत्यर्थः । मासिकमिति । मासो देवता अस्येति विग्रहः । कालाट्ठञ् । प्रावृषेण्यमिति । प्रावृट् देवता अस्येति विग्रहः । प्रावृष एण्यः ।

(१२३८) महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ् । माहाराजिकमिति । महाराजो वैश्रवणः, स देवता अस्येति विग्रहः । प्रौष्ठपदिकमिति । प्रोष्ठपदो देवता अस्येति विग्रहः । वृत्तः 'साऽस्य देवता' इत्यधिकारः ।

(१२३९) अथ प्रासङ्गिकम् । देवताद्वन्द्वे च । 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरित्यनु-

---

विवरण—पूर्व सूत्र के समान सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "काल-विशेषवाची प्रातिपदिकों से 'साऽस्य देवता' विषय में 'भव' अर्थ में विहित प्रत्यय (भववत् = भवः इव) होते हैं"। इस प्रकार कालविशेष-वाची शब्दों का 'साऽस्य देवता' विषय में विस्तार किया जा रहा है। **उदाहरण**—(१) **मासिकम्** (जिस 'हविस्' का देवता मास हो)। **विग्रह**—मासः देवता अस्य हविषः। मास+ठ (ठञ्—"कालाट्ठञ्") ⊳ मास+इक (ठ=इक) ⊳ मासिकम् ('अ' लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य । (२) **प्रावृषेण्यम्** (वर्षा है देवता जिस हविस् का)। **विग्रह**—प्रावृट् देवता अस्य। प्रावृष्+एण्य ("प्रावृष एण्यः" ४-३-१७) > प्रावृषेण्यः ।

विशेष—'भववत्' (भवः इव)—इस अतिदेश से यह सूचित होता है कि शैषिक प्रकरण ("शेषे" ४-२-९२ से लेकर "अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः" ४-३-१३५) के अन्तर्गत भवाधिकार ("तत्र भवः" ४-३-५३ से "अणृगयनादिभ्यः" ४-३-७३ तक) में कालवाची जिन शब्दों से जिस विशेषण को लेकर जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, उन्हीं विशेषणों सहित उन्हीं प्रकृतियों से वही प्रत्यय 'साऽस्य देवता' अर्थ में भी होंगे। अतः "शेषे" (४-२-९२) अधिकार के अन्तर्गत "तत्र भवः" (४-३-५३) आदि अर्थों में कालवाची प्रातिपदिकों से "कालाट्ठञ्" (४-३-११) सूत्र से 'ठञ्' प्रत्यय कहा गया है, वह 'साऽस्य देवता' इस अर्थ में भी होगा। तथा तदनुसार 'मासिकम्' 'आर्धमासिकम्' 'सांवत्सरिकम्' आदि शब्द निष्पन्न होंगे। इसी तरह "कालाट्ठञ्" (४-३-११) के अधिकार में कहे हुए कालवाची 'वसन्त' शब्द से "सन्धिवेला-द्यृतु-नक्षत्रेभ्योऽण्" (४-३-१६) से 'अण्' (वासन्तम्) एवम् 'प्रावृष्' शब्द से "प्रावृष एण्यः" (४-३-१७) से 'एण्य' प्रत्यय (प्रावृषेण्यम्) भी होंगे।

(१२३८) पद—महाराज-प्रोष्ठपदात्, ठञ्। **अनुवृत्ति**—साऽस्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—माहाराजिकम् । २—प्रौष्ठपदिकम् ।

विवरण—सभी अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ देवतावाची 'महाराज' तथा 'प्रोष्ठपदा' प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **माहाराजिकम्** (महाराज = कुबेर है देवता जिसका वह हविस्)। **विग्रह**—महाराजः देवता अस्य। महाराज+ठ (ठञ्) ⊳ महाराज्+इक > माहाराजिकम् । (२) **प्रौष्ठपदिकम्** (प्रोष्ठपदा अर्थात् पूर्वा भाद्रपदा नक्षत्र है देवता जिसका)। **विग्रह**—प्रोष्ठपदा देवता अस्य तत् । प्रोष्ठपदा+ठ (ठञ्) ⊳ प्रोष्ठपदा+इक > प्रौष्ठपदा+इक > प्रौष्ठपदिकम् ।

विशेष—द्वितीय उदाहरण में नक्षत्रवाची शब्द से प्राप्त 'अण्' का यह अपवाद है।

(१२३९) पद—देवताद्वन्द्वे, च । **अनुवृत्ति**—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र**।

नेन्द्रस्य परस्य ७ । ३ । २२ ॥ परस्येन्द्रस्य वृद्धिर्न स्यात् । सौमेन्द्रः । परस्य किम् ?

वर्तते । 'अचो ञ्णिति' इत्यतः ञ्णितीति, 'किति च' इति सूत्रं चानुवर्तते । 'तद्धितेष्व-चामादेः' इत्यत्र अचामादेरिति 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्यतः पूर्वपदस्येति, 'उत्तरपदस्य च' इति सूत्रं चानुवर्तते । तदाह—अत्रेत्यादिना । आग्निमारुतमिति । अग्निश्च मरुच्च अग्नामरुतौ । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् । अग्नामरुतौ देवता अस्य आग्नि मारुतम् । अणि अनेन उभयपदादिवृद्धिः । अलौकिके विग्रहवाक्ये एव आनङं बाधित्वा 'इद्वृद्धौ' इति इत्वम् ।

(१२४०) नेन्द्रस्य परस्य । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युक्ता उभयपदवृद्धिः उत्तरपदस्य इन्द्रशब्दस्य नेत्यर्थः । सौमेन्द्र इति । चरुरिति शेषः । तैत्तिरीये 'सौमेन्द्रं श्यामाकं चरुम्' इति छान्दसम् ।

मूलार्थ—(देवताद्वन्द्व में) पूर्व और उत्तरपद के आदि 'अच्' को 'ञित्' तथा 'णित्' प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर वृद्धि हो । उदा० आग्निमारुतम् ।

विवरण—प्रासङ्गिक उभयपद वृद्धि का सूत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है । अतः सूत्रार्थ के लिये सप्तमाध्यायस्थ प्रकरण की अनुवृत्तियों का स्मरण करना आवश्यक है । सूत्र में 'स्थानी' और 'आदेश'-वाची पदों का भी उल्लेख नहीं है । अतः "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य" (७-३-१९) से 'पूर्वपदस्य', अधिकारसूत्र "उत्तरपदस्य" (७-३-१०), समग्र सूत्र "अचो ञ्णिति" (७-२-११५) "किति च" (७-२-११८) तथा "मृजेर्वृद्धिः" (७-२-११४) से 'वृद्धि' पद अनुवर्तमान है । इसके साथ ही "अङ्गस्य" (६-४-१) का अधिकार भी चल रहा है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यक्ति होता है कि "देवतावाची द्वन्द्व समास में भी (च) पूर्वपद तथा उत्तरपदों के अचों में 'आदि अच्' को 'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'वृद्धि' हो" । **उदाहरण**—**आग्निमारुतम्** (अग्नि और मरुत् वायु देवता हों जिस हविस् के) । **विग्रह**—अग्नामरुतौ देवते अस्य । सर्वप्रथम (क) अग्निश्च मरुच्च विग्रह करने पर द्वन्द्व समास होकर 'अग्नामरुतौ' । विग्रह की स्थिति में 'आनङ्' का बाध कर "इद्-वृद्धौ" (६-३-२८) से 'इ' आदेश । तब (ख) अग्निमरुत्+अ ('अण्'—"साऽस्य देवता" (४-२-२४) > आग्निमारुत (पूर्वपद 'अग्नि' के 'आदि अकार' तथा उत्तरपद 'मरुत्' के 'आदि अकार' को वृद्धि = आ) > आग्निमारुतम् (विभक्ति-कार्य) ।

(१२४०) **पद**—न, इन्द्रस्य, परस्य । **अनुवृत्ति**—देवताद्वन्द्वे, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । **विधि**-(निषेध)-सूत्र ।

मूलार्थ—'इन्द्र' के परवर्ती होने पर वृद्धि न हो । उदा० सौमेन्द्रः । 'परस्य' क्यों कहा ? ऐन्द्राग्नः (निषेध नहीं हुआ) ।

विवरण—पूर्व सूत्रस्थ विषय की सीमा को संकुचित करने के लिये विशेष स्थलों पर 'वृद्धि' का निषेध किया जा रहा है । अतः "देवताद्वन्द्वे च" (७-३-२१) से 'देवताद्वन्द्वे' पद प्रमुख रूप में अनुवर्तमान है । सूत्रस्थ 'न' पद निषेध-वाची है । अवशिष्ट प्राकरणिक पदों के साथ सूत्रस्थ पद अन्वित होकर यह सूचित करते हैं कि "देवता-द्वन्द्व में उत्तरपदस्थ 'इन्द्र' शब्द के अचों में 'आदि अच्' को पूर्व सूत्र (१२३९) से प्राप्त वृद्धि नहीं होती" । फलतः 'इन्द्र' शब्द को वृद्धि का निषेध होने पर "तद्धितेष्वचामादेः" (७-२-११७) सूत्र से अङ्ग के आदि 'अच्' को वृद्धि होती है । **उदाहरण**—**सौमेन्द्रः** (जिस मन्त्र के देवता 'सोम' और इन्द्र हों) । **विग्रह**—सोमेन्द्रौ देवते अस्य । (क) सोमश्च इन्द्रश्च > सोमेन्द्रौ (द्वन्द्व समास) । (ख) सोमेन्द्र+अ (अण्—"साऽस्य देवता" ४-२-२४) > सौमेन्द्रः ('उभयपदवृद्धि' का निषेध होने के कारण आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य ।)

ऐन्द्राग्नः। (१२४१) **दीर्घाच्च वरुणस्य ७। ३। २३॥** दीर्घात्परस्य वरुणस्य न वृद्धिः। ऐन्द्रावरुणम्। दीर्घात् किम्? आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत। 'तदस्मिन्वर्तत इति नवयज्ञादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा० २७०६)। नावयज्ञिकः कालः। पाकयज्ञिकः।

(१२४१) **दीर्घाच्च वरुणस्य।** ऐन्द्रावरुणमिति। इन्द्रावरुणौ देवता अस्येति विग्रहे द्वन्द्वः। आनङ्। इन्द्रावरुणशब्दादणि दीर्घाकारात्परत्वात् वरुणस्य नादिवृद्धिः। आग्निवारुणमिति। 'इद्वृद्धौ' इत्यग्नेरानङं बाधित्वा इत्त्वे कृते दीर्घात्परत्वाभावान्निषेधाभावे सति 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपदवृद्धिरिति भावः। इति प्रासङ्गिकम्। अथ प्रकृतम्—तदस्मिन्निति। 'महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ्' इति सूत्रे वार्तिकमिदम्। 'तदस्मिन्-वर्तते' इत्यर्थे नवयज्ञादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः ठञः उपसङ्ख्यानमित्यर्थः। नावयज्ञिकः काल इति। नवयज्ञः नूतनधान्यद्रव्यको यज्ञः आग्रयणाख्यः सः यस्मिन्काले वर्तते सः नावयज्ञिकः। आग्रयणकालः इति यावत्। पाकयज्ञिक इति। पाकयज्ञः औपासनाग्निसाध्यः

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'परस्य' पद का निवेश होने के कारण ऐन्द्राग्नः (इन्द्रश्च अग्निश्च-इन्द्राग्नी देवते अस्य) में 'इन्द्र' पद उत्तरपदस्थ न होने पर उभयपद वृद्धि का निषेध नहीं हुआ। अतः 'इ' और 'अ' दोनों की वृद्धि हुई।

(१२४१) **पद**—दीर्घात्, च, वरुणस्य। **अनुवृत्ति**—न, देवताद्वन्द्वे, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधि-(निषेध)-सूत्र।**

मूलार्थ—दीर्घ से परवर्ती 'वरुण' को वृद्धि न हो। उदा० ऐन्द्रावरुणम्। 'दीर्घात्' क्यों कहा? आग्निवारुणीम् (निषेध नहीं हुआ)। अर्थात् अग्निवरुण देवता सम्बन्धी गौ का आलम्भन करे। वा० 'अस्मिन् वर्तते' अर्थ में नवयज्ञादि शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय हो। उदा० १—नावयाज्ञिकः कालः। २—पाकयाज्ञिकः। वा० 'पूर्णमास' शब्द से 'अण्' हो। उदा० पूर्णः मासः अस्यां वर्तते-पौर्णमासी तिथिः।

विवरण—वृद्धि का निषेध-विधान होने के कारण पूर्वसूत्र "नेन्द्रस्य परस्य" (७-३-२२) से 'न' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में आवश्यक है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र के समान अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "देवताद्वन्द्व में दीर्घ से उत्तरवर्ती 'वरुण' शब्द के 'अचों में आदि अच्' को "देवताद्वन्द्वे च" (७-३-२१) से प्राप्त वृद्धि नहीं होगी"। अतः पूर्वपद-वृद्धि हो जायगी। **उदाहरण—ऐन्द्रावरुणम्** (इन्द्र और वरुण सम्बन्धी हविस्)। **विग्रह**—इन्द्रावरुणौ देवते अस्य। **प्रक्रिया**—(क) इन्द्रश्च वरुणश्च—इन्द्रावरुणौ (द्वन्द्व समास तथा 'इन्द्र' शब्द को 'आनङ्'—"देवताद्वन्द्वे च" ७-३-२१)। (ख) इन्द्रावरुणौ + अ (अण्—"साऽस्य देवता" ४-२-२४ ▷ ऐन्द्रावरुण + अ—दीर्घ 'द्रा' से परवर्ती होने के कारण 'वरुण' के आदि अच् को वृद्धि—"तद्धितेष्वचामादेः" ७-२-१७) > ऐन्द्रावरुणम् ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'दीर्घात्' पद का निवेश होने से **आग्निवारुणीम्** अनड्वाहीम् आलभेत वाक्य में "ईदग्नेः सोमवरुणयोः" (६-३-२७) सूत्र के अपवादस्वरूप नकारोत्तरवर्ति 'ई'कार के स्थान पर 'ह्रस्व' इकार ("इद्वृद्धौ") आदेश होने के फलस्वरूप 'वरुण' शब्द 'दीर्घ' से परवर्ती नहीं है, अतः प्रकृत सूत्र (१२४१) से वृद्धि का निषेध न होने के कारण "देवताद्वन्द्वे च" (७-३-२१) से उभयपद की वृद्धि हो गई। 'अणन्त' होने से 'ङीप्' प्रत्ययान्त के सन्दर्भ में यहाँ स्त्रीलिङ्ग में इसका छान्दस उदाहरण दिया है। द्वितीया विभक्ति के एकवचन का रूप है।

प्रासङ्गिक विषय के अनन्तर तद्धित-प्रकरणस्थ 'साऽस्य देवता' के समान 'तदस्मिन् वर्तते' अर्थ अभिलक्षित कर प्रथम वार्तिक प्रस्तुत किया गया है। उसमें यह निरूपण किया जा रहा

'पूर्णमासादण्वक्तव्यः' (वा २७०७)। पूर्णो मासोऽस्यां वर्तत इति पौर्णमासी तिथिः।
(१२४२) पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४। २। ३६ ॥ एते निपात्यन्ते। 'पितुर्भ्रातरि व्यत्' (वा २७०८)। पितुर्भ्राता पितृव्यः। 'मातुर्डुलच्' (वा १७०८)। मातुर्भ्राता मातुलः। 'मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्' (वा २७०९)। मातुः पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः। 'मातरि षिच्च' (वा २७१०)। मातामही। पितामही। 'अवे-

---

पार्वणस्थालीपाकादिः सः यस्मिन्काले वर्तते सः पाकयज्ञिकः। पूर्णमासादिति। तदस्मिन्वर्तते इत्यर्थे पूर्णमासशब्दात्प्रथमान्तादण् वक्तव्य इत्यर्थः। पूर्णो मासोऽस्यामिति। मासश्चन्द्रमाः पूर्णश्चासौ मासश्च पूर्णमासः पूर्णचन्द्रः, स यस्यां तिथौ वर्तते सा पौर्णमासी तिथिरित्यर्थः। अणि 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्। यद्यपि पूर्णो माः चन्द्रः पूर्णमाः। तस्येयमित्यर्थे 'तस्येदम्' इत्यणि पौर्णमासीति सिद्धम्। तथापि ईदृश एवार्थे अयं साधुरिति भावः।

(१२४२) पितृव्यमातुल। कस्मिन् अर्थे किं निपात्यते इत्यत आह—पितुर्भ्रातरि व्यदित्यादिना। मातुल इति। मातृशब्दात् डुलचि 'टेः' इति टिलोपः। मातामह इति। मातृशब्दात् डामहचि टिलोपः। एवं पितामहः। मातरि षिच्चेति। मातृपितृभ्यां मातरि डामहच्, स च षिद्भवतीत्यर्थः। षित्त्वस्य फलं ङीषित्याह—मातामही पितामहीति। अवेरिति। अवेर्दुग्धमित्यर्थे अविशब्दात् सोढ, दूस, मरीसच् एते प्रत्यया वक्तव्या

है कि ""इसमें विद्यमान है' इस अर्थ में प्रथमान्त नवयज्ञादि शब्दों से 'ठञ्' प्रत्यय का विधान किया जाय"। यह वार्तिक "महाराजाट्ठञ्" (४-२-३५) सूत्र में पढ़ा गया है, अतः 'ठञ्' प्रत्यय का विधान है। **उदाहरण**—(१) नावयज्ञिकः कालः (नवीन अन्न से यज्ञ करने का समय अर्थात् आग्रहायण काल)। **विग्रह**—नवयज्ञः यस्मिन् काले वर्तते सः। नवयज्ञ+ठ (ठञ्) > नवयज्ञ्+इक (ठ=इक) > नावयज्ञिकः ('अ' लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। गोभिल गृह्यसूत्र में आग्रहायणेष्टि को नवयज्ञ कहा गया है। (२) **पाकयज्ञिकः** (जिस समय अग्निहोत्र की अग्नि से पकाये हुए अन्न से यज्ञ किया जाय)। **विग्रह**—पाकयज्ञः यस्मिन् काले वर्तते स पाकयज्ञिकः। पाकयज्ञ+ठञ् (इक)। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

दूसरे वार्तिक द्वारा "तदस्मिन् वर्तते' अर्थ में प्रथमान्त 'पूर्णमास' शब्द से 'अण्' प्रत्यय कहा जा रहा है"। **उदाहरण**—**पौर्णमासी** तिथिः (मास की जिस तिथि को चन्द्रमा पूर्ण हो)। **विग्रह**—पूर्णमासः अस्यां (तिथौ) वर्तते सा। **प्रक्रिया**—(क) पूर्णश्चासौ मासश्च—पूर्णमासः (कर्मधारय समास = पूर्णचन्द्रः)। (ख) पूर्णमास+अण् > पूर्णमास्+अ > पौर्णमास (आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप) > पौर्णमासी (ङीप्, 'अ' लोप एवं विभक्ति-कार्य)।

विशेष—यद्यपि 'पौर्णमासी' शब्द "तस्येदम्" (४-३-१२०) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय करने पर स्त्रीलिङ्ग मे 'ङीप्' होने के पश्चात् सिद्ध हो सकता था (पूर्णो माः चन्द्रः > पूर्णमाः—तस्य इयम्—पौर्णमासी), तथापि 'अस्मिन् वर्तते' अर्थ में उक्त वार्तिक की उपयोगिता है।

(१२४२) पद—पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इनका निपातन है। १—पिता के भाई अर्थ में 'व्यन्' (प्रत्यय हो)। उदा० पितुः भ्राता—पितृव्यः २—माता के भाई अर्थ में 'डुलच्' हो। जैसे—मातुलः अर्थात् मामा। ३—माता के पिता तथा ४—पिता के पिता अर्थ में 'डामहच्' प्रत्यय हो। जैसे—मातामहः—अर्थात् माता के पिता तथा पितामहः—अर्थात् पिता के पिता। 'माता' की 'माता' तथा 'पिता'

दुग्धे सोढदूसमरीसचो वक्तव्याः' (वा २७१२)। सकारपाठसामर्थ्यान्न षः। अविसोढम्। अविदूसम्। अविमरीसम्। 'तिलान्निष्फलात्पिञ्जपेजौ' (वा २७१३)। तिलपिञ्जः। तिलपेजः। वन्ध्यस्तिल इत्यर्थः। 'पिञ्जश्छन्दसि डिच्च' (वा २७१४)। तिलिपञ्जः।

इत्यर्थः। सोढसकारस्य प्रत्ययावयवत्वात् षत्वमाशङ्क्याह—सकारपाठसामर्थ्यान्न ष इति। अन्यथा षोढ इत्येवोपदिशेदिति भावः। तिलादिति। तिलशब्दः ओषधिविशेषे मुख्यः। तत्फले तु गौणः। तत्र यदा तिलशब्दः निष्फले ओषधिविशेषे वर्तते, तदा तस्मात्स्वार्थे पेज-पिञ्ज इति प्रत्ययौ स्त इत्यर्थः। इति देवतार्थकाः।

की माता अर्थ में (डामहच्) 'षित्' भी कहा जाय। जैसे—मातामही तथा पितामही ('षित्' होने से 'ङीप्' हुआ)। वा० दूध अर्थ में 'अवि' शब्द से 'सोढ', 'दूस' तथा 'मरीसच्' प्रत्यय होते हैं। 'स'कार पढ़ने से उसके स्थान में 'ष' नहीं हुआ। उदा० १—अविसोढम्। २—अविदूसम्। ३—अविमरीसम्। वा० वन्ध्य तिल अर्थ में ('तिल' शब्द से) 'पिञ्ज' तथा 'पेज' प्रत्यय होते हैं। उदा० १—तिलपिञ्जः। २—तिलपेजः। अर्थात् तेलरहित तिल। वा० वेद में (इन प्रत्ययों को) 'डित्' (जाना जाय)। उदा० तिल्-पिञ्जः ('टि' = 'अ' का लोप)।

विवरण—कुछ सम्बन्धवाचक शब्दों का निपातन किया जा रहा है, तथा वे शब्द किस अर्थ में रूढ हैं—यह भी बतलाया जा रहा है। सर्व-प्रथम सूत्रकार ने ये चार शब्द निपातित कहे हैं—'पितृव्य', 'मातुल', 'पितामह' तथा 'मातामह'। क्रमशः **उदाहरण**—(१) पितृव्यः (पिता का भाई=चाचा)। **विग्रहार्थ**—पितुः भ्राता। पितृ+व्यन् (प्रत्यय वार्तिक द्वारा) ⊳ पितृव्यः। (२) मातुलः (माता का भाई)। **विग्रहार्थ**—मातुः भ्राता। मातृ+डुलच् (= उल) (प्रत्यय वार्तिक द्वारा) ⊳ मातुलः ("टेः" ६-४-१४३ से 'ऋ' का लोप)। (३) **पितामहः** (पिता का पिता—दादा)। **विग्रहार्थ**—पितुः पिता। पितृ+डामहच् (आमह) प्रत्यय वार्तिक द्वारा ⊳ पितामहः ('डित्' होने से पूर्ववत् "टेः" ६-४-१४३ से 'टि' अर्थात् 'ऋ' का लोप। (४) **मातामहः** (माता का पिता—नाना)। **विग्रहार्थ**—मातुः पिता। मातृ+डामहच्। शेष सिद्धि पूर्ववत्। अन्य वार्तिक से 'मातृ' तथा 'पितृ' शब्दों से होने वाला 'डामहच्' प्रत्यय स्त्री-लिङ्ग में 'षित्' समझा जाय। इसके फलस्वरूप 'नानी' तथा 'दादी' अर्थों में 'ङीष्' ("षिद्-गौरादिभ्यश्च" ४-१-४१) होने से **मातामही** (मातामह+ई) तथा **पितामही** (पितामह+ई) रूप निष्पन्न होते हैं।

इसके अनन्तर प्रसङ्गवश एक अन्य वार्तिक द्वारा **'भेड़ का दूध'** अर्थ को अभिलक्षित कर 'अवि' शब्द से 'सोढ', 'दूढ', तथा 'मरीस' प्रत्यय संयुक्त कर **अविसोढः** (अवि+सोढ), **अविदूढः** (अवि+दूढ) तथा **अविमरीसः** (अवि+मरीस) निपातित हैं। इनका **विग्रहार्थ**—'अवेर्दुग्धम्' होगा। 'सोढः' में 'स'कार को प्रत्ययावयव होने के कारण प्राप्त मूर्धन्य षकार ("आदेश-प्रत्यययोः" ८-३-५९) की निवृत्ति 'स'कार रूप में ही पढ़ने के कारण की गई है। यदि 'ष'कार अभीष्ट होता तो 'षोढ' प्रत्यय की कल्पना की गई होती। अब अन्त में **बिना तेल वाले तिल** (निष्फल तिल) अर्थ में 'तिल' शब्द से स्वार्थ में पिञ्ज तथा पेज—दो प्रत्ययों की कल्पना कर वार्तिक द्वारा **तिलपिञ्ज** तथा **तिलपेज** शब्द निपातन किये गए हैं। इनका **विग्रहार्थ**—निष्फलः तिलः एव—है। इसी अर्थ में पुनः दूसरे वार्तिक से 'पिञ्ज' प्रत्यय को 'डित्' के समान माने जाने के फलस्वरूप 'तिल' के अकार का "टेः" (६-४-१४३) सूत्र से लोप होने से 'तिलिपञ्जः' रूप भी निष्पन्न होता है। देवतार्थक प्रत्ययों का विवरण यहाँ समाप्त हुआ।

(१२४३) तस्य समूहः ४ । २ । ३७ ॥ काकानां समूहः—काकम् । बाकम् ।
(१२४४) भिक्षादिभ्योऽण् ४ । २ । ३८ ॥ भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । इह 'भस्याढे–' इति पुंवद्भावे कृते । (१२४५) इनण्यनपत्ये ६ ।

(१२४३) तस्य समूहः । 'इनित्रकटचचश्च' इति यावदिदमनुवर्तते । अस्मिन्नर्थे प्रथमोच्चारितात् षष्ठ्यन्तात्प्राग्दीव्यतीयाः । अणादयो यथासम्भवं स्युरित्यर्थः । 'अचित्त-हस्तिधेनोष्ठक्' इत्याद्यपवादविषयं परिहृत्योदाहरति—काकम्, बाकमिति । समूहप्रत्य-यान्तानां नपुंसकत्वं लोकात् ।

(१२४४) भिक्षादिभ्योऽण् । तस्य समूह इत्येव । भैक्षमिति । अत्र 'अचित्तहस्ति' इति वक्ष्यमाणठगपवादोऽण् । गार्भिणमिति । गर्भशब्दान्मत्वर्थीये इनप्रत्यये कृते प्रत्ययः परश्च, आद्युदात्तश्च इति इकारस्य उदात्तत्वे 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति शिष्टस्यानुदा-त्तत्वे गर्भिन्शब्दः अनुदात्तादिः । ततो नान्तलक्षणङीषि तस्य 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनु-दात्तत्वे गर्भिणीशब्दोऽप्यनुदात्तादिरेव । ततः समूहेऽर्थे 'अनुदात्तादेरञ्' इति वक्ष्यमाणे अञि प्राप्ते भिक्षादित्वादणिति भावः । अणि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । अञि तु 'ञ्नि-त्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तमिति स्वरे विशेषः । अणि टिलोपाभावोऽपि प्रयोजनमिति दर्शयति—इह भस्येति । गर्भिणीशब्दादणि सति 'भस्याढे' इति पुंवत्त्वेन ङीपो निवृत्तौ गर्भिन् अ इति स्थिते 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे प्राप्ते सतीत्यर्थः ।

(१२४३) **पद**—तस्य, समूहः । **अनुवृत्ति**—समर्थानां प्रथमाद्वा, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—काकानां समूहः—काकम् । २—वाकम् ।

विवरण—'समूह' अर्थ को अभिलक्षित कर प्रत्ययों का विधान आरम्भ होता है । समूहार्थक प्रत्ययों का विधान "इनित्रकटयचश्च" ४-२-५० सूत्र तक समाविष्ट है । इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—"समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ ('तस्य') प्रातिपदिक से समूह अर्थ में ('समूहः') यथा-विहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—**काकम्** (कौओं का समूह) । **विग्रह**—काकानां समूहः । काक+आम्, अ (अण्) > काक्+अ ('सुप्' का लुक्) > काक (आदि-वृद्धि तथा 'अ' का लोप) ▷ काकम् (पुनः विभक्त्युत्पत्ति नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन) । 'समूह' अर्थ वाची शब्दों का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में किया जाता है (लोक-प्रसिद्धि है) । (२) **बाकः** (बगुलों का समूह) । **विग्रहार्थ**—बकानां समूहः । बक+अ (अण्) । शेष कार्य पूर्ववत् । इसी प्रकार समूहार्थ में **'आश्वपतम्'** (अण्), **स्त्रैणम्'** ('नञ्') तथा **'पौंस्नम्'** ('स्नञ्') आदि उदाहरण होंगे ।

(१२४४) **पद**—भिक्षादिभ्यः, अण् । **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—भिक्षाणां समूहः—भैक्षम् । २—गर्भिणीनां समूहः—गार्भिणम् । यहाँ 'भस्याढे तद्धिते' वा० से पुंवद्भाव करने पर (अग्रिम सूत्र से 'इन्' को प्रकृतिभाव बतलाया गया है) ।

विवरण—"'समूहार्थ' में षष्ठ्यन्त भिक्षादि-गण-पठित शब्दों से 'अण्' प्रत्यय होता है" । यह विधान "अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्" (४-२-४७) से प्राप्त 'ठक्' तथा "अनुदात्तादेरञ्" (४-२-४४) से प्राप्त 'अञ्' का अपवाद है । **उदाहरण**—(१) **भैक्षम्** (भिक्षुकों का समूह) । **विग्रह**—भिक्षाणां समूहः । भिक्षा+अ (अण्) > भिक्ष्+अ ('आ' लोप) ▷ भैक्षम् (आदिवृद्धि

४। १६४॥ अनपत्यार्थेऽणि परे इन्प्रकृत्या स्यात्। तेन 'नस्तद्धिते' (सू ६७९) इति टिलोपो न। युवतीनां समूहो यौवनम्। शत्रन्तादनुदात्तादेरञि यौवतम्। (१२४६)

(१२४५) इनण्यनपत्ये। इन् अणीति छेदः। प्रकृत्येति। 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। टिलोपो नेति। अञि तु प्रकृतिभावाप्रवृत्तेः टिलोपः स्यादिति भावः। यौवनमिति। 'कनिन्युवृषितक्षि' इत्यौणादिकनित्प्रत्ययान्तो नित्स्वरेणाद्युदात्तः। ततः स्त्रियां 'यूनस्तिः' इति तिप्रत्ययस्य प्रत्ययस्वरेणोदात्तत्वे सति शिष्टस्वरेण युवतिशब्दस्यानुदात्तादित्वादञि प्राप्ते भिक्षादित्वादणि कृते सति 'भस्याढे' इति पुंवत्त्वे तिप्रत्ययस्य निवृत्तौ 'अन्' इति प्रकृतिभावाट्टिलोपाभावे यौवनमिति रूपम्। अञि तु प्रकृतिभावस्याप्रवृत्तेष्टिलोपः स्यादिति भावः। वस्तुतस्तु 'भस्याढे तद्धिते' इत्यस्य अढे तद्धिते विवक्षिते सति ततः प्रागेव पुंवदित्यर्थः। ततश्च तद्धितोत्पत्तेः प्रागेव युवतिशब्दस्य पुंवत्त्वे तिप्रत्ययस्य निवृत्तौ युवन्शब्दस्य कनिन्प्रत्ययान्तस्य नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वादनुदात्तादित्वाभावादञ-

---

तथा विभक्ति-कार्य। (२) गार्भिणम् (गर्भिणियों का समुदाय)। विग्रह—गर्भिणीनां समूहः। गर्भिणी+अ (अण्) > गर्भिन्+अ ('भस्याढे तद्धिते' वार्तिक से पुंवद्भाव होने पर 'गर्भिणी' के स्थान पर पुंलिङ्ग रूप 'गर्भिन्' हुआ) > गर्भिन्+अ ("नस्तद्धिते" ६-४-१४४ से 'टि'=इन् का लोप प्राप्त होने पर—(प्रकृतिभावसम्बन्धी विवरण आगे के सूत्र में देखें)।

(१२४५) पद—इन्, अणि, अनपत्ये। अनुवृत्ति—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—अपत्यार्थ भिन्न 'अण्' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है। इस प्रकार 'नस्तद्धिते' (सू० ६७९) से प्राप्त 'टि' लोप नहीं होता। उदा० युवतीनां समूहः-यौवनम्। 'शतृ' प्रत्ययान्त 'युवत्' के अनुदात्तादि होने के कारण 'अञ्' प्रत्ययान्त से 'यौवतम्' रूप बनेगा।

विवरण—सूत्र में विधेयांश का लाभ अष्टाध्यायी-क्रम में पूर्वसूत्र "प्रकृत्यैकाच्" (६-४-१६३) से 'प्रकृत्या' पद की अनुवृत्ति करने से होता है। तदनुसार "अपत्य-भिन्न अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के परवर्ती होने की स्थिति में 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है"। अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः टिलोप न होने के फलस्वरूप 'गार्भिणम्' रूप बनेगा (आदिवृद्धि, 'णत्व' तथा विभक्तिकार्य)। (३) इसी प्रकार यौवनम् (युवतीनां समूहः-युवतियों का समूह) में भी युवति +अ (अण्—भिक्षादिगण में पाठ होने से) > युवन्+अ (पुंवद्भाव→ युवति = युवन्← 'भस्याढे तद्धिते' वा०) > युवन्+अ ("नस्तद्धिते" ६-४-१४४ से प्राप्त 'टि' लोप का "अन्" ६-४-१६७ से प्रकृतिभाव द्वारा निषेध) > यौवनम् (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। यद्यपि 'अञ्' प्रत्यय करने पर 'अन्' (६-४-१६७) सूत्र की प्रवृत्ति न होने से प्रकृतिभाव नहीं होता, तब 'टि' लोप होने से अनिष्ट रूप की आशङ्का रही, किन्तु भाष्यकार ने भिक्षादिगण में 'युवति' शब्द का प्रत्याख्यान किया है। उन्होंने यह बतलाया है कि √'यु' धातु से उणादि 'कनिन्' (=अन्) प्रत्यय करने पर 'युवन्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में "यूनस्तिः" (४-१-७७) सूत्र से 'ति' प्रत्यय संयुक्त हो जाने पर निष्पन्न (तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति के पूर्व ही) 'युवति' शब्द को 'तद्धित' प्रत्यय की विवक्षामात्र में ही 'भस्याढे तद्धिते' वार्तिक की प्रवृत्ति होने के फलस्वरूप पुंवद्भाव हो जायगा। इस प्रकार 'युवन्' ('कनिन्' प्रत्ययान्त शब्द) 'न'कार इत्संज्ञक प्रत्ययान्त होने के कारण आद्युदात्त हो जाने से आदि अनुदात्तरहित समझा जायगा। अतः अनुदात्तादि न होने के कारण "अनुदात्तादेरञ्" (४-२-४४) सूत्र की प्रवृत्ति न होने से 'अञ्' प्रत्यय की सम्भावना ही नहीं होगी। इसके फलस्वरूप "तस्य समूहः" (४-२-३७) से अण् प्रत्यय होने पर उपर्युक्त प्रकार से 'यौवनम्' रूप सिद्ध हो जाता है।

गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद् वुञ् ४ । २ । ३९ ॥ एभ्यः समूहे वुञ् स्यात् । लौकिकमिह गोत्रं, तच्चापत्यमात्रम् । (१२४७) **युवोरनाकौ ७ । १ । १ ॥** यु वु एतयोरनुनासिकयोः क्रमात् अन अक एतावादेशौ स्तः । ग्लुचुकायनीनां

भावे, 'तस्य समूहः' इत्यणि प्रकृतिभावाट्टिलोपाभावे यौवनमिति सिद्धमेवेति युवतिशब्दो भिक्षादिगणे प्रत्याख्यातो भाष्यकैयटयोरित्यलम् । शत्रन्तादिति । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वादनुदात्तादिरयं युवच्छब्दः । ततः उगिल्लक्षणङीपः पुंवत्त्वेन निवृत्तौ युवच्छब्दादनुदात्तादेरञि यौवतमिति रूपमिति भावः ।

(१२४६) गोत्रोक्षोष्ट्र । एभ्यः इति । गोत्र, उक्षन्, उष्ट्र, उरभ्र, राजन्, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज एतेभ्य इत्यर्थः । लौकिकमिह गोत्रमिति । न तु पारिभाषिकमित्यर्थः । अत्र लौकिकं गोत्रं किमित्यत आह—तच्चापत्यमात्रमिति । प्रवराध्याये परिगणितं पुत्रपौत्रादिकृत्स्नापत्यमित्यर्थः । 'अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकमेव गोत्रं गृह्यते, न तु पारिभाषिकं गोत्रमिष्यते' इति 'स्त्रीपुंसाभ्याम्' इत्यादिसूत्रभाष्ये सिद्धान्तितत्वादिति भावः ।

(१२४७) युवोरनाकौ । युश्च वुश्च युवुः । समाहारद्वन्द्वे सौत्रं पुंस्त्वम् । तदाह—यु वु एतयोरिति । 'अनुनासिकयोरिष्यते' इति वार्तिकलब्धमेतत् । अनुनासिकयोः किम् ? ऊर्णायुः । ग्लुचुकायनीनामिति । 'प्राचामवृद्धात्' इति ग्लुचुकशब्दादपत्ये फिन्, 'इतो

विशेष—√'यु' धातु से 'शतृ' (अत्) प्रत्ययान्त 'युवत्' (यु+अत्) शब्द प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त होने के कारण अनुदात्तादि है। उसके स्त्रीलिङ्ग में "उगितश्च" (४-१-६) से 'ङीप्' प्रत्यय होने पर 'युवती' शब्द निष्पन्न होता है। उस शब्द से यौवतम् रूप निष्पन्न होगा→ युवती+अञ् ▷ युवत्+अ (पुंवद्भाव से 'ङीप्' की निवृत्ति) > यौवतम् (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)।

(१२४६) **पद**—गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्र-राज-राजन्य-राजपुत्र-वत्स-मनुष्याऽजात्, वुञ् । **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इनसे समूहार्थ में 'वुञ्' हो। यहाँ लौकिक गोत्र अर्थात् अनन्तरापत्य (पुत्र एवं पुत्री) ही विवक्षित है।

विवरण—समूहार्थ का ही विषय है। विशेष विधान द्वारा 'वुञ्' प्रत्यय के सम्बन्ध में निर्वचन किया जा रहा है। अतः "षष्ठी समर्थ 'गोत्र' वाची शब्दों से तथा 'उक्षन्' 'उष्ट्र', उरभ्र', 'राजन्', 'राजन्य', 'राजपुत्र', 'वत्स', 'मनुष्य', एवम् 'अज'—इन प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है"।

विशेष—(१) इस सूत्र में 'गोत्र' शब्द शास्त्रीय गोत्र (पारिभाषिक) अर्थात् पौत्र प्रभृति सन्तति का बोधक नहीं है, किन्तु प्रवराध्याय में परिगणित लौकिक गोत्र (केवल पुत्र अथवा पुत्री) ही लिया गया है। इसके नियामक भाष्यकार ने अपत्याधिकार से बहिर्भूत लौकिक गोत्र के रूप में ही 'गोत्र' शब्द को सीमित किया है।

(२) 'वुञ्' में 'ञ्' की इत्संज्ञा होती है और उसे मान कर आदिवृद्धि होगी। 'वु' के स्थान पर 'अक' आदेश होता है (सूत्र आगे दिया जा रहा है)।

(१२४७) **पद**—युवोः, अनाकौ । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अनुनासिक 'यु' तथा 'वु' के स्थान पर क्रम से 'अन' तथा 'अक' आदेश होते हैं। उदा॰ ग्लुचुकायनीनां समूहः—१—ग्लौचुकायनकम् । २—औक्षकम्—इत्यादि। ३—राजन्यकम्'

समूहो ग्लौचुकायनकम् । औक्षकमित्यादि । 'आपत्यस्य च—' (सू १०८२) इति यलोपे प्राप्ते । 'प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवानः' (वा ४२१४) । राजन्यकम् । मानुष्यकम् ।

मनुष्यजातेः' इति ङीष्, समूहे वुञ् । अकादेशः, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इतीकार-लोपः । औक्षकमिति । उक्ष्णां समूहः इति विग्रहः । वुञ्, अकादेशः, टिलोपः, आदि-वृद्धिः । उष्ट्राणां समूहः इति विग्रहः, औष्ट्रकम् । उरभ्राः मेषाः तेषां समूहः और-भ्रकम् । राजकम्–राजन्यकम् । वात्सकम् । मानुष्यकम् । आजकम् । यलोपे प्राप्ते इति । राजन्यशब्दाद् वुञि अकादेशे 'आपत्यस्य च' इति यकारस्य लोपे प्राप्ते सतीत्यर्थः । प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवान इति । अके परे राजन्य, मनुष्य, युवन् एते प्रकृत्या स्युरिति वक्तव्यमित्यर्थः । यूनो भावो यौवनकम् । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । प्रकृतिभावान्न टिलोपः । 'वृद्धाच्छ' इति वृद्धशब्दस्वरूपमेव गृह्यते, न तु 'वृद्धिर्यस्याचामादिः' इति

में 'आपत्यस्य च'० (सू० १०८२) से 'य'कार का लोप प्राप्त होने पर 'प्रकृत्याऽके राजन्य-मनुष्य-युवानः' वा० (से प्रकृतिभाव हुआ है)। ४—मानुष्यकम् । वा० 'वृद्ध' शब्द से भी 'वुञ्' होता है। उदा० वार्धकम् ।

विवरण—'वुञ्' प्रत्यय के प्रसङ्ग में सप्तमाध्याय का यह सूत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। "अङ्गस्य" (६-४-१) की आधिकारिक अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है। स्थानी दो हैं—'यु' तथा 'वु' तथा आदेश भी दो हैं—'अन' तथा 'अक'। अतः "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" (१-३-१०) परिभाषा के अनुसार अङ्गसम्बन्धी 'यु' के स्थान पर 'अन' तथा 'वु' के स्थान पर 'अक' आदेश होंगे।

उदाहरण—(१) (पूर्वसूत्र से सम्बद्ध) गोत्रवाची शब्द-**ग्लौचुकायनिकः** (ग्लुचुकायनियों का समूह)। विग्रह—ग्लुचुकायनीनां समूहः। प्रक्रिया—(क) ग्लुचुक+फि (फिन्-"प्राचाम-वृद्धात् फिन् बहुलम्" ४-१-१६०) ▷ ग्लुचुक+आयनि ▷ ग्लुचुकायनि+ई (ङीप्—"इतो मनुष्य-जातेः" ४-१-६५) > ग्लुचुकायनी। (ख) ग्लुचुकायनी+वु (समूहार्थ में 'वुञ्'—"गोत्रो-क्षोष्ट्र०" सू० १२४६) > ग्लुचुकायनी+अक (वु = अक) > ग्लुचुकायन्+अक ('ई' लोप) > ग्लौचुकायनिकः (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। (२) **औक्षकम्** (बैलों का झुंड)। विग्रह—उक्ष्णां समूहः। उक्षन्+वु (वुञ्) > उक्ष॒न्॒+अक ▷ उक्ष्+अक ('टि' लोप) ▷ औक्षकम् (आदिवृद्धि एवं विभक्ति-कार्य)। इसी प्रकार (३) **औष्ट्रकम्** (ऊँटों का झुण्ड—उष्ट्राणां समूहः)। (४) **औरभ्रकम्** (भेड़ों का झुण्ड—उरभ्राणां समूहः)। (५) **राजकम्** (राजाओं का समुदाय—राज्ञां समूहः)। राजन्+वु (वुञ्) > राज॒न्॒+अक ▷ राजकम् ('टि'लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (६) **राजन्यकम्** (राजकुमारों का झुंड—राजन्यानां समूहः)। राजन्य+वु (वुञ्) > राजन्य॒+अक ▷ राजन्यक ('अ' का लोप होने के पश्चात् "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" ६-४-१५१ सूत्र से 'य्' का लोप प्राप्त रहा उसके निवारण करने के लिये वार्तिक प्रस्तुत किया गया है कि "राजन्य, मनुष्य तथा युवन् शब्दों से 'अक' (वुञ्) परवर्ती होने पर प्रकृतिभाव हो"। तदनुसार 'य्' का लोप नहीं होता)>राजन्यकम् (आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य)। (७) **मानुष्यकम्** (मनुष्यों का समुदाय)। **विग्रह**—मनुष्याणा समूहः। मनुष्य+वुञ् > मनुष्य॒+अक >मनुष्य्+अक ('टि'लोप) ▷ मानुष्यकम् (प्रकृतिभाव, आदि-वृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। वार्तिकस्थ→'युवन्' शब्द का उदाहरण—**यौवनकम्** (यूनः 'भावः' अर्थ में मनोज्ञादि के कारण वुञ्=अक)। (८) **राजपुत्रकम्** (राजपुत्रों का समुदाय)। विग्रहादि पूर्ववत्। (९) **वात्सकम्** (बालकों का समूह)। वत्सानां समूहः। शेष कार्य पूर्ववत्।

'वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्' (वा २७१६)। वार्द्धकम्। (१२४८) केदाराद्यञ्च ४।२।४०॥ चाद् वुञ्। कैदार्यम्–कैदारकम्। 'गणिकाया यञिति वक्तव्यम्' (वा २७१९)। गाणिक्यम्। (१२४९) ठञ्कवचिनश्च ४।२।४१॥ चात्केदारादपि। कवचिनां

वृद्धिसंज्ञकम्, भाष्ये वृद्धशब्दस्यैवोदाहरणात्। तदाह—वार्द्धकमिति। वृद्धानां समूहः इति विग्रहः।

(१२४८) केदाराद्यञ् च। कैदार्यम्–कैदारकमिति। केदाराणां समूह इति विग्रहः। गणिकाया यञ्। यञ्ग्रहणात् वुञो निवृत्तिः। गाणिक्यमिति। गणिकानां समूह इति विग्रहः।

'वुञ्' विधायक "गोत्रोक्षोष्ट्र" ४-२-३९ सूत्र से सम्बद्ध वार्तिक द्वारा 'वृद्ध' शब्द से भी समूह अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय का विधान बतलाया जा रहा है"। तदनुसार वृद्धों का समूह (वृद्धानां समूहः) अर्थ में—वृद्ध+वुञ् (=अक) > वार्धकम् ('अ' लोप एवं आदिवृद्धि होकर) रूप निष्पन्न होगा।

शङ्का-समाधान—प्रकृतिभाव-विधायक वार्तिक में 'राजन्य' तथा 'मनुष्य' ग्रहण करने की आवश्यकता ही नहीं है। कारण यह है कि 'राजन्य' एवं 'मनुष्य' शब्द क्षत्रिय एवं मानव-जाति में रूढ हैं। यहाँ अपत्यार्थक 'यत्' प्रत्यय न होने से "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" (६-४-१५१) सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। जब 'य्' लोप की सम्भावना ही नहीं है तो उसके निवारणार्थ प्रकृतिभाव की कल्पना क्यों की जाय ? अतः "गोत्रोक्षोष्ट्र" ४-२-३९ सूत्र में इन दोनों का पृथक् निर्देश सार्थक है, अन्यथा 'गोत्र'-प्रत्ययान्त से ही 'वुञ्' विधान सम्भव रहा। इसका उत्तर न्यासकार ने यह दिया है कि कुछ आचार्य अपत्यप्रत्ययान्त 'राजन्य' तथा 'मनुष्य' शब्द स्वीकार करते हैं। उनके मत में 'य' लोप के निवारणार्थ प्रकृतिभाव सार्थक है। फिर भी उनके मत में सूत्रस्थ 'राजन्य' तथा 'मनुष्य' शब्द की कोई उपयोगिता न रहने की शङ्का पुनः उपस्थित हो जाती है। उन दोनों के ग्रहण करने से यह ज्ञापित होता है कि 'राजन्य' तथा 'मनुष्य' शब्द सम्बन्धी 'य' कार को कोई भी अपत्याश्रित कार्य नहीं होता"। इसके फलस्वरूप इन दोनों शब्दों में 'य्' लोप नहीं होगा। इस प्रकार 'राजन्य' तथा 'मनुष्य' शब्द के सम्बन्ध में ज्ञापित 'य' लोप का अभाव ही वार्तिक द्वारा सूचित किया गया है

(१२४८) **पद**—केदाराद्, यञ्, च। **अनुवृत्ति**—वुञ्, तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'च' (ग्रहण करने) से 'वुञ्' भी हो। उदा० कैदार्यम्—कैदारकम्। वा० 'गणिका' शब्द से 'यञ्' कहा जाय। उदा० गाणिक्यम्।

विवरण—"इस सूत्र में 'च' शब्द का समावेश होने से पूर्व सूत्रस्थ (स० १२४७) 'वुञ्' का भी ग्रहण होता है। तदनुसार "षष्ठी समर्थ 'केदार' शब्द से समूहार्थ में 'यञ्' तथा 'वुञ्' प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(क) कैदार्यम् (खेतों का समूह)→ 'यञ्' प्रत्यय होने पर—(केदार्+य–'अ' लोप तथा आदिवृद्धि)। (ख) कैदारकम् ← वुञ्' (=अक) होने पर (केदार+अक)। **विग्रह**—केदाराणां समूहः।

वार्तिक—"षष्ठी समर्थ 'गणिका' शब्द से 'समूह' अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय होता है"। 'यञ्' विधायक पृथक् वार्तिक द्वारा 'वुञ्' प्रत्यय की निवृत्ति की गई है। **उदाहरण**—गाणिक्यम् (गणिकाओं (वेश्याओं) का समुदाय)। **विग्रह**—गणिकानां समूहः। गणिक्+य (यञ्) > गाणिक्यम् (आदिवृद्धि, 'आ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

समूहः कावचिकम् । कैदारिकम् । (१२५०) ब्राह्मणमाणववाडवाद्यन् ४ । २ । ४२ ॥ ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । वाडव्यम् । 'पृष्ठादुपसङ्ख्यानम्' (वा २७२०) । पृष्ठ्यः

(१२४९) ठञ् कवचिनश्च । केदारादपीति । कवचिन्शब्दात् केदारशब्दाच्च समूहे ठञ् स्यादित्यर्थः । कावचिकमिति । ठञ् । इकादेशे टिलोपः ।

(१२५०) ब्राह्मणमाणववाडवाद्यन् । ब्राह्मण्यमित्यादि । ब्राह्मणानां माणवानां वाडवानां च समूह इति विग्रहः । मनोरपत्यं माणवः । अणि नस्य णत्वम् । 'अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः । नकारस्य च मूर्धन्यः तेन सिध्यति माणवः'—इति

(१२४९) पद—ठञ् , कवचिनश्च । अनुवृत्ति—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'च' (ग्रहण करने) से 'केदार' से भी ('ठञ्' प्रत्यय हो) । उदा० १—कवचिनां समूहः—कावचिकम् । २—कैदारिकम् ।

विवरण—इस सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द पूर्वसूत्रस्थ 'केदार' शब्द का अनुकर्ष (ग्रहण) करता है । तदनुसार "षष्ठी समर्थ 'कवचिन्' तथा 'केदार' शब्दों से 'समूह' अर्थ में 'ठञ्' (= इक) प्रत्यय होता है" । उदाहरण—(१) कावचिकम् (कवचधारियों का झुंड) । विग्रह—कवचिनां समूहः । कवचिन्+ठ (ठञ्) > कवचिन्+इक (ठ = इक) > कावचिकम् ('टि'—'इन्' का लोप, आदि वृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) । (२) कैदारिकम् (खेतों का समूह) । केदार+ठ (ठञ्) > कैदारिकम् ।

विशेष—'कवचिन्' शब्द मतुबर्थीय 'इनि' (इन्) प्रत्ययान्त (कवच+इन्) है । तदनुसार प्रत्यय-स्वर होने के कारण अन्तोदात्त होने से अनुदात्तादि माना जायगा । इसके फलस्वरूप "अनुदात्तादेरञ्" ४-२-४३ से प्राप्त 'अञ्' के निवारणार्थ सूत्र की उपयोगिता है ।

(१२५०) पद—ब्राह्मण-माणव-वाडवाद् , यन् । अनुवृत्ति—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—१—ब्राह्मण्यम् । २—माणव्यम् । ३—वाडव्यम् । वा० 'पृष्ठ' से भी कहा जाय । उदा० पृष्ठ्यः (षडहः) ।

विवरण—"षष्ठी समर्थ 'ब्राह्मण', 'माणव' तथा 'वाडव' प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में 'यन्' प्रत्यय होता है" । 'न्' इत्संज्ञक होने से आद्युदात्त होगा । क्रमशः उदाहरण—(१) ब्राह्मण्यम् (ब्राह्मणों का समूह—ब्राह्मणानां समूहः) । ब्राह्मण्+य (यन्) > ब्राह्मण्यम् ('अ' लोप तथा आदि वृद्धि एवं विभक्ति-कार्य) । (२) माणव्यम् (माणवों—ब्रह्मचारियों का समुदाय) । शेष कार्य पूर्ववत् । 'माणव' शब्द की व्युत्पत्ति—मनु+अ > मनो+अ > मानो+अ > मानव > माणवः (न = ण) । विग्रह—मनोरपत्यम् (३) वाडव्यम्—(बछड़ों का झुण्ड) । वाडवानां समूहः । शेष कार्य पूर्ववत् ।

वार्तिक—"षष्ठी समर्थ 'पृष्ठ' शब्द से भी 'समूह' अर्थ में 'यन्' प्रत्यय हो" । उदाहरण—पृष्ठ्यः (षडहः) । 'पृष्ठ्'+य (यन्) > पृष्ठ्यः ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) । सामवेद में 'पृष्ठ' नामक छह स्तोत्र हैं—(१) रथन्तर, (२) बृहद् , (३) वैरूप, (४) वैराज, (५) शाक्वर तथा (६) रैवत । उनसे सम्बद्ध दिनों को भी लक्षणा द्वारा 'पृष्ठ' कहा जायगा । अतः छह दिनों में सम्पन्न होने वाले इन स्तोत्र-विशेषों का समूह 'पृष्ठ्य' नामधेय है । विग्रह—पृष्ठानां समूहः ।

विशेष—(१) 'ब्राह्मण' आदि तीनों शब्दों से 'यन्' प्रत्यय विधान करने का क्या प्रयोजन है ? यदि 'न्' इत् होने से आद्युदात्त स्वर की विशेषता मानी जाय तो वह भी 'यञ्' प्रत्यय करने

(षडहः) । (१२५१) ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४ । २ । ४३ ॥ ग्रामता । जनता । बन्धुता । 'गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्' (वा २७२१) । गजता । सहायता । 'अह्नः खः

'मनोर्जातावञ्यतौ षुक्च' इति सूत्रे भाष्यम् । पृष्ठादिति । यन् इति शेषः । पृष्ठ्यः षडह इति । षण्णां अह्नां समाहारः षडहः । समाहारे द्विगुः । 'राजाहस्सखिभ्यः' इति टचि टिलोपः । रथन्तरबृहद्वैरूपवैराजशाक्वररैवताख्यानि षट् पृष्ठाख्यस्तोत्राणि । तद्युक्तान्यहानि लक्षणया पृष्ठानि, तेषां समूहः इति विग्रहः ।

(१२५१) ग्रामजन । समूह इत्येव । ग्रामतेत्यादि । ग्रामाणां जनानां बन्धूनां च समूह इति विग्रहः । तलन्तानां स्त्रीत्वं लोकात्, 'तलन्तं स्त्रियाम्' इति लिङ्गानुशासनसूत्राच्च । गजसहायाभ्यां चेति । आभ्यामपि समूहे तलिति वक्तव्यमित्यर्थः । 'अह्नः खः

से स्वतः सिद्ध है—"ञ्नित्यादिर्नित्यम्" । तथा 'यञ्' करने पर इन तीनों शब्दों में 'वृद्धि' होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि ये तीनों शब्द वृद्धसंज्ञक आदिम वर्ण से युक्त हैं ।' 'पूर्व सूत्र' से अनुकर्षण कर 'यञ्' प्रत्यय करने में कोई विप्रतिपत्ति भी नहीं है । इसके साथ ही स्वरित के सम्पादन में असमर्थ 'ठञ्' की अनुवृत्ति नहीं की जायगी । इस प्रकार 'यञ्' के वैयर्थ्य द्वारा यह ज्ञापित किया जाता है कि 'इन तीनों शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी 'यन्' प्रत्यय होता है' । इसके फलस्वरूप 'पृष्ठ' शब्द से 'यन्' प्रत्यय लाने पर पृष्ठ्यम् रूप निष्पन्न होता है । 'यञ्' प्रत्यय संयुक्त होने पर 'ञ्' इत् होने से आदिवृद्धि प्राप्त रही, तब अनिष्ट रूप निष्पन्न होने लगता । ऐसी स्थिति में 'पृष्ठादुपसंख्यानम्' वार्तिक के कहने की आवश्यकता भी नहीं रहती[1] ।

(२) 'माणव' शब्द ब्रह्मचारी का पर्यायवाची है । वह वेदाभ्यास की पूर्व स्थिति का बोधक है । पतञ्जलि ने 'मानव' और 'माणव'—दोनों शब्दों के अन्तर को अभिलक्षित कर "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" ४-१-१६१ सूत्र में एक कारिका उद्धृत की है—

"अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः ।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः" ॥

इसके अनुसार 'मानव' और 'माणव'—इन दोनों शब्दों में प्रकृति 'मनु' तथा प्रत्यय 'अण्' दोनों समान हैं, किन्तु रूप में थोड़ा अन्तर है, वह है 'ण' अक्षर का । इसका कोई विधायक सूत्र न होने के कारण उसी सूत्र से निपातित किये जाने की कल्पना की गई है । प्रत्यय ('अण्') का साम्य होने पर भी इस कारिका द्वारा 'प्रत्यय' के अर्थों में भेद होने से 'मानव' और 'माणव' शब्दों के अर्थ की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है । 'मानव'—'मनु' की जातिवाचक सन्तति अर्थात् मनुष्य तथा 'माणव'—'अनधीत' अर्थात् सीखने वाला विद्यार्थी । कारिका में भी यही कहा गया है कि "'मूढ' और 'कुत्सित' अर्थ में 'मनु' शब्द से औत्सर्गिक 'अण्' (मनोः अयम्—"तस्येदम्" ४-३-१२०) प्रत्यय किया जाता है । तथा 'न'कार (न) के स्थान पर ('ण') मूर्धन्य आदेश भी इसी सूत्र से होता है" । इस प्रकार 'मनुष्य' और 'मानुष' की सिद्धि के साथ प्रसङ्गतः 'माणव' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई गई है ।

(१२५१) पद—ग्राम-जन-बन्धुभ्यः, तल् । अनुवृत्ति—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १—ग्रामता । २—जनता । ३—बन्धुता । वा० 'गज' और 'सहाय' शब्दों

---

१. "किमर्थं ब्राह्मणादिभ्यो 'यन्' विधीयते ? न प्रकृतो यञेव विधीयते । न ह्यस्ति विशेषो ब्राह्मणादिभ्यो यञो वा यनो वा । तदेव रूपं स एव स्वरः । एवं तर्हि सिद्धे सति यद् ब्राह्मणादिभ्यो यनं शास्ति तज् ज्ञापयति आचार्यः अन्येभ्योऽप्ययं भवति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? यन्प्रकरणे 'पृष्ठादुपसंख्यानं वक्ष्यति, तन्न वक्तव्यं भवति" ।—महाभाष्यम् ।

क्रतौ' (वा २७२२-२७२३)। अहीनः। अहर्गणसाध्यसुत्याकः क्रतुरित्यर्थः। 'क्रतौ' किम् ? आह्नः। इह खण्डिकादित्वादञ्। 'अह्नष्टखोरेव' (सू ७८९) इति नियमाट्टिलोपो न। 'पर्श्वा णस् वक्तव्यः' (वा २७२४)। (१२५२) सिति च १।४।१६॥

क्रतौ इति। वार्तिकमिदम्। क्रतौ वर्तमानात् अहन्शब्दात् समूहेऽर्थे खप्रत्ययो वाच्य इत्यर्थः। अहीन इति। अहश्शब्देन सौत्यान्यहानि विवक्षितानि। तेषां समूह इति विग्रहः। अहन्शब्दात् खः, ईनादेशः। 'अह्नष्टखोरेव' इति टिलोप इति भावः। फलितमाह—अहर्गणेति। आह्न इति। अह्नां समूह इति विग्रहः। इह क्रत्वप्रतीतेर्न ख इति भावः। 'अचित्तहस्तिधेनोः' इति ठकमाशङ्क्याह—इहेति। 'खण्डिकादिभ्यश्च' इत्यञित्यर्थः। नन्वेवं सति 'अन्' इति प्रकृतिभावस्याणि विहितस्यात्रासम्भवाट्टिलोपः स्यादित्यत आह—अह्नष्टखोरेवेतीति। टिलोपाभावे सति 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे आह्नः इति रूपमिति भावः। पर्श्वा णसिति। अणोऽपवादः। पर्शुशब्दः उकारान्तस्त्रीलिङ्गः पार्श्वगतास्थिवाची। तस्मात् णसि ओर्गुणे प्राप्ते —

(१२५२) सिति च। 'सुप्तिङन्तं पदम्' इत्यतः पदमित्यनुवर्तते तदाह—सिति

से भी 'तल्' कहा जाय। उदा० १—गजता। २—सहायता। वा० 'अहन्' शब्द से 'क्रतु' वाच्य रहते 'ख' प्रत्यय हो'। उदा० अहीनः—अर्थात् क्रतु।

विवरण—'समूह' अर्थ का ही विषय है। तदनुसार "षष्ठी समर्थ 'ग्राम', 'जन' तथा 'बन्धु' शब्दों से समूह अर्थ में 'तल्' प्रत्यय होता है"। 'तल्' प्रत्ययान्त शब्द "तलन्तः"—(लिङ्गा० स्त्री० २६)—इस लिङ्गानुशासन सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में होते हैं। अतः इन शब्दों के अन्त में 'टाप्' प्रत्यय संयुक्त होगा। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **ग्रामता** (ग्रामों का समूह—ग्रामाणां समूहः) ग्राम+त (तल्) > ग्रामत+आ (टाप्) > ग्रामता (दीर्घ तथा विभक्ति-कार्य)। (२) जनता (जनों का समुदाय—जनानां समूहः)। जन+त (तल्)+आ (टाप्) > जनता। (३) बन्धुता (बन्धुओं का समूह—बन्धूनां समूहः)। बन्धु+त+आ > बन्धुता।

इसी प्रसङ्ग में 'गज' तथा 'सहाय' शब्दों से भी समूह अर्थ में 'तल्' प्रत्यय का विधायक वार्तिक प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार **गजता** (गजों का समूह—गजानां समूहः—गज+त +आ) तथा **सहायता** (सहायकों का समूह—सहायानां समूहः—सहाय+त+आ)—ये दो शब्द निष्पन्न होते हैं। एक दूसरे वार्तिक द्वारा 'षष्ठी समर्थ 'अहन्' शब्द से 'समूह' अर्थ में 'यज्ञ' वाच्य रहते 'ख' (= ईन) प्रत्यय का विधान कहा जा रहा है। इसका **उदाहरण है**—अहीनः (कई दिन चलने वाला ('सुत्याक') यज्ञ—अह्नां समूहेन साध्यः क्रतुः)। अहन्+ख > अहन् +ईन ('ख' = ईन) > अह्+ईन ('अह्नः टखोरेव' नियम के अनुसार 'टि'-लोप—"नस्तद्धिते" ६-४-१४४) > अहीनः (विभक्ति-कार्य)। वार्तिक में 'क्रतौ' पद का उल्लेख होने से आह्नः (दिनों का समूह—अह्नां समूहः) में यज्ञार्थ विवक्षित न होने से 'ख' प्रत्यय नहीं होता, किन्तु "खण्डिकादिभ्यश्च" ४-२-४५ से 'अञ्' प्रत्यय होगा। वहाँ पर नियमानुसार 'टि' लोप का प्रसङ्ग न होने से "अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४) सूत्र से 'अ' का लोप एवम् आदि-वृद्धि होकर—रूप निष्पन्न होता है—अहन्+अ (अण्) > अह्+अ > आह्नः। तीसरे वार्तिक द्वारा "षष्ठ्यन्त 'पर्शु' शब्द से 'समूह' अर्थ में 'णस्' प्रत्यय का विधान कहा गया है। 'णस्' में 'स्' तथा 'ण्' इत्संज्ञकों का क्या प्रयोजन है? इसे आगे के सूत्र में (सू० १२५२) बतलाया जा रहा है ('पद' संज्ञा)।

(१२५२) पद—सिति, च। अनुवृत्ति—पदम्। संज्ञासूत्र।

सिति परे पूर्वं पदसञ्ज्ञं स्यात् । अभत्वादेर्गुणो न । पर्शूनां समूहः पार्श्वम् । (१२५३) अनुदात्तादेरञ् ४ । २ । ४४ ॥ कापोतम् । मायूरम् । (१२५४) खण्डिकादिभ्यश्च ४ । २ । ४५ ॥ अञ् स्यात् । खण्डिकानां समूहः खाण्डिकम् । (१२५५) चरणेभ्यो

परे पूर्वं पदसञ्ज्ञमिति । सकारः इत् यस्य सः सित् । 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्येव सिद्धे भसञ्ज्ञापवादोऽयम् । अभत्वादिति । पदत्वेनानेन भत्वस्य बाधादिति भावः । पर्शूनां समूहः पार्श्वमिति । पर्शु अ इति स्थिते 'इकोऽसवर्णे' इति शाकल्यह्रस्वप्रकृतिभावयोः 'सिति च' इति तत्रत्यवचनान्तरेण तन्निषेधे यणादेशे पार्श्वमिति भावः ।

(१२५३) अनुदात्तादेरञ् । समूह इत्येव । कापोतम् । मायूरमिति । 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वचो गुरुः' इति कपोतमयूरशब्दौ मध्योदात्ताविति भावः ।

(१२५४) खण्डिकादिभ्यश्च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे— अञ् स्यादिति । समूहे इति शेषः । आद्युदात्तार्थमिदम् ।

मूलार्थ—'स्' इत्संज्ञक परवर्ती होने पर पूर्व की पद संज्ञा हो । 'भ' संज्ञा न होने से 'गुण' नहीं होता । उदा० पर्शुओं का समूह—पार्श्वम् ।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है । संज्ञा-सूत्र होने से प्रथम अध्याय में वर्णित संज्ञाओं का स्मरण करना होगा । प्रकृत सूत्र में 'पदम्' की अनुवृत्ति "सुप्तिङन्तं पदम्" (१-४-१४) सूत्र से आ रही है । अतः "'स्' इत्संज्ञ प्रत्ययों के परवर्ती होने पर पूर्व की 'पद' संज्ञा होगी" । इसके फलस्वरूप ऐसे स्थलों पर "यचि भम्" (१-४-१८) से प्राप्त 'भ'संज्ञा नहीं होगी तथा 'भ'-संज्ञक अङ्गावयव 'अ' वर्ण तथा 'इ' वर्ण का लोप एवं 'गुण' आदि भी नहीं होंगे । **उदाहरण**—पार्श्वम् (पसली की हड्डियों का समूह) । **विग्रह**—पर्शूनां समूहः । पर्शु+अ (ङस्) > पार्शु+अ (पद संज्ञा होने से "ओर्गुणः" से गुण नहीं हुआ, अतः आदि-वृद्धि) > पार्श्व (पार्शु+अ-इस स्थिति में "इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च" ६-१-१२७ सूत्र से प्राप्त वैकल्पिक प्रकृतिभाव का 'सिति च' वार्तिक से निषेध होने के कारण 'यण्' आदेश) > पार्श्वम् (विभक्ति-कार्य नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन) ।

(१२५३) **पद**—अनुदात्तादेः, अञ् । **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—कापोतम् । २—मायूरम् ।

विवरण—पुनः तद्धित प्रकरण का सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है । समूहार्थ का ही विषय है । तदनुसार "षष्ठी समर्थ अनुदात्त-स्वरयुक्त आदिम वर्ण वाले शब्दों से समूहार्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) कापोतम् (कबूतरों का झुण्ड-कपोतानां समूहः—कपोत+अञ्) । (२) मायूरम् (मोरों का झुण्ड—मयूराणां समूहः—मयूर+अञ्) । प्रक्रिया पूर्ववत् ।

विशेष—'कपोत' तथा 'मयूर' शब्द "लघावन्ते द्वयोश्च बह्वचो गुरुः" (फिट० ४२) 'फिट्' सूत्र से मध्योदात्त हैं, अतः शेष वर्ण "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (६-१-१५२) सूत्र से अनुदात्त हो जायेंगे । इन दोनों शब्दों के आदिम वर्ण अनुदात्त हैं ।

(१२५४) **पद**—खण्डिकादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—अञ्, तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अञ्' हो । उदा० खण्डिकानां समूहः—खाण्डिकम् ।

विवरण—समूहार्थ में 'अञ्' का ही विषय है । तदनुसार पूर्व सूत्र (१२५३) से 'अञ्' की अनुवृत्ति का अनुकर्षण 'च' पद से किया गया है । अतः "षष्ठी समर्थ 'खण्डिकादि' प्रातिपदिकों से समूहार्थ में 'अञ्' प्रत्यय होगा" । **उदाहरण**—खाण्डिकम् (कृष्ण यजुर्वेद के 'खण्डिक'

धर्मवत् ४।२।४६॥ काठकम्। छान्दोग्यम्। (१२५६) अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ४।२।४६॥ साक्तुकम्। हास्तिकम। धैनुकम्। (१२५७) केशाश्वाभ्यां यञ्छा-

(१२५५) चरणेभ्यो धर्मवत्। चरणा: शाखाध्येतार:। धर्मेऽर्थे याभ्यः प्रकृतिभ्यो ये प्रत्यया वक्ष्यन्ते ते ताभ्यः प्रकृतिभ्यः समूहे स्युरित्यर्थः। काठकमिति। कठानां समूह इति विग्रहः। 'गोत्रचरणाद् वुञ्' इति धर्मे वक्ष्यमाणो वुञ् समूहेऽपि भवति। छान्दोग्यमिति। छन्दोगाः सामशाखिनः, तेषां समूह इति विग्रहः। 'छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः' इति धर्मे वक्ष्यमाणो ञ्यः समूहेऽपि भवति।

(१२५६) अचित्तहस्ति। अचित्ताः अप्राणिनः तद्वाचिभ्यः, हस्तिशब्दात् धेनु-

नामक चरण के पढ़ने वालों का समूह)। विग्रह—खण्डिकानां समूहः। खण्डिक+अ (अञ्) > खाण्डिकम् (आदिवृद्धि, 'अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

विशेष—यद्यपि सामान्यतः यहाँ 'अण्' प्रत्यय करने पर भी इष्ट रूप-सिद्धि सम्भव थी, तथापि 'स्वर' में अन्तर होने से 'अञ्' विधान सार्थक है।

(१२५५) पद—चरणेभ्यः, धर्मवत्। अनुवृत्ति—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० १—काठकम्। २—छान्दोग्यम्।

विवरण—समूहार्थ का ही प्रकरण है। प्राकरणिक तथा आधिकारिक सभी अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही है। तदनुसार "षष्ठी समर्थ 'चरण'वाची[1] प्रातिपदिकों से 'समूह' अर्थ में वे सभी प्रत्यय होंगे, जिन प्रत्ययों का विधान आगे 'धर्म' अर्थ में किया जायगा (धर्मवत् = धर्म इव—इवार्थ में 'वति' प्रत्यय)। "गोत्रचरणाद् वुञ्" (४-३-१२६) सूत्र में 'चरणधर्माम्नाययोः' वार्तिक पढ़ा गया है। इस वार्तिक में 'धर्म' अर्थ में 'चरण'-वाचियों से प्रत्ययों का विधान किया गया है, उन्हीं का यहाँ अतिदेश है। अर्थात् "गोत्रचरणाद् वुञ्" (४-३-१२६) से लेकर जिस विशेषण-सहित जिन प्रकृतियों से जो प्रत्यय वहाँ विहित हैं, उन सबका यहाँ 'समूह' अर्थ में अतिदेश किया गया है। **उदाहरण**—(१) **काठकम्**[2] (कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत 'कठ' नामक चरण के अध्येताओं का समूह अथवा धर्म)। **विग्रह**—कठानां समूहः। कठ+वु (वुञ्—"गोत्रचरणाद् वुञ्" ४-३-१२६) > कठ्+अक (वु = अक) > काठकम् ('अ' का लोप तथा आदिवृद्धि एवं विभक्ति-कार्य)। (२) **छान्दोग्यम्** (सामवेद के मन्त्रों का गान करने वालों का समूह या धर्म)। **विग्रह**—छन्दोगानां समूहः। छन्दोग+ञ्य ("छन्दोगौक्थिक-याज्ञिक-बह्वृच-नटाञ्ञ्यः" ४-३-१२९) > छन्दोग+य > छन्दोग्+य ('भ' संज्ञानिमित्तक गकारोत्तरवर्ति 'अ' का लोप) छान्दोग्यम् (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)।

(१२५६) पद—अचित्तहस्तिधेनोः, ठक्। अनुवृत्ति—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

१. 'चरण' शब्द शाखा के आद्य प्रवर्तक का वाचक है। उसके निमित्त से उन शाखाओं के अध्येताओं में भी प्रयुक्त होता है।

२. 'काठक' और 'कालापक' आदि वेद के विस्तार-रूप ग्रन्थ है। 'कठ' ऋषि ने मूल यजुर्वेद संहिता को याज्ञिक प्रक्रिया में अपनी दृष्टि से उपयोगी समझ कर अथवा मूल संहिता के पदों की व्याख्या कर समझाने के लिये कहीं कहीं न्यूनाधिक पाठ-भेद द्वारा अपने शिष्यों को पढ़ाया। वह प्रवचन काठक नाम से प्रसिद्ध होकर 'काठक' संहिता कहलाई, जो 'तैत्तिरीय शाखा' की अवान्तर शाखा है। यही बात कालापकम्' (मैत्रायणी संहिता), पैप्पलादकम् (अथर्ववेद की अवान्तर शाखा) आदि में समझी जाय।

वन्यतरस्याम् ४ । २ । ४८ ॥ पक्षे ठगणौ । कैश्यम्—कैशिकम् । अश्वीयम्—आश्वम् ।
(१२५८) पाशादिभ्यो यः ४ । २ । ४९ ॥ पाश्या । तृण्या । धूम्या । वन्या । वात्या ।

शब्दाच्च समूहे ठक् स्यादित्यर्थः । साक्तुकमिति । सक्तूनां समूह इति विग्रहः । 'इसुसुक्तान्तात्कः' इत्युकः परत्वात् ठस्य कः । आदिवृद्धिः । हास्तिकमिति । हस्तिनां समूह इति विग्रहः । ठक्, इकः, टिलोपः, आदिवृद्धिः । धैनुकमिति । धेनूनां समूह इति विग्रहः । उकः परत्वाद् ठस्य कः । आदिवृद्धिः ।

(१२५७) केशाश्वाभ्याम् । समूह इत्येव । केशाद्यञ् वा, अश्वाच्छो वेत्यर्थः । पक्षे इति । केशाद्यञभावे 'अचित्त' इति ठक् । अश्वात् छाभावे अणित्यर्थः । कैश्यम् कैशिकमिति । केशानां समूह इति विग्रहः । क्रमेण यञ्ठकौ । अश्वीयम् आश्वमिति । क्रमेण छाणौ ।

(१२५८) पाशादिभ्यो यः । समूह इत्येव । पाश्येत्यादि । पाशानां तृणानां धूमानां वनानां वातानां च समूह इति विग्रहः । स्त्रीत्वं लोकात् ।

मूलार्थ—उदा० १—साक्तुकम् । २—हास्तिकम् । ३—धैनुकम् ।

विवरण—'समूहार्थ' का ही विषय है । अतः "षष्ठी समर्थ 'अचेतन पदार्थ-वाचक' एवं 'हस्ति' और 'धेनु' शब्दों से समूह अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होगा"। **उदाहरण**—(१) 'सक्तु' (अर्थात् अचेतनवाची सत्तू) शब्द से—साक्तुकः (सत्तुओं के ढेर) । **विग्रह**—सक्तूनां समूहः—सक्तु+ठ (ठक्) >साक्तु+क (उगन्त अङ्ग से पर ठ = क—"इसुसुक्तान्तात् कः" ७-३-५१) >साक्तुकम् (आदिवृद्धि एवं विभक्ति-कार्य) । (२) **हास्तिकम्** (हाथियों का समुदाय) । **विग्रह**—हस्तिनां समूहः । हस्तिन् +ठ (इक)>हास्तिकम् ('इन्'लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) । (३) **धैनुकम्** (गायों का झुंड—धेनूनां समूहः । धेनु+ठ (= क) > धैनुकम् (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) ।

(१२५७) पद—केशाश्वाभ्यां, यञ्छौ, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पक्ष में 'ठक्' तथा 'अण्' (होंगे) ।

विवरण—"षष्ठी समर्थ 'केश' तथा 'अश्व' प्रातिपदिकों से 'समूह' अर्थ में यथासंख्य 'यञ्' तथा 'छ' प्रत्यय विकल्प से होते हैं"। 'केश' शब्द अचेतनवाची है, इस कारण पूर्व सूत्र (सू० १२५६) से यथाप्राप्त 'ठक्' भी होगा। इसी प्रकार 'अश्व' शब्द से पक्ष में औत्सर्गिक अण् ('तस्य समूहः' ४-२-३७) भी होगा । **उदाहरण**—**कैश्यम्** (केशों का झुंड) । 'यञ्' होने पर→ (केश +य >कैश्यम्—'अ'लोप तथा आदिवृद्धि) । **कैशिकम्**←'ठक्' (=इक) होने पर (केश+ठ= इक—'अ' लोप तथा आदिवृद्धि) । (२) **अश्वीयम्** (घोड़ों का झुंड)→'छ' (ईय) होने पर—अश्व+ईय—'अ' लोप । **आश्वम्**←'अण्' होने पर—अश्व+अण्—'अ' लोप तथा आदिवृद्धि ।

(१२५८) पद—पाशादिभ्यः, यः । **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—पाश्या । २—तृण्या । ३—धूम्या । ४—वन्या । ५—वात्या ।

विवरण—"षष्ठी समर्थ 'पाश' आदि प्रातिपदिकों से 'समूह' अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है"। 'पाशादि' शब्द अचेतन-वाची हैं, अतः 'ठक्' (१२५६) प्राप्त था, उसके अपवाद-स्वरूप 'य' विधान किया जा रहा है। **उदाहरण**—(१) **पाश्या** (जालों का समूह—'पाशानां समूहः' । पाश्+य > पाश्य ('अ' लोप) पाश्य+टाप् (आ) > पाश्या (विभक्ति-कार्य) । इन शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में प्रचलन होने के कारण 'टाप्' प्रत्यय होता है। अतः इनका प्रयोग नपुंसक

(१२५९) खलगोरथात् ४ । २ । ५० ॥ खल्या । गव्या । रथ्या । **(१२६०) इनित्र-कटयचश्च ४ । २ । ५१ ॥** खलादिभ्यः क्रमात्स्युः । खलिनी । गोत्रा । रथकट्या । 'खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः' (वा २७३५) । डाकिनी । कुटुम्बिनी । आकृतिगणोऽयम् ।

(१२५९) खलगोरथात् । समूह इत्येव । खल, गो, रथ एभ्यो यः स्यादित्यर्थः । खल्या गव्या रथ्येति । खलानां गवां रथानां च समूह इति विग्रहः । यद्यपि पाशादिष्वेव एषां पाठो युक्तः । तथापि उत्तरसूत्रे एषामेवानुवृत्त्यर्थः पृथक् पाठः ।

(१२६०) इनित्रकटयचश्च । स्युरिति । इनि त्र कटयच् एते स्युरित्यर्थः । खलिनीति । खलानां समूह इति विग्रहः । इनिप्रत्यये नकारादिकार उच्चारणार्थः । स्त्रीत्वं लोकात्, नान्तत्वान्ङीप् । गोत्रेति । गवां समूह इति विग्रहः । गोशब्दात् त्रः । स्त्रीत्वं लोकात्, टाप् । रथकट्येति । रथानां समूह इति विग्रहः । कटयचि ककारस्य नेत्त्वम्, अतद्धित इत्युक्तेः । स्त्रीत्वाट्टाप् । खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः इति । 'इनित्रकटयचश्च' इति सूत्रे इनिग्रहणमकृत्वा 'गोरथात्त्रकटयचौ' इत्येवं सूत्रं कृत्वा 'खलादिभ्य इनिः' इति पृथक् कर्तव्यमित्यर्थः ।

लिङ्ग में नहीं होता । (२) तृण्या (तृणों का समूह—'तृणानां समूहः'—तृण+य+टाप्) । (३) धूम्या (धूमराशि—'धूमानां समूहः'—धूम्+य+टाप्) (४) वन्या (जंगलों क समूह—'वनानां समूहः'—वन्+य+टाप्) । (५) वात्या (आँधी बवंडर—'वातानां समूहः'—वात+य+टाप्) ।

(१२५९) पद—खल-गो-रथात् । अनुवृत्ति—यः, तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १—खल्या । २—गव्या । ३—रथ्या ।

विवरण—"षष्ठी समर्थ 'खल', 'गो' तथा 'रथ' (खलश्च, गौश्च, रथश्च—खल-गो-रथम्—तस्मात्) प्रातिपदिकों से 'समूह' अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है" । 'गो' शब्द से औत्सर्गिक अण् तथा 'खल' एवं 'रथ' शब्दों से अचेतन होने के कारण 'ठक्' प्राप्त रहा, उनके अपवाद-स्वरूप 'य' विधान किया गया है । **उदाहरण**—क्रमशः—(१) खल्या (खलिहानों का समूह—खलानां समूहः—खल्+य+टाप्) । (२) गव्या (गायों का समूह—गवां समूहः—गो+य>गव्य—ओ=अव्—"वान्तो यि प्रत्यये" ६-१-७९) >गव्य+टाप्) । (३) रथ्या—रथों का झुंड—'रथानां समूहः'—रथ+य+टाप्) । ये तीनों शब्द भी स्त्री-लिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं, अतः 'टाप्' प्रत्यय होता है ।

विशेष—यद्यपि पाशादि-गण में इनका समावेश होने पर 'य' प्रत्यय से इष्ट सिद्धि हो सकती थी, तथापि आगे के सूत्र में इनकी अनुवृत्ति जाने के लिये 'पृथक्' सूत्र-पाठ की उपयोगिता है ।

(१२६०) पद—इनि-त्र-कटयचः, च । अनुवृत्ति—खलगोरथात्, तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—खलादि शब्दों से क्रमशः हों । उदा० १—खलिनी । २—गोत्रा । ३—रथकट्या । वा० खलादि से 'इनि' भी कहा जाय । उदा० १—डाकिनी । २—कुटुम्बिनी ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है, अतः "खलगोरथात्" (४-२-५०) सूत्र से 'खल', 'गो', तथा 'रथ' शब्दों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार "षष्ठी समर्थ 'खल', 'गो' तथा 'रथ' प्रातिपदिकों से 'समूह' अर्थ वाच्य हो तो क्रमशः (यथासंख्य) 'इनि', 'त्र' तथा 'कट्यच्' प्रत्यय भी (च) होते हैं" । 'इनि' में इकार उच्चारणार्थ है, शेष 'इन्' प्रत्यय है । खलिनी—खलानां समूहः—

(१२६१) विषयो देशे ४ । २ । ५२ ॥ षष्ठयन्तादणादयः स्युरत्यन्तपरिशीलितेऽर्थे स चेद् देशः । शिबीनां विषयो देशः शैबः । 'देशे' किम् ? देववत्तस्य विषयोऽनुवाकः ।

(१२६१) विषयो देशे । समूह इति निवृत्तम् । तस्येत्यनुवर्तते । तस्य विषय इत्यर्थे प्रथमोच्चारिताद् षष्ठयन्तात्प्रत्ययाः स्युरिति लभ्यते । तदाह—षठयन्तादिति । विषयशब्दं व्याचष्टे—अत्यन्तपरिशीलितेऽर्थे इति । देवदत्तविषयोऽनुवाक इत्यत्र तथा दर्शनादिति भावः । तर्हि तत्रातिव्याप्तिः स्यादित्यत आह—स चेदिति । स अत्यन्तपरिशीलितोऽर्थो देशश्चेदित्यर्थः । एवं च अत्यन्तपरिशीलिते देशे गम्ये प्रत्ययाः स्युरिति फलितम् । विषयशब्दो ह्ययं क्वचित् ग्रामसमूहात्मके जनपदे वर्तते । तद्यथा—सामन्तस्य राज्ञो विषयोऽनेन लब्ध इति । क्वचिदिन्द्रियग्राह्ये वर्तते । तथया चक्षुर्विषयो रूपमिति । क्वचिदन्यत्रावृत्तौ वर्तते । यथा मत्स्यानां विषयो जलमिति । अन्यत्र नास्तीति गम्यते ।

खल्+इन् (इनि) > खलिन् > खलिन्+ई (ङीप्—नकारान्त होने से "ऋन्नेभ्यो ङीप्" ४-१-५) > खलिनी (विभक्ति-कार्य) । (२) गोत्रा (गायों का झुण्ड) गवां समूहः—गो+त्र>टाप्) । (३) रथकट्या—(रथों का समूह—रथानां समूहः—रथ+कत्य (कत्यच्)+टाप्) । इन उदाहरणों में भी स्त्री-लिङ्ग का प्रयोग लोकाधीन है ।

वार्तिककार ने यह सुझाव दिया है कि "इनित्रकट्यचश्च" (४-२-५१) सूत्र में 'इनि' ग्रहण न कर सूत्र का स्वरूप ही "गोरथात्त्रकट्यचौ"—रखा जाय । तदनन्तर दूसरे सूत्र को "खलादिभ्य इनिः" रूप में पढ़ा जाय । इस प्रकार किये जाने से 'गो' शब्द से 'त्र' प्रत्यय होने से 'गोत्रा' एवं 'रथ' से 'कट्यच्' प्रत्यय होने पर 'रथकट्या' तथा 'खलादि' को आकृतिगण के रूप में स्वीकार कर 'खलिनी' के अतिरिक्त डाकिनी (काली की अनुचरी 'डाक' नाम की राक्षसियों का समुदाय—डाक+इन्+ङीप्) तथा कुटुम्बिनी (कुटुम्ब का समूह—कुटुम्ब+इन्+ङीप्) रूप भी समूहार्थ में निष्पन्न हो जाते हैं । यहाँ समूहार्थ-प्रकरण समाप्त होता है ।

(१२६१) पद—विषयः, देशे । अनुवृत्ति—तस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अत्यन्त परिशीलित अर्थ में यदि वह देश रहे तो षष्ठयन्त समर्थ से यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं । उदा० शिबीनां विषयः देशः—शैबः । 'देशे क्यों कहा ? देवदत्तस्य विषयः अनुवाकः ('अण्' नहीं हुआ) ।

विवरण—समूहार्थ की निवृत्ति होने पर भी "तस्य समूहः" (४-२-३७) सूत्र से 'तस्य' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । "'विषय' अर्थ को अभिलक्षित कर यदि वह शब्द देशवाची हो तो षष्ठयन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होंगे" । 'विषय' शब्द से यहाँ अत्यन्त प्रसिद्ध रूप अर्थ अपेक्षित है । अर्थात् उस शब्द की प्रसिद्धि निश्चित रूप में देशवाची होनी चाहिये । इतनी खींचतान करने की आवश्यकता इसलिये हुई कि 'विषय' शब्द अनेकार्थक है—यथा जनपद, इन्द्रियग्राह्य वस्तु (रूप आदि), निश्चित स्थान, जैसे—मछलियों का विषय (जल) आदि । इन अर्थों में से यहाँ कोई भी अपेक्षित नहीं है । **उदाहरण—शैबः** (शिबियों का देश[1]) ।

---

१. महाभारत में शिबि को उशीनर का राजा कहा गया है ('राजानमौशीनरं शिबिम्' वन० १९४-२ तथा द्रोण० २८-१) । शिबि की राजधानी शिबिपुर थी, जिसकी पहिचान वर्तमान शोरकोट (झंग जिले की एक तहसील) से की जाती है । वहाँ विस्तृत प्राचीन अवशेष हैं । 'रावी' और 'चिनाव' नदियों के बीच का निचला भूभाग, जो भद्र के दक्षिण में था, उशीनर प्रदेश कहलाता था । वह भी दो भागों में बँटा था—उत्तरी भाग 'उशीनर' तथा दक्षिणी भाग 'शिबि' । 'आइन-अकबरी' में इस पूरे प्रदेश को 'शोर' कहा गया है—पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ६७ ।

(१२६२) राजन्यादिभ्यो वुञ् ४ । २ । ५३ ॥ राजन्यकः । **(१२६३) भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्-भक्तलौ ४ । २ । ५४ ॥** भौरिकीणां विषयो देशः भौरिकि-

---

प्रकृते तु देवदत्तविषयोऽनुवाक इतिवदत्यन्तपरिशीलिते वर्तते । तत्र विषयशब्देन अत्यन्त-परिशीलितेऽर्थे अवगते सति अनुवाकादिव्यावृत्त्यर्थं देशग्रहणम् । शिबीनां विषयो देश इति । अत्यन्तपरिचितो देश इत्यर्थः । देवदत्तस्य विषय इति । अत्यन्तपरिचितोऽनुवाक इत्यर्थः । अत्र देशस्यानवगमात् न प्रत्यय इति भावः । विषय इति किम् ? देवदत्तस्य कदाचिद् गन्तव्यो मार्गः । न च देवदत्तस्य गृहमित्यत्र अत्यन्तपरिचितदेशत्वात् प्रत्ययः स्यादिति वाच्यम्, जनपदसमूहात्मकात्यन्तपरिशीलितदेशस्यैवात्र विवक्षितत्वात् ।

(१२६२) राजन्यादिभ्यो वुञ् । तस्य विषयो देश इत्यर्थे राजन्यादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो वुञ् स्यादित्यर्थः । अणोऽपवादः । राजन्यक इत्यत्र राजन्यानां विषयो देश इत्यर्थः ।

(१२६३) भौरिक्याद्यैषु । भौरिक्यादिभ्यः ऐषुकार्यादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः यथाक्रमं

विग्रह—शिबीनां विषयः देशः । शिबि+आम्, अण् > शिबि+अ (विभक्ति-लुक् तथा अण्) > शिब्+अ ('अ' लोप) > शैबः (आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'देशे' पद का निवेश होने के फलस्वरूप **देवदत्तस्य विषयः—अनुवाकः** में 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि देवदत्त का अध्ययन विषय **अनुवाक** यद्यपि अत्यन्त परिशीलित है, तथापि वह देश नहीं है । अतः वाक्य ही रहा । इसी प्रकार विषयः पद का समावेश होने से **'देवदत्तस्य कदाचिद् गन्तव्यः मार्गः'** में 'मार्ग' के देशवाची होनेपर भी 'देवदत्त' से 'अण्' नहीं हुआ, क्योंकि वह उस मार्ग में कभी कभी जाता है, अतः अत्यन्त परिशीलित नहीं है ।

(१२६२) पद—राजन्यादिभ्यः, वुञ् । **अनुवृत्ति**—विषयो देशे, तस्य, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० राजन्यकः ।

विवरण—'विषयः देशे' का ही प्रसङ्ग है । तथा पूर्व सूत्रवत् सभी अनुवृत्तियाँ यहाँ भी प्रभावी हैं । अतः "षष्ठी समर्थ राजन्यादि प्रातिपदिकों से 'विषयः देशे' अर्थ में 'वुञ्' (=अक) प्रत्यय होगा" । पूर्व सूत्र से प्राप्त 'अण्' का अपवाद है । **उदाहरण—राजन्यकः** (राजकुमारों का देश—राजन्याना विषयः देशः—राजन्य+वुञ् > राजन्य+अक (वु=अक) > राजन्यकः ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) । 'राजन्य' शब्द की सिद्धि सू० ११५३ में देखें ।

(१२६३) पद—भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यः, विधल्-भक्तलौ । **अनुवृत्ति**—विषयो देशे, तस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० भौरिकीणां विषयः देशः—१–भौरिकिविधम् । २–भौलिकिविधम् । ३–ऐषुकारिभक्तम् । ४–सारसायनभक्तम् ।

विवरण—प्रकरण पूर्ववत् है । तदनुसार सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । अतः "षष्ठी-समर्थ 'भौरिकि' आदि तथा 'ऐषुकारि' आदि शब्दों से 'विषयो देशे' इस अर्थ में यथासंख्य 'विधल्' तथा 'भक्तल्' प्रत्यय होते हैं" । अन्तिम 'ल्' की इत्संज्ञा होने पर शेष 'विध' तथा 'भक्त' प्रत्यय रहेंगे । क्रमशः—**उदाहरण—(१) भौरिकिविधम्** (भौरिकि[1] लोगों का देश—

---

१. वैजयन्ती कोष के अनुसार बंगाल का **समतट** (दक्षिणी बंगाल) प्रदेश **भौरिकि** कहलाता था । समुद्रगुप्त के प्रयागस्थ स्तम्भलेख में समतट का नाम आया है । यदि भौरिकि की समतट के साथ पहचान ठीक हो तो ईसा से लगभग ६० वर्ष पूर्व ही गंगासागर के पास का यह भूभाग भौगोलिक पर्यवेक्षण के अन्तर्गत आ चुका था । नानार्थक कोष में भी **भौरिकि** का उल्लेख है—"भौरिकाः प्राग्देशावस्थिते नीवृत्समतटाह्वये" —(नानार्णव संक्षेप भा० २ श्लोक १३१६) ।

विधम् । भौलिकिविधम् । ऐषुकारिभक्तम् । सारसायनभक्तम् । (१२६४) सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु ४ । २ । ५५ ॥ अण् । पङ्क्तिरादिरस्येति पाङ्क्तः प्रगाथः ।

विधल्, भक्तल् एतौ प्रत्ययौ स्तो विषयो देश इत्यर्थे । भौरिकिविधमिति । भौरिकीणां विषयो देश इत्यर्थः । भौलिकिविधमिति । भौलिकीनां विषयो देश इत्यर्थः । ऐषुकारिभक्तमिति । ऐषुकारीणां विषयो देश इत्यर्थः । सारसायनभक्तमिति । सारसायनानां विषयो देश इत्यर्थः । इह नपुंसकत्वं लोकात् ।

(१२६४) सोऽस्यादिः । ऋग्द्वयमाम्नातं पादावृत्त्या ऋक्त्रयं सम्पद्यते । स च सम्प्रगाथ इति छन्दोगसूत्रे बह्वृचसूत्रे च प्रसिद्धम् । षष्ठ्येकवचनस्थाने सप्तमीबहुवचनमार्षम् । सोऽस्य प्रगाथस्य आदिरित्यर्थे प्रथमान्तात् छन्दोविशेषवाचकात् अणादिप्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । अक्षरेयत्ताविशेषो गायत्र्यादिश्छन्दः । पङ्क्तिरादिरिति । पङ्क्तिच्छन्दस्का

'भौरिकीणां विषयः देशः'—भौरिकि+विध)। (२) **भौलिकिविधम्** । (भौलिकि लोगों का देश—'भौलिकीनां विषयः देशः'—भौलिकि+विध)। (३) **ऐषुकारिभक्तम्** (ऐषुकारि[1] लोगों का प्रदेश—'ऐषुकारीणां विषयः देशः'—ऐषुकारि+भक्त तथा विभक्ति-कार्य)। (४) **सारसायनभक्तम्** (सारसायन लोगों का प्रदेश—'सारसायनानां विषयः देशः'—सारसायन+भक्त तथा विभक्ति-कार्य)। इन शब्दों में भी लौकिक प्रयोगों का होना ही नपुंसकलिङ्ग में प्रमाण है। 'विषयो देशः' अर्थ यहाँ समाप्त होता है।

(१२६४) **पद**—सः, अस्य, आदिः, इति, छन्दसः, प्रगाथेषु । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अण्' हो। उदा० पङ्क्तिः आदिः अस्य—पाङ्क्तः—प्रगाथः। वा० स्वार्थ में ('अण्' प्रत्यय का) भी विधान किया जाय। उदा० त्रिष्टुब् एव-त्रैष्टुभम् ।

विवरण—सूत्र में 'सः' पद 'प्रथमा समर्थ' का बोधक है। 'आदिः' पद 'प्रकृति' का विशेषण है। 'इति' शब्द विवक्षार्थक है। 'छन्दस्' शब्द से यहाँ 'गायत्री' आदि छन्दों का ग्रहण है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "प्रथमा समर्थ छन्दोवाची प्रातिपदिकों से (छन्दसः) षष्ठ्यर्थ में (अस्य) 'प्रगाथों' के अभिधेय होनेपर (प्रगाथेषु) यथा-विहित 'अणादि' प्रत्यय होते हैं, यदि वह 'प्रथमा-समर्थ छन्द' प्रगाथ के आरम्भ में हो"। **उदाहरण**—पाङ्क्तः प्रगाथः (जिस 'प्रगाथ' का प्रारम्भ 'पङ्क्ति' अर्थात् ४० अक्षरों के छन्द से हो)। **विग्रहार्थ**—पङ्क्तिच्छन्दस्का ऋक् आदिः यस्य प्रगाथस्य सः (=पङ्क्तिः आदिः अस्य)। प्रक्रिया—पङ्क्ति+सु, अण् > पङ्क्ति+अण् > पाङ्क्तः ('इ' का लोप तथा आदिवृद्धि एवं विभक्ति-कार्य)।

वार्तिककार ने सूत्र में प्रतिपादित प्रत्ययार्थ को अधिक व्यापक बना दिया है। उनका कथन है कि 'छन्दो-वाची प्रातिपदिकों से स्वार्थ में ही 'अण्' आदि प्रत्ययों का विधान किया जाय'। तदनुसार **त्रैष्टुभम्** ('त्रिष्टुभ्' छन्द) में अर्थ-विशेष का कथन न होने पर भी 'अण्' प्रत्यय (त्रिष्टुभ्+अ) आदिवृद्धि एवं विभक्ति-कार्य हुए। लौकिक प्रयोगानुसार यहाँ भी नपुंसक लिङ्ग है। **विग्रहार्थ**—त्रिष्टुब् एव ।

विशेष—वैदिक छन्द अक्षरों की गणना पर आधारित हैं। मात्राओं के 'लघु' एवं 'गुरु' का वहाँ विचार नहीं है। 'प्रगाथ'-विशेष प्रकार के छन्दों का ग्रथन है। अर्थात् जहाँ विभिन्न छन्दों की दो या तीन ऋचाओं का समावेश किया जाता है, उसे **प्रगाथ** कहा जाता है। उस 'प्रगाथ' का

---

१. 'उत्तराध्ययन सूत्र' के अनुसार कुरु जनपद में 'इसुकार' या 'इषुकार' नामक सुन्दर नगर था (१४.१)। जिस प्रकार 'हाँसी' का पुराना नाम 'आसिका' था, उसी प्रकार 'हिसार' का प्राचीन नाम 'ऐषुकारि' ज्ञात होता है। —पाणिनि-कालीन भारतवर्ष-पृ० ८६ ।

'स्वार्थ उपसङ्ख्यानम्' (वा २७४४)। त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभम्। (१२६५) सङ्ग्रामे प्रयोजनयोद्धृभ्यः ४।२।५६॥ 'सोऽस्य' इत्यनुवर्तते। सुभद्रा प्रयोजनमस्य सङ्ग्रामस्येति सौभद्रः। भरता योद्धारोऽस्य सङ्ग्रामस्य भारतः। (१२६६) तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः ४।२।५७॥ दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा। मौष्टा।

ऋक् आदिर्यस्य प्रगाथस्य स पाङ्क्तः प्रगाथः इत्युच्यते इत्यर्थः। स्वार्थ इति। छन्दोवाचिभ्यः स्वार्थे अणादिप्रत्ययस्योपसङ्ख्यानमित्यर्थः। त्रैष्टुभमिति। क्लीबत्वं लोकात्।

(१२६५) सङ्ग्रामे। अनुवर्तते इति। तथा च सङ्ग्राम इति सप्तम्यन्तं षष्ठ्या विपरिणतम् अस्येत्यनेनान्वेति। तदस्य सङ्ग्रामस्य प्रयोजनं, तेऽस्य सङ्ग्रामस्य योद्धार इत्यर्थे प्रयोजन-योद्धृवाचिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः अणादयः स्युरित्यर्थः।

(१२६६) तदस्याम्। तद् अस्यां क्रीडायां प्रहरणमित्यर्थे प्रथमान्तात् प्रहरणवाचकात् णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। प्रह्रियते अनेनेति प्रहरणम् आयुधम्। दाण्डेति। अणि तु ङीप् स्यादिति भावः। मौष्टेति। मुष्टिः प्रहरणमस्यां क्रीडायामिति विग्रहः।

नामकरण प्रायः आदि-मन्त्र के छन्दो-नाम पर होता है[1]। जब दो ऋचाओं के प्रगाथों में किसी साम का गान करना होता है तो दो ऋचाओं के किन्हीं अंशों का पुनः पाठ कर उसे तीन बना कर उस साम का गान किया जाता है तो वह विशिष्ट छन्दःसंकलन 'प्रगाथ' कहलाता है ("एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम्"–ताण्ड्य महाब्राह्मण) किन्तु पाणिनि के प्रत्यय-सम्बन्धी इस नियम में विभिन्न छन्दों के मिश्रणरूपी प्रगाथ का ही उल्लेख है, न कि सामगान-सम्बन्धी विशिष्ट संकलन का।

(१२६५) पद—संग्रामे, प्रयोजनयोद्धृभ्यः। **अनुवृत्ति**—सोऽस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सः अस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। उदा० १–सुभद्रा प्रयोजनम् अस्य—सौभद्रः। २–भरताः योद्धारः अस्य संग्रामस्य—भारतः।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'सोऽस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः सूत्रस्थ सप्तम्यन्त 'संग्रामे' पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित किया गया है। तथा अनुवर्तमान 'अस्य' पद के साथ 'संग्रामस्य' का अन्वय किया जाता है। तदनुसार "प्रथमा समर्थ 'प्रयोजन' और 'योद्धृ' के साथ समान अधिकरण वाले प्रातिपदिकों से यदि संग्राम अभिधेय हो तो षष्ठी अर्थ में यथाविहित 'अण्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) सौभद्रः संग्रामः (सुभद्रा है प्रयोजन जिस युद्ध का—'सुभद्रा प्रयोजनमस्य संग्रामस्य'। सुभद्रा+अण् > सौभद्रः ('आ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्ति-कार्य)। (२) भारतः (भरत हैं प्रयोजन जिस युद्ध के—'भरताः योद्धारः अस्य संग्रामस्य'—भरत्+अण् ('अ' लोप तथा आदिवृद्धि एवं विभक्ति-कार्य)।

(१२६६) पद—तत्, अस्यां, प्रहरणम्, इति, क्रीडायाम्, णः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां—१-दाण्डा। २–मौष्टा।

विवरण—"प्रथमा समर्थ (तत्) प्रहरण समानाधिकरण वाले प्रातिपदिकों से सप्तम्यर्थ में (अस्मिन्) यदि 'अस्यां' से क्रीडा निर्दिष्ट हो तो 'ण' प्रत्यय होता है"। 'ण्' की इत्संज्ञा–"चुटू" (१-३-७)। प्रत्यय 'अ' मात्र रहता है। सूत्र में 'इति' शब्द विवक्षापरक है। **उदाहरण**—(१)

---

१. कभी-कभी प्रगाथ के अन्तिम छन्द के नाम पर और कभी कभी दोनों छन्दों के नाम पर भी प्रगाथ का नामकरण देखा जाता है।

(१२६७) घञः सास्यां क्रियेति ञः ४ । २ । ५८ ॥ घञन्तात्क्रियावाचिनः प्रथमान्तादस्यामिति सप्तम्यर्थे स्त्रीलिङ्गे ञप्रत्ययः स्यात् । घञः इति कृद्ग्रहणाद् गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् । **(१२६८) श्येनतिलस्य पाते ञे ६ । ३ । ७१ ॥** श्येन तिल एतयोर्मुमागमः स्यात् ञप्रत्यये परे पातशब्दे उत्तरपदे । श्येनपातोऽस्यां वर्तते श्येनम्पाता

(१२६७) घञः सास्याम् । अस्यामित्यनन्तरं मृगयायामित्यादि स्त्रीलिङ्गविशेष्यमध्याहार्यम् । सा क्रिया अस्यां मृगयादिक्रियायामित्यर्थे घञन्तप्रकृतिकप्रथमान्तात्क्रियावाचिनः ञः स्यादित्यर्थः । फलितमाह—घञन्तादित्यादिना । कृद्ग्रहणादिति । तत्प्रयोजनमनुपदमेव वक्ष्यते ।

(१२६८) श्येनतिलस्य पाते ञे । मुमागम इति । 'अरुर्द्विषत्' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । ञप्रत्यये इति । ञप्रत्यये परे यः पातशब्दः तस्मिन्नित्यर्थः । उत्तरपदे इति । 'अलुगुत्तरपदे' इति तदधिकारादिति भावः । श्येनपात इति । पतनं पातः । भावे घञ् । श्येनम्पातेति । श्येनपातशब्दात् घञन्तात् ञः । यद्यपि पातशब्द एव घञन्तः तथापि कृद्ग्रहणपरिभाषया श्येनपातशब्दस्यापि ग्रहणं बोध्यम् । श्येनस्य पात इति कृद्योगषष्ठ्या

दाण्डा (डंडा है आयुध जिस क्रीडा में—'दण्डः प्रहरणम् अस्यां क्रीडायाम्'—दण्ड्+अ (ण) > दाण्ड (='अ'लोप तथा आदिवृद्धि) > दाण्ड+आ (टाप्) > दाण्डा (दीर्घ तथा विभक्ति-कार्य) । (२) मौष्टा (मुट्ठी जिस क्रीडा में आयुध हो—अर्थात्—मुष्टिः प्रहरणम् अस्यां क्रीडायाम्—मुष्टि्+अ (ण) > मौष्ट ('इ' लोप तथा आदिवृद्धि) > मौष्टा ('टाप्' तथा विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—यद्यपि 'अण्' एवम् 'ण' दोनों प्रत्ययों में रूपसाम्य होता है, तथापि स्त्रीलिङ्ग में भिन्नता स्पष्ट है । 'अण्' प्रत्ययान्त होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय हो जायगा । अतः 'ण' प्रत्यय का पृथक् विधान किया गया है, जिसके फलस्वरूप स्त्रीत्व बोत्य होने पर 'टाप्' प्रत्यय होता है ।

(१२६७) **पद**—घञः, साऽस्यां, क्रिया, इति, ञः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—घञन्त क्रियावाची प्रथमान्त से सप्तम्यर्थ में स्त्रीलिङ्ग वाच्य हो तो 'ञ' प्रत्यय होता है । 'कृत्' प्रत्यय 'घञ्' के ग्रहण करने से गति एवं कारक पूर्वपद का भी ग्रहण होगा ।

विवरण—"प्रथमा समर्थ (सा) क्रियावाची घञन्त प्रातिपदिक से (घञः) सप्तम्यर्थ में (अस्याम्) 'ञ' प्रत्यय होता है" । उदाहरण आगे दिया जायगा ।

(१२६८) **पद**—श्येनतिलस्य, पाते, ञे । **अनुवृत्ति**—मुम्, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'पात' शब्द उत्तरपद रहते 'श्येन' और 'तिल' को 'ञ' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'मुम्' आगम होता है । उदा० श्येनपातः अस्यां वर्तते—(१) श्येनम्पाता मृगया । तिलपातः अस्यां वर्तते—(२) तैलम्पाता स्वधा । 'श्येनतिलस्य' क्यों कहा ? दण्डपातः अस्यां तिथौ वर्तते—दाण्डपाता तिथिः ('मुम्' नहीं हुआ) ।

विवरण—प्रासङ्गिक कार्य के लिये सप्तमाध्याय का यह सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" (६-३-६७) सूत्र से अनुवृत्ति द्वारा विधेयांश 'मुम्' का लाभ होता है । 'इति' शब्द विवक्षापरक है । तदनुसार "'श्येन' एवं 'तिल' शब्दों को 'ञ' प्रत्यययुक्त 'पात' शब्द उत्तरपद रहते 'मुम्' आगम होता है" । **उदाहरण**—(१) **श्यैनम्पाता** मृगया (जिस शिकार में आक्रमण करने के लिये बाज छोड़ा जाय—श्येनपातः अस्यां क्रियायां वर्तते) । श्येन-पात (√पत्+घञ्)+अ (='ञ'–सू० १२६७) > श्येन-म् ('मुम्' आगम–अन्त्य अच् 'न' के अकार से पर) पात्+अ > श्येनम्पात (अनुस्वार, परसवर्ण, 'अ'लोप तथा आदिवृद्धि) > श्यैनम्पाता ('टाप्' एवं विभक्ति-कार्य) । यद्यपि सूत्र में 'घञन्त' 'पात' शब्द का उल्लेख है तथापि

मृगया। तिलपातोऽस्यां वर्तते तैलम्पाता स्वधा। श्येनतिलस्य किम्? दण्डपातोऽस्यां तिथौ वर्तते दाण्डपाता तिथिः। (१२६९) तदधीते तद्वेद ४।२।५९॥ व्याकरण-

---

समासः। तथा च श्येनपातशब्दस्यादिवृद्धिः। तैलम्पाता स्वधेति। स्वधाशब्दः स्त्रीलिङ्गः पित्र्यक्रियायां वर्तते। 'नमः स्वधायै' इत्यादिदर्शनात्। स्वधेत्यनेन क्रीडायामिति नानुवर्तते इति सूचितम्। तदस्यामिति प्रकृते पुनरस्यामिति ग्रहणात्।

(१२६९) तदधीते। तदधीते इत्यर्थे तद्वेत्तीत्यर्थे च द्वितीयान्तादणादयः स्युरित्यर्थः। गुरुमुखादक्षरानुपूर्वीग्रहणमध्ययनम्। शब्दार्थज्ञानं वेदनम्। एतेन अध्ययनविधिरर्थज्ञानपर्यन्त इति कतिपयमीमांसकोक्तिः परास्ता, पृथग्ग्रहणवैयर्थ्यात्। यथा चैत-

---

"कृद्ग्रहणे गति-कारक-पूर्वस्यापि ग्रहणम्" ('कृद्' ग्रहण करने पर गति एवं कारक-पूर्वपद का भी ग्रहण हो जाता है) इस परिभाषा के अनुसार 'श्येन (= कारक) पूर्वपदक पात' का भी ग्रहण हो गया। (२) तैलम्पाता स्वधा—जिस श्राद्ध में तिल गिराये जायँ, वह स्वधा—'तिलपातः अस्यां क्रियायां वर्तते'—तिलपात+अ (ञ) > तिल–म्–पात्+अ > तैलम्पात > तैलम्पाता। प्रक्रिया पूर्ववत्।

विशेष—(१) 'श्येनपात' (श्येनस्य पातः) तथा 'तिलपातः' (= तिलस्य पातः) शब्दों में 'षष्ठी' तत्पुरुष हुआ है—'कृद्योगा षष्ठी समस्यत इति वाच्यम्'।

(२) 'पितृ'-कार्य में समर्पण-वाचक 'स्वधा' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। 'देवकार्य' में 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में किया जाता है। इस तरह के प्रयोग ही इस सम्बन्ध में प्रमाण हैं—"देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमो नमः"॥

(३) 'स्वधा' शब्द के निवेश से 'क्रीडा' की निवृत्ति सूचित होती है।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'श्येनतिलयोः' पद का निवेश होने से दाण्डपातः (जिस तिथि में 'दण्ड' की हानि हो—'दण्डपातः अस्यां तिथौ वर्तते' में 'मुम्' आगम नहीं हुआ। नियमानुसार घञन्त से 'पात' केवल 'ञ' प्रत्यय हुआ।

(१२६९) पद—तत्, अधीते, तत्, वेद। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० व्याकरणम् अधीते वेद वा—वैयाकरणः।

विवरण—सूत्र में 'प्रत्यय' के अर्थ का निर्देश 'अधीते' (पढ़ता है) तथा 'वेद' (जानता है) पदों द्वारा किया गया है। दोनों 'तत्' पद द्वितीयान्त हैं, किन्तु आधिकारिक पञ्चम्यन्त 'प्रातिपदिकात्' पद का विशेषण होने से पञ्चम्यर्थ में विपरिणामित हो जाते हैं, अतः वे तदन्त के बोधक होंगे। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से ही (तत्) 'अध्ययन करता है' (अधीते) इस अर्थ में तथा द्वितीयान्त प्रातिपदिक से (तत्) 'जानता है' (वेद) इस अर्थ में (यथा विहित प्रत्यय) 'अण्' आदि होते हैं"। **उदाहरण**—वैयाकरणः (व्याकरण का अध्येता या ज्ञाता)। **विग्रहार्थ**—व्याकरणम् अधीते वेद वा। **प्रक्रिया**—व्याकरण+अम्, अण् > व्याकरण+अ (द्वितीया-विभक्ति का लुक्) > व्-ऐ-याकरण+अ ("नय्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" ७-३-३ सूत्र से आदिवृद्धि का निषेध होकर 'य्' के पूर्व ऐच् आगम) > वैयाकरणः विभक्ति-कार्य)। 'व्याकरण' का अर्थ है—शब्दों का विश्लेषण करने वाला शास्त्र अर्थात् शब्द-साधुत्व-प्रतिपादक शास्त्र—'व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेन'। वि-आ√कृ+ल्युट् (करण अर्थ में) > वि-आ√कृ+अन (यु = अन) > व्याकरणम् ('कृ' को गुण तथा अन्तिम 'न' को 'ण' तथा यण्)।

विशेष—प्रकृत सूत्र में दो द्वितीयान्त 'तत्' पद हैं तथा दो अर्थसूचक क्रियावाची पद 'अधीते' तथा 'वेद' हैं। इस प्रकार एक 'तत्' पद 'अधीते' के साथ अन्वित ("नैरुक्तः' 'वैयाकरणः' आदि उदाहरणों में उस शास्त्र का सूचक) होता है और दूसरा 'वेद' (ज्ञाता) के साथ। तदनुसार 'अध्ययन

मधीते वेद वा वैयाकरणः। (१२७०) क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्। ४। २। ६०॥
क्रतुविशेषवाचिनामेवेह ग्रहणम्। तेभ्यो मुख्यार्थेभ्यो वेदितरि, तत्प्रतिपादकग्रन्थपरेभ्यस्त्व-

---

त्तथा अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तौ प्रपञ्चितमस्माभिः। वैयाकरण इति। अणि 'न य्वाभ्याम्' इत्यैजागमः।

(१२७०) क्रतूक्थादि। 'तदधीते तद्वेद' इत्यर्थयोः क्रतु, उक्थादि, सूत्रान्त एभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः। क्रतुविशेषवाचिनामेवेति। न तु क्रतुशब्दस्यैवेत्यर्थः। अन्यथा उक्थादि-गण एव क्रतुशब्दमपि पठेदिति भावः। ननु क्रतुविशेषाणां कथमध्ययनम्। अक्षरग्रहणात्म-कत्वाभावादित्यत आह—तेभ्य इति। अग्निष्टोमादिशब्दाः क्रतुविशेषेषु मुख्याः। तत्प्रति-

---

करने वाला' तथा 'वेत्ता' दोनों ही पृथक् पृथक् लिये जायेंगे। यह आवश्यक नहीं कि अध्ययनकर्ता के साथ वह व्यक्ति उस शास्त्र का ज्ञाता भी हो। इस कारण सूत्र का स्वरूप "तदधीते वेद" नहीं रखा गया। अतः 'तत्' पद का दो बार निवेश करने से वाक्यभेद से अध्येता तथा विद्वान् अर्थ में प्रत्येक के साथ प्रत्यय संयुक्त होता है।

शङ्का-समाधान—इस कथन पर यह शङ्का उपस्थित होती है कि पाणिनि ने इसी तद्धित प्रकरण में इसके विपरीत "तेन दीव्यति, खनति, जयति, जितम्" (४-४-२) सूत्र में केवल एक तृतीयान्त पद 'तेन' का अन्वय अर्थसूचक चार पृथक् क्रियापदों के साथ किया है, अतः यहाँ भी वैसा सम्भव क्यों न हो? इसके समाधान में यह कहा जाता है कि 'तत्' पद का दो बार निवेश केवल इसी सूत्र के लिये ही आवश्यक है—यह बात नहीं। आगे के दो सूत्रों में भी उसका उपयोग है। कारण यह है कि "क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्" (४-२-६०) तथा "वसन्ता-दिभ्यष्ठक्"-(४-२-६३) इन दोनों सूत्रों में प्रकृत सूत्र "तदधीते तद्वेद" (४-२-५९) की अनुवृत्ति जाती है। इसके फलस्वरूप गौणार्थक 'क्रतु' तथा 'वसन्त' शब्द से 'ठक्' प्रत्यय हो जाता है। अन्यथा यज्ञस्वरूप अध्येता अर्थ में 'क्रतु' की उपस्थिति असम्भव होने से 'ठक्' प्रत्यय कैसे होगा? क्योंकि अध्ययन तो शब्द-विषयक है। 'यज्ञ' के साहचर्य से 'क्रतु'-विषयक ग्रन्थ का अध्ययन यद्यपि गौणार्थ में सम्भव हो सकता है, तथापि 'गौण-मुख्य' न्याय से मुख्य में ही कार्य की प्रवृत्ति होने के कारण 'ज्ञाता' अर्थ में ही प्रत्यय सम्भव हो सकेगा न कि 'अध्येता' अर्थ में। इसी तरह "वसन्तादिभ्यष्ठक्" (४-२-६३) सूत्र में वसन्त शब्द भी वहाँ वसन्त-ऋतु का वर्णन करने वाले ग्रन्थों के रूप में अपेक्षित है, क्योंकि ऋतुवाची 'वसन्त' से 'अध्येता' अर्थ में प्रत्यय का संयुक्त होना असम्भव है, केवल मुख्य 'ज्ञाता' अर्थ में ही सम्भव हो सकेगा। अतः द्वितीय 'तद्' ग्रहण से 'गौण' अर्थ को अभिलक्षित करने पर भी उन दोनों सूत्रों में 'अध्येता' अर्थ में भी प्रत्यय का विधान कर इष्ट-सिद्धि हो जाती है।

(१२७०) पद—क्रतूक्थादिसूत्रान्तात्, ठक्। अनुवृत्ति—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्वसूत्र में प्रतिपादित 'तदधीते तद्वेद' अर्थ का ही यहाँ विषय है। सूत्र में 'क्रतुवाची' एवं 'उक्थादि' शब्द तथा 'सूत्रान्त' प्रातिपदिक प्रकृतिरूप में अपेक्षित हैं। विधेय प्रत्यय 'ठक्' है। यह 'अण्' का बाधक है। (१) 'क्रतु' शब्द यहाँ केवल यज्ञ-परक ही नहीं है किन्तु यज्ञ-विशेष-अर्थ का बोधक है। इसके फलस्वरूप "द्वितीया समर्थ मुख्यार्थक क्रतुवाचक शब्द से 'ज्ञाता' अर्थ में तथा लक्षणा-वृत्ति से यज्ञ-प्रतिपादक-ग्रन्थ-परक क्रतुवाचक शब्द से 'अध्येता' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होगा"। (२) 'साम' तथा साम-विशेष की 'उक्थ' संज्ञा है। 'उक्थ' के सम्बन्ध में भी लक्षणा का आश्रय लेकर 'प्रातिशाख्य-ग्रन्थ' अर्थ ही पतञ्जलि को अभीष्ट है, अतः 'उक्थग्रन्थ' के 'अध्येता' एवम् 'ज्ञाता' अर्थों में ही 'ठक्' प्रत्यय होगा। 'तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यं' के अनुसार उक्थार्थम्

ध्येतरि । आग्निष्टोमिकः । वाजपेयिकः । उक्थं सामविशेषः, तल्लक्षणपरो ग्रन्थविशेषो लक्षणयोक्थम् । तदधीते वेद वा औक्थिकः । 'मुख्यार्थात्तूक्थशब्दात् ठगणौ नेष्येते । न्यायम्—नैयायिकः । वृत्तिम्—वार्त्तिकः । लोकायतम्—लौकायतिकः इत्यादि । 'सूत्रान्तात्त्वकल्पादेरे-

---

पादकग्रन्थेषु तु गौणाः । तत्र क्रतुविशेषात्मकमुख्यार्थकेभ्यः अग्निष्टोमादिशब्देभ्यः वेदितरि प्रत्ययाः । अग्निष्टोमादिक्रतुप्रतिपादकग्रन्थेषु लक्षणया विद्यमानेभ्यस्तु तेभ्यः अध्येतरीत्यर्थः । आग्निष्टोमिक इति । अग्निष्टोमं क्रतुं वेत्ति तत्प्रतिपादकग्रन्थमधीते इति वार्थः । उक्थशब्दः सामसु मुख्यः । सामलक्षणग्रन्थे प्रातिशाख्ये तु गौणः । तत्र गौणार्थकादेव उक्थशब्दात् ठगित्याह—उक्थं सामविशेष इति । 'अग्निष्टोमस्तोत्रात्परं यत्साम गीयते' इति वृत्तिकृदुक्तेरिति भावः । भाष्ये तु सामशब्दपर्याय उक्थशब्द इति लक्ष्यते । मुख्यार्थादिति । सामवाचिनः उक्थशब्दात्तु न ठक्, तस्मिन्निषिद्धे तदधीते इत्यण् च न भवतीत्यर्थः । भाष्ये तु मुख्यार्थकादुक्थशब्दात् ठक् नेत्येव लक्ष्यते । उक्थादिगणपठितात्

=उक्थम्" । अतः मुख्यार्थक 'उक्थ' शब्द से 'ठक्' एवम् 'अण्' प्रत्यय नहीं होंगे । उक्थादि-गण के अन्तर्गत न्याय, वृत्ति, लोकायत आदि शब्द संगृहीत हैं । (३) 'सूत्र' शब्द जिनके अन्त में है—ऐसे शब्दों में वार्तिक के अनुसार 'कल्पसूत्र' को छोड़ दिया गया है । अतः 'कल्पसूत्र' के अतिरिक्त सभी सूत्रान्त शब्दों से ठक् प्रत्यय होगा । इन तीनों के **उदाहरण** (१) क्रतुवाचक[1]—**आग्निष्टोमिकः** (अग्निष्टोम यज्ञ का ज्ञाता या उसकी विधि की पुस्तक का अध्येता)। **विग्रहार्थ**—अग्निष्टोममधीते वेद वा । अग्निष्टोम+ठ (ठक्) > अग्निष्टोम्+इक (ठ = इक) > **आग्निष्टोमिकः** (आदिवृद्धि, 'अ' लोप एवं विभक्ति-कार्य)। (२) **वाजपेयिकः** (वाजपेय यज्ञ का ज्ञाता या उसकी विधि का अध्येता)। **विग्रह**—वाजपेयम् अधीते वेत्ति वा । शेष कार्य पूर्ववत् । **उक्थादि**—(१) औक्थिकः (सामवेद के प्रातिशाख्य को जानने या पढ़ने वाला)। **विग्रह**—उक्थम् अधीते वेद वा । उक्थ+ठ (ठक्) > उक्थ+इक > औक्थिकः ('अ' लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। भाष्यकार ने उक्थ के मुख्यार्थ 'साम' को अभिलक्षित कर ठक्' तथा 'अण्' 'प्रत्यय' होने की व्यवस्था नहीं दी है। प्रातिशाख्य-परक गौण अर्थ को अभिलक्षित कर लक्षणावृत्ति का आश्रय लेकर प्रत्यय-विधान किया है। उक्थादि-गण-पठित शब्द—(क) **नैयायिकः** (न्यायशास्त्र का अध्येता अथवा विद्वान्—न्यायशास्त्रम् अधीते वेद वा । न्याय+ठक् (= इक) > न्-ऐ-य्-आय्+इक ('वृद्धि'-निषेध एवं 'ऐच्' आगम) > नैयायिकः ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (ख) **वार्तिकः** (वृत्ति-ग्रन्थ का अध्येता या वेत्ता) वृत्तिग्रन्थम् अधीते वेद वा । वृत्ति+ठक् > वृत्ति+इक > वार्तिकः (आदिवृद्धि ऋ = आर्, 'इ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (ग) **लौकायतिकः** (लोकायत[2] को जानने वाला या विद्वान्—

---

१. यद्यपि 'क्रतु' शब्द यज्ञ-सामान्य के लिये भी प्रयुक्त होता है तथापि सोम-हवि वाले यज्ञों के लिये ही वैदिक वाङ्मय में इसका व्यवहार होता है । इसी कारण 'आग्निष्टोमिकः' 'आश्वमेधिकः' आदि उदाहरण दिये जाते हैं ।

२. 'भूतवाद' और 'उच्छेदवाद' को मानने वाले लोकायत कहे गये हैं । 'कौटिल्य' ने भी लोकायतों का उल्लेख किया है । 'दीघनिकाय' में भी इनका नाम है । 'कामसूत्र' में भी एक लोकोक्ति है—"वरं सांशयिकात् निष्कात् असांशयिकः कार्षापणः"—इति लोकायतिकाः । अर्थात् हाथ में आया हुए चाँदी का सिक्का भविष्य में मिलने वाले सोने के सिक्के की अपेक्षा कहीं अच्छा है"। भाष्यकार पतञ्जलि ने भी भागुरि के मत को लोकायतिकों की बानगी (नमूना) कहा है—'वर्णिका भागुरी लोकायतस्य' (७-३-४५)। इससे विदित होता है कि लोकायत-सम्प्रदाय पाणिनि के समय नास्तिक-सम्प्रदायों में प्रसिद्ध रहा ।—पाणिनि-कालीन भारतवर्ष—प्रथम संस्करण पृ० ३७९ ।

वेष्यते' (वा २७४४)। साङ्ग्रहसूत्रिकः। अकल्पादेः किम् ? काल्पसूत्रः। 'विद्यालक्षणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम्' (वा २७४१)। वायसविद्यिकः। गौलक्षणिकः। आश्वलक्षणिकः। पाराशरकल्पिकः। 'अङ्गक्षत्रधर्मत्रिपूर्वाद्विद्यान्तान्नेति वक्तव्यम्' (वा २७४५)। आङ्गविद्यः। क्षात्रविद्यः। धार्मविद्यः। त्रिविधा विद्या त्रिविद्या। तामधीते वेद वा त्रैविद्यः। 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' (वा २७४६)। यवक्रीतमधिकृत्य कृतमाख्यानमुपचाराद्यवक्रीतम्, तदधीते वेत्ति वा यावक्रीतिकः। वासवदत्तामधिकृत्य कृता

न्यायादिशब्दात् ठकमुदाहरति—न्यायमिति। अधीते वेत्ति वेति शेषः। नैयायिक इति। ठकि ऐजागमः। वृत्तिमिति। अधीते वेद वेति शेषः। वार्त्तिक इति। ठकि आदिवृद्धौ रपरत्वम्। साङ्ग्रहसूत्रिक इति। सङ्ग्रहाख्यं सूत्रमधीते वेत्ति वेत्यर्थः। विद्यालक्षणेति। विद्या, लक्षण, कल्प एतदन्तादपि उक्तेऽर्थे ठगित्यर्थः। अङ्गेति। अङ्ग, क्षत्र, धर्म, त्रि एतत्पूर्वकाद्विद्यान्तात् समासात् ठक् नेत्यर्थः। ततश्च अणेव। त्रिविधा विद्या त्रिविद्या इति। शाकपार्थिवादित्वाद्विधाशब्दस्य लोप इति भावः। तिस्रो विद्यास्त्रिविद्या इति न विग्रहः, 'दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम्' इति नियमात्। नापि तिस्रो विद्या अधीते वेद तद्धितार्थे द्विगुः, तथा सति तद्धितस्य द्विगुनिमित्ततया 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुगापत्तेः।

'लोकायतम् अधीते वेत्ति वा')। लोकायत+ठ (=इक) > लौकायतिकः (आदिवृद्धि, 'अ'-लोप तथा विभक्ति-कार्य)। **सूत्रान्त-शब्दों** के सम्बन्ध में एक वार्तिक द्वारा "कल्पसूत्र" को छोड़कर अन्य 'सूत्रान्त' शब्दों से 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होने का विधान कहा गया है"। तदनुसार **साङ्ग्रहसूत्रिकः** (संग्रह-सूत्र जानने या पढ़ने वाला—संग्रहाख्यं सूत्रम् अधीते वेद वा)। संग्रहसूत्र+ठ (इक)>साङ्ग्रहसूत्रिकः (आदिवृद्धि, 'अ' लोप तथा विभक्तिकार्य)। आचार्य 'व्याडि' कृत लक्ष श्लोकात्मक ग्रन्थ 'संग्रह' के नाम से प्रसिद्ध रहा है।

इसी शृङ्खला में 'ठक्' प्रत्यय का विधान करने के लिये कतिपय वार्तिक प्रस्तुत किये जा रहे हैं। तदनुसार "'विद्या' '**लक्षण**' तथा '**कल्प**'—इनमें से कोई शब्द अन्त में रहे तो 'तद् अधीते तद् वेद' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। अतः (क) **वायसविद्यिकः** (काकविद्या या पक्षि-विद्या का अध्येता या वेत्ता—वायसविद्यां वेद अधीते वा)। वायसविद्या+ठक् (=इक) > वायसविद्यिकः (आदिवृद्धि, 'आ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (ख) **गौलक्षणिकः** (गाय के लक्षणग्रन्थों को जानने या अध्ययन करने वाला)। गो-लक्षण+ठक् (=इक)>गौलक्षणिकः (आदिवृद्धि, 'अ'लोप तथा विभक्ति-कार्य)। इसी प्रकार **आश्वलक्षणिकः**। (ग) **पाराशरकल्पिकः** (पराशरकल्प का ज्ञाता या अध्येता)। पराशरकल्प+ठक् (=इक) > पाराशरकल्पिकः। शेष कार्य पूर्ववत्। एक अन्य वार्तिक द्वारा "'विद्यान्त' शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय किये जाने में संकोच दिखाया जा रहा है। अतः "अङ्ग, क्षत्र एवं त्रि—इन शब्दों में से कोई शब्द यदि पूर्व में रहे तो उन विद्यान्त शब्दों से 'ठक्' नहीं होता"। तदनुसार (क) **आङ्गविद्यः** (अङ्गविद्या का अध्येता या ज्ञाता) में अण् (अङ्गविद्या+अण्) प्रत्यय हुआ। तथा **क्षात्रविद्यः** (क्षत्रविद्या=युद्धविद्या का अध्येता या ज्ञाता), **धार्मविद्यः** (धर्मविद्या का अध्येता या ज्ञाता) तथा **त्रैविद्यः** (तीन वेदों का अध्येता या ज्ञाता) में भी 'अण्' प्रत्यय हुआ। **त्रैविद्यः** में विग्रह का स्वरूप—'त्रिविधा विद्या—त्रिविद्या (शाकपार्थि-

---

१. भाष्यकार ने कल्पसूत्र-रहित सूत्रान्त शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय-विधान को दूसरे रूप में कहा है। उन्होंने "कल्पादिभिन्न विद्यालक्षण अन्य सूत्रान्त शब्दों से 'इकक्' (= ठक्) प्रत्यय बतलाया है—"विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तात् अकल्पादेः 'इकक्' स्मृतः"। इसके फलस्वरूप काल्पसूत्रः में 'अण्' प्रत्यय हुआ, 'ठक्' नहीं होता।

आख्यायिका वासवदत्ता। 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (सू १४६७) इत्यर्थे 'वृद्धाच्छः' (सू १३३७)। तस्य 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' इति लुप्। ततोऽनेन ठक्। वासवदत्तिकः। ऐतिहासिकः। पौराणिकः। 'सर्वादेः सादेश्च लुग्वक्तव्यः' (वा २७४८)। सर्ववेदानधीते सर्ववेदः। सर्वतन्त्रः। सवार्तिकः। 'द्विगोर्लुक्–' (सू १०८०) इति लुक्। द्वितन्त्रः।

तिसृणां विद्यानां समाहार इति द्विगुरप्यत्र निर्बाध एव। आख्यानेति। आख्यान, आख्यायिका, इतिहास, पुराण एभ्यश्च उक्तेऽर्थे ठग्वक्तव्य इत्यर्थः। तत्र आख्यानशब्देन आख्यायिकाशब्देन च आख्यानविशेषवाचिनः आख्यायिकाविशेषवाचिनश्च ग्रहणम्। इतिहासपुराणशब्दयोस्तु स्वरूपयोरेव ग्रहणम्। आख्यानं नाम कथाप्रबन्धः। 'आख्यायिकोपलब्धार्था पुराणं पञ्चलक्षणम्' इत्यमरः। 'इतिहासः पुरावृत्तम्' इति च।

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥'

तत्र आख्यानादुदाहरति—यवक्रीतमिति। आख्यायिकाया उदाहरति—वासवदत्तामिति। लुग्वक्तव्य इति। उक्तप्रत्ययस्येति शेषः। सर्ववेद इति। अणो लुकि आदिवृद्धयभावः। सर्वतन्त्र इति। सर्वतन्त्राण्यधीते वेद वेत्यर्थः। सवार्तिक इति। वार्तिकेन सह सवार्तिकम्। तेन सह इति बहुव्रीहिः। 'वोपसर्जनस्य' इति समावः। सवार्तिकं सूत्रमधीते इत्यर्थः। द्विगोरिति। द्वे तन्त्रे अधीते वेत्ति वेत्यर्थे तद्धितार्थे द्विगुनिमित्तत्वादणो लुकि आदिवृद्ध्यभावे द्वितन्त्र इति रूपमित्यर्थः। इकन् पदोत्तरपदादिति। पदशब्दः उत्तरपदं

वादि गण में पाठ होने से मध्यम-पद-लोपी→विद्या←समास) है। 'तिस्रः विद्याः'–त्रिविद्याः— इस प्रकार विग्रह नहीं है, क्योंकि दिशावाची तथा संख्यावाची शब्दों का द्विगु समास 'संज्ञा' में ही होता है। इसी प्रकार 'तिस्रः विद्याः अधीते वेद वा'—यह तद्धितार्थ द्विगु-परक विग्रह भी उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ पर तद्धित-प्रत्यय के द्विगु-निमित्तक होने से "द्विगोर्लुगनपत्ये" (४-१-८८) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय का लोप प्राप्त होगा। किन्तु 'तिसृणां विद्यानां समाहारः' यह विग्रह किया जा सकता है। तदनन्तर एक और वार्तिक द्वारा "(क) आख्यान, (ख) आख्यायिका, (ग) इतिहास तथा (घ) पुराण शब्दों से भी 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय का विधान बतलाया गया है"। 'आख्यान' एवम् 'आख्यायिका' अर्थपरक शब्द हैं।[1] तदनुसार (क) यावक्रीतिकः (यवक्रीत को अभिलक्षित कर रचित ग्रन्थ को जानने वाला या पढ़ने वाला)। यवक्रीतम् अधीते वेद वा—यवक्रीत+ठक्)। वासवदत्तिकः (वासवदत्ता की कहानी का अध्येता या ज्ञाता— वासवदत्ताम् अधीते वेद वा—वासवदत्ता+ठक् = इक) में भी 'ठक्' प्रत्यय होता है। 'वासवदत्ता' शब्द में 'ठक्' होने के पूर्व प्रक्रिया इस प्रकार है—वासवदत्ता+छ–"अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" ४-३-८७ (वासवदत्ताम् अधिकृत्य कृता आख्यायिका) के आधार पर "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) से हुए 'छ' प्रत्यय का 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' के अनुसार लोप होता है। तदनन्तर 'ठक्' प्रत्यय की उत्पत्ति होगी। (३) ऐतिहासिकः (इतिहास ग्रन्थों का अध्येता या ज्ञाता) इतिहासम् अधीते वेद वा—इतिहास+ठक्। तथा (४) पौराणिकः (पुराणग्रन्थों का अध्येता या ज्ञाता) पुराणानि अधीते वेद वा–पुराण+ठक् (= इक) हुआ। एक अन्य वार्तिक द्वारा—"(क) 'सर्वादि' प्रातिपदिक एवं (ख) 'स'कारादि प्रातिपदिकों से उत्तरवर्ती 'अण्' प्रत्यय का लोप होना सूचित किया गया है"। तदनुसार (क) सर्ववेदः (सब वेदों का अध्येता या ज्ञाता—सर्ववेदान् अधीते वेद वा—सर्ववेद+अण्) तथा सर्वतन्त्रः (सब शास्त्रों का अध्येता या ज्ञाता—सर्वतन्त्राणि अधीते वेद वा—सर्वतन्त्र+अण्) एवं (ख) सवार्तिकः

---

१. महाभारत के वनपर्व (अ० १३३-१६८) में वर्णित कथा के आधार पर लिखा आख्यान।

'इकन्पदोत्तरपदाच्छतषष्टेः षिकन्पथः' (वा २७४९-२७५०) पूर्वपदिकः। उत्तरपदिकः। शतपथिकः-शतपथिकी। षष्टिपथिकः-षष्टिपथिकी। (१२७१) क्रमादिभ्यो

यस्य सः पदोत्तरपदस्तस्मादुक्तेऽर्थे इकन्प्रत्ययो वक्तव्यः। शतषष्टेः षिकन्पथ इति। शतशब्दात् षष्टिशब्दाच्च परो यः पथिन्शब्दः तस्मात् उक्तेऽर्थे षिकन्प्रत्ययो वक्तव्य इत्यर्थः। पूर्वपदिक इति। पूर्वपदमधीते वेत्ति वेत्यर्थः। एवमुत्तरपदिकः। शतपथिक इति। शतपथं नाम वाजसनेयिब्राह्मणम्। तदधीते वेत्ति वेत्यर्थः। शतपथिकीति। षित्त्वात् ङीषिति भावः। एवं षष्टिपथिकः। षष्टिपथिकीति।

(वृत्तिसहित ग्रन्थों का अध्येता या ज्ञाता—सवार्तिकं सूत्रमधीते वेत्ति वा→वार्तिकेन सह > सवार्तिकम् ← बहुव्रीहि समास—"तेन सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८ एवं 'सह' = 'स' "वोपसर्जनस्य" ६-३-८२←सवार्तिक+अण्) में 'अण्' प्रत्यय का लोप हुआ। इसी प्रकार द्वितन्त्रः (दो शास्त्रों का अध्येता या ज्ञाता—द्वे तन्त्रे अधीते वेद वा) में भी तद्धितार्थ में द्विगुनिमित्तक 'अण्' प्रत्यय का लोप होता है। इस कारण 'आदिवृद्धि' नहीं हुई। एक अन्य वार्तिक द्वारा "द्वितीया-समर्थ पद-शब्दान्त प्रातिपदिक से 'अधीते-वेद' अर्थ में इकन् प्रत्यय का विधान बतलाया गया है। इसके साथ ही 'शत' शब्द तथा 'षष्टि' शब्द से परवर्ती पथिन् प्रातिपदिक से उक्त अर्थ में 'षिकन्' प्रत्यय कहा गया है"। यद्यपि 'इकन्' तथा 'षिकन्' दोनों प्रत्ययों में इत्संज्ञक वर्णों के अतिरिक्त 'इक' ही प्रत्ययांश अवशेष रहेगा, तथापि 'षिकन्' प्रत्यय में 'ष्' की भी इत्संज्ञा ("षः प्रत्ययस्य" १-३-६) होने के फलस्वरूप स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होगा। **उदाहरण—पदोत्तर शब्द** (क) पूर्वपदिकः (पूर्वपद[1]—प्रकरण का अध्येता या वेत्ता—पूर्वपदम् अधीते वेद वा—पूर्वपद्+इकन् > पूर्वपदिकः—'अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। (ख) उत्तरपदिकः (उत्तरपद[2] प्रकरण का अध्येता या वेत्ता—उत्तरपदम् अधीते वेद वा—उत्तरपद+इकन् > उत्तरपदिकः। 'षिकन्' प्रत्यय के **उदाहरण**—(क) शतपदोत्तर 'पथिन्' शब्द—शतपथिकः ('शतपथ'[3] ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्येता अथवा वेत्ता—शतपथम् अधीते वेत्ति वा—शतपथ्+षिकन् (=इक)>शतपथिकः—'अ'लोप तथा विभक्ति-कार्य)। स्त्री-लिङ्ग में शतपथिकी ('ङीष्'—"षिद्गौरादिभ्यश्च" ४-१-४१)। (ख) 'षष्टि' पदोत्तर पथिन् शब्द—षष्टिपथिकः (षष्टिपथ भाग का अध्येता या वेत्ता—षष्टिपथम् अधीते वेत्ति वा—षष्टिपथ+इक (षिकन्)। स्त्री-लिङ्ग में—षष्टिपथिकी। सिद्धि पूर्ववत्।

१-२. सम्भवतः तद्धित-सम्बन्धी 'पूर्व'पद एवम् 'उत्तर' पद के प्रकरणों पर विशेष विचार के लिये ग्रन्थ अथवा निबन्धों या विचारकों की ओर यह संकेत हो। अष्टाध्यायी में पाणिनि ने पूर्वपद को अभिलक्षित कर "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" (७-३-१९) से आरम्भ कर "यथातथयथापुरयोः पर्यायेण" (७-३-३१) तक १३ सूत्रों का प्रणयन किया गया है। इसी प्रकार "उत्तरपदस्य" (७-३-१०) से आरम्भ कर "जे प्रोष्ठपदानाम्" (७-३-१८) तक उत्तरपद को अभिलक्षित कर तद्धित-प्रकरणस्थ शब्दों में वृद्धि का विधान बतलाया है। पूर्वपद-वृद्धिस्थ कुछ सूत्रों में भी उत्तरपद की अनुवृत्ति जाने के फलस्वरूप 'उभयपदवृद्धि' का विधान चरितार्थ होता है।

३. सौ अध्यायों वाला वाजसनेयि-शाखा का ब्राह्मणग्रन्थ—शतपथ नाम से प्रसिद्ध है। इसके पूर्वभाग (९ काण्डों) में ६० अध्याय हैं। इसका इतना अंश षष्टिपथ के नाम से प्रसिद्ध था। आरम्भ के नौ काण्डों में १-२ काण्ड दर्शपौर्णमासेष्टियों से सम्बन्ध रखते हैं। ३-४-५ का सम्बन्ध पशुबन्ध और सोमयज्ञों से है। ६-७-८-९ का सम्बन्ध अग्निचयन से है। उत्तरभागस्थ पाँच काण्डों में १०वाँ काण्ड 'अग्निरहस्य', ११वाँ काण्ड संग्रह तथा १२-१३-१४ वें काण्ड परिशिष्ट के रूप से जाने जाते हैं।

वुन् ४ । २ । ६१ ॥ क्रमकः । क्रम पद शिक्षा मीमांसा—क्रमादिः । (१२७२) **अनुब्राह्मणादिनिः ४ । २ । ६२ ॥** 'तदधीते तद्वेद' (सू १२६९) इत्यर्थे । ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणं तदधीतेऽनुब्राह्मणी । मत्वर्थीयेनैव सिद्धेऽण्बाधनार्थमिदम् । (१२७३)

(१२७१) क्रमादिभ्यो वुन् । तदधीते तद्वेद इत्यर्थे इति शेषः । क्रमक इति । क्रममधीते वेत्ति वेत्यर्थः । क्रमादिगणं पठति—क्रमेत्यादि । क्रमादिरिति । अयं क्रमादिगण इत्यर्थः । पदकः, शिक्षकः, मीमांसकः इत्युदाहरणानि ।

(१२७२) अनुब्राह्मणादिनिः । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—तदधीते तद्वेदेत्यर्थे इति । इनिप्रत्यये नकारादिकार उच्चारणार्थः । तथा च नकारस्योपदेशेऽन्त्यत्वाभावान्नेत्संज्ञा । ननु 'अत इनिठनौ' इति मत्वर्थे इनिनैव सिद्धत्वादिदं व्यर्थमित्यत आह—अण्बाधनार्थमिति । भाष्ये तु प्रत्याख्यातमेवेदम् ।

(१२७१) पद—क्रमादिभ्यः, वुन् । **अनुवृत्ति**—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—क्रमकः । क्रमादि में-क्रम, पद, शिक्षा तथा मीमांसा—ये चार शब्द हैं ।

विवरण—"तदधीते तद्वेद" का ही विषय है । अतः "द्वितीयान्त क्रमादि-गण-पठित शब्दों से 'जानता है' या 'पढ़ता है' इस अर्थ में 'वुन्' (= अक) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) क्रमकः (क्रमपाठ का अध्येता या ज्ञाता—क्रमम् अधीते वेद वा–क्रम्̥+ :→वुन्=वु←अक > क्रमकः—'अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) । (२) **पदकः** (पदपाठ का ज्ञाता या अध्येता—पदपाठमधीते वेद वा—पद्̥+वु=अक > पदकः) (३) **शिक्षकः** (शिक्षा-ग्रन्थ का अध्येता या ज्ञाता—शिक्षाम् अधीते वेद वा—शिक्ष्̥+वु=अक > शिक्षकः) । (४) **मीमांसकः** (मीमांसा शास्त्र का विद्यार्थी या विद्वान्—मीमासाम् अधीते वेद वा—मीमांस्̥+वु = अक > मीमांसकः) ।

विशेष—मन्त्रसंहिता के पदच्छेद को **पदपाठ** कहते हैं । यथा—अग्निम् । ईळे । पुरःऽहितम् । यज्ञस्य । देवं । इत्यादि । **पदपाठ** का अध्येता एवम् गुरु दोनों ही **'पदक'** कहलाते हैं । दो दो पदों को मिलाकर जो पाठ होता है—उसे **क्रमपाठ** कहते हैं । यथा—अग्नि ईळे । ईळे पुरःऽहितम् । पुरःऽहितं यज्ञस्य । यज्ञस्य देवम् । इत्यादि । इनका अध्येता या विद्वान् 'क्रमक' नाम से अभिहित होता था ।

(१२७२) पद—अनुब्राह्मणाद्, इनिः । **अनुवृत्ति**—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'तदधीते तद्वेद' अर्थ में 'अनुब्राह्मण' से 'इनि' प्रत्यय हो । ब्राह्मण-सदृश ग्रन्थ 'अनुब्राह्मण' है । उसे पढ़ने वाले या उसके ज्ञाता—की संज्ञा अनुब्राह्मणी । मत्वर्थीय 'इनि' से ही इष्ट-सिद्धि रही, तथापि 'अण्' के बाधनार्थ पृथक् 'इनि' का विधान है ।

विवरण—"द्वितीयान्त 'अनुब्राह्मण' प्रातिपदिक से 'अधीते या 'वेद' इन अर्थों में 'इनि' (= इन्) प्रत्यय होता है" । 'इनि' में 'इ' उच्चारणार्थ है, अतः इत्संज्ञा होगी । **उदाहरण**—**अनुब्राह्मणी** (ब्राह्मण-सदृश ग्रन्थ का अध्येता या ज्ञाता—अनुब्राह्मणम् अधीते वेद वा—अनुब्राह्मण्̥+इन् > अनुब्राह्मणिन् ('अ' का लोप) > अनुब्राह्मणी (विभक्ति-कार्य—उपधा-दीर्घ, 'स्' का 'हल्ङ्यादि'-लोप एवं 'न्' का लोप) ।

विशेष—यद्यपि 'इनि' प्रत्यय का विधान तो मत्वर्थीय-प्रकरणस्थ "अत इनिठनौ" (५-२-११२) सूत्र से भी सिद्ध रहा, तथापि 'अधीते वेद' प्रकरण में 'औत्सर्गिक अण्' की प्राप्ति रही, उसके बाधनार्थ पुनः 'इनि' विधान चरितार्थ होता है । भाष्य में इसका प्रत्याख्यान ही है ।

वसन्तादिभ्यष्ठक् ४ । २ । ६३ ॥ वासन्तिकः । अथर्वाणमधीते आथर्वणिकः । 'दाण्डिनायन—' (सू ११४५) इति सूत्रे निपातनाट्टिलोपो न । (१२७४) प्रोक्ताल्लुक् ४ । २ । ६४ ॥ प्रोक्तार्थकप्रत्ययात्परस्याध्येतृवेदितृ-प्रत्ययस्य लुक् स्यात् । पणनं पणः । 'घञर्थे कविधानम्' इति कः । सोऽस्यास्तीति पणी । तस्य गोत्रापत्यं पाणिनः ।

(१२७३) वसन्तादिभ्यष्ठक् । 'तदधीते तद् वेद' इत्येव । वासन्तिक इति । वसन्तवर्णनपरग्रन्थो वसन्तः । तमधीते वेत्ति वेत्यर्थः । अथर्वाणमिति । अथर्वणा प्रोक्तो वेदः लक्षणया अथर्वा, तमित्यर्थः । वस्तुतस्तु प्रोक्तप्रत्ययस्य 'ऋषिभ्यो लुग्वक्तव्यः' इति वचनाल्लुक् । आथर्वणिक इत्यत्र 'नस्तद्धिते' इति टिलोपमाशङ्क्याह—दाण्डिनायनेति । वान्तसंयोगपूर्वकत्वात्तु नाल्लोपः ।

(१२७४) अथ पाणिनिशब्दं व्युत्पादयितुमुपक्रमते—प्रोक्ताल्लुक् । प्रोक्तशब्देन प्रोक्तार्थप्रत्ययो विवक्षितः । अध्येतृवेदितृप्रत्ययस्येति प्रकृतत्वाल्लभ्यते । तदाह—प्रोक्तार्थकेति । पणनं पण इति । स्तुतिरित्यर्थः । ननु 'हलश्च' इति घञि उपधावृद्धिः स्यादित्यत आह—घञर्थे इति । पणीति । 'अत इनिठनौ' इति मत्वर्थे इनिः । तस्येति । पणिनो

(१२७३) पद—वसन्तादिभ्यः, ठक् । अनुवृत्ति—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १-वासन्तिकः । २-अथर्वाणम् अधीते—आथर्वणिकः । 'दाण्डिनायन०' (सू० ११४५) से निपातनवश 'टि'—लोप नहीं होता ।

विवरण—"वसन्तादि-गण-पठित शब्दों से 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में 'ठक्' (= इक) प्रत्यय होता है" । 'वसन्त' आदि शब्द 'ऋतु' वाची हैं । इन शब्दों से 'अध्येता एवं ज्ञाता' अर्थ में प्रत्यय सम्भव नहीं है, अतः विधान-सामर्थ्य से वसन्त आदि ऋतु-वाची शब्द लक्षणा के द्वारा वसन्त-आदि ऋतु-वर्णन किये जाने वाले ग्रन्थों के सूचक हैं[1] । **उदाहरण** (१)—**वासन्तिकः** (वसन्त-ऋतु-सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्येता अथवा वेत्ता—वसन्तम् अधीते वेद वा—वसन्त् + ठक् (= इक) > वासन्तिकः—'अ'लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) । (२) **आथर्वणिकः**[2] (अथर्ववेद का अध्येता या वेत्ता—अथर्वाणम् अधीते वेद वा—अथर्वन् + ठक् = इक > आथर्वणिकः—आदिवृद्धि तथा णत्व) । "दाण्डिनायन०" (सू० ११४५) सूत्र में 'आथर्वणिक' शब्द का पाठ होने से यहाँ निपातन-वश 'टि' (= अन्) का लोप नहीं होता । 'अथर्वन्' ऋषि के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ लक्षणा द्वारा 'वेद' का बोधक—'अथर्वन्' (अथर्वा) है । वस्तुतः प्रोक्तार्थक 'अण्' ("तेन प्रोक्तम्" ४-३-१०१) प्रत्यय का 'ऋषिभ्यो लुक् वक्तव्यः' वचनानुसार लोप हो जाता है ।

(१२७४) पद—वसन्तादिभ्यः, ठक् । अनुवृत्ति—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—प्रोक्तार्थक-प्रत्यय के परवर्ती अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय का 'लुक्' हो । √'पण्' धातु से 'घञ्' के अर्थ में 'क' प्रत्यय से 'पणः' (निष्पन्न होता है) । तदनन्तर 'वह है इसका' अर्थ में 'इनि' होकर 'पणी' (निष्पन्न होता है) । उसके गोत्र-अपत्य अर्थ में पाणिनः (सिद्ध होता है) ।

विवरण—'पाणिनि' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाने का उपक्रम किया जा रहा है । 'अधीते वेद' का ही विषय है । 'प्रोक्त' शब्द प्रोक्तार्थ प्रत्यय का ग्राहक है । अनुवर्तमान 'अध्येतृ-वेदितृ' प्रत्यय

---

१. "अयुक्तोऽयं निर्देशः । 'अधीते' 'वेद' इति वर्तते । न च वसन्तो नाम अध्ययनमस्ति । नैष दोषः । साहचर्यात् ताच्छब्द्यं भविष्यति । वसन्तसहचरितमध्ययनं वसन्तः" ।—महाभाष्यम् ।

२. "अथर्वन्निति वसन्तादिषु पठ्यते । अथर्वणा प्रोक्तो ग्रन्थोऽपि उपचारात् अथर्वन्नित्युच्यते । तमधीते स आथर्वणिकः ।

(१२७५) गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च ६ । ४ । १६५ ॥ एतेऽणि प्रकृत्या स्युः । इति टिलोपो न । ततो यून्यपत्ये इञ् । पाणिनिः । **(१२७६) ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि**

गोत्रापत्ये तस्यापत्यमित्यणि पाणिन इति रूपमित्यर्थः । अत्र अणः अपत्यत्वात्तस्मिन् परे 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावाभावाट्टिलोपे प्राप्ते ।

(१२७५) गाथिविदथि । 'इनण्यनपत्ये' इत्यतः अणीत्यनुवर्तते । 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतः प्रकृत्येति च तदाह—एतेऽणि प्रकृत्या स्युरिति । गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् एते इत्यर्थः । अपत्येऽप्यणि प्रकृतिभावार्थमिदम् । ततो यून्यपत्ये इति । मूलप्रकृतिः पणी । तदपेक्षया चतुर्थेऽपत्ये यूनि विवक्षिते पाणिनशब्दात् गोत्राणन्तात् अत इञि पाणिनिरिति रूपमित्यर्थः । पाणिनशब्दस्य अनन्तरापत्यप्रत्ययान्तत्वे तु ततोऽनन्तरापत्ये मूलप्रकृतिपण्यपेक्षया तृतीये गोत्रापत्ये इञ् न सम्भवति, 'एको गोत्रे' इति नियमात् । नापि मूलप्रकृत्यपेक्षया चतुर्थापत्ये यूनि पाणिनशब्दादनन्तरापत्यप्रत्ययान्तादिञ् सम्भवति, 'गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्' इति यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेवापत्यप्रत्ययनियमात् । अतः गोत्राणप्रत्ययान्तात् पाणिनशब्दाद्यूनि इञ्प्रत्यय इत्युक्तमिति बोध्यम् ।

लोपरूपी आदेश का बोधक है। तदनुसार "प्रोक्तप्रत्ययान्त ("तेन प्रोक्तम्" ४-३-१०१ अर्थ में विहित प्रत्यय) प्रातिपदिक से 'अध्येतृ-वेदितृ' अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का 'लुक्' (=लोप) होता है"। **उदाहरण—पाणिनः** ('पणिन्' का पौत्र)। इसके पूर्व की स्थिति इस प्रकार है—स्तुत्यर्थक√'पण्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के समानार्थक+'क' (=अ–'घञर्थे 'क'–विधानम्) प्रत्यय करने पर (पणनं=) 'पणः' रूप निष्पन्न होता है ('क' प्रत्यय के 'कित्' होने से उपधा-वृद्धि नहीं होती)। तत्पश्चात् 'इसका यह है' ('तदस्य अस्ति') अर्थ को अभिलक्षित कर "अत इनि-ठनौ" (५-२-११) से 'इनि' प्रत्यय→पण्+इन् करने पर 'पणिन्' रूप निष्पन्न होता है। 'पणिन्' का गोत्रापत्य—'पाणिनः' (पणिन्+अण्=अ तथा आदिवृद्धि) कहलायगा। पणिन्+अ—इस स्थिति में अपत्यार्थक 'अण्' होने से "इनण्यनपत्ये" (६-४-१६४) सूत्र से प्रकृतिभाव की प्राप्ति न होने के कारण 'टि'-लोप ('अन्' का लोप) प्राप्त रहा, उसका निवारण अग्रिम सूत्र से किया जा रहा है।

(१२७५) पद—गाथि-विदथि-केशि-गणि-पणिनः, च । **अनुवृत्ति**—इन्, अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ये भी प्रकृतिभाव-युक्त रहें। अतः 'टि' लोप नहीं होता। तत्पश्चात् ('पाणिन' से) युवापत्य (अर्थ) में 'इञ्' (प्रत्यय करने पर) 'पाणिनिः' (रूप बनता है)।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र छठे अध्याय के अन्तर्गत प्रकृति-भाव-प्रकरण में पढ़ा गया है। अतः वहाँ की अनुवृत्तियों का स्मरण करना होगा। इस हेतु सूत्र में विधेयांश 'प्रकृत्या' का लाभ "प्रकृत्यैकाच्" (६-४-१६३) से तथा उससे सम्बद्ध 'इन्' की अनुवृत्ति "इनण्यनपत्ये" (६-४-१६४) से की जाती है। शेष अनुवृत्तियाँ आधिकारिक प्रभाव के कारण अनुसरण करती हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, तथा पणिन्—प्रातिपदिकों के अङ्गों को भी 'अण्' प्रत्यय के परवर्ती होने पर 'प्रकृतिभाव' हो"। अतः यह सूत्र "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) का अपवाद है। 'पाणिन' से युवापत्य में (प्रपौत्रादि अर्थ में) "अत इञ्" (४-१-९५) से 'इञ्' प्रत्यय करने पर पाणिनि शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार मूल प्रकृति→पणिन्→गोत्रापत्य अणन्त→पाणिन→युवापत्य में 'इञ्'→पाणिनि। यदि 'पाणिन' शब्द को अनन्तरापत्य में ही माना जाय तो पुनः उससे अनन्तरापत्य अर्थात् मूल प्रकृति से तृतीय की अपेक्षा में "एको गोत्रे" नियम से 'इञ्' प्रत्यय सम्भव नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार 'मूल'

लुगणिञोः २।४।५८ ॥ ण्यप्रत्ययान्तात्क्षत्रियगोत्रप्रत्ययान्तादृष्यभिधायिनो गोत्रप्रत्ययान्तात् ञितश्च परयोर्युवाभिधायिनोरणिञोर्लुक्स्यात् । कौरव्यः पिता । कौरव्यः पुत्रः । श्वाफल्कः पिता । श्वाफल्कः पुत्रः । वासिष्ठः पिता । वासिष्ठः पुत्रः । तैकायनिः पिता । तैकायनिः पुत्रः । एभ्यः किम् ? शिवाद्यण् । कौहडः पिता । तत इञ् । कौहडिः पुत्रः । यूनि किम् ?

(१२७६) अत्र इञो लुकमाशङ्कितुमाह—**ण्यक्षत्रियार्षे** । ण्यादयः सर्वे गोत्रप्रत्यया एव गृह्यन्ते 'गोत्राद्यूनि' इत्युक्तेः । तदाह—**गोत्रप्रत्ययान्तादित्यादि** । ण्यप्रत्ययस्योदाहरति—**कौरव्य इति** । कुरोः गोत्रापत्यं कौरव्यः । कुर्वादिभ्यो ण्यः । कौरव्यस्यापत्यं युवेत्यर्थे अत इञ् । तस्यानेन लुक् । क्षत्रियप्रत्ययस्योदाहरति—**श्वाफल्क इति** । श्वफल्कस्य गोत्रापत्यं श्वाफल्कः । 'ऋष्यन्धक' इत्यण् । श्वाफल्कस्यापत्यं युवेत्यर्थे अत इञ् । तस्यानेन लुक् । आर्षप्रत्ययस्योदाहरति—**वासिष्ठ इति** । वसिष्ठस्य गोत्रापत्यं वासिष्ठः । ऋष्यण् । वासिष्ठस्यापत्यं युवेत्यर्थे इञ् । तस्यानेन लुक् । ञित उदाहरति—**तैकायनिरिति** । तिकस्य गोत्रापत्यं तैकायनिः । तिकादिभ्यः फिञ् । तैकायनेरपत्यं युवेत्यर्थे तस्यापत्यमित्यण् । तस्यानेन लुक् । **वामरथ्यस्येति** । वामरथस्य गोत्रापत्यं वामरथ्यः ।

प्रकृति से चतुर्थ युवापत्य अर्थ में 'पाणिन' शब्द से अनन्तरापत्यार्थ 'अण्' प्रत्ययान्त से 'इञ्' की सम्भावना भी नहीं हो सकेगी, क्योंकि युवापत्यार्थ प्रत्यय का विधान गोत्र-प्रत्ययान्त से ही होता है ("गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्" ४-१-९४)। अतः पाणिनि शब्द में गोत्राण् प्रत्ययान्त 'पाणिन' से युवार्थ 'इञ्' प्रत्यय होकर 'पाणिनि' रूप निष्पन्न होता है।

(१२७६) पद—ण्यक्षत्रियार्षञितः, यूनि, लुक्, अणिञोः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'ण्य'-प्रत्ययान्त, 'क्षत्रियवाची गोत्र-प्रत्ययान्त', 'ऋषिवाची गोत्रप्रत्ययान्त' तथा 'ञ्' इत्संज्ञक प्रत्यय से परे युवापत्य-अर्थ में विहित 'अण्' और 'इञ्' का 'लुक्' होता है"। उदा० १–कौरव्यः पिता । कौरव्यः पुत्रः । २–श्वाफल्कः पिता । श्वाफल्कः पुत्रः । ३–वासिष्ठः पिता । वासिष्ठः पुत्रः । ४-तैकायनिः पिता । तैकायनिः पुत्रः । इन 'शब्दों' से ही क्यों कहा ? शिवादि में होने से कौहडः पिता । तत्पश्चात् 'इञ्'–कौहडिः पुत्रः ('लुक्' नहीं हुआ) । 'यूनि' क्यों कहा ? वामरथ्यस्य छात्राः—वामरथाः—में प्रतिपदोक्त 'ऋषि' विहित 'अण्' का ग्रहण होने से 'अण्' का लोप नहीं होता । पाणिनिना प्रोक्तम्—'पाणिनीयम्' में "वृद्धाच्छः" से 'छ' प्रत्यय हुआ है। यहाँ पर "इञश्च" से विहित 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि गोत्रार्थक में ही इञन्त प्रातिपदिक से 'अण्' होता है। तदनन्तर अध्येतृ-वेदितृ अर्थ में विहित प्रत्यय का लुक् । 'लुगन्त' के स्वर में तथा स्त्री-लिङ्ग में 'टाप्'–यह विशेषता है। (तदनुसार) पाणिनीयः तथा पाणिनीया (उदाहरण हैं)।

विवरण—प्रासङ्गिक 'लुक्' प्रकरण का सूत्र यहाँ उद्धृत किया जारहा है। क्रमानुसार यह सूत्र द्वितीयाध्याय में पढ़ा गया है। अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है। अतः सूत्र का अर्थ यह होगा कि "ण्यप्रत्यान्त, गोत्र-प्रत्ययान्त, क्षत्रियवाचि गोत्रप्रत्ययान्त, ऋषिवाचि गोत्रप्रत्ययान्त तथा 'ञ्' इत्संज्ञक गोत्रप्रत्ययान्त शब्दों से (ण्यश्च, क्षत्रियश्च, आर्षश्च, ञिच्च—ण्यक्षत्रियार्षञित्, तस्मात्) युवापत्य में विहित 'अण्' और 'इञ्' प्रत्यय का 'लुक्' होता है"। **उदाहरण**—'ण्य' प्रत्ययान्त का—(क) **कौरव्यः** (कुरु का पौत्र आदि–कुरोः गोत्रापत्यम्)। पूर्व **प्रक्रिया**—कुरु+य (ण्य–"कुर्वादिभ्यो ण्यः" ४-१-१५१)▷कुरो+य▷("ओर्गुणः" ६-४-१४६)>कौरो+य (आदिवृद्धि) ▷ कौरव्यः (अवादेश तथा विभक्ति-कार्य)। 'युवापत्य' का यह पिता है। (ख) **कौरव्यः** (पुत्रः)। कौरव्य का युवापत्य–कौरव्यस्य अपत्यं युवा–इस विवक्षा में—कौरव्य+इञ् (अत इञ्" ४-१-९५) > कौरव्यः←'ण्य' प्रत्ययान्त से पर 'इञ्' का लोप हो गया)। वस्तुतः इस सूत्र का कौरव्यः पुत्रः ही उदाहरण है। दोनों प्रयोगों में रूप-साम्य है–अर्थ-भेद को दिखलाने के लिये दोनों

वामरथ्यस्य च्छात्राः वामरथाः। इत्यणो लुक्‌ न भवति। आर्षग्रहणेन प्रतिपदोक्तस्य ऋष्यण एव ग्रहणात्। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। 'वृद्धाच्छः' (सू १३३७)। 'इञश्च' (सू १३३३) इत्यण् तु न। गोत्रे य इञ् तदन्तादिति वक्ष्यमाणत्वात्।

कुर्वादिभ्यो ण्यः। वामरथ्यस्य छात्रा इत्यर्थे 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' इति छापवादः अण्, तस्यानेन लुङ् न भवति, तस्य युवार्थकत्वाभावादिति भावः। इत्यणो लुक्तु न भवतीति। 'ण्यक्षत्रिय' इति सूत्रेण पाणिनिरित्यत्र (अणः परस्य) इञो लुङ् न भवतीत्यर्थः। कुत इत्यत आह—आर्षग्रहणेनेति। पाणिनिशब्दे पणिन्शब्दादण्प्रत्ययस्य औत्सर्गिकस्य वस्तुगत्या ऋषिवाचित्वेऽपि ऋषौ प्रतिपदोक्तत्वाभावान्न तस्य परस्य इञो लुगिति भावः। न च पणिन्शब्दाद् गोत्रापत्ये 'ऋष्यन्धक' इत्यणेव कुतो न स्यादिति वाच्यम्, यत्र औत्सर्गिकस्य अणः इञादिना बाधः प्रसक्तः, तत्रैव तद्बाधनार्थम् ऋष्यणः प्रवृत्तेः। वस्तुतस्तु 'वान्यस्मिन्सपिण्डे' इति सूत्रभाष्ये अत्रिशब्दात् 'इतश्चानिञः' इति ढकि आत्रेयशब्दादिञो 'ण्यक्षत्रियार्ष' इति लुगित्युक्तत्वादिदमुपेक्ष्यम्। 'ण्यक्षत्रिय' इत्यत्र तु ऋषिवाचकस्य रूढस्यैव ग्रहणम्। पणिन्शब्दः, तदपत्ये पाणिनशब्दश्च न ऋषिवाचकौ। अतः औत्सर्गिकाणन्त एव पाणिनशब्द इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्। पाणिनिनेति। पाणिनिना प्रोक्तमित्यर्थे 'तेन प्रोक्तम्' इत्यणं बाधित्वा 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्यये ईयादेशे पाणिनीयशब्द इत्यर्थः। ननु पाणिनिशब्दात्तद्धिते विवक्षिते 'यूनि लुक्' इति इञो लुकि सत्यपि प्रत्ययलक्षणेन इञन्तत्वमाश्रित्य छापवादः अण् स्यादित्यत आह—इञश्चेत्यण् तु नेति।

प्रयोगों में 'पिता' तथा 'पुत्रः' शब्दों का प्रयोग किया गया है। (२) क्षत्रियवाची का उदाहरण—(क) श्वाफल्कः पिता (श्वफल्क का गोत्रापत्य—श्वफल्कस्य गोत्रापत्यम्—श्वफल्क+अण्—"ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" ४-१-११४)। (ख) श्वाफल्कः पुत्रः (श्वाफल्क का युवापत्य—श्वाफल्कस्य अपत्यं युवा—श्वाफल्क+इञ् का लोप)। (३) वासिष्ठः पिता (वसिष्ठ का पौत्र वसिष्ठस्य गोत्रापत्यम्—वसिष्ठ+अण्—ऋष्यण्)। (ख) वासिष्ठः पुत्रः (युवापत्य की विवक्षा में वासिष्ठस्य युवापत्यम्—वासिष्ठ+इञ्—का लोप)। (४) 'ञित्' का उदाहरण—(क) तैकायनिः पिता→तिक+फिञ् = आयनि ("तिकादिभ्यः फिञ्" ४-१-१५४)। (ख) युवापत्य में तैकायनिः पुत्रः—तैकायनेः अपत्यं युवा—तैकायनिः+अण्—"तस्यापत्यम्" ४-१-९२ का—लुक्)।

प्रत्युदाहरण—(५) 'ण्य-क्षत्रियार्ष-ञितः' पद का निवेश होने से 'कुहड' के गोत्रापत्य अर्थ में "शिवादिभ्योऽण्" से 'अण्' प्रत्यय करने पर 'कौहडः' (पिता) तदनन्तर युवापत्य में होनेवाले 'इञ्' प्रत्यय का लोप न होकर 'कौहडिः' पुत्रः प्रयोग समीचीन होगा, क्योंकि 'कुहड' शब्द सूत्रोक्त चारों प्रकार के निर्दिष्ट शब्दों में परिगणित नहीं है। (२) सूत्र में 'यूनि' पद का निवेश होने से 'वामरथ्य' के छात्र' अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से विहित 'अण्' प्रत्यय का लोप नहीं होता, क्योंकि यह 'अण्' प्रत्यय युवार्थक अपत्य को सूचित नहीं करता है।

अब प्रकृत सन्दर्भ में (पाणिन+इञ्) यह बतलाया जा रहा है कि 'पाणिनिः' में 'अण्' से परवर्ती 'इञ्' का लोप इस कारण नहीं होता कि 'पणिन्' शब्द से विहित 'अण्' ("तस्यापत्यम्") प्रत्यय प्रतिपदोक्त ऋषि-वाची शब्द से विहित नहीं है। पुनरपि यह कहा जा सकता है कि 'पणिन्' शब्द से ही "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" (४-१-११४) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय क्यों न किया जाय? तब तो 'अण्' प्रत्ययान्त 'पाणिन' शब्द से 'इञ्' प्रत्यय का लोप प्रकृत सूत्र से प्राप्त होगा। इसका समाधान यह दिया जाता है कि जहाँ औत्सर्गिक (सर्वसामान्य) 'अण' का 'इञ्' आदि अन्य प्रत्ययों से बाध होने की सम्भावना रहती है, वहीं "ऋष्यन्धक०" (४-१-११४) सूत्र की प्रवृत्ति

ततोऽध्येतृवेदित्रणो लुक् । स्वरे स्त्रियां च विशेषः । पाणिनीयः । पाणिनीया । (१२७७) सूत्राच्च कोपधात् ४ । २ । ६५ ॥ सूत्रवाचिनः ककारोपधादध्येतृवेदितृप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । अप्रोक्तार्थं आरम्भः । अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य अष्टकं पाणिनेः सूत्रम् ।

पाणिनिशब्दे इञ् युवापत्यार्थक एव, न तु गोत्रार्थकः, युवसञ्ज्ञाया गोत्रसंज्ञाया बाधादिति पारिभाषिकमेव गोत्रं गृह्यते इति उपरिष्टात् 'इञश्च' इति सूत्रे वक्ष्यते । तत इति । पाणिनीयशब्दादित्यर्थः । पाणिनीयमधीते वेत्ति वेत्यर्थे पाणिनीयशब्दादणि 'प्रोक्ताल्लुक्' इति तस्य लुगिति भावः । ननु असत्यपि अध्येतृवेदितृप्रत्ययस्याणो लुकि पाणिनीयशब्दः सिध्यत्येवेत्यत आह—स्वरे स्त्रियां च विशेष इति । अध्येतृवेदितृप्रत्ययस्याणो लुगभावे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वं स्त्रियां च ङीप् स्यात् । लुकि तु सति छादेशस्य ईयादेशस्य ईकारः प्रत्ययस्वरेणोदात्तः टाप् च सिध्यति । तदाह—पाणिनीयः पाणिनीयेति ।

(१२७७) सूत्राच्च कोपधात् । ककारोपधादित्यनन्तरं परस्येति शेषः । ननु 'प्रोक्ताल्लुक्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अप्रोक्तार्थं आरम्भ इति । अप्रोक्तार्थादपि प्रत्ययात्परस्य लुगर्थमित्यर्थः । अष्टकमिति । तदस्य परिमाणमित्यधिकारे 'सङ्ख्यायाः सञ्ज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' इति 'सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन्' इति च सूत्ररूपेऽर्थे कन् । अष्टका इति । अष्टकशब्दादध्येतृ-वेदितृ-प्रत्ययस्य अनेन लुक्, कोपधात्सूत्र-

---

होती है । वस्तुतः "ऋष्यन्धक"० ४-१-११४ सूत्र में 'ऋषि' शब्द प्रसिद्ध ऋषियों के सम्बन्ध में ही 'रूढ' है । अतः उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि 'पणिन्' तथा उनके पुत्र 'पाणिन' ये दोनों रूढ ऋषि-वाचक नहीं हैं[1] । पुनः यह शंका की जा रही है कि प्रोक्त अर्थ में 'पाणिनि' शब्द से "वृद्धाच्छः" ४-२-११४ से 'छ' प्रत्यय (= ईय) न कर "इञश्च" (४-२-११२) से 'अण्' प्रत्यय किया जाय तब तो 'अण्' प्रत्यय के लोप की सम्भावना प्रबल हो सकेगी ? इसका सरल समाधान यह है कि वहाँ पर 'गोत्र प्रत्ययान्त इञ्' से ही 'अण्' का विधान अभिलक्षित किया गया है, 'पाणिनि' में 'इञ्' प्रत्यय युवापत्य-अर्थ में है । पुनः 'पाणिनीयम्' प्रयोग में यह बतलाया जा रहा है कि प्रोक्तार्थ में निष्पन्न 'पाणिनीय' शब्द से "तदधीते तद्वेद" से 'अध्येतृ-वेदितृ' अर्थ में पुनः होने वाले 'अण्' प्रत्यय का "प्रोक्ताल्लुक्" (४-२-६४) सूत्र से लोप होने पर 'पाणिनीयः' ही रूप होगा, तथापि स्वर और स्त्रीलिङ्ग प्रयोग में भिन्नता होने से दोनों का भेद स्पष्ट है । 'अध्येतृ-वेदितृ' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के न होने पर प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त (पाणिनीयः) होगा । तथा स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीप्' होने पर 'पाणिनीयी' रूप निष्पन्न होगा । 'अण्' के लोप होने की स्थिति में 'छ' के स्थान पर हुए 'ईय्' आदेशावयव 'ई' को प्रत्यय स्वर से 'उदात्त' होगा । अवशिष्ट 'या' अनुदात्त हो जायगा (पाणिनीया) तथा वहाँ स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में अणन्त न होने से 'टाप्' होकर 'पाणिनीया' रूप निष्पन्न होता है ।

(१२७७) पद—सूत्रात्, च, कोपधात् । अनुवृत्ति—लुक्, तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—सूत्रवाची ककारोपध से 'अध्येतृ-वेदितृ' प्रत्यय का 'लुक्' होता है । 'प्रोक्तार्थ' से भिन्न-विषय में इसका उपयोग है । अष्टौ अध्यायाः परिमाणम् अस्य—अर्थ में—'अष्टकम्' (ग्रन्थ-बोधक = अष्टाध्यायी) में 'क' प्रत्यय हुआ है । तदनन्तर अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय का लुक् होने पर—'अष्टकाः' (बहुवचन में) होगा ।

---

१. "'पणिन्' शब्दो यौगिको न तु रूढः, लुग्विधौ ऋषिवाचकस्य रूढस्यैव ग्रहणमिति"
—लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः ।

तदधीयते विदन्ति वा अष्टकाः। 'सङ्ख्याप्रकृतिकादिति वाच्यम्'। नेह—माहावार्तिकः। कालापकः। (१२७८) छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४।२।६६॥ छन्दांसि ब्राह्मणानि च प्रोक्तप्रत्ययान्तानि तद्विषयाणि स्युः। अध्येतृवेदितृप्रत्ययं विना न प्रयोज्यानीत्यर्थः। कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः। वैशम्पायनान्तेवासित्वाण्णिनिः। तस्य 'कठचरकात्–' (सू १४८७) इति लुक्। ततोऽण्। तस्य 'प्रोक्ताल्लुक्' (सू १२७४)।



वाचिनः परत्वादिति भावः। सङ्ख्याप्रकृतिकादिति। 'सूत्राच्च कोपधात्' इति लुक् सङ्ख्याप्रकृतिकप्रत्ययान्तादेव परस्य भवतीत्यर्थः। माहावार्तिक इति। महावार्तिकं नाम सूत्रम्। तदधीते वेत्ति वा माहावार्तिकः। अत्र अणो न लुक्।

(१२७८) छन्दोब्राह्मणानि। छन्दांसि मन्त्राः, ब्राह्मणानि विधिवाक्यानि। तेषां द्वन्द्वः। वेद इति यावत्, मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति स्मरणात्। 'प्रोक्ताल्लुक्' इत्यतः प्रोक्तादित्यनुवर्तते। प्रथमाबहुवचनेन विपरिणम्यते। प्रोक्तप्रत्ययान्तानीति लभ्यते।

विवरण—'लुक्' का ही विषय है। अतः विधेयांश 'लुक्' का लाभ पूर्वसूत्र से (सू० १२७६) 'लुक्' पद की अनुवृत्ति द्वारा होता है। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'क'कार उपधावाले 'सूत्र' वाची प्रातिपदिकों से परवर्ती 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में विहित प्रत्यय का लोप होता है"। 'प्रोक्तार्थ' के अतिरिक्त सूत्रोक्त परिस्थिति में अन्य प्रत्ययों का लोप भी होगा, अन्यथा प्रोक्तार्थ में तो पूर्व सूत्र से ही लोप सिद्ध रहा। **उदाहरण**—अष्टकाः (अष्टाध्यायी ग्रन्थ के अध्येता अथवा ज्ञाता—अष्टकम् अधीयते विदन्ति वा–अष्टक+अण् > अष्टक+जस् > अष्टकाः। 'अष्टक' शब्द की सिद्धि→विग्रहार्थ—अष्टौ अध्यायाः परिमाणम् अस्य—अष्टन्+क ("तदस्य परिमाणम्" ५-१-५७ अधिकार में "संख्यायाः संज्ञा-संघ-सूत्राध्ययनेषु" ५-१-५८ के अनुसार "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" ५-१-२२ से 'कन्' प्रत्यय) > अष्टकम् ('न्' लोप तथा विभक्ति-कार्य)। इस प्रकार 'अष्टक' शब्द सूत्र-ग्रन्थ का वाचक है।

वार्तिक-कार—ने प्रकृत लोप-विधान को केवल संख्याप्रकृतिक 'सूत्र'वाची शब्दों तक ही सीमित कर दिया है। तदनुसार "ककारोपधक सूत्रवाची शब्द वे ही लिये जायेंगे जो संख्या-प्रकृतिक हों तथा उन से ही अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय का विधान किया गया हो"। इसके फलस्वरूप **महावार्तिकः** (महावार्तिकम् अधीते वेद वा—महावार्तिक+अण्) तथा **कालापकः** (कलापिन्+अण्←प्रोक्तार्थे, "नान्तस्य 'टि'लोपे सब्रह्मचारि०" वा० ६-४-१६४ के आधार पर प्रकृतिभाव का निषेध होने से 'टि' लोप, आदि-वृद्धि तथा प्रथमा विभक्ति-बहुवचन कालापाः, ततः तदधीते-'अण्'—उसका प्रोक्ताल्लुक्, तत्पश्चात् 'कालापानामाम्नायः' अर्थ में "गोत्रचरणाद् वुञ्" ४-३-१२६ से वुञ् (= अक) कालापकः, पुनः अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय 'अण्' होने पर 'अण्' का लुक् नहीं हुआ)। यदि 'लुक्' होता तो ञित्-स्वर से आद्युदात्त हो जाता। 'लुक्' न होने से 'अण्' को मानकर ही स्वर होगा तथा स्त्री-लिङ्ग में 'ङीप्' होगा।

(१२७८) **पद**—छन्दोब्राह्मणानि, च, तद्विषयाणि। **अनुवृत्ति**—प्रोक्तात्, तदधीते तद्वेद, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्दोवाचक एवं ब्राह्मणवाचक शब्द तद्विषयक (अध्येतृ-वेदितृ-विषयक) होते हैं। अर्थात् अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय के बिना इनका प्रयोग नहीं होता है। उदा०

यदाह—छन्दांसीत्यादिना। तद्विषयाणीत्यत्र तच्छब्देन अध्येतृवेदितृप्रत्यया विवक्षिताः। तेविषयः अविनाभावः येषां तानि तद्विषयाणि। 'षिञ् बन्धने' विशिष्य सयो बन्धः विषयः, अविनाभाव इति यावत्। अध्येतृवेदितृप्रत्ययसंयुक्तान्येव स्युरित्यर्थः। फलितमाह—अध्येतृवेदितृप्रत्ययं विना न प्रयोज्यानीत्यर्थ इति। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं व्याकरणम्। पाणिनीयास्तदध्येतारो वेदितारो वेतिवत् अध्येतृप्रत्ययं विनापि प्रयोगे प्राप्ते नियमार्थमिदम्। कठेनेति। कठेन प्रोक्तमधीयते इत्यर्थे कठा इत्युदाहरणमिति भावः। तदुपपादयति—वैशम्पायनेति। कठेन प्रोक्तमित्यर्थे तेन प्रोक्तमित्यणपवादः 'वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च' इति णिनिरित्यर्थः। तस्येति। णिनेः 'कठचरकाल्लुक्' इत्यनेन लुगित्यर्थः। एवञ्च कठेन प्रोक्तो वेदभागः कठ इति स्थितम्। ततोऽणिति। तस्मात् लुप्तप्रोक्तप्रत्ययकात् कठशब्दात् तदधीते इति अणित्यर्थः। तस्य प्रोक्ताल्लुगिति। तस्याध्येत्रणः 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुगित्यर्थः। तथा च कठेन प्रोक्तमधीयते कठा इत्येवं कठशब्दस्य लुप्तप्रोक्तप्रत्ययान्तस्य अध्येत्रणा सहैव प्रयोगार्हता, न तु तेन विना केवलप्रोक्तप्रत्ययान्तस्येति भावः।

इति रक्ताद्यर्थक-प्रकरणम्।

कठेन प्रोक्तम् अधीयते—कठाः। वैशम्पायन के अन्तेवासी होने से—'णिनि' प्रत्यय (हुआ), उसका 'कठचरकाल्लुक' सूत्र (१४८७) से लोप। तदनन्तर अण् तथा उसका भी 'प्रोक्ताल्लुक्' (१२७४)।

विवरण—अनुवर्तमान 'प्रोक्तात्' पद प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में विपरिणमित होता है। सूत्रस्थ 'छन्दस्' शब्द मन्त्रार्थक है। ब्राह्मण-शब्द विधि-वाक्य-ग्रन्थ-परक है (छन्दांसि च ब्राह्मणानि च)। 'तत्' पद से प्रकरण निर्देशक अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय विवक्षित हैं। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "प्रोक्तप्रत्ययान्त 'छन्द' और 'ब्राह्मण-वाची' शब्द अध्येतृ-वेदितृ-विषयक होते हैं"। अर्थात् अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय के बिना 'छन्द' और 'ब्राह्मण' का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। **उदाहरण—कठाः** (कठ से कहे गए मन्त्रों के अध्येता या ज्ञाता)। 'कठेन प्रोक्तम्' इस अर्थ में सामान्यतः "तेन प्रोक्तम्" (४-३-१०१) से प्राप्त 'अण्' के अपवादस्वरूप "कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च" (४-३-१०४) से विहित इन् (णिनि) का "कठचरकाल्लुक्" (४-३-१०७) से लोपहोने के (कठ+णिनि) पश्चात् 'कठेन प्रोक्तमधीते तद्वेद' अर्थ में पुनः 'अण्' करने पर उसका भी लोप (कठ+अण्) होकर प्रथमा बहुवचन में 'कठाः' रूप निष्पन्न होता है। (२) **ब्राह्मणात्मक ग्रन्थ के उदाहरण—ताण्डिनः** आदि काशिका में देखें (**प्रक्रिया**—गर्गादि 'यञ्' प्रत्ययान्त 'ताण्ड्य' शब्द से प्रोक्तार्थ में णिनि प्रत्यय (ताण्ड्य्+इन्) के अनन्तर 'अ' तथा 'य्' का लोप होकर 'ताण्डिन्' शब्द से 'अध्येतृ-वेदितृ' अर्थ में विहित 'अण्' प्रत्यय का लुक् (ताण्डिन्+अण्) होने पर प्रथमा बहुवचन में रूप निष्पन्न होता है।

विशेष—प्रकृत सूत्र के उपर्युक्त अर्थ से यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य प्रोक्त-प्रत्ययान्त शब्दों का केवल प्रोक्त अर्थ में भी प्रयोग होता है—जैसे पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। जिन प्रोक्त प्रत्ययान्तों का स्वतन्त्र प्रयोग होता है, उनका प्रयोग विग्रह-वाक्य के रूप में होता है—'पाणिनीयम् अधीते'। इसी प्रकार 'छन्द' और 'ब्राह्मण'-प्रोक्त-प्रत्ययान्त शब्दों का स्वतन्त्र प्रयोग न हो किन्तु 'अध्येतृ-वेदितृ' प्रत्यय-विषयक का ही हो। इस प्रकार यह नियमन किया गया है।

रक्ताद्यर्थक प्रकरण समाप्त।

अथ चातुरर्थिकाः

(१२७९) तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४ । २ । ६७ ॥ उदुम्बराः सन्त्यस्मि-

---

(१२७९) अथ चातुरर्थिकान् प्रत्ययान् वक्तुमुपक्रमते—तदस्मिन्नस्तीति । तदस्मिन्नस्तीत्यर्थे प्रथमोच्चारितात्प्रथमान्तादणादयः स्युः । प्रत्ययान्तेन प्रकृतिनामके देशे गम्ये इत्यर्थः । प्रसिद्धदेशग्रहणार्थम् इति शब्दः । मतुपोऽपवादः ।

उपक्रम—'तद्धित' के अन्तर्गत 'चातुरर्थिक' प्रकरण आरम्भ होता है। विषय-विभाजकों ने प्रकरणों के नाम प्रायः अन्वर्थक ही सोचे हैं। "अदूरभवश्च" (४-२-७०) सूत्र में स्वयं भाष्यकार ने इस 'प्रकरण' के नाम की सार्थकता का प्रसङ्गवश विवेचन किया है। वहाँ "अदूरभवश्च" (४-२-७०) के पहले तीन अर्थों का निरूपण किया जा चुका है। चौथा अर्थ है—'अदूरभवः'। उस सूत्र में 'च' के निवेश द्वारा पूर्वोक्त 'तीनों' अर्थों—'देश' 'निर्वृत्त' तथा 'निवास'—का अनुकर्षण कर प्रकृत प्रकरण की 'चातुरर्थिक' संज्ञा प्रमाणित की है। अर्थात् इन चारों सूत्रों द्वारा प्रतिपादित अर्थों में आगे आने वाले प्रत्ययों का विधान किया जायगा। इन चारों अर्थों की समष्टि को ही चातुरर्थिक संज्ञा दी गई है। नागेश के अनुसार भाष्यकार ने आगे के सूत्रों में एक साथ चारों अर्थों की उपस्थिति के सम्बन्ध में 'एक डण्डे से सबको हाँकना' लोकोक्ति को चरितार्थ कर दिखलाया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार चरवाहा एक डण्डे से हाँक कर सब पशुओं को गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देता है, उसी प्रकार यहाँ भी अनेक अर्थों का योग सम्भव है[1]। 'चातुरर्थिक' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ भी इसी प्रकार है—**चतुर्णाम् सूत्राणामर्थाः चतुरर्थाः, तत्र भवः—चातुरर्थिकः**—चतुरर्थ+ठञ्। अन्य विद्वानों ने दूसरा प्रकार अपनाया है—**चतुर्णामर्थानां समाहारः चतुरर्थी। तत्र भवाः—चातुरर्थिकाः** (अध्यात्मादि गण में पाठ की कल्पना से 'ठञ्' प्रत्यय)। 'चतुर्षु अर्थेषु भवाः'—इस प्रकार विग्रह करने पर 'तद्धितार्थ' में 'द्विगु' समास की सम्भावना करने पर "द्विगोर्लुगनपत्ये" (४-१-८८) से 'ठञ्' का लोप होने से **चातुरर्थिकः** रूप निष्पन्न नहीं हो सकेगा।

(१२७६) पद—तत्, अस्मिन्, अस्ति, इति, देशे, तन्नाम्नि। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० उदुम्बराः सन्ति अस्मिन् देशे—औदुम्बरः।

विवरण—चातुरर्थिक प्रकरण का प्रथम अर्थ बतलाया जा रहा है। सूत्रस्थ प्रथम 'तत्' पद केवल 'प्रथमा' विभक्ति का बोधक है। 'अस्मिन्' पद सप्तम्यर्थ-वाचक है। दूसरे 'तत्' पद का अभिप्राय 'प्रत्ययान्त' से है। तथा उसका 'नाम' शब्द के साथ समास होने पर (तत् प्रत्ययान्तं नाम यस्य सः-तन्नाम तस्मिन्) 'देश' शब्द से अन्वित होकर वह विशेषण का कार्य करता है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'अस्ति' समान-अधिकरण वाले प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में (अस्मिन्) यथा विहित प्रत्यय (अणादि) होते हैं, यदि सप्तम्यर्थ से निर्दिष्ट उस नाम वाला देश हो"। सूत्र में 'इति' करण विवक्षार्थ है। अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय समुदाय से देश का बोध होना चाहिये। **उदाहरण—औदुम्बरः देशः** (गूलर वृक्षोंवाला देश)। **विग्रह**—उदुम्बराः

---

१. भाष्ये "अदूरभवश्च" (४-२-७०) इति सूत्रानन्तरं किम्पुनरयम् 'एकयोगः' आहोस्वित् 'नानायोगाः' इति वितर्क्य 'नानायोगाः' इति पक्षे "ओरञित्येवमाद्यनुक्रमणं यदेव सर्वान्त्यमर्थादेशनन्तस्यैव विषये स्यात्" इति शङ्कायामुक्तं—"नैष दोषः। गोयूथवदधिकाराः। तद्यथा गोयूथमेकदण्डप्रघट्टितं समं घोषं गच्छति तद्वदधिकाराः" इत्युक्तम्। एतेन सर्वेषामुत्तरत्र सम्बन्धाय चकारस्य पूर्वोक्तार्थत्रयसमुच्चायकत्वं स्पष्टमेव लभ्यते।

न्देशे औदुम्बरः। (१२८०) तेन निर्वृत्तम् ४।२।६८॥ कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी। (१२८१) तस्य निवासः ४।२।६९॥ शिबीनां निवासो देशः शैबः। (१२८२) अदूरभवश्च ४।२।७०॥ विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम्। चकारेण प्रागुक्तास्त्रयोऽर्थाः सन्निधाप्यन्ते, तेन वक्ष्यमाणप्रत्ययानां चातुरर्थिकत्वं सिध्यति।

(१२८०) तेन निर्वृत्तम्। देशे तन्नाम्नीत्यनुवर्तते। तेन निर्वृत्तमित्यर्थे तृतीयान्तादणादयः स्युः तन्नाम्नि देशे इत्यर्थः।

(१२८१) तस्य निवासः। तन्नाम्नि देशे इत्येव। तस्य निवासः इत्यर्थे षष्ठ्यन्तादणादयः स्युः तन्नाम्निदेशे इत्यर्थः। स्वत्ववान् विषयः। निवासस्तु वसतिमात्रं स्वत्वास्वत्वसाधारणमित्याहुः।

(१२८२) अदूरभवश्च। तस्येति तन्नाम्नि देशे इति चानुवर्तते। तस्य अदूरभव इत्यर्थे षष्ठ्यन्तादणादयः स्युः तन्नाम्नि देशे इत्यर्थः। नन्वत्र चकारः किमर्थं इत्यत आह—चकारेणेति। अदूरभवः इति विध्यनन्तरं प्रागुक्तास्त्रयोऽर्थाः पुनरुपस्थाप्यन्ते

अस्मिन् देशे सन्ति। प्रक्रिया—उदुम्बर+जुस्, अ (अण्—"प्राग्दीव्यतोऽण्" ४-१-८३) > उदुम्बर+अ ('सुप्' का लोप) > औदुम्बर्+अ (आदि वृद्धि) > औदुम्बरः ('अ' लोप तथा प्रथमा एकवचन पुंलिङ्ग में विभक्ति-कार्य)। स्थानीय वस्तु के नाम से उस स्थान की प्रसिद्धि होना सूचित किया गया है।

(१२८०) पद—तेन, निर्वृत्तम्। अनुवृत्ति—देशे तन्नाम्नि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० कुशाम्बेन निर्वृत्ता—कौशाम्बी नगरी।

विवरण—दूसरे अर्थ का निर्देश दिया जा रहा है। पूर्व सूत्र (१२७९) से 'देशे तन्नाम्नि' की अनुवृत्ति आती है तथा "प्राग्दीव्यतोऽण्" (४-१-८३) से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है। सूत्र का शब्दार्थ यह है—"तृतीया-समर्थ प्रातिपदिकों से 'बसाया गया' (निर्वृत्तम्) अर्थ में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं, यदि उस शब्द से देश का नाम गम्यमान हो"। उदाहरण—कौशाम्बी-नगरी (कुशाम्ब नामक राजा के द्वारा बसायी गई नगरी) कुशाम्बेन निर्वृत्ता-कुशाम्ब्+अण् > कौशाम्ब (आदि वृद्धि तथा 'अ' लोप) > कौशाम्बी (ङीप्, 'अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

(१२८१) पद—तस्य, निवासः। अनुवृत्ति—देशे तन्नाम्नि, निर्वृत्तम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० शिबीनां निवासः देशः—शैबः।

विवरण—निर्देशानुसार पूर्व सूत्र (४-२-६९) से 'देशे तन्नाम्नि' की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "षष्ठी समर्थ (तस्य) प्रातिपदिकों से 'निवास' (स्वत्व वेक) अर्थ में देश का नाम गम्यमान होने पर यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं"। उदाहरण—शैबः देशः। विग्रह—शिबीनां निवासः देशः। शिबि+अ (अण्) > शैबः ('इ' लोप, आदि वृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)।

(१२८२) पद—अदूरभवः, च। अनुवृत्ति—तस्य, देशे तन्नाम्नि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० विदिशायाः अदूरभवं नगरम्—वैदिशम्। 'च' से पूर्वोक्त तीनों अर्थ उपस्थापित किये जाते हैं, जिससे आगे कहे जाने वाले प्रत्यय चातुरर्थिक कहे जायेंगे।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिक (तस्य) से 'निकट होना' (अदूरभवः—न दूरम्-अदूरम्, तत्र भवः) अर्थ में यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं"। उदाहरण—वैदिशम्

(१२८३) ओरञ् ४ । २ । ७१ ॥ अणोऽपवादः । कक्षतु—काक्षतवम् । नद्यास्तु परत्वान्मतुप् । इक्षुमती । **(१२८४) मतोश्च बह्वजङ्गात् ४ । २ । ७२ ॥** बह्वच् अङ्गं यस्य मतुपस्तदन्तादञ् । नाण् । सैध्रकावतम् । बह्वच् इति किम् ? आहिमतम् । अङ्ग-

---

इत्यर्थः । किमर्थमित्यत आह—तेनेति । अन्यथा सन्निहितत्वात् अदूरभव इत्येव उत्तरविधिष्वनुवर्तेतेति भावः । चातुरर्थिकत्वमिति । चतुर्थ्यां भव इत्यर्थे द्विगोरध्यात्मादित्वाट्ठक् । तद्धितार्थद्विगौ तु 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक् स्यात् । केचित्तु चतुर्णां सूत्राणामर्थाश्चतुरर्थाः, तत्र भवाश्चातुरर्थिका इत्याहुः ।

(१२८३) ओरञ् । 'तदस्मिन्नस्ति' इत्यादिषु चतुर्ष्वर्थेषु प्रथमोच्चारितात्तत्द्विभक्त्यन्तादञ् स्यात्, अणोऽपवादः । अनधिकारः 'सुवास्त्वादिभ्योऽण्' इति यावत् । काक्षतवमिति । कक्षतुरस्मिन्नस्तीत्यादि विग्रहः ।

(१२८४) मतोश्च । सैध्रकावतमिति । सिध्रकावानस्मिन्नस्तीत्यादयश्चत्वारोऽर्थाः

(विदिशा नदी के समीप नगर) । **विग्रह**—विदिशायाः अदूरभवं नगरम् । विदिशा+अ (अण्) ▷ वैदिशम् (आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—प्रकृत-सूत्रस्थ 'च' पद से पूर्वोक्त तीन सूत्रों में प्रतिपादित अर्थों—'देशे तन्नाम्नि', 'तेन निर्वृत्तम्', 'तस्य निवासः'—के सहित 'अदूरभव' अर्थ भी आगे के सूत्रों में उपस्थित होता रहेगा । अन्यथा केवल 'अदूरभवः' एक ही अनुवृत्ति आगे के सूत्रों में जाती । इस प्रकार इन चारों सूत्रों का "शेषे" (४-२-९२) सूत्र तक आधिकारिक प्रभाव विद्यमान रहेगा । इसके साथ ही प्राकरणिक उल्लिखित अनुवृत्तियाँ भी वहाँ यथापूर्व अनुसरण करती रहेंगी । इसका ध्यान रखें ।

(१२८३) **पद**—ओः, अञ् । **अनुवृत्ति**—देशे तन्नाम्नि, तेन निर्वृत्तम्, तस्य निवासः, अदूरभवः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अण्' का अपवाद है । उदा० कक्षतु से—काक्षतवम् । नदी वाच्य होने पर होने के कारण 'मतुप्'—इक्षुमती (ङीप्) ।

विवरण—पूर्व निर्देशानुसार चारों अर्थ उपस्थित होते हैं । अतः "प्रथमा, तृतीया तथा षष्ठी समर्थ उवर्णान्त ('ओः') प्रातिपदिकों से चारों अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है" । यह 'अण्' का अपवाद-सूत्र है । **उदाहरण—काक्षतवम्** (जिस देश में 'कक्षतु'-फल बहुत हों) **विग्रह**—कक्षतुः अस्मिन् अस्ति इत्यादि । कक्षतु+अ (अञ्) ▷ कक्षतो+अ (गुण) > काक्षतो+अ (आदि वृद्धि) > काक्षतवम् ('अव्' आदेश तथा विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—'नदी' अर्थ वाच्य होने पर अष्टाध्यायी क्रम में परवर्ती होने के कारण "नद्यां मतुप्" (४-२-८४) सूत्र से 'इक्षु' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय होगा । तदनुसार **इक्षुमती** (इक्षु+मतुप्) में स्त्रीलिङ्ग वाच्य होने से 'ङीप्' प्रत्यय होता है ।

(१२८४) **पद**—मतोः, च, बह्वजङ्गात् । **अनुवृत्ति**—अञ्, 'देशे तन्नाम्नीत्यादयः' अर्थाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—मतुप्-प्रत्यय-परक अनेक अचों से युक्त अङ्गवाले मत्वन्त से 'अञ्' प्रत्यय होता है । 'अण्' नहीं होता । उदा० सैध्रकावतम् । 'बह्वच्' क्यों कहा ? आहिमतम् । 'अङ्ग' की सार्थकता 'बह्वच्' को विशेषण बनाने में है, न कि 'मत्वन्त' को ।

विवरण—पूर्व सूत्र से सम्बद्ध विषय है । अतः "ओरञ्" (४-२-७०) से 'अञ्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष चातुरर्थिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ भी प्रभावी हैं । सूत्र में

ग्रहणं बह्वच् इति तद्विशेषणं यथा स्यात् मत्वन्तविशेषणं मा भूत्। (१२८५) बह्वचः कूपेषु। ४। २। ७३॥ अणोऽपवादः। दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तो दैर्घवरत्रः कूपः। (१२८६) उदक्च विपाशः ४। २। ७४॥ विपाशः उत्तरे कूले ये कूपास्तेष्वञ्। अबह्वजर्थ आरम्भः। दत्तेन निर्वृत्तो दात्तः कूपः। उदक् किम्? दक्षिणतः कूपेष्वणेव।

यथायोगं बोध्याः। आहिमतमिति। अहिमानस्मिन्नस्तीत्यादयोऽर्थाः। अहिशब्दस्य द्वच्चकत्वादञ् नेति भावः।

(१२८५) बह्वचः कूपेषु। बह्वचः प्रातिपदिकात् अञ् चतुर्ष्वर्थेषु। अणोऽपवादः। दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तः कूपः दैर्घवरत्रः।

(१२८६) उदक्च विपाशः। उत्तरे कूले इति। विपाश्शब्दः शकारान्तो नदीविशेषवाची।

'अङ्ग' पद 'बह्वच्' का विशेष्य है न कि मतुप्-प्रत्ययान्त का। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जिस 'मतुप्' प्रत्यय के परवर्ती होने पर अनेक स्वर-वर्ण-युक्त 'अङ्ग' हो, उस मत्वन्त प्रातिपदिक से भी 'अञ्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—सैध्रकावतम् ('सिध्रक'–कत्थे की तरह एक वृक्ष–का जंगल जहाँ हो, उस वन के समीप नगर)। **विग्रह**—सिध्रकावान् अस्मिन् अस्ति—सिध्रकावत्+अ (अञ्)–आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य। सैध्रकावत्→सिध्रका+मत् (मतुप्)> सिध्रकावत् (म्=व्)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'बह्वच्' पद का निवेश होने के कारण **आहिमतम्** (अहिमान् अस्ति अस्मिन्—जिस देश में सर्प अधिक हों) में 'अण्' प्रत्यय होगा न कि 'अञ्', क्यों कि 'अहि' शब्द में केवल दो ही 'अच्' हैं। कम से कम तीन 'अच्' वाला अङ्ग अपेक्षित है।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अङ्गात्' पद का समावेश इस लिये किया गया है कि वह अपने समीपवर्ती शब्द 'बह्वच्' का विशेषण हो न कि समानाधिकरण के बल पर मतुवन्त का। अन्यथा **आहिमतम्** में मतुवन्त के अनेकाच् (बह्वच्) होने के कारण 'अञ्' प्रत्यय होने लगता न कि 'अण्'। फलतः 'अञ्' प्रत्यय न होने से आद्युदात्त नहीं होता।

(१२८५) पद—बह्वचः, कूपेषु। **अनुवृत्ति**—अञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अण्' का अपवाद है। उदा० दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तः—दैर्घवरत्रः कूपः।

विवरण—चातुरर्थिक 'अञ्' का ही प्रकरण है। 'बह्वच्' का अन्वय अनुवर्तमान 'प्रातिपदिकात्' के साथ होता है। अतः "अनेकाच् प्रातिपदिकों से 'कूप' अभिधेय होने पर चातुरर्थिक 'अञ्' प्रत्यय होता है"। यह भी औत्सर्गिक 'अण्' का बाधक है। इसका फल 'ञित्' स्वर का होना है। **उदाहरण**—**दैर्घवरत्रः** कूपः (दीर्घवरत्र के द्वारा बनाया गया कूप)। **विग्रह**—दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तः कूपः—दीर्घवरत्र+अञ्, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, विभक्ति-कार्य।

(१२८६) पद—उदक्, च, विपाशः। **अनुवृत्ति**—कूपेषु, अञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विपाशा (नदी) के उत्तर कूल पर स्थित 'कूप' अभिधेय होने पर 'अञ्' होता है। 'अनेकाच्' वर्णरहित शब्दों के लिये यह विधान है। उदा० दात्तः—कूपः। 'उदक्' क्यों कहा? दक्षिण कूल पर स्थित होने से 'अण्' ही होगा।

विवरण—'कूप' सम्बन्धी स्थिति का ही विषय है। किन्तु प्रकृत सूत्र में 'अनेकाच्' भिन्न प्रातिपदिक अपेक्षित हैं। वह भी स्थान-विशेष की अपेक्षा रखते हैं। तदनुसार "'विपाश्' नदी के उत्तरवर्ती कूल पर स्थित कूपों के अभिधेय होने पर तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'निर्वृत्त' अर्थ में चातु-

(१२८७) सङ्कलादिभ्यश्च ४ । २ । ७५ ॥ कूपेषु इति निवृत्तम् । सङ्कलेन निर्वृत्तं साङ्कलम् । पौष्कलम् । **(१२८८) स्त्रीषु सौवीरसाल्वप्राक्षु ४ । २ । ७६ ॥** स्त्रीलिङ्गेष्वेषु देशेषु वाच्येष्वञ् । सौवीरे—दत्तामित्रेण निर्वृत्ता दात्तामित्री नगरी । साल्वे—

(१२८७) सङ्कलादिभ्यश्च । निर्वृत्तमिति । व्याख्यानादिति भावः । अणोऽपवादः । पौष्कलमिति । पुष्कलेन निर्वृत्तमिति विग्रहः ।

(१२८८) स्त्रीषु सौवीर । सौवीरे इति । उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः । दात्तामित्री नगरीति । 'टिड्ढा' इति ङीप् । साल्वे इति । उदाह्रियत इति शेषः । वैधूमाग्नीति । विधूमाग्निना निर्वृत्तेत्यर्थः । अत्रि ङीप् । प्राचीति । प्राचि देशे उदाह्रियत इत्यर्थः । माकन्दीति । माकन्देन निर्वृत्तेत्यर्थः ।

रथिंक 'अञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—दात्तः ('दत्त' नामक व्यक्ति के द्वारा बनाया कूप—दत्तेन निवृत्तः—दत्त्+अञ्–'अ' लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'उदक्' पद का निवेश होने से दक्षिण-कूलवर्ती इन्हीं कूपों का बोध कराने में 'अण्' ही होगा । इसके फलस्वरूप स्वर में अन्तर हो जायगा । 'अण्' होने पर अन्तोदात्त स्वर होगा—"आद्युदात्तश्च" (३-१-३)—दात्तः ।

विशेष—पञ्जाब की प्रसिद्ध नदी 'व्यास' का नाम 'विपाश्' है । 'अण्' और 'अञ्' इन भिन्न प्रत्ययों के होने से स्वर-जन्य भेद से उस भूमि के दृढ़ और कच्चे होने की सूचना मिलती है । आद्युदात्त-शब्द पक्की भूमि का सूचक है तथा अन्तोदात्त शब्द कच्ची भूमि का द्योतक है ।

(१२८७) पद—सङ्कलादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—अञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'कूपेषु' का सम्बन्ध नहीं है । उदा० सङ्कलेन निर्वृत्तं—साङ्कलम् ।

विवरण—"तृतीयान्त सङ्कल-आदि प्रादिपदिकों से 'निर्वृत्त' अर्थ में चातुरर्थिक 'अञ्' प्रत्यय होता है" । 'अण्' का अपवाद है । **उदाहरण**—(१) **साङ्कलम्** (सङ्कल का बसाया हुआ नगर[1]—सङ्कलेन निर्वृत्तं नगरम्—सङ्कल+अञ् । प्रक्रिया पूर्ववत् । (२) **पौष्कलम्** (पुष्कल द्वारा बसाया गया नगर) । पुष्कलेन निर्वृत्तं नगरम्—पुष्कल+अञ् ।

विशेष—'कूपेषु' की निवृत्ति होने के फलस्वरूप 'नगर' आदि अर्थ अभिधेय होने पर 'अञ्' प्रत्यय होगा ।

(१२८८) पद—स्त्रीषु, सौवीर-साल्व-प्राक्षु । **अनुवृत्ति**—अञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन देशों के स्त्रीलिङ्ग में वाच्य होने पर 'अञ्' प्रत्यय हो । उदा० सौवीर अर्थ में—१-दत्तामित्रेण निर्वृत्ता—दात्तामित्री नगरी । २-'साल्व' में—वैधूमाग्नी । ३—'प्राग्देश' में—माकन्दी ।

विवरण—"स्त्रीलिङ्ग-वाची सौवीर, साल्व तथा पूर्व-देश अभिधेय (सौवीरश्च, साल्वश्च, प्राक् च सौवीरसाल्वप्राञ्चः, तेषु) होने पर तृतीयान्त प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक में 'अञ्' प्रत्यय होता है" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) सौवीरदेश—**दात्तामित्री** नगरी (दत्तामित्र द्वारा बनायी गई नगरी—दत्तामित्रेण निर्वृत्ता नगरी—दत्तामित्र+अञ् > दात्तामित्र्+ङीप्—आदिवृद्धि, 'अ' लोप > दात्तामित्री (ङीप् 'अ' लोप तथा विभक्तिकार्य) । (२) साल्व देश—**वैधूमाग्नी** (विधूमाग्नि द्वारा निर्मित नगरी—विधूमाग्निना निर्वृत्ता नगरी—विधूमाग्न्+अञ्+ङीप्) ।

---

१. यह आधुनिक सागलावाला टीबा (जिला झंग) है । यहाँ कठ क्षत्रियों का केन्द्र था ।

वैधूमाग्नी । प्राचि, माकन्दी । (१२८९) सुवास्त्वादिभ्योऽण् ४ । २ । ७७ ॥ अञोऽपवादः । सुवास्तोरदूरभवं सौवास्तवम् । वर्णु वार्णवम् । अण्ग्रहणं नद्यां मतुपो बाधनार्थम् । सौवास्तवी । (१२९०) रोणी ४ । २ । ७८ ॥ रोणीशब्दात्तदन्ताच्चाण् । कूपाञोऽपवादः । रौणः । आजकरौणः । (१२९१) कोपधाच्च ४ । २ । ७९ ॥ अण् ।

(१२८९) सुवास्त्वादिभ्योऽण् । अञ इति । ओरञित्यस्यापवाद इत्यर्थः । सौवास्तवमिति । अणि ओर्गुणः । वार्णवमिति । वर्णोरदूरभवमित्यर्थः । ननु 'ओरञ्' इत्येव सिद्धे पुनर्विधिसामर्थ्यादेव तदननुवृत्तौ अणि सिद्धे पुनरण्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह–अण्ग्रहणमिति ।

(१२९०) रोणी । लुप्तपञ्चमीकमिदम् । तदन्तादिति । 'येन विधिः' इति सूत्रस्थभाष्यादिह प्रत्ययविधावपि तदन्तविधिरिति भावः । रौण इति । रोण्या निर्वृत्तः कूप इत्यर्थः । आजकरौण इति । अजकरोण्या निर्वृत्त इत्यर्थः । अणि 'यस्य' इति इकारलोपः ।

प्रक्रिया पूर्ववत् । (३) प्राग्देश—माकन्दी (माकन्द के द्वारा बनाई गई नगरी—माकन्देन निर्वृत्ता नगरी—माकन्द्+अञ्+ङीप्) ।

(१२८९) पद—सुवास्त्वादिभ्यः, अण् । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'अञ्' का अपवाद है । उदा० सुवास्तोः अदूरभवं—सौवास्तवम् । वर्णु—वार्णवम् । 'मतुप्' का बाध करने के लिये 'अण्' ग्रहण है । सौवास्तवी ।

विवरण—"'सुवास्तु' आदि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक 'अण्' प्रत्यय होता है" । उवर्णान्त होने के कारण "ओरञ्" (४-२-७१) से प्राप्त 'अञ्' का बाधक है। उदाहरण—(१) सौवास्तवम् (सुवास्तु[1] के समीप नगर)—सुवास्तोः अदूरभवम्—सुवास्तु+अण् > सुवास्तो+अ> सौवास्तवम्) । (२) वार्णवम् ('वर्णु'[2] नगर के समीप स्थित नगर—वर्णोः अदूरभवम्—वर्णु+अण्) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अण्' ग्रहण करने से स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर सौवास्तवी में अणन्त 'ङीप्' प्रत्यय (सुवास्तु+अण्+ङीप्) है। प्रकृतसूत्र में 'अञ्' की अनुवृत्ति न होने के कारण 'अण्' होना स्वतः सिद्ध था, किन्तु उस अवस्था में "नद्यां मतुप्" (४-२-८५) सूत्र से 'मतुप्' प्रत्यय प्राप्त रहा । वस्तुतः उसका बाध करने के लिये 'अण्' ग्रहण सार्थक है ।

(१२९०) पद—रोणी । अनुवृत्ति—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'रोणी' एवं रोणीशब्दान्त प्रातिपदिक से 'अण्' हो । यह कूपार्थक 'अञ्' का बाधक है । उदा० १-रौणः २-आजकरौणः ।

विवरण—पूर्व सूत्र से (१२८९) अनुवृत्ति द्वारा विधेयांश 'अण्' का लाभ होता है । अतः "तृतीयान्त 'रोणी' तथा 'तदन्त' प्रातिपदिक से चातुरर्थिक 'अण्' प्रत्यय होता है" । तृतीयान्त यह विधान कूपार्थक अञ् ("बह्वचः कूपेषु" ४-२-७३) प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण—

---

१. स्वात नदी का नाम 'सुवास्तु' है । यह अफगानिस्तान से निकल कर 'सिन्धु' नद में मिलती है । 'सुवास्तु' नदी की घाटी का प्रधान नगर सौवास्तव था ।

२. 'वार्णव' की पहचान आधुनिक 'बन्नू' से होती है । 'सिन्धु' की पश्चिमी सहायक नदी कुर्रम ('क्रुमु') के किनारे निचले भाग में 'वर्णु' का होना संभावित है । बरसात में अधिक उमड़ने के कारण इसे 'नद' कह दिया गया हो ।

अणोऽपवादः। कार्णच्छिद्रकः कूपः। कार्कवाकवम्। त्रैशङ्कवम्। (१२९२) वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्ययफक्फिञिञ्ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसङ्काशबलपक्षकर्णसूतङ्गमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः ४। २। ८०॥ सप्तदशभ्यः गणेभ्यः सप्तदश क्रमात्स्युश्चतुरर्थ्याम्। अरीहणादिभ्यो वुञ्। अरीहणेन निर्वृत्तमा-

---

(१२९१) कोपधाच्च। कार्णच्छिद्रक इति। कर्णच्छिद्रकेण निर्वृत्तः कूप इत्यर्थः। कार्कवाकवमिति। कृकवाकुना निर्वृत्तः कूपः इत्यर्थः। ओर्गुणः। आदिवृद्धौ रपरत्वम्। त्रैशङ्कवमिति। त्रिशङ्कुना निर्वृत्तः कूपः इत्यर्थः।

(१२९२) वुञ्छण्। वुञ्, छण्, क, ठच्, इल, स, इनि, र, ढञ्, ण्य, य, फक्, फिञ्, इञ्, ञ्य, कक्, ठक् एतेषां सप्तदशानां द्वन्द्वात्प्रथमाबहुवचनम्। अरीहण, कृशाश्व,

---

(१) रौणः—रोणी[1] नगर के समीप कूआँ—रोण्या अदूरभवः कूपः—रोणी+अण्—'ई' लोप तथा आदिवृद्धि। (२) तदन्त—आजकरौणः (अजकरोणी का बनवाया कूआँ—अजकरोण्या निर्वृत्तः कूपः—अजकरोणी+अण्)। अनुशतिकादि गण में पाठ होने से उभयपदवृद्धि।

विशेष—सूत्रस्थ 'रोणी' पद लुप्तपञ्चम्यन्त (=रोण्याः) है। अतः अनुवर्तमान 'प्रातिपदिकात्' से वह अन्वित होता है। नियमानुसार ('समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः') प्रत्यय-ग्रहण में तदन्तविधि नहीं होती, तथापि "येन विधिस्तदन्तस्य" (१-१-७२) सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि जहाँ शास्त्र में किसी प्रातिपदिक-स्वरूप का ग्रहण किया हो, वहाँ तदन्त-विधि नहीं होती। इसके फलस्वरूप यहाँ तदन्त विधि हो जाती है, क्योंकि पाणिनि ने प्रकृत सूत्र में 'रोणी' पद निर्विभक्तिक पढ़ा है। कार्यवश भले ही उसे पञ्चमी-विभक्ति का सूचक मान लिया जाय। अतः सभी अवस्थाओं—'केवल' तथा 'तदन्त' में 'रोणी' शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है।[2]

(१२९१) पद—कोपधात्, च। **अनुवृत्ति**—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अण्' हो। 'अञ्' का अपवाद है। उदा० १—कार्णच्छिद्रकः कूपः। २—कार्कवाकम्। ३—त्रैशङ्कवम्।

विवरण—'अण्' का ही प्रकरण है। अतः "ककार-उपधावाले प्रातिपदिकों से भी चातुरर्थिक 'अण्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **कार्णच्छिद्रकः** (कर्णच्छिद्रक द्वारा निर्मित कूप—कर्णच्छिद्रकेण निर्वृत्तः कूपः—कर्णच्छिद्रक+अण्)। (२) **कार्कवाकवम्**। (कृकवाकु द्वारा निर्मित—कृकवाकुना निर्वृत्तम्—कृकवाकु+अण्→'उ' को गुण 'ओ' तथा आदिवृद्धि द्वारा रपर=कार्)। (३) **त्रैशङ्कवम्** (त्रिशङ्कु द्वारा निर्मित—त्रिशङ्कुना निर्वृत्तम्—त्रिशङ्कु+अण्→उ='ओ'-गुण तथा आदिवृद्धि)।

(१२९२) पद—वुञ्छण्···ठकः, अरीहण···कुमुदादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन सत्रह गणों से चातुरर्थिक वुञादि प्रत्यय क्रमशः हों। उदा० १—अरीहणेन निर्वृत्तम्—आरीहणकम्। २—'कृशाश्व' आदि से 'छण्'—कार्शाश्वीयम्। ३—'ऋश्य' आदि से 'क'-

---

१. सम्भवतः रोड़ी (जिला हिसार), जो प्राचीन शैरीषक (आधुनिक सिरसा) के पास है। श्री अगरचन्द्र नाहटा के अनुसार यह बीकानेर से ७० मील दूर 'रीणी' नामक प्राचीन स्थान हो।

२. "यदि 'रोण्याः' इत्यादि-निर्देशः क्रियेत तदा 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न' इति केवलादेव स्यात्, न तदन्तात्। रोणीति शास्त्रानपेक्षेण निर्देशेन शास्त्रनिरपेक्षत्वमिहोच्यते, तदस्याः परिभाषाया अनपेक्षणादिह तदन्तादपि प्रत्ययः सिद्धो भवति"।—इतिकाशिकायां न्यासः।

रीहणकम्। कृशाश्वादिभ्यश्छण्। कार्शाश्वीयम्। ऋश्यादिभ्यः कः। ऋश्यकम्। कुमुदादिभ्यष्ठच्। कुमुदिकम्। काशादिभ्य इलः। काशिलः। तृणादिभ्यः सः। तृणसम्। प्रेक्षादिभ्य इनिः। प्रेक्षी। अश्मादिभ्यो रः। अश्मरः। सख्यादिभ्यो ढञ्। साखेयम्। सङ्काशादिभ्यो ण्यः। साङ्काश्यम्। बलादिभ्यो यः। बल्यम्। पक्षादिभ्यः फक्। पाक्षायणः।

ऋश्य, कुमुद, काश, तृण, प्रेक्ष, अश्मन्, सखि, सङ्काश, बल, पक्ष, कर्ण, सुतङ्गम, प्रगदिन्, वराह, कुमुद एतेषां सप्तदशानां द्वन्द्वः। एते आदयः येषामिति बहुव्रीहेः पञ्चमीबहुवचनम्। यथासङ्ख्यावगमाय कुमुदशब्दयोरेकशेषो न कृतः। प्रगदिन्शब्दे नलोपाभावस्तु इकारान्तत्वभ्रमनिरासाय। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य आदिशब्दस्य अरीहणादिषु प्रत्येकमन्वयः। तथा च अरीहणादिभ्यो वुञ्, कृशाश्वादिभ्यः छण् इत्येवं सप्तदश वाक्यानि सम्पन्नानि। तदाह—सप्तदशभ्य इति। अरीहणादिसप्तदशगणेभ्यः वुञादयः प्रत्ययाः क्रमात्स्युरित्यर्थः। चतुरर्थ्यामिति। 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' 'तेन निर्वृत्तम्'

ऋश्यकम्। ४–'कुमुद' आदि से 'ठच्'—कुमुदिकम्। ५–'काश' आदि से 'इल'—काशिलः। ६–'तृण' आदि से 'स'–तृणसम्। ७–'प्रेक्ष' आदि से 'इनि'–प्रेक्षी। ८–'अश्म' आदि से 'र'—अश्मरः। ९—'सखि' आदि से 'ढञ्'-साखेयम्। १०–'सङ्काश' आदि से 'ण्य'–साङ्काश्यम्। ११–'बल' आदि से 'य'–बल्यम्। १२–'पक्ष' आदि से 'फक्'–पाक्षायणः। १३–'पथिन्' से 'फक्' तथा 'पन्थ' आदेश—पान्थायनः। १४–'कर्ण' आदि से 'फिञ्'–कार्णायनिः। १५–'सुतङ्गम' आदि से 'इञ्'—सौतङ्गमिः। १६–'प्रगद्य' आदि से 'ञ्य'–प्रागद्यः। १७–'वराह' आदि से 'कक्'–वराहकः। १८–'कुमुद' आदि से 'ठक्'–कौमुदिकः।

विवरण—अष्टाध्यायी के बड़े सूत्रों में से यह भी एक सूत्र है। प्रकृति-वाचक एवं प्रत्यय-स्वरूप दोनों ही शब्द १७ हैं। अतः उनमें 'यथासंख्य' नियम से क्रमशः विधान होगा। सूत्रस्थ प्रथम पद 'वुञ्छण्···ठकः' में इतरेतर द्वन्द्व समास है। तथा द्वितीय पद 'अरीहण···कुमुदादिभ्यः' में द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि है। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि (१) 'अरीहण' आदि गण-पठित शब्दों से चातुरर्थिक अर्थों में 'वुञ्' आदि हों। **उदाहरण—आरीहणकम्**—अरीहण के द्वारा बनवाया गया नगर—अरीहणेन निर्वृत्तम्) अरीहण+वुञ्=अक, आदि वृद्धि आदि कार्य पूर्ववत्। (२) 'कृशाश्व' आदि से 'छण्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण—कार्शाश्वम्**—(कृशाश्व[1] का निर्मित नगर—कृशाश्वेन निर्वृत्तम्)—कृशाश्व+छण्=ईय। आदिवृद्धि आदि पूर्ववत्। (३) 'ऋश्य' आदि शब्दों से 'क' प्रत्यय होता है। **उदाहरण—ऋश्यकः**—(बारहसिंगे जहाँ बहुत रहते हों, मृगदाव—ऋश्याः[2] सन्ति अस्मिन् देशे)—ऋश्य+क। (४) 'कुमुद' आदि शब्दों से 'ठच्' प्रत्यय हो—**उदाहरण—कुमुदिकम्**—(कुमुद से बना हुआ—कुमुदेन निर्वृत्तम)—कुमुद्+ठच्=इक। (५) 'काश' आदि शब्दों से 'इल' प्रत्यय हो। **उदाहरण—काशिलः** (काश से बनाया हुआ—काशेन निर्वृत्तम्)—काश्+इल। (६) 'तृण' आदि से 'स' प्रत्यय हो। **उदाहरण—तृणसः** ('तृण' का बना हुआ—तृणैः निर्वृत्तम्)—तृण+स। (७) 'प्रेक्षा आदि' से 'इनि' प्रत्यय हो। **उदाहरण—प्रेक्षी** (प्रेक्षा के द्वारा निर्मित—प्रेक्षया निवृत्तः)—प्रेक्ष्+इन्। (८) 'अश्मन्' आदि गणपठित शब्दों से चातुरर्थिक 'र' प्रत्यय हो। **उदाहरण—अश्मरः** (जहाँ

---

१. भागवत के अनुसार एक राजर्षि जो संयम के पौत्र तथा सहदेव के पुत्र थे। दक्ष-प्रजापति की 'अर्चि' तथा 'धिपणा' नाम की दो पुत्रियाँ इन्हें ब्याही थीं।

२. 'कृष्णसार-रुरु-न्यङ्कु-रङ्कु-शंवर-रौहिषाः।
गोकर्ण-पृषतैणश्य-रोहिताश्चमरो मृगाः॥" अमरकोषः—२-५-१०।

'पथः पन्थ च' (ग सू ७९)। पान्थायनः। कर्णादिभ्यः फिञ्। कार्णायनिः। सुतङ्गमादिभ्य इञ्। सौतङ्गमिः। प्रगद्यादिभ्यो ञ्यः। प्रागद्यः। वराहादिभ्यः कक्। वराहकः कुमुदादिभ्यष्ठक्। कौमुदिकः। (१२९३) जनपदे लुप् ४। २। ८१॥ जनपदे वाच्ये

'तस्य निवासः' 'अदूरभवश्च' इति चतुर्ष्वर्थेषु प्रथमोच्चारितात्तत्तद्विभक्त्यन्तात् यथायोगं प्रत्ययाः इति फलितम्। एतेषु गणेषु चेतनवाचका अचेतनवाचकाश्च सन्ति। तत्र यथायोगं चतुरर्थ्याः अन्वयः। प्रेक्षीति। प्रेक्षते इति प्रेक्षः, तेन निर्वृत्तमित्यर्थः। प्रेक्षया निर्वृत्तमिति वा। पथः पन्थ च इति। गणसूत्रमिदम्। पान्थायन इति। पथो अदूरभव इत्यर्थः।

पत्थर बहुत अधिक हों, वह जनपद—अश्मानः सन्ति अस्मिन् देशे)—अश्मन्‌ + र→'न्' का लोप। (९) 'सखि' आदि गणपठित शब्दों से चातुरर्थिक 'ढञ्' (= एय) प्रत्यय हो। **उदाहरण—साखेयः** (सखि (दत्त) के द्वारा निर्मित कूप—'सखि' नामकेन (सखिदत्तेन वा) निर्वृत्तः कूपः)—सखि + ढ (= एय), 'इ' लोप, आदिवृद्धि आदि। (१०) 'सङ्काश' आदि गणपठित शब्दों से चातुरर्थिक ण्य (= य) प्रत्यय हो। **उदाहरण—साङ्काश्यम्** ('सङ्काश' द्वारा निर्मित नगर[1]—सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरम्)—सङ्काश + य, आदिवृद्धि, अलोप आदि। (११) 'बल' आदि गण-पठित शब्दों से चातुरर्थिक 'य' प्रत्यय होता है। **उदाहरण—बल्यम्** (बल[2] = बलराम अथवा बल नामक दैत्य के द्वारा निर्मित नगर)—बलेन निर्वृत्तं नगरम्—बल् + य। (१२) 'पक्ष' आदि से 'फक्' (= आयन) प्रत्यय हो। **उदाहरण—पाक्षायणः** (पंखों से निर्मित-पक्षैः निर्वृत्तः) पक्ष + फ (= आयन), 'अ' लोप, आदिवृद्धि आदि कार्य। पक्षादिगण के अन्तर्गत 'पथिन्' शब्द को पन्थ आदेश भी होता है। तदनुसार **उदाहरण—पान्थायनः**—(बहुत से मार्ग जिस जनपद में हों—पन्थानः सन्ति अस्मिन् देशे)—पथिन्=पन्थ + फ (=आयन)। (१३) 'कर्ण' आदि गणपठित शब्दों से 'फिञ्' प्रत्यय हो। **उदाहरण—कार्णायनिः** (कर्ण के द्वारा बसाया नगर—कर्णेन निर्वृत्तं नगरम्)—कर्ण + फि (= आयनि)। (१४) 'सुतङ्गम' आदि शब्दों से 'इञ्' प्रत्यय हो। **उदाहरण—सौतङ्गमिः** (सुतङ्गम के द्वारा बसाया गया नगर—सुतङ्गमेन निर्वृत्तं नगरम्)—सुतङ्गम + इ-आदिवृद्धि, 'अ' लोप आदि कार्य। (१५) 'प्रगदिन्' आदि शब्दों से 'ञ्य' प्रत्यय हो। 'ञ्' की इत्संज्ञा होगी। **उदाहरण—प्रागद्यः** ('प्रगदिन्' द्वारा निर्मित-प्रगदिना निर्वृत्तः)—प्रगदिन्‌ + य (ञ्य)—आदिवृद्धि, 'टि (= इन्) लोप तथा विभक्ति-कार्य। (१६) 'वराह' आदि गण-पठित शब्दों से 'कक्' प्रत्यय हो। केवल अन्तिम 'क्' इत्संज्ञक है। तद्धित-प्रत्यय होने के कारण आदिम 'क्' की इत्संज्ञा नहीं हुई। **उदाहरण—वराहकः**—(सूकर जिस स्थान में हों वह ग्राम—वाराहाः सन्ति अस्मिन् देशे)—वराह + क। (१७) 'कुमुद' आदि गण-पठित शब्दों से ठक् (= इक) प्रत्यय हो। **उदाहरण—कौमुदिकः** (जहाँ कुमुद बहुत हों वह स्थान—कुमुदानि सन्ति अस्मिन् देशे)—कुमुद + ठ ('ठ'=इक)—आदिवृद्धि, 'अ'-लोप आदि कार्य। 'कुमुदादि' गण का इस सूत्र में दो बार उल्लेख हुआ है। पहले 'ठच्' प्रत्यय है। वहाँ पर आदि-वृद्धि नहीं होती, 'ठक्' में आदि-वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त स्वर में भी अन्तर होगा। वैसे 'कुमुद' शब्द भी अनेकार्थक है। पुराणों में पर्वत-विशेष की संज्ञा भी कुमुद है।

विशेष—(१) इस सूत्र में प्रयुक्त प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द अधिकतर स्थान-वाची हैं। इस

---

१. सांकाश्य—फर्रुखाबाद जिले में इक्षुमती (वर्तमान ईखन नदी) के किनारे 'संकिसा' नामक स्थान, जहाँ अशोककालीन स्तम्भ के चिह्न हैं। संकाशादि गण में काम्पिल्य भी है, जो फर्रुखाबाद जिले की कायमगंज तहसील में वर्तमान 'कंपिल' है।

२. 'बलो हलायुधे दैत्ये सैन्यभेदे च वायसे' इति विश्वः।

चातुरर्थिकस्य लुप्स्यात्। (१२९४) लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने १।२।५१ ॥ लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः। पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः। कुरवः। अङ्गाः।

(१२९३) जनपदे लुप्। चातुरर्थिकस्येति। प्रकरणलभ्यमिदम्।

(१२९४) लुपि युक्तवत्। प्रकृतिभूतः शब्दः युक्तः, व्यक्तिः लिङ्गं, वचनं सङ्ख्येति पूर्वाचार्यसङ्केतः। तदाह—लुपि सति। प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्त इति। लुबिति प्रत्ययादर्शनमुच्यते। लुपः प्रवृत्तेः प्राक् प्रत्ययप्रकृतेर्यल्लिङ्गं वचनं ते एव लुपि सति भवतः, न तु प्रत्ययार्थविशेष्यमनुसृत्येत्यर्थः। पञ्चालानामिति। पञ्चालसञ्ज्ञकानां राज्ञामित्यर्थः। पञ्चाला इति। 'तस्य निवास' इति विहितस्याणः 'जनपदे लुप्' इति प्रकृतिवत् बहुवचनमिति भावः। कुरव इत्यादि। कुरूणाम् अङ्गानां वङ्गानां कलिङ्गानां च निवासो जनपद इति विग्रहः। लिङ्गातिदेशे तु कटुबदर्या अदूरभवो जनपदः कटुवदरीत्युदाहार्यम्। तदेतत्पूर्वाचार्यसूत्रं पाणिनिः प्रत्याचष्टे।

प्रकरण के आरम्भ में कहे गए चारों अर्थों के सूत्रस्थ प्रथम पद—अर्थात् 'तत्', 'तेन' तथा 'तस्य'–इन विभक्त्यन्त शब्दों के अनुसार उदाहरणस्थ प्रातिपदिकों में चारों अर्थों को अभिलक्षित कर तथोक्त विभक्तियों का विग्रहार्थ में उल्लेख किया जायगा।

(२) प्रकृत सूत्रस्थ गणों में चेतन तथा अचेतन दोनों प्रकार के शब्द पढ़े गये हैं। अतः योग्यतानुसार अर्थ का विचार कर विग्रहार्थ दिखाया जाय।

(१२९३) पद—जनपदे, लुप्। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'जनपद' वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप हो।

विवरण—"ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिकों से देश-सामान्य में "तदस्मिन्नस्ति०" (४-२-६७) इत्यादि चारों सूत्रों से विहित प्रत्ययों का लोप हो जाता है"।

(१२९४) पद—लुपि, युक्तवत्, व्यक्तिवचने। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—लोप होने पर लिङ्ग एवं वचन प्रकृति के समान होते हैं। उदा० पञ्चालानां निवासः जनपदः—१–पञ्चालाः। २–कुरवः। ३–अङ्गाः। ४–वङ्गाः। ५–कलिङ्गाः।

विवरण—प्रत्यय का लोप होने पर विशेष अतिदेश बतलाया जा रहा है। अतः यह प्रासङ्गिक सूत्र है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में यह सूत्र पढ़ा गया है। 'व्यक्तिवचने' (व्यक्तिः च वचनं च) शब्द पूर्ववर्ती आचार्यों ने 'लिङ्ग' और 'संख्या' के अर्थ में प्रयोग किया है। अर्थात् 'व्यक्ति' शब्द लिङ्ग का सूचक है तथा 'संख्या' शब्द 'वचन' का बोधक है। एवं 'युक्त' शब्द प्रकृत्यर्थ-बोधक है। इवार्थ में 'वत्' प्रत्यय है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "प्रत्यय के लोप हो जानेपर भी उस प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व जो प्रकृत्यर्थ के लिङ्ग (व्यक्ति) तथा संख्या (वचन) हों—वही लिङ्ग-संख्या स्थित रहें (युक्तवत्)"। प्रकृत सन्दर्भ में तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति होने के पूर्व जिस लिङ्ग और वचन में प्रकृति-वाचक शब्द रहें—वे प्रत्यय के लोप हो जाने पर भी—उसी लिङ्ग एवं वचन में रहेंगे। **उदाहरण**—(१) **पञ्चालाः**—पाञ्चाल क्षत्रियों के रहने का जनपद। **विग्रह**—पञ्चालानां निवासः जनपदः। **प्रक्रिया**—पञ्चाल+आम्, अण् ("तस्य निवासः" ४-२-६९) > पञ्चाल+अ ('विभक्ति' का लोप) > पञ्चाल (अण् का लोप–"जनपदे लुप्" ४-२-८४) > पञ्चाल+जस् (जनपद-वाची शब्द होने से एक-वचन की प्राप्ति थी, किन्तु "लुपि युक्तिवद् व्यक्तिवचने" १-२-५१ के अनुसार प्रत्यय के लोप होने के पूर्व—'पञ्चालानां'—पुंलिङ्ग एवं बहुवचन में था अतः पुंलिङ्ग तथा बहुवचन में "जस्" की उत्पत्ति) > पञ्चालाः (पूर्वसवर्ण दीर्घ आदि कार्य)। इसी प्रकार (२) **कुरवः**–कुरुदेश के क्षत्रियों का जनपद। (३) **अङ्गाः** (आङ्ग क्षत्रियों के रहने का जनपद। (४) **वङ्गाः** (वंगदेश के क्षत्रियों के रहने

वङ्गाः। कलिङ्गाः। (१२९५) तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३॥ युक्तवद्वचनं न कर्तव्यम्। संज्ञानां प्रमाणत्वात्। (१२९६) लुब्योगाप्रख्यानात् १।२।५४॥ लुबपि न कर्तव्योऽवयवार्थस्येहाप्रतीतेः। (१२९७) योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं

(१२९५) तदशिष्यम्। यथा दाराः इत्यादौ शास्त्रीयपुंस्त्वविशिष्टस्यैव स्त्रीरूपार्थस्य भानम्, तथा लुपि सति शास्त्रीयप्रकृत्यर्थगतलिङ्गसङ्ख्याविशिष्टस्यैव स्वार्थस्य लोकव्यवहारादेव भानं सम्भवति, न तु तदंशे शास्त्रव्यापारापेक्षेति भावः। सञ्ज्ञानामिति। लोकव्यवहाराणामित्यर्थः।

(१२९६) एवं च लुबपि न विधेय इत्याह—लुब्योगाप्रख्यानात्। अशिष्यमित्यनुवृत्तं पुंल्लिङ्गेन विपरिणतं लुबित्यनन्तरं सम्बध्यते। तदाह—लुबपि न कर्तव्य इति। योगः अवयवार्थः तस्य अप्रख्यानात् अप्रतीतेरित्यर्थः। तदाह—अवयवेति। नहि पञ्चालाङ्गवङ्गादिसम्बन्धित्वेन पञ्चालाः अङ्गाः वङ्गाः इत्यादितो बोधः, अतः प्रत्यय एव तत्र नास्तीति भावः।

का जनपद) (५) कलिङ्गाः (कलिङ्ग देश के क्षत्रियों के रहने का जनपद)। सभी उदाहरणों में निवासार्थक 'अण्' प्रत्यय तथा उसका लोप। मूल शब्द के आधार पर पुंलिङ्ग और बहुवचन।

विशेष—सामान्यतः विशेषण का लिङ्ग-वचन विशेष्य के आधारपर होता है, किन्तु यहाँ उसका परिहार किया गया है। तदनुसार यहाँ प्रत्ययार्थ—विशेष्य के अनुसार लिङ्ग-वचन नहीं हुआ।

(१२९५) पद—तद्, अशिष्यं, संज्ञाप्रमाणत्वात्। अतिदेश-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—संज्ञा के प्रामाण्य से युक्तवद्भाव आवश्यक नहीं है।

विवरण—युक्तवद् भाव की अनावश्यकता को बतलाया जा रहा है। कारण यह है कि युक्तवद्भाव लोकव्यवहाराधीन है। अतः स्वतः सिद्ध वस्तु के विधान के सम्बन्ध में नियम की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे 'दारा' शब्द स्त्री-वाची होते हुए भी पुंलिङ्ग बहुवचनान्त ही लोक में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'अप्' शब्द भी लोक-व्यवहार के कारण स्त्रीलिङ्ग बहुचनान्त प्रयुक्त होता है। अतः इस सम्बन्ध में अकाट्य विधान आवश्यक नहीं है। कारण यह है कि व्याकरण के नियमों का न जानने वाला व्यक्ति भी 'पञ्चालाः' पद की सिद्धि में निवासार्थक 'अण्' प्रत्यय का लोप होकर युक्तवद्भाव की प्रक्रिया को न जानते हुए भी—बहुवचन में 'पञ्चालाः' प्रयोग करता ही है। अतः लिङ्ग-वचन लोकाधीन हैं—इसी बात को महाभाष्यकार पतञ्जलि ने "लिङ्गम् अशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्य"—यह कह कर प्रकट किया है।

(१२९६) पद—लुप, योगाप्रत्याख्यानात्। अनुवृत्ति—अशिष्यम्। विधि (निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—यहाँ अवयवार्थ की प्रतीति न होने के कारण 'लुप्' भी न किया जाय।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'अशिष्यम्' की अनुवृत्ति आ रही है। वही विधान का स्वरूप है। अनुवृत्त 'अशिष्यम्' पद पुंलिङ्ग में विपरिणमित होकर सूत्रस्थ 'लुप्' शब्द से अन्वित होता है। अतः यह बतलाया जा रहा है कि "लिङ्ग-वचन के लोक-सिद्ध होने से तथा निवासादि सम्बन्ध की प्रतीति न होने के कारण लोप-विधान की भी आवश्यकता नहीं है"—क्योंकि जो व्याकरण नहीं जानते वे भी लुबर्थ शब्दों का प्रयोग करते ही हैं। वस्तुतः 'पञ्चालाः' 'कुरवः' 'अङ्गाः' 'वङ्गाः' आदि जनपदीय संज्ञा-विशेष हैं, न कि केवल निवास के योग से ही 'पञ्चाल' आदि कहा जाता है। आगे के सूत्र द्वारा यह विषय और स्पष्ट हो जाता है।

विशेष—पूर्व सूत्र में उपजीवक युक्तवद्भाव का प्रत्याख्यान करने के उपरान्त यहाँ उपजीव्य प्रत्यय-लुक् का भी प्रत्याख्यान सूचित किया जा रहा है। यहाँ चातुरर्थिक-प्रत्यय-जन्य यौगिकार्थ की प्रतीति न होने से प्रत्यय की उत्पत्ति जब सम्भव नहीं है तो लोप-विधान क्यों किया जाय?

स्यात् १।२।५५॥ यदि हि योगस्यावयवार्थस्येदं बोधकं स्यात्तदा तदभावे न दृश्येत। (१२९८) प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् १।२।५६॥ 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इत्येवं रूपं वचनमप्यशिष्यम्। कुतः? अर्थस्य लोकत एव सिद्धेः। (१२९९) कालोपसर्जने च तुल्यम्। १।२।५७॥ अतीतायाः रात्रेः पश्चार्धेनागामिन्याः पूर्वा-

---

(१२९७) प्रत्ययस्वीकारे लाघवमाह—**योगप्रमाणे च**। पञ्चालाङ्गवङ्गादिशब्देषु योगस्य अवयवार्थस्य प्रमापकत्वे सति तदभावे पञ्चालाङ्गादिक्षत्रियसम्बन्धाभावे सम्प्रति शूद्रादिराजके जनपदे पञ्चालादिशब्दो न प्रयुज्येत, प्रयुज्यते च यतः, अतः पञ्चालादि-शब्दाः जनपदविशेषेषु केवलरूढा इति युक्तमित्यर्थः। तदाह—**यदि हि योगस्येति**।

(१२९८) अथ प्रसङ्गादन्यदपि पूर्वाचार्यपरिभाषितं निराचष्टे—**प्रधानप्रत्ययार्थ**। **प्रत्ययार्थ इति**। प्रकृत्यर्थं प्रति प्रत्ययार्थः प्रधानं विशेष्यम्, प्रकृत्यर्थस्तु तद्विशेषणमित्येवं यत्पूर्वाचार्यवचनं तदपीत्यर्थः।

(१२९९) **कालोपसर्जने च**। कालश्च उपसर्जनं चेति समाहारद्वन्द्वात् विषयसप्तमी।

(१२९७) पद—योगप्रमाणे, च, तदभावे, अदर्शनं, स्यात्। अनुवृत्ति—अशिष्यम्। विधि-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—सम्बन्ध को प्रमाण मानकर (योगस्य प्रमाणं, तस्मिन्) यदि संज्ञा हो तो भी उस सम्बन्ध के हट जाने पर उस संज्ञा का अदर्शन होना चाहिये (अदर्शनं स्यात्) (पर वह होता नहीं, क्योंकि पाञ्चालादि जनपद-विशेष की संज्ञायें हैं, इन्हें यौगिक नहीं कहा जा सकता)।

विवरण—पूर्व सूत्र के कथन को ही दृढ़ किया जा रहा है। यदि पञ्चालादि शब्द पञ्चालों के निवास के कारण ही जनपद-विशेष के नाम को सार्थक करते तो वहाँ से पञ्चालादि क्षत्रियों के सर्वथा चले जाने पर उस जनपद की संज्ञा 'पञ्चाल' नहीं होनी चाहिये, क्योंकि जिस सम्बन्ध से (योग से) जनपद का 'पञ्चाल' नाम रखा गया था, वह सम्बन्ध तो अब रहा नहीं, फिर भी 'पञ्चाल' का व्यवहार उस जनपद के लिये होता है। इस से यह प्रमाणित होता है कि ये संज्ञायें निवासादि अर्थ-निमित्तक (योग निमित्तक) नहीं हैं, अपि तु संज्ञाविशेष ही हैं।

(१२९८) पद—प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्, अर्थस्य, अन्यप्रमाणत्वात्। अनुवृत्ति—अशिष्यम्। विधि-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—प्रकृति तथा प्रत्यय के अर्थ में प्रत्ययार्थ ही प्रधान है—यह कथन भी अनावश्यक (अशिष्यम्) है। उसमें भी लोक ही प्रमाण (=अन्य प्रमाण) है।

विवरण—पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों ने—प्रधान एवम् गौण—दोनों अर्थों की अभिव्यक्ति साथ ही होती है (प्रधानोपसर्जने सह ब्रूतः) तथा 'प्रकृति' एवं 'प्रत्यय' भी साथ ही अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं (प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः)—इस प्रकार लक्षण माने थे। उनका यहाँ प्रत्याख्यान किया जा रहा है। कारण यह है कि व्याकरण-ज्ञान-शून्य व्यक्ति भी प्रधानार्थ एवं प्रत्ययार्थ से परिचित रहता है। उदाहरणार्थ 'राजपुरुषम् आनय' कहने पर राजविशिष्ट को ही लाया जाता है, अर्थात् वहाँ राजा को अथवा पुरुष-मात्र को नहीं लाया जाता। प्रधानार्थ के जानने से ही युक्त व्यक्ति का लाया जाना सम्भव होता है। उसी प्रकार प्रत्ययार्थ के विषय में भी 'औपगवम् आनय' कहने पर उपगु-विशिष्ट अपत्य को लाया जाता है न कि केवल 'उपगु' को या उसकी सन्तति को। इस प्रकार प्रत्यय के अर्थ का बोध भी स्वाभाविक ही है। ये सब लोक व्यवहाराधीन हैं, अतः इन्हें लक्षण की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता।

(१२९९) पद—कालोपसर्जने, च, तुल्यम्। अनुवृत्ति—अशिष्यम्। विधि-(निषेध)-सूत्र।

र्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः; विशेषणमुपसर्जनम्, इत्यादि पूर्वाचार्यैः परिभाषितम् । तत्राप्यशिष्यत्वं समानम् । लोकप्रसिद्धेः । (१३००) विशेषणानां चाजातेः १ । २ । ५२ ॥ लुबर्थस्य विशेषणानामपि तद्वल्लिङ्गवचने स्तो जातिं वर्जयित्वा । पञ्चाला रमणीयाः । गोदौ रमणीयौ । अजातेः किम् ? पञ्चाला जनपदः । गोदौ ग्रामः । 'हरीतक्यादिषु व्यक्तिः' (वा ७१५) । हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः । 'खलतिकादिषु वचनम्' (वा ७१६) ।

अशिष्यमित्यनुवृत्तं भावप्रधानमाश्रीयते । कालविषये उपसर्जनविषये च यत्पूर्वाचार्याणां तत्राप्यशिष्यत्वं समानमित्यर्थः । तद्विशेषवचनं विशदयन् व्याचष्टे—अतीताया इत्यादिना ।

(१३००) विशेषणानां चाजातेः । कस्य विशेषणानामित्याकाङ्क्षायां षष्ठ्या विपरिणतं सम्बध्यते, लुप्प्रत्ययार्थस्येति लभ्यते । तदा—लुबर्थस्येति । तद्वदिति । प्रकृतिवदित्यर्थः । 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' इत्यस्मादुत्तरं पठितमिदं सूत्रं तत्रैव व्याख्यातुमुचितम् । पञ्चाला रमणीया इति । पञ्चालानां निवासो जनपद इत्यर्थः । अत्र प्रत्ययार्थं जनपदं प्रति विशेषणस्यापि रमणीयशब्दस्य प्रकृतिवद् बहुवचनम् । गोदौ रमणीयाविति । गोदयोर्निवासो जनपद इत्यर्थः । अत्र प्रत्ययार्थजनपदस्य तद्विशेषणस्यापि प्रकृतिवत् द्विवचनम् । पञ्चाला जनपद इति । जनपदशब्दस्य जातिवाचित्वान्न प्रकृतिवद् बहुवचनम् । गोदौ ग्राम इति । अत्र ग्रामशब्दस्य जातिवाचित्वान्न प्रकृतिवत् द्विवचनम् । हरीतक्यादिषु व्यक्तिरिति । वार्तिकमिदम् । लुपि लिङ्गं प्रकृतिवद्भवति । न तु वचनमिति शेषः ।

मूलार्थ—पूर्व अर्धरात्रि के उपरान्त उत्तर अर्धरात्रि पर्यन्त समय 'अद्यतन' कहलाता है । विशेषण को उपसर्जन कहते हैं—इत्यादि पूर्वाचार्यों ने परिभाषायें की हैं । उस विषय में भी उपदेश न करना पूर्ववत् है ।

विवरण—कुछ आचार्य पूर्व अर्धरात्रि से लेकर दूसरी १२ बजे रात्रि तक अद्यतन काल (आज की अवधि) मानते हैं । इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने उपसर्जन की भी परिभाषा कही है—'अप्रधानम् उपसर्जनम्' । किन्तु यह सब कहने की आवश्यकता नहीं है । अर्थात् यह सब लोकव्यवहाराधीन है । कारण यह है कि व्याकरण के ज्ञान के बिना भी 'यह मैंने आज किया', 'यह कल किया' तथा 'यह अप्रधान' है एवम् 'यह मुख्य है'—ऐसे प्रयोग किये जाते हैं । अतः लोक से ही इनकी प्रतीति स्वतः सिद्ध है ।

(१३००) पद—विशेषणानां, च, अजातेः । **अनुवृत्ति**—लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने । अतिदेशसूत्र ।

मूलार्थ—जातिवाचक शब्दों के अतिरिक्त 'लुप्'-अर्थ के विशेषणों के भी विशेष्य के समान लिङ्ग-वचन होते हैं । उदा० १-पञ्चालाः रमणीयाः । २-गोदौ रमणीयौ । 'अजाति' क्यों कहा ? १-पञ्चालाः जनपदः तथा २-गोदौ ग्रामः (में विशेष्यानुसार नहीं हुए) । वा० १-'हरीतकी' आदि शब्दों में 'प्रकृति' के समान लिङ्ग होता है । उदा० हरीतक्याः फलानि—हरीतक्यः । वा० २-'खलतिक' आदि शब्दों में प्रकृतिवत् 'वचन' होता है । उदा० खलतिकस्य पर्वतस्य अदूरभवं वनानि—खलतिकं वनानि । वा० ३-'लुप्'-अर्थ मनुष्यात्मक होने पर इसका (युक्तवद्भाव) प्रतिषेध है । उदा० चञ्चा अभिरूपः ।

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक विषय ही है । अष्टाध्यायी क्रम में 'युक्तवद्भाव' के प्रकरण में यह सूत्र पढ़ा गया है । अतः तत्सम्बन्धी अनुवृत्ति पर ध्यान देना होगा । इसके पूर्व "लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने" (१-२-५१) सूत्र पढ़ा गया है । अतः समग्र सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है । प्रकृत

खलतिकस्य पर्वतस्यादूरभवानि खलतिकं वनानि। 'मनुष्यलुपि प्रतिषेधः' (वा ७१७)। मनुष्यलक्षणे लुबर्थे विशेषणानां न। लुबन्तस्य तु भवतीत्यर्थः। चञ्चा अभिरूपः।

हरीतक्याः फलानि हरीतक्य इति। 'हरीतक्यादिभ्यश्च' इति विकारप्रत्ययस्य लुप्। अत्र प्रत्ययार्थेषु फलेषु प्रकृतिः स्त्रीलिङ्गमेव भवति, न त्वेकवचनमिति भावः। खलतिकादिषु वचनम्। वार्तिकमिदम्। एषु लुपि प्रकृतिवद्वचनमेव भवति, न तु लिङ्गमित्यर्थः। खलतकं वनानीति। 'वरणादिभ्यश्च' इति लुप्। अत्र खलतिकशब्दस्य लुप्तप्रत्ययान्तस्य प्रकृतिवत्पुंल्लिङ्गत्वं न भवति, किन्तु एकवचनमेवेति भावः। मनुष्यलुपि प्रतिषेध इति। वार्तिकमिदम्। मनुष्यलक्षणे इति। मनुष्यात्मके लुप्तप्रत्ययार्थे यानि विशेषणानि तेषां प्रकृतिवल्लिङ्गवचनप्रतिषेध इत्यर्थः। चञ्चा अभिरूप इति। चञ्चा तृणमयी प्रतिमा, तत्सदृशो मनुष्यः चञ्चा। 'इवे प्रतिकृतौ' इत्यधिकारे 'संज्ञायाम्' इति कनः 'लुम्मनुष्ये' इति लुप्। अत्र लुप्तप्रत्ययान्तस्य चञ्चाशब्दस्य मनुष्ये वाच्ये प्रकृतिलिङ्गत्वम्, न तु तद्विशेषणस्य अभिरूपशब्दस्येति भावः। इति युक्तवद्भावप्रकरणम्।

सूत्र में 'विशेषणानां' पद साकाङ्क्ष है। 'किसके विशेषणों के सम्बन्ध' में-इस प्रकार की आकाङ्क्षा में अनुवर्तमान 'लुपि' पद षष्ठी विभक्ति में विपरिणमित होकर 'विशेषणानां' के साथ अन्वित होता है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "प्रत्यय के लोप ('लुप्') होने पर उस लुप्त-प्रत्ययार्थक शब्द के विशेषणों में भी प्रकृत्यर्थ के समान ही ('युक्तवत्') लिङ्ग और संख्या हो जाते हैं, किन्तु जातिवाची शब्द यदि विशेषण या विशेष्यरूप में प्रयुक्त हो तो उसे युक्तवद् भाव नहीं होता"। **उदाहरण—(१) पञ्चालाः रमणीयाः** (पाञ्चालों का जनपद सुन्दर है)। (२) **गोदौ रमणीयौ** (गोद के जनपद सुन्दर हैं)। इन दोनों—'पञ्चालाः' तथा 'गोदौ'-में जनपद-वाची 'अण्' प्रत्यय का "जनपदे लुप्" (४-२-८१) से लोप हुआ है। वहाँ लुप्त-प्रत्ययार्थ को अभिलक्षित कर "लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने" (१-२-५१) सूत्र से विशेष्यवाची पदों को तो युक्तवद्भाव का विधान किया गया था, किन्तु लुप्-सम्बन्धी-अर्थ के विशेषणों में युक्तवद्भाव की व्यवस्था नहीं की गई थी। अतः लुबर्थ के विशेषणों में भी युक्तवद्भाव विधान किये जाने से 'पञ्चालाः' के समान 'रमणीयाः' में बहुवचन तथा 'गोदौ' के समान 'रमणीयौ' में द्विवचन हुआ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अजातेः' पद का निवेश होने से 'जातिवाचक' जनपद और ग्राम आदि शब्दों में इस नियम (युक्तवद्भाव) के संकुचित होने के फलस्वरूप **पञ्चालाः जनपदः** (पाञ्चाल जनपद) तथा **गोदौ ग्रामः** (गोद ग्राम) में विशेषण, विशेष्य के अनुसार न होकर, अपनी प्रकृति के अनुसार ही लिङ्ग-वचन के अधिकारी हुए (एकवचन में प्रयुक्त हुए)।

कुछ शब्दों में विशेष नियमों को बतलाते हुए तीन वार्तिक प्रस्तुत किये जा रहे हैं। तदनुसार (१) **हरीतकी** आदि शब्दों में प्रत्यय का लोप होने पर केवल लिङ्ग (व्यक्ति) ही प्रकृतिवत् होता है। अर्थात् 'वचन' (संख्या) में परिवर्तन नहीं होता। तदनुसार **हरीतक्यः** (हर्रें) में "अनुदात्तादेरञ्" (४-२-४४) से आगत 'अञ्' का "हरीतक्यादिभ्यश्च" (४-३-१६७) सूत्र से 'लुप्' होता है। "लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने" (१-२-५१) सूत्र से प्राप्त 'स्त्रीलिङ्ग' एवम् 'एक-वचन' इन दोनों में से प्रकृत वार्तिक के प्रभाव से केवल स्त्री-लिङ्ग (हरीतक्याः) हुआ। 'फलानि' के अनुरोध से प्रथमा बहुवचन हो गया।

(२) द्वितीय वार्तिक द्वारा **खलतिक** आदि शब्दों में केवल 'वचन' अर्थात् संख्या के सम्बन्ध में ही युक्तवद्भाव मान्य है। अतः **खलतिकं वनानि** (खलतिक पर्वत के समीप के जंगल) में "अदूरभवश्च" (४-२-७०) से आगत 'अण्' प्रत्यय का "वरणादिभ्यश्च" (४-२-८२) से लोप होने पर पूर्ववत् प्राप्त लिङ्ग-वचन व्यवस्था में से प्रकृत वार्तिक से केवल प्रकृति वाचक शब्द में

(१३०१) वरणादिभ्यश्च ४ । २ । ८२ ॥ अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः । **(१३०२) शर्कराया वा ४ । २ । ८३ ॥** अस्माच्चातुरर्थिकस्य वा

(१३०१) अथ प्रकृतमारभते—वरणादिभ्यश्च । 'जनपदे लुप्' इत्युत्तरमिदं सूत्रम् । वरणादिभ्यः परस्य चातुरर्थिकप्रत्ययस्य लुप् स्यादित्यर्थः । पूर्वेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अजनपदार्थ आरम्भ इति । वरणानामिति । वरणा नाम नदी काश्या उत्तरतः प्रसिद्धा । अवयवाभिप्रायं पूजार्थं वा बहुवचनम् । वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः । अत्र लुप्तप्रत्ययान्तस्य वरणाशब्दस्य नगरे वाच्ये प्रकृतिवत्स्त्रीलिङ्गं बहुवचनं च ।

वचनमात्र व्यवस्था मान्य होती है। अतः 'एकवचन' खलतिकं में तो युक्तवत् हुआ वह भी विशेष्य (वनानि) के अनुसार नपुंसक 'लिङ्ग' ही हुआ ।

(३) तृतीय वार्तिक द्वारा मनुष्य-लक्षणार्थक प्रत्यय के 'लुप्' (लोप होने) की स्थिति में विशेषण-वाची शब्दों में 'लिङ्ग' तथा 'वचन' का विशेष्य-वाची शब्दों के साथ ऐसा (युक्तवद्भाव) नहीं होता । अतः चञ्चा[1] अभिरूपः (घास-फूस की बनी मनुष्य की मूर्ति) में "इवे प्रतिकृतौ" अधिकार के अन्तर्गत "संज्ञायाम्" (५-३-९७) से आगत 'कन्' प्रत्यय का "लुम्मनुष्ये" (५-३-९८) से लोप हुआ है । तब "लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने" (१-२-५१) से प्राप्त लिङ्ग-वचन व्यवस्था के अन्तर्गत लुप्त-प्रत्ययान्त 'चञ्चा' शब्द के मनुष्य-वाची रहने के कारण 'प्रकृति'वाची शब्द के अनुरूप (स्त्री) लिङ्ग तो रहा । किन्तु प्रकृत वार्तिक के अनुसार विशेषण-वाची 'अभिरूप' शब्द में परिवर्तन नहीं हुआ ।

(४) "विशेषणानां चाजातेः" सूत्र को "लुपि युक्तवत्०" के बाद रखना चाहिये था ।

(१३०१) पद—वरणादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—लुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—जनपद-भिन्न के लिये यह सूत्र है । उदा० वरणानाम् अदूरभवं नगरम्—वरणाः ।

विवरण—प्रासङ्गिक प्रकरण के उपरान्त पुनः प्रस्तुत तद्धित-प्रकरण की ओर ध्यान देना है । सूत्र में विधेयांश की पूर्ति के लिये "जनपदे लुप्" (४-२-८१) से 'लुप्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । प्रकरण-वश यह 'लुप्' भी चातुरर्थिक प्रत्यय का होता है । अतः सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'वरणादि'गण-पठित शब्दों से आगत अदूरभव आदि अर्थों में चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप (लुप्) हो" । **उदाहरण**—**वरणाः** (वरणा[2] का समीपवर्ती नगर—वरणानाम् अदूरभवं नगरम्—वरणा+अ (अण्—"अदूरभवश्च" ४-२-७१) > वरणाः ('अण्' का लोप होने पर "लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने" १-२-५१ से युक्तवद्भाव के कारण लुप्त प्रत्ययान्त वरणा शब्द के नगरवाच्य होने से प्रकृतिवत् स्त्रीलिङ्ग प्रथमा बहुवचन) ।

विशेष—"जनपदे लुप्" (४-२-८१) सूत्र से भी यद्यपि चातुरर्थिक प्रत्यय के लोप की सम्भावना रही तथापि जनपद से भिन्न अर्थ में भी चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप-विधान करने के लिये प्रकृत सूत्र की पृथक् उपयोगिता है ।

---

१. चञ्चेव मनुष्यः चञ्चा—इत्यर्थे 'चञ्चा तृणमयः पुमान्' ।

२. 'वरण' अथवा 'वरणा' शब्द वनौषधिवर्ग में वृक्ष-विशेष के पर्यायवाची शब्दों में दिया है । 'अदूरभव' अर्थ में वरण नामक वृक्षों के समीप नगरी 'वरणा' शब्द से अभिधेय होनी चाहिये । इस नगरी के सम्बन्ध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह अनुमान किया है कि इस नाम का दुर्ग आश्वकायनों के राज्य में 'सिन्धु' और 'स्वात' नदियों के मध्य में स्थित रहा । 'वरणा' दुर्ग के वीर अश्वक थे । बालमनोरमाकार ने 'वरणा' शब्द काशी के उत्तर भाग में गंगा से मिलने वाली छोटी नदी के रूप में माना है । तथा विग्रहस्थ बहुवचन पूजार्थक बतलाया है ।

लुप्स्यात् । (१३०३) ठक्छौ च ४ । २ । ८४ ॥ शर्कराया एतौ स्तः । कुमुदादौ वराहादौ च पाठसामर्थ्यात्पक्षे ठच्ककौ । वाग्रहणसामर्थ्यात्पक्षे औत्सर्गिकोऽण् । तस्य लुब्विकल्पः । षड् रूपाणि । शर्करा–शार्करम्–शार्करिकम्–शर्करीयम्–शर्करिकम्–शार्करकम् । (१३०४) नद्यां मतुप् ४ । २ । ८५ ॥ चातुरर्थिकः । इक्षुमती । (१३०५)

(१३०२) शर्कराया वा । लुबित्यनुवर्तते । प्रत्यासत्त्या चातुरर्थिकस्येति लभ्यते । तदाह—अस्मादिति ।

(१३०३) ठक्छौ च । शर्कराया इत्यनुवर्तते । तदाह—शर्कराया एतौ स्त इति । ठच्ककाविति । कुमुदादित्वात् ठच्, वराहादित्वात् कक् इति विवेकः । वाग्रहणेति । अन्यथा तत्र पाठसामर्थ्यादेव ठचः ककश्च लोपविकल्पसिद्धेस्तद्वैयर्थ्यादिति भावः । शर्करेति । अणो लुपि युक्तवद्भावे रूपम् । शार्करमिति । अणि रूपम् । शार्करिकमिति । ठकि रूपम् । शर्करीयमिति । छे रूपम् । शर्करिकमिति । ठचि रूपम् । शार्करकमिति । ककि रूपम् । शर्कराः सन्त्यस्मिन् इत्यर्थः, निर्वृत्तमिति वा ।

(१३०४) नद्यां मतुप् । चातुरर्थिक इति । शेषपूरणम् । इक्षुमतीति । मतुपि उपावितौ । इक्षवः सन्त्यस्मिन् इत्यर्थः ।

(१३०२) पद—शर्करायाः, वा । अनुवृत्ति—लुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इससे ('शर्करा' से) चातुरर्थिक (प्रत्यय) का वैकल्पिक लोप हो ।

विवरण— 'लुप्' का ही विषय है । तदनुसार "षष्ठी समर्थ 'शर्करा' शब्द से परवर्ती चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप होता है" ।

(१३०३) पद—ठक्-छौ, च । अनुवृत्ति—शर्करायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'शर्करा' शब्द से ये दो प्रत्यय भी हों । कुमुदादि तथा वराहादि में पाठ होने से क्रमशः 'ठच्' और 'कक्' भी होंगे । 'वा' ग्रहण करने से पक्ष में औत्सर्गिक 'अण्' भी होगा । उसका वैकल्पिक लोप होगा । इस तरह छह रूप बनेंगे—१–शर्करा, २–शार्करम्, ३–शार्करिकम्, ४–शर्करीयम्, ५–शर्करिकम् तथा ६–शार्करकम् ।

विवरण—'शर्करा' शब्द से औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य प्रत्ययों का विधान भी बतलाया जा रहा है । तदनुसार "'शर्करा' शब्द से चातुरर्थिक 'ठक्' तथा 'छ' प्रत्यय भी होते हैं" । इस प्रकार 'शर्करा' शब्द के कुल मिला कर छह रूप बनेंगे । (१) शर्करा→औत्सर्गिक अण्←"तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि" (४-२-६६) तथा उसका लुप्→"शर्कराया वा" (४-२-८३) एवं युक्तवद्भाव होने पर शर्करा+अण् लोप एवं स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन । (२) लोप न होने पर→शार्करः[1]←अण्, आदिवृद्धि तथा 'आ' का लोप । (३) 'कुमुदादि' गण में पाठ होने से→ शार्करिकः←'ठच्' (=इक) तथा 'आ' का लोप । (४) वराहादि-गण में पाठ होने से—शार्करकः←'कक्' प्रत्यय तथा आदि-वृद्धि । (५) 'ठक्' प्रत्यय होने पर→शार्करिकः←"ठक् छौ च" (४-२-८१) ठ=इक, आदिवृद्धि तथा 'आ' लोप । (६) 'छ' प्रत्यय होने पर→शर्करीयः←छ=ईय तथा 'आ' का लोप । सब शब्दों का समान अर्थ—शर्करा अर्थात् छोटे कंकड़ जिस देश में हैं । विग्रह—शर्कराः सन्त्यस्मिन् देशे ।

(१३०४) पद—नद्यां, मतुप् । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

---

१. उत्तरी सिन्ध का एक नगर 'शार्कर' कहलाता था । यही वर्तमान 'सक्खर' है ।

मध्वादिभ्यश्च ४ । २ । ८६ ॥ मतुप्स्याच्चातुरर्थिकः । मधुमान् । अनद्यर्थ आरम्भः ।
(१३०६) कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ४ । २ । ८७ ॥ कुमुद्वान् । नड्वान् । वेतस्वान् । आद्ययोः 'झयः' (सू १८९८)' इति, अन्त्ये 'मादुपधायाः—' (१८९७) इति वक्ष्यमाणेन वः । 'महिषाच्चेति वक्तव्यम्' (वा २७६१) । महिष्मान्नाम देशः ।

(१३०५) मध्वादिभ्यश्च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—मतुप् स्याच्चातुरर्थिक इति । मधुमानिति । मधूनां निवास इत्यर्थः । पूर्वेण सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अनद्यर्थ इति ।

(१३०६) कुमुदनड । कुमुद नड वेतस एतेभ्यः ड्मतुप् स्यादित्यर्थः । डकारः उपो च इतः । अयं मत्वर्थ एवेति 'न पदान्त' इति सूत्रभाष्यकैयटयोः स्थितम् । कुमुद्वानिति । कुमुदाः अस्मिन् सन्तीति विग्रहः । ड्मतुपि डित्वात् टिलोपः । नड्वानिति । नडाः अस्मिन् सन्तीति विग्रहः 'कुमुद्वान् कुमुदप्राये' इत्यमरः । वेतस्वानिति । वेतसाः अस्मिन् सन्तीति विग्रहः । आद्ययोरिति । कुमुद्वच्छब्दे नड्वच्छब्दे च 'झयः' इति मतुपो

मूलार्थ—चातुरर्थिक 'मतुप्' हो । उदा० इक्षुमती ।

विवरण—उद्देश्यवाची पदों का लाभ अनुवृत्ति-वश होता है । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "'ङ्यन्त', 'आबन्त' तथा 'प्रातिपदिक' यदि 'नदी' अभिधेय हों तो चातुरर्थिक 'मतुप्' प्रत्यय हो" । 'मतुप्' में 'प्' तथा 'उ' इत् हैं । प्रत्यय का स्वरूप 'मत्' है । "तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि" (४-२-६७) के सम्बन्ध का सम्भव होने से 'प्रथमा-समर्थ' से प्रत्यय होता है । 'तन्नाम्नि' पद प्रकृत-सूत्रस्थ 'नद्यां' का विशेषण है, देश का नहीं । **उदाहरण—इक्षुमती**[1] (ईख जिस देश में हों)—इक्षवः सन्त्यस्मिन् देशे→इक्षु+मत् (मतुप्)+ई (ङीप्—"उगितश्च" ४-१-६) ।

(१३०५) पद—मध्वादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—मतुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—चातुरर्थिक 'मतुप्' हो । उदा० मधुमान् । नदीवाचक से भिन्न के लिये इसकी उपयोगिता है ।

विवरण—विधेयांश का लाभ पूर्व सूत्र (१३०४) से अनुवृत्ति के कारण है । अतः "'मधु' आदि प्रातिपदिकों से भी चातुरर्थिक 'मतुप्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—मधुमान्** (जहाँ मधु हो) मधूनां निवासः—मधु+मत्>मधुमत्+सु मधुमात्-स् ('म' को दीर्घ—"अत्वसन्तस्य चाऽधातोः" ६-४-१४) ▷ मधुमा-न्-त्-स् ('नुम्' आगम) > मधुमान्त् ('स्'—विभक्ति का हल्-ङ्यादि लोप) > मधुमान् ('त्' का लोप—"संयोगान्तस्य लोपः" ८-२-२३) ।

विशेष—इस सूत्र की चरितार्थता नदीभिन्न अभिधेय होने पर है, अन्यथा चातुरर्थिक में "नद्यां मतुप्" (४-२-८५) सूत्र से 'मतुप्' प्रत्यय प्राप्त था ।

(१३०६) पद—कुमुद-नड-वेतसेभ्यः, ड्मतुप् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १-कुमुद्वान् । २-नड्वान् । ३-वेतस्वान् । आदिम दो उदाहरणों में "झयः" (सू १८९८) तथा अन्तिम में "मादुपधायाश्च" (सू० १८९७) से 'म्' के स्थान पर 'व्' होता है । वा० 'महिष' से भी 'ड्मतुप्' प्रत्यय कहा जाय । उदा० **महिष्मान्** (नाम का देश) ।

विवरण—"यदि प्रत्ययान्त शब्द देशवाचक हो तो 'कुमुद', 'नड', तथा 'वेतस' शब्दों से चातुरर्थिक 'ड्मतुप्' प्रत्यय होता है" । 'ड्मतुप्' मे 'प्', 'उ' तथा 'ड्' इत्संज्ञक हैं । प्रत्यय का

---

१. यही फर्रुखाबाद के पास 'ईखन' नदी के नाम से जानी जाती है ।

मस्य वकारः। वेतस्वच्छब्दे तु 'मादुपधाया' इति मस्य वकार इत्यर्थः। वस्तुतस्तु नड्वच्छब्देऽपि 'झयः' इत्यस्यासिद्धत्वात् 'मादुपधायाः' इत्येव न्याय्यम्, प्रकरणे 'प्रकरणमसिद्धम्, न तु एकस्मिन्नेव प्रकरणे पूर्वयोगं प्रति परस्यासिद्धत्वम्' इत्यस्य 'उपसर्गादसमासे' इति सूत्रभाष्ये दूषितत्वात्। वेतस्वानित्यत्र रुत्वं तु न, अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात्। 'न पदान्त' इति निषेधस्तु न, पदे अन्त इति विगृह्य पदे परतश्चरमावयवे कर्तव्ये परपदस्थाजादेशस्यैव तन्निषेधप्रवृत्तेर्भाष्याभ्युपगतत्वात् 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति निषेधोऽपि न, पदे अन्त इति विगृह्य तत्र स्थानिवत्त्वनिषेधव्यावृत्तिसाधनपरभाष्यप्रामाण्येन पदचरमावयवकार्यविधायकातिरिक्तस्यैव त्रैपादिकस्य ग्रहणादिति शब्देन्दुशेखरे विस्तरः। महिषाच्चेत्यनन्तरं तु ड्मतुबिति शेषः। महिष्मानिति। महिषाः अस्मिन् सन्तीति विग्रहः। डित्त्वाट्टिलोपः। अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वान्न जश्त्वम्। प्रत्यये भाषायां नित्यम् इति तु न। तस्य सवर्णे परतो विधेः। न हि षकारसवर्णोऽनुनासिकोऽस्ति।

स्वरूप 'मत्' है। 'मत्' के 'ड्'-इत्संज्ञक होने का फल यह है कि "टेः" (६-४-१४३) सूत्र से टिसंज्ञक भाग (= अ) का लोप हो जायगा। उदाहरण—(१) कुमुद्वान् (जिस देश में कुमुद होते हैं) कुमुदाः सन्ति अस्मिन् देशे। कुमुद्+मत् (ड्मतुप्) > कुमुद्+मत् ('अ' का 'टि' लोप) >कुमुद्+वत्>("झयः" ८-२-१०→'मतुप्' प्रत्यय पर रहते 'झय्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण 'द्' से पर म्=व्) > कुमुद्वान् (प्रथमा एकवचन में—दीर्घ, नुम् आगम, 'स' लोप, संयोगान्तलोप)। (२) नड्वान् (जिस देश में नरकट अधिक होते हैं) नडाः सन्ति अस्मिन् देशे। नड +मत् (ड्मतुप)। शेष कार्य पूर्ववत्। (३) वेतस्वान् (जिस देश में बेंत अधिक हों) वेतसाः सन्ति अस्मिन् देशे—वेतस्+मत् (ड्मतुप्) > वेतस्+मत् ('टि'लोप) >वेतस्+वत् ('म्' उपधा में होने से "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" ८-२-९ सूत्र से 'ड्मतुप्' का म्=व्) > वेतस्वान् (प्रथमा एकवचन में विभक्ति-कार्य)।

वार्तिक—'ड्मतुप्' प्रत्यय के प्रसङ्ग में वार्तिककार ने उपर्युक्त तीनों शब्दों के अतिरिक्त 'महिष' शब्द से भी देश का अभिधान होने पर 'ड्मतुप' प्रत्यय का विधान कहा है। तदनुसार **महिष्मान्** (जहाँ भैंसे हों)। महिषाः सन्ति अस्मिन् देशे। महिष+मत् (ड्मतुप्)। शेष कार्य पूर्ववत्। 'म्' के स्थान पर 'व्' की प्राप्ति नहीं है।

विशेष—ऊपर दिये हुए दो उदाहरणों—'कुमुद्वान्' तथा 'नड्वान्' में 'टि' (= अ) लोप के पश्चात् क्रमशः 'झय्' वर्णों 'द्' तथा 'ड्' के परवर्ती 'मतुप्' के 'म्' को 'व्' आदेश होना बतलाया गया है। यहाँ यह शङ्का होती है कि 'टि' लोप के स्थानिवद्भाव होने पर 'अ' बुद्धि होने से झयन्त अंग के अभाव में 'व्' आदेश कैसे होगा? इसका समाधान यह दिया जाता है कि 'व्' आदेश अष्टमाध्यायस्थ है तथा 'टि' लोप षष्ठाध्यायस्थ (= त्रिपादीस्थ) है। अतः ऐसी स्थिति में 'व्' प्रकरण के असिद्ध होने के कारण 'टि' लोप को स्थानिवद्भाव नहीं होता—'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्'। इस पर भी पुनः 'नड्वान्' प्रयोग के सम्बन्ध में यह शंका उपस्थित की जाती है कि वहाँपर 'व्' के असिद्ध होने से अवर्णोपध के पश्चाद्वर्ती 'म्' के स्थान पर 'व्' आदेश "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" (८-२-९) सूत्र से (पहले उपस्थिति होने के कारण) क्यों न हो? इसका उत्तर यह है कि 'प्रकरण में प्रकरण असिद्ध होता है न कि एक ही प्रकरण में पूर्वयोग के प्रति परयोग' (प्रकरणे प्रकरणम् असिद्धम् न योगे योगः)। किन्तु दोनों 'व्' विधायक सूत्रों में "झयः" (१-२-१०) पर है, अतः उसका ही आश्रयण युक्ततर है।

(२) 'वेतस्वान्' में अकारान्त 'वेतस' शब्द सुबन्त होने से 'डमतुप्' में 'ड' इत्संज्ञक होने की विशेषतावश (सामर्थ्यवश) 'टि'लोप होने पर भी, एकदेशविकृतन्याय से (जैसे कुत्ते की पूँछ कटने

(१३०७) नडशादाड्ड्वलच् ४ । २ । ८८ ॥ नड्वलः । 'शादो जम्बालघासयोः' इत्यमरः । शाद्वलः । (१३०८) शिखाया वलच् ४ । २ । ८९ ॥ शिखावलम् ।

(१३०७) नडशादाड्ड्वलच् । नड्वल इति । डित्त्वाट्टिलोपः । शाद्वल इति । शादाः अस्मिन् सन्तीति विग्रहः । शादो दन्त्योपधः । डोपध इत्यन्ये । 'नडप्राये नड्वान्नड्वल इत्यपि' इत्यमरः । 'शाद्वलः शादहरिते' इति च ।

(१३०८) शिखाया वलच् । निर्वृत्ताद्यर्थं सूत्रम् । देशे तन्नाम्नि अणो बाधनार्थं च । 'दन्तशिखात्संज्ञायाम्' इति पञ्चमे वक्ष्यमाणं तु अदेशेऽपि शिखावलः इति रूपार्थम् ।

पर भी वह कुत्ता ही कहलाता है) पदसंज्ञाप्रयुक्त कार्य 'स्' के स्थान पर 'र्' की (रुत्व) सम्भावना का निराकरण यद्यपि स्थानिवद्भाव से किया जा सकता है, तथापि 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्'—इस नियम से पुनरपि रुत्वविधि की आशंका बनी ही रहती है। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि अल्पापेक्ष होने से 'रुत्व' अन्तरङ्ग है तथा अधिकापेक्ष 'टि'लोप बहिरङ्ग है, अतः 'टि'लोप के असिद्ध होने के कारण 'रुत्व' की प्रवृत्ति नहीं होगी। पुनरपि अन्तरङ्ग-परिभाषा के सपादसप्ताध्यायस्थ होने के कारण यदि यह कहा जाय कि त्रिपादी में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती तब तो 'वेतस्वान्' में रुत्व की शंका बनी ही रहेगी। इसका निवारण कार्यकाल पक्ष का आश्रय लेकर किया जाता है। तदनुसार कार्यकाल-पक्ष में परिभाषाओं का विधिप्रदेश ही देश हो जाता है, अतः "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र के 'पूर्व' शब्द से यह परिभाषा उपस्थित नहीं होगी। इस स्थिति से इस परिभाषा के प्रति त्रैपादिक सूत्र सिद्ध ही रहेंगे। पद-संज्ञा में 'यथोद्देश' पक्ष का ही आश्रय लिया जाता है—यह सिद्धान्त स्वीकार करने से 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इस नियम की प्रवृत्ति न होने से 'अ' लोप ('ट'-लोप) को स्थानिवद्भाव हो जाने के फलस्वरूप 'रुत्व' की प्राप्ति नहीं होती।

(३) प्रकृत सूत्र में 'ड्मतुप्' के स्थान पर प्रक्रिया-लाघव की अपेक्षा से 'ड्वतुप्' प्रत्यय का ही विधान किया जाता। अथवा सूत्र का स्वरूप "कुमुद-नड-वेतसेभ्यो डित्" रखा जाता तो भी इष्ट सिद्धि सम्भव थी। तथाऽपि 'महिष्मान्' की सिद्धि के लिये 'ड्मतुप्' कथन की चरितार्थता है, जिसकी पूर्ति उस वार्तिक द्वारा की गई है। 'महिष्मान्' में 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वार्तिक की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'ष्' का सवर्ण कोई अनुनासिक नहीं है।

(१३०७) पद—नडशादात्, ड्वलच्। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १-नड्वलः। 'शाद' शब्द-कीचड़ तथा घास अर्थ में है—अमरकोष। २-शाद्वलः।

विवरण—'"नड' तथा 'शाद' शब्दों से 'ड्वलच्' प्रत्यय होता है। 'ड्' तथा 'च्' 'इत्' हैं। प्रत्यय का स्वरूप 'वल' है। 'ड्' इत् होने का फल 'टि' लोप है। उदाहरण—(१) नड्वलः (जिस स्थान में नरकट हों) नडाः सन्ति अस्मिन् देशे—नड्+वल (ड्वलच्) > नड्वलः (टिलोप तथा विभक्ति-कार्य) (२) शाद्वलः (घास का मैदान) शादाः सन्ति अस्मिन् देशे। शाद+वल (ड्वलच्)। शेष कार्य पूर्ववत्। 'शाद' शब्द का अर्थ अमर कोषानुसार 'कीचड़' तथा 'हरी कोमल घास'-है।

(१३०८) पद—शिखायाः, वलच्। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० शिखावलम्।

विवरण—'"शिखा' शब्द से चातुरर्थिक 'वलच्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—शिखा-

(१३०९) उत्करादिभ्यश्छः ४ । २ । ९० ।। उत्करीयः । (१३१०) नडादीनां कुक्च ४ । २ । ९१ ।। नडकीयम् । 'क्रुञ्चा ह्रस्वत्वं च' (ग सू ८०) । क्रुञ्चकीयः । 'तक्षन्नलोपश्च' (ग सू ८१) । तक्षकीयः । (१३११) बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् ६ ।

(१३०९) उत्करादिभ्यश्छः । चातुरर्थिक इति शेषः । उत्करीय इति । देशविशेषोऽयम् । उत्करेण निर्वृत्तमिति वा, तस्य निवासः, तस्य अदूरभव इति वा ।

(१३१०) नडादीनां कुक्च । नडादिभ्यः छः स्यात् चातुरर्थिकः प्रकृतेः कुक् च । क्रुञ्चा ह्रस्वत्वं चेति । नडादिगणसूत्रम् । कुञ्चाशब्दाच्छः, प्रकृतेः कुक्, आकारस्य ह्रस्वश्च । क्रुञ्चकीय इति । क्रुञ्चा अस्मिन् सन्तीत्यादिविग्रहः । तक्षन्नलोपश्च । इदमपि गणसूत्रम् । तक्षन्शब्दात् छः कुक् नकारस्य लोपश्च ।

वलम् (शिखावाला नगर, सोन तट पर स्थित 'रीवाँ' का सिहवल) । 'शिखा' नाम कश्चित् मनुष्यः, तेन निर्वृत्तं नगरम्—शिखा+वल (वलच्) ।

विशेष—आगे पञ्चमाध्याय में भी "दन्त-शिखात् संज्ञायाम्" (५-२-११३) सूत्र से विहित 'वलच्' प्रत्यय कहा गया है, किन्तु वह देश-भिन्न अर्थ में है । इसके अतिरिक्त प्रकृत सूत्र की उपयोगिता 'देशे तन्नाम्नि' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के बाधनार्थ भी है ।

(१३०९) पद—उत्करादिभ्यः, छः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० उत्करीयः ।

विवरण—"'उत्कर' आदि शब्दों से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय होता है" । यहाँ पर सर्वत्र यथा-सम्भव चातुरर्थिक अर्थों की योजना होगी । **उदाहरण—उत्करीयः** (धान जहाँ फैलाया जाय, उत्कर का देश बनाया या बसाया, उत्कर का निवास अथवा उत्कर के समीप नगर) । उत्करः अस्ति अस्मिन्, उत्करेण निर्वृत्तम्, उत्करस्य निवासः, उत्करस्य अदूरभवः इति वा । उत्कर्+छ (=ईय) ।

(१३१०) पद—नडादीनां, कुक्, च । **अनुवृत्ति**—छः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० नडकीयम् । ग० सू० 'क्रुञ्चा' शब्द को ह्रस्व भी हो । उदा० क्रुञ्चकीयः । ग० सू० 'तक्षन्' शब्द के 'न्' का लोप भी हो । उदा० तक्षकीयः ।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'छ' की अनुवृत्ति आ रही है । शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार सूत्रस्थ पदों के साथ अन्वित होकर उनसे यह आशय प्रकट होता है कि "'नड' आदि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय के साथ ही प्रकृति को 'कुक्' ('क्') आगम भी हो" । **उदाहरण—नडकीयम्** (नरकुल जहाँ हों, वह स्थान) । नडाः सन्ति अस्मिन् देशे । नड-क्+छ > नड+क्-ईय > नडकीयम् ।

यहाँ दो गणसूत्रों द्वारा नडादि-गण के दो शब्दों में विशेष विधान सूचित किया गया है । तदनुसार (१) **क्रुञ्चा** शब्द से 'छ' प्रत्यय के साथ ही प्रकृति को ह्रस्व तथा 'कुक्' आगम भी होगा । **उदाहरण—क्रुञ्चकीय** (क्रुञ्चा का बसाया नगर) 'क्रुञ्चा' नाम मनुष्यः, तेन निर्वृत्तं नगरम् । क्रुञ्चा—क्+छ > क्रुञ्च+क्-ईय । इसके अतिरिक्त **तक्षन्** शब्द से 'छ' प्रत्यय एवं 'कुक्' आगम के साथ ही 'न्' का लोप भी हो" । **उदाहरण**—तक्षकीयः (तक्षन् का बसाया नगर) । तक्ष्णा निर्वृत्तं नगरम् । तक्षन्-क्+छ > तक्ष+क्-ईय > तक्षकीयम् ('छ', 'न्' लोप, 'क्' आगम तथा विभक्ति-कार्य) ।

४ । १५३ ॥ नडाद्यन्तर्गता बिल्वकादयः, तेभ्यश्छस्य लुक्तद्धिते परे । बिल्वा यस्यां सन्ति सा बिल्वकीया । तस्यां भवा बैल्वकाः । वेत्रकीयाः—वैत्रकाः । छस्य किम् ? छमात्रस्य लुग्यथा स्यात्कुको निवृत्तिर्मा भूत् । अन्यथा 'सन्नियोगशिष्टानाम्' (प ८७) इति कुगपि निवर्तेत । लुग्ग्रहणं सर्वलोपार्थम् । लोपो हि यमात्रस्य स्यात् ।

इति तद्धिते चातुरर्थिकप्रकरणम् ।

(१३११) बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् । षाष्ठमिदं सूत्रम् । बिल्वकादीति नडाद्यन्तर्गतबिल्वादीनां कृतकुगागमानां निर्देशः । ककारादकार उच्चारणार्थः । तद्धिते इति । 'आपत्यस्य च तद्धिते' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । बिल्वकीयेति । 'नडादीनां कुक् च' इति छः । प्रकृतेः कुक् च । तस्यां भवाः, बैल्वका इति । बिल्वकीयाशब्दाद्भवार्थे अण् । तस्मिन्परे छस्य लुगिति भावः । वेत्रकीया इति । वेत्राणि अस्यां सन्तीत्यर्थे नडादित्वाच्छः, प्रकृतेः कुक् च इति भावः । वैत्रका इति । वेत्रकीयायां भवा इत्यर्थः । वेत्रकीयाशब्दात् अणि छस्य लुगिति भावः । छस्य किमिति । एभ्यः परस्य छस्यैव सम्भव इति प्रश्नः । सन्नियोगेति । 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इति न्यायेनेत्यर्थः । 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' इत्यतो लोप इत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे लुग्ग्रहणं किमर्थमित्यत आह—लुग्ग्रहणं

(१३११) पद—बिल्वकादिभ्यः, छस्य, लुक् । अनुवृत्ति—तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'बिल्वादि' शब्द नडादि गण के अन्तर्गत हैं । तद्धित में उनसे पर 'छ' का लोप हो । उदा० १-बिल्वाः यस्यां सन्ति सा—बिल्वकीया, तस्यां भवाः—बैल्वकाः । २-वैत्रकाः । 'छस्य' क्यों कहा ? केवल छ का ही 'लुक्' हो, 'कुक्' की निवृत्ति न हो । अन्यथा 'सन्नियोग शिष्टानाम्०' नियम के अनुसार 'कुक्' की भी निवृत्ति हो जायगी । 'लुक्' ग्रहण समग्र प्रत्यय के लोप के लिये है । 'लोप' कहने से केवल 'य्' का ही लोप होगा ।

विवरण—'बिल्वकादि' शब्दों के प्रसङ्ग में षष्ठाध्यायस्थ सूत्र को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है । सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" (६-४-१५१) सूत्र से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति आ रही है । "अङ्गस्य" (६-४-१) तथा "भस्य" (६-४-१२९) का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । 'बिल्वक' आदि शब्द 'नडादि' गण में समाविष्ट हैं । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "बिल्वकादि शब्दों से उत्तरवर्ती 'भ' संज्ञक 'छ' प्रत्यय का 'लुक्' (= अदर्शन अर्थात् लोप) होता है" । **उदाहरण**—बैल्वकाः (बिल्वकीया में होने या रहने वाले)—'बिल्वाः यस्यां सन्ति सा' इस अर्थ में चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय तथा प्रकृति को कुक् ('क्') आगम→बिल्व–क्+ईय > बिल्वकीय+आ (टाप्) ▷बिल्वकीया । तदनन्तर (बिल्वकीयायां भवाः) 'भव' अर्थ में हुए 'अण्' प्रत्यय के परवर्ती होने पर ("तत्र भवः" ४-५३-३—बिल्वकीया+अ, (छ = ईय्) का लोप होने पर आदिवृद्धि तथा 'आ' लोप एवं प्रथमा बहुवचन में विभक्ति–कार्य होंगे ▷ बैल्वकाः) । इसी प्रकार (२) वैत्रकाः (वेत्रकीया में होने या रहने वाले) भी निष्पन्न होगा→वेत्राणि अस्यां सन्ति सा 'वेत्रकीया' । तदनन्तर भवार्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'छ' का लोप होने पर आदिवृद्धि आदि कार्य होंगे ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'छस्य' पद का समावेश होने के फलस्वरूप केवल (=ईय्) 'छ' प्रत्यय का ही लोप होता है । अन्यथा 'छ' प्रत्यय के सहचरित 'कुक्' ('क्') आगम का भी लोप होने लगता ('सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः') ।

अथ तद्धिते शैषिकप्रकरणम्

(१३१२) शेषे ४ । २ । ९२ ॥ अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषः, तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः । दृषदि पिष्टा

सर्वलोपार्थमिति । प्रत्ययादर्शनस्यैव लुक्शब्दार्थत्वात् कृत्स्नस्य ईयस्य लोपो लभ्यते इति भावः । लोपविधौ तु नैवं लभ्येत इत्याह—लोपो इति । लोपविधौ, 'सूर्यतिष्य' इत्यतः य उपधायाः इत्यनुवृत्तौ बिल्वादिभ्यः परस्य छादेशभूतस्य ईयस्य उपधाभूतो यो यकारः तस्य लोपः इत्यर्थलाभाद्यकारमात्रस्य लोपः स्यात् । य उपधायाः इत्यननुवृत्तौ तु 'आदेः परस्य' इति ईकारस्यैव लोपः स्यादिति भावः ।

इति तद्धिते चातुरर्थिकप्रकरणम् ।

अथ शैषिकप्रकरणं निरूप्यते—(१३१२) शेषे । अणादय इति । 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यादिसाधारणाः प्रत्यया इत्यर्थः । चतुर्भिरिति । अश्वादिभिरिति शेषः । चतुर्दश्यामिति । 'कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ रक्षांसि दृश्यन्ते' इत्यागमः । लक्षणमिति । प्रदर्शितेषु ग्रहणाद्यर्थेषु उत्तरसूत्रैरनुपात्तेषु अणादिविधायकमित्यर्थः । अधिकारत्वे तु उत्तरसूत्रेष्वेवानुवृत्ति-

---

शङ्का समाधान—प्रकृत सूत्र में 'लुक्' ग्रहण न करने पर भी "ढे लोपोऽकद्र्वाः" ६-४-१४७ सूत्र से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति होने के कारण लोप हो जाता ? अतः 'लुक्' पद की क्या सार्थकता है—यह शंका होती है । इसके उत्तर में यह कहा जा रहा है कि 'लुक्' पद का समावेश करने से समग्र प्रत्यय का लोप (= अदर्शन) होगा, अन्यथा अनुवर्तमान 'लोप' विधान में "सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः" (६-४-१४९) सूत्र से 'य उपधायाः' अंश की अनुवृत्ति के भी होने के फलस्वरूप उपधाभूत केवल 'य्' का ही लोप सम्भव होगा । यदि 'उपधायाः' की अनुवृत्ति न की जाय तो "आदेः परस्य" (१-१-५४) की उपस्थिति-वश केवल 'ई' का ही लोप होता । इस प्रकार समग्र 'छ' प्रत्यय का लोप होने के लिये 'लुक्' पद का निवेश सार्थक है ।

दीपिका टीका में चातुरर्थिक प्रकरण समाप्त ।

प्रकरण-संगति—अपत्यादि अनेक अर्थों में होने वाले प्रत्ययों का विधान पिछले तीन प्रकरणों में बतलाया जा चुका है । अब अन्य अर्थों में विहित प्रत्ययों का विवरण आगे दिया जायगा । शैषिक प्रकरण 'तद्धित' प्रकरण का जंगल है । उसमें पूर्वापर अर्थों में समाविष्ट तथा अन्य प्रत्ययों के अर्थ विदित कराये जायेंगे । इस प्रकरण से 'तद्धित' नाम की सार्थकता स्पष्ट होती है । 'तद्धित' शब्द 'योगरूढ' है—'तस्मै हिताः'—तद्धिताः । अर्थात् तद्धित प्रत्यय प्रकृत्यर्थ के लिये (तस्मै) उपकारक (हिताः) हैं । इस कारण संज्ञावाची एवं विशेषण-वाची शब्दों की रचना में तद्धित-प्रत्ययों की सार्थकता है ।

(१३१२) पद—शेषे । अनुवृत्ति—प्रत्ययः, परश्च । अधिकारसूत्र ।

मूलार्थ—अपत्यादि-चातुरर्थिकान्त से भिन्न अर्थ 'शेष' पद से विवक्षित है । उसमें 'अण्' आदि हों । उदा० १—चक्षुषा गृह्यते—चाक्षुषं रूपम् । २—श्रावणः शब्दः । ३—औपनिषदः पुरुषः ।

दार्षदाः सक्तवः। उलूखले क्षुण्णः औलूखलो यावकः। अश्वैरुह्यते आश्वो रथः। चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम्। चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः। 'शेषे' इति लक्षणं चाधिकारश्च।

लाभादिदं न सिध्येदिति भावः। अधिकारश्चेति। उत्तरसूत्रेष्वनुवृत्त्यर्थश्चेत्यर्थः, स्वरितत्वादिति भावः। अधिकारस्योत्तरावधिमाह—तस्य विकार इत्यतः प्रागिति। न च उत्तरसूत्रेषु निर्दिष्टानामर्थविशेषाणाम् अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्यत्वस्य सिद्धत्वात् शेषाधिकारो व्यर्थ इति वाच्यम्, 'तस्येदम्' इत्यादावपत्यादिचतुरर्थ्यन्तार्थानां ग्रहणाभावाय तदावश्यकत्वात्। न च प्रदर्शितेषु ग्रहणाद्यर्थेषु 'तस्येदम्' इत्येव अणादिसिद्धेः शेष इत्यस्य विधित्वं नाश्रयणीयमिति वाच्यम्, 'शैषिकान्मतुबर्थीयात्' इत्यादौ प्रदर्शितग्रहणाद्यर्थकानामपि ग्रहणलाभाय तदावश्यकत्वात्। इदंत्वेन भासमानमपत्याद्यपि न शेषः, 'इदंविशेषा ह्येते अपत्यं समूहो विकारो निवासः' इति भाष्यात्। प्रपञ्चितं चैतत् 'तस्यापत्यम्' इत्यत्र 'तस्येदमित्यपत्येऽपि' इत्यादिश्लोकवार्तिकव्याख्यावसरे।

४-दृषदि पिष्टाः-दार्षदाः-सक्तवः। ५-उलूखले क्षुण्णः-औलूखलः-यावकः। ६-अश्वैः उह्यते—आश्वः रथः। ७-चतुर्भिः उह्यते—चातुरं-शकटम्। ८-चतुर्दश्यां दृश्यते—चातुर्दशं रक्षः। 'शेषे' यह लक्षण-सूत्र भी है और अधिकारसूत्र भी। 'तस्य विकारः' से पहले तक इसका अधिकार है।

विवरण—"तस्यापत्यम्" (४-१-९२) से चातुरर्थिक पर्यन्त जितने अर्थ कहे जा चुके हैं, उनसे जो शेष—अर्थात् बचे हुए अर्थ—हैं, उनमें आगे कहे जाने वाले प्रत्यय हुआ करेंगे। "शेषे" (४-२-९२) का अधिकार "तस्य विकारः" (४-३-१३४) से पहले अर्थात् "आथर्वणिकस्येकलोपश्च" (४-३-१३३) सूत्र तक रहेगा। अतः यहाँ से लेकर "तस्येदम्" (४-३-१२०) पर्यन्त जितने अर्थ कहे हैं, उन सब अर्थों में आगे कहे जाने वाले प्रत्यय होंगे। उदाहरणार्थ अग्रिम सूत्र में 'राष्ट्र' शब्द से 'घ' प्रत्यय का विधान किया गया है। तदनुसार 'राष्ट्रियः' शब्द के 'राष्ट्र में होने वाला' तथा 'राष्ट्र में उत्पन्न' आदि अनेक अर्थ होंगे। एक ही प्रत्यय से अनेक अर्थों का अभिधान कर पाणिनि ने लघुभूत उपाय से शब्द-सिद्धि की योजना की है। "शेषे" यह अधिकार-सूत्र भी है और लक्षण-सूत्र भी। इससे यह लाभ हुआ कि जिन अर्थों में पाणिनि ने साक्षात् प्रत्ययों का विधान नहीं किया है, उनमें औत्सर्गिक यथाविहित 'अण्' ('प्राग्दीव्यतोऽण्' ४-१-८३ से शेष अर्थ) आदि प्रत्यय इसी सूत्र से होंगे। अधिकार-सूत्र के कारण आगे के सूत्रों में यह प्रभावी होगा। लक्षण-सूत्र के अनुसार भिन्न अर्थों के **उदाहरण**—(१) **चाक्षुषं**—रूपम् (आँख से जिसका ग्रहण होता है, रूप। **विग्रह**—चक्षुषा गृह्यते—चक्षुष्+टा, अण् > चक्षुष्+अ > चाक्षुष्+अ (आदिवृद्धि) > चाक्षुषम् (विभक्ति-कार्य)। (२) **श्रावणः** शब्दः (कान से जिसका ग्रहण किया जाता है, शब्द)—श्रवणेन गृह्यते—श्रवण+अण् (अ), आदिवृद्धि, अन्त्य लोप आदि। (३) **औपनिषदः** पुरुषः (उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित, पुरुष)—उपनिषद्भिः प्रतिपादितः—उपनिषद्+अ (अण्), आदिवृद्धि। (४) **दार्षदाः** सक्तवः (पत्थर पर पिसे हुए, सत्तू)—दृषदि पिष्टाः—दृषद्+अ (अण्)—आदिवृद्धि तथा प्रथमा बहुवचन में विभक्ति-कार्य)। (५) **औलूखलः** यावकः (ओखली में कूटा गया बिना भूसी का जौ)—उलूखल+अ (अण्)—आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। (६) **आश्वः** रथः (घोड़ों से चलाया जाने वाला रथ—अश्व+अ (अण्)—आदिवृद्धि, अन्त्य लोप)। (७) **चातुरं** शकटम् (चार बैलों या घोड़ों से ले जाने रथ—चतुर्भिः उह्यते—चतुर्+अ (अण्)—आदिवृद्धि। (८) **चातुर्दशं** रक्षः—चतुर्दशी को दिखाई पड़ने वाला, राक्षस—चतुर्दशी+अ (अण्)—आदिवृद्धि, अन्त्यलोप)।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र की उपयोगिता के सम्बन्ध में ऊपर बतलाया गया है। इसको दो रूपों में दिखाया गया है—(१) लक्षण (विधि) एवम् (२) अधिकार। इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा

'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक्छेषाधिकारः । (१३१३) राष्ट्रावारपाराद् घखौ ४।२।९३।। आभ्यां क्रमाद्घखौ स्तः शेषे । राष्ट्रियः । अवारपारीणः । 'अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीता

(१३१३) राष्ट्रावारपाराद् घखौ । आभ्यामिति । राष्ट्रशब्दादवारपारशब्दाच्चेत्यर्थः । राष्ट्रिय इति । राष्ट्रे जातः भवः इत्यादिरर्थो यथायथं वोध्यः । घस्य इयः । अवारपारीण इति । खस्य ईनादेशः, णत्वम् । अवारपाराद्विगृहीतादपीति । अवारशब्दात्पारशब्दाच्च पृथग्भूतादपि खो वक्तव्य इत्यर्थः । विपरीताच्चेति । पारावारशब्दाद-

---

होती है कि इस विधान के न होने पर भी 'चाक्षुषम्' आदि प्रयोग "तस्येदम्" (४-३-१२०) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होने पर निष्पन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार 'दार्षदाः' आदि प्रयोग "संस्कृतं भक्षाः" (४-२-१६) के अन्तर्गत समाविष्ट किए जा सकते हैं। अर्थात् प्रयोगसिद्धिरूप प्रयोजन का औचित्य इससे सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार अधिकार के सम्बन्ध में भी इसे अन्यथासिद्ध बतलाया जा सकता है। अधिकार-सूत्र के मानने में अपत्यादि-चतुरर्थ प्रत्ययों को छोड़ना—यह हेतु दिया जाता है। किन्तु उनका समावेश तो वैसे ही नहीं होगा, क्योंकि जातादि अर्थ-विशेष का उल्लेख ही इस बात का द्योतक है कि अपत्यादि प्राग्वर्ती अर्थ उन प्रत्ययों में अभीष्ट नहीं हैं। इसके अतिरिक्त 'आर्द्रका', 'शाला' आदि वृद्धसंज्ञक शब्दों का 'उत्करादि' गण में पाठ होने से भी यह ज्ञापित होता है कि इनसे प्राग्वर्ती अर्थों में 'घ' आदि की प्रवृत्ति नहीं होती। अन्यथा 'आर्द्रका' आदि शब्दों से "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) से ही 'छ' प्रत्यय स्वतः सिद्ध रहा। अतः 'घ' आदि से लेकर 'ट्यु-ट्युल्' प्रत्यय पर्यन्त अपत्यादि की निवृत्ति होना अधिकार का प्रयोजन नहीं माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि 'जात' आदि अर्थों की समष्टि अधिकार का प्रयोजन है तो भी वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि 'तत्र जातः' आदि अधिकारों के पूर्व इस सूत्र का पाठ होने से पाठ-सामर्थ्य-वश वहाँ तक इसके अधिकार की अवधि सूचित होती है। यदि "शेषे" अधिकार की अपने समीप-स्थित 'जात' आदि अर्थों में ही 'घ' आदि प्रत्ययों को सीमित करने में चरितार्थता मानी जाय तो उसके अनन्तर भवादि अर्थों में "प्राग्दीव्यतोऽण्" (४-१-८३) से प्रभावित अवधि-पर्यन्त अर्थों में विधीयमान 'अण्' आदि ही होंगे, उस आपत्ति के निराकरण-हेतु "तत्र जातः" (४-३-२५) अधिकार के अनन्तर 'प्रावृषष्ठप्" (४-३-२६) आदि सूत्रों के साथ "राष्ट्रावारपाराद् घ-खौ" (४-२-९३) आदि सूत्रों को पढ़ा जाता। अतः "शेषे" (४-२-९२) अधिकार की व्यर्थता से यह ज्ञापित होता है कि 'एक शैषिक प्रत्यय के पश्चात् दूसरा समान रूपात्मक शैषिक प्रत्यय नहीं होता'। इसके फलस्वरूप 'शालीयः' आदि में एक बार 'छ' प्रत्यय होने पर पुनः 'छ' नहीं होगा। दूसरे 'विरूप' प्रत्यय होने में कोई बाधा नहीं है। इसके साथ ही अपत्यादि अर्थों में भी 'घ' आदि प्रत्ययों की निवृत्ति के लिये अधिकार की सार्थकता है। पूर्वोक्त ज्ञापक विशेषापेक्ष होने के कारण सामान्यापेक्ष घादि प्रत्ययों के निवारण में समर्थ नहीं हो सकेगा। इस अधिकार के फलस्वरूप यह नियम सूचित होता है कि 'आर्द्रका' आदि से 'छ' प्रत्यय केवल उस प्रकरण के चारों अर्थों में ही हो। इसी प्रकार "शेषे" की विधायकता भी सप्रयोजन मानी जायगी। तथा 'चाक्षुषम्' इत्यादि उदाहरणों में चक्षुरिन्द्रिय-जन्य गृह्यमाणत्व-प्रकारक-स्वरूप अर्थ-विशेष्यक शाब्दबोध भी इस सूत्र के 'अण्' विधान करने पर ही सम्भव हो सकेगा।

(२) कुछ विद्वान् "शेषे" की आवृत्ति करने के फलस्वरूप इससे 'विधि' एवम् 'अधिकार' की कल्पना करते हैं।

(१३१३) पद—राष्ट्रावारपारात्, घ-खौ। अनुवृत्ति—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इनसे क्रमशः 'शेष' अर्थ में 'घ' तथा 'ख' प्रत्यय हों। उदा० १—राष्ट्रियः। २—

च्चेति वक्तव्यम्' (वा २७७१-२७७२)। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृतिविशेषाद्घादयष्टचुलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते। तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते। (१३१४) ग्रामाद्यखञौ ४। २। ९४॥ ग्राम्यः—ग्रामीणः। (१३१५)

पीत्यर्थः। ननु राष्ट्रावारपारेत्यारभ्य 'विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' इत्यन्तैः सूत्रैः राष्ट्रादिशब्देभ्यः प्रकृतिभ्यः शेषेऽर्थे प्रत्यया विहिताः। तस्यापत्यमित्यादिवदर्थविशेषास्तु न निर्दिश्यन्ते। यत्किञ्चिद्विभक्त्यन्तेभ्यः राष्ट्रादिप्रकृतिविशेषेभ्यः घादयः टघुटचुलन्ताः प्रत्ययाः स्युः, 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्यस्यानुपस्थित्या प्रथमोच्चारितविभक्तिविशेषानुपस्थितेः। किंच 'तत्र जातः' इत्यादिसूत्रेषूत्तरेषु अर्थविशेषा एव निर्दिष्टाः। तत्र प्रथमोच्चारितसप्तम्यन्तादितत्तद्विभक्त्यन्तेभ्यः सर्वेभ्यः साधारणा अणादय एव स्युः। तत्राह—इह प्रकृतीत्यादिना। राष्ट्रावारेत्यादिसूत्राणां प्रकृतिविशेषेभ्यः केवलप्रत्ययविधीनाम् अर्थविशेषविभक्तिविशेषाकाङ्क्षायां, 'तत्र जातः' इत्यादिसूत्राणां च केवलमर्थविशेषनिर्देशपराणां 'समर्थानाम्' इति सूत्रलब्धतत्तद्विभक्तिकप्रकृतिविशेषाणां विधेयप्रत्ययविशेषाकाङ्क्षायां परस्परमेकवाक्यत्वे सति तत्र जातः इत्याद्यर्थेषु प्रथमोच्चारिततत्तद्विभक्त्यन्तेभ्यः राष्ट्रादिशब्देभ्यो घादयः टघुटचुलन्ताः प्रत्ययाः स्युरिति लभ्यत इति भावः। राष्ट्राद्यन्याभ्यस्तु प्रकृतिभ्यो जाताद्यर्थेषु अणादयः साधारणा भवन्त्येव।

(१३१४) ग्रामाद्यखञौ। ग्राम्य इति। यप्रत्यये 'यस्येति च' इति लोपः। ग्रामीण इति। खञ ईनादेशः, णत्वम्।

अवारपारीणः। वा० विगृहीत—'अवार' और 'पार' शब्द से तथा विपरीत भी कहा जाय। उदा० १—अवारीणः। २—पारीणः। ३—पारावारीणः। यहाँ प्रकृति-विशेष से 'घादि' 'ट्यु-ट्युलन्त' प्रत्यय कहे गये हैं, उनके अर्थ-विशेष तथा समर्थ विभक्तियाँ आगे कही जायेंगी।

विवरण—शैषिक प्रत्ययों का आरम्भ किया जा रहा है। यहाँ से 'शेषे' अधिकार का प्रभाव रहेगा। उसके अन्तर्गत 'घ' विधायक "राष्ट्रावारपाराद् घखौ" (४-२-९३) सूत्र से आरम्भ होकर "विभाषा पूर्वाह्णपराह्णाभ्याम्" (४-३-२४) पर्यन्त 'ट्यु-ट्युल' प्रत्ययों का समावेश है। इन प्रत्यय-विधायक सूत्रों के अनन्तर इनके अर्थविशेष एवं समर्थ विभक्तियाँ "तत्र जातः" (४-३-२५) इत्यादि सूत्रों में निर्दिष्ट हैं, जिनका विवरण आगे दिया जायगा। 'राष्ट्र' आदि से भिन्न शब्दों से जातादि अर्थ में अणादि साधारण प्रत्यय होते हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि ""राष्ट्र' तथा 'अवारपार' शब्दों से शैषिक जातादि अर्थों में यथासंख्य (=क्रमशः) 'घ' और 'ख' प्रत्यय हों"। **उदाहरण**—(१) राष्ट्रियः (राष्ट्र में उत्पन्न या होने वाला)—राष्ट्रे जातः, भवः वा—राष्ट्र+घ (=इय)—अन्त्यलोप एवं विभक्ति-कार्य। (२) **अवारपारीणः** (आर-पार गया हुआ अर्थात् तत्त्वज्ञ)—अवारपारं गतः—अवारपार्+ख (=ईन) > अवारापारीन ('अन्त्य' लोप) > अवारपारीणः (न=ण)।

वार्तिक—**अर्थ**—'अवारपार' शब्द से पृथक् करने पर भी अर्थात् 'अवार' और 'पार' से तथा उलट देने पर अर्थात् 'पारावार' से भी 'ख' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**-(१) **अवारीणः** (इस ओर को प्राप्त)—अवारं गतः—अवार+ख (= ईन)। (२) **पारीणः** (पारंगत)—पारं गतः—पार+ख (= ईन)। (३) **पारावारीणः** (पारंगत)—पारावारं गतः—पारावार+ख (=ईन)। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

(१३१४) **पद**—ग्रामाद्, य-खञौ। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—ग्राम्यः। २—ग्रामीणः।

कत्र्यादिभ्यो ढकञ् ४ । २ । ९५ ॥ कुत्सितास्त्रयः कत्त्रयः । तत्र जातादिः कात्त्रेयकः । नागरेयकः । ग्रामात् इत्यनुवृत्तेर्ग्रामेयकः । (१३१६) **कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु ४ । २ । ९६ ॥** कौलेयकः श्वा । कौलोऽन्यः । कौक्षेयकोऽसिः । कौक्षो-

---

(१३१५) कत्र्यादिभ्यो ढकञ् इति । 'कुगतिप्रादयः' इति कुशब्दस्य समासः । 'त्रौ च' इति कोः कदादेशः । कात्त्रेयक इति । ढकञ्, ढकारस्य एयादेशः 'लोपो व्योः' इति यलोपः । अनुवृत्तेरिति । स्वरितत्वादिति भावः । तथा च ग्रामशब्दात् ढकञपि लभ्यते इत्यर्थः ।

(१३१६) कुलकुक्षि । कुलाच्छुनि, कुक्षेः असौ, ग्रीवायाः अलङ्कारे ढकञित्यर्थः । कौलेयकः श्वेति । कुले जातादिरिति । कौक्षेयकोऽसिरिति । कुक्षे कोषे भवः खड्ग इत्यर्थः । ग्रैवेयक इति । ग्रीवासु भव इति विग्रहः ।

विवरण—"'ग्राम' शब्द से 'जात' आदि अर्थों में 'य' और 'खञ्' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(१) **ग्राम्यः** (गाँव में उत्पन्न या रहने वाला)—ग्रामे जातः, भवः वा—ग्राम्+य । अन्त्यलोप । (२) **ग्रामीणः** (ग्राम में उत्पन्न आदि)—ग्रामे जातः, भवः वा—ग्राम्+ख (खञ् = ईन) । अन्त्यलोप, आदिवद्धि एवं णत्व ।

(१३१५) पद—कत्र्यादिभ्यः, ढकञ् । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'कत्त्रयः' का अर्थ है—निन्दित तीन । उनसे जातादि अर्थ में—१-कात्त्रेयकः । २—नागरेयकः । 'ग्राम' की अनुवृत्ति होने से—३-ग्रामेयकः ।

विवरण—'कत्र्यादि' प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में 'ढकञ्' प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—कात्त्रेयकः (तीन निन्दित स्थानों में उत्पन्न)—कुत्सिताः त्रयः = कत्त्रयः, तत्र जातादिः—कत्त्रि+ढकञ् (ढ् = एय्)—अक > कत्त्+एय्-अक ('इ' लोप) > कात्त्रेयकः (आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य) । कुत्सिताः त्रयः-इस विग्रह में "कुगतिप्रादयः" (२-२-१८) से समास तथा 'त्रौ च' (वा०) से कु = 'कत्' आदेश । (२) **नागरेयकः** (नगर में उत्पन्न)—नगरे जातः, भवः वा—नगर+ढकञ् (ढ्=एय्)-अक > नागरेयकः ('अ' लोप तथा आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य) । (३) स्वरितत्व प्रतिज्ञा के कारण पूर्व सूत्र से 'ग्राम' शब्द की अनुवृत्ति किये जाने के फलस्वरूप 'ढकञ्' प्रत्यय होने पर—**ग्रामेयकः** (ग्राम में उत्पन्न)-ग्रामे जातादिः-ग्राम+ढकञ् (ढ्=एय्-अक) । अन्त्यलोप आदि पूर्ववत् ।

(१३१६) पद—कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः, श्वास्यलङ्कारेषु । **अनुवृत्ति**—ढकञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० 'श्वा' अर्थ में—१-कौलेयकः । अन्य अर्थ में कौलः । २-कौक्षेयकः-तलवार । भिन्न अर्थ में—कौक्षः । ३—ग्रैवेयकः—अलङ्कार अर्थ । भिन्न अर्थ में-ग्रैवः ।

विवरण—विधेयांश 'ढकञ्' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से आ रही है । अतः "'कुल', 'कुक्षि' तथा 'ग्रीवा' शब्दों से यथासंख्य 'श्वा', 'असि' तथा 'अलङ्कार' अभिधेय होने पर जातादि अर्थों में 'ढकञ्' प्रत्यय होता है" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **कौलेयकः** श्वा (कुल में होने वाला, कुत्ता)-कुले भवः—कुल+ढकञ्> कुल्+एय्-अक (ढ्=एय्) >कौलेयकः ('अ'लोप, आदिवृद्धि) । अन्यत्र **कौलः** (कुल+अण्) । (२) **कौक्षेयकः** असिः (कुक्षि में रहने वाली, तलवार) कुक्षौ भवः—कुक्षि+ढकञ् । पूर्ववत् । अन्यत्र-**कौक्षः** (कुक्षि+अण्) । (३) **ग्रैवेयकः** अलङ्कार (हार तथा गुलूबन्द)-ग्रीवासु भवः । ग्रीवा+ढकञ् । पूर्ववत् । अन्यत्र—**ग्रैवः** (ग्रीवा+अण्) ।

ऽन्यः। ग्रैवेयकोऽलङ्कारः। ग्रैवोऽन्यः। (१३१७) नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७॥ नादेयम्। माहेयम्। वाराणसेयम्। (१३१८) दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४।२।९८॥ दक्षिणा इत्याजन्तमव्ययम्। दाक्षिणात्यः। पाश्चात्यः। पौरस्त्यः। (१३१९) कापिश्याः ष्फक् ४।२।९९॥ कापिश्यां जातादि कापिशायनं मधु। कापिशायिनी

(१३१७) नद्यादिभ्यो ढक्। माहेयमिति। मही भूमिः, तस्यां जातादीत्यर्थः। वाराणसेयमिति। वाराणस्यां जातादीत्यर्थः।

(१३१८) दक्षिणापश्चात्। आजन्तमव्ययमिति। अव्ययसाहचर्यादाजन्तं गृह्यत इति भावः। दक्षिणा, पश्चात्, पुरस् एभ्योऽव्ययेभ्यो जाताद्यर्थेषु त्यक्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१३१९) कापिश्याष्ष्फक्। कापिश्याः 'ष्फक्' इति छेदः। कापिशीशब्दाद् ष्फक् स्यादित्यर्थः। कापिशी नाम देशविशेषः। कापिशायिनी द्राक्षेति। षित्वात् ङीष्।

(१३१७) पद—नद्यादिभ्यः, ढक्। अनुवृत्ति-शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १-नादेयम्। २-माहेयम्। ३-वाराणसेयम्।

विवरण—"नदी आदि शब्दों से 'जात' आदि अर्थों में 'ढक्' प्रत्यय होता है"। ये तीनों शब्द स्वरूप-परक हैं। क्रमशः उदाहरण—(१) नादेयम् (नदी में होने वाला)—नद्यां भवः—नदी+ढ (ढक्) ▷ नद्̥+एय (ढ=एय) >नादेयम् ('ई' लोप, आदिवृद्धि—"किति च" ७-३-११८)। (२) माहेयम् (पृथ्वी पर होने वाला—मह्यां भवम्—मह्̥+ढक्) प्रक्रिया पूर्ववत्। (३) वाराणसेयम् (वाराणसी में होने वाला)—वाराणस्यां भवं—वाराणस्̥+ढ (ढक्)। प्रक्रिया पूर्ववत्।

(१३१८) पद—दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः, त्यक्। अनुवृत्ति—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'दक्षिणा'—यह आजन्त अव्यय है। उदा० १—दाक्षिणात्यः। २—पाश्चात्यः। ३—पौरस्त्यः।

विवरण—"'दक्षिणा', 'पश्चात्' तथा 'पुरस्'—इन अव्ययों से 'जात' आदि अर्थों में 'त्यक्' (त्य) प्रत्यय होता है"। 'दक्षिणा' शब्द 'आच्' प्रत्ययान्त—'अव्यय'—है। क्रमशः उदाहरण—दाक्षिणात्यः (दक्षिण में उत्पन्न होने वाला)—दक्षिणा भवः—दाक्षिणात्यः (त्यक्)—आदिवृद्धि। (२) पाश्चात्यः (पश्चिम में होने वाला या उत्पन्न)—पश्चाद् भवः—पश्चात्+त्य (त्यक्)। आदिवृद्धि। (३) पौरस्त्यः (पूर्व में होने वाला या उत्पन्न)—पुरः भवः, जातः वा-पुरस्+त्य (त्यक्)—आदिवृद्धि।

(१३१९) पद—कापिश्याः, ष्फक्। अनुवृत्ति—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० कापिश्यां जातादि—कापिशायनं मधु। (स्त्रीलिङ्ग में) कापिशायनी द्राक्षा।

विवरण—"'कापिशी' शब्द से शैषिक 'ष्फक्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—कापिशायनं मधु[1] (कापिशी में होने वाला मधु) कापिश्यां जातादि–कापिशी+फ (ष्फक्) ▷ कापिश्̥+आयन ▷ कापिशायनम् ('ई' लोप तथा नपुंसक लिङ्ग प्रथमा एक वचन में विभक्ति-कार्य)। 'ष्फक्' में 'ष्' इत् होने से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्'—"षिद्गौरादिभ्यश्च" (४-१-४१)—कापिशायनी (द्राक्षा)[2]।

१-२. काबुल से साठ मील उत्तर-पूर्व में स्थित कपिशा (कापिशी) नगरी से आने वाला 'मधु' तथा 'द्राक्षा' (अंगूर)। कापिशायन प्रान्त की राजधानी कापिशी थी। यह हिन्दुकुश

द्राक्षा। (१३२०) रङ्कोरमनुष्येऽण्च ४। २। १००॥ चात्ष्फक्। राङ्कवो गौः। राङ्कवायणः। अमनुष्ये इति किम्? राङ्कवको मनुष्यः। (१३२१) द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४। २। १०१॥ दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्।

(१३२०) रङ्कोरमनुष्येऽण् च। रङ्कोरण् स्यात् चात् ष्फक्। राङ्कवो गौरिति। रङ्कुर्नाम देशविशेषः। तत्र जातादिरित्यर्थः। राङ्कवको मनुष्य इति। अत्र मनुष्यत्वान्न ष्फगणौ। किन्तु 'मनुष्यतत्स्थयो.' इति वक्ष्यमाणो वुञ्। अकादेशः। राङ्कवो मनुष्यः इति त्वपपाठः।

(१३२१) द्युप्रागप्राक्। दिव्, प्राञ्च्, अपाञ्च्, उदञ्च् प्रत्यञ्च्, एभ्यो यत्स्यादित्यर्थः। सूत्रे 'दिव उत्' इत्युत्त्वेन निर्देशः। दिव्यमिति। दिवि जातादीत्यर्थः। प्राच्य-

---

(१३२०) पद—रङ्कोः, अमनुष्ये, अण्, च। अनुवृत्ति—ष्फक्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'च' से 'ष्फक्' (भी हो)। उदा० १—राङ्कवः गौः। २—राङ्कवायणः। 'अमनुष्ये' क्यों कहा? राङ्कवकः—मनुष्य का नाम ('ष्फ' तथा 'अण्' नहीं हुए)।

विवरण—"मनुष्य अभिधेय न होने पर (अमनुष्ये) 'रङ्कु' शब्द से 'अण्' और (च) 'ष्फ' प्रत्यय होते हैं"। उदाहरण—१-राङ्कवः गौः ('रङ्कु'[1] देश में होने वाला बैल)—रङ्कौ जातः—रङ्कु+अ (अण्) ▷ रङ्को+अ (उ=ओ-गुण) > राङ्को+अ (आदिवृद्धि) ▷ राङ्कवः ('अव्' आदेश तथा विभक्ति-कार्य)। २-राङ्कवायणः (बैल) रङ्कु+फ (ष्फ) ▷ रङ्कु+आयन (फ=आयन) > रङ्को+आयन > राङ्को-आयन (आदि-वृद्धि) ▷ राङ्कवायणः ('अव्' आदेश, न = ण तथा विभक्ति-कार्य)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अमनुष्ये'[2] पद का निवेश होने से मनुष्य का नाम रखने पर राङ्कवकः में 'ष्फ' तथा 'अण्' नहीं हुए। किन्तु 'मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्' (४-२-१३४) से 'वुञ्' (=अक) हुआ।

(१३२१) पद—द्यु-प्राग्-उदक्-प्रतीचः, यत्। अनुवृत्ति—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १-दिव्यम्। २-प्राच्यम्। ३-अपाच्यम्। ४-उदीच्यम्। ५-प्रतीच्यम्।

के दक्षिण आधुनिक बेग्राम प्राचीन कापिशी है, जो घोरबन्द और पंचशीर नदियों के संगम पर स्थित थी। बेग्राम में मिले हुए एक शिलालेख में 'कपिशा' नाम आया है। यह हरी घास की उत्पत्ति का स्थान था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी इसका उल्लेख किया है—'मृद्वीकारसो मधु तस्य स्वदेशो व्याख्यानं कापिशायनं हारहूरकमिति' (२-२५)। काले अंगूरों का मधु 'हारहूरक' था।
—पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० १३०।

१. 'रङ्कु' जनपद की पहचान अभी तक निश्चित रूप से नहीं हुई है। तथापि यह अलकनन्दा' और 'पिण्डर' नदियों के पूर्व का प्रदेश था, जहाँ मल्ला जोहार तथा मल्ला दानपुर की भाषा 'रँका' कहलाती है (ग्रियर्सन—भारतीय भाषा सर्वेक्षण'—खण्ड ३, भाग १, पृ० ४७९)। कूर्माचल (कुमायूँ) में 'रँका' जनपद से सम्बद्ध लोककथायें प्रसिद्ध हैं।

२. ननु च 'रङ्कु' शब्दः कच्छादिषु पठ्यते, तत्र च "मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्" इति मनुष्ये परत्वाद् वुञैव भवितव्यम्। कच्छादिपाठाद् मनुष्ये अणापि सिद्धः, किमिह मनुष्यप्रतिषेधेन 'अण्' ग्रहणेन च? तदुच्यते—नैवायं मनुष्यप्रतिषेधः, किं तर्हि? नञिवयुक्तन्यायेन मनुष्यसदृशे प्राणिनि प्रतिपत्तिः क्रियते। तेन राङ्कवः कम्बल इति 'ष्फक्' न भवति। विशेषविहितेन च ष्फका अणो बाधा मा भूद् इत्यण् ग्रहणमपि क्रियते"—काशिका।

(१३२२) कन्थायाष्ठक् ४ । २ । १०२ ॥ कान्थिकः । **(१३२३) वर्णौ वुक् ४ । २ । १०३ ॥** वर्णुसमीपदेशो वर्णुः । तद्विषयार्थवाचिकन्थाशब्दात् वुक्स्यात् । 'यथा हि

मिति । प्राचि प्रदेशे जातादीत्यर्थः । तद्धितोत्पत्तौ सुब्लुकि प्राञ्च् य इति स्थिते 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति दीर्घे प्राच्यमिति रूपम् । अपाच्यमिति । इदमपि पूर्ववत् । उदीच्यमिति । अत्र 'उद ईत्' इति ईत्वं विशेषः । प्रतीच्यमिति । प्राच्यवद्रूपम् ।

(१३२२) कन्थायाष्ठक् । तिर्यक्स्यूतबहुवस्त्रखण्डसमूहः कन्था । देशविशेष इत्यन्ये ।

(१३२३) वर्णौ वुक् । वर्णुसमीपेति । वर्णुर्नाम सिन्धुनदः, तस्यादूरभव इत्यर्थे सुवास्त्वादित्वादणो 'जनपदे लुप्' इति लुप् । तथा च वर्णुसमीपदेशो वर्णुः, तस्मिन् या कन्था तद्वाचकात् वुक्प्रत्यय इति यावत् ।

विवरण—"'दिव्', 'प्राच्', 'अपाच्' 'उदच्' तथा 'प्रत्यच्' प्रातिपदिकों से 'शैषिक' 'यत्'—प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—(१) **दिव्यम्** (स्वर्गीय)—दिवि भवम्—दिव्+य (यत्)। (२) **प्राच्यम्** (पूर्वीय देश में होने वाला)—प्राचि भवम्-प्राञ्च्+ङि+य > प्राञ्च्+य = यत् ('सुप्'='ङि' का लुक्) ▷ प्र-अच्+य ('न्' का लोप—"अनिदिताम्०" ६-४-२४) ▷ प्र-च्+य ('अ' का लोप-"अचः" ६-४-१३८) प्राच्+य ('प्र' को दीर्घ-"चौ" ६-३-१३८) ▷ प्राच्यम्)। (३) **अपाच्यम्** (दक्षिण में होने वाला)—अपाचि भवम्—अपाच्+य (यत्)। प्रक्रिया पूर्ववत्। (४) **उदीच्यम्** (उत्तर में होने वाला)—उदीचि भवम्। प्रक्रिया पूर्ववत्। किन्तु यहाँ पर 'उद्' से परवर्ती 'अ' के स्थान पर 'ई' आदेश "उद ईत्" (६-४-१३९)। (५) **प्रतीच्यम्** (पश्चिम में होने वाला)—प्रतीच्यां भवम्। प्रत्यच्+य (यत्)। प्रक्रिया पूर्ववत्।

(१३२२) पद—कन्थायाः, ठक्। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० कान्थिकः।

विवरण—"'कन्था' प्रातिपदिक से शैषिक 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**कान्थिकः** (गुदड़ी में होने वाला—जूँ)—कन्थायां जातः—कन्था+ठ (ठक्) ▷ कन्था+इक ▷ कान्थिकः ('आ' लोप तथा आदिवृद्धि)। अनेक वस्त्रखण्डों से टेढ़ा सिला हुआ आस्तरण 'कन्था' कहा जाता है[1]। कुछ लोगों के मत में 'कन्था' शब्द देश का भी अभिधान है।

(१३२३) पद—वर्णौ, वुक्। **अनुवृत्ति**—कन्थायाः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'वर्णु' का समीपवर्ती देश 'वर्णु' है। तद्विषयार्थवाची 'कन्था' शब्द से 'वुक्' (वु) प्रत्यय हो। उदा० 'यथा हि जातं हिमवत्सु कान्थकम्'।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'कन्थायाः' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः वही उद्देश्यवाची शब्द है। तदनुसार "'वर्णु' देश-विषयक 'कन्था' प्रातिपदिक से 'वुक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**कान्थकम्** ('वर्णु' देश की कन्था में होने वाला-जूँ)। 'वर्णु' नामक नद का समीपवर्ती देश—"अदूरभव"—अर्थ में "सुवास्त्वादिभ्यश्च" (४-२-७७) से विहित 'अण्' (वर्णु+अण्) का लोप होकर 'वर्णु' शब्द निष्पन्न होता है ("जनपदे लुप्" ४-२-८१)। इस प्रकार 'वर्णु' नदी के समीपवर्ती प्रदेश के गाँव में होने वाली सूचक कन्था अर्थ में 'वर्णु' शब्द से 'वुक्' प्रत्यय हुआ। वु=अक। 'आ'

१. "कन्था मृन्मयभित्तौ स्यात् तथा प्रावरणान्तरे" —इति मेदिनी।

जातं हिमवत्सु कान्थकम्'। (१३२४) अव्ययात्त्यप् ४ । २ । १०४ ॥ 'अमेहक्वतसित्रेभ्य एव' (वा २९७९) । 'अमान्तिकसहार्थयोः' । अमात्यः । इहत्यः । क्वत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः । परिगणनम् किम् ? उपरिष्टाद्भवः औपरिष्टः । 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' (वा ४१८७) । अनित्योऽयं वहिषष्टिलोपविधानात् । तेनेह न—आरातीयः । शाश्वतीयः । 'त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्' (वा २७८०) । नित्यः । 'निसो गते' (वा २७८१) ।

(१३२४) अव्ययात् त्यप् । अमेहेति । अमा, इह, क्व, तसि, त्र एभ्य एव अव्ययेभ्यः त्यप् प्रत्यय इति परिगणनवार्तिकमिदम् अमात्य इति । समीपे सह वा जात इत्यर्थः । औपरिष्ट इति । उपरिष्टादित्यव्ययस्य परिगणितेष्वनन्तर्भावात् न त्यप्, अणि औपरिष्ट इति रूपमित्यर्थः । कथमिह टिलोप इत्यत आह—अव्ययानामिति । वार्तिकमिदम् । भमात्रे इति । कात्स्न्यें मात्रशब्दः । कृत्स्नस्य भस्याव्ययस्य टेर्लोपः । 'नस्तद्धिते' इत्याद्युपाधिर्निरपेक्षित इत्यर्थः । नन्वेवं सति आरादित्यव्ययात् छस्य ईयादेशे टिलोपे आरीय इति स्यादित्यत आह—अनित्योऽयमिति । त्यब्नेरिति । नि इत्यव्ययात् त्यप् स्याद् ध्रुवे गम्ये इत्यर्थः । 'नियतं भवं नित्यम्' इति भाष्यम् । निसो गते इति । निस् इत्यव्ययात् त्यप् वक्तव्यो गते गम्ये इत्यर्थः । निस् त्य इति स्थिते सकारस्य पदान्तत्वादादेशप्रत्ययावयवत्वाभावाच्च षत्वे अप्राप्ते ।

लोप तथा आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य । अथवा 'वर्णु' देश में होनेवाली कन्था में उद्भूत जूँ—भी 'कान्थिका' कहलायेगी । कौमुदीस्थ उद्धरण 'यथा हि जातं हिमवत्सु कान्थकम्' द्वारा पहाड़ों पर प्रायः आस्तरणों में 'जूँ' 'पिस्सू' आदि होने को सूचित किया गया है । यह 'ढक्' का अपवाद है ।

(१३२४) पद—अव्ययात्, त्यप् । अनुवृत्ति—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—वा०—"केवल 'अमा', 'इह', 'क्व' तथा 'तसिल्' एवं 'त्रल्' प्रत्ययों से ही (त्यप) हो" । अमा 'समीप' एवं सहायकार्थ है । उदा० १—अमात्यः । २—इहत्यः । ३—क्वत्यः । ४—ततस्त्यः । ५—तत्रत्यः । 'परिगणन' क्यों किया ? उपरिष्टाद् भवः—औपरिष्टः ('त्यप्' नहीं हुआ) । वा० भसंज्ञा के विषय में अव्ययों का 'टि' लोप होता है । यह 'बहिस्' शब्द के 'टि'लोप विधान किये जाने से अनित्य है । इस कारण 'आरातीयः' तथा 'शाश्वतीयः' में 'आत्' का लोप नहीं हुआ । वा० 'नि' अव्यय से 'नित्य' अर्थ में 'त्यप्' प्रत्यय होता है । उदा० नित्यः । वा० 'गत' अर्थ में 'निस्' से 'त्यप्' होता है (उदा० 'निष्ट्यः' आगे दिया जा रहा है) ।

विवरण—"अव्ययों से 'जात' आदि अर्थों में 'त्यप्' प्रत्यय होता है" । सभी अव्ययों[1] का यहाँ ग्रहण न हो जाय इस लिये **वार्तिककार** परिगणन द्वारा उन्हें सीमित कर रहे हैं । तदनुसार "'अमा', 'इह', 'क्व', 'तसिल्' प्रत्ययान्त तथा 'त्रल्' प्रत्ययान्त अव्ययों से ही 'त्यप्' प्रत्यय होगा" । 'अमा' अव्यय—का अर्थ है साथ रहने वाला या सहायक । क्रमशः उदाहरण—(१) अमात्यः (सहायक या साथ रहने वाला—मन्त्री)—अमा भवः—अमा+त्य (त्यप) । (२) इहत्यः (यहाँ रहने वाला)—इह भवः—इह+त्य (त्यप्) । (३) क्वत्यः (कहाँ रहने वाला)—क्व भवः—क्व+त्य (त्यप्) । (४) ततस्त्यः (वहाँ से आया हुआ)—ततः आगतः—ततः+त्य (त्यप्) । (५) 'त्रल्'-प्रत्ययान्त—तत्रत्यः (वहाँ रहने वाला)—तत्र भवः—तत्र+त्य (त्यप्) ।

---

१. समीपवाची अमा शब्द का स्वरादिगण में पाठ होने से अव्यय है । इह आदि अन्य चारों शब्द "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" (१-१-३८) सूत्र से अव्यय-संज्ञक हैं ।

(१३२५) ह्रस्वात्तादौ तद्धिते ८ । ३ । १०१ ॥ ह्रस्वादिणः परस्य सस्य षः स्यात्तादौ तद्धिते । निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्ट्यश्चाण्डालादिः । 'अरण्याण्णः' (वा २७८२) । आरण्याः सुमनसः । 'दूरादेत्यः' (वा २७८३) । दूरेत्यः । 'उत्तरादाहञ्' (वा २७७४) ।

(१३२५) ह्रस्वात्तादौ । इण्कोरित्यतः इण्ग्रहणमनुवर्तते । 'सहेः साडः स' इत्यतः सः इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इति च तदाह—ह्रस्वादिण इति । निष्ट्य इति । त्यपि सस्य षत्वे तकारस्य ष्टुत्वेन टः । अरण्याण्ण इति । वक्तव्य इति शेषः । आरण्याः सुमनस इति । 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्' इत्यमरः । अरण्ये भवा इत्यर्थः

प्रत्युदाहरण—वार्तिक द्वारा अव्ययों में 'अमा' आदि पाँच प्रकारों तक ही सीमित करने के फलस्वरूप **औपरिष्टः** (ऊपर होने वाला) में 'त्यप्' नहीं हुआ । अतः यहाँ पर भवार्थ में 'उपरिष्टात्' अव्यय से 'अण्' प्रत्यय हुआ (उपरिष्ट+अण्, 'टि' लोप, आदिवृद्धि एवम् अन्त्य लोप) ।

प्रसङ्गवश यहाँ 'अव्ययानां भ-मात्रे टिलोपः' वार्तिक द्वारा 'टि' लोप की अनित्यता का एक उदाहरण दिया जा रहा है । वह है—'आरातीयः' (दूर या समीप रहने वाला) । यहाँ पर 'छ' (=ईय) प्रत्यय होने पर 'आत्' (=टि) का लोप नहीं किया गया है । इसमें "बहिषष्टिलोपो यञ्च" (वा०) वार्तिक से विहित 'बहिस्' का पुनः 'टि'लोपविधान इसकी अनित्यता का ज्ञापक है । 'बहिस्' अव्यय मे 'यञ्' प्रत्यय संयुक्त होने पर 'अव्ययानां भमात्रे टि लोपः' वार्तिक से 'टि'-लोप प्राप्त रहा । अतः 'बहिस्' का पुनः टि-लोप-विधान इसकी अनित्यता का ज्ञापक है । इसी प्रकार शाश्वतीयः (सदा होने या रहने वाला) में भी 'टि'लोप नहीं हुआ । इसी प्रसङ्ग में एक वार्तिक के द्वारा 'नि' उपसर्ग से स्थिर (ध्रुव) अर्थ में 'त्यप्' प्रत्यय का विधान भी बतलाया जा रहा है । इसके फलस्वरूप **नित्य** (स्थिर) शब्द निष्पन्न होता है—नितरां भवः—नि+त्य (त्यप्) । दूसरे वार्तिक द्वारा गतार्थक 'निस्' उपसर्ग से भी 'त्यप्' प्रत्यय का विधान बतलाया जा रहा है । **उदाहरण—निष्ट्यः** (वर्णाश्रम से पृथग्भूत—अन्त्यज आदि)—निर्गतः वर्णाश्रमादिभ्यः–निस्+त्य (त्यप्) >निष्-त्य (अग्रिम सूत्र से स् = ष्) > निष्टयः (ष्टुत्व–त् = ट्) ।

(१३२५) पद—ह्रस्वात्, तादौ, तद्धिते । **अनुवृत्ति**—सः, इण्कोः, नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तकारादि 'तद्धित' के विषय में ह्रस्व 'इण्' से परवर्ती 'स्' के स्थान पर 'ष्' आदेश हो । उदा० निष्टयः—अर्थात् वर्णाश्रम से बहिर्भूत चाण्डालादि । वा० 'अरण्य' शब्द से 'ण' (प्रत्यय) हो । उदा० आरण्याः—फूल । वा० 'दूर' शब्द से 'त्य' (प्रत्यय) हो । उदा० दूरेत्यः । वा० 'उत्तर' शब्द से 'आहञ्' (प्रत्यय) हो । उदा० औत्तराहः ।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र अष्टाध्याय के 'षत्व' प्रकरण का है । अतः वहाँ की अनुवृत्तियों पर ध्यान देना होगा । सूत्र में केवल निमित्त-वाची शब्द ही निविष्ट हैं । 'स्थानी' और 'आदेश' वाची शब्द अनुवृत्ति-वश समाविष्ट होंगे । अतः स्थानिवाचक 'सः' की अनुवृत्ति "सहेः साडः सः" (८-३-५६) तथा स्थितिसम्बन्धी समग्र सूत्र "इण्कोः" (८-३-५७) एवं "नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि (८-३-५८) तथा आदेश-वाची 'मूर्धन्यः' की अनुवृत्ति "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" (८-३-५५) से आ रही है । "तयोर्य्वावचि संहितायाम्" (८-२-१०८) का आधिकारिक प्रभाव होने से सन्धि के विषय में 'षत्व' को प्रवृत्ति होगी । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "ह्रस्व 'इण्' (= इ तथा उ) से उत्तरवर्ती 'स'कार को तकारादि तद्धित परे रहते 'मूर्धन्य' आदेश (=ष) होता है" । "अपदान्तस्य" (८-३-५५) का अधिकार होने से 'निस्+त्य' में 'निस्'—के 'स्' को पदान्त होने के कारण "आदेश-प्रत्यय योः" (८-३-५९) से मूर्धन्य आदेश की प्राप्ति नहीं रही । अतः इससे 'ष्' हुआ ।

औत्तराहः । (१३२६) ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम् ४ । २ । १०५ ॥ एभ्यस्त्यब्वा । पक्षे वक्ष्यमाणौ ट्युट्युलौ । ऐषमस्त्यम्–ऐषमस्तनम् । ह्यस्त्यम्–ह्यस्तनम् । श्वस्त्यम्–श्वस्तनम् । पक्षे शौवस्तिकं वक्ष्यते । (१३२७) तीररूप्योत्तरपदादञ्ञौ ४ । २ ।

णप्रत्यये टापि आरण्या इति रूपम् । अणि तु ङीप् स्यादिति भावः । दूरादेत्य इति । वक्तव्य इति शेषः । दूरेत्य इति । दूरादागतः, दूरे भव इति वार्थः । दूरादित्यव्ययात् एत्यप्रत्यये अव्ययानां भमात्रे इति टिलोपः । उत्तरादाहञिति । वाच्य इति शेषः । औत्तराह इति । उत्तरस्मादागतः उत्तरस्मिन् भव इति वार्थः । औत्तर इति त्वसाधु ।

(१३२६) ऐषमोह्यः । एभ्य इति । ऐषमस्, ह्यस्, श्वस् एतेभ्य इत्यर्थः । वक्ष्यमाणाविति । 'सायंचिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेनेति शेषः । ऐषमस्त्यमिति । ऐषमस् इत्यव्ययं वर्तमाने संवत्सरे वर्तते । तत्र भवमित्यर्थः । 'परुत्परार्यैषमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति' इत्यमरः । ऐषमस्तनमिति । ट्युट्युलौ वा । टावितौ, य्वोरनादेशः तस्य तुट्, ट इत्, उकार उच्चारणार्थः, टित्वादाद्यवयवः । ह्यस्त्यं—ह्यस्तनमिति । ह्यस् इत्यव्ययं गतेऽह्नि । तत्र भवमित्यर्थः । श्वस्त्यम्—श्वस्तनमिति । श्वस् इत्यव्ययमनागतेऽह्नि । तत्र भवमित्यर्थः । 'ह्यो गतेऽनागतेऽह्नि श्वः' इत्यमरः । पक्षे इति । 'श्वसस्तुट् च' इति ठञि तस्य इकादेशे तुडागमे 'द्वारादीनां च' इत्यैजागमे शौवस्तिकमित्यपि वक्ष्यमाणं रूपमित्यर्थः ।

प्रासङ्गिक सूत्र के अनन्तर कुछ स्फुट वार्तिक प्रस्तुत किये जा रहे हैं। तदनुसार (१) अरण्य शब्द से शैषिक 'अण्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—आरण्याः सुमनसः (जंगल में होने वाले फूल)—अरण्ये भवाः—अरण्य्+अ ('ण'-आदिवृद्धि, 'अ' लोप) > आरण्य्+टाप् (प्रथमा बहुवचन में रूप)। 'अण्' होने पर 'ङीप्' हो जाता, अतः 'ण' का विधान है। (२) दूरात् अव्यय से शैषिक '**एत्य**' प्रत्यय हो। **उदाहरण**—दूरेत्यः (दूर जाने वाला, पथिक)—दूरात् आगतः भवः वा—दूरात् +एत्य ('टि'लोप 'अव्ययानां भमात्रे' वा० तथा विभक्ति-कार्य)। (३) '**उत्तर**' शब्द से भवादि अर्थ में '**आहञ्**' प्रत्यय हो। उदा० **औत्तराहः** (उत्तर में होने वाला या उत्तर से आया हुआ)—उत्तर+आह (आहञ्) > औत्तराहः (आदिवृद्धि, 'अन्त्य'-'अ' लोप, विभक्ति-कार्य)। **विग्रह**—उत्तरस्मात् आगतः।

(१३२६) पद—ऐषमो-ह्यः-श्वसः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—त्यप्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन से वैकल्पिक 'त्यप्' हो। पक्ष में आगे कहे जाने वाले 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' भी (होंगे)। उदा० १—ऐषमस्त्यम्—ऐषमस्तनम् । २—ह्यस्त्यम्—ह्यस्तनम् । ३—श्वस्त्यम्—श्वस्तनम् । पक्ष में 'शौवस्तिकम्' भी बतलायेंगे ।

विवरण—अव्ययों के ही प्रसङ्ग में यह विधान बतलाया जा रहा है। विधेयांश 'त्यप्' का लाभ "अव्ययात्त्यप्" (४-२-१०४) से अनुवृत्ति द्वारा होता है। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार "'ऐषमस्', 'ह्यस्' तथा 'श्वस्' प्रातिपदिकों से वैकल्पिक (अन्यतरस्याम्) 'त्यप्' प्रत्यय होता है"। पक्ष में "सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च" (४-३-२३) सूत्र से 'ट्युट्युल्' प्रत्यय तथा 'तुट्' ('त्') आगम होंगे। 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' में 'यु' अवशेष रहेगा तथा 'यु' को 'अन' आदेश होगा। 'तुट्' आगम 'टित्' होने से 'अन' (ट्यु) का आदि अवयव होगा। क्रमशः—**उदाहरण**—(१) **ऐषमस्त्यम्**→'त्यप्' प्रत्यय होनेपर (ऐषमस्+त्य)। **ऐषमस्तनम्**← 'ट्यु'-ट्युल् तथा 'तुट्' आगम होने पर (ऐषमस्-त्+अन)। **अर्थ**—इस वर्ष होने वाला—

१०६ ॥ यथासङ्ख्येन । काकतीरम् । पाल्वलतीरम् । शैवरूप्यम् । तीररूपान्तात् इति नोक्तम् । बहुच्पूर्वान्मा भूत् । बाहुरूप्यम् । (१३२८) दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ४ । २ । १०७ ॥ अणोऽपवादः । पौर्वशालः । असंज्ञायाम् किम् ? संज्ञाभूतायाः प्रकृतेर्मा भूत् । पूर्वेषुकामशम्यां भवः—पूर्वैषुकामशमः । 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' (सू १४००)

(१३२७) तीररूप्य । तीरोत्तरशब्दात् रूपोत्तरपदाच्च क्रमादञ्ञ्यश्चेत्यर्थः । काकतीरमिति । काकतीरे भवमित्यर्थः । पाल्वलतीरमिति । पल्वलतीरे भवमित्यर्थः । शैवरूप्यमिति । शिवरूपे भवमित्यर्थः । रूपोत्तरपदेति क्वचित्पाठः । तथा सति ञ्यप्रत्यये 'यस्येति च' इत्यकारलोपे द्वियकारं रूपम् । बाहुरूपमिति । 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' इति बहुपूर्वस्य रूपान्तत्वेऽपि तदुत्तरपदकत्वाभावान्न ञ्य इति भावः ।

(१३२८) दिक्पूर्वपदात् । पञ्चम्यर्थे सप्तमी । असञ्ज्ञाभूतात् दिक्पूर्वपदकात् ञः स्यादित्यर्थः । पौर्वशाल इति । पूर्वस्यां शालायां भव इत्यर्थे 'तद्धितार्थे' इति समासात् ञः ।

ऐषमस् भवम् । (२) ह्यस्त्यम्→'त्यप्' होने पर (ह्यस्+त्य) । ह्यस्तनम्←'ट्यु-ट्युल्' तथा 'तुट्' आगम होने पर (ह्यस्-त्-अन) । अर्थ—गत दिन होने वाला—ह्यो भवम् । (३) श्वस्त्यम्→'त्यप्' होने पर (श्वस्+त्य) । श्वस्तनम्←'ट्यु-ट्युल्' तथा 'तुट्' आगम होने पर (श्वस्-त्+अन) । अर्थ—आने वाले कल होने वाला । इसके अतिरिक्त 'श्वस्' अव्यय का तीसरा रूप शौवस्तिकम् भी बनता है—श्वस्+ठञ्=इक-तुट् आगम ("श्वसस्तुट् च" ४-३-१५) ▷ श्वस्-त्+इक ▷ श्-औ-वस्-त्-इकम् ▷ शौवस्तिकम् (वृद्धि-निषेध एवम् 'ऐज्' (= औ) आगम "द्वारादीनां च" (७-३-४) ।

(१३२७) पद—तीररूप्योत्तरपदात्, अकञ्-ञ्यौ, च । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यथासंख्य (हों) । उदा० १—(क) काकतीरम् । (ख) पाल्वलतीरम् । (२) शैवरूप्यम् । 'तीर' और 'रूपान्त' से नहीं कहा गया है । अतः 'बहुच्'—पूर्वपदक से 'अञ्' नहीं हुआ—बाहुरूप्यम् ।

विवरण—"'तीर' तथा 'रूप्य' उत्तरपद वाले प्रातिपदिकों से यथासंख्य 'अञ्' तथा 'ञ' शैषिक प्रत्यय होते हैं" । **क्रमशः उदाहरण**—(१) तीरोत्तरपद—(क) **काकतीरम्** (काकतीर नामक →पतञ्जलि के अनुसार वाहीक ग्राम←में होने वाला)—काकतीरे भवम्—काकतीर्+अ (अञ्) । (ख) **पाल्वलतीरम्** (पल्वल नामक वाहीकग्राम में होने वाला)—पल्वले भवम्—पल्वल्+अ (अञ्) ▷ पाल्वलम्—आदिवृद्धि, 'अन्त्य' लोप एवं विभक्तिकार्य । (२) 'रूप्य' उत्तर-पद-**शैवरूप्यम्** (शिवरूप्य नामक वाहीक ग्राम में होने वाला)—शिवरूप्य्+अ (ञ) > शैवरूप्यम् (आदिवृद्धि, 'अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—सूत्र में 'उत्तरपद' शब्द का प्रयोग किया गया है । 'उत्तरपद' का अर्थ है समास का चरम अवयव (पद), क्योंकि 'उत्तरपद' शब्द समास के चरम अवयव में रूढ है । अतः बाहुरूप्यम् में 'बहुच्' प्रत्यय आदि में लगने के कारण रूप्योत्तरपद न होने से 'ञ' प्रत्यय नहीं हुआ ।

(१३२८) पद—दिक्पूर्वपदाद्, असंज्ञायां, ञः । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अण्' का अपवाद है । उदा० पौर्वशालः । 'असंज्ञायां' क्यों कहा ? संज्ञारूप प्रकृति से न हो । अतः भवार्थ में पूर्वेषु कामशमी से 'अण्' प्रत्यय हुआ, 'ञ' नहीं हुआ । "प्राचां ग्रामनगराणाम्" (सू० १४००) से उत्तरपद वृद्धि हुई ।

इत्युत्तरपदवृद्धिः। (१३२९) मद्रेभ्योऽञ् ४।२।१०८॥ दिक्पूर्वपदात् इत्येव। 'दिशोऽमद्राणाम्' (सू १३९९) इति मद्रपर्युदासादादिवृद्धिः। पौर्वमद्रः। आपरमद्रः। (१३३०) उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात् ४।२।१०९॥ अञ् स्यात्।

(१३२९) मद्रेभ्योऽञ्। इत्येवेति। दिक्पूर्वात् मद्रशब्दादञित्यर्थः। पर्युदासादिति। उत्तरपदवृद्धेः पर्युदासे सति आदिवृद्धिरित्यर्थः। बहुवचनाज्जनपदवाचिन एव ग्रहणम्। पौर्वमद्र इति। पूर्वेषु मद्रेषु भव इत्यर्थः।

(१३३०) उदीच्यग्रामाच्च। शैवपुरमिति। उत्तरदेशे शिवपुरं नाम ग्रामविशेषः।

विवरण—सूत्र में 'असंज्ञायाम्' सप्तम्यन्त पद पञ्चम्यर्थ का बोधक है। प्राकरणिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ है कि "असंज्ञा (संज्ञाभिन्न) में वर्तमान दिशावाची शब्द के पूर्वपद में रहते हुए प्रातिपदिक से शैषिक 'ञ' प्रत्यय हो"। यह 'अण्' का अपवाद है। **उदाहरण—पौर्वशालः** (पूर्व के कमरे में होने वाला)—पूर्वस्यां शालायां भवः—पूर्वा+ङि, शाला+ङि+अ > पूर्वा-शाला (समास—"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" २-१-५०) > पूर्वशाला+अ '(ञ)—पुंवद्भाव "स्त्रियाः पुंवद्भाषित०" ६-३-३२) > पौर्वशाला+अ (आदिवृद्धि) > पौर्वशाल ('आ' का लोप) > पौर्वशालः (विभक्तिकार्य)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'असंज्ञायाम्' पद (=संज्ञाभिन्न) का निवेश होने से **पूर्वेषुकामशमः** (पूर्वीय इषुकामशम नामक ग्राम में होने वाला) में 'ञ' नहीं हुआ, क्योंकि 'इषुकामशमी' नगर की संज्ञा है। अतः वहाँ भवार्थ में 'अण्' प्रत्यय होगा। प्रक्रिया—(क) पूर्वा चासौ इषुकामशमी > पूर्वा-इषुकामशमी (समास—"दिक्संख्ये संज्ञायाम्" २-१-५०) (ख) पूर्वेषुकामशम्यां भवः—पूर्वेषुकामशमी+अ (अण्) > पूर्वेषुकामशमी ('पूर्वा' को पुंवद्भाव—' पुंवत्कर्मधारय०" ६-३-४० तथा गुणसन्धि एवम् उत्तरपद-वृद्धि—"प्राचां ग्रामनगराणाम्" ७-३-१४७ तथा 'अणन्त' होने से 'ङीप्' एवं विभक्ति-कार्य)।

(१३२९) पद—मद्रेभ्यः, अञ्। **अनुवृत्ति**—दिक्पूर्वपदात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दिशावाची पूर्वपद से ही ('अञ्' हो)। "दिशोऽमद्राणाम्" (सू० १३९९) में 'मद्र'-पर्युदास से आदिवृद्धि होने के फल-स्वरूप—उदा० १—पौर्वमद्रः। २—आपरमद्रः।

विवरण—पूर्व सूत्र (१३२८) से 'दिक्पूर्वपदात्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "दिशावाची पूर्वपदवाले मद्रान्त शब्दों से शैषिक 'अञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **पौर्वमद्रः**[1] (पूर्वी मद्र-जनपद में होनेवाला)—पूर्वेषु मद्रेषु भवः—पूर्वमद्र+अ (अञ्) > पौर्वमद्रः (आदिवृद्धि, 'अ' लोप तथा विभक्तिकार्य)। (२) **आपरमद्रः**[2] (पश्चिमी मद्र में होने वाला)। अपरेषु मद्रेषु भवः। शेष कार्य पूर्ववत्।

विशेष—उपर्युक्त उदाहरणों में "दिशोऽमद्राणाम्" (७-३-१४) सूत्र से उत्तरपद-वृद्धि की आशंका का निवारण 'अमद्राणाम्' (पर्युदास) पद का निवेश (मद्रभिन्न) होने से किया गया है। अतः उसके न होने पर आदिवृद्धि हुई।

(१३३०) पद—उदीच्यग्रामात्, च, बह्वचः, अन्तोदात्तात्। **अनुवृत्ति**—अञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

१-२. ये 'मद्र' जनपद के दो बड़े भाग थे। उन दो भागों के निवासी क्रमशः **पौर्वमद्र** और **आपरमद्र** कहलाते थे। पूर्वमद्र 'रावी' से 'चनाव' तक और पश्चिमी मद्र 'चनाव' से 'झेलम' तक का प्रदेश था। जनपद की राजधानी **शाकल** या **स्यालकोट** थी, जो पूर्वमद्र में ही थी।

शैवपुरम् । (१३३१) प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण् ४ । २ । ११० ॥ माहिकिप्रस्थः । पालदः । नैलीनकः । (१३३२) कण्वादिभ्यो गोत्रे ४ । २ । १११ ॥ एभ्यो गोत्रप्रत्ययान्तेभ्योऽण् स्यात् । कण्वो गर्गादिः । काण्व्यस्य छात्राः काण्वाः । (१३३३)

तत्र भवमित्यर्थः । समासस्येत्यन्तोदात्तः शिवपुरशब्दः । बह्वचः किम् ? ध्वञ्जी (ङीषन्तो) नाम उत्तरदेशे ग्रामविशेषः । तत्र भवः ध्वञ्जः । अन्तोदात्तात्किम् ? शार्करीधानम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण लिस्वरस्यैवावस्थानात् । मध्योदात्तोऽयम् ।

(१३३१) प्रस्थोत्तरपद । प्रस्थोत्तरपदात् पलद्यादिभ्यः कोपधाच्च अणित्यर्थः । पलदिः आदिर्येषामिति विग्रहः । उदीच्यग्रामलक्षणस्य अञोऽपवादः । माहिकिप्रस्थ इति । महिकिप्रस्थनाम्नि ग्रामे भव इत्यर्थः । पालद इति । पलदिनाम्नि ग्रामे भव इत्यर्थः । नैलीनक इति । निलीनकनाम्नि ग्रामे भव इत्यर्थः ।

(१३३२) कण्वादिभ्यो गोत्रे । काण्व्यस्येति । कण्वस्य गोत्रापत्यं काण्व्यः । गर्गादियञ् । काण्व्यस्य छात्रा इत्यर्थे अनेन छापवादोऽण् । 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । 'आपत्यस्य च' इति यकारलोपः काण्वा इति रूपम् ।

मूलार्थ—'अञ्' हो । उदा० शैवपुरम् ।

विवरण—विधेयांश 'अञ्' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (१३२९) से आ रही है । सूत्रस्थ पदों के साथ अन्वित होकर वह सूत्रार्थ की निष्पत्ति में सहायक होता है । अतः "अनेक स्वर-वर्णों से युक्त अन्तोदात्त उदीच्य ग्रामवाचक प्रातिपदिकों से शैषिक 'अञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**शैवपुरम्** (शिवपुर में होने वाला)—शिवपुरे भवम्—शिवपुर+अ (अञ्) > शैवपुरम् । आदिवृद्धि, 'अन्त्य'लोप । **पूर्व-प्रक्रिया**—शिवस्य पुरम् > शिवपुरं (षष्ठी—समास) । अतः "समासस्य" (६-१-२१७) से **शिवपुर शब्द अन्तोदात्त है** ।

विशेष—(१) यह 'बह्वच्' तथा उदीच्य ग्रामवाची शब्द है ।

(२) इस सूत्र में 'दिक्पूर्वपदात्' का सम्बन्ध नहीं है ।

(३) यह भी 'अण्' का अपवाद है ।

(१३३१) पद—प्रस्थोत्तरपद-पलद्यादि-कोपधात्, अण् । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १–माहिकिप्रस्थः । २–पालदः । ३–नैलीनकः ।

विवरण—सभी प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "प्रस्थोत्तरपदक प्रातिपदिकों से, पलदि–आदि-गण-पठित शब्दों से तथा 'क'कार उपधा वाले शब्दों से शैषिक 'अण्' प्रत्यय होता है" । क्रमशः **उदाहरण**—प्रस्थोत्तरपद (१) **माहिकिप्रस्थः** (महिकिप्रस्थ में होने वाला)—महिकिप्रस्थनाम्नि ग्रामे भवः—महिकिप्रस्थ+अ (अण्) > महिकिप्रस्थः (आदिवृद्धि आदि कार्य) । (२) पलद्यादि—(क) **पालदः** (पलदि (वाहीकग्राम) में होने या रहने वाला । पलदिनाम्नि ग्रामे भवः—पलदि+अ (अण्) > पालदः (आदिवृद्धि, 'इ' वर्ण-लोप) । (३) ककारोपध—**नैलीनकः** (निलीनक वाहीक ग्राम) में होने वाला—निलीनक+अ (अण्) । शेष कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—उदीच्य-ग्राम-लक्षण 'अञ्' का यह अपवाद है ।

(१३३२) पद—कण्वादिभ्यः, गोत्रे । **अनुवृत्ति**—अण्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कण्वादि-गोत्रप्रत्ययान्तों से 'अण्' हो । गर्गादि में कण्वादि पढ़े गये हैं । उदा० काण्व्यस्य छात्राः—काण्वाः ।

इञश्च ४ । २ । ११२ ॥ गोत्रे य इञ् तदन्तादण्स्यात् । दाक्षाः । गोत्रे किम् ? सौतङ्गमेरिदं सौतङ्गमीयम् । गोत्रमिह शास्त्रीयं, न तु लौकिकम् । तेनेह न । पाणिनीयम् ।

(१३३३) इञश्च । दाक्षा इति । दक्षस्य गोत्रापत्यं दाक्षिः । अत इञ् । दाक्षेः छात्रा इति विग्रहः । सौतङ्गमेरिदमिति । सुतङ्गमस्य निवासः सौतङ्गमिः । 'सुतङ्गमादिभ्य इञ्' सौतङ्गमेरिदमित्यर्थे वृद्धात् छः, न त्वण्, इञो गोत्रार्थकत्वाभावात् । गोत्रमिह शास्त्रीयमिति । अपत्याधिकारादन्यत्र यद्यपि लौकिकमेव गोत्रमिति सिद्धान्तः । तथापि इह सूत्रद्वयेऽपि शास्त्रीयमेव गोत्रं गृह्यते, 'यूनि लुक्' इति सूत्रभाष्ये तथोक्तत्वादिति

विवरण—"गोत्रप्रत्ययान्त कण्वादि प्रातिपदिकों से शैषिक 'अण्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—काण्वाः (काण्व्य के छात्र)—काण्व्यस्य छात्राः—काण्व्य्+अ (अण्) > काण्व्य् +अ ('अ' लोप) > काण्व+जस् ('य्'—लोप-"आपत्यस्य च तद्धिते ऽनाति" ६-४-१५१)> काण्वाः (विभक्ति-कार्य)।

विशेष—कण्वादि-गण 'गर्गादि'-गण के अन्तर्गत है। अतः 'कण्व' शब्द से यञ् प्रत्यय ("गर्गादिभ्यो यञ्" ४-१-१०५) होकर 'काण्व्य' शब्द निष्पन्न होता है। तदनन्तर प्रकृत सूत्र प्रवृत्त होता है।

(१३३३) पद—इञः, च। **अनुवृत्ति**—गोत्रे, अण्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गोत्रप्रत्ययान्त इञन्त प्रादिपदिकों से 'अण्' प्रत्यय होता है। उदा० दाक्षाः। 'गोत्रे' क्यों कहा ? सौतङ्गमेः इदम्—सौतङ्गमीयम् ('अण्' नहीं हुआ)। यहाँ पारिभाषिक 'गोत्र' विवक्षित है न कि लौकिक। अतः पाणिनीयम् में 'अण्' नहीं हुआ।

विवरण—विधेयांश 'अण्' का लाभ "प्रस्थोत्तरपद-पलद्यादि-कोपधादण्" (४-२-११०) सूत्र से 'अण्' की अनुवृत्ति-वश होता है। निमित्त-परक 'गोत्रे' शब्द भी "कण्वादिभ्यो गोत्रे" (४-२-१११) सूत्र से अनुवर्तमान है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "गोत्र-प्रत्ययान्त इञन्त प्रातिपदिकों से भी 'अण्' प्रत्यय हो"। यह "वृद्धाच्छः" ४-२-१४४ का अपवाद-सूत्र है। **उदाहरण**—दाक्षाः (दाक्षि के छात्र)—दाक्षेः छात्राः—दाक्षि+अ-'इञन्त' दाक्षि शब्द से 'अण्', 'इ' लोप तथा प्रथमा बहुवचन में विभक्ति-कार्य।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप सौतङ्गमीयम् ('सौतङ्गमि' सम्बन्धी) में 'अण्', प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि 'सुतङ्गम' शब्द से चातुरर्थिक 'इञ्' प्रत्यय निवास अर्थ में हुआ है, न कि 'गोत्र' अर्थ में—"वुञ्छणकठ०" (४-२-८०)। अतः 'इदम्' अर्थ में 'छ' प्रत्यय हुआ—"वृद्धाच्छः (४-२-११४)।

विशेष—प्रकृत सूत्र में अनुवर्तमान 'गोत्र' पद शास्त्रीय (पारिभाषिक) गोत्र अर्थात् पौत्र-प्रभृति-सन्तति का बोधक है, न कि अनन्तरापत्य (= साक्षात् पुत्र एवं पुत्री) का। अतः **पाणिनीयम्** (पाणिनि-सम्बन्धी) में 'इञ्'-प्रत्ययान्त पाणिनि शब्द से 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि 'पाणिनि' में 'इञ्' प्रत्यय युवापत्य अर्थ में हुआ है। यद्यपि अपत्याधिकार से अन्यत्र लौकिक गोत्र का ही ग्रहण महाभाष्यकार पतञ्जलि ने सूचित किया है, तथापि "कण्वादिभ्यो गोत्रे" (४-२-१११) तथा "इञश्च" इन दोनों सूत्रों में शास्त्रीय गोत्र का ही ग्रहण है। उसका कारण यह है कि कण्वादि शब्दों के गर्गाद्यन्तर्गत होने से 'यञ्' प्रत्यय गोत्रापत्य में ही सम्भावित रहा। अन्यथा यञन्त कण्वादि शब्दों से शैषिक 'अञ्' विधान व्यर्थ हो जाता[1]।

---

१. कण्वादीनां गर्गाद्यन्तर्गणत्वेन तत्र शास्त्रीयगोत्रे एव प्रत्ययसत्त्वात्। अर्थाधिकारात् अत्रापि तदेवेति भावः।

(१३३४) न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु ४ । २ । ११३ ॥ 'इञश्च' (सू १३३३) इत्यणोऽपवादः । प्रौष्ठीयाः । काशीयाः । भरतानां प्राच्यत्वेऽपि पृथगुपादानम् अन्यत्र प्राच्यग्रहणे भरतानामग्रहणस्य लिङ्गम् । **(१३३५) वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् १ । १ । ७३ ॥** यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद् वृद्धसंज्ञं स्यात् । **(१३३६) त्यदादीनि**

भावः । पाणिनीयमिति । पणिनो गोत्रापत्यं पाणिनः । तस्यापत्यं युवा पाणिनिः । तस्येदं पाणिनीयम् । वृद्धात् छः । अण् तु न, पाणिनिशब्दस्य युवप्रत्ययान्तत्वादिति भावः ।

(१३३४) न द्व्यचः । प्राच्येषु (परेषु) भरतेषु च गोत्रेषु विद्यमानादिञन्तात् द्व्यचोऽण् न भवतीत्यर्थः । इञश्चेत्यणोपवादः । प्रतिषेध इत्यर्थः । प्रौष्ठीया इति । प्रोष्ठस्य गोत्रापत्यं प्रौष्ठिः, तस्य छात्रा इत्यर्थः । काशीया इति । काशस्य गोत्रापत्यं काशिः, तस्य छात्रा इत्यर्थः । अणो निषेधे वृद्धात् छः । लिङ्गमिति । तेन औद्दालकिः पिता, औद्दालकायनः पुत्रः इत्यत्र 'इञः प्राचाम्' इति भरतेभ्यो लुङ् न भवति ।

(१३३५) वृद्धिर्यस्य । अचामिति बहुत्वमनेकत्वोपलक्षणम् । तेन शालाशब्दस्यापि वृद्धत्वं सिद्ध्यति । व्यपदेशिवत्त्वेन शाशब्दस्यापि वृद्धत्वम् ।

(१३३४) पद—न, द्व्यचः, प्राच्यभरतेषु । **अनुवृत्ति**—इञः, गोत्रे, अण्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(निषेध)-सूत्र ।**

मूलार्थ—"इञश्च" (सू० १३३३) से विहित 'अण्' का अपवाद है । १—प्रौष्ठीयाः । २—काशीयाः । भरतों के प्राच्य होने पर भी सूत्र में उसका पृथक् ग्रहण करना अन्यत्र प्राच्य ग्रहण करने पर भरतों का ग्रहण न किया जाना ज्ञापित होता है ।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये आसन्न पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'न'शब्द निषेधार्थक है । किसका निषेध हो ? इसके लिये 'अणः' की अनुवृत्ति "प्रस्थोत्तरपद-पलद्यादि-कोपधाद् अण्" (४-२-११०) से प्रमुख रूप में प्रभावी है । परिस्थिति का निदर्शन 'गोत्रे' ("कण्वादिभ्यो गोत्रे" ४-२-१११) तथा 'इञ्' ("इञश्च" ४-२-११२) पदों द्वारा किया गया है । अतः सूत्र का यह आशय है कि "प्राच्य एवं भरत-गोत्रवाची 'इञन्त द्व्यच्' प्रातिपदिकों से 'अण्' प्रत्यय नहीं होता" । "इञश्च" ४-२-११२ का यह अपवाद है । **उदाहरण**—प्राच्यगोत्र—प्रौष्ठीयाः (प्रौष्ठि के छात्र)—प्रोष्ठस्य गोत्रापत्य प्रौष्ठिः, तस्य छात्राः—प्रोष्ठ+इ (इञ्) > प्रौष्ठि ("अत इञ्" ४-१-९५) > प्रौष्ठि+छ (ईय) (पूर्वसूत्र "इञश्च" ४-२-११२ से 'अण्' प्राप्त था उसका निषेध होने से वृद्धाच्छः ४-२-११४ से 'छ' प्रत्यय हुआ) > प्रौष्ठीयाः (प्रथमा बहुवचन में विभक्ति-कार्य) । भरत गोत्र—(२) काशीयाः (काशि के छात्र)—काशस्य गोत्रापत्यं काशिः, तस्य छात्राः—काश+इञ् > काशि > काशि+छ (ईय) > काशीयाः ।

विशेष—प्राच्य गोत्र के अन्तर्गत भरतगोत्र का भी समावेश है । अतः प्रकृत सूत्र में 'प्राच्य' पद से ही भरतों का भी समावेश हो जाता । पुनः भरत ग्रहण क्यों किया ? वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "अन्यत्र प्राच्यग्रहण-प्रयुक्त कार्य भरतों से नहीं होता" । उसके फलस्वरूप औद्दालकिः पिता, '**औद्दालकायनः पुत्रः**' में इञन्त 'औद्दालकि' से "यञिञोश्च" (४-१-१०१) से विहित 'फक्' (आयन) प्रत्यय का, "इञः प्राचाम्" (२-४-६०) से प्राप्त लोप नहीं हुआ ।

(१३३५) पद—वृद्धिः, यस्य, अचाम्, आदिः, तद्, वृद्धम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—जिस शब्द के (समुदायस्य) अचों में आदि 'अच्' वृद्धिरूप हो उस शब्द की 'वृद्ध' संज्ञा होती है ।

विवरण—प्रसङ्गप्राप्त 'वृद्ध'-संज्ञा का निर्वचन किया जा रहा है । यह संज्ञासूत्र है । **संज्ञा है**—'वृद्धम्' तथा **संज्ञी है**—'यस्य अचाम् आदि-वृद्धिः' । 'षष्ठी' विभक्ति निर्धारणार्थक है । एवं स्वरों

च १।१।७४॥ वृद्धसंज्ञानि स्युः। (१३३७) वृद्धाच्छः ४।२।११४॥ शालीयः। मालीयः। तदीयः। (१३३८) एङ् प्राचां देशे १।१।७५॥ एङ् यस्याचामादिस्तद् वृद्धसंज्ञं वा स्याद् देशाभिधाने। एणीपचनीयः। गोनर्दीयः। भोजकटीयः।

(१३३६) त्यदादीनि च। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—वृद्धसञ्ज्ञानि स्युरिति। आदेरचो वृद्धिसञ्ज्ञकत्वाभावादारम्भः।

(१३३७) वृद्धाच्छः। वृद्धसञ्ज्ञकात् छः स्यात् जातादिष्वर्थेषु। अणोऽपवादः। शालीय इति। शालायां जात इत्यादिरित्यर्थः। एवं तदीयः।

(१३३८) एङ् प्राचां देशे। देशविशेषनाम्नश्चेदेङादिरेव वृद्धसञ्ज्ञक इति नियमा-

---

'अचां'—यह भी अनेकत्वको (एक से अधिक को) अभिलक्षित कर बहुवचन प्रयोग किया गया है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जिस शब्द के स्वरसमूह में प्रथम स्वर-वर्ण वृद्धिसंज्ञक ('आ', 'ऐ' तथा 'औ') हो उसे 'वृद्ध' कहते हैं।

(१३३६) पद—त्यदादीनि, च। **अनुवृत्ति**—वृद्धम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—वृद्धसंज्ञक हों।

विवरण—पूर्वसूत्र से अप्राप्त विषय को अभिलक्षित कर वृद्धसंज्ञा का निर्वचन किया जा रहा है। 'वृद्धम्' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र (१३३५) से आती है। अतः "'त्यदादि'-गण-पठित शब्दों की भी वृद्ध-संज्ञा होगी"।

(१३३७) पद—वृद्धात्, छः। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० १—शालीयः। २—मालीयः। ३—तदीयः।

विवरण—प्रासङ्गिक वृद्ध-संज्ञा के फल को अभिलक्षित कर शैषिक प्रकरण में उसका प्रभाव दिखाने के लिये यह सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है। तदनुसार "वृद्ध-संज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है"। 'अण्' का यह अपवाद है। **उदाहरण**—(१) **शालीयः** (शाला में होने वाला)—शालायां भवः—शाला+छ (आदि वर्ण 'आ' होने से 'वृद्ध'संज्ञा होने के कारण 'छ' प्रत्यय) > शाल्+ईय (छ=ईय) > शालीयः ('आ' का लोप एवं विभक्ति-कार्य)। (२) **मालीयः** (माला में होने वाला)—मालायां भवः—माला+छ (=ईय)। (३) **तदीयः** (उसका)—तस्य अयम्—तद्+छ ("त्यदादीनि च" १-१-७४ से 'वृद्ध'संज्ञा होने के कारण 'छ' प्रत्यय) > तदीयः (छ=ईय तथा विभक्ति-कार्य)।

(१३३८) पद—एङ्, प्राचां, देशे। **अनुवृत्ति**—यस्याचामादिः, वृद्धम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—जिस शब्द-समुदाय में आदिवर्ण 'एङ्' रहे, उस शब्द के देश का अभिधान होने पर 'वृद्ध' संज्ञा होती है। उदा० १—एणीपचनीयः। २—गोनर्दीयः। ३—भोजकटीयः। पक्ष में अण्—१—ऐणीपचनः। २—गौनर्दः। ३—भौजकटः। 'एङ्' क्यों कहा? १—आहिच्छत्रः। २—कान्यकुब्जः (में वृद्ध संज्ञा नहीं हुई)। वा० नाम-वाचक की वैकल्पिक वृद्ध-संज्ञा कही जाय। १—देवदत्तीयः—दैवदत्तः।

विवरण—पुनः दोनों पूर्वसूत्रों से अप्राप्त स्थलों के सम्बन्ध में वृद्ध-संज्ञा का निर्वचन किया जा रहा है। अतः १३३५ सूत्र से 'यस्या-चामादिः' तथा 'वृद्धम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "जिस शब्द के स्वरवर्णों का आदिम स्वर-वर्ण 'एङ्' ('ए' या 'ओ') हो उस शब्द के देशवाची होने पर वैकल्पिक (प्राचां) 'वृद्ध' संज्ञा हो"। वृद्ध-संज्ञा का फल पूर्ववत् "वृद्धात् छः" (४-२-११४) से 'छ' प्रत्यय का होना है। 'छ' प्रत्यय के न होने पर औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय होगा। तदनुसार **उदाहरण**—(१) **एणीपचनीयः**—'छ' होने पर

पक्षेऽणि—ऐणीपचनः, गौनर्दः, भौजकटः। एङ् किम् ? आहिच्छत्रः। कान्यकुब्जः। 'वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या' (वा ५७६)। देवदत्तः—दैवदत्तीयः। (१३३९) भव-

---

र्थमिदम्। वा नामधेयस्येति। रूढशब्दत्वमिह नामत्वम्। न त्वाधुनिकसङ्केतितत्वमेव। तेन घटीयमित्यादि सिद्धम्।

एणीपचन+छ=ईय। ऐणीपचनः←'अण्' होने पर (एणीपचन्+अण्, आदिवृद्धि, 'अ'लोप)। अर्थ—एणीपचन देश में होने वाला। विग्रह—एणीपचने भवः। (३) भोजकटीयः→'छ' प्रत्यय होने पर। भौजकटः←'अण्' होने पर। अर्थ—भोजकट (प्राचीन विदर्भ की राजधानी) में होने वाला। विग्रह—भोजकटे भवः। (२) गोनर्दीयः←'छ' (=ईय) होने पर। गौनर्दः←'अण्' होने पर—आदिवृद्धि, 'अ' लोप। अर्थ—गोनर्द=गोंडा में होने वाला—पतञ्जलि की संज्ञा है। विग्रह—गोनर्दे भवः, जातः वा।

विशेष—देशविशेष के अभिधेय होने पर यदि 'वृद्ध' संज्ञा होती है तो 'एङादि' को ही हो—इस प्रकार यह सूत्र नियामक है।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'एङ्' पद का निवेश होने से **आहिच्छत्रः** ('अहिच्छत्र' में होने वाला) में वृद्धसंज्ञा नहीं हुई, अतः 'छ' प्रत्यय नहीं हुआ। किन्तु 'अण्' प्रत्यय हुआ। कारण यह है कि 'अहिच्छत्र' शब्द यद्यपि देशवाची है तथापि इसका आदिवर्ण 'ए' या 'ओ' नहीं है ? इसी प्रकार **कान्यकुब्जः** में भी 'छ' प्रत्यय नहीं हुआ।

वार्तिक—कात्यायन ने वृद्ध-संज्ञा का क्षेत्र और अधिक विस्तृत कर दिया है। तदनुसार—**व्यक्ति के नाम की विकल्प से वृद्ध-संज्ञा होती है**। यहाँ 'नाम' शब्द केवल मानव-व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है, किन्तु किसी प्रकार की संज्ञा के लिये उसका प्रयोग जाना जाय। इसके फलस्वरूप—**देवदत्तीयः** ('छ' होने पर) तथा **दैवदत्तः** ('अण्' होने पर) दोनों रूप बनेंगे। अर्थ—देवदत्त सम्बन्धी—देवदत्तस्य अयम्। 'रूढ'—नाम की भी 'वृद्ध'-संज्ञा होने के फलस्वरूप **घटीयः** ('घट' सम्बन्धी—घटस्य अयम्) में भी 'छ' (= ईय) प्रत्ययान्त प्रयोग समीचीन माना जायगा।

विचारणीय—प्रकृत-सूत्रस्थ 'प्राचां' पद को अभिलक्षित कर भाष्य में विशेष विचार नहीं किया गया है। भट्टोजी दीक्षित ने तो 'प्राचां' पद से प्राग्देशवासी आचार्यों का ग्रहण करने के फलस्वरूप वैकल्पिक 'छ' प्रत्यय के विधान में उसकी चरितार्थता मानी है। कैयट ने भाष्य की टीका में यह अवगत कराया है कि कुणि ने अपनी वृत्ति में इस सूत्र में प्रयुक्त 'प्राचां' पद के अनन्तर 'मते' पद का अध्याहार किया है। अतः 'प्राग्देशवासी आचार्यों के मत में—यह अर्थ माना गया। तदनुसार भाष्यकार ने भी उसे व्यवस्थित-विभाषा (विकल्प) के रूप में स्वीकार किया[1]। इसके फलस्वरूप 'क्रौडः' (उत्तर दिशा वाले 'क्रोड' ग्राम में होने वाला—क्रोडो नाम उदग्ग्रामः, तत्र भवः)—में 'अण्' ही होता है। अर्थात् वहाँ 'ओकार' से प्रारम्भ होने वाले शब्द में वृद्ध-संज्ञा नहीं हुई, अतः 'अण्' प्रत्यय हुआ, 'छ' (= ईय) नहीं हुआ। इसके विपरीत जयादित्य ने काशिका में 'प्राचाम्' पद का सम्बन्ध सूत्र में निर्दिष्ट 'देशे' पद के साथ किया है। उनके मतानुसार साक्षात् सूत्रोपात्त पद के साथ अन्वय करना छोड़कर अध्याहृत पद (= 'मते') के साथ अन्वय करना उचित नहीं है। अतः उदीच्य 'देवदत्त नामक वाहीक ग्राम' में होना—अर्थ में देवदत्त शब्द की वृद्धसंज्ञा न होने के फलस्वरूप 'अण्' प्रत्यय होकर 'दैवदत्तः' रूप निष्पन्न

---

१. "कुणिना प्राग्ग्रहणम् आचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थं चेति व्याख्यातम्। तेन क्रोडो नाम उदग्-ग्रामः—तत्र भवः क्रौडः इति अणेव भवति"।—कैयट-व्याख्या १-१-७४। तथा "विधेयसंबन्धबलेन पृथग्विभक्त्युच्चारणाच्च प्राग्ग्रहणयाचार्यनिर्देशार्थम्"—शब्दकौस्तुभः।

तष्ठक्छसौ ४। २। ११५॥ वृद्धाद्भवत एतौ स्तः। भावत्कः। जश्त्वम्। भवदीयः। वृद्धात् इत्यनुवृत्तेः शत्रन्तादणेव। भावतः। (१३४०) काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ ४।

(१३३९) भवतष्ठक्छसौ। भावत्क इति। 'इसुसुक्तान्तात्कः'। ननु भवच्छब्दाच्छस्य ईयादेशे सति भत्वेन पदत्वस्य बाधात्कथं जश्त्वमित्यत आह—जश्त्वमिति। 'सिति च' इति पदत्वेन भत्वस्य बाधादिति भावः। ननु भावत इति कथमणप्रत्ययः, 'त्यदादीनि च' इति भवच्छब्दस्य वृद्धतया छस्यैव युक्तत्वादित्यत आह—वृद्धादित्यनुवृत्तेः शत्रन्तादणेवेति। त्यदादिषु 'भातेर्डवतुः' इति डवत्वन्तस्यैव पाठादिति भावः।

होगा। अर्थात् वृद्धसंज्ञा-निमित्तक शैषिक 'ठञ्' और 'ञिठ' प्रत्यय ("वाहीकग्रामेभ्यश्च" ४-२-११७) नहीं होते। इस मत में वाहीक देशस्थ 'सेपुर' और 'स्कोनगर' शब्दों को 'वृद्ध' संज्ञा होने के लिये भाष्यकार के "एङ् प्राचां देशे शैषिकेषु" इस वार्तिक (वचन)[1] का आश्रयण लेकर 'ठञ्' और 'ञिठ' प्रत्ययों के संयुक्त होने पर 'सैपुरिकी' ('ठञ्'+'ङीप्') तथा 'सैपुरिका' ('ञिठ'+'टाप्') एवं 'स्कौनगरिकी' तथा 'स्कौनगरिका'—इष्ट रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रसङ्ग में 'पूर्व' और 'उत्तर' देश के विभाजन की सीमा को सूचित करने के लिये प्रमाण-स्वरूप 'शरावती' नदी को मध्यस्थ माना है—

"प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदकं यथा। विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती"॥

'वाहीक' देश इनके बाहर स्थित है। इसके प्रमाणस्वरूप कात्यायन का 'बहिषष्टिलोपो यञ्च' वार्तिक उद्धृत किया जाता है। जिसके अनुसार बहिर्भवः→बाहीकः←रूप निष्पन्न होता है। इसी सम्बन्ध में महाभारत के 'कर्णपर्व' का भी प्रमाण उद्धृत किया गया है—

"पञ्चानां सिन्धुषष्ठानाम् अन्तरे वै समाश्रिताः।
वाहीका नाम ते देशा न तेषु दिवसं वसेत्"॥

आचार-विहीनता के कारण वहाँ निवास के प्रति अरुचि दिखाई गई है। इसके अनुसार भी शतद्रु, विपाशा, इरावती, वितस्ता तथा चन्द्रभागा—ये पाँच नदियाँ 'सिन्धु' नद की सहायक हैं। इस प्रकार 'सिन्धु' एवम् इन 'पाँच नदियों' का मध्यभाग 'वाहीक' माना गया है[2]।

(१३३९) पद—भवतः, ठक्-छसौ। अनुवृत्ति—वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'वृद्ध' संज्ञक 'भवत्' शब्द से—ये दो (प्रत्यय) हों। उदा० १—भावत्कः। २—जश्त्व होकर—भवदीयः। 'वृद्धात्' की अनुवृत्ति होने से 'शतृ'-प्रत्ययान्त से 'अण्' ही होता है—भावतः।

विवरण—'वृद्ध' संज्ञक शब्दों का ही विषय चल रहा है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'वृद्ध' संज्ञक 'भवत्' शब्द से शैषिक 'ठक्' (=क) और 'छस्' (=ईय) प्रत्यय होते हैं"। "त्यदादीनि च" (१-१-७३) से 'भवत्' शब्द की 'वृद्ध' संज्ञा है। उदाहरण—(१) भावत्कः (आपका—भवतः अयम)—भवत्+ठ (ठक्) ▷ भवत्+क ('इक' को बाधकर 'क'—"इसुसुक्तान्तात् कः" ७-३-५१) ▷ भावत्कः (आदि-वृद्धि तथा विभक्ति-कार्य। (२) भवदीयः भवत्+छ > भवत्+ईय (छ=ईय) > भवद्+ईय ('छस्' प्रत्यय में 'स्' इत् होने के कारण

---

१. "अत्र पक्षे 'सैपुरिकी' इत्यादिकं वचनेनैव साध्यम्। तयोर्वाहीकग्रामतया तद्रीत्या वृद्धत्वाभावात्" इति। —व्या० सि० सु० पृ० ५४३।

२. "धर्मबहिर्भूतत्वाद् 'वाहीकाः' इति तात्पर्यम्। शतद्रूः, विपाशा, इरावती, वितस्ता, चन्द्रभागेति पञ्च नद्यः। 'सिन्धु' नदस्तु षष्ठः, तन्मध्ये देशो 'वाहीकः' इति तद् व्याख्यातारः"। —व्या० सि० सु० पृ० ५४४।

२ । ११६ ॥ इकार उच्चारणार्थः । काशिकी-काशिका । वैदिकी-वैदिका । 'आपदादिपूर्वपदात् कालान्तात्' (ग सू ७४) । आपदादिराकृतिगणः । आपत्कालिकी-आप-

---

(१३४०) काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ । ठञ् ञिठ इति प्रत्ययौ स्तः । ञिठप्रत्यये 'ञि' इति समुदायस्य 'आदिर्ञिटुडवः' इति इत्सञ्ज्ञायां प्रयोजनाभावात् ञकार एव इत्, तस्य ञित्स्वरः प्रयोजनम् । ठञ् एव विधौ तु ङीप् स्यात्, टाप् न स्यात् । नन्वेवं सति इठप्रत्यये ठस्य इकादेशो न स्यात् । अङ्गात्परत्वाभावादित्यत आह—इकार उच्चारणार्थं इति । काशिकीति । काश्यां जातादिरित्यर्थः । ठञन्तात् ङीप् । काशिकेति । ञिठप्रत्यये इकादेशे टाप् । वैदिकी वैदिकेति । वेदिर्देशविशेषः । आपदादिपूर्वपदात्कालान्तादिति । गणसूत्रम् । ठञ्ञिठावित्येव । आपदादिरिति । आपत् आदिर्यस्येति विग्रहः । आपत्कालिकी आपत्कालिकेति । ठञि ङीप्, ञिठे टाप् ।

"सिति च" १-४-१६ सूत्र से 'भ' संज्ञा को बाध होकर 'पद' संज्ञा हुई—अतः "झलां जशोऽन्ते" ८-२-३८ से जश्त्व-त्=द्) > भवदीयः (विभक्ति-कार्य) । भू धातु से 'शतृ'-प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्द की 'वृद्ध' संज्ञा न होने से औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय होकर (भवत्+अण्, आदिवृद्धि) 'भावतः' रूप बनेगा । कारण यह है कि 'त्यदादि'-गण में √भा धातु से 'डवतु' प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्द पढ़ा गया है न कि शतृप्रत्ययान्त ।

(१३४०) पद—काश्यादिभ्यः, ठञ्-ञिठौ । **अनुवृत्ति**—वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—('ञि' में) इकार उच्चारणार्थ है । उदा० १—काशिकी—काशिका । (२) वैदिकी—वैदिका । ग० सू० आपदादि–पूर्वपदक कालान्त शब्दों से भी हों । उदा० आपत्कालिकी—आपत्कालिका । 'आपदादि' आकृतिगण है ।

विवरण—"'काशी' आदि प्रातिपदिकों से शैषिक 'ठञ्' और 'ञिठ' प्रत्यय होते हैं" । 'ठञ्' तथा 'ञिठ'—दोनों प्रत्ययों में 'ठ' ही अवशेष रहता है । किन्तु स्त्रीत्व की विवक्षा में रूप भिन्न होंगे । 'ठञ्' होने पर "टिड्ढाणञ्०" (४-१-१५) से 'ङीप्' तथा 'ञिठ' होने पर 'टाप्' प्रत्यय होगा । अतः प्रत्येक शब्द के दो रूप निष्पन्न होंगे । **उदाहरण**—(१) काशिकी→'ठञ्' होने पर—काशी+ठ > काशी+इक (ठ=इक) > काशिक ('ई' लोप) काशिकी (ङीप्) । काशिका←'ञिठ' होने पर—काशी+ठ > काशिका ('टाप्', शेष कार्य पूर्ववत्) । अर्थ—काशी में होने वाली—काश्यां भवा, काश्याः इयम् आदि । (२) इसी प्रकार वैदिकी (वेदि+ठञ्) तथा वैदिका (वेदि+ञिठ) रूप निष्पन्न होंगे । अर्थ—वेदि में विहित—वेदौ भवा ।

शङ्का-समाधान—'ञिठ' प्रत्यय में 'ञि' (समुदाय) की "आदिर्ञिटुडवः" (१-३-५) से इत्संज्ञा होने पर 'ठ' के स्थान पर 'इक' आदेश होने से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय तो हो जायगा, किन्तु केवल 'ञ्' इत्संज्ञक को मानकर होने वाला 'ञित्-स्वर' (=आद्युदात्त) नहीं हो सकेगा । अतः यहाँ केवल 'ञ्' को ही 'इत्' माना जाता है तथा 'इ'कार का प्रयोजन उच्चारणार्थक है । उसे प्रत्यय का अवयव नहीं समझा जाता है । इस स्थिति में 'इठ' स्वरूप से 'ङीप्' का निवारण तो हो जायगा, किन्तु प्रत्यय का स्वरूप 'इठ' रहने पर 'ठ' के स्थान पर 'इक' आदेश कैसे हो सकेगा—यह शंका तो बनी ही रहती है । इसके समाधान के लिये ही 'इकार' का प्रयोजन उच्चारण मात्र समझे जाने से प्रत्यय का स्वरूप 'ठ' ही मानना पड़ता है । तब 'इक' आदेश होने में कोई बाधा नहीं आती ।

विशेष—काश्यादि गण में "'आपत्' आदि शब्दोत्तर 'काल'शब्दान्त प्रातिपदिकों से 'ठञ्' तथा 'ञिठ' प्रत्यय का विधान किया गया है" । तदनुसार 'ठञ्' प्रत्यय होने पर आपत्का-

त्कालिका। (१३४१) वाहीकग्रामेभ्यश्च ४।२।११७॥ वाहीकग्रामवाचिभ्यो वृद्धेभ्यष्ठञ्ञिठौ स्तः। छस्यापवादः। कास्तीरं नाम वाहीकग्रामः। कास्तीरिकी—कास्तीरिका। (१३४२) विभाषोशीनरेषु ४।२।११८॥ एषु ये ग्रामास्तद्वाचिभ्यो वृद्धेभ्यष्ठञ्ञिठौ वा स्तः। सौदर्शनिकी—सौदर्शनिका—सौदर्शनीया। (१३४३) ओर्देशे ठञ्

(१३४१) वाहीकग्रामेभ्यश्च। वाहीकाख्याः केचिद् ग्रामाः तद्विशेषवाचिभ्य इत्यर्थः। तदाह—वाहीकग्रामवाचिभ्य इति।

(१३४२) विभाषोशीनरेषु। पूर्वसूत्रे समस्तनिर्देशेऽपि ग्रामेभ्य इत्यनुवर्तते, एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानात्। तदाह—एषु ये ग्रामा इति। उशीनरेषु ये ग्रामास्तद्विशेषवाचिभ्य इत्यर्थः। सौदर्शनो नाम उशीनरदेशे कश्चिद् ग्रामः। सौदर्शनीया इति। ठञ्ञिठयोरभावे वृद्धाच्छः।

लिकी तथा 'ञिठ' प्रत्यय होने पर आपत्कालिका रूप निष्पन्न होंगे। अर्थ—आपत्काल में होना—आपत्काले भवा।

(१३४१) पद—वाहीकग्रामेभ्यः, च। अनुवृत्ति—ठञ्-ञिठौ, वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'वाहीक'-ग्रामवाची वृद्ध-संज्ञक शब्दों से 'ठञ्' और 'ञिठ' प्रत्यय हों। 'छ' का अपवाद है। कास्तीर नामक 'वाहीक' जनपद का ग्राम है। उदा० कास्तिरिकी—कास्तीरिका।

विवरण—विधेयवाचक पद 'ठञ्-ञिठौ' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप में पूर्वसूत्र से (सू० १३४०) अपेक्षित है। उसके अतिरिक्त प्राकरणिक अनुवृत्तियों में उल्लेखनीय 'वृद्धात्' पद "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) से अनुवर्तमान है तथा शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "'वाहीक' देश के अन्तर्गत 'वृद्ध' संज्ञक' ग्रामवाची प्रातिपदिकों से भी शैषिक 'ठञ्' तथा 'ञिठ' प्रत्यय हों"। उदाहरण—कास्तीरिकी→ठञ् होने पर (कास्तीर+ठञ्, ङीप्)। कास्तीरिका←'ञिठ' प्रत्यय होने पर (कास्तीर+ञिठ, टाप्)। अर्थ—कास्तीर में हुआ—कास्तीरे जातादिः। "वृद्धात् छः" (४-२-११४) का यह बाधक है।

(१३४२) पद—विभाषा, उशीनरेषु। अनुवृत्ति—वाहीकग्रामेभ्यः, ठञ्-ञिठौ, वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इनमें (उशीनर में) वाहीक ग्रामवाची वृद्ध-संज्ञकों से 'ठञ्' और 'ञिठ' विकल्प से हों। उदा० सौदर्शिनिकी—सौदर्शिनिका—सौदर्शनीया।

विवरण—पूर्व सूत्र का यह एक प्रकार से पूरक है। अतः समग्र पूर्व सूत्र "वाहीकग्रामेभ्यः" (४-२-११७) तथा विधेयवाची "ठञ्-ञिठौ" ("काश्यादिभ्यष्ठञ्-ञिठौ" ४-२-११६) एवं 'वृद्धात्' ("वृद्धाच्छः ४-२-११४) से अनुवर्तमान होते हुए सूत्रार्थ निष्पन्न करते हैं। तदनुसार "उशीनर देश[1] में वृद्ध-संज्ञक वाहीकग्रामवाची प्रातिपदिकों से विकल्प से 'ठञ्' तथा 'ञिठ' प्रत्यय होते हैं"। पक्ष में 'छ' प्रत्यय भी होगा ("वृद्धाच्छः" ४-२-११४)। उदाहरण—सौदर्शनिकी→'ठञ्' प्रत्यय होने पर (सौदर्शन+ठञ्)। सौदर्शनिका←'ञिठ' प्रत्यय होने पर (सौदर्शन+ञिठ) सौदर्शनीया←'छ' प्रत्यय होने पर—सौदर्शन+छ=ईय+टाप्)। अर्थ—सौदर्शन में होने वाली—सौदर्शने भवा, जाता वा।

---

१. भौगोलिक दृष्टि से यह वाहीक देश का एक भाग था। पाणिनि के समय में यहाँ आयुधजीवी संघशासन था। रावी और चिनाव के बीच का बिचला भूभाग जो मद्र के दक्षिण में था, 'उशीनर' प्रदेश कहलाता था।

४।२।११९॥ उवर्णान्ताद्देशवाचिनष्ठञ्। निषादकर्षूः—नैषादकर्षुकः। 'केऽणः' (सू ८३४) इति ह्रस्वः। देशे किम् ? पटोश्छात्राः पाटवाः। ञिठं व्यावर्तयितुं ठञ्ग्रहणम्। वृद्धाच्छं परत्वादयं बाधते। दाक्षिकर्षुकः। (१३४४) वृद्धात्प्राचाम् ४।२।१२०॥ प्राग्देशवाचिनो वृद्धादेवेति नियमार्थं सूत्रम्। आढकजम्बुकः। शाक-

---

(१३४३) ओर्देशे ठञ्। निषादकर्षूरिति। कश्चिद् ग्राम इति शेषः। नैषादकर्षुक इति। उगन्तात्परत्वात् कादेशः।

(१३४४) वृद्धात्प्राचाम्। 'ओर्देशे ठञ्' इत्यनुवर्तते। प्राचामिति देशविशेषणम्, न तु विकल्पार्थम्, व्याख्यानात्। पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम्। तदाह—प्राग्देशेत्यादिना। आढकजम्बुक इति। आढकजम्बूर्नाम कश्चिद् ग्रामः। तत्र भव इत्यर्थः। उगन्तात्परत्वात् ठस्य कः। 'केऽणः' इति ह्रस्वः। एवं शाकजम्बुकः। मल्लवास्त्विति। कश्चित् प्राच्यो ग्राम इति शेषः।

(१३४३) पद—ओः, देशे, ठञ्। अनुवृत्ति—शेषे, ताद्धताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधसूत्र।

मूलार्थ—उवर्णान्त देशवाची से 'ठञ्' हो। उदा० 'निषादकर्षू' से नैषादकर्पुकः। 'केऽणः' (सू ८३४) से ह्रस्व। 'देशे' क्यों कहा ? पटोः छात्राः (अर्थ में)—पाटवाः ('ठञ्' नहीं हुआ)। 'ञिठ' की व्यावृत्ति के लिये सूत्र में 'ठञ्' ग्रहण किया है। पर होने से यह "वृद्धाच्छः" का बाधक है। जैसे—दाक्षिकर्पुकः (में 'छ' नहीं हुआ)।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह है कि "उवर्णान्त देशवाची प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—नैषादकर्पुकः ('निषादकर्षू नामक देश में उत्पन्न आदि—निषादकर्ष्वां जातः आदि। निषादकर्षू+ठ (ठञ्) > निषादकर्षू+क (ठ = क—"इसुसुक्तान्तात् कः" ७-३-५१) > नैषादकर्पुकः ('अ' को ह्रस्व "केऽणः" ७-४-१३)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'देशे' पद का निवेश होने से पाटवाः ('पटु' व्यक्ति के छात्र' अर्थ) में औत्सर्गिक 'अण्' हुआ, क्योंकि यहाँ 'पटु' शब्द देशवाची नहीं है, किन्तु गुणवाचक है।

विशेष—(१) "सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः' न्याय से प्रकृत सूत्र में 'ठञ्' ग्रहण न करने पर 'ञिठ' की भी अनुवृत्ति आती, उसकी व्यावृत्ति के लिये यहाँ 'ठञ्' ग्रहण किया गया है।

(२) यह सूत्र "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) का परत्वात् बाधक है, अतः वृद्धसंज्ञक देशवाची उवर्णान्त शब्दों से भी 'ठञ्' ही होगा। दाक्षिकर्षुकः (दाक्षिकर्षू में हुआ—दाक्षिकर्षूः नाम देशः, तत्र जातः भवो वा)। दाक्षिकर्षू+ठ (ठञ्) > दाक्षिकर्षू+क > दाक्षिकर्पुकः। सिद्धि पूर्ववत् समझें।

(१३४४) पद—वृद्धात्, प्राचाम्। अनुवृत्ति—ओर्देशे ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। नियमसूत्र।

मूलार्थ—प्राग्देशवाची 'वृद्ध' संज्ञकों से ही 'ठञ्' प्रत्यय की नियामकता है। उदा० १—आढकजम्बुकः। २—शाकजम्बुकः। मल्लवास्तु में हुआ अर्थ में—माल्लवास्तवः ('अण्' हुआ)। यहाँ ठञ् नहीं होता।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है। प्राग्देशवाची उवर्णान्त प्रातिपदिकों तक ही उसे सीमित किया जा रहा है। सामान्यतः सभी उवर्णान्त देशवाची शब्दों से 'ठञ्' प्राप्त रहा किन्तु यहाँ यदि उवर्णान्त देशवाची शब्दों से 'ठञ्' हो तो "वृद्धसंज्ञक प्राग्देशवाची प्रातिपदिकों से ही

जम्बुकः । नेह । मल्लवास्तु—माल्लवास्तवः । **(१३४५) धन्वयोपधाद् वुञ् ४ । २ । १२१ ॥** धन्वविशेषवाचिनो यकारोपधाच्च देशवाचिनो वृद्धाद् वुञ् स्यात् । ऐरावतं धन्व, ऐरावतकः । साङ्काश्यकाम्पिल्यशब्दौ वुञ्छणादि (सू १२९२) सूत्रेण

(१३४५) धन्वयोपधाद् वुञ् । ऐरावतं धन्वेति । ऐरावताख्यं धन्वेत्यर्थः । धन्वा मरुप्रदेशः । 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः । आष्टकं नाम धन्व इति भाष्यान्नपुंसकत्वमपि । ऐरावतक इति । ऐरावताख्ये मरुप्रदेशे भव इत्यर्थः । वुञ्, अकादेशः । साङ्काश्यकः । काम्पिल्यक इति । साङ्काश्ये काम्पिल्ये च भव इत्यर्थः ।

शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय हो" इस प्रकार नियमन किया जा रहा है। इसके फलस्वरूप (१) **आढकजम्बुकः** ('आढकजम्बू' में हुआ आठकम्बूर्नाम ग्रामः तत्र भवः) तथा (२) **शाकजम्बुकः** ('शाकजम्बू' में हुआ—शाकजम्बूः नाम ग्रामः, तत्र भवः) में 'ठञ्' प्रत्यय हुआ। ये दोनों स्थान प्राग्देशवाची उवर्णान्त वृद्धसंज्ञक ('आ' से आरम्भ होने के कारण) हैं। इस नियम के फलस्वरूप **माल्लवास्तवः** (मल्लवास्तु में उत्पन्न—मल्लवास्तौ जातः) में 'ठञ्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि 'मल्लवास्तु' शब्द प्राग्देशवाची होते हुए भी 'वृद्ध' संज्ञक नहीं है। इस प्रकार "वृद्धसंज्ञक से 'ठञ्' प्रत्यय हो तो प्राग्देशवाची से ही हो ऐसा विपरीत नियमन नहीं है, क्योंकि अ-प्राग्देशवाची वृद्धसंज्ञक उवर्णान्त नहीं हैं।

(१३४५) पद—धन्व-योपधात्, वुञ्। **अनुवृत्ति**—वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—धन्व विशेषवाचक शब्द एवं यकारोपधक देशवाचक शब्दों से 'वुञ्' प्रत्यय होता है। उदा० (१) ऐरावतं धन्व ऐरावतकः। (२) 'सांकाश्य' तथा (३) 'काम्पिल्य' शब्द "वुञ्छण्"० (सू० १२९२) सूत्र से 'ण्य' प्रत्ययान्त हैं—उनसे ('वुञ्' होने पर) 'सांकाश्यकः' तथा 'काम्पिल्यकः' रूप बनेंगे।

विवरण—अब भी कुछ विशेष प्रकार के देशवाची वृद्धसंज्ञक शब्दों के सम्बन्ध में शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय का विधान बतलाया जा रहा है। अतः सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये "वृद्धात् प्राचाम्" (४-२-१२०) से 'वृद्धात्' तथा "ओर्देशे" (४-२-११९) सूत्र से 'देशे' पद अनुवृत्ति द्वारा लभ्य हैं। सूत्र में निर्दिष्ट पदों के साथ उनका अन्वय होने पर यह विदित होता है कि "देशाभिधायी धन्ववाची तथा यकारोपधक वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय हो"। तात्पर्य यह है कि यहाँ 'धन्व' शब्द 'स्वरूपात्मक' अथवा 'पर्याय' का बोधक नहीं है। ऐसे शब्द 'वृद्ध' संज्ञक नहीं हैं, अतः मरुदेशवाची 'धन्व' शब्द विशेष रूप में यहाँ लिया गया है। क्रमशः **उदाहरण**—धन्वदेश—(१) **ऐरावतकः**[1] (ऐरावत नामक मरुप्रदेश में हुआ—ऐरावताख्ये मरुप्रदेशे भवः)—ऐरावत+वु (वुञ्) > ऐरावत्+अक (वु=अक) ⊳ ऐरावतकः ('अ' लोप)। यकारोपध—(२) क—**साङ्काश्यकः** ('साङ्काश्य' में हुआ—साङ्काश्ये जातः)—साङ्काश्य+वु (वुञ्) > साङ्काश्य्+अक (वु=अक) ⊳ साङ्काश्यकः ('अ' लोप)। (ख) **काम्पिल्यकः** ('काम्पिल्य' में हुआ)—काम्पिल्ये भवः—काम्पिल्य+वु (वुञ्) > काम्पिल्य्+अक ⊳ काम्पिल्यकः। ये

---

१. यह भारतवर्ष की सीमा के उस पार मध्य एशिया का गोबी रेगिस्तान जान पड़ता है। महाभारत में लिखा है कि पाण्डवों ने महागिरि हिमवन्त को पार कर 'बालुकार्णव' के दर्शन किये (महाप्रस्थानिक पर्व २-१, २) और उसी के पास महापर्वत 'मेरु' को देखा। 'मेरु' निश्चयपूर्वक 'पामीर' का पठार है, जहाँ से पूर्व में सीता (यारकन्द) और पश्चिम में 'चक्षु' (आमू दरिया) निकलती थी। 'मेरु' के ही उत्तर में 'उत्तर कुरु' था—"मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे। उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः" ॥ भीष्म पर्व-७।२।—पाणिनि कालीन भारतवर्ष—पृ० ५५।

ण्यान्तौ। साङ्काश्यकः। काम्पिल्यकः। (१३४६) प्रस्थपुरवहान्ताच्च ४। २। १२२ एतदन्ताद् वृद्धाद् देशवाचिनो वुञ्स्यात्। छस्यापवादः। मालाप्रस्थकः। नान्दीपुरकः। पैलुवहकः। पुरान्तग्रहणमप्रागर्थम्। प्राग्देशे तूत्तरेण सिद्धम्। (१३४७) रोपधेतोः प्राचाम् ४। २। १२३॥ रोपधादीकारान्ताच्च प्राग्देशवाचिनो वृद्धाद् वुञ्स्यात्।

(१३४६) प्रस्थपुरवहान्ताच्च। एतदन्तादिति। प्रस्थ, पुर, वह एतदन्तादित्यर्थः। ननु पुरान्तग्रहणं व्यर्थम्, नान्दीपुरक इत्यत्र 'रोपधेतोः प्राचाम्' इत्युत्तरसूत्रेण सिद्धत्वादित्यत आह—पुरान्तेति।

(१३४७) रोपधेतोः प्राचाम्। रोपधश्च, ईत् च तयोरिति द्वन्द्वः। षष्ठी पञ्चम्यर्थे। प्राचामिति देशविशेषणम्। तदाह—रोपधादित्यादिना। ईत इति। उदाह्रियत इति शेषः। काकन्दक इति। काकन्दी नाम देशः, तत्र भव इत्यर्थः।

दोनों-शब्द ('साङ्काश्य' तथा 'काम्पिल्य') "वुच्छण्कठ०" (४-२-८०) सूत्र से 'ण्य'-प्रत्ययान्त (सङ्काश+ण्य तथा कम्पिल+ण्य) निर्दिष्ट हैं।

(१३४६) पद—प्रस्थपुरवहान्तात्, च। अनुवृत्ति—वुञ्, वृद्धात्, देशे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—प्रस्थ, पुर तथा वहान्त वृद्ध-संज्ञक देशवाचियों से 'वुञ्' होता है। 'छ' प्रत्यय का अपवाद है। उदा० १—मालाप्रस्थकः। २—नान्दीपुरकः। ३—पैलुवहकः। प्राग्देशवाची जो पुरान्त शब्द नहीं हैं, वहाँ 'वुञ्' होने के लिए 'पुर' शब्द का सन्निवेश है। प्राग्देशवाचियों को तो अग्रिम सूत्र से सिद्ध है।

विवरण—विधेय-वाची 'वुञ्' का लाभ पूर्वसूत्र से अनुवृत्तिवश होता है। इसके अतिरिक्त 'वृद्ध' संज्ञक एवं 'देश'-वाची शब्दों का प्रकरण अब भी चल रहा है। तदनुसार सूत्रोक्त-पदों के साथ अनुवर्तमान पद अन्वित होकर यह सूचित करते हैं कि "'प्रस्थान्त', 'पुरान्त' एवं 'वहान्त' वृद्धसंज्ञक देशवाची प्रातिपदिकों से भी शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। यह भी "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) का निषेधक है। क्रमशः उदाहरण—(१) प्रस्थान्त—मालाप्रस्थकः (मालाप्रस्थ में उत्पन्न आदि—मालाप्रस्थे जातः)—मालाप्रस्थ+वु (वुञ्) > मालाप्रस्थ्+अक > मालाप्रस्थकः। (२) पुरान्त—नान्दीपुरकः (नान्दीपुर+वुञ्) तथा (३) वहान्त—पैलुवहकः (पीलुवह+वु) > पीलुवह्+अक > पैलुवहकः (आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप)।

विशेष—सूत्र में 'पुर'-अन्त ग्रहण, प्राग्देशवासियों से तो अग्रिम सूत्र ("रोपधेतोः प्राचाम्" ४-२-१२३) सूत्र से सिद्ध होने के कारण अ-प्राग्देशियों के अभिधानार्थ उपयोगी है।

(१३४७) पद—रोपधेतोः, प्राचाम्। अनुवृत्ति—वुञ्, वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—रकारोपधक तथा ईकारान्त वृद्धसंज्ञक प्राग्देशवासी शब्दों से 'वुञ्' हो। उदा० १—पाटलिपुत्रकः। २—ईकारान्त से—काकन्दकः।

विवरण—विधेयांश 'वुञ्' की पूर्ति "धन्वयोपधात् वुञ्" (४-२-१२१) सूत्र से अनुवृत्तिवश होती है। 'वृद्ध'-संज्ञक शब्दों के सम्बन्ध में अभी विचार चल ही रहा है। अतः "वृद्धात् प्राचाम्" (४-२-१२०) सूत्र से 'वृद्धात्' पद की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है। शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ भी प्रभावी हैं। "रोपधेतोः" में षष्ठी (रोपधश्च ईत् च, तयोः) विभक्ति पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त है। 'प्राचाम्' पद अनुवर्तमान ("ओर्देशे" ४-२-११९) 'देशे' का विशेषण है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "प्राग्देशवाची 'रेफ'-उपधा वाले तथा ईकारान्त वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। क्रमशः उदाहरण—रेफोपधक—(१)

पाटलिपुत्रकः । ईतः—काकन्दकः । (१३४८) **जनपदतदवध्योश्च ४ । २ । १२४ ॥** जनपदवाचिनस्तदवधिवाचिनश्च वृद्धाद् वुञ्स्यात् । आदर्शकः । त्रैगर्तकः । (१३४९) **अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् ४ । २ । १२५ ॥** अवृद्धाद् वृद्धाच्च जनपदतदवधिवाचिनो बहुवचनविषयात्प्रातिपदिकाद् वुञ् स्यात् । अवृद्धादणो वृद्धाच्छस्यापवादः । अवृद्धाज्जनपदात्—आङ्गकः । अवृद्धाज्जनपदावधेः—आजमीढकः । वृद्धाज्जनपदात्—दार्वकः ।

(१३४८) जनपदतदवध्योश्च । आदर्शक इति । आदर्शो नाम जनपदः । तत्र भव इत्यर्थः । त्रिगर्तो नाम जनपदविशेषस्यावधिः । जनपदत्वेन सिद्धावपि त्रिगर्तशब्दे परमपि गर्तोत्तरपदाच्छं बाधितुमिह तदवधिग्रहणम् । तदाह—त्रैगर्तक इति ।

(१३४९) अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् । अवृद्धाज्जनपदादिति । उदाह्रियत इति शेषः । आजमीढक इति । अजमीढेषु भव इत्यर्थः । अजमीढाख्यः जनपदः कस्यचिज्जनपदस्यावधिः । वृद्धाज्जनपदादिति । उदाह्रियत इति शेषः । दार्वक इति । दार्वा इति बहु-

---

पाटलिपुत्रकः (पाटलिपुत्र में होने या रहने वाला) पाटलिपुत्रे जातः भवः वा—पाटलिपुत्र+वु (वुञ्) > पाटलिपुत्र्+अक >पाटलिपुत्रकः । (२) ईकारान्त—काकन्दकः (काकन्दी में होने या रहनेवाला)—काकन्द्यां भवः जातो वा—काकन्दी+वु (वुञ्) > काकन्द्+अक > काकन्दकः ।

(१३४८) पद—जनपदतदवध्योः, च । **अनुवृत्ति**—वुञ्, वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—जनपदवाचक तथा उसके अवधिसूचक वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से 'वुञ्' प्रत्यय होता है । उदा० आदर्शकः ।

विवरण—सभी अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र के समान अनुसरण कर रही हैं । 'वुञ्' का ही प्रकरण है । तदनुसार "जनपद तथा जनपद-सम्बन्धी अवधि (स चासौ अवधिः तदवधिः, जनपदश्चासौ तदवधिश्च, तयोः) को सूचित करने वाले वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से भी शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण**—(१) जनपदवाची—**आदर्शकः** (आदर्श जनपद में होने या रहने वाला—आदर्शे भवः जातः वा)—आदर्श +वु (वुञ्) > आदर्शकः । (२) जनपद-अवधिसूचक—**त्रैगर्तकः** ('त्रिगर्त' जनपद की अवधि में होने वाला)—त्रिगर्ते जातः→त्रिगर्त+वुञ् । आदिवृद्धि, 'अ' लोप ।

विशेष—सूत्र में 'जनपद' मात्र कथन से ही सीमासूचक 'त्रैगर्तकः' आदि में 'वुञ्' प्रत्यय सिद्ध था । 'अवधि' की कोई आवश्यकता नहीं थी । अतः यह ज्ञापित होता है कि जनपद-विशिष्ट-सीमा सूचक शब्द से कोई अन्य प्रत्यय न हो । इसके फलस्वरूप "गर्तोत्तर-पदाच्छः" (४-२-१३७) सूत्र से 'छ' प्रत्यय नहीं होता ।

(१३४९) पद—अवृद्धात्, अपि, बहुवचनविषयात् । **अनुवृत्ति**—जनपदतदवध्योः, वुञ्, देशे, वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अवृद्ध' या 'वृद्ध' संज्ञक जनपद या उसके अवधि सूचक बहुवचनविषयक प्रातिपदिक से 'वुञ्' प्रत्यय होता है । 'अवृद्ध' से 'अण्' तथा 'वृद्ध' से प्राप्त 'छ' प्रत्यय का अपवाद है । उदा० १—अवृद्ध जनपद से—आङ्गकः । २—अवृद्ध जनपद-अवधि-सूचक—आजमीढकः । ३—'वृद्ध' जनपद से—दार्वकः । ४—'वृद्ध' जनपद-अवधि-सूचक—कालञ्जरकः । 'विषय' ग्रहण क्यों किया ? एकशेष से बहुवचन में न हो । अतः वर्तनी च वर्तनी च वर्तनी च—'वार्तनः' में 'वुञ्' नहीं हुआ (किन्तु 'अण्' हुआ) ।

वृद्धाज्जनपदावधेः—कालञ्जरकः। विषयग्रहणं किम्? एकशेषेण बहुत्वे मा भूत्। वर्तनी च वर्तनी च वर्तनी च—वर्तन्यः। तासु भवो वार्तनः। (१३५०) कच्छाग्निवक्त्रवर्तोत्तरपदात् ४।२।१२६॥ देशवाचिनो वृद्धादवृद्धाच्च वुञ्स्यात्। दारुकच्छकः।

वचनान्तो जनपदविशेषे वर्तते। तत्र भव इत्यर्थः। कालञ्जरक इति। कालञ्जरेषु भव इत्यर्थः।

(१३५०) कच्छाग्नि। कच्छ, अग्नि, वक्त्र, वर्त एतदुत्तरपदादित्यर्थः। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—देशवाचिन इति। छाणोरपवादः। दारुकच्छक इति। दारुकच्छे भव इत्यर्थः। काण्डाग्नक इति। काण्डाग्नौ भव इत्यर्थः। अकादेशे 'यस्येति च' इति इकारलोपः। सैन्धुवक्त्रक इति। सिन्धुवक्त्रे भव इत्यर्थः। बाहुवर्तक इति। बहुवर्ते भव इत्यर्थः।

विवरण—पूर्व सूत्र से सम्बद्ध विषय का विस्तार किया जा रहा है। अतः 'जनपद तदवध्योः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र के समान हैं। अतः सूत्रस्थ पदों के साथ अन्वित होकर वे पद सूत्रार्थ निष्पन्न करते हैं। तदनुसार "जनपद तथा जनपद-अवधिवाची 'अवृद्ध' तथा 'वृद्ध'-संज्ञक बहुवचन-विषयक प्रातिपदिकों से 'शैषिक' 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। 'अवृद्ध' प्रातिपदिकों से प्राप्त 'अण्' का यह अपवाद है तथा 'वृद्ध' संज्ञकों से प्राप्त 'छ' प्रत्यय का अपवाद है। **क्रमशः उदाहरण**—(१) 'अवृद्ध' जनपद—**आङ्गकः** (अङ्ग=भागलपुर जनपद में होने या रहने वाला—अङ्गेषु भवः)—प्रथम स्थिति→अङ्गाः जनपदः—'अङ्ग' शब्द से 'अण्' प्रत्यय होने के पश्चात्, बहुवचन में उसका "जनपदे लुप्" (४-२-८०) से लोप होने पर युक्तवद्भाव होने के कारण बहुवचनविषयक है। इसके अतिरिक्त बहुवचन-विषयक बनने से पूर्व वह 'अवृद्ध' है (अङ्ग शब्द में—'अ'वृद्धसंज्ञक नहीं है)। तदनन्तर—अङ्ग+वु (वुञ्) > अङ्ग+अक (वु=अक) > आङ्ग+अक (आदिवृद्धि) > आङ्गकः ('अ' लोप एवं विभक्तिकार्य)। (२) 'अवृद्ध'-जनपद-अवधि-**आजमीढकः** (अजमीढ—वर्तमान अजमेर में रहने या होने वाला-अजमीढेषु भवः)—अजमीढ+वुञ् (प्रक्रिया पूर्ववत्)। (३) वृद्ध-जनपद-**दार्वकः** (दार्वा में होने या रहने वाला) दार्वासु भवः—दार्वा+वुञ्। 'दार्वा' में 'दा'=आ—होने से वृद्धसंज्ञक है। (४) वृद्ध-जनपदावधि—**कालञ्जरकः** (कालञ्जर में होने या रहने वाला) कालञ्जरेषु भवः—कालञ्जर+वुञ्। प्रक्रिया पूर्ववत्।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'विषय' ग्रहण न करने पर भी 'बहुवचन' से बहुत्व संख्या का विषय अपेक्षित होने के कारण इष्ट-सिद्धि हो ही जाती। अतः 'विषय' ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि 'जहाँ स्वाभाविक बहुवचनान्तता होगी वहीं 'वुञ्' होगा। इसके फलस्वरूप **वार्तनः** (वर्तनी में होने या रहने वाला—वर्तनीषु भवः)—में 'वुञ्' नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ पर एकशेष—निमित्तक बहुवचन है—वर्तनी च, वर्तनी च, वर्तनी च→वर्तन्यः। अतः 'वर्तनी' से भवार्थ में 'अण्' प्रत्यय ही हुआ।

(१३५०) पद—कच्छाग्नि-वक्त्र-वर्तोत्तरपदात्। **अनुवृत्ति**—अवृद्धादपि, वुञ्, वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देशवाची 'वृद्ध' संज्ञक तथा 'अवृद्ध' से भी 'वुञ्' हो। उदा० १—दारुकच्छकः। २—काण्डाग्नकः। ३—सैन्धुवक्त्रकः। ४—बाहुवर्तकः।

विवरण—दोनों पूर्व सूत्रों का ही विस्तार है। तदनुसार "'कच्छ', 'अग्नि', 'वक्त्र' तथा 'वर्त' उत्तरपद रहते देशवाची 'वृद्ध'संज्ञक एवम् 'अवृद्ध' प्रातिपदिकों से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। **क्रमशः उदाहरण**—(१) कच्छोत्तरपद—**दारुकच्छकः** (दारुकच्छ=काठियावाड़ के

काण्डाग्नकः । सैन्धुवक्त्रकः । बाहुवर्तकः । (१३५१) धूमादिभ्यश्च ४ । २ । १२७ ॥ देशवाचिभ्यो वुञ् । धौमकः । तैर्थकः । (१३५२) नगरात्कुत्सनप्रावीण्ययोः ४ । २ । १२८ ॥ नगरशब्दाद् वुञ्स्यात्कुत्सने प्रावीण्ये च गम्ये । नागरकश्चौरः शिल्पी

(१३५१) धूमादिभ्यश्च । देशवाचिभ्यो वुञिति शेषपूरणम् ।

(१३५२) नगरात्कुत्सन । नागरा ब्राह्मणा इति । कत्र्यादिषु महिष्मतीसाहचर्येण सञ्ज्ञाभूतस्यैव नगरशब्दस्य ग्रहणम् । अतो न ढकञ् । 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' इति सूत्र-भाष्ये नागरा इत्युदाहरणात् ।

समुद्रतट का प्रदेश—में होने या रहने वाला—दारुकच्छे भवः)—दारुकच्छ्+वुञ् । प्रक्रिया पूर्ववत् । (२) वक्त्रोत्तरपद—**सैन्धुवक्त्रकः** (सिन्धुवक्त्र—सिन्धुनद की सङ्गमस्थली—में होने या रहने वाला—सिन्धुवक्त्रे भवः)—सिन्धुवक्त्र+वु (वुञ्) । अक आदि कार्य पूर्ववत् । (३) अग्न्युत्तरपद—**काण्डाग्नकः** (कंडाला बन्दरगाह के उत्तर-पूर्व में तपता हुआ मरुदेश, वहाँ होने या रहने वाला—काण्डाग्नौ भवः—काण्डाग्नि+वु (वुञ्) । अक, 'इ' लोप आदि कार्य पूर्ववत् । (४) वर्तोत्तरपद—**बाहुवर्तकः** (बहुवर्त में होने या रहने वाला—बहुवर्ते भवः—बहुवर्त+वु (वुञ्) । अक, आदिवृद्धि, 'अ' लोप आदि कार्य पूर्ववत् । प्रकृत सूत्र भी पूर्वसूत्र के समान 'छ' तथा 'अण्' का अपवादक है ।

(१३५१) पद—धूमादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—वुञ्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—देशवाचियों से 'वुञ्' हो । उदा० १—धौमकः । २—तैर्थकः ।

विवरण—सूत्रस्थ शब्द केवल 'देश' वाची ही अपेक्षित हैं, अतः 'देशे' एवं विधेयांश 'वुञ्' की अनुवृत्ति विशेष रूप से अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । तद्-नुसार देशविशेषवाची धूमादिगणपठित शब्दों से भी शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) धौमकः ('धूम' देश मे होने वाला या रहने वाला—धूमे भवः जातः वा)—धूम+वु (वुञ्) ▷धौमः-'अ' लोप, आदिवृद्धि आदि । (२) **तैर्थकः** ('तीर्थ' स्थान में होने वाला आदि—तीर्थे भवः)—तीर्थ+वु (वुञ्) । प्रक्रिया पूर्ववत् ।

(१३५२) पद—नगरात्, कुत्सनप्रावीण्ययोः । **अनुवृत्ति**—वुञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'नगर' शब्द से 'कुत्सा' तथा 'प्रावीण्य' अर्थ में शैषिक 'अण्' हो ।

विवरण—'वुञ्' का ही प्रकरण है । अतः "'नगर' शब्द से 'निन्दा' तथा 'नैपुण्य' अभिधेय होने पर शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**नागरकः** चौरः शिल्पी वा (नगर में रहने वाला चोर या शिल्पी—नगरे भवः जातः वा)—नगर्+वु (वुञ्) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'कुत्सन-प्रावीण्ययोः' अर्थ-विशेष का निर्देश होने पर **नागराः** ब्राह्मणाः (नगर में रहने वाले ब्राह्मण) आदि प्रयोगों में निन्दा अथा प्रशंसा अर्थ अभिधेय न होने पर औत्सर्गिक 'अण्' (नगर+अण्) प्रत्यय ही हुआ । यहाँ संज्ञारूप 'नगर' शब्द का ग्रहण होने से 'ढकञ्' प्रत्यय नहीं हुआ । भाष्यकार ने "प्राचां ग्रामनगराणाम्" (७-३-१४) सूत्र में ग्राम तथा नगर के पार्थक्य को सूचित करने के लिये 'नागराः' उदाहरण दिया गया है[1] ।

---

१. "नगरग्रहणं किमर्थम् ? 'न प्राचां ग्रामाणाम्' इत्येव सिद्धम् । न सिध्यति । अन्यो हि ग्रामः, अन्यत् नगरम् । कथं ज्ञायते ? एवं हि कश्चित् कञ्चित् पृच्छति—कुतः भवान् आगच्छति, ग्रामात् ? स आह—न ग्रामात्, 'नगरात्' इति । तथाऽपि 'संस्त्यायविशेषाणां ग्राम-घोष-नगर-संवाहादीनां पर्यायेणैव गतार्थत्वात् पुनः नगरग्रहणेनैतज् ज्ञाप्यते यद् अन्यत्र ग्रामग्रहणे नगर-ग्रहणं न भवति' इति । —महाभाष्यम् ७-३-१४ ।

वा । कुत्सन—इति किम् ? नागराः ब्राह्मणाः । (१३५३) **अरण्यान्मनुष्ये ४।२।१२९ ॥** वुञ् । 'अरण्याण्णः' (वा २७८२) इत्यस्यापवादः । 'पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वाच्यम्' (२८१९) । आरण्यकः पन्थाः अध्यायो न्यायो विहारो मनुष्यो हस्ती वा । 'वा गोमयेषु' (वा २८२०) । आरण्यकाः—आरण्याः वा गोमयाः । (१३५४) **विभाषा कुरुयुगन्धराभ्याम् ४ । २ । १३० ॥** वुञ् । कौरवकः—कौरवः । यौगन्धरकः—

(१३५३) अरण्यान्मनुष्ये । आरण्यक इति । पन्थाः अध्यायः न्यायः विहारः मनुष्यः हस्ती वा । वा गोमयेष्विति । वार्तिकमिदम् ।

(१३५४) विभाषा कुरु । कुरुयुगन्धरौ जनपदौ । अवृद्धाभ्यामपि ताभ्याम् । 'अवृद्धादपि' इति नित्यं प्राप्ते विकल्पः ।

(१३५३) पद—अरण्यात्, मनुष्ये । **अनुवृत्ति**—वुञ् , शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'वुञ्' हो । 'अरण्यात् णः' (वा० २७८२) से प्राप्त 'ण' का अपवाद है । वा० पथिन्, अध्याय, न्याय, विहार, मनुष्य तथा हस्ती विषयों से यह 'वुञ्' कहा जाय । उदा० आरण्यकः—पन्थाः, अध्यायः, न्यायः, विहारः, मनुष्यः अथवा हस्ती । वा० 'गोमय' अर्थ में विकल्प से हो । उदा० आरण्यकः अथवा आरण्याः—गोमयाः ।

विवरण—'वुञ्' का ही प्रकरण है । शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व प्रभावी हैं । अतः "'अरण्य' प्रातिपदिक से 'मनुष्य' अभिधेय हो तो शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है" । वार्तिक-कार ने मनुष्य के अतिरिक्त 'पथिन्, अध्याय, न्याय, विहार, तथा हस्ती के अभिधेय होने पर ही इस 'वुञ्' का औचित्य बतलाया है । वस्तुतः यह 'वुञ्' 'अरण्यात् णः' वार्तिक का अपवाद है । **उदाहरण—आरण्यकः** (जँगली मनुष्य, मार्ग, ग्रन्थ का अध्याय, न्याय, विहार अथवा हस्ती—अरण्ये भवः मनुष्यः, पन्थाः, अध्यायः, हस्ती वा)—अरण्य+वु (वुञ्) > अरण्य्+अक (वु=अक) > आरण्यकः (आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप आदि) । **दूसरे वार्तिक द्वारा गोमय** अर्थ में अरण्य शब्द से **वैकल्पिक 'वुञ्'** बतलाया जा रहा है । तदनुसार दो रूप बनेंगे—**आरण्यकाः** ('वुञ्' होने पर) तथा **आरण्याः** (अरण्य+अण्) 'अण्' होने पर । **अर्थ**—अरण्ये भवाः ।

(१३५४) पद—विभाषा, कुरु-युगन्धराभ्याम् । **अनुवृत्ति**—वुञ् , देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'वुञ्' हो । उदा० १—कौरवकः—कौरवः । २ —यौगन्धरकः—यौगन्धरः ।

विवरण—"'कुरु' तथा 'युगन्धर' जनपदवाची शब्दों से विकल्प से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है" । **क्रमशः उदाहरण**—(१) **कौरवकः**→'वुञ्' होने पर (कुरु+अक, गुण, आदिवृद्धि तथा अवादेश) । पक्ष में—**कौरवः**←"कच्छादिभ्यश्च" (४-२-१३३) से 'अण्' । **अर्थ**—कुरुषु भवः । (२) **यौगन्धरकः**→'वुञ्' होने पर (युगन्धर+अक) । पक्ष में **यौगन्धरः**←औत्सर्गिक 'अण्' हुआ । **अर्थ**—युगन्धरेषु भवः—युगन्धर[1] में होने वाला ।

विशेष—"अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्" (४-२-१२५) से प्राप्त नित्य 'वुञ्' को बाधकर वैकल्पिक विधान किया गया है ।

---

१. यह राज्य संभवतः अम्बाला जिले में सरस्वती से यमुना तक फैला हुआ था । देहरादून जिले में 'कालसी' के पास 'जगत' ग्राम में प्राप्त लेख से यह ज्ञात होता है कि यह इलाका युगशैल-देश कहलाता था—"युगेश्वरस्याश्वमेधे युगशैलमहीपतेः । इष्टका वार्षगण्यस्य नृपतेः शीलवर्मणः" ॥

—पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ७२ ।

यौगन्धरः । (१३५५) मद्रवृज्योः कन् ४ । २ । १३१ ॥ जनपदवुञोऽपवादः । मद्रेषु जातो मद्रकः । वृजिकः । (१३५६) कोपधादण् ४ । २ । १३२ ॥ माहिषिकः । (१३५७) कच्छादिभ्यश्च ४ । २ । १३३ ॥ देशवाचिभ्योऽण् । वुञादेरपवादः ।

(१३५५) मद्रवृज्योः कन् । मद्रो वृजिश्च जनपदविशेषः । जनपदवुञोऽपवादः ।

(१३५६) कोपधादण् । माहिषिक इति । महिषिको नाम जनपदः, तत्र भव इत्यर्थः । 'प्रस्थोत्तरपद' इत्यादिना सिद्धे जनपदवुञ्बाधनार्थमिदम् ।

(१३५७) कच्छादिभ्यश्च । काच्छ इति । अत्र वुञोऽपवादोऽण्–सैन्धव इति । ओर्देशे ठञोऽपवादः ।

(१३५५) पद—मद्र-वृज्योः, कन् । **अनुवृत्ति**—देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'जनपद'-वुञ् का अपवाद है । उदा० १—मद्रेषु जातः—मद्रः । २—वृजिकः ।

विवरण—देशवाची शब्दों के सन्दर्भ में 'मद्र' तथा 'वृजि' शब्दों से शैषिक 'कन्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **मद्रकः** (मद्र[1] देश में होने वाला—मद्रेषु भवः)—मद्र+क (कन्) । (२) **वृजिकः** ('वृजि'[2] में होने वाला वृजिषु भवः)—वृजि+क (कन्) ।

विशेष—'मद्र' तथा 'वृजि' जनपदवाची शब्द हैं, अतः इनसे "जनपदतदवध्योश्च" (४-२-११४) से 'वुञ्' प्राप्त रहा, उसका यह अपवाद है ।

(१३५६) पद—कोपधात्, अण् । **अनुवृत्ति**—देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० माहिषिकः ।

विवरण—"देशवाची 'क्' उपधा वाले प्रातिपदिक से शैषिक 'अण्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**माहिषिकः** (माहिषिक में होने वाला—महिषिकेषु जातः, भवः वा)—महिषिक+अ (अण्) । आदिवृद्धि, 'अ' लोप आदि कार्य ।

विशेष—"प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण्" (४-२-११०) सूत्र से प्राप्त 'अण्' के बाधक "अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्" (४-२-१२५) सूत्र से विहित 'वुञ्' के निवारणार्थ इस विधान की उपयोगिता है ।

(१३५७) पद—कच्छादिभ्यः,च । **अनुवृत्ति**—अण्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—देशवाचियों से 'अण्' हो । 'वुञ्' आदि का अपवाद है । उदा० १—काच्छः । २—सैन्धवः ।

विवरण—विधेयांश 'अण्' की अनुवृत्ति "कोपधादण्" (४-२-१३२) सूत्र से अपेक्षित है । तदनुसार "कच्छादि-गण-पठित शब्दों से भी शैषिक 'अण्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**काच्छः** (कच्छ जनपद में उत्पन्न-कच्छेषु जातः)—कच्छ+अण्—आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप । यह 'अण्' "अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्" (४-२-१२५) से प्राप्त 'वुञ्' का बाधक है । (२) **सैन्धवः**—(सिन्धु जनपद में उत्पन्न—सिन्धुषु भवः, जातो वा)—सिन्धु+अ (अण्) > सिन्धो+अ

---

१. मद्र जनपद प्राचीन वाहीक का उत्तरी भाग था । इसकी राजधानी शाकल थी, जो 'आयगा' नदी पर स्थित है ।

२. बिहार प्रान्त में गङ्गा के उत्तर का प्रदेश 'वृजि' कहलाता था । यहाँ विदेह लिच्छवियों का राज्य था ।

काच्छः । सैन्धवः । (१३५८) **मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् ४ । २ । १३४ ॥** कच्छाद्यणोऽपवादः । कच्छे जातादिः काच्छको मनुष्यः । काच्छकं हसितम् । मनुष्य—इति किम् ? काच्छो गौः । (१३५९) **अपदातौ साल्वात् ४ । २ । १३५ ॥** साल्वशब्दस्य कच्छादित्वाद् वुञि सिद्धे नियमार्थमिदम् । अपदातावेवेति—साल्वको ब्राह्मणः । अपदातौ किम् ? साल्वः पदातिर्व्रजति । (१३६०) **गोयवाग्वोश्च ४ । २ । १३६ ॥** साल्वाद् वुञ् ।

(१३५८) मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् । कच्छादिभ्य इत्यनुवर्तते । तदाह—कच्छादीति ।

(१३५९) अपदातौ साल्वात् । नियमार्थमिति । साल्वाच्चेदपदातावेवेति नियमार्थमित्यर्थः ।

(गुण) > सैन्धवः (आदिवृद्धि तथा अवादेश)। यह 'अण्' "ओर्देशे ठञ्" (४-२-११९) से प्राप्त 'ठञ्' का बाधक है ।

(१३५८) पद—मनुष्यतत्स्थयोः, वुञ् । **अनुवृत्ति**—कच्छादिभ्यः, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कच्छादि 'अण्' का अपवाद है। उदा० कच्छे जातः—काच्छकः (मनुष्यः)। काच्छकं—हसितम् (हँसी)। 'मनुष्ये' क्यों कहा ? काच्छः (बैल अर्थ में 'अण्' हुआ)।

विवरण—कच्छादि का ही प्रकरण है। पूर्व सूत्र से अनुवृत्त 'कच्छादिभ्यः' पद सूत्रस्थ पदों के साथ अन्वित होकर सूत्रार्थ पूर्ण करता है। तदनुसार ""मनुष्य' या 'मनुष्य में स्थित कोई 'गुण-भाव आदि' अभिधेय हों तो 'कच्छादि' प्रातिपदिकों से भी शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) मनुष्य अभिधेय होने पर—**काच्छकः** तथा **काच्छकम्** । (कच्छ देश का मनुष्य अथवा वहाँ के मनुष्य की हँसी—कच्छे जातः, कच्छे हसितं वा)—कच्छ + वु > कच्छ् + अक > काच्छकः—मनुष्य अर्थ में पुंलिङ्ग तथा हँसी अर्थ में नपुंसक लिङ्ग—काच्छकम् ।

विशेष—यह विधान पूर्व सूत्र से प्राप्त 'अण्' का अपवाद है।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'मनुष्ये' पद का निवेश होने से **काच्छः** (कच्छ का बैल) में 'वुञ्' नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'बैल' अर्थ अपेक्षित है। अतः "कच्छादिभ्यश्च" (४-२-१३३) से 'अण्' हुआ ।

(१३५९) पद—अपदातौ, साल्वात् । **अनुवृत्ति**—मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—कच्छादि-गण में 'साल्व' शब्द का पाठ होने से यह विधान नियमार्थक है। अर्थात् पदातिभिन्न अर्थ में ही 'वुञ्' हो। उदा० साल्वकः ब्राह्मणः। 'अपदाति' क्यों कहा ? साल्वः पदातिः व्रजति ('वुञ्' नहीं)।

विवरण—'मनुष्य', 'मनुष्यस्थ-कार्य'-सम्बन्धी अर्थ एवं 'वुञ्' का ही प्रकरण चल रहा है। इस कारण पूर्वसूत्र (१३५८) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अतः "'साल्व' शब्द से 'अपदाति' अर्थात् 'पैरों से निरन्तर न चलने वाला मनुष्य, तथा 'मनुष्यस्थ कर्म' अभिधेय हों तो शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होगा"। **उदाहरण**—**साल्वकः**—ब्राह्मणः (साल्व देश का ब्राह्मण—साल्वे जातः भवः वा—साल्व् + वु (वुञ्=अक)। 'अ' लोप ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अपदाति' पद का सन्निवेश होने से पैदल चलने वाला अर्थ की अपेक्षा होने पर **'साल्वः'** 'अण्' प्रत्ययान्त प्रयोग समीचीन माना जायगा ।

विशेष—'कच्छादि' गण में 'साल्व' शब्द का पाठ होने के कारण "मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्" (४-२-१३४) सूत्र से ही 'वुञ्' प्रत्यय सिद्ध रहा। अतः यह पृथक् विधान नियामक होता हुआ

कच्छाद्यणोऽपवादः । साल्वको गौः । साल्विका यवागूः । साल्वमन्यत् । (१३६१) गर्तोत्तरपदाच्छः ४ । २ । १३७ ॥ देशे । अणोऽपवादः । वृकगर्तीयम् । उत्तरपदग्रहणं बहुच्पूर्वनिरासार्थम् । (१३६२) गहादिभ्यश्च ४ । २ । १३८ ॥ छः स्यात् । गहीयः । 'मुखपार्श्वतसोर्लोपश्च' (ग सू ७८) मुखतीयम् । पार्श्वतीयम् । अव्ययानां भमात्रे टिलोप-

---

(१३६०) गोयवाग्वोश्च । जातत्वादिना विवक्षितयोरित्यर्थः ।

(१३६१) गर्तोत्तरपदाच्छः । देशे इति । शेषपूरणम् । देशवाचिन इति यावत् । वृकगर्तीयमिति । वृकगर्तो नाम देशः । तत्र भव इत्यर्थः । ननु गर्ताच्छ इत्येतावतैव केवलगर्तशब्दस्य देशवाचित्वाभावात् गर्तोत्तरपदात् इति सिद्धे उत्तरपदग्रहणं व्यर्थमित्यत आह---उत्तरपदग्रहणमिति ।

(१३६२) गहादिभ्यश्च । गहीय इति । गहो देशविशेषः । मुखपार्श्वेति । गहादिगणसूत्रम् । मुखपार्श्वेति लुप्तषष्ठीकं पदम् । तसन्तयोरेतयोरन्त्यस्य लोपश्च । चाच्छः ।

यह विदित कराता है कि 'यदि' 'साल्व' शब्द से 'वुञ्' प्रत्यय हो तो 'अपदाति' अर्थ में ही हो, अन्यत्र नहीं । इसके फलस्वरूप साल्वः गौः—में 'वुञ्' नहीं हुआ ।

(१३६०) पद—गो-यवाग्वोः, च । अनुवृत्ति—साल्वात्, वुञ्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'साल्व' में वुञ् हो । 'कच्छादि'—अण् का अपवाद है । उदा० १—साल्वकः-गौः । २—साल्विका-यवागूः । अन्यत्र-साल्वम् ।

विवरण—"'गो' तथा 'यवागू' अभिधेय हों तो भी (च) देशवाची 'साल्व' शब्द से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—(१) साल्वकः—गौः ('साल्व' में होनेवाला बैल—साल्वे जातः)—साल्व+वुञ् (=अक) । (२) साल्विका—यवागूः (साल्वदेश में बनी लपसी—साल्वे भवा)—साल्व+वु (वुञ्) > साल्वक+आ (टाप्) > साल्विका ('क' से पूर्व 'अ' को 'इ'—"प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" ७-३-४४) ।

विशेष—"कच्छादिभ्यश्च" (४-२-१३३) से प्राप्त 'अण्' का यह सूत्र बाधक है ।

(१३६१) पद—गर्तोत्तरपदात्, छः । अनुवृत्ति—देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'देश' के विषय में ही ('छ' हो) । 'अण्' का अपवाद है । उदा० वृकगर्तीयम् । पूर्व में 'बहुच्' प्रत्यय के निराकरणार्थ 'उत्तरपद' ग्रहण किया गया है ।

विवरण—"'गर्त' शब्द उत्तरपदपरक देशवाची प्रातिपदिकों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—वृकगर्तीयम् ('वृकगर्त' देश में होने वाला)—वृकगर्ते जातः । वृकगर्त्+छ (=ईय) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र का स्वरूप यदि 'गर्ताच्छः' रखा गया होता तो भी केवल 'गर्त' शब्द देशवाची न होने के कारण गर्तोत्तरपदक शब्दों से 'छ' प्रत्यय सिद्ध था । अतः 'उत्तरपद' का निवेश होने के फलस्वरूप 'बहुच्' प्रत्ययपूर्वक गर्तान्त 'बहुगर्त' शब्दस्थ 'गर्त' में उत्तरपदत्व न होने से 'छ' प्रत्यय नहीं होता । अतः 'अण्' प्रत्यय हुआ—बाहुगर्तः ।

(१३६२) पद—गहादिभ्यः, च । अनुवृत्ति—छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'छ' हो । उदा० गहीयः । 'तसिल्' प्रत्ययान्त 'मुख' तथा 'पार्श्व' शब्दों से 'छ' प्रत्यय तथा 'स्' का लोप हो । उदा० १—मुखतीयम् । २—पार्श्वतीयम् । यह लोप-विधान

स्यानित्यतां ज्ञापयितुमिदम्। 'कुग्जनस्य परस्य च' (ग सू ८९)। जनकीयम्। परकीयम्। 'देवस्य च' (ग सू ९०) देवकीयम्। 'स्वस्य च' स्वकीयम्। 'वेणुकादिभ्यश्छण्वाच्यः'

असम्भवादत्र जनपदस्येति न सम्बध्यते। कुग्जनस्येति। गणसूत्रमिदम्। जनशब्दस्य परशब्दस्य च कुगागमः स्यात्। चाच्छः। अत्रापि देश इति न सम्बध्यते। देवस्य च। इदमपि गणसूत्रम्। चात्कुक् छश्च। 'देवाद्यञञौ' इत्यस्यापवादः। देवानुग्रह इति भाष्यप्रयोगाद् दैवमित्यपि साधु। स्वकीयमिति। गहादित्वाच्छः कुक्च। स्वशब्दोऽपि गहादिः, आगमशास्त्रस्यानित्यत्वात्। स्वीयम्।

'अव्ययानां भ-मात्रे टिलोपः' की अनित्यता का ज्ञापक है। ग० 'जन' तथा 'पर' से 'छ' प्रत्यय एवं 'कुक्' आगम भी हो। उदा० १-जनकीयम्। २-परकीयम्। ग० 'देव' शब्द को भी (पूर्ववत्) हो। उदा० देवकीयम्। ग० 'स्व' शब्द को भी हो। उदा० स्वकीयम्। ग० 'वेणुक' आदि से 'छण्' प्रत्यय होता है। उदा० १—वैणुकीयम्। २—वैत्रकीयम्। ३—औत्तरपदकीयम्।

विवरण—विधेयांश 'छः' की अनुवृत्ति का लाभ पूर्वसूत्र "गत्तोत्तरपदाच्छः" (४-२-१३७) से हो रहा है। अतः "गहादि-गण-पठित शब्दों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है"। यहाँ 'देशे' का अधिकार सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि गहादि-गण में कुछ शब्द अदेश-वाची भी हैं। **उदाहरण**—**गहीयः** (गुफा में होने वाला—गहे जातः)—गह+छ। ईयादेश तथा 'अ' लोप।

प्रकृत सूत्रस्थ विशेष शब्दों की सिद्धि के लिये गण-सूत्रों का उल्लेख किया जा रहा है। तदनुसार (१) ""तसिल्' प्रत्ययान्त 'मुख' तथा 'पार्श्व' शब्दों से 'छ' (=ईय) प्रत्यय हो" (मुखपार्श्व लुप्तषष्ठीक पद है = मुखपार्श्वयोः) एवं 'तस्' (तसिल्) सम्बन्धी 'स्' का लोप ("अलोऽन्त्यस्य" के सहयोग से) भी हो"। **उदाहरण (१) मुखतीयम्** (मुख से उत्पन्न—मुखतः जातः)—मुख-तस्+छ > मुख-तस् +ईय > मुखत् +ईय > मुखतीयम्। इसी तरह—**पार्श्वतीयम्** (बगल से उत्पन्न) पार्श्वतः जातः। पार्श्व-तस् +छ। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

शङ्का-समाधान—प्रकृत सन्दर्भ में यह शंका होती है कि अव्ययों में तो भ-संज्ञा के विषय में 'टि' का (यहाँ पर 'अस्') सर्वत्र लोप होता है, तब तो मुखतीयम् आदि रूप सिद्ध हो ही जायेंगे। पुनः इस गणसूत्र में अन्त्यवर्ण 'स्' के लोप-विधान की क्या आवश्यकता है? वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अव्ययों का भ-संज्ञाविधायक 'टि'-लोप वचन अनित्य है। उसका फल यह हुआ कि 'आरातीयः' में 'टि' लोप नहीं हुआ। मुखे जातः आदि विग्रह में सर्वप्रथम आद्यादि-गण-निमित्तक 'तसि' (तस्) प्रत्यय संयुक्त होता है। तदनन्तर 'छ' प्रत्यय तथा अन्य कार्य होते हैं।

(२) **दूसरे गणसूत्र** द्वारा जन एवं पर शब्द से 'छ' प्रत्यय का विधान करने के साथ ही तत्सन्नियोग-शिष्ट इन दोनों शब्दों को कुक् (क्) आगम का समावेश भी बतलाया जा रहा है। तदनुसार (१) **जनकीयम्** (जनता का—जनस्य इदम्—जन-क्+छ = ईय) तथा (२) **परकीयम्** (दूसरे का—परस्य इदम्-पर-क्+छ = ईय) रूप बनते हैं। (३) **तीसरे गणसूत्र** द्वारा देव शब्द से 'छ' प्रत्यय एवं कुक् आगम का विधान करने से **देवकीयम्** (देवता का—देवस्य इदम्—देव—क्+छ = ईय) रूप बनेगा। "देवाद्यञञौ" (वा०) का यह अपवाद है। तथा (४) चौथे गणसूत्र द्वारा **स्व** शब्द से भी छ प्रत्यय तथा 'क्' आगम विधान करने के फलस्वरूप **स्वकीयम्** (अपना—स्वस्य इदम्—स्वक्+छ = ईय) रूप बनेगा। केवल 'स्व' शब्द से भी 'छ' होकर स्वीयम् प्रयोग होता है, क्योंकि आगम-शास्त्र कहीं अनित्य भी माना गया है। (५) **पाँचवें गणसूत्र** द्वारा 'वेणुक' आदि शब्दों में **छण्** प्रत्यय का विधान किया गया है। अतः (१) **वैणुकीयम्** (बाँस से उत्पन्न—वेणुकस्य इदम्—

(ग सू ९१)। वैणुकीयम्। वैत्रकीयम्। औत्तरपदकीयम्। (१३६३) प्राचां कटादेः ४। २। १३९॥ प्राग्देशवाचिनः कटादेश्छः स्यात्। अणोऽपवादः। कटनगरीयम्। कटघोषीयम्। कटपल्वलीयम्। (१३६४) राज्ञः क च ४। २। १४०॥ वृद्धत्वाच्छे सिद्धे तत्सन्नियोगेन कादेशमात्रं विधीयते। राजकीयम्। (१३६५) वृद्धादकेकान्तखोपधात् ४। २। १४१॥ 'अक' 'इक' एतदन्तात्खोपधाच्च वृद्धाद्देशवाचिनः छः स्यात्। ब्राह्मणको नाम जनपदः यत्र ब्राह्मणा आयुधजीविनः, तत्र जातो ब्राह्मणकीयः। शाल्मलि-

---

(१३६३) प्राचां कटादेः। कटनगरीयमिति। कटनगरो नाम प्राच्यो देशः।

(१३६४) राज्ञः क च। राजन् शब्दात् छः स्यात्, ककारश्चान्तादेशः।

(१३६५) वृद्धादकेकान्तखोपधात्। ब्राह्मणकीय इति। कोपधाणोऽपवादः छः। शाल्मलिकीय इति। शाल्मलिको नाम देशः। तत्र भव इत्यर्थः। इकान्तोदाहरणमिदम्। कोपधाणपवादः। अयोमुखीय इति। 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' इति ठञ्ञिठयोरपवादः छः।

वेणुक्+छण् = ईय, एवम् आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप) तथा (२) वैत्रकीयम् (वेंत से उत्पन्न—वेत्रकस्य इदम्—वेत्रक्+छण्—छ = ईय) (३) एवं औत्तरपदकीयम् (उत्तरपदसम्बन्धी—उत्तरपदस्य इदम्—उत्तर-पद-क्+छ = ईय) रूप निष्पन्न होते हैं।

(१३६३) पद—प्राचां, कटादेः। अनुवृत्ति—छः, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—प्राग्देश-वाची 'कटादि' शब्दों से 'छ' प्रत्यय हो। 'अण्' का अपवाद है। उदा० १—कटनगरीयम्। २—कटघोषीयम्। ३—कटपल्वलीयम्।

विवरण—विधेय 'छ' की अनुवृत्ति पूर्ववत् यहाँ भी आ रही है। तदनुसार "कटादि प्राग्देश-वाची (प्राचां) प्रातिपदिकों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—(१) कटनगरीयम् (कटनगर में उत्पन्न—कटनगरे जातः—कटनगर्+छ=ईय) (२) कटघोषीयम् (कटघोष में उत्पन्न—कटघोषे जातः—कटघोष्+छ = ईय)। (३) कटपल्वलीयम् (कटपल्वल में उत्पन्न—कटपल्वले जातः—कटपल्वल्+छ = ईय)। यह 'अण्' का अपवाद है।

(१३६४) पद—राज्ञः, क, च। अनुवृत्ति—छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'वृद्ध' संज्ञा होने के कारण 'छ' प्रत्यय स्वतःसिद्ध होने से केवल 'क' मात्र का विधान है। उदा० राजकीयम्।

विवरण—'छः' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। अतः "राजन् शब्द से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है तथा उसको 'क' अन्तादेश भी होता है"। उदाहरण—राजकीयम् (राजा का, राजा में होने या रहने वाला—राज्ञः इदम्—राजन्—क्+छ = ईय)।

विशेष—(१) सूत्रस्थ 'राज्ञः' पद में वाक्यभेद से 'पञ्चमी' तथा 'षष्ठी' दोनों विभक्तियाँ मानी जाती है। 'प्रत्यय' विधान में पञ्चमी तथा 'न्' के स्थान में 'क' आदेश विधान में षष्ठी (अलोन्त्यस्य १-१-५१ के आधार पर) विभक्ति होगी।

(२) यहाँ पर असम्भव होने से 'देशे' की अनुवृत्ति सम्बद्ध नहीं है।

(१३६५) पद—वृद्धात्, अकेकान्तखोपधात्। अनुवृत्ति—छः, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'अक' तथा 'इक' अन्त वाले तथा खकारोपधक देशवाची वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है"। उदा० आयुधजीवी ब्राह्मणों वाले 'ब्राह्मणक' जनपद से जातादि अर्थ में—(१) ब्राह्मणकीयः। (२) शाल्मलिकीयः। (३) अयोमुखीयः।

कीयः। आयोमुखीयः। (१३६६) कन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात् ४।२।१४२॥ कन्थादिपञ्चकोत्तरपदाद्देशवाचिनो वृद्धाच्छः स्यात्। ठञ्ञिठादेरपवादः। दाक्षिकन्थीयम्। दाक्षिपलदीयम्। दाक्षिनगरीयम्। दाक्षिग्रामीयम्। दाक्षिह्रदीयम्। (१३६७) पर्वताच्च ४।२।१४३॥ पर्वतीयः। (१३६८) विभाषाऽ-

---

(१३६६) कन्थापलद। ठञ्ञिठादेरपवाद इति। नगरान्ते 'रोपधेतोः' इति वुञो-ऽपवादः। इतरत्र 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' इति ठञ्ञिठयोरपवाद इति विवेकः।

(१३६७) पर्वताच्च। इत्यादि स्पष्टम्।

विवरण—'छ' का ही प्रकरण है। शेष अनुवृत्तियाँ भी यथापूर्व हैं। तदनुसार '"अक' एवम् 'इक' अन्त वाले (अकश्च इकश्च—अकेकौ, अकेकौ अन्ते यस्य सः) तथा 'ख'कार उपधा वाले (खः उपधा यस्य सः) देशवाची वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—अकान्त—(१) **ब्राह्मणकीयः** (ब्राह्मणक[1] जनपद में होने या रहने वाला—ब्राह्मणके जातः आदिः—ब्राह्मणक्+छ=ईय। (२) इकान्त—**शाल्मलिकीयः** (शाल्मलिक जनपद में होने या रहने वाला—शाल्मलिके जातः भवः वा—शाल्मलिक्+छ=ईय)। (३) 'ख'कारोपध—**अयोमुखीयः** (अयोमुख जनपद में होने या रहनेवाला—अयोमुखे भवः, जातः वा—अयोमुख्+छ=ईय।

विशेष—प्रकृत सूत्र "कोपधादण्" (४-२-१३२) तथा "वाहीकग्रामेभ्यश्च" (४-२-११७) से प्राप्त 'ठञ्' तथा 'ञिठ' का बाधक है।

(१३६६) पद—कन्था···पदात्। **अनुवृत्ति**—वृद्धात्, छः, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कन्थादि पाँच उत्तरपदक देशवाची वृद्ध-संज्ञक प्रातिपदिकों से 'छ' हो। 'ठञ्'-'ञिठ' आदि का अपवाद है। उदा० १—दाक्षिकन्थीयम्। २—दाक्षिपलदीयम्। ३—दाक्षिनगरीयम्। ४—दाक्षिग्रामीयम्। ५—दाक्षिह्रदीयम्।

विवरण—पूर्वसूत्र (१३६५) से 'वृद्धात्' की अनुवृत्ति आती है। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व प्रभावी हैं। अतः '"कन्था', 'पलद', 'नगर', 'ग्राम' तथा 'ह्रद'—उत्तरपदस्थ (कन्था च, पलदश्च, नगरं च, ग्रामश्च, ह्रदश्च—इत्येतानि उत्तरपदानि यस्य तत्) वृद्धसंज्ञक देशवाची प्रातिपदिकों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है"। उदाहरण क्रमशः (१) कन्थोत्तरपदक—**दाक्षिकन्थीयम्** (दाक्षिकन्था[2] में रहने वाला—दाक्षिकन्थायां जातः—दाक्षिकन्थ्+छ=ईय)। (२) पलदोत्तरपद—**दाक्षिपलदीयम्** (दाक्षिपलद[3] में रहने वाला—दाक्षिपलदे भवः—दाक्षिपलद्+छ=ईय)। (३) नगरोत्तरपद—**दाक्षिनगरीयम्** (दाक्षिनगर में रहने वाला—

---

१. सिन्ध प्रान्त के मध्य में मीरपुरखास से २५ मील उत्तर में स्थित। इस जनपद के सम्बन्ध में वृत्ति में ही यह कहा गया है कि यहाँ के ब्राह्मण आयुधजीवी थे।

२. पाणिनि के ६ सूत्रों में नगरवाची कन्था शब्द का उल्लेख है—१—"संज्ञायां कन्थोशीनरेषु" (२-४-२०)। २—"कन्थायाष्ठक्" (४-२-१०२)। ३—"वर्णौ वुक्" (४-२-१०३)। ४—"कन्था-पलद-नगर-ग्राम-ह्रदोत्तरपदात्" (४-२-१४२)। ५—"कन्था च" (६-२-१२४)। तथा ६—"आदिश्चिहणादीनाम्" (६-२-१२५)।

३. 'अथर्ववेद' के अनुसार 'पलद' का अर्थ 'फूस' या 'पयार' होता था (अथर्व ९।३।५, ७१ पलदान्वसाना)। इससे ज्ञात होता है कि सरपत के झुंडों के लिए पलद शब्द लोक में प्रचलित था और जो गाँव उनके पास बसाये जाते थे उनके नाम में 'पलद' उत्तरपद का प्रयोग होता था।

मनुष्ये ४।२।१४४॥ मनुष्यभिन्नेऽर्थे पर्वताच्छो वा स्यात्। पक्षेऽण्। पर्वतीयानि-पार्वतानि वा फलानि। 'अमनुष्ये किम्'? पर्वतीयो मनुष्यः। **(१३६९) कृकणपर्णाद्भारद्वाजे ४।२।१४५॥** भारद्वाजदेशवाचिभ्यामाभ्यां छः। कृकणीयम्। पर्णीयम्। 'भारद्वाजे किम्'? कार्कणम्। पार्णम्। **(१३७०) युष्मदस्मदो-**

दाक्षिनगरे वसति)—दाक्षिनगर् + छ=ईय। (४) ग्रामोत्तरपद—**दाक्षिग्रामीयम्** (दाक्षिग्राम में रहने वाला—दाक्षिग्रामे निवसति—दाक्षिग्राम् + छ = ईय)। (५) ह्रदोत्तरपद[1]—**दाक्षिह्रदीयम्**—दाक्षिह्रद में रहने वाला—दाक्षिह्रद् + छ=ईय।

विशेष—नगरान्त शब्द में "रोपधेतोः प्राचाम्" (४-२-१२३) से प्राप्त 'वुञ्' तथा अन्यत्र "वाहीकग्रामेभ्यश्च" (४-२-११) से प्राप्त 'ठञ्' तथा 'ञिठ' का यह विधान (='छ') अपवाद है।

(१३६७) पद—पर्वतात्, च। **अनुवृत्ति**—छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० पर्वतीयः।

विवरण—'छ' प्रत्यय का ही प्रकरण है। तदनुसार 'पर्वत' शब्द से भी शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है। 'पर्वत' शब्द पूर्ववत् देशवाची ही है। अतः 'देश'—विशेषण के लिये 'देशे' अनुवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। **उदाहरण—पर्वतीयः** (पर्वत का निवासी—पर्वते भवः, जातः वा—पर्वत् + छ=ईय)।

(१३६८) पद—विभाषा, अमनुष्ये। **अनुवृत्ति**—पर्वतात्, छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—मनुष्य-भिन्न अर्थ में 'पर्वत' शब्द से 'छ' प्रत्यय विकल्प से हो। पक्ष में अण्। उदा० पर्वतीयानि—पार्वतानि वा फलानि।

विवरण—"मनुष्यार्थ अभिधेय न होने पर (अमनुष्ये) 'पर्वत' शब्द से विकल्प से 'छ' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण—पर्वतीयानि** फलानि (पर्वत में होने वाले फल—पर्वते जातानि) →'छ'=ईय होने पर। पार्वतानि←पक्ष में औत्सर्गिक 'अण्' होने पर।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अमनुष्ये' पद का निवेश होने के फलस्वरूप मनुष्य अभिधेय होने पर **पर्वतीयः** में 'छ' प्रत्यय हुआ।

(१३६९) पद—कृकणपर्णात्, भारद्वाजे। **अनुवृत्ति**—छः देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—भारद्वाजदेशवाची इन दो शब्दों से 'छ' प्रत्यय हो। उदा० १—कृकणीयम्। २—पर्णीयम्। 'भारद्वाजे' क्यों कहा? १—'कार्कणम्' तथा २—'पार्णम्' (अन्यत्र 'अण्' हुआ)।

विवरण—"भारद्वाज देश में वर्तमान 'कृकण' तथा 'पर्ण' प्रातिपदिकों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण—(१) कृकणीयम्** (भारद्वाज-देशीय कृकण में उत्पन्न—कृकणे भवः, जातः वा—कृकण् + छ=ईय। (२) **पर्णीयम्** (भारद्वाज-देशीय पर्ण में उत्पन्न—पर्णे जातः—पर्ण् + छ=ईय)। 'भारद्वाज' से भिन्न अर्थ में 'अण्'—कार्कणम् तथा पार्णम्।

विशेष—यहाँ 'भारद्वाज'[2] शब्द देशविशेषवाची है, न कि गोत्रवाची।

---

१. पानी की नीची 'दह' के पास बसे हुए गाँवों के नामों में 'ह्रद' शब्द संयुक्त होता था। जैसे—दाक्षिह्रद।

२. पारजीटर ने भारद्वाज देश की पहचान गढ़वाल प्रदेश से की है (मार्कण्डेयपुराण का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३२०)। पाणिनि ने भारद्वाजों की शाखा आत्रेय कही है (अश्वादिगण ४-१-११०)। 'मार्कण्डेयपुराण' की जनपद सूची में भी आत्रेय और भारद्वाज साथ साथ पढ़े गए हैं।

रन्यतरस्यां खञ्‌ ४ । ३ । १ ॥ चाच्छः । पक्षेऽण्‌ । युवयोः युष्माकं वा अयं युष्मदीयः । अस्मदीयः । (१३७१) तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ४ । ३ । २ ॥ युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञ्यणि च । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । यौष्माकः ।

(१३७०) युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्‌ च । युष्मदस्मच्छब्दयोरिह शब्दस्वरूपपरत्वात्‌ 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्‌' इत्येकशेषो न भवति । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । युष्मच्छब्दादस्मच्छब्दाच्च जाताद्यर्थेषु खञ्‌ स्यादित्यर्थः । चाच्छः । गर्तोत्तरपदादित्यधिकृतः छः चकारेण समुच्चीयत इत्यर्थः । पक्षेऽणिति । अन्यतरस्यां ग्रहणादिति भावः । अत्र 'युष्मदस्मदोः' इति योगो विभज्यते । आभ्यां छो भवतीत्यर्थः । 'खञ्‌ च' इति योगान्तरम्‌ । आभ्यां खञ्‌ च भवतीत्यर्थः । अन्यतरस्यामिति योगान्तरम्‌ । आभ्यां छखञौ वा स्तः, पक्षेऽणित्यर्थः । अतो न यथासङ्ख्यमिति भाष्ये स्पष्टम्‌ । युष्मदीय इति । द्विवचनान्ताद्‌ बहुवचनान्ताच्च छः । ईयादेशः । सुब्लुकि युवादेशस्य निवृत्तिः, तस्य विभक्तौ परे विधानात्‌ । प्रकृत्यर्थैकत्वे विभक्तेर्लुप्तत्वेऽपि त्वादेशो वक्ष्यते । अस्मदीय इति । आवयोरस्माकं वा अयमित्यर्थः ।

(१३७१) अथ खञि अणि च विशेषमाह—तस्मिन्नणि च । पूर्वसूत्रे निर्दिष्टः खञ्‌ तच्छब्देन परामृश्यते । तदाह—खञि अणि चेति । अत्र स्थानिनोरादेशयोश्च यथासङ्ख्यम्‌, न तु परनिमित्तयोः—तस्मिन्नणि इति व्यस्तनिर्देशात्‌ । यौष्माकीण इति । युवयोर्युष्माकं

(१३७०) पद—युष्मदस्मदोः, अन्यतरस्यां, खञ्‌, च । अनुवृत्ति—छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्‌, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'च' के निवेश से 'छ'-प्रत्यय हो । पक्ष में 'अण्‌' भी । उदा० युवयोः युष्माकं वा—युष्मदीयः, अस्मदीयः ।

विवरण—प्रमुख विधीयमान प्रत्यय 'खञ्‌' है । सूत्र में प्रयुक्त 'च' से अनुवर्तमान ('गर्तोत्तरपदाच्छः'' ४-२-१३७) 'छ' प्रत्यय का लाभ होता है । किन्तु ये दोनों ('खञ्‌' और 'छ') विकल्प से होते हैं, अतः प्रकृत में "प्राग्दीव्यतोऽण्‌" (४-१-८३) से सामान्य 'अण्‌' प्रत्यय भी होगा । तदनुसार '"युष्मद्‌'—'अस्मद्‌' शब्दों से 'खञ्‌', 'छ' (विकल्प होने से) तथा 'अण्‌'-ये तीन प्रत्यय होंगे" । 'सूची-कटाह' न्याय से अल्पसमय-साध्य कार्य 'छ' प्रत्यय के उदाहरण—(१) युष्मदीयः (तुम दो का अथवा तुम लोगों का—युवयोः युष्माकं वा—युष्मद्‌+छ=ईय) । (२) अस्मदीयः (हम दो का या हम सबका—आवयोः अस्माकं वा—अस्मद्‌+छ=ईय) । 'खञ्‌' और 'अण्‌' प्रत्यय होने पर विशेष कार्यों के सूचक सूत्र आगे दिये जा रहे हैं । उपर्युक्त उदाहरणों में 'सुप्‌' का लोप होने से 'युव' तथा 'आव' आदेश नहीं होते ।

विशेष—प्रकृत सूत्र को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) युष्मदस्मदोः । तदनुसार इन दोनों शब्दों से 'खञ्‌' प्रत्यय भी होता है । (२) खञ्‌ च—'खञ्‌' भी हो । (३) अन्यतरस्याम्‌ । इन दोनों से 'छ' तथा 'खञ्‌' विकल्प से होते हैं । इसके फलस्वरूप 'यथासंख्य' का निवारण स्वतः हो जाता है । यह कल्पना भाष्यकार ने की है ।

(१३७१) पद—तस्मिन्‌, अणि, च, युष्माकास्माकौ । अनुवृत्ति—युष्मदस्मदोः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'खञ्‌' और 'अण्‌' प्रत्ययों के परवर्ती होने पर ये दो आदेश हों । उदा० १—यौष्माकीणः । २—आस्माकीनः । १—यौष्माकः । २—आस्माकः ।

विवरण—स्थानिवाचक 'युष्मद्‌' तथा 'अस्मद्‌' शब्द पूर्व सूत्र (१३७०) से अनुवृत्तिवश प्राप्त होते हैं । सूत्रस्थ 'तस्मिन्‌' का अभिप्राय पूर्ववर्ती सूत्र से विहित 'खञ्‌' प्रत्यय से है । 'यथासंख्य' परिभाषा के आधार पर ये आदेश यथाक्रम होंगे तथा 'अनेकाल्‌' होने के कारण सम्पूर्ण

आस्माकः । (१३७२) तवकममकावेकवचने ४ । ३ । ३ ॥ एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञ्यणि च । तावकीनः—तावकः । मामकीनः—मामकः । छे तु । (१३७३) प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७ । २ । ९८ ॥ मपर्यन्तयोरेकार्थयोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च । त्वदीयः । मदीयः । उत्तरपदे तु—त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः । (१३७४) अर्धा-

---

वा अयमिति विग्रहः । खञ्, ईनादेशः, युष्माकादेशः, आदिवृद्धिः, णत्वम् । आस्माकीन इति । आवयोरस्माकं वा अयमिति विग्रहः । अणि उदाहरति—यौष्माकः आस्माक इति ।

(१३७२) तवकममकौ । एकवचने इति युष्मदस्मदोः प्रकृत्योर्विशेषणम् । एकस्य वचनम्—उक्तिः एकवचनम् । एकस्योक्तौ व्याप्रियमाणयोरिति लभ्यते । तदाह—एकार्थवाचिनोरिति । छे त्विति । एकार्थवृत्तयोर्विशेषो वक्ष्यत इति शेषः ।

(१३७३) प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । साहमिकमिदम् । त्वमावेकवचने इत्यनुवर्तते । 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतो युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते । मपर्यन्तस्येत्यधिकृतम् । तदाह—

स्थानो को अभिव्याप्त करेंगे । तदनुसार "'खञ्' और 'अण्' प्रत्यय परवर्ती होने पर 'युष्मद्' के स्थान पर 'युष्माक' तथा 'अस्मद्' के स्थान पर 'अस्माक' आदेश होंगे" । उदाहरण—(१) यौष्माकीणः—युष्मद्+खञ्) > युष्माक्+ईन (युष्मद्=युष्माक तथा ख=ईन) > यौष्माकीन (आदिवृद्धि एवं 'अ' लोप) > यौष्माकीणः (न=ण तथा विभक्ति-कार्य) । इसी प्रकार आस्माकीनः (अस्मद्+ख =ईन > अस्माक्+ईन > आस्माकीन)—यहाँ 'ण' नहीं होगा, क्योंकि निमित्त—स्वरूप 'र्' अथवा 'ष्' नहीं हैं, किन्तु 'स्' है । 'अण्' प्रत्यय होने पर 'युष्मद्' से 'यौष्माकः' तथा 'अस्मद्' से आस्माकः रूप बनेंगे । प्रक्रिया पूर्ववत्—'युष्माक' तथा 'अस्माक' आदेश एवम् 'अ' का लोप आदि कार्य । विग्रह—युवयोः युष्माकं वा अयम् । आवयोः अस्माकं वा अयम् ।

(१३७२) पद—तवक-ममकौ, एकवचने । अनुवृत्ति-तस्मिन्नणि, युष्मदस्मदोः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—एकार्थ-वाची 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर 'खञ्' और 'अण्' प्रत्यय परे रहते क्रमशः 'तवक' और 'ममक' आदेश होते हैं । उदा० १—तावकीनः—तावकः । २—मामकीनः—मामकः ।

विवरण—स्थानिवाचक शब्दों ('युष्मद्' तथा 'अस्मद्') का लाभ अनुवृत्ति-वश ("युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च" ४-३-१) तथा अवस्था-विशेष-सूचक पद 'तस्मिन्' तथा 'अणि' भी अनुवृत्तिद्वारा गृहीत हैं—"तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ" ४-३-२ । तब सूत्रार्थ यह होगा—"'खञ्' तथा 'अण्' प्रत्ययों के परवर्ती होने पर एकवचन में 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'तवक' तथा 'ममक' आदेश होते हैं ।" उदाहरण—(१) तावकीनः—तावकः (तेरा—तव अयम्) । युष्मद्+खञ् (=ईन) । युष्मद्=तवक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप । युष्मद्+अण् (अ) । (२) मामकीनः—मामकः (मेरा—मम अयम्) । क्रमशः—अस्मद्+खञ् (ईन) । अस्मद्+अण् (अ) । अस्मद्=ममक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप ।

(१३७३) पद—प्रत्ययोत्तरपदयोः, च । अनुवृत्ति—त्वमावेकवचने, मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—प्रत्यय अथवा उत्तरपद परवर्ती होने पर एकार्थवाची 'म'-पर्यन्त 'युष्मद्'–'अस्मद्' के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं । उदा० १—त्वदीयः । २—मदीयः । उत्तरपद परवर्ती रहते—१—त्वत्पुत्रः । २—मत्पुत्रः ।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है । सप्तमाध्याय में पठित है । अतः वहाँ की अनुवृत्तियों पर ध्यान देना होगा । स्थानिवाची 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' की अनुवृत्ति "युष्मदस्मदोरनादेशे"

द्यत् ४ । ३ । ४ ॥ अर्ध्यः । (१३७५) परावराधमोत्तमपूर्वाच्च ४ । ३ । ५ ॥ परार्ध्यम् । अवरार्ध्यम् । अधमार्ध्यम् । उत्तमार्ध्यम् । (१३७६) दिक्पूर्वपदाट्ठञ्च ४ । ३ । ६ ॥ चाद्यत् । पौर्वार्धिकम्–पूर्वार्ध्यम् । (१३७७) ग्रामजनपदैकदेशाद-

---

मपर्यन्तयोरित्यादि । त्वदीयः मदीय इति । छे सुब्लुकि तवममयोर्निवृत्तौ मपर्यन्तयोः त्वदिति मदिति च आदेशौ । विभक्तिपरकत्वाभावान्न शेषे लोपः । उत्तरपदे तु परे त्वत्पुत्रो मत्पुत्रः इत्युदाहरणम् ।

(१३७४) अर्धाद्यत् । अर्ध्य इति । अर्धे जातादिरित्यर्थः । 'सपूर्वपदाट्ठञ् वाच्यः' इति वार्तिकं भाष्ये स्थितम् । बालेयार्धिकः ।

(१३७५) परावर । अर्धाद्यदिति शेषः । अवरशब्दो दन्त्योष्ठ्यवकारमध्यः ।

(१३७६) दिक्पूर्वपदाट्ठञ् च । अर्धादित्येव । परावरपूर्वार्धशब्दात्पूर्वसूत्रेण यदेव, विशिष्य विहितत्वात् ।

(७-२-८६) से आ रही हैं । आदेशवाची पदों का लाभ "त्वमावेकवचने" (७-२-९४) सूत्र से अनुवृत्ति-वश होता है । इसके साथ ही "मपर्यन्तस्य" (७-२-९१) एवम् "अङ्गस्य" (६-४-१) तथा "विभक्तौ" ("अष्टन आ विभक्तौ" ७-२-८४) की आधिकारिक अनुवृत्तियाँ भी अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "प्रत्यय तथा उत्तरपद के परवर्ती होने पर भी (च) एकत्व अर्थ में वर्तमान 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' अङ्ग के 'म्'–पर्यन्त भाग को क्रमशः 'त्व' तथा 'म' आदेश होते हैं" । **उदाहरण**—(१) **त्वदीयः** (तेरा—तव अयम्)—युष्मद्+छ (=ईय) त्वद्+ईय (युष्म्=त्व+अद् तथा पररूप "अतो गुणे" ६-१-९४) > त्वदीयः (विभक्तिकार्य) । (२) **मदीयः** (मेरा—मम अयम्)—अस्मद्+छ (= ईय) । अस्मद्=मद्, शेष पूर्ववत् । विभक्ति पर न होने के कारण "शेषे लोपः" (७-२-८५) की प्रवृत्ति न होने से 'द्' का लोप नहीं होता । उत्तरपद परे रहते–(१) **त्वत्पुत्रः** (तेरा पुत्र—तव पुत्रः—षष्ठी समास, युष्मद्=त्वद् तथा द्=त्–चर्त्व) । (२) **मत्पुत्रः** (मेरा पुत्र–मम पुत्रः) । शेष कार्य पूर्ववत् ।

(१३७४) पद—अर्धात्, यत् । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० अर्ध्यः ।

विवरण—"'अर्ध' प्रातिपदिक से शैषिक 'यत्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**अर्ध्यः** (आधे भाग—का अर्धे भवः)—अर्ध +य (यत्) ।

(१३७५) पद—परावराधमोत्तमपूर्वात्, च । **अनुवृत्ति**—अर्धाद्यत्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—परार्ध्यम् । २—अवरार्ध्यम् । ३—अधमार्ध्यम् । ४—उत्तमार्ध्यम् ।

विवरण—स्थानिवाची शब्दों की पूर्ति के लिये "अर्धाद्यत्" (४-३-४) की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः "'पर', 'अवर', 'अधम' तथा 'उत्तम' शब्द-पूर्वक 'अध' शब्द से भी शैषिक 'यत्' प्रत्यय होगा" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **परार्ध्यम्** (आखिरी आधे भाग का—परार्धे जातम्) परार्ध+य (यत्) । (२) **अवरार्ध्यम्** (सब से कम आधे भाग का—अवरार्धे जातम्)—अवरार्ध+य (यत्) । ४–**उत्तमार्ध्यम्** (उत्तम आधे भाग का—उत्तमार्धे जातम्) उत्तमार्ध+य (यत्) । (३) **अधमार्ध्यम्** (निम्न आधे भाग का—अधमार्धे भवम्)—अधमार्ध+य (यत्) ।

(१३७६) पद—दिक्पूर्वपदात्, ठञ्, च । **अनुवृत्ति**—अर्धाद्यत्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

ञ्ठञौ ४ । ३ । ७ ॥ ग्रामैकदेशवाचिनो जनपदैकदेशवाचिनश्च दिक्पूर्वपदादर्धान्तादञ्ठञौ स्तः । इमे अस्माकं ग्रामस्य जनपदस्य वा पौर्वार्धाः–पौर्वार्धिकाः । ग्रामस्य पूर्वस्मिन्नर्धे भवा इति तद्धितार्थे समासः । ठञ्ग्रहणं स्पष्टार्थम् । अञ्चेत्युक्ते यतोऽप्यनुकर्षः सम्भाव्येत । (१३७८) मध्यान्मः ४ । ३ । ८ ॥ मध्यमः । (१३७९) असाम्प्रतिके

(१३७७) ग्रामजनपद । ननु अञ् चेत्येतावतैव चकाराट्ठञोऽनुकर्षसिद्धेः ठञ्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—ठञ्ग्रहणमिति । ननु अञ् चेत्युक्तेऽपि चकाराट्ठञोऽनुकर्षः स्पष्ट एवेत्यत आह—अञ् चेत्युक्त इत्यादि ।

(१३७८) मध्यान्मः । स्पष्टम् ।

मूलार्थ—'च' से 'यत्' का समावेश है । उदा० पौर्वार्धिकम्–पूर्वार्ध्यम् ।

विवरण—"अर्धाद्यत्" (४-३-४) का ही प्रकरण है । अतः दिशा-वाची पूर्वपद वाले 'अर्ध' प्रातिपदिक से शैषिक 'ठञ्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं ।" **उदाहरण**—पौर्वार्धिकम्→'ठञ्' होने पर (पूर्वार्ध् + इक, आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप) । **पूर्वार्ध्यम्**←'यत्' होने पर (पूर्वार्ध् + य, अलोप एवं विभक्ति-कार्य) । अर्थ—पूर्वी आधे भाग का—पूर्वस्मिन् अर्धे जातम् । 'तद्धितार्थ' समास होने के पश्चात् प्रत्ययसम्बन्धी कार्य होंगे ।

विशेष—सूत्र में 'पद' ग्रहण किये जाने से स्वरूपविधि नहीं हुई । अन्यथा 'दिक्पूर्वात्' कहने पर 'दिगर्धे जातः' अर्थ में ही सूत्र की प्रवृत्ति होती । 'पद' ग्रहण करने से 'दिशा' वाची शब्द ही लिये जायेंगे ।

(१३७७) पद—ग्राम-जनपदैकदेशात्, अञ्-ठञौ । **अनुवृत्ति**—दिक्पूर्वपदात्, अर्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ग्राम एवं देश-शवाची दिग्वाचक-शब्द-पूर्वक अर्धान्त प्रातिपदिक से 'अञ्' एवं 'ठञ्' प्रत्यय होते हैं । उदा० १—पौर्वार्धाः—पौर्वार्धिकाः । अर्थ—ये हमारे ग्राम अथवा जनपद के पूर्वी आधे भाग के हैं । 'ग्रामस्य पूर्वस्मिन् देशे भवाः' अर्थ में तद्धितार्थ समास है । 'ठञ्' ग्रहण स्पष्टार्थ है । 'अञ् च' कहने से 'यत्' के अनुकर्षण की सम्भावना थी ।

विवरण—दिक्पूर्वपदक-अर्धान्त का ही प्रकरण है । किन्तु अर्थ-विशेष अपेक्षित है । उसे प्रकृतसूत्रस्थ पदों द्वारा ज्ञात कराया गया है । तदनुसार "'ग्राम' के अवयव-वाची तथा 'जनपद' के अवयववाची 'दिशा-पूर्वपद वाले अर्धान्त' प्रातिपदिक से शैषिक 'अञ्' तथा 'ठञ्' प्रत्यय होते हैं" । यहाँ 'एकदेश' शब्द अवयव का बोधक है । ये दोनों प्रत्यय 'यत्' के बाधक हैं । **उदाहरण**—पौर्वार्धाः→'अञ्' होने पर—पूर्वार्ध् + अ (अञ्)—आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप । **पौर्वार्धिकाः**← 'ठञ्' होने पर—पूर्वार्ध + ठञ् (= इक)—आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप । **अर्थ**—ग्राम या नगर के पूर्वी आधे भाग के । **विग्रह**—पूर्वस्मिन् अर्धे (ग्रामस्य) भवाः । तद्धितार्थ समास ।

विशेष—प्रकृत सूत्र का स्वरूप यदि "अञ् च" रखा जाता तो भी 'च' से 'ठञ्' का अनुकर्षण सम्भव था एवम् दोनों प्रत्ययों के होने से इष्ट-सिद्धि अवश्य रही, तथापि स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये 'ठञ्' का पृथक् निवेश किया गया है ।

(१३७८) पद—मध्यात्, मः । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० मध्यमः ।

विवरण—"'मध्य' प्रातिपदिक से शैषिक 'म' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—मध्यमः (बीच का) । मध्ये भवः–मध्य + म ।

४ । ३ । ९ ॥ मध्यशब्दादकारप्रत्ययः स्यात्साम्प्रतिकेऽर्थे । उत्कर्षापकर्षहीनो मध्यो वैयाकरणः । मध्यं दारु । नातिह्रस्वं नातिदीर्घमित्यर्थः । (१३८०) द्वीपादनुसमुद्रं यञ् ४ । ३ । १० ॥ समुद्रस्य समीपे यो द्वीपस्तद्विषयाद् द्वीपशब्दाद्यञ् स्यात् । द्वैप्यम्–द्वैप्या । (१३८१) कालाट्ठञ् ४ । ३ । ११ ॥ कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । मासिकम् । सांव-

---

(१३७९) असाम्प्रतिके । अ इति लुप्तप्रथमाकम् । मध्यादित्यनुवर्तते । तदाह—मध्यशब्दादित्यादि । सम्प्रतीत्यव्ययम् उत्कर्षापकर्षहीनत्वात्मकसाम्ये वर्तते, तैत्तिरीये 'अनाप्तश्चतूरात्रोऽतिरिक्तः षड्रात्रोऽथवा एष सम्प्रति यज्ञो यत्पञ्चरात्रः' इत्यत्र तथा दर्शनात् । पञ्चरात्रः न न्यूनः नाप्यतिरिक्तः सम इत्यर्थः । सम्प्रतिशब्दात् स्वार्थे विनयादित्वाट्ठकि साम्प्रतिकम् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे अणि तु साम्प्रतमित्यपि भवति । 'एतर्हि सम्प्रति' इति कोशाददिदानीमित्यर्थेऽपि । प्रकृते तु साम्यं विवक्षितम् ।

(१३८०) द्वीपादनु । अनुसमुद्रमिति सामीप्ये अव्ययीभावः । अनुसमुद्रमिति सप्तम्यन्तम्, विद्यमानादित्यध्याहार्यम् । तदाह—समुद्रस्य समीपे इति । द्वैप्येति । 'यञश्च' इति ङीप् तु न, अनपत्याधिकारस्थात् नेति तन्निषेधात् ।

(१३८१) कालाट्ठञ् । 'कालशब्दस्यैव न ग्रहणम् । किन्तु कालशब्दस्य काल-

---

(१३७९) पद—अ (= अः), साम्प्रतिके । अनुवृत्ति—मध्यात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'साम्प्रतिक' अर्थ में 'मध्य' शब्द से 'अ' प्रत्यय हो । उदा० १–मध्यः वैयाकरणः–अर्थात् न तीव्र न मन्द–वैयाकरण । २–मध्यं दारु—अर्थात् मझोली लकड़ी ।

विवरण—विशेष अर्थाभिधायी 'मध्य' शब्द का ही प्रकरण चल रहा है । अतः पूर्व सूत्र (१३७८) से 'मध्यात्' की अनुवृत्ति आ रही है । विधेय-वाची 'अ' पद लुप्त-प्रथमा-विभक्त्यर्थ है (= अः) । '"मध्य' शब्द से 'साम्प्रतिक (उचित) अर्थ गम्यमान होने पर शैषिक 'अ' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—(१) मध्यः वैयाकरणः (मध्यम कोटि का वैयाकरण—मध्ये भवः)—मध्य्+अ, 'अ' लोप । (२) मध्यं दारु (मझौली लकड़ी–न छोटी न बड़ी–मध्ये भवम्)—मध्य्+अ । नपुंसक लिङ्ग ।

विशेष—'सम्प्रति' अव्ययवाची शब्द है । उसका अर्थ है—उत्कर्ष एवम् अपकर्ष से रहित—यथोचित साम्य । सम्प्रति+ठक् (स्वार्थे) साम्प्रतिकम् ।

(१३८०) पद—द्वीपात्, अनुसमुद्रं, यञ् । अनुवृत्ति—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—समुद्र के समीपस्थ विषयीभूत 'द्वीप' शब्द से 'यञ्' प्रत्यय होता है । उदा० १–द्वैप्यम् । २–द्वैप्या ।

विवरण—'समुद्र' का समीपार्थक 'अनुसमुद्रम्' पद अव्ययीभाव समासान्त है । तदनुसार "समुद्र के समीपार्थाभिधायी 'द्वीप' प्रातिपदिक से शैषिक 'यञ्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—(१) द्वैप्यम् मधु (द्वीप में होने वाला मधु—द्वीपे भवम्)—द्वीप्+यञ्—आदिवृद्धि, 'अ' लोप । स्त्रीलिङ्ग में—(२) द्वैप्या स्त्री (द्वीप में रहने वाली महिला–द्वीपे भवा–द्वीप्+यञ्+टाप् ।

विशेष—अपत्याधिकार-भिन्न होने के कारण "यञश्च" (४-१-१६) से ङीप् की प्रवृत्ति नहीं होती ।

(१३८१) पद—कालात्, ठञ् । अनुवृत्ति—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

त्सरिकम् । सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः । कथं तर्हि 'शार्वरस्य तमसो निषिद्धये' इति कालिदासः । 'अनुदितौषसरागा' इति भारविः । समानकालीनं, प्राक्कालीनमित्यादि च । 'अपभ्रंशा एवैते' इति प्रामाणिकाः । 'तत्र जातः' (सू १३९३) इति यावत्कालाधिकारः । (१३८२) श्राद्धे शरदः ४ । ३ । १२ ॥ ठञ् स्यात् । ऋत्वणोऽपवादः ।

विशेषवाचकानां च ग्रहणम्' इति 'तदस्य' परिमाणम्' 'सङ्ख्यायाः' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । तदाह—कालवाचिभ्य इति । सायंप्रातिकः पौनःपुनिक इति । 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः । 'सायञ्चिरम्' इति टयुटयुलौ तु न भवतः, 'नस्तद्धिते' इति सूत्रभाष्ये तथा प्रयोगदर्शनात् । शार्वरस्येति । शार्वरिकस्येति भाव्यमिति भावः । अनुदितौषसेति । औषसिकेति भाव्यमिति भावः । समानेति । समानकालिकं प्राक्कालिकमिति । भाव्यमित्यर्थः । प्रामाणिका इति । केचित्तु अमुकः पुरतः परेद्युरित्यादि एतेऽपि शब्दाः अव्युत्पन्नाः, पृषोदरादयो वा साधव इत्याहुः । इति यावदिति । व्याख्यानादिति भावः ।

(१३८२) श्राद्धे शरदः । ठञ् स्यादिति । शेषपूरणमिदम् । ननु 'कालाट्ठञ्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—ऋत्वण इति । 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' इति वक्ष्य-

---

मूलार्थ—काल-वाची शब्दों से 'ठञ्' हो । उदा० १–मासिकम् । २–सांवत्सरिकम् । ३–सायम्प्रातिकः । ४–पौनःपुनिकः । 'शार्वरस्य तमसो निषिद्धये' यह कालिदास का प्रयोग कैसे ठीक समझा जाय ? तथा 'अनुदितौषसरागा'–भारवि की समीचीनता कैसे मानी जाय ? एवं 'समानकालीनम्' 'प्राक्कालीनम्' इत्यादि प्रयोग कैसे ठीक समझे जायें ? प्रामाणिकों ने इन्हें अपभ्रंश ही माना है । "तत्र जातः" (१३९३) सूत्र पर्यन्त 'काल' का अधिकार है ।

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'काल' शब्द स्वरूप-परक नहीं है, किन्तु समय का बोध कराने वाले शब्दों का ग्राहक है[1] । तदनुसार "कालविशेषवाची प्रातिपदिकों से शैषिक 'ठञ्' (=इक) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—मासिकम्** (महीने में होने वाला–मासे भवम्)–मास्+ठञ् (ठ=इक), 'अ' लोप । (२) **सांवत्सरिकम्** (वर्ष में होने वाला–संवत्सरे भवम्)–संवत्सर्+ठ (ठञ्), ठ=इक, आदिवृद्धि, 'अ' लोप । (३) **सायम्प्रातिकः** (प्रातः और सायं होने वाला—सायम्प्रातर्भवः)—सायम्प्रातर्+ठ (ठञ्) > सायम्प्रात+इक ('अर्'–टि-लोप—"अव्ययानां भ-मात्रे 'टि-लोपः' वा०) > सायम्प्रातिकः (विभक्ति-कार्य) । (४) **पौनःपुनिकः** (बारबार होने वाला–पुनःपुनर्भवः)—पुनःपुनर्+ठञ् (=इक) ▷ पौनःपुनिकः (आदिवृद्धि तथा 'टि'='अर्' का लोप ।

शङ्का समाधान—कालवाचकों से अणादि प्रत्ययों का बाधकर 'ठञ्'—विधायक प्रकृत शास्त्र के रहते हुए कालिदास द्वारा प्रयुक्त अणन्त **शार्वरस्य (शार्वरस्य तमसा निषिद्धये)** एवं भारविद्वारा **औषसः (अनुदितौषसरागा)** तथा 'ख'-प्रत्ययान्त **समानकालीन एवं प्राक्कालीन** आदि प्रयोगों की साधुता कैसे मानी जाय ? भट्टोजी दीक्षित ने इन्हें अपाणिनीय कहकर अपनी अरुचि दिखलाई है ।

(१३८२) **पद**—श्राद्धे, शरदः । **अनुवृत्ति**—कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

---

१. "कालग्रहणे यथाकथञ्चिदपि कालबोधकानां ग्रहणम् । "तदस्य परिमाणम्" (५-१-५७), "संख्यायाः" (५-१-५८) इति सूत्रे यो यः काले वर्तते स कालशब्दः इति भाष्योक्तेः ।
—शब्देन्दुशेखरे नागेशः । ४-३-११ ।

शारदिकं श्राद्धम्। (१३८३) विभाषा रोगातपयोः ४।३।१३॥ शारदिकः- शारदो वा रोगः आतपो वा। एतयोः किम्? शारदं दधि। (१३८४) निशाप्रदोषाभ्यां च ४।३।१४॥ वा ठञ् स्यात्। नैशिकम्-नैशम्। प्रादोषिकम्-प्रादोषम्।

माणस्येत्यर्थः। शारदिकमिति। शरदि ऋतौ भवमित्यर्थः। शरच्छब्दस्य संवत्सरवाचित्वे तु पूर्वेणैव सिद्धम्।

(१३८३) **विभाषा रोगातपयोः**। ठञिति शरद इति चानुवर्तते। शारदं दधीति। ऋत्वणिति भावः।

(१३८४) **निशाप्रदोषाभ्यां च**। वा ठञ् स्यादिति। शेषपूरणम्। 'कालाट्ठञ्' इति नित्यं प्राप्ते विकल्पोऽयम्।

मूलार्थ—'ठञ्' हो। ऋतुवाची 'अण्' का अपवाद है। उदा० शारदिकं श्राद्धम्।

विवरण—कालार्थक शब्दों के प्रसङ्ग में "'श्राद्ध' अभिधेय होने पर 'शरद्' शब्द से शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है"। इस हेतु समग्र सूत्र "कालाट्ठञ्" (४-३-११) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'शरद्' शब्द के ऋतुवाची होने से "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्" (४-३-१६) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह अपवाद है। **उदाहरण—शारदिकं** श्राद्धम् (शरदृतु में होने वाला श्राद्ध-शरदि भवम्)—शरद्+ठ (=इक)। आदिवृद्धि। पितरों के लिये श्रद्धायुक्त समाराधन श्राद्ध कहलाता है।

(१३८३) पद—विभाषा, रोगातपयोः। **अनुवृत्ति**—शरदः, कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० शारदिकः शारदः वा—रोग अथवा आतप। 'रोगातपयोः' क्यों कहा? शारदं दधि ('ठञ्' नहीं हुआ)।

विवरण—"'रोग' तथा 'आतप' अभिधेय होने पर कालवाची 'शरद्' शब्द से शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है"। पक्ष में "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्" (४-३-१६) से 'अण्' प्रत्यय होगा। **उदाहरण**—(क) **शारदिकः**—रोगः आतपः वा (शरदृतु में होने वाला रोग या घाम) शरद्+ठ (ठञ्), इकादेश तथा आदिवृद्धि। (ख) **शारदः** रोगः आतपः वा—शरद्+अ (अण्), आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य।

प्रत्युदाहरण—'रोग' तथा 'आतप' अर्थ से भिन्न अभिधेय होने पर **शारदं** दधि (शरदृतु का दही) में केवल 'अण्' ही हुआ।

(१३८४) पद—निशाप्रदोषाभ्याम्, च। **अनुवृत्ति**—विभाषा, कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विकल्प से 'ठञ्' हो। उदा० १–नैशिकम्—नैशम्। २–प्रादोषिकम्–प्रादोषम्।

विवरण—"कालविशेष-वाची 'निशा' तथा 'प्रदोष' शब्दों से भी विकल्प से 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। "कालाट्ठञ्" (४-३-११) से नित्य 'ठञ्' की प्राप्ति में यह विकल्प है। पक्ष में "प्राग्दीव्यतोऽण्" (४-१-८३) अधिकार होने से 'अण्' ही होगा। **उदाहरण**—(१) **नैशिकम्** (रात्रिसम्बन्धी—निशायां भवम्)—निशा+ठ (=इक), आदिवृद्धि तथा 'आ' लोप। **नैशम्**—निशा+अण्। 'आ' लोप तथा आदिवृद्धि। (२) **प्रादोषिकम्**→'ठञ्' होने पर–प्रदोष+ठञ् (=इक)। **प्रादोषम्**←'अण्' होने पर। प्रदोष+अण्। शेष कार्य पूर्ववत्। **अर्थ**—प्रदोष-काल में होने वाला—प्रदोषे भवम्।

(१३८५) श्वसस्तुट् च ४ । ३ । १५ ॥ श्वस्शब्दाट्ठञ् वा स्यात्, तस्य तुडागमश्च ।
(१३८६) द्वारादीनां च ७ । ३ । ४ ॥ द्वार, स्वर, (स्वाध्याय, स्वग्राम), व्यल्कश, स्वस्ति, स्वर्, स्फ्यकृत्, स्वादु, मृदु, श्वस्, श्वन्, स्व–एषां न वृद्धिरैजागमश्च । शौव-

---

(१३८५) श्वसस्तुट् च । तस्येति । प्रत्ययस्येत्यर्थः । तुटि टकार इत् । उकार उच्चारणार्थः ।

(१३८६) द्वारादीनां च । 'न य्वाभ्याम्' इति सूत्रे पदान्ताभ्यामितिवर्जमनुवर्तते, 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरिति च । तदाह—एषां न वृद्धिरैजागमश्चेति । द्वारादीनां नादिवृद्धिः किन्तु यकारवकाराभ्यां पूर्वौ ऐजागमौ स्त इत्यर्थः । अत्र यकारवकारयोरपदान्तत्वात् 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्' इत्यप्राप्ते वचनमिदम् । शौवस्तिकमिति । श्वस् इत्यव्ययात् जाताद्यर्थे ठञि इकादेशे तुडागमे वकारात्पूर्वमैजागमेन औकारः । अकारस्य न वृद्धिः ।

(१३८५) पद—श्वसः, तुट्, च । **अनुवृत्ति**—विभाषा, कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'श्वस्' शब्द से वैकल्पिक 'ठञ्' हो तथा उसे 'तुट्' आगम भी हो ।

विवरण—"काल-विशेष-वाची 'श्वस्' शब्द के सम्बन्ध में वैकल्पिक 'ठञ्' प्रत्यय एवं उस प्रत्यय को 'तुट्' (त) आगम का भी विधान बतलाया जा रहा है" । विधान की वैकल्पिकता हेतु आसन्नवर्ती सूत्र "विभाषा रोगातपयोः" (४-३-१३) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ भी प्रभावी हैं । उदाहरण आगे के सूत्र में दिया जा रहा है ।

(१३८६) पद—द्वारादीनां, च । **अनुवृत्ति**—न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'द्वार' आदि शब्दों को वृद्धि न हो, किन्तु 'ऐच्' आगम होता है । उदा० शौवस्तिकम् ।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है । सप्तमाध्याय में पठित है । 'कित्' 'ञित्' तथा 'णित्' तद्धित-प्रत्ययों के सन्दर्भ में आदिवृद्धि के निषेध-प्रकरण में यह सूत्र पढ़ा गया है । अतः "न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" (७-३-३) सूत्र से पदान्तातिरिक्त अन्य पद—'न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' अनुवर्तमान हैं । "मृजेर्वृद्धिः" (७-२-११४) से 'वृद्धि' पद की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है । नैमित्तिक एवं आधिकारिक अनुवृत्तियाँ भी प्रभावी हैं । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'द्वार' इत्यादि शब्दों के यकार एवं वकार से उत्तर भी 'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' तद्धित-प्रत्ययों के परवर्ती होने पर अङ्ग के अचों में 'आदि अच्' को वृद्धि नहीं होती, किन्तु यकार-वकार से पूर्व 'ऐच्' आगम तो होता ही है" । **उदाहरण**—**शौवस्तिकम्** (जो बीते हुए कल हुआ हो-श्वस् भवम्)—श्वस्+त-ठञ् (=इक) ("श्वसस्तुट् च" ४-३-१५ से 'ठञ्' तथा 'तुट्' आगम) > श्-औ-वस्+त-इक > शौवस्तिकम् ('व्' से पूर्व 'औ' आगम एवं 'अ' को आदिवृद्धि-निषेध) ।

विशेष—(१) द्वारादि-गण में मूलोक्त ११ शब्द हैं । उनके अन्तर्गत 'श्वस्' अव्यय भी है ।

(२) "न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्०" (७-३-३) सूत्र में पदान्त, यकार-वकार से उत्तर-वर्ती कहा गया है, 'अपदान्त' के लिये इस सूत्र का आरम्भ है ।

स्तिकम् । (१३८७) सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् ४ । ३ । १६ ॥ सन्धिवेलादिभ्यः ऋतुभ्यो नक्षत्रेभ्यश्च कालवृत्तिभ्योऽण् स्यात् । सन्धिवेलायां भवं सान्धिवेलम् । ग्रैष्मम् । तैषम् । सन्धिवेला, सन्ध्या, अमावास्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पौर्णमासी, प्रतिपत् । 'संवत्सरात्फलपर्वणोः' (ग सू ९२) । सांवत्सरं फलं, पर्व वा । सांवत्सरिकमन्यत् । (१३८८) प्रावृष एण्यः ४ । ३ । १७ ॥ प्रावृषेण्यः । (१३८९) वर्षाभ्यष्ठक्

(१३८७) सन्धिवेला । कालवृत्तिभ्य इति । 'कालाट्ठञ्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । ठञोऽपवादः । तैषमिति । तिष्ये भवादीत्यर्थः । 'तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि' इति यलोपः । तिष्ये जात इत्यर्थे 'श्रविष्ठाफल्गुनी' इति लुग्वक्ष्यते । सन्धिवेलादिगणं पठति- सन्धिवेलेत्यादि । संवत्सरात्फलपर्वणोरिति । गणसूत्रमिदम् ।

(१३८८) प्रावृष एण्यः । ऋत्वणोऽपवादः । प्रावृषेण्य इति । प्रावृट् वर्षर्तुः । तत्र भवादिरित्यर्थः । जाते तु ठप् वक्ष्यते । प्रक्रियालाघवार्थं णकारोच्चारणम् ।

(१३८७) पद—सन्धि-वेला-ऋतु-नक्षत्रेभ्यः, अण् । अनुवृत्ति—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—कालवृत्ति सन्धिवेलादि एवं ऋतुवाचक तथा नक्षत्रवाची शब्दों से 'अण्' होता है। उदा० १-सन्धिवेलायां भवम्—सान्धिवेलम् । २-ग्रैष्मम् । ३-तैषम् । सन्धिवेला, सन्ध्या, अमावास्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पौर्णमासी, प्रतिपद् । ग० सू० फल तथा पर्व अर्थ में 'संवत्सर' से ('अण्' हो)। उदा० सांवत्सरम्-फल अथवा पर्व । अन्यत्र—सांवत्सरिकम् ।

विवरण—कालवाची शब्दों का ही विषय है। तदनुसार "कालविशेषवाची सन्धिवेलादिगण-पठित शब्दों तथा ऋतुवाची एवम् नक्षत्रवाची शब्दों से 'अण्' प्रत्यय होता है"। यह विधान "कालाट्ठञ्" (४-३-११) का अपवाद है। क्रमशः **उदाहरण**—१-**सान्धिवेलम्** (सन्धिवेला अर्थात् सन्ध्या में होने वाला-सन्धिवेलायां भवम्)—सन्धिवेल्+अ (अण्)—आदिवृद्धि तथा 'आ' लोप। ऋतुवाची—२-**ग्रैष्मम्** (गर्मी का—ग्रीष्मे भवम्)-ग्रीष्म+अ (अण्)—आदिवृद्धि, 'अ' लोप। नक्षत्रवाची—३-**तैषम्** (पुष्य में उत्पन्न-तिष्ये भवम्)-तिष्य्+अ (अण्)—आदिवृद्धि, 'अ' लोप तथा 'य्'-लोप-'तिष्यपुष्ययोः नक्षत्राणि०' (वा०)। **गणसूत्र**—कालवाची '**संवत्सर**' शब्द से फल तथा पर्व अर्थ अभिधेय होने पर 'अण्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—**सांवत्सरम्** (वर्ष में होने वाला फल या पर्व—संवत्सरे भवम्)—संवत्सर्+अ (अण्)—आदिवृद्धि, 'अ'लोप।

विशेष—(१) सन्धिवेलादिगण में ८ शब्द पढ़े गये हैं। उनमें से 'पौर्णमासी' शब्द से 'छ' प्रत्यय प्राप्त रहा। सूत्र में 'अण्' ग्रहण से उसका बाध होता है। अन्यथा सन्धिवेलादि से 'यथा-विहित' कथन होने पर यद्यपि विधान-सामर्थ्य से 'ठञ्' तो नहीं होगा, तथापि सन्धिवेलादि-गण में पठित **पौर्णमासी** शब्द से एवम् **स्वाति** आदि शब्दों से 'छ' ("वृद्धाच्छः ४-२-११४) प्रत्यय होने लगेगा। तथापि पुनः कथन के प्रभाव से केवल 'ठञ्' का ही बाध होगा न कि 'पौर्णमासी' शब्द से प्राप्त 'छ' का। अतः उसका निवारण करने के लिये सूत्र में साक्षात् 'अण्' पद का निवेश करना उपयुक्त है[1]।

---

१. "अथ 'अण्' ग्रहणं किमर्थम्? यथाविहितमेवोच्येत। तेनैवमुच्यमाने न प्राप्नोतीत्याशङ्कनीयम्। यदि ठञ् स्यात् पुनर्वचनमनर्थकं स्यात्। तस्माद्वचनप्रामाण्यात् यो विहितो न स प्राप्नोति। 'ठञ्' प्रत्ययेन बाधितत्वात् स एव भविष्यति, स च अण् च? सन्धिवेलादिषु 'पौर्णमासी' शब्दो वृद्धः पठ्यते। स्वातिरिति नक्षत्रशब्दो वृद्धोऽस्ति। ताभ्यां परत्वात् ठञा छे बाधिते पुनर्वचनात् 'छ' एव स्यात्। तस्मात्तमपि बाधित्वा वृद्धादणेव यथा स्यादित्येवमर्थं पुनरण्ग्रहणम्"।
—न्यासः।

४।३।१८॥ वर्षासु साधु वार्षिकं वासः। 'कालात्साधुपुष्प्यत्पच्यमानेषु' (सू १४१८) इति साध्वर्थे। (१३९०) सर्वत्राण्च तलोपश्च ४।३।२२॥ हेमन्तादण् स्यात्त-लोपश्च वेदलोकयोः। चकारात्पक्षे ऋत्वण्। हैमनम्—हैमन्तम्। (१३९१) सायंचिरं-

---

(१३८९) वर्षाभ्यष्ठक्। तृतीयतौ वर्षाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः 'अप्सुमनः-समा-सिकतावर्षाणां बहुत्वम्' इति लिङ्गानुशासनसूत्रात्। 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः' इत्यमरः। वर्षाशब्दाज्जाताद्यर्थे ठगित्यर्थः। वर्षासु साध्विति। हितकारीत्यर्थः। ननु 'तत्र साधुः' इति साध्वधिकारस्य शेषाधिकारबहिर्भूतत्वात्कथं साध्वर्थेऽयं प्रत्यय इत्यत आह—कालादिति। साध्वर्थे इति। साध्वर्थेऽपि ठगित्यर्थः। अस्य जाताद्यर्थेषु शैषिकेष्वन्तर्भावादिति भावः।

(१३९०) सर्वत्राण्च। छन्दसीत्यनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थं सर्वत्र ग्रहणम्। लोके वेदे चेत्यर्थः। 'हेमन्ताच्च' इति पूर्वसूत्रात् हेमन्तादित्यनुवर्तते। तदाह—हेमन्तादित्यादिना। ननु 'सर्वत्राण् तलोपश्च' इत्येव सिद्धे प्रथमचकारो व्यर्थं इत्यत आह—चकारादिति। हैमनमिति। हेमन्तेत्यत्र तकारात्प्राक् नकारस्यानुस्वारपरसवर्णौ स्थितौ। तत्र तकाराकार-समुदायस्य लोप इति पक्षे अनिधि प्रकृतिभावान्न टिलोपः। तकारस्यैव लोप इति पक्षे तु

(१३८८) पद—प्रावृषः, एण्यः। अनुवृत्ति—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० प्रावृषेण्यः।

विवरण—"कालवाची 'प्रावृष्' प्रातिपदिक से शैषिक 'एण्य' प्रत्यय होता है"। 'प्रावृष्' शब्द ऋतुवाची है, अतः पूर्वसूत्र (१३८७) से 'अण्' प्राप्त था। उसका यह अपवाद है। उदाहरण—प्रावृषेण्यः (वर्षा में होने वाला—प्रावृषि भवः)—प्रावृष्+एण्य।

(१३८९) पद—वर्षाभ्यः, ठक्। अनुवृत्ति—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० वर्षा में उपयोगी वस्त्र अर्थ में—वार्षिकं वासः।

विवरण—"वर्षा प्रातिपदिक से शैषिक 'ठक्' प्रत्यय होता है"। यह सूत्र "सन्धिवेलाद्यृतु-नक्षत्रेभ्योऽण्" ४-३-१६ का अपवाद है। इस सूत्र में बहुवचन-निर्देश से ऋतुवाची 'वर्षा' शब्द की बहुवचनान्तता विदित होती है। उदाहरण—वार्षिकं वासः (वर्षा में उपयोगी वस्त्र—वर्षासु साधु)-वर्षा+ठ (ठक्) > वर्षा+इक > वार्षिकम् ('आ' लोप, आदिवृद्धि)।

विशेष—यद्यपि "तत्र साधुः" (४-४-९८) सूत्र 'शेषे' अधिकार के अन्तर्गत नहीं है, तथापि यहाँ "कालात् साधुपुष्प्यत्पच्यमानेषु" (४-३-४३) से विवक्षित 'साधु' अर्थ "शेषे" अधिकार के अन्तर्गत ही है।

(१३९०) पद—सर्वत्र, अण्, च, तलोपः, च। अनुवृत्ति—हेमन्तात्, ठञ्, कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—लोक एवं वेद में 'हेमन्त' शब्द से 'अण्' हो तथा 'त्' का लोप भी हो। (सूत्र में) 'च' ग्रहण करने से पक्ष में 'अण्' (भी होगा)। उदा० हैमनम्—हैमन्तम्।

विवरण—इसके पूर्व अष्टाध्यायी क्रम में तीन सूत्र वैदिक प्रक्रियोपयोगी होने के कारण यहाँ नहीं दिये गए हैं। किन्तु प्रकृत सूत्र में उद्देश्यवाची पद के अभाव में इससे पूर्व सूत्र "हेमन्ताच्च" (४-३-२१) से 'हेमन्त' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'सर्वत्र' पद लोक एवं वेद—दोनों का बोधक है। दूसरे विधेयवाची 'ठञ्' (प्रत्यय) का लाभ भी "छन्दसि ठञ्" (४-३-१९) से अनुवृत्ति द्वारा होता है। शेष अनुवृत्तियाँ भी यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार

प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युटयुलौ तुट् च ४।३।२३॥ सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युटयुलौ स्तः, तयोस्तुट् च। तुटः प्रागनादेशः 'अनद्यतने'-(सू २१८५) इत्यादि निर्देशात्। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णप्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते। प्राह्णे-

---

अकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे तस्य आभीयत्वेनासिद्धत्वात् स्थानिवत्त्वाद्वा न टिलोपः। हैमन्तमिति। ऋत्वणि रूपम्। अत्र न तलोपः, तस्य एतत्सूत्रप्रतिपदोक्तानां सन्नियोगशिष्टत्वादिति भावः।

(१३९१) सायञ्चिरम्। चतुर्भ्य इति। सायं चिरं प्राह्णे प्रगे इत्येभ्यः इत्यर्थः। कालवाचिभ्य इति। 'कालाट्ठञ्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। तयोरिति। ट्यु-ट्युलोरित्यर्थः। ननु सायन्तनमित्यादौ कथं योरनादेशः। 'युवोरनाकौ' इति ह्यङ्गाधिकारस्थम्। अङ्गात्परयोः यु वु इत्येतयोरनाकौ विधीयेते। प्रकृते च अन्तरङ्गत्वात्तुटि यु इत्यस्य अङ्गात्परत्वाभावादनादेशो न सम्भवति। न च 'यदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इति न्यायेन त्यु इत्यस्यापि युग्रहणेन ग्रहणात्तस्याङ्गात् परत्वं निर्बाधमिति वाच्यम्, 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषया योरेवाऽनादेशाप्राप्तेः। तस्य च तुटा व्यवहितत्वादङ्गात्परत्वाभावादित्यत आह—तुटः प्रागनादेश इति। कुत इत्यत आह—अनद्यतने इत्यादिनिर्देशादिति। आदिना 'घकालतनेषु' इत्यत्र तनेति ग्राह्यम्। सायन्तनमिति। 'षो अन्तकर्मणि' इति धातोर्घञि सायशब्दो दिवसावसाने रूढः। तस्मात् ट्युटयुलौ, तयोरनादेशे

"'हेमन्त' प्रातिपदिक से वैदिक तथा लौकिक प्रयोगों में 'अण्' तथा 'ठञ्' प्रत्यय होते हैं तथा उस 'अण्' प्रत्यय के परवर्ती होने पर 'हेमन्त' शब्द के 'त'कार का लोप भी होता है"। **उदाहरण—हैमनम्**→'अण्' होने पर—हेमन्त+अ>हेमन्त् +अ ('अ' का लोप) > हेमन ('त' लोप) > हैमनम् (आदिवृद्धि)। **हैमन्तिकम्**←'ठञ्' होने पर (हेमन्त्+इक) 'अ' लोप एवम् आदिवृद्धि)।

विशेष—पक्ष में (सूत्रस्थ 'च' शब्द से) ऋतुवाची 'अण्' प्रत्यय होने पर 'त' का लोप नहीं होगा, क्योंकि 'त' लोप का विधान प्रतिपदोक्त "सर्वत्राण् च तलोपश्च" (४-३-२२) से विहित 'अण्' के सन्नियोग में ही होता है।

(१३९१) **पद**—सायं···अव्ययेभ्यः, ट्यु-ट्युलौ, तुट्, च। **अनुवृत्ति**—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'सायम्' इत्यादि चार तथा अन्य कालवाची अव्ययों से 'ट्यु' और 'ट्युल' प्रत्यय होते हैं और उन्हें 'तुट्' आगम भी होता है। 'अनद्यतन' निर्देश से 'तुट्' के पहले ही 'अन' आदेश हो जाता है। उदा० १–सायन्तनम्। २–चिरन्तनम्। 'प्राह्ण' एवं 'प्रग' को एकारान्त का निपातन है। ३–प्राह्णेतनम्। ४–प्रगेतनम्। ५–दोषातनम्। ६–दिवातनम्। वा० चिर, परुत्, और परारि से 'त्न' प्रत्यय कहा जाय। उदा० १–चिरत्नम्। २–परुत्नम्। ३–परारित्नम्। वा० अग्र, आदि तथा पश्च से डिमच् प्रत्यय हो। उदा० १–अग्रिमम्। २–आदिमम्। ३–पश्चिमम्। वा० अन्त से भी ('डिमच्' प्रत्यय हो)। उदा० अन्तिमम्।

विवरण—कालवाची शब्दों का ही विषय है। अतः "कालाट्ठञ्" (४-३-११) का प्रमुख प्रभाव विद्यमान है। अतः "कालवाची 'सायम्', 'चिरम्', 'प्राह्णे' एवं 'प्रगे' तथा 'अव्ययवाची' प्रातिपदिकों से 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' प्रत्यय होते हैं और इन प्रत्ययों को 'तुट्' (=त्) आगम भी होता है"। यह 'तुट्' आगम "अनद्यतने लङ्" (३-२-१११) आदि सूत्रस्थ 'अनद्यतन' प्रयोग के कारण 'यु' के स्थान पर 'अन' आदेश ("युवोरनाकौ" ७-१-१) होने के बाद होता है। अन्यथा प्रकृत

तनम्। प्रगेतनम्। दोषातनम्। दिवातनम्। 'चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः' (वा २८४२)। चिरत्नम्। परुत्नम्। परारित्नम्। 'अग्रादिपश्चाड्डिमच्' (वा २८४४) अग्रिमम्। आदिमम्। पश्चिमम्। 'अन्ताच्च' (वा २८४५) अन्तिमम्। (१३९२)

तुट्, प्रकृतेर्मान्तत्वं निपात्यते। यत्तु सायमिति स्वरादिपठितमव्ययं, तस्याव्ययत्वादेव ट्युट्युलौ सिद्धौ। चिरन्तनमिति। अत्रापि प्रकृतेर्मान्तत्वं निपात्यते। अस्मादेव लिङ्गाच्चिरमित्यस्याव्ययेषु पाठः अप्रामाणिक इति गम्यते। प्राह्णेतनमिति। प्राह्णः सोढोऽस्येति विग्रहः, 'तदस्य सोढम्' इत्यर्थस्य निर्देक्ष्यमाणत्वात्। प्राह्णे जातः इत्याद्यर्थे तु 'घकालतनेषु' इति अलुकैव एदन्तत्वं सिद्धम्। प्रगेतनमिति। प्रगच्छतीति प्रगः, तस्मिन् जातादिरित्यर्थः। यत्तु प्रगे इत्यव्ययमेदन्तं प्रातरित्यर्थे तस्य त्वव्ययत्वादेव सिद्धम्। अव्ययेभ्य उदाहरति—दोषातनमिति। दोषेत्याकारान्तमव्ययं रात्रौ। दिवातनमिति। दिवेत्याकारान्तमव्ययमह्नि। चिरपरुदिति। चिर, परुत्, परारि—एभ्यः 'त्न' प्रत्यय इत्यर्थः। चिरत्नमिति। ट्युट्युलोरेव प्राप्तयोर्वचनम्। त्नप्रत्ययपक्षे मान्तत्वं न भवति, ट्युट्युल्भ्यां तस्य सन्नियोगशिष्टत्वात्। परुदिति परारीति चाव्ययं पूर्वस्मिन् पूर्वतरे च वत्सरे क्रमाद्वर्तते। अग्रादीति। वार्तिकमिदम्। अग्र, आदि, पश्चात् एभ्यः डिमच् स्यादित्यर्थः। पश्चिममिति। 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः। अन्ताच्च। इदमपि वार्तिकम्।

निर्देश का अनाश्रयण करने पर 'तुट्' आगम होने से—'अङ्गसंज्ञानिमित्त जो यु'—इस अर्थ की संगति न होने के कारण ('भृत्यु' शब्द के समान) 'अन' आदेश असम्भव हो जाता। तथा 'अनघस्यु' (अनिष्ट) रूप बनने लगता। अन्तरङ्ग-परिभाषा की अनित्यता के कारण भी अनादेश के पूर्व 'तुट्' आगम की प्रवृत्ति नहीं की जाती। सूत्रकार के मत में 'सायम्' तथा 'चिरम्' शब्द 'घञ्' प्रत्ययान्त होने के साथ ही इन दोनों प्रत्ययों के योग में मकारान्त निपातित हैं। किन्तु भाष्यकार ने 'सायं' तथा 'चिरं' शब्दों का अव्यय में पाठ होने से प्रकृत सूत्र में उनकी उपयोगिता पर अरुचि ही दिखाई है। इन दोनों शब्दों के अतिरिक्त 'प्राह्ण' और 'प्रग' शब्दों को एकारान्त निपातन किया है। यह एकारान्त निपातन 'प्राह्णः सोढः अस्य' इस विग्रह में 'प्राह्णेतन' आदि शब्दों के लिये आवश्यक है। सप्तम्यन्त से 'जात' आदि अर्थ में निष्पन्न 'प्राह्णेतन' शब्द में "घकालतनेपु कालनाम्नः" (६-३-१७) सूत्र से सप्तमी विभक्ति का 'अलुक्' माना जा सकता है। **उदाहरण**—(१) **सायन्तनम्** (दिन के अन्त में हुआ—सायम् भवम् आदि)—सायम्+ट्यु या ट्युल् > सायम्+अन (यु=अन) > सायम्+त्+अन > ('तुट्' आगम) सायंतन (म्=अनुस्वार) > सायन्तनम् (परसवर्ण) (२) **चिरन्तनम्** (पुराना-चिरं भवम्)। प्रक्रिया—'अन' तथा 'तुट्' आदि कार्य पूर्ववत्। ३—**प्राह्णेतनम्** (दिन के पहले प्रहर में हुआ—प्राह्णे भवम्) प्रक्रिया पूर्ववत्। (४) **प्रगेतनम्** (बहुत सबेरे होने वाला—प्रगे जातम्)। प्रक्रिया पूर्ववत्। अव्ययवाची शब्द—(५) **दोषातनम्** (रात में होने वाला दोषा भवम्)—दोषा+यु>दोषा+अन >दोषा-त्+अन > दोषातनम्। (६) **दिवातनम्** (दिन में होने वाला-दिवा भवम्)। प्रक्रिया पूर्ववत्।

कुछ अन्य अव्ययों से इनके अतिरिक्त प्रत्ययों के विधान करने के लिये वार्तिक उद्धृत किये जा रहे हैं। तदनुसार 'चिर' 'परु' तथा 'परारि' अव्ययों से जातादि अर्थ में 'त्न' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—(१) **चिरत्नम्** (प्राचीन काल का—चिरकाले भवम्)—चिर+त्न। 'त्न' प्रत्यय होने पर मकारान्त निपातन नहीं होता। (२) **परुत्नम्** (गत वर्ष का—परुद् भवम्)—परुत्+त्न। 'त्' का लोप—"झरो झरि सवर्णे" (८-४-६५)। (३) **परारित्नम्** (गत वर्ष के पहले वर्ष का-परारि भवम्)—परारि+त्न। दूसरे वार्तिक द्वारा अग्र, आदि तथा

विभाषापूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् ४ । ३ । २४ ॥ आभ्यां ट्युटयुलौ वा स्तः, तयोस्तुट् च । पक्षे ठञ् । पूर्वाह्णेतनम् । अपराह्णेतनम् । 'घकालतनेषु—' (सू ९७५) इत्यलुक् । पूर्वाह्णः सोढोऽस्येति विग्रहे तु पूर्वाह्णतनम् । अपराह्णतनम् । पौर्वाह्णिकम् । आपराह्णिकम् । (१३९३) **तत्र जातः** ४ । ३ । २५ ॥ सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घाद-

---

(१३९२) विभाषा पूर्वाह्ण । पक्षे ठञिति । तथा सति न तुट्, तस्य ट्युट्युलभ्यां सन्नियोगशिष्टत्वादिति भावः । तदेवं 'राष्ट्रावार' इत्यारभ्य एतदन्तैः सूत्रैः राष्ट्रादिप्रकृतिविशेषेभ्यः घादयः प्रत्ययविशेषाः अनुक्रान्ताः ।

अथ तेषां प्रत्ययानामर्थविशेषान् प्रकृतीनां च विभक्तिविशेषान् दर्शयितुमुपक्रमते—(१३९३) तत्र जातः । सप्तमीसमर्थादिति । सप्तम्यन्तात्कृतसन्धेरित्यर्थः । तत्रेत्यनेन

पश्चात् शब्दों से डिमच् प्रत्यय का विधान कहा गया है। उदाहरण—(१) **अग्रिमम्** (आगे का अग्रे भवम् । अग्र्+इम (डिमच्) > अग्रिमम ('टि' लोप) । (२) **आदिमम्** (प्रारम्भ का—आदौ भवम्)—आदि+इम । (३) **पश्चिमम्** (पीछे का—पश्चाद् भवम्)—पश्च्आत्+इम ('टि'='आत्' लोप) । तीसरे वार्तिक द्वारा अन्त शब्द से भी 'डिमच्' प्रत्यय कहा गया है। उदाहरण—**अन्तिमम्** (अन्त का—अन्ते भवम्)—अन्त्+इम । 'टि' लोप ।

विशेष—(१) 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' दोनों प्रत्ययों में रूपसाम्य होने पर भी स्वर में भेद होता है। 'ट्युल्' में 'ल्' इत् होने के कारण "लिति" (६-१-१९३) से प्रत्यय से पूर्व वर्ण को उदात्त ।
(२) 'डिमच्' प्रत्यय भी 'च्' इत्संज्ञक होने के कारण "चितः" (६-१-१६३) से अन्तोदात्त होता है।

(१३९२) **पद**—विभाषा, पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् । **अनुवृत्ति**—ट्यु-ट्युलौ, तुट्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे 'ट्यु'-'ट्युल्' विकल्प से हों तथा 'तुट्' आगम भी हो। पक्ष में 'ठञ्' । उदा० १—पूर्वाह्णेतनम् । २—अपराह्णेतनम् । १—पौर्वाह्णिकम् । २—आपराह्णिकम् । 'घकालतनेषु०' (सू० ९७५) से सप्तमी का अलुक् । 'पूर्वाह्णः सोढः अस्य' विग्रह में पूर्वाह्णतनम् । अपराह्णतनम् । १-पौर्वाह्णिकम् । २—आपराह्णिकम् ।

विवरण—सूत्रोक्त दो स्थलों पर पूर्वोक्त 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' प्रत्ययों का पाक्षिक विधान (विभाषा) किया जा रहा है। अतः विधेयांश की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। तदनुसार "कालवाची 'पूर्वाह्ण' तथा 'अपराह्ण' शब्दों से विकल्प से शैषिक 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' प्रत्यय होते हैं तथा उनको 'तुट्' (=त्) आगम भी होता है"। पक्ष में "कालाट्ठञ्" (४-३-११) से 'ठञ्' भी होगा। 'अहन्' को 'अह्न' आदेश "अह्नोऽह्न एतेभ्यः" (५-४-८८) से तथा "अह्नोऽदन्तात्" (८-४-७) से 'अह्न' के 'न्' को 'ण्' आदेश होगा। "घ-काल-तनेषु" (६-३-१६) से विग्र ह्रस्व सप्तमी का अलुक् हुआ। उदाहरण—(१) **पूर्वाह्णेतनम्** (दोपहर के पहले का—पूर्वाह्णेजातम्)—पूर्वाह्णे+यु (सप्तमी विभक्ति का अलुक्) > पूर्वाह्णे+त्-अन (यु=अन तथा 'तुट्') > पूर्वाह्णेतनम् । 'ठञ्' होने पर—**पौर्वाह्णिकम्** (दोपहर के पहले का—पूर्वाह्णे साधु)—पूर्वाह्ण+ठञ् > पूर्वाह्ण्+इक > पौर्वाह्णिकम् ।

विशेष—(१) अह्नः पूर्वः—पूर्वाह्णः, स सोढः अस्य—इस विग्रह में **पूर्वाह्णतनम्** एवम् अह्नः अपरः अपराह्णः, स सोढः अस्य **अपराह्णतनम्** रूप होंगे, क्योंकि यहाँ विग्रह में सप्तमी विभक्ति नहीं है। अतः उसके 'अलुक्' होने का प्रश्न नहीं उठता ।

(२) शैषिक प्रत्ययों का विवरण यहाँ समाप्त होता है। अब आगे उन प्रत्ययों के अर्थ-विशेष तथा प्रकृतियों की विशेष विभक्तियों के सम्बन्ध में निर्वचन किया जारहा है।

यश्च स्युः। स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः। अवारपारीणः इत्यादि।
(१३९४) प्रावृषष्ठप् ४।३।२६॥ एण्यस्यापवादः। प्रावृषि जातः प्रावृषिकः।
(१३९५) संज्ञायां शरदो वुञ् ४।३।२७॥ ऋत्वणोऽपवादः। शारदकाः दर्भ-

---

सप्तम्यन्तस्यैव प्रथमानिर्दिष्टत्वादिति भावः। अणादय इति। अपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणा इत्यर्थः। घादय इति। 'राष्ट्रावारपार' इत्यादिभिः विशेषविहिता इत्यर्थः।

(१३९४) प्रावृषष्ठप्। ठपः पित्त्वम्। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इति स्वरार्थम्। एण्यस्येति। 'प्रावृष एण्यः' इति विहितस्येत्यर्थः। एवं च 'प्रावृष एण्यः' इति सूत्रं जातादन्यार्थमिति पर्यवस्यति।

(१३९५) सञ्ज्ञायां शरदो वुञ्। सञ्ज्ञायामित्येतत् 'कृतलब्धक्रीत' इत्येतत्पर्यन्तमनुवर्तत इति केचिदिति वृत्तिकृतः।

(१३९३) पद—तत्र, जातः। अनुवृत्ति—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'सप्तमी' समर्थ से 'जातः' अर्थ में अणादि एवम् घादि प्रत्यय होते हैं। उदा० स्रुघ्ने जातः—१–स्रौघ्नः। २–औत्सः। ३–राष्ट्रियः। ४–अवारपारीणः–इत्यादि।

विवरण—सूत्रस्थ 'तत्र' पद अर्थ-निर्देशक है। उसका अभिप्राय यहाँ 'सप्तमी' विभक्ति से है। तथा 'जातः' पद 'उत्पन्न हुआ' अर्थ का वाचक है। अतः "सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से 'जातः' अर्थ में यथाविहित अपत्यादि विकारान्तार्थ 'अण्' आदि तथा विशेषविहित 'घादि' प्रत्यय होंगे"। उदाहरण—(१) स्रौघ्नः (स्रुघ्न[1] नगर में उत्पन्न—स्रुघ्ने जातः)—स्रुघ्न+अण् ("प्राग्दीव्यतोऽण्" ४-१-८३)। (२) औत्सः (उत्स=झरने में उत्पन्न—उत्से जातः)—उत्स+अञ् ("उत्सादिभ्योऽञ्" ४-१-८६)। (३) राष्ट्रियः (राष्ट्र में उत्पन्न—राष्ट्रे जातः)—राष्ट्र+घ=(=इय—"राष्ट्रावारपाराद् घ-खौ"—४-२-९३)। (४) अवारपारीणः (दोनों तटों पर उत्पन्न—अवारपारे जातः)—अवारपार+ख=ईन।

(१३९४) पद—प्रावृषः, ठप्। अनुवृत्ति—तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'एण्य' का अपवाद है। उदा० प्रावृषि जातः—प्रावृषिकः।

विवरण—"'जातः' अर्थ में 'सप्तमी'-समर्थ 'प्रावृष्' प्रातिपदिक से 'ठप्' प्रत्यय हो"। सामान्यतया "प्रावृष एण्यः" (४-३-१७) सूत्र से शैषिक एण्य प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह बाधक है। अतः 'जात' अर्थ में 'ठप्' होगा तथा 'भव' आदि अर्थों में 'एण्य' होगा। उदाहरण—प्रावृषिकः (वर्षा ऋतु में उत्पन्न—प्रावृषि जातः)—प्रावृष्+ठ=इक। 'प्' इत् स्वरार्थ है।

(१३९५) पद—संज्ञायाम्, शरदः, वुञ्। अनुवृत्ति—तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'ऋत्वण्' का अपवाद है। उदा० शारदकाः—दर्भविशेष या मूँग का एक भेद।

विवरण—'तत्र जातः' का ही विषय है। अतः "'शरद्' प्रातिपदिक से 'जात' अर्थ में संज्ञा के विषय में 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। यह विधान ऋतु-सम्बन्धी 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण—शारदकाः (शरद् ऋतु के कुश या मूँग—शरदि जाताः)—शरद्+वु (=अक)। आदिवृद्धि।

---

१. 'स्रुघ्न' नगर थानेश्वर से दक्षिणपश्चिम लगभग ५० मील पर स्थित वर्तमान सुग्घ नाम से जाना जाता है।

विशेषाः, मुद्गविशेषाश्च । (१३९६) उत्तरपदस्य ७ । ३ । १० ।। अधिकारोऽयम् । 'हनस्तः—' (सू २५७४) इत्यस्मात्प्राक् । (१३९७) अवयवादृतोः ७ । ३ । ११ ।। अवयववाचिनः पूर्वपदादृतुवाचिनोऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति किति च तद्धिते परे । पूर्ववार्षिकः । अपरहैमनः । अवयवात् किम् ? पूर्वासु वर्षासु भवः—पौर्ववार्षिकः । 'ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवानाम्' (वा ५६०) इति तदन्तविधिः सर्वत्र । इह तु न, अव-

---

(१३९६) उत्तरपदस्य । अधिकारोऽयमिति । सप्तमे आदिवृद्धिप्रकरणे एतदादि-सूत्राणि ।

(१३९७) अवयवादृतोः । पूर्वपदादिति । परस्येति शेषः । ऋतुवाचिन इति । उत्तरपदस्येति शेषः । पूर्ववार्षिक इति । ऋतुविशेषे वर्षाशब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तः । वर्षाणां पूर्वं पूर्ववर्षाः, तत्र जाव इत्यर्थः । 'पूर्वापराधरोत्तरम्' इत्येकदेशिसमासः । अपरहैमन इति । हेमन्तस्यापरम् अपरहेमन्तः । तत्र जातादिरित्यर्थः । एकदेशिसमासः । 'सर्वत्राण्च तलोपश्च' इत्यण्, तलोपश्च, उत्तरपदादिवृद्धिः । पूर्वासु वर्षास्विति । 'तद्धितार्थे' इति समासः । आदिवृद्धिरेव न तूत्तरपदादिवृद्धिः, पूर्वपदस्य अवयववृत्तित्वाभावात् । ननु कथमिह 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक्, प्रत्ययविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात्, तत्राह—ऋतोरिति । अवयववाचकानां शब्दानामुपरि स्थिताद् ऋतुवाचकात् वृद्धिनिमित्तकप्रत्ययविधाने कर्तव्ये तदन्तविधिर्वाच्य इत्यर्थंकन 'येन विधिः' इति सूत्रभाष्यस्थितवचनेन

(१३९६) पद—उत्तरपदस्य । अधिकारसूत्र ।

मूलार्थ—यह अधिकार सूत्र है । (इसका प्रभाव) "हनस्तः०" (सू २५७४) से पूर्व तक है ।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है । सप्तम अध्याय में पठित 'वृद्धि' प्रकरण का निर्देशक अधिकार—सूत्र है । अतः इसका प्रभाव "हनस्तोऽचिण्णलोः" (७-३-३२) से पूर्व "यथातथयथापुरयोः पर्यायेण" (७-३-३१) सूत्र तक रहेगा । तदनुसार वहाँ तक सूत्रों में कहे गए कार्य 'उत्तरपद' को अभिलक्षित कर हुआ करेंगे ।

(१३९७) पद—अवयवात्, ऋतोः । अनुवृत्ति—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ञित, णित, कित—तद्धित प्रत्यय परे रहते अवयववाचक पूर्वपद से उत्तरवर्ती ऋतुवाचक शब्द के आदि 'अच्' को वृद्धि हो । उदा० १—पूर्ववार्षिकः । २—अपरहैमनः । 'अवयवात्' क्यों कहा ? पूर्वासु वर्षासु भवः—पौर्ववार्षिकः । ऋतुवाचक शब्द से वृद्धि-निमित्तक-विधि में पूर्वत्र तदन्तविधि । यहाँ अवयव के न होने से तदन्त-विधि नहीं हुई ।

विवरण—प्रासङ्गिक वृद्धि के सम्बन्ध में यह सूत्र उद्धृत किया जा रहा है । 'उत्तरपद' के अधिकार का प्रमुख प्रभाव है । शेष वृद्धि-विधानोपयोगी प्राकरणिक उल्लिखित अनुवृत्तियाँ भी प्रभावी हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "अवयव-वाची 'पूर्वपद' से उत्तर ऋतुवाची उत्तरपद (शब्द) के अचों में आदि अच् को तद्धित 'ञित', 'णित' तथा 'कित' प्रत्यय परे रहते वृद्धि हो" । उदाहरण—पूर्ववार्षिकः (वर्षा के पहले उत्पन्न—पूर्वं वर्षाणाम्)—पहले "पूर्वापराधरोत्तर०" (२-२-१) से समास । तदनन्तर—पूर्ववर्षा+ठक् ('वर्षाभ्यष्ठक्' ४-३-१८) । ▷पूर्ववार्षिकः (उत्तरपदवृद्धि तथा 'आ'लोप) । 'पूर्व' आदि शब्द अवयव-वाची हैं । (२) अपरहैमनः (हेमन्त के बाद में उत्पन्न—हेमन्तस्य अपरम्)—अपरहेमन्त+अण् ("सर्वत्राण् च तलोपश्च" ४-३-२२ से 'अण्' तथा 'त' लोप) ▷ अपरहैमनः (उत्तरपदवृद्धि) । पहले समासादि कार्य किये जायँ ।

यवत्वाभावात् । (१३९८) सुसर्वार्धाज्जनपदस्य ७ । ३ । १२ ॥ उत्तरपदस्य वृद्धिः । सुपाञ्चालकः । सर्वपाञ्चालकः । अर्धपाञ्चालकः । 'जनपदतदवध्योः–' (सू १३४८) इति वुञ् । 'सुसर्वार्धदिक्छब्देभ्यो जनपदस्य' (वा ५५१) इति तदन्तविधिः । (१३९९) दिशोऽमद्राणाम् ७ । ३ । १३ ॥ दिग्वाचकाज्जनपदवाचिनो वृद्धिः । पूर्वपाञ्चालकः ।

पूर्वत्र पूर्वमुदाहृते उदाहरणे तदन्तविधिरित्यर्थः । तथा च पूर्ववार्षिक इत्यत्र पूर्वहैमन इत्यत्र चोदाहरणे 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक् 'सर्वत्राण् च तलोपश्च' इत्यण्तलोपौ च सिध्यन्ति । इह तु नेति । प्रत्युदाहरणे तु तदन्तविधिर्नास्ति । पूर्वासु वर्षास्विति सामानाधिकरणेन पूर्वशब्दस्य अवयववृत्तित्वाभावादित्यर्थः । ततश्च प्रत्युदाहरणे पौर्ववार्षिक इत्यत्र 'कालाट्ठञ्' इति ठञेव, न तु ठक्, स्वरे विशेषः । पौर्वहैमन्तिक इत्यत्रापि ठञेवेति भावः ।

(१३९८) सुसर्वार्धाज्जनपदस्य । सु, सर्व, अर्ध इत्येतत्पूर्वस्य जनपदवाचिन इत्यर्थः । उत्तरपदस्य वृद्धिरिति । शेषपूरणम् । सुपाञ्चालक इति । सुपञ्चालेषु जात इत्यर्थः । जनपदेति । 'जनपदतदवध्योः' इत्यनुवृत्तौ अवृद्धादपि बहुवचनविषयादिति वुञित्यर्थः । ननु 'अवृद्धादपि' इति प्रत्ययविधौ कथं तदन्तविधिरित्यत आह—सुसर्वेति । सु, सर्व, अर्ध, दिक्शब्द एभ्यः परस्य जनपदवाचिनः उपरि प्रत्ययविधौ तदन्तविधिरित्यर्थकेन 'येन विधिः' इति सूत्रभाष्यपठितवचनेन तदन्तविधिरित्यर्थः ।

(१३९९) दिशोऽमद्राणाम् । अमद्राणामिति च्छेदः । दिग्वाचकादिति । परस्येति

प्रत्युदाहरण—सूत्र में अवयवात् पद का निवेश होने से पौर्ववार्षिकः (वर्षा के पूर्वभाग में उत्पन्न) में केवल उत्तरपदस्थ 'अच्' को ही वृद्धि नहीं हुई, किन्तु आदि अच् को भी वृद्धि हो गई। यहाँ 'पूर्व' शब्द अवयववाचक न होने के कारण आदिवृद्धि हुई। तदन्तविधि नहीं होती। कारण यह है कि 'पूर्ववार्षिकः' तथा 'अपरहैमनः' में तो वार्तिक द्वारा "ऋतुवाची शब्द (वर्षा) से वृद्धिनिमित्तक प्रत्यय (ठञ्) का विधान होने पर तदन्तविधि किये जाने" के फलस्वरूप उत्तरपद को वृद्धि हुई है। अतः यहाँ 'ठञ्' हुआ।

(१३९८) पद—सुसर्वार्धात्, जनपदस्य। अनुवृत्ति—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उत्तरपद को वृद्धि हो। उदा० १–सुपाञ्चालकः। २–अर्धपाञ्चालकः। "जनपदतदवध्योः" से वुञ् हुआ। 'सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य' वार्तिक से तदन्तविधि होती है।

विवरण—प्रासङ्गिक वृद्धि का ही प्रकरण है। "उत्तरपदस्य" (७-३-१०) का अधिकार है। अतः ""सु' 'सर्व' तथा 'अर्ध' शब्द के पश्चात् जनपदवाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच् को तद्धित ञित्, णित् तथा कित् प्रत्यय परवर्ती रहते वृद्धि होती है"। उदाहरण—(१) सुपाञ्चालकः (सुन्दर पञ्चाल जनपद में उत्पन्न—सुपञ्चालेषु जातः)—सुपञ्चाल + वुञ् = अक > सुपाञ्चालकः ('पञ्चाल' के पूर्व अकार को वृद्धि)। इसी प्रकार (२) सर्वपाञ्चालकः (समस्त पञ्चाल जनपद में उत्पन्न) तथा (३) अर्धपाञ्चालकः (आधे पञ्चाल जनपद में उत्पन्न) में भी 'वुञ्' तथा उत्तरपद वृद्धि होगी। इन तीनो उदाहरणों में 'सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य वा' (वार्तिक) से तदन्तविधि हुई है। उत्तरपद वृद्धि होने के पूर्व 'सु-पाञ्चालकः' में "कुगतिप्रादयः" (२-२-१८) से समास, 'सर्वपाञ्चालकः' में "पूर्वकालैक०" (२-१-४८) से समास तथा 'अर्धपाञ्चालकः' में "अर्धं नपुंसकम्" (२-२-२) से समास हुआ है।

(१३९९) पद—दिशः, अमद्राणाम्। अनुवृत्ति—जनपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य।

दिशः किम् ? पूर्वपञ्चालानामयं पौर्वपञ्चालः । अमद्राणाम् किम् ? पौर्वमद्रः । योगविभाग उत्तरार्थः । (१४००) प्राचां ग्रामनगराणाम् ७ । ३ । १४ ॥ दिशः परेषां ग्रामवाचिनां नगरवाचिनां चाङ्गानामवयवस्य च वृद्धिः । पूर्वेषुकामशम्यां भवः पूर्वैषुकाम-

---

शेषः । जनपदवाचिन इति । मद्रवाचिभिन्नस्येत्यपि बोध्यम् । वृद्धिरिति । आदेरिति शेषः । पौर्वपञ्चाल इति । अत्र पूर्वशब्दः कालवाचीति भावः । पौर्वमद्र इति । 'मद्रेभ्योऽञ्' इत्यञ् । ननु 'सुसर्वार्धदिशो जनपदस्यामद्राणाम्' इत्येकसूत्रमेवास्त्वित्यत आह— योगविभाग उत्तरार्थं इति । 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' इत्युत्तरसूत्रे दिश एव सम्बन्धो यथा स्यादित्येवमर्थमित्यर्थः । एकसूत्रत्वे तु सुसर्वादिभ्यः परस्यापि मद्रशब्दस्य पर्युदासः प्रसज्येतेति इहार्थोऽपीत्येके ।

(१४००) प्राचां ग्रामनगराणाम् । दिश इति । दिशः परे ये प्राच्यग्रामवाचिनः प्राच्यनगरवाचिनश्च तेषामवयवस्यादेर्वृद्धिः । पूर्वेषुकामशम्यामिति । 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'

मूलार्थ—दिशावाची से उत्तर जनपदवाची को वृद्धि हो। उदा० पूर्वपाञ्चालकः। 'दिशः' क्यों कहा ? पूर्वपञ्चालः (उत्तरपद-वृद्धि नहीं हुई)। 'अमद्राणाम्' कथन के फलस्वरूप-पौर्वमद्रः। योगविभाग उत्तरार्थ है।

विवरण—'जनपद' के सन्दर्भ में उत्तरपद वृद्धि का विषय चल रहा है। अतः पूर्व सूत्र (१३९८) से 'जनपदस्य' की प्रमुख अनुवृत्ति अपेक्षित है। सभी उल्लिखित अनुवृत्तियों का सूत्रस्थ पदों के साथ अन्वय करने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "दिशावाची शब्दों से उत्तर 'मद्र' शब्दवर्जित जनपदवाची उत्तरपद शब्द के अचों में 'आदि अच्' को तद्धित 'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर वृद्धि हो"। **उदाहरण**—**पूर्वपाञ्चालकः** (पूर्वा पञ्चाल जनपद में उत्पन्न—पूर्वेषु पञ्चालेषु जातः)—प्रथम तद्धितार्थसमास। ततः पूर्वपञ्चाल+वुञ् ("अवृद्धादपि० ४-२-१२५") = अक। उत्तरपदवृद्धि।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में दिशः पद का निवेश होने से **पौर्वपञ्चालः** (पूर्वपञ्चालानामयम्) में 'अण्' प्रत्यय 'णित्' होने पर भी 'पूर्व' शब्द के काल-वाची होने से उत्तरपद के आदि 'अच्' को वृद्धि नहीं हुई। इसी प्रकार 'अमद्राणाम्' का निवेश होने के कारण **पौर्वमद्रः** में 'मद्र' को अभिलक्षित कर "मद्रेभ्योऽञ्" (४-२-१०८) से 'अञ्' प्रत्यय हुआ है। मद्र भिन्न न होने से उत्तरपद के आदि 'अच्' को वृद्धि नहीं हुई।

विशेष—उपर्युक्त दोनों सूत्रों के स्थान पर यदि संयुक्त रूप में एक ही सूत्र "सुसर्वार्धदिशो जनपदस्यामद्राणाम्" पढ़ा जाता तो भी इष्ट रूपसिद्धि सम्भव थी। तथापि योगविभाग इस लिये किया गया है कि अग्रिम सूत्र "प्राचां ग्रामनगराणाम्" (७-३-१४) में केवल दिशः का ही सम्बन्ध रहे, अन्य पदों का नहीं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने दूसरा कारण यह भी दिया है कि सुसर्वादि से पर 'मद्र' शब्द का भी पर्युदास ('अमद्र') प्रसक्त होने लगेगा। वह न हो, अतः योगविभाग सार्थक है।

(१४००) पद—प्राचां, ग्रामनगराणाम्। **अनुवृत्ति**—दिशः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दिग्वाचक शब्द से परवर्ती ग्रामवाची और नगरवाची अङ्गों और अवयवों को वृद्धि होती है। उदा० पूर्वेषुकामशम्यां भवः—पूर्वैषुकामशमः। नगर अर्थ में—पूर्वपाटलिपुत्रकः।

विवरण—'उत्तरपदे' अधिकार के अन्तर्गत दिशावाची शब्दों को अभिलक्षित कर उत्तरपद-वृद्धि का ही प्रकरण है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह है कि "दिशावाची शब्दों से

शमः। नगरे—पूर्वपाटलिपुत्रकः। (१४०१) **पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्कराद् वुन् ४ । ३ । २८ ॥** पूर्वाह्णकः। अपराह्णकः। आर्द्रकः। मूलकः। प्रदोषकः। अव-

---

इति समासः। अण्। संज्ञात्वात् 'दिक्पूर्वपदात्' इति ञो न। समुदायस्य ग्रामनामत्वेऽपि उत्तरपदस्यापि तन्नामत्वमस्तीति उत्तरपदादिवृद्धिः। नगरेति। उदाहरणसूचनम्। पूर्वपाटलिपुत्रक इति। 'पूर्वापरप्रथम' इति समासः। 'अनुवृद्धादपि' इति वुञ्। यद्यपि पाटलिपुत्रशब्दे उत्तरपदे आदिर्वृद्धिरेव। तथापि पूर्वपदस्य वृद्धिनिवृत्तिः फलम्।

(१४०१) पूर्वाह्णापराह्ण। पूर्वाह्णकः अपराह्णकः इति। पूर्वाह्णे अपराह्णे च जात इत्यर्थः। 'विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' इत्यस्यापवादः। ट्युट्युलोः ठञश्च विकल्पस्तु जातादन्यार्थे सावकाश इति भावः। आर्द्रकः मूलक इति। आर्द्रायां मूले च जात इत्यर्थः। ऋत्वणोऽपवादः। प्रदोषक इति। 'निशाप्रदोषाभ्याम्' इत्यस्यापवादः। अवस्करक इति। औत्सर्गिकस्याणोऽपवादः।

उत्तरवर्ती प्राच्य ग्रामवाचक एवं प्राच्य नगरवाचक शब्दान्त अङ्गावयव उत्तर अच्समुदाय के 'आदि अच्' को वृद्धि हो"। **उदाहरण**—(१) ग्रामवाची—**पूर्वैषुकामशमः** (पूर्वी इषुकामशमी में होने वाला—पूर्वेषुकामशम्यां भवः)—पूर्वा चासौ इषुकामशमी च > पूर्वेषुकामशमी + अ (समास—"दिक्संख्ये च संज्ञायाम्" २-१-४९ तथा अण्। उत्तरपद 'इषुकामशमी' के आदि-अच् को वृद्धि तथा 'ई' लोप)। (२) नगरवाचक—**पूर्वपाटलिपुत्रकः** (पूर्वी पाटलिपुत्र में होने वाला—(समास—"पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च" (२-१-५८) > पूर्वपाटलिपुत्र + वु ("रोपधेतोः प्राचाम्" ४-२-१२३" वुञ् = अक) > पूर्वपाटलिपुत्रकः (उत्तरपद के आदि 'अच्' को वृद्धि)।

विशेष—(१) संज्ञावाची होने के कारण पूर्वेषुकामशमी से "दिक्पूर्वपदादसंज्ञायाम् ञः" (४-२-१०७) से 'ञ' प्रत्यय नहीं हुआ। समुदाय ग्रामवाची होने पर भी 'उत्तरपद' की भी ग्राम संज्ञा है।

(२) 'पूर्वपाटलिपुत्र' शब्द में यद्यपि उत्तरपद में आदिवृद्धि का स्वरूप स्वयं विद्यमान है तथापि पूर्वपद में वृद्धि की निवृत्ति होना भी इसका फल है।

(१४०१) **पद**—पूर्वाह्ण······वस्कराद्, वुन्। **अनुवृत्ति**—संज्ञायाम्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—पूर्वाह्णकः। २—अपराह्णकः। ३—आर्द्रकः। ४-मूलकः। ५-प्रदोषकः। ५—अवस्करकः।

विवरण—पुनः तद्धित प्रकरण के 'जात' अर्थ को अभिलक्षित कर 'वुन्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। अष्टाध्यायी-क्रम में इस से पूर्वसूत्र "संज्ञायाम् शरदो वुञ्" (४-३-२७) से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "संज्ञा के विषय में सप्तमी-समर्थ 'पूर्वाह्ण', 'अपराह्ण', 'आर्द्रा', 'मूल', प्रदोष, तथा 'अवस्कर' प्रातिपदिकों से 'जात' अर्थ में 'वुन्' (= अक) प्रत्यय होता है"। 'पूर्वाह्ण' तथा 'अपराह्ण' शब्दों से "विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्" (४-३-२४) से 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' प्रत्यय प्राप्त थे, उनका यह बाधक है। 'जात' अर्थ में इन दोनों शब्दों से 'वुन्' ही होगा। शेष भवादि अर्थों में 'ट्यु'-'ट्युल्' होंगे। 'आर्द्रा' तथा 'मूल'—ये दोनों नक्षत्रवाची शब्द हैं, इनसे भी "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्" (४-३-१६) से 'अण्' प्राप्त था। जातार्थ में 'वुन्' ही होगा। तथा अवस्कर शब्द से औत्सर्गिक 'अण्' की प्राप्ति में 'वुन्' का विधान किया गया है। 'प्रदोषकः' में "निशाप्रदोषाभ्यां च" (४-३-१४) से प्राप्त 'ठञ्' का यह बाधक है। **उदाहरण**—(१) पूर्वाह्णकः

स्करकः । **(१४०२) पथः पन्थ च ४ । ३ । २९ ॥** पथि जातः पन्थकः । **(१४०३) अमावास्याया वा ४ । ३ । ३० ॥** अमावास्यकः-आमावास्यः । **(१४०४) अ च ४ । ३ । ३१ ॥** अमावास्यः । **(१४०५) सिन्ध्वपकराभ्यां कन् ४ । ३ । ३२ ॥**

(१४०२) पथः पन्थ च । पथिन्शब्दात् वुन् स्यात् प्रकृतेः पन्थादेशश्च ।

(१४०३) अमावास्याया वा । वुनिति शेषः । पक्षे सन्धिवेलादित्वादण् । एकदेश-विकृतन्यायादमावस्याशब्दादप्ययं विधिः ।

(१४०४) अ च । अ इति लुप्तप्रथमाकम् । अमावास्याशब्दादकारः प्रत्ययोऽपी-त्यर्थः । आदिवृद्ध्यभावः प्रयोजनम् ।

(दोपहर के पहले उत्पन्न—पूर्वाह्णे जातः) पूर्वाह्ण्+वु (=अक) । (२) अपराह्णकः (दोपहर के बाद उत्पन्न-अपराह्णे जातः)—अपराह्ण्+वु (=अक) । (३) आर्द्रकः (आर्द्रा में उत्पन्न-आर्द्रायां जातः)—आर्द्र्+वु (=अक) । (४) मूलकः (मूल में उत्पन्न—मूले जातः)—मूल्+वु (=अक) । (५) प्रदोषकः (प्रदोष काल में उत्पन्न—प्रदोषे जातः)—प्रदोष्+वु (=अक) । (६) अवस्करकः (मल में उत्पन्न—अवस्करे जातः)—अवस्कर्+वु (=अक) । वृद्धि-निमित्ताभाव के कारण वृद्धि नहीं हुई ।

(१४०२) पद—पथः, पन्थ, च । **अनुवृत्ति**—वुन्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० पथि जातः—पन्थकः ।

विवरण—विधेय (प्रत्यय) का लाभ पूर्व सूत्र से 'वुन्' की अनुवृत्ति होने के कारण हुआ है । सूत्र में 'पन्थ' पद लुप्त प्रथमान्त है । स्थानि-वाचक शब्द 'पथिन्' (पथः) है । 'पथः' पद पञ्चमी तथा षष्ठी—दोनों विभक्तियों में कार्यपरक है । 'प्रत्यय' के विधान में 'पञ्चमी' का आश्रय लिया जाता है तथा 'षष्ठी' विभक्ति में स्थानी का बोधक होता है । अतः "सप्तमी-समर्थ 'पथिन्' प्रातिपदिक से 'जात' अर्थ में 'वुन्' प्रत्यय होता है, प्रत्यय के साथ साथ 'पथिन्' के स्थान में 'पन्थ' आदेश भी होता है" । **उदाहरण**—**पन्थकः** (मार्ग में उत्पन्न-पथि जातः)—पथिन्+वु (=अक) > पन्थ्+अक (पथिन्=पन्थ→सर्वादेश) > पन्थकः ('अ' लोप) ।

(१४०३) पद—अमावास्यायाः, वा । **अनुवृत्ति**—वुन्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० अमावास्यकः—अमावास्यः ।

विवरण—जातार्थ में 'वुन्' का ही प्रकरण है । अतः "सप्तमी-समर्थ 'अमावास्या' प्रातिपदिक से जातार्थ में विकल्प से 'वुन्' प्रत्यय होता है" । 'अमावास्या' शब्द 'सन्धिवेलादि'-गण में पढ़ा गया है, अतः उस से पक्ष में 'अण्' (४-३-१६) भी होगा । **उदाहरण**—**अमावास्यकः**→वुन् (=अक) होने पर । **आमावास्यः**←पक्ष में 'अण्' होने पर । यहाँ आदिवृद्धि भी होगी । **अर्थ**—अमावास्या में उत्पन्न—अमावास्यायां जातः ।

विशेष—एकदेश-विकृत न्याय से 'अमावस्या' शब्द से भी उक्त विधान होगा । अतः—अमावस्यकः तथा आमावस्यः—ये दो रूप निष्पन्न होंगे ।

(१४०४) पद—अ, च । **अनुवृत्ति**—अमावास्यायाः, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० अमावास्यः ।

विवरण—पूर्व सूत्रोक्त विषय का ही विस्तार है । सूत्र में 'अ' (=अः) लुप्तप्रथमान्त निर्देश है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'अमावास्या' प्रातिपदिक से जातार्थ में 'अ' प्रत्यय भी होता है" ।

सिन्धुकः। कच्छाद्यणि मनुष्यवुञि च प्राप्ते। अपकरकः। औत्सर्गिकेऽणि प्राप्ते। (१४०६) अणञौ च ४।३।३३॥ क्रमात् स्तः। सैन्धवः। आपकरः। (१४०७) श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाऽषाढाबहुलाल्लुक् ४।३।३४॥ एभ्यो नक्षत्रवाचिभ्यः परस्य जातार्थप्रत्ययस्य लुक् स्यात्। (१४०८) लुक्-

---

(१४०५) सिन्ध्वपकराभ्यां कन्। सिन्धुक इति। सिन्धौ जात इत्यर्थः। कच्छादीति। 'कच्छादिभ्यश्च' इत्यणि 'मनुष्यतत्स्थयोश्च' इति वुञि च प्राप्ते अयं कन्विधिरित्यर्थः। अपकरक इति। अपकरे जात इत्यर्थः। अणि प्राप्ते इति। कन्विधिरिति शेषः।

(१४०६) अणञौ च। क्रमात् स्त इति। सिन्ध्वपकराभ्यामिति शेषः।

(१४०७) श्रविष्ठा। एभ्य इति। श्रविष्ठा, फल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, अषाढा, बहुला एतेभ्य इत्यर्थः। जातार्थेति। प्रकरणलभ्यमिदम्। स्वातिशब्दः ह्रस्वान्त इति कैयटहरदत्तौ। दीर्घान्त इति 'अत सातत्यगमने' इति धातौ माधवः। कृत्तिकावाचिबहुलाशब्दष्टाबन्तः। समाहारद्वन्द्वे ह्रस्वनिर्देशः।

'अण्' में आदिवृद्धि की विशेषता है। उदाहरण—अमावास्यः (अमावास्या में उत्पन्न)—अमावास्या+अ। 'आ' लोप। 'णित्' न होने से आदिवृद्धि नहीं हुई।

(१४०५) पद—सिन्ध्वपकराभ्यां, कन्। अनुवृत्ति—तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—सप्तमी-समर्थ 'सिन्धु' तथा 'अपकर' शब्दों से 'जात' अर्थ में 'कन्' (=क) प्रत्यय होता है। उदा० १—सिन्धुकः। 'कच्छादि' के कारण 'अण्' तथा मनुष्यार्थक में 'वुञ्' प्राप्त होने से यह 'कन्' विधान उनका बाधक है।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ 'सिन्धु' तथा 'अपकर' शब्दों से जातार्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है"। 'सिन्धु' शब्द कच्छादि-गण में पठित है, अतः "कच्छादिभ्यश्च" (४-२-१३३) से प्राप्त 'अण्' एवं "मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्" (४-२-१३४) से प्राप्त 'वुञ्' का यह अपवाद है। 'अपकर' शब्द से भी औत्सर्गिक 'अण्' प्राप्त था। अतः जातार्थ में 'कन्' ही होगा। शेष भवादि अर्थों में 'अण्' एवं 'वुञ्' होंगे। उदाहरण—(१) सिन्धुकः (सिन्धु जनपद में उत्पन्न—सिन्धौ जातः)—सिन्धु+क (कन्)। (२) अपकरकः (अपकर प्रदेश[1] में उत्पन्न—अपकरे जातः)—अपकर+क (कन्)।

(१४०६) पद—अणञौ, च। अनुवृत्ति—सिन्ध्वपकराभ्याम्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—क्रमशः हों। १—सैन्धवः। २—आपकरः।

विवरण—पूर्व सूत्र का विषय है। अतः "सप्तमी-समर्थ 'सिन्धु' तथा 'अपकर' शब्दों से क्रमशः (यथासंख्य) 'अण्' तथा 'अञ्' भी होते हैं"। 'अण्' तथा 'अञ्' में स्वर का भेद है। उदाहरण—(१) सैन्धवः (सिन्धु+अण्)। (२) आपकरः (अपकर+अञ्)। अर्थ आदि पूर्ववत्।

(१४०७) पद—श्रविष्ठा···बहुलात्, लुक्। अनुवृत्ति—तत्र जातः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—नक्षत्रवाची इन शब्दों से पर जातार्थ प्रत्यय का 'लुक्' हो।

विवरण—कुछ शब्दों में जातार्थक प्रत्यय का 'लुक्'-विधान बतलाया जा रहा है। सूत्र में

---

१. मियाँवाली जिले का गक्खर।

तद्धितलुकि १ । २ । ४९ ।। तद्धितलुकि सत्युपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । श्रविष्ठासु जातः श्रविष्ठः । फल्गुनः इत्यादिः । 'चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियामुपसंख्यानम्' (वा २८५७) । चित्रायां जाता चित्रा । रेवती रोहिणी आभ्यां 'लुक्तद्धितलुकि' इति लुकि

(१४०८) लुक् तद्धितलुकि । प्रथमस्य द्वितीये इदं सूत्रम् । उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्येति । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । श्रविष्ठ इति । ऋत्वणो लुकि स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः । 'लुक् तद्धितलुकि' इत्यत्र अप्रधानमेवोपसर्जनम्, न तु शास्त्रीयम्, असम्भवादिति भावः । फल्गुन इति । फल्गुन्यां जात इत्यर्थः । अणो लुकि स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः । इत्यादीति । अनुराधासु जातः अनुराधः । नक्षत्राणो लुकि स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः । एवमग्रेऽपि । 'अनुराधान् हविषा वर्धयन्त' इत्यादौ छान्दसं पुंस्त्वम् । स्वात्यां जातः

दस शब्दों का निवेश है—श्रविष्ठा, फल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य (=पुष्य), पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, अषाढा तथा बहुला (=कृत्तिका)। ये सब नक्षत्रवाची शब्द हैं । समग्र-पद समाहार-द्वन्द्वात्मक है। (अतः पञ्चमी विभक्ति के) एकवचन में कहा गया है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ इन शब्दों से जातार्थ में उत्पन्न प्रत्यय का 'लुक्' (=लोप) होता है"। औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय का 'लुक्' होने पर "लुक् तद्धितलुकि" (१-२-४९) से श्रविष्ठा आदि शब्दों के स्त्री-प्रत्यय 'टाप्' आदि का भी 'लुक्' हो जाता है।

(१४०८) पद—लुक् , तद्धितलुकि । अनुवृत्ति—स्त्री उपसर्जनस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—तद्धित का लोप होने पर उपसर्जन-स्त्रीप्रत्यय का भी 'लोप' हो। उदा० १—श्रविष्ठासु जातः—श्रविष्ठः । फल्गुनः इत्यादि । वा० चित्रा, रेवती तथा रोहिणी से भी स्त्रीलिङ्ग में (जातादि अर्थक प्रत्यय का) लोप कहा जाय । उदा० चित्रायां जाता—चित्रा । रेवती तथा रोहिणी शब्दों से "लुक् तद्धितलुकि" से लोप करने पर पिप्पल्यादि के आकृतिगण होने से पुनः 'ङीष्' हुआ । वा० 'फल्गुनी' एवम् 'अषाढा' शब्दों से क्रमशः 'ट' एवम् 'अन्' प्रत्यय होते हैं। १—फल्गुनी में 'टित्' (प्रत्यय) होने से ङीप् । २—अषाढा । वा० 'श्रविष्ठा' तथा 'अषाढा' शब्दों से (स्त्रीलिङ्ग-भिन्न में) 'छण्' प्रत्यय हो। उदा० १—श्राविष्ठीयः । २—आषाढीयः ।

विवरण—पूर्व सूत्र से विहित तद्धित-प्रत्यय का लोप होने के पश्चात् अप्रधान स्त्री-प्रत्यय के भी लोप होने के विधेय-स्वरूप प्रथमाध्याय का सूत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। अतः वहाँ की अनुवृत्ति का निर्देश आवश्यक है। इस से पूर्व सूत्र "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१-२-४८) है। वहाँ से 'स्त्री उपसर्जनस्य' अंश अनुवर्तमान है। उसके साथ सम्बद्ध होकर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "तद्धित प्रत्यय के 'लुक्' हो जाने पर उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का भी 'लुक्' हो"। यहाँ 'उपसर्जन' पद अप्रधानार्थक है न कि संज्ञार्थक, वहाँ कार्य सम्भव नहीं है। **उदाहरण**—(१) **श्रविष्ठः** (श्रवण में उत्पन्न—श्रविष्ठासु जातः)—श्रविष्ठा+अण् ("सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्" ४-३-१६) > श्रविष्ठः ('अण्' का लोप, तदनन्तर 'टाप्' का भी 'लुक्')। (२) **फल्गुनः** (फल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न—फल्गुन्यां जातः)—फल्गुनी+अण् > फल्गुनी (जातार्थ 'अण्' का लोप) > फल्गुनः (तदनन्तर स्त्रीप्रत्यय 'ङीप्' का भी लोप)। (३) **अनुराधः** (अनुराधा में उत्पन्न—अनुराधासु जातः)—अनुराधा+अण् > अनुराधः। 'अनुराधः' वेदविहित पुंलिङ्ग प्रयोग है। (४) **स्वातिः** (स्वाति नक्षत्र में उत्पन्न—स्वात्यां जातः)। (५) **तिष्यः** (पुष्य नक्षत्र में उत्पन्न—तिष्ये जातः। (६) **पुनर्वसुः** (पुनर्वसु में उत्पन्न—पुनर्वस्वोः जातः)। (७) **हस्तः** (हस्त नक्षत्र में उत्पन्न—हस्ते जातः)। (८) **विशाखः** (विशाखा में उत्पन्न—विशाखयोः जातः)। (९) **अषाढः** (अषाढा नक्षत्र में उत्पन्न—अषाढासु जातः)। (१०) **बहुलः** (कृत्तिका नक्षत्र में उत्पन्न—बहुलासु जातः)।

कृते पिप्पल्यादेराकृतिगणत्वात् पुनर्ङीष् । 'फल्गुन्यषाढाभ्यां टानौ वक्तव्यौ' (वा २८५८)। स्त्रियामित्येव । फल्गुनी । अषाढा । 'श्रविष्ठाषाढाभ्यां छण्वक्तव्यः' (वा १८५९)। अस्त्रियामपि । श्राविष्ठीयः । आषाढीयः । (१४०९) जे प्रोष्ठपदानाम् ७ । ३ । १८ ॥

स्वातिः । तिष्ये जातः तिष्यः । पुनर्वस्वोर्जातः पुनर्वसुः । हस्ते जातो हस्तः । विशाखयोर्जातः विशाखः । अषाढासु जातः अषाढः । बहुलासु जातः बहुलः । चित्रेति । चित्रादिभ्यः परस्य स्त्रीरूपजातार्थकप्रत्ययस्य लुगित्यर्थः । रेवती रोहिणीति । जातायां नक्षत्राणो लुकि सति प्रकृतेर्गौरादिस्त्रीप्रत्ययनिवृत्तौ जातार्थगतस्त्रीत्वे पुनर्ङीष् । ननु रेवतीनक्षत्रे रोहिणीनक्षत्रे इति गौरादौ पाठादिह जातार्थवृत्तिभ्यां कथं ङीषित्यत आह—आभ्यामिति । रेवतीरोहिणीशब्दाभ्यामित्यर्थः । परस्य स्त्रीत्वविशिष्टजातार्थप्रत्ययस्येति शेषः । आकृतिगणत्वादिति । स्त्रीत्वविशिष्टजातार्थवृत्त्योरनयोः पिप्पल्यादौ निवेशे भाष्योदाहरणमेव प्रमाणम् । स्त्रियामित्येवेति । तथा भाष्यादिति भावः । फल्गुनी, अषाढा इत्याभ्यां क्रमात् टः अन् च स्त्रीत्वविशिष्टजातार्थे वक्तव्यावित्यर्थः । फल्गुनीति । फल्गुन्योर्जातेत्यर्थः । नक्षत्राणोऽपवादः टप्रत्ययः । 'यस्येति च' इति ईकारलोपः । जातार्थस्त्रीत्वे टित्त्वात् ङीप् । अषाढेति । अषाढासु जातेत्यर्थः । नक्षत्राणोऽपवादः अन् । 'यस्येति च' इत्याकारलोपः । जातार्थे स्त्रीत्वे टाप् । 'श्रविष्ठाफल्गुनी' इत्यादिना टानोर्लुक् तु न, विधानसामर्थ्यात् । छण्वक्तव्य इति । नक्षत्राणोऽपवादः । विधिसामर्थ्यादस्यापि न लुक् ।

इनके अतिरिक्त अन्य नक्षत्रवाची शब्दों के सम्बन्ध में उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार कुछ वार्तिक—प्रस्तुत किये जा रहे हैं। प्रथम वार्तिक द्वारा चित्रा, रेवती तथा रोहिणी शब्दों से भी स्त्रीलिङ्ग में जातादि अर्थ में विहित प्रत्यय का 'लुक्' बतलाया जारहा है"। तदनुसार (१) चित्रा (चित्रानक्षत्र में उत्पन्न—चित्रायां जाता)। (२) रेवती (रेवती में उत्पन्न—रेवत्यां जाता)। (२) रोहिणी (रोहिणी में उत्पन्न—रोहिण्यां जाता)। ये तीनों रूप निष्पन्न होते हैं। इन तीनों में से चित्रा में 'टाप्' तथा 'रेवती' एवं 'रोहिणी' शब्दों में पूर्व स्त्री-प्रत्यय का "लुक् तद्धितलुकि" १-२-४९ से लोप होने पर 'टाप्' तथा पिप्पल्यादि आकृतिगण होने से पुनः 'ङीष्' प्रत्यय होते हैं। द्वितीय वार्तिक द्वारा फल्गुनी तथा अषाढा शब्दों से जातादि अर्थों में स्त्रीलिङ्ग वाच्य रहते 'अण्' के अपवादस्वरूप क्रमशः 'ट' तथा 'अन्' प्रत्यय होने की व्यवस्था की गई है। तदनुसार (१) फल्गुनी (फल्गुन्योर्जाता)-फल्गुनी+अ (ट) तथा (२) अषाढा (अषाढासु जाता) अषाढा+अ (अन्)—ये दो रूप सिद्ध होते हैं। इनमें से (१) में ङीप् तथा (२) में टाप्। ततः विधानसामर्थ्य से "श्रविष्ठा-फल्गुनी०" (४-३-३४) से प्राप्त 'ट' एवम् 'अन्' का लुक् नहीं होता। तृतीय वार्तिक से श्रविष्ठा तथा अषाढा शब्दों से स्त्रीलिङ्ग-भिन्न में भी 'छण्' (ईय) प्रत्यय का विधान बतलाया गया है। तदनुसार (१) श्राविष्ठीयः (श्रवण में उत्पन्न पुत्र—श्रविष्ठासु जातः)—श्रविष्ठा+छ (ईय), 'आ' लोप तथा आदिवृद्धि। (२) आषाढीयः (अषाढासु जातः पुत्रः) प्रक्रिया पूर्ववत्।—ये दो रूप बनते हैं।

विशेष—भाष्यकार ने प्रथम वार्तिक 'चित्रा-रेवती-रोहिणीभ्यामुपसंख्यानम्' की आवश्यकता नहीं बतलाई है। उनके मत में "नक्षत्रेभ्यो बहुलम्" (४-३-३४) सूत्र से जाताद्यर्थक प्रत्यय का लोप-विधान होने से इष्टसिद्धि सम्भव है।[1]

---

१. "तत्तर्हि वक्तव्यम् । न वा नक्षत्रेभ्यो बहुलं लुग्वचनात् । न च वक्तव्यम् । किं कारणम् ? नक्षत्रेभ्यो बहुलं लुग्वचनात् । नक्षत्रेभ्यो बहुलं लुक्—इत्येवमत्र लुग् भविष्यति"।

—महाभाष्यम् । ४-३-३४ ।

प्रोष्ठपदानामुत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिः स्याज्जातार्थे ञिति णिति किति च। प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादो माणवकः। जे इति किम्? प्रोष्ठपदासु भवः प्रौष्ठपदः। बहुवचननिर्देशात् पर्यायोऽपि गृह्यते। भाद्रपादः। (१४१०) **स्थानान्तगोशालखरशालाच्च ४।३।३५॥** एभ्यो जातार्थप्रत्ययस्य लुक् स्यात्। गोस्थाने जातो गोस्थानः। गोशालः। खरशालः। 'विभाषा सेना—' (सू ८२८) इति नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वम्। (१४११) वत्स-

---

अस्त्रियामपीति। अत्र स्त्रियामिति न सम्बध्यते, भाष्ये तथोदाहरणादिति भावः। श्राविष्ठीय इति। श्रविष्ठासु जात इत्यर्थः। छण्, ईयः, 'यस्येति च' इत्याकारलोपः। णित्त्वादादिवृद्धिः। आषाढीय इति। अषाढासु जात इत्यर्थः।

(१४०९) जे प्रोष्ठपदानाम्। आदिवृद्धिप्रकरणे उत्तरपदस्येत्यधिकारे इदं सूत्रम्। तदाह—जे प्रोष्ठपदानामिति। जशब्देन जातार्थप्रत्ययो विवक्षितः। तदाह—जातार्थे इति। प्रोष्ठपदानामिति बहुवचनस्य प्रयोजनमाह—बहुवचनेति। भाद्रपाद इति। भद्रपदासु जात इत्यर्थः।

(१४१०) स्थानान्तगोशाल। एभ्य इति। स्थानान्त, गोशाल, खरशाल एतेभ्य इत्यर्थः। गोस्थान इति। गोस्थाने जात इत्यर्थः। गोशाल इति। गोशाले जात

(१४०९) **पद**—जे, प्रोष्ठपदानाम्। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—जातार्थ में विहित 'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' प्रत्यय परे रहते प्रोष्ठपद के परवर्ती आदि अच् को वृद्धि होती है। उदा० प्रोष्ठपदासु जातः—प्रोष्ठपादः माणवकः। 'जे' क्यों कहा? प्रोष्ठपदासु भवः—प्रौष्ठपदः (भवार्थ में उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि नहीं हुई)। सूत्र में बहुवचन (प्रोष्ठपदानाम्) निर्देश होने से पर्यायवाची का भी ग्रहण होता है। अतः भाद्रपादः (रूप भी निष्पन्न होगा)।

विवरण—उत्तरपद-वृद्धिप्रकरण में यह सूत्र पढ़ा गया है। 'जे' से यहाँ 'जात' अर्थ ग्रहण (=जातेऽर्थे) किया गया है। अतः "जातार्थ (४-३-२५) में विहित ञित, णित तथा कित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'प्रोष्ठपद' अङ्ग के उत्तरपद के अचों में 'आदि अच्' को वृद्धि होती है"। सूत्र में बहुवचन निर्देश से 'प्रोष्ठपदा' का पर्याय 'भद्रपदा' भी लिया जाता है। प्रोष्ठपदा नाम का नक्षत्र है। अतः उससे तथा उसके पर्याय भद्रपदा से "नक्षत्रेण युक्तः कालः" (४-२-३) से 'अण्' होकर "लुबविशेषे" से 'लुप्' हुआ है। तदनन्तर "सन्धिवेलाद्यृतु०" (४-३-१६) से अण् प्रत्यय होगा। **उदाहरण**—(१) **प्रोष्ठपादः** (पूर्वाभद्रपदा एवम् उत्तराभद्रपदा में उत्पन्न माणवक)—प्रोष्ठपदा+अण् ▷प्रोष्ठपदा (लुक्) >प्रोष्ठपादा+अ (अण्, उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि) ▷ प्रोष्ठपादः ('आ' लोप एवं विभक्ति-कार्य)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'जे' पद का निवेश होने से जातार्थ से भिन्न भवार्थ में 'अण्' प्रत्यय होने पर आदिवृद्धि होकर (१) **प्रौष्ठपदः** रूप निष्पन्न होगा। इसी प्रकार (२) **भाद्रपादः** भी बनेगा।

विशेष—प्रोष्ठपदा अथवा भद्रपदा चार नक्षत्रों का समूह है। दो पूर्वप्रोष्ठपदा (पूर्वभद्रपदा) और दो उत्तरप्रोष्ठपदा (उत्तरभद्रपदा) कहे जाते हैं।

(१४१०) **पद**—स्थानान्त-गोशाल-खरशालात्, च। **अनुवृत्ति**—लुक्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इनसे जातार्थ-प्रत्यय का 'लुक्' हो। उदा० १—गोस्थाने जातः—गोस्थानः। २—गोशालः। ३—खरशालः। 'विभाषा सेना' (सू. ८२८) निर्देश से (गोशाल में) नपुंसक होने पर ह्रस्व हुआ है।

शालाभिजिदश्वयुक्छतभिषजो वा ४ । ३ । ३६ ॥ एभ्यो जातार्थस्य लुग्वा स्यात् । वत्सशाले जातो वत्सशालः—वात्सशालः इत्यादि । 'जातार्थे प्रतिप्रसूतोऽण्वा डिद्वक्तव्यः' (वा २६९०) । शातभिषजः—शातभिषः—शतभिषक् । (१४१२) नक्षत्रेभ्यो बहुलम्

इत्यर्थः । एवं खरशालः । सर्वत्र अणो लुकि नादिवृद्धिः । ननु शालाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् ह्रस्वनिर्देशोऽनुपपन्न इत्यत आह— विभाषा सेनेति । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्त्रीलिङ्गादपि लुक् ।

(१४११) वत्सशालाभिजित् । एभ्य इति । वत्सशाला, अभिजित्, अश्वयुज्, शतभिषज् इत्येभ्य इत्यर्थः । परस्येति शेषः । इत्यादीति । अभिजिति जातः आभिजितः—अभिजित् । अश्वयुजोजातः आश्वयुजः—अश्वयुक् । शतभिषजि जातः शातभिषजः—शतभिषक् । जातार्थे इति । 'कालाट्ठञ्' इति ठञा निवर्तित औत्सर्गिकोऽण् सन्धिवेलादिसूत्रेण पुनरुत्थितो डिद्वा वक्तव्य इत्यर्थः । 'दृष्टं साम' इति सूत्रभाष्ये इदं वार्तिकं दृष्टम् । शातभिष इति । अणि डित्त्वपक्षे टिलोपः ।

विवरण—जातार्थक प्रत्यय के 'लुक्' का ही प्रकरण है। तदनुसार "'स्थान' शब्दान्त तथा 'गोशाल' एवं 'खरशाल' प्रातिपदिकों से जातार्थ में विहित प्रत्यय का 'लुक्' होता है"। क्रमशः उदाहरण—(१) स्थानान्त—**गोस्थानः** (गोशाला में उत्पन्न—गोस्थाने जातः—गोस्थान + अण् । 'अण्' का लोप)। (२) **गोशालः** (गोशाला में उत्पन्न—गोशाले जातः। पूर्ववत् अण् का लोप)। (३) **खरशालः** (खरशाला में उत्पन्न—खरशाले जातः—खरशाला + अण्— अण का लोप। 'अण्' का लोप होने से सर्वत्र आदिवृद्धि नहीं हुई।

विशेष—'शाला' शब्द आबन्त स्त्रीलिङ्ग होने के कारण सूत्र में ह्रस्व अकारान्त निर्देश के सम्बन्ध में यह समाधान दिया जा रहा है कि "विभाषा सेना-सुरा-च्छाया-शाला-निशानाम्" (२-४-२५) के अनुसार शालान्त तत्पुरुष के (गवां शाला—गोशालम्) नपुंसकलिङ्ग हो जाने के कारण ह्रस्व-विधान ("ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४७) द्वारा यह सम्भव हुआ है।

(१४११) पद—वत्सशाला-ऽभिजिद-श्वयुक्-शतभिषजः, वा। **अनुवृत्ति**—लुक्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इनसे पर जातार्थ प्रत्यय का विकल्प से लुक्–लोप हो। उदा० वत्सशाले जातः> वत्सशालः—वात्सशालः। इत्यादि। वा० 'जात' अर्थ में प्रतिप्रसूत 'अण्' को विकल्प से 'डित्' कहा जाय। उदा० शातभिषजः—शातभिषः—शतभिषक्।

विवरण—विशेष स्थलों में जातार्थक प्रत्यय का विकल्प-विधान कहा जा रहा है। तदनुसार "'वत्सशाल', 'अभिजित्', 'अश्वयुज्' तथा 'शतभिषज्' प्रातिपदिकों से विहित 'जातार्थ प्रत्यय' का 'लुक्' होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **वत्सशालः**→पूर्ववत् अण् का लोप होने पर। **वात्सशालः**←पक्ष में 'अण्' होने पर आदिवृद्धि आदि। विग्रह—वत्सशाले जातः। वत्सानां शाला—वत्सशालम्। (२) **अभिजित्**→'अण्' का लोप होने पर। **आभिजितः**←अण् होने पर आदिवृद्धि। **अर्थ**—श्रवण नक्षत्र में उत्पन्न—अभिजिति जातः। (३) **अश्वयुक्**→'अण्' का लोप होने पर। **आश्वयुजः**←'अण्' होने पर आदिवृद्धि। आश्विन मास में उत्पन्न—अश्वयुजि जातः। (४) **शतभिषक्**→'अण्' का लोप होने पर। **शातभिषः**←'अण्' होने पर। औत्सर्गिक 'अण्' को बाधकर "कालाट्ठञ्" से 'ठञ्' प्राप्त होता है, उसका बाधकर "सन्धिवेला०" (४-३-१६) से जातार्थ में 'अण्' हुआ है। इस प्रतिप्रसूत 'अण्' को वार्तिक द्वारा जातार्थ में वैकल्पिक 'डित्' विधान किये जाने से टि=अज् का लोप होता है। डित् के अभाव में 'अण्' होने पर→शात-

४।३।३७॥ जातार्थप्रत्ययस्य बहुलं लुक् स्यात्। रोहिणः–रौहिणः। (१४१३) कृतलब्धक्रीतकुशलाः ४।३।३८॥ 'तत्र' इत्येव। स्रुघ्ने कृतो लब्धः क्रीतः कुशलो वा स्रौघ्नः। (१४१४) प्रायभवः ४।३।३९॥ तत्र इत्येव। स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन

(१४१२) नक्षत्रेभ्यो बहुलम्। रोहिण इति। रोहिण्यां जात इत्यर्थः। नक्षत्राणो लुकि आदिवृद्धिनिवृत्तौ 'लुक् तद्धितलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः। न च तथा सति तकारस्य नकारोऽपि निवर्तेतेति वाच्यम्। न हि रोहितशब्दोऽयं वर्णविशेषवाचकः, येन 'वर्णादनुदात्तात्' इति ङीपो निवृत्तौ नकारोऽपि निवर्तेत। किन्तु रोहिणीशब्दोऽयमव्युत्पन्नो नक्षत्रविशेषे रूढः। 'रोहिणी नक्षत्रे' इति गौरादिपाठात् ङीष्। अत एव 'रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता' इत्यादौ अन्तोदात्तत्वं श्रूयमाणं न विरुध्यते। अन्यथा 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' इति आद्युदात्तत्वं स्यादित्यलम्।

(१४१३) कृतलब्ध। तत्रेत्येवेति। 'तत्र जातः' इत्यतस्तत्रेत्येवानुवर्तते। जात इति तु निवृत्तमित्यर्थः। तथा च कृतो लब्धः क्रीतः कुशलो वेत्यर्थे सप्तम्यन्तादणादयो घादयश्च यथायथं स्युरित्यर्थः। स्रौघ्न इति। औत्सर्गिकोऽण्। राष्ट्रे कृतो राष्ट्रिय इत्याद्यप्युदाहार्यम्।

(१४१४) प्रायभवः। तत्रेत्येवेति। प्रायभव इत्यर्थे सप्तम्यन्तादणादयो घादयश्च

भिषजः आदिवृद्धि। इस प्रकार दो विकल्प होने पर तीन रूप हुए। अर्थ—शतभिषज् में उत्पन्न—शतभिषजि जातः। उपर्युक्त वार्तिक "दृष्टं साम" सूत्र में निर्दिष्ट है।

(१४१२) पद—नक्षत्रेभ्यः, बहुलम्। अनुवृत्ति—लुक्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—जातार्थ प्रत्यय का अधिकतर 'लुक्' हो। उदा० रोहिण्यां जातः—रोहिणः—रौहिणः।

विवरण—पूर्ववत् 'लुक्' का ही प्रकरण है। अतः "नक्षत्रवाची प्रातिपदिकों से विहित जातार्थ प्रत्यय का भी बाहुल्य से 'लुक्' होता है"। पक्ष में लोप नहीं भी होगा। स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों में तदनन्तर "लुक् तद्धितलुकि" (१-२-४९) से स्त्री-प्रत्यय का भी लोप हो जायगा। **उदाहरण—रोहिणः** (रोहिणी में उत्पन्न—रोहिण्यां जातः)—रोहिणी+अण् ('अण्' का लोप) > रोहिणः (आदिवृद्धि नहीं हुई तथा 'ई'—गौरादि गण ङीष् की भी निवृत्ति)। **रौहिणः**—'अण्' का लोप न होने पर।

विशेष—नक्षत्रवाची 'रोहिणी' शब्द अव्युत्पन्न ङीषन्त है न कि वर्णवाची रोहित से निष्पन्न। अन्यथा 'न' की भी निवृत्ति होकर 'त' शेष रह जाता।

(१४१३) पद—कृतलब्धक्रीतकुशलाः। अनुवृत्ति—तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—सप्तम्यर्थ में ही। उदा० स्रुघ्ने कृतः, लब्धः, क्रीतः, कुशलः वा—स्रौघ्नः।

विवरण—'तत्र' की अनुवृत्ति के साथ ही प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "सप्तमी-समर्थ प्रातिपदिक से कृत (=किया हुआ), लब्ध (=पाया हुआ), क्रीत (=खरीदा हुआ) तथा कुशल अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण—स्रौघ्नः** (स्रुघ्न में किया, पाया, खरीदा या कुशल—स्रुघ्ने कृतः, लब्धः, क्रीतः, कुशलो वा)—स्रुघ्न+अण्।

(१४१४) पद—प्रायभवः। अनुवृत्ति—तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

भवति स्रौघ्नः । (१४१५) उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक् ४ । ३ । ४० ॥ औपजानुकः । औपकर्णिकः । औपनीविकः । (१४१६) सम्भूते ४ । ३ । ४१ ॥ स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्नः । (१४१७) कोशाड्ढञ् ४ । ३ । ४२ ॥ कौशेयं वस्त्रम् । (१४१८) काला-

---

यथायथं स्युरित्यर्थः । प्रायशब्दस्य व्याख्यानम्—बाहुल्येनेति । तत्र भव इत्येव सिद्धत्वात् व्याख्यातमिदं भाष्ये ।

(१४१५) उपजानूपकर्णं । प्रायभव इत्यर्थं उपजानु उपकर्णं उपनीवि इत्येभ्यः ठगित्यर्थः । उपजान्वादिषु सामीप्येऽव्ययीभावः । औपजानुक इति । जानुनः समीपमुपजानु । तत्र प्रायभव इत्यर्थः । उगन्तात्परत्वात् ठस्य कः । औपकर्णिक इति । कर्णस्य समीपमुपकर्णम्, तत्र प्रायभव इत्यर्थः । औपनीविक इति । नीवेः समीपमुपनीवि, तत्र प्रायभव इत्यर्थः ।

(१४१६) सम्भूते । तत्रेत्येव । सप्तम्यन्तात्सम्भूतेऽर्थे अणादयो घादयश्च यथायथं स्युरित्यर्थः । सम्भवः सम्भावना ।

(१४१७) कोशाड्ढञ् । कौशेयं वस्त्रमिति । कृमिविशेषकोशस्य विकार इत्यर्थः, 'विकारे कोशाड्ढञ्' इति वार्तिकात् ।

मूलार्थ—सप्तमी-समर्थ में ही । स्रौघ्नः अर्थात् स्रुघ्न में प्रायः होता है ।

विवरण—केवल 'तत्र' की अनुवृत्ति पूर्ववत् है । अर्थ-निर्देश सूत्र में किया गया है । तद्नुसार "सप्तमी-समर्थ प्रातिपदिकों से 'प्रायः होता है'—अर्थ में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—स्रौघ्नः (जो स्रुघ्न में प्रायः रहे, हमेशा नहीं—स्रुघ्ने प्रायेण भवति) ।

विशेष—"तत्र भवः" (४-३-२५) सूत्र से गतार्थ होने पर भी 'प्रायः' अर्थ की विषमता होने से 'पृथक्' सूत्र की चरितार्थता महाभाष्यकार ने नहीं मानी है, क्योंकि भवार्थ-सामान्य में 'प्रायभव'—विशेषार्थ का भी अन्तर्भाव हो सकता है ।

(१४१५) पद—उपजानूपकर्णोपनीवेः, ठक् । **अनुवृत्ति**—प्रायभवः, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—औपजानुकः । २—औपकर्णिकः । ३—औपनीविकः ।

विवरण—"प्रायभवः" (४-३-३९) अर्थ की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । "सप्तमी-समर्थ 'उपजानु', 'उपकर्ण' तथा 'उपनीवि' शब्दों से 'प्रायभवः' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है ।" **उदाहरण**—१—**औपजानुकः** (प्रायः घुटनों के समीप होने वाला—जानुनोः समीपम् उपजानु—तत्र प्रायेण भवः)—उपजानु+ठक् > उपजानुकः (ठ=क—"इसुसुक्तान्तात् कः" ७-३-५१) । २—**औपकर्णिकः**—प्रायः कानों के समीप होने वाला—कर्णयोः समीपम् उपकर्णम्—तत्र प्रायभवः । उपकर्ण+ठक् (ठ=इक), आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप) । ३—**औपनीविकः** (प्रायः नीवी के समीप होने वाला—नीव्याः समीपम् उपनीवि, तत्र प्रायभवः)—उपनीवि+ठक् (ठ=इक) ।

(१४१६) पद—सम्भूते । **अनुवृत्ति**—तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० स्रुघ्ने सम्भवति—स्रौघ्नः ।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ प्रातिपदिक से सम्भव ('सम्भूते') अर्थ में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं ।" **उदाहरण**—**स्रौघ्नः** (स्रुघ्न में जो सम्भव हो)—स्रुघ्न+अण् । 'अ'—लोप, आदिवृद्धि ।

(१४१७) पद—कोशात्, ढञ् । **अनुवृत्ति**—सम्भूते, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

त्साधुपुष्प्यत्पच्यमानेषु ४ । ३ । ४३ ॥ हेमन्ते साधुर्हैमनः प्राकारः । वसन्ते पुष्प्यन्ति वासन्त्यः कुन्दलताः । शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः । (१४१९) उप्ते च ४ । ३ । ४४ ॥ हेमन्ते उप्यन्ते हैमन्ता यवाः । (१४२०) आश्वयुज्या वुञ् ४ । ३ । ४५ ॥ ठञोऽपवादः । आश्वयुज्यामुप्ताः आश्वयुजकाः माषाः । (१४२१) ग्रीष्मवसन्तादन्यतर-

---

(१४१८) कालात् साधुपुष्प्यत् । तदेत्येव । साधुः, पुष्प्यत्, पच्यमानम् इत्यर्थेषु सप्तम्यन्ताद्यथा विहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । 'पुष्प विकसने' दैवादिकात् लटः शतरि पुष्प्यदिति भवति । हैमनः प्राकार इति । 'सर्वत्राण् च तलोपश्च' इत्यणि तलोपः । वासन्त्य इति । 'टिड्ढ' इति ङीप् । शारदा इत्यत्र ऋत्वण् । 'तत्र भवः' इति यावत् कालादित्यनुवर्तते ।

(१४१९) उप्ते च । तत्रेत्येव कालवाचिनः सप्तम्यन्तादुप्तेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । उप्यन्त इति । 'डुवप् बीजसन्ताने' भूतकालस्त्वविवक्षित इति भावः ।

(१४२०) आश्वयुज्या वुञ् । तत्रोप्त इत्येव । सप्तम्यन्तादाश्वयुजीशब्दात् उप्तेऽर्थे

मूलार्थ—उदा० कौशेयं वस्त्रम् ।

विवरण—'सम्भूते' (४-३-४१) अर्थ अपेक्षित है । अतः सप्तमी-समर्थ "'कोश' प्रातिपदिक से 'सम्भूत' अर्थ में 'ढञ्' (=एय) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—कौशेयम्** वस्त्रम् (रेशमी-वस्त्र—कोशे सम्भूतम्)—कोश+ढ (ढञ्) > कोश्+एय ▷ कौशेयम् ('अ' लोप तथा आदिवृद्धि) । 'कोश' का अर्थ है रेशमी कीड़े के द्वारा बनाया हुआ गोला ।

(१४१८) पद—कालात्, साधुपुष्प्यत्पच्यमानेषु । **अनुवृत्ति**—तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० हेमन्ते साधुः-१-हैमनः प्राकारः (चादर) । २-वासन्त्यः (वसन्ते पुष्प्यन्ति) कुन्दलताः । ३-शरदि पच्यन्ते—शारदाः शालयः ।

विवरण—'तत्र' का ही प्रकरण है । अतः "सप्तमी-समर्थ काल-विशेष-वाची शब्दों से 'साधु', 'पुष्प्यत्' तथा 'पच्यमान' अर्थों में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) 'साधु' अर्थ—**हैमनः** प्राकारः (हेमन्त ऋतु में सुखदायक, चादर—हेमन्ते साधुः)—हेमन्त+अण् ▷ हैमनः ("सर्वत्राण् च तलोपश्च" ४-३-२२ से 'अण्', 'अ' लोप, 'त्'-लोप एवम् आदिवृद्धि) । (२) 'खिलना' अर्थ में—**वासन्त्यः** कुन्दलताः (वसन्त में खिलें-वसन्ते पुष्प्यन्ति)-वसन्त्+अण् (ऋत्वण्) > वासन्त ('अ' लोप तथा आदिवृद्धि) ▷ वासन्ती (ङीप्) > वासन्त्यः (प्रथमा बहुवचन में विभक्तिकार्य । (३) पकना अर्थ—**शारदाः** शालयः (शरद् ऋतु में पके धान—शरदि पच्यन्ते)—शरद्+अण् । आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य ।

विशेष—"तत्र भवः" (४-३-५३) पर्यन्त=यहाँ से 'कालात्' की अनुवृत्ति जाती रहेगी ।

(१४१९) पद—उप्ते, च । **अनुवृत्ति**—कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० हेमन्ते उप्यन्ते—हैमन्ता यवाः ।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ कालवाची शब्दों से 'बोया हुआ' (उप्ते) अर्थ में भी यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण—हैमन्ताः** यवाः (हेमन्त ऋतु में बोये हुए जौ—हेमन्ते उप्यन्ते)—हेमन्त्+अण् । प्रथमा बहुवचन ।

(१४२०) पद—आश्वयुज्याः, वुञ् । **अनुवृत्ति**—उप्ते, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ठञ्' का अपवाद है । उदा० आश्वयुज्याम् उप्ताः—आश्वयुजकाः माषाः ।

स्याम् ४।३।४६॥ पक्षे ऋत्वण्। ग्रैष्मकम्-ग्रैष्मम्। वासन्तकम्-वासन्तम्।
(१४२२) देयमृणे ४।३।४७॥ 'कालात्' इत्येव। मासे देयमृणं मासिकम्।
(१४२३) कलाप्यश्वत्थयवबुसाद् वुन् ४।३।४८॥ यस्मिन्काले मयूराः कलापिनो भवन्ति स उपचारात्कलापी। तत्र देयमृणं कलापकम्। अश्वत्थस्य फलमश्वत्थः। तद्युक्तः

वुञ् स्यादित्यर्थः। ठञोऽपवाद इति। 'कालाट्ठञ्' इति विहितस्येत्यर्थः। आश्वयुजका माषा इति। अश्वयुग्भ्यां युक्ता पौर्णमासी आश्वयुजी तत्रोप्ता इत्यर्थः।

(१४२१) ग्रीष्मवसन्तात्। ग्रीष्मात् वसन्ताच्च सप्तम्यन्तादुप्ते वुञ् वेत्यर्थः।

(१४२२) देयमृणे। कालादित्येवेति। तत्रेत्यप्यनुवर्तते। वुञिति निवृत्तम्। सप्तम्यन्तात्कालवाचिनः देयमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः। तस्मिन् देयद्रव्ये ऋणे सतीत्यर्थः। मासिकमिति। 'कालाट्ठञ्'।

(१४२३) कलाप्यश्वत्थ। कलापिन्, अश्वत्थ, यवबुस एभ्यः कालवाचिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो देयमृणमित्यर्थे वुन् स्यादित्यर्थः। कलापकमिति। वुन्। अकादेशः। 'नस्तद्धिते'

विवरण—पूर्व सूत्र से 'उप्ते' अर्थ की अनुवृत्ति आ रही है। 'काल' वाची शब्दों का प्रकरण चल रहा है। अनुवर्तमान 'तत्र' पद सप्तमी-समर्थ का बोधक है। तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'आश्वयुजी' प्रातिपदिक से 'बोया हुआ' अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। 'अश्वयुज्' अर्थात् अश्विनी नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी (अश्वयुग्भ्यां युक्ता) 'आश्वयुजी' कहलाती है। **उदाहरण**—आश्वयुजकाः माषाः (आश्विन में बोये हुए उड़द—आश्वयुज्याम् उप्ताः)—आश्वयुजी+वुञ् (वु=अक)। 'ई' का लोप। "कालाट्ठञ्" (४-३-११) का यह अपवाद है।

(१४२१) पद—ग्रीष्मवसन्तात्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—वुञ्, उप्ते, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पक्ष में ऋत्वण्। उदा० १-ग्रैष्मकम्—ग्रैष्मम्। २—वासन्तकम्—वासन्तम्।

विवरण—'बोया हुआ' अर्थ में अनुवर्तमान 'वुञ्' का विकल्प विधान करने के लिये 'अन्यतरस्याम्' पद का निवेश किया जारहा है। अतः पक्ष में 'ऋतुवाची' अण् प्रत्यय भी होगा। तदनुसार "सप्तमी-समर्थ कालवाची 'ग्रीष्म' तथा 'वसन्त' शब्दों से 'बोया हुआ' अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है"। अतः पक्ष में औत्सर्गिक (ऋतुवाची) 'अण्' होगा। क्रमशः **उदाहरण**—(१) ग्रैष्मकम्→'वुञ्' होने पर (ग्रीष्म+वुञ्—वु=अक, 'अ' लोप तथा आदिवृद्धि)। ग्रैष्मम्←'अण्' होने पर (ग्रीष्म्+अण्)। अर्थ—जो गर्मी में बोया जाय—ग्रीष्मे उप्तम्। (२) वासन्तकम्→वुञ् होने पर (वसन्त्+वुञ्—वु=अक)। वासन्तम्←'अण्' होने पर (वसन्त+अण्)। अर्थ—वसन्त ऋतु में बोया हुआ—वसन्ते उप्तम्।

(१४२२) पद—देयम्, ऋणे। **अनुवृत्ति**—कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—काल-वाची से ही (होगा)। उदा० मासे देयम् ऋणम्—मासिकम्।

विवरण—'कालात्' तथा 'तत्र' इन दोनों की प्रमुखता है। अतः "सप्तमी-समर्थ कालवाची शब्दों से 'देने योग्य' अर्थ में 'ऋण' अभिधेय होने पर यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—मासिकम् (जो ऋण महीने भर में चुका दिया जाय—मासे देयम्-ऋणम्—मास+ठञ्—"कालाट्ठञ्" ४-३-११)।

(१४२३) पद—कलाप्यश्वत्थयवबुसात्, वुन्। **अनुवृत्ति**—देयमृणे, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—१-जिस समय मोर पङ्खयुक्त हों उस समय को भी लक्षणावृत्ति से 'कलापी' कहा

कालोऽप्यश्वत्थः। यस्मिन्काले अश्वत्थाः फलन्ति, तत्र देयमृणमश्वत्थकम्। यस्मिन्यवबुसमुत्पद्यते तत्र देयमृणं यवबुसकम्। (१४२४) ग्रीष्मावरसमाद् वुञ् ४।३।४९॥ ग्रीष्मे देयमृणं ग्रैष्मकम्। आवरसमकम्। (१४२५) संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ्च ४।

इति टिलोपः। अश्वत्थस्य फलमश्वत्थ इति। विकारप्रत्ययस्य फले लुगिति भावः। अश्वत्थशब्दस्य प्लक्षादित्वे तु ततः 'प्लक्षादिभ्योऽण्' इति फले अणो विधानसामर्थ्यात् लुगभावे अश्वत्थशब्दः फले लाक्षणिक इति भावः।

(१४२४) ग्रीष्मावरसमाद् वुञ्। समाशब्दो वत्सरे नित्यस्त्रीलिङ्गबहुवचनः। ग्रीष्म अवरसमा अनयोः समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी। तत्र देयमृणमित्यर्थे आभ्यां वुञित्यर्थः। आवरसमकमिति। अवरासु समासु देयमृणमित्यर्थः। 'तद्धितार्थे' इति समासः।

(१४२५) संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ् च। देयमृणमित्यर्थे सप्तम्यन्तादिति शेषः।

जायगा। उस समय में देय ऋण—कलापकम्। २—अश्वत्थ (पीपल) का फल भी 'अश्वत्थ' कहलायगा। उस समय दिया जाने वाला ऋण—अश्वत्थकम्। ३—जौ के भूसी निकाले जाने वाले समय में दिया जाने वाला ऋण—यवबुसकम्।

विवरण—"'कलापि', 'अश्वत्थ' तथा 'यवबुस' सप्तमी-समर्थ कालवाची शब्दों से 'देयम् ऋणे' विषय में 'वुन्' प्रत्यय होता है"। 'कलापि' मयूर का वाचक है, 'अश्वत्थ' शब्द वृक्षवाची है, तथा 'यवबुस' शब्द जौ के भूसे का वाचक है। ये शब्द कालवाची नहीं थे, अतः प्रकृत सूत्र से प्रत्यय नहीं हो सकता था। पुनरपि यहाँ ये शब्द साहचर्य से (लक्षणया) कालवाची मान लिये जाते हैं। जैसे—मोरों के पङ्ख निकलने का समय भी 'कलापी', 'पीपल' के पकने का काल भी 'अश्वत्थ' तथा जिस समय जौ का भूसा निकाला जाय वह समय भी 'यवबुस' कहलाता है। अतः इनसे 'देयम् ऋणे' अर्थ में 'वुन्' (वु=अक) प्रत्यय होगा। **उदाहरण**—(१) **कलापकम्** (मोरों के पङ्ख निकलते समय दिया जाने वाला ऋण—यदा मयूराः कलापिनः भवन्ति स उपचारात् कलापी, तत्र देयम् ऋणम्—कलापिन् + वुन्, = वु अक तथा टि-'इन्' लोप)। (२) **अश्वत्थकः** (पीपली पकते समय दिया जानेवाला ऋण—यस्मिन् काले अश्वत्थाः फलन्ति तत्र देयम् ऋणम्)—अश्वत्थ + वुन् (वु = अक)। (३) **यवबुसकम्** (जौ का भूसा निकालते समय दिया जाने वाला ऋण—यस्मिन् यवबुसमुत्पद्यते तत्र देयम् ऋणम्)-यवबुस + वुन् (वु=अक)। वृद्धि-निमित्त के अभाव से वृद्धि नहीं होती। किन्तु सर्वत्र 'टि' लोप होता है।

विशेष—'अश्वत्थस्य फलम्' अश्वत्थः—यहाँ पर "तस्य विकारः" (४-३-१४) से विहित विकारार्थक प्रत्यय का "फले लुक्" (४-३-१६३) लुक् से 'लुक्' हुआ है।

(१४२४) **पद**—ग्रीष्मावसरसमाद्, वुञ्। **अनुवृत्ति**—देयमृणे, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—ग्रीष्मे देयमृणम्—ग्रैष्मकम्। २—आवरसमकम्।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ कालवाची 'ग्रीष्म' तथा 'अवरसमा' शब्दों से 'देयम् ऋणे' इस अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **ग्रैष्मकम्** (ग्रीम ऋतु में दिया जाने वाला ऋण—ग्रीष्मे देयम् ऋणम्)—ग्रीष्म + वुञ् (वु = अक)। (२) **आवरसमकम्** (आने वाले वर्ष में दे दिया जाने वाला ऋण—अवरासु समासु देयम्)—अवरसमा + वुञ् (= अक)। दोनों उदाहरणों में प्रत्यय के 'ञित्' होने से आदिवृद्धि। 'अवरसमा' में पहले 'तद्धितार्थ-समास भी होगा।

(१४२५) **पद**—संवत्सराग्रहायणीभ्यां, ठञ्, च। **अनुवृत्ति**—वुञ्, देयम् ऋणे, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

३।५०॥ चाद् वुञ्। सांवत्सरिकम्—सांवत्सरकम्। आग्रहायणिकम्—आग्रहायणकम्।
(१४२६) व्याहरति मृगः ४।३।५१॥ कालवाचिनः सप्तम्यन्ताच्छब्दायते इत्यर्थे अणादयः स्युः, यो व्याहरति स मृगश्चेत्। निशायां व्याहरति—नैशो मृगः—नैशिकः।
(१४२७) तदस्य सोढम् ४।३।५२॥ 'कालात्' इत्येव। निशासहचरितमध्ययनं निशा, तत्सोढमस्य नैशिकः—नैशः। (१४२८) तत्र भवः ४।३।५३॥ स्रुघ्ने

सन्धिवेलादिगणे 'संवत्सरात् फलपर्वणोः' इति पठितम्। तत्र फले देयर्णत्वेन विवक्षिते प्राप्तः अण् अनेन ठञा बाध्यते।

(१४२६) व्याहरति मृगः। तत्र कालादित्येव। देयमृणे इति निवृत्तम्।

(१४२७) तदस्य सोढम्। अस्मिन्नर्थे प्रथमान्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः। सोढमित्यस्य अभ्यस्तमित्यर्थः। नैशिकः नैशः इति। 'निशाप्रदोषाभ्यां च' इत्यण्ठञौ।

मूलार्थ—'च' ग्रहण करने से 'वुञ्'। उदा० सांवत्सरिकम्—सांवत्सरकम्। २-आग्रहायणिकम्—आग्रहायणकम्।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'वुञ्' की अनुवृत्ति ('च' का निवेश होने के कारण) आ रही है। अतः "सप्तमी-समर्थ कालवाची 'संवत्सर' तथा 'आग्रहायणी' प्रातिपदिकों से 'ठञ्' तथा 'वुञ्' प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(१) **सांवत्सरिकम्**→('ठञ्' होने पर—संवत्सर+ठञ्=इक। **सांवत्सरकम्**←'वुञ्' होने पर (वु=अक)। दोनों प्रत्ययों में आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप। अर्थ—वर्ष भर में दे दिया जाने वाला ऋण—संवत्सरे देयम् ऋणम्। (२) **आग्रहायणिकम्**→'ठञ्' होने पर—आग्रहायणी+ठञ्। **आग्रहायणकम्**←'वुञ्' होने पर। अर्थ—अगहन (मार्गशीर्ष) में भुगतान कर दिया जाने वाला ऋण—आग्रहायण्यां देयम् ऋणम्।

विशेष—"सन्धि-वेलाद्यृतु-नक्षत्रेभ्योऽण्" (४-३-१६) सूत्रस्थ सन्धिवेलादि-गण में 'संवत्सरात् फलपर्वणोः' गणसूत्र पढ़ा है। तदनुसार 'फल' अर्थ में 'देय ऋण' अभिधेय होने पर प्राप्त 'अण्' यहाँ 'ठञ्' से बाधित है।

(१४२६) पद—व्याहरति, मृगः। **अनुवृत्ति**—कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—"सप्तम्यन्त कालवाची शब्दों से 'मृगः शब्दायते' अर्थ में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं"। उदा० निशायां व्याहरति—नैशः—नैशिकः वा मृगः।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से 'मृग शब्द करता है' (व्याहरति मृगः) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। 'देयम् ऋणे' अर्थ की निवृत्ति हो गई है। **उदाहरण**—नैशः मृगः (रात में बोलने वाला पशु—निशायां व्याहरति—निशा+अण्—"निशा-प्रदोषाभ्यां च" ४-३-१४)। पक्ष में 'ठञ्' (=इक)—नैशिकः।

(१४२७) पद—तद्, अस्य, सोढम्। **अनुवृत्ति**—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—काल-वाची शब्दों से ही (हो)। साहचर्य से रात्रि में होने वाला अध्ययन भी निशा, जो उसे सहन करे—वह—नैशिकः—नैशः।

विवरण—"प्रथमा-समर्थ (तद्) कालवाची प्रातिपदिकों का यदि 'सहन किया' (सोढम्) अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य हो तो—षष्ठ्यर्थ (अस्य) में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—**नैशिकः—नैशः** (जिस छात्र का अभ्यास रात्रि में पढने का हो—निशासहचरितम् अध्ययनं निशा, तत् सोढम् अस्य)—पूर्ववत् 'ठञ्' प्रत्यय (४-३-१४) विकल्प से हुआ है। रात्रि में अध्ययन किये जाने से—रात्रि और अध्ययन का परस्पर साहचर्य है। अतः अध्ययन भी

भवः स्रौघ्नः । राष्ट्रियः । (१४२९) दिगादिभ्यो यत् ४ । ३ । ५४ ॥ दिश्यम् । वर्ग्यम् । (१४३०) शरीरावयवाच्च ४ । ३ । ५५ ॥ दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । (१४३१) प्राचां नगरान्ते ७ । ३ । २४ ॥ प्राचां देशे नगरान्तेऽङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाऽचामादेरचो वृद्धिर्ञिति णिति किति च । सुह्मनगरे भवः—सौह्मनागरः ।

(१४२८) तत्र भवः । कालादिति निवृत्तम् । अस्मिन्नर्थे सप्तम्यन्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । भवनं सत्ता, जननमुत्पत्तिरिति भेदः । स्रौघ्न इति । औत्सर्गिकोऽण् । राष्ट्रिय इति । 'राष्ट्रावार' इति घः ।

(१४२९) दिगादिभ्यो यत् । भवः इत्यर्थे सप्तम्यन्तेभ्य इति शेषः । दिश्यमिति । दिशि भवमित्यर्थः ।

(१४३०) शरीरावयवाच्च । भव इत्यर्थे सप्तम्यन्तेभ्य इति शेषः । दन्त्यमिति । दन्ते भवमित्यर्थः । 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । एवं कण्ठ्यम् ।

(१४३१) प्राचां नगरान्ते । अङ्गस्येत्यधिकृतं नगरान्ते इति सप्तम्यनुरोधेन सप्तम्या विपरिणम्यते । 'उत्तरपदस्य' इत्यधिकृतम् । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते' इति सूत्रात्पूर्वपदस्येत्यनु-

---

'निशा' से अभिधेय होगा । उस रात्रि के अध्ययन को जो सहन कर सके उस छात्र को **नैशिकः** (निशा+ठञ्) या **नैशः** (निशा+अण्) कहा जायगा ।

(१४२८) पद—तत्र, भवः । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० स्रुघ्ने भवः—स्रौघ्नः ।

विवरण—"सप्तमी समर्थ (तत्र) प्रातिपदिकों से होने वाला ('भवः') अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—स्रौघ्नः (स्रुघ्न में होने वाला—स्रुघ्ने भवः)—स्रुघ्न्+अण् । प्रक्रिया पूर्ववत् । इसी प्रकार राष्ट्रे भवः—**राष्ट्रियः** (राष्ट्र+घ) ।

(१४२९) पद—दिगादिभ्यः, यत् । **अनुवृत्ति**—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १-दिश्यम् । २-वर्ग्यम् ।

विवरण—'तत्र भवः' अर्थ का प्रभाव आरम्भ हो रहा है । अतः "सप्तम्यर्थ 'दिश्' आदि प्रातिपदिकों से 'भव' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **दिश्यम्** (दिशा में होने वाला—दिशि भवम्—दिश्+य (यत्) । (२) **वर्ग्यम्** (वर्ग या समूह में होने वाला—वर्गे भवम्)—वर्ग्+य (यत्) । 'अन्त्य'लोप ।

(१४३०) पद—शरीरावयवात्, च । **अनुवृत्ति**—यत्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १-दन्त्यम् । २-कण्ठ्यम् ।

विवरण—विधेयांश 'यत्' पद पूर्व सूत्र (१४२९) से अनुवृत्ति-लभ्य है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'शरीर के अवयववाची' पदों से भी 'भव' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **दन्त्यम्** (दाँतों में होने वाला—दन्तेषु भवम्)—दन्त्+य (यत्) । 'अन्त्य'लोप । (२) **कण्ठ्यम्** (गले में होने वाला—कण्ठे भवम्)—कण्ठ्+य (यत्) ।

(१४३१) पद—प्राचां, नगरान्ते । **अनुवृत्ति**—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ञित्, णित् तथा कित्—तद्धित परे रहते प्राग्देशीय नगरान्त अङ्ग के पूर्वपद एवम् उत्तरपद के आदि 'अच्' को वृद्धि होती है । उदा० सुह्मनगरे भवः—१-सौह्मनागरः । २-पौर्व-

पौण्ड्रनागरः। प्राचाम् किम्? मद्रनगरम् उदक्षु, तत्र भवो माद्रनगरः। (१४३२) जङ्गलधेनुवलजान्तस्य विभाषितमुत्तरम् ७।३।२५॥ जङ्गलाद्यन्तस्याङ्गस्य पूर्वपदस्याचामादेरचो वृद्धिरुत्तरपदस्य तु वा ञिति णिति किति च। कुरुजङ्गले भवं कौरुजङ्गलम्–कौरुजाङ्गलम्। वैश्वधेनवम्–वैश्वधैनवम्। सौवर्णवलजम्–सौवर्णवालजम्।

वर्तते। तदयमर्थः। प्राचां यन्नगरं तदन्ते अङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्य च अचामादेरचो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति किति च तद्धिते इति। सुह्मनगरमिति पुण्ड्रनगरमिति च प्राग्देशस्य पूर्वान्तावधिः। मद्रनगरं उदक्ष्विति। उदग्देशे मद्रनगरं नाम किञ्चिन्नगरमस्तीत्यर्थः।

(१४३२) जङ्गलधेनु। जङ्गलाद्यन्तस्याङ्गस्येति। जङ्गल, धेनु, वलज इत्यन्तस्येत्यर्थः। कुरुजङ्गल इति। भवमिति शेषः। कुरुजङ्गलादिशब्दाः देशविशेषेषु।

नागरः। 'प्राचां' क्यों कहा? (उत्तर में स्थित)-मद्रनगरे भवः—माद्रनगरः (केवल पूर्वपद-वृद्धि)।

विवरण—उभय-पद वृद्धि का प्रकरण है। अतः सप्तमाध्यायस्थ उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "प्राच्य देश में (प्राचां) नगरान्त प्रातिपदिक वाले अङ्गों के 'पूर्वपद' एवम् 'उत्तरपद' के अचों में आदि 'अच्' को 'कित्', 'ञित्' तथा 'णित्' प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'वृद्धि' होती है"। **उदाहरण**—(१) **सौह्मनागरः** (सुह्मनगर में होने वाला—सुह्मनगरे भवः)—सुह्मनगर्॰+अ (अण्) ▷ सौह्मनागरः (उभयपद-वृद्धि तथा 'अन्त्य'लोप। (२) **पौर्वनागरः** (पूर्वनगर में होने वाला-पूर्वनगरे भवः)—पूर्वनगर्॰+अ (अण्)। उभयपद-वृद्धि, एवम् अन्त्यलोप।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'प्राचां' पद का निवेश होने से माद्रनगरः (मद्रनगर में होने वाला-मद्रनगरे भवः)—में 'अण्' होने पर केवल आदिवृद्धि ही हुई, क्योंकि मद्रनगर उत्तर-दिशा में स्थित है।

(**१४३२**) **पद**—जङ्गल-धेनु-वलजान्तस्य, विभाषितम्, उत्तरम्। **अनुवृत्ति**—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जङ्गलादि-अन्त अङ्ग के पूर्वपदस्थ अचों में आदि 'अच्' को (नित्य) तथा उत्तरपद को 'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' प्रत्यय परे रहते विकल्प से वृद्धि हो। उदा० १–कुरुजङ्गले भवम्→कौरुजङ्गलम्—कौरुजाङ्गलम्। २–वैश्वधेनवम्—वैश्वधैनवम्। ३–सौवर्णवलजम्—सौवर्णवालजम्।

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है। पूर्व सूत्र के अनुसार सभी अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं। सूत्र में 'उत्तरम्' शब्द उत्तरपद का बोधक है। समीपस्थ 'विभाषित' पद से उत्तरपद को वैकल्पिक वृद्धि तथा पूर्वपदस्थ आदि अच् को नित्य वृद्धि का विधान बतलाया जा रहा है। तदनुसार "'जङ्गल', 'धेनु' तथा 'वलज'–अन्त अङ्ग के पूर्वपदस्थ अचों में आदि अच् को (नित्य) वृद्धि होती हैं तथा उत्तरपदस्थ आदि अच् को 'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' तद्धित के परवर्ती होने पर विकल्प से वृद्धि होती है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **कौरुजङ्गलम्**→केवल पूर्वपद को वृद्धि। **कौरुजाङ्गलम्**←दोनों पदों के आदि अच् को वृद्धि। **अर्थ**—कुरु-जङ्गलों में होने वाला—कुरुजङ्गलेषु भवम्—कुरुजङ्गल+अण्। (२) **वैश्वधेनवम्**→केवल पूर्वपद में वृद्धि। **वैश्वधैनवम्**← उभयपद वृद्धि। **अर्थ**—विश्वधेनु में उत्पन्न—विश्वधेन्वां जातम्—विश्वधेनु+अण् में 'उ' को गुण एवम् अवादेश। (३) **सौवर्णवलजम्**→केवल पूर्वपद-वृद्धि। **सौवर्णवालजम्**←उभयपदवृद्धि। **अर्थ**–सुवर्णवलज में उत्पन्न–सुवर्णवलजे भवम्—सुवर्णवलज+अण्।

(१४३३) दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् ४ । ३ । ५६ ॥ दार्तेयम् । कौक्षेयम् । कलशिर्घटः, तत्र भवं—कालशेयम् । (१४३४) ग्रीवाभ्योऽण् च ४ । ३ । ५७ ॥ चाड्ढञ् । ग्रैवेयम्-ग्रैवम् । (१४३५) गम्भीराञ्ञ्यः ४ । ३ । ५८ ॥ गम्भीरे भवं

(१४३३) दृतिकुक्षि । भव इत्यर्थे दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अहि—इत्येतेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्य इति शेषः । दार्तेयमिति । दृतौ भवमित्यर्थः । ढञ्, एयः, आदिवृद्धिः, रपरत्वम् । दृतिश्चर्मभस्त्रिका । कौक्षेयमिति । धूमादित्वाद् वुञि प्राप्ते ठञ् । कलशिर्घटः । 'कलशिर्मंथनपात्रम्' इत्यमरव्याख्यातारः । 'वस्तिर्नाभिरधो द्वयोः' इत्यमरः । तत्र भवो वास्तेयः । अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । सत्तायां धने चेति न्यासकारो हरदत्तश्च । तत्र भव आस्तेयः । अहिः सर्पः, तत्र भवः आहेयः ।

(१४३४) ग्रीवाभ्योऽण् च । 'शरीरावयवाच्च' इति यतोऽपवादः । ग्रीवाशब्दोऽयं धमनीसङ्घे वर्तते । तत्र उद्‌भूतावयवभेदसङ्घविवक्षायां बहुवचनान्तात्प्रत्यय इति सूचयितुं बहुवचनम् । तिरोहितावयवभेदविवक्षायां तु एकवचनान्तादप्यण्ढञौ स्त एव ।

(१४३३) पद—दृति'''स्त्यहेः, ढञ् । अनुवृत्ति—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० दार्तेयम् । कौक्षेयम् । कलशिः अर्थात् घटः-तत्र भवं-कालशेयम् ।

विवरण—पुनः तद्धित-प्रकरण की ओर ध्यान दें । पूर्वोक्त उल्लिखित अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'दृति', 'कुक्षि', 'कलशि', 'अस्ति' तथा 'अहि' शब्दों से भव अर्थ में शैषिक 'ढञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **दार्तेयम्** (मशक में होने वाला-दृतौ भवम्-दृति+ढञ् ढ=एय । आदिवृद्धि, 'इ' लोप । (२) **कौक्षेयम्** (पेट में होने वाला या म्यान में रहने वाली-तलवार-कुक्षौ भवम्-कुक्षि+ढञ्=एय) । (३) **कालशेयम्** (घड़े में उत्पन्न या रहने वाला—कलशौ जातं भवं वा)—कलशि+ढ (ढञ्=एय) । (४) **वास्तेयम्** (पेड़ू में होने वाला—वस्तौ भवम्)—वस्ति+ढञ् (ढ=एय) । (५) **आस्तेयम्** (धन में होने या रहने वाला—'अस्ति' धनार्थे, तत्र भवम्)—अस्ति+ढञ् (ढ = एय) । (६) **आहेयम्** (सर्प में रहने वाला—अहौ भवम्)—अहि+ढञ् (ढ = एय) ।

विशेष—'कुक्षि' शब्द का धूमादि'गण में पाठ होने से 'वुञ्' प्राप्त था । उसे बाधकर 'ढञ्' होता है । मन्थपात्र को भी 'कलशि' कहते हैं । 'नाभि' के नीचे भाग को बस्ति (वस्ति) कहते हैं । अस्ति—विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय हैं । 'सत्ता' और धन-इसके अर्थ हैं । शेष शब्द प्रचलित हैं ।

(१४३४) पद—ग्रीवाभ्यः, अण्, च । अनुवृत्ति—ढञ्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'च' पद से 'ढञ्' भी । उदा० ग्रैवम्—ग्रैवेयम् ।

विवरण—सूत्रस्थ 'च' पद पूर्व-प्रत्यय का अनुकर्षक है । अतः पूर्व सूत्र (१४३३) से 'ढञ्' अनुवर्तमान है । तदनुसार सप्तमी-समर्थ "'ग्रीवा' शब्द से भवार्थ में 'अण्' और 'ढञ्' (=एय) प्रत्यय होते हैं" । 'ग्रीवा' शब्द धमनी का वाचक है, उनके बहुत होने से सूत्र में बहुवचन-निर्देश किया है । 'शरीरावयवाद्यत्' (४-३-५५) से 'यत्' प्रत्यय प्राप्त था । उसका यह अपवाद-सूत्र है । **उदाहरण**—**ग्रैवम्** (धमनियों में रहने वाला-ग्रीवासु भवम्)-ग्रीवा+अण् । **ग्रैवेयम्** ग्रीवा+ढञ् (ढ = एय) । उभयत्र आदिवृद्धि एवम् 'अन्त्य' लोप ।

गाम्भीर्यम् । 'पञ्चजनादुपसङ्ख्यानम्' (वा २८६८)। पाञ्चजन्यम् । (१४३६) अव्ययीभावाच्च ४ । ३ । ५९ ॥ परिमुखं भवं पारिमुख्यम् । 'परिमुखादिभ्य एवेष्यते' (वा २८६६) । नेह, औपकूलः । (१४३७) अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् ४ । ३ । ६० ॥

(१४३५) गम्भीराञ्ञ्यः । गाम्भीर्यमिति । यञ् विधौ तु स्त्रियां 'प्राचां ष्फ तद्धितः' इति ष्फः स्यात् ।

(१४३६) अव्ययीभावाच्च । ञ्य इति शेषः । परिमुखादिभ्य इति । यद्यपीदं वार्तिकं भाष्ये न दृष्टम्, तथापि दिगादिगणपाठानन्तरं परिमुखादिगणपाठसामर्थ्यादिहाव्ययीभावपदं परिमुखादिपरमिति गम्यते । न ह्यष्टाध्याय्यां परिमुखादिगणस्य कार्यान्तरमस्ति । औपकूल इति । उपकूलं भव इत्यर्थः । अव्ययीभावत्वेऽपि परिमुखाद्यनन्तर्भावात् न ञ्यः ।

(१४३५) पद—गम्भीरात्, ञ्यः । अनुवृत्ति—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० गम्भीरे भवम्—गाम्भीर्यम् । वा० 'पञ्चजन' से भी 'ञ्य' कहा जाय । उदा० पाञ्चजन्यम् ।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ 'गम्भीर' प्रातिपदिक से भवार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है" । 'ञ्' इत् होने से आदिवृद्धि होगी । उदाहरण—गाम्भीर्यम् (गहराई में होने वाला—गहराई-गम्भीरे भवम्)—गम्भीर्+य (ञ्य) । आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप । 'यञ्' करने पर स्त्री-लिङ्ग में 'ष्फ' प्रत्यय होने लगता ("प्राचां ष्फ तद्धितः" ४-१-१७) । वार्तिक—'पञ्चजन' शब्द से भी भवार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है । उदाहरण—पाञ्चजन्यम्[1] ('पञ्चजन' नामक दैत्य के पास रहने वाला—पञ्चजने भवम्)—पञ्चजन्+य (ञ्य) । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप ।

(१४३६) पद—अव्ययीभावात्, च । अनुवृत्ति—ञ्यः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० परिमुखं भवम्—पारिमुख्यम् । वा० परिमुखादि से (ञ्य) अभीष्ट है । अतः यहाँ नहीं—औपकूलः ।

विवरण—प्रकृत सूत्रस्थ 'च' अव्यय पूर्वसूत्रस्थ 'ञ्य' प्रत्यय की अनुवृत्ति का सूचक है । अतः "सप्तमी-समर्थ अव्ययीभावसंज्ञक प्रातिपदिक से भवार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—पारिमुख्यम् (सामीप्य या उपस्थिति-परिमुखं भवम्)—परिमुख्+य (ञ्य) । ञित्वात् आदिवृद्धि । 'परिमुखादिभ्य एव इष्यते" वार्तिक द्वारा अव्ययीभावसंज्ञक 'परिमुखादि' शब्दों तक ही इसे ('ञ्य' प्रत्यय) को परिगणित करने के फलस्वरूप औपकुलः (तट के समीप होने वाला—कुलस्य समीपम् उपकुलम्–तत्र भवः)—में औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय ही हुआ (उपकुल्+अण्) ।

विशेष—यद्यपि 'परिमुखादिभ्य एवेष्यते' वार्तिक भाष्य में वर्णित नहीं है, तथापि दिगादिगणपाठ के अनन्तर परिमुखादि गणपाठ किये जाने से यह ज्ञापित होता है कि प्रकृत-सूत्रस्थ अव्ययीभाव पद परिमुखादि गण तक ही सीमित है । कारण यह है कि अष्टाध्यायी में परिमुखादिगण को अभिलक्षित कर कोई दूसरा विधान नहीं बतलाया गया है ।

---

१. भगवान् श्रीकृष्ण का शङ्ख । यह पञ्चजन नामक राक्षस की हड्डियों से बनाया गया था—
नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् । अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः ॥
आस्ते तेनाहृतो नूनं तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः । जलमाविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ॥
तदङ्ग-प्रभवं शङ्खं प्रदध्मौ स हलायुधः । शङ्खनिह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ॥
—श्रीमद्भागवतम् १०-४५।४०-४२ ।

'अव्ययीभावात्' इत्येव । वेश्मनीत्यन्तर्वेश्मम् । तत्र भवमान्तर्वेश्मिकम् । आन्तर्गणिकम् । 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते' (वा २८६९) । अध्यात्मं भवम्–आध्यात्मिकम् । (१४३८) अनुशतिकादीनां च ७ । ३ । २० ॥ एषामुभयपदवृद्धिः स्यात् ञिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । अध्यात्मादिराकृति-

---

(१४३७) अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् । वेश्मनीत्यन्तर्वेश्ममिति । विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः । 'अनश्च' इति टच् । आन्तर्वेश्मिकमिति । ठञ्, इकः, सुब्लुक्, टिलोपः, आदिवृद्धिः । आन्तर्गणिकमिति । गणे इत्यन्तर्गणम् । तत्र भवमित्यर्थः । आध्यात्मिकमिति । आत्मनीत्यध्यात्मम् । तत्र भवमित्यर्थः ।

(१४३८) अनुशतिकादीनां च । आदिवृद्धिप्रकरणे उत्तरपदस्य, पूर्वपदस्य चेत्यधिकारे इदं सूत्रम् । तदाह—एषामिति । आधिदैविकमिति । देवेष्वित्यधिदेवम्, तत्र भवमित्यर्थः । ठञि उभयपदवृद्धिः । आधिभौतिकमिति । भूतेष्वित्यधिभूतम् । तत्र भवमित्यर्थः । ऐहलौकिकमिति । इहलोके भवमित्यर्थः । पारलौकिकमिति । परलोके भवमित्यर्थः । सर्वत्र ठञि उभयपदवृद्धिः ।

(१४३७) पद—अन्तः पूर्वपदात्, ठञ् । अनुवृत्ति—अव्ययीभावात्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अव्ययीभाव से ही (हो) । उदा० १—वेश्मनि इति—अन्तर्वेश्मम्—तत्र भवम्→ आन्तर्वेश्मिकम् । २—आन्तर्गणिकम् । वा० अध्यात्मादि शब्दों से 'ठञ्' अभीष्ट है । उदा० अध्यात्मं भवम्—आध्यात्मिकम् ।

विवरण—अव्ययीभाव का ही विषय है । उसे कुछ विस्तृत किया जा रहा है । अतः "अन्तः शब्द पूर्वक सप्तमी-समर्थ अव्ययीभावसंज्ञक प्रातिपदिक से भवार्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—आन्तर्वेश्मिकम् (मकान के भीतर होने वाला—अन्तर्वेश्मं भवम्)—प्रथम 'वेश्मनि इति' इस विग्रह में विभक्त्यर्थ अव्ययीभाव होकर 'अन्तर्वेश्मम्' रूप निष्पन्न होगा→अन्तर्वेश्मन्+ टच् , टिलोप । तदनन्तर अन्तर्वेश्म्+ठञ् (ठ=इक) । अन्त्यलोप एवम् आदिवृद्धि । (२) **आन्तर्गणिकम्** (गण या झुण्ड के भीतर होने वाला—अन्तर्गणं भवम्)—अन्तर्गण+ठञ् (ठ=इक) । इसके पूर्व 'गणे इति' अन्तर्गणम्—अव्ययीभाव समास कर लिया जाय ।

वार्तिक—अर्थ—सप्तमी-समर्थ **अध्यात्म** आदि शब्दों से भी भवार्थ में 'ठञ्' प्रत्यय अभीष्ट है । अतः आध्यात्मिकम् (आत्मा में होने वाला—आत्मसम्बन्धी—आत्मनि इति अध्यात्मम्— तत्र भवम्)—अध्यात्म+ठञ् (ठ= इक) । 'टि'लोप एवम् आदिवृद्धि ।

(१४३८) पद—अनुशतिकादीनां, च । अनुवृत्ति—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' प्रत्यय परे रहते इनको उभयपद-वृद्धि हो । उदा० १— आधिदैविकम् । २—आधिभौतिकम् । ३—ऐहलौकिकम् । ४—पारलौकिकम् ।

विवरण—यह वृद्धि-प्रकरण का प्रासङ्गिक सूत्र है । अतः उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । अनुशतिकादि आकृति-गण है । इसमें अनुशतिक, अधिदेव, अधिभूत, इहलोक तथा परलोक आदि का समावेश होता है । तदनुसार "'अनुशतिक' इत्यादि अङ्गों के पूर्वपद तथा उत्तरपद (दोनों) के अचों में आदि 'अच्' को भी 'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर वृद्धि होती है" । **उदाहरण**—(१) **आधिदैविकम्** (ईश्वर में होने वाला— देवेषु इति अधिदेवम्—तत्र भवम्)—अधिदेव+ठञ् (ठ= इक) > आधिदैव्+इक (उभयपदवृद्धि) > आधिदैविकम् ('अन्त्य' लोप एवं विभक्ति-कार्य । (२) **आधिभौतिकम्** (प्राणियों

गणः। (१४३९) देविकाशिंशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात् ७।३।१॥ एषां पञ्चानां वृद्धिप्राप्तावादेरचः आत् ञिति णिति किति च। दाविकम्। देविकाकूले भवाः–दाविकाकूलाः शालयः। शिंशपाया विकारः–शांशपश्चमसः। 'पलाशादिभ्यो वा' (सू १५२१) इत्यञ्। दित्यौह इदं दात्यौहम्। दीर्घसत्रे भवं दार्घसत्रम्। श्रेयसि भवं श्राय-

(१४३९) देविका। आदिवृद्धिप्रकरणे इदं सूत्रम्। एषामिति। देविका, शिंशपा, दित्यवाह्, दीर्घसत्र, श्रेयस् इत्येषामित्यर्थः। वृद्धिप्राप्ताविति। आदिवृद्धिप्राप्तौ तदपवादत्वेन आदेरचः आकारः स्यादित्यर्थः। दाविकमिति। देविका नाम नदी, तस्यां भवमित्यर्थः। दाविकाकूला इति। उत्तरपदवृद्धिभ्रमनिरासाय इदमुदाहरणम्, अस्य सूत्रस्य तदधिकारबहिर्भूतत्वादिति भावः। शांशप इति। इकारस्य आकारः, अञि वृद्धिः, शिंशपाशब्दस्य पलाशादौ पाठात् पाक्षिकोऽञ्। तदभावेऽणित्यर्थः। दात्यौहमिति। दित्यवाह् शब्दात् 'तस्येदम्' इत्यणि 'वाह ऊठ्' इति सम्प्रसारणं, पूर्वरूपम्। 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः। इकारस्य आदिवृद्ध्यपवादः आकारः। दार्घसत्रमिति। 'तस्येदम्' इत्यण् आदेरीकारस्य आकारः। श्रायसमिति। तत्र भव इत्यणि एकारस्य आकारः।

या पदार्थों में होने वाला–भूतेषु इति अधिभूतम्—तत्र भवम्)—अधिभूत+ठञ् (ठ=इक)। उभयपदवृद्धि एवम् अन्त्यलोप। (३) ऐहलौकिकम् (इस लोक में होने वाला–इहलोके भवम्)। (४) पारलौकिकम्—परलोक में होने वाला–परलोके भवम्। 'ठञ्' (=इक) एवम् उभयपदवृद्धि तथा 'अन्त्यलोप' आदि कार्य पूर्ववत्।

विशेष—अध्यात्मादि गण आकृतिगण है। अर्थात् उभयपदवृद्धि वाले प्रयोग इसके उदाहरण समझे जायेंगे।

(१४३९) पद—देविका-शिंशपा-दित्यवाट्-दीर्घसत्र-श्रेयसाम्, आत्। **अनुवृत्ति**—किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इन पाँचों को वृद्धि प्राप्त होने पर ञित्, णित्, तथा कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते 'आदि अच्' के स्थान पर 'आ' आदेश हो। उदा० १–दाविकम्। देविकाकूले भवाः–दाविकाकूलाः शालयः। २–शिंशपायाः विकारः—शांशपः चमसः। 'पलाशादिभ्यो वा' वार्तिक से 'अञ्' प्रत्यय हुआ है। ३–दित्यौहः इदम्—दात्यौहम्। ४–दीर्घसत्रे भवम्—दार्घसत्रम्। ५–श्रेयसि भवम्—श्रायसम्।

विवरण—आदिवृद्धि-प्रकरण में यह सूत्र अष्टाध्यायी के सातवें अध्याय में पढ़ा गया है। अतः उस प्रकरण की उल्लिखित अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं। किन्तु इस सूत्र से आदिवृद्धि के अपवाद-स्वरूप दीर्घ 'आ'कार आदेश का विधान किया जा रहा है। अतः उपर्युक्त पाँचों शब्दों के आदि 'अच्' स्थानी हैं तथा आदेश 'आ' है। अतः "'देविका', 'शिंशपा', 'दित्यवाह्', 'दीर्घसत्र' तथा 'श्रेयस्'—अङ्गावयव अचों में 'आदि अच्' को वृद्धि का प्रसङ्ग होने पर 'ञित्', 'णित्', तथा 'कित्' तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'आ'कार आदेश होता है"। **उदाहरण**—(१) **दाविकम्** (देविका नदी में उत्पन्न—देविकायां भवम्)—देविका+अण् (अ) > दाविका+अ (ए=आ) > दाविकम् ('आ' लोप)। **दाविकाकूलाः** शालयः (देविका[1] के तट पर होने वाले धान—देविकाकूले भवाः)—देविकाकूल+अण् > दाविकाकूलाः (ए=आ)। यह उदाहरण उत्तर-पद-वृद्धि के भ्रम का निराकरण करने के लिये दिया है। वह इस सूत्र के अन्तर्गत नहीं है। (२) **शांशपः** चमसः (शीशम की लकड़ी का बना हुआ यज्ञपात्र→आकृति में चौकोर←

१. वर्तमान 'देग' नदी जो जम्मू की पहाड़ियों से निकल कर स्यालकोट आदि होती हुई 'रावी' में मिलती है।

सम्। (१४४०) ग्रामात्पर्यनुपूर्वात् ४।३।६१॥ ठञ् स्यात्। अव्ययीभावात् इत्येव। पारिग्रामिकः। आनुग्रामिकः। (१४४१) जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ४।३।६२॥ जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्। (१४४२) वर्गान्ताच्च ४।३।६३॥ कवर्गीयम्। (१४४३)

(१४४०) ग्रामात्पर्यनुपूर्वात्। ठञ् स्यादिति। 'अन्तः पूर्वपदात्' इत्यतः तदनुवृत्तिरिति भावः।

(१४४१) जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः। 'शरीरावयवाच्च' इति यतोऽपवादः।

(१४४२) वर्गान्ताच्च। कवर्गीयमिति। कादिवर्गे भवमित्यर्थः।

शिंशपायाः विकारः)—शिंशपा+अञ् (पाक्षिक—"पलाशादिभ्यो वा" ४-३-१४१) ▷ **शांशपः** ("तद्धितेष्वचाम०" ४-२-११७ आदिवृद्धि का बाधकर इ = आ तथा 'अन्त्य'-लोप)। (३) **दात्यौहम्** (दो वर्ष के बछड़े में होने वाला—दित्यौहः इदम्)—दित्यवाह्+अण् (औत्सर्गिक) >दित्य-ऊ-आ-ह्+अ ("वाह ऊठ्" ६-४-१३२→सम्प्रसारण ऊठ्) > दित्यऊह्+अ (पूर्वरूप-ऊ+आ = ऊ) ▷ दित्यौह्+अ (वृद्धि—"एत्येधत्यूठ्सु" ६-१-८९) >दात्यौह (इ = आ) ▷ दात्यौहम् (विभक्ति-कार्य)। (४) **दार्घसत्रम्** (लम्बे समय के यज्ञ में होने वाला—दीर्घसत्रस्य इदम्)—दीर्घसत्र+अ (अण्) ▷ दार्घसत्रम् (ई = आ)। (५) **श्रायसम्** (कल्याण में होने वाला—श्रेयसि भवम्)—श्रेयस्+अण् > श्रायसम् (ए = आ)।

(१४४०) पद—ग्रामात्, पर्यनुपूर्वात्। **अनुवृत्ति**—ठञ्, अव्ययीभावात्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च।

मूलार्थ—'ठञ्' हो। अव्ययीभाव से ही (हो)। उदा० १—पारिग्रामिकः। २—आनुग्रामिकः।

विवरण—पुनः शैषिक प्रकरण का यथाक्रम सूत्र दिया जा रहा है। इसके पूर्व 'अव्ययीभाव' संज्ञक प्रातिपदिकों के सम्बन्ध में आने वाले प्रत्ययों पर विचार किया जा रहा था। अतः "अव्ययीभावाच्च" (४-३-५९) सूत्र से 'अव्ययीभावात्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। सूत्रस्थ पदों से उसका अन्वय करने पर यह विदित होता है कि "'परि' तथा 'अनु' पूर्वक अव्ययीभाव-संज्ञक ग्राम—शब्दान्त सप्तमी-समर्थ प्रातिपदिक से भवार्थ में 'ठञ्' प्रत्यय ("अन्तः पूर्वपदाट्ठञ्" ४-३-६० से अनुवर्तमान) हो"। **उदाहरण**—(१) **पारिग्रामिकः** (गाँव के समीप होने वाला—परिग्रामं भवः) परिग्राम+ठञ् (ठ = इक) ▷ पारिग्रामिकः (उभयपदवृद्धि, 'अ' लोप)। (२) आनुग्रामिकः (गाँव के पीछे होने वाला—अनुग्रामं भवः)—अनुग्राम+ठञ् (ठ = इक)। शेष पूर्ववत्।

(१४४१) पद—जिह्वामूलाङ्गुलेः, छः। **अनुवृत्ति**—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—जिह्वामूलीयम्। २—अङ्गुलीयम्।

विवरण—"तत्र भवः" ४-३-५३ का ही विषय है। अतः "सप्तमी-समर्थ 'जिह्वामूल' तथा 'अङ्गुलि' शब्दों से भवार्थ में 'छ' (= ईय) प्रत्यय होता है"। यह प्रत्यय "शरीरावयवाच्च" (४-३-५५) से प्राप्त 'यत्' प्रत्यय का अपवाद है। **उदाहरण**—(१) जिह्वामूलीयम् (जिह्वामूल में होने वाला—जिह्वामूले भवम्)—जिह्वामूल+छ (= ईय)। अन्त्य-लोप। (२) **अङ्गुलीयम्** (अंगुली में होने वाला, अँगूठी—अङ्गुल्यां भवम्)—अङ्गुलि+छ (ईय)। शेष पूर्ववत्।

(१४४२) पद—वर्गान्तात्, च। **अनुवृत्ति**—छः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० कवर्गीयम्।

विवरण—पूर्व सूत्र (१४४१) से विधेयांश 'छः' का लाभ अनुवृत्ति द्वारा होता है। तदनुसार

अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम् ४ । ३ । ६४ ॥ पक्षे पूर्वेण छः । मद्वर्ग्यः–मद्वर्गीणः–मद्वर्गीयः । अशब्दे किम् ? कवर्गीयो वर्णः । **(१४४४) कर्णललाटात्कनलङ्कारे ४ । ३ । ६५ ॥** कर्णिका । ललाटिका । **(१४४५) तस्य व्याख्यान इति च व्याख्या-**

(१४४३) अशब्दे । वर्णान्तात् छ इति शेषः । मद्वर्ग्यः, मद्वर्गीण इति । मत्पक्षे भव इत्यर्थः ।

(१४४४) कर्णललाटात् । 'शरीरावयवाच्च' इति यतोऽपवादः । कर्णिका ललाटिकेति । कर्णे ललाटे भवोऽलङ्कारः इत्यर्थः । स्त्रीत्वं लोकात् । टापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्त्वम् ।

(१४४५) तस्य व्याख्यान इति च । व्याख्यायते अनेनेति व्याख्यानो ग्रन्थः, करणे ल्युट् । तस्य व्याख्यान इति विग्रहे व्याख्यातव्यग्रन्थप्रतिपादकात् षष्ठचन्तात् भव इत्यर्थे

"सप्तमी-समर्थ वर्ग-शब्दान्त प्रातिपदिक से भी भवार्थ में 'छ' (=ईय) प्रत्यय होगा" । **उदाहरण-कवर्गीयम्** (कवर्ग में रहने वाला–कवर्गे भवम्)–कवर्ग + छ (= ईय) । अन्त्यलोप ।

(१४४३) पद—अशब्दे, यत्-खौ, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—वर्गान्तात्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पक्ष में पूर्वसूत्र से 'छ' (होगा) । उदा० मद्वर्ग्यः–मद्वर्गीणः–मद्वर्गीयः । 'अशब्दे' क्यों कहा ? कवर्गीयः वर्णः (शब्द-समूह होने के कारण पूर्व सूत्र से 'छ' हुआ) ।

विवरण—पूर्व सूत्र के विषय का सीमित विस्तार किया जा रहा है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'वर्गान्त'–प्रातिपदिक से शब्दसमूहरूप भिन्नार्थ अभिधेय होने पर भवार्थ में विकल्प से 'यत्' तथा 'ख' (=ईन) प्रत्यय होते हैं" । पूर्वसूत्र (१४४२) से 'छ' प्रत्यय प्राप्त था, 'अशब्द' अभिधेय होने पर 'यत्' तथा 'ख' विकल्प से कह दिये । पक्ष में 'छ' भी होगा । इस प्रकार तीन रूप होंगे । **उदाहरण**—(क) **मद्वर्ग्यः**←'यत्' होने पर । **मद्वर्गीयः**—मद्वर्ग + छ = ईय । **मद्वर्गीणः**←'ख' होने पर । **अर्थ**—मेरे पक्ष में रहने वाला–मद्वर्गे भवः ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अशब्दे' पद का निवेश होने के कारण **कवर्गीयः वर्णः** (कवर्ग के अन्तर्गत वर्ण) में 'यत्' तथा 'ख' प्रत्यय नहीं हुए, क्योंकि यहाँ पर शब्द-समूहरूप 'वर्ग' का बोध हो रहा है । अतः 'छ' प्रत्यय ही हुआ ।

(१४४४) पद—कर्णललाटात्, कन्, अलङ्कारे । **अनुवृत्ति**—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १–कर्णिका । २–ललाटिका ।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ 'कर्ण' तथा 'ललाट' शब्दों से 'भव' अर्थ में आभूषण अभिधेय होने पर 'कन्' प्रत्यय होता है" । "शरीरावयवाच्च" (४-३-५५) से 'यत्' की प्राप्ति रही, उसके अपवादस्वरूप 'कन्' प्रत्यय का विधान बतलाया गया । **उदाहरण**—(१) **कर्णिका** (कान का आभूषण—कर्णे भवा)—कर्ण+क (कन्) ⊳ कर्णिका (स्त्री-लिङ्ग में "अजाद्यतष्टाप्" ४-१-४ से टाप्' तथा "प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" ७-३-४४ से प्रत्ययस्थ 'क' से पूर्व 'अ' के स्थान पर 'इ'कार) । (२) **ललाटिका** (ललाट का आभूषण-बेंदा–ललाटे भवा)—ललाट+क (कन्) । शेष पूर्ववत् ।

(१४४५) पद—तस्य, व्याख्याने, इति, च, व्याख्यातव्यनाम्नः । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० सुपां व्याख्यानः—१–सौपः ग्रन्थः । २–तैङः । ३–कार्तः । इसी तरह सुप्सु भवं—सौपम् ।

तव्यनाम्नः ४ । ३ । ६६ ॥ सुपां व्याख्यानः—सौपो ग्रन्थः । तैङः । कार्तः । सुप्सु भवं सौपम् । **(१४४६) बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ् ४ । ३ । ६७ ॥** षत्वणत्वयोर्विधायकं शास्त्रं षत्वणत्वम् । तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा षात्वणत्विकः । **(१४४७) क्रतुयज्ञे-**

च सप्तम्यन्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । चकारः 'तत्र भवः' इत्यस्य समुच्चयार्थः । सौप इति । औत्सर्गिकोऽण् । तैङ इति । तिङां व्याख्यानो ग्रन्थ इत्यर्थः । कार्त इति । कृतां व्याख्यान इत्यर्थः । अणि आदिवृद्धौ रपरत्वम् । भवार्थं उदाहरति—सुप्सु भवं सौपमिति । न च 'तस्येदम्' 'तत्र भवः' इत्याभ्यामेव सिद्धत्वादिदं सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम्, अर्थद्वयनिर्देशस्य अपवादभूतवक्ष्यमाणठञादिविधानायावश्यकत्वादिति भाष्ये स्पष्टम् ।

(१४४६) बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ् । अन्तोदात्ताद् बह्वचः उक्तविषये ठञ् स्यात् । अणोऽपवादः ।

विवरण—'व्याख्यायते अनेन' इस व्युत्पत्ति से 'व्याख्यान' शब्द ग्रन्थ का पर्यायवाची है। 'व्याख्यान' का कर्म ग्रन्थ का 'विषय' होता है। कर्ता 'आचार्य' होता है। 'कथन' क्रिया है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "षष्ठी-समर्थ (तस्य) व्याख्यान किये जाने योग्य प्रातिपदिकों से (व्याख्यातव्यनाम्नः) व्याख्यान अभिधेय होने पर (व्याख्याने) यथाविहित प्रत्यय हों तथा सप्तमी-समर्थ व्याख्यातव्यनामवाची शब्दों से भवार्थ में भी यथाविहित प्रत्यय होंगे"। **उदाहरण**—'सुप्', 'तिङ्' तथा 'कृत्' व्याख्यान किये जाने योग्य प्रातिपदिक हैं, अतः इनसे व्याख्यान अभिधेय होने पर औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होकर सौपः (सुपां व्याख्यानो ग्रन्थः)—सुप्+अण् । आदिवृद्धि । तैङः (तिङां व्याख्यानो ग्रन्थः—तिङ्+अण्) तथा कार्तः (कृतां व्याख्यानो ग्रन्थः—कृत्+अण्) । आदिवृद्धि—रपर=आर् ।—ये शब्द निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार भवार्थ में भी सुप्सु भवम् (सुप् में होने वाला) अर्थ में भी 'अण्' प्रत्यय होकर सौपम् रूप निष्पन्न होगा[1] ।

विशेष—(१) षष्ठ्यन्त से 'व्याख्यान-करण' अर्थ में तथा सप्तम्यन्त से 'भव' अर्थ में व्याख्यातव्य ग्रन्थ के प्रतिपादक-शब्द से 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं। यही दोनों में अन्तर है।

(२) उपर्युक्त दोनों अर्थों के साधक तो सामान्यतः "तस्येदम्" (४-३-१२०) तथा "तत्र भवः" (४-३-५३) सूत्र विद्यमान हैं। तब इस पृथक् विधान की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान भाष्यकार ने यह दिया है कि सामान्य अर्थ-द्वय के बाधक 'ठञ्' आदि प्रत्यय कहे जायेंगे उनके अपवादस्वरूप यह युगपद्-व्याख्यानरूप अधिकार चरितार्थ होता है[2] ।

(१४४६) पद—बह्वचः, अन्तोदात्तात्, ठञ् । **अनुवृत्ति**—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० षत्वणत्वयोः विधायकं शास्त्रं—षत्वणत्वम् । तस्य व्याख्यानः तत्र भवः वा—षात्वणत्विकः ।

---

१. ऐसा विदित होता है कि व्याख्यान ग्रन्थों का नाम 'मूल व्याख्यातव्य-विषय' के नाम से भी रखा जाता था। तभी सौपः, तैङः, कार्तः आदि की निष्पत्ति के लिये इस सूत्र की चरितार्थता होती है। तीनों प्रकार के प्रत्ययों को अभिलक्षित कर ग्रन्थ लिखने की परिपाटी तब से प्रचलित हो गई हो।

२. "किमर्थं भव-व्याख्यानयोर्युगपदधिकारः क्रियते? भवव्याख्यानयोर्युगपदधिकारः अपवादविधानार्थः। युगपदपवादान् वक्ष्यामीति। किमुच्यतेऽपवादविधानार्थं इति न पुनर्निर्देशार्थोऽपि स्यात्। कृतनिर्देशौ हि तावर्थौ। एकस्तत्र भव इति। अपरस्तस्येदमिति"। महाभाष्यम्।

स्यश्च ४।३।६८॥ सोमसाध्येषु यागेष्वेतौ प्रसिद्धौ। तत्रान्यतरोपादानेन सिद्धे उभयोरुपादानसामर्थ्यादसोमका अपीह गृह्यन्ते। अग्निष्टोमस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा आग्निष्टोमिकः। वाजपेयिकः। राजसूयिकः। पाकयज्ञिकः। नावयज्ञिकः। बहुवचनं

(१४४७) क्रतुयज्ञेभ्यश्च। सोमेति। सोमलताद्रव्यकयागेषु क्रतुशब्दो यज्ञशब्दश्च प्रसिद्ध इत्यर्थः। तर्ह्यन्यतरग्रहणं व्यर्थम्, बहुवचनेन स्वरूपग्रहणनिवृत्तेरित्यत आह—तत्रेति। गृह्यन्त इति। ततश्च इह क्रतुशब्देन सोमयागाः, यज्ञशब्देन तदितरा यागाः विवक्षिता इति भावः। एवञ्च सोमयागविशेषवाचिभ्यः, तदितरयागविशेषवाचिभ्यश्च उक्तविषये ठञित्यर्थः। पाकयज्ञिक इति। औपासनाग्निसाध्याः पार्वणस्थालीपाकादयः पाकयज्ञाः। तेषां व्याख्यानो ग्रन्थः, तेषु भव इति वार्थः। नावयज्ञिक इति। नूतनद्र-

---

विवरण—पूर्व सूत्र के नियम का विस्तार है। अतः "'व्याख्यान' और 'भव' अर्थ में षष्ठी और सप्तमी-समर्थ अनेकाच्-युक्त अन्तोदात्त व्याख्यातव्य नाम प्रातिपदिकों से 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—षात्वणत्विकः ('षत्व' और 'णत्व' का व्याख्यान—षत्व-णत्वयोः व्याख्यानः—तत्र भवः वा—षत्व-णत्व + ठञ् = इक)। यह 'अण्' का अपवाद है।

(१४४७) पद—क्रतुयज्ञेभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—ठञ्, तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, ताद्धताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—सोमसाध्य यागों में ये दोनों (शब्द) प्रसिद्ध हैं। इनमें एक के कथन मात्र से कार्य-निवाह होता, दोनों के ग्रहण करने से सोम से भिन्न का भी यहाँ ग्रहण होता है। उदा० अग्निष्टोमस्य व्याख्यानः—तत्र भवः वा—आग्निष्टोमिकः। २–वाजपेयिकः। ३–पाकयज्ञिकः। ४-नावयज्ञिकः। स्वरूप-विधि निरास के लिये सूत्र में बहुवचन–निर्देश है।

विवरण—'व्याख्यान' और 'भवार्थ' का ही विषय चल रहा है। इसके साथ ही पूर्व सूत्र (१४४६) से 'ठञ्' की भी अनुवृत्ति आ रही है। दोनों पूर्व सूत्रों के अपेक्षित विषयों के साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता करने से यह विदित होता है कि "क्रतुवाची व्याख्यातव्यनाम षष्ठी तथा सप्तमी-समर्थ प्रातिपदिकों से भी 'व्याख्यान' और 'भव' अर्थों में 'ठञ्' प्रत्यय हो"। 'क्रतु' और 'यज्ञ'[1] शब्द सोमप्रकृतिक यागों में प्रसिद्ध हैं। दोनों शब्द प्रायः समानार्थ हैं। अतः किसी एक शब्द का ग्रहण करने से कार्यसिद्धि सम्भव थी। दोनों के पृथक् उपादान-सामर्थ्य से यह ज्ञापित होता है कि सोमसाध्य से भिन्न यज्ञ और क्रतु-वाचक शब्दों से भी व्याख्यान अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय हो। **उदाहरण**—आग्निष्टोमिकः (जिस ग्रन्थ में अग्निष्टोम[2] यज्ञ की व्याख्या हो—अग्निष्टोमस्य व्याख्यानः, अथवा तत्र भवः)—अग्निष्टोम + ठञ् (ठ = इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। (२) वाजपेयिकः (जिस ग्रन्थ में बाजपेय यज्ञ की व्याख्या हो। वाजपेयस्य

---

१. यज्ञ तीन प्रकार के थे—इष्टि, पशुबन्ध और सोम। इष्टि जैसे दर्श-पौर्णमास में 'स्वाहा' कह कर और बैठ कर आहुति दी जाती है। पशुबन्ध और सोमयज्ञों में आहुति खड़े होकर और 'वौषट्' बोल कर डाली जाती थी। प्रकृत सूत्र में 'क्रतु' और 'यज्ञ' में अन्तर बतलाया गया है। 'यज्ञ' व्यापक शब्द था। उसके अन्तर्गत दर्शपौर्णमास जैसी इष्टियाँ, पाकयज्ञ-नवयज्ञ जैसे साधारण होम, पञ्चौदन, सप्तौदन जैसे विशिष्ट स्थालीपाक एवम् अग्निष्टोम, राजसूय और वाजपेय जैसे 'क्रतु' भी थे। किन्तु 'क्रतु' शब्द केवल सोम-प्रकृतिक यज्ञों के लिये ही प्रयुक्त होता था। क्रतुओं में सोम की आहुति दी जाती है। क्रतु दो प्रकार के होते हैं—(१) अहीन—एक दिन से ११ दिन तक चलने वाले सोम-प्रकृतिक याग। (२) सत्र—बारह दिन से लेकर वर्ष, दो वर्ष, सौ वर्ष या सहस्र वर्ष तक चलते हैं।

२. अग्निष्टोम में तीन सवन और द्वादश स्तोत्र होते हैं। यह सब क्रतुओं की प्रकृति है।

स्वरूपविधिनिरासार्थम् । अनन्तोदात्तार्थं आरम्भः । (१४४८) अध्यायेष्वेवर्षेः ४ । ३ । ६९ ॥ ऋषिशब्देभ्यो लक्षणया व्याख्येयग्रन्थवृत्तिभ्यो भवे व्याख्याने चाध्याये ठञ् स्यात् । वसिष्ठेन दृष्टो मन्त्रो वसिष्ठः, तस्य व्याख्यानः तत्र भवो वा—वासिष्ठिकोऽध्यायः । अध्यायेषु किम् ? वासिष्ठी ऋक् । (१४४९) पौरोडाशपुरोडाशात्ष्ठन् ४।३।

व्यकः आग्रयणाख्यः यज्ञः नवयज्ञः । ननु पूर्वसूत्रेण सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अनन्तोदात्तार्थ इति । वाजपेयशब्दो मध्योदात्तः तैत्तिरीयादौ प्रसिद्धः । यद्यपि अग्निष्टोमशब्दः अन्तोदात्त एव तैत्तिरीये दृष्टः । नवयज्ञशब्दोऽपि षष्ठीसमासः, समासस्वरेणान्तोदात्त एव, तथापि अन्यार्थमिदमन्तोदात्तेष्वपि परत्वात् प्रवर्तत इति न दोषः ।

(१४४८) अध्यायेष्वेवर्षेः । वसिष्ठेन दृष्टो मन्त्रो वसिष्ठ इति । लक्षणयेति भावः । वासिष्ठिकोऽध्याय इति । कश्चित् ग्रन्थविशेषोऽयम् । वासिष्ठी ऋगिति । ऋचः अध्यायसमाख्याभावात् न ठञिति भावः ।

(१४४९) पौरोडाश । उक्तविषये इति शेषः । पुरोडाशेति । पुरोडाशशब्दसहितो

व्याख्यानः, तत्र भवः वा)—वाजपेय+ठञ् । शेष पूर्ववत् । (३) पाकयज्ञिकः (जिस ग्रन्थ में पाकयज्ञ की व्याख्या हो—वैश्वदेव आदि—पाकयज्ञस्य व्याख्यानः, तत्र भवः वा)—पाकयज्ञ+ठञ् । (४) नावयज्ञिकः (जिस ग्रन्थ में नवयज्ञ की व्याख्या हो—आग्रयणेष्टि आदि—नवयज्ञस्य व्याख्यानः, तत्र भवः वा)—नवयज्ञ+ठञ् ।

विशेष—(१) सूत्र में 'क्रतु' तथा 'यज्ञ'—ये दो शब्द दिये गए हैं किन्तु बहुवचन का प्रयोग किया गया है । अतः यह सिद्ध होता है कि यहाँ पर स्वरूपविधि मान्य नहीं है । अर्थात् "स्वं रूपं शब्दस्या-शब्दसंज्ञा" (१-१-६८) से प्राप्त 'क्रतु' और 'यज्ञ' शब्दों से प्रत्यय-विधान की व्यवस्था प्रतिबाधित होती है ।

(२) पूर्व सूत्र—"बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ्" (४-३-६७) से अन्तोदात्त शब्दों से 'ठञ्' का विधान होता है । अतः प्रकृत सूत्र अन्तोदात्त-भिन्न शब्दों के विषय में प्रवृत्त होता है ।

(१४४८) **पद**—अध्यायेषु, एव, ऋषेः । **अनुवृत्ति**—ठञ्, तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लक्षणा द्वारा व्याख्येय-ग्रन्थ-वृत्ति ऋषिवाचक शब्द से भवार्थ एवं व्याख्यानार्थ में अध्याय-अर्थ वाच्य रहते 'ठञ्' प्रत्यय होता है । उदा० वसिष्ठेन दृष्टः मन्त्रः—वसिष्ठः, तस्य व्याख्यानः, तत्र भवः वा—वासिष्ठिकः अध्यायः । 'अध्यायेषु' क्यों कहा ? वासिष्ठी ऋक् (अध्याय न होने से 'ठञ्' नहीं) ।

विवरण—पूर्वोक्त 'व्याख्यान' का ही प्रकरण है । किन्तु व्याख्यानात्मक अध्याय ही यहाँ वाच्य है । अतः "षष्ठी तथा सप्तमी समर्थ व्याख्यातव्य-नाम ऋषिवाची (ऋषेः) प्रातिपदिकों से 'भव' एवं 'व्याख्यान' अर्थों में अध्याय गम्यमान होने पर (अध्यायेषु) ही 'ठञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—वसिष्ठ ऋषि-वाची शब्द है, तत्सह-चरित ग्रन्थ भी 'वसिष्ठ' (वसिष्ठ से देखा गया मन्त्र) कहा जायगा । अतः व्याख्यातव्यनाम होने से 'ठञ्' होकर **वासिष्ठिकः** रूप निष्पन्न होता है (जिस अध्याय में वसिष्ठ मन्त्रों की व्याख्या हो) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अध्यायेषु' का निवेश होने से **वासिष्ठी** ऋक् (वसिष्ठ से उपलब्ध मन्त्रों की व्याख्या करने वाली ऋचा) में अध्यायवाच्य न होने के कारण 'ठञ्' नहीं हुआ । अतः औत्सर्गिक 'अण्' ही हुआ ।

(१४४९) **पद**—पौरोडाश-पुरोडाशात्, ष्ठन् । **अनुवृत्ति**—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

७०॥ पुरोडाशसहचरितो मन्त्रः पुरोडाशः स एव पौरोडाशः। ततः छन्। पौरोडाशिकः। पुरोडाशिकः। (१४५०) छन्दसो यदणौ ४।३।७१॥ छन्दस्यः—छान्दसः।
(१४५१) द्वयजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक् ४।३।७२॥

मन्त्रः लक्षणया पुरोडाश इत्युच्यत इत्यर्थः। स एव पौरोडाश इति। प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽणिति भावः। पौरोडाशिक इति। पौरोडाशात् छनि रूपम्। पुरोडाशिक इति। पुरोडाशशब्दात् छनि रूपम्। षित्त्वात् ङीष्। पौरोडाशिकी—पुरोडाशिकी।

(१४५०) छन्दसो यदणौ। तस्य व्याख्याने तत्र भवे चेति शेषः। छन्दस्यः छान्दस इति। 'छन्दसां व्याख्यानः' तत्र भवो वा।

(१४५१) द्वयजृद्। द्वयच्, ऋत्, ब्राह्मण, ऋक्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण,

---

मूलार्थ—पुरोडाश सहचरित मन्त्र में लक्षणावृत्ति से पुरोडाशत्व का आरोप है। स्वार्थ अणन्त होने पर वही पौरोडाश-उससे 'छन्' प्रत्यय करने पर-उदा० १-पौरोडाशिकः। २-पुरोडाशिकः।

विवरण—पूर्वोक्त विषय ही चल रहा है। अतः "पौरोडाश तथा पुरोडाश व्याख्यातव्य-नाम प्रातिपदिकों से 'भव' और 'व्याख्यान' अर्थों में 'छन्' प्रत्यय होता है"। 'यज्ञकार्य में चावल या जौ के आटे को गरम पानी में गूँथ कर 'बाटी' के सदृश जो पिण्ड बनाया जाता है, उसे पुरोडाश कहते हैं'[1]। पुरोडाश-सम्बन्धी पद्धतियों का इस सूत्र से उल्लेख मिलता है। 'पुरोडाश' किस प्रकार बनाया जाय, उसके मन्त्र तथा इसकी विधि बताने वाला व्याख्यान ग्रन्थ **पौरोडाशिकः** (पौरोडाश+छन्) अथवा पुरोडाशिकः (पुरोडाश+छन्) था। पुरोडाशसहचरित मन्त्र में भी लक्षणावृत्ति द्वारा पुरोडाश का आरोप किया जाता है। 'पुरोडाश' शब्द से स्वार्थ में "प्रज्ञादिभ्यश्च" (५-४-३८) 'अण्' प्रत्यय करने पर तदर्थक 'पौरोडाश' शब्द निष्पन्न होता है। अतः दोनो उदाहरणों (१) **पौरोडाशिकः** (पौरोडाश+छन्) तथा (२) **पुरोडाशिकः**—(पुरोडाश+छन्) के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है (पुरोडाश सहचरितो मन्त्रः लक्षणया पुरोडाशः, स एव पौरोडाशः-तस्य व्याख्यानः तत्र भवः वा)।

(१४५०) **पद**—छन्दसः, यदणौ। **अनुवृत्ति**—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० छन्दसः—छान्दस्यः।

विवरण—"षष्ठी-सप्तमी-समर्थ व्याख्यातव्य-नाम 'छन्दस्' प्रातिपदिक से 'भव' और 'व्याख्यान' अर्थों में 'यत्' और 'अण्' प्रत्यय होते हैं"। अग्रिम सूत्र (१४५१) से 'छन्दस्' शब्द 'द्वयच्' होने के कारण 'ठक्' की प्राप्ति में यह विधान है। **उदाहरण**—छन्दस्यः→ यत् होने पर (छन्दस्+यत्)। छान्दसः←'अण्' होने पर (छन्दस्+अण्)। **अर्थ**—छन्दःशास्त्र-परक ग्रन्थ—छन्दसां व्याख्यानस्तत्र भवो वा।

विशेष—यहाँ दो अर्थ एवं दो प्रत्ययों में स्वरितत्व प्रतिज्ञा न होने के कारण यथासंख्य नियम प्रवृत्त नहीं होता।

---

१. पुरोडाश तैयार करने की विधि के अङ्ग इस प्रकार हैं—**व्रीहीन् निर्वपति** (यजुर्वेद अध्याय १, मन्त्र ९), **प्रोक्षति** (मन्त्र १२), **अवहन्ति** (मन्त्र १४), **परापुनाति** (मन्त्र १६), **तण्डुलान् पिनष्टि** (मन्त्र २०), **प्रणीताभिः संयौति** (मन्त्र २१), और **कपालेषु श्रपयति** (मन्त्र २२)। इन्हीं प्रक्रियाओं की व्याख्या पुरोडाशिक ग्रन्थ में की जाती थीं, जैसी शतपथ के आरम्भ में है। यज्ञों में सम्मिलित होने वाले ऋत्विजों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऐसी पद्धतियों की माँग रहती थी।

द्व्यचः–ऐष्टिकः, (शैषिकः), पाशुकः। ऋतः–चातुर्होतृकः। ब्राह्मणिकः। आर्चिकः इत्यादि। (१४५२) अणृगयनादिभ्यः ४।३।७३॥ ठञादेरपवादः। आर्गयनः।

नामन्, आख्यात एभ्यः ठक् स्यात् तस्य व्याख्याने तत्र भवे च। शैषिक इति। शेषस्य व्याख्यानः तत्र भवो वेत्यर्थः। पाशुक इति। पशुयागप्रतिपादकग्रन्थः पशुः, तस्य व्याख्यानः तत्र भवो वेत्यर्थः। उकः परत्वात् ठस्य कः। ऋत इति। उदाह्रियत इत्यर्थः। चातुर्होतृक इति। 'चित्तिः स्रुक्' इत्यादयो मन्त्राश्चतुर्होतारस्तैत्तिरीये प्रसिद्धाः। तेषां व्याख्यानः तत्र भवो वेत्यर्थः। ब्राह्मणिकः, आर्चिक इति। ब्राह्मणानि मन्त्रव्यतिरिक्तवेदभागाः, तेषामृचां वा व्याख्यानः तत्र भवो वेत्यर्थः। इत्यादीति। प्राथमिकः, आध्वरिकः, पौरश्चरणिकः, नामिकः, आख्यातिकः।

(१४५२) अणृगयनादिभ्यः। तस्य व्याख्याने तत्र भवे चेति शेषः। आर्गयन इति। ऋगयनम् ऋक्संहिता, तस्य व्याख्यानः तत्र भवो वेत्यर्थः। 'बह्वृचोऽन्तोदात्तात्'

(१४५१) पद—द्व्यजृद्‌·····तात्, ठक्। अनुवृत्ति—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १–द्व्यच् का–ऐष्टिकः, शैषिकः, पाशुकः। २–ऋकारान्त का–चातुर्होतृकः। ३–ब्राह्मणिकः। ४–आर्चिकः–इत्यादि।

विवरण—"षष्ठी तथा सप्तमी-समर्थ व्याख्यातव्यनाम द्व्यच्क तथा ऋकारान्त प्रातिपदिक एवं ब्राह्मण, ऋक्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण, नाम तथा आख्यात प्रातिपदिकों से 'भव' तथा 'व्याख्यान' अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—(१) द्व्यच्क शब्द—(क) ऐष्टिकः (इष्टि की व्याख्या करने वाला ग्रन्थ—इष्टेः व्याख्यानः तत्र भवो वा)—इष्टि+ठक् (ठ=इक)। अन्त्यलोप एवम् आदिवृद्धि। (ख) शैषिकः ('शेष' का व्याख्यान अथवा होने वाला–शेषस्य व्याख्यानः–तत्र भवः वा)–शेष+ठक्। (ग) पाशुकः (पशुबन्ध यज्ञ की व्याख्या करने वाला ग्रन्थ—पशुयागप्रतिपादकग्रन्थः पशुः–तस्य व्याख्यानः, तत्र भवः वा)—पशु+ठक्। ठ=क ("इसुसुक्तान्तात् कः" ७-३-५१)। (२) ऋकारान्त शब्द—चातुर्होतृकः (चतुर्होताओं द्वारा किये जाने वाले यज्ञ का व्याख्यान-ग्रन्थ—'चित्तिः स्रुक्' इत्यादयो मन्त्राः चतुर्होतारः तैत्तिरीये प्रसिद्धाः—तेषां व्याख्यानः, तत्र भवः वा)—चतुर्होतृ+ठक्। ठ=क। (३) ब्राह्मणिकः (ब्राह्मण-ग्रन्थों के व्याख्यात्मक ग्रन्थ–ब्राह्मणानां व्याख्यानः–तत्र भवः वा)—ब्राह्मण+ठक्। (४) आर्चिकः (ऋचाओं की व्याख्या करने वाला ग्रन्थ—ऋचां व्याख्यानः—तत्र भवः वा)—ऋच्+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि-ऋ=आर्। अन्य उदाहरण—(५) प्राथमिकः (प्रधानोपसर्जन का व्याख्यान ग्रन्थ–प्रथमस्य व्याख्यानः–तत्र भवः वा)—प्रथम+ठक्। (६) आध्वरिकः (अध्वर या सोमयज्ञ का व्याख्यान-ग्रन्थ–अध्वरस्य व्याख्यानः—तत्र भवः वा)—अध्वर+ठक्। (७) पौरश्चरणिकः (पुरश्चरण या यज्ञ के लिये पूर्व तैयारी का व्याख्यान ग्रन्थ जिसका उल्लेख शतपथ में है—पुरश्चरणस्य व्याख्यानः—तत्र भवः वा)—पुरश्चरण+ठक्।

विशेष—यह विधान अणादि का बाधक है। आदि पद से यहाँ 'ठञ्' लिया गया है। स्थिति इस प्रकार है–(१) 'ऋक्' शब्द में तथा (२) 'द्व्यच्क' शब्दों में 'अण्' का बाधक है। (३) 'पुरश्चरण' शब्द 'ल्युट्' प्रत्ययान्त है। कृदुत्तरपद-प्रकृति स्वर से मध्योदात्त है। अतः अनुदात्तादि होने से प्राप्त 'अण्' का यह अपवाद है। (४-६) ब्राह्मणादि तीनों शब्द अन्तोदात्त हैं। अतः प्राप्त 'ठञ्' का यह बाधक है। (७) ऋकारान्त शब्दों में भी यह 'अण्' का बाधक है।

(१४५२) पद—अण्, ऋगयनादिभ्यः। अनुवृत्ति—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

औपनिषदः। वैयाकरणः। (१४५३) तत आगतः ४।३।७४॥ स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः। (१४५४) ठगायस्थानेभ्यः ४।३।७५॥ शुल्कशालायाः आगतः शौल्क-

---

इति ठञि प्राप्ते अण्। औपनिषद इति। उपनिषदो व्याख्यानस्तत्र भवो वेत्यर्थः। एवं वैयाकरणः। 'न य्वाभ्याम्' इत्यैच्। अण्ग्रहणं तु छबाधनार्थम्। अन्यथा अणा मुक्ते छो दुर्वारः स्यादित्याहुः।

(१४५३) तत आगतः। अस्मिन्नर्थे पञ्चम्यन्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। स्रौघ्न इति। औत्सर्गिकोऽण्।

(१४५४) ठगायस्थानेभ्यः। तत आगतः इत्यर्थे इति शेषः। हट्टादिषु स्वामिग्राह्यो भागः आयः। स यस्मिन् गृह्यते तदायस्थानम्। तद्वाचिभ्य इत्यर्थः।

मूलार्थ—'ठञ्' आदि का अपवाद है। उदा० १-आर्गयनः। २-औपनिषदः। ३-वैयाकरणः।

विवरण—"षष्ठी-सप्तमी-समर्थ व्याख्यातव्य-नाम ऋगयनादि प्रातिपदिकों से 'भव' और 'व्याख्यान' अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **आर्गयनः** (ऋग्वेद के पारायण की व्याख्या करने वाला ग्रन्थ—ऋगयनस्य व्याख्यानः-तत्र भवः वा)—ऋगयन+अण्। आदिवृद्धि—ऋ=आर्। अन्त्यलोप। (२) **औपनिषदः** (उपनिषदों की व्याख्या करने वाला ग्रन्थ—उपनिषदां व्याख्यानः—तत्र भवो वा)—उपनिषद्+अण्। आदिवृद्धि। (३) **वैयाकरणः** (व्याकरण की व्याख्या करने वाला ग्रन्थ—व्याकरणस्य व्याख्यानः—तत्र भवः वा)-व्याकरण+अण्। 'य्' के पूर्व ऐच्-आगम होने से आदिवृद्धि का निषेध।

विशेष—यह विधान भी 'ठञ्' आदि प्रत्ययों का बाधक है। स्थिति इस प्रकार है-'ऋगयन' समस्त शब्द है। इस प्रकार अन्तोदात्त है। अतः "बह्वचोऽन्तोदात्तात्०" (४-३-६७) से प्राप्त 'ठञ्' का इस विधान ने बाध किया। 'उपनिषत्' शब्द में कृत्स्वर—निमित्तक अन्तोदात्त होने से 'ठञ्' प्राप्त था, उसका यह बाधक है। 'व्याकरण' शब्द में प्राप्त "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) का यह अपवाद है।

(१४५३) पद—ततः, आगतः। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० स्रुघ्नात् आगतः—स्रौघ्नः।

विवरण—'ततः' पद पञ्चमी-विभक्ति का सूचक है। 'आगतः'-आया हुआ अर्थ का वाचक है। अतः "'आया हुआ' अर्थ में पञ्चम्यन्त-समर्थ से यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—**स्रौघ्नः** (स्रुघ्न से आया हुआ—स्रुघ्नात् आगतः)—स्रुघ्न+अण् (औत्सर्गिक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप।

विशेष—स्मरण रहे कि 'जातः', 'प्रायभवः', 'सम्भूते', 'भवः' आदि पूर्वोक्त सभी शैषिक अर्थ हैं। इन सभी अर्थों में रूप प्रायः समान ही होते हैं, केवल प्रसंगानुसार अर्थ में अन्तर पड़ जाता है। उदाहरण के लिये 'स्रौघ्नः' शब्द के प्रकरणानुसार भिन्न भिन्न अर्थ होंगे।

(१४५४) पद—ठक्, आयस्थानेभ्यः। **अनुवृत्ति**—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० शुल्कशालायाः आगतम्—शौल्कशालम्।

विवरण—अर्थ-निर्देश के लिये "तत आगतः" (४-३-७४) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "पञ्चमी-समर्थ 'आयस्थानवाची' प्रातिपदिकों से 'आगत' अर्थ में 'ठक्' (=इक) प्रत्यय होता है"। जहाँ पर 'आय' (=कर) की उत्पत्ति हो वह आयस्थान (चुंगी चौकी) है। **उदाहरण**—**शौल्कशालिकः** (चुंगीघर से आया हुआ—शुल्कशालायाः आगतः)—शुल्कशाला+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप।

शालिकः। (१४५५) शुण्डिकादिभ्योऽण् ४।३।७६॥ आयस्थानठकश्छादीनां चापवादः। शुण्डिकादागतः शौण्डिकः। कार्कणः। तैर्थः। औदपानः। (१४५६) विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ४।३।७७॥ औपाध्यायकः। पैतामहकः। (१४५७) ऋतष्ठञ् ४।३ ७८॥ वुञोऽपवादः। हौतृकम्। भ्रातृकम्। (१४५८) पितुर्यच्च

(१४५५) शुण्डिकादिभ्योऽण्। तत आगत इत्येव। शुण्डिकमायस्थानविशेषः। पूर्वसूत्रविहितठगपवादः। कार्कण इति। कृकणादागत इति शेषः। 'कृकणपर्णाद्भारद्वाजे' इति छस्यापवादः। तैर्थ इति। धूमादिवुञोऽपवादः। औदपान इति। अत्र उत्सादित्वादञ् प्राप्तो न भवति, पुनरण्ग्रहणात्। अन्यथा यथाप्राप्तविधाने आयस्थानठकं बाधित्वा अञेव स्यात्।

(१४५६) विद्यायोनि। तत आगत इत्येव। औपाध्यायकः, पैतामहक इति। उपाध्यायात्पितामहाच्च आगत इत्यर्थः।

(१४५७) ऋतष्ठञ्। ऋदन्ताद्विद्यायोनिसम्बन्धवाचिन इत्यर्थः। तत आगत इत्येव। हौतृकम्। भ्रातृकमिति। इका परत्वात् ठस्य कः।

(१४५५) पद—शुण्डिकादिभ्यः, अण्। अनुवृत्ति—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—आयस्थाननिमित्तक 'ठक्' तथा 'छ' आदि प्रत्ययों का यह अपवाद है। **उदाहरण**—१-शौण्डिकः। २-कार्कणः। ३-तैर्थः। ४-औदपानः।

विवरण—"पञ्चमी समर्थ 'शुण्डिकादि' प्रातिपदिकों से 'आया हुआ' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। 'शुण्डिक' आदि शब्द आयस्थानवाची हैं। अतः पूर्वसूत्र (१४५४) से 'ठक्' प्राप्त था, उसका तथा कुछ अन्य शब्दों में प्राप्त 'छ', 'वुञ्, अञ्' आदि का भी यह अपवाद है। **उदाहरण**—(१) **शौण्डिकः** (मद्यविभाग से प्राप्त धन—शुण्डिकात् आगतः)—शुण्डिक+अण्। आदिवृद्धि आदि कार्य। (२) **कार्कणः** (कृकण एक प्रकार का शिकारी पक्षी—उससे प्राप्त आय—कृकणाद् आगतः)—कृकण+अण्। आदिवृद्धि—ऋ=आर्। "कृकण-पर्णाद् भारद्वाजे" (४-२-१४५) से प्राप्त 'छ' का अपवाद है। (३) **तैर्थः** (तीर्थ-स्थान से प्राप्त आय—तीर्थात् आगतः)—तीर्थ+अण्। 'धूमादि' 'वुञ्' का यह बाधक है। (४) **औदपानः** (जलस्थान से प्राप्त धन—उदपानात् आगतः)—उदपान+अण्। 'उत्सादि'-अञ् का यह अपवाद है।

(१४५६) पद—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, वुञ्। अनुवृत्ति—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १—औपाध्यायकः। २—पैतामहकः।

विवरण—'तत आगतः' का ही विषय है। अतः "पञ्चमी-समर्थ विद्यासम्बन्धवाचक तथा उत्पत्ति-सम्बन्ध-(वंश)-सूचक प्रातिपदिकों से 'आगत' अर्थ में 'वुञ्' (वु=अक) प्रत्यय होता है"। आचार्य एवं शिष्य में विद्या-सम्बन्ध है तथा मातामह-पितामह आदि शब्दों में योनि-सम्बन्ध है। **उदाहरण**—(१) **औपाध्यायकः** (गुरु से प्राप्त ज्ञान—उपाध्यायात् आगतः)—उपाध्याय्+वुञ् (वु=अक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। (२) **पैतामहकः** (पितामह से प्राप्त धन—पितामहात् आगतः)—पितामह्+वुञ् (वु=अक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप।

(१४५७) पद—ऋतः, ठञ्। अनुवृत्ति—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। नियमसूत्र।

मूलार्थ—'वुञ्' का अपवाद है। उदा० १—हौतृकम्। २—भ्रातृकम्।

विवरण—पूर्वसूत्र (१४५६) का ही विषय है। विशेष परिस्थिति में 'ठञ्' का विधान

४।३।७९॥ चाट्ठञ्। 'रीङृतः' (सू १२३४)। 'यस्येति च' (सू ३११) इति लोपः। पित्र्यम्—पैतृकम्। (१४५९) गोत्रादङ्कवत् ४।३।८०॥ बिदेभ्य आगतं बैदम्। गार्गम्। दाक्षम्। औपगवकम्। (१४६०) नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणा-

---

(१४५८) पितुर्यच्च। यति प्रक्रियां दर्शयति—रीङृत इति।

(१४५९) गोत्रादङ्कवत्। अङ्के ये प्रत्ययाः ते तत आगत इत्यर्थेऽपि भवन्तीत्यर्थः। बिदेभ्य आगतमिति। विग्रहप्रदर्शनम्। अत्र 'यञञोश्च' इति बहुत्वे अञो लुकि बिदेभ्य इति निर्देशः। बैदमिति। 'सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्' इत्युक्तेरञन्तादिहाप्यर्थे अणि विवक्षिते 'गोत्रेऽलुगचि' इत्यञो लुङ्निवृत्तौ बैदशब्दादण् द्व्यजृद्ब्राह्मण' इति द्व्यज्लक्षणस्य ठकोऽपवादः। गार्गमिति। यञन्तादण्। दाक्षमिति। इञन्तादण्। औपगवकमिति। उपगोरपत्यमौपगवः, तस्मादागतमित्यर्थः। 'गोत्रचरणाद् वुञ्' इति वुञ्। यद्यपि तस्येदमित्यर्थे अयं वुञ् विहितः, तथाप्यञ्यञिञन्तादङ्केऽपि स इष्ट इति तस्याप्यत्रार्थे अतिदेशो भवति। न हि 'सङ्घाङ्क' इति प्रतिपदोक्तस्याण एवात्रातिदेशः, किं तु अङ्के दृष्टस्य सर्वस्यापि। व्याख्यानादिति भावः।

किया जा रहा है। अतः "पञ्चमी-समर्थ विद्या तथा योनि-सम्बन्धवाची ऋकारान्त प्रातिपदिकों से 'आगत' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—(१) विद्यासम्बन्धी—हौतृकम् (होता से प्राप्त—होतुः आगतम्)—होतृ+ठञ् (ठ=क—"इसुसुक्तान्तात् कः" ७-३-५१)। योनिसम्बन्धी—(२) भ्रातृकम् (भाई से प्राप्त धन—भ्रातुः आगतम्)—भ्रातृ+ठञ् (ठ=क) शेष पूर्ववत्।

(१४५८) पद—पितुः, यत्, च। अनुवृत्ति—ठञ्, तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—"पञ्चमी-समर्थ 'पितृ' शब्द से 'आगत' अर्थ में 'यत्' तथा 'ठञ्' प्रत्यय भी (च) होता है। उदाहरण—पित्र्यम्→यत् प्रत्यय होने पर। पितृ+य > पित्-री+य (ऋ=री—"रीङृतः" ७-४-२७) > पित्र्यम् ('ई' लोप—"यस्येति च" ६-४-१८४) तथा विभक्ति-कार्य।

(१४५९) पद—गोत्रात्, अङ्कवत्। अनुवृत्ति—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। अतिदेशसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १—बिदेभ्यः आगतम् बैदम्। २—गार्गम्। ३—दाक्षम्। ४—औपगवकम्।

विवरण—'आगतः' अर्थ का ही विषय है। अतः "पञ्चमी-समर्थ गोत्रवाची प्रातिपदिकों से 'आगत' अर्थ में 'अङ्कवत्' प्रत्ययविधि होती है"। अर्थात् जिस प्रकार गोत्रवाची शब्दों से "गोत्रचरणाद् वुञ्" (४-३-१२६) से 'वुञ्' प्रत्यय होता है, उसी प्रकार यहाँ भी होगा"। यहाँ पर 'अङ्कवत्' प्रत्यय-विधि का अतिदेश करने से "सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञाम् अण्" (४-३-१२७) से विहित 'अण्' प्रत्यय का ही अतिदेश होना चाहिये न कि 'वुञ्' का, क्योंकि "सङ्घाङ्कलक्षणेषु०" (४-३-१२७) सूत्र में ही 'अङ्क' शब्द का ग्रहण है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यहाँ पर 'अङ्क' शब्द "तस्येदम्" (४-३-१७) अर्थ-सामान्य का उपलक्षण है। अर्थात् जिस प्रकार गोत्रवाचियों से 'तस्येदम्' अर्थ में प्रत्यय होते हैं, उसी प्रकार 'तत आगतः' अर्थ में भी हों। अतः 'वुञ्' का भी अतिदेश हो जाता है। उदाहरण—(१) बैदम् (बैदों से प्राप्त—बिदेभ्यः आगतम्)—बिद+अञ् (अपत्य) > बैदः। बैद+अ ('अण्'—"सङ्घाङ्कलक्षणेषु०" ४-३-१२७) > बैदम्। फलतः "द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक्" (४-३-७२) से द्व्यच्लक्षण 'ठक्' प्रत्यय नहीं हुआ। (२) गार्गम् (गार्ग्यों से प्राप्त—गर्गेभ्य आगतम्)—गर्ग+यञ् (अपत्यार्थ) > गार्ग्यः। गार्ग्य्+अण् > गार्गम् (अलोप, य्-लोप)। (३) दाक्षम् (दाक्षों से

नाम् ७ । ३ । ३० ॥ नञः परेषां शुच्यादिपञ्चानामादेरचो वृद्धिः पूर्वपदस्य तु वा ञिदादौ परे । आशौचम्—अशौचम् । आनैश्वर्यम्—अनैश्वर्यम् । आक्षैत्रज्ञम्—अक्षैत्रज्ञम् । आकौशलम्—अकौशलम् । आनैपुणम्—अनैपुणम् । (१४६१) हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः

(१४६०) नञः शुचीश्वर । आदिवृद्धिप्रकरणे उत्तरपदस्य पूर्वस्य तु वेत्यनुवृत्ताविदं सूत्रम् । आशौचम्–अशौचम् इति । अशुचेरागतमित्यर्थः । तत आगत इत्यणि पूर्वपदस्यादिवृद्धिविकल्पः । उत्तरपदस्य तु नित्या आदिवृद्धिः । एवमग्रेऽपि अक्षेत्रज्ञात् अकुशलात् अनिपुणाच्च आगतमित्यर्थो बोध्यः । आनैश्वर्यमित्यत्र तु ब्राह्मणादित्वात् भावे ष्यञ् ।

प्राप्त—दक्षेभ्यः आगतम्)—दक्ष+इञ् (अपत्यार्थ में) ▷ दाक्षिः । दाक्षि+अण् > दाक्षम् ; ('इ' लोप) । (४) औपगवकम् (औपगवों से प्राप्त—औपगवेभ्यः आगतम्)—उपगु+अण् > औपगव > औपगव+वुञ् ("गोत्रचरणाद् वुञ्" ४-३-१२६) ▷ औपगवकम् (वु=अक, 'अ'लोप) ।

(१४६०) पद—नञः, शुचीश्वर-क्षेत्रज्ञ-कुशल-निपुणानाम् । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'नञ्' से पर शुच्यादि पाँच शब्दों के 'आदि-अच्' को नित्य वृद्धि तथा (समासस्थ) पूर्वपद को ञिदादि प्रत्यय परवर्ती होने पर विकल्प से वृद्धि होती है। उदा० १—आशौचम्—अशौचम् । २—आकौशलम्—अकौशलम् । ३—आनैपुणम्—अनैपुणम् ।

विवरण—प्रसङ्गवश वृद्धि-प्रकरण का यह सूत्र उद्धृत किया जा रहा है। सूत्रोक्त 'नञ्' समास-घटित पाँच शब्द इसके अन्तर्गत हैं। तदनुसार ""नञ्' से उत्तरवर्ती 'शुचि', 'ईश्वर', 'क्षेत्रज्ञ', 'कुशल', तथा 'निपुण' शब्दों के अचों में 'आदि अच्' को ञित्, णित् तथा कित् तद्धित परे रहते नित्य वृद्धि होती है तथा समासस्थ पूर्वपद को विकल्प से वृद्धि होगी"। **उदाहरण**—शुचि (१) **आशौचम्**→पूर्वपद को वृद्धि होनेपर । **अशौचम्**←वृद्धि न होने पर । **अर्थ**—अपवित्रता । **विग्रह**—न अस्य शुचयः विद्यन्ते । न+शुचिः > अशुचिः ('नञ्' समास) । अशुचि+अण् (अशुचेः आगतम् अर्थ में—"इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" ५-१-१३०) > 'आशौचम्'—पूर्वपद को वैकल्पिक वृद्धि तथा शुचि के 'उ' को नित्य वृद्धि होने पर। वृद्धि के अभाव में 'अशौचम्'। (२) ईश्वर—**आनैश्वर्यम्**→पूर्वपद को वृद्धि होने पर। **अनैश्वर्यम्**←पूर्वपद को वृद्धि न होने पर । **अर्थ**—प्रभुत्व का अभाव ।—न ईश्वरः > अनीश्वरः (तत्पुरुष समास) > अनीश्वर+ष्यञ् (अनीश्वरस्य भावः—"गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" ५-१-१२३) > आनैश्वर्यम्—अनैश्वर्यम् ('अ' को वैकल्पिकवृद्धि तथा 'ई' को नित्यवृद्धि)। (३) क्षेत्रज्ञ—**आक्षेत्रज्ञयम्**—**अक्षेत्रज्ञयम्** (मूर्खता—अक्षेत्रज्ञस्य भावः)—ब्राह्मणादि-गण में पठित होने से 'ष्यञ्' प्रत्ययान्त होना चाहिये। (४) कुशल—**आकौशलम्**—**अकौशलम्** (मूर्खता—अकुशलस्य कर्म भावः वा), तथा निपुण—(५) **आनैपुणम्**—**अनैपुणम्** (मूर्खता—अनिपुणस्य भावः कर्म वा)—'नञ्'-समास करने के बाद "तस्येदम्" (४-३-१२०) से 'अण्' प्रत्यय हुआ है। उसे अभिलक्षित कर पूर्वपद को वैकल्पिक वृद्धि एवम् उत्तरपद को नित्यवृद्धि हुई है।

विशेष—प्रकृत सूत्र के उदाहरणों में प्रायः भावार्थक प्रत्ययों से ही निर्वाह होता है, अतः नागेश भट्ट ने इस सूत्र की उपादेयता नहीं मानी है। उन्होंने, आदिम लेखक के लेखन-भ्रम से यह सूत्र यहाँ उद्धृत किया गया हो, ऐसा अनुमान किया है।

४ । ३ । ८१ ॥ समादागतं समरूप्यम् । विषमरूप्यम् । पक्षे गहादित्वाच्छः । समीयम् । विषमीयम् । देवदत्तरूप्यम्—दैवदत्तम्—देवदत्तीयम् । (१४६२) मयट् च ४।३।८२ ॥ सममयम् । विषममयम् । देवदत्तमयम् । (१४६३) प्रभवति ४ । ३ । ८३ ॥ तत इत्येव । हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा । (१४६४) विदूराञ्ञ्यः ४ । ३ । ८४ ॥

(१४६१) हेतुमनुष्येभ्यः । तत आगत इत्येव । हेतुभ्य उदाहरति—समादागतमित्यादि । मनुष्यवाचिन उदाहरति—देवदत्तरूप्यमिति ।

(१४६२) मयट् च । उक्तविषये इति शेषः ।

(१४६३) प्रभवति । तत इत्येवेति । आगत इति तु निवृत्तम् । प्रभवतीत्यर्थे पञ्चम्यन्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । प्रभवः प्रथमप्रकाशः । हिमवतः प्रभवतीति । हिमवति प्रथमं प्रकाशत इत्यर्थः । 'भुवः प्रभवः' इत्यपादानत्वम् ।

(१४६१) पद—हेतुमनुष्येभ्यः, अन्यतरस्यां, रूप्यः । अनुवृत्ति—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १—समात् आगतं—समरूप्यम् । २—विषमरूप्यम् । गहादि' में पठित होने से पक्ष में 'छ' प्रत्यय होगा—१—समीयम् । २—विषमीयम् । ३—देवदत्तरूप्यम्–दैवदत्तम्–देवदत्तीयम् ।

विवरण—पुनः तद्धित-प्रकरण (शैषिक) का सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है । 'तत आगतः' का ही विषय है । अतः "'हेतु' तथा 'मनुष्य'-वाची प्रातिपदिकों से 'आगत' अर्थ में विकल्प से (अन्यतरस्याम्) 'रूप्य' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—मार्ग आदि के (१) समतल अथवा (२) नीचे-ऊँचे होने से आगत-रूप जो प्राप्ति हो वह (१) समरूप्यः—(सम+रूप्य–समादागतः) अथवा (२) विषमरूप्यः (विषम+रूप्य–विषमादागतः) कहलाती है । इस प्रकार 'सम' अथवा 'विषम' शब्द हेतु-वाची हैं । इसी प्रकार देवदत्त नामक मनुष्य से जो प्राप्ति हो वह देवदत्तरूप्यः (देवदत्ताद् आगतः) कही जायगी । उपर्युक्त प्रथम तथा द्वितीय शब्द गहादि-गण में पठित होने से 'छ' प्रत्यय ("गहादिभ्यश्च" ४-२-१३८) होकर (१) समीयम् (सम+छ=ईय) तथा विषमीयम् (विषम+छ=ईय) रूप बनेंगे । तृतीय उदाहरण में पक्ष में 'अण्' होकर दैवदत्तम् तथा नामधेय की पाक्षिक वृद्धसंज्ञा होने पर 'छ' प्रत्यय होकर देवदत्तीयः रूप बनेंगे । इसके अतिरिक्त 'रूप्य' होने पर—देवदत्तरूप्यम् ।

(१४६२) पद—मयट्, च । अनुवृत्ति—हेतुमनुष्येभ्यः, तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १—सममयम् । २—विषममयम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र का विषय है । तदनुसार "पञ्चमी-समर्थ हेतु तथा मनुष्यवाची प्रातिपदिकों से आगत अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय भी होता है" । उदाहरण—(१) सममयम् (सम+मयट्) तथा (२) विपममयम् (विपय+मयट्) रूप भी बनते हैं ।

(१४६३) पद—प्रभवति । अनुवृत्ति—ततः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'पञ्चम्यन्त' से ही हो । उदा० हिमवतः प्रभवति—हैमवती गङ्गा ।

विवरण—'पञ्चम्यन्त' का प्रभाव अपेक्षित होने के कारण "तत आगतः" (४-३-७४) से केवल 'ततः' पद अनुवर्तमान है । अतः "पञ्चमी-समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रभवति' अर्थात् उपलब्धि या निकास वाच्य होने पर 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं" । उदाहरण—हैमवती गङ्गा (हिमालय

विदूरात्प्रभवति वैदूर्यो मणिः । (१४६५) तद् गच्छति पथिदूतयोः ४ । ३ । ८५ ॥ स्रुघ्नं गच्छति—स्रौघ्नः पन्थाः दूतो वा । (१४६६) अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४।३।८६ ॥ तत इत्येव । स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् । (१४६७) अधिकृत्य

(१४६४) **विदूराञ्ञ्यः** । ततः प्रभवतीत्येव । विदूरशब्दो दन्त्यमध्यः । वालवायाख्यदेशपर्यायो विदूरशब्द इति भाष्ये स्पष्टम् ।

(१४६५) **तद् गच्छति पथिदूतयोः** । गच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तात्प्रत्ययाः स्युः स चेद् गन्ता पन्थाः दूतो वा इत्यर्थः ।

(१४६६) **अभिनिष्क्रामति द्वारम्** । कान्येति । कान्यकुब्जाख्यजनपदस्य द्वारमित्यर्थः ।

से निकलती है अर्थात् गङ्गा—हिमवतः प्रभवति)—हिमवद्+अ (अण्) > हैमवती (आदिवृद्धि, ङीप्, विभक्ति-कार्य) । 'हिमवतः' में पञ्चमी विभक्ति हुई—"भुवः प्रभवः" (१-४-३१) ।

(१४६४) पद—विदूरात्, ञ्यः । **अनुवृत्ति**—प्रभवति, ततः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० विदूरात् प्रभवति—वैदूर्यः मणिः ।

विवरण—'प्रभवति' अर्थ विवक्षित है । 'ततः' का प्रभाव भी विद्यमान है । तदनुसार "पञ्चमी-समर्थ 'विदूर' शब्द से 'प्रभवति' अर्थ में 'ञ्य' (=य) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—वैदूर्यः** मणिः ([1]विदूर अर्थात् बालवाय से निकलने वाला वैदूर्य-लहसुनियाँ—मणि)—विदूर+य (ञ्य) । आदिवृद्धि, 'अ'-लोप ।

(१४६५) पद—तद्, गच्छति, पथि-दूतयोः । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० स्रुघ्नं गच्छति—स्रौघ्नः पन्थाः दूतः वा ।

विवरण—'तद्' पद द्वितीयान्त है । अतः "द्वितीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'जाता है' अर्थ में, यदि 'जाना' क्रिया का कर्ता 'मार्ग' अथवा 'दूत' हो तो, 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण—स्रौघ्नः**—पन्थाः दूतः वा (स्रुघ्न को जाने वाला मार्ग या दूत—स्रुघ्नं गच्छति)—स्रुघ्न+अण् । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप ।

(१४६६) पद—अभिनिष्क्रामति, द्वारम् । **अनुवृत्ति**—तद्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'द्वितीयान्त' से ही । उदा० स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति—स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये "तद् गच्छति" (४-३-८५) से 'तद्' की अनुवृत्ति आ रही है । 'अभिनिष्क्रामति' पद अर्थ-निर्देशक है । अतः "द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'अभिनिष्क्रामति' अर्थ में 'अण्' आदि प्रत्यय हों, यदि निकलने वाला द्वार हो" । **उदाहरण—स्रौघ्नम्** (अर्थात् कान्यकुब्जद्वार—स्रुघ्न की ओर निकलता है)—स्रुघ्न+अण् (नपुंसक लिङ्ग एक वचन) ।

विशेष—(१) प्राचीन काल में सुरक्षा के लिये नगरों के चारों ओर प्राकार होते थे । बाहर जाने के लिये फाटक होते थे । जो दरवाजा जिस ओर जाता था, उसके नाम से वह 'द्वार' कहलाता था । काशिका के अनुसार 'स्रौघ्न' कान्यकुब्ज (कन्नौज) का द्वार-विशेष था, जो स्रुघ्न की ओर निकलता था ।

---

१. वैदूर्य मणि का उत्पत्ति स्थान । पार्जिटर ने इसकी पहचान सतपुड़ा से की है । पतञ्जलि के मत में वैदूर्य की खानें बालवाय पर्वत में थीं । वहाँ से लाकर विदूर के वैकटिक (रत्नतराश) उसे घाट पहलों पर काटते और बींधते थे । संभव है कि दक्षिण का बीदर विदूर हो ।

कृते ग्रन्थे ४ । ३ । ८७ ।। तत इत्येव । शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः । 'शारीरकं भाष्यम्' इति त्वभेदोपचारात् । (१४६८) शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः ४ । ३ । ८८ ।। शिशूनां क्रन्दनं शिशुक्रन्दः, तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः

(१४६७) अधिकृत्य । तदित्येवेति । अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः इत्यर्थे द्वितीयान्तात्प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । शारीरकमिति । शरीरस्यायं शारीरः जीवात्मा, तमित्यर्थः । तस्येदमित्यणन्तात् स्वार्थे कः । शारीरकीय इति । वृद्धत्वाच्छः ।

(१४६८) शिशुक्रन्द । शिशुक्रन्द, यमसभ, द्वन्द्व, इन्द्रजननादि एभ्यः छः स्यादधि-

---

(२) 'द्वार से निकलना' प्रयोग अधिकतर व्यवहार में आता है, अतः 'करण' कारक का प्रयोग होना चाहिये । इसका समाधान यह दिया जाता है कि यहाँ स्वातन्त्र्येण विवक्षित होने से द्वार को कर्तृरूपता होती है । जैसे 'असिः छिनत्ति' वाक्य में छेदन क्रिया में 'असि' साधन होने पर भी वह कर्ता के रूप में विवक्षित होता है—उसी प्रकार यहाँ भी 'द्वार' का कर्तृगत स्वातन्त्र्य विवक्षित है । यदि यह कहा जाय कि चेतन का ही अभिनिष्क्रमण सम्भव है तो भी 'गुहा के मुँह से वायु निकलता है' आदि प्रयोगों की व्यावहारिकता से अचेतन में भी 'उपचार'-वश समीचीनता सिद्ध कर ली जाय[1] ।

(१४६७) पद—अधिकृत्य, कृते, ग्रन्थे । **अनुवृत्ति**—तद्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वितीयान्त (विभक्ति) ही अपेक्षित है । 'शारीरक' को अधिकृत कर बनाया हुआ ग्रन्थ—शारीरकीयः । 'शारीरकं भाष्यम्' प्रयोग अभेद के बल पर है ।

विवरण—'तद्' पद अनुवर्तमान है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "द्वितीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'उस विषय को लेकर बनाया हुआ ग्रन्थ' अर्थ में यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—**शारीरकीयः** (जीवात्मा विषय को अभिलक्षित कर बनाया हुआ ग्रन्थ—शारीरकम् अधिकृत्य कृतः ग्रन्थः)—शारीरक+छ ("वृद्धाच्छः" ४-२-११४) > शारीरकीयः (छ=ईय, अन्त्यलोप । **शारीरकम्**→शरीरम् एव शरीरकम् (कन्), तत्र भवः—शरीरक+अण् ।

विशेष—शारीरकं भाष्यम् (अण्-प्रत्ययान्त) प्रयोग (जीवात्मा को अधिकृत कर भाष्य की रचना होने पर भी) की समीचीनता के सम्बन्ध में यह युक्ति दी जा रही है कि 'शरीरस्य इदम्' इस अर्थ में प्रथम "तस्येदम्" (४-३-१२०) से 'अण्' प्रत्यय करने पर पुनः स्वार्थ में ही शारीरमेव शारीरकम्–अर्थात् 'क' प्रत्यय-प्रतिपाद्य जीव तथा तत्प्रतिपादकभाष्य—इन दोनों का लक्षणा से अभेदारोप करने पर इसे मान्यता दी जाय । इसी प्रकार अभेदोपचार से 'वासवदत्ताम् अधिकृत्य कृता आख्यायिका' की विवक्षा में 'वासवदत्ता' आदि प्रयोग समीचीन माने जाते हैं । एतदर्थ 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' वार्तिक स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

---

१. कथं पुनः करणत्वेन प्रसिद्धं द्वारं स्वातन्त्र्येणैव विवक्ष्यते इति चेत् सत्यम्—साध्वसिश्छिनत्तीति प्रयोगवदत्रापि तथैव स्वीकरणेऽदोषात् । यथा छेदनक्रियायामसिः करणत्वेन प्रसिद्धोऽपि स्वातन्त्र्येण विवक्ष्यते तथैव द्वारस्यापि स्वातन्त्र्यमक्षतमेव । ननु चेतनावतः अभिनिष्क्रमणं भवति, चेतनावता प्रयुक्तस्य वा—देवदत्तोऽभिनिष्क्रामति, शकटमभिनिष्क्रामति इति । न च द्वारं चेतनावता प्रयुक्तं तस्मान्नोपपद्यते तस्य अभिनिष्क्रमणम् । नैष दोषः । अचेतनेष्वपि अभिनिष्क्रामति इति व्यवहारो दृश्यते । तद्यथा—अनेन गुहामुखेन वायुः अभिनिष्क्रामतीति । निष्क्रियत्वात् तर्हि नोपपद्यते ? तत्स्थेषु निष्क्रामत्सु द्वारमभिनिष्क्रामति इति उपचर्यते–इत्यदोषः ।

शिशुक्रन्दीयः। यमस्य सभा यमसभम्। क्लीबत्वं निपातनात्। यमसभीयः। किराता-र्जुनीयम्। इन्द्रजननादिराकृतिगणः। इन्द्रजननीयम्। विरुद्धभोजनीयम्। (१४६९) सोऽस्य निवासः ४।३।८९॥ स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः। (१४७०) अभिजनश्च ४।३।९०॥ स्रुघ्नोऽभिजनोऽस्य स्रौघ्नः। यत्र स्वयं वसति स निवासः। यत्र पूर्वै-

---

कृत्य कृते ग्रन्थे इत्यर्थः। निपातनादिति। 'सभा राजा' इति तु नपुंसकत्वं न भवति। तत्र 'अमनुष्यशब्दो रूढया रक्षःपिशाचादीनाह' इत्युक्तेरिति भावः।

(१४६९) सोऽस्य निवासः। अस्मिन्नर्थे प्रथमान्तात्प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। यत्र सम्प्रत्युष्यते स निवासः इति भाष्यम्।

(१४७०) अभिजनश्च। स इत्यनुवर्तते। पूर्ववद् व्याख्येयम्। यत्र पूर्वैरुषितं सोऽभिजन इति भाष्यम्। यत्र स्वयमिति। उदाहृतभाष्यस्यायमर्थ इति भावः।

(१४६८) पद—शिशुक्रन्द-यमसभ-द्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यः, छः। अनुवृत्ति—अधिकृत्य कृते ग्रन्थे, तद्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० १—शिशुओं के क्रन्दन को अधिकृत कर बनाया हुआ ग्रन्थ—शिशुक्रन्दमधि-कृत्य कृतः ग्रन्थः—शिशुक्रन्दीयः। २—यमस्य सभा-यमसभम् (निपातनवश क्लीबत्व)—यमसभीयः। ३—किरातार्जुनीयम्। ४—इन्द्रजननीयम्। ५—विरुद्धभोजनीयम्। इन्द्रजननादि आकृतिगण है।

विवरण—"द्वितीया-समर्थ 'शिशुक्रन्द', 'यमसभ', तथा 'द्वन्द्व-समास'वाची शब्द एवं इन्द्र-जननादि गण पठित शब्दों से 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **शिशुक्रन्दीयः** (बच्चों के रोने को विषय बनाकर उसके विविध कारणों का व्याख्यान-परक ग्रन्थ—शिशूनां क्रन्दनं शिशुक्रन्दः—तमधिकृत्य कृतः ग्रन्थः)—शिशुक्रन्द्+छ (ईय)। अन्त्यलोप एवं विभक्ति-कार्य। (२) **यमसभीयः** (यमसभा को अभिलक्षित कर बना ग्रन्थ) यमस्य सभा-यमसभम् (क्लीबत्व) तद् अधिकृत्य कृतः ग्रन्थः—यमसभ्+छ=ईय। (३) द्वन्द्व—**किरातार्जुनीयम्** (किरात और अर्जुन को विषय बनाकर निर्मित ग्रन्थ—किरातश्च अर्जुनश्चेति→किरातार्जुनम् (समाहार द्वन्द्व)←तदधिकृत्य कृतं काव्यम्)—किरातार्जुन्+छ (ईय)। (४) (क) **इन्द्रजननीयम्** (इन्द्रजनन को विषय बनाकर निर्मित ग्रन्थ)—इन्द्र-जननीयम्। (ख) **विरुद्धभोजनीयम्** (विपरीत भोजन को विषय बनाकर निर्मित ग्रन्थ—विरुद्धञ्च तद् भोजनम्—तद् अधिकृत्य कृतम् आख्यानम्)—विरुद्धभोजन्+छ (=ईय)। 'इन्द्रजननादि' आकृतिगण है।

(१४६९) पद—सः, निवासः। अनुवृत्ति—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० स्रुघ्नः निवासः अस्य—स्रौघ्नः।

विवरण—'सः' प्रथमा-विभक्ति का सूचक है। 'अस्य निवासः' अर्थ का बोधक है। तदनुसार "प्रथमान्त प्रातिपदिक से—'इसका निवास है'—अर्थ में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—**स्रौघ्नः** (स्रुघ्न-देश का वासी—स्रुघ्नः निवासः अस्य)—स्रुघ्न्+अण्।

(१४७०) पद—अभिजनः, च। अनुवृत्ति—सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० स्रुघ्नः अभिजनः अस्य—स्रौघ्नः। जहाँ स्वयं रहा जाय—वह निवास है। जहाँ पूर्वज रहे हों—वह अभिजन है।

विवरण—पूर्व सूत्र (४-३-८९) से 'सः' तथा 'अस्य' की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। तदनुसार

रुषितं सोऽभिजन इति विवेकः । (१४७१) आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते ४ । ३ । ९१ ॥ पर्वतवाचिनः प्रथमान्तादभिजनशब्दादस्येत्यर्थे छः स्यात् । हृद्गोलः पर्वतोऽभिजनो येषामायुधजीविनां ते हृद्गोलीयाः । आयुध–इति किम् ? ऋक्षोदः पर्वतोऽभिजनो येषां ते आर्क्षोदा द्विजाः । (१४७२) शण्डिकादिभ्यो ञ्यः ४ । ३ । ९२ ॥ शण्डिकोऽभिजनोऽस्य शाण्डिक्यः । (१४७३) सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ ४ । ३ । ९३ ॥

(१४७१) आयुधजीविभ्यः । पर्वतादिति पाठान्तरम् । अभिजनशब्दादिति । अभिजनदेशवाचिन इत्यर्थः । आयुधजीविनोऽभिधातुमिति शेषः । सूत्रे 'क्रियार्थोपपदस्य' इति चतुर्थी । हृद्गोल इति । पर्वतविशेषोऽयम् । ऋक्षोद इति । अयमपि पर्वतविशेषः ।

(१४७२) शण्डिकादिभ्यो ञ्यः । सोऽभिजन इत्यर्थे प्रथमान्तेभ्यः इति शेषः ।

(१४७३) सिन्धुतक्ष । सैन्धव इति । सिन्धुदेशविशेषः अभिजनोऽस्येति विग्रहः ।

"प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में, यदि वह प्रथमा-समर्थ 'अभिजन' हो, तो भी यथा–विहित प्रत्यय होता है" । पूर्व-बन्धुओं को अभिजन कहते हैं । उस सम्बन्ध से जिस देश में वे रहे हों, वह देश भी अभिजन कहलायेगा । स्वयं रहने का स्थान 'निवास' कहलाता है । यही दोनों में अन्तर है । **उदाहरण**—स्रौघ्नः (जिनके पूर्वज स्रुघ्न में रहे हों—स्रुघ्नः अभिजनः अस्य)—स्रुघ्न+अण् ।

(१४७१) पद—आयुधजीविभ्यः, छः, पर्वते । **अनुवृत्ति**—अभिजनः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पर्वतवाची प्रथमान्त अभिजन शब्द से 'अस्ति' अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है । उदा० हृद्गोलः पर्वतः अभिजनः येषाम् आयुधजीविनां ते—हृद्गोलीयाः । 'आयुध' क्यों कहा ? आर्क्षोदाः द्विजाः । ऋक्षोद पर्वत के केवल अभिजन होने के कारण 'छ' नहीं (हुआ) ।

विवरण—'अभिजन' को अभिलक्षित कर ही विधान किया जा रहा है । सूत्र में 'आयुधजीविभ्यः' पद चतुर्थी-विभक्ति का द्योतक है । अतः उसका अर्थ है—'आयुधजीवियों को बतलाने के लिये' । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "प्रथमा-समर्थ पर्वतवाची प्रातिपदिकों से 'वह इसका अभिजन' अर्थ में—आयुधजीवियों को बतलाने के लिये—'छ' प्रत्यय हो" । शस्त्र से जिनकी जीविका चले वे 'आयुधजीवी' कहलाते हैं । 'पर्वते' शब्द प्रकृति-वाची पद का विशेषण है । अतः यहाँ 'सप्तमी' विभक्ति का पञ्चमी-विभक्ति में विपरिणाम हुआ है । **उदाहरण**—हृद्गोलीयाः (हृद्गोल पर्वत निवास है जिन आयुधजीवियों के पूर्वजों का—हृद्गोलः पर्वतः अभिजनः येषाम् आयुधजीविनाम्)—हृद्गोल्+छ (ईय) । बहुवचन-प्रयोग ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'आयुध' पद का निवेश होने से आर्क्षोदाः द्विजाः (जिन ब्राह्मणों के पूर्वज ऋक्षोद पर्वत पर रहे हों) में 'छ' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि वे आयुधजीवी नहीं थे । अतः औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय ही हुआ ।

(१४७२) पद—शण्डिकादिभ्यः, ञ्यः । **अनुवृत्ति**—अभिजनः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० शण्डिकः अभिजनः अस्य—शाण्डिक्यः ।

विवरण—पूर्ववत् 'अभिजन' का ही विषय है । अतः "प्रथमा-समर्थ शण्डिकादि प्रातिपदिकों से 'इसका अभिजन' अर्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है" । शाण्डिक्यः (जिसके पूर्वज शण्डिक में रहे हों—शण्डिकः अभिजनः अस्य)—शण्डिक्+य (ञ्य) । आदिवृद्धि, 'अन्त्य'-लोप ।

(१४७३) पद—सिन्धु-तक्षशिलादिभ्यः, अणञौ । **अनुवृत्ति**—अभिजनः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

सिन्ध्वादिभ्योऽण् तक्षशिलादिभ्योऽञ् स्यादुक्तेऽर्थे । सैन्धवः । तक्षशिला नगरी अभिजनोऽस्य ताक्षशिलः । (१४७४) तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः ४ । ३ । ९४ ॥ तूदी अभिजनोऽस्य तौदेयः । शालातुरीयः । वार्मतेयः । कौचवार्यः । (१४७५) भक्तिः

(१४७४) तूदीशलातुर । तूदी, शलातुर, वर्मती, कूचवार एभ्यः प्रथमान्तेभ्यः ढक्, छण्, ढञ्, यक् एते स्युः । अस्याभिजन इत्यर्थः ।

मूलार्थ—उक्त अर्थ में सिन्धु-आदि से 'अण्' हो तथा तक्षशिला आदि से 'अञ्' हो । १-सैन्धवः । २-तक्षशिला नगरी अभिजनः अस्य—ताक्षशिलः ।

विवरण—"प्रथमा-समर्थ 'सिन्धु' आदि तथा 'तक्षशिला' आदि गण पठित शब्दों से 'इसका अभिजन' अर्थ में यथासंख्य 'अण्' तथा 'अञ्' प्रत्यय होते हैं" । 'अण्' और 'अञ्' में रूपसाम्य होने पर भी स्वर का भेद है । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **सैन्धवः** (जिसके पूर्वज सिन्ध में रहे हों—सिन्धुः अभिजनः अस्य)—सिन्धु+अण् ▷ सिन्धो+अ (गुण) ▷ सैन्धवः (आदिवृद्धि आदि कार्य)। (२) **ताक्षशिलः** (जिसके पूर्वज तक्षशिला[1] में रहे हों—तक्षशिला अभिजनः अस्य)—तक्षशिला+अञ् । आदिवृद्धि एवम् 'आ' लोप ।

(१४७४) **पद**—तूदी-शलातुर-वर्मती-कूचवारात्, ढक्-छण्-ढञ्-यकः । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० तूदी जिनका अभिजन हो—१-तौदेयः । २शालातुरीयः । ३-वार्मतेयः । ४-कौचवार्यः ।

विवरण—"प्रथमा-समर्थ 'तूदी', 'शलातुर', 'वर्मती' तथा 'कूचवार' प्रातिपदिकों से 'अस्य अभिजनः' विषय में यथासंख्य 'ढक्' (=एय), 'छण्' (=ईय), 'ढञ्' (=एय) तथा 'यक्' (=य) प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(१) **तौदेयः** (जिनके पूर्वज 'तूदी'[2] में रहे हों—तूदी अभिजनः अस्य)—तूदी+ढक् (=एय)। आदिवृद्धि, 'ई' लोप । (२) **शालातुरीयः** (जिसके पूर्वज शलातुर[3] में रहे हों—शलातुरः अभिजनः अस्य)—शलातुर+छण् (छ=ईय)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप । (३) **वार्मतेयः** (जिसके अभिजन वर्मती[4] में रहे हों—वर्मती अभिजनः अस्य)—वर्मती+ढञ् (ढ=एय)। (४) **कौचवार्यः** (जिनके पूर्वज कूचवार[5] में रहे हों—कूचवारः अभिजनः अस्य)—कूचवार+यक् (य)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप ।

---

१. यह पूर्वी गन्धार की प्रसिद्ध राजधानी थी और सिन्धु तथा विपाशा नदियों के बीच के सब नगरों में समृद्ध थी । विद्या का केन्द्र भी रही है ।

२. पहचान अनिश्चित ।

३. पाणिनि का जन्मस्थान । यह सिन्धु-कुभा-संगम के कोने में ओहिन्द से चार मील पश्चिम में था । इस समय इसका नाम 'लहुर' है ।

४. सम्भवतः यह 'बामियाँ' हो, जो वाह्लीक और कपिशा के बीच में बड़ा केन्द्र था । यहाँ से आने वाले घोड़ों को भी वार्मतेय कहा जाता था ।

—पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० ८४-८५ ।

५. इसका अर्वाचीन नाम 'कूचा' है । चीनी भाषा में इसे 'कूची' कहते हैं । चीनी यात्री तुरफान से होकर काशगर जाते थे । वहाँ से कम्बोज और वाह्लीक होते हुए भारतवर्ष में प्रवेश करते थे ।

४ । ३ । ९५ ॥ 'सोऽस्य' इत्यनुवर्तते । भज्यते सेव्यत इति भक्तिः । स्रुघ्नो भक्तिरस्य स्रौघ्नः । (१४७६) अचित्तावदेशकालाट्ठक् ४ । ३ । ९६ ॥ अपूपा भक्तिरस्य आपूपिकः । पायसिकः । अचित्तात् किम् ? दैवदत्तः । अदेशात् किम् ? स्रौघ्नः । अकालात् किम् ? ग्रैष्मः । (१४७७) महाराजाट्ठञ् ४ । ३ । ९७ ॥ माहाराजिकः ।

(१४७५) भक्तिः । अनुवर्तते इति । सोऽस्य भक्तिरित्यर्थे प्रथमान्तात्प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः ।

(१४७६) अचित्तावदेश । देशकालव्यतिरिक्तादप्राणिवाचिनः ठक् स्यादुक्तविषये । अपूपाः भक्तिरिति । सामान्याभिप्रायं भक्तिरित्येकवचने वेदाः प्रमाणमितिवत् । पायसिक इति । पयो भक्तिरस्येति विग्रहः ।

(१४७७) महाराजाट्ठञ् । सोऽस्य भक्तिरित्यर्थे इति शेषः । माहाराजिक इति । महाराजः भक्तिरस्येति विग्रहः ।

(१४७५) पद—भक्तिः । अनुवृत्ति—सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'सोऽस्य' की अनुवृत्ति है । क्तिन्—प्रत्ययनिष्पन्न 'भक्ति' शब्द सेवनक्रियाकर्मार्थक है ।

विवरण—'सोऽस्य' की अनुवृत्ति विद्यमान है । अतः "प्रथमा-समर्थ भक्तिसमानाधिकरण प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—स्रौघ्नः (स्रुघ्न जिससे सेवित है—स्रुघ्नः भक्तिः अस्य)—स्रुघ्न्+अण् ।

(१४७६) पद—अचित्तात्, अदेशकालात्, ठक् । अनुवृत्ति—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० अपूपाः भक्तिः अस्य—१—आपूपिकः । २—पायसिकः । 'अचित्तात्' क्यों कहा ? दैवदत्तः ('ठक्' नहीं हुआ) । 'अदेशात्' क्यों कहा ? स्रौघ्नः (देश होने से 'ठक्' नहीं हुआ) । 'अकालात्' क्यों कहा ? ग्रैष्मः ('काल' वाची होने से 'ठक्' नहीं हुआ) ।

विवरण—'भक्तिः' तथा 'सोऽस्य' का ही विषय है । अतः "प्रथमा-समर्थ देश-कालभिन्न भक्तिसमानाधिकरणवाची अचेतन प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । 'देश' और 'काल' भी अचेतन हैं, अतः उनका निषेध किया गया है । **उदाहरण**—(१) आपूपिकः (जिसकी अभिरुचि मालपूआ के प्रति हो—अपूपाः भक्तिः अस्य)—अपूप+ठक् (ठ = इक) । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप । (२) **पायसिकः** (खीर के प्रति जिसकी अभिरुचि हो—पयः भक्तिः अस्य)—पयस्+ठक् (ठ = इक) । आदिवृद्धि ।

प्रत्युदाहरण—'सूत्र' में 'अचित्तात्' पद का निवेश होने के कारण दैवदत्तः (देवदत्त के प्रति जिसकी भक्ति हो) में प्राणिवाचक होने से 'ठक्' नहीं हुआ, किन्तु औत्सर्गिक 'अण्' ही हुआ । (२) इसी प्रकार 'अदेशात्' पद का निवेश होने से स्रौघ्नः (स्रुघ्न के प्रति जिसकी भक्ति हो) में भी देशवाची होने से ठक् नहीं होता, अतः 'अण्' हुआ । (३) वैसे ही 'अकालात्' पद का निवेश होने के फलस्वरूप ग्रैष्मः (ग्रीष्म के प्रति जिसकी भक्ति हो) में भी कालवाची होने से 'ठक्' नहीं होता, किन्तु औत्सर्गिक 'अण्' ही होता है ।

(१४७७) पद—महाराजात्, ठञ् । अनुवृत्ति—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० माहाराजिकः ।

विवरण—"प्रथमा-समर्थ भक्तिसमानाधिकरणवाची 'महाराज' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में

(१४७८) वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४ । ३ । ९८ ॥ वासुदेवकः । अर्जुनकः ।
(१४७९) गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ् ४ । ३ । ९९ ॥ अणोऽपवादः । परत्वाद् वृद्धाच्छं बाधते । ग्लुचुकायनिर्भक्तिरस्य ग्लौचुकायनकः । नाकुलकः । बहुलग्रहणान्नेह ।

(१४७८) वासुदेव । सोऽस्य भक्तिरित्येव । वासुदेवक इति । वासुदेवो भक्तिरस्येति विग्रहः । एवमर्जुनकः । ननु वसुदेवस्यापत्यमित्यर्थे 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इति वार्ष्णेयत्वादणि वासुदेवशब्दात् 'गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ्' इति वुञैव सिद्धत्वाद्वासुदेवग्रहणं व्यर्थमिति चेत्, सत्यम्—अणन्तो वासुदेवशब्दोऽत्र न गृह्यते । किन्तु यस्मिन् समस्तं वसति यो वा समस्ते स वासुः, स चासौ देवश्चेति व्युत्पत्त्या वासुदेवशब्दोऽयं भगवति योगरूढ एवेति न दोषः । उक्तं च भाष्ये—'नैषा क्षत्रियाख्या सञ्ज्ञैषा तत्रभवतः इति ।'

(१४७९) गोत्रक्षत्रिय । गोत्रप्रत्ययान्तेभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यश्च उक्तविषये बहुलं वुञ् स्यादित्यर्थः । इह न पारिभाषिकं गोत्रम् । छं बाधते इति । औपगवक इत्यादाविति

'ठञ्' (= इक) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**माहाराजिकः** (महाराज के प्रति जिसकी भक्ति हो—महाराजः भक्तिः अस्य)—महाराज् + ठञ् (ठ = इक) । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप ।

(१४७८) पद—वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् । **अनुवृत्ति**—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १-वासुदेवकः । २-अर्जुनकः ।

विवरण—"प्रथमा-समर्थ भक्तिसमानाधिकरणवाची वासुदेव तथा अर्जुन शब्दों से षष्ठ्यर्थ में 'वुन्' (= अक) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **वासुदेवकः** (जो वासुदेव का भक्त हो—वासुदेवः भक्तिः अस्य)—वासुदेव् + वुन् (वु = अक) । अन्त्यलोप । (२) **अर्जुनकः** (जो अर्जुन का भक्त हो—अर्जुनः भक्तिः अस्य)—अर्जुन् + वुन् (वु = अक) ।

विशेष—'वसुदेव का अपत्य' अर्थ को अभिलक्षित कर 'अण्' प्रत्ययान्त ("ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" ४-१-११४) 'वासुदेव' शब्द से "गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ्" (४-३-९९) से प्राप्त 'वुञ्'-प्रत्ययान्त 'वासुदेवक' शब्द स्वतः सिद्ध है, अतः सूत्र में पृथक् 'वासुदेव' शब्द का निवेश क्यों किया गया है ? भाष्यकार ने इसका निवारण इस प्रकार किया है कि यहाँ 'वासुदेव' शब्द अपत्यार्थ न होकर भगवान् अर्थ में 'योगरूढ' है—यस्मिन् समस्तं वसति स 'वासुः', स चासौ देवश्च—वासुदेवः[1] । तब तो 'वुञ्' नहीं हो सकता । अतः पृथक् ग्रहण चरितार्थ होता है ।

(२) प्रकृत सूत्र में द्वन्द्व समास के नियमानुसार 'अर्जुन' शब्द का पूर्व-निपात होना चाहिये था ("अजाद्यदन्तम्" २-२-३३ तथा "अल्पाच्तरम्" २-२-३४) किन्तु पूज्य का पूर्व-निपातन ज्ञापित करने के लिये वासुदेव' शब्द का पूर्व निवेश किया गया है ।

(१४७९) पद—गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यः, बहुलं, वुञ् । **अनुवृत्ति**—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अण्' का अपवाद है । पर होने के कारण 'वृद्धाच्छः' का भी यह बाधक है । उदा० १—ग्लुचुकायनिः भक्तिः अस्य—ग्लौचुकायनकः । २—नाकुलकः । 'बहुल' ग्रहण से (पाणिनः भक्तिः अस्य) 'पाणिनीयः' में नहीं हुआ ।

---

१. द्रष्टव्य—"छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्" ॥
—म० भा० शा० प० ३४१-४०१

पाणिनः भक्तिरस्य पाणिनीयः। (१४८०) जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने ४।३।१००॥ जनपदस्वामिवाचिनां बहुवचने जनपदवाचिनां समानश्रुतीनां जनपदवत्सर्वं स्यात्प्रत्ययः प्रकृतिश्च। 'जनपदतदवध्योश्च' (सू० १३४८) इति प्रकरणे ये प्रत्यया उक्तास्तेऽत्रातिदिश्यन्ते। अङ्गाः जनपदो भक्तिरस्य

शेषः। ग्लुचुकायनिरिति। 'प्राचामवृद्धात्' इति फिनि ग्लुचुकायनिशब्दः। नाकुलक इति। क्षत्रियाख्योदाहरणम्।

(१४८०) जनपदिनाम्। बहुवचने परे ये जनपदेन समानशब्दाः जनपदवाचिशब्देन समानः शब्दः श्रवणं येषां तथाविधाः तेषां जनपदस्वामिवाचिनां जनपदवत् जनपदे इव सर्वं स्यादित्यर्थः। 'जनपदतदवध्योश्च' इति प्रकरणे ये प्रत्यया विहिताः ते भवन्ति'। प्रकृतयोऽपि तथैव भवन्तीति तु सर्वशब्दाल्लभ्यते। तदाह—जनपदस्वामिवाचिनामित्यादिना। अङ्गाः जनपद इति। दृष्टान्तार्थमिदम्। अङ्गनाम्नां राज्ञां निवासो जनपदः अङ्गाः, 'जनपदे लुप्' इति चातुरर्थिकस्य लुप्। सः जनपदः भक्तिरस्येत्यर्थे 'जनपदतदवध्योश्च' इति वुञ्प्रत्यये आङ्गकः इति यथा, तथा अङ्गदेशस्वामिनः क्षत्रियाः

विवरण—पूर्ववत् 'भक्तिः अस्य' का ही विषय है। तदनुसार "गोत्रप्रत्ययान्त होने पर भी क्षत्रियवाचक (गोत्रञ्च क्षत्रियश्च-गोत्रक्षत्रियौ, तौ आख्या येषां ते-गोत्रक्षत्रियाख्याः, तेभ्यः) प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य भक्तिः' अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। यहाँ लौकिक गोत्र विवक्षित है। यह 'अण्' का बाधक होते हुए भी 'औपगवकः' आदि में "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) से प्राप्त 'छ' का भी परत्व के कारण बाधक है। क्रमशः **उदाहरण**—गोत्रवाची—**ग्लौचुकायनकः** (जो ग्लुचुकायनि का भक्त हो—ग्लुचुकायनिः भक्तिः अस्य)—'फिन्'-प्रत्ययान्त ("प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्" ४-१-१६०) ग्लुचुकायनि+वुञ् (वु=अक)। आदिवृद्धि एवम् 'इ'—लोप। (२) क्षत्रियवाची—**नाकुलकः** (जो नकुल का भक्त हो—नकुलः भक्तिः अस्य)—नकुल+वुञ् (वु = अक)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप।

विशेष—सूत्र में 'बहुल' पद का प्रयोग किये जाने से कहीं कहीं 'वुञ्' प्रत्यय नहीं भी होता। यथा—'पाणिन' ('पाणिनि' का ही नामान्तर है) सेव्य जिसका—पाणिनः भक्तिः अस्य—इस अर्थ में 'छ' (=ईय) प्रत्यय होकर **पाणिनीयः** रूप निष्पन्न होगा। 'वुञ्' प्रत्यय नहीं होता।

(**१४८०**) **पद**—जनपदिनां, जनपदवत्, सर्वं, जनपदेन, समानशब्दानाम्। **अनुवृत्ति**—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—बहुवचन में जनपद-वाचक शब्द के समान जनपद-स्वामिवाचक शब्दों को जनपदवाचक के समान प्रत्यय एवं प्रकृति होते हैं। 'जनपदतदवध्योश्च' प्रकरण में जो प्रत्यय कहे गए हैं, उन्हीं का यहाँ अतिदेश होता है। उदा० अङ्गाः जनपदः भक्तिः अस्य—आङ्गकः। अङ्गाः क्षत्रियाः भक्तिः अस्य आङ्गकः। 'जनपदिनाम्' क्यों कहा? 'पाञ्चालाः' में (केवल पञ्चाल ब्राह्मणों के सेव्य—अर्थ अपेक्षित होने से) अतिदेश नहीं होता। 'जनपदेन' क्यों कहा? 'पौरवीयः' में केवल 'पौरवः राजा भक्तिः अस्य'—अर्थ अपेक्षित होने से—सर्वातिदेश नहीं होता)।

विवरण—यह अतिदेश-सूत्र है। 'जनपद' शब्द देश का वाचक है। जनपद के स्वामी क्षत्रिय 'जनपदी' कहलायेंगे। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "बहुवचन के विषय में (बहुवचने) वर्तमान जनपद के समान ही क्षत्रियवाची प्रातिपदिकों को (जनपदिनाम्) जनपद की भाँति ही (सर्वं जनपदवत्) समप्रकार्य हों"। विधान का तात्पर्य यह है कि "जनपदतदवध्योश्च" (४-२-१२४) के प्रकरण में देशवाची जनपद-प्रातिपदिकों से जो प्रत्यय कहे गए हैं वे

आङ्गकः। अङ्गाः क्षत्रियाः भक्तिरस्य आङ्गकः। जनपदिनाम् किम्? पञ्चालाः ब्राह्मणाः भक्तिरस्य पाञ्चालः। जनपदेन इति किम्? पौरवो राजा भक्तिरस्य पौरवीयः। (१४८१) तेन प्रोक्तम् ४।३।१०१॥ पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। (१४८२) तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ४।३।१०२॥ 'छन्दोब्राह्मणानि—' (सू

अङ्गाः भक्तिरस्येत्यर्थे क्षत्रियवाचकादङ्गशब्दाद् वुञि आङ्गका इति रूपमित्यर्थः। पञ्चाला ब्राह्मणा इति। अभेदोपचारादिह ब्राह्मणेषु पञ्चालशब्दः। तत्रातिदेशाभावादणेव भवति। पौरव इति। पौरवशब्दो न जनपदवृत्तिरिति भावः। बहुवचने किम्? एकवचनद्विवचनयोः सत्यपि शब्दभेदे अतिदेशो भवति। यथा आङ्गो वा आङ्गौ वा भक्तिरस्य आङ्गक इति। प्रकृतिश्चेति किम्? मद्राणां राजा माद्रः। 'द्वयच्मगध' इत्यण्। माद्रो भक्तिरस्येत्यर्थे अतिदेशान्माद्रस्य मद्रत्वे सति 'मद्रवृज्योः' इति कनि माद्रक इति सिध्यति।

(१४८१) तेन प्रोक्तम्। अस्मिन्नर्थे तृतीयान्तात् यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। पाणिनीयमिति। व्याकरणमिति शेषः। वृद्धाच्छः। प्रथमं प्रकाशितम् प्रोक्तम्। नेह देवदत्तेनाध्यापितम्।

(१४८२) तित्तिरिवरतन्तु। तेन प्रोक्तमित्येव। तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिक, उख एभ्यः उक्तविषये छण् स्यादित्यर्थः। इत आरम्भ्य 'तेनैकदिक्' इति पर्यन्तं प्रोक्ते वेदे

भक्तिसमानाधिकरण-वाची जनपदी अर्थात् क्षत्रियवाची प्रातिपदिकों से भी उसी प्रकार होंगे"। 'अङ्ग' 'वङ्ग' आदि शब्द जनपद-वाची होने के साथ ही जनपदी-वाची भी हैं। इसके साथ ही बहुवचन में वर्तमान हैं। अतः जनपद में कहा हुआ 'वुञ्' प्रत्यय 'अस्य भक्तिः' अर्थ में भी हुआ। **उदाहरण**—आङ्गकः ← (अङ्ग+वुञ् "अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्" ४-३-१२५)। इसी को समान दो प्रयोगों द्वारा दिखाया गया है। प्रथम प्रयोग जनपद अर्थ में है—जिसका अर्थ है—अङ्ग जनपद का जो भक्त हो—(अङ्गाः जनपदः भक्तिः अस्य) द्वितीय प्रयोग में जनपदी का अर्थ है—अङ्ग क्षत्रियों का जो भक्त हो (अङ्गाः—क्षत्रियाः भक्तिः अस्य)।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'जनपदिनाम्' पद का निवेश होने से **'पाञ्चालः'** (जो पञ्चाल ब्राह्मणों का भक्त हो) में अतिदेश इस लिये नहीं हुआ कि यहाँ जनपद-स्वामी की विवक्षा नहीं की गई। अभेदोपचार के बल पर 'पञ्चाल' की ब्राह्मण-बोधकता है। अतः 'वुञ्' न होकर औत्सर्गिक 'अण्' हुआ। (२) इसी प्रकार 'जनपदिनाम्' पद का निवेश होने से **पौरवीयः** (पौरव राजा का जो भक्त हो) में भी सर्वातिदेश नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ तत्समान जनपद की विद्यमानता (जनपद-वाचकता) नहीं है।

स्मरणीय—प्रकृत सूत्र से विधीयमान अतिदेश औत्सर्गिक 'अण्' का अपवाद है।

(१४८१) पद—तेन, प्रोक्तम्। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनीयम्।

विवरण—"तृतीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रवचन किया हुआ' (प्रोक्तम्) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण—पाणिनीयम्** (पाणिनि ने—अष्टाध्यायी बना कर-पढ़ाया—पाणिनिना प्रोक्तम्)—पाणिनि+छ ("वृद्धाच्छः" ४-२-११४, छ = ईय)। अन्तिम 'इ' का लोप।

(१४८२) पद—तित्तिरि-वरतन्तु-खण्डिकोखात्, छण्। **अनुवृत्ति**—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

१२७८) इति तद्विषयता। तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः। (१४८३) काश्यप-कौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः ४। ३। १०३॥ काश्यपेन प्रोक्तमधीयते काश्यपिनः।

भवन्ति 'शौनकादिभ्यः छन्दसि' इति छन्दोग्रहणस्य ततः पूर्वं ततः उत्तरं चापकर्षानुवृत्त्यो-रभ्युपगमात्। अत्र छणादिप्रत्ययान्तानामेषां केवलानां न प्रयोगः। किन्त्वध्येतृवेदितृ-प्रत्ययशिरस्काणामेवेत्याह—छन्दोब्राह्मणानीति तद्विषयतेति। अध्येतृवेदितृप्रत्ययशिर-स्कत्वनियम इत्यर्थः। तैत्तिरीया इति। प्रोक्ते वेदे छण् ईयः। तैत्तिरीयः शाखाभेदः, तमधीयते विदन्ति वेत्यर्थे अण्। 'प्रोक्ताल्लुक्' इति तस्य लुगिति भावः। वारतन्त-वीयाः। खाण्डिकीयाः, औखीयाः। 'तित्तिरिणा प्रोक्तः श्लोकः' इत्यत्र तु न, छन्दसीत्य-नुवृत्तेः। छन्दःशब्देन च कल्पसूत्राणामपि ग्रहणम्, तेषां सर्वशाखागतविधिवाक्यसङ्ग्रहा-त्मकत्वात्।

(१४८३) काश्यप। तेन प्रोक्तमित्येव। छस्यापवादः। काश्यपिन इति। काश्यप-शब्दात् णिनिः। णकार इत्, नकारादिकार उच्चारणार्थः। काश्यपिन्शब्दात् 'प्रोक्ता-ल्लुक्' इत्यध्येतृप्रत्ययस्याणो लुगिति भावः। एवं कौशिकिनः। ऋषिभ्यां किम्? इदा-नीन्तनेन काश्यपेन प्रोक्तं काश्यपीयम्।

मूलार्थ—'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्र से (प्रोक्त में) तद्विषयता है। उदा० तित्तिरिणा प्रोक्तम् अधीयते—तैत्तिरीयाः।

विवरण—पूर्व सूत्र के अर्थ का ही विषय है। अतः "तृतीया-समर्थ 'तित्तिरि', 'वरतन्तु' 'खण्डिका' तथा 'उख'—शब्दों से 'छन्दोविषयक प्रोक्त' अर्थ में 'छण्' (छ=ईय) प्रत्यय होता है"। इस सूत्र से लेकर "तेनैकदिक्" (४-३-११२) सूत्र पर्यन्त कहे जाने वाले प्रत्यय छन्दोविषय वाच्य होने पर ही संवद्ध होते हैं। इसका कारण "शौनकादिभ्यश्छन्दसि" (४-३-१०६) सूत्र में निविष्ट 'छन्दसि' पद का उससे पूर्व अपकर्ष तथा उत्तरवर्ती सूत्रों में अनुवृत्ति का होना है। पहले "छन्दो-ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" (४-२-६६) में छन्दो-विषयक शब्दों को अध्येतृ-वेदितृ अर्थ में प्रत्ययों का विधान बतलाया गया है, इस हेतु यहाँ भी छन्दो-विषयक होने से 'तद्विषयता' होती है। अर्थात् छन्दोविषयक 'अध्येता'–'वेत्ता' अर्थ में ही 'छण्' प्रत्यय होगा; केवल प्रोक्त अर्थ में नहीं। इस तरह इस नियमन के दो स्वरूप होते हैं—(१) तित्तिरि आदि शब्दों से 'छण्' ही होता है। (२) वह भी छन्दो-वाच्य होने पर ही होगा। यहाँ 'छन्दस्' शब्द मन्त्र-मात्र का बोधक है। **उदाहरण-तैत्तिरीयाः** (तित्तिरि से कहे गए वेद के पढ़ने वाले—तित्तिरिणा प्रोक्तम् अधीयते)—तित्तिरि+छण् (छ=ईय)। आदिवृद्धि तथा 'अन्त्य'-लोप। तैत्तिरीय शाखा का अध्येता तथा वक्ता अर्थ में 'तैत्तिरीय' शब्द से पुनः विहित 'अध्येतृ—अण्' का लोप होगा। इसी प्रकार **वारतन्तवीयाः, खाण्डिकीयाः तथा औखीयाः** रूप निष्पन्न होंगे।

विशेष—'तित्तिरिणा प्रोक्तः श्लोकः' अर्थ में 'छण्' नहीं होगा, क्योंकि 'छण्' प्रत्यय छन्दो-विषय में ही होता है।

(१४८३) पद—काश्यप-कौशिकाभ्याम्, ऋषिभ्याम्, णिनिः। **अनुवृत्ति**—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० काश्यपेन प्रोक्तम् अधीयते—काश्यपिनः।

विवरण—"तृतीया-समर्थ ऋषिवाची 'काश्यप' और 'कौशिक' प्रातिपदिकों से 'प्रोक्त' अर्थ में 'णिनि' (=इन्) प्रत्यय होता है"। "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) का यह अपवाद है। प्रत्यय में आदि 'ण्' की इत्संज्ञा है तथा अन्तिम 'इ' उच्चारणार्थ है। **उदाहरण—काश्यपिनः** (काश्यप

(१४८४) कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च ४ । ३ । १०४ ॥ कलाप्यन्तेवासिभ्यः—हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते हारिद्रविणः । वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः—आलम्बिनः । (१४८५)

(१४८४) कलापि । तेन प्रोक्तमित्येव । कलापिशिष्यवाचिभ्यो वैशम्पायनशिष्य-वाचिभ्यश्च णिनिः स्यादित्यर्थः । कलाप्यन्तेवासिभ्य इति । उदाह्रियत इति शेषः । हारिद्रविण इति । हरिद्रुर्नाम कलापिनः शिष्यः । ततः प्रोक्ते णिनिः, ओर्गुणः, आदिवृद्धिः । हारिद्रविन्शब्दादध्येत्रणः 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुगिति भावः । हरिद्रुः, छगली, तुम्बुरुः, उलपः इति चत्वारः कलापिशिष्याः । तुम्बुरुणा प्रोक्तमधीयते तौम्बुरविणः । छगलिनस्तु ढिनुग्वक्ष्यते । औलपिनः । वैशम्पायनान्तेवासिभ्य इति । उदाह्रियत इति शेषः । आलम्बिन इति । आलम्बि, कलिङ्गः, कमलः, ऋचाभः, आरुणिः, ताण्ड्यः, श्यामायनः, कठः, कलापी इति नव वैशम्पायनशिष्याः । अत्र आलम्बिशब्दात् अध्येत्रणः प्रोक्ते णिनिः । आलम्बिन्शब्दादध्येत्रणः 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुक् । आलम्बिनः, कालिङ्गिनः, कामलिनः, आर्चाभिनः, आरुणिनः, ताण्डिनः । अत्र 'आपत्यस्य' इति यलोपः । श्यामायनिनः । कठात्तु लुग्वक्ष्यते । कलापिनस्त्वण् वक्ष्यते । वैशम्पायनशिष्यः कलापी । तथा च कलाप्यन्तेवासिनां वैशम्पायनशिष्यत्वादेव सिद्धे पृथग्ग्रहणात् तच्छिष्यशिष्याणां न ग्रहणमिति भाष्ये स्पष्टम् ।

से कहे गए शास्त्र के अध्येता—काश्यपेन प्रोक्तम् अधीयते)—काश्यप् + इन् । ततः 'काश्यपिन्' से 'अध्येतृ' 'अण्' प्रत्यय का लुक् । प्रथमा बहुवचन ।

विशेष—यद्यपि काश्यप और कौशिक ऋषियों ने कल्पसूत्रों का प्रवचन किया है 'मन्त्रों' का नहीं, तो भी "शौनकादिभ्यश्छन्दसि" (४-३-१०६) का अधिकार होने से अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय का विषय मान लिया जाता है ।

(१४८४) पद—कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—णिनिः, तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १—कलापी के अन्तेवासी→हरिद्रुणा प्रोक्तम् अधीयते←हारिद्रविणः । २—वैशम्पायन के अन्तेवासी—आलम्बिनः ।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'कलापिन्' के अन्तेवासी तथा वैशम्पायन के अन्तेवासी-वाचक प्रातिपदिकों से छन्दोविषयक प्रोक्तार्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है" । अन्तेवासी शब्द शिष्य का पर्यायवाची है । कलापिन् के चार शिष्य थे—हरिद्रु, छगली, तुम्बुरु तथा उलप । छगली के विषय में "छगलिनो ढिनुक्" (४-३-१०९) से 'ढिनुक्' बतलाया जायगा, अतः 'णिनि' नहीं होगा । वैशम्पायन के नौ शिष्य थे—आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ और कलापी । 'कठ' शब्द से प्रोक्त प्रत्यय का आगे 'लुक्' कहा जायगा तथा 'कलापिन्' से इस सूत्र का अपवाद-स्वरूप 'अण्' प्रत्यय कहा जायगा । **उदाहरण**—(१) 'कलापिन्' के अन्तेवासी—हारिद्रविणः (हरिद्रु से कहे गए वेद के पढ़ने वाले—हरिद्रुणा प्रोक्तम् अधीयते)—हरिद्रु + णिनि ('इन्') > हरिद्रो + इन् ("ओर्गुणः" ६-४-१४६) ▷ हारिद्रो + इन् (आदिवृद्धि) ▷ हारिद्रविन् ('अव्' आदेश) । हारिद्रविन् + अण् (अध्येतृ अर्थ में 'अण्') ▷ हारिद्रविणः ("प्रोक्ताल्लुक्" ४-२-६४—से 'अण्' का लोप तथा प्रथमा बहुवचन) । (२) वैशम्पायनान्तेवासी→आलम्बिनः (आलम्बिना प्रोक्तमधीयते)—आलम्बि + णिनि (= इन्) ▷ आलम्बिन् + अण् > आलम्बिन् + जस् (प्रोक्तार्थ 'अण्' का लोप) > आलम्बिनः (विभक्तिकार्य) ।

विशेष—वैशम्पायन के शिष्य 'कलापिन्' शब्द से आगे 'अण्' प्रत्यय बतलाया जायगा ।

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४।३।१०५॥ तृतीयान्तात्प्रोक्तार्थे णिनिः स्यात् यत्प्रोक्तं पुराणप्रोक्ताश्चेद् ब्राह्मणकल्पास्ते भवन्ति। पुराणेन चिरन्तनेन मुनिना प्रोक्ताः। भल्लु, भाल्लविनः। शाटचायन, शाटचायनिनः। कल्पे–पिङ्ग, पैङ्गी कल्पः।

(१४८५) पुराणप्रोक्तेषु। 'तेन प्रोक्तम्' इति 'णिनिः' इति चानुवर्तते। मन्त्रव्यतिरिक्तवेदभागाः। ब्राह्मणानि। बोधायनादिकल्पसूत्राणि कल्पाः। तथाभूतेषु पुरातनमुनिप्रोक्तेषु ग्रन्थेषु वाच्येषु तृतीयान्ताण्णिनिः स्यादित्यर्थः। तदाह—तृतीयान्तादिति। यत्प्रोक्तमिति। सामान्याभिप्रायमेकवचनम्। प्रत्ययाभिधेयं यत्प्रोक्तं तत्पुरातनमुनिप्रोक्तब्राह्मणकल्पात्मकं चेदिति यावत्। पुराणप्रोक्तमित्येतद्व्याचष्टे–पुराणेनेति। ब्राह्मणे उदाहरति—भल्लु, भाल्लविन इति। भल्लु इति प्रकृतिनिर्देशः। भल्लुना पुरातनमुनिना प्रोक्तान् ब्राह्मणभागानधीयते इत्यर्थे प्रोक्तार्थणिनिः। भाल्लविन्शब्दादध्येत्रणो लुकि भाल्लविन इति रूपमिति भावः। ब्राह्मणे उदाहरणान्तरमाह—शाटचायन, शाटचायनिन इति। शाटचायनेति प्रकृतिनिर्देशः। शाटचायनेन पुरातनमुनिना प्रोक्तान् ब्राह्मणभागान् अधीयते इत्यर्थे प्रोक्तार्थणिनिप्रत्यये शाठचायनिन्शब्दादध्येत्रणो लुकि शाटचायनिन इति रूपमित्यर्थः। कल्पे इति। उदाह्रियत इति शेषः। पिङ्ग, पैङ्गी कल्प इति। पिङ्गेति प्रकृतिनिर्देशः। पिङ्गेन पुरातनमुनिना प्रोक्त इत्यर्थे णिनौ रूपम्। 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विष-

---

वहाँ तो कलापी के शिष्यों को परम्परया वैशम्पायन के शिष्य होने के नाते सिद्ध ही था, पृथक् 'कलापी' ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि प्रकृत शिष्य–सन्दर्भ में प्रशिष्यों का ग्रहण नहीं होता।

(१४८१) पद—पुराणप्रोक्तेषु, ब्राह्मणकल्पेषु। अनुवृत्ति—णिनिः, प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—तृतीयान्त समर्थ से प्रोक्तार्थ में 'णिनि' होता है, यदि वह प्रोक्त पुराणोक्त ब्राह्मण एवं कल्प हो"। पुराण अर्थात् चिरन्तन मुनियों से प्रोक्त अर्थ में—उदा० १–भल्लु—भाल्लविनः। २–शाट्यायन—शाट्यायनिनः। कल्प अर्थ में—पिङ्गेन प्रोक्तः–पैङ्गी कल्पः। 'पुराण' क्यों कहा? 'याज्ञवल्कानि' ब्राह्मणानि तथा 'आश्मरथः' कल्पः (में णिनि नहीं हुआ अतः)। 'अण्' प्रत्यय होने पर 'आपत्यस्य'० सूत्र से 'य्' का लोप हुआ है।

विवरण—प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण एवं कल्प-ग्रन्थों को 'पुराण-प्रोक्त' शब्द से अभिहित किया जा रहा है। तदनुसार "तृतीया–समर्थ प्रातिपदिक से यदि पुराणप्रोक्त ब्राह्मण ग्रन्थ और कल्पग्रन्थ अभिधेय हों तो प्रोक्त अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है"। यह बात ध्यान में रहे कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय में 'तद्विषयता' होती है, कल्पग्रन्थों के छान्दस न होने के कारण नहीं होती। **उदाहरण**—(क) चिरन्तन ऋषियों द्वारा प्रोक्त अर्थ में—(१) **भाल्लविनः** (भल्लु से कहे गए शास्त्र के पढ़ने वाले—भल्लुना प्रोक्तं ब्राह्मणभागान् अधीयते)—भल्लु+णिनि (इन्) > भल्लो+इन् > भाल्लविन्>भाल्लविन्+अण् > भाल्लविनः (प्रथमा बहुवचन।)

(२) **शाट्यायनिनः** (शाट्यायन से कहे गए ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्येता—शाट्यायनेन प्रोक्तान् ब्राह्मणभागान् अधीयते)—शाट्यायन्+इन् (णिनि) > शाट्यायनिन्+अण् > शाट्यायनिनः (प्रथमा-बहुवचन)। **कल्पार्थ—पैङ्गी** (पिङ्ग से कहा गया कल्प–पिङ्गेन प्रोक्तः)—पिङ्ग+इन् (णिनि) > पैङ्गिन्+अण् > पैङ्गी (प्रोक्तार्थ का लुक्)।

प्रत्युदाहरण—याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि (याज्ञवल्क्य से कहे गए ब्राह्मण-ग्रन्थ) तथा **आश्मरथः** कल्पः (आश्मरथ्य से कहे गए कल्पग्रन्थ) में 'णिनि' इस कारण नहीं हुआ कि महाभारत के अनुसार याज्ञवल्क्यादि प्राचीन (पुरातन) ऋषि नहीं हैं। अतः (क) याज्ञवल्क्य+

पुराणे इति किम् ? याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि। आश्मरथः कल्पः। अणि 'आपत्यस्य' (सू० १०८२) इति यलोपः। (१४८६) शौनकादिभ्यश्छन्दसि ४।३।१०६॥ छन्दस्यभिधेये एभ्यो णिनिः। शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः। (१४८७) कठचरकाल्लुक् ४।३।१०७॥ आभ्यां प्रोक्तप्रत्ययस्य लुक्स्यात्। कठेन प्रोक्तमधीयते

याणि' इत्यध्येतृप्रत्ययान्तत्वनियमस्तु कल्पेषु न सर्वत्र प्रवर्तत इति 'छन्दोब्राह्मणानि' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानीति। याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानीत्यर्थः। आश्मरथः कल्प इति। आश्मरथ्येन प्रोक्त इत्यर्थः। यलोप इति। यज्ञवल्काश्वरथशब्दौ कण्वादी। ताभ्यां यजन्ताभ्याम् अणि 'आपत्यस्य च' इति यलोप इत्यर्थः। याज्ञवल्क्याश्मरथ्यावाधुनिकावित्यभिमानः। भाष्ये तु शाट्यायनादितुल्यकालत्वात् याज्ञवल्क्यादिभ्यो णिनिप्रतिषेध इति तद्विषयता च नेति वचनद्वयमारब्धमित्यास्तां तावत्।

(१४८७) कठचरकाल्लुक्। प्रोक्तप्रत्ययस्येति। प्रकरणलभ्यम्। कठा इति। वैशम्पायनान्तेवासित्वलक्षणणिनो लुक्। अध्येत्रणस्तु 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुक्। चरका इति। चरकेण प्रोक्तमधीयते इत्यर्थः। प्रोक्ताणोऽनेन लुकि अध्येत्रणः प्रोक्ताल्लुक्।

अण्–औत्सर्गिक अण् होता है—("कण्वादिभ्यो गोत्रे" ४-२-१११) > याज्ञवल्क+जस् ('अ' तथा 'य्' लोप) > याज्ञवल्कानि (विभक्ति-कार्य नपुंसकलिङ्ग)। (ख) आश्मरथ्य+अण् > आश्मरथः। शेष कार्य पूर्ववत्। महाभाष्य के अनुसार याज्ञवल्क्यादि भी प्राचीन ऋषि हैं। अतः प्राप्त णिनि के अवरोधार्थ पतञ्जलि ने **'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः तुल्यकालत्वात्'**—यह वचन कहा है। याज्ञवल्क्यादि भी शाट्यायन के समानकालिक हैं अतः वहाँ 'णिनि' का निषेध किया जाय।

(१४८६) **पद**—शौनकादिभ्यः, छन्दसि। **अनुवृत्ति**—णिनिः, तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'छन्द' अर्थात् 'वेद' अभिधेय होने पर इनसे 'णिनि' हो। उदा० शौनकेन प्रोक्तम् अधीयते—शौनकिनः।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'शौनकादि' प्रातिपदिकों से 'छन्द' (वेद) अभिधेय होने पर 'णिनि' प्रत्यय होता है"। यहाँ छन्दो-विषय होने से अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय-विषयता होती है। **उदाहरण**—शौनकिनः (शौनक से कहे गए वेद-ग्रन्थों के पढ़ने वाले—शौनकेन प्रोक्तम् अधीयते)—शौनक्+इन् (णिनि) > शौनकिन्+अ॒ण्॒ > शौनकिनः (अध्येत्रण् का लोप तथा प्रथमा बहुवचन)।

(१४८७) **पद**—कठचरकात्, लुक्। **अनुवृत्ति**—छन्दसि, तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इन दोनों से 'प्रोक्त' प्रत्यय का लोप हो। उदा० कठेन प्रोक्तम् अधीयते→ १–कठाः। २–चरकाः।

विवरण—"'कठ' और 'चरक' शब्दों से विहित 'प्रोक्त' प्रत्यय का छन्दो-विषय में 'लुक्' होता है"। कठ वैशम्पायन का अन्तेवासी है। अतः "कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिनश्च" (४-३-१०४) से विहित 'णिनि' प्रत्यय का लोप होगा। तथा 'चरक' वैशम्पायन का नाम है। उससे विहित औत्सर्गिक 'अण्' का लोप होगा। तदनन्तर दोनों शब्दों से अध्येत्रर्थ-अण् का "प्रोक्ताल्लुक्" से लोप होकर प्रथमा बहुवचन में **उदाहरण**—**कठाः** तथा **चरकाः** शब्द निष्पन्न होंगे। क्रमशः—**अर्थ**—(क) कठ के कहे गए वेद-भाग के अध्येता–कठेन प्रोक्तम् अधीयते। (ख) चरक से कहे गए वेदभाग के अध्येता—चरकेण प्रोक्तमधीयते—चरकाः।

कठाः । चरकाः । (१४८८) कलापिनोऽण् ४ । ३ । १०८ ॥ कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः । 'नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारिपीठसर्पिकलापिकौथुमितैतिलिजाजलिलाङ्गलि-शिलालिशिखण्डिसूकरसद्मसुपर्वणामुपसङ्ख्यानम्' (वा ४१८३) इत्युपसङ्ख्यानाट्टि-लोपः । (१४८९) छगलिनो ढिनुक् ४ । ३ । १०९ ॥ छगलिना प्रोक्तमधीयते छाग-

---

(१४८८) कलापिनोऽण् । 'तेन प्रोक्तम्' इत्येव । वैशम्पायनशिष्यत्वात् प्राप्तस्य णिनेरपवादः । कालापा इति । कलापिन्शब्दादणि टिलोपे कालापशब्दादध्येतृप्रत्ययस्य छस्य लुगति भावः । 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावमाशङ्क्याह—नान्तस्येति ।

(१४८९) छगलिनो ढिनुक् । छगलिन्शब्दादुक्तविषये ढिनुक्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । कलाप्यन्तेवासित्वात् प्राप्तस्य णिनेरपवादः । छागलेयिन इति । ककार इत्, उकार उच्चारणार्थः । ढिन् शिष्यते । ढस्य एयः, टिलोपः । ततोऽध्येतृप्रत्ययस्य लुगति भावः ।

(१४८८) पद—कलापिनः, अण् । अनुवृत्ति—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० कलापिना प्रोक्तम् अधीयते—कालापाः । वा० 'अण्' परे रहते 'सब्रह्मचारिन्' आदि शब्दों की 'टि' का लोप होता है । इस कथन से 'टि' का लोप हुआ ।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'कलापिन्' प्रातिपदिक से 'प्रोक्त' अर्थ में छन्दो-विषय अभिधेय होने पर 'अण्' प्रत्यय होता है" । 'कलापिन्' वैशम्पायन का अन्तेवासी है, अतः 'णिनि' (४-३-१०४ से) प्राप्त रहा—यह उसका अपवाद है । **उदाहरण**—कालापाः (कलापी द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ के अध्येता-कलापिना प्रोक्तमधीयते)—कलापि॒न् + अण् ▷ कलाप् + अ ("इनण्यन-पत्ये" ६-४-१६४ से टि भाग–'इन्'–के लोप को प्रकृतिभाव प्राप्त रहा, उसका प्रतिषेध "सब्रह्म-चारि"० वार्तिक से किया जा रहा है, अतः "नस्तद्धिते" ६-४-१४४ से 'टि' लोप हो गया) > कालाप (आदिवृद्धि) > कालाप + छ॒ (अध्येतृ अर्थ में "वृद्धाच्छः" ४-२-११४) ▷ कालापाः ('अध्येतृ' प्रत्यय का लोप तथा प्रथमा बहुवचन में रूप) ।

प्रकृत वार्तिक में सभी 'न'कारान्त शब्द हैं । वे इस प्रकार हैं—१-सब्रह्मचारिन्, २-पीठ-सर्पिन्, ३-कलापिन्, ४-कौथुमिन्, ५-तैतिलिन्, ६-जाजलिन्, ७-लाङ्गलिन्, ८-शिलालिन्, ९-शिखण्डिन्, १०-सूकरसद्मन् तथा ११-सुपर्वन् । तद्धित के विषय में इन शब्दों की 'टि' का लोप होता है । इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—१-साब्रह्मचाराः, २-पैठसर्पाः, ३-कालापाः, ४-कौथुमाः, ५-तैतिलाः, ६-जाजलाः, ७-लाङ्गलाः, ८-शैलालाः, ९-शैखण्डाः, १०-सौकरसद्माः तथा ११-सौपर्वाः ।

(१४८९) पद—छगलिनः, ढिनुक् । अनुवृत्ति—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० छगलिना प्रोक्तमधीयते—छागलेयिनः ।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'छगलिन्' प्रातिपदिक से वेद-विषय में 'प्रोक्त' अर्थ में 'ढिनुक्' प्रत्यय होता है" । छगलिन् कलापी का शिष्य है, अतः "कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च" (४।३।१०४) से 'णिनि' प्राप्त था, यह उसका अपवाद है । **उदाहरण**—छागलेयिनः (छगलिन् के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ को पढ़ने वाले—छगलिना प्रोक्तमधीयते)—छगलिन् + ढिन् (ढिनुक् में 'क्' 'इत्' तथा 'उ' उच्चारणार्थ है) > छगलि॒न् + एयिन् (ढ्= एय्) ▷ छगल् + एयिन् ('टि' = 'इन्'-लोप—"नस्तद्धिते" ६-४-१४४) > छागलेयिन् + अ॒ण् (आदिवृद्धि, ततः अध्येतृप्रत्यय) > छागलेयिनः ('अण्' का लोप, प्रथमा बहुवचन) ।

विशेष—'तद्विषयता' सर्वत्र होगी । अतः अध्येतृ-प्रत्यय का लुक् भी होता है ।

लेयिनः। (१४९०) पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४।३।११०॥ णिनिः स्यात्। पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते–पाराशरिणो भिक्षवः। शैलालिनो नटाः। (१४९१) कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११॥ 'भिक्षुनटसूत्रयोः' इत्येव।

(१४९०) पाराशर्य। णिनिः स्यादिति। उक्तविषये इति शेषः। मण्डूकप्लुत्या णिनिरेवानुवर्तते इति भावः। पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमित्यर्थे, शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रमित्यर्थे च तृतीयान्ताण्णिनिः स्यादिति यावत्। भिक्षवः संन्यासिनः, तदधिकारिकं सूत्रं भिक्षुसूत्रं व्यासप्रणीतं प्रसिद्धम्। पाराशर्येणेति। पराशरशब्दाद् गर्गादित्वात् गोत्रे यञि पाराशर्यो व्यासः। इह त्वनन्तरापत्ये गोत्रत्वारोपाद्यञ्। तेन प्रोक्ते भिक्षुसूत्रे णिनिः, ततोऽध्येतृप्रत्ययस्य छस्य लुक्। पाराशरिण इति। जसि रूपम्। शैलालिन इति। शिलालिन्शब्दाद् नटसूत्रे प्रोक्ते णिनौ टिलोपे शैलालिन्शब्दादध्येतृ प्रत्ययस्याणो लुकि शैलालिन इति जसि रूपमिति भावः।

(१४९१) कर्मन्द। कर्मन्देन प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमित्यर्थे कृशाश्वेन प्रोक्तं नटसूत्रमित्यर्थे

(१४९०) पद—पाराशर्य-शिलालिभ्यां, भिक्षुनटसूत्रयोः। अनुवृत्ति—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'णिनि' हो। उदा० १–पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रम् अधीयते—पाराशरिणः भिक्षवः। २–शैलालिनः नटाः।

विवरण—मण्डूकप्लुति से यहाँ 'णिनि' की अनुवृत्ति की गई है। अतः "तृतीया-समर्थ 'पाराशर्य' तथा 'शिलालिन्' प्रातिपदिकों से यथासंख्य 'भिक्षुसूत्र' तथा 'नटसूत्र' का प्रोक्त विषय अभिधेय होने पर 'णिनि' प्रत्यय होता है।" **उदाहरण—पाराशरिणः** भिक्षवः (पाराशर्य के द्वारा प्रोक्त भिक्षु-सूत्रों के अध्येता—पाराशर्येण प्रोक्तम् अधीयते)—पाराशर्य + णिनि (इन्) > पाराशर् + इन् ('अ' लोप तथा 'य्'—लोप "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" ६-४-१५१) > पाराशरिन् + अण् (अध्येत्रर्थ) > पाराशरिन् + जस् ('अण्' लोप) > पाराशरिणः (प्रथमा-बहुवचन। सर्वप्रथम पराशर + यञ् (गोत्रे-गर्गादि) > पाराशर्य शब्द निष्पन्न होगा। (१) यहाँ पर व्यास यद्यपि पराशर के पुत्र ही हैं तथापि अनन्तरापत्य में गोत्रत्व का आरोप होने के कारण 'यञ्' प्रत्यय की समीचीनता सिद्ध की गई है। (२) **शैलालिनः** नटाः (शिलालिन् के द्वारा नटसूत्रों के अध्येता—शिलालिना प्रोक्तम् अधीयते)—शिलालिन् + णिनि (इन्) > शिलाल् + इन् (टि = इन्—लोप) > शैलालिन् (आदिवृद्धि) > शैलालिन् + अण् (अध्येत्रर्थ) > शैलालिनः (अध्येतृ-प्रत्यय का लोप ततः स् = र् = :)।

विशेष—यद्यपि 'भिक्षुसूत्र' एवं 'नटसूत्र' वेद-विषयक व्याख्यान-जन्य प्रवचन ग्रन्थ नहीं हैं, किन्तु अपने विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, तथाऽपि यहाँ 'तद्विषयता' इष्ट है। अतः इन सूत्रों को छन्दोवत् मान कर 'तद्विषयता' स्वीकार की गई है।

(१४९१) पद—कर्मन्दकृशाश्वात्, इनिः। अनुवृत्ति—भिक्षुनटसूत्रयोः, तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भिक्षु तथा नटसूत्रों में ही हो। उदा० १—कर्मन्देन प्रोक्तम् अधीयते—कर्मन्दिनः भिक्षवः। २—कृशाश्विनः नटाः।

विवरण—'भिक्षु' तथा 'नटसूत्र'-विषयक प्रसङ्ग अभी चल रहा है। पूर्वसूत्र (१४९०) से उसकी अनुवृत्ति अपेक्षित है। अतः "तृतीया-समर्थ 'कर्मन्द' तथा 'कृशाश्व' प्रातिपदिकों से क्रमशः 'भिक्षुसूत्र' तथा 'नटसूत्र' का प्रोक्त विषय अभिधेय होने पर 'इनि' प्रत्यय होता है"। 'णिनि' में 'ण्' इत् था, अतः वहाँ आदिवृद्धि हुई। इनि में आदिवृद्धि नहीं होगी। यहाँ भी 'भिक्षुसूत्र

कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनो भिक्षवः। कृशाश्विनो नटाः। (१४९२) तेनैकदिक् ४। ३। ११२॥ सुदाम्ना अद्रिणा एकदिक् सौदामनी। (१४९३) तसिश्च ४। ३।

च तृतीयान्तादिनिः स्यादिति यावत्। प्रत्यये अन्त्य इकार उच्चारणार्थः। कर्मन्दशब्दादिनिः ततोऽध्येत्रणो लुक्। एवं कृशाश्विनः।

(१४९२) तेनैकदिक्। सहार्थे तृतीया। एका दिक् अधिकरणात्मिका यस्य तदेकदिक्। तेन सह एकस्यां दिशि विद्यमानमित्यर्थे तृतीयान्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। सौदामनीति। अणि 'अन्' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः।

(१४९३) तसिश्च। 'तेनैकदिक्' इत्यर्थे तृतीयान्तात्तसिश्च स्यादित्यर्थः। इकार

आदि को छन्दोवत् माना गया है। तदनुसार तद्विषयता की गई है। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **कर्मन्दिनः** भिक्षवः (कर्मन्द[1] के द्वारा प्रोक्त भिक्षुसूत्रों के अध्येता–कर्मन्देन प्रोक्तम् अधीयते)—कर्मन्द्+इन् (इनि)+जस्। (२) **कृशाश्विनः** नटाः (कृशाश्व[2] के द्वारा प्रोक्त नटसूत्रों के अध्येता)—कृशाश्व्+इन् (इनि)+जस्। प्रक्रिया पूर्वसूत्रोक्त उदाहरणों के समान समझें।

(१४९२) पद—तेन, एकदिक्। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० सुदाम्ना अद्रिणा एकदिक्—सौदामनी।

विवरण—'प्रोक्त' एवं 'व्याख्यान' का प्रकरण समाप्त हो गया है। नया प्रकरण आरम्भ हो रहा है। तदनुसार "तृतीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'एकदिक्' (एका दिक् यस्य तत्–समान दिशा) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—**सौदामनी** (सुदामन् पर्वतवाली दिशा में चमकने वाली बिजली—सुदाम्ना एकदिक्)—सुदामन्+अण् ▷ सौदामन (प्रकृतिभाव—"अन्" ६.४-१६७) ▷ सौदामनी (ङीप्)।

(१४९३) पद—तसिः, च। **अनुवृत्ति**—तेनैकदिक्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

---

१. कर्मन्द के ग्रन्थ के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। किन्तु पाराशर्य कृत भिक्षुसूत्र वर्तमान वेदान्तसूत्र (व्यासकृत) ज्ञात होते हैं, जो कि उपनिषदों पर आश्रित हैं कुछ विद्वानों का मत है कि भिक्षुसूत्रों में सांख्यसूत्रों का पूर्वरूप था। उसकी रचना भिक्षु पञ्चशिख ने की थी। महाभारत के अनुसार वह पाराशर्य-गोत्रीय था—"पाराशर्यसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥—(शान्तिपर्व—पूना संस्करण–३०८।२४)। पञ्चशिख के इस सूत्रग्रन्थ का झुकाव वेदान्त की ओर अधिक था। मूल भिक्षुसूत्रों की रचना वैदिक चरण के अन्तर्गत हुई। मूलतः ऋग्वेद की बाष्कल शाखा के अन्तर्गत पाराशर्य-चरण की स्थिति थी।

२. शिलाली और कृशाश्व आचार्यों के चरणों में नटसूत्रों का जो विकास हुआ, वह किसी आम्नाय-ग्रन्थ से कम न था। भरत के नाट्य-शास्त्र में नटों को 'शैलालक' कहा गया है। सम्भावना यह है कि 'शिलालिन्' के नटसूत्रों की सामग्री वर्तमान नाट्यशास्त्र में परिगृहीत कर ली गई हो। पाणिनि के अनन्तर पतञ्जलि के समय में नाट्य-विद्या का कुछ सामाजिक ह्रास होने लगा था। पतञ्जलि ने उसे नियमपूर्वक अध्ययन के क्षेत्र से बहिर्भूत माना है। न तो अध्यापन कराने वाले नटों को 'आख्याता' (गुरु) माना जाता था और न उनके अध्यापन को 'उपयोग' ही ("आख्यातोपयोगे" १-४-२९ सूत्र पर भाष्य—"उपयोग इति किमर्थम्? नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोति। उपयोग इत्युच्यमानेऽप्यत्र प्राप्नोति। एषोऽप्युपयोगः। आतश्चोपयोगे। कश्च साधीयः उपयोगः? अथोपयोगः को भवितुमर्हति? यो नियमपूर्वकः। तद्यथा उपयुक्ता माणवका इत्युच्यन्ते, य एते नियमपूर्वकमधीतवन्तो भवन्ति"।

११३ ॥ स्वरादिपाठादव्ययत्वम् । पीलुमूलेन एकदिक् पीलुमूलतः । (१४९४) उरसो यच्च २ । ३ । ११४ ॥ चात्तसिः । अणोऽपवादः । उरसा एकदिक्–उरस्यः–उरस्तः । (१४९५) उपज्ञाते ४ । ३ । ११५ ॥ तेन इत्येव । पाणिनिनोपज्ञातं पाणिनीयम् । (१४९६) कृते ग्रन्थे ४ । ३ । ११६ ॥ वररुचिना कृतो वाररुचो ग्रन्थः । (१४९७)

उच्चारणार्थः । स्वरादिपाठादिति । 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' इति प्रकरणे 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यत्र 'तसिलादयः' इति परिगणने तसेः पाठादित्यर्थः ।

(१४९४) उरसो यच्च । उरसा एकदिगित्यर्थे तृतीयान्तादित्यर्थः ।

(१४९५) उपज्ञाते । तेनोपज्ञातमित्यर्थे तृतीयान्ताद् यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । उपज्ञातं प्रथमज्ञातम् ।

(१४९६) कृते ग्रन्थे । तेन कृतो ग्रन्थः इत्यर्थे तृतीयान्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः ।

मूलार्थ—स्वरादि में पाठ होने से अव्ययसंज्ञा । उदा० पीलुमूलेन एका दिक्—पीलुमूलतः ।

विवरण—'एकदिक्' का विषय है । अतः "तृतीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'एकदिक्' (समान दिशा) अर्थ में 'तसि' (तस्) प्रत्यय भी (च) होता है" । 'तसि' में 'इ'कार उच्चारणार्थ है । **उदाहरण**—पीलुमूलतः (जो पीलुमूल की दिशा में हो—पीलुमूलेन एकदिक्)—पीलुमूल+तस् (तसि) > पीलुमूलतः (स् = र् = :) । "स्वरादिनिपातमव्ययम्" (१-१-३७) प्रकरण में "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" (१-१-३८) के अन्तर्गत 'तसिलादयः प्राक्पाशपः' परिगणन में 'तसि' का निवेश होने से तासिप्रत्ययान्त 'अव्यय' माना गया है ।

विशेष—वस्तुतः तस्-प्रत्ययान्त अव्यय स्वाभाविक अधिकरण-शक्ति-प्रधान है तथापि तृतीयान्त की भी प्रधानतया प्रतीति होती है—यह कैयट ने "कृन्मेजन्तः" (१-१-३९) सूत्र के भाष्य में प्रतिपादित किया हैं ।

(१४९४) पद—उरसः, यत्, च । **अनुवृत्ति**—तसिः, तेनैकदिक्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'च' का निवेश होने से 'तसि' (प्रत्यय भी होगा) । 'अण्' का अपवाद है । उदा० उरसा एकदिक् उरस्यः—उरस्तः ।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'उरस्' शब्द से 'एकदिक्' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय तथा 'तसि' प्रत्यय भी ('च' का निवेश करने से) होता है" । **उदाहरण**—उरस्यः→'यत्' होने पर (उरस्+यत्) । उरस्तः←'तसि' होने पर (उरस्+तस्) । **अर्थ**—जो उरःस्थल की ओर हो—उरसा एकदिक् ।

(१४९५) पद—उपज्ञाते । **अनुवृत्ति**—तेन, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'तृतीया' से ही हो । उदा० पाणिनिना उपज्ञातं→पाणिनीयम् ।

विवरण—"तृतीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'उपज्ञात' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं" । उपज्ञा का अर्थ है—नई सूझ । अपनी बुद्धि से जो नई बात आविष्कृत की जाती है—वह 'उपज्ञा' है । किन्तु जिसका आविष्कार पहले हो चुका हो तथा उसमें परिष्कार आदि कर नया रूप देते हुए प्रस्तुत ग्रन्थादि 'प्रोक्त' कहलाता है । यह दोनों में अन्तर है । **उदाहरण**—**पाणिनीयम्** (पाणिनि के द्वारा आविष्कृत—पाणिनिना उपज्ञातम्)—पाणिनि+छ (= ईय) ।

(१४९६) पद—कृते, ग्रन्थे । **अनुवृत्ति**—तेन, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

संज्ञायाम् ४ । ३ । ११७ ॥ तेन इत्येव । अग्रन्थार्थमिदम् । मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं मधु । (१४९८) कुलालादिभ्यो वुञ् ४ । ३ । ११८ ॥ तेन कृते संज्ञायाम् । कुलालेन कृतं कौलालकम् । वारुडकम् । (१४९९) क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ् ४ । ३ । ११९ ॥ तेन कृते संज्ञायाम् । क्षुद्राभिः कृतं क्षौद्रम् । भ्रामरम् । वाटरम् । पादपम् ।

(१४९७) संज्ञायाम् । तेनेत्येवेति । तेन कृतमित्यर्थे सञ्ज्ञायां तृतीयान्ताद्यथा विहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । ग्रन्थे इति नानुवर्तते । तदाह—अग्रन्थार्थमिति ।

(१४९८) कुलालादिभ्यो वुञ् । तेन कृते संज्ञायामिति शेषपूरणम् । वारुडकमिति । वरुडो जातिविशेषः ।

(१४९९) क्षुद्राभ्रमर । तेन कृते सञ्ज्ञायामिति शेषपूरणम् । क्षुद्रा मधुमक्षिकाः ।

मूलार्थ—उदा० वररुचिना कृतः—वाररुचः ।

विवरण—"तनैकदिक्" (४-३-११२) सूत्र से 'तेन' की अनुवृत्ति आ रही है । अतः "तृतीया-समर्थ प्रातिपदिकों से 'ग्रन्थ बनाना' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते है" । **उदाहरण**—**वाररुचः** (वररुचि का बनाया ग्रन्थ–वररुचिना कृतः)—वररुचि̥+अ (अण्) । आदिवृद्धि तथा अन्त्य 'इ' लोप ।

विशेष—'प्रोक्त' और 'कृत' में यह अन्तर है कि 'प्रोक्त' में ग्रन्थ–प्रवक्ता की समग्र मूल-रचना न होने पर भी पूर्वाचार्यों की रचनाओं का परिष्कार किया गया होता है । 'कृत' ग्रन्थ में ग्रन्थकार की समग्र शब्द-रचना अपनी होती है ।

(१४९७) पद—संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—कृते, तेन, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'तृतीयान्त' समर्थ से ही (हो) । ग्रन्थ-भिन्नार्थक यह (विधान) है । उदा० मक्षिकाभिः कृतं—माक्षिकं मधु ।

विवरण—"तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'कृत' अर्थ वाच्य रहते 'संज्ञा' गम्यमान होने पर यथा-विहित प्रत्यय होते हैं" । 'ग्रन्थे' की अनुवृत्ति अपेक्षित न होने से ग्रन्थ-भिन्न संज्ञा-हेतु इस विधान की सार्थकता है । **उदाहरण**—**माक्षिकं** (शब्द—मक्षिकाभिः कृतम्) । मक्षिका̥+अण् । आदि वृद्धि तथा 'आ' लोप ।

(१४९८) पद—कुलालादिभ्यः, वुञ् । **अनुवृत्ति**—संज्ञायाम्, कृते, तेन, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तृतीयान्त से कृत अर्थ में 'संज्ञा' वाच्य होने पर (हो) । उदा० कुलालेन कृतं—१-कौलालकम् । २—वारुडकम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र के विषय का विस्तार है । अतः "तृतीया-समर्थ कुलालादि प्रातिपदिकों से संज्ञा गम्यमान होने पर 'कृत' अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**कौलालकम्** (कुम्हार द्वारा बनाया हुआ बर्तन—कुलालेन कृतम्)—कुलाल̥+वुञ् (वु = अक, आदिवृद्धि एवम् 'अन्त्य'-अ-लोप । (२) **वारुडकम्** (वरुड से बनाया गया—वरुडेन कृतम्) वरुड̥+वुञ् । वु = अक ।

विशेष—यहाँ पर भाष्यकार ने "कृते ग्रन्थे" (४-३-११६) सूत्र में 'संज्ञायाम् कुलालादिभ्यो वुञ्' का योगविभाग कर 'मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं, सारवम्' आदि प्रयोग सिद्ध किए हैं । काशिकादि में इन प्रयोगों की सिद्धि के लिये 'संज्ञायाम्' पृथक् सूत्र माना है ।

(१४९९) पद—क्षुद्रा-भ्रमर-वटर-पादपात्, अञ् । **अनुवृत्ति**—संज्ञायाम्, कृते, तेन, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

(१५००) तस्येदम् ४ । ३ । १२० ॥ उपगोरिदमौपगवम् । 'वहेस्तुरणिट् च' (वा २९१०) । संवोढुः स्वं सांवहित्रम् । 'अग्नीधः शरणे रण् भं च' (वा २९११) ।

(१५००) **तस्येदम्** । इदमित्यर्थे षष्ठयन्तादणादयः साधारणप्रत्ययाः, राष्ट्रावारेत्यादिभिर्विशिष्य विहिताः घादयश्च प्रत्यया यथाविहितं स्युरित्यर्थः । अत्र शेषे इत्यनुवृत्तम् । ततश्च अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तार्थेभ्योऽन्येषां शेषभूतसर्वविशेषाणां सामान्यविशेषरूपेण प्रत्ययार्थत्वं लभ्यते । अपत्यादीनां तु न केनापि रूपेण इदंशब्दार्थत्वमिति 'तस्यापत्यम्' इत्यत्रोक्तम् । **वहेस्तुरणिट् चेति** । वार्तिकमिदम् । तुरिति तृन्तृचोः सामान्येन ग्रहणम् । वहधातोर्विहितः यः तृप्रत्ययः तस्मादण् स्यात् । तृप्रत्ययस्य इडागमश्च । तत्र अण् पूर्वेण सिद्ध इड्विध्यर्थमनूद्यते । **संवोढुः स्वमिति** । विग्रहप्रदर्शनम् । वहेस्तृच् तृन् वा । वहेरनुदात्तत्वात् 'एकाच उपदेशे' इति नेट् । ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपाः । 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इत्योत्वम् । **सांवहित्रमिति** । ढत्वादीनामसिद्धत्वादलौकिक एव विग्रहवाक्ये पूर्वमिट् । ततो निमित्ताभावान्न ढत्वादि । **अग्नीधः शरणे रण् भं चेति** । वार्तिकमिदम् । शरण-

---

मूलार्थ—तृतीयान्त से 'कृत' अर्थ में ही (हो) । उदा० १–क्षुद्राभिः कृतम्–क्षौद्रम् । २–भ्रामरम् । ३–वाटरम् । ४–पादपम् ।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'क्षुद्रा', 'भ्रमर', 'वटर', तथा 'पादप' प्रातिपदिकों से 'कृत' अर्थ में संज्ञा-विषय गम्यमान होने पर अञ् प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—क्रमशः—(१) **क्षौद्रम्** (छोटी मक्खियों का शहद—क्षुद्राभिः कृतम्)—क्षुद्रा+अ (अञ्) । आदिवृद्धि, तथा अन्त्य-लोप । (२) **भ्रामरम्** (भौंरों से गृहीत शहद—भ्रमरैः कृतम्)—भ्रमर+अञ् । (३) **वाटरम्** (मुर्गों से बनाया गया—वटरैः कृतम्)—वटर+अञ् । (४) **पादपम्** (वृक्षों से बनाया गया पीढा—पादपैः कृतम्)—पादप+अञ् ।

(१५००) पद—तस्य, इदम् । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० उपगोः इदम्—औपगवम् । वा० 'तृ'-प्रत्ययान्त 'वह्' धातु से 'अण्' प्रत्यय हो तथा उसे 'इट्' का आगम भी हो । संवोढा का धन—सांवहित्रम् । वा० 'अग्नीध्' से शरण अर्थ में 'रण्' प्रत्यय हो और उसकी 'भ' संज्ञा भी हो । अग्नि को दीप्त करने वाले का स्थान आग्नीध्रम् । वा० 'आधान' अर्थ—में 'समिध्' से 'षेण्यण्' हो । उदा० सामिधेन्यः मन्त्रः । स्त्रीलिङ्ग में—सामिधेनी ऋक् ।

विवरण—शैषिक प्रकरण के व्यापक अर्थ को 'इदम्' पद से सूचित किया जा रहा है । सूत्र में 'तस्य' पद सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी होने से षष्ठी-समर्थ का सूचक है । 'इदम्' पद 'यह' अर्थ का अभिव्यञ्जक है । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिक से 'इदम्' (=यह) अर्थ में यथाविहित अणादि साधारण प्रत्यय एवम् 'घ' आदि विशेष प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—**औपगवम्** (उपगु सम्बन्धी—उपगोः इदम्)—उपगु+अ (अण्) ▷ उपगो+अ ('उ' को गुण) ▷ औपगो+अ (आदिवृद्धि) ▷ औपगवम् ('अव्' आदेश) ।

इस सम्बन्ध में **तीन वार्तिक** उद्धृत किये जा रहे हैं । प्रथम वार्तिक के अनुसार √वह् धातु से विहित 'तृन्' एवं 'तृच्' प्रत्ययान्त से 'अण्' प्रत्यय हो तथा 'तृ' को 'इट्' आगम हो । आगम के विधानार्थ उसका अनुवाद है । **उदाहरण**—**सांवहित्रम्** (पति की सम्पत्ति—संवोढुः स्वम्)—संवह्-तृ+अ (अण्) →सं-वह्+इ-तृ+अ ←(अण् एवं 'तृ' को 'इट्' आगम) ▷ सांवहित्रम (आदिवृद्धि तथा यण्–तृ+अ =त्र) । द्वितीय वार्तिक द्वारा 'अग्नीध्' शब्द से गृह (शरण)

अग्निमिन्द्धे अग्नीत्, तस्य स्थानमाग्नीध्रम् । तात्स्थ्यात्सोऽप्याग्नीध्रः । 'समिधामाधाने षेण्यण्' (वा २९१२) । सामिधेन्यो मन्त्रः, सामिधेनी ऋक् । (१५०१) रथाद्यत्

मित्यर्थे अग्नीच्छब्दात् षष्ठ्यन्तादण्, तस्मिन्परे भत्वं च वक्तव्यमित्यर्थः । शरणं गृहम् । अग्निमिन्द्धे अग्नीदिति । ऋत्विग्विशेषोऽयम् । इन्धेः क्विप् 'अनिदिताम्' इति नलोपः । आग्नीध्रमिति । सोमे महावेदेरुत्तरार्धे पञ्चारत्निचतुरस्रस्थानविशेषसञ्ज्ञेयम् । भत्वान्न जश्त्वम् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तोऽयं शब्दः । तैत्तिरीये एतद्वै यज्ञस्यापराजितं यदाग्नीध्रमित्यादावाद्युदात्तत्वं तु 'आग्नीध्रसाधारणादञ् वक्तव्यः' इति स्वार्थिके अञि बोध्यम् । नन्वेवम् 'आग्नीध्रः प्रत्याश्रावयेत् इत्यादौ कथमृत्विग्विशेष आग्नीध्रशब्दः । तदाह—तात्स्थ्यादिति । आग्नीध्राख्यदेशस्थत्वाद् ऋत्विग्विशेषे आग्नीध्रशब्दो गौण इति भावः । समिधामिति । आधीयते अनेनेत्याधानो मन्त्रः । आधानो मन्त्र इत्यर्थे षष्ठ्यन्तात् समिच्छब्दात् षेण्यण् प्रत्ययो वाच्य इत्यर्थः । षित्वं ङीषर्थमित्याह—सामिधेनी ऋगिति । सामिधेन्यशब्दात् ङीष् 'हलस्तद्धितस्य इति यलोपः ।

अर्थ में 'रण्' प्रत्यय का विधान सूचित किया जा रहा है तथा 'अग्नीध्' शब्द को 'भ' संज्ञा भी होती है—यह विदित कराया जा रहा है । भ-संज्ञा होने से 'जश्त्व' नहीं होता । उदाहरण—आग्नीध्रम् (उस ऋत्विग्विशेष अग्नीध् का स्थान एवं संज्ञा)→अग्निम् इन्धे अग्नीत्←तस्य स्थानम्)—अग्नि—√इन्ध्+क्विप् > अग्नीध् ('क्विप्' का सर्वापहार तथा 'न्' का लोप, दीर्घ) > अग्नीध्+र (रण्) ▷ आग्नीध्रम् ('भ' संज्ञा होने से मौलिक 'अग्नीध्' में ध् के स्थान पर जश्त्व होकर 'द्' नहीं हुआ, यथानियम आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य)। तृतीय वार्तिक द्वारा आधान अर्थक षष्ठ्यन्त समिध् शब्द से 'षेण्यण्' प्रत्यय-विधान विदित कराया गया है । 'षेण्यण्' में 'ष्' तथा 'ण्' इत्संज्ञक हैं । 'ण्' 'इत्' होने से आदिवृद्धि तथा 'ष्' 'इत्' होने से स्त्री-लिङ्ग की विवक्षा में 'ङीष्' होगा । उदाहरण—सामिधेन्यः (आग में समिधा डालने के समय पढ़ा जाने वाला मन्त्र—समिधः आधीयन्ते अनेन)—समिध्+एन्य (षेण्यण्) >सामिधेन्यः (आदिवृद्धि)। स्त्री-लिङ्ग में सामिधेनी ऋक् (ऋचा)—सामिधेन्य्+ङीष् (ई) ▷ सामिधेनी ('अ' लोप, 'य्' का लोप "हलस्तद्धितस्य" (६-४-१५५) ।

विशेष—(१) 'संवोढृ' शब्द की सिद्धि—सम्—√वह्+तृ (तृन्) ▷ सम्—वढ्+तृ (ह्=ढ्) ▷ सम्-वढ्+धृ (त=ध्—"झषस्तथोर्धोऽधः" ८-२-४५) > सम्-वढ्+ढृ (ध्=ढ्-ष्टुत्व) ▷ सम्-वढृ ('ढ्' लोप) > सम्-वो+ढृ (अ=ओ—"सहिवहोरोदवर्णस्य" ६-३-११२) > संवोढृ (म्=ं ←अनुस्वार)। 'सांवहित्रम्' में 'ढत्व' आदि के असिद्ध होने से अलौकिक विग्रह वाक्य की स्थिति में ही 'इट्' आगम हो जाता है । तदनन्तर निमित्त के अभाव में ढत्व आदि की प्राप्ति नहीं होती ।

(२) यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करने वाला ऋत्विज् 'अग्नीध्' कहलाता है । यज्ञाग्नि के प्रदीप्त करने के स्थान की भी (अग्नीधः स्थानम्)—'आग्नीध्र' संज्ञा है । उस स्थान पर स्थित होने से उस ऋत्विज् का भी नाम 'आग्नीध्र' पड़ गया । ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार यज्ञ में सोलह ऋत्विजों का काम एक दूसरे के सहयोग पर आश्रित था । उनके चार वर्ग थे । १—ऋग्वेद से सम्बद्ध—होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत । २—यजुर्वेद से सम्बद्ध—अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता । ३—सामवेद से सम्बद्ध—उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य । ४—अथर्ववेद से सम्बद्ध—ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और पोता ।

सोमयज्ञ में महावेदी के उत्तरार्ध में पाँच हाथ की लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई नाप के चतुरस्र स्थान (मण्डप) की संज्ञा आग्नीध्र है । 'अग्नीध्' (आग्नीध्र) ऋत्विज् असुरों से यज्ञ की रक्षा

४। ३। १२१॥ रथ्यं चक्रम्। (१५०२) पत्रपूर्वादञ् ४। ३। १२२॥ पत्रं वाहनम्। अश्वरथस्येदमाश्वरथम्। (१५०३) पत्राध्वर्युपरिषदश्च ४। ३। १२३॥ अञ्। 'पत्राद्वाह्ये' (वा २९०८)। अश्वस्येदं वहनीयमाश्वम्। आध्वर्यवम्। पारिषदम्।

(१५०१) रथाद्यत्। 'तस्येदम्' इत्येव। रथ्यं चक्रमिति। रथाद्रथाङ्गे इति वचनाच्चक्रमिति विशेष्यम्।

(१५०२) पत्रपूर्वादञ्। रथादित्येव। पत्रं वाहनमिति। 'पत्रं वाहनपक्षयोः' इति कोशः।

(१५०३) पत्राध्वर्युपरिषदश्च। अञिति। शेषपूरणम्। पत्रादिति। पत्राद् वाह्य एवेति वक्तव्यमित्यर्थः। आश्वमिति। पत्रेत्यर्थग्रहणमिति भावः। आध्वर्यवं पारिषदमिति। अध्वर्योरिदं, परिषद इदमिति विग्रहः।

करता था। वह कचरे के स्थान या उत्कर के समीप 'स्फ्य' नामक वज्र लेकर बैठता था। उसे अध्वर्यु द्वारा जो आज्ञा दी जाती उसे 'आश्रावण' कहते थे। उसका यह रूप था—ओ ३ श्रा ३ वय। इस प्रैष का अभिप्राय यह था कि कृपा कर देवता तक यज्ञ की सूचना पहुँचा दें कि सब यथास्थित है। 'अध्वर्यु' का प्रेषण सुनकर 'अग्नीध्' उसका उत्तर 'प्रत्याश्रावण' वाक्य के उच्चारण से देता था—अस्तु श्रौ ३ षट्। जिसका आशय है कि देवता सूचित हों। इस प्रकार 'अग्नीध्' से संकेत पाकर अध्वर्यु होता को आज्ञा देता है—'यज' अर्थात् यजन करो।

(१५०१) पद—रथात्, यत्। **अनुवृत्ति**—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० रथ्यम् अर्थात् चक्र (=पहिया)।

विवरण—'तस्येदम्' अधिकार के अन्तर्गत यह विधान है। अतः "षष्ठी-समर्थ 'रथ' प्रातिपदिक से 'इदम्' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—रथ्यम् (रथ का पहिया—रथस्य इदम्)—रथ+य (यत्)। 'अन्त्य'-लोप।

(१५०२) पद—पत्रपूर्वात्, अञ्। **अनुवृत्ति**—रथात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पत्र अर्थात् वाहन।

विवरण—पूर्व सूत्र (१५०१) से 'रथात्' अनुवर्तमान है। तदनुसार "'पत्र' अर्थात् वाहनवाची षष्ठी-समर्थ 'रथ' शब्द से 'इदम्' अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है"। 'पत्र' शब्द का अर्थ 'वाहन' है—पतन्ति = गच्छन्ति अनेन→ पत+'ष्ट्रन्' (—"दाम्नीशस०" २-२-१८२)। उदाहरण—आश्वरथम् (अश्वरथ-सम्बन्धी—अश्वरथस्य इदम्)-अश्वरथ+अञ्।

(१५०३) पद—पत्रा-ऽध्वर्यु-परिषदः, च। **अनुवृत्ति**—अञ्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अञ्' हो। वा० 'पत्र' अर्थात् वाहनवाची शब्दों से 'ढोना' अर्थ में (प्रत्यय कहा जाय)। उदा० १-अश्वस्य इदं वहनीयम्—आश्वम्। २-आध्वर्यवम्। ३-पारिषदम्।

विवरण—विधेय 'अञ्' 'प्रत्यय' का लाभ पूर्वसूत्र (१५०२) से अनुवृत्ति-वश होता है। अतः "षष्ठी समर्थ 'पत्र', 'अध्वर्यु' तथा 'परिषद्' प्रातिपदिकों से भी 'इदम्' अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है"। पत्र शब्द यहाँ भी वाहन-वाचक है। इस बात को **वार्तिक** द्वारा सूचित किया जा रहा है। **उदाहरण**—**आश्वम्** (घोड़े के ढोने योग्य बोझा—अश्वस्य इदं वहनीयम्)-अश्व+अञ्। (२) **आध्वर्यवम्** (अध्वर्यु-सम्बन्धी—अध्वर्योः इदम्)—अध्वर्यु+अञ्। गुण, आदिवृद्धि एवम् अवादेश। (३) **पारिषदम्** (परिषद्-सम्बन्धी—परिषदः इदम्)—परिषद्+अञ्। आदिवृद्धि।

(१५०४) हलसीराट्ठक् ४ । ३ । १२४ ॥ हालिकम् । सैरिकम् । **(१५०५) द्वन्द्वाद् वुन्वैरमैथुनिकयोः ४ । ३ । १२५ ॥** काकोलूकिका । कुत्सकुशिकिका । 'वैरे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः' (वा २९१४) । दैवासुरम् । **(१५०६) गोत्रचरणाद् वुञ्**

(१५०४) हलसीराट्ठक् । तस्येदमित्येव । हालिकम् । सैरिकमिति । हलस्येदम्, सीरस्येदमिति विग्रहः ।

(१५०५) द्वन्द्वाद् वुन् । वैरे मैथुनिकायां च इदन्त्वेन विवक्षिते द्वन्द्वात् षष्ठ्यन्तात् वुन् स्यादित्यर्थः । काकोलूकिकेति । काकोलूकस्य वैरमित्यर्थः । वुनि स्त्रीत्वं लोकात् । कुत्सकुशिकिकेति । कुत्सकुशिकयोर्विवाह इत्यर्थः । वुनि स्त्रीत्वं लोकात् । मिथुनं दम्पती । तस्य कर्म मैथुनिका । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । स्त्रीत्वं लोकात् । **वैरे देवासुरेति ।** वार्तिकमिदम् । **दैवासुरमिति ।** देवासुरयोर्वैरमित्यर्थः । वुनभावे अण् । मैथुनिकायां तु देवासुरिकेत्येव । 'द्वन्द्वे देवासुर' इति त्वपपाठः, अत्र भाष्ये वैरे इत्येव वार्तिकपाठात् । 'शिशुक्रन्द' इति सूत्रभाष्ये तु 'द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः' इति पठितम् । दैवासुरम्, राक्षोऽसुरमित्युदाहृतं च । देवासुराद्यधिकृत्य कृतमाख्यानमित्यर्थः ।

(१५०४) पद—हलसीरात्, ठक् । **अनुवृत्ति**—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १–हालिकम् । २–सैरिकम् ।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'हल' और 'सीर' शब्दों से 'इदम्' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **हालिकम्** (हल-सम्बन्धी—हलस्य इदम्)—हल् + ठक् (ठ=इक) । 'अन्त्य'-'अ' लोप एवम् आदिवृद्धि । (२) **सैरिकम्** (हल-सम्बन्धी–सीरस्य इदम्)—सीर् + ठक् (ठ=इक) । शेष पूर्ववत् ।

(१५०५) पद—द्वन्द्वात्, वुन्, वैर-मैथुनिकयोः । **अनुवृत्ति**—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १–काकोलूकिका । २–कुत्सकुशिकिका । वा० वैर अर्थ में देव तथा असुरादि से ('वुन्' का) प्रतिषेध है । उदा० दैवासुरम् ।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ द्वन्द्व-संज्ञक प्रातिपदिकों से 'इदम्' अर्थ में 'वैर' तथा 'विवाह' अभिधेय होने पर 'वुन्' (=अक) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—वैर अर्थ में—**काकोलूकिका** (कौआ और उल्लू का वैर—काकोलूकस्य वैरम्)—काकोलूक + वु (वुन्) > काकोलूक् + अक (वु = अक) > काकोलूकक ('अ' लोप) > काकोलूकिका ('टाप्' होने पर प्रत्ययस्थ इकार के पूर्व 'अ' को 'इ') । 'काकोलूकम्' से समाहार—द्वन्द्व-समास करने के पश्चात् 'वुन्' होगा । (२) मैथुनिक अर्थ—**कुत्सकुशिकिका** (कुत्स और कुशिक का विवाह—कुत्सकुशिकयोः मैथुनिकम्)—कुत्सकुशिक् + वुन् । शेष कार्य पूर्ववत् । 'वुन्नन्तं स्त्रियाम्' के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग दिखाये गए हैं ।

वार्तिक—'वैर' अभिधेय होने पर देवासुरादि शब्दों से 'वुन्' प्रत्यय का निषेध होता है । अतः औत्सर्गिक 'अण्' होगा । **उदाहरण**—**दैवासुरम्** (देव और असुरों का वैर—देवासुरयोः वैरम्)—देवासुर + अण् । आदिवृद्धि एवम् 'अ' लोप ।

विशेष—(१) 'मिथुन' अर्थात् दम्पती । दम्पती का कार्य—मैथुनिका । 'मनोज्ञादि' में पठित होने से 'वुञ्' प्रत्यय हुआ है ।

(२) देवासुर शब्द से विवाह अर्थ अभिधेय होने पर 'देवासुरिका' रूप निष्पन्न होगा ।

४ । ३ । १२६ ॥ औपगवकम् । 'चरणाद् धर्माम्नाययोरिति वक्तव्यम्' (वा २९१३) । काठकम् । (१५०७) सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण् ४ । ३ । १२७ ॥ 'घोषग्रहणमपि कर्तव्यम्' (वा २९१५) । अञ्, बैदः—सङ्घोऽङ्को घोषो वा । बैदं

(१५०६) गोत्रचरणाद्वुञ् । गोत्रप्रत्ययान्तात् शाखाध्येतृवाचिनश्च षष्ठ्यन्तादिदमित्यर्थे वुञित्यर्थः । प्रवराध्यायप्रसिद्धमिह गोत्रमित्यभिप्रेत्योदाहरति—औपगवकमिति । औपगवस्येदमित्यर्थः । वस्तुतस्तु औपगवः प्रवरसूत्रेषु न दृष्टः । ग्लौचुकायनकमिति वृत्त्यादौ उदाहृतम् । चरणादिति । चरणाद्यो वुञ् विहितः स धर्मे आम्नाये च वाच्ये भवति नान्यत्रेत्यर्थः । काठकमिति । कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः, तेषां धर्मः आम्नायो वेत्यर्थः । आम्नायो वेदाभ्यासः ।

(१५०७) सङ्घाङ्क । अञन्तात्, यञन्तात्, इञन्ताच्च सङ्घे अङ्के लक्षणे च इदन्त्वेन विवक्षिते अणित्यर्थः । छस्यापवादः । घोषेति । 'सङ्घाङ्कलक्षणघोषेषु' इति सूत्रं कर्तव्य-

---

(१५०६) पद—गोत्रचरणाद्, वुञ् । अनुवृत्ति—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० औपगवकम् । वा० चरणवाची से 'धर्म' और 'आम्नाय' वाच्य रहते ही हो—ऐसा कहना चाहिये । उदा० काठकम् ।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'गोत्र' वाची तथा 'चरण' वाची प्रातिपदिकों से 'इदम्' अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है" । इसके साथ ही वार्तिक द्वारा यह विशेष व्यवस्था की जा रही है कि 'गोत्र-प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से सामान्य षष्ठ्यर्थ में तथा चरण-वाचियों से केवल 'धर्म' और 'आम्नाय' (वेदाभ्यास) अर्थ में ही 'वुञ्' प्रत्यय होता है' । यहाँ पर 'गोत्र' शास्त्रीय है, पारिभाषिक नहीं । **उदाहरण**—(१) गोत्रवाची—**औपगवकम्** (औपगव-सम्बन्धी–औपगवस्य इदम्)–औपगव+वु (वुञ्) ▷ औपगव्+अक (वु = अक) > औपगवकम् (विभक्ति-कार्य) । (२) चरणवाची–**काठकम्**—(कठों का धर्म या परम्परा—कठेन प्रोक्तम् अधीयते कठाः, तेषां धर्मः आम्नायः वा)—कठ्+वु(वुञ्) (वु = अक) । आदिवृद्धि तथा 'अ' लोप ।

विशेष—(१) 'काठक' 'कालापक' आदि वेद की व्याख्यानरूप शाखायें हैं । कठ-ऋषि ने मूल यजुर्वेद संहिता में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अपने दृष्टिकोण से जो न्यूनाधिक पाठभेद कर अपने शिष्यों को पढ़ाया—वह प्रवचन काठक नाम से प्रसिद्ध होकर काठक-संहिता के नाम से तैत्तिरीय शाखा की अवान्तर शाखा प्रसिद्ध हो गई । इसी प्रकार कालापकम् (मैत्रायणी-संहिता), पैप्पलादकम् (अथर्ववेद की अवान्तर शाखा) आदि में भी समझना चाहिये । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वैदिक-संहिताओं की संख्या ११३१ गिनाई है—एकशतम् अध्वर्युशाखाः (१०१ यजुर्वेद), एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् (ऋग्वेद—२१), सहस्रवर्त्मा सामवेदः (साम—१०००), नवधाऽथर्वणो वेदः (अथर्ववेद–९) ।

(२) प्रकृत सूत्र में गोत्रवाची शब्द का उदाहरण 'औपगवकम्' दिया है । किन्तु प्रवरसूत्रों में 'औपगव' उल्लिखित नहीं है । अतः प्राचीन वृत्तिग्रन्थों में 'ग्लौचुकायनकम्' उदाहरण दिया गया है ।

(१५०७) पद—सङ्घाऽङ्क-लक्षणेषु, अञ्-यञिञाम्, अण् । अनुवृत्ति—गोत्रात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—वा० 'घोष' ग्रहण भी किया जाय । उदा० १-अञन्त—बैदः—संघ, अङ्क अथवा घोष अर्थ में । २-लक्षण अर्थ—बैदम् । ३-यञन्त—गार्गः—गार्गम् । ४-इञन्त—दाक्षः-दाक्षम् । परम्परया सम्बन्ध 'अङ्क' एवम् लक्षणया सम्बन्ध 'लक्षण' कहलाता है ।

लक्षणम् । यञ्, गार्गः-गार्गम् । इञ्, दाक्षः-दाक्षम् । परम्परासम्बन्धोऽङ्कः । साक्षात्तु लक्षणम् । (१५०८) शाकलाद्वा ४ । ३ । १२८ ॥ अन्वोक्तेऽर्थे । पक्षे चरणत्वाद् वुञ् । शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलाः, तेषां सङ्घोऽङ्को घोषो वा शाकलः-शाक-

---

मित्यर्थः । तथा च तिस्रः प्रकृतयः प्रत्ययार्थाश्चत्वार इति न यथासङ्ख्यम् । गार्ग इति । सङ्घः अङ्को घोषो वेति शेषः । गार्गमिति । लक्षणमिति शेषः । एवं दाक्षो दाक्षमित्यत्रापि । नन्वङ्कलक्षणशब्दयोः पर्यायत्वात् पृथग्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—परम्परेति । यथा गवादिनिष्ठस्तप्तमुद्राविशेषः अङ्कः । तस्य हि गोद्वारा स्वामिसम्बन्धः । साक्षादिति । विद्याविशेषस्तु देवदत्ते साक्षाद्विद्यमानत्वात्तस्य लक्षणमित्यर्थः । वैदी विद्या । 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः ।

(१५०८) शाकलाद्वा । शकलेनेति । शकलशब्दात्प्रोक्ताणन्तादध्येतृप्रत्ययस्य लुकि शाकलशब्दात् 'गोत्रचरणात्' इति धर्माम्नाययोर्वुञोऽपवादः अण् । तदभावे वुञ् ।

विवरण—'तस्येदम्' का ही विषय है । पूर्वसूत्र (१५०६) से 'गोत्रात्' की अनुवृत्ति आ रही है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ भी पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ षष्ठ्यन्त 'अञ्यञिञाम्' पद पञ्चमी में विपरिणमित होता है । तथा 'गोत्रात्' पद के विशेष्यरूप में अन्वित होकर सूत्रार्थ की निष्पत्ति में सहायक होता है । अतः "'संघ', 'अङ्क' तथा 'लक्षण' अभिधेय होने पर गोत्रप्रत्ययान्त अञन्त, यञन्त तथा इञन्त षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिकों से 'इदम्' अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है" । यहाँ एक वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है । तदनुसार "'घोष' वाच्य रहते भी उक्त प्रत्यय (= अण्) हो" । 'घोष' का समावेश होने से वाच्यता चार प्रकार की हो जाती है तथा विवक्षित प्रत्यय तीन हैं । अतः यथासंख्य नियम लागू नहीं होगा । **उदाहरण**—अञ्-प्रत्ययान्त-बैदः (बिदों के वंशजों का समूह, अङ्क अथवा घोष—बिदानां समूहः, अङ्कः, घोषः वा)—बिद् + अञ् > बैद ("अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्" ४-१-१०४) तदनन्तर→बैद् + अण् । लक्षण अर्थ में नपुंसकलिङ्ग—बैदम् । (२) यञन्त—गार्गः (पुं०)—गार्गम् (नपुं०) (गर्गों के वंशजों का समूह, चिह्न, गोशाला तथा चिह्न—गर्गाणां संघः, अङ्कः, घोषः, लक्षणम्)—गर्ग + यञ् > गार्ग्य > गार्ग्य् + अण् > गार्गः ('अ' लोप तथा 'य्' लोप—"आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" ६-४-१५१) । (३) इञन्त—दाक्षः (पुं०)—दाक्षम् (नपुं०) दक्ष के वंशजों का समूह—दक्षाणां संघः आदि)-दक्ष + इञ् दाक्षि ("अत इञ्"—४-१-९५) । ततः दाक्षि + अण् > दाक्षः (पुं०) ('इ' लोप) ।

विशेष—(१) पूर्व सूत्र से 'वुञ्' प्राप्त था, उसका यह अपवाद-सूत्र है ।

(२) 'अङ्क' और 'लक्षण' का भेद—जिसका परम्परया सम्बन्ध हो वह 'अङ्क' कहलाता है । जैसे गायों आदि की पहचान के लिये तप्त मुद्रा से अङ्कित करने पर उसके स्वामित्व का पता चलता है । जिसका साक्षात् सम्बन्ध हो वह 'लक्षण' कहलाता है । जैसे किसी व्यक्ति में विद्या-विशेष का होना उसके व्यक्तित्व को सूचित करता है ।

(१५०८) पद—शकलात्, वा । **अनुवृत्ति**—सङ्घाङ्कलक्षणेषु, यञः, अण्, गोत्रात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उक्त अर्थ में वैकल्पिक 'अण्' हो । पक्ष में 'चरण'—निमित्तक 'वुञ्' (होगा) । उदा० शकल से प्रोक्त अध्येता-गण—शाकलाः । तेषां संघः, अङ्कः, घोषः वा→ शाकलः—शाकलकः । 'लक्षण' अर्थ में नपुंसक लिङ्ग (शाकलकम्) ।

विवरण—'पूर्व' सूत्र का विषय (= 'अण्' प्रत्यय-विधान) है । वह भी केवल यञन्त 'शाकल' शब्द के सम्बन्ध में है । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ गोत्रप्रत्ययान्त यञन्त 'शाकल' शब्द से 'संघ',

लकः । लक्षणे क्लीबता । (१५०९) छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः ४ । ३ । १२९ ॥ छन्दोगानां धर्मं आम्नायो वा छान्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । याज्ञिक्यम् । बाह्वृच्यम् । नाटयम् । 'चरणाद्धर्माम्नाययोः' (वा २९१३) इत्युक्तम् । तत्साहचर्यान्नटशब्दादपि तयोरेव । (१५१०) न दण्डमाणवान्तेवासिषु ४ । ३ । १३० ॥

(१५०९) छन्दोगौक्थिक । सङ्घादयो निवृत्ताः । छन्दोगादीनां चरणत्वात् । धर्माम्नाययोरिति सम्बध्यते । छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच, नट एभ्यो धर्मे आम्नाये च इदन्त्वेन विवक्षिते ञ्यः स्यादित्यर्थः । ननु नटस्य अचरणत्वात्तत्र धर्माम्नाययोः कथमन्वय इत्याशङ्कते—चरणाद्धर्माम्नाययोरित्युक्तमिति । यद्यपीति शेषः । परिहरति—तत्साहचर्यादिति । तथापि छन्दोगादिसाहचर्यान्नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव प्रत्यय इत्यर्थः ।

(१५१०) न दण्ड । दण्डमाणवाश्च अन्तेवासिनश्च तेष्विति द्वन्द्वः । दाक्षा इति ।

'अङ्क' तथा 'लक्षण' अभिधेय होने पर 'इदम्' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय विकल्प से होता है"। पक्ष में "गोत्रचरणाद्वुञ्" (४-३-१२५) से 'वुञ्' भी होगा। 'शकल' शब्द गर्गादि में पठित है। अतः गोत्रार्थ में 'यञ्' प्रत्यय होकर 'शाकल्य' रूप निष्पन्न होगा। तदनन्तर प्रोक्तार्थ में "कण्वादिभ्यो गोत्रे" (४-२-१११) से 'अण्' (शाकल्य्+अ) प्रत्यय होने पर 'अ' का तथा 'य्' का लोप होने पर 'शाकल' रूप सिद्ध होगा। ततः अध्येतृ अर्थ की विवक्षा में—शाकलेन प्रोक्तम् अधीयते→ "तदधीते तद्वेद" (४-२-५९) से अण् प्रत्यय तथा 'लुक्' होने पर शाकलाः←रूप बहुवचन में बनेगा। तदनन्तर प्रकृत सूत्र से शाकल से कहे गए शास्त्रों के पढ़ने वालों का समूह—तेषां सङ्घः, अङ्कः वा अर्थ में—**शाकलः** (शाकल+अण्) तथा **शाकलकः** (पक्ष में—शाकल+वुञ्) दो रूप बनेंगे। 'लक्षण' अर्थ में **शाकलम्—शाकलकम्**—नपुंसक लिङ्ग में रूप होंगे।

(१५०९) पद—छन्दोगौक्थिक-याज्ञिक-बहृच-नटात्, ञ्यः । **अनुवृत्ति**—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० छन्दोगानां धर्मः अथवा आम्नायः→१-छान्दोग्यम् । २-औक्थिक्यम् । ३-याज्ञिक्यम् । ४-बाहृच्यम् । ५-नाट्यम् । चरणवाचक से 'धर्म' तथा 'आम्नाय' मे प्रत्यय होने के बारे में पहले कहा जा चुका है। उसके साहचर्य से 'नट' शब्द से भी उन्हीं दो (अर्थों) में प्रत्यय होता है।

विवरण—'तस्येदम्' का ही विषय है। अतः "षष्ठी-समर्थ 'छन्दोग', 'औक्थिक', 'याज्ञिक', 'बहृच' तथा 'नट'—प्रातिपदिकों से 'इदम्' अर्थ में 'ञ्य' (=य) प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **छान्दोग्यम्** (छन्दोगों का धर्म या परम्परा—छन्दोगानां धर्मः आम्नायः वा)—छन्दोग्+य (ञ्य)। 'ञित्' होने से आदिवृद्धि। 'अन्त्य'-वर्ण लोप। (२) **औक्थिक्यम्** (औक्थिकों का धर्म या परम्परा—औक्थिकानां धर्मः आम्नायः वा)—औक्थिक+ञ्य (य)। (३) **याज्ञिक्यम्** (याज्ञिकों का धर्म या परम्परा—याज्ञिकानां धर्मः आम्नायः वा)—याज्ञिक्+य (ञ्य)। (४) **बाहृच्यम्** (बहृचों का धर्म या आम्नाय—बहृचानां धर्मः आम्नायः वा । (५) **नाट्यम्** (नटों का धम या परम्परा—नटानां धर्मः आम्नायः वा)—नट्+ञ्य ।

विशेष—'चरण'वाची शब्दों से 'धर्म' तथा 'आम्नाय' अर्थ में ही प्रत्ययों का विधान वार्तिक द्वारा सूचित किया जा चुका है। 'नट' शब्द यद्यपि 'चरण'-वाची नहीं है तथापि सूत्रस्थ 'छन्दोग' आदि शब्दों के साहचर्य से वहाँ पर भी 'धर्म' और 'आम्नाय' अर्थों में ही प्रत्यय होगा।

(१५१०) पद—न, दण्डमाणवाऽन्तेवासिषु । **अनुवृत्ति**—गोत्रात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(निषेध)-सूत्र** ।

मूलार्थ—दण्डप्रधान माणव एवम् शिष्य—अर्थ में 'वुञ्' नहीं होता। उदा० दाक्षाः←दण्डमाणवाः शिष्या वा ।

दण्डप्रधाना माणवा दण्डमाणवाः तेषु शिष्येषु च वुञ्न स्यात्। दाक्षाः दण्डमाणवाः शिष्या वा। (१५११) रैवतिकादिभ्यश्छः ४। ३। १३१॥ तस्येदमित्यर्थे। वुञोऽपवादः। रैवतिकीयम्। बैजवापीयम्। (१५१२) कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ४। ३। १३२॥ (वा २९१८)। कुपिञ्जलस्यापत्यम्। इहैव निपातनादण्। तदन्ता-

---

दक्षस्यापत्यं दाक्षिः, तस्येमे दण्डमाणवाः शिष्या वेत्यर्थे गोत्रत्वलक्षणो वुञ् न भवति, किन्त्वौत्सर्गिकोऽणेव।

(१५११) रैवतिकादिभ्यश्छः। तस्येदमित्यर्थे इति। शेषपूरणम्। वुञ् इति। गोत्रत्वलक्षणवुञोऽपवाद इत्यर्थः। रैवतिकीयमिति। रेवत्या अपत्यं रैवतिकः। रेवत्यादिभ्यष्ठक्। रैवतिकस्येदमिति विग्रहः। बैजवापीयमिति। बीजवापस्यापत्यं बैजवापिः, तस्येदमिति विग्रहः।

(१५१२) कौपिञ्जलहास्तिपदादण्। कुपिञ्जलस्यापत्यमित्यनन्तरम् इत्यर्थे इति

विवरण—"गोत्रचरणाद् वुञ्" (४-३-१२६) का प्रसङ्ग है। विशेष स्थलों में उसका निषेध किया जा रहा है। अतः "षष्ठी-समर्थ गोत्रवाची शब्दों से 'दण्डमाणव' तथा 'अन्तेवासी' अर्थ अभिधेय होने पर ('दण्डमाणवाश्च अन्तेवासिनश्च', तेषु) 'इदम्' अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय नहीं होता'। "गोत्रचरणाद् वुञ्" (४-३-१२६) से प्राप्त 'वुञ्' का यह प्रतिषेध है। आश्रमरक्षकों (दण्डधारी ब्रह्मचारी) की **दण्डमाणव** संज्ञा है तथा शिष्य को **अन्तेवासी** कहते हैं। **उदाहरण**—**दाक्षाः** (दाक्षि के दण्डमाणव अथवा शिष्य-वर्ग—दाक्षेः दण्डमाणवाः शिष्या वा)—दक्ष+इञ्> दाक्षि > दाक्षि+अण् ('वुञ्' का निषेध होने से "इञश्च" ४-२-१११ से 'अण्') > दाक्ष ('इ' का लोप) > दाक्षाः (प्रथमा बहुवचन)।

(१५११) पद—रैवतिकादिभ्यः, छः। **अनुवृत्ति**—गोत्रात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'तस्येदम्' अर्थ में हो। 'वुञ्' का अपवाद है। उदा० १—रैवतिकीयम्। २—वैजवापीयम्।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'रैवतिक' आदि शब्दों से 'इदम्' अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता हैं"। 'रैवतिक' आदि सब शब्द गोत्रप्रत्ययान्त हैं। अतः "गोत्रचरणाद् वुञ्" (४-३-१२६) से प्राप्त वुञ् का यह अपवाद है। **उदाहरण**—(१) **रैवतिकीयम्** (रैवतिक सम्बन्धी—रैवतिकस्य इदम्)—रेवत्याः अपत्यम्→रैवतिकम् (रेवती+ठक् "रेवत्यादिभ्यष्ठक्" ४-१-१४६)←रैवतिक+छ (=ईय)। 'अ' लोप। (२) **बैजवापीयम्** (बैजवापि-सम्बन्धी—बैजवापेः इदम्)—बीजवाप+इञ् (अपत्यार्थ) > बैजवापि, ततः बैजवापि+छ (=ईय)। 'इ' लोप।

(१५१२) पद—कौपिञ्जल-हास्तिपदात्, अण्। **अनुवृत्ति**—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्-पतिप्रादिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अपत्य अर्थ में 'कुपिञ्जल' से निपातनवश अण्→कापिञ्जल←तदन्त से 'इदम्' अर्थ में अण्—१—कौपिञ्जलः। गोत्रार्थक 'वुञ्' का अपवाद है। इसी प्रकार हस्तिपाद से अपत्यार्थ में हास्तिपद, तदन्त से 'इदम्' अर्थ में—हास्तिपदः।

विवरण—प्रकृत सूत्र के सम्बन्ध में मत भेद है। भाष्य में इसे वार्तिक के रूप में पढ़ा गया है। कैयट ने इसे अपाणिनीय कहा है[1]। काशिकाकार ने सूत्र मानकर इसकी व्याख्या की है। तदनुसार

---

१. "अपाणिनीयः सूत्रेषु पाठ इत्याह—कौपिञ्जलेति। गोत्रे वुञि प्राप्ते 'अण्' विधिः। अस्मादेव निपातनात् अपत्यार्थे कुपिञ्जल-हस्तिपादशब्दाभ्याम् अण्, पादस्य पद्भावश्च। गोत्राधिकारात् गोत्रप्रत्ययान्तादिदं विधानम्"। —भाष्ये कैयटव्याख्या ४-३-१२९।

स्पुनरण् । कौपिञ्जलः । गोत्रवुञोऽपवादः । हस्तिपादस्यापत्यं हास्तिपदः, तस्यायं हास्तिपदः । (१५१३) आथर्वणिकस्येकलोपश्च ४ । ३ । १३३ ॥ अण् स्यात् । आथर्वणिकस्यायमाथर्वणो धर्म आम्नायो वा । चरणाद् वुञोऽपवादः ।

इति तद्धिते शैषिकप्रकरणम् ।

शेषः । इहेति । अस्मिन् वार्तिके कौपिञ्जलेति निर्देशात् अत इञं बाधित्वा अणित्यर्थः । तदन्तादिति । अणन्तात् 'तस्येदम्' इत्यर्थे अनेन (सूत्रेण) पुनरणित्यर्थः । हस्तिपादस्येति । हस्तिन इव पादौ अस्येति विग्रहः, 'पादस्य लोप' इति न भवति, अहस्त्यादिभ्य इति प्रतिषेधात् । हस्तिपादस्यापत्यं हास्तिपदः । अत इञं बाधित्वा अत एव निपातनादण् पद्भावश्च । हास्तिपदस्यायमित्यर्थे अनेन अणिति भावः । गोत्रवुञोऽपवादः ।

(१५१३) आथर्वणिकस्येकलोपश्च । इदं सूत्रमिति कैयटः । वार्तिकमित्यन्ये । अण् स्यादिति । आथर्वणिकशब्दात्तस्येदमित्यर्थे अण् स्यात् । प्रकृतेरिकस्य लोपश्चेत्यर्थः । आथर्वणिकस्येति । अथर्वणा प्रोक्तो वेदः अथर्वेत्युपचर्यते, तमधीते आथर्वणिकः—वसन्तादित्वाट्ठक् । आथर्वणिकस्यायमित्यर्थे अनेन अणि, इको लोपे, 'दाण्डिनायन' इति टिलोपाभावे आथर्वण इति रूपमित्यर्थः । धर्म आम्नायो वेति । 'चरणाद्धर्माम्नाययोः' इत्युक्तेरिति भावः । ननु तस्येदमित्येव सिद्धे अण्विधिर्व्यर्थं इत्यत आह—चरणाद् वुञोऽपवाद इति । आथर्वणिकशब्दस्य अथर्वणवेदाध्येतृवाचित्वादिति भावः ।

इति तद्धिते शैषिकप्रकरणम् ।

"षष्ठी-समर्थ 'कौपिञ्जल' एवम् 'हास्तिपद' से 'तस्येदम्' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है" । गोत्रार्थक 'वुञ्' का यह बाधक है । इस प्रकार 'कौपिञ्जल' शब्द भी अपत्यार्थक 'अण्' प्रत्ययान्त (कुपिञ्जल+अण्) निपातित समझा गया । अन्यथा अपत्यार्थक 'इञ्' प्रत्यय होना चाहिये था । ततः कौपिञ्जल्+अण् (इदम् अर्थ में) करने पर (१) कौपिञ्जलः (कौपिञ्जल-सम्बन्धी) । (२) हास्तिपदः (हास्तिपद-सम्बन्धी—हास्तिपदस्य अयम्)—हस्तिपाद+अण् (अपत्यार्थे) > हास्तिपद (पाद=पद्—अण् के साथ ही निपातनवश) । ततः हास्तिपद्+अण् ('इदम्' अर्थ में) > हास्तिपदः ।

(१५१३) पद—आथर्वणिकस्य, इकलोपः, च । अनुवृत्ति—पूर्वसूत्रवत् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'अण्' हो । उदा० आथर्वणिकस्य अयम्—आथर्वणिकः धर्मः आम्नायः वा । चरणवाची होने से 'वुञ्' का अपवाद है ।

विवरण—कैयट इसे सूत्र मानते हैं । "षष्ठ्यन्त 'आथर्वणिक' शब्द से 'अण्' प्रत्यय एव 'इक' का लोप भी हो । यह चरण-वाचक से विहित 'वुञ्' का बाधक है । **उदाहरण**—आथर्वणिकः (आथर्वणिक का धर्म या आम्नाय→अथर्वणा प्रोक्तः धर्मः (वेदः) अथर्वा—इत्युपचर्यते, तम् अधीते←आथर्वणिकः ("वसन्तादिभ्यष्ठक्"—४-२-६३) ततः आथर्वणिकस्य अयम्—आथर्वणिक+अण् एवम् 'इक' का लोप । साथ ही 'दाण्डिनायन०' सूत्र से 'टि'लोप न होने के कारण "अन्" ६-४-१६७ से प्रकृतिभाव होकर—आथर्वणिकः । इस शब्द का अर्थ—अथर्वणवेद का अध्येता ।

विशेष—(१) भाष्य में इसे वार्तिक-रूप में ही दिखाया है । कैयट तथा नागेश इसे सूत्ररूप में स्वीकार करते हैं ।

(२) यहाँ "शेषे" (४-२-९१) का अधिकार समाप्त होता है ।

'दीपिका' टीका में शैषिक-प्रकरण समाप्त ।



अथ तद्धिते प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्

(१५१४) तस्य विकारः ४ । ३ । १३४ ॥ 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः' (वा ४१८५) । अश्मनो विकारः आश्मः । भास्मनः । मार्त्तिकः । **(१५१५) अवयवे**

(१५१४) अथ विकारार्थप्रत्यया निरूप्यन्ते । तस्य विकारः । विक्रियते इति विकारः, कर्मणि घञ् । प्रकृतेरवस्थान्तरात्मिकां विक्रियां प्राह इत्यर्थः । विकार इत्यर्थे षष्ठ्यन्तादणादयः साधारणा वक्ष्यमाणाश्च वैशेषिका यथाविहितं स्युरित्यर्थः । अश्मनो विकार इति । विकारार्थकप्रत्यये परे अश्मन्शब्दस्य टिलोपो वक्तव्य इत्यर्थः । अनिति प्रकृतिभावापवादः । आश्म इति । अणि टिलोपे रूपम् । एवं चर्मणो विकारः चार्मः कोशः । 'चर्मणः कोशे' इत्युपसङ्ख्यानाट्टिलोपः । भास्मन इति । भस्मनो विकार इत्यर्थः । अणि अनिति प्रकृतिभावान्न टिलोपः । मार्त्तिक इति । मृत्तिकाया विकार

उपक्रम—विकारार्थ प्रत्ययों का विषय अब आरम्भ हो रहा है । शैषिक 'घ' आदि प्रत्ययों का विवरण समाप्त हो चुका है । किन्तु औत्सर्गिक 'अण्' ("प्राग्दीव्यतोऽण्" ४-१-८३) का प्रभाव अभी बना रहेगा, क्योंकि उसका अधिकार "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" (४-४-२) से पूर्व तक रहेगा, यह बतलाया जा चुका है । अतः इस प्रकरण का शीर्षक 'प्राग्दीव्यतीय-प्रकरणम्' रखा गया है ।

(१५१४) पद—तस्य, विकारः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—वा० विकारार्थ में 'अश्मन्' की 'टि' का लोप कहा जाय । उदा० अश्मनः विकारः १—आश्मः । २—भास्मनः । ३—मार्तिकः ।

विवरण—सूत्र में 'तस्य' पद षष्ठी-समर्थ का सूचक है तथा 'विकारः' पद अर्थ-विधायक है । सूत्र में 'विधेयांश' का सूचक कोई 'पद' नहीं है । अतः आधिकारिक सूत्र "प्राग्दीव्यतोऽण्" (४-१-८३) से 'अण्' प्रत्यय का विधान माना जायगा । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिक से 'विकार' अर्थ में सामान्य एवं विशेष प्रत्यय हों" । विकार का अर्थ है प्रकृति-विकृति । अर्थात् कारण का कार्य के रूप में परिणत होना । विकार अर्थ को अभिलक्षित कर औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय से सम्बद्ध उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं, क्योंकि उसके अपवादस्वरूप 'मयट्' आदि प्रत्ययों का निर्वचन आगे किया जायगा । **उदाहरण**—१-(क) **आश्मः (ख) आश्मनः** अर्थ—पत्थर का बना हुआ—अश्मनः विकारः । इस सन्दर्भ में एक वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अनुसार विकारार्थक प्रत्यय की विवक्षा में 'अश्मन्' की 'टि' (= अन्) **का लोप** विकल्प से होता है । अतः 'टि' लोप होने पर→आश्मः । अश्मन् + अण्>अश्म्+अ ('टि' लोप)>आश्मः (आदिवृद्धि) । टिलोप न होने पर आश्मनः←अश्मन् +अ (अण्) ▷ आश्मनः (आदिवृद्धि) । यद्यपि "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से 'टि' लोप प्राप्त होता है, किन्तु "अन्" (६-४-१६७) से प्रकृतिभाव हो जाने के कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है । (२) **भास्मनः** (राख का विकार—भस्मनः विकारः)—भस्मन्+अण् । शेष कार्य पूर्ववत् । (३) **मार्तिकः** (मिट्टी का बना हुआ—मृत्तिकायाः विकारः)—मृत्तिका+अण् । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में विभक्ति-सूत्रक 'तस्य' पद का लाभ तो "तस्येदम्" (४-३-१२०) से ही हो जाता । पुनः 'तस्य' ग्रहण करने से यह विदित होता है कि "इस प्रकरण में शैषिक आदि प्रत्ययों का ग्रहण न हो" । कारण यह है कि 'तस्येदम्' सूत्रस्थ 'तस्य' पद इदम् अर्थ में शैषिक प्रत्ययों का विधान करता है, अतः 'तस्य' की अनुवृत्ति होने पर यहाँ उन प्रत्ययों की निवृत्ति सम्भव नहीं

च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ४।३।१३५॥ चाद्विकारे। मयूरस्यावयवो विकारो वा मायूरः। मौर्वं काण्डं भस्म वा। पैप्पलम्। (१५१६) बिल्वादिभ्योऽण् ४।३।१३६॥

इत्यर्थः। अत्र 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' 'ओरञ्' 'अनुदात्तादेश्च' इत्यादिवक्ष्यमाणापवादविषयभिन्नमुदाहरणम्। तत्र अश्मन्, भस्मन्, चर्मन् इति त्रयं मनिन्प्रत्ययान्तं नित्स्वरेणाद्युदात्तम्। मृत्तिकाशब्दोऽपि 'मृदस्तिकन्' इति तिकन्नन्तः। नित्स्वरेणाद्युदात्तः।

(१५१५) अवयवे च प्राण्योषधि। प्राणिवाचिनः ओषधिवाचिनो वृक्षवाचिनश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः अवयवे विकारे च अणादयः उक्ताः वक्ष्यमाणाश्च प्रत्ययाः यथाविहितं स्युः। अन्येभ्यस्तु विकारमात्र इत्यर्थः। प्राणिन उदाहरति—मायूर इति। 'लघावन्ते' इति मयूरशब्दो मध्योदात्तः। ततः 'प्राणिरजतादिभ्यः' इत्यञ्। ओषधेरुदाहरति—मौर्वमिति। मूर्वा ओषधिविशेषः। तस्या अवयवो विकारो वेत्यर्थः। औत्सर्गिकोऽण्। 'अनुदात्तादेश्च'

थी। अतः पृथक् 'तस्य' पद से प्रकृत अर्थ (विकारः) का ही सम्बन्ध रहेगा। इस सन्दर्भ में दूसरी शङ्का यह उपस्थित होती है कि विधीयमान होने से प्रत्ययों का ही प्राधान्य होने के कारण गौणार्थक 'तस्य' की निवृत्ति से विधेय-प्रधान प्रत्ययों की निवृत्ति क्यों हो? प्रधान का अनुसरण गौण करता है न कि गौण का अनुसरण प्रधान। इसका समाधान यह दिया जाता है कि प्रकृत सूत्र में विशेषतः 'तस्य' के सामर्थ्य से ही 'गौण' के साथ 'प्रधान' की भी निवृत्ति हो जाती है[1]।

(२) 'अश्मन्' तथा 'भस्मन्' शब्द मनिन् प्रत्ययान्त हैं, 'न्' इत् होने के कारण आद्युदात्त हैं—"ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६-१-१९७)। 'मृत्तिका' शब्द भी 'तिकन्' ("मृदस्तिकन्" ५-४-३९) प्रत्ययान्त होने से 'न्' इत् होने के कारण आद्युदात्त ही है। अतः "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) से 'अञ्' प्राप्त नहीं होता। इस सन्दर्भ में यह बतलाया गया है कि—"'प्राणिभिन्न', 'आद्युदात्त' तथा 'वृद्ध' संज्ञक भिन्न शब्द इसके उदाहरण हैं—**अप्राण्युदात्तमवृद्धम्**। प्राणिवाचक शब्दों से 'अञ्' प्रत्यय (अग्रिम सूत्र) कहा जायगा। इसी प्रकार वृद्ध-संज्ञक शब्दों से विकारार्थ में आगे "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" (४-३-१४४) सूत्र द्वारा 'मयट्' प्रत्यय का विधान बतलाया जायगा।

(१५१५) पद—अवयवे, च, प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः। **अनुवृत्ति**—तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'च' के प्रयोग से 'विकार' अर्थ में भी (प्रत्यय होगा)। उदा० मयूरस्य अवयवः विकारः वा—१-मायूरः। २-मौर्वं-काण्डम् अथवा भस्म। ३-पैप्पलम्।

विवरण—"तस्य विकारः" (४-३-१३४) का विषय है। उसकी अनुवृत्ति ४-३-१६५ तक जायगी। अतः "षष्ठी-समर्थ प्राणिवाची, ओषधिवाची तथा वृक्षवाची प्रातिपदिकों से 'अवयव' तथा 'विकार' ('च') अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। यह सूत्र नियमार्थ है। यहाँ से आगे "कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च" (४-३-१६५) सूत्र पर्यन्त 'प्राणी', 'ओषधि' तथा 'वृक्ष'-वाची प्रातिपदिकों से 'अवयव' तथा 'विकार' दोनों अर्थों में प्रत्यय होंगे। इनसे भिन्न अन्य प्रातिपदिकों से केवल 'विकार' अर्थ में ही प्रत्यय होंगे। **उदाहरण**—(१) प्राणिवाची प्रातिपदिकों से आगे "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्" (४-३-१५१) सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय कहेंगे। अतः **मायूरः** (मोर का बना हुआ

---

१. अथ तस्येति वचनं किमर्थम्? यावता 'तस्य' ग्रहणं प्रकृतमेव। तथा सति प्रकृतं वचनं शैषिकादिभिः सम्बद्धः स्यात्। अतस्तदनुवृत्तौ तेऽप्यनुवर्तेरन्। अस्मिंस्तु 'तस्येति' ग्रहणे क्रियमाणे पूर्वकं तस्येति वचनं निवर्तते। अतः शैषिकनिवृत्त्यर्थं पुनरत्रोच्यते। ननु च प्रधानं घादयः—विधीयमानत्वात्, तस्येति वचनमप्रधानं तदर्थत्वात्। तत्रायुक्ता गुणे निवर्तमाने प्रधानस्य निवृत्तिः। नैष दोषः—तस्येति वचनसामर्थ्यात् प्रधानस्यापि गुणनिवृत्तौ निवृत्तिर्भवतीति। अन्यथा हि तस्येति वचनमनर्थकं स्यात्। विस्तरस्तु न्यासे द्रष्टव्यः।

बैल्वम् । (१५१७) कोपधाच्च ४ । ३ । १३७ ॥ अण् । अञोऽपवादः । तर्कु, तार्क-

---

इत्यञ् तु वक्ष्यमाणो न भवति, 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम्' इत्याद्युदात्तत्वात् । वृक्षस्योदाहरति—पैप्पलमिति । पिप्पल. अश्वत्थः तस्यावयवो विकारोवेत्यर्थः । 'लघावन्ते' इति मध्योदात्तः पिप्पलशब्दः (?) । 'अनुदात्तादेश्च' इति वक्ष्यमाणाञोऽभावे औत्सर्गिकोऽण् ।

(१५१६) बिल्वादिभ्योऽण् । एषु प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः अवयवे विकारे च, इतरेभ्यस्तु विकारे अण् स्यादित्यर्थः । बैल्वमिति । बिल्वस्यावयवो विकारो वेत्यर्थः । बिल्व, व्रीहि, काण्ड, मुद्ग, मसूर, गोधूम, इक्षु, वेणु, गवेधुक, कार्पासी, पाटली, कर्कन्धू, कुटीर इति बिल्वादयः । गवेधुकस्य 'कोपधाच्च' इत्यणि सिद्धे मयटो बाधनार्थमिह पाठः । इतरेषां तु 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञो बाधनार्थमिति कौस्तुभे विस्तरः ।

(१५१७) कोपधाच्च । अणिति शेषः । तत्र प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयवे विकारे च, इतरेभ्यस्तु विकारे एव । तर्कु तार्कवमिति । तर्कु इति प्रकृतिनिर्देशः । तर्कुर्नाम वृक्षविशेषः, तस्यावयवो विकारो वेत्यर्थः । 'ओरञ्' इत्यस्यापवादः अण् । तित्तिडीकशब्दो 'लघावन्ते' इति मध्योदात्तः । 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञोऽपवादः अण् ।

अथवा मोर का अङ्ग—मयूरस्य विकारः अवयवः वा) में अञ् हुआ—"प्राणिरजतादिभ्योऽञ्" (४-३-१५१)। "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) से 'अञ्' सिद्ध होनेपर भी पुनः अञ् विधान उदात्तादि शब्दों से तथा वृद्धसंज्ञक शब्दों में 'मयट्' प्रत्यय के बाधनार्थ सार्थक है। (२) ओषधिवाची—मौर्वम् काण्डं भस्म वा (गोकर्णी ओषधि की डंठल या भस्म—मूर्वायाः अवयवः विकारः वा)—मूर्वा+अण् (औत्सर्गिक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम्' (फि० सू० २७) से 'मूर्वा' शब्द आद्युदात्त होने से वक्ष्यमाण सूत्र "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) से 'अञ्' प्रत्यय नहीं होगा। (३) वृक्षवाची—पैप्पलम् (पीपल का तना या बना हुआ—पिप्पलस्य अवयवः विकारः वा)—पिप्पल+अण् (औत्सर्गिक)। अन्त्यलोप तथा आदिवृद्धि। 'लघावन्ते द्वयोश्च०' (फिट् सूत्र ४२) से 'पिप्पल' शब्द आद्युदात्त है। अतः "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) से 'अञ्' की प्राप्ति नहीं है।

(१५१६) पद—बिल्वादिभ्यः, अण्। अनुवृत्ति—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० बैल्वम्।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ बिल्वादि प्रातिपदिकों से 'विकार' और 'अवयव' अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—बैल्वः (बेल का अवयव या बना हुआ—बिल्वस्य अवयवः विकारः वा)—बिल्व+अण्। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप।

विशेष—बिल्वादि-गण में पठित 'गवेधुका' शब्द से औत्सर्गिक 'अण्' स्वतः सिद्ध रहा, तथापि उसके बाधक 'मयट्' प्रत्यय का बाध करने के लिये इस गण में पाठ होने की सार्थकता है। शेष शब्दों में "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) सूत्र से प्राप्त 'अञ्' के बाधनार्थ सार्थकता है।

(१५१७) पद—कोपधात्, च। अनुवृत्ति—अण्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

विवरण—"षष्ठ्यन्त ककारोपधक शब्दों से 'विकार' और 'अवयव' अर्थों में 'अण्' (अधिकार से अनुवर्तमान) प्रत्यय होता है। "ओरञ्" का अपवाद है। उदाहरण—(१) तार्कवम् ('तर्कु' ='टेकुआ' का अङ्ग या बना हुआ—तर्कोः अवयवः विकारः वा)—तर्कु+अ (अण्) > तर्को+अ (गुण—"ओर्गुणः" ६-४-१४६) > तार्कवम् (आदिवृद्धि तथा अवादेश)। (२) तैत्तिडीकम्

वम्। तैत्तिडीकम्। (१५१८) त्रपुजतुनोः षुक्॥ ४।३।१३८॥ आभ्यामण् स्याद्विकारे, एतयोः षुगागमश्च। त्रापुषम्। जातुषम्। (१५१९) ओरञ् ४।३।१३९॥ दैवदारवम्। भाद्रदारवम्। (१५२०) अनुदात्तादेश्च ४।३।१४०॥ दाधित्थम्।

(१५१८) त्रपुजतुनोः षुक्। त्रापुषम्। जातुषमिति। त्रपुणो जतुनश्च विकार इत्यर्थः।

(१५१९) ओरञ्। उवर्णादञ् स्यादित्यर्थः। प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः अवयवे विकारे च, इतरेभ्यस्तु विकारे। दैवदारवम्। भाद्रदारवमिति। देवदारोर्भद्रदारोश्चावयवो विकारो वेत्यर्थः। 'पीतद्र्वर्थानाम्' इत्याद्युदात्तावेतौ। ततश्च 'अनुदात्तादेश्च' इत्यनेन गतार्थता न।

(१५२०) अनुदात्तादेश्च। विकारे अञिति शेषः। 'अवयवे च' इति सूत्रमप्यत्र

(इमली का हिस्सा या बना हुआ)—तित्तिडीक्+अ (अण्)। तित्तिडीक शब्द "लघावन्ते द्वयोश्च०" (फि० सू० ४२) से मध्योदात्त होने के कारण अनुदात्तादि है, अतः "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) से प्राप्त 'अञ्' का यह अपवाद है।

(१५१८) पद—त्रपु-जतुनोः, षुक्। **अनुवृत्ति**—अण्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ-इन से विकारार्थ में 'अण्' हो तथा तत्सहचरित 'षुक्' ('ष्') आगम भी हो। उदा० १-त्रापुषम्। २-जातुषम्।

विवरण—'अण्' की प्रमुख अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है ('बिल्वादिभ्योऽण्" ४-३-१३६)। यहाँ केवल विकारार्थ में ही प्रत्यय होगा, क्योंकि 'त्रपु' तथा 'जतु' शब्द 'प्राणी', 'ओषधि' एवम् 'वृक्ष'-वाची नहीं है। अतः सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—"षष्ठयन्त 'त्रपु' एवं 'जतु' प्रातिपदिकों से विकारार्थ में 'अण्' प्रत्यय हो, तथा इन दोनों को षुक् ('ष्') आगम ('कित्' होने से अन्तावयव) भी हो"। **उदाहरण**—(१) **त्रापुषम्** (राँगे का बना हुआ—त्रपुणः विकारः)—त्रपु+ष्-अ (अण्) > त्रापुषम् (आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य)। (२) **जातुषम्** (लाख का बना हुआ—जतुनः विकारः)—जतु+ष्-अ ('अण्' तथा 'षुक्' आगम)।

(१५१९) पद—ओः, अञ्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १-दैवदारवम्। २-भाद्रदारवम्।

विवरण—यहाँ अवयव तथा विकार दोनों अर्थ अपेक्षित हैं। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "षष्ठयन्त 'उवर्णान्त' (ओः) प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—(१) **दैवदारवम्** (देवदारु का अङ्ग या उससे बना हुआ—देवदारोः अवयवः विकारः वा)—देवदारु+अ (अञ्)। (२) **भाद्रदारवम्** (देवदारु-विशेष का अङ्ग या उससे बना हुआ)—भद्रदारु+अ (अञ्)। दोनों उदाहरणों में "ओर्गुणः" (६-४-१४६) से गुण, अवादेश तथा आदिवृद्धि।

विशेष—ये दोनों शब्द आद्युदात्त हैं ('पीतद्र्वर्थानाम्' फिट् सूत्र ३७)। अतः "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) की प्राप्ति न होने से पृथक् 'अञ्'-विधान की चरितार्थता है।

(१५२०) पद—अनुदात्तादेः, च। **अनुवृत्ति**—अञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १-दाधित्थम्। २-कापित्थम्।

विवरण—पूर्व सूत्र "ओरञ्" (४-३-१३९) से 'अञ्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित

कापित्थम् । (१५२१) पलाशादिभ्यो वा ४ । ३ । १४१ ।। पालाशम् । खादिरम् । कारीरम् । (१५२२) शम्याः ष्लञ् ४ । ३ । १४२ ।। शामीलं भस्म । षित्वान्ङीष् ।

सम्बध्यते । दाधित्थमिति । दधित्थस्यावयवो विकारो वेत्यर्थः । एवं कापित्थम् । 'कपित्थे तु दधित्थग्राहिमन्मथाः' इत्यमरः । अव्युत्पन्नप्रातिपदिकत्वात् फिट्स्वरेणान्तोदात्तावेतौ ।

(१५२१) पलाशादिभ्यो वा । अञिति शेषः । अवयवे चेत्येव । पलाशखदिरशिंशपास्यन्दनानामनुदात्तादित्वात् नित्यं प्राप्ते, इतरेषामप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

(१५२२) शम्याः ष्लञ् । शमीशब्दो गौरादिङीषन्तः । तस्मात्षष्ठचन्तादवयवे विकारे ष्लञ् स्यादित्यर्थः । षकारञकारावितौ । 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञोपवादः । शामीलं भस्मेति । शम्या विकार इत्यर्थः । शामीली स्रुगिति । शम्या विकार इत्यर्थः । वरुणप्रघासेषु शमीमय्यः स्रुचः प्रसिद्धाः । अवयवे तु शामीली शाखा ।

है । शेष अनुवृत्तियाँ यथानियम अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "षष्ठयन्त 'अनुदात्तादि' शब्दों से 'विकार' और 'अवयव' अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है ।" उदाहरण—(१) दाधित्थम् (कैथ का अङ्ग या उससे बना हुआ—दधित्थस्य अवयवः विकारः वा)—दधित्थ् + अ (अञ्) । 'अन्त्य'-लोप एवम् आदिवृद्धि । (२) कापित्थम् (कैथ का अङ्ग या बना हुआ)—कपित्थ् + अ (अञ्) ।

विशेष—अव्युत्पन्न पक्ष में ये दोनों शब्द 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फिट् सूत्र १) से अन्तोदात्त होने के कारण अनुदात्तादि हैं । व्युत्पत्ति-पक्ष में ये दोनों शब्द 'क'–प्रत्ययान्त ('दध्नि तिष्ठति—दधि-√स्था + क) तथा कपौ तिष्ठति (कपि-√स्था + क) हैं । तथा उपपद-समास ("कुगतिप्रादयः" २-२-१८) करने पर निष्पन्न होते हैं । 'स्था' के 'स्' को "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" (६-३-१०७) से 'त' जानना चाहिये । अतः 'क'–प्रत्ययान्त होने के कारण "थाऽथघञ्क्ताजवित्रकाणाम्" (६-२-१४४) से अन्तोदात्त होने से अवशिष्ट समग्र पद निघात होकर अनुदात्तादि हुआ । इसके फलस्वरूप प्रकृत सूत्र से 'अञ्' हुआ ।

(१५२१) **पद**—पलाशादिभ्यः, वा । **अनुवृत्ति**—अञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १–पालाशम् । २–खादिरम् । ३–कारीरम् ।

विवरण—'विधेय'–प्रत्यय 'अञ्' का लाभ अनुवृत्ति-वश ("ओरञ्"—४-३-१३९) होता है । अतः "षष्ठयन्त 'पलाशादि' से 'अवयव' एवम् 'विकार' अर्थ में 'अञ्' (=अ) प्रत्यय विकल्प से होता है" । पक्ष में औत्सर्गिक 'अण्' होगा । उदाहरण—पालाशम् (पलाश का अङ्ग अथवा उससे बना हुआ)—(१) पलाश् + अञ् । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप । (३) कारीरम् (करील का अंग या उससे बना हुआ)—करीर् + अञ् । (२) खादिरम् । (खैर का अङ्ग या उससे बना यज्ञ-पात्र)—खदिर् + अञ् ।

विशेष—पलाश, खदिर, शिंशपा, तथा स्यन्दन शब्द अनुदात्तादि हैं । अतः पूर्व सूत्र से नित्य 'अञ्' प्राप्त रहा । उसकी वैकल्पिक व्यवस्था की गई है । इन शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों से 'अञ्' अप्राप्त रहा, उसका विधान किया गया । अतः यह प्राप्ताऽप्राप्त विभाषा है ।

(१५२२) **पद**—शम्याः, ष्लञ् । **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० शामीलं भस्म । स्त्रीलिङ्ग में 'षित्' होने से 'ङीष्'—शामीली अर्थात् स्रुक् ।

विवरण—'शमी' शब्द का 'गौरादि' गण में पाठ है । अतः वह 'ङीष्' प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग है । "षष्ठयन्त 'शमी' शब्द से 'अवयव' और 'विकार' अर्थ में 'ष्लञ्' प्रत्यय होता है" ।

शामीली स्रुक्। (१५२३) मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४ । ३ । १४३ ॥

प्रकृतिमात्रान्मयड् वा स्याद्विकारावयवयोः । अश्ममयम्–आश्मनम् । 'अभक्ष्य–' इत्यादि

(१५२३) **मयड्वैतयोः** । अधिकारादेव विकारावयवयोरिति सिद्धेरेतयोरिति वचनम् उक्तवक्ष्यमाणापवादविषयेष्वपि पक्षे मयडर्थम् इति भाष्ये स्पष्टम् । तेन बिल्वमयं बैल्वमित्यादि सिध्यतीत्यभिप्रेत्य आह—**प्रकृतिमात्रादिति** । सर्वस्याः प्रकृतेरित्यर्थः । **अश्ममयमिति** । मयटि अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वम्, नलोपः । **आश्मनमिति** । कल्माषांघ्रिर्नाम कश्चिद्राजा तत्पत्न्यां वसिष्ठेनोत्पादितः अश्मकः इति । अश्मन्शब्दात् स्वार्थे कप्रत्ययः, तदभावे अश्मेत्यपि नाम, तस्य विकारो अवयवो वेत्यर्थः । 'अन्' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः । न च विकारार्थकत्वे 'अश्मनो विकारे' इति टिलोपः शङ्क्यः । तत्र पाषाणवाचकत्वेन प्रसिद्धस्याश्मन्शब्दस्यैव ग्रहणादिति भावः ।

'ष्' तथा 'ञ्' इत् हैं । प्रत्यय का स्वरूप 'ल' है । 'ष्' इत् होने से स्त्री-लिङ्ग में 'ङीष्' होगा । **उदाहरण**—(१) **शामीलम्** (शमी की राख—शम्याः विकारः)—शमी+ल (ष्लञ्) > शामीलम् (आदिवृद्धि) । स्त्री-लिङ्ग में ङीष् होकर **शामीली** (शमी की लकड़ी का बनी स्रुक्-शम्याः विकारः) । चातुर्मास्य याग-सम्बन्धी वरुण-प्रघास में शमी-काष्ठ की 'स्रुक्' विहित है ।

विशेष—(१) "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१३६) से प्राप्त 'अञ्' का अपवाद है ।

(२) अवयवार्थ में **उदाहरण—शामीली** (शमी की शाखा) होगा ।

(१५२३) पद—मयट्, वा, एतयोः, भाषायाम्, अभक्ष्याच्छादनयोः । **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'विकार' और 'अवयव' में प्रकृति-मात्र से वैकल्पिक 'मयट्' हो । उदा० १–अश्ममयम्—आश्मनम् । 'अभक्ष्य' इत्यादि क्यों कहा ? मौद्गः सूपः ('भक्ष्य' होने से 'मयट्' नहीं हुआ) । तथा कार्पासम्—आच्छादनम् (आच्छादन होने से 'मयट्' नहीं हुआ) ।

विवरण—सूत्र में 'एतयोः' पद से प्रकरणानुसार 'विकार' और 'अवयव' ही लक्षित किये गये हैं । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "षष्ठयन्त प्रातिपदिकों से 'भक्ष्य' और 'आच्छादन' वर्जित 'विकार' तथा 'अवयव' अर्थों में लौकिक प्रयोग के सन्दर्भ में (भाषायाम्) विकल्प से 'मयट्' होता है" । प्रकृत सूत्र में 'विकार' और 'अवयव' की अनुवृत्ति होने पर भी पुनः 'एतयोः' ग्रहण से विकारावयव अर्थ में कहे गए विशेष प्रत्ययों के साथ भी 'मयट्' विकल्प से हो जाता है[1] । जैसे-लोहमयम्–लौहम् । सूत्रोक्त **उदाहरण**—(१) **अश्ममयम्** (पत्थर का अवयव या उससे बना हुआ—अश्मनः विकारः अवयवः वा)—अश्मन् + मय > अश्ममयम् (अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को निमित्त मानकर पद-संज्ञा होने के कारण 'न्' का लोप हो गया) । 'मयट्' न होने पर-(२) **आश्मनम्** (औत्सर्गिक अण् ← अश्मन्+अण्, आदिवृद्धि) । "अन्" (६-४-१६७) सूत्र से प्रकृतिभाव होने के कारण 'टि'-लोप नहीं हुआ । प्रकृत उदाहरण में पाषाण-वाची 'अश्मन्' विवक्षित न होने से 'अश्मनो टिलोपो वक्तव्यः' वार्तिक से टिलोप नहीं होता । किन्तु यहाँ तन्नामक ऋषि अपेक्षित है, जिसका मूल नाम 'अश्मक' (अश्मन्+क-स्वार्थे) है । यह अश्मक कल्माषाङ्घ्र राजा की मदयन्ती स्त्री में वसिष्ठ से उत्पादित पुत्र की संज्ञा है । अतः यह अवयवार्थ का उदाहरण है ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अभक्ष्याच्छादनयोः' पद का निवेश होने के कारण **मौद्गः**

---

१. "यद्येतयोरिति नोच्येत, उत्तरैः विशेषप्रत्ययैः अञादिभिः सम्प्रधारणायां परत्वात् ते एव स्युः । पूर्वेषां विशेष-प्रत्ययानां मयडभावपक्षे सावकाशत्वात्, मयट्-पक्षे परत्वात् मयडेव लभ्यते इति प्राणिरजतादिभ्यः अञादयः इत्युक्तम् । 'एतयोः' इति वचनं पुनर्विधानार्थं सम्पद्यते—इति परेषामपि विषये मयड् भवति" । —पदमञ्जर्यां हरदत्तः ।

किम् ? मौद्गः सूपः । कार्पासमाच्छादनम् । (१५२४) नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४ । ३ । १४४ ॥ आम्रमयम् । शरमयम् । 'एकाचो नित्यम्' (५०५२) । त्वङ्मयम् । वाङ्मयम् । कथं तर्हि 'आप्यम् अम्मयम्' इति, 'तस्येदम्' (सू १५००) इत्यण्णन्तात्स्वार्थे ष्यञ् । (१५२५) गोश्च पुरीषे ४ । ३ । १४५ ॥ गोः पुरीषं गोमयम् ।

(१५२४) नित्यं वृद्धशर । मयडिति शेषः । उक्तविकल्पस्यापवादः । एकाचो नित्यमिति । नित्यमिति योगविभागलब्धमिदम् । अण्णन्तादिति । अपामिदमापम् । 'तस्येदम्' इत्यण् । ततः स्वार्थे चतुर्वर्णादित्वात् ष्यञि आप्यमिति रूपमित्यर्थः ।

(१५२५) गोश्च पुरीषे । नित्यं मयडित्यनुवर्तते । गोमयमिति । यद्यपि पुरीषं न गोर्विकारो नाप्यवयवः । तथापि तस्येदमित्यर्थेऽयं प्रत्ययः ।

सूपः (मूँग की दाल—मुद्गानां विकारः) तथा कार्पासम् आच्छादनम् (कपास का बनी चादर—कार्पासस्य विकारः) में 'मयट्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि मूँग भक्ष्य है तथा कपास आच्छादन-योग्य है । अतः दोनों स्थलों पर 'अण्' हुआ ।

(१५२४) पद—नित्यं, वृद्ध-शरादिभ्यः । अनुवृत्ति—मयट्, भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १–आम्रमयम् । २–शरमयम् । वा० 'एकाच्' शब्दों से नित्य हो । उदा० १–त्वङ्मयम् । २–वाङ्मयम् । (इस प्रकार) आप्यम् (अम्मयम्) शब्द कैसे बना ? 'तस्येदम्' से 'अण्' प्रत्यय करने के पश्चात् तदन्त से स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है ।

विवरण—कुछ विशिष्ट शब्दों में 'मयट्' प्रत्यय का नित्य विधान करने के लिये सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है । अतः सूत्र में 'नित्य' शब्द का प्रयोग किया गया है । 'अभिधेय' अर्थ एवम् 'प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ' यथानियम अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ शब्दों के साथ उनकी एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि '"भक्ष्य' और 'आच्छादन'-वर्जित विकार और अवयव अर्थों में षष्ठयन्त 'वृद्धसंज्ञक' तथा 'शरादि' शब्दों से नित्य "मयट्' (=मय) प्रत्यय हो" । इस प्रकार पूर्व सूत्र से विकल्प की प्राप्ति में नित्यार्थ यह वचन है । उदाहरण—वृद्धसंज्ञक-(१) आम्रमयम् (आम का विकार या अवयव—आम्रस्य विकारः अवयवः वा)—आम्र+मय (मयट्) । (२) शरादि—शरमयम् (सरकंडों से बना या उसका अवयव—शराणां विकारः अवयवः वा)—शर+मय (मयट्) । प्रकृत 'मयट्' के क्षेत्र को पूर्वाचार्य पठित वाक्य द्वारा विस्तृत कर रहे हैं । तदनुसार एक अच्-युक्त शब्दों से भी पूर्वोक्त अर्थ में नित्य मयट् होता है । उदाहरण—(१) त्वङ्मयम् (त्वचा का बना हुआ या उसका अङ्ग—त्वचः विकारः अवयवः वा)—त्वच्+मय > त्वक्+मय (च्-क्=कुत्व) ⊳ त्वङ्मयम् (क्=ङ्—'प्रत्यये भाषायां नित्यम्'—वा०) । (२) वाङ्मयम् (शास्त्र—साहित्य, वाचः विकारः अवयवः वा)—वाच्+मय (मयट्) । शेष कार्य पूर्ववत् ।

शङ्का—उक्त नियम के अनुसार 'जल का विकार या अवयव' अर्थ में 'अम्मयम्' (अप्+मयट) रूप होना चाहिये । आप्यम् कैसे बना ? समाधान यह है—"यहाँ पर 'इदम्' अर्थ में (अपाम् इदम्) 'अण्' प्रत्ययान्त 'आप' शब्द से स्वार्थ में 'ष्यञ्' (=य→आप्+य) प्रत्यय करने पर आप्यम् शब्द की साधुता जानी जाय" ।

(१५२५) पद—गोः, च, पुरीषे । अनुवृत्ति—मयट्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० गोः पुरीषम्→गोमयम् ।

विवरण—"पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न 'पुरीष' अर्थात् 'मल' अर्थ अभिधेय होने पर षष्ठयन्त 'गो'

(१५२६) पिष्टाच्च ४ । ३ । १४६ ॥ मयट् स्याद्विकारे । पिष्टमयम् भस्म । कथं पैष्टी सुरेति ? सामान्यविवक्षायां 'तस्येदम्' (सू १५००) इत्यण् । (१५२७) सञ्ज्ञायां कन् ४ । ३ । १४७ ॥ 'पिष्टात्' इत्येव । पिष्टस्य विकारविशेषः—पिष्टकः । 'पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यात्' । (१५२८) व्रीहेः पुरोडाशे ४ । ३ । १४८ ॥ मयट् स्यात् । बिल्वाद्यणोऽप-

---

(१५२६) पिष्टाच्च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे— मयट् स्याद्विकारे इति ।

(१५२७) सञ्ज्ञायां कन् । विकारविशेष इति । अपूप इत्यर्थः । तदाह—पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यादिति । अमरकोशोऽयम् । पुरोडाशस्तु न पिष्टकः, तस्यानपूपत्वात् । 'अतुङ्ग-मनपूपाकृतिमश्वशफमात्रं पुरोडाशं करोति' इति श्रुतेः ।

(१५२८) व्रीहेः पुरोडाशे । पुरोडाशात्मके विकारे नित्यं मयट् स्यादित्यर्थः । तर्हि बिल्वादिगणे पाठः किमर्थमित्यत आह— व्रैहमन्यदिति ।

शब्द से 'मयट्' प्रत्यय होता है" । 'पुरीष' (मल) न तो गाय का विकार है, न अवयव ; अतः इस सूत्र में सामर्थ्यवश 'विकार' एवम् 'अवयव' का सम्बन्ध नहीं होता । केवल सम्बन्ध-सामान्य विवक्षित है । उदाहरण—गोमयम् (गोबर—गोः पुरीषम्)—गो+मय (मयट्) ।

(१५२६) पद—पिष्टात्, च । अनुवृत्ति—मयट्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'विकार' अर्थ में 'मयट्' हो । उदा० पिष्टमयम् अर्थात् राख । 'पैष्टी' सुरा कैसे ? सामान्य विवक्षा में 'तस्येदम्' से 'अण्' होता है ।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'पिष्ट' शब्द से भी 'विकार' अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होता है" । 'पिष्ट' शब्द प्राणि-भिन्न, ओषधि-भिन्न तथा वृक्षभिन्न प्रातिपदिक है, अतः प्रकृत सूत्र से केवल 'विकार' अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होगा । यह सूत्र औत्सर्गिक 'अण्' का अपवाद है । उदाहरण—पिष्टमयम् भस्म (आटे की बनी राख—पिष्टस्य विकारः)—पिष्ट+मय (मयट्) ।

विशेष—'पिष्टमयी' सुरा (आटे की बनी सुरा) प्रयोग न कर पैष्टी सुरा प्रयोग की समीचीनता के सम्बन्ध में यह कहा जा रहा है कि 'सम्बन्ध—सामान्य' में अण् ("तस्येदम्") प्रत्यय करने के पश्चात् तदन्त से 'ङीप्' प्रत्यय कर 'पैष्टी' रूप सिद्ध किया गया है ।

(१५२७) पद—संज्ञायां, कन् । अनुवृत्ति—पिष्टात्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'पिष्ट' शब्द से ही (हो) । उदा० पिष्ट का विकार-विशेष ही 'पिष्टक' है । कोष के अनुसार पूप, अपूप तथा पिष्टक पर्यायवाची हैं ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही ('पिष्ट'-सम्बन्धी) विषय है । अतः "षष्ठी-समर्थ 'पिष्ट' शब्द से संज्ञा-विषय में विकारार्थ अभिधेय होने पर 'कन्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—पिष्टकः (आटे का बना हुआ पूआ—पिष्टस्य विकारः)—पिष्ट+क (कन्) । इस सम्बन्ध में 'अमर कोष का प्रमाण देकर 'पिष्टक' शब्द के पर्याय 'पूप' एवम् 'अपूण' भी बतलाये गए हैं ।

विशेष—'पिष्टक' को पुरोडाश नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रुति में पुरोडाश की आकृति का वर्णन करते हुए उसे नोंकीला न होते हुए पूए की आकृति से रहित बतलाया गया है । साथ ही उसका नाप घोड़े के खुर के बराबर सूचित किया गया है ('अतुङ्गम्, अनपूपाकृतिम्, अश्वशफमात्रं पुरोडाशं करोति') ।

(१५२८) पद—व्रीहेः, पुरोडाशे । अनुवृत्ति—मयट्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

वादः । व्रीहिमयः पुरोडाशः । व्रैहमन्यत् । (१५२९) असञ्ज्ञायां तिलयवाभ्याम् ४ । ३ । १४९ ॥ तिलमयम् । यवमयम् । सञ्ज्ञायां तु तैलम् । यावकः । (१५३०) तालादिभ्योऽण् ४ । ३ । १५२ ॥ अञ्मयटोरपवादः । 'तालाद्धनुषि' (ग० सू० १९४)

(१५२९) असञ्ज्ञायां तिलयवाभ्याम् । नित्यं मयडिति शेषः । यावक इति । यवशब्दाद्विकारे अण्, ततः 'यावादिभ्य' इति स्वार्थे कन् ।

(१५३०) तालाऽऽदिभ्योऽण् । तालाद्धनुषीति । गणसूत्रमिदम् । तालं धनुरिति । 'नित्यं वृद्ध' इति मयटोऽपवादः । ऐन्द्रायुधमिति । 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञोऽपवादः, समासस्वरेणान्तोदात्तत्वात् ।

मूलार्थ—'मयट्' हो । 'बिल्वादि'—अण् का यह अपवाद है। उदा० व्रीहिमयः अर्थात् पुरोडाश । अन्यत्र—व्रैहम् ।

विवरण—विधेयांश 'मयट्' का लाभ अनुवृत्ति-वश होता है ("मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः" ४-३-१४३) । तदनुसार "षष्ठयन्त 'व्रीहि' प्रातिपदिक से पुरोडाशरूप विकार अभिधेय होने पर 'मयट्' प्रत्यय होता है" । 'व्रीहि' शब्द बिल्वादि-गण में पढ़ा है, अतः अण् का अपवाद स्वरूप यह सूत्र है । फलतः पुरोडाश से अन्य अर्थ अभिधेय होने पर 'अण्' ही होगा । **उदाहरण**—**व्रीहिमयः** (धान का बना—व्रीहेः विकारः)—व्रीहि+मय (मयट्) । पुरोडाश भिन्न अर्थ विवक्षित होने पर—व्रीहि+अ (अण्) ▷ **व्रैहम्** । आदिवृद्धि, अन्त्य-'इ'-लोप ।

(१५२९) पद—असंज्ञायाम्, तिल-यवाभ्याम् । **अनुवृत्ति**—मयट्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—तिलमयम् । २—यवमयम् । संज्ञा-भिन्न अर्थ में—१—तैलम्, तथा २—यावकः ।

विवरण—'मयट्' का ही प्रकरण है । "षष्ठयन्त संज्ञाभिन्न-वाची 'तिल' तथा 'यव' शब्दों से 'विकार' और 'अवयव' अर्थ अभिधेय होने पर 'मयट्' प्रत्यय होता है" । 'तिल' तथा 'यव' भक्ष्य पदार्थ हैं, अतः "मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः" (४-३-१४३) सूत्र से 'मयट्' प्राप्त नहीं था, उसका यहाँ विधान किया गया है । **उदाहरण**—(१) **तिलमयम्** (तिल का बना हुआ या उसका अङ्ग—तिलस्य विकारः अवयवः वा)—तिल+मय (मयट्) । (२) **यवमयम्** (जौ का बना हुआ या डंठल आदि—यवस्य विकारः अवयवः वा)—यवमयम् (मयट्) ।

प्रत्युदाहरण—संज्ञा-वाचकता की स्थिति में 'अण्' होकर **तैलम्** अर्थात् तेल (तिल्+अण्) तथा **यावकः** (अर्थात् बिना भूसी के जौ को उबाल कर दूध-चीनी डाल कर बनाया गया पदार्थ)—यव्+अण् ▷ याव+क ▷ यावकः (स्वार्थ में कन् "यावादिभ्यः कन्" ५-४-२९) ।

(१५३०) पद—तालादिभ्यः, अण् । **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अञ्' और 'मयट्' का अपवाद है । ग० सू० 'ताल' से 'धनुष्' अर्थ में हो । उदा० १—तालम् अर्थात् धनुष् । अन्यत्र—तालमयम् । २—ऐन्द्रायुधम् ।

विवरण—'विकारावयव' अर्थ का ही प्रकरण है । अतः "षष्ठयन्त 'ताल' आदि शब्दों से 'विकार' और 'अवयव' अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है" । 'ताल' शब्द के सम्बन्ध में **गणसूत्र** से यह विदित होता है कि "'धनुष्' अर्थ वाच्य होने पर ही 'अण्' प्रत्यय होगा" । **उदाहरण**—(१) **तालम्** (ताड़ का बना हुआ धनुष—तालस्य विकारः)—ताल्+अण् । (२) **ऐन्द्रायुधम्** (वज्र का बना हुआ—इन्द्रायुधस्य विकारः अवयवः वा)—इन्द्रायुध्+अण् । अन्त्य-'अ'-लोप एवम् आदिवृद्धि ।

तालं धनुः। अन्यत्तालमयम्। ऐन्द्रायुधम्। (१५३१) जातरूपेभ्यः परिमाणे ४। ३। १५३॥ अण्। बहुवचनात्पर्यायग्रहणम्। हाटकः तापनीयः सौवर्णो वा निष्कः। परिमाणे किम्? हाटकमयी यष्टिः। (१५३२) प्राणिरजतादिभ्योऽञ् ४। ३। १५४॥

(१५३१) जातरूपेभ्यः। अणिति। शेषपूरणम्। जातरूपं सुवर्णं, तद्वाचिभ्योऽण् स्यात्परिमाणे विकारे गम्ये इत्यर्थः। ननु जातरूपशब्दस्यैव कुतो न ग्रहणमित्यत आह— बहुवचनादिति। हाटक इत्यादि। हाटकस्य तपनीयस्य सुवर्णस्य वा निष्कपरिमाणको विकार इत्यर्थः। तापनीय इति। 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इति मयटोऽपवादः। इतरत्र तु 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञोऽपवादः। 'गुञ्जा पञ्चाद्यमाषकः। ते षोडशाक्षः' इत्यमरः। 'सुवर्णबिस्तौ हेम्नोऽक्षे' इति च।

(१५३२) प्राणिरजतादिभ्योऽञ्। शौकम् बाकमिति। शुकस्य बकस्य वा अवयवो

प्रत्युदाहरण—गणसूत्र के अनुसार 'धनुष्' वाच्यता अपेक्षित होने से ताड़ की बनी अन्य वस्तु अभिधेय होने पर 'मयट्' प्रत्यय होकर **तालमयम्** रूप निष्पन्न होगा।

विशेष—प्रथम उदाहरण में "नित्यं वृद्ध-शरादिभ्यः" (४-३-१४४) से प्राप्त 'मयट्' का यह बाधक है। द्वितीय उदाहरण "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) से प्राप्त 'अञ्' का बाधक है। 'इन्द्रायुध' शब्द समास-स्वर से अन्तोदात्त होने के कारण शेष 'निघात' होकर अनुदात्तादि है।

(१५३१) पद—जातरूपेभ्यः, परिमाणे। **अनुवृत्ति**—अण्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अण्' (हो)। बहुवचन से पर्याय का ग्रहण होता है। उदा० १—हाटकः, २-तापनीयः, ३-सौवर्णः वा निष्कः। 'परिमाणे' क्यों कहा? 'हाटकमयी' यष्टिः ('अण्' नहीं हुआ)।

विवरण—पूर्व सूत्र (१५३०) से 'अण्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्र में 'जातरूप' शब्द का स्वरूपात्मक ग्रहण नहीं होता, किन्तु उसके पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण किया जाता है। कारण यह है कि 'जातरूपेभ्यः' प्रयोग बहुवचन में किया गया है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "षष्ठ्यन्त सुवर्णवाची प्रातिपदिकों से यदि परिमाण जाना जाय तो विकार अभिधेय होने पर 'अण्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—(१) **हाटकः** (सोने का बना हुआ सिक्का—हाटकस्य विकारः)—हाटक्+अण्। (२) **तापनीयः** (तपनीयस्य विकारः)—तपनीय्+अण्। आदि-वृद्धि, अन्त्य-लोप। (३) **सौवर्णः** निष्कः (सुवर्णस्य विकारः)—सुवर्ण्+अण्। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'परिमाण' पद का निवेश होने से **हाटकमयी** यष्टिः (सोने की छड़) में परिमाण अभिधेय न होने के कारण "नित्यं वृद्ध-शरादिभ्यः" (४-३-१४४) से मयट् प्रत्यय हुआ। 'टित्' होने से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हुआ।

विशेष—सूत्रस्थ प्रथम एवं द्वितीय उदाहरण में "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" (४-३-१४४) से प्राप्त 'मयट्' का यह अपवाद है। तृतीय उदाहरण में "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) से प्राप्त 'अञ्' का अपवाद है।

(१५३२) पद—प्राणिरजतादिभ्यः, अञ्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—शौकम्। २—बाकम्। ३—राजतम्।

विवरण—"षष्ठ्यन्त प्राणिवाची तथा रजतादि-गण में पढ़े शब्दों से 'विकार' और 'अवयव' अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—प्राणिवाची—(१) (क) **शौकम्** (तोते का

शौकम् । बाकम् । राजतम् । (१५३३) ञितश्च तत्प्रत्ययात् ४ । ३ । १५५ ॥ ञितो विकारावयवप्रत्ययः तदन्तादञ्स्यात्तयोरेवार्थयोः । मयटोऽपवादः । शामीलस्य शामीलम् । दाधित्थस्य दाधित्थम् । कापित्थम् । ञितः किम् ? बैल्वमयम् । (१५३४) क्रीतवत्प-

---

विकारो वेत्यर्थः । 'प्राणिनां कुपूर्वम्' इत्याद्युदात्तत्वात् 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञो न प्राप्तिः । राजतमिति । अनुदात्तादित्वादञि सिद्धे मयड्बाधनार्थमञ्विधिः ।

(१५३३) ञितश्च तत्प्रत्ययात् । तयोः विकारावयवयोः प्रत्ययः तत्प्रत्ययः । तदाह —ञिद्य इति । तयोरेवेति । विकारावयवयोरेवेत्यर्थः । शामीलस्येति । शम्याः विकारः अवयवो वा शामीलम् । 'शम्याः ष्लञ्' । शामीलस्य विकारः अवयवो वेत्यर्थे अञि शामीलमिति भवतीत्यर्थः । 'नित्यं वृद्ध' इति मयटोऽपवादः । दाधित्थमिति । दधित्थस्य विकारोऽवयवो वा दाधित्थम् । अनुदात्तादित्वादञ् । दाधित्थस्य विकारो दाधित्थम् । मयड-पवादोऽञ् । बैल्वमयमिति । 'बिल्वादिभ्योऽण्' इति बिल्वशब्दादणि बैल्वः, तस्य विकार इत्यर्थे मयडेव, न त्वञ् । अणो ञित्त्वाभावादिति भावः । भाष्ये तु 'विकारावयवप्रत्यया-न्तात् पुनस्तत्प्रत्यया अनभिधानात् न' इत्याश्रित्य सूत्रमिदं प्रत्याख्यातम् ।

अंग या उससे बना हुआ—शुकस्य विकारः अवयवः वा)—शुक्+अञ् । आदिवृद्धि, 'अन्त्य'-लोप । (ख) **बाकम्** (बगुले से बना या उसका अंग—बकस्य विकारः अवयवः वा)—बक्+अञ् । (२) रजतादि—**राजतम्** (चाँदी का बना या टुकड़ा—रजतस्य विकारः अवयवः वा)-रजत्+अञ् ।

विशेष—प्रथम दो उदाहरणों ('क' तथा 'ख') में "प्राणिनां कुपूर्वम्" (फिट् सूत्र ३०) से आद्युदात्त होने से 'अञ्' प्राप्त नहीं था । अतः यह अप्राप्त-विधान है । 'राजतम्' में "अनुदात्ता-देश्च" (४-३-१४०) से 'अञ्' प्राप्त रहा, क्योंकि 'रजत' शब्द 'घृतादि' में अन्तोदात्त पढा गया है । अतः 'मयट्' के बाधनार्थ 'अञ्' का विधान किया गया है ।

(१५३३) पद—ञितः, च, तत्प्रत्ययात् । **अनुवृत्ति**—अञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—विकारावयव अर्थ में विहित 'ञित्' प्रत्ययान्त शब्दों से उन्हीं अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है । 'मयट्' का यह अपवाद है । उदा० शामील का (विकार)—१-शामीलम् । दाधित्थ का (विकार)—२-दाधित्थम् । ३-कापित्थम् । 'ञित्' क्यों कहा ? बिल्वमयम् ('टित्' प्रत्यय होने से 'अञ्' नहीं होता) ।

विवरण—पूर्व सूत्र (१५३२) से 'अञ्' की अनुवृत्ति आ रही है । अतः "'विकार' और 'अवयव' अर्थों में विहित ञित्प्रत्ययान्त षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिकों से पुनः विकार और अवयव अर्थों में ही (अर्थात् विकार का भी विकार और अवयव का भी अवयव बतलाना हो तो) 'अञ्' प्रत्यय होता है" ।

स्मरणीय—"तस्य विकारः" (४-३-१३४) तथा "अवये च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः" (४-३-१३५) के अधिकारों में "ओरञ्" (४-३-१३९), "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०), "पलाशादिभ्यो वा" (४-३-१४१), "शम्याः ष्लञ्" (४-३-१४२), "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्" (४-३-१५४), "उष्ट्रा-द्वुञ्" (४-३-१५७), "एण्या ढञ्" (४-३-१५९) "कंसीय-परशव्ययोः यञञौ लुक् च" (४-३-१६८)—सूत्रों में 'ञित्' प्रत्यय विहित हैं । अतः इन सूत्रों से विहित ञित्प्रत्ययान्त शब्दों से पुनः विकार एवम् अवयव अर्थ अभिधेय होने पर प्रकृत सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय हो जायगा । यद्यपि अञ्-प्रत्ययान्त शब्दों से पुनः 'अञ्' प्रत्यय करने पर पूर्वोक्त रूपों में कोई भेद नहीं होगा तथापि अर्थ में विशेषता होगी । **उदाहरण**—(१) शामीलस्य विकारः—**शामीलम्**

रिमाणात् ४ । ३ । १५६ ॥ 'प्राग्वहतेष्ठक्' (सू १५४८) इत्यारभ्य क्रीतार्थे ये प्रत्यया येनोपाधिना परिमाणाद्विहितास्ते तथैव विकारेऽतिदिश्यन्ते । अणादीनामपवादः । निष्केण क्रीतं नैष्किकम् । एवं निष्कस्य विकारोऽपि नैष्किकः । शतस्य विकारः शत्यः–

(१५३४) क्रीतवत्परिमाणात् । उपाधिनेति । प्रकृत्यादिविशेषणेनेत्यर्थः । नैष्किक इति । 'असमासे निष्कादिभ्यः' इति क्रीते ठक् । शत्यः शतिक इति । 'शताच्च ठन्यतौ' इति क्रीते ठन्यतौ ।

(शामील का विकार)—शमी+ष्लञ्→शामील+अञ् । 'मयट्' का अपवाद है । (२) दाधित्थम् (दाधित्थस्य विकारः—दाधित्थ का विकार)—दधित्थ+अञ्-अनुदात्तादि→दाधित्थ+अञ् । 'मयट्' का अपवाद है । (३) कापित्थम् (कापित्थ का विकार—कापित्थस्य विकारः)—कपित्थ+अञ्→कापित्थ+अञ् । 'मयट्' का अपवाद है ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'ञित' पद का निवेश होने से **बैल्वमयम्**—(बिल्व के अंग से बना हुआ) में 'अञ्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्यों कि प्रथम विकारार्थ प्रत्यय 'अण्' (बिल्व+अण्) 'णित्' हैं न कि 'ञित्' । अतः द्वितीय विकारार्थ प्रत्यय 'मयट्' हुआ ।

विशेष—भाष्यकर ने समानार्थक दो प्रत्ययों के होने में अरुचि दिखलाई है । अतः उन्होंने इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है[1] ।

(१५३४) पद—क्रीतवत्, परिमाणात् । **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—'प्राग्वहतेष्ठक्' से लेकर 'क्रीत' अर्थ में जो प्रत्यय जिस प्रकार परिमाण-वाचक से कहे गए हैं उनका उसी तरह विकार में भी 'अतिदेश' होता है । 'अण्' आदि का यह अपवाद है । उदा० १–निष्केण क्रीतं→नैष्किकम् । इसी तरह विकारार्थ में भी→नैष्किकः । २–शतस्य विकारः→ शत्यः, शतिकः ।

विवरण—यह अतिदेश-सूत्र है । वैषयिक एवं प्राकरणिक उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । अतः "षष्ठी-समर्थ परिमाण-वाची प्रातिपदिकों से "प्राग्वहतेष्ठक्" (४-४-१) से आरम्भ कर 'क्रीत' अर्थों में जो प्रत्यय कहे गए हैं, वे सभी प्रत्यय उसी तरह 'विकार' और 'अवयव' अर्थों में होते हैं" । आगे 'प्राक् क्रीताच्छः" (५-१-१) प्रकरण में क्रीत अर्थ में अनेक प्रत्यय कहे जायेंगे, उन्हीं सब का यहाँ 'अतिदेश' किया जा रहा है । **उदाहरणार्थ**—(१) **नैष्किकम्** (सोने के सिक्के से खरीदा गया) में जिस प्रकार "आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्" (५-१-१९) अधिकार में "तेन क्रीतम्" (५-१-१) से 'क्रीत' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हुआ है, इसी प्रकार यहाँ 'विकारा-वयव' अर्थों में (निष्कस्य विकारः अवयवः वा) भी 'ठक्' प्रत्यय करने पर **नैष्किकः** (सोने के सिक्के का बना हुआ) रूप बनेगा । (२) इसी तरह **शतिकः** (शत+ठन्) तथा **शत्यः** (शत+यत्) में "शताच्च ठन्यतावशते" (५-१-२१) से कहे हुए क्रमशः 'ठन्' और 'यत्' प्रत्यय हो गए हैं । यह 'अण्' 'अञ्' आदि का अपवाद है ।

---

१. प्रकृतसूत्रभाष्ये विकारावयवार्थकप्रत्ययान्तात् विकारावयवार्थे मयट्-व्यावृत्त्यर्थं "ञितश्च तत्प्रत्ययात्" (४-३-१५५) इति सूत्रस्थप्रयोजनमभिधाय विकारावयवयोः प्रकृतिशब्दस्य कपोतादेः आरोपेण समुदाये दृष्टाः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते" इति न्यायेन वा प्रवृत्तिं स्वीकृत्य प्रकृतिशब्दस्य अवृद्धत्वात् तस्मान्मयडभावस्य सिद्धिमाश्रित्य सूत्रं प्रत्याख्यायोक्तं "नैतद्विवदामहेऽवयवे समुदायशब्दो नास्तीति विकारे वा प्रकृति-शब्द इति" । किन्तर्हि विकारावयवशब्दोऽपि त्वस्ति तत उत्पत्तिः प्राप्नोति" इत्येवमाशङ्क्य विकारावयव-शब्दात् प्रसङ्ग इति चेत्—तन्न । किं कारणम् ? "तेन अनभिधानात्"—इत्युक्तम् ।

शतिकः। (१५३५) उष्ट्राद् वुञ् ४।३।१५७॥ प्राण्यञोऽपवादः। औष्ट्रकः। (१५३६) उमोर्णयोर्वा ४।३।१५८॥ औमकम्–औमम्। और्णकम्–और्णम्। वुञभावे यथाक्रममणञौ। (१५३७) एण्या ढञ् ४।३।१५९॥ ऐणेयम्। एणस्य

(१५३५) उष्ट्राद् वुञ्। प्राण्यञ् इति। 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' इत्यस्यापवाद इत्यर्थः।

(१५३६) उमोर्णयोर्वा। वुञिति शेषः। औमकमिति। 'उमा सस्यविशेषः'। 'अतसी स्यादुमा क्षुमा' इत्यमरः। उमाया विकारोऽवयवो वेत्यर्थः। औममिति। 'तृणधान्यानां च' इत्युमाशब्द आद्युदात्तः। ततो वुञभावे 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञभावादौत्सर्गिकोऽण्। ऊर्णाशब्दस्तु फिट्स्वरेणान्तोदात्तः। ततो वुञभावे अनुदात्तादित्वादञित्यर्थः। 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यात्' इत्यमरः। 'स्थूणोर्णे नपुंसके च' इति लिङ्गानुशासनसूत्रम्।

(१५३७) एण्या ढञ्। एण्या अवयवो विकारो वा ऐणेयम्। ढस्य एयादेशः। 'यस्येति च' इति ईकारलोपः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशस्य प्रयोजनमाह—एणस्य त्विति।

विशेष—यहाँ 'परिमाण'-वाचकता केवल नाप या तौल तक ही सीमित नहीं है, किन्तु 'संख्या' भी परिमाण-रूप में गृहीत है[1]।

(१५३५) पद—उष्ट्राद्, वुञ्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—प्राण्यर्थक 'अञ्' का अपवाद है। उदा० औष्ट्रकः।

विवरण—"षष्ठ्यन्त 'उष्ट्र' शब्द से 'विकार' और 'अवयव' अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। 'उष्ट्र' शब्द प्राणिवाची है, अतः "प्राणि-रजतादिभ्योऽञ्" (४-३-१५४) से प्राप्त 'अञ्' का यह अपवाद है। **उदाहरण**—**औष्ट्रकः** (ऊँट का अंग या उससे बना हुआ—उष्ट्रस्य अवयवः विकारः वा)—उष्ट्र+वुञ् (=अक)। आदिवृद्धि। 'अन्त्य' लोप।

(१५३६) पद—उमोर्णयोः, वा। **अनुवृत्ति**-वुञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १—औमम्–औमकम्। २—और्णम्—और्णकम्। 'वुञ्' न होने पर यथाक्रम 'अण्' और 'अञ्' हुए।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'उमा' तथा 'ऊर्णा' प्रातिपदिकों से 'विकार' तथा 'अवयव' अर्थों में विकल्प से 'वुञ्' (पूर्व सूत्र से अनुवर्तमान) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—क्रमशः—(१) **औमकम्**→ वुञ् (उमा+वुञ्=अक) होने पर। 'वुञ्' के अभाव में—**औमम्**←औत्सर्गिक 'अण्' (उमा+अण्) होने पर। **अर्थ**—अलसी का बना हुआ, रेशमी वस्त्र—उमायाः विकारः अवयवः वा। (२) **और्णकम्**→ऊर्णा+वुञ् (=अक)। पक्ष में—**और्णम्** ←ऊर्णा+अञ्। 'तृणधान्याना च द्व्यषाम्' (फिट् सूत्र २७) के अनुसार 'उमा' शब्द आद्युदात्त है। अतः पाक्षिक 'वुञ्' के न होने पर "अनुदात्तादेश्च" से 'अञ्' की प्राप्ति न होने के कारण औत्सर्गिक 'अण्' हुआ। 'ऊर्णा' शब्द 'फिषः' (फिट् सूत्र १) सूत्र के अनुसार अन्तोदात्त है। अतः 'वुञ्' न होने पर अनुदात्तादि होने के कारण वहाँ 'अञ्' होता है।

(१५३७) पद—एण्याः, ढञ्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० ऐणेयम्। 'एण' शब्द से—ऐणम्।

---

१. अत्र संख्याऽपि परिमाणग्रहणेन गृह्यते न रूढि-परिमाणमेव। परिमीयतेऽनेनेति परिमाणमिति व्युत्पत्त्या यौगिकोऽत्र परिमाण-शब्दः इत्यर्थो बोद्धव्यः।

तु ऐणम् । (१५३८) गोपयसोर्यत् ४ । ३ । १६० ॥ गव्यम् । पयस्यम् । (१५३९) द्रोश्च ४ । ३ । १६१ ॥ द्रुर्वृक्षः, तस्य विकारोऽवयवो वा द्रव्यम् । (१५४०) माने वयः ४ । ३ । १६२ ॥ द्रोः इत्येव । द्रुवयम् । 'पौतवं द्रुवयं पाय्यमिति मानार्थकं

(१५३८) गोपयसोर्यत् । गव्यमिति । गोर्विकारोऽवयवो वेत्यर्थः । 'वान्तो यि' इत्यवादेशः । पयस्यमिति । पयसो विकार इत्यर्थः । 'सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यत्' इत्येव सिद्धे यद्विधानं 'मयड्वैतयोः' इति पाक्षिकमयटो बाधनार्थम् ।

(१५३९) द्रोश्च । यदिति शेषः । 'एकाचो नित्यम्' इति मयटः 'ओरञ्' इत्यस्य चापवादः ।

(१५४०) माने वयः । द्रोरित्येवेति । माने विकारे गम्ये द्रुशब्दाद्वयप्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

विवरण—'षष्ठयन्त 'एणी' शब्द से विकार और अवयव अर्थों में 'ढञ्' प्रत्यय होता है"। 'एणी' शब्द 'हिरनी' का वाचक है। अतः प्राणिवाची होने से "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्" से 'अञ्' प्राप्त था। उसका यह अपवाद है। **उदाहरण**—ऐणेयः (हिरनी का अङ्ग या मृगचर्म—एण्याः अवयवः विकारः वा)—एणी+ढ(ढञ्) > ऐणेयः (ढ = एय) आदिवृद्धि तथा 'ई' का लोप।

विशेष—सूत्र में 'एणी'—स्त्रीलिङ्ग का निर्देश होने से हिरन के 'विकार अथवा 'अवयव' अर्थ की विवक्षा होने पर 'अण्' प्रत्यय होकर ऐणः (एण+अण्) रूप निष्पन्न होगा।

(१५३८) पद—गो-पयसोः, यत् । **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १—गव्यम् । २—पयस्यम् ।

विवरण—"षष्ठयन्त 'गो' तथा 'पयस्' शब्दों से 'विकार' तथा 'अवयव' अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है"। 'पयस्' शब्द 'अप्राण्योषधिवृक्षवाची' है, अतः इससे केवल विकार अर्थ में प्रत्यय होगा, अवयव अर्थ में नहीं। **उदाहरण**—१—**गव्यम्** (दूध दही आदि पदार्थ तथा गाय के अङ्ग—गोः विकारः अवयवः वा)—गो+यत् । अव् आदेश—"वान्तो यि प्रत्यये" (६-१-७९)। २—**पयस्यम्** (खीर आदि—पयसः विकारः)—पयस्+यत् ।

विशेष—यद्यपि विकारार्थ में 'सर्वत्र गोरजादि-प्रसङ्गे यत्' के अनुसार इष्टसिद्धि संभव थी, तथापि "मयड्वैतयोर्भाषायाम्०" (४-३-१४३) से प्राप्त पाक्षिक 'मयट्' के बाधनार्थं इसकी उपयोगिता है।

(१५३९) पद—द्रोः, च । **अनुवृत्ति**—यत्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'द्रु' शब्द का अर्थ 'वृक्ष' है। उसका विकार अथवा अवयव—द्रव्यम् ।

विवरण—विधेयांश 'यत्' का लाभ पूर्व सूत्र (१५३८) से अनुवृत्ति-वश होता है। अतः "षष्ठी-समर्थ 'द्रु' शब्द से भी 'विकार' एवम् 'अवयव' अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है"। यह सूत्र "एकाचो नित्यम्" (वा०) से प्राप्त मयट् तथा "ओरञ्" (४-३-१३९) का अपवाद है। **उदाहरण**—**द्रव्यम्** (वृक्ष का अङ्ग या लाख आदि)—द्रु+य (यत्) > द्रव्यम् ("ओर्गुणः" से गुण द्रु = द्रो तथा अवादेश "वान्तो यि प्रत्यये" ६-१-७९)।

विशेष—वस्तु-वाची 'द्रव्य' शब्द स्वतन्त्र अव्युत्पन्न है।

(१५४०) पद—माने, वयः । **अनुवृत्ति**—द्रोः, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

ऋयम्' इत्यमरः। (१५४१) फले लुक् ४।३।१६३॥ विकारावयवप्रत्ययस्य लुक् स्यात्फले। आमलक्याः फलमामलकम्। (१५४२) प्लक्षादिभ्योऽण् ४।३। १६४॥ विधानसामर्थ्यान्न लुक्। प्लाक्षम्। (१५४३) न्यग्रोधस्य च केवलस्य

(१५४१) फले लुक्। आमलकमिति। फलितस्य वृक्षस्य फलमवयवो विकारश्च। तस्मिन्मयटो लुकि 'लुक्तद्धितलुकि' इति ङीषो लुक्।

(१५४२) प्लक्षादिभ्योऽण्। विकारे अवयवे चेति शेषः। तत्र शिग्रूकर्कन्धूशब्दयोरुवर्णान्तत्वादञि प्राप्ते प्लक्षन्यग्रोधादीनाम् अनुदात्तादित्वादञि प्राप्ते अण्विधिः। नन्वस्य फले अणो लुक् कुतो नेत्यत आह—विधानेति।

(१५४३) न्यग्रोधस्य च केवलस्य। 'न य्वाभ्याम्' इत्युत्तरसूत्रमिदम्। अस्येति। केवलस्य न्यग्रोधस्येत्यर्थः। केवलत्वं पदान्तरविहीनत्वम्। न्यक् रोहतीति न्यग्रोध इति

मूलार्थ—'द्रु' शब्द से ही (हो)। उदा० द्रुवयम्। 'यौतव' 'द्रुवय' तथा 'पाय्य'—ये तीन शब्द मानार्थक हैं (अमरकोष)।

विवरण—उद्देश्य-वाची 'द्रु' शब्द की अनुवृत्ति "द्रोश्च" (४-३-१६१) से अपेक्षित है। अतः "षष्ठयन्त 'द्रु' शब्द से मानरूपी विकार अभिधेय होने पर 'वय' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण—द्रुवयम्** (लकड़ी का नाप—द्रोः विकारः = मानम्)—द्रु+वय। इस सम्बन्ध में दीक्षित ने अमर-कोष का प्रमाण दिया है कि 'यौतव', 'द्रुवय' तथा 'पाय्य' ये तीनों शब्द मानार्थक हैं"।

(१५४१) **पद**—फले, लुक्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'फल' वाच्य होने पर विकारार्थक प्रत्यय का 'लुक्' हो। उदा० आमलक्याः फलम्→आमलकम्।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति में 'स्थानी' अर्थात् विकारार्थक-प्रत्यय का बोध प्राकरणिक अनुवृत्ति-वश होता है। तदनुसार "'फल' अभिधेय होने पर 'विकार' एवम् 'अवयव' अर्थों में विहित प्रत्यय का 'लुक्' होता है"। **उदाहरण—आमलकम्** (आँवले का फल—आमलकी+मयट्—"नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" ४-३-१४२) ▷ आमलकी ('मयट्' का लोप—"फले लुक्" ४-३-१६३) > आमलक ('ङीष्' का भी लोप—"लुक् तद्धितलुकि" १-२-४९) ▷ आमलकम् (मूलभूत 'आमलक' से विभक्तिकार्य)।

(१५४२) **पद**—प्लक्षादिभ्यः, अण्। **अनुवृत्ति**—फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विधान-सामर्थ्य से लुक् नहीं होता। उदा० प्लाक्षम्।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'प्लक्षादि' प्रातिपदिकों से फल के 'विकार' और 'अवयव' की विवक्षा होने पर 'अण्' प्रत्यय होता है"। विधान-सामर्थ्य से इस 'अण्' का "फले लुक्" (४-३-१६३) से 'लुक्' नहीं होता। **उदाहरण—प्लाक्षम्** (पाकर का विकार अथवा अङ्ग—प्लक्षस्य विकारः अवयवः वा)—प्लक्ष+अण्। आदिवृद्धि। अन्त्य-वर्णलोप।

(१५४३) **पद**—न्यग्रोधस्य, च, केवलस्य। **अनुवृत्ति**—न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधि-नियम-सूत्र**।

मूलार्थ—इसको वृद्धि न हो, किन्तु 'ऐच्' आगम हो। उदा० नैयग्रोधम्।

विवरण—वृद्धि-निषेध-प्रकरण में यह सूत्र पढ़ा गया है। अष्टाध्यायी-क्रम में "न य्वाभ्यां

७।३।५॥ अस्य न वृद्धिरैजागमश्च। नैयग्रोधम्। (१५४४) जम्ब्वा वा ४।३।१६५॥ जम्बूशब्दात्फलेऽण्वा स्यात्। जाम्बवम्। पक्षे ओरञ्, तस्य लुक्, जम्बु। (१५४५) लुप् च ४।३।१६६॥ जम्ब्वाः फलप्रत्ययस्य लुब्वा स्यात्। 'लुपि युक्तवत्–' (सू १२९४)। जम्ब्वाः फलं जम्बूः। 'फलपाकशुषामुपसङ्ख्यानम्'

व्युत्पत्तिपक्षे यद्यपि 'न य्वाभ्याम्' इत्येव सिद्धम्, यकारस्य पदान्तत्वात्। तथापि केवल-स्यैव इति नियमार्थं सूत्रम्। अव्युत्पत्तिपक्षे तु यकारस्य अपदान्तत्वात् विध्यर्थमेव। केवलस्य किम्? न्यग्रोधमूलाः शालयः।

(१५४४) जम्ब्वा वा। जम्ब्विति। जम्ब्वाः फलमित्यर्थः। अञो लुकि विशेष्यानु-सारेण नपुंसकत्वात् ह्रस्व इति भावः।

(१५४५) लुप् च। लुकैव सिद्धे लुब्विधेः फलमाह—लुपि युक्तवदिति। जम्बू-रिति। जम्ब्वाः फलमित्यर्थः। फलप्रत्ययस्य लुपि युक्तवत्त्वेन विशेष्यलिङ्गवचने बाधित्वा

पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" (७-३-३) के अनन्तर इस सूत्र का पाठ है। अतः 'न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्याम् ऐच्' अंश की प्रमुख अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके साथ ही 'वृद्धि-विधायक सूत्र' "तद्धितेष्वचामादेः" (७-२-११७) की अनुवृत्ति भी वृद्धि-निवारण के लिये आवश्यक है। शेष तत्सम्बन्धी आधिकारिक अनुवृत्तियाँ भी अनुवर्तमान हैं। सबके साथ एकवाक्यता होकर सूत्र से यह विदित होता है कि "केवल 'न्यग्रोध' शब्द के अचों में आदि 'अच्' को वृद्धि नहीं होती, किन्तु उसके 'य्' से पूर्व को 'ऐ' आगम तो अवश्य हो"। **उदाहरण—नैयग्रोधम्** (बड़ का विकार या अवयव—न्यग्रोधस्य विकारः अवयवः वा)—न्यग्रोध+अण् (प्लक्षादि होने से) > न्-ऐ-यग्रोध्+अ ('ऐच्' आगम) > नैयग्रोधम्। अन्त्य-लोप। विभक्तिकार्य।

विशेष—'न्यक् रोहति' इस व्युत्पत्ति-पक्ष में यद्यपि "न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्०" (७-३-३) सूत्र से भी 'पदान्त यकार के पूर्व में 'ऐच्' आगम प्राप्त रहा, तो भी केवल 'न्यग्रोध'—शब्द के सन्दर्भ में इस सूत्र की उपयोगिता नियमार्थ मानी गई है। जिसके फल-स्वरूप पदान्तर-सहित न्यग्रोध शब्द को वृद्धि-निषेध नहीं होता। अव्युत्पत्ति-पक्ष में तो 'य्' के अपदान्त होने से यह सूत्र उपयोगी है।

(१५४४) पद—जम्ब्वाः, वा। **अनुवृत्ति**—अण्, फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'जम्बू' शब्द से फल अर्थ में विकल्प से 'अण्' हो। उदा० जाम्बवम्। पक्ष में "ओरञ्" से 'अञ्' तथा उसका लोप–जम्बु।

विवरण—"षष्ठ्यन्त 'जम्बू' प्रातिपदिक से 'विकार' तथा 'अवयव' अर्थों में 'फल' अभिधेय होने पर 'अण्' प्रत्यय होता है"। विधान-सामर्थ्य से यहाँ पर भी उस 'अण्' का "फले लुक्" (४-३-१५७) से लोप नहीं होता। किन्तु पक्ष में हुए 'अञ्' का लोप होकर दूसरा रूप 'जम्बु' निष्पन्न होगा। **उदाहरण—जाम्बवम्** (जामुन का फल)—जम्बू+अण् > जम्बो+अ ("ओर्गुणः" ६-४-१४६) > जाम्बवम् (अवादेश तथा आदिवृद्धि एवम् नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा-एक वचन)। पक्ष में—जम्बु ('अञ्' प्रत्यय होकर उसका लोप—जम्बू+अञ् > जम्बू > जम्बु फलम्←"ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४८)।

(१५४५) पद—लुप्, च। **अनुवृत्ति**—जम्ब्वाः वाः, फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'जम्बू' शब्द से फलार्थ-प्रत्यय का विकल्प से लोप हो। "लुपि युक्तवत्०" से युक्त-वद्भाव होकर जम्ब्वाः फलम्—जम्बूः। वा० फल पक्व होने से सूखने पर तद्वाचक शब्दों से भी

(वा २९४९)। व्रीहयः। मुद्गाः। 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' (वा २९५०)। मल्लिकायाः पुष्पं मल्लिका। जात्याः पुष्पं जाती। विदार्या मूलं विदारी। बहुलग्रहणान्नेह—पाटलानि पुष्पाणि, साल्वानि मूलानि। बाहुलकात्क्वचिल्लुक्—अशोकम्, करवीरम्।

स्त्रीत्वमेकवचनं चेत्यर्थः। तथा च जम्ब्वाः फलान्यपि जम्बूरेव। फलपाकेति। फलपाकेन शुष्यन्तीति फलपाकशुषः ओषधयः, तद्वाचिभ्यः परस्य फलप्रत्ययस्य लुप् उपसङ्ख्यानमित्यर्थः। 'फले लुक्' इत्यस्यापवादः। व्रीहय इति। व्रीह्याख्यानामोषधीनां फलानीत्यर्थः। एवं मुद्गाः। बिल्वाद्यणो लुप्। युक्तवद्भावात्पुंस्त्वम्, न तु विशेष्यनिघ्नत्वम्। पुष्पमूलेषु बहुलमिति। वार्तिकमिदम्। विकारावयवप्रत्ययस्य लुप् स्यादिति शेषः। पुष्पं मल्लिकेति। 'अथ द्वितीयं प्रागीषात्' इत्यनुवृत्तौ 'मादीनां च' इति फिट्सूत्रेण मध्योदात्तो मल्लिकाशब्दः। ततः 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञो लुप्। युक्तवत्त्वात्स्त्रीत्वम्। जातीति। 'लघावन्ते' इत्यन्तोदात्तो जातिशब्दः। ततः 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञोऽनेन लुप्। युक्तवत्त्वात्स्त्रीत्वम्। विदारीति। जातिङीषन्तमिदं प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तम्। अनुदात्तादित्वादञ् तस्य लुप्, युक्तवत्त्वात्स्त्रीत्वम्। पाटलानीति। बिल्वादित्वादण्। एवं साल्वानि। ननु अशोकस्य पुष्पम् अशोकं, करवीरस्य पुष्पं करवीरम् इत्यत्रापि 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' इति लुपि युक्तवत्त्वात् पुंस्त्वे अशोकः पुष्पं, करवीरः पुष्पमिति स्यादित्यत आह—बहुलग्रहणात् क्वचिल्लुगिति। तथा च युक्तवत्त्वस्याप्रवृत्तेः विशेष्यनिघ्नत्वमेवेति भावः।

कहा जाय। उदा० १—व्रीहयः। २–मुद्गाः। वा० पुष्प एवं मूल (जड़) वाच्य रहने पर विकल्प से लोप हो। उदा० १—मल्लिकायाः पुष्पं→मल्लिका। २—जात्याः पुष्पं→जाती। ३–विदार्याः मूलं→ विदारी। १—पाटलानि पुष्पाणि। २—साल्वानि मूलानि। 'बहुल' ग्रहण करने से यहाँ नहीं हुआ अर्थात् कहीं-कहीं लोप होता भी है। जैसे—१—अशोकम्। २—करवीरम्।

विवरण—पूर्व सूत्र "जम्ब्वाः वा" (४-३-१६५) का विषय है। अतः उद्देश्यवाची पद 'जम्ब्वाः' की अनुवृत्ति वहीं से आ रही है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "षष्ठी-समर्थ 'जम्बू' प्रातिपदिक से फल अभिधेय होने पर विकारावयव अर्थों में विहित प्रत्यय का लोप भी होता है"।

यहाँ यह **स्मरणीय** है कि 'अण्' प्रत्यय का तो विधान-सामर्थ्य से लोप नहीं होगा। पूर्व सूत्र "जम्ब्वाः वा" (४-३-१६५) से विहित पाक्षिक 'अञ्' का ही विकल्प से 'लुप्' (लोप) होता है। तथा दूसरे पक्ष में "फले लुक्" (४-३-१६३) से 'लुक्' होगा। 'लुप्' और 'लुक्' में यही भेद है कि 'लुप्' होने पर "लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने" (१-२-५१) से युक्तवद्भाव होकर फलार्थक 'जम्बू' शब्द भी स्त्री-लिङ्ग ही रहता है—अतः जम्बूः (फलं) रूप का प्रयोग होता है। पर 'लुक्' करने पर युक्तवद्भाव (पूर्ववत् लिङ्ग-वचन) नहीं हुआ। तब अभिधेय के अनुसार नपुंसकलिङ्ग होकर "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" (१-२-४७) से ह्रस्व होने पर 'जम्बु फलम्' प्रयोग होता है।

प्रकृत सन्दर्भ में कुछ वार्तिक प्रस्तुत किये जा रहे हैं। तदनुसार प्रथम वार्तिक से यह सूचित किया गया है कि "फल के पकने पर सूख जाने वाले धान्यवाची शब्दों से विहित फलार्थक प्रत्यय का लुप् (लोप) हो"। "फले लुक्" (४-३-१६३) का यह अपवाद है। उदाहरण—(१) व्रीहयः (धान—व्रीहीणां फलानि)—व्रीहि+अण् ("बिल्वादिभ्योऽण्" ४-३-१३६) > व्रीहि ('फलपाकशुषामुपसंख्यानम्' वा० से लुप्) > व्रीहयः (युक्तवद्भाव होने से विशेष्य-लिङ्ग-वचनता को बाधकर प्रकृति के समान लिङ्ग-वचन (स्त्री-लिङ्ग बहुवचन) होते हैं। (२) मुद्गाः

(१५४६) हरीतक्यादिभ्यश्च ४ । ३ । १६७ ॥ एभ्यः फलप्रत्ययस्य लुप्स्यात् । 'हरीतक्यादीनां लिङ्गमेव प्रकृतिवत्' । हरीतक्याः फलानि–हरीतक्यः । **(१५४७) कंसीय-**

(१५४६) हरीतक्यादिभ्यश्च । हरीतक्यादीनामिति । वार्तिकमिदम् । एषां प्रकृतिलिङ्गमेव लुप्प्रत्ययार्थे अतिदिश्यते, न तु प्रकृतिवचनमपीत्यर्थः । हरीतक्य इति । जातिङीषन्तः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो हरीतकीशब्दः । ततोऽनुदात्तादित्वादञि तस्य 'फले लुक्' इति लुकि प्राप्ते, लुपि युक्तवत्त्वात्स्त्रीत्वे, विशेष्यानुरोधात् बहुवचनम् ।

(मूँग–मुद्गानां फलानि)—मुद्ग+अण् । पूर्ववत् 'अण्' का 'लुप्' । तथा युक्तवद्भाव से पुंस्त्व तथा बहुवचन । दूसरे वार्तिक द्वारा यह बताया गया है कि 'पुष्प और मूल अर्थ में विकारावयवार्थक प्रत्यय का प्रायः 'लुप्' होता है' । **उदाहरण**—पुष्पवाचक (१) **मल्लिका** (मोंगरे का फूल—मल्लिकायाः पुष्पम्) (२) **जाती** (चमेली का फूल—जात्याः पुष्पम्) । तथा मूलवाचक (३) **विदारी** (विदारीकन्द—बिदार्याः मूलम्) । इन तीनों में "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) से आगत 'अञ्' का प्रकृत वार्तिक से 'लुप्' हुआ तथा युक्तवद्भाव से यथाप्रकृति लिङ्ग वचन हुए[1] ।

विशेष—'बहुल' ग्रहण के फलस्वरूप **पाटलानि** पुष्पाणि (गुलाब का फूल) तथा **साल्वानि** मूलानि (साल की जड़) में क्रमशः "बिल्वादिभ्योऽण्" (४-३-१३६) तथा "अनुदात्तादेश्च" (४-३-१४०) से आगत 'अण्' और 'अञ्' का 'लुप्' नहीं हुआ । 'बहुल' शब्द अनेकार्थक होने से **अशोकम्** (अशोक का फूल) तथा **करवीरम्** (कनेल का फूल) में प्रत्यय का लुक् हुआ । अतः युक्तवद्भाव की प्रवृत्ति न होने से 'पुष्प' को अभिलक्षित कर विशेष्यानुसारि लिङ्ग (नपुंसक लिङ्ग) हुआ (न कि 'अशोकः पुष्पम्' अथवा 'करवीरः पुष्पम्') ।

(१५४६) पद—हरीतक्यादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—लुप्, फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे परवर्ती फल-प्रत्यय का 'लुप्' हो । हरीतकी-आदि का लिङ्ग ही प्रकृतिवत् होता है । उदा० हरीतक्याः फलानि→हरीतक्यः ।

विवरण—फलवाची 'लुप्' का ही विषय चल रहा है । अतः विधेयाभिधेयी 'लुप्' की अनुवृत्ति ("लुप् च" ४-३-१६६) प्रमुख रूप में अपेक्षित है । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ 'हरीतकी' आदि प्रातिपदिकों से 'विकारावयव' अर्थों में विहित प्रत्यय का फल अभिधेय होने पर भी 'लुप्' (लोप) होता है" । **उदाहरण—हरीतक्यः** (हर्रे अथवा उसका अवयव—हरीतक्याः फलानि अवयवः वा)—हरीतकी+अण् (←"अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः" ४-३-१३५) ▷ हरीतकी ('अण्' का लुप्) । यहाँ पर "फले लुक्" (४-३-१६२) से 'लुक्' प्राप्त रहा, किन्तु 'लुप्' विधान करने का फल यह हुआ कि "लुपि युक्तवद् व्यक्ति-वचने" (१-२-५१) से युक्तवद्भाव हो जाय तथा जात्यर्थक स्त्री-प्रत्यय 'ङीष्' का "लुक् तद्धितलुकि" (१-२-४९) से 'लुक्' न हो । अतः हरीतकी आदि शब्दों में केवल लिङ्ग ही प्रकृति के समान होता है । किन्तु वचन 'विशेष्य' (फलानि) के अनुसार बहुवचन रहा । इसका नियामक **वार्तिक** 'हरीतक्यादिषु व्यक्तिः' पहले शैषिक प्रकरण में "विशेषणानां चा जातेः (१-२-५२) सूत्र (१३००) में देखें ।

विशेष—'हरीतकी' शब्द प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त है । अतः अनुदात्तादि होने के कारण 'अञ्' प्रत्यय का "फले लुक्" (४-३-१६२) से 'लुक्' प्राप्त रहा । उसका बाधक यह सूत्र है ।

---

१. **'मल्लिका'** शब्द 'मादीनां च' (५३) इस फिट् सूत्र के अनुसार मध्योदात्त होने से अनुदात्तादि है । जाती शब्द ङीषन्त (गौरादि) होने के कारण अन्तोदात्त होने से अनुदात्तादि है । **विदारी** शब्द 'ङीष्' प्रत्ययान्त ("जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" ४-१-६३) होने के कारण प्रत्यय-स्वर-निमित्तक अन्तोदात्त होने से अनुदात्तादि है ।

परशव्ययोर्यञञौ लुक्च ४ । ३ । १६८ ।। कंसीयपरशव्यशब्दाभ्यां यञञौ स्तश्छयतोश्च लुक् । कंसाय हितं कंसीयम् । तस्य विकारः कांस्यम् । परशवे हितं परशव्यम्, तस्य विकारः पारशवः ।

इति तद्धिते चतुर्थस्य तृतीयपादे प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम् ।



(१५४७) कंसीयपरशव्य । अत्र यञञोर्न लुक्, विधिवैयर्थ्यात् । नापि प्रकृत्योः, प्रत्ययादर्शनस्यैव लुक्त्वात् । अतः परिशेषात् प्रकृत्येकदेशयोः छयतोरिति लभ्यते तदाह— छयतोरिति । कंसीयमिति । कंसो नाम धातुर्लोहविशेषः । तस्मै हितमिति छः । कांस्यमिति । कंसीयशब्दात् यञि छस्य लुकि आदिवृद्धौ 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । परशव्यमिति । 'तस्मै हितम्' इत्यधिकारे 'उगवादिभ्यो यत्' इति यति ओर्गुणे, 'वान्तो यि' इत्यवादेशः । पारशव इति । परशव्यशब्दादञि यतो लुकि ओर्गुणे पारशवः । 'हलस्तद्धितस्य' इति तु न, ईतीत्यनुवृत्तेः । अनपत्यत्वात् 'आपत्यस्य च' इत्यपि लोपो न प्रसज्यत इति भावः ।

इति तद्धिते चतुर्थस्य तृतीयपादे प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम् ।

(१२४७) पद—कंसीय-परशव्ययोः, यञञौ, लुक्, च । **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'कंसीय' और 'परशव्य' शब्दों से 'यञ्' और 'अञ्' हो तथा 'छ' और 'यत्' का 'लुक्' हो । हितार्थ में 'कंस' शब्द से 'छ' प्रत्यय करने पर 'कंसीय' शब्द है । उदा० १—कंसीयस्य विकारः→ कांस्यम् । परशु से हितार्थ में 'यत्' प्रत्यय होने पर परशव्य शब्द है । २—परशव्यस्य विकारः →पारशवः ।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'कंसीय' और 'परशव्य' प्रातिपदिकों से 'विकार' अर्थ में क्रमशः (यथासंख्य) 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय होते हैं । तथा प्रत्यय के साथ साथ 'कंसीय' तथा 'परशव्य' शब्दों के मौलिक प्रत्यय का 'लुक्' भी होता है" । 'कंस' शब्द धातु (काँसा) का वाचक है । उससे हितार्थ में 'छ' (=ईय) प्रत्यय करने पर 'कंसीय' शब्द निष्पन्न होता है । इसी तरह 'परशु' (कुल्हाड़ी) से हितार्थ में ही "उगवादिभ्यो यत्" (५-१-२) से यत् प्रत्यय होने पर 'परशव्य' शब्द सिद्ध होता है । यद्यपि 'कंसीय-परशव्ययोः' शब्द सूत्र में षष्ठ्यन्त प्रयुक्त है, तथाऽपि यहाँ 'लुक्' कहने पर 'छ' और 'यत्' प्रत्यय का ही 'लुक्' समझना चाहिये, न कि 'कंसीय' तथा 'परशव्य' शब्दों का । कारण यह है कि "प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः" (१-१-६०) सूत्र में प्रत्यय के अदर्शन की ही 'लुक्' संज्ञा बतलाई है । अतः प्रत्यय का ही लुक् होगा । तदनुसार 'कंसीय' में 'छ' (=ईय) का लुक् कर लेने पर 'कंस' पद से यञ् प्रत्यय (कंस+य) आने पर आदिवृद्धि तथा अन्त्यलोप ("यस्येति च" ६-४-१४८) होकर **कांस्यम्** ←रूप (**उदाहरण**) होता है । अर्थ—काँसे का बना हुआ—कंसीयस्य विकारः) । इसी प्रकार (२) पारशवः में भी 'परशु' से विहित 'यत्' प्रत्यय का 'लुक्' करने पर 'परशु' से 'अञ्' प्रत्यय होता है । "ओर्गुणः" (६-४-१४६) से 'उ' को गुण होकर अवादेश एवम् आदिवृद्धि कार्य होने पर उक्त रूप सिद्ध होता है । अर्थ—लोहे का बना हुआ—परशव्यस्य विकारः ।

'दीपिका' टीका में प्राग्दीव्यतीय-प्रकरण समाप्त ।



अथ तद्धिते प्राग्वहतीयप्रकरणम्

(१५४८) प्राग्वहतेष्ठक् ४ । ४ । १ ॥ तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते । 'तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा २१५१)। मा शब्दं कार्षीः इति य आह स

अथ चतुर्थस्य चतुर्थः पादः प्रारभ्यते—(१५४८) प्राग्वहतेष्ठक् । वहतीत्येकदेशेन 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति सूत्रं परामृश्यते इत्यभिप्रेत्याह—तद्वहतीत्यत इति । तदाहेति । इति शब्दो व्युत्क्रमेण तच्छब्दानन्तरं द्रष्टव्यः । तदित्याहेत्यर्थे माशब्द-स्वागत इत्यादिशब्देभ्यः ठक् उपसङ्ख्यानमित्यन्वयः । तदित्यनेन वाक्यार्थो विवक्षितः । इतिशब्दस्तस्य वाक्यार्थस्य कर्मत्वं गमयति । 'मा शब्दं कार्षीः' इत्याहेत्याद्यर्थे तद्वाक्यावयवात् 'माशब्द' इत्यादिशब्दात् ठगिति यावत् । मा शब्दं कार्षीः इति आह—स माशब्दिक इति । शब्दं मा कार्षीरित्यन्वयः । 'माङि लुङ्' इति लोडर्थे लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमनिषेधः । शब्दं न कुरु इत्यर्थः । अत्र आहेति ब्रूञ्धात्वर्थव्यक्तवचनक्रियां प्रति मा शब्दं कार्षीरिति वाक्यार्थः कर्म । तद्वाक्यैकदेशः माशब्देति समुदायः । तस्मान्निर्विभक्तिकादयं प्रत्ययः । न हि माशब्देति समुदायाद्विभक्तिरस्ति । एवञ्च माशब्देति समुदायाट्ठकि माशब्दिक इति रूपम् । 'मा शब्दः कारि' इति पाठे तु कारीति कर्मणि लुङ् । शब्दो न

प्रकरण-सङ्गति—अष्टाध्यायी-क्रमान्तर्गत चतुर्थाध्याय के तीसरे चरण में वर्णित प्रत्ययों का प्रतिपादक प्राग्दीव्यतीय प्रकरण समाप्त होकर अब चतुर्थाध्याय के चतुर्थ चरण में निरूपित प्रत्ययों के सन्दर्भ में प्राग्वहतीय प्रकरण आरम्भ होता है। यह प्रकरण "तद्वहति रथ-युग-प्रासङ्गम्" (४-४-७६) सूत्र से पूर्व तक प्रभावी है।

(१५४८) पद—प्राक्, वहतेः, ठक्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ—"तद्वहति०" से पूर्व तक 'ठक्' का अधिकार है। वा० 'वह कहता है' अर्थ में 'माशब्द' आदि से भी कहा जाय। उदा० 'माशब्दः कारि'—यह जिसने कहा वह—माशब्दिकः।

विवरण—यह अधिकार-सूत्र है। इसकी सीमा बतलाई जा रही है। सूत्र में 'वहति' एकदेशीय निर्देश है। इससे "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्" (४-४-७६) का ग्रहण होता है। अतः सूत्र का यह अर्थ होगा कि "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्" (४-४-७६) सूत्र के पहले तक 'ठक्' प्रत्यय होता है"। अर्थात् "वहाँ तक जो अर्थ निर्दिष्ट किए गए हैं, उन अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। अपवाद-सूत्रों को छोड़कर औत्सर्गिक सूत्रों में सर्वत्र इसकी ही प्रवृत्ति होगी। अतः वहाँ इसकी अनुवृत्ति दिखाई जायगी।

इस सन्दर्भ में एक **वार्तिक** प्रस्तुत किया जा रहा है। जिसके अनुसार "वह कहता है (तद् आह) इस अर्थ में 'माशब्द' आदि प्रकृतिरूप वाक्यांश से ही 'ठक्' प्रत्यय के विधान की व्यवस्था की गई है"। **उदाहरण—माशब्दिकः** ('मत बोलो' कहने वाला—मा शब्दः कारि इति य आह सः)—माशब्द+ठ (ठक्) > माशब्द्+इक (ठ = इक) > माशब्दिकः ('किति च' ७-२-११८ आदिवृद्धि, अन्त्यलोप एवं विभक्तिकार्य)।

विशेष—वार्तिक में विहित प्रत्यय का विधान वाक्य से ही माना गया है। अर्थात् 'आवाज न की जाय' (शब्दः मा कारि)—इस प्रकार मना करने वाला व्यक्ति 'माशब्दिक' पद-वाच्य होगा। प्रातिपदिक न होने के कारण 'वाक्य' से द्वितीया नहीं होती। अतः 'तद्' शब्द कर्म-मात्र का निर्देशक है और वह वाक्यार्थ के रूप में माना जाता है। 'कारि' = कर्मवाच्य में 'लुङ्' लकार का रूप है। 'माङ्' के योग में 'अट्' आगम नहीं हुआ।

माशब्दिकः। (१५४९) स्वागतादीनां च ७।३।७॥ ऐज्न स्यात्। स्वागत-मित्याह स्वागतिकः। स्वाध्वरिकः। स्वाङ्गस्यापत्यं स्वाङ्गिः। व्यङ्गस्यापत्यं व्याङ्गिः। व्यडस्यापत्यं व्याडिः। व्यवहारेण चरति व्यावहारिकः। स्वपतौ साधु स्वापतेयम्। 'आहौ प्रभूतादिभ्यः' (वा २९५२)। प्रभूतमाह—प्राभूतिकः। पार्याप्तिकः। 'पृच्छतौ

कार्यं इत्यर्थः। न च तदाहेत्यर्थे माशब्दादिभ्यः ठगिति यथाश्रुतम् अभ्युपगम्य माशब्द-माहेत्याद्यर्थे माशब्देत्यादिशब्देभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः ठगित्येव कुतो न व्याख्यायत इति वाच्यम्, एवं सति 'आहौ प्रभूतादिभ्यः' इत्युत्तरवार्तिकारम्भवैयर्थ्यापत्तेरिति भावः। स्वागतादिगणे स्वागत, स्वध्वर इति पठितम्, तत्र विशेषमाह—

(१५४९) स्वागतादीनां च। 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' इति प्रकरणे 'न कर्मव्यतिहारे' इत्यस्मादुत्तरं सूत्रमिदम्। ऐज्न स्यादिति। शेषपूरणमिदम्। 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' इति प्राप्तः ऐज न स्यादित्यर्थः। स्वाध्वरिक इति। स्वध्वर इत्याहेत्यर्थः। अथ स्वागतादिगणशेषमुदाहरति—स्वाङ्गस्येति। व्याङ्गि-रिति। व्यङ्गस्यापत्यमिति विग्रहः। व्यडस्येति। न विद्यते डो यस्य सः अडः, विगतः अडः व्यडः। स्वापतेयमिति। 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्'। द्वारादित्वादैच् प्राप्तो निषिध्यते। आहाविति। आहेति पदैकदेशादिकारस्य उच्चारणार्थो तदिति पूर्ववार्तिकादनुवर्तते। आहेत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः प्रभूतादिभ्यष्ठग्वाच्य इत्यर्थः। पार्याप्तिक इति। पर्याप्तमाहेत्यर्थः।

शङ्का-समाधान—माशब्दिकः आदि प्रयोगों की सिद्धि तो प्रकृत वार्तिक का शाब्दिक अर्थ स्वीकार करने पर भी सम्भव रही। वह इस प्रकार होगा—'तदाह' अर्थ अभिधेय होने पर 'माशब्द' आदि द्वितीयान्त प्रकृति से 'ठक्' प्रत्यय होता है"। तब तो अग्रिम सूत्रस्थ वार्तिक द्वारा 'आह' अर्थ में द्वितीयान्त प्रभूतादि शब्दों से 'ठक्' विधान व्यर्थ हो जायगा। अतः उस वार्तिक के विधान-सामर्थ्य से प्रकृत वार्तिक द्वारा 'वाक्य' से ही प्रत्यय-विधि स्वीकार की गई है। तदनुसार 'पदसमुदायो हि वाक्यम्' परिभाषा को मानकर 'मा' तथा 'शब्दः' इन दोनों पदों का समुदायात्मक रूप वाक्य 'माशब्द' माना गया है।

(१५४९) **पद**—स्वागतादीनां, च। **अनुवृत्ति**—न, अङ्गस्य। **विधि-(निषेध)-सूत्र**।

मूलार्थ—'ऐच्' आगम न हो। उदा० १-'स्वागतम्' इति आह—स्वागतिकः। २-स्वाध्वरिकः। ३-स्वङ्गस्य अपत्यं→स्वाङ्गिः। ४-व्यङ्गस्य अपत्यं→व्याङ्गिः। ५-व्यडस्य अपत्यं→व्याडिः। ६-व्यवहारेण चरति→व्यावहारिकः। ७-स्वपतौ साधु→स्वापतेयम्। वा० 'आह' अर्थ में प्रभूतादि से 'ठक्' हो। उदा० १—प्रभूतम् आह—प्राभूतिकः। २—पार्याप्तिकः। वा० सुस्नातादि से 'पृच्छति' अर्थ में 'ठक्' हो। उदा० १—सुस्नातं पृच्छति—सौस्नातिकः। २—सौखशायनिकः। अनुशतिकादि गण में पठित हैं। वा० परदारादि शब्दों से 'गच्छति' अर्थ में 'ठक्' हो। उदा० १—पारदारिकः। २—गौरुतल्पिकः।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। तद्धित-प्रकरणस्थ वृद्धि-निषेध (किन्तु 'ऐच्' आगम) सप्तमाध्याय के तृतीय पाद में वर्णित है। उसका प्रमुख सूत्र है—"न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" (७-३-३)। उस प्रकरण में "न कर्मव्यतिहारे" (७-३-६) सूत्र द्वारा 'कर्मव्यतिहार' अर्थ में 'ऐच्' आगम एवम् वृद्धि-निषेध नहीं होते। अतः 'वृद्धि' होती है। उसी के बाद यह सूत्र पढ़ा गया है। तदनुसार "'स्वागत' आदि शब्दों को भी 'ऐच्' आगम का निषेध एवं वृद्धि-निषेध का निषेध होगा"। इसके फलस्वरूप "किति च" (७-२-११८) से आदि-अच्-वृद्धि हो जायगी। 'स्वागत' तथा 'स्वधर' शब्द स्वागतादि-गण में पठित हैं। इस प्रसङ्ग में आगे एक वार्तिक दिया जा रहा है। जिसके अनुसार "आह (अर्थात् कहता है) अर्थ में द्वितीयान्त 'प्रभूत'

सुस्नातादिभ्यः' (वा २९५३)। 'सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः। सौखशायनिकः। अनुशतिकादिः। 'गच्छतौ परदारादिभ्यः' (वा २९५४)। पारदारिकः। गौरुतल्पिकः। (१५५०) तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४।४।२॥ अक्षै-

---

पृच्छताविति। तदित्यनुवर्तते। पृच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः सुस्नातादिभ्यः ठग्वाच्य इत्यर्थः। सौखशायनिक इति। सुखशयनं पृच्छतीत्यर्थः। अनुशतिकादिरिति। सुखशयनशब्द इति शेषः। ततश्च 'अनुशतिकादीनां च' इति पूर्वोत्तरपदयोरादिवृद्धिरिति भावः। गच्छताविति। तदित्यनुवर्तते। गच्छतीत्यर्थे परदारादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः ठगित्यर्थः। पारदारिक इति। परदारान्गच्छतीत्यर्थः। गौरुतल्पिक इति। गुरुतल्पं गच्छतीत्यर्थः। गुरुतल्पो गुरुस्त्री।

(१५५०) तेन दीव्यति खनति जयति जितम्। तेन दीव्यति, तेन खनति, तेन

आदि शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय होता है"। अतः (१) स्वागत+ठक् > स्वागत्+इक > स्वागतिकः ("स्वागत" कहने वाला—'स्वागतम्' इति आह सः—ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप)। तथा (२) स्वाध्वरिकः ("उत्तम यज्ञ" कहने वाला—स्वध्वरम् इति आह सः-स्वध्वर+ठक्)—ये दो रूप निष्पन्न होते हैं। स्वागतादि के अन्य उदाहरण—(३) स्वाङ्गिः (स्वङ्ग का पुत्र—स्वङ्गस्य अपत्यम्—स्वङ्ग+इञ्, (४) व्याङ्गिः (व्यङ्ग का पुत्र—व्यङ्गस्यापत्यम्)—व्यङ्ग+इञ् तथा (५) व्याडिः (व्यड का पुत्र—व्यडस्यापत्यं व्याडिः) भी हैं। इन तीनों में भी 'ऐच्' आगम का निषेध हो गया। (६) व्यावहारिकः (व्यवहार जानने वाला—व्यवहारेण चरति—व्यवहार्+ठक्) में प्राप्त 'ऐच्' आगम को बाधकर आदिवृद्धि हुई। (७) स्वापतेयम् (धन—स्वपतौ साधु—स्वपति+ढञ्→"पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" ४-४-१०४) में "द्वारादीनां च" (७-३-४) से प्राप्त 'ऐच्' आगम का निषेध होकर आदिवृद्धि हुई।

वार्तिकों की श्रृङ्खला में वही कहा जा रहा है कि "'आह' अर्थात् कहता है—इस अर्थ में द्वितीया-समर्थ प्रभूतादि प्रातिपदिकों से 'ठक्' प्रत्यय हो"। वार्तिक में 'आहौ'—शब्द का प्रयोग 'आहेति' पद के पदैकदेश से 'इ' (आहेति = आह+इति) का उच्चारणार्थ निर्देश पूर्वपठित वार्तिक 'तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्' से अनुवर्तमान है। इसके २ उदाहरण दिये जा रहे हैं—(१) प्राभूतिकः ('बहुत' कहने वाला—प्रभूतम् इति आह सः→प्रभूत+ठक्) तथा (२) पार्याप्तिकः ('पर्याप्त' कहने वाला—पर्याप्तम् इति आह सः→पर्याप्त+ठक्)। दोनों स्थलों में यथाप्राप्त—इकादेश, आदिवृद्धि तथा 'अन्त्य' लोप—आदि कार्य होते हैं। इसके अनन्तर पुनः दूसरे वार्तिक द्वारा "पृच्छति" अर्थात् पूछता है अर्थ में द्वितीयान्त 'सुस्नातादि' से 'ठक्' प्रत्यय का विधान बतलाया गया है"। तदनुसार सौस्नातिकः ('तुमने अच्छी तरह स्नान कर लिया' यह पूछने वाला—सुस्नातं पृच्छति य आह सः→सुस्नात्+ठक् (=इक) होकर "अनुशतिकादीनां च" (७-३-२०) से उभयपदवृद्धि होती है) तथा (२) सौखशायनिकः ('तुम अच्छी तरह सोये' यह पूछने वाला—सुखशयनं पृच्छति य आह सः→सुखशयन+ठक् (= इक) तथा उभयपदवृद्धि आदि)—ये दो उदाहरण दिये गए हैं। इसी प्रसङ्ग में अन्तिम वार्तिक द्वारा "द्वितीयान्त परदारादि शब्दों से 'गच्छति' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय का विधान कहा गया है"। अतः (१) पारदारिकः (परस्त्री से सम्बन्ध रखने वाला—परदारान् गच्छति→परदार्+ठक् = इक, आदिवृद्धि तथा अन्त्यलोप आदि कार्य) तथा (२) गौरुतल्पिकः (गुरुपत्नी से सम्बन्ध रखने वाला—गुरुतल्पं गच्छति→गुरुतल्प्+ठक्)—शब्द निष्पन्न होते हैं।

(१५५०) पद—तेन, दीव्यति, खनति, जयति, जितम्। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

र्दीव्यति आक्षिकः। अभ्र्या खनति आभ्रिकः। अक्षैर्जयति आक्षिकः। अक्षैर्जितमाक्षिकम्। (१५५१) संस्कृतम् ४।४।३॥ दध्ना संस्कृतं दाधिकम्। मारीचिकम्। (१५५२) कुलत्थकोपधादण् ४।४।४॥ ठकोऽपवादः। कुलत्थैः संस्कृतं कौल-

---

जयति, तेन जितम्—इति विग्रहेषु तृतीयान्ताट्ठगित्यर्थः। अभ्रिः कुद्दालः। देवदत्तेन जितमित्यत्र तु न ठक्। करणतृतीयान्तादेव तद्विधेः।

(१५५१) संस्कृतम्। तेनेत्येव। संस्कृतमित्यर्थे तृतीयान्ताट्ठगित्यर्थः। 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यत्र तु सप्तम्यन्तादणादिविधिः। मारीचिकमिति। मरीचिभिः संस्कृतमित्यर्थः।

(१५५२) कुलत्थकोपधादण्। संस्कृतमित्यर्थे तृतीयान्तादिति शेषः। तैत्तिडीकमिति। तित्तिडीकेन संस्कृतमित्यर्थः।

मूलार्थ—उदा० १–अक्षैः दीव्यति→आक्षिकः। २–अभ्र्या खनति→आभ्रिकः। ३–अक्षैः जयति→आक्षिकः। ४–अक्षैः जितम्→आक्षिकम्।

विवरण—सूत्रस्थ 'तेन' पद 'तृतीया'-विभक्ति का सूचक है। अनुवतमान 'प्रातिपदिकात्' (४-१-२) पद का विशेषण होने से तदन्त-विधि होने के फलस्वरूप तृतीयान्त अर्थ की प्रतीति होगी। 'दीव्यति' आदि पद अर्थ-निर्देशक हैं। "प्राग्वहतेष्ठक्" ४-४-१ का अधिकार भी प्रभावी है। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'खेलता' है, 'खोदता है', 'जीतता है' तथा 'जीता हुआ'—इन चार अर्थों में तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **आक्षिकः** (पासों से खेलता है—अक्षैः दीव्यति)–अक्ष+ठ (ठक्)>अक्ष्+इक > आक्षिकः। (२) **आभ्रिकः** (लकड़ी की कुदाली से खोदने वाला—अभ्र्या खनति) अभ्रि+ठक् (=इक)। (३) **आक्षिकः** (पासों से जीतता है—अक्षैः जयति)—अक्ष+ठक्। (४) **आक्षिकम्** (पासों से जीता गया—अक्षैः जितम्)—अक्ष+ठक्। सर्वत्र 'ठ'=इक, आदिवृद्धि तथा 'अन्त्य' लोप।

(१५५१) पद—संस्कृतम्। **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १–दध्ना संस्कृतम्→दाधिकम्। २–मारीचिकम्।

विवरण—सूत्रस्थ 'संस्कृतम्' पद अर्थ-निर्देशक है। अनुवर्तमान 'तेन' (४-१-२) तथा 'ठक्' (४-१-१)—दोनों पद क्रमशः 'उद्देश्य' एवं 'विधेय' की पूर्ति करते हैं। अतः "तृतीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'संस्कार किया हुआ' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होगा"। **उदाहरण**—(१) **दाधिकम्** (दही से संस्कार किया हुआ–दध्ना संस्कृतम्→दधि+ठक्, तथा (२) **मारीचिकम्** (काली मिर्चों से बघारा हुआ—मरीचिभिः संस्कृतम्)→ मरीचि+ठक्। यथाप्राप्त ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अन्त्य'लोप आदि कार्य होंगे।

(१५५२) पद—कुलत्थ-कोपधात्, अण्। **अनुवृत्ति**—संस्कृतम्, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'ठक्' का अपवाद है। उदा०–कुलत्थैः संस्कृतम् १.→कौलत्थम्। २–तैत्तिडीकम्।

विवरण—पूर्व सूत्र (४-१-३) से अनुवर्तमान 'संस्कृतम्' पद अर्थ-निर्देशक है। तथा 'तेन' पद 'उद्देश्य' वाची का विशेषण है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "तृतीयान्त 'कुलत्थ' शब्द तथा 'ककारोपध' शब्दों से 'संस्कृतम्' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो"। इस प्रकार यह औत्सर्गिक 'ठक्' का अपवाद है। **उदाहरण**—(१) **कौलत्थम्** (कुलथी से स्वादिष्ट बनाया

त्यम्। तैत्तिडीकम्। (१५५३) तरति ४।४।५॥ उडुपेन तरति औडुपिकः। (१५५४) गोपुच्छाट्ठञ् ४।४।६॥ गौपुच्छिकः। (१५५५) नौद्व्यचष्ठन् ४।४।७॥ नाविकः। घटिकः। बाहुभ्यां तरति बाहुका स्त्री। (१५५६) चरति

(१५५३) तरति। तरतीत्यर्थे तृतीयान्ताट्ठगित्यर्थः।

(१५५४) गोपुच्छाट्ठञ्। तरतीत्यर्थे तृतीयान्तादिति शेषः।

(१५५५) नौद्व्यचष्ठन्। ठनिति च्छेदः। ष्टुत्वकृतः सस्य षकारः। तरतीत्यर्थे नौशब्दात् द्व्यचश्च तृतीयान्तात् ठनित्यर्थः। नाविक इति। नावा तरतीत्यर्थः। घटिक इति। घटेन तरतीत्यर्थः। बाहुका स्त्रीति। उकः परत्वात् ठस्य कः। अदन्तत्वाट्टाप्।

गया—'कुलत्थैः संस्कृतम्)—कुलत्थ+अ (अण्)। (२) तैत्तिडीकम्। (इमली से स्वादिष्ट बनाया गया—तित्तिडीकया संस्कृतम्)—तित्तिडीका+अ (अण्)।

(१५५३) पद—तरति। अनुवृत्ति—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० उडुपेन तरति→औडुपिकः।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिये उल्लिखित अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। अर्थ-निर्देशक 'तरति' पद सूत्र में विद्यमान है। अतः "तृतीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'तैरता है' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—औडुपिकः (छोटी नाव से तैरता है—उडुपेन तरति)—उडुप+ठ (ठक्) > उडुप्+इक (ठ=इक) ▷ औडुपिकः (आदिवृद्धि, 'अन्त्य'-वर्ण-लोप)।

(१५५४) पद—गोपुच्छात्, ठञ्। अनुवृत्ति—तरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० गौपुच्छिकः।

विवरण—'तरति' अर्थ का विषय है। 'विधेय' प्रत्यय 'ठञ्' है। अतः "तृतीया-समर्थ 'गोपुच्छ' प्रातिपदिक से 'तरति' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—गौपुच्छिकः (गाय की पूँछ से पार होता है—गोपुच्छेन तरति)—गोपुच्छ+ठ (ठक्) > गोपुच्छ्+इक> गौपुच्छिकः। 'ठक्' और 'ठञ्' में निष्पन्न रूप रचना की दृष्टि से समान हैं, तथाऽपि 'स्वरभेद' के कारण 'ठञ्' विधान किया गया है।

(१५५५) पद—नौद्व्यचः, ठन्। अनुवृत्ति—तरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १-नाविकः। २-(क) घटिकः। (ख) बाहुभ्यां तरति→बाहुका (स्त्री)।

विवरण—'तरति' का ही विषय है। 'विधेय' प्रत्यय 'ठन्' है। अतः "तृतीया-समर्थ 'नौ' शब्द तथा 'दो अच्वाले' प्रातिपदिकों से 'तरति' अर्थ में 'ठन्' प्रत्यय होता है"। यह विधान भी 'ठक्' का अपवाद है। इसके दो प्रयोजन हैं—(१) 'न्' इत् होने से 'वृद्धि' का न होना तथा (२) आद्युदात्त स्वर का होना। क्रमशः—उदाहरण-(१) नाविकः (नाव से पार करता है—नावा तरति)—नौ+ठ (ठन्)▷नौ+इक (ठ=इक)▷नाविकः (औ=आव्)। दो-अच्वाले शब्द (२) क-घटिकः (घड़े से पार होता है—घटेन तरति)—घट+ठन्। (ख) बाहुका स्त्री (बाहों से तैरने वाली स्त्री—बाहुभ्यां तरति)—बाहु+ठ (ठन्) ▷ बाहु+क (ठ=क—"इसुसुक्तान्तात् कः" ७-३-५१ ▷ बाहुका (स्त्री-लिङ्ग में 'टाप्' एवं विभक्ति-कार्य)।

१. पर्वतीय प्रदेश में 'कुलत्थ' प्रचुरता से पाया जाता है। कूर्माचलीय भाषा में 'गहत' नाम से प्रसिद्ध है। पेट की पथरी में इसका उपयोग किया जाता है।

४।४।८॥ तृतीयान्ताद् गच्छतिभक्षयतीत्यर्थयोष्ठक्स्यात्। हस्तिना चरति हास्तिकः। शाकटिकः। दध्ना भक्षयति दाधिकः। (१५५७) आकर्षात्ष्ठल् ४।४।९॥ आकर्षो निकषोपलः। आकषात् इति पाठान्तरम्। तेन चरति आकर्षिकः। षित्वान्ङीष्। आकर्षिकी। (१५५८) पर्पादिभ्यः ष्ठन् ४।४।१०॥ पर्पेण चरति पर्पिकः। पर्पिकी।

(१५५६) चरति। गच्छति भक्षयतीति। 'चर गतिभक्षणयोः' इति चरधातोरर्थद्वये वृत्तेरिति भावः। हास्तिक इति। ठञि इके 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः।

(१५५७) आकर्षात्ष्ठल। तेन चरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्य इति शेषः।

(१५५८) षित्वं ङीषर्थमित्याह—पर्पिकीति। अश्विक इति। अश्वेन चरतीत्यर्थः।

(१५५६) पद—चरति। **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त से 'जाता है' तथा 'खाता है'—इन दो अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय हो। उदा० १—क-हस्तिना चरति→हास्तिकः। ख-शाकटिकः। २—दध्ना भक्षयति→दाधिकः।

विवरण—सूत्रस्थ 'चरति' पद अर्थ का निर्देशक है। शेष प्राकरणिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। √चर धातु का प्रयोग 'खाना' तथा 'जाना' दोनों अर्थों में होता है। अतः सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—"तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'जाता है' तथा 'खाता है'—इन दो अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। गच्छति अर्थ के दो **उदाहरण**—(१) क-**हास्तिकः** (हाथी द्वारा चलता है—हस्तिना चरति)—हस्तिन्+ठ (ठक्) > हस्तिन्+इक (ठ = इक) > हस्त्+इक ('टि'लोप) > हास्तिकः (आदिवृद्धि एवं विभक्ति-कार्य)। (ख) **शाकटिकः** (सग्गड़ द्वारा जाता है—शकटेन गच्छति)—शकट्+ठक्। अन्त्यलोप, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य। (२) भक्षणार्थ में—**दाधिकः** (दही से खाने वाला)—दधि+ठक् (= इक)। आदि-वृद्धि, अन्त्यलोप।

(१५५७) पद—आकर्षात्, ष्ठल्। **अनुवृत्ति**—चरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कसौटी का पत्थर 'आकर्ष' है। अन्यत्र 'आकषात्' पाठ है। उस के साथ चलने वाला—आकर्षिकः।

विवरण—'चरति' अर्थ का ही विषय है। सोने चाँदी की 'कसौटी' का पत्थर 'आकर्ष' कहलाता है। अतः "तृतीयान्त 'आकर्ष' प्रातिपदिक से 'चरति' अर्थ में 'ष्ठल्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**आकर्षिकः** (कसौटी को साथ लेकर चलने वाला—आकर्षेण चरति)—आकर्ष+ठ (ष्ठल्) (ठ=इक)। स्त्री-लिङ्ग मे—**आकर्षिकी** (कसौटी को साथ लेकर चलने वाली स्त्री—आकर्षेण चरति स्त्री)। यहाँ 'ष्' इत्-संज्ञक होने के कारण स्त्री-लिङ्ग में "षिद्गौरादिभ्यश्च" (४-१-४१) से 'ङीष्' (आकर्षिक+ई) होता है।

(१५५८) पद—पर्पादिभ्यः, ष्ठन्। **अनुवृत्ति**—चरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १–पर्पेण चरति→पर्पिकः। स्त्रीलिङ्ग में—पर्पिकी। पंगु को चलने में सहारा देने वाली लकड़ी 'पर्प' है। २–अश्विकः। ३–रथिकः।

विवरण—"'चरति' अर्थ को अभिलक्षित कर तृतीया-समर्थ पर्पादि प्रातिपदिकों से 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) पर्पिकः (पंगु को सहारा देने वाली लकड़ी से चलने वाला—पर्पेण चरति)—पर्प्+ष्ठन् (ठ = इक)। स्त्रीलिङ्ग में पूर्ववत् ङीष्–पर्पिकी।

येन पीठेन पङ्गवश्चरन्ति स पर्पः। अश्विकः। रथिकः। (१५५९) श्वगणाट्ठञ् च ४।४।११॥ चात्छन्। (१५६०) श्वादेरिञि ७।३।८॥ ऐज्न। श्वभस्त्रस्यापत्यं श्वाभस्त्रिः। श्वादंष्ट्रिः। तदादिविधौ चेदमेव ज्ञापकम्। इकारादाविति वाच्यम्' (वा ४५१२)। श्वगणेन चरति—श्वागणिकः-श्वागणिकी। श्वगणिकः-श्वगणिकी।

(१५५९) श्वगणाट्ठञ् च। उक्तविषये इति शेषः। श्वगणशब्दात्तृतीयान्ताच्चरतीत्यर्थे ठञ्। छन् च स्यादित्यर्थः। श्वागणिक इत्युदाहरणं वक्ष्यति। तत्र श्वन्शब्दस्य द्वारादित्वादैजागमे प्राप्ते।

(१५६०) श्वादेरिञि। 'न कर्मव्यतिहारे' इत्यतो नेत्यनुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। श्वन्शब्दः आदिर्यस्येति विग्रहः। श्वन्शब्दपूर्वपदस्याङ्गस्य इञि परे नैजागम इत्यर्थः। श्वाभस्त्रिरिति। अत इञ्। श्वादंष्ट्रिरिति। श्वदंष्ट्रस्यापत्यमित्यर्थः। ननु श्वन्शब्द एव द्वारादौ पठ्यते, न तु श्वभस्त्रशब्दः। ततश्च तस्य द्वारादित्वाभावादैजागमप्रसक्तिरेव नेत्यत आह—तदादिविधाविति। द्वारादिगणे श्वन्शब्दस्य पाठेऽपि अस्मादेव

विशेष—इस ठगधिकार में सरलता से यह ज्ञात नहीं होता कि कौन सा ठक् प्रत्यय 'ष्'—इत्संज्ञक है और कौन सा नहीं ? कारण यह है कि संहिता-पाठ में (सन्धि करने पर) सामीप्य के कारण स्पष्ट नहीं होता कि कहाँ सन्धिजन्य 'ष्' है तथा कहाँ स्वतन्त्र। अतः 'ष्'—इत्संज्ञक प्रत्ययों का स्पष्टीकरण महाभाष्य में इस कारिका द्वारा दिया गया है—

"आकर्षात्पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च।
आवसथात् किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे"॥

तदनुसार (१) "आकर्षात् ष्ठल्" (४-४-९), (२) "पर्पादिभ्यः ष्ठन्" (४-४-१०), (३) "भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्" (४-४-१६) (४) "कुसीद-दशैकादशात् ष्ठन्-ष्ठचौ" (४-४-३१), (५) "आवसथात् ष्ठल्" (४-४-७४) तथा (६) किसरादिभ्यः ष्ठन्" (४-४-५३)—ये छह सूत्र विधिवाक्य के रूप में ठगधिकार के अन्तर्गत 'ष्'—'इत्' प्रत्ययों के स्वरूप को दिखाते हैं। यद्यपि "कुसीद-दशैकादशात् ष्ठन्-ष्ठचौ" (४-४-३१) सूत्र में दो प्रत्ययों का निर्देश होने से 'सात' कहना उचित था, तथापि सूत्रसंख्या (विधिवाक्य) की दृष्टि से 'छह' संख्या कही गई है।

(१५५९) पद—श्वगणात्, ठञ्, च। **अनुवृत्ति**—छन्, चरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'च' (के निवेश) से 'छन्' भी हो।

विवरण—'चरति' का ही विषय है। सूत्रस्थ 'च' शब्द पूर्वसूत्रोक्त 'छन्' प्रत्यय का अनुकर्षण करता है। उदाहरण आगे दिया जायगा। अतः तृतीयान्त 'श्वगण' से दोनों प्रत्यय होंगे।

(१५६०) पद—श्वादेः, इञि। **अनुवृत्ति**—न, अङ्गस्य। **विधि-(निषेध)-सूत्र।**

मूलार्थ—'ऐच्' (आगम) न (हो)। उदा० १-श्वभस्त्रस्य अपत्यं→श्वाभस्त्रिः। २-श्वादंष्ट्रिः। तदादि विधि में यही ज्ञापक है। वा० ('इञ्' न कहकर) इकारादि प्रत्यय परे रहते 'ऐच्' नहीं होता—यह कहा जाय। उदा० १-(क) श्वगणेन चरति→श्वागणिकः। श्वागणिकी स्त्रीलिङ्ग में। (ख) श्वगणिकः—श्वगणिकी।

विवरण—सप्तमाध्यायस्थ प्रासङ्गिक यह सूत्र 'ऐच्' निषेध के सन्दर्भ में उद्धृत किया जा रहा है। 'ऐच्' निषेध का संकेत अष्टाध्यायी-क्रम में इससे दो सूत्र पूर्व "न कर्मव्यतिहारे" (७-३-६) सूत्रस्थ 'न' पद की अनुवृत्ति से मिलता है। "अङ्गस्य" का आधिकारिक प्रभाव भी विद्यमान है। अतः "'श्वन्' आदि में है जिसके ('श्वा' आदिः यस्य सः, तस्य) ऐसे अङ्ग को 'इञ्' प्रत्यय परवर्ती होने पर जो कुछ पहले कहा है, वह नहीं होता"। 'श्वन्' शब्द का द्वारादि-गण मे पाठ

(१५६१) पदान्तस्यान्यतरस्याम् ७ । ३ । ९ ॥ श्वादेरङ्गस्य पदशब्दान्तस्यैज् वा । श्वापदस्येदं श्वापदम्—शौवापदम् । **(१५६२) वेतनादिभ्यो जीवति ४ । ४ । १२ ॥**

प्रतिषेधात् श्वन्शब्दपूर्वकस्याङ्गस्य द्वारादिगणे ग्रहणं विज्ञायत इत्यर्थः । तत्फलं तु श्ववहनस्येदं शौवहनं नाम नगरम् । ननु प्रकृते श्वागणिके इञभावात्कथमयं निषेध इत्यत आह—इकारादाविति वाच्यमिति । इञीति परित्यज्य इकारादाविति वाच्यमित्यर्थः । इञि तु व्यपदेशिवत्त्वेन इकारादित्वम् । श्वागणिक इति । ठञि आदिवृद्धि. । श्वगणिक इति—ष्ठनि रूपम् । श्वागणिकीति । ठञन्तात् 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इति ङीप् । श्वगणिकीति । षित्त्वात् ङीष् ।

(१५६१) प्रसङ्गादाह—पदान्तस्यान्यतरस्याम् । 'श्वादेरिञि' इत्यस्मादुत्तरं सूत्रमिदम् । पदं पदशब्दः अन्तो यस्येति विग्रहः । तदाह—पदशब्दान्तस्येति । ऐज्वेति । निषेधविकल्पे सति विधिविकल्पः फलित इति भावः । श्वापदस्येति । शुनः पदमिव पदं यस्येति विग्रहः । 'शुनो दन्तदंष्ट्रा' इत्यादिना दीर्घः । शौवापदस्येति । 'तस्येदम्' इत्यण् । 'वृद्धाच्छः' इति तु न, अनभिधानादित्याहुः । अन्ये तु श्वपुच्छवद्दीर्घाभावे अणमाहुः ।

होने से "द्वारादीनां च" (७-३-४) सूत्र से 'ऐच्' आगम की प्राप्ति रही । तद्वारणार्थ यह सूत्र है । **उदाहरण**—श्वाभस्त्रिः (श्वभस्त्र की सन्तान—श्वभस्त्रस्य अपत्यम्)—श्वभस्त्र+इञ् । आदिवृद्धि तथा 'अन्त्य' लोप । इस सन्दर्भ में यह शङ्का उपस्थित होती है कि 'द्वारादिगण' में तो 'श्वन्' का पाठ है न कि 'श्वभस्त्र' का । ऐसी स्थिति में 'ऐच्' आगम को प्राप्ति की सम्भावना न होने से इस सूत्र की क्या आवश्यकता है ? अतः यह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'द्वारादिगण'-पठित शब्दों में तदादि-विधि भी है । इस प्रकार श्वभस्त्रादि शब्दों में 'ऐच्' निषेध के लिये इस सूत्र की चरितार्थता है ।

इस तदादि-विधि को अभिलक्षित कर वार्तिक-कार ने प्रकृत-सूत्रस्थ 'इञि' पद को केवल 'इञ्' प्रत्यय तक ही सीमित नहीं रहने दिया । किन्तु "श्वःदेरिति" पढ़ने से तदादिविधि होने पर 'इ'कारादि तद्धित-प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया है । तदनुसार इकारादि तद्धित प्रत्यय परे रहते 'श्वादि' शब्दों को 'ऐच्' आगम नहीं होगा । इसके फलस्वरूप उत्सर्ग-शास्त्र के उदाहरणों में भी 'ऐच्' नहीं होता । (१) श्वागणिकः (कुत्तों को लेकर चलने वाला—श्वगणेन चरति) —> श्वगण+ठञ् । ठ=इक । आदिवृद्धि । स्त्रीलिङ्ग में श्वागणिकी ←ङीप्—"टिड्ढाणञ्०" (४-१-१५) । पक्ष में 'ष्ठन्' होने पर आदि-वृद्धि नहीं होगी (ख) श्वगणिकः । स्त्रीलिङ्ग में 'षित्' होने से ङीष्—>श्वगणिकी (कुत्तों को साथ लेकर चलने वाली महिला—श्वगणेन चरति या स्त्री) ।

(१५६१) पद—पदान्तस्य, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—न, श्वादेः, अङ्गस्य । **विधि-(विकल्प)-सूत्र** ।

मूलार्थ—श्वाद्यङ्गावयव-पद-शब्दान्त को 'ऐच्' आगम विकल्प से हो । उदा० श्वापदस्य इदम्—>श्वापदम्—शौवापदम् ।

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है । पूर्व सूत्र की तरह स्थल-विशेष में वैकल्पिक विधान बतलाया जा रहा है । सूत्रस्थ 'पद' शब्द स्वरूप-परक है । अतः 'पदान्तस्य' शब्द का विग्रह इस प्रकार है—"'पद' शब्दः अन्तः यस्य, तस्य" । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'श्वादि' शब्द पूर्वक 'पद' शब्दान्त अङ्ग को विकल्प से 'ऐच्' आगम होता है" । अर्थात् निषेध-विकल्प होते हुए 'विधि-विकल्प' सिद्ध होता है । **उदाहरण**—(क) श्वापदम्—>'ऐच्' का निषेध होने पर आदि वृद्धि । (ख) शौवापदम्←"ऐच्' आगम होने पर । **अर्थ**—हिंसकपशुसम्बन्धी—श्वापदस्य इदम् । **पूर्व प्रक्रिया**—शुनः पदम् इव पदं यस्य—श्वापदः । ततः श्वा-पद+अण् ('श्वपद'

वेतनेन जीवति वैतनिकः । धानुष्कः । (१५६३) वस्नक्रयविक्रयाट्ठन् ४ । ४ । १३ ॥ वस्नेन मूल्येन जीवति वास्निकः । क्रयविक्रयग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थम् । क्रयविक्रयिकः–क्रयिकः–विक्रयिकः । (१५६४) आयुधाच्छ च ४ । ४ । १४ । चाट्ठन् । आयुधेन

(१५६२) वेतनादिभ्यो जीवति । जीवतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यः ठञिति शेषः । वैतनिक इति । वेतनेन जीवतीत्यर्थः । धानुष्क इति । धनुषा जीवतीत्यर्थः । उसन्तात्परत्वाट्ठस्य कः । 'इणः षः' इति षत्वम् ।

(१५६३) वस्नक्रयविक्रयाट्ठन् । जीवतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यो वस्नादिभ्यः ठन् स्यादित्यर्थः । सङ्घातविगृहीतार्थमिति । व्याख्यानादिति भावः ।

(१५६४) आयुधाच्छ च । जीवतीत्यर्थे तृतीयान्तात् आयुधशब्दात् छः स्यात् ठन् चेत्यर्थः ।

शब्द में समास तथा 'न्' लोप होने पर "शुनो दन्तदंष्ट्रा०" (वा०) से दीर्घ) । 'श्वापद' शब्द में दीर्घजन्य 'आ' होने पर भी "वृद्धाच्छः" (४-२-११४) से 'छ' प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि कृत, तद्धित तथा समास ये तीनों अभिधान-लक्षण माने गए हैं ।[1]

(१५६२) पद—वेतनादिभ्यः, जीवति । **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० वेतनेन जीवति→ १–वैतनिकः । २–धानुष्कः ।

विवरण—यह प्राकरणिक सूत्र है । सूत्र में अर्थ-निर्देशक पद है—'जीवति' । पूर्वानुवृत्त 'तेन' पद तृतीया-समर्थ का द्योतक है । अतः "तृतीया-समर्थ वेतन-आदि प्रातिपदिकों से 'जीता है' (जीवति) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **वैतनिकः** (वेतन लेकर निर्वाह करने वाला—वेतनेन जीवति)—वेतन्+ठक् (ठ=इक) । आदिवृद्धि, अन्त्य-लोप । (२) **धानुष्कः** (धनुष से निर्वाह करने वाला—धनुषा जीवति)—धनुष्+ठ (ठ=क) । आदिवृद्धि ।

(१५६३) पद—वस्न-क्रय-विक्रयात्, ठन् । **अनुवृत्ति**—जीवति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० वस्नेन = मूल्येन जीवति→ १–वस्निकः । सूत्रस्थ 'क्रयविक्रय' पद समुदाय एवं पृथगर्थ-परक है । अतः २–क्रयविक्रयिकः, ३–क्रयिकः तथा ४–विक्रयिकः रूप भी बनेंगे ।

विवरण—'जीवति' अर्थ का ही विषय है । अतः पूर्व सूत्र (४-४-१२) से प्रमुख रूप में उसकी अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार "तृतीया-समर्थ 'वस्न' तथा 'क्रय-विक्रय' प्रातिपदिकों से 'जीवति' अर्थ में 'ठन्' प्रत्यय होता है" । **क्रय-विक्रय** शब्द समस्त तथा पृथक्-विगृहीत शब्दों का भी बोधक है, अतः उन अवस्थाओं में भी 'ठन्' प्रत्यय होगा । **उदाहरण**—(१) **वस्निकः** (पूँजी लगाकर निर्वाह करने वाला-वस्नेन जीवति)—वस्न्+ठन् (ठ=इक) । 'अन्त्य' लोप । (२) **क्रयविक्रयिकः** (खरीदने और बेचने से निर्वाह करने वाला—क्रय-विक्रयाभ्यां जीवति)—क्रयविक्रय्+ठन् (ठ=इक) । 'अन्त्य' लोप । (३) **क्रयिकः** (खरीदने से निर्वाह करने वाला—क्रयेण जीवति)—क्रय्+ठन् (ठ=इक) । अन्त्यलोप । (३) **विक्रयिकः** (बेचकर निर्वाह करने वाला—विक्रयेण जीवति)—विक्रय्+ठन् (ठ=इक) । अन्त्यलोप ।

(१५६४) पद—आयुधात्, छ, च । **अनुवृत्ति**—ठन्, जीवति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० आयुधीयः—आयुधिकः ।

---

१. "अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः" इत्युक्तेः अनभिधानात् 'छोऽभावे अण्'-इति नागेशः ।

जीवति आयुधीयः-आयुधिकः। (१५६५) हरत्युत्सङ्गादिभ्यः ४।४।१५॥ उत्सङ्गेन हरत्यौत्सङ्गिकः। (१५६६) भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् ४।४।१६॥ भस्त्रया हरति भस्त्रिकः। षित्त्वात् भस्त्रिकी। (१५६७) विभाषा विवधात् ४।४।१७॥ विवधेन हरति विवधिकः। पक्षे ठक्। वैवधिकः। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद्वीवधादपि ष्ठन्। वीवधिकः, वीवधिकी। विवधवीवधशब्दौ उभयतो बद्धशिक्ये स्कन्धवाह्ये काष्ठे

(१५६५) हरत्युत्सङ्गादिभ्यः। हरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यः उत्सङ्गादिभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः।

(१५६६) भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्। ष्ठनिति छेदः। हरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यो भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् स्यादित्यर्थः। षित्त्वादिति। ङीष् इति शेषः।

(१५६७) विभाषा विवधात्। हरतीत्यर्थे तृतीयान्तात् ष्ठनिति शेषः।

विवरण—'जीवति' अर्थ का ही सातत्य है। सूत्रस्थ 'छ' पद लुप्त-प्रथमान्त है। तृतीयान्त "'आयुध' शब्द से 'जीवति' अर्थ में 'छ' तथा 'ठन्' प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(क) आयुधीयः→ 'छ' प्रत्यय होने पर (छ = ईय)। अन्त्यलोप। (ख) आयुधिकः ←'ठन्' प्रत्यय होने पर (ठ = इक)। अन्त्यलोप। **अर्थ**—शस्त्र से जीविका चलाने वाला—आयुधेन जीवति।

(१५६५) पद—हरति, उत्सङ्गादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—ठक्, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० उत्सङ्गेन हरति→औत्सङ्गिकः।

विवरण—'उत्सङ्ग' अर्थ का विषय आरम्भ होता है। आधिकारिक एवम् प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। अतः "तृतीया-समर्थ उत्सङ्ग-आदि प्रातिपदिकों से 'हरति' (= स्थानान्तर प्राप्त कराना) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—औत्सङ्गिकः (गोद में लेकर चलने वाला—उत्सङ्गेन हरति)—उत्सङ्ग+ठक् (ठ = इक)। अन्त्य-लोप एवम् आदिवृद्धि।

(१५६६) पद—भस्त्रादिभ्यः, ष्ठन्। **अनुवृत्ति**—हरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० भस्त्रया हरति→भस्त्रिकः। 'ष्' इत् होने से (स्त्रीलिङ्ग में) भस्त्रिकी।

विवरण—अनुवर्तमान 'हरति' (४-४-१५) अर्थ का ही विषय है। अतः "'भस्त्रा' आदि गण-पठित प्रातिपदिकों से 'हरति' अर्थ में 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है"। 'ष्ठन्' प्रत्यय 'ष्' इत्संज्ञक होने से स्त्री-लिङ्ग में "षिद्गौरादिभ्यश्च" (४-१-४१) से 'ङीष्' (= ई) प्रत्यय होगा। तदनुसार **उदाहरण**—(पुंलिङ्ग में)—**भस्त्रिकः** (मशक = भाथी से ले जाने वाला—भस्त्रया हरति)—भस्त्रा+ष्ठन् (ठ = इक)। स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होने पर→**भस्त्रिकी** रूप निष्पन्न होगा।

(१५६७) पद—विभाषा, विवधात्। **अनुवृत्ति**—हरति, ष्ठन्, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० विवधेन हरति→विवधिकः। पक्ष में ठक्—वैवधिकः।

विवरण—केवल 'विवध' शब्द से 'ष्ठन्' का वैकल्पिक प्रसङ्ग है। अतः "तृतीयान्त 'विवध' (या 'वीवध') शब्द से 'हरति' अर्थ में विकल्प से 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है"। 'विवध' शब्द का अर्थ है बँहगी—अर्थात् जिस काष्ठ के दोनों सिरों पर बोझ बाँध कर ढोया जाय। पक्ष में आधिकारिक 'ठक्' होने पर "किति च" (७-२-११८) से आदिवृद्धि होगी→ **वैवधिकः**। तथा 'ष्ठन्' होने पर आदि-वृद्धि नहीं→**विवधिकः**। दोनों में यही अन्तर है। **अर्थ**—बँहगी से ढोने वाला—विवधेन हरति।

वर्तते । (१५६८) अण् कुटिलिकायाः ४ । ४ । १८ ॥ कुटिलिका व्याधानां गतिविशेषः, कर्मारोपकरणभूतं लोहं च । कुटिलिकया हरति मृगानङ्गारान्वा कौटिलिको व्याधः कर्मारश्च । (१५६९) निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः ४ । ४ । १९ ॥ अक्षद्यूतेन निर्वृत्तमाक्षद्यूतिकं वैरम् । (१५७०) क्त्रेर्मम्नित्यम् ४ । ४ । २० ॥ क्त्रिप्रत्ययान्तप्रकृतिकात्तृतीयान्तान्निर्वृत्तेऽर्थे मप्स्यान्नित्यम् । कृत्या निर्वृत्तं कृत्रिमम् । पक्त्रिमम् । 'भावप्रत्यया-

---

(१५६८) अण् कुटिलिकायाः । हरतीत्यर्थे तृतीयान्तात् कुटिलिकाशब्दादण् स्यादित्यर्थः । कर्मारो लोहकारः । तस्य यत् अङ्गारतप्तलोहादिग्रहणसाधनं लोहविकारभूतं सन्दंशापरनामधेयं, तदपि कुटिलिकेत्यर्थः ।

(१५६९) निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः । निर्वृत्तमित्यर्थे तृतीयान्तेभ्योऽक्षद्यूतादिभ्यः ठगित्यर्थः ।

(१५७०) क्त्रेर्मम्नित्यम् । तेन निर्वृत्तमित्यर्थः । 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रिप्रत्ययान्तान्नित्यं मप्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इति महाविकल्पनिवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणम् । ततश्च अस्मिन्नर्थे मप्प्रत्ययं विना क्त्रिप्रत्ययान्तस्य प्रयोगो नेति भाष्ये स्पष्टम् । एवं चात्र अस्वपदविग्रहं दर्शयति— कृत्या निर्वृत्तमिति । अत्र विग्रहवाक्ये 'स्त्रियां क्तिन्'

(१५६८) पद—अण्, कुटिलकायाः । अनुवृत्ति—हरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—कुटिलिका का अर्थ है—व्याधों की टेढ़ी चाल अथवा लोहारों के आग आदि खेंचने की छड़ । उदा० कुटिलिकया मृगान्, अङ्गारान्, वा हरति→कौटिलिकः←व्याधः कर्मारः च ।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'कुटिलिका' शब्द से 'हरति' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है" । 'कुटिलिका' शब्द का अर्थ है—व्याध आदि की टेढ़ी चाल या लोहार आदि की सँड़सी । **उदाहरण**—**कौटिलिकः** (टेढ़ी चाल से शिकार करने वाला बहेलिया अथवा सँड़सी आदि से आग खींचने वाला लोहार—कुटिलिकया हरति)—कुटिलिक्̥ा+अण् । अन्त्य-लोप एवम् आदिवृद्धि ।

(१५६९) पद—निर्वृत्ते, अक्षद्यूतादिभ्यः । अनुवृत्ति—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्→आक्षद्यूतिकम् ←वैरम् ।

विवरण—'निर्वृत्तम्' अर्थ का प्रसङ्ग आरम्भ होता है । अतः "तृतीयासमर्थ 'अक्षद्यूत' आदि गणपठित शब्दों से 'उत्पन्न किया गया है' (निर्वृत्ते) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**आक्षद्यूतिकम्** वैरम् (जूए के द्वारा उत्पन्न हुआ वैर—अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्)—अक्षद्यूत्̥+ठक् (ठ=इक) 'अन्त्य' लोप तथा आदिवृद्धि ।

(१५७०) पद—क्त्रेः, मप्, नित्यम् । अनुवृत्ति—निर्वृत्ते, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—क्त्रि-प्रत्ययान्त-प्रकृतिक तृतीयान्त शब्दों से 'निर्वृत्त' अर्थ में नित्य 'मप्' प्रत्यय होता है । उदा० १—कृत्या निर्वृत्तम्→कृत्रिमम् । २—पक्त्रिमम् । वा० भावार्थक प्रत्ययान्त से 'इमप्' कहा जाय । उदा० पाकेन निर्वृत्तम्—१—पाकिमम् । २—त्यागिमम् ।

विवरण—अनुवर्तमान 'निर्वृत्त' अर्थ का ही प्रसङ्ग है । अन्य अनुवृत्तियाँ भी अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ 'क्त्रेः' पद कृदन्त प्रकरण में विधीयमान 'क्त्रि' प्रत्यय का बोधक है ("ड्वितः क्त्रिः" ३-३-८८) । तदनुसार "'क्त्रि'-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'निर्वृत्त' अर्थ में नित्य 'मप्' (=म) प्रत्यय होता है" । 'क्त्रि'-प्रत्ययान्त से 'मप्' प्रत्यय का विधान होने के कारण विग्रह वाक्य में

न्तादिमब्वक्तव्यः' (वा २९५९)। पाकेन निर्वृत्तं पाकिमम्। त्यागिमम्। (१५७१) **अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ ४।४।२१॥** अपमित्येति ल्यबन्तम्। अपमित्येन निर्वृत्तमापमित्यकम्। याचितेन निर्वृत्तं याचितकम्। (१५७२) **संसृष्टे ४।४।२२॥**

इति क्तिन्नन्तोऽयं कृतिशब्दः। कृत्रिममिति। 'डुकृञ् करणे' इति धातोः 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रिप्रत्ययान्तान्मप्। पक्त्रिममिति। पक्त्या निर्वृत्तमित्यस्वपदविग्रहः। 'डुपचष् पाके' इत्यस्मात्क्त्रिप्रत्ययान्तान्मप्। इमब्वक्तव्य इति। निर्वृत्तमित्यर्थे तृतीयान्ताद्दिति शेषः। अत्र नित्यमिति न सम्बध्यते इत्यभिप्रेत्य लौकिकस्वपदविग्रहं दर्शयति—पाकेन निर्वृत्तमिति।

(१५७१) अपमित्ययाचिताभ्याम्। ल्यबन्तमिति। 'मेङ् प्रणिदाने' इत्यस्माद् विनिमयार्थकात् 'उदीचां माङो व्यतीहारे' इति क्त्वाप्रत्यये गतिसमासे ल्यपि 'मयतेरिदन्यतरस्याम्' इति इत्वे 'ह्रस्वस्य पिति' इति तुगागमे अपमित्येत्यव्ययम्, 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इत्युक्तेरित्यर्थः। निर्वृत्तमित्यर्थे अपमित्येत्यव्ययात्प्रथमान्ताद्याचितशब्दाच्च तृतीयान्तात् कक् कन् च यथासङ्ख्यं स्यातामित्यर्थः। अपमित्येत्यंशे तृतीयान्तत्वासम्भवात् प्रथमान्तादिति लभ्यते।

'पक्त्या निर्वृत्तम्'—तत्समानार्थक 'क्तिन्' प्रत्ययान्त का प्रयोग जाना जाय। **उदाहरण**—(१) **पक्त्रिमम्** (पाक से बनने वाला-पक्त्या निर्वृत्तम्)—पच्+क्त्रि (त्रि) > पक्त्रि (च् = क् = "चोः कुः" ८-२-३०) ▷ पक्त्रि+म (मप्) ▷ पक्त्रिमम् (विभक्तिकार्य)। (२) **कृत्रिमम्** (नकली—कृत्या निर्वृत्तम्)—कृ+क्त्रि ▷कृत्रि ▷ कृत्रि+म ▷ कृत्रिमम्। अस्वपद-विग्रह है।

वार्तिक—"भावार्थक प्रत्ययान्त शब्दों से 'इमप्' (इम) प्रत्यय किया जाय"। इसके फलस्वरूप पच् धातु से 'घञ्' प्रत्ययान्त 'पाक' शब्द से इम (इमप्) प्रत्यय करने पर (१) **पाकिमम्** (पका हुआ) रूप निष्पन्न होगा। इसी प्रकार (२) **त्यागिमम्** (त्यागा हुआ—त्यागेन निर्वृत्तम्) भी जाना जाय। इस वार्तिक में 'नित्य' का सम्बन्ध नहीं है, अतः लौकिक स्वपद-विग्रह 'पाकेन निर्वृत्तम्' दिखाया गया है।

विशेष—"समर्थानां प्रथमाद्वा" (४-१-८२) द्वारा निर्दिष्ट महाविभाषा की निवृत्ति के लिये सूत्र में नित्य ग्रहण किया है। इसके फल-स्वरूप 'निर्वृत्त' अर्थ में 'मप्' प्रत्यय के बिना 'क्त्रि' प्रत्ययान्त-प्रयोग नहीं होता।

(१५७१) **पद**—अपमित्य-याचिताभ्याम्, कक्-कनौ। **अनुवृत्ति**—निर्वृत्ते, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अपमित्य' शब्द 'ल्यप्'-प्रत्ययान्त है। उदा० १—अपमित्येन निर्वृत्तम्→अपमित्यकम्। २—याचितेन निर्वृत्तम्→याचितकम्।

विवरण—दो उद्देश्यवाची पद हैं तथा दो ही विधेय प्रत्यय हैं। अतः "प्रथमा-समर्थ 'अपमित्य' तथा तृतीयासमर्थ 'याचित' प्रातिपदिकों से यथासंख्य—कक् (=क) तथा 'कन्' (=क)—प्रत्यय होते हैं"। सूत्रस्थ **अपमित्य** प्रकृति के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है कि—विनिमयार्थक √मेङ् धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय ("उदीचां माङो व्यतीहारे" ३-४-१९), आत्व, गति-समास तथा 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश एवम् 'मा' के 'आ' के स्थान पर ह्रस्व 'इ' ("मयतेरिदन्यतरस्याम्" ६-४-७०) तथा 'तुक्' आगम होने पर—ल्यबन्त अव्यय है। अतः 'अपमित्य' के साथ 'तृतीया-समर्थ' का अन्वय नहीं होगा। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **आपमित्यकम्** (जो ऋण जिस रूप में लिया जाय उसी रूप में चुका दिया जाय—अपमित्य निर्वृत्तम्)—अपमित्य+कक्

दध्ना संसृष्टं दाधिकम्। (१५७३) चूर्णादिनिः ४।४।२३॥ चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः। (१५७४) लवणाल्लुक् ४।४।२४॥ लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः। लवणं शाकम्। (१५७५) मुद्गादण् ४।४।२५॥ मौद्ग ओदनः। (१५७६) व्यञ्जनैरुपसिक्ते ४।४।२६॥ ठक्। दध्ना उपसिक्तं दाधिकम्। (१५७७) ओजः

(१५७२) संसृष्टे। संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्वात् ठक् इत्यर्थः।

(१५७३) चूर्णादिनिः। संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्तादिति शेषः।

(१५७४) लवणाल्लुक्। पूर्वसूत्रविहितस्येति शेषः।

(१५७५) मुद्गादण्। तेन संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्तादिति शेषः। मौद्ग ओदन इति। मुद्गैः संसृष्ट इत्यर्थः।

(१५७६) व्यञ्जनैरुपसिक्ते। उपसिक्तमित्यर्थे तृतीयान्तेभ्यो व्यञ्जनवाचिभ्य-

---

(=क) ▷ आपमित्यकम्। आदिवृद्धि। (२) याचितकम् (मँगनी की वस्तु, जो लौटाई न जाय—याचितेन निर्वृत्तम्)—याचित+क (कन्)।

(१५७२) पद—संसृष्टे। अनुवृत्ति—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० दध्ना संसृष्टम्→दाधिकम्।

विवरण—सूत्रस्थ 'संसृष्टे' पद अर्थनिर्देशक है। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। अतः "तृतीया-समर्थ प्रातिपदिकों से 'मिला हुआ' (संसृष्टे) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—दाधिकम् (दही मिला हुआ—दध्ना संसृष्टम्)—दधि̥+ठक्। इकादेश, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप।

(१५७३) पद—चूर्णात्, इनिः। अनुवृत्ति—संसृष्टे, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० चूर्णैः संसृष्टाः→चूर्णिनः←अपूपाः।

विवरण—'संसृष्टे' अर्थ का विषय है। तदनुसार "तृतीयान्त 'चूर्ण' शब्द से संसृष्ट' अर्थ में 'इनि' (=इन्) प्रत्यय होता है"। उदाहरण—चूर्णिनः अपूपाः (आटा मिले हुए पूए—चूर्णैः संसृष्टाः)—चूर्ण̥+इन्। अन्त्यलोप। प्रथमा बहुवचन।

(१५७४) पद—लवणात्, लुक्। अनुवृत्ति—संसृष्टे, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० लवणेन संसृष्टः→लवणः←सूपः।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'लवण' प्रातिपदिक से 'संसृष्ट अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का 'लुक्' (=लोप) होता है"। उदाहरण—लवणः सूपः (नमक मिली हुई दाल—लवणेन संसृष्टः)—लवण+ठ̥क् ▷ लवणः ("संसृष्टे" ४-४-२२ अर्थ में हुए 'ठक्' प्रत्यय का लोप, विभक्ति-कार्य।

(१५७५) पद—मुद्गात्, अण्। अनुवृत्ति—संसृष्टे, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'मुद्ग' प्रातिपदिक से 'संसृष्ट' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—मौद्गः ओदनः (मूँग मिला हुआ भात अथवा खिचड़ी—मुद्गैः संसृष्टः)—मुद्ग̥+अण्। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप।

(१५७६) पद—व्यञ्जनैः, उपसिक्ते। अनुवृत्ति—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधि-नियम-सूत्र।

सहोऽम्भसा वर्तते ४ । ४ । २७ ॥ ओजसा वर्तते औजसिकः शूरः । साहसिकश्चौरः । आम्भसिको मत्स्यः । **(१५७८) तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम् ४ । ४ । २८ ॥** द्वितीयान्तादस्माद्वर्तत इत्यस्मिन्नर्थे ठक्स्यात् । क्रियाविशेषणत्वाद् द्वितीया । प्रतीपं वर्तते प्रातीपिकः । आन्वीपिकः । प्रातिलोमिकः । आनुलोमिकः । प्रातिकूलिकः । आनुकूलिकः ।

छगित्यर्थः । सेचनेन मृदूकरणमुपसेकः । संसृष्ट इत्येव सिद्धे नियमार्थं सूत्रम् । व्यञ्जनवाचिभ्यः उपसिक्त एवेति । तेनेह न, सूपेन संसृष्टा स्थाली ।

(१५७७) ओजःसहो । वर्तते व्याप्रियते इत्यर्थे ओजस्, सहस्, अम्भस्, एभ्यः तृतीयान्तेभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः । औजसिक इति । ओजसा बलेन वर्तते, युद्धे व्याप्रियत इत्यर्थः । साहसिक इति । सहसा प्राणवियोगाभ्युपगमेन स्तेये व्याप्रियत इत्यर्थः । आम्भसिक इति । अम्भसा हेतुना सञ्चारे व्याप्रियत इत्यर्थः ।

(१५७८) तत्प्रत्यनुपूर्वं । तदिति द्वितीयान्तानुकरणम् । प्रत्यनुपूर्वेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः ईपलोमकूलशब्देभ्यः वर्तते इत्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः । ननु प्रतीपं वर्तते इत्यादिवक्ष्यमाण-

---

मूलार्थ—'ठक्' हो । उदा० दध्ना उपसिक्तम्→दाधिकम् ।

विवरण—सूत्रस्थ 'उपसिक्ते' पद अर्थ-निर्देशक है । उद्देश्य-वाची पद 'व्यञ्जनैः' है । यहाँ पर तृतीया-विभक्ति पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त है । अतः "तृतीयान्त व्यञ्जनवाची प्रातिपदिकों से 'ऊपर से डाला हुआ' (उपसिक्त) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—दाधिकम्** (दही में भिगाकर मुलायम बनाया हुआ—दध्ना उपसिक्तम्)—दधि+ठक् । 'संसृष्ट' अर्थ से ही इष्टसिद्धि सम्भव रही, अतः यह नियमन किया गया कि व्यञ्जन-वाची शब्दों से 'उपसिक्त' अर्थ में ही 'ठक्' प्रत्यय होता है, अन्यत्र नहीं । अतः 'सूपेन संसृष्टा स्थाली' में 'ठक्' नहीं हुआ ।

(१५७७) पद—ओजःसहोम्भसा, वर्तते । **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १–बल से युक्त अर्थ में→औजसिकः←शूरः । २–साहसिकः अर्थात् चोर । ३–आम्भसिकः अर्थात् मत्स्य ।

विवरण—सूत्रस्थ 'वर्तते' क्रियापद वर्तमान-कालिक सत्ता-विशेष का द्योतक है । उद्देश्य-वाची तीन पद सूत्र में विद्यमान हैं । शेष अनुवृत्तियाँ प्रकरणानुसार अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "तृतीया-समर्थ 'ओजस्', 'सहस्' तथा 'अम्भस्'—प्रातिपदिकों से 'वर्तते' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण** क्रमशः—(१) **औजसिकः शूरः** (शक्तिसम्पन्न वीर—ओजसा वर्तते)—ओजस्+ठक् > औजसिकः (ठ=इक तथा आदिवृद्धि) । (२) **साहसिकः चोरः** (हिम्मत बाँधे हुए चोर—सहसा वर्तते)—सहस्+ठक् । शेष कार्य पूर्ववत् । (३) **आम्भसिकः मत्स्यः** (जल में संचरण करने वाली मछली—अम्भसा वर्तते)—अम्भस्+ठक् । शेष कार्य पूर्ववत् ।

(१५७८) पद—तत्, प्रत्यनुपूर्वम्, ईपलोमकूलम् । **अनुवृत्ति**—वर्तते, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वितीयान्त इन शब्दों से 'वर्तते' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है । क्रियाविशेषण होने से द्वितीया विभक्ति हुई । उदा० १–प्रतीपं वर्तते→प्रातीपिकः । २–आन्वीपकः । ३–प्रातिलोमिकः । ४–आनुलोमिकः । ५–प्रातिकूलिकः । ६–आनुकूलिकः ।

विवरण—पूर्व सूत्र (४-४-२७) से अनुवर्तमान 'वर्तते' अर्थ का ही विषय है । सूत्रस्थ 'तत्' पद 'द्वितीया' विभक्ति-का निर्देशक है । अनुवर्तमान पदों के साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "द्वितीया-समर्थ (तत्) प्रति तथा अनुपूर्वक (प्रत्यनुपूर्वम्) 'ईप',

(१५७९) परिमुखं च ४ । ४ । २९ ॥ परिमुखं वर्तते पारिमुखिकः । चात् पारिपार्श्विकः । (१५८०) प्रयच्छति गर्ह्यम् ४ । ४ । ३० ॥ द्विगुणार्थं द्रव्यं द्विगुणम्,

---

विग्रहेषु वर्ततेरकर्मकत्वात् कथं द्वितीयेत्यत आह—क्रियाविशेषणत्वादिति । इदञ्च कारकनिरूपणे निरूपितम् । 'क्रियाविशेषणानां प्रथमान्तत्वमेव' इति तु शब्देन्दुशेखरे । प्रतीपमिति । प्रतिगताः आपो यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । 'ऋक्पूः' इत्यकारः समासान्तः । 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इति ईत्वम् । अनुगता आपो यस्मिन् तदन्वीपम् । 'ऊदनोर्देशे' इत्यूत्वं तु न, अदेशत्वात् । प्रतिकूलानुकूलशब्दपर्यायौ रूढौ । अवयवार्थेषु तु नाभिनिवेष्टव्यम् ।

(१५७९) परिमुखं च । अस्माद् द्वितीयान्तात् वर्तते इत्यर्थे ठगित्यर्थः । चादिति । चकारादनुक्तसमुच्चयार्थात् परिपार्श्वमित्यस्मादपि ठकि पारिपार्श्विक इति भवतीत्यर्थः । पारिमुखिक इत्यस्य यतो यतः स्वामिनो मुखं तत्र वर्तत इत्यर्थः । एवं पारिपार्श्विकः ।

(१५८०) प्रयच्छति गर्ह्यम् । तदिति द्वितीयान्तमनुवर्तते । गर्ह्यं प्रयच्छतीत्यर्थे

'लोम' तथा 'कूल' प्रातिपदिकों (ईपलोमकूलम्) से 'वर्तते' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हो" । यहाँ 'प्रतीप' आदि शब्द क्रियाविशेषण हैं । अकर्मक धातुओं से क्रिया-विशेषण कर्म के रूप में व्यवहृत होते हैं—'क्रियाविशेषणानाम् एकत्वं, कर्मत्वं, नपुंसकत्वं च' । इस प्रकार 'प्रतीपम्'-सम्बन्धी द्वितीया विभक्ति का साहचर्य 'वर्तते' से सम्भव होता है। **उदाहरण**—(१) **प्रातीपिकः** (प्रतिकूल रहने-वाला—प्रतीपं वर्तते)—प्रतीप्+ठक् (ठ = इक) । अन्त्यलोप, आदिवृद्धि । (२) **आन्वीपिकः** (अनुकूल रहने वाला—अन्वीपं वर्तते)—अन्वीप्+ठक् । (३) **प्रातिलोमिकः** (प्रतिकूल रहने वाला—प्रतिलोमं वर्तते)—प्रतिलोम+ठक् । (४) **आनुलोमिकः** (अनुकूल रहने वाला-अनुलोमं वर्तते)—अनुलोम+ठक् । (५) **प्रातिकूलिकः** (प्रतिकूल रहने वाला—प्रतिकूलं वर्तते)—प्रतिकूल्+ठक् । (६) **आनुकूलिकः** (अनुकूल रहने वाला—अनुकूलं वर्तते)—अनुकूल्+ठक् ।

विशेष—'प्रतीप' शब्द बहुव्रीहिसमास-परक है । प्रतिगताः आपः यस्मिन् तत् । समासान्त 'अ' प्रत्यय होने से 'अप्' शब्दावयव 'अ' के स्थान में 'ई' आदेश हुआ है—"द्व्यन्त-रुपसर्गेभ्योऽप ईत्" (६-१-९७) । इसी प्रकार 'अन्वीपम्' शब्द जाना जाय—अनुगताः आपः यस्मिन् तत् । देशवाची न होने से "ऊदनोर्देशे" (६-३-९८) से ऊकार नहीं होता । ये दोनों शब्द व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (अवयवार्थ) के द्योतक नहीं हैं, किन्तु प्रतिकूल और अनुकूल अर्थ में रूढ हैं ।

(१५७९) **पद**—परिमुखं, च । **अनुवृत्ति**—वर्तते, तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १–परिमुखं वर्तते→पारिमुखिकः । २–'च' ग्रहण करने से-पारिपार्श्विकः ।

विवरण—विभक्ति का निर्देश पूर्व सूत्र (४-४-२८) से अनुवर्तमान 'तत्' पद द्वारा हो रहा है । 'वर्तते' अर्थ का ही विषय है । अतः "द्वितीयान्त 'परिमुख' प्रातिपदिक से भी (च) 'वर्तते' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—पारिमुखिकः** (स्वामी के मुख के सामने रहने वाला—परिमुखं वर्तते)—परिमुख+ठक् । अन्त्यलोप, आदिवृद्धि ।

विशेष—कुछ व्याख्याताओं ने प्रकृत सूत्र में उच्चरित 'च' शब्द अनुक्त एवम् इष्टशब्दों का संग्राहक है—यह कल्पना की है । तदनुसार पारिपार्श्विकः (स्वामी के समीप रहने वाला सेवक—परिपार्श्वं वर्तते)—परिपार्श्व+ठक् ।

(१५८०) **पद**—प्रयच्छति, गर्ह्यम् । **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

तत्प्रयच्छति द्वैगुणिकः । त्रैगुणिकः । वृद्धेर्वृधुषिभावो वक्तव्यः' (वा २९६५)। वार्धुषिकः । (१५८१) कुसीददशैकादशात्ष्ठन्ष्ठचौ ४।४।३१ ।। गर्ह्यार्थाभ्यामाभ्यामेतौ स्तः प्रयच्छतीत्यर्थे । कुसीदं वृद्धिः, तदर्थं द्रव्यं कुसीदम्, तत्प्रयच्छतीति कुसीदिकः-कुसीदिकी । एकादशार्थत्वादेकादश । ते च ते । वस्तुतो दश चेति विग्रहेऽकारः समासान्त

द्वितीयान्ताट्ठगित्यर्थः । द्विगुणार्थं द्रव्यं द्विगुणमिति । द्वैगुणिक इति वक्ष्यमाणोदाहरणे द्विगुणशब्देन द्विगुणार्थं द्रव्यं विवक्षितमित्यर्थः । तत्प्रयच्छति द्वैगुणिक इति । द्विगुणीभवितुं स्वद्रव्यमृणं प्रयच्छतीत्यर्थः । 'अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सम्बन्धकः' इत्यादिधर्मशास्त्रविरुद्धत्वादिह गर्ह्यमिति भावः । वृद्धेरिति । वृद्धिशब्दात् उक्तार्थे ठकि प्रकृतेर्वृधुषि इत्यादेशो वाच्य इत्यर्थः । इकारान्त आदेशः । वार्धुषिक इति । वृद्ध्यर्थं द्रव्यं वृद्धिः, तत्प्रयच्छतीत्यर्थे वृद्धिशब्दात् ठकः इकादेशे प्रकृतेर्वृधुष्यादेश इति भावः । 'वृद्ध्याजीवस्तु वार्धुषिः' इति तु प्रमाद एव ।

(१५८१) कुसीद । गर्ह्यार्थाभ्यामाभ्यामिति । कुसीद, दशैकादश आभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां गर्ह्यार्थकाभ्यां प्रयच्छतीत्यर्थे क्रमात् ष्ठन्ष्ठचौ स्त इत्यर्थः । षित्त्वम् ङीषर्थमित्याह—कुसीदिकीति । नित्त्वचित्त्वयोस्तु स्वरे विशेषः । अथ ष्ठच्प्रकृतिं दशैकादशशब्दं व्युत्पादयति—एकादशार्थत्वादित्यादिना । यत्र एकादश निष्कान् अधिकान् प्रत्यर्पयेति समयं कृत्वा दश निष्काः ऋणत्वेन दीयन्ते, तत्र ऋणत्वेन गृहीता दश निष्काः एकादशार्थत्वात् एकादशशब्देन उपचर्यन्ते । ततश्च एकादश च ते दश चेति कर्मधारये 'सङ्ख्याया अल्पी-

---

मूलार्थ—उदा० १-दुगुना होने वाला द्रव्य 'द्विगुण' है । उसको देने वाला→द्वैगुणिकः । २-त्रैगुणिकः । वा० 'वृद्धि' शब्द को 'वृधुषि' आदेश हो । उदा० वार्धुषिकः ।

विवरण—विभक्ति-निर्देशक द्वितीयान्त 'तत्' पद की अनुवृत्ति "तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्" (४-४-२८) सूत्र से आ रही है । अर्थ-निर्देशक अंश 'प्रयच्छति गर्ह्यम्' प्रकृत सूत्र में विद्यमान है । विधेयांश 'ठक्' भी अनुवर्तमान है । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "द्वितीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'देता है' (प्रयच्छति) अर्थ में, यदि देय वस्तु गर्ह्य हो तो, 'ठक्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—(१) द्वैगुणिकः (दुगुना सूद लेने वाला—द्विगुणं प्रयच्छति)—द्विगुण+ठक् (ठ=इक)। 'अन्त्य' लोप, आदिवृद्धि। (२) त्रैगुणिकः (तिगुना सूद लेने वाला—त्रिगुणं प्रयच्छति)। त्रिगुण+ठक् (ठ=इक)।

वार्तिक—इसी प्रसङ्ग में उक्त अर्थ में 'वृद्धि' शब्द के स्थान पर 'वृधुषि' आदेश कहा गया है। उदाहरण—वार्धुषिकः (धन बढ़ाने की नीयत से ऋण देनेवाला सूदखोर—वृद्धिं प्रयच्छति)—वृद्धि+ठक् (ठ=इक)>वृधुषि+इक (वृद्धि=वृधुषि)>वार्धुषिकः। अन्त्यलोप एवम् आदिवृद्धि)।

विशेष—धर्मशास्त्र के अनुसार थोड़ा लेकर बहुत लेना गर्ह्य है। यही बात उदाहरणों द्वारा स्पष्ट की गई है । यहाँ उस 'अर्थ' में (दुगुने में) सार्थकता दिखाने के लिये वही शब्द प्रयोग किया गया है । अर्थात् दुगुना या तिगुना होने के लिये जो धन दिया जाता है, वही 'द्विगुण' अथवा 'त्रिगुण' शब्द से कहा जाता है । द्विगुणार्थं द्रव्यं←द्विगुणं→तत् प्रयच्छति आदि ।

(१५८१) पद—कुसीद-दशैकादशात्, ष्ठन्-ष्ठचौ । अनुवृत्ति—प्रयच्छति गर्ह्यम्, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—गर्ह्यार्थक इन दो शब्दों से क्रमशः 'ष्ठन्' एवं 'ष्ठच्' प्रत्यय हों । उदा० 'कुसीद' शब्द का अर्थ है 'वृद्धि' । उसके निमित्त द्रव्य भी 'कुसीद' कहलाता है । धन को बढाने की नीयत वाला—कुसीदिकः । स्त्री-लिङ्ग में कुसीदिकी । ग्यारह करने के लिये दिये गए द्रव्य को

इहैव सूत्रे निपात्यते । दशैकादशिकः—दशैकादशिकी । दशैकादशान्प्रयच्छतीत्युत्तमर्ण एवेहापि तद्धितार्थः । (१५८२) उञ्छति ४ । ४ । ३२ ॥ बदराण्युञ्छति बादरिकः ।

यस्याः' इति दशन्शब्दस्य पूर्वनिपातः । इहैव निपातनादकारः समासान्तः, टिलोपः, दशैकादशा इति रूपमित्यर्थः । दशैकादशिक इति । एकादश निष्कानधिकान् ग्रहीतुं दश निष्कान् अधमर्णाय प्रयच्छतीति यावत् । अथ लौकिकविग्रहवाक्यं दर्शयति—दशैकादशान् प्रयच्छतीति । इहापीति । विग्रहवाक्ये यथा उत्तमर्णः प्रधानत्वेन निर्दिश्यते तथा समासेऽपि उत्तमर्ण एव ऋणदातैव तद्धितार्थः प्रधानभूत इत्यर्थः ।

(१५८२) उञ्छति । तदिति द्वितीयान्तमनुवर्तते । उञ्छतीत्यर्थे द्वितीयान्ताट्ठगित्यर्थः । भूम्यां निपतितस्य व्रीह्यादेः कणशः आदानमुञ्छः ।

भी 'एकादश' कहा जाता है। वस्तुतः ऋण दिया जानेवाला धन तो दस ही हैं। 'एकादश च ते' च इस विग्रह में समासान्त अकार का यहाँ निपातन है। उदा० २–दशैकादशिकः—दशैकादशिकी। अतः दस एकादश करने के लिये देता है→उत्तमर्ण (साहूकार) ←तद्धितार्थ भी है।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है। वही अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। सूत्रोक्त पदों के साथ उनकी एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि "द्वितीया-समर्थ 'कुसीद' तथा 'दशैकादश' प्रातिपदिकों से 'प्रयच्छति गर्ह्यम्' अर्थ में यथासंख्य 'ष्ठन्' तथा 'ष्ठच्' प्रत्यय हों"। 'ष्ठन्' तथा 'ष्ठच्' में केवल स्वर का ही भेद है। 'षित्' होने से स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय होगा। **उदाहरण**—(१) **कुसीदिकः** (अधिक दर पर सूद लेने वाला ब्याजखोर–कुसीदं प्रयच्छति)—कुसीद्+ष्ठन् (ठ=इक)। स्त्री-लिङ्ग में 'ङीष्' होकर—**कुसीदकी**। (२) **दशैकादशिकः** (दस रुपये देकर महीने भर बाद ग्यारह रुपये लेने वाला—दशैकादशान् प्रयच्छति)—दशैकादश+ष्ठच् (ठ=इक)। ब्याज लगा कर ११ रुपये हो जायें, इसके लिये जो १० रुपये ऋण दिये जायें उसे दशैकादश कहा गया है। १० रुपये का मासिक १ रुपया ब्याज लेना पाणिनि के समय उचित नहीं समझा जाता होगा। अतः उसे निन्द्य माना गया है। 'दश (वस्तुतः) च एकादश (एकादशार्थ) च ते इस (कर्मधारय) विग्रह में दशैकादश शब्द का औचित्य माना है। "संख्याया अल्पीयस्याः' (वा०) के अनुसार न्यूनार्थबोधक संख्यावाचक शब्द (दशन्) का पूर्वनिपात हुआ है। निपातनवश समासान्त 'अ' प्रत्यय भी किया गया है। तदनन्तर टि (= 'अन्') लोप होकर (दशैकादश+जस्) 'दशैकादशाः' रूप निष्पन्न हुआ है। अतः तद्धित-प्रत्ययार्थ यह अर्थ होगा कि दस रुपये लिये हुए ऋण को ग्यारह रुपये वापस करता है। इस तरह स्वीकार करने वाला व्यक्ति साहूकार 'दशैकादशिक' कहलायेगा। जैसे लौकिक विग्रह वाक्य—दशैकादशान् प्रयच्छति—में देने वाला साहूकार ही प्रमुख प्रतीत होता है। उसी प्रकार समास में भी ऋणदाता ही तद्धितार्थ होता हुआ प्रधान बन जाता है।

विशेष—केवल वृद्धि अर्थ के प्रतिपादक 'कुसीद' शब्द की द्रव्यत्व-विशिष्ट में लक्षणा कर 'तादर्थ्य' से 'ताच्छब्द्य' की कल्पना की गयी है।

(१५८२) **पद**—उञ्छति। **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० बदराणि उञ्छति→बादरिकः।

विवरण—'उद्देश्य' (तत्) एवं 'विधेय' (ठक्) सूचक पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। केवल अर्थ-निर्देशक पद 'उञ्छति' सूत्र में विद्यमान है। अतः सूत्र का अर्थ यह होगा कि "द्वितीया–समर्थ प्रातिपदिक से 'चुनता है' (उञ्छति) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**बादरिकः** (बेर बीनने वाला—बदराणि उञ्छति)—बदर्+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। भूमि में गिरे हुए दानों का बीनना 'उञ्छ' है।

(१५८३) रक्षति ४ । ४ । ३३ ॥ समाजं रक्षति सामाजिकः । (१५८४) शब्ददर्दुरं करोति ४ । ४ । ३४ ॥ शब्दं करोति शाब्दिकः । दार्दुरिकः । (१५८५) पक्षिमत्स्यमृगान्हन्ति ४ । ४ । ३५ ॥ 'स्वरूपस्य पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणम्' (वा ५२३) । 'मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव' । पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः । शाकुनिकः । मायूरिकः । मात्स्यिकः । मैनिकः । शाकुलिकः । मार्गिकः । हारिणिकः । सारङ्गिकः ।

(१५८३) रक्षति । अस्मिन्नर्थे द्वितीयान्ताट्ठगित्यर्थः ।

(१५८४) शब्ददर्दुरं करोति । शब्दं करोति दर्दुरं करोतीति विग्रहे द्वितीयान्ताट्ठगित्यर्थः । इह शब्दविषये प्रकृतिप्रत्ययविभागपूर्वकज्ञाने करोति वर्तते, व्याख्यानात् । तेनेह न—शब्दं करोति खरः । दार्दुरिक इति ।
'दर्दुरस्तोयदे भेके वाद्यभाण्डाद्रिभेदयोः । दर्दुरा चण्डिकायां स्यात्पामजाले तु दर्दुरम् ॥'
इति विश्वः । इह यथायोग्यमन्वयः ।

(१५८५) पक्षिमत्स्यमृगान्हन्ति । अस्मिन्नर्थे पक्ष्यादिशब्देभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः ठगित्यर्थः । स्वरूपस्येति । पक्षिमत्स्यमृगशब्दैः तत्तत्स्वरूपाणां तत्तत्पर्यायाणां तद्विशेषवाचिनां च ग्रहणमित्यर्थः । 'स्वं रूपम्' इति सूत्रभाष्ये तथोक्तेरिति भावः । मीनस्यैवेति ।

(१५८३) पद—रक्षति । **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० समाजं रक्षति→सामाजिकः ।

विवरण—प्रत्ययार्थ बतलाया जा रहा है । शेष कार्य अनुवृत्ति-द्वारा लभ्य हैं । तदनुसार "द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'रक्षा करता है' (रक्षति) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—सामाजिकः (समाज की रक्षा करने वाला—समाजं रक्षति)—समाज्+ठक् (ठ=इक) । आदिवृद्धि, 'अन्त्य' लोप ।

(१५८४) पद—शब्ददर्दुरं, करोति । **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १–शाब्दिकः । २–दार्दुरिकः ।

विवरण—अर्थनिर्देश के अतिरिक्त सभी उल्लिखित अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । अर्थ-निर्देश (करोति) सूत्र में विद्यमान है । अतः "द्वितीयान्त 'शब्द' और 'दर्दुर-'प्रातिपदिकों से 'करता है' (करोति) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) शाब्दिकः (शब्द की निष्पत्ति करने वाला—शब्दं करोति)—शब्द्+ठक् (ठ=इक) । आदिवृद्धि । अन्त्यलोप । (२) दार्दुरिकः (मिट्टी के घड़े को बजाने वाला कुम्हार—दर्दुरं करोति)—दर्दुर्+ठक् (ठ=इक) । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप । दर्दुर शब्द अनेकार्थक है—मेंढक, बादल, बाँसुरी जैसा वाद्ययन्त्र, भाण्ड, पर्वत, दक्षिण में स्थित एक पहाड़ का नाम आदि । विवक्षा के अनुसार अर्थ किया जायगा ।

(१५८५) पद—पक्षि-मत्स्य-मृगान्, हन्ति । **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वा० (यहाँ पर) 'स्वरूप, पर्याय तथा तद्विशेष–इन सभी का ग्रहण है' । किन्तु 'मत्स्य' के पर्याय में 'मीन' का ही ग्रहण हो' । उदा० १–पक्षियों को मारता है—१–पाक्षिकः, शाकुनिकः, मायूरिकः । २–मात्स्यिकः, मैनिकः, शाकुलिकः । ३–मार्गिकः, हारिणिकः, सारङ्गिकः ।

विवरण—समर्थ-विभक्ति तथा विधेयांश का लाभ पूर्ववत् अनुवृत्तिवश होता है । अर्थनिर्देश एवम् उद्देश्यवाची पद सूत्र में निर्दिष्ट हैं । तदनुसार "द्वितीयान्त 'पक्षि', 'मत्स्य' तथा 'मृग'-

(१५८६) परिपन्थं च तिष्ठति ४ । ४ । ३६ ॥ अस्माद् द्वितीयान्तात्तिष्ठति हन्ति चेत्यर्थे ठक् स्यात् । पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठति—पारिपन्थिकश्चौरः । निपातनात् पन्था-

---

मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव ग्रहणम्, न त्वनिमिषादिशब्दानामित्यर्थः । इदमपि 'स्वं रूपम्' इत्यत्र भाष्ये स्थितम् । पाक्षिक इति । स्वरूपस्योदाहरणम् । शाकुनिक इति तु पक्षिपर्यायस्य । मायूरिक इति । पक्षिविशेषस्य । तथा मात्स्यिकः, मैनिकः, शाकुलिक इति क्रमेण स्वरूपपर्यायविशेषाणामुदाहरणम् । तथा मार्गिकः, हारिणिकः, सारङ्गिकः इति क्रमेण स्वरूपपर्यायविशेषाणामुदाहरणम् ।

(१५८६) परिपन्थं च तिष्ठति । अस्मादिति । परिपन्थशब्दादित्यर्थः । चकारात् हन्तीत्यनुकृष्यते । तदाह—तिष्ठति हन्ति चेति । पन्थानं वर्जयित्वेति । एतेन 'अपपरी वर्जने' इति परेः कर्मप्रवचनीयत्वे 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चम्याम् 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इति अव्ययीभावसमासः सूचितः । व्याप्य वेति । एतेन सर्वतः शब्दपर्यायस्य

वाची प्रातिपदिकों से 'मारता है' (हन्ति) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । इस प्रसङ्ग में "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" (१-१-६८) सूत्रस्थ वार्तिक एवम् भाष्येष्टि का स्मरण कराते हुए यह बतलाया जा रहा है कि पक्षिन्, मत्स्य तथा मृग शब्द केवल स्वरूपात्मक ही नहीं ग्राह्य हैं, किन्तु पर्यायवाची एवम् विशेष अभिधान-वाची शब्दों के भी ग्राहक हैं[1]। किन्तु मत्स्य शब्द से केवल मीन पर्याय का ही ग्रहण किया जाता है । तदनुसार पक्षि-शब्द का (स्वरूपात्मक) **उदाहरण**—(१) क—**पाक्षिकः** (पक्षियों को मारने वाला—पक्षिणः हन्ति)—पक्षिन्॰+ठक् (ठ = इक) ▷ पाक्षिकः ('टि'लोप, आदिवृद्धि) । ख—पक्षि-पर्यायवाची—**शाकुनिकः** (पक्षियों का हन्ता—शकुनीन् हन्ति)—शकुनि॰+ठक् (ठ = इक) । ग—पक्षि-विशेष-वाची—**मायूरिकः** (मोर को मारने वाला—मयूरान् हन्ति)—मयूर॰+ठक् (ठ = इक) । (२) मत्स्य शब्द—(क) **मात्स्यिकः** (मछली मारने वाला—मत्स्यान् हन्ति)—मत्स्य॰+ठक् (ठ = इक) । (ख) पर्यायवाची—मीन शब्द—**मैनिकः** (मछली-मार—मीनान् हन्ति)—मीन॰+ठक् (ठ = इक) । ख—मीन-विशेष का—**शाकुलिकः** (द्रुतगामी मछली का हन्ता धीवर—शकुलान् हन्ति)—शकुल॰+ठक् (ठ = इक) । (३) मृगशब्द—क—**मार्गिकः** (हिरन को मारने वाला—मृगान् हन्ति)—मृग॰+ठक् (ठ = इक) । ख-पर्यायवाची—**हारिणिकः** (हिरन को मारने वाला—हरिणान् हन्ति)—हरिण॰+ठक् (ठ = इक) । ग—मृगविशेष-वाची—**सारङ्गिकः**—(चित्रमृग को मारने वाला—सारङ्गान् हन्ति)—सारङ्ग॰+ठक् (ठ = इक) ।

(१५८६) पद—परिपन्थं, च, तिष्ठति । **अनुवृत्ति**—हन्ति, तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वितीयान्त 'परिपन्थ' से 'तिष्ठति' तथा 'हन्ति' अर्थ में 'ठक्' हो । उदा० (१)—(क) तिष्ठति अर्थ—रास्ते को छोड़कर अथवा घेर कर जो रहे→पारिपन्थिकः←अर्थात् चोर । निपातनवश 'पन्थ' आदेश हुआ । (ख) 'हन्ति' अर्थ—चोर को मारने वाला—पारिपन्थिकः ।

---

१. तत्र "स्वं रूपं" सूत्रभाष्ये "झित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम्" इत्युपस्थाप्य "पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति" इत्युपलक्षितम् । तथा च तस्मिन् सूत्रे 'झ्' लिङ्गासङ्गेन विशेषाणां संज्ञा भवतीति विज्ञापितम् । तत्रापि 'मीनस्येष्यते' इति कथयता भाष्यकारेण मत्स्यस्य पर्यायेषु मीनस्यैव ग्रहणं भवतीति निर्वचता आनिमिषान् हन्तीत्यादौ ठगभावः सूचितः । अग्रे च 'मृगपक्षिणोस्तु पित्निर्देशः कर्तव्यः' इति वचनं निर्दिशता मृगपक्षिणोः स्वरूपस्य पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणम्' भवतीति निर्धारितम् ।

देशः। परिपन्थं हन्ति—पारिपन्थिकः। **(१५८७) माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति ४।४।३७॥** दण्डाकारो माथः पन्थाः—दण्डमाथः। दण्डमाथं धावति दाण्डमाथिकः।

परेः परिगतः पन्था इति प्रादिसमासे परिपन्थशब्दः इति सूचितम्। अव्ययीभावः प्रादिसमासो वेत्यपि बोध्यम्। उभयथापि क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीयान्तत्वम्। निपातनात् **पन्थादेश इति**। नेदं प्रत्ययसन्नियोगेन निपातनम्। किन्तु ततोऽन्यत्रापि परिपन्थशब्दोऽस्ति। इदमेव सूचयितुं प्रकृतेरपि द्वितीयोच्चारणमिति वृत्तिकृतः। इदमेवाभिप्रेत्य विग्रहं दर्शयति—**परिपन्थं तिष्ठतीति**।

(१५८७) **माथोत्तर**। माथोत्तरपद, पदवी, अनुपद एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो धावतीत्यर्थे ठगित्यर्थः। माथपदं व्याचष्टे—**माथः पन्था इति**। मथ्यते गन्तृभिराहन्यते इति व्युत्पत्तेरिति भावः। **दण्डमाथ इति**। शाकपार्थिवादिः। पन्थानं धावतीति धावतेर्गत्यर्थत्वात् सकर्मकत्वम्। **पादविक इति**। पदवीं धावतीति विग्रहः। **आनुपदिक इति**। अनुपदं धावतीति विग्रहः।

विवरण—सूत्रस्थ 'च' शब्द पूर्वसूत्रस्थ प्रत्ययार्थ 'हन्ति' का अनुकर्षण कर रहा है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। उद्देश्य-वाचक पद सूत्र में विद्यमान है। 'स्था' धातु अकर्मक है तथापि उसके साथ देश, काल, भाव तथा मार्गवाची शब्दों की कर्म-संज्ञा हो जाती है—"कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्"। अतः क्रियाविशेषण के रूप में 'परिपन्थं' द्वितीया-विभक्त्यन्त है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होगा कि "द्वितीयान्त 'परिपन्थ'[1] शब्द से 'बैठता है' (तिष्ठति) तथा 'मारता है' (हन्ति) अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। 'परिपन्थ' शब्द का अर्थ है—'मार्ग को चारों ओर से छोड़ना या घेरना। घेरना अर्थ में 'परि' उपसर्ग 'सर्वतः' (सब तरफ से) का पर्यायवाची है। अतः 'परिगतः पन्थाः' विग्रह करने पर 'प्रादि'-समास द्वारा 'परिपन्थ' शब्द निष्पन्न हो सकता है। अथवा पन्थानं वर्जयित्वा अर्थ करने पर 'अव्ययीभाव'—समास भी किया जा सकता है। कारण यह है कि वर्जनार्थक 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा कही गई है—"अपपरी वर्जने" (१-४-८८)। 'परि' के योग में द्वितीया-विभक्ति न होकर पञ्चमी-विभक्ति होती है—"पञ्चम्यपाङ्परिभिः" (२-३-१०)। तदनुसार "अप-परि-बहिरञ्चवः पञ्चम्या" (२-१-१२) से अव्ययीभाव-समास होगा। परि पथः-परिपन्थम् (पथिन् के स्थान पर निपातन-वश 'पन्थ' आदेश)। **उदाहरण**—**पारिपन्थिकः** (मार्ग छोड़कर या घेर कर बैठने वाला चोर या मार्गस्थ जनों को मारनेवाला डाकू—पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठति, हन्ति वा)—परिपथिन् + ठक् > परिपन्थ् + इक (ठ = इक, पथिन् = पन्थ) > पारिपन्थिकः (आदिवृद्धि, अन्त्यलोप)।

(१५८७) पद—माथोत्तरपद-पद-व्यनुपदं, धावति। **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दण्ड के आकार का मार्ग 'दण्डमाथ' कहलाता है। उदा० १—दण्डमाथं धावति→ दाण्डमाथिकः। २—पादविकः। ३—आनुपदिकः।

विवरण—'धावति' पद अर्थ-निर्देशक है। अनुवर्तमान 'तत्' पद समर्थ-विभक्ति का सूचक है। उद्देश्यवाची तीन पद सूत्र में निर्दिष्ट हैं। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'माथ' शब्द—उत्तरपदस्थ प्रातिपदिक तथा 'पदवी' एवम् 'अनुपद' प्रातिपदिकों से (माथ-शब्दः उत्तरपदं यस्य तत् माथोत्तरपदं, तच्च पदवी च अनुपदं च, तेषां समाहारः) 'दौड़ता है' (धावति) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। 'माथ' शब्द मार्ग का पर्यायवाची है—मथ्यते = प्रशाध्यते गन्तृभिः—√मथ् + घञ्

---

१. "समर्थविभक्तिप्रकरणे पुनर्द्वितीयोच्चारणं लौकिकवाक्यप्रदर्शनार्थम्। परिपथ-शब्दपर्यायः परिपन्थशब्दोऽस्तीति ज्ञापयति। स विषयान्तरेऽपि प्रयोक्तव्यः" —काशिका।

पादविकः । आनुपदिकः । (१५८८) आक्रन्दाट्ठञ् च ४ । ४ । ३८ ।। अस्माट्ठञ् स्यात्, चाट्ठक् धावतीत्यर्थे । आक्रन्दं दुःखिनां रोदनस्थानं धावति—आक्रन्दिकः । (१५८९) पदोत्तरपदं गृह्णाति ४ । ४ । ३९ ।। पूर्वपदं गृह्णाति पौर्वपदिकः । औत्तरपदिकः । (१५९०) प्रतिकण्ठार्थललामं च ४ । ४ । ४० ।। एभ्यो गृह्णात्यर्थे

(१५८८) आक्रन्दाट्ठञ् च । अस्मादिति । आक्रन्दशब्दाद् द्वितीयान्ताादित्यर्थः । आक्रन्दन्ति अस्मिन्नित्याक्रन्दः । तदाह—आक्रन्दो दुःखिनां रोदनस्थानमिति ।

(१५८९) पदोत्तरपदम् । पदशब्दः उत्तरपदं यस्य तस्माद् द्वितीयान्तात् गृह्णातीत्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः ।

(१५९०) प्रतिकण्ठार्थं । एभ्य इति । प्रतिकण्ठ, अर्थं, ललाम इत्येभ्य इत्यर्थः ।

(कर्मणि) । डण्डे की तरह सीधा या लम्बा रास्ता 'दण्डमाथ' कहा जाता है । दण्डाकारः माथः—शाकपार्थिवादि मध्यमपदलोपी समास । उदाहरण—(१) दाण्डमाथिकः (लम्बी सड़क पर दौड़ने या चलने वाला—दण्डमाथं धावति)—दण्डमाथ् + ठक् । (२) पादविकः (मार्ग पर चलने वाला—पदवीं धावति)—पदव् + ठक् । (३) आनुपदिकः (पीछे पीछे दौड़ने वाला—अनुपदं धावति)—अनुपद् + ठक् । 'अनुपद' शब्द अव्ययीभाव समास-निष्पन्न है—पदस्य पश्चात् । पश्चात् अर्थ में अव्ययीभाव ।

(१५८८) पद—आक्रन्दात्, ठञ्, च । अनुवृत्ति—धावति, तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इस से 'धावति' अर्थ में 'ठञ्' एवं 'ठक्' भी हो । 'आक्रन्द' का तात्पर्य है शरण-स्थान । उदा० आक्रन्दं धावति→आक्रन्दिकः ।

विवरण—'धावति' अर्थ का ही विषय है । अतः "द्वितीयान्त 'आक्रन्द' से 'दौड़ता है' अर्थ में 'ठञ्' तथा 'ठक्' दोनों प्रत्यय होते हैं" । स्वरभेद के लिये दोनों प्रत्ययों की चरितार्थता है । अन्यथा रूपसाम्य के कारण वैयर्थ्य हो जाता । 'ठञ्' प्रत्ययान्त आद्युदात्त होगा तथा 'ठक्' प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त होगा । उदाहरण—आक्रन्दिकः (शरण-स्थान की ओर दौड़ने वाला—आक्रन्दं धावति)—आक्रन्द + ठञ् एवं ठक् (ठ = इक) । आदिवृद्धि→'ठञ्' परवर्ती होने पर←"तद्धितेष्वचामादेः" (७-२-११७), 'ठक्' परवर्ती होने पर←"किति च" (७-२-११८) ।

(१५८९) पद—पदोत्तरपदं, गृह्णाति । अनुवृत्ति—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १-पूर्वपदं गृह्णाति→पौर्वपदिकः । २-औत्तरपदिकः ।

विवरण—'उद्देश्य' एवं 'अर्थ-सूचक' पदों का निवेश सूत्र में विद्यमान है । 'विभक्ति' (तत्) एवम् 'विधेय'-वाची (ठक्) पद अनुवर्तमान हैं । अतः "द्वितीयान्त 'पद' शब्द उत्तर-पदवाले प्रातिपदिक से 'ग्रहण करता है' (गृह्णाति) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—(१) पौर्वपदिकः (पूर्वपद विषय पर लिखा हुआ ग्रन्थ या उसका लेखक—पूर्वपदं गृह्णाति)—पूर्वपद् + ठक् (ठ = इक) । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप । (२) औत्तरपदिकः (उत्तरपद विषय पर लिखा हुआ ग्रन्थ या उसका लेखक—उत्तरपदं गृह्णाति)—उत्तरपद् + ठक् (ठ = इक) । शेष कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—अष्टाध्यायी में 'उत्तरपद' के कार्यों का प्रकरण ७-३-१० से ७-३-१८ तक नौ सूत्रों में विद्यमान है । इसी प्रकार पूर्वपद का प्रकरण ७-३-१९—७-३-३१ तक सूत्रों में सन्निहित है ।

(१५९०) पद—प्रतिकण्ठार्थललामं, च । अनुवृत्ति—गृह्णाति, तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

ठक्स्यात् । प्रतिकण्ठं गृह्णाति प्रातिकण्ठिकः । आर्थिकः । लालामिकः । (१५९१) धर्मं चरति ४।४।४१॥ धार्मिकः । 'अधर्माच्चेति वक्तव्यम्' (वा २९६६)। आधर्मिकः । (१५९२) प्रतिपथमेति ठंश्च ४।४।४२॥ प्रतिपथमेति प्रतिपथिकः—

आर्थिक इति । अर्थं गृह्णातीत्यर्थः । लालामिक इति । ललामं चिह्नं तद् गृह्णातीत्यर्थः । 'लिङ्गं ललामं च ललाम च' इत्यमरः ।

(१५९१) धर्मं चरति । चरतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् धर्मशब्दाट्ठगित्यर्थः । अधर्माच्चेतीति । 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति तदन्ताग्रहणात्प्राप्ते आरम्भः ।

(१५९२) प्रतिपथमेति ठंश्च । प्रतिपथमित्यव्ययीभावात् एतीत्यर्थे ठन् ठक् च

मूलार्थ—इन से 'गृह्णाति' अर्थ में 'ठक्' हो । उदा० १–प्रतिकण्ठं गृह्णाति→प्रातिकण्ठिकः । २–आर्थिकः । ३–लालामिकः ।

विवरण—पूर्व सूत्र में वर्णित अर्थ (=गृह्णाति) का ही विषय है । अतः "द्वितीयान्त 'प्रतिकण्ठ', 'अर्थ' तथा 'ललाम' प्रातिपदिकों से भी 'ग्रहण' करता है' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **प्रातिकण्ठिकः**[1] (प्रतिकण्ठ अर्थात् अलग अलग प्रातिपदिकों का प्रतिपदपाठपरक ग्रन्थ = गणपाठ—प्रतिकण्ठं गृह्णाति)—प्रतिकण्ठ + ठक् (ठ = इक)। (२) **आर्थिकः** (अर्थविचार का प्रतिपादक ग्रन्थ—अर्थं गृह्णाति)—अर्थ + ठक् (ठ = इक)। (३) **लालामिकः** (चिह्न या सौन्दर्य ग्रहण करने वाला—ललामं गृह्णाति)—ललाम + ठक् (ठ = इक)। प्रक्रिया पूर्ववत् ।

विशेष—'प्रतिकण्ठ' शब्द में अव्ययीभाव समास है । **विग्रह**—कण्ठं कण्ठम्—प्रति इति । यथार्थ-सूचक वीप्सा में अव्ययीभाव । अथवा आभिमुख्य अर्थ में भी मान्य है ('लक्षणेनाभिप्रती अभिमुख्ये' २-१-१४)। 'प्रतिगतः कण्ठम्' इति-प्रतिकण्ठः—प्रादिसमास से निष्पन्न शब्द यहाँ गृहीत नहीं है । वृत्तिकारों ने अव्ययीभाव ही माना है ।

(१५९१) **पद**—धर्मं, चरति । **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० धार्मिकः । वा० 'अधर्म' से भी कहा जाय । उदा० आधर्मिकः ।

विवरण—'उद्देश्य' एवम् 'अर्थ बोधक' शब्द सूत्र में विद्यमान हैं । शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'धर्म' प्रातिपदिक से 'आचरण करता है' (=चरति) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**धार्मिकः** (धर्माचरण करने वाला—धर्मम् आचरति)—धर्म + ठक् (ठ = इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप ।

वार्तिक—अधर्म शब्द से भी 'आचरण करता है' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हो । "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति"—इस नियम के अनुसार तदन्तविधि न होने से पृथक् विधान की उपयोगिता है । **उदाहरण**—**आधर्मिकः** (अधर्म अर्थात् पाप करने वाला—अधर्म चरति)—अधर्म + ठक् (ठ = इक)। प्रक्रिया पूर्ववत् ।

विशेष—'अधार्मिकः' प्रयोग में 'न धार्मिकः'—'नञ्' तत्पुरुष समास है ।

(१५९२) **पद**—प्रतिपथम्, एति, ठन्, च । **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० प्रतिपथिकः—प्रातिपथिकः ।

---

१. "प्रातिकण्ठिकः स उच्यते—सर्वं कण्ठं यो गृह्णाति, यो वा कण्ठम् आभिमुख्येन गृह्णाति" —न्यासकारः ।

प्रातिपथिकः। (१५९३) समवायान्समवैति ४।४।४३॥ सामवायिकः। सामूहिकः। (१५९४) परिषदो ण्यः ४।४।४४॥ परिषदं समवैति पारिषद्यः।

स्यादित्यर्थः। प्रतिपथमिति 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः। 'ऋक्पूः' इति समासान्तः।

(१५९३) समवायान् समवैति। द्वितीयान्तेभ्यः समवायवाचिशब्देभ्यः समवैतीत्यर्थे ठगित्यर्थः। बहुवचनात्तदर्थवाचिशब्दग्रहणम्। समवैति मेलयतीत्यर्थः।

(१५९४) परिषदो ण्यः। द्वितीयान्तात्परिषच्छब्दात्समवैतीत्यर्थे ठगपवादो ण्य इत्यर्थः।

विवरण—उद्देश्यवाची (प्रतिपथम्) शब्द तथा अर्थनिर्देशक पद (एति) सूत्र में विद्यमान हैं। शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। अतः "द्वितीयान्त 'प्रतिपथ' शब्द से 'जाता है' (=एति) अर्थ में 'ठन्' तथा (=च) 'ठक्' प्रत्यय होते हैं"। 'ठन्' और 'ठक्' में स्वर का भेद है। तथा 'ठन्' में निमित्ताभाव से आदिवृद्धि नहीं होगी, किन्तु 'ठक्' होने पर "किति च" (७-२-११८) से आदिवृद्धि होगी। **उदाहरण**—प्रतिपथिकः→ठन् (ठ=इक) होने पर। प्रातिपथिकः←'ठन्' होने पर। अर्थ—मार्ग से चलने वाला—प्रतिपथम् एति।

विशेष—'प्रतिपथ शब्द वीप्सार्थ' या आभिमुख्यार्थक अव्ययीभाव समास-निष्पन्न लिया गया है। विग्रह—(क) पन्थानं पन्थानं प्रति अथवा (ख) पथः अभिमुखम्—प्रतिपथम्[1] (समासान्त 'अ' प्रत्यय—"ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे"—५-४-७४)।

(१५९३) पद—समवायान्, समवैति। **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १–सामवायिकः। २–सामूहिकः।

विवरण—सूत्रस्थ 'समवायान्' बहुवचन-प्रयोग समूहार्थक शब्दों का भी ग्राहक है[2]। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ समूहवाची प्रातिपदिकों से 'समवेत होता है' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। 'समवैति' का तात्पर्य है—'प्रवेश कर उसका अवयव बन जाना'। **उदाहरण**—(१) **सामवायिकः** (सभा में सम्मिलित होने वाला—समवायान् समवैति)—समवाय्+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। (२) **सामूहिकः** (समूह में सम्मिलित होने वाला—समूहान् समवैति)—समूह्+ठक् (ठ=इक)।

(१५९४) पद—परिषदः, ण्यः। **अनुवृत्ति**—समवैति, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० परिषदं समवैति→पारिषद्यः।

विवरण—'समवैति' अर्थ का ही विषय है। अतः "द्वितीया-समर्थ 'परिषद्' शब्द से 'समवेत होता है' अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय होता है"। 'णित्' होने के फलस्वरूप आदिवृद्धि होगी। **उदाहरण**—पारिषद्यः (जो सभा में सम्मिलित होता है—परिषदं समवैति)—परिषद्+ण्य (य)। आदिवृद्धि।

---

१. यः सर्वान् पथ एति, आभिमुख्येन वा पन्थानम् एति स प्रातिपथिक इति चाभिधीयते।

२. समवैतीत्यस्य प्रविशतीत्यर्थः। स्वयमपि समूहम्प्रविश्य तदवयवो भवतीति यावत्। अत्र समवैति-शब्दार्थघटकीभूता या विशेषणीभूता प्रवेशक्रिया तन्निरूपितकर्मत्वविवक्षया समवायानिति द्वितीया। यदा तु अधिकरणत्वविवक्षा तदा सप्तमी भवति। यथा—धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः' इति गीतायाम्।

(१५९५) सेनाया वा ४ । ४ । ४५ ॥ ण्यः स्यात् । पक्षे ठक् । सैन्याः-सैनिकाः ।
(१५९६) सञ्ज्ञायां ललाटकुक्कुटचौ पश्यति ४ । ४ । ४६ ॥ ललाटं पश्यति लालाटिकः सेवकः । कुक्कुटीशब्देन तत्पाताहंः स्वल्पदेशो लक्ष्यते । कौक्कुटिको भिक्षुः ।

(१५९५) सेनाया वा । ण्यः स्यादिति । शेषपूरणमिदम् । द्वितीयान्तात्सेनाशब्दात् समवैतीत्यर्थे ण्यो वा स्यादित्यर्थः । सैन्याः सैनिका इति । सेनां मेलयन्तीत्यर्थः ।

(१५९६) संज्ञायाम् । ललाटकुक्कुटीशब्दाभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां पश्यतीत्यर्थे ठक् स्यात्संज्ञायामित्यर्थः । संज्ञा रूढिः, न त्वाधुनिकः सङ्केतः । लालाटिकः सेवक इति । दूरे स्थित्वा प्रभोर्ललाटं पश्यति, न तु कार्ये प्रवर्तत इत्यर्थः । 'लालाटिकः प्रभोर्भालदर्शी कार्याक्षमश्च यः' इत्यमरः । कौक्कुटिक इति । कुक्कुटीपतनार्हदेशं पश्यतीत्यर्थः ।

(१५९५) पद—सेनायाः, वा । **अनुवृत्ति**—ण्यः, समवैति, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ण्य' हो । पक्ष में ठक् । उदा० सैन्याः-सैनिकाः, अर्थात् पैदल ।

विवरण—'ण्य' का ही विषय है । 'समवैति' अर्थ का सातत्य विद्यमान है । पूर्व सूत्र ("परिषदो ण्यः" की अनुवृत्ति आ रही है । 'वा' पद विकल्पार्थक है । अतः "द्वितीया-समर्थ 'सेना' शब्द से 'इकट्ठा होता है' अर्थ में विकल्प से 'ण्य' प्रत्यय होता है" । 'सेना' शब्द के समवायवाची होने से पक्ष में "समवायान् समवैति" (४-४-४३) से 'ठक्' प्रत्यय होगा । **उदाहरण**—सैन्यः→'ण्य' प्रत्यय (सेन्॒+य) होने पर । सैनिकः←ठक् (सेन्॒+इक) प्रत्यय होने पर । उभयत्र आदिवृद्धि तथा अन्त्यवर्ण-लोप । **अर्थ**—सेना के सदस्य—सेनां समवैति ।

(१५९६) पद—ललाट-कुक्कुट्यौ, पश्यति । **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० जो मुँह देखता है = सेवक→१–लालाटिकः । 'कुक्कुट' शब्द से यहाँ उसकी उड़ने की थोड़ी दूरी तक स्थान अभिलक्षित है । उदा० २–कौक्कुटिकः अर्थात् भिक्षु ।

विवरण—'देखता है' (पश्यति) अर्थ के विषय में दो संज्ञा-वाची शब्दों के सम्बन्ध में 'ठक्' प्रत्यय का विधान कहा जा रहा है । प्राकरणिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथाक्रम अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार सूत्रोपात्त शब्दों के साथ अन्वित होकर उनसे यह बोध होता है कि "द्वितीया-समर्थ 'ललाट' तथा 'कुक्कुटी' प्रातिपदिकों से 'देखता है' अर्थ में संज्ञा गम्यमान होने पर[1] 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **लालाटिकः** सेवकः (जो सेवक काम ठीक न करे किन्तु बैठे बैठे स्वामी का मुँह ताके—ललाटं पश्यति)—ललाट्॒+ठक् (ठ = इक) । (२) **कौक्कुटिकः भिक्षुः** (जो भिक्षु मुर्गी के फुँदकने मात्र की दूरी तक स्थान का अवलोकन करे—कुक्कुटीं पश्यति)—कुकुट्॒+ठक् (ठ = इक) । उभयत्र आदिवृद्धि एवम् भ-संज्ञानिमित्तक अन्त्यवर्ण-लोप ।

विशेष—'कुक्कुटी' शब्द के सन्दर्भ में यह निर्देश दिया गया है कि यहाँ उसका वाच्यार्थ अपेक्षित नहीं है, किन्तु वह लक्ष्यार्थ अथवा अप्रसिद्ध शक्ति का बोधक है । भिक्षु की दृष्टि चलते समय सिर नीचा कर पृथ्वी पर उतनी दूरी तक पड़े जितनी थोड़ी दूरी मुर्गी की उड़ान में (फुँदकने में) व्याप्त होती है । अर्थात् संन्यासी के नेत्र-व्यापार के संयमन की सीमा को परिलक्षित कर उदाहरण दिया है । अन्यथा स्थान-संकोच के रहते हुए बिना देखे गिरना सम्भव हो जायगा । 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्' की चरितार्थता को सिद्ध कर दिया है । भैरवमिश्र ने इसका

---

१. 'अत्र संज्ञाशब्देन 'सम्यक् ज्ञायते अनेन' इति व्युत्पत्त्या प्रसिद्धि-विषयः शब्द उच्यते'।
—भैरवमिश्रः ।

(१५९७) तस्य धर्म्यम् ४ । ४ । ४७ ॥ आपणस्य धर्म्यमापणिकम् । (१५९८) अण् महिष्यादिभ्यः ४ । ४ । ४८ ॥ महिष्या धर्म्यं माहिषम् । याजमानम् । (१५९९) ऋतोऽञ् ४ । ४ । ४९ ॥ यातुर्धर्म्यं यात्रम् । 'नराच्चेति वक्तव्यम्' (वा २९६७) । नरस्य धर्म्या नारी । 'विशसितुरिड्लोपश्चाञ्च वक्तव्यः' (वा २९६८) ।

(१५९७) तस्य धर्म्यम् । धर्मादनपेतं धर्म्यम्, आचरितुं योग्यमित्यर्थः । धर्म्यमित्यर्थे षष्ठ्यन्ताट्ठगित्यर्थः ।

(१५९८) अण् महिष्यादिभ्यः । षष्ठ्यन्तेभ्यो धर्म्यमित्यर्थे इति शेषः ।

(१५९९) ऋतोऽञ् । ऋदन्तात्षष्ठ्यन्ताद् धर्म्यमित्यर्थे अञित्यर्थः । नारीति । अनन्त्वात् ङीषिति भावः । इड्लोप इति । इटो लोप इत्यर्थः । वैशस्त्रमिति । विभ-

---

अर्थ दार्शनिक पृष्ठभूमि को आधार मान कर यह किया है कि "भिक्षु की दृष्टि केवल उतनी दूर तक ही पड़ती है, जितनी दूरी तक मुर्गी की उड़ान हो। अन्यथा उसके ब्रह्मसाक्षात्कार होने में व्याघात उपस्थित हो सकता है"[1]।

(१५९७) पद—तस्य, धर्म्यम् । **अनुवृत्ति**—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० आपणस्य धर्म्यम्→आपणिकम् ।

विवरण—'धर्म्य' अर्थ से यहाँ 'आचार' एवम् 'व्यवहार' के अनुकूल कार्य अभिप्रेत हैं ("धर्मादनपेतम्" ४-४-९२) । समर्थ-विभक्ति षष्ठी का निर्देशक पद 'तस्य' विद्यमान है। शेष आधिकारिक एवम् प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिक से 'धर्म्य' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। न्याय्य एवम् आचार-युक्त व्यवहार को 'धर्म्य' कहा जाता है। **उदाहरण—आपणिकम्**—बाजार का कर—आपणस्य धर्म्यम्)—आपण + ठक् (ठ = इक) ।

(१५९८) पद—अण्, महिष्यादिभ्यः । **अनुवृत्ति**—तस्य धर्म्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० महिष्याः धर्म्यम् १-माहिषम् । २-याजमानम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र का विषय है। कुछ शब्दों से उक्त अर्थ में 'अण्' प्रत्यय बतलाया गया है। अतः "षष्ठी-समर्थ महिषी आदि प्रातिपदिकों से 'धर्म्य' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण—१-माहिषम्** (रानी का कर्तव्य—महिष्याः धर्म्यम्)—महिषी + अण् ▷ माहिषम् । अन्त्यलोप, आदिवृद्धि । **२-याजमानम्** (यजमान का कर्तव्य—यजमानस्य धर्म्यम्)—यजमान + अण् । शेष कार्य पूर्ववत् ।

(१५९९) पद—ऋतः, अञ् । **अनुवृत्ति**—तस्य धर्म्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० यातुः धर्म्यम्→यात्रम् । १-वा० 'नर' शब्द से भी कहा जाय। उदा० नरस्य धर्म्या→नारी । वा० २-'विशसितृ' शब्द के 'इट्' का लोप तथा 'अञ्' प्रत्यय भी हो। वा० ३-'विभाजयितृ' शब्द से 'अञ्' प्रत्यय हो तथा 'णि' का लोप हो। उदा० विभाजयितुः धर्म्यं→वैभाजित्रम् ।

विवरण—ऋकारान्त शब्दों से पूर्वोक्त 'धर्म्य' अर्थ में उक्त प्रत्ययों से भिन्न प्रत्यय (अञ्) का विधान किया जा रहा है। वैषयिक, प्राकरणिक आदि अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् प्रभावी हैं। तद-

---

१. "भिक्षुर्हि पादविक्षेपमात्रं देशं पश्यति न तु अन्यदेशम् । तस्य प्रदेशान्तरदर्शने ब्रह्मदर्शनतत्परत्वविघातः स्यात्" । —लघुशब्देन्दुशेखरे भैरवी टीका ।

विशसितुर्धर्म्यं वैशस्त्रम् । 'विभाजयितुर्णिलोपश्चाञ्च वाच्यः' (वा २९६९) । विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम् । (१६००) अवक्रयः ४ । ४ । ५० ॥ षष्ठ्यन्तात्ठक्स्यादवक्रयेऽर्थे । आपणस्यावक्रयः आपणिकः । राजग्राह्यं द्रव्यमवक्रयः । (१६०१) तदस्य पण्यम् ४ । ४ । ५१ ॥ अपूपाः पण्यमस्य आपूपिकः । (१६०२) लवणाट्ठञ्

सितृशब्दादञि इटो लोपे ऋकारस्य यणि आदिवृद्धिः । वैभाजित्रमिति । विभाजयितृशब्दादञि णिलोपः ।

(१६००) अवक्रयः । तस्येत्यनुवर्तते । तदाह—षष्ठ्यन्तादिति ।

(१६०१) तदस्य पण्यम् । अस्मिन्नर्थे प्रथमान्तात् ठगित्यर्थः । विक्रेतव्यं द्रव्यं पण्यम् ।

नुसार "षष्ठी-समर्थ ऋकारान्त प्रातिपदिक से 'धर्म्य' अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण-(१) यात्रम् (यात्री का कर्तव्य-यातुः धर्म्यम्)—यातृ+अञ् (अ) ▷ यात्रम् ('यण्' एवं विभक्तिकार्य) ।

वार्तिक—कुछ अन्य 'ऋकारान्त' शब्दों के सम्बन्ध में तथा 'नर' शब्द से 'धर्म्य' अर्थ में ही विशेष विधान वार्तिक-कार ने प्रस्तुत किये हैं । तत्सम्बन्धी तीन वार्तिकों में से (१) प्रथम वार्तिक द्वारा षष्ठ्यन्त 'नर' शब्द से 'धर्म्य' अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय का विधान बताया गया है । 'ठञ्' के बाधार्थ इसकी चरितार्थता है । 'नृ' शब्द से तो ऋतोऽञ्" (४-४-४९) सूत्र से ही 'अञ्' सिद्ध रहा । 'नर' से 'अञ्' करने पर स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीप्' ("टिड्ढाणञ्०" ४-१-१५) होने पर नारी (नरस्य धर्म्या—स्त्री) रूप निष्पन्न होता है । (२) द्वितीय वार्तिक द्वारा षष्ठ्यन्त विशसितृ से 'इट्' आगम के लोपपूर्वक 'अञ्' का विधान कहा गया है । उदाहरण—वैशस्त्रम् (शासन या नियम—विशसितुः धर्म्यम्)—विशस्+इ॰-तृ+अञ् (अ) ▷ विशसित्र ('इट्' लोप, यण्) > वैशसित्रम् (आदिवृद्धि) । (३) तृतीय वार्तिक द्वारा ण्यन्त विभाजयितृ शब्द से 'णि'लोप-पूर्वक 'अञ्' प्रत्यय का विधान किया गया है । उदाहरण—वैभाजित्रम् (बटवारा—विभाजायितुः धर्म्यम्)—वि-भाज्-णि॰-इ-तृ+अञ् (अ) > विभाजितृ+अ ('णिच्'-लोप) > वैभाजित्रम् (यण् तथा आदिवृद्धि) ।

(१६००) पद—अवक्रयः । **अनुवृत्ति**—तस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त से 'अवक्रय' अर्थ में 'ठक्' हो । उदा० आपणस्य अवक्रयः—आपणिकः । राजग्राह्य द्रव्य 'अवक्रय' है ।

विवरण—सूत्र में केवल अर्थ-निर्देशक पद दिया गया है । शेष कार्य अनुवृत्ति-वश जाने जाते हैं । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ ("तस्य धर्म्यम्" ४-४-४७ से अनुवर्तमान 'तस्य') प्रातिपदिकों से 'अवक्रय' (ठेके पर लेना) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—आपणिकः (बाजार के ठेकेदार का कर—आपणस्य अवक्रयः) । आपण॰+ठक् (=इक) । अन्त्यलोप ।

विशेष—अमरकोषकार ने विक्रेय वस्तु के मूल्य को ही अवक्रय कहा है—'मूल्यं वस्नोऽप्यवक्रयः' । भट्टोजी दीक्षित ने राजग्राह्य द्रव्य को अवक्रय संज्ञा दी है ।

(१६०१) पद—तत्, अस्य, पण्यम् । **अनुवृत्ति**—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० अपूपाः पण्यम् अस्य→आपूपिकः ।

विवरण—सूत्र में विभक्ति (तत्) तथा अर्थ-निर्देशक पद (अस्य) विद्यमान हैं । आधिकारिक एवम् प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "प्रथमा-समर्थ

४ । ४ । ५२ ॥ लावणिकः । (१६०३) किसरादिभ्यः ष्ठन् ४ । ४ । ५३ ॥ किसरं पण्यमस्य किसरिकः । षित्वान्ङीष्—किसरिकी । किसर, उशीर, नलद इत्यादिकिसरादयः सर्वे सुगन्धिद्रव्यविशेषवाचिनः । (१६०४) शलालुनोऽन्यतरस्याम् ४ । ४ । ५४ ॥ ष्ठन् स्यात् । पक्षे ठक् । शलालुकः—शलालुकी । शालालुकः—शालालुकी । शलालुः सुगन्धि-

---

(१६०२) लवणाट्ठञ् । तदस्य पण्यमित्येव । लावणिक इति । लवणमस्य पण्यमित्यर्थः ।

(१६०३) किसरादिभ्यः ष्ठन् । तदस्य पण्यमित्येव । ष्ठन्निति च्छेदः । तदाह—षित्वान्ङीषिति ।

(१६०४) शलालुनोऽन्यतरस्याम् । ष्ठन्निति शेषः । तदस्य पण्यमित्येव । शलालुक इति । शलालुः पण्यमस्येति विग्रहः । उकः परत्वाट्ठस्य कः । पित्त्वस्य फलमाह—शलालुकीति ।

प्रातिपदिक से 'षष्ठयर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा-समर्थ वस्तु (तत्) खरीदने-योग्य (पण्यम्) हो'। उदाहरण—आपूपिकः (पूए विक्रय-योग्य हैं जिसके, अर्थात् पूए का दूकानदार—अपूपाः पण्यम् अस्य)। अपूप्+ठक् (ठ = इक)। सिद्धि पूर्ववत्।

(१६०२) पद—लवणात्, ठञ्। अनुवृत्ति—तदस्य पण्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० लावणिकः।

विवरण—"'लवण' के सम्बन्ध में पूर्वसूत्र में वर्णित अर्थ को अभिलक्षित कर 'ठञ्' प्रत्यय का विधान बतलाया जा रहा है"। उदाहरण—लावणिकः (नमक बेचने वाला—लवणं पण्यम् अस्य)—लवण्+ठञ् (ठ = इक)। 'ठक्' तथा 'ठञ्' में रूपसाम्य (लावणिकः) होने पर भी स्वर में भिन्नता है। 'ठञ्' प्रत्ययान्त आद्युदात्त है।

(१६०३) पद—किसरादिभ्यः, ष्ठन्। अनुवृत्ति—तदस्य पण्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० किसरं पण्यम् अस्य→किसरिकः। 'ष्' इत् होने से स्त्री-लिङ्ग में ङीष्—किसरिकी। 'किसर, उशीर, नलद, इत्यादि किसरादि शब्द सुगन्धि द्रव्यवाची हैं।

विवरण—"पूर्वोक्त अर्थ में ही 'किसर' आदि शब्दों से 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण-किसरिकः (सुगन्धित द्रव्य बेचने वाला गन्धी—किसराः पण्यम् अस्य)—किसर्+ष्ठन् (ठ = इक)। अन्त्यलोप। निमित्ताभाव के कारण आदिवृद्धि नहीं हुई। स्त्रीलिङ्ग में ङीष्—"षिद्गौरादिभ्यश्च" (४-१-४१)। इसके अतिरिक्त उशीर (खस) तथा नलद (खस) आदि सुगन्धि द्रव्यवाची शब्द किसरादि गण में पढ़े गए हैं।

(१६०४) पद—शलालुनः, अन्यतरस्याम्। अनुवृत्ति—ष्ठन्, तदस्य पण्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'ष्ठन्' हो। पक्ष में 'ठक्' (होगा)। उदा० १-शलालुकः—शलालुकी। २-शालालुकः—शालालुकी। 'शलालु' भी सुगन्धि-द्रव्य-विशेष है।

विवरण—"पूर्वोक्त अर्थ में ही 'शलालु' शब्द से वैकल्पिक (अन्यतरस्याम्) 'ष्ठन्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है"। इसके फलस्वरूप पक्ष में औत्सर्गिक 'ठक्' प्रत्यय होगा। उदाहरण—(१) शलालुकः→ष्ठन् प्रत्यय होने पर (ठ = क—"इसुसुक्तान्तात् कः ७-३-५१)। शलालुकी←स्त्रीलिङ्ग में (ङीष्)। (२) क-पक्ष में 'ठक्' होने पर आदिवृद्धि होने से→शाला-

द्रव्यविशेषः। (१६०५) शिल्पम् ४।४।५५॥ मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः। (१६०६) मड्डुकझर्झरादणन्यतरस्याम् ४।४।५६॥ मड्डुकवादनं शिल्पमस्य माड्डुकः—माड्डुकिकः। झार्झरः—झार्झरिकः। (१६०७) प्रहरणम् ४।४।५७॥

(१६०५) शिल्पम्। तदस्य शिल्पमित्यर्थे प्रथमान्तात् ठगित्यर्थः। क्रियासु कौशलं शिल्पम्। ननु मार्दङ्गिकः इत्युदाहरणं वक्ष्यति। तत्र मृदङ्गं शिल्पमिति कथं विग्रहः, मृदङ्गस्य शिल्पत्वासम्भवात् तत्राह—मृदङ्गवादनमिति। मृदङ्गवादनविषयकमित्यर्थः। मृदङ्गशब्दो लक्षणया मृदङ्गवादनविषयकः इति भावः।

(१६०६) मड्डुकझर्झरात्। तदस्य शिल्पमित्येव। पक्षे ठक्। मड्डुकझर्झरौ वाद्यविशेषौ।

(१६०७) प्रहरणम्। तदस्येत्येव। प्रहरणवाचिनः प्रथमान्तात्तदस्येत्यर्थे ठगि-

---

लुकः। (२) ख-शालालुकी←स्त्रीलिङ्ग में (ङीप्)। अर्थ—सुगन्धित पदार्थ बेचने वाला (या वाली)—शलालुः पण्यम् अस्य अस्याः वा।

विशेष—'शलालु' शब्द भी गन्ध-विशेषवाची है। अतः पूर्वसूत्र (४-४-५३) से 'छन्' प्राप्त ही था। पाक्षिक 'ठक्' होने में इस वचन की चरितार्थता है।

(१६०५) पद—शिल्पम्। **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० मृदङ्गवादनं शिल्पम् अस्य→मार्दङ्गिकः।

विवरण—'शिल्पम्' पद प्रथमा-समर्थ-समानाधिकरण का बोधक है। विभक्ति-वाचक 'तत्' पद एवम् अर्थ-वाचक 'अस्य' पद की अनुवृत्ति "तदस्य पण्यम्" (४-४-५१) सूत्र से आ रही है। शेष प्राकरणिक आदि अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार "प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से 'इसका समानाधिकरण शिल्प' इस अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। 'शिल्प' का अर्थ कुशलता अथवा वैशिष्ट्य है। **उदाहरण**—मार्दङ्गिकः (मृदङ्ग बजाने वाला—मृदङ्गवादनं शिल्पम् अस्य)—मृदङ्ग+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि—ऋ=आर्। अन्त्यवर्ण-लोप।

(१६०६) पद—मड्डुकझर्झरात्, अण्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—शिल्पम्, तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १-मड्डुकवादनं शिल्पम् अस्य→माड्डुकः—माड्डुकिकः। २-झार्झरः—झार्झरिकः।

विवरण—"'शिल्पम्' 'अस्य' अर्थ को अभिलक्षित कर प्रथमान्त 'मड्डुक' तथा 'झर्झर' प्रातिपदिकों से वैकल्पिक 'अण्' का विधान किया गया है"। अतः पक्ष में पूर्व सूत्र से 'ठक्' प्रत्यय होगा। क्रमशः **उदाहरण**—(१) माड्डुकः→मड्डुक्+अण् होने पर। **माड्डुकिकः** ←पक्ष में मड्डुक्+ठक् (ठ=इक) होने पर। **अर्थ**—बड़ा डमरू[1] बजाने वाला—मड्डुक-वादनं शिल्पम् अस्य। (२) **झार्झरः**→झर्झर्+अण् होने पर। **झार्झरिकः**←पक्ष में 'ठक्' होने पर। **अर्थ**—झाँझ बजाने वाला—झर्झरवादनं शिल्पम् अस्य।

(१६०७) पद—**प्रहरणम्**। **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

---

१. भानुदीक्षितेन अमरकोषटीकायां **महान् डमरुः एव 'मड्डुः'** इति प्रतिपादितम्। तस्य शब्दस्य निष्पत्तिः एवम् प्रदर्शिता वर्तते—'डुमस्जो' शुद्धौ इति धातोः 'भृ-मृ-शी-तृ-चरि-त्सरि-त-नि-धनि-मि-मस्जिभ्य उः" (उणादि-७) इति सूत्रेण उः। पृषोदरादित्वात् जस्य 'डः'।

तदस्य इत्येव । असिः प्रहरणमस्य आसिकः । धानुष्कः । (१६०८) परश्वधाट्ठञ्च ४ । ४ । ५८ ॥ पारश्वधिकः । (१६०९) शक्तियष्ट्योरीकक् ४ । ४ । ५९ ॥ शाक्तीकः । याष्टीकः । (१६१०) अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ४ । ४ । ६० ॥

त्यर्थः । प्रह्रियतेऽनेनेति प्रहरणम् आयुधम् । धानुष्क इति । धनुः प्रहरणमस्येति विग्रहः । उसन्तात्परत्वाट्ठस्य कः । 'इणः षः' इति षः ।

(१६०८) परश्वधाट्ठञ् च । तदस्य प्रहरणमित्येव । चात् ठक् । 'परशुश्च परश्वधः' इत्यमरः ।

(१६०९) शक्तियष्ट्योरीकक् । शक्तियष्टिशब्दाभ्यां प्रथमान्ताभ्यां प्रहरणवाचिभ्यामस्येत्यर्थे ईकक् स्यादित्यर्थः ।

(१६१०) अस्ति नास्ति । तदस्येत्येवेति । अस्तीति मतिरस्यास्ति, नास्तीति

मूलार्थ—'तद् अस्य' को अभिलक्षित कर ही (हो)। उदा० १–असिः प्रहरणम् अस्य→ आसिकः । २–धानुष्कः ।

विवरण—'ठक्' का ही प्रकरण है। अर्थ–विशेष का लाभ अनुवर्तमान पदों से होता है। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक (तद्) से षष्ठयर्थ (अस्य) में 'ठक्' प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक 'शस्त्र' (प्रहरण) हो"। **उदाहरण**—(१) आसिकः (तलवार चलाने वाला—असिः प्रहरणम् अस्य)—असि+ठक् (ठ = इक)। (२) धानुष्कः (धनुष चलाने वाला—धनुः प्रहरणम् अस्य)—धनुस् (ष्)+ठक्। ठ = 'क'—"इसुसुक्तान्तात् कः" (७-३-५१)।

(१६०८) पद—परश्वधात्, ठञ्, च। **अनुवृत्ति**—प्रहरणम्, तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० पारश्वधिकः।

विवरण—"प्रथमा-समर्थ प्रहरण-समानाधिकरण-वाची 'परश्वध' प्रातिपदिक से षष्ठयर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है"। सूत्र में 'च' का निवेश होने से 'ठक्' भी होगा। रूपसाम्य होने पर भी दोनों में 'स्वर' का भेद है। **उदाहरण**—पारश्वधिकः (परशु चलाने वाला—परश्वधः प्रहरणम् अस्य)—परश्वध+'ठञ्' अथवा 'ठक्'। (ठ = इक)। आदिवृद्धि तथा अन्त्यलोप। 'परशु' का ही पर्यायवाची 'परश्वध' शब्द है।

(१६०९) पद—शक्ति-यष्ट्योः, ईकक्। **अनुवृत्ति**—प्रहरणम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १–शाक्तीकः। २–याष्टीकः।

विवरण—प्रहरण-सम्बन्धी विषय वर्तमान है। अतः "प्रथमा-समर्थ प्रहरण-समानाधिकरण-वाची 'शक्ति' तथा 'यष्टि' प्रातिपदिकों से 'ईकक्' (= ईक) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) शाक्तीकः (बर्छी चलाने वाला—शक्तिः प्रहरणम् अस्य)—शक्ति+ईकक्[1] (ईक)। आदिवृद्धि, अन्त्य-लोप। (२) याष्टीकः (लकड़ी चलाने वाला—यष्टिः प्रहरणम् अस्य)—यष्टि+ईकक् (ईक)।

(१६१०) पद—अस्ति-नास्ति-दिष्टम्, मतिः। **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

---

१. ईककि दीर्घोच्चारणं स्पष्टार्थम्। ह्रस्वोच्चारणेऽपि सवर्णदीर्घेण सिद्धेः। न च "यस्येति च" (६-४-१४८) इति लोपापत्तिः, इकारोच्चारणसामर्थ्येनैव लोपाभावसिद्धेः।

तदस्य इत्येव। अस्ति परलोकः इत्येवं मतिर्यस्य सः आस्तिकः। नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः। दिष्टमिति मतिर्यस्य स दैष्टिकः। (१६११) शीलम् ४।४।६१॥ अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः। (१६१२) छत्रादिभ्यो णः ४।४।६२॥

मतिरस्यास्ति, दिष्टमिति मतिरस्यास्तीत्यर्थेषु क्रमेण अस्तिनास्तिशब्दो निपातौ। यद्वा वचनादेव आख्यातात्प्रत्ययः। 'दैवं दिष्टम्' इत्यमरः।

(१६११) शीलम्। अस्येत्यर्थे शीलवाचिनः प्रथमान्ताट्ठगित्यर्थः। शीलं स्वभावः। अपूपभक्षणमिति। अपूपशब्दस्तद्भक्षणे लाक्षणिक इति भावः।

मूलार्थ—'तदस्य' को अभिलक्षितकर ही (हो)। उदा० १-अस्ति परलोकः इत्येवं मतिः यस्य सः→आस्तिकः। २-नास्ति इति मतिः यस्य सः→नास्तिकः। ३-दिष्टम् इति मतिः यस्य सः→दैष्टिकः।

विवरण—'तदस्य' की (४-४-५१) अनुवृत्ति का सातत्य विद्यमान है। सूत्र में तीन महत्त्वपूर्ण शब्द समाविष्ट हैं, जिनसे प्राकरणिक 'ठक्' प्रत्यय संयुक्त होगा। सूत्र में निर्दिष्ट 'अस्ति' तथा 'नास्ति' शब्द निपात हैं। अथवा 'अस्ति' शुद्ध क्रियावाची तथा 'नास्ति' निपातयुक्त-क्रियावाची पद है। वचन-सामर्थ्य से ही क्रिया-वाचक दोनों पदों से प्रत्यय-विधान माना गया है। तीसरा 'दिष्ट' शब्द भाग्य का पर्याय-वाची है। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ (तत्) 'अस्ति', 'नास्ति' तथा 'दिष्ट' (अस्ति-नास्ति-दिष्टम्) प्रातिपदिकों से 'इसकी (अस्य) मति' (मतिः) विषय में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **आस्तिकः** (ईश्वर या परलोक की सत्ता पर विश्वास करने वाला—अस्ति इति मतिः अस्य)—अस्ति+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। (२) **नास्तिकः** (ईश्वर या[1] परलोक की सत्ता न मानने वाला—नास्ति इति मतिः अस्य)—नास्ति+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। (३) **दैष्टिकः** (भाग्य को मानने वाला—दिष्टम् इति मतिः अस्य)—दिष्ट+ठक् (ठ=इक)।

विशेष—'अस्ति मतिः' अर्थ में यदि प्रत्यय किया जाय तो चोर में भी मति होने से वह भी आस्तिक कहा जाने लगेगा। उसी तरह मतिरहित अचेतन में भी 'नास्तिक' शब्द का प्रयोग होने लगेगा। अतः परलोक-घटित व्याख्या की गई है[2]।

(१६११) पद—शीलम्। **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० अपूपभक्षणं शीलम् अस्य→आपूपिकः।

विवरण—'तदस्य' का ही विषय है। 'शील' का अर्थ है—स्वभाव। "अतः प्रथमा-समर्थ शील-समानाधिकरण-वाची प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**आपूपिकः**—पूआ खाने वाला—अपूपभक्षणं शीलम् अस्य)। अपूप+ठक्। प्रक्रिया पूर्ववत्।

'अपूप' शब्द का प्रयोग यहाँ लाक्षणिक अर्थ में 'अपूप-भक्षण' के रूप में हुआ है।

---

१. 'अस्ति' इति कथनेन परलोककर्तृका सत्ता विज्ञेया। तत्रैव विषये लोके प्रयोगदर्शनात्। तेन परो लोकोऽस्तीति आस्तिकः, तद्विपरीतो नास्तिकः। दिष्टशब्दो दैवपर्यायः। तेन दैवपरायणो दैष्टिकः"—इति कैयटेन प्रतिपादितम्।

२. अस्मिन् सूत्रे भाष्ये "किं यस्यास्ति मतिः स आस्तिकः"? इति कथयता चौरेऽपि प्राप्नोति, तस्यापि मतिसद्भावात् इति अनिष्टाशङ्का प्रदर्शिता। तथैव च नास्तीत्यत्रापि मतेरभावेन अचेतनपदार्थोऽपि नास्तिकः स्यात्। अतः "इति' शब्दस्य लोपोऽत्र द्रष्टव्यः" इति समाधानं कृतम्। तथा च अभिधानशक्तिस्वाभाव्यात् 'परलोकः अस्तीति' अर्थः लभ्यते।

गुरोर्दोषाणामावरणं छत्त्रम्, तच्छीलमस्य छात्त्रः। (१६१३) कार्मस्ताच्छील्ये ६। ४।१७२॥ कार्मं इति ताच्छील्ये णे टिलोपो निपात्यते। कर्मशीलः कार्मः। 'नस्तद्धिते' (सू ६७९) इत्येव सिद्धे 'अण्कार्यं ताच्छीलिके णेऽपि'। तेन चौरी, तापसी इत्यादि

(१६१२) छत्त्रादिभ्यो णः। एभ्यः प्रथमान्तेभ्यः अस्य शीलमित्यर्थे णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। 'छत्त्रं शीलमस्य छात्त्रः' इत्युदाहरणं वक्ष्यति। तत्र छत्त्रस्य शीलत्वानुपपत्तेः छत्त्रपदं गुरुदोषावरणे गौणमित्याह—गुरोरिति। शीलमित्यर्थे छत्त्रादित्वात् णप्रत्यये कृते।

(१६१३) कार्मस्ताच्छील्ये। तत् शीलं यस्य सः तच्छीलः, तस्य भावः ताच्छील्यम्। तस्मिन्वाच्ये कार्मं इति भवतीत्यर्थः। णप्रत्यये परे टिलोपः स्यादिति यावत्। तदाह—टिलोपो निपात्यत इति। णेऽपीत्यनन्तरम् इति ज्ञापनार्थमिदमिति शेषः। अत्र टिलोपविधिर्हि 'अन्' इति प्रकृतिभावनिवृत्त्यर्थः। ततश्च अणि विहितस्य प्रकृतिभावस्य

(१६१२) पद—छत्त्रादिभ्यः, णः। अनुवृत्ति—शीलम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—गुरुगत दोषों का आवरण 'छत्त्र' है। वह जिसका स्वभाव हो उसे 'छात्त्र' कहा जायगा।

विवरण—पूर्व सूत्र का (१६११) विषय है। सूत्रोक्त पदों के साथ उसका अन्वय करने पर यह विदित होता है कि "शील-समानाधिकरणवाची प्रथमा-समर्थ 'छत्त्रादि' प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ण' (=अ) प्रत्यय हो"। 'छत्त्र' अर्थात् छाता। वह आतप, वर्षा आदि से रक्षा करता है। उसे ओढ कर सिर आदि ढक जाते हैं—(√छद+ष्ट्रन्)। किन्तु यहाँ काशिकाकार, न्यासकार आदि व्याख्याताओं ने 'छत्त्र' शब्द के आवरणरूप अर्थ में लाक्षणिक-वृत्ति मानकर उसे गौण बना दिया है। भट्टोजी दीक्षित ने भी उसी रूप में अर्थ स्वीकार कर 'छत्त्र-शीलता' शिष्य में दिखाई है। तदनुसार गुरुकार्यों में लगा हुआ, गुरु की त्रुटियों को (सिर ढकने वाले छत्त्र की तरह) छिपाने वाला शिष्य छत्त्रशील कहा गया है। इस रूप में छात्त्रः→उदाहरण दिया गया है—छत्त्र+ण (=अ) ▷ छात्त्र्+अ (आदिवृद्धि) > छात्त्रः (अन्त्यवर्ण लोप)।

विशेष—महाभाष्यकार ने 'छत्त्र' शब्द की व्याख्या 'छत्त्रमिव छत्त्रम्' (उत्तरपदलोप) की है। यद्यपि 'छत्त्र' शब्द की गौणी वृत्ति तो उन्होंने भी मानी है, तथापि 'छत्त्रशीलता' वे गुरु में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार—जो छत्त्र के समान शिष्य की रक्षा करे, उसको अज्ञानान्धकार से हटाये—वह गुरु 'छत्त्र के समान' होने से छत्त्र-पदवाच्य होगा। तथा छत्त्र के समान जो गुरु की शुश्रूषा करे, वह छात्त्र कहलाता है[1]।

(१६१३) पद—कार्मः, ताच्छील्ये। अनुवृत्ति—अङ्गस्य, भस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० कार्मः। यहाँ पर ताच्छील्य अर्थ में 'ण' प्रत्यय परे रहते 'टि'-लोप का निपातन है। 'कार्मः' का अर्थ है—कर्मशील व्यक्ति। टि-लोप तो "नस्तद्धिते" (सू० ६७९) से सिद्ध रहा। (अतः ज्ञापन करता है कि) 'ताच्छील्य 'ण' में 'अण' के समान कार्य हों'। तब चौरी, तापसी आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'ताच्छील्य' क्यों कहा? कार्मणः (ताच्छील्यार्थक न होने से टिलोपाभाव)।

---

१. "किं यस्य च्छत्त्रधारणं शीलं स च्छात्त्रः? किं चातः? राजपुरुषे प्राप्नोति। एवं तर्ह्युत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। छत्त्रमिव च्छत्त्रम्। गुरुणा शिष्यश्छत्त्रवत् छाद्यः। शिष्येण च गुरुश्छत्त्रवत् परिपाल्यः"। —महाभाष्यम्।

सिद्धम्। ताच्छील्ये किम् ? कार्मणः। (१६१४) कर्माध्ययने वृत्तम् ४।४।६३॥ प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे ठक् स्यादध्ययने वृत्ता या क्रिया सा चेत्प्रथमान्तस्यार्थः। एकमन्यद् वृत्तमस्य ऐकान्यिकः। यस्याध्ययने प्रवृत्तस्य परीक्षाकाले विपरीतोच्चारणरूपं स्खलित-

---

णप्रत्यये परतः प्रतिषेधादण्कार्यकारित्वं णप्रत्ययस्य ज्ञाप्यत इति भावः। तेनेति। चुरा शीलमस्याः, तपः शीलमस्याः इति विग्रहे चुरातपःशब्दाभ्यां छत्रादित्वाण्णप्रत्यये सति तदन्ताभ्यामणन्तकार्ये ङीपि चौरी तापसीति सिद्धमित्यर्थः। **कार्मण इति।** 'तस्येदम्' इत्यणि 'कार्मस्ताच्छील्ये' इत्यस्याप्रवृत्त्या 'अन्' इति प्रकृतिभावान्न टिलोप इति भावः।

(१६१४) कर्माध्ययने वृत्तम्। 'तदस्य पण्यम्' इत्यतः तदस्येत्यनुवर्तते। 'तदस्य कर्माध्ययने वृत्तम्' इत्यर्थनिर्देशः। तत्र तदित्यनेन विशेषेण कर्म वृत्तमित्यन्वेति। कर्मशब्दः क्रियापरः। वृत्तमित्यस्य जातमित्यर्थः। वृत्तं कर्म प्रति विशेष्यसमर्पकं तदिति प्रथमोच्चारितम्। ततश्च अस्य अध्ययनविषये तत्कर्म वृत्तमित्यर्थे तच्छब्दगम्यविशेष्यवाचकप्रथमान्तात्ठक् स्यादित्यर्थः। तदाह—**प्रथमान्तादिति।** वृत्तं कर्म प्रति विशेष्यसमर्पका-

---

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। छत्रादि-गण में 'कर्मन्' शब्द का समावेश होने के कारण टि-लोपाभाव का उपाय सुझाया जा रहा है। अष्टाध्यायी-क्रम में षष्ठाध्याय के चतुर्थ चरण की समाप्ति होने से कुछ पूर्व यह सूत्र पढ़ा गया है। तद्धित से सम्बद्ध 'भ'-संज्ञा एवम् 'अङ्गाधिकार' के प्रभाव से युक्त इस सूत्र का यह आशय है कि "ताच्छील्यार्थक 'ण' प्रत्यय परवर्ती रहने पर 'कर्मन्' शब्द में 'टि'-लोप निपातन किया जाय"। अतः टि-भाग = 'अन्' का लोप होगा।
उदाहरण—**कार्मः** (कर्मशील अर्थात् काम करने वाला श्रमिक—कर्म शीलमस्य)—कर्म्̥न्+ण (= अ) ▷ कार्मः (टिलोप, आदिवृद्धि तथा णत्व)।

शङ्का-समाधान—जब किसी तरह शब्दसिद्धि सम्भव नहीं होती तभी निपातन किया जाता है। 'कार्म' रूप तो 'कर्मन्' से ण (= अ) प्रत्यय करने पर आदिवृद्धि एवम् "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से टि (= अन्) लोप होकर स्वतः सिद्ध है। अतः निपातन क्यों? वह व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है—**ताच्छील्य अर्थ में विहित ण प्रत्यय 'अण्'-सदृश माना जाय।** इसके फलस्वरूप 'ण' प्रत्यय परवर्ती रहने पर 'अण्' परवर्ती होने के समान "अन्" (६-४-१६७) सूत्र से प्रकृतिभाव की प्राप्ति होती है, वह न हो। इस हेतु यह निपातन चरितार्थ होता है। इसके अनुसार **चौरी** (चोरी करने वाली—चुरा शीलम् अस्याः) तथा **तापसी** (तप करने वाली—तपः शीलम् अस्याः) में 'ण' प्रत्यय ('चुरा+ण' एवं 'तपस्+ण') होने पर स्त्रीत्व की विवक्षा होने से 'ण' प्रत्ययान्त में भी 'अण्' प्रत्ययान्त के सदृश "टिड्ढाणञ्०" (४-१-१५) से 'ङीप्' प्रत्यय होकर इष्टसिद्धि होती है।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में ताच्छील्य' पद का निवेश होने के फलस्वरूप 'कर्मन्' से 'इदम्' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होने से **कार्मणः** में 'टि'लोप नहीं हुआ।

(१६१४) पद—कर्माध्ययने, वृत्तम्। **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—यदि अध्ययन में निष्पन्न क्रिया (=कार्य) प्रथमान्तार्थ रहे तो प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हो। उदा० ऐकान्यिकः। इसका अर्थ है—परीक्षा के समय उच्चारण सम्बन्धी एक भूल करने वाला व्यक्ति।

विवरण—पुनः प्राकरणिक सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है। 'तदस्य' का ही प्रकरण है। सूत्रस्थ 'कर्म' पद क्रियापरक है। 'अध्ययने' विषय-सप्तमी है। तदनुसार उल्लिखित अनुवृत्तियों के साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता करने पर यह विदित होता है कि "अध्ययन के विषय में

मेकं जातं, सः। **(१६१५) बह्वच्पूर्वपदाट्ठञ् ४ । ४ । ६४ ॥** प्राग्विषये। द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य—द्वादशान्यिकः। द्वादशापपाठाः अस्य जाता इत्यर्थः। **(१६१६) हितं भक्षाः ४ । ४ । ६५ ॥** अपूपभक्षणं हितमस्मै आपूपिकः। (१६१७)

दिति शेषः। अध्ययने वृत्तेति। विषयसप्तम्येषा। या क्रियेति। अनेन कर्म शब्दः क्रियापर इति सूचितम्। प्रथमान्तस्यार्थं इति। अनेन कर्म वृत्तमित्येतत् तदित्यस्य प्रथमान्तस्य विशेषणमिति सूचितम्। तदित्यननुवृत्तौ कर्मशब्दस्यैव सूत्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वात् तत एव प्रत्ययः स्यात्, न तु तद्विशेष्यवाचकात्, तस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वाभावादित्यभिप्रेत्योदाहरति—एकमन्यद् वृत्तमस्य ऐकान्यिक इति। 'तद्धितार्थ' इति समासे एकान्यशब्दाट्ठगिति भावः। द्वैयन्यिकः, त्रैयन्यिकः। ऐजागमो विशेषः।

(१६१५) बह्वच्पूर्वपदाट्ठञ्। 'तदस्य कर्माध्ययने वृत्तम्' इत्यनुवर्तते। तदाह—प्राग्विषये इति। द्वादशान्यिक इति। 'तद्धितार्थ' इति समासः। एवं त्रायोदशान्यिकः। ञित्त्वादादिवृद्धिः।

(१६१६) हितं भक्षाः। तदस्येत्यनुवृत्तम्। तत्र षष्ठी चतुर्थ्या विपरिणम्यते, हितयोगात्। तत् अस्मै हितमित्यर्थे प्रथमान्ताट्ठक् स्यात् यत् हितं भक्षाश्चेत् ते स्युरित्यर्थः।

(अध्ययने) होने वाले कार्य (कर्म वृत्तम्) के समानाधिकरण-वाची प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हो"। सूत्रस्थ 'वृत्तं' का तात्पर्य 'जातम्' अर्थात् होना है। **उदाहरण—ऐकान्यिकः** (परीक्षा के समय में पहली एक भूल करने वाला छात्र—एकम् अन्यद् अध्ययने कर्म वृत्तम् अस्य)—एकान्य+ठक् (ठ = इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। इसके पूर्व 'एकम् अन्यत्—वृत्तम्' तद्धितार्थ समास होने पर 'एकान्य' शब्द निष्पन्न किया गया है। इसी तरह **द्वैयन्यिकः** तथा **त्रैयन्यिकः** उदाहरण जाने जायँ। इन दोनों उदाहरणों में यथाप्राप्त 'ऐच्' आगम भी हुआ है।

(१६१५) पद—बह्वच्पूर्वपदात्, ठञ्। **अनुवृत्ति**—कर्माध्यने वृत्तम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पूर्व सूत्र के विषय में (ही जाना जाय)। उदा० द्वादशानि अन्यानि कर्माणि अध्ययने वृत्तानि अस्य→द्वादशान्यिकः अर्थात् बारह त्रुटियाँ इसकी हो गईं।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है। अनेक-अच्-युक्त पूर्वपदक शब्दों से 'ठञ्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। अतः "अध्ययन-विषय में हुए कार्य के समानाधिकरणवाची प्रथमा-समर्थ अनेक स्वर-वर्णों से युक्त पूर्वपद वाले प्रातिपदिक से 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। पूर्व सूत्र का यह अपवाद है। **उदाहरण—द्वादशान्यिकः** (परीक्षा के समय बारह त्रुटियाँ करने वाला छात्र—द्वादश अन्यानि कर्माणि अध्ययने वृत्तानि अस्य)—द्वादशान्य+ठञ् (ठ = इक)। इसके पूर्व तद्धितार्थ में समास। यहाँ पर 'द्वादशान्य' शब्दावयव पूर्वपदस्थ 'द्वादश' शब्द अनेक (= तीन) अचों से युक्त है। इसी प्रकार **त्रायोदशान्यिकः** आदि रूप निष्पन्न होंगे। 'ठञ्' प्रत्यय के 'ञित्' होने से आदिवृद्धि भी होगी[1]।

(१६१६) पद—हितं, भक्षाः। **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० अपूपभक्षणं हितम् अस्मै→आपूपिकः।

विवरण—'तदस्य' का ही विषय है। किन्तु यहाँ 'हित' के योग में 'अस्य'=षष्ठी का चतुर्थी में विपरिणाम होता है। अतः "हित-समानाधिकरण-वाले (हितं) भक्ष्यवाची (भक्षाः) प्रथमा-

---

१. यहाँ पाठभेद है। 'ठच्' पाठ स्वीकार करने पर आदिवृद्धि नहीं होगी।

तदस्मै दीयते नियुक्तम् ४।४।६६॥ अग्रभोजनं नियुक्तं दीयते अस्मै—आग्रभोजनिकः। (१६१८) श्राणामांसौदनाट्टिठन् ४।४।६७॥ श्राणा नियुक्तं दीयतेऽस्मै श्राणिकः। श्राणिकी। मांसौदनग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थम्। मांसौदनिकः। मांसिकः।

संस्कृतं भक्षाः इतिवद्व्याख्येयम्। अपूपभक्षणमिति। अनेन अपूपशब्दः अपूपभक्षणे लाक्षणिक इति सूचितम्। अपूपो हितमित्यर्थे तु न ठक्, अभिधानस्वाभाव्यादिति भावः।

(१६१७) तदस्मै दीयते नियुक्तम्। अस्मिन्नर्थे प्रथमान्ताट्ठगित्यर्थः। नियुक्तमिति पाठान्तरं नियतमित्यर्थः।

(१६१८) श्राणामांस। तदस्मै दीयते नियतमित्येव। श्राणा यवागूः। 'यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा' इत्यमरः। टित्त्वं ङीबर्थम्। तदाह—**श्राणिकोति।** **सङ्घातविगृहीतार्थमिति।** ठकैव सिद्धे ओदनिक इत्यत्र आदिवृद्ध्यभावार्थं प्रत्ययान्तरविधानमिति भावः।

समर्थ (तत्) प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**आपूपिकः** (पूप का खाना जिसके लिये हितकारी हो—अपूपभक्षणं हितम् अस्मै)—अपूप्+ठक् (ठ=इक)। यहाँ पर भी पूर्ववत् 'अपूप' शब्द अपूपभक्षण अर्थ में लाक्षणिक है। शेष कार्य पूर्ववत्।

(१६१७) पद—तत्, अस्मै, दीयते, नियुक्तम्। **अनुवृत्ति**—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० अग्रभोजनं नियुक्तं दीयते अस्मै→आग्रभोजनिकः।

विवरण—सूत्र में 'तत्' पद 'प्रथमा-विभक्ति' का सूचक है। अर्थ-सूचक वाक्य है—'अस्मै नियुक्तं दीयते'। प्राकरणिक 'ठक्' की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। अतः "प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक से 'इसके लिए (अस्मै) नियमपूर्वक (नियुक्तं) दिया जाता है (दीयते)' अर्थ को अभिलक्षित कर 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**आग्रभोजनिकः** (जिसे नियमपूर्वक सबसे पहले भोजन दिया जाय—अग्रभोजनं नियुक्तं दीयते अस्मै)—अग्रभोजन्+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण लोप आदि कार्य।

(१६१८) पद—श्राणा-मांसौदनात्, टिठन्। **अनुवृत्ति**—तदस्मै दीयते नियुक्तम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उदा० १—श्राणा नियुक्तं दीयते अस्मै→श्राणिकः। स्त्रीलिङ्ग में—श्राणिकी। 'मांसौदन' शब्द समस्त एवं पृथक् विगृहीत रूपों में गृहीत है। उदा० मांसौदनिकः—मांसिकः—ओदनिकः।

विवरण—पूर्व सूत्र के अर्थ का ही विषय है। कुछ शब्दों से प्रत्ययविशेष का विधान बतलाया जा रहा है। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ 'श्राणा' तथा 'मांसौदन' प्रातिपदिकों से 'इसको नियत रूप से दिया जाता है' अर्थ में 'टिठन्' (ठ) प्रत्यय होता है"। 'टिठन्' में 'ठ' शेष रहता है, क्योंकि 'ट्' 'इत्' है, 'इ'कार उच्चारणार्थ है, एवम् 'न्' भी इत्संज्ञक है। फल—'ठ' के स्थान पर=इक, 'ट्' इत्संज्ञक होने से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' तथा 'न्' इत्संज्ञा से आद्युदात्तादि कार्य होते हैं। **उदाहरण**—(१) **श्राणिकः** (पकी हुई लपसी जिसे रोज दी जाय—श्राणा नियुक्तम् अस्मै दीयते)—श्राणा+टिठन् (ठ=इक)। अन्त्यवर्णलोप। स्त्रीलिङ्ग में ङीप्—**श्राणिकी** (२) (क) **मांसौदनिकः** (मांस मिश्रित भात खाने वाला—मांसौदनं नियुक्तम् अस्मै दीयते)—मांसौदन (=मांसमिश्रितम् ओदनम्—मध्यम-पदलोपी समास)+टिठन् (ठ=इक)। पृथक् पद—(i) (ख) **मांसिकः** (मांस प्रतिदिन खाने वाला—मांसः नियुक्तं दीयते अस्मै)—मांस्+टिठन् (ठ=इक)। (ii) **ओदनिकः** (जिसे प्रतिदिन भात खाने के

ओदनिकः । (१६१९) भक्तादणन्यतरस्याम् ४ । ४ । ६८ ॥ पक्षे ठक् । भक्तमस्मै नियतं दीयते भाक्तः-भाक्तिकः । (१६२०) तत्र नियुक्तः ४ । ४ । ६९ ॥ आकरे नियुक्तः—आकरिकः । (१६२१) अगारान्ताट्ठन् ४ । ४ । ७० ॥ देवागारे नियुक्तो देवागारिकः । (१६२२) अध्यायिन्यदेशकालात् ४ । ४ । ७१ ॥ निषिद्धदेशकाल-

---

(१६१९) भक्तादणन्यतरस्याम् । तदस्मै दीयते नियतमित्येव ।

(१६२०) तत्र नियुक्तः । अस्मिन्नर्थे सप्तम्यन्ताट्ठक् स्यादित्यर्थः । नियुक्तः अधिकृतः । संरक्षणादौ प्रेरित इति यावत् । आकरिक इति । आकरः रत्नाद्युद्भवस्थानम् ।

(१६२१) अगारान्ताट्ठन् । तत्र नियुक्त इत्येव । नित्त्वान्नादिवृद्धिः । तदाह—देवागारिक इति ।

(१६२२) अध्यायिन्यदेशकालात् । निषिद्धेति । अदेशकालेत्यत्र नञ् निषिद्धे वर्तते

लिये दिया जाय—ओदनं नियुक्तं दीयते अस्मै)—ओदन् + टिठन् (ठ = इक)। अन्त्यलोप। निमित्ताभाव के कारण आदिवृद्धि नहीं हुई। अन्यथा 'ठन्' विधान में लाघव था। वृद्धि न होने में ही 'टिठन्' की चरितार्थता है।

(१६१९) पद—भक्तात्, अण्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—तदस्मै दीयते नियुक्तम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पक्ष में ठक् हो। उदा० भक्तम् अस्मै नियतं दीयते→भाक्तः—भाक्तिकः।

विवरण—अर्थ आदि पूर्व सूत्र के समान हैं। वैकल्पिक 'अण्'—विधि के लिये पृथक् विधान किया जा रहा है, अन्यथा केवल 'ठक्' प्रत्यय तो सिद्ध रहा। अतः "प्रथमा-समर्थ 'भक्त' प्रातिपदिक से 'नियुक्तम् अस्मै दीयते' अर्थ में विकल्प से 'अण्' होता है"। पक्ष में 'ठक्' भी होगा। **उदाहरण**—(क) **भाक्तः**→'अण्' होने पर (भक्त + अण्)। (ख) **भाक्तिकः**← 'ठक्' होने पर (भक्त + ठक्—ठ = इक)। दोनों में आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप। **अर्थ**—जिसे प्रति दिन भात दिया जाय—भक्तः नियुक्तम् अस्मै दीयते।

(१६२०) पद—तत्र, नियुक्तः। **अनुवृत्ति**—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० आकरे नियुक्तः→आकरिकः।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्पष्ट है। अनुवर्तमान 'ठक्' पद से अन्वित होकर सूत्र का यह आशय है कि "सप्तमी-समर्थ प्रातिपदिक से 'नियुक्त' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हो"। 'नियुक्त' शब्द 'संरक्षणादि में प्रेरित' अर्थ का बोधक है। **उदाहरण**—**आकरिकः** (खानों का निरीक्षक—आकरे नियुक्तः)—आकर् + ठक् (ठ = इक)। आदिवृद्धि, अन्त्य-वर्ण-लोप।

(१६२१) पद—अगारान्तात्, ठन्। **अनुवृत्ति**—तत्र नियुक्तः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० देवागारे नियुक्तः→देवागारिकः।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ 'अगार'-अन्त वाले प्रातिपदिकों से 'नियुक्त' अर्थ में 'ठन्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**देवागारिकः** (देवमन्दिर का निरीक्षक—देवागारे नियुक्तः)—देवागार् + ठन् (ठ = इक)। अन्त्य-वर्ण-लोप। निमित्ताभाव के कारण आदिवृद्धि नहीं। 'न्' इत्संज्ञक प्रत्यय होने से आद्युदात्त स्वर होगा।

(१६२२) पद—अध्यायिनि, अदेशकालात्। **अनुवृत्ति**—तत्र, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

वाचकाट्ठक्स्यादध्येतरि। श्मशानेऽधीते-श्माशानिकः। चतुर्दश्यामधीते—चातुर्दशिकः।
(१६२३) कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ४।४।७२॥ तत्र इत्येव। वंशकठिने व्याहरति वांशकठिनिकः। वंशाः वेणवः कठिनाः यस्मिन्देशे स वंशकठिनः। तस्मिन्देशे या क्रिया यथा अनुष्ठेया तां तथैवानुतिष्ठतीत्यर्थः। प्रास्तारिकः। सांस्थानिकः।

इति भावः। श्माशानिकः। चातुर्दशिक इति। देशकालभिन्नादिति व्याख्याने तु इह न स्यादिति भावः।

(१६२३) कठिनान्तप्रस्तार। अस्मिन्नर्थे कठिनान्त, प्रस्तार, संस्थान एभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः ठगित्यर्थः। वंशकठिनशब्दं विवृणोति—वंशा इति। व्यवहरणम् उचितक्रिया। तदाह—यस्मिन्देशे इति। प्रस्तारसंस्थानशब्दौ अवयवसन्निवेशपर्यायौ।

मूलार्थ—अध्ययन-विषयक निषिद्ध देश या निषिद्ध कालवाचक शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय होता है। उदा० १-श्मशाने अधीते→श्माशानिकः। २-चतुर्दश्याम् अधीते→चातुर्दशिकः।

विवरण—'तत्र नियुक्तः' का ही विषय है। किन्तु 'ठक्' प्रत्यय प्राकरणिक है। अतः सब पदों की एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि "सप्तमी-समर्थ 'अदेश-काल-वाची' प्रातिपदिकों से (अर्थात् जिस देश व काल में अध्ययन नहीं करना चाहिये) अध्ययन करने वाला अभिधेय हो तो 'ठक्' प्रत्यय हो"। अध्ययन की दृष्टि से जो देश-काल प्रतिषिद्ध किए गए हैं, अर्थात् जिस स्थान पर या काल में अध्ययन नहीं हो सकता—ऐसे देश-काल को 'अदेशकाल' कहा है। यहाँ पर 'नञ्' विरुद्धार्थक है। **उदाहरण**—(१) **श्माशानिकः** (श्मशान में अध्ययन करने वाला—श्मशाने अधीते)—श्मशान्+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्य-वर्ण-लोप। (२) **चातुर्दशिकः** (चतुर्दशी को अध्ययन करने वाला)—चतुर्दश्+ठक् (ठ=इक)। प्रक्रिया पूर्ववत्। **विग्रह**—चतुर्दश्याम् अधीते।

विशेष—ये दोनों अर्थात् श्मशान एवं चतुर्दशी तिथि—अध्ययन के लिये वर्ज्य हैं। अतः अदेश-काल माने गए हैं।

(१६२३) **पद**—कठिनान्त-प्रस्तार-संस्थानेषु, व्यवहरति। **अनुवृत्ति**—तत्र, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**। सप्तम्यन्त (से ही हो)। उदा० १—वंशकठिने व्यवहरति—वांशकठिनिकः। जिस स्थान में कठिन बाँस पैदा हों वह स्थान—'वंशकठिन' कहा जायगा। उस स्थान पर जो काय उचित रीति से जैसे किया जाय, उसी प्रकार करने वाला व्यक्ति—वांशकठिनिकः। २-प्रास्तारिकः। ३-सांस्थानिकः।

विवरण—'सप्तमी-समर्थ' ("तत्र नियुक्तः" से अनुवर्तमान 'तत्र' पद) का ही विषय है। अतः "सप्तमी-समर्थ 'कठिन' शब्द अन्त वाले तथा 'प्रस्तार' एवम् 'संस्थान' प्रातिपदिकों से 'व्यवहार करता है' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**वांशकठिनिकः** (बाँस के वन में व्यवसाय करने वाला—वंशकठिने व्यवहरति)—वंशकठिन्+ठक् (ठ=इक)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्य-वर्ण-लोप। 'वंशकठिन' शब्द बहुव्रीहि समास-परक है—वंशाः कठिनाः यस्मिन् देशे सः—वंशकठिनः। ऐसे स्थान पर यथोचित कार्य करने वाला व्यक्ति 'वांशकठिनिक' कहा जाता है। इसी प्रकार अग्रिम प्रयोगों का भी अर्थ जानना चाहिये। (२) **प्रास्तारिकः** (अल्प समूह में या यज्ञ में व्यवहार करने वाला—प्रस्तारे व्यवहरति)—प्रस्तार्+ठक्। आदिवृद्धि एवम् 'अन्त्य'-लोप। (३) **सांस्थानिकः** (समूह में या चतुष्पथ में व्यवहार करने वाला-संस्थाने व्यवहरति)—संस्थान+ठक्।

(१६२४) निकटे वसति ४ । ४ । ७३ ।। नैकटिको भिक्षुः । (१६२५) आवसथात् छल् ४ । ४ । ७४ ।। आवसथे वसति—आवसथिकः । षित्त्वान्ङीष् । आवसथिकी ।

'आकर्षात्पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च ।
आवसथात्किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे' ।। (श्लो० वा०)

(वा २६५५) । षडिति सूत्रषट्केन विहिता इत्यर्थः । प्रत्ययास्तु सप्त ।

इति तद्धिते प्राग्वहतीय(ठगधिकार)प्रकरणम् ।



(१६२४) निकटे वसति । अस्मिन्नर्थे सप्तम्यन्तान्निकटशब्दाट्ठगित्यर्थः । नैकटिको भिक्षुरिति । ग्रामात्क्रोशे भिक्षुणा वस्तव्यमिति शास्त्रमुल्लङ्घ्य निकटे यो भिक्षुर्वसति तत्रैवायं ठगिति भावः । अत्र व्याख्यानमेव शरणम् ।

(१६२५) आवसथात्छल् । तत्र वसतीत्यर्थे आवसथात् सप्तम्यन्तात् छलित्यर्थः । आवसथं गृहम् । षित्त्वं ङीषर्थम् । तदाह—आवसथिकीति । आकर्षादित्यादि । श्लोकवार्तिकमिदम्—'प्राग्वहतेष्ठक्' इत्यादौ ठगिति वा छगिति छेद इति संशयनिवृत्त्यर्थम् 'आकर्षात्छल्' इति सूत्रभाष्ये पठितम् । तत्र आकर्षादित्यनेन 'आकर्षात् छल्' इति सूत्रं विवक्षितम् । पर्पादिभ्य इत्यनेन 'पर्पादिभ्यः छन्' इति सूत्रं विवक्षितम् । भस्त्रादिभ्यः इत्यनेन 'भस्त्रादिभ्यः छन्' इति सूत्रं विवक्षितम् । कुसीदसूत्रादित्यनेन 'कुसीददशैकादशात् छन्ष्ठचौ' इति सूत्रं विवक्षितम् । आवसथादित्यनेन 'आवसथात् छल्' इति सूत्रं विवक्षितम् ।

(१६२४) पद—निकटे, वसति । अनुवृत्ति—ठक्, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० नैकटिकः अर्थात् भिक्षु ।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ 'निकट' शब्द से 'रहता है' (वसति) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—अरण्य में वास करने वाले भिक्षु और ब्रह्मचारी को ग्राम से एक कोस दूर रहना चाहिये, ऐसी शास्त्रीय व्यवस्था है । उसकी उपेक्षा कर जो ग्राम के निकट बसे वह—नैकटिकः कहलाता है । निकट्+ठक् (ठ=इक, आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत्) । इस प्रकार अर्थ में (निकटे वसति) प्राचीन व्याख्यान ही प्रमाण है[1] ।

(१६२५) पद—आवसथात्, छल् । अनुवृत्ति—वसति, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० आवसथे वसति→आवसथिकः । 'ष्' इत् होने से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' । (श्लोकवार्तिक) 'ठक्' के अधिकार में १–आकर्षात् छल्, २–पर्पादिभ्यः छन्, ३–भस्त्रादिभ्यः छन्, ४–कुसीद-दशैकादशात् छन्-ष्ठचौ, ५–किसलादेः छन् तथा ६–आवसथात् छल्—इन छह सूत्रों से विहित ७–प्रत्यय 'षित्' हैं ।

विवरण—'तत्र वसति' का विषय है । उद्देश्यवाची शब्द सूत्र में निर्दिष्ट है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'आवसथ' प्रातिपदिक से 'रहता है' अर्थ में 'छल्' (ठ=इक) प्रत्यय होता है" । 'ष्' तथा 'ल्' इत्संज्ञक हैं । 'षित्' होने से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' होगा । 'आवसथ' शब्द का अर्थ 'कुटिया' है । उदाहरण—आवसथिकः (कुटिया में रहने वाला—आवसथे वसति)—आवसथ्+छल् (ठ=इक) । अन्त्य-वर्ण-लोप ।

---

१. आरण्यकेन भिक्षुणा ग्रामात् क्रोशे वस्तव्यमिति शास्त्रम् । तदनादृत्य निकटे योऽशास्त्रीयो वासस्तत्रैवायं साधुः—इति वृत्तिग्रन्थः अत्र प्रमाणम् ।

अथ तद्धिते प्राग्घितीयप्रकरणम्

(१६२६) प्राग्घिताद्यत् ४ । ४ । ७५ ॥ 'तस्मै हितम्' (सू १६६५) इत्यतः प्राग्यदधिक्रियते । (१६२७) तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् ४ । ४ । ७६ ॥ रथं वहति

किसरादेरित्यनेन 'किसरादिभ्यः ष्ठन्' इति सूत्रं विवक्षितम् । 'प्राग्वहतेष्ठक्' इत्यधिकारे एतैः सूत्रैर्विहिताः षट् प्रत्ययाः षित इत्यर्थः । ननु 'कुसीद' इति सूत्रे प्रत्ययद्वयविधानात् एतत्सूत्रषट्कविहिताः सप्त प्रत्ययाः लभ्यन्त इति षट् षित् इति कथमित्यत आह— षडितीति । षडित्यनेन सूत्राभिप्रायं षट्त्वं विवक्षितमिति भावः ।

इति तद्धिते प्राग्वहतीयप्रकरणम् ॥

(१६२६) अथ प्राग्घितीयप्रकरणं निरूप्यते–प्राग्घिताद्यत् । हितशब्दः तद्घटितसूत्र-परः । तदाह—तस्मै हितमिति ।

(१६२७) तद्वहति रथ । रथादि वहतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् रथ-युग-प्रासङ्ग इति त्रयात् यत्स्यादित्यर्थः । युग्य इति । रथादिवहनकाले अश्वादिस्कन्धेषु तिर्यक् यत् काष्ठ-

---

प्रकृत प्रसङ्ग में एक श्लोकवार्तिक उद्धृत किया गया है जिसके द्वारा इस प्रकरण में कहाँ पर 'ष्'-इत् प्रत्यय हैं—उनका संकलन कर दिया गया है। इसका वर्णन १५५८ सूत्र में दे दिया गया है—वहाँ देखें। यह श्लोकवार्तिक भाष्यकार ने "आकर्षात् ष्ठल्" (४-४-९) सूत्र में पढ़ा है।

'दीपिका' में प्राग्वहतीय-प्रकरण समाप्त।

ग्रन्थ-सङ्गति—अभी चतुर्थाध्याय के प्रत्यय अवशिष्ट हैं। यहाँ से ("प्राग्घिताद्यत्" ४-४-७५ से) प्रारम्भ कर "तस्मै हितम्" से पहले तक जो अर्थ कहे जायेंगे, उन सबमें अपवाद-विषयों को छोड़ कर सामान्य 'यत्' प्रत्यय का अधिकार रहेगा। "प्राग्घिताद्यत्" (४-४-७५) सूत्र में अर्थ-प्रधान निर्देश है। अतः 'हित' अर्थ के (तस्मै हितम्) आरम्भ होने से पहले-पहले इस सूत्र का अधिकार रहेगा। किन्तु हित अर्थ का प्रकरण ५-१-२ से ही हो जाता है, अतः "प्राग्घिताद्यत्" ४-४-७५ का प्रभाव "भावे च" (४-४-१४४) तक रहेगा।

(१६२६) **पद**—प्राक्, हितात्, यत्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—"तस्मै हितम्" (सू० १६६५) सूत्र से पहले तक इसका अधिकार है।

विवरण—यह अधिकार-सूत्र है। सूत्र में 'हितात्' शब्द एकदेशीय निर्देश है। वह "तस्मै हितम्" (५-१-५) सूत्र का निर्देशक है। 'प्राक्' के कारण 'हितात्' पञ्चमी विभक्ति उसके अधिकार-सीमा को सूचित करती है। अतः "तस्मै हितम्" (५-१-५) सूत्र के पहले क्रीतार्थ से पूर्व इसका अधिकार समझना चाहिये। "भावे च" (४-१-१४४) सूत्र तक जिन जिन अर्थों को कहा गया है, उन-उन अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है"। 'यत्' का तकार इत्संज्ञक है, केवल 'य' ही शेष रहता है।

विशेष—अर्थ-विधायक सूत्र आगे दिये जा रहे हैं, वहीं उसका उपयोग होगा। अधिकार की सीमा भी वस्तुतः हितार्थ के पूर्व 'क्रीतार्थ' तक ही प्रभावी होगी।

(१६२७) **पद**—तत्, वहति, रथ-युग-प्रासङ्गम्। **अनुवृत्ति**—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

रथ्यः। युग्यः। वत्सानां दमनकाले स्कन्धे यत्काष्ठमासज्यते स प्रासङ्गः। तं वहति प्रासङ्ग्यः। (१६२८) धुरो यड्ढकौ ४।४।७७॥ 'हलि च' (सू ३५४) इति दीर्घे प्राप्ते। (१६२९) न भकुर्छुराम् ८।२।७९॥ भस्य कुर्छुरोश्चोपधायाः दीर्घो

मीषत्प्रोतमासज्यते तद्युगम्। तद्वहतीत्यर्थः। दमनकाले इति। रथादिवहने सुशिक्षितावश्वौ नियुज्य तत्स्कन्धवाह्ययुगे यद्युगान्तरमासज्य तस्मिन्नशिक्षिता अश्वादयो वहनशिक्षार्थं नियुज्यन्ते स प्रासङ्ग इत्यर्थः। 'प्रासङ्गो ना युगाद्युगे' इत्यमरः।

(१६२८) धुरो यड्ढकौ। धुर्शब्दाद् द्वितीयान्तात् वहतीत्यर्थे यत् ढक् च स्यादित्यर्थः। यड्ढञाविति पाठान्तरम्। हलि चेतीति। 'धुर्वी हिंसायाम्' 'भ्राजभास' इति क्विप्। 'राल्लोपः' इति लोपः। अश्वादिस्कन्धवाह्यप्रदेशो युगावयवो धूः। धुर्शब्दात् यति 'हलि च' इति दीर्घे प्राप्ते सतीत्यर्थः।

(१६२९) न भकुर्छुराम्। 'र्वोरुपधायाः' इत्यतः उपधाया इति दीर्घ इति चानुवर्तते। तदाह—भस्येत्यादिना। 'धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः' इत्यमरः।

मूलार्थ—उदा० १-रथं वहति→रथ्यः। २-युग्यः। बछड़ो को नाथने के समय कन्धे पर जो काष्ठ-भार दिया जाता है उसे 'प्रासङ्ग' कहते हैं। ३-प्रासङ्गं वहति→प्रासङ्ग्यः।

विवरण—सूत्र में 'वहति' शब्द अर्थ-निर्देशक है। 'तत्' पद द्वितीया-विभक्ति का द्योतक है। अनुवर्तमान 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से उसमें तदन्त विधि हो जाती है। विधेय 'यत्' प्रत्यय अधिकारलभ्य है। अतः "द्वितीया-समर्थ 'रथ', 'युग' तथा 'प्रासङ्ग' प्रातिपदिकों से 'ढोता है' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय (=य) होता है"। **उदाहरण**—**रथ्यः** (रथ खीचने वाला बैल या घोड़ा—रथं वहति)—रथ्+यत् (=य)। अन्त्य-लोप एवं विभक्ति-कार्य। (२) **युग्यः** (जुआ ढोने वाला बैल-युगं वहति)—युग्+य। (३) **प्रासङ्ग्यः** (प्रासङ्ग ढोने वाला—प्रासङ्गं वहति)—प्रासङ्ग्+यत् (=य)। अन्त्यवर्ण-लोप। 'घञ्-प्रत्ययान्त 'युग' में गुण नहीं होता ('जुआ' अर्थ में)।

विशेष—यहाँ पर 'प्रासङ्ग' रथ का अङ्ग नहीं है, किन्तु तत्सदृश काष्ठविशेष में रूढ है। इस सम्बन्ध में अमरकोष का प्रमाण दिया जाता है—**प्रासङ्गो ना युगाद्युगे**। तदनुसार रथादिवहन में सुरिक्षित घोड़े या बैलों को जोतकर उनके कन्धों पर रखे हुए जुए पर एक दूसरे जुए के सहारे नव-सिखुओं को प्रशिक्षित किये जाने वाला दूसरा जुआ प्रासङ्ग कहाता है। उसको वहन करने वाला नवसिखुआ—**प्रासङ्ग्यः** (प्रासङ्ग्+य)। 'अन्त्य' लोप।

(१६२८) पद—धुरः, यत्-ढकौ। **अनुवृत्ति**—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—"हलि च" (सू० ३५४) से दीर्घ की प्राप्ति होने पर (आगे के सूत्र से निषेध बताया जा रहा है)।

विवरण—'तद्वहति' का विषय है। अतः "द्वितीयान्त (तद्) 'धुर्' प्रातिपदिक से 'वहति' अर्थ में 'यत्' और 'ढक्' प्रत्यय होते हैं"। तदनुसार 'धुर्' शब्द से 'यत्' (=य) प्रत्यय होने पर 'धुर्+य' इस स्थिति में "हलि च" (८-२-७७) सूत्र से उपधाभूत 'उ' ('धुर्' का अवयव) को दीर्घ प्राप्त रहा, उसके निवारण के लिये आगे का सूत्र कहा जा रहा है।

(१६२९) पद—न, भ-कुर्-छुराम्। **अनुवृत्ति**—र्वोरुपधायाः दीर्घः इकः, धातोः। **विधि-(निषेध)-सूत्र**।

मूलार्थ—'भ'-संज्ञक शब्द, एवं 'कुर्' तथा 'छुर्' की उपधा को दीर्घ नहीं होता। उदा० धुर्यः—धौरेयः।

न स्यात्। धुर्यः—धौरेयः। (१६३०) खः सर्वधुरात् ४।४।७८॥ सर्वधुरां वहतीति—सर्वधुरीणः। (१६३१) एकधुराल्लुक्च ४।४।७९॥ एकधुरां वहति

(१६३०) खः सर्वधुरात्। सर्वा धूः सर्वधुरा 'पूर्वकाल' इति तत्पुरुषः। 'ऋक्पूः' इति समासान्तः। 'परवल्लिङ्गम्' इति स्त्रीत्वाट्टाप्। इह तु शब्दस्वरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशः। द्वितीयान्तात्सर्वधुराशब्दात् वहतीत्यर्थे खः स्यादित्यर्थः। सर्वधुरीण इति। सर्वधुरां वहतीत्यर्थः। 'स तु सर्वधुरीणो यो भवेत् सर्वधुरावहः' इत्यमरः।

(१६३१) एकधुराल्लुक् च। एकधुराशब्दात् द्वितीयान्ताद्वहतीत्यर्थे खः स्यात्। तस्य पक्षे लुगित्यर्थः। एकधुरीणः—एकधुरः इति। एकधुरां वहतीत्यर्थः।

विवरण—यह अष्टमाध्यायस्थ प्रासङ्गिक सूत्र है। "'रेफ' तथा वकारान्त 'भ'-संज्ञक को एवं 'कुर्' 'छुर्' धातु की उपधा को दीर्घ नहीं होता"। 'धुर्यः' में 'यत्' प्रत्यय परवर्ती होने के कारण रेफान्त 'धुर्' भसंज्ञक है, अतः दीर्घ का निषेध हो गया→धुर्यः ('धुरी' को वहन करने वाला—बैल या घोड़ा—धुरं वहति। धौरेयः←ढक् (ढ = एय)। आदिवृद्धि।

विशेष—'धुर्' शब्द की सिद्धि इस प्रकार है—√धुर्व् (धुर्वी)+क्विप् ('भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप्' ३-२-१७७) ▷ 'धुर्व्' ('क्विप्' का सर्वापहार) ▷ धुर् ('व्' का लोप "राल्लोपः ६-४-२१)। तदनन्तर तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति होगी। 'जुए' का एक हिस्सा धुरी कहाता है।

(१६३०) पद—खः, सर्वधुरात्। **अनुवृत्ति**—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० सर्वधुरां वहति→सर्वधुरीणः।

विवरण—तदन्त-विधि के फलस्वरूप प्राप्त 'यत्' और 'ढक्' प्रत्ययों का अपवाद कहा जा रहा है। अतः "द्वितीयान्त 'सर्वधुरा' प्रातिपदिक से 'वहति' अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**सर्वधुरीणः** (समग्र धुरी को ढोने वाला बैल—सर्वधुरां वहति)—सर्वधुरा+ख (= ईन)। 'अन्त्य'वर्ण-लोप तथा णत्व।

विशेष—सूत्र में 'सर्वधुरात्' पञ्चमी विभक्ति नपुंसक-अकारान्त शब्द से दिखाई गई है। वह प्रयोग 'सामान्ये नपुंसकम्' के अनुसार ठीक है। वस्तुतः 'टाप्' प्रत्यय होने पर 'सर्वधुरा' के रूप में उसकी परिणति है। अमरकोष में भी वैसे ही दिखाया गया है—"स तु सर्वधुरीणो यो भवेत् सर्वधुरावहः"। स्थिति इस प्रकार है—सर्वा धूः→सर्वधुरा ("तत्पुरुषसमास—"पूर्वकालैक-सर्वजरत्पुराणनवकेवलाः" २-१-४९, पुंवद्भाव, समासान्त 'अ' प्रत्यय—"ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" ५-४-७४, "परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः" २-४-२६ नियम के अनुसार स्त्रीत्व होने से 'टाप्' ←सर्वा-धुर् > सर्वधुर् > सर्वधुर > सर्वधुरा)।

(१६३१) पद—एकधुरात्, लुक्, च। **अनुवृत्ति**—खः, तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० एकधुरां वहति→एकधुरः—एकधुरीणः।

विवरण—'तद्वहति' का ही विषय है। अतः द्वितीया-समर्थ "एकधुरा' शब्द से 'वहति' अर्थ में 'ख' प्रत्यय का लोप (लुक्) होता है"। विधान-सामर्थ्य से जब एक बार 'ख' का लोप नहीं होगा तो→एकधुरीणः (एक धुरी ढोने वाला—एकधुरां वहति)। एकधुरः←'ख' का लुक् होने पर अभिधेय के अनुसार पुंलिङ्ग हुआ।

एकधुरीणः—एकधुरः । (१६३२) शकटादण् ४ । ४ । ८० ॥ शकटं वहति—शाकटो गौः । (१६३३) हलसीराट्ठक् ४ । ४ । ८१ ॥ हलं वहति—हालिकः । सैरिकः । (१६३४) संज्ञायां जन्याः ४ । ४ । ८२ ।। जनी वधूः । तां वहन्ति प्रापयन्ति—जन्याः ।

(१६३२) शकटादण् । द्वितीयान्ताच्छकटशब्दात् वहतीत्यर्थे अण् स्यादित्यर्थः । यतोऽपवादः ।

(१६३३) हलसीराट्ठक् । आभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां वहतीत्यर्थे ठगित्यर्थः ।

(१६३४) सञ्ज्ञायां जन्याः । जनीशब्दात् द्वितीयान्तात् वहतीत्यर्थे यत्स्यात् संज्ञायामित्यर्थः । जनी वधूरिति । जायतेऽस्यां गर्भ इत्यर्थे जनिघसिभ्यामिति जनधातोः इणि, 'जनिवध्योश्च' इति वृद्धिप्रतिषेधे 'कृदिकारात्' इति ङीषि जनीशब्दस्य निष्पत्तिरिति भावः । 'समाः स्नुषाजनीवध्वः' इत्यमरः । वहन्तीत्यस्य विवरणं प्रापयन्तीति । वरगृहमिति शेषः । जन्या इति । जामातुर्वयस्या इति शेषः । 'जन्याः स्निग्धा वरस्य ये' इत्यमरः ।

(१६३२) पद—शकटात्, अण् । **अनुवृत्ति**—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० शकटं वहति→शाकटः अर्थात् बैल ।

विवरण—"द्वितीया-समर्थ (तत्) 'शकट' प्रातिपदिक से 'वहति' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—शाकटः** (सग्गड़ ढोने वाला—शकटं वहति ।) शकट्+अण् । आदिवृद्धि, 'अन्त्य'-वर्ण-लोप ।

(१६३३) पद—हल-सीरात्, ठक् । **अनुवृत्ति**—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १—हलं वहति→हालिकः । २—सैरिकः ।

विवरण—"द्वितीया-समर्थ 'हल' और 'सीर' प्रातिपदिकों से 'ठक्' (ठ=इक) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **हालिकः** (हल ढोने वाला किसान—हलं वहति)—हल्+ठक् (ठ=इक) । (२) **सैरिकः** (हल खींचने वाला बैल—सीरं वहति)—सीर्+ठक् (ठ=इक) । उभयत्र आदिवृद्धि तथा अन्त्य-वर्ण-लोप ।

(१६३४) पद—संज्ञायां, जन्याः । **अनुवृत्ति**—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० 'जनी' अर्थात् 'वधू' उसको (तां) ले जाने वाली (वहति) अर्थात् सखी ।

विवरण—सूत्र में विधेय प्रत्यय का निर्देश न होने से औत्सर्गिक 'यत्' का सम्बन्ध रहेगा । "अतः द्वितीया-समर्थ 'जनी' प्रातिपदिक से 'वहति' (ले जाना) अर्थ में संज्ञा गम्यमान रहते 'यत्' (=य) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—जन्या** (बहू को ले जाने वाली सखी—जनीं वहति)—जन्+यत् (=य) > जन्य (यकारादि प्रत्यय परे रहते भ-संज्ञानिमित्तक अन्त्य-वर्ण 'ई' का लोप) > जन्य+टाप् (= आ) > जन्या (स्त्रीत्व निमित्तक 'टाप्' के अनन्तर विभक्ति-कार्य) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में दो तरह के पाठ मिलते हैं । 'जन्या' प्रथमान्त तथा 'जन्याः'—'जनी' शब्द का पञ्चम्यन्त । दीक्षितजी ने पञ्चम्यन्त पाठ मान कर व्याख्या की है । अतः 'जन्या' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं । भट्टोजी दीक्षित ने काशिका-कार के मत को अपनाया है—"जनीं वहति जन्या । जामातुर्वयस्या । सा हि विहारादिषु जामातृसमीपं प्रापयति । जनी

(१६३५) विध्यत्यधनुषा ४।४।८३॥ द्वितीयान्ताद्विध्यतीत्यर्थे यत्स्यात्, न चेत्तत्र धनुः करणम्। पादौ विध्यन्ति पद्याः←शर्कराः। **(१६३६) धनगणं लब्धा**

(१६३५) विध्यत्यधनुषा। तदिति द्वितीयान्तमनुवर्तते। अधनुषेति सप्तम्यर्थे तृतीया। धनुषः अभावः अधनुः तस्मिन्सतीत्यर्थः। अर्थाभावे नञ्तत्पुरुषः। अर्थाभावे अव्ययीभावेन अयं विकल्प्यत इत्युक्तत्वात्। द्वितीयान्ताद्विध्यतीत्यर्थे यत्स्याद्धनुषः। करणस्याभावे सतीत्यर्थः। न चेत्तत्रेति। तत्र वेधने धनुः करणं न चेदित्यर्थः। पद्या इति। पादशब्दाद्यति 'पद्यत्यतदर्थे' इति पद्भावः। अधनुषेति किम्? धनुषा चोरं विध्यति देवदत्तः। अत्र चोराद्यत् न भवति। न च सामर्थ्यादिवात्र यन्नेति वाच्यम्, विध्यतीत्यस्य प्रत्ययार्थत्वेन प्रधानतया तस्य सापेक्षत्वेऽपि सामर्थ्याविघातात्। अन्यथा औपगवो देवदत्तः उपगुनप्तृत्वात् इत्यादौ अणादिकं न स्यात् प्रत्ययार्थैकदेशस्य व्यधनस्य करणविशेषनित्यसापेक्षत्वाच्च इति शब्देन्दुशेखरे विस्तरः।

वधूः उच्यते। 'वधू' अर्थ में जनी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी→'जायते अस्यां गर्भः'← जन्+इण् (जनिघसिभ्यामिण्'—उणादि ५७९) > जनि (उपधा-वृद्धिप्रतिषेध—"जनिवध्योश्च" ७-१-३५) > जनी (जनि+ङीष्—"कृदिकारादक्तिनः" वा०)। भाष्यकार ने भी पञ्चम्यन्त स्वीकार कर 'समुदायार्थ के संज्ञा गम्यमान रहते 'जननी' शब्द के स्थान पर 'जनी' आदेश करने पर 'जनी' शब्द से 'यत्' प्रत्यय कर 'जन्या' शब्द में (निपातन के रूप में आशङ्कित 'जन्या' शब्द का खण्डन कर) 'संज्ञा' के अतिरिक्त अन्यत्र भी 'योगरूढि' को स्वीकार करते हुए उक्त प्रयोग की समीचीनता सिद्ध की है। कोषकारों ने तदनुसार 'जन्या' शब्द के सम्बन्ध में भिन्नार्थक निर्देश दिये हैं—"जन्या मातृवयस्या स्यात् जन्या जनी-वर-प्रिया। जननी-जनयित्रोश्च जन्यनिर्वाद-युद्धयोः" (धरणि-कोष)। इस प्रकार विध्यर्थ (विधान के रूप) की कल्पना में भी 'संख्या' तथा 'काल' की विवक्षा न होते हुए 'जन्या' की निष्पत्ति में कोई बाधा नहीं है, तथाऽपि न्यायानुसरण में प्रतिपत्तिगौरव होने के कारण सिद्धान्त में इसे 'निपातन' ही स्वीकार कर सभी कालों में इस प्रत्यय-विधान की चरितार्थता दिखाई है। जिसके फलस्वरूप **वर्तमान** काल में (=लट्) जनीं वहन्ति→जन्याः, भविष्यत् में (=लुट्) में—जनीं वोढारः←जन्याः, भूत काल में—जनीम् अवाक्षुः←जन्याः इत्यादि प्रयोग समीचीन माने जायेंगे। निपातन-पक्ष में 'जन्या' प्रथमा-विभक्त्यन्त प्रयोग माना जायगा।[1]

(१६३५) पद—विध्यति, अधनुषा। **अनुवृत्ति**—तत्, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त से 'विध्यति' अर्थ में धनुष के साधन न होने पर 'यत्' (प्रत्यय) हो। उदा० पादौ विध्यन्ति→पद्याः अर्थात् कंकड़।

विवरण—सूत्रस्थ 'अधनुषा' तृतीयान्त पद सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त है। विभक्त्यर्थक 'तत्' पद की अनुवृत्ति विद्यमान है। अतः "द्वितीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'बींधता है' अर्थ में, यदि 'धनुष' साधन न हो (नञ् तत्पुरुष—धनुषः अभावः—अधनुः तस्मिन् सति) तो 'यत्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—पद्याः (पैरों को घायल करने वाले नुकीले कंकड़—पादौ विध्यन्ति)—पाद+यत् (=य) > पद्य (पाद = पद् "पद्यतदर्थे" ६-३-५३) > पद्याः (प्रथमा-बहुवचन)।

---

१. "किं निपात्यते? जनन्या जनीभावो निपात्यते, यच्च प्रत्ययः। 'जन्या' इति निपातनानर्थक्यम्, पञ्चमी-निर्देशात्। 'जन्या' इति निपातनमनर्थकम्। किं कारणम्? पञ्चमी-निर्देशात्। 'जनी' शब्दात् एषा पञ्चमी। इदं तर्हि प्रयोजनम्। सर्वकालप्रत्ययविधिर्यथा विज्ञायेत। जनीं वहन्ति जन्याः, जनीं वोढारो जन्याः, जनीमवाक्षुर्जन्या इति"। —महाभाष्यम्।

४।४।८४॥ तृन्नन्तमेतत्। धनं लब्धा धन्यः। गणं लब्धा गण्यः। (१६३७) अन्नाण्णः ४।४।८५॥ अन्नं लब्धा आन्नः। (१६३८) वशं गतः ४।४।८६॥

(१६३६) धनगणं लब्धा। धनशब्दात् गणशब्दाच्च द्वितीयान्ताल्लब्धेत्यर्थे यत् स्यादित्यर्थः। ननु लब्धशब्दस्य तृजन्तस्य कृदन्तत्वात्तद्योगे कर्मणि षष्ठी स्यादित्यत आह—तृन्नन्तमेतदिति। तथा च 'न लोक' इति निषेधान्न षष्ठीति भावः।

(१६३७) अन्नाण्णः। लब्धेत्यर्थे द्वितीयान्तादिति शेषः।

(१६३८) वशं गतः। वशशब्दात् द्वितीयान्ताद् गत इत्यर्थे यदित्यर्थः। वश्यः इति। वशं गत इति विग्रहः। 'वश कान्तौ'। कान्तिरिच्छा। वशनं वशः। 'वशिरण्योरुपसङ्ख्यानम्' इत्यप्। वशम् इच्छां गतः प्राप्तः, इच्छाधीन इत्यर्थः। वशधातुः छान्दस

(१६३६) पद—धनगणं, लब्धा। अनुवृत्ति—तत्, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—(लब्धा) तृन्-प्रत्ययान्त है। उदा० १–धनं लब्धा→धन्यः। २–गणं लब्धा→गण्यः।

विवरण—विधेयांश (यत्) का लाभ औत्सर्गिक (प्राकरणिक) सूत्र से होता है। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ "धन' तथा 'गण' (धनगणं) प्रातिपदिकों से 'प्राप्त करनेवाला' (लब्धा) अभिप्रेत हो, तो 'यत्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—(१) धन्यः (धन प्राप्त करने वाला—धनं लब्धा)—धन् + यत् (=य)। 'अन्त्य'-वर्ण-लोप। (२) गण्यः (समूह प्राप्त करने वाला)—गण् + यत् (=य)।

विशेष—√लभ् + कृदन्त 'तृच्' प्रत्ययान्त का रूप भी 'लब्ध' निष्पन्न होता है। उसके योग में तो कर्म में 'षष्ठी' विभक्ति होगी। तब द्वितीयान्तार्थ में प्रत्यय की सम्भावना कैसे? अतः सूत्रस्थ 'लब्ध' पद 'तृन्'—प्रत्ययान्त माना गया है। तदनुसार "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" (२-३-६९) से निषेध होने के कारण षष्ठी-विभक्ति नहीं होगी।

(१६३७) पद—अन्नात्, णः। अनुवृत्ति—तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० अन्नं लब्धा→आन्नः।

विवरण—उद्देश्य-वाची पद सूत्र में निर्दिष्ट है। 'लब्धा' अर्थ का विषय है। अतः पूर्व सूत्र से (१६३६) उसकी अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "द्वितीयान्त 'अन्न' प्रातिपदिक से 'लब्धा' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। 'ठक्' का यह अपवाद है। उदाहरण—आन्नः (अन्न को प्राप्त करने वाला—अन्नं लब्धा)—अन्न् + ण (=अ)। आदिवृद्धि, अन्त्य-लोप।

(१६३८) पद—वशं, गतः। अनुवृत्ति—तत्, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० वश्यः—अर्थात् दूसरे का इच्छानुसारी।

विवरण—सूत्र में केवल अर्थ-निर्देश ही निविष्ट है। विधेयांश ('यत्' प्रत्यय) का लाभ आधिकारिक अनुवृत्ति-वश होता है। शेष अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'वश' प्रातिपदिक से 'प्राप्त हुआ' (गतः) अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—वश्यः (वश में रहने वाला—वशं गतः)—वश् + यत् (य)। अन्त्यवर्ण-लोप। इच्छार्थक √वश् धातु से अप् प्रत्यय करने पर 'वश' शब्द निष्पन्न होता है (वशनं वशः)।

वश्यः परेच्छानुसारी । (१६३९) पदमस्मिन्दृश्यम् ४ । ४ । ८७ ॥ पद्यः कर्दमः । नातिशुष्क इत्यर्थः । (१६४०) मूलमस्याबर्हि ४ । ४ । ८८ ॥ आबर्हणमाबर्हः उत्पाटनं, तदस्यास्तीत्याबर्हि, मूलमाबर्हि येषां ते मूल्या मुद्गाः । (१६४१) संज्ञायां धेनुष्या ४ । ४ । ८९ ॥ धेनुशब्दस्य षुगागमो यप्रत्ययश्च स्वार्थे निपात्यते संज्ञायाम् । धेनुष्या

इति लुग्विकरणे वक्ष्यते, तत्प्रायिकमिति भावः । सर्वस्यापि स्वेच्छानुसारित्वादाह—परेच्छानुसारीति ।

(१६३९) पदमस्मिन्दृश्यम् । प्रथमान्तात्पदशब्दात् दृश्यम् इत्यर्थे यदित्यर्थः । अत्र तदिति द्वितीयान्तमनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते ।

(१६४०) मूलमस्याबर्हि । आबर्हणमिति । उत्पाटनमित्यर्थः । उपसर्गवशात् 'बृह उद्यमने' इति धातोरुत्पाटने वृत्तिः । मूल्या मुद्गा इति । मूलतः उत्पाटनीया इत्यर्थः ।

(१६४१) संज्ञायां धेनुष्या । यप्रत्ययश्चेति । यति तु तित्स्वरः स्यादिति भावः । धेनुष्येति । या धेनुर्दोहनार्थमुत्तमर्णाय अधमर्णेन दीयते तस्या इयं संज्ञा । तदाह—बन्धके

(१६३९) पद—पदम्, अस्मिन्, दृश्यम् । **अनुवृत्ति**—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० पद्यः—अर्थात् कीचड़। जो अधिक सूखी न हो ।

विवरण—विधेय = 'यत्' की अनुवृत्ति आधिकारिक है। उद्देश्यवाची 'पद'-शब्द सूत्र में निर्दिष्ट है। प्रत्ययार्थ सप्तम्यर्थ-जन्य ('अस्मिन्') अभीष्ट है। अतः "दृश्य-समानाधिकरण प्रथमा-समर्थ 'पद' प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ ('अस्मिन्') में 'यत्' प्रत्यय होता है"। सूत्र में 'पदम्' शब्द प्रथमा-विभक्ति में निर्दिष्ट है। अतः उसी के अनुसार 'प्रथमा-समर्थ-विभक्ति' यह अर्थ लिया गया है। अथवा अनुवृत्त 'तत्' का प्रथमा में विपरिणाम · **उदाहरण**—पद्यः कर्दमः (ऐसी कीचड़ जो कुछ कड़ी-सी हो, जिसमें पैर के निशान पड़ जायँ—पदम् अस्मिन् दृश्यम्)—पद्+यत् (य) । अन्त्यवर्ण-लोप ।

(१६४०) पद—मूलम्, अस्य, आबर्हि । **अनुवृत्ति**—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—'आबर्ह' अर्थात् उखाड़ना। वह जिसका हो —वह आबर्हि है। उदा० मूलम् आबर्हणं येषां ते—मूल्याः अर्थात् मूँग ।

विवरण—'आबर्ह' शब्द का अर्थ उखाड़ना है। जिसे उखाड़ा जाय उसे 'आबर्हि' कहा जाता है। यहाँ भी निर्देश से प्रथमा-विभक्ति ली गई है। तद्धित-प्रत्ययार्थ की सूचिका षष्ठी (अस्य) विभक्ति है। अतः सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'आबर्हि'-समानाधिकरण प्रथमासमर्थ 'मूल' शब्द से षष्ठयर्थ (अस्य) में 'यत्' (= य) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—मूल जड़ को कहते हैं। मूँग के पौधों के दानों के पक जाने पर उन्हें जड़ समेत उखाड़ा जाता है, अतः वे मूँग **मूल्याः** कहे जाते हैं। विग्रह—मूलम् एषाम् आबर्हि ।

(१६४१) पद—संज्ञायां, धेनुष्या । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'धेनु' शब्द से स्वार्थ में 'य' प्रत्यय तथा 'षुक्' आगम संज्ञा के विषय में निपातन किये जाते हैं। उदा० धेनुष्या-अर्थात् बन्धक में दी गई गाय ।

विवरण—विशेष अर्थ को अभिलक्षित कर निपातनार्थ यह सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है। तदनुसार "संज्ञा गम्यमान रहते 'धेनुष्या' शब्द स्त्रीलिङ्ग में निपातन किया जाता है"। 'धेनु' शब्द

बन्धके स्थिता। (१६४२) गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः ४।४।९० ॥ गृहपतिर्यजमानः, तेन संयुक्तो गार्हपत्योऽग्निः। **(१६४३) नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मितेषु ४।४।९१ ॥** नावा तार्यं नाव्यम्। वयसा

स्थितेति। अमरवाक्यमिदम्। संज्ञायामित्यापादपरिसमाप्तेरधिकारः। संज्ञा हि रूढिर्विवक्षिता।

(१६४२) गृहपतिना। अस्मिन्नर्थे गृहपतिशब्दात् तृतीयान्तात् ञ्यः स्यादित्यर्थः। गार्हपत्योऽग्निरिति। अग्निविशेष इत्यर्थः। तत्र पत्नीसंयाजेषु अग्निहोत्रे च गृहपतिदेवताकहोमस्य क्रियमाणत्वात् गृहपतियोगः। यद्यपि देवहविःषु 'अग्नये गृहपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति' इति हविर्होम आहवनीये क्रियते। तथापि संज्ञाधिकारादाहवनीये नास्य प्रयोगः।

(१६४३) नौवयोधर्म। नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता, तुला एभ्योऽष्टभ्यः क्रमात् तार्ये, तुल्ये, प्राप्ये, वध्ये, आनाम्ये, समे, समिते, सम्मिते चार्थे यत्स्यादित्यर्थः।

को 'पुक्' (अन्तावयव) आगम तथा 'य' प्रत्यय निपातन से किये जाते हैं। 'यत्' करने पर रूप-साम्य होने पर भी स्वरित होने लगता। अब अन्तोदात्त है। दूध आदि के द्वारा ऋण चुकाने के लिये जो धेनु उत्तमर्ण (= साहूकार) को दी जाती है, वह **धेनुष्या** (धेनुरेव बन्धके स्थिता) (धेनु-ष्+य+टाप्) कही जाती है।

विशेष—यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति इस पाद के अन्त तक जायगी। संज्ञा भी यहाँ 'रूढि' रूप में विवक्षित है।

(१६४२) पद—गृहपतिना, संयुक्ते, ञ्यः। **अनुवृत्ति**—संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गृहपति अर्थात् यजमान। उदा० गृहपतिना संयुक्तः अग्निः→गार्हपत्यः।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है। आधिकारिक एवं प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। उन सबके साथ अन्वित होकर सूत्रस्थ पदों से यह विदित होता है कि "तृतीयासमर्थ 'गृहपति' शब्द ('गृहपतिना') से 'संयुक्त' अर्थ में संज्ञा के विषय में 'ञ्य' (= य) प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—गार्हपत्यः ('गृहपति' अर्थात् 'यजमान' से सम्बद्ध अग्नि—गृहपतिना संयुक्तः)—'गृहपति+ञ्य (= य)। आदिवृद्धि—ऋ = आर्। अन्त्यवर्ण—लोप।

विशेष—'गृहपति' शब्द यजमान (आहिताग्नि) का पर्यायवाची है। अतः 'गृहपति' से सम्बद्ध अग्नि की आख्या 'गार्हपत्य' है। यद्यपि तीनों श्रौताग्नियाँ—गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय—यजमान से ही सम्बद्ध हैं, तथाऽपि संज्ञा-विशेष होने के कारण 'गार्हपत्य' अग्नि (आहवनीय अग्नि से पश्चिम प्रदेश में स्थापित) को ही प्रधानता दी जाती है। दक्षिणाग्नि का विशिष्ट नाम आनाय्य था, क्योंकि उसे गार्हपत्य अग्नि में से लाते थे और कार्य समाप्त होने के पश्चात् उसकी रक्षा या आधान नहीं किया जाता था ("आनाय्योऽनित्ये" ३-१-१२७→भाष्य←आनाय्यो दक्षिणाग्निरिति वक्तव्यम्)। किन्तु अरणि-मन्थन से उत्पन्न अग्नि को आहिताग्नि यजमान गार्हपत्य नामक वेदी में गार्हपत्य अग्नि के रूप में सुरक्षित रखता था। अन्य दोनों अग्नियाँ काल-विशेष के लिये उपयोगी मानी गई हैं।

(१६४३) पद—नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यः, तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्य-आनाम्य-सम-समित-सम्मितेषु। **अनुवृत्ति**—यत्, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—आधिकारिक 'यत्' प्रत्यय का विषय है। सूत्र में उद्देश्य-वाची ('नौ' 'वयस्' आदि) आठ शब्द निर्दिष्ट हैं तथा आठ ही शब्द (तार्य, तुल्य आदि) अर्थ-निर्देशक

तुल्यो वयस्यः । धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । विषेण वध्यो विष्यः । मूलेनानाम्यं मूल्यम् । मूलेन समो मूल्यः । सीतया समितं सीत्यं—क्षेत्रम् । तुलया सम्मितं तुल्यम् । (१६४४) धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ४ । ४ । ९२ ॥ धर्मादनपेतं धर्म्यम् । पथ्यम् । अर्थ्यम् । न्याय्यम् ।

तृतीयान्तेभ्यः इत्यर्थात् गम्यते । तार्यादियोगे करणे कर्तरि हेतौ तुल्यादियोगे च तस्या एव सम्भवात् । अत्र मूलशब्दयोर्यथासङ्ख्यप्रवृत्तये नैकशेषः । अन्यथा सहानां प्रकृतीनाम् एकैकस्या अष्टस्वप्यर्थेषु प्रत्यय इति भ्रमः स्यात् । तार्यमिति । तरीतुं शक्यमित्यर्थः । 'ऋहलोर्ण्यत्' । वयसा तुल्य इति । मित्रे एवायं प्रत्ययो न तु शत्रौ, संज्ञाधिकारात् । मूलेनानाम्यमिति । पटादेरुत्पत्त्यर्थं वणिग्भिर्विनियुक्तं द्रव्यं मूलम् । तेन सह यदधिकं द्रव्यम् आनम्यते विक्रेतुः सम्मतीकरणेन लभ्यते तन्मूल्यमित्यर्थः । लोकास्तु विक्रेतुर्लब्धं सर्वं द्रव्यं मूल्यमिति व्यवहरन्ति । तत्र लक्षणा बोध्या । सा च साम्प्रतिकी निरूढा वा । सीतयेति । सीता लाङ्गलपद्धतिः । तया समितं सङ्गतमित्यर्थः । कृष्टमिति यावत् । तुलयेति । तुला घटा, तया उन्मितमित्यर्थः ।

(१६४४) धर्मपथ्यर्थ । 'धर्म, पथिन्, अर्थ, न्याय एभ्यः अनपेतमित्यर्थे यदित्यर्थः ।

हैं । उनका यथासंख्य अन्वय होगा । सूत्र में प्रत्ययार्थ-विभक्ति-सूचक कोई पद नहीं है और विशेष-परिस्थिति-वश न तो किसी पद की अनुवृत्ति ही अपेक्षित है । कारण यह है कि 'तार्य' आदि प्रत्ययार्थों में 'नौ' आदि प्रातिपदिकों का करणादि अर्थ-विशेषों के द्वारा तृतीया विभक्ति से ही सम्बन्ध हो सकता है, अन्य विभक्तियों से नहीं । तदनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—"तृतीया-समर्थ 'नौ', 'वयस्', 'धर्म', 'विष', 'मूल' 'मूल', 'सीता', तथा 'तुला'—इन आठ प्रातिपदिकों से क्रमशः 'तार्य', (पार करने योग्य), 'तुल्य' (सम), 'प्राप्य' (प्राप्त करने योग्य), 'वध्य' (वध करने योग्य), 'आनाम्य' (लाभांश), 'सम' (बराबर), 'समित' (बराबर किया हुआ) तथा 'सम्मित' (समान नापा हुआ) अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—क्रमशः—(१) **नाव्यम्** जलम् (नाव से तरने योग्य जल—नावा तार्यम्—तरीतुं शक्यम्→तॄ+ण्यत्) नौ+यत् (=य) । 'आव्' आदेश—"वान्तो यि प्रत्यये" (६-१-७९) । (२) **वयस्यः**—(समान आयु वाला मित्र-वयसा तुल्यः)—वयस्+यत् (य) । (३) **धर्म्यम्**—(धर्म से पाने योग्य—धर्मेण प्राप्यम्)—धर्म॒+यत् (य) । अन्त्य-लोप । (४) **विष्यः** (विष से मारने योग्य—विषेण वध्यः)—विष॒+यत् (य) । अन्त्यलोप । (५) **मूल्यम्** (मूलधन से प्राप्त होने वाला लाभांश—मूलेन आनाम्यम्)—मूल॒+यत् (य) । अन्त्यलोप । (६) **मूल्यः**—(मूल अर्थात् लागत के बराबर—मूलेन समः)—मूल॒+यत् (य) । (७) **सीत्यं** क्षेत्रम्—(हल से बराबर किया हुआ खेत—सीतया समितम्)—सीता॒+यत् (य) । अन्त्यवर्ण-लोप । (८) **तुल्यम्** (तराजू से बराबर नापा हुआ—तुलया संमितम्)—तुला॒+यत् (य) । अन्त्य-लोप ।

विशेष—यहाँ पर 'मूल' और 'लाभ' के सिद्धान्त को अभिलक्षित कर **'मूल्य'** शब्द के दो अर्थ दिये गये हैं । तदनुसार पूँजी को 'मूल' कहा जाता था । लाभ सहित पूँजी या लागत को 'मूल्य' कहते थे (पटादीनामुत्पत्ति-कारणं मूलम्, मूल्यं हि सगुणं मूलम्—काशिका) । दूसरे 'मूल्य' शब्द से यह विवक्षित है कि उस वस्तु में लागत के बराबर ही उसका अंकन किया गया है ।

(१६४४) **पद**—धर्म-पथ्य-र्थ-न्याय्यात्, अनपेते । **अनुवृत्ति**—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'यत्' का ही प्रकरण है । सूत्र में पञ्चमी-विभक्ति-युक्त उद्देश्यवाची चार पद निविष्ट हैं । अतः "पञ्चमी-समर्थ 'धर्म', 'पथिन्', 'अर्थ' तथा 'न्याय' प्रातिपदिकों से

(१६४५) छन्दसो निर्मिते ४ । ४ । ९३ ।। छन्दसो निर्मितं छन्दस्यम् । इच्छया कृतमित्यर्थः । **(१६४६) उरसोऽण् च ४ । ४ । ९४ ।।** चाद्यत् । उरसा निर्मितः

औचित्यात्पञ्चम्यन्तेभ्यः इति लभ्यते । धर्मादनपेतमिति । अप्रच्युतमित्यर्थः । पथ्यमिति । पथः अनपेतमित्यर्थः । न्याय्यमिति । न्यायादनपेतमित्यर्थः ।

(१६४५) छन्दसो निर्मिते । छन्दःशब्दात्तृतीयान्तात् निर्मितेऽर्थे यदित्यर्थः । इच्छयेति । छन्दःशब्दः इच्छावाचीति भावः । 'छन्दः पद्येऽभिलाषे च' इत्यमरः ।

(१६४६) उरसोऽण् च । तृतीयान्तान्निर्मित इत्यर्थं इति शेषः । उरस्य इति । 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे' इति श्रुतेरिति भावः । पुत्र इति संज्ञाधिकाराल्लब्धम् ।

(धर्मश्च, पन्थाश्च, अर्थश्च, न्यायश्च, तेषां समाहारः) 'अनपेत' (अनुकूल) अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है । उदाहरण—क्रमशः—(१) **धर्म्यम्** (धर्म से अनुकूल—धर्मात् अनपेतम्)—धर्म्+यत् (य) । अन्त्यलोप । (२) **पथ्यम्**[1] (लाभदायक भोजन—पथः अनपेतम्)—पथिन्+यत् (य) । टिलोप । (३) **अर्थ्यम्** (उपयुक्त—अर्थात् अनपेतम्)—अर्थ्+यत् । (४) **न्याय्यम्** (समुचित—न्यायात् अनपेतम्)—न्याय्+यत् (य) । उभयत्र अन्त्यलोप ।

(१६४५) पद—छन्दसः, निर्मिते । **अनुवृत्ति**—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ एवम् विवरण—संज्ञाधिकार होने से सूत्रस्थ 'छन्दस्' शब्द इच्छार्थक है[2], न कि मात्राओं एवं वर्णों पर आधारित त्रिष्टुबादि छन्दों का । अतः प्रत्ययार्थ के अनुरोध से यहाँ 'तृतीया-समर्थ' विभक्ति का आश्रयण है । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "तृतीया-समर्थ 'छन्दस्' प्रातिपदिक से 'बनाया हुआ' (निर्मित) अर्थ में 'यत्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण—छन्दस्यम्** (इच्छानुसार बनाया गया—छन्दसा निर्मितम्) छन्दस्+यत् (=य) ।

(१६४६) पद—उरसः, अण्, च । **अनुवृत्ति**—यत्, निर्मिते, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'च' ग्रहण करने से 'यत्' भी । उदा० उरसा निर्मितः (सगा) पुत्र (बेटा)→ औरसः—उरस्यः ।

विवरण—'संज्ञा' का अधिकार विद्यमान है । सूत्रस्थ 'च' पद से प्राकरणिक 'यत्' प्रत्यय भी होता है । 'निर्मित' अर्थ अनुवृत्तिवश ("छन्दसो निर्मिते" ४-४-९३) लभ्य है । अर्थ की अनुकूलता से यहाँ भी तृतीया-समर्थ विभक्ति ली गई है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "तृतीया-समर्थ 'उरस्' शब्द से 'निर्मित' अर्थ में 'अण्' तथा 'यत्' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(क) **औरसः** पुत्रः→उरस्+अण् (अ) होने पर । आदिवृद्धि । (ख) **उरस्यः**←उरस्+यत् (य) होने पर । **अर्थ**—विधिपूर्वक विवाहित पत्नी से स्वयम् उत्पन्न किया हुआ पुत्र—उरसा निर्मितः[3] । श्रुति का भी वचन है—**अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।**

---

१. संज्ञाधिकारात् अभिधेयनियमः । तेन शास्त्रीयात् पथः अनपेतमेव पथ्यम्, न तु मार्गात् अनपेतश्चोरोऽपि ।

२. 'छदि' संवरणे इति चुरादिः इच्छायामपि वर्तते, धातूनामनेकार्थत्वात् । ततो घञि इच्छापर्यायश्छन्दःशब्दः । असुनि तु यः सान्तः सोऽत्र प्रकृतिः, तत्र निर्माणे इच्छायाः करणत्वात् सामर्थ्यात् तृतीयान्तात् प्रत्ययः ।

३. अस्मिन्नर्थे एव अमरकारः आह—**स्वजाते त्वौरसोरस्यौ** । स्वस्मात् पाणिगृहीत्यां जातः इत्यर्थः । तथा च मनुः—"स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् । **तमौरसं** विजानीयात्

पुत्रः औरसः-उरस्यः । (१६४७) हृदयस्य प्रियः ४ । ४ । ९५ ॥ हृद्यो देशः । 'हृदयस्य हृल्लेख—' (सू ९८८) इति हृदादेशः । (१६४८) बन्धने चर्षौ ४ । ४ । ९६ ॥ हृदयशब्दात्षष्ठ्यन्ताद्बन्धने यत्स्याद्वेदेऽभिधेये । हृदयस्य बन्धनं-हृद्यो वशीकरण-मन्त्रः । (१६४९) मतजनहलात्करणजल्पकर्षेषु ४ । ४ । ९७ ॥ मतं ज्ञानं, तस्य करणं भावः साधनं वा मत्यम् । जनस्य जल्पो जन्यः । हलस्य कर्षो हल्यः । (१६५०)

(१६४७) हृदयस्य प्रियः । षष्ठ्यन्वात् हृदयशब्दात् प्रिय इत्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः ।

(१६४८) बन्धने चर्षौ ।

(१६४९) मतजनहलात् । यथासङ्ख्यम् । एभ्य एष्वर्थेषु यदिति शेषः । मतं ज्ञानमिति । मनधातोः भावे क्त इति भावः । करणं भावः साधनं वेति । कृञ्धातोर्भावे करणे वा ल्युटि करणशब्दः । तेन जननक्रिया वा जननसाधनं वा विवक्षितमित्यर्थः । मत्यमिति । ज्ञानस्य जननक्रिया जननसाधनं वेत्यर्थः ।

(१६४७) पद—हृदयस्य, प्रियः । अनुवृत्ति—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० हृद्यः—अर्थात् मन को अच्छा लगने वाला अथवा मनोहर देश । हृदय = हृद्->'हृदयस्य हृल्लेख'० (सू० ९८८) ।

विवरण—सूत्र में उद्देश्यवाची शब्द (हृदय) तथा प्रत्ययार्थ (प्रिय) का उल्लेख है । समर्थ-विभक्ति भी षष्ठी (हृदयस्य) निर्दिष्ट है । विधेयांश (= यत्) अधिकारवश लभ्य है । अतः "षष्ठी-समर्थ 'हृदय' प्रातिपदिक से 'प्रिय' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—हृद्यः (जो हृदय को प्रिय हो—हृदयस्य प्रियः)—हृदय+यत् (= य) > हृद्यः (हृदय=हृद्—"हृदयस्य हृल्लेख-यदण्लासेपु" ६-३-५०) ।

(१६४८) पद—बन्धने, च, ऋषौ । अनुवृत्ति—हृदयस्य, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त 'हृदय' शब्द से 'बन्धन' अर्थ में 'वेद' अभिधेय होने पर 'यत्' प्रत्यय होता है । हृदय का बन्धन—हृद्यः । अर्थात् वशीकरण मन्त्र ।

विवरण—विशेष अर्थ अभिलक्षित कर 'यत्' प्रत्यय का विधान है । 'हृदयस्य' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से आ रही है । अतः "षष्ठी-समर्थ 'हृदय' प्रातिपदिक से 'बन्धन' अर्थ में 'वेद' (ऋषौ) अभिधेय होने पर 'यत्' प्रत्यय होता है" । यहाँ 'ऋषि' शब्द 'वेद' का वाचक है । 'हृदय' के बन्धन से तात्पर्य है "मन्त्रों के प्रभाव से 'हृदय' का सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होना" । अतः वशीकरण-मन्त्र के रूप में हृद्यः उदाहरण दिया जा रहा है । अर्थ—वशीकरण-मन्त्र-हृदयस्य बन्धनम् । हृदय+यत् (= य) > हृद्यः (हृदय = हृद्) ।

(१६४९) पद—मत-जन-हलात्, करण-जल्प-कर्षेषु । अनुवृत्ति—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'मत' शब्द का अर्थ है 'ज्ञान' । उसका करण अर्थात् साधन या भाव । उदा० ->(१) मत्यम् । (२) जनस्य जल्पः->जन्यः । (३) हलस्य कर्षः->हल्यः ।

विवरण—'यत्' का ही प्रकरण है । 'उद्देश्य' वाची तीन एवम् अर्थ-निर्देशक तीन पद सूत्र में विद्यमान हैं । अतः "षष्ठी-समर्थ 'मत' 'जन' तथा 'हल' प्रातिपदिकों से क्रमशः 'करण', 'जल्प',

---

पुत्रं प्राथमकल्पिकम्" ॥ इति । नातः परमार्यायां स्वजन्येऽतिव्याप्तिः । अत एवाभिप्रेत्य मूलकृताऽपि 'स्वीयाया' मिति 'स्वकीयः' इति च परित्यज्य 'स्वाभ्यां जातः' इत्यर्थकमेवोक्तम् ।

तत्र साधुः ४ । ४ । ९८ ॥ अग्रे साधुः—अग्रयः । सामसु साधुः—सामन्यः । 'ये चाभाव-कर्मणोः' (सू ११५४) इति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शरण्यः । (१६५१) **प्रतिजनादिभ्यः खञ् ४ । ४ । ९९ ॥** प्रतिजनं साधुः—प्रातिजनीनः । सांयुगीनः । सार्वजनीनः ।

(१६५०) तत्र साधुः । सप्तम्यन्तात्साधुरित्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः । अग्रय इति । अग्रे साधुरित्यर्थः । साधुरत्र प्रवीणो गृह्यते, न तु हितः, तत्र 'तस्मै हितम्' इति वक्ष्य-माणत्वात् ।

(१६५१) प्रतिजनादिभ्यः खञ् । तत्र साधुरित्येव । सप्तम्यन्तेभ्यः एभ्यः साधुरि-त्यर्थे खञ् स्यादित्यर्थः । प्रातिजनीन इति । प्रतिजनमिति वीप्सायामव्ययीभावः । तत्र साधुरित्यर्थः । एवं वैश्वजनीनः ।

तथा 'कर्ष' अर्थों में 'यत्' (= य) प्रत्यय होता है" । यहाँ भी प्रत्ययार्थ की अनुकूलता से समर्थ-विभक्ति का ग्रहण है । सूत्रस्थ 'मत' शब्द ज्ञानार्थक है (√मन् + 'भावे' क्त) । ज्ञान का करण (√कृ + ल्युट्—भावे करणे वा) अर्थात् साधन या भाव अर्थ अभीष्ट होने पर—उदाहरण— (१) मत्यम् (ज्ञान का साधन—मतस्य=ज्ञानस्य करणम्)—मत् + यत् (= य) । अन्त्यलोप । (२) जन्यः (लोगों का कहना—जनस्य जल्पः)—जन् + यत् (= य) । (३) हल्यः (जुता हुआ—हलस्य कर्षः)—हल् + यत् (= य) ।

(१६५०) पद—तत्र, साधुः । **अनुवृत्ति**—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १–अग्रे साधुः→अग्रयः । २–सामसु साधुः→सामन्यः । 'येचाऽभावकर्मणोः' (सू० ११५४) से प्रकृतिभाव । ३–कर्मण्यः । ४–शरण्यः ।

विवरण—सूत्रस्थ 'तत्र' पद सप्तमी समर्थ-विभक्ति का सूचक है । 'साधुः' पद अर्थनिर्देशक है । विधेयांश 'यत्' का लाभ "प्राग्घिताद्यत्" (४-४-७५) के आधिकारिक प्रभाव-वश होता है । तदनुसार "सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से 'कुशल' या 'प्रवीण' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण— (१) अग्रयः (आगे रहने में प्रवीण—अग्रे साधुः) । –अग्र् + यत् (= य) । अन्त्यलोप । (२) सामन्यः (सामगान में निपुण—सामसु साधुः)—सामन् + यत् (= य) । "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से प्राप्त 'टि'लोप का "ये चाऽभावकर्मणोः" (६-४-१६८) से बाध होने के कारण प्रकृतिभाव तथा विभक्तिकार्य । (४) कर्मण्यः (काम करने में प्रवीण—कर्मसु साधुः)—कर्मन् + यत् (=य) । शेष कार्य पूर्ववत् । (५) शरण्यः (रक्षा करने में प्रवीण-शरणे साधुः)—शरण् + यत् (= य) । अन्त्यलोप ।

विशेष—यहाँ से 'तत्र' की अनुवृत्ति ४-४-११९ तक तथा 'साधुः' की अनुवृत्ति ४-४-१०६ तक जायेगी ।

(१६५१) पद—प्रतिजनादिभ्यः, खञ् । **अनुवृत्ति**—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० प्रतिजनं साधुः→१–प्रातिजनीनः । २–सांयुगीनः । ३–सार्वजनीनः । ४–वैश्वजनीनः ।

विवरण—पूर्व सूत्रार्थ का ही विषय है । अतः "सप्तमी-समर्थ 'प्रतिजनादि' प्रातिपदिकों से 'कुशल' (साधु) अर्थ में 'खञ्' (ख = ईन) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण-(१) प्रातिजनीनः** (प्रति व्यक्ति के लिये सज्जन—प्रतिजनं साधुः)—प्रतिजन् (वीप्सा में अव्ययीभाव—जनं जनं प्रति) + खञ् (ख = ईन) । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप । (२) **सांयुगीनः** (युद्ध में कुशल–संयुगे

वैश्वजनीनः । (१६५२) भक्ताण्णः ४ । ४ । १०० ॥ भक्ते साधवो भाक्ताः शालयः । (१६५३) परिषदो ण्यः ४ । ४ । १०१ ॥ पारिषद्यः । परिषदः इति योगविभागाण्णोऽपि । पारिषदः । [पर्षदः इति पाठान्तरम् । पार्षदः] (१६५४) कथादिभ्यष्ठक् ४ । ४ । १०२ ॥ कथायां साधुः—काथिकः । (१६५५) गुडादिभ्यष्ठञ् ४।४।१०३ ॥

(१६५२) भक्ताण्णः । सप्तम्यन्तादस्मात् साधुरित्यर्थे इति शेषः ।

(१६५३) परिषदो ण्यः । सप्तम्यन्तात्साधुरित्यर्थे इति शेषः । योगेति । परिषद इति प्रथमो योगः । परिषदः णः स्यादित्यर्थः । ततः 'ण्यः' इति द्वितीयो योगः । परिषदो ण्यः स्यादित्यर्थः ।

(१६५४) कथादिभ्यष्ठक् । इत्यादि स्पष्टम् ।

साधुः)—संयुग्+खञ् (ख=ईन) । (३) सार्वजनीनः (सब के लिये उपयोगी—सर्वजने साधुः)—सर्वजन्+खञ् (ख=ईन) । (४) वैश्वजनीनः (संसार के लिये श्रेयस्कर—विश्वजने साधुः)—विश्वजन्+खञ् (ख=ईन) ।

(१६५२) पद—भक्तात्, णः । अनुवृत्ति—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० भक्ते साधवः—भाक्ताः अर्थात् धान ।

विवरण—सप्तमी-समर्थ 'भक्त' प्रातिपदिक से 'साधु' अर्थ में 'ण' (=अ) प्रत्यय होता है"। भाक्ताः शालयः (भात बनाने के उपयुक्त धान—भक्ते साधवः)—भक्त्+ण (=अ) ▷ भाक्त (आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) ▷ भाक्ताः (प्रथमा बहुवचन) ।

(१६५३) पद—परिषदः, ण्यः । अनुवृत्ति—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० पारिषद्यः । (सूत्र में) 'परिषदः' तथा 'ण्यः'—योगविभाग करने पर 'ण' भी होगा । उदा० पारिषदः ।

विवरण—'तत्र साधुः' का ही विषय है । अतः "सप्तमी-समर्थ 'परिषद्' शब्द से 'साधु' अर्थ में 'ण्य' (=य) प्रत्यय होता है" । उदाहरण—पारिषद्यः (जो व्यवस्थापिका सभा में कुशल हो—परिषदि साधुः)—परिषद्+ण्य (=य) > पारिषद्यः (आदिवृद्धि) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र का योग-विभाग कर[1] पृथक् दो सूत्रों में रखा जाय—(१) परिषदः तथा (२) ण्यः । प्रथम भाग में "भक्तात् णः" (४-४-१००) सूत्र से 'णः' की अनुवृत्ति करने पर 'परिषद्' शब्द से (ण) (=अ) प्रत्यय होने पर पारिषदः (आदिवृद्धि) रूप सिद्ध होगा । अनन्तर द्वितीय भाग 'ण्यः' में पूर्व भागस्थ 'परिषदः' की अनुवृत्ति होने पर पूर्वोक्त पारिषद्यः रूप बनेगा । सूत्र में 'पर्षदः' पाठान्तर होने से 'ण' प्रत्यय होने पर पार्षदः रूप भी बनेगा ।

(१६५४) पद—कथादिभ्यः, ठक् । अनुवृत्ति –तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० कथायां साधुः→काथिकः ।

विवरण—'तत्र साधुः' का ही सातत्य है । अतः "सप्तमी-समर्थ 'कथा' शब्द से 'साधु' अर्थ अभिधेय होने पर 'ठक्' (=इक) प्रत्यय होता है" । उदाहरण—काथिकः (कहानी कहने में निपुण—कथायां साधुः)—कथा+ठक् (ठ=इक) । आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप ।

---

१. 'पारिषदाकृतिरेषा तत्र-भवताम्' 'सर्ववेदं पारिषदं हीदं शास्त्रम्'—इत्यादयो भाष्यप्रयोगाः अस्मिन् योगविभागे प्राचीनैः वृत्तिकारैः प्रमाणत्वेन उपन्यस्ताः ।

गुडे साधुर्गौडिक इक्षुः। साक्तुकाः यवाः। (१६५६) पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् ४।४।१०४॥ पथि साधु पाथेयम्। आतिथेयम्। वसनं वसतिः, तत्र साधुर्वासतेयी रात्रिः। स्वापतेयं धनम्। (१६५७) सभाया यः ४।४।१०५॥ सभ्यः।

(१६५५) गुडादिभ्यष्ठञ्। साक्तुका यवा इति। सक्तुषु साधुरित्यर्थः। गुडादित्वाट्ठञ्। उगन्तत्वाट्ठस्य कः।

(१६५६-५७) पथ्यतिथि। इत्यादि स्पष्टम्।

(१६५५) पद—गुडादिभ्यः, ठञ्। अनुवृत्ति—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० गुडे साधुः→(१) गौडिकः अर्थात् गुड़ बनाने के लिये ईख। (२) साक्तुकाः–अर्थात् जौ।

विवरण—'साधु' अर्थ का ही विषय है। अतः "सप्तमी-समर्थ 'गुड' आदि शब्दों से 'साधु' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—(१) गौडिकः ('गुड़' बनाने के लिए उपयोगी ईख—गुडे साधुः)—गुड+ठञ् (ठ=इक)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप। (२) साक्तुकाः यवाः (सत्तू बनाने के लिये अच्छे यव—सक्तुषु साधवः)—सक्तु+ठञ् > साक्तुकाः (ठ=क–"इसुसुक्तान्तात् कः" ७-३-५१ तथा आदिवृद्धि)।

(१६५६) पद—पथ्यतिथि-वसति-स्वपतेः, ढञ्। अनुवृत्ति—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० (१) पथि साधु→पाथेयम्। (२) आतिथेयम्। (३) 'वसन' शब्दार्थ 'वसति' (निवास) है। उसके विषय में उपयुक्त→वासतेयी अर्थात् रात। (४) स्वापतेयम् अर्थात् धन।

विवरण—'साधु' अर्थ का ही विषय है। अतः "सप्तमी-समर्थ 'पथिन्', 'अतिथि', वसति' तथा 'स्वपति' शब्दों से 'साधु' अर्थमें 'ढञ्' ('ढ'=एय) प्रत्यय होता है"। क्रमशः उदाहरण–(१) पाथेयम् (यात्रा में उपयोगी खाद्यसामग्री—पथि साधु)—पथिन्+ढञ् (ढ=एय) 'टि'-लोप, आदिवृद्धि)। (२) आतिथेयम् (अतिथिसत्कार–अतिथिषु साधु)—अतिथि+ढञ् (ढ= एय)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप। (३) वासतेयी रात्रिः (निवास के लिये उपयुक्त अर्थात् रात्रि–वसत्यां साधुः) वसति+ढञ् (ढ=एय, ङीप्)। (४) स्वापतेयम् धनम् (स्वामी को लाभदायक धन-स्वपतौ साधु)—स्वपति+ढञ् (ढ=एय)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्य-इवर्ण-लोप।

विशेष—(१) 'वसति' शब्द की व्युत्पत्ति—वसनं वसतिः→√वस्+शप्+अति←"वाहि-वस्यर्तिभ्यश्चित्" उणादि ५०९। (२) स्वपतिः—स्वस्य=धनस्य पतिः। 'स्व' शब्द धनवाची है।

(१६५७) पद—सभायाः, यः। अनुवृत्ति—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"अनुवृत्तियाँ एवम् अर्थ यथापूर्व अनुसरण कर रहे हैं। अतः "सप्तमी-समर्थ 'सभा' शब्द से 'साधु' अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। उदाहरण—सभ्यः (सभा के व्यवहारादि में कुशल व्यक्ति—सभायां साधुः)—सभा+य। अन्त्यवर्ण-लोप।

विशेष—स्वरित-स्वर न होने के लिये 'य' प्रत्यय का पृथक् ग्रहण किया गया है। 'य' प्रत्यय होने पर अन्तोदात्त स्वर होगा।

(१६५८) समानतीर्थे वासी ४।४।१०७॥ साधुः इति निवृत्तम्। वसतीति वासी। समाने तीर्थे गुरौ वसतीति सतीर्थ्यः। (१६५९) समानोदरे शयित ओ

(१६५८) समानतीर्थे वासी। समानतीर्थशब्दात्सप्तम्यन्तात् वसतीत्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः। वसतीति वासीति। ग्रहादेराकृतिगणत्वाण्णिनिः। तीर्थशब्दस्य विवरणं गुराविति। सतीर्थ्यं इति। समानतीर्थशब्दाद्यति 'तीर्थे ये' इति समानस्य सभावः।

(१६५९) समानोदरे शयितः। समानोदरशब्दात् सप्तम्यन्तात् शयितः इत्यर्थे यत्स्यात् ओकारश्च उदात्त इत्यर्थः। शयित इत्यस्य विवरणं स्थित इति। कुक्षेशयम् जलेशयम् इत्यादौ तथादर्शनादिति भावः। समानोदर्यं इति। समानमुदरमिति विग्रहे 'पूर्वापरप्रथम' इत्यादिना समासाद्यति कृते तित्स्वरापवादः ओकारस्योदात्तः। 'विभाषोदरे' इति सभावे असति रूपम्।

(१६५८) पद—समानतीर्थे, वासी। **अनुवृत्ति**—तत्र, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'साधुः' की निवृत्ति होती है। 'वासी'=निवासकर्ता, तीर्थ=गुरु। उदा० समाने तीर्थे वसति→सतीर्थ्यः।

विवरण—पूर्वोक्त 'साधुः' अर्थ का यहाँ से अब सम्बन्ध नहीं रहेगा। सूत्र में 'वासी' पद अर्थ का सूचक है। विधेयांश 'यत्' अनुवृत्तिलभ्य है। अतः "सप्तम्यन्त 'समानतीर्थ' शब्द से रहने वाला ('वासी') अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**सतीर्थ्यः** (एक गुरु के पास रहने वाला सहपाठी—समाने तीर्थे वसति)—समानतीर्थ+य > सतीर्थ+य (समान=स→"तीर्थे ये" ६-३-८६) > सतीर्थ्यः (अन्त्य-वर्ण-लोप)। कोप ग्रन्थों में 'तीर्थ' शब्द अनेकार्थक है—शास्त्र, यज्ञ, क्षेत्र, उपाय, नारीरज, घाट, ऋषियों से सेवित जल, पात्र, गुरु तथा मन्त्री[1]। यहाँ पर 'गुरु' अर्थ अभीष्ट है।

(१६५९) पद—समानोदरे, शयिते, च, ओ, च, उदात्तः। **अनुवृत्ति**—तत्र, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० एक माता के उदर में स्थित भ्राता→समानोदर्यः।

विवरण—सूत्रस्थ 'ओ' पद लुप्तप्रथमान्त है। समर्थ-विभक्ति-सूचक 'तत्र' तथा विधेय-सूचक 'यत्' पद दोनों ही अनुवृत्तिलभ्य हैं। अर्थ-विषयक-निर्देश सूत्र में विद्यमान है (शयितः)। अतः "सप्तमीसमर्थ 'समानोदर' प्रातिपदिक से 'शयन किया हुआ' (शयिते) अर्थ में 'यत्' प्रत्यय हो तथा 'समानोदर' शब्दस्थ 'ओ'-वर्ण उदात्त भी होता है"। **उदाहरण**—**समानोदर्यः** भ्राता (सगा भाई—समानोदरे शयितः)। समानोदर्+यत् (=य)। अन्त्यवर्ण-लोप।

विशेष—(१) 'यत्' प्रत्यय करने पर "तित् स्वरितम्" (६-१-१७९) से 'य' स्वरित होता है। तत्पश्चात् "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (६-१-१५२) से 'य' को छोड़कर सारा पद अनुदात्त होता, किन्तु उसको बाधकर केवल 'ओ'कार के उदात्त रहने का प्रकृत सूत्र ने विधान किया है। अतः स्वरों की स्थिति इस प्रकार होगी—समानोदर्यः।

(२) समानं च तदुदरं च—समानोदरम्—कर्मधारय समास। "विभाषोदरे" (६-३-८८) सूत्र के अनुसार 'समान' शब्द के स्थान पर 'स'भाव न होने पर 'समान' शब्द स्थित रहता है।

---

१. तीर्थं शास्त्र-ध्वर-क्षेत्रो-पाय-नारीरजःसु च।
अवतार-र्षिजुष्टाम्बु-पात्रो-पाध्याय-मन्त्रिषु" ॥ इति मेदिनी।

चोदात्तः ४ । ४ । १०८ ॥ समाने उदरे शयितः = स्थितः — समानोदर्यो भ्राता ।
(१६६०) सोदराद्यः ४ । ४ । १०९ ॥ सोदर्यः । अर्थः प्राग्वत् ।

इति तद्धिते चतुर्थस्य चतुर्थपादे प्राग्घितीयप्रकरणम् ।

अथ तद्धिते छयद्विधिप्रकरणम्

(१६६१) प्राक् क्रीताच्छः ५ । १ । १ ॥ 'तेन क्रीतम्' (सू १७०२) इत्यतः

(१६६०) सोदराद्यः । सहम्यन्तात् शयित इत्यर्थे इति शेषः । तित्वाभावात्प्रत्यय-स्वरेणान्तोदात्तोऽयम् । 'विभाषोदरे' इति सभावः । 'अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति' इत्यत्र तु समानपर्यायसहशब्दस्य बहुव्रीहौ 'वोपसर्जनस्य' इति सभावो बोध्यः । एवं 'यत्र भ्राता सहोदरः' इत्याद्यपि सिद्धम् ।

इति तद्धिते चतुर्थस्य चतुर्थे पादे प्राग्घितीयप्रकरणम् ।

अथ पञ्चमाध्यायः । (१६६१) प्राक्क्रीताच्छः । क्रीतशब्दस्तद्घटितसूत्रपरः ।

(१६६०) पद—सोदरात्, यः । अनुवृत्ति—शयितः, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० सोदर्यः । अर्थ पूर्ववत् (जानें) ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है । 'समान' शब्द के स्थान पर पाक्षिक 'स' आदेश होने पर "'सोदर' शब्द से 'शयितः' अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है" । 'य' और यत् में स्वर का ही भेद है । 'य'-प्रत्ययान्त 'सोदर्य' शब्द प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होगा । सोदर्यः भी सगे भाई को ही कहते हैं । विग्रहादि पूर्ववत् समझें ।

विशेष—(१) एकदेश-विकृत न्याय से 'सोदर' शब्द से भी पूर्व सूत्र से 'यत्' प्राप्त रहा, स्वरभिन्नार्थ 'य' प्रत्यय की उपयोगिता है ।

(२) नाममाला कोष में सोदर तथा सहोदर शब्द भी सगे भाई के अर्थ में परिगणित किये गए हैं—'भ्राता तु स्यात् सहोदरः । समानोदर्य-सोदर्य-सगर्भ्य-सहजा अपि । सोदरश्च' । अतः 'सोदर' शब्द की सिद्धि के लिये समान-पर्यायवाची 'सह' शब्द का 'उदर' के साथ बहुव्रीहि समास करने पर "वोपसर्जनस्य" (६-३-८२) से पाक्षिक 'स' आदेश किया जाय (उदरेण सह वर्तते) । तदनुसार रामायणीय 'यत्र भ्राता सहोदरः' आदि प्रयोग समीचीन माने गए हैं ।

'दीपिका' टीका में प्राग्घितीय-प्रकरण समाप्त ।

उपक्रम—चतुर्थाध्याय के अवशिष्ट सूत्रों को यहाँ छोड़ दिया गया है, क्योंकि वे वेद से सम्बद्ध थे । उन्हें दीक्षित जी वैदिक प्रक्रिया में समाविष्ट करेंगे । हितार्थक प्रत्ययों के पूर्व 'छ' प्रत्यय का स्वल्प अधिकार भी अष्टाध्यायी में समाविष्ट है । उनका विवरण यहाँ पर तो चार सूत्रों में है, किन्तु आगे "तेन क्रीतम्" (५-१-३६) से पूर्व तक औत्सर्गिक 'छ' प्रत्यय का अधिकार रहेगा ।

(१६६१) पद—प्राक्, क्रीतात्, छः । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । अधिकार-सूत्र ।

प्राक्छोऽधिक्रियते। (१६६२) उगवादिभ्यो यत् ५।१।२॥ प्राक् क्रीतादित्येव। उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत्स्याच्छस्यापवादः। 'नाभि नभं च' (ग सू ९५)। नभ्योऽक्षः। नभ्यमञ्जनम्। रथनाभावेवेदम्। 'शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम्' (ग सू ९६)।

तदाह—तेन क्रीतमिति। 'तेन क्रीतम्' इत्यतः प्राक् येषु सूत्रेषु अर्था एव निर्देक्ष्यन्ते न तु प्रत्ययाः—तेषु छ इत्युपस्थितं भवतीति यावत्।

(१६६२) उगवादिभ्यो यत्। उश्च गवादयश्च इति द्वन्द्वात् पञ्चमी। उवर्णान्तादिति। प्रातिपदिकविशेषणत्वात् तदन्तविधिः। 'उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्' इत्युक्तेः प्रत्ययविधावपि तदन्तविधिरिति भावः। इदमपि सूत्रं प्राक्क्रीताद्वक्ष्यमाणसूत्रेषु प्रत्ययविशेषानुपादाने उपतिष्ठते। नाभि नभं चेति। गवादिगणसूत्रम्। नाभिशब्दः नभादेशं यत्प्रत्ययं च प्राप्नोतीत्यर्थः। नभ्योऽक्ष इति। यत्र अक्षदण्डः प्रवेश्यते तच्चक्रमध्यगतच्छिद्रं नाभिरित्युच्यते। तस्मै हितः अक्षदण्डः, स हि अनुगुणत्वात् नाभये हितः। नभ्यमञ्जनमिति। अञ्जनं तैलसेकः। नाभेरञ्जने कृते तत्र प्रोतं चक्रं सुपरिवर्तनं भवतीति नाभेः परिवर्तनात्मककार्यक्षमताधायकत्वादञ्जनं नाभये हितम्। अत्र शरीरावयवविशेषवाचि-नाभिशब्दो न गृह्यते। भाष्ये रथनाभेरेव ग्रहणादित्यभिप्रेत्य आह—रथनाभावेवेदमिति। शरीरा-

---

मूलार्थ—"तेन क्रीतम्" (सू० १७०२) से पहले 'छ' का अधिकार है।

विवरण—अब पञ्चमाध्याय के प्रत्ययों का विवरण बतलाया जा रहा है। प्रकृत सूत्र की आधिकारिक सीमा का सूचक 'क्रीतात्' पद है, जो कि तद्धित सूत्र "तेन क्रीतम्" (५-१-३६) का संकेतक है। वह भी अर्थ-परक निर्देश है। तदनुसार "क्रीत' अर्थ के आरम्भ होने से पूर्व तक 'छ' का अधिकार रहेगा"। अर्थात् "तेन क्रीतम्" (५-१-३६) से पहले जितने अर्थ कहे हैं, उन सब अर्थों में 'छ' प्रत्यय हो" ऐसा इस अधिकार का स्वरूप जाना जाय। फिर भी वास्तविकता तो यह है कि इसके मध्य में ही "प्राग्वतेष्ठञ्" (५-१-१८) से क्रीताद्यर्थों में ठञादि प्रत्ययों का विधान किये जाने से 'छ' प्रत्यय की अधिकार-सीमा कम हो जाती है। तदनुसार 'छ' प्रत्यय का अधिकार "परिखाया ढञ्" (५-१-१७) सूत्र तक ही माना जाय।

स्मरणीय—यहाँ से आगे औत्सर्गिक सूत्रों में केवल 'छ' की अनुवृत्ति तथा अन्यत्र 'प्राक् क्रीतात्' की अनुवृत्ति दिखाई जायगी।

(१६६२) **पद**—उगवादिभ्यः, यत्। **अनुवृत्ति**—प्राक् क्रीतात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—"तेन क्रीतम्" के पहले तक ही जानें। उवर्णान्त तथा गवादि शब्दों से 'यत्' होता है। 'छ' का अपवाद है। ग० सू० 'नाभि' शब्द से 'य' प्रत्यय तथा उसे 'नभ' आदेश भी हो। उदा० नभ्यः अक्षः। नभ्यम् अर्थात् अञ्जन (तैलाभ्यङ्ग)। रथ की 'नाभि' को लक्षित कर ही यह प्रवृत्त होता है। ग० सू० 'श्वन्' शब्द से 'यत्' प्रत्यय एवं सम्प्रसारण होते हैं। 'सम्प्रसारण' को विकल्प से दीर्घ होता है। उदा० शून्यम्—शुन्यम्। ग० सू० 'ऊधस्' शब्द को 'अनङ्' भी होता है। उदा० ऊधन्यः।

विवरण—"उवर्णान्त तथा गवादिगण-पठित (उश्च गवादयश्च = उगवादयः, तेभ्यः) प्रातिपदिकों से प्राक्क्रीतीय (अर्थात् क्रीत अर्थ से पहले जितने अर्थ कहे गए हैं, उन सब) अर्थों में 'यत्' (= य) प्रत्यय होता है"। यह 'छ' का अपवाद है। इसके उदाहरण आगे "तस्मै हितम्" (५-१-५) सूत्र में दिये जायेंगे। यहाँ पर गवादिगण-पठित कुछ शब्दों से सम्बद्ध तीन गणसूत्रों का उल्लेख किया जा रहा है। (१) 'नाभि' शब्द से हितार्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है एवं 'नाभि' को 'नभ' आदेश भी होता है"। **उदाहरण**—(१) (क) नभ्यः अक्षः (पहिये के मध्य

शून्यम्–शुन्यम् । 'ऊधसोऽनङ् च' (ग सू ९७) । ऊधन्यः । (१६६३) कम्बलाच्च संज्ञायाम् ५ । १ । ३ ॥ यत्स्यात् । कम्बल्यमूर्णापलशतम् । संज्ञायाम् किम् ? कम्बलीया ऊर्णा । (१६६४) विभाषा हविरपूपादिभ्यः ५ । १ । ४ ॥ आमिक्ष्यं दधि, आमि-

---

वयवविशेषवाचिनाभिशब्दात्तु 'शरीरावयवाद्यत्' इति वक्ष्यमाणः केवलो यत्, न तु नभादेश इति भावः । शुनः सम्प्रसारणमिति । गवादिगणसूत्रम् । श्वन्शब्दाद्यत्स्यात् प्रकृतेः सम्प्रसारणम् । तस्य सम्प्रसारणस्य पाक्षिकं दीर्घत्वमित्यर्थः । शून्यम्–शुन्यमिति । शुने हितमित्यर्थः । ऊधसोऽनङ् चेति । इदमपि गणसूत्रम् । ऊधश्शब्दात् यत्स्यात् प्रकृतेरनङादेशश्चेत्यर्थः । आदेशे ङकार इत्, नकारादकार उच्चारणार्थः । ङित्वादन्तादेशः ।

(१६६३) कम्बलाच्च । कम्बलशब्दात् यत्स्यात् प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु सञ्ज्ञायामित्यर्थः । कम्बल्यम् ऊर्णापलशतमिति । कम्बलाय हितमित्यर्थः ।

(१६६४) विभाषा हवि । हविर्विशेषवाचिभ्यः अपूपादिभ्यश्च प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु

के छिद्र के लिये उपयुक्त धुरी—नाभये हितः)-नाभि+यत् ▷नाभि+य (यत्=य) ▷नभ्+य (नाभि=नभ) >नभ्यः (अन्त्यवर्ण-लोप) । (१) (ख) नभ्यम् अञ्जनम् (पहिये के मध्य में स्थित छिद्र के लिये तेल—नाभये हितम्) । प्रक्रिया पूर्ववत् । छेद में धुरी के घूमने से उसे ठीक रखने के लिये तेल की आवश्यकता होती है । 'रथ की नाभि' अर्थ में ही इस आदेश की प्रवृत्ति होती है, शरीरावयव में नहीं । अतः वहाँ 'नाभ्यम्' रूप बनेगा (नाभि+यत्←"शरीरावयवाद्यत्" ५-१-६) । (२) चतुर्थी-समर्थ 'श्वन्' शब्द से हितार्थ में 'यत्' प्रत्यय हो तथा 'व्' को सम्प्रसारण होने के साथ ही उसे पाक्षिक दीर्घ भी हो । उदाहरण—शून्यम् (कुत्ते के लिये उपयुक्त—शुने हितम्)—श्वन्+य (यत्) >श्-उ-अन्+य (व्=उ—सम्प्रसारण) ▷ शुन्+य (उ+अ—पूर्वरूप) ▷ शून्यम् ('उ' को दीर्घ) । शुन्यम्←दीर्घ न होने पर । (३) ऊधस् से यत् प्रत्यय तथा 'ऊधस्' को अनङ् आदेश (अन्तावयव) भी हो । उदाहरण—ऊधन्यः (कुआँ—ऊधसे हितम्)—ऊधस्+य (यत्) ▷ ऊध-अन्+य ('अनङ्' आदेश 'स्' के स्थान में) ▷ ऊधन्यः (अ+अ = पररूप एवम् येचाऽभावकर्मणोः" ६-४-१६८ से प्रकृतिभाव होने के कारण 'टि'-लोप = 'अन्' का लोप नहीं हुआ) ।

(१६६३) पद—कम्बलात्, च, संज्ञायाम् । अनुवृत्ति—यत्, प्राक् क्रीतात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'यत्' हो । उदा० कम्बल्यम्—अर्थात् पाँच सेर ऊन से बना हुआ । 'संज्ञायाम्' क्यों कहा ? कम्बलीया ऊर्णा (संज्ञा न होने से 'यत्' नहीं) ।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'यत्' की अनुवृत्ति आ रही है । "'कम्बल' प्रातिपदिक से प्राक्क्रीतीय अर्थों में संज्ञा अभिधेय होने पर 'यत्' प्रत्यय होता है" । यह सूत्र 'छ' का अपवाद है । उदाहरण—कम्बल्यम् ऊर्णापलशतम् (कम्बल के लिये उपयोगी पाँच सेर ऊन—कम्बलाय हितम्) कम्बल+यत् (=य) अन्त्यवर्ण-लोप ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'संज्ञायाम्' पद का निवेश होने से कम्बलीया-ऊर्णा (कम्बल बनाने के लिये उपयोगी ऊन) में संज्ञा का निर्देश न होने से 'यत्' नहीं हुआ, किन्तु 'छ' (=ईय) प्रत्यय हुआ । अतः परिमाणविशेष-सूचक ऊन को ही कम्बल्या कहा जाता है ।

(१६६४) पद—विभाषा, हविः, अपूपादिभ्यः । अनुवृत्ति—यत्, प्राक् क्रीतात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १–आमिक्ष्यम् (दधि)—आमिक्षीयम् । २–पुरोडाश्याः (तण्डुलाः)—पुरोडाशीयाः । ३–अपूप्यम्–अपूपीयम् ।

क्षीयम् । पुरोडाश्यास्तण्डुलाः-पुरोडाशीयाः । अपूप्यम्-अपूपीयम् । (१६६५) तस्मै हितम् ५ । १ । ५ ॥ वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् । शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु । गव्यम् । हविष्यम् । (१६६६) शरीरावयवाद्यत् ५ । १ । ६ ॥ दन्त्यम् । कण्ठ्यम् ।

यद्वा स्यादित्यर्थः । पक्षे छः । आमिक्ष्यं दधीति । आमिक्षार्थं हितमित्यर्थः । तप्ते पयसि दध्नि निक्षिप्ते यत् घनीभूतं निष्पद्यते सा आमिक्षेत्युच्यते ।

(१६६५) तस्मै हितम् । अस्मिन्नर्थे चतुर्थ्यन्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । वत्सीय इति । छे रूपम् । यो गोधुक् वत्सेभ्यः पयः शिष्ट्वा दोग्धि स एवमुच्यते । शङ्कव्यमिति । शङ्कवे हितमित्यर्थः । उवर्णान्ताद्यत् । गव्यमिति । गोभ्यो हितं तृणादिकमित्यर्थः । गवादिलक्षणो यत् । हविष्यमिति । हविषे हितमित्यर्थः । हविःशब्दो गवादिः । 'विभाषा हविः' इत्यत्र तु हविर्विशेषवाचिनामेव ग्रहणं, व्याख्यानात् ।

(१६६६) शरीरावयवाद्यत् । शरीरावयवविशेषवाचकात् चतुर्थ्यन्तात् हितमित्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः । छस्यापवादः । नस्यमिति । नासिकायै हितमित्यर्थः । 'पद्दन्' इति नस्-

---

विवरण—"'हविष्'-विशेषवाची तथा 'अपूपादि' प्रातिपदिकों से प्राक्क्रीतीय अर्थों में विकल्प से 'यत्' प्रत्यय होता है"। 'हविष्'—विशेषवाची के **उदाहरण**—(१) क-**आमिक्ष्यं** दधि→ यत् होने पर (आमिक्षा+य, अन्त्यलोप)। (ख) **आमिक्षीयम्** दधि←'छ' = ईय होने पर। **अर्थ**—छेना बनाने के लिये दही—आमिक्षायै दधि। उबलते हुए दूध में दही डालने से दूध का जो घना भाग अलग हो जाता है, उसे 'आमिक्षा' कहते हैं। उसे तैयार करने के लिये उचित परिमाण वाला दही 'आमिक्ष्य' कहलाता है। (२) (क) **पुरोडाश्याः** तण्डुलाः→'यत्' प्रत्यय होने पर (पुरोडाश्+य)। (ख) **पुरोडाशीयाः** तण्डुलाः←'छ' (=ईय) होने पर। **अर्थ**—पुरोडाश के लिये हितकर चावल—पुरोडाशाय हिताः। 'आमिक्षा' और 'पुरोडाश' की 'हविष्' यज्ञ में दी जाती है, अतः ये हविर्विशेष-वाची शब्द हैं। (३) (क) **अपूप्यम्**→'यत्' होने पर—(अपूप्+य)। (ख) **अपूपीयम्**←'छ'(=ईय)होने पर। **अर्थ**—पूआ बनाने के लिये उपयुक्त—अपूपेभ्यः हितम्।

(१६६५) **पद**—तस्मै, हितम्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'तस्मै' पद समर्थ-विभक्ति का सूचक है। 'हितम्' पद अर्थ-निर्देशक है। अतः "चतुर्थी-समर्थ प्रातिपदिक से 'हित' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(१) **वत्सीयः** गोधुक् (बछड़े के लिये हितकारी दूध दुहने वाला—वत्सेभ्यः हितः)—वत्स+छ (औत्सर्गिक) > वत्स्+ईय > वत्सीयः (अन्त्यवर्णलोप)। (२) **शङ्कव्यं** दारु (खूँटी बनाने के लिये उपयुक्त लकड़ी—शङ्कु+यत् (=य—"उगवादिभ्यो यत्" ५-१-२)। गुण एवम् अवादेश। (३) **गव्यम्** (गाय के लिये हितकारी—गवे हितम्)—गो+यत् (=य "उगवादिभ्यो यत्" ५-१-२)। (४) **हविष्यम्** (हविष् के लिये उपयुक्त—हविषे हितम्)—हविष्+यत् (गवादिगण में ५-१-२ पाठ होने से)।

(१६६६) **पद**—शरीरावयवात्, यत्। **अनुवृत्ति**—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"चतुर्थी-समर्थ शरीर के अवयववाची प्रातिपदिकों से 'हित' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है"। 'छ' का अपवाद है। **उदाहरण**—(१) **दन्त्यम्** (दाँतों के लिये हितकर—दन्तेभ्यः हितम्)—दन्त्+यत् (=य)। (२) **कण्ठ्यम्** (गले के लिये हितकर—

'नस्नासिकायाः' (वा ३४९७)। नस्यम्। नाभ्यम्। (१६६७) ये च तद्धिते ६।१।६१॥ यादौ तद्धिते परे शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशः स्यात्। शीर्षण्यः। तद्धिते किम्? शिर इच्छति शिरस्यति। 'वा केशेषु' (वा ३४९३)। शीर्षण्याः शिरस्या वा केशाः। 'अचि शीर्ष इति वाच्यम्' (वा ३४९४)। अजादौ तद्धिते शिरसः शीर्षादेशः।

प्रभृतिग्रहणस्य प्रकारार्थत्वात् भाष्ये तु 'नासिकाया यत्-तस्-क्षुद्रेषु नस्' इति पठितम्। नाभ्यमिति। नाभये हितमित्यर्थः। नाभिरत्र शरीरावयवः। रथावयवे तु नभादेश उक्तः।

(१६६७) ये च तद्धिते। शीर्षन्नादेश इति। 'शीर्षन् छन्दसि' इत्यतः तदनुवृत्ते-रिति भावः। शीर्षण्यः इति। शिरसे हित इत्यर्थः। शरीरावयवत्वाद्यति शीर्षन्नादेशे 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः। शिरस्यतीति। शिरः आत्मनः इच्छतीत्यर्थे 'सुप आत्मनः' इति क्यचि, 'नः क्ये' इति नियमात् पदत्वाभावान्न रुत्वम्। वा केशेषु। केशेषु वाच्येषु यो यकारादिस्तद्धितः तस्मिन्परे शिरसः शीर्षन्नादेशो वा स्यादित्यर्थः। प्रसङ्गादाह—अचीति।

कण्ठाय हितम्)—कण्ठ्+यत् (=य)। (३) नस्यम् (नाक के लिये हितकर सुँघनी—नासिकायै हितम्)—नासिका+यत् (=य) > नस्+य (नासिका = नस्) > नस्यम् (विभक्तिकार्य)। (४) नाभ्यम् (नाभि के लिये लाभकर—नाभये हितम्)—नाभि्+यत् (य)। अन्त्यवर्ण-लोप।

विशेष—महाभाष्यकार ने "पद्दन्नोमास्०" (६-१-६३) सूत्र में 'नासिका' शब्द के स्थान पर 'नस्' आदेश होने के सम्बन्ध में वार्तिक इस प्रकार बताया है—नस् नासिकाया यत्-तस्-क्षुद्रेषु। इसके अनुसार 'यत्' (प्रत्यय) 'तस्' (प्रत्यय) तथा 'क्षुद्र' शब्द परवर्ती रहते 'नासिका' के स्थान पर 'नस्' आदेश होता है। उसी के आशय को लेकर यहाँ पर दीक्षित जी ने शब्दावलि बदल दी है।

(१६६७) पद—ये, च, तद्धिते। अनुवृत्ति—शीर्षन्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—यकारादि तद्धित परवर्ती होने पर 'शिरस्' शब्द को 'शीर्षन्' आदेश हो। उदा० शीर्षण्यः। 'तद्धिते' क्यों कहा? इच्छार्थक 'क्यच्' (= य) प्रत्ययान्त 'शिरस्यति' में 'शीर्षन्' नहीं हुआ। वा० 'केश' अर्थ में यह विकल्प से हो। उदा० शीर्षण्याः शिरस्याः वा केशाः। वा० अजादि तद्धित परे रहते 'शीर्ष' आदेश होता है। उदा० स्थूल शिर-सम्बन्धी अर्थ में—स्थौल-शीर्षम्।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र अष्टाध्यायी के छठे अध्याय में पढ़ा गया है। शरीरावयववाचक 'शिरस्' शब्द के प्रसङ्ग में 'शीर्षन्' आदेश होने के लिये यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। सूत्र में आदेशवाचक शीर्षन् शब्द की अनुवृत्ति "शीर्षश्छन्दसि" (६-१-६०) सूत्र से अपेक्षित है। सूत्र में स्थानिवाचक 'शिरस्' शब्द के न होने से भाष्यकार ने अर्थ-विशेष की व्यवस्था की है। तदनुसार "'यकार' से आरम्भ होने वाले तद्धित-प्रत्यय के परवर्ती होने पर मौलिक 'शिरस्' रूप 'शीर्षन्' के रूप में परिवर्तित किया जाय"[1]। **उदाहरण**—शीर्षण्यः (सिर के लिये हितकारी—शिरसे

---

१. यद्यपि "शीर्षश्छन्दसि" (६-१-६०) इति सूत्रे 'शिरसः' इति स्थानी साक्षात् न निर्दिष्टः तथापि समानार्थत्वात् आदेशेन आक्षिप्यते। यथा शिवादिषु विश्रवणशब्देन विश्रवश्शब्द इति स्थानिनोऽत्यन्तमप्रयोगः स्यादिति स्थान्यादेशभावपरिहारेण प्रकृत्यन्तरत्वमाश्रयणीयमित्यर्थः। अयमेव पक्षः भाष्ये कैयटेन स्वीकृतः।

स्थूलशिरस इदं स्थौलशीर्षम्। (१६६८) खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च ५।१।७॥ खलाय हितं खल्यम्। यव्यम्। माष्यम्। तिल्यम्। वृष्यम्। ब्रह्मण्यम्। चाद्रथ्या। (१६६९) अजाविभ्यां थ्यन् ५।१।८॥ अजथ्या यूथिः। अविथ्या। (१६७०)

(१६६८) खलयव। खलादिभ्यश्चतुर्थ्यन्तेभ्यः हितमित्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः। वृषशब्दोऽत्र अकारान्त एव गृह्यते, न तु नकारान्तः। तेन वृष्णे हितमिति वाक्यमेव। ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणवाच्येव गृह्यते, न तु वेदादिवाची। तेन ब्रह्मणे वेदाय हितमिति वाक्यमेवेति भाष्ये स्पष्टम्। ब्रह्मण्यमित्यत्र 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः। चाद्रथ्येति। चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादिति भावः।

(१६६९) अजाविभ्यां थ्यन्। अजश्च अविश्चेति द्वन्द्वः। अविशब्दस्य घित्वेऽपि

हिताः)—शिरस्+यत् (=य) > शीर्षन्+य (शिरस्=शीर्षन्) > शीर्षण्यः (न्=ण्। "ये चाभावकर्मणोः" ६-४-१६८ के आश्रयण से टि (=अन्) लोप नहीं हुआ)। इसी सम्बन्ध ('शीर्षन्' आदेश) में दो वार्तिक भी प्रस्तुत किये गये हैं। तदनुसार (१) केश अर्थ विवक्षित रहते 'शिरस्' का 'शीर्षन्' रूपान्तर विकल्प से जाना जाय। अतः दो रूप बनेंगे—(क) शीर्षण्याः केशाः→'शीर्षन्' आदेश होने पर। (ख) शिरस्याः केशाः←आदेश न होने पर। अर्थ—सिर के लिये हितकर 'बाल'—शिरसे हिताः। तथा (२) अजादि तद्धित-प्रत्यय परवर्ती होने पर 'शिरस्' के स्थान पर ह्रस्व-अकारान्त शीर्ष शब्द प्रकृत्यन्तर के रूप में प्रयोग किया जाय। उदाहरण—स्थौलशीर्षम् (स्थूल सिर-सम्बन्धी—स्थूलशिरसः इदम्)—स्थूलशिरस्+अण् (=अ—"तस्येदम्" ४-३-१२०) > स्थूलशीर्षम् (शिरस्=शीर्ष तथा अन्त्यलोप)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'तद्धिते' पद का समावेश होने से शिरस्यति (सिर चाहता है—अर्थ में "सुप आत्मनः क्यच्" ३-१-८ से क्यच्=य प्रत्यय—शिरस्+य+तिप्) में यकारादि तद्धित प्रत्यय न होने के कारण 'शीर्षन्' आदेश नहीं हुआ। "नः क्ये" (१-४-१५) सूत्र के अनुसार पद-संज्ञा के न होने से रुत्व भी नहीं हुआ।

(१६६८) पद—खल-यव-माष-तिल-वृष-ब्रह्मणः, च। अनुवृत्ति—यत्, तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"चतुर्थ्यन्त 'खल', 'यव', 'माष', 'तिल', 'वृष' तथा 'ब्रह्मन्' शब्दों से भी 'हित' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है"। क्रमशः उदाहरण—खल्यम् (खलिहान के लिये उपयुक्त—खलाय हितम्)—खल्+यत् (=य)। अन्त्यलोप। (२) यव्यम् (जौ के लिये उपयुक्त—यवाय हितम्)—यव्+यत् (=य)। (३) माष्यम् (उड़द के लिये उपयुक्त—माषाय हितम्)—माष्+यत् (=य)। (४) तिल्यम् (तिल के लिये उपयुक्त—तिलेभ्यः हितम्)—तिल्+यत् (=य)। (५) वृष्यम् (शक्ति बढ़ाने के लिये उपयुक्त—वृषाय हितम्)—वृष्+यत् (=य)। यहाँ पर अकारान्त 'वृष' शब्द लिया गया है न कि नकारान्त 'वृषन्' शब्द। अतः 'वृषन्' शब्द से 'वृष्णे हितम्' वाक्य ही रहेगा। (६) ब्रह्मण्यम् (ब्राह्मण के लिये हितकर—ब्रह्मणे हितम्)—ब्रह्मन्+यत् (=य)। प्रकृतिभाव होने से 'टि'–लोप नहीं हुआ। यहाँ पर 'ब्रह्मन्' शब्द 'ब्राह्मण' वर्ण का बोधक है। अतः वेदार्थक 'ब्रह्मन्' शब्द में 'ब्रह्मणे हितम्' वाक्य ही रहेगा। सूत्र में अनुक्त समुच्चयार्थक 'च' शब्द का समावेश होने से इष्टानुरोध के कारण रथ्या (रथ के लिये उपयुक्त मार्ग—रथाय हिता) में भी 'यत्' (=य) प्रत्यय हो गया (रथ्+य+टाप्)।

(१६६९) पद—अजाऽविभ्यां, थ्यन्। अनुवृत्ति—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः ५ । १ । ९ ॥ (१६७१) **आत्माध्वानौ खे ६ । ४ । १६९ ॥** एतौ खे प्रकृत्या स्तः । आत्मने हितमात्मनीनम् । विश्वजनीनम् । 'कर्मधारयादेवेष्यते' । षष्ठीतत्पुरुषाद् बहुव्रीहेश्च छ एव । विश्वजनीयम् । 'पञ्चजनादुपसङ्ख्यानम्' (वा २९९६) । पञ्चजनीनम् । 'सर्वजनाट्ठञ् खश्च' (वा २९९७) । 'सार्व-

---

'अजाद्यदन्तम्' इत्यजशब्दस्य पूर्वनिपातः । अजथ्या यूथिरिति । अजेभ्यः अजाभ्यो वा हितेत्यर्थः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया अजाशब्दादपि थ्यन् । तसिलादिष्विति पुंवत्त्वम् । अविथ्येति । अविभ्यो हितेत्यर्थः । स्त्रीत्वं लोकात् ।

(१६७०) आत्मन्विश्वजन । आत्मन्, विश्वजन, भोगोत्तरपद एभ्यः हितमित्यर्थे खः स्यादित्यर्थः । आत्मनीनमित्युदाहरणं वक्ष्यति ।

(१६७१) तत्र टिलोपे प्राप्ते—आत्माध्वानौ खे । प्रकृत्या स्त इति । 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । कर्मधारयादेवेति । विश्वजनशब्दादिति शेषः । अत्र व्याख्यानमेव शरणम् । विश्वजनीयमिति । विश्वस्य जनो विश्वजनः साधारणो वैद्यादिः । विश्वो जनो यस्येति बहुव्रीहिर्वा । तस्मै हितमिति विग्रहः । पञ्चजनीनमिति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारो वर्णाः रथकारजातिश्चेत्येते पञ्च जनाः । तेभ्यो हितमिति विग्रहः । सर्वजनाट्ठञ् खश्चेति । वक्तव्य इति शेषः । 'समानाधिकरणादिति वक्तव्यम्' इति वार्तिकं

मूलार्थ एवं विवरण—"चतुर्थी-समर्थ 'अज' और 'अवि' शब्दों से 'हित' अर्थ में 'थ्यन्' प्रत्यय होता है" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **अजथ्या यूथिः** (बकरों के लिये हितकर, जुही—अजेभ्यः हिता) अज+थ्यन् (=थ्य) ▷ अजथ्य+टाप् ▷ अजथ्या । (२) **अविथ्या** (भेड़ों के लिये हितकर—अविभ्यः हिता)—अवि+थ्यन् (=थ्य)+टाप् ।

विशेष—सूत्र में अकारान्त 'अज' शब्द ही लिया गया है । अतः "अजाद्यदन्तम्" (२-२-३३) से 'अज' का पूर्व निपात हुआ है । 'प्रातिपदिकग्रहण०' परिभाषा के अनुसार पुंलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग दोनों से विग्रह किया जा सकता है । "तसिलादिष्वाकृत्वसुचः" (६-३-३५) के अनुसार पुंवद्भाव होने से शब्द-रूप में अन्तर नहीं होगा ।

(१६७०) पद—आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्, खः । **अनुवृत्ति**—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

विवरण—"चतुर्थी-समर्थ 'आत्मन्', 'विश्वजन' तथा 'भोगोत्तरपदक' प्रातिपदिकों से 'हित' अर्थ में 'ख' (=ईन) प्रत्यय होता है" ।

(१६७१) पद—आत्माध्वानौ, खे । **अनुवृत्ति**—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ख' प्रत्यय परे रहते इन दोनों को प्रकृतिभाव हो । उदा० १–आत्मने हितम्→आत्मनीनम् । २–विश्वजनीनम् । वा० 'ख' प्रत्यय कर्मधारय से ही हो । षष्ठी तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि से 'छ' प्रत्यय ही होगा→विश्वजनीयम् । वा० 'पञ्चजन' शब्द से भी 'ख' कहा जाय । उदा० पञ्चजनीनम् । वा० 'सर्वजन' शब्द से 'ठञ्' तथा 'ख' भी हो । उदा० सार्वजनिकः, सर्वजनीनः । वा० 'महाजन' शब्द से 'ठञ्' हो । उदा० माहाजनिकः । मातृभोगीणः, पितृभोगीणः, राजभोगीनः । ग. सू. 'आचार्य से णत्व न हो । उदा० आचार्यभोगीनः ।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है । 'प्रकृतिभाव' के प्रसङ्ग में यहाँ उद्धृत किया जा रहा है । अतः "प्रकृत्यैकाच्" (६-४-१६३) से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । "भस्य" (६-४-१२९) तथा "अङ्गस्य" (६-४-१) का आधिकारिक प्रभाव भी विद्यमान है । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "'आत्मन्' तथा 'अध्वन्' सम्बन्धी 'भ'-संज्ञक अङ्गों को 'ख' (=ईन) प्रत्यय परवर्ती होने पर प्रकृतिभाव हो" । पूर्व सूत्र से सम्बद्ध **उदाहरण—आत्मनीनम्** (अपने लिये हितकर—आत्मने हितम्)—आत्मन्+ख (=ईन) ▷ आत्मनीनम् (प्रकृतिभाव होने

जनिकः। सर्वजनीनः। 'महाजनाट्ठञ्' (वा २९९८)। माहाजनिकः। मातृभोगीणः। पितृभोगीणः। राजभोगीनः। 'आचार्यादणत्वं च' (ग सू १८४)। आचार्यभोगीनः। (१६७२) सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ ५।१।१०॥ 'सर्वाण्णो वेति वक्तव्यम्' (वा

भाष्ये स्थितम्। महाजनाट्ठञिति। वक्तव्य इति शेषः। विश्वजनप्रसङ्गादिदं वार्तिकद्वयमुपन्यस्तम्। अथ भोगोत्तरपदस्योदाहरति—मातृभोगीण इति। मातृभोगाय हित इत्यर्थः। आचार्यादिति। आचार्यशब्दात्परस्य नस्य णत्वाभावो वाच्य इत्यर्थः। न च असमानपदस्थत्वादेवात्र णत्वस्याप्रसक्तेस्तन्निषेधो व्यर्थ इति वाच्यम्, मातृभोगीणादौ णत्वज्ञापनार्थत्वात्।

(१६७२) सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ। सर्व, पुरुष आभ्यां चतुर्थ्यन्ताभ्यां क्रमात् णढञौ स्तः हितमित्यर्थे इत्यर्थः। सर्वाण्ण इति। अत्र सर्वशब्दस्य स्वरूपपरत्वान्न सर्वनामकार्यम्।

से "नस्तद्धिते" ६-४-१४४ की प्रवृत्ति नहीं हुई—अर्थात् 'टि' लोप नहीं होता)। (२) विश्वजनीनम् (सब लोगों के लिये हितकर—विश्वस्मै जनाय हितम्)—विश्वजन+ख (=ईन)। प्रक्रिया पूर्ववत्। भोगोत्तरपद—(३) मातृभोगीणः (माता के शरीर के लिये हितकारी—मातुः भोगः=शरीरं, तस्मै—मातृभोगाय हितः)—मातृभोग्+ख (=ईन)। अन्त्यवर्ण-लोप एवं णत्व। (ख) पितृभोगीणः (पिता के शरीर के लिये हितकारी—पितृभोगाय हितः)—पितृभोग्+ख (=ईन)। (ग) राजभोगीनः (राजा के शरीर के लिये हितकारी—राजभोगाय हितः)—राजभोग्+ख (=ईन)। 'ज्' का व्यवधान होने से णत्व नहीं। (घ) आचार्यभोगीनः (आचार्य के शरीर के लिये हितकारी—आचार्यभोगाय हितः)—आचार्यभोग+ख (=ईन)। ▷ आचार्यभोगीनः (यथानियम णत्व प्राप्ति का निषेध-सूचक वार्तिक प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार आचार्य शब्द से परवर्ती 'ख' (=ईन) प्रत्यय-सम्बन्धी 'न' को 'ण' नहीं होता।

विशेष—"आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः" (५-१-९) सूत्र से सम्बद्ध कुछ वार्तिकों का यहाँ उल्लेख किया है। तदनुसार (१) 'विश्वजन' शब्द से 'ख' प्रत्यय कर्मधारय समास होने पर ही होगा। अतः तत्पुरुष समास में—विश्वस्य जनः—विश्वजनः, तस्मै हितम्—विग्रह करने पर अथवा बहुव्रीहि समास में—विश्वः जनः यस्य=विश्वजनः, तस्मै हितम्—विग्रह करने पर 'छ' (= ईय) प्रत्यय ही होगा→विश्वजनीयम्। (२) सूत्र में अनुल्लिखित पञ्चजन शब्द से भी 'ख' प्रत्यय का विधान कहा जा रहा है। तदनुसार पञ्चजनीनम् उदाहरण दिया गया है (पञ्चजन के लिये हितकर-पञ्चजनेभ्यः हितम्)। 'पञ्चजन' शब्द से चारों वर्ण तथा पाँचवें रथकार जाति का ग्रहण किया गया है। 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'—इस विधिवाक्य के 'निषादस्थपति' शब्द में त्रिविध समासों में कौन समास माना जाय—इस सम्बन्ध में लाघव-मूलक कर्मधारय समास मानकर रथकार-जाति-विशेष में अपूर्व विद्या की कल्पना की है। तथा उसे विशेष अधिकार भी दिया गया है। मीमांसा-शास्त्र के ग्रन्थों में इसका विशेष विवेचन किया गया है। (३) एवं सर्वजन शब्द से भी इसी प्रसङ्ग में 'हित' अर्थ में 'ठञ्' (=इक) और 'ख' (=ईन) प्रत्ययों का विधान किया गया है। तदनुसार सार्वजनिकः तथा सर्वजनीनः रूप क्रमशः बनते हैं (सर्वजनेभ्यः हितः)। (४) इसी प्रकार महाजन शब्द से भी हितार्थ में 'ठञ्' (=इक) प्रत्यय होने का निर्देश दिया गया है। इसका उदाहरण—माहाजनिकः (महापुरुषों के लिये उपयुक्त—महाजनाय हितः) है। ये दोनों वार्तिक 'विश्वजन' शब्द के प्रसङ्ग में समानान्तर रूप में कहे गए हैं।

(१६७२) पद—सर्व-पुरुषाभ्यां, ण-ढञौ। अनुवृत्ति—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

२९९९)। सर्वस्मै हितं सार्वम्-सर्वीयम्। 'पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेषु (वा ३०००)। भाष्यकारप्रयोगात्तेनेत्यस्य द्वन्द्वमध्ये निवेशः। पुरुषस्य वधः पौरुषेयः, 'तस्येदम्' (सू १५००) इत्यणि प्राप्ते। पुरुषस्य विकारः पौरुषेयः, 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (सू १५३२) इत्यञि प्राप्ते। समूहेऽप्यणि प्राप्ते। 'एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव' इति माघः-स० २-४। तेन कृते ग्रन्थेऽणि प्राप्ते। अग्रन्थे तु प्रासादा-

---

पुरुषाद्वधेति। वार्तिकमिदम्। पुरुषशब्दाद्वधादिष्वेवार्थेषु ढञ् स्यात्, न हितार्थे इत्यर्थः। ननु तेनकृतमिति समुदायस्य असुबन्तत्वात् अर्थसमासे निवेश इत्यत आह—भाष्येति। अणि प्राप्ते इति। अनेन ढञिति शेषः। प्राणीति। रजतादित्वादञि प्राप्ते अनेन ढञित्यर्थः। समूहेऽप्यणि प्राप्ते इति। पुरुषाणां समूहः इत्यर्थे 'तस्य समूहः' इत्यणि प्राप्ते अनेन ढञित्यर्थः। पौरुषेयवृता इवेति। पुरुषसमूहवृता इवेत्यर्थः। परितः आदर्शप्रतिफलनादिति भावः। तेन कृते इति। पुरुषेण कृतो ग्रन्थ इत्यर्थे कृते ग्रन्थे इत्यणि प्राप्ते, पुरुषेण कृतः प्रासाद इत्यर्थे तु कस्मिन्नपि प्रत्यये अप्राप्ते अनेन ढञित्यर्थः।

मूलार्थ—वा० 'सर्व' शब्द से पाक्षिक 'ण' भी हो। उदा० सर्वस्मै हितम्→सार्वम्-सर्वीयम्। वा० 'पुरुष' शब्द से 'वध', 'विकार', 'समूह' तथा 'तेनकृत' अर्थ में उक्त प्रत्यय ('ण' तथा 'ढञ्') होते हैं। भाष्यकार के मत से 'तेन' पद का निवेश द्वन्द्व के मध्य में हुआ है। उदा० पुरुषस्य वधः→पौरुषेयः। यहाँ पर "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्" से 'अञ्' प्राप्त रहा तथा 'समूह' अर्थ में 'अण्' प्राप्त था। अतः माघ काव्य में भी 'ढञ्' प्रत्ययान्त प्रयोग—"एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव"—मिलता है। तथा 'तेन कृतः ग्रन्थः' अर्थ में 'अण्' प्राप्त रहा। किन्तु ग्रन्थभिन्न अर्थ कृतः प्रासादः में कोई प्रत्यय नहीं रहा।

विवरण—"चतुर्थी-समर्थ 'सर्व' तथा 'पुरुष' प्रातिपदिकों से 'हित' अर्थ में यथासंख्य 'ण' (=अ) तथा 'ढञ्' (=एय) प्रत्यय होते हैं"। किन्तु वार्तिक—द्वारा 'सर्व' शब्द से 'विकल्प' से 'ण' प्रत्यय का विधान किये जाने के फलस्वरूप पक्ष में "प्राक् क्रीताच्छः" (५-१-१) से औत्सर्गिक 'छ' प्रत्यय भी होगा। **उदाहरण**—(१) (क) **सार्वम्**→सर्व+ण (=अ) होने पर। (ख) **सर्वीयम्**←सर्व+छ (ईय) होने पर। **अर्थ**—सबके लिये हितकर-सर्वस्मै हितम्। 'पुरुष' शब्द के सम्बन्ध में 'हित' अर्थ को त्याग कर 'ढ' प्रत्यय की व्यवस्था की गई है। वे अन्य अर्थ हैं—**वध, विकार, समूह** तथा **तेन कृत**। प्रकृत वार्तिक में वध आदि चार अर्थ दिखाये हैं। उनमें चौथा अर्थ है—कृतः (ग्रन्थः)। चारों का द्वन्द्व समास है। किन्तु 'कृतः' (ग्रन्थः) के साथ उसके (पुरुष-वाचक शब्द) समर्थ-विभक्ति-सूचक 'तेन' पद का सूत्रस्थ द्वन्द्व-समास-वाचक पदों के मध्य में निवेश कर दिया गया है। उसका समावेश यदि 'तत्कृत' के रूप में किया जाता तो नियमानुकूल होता। किन्तु उसमें भी केवल 'तृतीया' विभक्ति-जन्य समास की प्रतीति नहीं हो सकती थी। अतः भाष्यकार ने वहाँ 'तेनकृत' को अर्थसमास के रूप में निर्दिष्ट किया है[1]। अथवा तृतीया का निपातनवश 'अलुक्' समझा जाय। 'वध' आदि तीन अर्थों में सामर्थ्यवश षष्ठी-समर्थ-विभक्ति जानी जाय। 'कृतः ग्रन्थः' अर्थ में तो 'तेन' का निर्देश होने से तृतीया-समर्थ विभक्ति मानी जायगी। **उदाहरण**—**पौरुषेयः** (पुरुष का वध, विकार (पुरुषार्थ), समूह या बनाया ग्रन्थ—पुरुषस्य वधः, विकारः, तेषां समूहः, तेन कृतः ग्रन्थः वा)—पुरुष+ढञ् (ढ=एय)। आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण लोप।

---

१. "पुरुषाद्वध इति वक्तव्यम्। पौरुषेयो वधः। अत्यल्पमिदमुच्यते-पुरुषाद्वध इति। पुरुषाद् विकार-समूह-तेनकृतेष्विति वक्तव्यम्"।

दावप्राप्त एवेति विवेकः । (१६७३) **माणवचरकाभ्यां खञ् ५ । १ । ११ ॥** माणवाय हितं माणवीनम् । चारकीणम् । (१६७४) **तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ५।१।१२ ॥** विकृतिवाचकाच्चतुर्थ्यन्तात्तदर्थायां प्रकृतौ वाच्यायां प्रत्ययः स्यात् । अङ्गारेभ्यः एतानि

(१६७३) माणव । आभ्यां चतुर्थ्यन्ताभ्यां हितमित्यर्थे खञ् स्यादित्यर्थः । माणवीनमिति । मनोः कुत्सितमपत्यं माणवः, 'अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकोण् स्मृतः । नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः ॥' इत्यपत्याधिकारवार्तिकात् । माणवाय हितमिति विग्रहः । चारकीणमिति । चरतीति चरः पचाद्यच् । ततः स्वार्थिकः कः (चरकः) । चरकाय हितमिति विग्रहः ।

(१६७४) तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ । तदर्थमिति सामान्ये नपुंसकम् । तस्मै इदं तदर्थम् । तच्छब्देन विकृतिः परामृश्यते । सप्तम्यर्थे प्रथमा । विकृत्यर्थायां प्रकृताविति लभ्यते । एवं च तच्छब्देन चतुर्थ्यन्तेन विकृतिरेव प्रथमं निर्दिश्यते । तथा च चतुर्थ्यन्तात्

विशेष—'वधः', 'विकारः', 'समूहः' तथा 'कृतः ग्रन्थः' अर्थों में "तस्येदम्" (४-३-१२०), "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्" (४-३-१५४), "तस्य समूहः" (४-२-३७) और "कृते ग्रन्थे" (४-३-११६) सूत्रों से क्रमशः 'अण्' 'अञ्', 'अण्' और 'अण्' प्राप्त होते हैं, उनका बाधक यह 'ठञ्' प्रत्यय है । 'कृतः प्रासादः' आदि अर्थों में तो कोई भी प्रत्यय प्राप्त नहीं था । समूहार्थ में 'ढञ्' प्रत्ययान्त-पौरुषेय शब्द महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' (२-४) में मिलता है । जिसका आशय इस प्रकार है—यद्यपि वे अकेले ही थे तथापि तेजस्विता के कारण पुरुष-समुदाय से युक्त के समान दिखाई पड़ते थे" ।

(१६७३) पद—माणव-चरकाभ्यां, खञ् । **अनुवृत्ति**—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"चतुर्थी-समर्थ 'माणव' तथा 'चरक' प्रातिपदिकों से 'हित' अर्थ में 'खञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **माणवीनम्** (नवसिखुए छात्र के लिये हितकर—माणवाय हितम्)—माणव+खञ् (ख=ईन) । 'माणव' में "ब्राह्मण-माणव०" (४-२-४२) सूत्र-प्रयोगानुसार णत्व । (२) **चारकीणम्** (चरक के लिये हितकर)—चरक+खञ् (ख=ईन) । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप एवं णत्व ।

विशेष—'मनु' से अपत्यार्थक 'अण्' प्रत्यय होने पर मूढ अर्थ में माणव शब्द निष्पन्न होता है । वस्तुतः यह शब्द प्रारम्भिक ब्रह्मचर्यावस्था का द्योतक है । इसी प्रकार चरक शब्द भी विद्यार्थी के रूप में प्रयुक्त होता था । यह अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य है—चरति इति चरः→√चर्+अच् (पचादि), स एव चरकः←स्वार्थे कः । अतः वैशम्पायन को भी चरक कहा गया है । सम्भवतः एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर ज्ञान का प्रचार करने के कारण उनकी यह संज्ञा हुई । आचार्य-कुल में ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त कर लेने पर जो उच्चतर ज्ञान की खोज में विचरते थे, ऐसे उच्चतर विद्वानों की अन्वर्थ संज्ञा चरक थी । जातकों और उपनिषदों में भी इसी प्रकार अर्थ दिखाया गया है । ह्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि के विषय में भी लिखा है कि शब्द-सामग्री की खोज में उन्होंने लम्बी यात्रा करते हुए विद्वानों से मिलकर पूछ-ताछ की थी । यही उनका 'चरक' रूप था[1] ।

(१६७४) पद—तदर्थं, विकृतेः, प्रकृतौ । **अनुवृत्ति**—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विकृति-वाचक चतुर्थ्यन्त से तदर्थ प्रकृति वाच्य होने पर (यथाविहित) प्रत्यय

---

१. द्रष्टव्य—'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'—पृ० २३७ ।

अङ्गारीयाणि काष्ठानि । प्राकारीया इष्टकाः । शङ्कव्यं दारु । (१६७५) छदिरुपधिबलेर्ढञ् ५ । १ । १३ ॥ छादिषेयाणि तृणानि । बालेयास्तण्डुलाः । 'उपधिशब्दात् स्वार्थे इष्यते' (वा ३००३) । उपधीयते इत्युपधिः रथाङ्गं, तदेव औपधेयम् । (१६७६)

विकृतिवाचकादिति लभ्यते । तदाह—विकृतिवाचकादित्यादिना । प्रत्ययः स्यादिति । यथाविहितमिति शेषः । अङ्गारेभ्य एतानीति । अङ्गारार्थानीत्यर्थः । अर्थेन नित्यसमासविधानादस्वपदविग्रहः । अत्र काष्ठानि प्रकृतिद्रव्याणि । अङ्गाराः विकृतयः । तद्वाचकादङ्गारशब्दाच्छप्रत्यये रूपम् । प्राकारीया इष्टका इति । प्राकारेभ्य इमा इति विग्रहः । प्राकारार्था इत्यर्थः । शाङ्कव्यमिति । शङ्कवे इदमिति विग्रहः । शङ्क्वर्थमित्यर्थः । 'उगवादिभ्यः' इति यत् ।

(१६७५) छदिरुपधिबलेर्ढञ् । छदिष्, उपधि, बलि एषां समाहारद्वन्द्वे सौत्रं पुंस्त्वम् । एभ्यः तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तेभ्यः प्रकृतौ वाच्यायां ढञित्यर्थः । छादिषेयाणीति । छदिः तृणपटलः । तस्मै इमानीति विग्रहः । छदिरर्थानीत्यर्थः । ढञि एयादेशे षात्परत्वाण्णत्वम् । बालेयास्तण्डुला इति । बलये इमे इति विग्रहः । बल्यर्था इत्यर्थः । 'करोपहारयोः

हो । उदा० १–अङ्गारेभ्यः एतानि→अङ्गारीयाणि←काष्ठानि । २–प्राकारीयाः—इष्टकाः = ईंटें । ३–शङ्कव्यं—दारु (लकड़ी) ।

विवरण—सूत्र में प्रथमान्त 'तदर्थम्' सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त है । 'तदर्थ' शब्दस्थ 'तत्' पद विकृति का बोधक है । अतः "चतुर्थी-समर्थ विकृति-वाची प्रातिपदिक से (विकृतेः) कारण (प्रकृतौ) अभिधेय होनेपर 'हित' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं, यदि 'विकृति' प्रकृति के लिए (तदर्थम्) हो" । किसी वस्तु का कारण 'प्रकृति' होती है, उसका विकार 'विकृति' कहलाता है । प्रकृत उदाहरण—(१) अङ्गारीयाणि काष्ठानि में अङ्गारे ईंधन की विकृति हैं और ईंधन (काष्ठ) प्रकृति है । यहाँ पर 'विकृति'-वाची 'अङ्गार' से 'प्रकृति'–अर्थात् काष्ठ के अभिधेय होने पर 'छ' प्रत्यय (अङ्गार+छ = ईय) होता है । अर्थ—अंगारे बनाने के लिये (लकड़ी)—अङ्गारार्थानि यह अस्वपद विग्रह है, क्योंकि 'अर्थ' शब्द के साथ नित्य समास कहा गया है→"अर्थेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च" । (२) विकृति-वाचक 'प्राकार' से प्राकारीयाः इष्टकाः (चहरदीवारी निर्माण के लिये उपयोगी ईंटें—प्राकारेभ्यः इमाः । प्राकार+छ (= ईय) । (३) शङ्कव्यं दारु ('खूँटी' बनाने के लिये लकड़ी—शङ्कवे हितम्)—शङ्कु+यत् ("उगवादिभ्यो यत्" ५-१-२) । गुण एवं 'अव्' आदेश ।

(१६७५) पद—छदि-रुपधि-बलेः, ढञ् । अनुवृत्ति—तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ, तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १–छादिषेयाणि—तृणानि । २–बालेयाः—तण्डुलाः । वा० 'उपधि' शब्द से स्वार्थ में (प्रत्यय) अभीष्ट है । उदा० उपधीयते→अर्थात् जो स्थित रखे (पहिया)←उपधि, वही—औपधेयम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र (१६७४) के अर्थ का ही विषय है । 'छ' के बाधक 'ढञ्' प्रत्यय का विधान करने के लिये तदुपयोगी 'छदिष्', 'उपधि' तथा 'बलि' शब्दों का समावेश सूत्र में किया गया है । सूत्रस्थ पद–'छदिरुपधिबलेः' में समाहारद्वन्द्व होने पर भी नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग नहीं किया गया है । अतः सौत्र-प्रयुक्त पुंस्त्व की कल्पना की गई है । सूत्र का आशय इस प्रकार है—"चतुर्थी-समर्थ विकृतिवाची 'छदिष्', 'उपधि' और 'बलि' प्रातिपदिकों से तदर्थ प्रकृति अभिधेय होने पर 'हित' अर्थ में 'ढञ्' प्रत्यय हो" । उदाहरण—(१) छादिषेयाणि तृणानि (छप्पर बनाने के लिए उपयोगी घासफूस—छदिः = तृणपटलः, तस्मै इमानि)—छदिष्+ढञ्

ऋषभोपानहोर्ञ्यः ५ । १ । १४ ॥ छस्यापवादः । आर्षभ्यो वत्सः । औपानह्यो मुञ्जः । चर्मण्यप्ययमेव पूर्वविप्रतिषेधेन । औपनाह्यं चर्म । (१६७७) चर्मणोऽञ् ५ । १ । १५ ॥

पुंसि बलिः' इत्यमरः । 'भागधेयः करो बलिः' इति च । उपधिशब्दादिति । वार्तिकमिदम् । उपधीयते इति । अक्षदण्डाग्रे उपधीयते प्रोतं क्रियते इत्युपधिः । 'उपसर्गे घोः किः' इति धाञः किप्रत्ययः । 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः । उपधिः रथाङ्गमिति । तथा भाष्यादिति भावः ।

(१६७६) ऋषभोपानहोर्ञ्यः । ऋषभ उपानह् च अनयोः समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी । ऋषभशब्दादुपानह्शब्दाच्च तादर्थ्यंचतुर्थ्यन्तात् प्रकृतौ वाच्यायां ञ्यप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । आर्षभ्य इति । ऋषभाय अयमिति विग्रहः । ऋषभार्थं इत्यर्थः । यो वत्स ऋषभावस्थाप्राप्त्यर्थं पोष्यते स एवमुच्यते । औपानह्यो मुञ्ज इति । उपानहे अयमिति विग्रहः । उपानदर्थो मुञ्ज इत्यर्थः । क्वचिद्देशे मुञ्जतृणैरुपानत् क्रियते । चर्मण्यपीति । चर्मणि प्रकृतित्वेन वाच्येऽपि अयं ञ्य एव 'चर्मणोऽञ्' इत्यञं परमपि पूर्वविप्रतिषेधेन बाधित्वा भवतीत्यर्थः । एतच्च 'उगवादिभ्यः' इति सूत्रभाष्ये स्थितम् । औपानह्यमिति । उपानदर्थं चर्मेत्यर्थः ।

(१६७७) चर्मणोऽञ् । 'चर्मणः' इति षष्ठ्यन्तं विकृतावन्वेति । तदाह—चर्मणो

(ढ = एय) > छादिष् + एय (आदिवृद्धि) ▷ छादिषेयाणि (नपुंसकलिङ्ग प्रथमा बहुवचन, न् = ण) । (२) बालेयाः तण्डुलाः (बलि के लिए उपयुक्त चावल—बलये इमे)—बलि + ढञ् (ढ = एय) । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप । (३) औपधेयम् (पहिया अथवा आर के लिए उपयुक्त—उपधिः एव)—उप√धा + कि (इ) = उपधिः (उपधीयते = आरोप्यते अनेन) । उपधि + ढञ् (ढ = एय) । आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण-लोप । वार्तिक—'उपधि' शब्द से स्वार्थ में ही 'ढञ्' प्रत्यय होता है, न कि हितार्थ में । इस अर्थ-विशेष को वार्तिक द्वारा सूचित किया गया है ।

(१६७६) पद—ऋषभोपानहोः, ञ्यः । अनुवृत्ति—तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ, तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'छ' का अपवाद है । उदा० १—आर्षभ्यः वत्सः । २—औपानह्यः मुञ्जः । 'चर्म' शब्द में भी पूर्व विप्रतिषेध से 'ञ्य' ही होता है→औपानह्यं चर्म ।

विवरण—यहाँ भी प्रकृति-विकृतिभाव सम्बन्ध है । अतः "विकृतिवाची चतुर्थी-समर्थ 'ऋषभ' और 'उपानह्' प्रातिपदिकों से तदर्थ प्रकृति अभिधेय होने पर 'हित' अर्थ में 'ञ्य' (= य) प्रत्यय होता है" । 'ञ्' इत् होने से आदिवृद्धि होगी । उदाहरण—(१) आर्षभ्यः वत्सः (साँड़ बनाने के लिये उपयुक्त बछड़ा—ऋषभाय अयम्)—ऋषभ + ञ्य (= य) । आदिवृद्धि—ऋ = आर् । अन्त्यवर्णलोप । (२) औपानह्यः मुञ्जः (जूता बनाने के लिये उपयुक्त मूँज—उपानहे अयम्)—उपानह् + ञ्य (= य) । उ = औ—आदिवृद्धि । 'चर्म' से भी प्रकृति अभीष्ट होने पर आगे आने वाले "चर्मणोऽञ्" (५-१-१५) सूत्र का पूर्व विप्रतिषेध से बाध होकर 'ञ्य' प्रत्यय होने पर औपानह्यं चर्म (जूता बनाने के लिए उपयुक्त चमड़ा—उपानहे इदम्) उदाहरण भी माना जाय[1] ।

(१६७७) पद—चर्मणः, अञ् । अनुवृत्ति—तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ, तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

---

१. "ञ्यस्यावकाशः औपानह्यो मुञ्जः, अञोऽवकाशः वार्ध्रम्, वारत्रम् । चर्मणि प्रकृतित्वेन विवक्षिते सति उभयप्राप्तौ पूर्वविप्रतिषेधेन 'ञ्य' एव भवति · औपानह्यं चर्मेति" न्यासे हरदत्त आह । विस्तरस्तु "उगवादिभ्यो यत्" (५-१-२) इति सूत्रे द्रष्टव्यः ।

चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचकादञ्स्यात् । वध्र्यै इदं वाध्रं चर्म । वारत्रं चर्म । (१६७८) तदस्य तदस्मिन्स्यादिति ५ । १ । १६ ॥ प्राकार आसामिष्टकानां स्यात्प्राकारीयाः इष्टकाः । प्रासादीयं दारु । प्राकारोऽस्मिन्स्यात्प्राकारीयो देशः । इतिशब्दो लौकिकीं

या विकृतिः तद्वाचकादिति । तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तादिति शेषः । अञ् स्यादिति । प्रकृतौ वाच्यायामिति शेषः । वध्र्यै इदमिति । वृधेरौणादिके ष्ट्रनि वध्रंशब्दः । टित्वात् ङीप् । वध्रीं चर्मरज्जुः । 'नध्री वध्री वरत्रा स्यात्' इत्यमरः । वाध्र्यै इदमिति पाठान्तरम् । 'वृधिवपिभ्यां रन्' इति वृधेः रनि लघूपधगुणे रपरत्वे वर्ध्रशब्दश्चर्मवाचकः, तस्माद्विकारे अणि ङीपि वार्ध्री रज्जुः ।

(१६७८) तदस्य तदस्मिन् स्यादिति । 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इति निवृत्तम् इति कैयटः । तदस्य स्यादिति तदस्मिन् स्यादिति चार्थे प्रथमान्ताद्यथाविहितं प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । स्यादित्यत्र 'सम्भावनेऽलमिति०' इति सम्भावने लिङ् । प्राकार आसामिति । करणत्वस्य सम्बन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठी । आभिरिष्टकाभिः प्राकारः कर्तुं शक्यत इति विग्रहवाक्यस्य फलितोऽर्थः । प्राकारीया इति । प्राकारशब्दात्प्रथमान्तात् छः । इष्टकाः प्रत्ययार्थः । प्राकारपर्याप्ता इष्टका इति यावत् । प्रासादीयं दार्विति । प्रासादोऽस्य स्यादिति विग्रहः । प्रासादपर्याप्तमिति यावत् । प्राकारीयो देश इति । प्रायेण प्राकारोऽस्मिन्देशे सम्भाव्यत इत्यर्थः । देशस्य तद्योग्यपाषाणेष्टकादिबहुलत्वादिति भावः । अनेन

मूलार्थ—'चर्म' के विकारवाचक से 'अञ्' प्रत्यय होता है। उदा० वध्र्यै इदं→वाध्रं चर्म। २–वारत्रं चर्म।

विवरण—प्रकृति-विकृतिभाव सम्बन्ध का यहाँ भी प्रभाव है। सूत्र में 'चर्मणः' पद षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है। 'पञ्चमी' विभक्ति मानने पर 'चर्मन्' शब्द से ही प्रत्यय होगा न कि चर्म-विकारवाची से। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "चतुर्थी-समर्थ चर्म के विकारवाचक प्रातिपदिक से तदर्थ प्रकृति अभिधेय होने पर 'हित' अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—वाध्रं चर्म (ताँत बनाने के लिए उपयुक्त चमड़ा—वध्र्यै इदम्)—वध्री+अञ् (=अ)। आदि-वृद्धि तथा अन्त्यलोप। (२) वारत्रं चर्म (ताँत बनाने के लिए उपयुक्त चमड़ा—वरत्रायै इदम्) —वरत्रा+अञ्। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप।

(१६७८) पद—तत्, अस्य, तत्, अस्मिन्, स्यात्, इति। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १–प्राकारः आसाम् इष्टकानां स्यात्→प्राकारीयाः इष्टकाः (ईंटें)। २–प्रासादीयं दारु (लकड़ी)। ३–प्राकारः अस्मिन् देशे स्यात्→प्राकारीयः देशः। (सूत्र में) 'इति' शब्द लोकप्रसिद्ध विवक्षा का अनुसरण कराता है। अतः देवदत्त के प्रासाद की संभावना में (देवदत्तस्य प्रासादः स्यात्) ('अञ्' आदि प्रत्यय) नहीं होते।

विवरण—विकृति-प्रकृति अर्थ की निवृत्ति हो गई है। सूत्र में प्रथम 'तत्' पद समर्थ-विभक्ति (=प्रथमा) का बोधक है। 'अस्य' पद षष्ठ्यर्थ का सूचक है। तदनन्तर 'तत्' तथा 'अस्मिन्' पद भी क्रमशः प्रथमा समर्थ-विभक्ति एवं सप्तम्यर्थ के सूचक हैं। सम्भावना-बोधक 'स्यात्' पद प्रथमा-समर्थ के सामानाधिकरण्य का सूचक है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "प्रथमासमर्थ (तत्) प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ (अस्य) में तथा प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक (तत्) से सप्तम्यर्थ (अस्मिन्) में भी, यदि वह प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक 'स्यात्' क्रिया के साथ समानाधिकरण वाला हो, तो यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(१) षष्ठ्यर्थ में—**प्राकारीया इष्टकाः** (चहरदीवारी बनना जिन ईंटों से सम्भव हो—प्राकारः आसाम् इष्टकानां स्यात्)—

विवक्षामनुसारयति। तेनेह न। प्रासादो देवदत्तस्य स्यादिति। (१६७९) परिखाया ढञ् ५।१।१७॥ पारिखेयी भूमिः। इति तद्धिते छयतोः पूर्णोऽवधिः।

अथ तद्धितार्हीयप्रकरणम्

(१६८०) प्राग्वतेष्ठञ् ५।१।१८॥ 'तेन तुल्यम्—' (सू १७७८) इति

'तदर्थं विकृतेः' इत्यनुवृत्ताविह न स्यादिति सूचितम्। ननु प्रासादो देवदत्तस्य स्यादित्यत्रातिप्रसङ्गः स्यादित्यत आह—इतिशब्दो लौकिकीं विवक्षामिति। शिष्टव्यवहारमित्यर्थः।

(१६७९) परिखाया ढञ्। पूर्वसूत्रविषये इति शेषः। पारिखेयी भूमिरिति। परिखा अस्या अस्ति, अस्यामस्तीति वा विग्रहः। परिखायोग्येत्यर्थः। छयतोः पूर्णोऽवधिरिति। 'प्राग्वतेष्ठञ्' इत्यारभ्य 'द्वित्रिपूर्वादण् च' इत्यन्तैः सूत्रैः प्रत्ययविशेषेष्वनुक्रान्तेषु 'तेन क्रीतम्' इति पठितम्। ततश्च 'प्राक्क्रीतात्' इत्युक्तेस्तेष्वपि सूत्रेषु छयतोरनुवृत्तिः कुतो नेति न शङ्क्यम्, प्रत्ययविशेषाणां श्रवणे तयोरनुवृत्त्यसम्भवादिति भावः।

इति तद्धिते छयतोरवधिः।

(१६८०) अथ आर्हीयाः। प्राग्वतेः। वतिशब्दस्तद्घटितसूत्रपरः। तदाह—तेन

प्राकार+छ (औत्सर्गिक) > प्राकार्+ईय। अन्त्यलोप। (३) प्रासादीयं दारु (महल बनाने के लिये पर्याप्त लकड़ी—प्रासादः अस्य स्यात्)—प्रासाद्+छ (= ईय)। अन्त्यवर्ण-लोप। नपुंसक लिङ्ग प्रथमा एकवचन। सूत्र में प्रयुक्त 'इति' शब्द का यह उद्देश्य है कि सर्वसाधारण के साथ वस्तु के सम्बन्ध की स्थिति में (प्रचलित शिष्ट व्यवहार के अनुसार) ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। अतः **प्रासादो देवदत्तस्य स्यात्**—विग्रह में व्यक्तिविशेष से सीमित सम्बन्धता विवक्षित होने पर सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः 'छ' प्रत्यय नहीं होता।

(१६७९) पद—परिखायाः, ढञ्। **अनुवृत्ति**—तदस्य तदस्मिन् स्यादिति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र का विषय है। अतः "प्रथमा-समर्थ 'परिखा' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ एवं सप्तम्यर्थ में सम्भव अर्थ अभिधेय होने पर 'ढञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**पारिखेयी भूमिः** (खाई बनाने के लिए पर्याप्त भूमि—परिखा अस्याः, अस्याम् अस्ति वा)—परिख्+ढञ् (ढ = एय)+ङीप् (= ई)। आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप। स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा एकवचन।

शङ्का-समाधान—अग्रिम सूत्र "प्राग्वतेष्ठञ्" (५-१-१८) से प्रारम्भ होकर "द्वित्रिपूर्वादण् च" (५-१-३६) सूत्र पर्यन्त विहित प्रत्यय-विशेषों के अनन्तर "तेन क्रीतम्" (५-१-३७) का प्रभाव आरम्भ होता है। अतः यह शङ्का होती है कि "प्राक् क्रीतात् छः" (५-१-१) की आधिकारिक सीमा होने के कारण वहाँ 'छ' और 'यत्' की अनुवृत्ति क्यों न हो? इसका निवारण इस प्रकार बतलाया गया है कि 'प्रत्यय-विशेषों की उपस्थिति होने पर 'छ' और 'यत्' प्रत्ययों के प्रकरण समाप्त होने की सूचना मिल जाती है।

'दीपिका' टीका में 'छ' और 'यत्' प्रत्ययों की अवधि पूर्ण हुई।

(१६८०) पद—प्राक्, वतेः, ठञ्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। अधिकारसूत्र।

वति वक्ष्यति ततः प्राक्ठञधिक्रियते । (१६८१) आर्हादगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणाट्ठक् ५ । १ । १९ ।। 'तदर्हति' (सू १७२८) इत्येतदभिव्याप्य ठञधिकारमध्ये ठञोऽपवाद-

---

तुल्यमिति । 'तेन तुल्यम्' इत्यतः प्राक् येषु सूत्रेषु अर्था एव निर्दिश्यन्ते न तु प्रत्ययाः, तत्र ठञित्युपतिष्ठत इति यावत् ।

(१६८१) आर्हादगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणाट्ठक् । तदर्हतीति सूत्रगते अर्हतिशब्दे एकदेशानुकरणमर्हतीति । तच्च तद्घटितसूत्रपरम् । आङभिव्याप्तौ, व्याख्यानात् । तदाह—तदर्हतीति । इत्येतदभिव्याप्येति । इदमपि सूत्रं प्रत्ययविशेषाश्रयणे उपतिष्ठते । अत्र सङ्ख्यापरिमाणयोः पृथग्ग्रहणात्सङ्ख्या न परिमाणम् । तथा च वार्तिकम्—

'ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥' इति ।

तुलायामारोप्य द्रव्यगुरुत्वं येन परिच्छिद्यते तदुन्मानं—गुञ्जामाषनिष्कसुवर्णपलादि । येन काष्ठादिनिर्मितेन आयतविस्तृतोच्छ्रितेन पात्रविशेषेण पात्रगतायामविस्तारोच्छ्रायैः

मूलार्थ—"तेन तुल्यम्"० (सू० १७७८) से 'वति' प्रत्यय कहेंगे, उससे पूर्व 'ठञ्' का अधिकार है ।

विवरण—सूत्रस्थ 'वतेः' पद से "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" (५-१-११४) सूत्र लक्षित होता है । यहाँ भी अर्थ-प्रधान निर्देश है । अतः "'वति' अर्थ के प्रारम्भ होने से पहले-पहले तक इसका अधिकार समझा जायेगा" । तदनुसार उन सब अर्थों में, प्रत्ययों का निर्देश न किये जाने पर, सामान्यतः 'ठञ्' प्रत्यय होता है—यह अधिकार का स्वरूप होगा ।

(१६८१) **पद**—आ, अर्हात्, अगोपुच्छसंख्यापरिमाणात्, ठक् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **अधिकार-(विधि)-सूत्र ।**

मूलार्थ—'तदर्हति' (सू० १७२८) सूत्र तक 'ठञ्' अधिकार के बीच में गोपुच्छादि को छोड़कर उसके बाधक 'ठक्' का अधिकार है ।

विवरण—अब एक मध्ये पठित दूसरे अधिकार की चर्चा की जा रही है । तदनुसार यहाँ से आगे "तदर्हति" (५-१-६३) सूत्र पर्यन्त जितने अर्थ कहे हैं, उन सब अर्थों में 'सामान्यतः 'ठक्' प्रत्यय का अधिकार जाना जाय । किन्तु गोपुच्छ, संख्यावाचक एवं परिमाण-वाची शब्दों में 'ठक्' का अधिकार नहीं कहा जा रहा है । उनमें 'ठञ्' ही होगा । **निष्कर्ष**—"प्राग्वतेष्ठञ्" (५-१-१८) अधिकार के बीच में ही दूसरा 'ठक्' का अधिकार समाविष्ट किया गया है । अतः यह 'ठञ्' का अपवाद है । सूत्रस्थ 'आर्हात्' पद में 'आङ्' उपसर्ग है । 'आङ्' उपसर्ग मर्यादा तथा अभिविधि अर्थों में प्रयुक्त होता है । यहाँ 'अभिविधि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अतः 'आर्हात्' का अर्थ होगा—"तदर्हति" (५-१-६३) सूत्र पर्यन्त । तदनुसार वहीं तक 'ठक्' का अधिकार रहेगा । उसमें भी गोपुच्छ, संख्यावाचक तथा परिमाण-वाचक शब्दों में यह 'ठक्' प्रभावी नहीं होगा । वहाँ 'ठञ्' ही होगा । 'ठक्' और 'ठञ्' में स्वर का ही भेद है ।

विशेष—प्रकृत सूत्र अर्थात् मध्ये पठित अधिकार में 'गोपुच्छ', 'संख्या' तथा 'परिमाण' वाची शब्दों का समावेश नहीं किया गया है । 'संख्या' तथा 'परिमाणवाची'–दोनों शब्दों का पृथक् ग्रहण करने से यह विदित होता है कि यहाँ 'संख्या' परिमाण के रूप में अपेक्षित नहीं है । अर्थात् परिमाण शब्द केवल परिच्छेद-परक नहीं है । अतः महाभाष्य में 'परिमाण' और 'संख्या' में भेद दिखाया है । इस सन्दर्भ में 'उन्मान', 'परिमाण' तथा 'आयाम' आदि में भेद बतलाते हुए 'संख्या' को इन सब से विलक्षण एवं परिच्छेदक भी कहा है । तात्पर्य यह है कि ऊँचाई जिससे नापी जाय उसे उन्मान कहा जाता है (ऊर्ध्वमानं किलोन्मानम्) । आरोह = उच्छ्राय तथा परिणाह = विस्तार—ये दोनों

ष्ठगधिक्रियते गोपुच्छादीन्वर्जयित्वा । **(१६८२) असमासे निष्कादिभ्यः ५।१।२० ॥** 'आर्हात्' इत्येतत् 'तेन क्रीतम्' (सू १७०२) इति यावत्सप्तदशसूत्र्यामनुवर्तते । निष्कादिभ्योऽसमासे ठक् स्यादार्हीयेष्वर्थेषु । नैष्किकम् । समासे तु ठञेव । **(१६८३) परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः ७ । ३ । १७ ॥** उत्तरपदवृद्धिः स्यात् ञिदादौ । परमनैष्किकः । असंज्ञा इति किम् ? पञ्च कलापाः परिमाणमस्य पाञ्चकलापिकम् । 'तदस्य परिमाणम्' [सू १७२३] इति ठञ् । असमासग्रहणं ज्ञापकं भवति 'इतः प्राक्तदन्तविधिः'

व्रीह्यादि परिच्छिद्यते तत्परिमाणं प्रस्थादि । आयामो दैर्घ्यं येन परिच्छिद्यते तत्प्रमाणम् अरत्निप्रादेशादि । सङ्ख्या तु उक्तत्रितयापेक्षया बाह्या भिन्ना एकत्वद्वित्वादीत्यर्थः ।

(१६८२) असमासे इति यावदिति । 'तेन क्रीतम्' इत्येतत्पर्यन्तमित्यर्थः । ठगिति । पूर्वसूत्रात्तदनुवृत्तेरिति भावः । आर्हीयेष्विति । 'तदर्हति' इत्येतत्पर्यन्तमनुक्रान्तेषु 'तेन क्रीतम्' इत्याद्यर्थेष्वित्यर्थः । नैष्किकमिति । निष्केण क्रीतमित्यर्थः । यथायोगं क्रीताद्यर्थान्वयः । समासे तु ठञेवेति । परमनिष्कादिशब्दादित्यर्थः ।

(१६८३) परिमाणान्तस्यासञ्ज्ञाशाणयोः । आदिवृद्धिप्रकरणे उत्तरपदस्येत्यधिकारे इदं सूत्रम् । शेषपूरणेन तद्व्याचष्टे—उत्तरपदवृद्धिः स्यादिति । उत्तरपदस्य आदेरचो वृद्धिः स्यादित्यर्थः । ञिदादाविति । ञिति णिति किति चेत्यर्थः । परमनैष्किक इति । परमनिष्केण क्रीत इत्यर्थः । समासत्वाट्ठगभावे औत्सर्गिकष्ठञ् । स्वरे विशेषः । ननु निष्कादिभ्य एव ठको विधानात्तदन्तात् समासाट्ठकोऽप्रसक्तेरसमासग्रहणं व्यर्थम् । न च

जिससे नापे जायँ, उसे **परिमाण** कहते हैं (परिमाणं तु सर्वतः)। जैसे पुराने समय नापे जाने वाले लकड़ी के बने 'आढक', 'कुडव', 'प्रस्थ' आदि से अन्न आदि की तौल जानी जाती थी। केवल लम्बाई = दीर्घता जिससे नापी जाय, उसे 'प्रमाण' कहा जाता है ('आयामस्तु प्रमाणं स्यात्')। 'संख्या' इन सबसे विलक्षण है ('संख्या बाह्या तु सर्वतः)। आगे चल कर भाष्यकार ने संख्या को केवल भेद-मात्रार्थक कहा है न कि मानादि का निर्धारक—"भेदमात्रं ब्रवीत्येषा नैषा मानं कुतश्चन"।

(१६८२) पद—असमासे, निष्कादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—आर्हात्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'तेन क्रीतम्' सूत्र पर्यन्त १७ सूत्रों में 'आर्हात्' की अनुवृत्ति रहेगी। आर्हीय अर्थों में निष्कादि शब्दों से समासरहित होने पर 'ठक्' प्रत्यय होगा। उदा० नैष्किकम्। समास में तो 'ठञ्' ही होगा।

विवरण—"तेन क्रीतम्" (५-१-३७) सूत्र पर्यन्त १७ सूत्रों में 'आर्हात्' की अनुवृत्ति जाती है। इसके फल-स्वरूप सूत्र का यह आशय होगा कि "निष्कादि प्रातिपदिक जब समास में वर्तमान न हों (असमासे) तब उनसे आर्हीय अर्थात् 'तदर्हति' अर्थपर्यन्त कहे गये सब अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है"। यह सूत्र 'ठञ्' का अपवाद है। **उदाहरण—नैष्किकम्** (स्वर्ण मुद्रा से खरीदा हुआ—निष्केण क्रीतम्)—निष्क + ठक् (ठ = इक)। कर्मधारय सामासिक दशा में **परमनैष्किकः** (परमनिष्क + ठञ्) रूप निष्पन्न होगा।

(१६८३) पद—परिमाणान्तस्य, असंज्ञा-शाणयोः। **अनुवृत्ति**—संख्यायाः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'ञित्' आदि (प्रत्यय) परे रहते उत्तरपद को वृद्धि होती है। उदा० परमनैष्किकः। 'असंज्ञा' क्यों कहा ? पञ्च कलापाः परिमाणम् अस्य→पाञ्चकलापिकम् में "तदस्य परिमाणम्"

इति। तेन सुगव्यम्—यवापूप्यमित्यादि। इत ऊर्ध्वं तु 'सङ्ख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणं प्राग्वतेरिष्यते, तच्चालुकि—' (वा ३०१८)। पारायणिकः। द्वैपारायणिकः। अलुकि इति किम्? द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्। द्विशूर्पेण क्रीते 'शूर्पादञ्–' (सू १६९१)

प्रातिपदिकग्रहणस्यापञ्चमाध्यायसमाप्तेरधिकृतत्वात्प्रातिपदिकविशेषणतया तदन्तविधौ समासादपि ठकः प्रसक्तिरस्तीति वाच्यम्, 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति निषेधात्। निष्कादीनां च विशेष्य गृहीतत्वेन ग्रहणवत्त्वादित्यत आह—असमासग्रहणमिति। सुगव्यमिति। सु शोभना गौः सुगौः, 'न पूजनात्' इति निषेधात् 'गोरतद्धितलुकि' इति न टच्। 'उगवादिभ्यः' इति गोशब्दान्तात्यत्। यवापूप्यमिति। 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' इत्यपूपान्तत्वाद्यत्। नन्वसमासग्रहणात् ज्ञापकात् इत ऊर्ध्वमपि तदन्तविधिः किं न स्यात्? ततश्च परमपारायणं वर्तयतीत्यत्रापि 'पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति' इति ठञ् स्यादित्यत आह—इत ऊर्ध्वं त्विति। वार्तिकमिदम्। नन्वेवमपि द्विशूर्पेण क्रीतमित्यर्थे शूर्पशब्दान्तादपि 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' इति अञ् स्यादित्यत आह—तच्चालु-

---

(सू० १७२३) से 'ठञ्' होगा। 'असमास' ग्रहण ज्ञापित करता है कि 'इस सूत्र से पहले तक तदन्तविधि होती है'। अतः 'सुगव्यम्' 'यवापूप्यम्' इत्यादि (में 'यत्' हो जाता है)। वा० इसके अनन्तर "वति" के पूर्व तक 'अलुक्' विषय में संख्या-वाची शब्दों के पूर्व में रहने वाले पदों का तदन्त ग्रहण होता है'। तब पारायणिकः, द्वैपारायणिकः (में 'ठञ्' हो सका)। 'अलुकि' क्यों कहा? द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतम्→द्विशूर्पम्। तदनन्तर 'द्विशूर्पेण क्रीतम्' विग्रह में 'शूर्पादञ्०' (सू० १६९१) से 'अञ्' न होकर 'ठञ्' प्रत्यय हो, तब→द्विशौर्पिकम्।

विवरण—उत्तरपद-वृद्धि का यह प्रासङ्गिक सूत्र है। अतः सप्तमाध्यायस्थ वर्णित विषय की ओर अवहित होना पड़ेगा। तदनुसार "संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च" (७-३-१५) सूत्र से 'संख्यायाः' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। "उत्तरपदस्य" (७-३-१०) का अधिकार विद्यमान है। शेष उल्लिखित प्रासङ्गिक अनुवृत्तियाँ भी प्रभावी हैं। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "परिमाणवाची शब्द है अन्त में जिस अङ्ग के—उस संख्यावाची शब्द के परवर्ती 'पद' के अनेक अचों में 'आदि-अच्' को ञित, णित तथा कित् तद्धित प्रत्यय परत्र रहते 'वृद्धि' होती है, किन्तु 'संज्ञाविषय' एवम् 'शाण' शब्द उत्तरपदस्थ हों तो उन्हें यह वृद्धि प्रभावित नहीं करती (असंज्ञाशाणयोः→द्वन्द्वगर्भित नञ्-तत्पुरुष)। **उदाहरण**—परमनैष्किकः (उत्तम निष्क[1] से खरीदा हुआ—परमनिष्केण क्रीतः)—परमनिष्क+ठञ् ("प्राग्वतेष्ठञ्" ५-१-१८) > परमनिष्क्+इक (ठ=इक) ▷ परमनैष्किकः (आदिवृद्धि की बाधक उत्तरपदवृद्धि)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'असंज्ञाशाणयोः' पद का निवेश होने के फलस्वरूप पाञ्चकलापिकम् (पाँच कलाप हैं परिमाण जिसके—पञ्च कलापाः परिमाणम् अस्य)—में "तदस्य परिमाणम्" (५-१-४) से विहित-'ठञ्' संज्ञावाची होने के कारण उत्तरपदवृद्धि नहीं हुई। अतः आदि-वृद्धि ही होती है।

शङ्का-समाधान—'परमनैष्किकः' रूप की सिद्धि तो औत्सर्गिक 'ठञ्' प्रत्यय करने पर भी सम्भव रही तथापि स्वरभेद के लिये "असमासे निष्कादिभ्यः" (५-१-२) से 'ठक्' की चरितार्थता स्वीकार की जाती है। इस पर यह शङ्का उपस्थित होती है कि "असमासे निष्कादिभ्यः" (५-१-२)

---

१. 'दीनारेऽपि च निष्कोऽस्त्री' इत्यमरानुसारेण तदानीन्तनी सांव्यवहारिकी सौवर्णी मुद्रा 'निष्क' पदवाच्या आसीत् इति प्रतीयते। मेदिनीकोषानुसारेण तु अलङ्कारविशेषपदवाच्यमपि 'निष्क'मासीदिति प्रतीयते। यतस्तत्र 'निष्क' पदस्यानेके अर्था निरूपिताः सन्ति—
"निष्कमस्त्री साष्टहेमशते दीनारकर्षयोः। वक्षोऽलङ्करणे हेममात्रे हेमपदेऽपि च॥ इति।

मा भूत्। किं तु ठञ्। द्विशौर्पिकम्। **(१६८४) अर्धात्परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा ७। ३। २६॥** अर्धात्परिमाणवाचकस्योत्तरपदस्यादेरचो वृद्धिः, पूर्वपदस्य तु वा ञिति

कीति। इत ऊर्ध्वं सङ्ख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमिति यदुक्तम्' तत्तद्धितलुकि सति न भवतीत्यर्थः। इदमपि वार्तिकमेव। द्विशूर्पमिति। 'तद्धितार्थ' इति द्विगुरयम्। तद्धित-प्रकृतिभूतः शब्दो न लुगन्तः। अतः सङ्ख्यापूर्वपदात् 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' इति प्राप्तस्य अञष्ठञो वा 'अध्यर्ध' इति लुक्। द्विशूर्पशब्दो लुगन्तः। ततश्च तस्मात् क्रीतेऽर्थे 'शूर्पा-दञ्' इति न भवति। लुकि सति तदन्तग्रहणाभावादित्यर्थः। द्विशौर्पिकमिति। 'तेन क्रीतम्' इति ठञि 'परिमाणान्तस्यासञ्ज्ञाशाणयोः' इत्युत्तरपदवृद्धिः। अस्य ठञो लुक् तु न भवति, तस्य द्विगुनिमित्तत्वाभावात्।

(१६८४) अर्धात्परिमाणस्य। 'परिमाणान्तस्य' इत्यस्मादुत्तरमिदं सूत्रम्। अर्ध-द्रौणिकम्—आर्धद्रौणिकमिति। द्रोणशब्दस्य निष्कादित्वेऽपि असमासग्रहणान्न ठक्। किन्तु ठञेव।

के स्थान पर सूत्र का स्वरूप केवल 'निष्कादिभ्यः' रहता तो भी तदन्तविधि होने के फलस्वरूप परमनैष्किकः निष्पन्न होने से इष्टसिद्धि हो ही जाती। इसका समाधान यह दिया जाता है कि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति'—इस वचन से तदन्तविधि का निषेध होने पर 'ठक्' प्रत्यय प्राप्त नहीं होता। उस स्थिति में सूत्रस्थ 'असमास' ग्रहण के सामर्थ्य से "आर्हादगोपुच्छ-संख्यापरिमाणाट्ठक्" (५-१-१९) से पहले तक प्रतिपादित विषय में तदन्तविधि के ज्ञापन होने से **सुगव्यम्** (सुन्दर गाय के लिये हित कारक—सुगवे हितम्) तथा **यवापूप्यम्** (जौ के पूओं के लिये उपयुक्त—यवापूपस्य विकारः) में क्रमशः "उगवादिभ्यो यत्" (५-१-२) तथा "विभाषा हविरपूपादिभ्यः" (५-१-४) से 'यत्' प्रत्यय हो जाता है। उक्त ज्ञापन का उत्तर सूत्रों पर प्रभाव पड़ने के विषय में एक वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अनुसार **"संख्यावाची-पूर्वपदक शब्द ही वत्यर्थ के पूर्व तक तदन्तविधि द्वारा गृहीत होते हैं और वे भी तद्धित-प्रत्यय की अलुक् परिस्थिति में"**। इस सीमा के निर्धारण होने से **पारायणिकः** (पारायण करने वाला—पारायणं वर्तयति) तथा **द्वैपारायणिकः** (दो पारायण करने वाला—द्विपारायणं वर्तयति) में "पारायण-तुरायण-चान्द्रायणं वर्तयति" (५-१-७२) से केवल पारायण शब्द के समान संख्यावाची पूर्वपदक पारायण शब्द से भी 'ठञ्' संभव हो गया। तथा असंख्यापूर्वक परमपारायण आदि शब्दों में 'ठञ्' की प्रवृत्ति नहीं हुई।

प्रत्युदाहरण—उपर्युक्त वार्तिक में 'अलुकि' पद का समावेश होने से उक्त तदन्तविधि भी 'अलुक्' स्थल में होती है। अतः **द्विशौर्पिकम्** (दो शूर्प से खरीदा हुआ—द्विशूर्पेण क्रीतम्) में द्विशूर्प शब्द से "शूर्पादञन्यतरस्याम्" (५-१-२६) से 'अञ्' न होकर औत्सर्गिक 'ठञ्' ही हुआ। कारण यह है कि 'द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतम्' विग्रह में द्विशूर्प शब्द में तद्धितार्थ द्विगु होने के पश्चात् आगत 'अञ्' अथवा 'ठञ्' प्रत्यय का 'लुक्' हुआ है। इस प्रकार 'द्विशूर्प' शब्द लुगन्त है अलुगन्त नहीं। अतः 'द्विशूर्प' शब्द में तदन्तविधि न होने के फलस्वरूप 'अञ्' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं रही। 'ठञ्' होने पर "परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः" (७-३-१७) से उत्तरपद (=शूर्प) के आदिअच् को वृद्धि हुई।

(१६८४) **पद**—अर्धात्, परिमाणस्य, पूर्वस्य, तु, वा। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ञित्, णित्, तथा कित् (प्रत्ययों के) परवर्ती होने पर 'अर्ध' शब्द से उत्तरत्र परिमाणवाची शब्द के 'आदि अच्' को नित्य वृद्धि तथा 'पूर्वपद के आदि अच्' को विकल्प से वृद्धि होती है। उदा० अर्धद्रोणेन क्रीतम्→आर्धद्रौणिकम्—अर्धद्रौणिकम्।

णिति किति च। अर्धद्रोणेन क्रीतम्→अर्धद्रौणिकम्-आर्धद्रौणिकम्। (१६८५) नातः परस्य ७। ३। २७॥ अर्धात्परस्य परिमाणाकारस्य वृद्धिर्न, पूर्वपदस्य तु वा ञिदादौ। अर्धप्रस्थिकम्-आर्धप्रस्थिकम्। अतः किम्? आर्धकौडविकम्। तपरः किम्? अर्धखार्यां भवा अर्धखारी। अर्धखारीभार्य इत्यत्र 'वृद्धिनिमित्तस्य—' (सू ८४०) इति पुंवद्भाव-

---

(१६८५) नातः परस्य। परिमाणाकारस्येति। परिमाणवाचकावयवस्य अकारस्येत्यर्थः। पूर्वपदस्य तु वेति। पूर्वपदस्यादेरचस्तु वृद्धिर्वेत्यर्थः। आर्धकौडविकमिति। अर्धकुडवेन क्रीतमित्यर्थः। 'तेन क्रीतम्' इति ठञ्। अत्र कुडवशब्दस्य परिमाणविशेषवाचिनः आदेरचः अकारत्वाभावान्न वृद्धिनिषेधः। किन्तु 'अर्धात्परिमाणस्य' इत्युत्तरपदवृद्धिरिति भावः। तपरः किमिति। दीर्घस्याकारस्य वृद्धिनिषेधे फलाभावाद्ध्रस्वस्येति सिद्धमिति प्रश्नः। अर्धखार्यां भवा अर्धखारीति। निषेधो न स्यादिति। पूर्वपदस्य वृद्ध्यभावपक्षे

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है। सप्तमाध्यायस्थ उत्तरपद-वृद्धि के प्रकरण में यह सूत्र पढ़ा गया है। अङ्गाधिकारस्थ उत्तरपदाधिकार के अन्तर्गत "परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः" (७-३-१७) से प्राप्त उत्तरपद-वृद्धि का यह अपवाद-सूत्र है। सूत्रस्थ 'पूर्वस्य' पद 'पूर्वपद' का बोधक है। शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ भी प्रभावी हैं। तदनुसार "'अर्ध' शब्द से परवर्ती परिमाणवाची उत्तरपद के अचों में—'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर—'आदि अच्' को वृद्धि होती है, एवम् 'पूर्वपद' में विकल्प से वृद्धि होती है"। **उदाहरण—अर्धद्रौणिकम्→** अर्धद्रोणेन क्रीतम्←अर्धद्रोण+ठञ् ("प्राग्वतेष्ठञ्" ५-१-१, समास होने के कारण ठक् नहीं हुआ) > अर्धद्रोण+इक (ठ=इक) ▷ अर्धद्रौणिकम् (प्रकृत सूत्र से पूर्वपद को वैकल्पिक वृद्धि एवम् उत्तरपद को नित्यवृद्धि)। **आर्धद्रौणिकम्←**पूर्वपद को भी वृद्धि होने पर। **अर्थ**—आधे द्रोण (५ या साढ़े बारह सेर से खरीदा गया—अर्धद्रोणेन क्रीतम्)। 'अर्धद्रोणम्' शब्द "अर्धं नपुंसकम्" २-२-२ से समास होने पर निष्पन्न हुआ है।

(१६८५) पद—न, अतः, परस्य। **अनुवृत्ति**—अर्धात् परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अर्ध' शब्द से उत्तरवर्ती परिमाणवाचकावयव अकार को ञिदादि प्रत्ययों के पर रहते वृद्धि नहीं होती, किन्तु पूर्वपद को विकल्प से वृद्धि होती है। उदा० अर्धप्रस्थिकम्—आर्धप्रस्थिकम्। 'अतः' क्यों कहा? आर्धकौडविकम् ('अ'कार न होने से वृद्धिनिषेध नहीं हुआ)। 'तपर'करण क्यों किया? अर्धखारीभार्यः (अर्धखार्यां भवा अर्धखारी, अन्यथा "वृद्धिनिमित्तस्य" सू० ८४० से पुंवद्भावनिषेध नहीं होगा)।

विवरण—विशेष अवस्था में पूर्वसूत्र से प्राप्त विधान का निषेध किया जा रहा है। अतः पूर्व सूत्र (७-३-२६) की पूरी अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "'अर्ध' शब्द से परवर्ती परिमाणवाची शब्द के अचों में आदि अकार को ञित्, णित्, कित् तद्धित प्रत्ययों के पर रहते वृद्धि नहीं होती, किन्तु पूर्व पद को तो विकल्प से वृद्धि होती है"। **उदाहरण—(क) अर्धप्रस्थिकम्→** उत्तरपद को वृद्धि निषेध एवं पूर्वपद में भी वृद्ध्यभाव होने पर। **(ख) आर्धप्रस्थिकम्←**उत्तरपद को वृद्धि-निषेध एवम् पूर्व पद को वृद्धि होने पर। **अर्थ**—आधे प्रस्थ (१० छटाँक) से खरीदा गया। **विग्रह**—अर्धप्रस्थेन क्रीतम्। **प्रत्यय**—अर्धप्रस्थ+ठञ् (ठ=इक)। **समास**—"अर्धं नपुंसकम्" (२-२-२)। **विग्रह**—अर्धं प्रस्थस्य।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अतः' पद का समावेश होने से **आर्धकौडविकम्** (अर्ध कुडव=सवा छटाँक से खरीदा गया—अर्धकुडवेन क्रीतम्) में अर्ध शब्द से परवर्ती परिमाण—

निषेधो न स्यात् । (१६८६) शताच्च ठन्यतावशते ५ । १ । २१ ॥ शतेन क्रीतं शतिकम्–शत्यम् । अशते किम् ? शतं परिमाणमस्य शतकः सङ्घः । इह प्रत्ययार्थो वस्तुतः प्रकृत्यर्थान्न भिद्यते । तेन ठन्यतौ न । किं तु कन्नेव । असमासे इत्येव । द्विशतेन क्रीतं

वृद्धि प्रति फलोपहितनिमित्तत्वाभावादिति भावः । पूर्वपदस्य वृद्धिपक्षे तु वृद्धिं प्रति फलोपहितनिमित्तत्वसत्त्वात् स्यादेव, उत्तरपदाकारस्य वृद्धिनिषेधेऽपि पुंवत्त्वनिषेधः । परिमाणान्तस्येत्यारभ्य एतदन्तं साप्तमिकम् ।

(१६८६) अथ प्रकृतं पाञ्चमिकम् । शताच्च ठन्यतावशते । आर्हीयेष्वर्थेषु शताट्ठन्यतौ स्तः, न तु शतेऽर्थे इत्यर्थः । उत्तरसूत्रप्राप्तकनोऽपवादः । शतकः सङ्घ इति । उत्तरसूत्रेण कन्निति भावः । नन्विह सङ्घस्यैव प्रत्ययार्थत्वात् कथम् 'अशते' इति निषेध इत्यत आह—इहेति । प्रत्ययार्थः सङ्घः प्रकृत्यर्थात् शतात्परिमाणात् न भिद्यते । गुणगुणिनोरभेद एव हि पारमार्थिकः । भेदस्तु काल्पनिक एवेति भावः । यत्र तु शतं प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थाद्भिद्यते तत्र नायं निषेधः । शतेन क्रीतं शत्यं शाटकशतम् । अत्र हि निष्कशतं प्रकृत्यर्थः । शाटकशतं तु प्रत्ययार्थः । एतत्सर्वं भाष्ये स्पष्टम् । असमास इत्ये-

---

वाचक 'कुडव' शब्द में ह्रस्व अकार न होने के कारण प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति न होने के फलस्वरूप वृद्धिनिषेध नहीं हुआ, तब पूर्व सूत्र (१६८४) से उत्तरपदवृद्धि हो गई (उ = औ)। (२) सूत्र में तपरविशिष्ट 'अतः' निवेश यद्यपि आपाततः निरर्थक प्रतीत होता है, क्योंकि दीर्घ अकार घटित स्थलों में 'वृद्धि' के होने अथवा न होने से प्रयोगाकार में कोई अन्तर नहीं होता; एवम् ह्रस्व अकार-घटित स्थलों में तो सूत्र की प्रवृत्ति अभीष्ट है, तथापि अर्धखारीभार्यः (अर्धखार्यां भवा← अर्धखारी, सा चासौ भार्या यस्य—जिसकी पत्नी दो मन देकर प्राप्त हुई हो) में "स्त्रियाः पुंवद्भाषित०" (६-३-३४) से प्राप्त पुंवद्भाव को "वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे" (६-३-३९) द्वारा निषेध-सिद्धि के लिए सूत्र में तपरकरण आवश्यक है। अन्यथा उक्त प्रयोग में भी वृद्धि-निषेध हो जाता और इस तरह तदुत्तर ('अर्धखारी' से) भवार्थ में जात 'अण्' प्रत्यय, जिसका (१६९३) "अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५-१-२९) सूत्र से 'लुक्' हो गया है, वह यद्यपि वृद्धिनिमित्तक प्रत्यय (फलोपधायक रूप से) नहीं कहलाता तथापि "वृद्धिनिमित्तस्य" (६-३-३९) की प्रवृत्ति रुक जाने से पुंवद्भाव हो जाता, जो कि अनिष्ट है। उक्त प्रत्युदाहरण की संगति एकपक्षीय है। वह पूर्वपद ('अर्ध') को जिस पक्ष में ("अर्धात् परिमाणस्य" ७-३-२६ से) वृद्धि नहीं होती है, वहीं सम्भव है। इसके विपरीत पूर्वपदवृद्धि-पक्ष में तो उत्तरपदवृद्धि-निषेध होने पर भी 'अण्' (लुप्त) प्रत्यय के वृद्धिनिमित्तक होने से पुंवद्भाव-निषेध के प्रवृत्त होने में तपरकरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

(१६८६) पद—शतात्, च, ठन्-यतौ, अशते। अनुवृत्ति—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० शतेन क्रीतम्→शत्यम्—शतिकम्। 'अशते' क्यों कहा? शतं परिमाणम् अस्य→शतकः सङ्घः में प्रत्ययार्थ के प्रकृत्यर्थ से भिन्न न होने के कारण 'ठन्' या 'यत्' प्रत्यय नहीं हुए, किन्तु 'कन्' प्रत्यय हुआ। यह विधान भी समास-रहित में ही प्रवृत्त होता है। अतः द्विशतेन क्रीतम्—द्विशतकम् आदि में भी 'कन्' हुआ।

विवरण—"यदि सौ अभिधेय न हो तो (अशते) 'शत' प्रातिपदिक से आर्हीय अर्थों में 'ठन्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं"। उदाहरण—(क) शतकम्—शत्+ठन् (ठ = इक)। निमित्ताभाव के कारण आदिवृद्धि नहीं। (ख) शत्यम्→शत्+यत् (= य) होने पर। अर्थ—सौ मुद्राओं से खरीदा हुआ—शतेन क्रीतम्।

द्विशतकम् । (१६८७) सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन् ५ । १ । २२ ॥ सङ्ख्यायाः कन्स्यादार्हीयेऽर्थे, न तु त्यन्तशदन्तायाः । पञ्चभिः क्रीतः—पञ्चकः । बहुकः । त्यन्तायास्तु साप्ततिकः । शदन्तायाः चात्वारिंशत्कः । (१६८८) वतोरिड् वा ५ । १ । २३ ॥ वत्वन्तात्कन इड् वा स्यात् । तावतिकः–तावत्कः । (१६८९) विंशतित्रिंशद्भ्यां

वेति । चकारस्य तदनुकर्षणार्थत्वादिति भावः । द्विशतेनेति । द्विगुणशतेनेत्यर्थः । द्विगुसमासे तु द्विशतशब्दस्य लुगन्ततया लुकि तदन्तविधिनिषेधात् प्राप्तिरेव नेति बोध्यम् ।

(१६८७) सङ्ख्याया । तिश्च शच्च तिशतौ, तौ अन्ते अस्याः सा तिशदन्ता, न तिशदन्ता अ-तिशदन्ता, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्पुरुषः । साप्ततिक इति । सप्तत्या क्रीत इत्यर्थः । 'तेन क्रीतम्' इति ठञ् । चात्वारिंशत्क इति । चत्वारिंशता क्रीत इत्यर्थः । 'तेन क्रीतम्' इति ठञष्ठस्य तकारात्परत्वात्कः ।

(१६८८) वतोरिड् वा । वतोरित्यनेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तं गृह्यते । कन्निति प्रथमान्तमनुवृत्तम् । 'वतोः' इति पञ्चमी 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति परिभाषया

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अशते' पद का निवेश होने से शतकः सङ्घः में (शतं परिमाणम् अस्य—सौ है जिसका परिमाण ऐसा संघ) 'ठन्' या 'यत्' नहीं होते, क्योंकि यहाँ प्रत्ययार्थ ही 'शत' है । अतः "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" (५-१-२२) से 'कन्' प्रत्यय हुआ है । उक्त प्रयोग में प्रत्ययार्थ प्रकृत्यर्थ से भिन्न नहीं है ।

विशेष—सूत्रस्थ 'च' के निवेश का यह फल है कि प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति ("असमासे निष्कादिभ्यः" ५-१-२० से 'असमासे' की अनुवृत्ति आने के कारण) द्विशतकम् (दो सौ मुद्राओं से खरीदा हुआ—द्विशतेन क्रीतम्) आदि समस्त स्थलों में न होने से 'ठन्' आदि न होकर 'कन्' ही होता है (द्विशत+कन्) ।

(१६८७) पद—संख्यायाः, अतिशदन्तायाः, कन् । अनुवृत्ति—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—आर्हीय अर्थ में 'ति'—अन्त वाले एवं 'शत्'—अन्तवाले संख्यावाचक शब्दों को छोड़कर अन्य संख्यावाचक शब्दों से 'कन्' प्रत्यय होता है । उदा० १–पञ्चभिः क्रीतः→पञ्चकः । २–बहुकः । 'ति' अन्त का—साप्ततिकः । 'शदन्त' का—चात्वारिंशत्कः ।

विवरण—"'ति' अन्तवाली तथा 'शत्' अन्तवाली संख्या को छोड़कर (तिश्च शच–तिशतौ, तिशतौ अन्तौ यस्याः सा—'तिशदन्ता, न तिशदन्ता = अ-तिशदन्ता, तस्याः) अन्य संख्यावाची प्रातिपदिकों से 'आर्हीय' अर्थों में 'कन्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—(१) पञ्चकः (पाँच मुद्राओं से खरीदा हुआ–पञ्चभिः क्रीतः)—पञ्चन् + कन् (= क) 'न'-लोप तथा विभक्तिकार्य) । (२) बहुकः (बहुत मुद्राओं से खरीदा हुआ—बहुभिः क्रीतः)—बहु + कन् (= क) । यहाँ पर "बहु-गण-वतु-डति संख्या" (१-१-२२) से संख्या-संज्ञा होने के कारण 'कन्' प्रत्यय होता है ।

प्रत्युदाहरण—'ति' तथा 'शत्' अन्त वाले संख्यावाची शब्दों से 'कन्' प्रत्यय न होने के फलस्वरूप क्रमशः-साप्ततिकः (सत्तर मुद्राओं से खरीदा हुआ—(१) सप्तत्या क्रीतः) तथा (२) चात्वारिंशत्कः (चालीस मुद्राओं से खरीदा हुआ—चत्वारिंशता क्रीतः) में "तेन क्रीतम्" (५-१-३७) से 'ठञ्' प्रत्यय हुआ है । प्रथम में (सप्तति + इक) ठ = इक तथा द्वितीय में (चत्वारिंशत् + क) ठ = क हुए हैं ।

(१६८८) पद—वतोः, इड्, वा । अनुवृत्ति—कन्, आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

ड्वुन्नसंज्ञायाम् ५। १। २४॥ योगविभागः कर्तव्यः। आभ्यां कन्स्यात्। असंज्ञायां ड्वुन् स्यात्। कनोऽपवादः। विंशकः। त्रिंशकः। संज्ञायां तु—विंशतिकः। त्रिंशत्कः।

षष्ठयन्तं प्रकल्पयति। तदाह—वत्वन्तादिति। तावतिक इति। तावता क्रीत इत्यर्थः। 'यत्तदेतेभ्यः' इति वतुप्। 'बहुगणवतु' इति सङ्ख्यासञ्ज्ञायां 'सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः' इति कन्, तस्य इट्, टित्वादाद्यवयवः।

(१६८९) विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसञ्ज्ञायाम्। नन्वेकसूत्रत्वे विंशत्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नेव स्यात् कन् तु न स्यात् अतिशदन्ताया इति निषेधादित्यत आह—योगेति। 'विंशतित्रिंशद्भ्याम्' इत्येकं सूत्रम्। 'ड्वुन्नसञ्ज्ञायाम्' इत्यपरमित्यर्थः। आद्यं व्याचष्टे—आभ्यां कन् स्यादिति। 'सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः' इत्यतः कन् इत्यनुवर्तत इति भावः। द्वितीयसूत्रे विंशतित्रिंशद्भ्याम् इत्यनुवृत्तमभिप्रेत्याह—असञ्ज्ञायामिति। आभ्यामिति शेषः। विंशक

मूलार्थ—वत्वन्त से 'कन्' हो तथा उसे 'इट्' आगम विकल्प से हो। उदा० तावतिकः—तावत्कः।

विवरण—संख्या का ही विषय है। पूर्व सूत्र से 'कन्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "'वतु'-प्रत्ययान्त (प्रत्यय-ग्रहण परिभाषा के अनुसार तदन्तविधि) संख्यावाची प्रातिपदिक से आर्हीय अर्थों में 'कन्' प्रत्यय हो, किन्तु 'कन्' प्रत्यय को 'इट्' आगम विकल्प से होता है"। **उदाहरण—तावतिकः** (उतनी मुद्राओं से खरीदा गया—तावता क्रीतः)→तावत्+कन् (=क) ▷ तावत्+इ–क ('कन्' को 'इट्' आगम) ▷ तावतिकः (विभक्ति-कार्य)। **तावत्कः**←'इट्' आगम न होने पर। 'तावत्' शब्द 'वतुप्' प्रत्ययान्त है—"यत्-तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्" (५-२-३९)→ तद्+वत् > त-आ+वत् ("आ सर्वनाम्नः" ६-३-८९-द=आ) > तावत् (दीर्घ)। "वत्वन्त' की संख्या संज्ञा—"बहु-गण-वतु-डति संख्या" (१-१-२२)।

विशेष—(१) यद्यपि संख्या-संज्ञा होने के कारण पूर्व सूत्र से ही 'कन्' प्रत्यय सिद्ध रहा, पुनः उस 'कन्' को वैकल्पिक 'इट्' विधान करने में सूत्र की चरितार्थता है।

(२) 'इट्' आगम के विधान में पञ्चम्यन्त 'वतोः' पद 'कनः' षष्ठी विभक्ति की परिकल्पना करता है।

(१६८६) पद—विंशति-त्रिंशद्भ्यां, ड्वुन्, असंज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—योगविभाग करना चाहिये। इन दोनों से 'कन्' हो। संज्ञाभिन्न में 'ड्वुन्' हो। 'कन्' का (यह) अपवाद है। उदा० १–विंशकः। २–त्रिंशकः। संज्ञा में—१–विंशतिकः। २–त्रिंशत्कः।

विवरण—संख्यावाची शब्दों का ही विषय है। प्रकृत सूत्र के यथोक्त रहने पर 'विंशति' और 'त्रिंश' शब्दों से 'ड्वुन्' ही होगा, 'कन्' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'ति' और 'शत्'-अन्तवाले संख्यावाची शब्दों से 'कन्' प्रत्यय विहित नहीं है ('अ-तिशदन्तायाः')। इस कारण इस सूत्र को दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) विंशति-त्रिंशद्भ्याम्। (२) ड्वुन्नसंज्ञायाम्। प्रथम भाग में "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" (५-१-२२) से 'कन्' की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार 'विंशति' तथा 'त्रिंशत्' शब्दों से 'आर्हीय' अर्थों में 'कन्' प्रत्यय होगा"। द्वितीय भाग में पूर्वभाग की अनुवृत्ति होने के फलस्वरूप "संज्ञा-भिन्न होने पर (असंज्ञायाम्) इन दोनों शब्दों से 'कन्' के अपवादस्वरूप 'ड्वुन्' प्रत्यय होगा"। तदनुसार उदाहरण दिये जा रहे हैं। **विंशकः**→(१) 'ड्वुन्' होने पर—विंशति+ड्वुन् (=वु) > विंशति+अक (वु=अक) > विंश+अक ('ति'–लोप—"ति-विंशतेर्डिति" ६-४-१४२) ▷ विंशकः (अ+अ=अ पररूप)। **अर्थ**—बीस मुद्राओं से खरीदा हुआ—विंशत्या क्रीतः। (२) **त्रिंशकः**→'ड्वुन्' (वु=अक)

(१६९०) कंसाट्टिठन् ५ । १ । २५ ॥ टो ङीबर्थः । इकार उच्चारणार्थः । कंसिकः-कंसिकी । 'अर्धाच्चेति वक्तव्यम्' (वा ३०२८) । अर्धिकः—अर्धिकी । 'कार्षापणाट्टिठन्वक्तव्यः प्रतिरादेशश्च वा' (वा ३०१९) । कार्षापणिकः-कार्षापणिकी । प्रतिकः-प्रतिकी । (१६९१) शूर्पादञन्यतरस्याम् ५ । १ । २६ ॥ शौर्पम्-शौर्पिकम् ।

इति । विंशत्या क्रीत इत्यर्थः । ड्वुन् । अकादेशः । 'तिविंशतेर्डिति' इति तिशब्दस्य लोपः । त्रिंशकः इति । ड्वुन् । अकादेशः । 'टेः' इति टिलोपः । आद्यसूत्रे परिशेषात् सञ्ज्ञायामित्यभिप्रेत्याह—सञ्ज्ञायां क्विति ।

(१६९०) कंसात् । इत्यादिस्पष्टम् ।

(१६९१) शूर्पादञ् । आर्हीयेष्वर्थेष्विति शेषः । शूर्पशब्दस्य परिमाणवाचित्वाट्ठञि प्राप्ते तदपवादोऽञ् पक्षे विधीयते । पक्षे ठञ् ।

होने पर←त्रिंशत्+ड्वुन् ▷ त्रिंशत् + अक (वु = अक) > त्रिंशकः (टि = 'अत्' का लोप-"टेः" ६-४-१४३)। अर्थ—तीस मुद्राओं से खरीदा हुआ—त्रिंशता क्रीतः। योगविभाग द्वारा पूर्वभागस्थ अर्थ के अनुसार संज्ञा अर्थ अभिधेय होने पर-'कन्' (१) विंशतिकः—विंशति+कन् (=क)। (२) त्रिंशत्कः—त्रिंशत्+कन् (=क)।

(१६९०) पद—कंसात्, टिठन्। अनुवृत्ति—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'ङीप्' होने के लिये 'ट्' ग्रहण उपयोगी है। 'टि' में 'इ'कार उच्चारणार्थ है। उदा० कंसिकः। (स्त्रीलिङ्ग में) कंसिकी। वा० 'अर्ध' से भी ('टिठन्') कहा जाय। उदा० अर्धिकः—अर्धिकी। वा० 'कार्षापण' से भी 'टिठन्' कहा जाय और उसे विकल्प से 'प्रति' आदेश भी हो। उदा० कार्षापणिकः—कार्षापणिकी। प्रतिकः—प्रतिकी।

विवरण—"आर्हीय अर्थों में 'कंस' प्रातिपदिक से 'टिठन्' प्रत्यय होता है"। 'टिठन्' में 'ठ' शेष रहता है तथा 'ठ' को 'इक' आदेश होता है। 'ट्' तथा 'न्' तो 'इत्' हैं। 'इ' केवल उच्चारणार्थ है। 'ट्' इत् होने का फल-स्त्रीलिङ्ग में "टिड्ढाणञ्०" (४-१-१५) से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। उदाहरण—कंसिकः—पुंलिङ्ग में→कंस्+टिठन् (ठ = इक)। निमित्ताभाव के कारण आदिवृद्धि नहीं होती। स्त्रीलिङ्ग में—कंसिकी←कंसिक्+ङीप् (= ई)। अन्त्यवर्ण-लोप। अर्थ—कंस=पाँच या सवा छह सेर से खरीदा गया—(खरीदी गई) कंसेन क्रीतः (क्रीता)। इसी प्रसङ्ग में दो वार्तिक प्रस्तुत किए जा रहे हैं। जिनमें से प्रथम वार्तिक के अनुसार 'अर्ध' शब्द से भी आर्हीय अर्थों में 'टिठन्' (ठ=इक) प्रत्यय होता है"। अर्ध शब्द आधे कार्षापण के अर्थ में रूढ है। तदनुसार—अर्धिकः तथा अर्धिकी रूप बनेंगे। प्रक्रिया पूर्ववत्। अर्थ—आधे कार्षापण से खरीदा हुआ (खरीदी हुई)—अर्धेन क्रीतः क्रीता वा। दूसरे वार्तिक द्वारा 'कार्षापण' शब्द से भी उक्त अर्थों में 'टिठन्' प्रत्यय तथा 'कार्षापण' शब्द के स्थान में विकल्प से 'प्रति' आदेश भी होता है"। तदनुसार उदाहरण—(१) कार्षापणिकः (पुं०)—कार्षापणिकी (स्त्रीलिङ्ग में)। अर्थ—कार्षापण से खरीदा हुआ (हुई)—कार्षापणेन क्रीतः क्रीता वा) (२) प्रति आदेश होने पर—प्रतिकः (पुं०)—प्रतिकी (स्त्री०)।

(१६९१) पद—शूर्पात्, अञ् , अन्यतरस्याम्। अनुवृत्ति—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"आर्हीय अर्थों में 'शूर्प' शब्द से विकल्प से 'अञ्' प्रत्यय होता है"। 'शूर्प'शब्द परिमाणवाची है। अतः पक्ष में—"आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्" (५-१-१९) से 'ठक्' प्राप्त न होने के कारण—'ठञ्' ही होगा। उदाहरण—शौर्पम्→अञ् होने पर—शूर्प्+

(१६९२) शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् ५ । १ । २७ ॥ एभ्योऽण् स्यात् । ठञ्ठक्कनामपवादः । शतमानेन क्रीतं→शातमानम् । वैंशतिकम् । साहस्रम् । वासनम् ।
(१६९३) अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् ५ । १ । २८ ॥ अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्च परस्यार्हीयस्य लुक् स्यात् । अध्यर्धकंसम् । द्विकंसम् । संज्ञायां तु पाञ्चकलापिकम् । (१६९४)

(१६९२) शतमान । शतमानमिति । अत्र ठञ् प्राप्तः । वैंशतिक इति । विंशत्या क्रीतं विंशतिकम् । सञ्ज्ञाशब्दोऽयम् । 'विंशतित्रिंशद्भ्याम्' इति योगविभागात् कन् । विंशतिकेन क्रीतमिति विग्रहः । तत्र परिमाणविशेषस्य सञ्ज्ञा चेट्ठञ् प्राप्तः । अन्यस्य सञ्ज्ञा चेट्ठक् प्राप्तः । साहस्रमिति । सहस्रेण क्रीतमिति विग्रहः । 'सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः' इति कन् प्राप्तः । वासनमिति । वसनेन क्रीतमिति विग्रहः । अत्र ठक् प्राप्तः ।

(१६९३) अध्यर्धपूर्व । अध्यर्धशब्दः पूर्वो यस्य सः अध्यर्धपूर्वः, स च द्विगुश्चेति समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी । सौत्रं पुंस्त्वम् । तदाह—अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्चेति । आर्हीयस्येति । प्रत्यासत्तिलभ्यम् । अध्यर्धकंसमिति । अध्यारूढमर्धं यस्मिन् तत् अध्यर्धम् । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति बहुव्रीहौ पूर्वखण्डे उत्तरपदलोपः । सार्धमित्यर्थः । अध्यर्धेन कंसेन क्रीतमिति विग्रहः । तद्धितार्थे द्विगुः । 'सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः' इति कन् । तस्यानेन लुगिति भावः । द्विकंसमिति । द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतमिति विग्रहः । ठको

अञ् । शौर्पिकम्←'ठञ्' होने पर—शूर्प्+ठञ् (ठ=इक)। उभयत्र आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप । अर्थ—शूर्प (=५० सेर) से खरीदा गया—शूर्पेण क्रीतम् ।

(१६९२) पद—शतमान-विंशतिक-सहस्र-वसनात्, अण् । **अनुवृत्ति**—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे 'अण्' हो । 'ठञ्', 'ठक्' तथा 'कन्' प्रत्ययों का यह अपवाद है । उदा० शतमानेन क्रीतं→शतमानम् । (२) वैंशतिकम् । (३) साहस्रम् । (४) वासनम् ।

विवरण—"आर्हीय अर्थों में 'शतमान', 'विंशतिक', 'सहस्र' तथा 'वसन' शब्दों से 'अण्' प्रत्यय होता है" । 'शतमान' शब्द परिमाणवाची है एवं 'सहस्र' शब्द संख्या-वाची है । इन शब्दों से 'ठञ्' प्राप्त रहा, उसका 'अण्' प्रत्यय बाधक है । 'सहस्र' शब्द से "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" (५-१-२२) से कन् भी प्राप्त रहा । उसका भी यह बाधक है । इसी प्रकार 'वसन' शब्द से भी नियमतः प्राप्त 'ठक्' का यह अपवाद है । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **शातमानम्** (सौ रत्ती की सौवर्णी या राजत मुद्रा से खरीदा गया—शतमानेन क्रीतम्) । शतमान्—अण् । (२) **वैंशतिकम्** (बीस मासे के कार्षापण से खरीदा गया—विंशतिकेन क्रीतम्–विंशति+कन् । विंशतिक्+अण् । (३) **साहस्रम्** (सहस्र कार्षापण से खरीदा गया—सहस्रेण क्रीतम्)—सहस्र्+अण् । (४) **वासनम्** (वस्त्र से खरीदा गया—वसनेन क्रीतम्)—वसन्+अण् । सर्वत्र आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप ।

(१६९३) पद—अध्यर्धपूर्वद्विगोः, लुक्, असंज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अध्यर्ध'-पूर्वक शब्द तथा द्विगु समास से पर आर्हीय प्रत्यय का लुक् हो । उदा० १–अध्यर्धकंसम् । २-द्विकंसम् । संज्ञा में पाञ्चकलापिकम् (प्रत्यय का लोप नहीं होता) ।

विवरण—"'अध्यर्ध'-शब्द-पूर्वक (अध्यारूढम् अर्धं यस्मिन् सः अध्यर्धः, अध्यर्धशब्दः पूर्वः यस्मिन् सः अध्यर्धपूर्वः, अध्यर्धपूर्वश्च द्विगुश्च अध्यर्धपूर्वद्विगुः, तस्मात्) तथा 'द्विगु' संज्ञक प्रातिपदिक को अभिलक्षित कर विहित 'आर्हीय'-प्रत्यय का संज्ञा-विषय के अतिरिक्त 'लुक्'

विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम् ५ । १ । २९ ॥ लुग्वा स्यात् । अध्यर्धकार्षापणम्-अध्यर्धकार्षापणिकम् । द्विकार्षापणम्-द्विकार्षापणिकम् । औपसङ्ख्यानिकस्य टिठनो लुक् । पक्षे अध्यर्धप्रतिकम् । द्विप्रतिकम् । अध्यर्धसहस्रम्-अध्यर्धसाहस्रम् । द्विसहस्रम्-

---

लुक् । न च अध्यर्धकंसमित्यत्रापि द्विगुत्वादेव सिद्धमिति वाच्यम्, किञ्चित्सङ्ख्याकार्यं कृत्वसुजादिकमध्यर्धशब्दस्य नेति ज्ञापनार्थत्वात् । पाञ्चकलापिकमिति । पञ्च कलापाः परिमाणमस्येति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः । 'तदस्य' इति ठञ् । सङ्ख्यासञ्ज्ञासूत्रभाष्ये तु 'अध्यर्धपूर्वात्' इति पाठो दृश्यते । न च द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पं, तेन क्रीतं द्विशौर्पिकमिति पूर्वोक्तोदाहरणे ठञो लुक् स्यादिति वाच्यम् द्विगुनिमित्तस्यार्हीयस्य लुगिति व्याख्यानादित्यलम् ।

(१६९४) विभाषा । लुग्वेति । आर्हीयस्येति शेषः । औपसङ्ख्यानिकस्येति । 'कार्षापणाट्टिठन् वक्तव्यः' इत्युक्तस्येत्यर्थः । अध्यर्धप्रतिकमिति । प्रत्यादेशस्य टिठन्सन्नियोगशिष्टत्वात् । प्रत्यादेशपक्षे टिठनो न लुगिति भावः । अध्यर्धसहस्रमिति । 'शतमान' इति विहितस्याणो लुक् । लुगभावे तु 'सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च' इत्युत्तरपदवृद्धिः ।

होता है"। **उदाहरण**—अध्यर्ध-शब्द-पूर्वक—(१) **अध्यर्धकंसम्** (जिसमें आधा-भाग और अधिक हो—(१½) उस कंस से खरीदा हुआ-अध्यर्धेन कंसेन क्रीतम्)—अध्यर्धकंस+ट्ठिन् । यहाँ तदन्तविधि करने पर 'टिठन्' प्रत्यय का आधार है—'प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिरलुकि' वा० ('टिठन्' की संभावना होने परसमास होगा—"तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च" (२-१-५) तदनन्तर आगत प्रत्यय का लुक्) । (२) 'द्विगु' होने पर—**द्विकंसम्** (दो कंस से खरीदा हुआ—द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम्)—द्विकंस+ट्ठिन् (यहाँपर भी पहले "संख्यापूर्वो द्विगुः" (२-१-५१) से 'द्विगु'—संज्ञा होने पर आगत प्रत्यय का लुक्) । दूसरे मत के अनुसार **अध्यर्धकंसम्** में 'अध्यारूढम् अर्धं यस्मिन्' तत् = अध्यर्धम्' विग्रह करने पर "प्रादिभ्यो धातुजस्य च वाच्यश्चोत्तरपदलोपः' (वा०) से बहुव्रीहि तथा पूर्वखण्डस्थ उत्तरपद 'आरूढ' शब्द का लोप होने पर 'अध्यर्धेन कंसेन क्रीतम्' अर्थ में पुनः तद्धितार्थ द्विगु की उपस्थिति होने पर आगत 'कन्' प्रत्यय—"संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" (५-१-२२) का लुक् होता है। इसी प्रकार 'द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम्' इस विग्रह में आगत 'ठक्' प्रत्यय का 'लुक्' होगा ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'असंज्ञायाम्' पद का निवेश होने के फलस्वरूप **'पाञ्चकलापिकम्'** (पञ्चकलापाः परिमाणम् अस्य) में संज्ञा-शब्द होने के कारण तद्धितार्थ में समास होने पर "तदस्य परिमाणम्" (५-१-५७) से आगत 'ठञ्' प्रत्यय का 'लुक्' नहीं हुआ ।

(१६९४) पद—विभाषा, कार्षापण-सहस्राभ्याम् । **अनुवृत्ति**—अध्यर्धपूर्वद्विगोः लुक्, आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'लुक्' विकल्प से हो । उदा० १—अध्यर्धकार्षापणम्—अध्यर्धकार्षापणिकम् । २—द्विकार्षापणम्—द्विकार्षापणिकम् । विशेषतः कथित 'टिठन्' प्रत्यय का 'लुक्' । पक्ष में—अध्यर्धप्रतिकम् । द्विप्रतिकम् । अध्यर्धसहस्रम्—अध्यर्धसाहस्रम् । द्विसहस्रम्—द्विसाहस्रम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र से ही सम्बद्ध विषय है। अतः ""अध्यर्ध'-पूर्वक 'कार्षापण' एवं 'सहस्र' शब्द तथा 'द्विगु'—संज्ञक प्रातिपदिक से उत्पन्न आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से 'लुक्' होता है"। पक्ष में प्रत्यय का श्रवण होगा। "कंसाट्टिठन्" (५-१-२५) सूत्र में 'कार्षापणाट्टिठन् वक्तव्यः' वार्तिक कहा गया है । तदनुसार 'कार्षापण' शब्द से 'टिठन्' प्रत्यय प्राप्त था । उसी का पक्ष में 'लुक्' तथा पक्ष में श्रवण होकर क्रमशः (१) (क) **अध्यर्धकार्षापणम्** तथा (ख) **अध्यर्धकार्षापणिकम्** रूप निष्पन्न होते हैं । (२) (क)**द्विकार्षापणम्** ('लुक्' होनेपर) तथा (ख) **द्विकार्षापणिकम्** (पक्ष में

द्विसाहस्रम् । (१६९५) द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् ५ । १ । ३० ॥ लुग्वा स्यात् । द्विनिष्कम्-द्विनैष्किकम् । त्रिनिष्कम्-त्रिनैष्किकम् । 'बहुपूर्वाच्चेति वक्तव्यम्' (वा ३०२४) । बहुनिष्कम्-बहुनैष्किकम् । (१६९६) बिस्ताच्च ५ । १ । ३१ ॥ द्वित्रिबहुपूर्वाद्बिस्तादार्हीयस्य लुग्वा स्यात् । द्विबिस्तम्-द्विबैस्तिकम् । इत्यादि । (१६९७) विंशतिकात्खः

(१६९५) द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् । लुग्वा स्यादिति । आर्हीयस्येति शेषः । द्विनिष्कमिति । ठञो लुक्, समासाट्ठकोऽसम्भवात् ।

(१६९६) बिस्ताच्च । आर्हीयस्य लुग्वेति शेषः । द्विबिस्तं द्विबैस्तिकमिति । द्वाभ्यां बिस्ताभ्यां क्रीतमिति विग्रहः । ठञः पाक्षिको लुक् । इत्यादीति । बहुबिस्तं बहुबैस्तिकमित्युदाहार्यम् । 'बहुपूर्वाच्च' इति वार्तिकस्य अत्राप्यनुवृत्तेः भाष्ये उक्तत्वात् ।

'टिठन्' होने पर)। किन्तु कार्षापण शब्द के स्थान पर प्रत्यय के साहचर्य में 'प्रति' आदेश होने के कारण 'टिठन्' का लोप नहीं होगा। अतः अध्यर्धप्रतिकम् एवम् द्विप्रतिकम् ('टिठन्' सहित) रूप निष्पन्न होते हैं। (४) 'सहस्र' शब्द से 'अण्' का विधान ("शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण्" ५-१-२७) होने के कारण पक्ष में उसका 'लुक्' होकर **अध्यर्धसहस्रम्** तथा पक्ष में 'अण्' की स्थिति रहने पर **अध्यर्धसाहस्रम्** रूप बनते हैं। 'अण्' प्रत्यय की स्थिति में "संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च" (७-३-१५) से उत्तरपद (= सहस्र) के आदि अच् को वृद्धि होगी। (५) इसी प्रकार **द्विसहस्रम्** तथा **द्विसाहस्रम्** रूप भी बनेंगे। ।

(१६९५) पद—द्वि-त्रिपूर्वात्, निष्कात्। **अनुवृत्ति**—विभाषा, द्विगोः, लुक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विकल्प से लोप हो। उदा० १—द्विनिष्कम्—द्विनैष्किकम् । २-त्रिनिष्कम्—त्रिनैष्किकम्। वा० बहुपूर्वक से भी कहा जाय। उदा० बहुनिष्कम्—बहुनैष्किकम्।

विवरण—'लुक्' का ही प्रकरण है। 'विभाषा' (५-१-३०) की अनुवृत्ति होने के कारण वैकल्पिक लोप होगा। अतः "'द्वि' तथा 'त्रि' शब्दपूर्वक निष्क-शब्दान्त द्विगु-संज्ञक (अनुवर्तमान) प्रातिपदिक से उत्पन्न आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से 'लुक्' होता है"। 'निष्क' शब्द परिमाणवाची है, अतः उससे आगत 'ठञ्' ("प्राग्वतेष्ठञ्" ५-१-१८) प्रत्यय का 'लुक्' होने पर **द्विनिष्कम्** तथा लोप न होने पर **द्विनैष्किकम्** रूप बनेंगे। **विग्रह**—द्वाभ्यां निष्काभ्याम् क्रीतम्। इसी प्रकार **त्रिनिष्कम्** ('ठञ्' का लुक्) तथा **त्रिनैष्किकम्** ('लुक्' नहीं) जानें। **विग्रह**—त्रिभिः निष्कैः क्रीतम्। **वार्तिक**—'बहु' पूर्वक 'निष्क' शब्द से आगत आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लोप हो। तदनुसार 'ठञ्' का 'लुक्' होने पर **बहुनिष्कम्**। तथा लोप न होने पर **बहुनैष्किकम्**। 'ठञ्' होने पर उभयत्र "परिमाणान्तस्यासंज्ञा-शाणयोः" (७-३-१७) से उत्तरपद के आदि 'अच्' को वृद्धि हुई है।

(१६९६) पद—बिस्तात्, च। **अनुवृत्ति**—द्वित्रिपूर्वात्, विभाषा, द्विगोः, लुक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'द्वि', 'त्रि' तथा 'बहु' पूर्वक 'बिस्त' शब्द से आर्हीय (प्रत्यय) का विकल्प से 'लुक्' हो। उदा० द्विबिस्तम्—द्विबैस्तिकम्। इत्यादि।

विवरण—परिमाणवाची शब्दों से आगत आर्हीय प्रत्यय के पाक्षिक लोप का ही विषय विद्यमान है। पूर्वसूत्र से विशेषणवाची 'द्वि' तथा 'त्रि' शब्दों की अनुवृत्ति भी लायी जा रही है। 'विभाषा' (५-१-२९) पद का सातत्य चल रहा है। 'लुक्' (५-१-२८) का प्रभाव भी विद्यमान है। अतः "'द्वि' तथा 'त्रि' पूर्वक 'बिस्त' शब्दान्त द्विगुसंज्ञक से उत्पन्न आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लोप (लुक्) होता है"। 'द्वौ बिस्तौ परिमाणम् अस्य' इस प्रकार विग्रह करने

५।१।३२॥ अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोरित्येव। अध्यर्धविंशतिकीनम्। द्विविंशतिकीनम्। (१६९८) खार्या ईकन् ५।१।३३॥ अध्यर्धखारीकम्। द्विखारीकम्। 'केवलाया-

---

(१६९७) विंशतिकात्खः। अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोरित्येवेति। पूर्वसूत्रयोरध्यर्धपूर्वादित्यस्यासम्भवाद् द्विगोरित्यस्य प्रयोजनाभावादननुवृत्तावपि इह तदनुवर्तत इति भावः। अध्यर्धविंशतिकीनमिति। अध्यर्धविंशत्या क्रीतमध्यर्धविंशतिकम्। 'विंशतित्रिंशद्भ्याम्' इति योगविभागात् कन्। अध्यर्धविंशतिकेन क्रीतमिति विग्रहः। द्विविंशतिकीनमिति। द्वाभ्यां विंशतिकाभ्यां क्रीतमिति विग्रहः।

(१६९८) खार्या ईकन्। अध्यर्धपूर्वादिति द्विगोरिति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्योदा-

---

पर तद्धितार्थ (२-१-५०) में समास होकर परिमाणवाची होने के कारण 'द्विबिस्त' शब्द से 'ठञ्' होने के पश्चात् प्रकृत सूत्र से पाक्षिक 'लुक्' होकर द्विबिस्तम् तथा लुक् न होने पर 'ठञ्' (= इक) प्रत्यय की स्थिति में पूर्ववत् उत्तरपद-वृद्धि (७-३-१७) होने पर द्विबैस्तिकम् रूप निष्पन्न होते हैं। विग्रह—द्वाभ्यां बिस्ताभ्यां क्रीतम्—दो बिस्त = १६० रत्ती से खरीदा हुआ। इसी प्रकार त्रिबिस्तम् तथा त्रिबैस्तिकम् रूप भी निष्पन्न होते हैं। विग्रह—त्रिभिः बिस्तैः क्रीतम्।

विशेष—(१) यहाँ सर्वत्र "अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५-१-२८) से नित्य 'लुक्' की प्राप्ति में वैकल्पिक विधान होने से इस सूत्र की चरितार्थता है।

(२) भाष्यकार ने पूर्वसूत्रस्थ 'बहुपूर्वाच्चेति वक्तव्यम्' वार्तिक की यहाँ पर भी अनुवृत्ति मानी है। अतः बहुनिष्कम्, बहुबिस्तम् (आर्हीय प्रत्यय का 'लुक्' होनेपर) तथा बहुनैष्किकम्, बहुबैस्तिकम् ('ठञ्' होने पर) भी उदाहरण माने हैं[1]।

(१६९७) पद—विंशतिकात्, खः। अनुवृत्ति—अध्यर्धपूर्व-द्विगोः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—अध्यर्धपूर्वक-द्विगु से ही (हो)। उदा० १-अध्यर्धविंशतिकीनम्। २-द्विविंशतिकीनम्।

विवरण—'अध्यर्ध-पूर्वक' एवं 'द्विगु' संज्ञक शब्दों का ही विषय चल रहा है। 'उद्देश्य' एवं 'विधेय' वाची शब्द सूत्र में विद्यमान हैं। तदनुसार "'अध्यर्ध'-शब्द-पूर्वक तथा 'द्विगु'-संज्ञक विंशतिशब्दान्त प्रातिपदिक से आर्हीय अर्थों में 'ख' (= ईन) प्रत्यय होता है"। विधान-सामर्थ्य से इस 'ख' प्रत्यय का "अध्यर्ध-पूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५-१-२८) से 'लुक्' (= लोप) नहीं होता। क्रमशः उदाहरण—अध्यर्धविंशतिकीनम् (डेढ़ विंशतिक→२० भाग वाला १½ कार्षापण—लगभग ३० मासे तौल वाला—से खरीदा हुआ—अध्यर्धविंशतिकेन क्रीतम्)—अध्यर्धविंशतिक्+ख (= ईन)। अन्त्य-वर्ण लोप। (२) द्विविंशतिकीनम् (दो विंशतिक—लगभग ४० मासे वाले सिक्कों से खरीदा—द्विविंशतिकेन क्रीतम्)—द्विविंशतिक्+ख (= ईन)। 'विंशतिक' शब्द 'कन्' प्रत्ययान्त है।

(१६९८) पद—खार्याः, ईकन्। अनुवृत्ति—अध्यर्धपूर्वद्विगोः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—'अध्यर्धपूर्व-द्विगु' का सातत्य विद्यमान है। तदनुसार "'अध्यर्ध'-पूर्वक एवं 'द्विगुसंज्ञक' खारीशब्दान्त प्रातिपदिकों से आर्हीय अर्थ में 'ईकन्' प्रत्यय होता है"। क्रमशः उदाहरण—(१) अध्यर्धखारीकम् (डेढ़ खारी = ६० मन—से खरीदा गया—अध्यर्धखारी-

---

१. तत्र भाष्ये "द्वित्रिभ्याम्" इति पूर्वसूत्रे एव 'बहुग्रहणं कर्तव्यम्' इति कथयता बहुनिष्कम्, बहुनैष्किकम् इत्युदाहरणद्वयानन्तरं 'बहुबिस्तम्—बहुबैस्तिकम्' इति युग्ममपि पुरस्कृतम्।

श्चेति वक्तव्यम्' (वा ३०२५)। खारीकम्। (१६९९) पणपादमाषशताद्यत् ५।१।३४॥ अध्यर्धपण्यम्। द्विपण्यम्। अध्यर्धपाद्यम्। द्विपाद्यम्। इह 'पादः पत्' (सू ४१४) इति न, 'यस्य—' (सू ३११) इति लोपस्य स्थानिवद्भावात्। 'पद्यत्यतदर्थे' (सू ९९१) इत्यपि न, प्राण्यङ्गार्थस्यैव तत्र ग्रहणात्। (१७००) शाणाद्वा ५।१।३५॥ यत्स्यात्। पक्षे ठञ्। तस्य लुक्। अध्यर्धशाण्यम्-अध्यर्धशाणम्।

हरति—अध्यर्धखारीकम्-द्विखारीकमिति। 'तदस्य परिमाणम्' इति ठञि तस्य च लुकि प्राप्ते ईकन्। केवलायाश्चेति। खार्या इति शेषः।

(१६९९) पणपाद। अध्यर्धपूर्वादिति द्विगोरिति चानुवर्तत इत्यभिप्रेत्योदाहरति—अध्यर्धपण्यम्। द्विपण्यमिति। अध्यर्धपणेन क्रीतमित्यर्थः। द्विपाद्यमिति। द्वाभ्यां पादाभ्यां चतुर्थांशाभ्यां क्रीतमिति विग्रहः। यति 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। स्थानिवद्भावादिति। 'अचः परस्मिन्' इत्यनेनेति भावः। प्राण्यङ्गार्थस्येति। व्याख्यानादिति भावः। इह सूत्रे पणमाषसाहचर्यात् पादशब्दोऽपि परिमाणविशेषवाची गृह्यते।

(१७००) शाणाद्वा। पक्षे ठञिति। अर्हादिति ठग्विधौ परिमाणपर्युदासाट्ठञिति भावः। तस्य लुगिति। ठञ् इति भावः। अत्र अध्यर्धपूर्वादिति द्विगोरिति चानुवर्तत इत्यभिप्रेत्य अध्यर्धपूर्वादुदाहरति—अध्यर्धशाण्यम्, अध्यर्धशाणमिति। यति ठञो लुकि च रूपम्।

केन क्रीतम्)—अध्यर्धखारी+ईकन्=ईक)। (२) द्विखारीकम् (दो खारी=८ मन—से खरीदा गया—द्वाभ्यां खारीभ्यां क्रीतम्) द्विखारी+ईकन् (=ईक)। वार्तिक के अनुसार केवल 'खारी' शब्द से भी 'ईकन्' प्रत्यय कहा गया है। अतः खारीकम् (खारी से खरीदा गया—खार्या क्रीतम्) में भी 'ईकन्' (खारी+ईक) प्रत्यय होता है।

विशेष—'खारी' शब्द परिमाणवाची है, अतः 'ठञ्' ("तदस्य परिमाणम्" ५-१-५७) प्राप्त रहा। उसका यह (ईकन्) अपवाद है।

(१६९९) **पद**—पण-पाद-माष-शतात्, यत्। **अनुवृत्ति**—अध्यर्धपूर्वद्विगोः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"अध्यर्ध-पूर्वक तथा 'द्विगु'-संज्ञक 'पण', 'पाद', 'माष' तथा 'शत' शब्दान्त प्रातिपदिकों से 'यत्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **अध्यर्धपण्यम्** (डेढ़ पण से खरीदा गया—अध्यर्धपणेन क्रीतम्)—अध्यर्धपण+यत् (=य)। (२) **द्विपण्यम्** (दो पणों से खरीदा गया—द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतम्)—द्विपण+यत् (=य)। (३) **अध्यर्धपाद्यम्** (डेढ़ चतुर्थांश रजत-कार्षापण से खरीदा हुआ—अध्यर्धपादेन क्रीतम्)—अध्यर्धपाद+यत् (=य)। (४) **द्विपाद्यम्** (दो चतुर्थांश रजत कार्षापणों से खरीदा हुआ—द्वाभ्यां पादाभ्यां क्रीतम्)—द्विपाद+यत् (=य)। "यस्येति च" (६-४-१४८) से विधीयमान अन्त्यवर्ण लोप को स्थानिवद्भाव होने के कारण "पादः पत्" (६-४-१३०) से 'पत्' आदेश नहीं होता। इसके अतिरिक्त "पद्यत्यतदर्थे" (६-३-५३) सूत्र से भी 'पत्' आदेश नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर 'पाद' शब्द प्राण्यङ्गवाची नहीं है, अपि तु 'पण' तथा 'माष' के साहचर्य से परिमाणवाची है।

(१७००) **पद**—शाणात्, वा। **अनुवृत्ति**—यत्, अध्यर्धपूर्वद्विगोः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'यत्' हो। पक्ष में 'ठञ्' होने पर उसका 'लुक्' होगा। उदा० अध्यर्धशाण्यम्—अध्यर्धशाणम्।

(१७०१) द्वित्रिपूर्वादण्च ५ । १ । ३६ ॥ शाणात् इत्येव । चाद्यत् । तेन त्रैरूप्यम् । 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' (सू १६८३) इति पर्युदासादादिवृद्धिरेव । **द्वैशाणम्—द्विशाण्यम्—द्विशाणम् ।** इह ठञादयस्त्रयोदश प्रत्ययाः प्रकृतास्तेषां समर्थविभक्तयोऽर्था-

---

(१७०१) अथ शाणान्तद्विगोरुदाहरणं वक्ष्यन् विशेषमाह—**द्वित्रिपूर्वादण् च** । वार्तिकमिदम् । **चाद्यदिति** । पाक्षिको यत् चकारेण समुच्चीयत इत्यर्थः । ततश्च यतोऽभावे ठञपि लभ्यते । तदाह—**तेन त्रैरूप्यमिति** । अणा यता ठञा चेत्यर्थः । अणि परिमाणान्तस्येत्युत्तरपदवृद्धिमाशङ्क्याह—**परिमाणान्तस्येति** । **ठञादयस्त्रयोदशेति** । 'प्राग्वतेः' इति ठञ्, आर्हात् इति ठक्, 'शताच्च' इति ठन्यतौ, 'संख्यायाः' इति कन्, 'विंशतित्रिंशद्भ्याम्' इति ड्वुन्', 'कंसात्' इति टिठन्, 'शूर्पात्' इत्यञ्, 'शतमान' इत्यण्, 'विंशतिकात्खः' इति खः, 'खार्याः' इति ईकन्, 'पणपाद' इति यत्, 'द्वित्रि' इति वार्तिकोक्तोऽण्—इत्येवं त्रयोदशेत्यर्थः । **समर्थविभक्तय इति** । 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इति सूत्रलभ्यसमर्थविशेषणीभूतप्रथमोच्चारिततत्तद्विभक्तय इत्यर्थः ।

विवरण—'अध्यर्ध'-पूर्वक तथा 'द्विगु'-संज्ञक शाणान्त शब्द से आर्हीय अर्थों में विकल्प से 'यत्' (= य) प्रत्यय होता है"। 'शाण' शब्द परिमाणवाची है। उससे 'ठञ्' की प्राप्ति थी, प्रकृत सूत्र बाधक है। किन्तु 'यत्' के विकल्प-विधान होने के कारण पक्ष में 'ठञ्' भी होगा तथा उसका 'लुक्' (= लोप) हो जायगा ("अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" ५-१-२८)। परन्तु 'यत्' प्रत्यय का विधान-सामर्थ्य से 'लुक्' नहीं होता। **उदाहरण—(क) अध्यर्धशाण्यम्→** यत् होने पर। (ख) **अध्यर्धशाणम्** (←'ठञ्' प्रत्यय का लुक् होने पर)। **अर्थ**—डेढ़ 'शाण' से खरीदा गया—अध्यर्धशाणेन क्रीतम्)। उदाहरण (२) (क) **द्विशाण्यम्**→यत् होने पर। (ख) **द्विशाणम्**←आगत 'ठञ्' का लुक् होने पर। **अर्थ**—दो शाणों से खरीदा हुआ—द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतम्)। शाण = १२½ रत्ती की रजत मुद्रा।

(१७०१) पद—द्वि-त्रि-पूर्वात्, अण् , च। **अनुवृत्ति**—शाणात्, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'शाण' शब्द से ही (हो)। 'च' (के) निवेश से 'यत्' भी (होगा)। इस कारण तीन रूप बनेंगे। 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' (सू० १६८३) में पर्युदास मानने के कारण आदिवृद्धि ही होगी। उदा० द्वैशाणम्—द्विशाण्यम्—द्विशाणम्। इस प्रकरण में तेरह प्रत्यय कहे गये हैं, उनकी समर्थ-विभक्तियाँ और अर्थ साकाङ्क्ष हैं। उन्हें अब बतलाया जा रहा है।

विशेष—प्रकृत सूत्र को भाष्य में वार्तिक के रूप में पढ़ा गया है। कैयट ने भी इसका सूत्र में निवेश किया जाना अनार्ष माना है[१]। काशिका में सूत्र रूप में पढ़े जाने के कारण दीक्षित जी ने भी वैसा ही किया है।

विवरण—'शाण' शब्द का ही विषय है। अतः सूत्र में निविष्ट 'च' शब्द से 'यत्' भी अनुवर्तमान हैं। तदनुसार "'द्वि' अथवा 'त्रि' शब्द-पूर्वक शाणान्त प्रातिपदिक से आर्हीय अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है। साथ ही 'यत्' भी होगा। 'यत्' विकल्प से होने के कारण पक्ष में औत्सर्गिक 'ठञ्' प्रत्यय तथा उसका लोप भी होगा। इस प्रकार तीन रूप निष्पन्न होंगे। **उदाहरण—(क) द्वैशाणम्→**द्विशाण्+अण्। (ख) **द्विशाण्यम्**←द्विशाण्+यत्। (ग) द्विशाणम्←द्विशाण+ठञ् एवं लुक्। **अर्थ**—द्विशाण = २५ रत्ती की रजत मुद्रा से खरीदा गया—द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतम्। इसी प्रकार **त्रैशाणम्, त्रिशाण्यम्** तथा **त्रिशाणम्** रूप भी

---

१. सूत्रे तु अनार्षपाठ इति वार्तिकारम्भः।—कैयटव्याख्या।

आकाङ्क्षितास्त इदानीमुच्यन्ते। (१७०२) तेन क्रीतम् ५।१।३७॥ ठञ्। गोपुच्छेन क्रीतं गौपुच्छिकम्। साप्ततिकम्। प्रास्थिकम्। ठक्। नैष्किकम्। (१७०३)

(१७०२) तेन क्रीतम्। अस्मिन्नर्थे तृतीयान्ताद्यथाविहितं ठञादयः स्युरित्यर्थः। ठञिति। उदाह्रियत इति शेषः। गोपुच्छेन क्रीतं गौपुच्छिकमिति। 'अगोपुच्छ' इति पर्युदासाट्ठगभावे औत्सर्गिकष्ठञिति भावः। साप्ततिकमिति। सप्तत्या क्रीतमित्यर्थः। अगोपुच्छसङ्ख्या इति पर्युदासाट्ठगभावे ठञिति भावः। प्रास्थिकमिति। प्रस्थेन क्रीतमित्यर्थः। 'अगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणात्' इति पर्युदासाट्ठगभावे ठञिति भावः। ठगिति। उदाह्रियत इति शेषः। नैष्किकमिति। निष्केण क्रीतमित्यर्थः। असमासे 'निष्कादिभ्यः' इति ठगिति भावः।

निष्पन्न होंगे। 'अण्' प्रत्यय होने पर उत्तरपदवृद्धि का निवारण "परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः" (७-३-१७) सूत्रस्थ नञ्-गर्भित तत्पुरुष 'असंज्ञाशाणयोः' पद (संज्ञा च शाणं च—संज्ञाशाणे. न संज्ञा-शाणे = असंज्ञा-शाणे, तयोः) का निवेश होने से 'शाण' शब्द को उत्तरपदवृद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वृद्धि के लिये 'शाण'भिन्न की अपेक्षा है। अतः आदिवृद्धि होकर (द्वि = द्वै) प्रथम रूप निष्पन्न हुआ है।

स्मरणीय—इस प्रकरण के आरम्भ से अब तक तेरह प्रत्ययों का निरूपण किया जा चुका है। किन्तु उनकी समर्थ विभक्तियाँ एवम् अपेक्षित अर्थ साकाङ्क्ष हैं। उनका निरूपण आगे किया जा रहा है। इसके पूर्व कहे गये तेरह प्रत्ययों का विवरण इस प्रकार है—(१) 'ठञ्'→"प्राग्वतेष्ठञ्" (५-१-१८) (२) 'ठक्'→"आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्" (५-१-१९)। (३) 'ठन्' और (४) 'यत्'→"शताच्च ठन्यतावशते" (५-१-२१)। (५) कन्←"संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" (५-१-२२) (६) 'ड्वुन्'→"विंशति-त्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम्" (५-१-२४)। (७) 'टिठन्' → "कंसाट्टिठन्" (५-१-२५)। (८) 'अञ्' → "शूर्पादञन्यतरस्याम्" (५-१-२६)। (९) 'अण्'→"शतमान-विंशतिक-सहस्र-वसनादण्" (५-१-२७)। (१०) ख→ "विंशतिकात् खः" (५-१-३२)। (११) 'ईकन्'→"खार्या ईकन्" (५-१-३३)। (१२) 'यत्' →'पण-पादमाष-शताद्यत्" (५-१-३४)। तथा (१३) 'अण्'→'द्वि-त्रि-पूर्वादण् च" (५-१-३६)।

(१७०२) पद—तेन, क्रीतम्। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्यय, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—ठञ्→(१) गोपुच्छेन क्रीतम्←गौपुच्छिकम् (२) साप्ततिकम्। (३) प्रास्थिकम्। ठक्←नैष्किकम्।

विवरण—उपर्युक्त १३ प्रत्ययों की समर्थ-विभक्तियों का सूचक तथा अर्थ-निर्देशक यह सूत्र है। सूत्रस्थ 'तेन' पद समर्थ-विभक्ति का सूचक है। तथा 'क्रीतम्' पद प्रत्ययार्थ का निर्देशक है। अन्य आधिकारिक सूत्रों का प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार "'तृतीयान्त' प्रातिपदिक से 'खरीदा हुआ' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(१) **गौपुच्छिकम्** (गाय से खरीदा हुआ—गोपुच्छेन क्रीतम्)—गोपुच्छ+ठञ् ('ठक्'-विधायक सूत्र में 'अगोपुच्छ' का निवेश होने से औत्सर्गिक ठञ्) > गोपुच्छ्+इक (ठ = इक) > गौपुच्छिकम् (आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप)। इसी प्रकार (२) **साप्ततिकम्** (७० कार्षापण से खरीदा गया—सप्तत्या क्रीतम्)—सप्तति+ठञ् (ठ = इक) (३) **प्रास्थिकम्** (प्रस्थ—१० छटाँक-से खरीदा गया—प्रस्थेन क्रीतम्)—प्रस्थ+ठञ् (ठ = इक)। (४) 'ठक्' का **उदाहरण**—**नैष्किकम्** (निष्क→ सोने का सिक्का ←सामान्य रूप से १६ माशे या १ कर्ष के तौल के बराबर—से खरीदा हुआ—निष्केण क्रीतम्)—निष्क+ठक् (ठ = इक)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप।

इद्गोण्याः १।२।५०॥ गोण्या इत्स्यात्तद्धितलुकि। लुकोऽपवादः। पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः पटः—पञ्चगोणिः। (१७०४) तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ ५।१।३८॥ संयोगः—सम्बन्धः। उत्पातः—शुभाशुभसूचकः। शतिकः—शत्यो वा धनपतिसंयोगः। शत्यं—शतिकं वा दक्षिणाक्षिस्पन्दनम्। शतस्य निमित्तमित्यर्थः। 'वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमन-

---

(१७०३) इद्गोण्याः। लुकोऽपवाद इति। 'लुक्तद्धितलुकि' इति प्राप्तस्येत्यर्थः। पञ्चगोणिरिति। आर्हीयस्य ठको लुकि स्त्रीप्रत्ययस्य इकारः। न च उपसर्जनह्रस्वत्वेनैव इदं सिद्धमिति वाच्यम्, इत्वविध्यभावे 'लुक्तद्धितलुकि' इति ङीषो निवृत्तावदन्तत्वात् टापि पञ्चगोणेत्यापत्तेः। मूलद्रव्यवाचिन एव तृतीयान्तात्क्रीतार्थे प्रत्यया भवन्ति, न तु देवदत्तेन क्रीतमित्यर्थे। अनभिधानादिति भाष्ये स्पष्टम्।

(१७०४) तस्य निमित्तम्। तस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वेत्यर्थे यथाविहितं षष्ठ्यन्तात् ठञादयः स्युरित्यर्थः। शत्यः शतिको वेति। शतस्य निमित्तमित्यर्थः। 'शताच्च' इति यट्ठनौ। धनपतिसंयोग इति। याजनशुश्रूषादिसम्पर्क इत्यर्थः। उत्पाते उदाहरति—

(१७०३) पद—इत्, गोण्याः। अनुवृत्ति—तद्धितलुकि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'तद्धित' का लोप होने पर 'गोणी' शब्द को 'इ' आदेश हो। 'लुक्' ('ङीप्' के) लोप का अपवाद है। उदा० पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः पटः←पञ्चगोणिः।

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है। अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय में पठित है। तद्धित-प्रत्यय के लोप होने पर उपसर्जन-स्त्रीप्रत्यय का लोप प्राप्त होने पर उसके अपवादस्वरूप आदेश-विधान में इसकी चरितार्थता है। अतः इससे पूर्व सूत्र "लुक् तद्धितलुकि" (१-२-४९) से 'तद्धितलुकि' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "तद्धितप्रत्यय के 'लुक' हो जाने पर 'गोणी' शब्द को ह्रस्व इकार आदेश हो"। "अलोन्त्यस्य" (१-१-५१) परिभाषासूत्र के अनुसार 'इ' आदेश अन्तिम वर्ण 'ई' के स्थान पर होगा। **उदाहरण**—पञ्चगोणिः (पाँच गोणियों से खरीदा हुआ—पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः)—पञ्चगोणी+ठक् ("आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्" ५-१-१९) > पञ्चगोणी ("संख्यापूर्वो द्विगुः" २-१-५१) के आधार पर "अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" ५-१-२८ से 'ठक्' का लुक्) > पञ्चगोणिः (ई = इ—"इद्गोण्याः" १-२-५०)। इस आदेश के फलस्वरूप 'पञ्चगोणी' शब्दस्थ 'ई' (ङीप्) का लोप नहीं होता। 'गोणी' शब्द में 'गोण' शब्द से आवपन अर्थ में "जानपदकुण्डगोणस्थल०" ४-१-४२ से ङीष् प्रत्यय हुआ है। 'गोणी' लगभग ढाई मन के परिमाण का बोधक है।

विशेष—यदि यह तर्क दिया जाय कि उपसर्जन-ह्रस्व-विधान करने पर भी ह्रस्व-इकारान्त इष्टरूप की सिद्धि तो हो सकती है, फिर यह विधान क्या? उत्तर यह है कि प्रकृत ह्रस्व-विधान के न होने पर 'ङीष्' के लोप होने पर अकारान्त से 'टाप्' होने लगेगा।

(१७०४) पद—तस्य, निमित्तं, संयोगोत्पातौ। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—संयोग का अर्थ सम्बन्ध है। उत्पात का तात्पर्य शुभाशुभसूचक से है। उदा० १—शत्यः-शतिकः वा→धनपतिसंयोगः। २—शत्यं-शतिकं वा दक्षिणाक्षिस्पन्दनं→दाहिनी आँख का फड़कना सूचित करता है। वा० वात, पित्त तथा श्लेष्म शब्दों से 'शमन' तथा 'कोप' अर्थो में 'ठक्' प्रत्यय हो। उदा० १—वातस्य शमनं, कोपनं वा—वातिकम्। २—पैत्तिकम्। ३—श्लैष्मिकम्। वा० सन्निपात से भी 'ठक्' कहा जाय। उदा० सान्निपातिकम्।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ (तस्य) प्रातिपदिक से कारण (निमित्त) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं, यदि वह निमित्त 'संयोग' व 'उत्पात' हो तो (संयोगोत्पातौ)"। आर्हीय अर्थों में

कोपनयोरुपसङ्ख्यानम्' (वा ३०३३)। वातस्य शमनं कोपनं वा—वातिकम्। पैत्तिकम्। श्लैष्मिकम्। 'सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम्' (वा ३०३७)। सान्निपातिकम्। (१७०५) **गोद्व्यचोऽसङ्ख्यापरिमाणाश्वादेर्यत् ५।१।३९॥** गोर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा गव्यः। द्व्यचः। धन्यः, यशस्यः, स्वर्ग्यः। गोद्व्यचः—किम्? विजयस्य वैजयिकः।

शत्यं शतिकं वा दक्षिणाक्षिस्पन्दनमिति। यतस्य निमित्तमित्यर्थः। सूचकत्वमेवात्र निमित्तत्वमिति भावः। उपसङ्ख्यानमिति। आर्हीयस्य ठक इति शेषः। कोपनं वृद्धिः। सन्निपाताच्चेति। 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' इत्यर्थे ठगिति शेषः। सान्निपातिकमिति। सन्निपातः वातपित्तश्लेष्मणां दोषाणां सङ्कर इति वैद्यके प्रसिद्धः। तस्य निमित्तं सान्निपातिकम्। ज्वरप्रकोपादौ अपथ्यभक्षणादिसंयोगः, सन्निपातसूचकं जिह्वाकार्ष्ण्यादि च।

(१७०५) गोद्व्यचः। तस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वेत्यर्थे गोशब्दात् द्व्यचश्च षष्ठ्यन्तात् यत्प्रत्ययः स्यात्, न तु सङ्ख्यायाः परिमाणात् अश्वादेश्चेत्यर्थः। ठकोऽपवादः। द्व्यचश्च इति। उदाह्रियत इति शेषः। धन्य इत्यादि। धनस्य यशसः स्वर्गस्य च निमित्तमित्यर्थः। विजयस्येति। निमित्तमिति शेषः। वैजयिक इति। आर्हीयष्ठक्। पञ्चानामिति। निमित्तमिति शेषः। पञ्चकमिति। 'सङ्ख्यायाः' इति कन्। सप्तकमिति।

"शताच्च ठन्यतावशते" ५-१-२१ से 'ठन्' और 'यत्' तथा "शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण्" ५-१-२७ से 'अण्' प्रत्यय कहे गये हैं। अतः इन अर्थों में 'शत' और 'सहस्र' शब्द से ये ही प्रत्यय होंगे। **उदाहरण**—(१) इस तरह **सौ के कारण** किसी का साहूकार के साथ होने वाला सम्बन्ध—**शत्यः** (शत्+यत्) तथा **शतिकः** (शत्+ठन्) कहा जायगा। (२) **सौ के निमित्त** दाहिनी आँख का फड़कना अर्थ में भी **शत्यम्** तथा **शतिकम्** (नपुंसकलिङ्ग) रूप होंगे।

इसी प्रसङ्ग में कुछ अन्य शब्दों से भी इन्हीं दो अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय का विधान करने के लिये **दो वार्तिक** प्रस्तुत किये जा रहे हैं। तदनुसार **प्रथम** वार्तिक द्वारा **वात, पित्त** तथा **श्लेष्म** शब्दों से शमन (शान्त) और कोपन (वृद्धि) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय का विधान बतलाया गया है। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **वातिकम्** (वातव्याधि का शमन या वृद्धि—वातस्य शमनं कोपनं वा)—वात्+ठक्। (२) **पैत्तिकम्** (पित्त का शमन या वृद्धि होना—पित्तस्य शमनं कोपनं वा)—पित्त्+ठक्। (३) **श्लैष्मिकम्** (कफ का शमन या वृद्धि—श्लेष्मणः शमनं कोपनं वा)—श्लेष्मन्+ठक्। ठ=इक। टि-लोप। **दूसरे** वार्तिक द्वारा **सन्निपात** शब्द से भी **उक्त दोनों अर्थों** में आर्हीय 'ठक्' प्रत्यय होना सूचित किया गया है। **उदाहरण**—**सान्निपातिकम्** (सन्निपात को शमन करना या दूषित करना)—सन्निपात्+ठक्। आदिवृद्धि तथा अन्त्यलोप।

(१७०५) पद—गोद्व्यचः, असंख्यापरिमाणाश्वादेः, यत्। **अनुवृत्ति**—तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र (५-१-३८) की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप निमित्त अर्थ यहाँ भी अभिधेय है। अतः "षष्ठी-समर्थ 'गो' शब्द तथा 'दो-अच्-वर्णवाले' प्रातिपदिकों से (गोद्व्यचः)-संख्यावाची, परिमाणवाची तथा अश्वादि प्रातिपदिकों को छोड़कर (असंख्यापरिमाणाश्वादेः)-'यत्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) 'गो' शब्द—**गव्यः** (गाय के निमित्त संयोग या शकुन—गोनिमित्तं संयोगः उत्पातः वा)—गो+यत् (=य)। (२) द्व्यच्—(क) **यशस्यः**—यश के निमित्त संयोग या शकुन—यशोनिमित्तं संयोगः उत्पातः वा)—यशस्+यत् (=य)। (ख) **धन्यः** (धन के निमित्त संयोग या शकुन—धनस्य निमित्तं संयोगः उत्पातः वा)—धन्+यत् (=य)। (ग) **स्वर्ग्यः** (स्वर्ग के निमित्त संयोग या शकुन—स्वर्गस्य निमित्तं संयोगः उत्पातः

असङ्ख्या-इत्यादि किम् ? पञ्चानां पञ्चकम् । सप्तकम् । प्रास्थिकम् । खारीकम् । अश्वादि—आश्विकम्, आश्मिकम् । 'ब्रह्मवर्चसादुपसङ्ख्यानम्—' (वा ३०३५) । ब्रह्मवर्चस्यम् । (१७०६) **पुत्राच्छ च** ५ । १ । ४० ॥ चाद्यत् । पुत्रीयः—पुत्र्यः ।

सप्तानां निमित्तमित्यर्थः । प्रास्थिकमिति । प्रस्थस्य निमित्तमित्यर्थः । आर्हादिति ठग्विधौ परिमाणपर्युदासात् प्राग्वतीयष्ठञ् । खारीकमिति । खार्या निमित्तमित्यर्थः । खार्या ईकन् । अश्वादीति । प्रत्युदाहरणसूचनमिदम् । आश्विकमिति । अश्वस्य निमित्तमित्यर्थः । आर्हीयष्ठक् । आश्मिकमिति । अश्मनो निमित्तमित्यर्थः । आर्हीयष्ठक् । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । ब्रह्मवर्चसादिति । 'गोद्व्यचः' इति सूत्रे 'ब्रह्मवर्चसाच्च' इति वक्तव्यमित्यर्थः । ब्रह्मवर्चस्यमिति । ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तमित्यर्थः ।

(१७०६) पुत्राच्छ च । तस्य निमित्तमित्येव । कथं तर्हि 'आरेभिरे यतात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः' इति । न हीष्टिः संयोगः उत्पातो वा । उच्यते । संयुज्यतेऽनेनेति संयोगः, इष्ट्या हि पुत्रेण फलेन युज्यते यष्टा ।

वा)—स्वर्ग् + यत (=य) । इसी प्रसङ्ग में एक अन्य वार्तिक द्वारा ब्रह्मवर्चस् शब्द से भी उक्त अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होना सूचित किया गया हैं । **उदाहरण—ब्रह्मवर्चस्यम्** (ब्रह्मतेज के निमित्त संयोग या शकुन—ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं संयोगः उत्पातः वा)—ब्रह्मवर्चस् + यत (= य) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'गोद्व्यचः' पद का निवेश होने से 'गो' शब्द तथा 'दो—अच्—वाले वर्णों से युक्त शब्दों में ही 'यत्' प्रत्यय होगा । तदनुसार तीन अच्वाले 'विजय' शब्द से उक्त अर्थ में 'यत्' प्रत्यय न होकर 'ठक्' ही होता है—**वैजयिकः** । 'असंख्यादि' ग्रहण के फलस्वरूप संख्यावाची शब्दों से भी यत् न होकर यथाप्राप्त 'कन्' प्रत्यय होकर **पञ्चकम्** (पञ्चानां निमित्तं—पाँच के निमित्त संयोगादि), **सप्तकम्** (सप्तानां निमित्तम्—सात के निमित्त संयोगादि) रूप निष्पन्न होते हैं । इसी प्रकार परिमाणवाची शब्दों से भी 'यत्' न होकर प्राग्वतीय ठञ् होता है—(क) **प्रास्थिकम्** (प्रस्थस्य निमित्तम्—प्रस्थ के निमित्त संयोगादि) तथा **खारीकम्** (खार्याः निमित्तम्—खारी के निमित्त संयोगादि) प्रयोग सिद्ध होते हैं । एवमेव 'अश्व' आदि शब्दों से भी 'यत्' प्रत्यय नहीं होगा । अतः यथाप्राप्त "आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्" (५-१-१९) से 'ठक्' (ठ = इक) प्रत्यय होकर (क) **आश्विकः** (अश्वस्य निमित्तम्—'अश्व' के निमित्त संयोगादि)—अश्व + ठक् तथा (ख) **आश्मिकः** (अश्मनः संयोगः—पत्थर के निमित्त संयोग आदि) अश्मन् + ठक् (ठ = इक) । अन् = 'टि'लोप—"नस्तद्धिते" ६-४-१४४ ।

(१७०६) **पद**—पुत्रात्, छ, च । **अनुवृत्ति**—यत्, तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'च' के निवेश से 'यत्' (भी होगा) । उदा० पुत्रीयः—पुत्र्यः ।

विवरण—सूत्र में 'छ' पद लुप्त प्रथमा-विभक्तिक है । सूत्र का यह अर्थ है कि "षष्ठी-समर्थ 'पुत्र' शब्द से निमित्त अर्थ में 'छ' तथा 'यत्' प्रत्यय हों" । **उदाहरण**—(क) **पुत्रीयः** (पुत्र के कारण जो संयोग अथवा शकुन)→'छ' (= ईय) प्रत्यय होने पर । (ख) **पुत्र्यः**←'यत्' प्रत्यय होने पर ।

शङ्का-समाधान—रामायण में "आरेभिरे यतात्मानः पुत्रीयाम् इष्टिम् ऋत्विजः"—आशय का श्लोक विद्यमान है । जिसका अर्थ यह है कि "संयमी ऋत्विजों ने पुत्रीय इष्टि आरम्भ की" । यहाँ पर 'इष्टि' शब्दार्थ 'यज्ञ' न तो पुत्रोत्पत्ति का संयोग है न उत्पात । अतः 'छ' प्रत्यय की उपा-

(१७०७) सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ ५ । १ । ४१ ॥ सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा सार्वभौमः । पार्थिवः । सर्वभूमिशब्दोऽनुशतिकादिषु पठ्यते । (१७०८) तस्येश्वरः ५ । १ । ४२ ॥ (१७०९) तत्र विदित इति च ५ । १ । ४३ ॥ सर्वभूमेरीश्वरः

(१७०७) सर्वभूमि । तस्य निमित्तमित्येव । सर्वभूमि, पृथिवी–आभ्यां यथासङ्ख्यमणञौ स्तः । सार्वभौम इति । ठञोऽपवादः अण् । पार्थिव इति । पृथिव्याः निमित्तं संयोगः उत्पातो वेत्यर्थः । स्त्रियां पार्थिवी । सार्वभौमशब्दे कथमुभयपदवृद्धिरित्यत आह–सर्वभूमिशब्दोऽनुशतिकादिषु पठ्यत इति । तथा च 'अनुशतिकादीनां च' इत्युभयपदवृद्धिरिति भावः ।

(१७०८) तस्येश्वरः । (१७०९) तत्र विदित इति च । सूत्रद्वयमिदम् । सर्वभूमिपृथिवीभ्यामित्यनुवर्तते । तस्य निमित्तं संयोगोत्पाताविति तु निवृत्तम्, पुनस्तस्येत्युक्तेः । तस्येश्वर इत्यत्र षष्ठ्यन्तात्तत्र विदित इत्यर्थे तु सप्तम्यन्तात् अणञौ स्त इत्यर्थः । योगविभागो यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थः, उत्तरसूत्रे 'तत्र विदितः' इत्यस्यैवानुवृत्त्यर्थश्च ।

देयता कैसी ? इसका समाधान यह है कि 'यागरूपी साधन से पुरुष पुत्रप्राप्तिरूपी फल से संयोजित होता है' । अतः याग आदि भी संयोग हो सकता है' ।

विशेष—"गोद्व्यचः०" (५-१-३९) सूत्र से नित्य 'यत्' प्राप्ति का यह वैकल्पिक 'यत्' बाधक है ।

(१७०७) पद—सर्वभूमि-पृथिवीभ्याम्, अणञौ । **अनुवृत्ति**—तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'सर्वभूमि' तथा 'पृथिवी' शब्दों से 'उसके कारण से जो संयोग और उत्पात' अर्थ में यथासंख्य 'अण्' और 'अञ्' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(१) **सार्वभौमः** (समग्र भूमि के निमित्त संयोग या उत्पात—सर्वभूमेः निमित्तं संयोगः उत्पातः वा)—सर्वभूमि + अण् (अनुशतिकादि गण में पाठ होने से उभयपद-वृद्धि) । (२) **पार्थिवः** (पृथिवी के निमित्त संयोग या उत्पात—पृथिव्याः निमित्तं संयोगः उत्पातः वा)—पृथिवी + अञ् (= अ) । आदिवृद्धि<–ऋ = आर् तथा अन्त्य-लोप ।

विशेष—'अण्' प्रत्ययान्त अन्तोदात्त होगा और 'अञ्'-प्रत्ययान्त आद्युदात्त ।

(१७०८) पद—तस्य, ईश्वरः । **अनुवृत्ति**—सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

विवरण—उद्देश्यवाची शब्दों एवं विधेयवाची प्रत्ययों का लाभ "सर्वभूमि-पृथिवीभ्यामणञौ" (५-१-४१) सूत्र की अनुवृत्ति-वश होता है । सूत्रस्थ षष्ठ्यन्त "तस्य" पद समर्थ-विभक्ति का सूचक है । एवं 'ईश्वरः' पद भी अर्थ-विशेष का बोधक है । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "षष्ठ्यन्त 'सर्वभूमि' तथा 'पृथिवी' प्रातिपदिकों से 'ईश्वर' (स्वामी) अर्थ में क्रमशः 'अण्' और 'अञ्' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(२) **सार्वभौमः** (समग्र भूमिका ईश्वर—सर्वभूमेः ईश्वरः)—सर्वभूमि + अण् (= अ) । इसी प्रकार **पार्थिवः** (पृथिवी का स्वामी—पृथिव्याः ईश्वरः)—पृथिवी + अञ् ।

विशेष—यद्यपि "तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ" (५-१-३८) सूत्र से ही 'तस्य' की अनुवृत्ति से समर्थ षष्ठी-विभक्ति का लाभ संभव रहा तथापि प्रकृत सूत्र में पुनः 'तस्य' की उपस्थिति से 'संयोग' और 'उत्पात' अर्थों की निवृत्ति सूचित की गई है ।

(१७०९) पद—तत्र, विदितः, इति, च । **अनुवृत्ति**—सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

सर्वभूमौ विदितो वा सार्वभौमः। पार्थिवः। (१७१०) लोकसर्वलोकाट्ठञ् ५।१।४४॥ 'तत्र विदितः' इत्यर्थे लौकिकः। अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः। सार्वलौकिकः। (१७११) तस्य वापः ५।१।४५॥ उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम्। प्रस्थस्य वापः

(१७१०) लोकसर्व। 'तत्र विदितः' इत्यर्थ इति। योगविभागसामर्थ्यात् तस्येश्वर इति नानुवर्तत इति भावः। लौकिक इति। लोकेषु विदित इत्यर्थः। सर्वलोकशब्दे विशेषमाह—अनुशतिकादित्वादिति।

(१७११) तस्य वापः। अस्मिन्नर्थे षष्ठयन्ताद्यथाविहितं ठञादयः स्युरित्यर्थः। प्रास्थिकमिति। प्रस्थपरिमितबीजवापयोग्यं क्षेत्रमित्यर्थः। 'आर्हात्' इति ठग्विधौ परि-

---

विवरण—सूत्रस्थ 'तत्र' पद सप्तमी-समर्थ-विभक्ति का सूचक है। पूर्व सूत्रोक्त अर्थों के अतिरिक्त 'विदित' अर्थ में भी 'अण्' और 'अञ्' प्रत्ययों का विधान किया जा रहा है। उद्देश्य-वाची दोनों शब्द भी अनुवृत्तिलभ्य हैं। अतः (१) जो सारी भूमि में प्रसिद्ध (सर्वभूमौ विदितः) हो उसे **सार्वभौम** कहा जायगा। (२) इसी प्रकार पृथिवी में प्रसिद्ध (पृथिव्यां विदितः) व्यक्ति को भी **पार्थिवः** कहा जा सकता है।

विशेष—"तस्य ईश्वरः" (५-१-४२) तथा "तत्र विदितः इति च" (५-१-४३)—ये दोनों सूत्र एक सूत्र के रूप में पढ़े जाते तो भी इष्टसिद्धि सम्भव रहा, तथापि योग–विभाग की उपयोगिता अग्रिम सूत्र में केवल 'विदित' अर्थ की ही अनुवृत्ति होने के लिये प्रभावी है। इसके साथ ही यथासंख्य की निवृत्ति होने के लिये भी योगविभाग सार्थक है।

(१७१०) पद—लोकसर्वलोकात्, ठञ्। **अनुवृत्ति**—तत्र विदितः, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'तत्र विदितः' अर्थ में ही (हो)। उदा० लौकिकः। अनुशतिकादिगण में पाठ होने से—उभय-पदवृद्धि→सार्वलौकिकः।

विवरण—"सप्तमी-समर्थ 'लोक' तथा 'सर्वलोक' प्रातिपदिकों से 'विदित' अर्थ में ही 'ठञ्' (=इक) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**लौकिकः** (जो लोक में विदित हो—लोके विदितः)—लोक्+ठञ् (ठ=इक)। आदिवृद्धि तथा अन्त्यलोप। (२) **सार्वलौकिकः** (सर्वलोके विदितः–जो सब जगह विदित हो)—सर्वलोक्+ठञ् (ठ=इक)। "अनुशतिकादीनां च" ७-३-२० से उभयपद के आदि अचों को वृद्धि। अन्त्यवर्ण-लोप।

(१७११) पद—तस्य, वापः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जिसमें बोया जाय=वाप, अर्थात् खेत। उदा० प्रस्थस्य वापः—१-प्रास्थिकम्। २-द्रौणिकम्। ३-खारीकम्।

विवरण—सूत्र में समर्थ-विभक्ति का सूचक 'तस्य' पद तथा प्रत्ययार्थ का सूचक 'वापः' पद विद्यमान हैं। यथाविहित 'ठञ्' आदि प्रत्यय अधिकार-लभ्य हैं। तदनुसार "षष्ठी-समर्थ प्राति-पदिक से 'खेत' अर्थ (=वापः) वाच्य हो तो यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(१) **प्रास्थिकम्** (प्रस्थ भर अर्थात् १० छटाँक बीज बोने योग्य भूमि–प्रस्थस्य वापः-क्षेत्रम्) प्रस्थ्+ठञ् (=इक)। (२) **द्रौणिकम्** (द्रोण भर बीज (=१० सेर) जिसमें बोया जाय वह खेत—द्रोणस्य वापः क्षेत्रम्)—द्रोण्+ठञ् (ठ=इक)। (३) **खारीकम्** (खारी—४ मन बीज बोने योग्य खेत—खार्याः वापः)—खार्+ईकन् (=ईक "खार्या ईकन्"—५-१-३३)।

विशेष—ये तीनों परिमाण-वाची शब्द हैं।

प्रास्थिकम् । द्रौणिकम् । खारीकम् । (१७१२) पात्रात्ष्ठन् ५ । १ । ४६ ॥ पात्रस्य वापः क्षेत्रं—पात्रिकम् । पात्रिकी क्षेत्रभक्तिः । (१७१३) तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते ५ । १ । ४७ ॥ वृद्धिर्दीयते इत्यादि क्रमेण प्रत्येकं सम्बन्धादेकवचनम् । पञ्च अस्मिन् वृद्धिः आयः लाभः शुल्कम् उपदा वा दीयते पञ्चकः । शतिकः—शत्यः । साहस्रः । उत्तमर्णेन मूलातिरिक्तं ग्राह्यं वृद्धिः । ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भाग आयः । विक्रेत्रा मूल्यादधिकं ग्राह्यं लाभः । रक्षानिर्वेशो राजभागः शुल्कः । उत्कोच उपदा । 'चतुर्थ्यर्थे

माणपर्युदासात् प्राग्वतीयष्ठञ् । द्रौणिकमिति । निष्कादित्वाट्ठक् । खारीकमिति । खार्या ईकन् । द्रोणस्य खार्याश्च वाप इत्यर्थः ।

(१७१२) पात्रात् ष्ठन् । तस्य वाप इत्येव । पात्रिकमिति । पात्रस्य वाप इत्यर्थः । षित्त्वं ङीषर्थमित्याह—पात्रिकीति ।

(१७१३) तदस्मिन् । वृद्धि, आय, लाभ, शुल्क, उपदा एषां द्वन्द्वात्प्रथमाबहुवचनम् । ननु तर्हि दीयत इति कथमेकवचनमित्यत आह—वृद्धिर्दीयत इत्यादि क्रमेणेति । एवञ्च तदस्मिन्वृद्धिर्दीयते, तदस्मिन् आयो दीयते, तदस्मिन् लाभो दीयते, तदस्मिन् शुल्को दीयते, तस्मिन्नुपदा दीयते इत्यर्थेषु प्रथमान्ताद्यथाविहितं ठञादयः स्युरित्यर्थः । पञ्चक इति । 'सङ्ख्यायाः' इति कन् । शतिकः—शत्य इति । शतमस्मिन्वृद्धिः, आयः, लाभः; शुल्कः, उपदा वा दीयते इति विग्रहः । 'शताच्च' इति ठन्यतौ । साहस्र इति । सहस्रमस्मिन्दीयते इत्यादि विग्रहः । 'शतमानसहस्र' इत्यण् । रक्षानिर्वेश इति ।

(१७१२) पद—पात्रात्, ष्ठन् । अनुवृत्ति—तस्य वापः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है । विधेय प्रत्यय की भिन्नता हेतु पृथक् सूत्र की चरितार्थता है । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ 'पात्र' प्रातिपदिक से 'वाप' अर्थ में 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है" । 'ष्ठन्' में 'ष'कार इत् होने से स्त्रीत्व विवक्षा रहते 'ङीष्' ("षिद्‌गौरादिभ्यश्च" ४-१-४१) होगा । निमित्ताभाव से आदिवृद्धि नहीं होगी । **उदाहरण**—पात्रिकं क्षेत्रम् (पात्र भर—अर्थात् २॥ सेर बीज बोने योग्य क्षेत्र—पात्रस्य वापः)—पात्र्+ष्ठन् (ठ=इक) । स्त्रीलिङ्ग में **पात्रिकी** क्षेत्रभक्तिः (पात्र भर बीज बोने योग्य खेत का भाग)—पात्र्+ष्ठन् (=इक्) + ङीष् (=ई) ।

विशेष—'पात्र' शब्द परिमाण-वाची है । अतः 'ठञ्' प्राप्त था, उसका अपवाद-सूत्र है ।

(१७१३) पद—तत्, अस्मिन्, वृद्ध्याय-लाभ-शुल्कोपदाः, दीयते । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'वृद्धि' इत्यादि प्रत्येक का क्रम से दीयते के साथ सम्बन्ध होने के कारण (दीयते) एकवचन का प्रयोग है । उदा० १—पञ्चकः । **विग्रहार्थ**—पञ्च अस्मिन् वृद्धिः, आयः, लाभः, शुल्कम्, उपदा वा दीयते । २—शतिकः—शत्यः । ३—साहस्रः । साहूकार के द्वारा मूलधन के अतिरिक्त लिया जाना 'वृद्धि' है । ग्राम आदि में भूस्वामी द्वारा लिया जाने वाला भाग 'आय' है । विक्रेता के द्वारा मूल्य से अधिक लिया जाना 'लाभ' है । रक्षा के निमित्त कर 'शुल्क' है । 'घूस' को उत्कोच कहा जाता है । वा० चतुर्थी के अर्थ में कहा जाय । उदा० पञ्च अस्मै वृद्ध्यादिः दीयते→ पञ्चकः—देवदत्तः । 'सममब्राह्मणे दानम्' प्रयोग की तरह सम्प्रदान की अधिकरणत्व विवक्षा होने में (यह निष्फल है) ।

विवरण—नये अर्थ का विषय आरम्भ हो रहा है । सूत्रस्थ 'तत्' पद समर्थ-विभक्ति (प्रथमा) का सूचक है । 'अस्मिन्' पद प्रत्ययार्थ-बोधक है । 'दीयते' क्रियापद कर्मवाच्य में है । इस क्रिया

उपसङ्ख्यानम्' (वा ३०३६)। पञ्च अस्मै वृद्ध्यादिर्दीयते पञ्चको देवदत्तः। 'सममब्राह्मणे दानम्' इतिवदधिकरणत्वविवक्षा वा। (१७१४) पूरणार्धाट्ठन् ५।१।४८॥ यथाक्रमं ठक्-टिठनोरपवादः। द्वितीयो वृद्ध्यादिरस्मिन्दीयते द्वितीयिकः। तृतीयिकः।

'रक्षा प्रजापरिपालनम्'। तदर्थो निर्वेशः भृतिः रक्षानिर्वेशः। उत्कोच इति। मह्यं किञ्चिद्दत्तं चेत् तव राजद्वारेऽनुकूलो भवामीत्यादि समयं कृत्वा यद् गृह्यते तदुत्कोच इत्युच्यत इत्यर्थः। चतुर्थ्यर्थं इति। तदस्मै वृद्ध्यादि दीयते इत्युपसङ्ख्यातव्यमित्यर्थः। सममब्राह्मणे इति। एवञ्च सम्प्रदानस्यैवाधिकरणत्वविवक्षया इष्टसिद्धेरुपसङ्ख्यानमिदं नादर्तव्यमिति भावः।

(१७१४) पूरणार्धाट्ठन्। तदस्मिन् वृद्ध्यादि दीयते इत्यर्थे पूरणप्रत्ययान्तादर्धशब्दाच्च प्रथमान्ताट्ठन् स्यादित्यर्थः। द्वितीयिकः तृतीयिक इति। आर्हादिति ठकोऽपवादष्ठन्। अधिक इति। अर्धमस्मिन्वृद्ध्यादिर्दीयते इत्यर्थः। 'अर्धाच्चेति वक्तव्यम्' इति

का सम्बन्ध 'वृद्धि' आदि प्रत्येक के साथ रहने से एक-वचन का प्रयोग किया गया है। अन्यथा 'वृद्धि' आदि के अनेक होने से बहु-वचन हो जाता। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में पूर्व-निर्दिष्ट (क्रमशः तत्तत् सूत्रों से 'कन्', 'ठन्', 'यत्' तथा 'अण्') प्रत्यय होते हैं—यदि वृद्धि, आय, लाभ शुल्क तथा उपदा—ये सब 'दिया जाता है' (दीयते) क्रिया के कर्मवाच्य हों"। जो द्रव्य मूलधन के अतिरिक्त साहूकार द्वारा ब्याज के रूप में लिया जाता है—वह वृद्धि के नाम से जाना जाता है। भूस्वामी द्वारा ग्राह्य द्रव्य आय कहलाता है। प्रजा की रक्षा के लिये राजग्राह्य 'कर' की शुल्क संज्ञा है। घूस के रूप में ली जाने वाली धनराशि उपदा कही गई है। उदाहरण—(१) पञ्चकः देवदत्तः (जिसे व्यवहार में पाँच मुद्रायें ब्याज, आय, कर अथवा घूस के रूप में प्राप्त हों वह व्यक्ति—पञ्च अस्मिन् वृद्धिर्वा, आयो वा, लाभो वा, उपदा वा दीयते)—पञ्चन् + कन् (= क)—"संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" (५-१-२२)। (२) (क) शतिकः—(ख) शत्यः (एक सौ मुद्रा वृद्धि आदि पाने वाला—शतम् अस्मिन् वृद्ध्यादिः दीयते)—(क) शत् + ठन् (ठ=इक), (ख) शत् + यत् (= य)← "शताच्च ठन्यतावशते" (५-१-२१)। (३) साहस्रः (एक हजार मुद्रा वृद्धि आदि पाने वाला—सहस्रम् अस्मिन् वृद्ध्यादिः दीयते)—सहस्र + अण् (= अ)← "शतमान-विंशतिक-सहस्र-वसनादण्" (५-१-२७)। इसी प्रसङ्ग में प्रत्ययार्थ-बोधिका अन्य विभक्ति के सन्दर्भ में एक वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है। तदनुसार **चतुर्थी के अर्थ में प्रथमान्त समर्थ से भी यथाविहित प्रत्यय होते हैं।** अतः पञ्चकः देवदत्तः इस प्रयोग में-'पञ्च अस्मै वृद्ध्यादिः दीयते' (जिस देवदत्त को पाँच मुद्रायें वृद्धि आदि के रूप में दिये जायें)—की विवक्षा में चतुर्थ्यर्थ में भी यथाविहित 'कन्' प्रत्यय हो गया। इस वार्तिकोक्त नियम के विपरीत उदाहरण—'समम् अब्राह्मणे दानम्' (अब्राह्मण को दान देने में उतना ही प्राप्त होता है)—में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग दिखाई पड़ने से सम्प्रदान की अविवक्षा एवम् अधिकरणत्व की विवक्षा किये जाने से प्रकृत वार्तिक की उपादेयता नहीं रह जाती←'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'।

(१७१४) पद—पूरणार्धात्, ठन्। अनुवृत्ति—तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—क्रमानुसार 'ठक्' एवं 'टिठन्' का अपवाद है। उदा० १–द्वितीयः वृद्ध्यादिः अस्मिन् दीयते→द्वितीयिकः। २–तृतीयिकः। ३–अधिकः। 'आधा सिक्का' अर्थ में 'अर्ध' शब्द रूढ है।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ 'पूरण' वाची प्रातिपदिकों से तथा 'अर्ध' शब्द से 'वृद्धि' 'आय' आदि 'दिया जाता है' अर्थ में 'ठन्' प्रत्यय होता है। "तस्य

अर्धिकः । अर्धशब्दो रूपकस्यार्धे रूढः । (१७१५) भागाद्यच्च ५ । १ । ४९ ॥ चाट्ठन् । भागशब्दोऽपि रूपकस्यार्धे रूढः । भागो वृद्ध्यादिरस्मिन्दीयते भाग्यं–भागिकं शतम् । भाग्या–भागिका विंशतिः । (१७१६) तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः ५ । १ । ५० ॥ वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दस्तदन्तं यत्प्रातिपदिकं

टिठनोऽपवादष्ठन् । टिठनि सति तु स्त्रियां ङीप् स्यात् । अर्धिकेति तु टावेवेष्यते । रूपकस्येति । रूप्यस्य कार्षापणस्येत्यर्थः । रूढ इति । अन्यथा अर्धशब्दस्य रूप्यकसापेक्षत्वादसामर्थ्यं स्यादिति भावः । रूप्यकस्यार्धे रूढ इत्यत्र प्रमाणं मृग्यम् । असामर्थ्यं तु नित्यसापेक्षत्वाद्वारयितुं शक्यमित्याहुः ।

(१७१५) भागाद्यच्च । तदस्मिन्वृद्ध्यादि दीयत इत्यर्थे भागशब्दात्प्रथमान्ताद्यत्प्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः । चाट्ठनिति । पूर्वसूत्रादनुकृष्यत इति शेषः । भागशब्दोऽपि रूप्यकस्यार्धे इति । वर्तत इति शेषः ।

(१७१६) तद्धरति वहति । वंशाद्भारादिभ्य इत्येकवचनबहुवचनान्तयोः सामानाधिकरण्यासम्भवात् वैयधिकरण्येनान्वयः । स च व्युत्क्रमः व्याख्यानात् । तदाह—वंशादिभ्यः पर इति । द्वितीयान्तादित्यनन्तरं हरति वहति आवहतीत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः

पूरणे डट्" (५-२-४८) के अधिकार में 'पूरण' अर्थ में 'तीय' आदि जो प्रत्यय विहित हैं, तदन्त 'द्वितीय' 'तृतीय' 'पञ्चम' आदि शब्द प्रकृत सूत्र के विषय हैं । अतः इस प्रकार के शब्दों से तथा 'अर्ध' शब्द से 'ठन्' (=इक) प्रत्यय होगा । यह यथाक्रम 'ठक्' ("आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणट्ठक्" ५-१-१९) एवं 'टिठन्' ('अर्धाच्चेति वक्तव्यम्' वा०) का बाधक है । **उदाहरण**—(१) **द्वितीयिकः** (जिस सौदे में दुबारा सूद, शुल्क आदि दिया जाय–द्वितीयः वृद्धिः, आयः, शुल्कः, लाभः, उपदा वा दीयते)—द्वितीय् + ठन् (ठ = इक) । द्वितीयः—द्वयोः पूरणः→"द्वेस्तीयः" (५-२-५४) द्वि + तीय । (२) तृतीयिकः (जिस सौदे में तिबारा वृद्धि आदि दी जाय—तृतीयः वृद्ध्यादिः दीयते)—तृतीय् + ठन् (= इक) । तृतीयः—त्रि + तीय एवं 'त्रि' को सम्प्रसारण—त्–रि = ऋ + इ > तृतीय (ऋ + इ = ऋ पूर्वरूप→"सम्प्रसारणाच्च" ६-१-१०४) । (३) अर्धिकः (जिस सौदे में आधा सिक्का सूद आदि में दिया जाय—अर्धं वृद्ध्यादिः दीयते)—अर्ध् + ठन् (ठ = इक) ।

(१७१५) पद—भागात्, यत्, च । अनुवृत्ति—ठन्, तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—भाग शब्द भी आधे सिक्के के अर्थ में रूढ है । सूत्रस्थ 'च' शब्द पूर्वसूत्रोक्त 'ठन्' का अनुकर्षण करता है । प्रत्ययार्थ "आय" आदि दिया जाता है"—को ही अभिलक्षित कर रहा है । तदनुसार "प्रथमा-समर्थ 'भाग' प्रातिपदिक से 'वृद्धि आदि को दिया जाता है' अर्थ में 'यत्' तथा 'ठन्' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(क) **भाग्यम्** (भाग् + यत्)—(ख) **भागिकम्** वा शतम् (भाग् + ठन्) । **अर्थ**—जिसमें सौ मुद्राओं में आधी मुद्रा वृद्धि आदि दी जाय—भागः वृद्ध्यादिः वा अस्मिन् दीयते । इसी प्रकार **भाग्या-भागिका** विंशतिः भी जानें ।

(१७१६) पद—तत्, हरति, वहति, आवहति, भारात्, वंशादिभ्यः । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वंशादि-युक्त 'भार'शब्दान्त द्वितीयान्त प्रातिपदिक से (यथाविहित प्रत्यय) हों । उदा० १—वंशभारं हरति आदि→वांशभारिकः । २—पैक्षुभारिकः । 'भारात् वंशादिभ्यः' अंश की दूसरी व्याख्या–भारभूत-वंशादि से (प्रत्यय हों) । जैसे–भारभूतान् वंशान् हरति→वांशिकः । २–पैक्षुकः ।

तत्प्रकृतिकाद्द्वितीयान्तादित्यर्थः। वंशभारं हरति वहत्यावहति वा वांशभारिकः। ऐक्षुभारिकः। 'भाराद्वंशादिभ्यः' इत्यस्य व्याख्यान्तरं 'भारभूतेभ्यो वंशादिभ्यः' इति। भारभूतान्वंशान्हरति—वांशिकः। ऐक्षुकः। (१७१७) वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ ५।१।

स्यादिति शेषः। हरणं कथञ्चिद् देशान्तरप्रापणं चौर्यं वा। शकटादिना प्रापणं वहनम्। स्वसमीपं प्रापणमावहनम् उत्पादनं वा। वांशभारिक इति। 'आर्हात्' इति ठक्। अत्र पञ्चम्यन्तयोर्व्युत्क्रमेण वैयधिकरण्येन चान्वये प्रमाणाभावादाह—भाराद्वंशादिभ्य इत्यस्य व्याख्यानान्तरमिति। भारात्परेभ्यो वंशादिभ्य इत्यर्थभ्रमव्यावृत्तये व्याख्यानान्तरं विशदयति—भारभूतेभ्यो वंशादिभ्य इतीति। वंशादिशब्दानां भारभूतत्वं तु भारभूतवंशादिवृत्तेर्बोध्यम्। अस्मिन्व्याख्याने भारादित्येकवचनमार्षम्। यद्वा प्रत्येकान्वयाभिप्रायम्। वस्तुतो भारभूता ये वंशादयः तद्वाचिभ्य इति यावत्।

विवरण—सूत्रस्थ 'तत्' पद समर्थ-विभक्ति (द्वितीया) का सूचक है। 'हरति' 'वहति' तथा 'आवहति'—तीनों क्रियापद प्रत्ययार्थ के बोधक हैं। सूत्र में दो पञ्चम्यन्त पद हैं—(१) 'भारात्' तथा (२) वंशादिभ्यः। किन्तु दोनों भिन्न-वचनान्त हैं। 'भारात्'—एकवचनान्त तथा 'वंशादिभ्यः' बहुवचनान्त है। इन दोनों में सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता, अतः वैयधिकरण्य (बहुव्रीहि) से अन्वय किया जाता है—'वंशः आदिः येषां ते, तेभ्यः—वंशादिभ्यः'। इस प्रकार 'भाराद्वंशादिभ्यः' अंश प्रकृति का विशेषण हो जाता है। तदनुसार "वंशादिगण-पठित प्रातिपदिकों से परवर्ती भारशब्दान्त द्वितीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'हरण करता है', 'वहन करता है' 'उत्पन्न करता है'—अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। यथाविहित कहने से 'वंशभार' आदि शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय हो जाता है। **उदाहरण**—वांशभारिकः (बाँस चुराने, ढोने या पैदा करने वाला—वंशभारं हरति, वहति, आवहति वा)-वंशभार्+ठक् (ठ=इक)। (२) ऐक्षुभारिकः (ईख चुराने, ढोने या लाने वाला—इक्षुभारं हरति इत्यादि)—इक्षुभार्+ठक् (ठ=इक)। आदि-वृद्धि आदि कार्य पूर्ववत्। अन्य व्याख्याकारों ने 'भारात् वंशादिभ्यः' अंश का अर्थ—'भारभूत वंशादि शब्दों से' इस प्रकार किया है। इस तरह 'भार को प्राप्त करने वाले'—लाक्षणिक अर्थ में वंशादि-शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य होने पर भी समान-वचन की व्यवस्था के लिये "व्यत्ययो बहुलम्" (३-१-८५) सूत्र का आश्रय लेकर वैयधिकरण्य की कल्पना न करने में युक्ति दी है। तदनुसार (१) वांशिकः (बाँस चुराता, ढोता या उत्पन्न करता है—वंशान् हरति, वहति, आवहति वा)—वंश्+ठक् (ठ=इक), तथा (२) ऐक्षुकः (ईख चुराता, ढोता या उत्पन्न करता है—इक्षून् हरति, वहति, आवहति वा)—इक्षु+ठक् (ठ=क—"इसुसुक्तान्तात् कः" ७-३-५१ तथा आदिवृद्धि आदि कार्य)—रूप सिद्ध होते हैं।

विशेष—नागेश भट्ट ने प्रथम अर्थ को ही युक्त माना है। दूसरे अर्थ को स्वीकार करने में अरुचि ही दिखाई है। भैरवी टीका में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि "द्वितीय व्याख्यान के स्वीकार करने में सूत्र में प्रयुक्त 'भारात्' पद-सम्बन्धी एक वचनार्थ का सर्वथा बाध हो जाता है। इस प्रकार 'भारभूतेभ्यः' (भारस्वरूप) को अभिलक्षित कर 'वंशादिभ्यः' अर्थ परिकल्पित करना पड़ता है। इस तरह कल्पना करने पर वंशादि के स्वतः भारभूत होने से विशेषणस्वरूप उसके ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी"[1]।

---

१. द्वितीयव्याख्याने भारादित्येकवचनार्थस्य सर्वथा बाध एव भवति। एवं भारभूतेभ्य इत्यस्य गुरुत्ववद्भ्य इत्यर्थो वाच्यः। एवं च वंशादीनां भारभूतत्वाव्यभिचाराद्वंशादिभ्य इत्येतद्विशेषणतया तस्योपादानस्य व्यर्थत्वापत्तिश्चेति भावः।

५१ ॥ यथासङ्ख्यं स्तः । वस्नं हरति वहत्यावहति वा वस्निकः । द्रव्यकः । (१७१८) सम्भवत्यवहरति पचति ५ । १ । ५२ ॥ प्रस्थं सम्भवति प्रास्थिकः कटाहः । प्रस्थं स्वस्मिन्समावेशयतीत्यर्थः । प्रास्थिकी ब्राह्मणी । प्रस्थमवहरति (उपसंहरति) पचति वेत्यर्थः । 'तत्पचतीति द्रोणादण्च' (वा ३०३८) । चाट्ठञ् । द्रोणं पचतीति द्रौणी–

(१७१७) वस्नद्रव्याभ्याम् । तद्धरति वहत्यावहतीत्यनुवर्तते इत्यभिप्रेत्याह—वस्नं हरतीत्यादि ।

(१७१८) सम्भवत्यवहरति । तदिति द्वितीयान्तमनुवर्तते । द्वितीयान्तात्सम्भवतीत्याद्यर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । प्रास्थिक इति । 'आर्हात्' इत्यत्र परिमाणपर्युदासाट्ठगभावे प्राग्वतीयष्ठञ् । ननु सम्भवतीत्यस्य उपपद्यत इत्यर्थकत्वात्प्रस्थं सम्भवतीति कथं द्वितीयेत्यत आह—समावेशयतीत्यर्थ इति । उपसर्गवशादिति भावः । प्रास्थिकी ब्राह्मणीति । ठञन्तत्वात् ङीबिति भावः । अवहरतीत्येतद्व्याचष्टे—उपसंहरतीति । किञ्चिदूनमपि यथा प्रस्थपरिमितं भवति तथा मिमीत इत्यर्थः । तत् पचतीति द्रोणादण् चेति । वार्तिकमिदम् । द्वितीयान्ताद् द्रोणशब्दात् पचतीत्यर्थेऽण् च स्यादित्यर्थः । पचतिग्रहणं सम्भवत्यवहरतिनिवृत्त्यर्थम् । चाट्ठञिति । 'आर्हात्' इति ठग्विधौ परिमाणपर्युदासात् ठगभावे प्राग्वतेष्ठञेव चकारादनुकृष्यत इति भावः । द्रौणीति । अणन्तत्वात् ङीप् । द्रौणिकीति । ठञन्तत्वात् ङीप् ।

(१७१७) पद—वस्नद्रव्याभ्याम्, ठन्–कनौ । अनुवृत्ति—तद्धरति वहत्यावहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र के अर्थ को ही अभिलक्षित (तद्धरति, वहति, आवहति) किया गया है । उद्देश्य एवं विधेयवाची दो-दो पद सूत्र में विद्यमान हैं । यथासंख्य परिभाषा के अनुसार प्रत्यय यथाक्रम संयुक्त होंगे । तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'वस्न' और 'द्रव्य' शब्दों से 'हरति', 'वहति' तथा 'आवहति' अर्थों में यथासंख्य 'ठन्' और 'कन्' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(१) **वस्निकः** (पूँजी चुराता है, ढोता है या लगाता है—वस्नं हरति, वहति, आवहति वा)—वस्न्+ठन् (ठ = इक) । (२) **द्रव्यकः** (द्रव्य को हरता है आदि—द्रव्यं हरति इत्यादि)—द्रव्य+कन् (= क) ।

(१७१८) पद—सम्भवति, अवहरति, पचति । अनुवृत्ति—तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । अधिकार-सूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—प्रत्ययार्थ के सूचक तीन क्रियापद सूत्र में निर्दिष्ट हैं । समर्थ-विभक्ति का सूचक 'तत्' ("तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः" ५-१-५०) पद अनुवर्तमान है । अतः "द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से—'सम्भव है', 'अवहरण करता है' 'पकाता है'—इन अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होता है" । **उदाहरण** -(१) (क) **प्रास्थिकः कटाहः** (प्रस्थ भर=ढाई पाव अँटने या पकानेवाली कड़ाही)—प्रस्थ+ठञ् ("प्राग्वतेष्ठञ्" ५-१-१) । (ख) 'ठञन्त' होने से स्त्री-लिङ्ग में 'ङीप्'—**प्रास्थिकी** ब्राह्मणी (प्रस्थ भर पकाने वाली–प्रस्थं पचति)—प्रस्थ्+ठञ्+ङीप् । 'अवहरण' अर्थात् उपसंहार अर्थ में भी इसी प्रकार रूप निष्पन्न होंगे । इस प्रसङ्ग में एक वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अनुसार "द्वितीयान्त द्रोण' से 'पचति' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है तथा 'ठञ्' भी (च) हो" । तदनुसार (क) **द्रौणी** (द्रोण+'अण्'+ङीप्) तथा (ख) **द्रौणिकी** (द्रोण+'ठञ्'+ङीप्) रूप निष्पन्न होते हैं । **अर्थ**—द्रोणभर पकाने वाली स्त्री–द्रोणं पचति ।

विशेष—'सम्भवति' शब्द का अर्थ है—आधार के प्रमाण से आधेय का प्रमाण अधिक न रहने

द्रौणिकी । (१७१९) आढकाचितपात्रात्खोऽन्यतरस्याम् ५ । १ । ५३ ॥ पक्षे ठञ् । आढकं सम्भवति अवहरति पचति वा आढकीना—आढकिकी । आचितीना—आचितिकी । पात्रीणा—पात्रिकी । **(१७२०) द्विगोः ष्ठंश्च ५ । १ । ५४ ॥** आढकाचितपात्रात् इत्येव । आढकाद्यन्ताद्द्विगोः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु छन्खौ वा स्तः । पक्षे ठञ् । तस्य 'अध्यर्ध—' (सू १६९३) इति लुक् । षित्त्वान्ङीष् । द्व्याढकिकी—द्व्याढकीना ।

(१७१९) आढकाचित । आढक, आचित, पात्र—एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः सम्भवत्यवहरति पचतीत्यर्थेषु खो वा स्यादित्यर्थः । पक्षे ठञिति । 'आर्हात्' इत्यतः परिमाणपर्युदासान्न ठगिति भावः ।

(१७२०) द्विगोः ष्ठंश्च । छन्खाविति । चकारेण खस्यानुकर्षादिति भावः । वा स्त इति । अन्यतरस्यामित्यनुवृत्तेरिति भावः । पक्षे ठञिति । 'आर्हात्' इत्यत्र परिमाणपर्युदासान्न ठगिति भावः । षित्त्वात् ङीष् । द्व्याढकिकीति । द्वे आढके सम्भवत्यवहरति पचति वेत्यर्थे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः, छन्, षित्त्वात् ङीषित्यर्थः । अत्र 'न य्वाभ्याम्' इत्यज् न,

---

पर किसी प्रकार उपपन्न किया जाना । इस प्रकार अकर्मक 'भू' धातु सम्भवति के साथ 'प्रस्थं' से (वाक्य में) द्वितीया कैसे सम्भव होगी ? 'सम्' उपसर्ग लगने से सम्भवति का अर्थ कुछ बढ़ जाता है। तदनुसार 'अपने में समाविष्ट करा लेता है' इस अर्थ की प्रतीति होती है । इस अर्थाधिक्य की कल्पना से कड़ाही में किसी प्रकार ठूँस-ठाँस कर प्रस्थपरिमाणात्मक वस्तु को पकाने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। अतः द्वितीया हुई ।

(१७१९) पद—आढकाचितपात्रात्, खः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—सम्भवत्यवहरति पचति, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—प्रत्ययार्थ (अवहरति आदि) एवं समर्थ-विभक्ति (तत्) दोनों ही अनुवृत्ति-वश उपलभ्य हैं । तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'आढक', 'आचित', 'पात्र'—प्रातिपदिकों से 'सम्भवति', 'अवहरति' तथा 'पचति' अर्थों में विकल्प से 'ख' (=ईन) प्रत्यय होता है" । पक्ष में 'आढक' आदि शब्दों के परिमाण-वाची होने से 'ठञ्' (=इक) भी होगा । स्त्री-लिङ्ग की विवक्षा में 'ख'-प्रत्ययान्त से 'टाप्' तथा 'ठञ्' प्रत्ययान्त से 'ङीप्' होगा । **उदाहरण**—(क) **आढकीना** (आढक्+ख=ईन+टाप्) तथा (ख) **आढकिकी** (आढक्+ठञ्=इक+ङीप्) । **अर्थ**—ढाई सेर पकाने या ले जाने वाली—आढकं सम्भवति, अवहरति, पचति वा । (३) (३) **पात्रीणा** (क) (पात्र्+ख=ईन्+ङीप्) तथा (ख) **पात्रिकी** (पात्र+ठञ्=इक्+ङीप्) । **अर्थ**—ढाई सेर पकाने वाली—पात्रं सम्भवति इत्यादि । (२) (क) **आचितीना** आचित+खञ्+ङीप्) तथा (ख) **आचितिकी** (आचित+ठञ्+ङीप्) । **अर्थ**—२५ मन ढोने वाली—आचितं वहति इत्यादि ।

(१७२०) पद—द्विगोः, छन्, च । **अनुवृत्ति**—आढकाचितपात्रात्, सम्भवत्यवहरति पचति आवहति, तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आढक, आचित और पात्र से ही हो । आढकाद्यन्त द्विगु से 'सम्भवति' आदि अर्थों में विकल्प से 'छन्' प्रत्यय हो । पक्ष में 'ठञ्' होगा । उसका "अर्ध्यर्धं०" (सू० १६९३) सूत्र से 'लुक्' हो । 'ष' इत् होने से 'ङीष्' । उदा० द्व्याढकिकी । द्व्याढकीना । 'द्विगोः' (४७९) सूत्र से ङीप—द्व्याढकी । द्व्याचितिकी । द्व्याचितीना । 'अपरिमाण' (सू० ४८०) सूत्र से 'ङीप्' निषेध होने के कारण—द्व्याचिता (टाप्) । द्विपात्रिकी—द्विपात्रीणा—द्विपात्री ।

विवरण—पूर्ववर्णित दो सूत्रों का ही विषय है । उन शब्दों से 'द्विगु' समास होने पर 'छन्' प्रत्यय भी होगा । तदनुसार ""द्विगु'-संज्ञक द्वितीया-समर्थ 'आढक', 'याचित', तथा 'पात्रान्त'

'द्विगोः' (सू ४७९) इति ङीप्—द्व्याढकिकी । द्व्याचितिकी—द्व्याचितीना । 'अपरिमाण—' (सू ४८०) इति ङीब्निषेधात् द्व्याचिता । द्विपात्रिकी—द्विपात्रीणा—द्विपात्री ।

(१७२१) कुलिजाल्लुक्खौ च ५ । १ । ५५ ।। कुलिजान्ताद्द्विगोः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु

वृद्धिनिषेधसन्नियोगशिष्टत्वात् ञ्णित्किदभावेन वृद्धेरप्रसक्तेः । द्व्याढकीनेति । खे रूपम् । 'द्विगोः' इति ङीप् । द्व्याढकीति । ठनि 'अध्यर्ध' इति तस्य लुक् । 'द्विगोः' इति ङीबित्यर्थः । प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य ठञन्तलक्षणङीप् तु नेति 'अपरिमाणबिस्त' इत्यत्रोक्तम् 'अध्यर्ध' इति लुक् ठञ एव, न तु ठन्खयोरपि, विधिसामर्थ्यात् । द्व्याचितिकी द्व्याचितीनेति । ष्ठनि खे च रूपम् । अथ द्व्याचितशब्दात् ठञो लुकि 'द्विगोः' इति ङीपमाशङ्क्याह—अपरिमाणेति ङीब्निषेधादिति । एवं ष्ठन् ख ठञ् लुग्भिः द्विपात्रिकीत्यादि ।

(१७२१) कुलिजाल्लुक्खौ च । अन्यतरस्यामित्यनुवृत्तिमभिप्रेत्याह—लुक्खौ वा स्त इति । 'आर्हात्' इत्यत्र परिमाणपर्युदासाट्ठगभावे प्राग्वहतीयस्य ठञः 'अध्यर्ध' इति

प्रातिपदिकों से 'सम्भवति', 'अवहरति' 'पचति', आदि—अर्थों में 'ष्ठन्' प्रत्यय विकल्प से होता है' । पक्ष में 'ख' होगा । उसके भी विकल्प से होने के कारण 'ठञ्' भी होगा । इस प्रकार 'ष्ठन्', 'ख' तथा 'ठञ्' होनेपर तीन रूप बनेंगे । उसमें भी विधान-सामर्थ्य से 'ष्ठन्' तथा 'ख' का "अध्यर्ध-पूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५-१-२८) से विहित 'लुक्' नहीं होगा । किन्तु 'ठञ्' प्रत्यय होने की स्थिति में उसका 'लुक्' होगा । 'ष्ठन्' में 'ष्' 'इत्' रहने से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष् तथा 'ख' प्रत्यय होने पर 'टाप्' होगा । 'ठञ्'-पक्ष में 'ठञ्' का 'लुक्' होने के अनन्तर "टिड्ढाणञ्" ४-१-१५ से 'ङीप्' होगा । क्रमशः **उदाहरण—(१) (क) द्व्याढकिकी**→द्व्याढक+ष्ठन् (ठ=इक+ङीष्) । (ख) **द्व्याढकीना**←द्व्याढक+ख (ख=ईन+टाप्) । (ग) **द्व्याढकी**→ द्व्याढक्+ठञ् (लुक्+ङीप्) । **अर्थ**—दो आढक पकाने वाली इत्यादि—द्वे आढके सम्भवत्यवहरति पचति वा । (२) (क) **द्व्याचितिकी**→(क) द्व्याचित्+ष्ठन्+ङीष् । (ख) **द्व्याचितीना**←द्व्याचित्+ख+टाप् । (ग) **द्व्याचिता**→द्व्याचित+ठञ् (लुक्)+टाप् । "अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि" (४-१-२२) सूत्र के अनुसार 'ङीप्' का निषेध हुआ है । **अर्थ**—दो आचित पकाने वाली—द्वे आचिते पचति इत्यादि । (३) (क) **द्विपात्रिकी**→द्विपात्र्+ष्ठन्+ङीष् । (ख) **द्विपात्रीणा**←द्विपात्र्+ख+टाप् । (ग) **द्विपात्री** द्विपात्र+ठञ् (लुक्)+ङीप् ("द्विगोः" ४-१-२१) ।

(१७२१) पद—कुलिजात्, लुक्, खौ, च । **अनुवृत्ति**—द्विगोः, ष्ठन्, सम्भवत्यवहरति पचति, तत्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कुलिजान्त द्विगु से सम्भवत्यादि अर्थों में ('ठञ्' का) 'लुक्' तथा 'ख' विकल्प से होते हैं । 'च' के निवेश से 'ष्ठन्' भी होगा । 'लुक्' न होने पर 'ठञ्' का श्रवण होगा । उदा० द्विकुलिजी—द्वैकुलिजिकी—द्विकुलिजीना—द्विकुलिजिकी ।

विवरण—परिमाण-वाची शब्दों का ही विषय चल रहा है । उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । अतः "द्वितीया-समर्थ द्विगु-संज्ञक 'कुलिज'-शब्दान्त प्रातिपदिक से सम्भवत्यादि अर्थों में विहित प्रत्यय का 'लुक्' (लोप) और 'ख' विकल्प से होते हैं तथा 'च' के निवेश से 'ष्ठन्' प्रत्यय भी होता है" । प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक्' संज्ञा होती है । अतः यहाँ औत्सर्गिक 'ठञ्' का ही 'लुक्' होता है । 'ख'तथा 'ष्ठन्' का विधान-सामर्थ्य से 'लुक्' नहीं होता । क्रमशः **उदाहरण**-(क) **द्विकुलिजी**→द्विकुलिज्+ठञ् (लुक्)+ङीप् (द्विगु-निमित्तक) । (ख) **द्विकुलिजीना**←द्विकुलिज्+ख=ईन+टाप् । (ग) **द्विकुलिजिकी**→द्विकुलिज्+ष्ठन्+ङीष् । (घ) **द्वैकुलिजिकी**←द्विकुलिज्+ठञ्+ङीप् । 'ङीप्' से पूर्व आदिवृद्धि । 'लुक्' के भी विकल्प से

लुक्खौ वा स्तः । चात्छंश्च । लुगभावे ठञः श्रवणम् । द्विकुलिजी—द्विकुलिजीना—द्विकुलिजिकी—द्वैकुलिजिकी । (१७२२) सोऽस्यांशवस्नभृतयः ५ । १ । ५६ ॥ अंशो भागः । वस्नं मूल्यम् । भृतिर्वेतनम् । पञ्च अंशो वस्नं भृतिर्वा अस्य पञ्चकः । (१७२३)

नित्यं लुकि प्राप्ते लुको विकल्पविधिः । चात् छंश्चेति । तथा च ठञो लुक् खश्च ष्ठंश्चेति त्रितयं विकल्प्यते । तत्र छनः, खस्य, ठञो लुकश्चाभावे ठञः श्रवणं पर्यवस्यति । तदाह—लुगभावे ठञः श्रवणमिति । द्विकुलिजीति । ठञो लुकि रूपम् । 'द्विगोः' इति ङीप् । द्विकुलिजीनेति । खे रूपम् । द्विकुलिजिकीति । ष्ठनि रूपम् । द्वैकुलिजिकीति । ठञो लुगभावे रूपम् । परिमाणान्तस्येत्यत्र असंज्ञाशाणकुलिजानामित्युक्तेर्नोत्तरपदवृद्धिः ।

(१७२२) सोऽस्यांश । स इति प्रत्येकमंशादिष्वन्वेति । सोऽस्यांशः, तदस्य वस्नम्,

---

होने के कारण 'ठञ्' का श्रवण हुआ है । इस प्रकार चार रूप निष्पन्न होते हैं । अर्थ—दो कुलिज (ढाई पाव) पकाने वाली—द्वे कुलिजे पचतीत्यादि ।

स्मरणीय—इस प्रकार परिमाण-वाचक शब्दों के सम्बन्ध में प्रत्ययार्थों पर बहुत विचार किया गया है—उन अप्रचलित शब्दों के अर्थ को बतलाने वाले उद्धरण अमरकोष से दिये जा रहे हैं । "गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकः । ते षोडशाक्षः कर्षोऽस्त्री पलं कर्षचतुष्टयम् । सुवर्ण-बिस्तौ हेम्नोऽक्षे कुरुविस्तस्तु तत्पले ॥ तुला स्त्रियां पलशतम् भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः । आचितो दश भाराः स्युः शाकटो भार आचितः ॥ कार्षापणः कार्षिकः स्यात्, कार्षिके ताम्रके पणः । अस्त्रियाम् आढक-द्रोणौ खारी वाहो निकुञ्चकः । कुडवः प्रस्थ इत्याद्याः परिमाणार्थकाः पृथक् ॥ पादस्तुरीयो भागः स्यात्, अंश-भागौ तु वण्टके" । (वैश्य वर्ग—८५-८९) । हस्तादि मान भी अमरकोष में इस प्रकार बतलाया गया है—"पाणिर्निकुब्जः प्रसृतिः, तौ युतावञ्जलिः पुमान् । प्रकोष्ठे विस्तृतकरे हस्तो, मुष्ट्या तु बद्धया । स रत्निः स्यात्, अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना ॥ व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम् । ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिर्नृमाने पौरुषं त्रिपु ॥—(नृवर्ग-८५-८७) ।

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त आयाम-प्रमाणों का विवरण इस प्रकार है—(१) अङ्गुलि = ८ यव । (२) दिष्टि या वितस्ति = १२ अङ्गुल । (३) पुरुष—एक पुरुष के बराबर गहराई (८४ अङ्गुल) (४) काण्ड—दण्ड का पर्याय भी कहीं माना गया है । १९२ अङ्गुल-लगभग १२ फुट । (५) रज्जु=१० दण्ड लगभग ४ कोस । (६) हस्ति आयाम = २१६ अङ्गुल । (७) किष्कु = ४२ अङ्गुल । तोल और नापवाची शब्दों का विवरण—(१) माष=ताम्बे की तोल का माष ५ रत्ती, चाँदी का दो रत्ती । (२) निष्पाव=तीन रत्ती । (३) शाण= २० रत्ती । (४) बिस्त= ८० रत्ती के लगभग । (५) अञ्जलि–ढाई छटाँक या १२½ तोला । (६) कुलिज = कदाचित् १२½ पल या ५० तोले की तोल । इसी को प्रस्थ भी कहा है । (७) आढक = कौटिल्य के अनुसार २½ सेर । (८) कंस = कौटिल्य के अनुसार ५ सेर । (९) मन्थ=कदाचित् द्रोण का पर्यायवाची हो, अतः १० सेर । (१०) शूर्प = दो द्रोण के बराबर, अतः २० सेर । चरक की तालिका के अनुसार ४०९६ तोला । (११) खारी = लगभग ४ मन । (१२) गोणी—चरक के अनुसार २ मन २२ सेर । (१३) भार = कौटिल्य के अनुसार २½ मन । (१४) आचित = अमरकोष के अनुसार एक सगड़ का बोझा—लगभग २५ मन । (१५) कुम्भ = अर्थशास्त्र के अनुसार–२० द्रोण = ५ मन । (१६) वह = अर्थशास्त्र के अनुसार १० कुम्भ = ५० मन ।

(१७२२) पद—सः, अस्य, अंश–वस्न-भृतयः । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

तदस्य परिमाणम् ५ । १ । ५७ ॥ प्रस्थं परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः । (१७२४) **सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु ५ । १ । ५८ ॥** पूर्वसूत्रमनुवर्तते । तत्र 'संज्ञायां स्वार्थे प्रत्ययो वाच्यः' (वा ३०३९) । यद्वा द्व्येकयोरितिवत्सङ्ख्यामात्रवृत्तेः परिमाणिनि

सास्य भृतिः, इत्यर्थेषु प्रथमान्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । पञ्चक इति । सङ्ख्यायाः' इति कन् ।

(१७२३) तदस्य परिमाणम् । अस्मिन्नर्थे प्रथमान्ताद्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । प्रास्थिक इति । 'आर्हात्' इत्यत्र परिमाणपर्युदासात् प्राग्वतीयष्ठञ् । अत्र सङ्ख्यापि परिमाणम् । यद्यपि 'अगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणा'दिति पृथग्ग्रहणात् सङ्ख्या न परिमाणम्, तथाप्यत्र परिच्छेदकत्वात् सङ्ख्यापि परिमाणम्, उत्तरसूत्रे सङ्ख्यायाः परिमाणेन विशेषणाल्लिङ्गात् । तेन षष्टिः परिमाणमस्य षाष्टिकमिति सिद्धम् । द्विषष्ट्यादिभ्यस्त्वनभिधानान्नेति भाष्ये स्पष्टम् ।

(१७२४) सङ्ख्यायाः । अनुवर्तत इति । तथा च तदस्य परिमाणमित्यर्थे प्रथमान्तात् सङ्ख्यात्मकपरिमाणवाचिनो यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । संज्ञायां स्वार्थे प्रत्ययो वाच्य इति । पञ्चकाः शकुनय इत्यत्र पञ्च परिमाणमेषामित्यर्थो न सम्भवति, आ दशतः सङ्ख्याः सङ्ख्येये इति पञ्चन्शब्दस्य सङ्ख्येयवृत्तिकत्वेन पञ्च परिमाणमिति सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः । अतः संज्ञायां स्वार्थं इव सङ्ख्यायाः प्रत्यय इति पर्यवस्यतीति भावः । यद्वेति । द्विशब्दस्य एकशब्दस्य च सङ्ख्येयवृत्तित्वेऽपि 'द्व्येकयोः' इति समासवृत्तावेकत्वद्वित्वपरत्वमभ्युपगम्यते । अन्यथा 'द्व्येकयोः' इति द्विवचनानुपपत्तेः । तद्वत्पञ्चकाः शकुनय इति तद्धितवृत्तावपि पञ्चन्शब्दस्य पञ्चत्वसङ्ख्यापरतया पञ्चत्वं परिमाणमस्येति सामानाधिकरण्यं स्वीकृत्य पञ्चत्ववाचिनः पञ्चन्शब्दात् पञ्चत्वरूपपरि-

---

मूलार्थ एवं विवरण—"प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक (सः) से षष्ठ्यर्थ (अस्य) में यथाविहित प्रत्यय होते हैं, यदि वह प्रथमा-समर्थ 'अंश' (=हिस्सा), 'वस्न' (=मूल्य) और 'भृति' (=वेतन) का समानाधिकरण-वाची हो"। तदनुसार पाँच रुपये जिसके भाग, मूल्य या वेतन रूप में हों—उसे पञ्चकः कहा जायगा (पञ्च अंशः, वस्नः भृतिः वा अस्य)—पञ्चन् + कन् (=क) ->"संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" ५-१-२२ ।

(१७२३) पद—तत्, अस्य, परिमाणम् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । समर्थ-विभक्ति का सूचक प्रथमान्त 'तत्' पद 'परिमाणम्' का समानाधिकरणवाची है । प्रत्ययार्थ षष्ठ्यर्थ-सापेक्ष है । अतः "परिमाण-समानाधिकरणवाची प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण—प्रास्थिकः** राशिः (प्रस्थ भर का ढेर—प्रस्थः परिमाणम् अस्य)—प्रस्थ + ठञ् ("प्राग्वतेष्ठञ्" ५-१-१) । ठ = इक । आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण-लोप ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'परिमाण' शब्द परिच्छेदक अर्थ में प्रयुक्त है, अतः यहाँ संख्या भी परिमाण के रूप में गृहीत है ।

(१७२४) पद—संख्यायाः, संज्ञा-सङ्घ-सूत्रा-ऽध्ययनेषु । **अनुवृत्ति**—तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति आरही है । वा० उन अर्थों मे से केवल 'संज्ञा' में ही प्रत्यय हो । अथवा 'द्व्येकयोः' की तरह संख्या-वाचक से परिमाण अर्थ में उक्त प्रत्यय हों । उदा० १—पञ्च

प्रत्ययः। पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः। पञ्च परिमाणमेषामिति वा। सङ्घे-पञ्चकः। सूत्रे-अष्टकं पाणिनीयम्। सङ्घशब्दस्य प्राणिसमूहे रूढत्वात्सूत्रं पृथगुपात्तम्। पञ्चकमध्ययनम्। 'स्तोमे डविधिः' (वा ३०४५)। पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः ५-स्तोमः। सप्तदशः। एकविंशः। डप्रत्यये तिलोपः। सोमयागेषु छन्दोगैः क्रियमाणा पृष्ठ्यादिसंज्ञिका

माणवति प्रत्ययः उपपद्यत इत्यर्थः। तत्र संज्ञायां स्वार्थे उदाहरति—पञ्चैवेति। परिमाणिनः प्रत्ययमुदाहरति—पञ्च परिमाणमिति। पञ्चत्वमित्यर्थः। सङ्घे इति। उदाहरणं वक्ष्यत इत्यर्थः। पञ्चक इति। पञ्चत्वमस्य सङ्घस्य परिमाणमित्यर्थः। सङ्घस्य पञ्चत्वं तु अवयवद्वारा बोध्यम्। सूत्र इति। उदाह्रियत इति शेषः। अष्टकं पाणिनीयमिति। सूत्रमिति शेषः। अष्टावध्यायाः परिमाणस्येति विग्रहः। अत्राष्टत्वम् अध्यायद्वारा सूत्रेऽन्वेति। सूत्रशब्दश्च सूत्रसङ्घपरः, एकस्मिन् सूत्रे अष्टकत्वस्यासम्भवात्। नन्वेवं सति सङ्घग्रहणेनैव सिद्धे सूत्रग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—सङ्घशब्दस्येति। पञ्चकमध्ययनमिति। पञ्चावृत्तयः परिमाणमस्येति विग्रहः। स्तोमे डविधिरिति। तदस्य परिमाणमित्यर्थे सङ्ख्यावाचिन उपसङ्ख्यातव्य इति शेषः। सामाधारमन्त्रसमूहे स्तोमशब्दः शक्त इति कैयटः। मनुष्यादिसमूहे तु स्तोमशब्दो लाक्षणिक इति तदाशयः। तदाह—पञ्चदश मन्त्रा इति। पञ्चदशः स्तोम इति। पञ्चदशन्शब्दात् डप्रत्यये 'टेः' इति टिलोपः। सामाधारभूतपञ्चदशमन्त्रसमूह इत्यर्थः। ननु डित्त्वाभावेऽपि 'नस्तद्धिते' इत्येव टिलोपसिद्धे डित्त्वं

एव->पञ्चकाः शकुनयः। २-अथवा पाँच परिमाण हैं जिनका अर्थात् समूह—पञ्चकः। ३-सूत्रार्थ-अष्टकं-पाणिनीयम्। 'सङ्घ' शब्द प्राणिसमूह में रूढ़ होने के कारण सूत्र में उसका पृथक् उपादान किया गया है। ४-अध्ययन अर्थ—पञ्चकम्। वा० 'स्तोम' अर्थ में 'ड' प्रत्यय होता है। उदा० (क) पञ्चदश परिमाणम् अस्य—पञ्चदशः। (ख) सप्तदशः। (ग) एकविंशः ('ड' प्रत्यय पर रहते 'ति' का लोप)। सोमयाग में सामगान करने वालों द्वारा की जाने वाली पृष्ठ्यादिस्तुति को 'स्तोम' कहते हैं।

विवरण—पूर्व सूत्र का विषय है। अतः प्रकृत सूत्रोक्त प्रत्ययार्थ-बोधक पदों के साथ उनका अन्वय करने पर "परिमाण-समानाधिकरण प्रथमासमर्थ संख्यावाची (संख्यायाः) प्रातिपदिक से 'संज्ञा', 'सङ्घ', 'सूत्र' तथा 'अध्ययन' प्रत्ययार्थ होने पर षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होंगे"। संख्यावाची शब्दों से 'कन्' प्रत्यय कहा गया है, अतः वही प्रत्यय होगा। प्रकृत सन्दर्भ में 'संज्ञा' अर्थ अभिधेय होने पर स्वार्थ में ही प्रत्यय होने के विषय में एक वार्तिक उद्धृत किया जाता है। अतः (१) संज्ञा के **उदाहरण—पञ्चकाः** शकुनयः (पाँच पक्षि-विशेषों की संज्ञा—पञ्च एव) में पूर्वविहित 'कन्' प्रत्यय हुआ (पञ्चन् + कन् = क)। (२) सङ्घ—**पञ्चकः** (पाँच का समूह—पञ्च परिमाणम् अस्य)—पञ्चन् + कन्। (३) सूत्र-**अष्टकं** पाणिनीयम् (पाणिनि की आठ अध्यायों वाली पुस्तक—अष्टौ अध्यायाः परिमाणम् अस्य)—अष्टन् + कन्। (४) अध्ययन—**पञ्चकम्** अध्ययनम् (पाँच बार पढ़ना—पञ्च आवृत्तिः परिमाणम् अस्य अध्ययनस्य)—पञ्चन् + कन्।

वार्तिक—स्तोम को अभिलक्षित कर संख्यावाची शब्दों से 'तदस्य परिमाणम्' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय कहे जायँ। **उदाहरण-पञ्चदशः** स्तोमः (सोमयाग में पढ़े जाने वाले स्तुति के पन्द्रह मन्त्र-पञ्चदश मन्त्राः परिमाणम् अस्य समूहस्य)—पञ्चदशन् + ड (= अ) 'टि'लोप। **सप्तदशः** (सोमयाग में पढ़े जाने १७ स्तुति के मन्त्र—सप्तदश मन्त्राः परिमाणमस्य) सप्तदशन् + ड (=अ)। **एकविंशः** (इक्कीस स्तुति के मन्त्र—एकविंशतिः मन्त्राः परिमाणम् अस्य)—एकविंशति + ड (= अ) > एकविंश् + अ ('ति' लोप) > एकविंशः ('अन्त्य'वर्ण-लोप)। इस उदाहरण को

स्तुतिः स्तोमः। (१७२५) पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीति-

व्यर्थमित्यत आह—एकविंश इति। एकविंशतिर्मन्त्राः परिमाणमस्य समूहस्येति विग्रहः। डप्रत्यये इति। 'तिविंशतेर्डिति' इति टिलोपः। मीमांसकास्तु पृष्ठिरथन्तरादिशब्दवाच्या प्रगीतमन्त्रसाध्या गुणवत्त्वेन वर्णनात्मिका स्तुतिरेव स्तोमः, स एव डप्रत्ययार्थः। प्रगीत-पञ्चदशमन्त्रपरिमाणकः स्तोमः इत्यर्थः। पञ्चदशत्वसङ्ख्यात्मकपरिमाणं स्तुतौ मन्त्रद्वारा बोध्यम्। एवञ्च 'पञ्चदशेन स्तुवते' इत्यादौ धात्वर्थभूतस्तुतिसामानाधिकरण्यं पञ्च-दशादिशब्दानामुपपद्यत इत्याहुः। तन्मतमवलम्ब्याह—सोमयागेष्वित्यादि।

(१७२५) पङ्क्तिविंशति। रूढिशब्दा निपात्यन्त इति। तदस्य परिमाणमित्यर्थे इति शेषः। पञ्च पादाः परिमाणमस्येत्यर्थे पञ्चन्शब्दात् तिप्रत्ययः, प्रकृतेष्टिलोपः, चकारस्य कुत्वम्, अनुस्वारपरसवर्णौ, पङ्क्तिरिति रूपम्। 'पञ्चाक्षरा पञ्चपदा पङ्क्तिः' इति छन्दःशास्त्रे। दशानां वर्गः दशत्। 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' इति वक्ष्यते। द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्घस्येति विंशतिः। शतिच्प्रत्ययः प्रकृतेर्विन्भावः, अनुस्वारश्च। अत्र सङ्घ-ग्रहणमनुवर्तते। तथा च गवां विंशतिरिति भवति। सङ्घसङ्घिनोस्तादात्म्यविवक्षायां तु विंशतिर्गाव इति भवति। स्वभावादेकवचनं स्त्रीत्वं च। एवं त्रिंशदादावपि। 'विंश-त्याद्याः सदैकत्वे सङ्ख्याः सङ्ख्येयसङ्ख्ययोः' इति, 'तासु चानवतेः स्त्रियः' इति चामरः। त्रयो दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्य त्रिंशत्, शत्प्रत्ययः, प्रकृतेः त्रिन्भावश्च। चत्वारो दशतः

देने की उपयोगिता से ही 'स्तोमे ड—विधिः' वार्तिक की चरितार्थता है। जिसके फलस्वरूप 'ति' का लोप होता है। अन्यथा 'पञ्चदश' आदि में तो 'अ' प्रत्यय करने पर भी "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से 'टि'लोप होकर इष्टरूप सिद्धि हो जाती।

विशेष—सोमयाग में सामगायकों द्वारा की गई पृष्ठयादि स्तुति को स्तोम कहते हैं। मनुष्यादि के समूह अर्थ में 'स्तोम' शब्द लाक्षणिक है। मीमांसकों के मत में 'पृष्ठि' एवं 'रथन्तरादि' शब्द-वाच्य प्रगीत-मन्त्र-साध्य गुणानुवाद करने वाली 'स्तुति' ही 'स्तोम' है और वह स्तोम ही 'ड'—प्रत्यय के अर्थ के रूप में गृहीत है। अतः पन्द्रह प्रगीत मन्त्रों की समष्टि ही स्तोम है। तदनुसार स्तुति में परिमाणरूप से 'पन्द्रह संख्या' का बोध मन्त्रों के माध्यम से होगा। इस प्रकार 'पञ्चदशेन स्तुवते'—(पन्द्रह से स्तुति करता)—इस वाक्य में 'ष्टु'-धातुवाच्य 'स्तुति' का सामानाधिकरण्य संघात्मक 'पञ्चदश' परिमाण के रूप में उपपन्न हो जाता है।

(१७२५) पद—पङ्क्तिविंशति......शतम्। **अनुवृत्ति**—तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ये रूढि-शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं।

विवरण—एकपदात्मक सूत्र है तथा इस लम्बे पद में समाहार-द्वन्द्व समास है। 'प्रत्ययार्थ' का लाभ "तदस्य परिमाणम्" (५-१-५७) सूत्र की अनुवृत्ति से होता है। अतः "'तदस्य परिमाणम्' अर्थ में 'पङ्क्ति', 'विंशति'—आदि दस शब्द निपातन द्वारा सिद्ध होते हैं"। इन शब्दों की सिद्धि इस प्रकार है—(१) **पङ्क्तिः** ('छन्द') = पाँच पदों वाला—पञ्च परिमाणम् अस्य)—पञ्चन् + ति (प्रत्यय का निपातन) > पञ्च् + ति ('टि'-लोप निपातन) > पन्-क् + ति (च् = क्-कुत्व→"चोः कुः" ८-२-३०) > पङ्क्तिः (अनुस्वार तथा ङ्—परसवर्ण)। 'पङ्क्ति' छन्द में ४० अक्षर होते हैं। प्रत्येक पाद में ८ अक्षरों से युक्त पाँच पादों वाला यह छन्द है। वेद में ही यह प्रयुक्त हुआ है। (२) **विंशतिः** (दो दशक जिस समूह का परिमाण हो—बीस→द्वौ दशतौ परि-माणम् अस्य सङ्घस्य)-द्विदशत् + शतिच् (प्रत्यय-निपातन) > विन् + शति (द्विदशत्=विन्) > विंशति (न्=अनुस्वार—"नश्चापदान्तस्य झलि" ८-४-२४)। (३) **त्रिंशत्** (तीस—त्रयः दशतः

नवतिशतम् ५ । १ । ५९ ॥ एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते । (१७२६) पञ्चद्दशतौ

परिमाणमस्य सङ्ख्स्य चत्वारिंशत्, शत्प्रत्ययः । प्रकृतेः चत्वारिन्भावश्च । पञ्च दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्स्य पञ्चाशत्, शत्प्रत्ययः प्रकृतेः पञ्चादेशः । षड् दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्स्य षष्टिः, तिप्रत्ययः । 'प्रकृतेः षष्' जश्त्वाभावश्च । सप्त दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्स्य सप्ततिः, तिप्रत्ययः प्रकृतेः सप्तादेशः । अष्टौ दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्स्य अशीतिः, तिप्रत्ययः प्रकृतेः अशी इत्यादेशः । नव दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्स्य नवतिः, तिप्रत्ययः प्रकृतेः नवादेशः । दश दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्स्य शतम् । तप्रत्ययः प्रकृतेः शादेशश्च । एतत्सर्वं भाष्ये स्पष्टम् । 'एतान्यव्युत्पन्नप्रातिपदिकानि' इति तु भाष्यनिष्कर्षः ।

परिमाणम् अस्य सङ्ख्स्य)—त्रिदशत्+शत (प्रत्यय) > त्रिन्+शत् (त्रिदशत् = त्रिन् आदेश निपातन) > त्रिंशत् (न् = अनुसार) । (४) चत्वारिंशत् (चालीस—चत्वारः दशतः परिमाणम् अस्य)—चतुर्दशत्+शत् > चत्वारिंशत् ('चतुर्दशत्' के स्थान पर 'चत्वारिन्' आदेश तथा 'शत्' प्रत्यय । (५) पञ्चाशत् (पचास-पञ्च दशतः परिमाणम् अस्य सङ्ख्स्य)—पञ्चदशत्+शत् > पञ्चाशत् ('पञ्चदशत्' के स्थान पर 'पञ्चा' आदेश तथा 'शत्' प्रत्यय) । षष्टिः (साठ—षड् दशतः परिमाणम् अस्य सङ्ख्स्य)—षड्दशत्+ति > षष्+ति (षड्दशत्='षष्' आदेश तथा तिप्रत्यय) > षष्टिः (ष्टुत्व) । (७) सप्ततिः (सत्तर—सप्त दशतः परिमाणमस्य सङ्ख्स्य)—सप्तदशत्+ति > सप्ततिः ('सप्तदशत्' के स्थान पर 'सप्त' आदेश तथा 'ति' प्रत्यय) । (८) अशीतिः (अस्सी—अष्टौ दशतः परिमाणम् अस्य)-अष्टदशत्+ति (प्रत्यय) > अशीतिः (अष्टदशत् = अशी) । (९) नवतिः (नब्बे—नव दशतः परिमाणम् अस्य)—नवदशत्+ति > नवतिः (नवदशत् = नव) । (१०) शतम् (सौ—दश दशतः परिमाणम् अस्य)—दशदशत्+त (प्रत्यय) > शतम् (दशदशत् = श) ।

विशेष—वार्तिक-कार ने इन सब शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है । जिस तरह सहस्र, अयुत, अर्बुद आदि शब्द अव्युत्पन्न हैं, उसी तरह 'विंशति' आदि शब्द भी अव्युत्पन्न हैं । इनकी प्रातिपदिक संज्ञा "अर्थवदधातुरप्रत्ययः०" (१-२-४५) सूत्र से हो जायगी । अनेकार्थक 'अक्ष' शब्द की तरह 'विंशति' आदि शब्द भी 'संख्या' और 'संख्येय'—दोनों अर्थों में स्वभावतः व्यवहृत होते हैं । वे रूढि-शब्द हैं और रूढि-शब्द होने के कारण उनके लिङ्ग और उनकी संख्या नियत होती है । जैसे 'आपः', 'दाराः' आदि रूढि-शब्दों में नियतलिङ्ग और संख्या देखे जाते हैं ।

परन्तु महाभाष्यकार ने व्युत्पत्ति-पक्ष का संकेत कर प्रकृति-प्रत्यय तथा प्रत्ययार्थ की कल्पना की है । 'अक्ष' जैसे शब्द जब अनेकार्थक होते हैं तब उनमें कोई अन्वय नहीं होता । वे भिन्न भिन्न जातियों में रूढ़ होते हैं, वे यौगिक शब्द नहीं हैं । विंशति, सहस्र आदि शब्द जब गुणी के अर्थ में व्यवहृत होते हैं, तब यौगिक शब्द ही माने जाते हैं । ये शब्द संख्या से निरपेक्ष संख्येय-विशेष की अभिव्यक्ति नहीं करते । इस लिये इन्हें रूढि-शब्द नहीं कहा जा सकता ।

संख्या का स्वरूपगत विवेचन—सभी भावों की सहज संख्या एकत्व है । द्वित्व आदि का मूल रूप एकत्व है, क्योंकि 'भेद' की स्थिति 'अभेद'-पूर्वक रहती है । 'द्वित्व' आदि भेद-मूलक हैं, एकत्व अभेदाश्रित है । बिना एकत्व के द्वित्व, बहुत्व आदि का परिज्ञान सम्भव नहीं है । 'द्वित्व' के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद है । कुछ विद्वानों के मत में 'द्वित्व' 'एकत्व' से अव्यतिरिक्त है । परन्तु यह मत पाणिनि द्वारा मान्य नहीं है । पाणिनि ने "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" (१-४-२२) सूत्र द्वारा द्वित्व में द्विवचन का विधान किया है । अव्यतिरिक्त पक्ष में द्वित्व के एकत्व से अव्यतिरिक्त होने के कारण दो एकत्व में द्विवचन होगा । फलतः 'द्व्येकयोः' शब्द से तीन एकत्व

(दो+एक) का ग्रहण होने लगेगा और बहुवचन की प्राप्ति होने लगेगी। अतः दो एकत्व से जनित द्वित्व को उन से व्यतिरिक्त मानना उचित है[1]। तीन से लेकर दस तक की संख्याओं के बारे में इसी तरह का सिद्धान्त माना जाता है।

बीस और बीस के आगे की संख्याओं के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने महाभाष्य के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन संख्याओं के सम्बन्ध में मूल विचार दो हैं—एक तो इनके व्युत्पन्न अथवा अव्युत्पन्न होने के विषय में है। दूसरा इनके संख्येय रूप से सम्बन्ध रखता है। व्युत्पन्न-पक्ष में विंशति शब्द दशद्वयार्थाभिधायी 'द्वि' शब्द से 'शतिच्' प्रत्यय निपातन कर सिद्ध किया जाता है। वस्तुतः सम्पूर्ण शब्द ही निपातन के द्वारा सिद्ध किया जाता है। केवल साधुत्व के लिये प्रकृति-प्रत्यय का अन्वाख्यान माना गया है, क्योंकि 'शतिच्' प्रत्यय स्वार्थ[2] में होता है। स्वार्थ का अभिप्राय प्रकृति के अर्थ से है। कोष में 'विंशति' आदि शब्द 'संख्या' (गणना) और 'संख्येय' (क्रमवाचक) दोनों अर्थों में व्यवहृत होते हैं। जैसे बीस गाय के लिये संस्कृत में गवां विंशतिः तथा 'विंशतिर्गावः'—दोनों प्रकार कहे गए है।

भाष्यकार ने व्युत्पत्ति-पक्ष मानने में यह युक्ति दी है कि विंशत्यादि शब्द पूर्ण रूप में 'रूढि' शब्द नहीं हैं। कारण यह है कि ये शब्द जब गुणी के अर्थ में व्यवहृत होते हैं तब वे यौगिक शब्द ही माने जाते हैं। ये शब्द संख्या से निरपेक्ष संख्येय-विशेष की अभिव्यक्ति नहीं करते। इसलिये इन्हें 'रूढि' शब्द न मानने के सम्बन्ध में यही अरुचि भाष्यकार ने दिखाई है। व्युत्पत्तिपक्ष मानने पर भी 'विंशति' आदि शब्दों में समास और वचन की अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती। कारण यह है कि 'सङ्घ' शब्द समुदायार्थक भी है। अप्राणियों के समूह को प्रकट करने के लिये बीस वृक्षों के अर्थ में 'वृक्षाणां विंशतिः' आदि प्रयोग समीचीन माने गए हैं। इस प्रकार ये विंशति आदि शब्द समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त होकर भाववचन माने जाते हैं, भाववचन होने से गुण-वचन हैं, गुणवचन होने से दूसरे गुणवचन शब्दों के सदृश हो जाते हैं। अन्य गुणवचन शब्दों में यह देखा जाता है कि गुण कभी गुणी का विशेषक होता है—जैसे 'पटः शुक्लः'। कभी गुणी भी गुण का विशेषक होता है—जैसे 'पटस्य शुक्लः'। 'पटः शुक्लः' में गुण जिस तरह गुणी के अव्यतिरेक की विवक्षा से अथवा मतुप्-लोप से सामानाधिकरण्य की प्रतीति होती है, उसी तरह विंशति आदि का भी द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य सम्भव हो सकता है। फलतः समास होने में कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। लोक में 'गावः धनम्', 'पुत्राः अपत्यम्', 'वेदाः प्रमाणम्', 'इन्द्राग्नी देवता' आदि वाक्यों में गुण और गुणी में लिङ्ग और संख्या का साम्य न होने पर भी ये प्रयोग शुद्ध माने जाते हैं। 'गावः' बहुवचन है, 'धनम्' एकवचन है। धन 'गुण' है और गाय 'गुणी' है, क्योंकि धन साकाङ्क्ष है, भेदक है और क्रिया-पारतन्त्र्य है। जिस तरह 'शुक्ल' शब्द कहने से द्रव्य की आकाङ्क्षा होती है, उसी तरह 'धन' शब्द कहने से धन की जिज्ञासा में 'गाय' आदि की आकाङ्क्षा होती है। इस प्रकार 'गावो धनम्' वाक्य में 'धन' शब्द गाय का भेदक है, अर्थात् अन्य धनों की अपेक्षा गो-धन अधिक प्रीतिकर है—इस रूप में भेदक है। उसी तरह विंशतिर्गावः'

---

१. "द्व्येकयोरित्यत्र संख्यापदेन द्विशब्देन साहचर्यादेकशब्दस्यास्ति संख्यावाचिनो ग्रहणम्। द्वित्वैकत्वयोश्च द्व्येकशब्दो वर्तेते इति द्विवचनेन निर्देशः। अन्यथा बहुवचनं स्यात्। प्रसिद्धया च संख्येयार्थत्वमेकादीनामष्टादशान्तानामुच्यते"। —महाभाष्य-प्रदीपः १-४-२१।

२. 'स्वार्थे प्रत्ययो भवति'—इति वाक्यस्य अर्थं विवृणवता कैयटेन 'स्वार्थे' इति प्रतीकमादाय—प्रत्ययस्य स्वात्मीया प्रकृतिः तस्याः अर्थः—इत्यर्थः स्पष्टीकृतः। पुनश्च अथवा यः प्रकृतेः अर्थः स एव प्रत्ययानां स्वार्थः पितृधनमिव पुत्रस्य—इति भिन्नेनैव प्रकारेण विशदीकृतस्तेनायमर्थः। यतः तत्रैवार्थे प्रत्यासत्त्या अनिर्दिष्टार्थप्रत्ययस्योत्पत्तेर्न्याय्यत्वं विद्यते। अधिकं तत्रैव ५-१-१९ सूत्रे कैयटविवरणे द्रष्टव्यम्।

वर्गे वा ५ । १ । ६० ॥ पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः । दशत् । पक्षे पञ्चकः, दशकः ।
(१७२७) **त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण् ५ । १ । ४२ ॥** त्रिंशदध्यायः

(१७२६) **पञ्चद्दशतौ** । पञ्च दश वा परिमाणमस्य वर्गस्येत्यर्थे एतौ निपात्येते इत्यर्थः । **पञ्चद्वर्ग इति** । पञ्च परिमाणमस्येत्यर्थे पञ्चन्शब्दात् डतिप्रत्ययः । तत्र इकार उच्चारणार्थः । 'टेः' इति टिलोपः । **दशदिति** । दश परिमाणमस्य वर्गस्येति विग्रहः । डति डित्वाट्टिलोपः । एतदर्थमेव डित्वम् । **पक्षे इति** । डत्यभावपक्षे 'सङ्ख्यायाः' इति कन्नित्यर्थः ।

(१७२७) **त्रिंशच्चत्वारिंशतोः** । तदस्य परिमाणमित्यर्थे परिमाणिनि ब्राह्मणे

'विंशतिर्बलीवर्दाः' 'विंशतिर्गोकुलानि' आदि में भी विभिन्न वचन और लिङ्ग साथ साथ सम्भव हैं । इस प्रकार 'विंशति' आदि शब्द नित्य एकवचन हैं—इस पीठिका में भी यही विचार है । महाभाष्यकार ने कहा है कि एक गो-पिण्ड धन नहीं है, अपि तु गायों का समुदाय धन है और प्रीतिहेतु होने के कारण धनरूपी गुण एक है । उसी एकत्व की प्राधान्यविवक्षा में 'धनम्' एकवचन होता है । इसी प्रकार 'विंशति' आदि में 'विंशति' शब्द संख्यासमुदित द्रव्यसमूह में समवाय-रूप से रहने के कारण एक है । इस एकत्व गुण के कारण 'विंशति' शब्द का प्रयोग एकवचन में होता है । वह शुक्लत्व की तरह प्रत्येक में परिसमाप्त नहीं है । अतः सदा द्रव्यगत लिङ्ग-संख्या का अनुवर्तन नहीं करता । काशिकाकार का अभिनिवेश अव्युत्पन्न मानने में अधिक है[1] । उसी का अनुसरण कर दीक्षित जी ने भी इन्हें 'रूढि' शब्द माना है ।

(१७२६) पद—पञ्चद्दशतौ, वर्गे, वा । **अनुवृत्ति**—तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'तदस्य परिमाणम्' का विषय है । 'वर्ग' अर्थ को अभिलक्षित कर निर्दिष्ट दो संख्यावाची शब्दों के निपातन की व्यवस्था की जा रही है । तदनुसार "'पञ्चत्' और 'दशत्'—इन दो 'डति' प्रत्ययान्त शब्दों का 'तदस्य परिमाणम्' विषय में 'वर्ग' अभिधेय होने पर विकल्प से निपातन किया गया है" । 'डति' में इकार उच्चारणार्थ है । 'पञ्चन्' तथा 'दशन्'—ये दोनों प्रातिपदिक संख्यावाची है । अतः पक्ष में "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" (५-१-२२) से कन् होकर पञ्चकः (पञ्चन् + कन्) तथा दशकः (दशन् + कन्) रूप निष्पन्न होंगे । **उदाहरण**—(१) **पञ्चत् वर्गः**—पञ्चन् + डति (अत्) > पञ्च् + अत् ('टि'लोप—"टेः" ६-४-१४३) > पञ्चत् । **अर्थ**—पाँच व्यक्तियों या वस्तुओं का वर्ग—पञ्च परिमाणम् अस्य । इसी प्रकार **दशत्** (दशन् + डत्) । **अर्थ**—दस व्यक्तियों या वस्तुओं का समूह—दश परिमाणम् अस्य । प्रक्रिया पूर्ववत् ।

(१७२७) पद—त्रिंशच्चत्वारिंशतोः, ब्राह्मणे, संज्ञायां, डण् । **अनुवृत्ति**—तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्वोक्त विषय ही अनुसरण कर रहा है । सूत्र में उद्देश्यवाची दो शब्द निर्दिष्ट हैं तथा अभिधेय-वाची 'ब्राह्मण' शब्द ग्रन्थविशेष का बोधक है । अतः "'त्रिंशत्' तथा 'चत्वारिंशत्' प्रातिपदिकों से 'संज्ञा' विषय में 'तदस्य परिमाणम्' अर्थ को अभिव्यक्त करने में यदि परिमाणी ब्राह्मण-ग्रन्थ हो तो 'डण' (—अ) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**-(१) **त्रैंशानि**—(तीस

---

१. "विंशत्यादयो गुणशब्दाः, ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्याः । नात्र अवयवार्थे निवेष्टव्यम् ।...या चैषां विषयभेदेन गुणमात्रे गुणिनि च वृत्तिः स्वलिङ्गसंख्यानुविधानं च, एतदपि सर्वं स्वाभाविकमेव" ।

—काशिका ।

परिमाणमेषां ब्राह्मणानां त्रैंशानि । चात्वारिंशानि । (१७२८) तदर्हति ५ । १ । ६३ ॥ लब्धुं योग्यो भवतीत्यर्थे द्वितीयान्ताट्ठञादयः स्युः । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः । (१७२९) छेदादिभ्यो नित्यम् ५ । १ । ६४ ॥ नित्यमाभीक्ष्ण्यम् । छेदं नित्यमर्हति छैदिको वेतसः । छिन्नप्ररूढत्वात् । 'विराग विरङ्गं च' (ग सू ९९) । विरागं नित्यमर्हति–

वाच्ये त्रिंशच्चत्वारिंशद्भ्यां डण् स्यादित्यर्थः । ब्राह्मणं वेदेषु मन्त्रव्यतिरिक्तो भागः । त्रैंशानीति । डित्वात् 'टेः' इति टिलोपः ।

(१७२८) तदर्हति । अर्हतीत्यस्य योग्यो भवतीत्यर्थे अकर्मकत्वात्तदिति द्वितीया न स्यात् । इष्यते तु द्वितीयान्तादेव प्रत्ययः । तत्राह—लब्धुमिति । श्वैतच्छत्रिक इति । आर्हीयष्ठक् ।

(१७२९) छेदादिभ्यो नित्यम् । आभीक्ष्ण्यमिति । पौनःपुन्यमित्यर्थः । तन्नित्यमर्हतीत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः छेदादिभ्यो यथाविहितं प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । छैदिको वेतस इति । 'आर्हात्' इति ठक् । 'तदर्हति' इत्येव सिद्धे आभीक्ष्ण्य एवेति नियमार्थमिदं सूत्रम् । वस्तुतस्तु नित्यमिति नाभीक्ष्ण्यार्थकं प्रत्ययार्थकोटिप्रविष्टम्, किन्तु अपाक्षिकार्थकम् 'समर्थानां प्रथमाद्वा'

अध्यायों वाला ब्राह्मण ग्रन्थ—त्रिंशद् अध्यायाः परिमाणम् एषां ब्राह्मणानाम्)—त्रिंशत् + डण् (= अ) > त्रिंश ('टि'-लोप) > त्रैंश (आदिवृद्धि) > त्रैंशानि (नपुंसक लिङ्ग प्रथमा बहुवचन)। इसी प्रकार (२) चात्वारिंशानि (चत्वारिंशत् + डण्)। अर्थ—चालीस अध्यायों वाला ब्राह्मण ग्रन्थ—चत्वारिंशद् अध्यायाः परिमाणम् एषां ब्राह्मणानाम् ।

विशेष—'ऐतरेय' के प्रारम्भ के ३० अध्यायों को त्रैंश कहा जाता है। अन्तिम १० अध्याय मिलाकर 'चात्वारिंश' संज्ञा हो जाती है। इन्हीं को गृह्यसूत्रों में क्रमशः 'ऐतरेय' तथा 'महैतरेय' नाम से स्मरण किया गया है।

(१७२८) पद—तद्, अर्हति । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'प्राप्त करने योग्य है'—(इस) अर्थ में द्वितीयान्त से 'ठञ्' आदि हों। उदा० श्वेतच्छत्रमर्हति—श्वैतच्छत्रिकः ।

विवरण—सूत्रस्थ 'तत्' पद समर्थ-विभक्ति (द्वितीया) का सूचक है तथा 'अर्हति' पद प्रत्ययार्थ बोधक है। 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण 'तत्' पद अनुवर्तमान है। अतः तदन्त-विधि होगी। तदनुसार '"प्राप्त करने योग्य होता है' (अर्हति=लब्धु योग्यः) इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से यथाविहित 'ठञ्' आदि प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—श्वैतच्छत्रिकः (जो श्वेत छत्र का अधिकारी है—श्वेतच्छत्रम् अर्हति)—श्वेतच्छत्र + ठक् ("आर्हादगोपुच्छपरिमाणाट्ठक्" ५-१-१९) (ठ= इक)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप ।

विशेष—'अर्हति' शब्द का अर्थ—'योग्य होता है'—यदि किया गया होता तो अकर्मक होने से समर्थ-विभक्ति 'द्वितीया' उपपन्न नहीं होती, अतः 'लब्धुं योग्यः' अर्थ की परिकल्पना की गई है।

(१७२९) पद—छेदादिभ्यः, नित्यम् । **अनुवृत्ति**—तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(नियम)-सूत्र** ।

मूलार्थ—'नित्य' का अर्थ पौनःपुन्य है। उदा० छेदं नित्यम् अर्हति—छैदिकः←वेतसः→ काटने पर बढ़ने के कारण। ग० सू० विराग को विरङ्ग तथा उनसे भी (ठञ् हो)। उदा० १—विरागं नित्यम् अर्हति—वैरागिकः। २–वैरङ्गिकः ।

विवरण—'अर्हति' अर्थ का ही विषय है। पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। किन्हीं के मत में 'नित्य' शब्द प्रत्ययार्थ 'अर्हति' का विशेषण है। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि '"छेद'-

वैरागिकः-वैरङ्गिकः । (१७३०) शीर्षच्छेदाद्यच्च ५।१।६५ ॥ शिरश्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेद्यः-शैर्षच्छेदिकः । यट्ठकोः सन्नियोगेन शिरसः शीर्षभावो निपात्यते । **(१७३१) दण्डादिभ्यो यत् ५ । १ । ६६ ॥** एभ्यो यत्स्यात् । दण्डमर्हति दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः ।

इति वाग्रहणानुवृत्तिनिवृत्त्यर्थमित्यभिप्रेत्य विग्रहवाक्यस्यापि लोके दर्शनान्नित्यग्रहणं न कर्तव्यमित्युक्तं भाष्ये । एवञ्च छेदादिभ्यः पाक्षिकप्रत्ययस्य 'तदर्हति' इत्येव सिद्धत्वात् सूत्रमेवेदं नारब्धव्यमिति फलति । विराग विरङ्गं चेति । गणसूत्रमिदम् । उक्तेऽर्थे विराग-शब्दो विरङ्गादेश लभत इत्यर्थः । चादार्हीयष्ठक् ।

(१७३०) शीर्षच्छेदाद्यच्च । चादार्हीयष्ठक् । ननु 'शीर्षंश्छन्दसि' इति छन्दस्येव शिरसः शीर्षादेशविधानात् कथमिह शीर्षादेश इत्यत आह—यट्ठकोरिति ।

(१७३१) दण्डादिभ्यः । यदित्यनुवर्तते तदाह—यत्स्यादिति । 'दण्डादिभ्यो यः' इति

आदि प्रातिपदिकों से 'पुनः पुनः योग्य है' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—छैदिकः वेतसः (जो काटने से बढ़ता है (बेंत)- छेदं नित्यम् अर्हति)—छेद् + ठक् (ठ = इक) ।

गणसूत्र—द्वितीयान्त 'विराग' प्रातिपदिक से 'नित्यम् अर्हति' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हो । तथा उसके सन्नियोग में विरङ्ग आदेश भी हो । **उदाहरण**—(क) वैरागिकः तथा (ख) वैरङ्गिकः (सदा वैराग्य का अधिकारी—विरागं नित्यमर्हति)—विराग् + ठक् तथा विराग = विरङ्ग + ठक् ।

विशेष—प्रकृत सूत्रस्थ 'नित्यम्' पद प्रत्ययार्थ का विशेषण नहीं है, अपि तु 'आभीक्ष्ण्य' अर्थ में नियमार्थक है । कारण यह है कि "तदर्हति" (५-१-६३) को अभिलक्षित कर "आर्हादगो-पुच्छसंख्या-परिमाणाट्ठक्" (५-१-१९) से ठक् प्रत्यय तो 'छेद' शब्द से स्वतः सिद्ध रहा, अतः 'पौनःपुन्य' अर्थ में ही 'ठक्' विधानार्थ प्रकृत सूत्र की उपयोगिता है ।

कुछ लोगों के मत में 'नित्य' शब्द आभीक्ष्ण्यार्थक नहीं है, किन्तु प्रत्ययार्थ का विशेषण है, "समर्थानां प्रथमाद्वा" (४-१-८२) के पाक्षिक प्रभाव (वा) की निवृत्ति के लिये उपयोगी है । यह भी न माना जाय, क्योंकि प्रयोग में विग्रह-वाक्य लोक में प्रचलित होने से 'नित्य' ग्रहण की कोई उपयोगिता नहीं है । इस प्रकार पाक्षिक 'ठक्' तो "तदर्हति" (५-१-६३) से ही सिद्ध है—यह कहकर भाष्यकार ने इस सूत्र को अनावश्यक बतलाया है[1] ।

(१७३०) पद—शीर्षच्छेदात्, यत्, च । **अनुवृत्ति**—नित्यम्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'अर्हति' अर्थ का ही विषय है । अतः "द्वितीया-समर्थ 'शीर्षच्छेद' प्रातिपदिक से 'नित्य योग्य है'—अर्थ में 'यत्' प्रत्यय तथा (सूत्र में 'च' ग्रहण करने से) 'ठक्' भी होता है" । 'यत्' और 'ठक्' के सन्नियोग से 'शिरस्' शब्द के स्थान में 'शीर्ष' आदेश का निपातन भी है । **उदाहरण**—(क) **शीर्षच्छेद्यः** (सदा सिर काटने योग्य—शीर्षच्छेदं नित्यम् अर्हति)—शीर्षच्छेद् + यत् = (य) । (ख) **शैर्षच्छेदिकः**—शीर्षच्छेद् + ठक् (ठ = इक) ।

(१७३१) पद—दण्डादिभ्यः, यत् । **अनुवृत्ति**—यत्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

---

१. अयं भावः—नित्यग्रहणमिह प्रत्ययार्थविशेषणं न भवति । नित्यं छेदमर्हतीत्यस्य असम्भवात् । न हि कश्चित्पदार्थो नित्यं छेदमर्हति । योऽपि वेतसादिः अर्धच्छिन्नः प्ररोहति, सोऽपि न नित्यं छेदमर्हति । कालान्तरे एव तस्य छेदप्रवर्तनात् । न चाऽत्र नित्यग्रहणत्यागेऽपि छेदमर्हति इतिविग्रहवाक्यनिवृत्तये सूत्रस्यावश्यकत्वात् तत्प्रत्याख्यानं न युज्यते इति शङ्क्यम्, विग्रह-वाक्यस्य भाष्यादिसम्मतत्वादिति दिक् ।

(१७३२) पात्राद्घंश्च ५।१।६८॥ चाद्यत्। तदर्हतीत्यर्थे। पात्रियः-पात्र्यः।
(१७३३) कडङ्करदक्षिणाच्छ च ५।१।६९॥ चाद्यत्। कडं करोतीति विग्रहेऽत एव निपातनात्खच्। कडङ्करं माषमुद्गादिकाष्ठमर्हतीति—कडङ्करीयो गौः। कडङ्कर्यः।

त्वपपाठः, 'अचो यत्' इति सूत्रभाष्ये तथैव दर्शनात्। अर्घ्य इति। मूल्यं पूजाविधिं वार्हतीत्यर्थः। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। वध्य इति। वधमर्हतीत्यर्थः।

(१७३२) पात्राद् घंश्च। पात्रियः पात्र्य इति। पात्रमर्हतीत्यर्थः।

(१७३३) कडङ्करदक्षिणाच्छ इति। 'कडं मदे' कडनं कडः=मदः। 'घनर्थे कविधानम्' इति कः। खजिति। तथा च 'खित्यनव्ययस्य' इति मुमिति भावः। कडङ्करं च दक्षिणा चेति समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी।

मूलार्थ--इनसे 'यत्' हो। उदा० १-दण्डम् अर्हति-दण्ड्यः। २-अर्घ्यः। ३-वध्यः।

विवरण—'अर्हति' अर्थ का ही विषय है। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'दण्ड' आदि प्रातिपदिकों से 'अर्हति' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है"। यह विधान 'ठक्' का अपवाद है। **उदाहरण**-(१) दण्ड्यः (दण्ड पाने का अधिकारी—दण्डम् अर्हति)—दण्ड्+यत् (=य)। भ-संज्ञा-निमित्तक अन्त्य-वर्ण (=अ) लोप। (२) अर्घ्यः (अर्घ=सम्मान पाने का अधिकारी—अर्घम् अर्हति)-अर्घ्+यत् (=य)। (३) वध्यः। वध करने योग्य व्यक्ति-वधम् अर्हति)-वध्+यत् (=य)।

(१७३२) **पद**—पात्रात्, घन्, च। **अनुवृत्ति**—यत्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'च' के निवेश से 'तदर्हति' अर्थ में यत् भी हो। उदा० (क) पात्रियः—(ख) पात्र्यः।

विवरण—पूर्व विषय का ही सातत्य है। अनुवर्तमान पद सूत्रोक्त शब्दों के साथ अन्वित होकर यह बोध कराते हैं कि "द्वितीयासमर्थ 'पात्र' शब्द से 'घन्' (घ=इय) तथा 'यत्' (=य) प्रत्यय हों"। 'पात्र' शब्द परिमाणवाची भी है, अतः यह विधान 'ठञ्' तथा 'ठक्' दोनों का अपवाद है। **उदाहरण**—१ (क) पात्रियः (पात्र पाने का अधिकारी—पात्रम् अर्हति)—पात्र्+घन् (घ=इय)। (ख) पात्र्यः—पात्र्+यत् (=य)।

(१७३३) **पद**—कडङ्कर-दक्षिणात्, छ, च। **अनुवृत्ति**—यत्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'च' के निवेश से यत् भी। 'कडं करोति' इस विग्रह में निपातन से 'खच्' प्रत्यय होता है। उदा० १-(क) कडङ्करं=माषमुद्गादिकाष्ठम् अर्हति←कडङ्करीयः→गौः। (ख) कडङ्कर्यः। २-क—दक्षिणाम् अर्हति—दक्षिणीयः। ख-दक्षिण्यः।

विवरण—पूर्वोक्त अर्थ का ही सातत्य है। 'छ' लुप्तप्रथमा-विभक्तिक पद है (=छः)। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'कडङ्कर' और 'दक्षिणा' प्रातिपदिकों से 'अर्हति' अर्थ में 'छ' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(१) 'कडङ्कर'=भूसा, उसे खाने वाला बैल-कडङ्करम् अर्हति—(क) कडङ्करीयः गौः→कडङ्कर्+छ (=ईय)। (ख) कडङ्कर्यः←कडङ्कर्+यत् (=य)। **विग्रहार्थ**—कडङ्करम् अर्हति। 'कडङ्कर' शब्द की सिद्धि-कड-√कृ+खच् (=अ) >कडम्-√कृ+अ ('मुम्' आगम निपातन-वश) ▷ कडं-कृ+अ (म्=ं) ▷ कडंकर (धातु सम्बन्धी इगन्त अङ्ग को गुण) > कडङ्कर (परसवर्ण)। **अर्थ**—मूँग-उड़द आदि की सूखी डंठल से बना हुआ भूसा। (२) (क) दक्षिणीयः—दक्षिण्+छ (=ईय तथा 'आ'-लोप)। (ख) दक्षिण्यः—दक्षिण्+यत् (=य तथा 'आ'-लोप)। **अर्थ**—दक्षिणाम् अर्हति।

दक्षिणामर्हतीति दक्षिणीयः—दक्षिण्यः। (१७३४) स्थालीबिलात् ५।१।७०॥ स्थालीबिलमर्हन्ति स्थालीबिलीयास्तण्डुलाः। स्थालीबिल्याः। पाकयोग्या इत्यर्थः। (१७३५) यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ ५।१।७१॥ यथासङ्ख्यं स्तः। यज्ञमृत्विजं वार्हति यज्ञियः, आर्त्विजीनो यजमानः। 'यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीत्युपसङ्ख्यानम्' (वा ३०५२)। यज्ञियो देशः। आर्त्विजीनः ऋत्विक्। इत्यार्हीयाणां ठगादीनां द्वादशानां पूर्णोऽवधिः।

(१७३४) स्थालीबिलात्। छयतावनुर्वर्तेते, तदर्हतीति च।

(१७३५) यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ। तदर्हतीत्यर्थः। यज्ञम् ऋत्विजं वेति। यज्ञमर्हतीति यज्ञियः। ऋत्विजमर्हतीत्यार्त्विजीन इत्यन्वयः। तत्कर्मेति। यज्ञकर्मार्हतीत्यर्थे यज्ञशब्दात् ऋत्विक्कर्मार्हतीत्यर्थे ऋत्विक्छब्दाच्च यथासङ्ख्यं घखञोरुपसङ्ख्यानमित्यर्थः। यज्ञियो देश इति। यज्ञानुष्ठानमर्हतीत्यर्थः। आर्त्विजीन ऋत्विगिति। ऋत्विक्कर्तव्यं कर्मार्हतीत्यर्थः। यद्यपि यज्ञर्त्विक्छब्दयोस्तत्कर्मणि लक्षणया सिध्यति, तथाप्यत्र प्रकरणे मुख्यार्थेभ्य एव प्रत्यय इति ज्ञापनार्थमिदम्। ठगादीनां द्वादशानामिति। 'प्राग्वतेः' इत्यारभ्य 'तेन क्रीतम्' इत्यतः प्राक् त्रयोदश प्रत्ययाः अनुक्रान्ताः। तत्र 'प्राग्वतेः' इति ठञं विना आर्हादित्यादि-विहितानां ठगादीनां द्वादशानां विधिः पूर्ण इत्यर्थः।

इति तद्धिते प्राग्वतीये आर्हीयाणां ठगादीनां द्वादशानां पूर्णोऽवधिः।

(१७३४) पद—स्थालीबिलात्। अनुवृत्ति—छ, यत्, तदर्हति; तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"शीर्षच्छेदाद्यच्च" (५-१-६५) से 'यत्' एवं "कडङ्कराच्छ च" (५-१-६९) से 'छ' की अनुवृत्तियाँ प्रमुख रूप में अनुसरण कर रही हैं। "तदर्हति" का विषय विद्यमान है। अतः "द्वितीया-समर्थ 'स्थालीबिल' प्रातिपदिक से 'अर्हति' अर्थ में 'छ' (=ईय) तथा 'यत्' (=य) प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(क) स्थालीबिलीयाः→तण्डुलाः—'छ' (=ईय) प्रत्यय होने पर। (ख) स्थालीबिल्याः←'यत्' प्रत्यय होने पर। उभयत्र अन्त्यवर्ण-लोप। **अर्थ**—जो चावल पकाने योग्य हों—स्थालीबिलम् अर्हन्ति।

(१७३५) पद—यज्ञर्त्विग्भ्यां घ-खञौ। अनुवृत्ति—तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—यथासंख्य होते हैं। उदा० भी यथाक्रम—१-यज्ञम् अर्हति—यज्ञियः। २-ऋत्विजम् अर्हति—आर्त्विजीनः। वा० 'यज्ञ' और 'ऋत्विज्' शब्दों से 'कर्म करने योग्य' (अर्थ) में प्रत्यय कहे जायँ। उदा० १-यज्ञियः—अर्थात् स्थान। २-आर्त्विजीनः—अर्थात् ऋत्विक्।

'ठक्' आदि 'आर्हीय' १२ प्रत्ययों की अवधि यहाँ समाप्त होती है।

विवरण—यद्यपि अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है। तथापि 'प्राकरणिक अर्थाधिकार' = 'अर्हति' की प्रमुख अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। 'उद्देश्य' एवं 'विधेय'-वाची पदों के समसंख्याक होने से यथासंख्य-परिभाषा के आधार पर उनसे होने वाला विधान भी यथाक्रम होगा। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'यज्ञ' और 'ऋत्विज्' शब्दों से 'अर्हति' अर्थ में क्रमशः 'घ' (=इय) और 'खञ्' (=ईन) प्रत्यय होते हैं।"

अथ ठञधिकारे कालाधिकारप्रकरणम्

अतः परं ठञेव । (१७३६) पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ५ । १ । ७२ ॥
पारायणं वर्तयति पारायणिकश्छात्रः । तुरायणं यज्ञविशेषः । तं वर्तयति तौरायणिको

अथ तद्धिते प्राग्वतीये ठञधिकारे कालाधिकारः निरूप्यते—अतः परं ठञेवेति । आर्हीयेष्वर्थेषु प्राग्वतीयठञपवादा आर्हीयाष्ठगादयः । आर्हीयार्थेषु निरूपितेषु तत ऊर्ध्वं ठगादिप्रत्ययानाम् अनुवृत्तेरसम्भवात् प्राग्वतीयठञेवानुवर्तत इत्यर्थः ।

(१७३६) पारायण । द्वितीयान्तेभ्यः पारायणादिशब्देभ्यः वर्तयतीत्यर्थे ठञ् स्यादित्यर्थः । पारायणं वर्तयतीति । पारायणं वेदाध्ययनं तद्वर्तयति आवर्तयतीत्यर्थः । पारायणिकः छात्र इति । गुरौ त्वध्येतरि नायं प्रत्ययः, अनभिधानादिति भावः । तौरायणिको यजमान इति । ऋत्विजि नायं प्रत्ययः, अनभिधानादिति भावः । चान्द्रायणिक इति । चान्द्रायणं वर्तयतीत्यर्थः । चान्द्रायणं कृच्छ्रविशेषः ।

उदाहरण—(१) यज्ञियः (यज्ञ का अधिकारी ब्राह्मण—यज्ञम् अर्हति)—यज्ञ+घ (=इय) अन्त्यवर्ण-लोप । (२) आर्त्विजीनः (यज्ञ में पुरोहित पाने का अधिकारी =यजमान—ऋत्विजम् अर्हति)—ऋत्विज्+खञ् (ख =ईन) । आदिवृद्धि ।

वार्तिक—सूत्रोक्त शब्दों की समर्थ-विभक्ति के अर्थ का विस्तार करने हेतु वार्तिक-कार का मत है कि यज्ञ और ऋत्विज् शब्दों से कर्म करने योग्य अर्थ में क्रमशः 'घ' और खञ् प्रत्यय हों । तदनुसार यज्ञिय शब्द का अर्थ→यज्ञ करने योग्य स्थान एवं आर्त्विजीनः का अर्थ←यज्ञ में पुरोहित पद पाने का अधिकारी माना जायगा ।

विशेष—'यज्ञ' और 'ऋत्विज्' शब्दों से लक्षणा द्वारा 'कर्म'परक अर्थ का लाभ होने पर उक्त वार्तिक की उपयोगिता नहीं रहती । अतः व्यर्थ होकर यह ज्ञापित होता है कि 'इस प्रकरण में मुख्यार्थों से ही प्रत्यय विहित हैं न कि लक्ष्यार्थ से' ।

स्मरणीय—इस सूत्र के साथ ही 'अर्हति' अर्थ का अधिकार समाप्त होता है, अतः "आर्हाद-गोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्" (५-१-१९) का प्रभाव भी समाप्त जाना जाय । यद्यपि "प्राग्वते-ष्ठञ्" (५-१-१८) से आरम्भ होकर "तेन क्रीतम्" (५-१-३७) सूत्र से पहले १३ प्रत्यय अनुक्रमण करते हैं तथापि "प्राग्वतेष्ठञ्" (५-१-१८) को छोड़कर १२ प्रत्ययों का विधान हुआ है । उनकी अवधि समाप्त होती है । अब केवल 'ठञ्' का अधिकार चलेगा, क्योंकि उसकी अवधि वत्यर्थ के पूर्व तक बतलाई गई है ।

'दीपिका' में 'ठक्'-आदि १२ प्रत्ययों की अवधि पूर्ण हुई ।

उपक्रम—अब प्राग्वतीय 'ठञ्'-अधिकार के अन्तर्गत कालाधिकार-प्रकरण आरम्भ होता है । इस प्रकरण में 'ठञ्' का ही विधान होगा, क्योंकि यह प्रकरण 'प्राग्वतीय' के ही अन्तर्गत है । मध्य में पठित आर्हीय 'ठक्' आदि प्रत्यय तो 'ठञ्' के अपवाद स्वरूप थे । आर्हीय अर्थों के निरूपण होने के अनन्तर 'ठक्' आदि प्रत्ययों की अनुवृत्ति सम्भव न होने से 'ठञ्' का ही आधिकारिक प्रभाव रहेगा ।

(१७३६) पद—पारायण-तुरायण-चान्द्रायणं, वर्तयति । **अनुवृत्ति**—तत, ठञ् , तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ एवं विवरण—समर्थ-विभक्ति-सूचक 'तत' पद अनुवृत्तिलभ्य (५-१-६३) है । प्रत्ययार्थ-सूचक पद सूत्र में निर्दिष्ट है । सबके साथ एकवाक्यता होकर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित

यजमानः । चान्द्रायणिकः । (१७३७) संशयमापन्नः ५ । १ । ७३ ॥ संशयविषयीभूतोऽर्थः सांशयिकः । (१७३८) योजनं गच्छति ५ । १ । ७४ ॥ योजनिकः ।

(१७३७) **संशयमापन्नः** । अस्मिन्नर्थे संशयशब्दात् द्वितीयान्ताट्ठक् स्यादित्यर्थः । अत्र आपन्न इति कर्तरि क्तः । विषयतया प्राप्त इत्यर्थः । उपसर्गवशात् । **संशयविषयीभूतोऽर्थ** इति । तेन समवायेन संशयाधारे सन्देग्धरि नायं प्रत्यय इति भावः । अमरस्तु 'सांशयिकः संशयापन्नमानसः' इत्याह ।

होता है कि "द्वितीया-समर्थ पारायण, तुरायण तथा चान्द्रायण प्रातिपदिकों से 'वर्तयति' (आवृत्ति करता है या बरतता है) अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—(१) **पारायणिकः**[1] छात्रः (गुरु के निरीक्षण में आवृत्ति करने वाला छात्र–पारायणं वर्तयति)—पारायण्+ठञ् (ठ=इक)। (२) **तौरायणिकः**[2] (तुरायण अर्थात् संवत्सर-साध्य इष्टियों को करने वाला यजमान—तुरायणं वर्तयति)–तुरायण्+ठञ् (ठ= इक)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप । (३) **चान्द्रायणिकः**[3] (चान्द्रायण व्रत-विशेष को जो करता है—चान्द्रायणं वर्तयति)—चान्द्रायण्+ठञ् (ठ= इक)।

विशेष—यद्यपि अध्ययन-क्रिया-सम्पादन में 'गुरु' एवं 'छात्र' दोनों ही 'करण' हैं, क्योंकि इन दोनों के बिना अध्ययन-क्रिया सम्पादित नहीं होती। तथापि यहाँ शिष्यार्थ को अभिलक्षित कर ही प्रत्यय होता है, गुरु को अभिलक्षित कर नहीं होता । भाष्यकार ने यही व्यवस्था दी है[4] ।

(१७३७) पद—संशयम्, आपन्नः । **अनुवृत्ति**—तत्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

विवरण—"द्वितीया-समर्थ 'संशय' प्रातिपदिक से 'प्राप्त' (आपन्न) अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। यहाँ पर 'संशय' शब्द का प्रयोग सन्देहकर्ता के बारे में न होकर 'स्थाणु' आदि संशय-विषयीभूत वस्तु के बारे में किया गया है। **उदाहरण—सांशयिकः** (सन्देहास्पद–संशयम्

---

१. प्राचीन काल में वैदिक शाखा-ग्रन्थ कण्ठस्थ किये जाते थे। कण्ठाग्र करने वाले विद्वानों को 'श्रोत्रिय' कहा जाता था। संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि कई प्रकार से वैदिक मन्त्रों का सस्वर आवर्तन करना पारायण कहलाता था। श्रावणी या भाद्रपद पूर्णिमा को उपाकर्म करने के बाद साढ़े चार महीनों तक वेद का पारायण किया जाता था। छात्रावस्था के बाद कभी भी पारायण किया जा सकता है।

२. पौर्णमास इष्टि के आधार पर ही कुछ परिवर्तन कर तुरायण इष्टि सम्पादित होती थी। शाङ्खायन ब्राह्मण में इसे स्वर्गकाम व्यक्ति का यज्ञ कहा है (स एव स्वर्गकामस्य यज्ञः, ४-११)। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार (२४-७।१-८) तुरायण सत्र वैशाख शुक्ल या चैत्र शुक्ल पञ्चमी को आरम्भ कर एक वर्ष चलता था (संवत्सरं यजते)। इसे द्वादशाह की विकृति मानते थे।

३. एक धार्मिक व्रत या प्रायश्चित्तात्मक तपश्चर्या, जो चन्द्रमा की वृद्धि या क्षय से विनियमित है। इस व्रत में दैनिक आहार (जो १५ ग्रास या कौर का होता है) पूर्णिमा से प्रतिदिन एक एक ग्रास घटता रहता है, यहाँ तक कि अमावास्या के दिन नितान्त निराहार व्रत रखा जाता था। उसके पश्चात् फिर शुक्लपक्ष में एक ग्रास से आरम्भ कर पूर्णिमा तक बढ़ा कर १५ ग्रास तक लाया जाता है—

"यथाकथञ्चित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम् ।
मासेनैवोपभुञ्जीत चान्द्रायणमथाऽपरम् ॥" (याज्ञ० स्मृ० ३।३२४)

४. "यः पारायणमधीते स पारायणिक इत्युच्यते, यस्तु तुरायणेन यजते स तौरायणिकः इत्युच्यते। यश्चाधीते यश्च परस्य करोति । उभौ तौ वर्तयतः । यश्च यजते यश्च पुरोडाशान्निर्वर्तयति उभौ तौ वर्तयतः । उभयत्र कस्मान्न भवति ? अनभिधानात् ।

—महाभाष्यम् ।

'क्रोशशतयोजनशतयोरुपसङ्ख्यानम्' (वा ३०५५)। क्रोशशतं गच्छति क्रौशशतिकः। यौजनशतिकः। 'ततोऽभिगमनमर्हतीति च वक्तव्यम्' (वा ३०५६)। क्रोशशतादभिगमनमर्हतीति— क्रौशशतिको भिक्षुः। यौजनशतिक आचार्यः। (१७३९) पथः ष्कन् ५।१।७५॥ षो ङीषर्थः। पन्थानं गच्छति-पथिकः। पथिकी। (१७४०) पन्थो ण नित्यम् ५।१।७६॥ पन्थानं नित्यं गच्छति—पान्थः-पान्था। (१७४१) उत्तर-

(१७३८) योजनं गच्छति। द्वितीयान्ताद्योजनशब्दात् गच्छतीत्यर्थे ठञ् स्यादित्यर्थः। क्रोशशतेति। आभ्यामपि द्वितीयान्ताभ्यां गच्छतीत्यर्थे ठञ् उपसङ्ख्यानमित्यर्थः। क्रोशशतादिति। ल्यब्लोपे पञ्चमी। कोशशतमतीत्येत्यर्थः।

(१७३९) पथः ष्कन्। पथः ष्कन् इति छेदः। द्वितीयान्तात् पथिन्शब्दात् गच्छतीत्यर्थे ष्कन् स्यादित्यर्थः।

(१७४०) पन्थो ण नित्यम्। पथ इत्यनुवर्तते गच्छतीति च। नित्यमिति गच्छतीत्यत्रान्वितं प्रत्ययार्थं प्रविष्टमेव न तु विधानान्वितं सत् महाविभाषानिवृत्यर्थम्। द्वितीयान्तात्

आपन्नः)—संशय् + ठञ् (ठ = इक)। आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत्। इस प्रकार जिस 'स्थाणु' को देखकर कोई सन्देह में पड़ जाय—अर्थात् यह 'ठूंठ' है या पुरुष, ऐसी स्थिति में वह स्थाणु सांशयिक कहलायेगा। अमरकोषकार ने तो सन्देह का विषय या सन्देहाश्रय को 'सांशयिक' कहा है—"संशयापन्नमानसः सांशयिकः"।

(१७३८) पद—योजनं, गच्छति। **अनुवृत्ति**—तत्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"द्वितीया-समर्थ 'योजन' प्रातिपदिक से 'जाता है' (गच्छति) अर्थ में 'ठञ्' (ठ = इक) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण—यौजनिकः** (चार कोस जाने वाला—योजनं गच्छति)—योजन् + ठञ् (ठ = इक)। इस शब्द के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों से भी 'ठञ्' विधान हेतु दो **वार्तिक** प्रस्तुत किये जा रहे हैं। वार्तिककार का कथन है कि—

(१) इस सन्दर्भ में 'द्वितीयान्त **क्रोशशत** एवं **योजनशत** शब्दों से भी 'जाता है' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय कहा जाय'। **उदाहरण**—(१) **क्रौशशतिकः** (सौ कोस जाने वाला भिक्षु—क्रोशशतं गच्छति)—क्रोशशत् + ठञ्। (२) **यौजनशतिकः** (चार सौ कोस जाने वाला—योजनशतं गच्छति)—योजनशत् + ठञ्। तथा (२) **पञ्चम्यन्त** ('ततः') **क्रोशशत एवं योजनशत** शब्दों से **बुलानेयोग्य अर्थ** (अभिगमनम् अर्हति) में भी 'ठञ्' होता है'। **उदाहरण**—(१) **क्रौशशतिकः** भिक्षुः (सौ कोस से बुलाने योग्य भिक्षु—क्रोशशतात् अभिगमनम् अर्हति)। (२) **यौजनशतिकः** आचार्यः (चार सौ कोस से बुलाने योग्य आचार्य—योजनशतात् अभिगमनम् अर्हति)। प्रक्रिया पूर्ववत्।

(१७३९) पद—पथः, ष्कन्। **अनुवृत्ति**—गच्छति, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"द्वितीया-समर्थ 'पथिन्' प्रातिपदिक से 'गच्छति' अर्थ में 'ष्कन्' प्रत्यय होता है"। 'ठञ्' का अपवाद है। 'ष्' इत् होने से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' होगा। **उदाहरण**—(क) **पथिकः** (रास्ता चलने वाला—पन्थानं गच्छति)—पथिन् + ष्कन् (= क)। 'न्' का लोप। (ख) स्त्रीलिङ्ग में (रास्ता चलने वाली) **पथिकी** (ङीष्)।

(१७४०) पद—पन्थः, ण, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—पथः, गच्छति, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

विवरण—सूत्र में 'ण' पद लुप्तप्रथमान्त निर्देश है। स्थानिवाचक 'पथः' पद पूर्व सूत्र

पथेनाहृतं च ५ । १ । ७७ ॥ उत्तरपथेनाहृतमौत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन गच्छति—औत्तरपथिकः । 'आहृतप्रकरणे वारिजङ्गलस्थलकालान्तरपूर्वादुपसङ्ख्यानम्' (वा २०५७) । वारिपथिकम् । **(१७४२) कालात् ५।१।७८ ॥** 'व्युष्टादिभ्योऽण्' (सू १७६१) इत्यतः प्रागधिकारोऽयम् । **(१७४३) तेन निर्वृत्तम् ५ । १ । ७९ ॥** अह्ना निर्वृत्तम् 'आह्निकम्' ।

पथिन्शब्दात् नित्यं गच्छतीत्यर्थे णप्रत्ययः स्यात् प्रकृतेः पन्थादेशश्चेत्यर्थः । भाष्ये तु नित्यग्रहणं प्रत्याख्यातम् ।

(१७४१) उत्तरपथेनाहृतं च । उत्तरपथशब्दात् तृतीयान्वात् आहृतमित्यर्थे गच्छतीत्यर्थे च ठञ् स्यादित्यर्थः । वारिजङ्गलेति । वारि, जङ्गल, स्थल, कान्वार एतत्पूर्वात् पथिन्शब्दात् तृतीयान्ताद् आहृतमिति गच्छतीति चार्थे ठञित्यर्थः । वारिपथेन गच्छति आहृतं वेत्यर्थः । जाङ्गलपथिकः, स्थालपथिकः, कान्तारपथिकः ।

(१७४२) कालात् । इत्यतः प्रागिति । व्याख्यानादिति भावः ।

(१७४३) तेन निर्वृत्तम् । तृतीयान्तान्निर्वृत्तमित्यर्थे ठञ् स्यादित्यर्थः । आह्निकमिति । 'अह्नष्टखोरेव' इति नियमान्न टिलोपः ।

(५-१-७४) से अनुवृत्ति-लभ्य है । 'नित्य' पद भी अनुवर्तमान है । तदनुसार "'नित्य जाता है' अर्थ में द्वितीयान्त 'पथिन्' प्रातिपदिक के स्थान में 'पन्थ' आदेश तथा 'ण' प्रत्यय होते हैं" । उदाहरण—(क) पान्थः (सदा रास्ता चलने वाला—पन्थानं नित्यं गच्छति)—पथिन्+ण (=अ) ▷पान्थ्+अ (पथिन्='पन्थ' आदेश) । (ख) स्त्रीलिङ्ग में—**पान्था** (टाप्) । शेष पूर्ववत् ।

(१७४१) पद—उत्तरपथेन, आहृतं, च । **अनुवृत्ति**—गच्छति, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'गच्छति' अर्थ को भी लिया गया है । अतः "तृतीया-समर्थ 'उत्तरपथ' प्रातिपदिक से 'लाया हुआ' (आहृतम्) तथा (च) 'गच्छति' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है" । तृतीयान्त निर्देश-'उत्तरपथेन'-से ही यहाँ तृतीया-समर्थ विभक्ति का ग्रहण किया जाता है । दोनों अर्थों में क्रमशः उदाहरण—(क) **औत्तरपथिकम्** (उत्तर पथ से लाया गया—उत्तरपथेन आहृतम्) । (ख) **औत्तरपथिकः** (उत्तर पथ से जाने वाला—उत्तरपथात् गच्छति) । उभयत्र ठ=इक, आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप तथा विभक्तिकार्य ।

प्रकृत सन्दर्भ में वार्तिककार कुछ अन्य शब्दों से भी 'ठञ्' प्रत्यय संयुक्त करने की व्यवस्था दे रहे हैं । तदनुसार "तृतीयान्त-वारिपूर्वक, जङ्गलपूर्वक तथा कान्तापूर्वक-'पथिन्' शब्द से भी 'ठञ्' प्रत्यय होता है' । क्रमशः उदाहरण—(१) **वारिपथिकम्** (जलमार्ग से लाया गया—वारिपथेन आहृतम्)—वारिपथ+ठञ् (ठ=इक) । 'वारिपथ' शब्द समासान्त—'टच्' प्रत्यययुक्त है । (२) **जाङ्गलपथिकम्** (जंगल के रास्ते से लाया हुआ—जङ्गलपथेन आहृतम्) तथा **काननपथिकम्** (जङ्गल के रास्ते से लाया हुआ—काननपथेन आहृतम्) । प्रक्रिया आदि पूर्ववत् ।

(१७४२) पद—कालात् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—'व्युष्टादिभ्योऽण्' (सू० १७६१) से पूर्व तक इसका अधिकार है ।

विवरण—यह अधिकार सूत्र है । इसकी सीमा "व्युष्टादिभ्योऽण्" (५-१-९७) से पूर्व तक है । अर्थात् "तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः" (५-१-९६) सूत्र पर्यन्त कहे गए प्रत्यय 'कालवाची' शब्दों से हुआ करेंगे ।

(१७४३) पद—तेन, निर्वृत्तम् । **अनुवृत्ति**—कालात्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

(१७४४) तमधीष्टो भृतो भूतो भावी ५ । १ । ८० ॥ अधीष्टः सत्कृत्य व्यापारितः। भृतो वेतनेन क्रीतः। भूतः स्वसत्तया व्याप्तकालः। भावी तादृशः एवानागतकालः। मासमधीष्टो मासिकोऽध्यापकः। मासं भृतः मासिकः कर्मकरः। मासं भूतो मासिको व्याधिः। मासं भावी मासिक उत्सवः। **(१७४५) मासाद्वयसि यत्खञौ ५ । १ । ८१ ॥** मासं

(१७४४) तमधीष्टो । द्वितीयान्तात् अधीष्टादिष्वर्थेषु ठञ् स्यादित्यर्थः। व्यापारित इति। प्रेरित इत्यर्थः। तादृश एवेति। स्वसत्तया व्याप्यमानकाल इत्यर्थः। मासमधीष्ट इत्यादौ 'कालाध्वनोः' इति द्वितीया।

(१७४५) मासाद्वयसि । अत्र 'भूत इत्येवानुवर्तते' व्याख्यानात्। मासशब्दात् द्वितीयान्तात् भूत इत्यर्थे यत्खञौ स्तः वयसि गम्ये इत्यर्थः।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र में वर्णित अधिकार के अन्तर्गत स्थल-निर्देश किये जा रहे हैं। प्रत्ययाधिकार ('ठञ्') एवं शब्दस्वरूपाधिकार ('कालात्') का लाभ अनुवृत्तिवश होता है। सूत्रस्थ 'निर्वृत्तम्' पद प्रत्ययार्थ का निर्देशक है एवं 'तेन' पद 'समर्थ-विभक्ति' का सूचक है। तदनुसार "तृतीया-समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से 'सिद्ध हुआ' (निर्वृत्तम्) अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—आह्निकम् (एक दिन में समाप्त किया जाने वाला—अह्ना निर्वृत्तम्)। अह्न्+ठञ् (ठ = इक) > अह्न्+इक ('अ' का लोप--"अल्लोपोऽनः" ६-४-१३४) > आह्निकम् (आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य)।

स्मरणीय—यहाँ पर "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से प्राप्त 'टि'लोप का 'ट' और 'ख' प्रत्ययों में ही "अह्नष्टखोरेव" (६-४-१४५) द्वारा नियमन किये जाने से तदतिरिक्त प्रत्ययों में नहीं होता।

(१७४४) पद—तम्, अधीष्टः, भृतः, भूतः, भावी। **अनुवृत्ति**—कालात्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—कालवाची शब्दों का ही विषय है। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ (तम्) 'कालवाची' प्रातिपदिकों से ("कालात्" की आधिकारिक अनुवृत्ति) 'अधीष्ट' (अधीष्टः), 'भृत' (भृतः), 'भूत' (भूतः) तथा 'भविष्यत्' (भावी) अर्थों में यथाविहित 'ठञ्' प्रत्यय होता है" अधीष्ट शब्द का अर्थ—सत्कार पूर्वक कार्य में नियोजित करना। भृत से तात्पर्य है—'वेतन' आदि देकर खरीदा हुआ। स्वसत्ता द्वारा व्याप्त काल (बीता हुआ समय) को भूत कहा गया है। आने वाला समय भावी कहा जाता है। क्रमशः इन अर्थों में **उदाहरण**—मासिकः—(अध्यापकः—कर्मकरः—व्याधिः उत्सवः वा। **अर्थ**—महीने भर—के लिये अवैतनिक अध्यापक, मजदूरी पर नियुक्त किया गया मजदूर, उत्पन्न रोग, होने वाला उत्सव। **विग्रह**—मासम् अधीष्टः-भृतः—भूतः—भावी वा। 'मासम्' में द्वितीया—"कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (२-३-५)।

(१७४५) पद—मासात्, वयसि, यत्-खञौ। **अनुवृत्ति**—भूतः, कालात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'योग्यता-वश केवल 'भूतः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। कालवाची शब्दों का ही विषय चल रहा है ("कालात्" ५-१-७८)। सब के साथ एकवाक्यता होकर सूत्र का यह अर्थ होगा कि "द्वितीयान्त कालवाची 'मास' शब्द से अवस्था (वयसि) गम्यमान हो तो 'भूत' अर्थ में 'यत्' और 'खञ्' प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—मास्यः→मास्+यत् (य) होने पर। मासीनः←'खञ्' (मास्+ख = ईन) होने पर) **अर्थ**—महीने भर का बच्चा—मासं भूतः।

भूतो मास्यः—मासीनः । (१७४६) द्विगोर्यप् ५ । १ । ८२ ॥ मासाद्वयसीत्यनुवर्तते । द्वौ मासौ भूतो द्विमास्यः । (१७४७) षण्मासाण्ण्यच्च ५ । १ । ८३ ॥ वयसि इत्येव । यबप्यनुवर्तते चाट्ठञ् । षण्मास्यः—षाण्मास्यः—षाण्मासिकः । (१७४८) अवयसि ठंश्च ५ । १ । ८४ ॥ चाण्ण्यत् । षण्मासिको व्याधिः—षाण्मास्यः । (१७४९) समायाः खः

(१७४६) द्विगोर्यप् । अनुवर्तत इति । मासान्ताद् द्विगोर्भूत इत्यर्थे यप् स्याद्वयसि गम्ये इत्यर्थः ।

(१७४७) षण्मासाण्ण्यच्च । वयसीत्येवेति । षण्मासशब्दात् भूत इत्यर्थे ण्यच्च स्याद्वयसि गम्ये इत्यर्थः । अत्र चकारात्सन्निहितस्य यपोऽनुकर्षणे ण्यद्यपावेव स्याताम्, न तु ठञपि । इष्यते तु ठञपि । तत्राह—यबप्यनुवर्तते इति । स्वरितत्वादिति भावः । तर्हि चकारः किमर्थ इत्यत आह—चाट्ठञिति । तथा च ण्यत् यप् ठञिति त्रयः प्रत्ययाः फलिताः ।

(१७४८) अवयसि ठंश्च । षण्मासशब्दात् द्वितीयान्तात् भूते अवयसि ठन् च स्यादित्यर्थः ।

(१७४६) पद—द्विगोः, यप् । अनुवृत्ति—मासाद्वयसि, भूतः, कालात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'मासाद्वयसि' अंश अनुवर्तमान है । उदा० द्वौ मासौ भूतः—द्विमास्यः ।

विवरण—प्रायः पूर्व सूत्र का ही विषय है । यहाँ 'द्विगु'-समासान्त मास शब्द अपेक्षित है । तदनुसार प्रत्यय की भिन्नता बतलाई जा रही है । अतः "द्वितीया-समर्थ 'द्विगु'-संज्ञक (द्विगोः) मासान्त प्रातिपदिक से (मासात्) 'वय' अभिधेय (वयसि) हो तो 'भूत' अर्थ में 'यप्' (=य) प्रत्यय होता है" । यहाँ भी केवल 'भूत' अर्थ का ही सम्बन्ध है । **उदाहरण**—द्विमास्यः (दो महीने का—द्वौ मासौ भूतः)—द्विमास्+यप् (य) ।

(१७४७) पद—षण्मासात्, ण्यत्, च । अनुवृत्ति-यप्, वयसि, भूतः, कालात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'वयस्' अर्थ में ही (हो) । 'यप्' की भी अनुवृत्ति है । 'च' के निवेश से 'ठञ्' (भी) । उदा० षण्मास्यः—षाण्मास्यः—षाण्मासिकः ।

विवरण—"द्वितीयान्त 'षण्मास' प्रातिपदिक से वय अभिधेय होने पर 'भूत' अर्थ में 'ण्यत्' (=य) तथा 'यप्' (=य) प्रत्यय होते हैं । 'च'कार के निवेश से औत्सर्गिक 'ठञ्' भी होगा" । इस प्रकार तीन रूप बनेंगे । **उदाहरण**—(क) षाण्मास्यः→षण्मास्+ण्यत् (=य) । आदिवृद्धि, अन्त्यलोप । (ख) षण्मास्यः←षण्मास+यप् (=य) । निमित्ताभाव के कारण वृद्धि नहीं । अन्त्यवर्णलोप । (ग) षाण्मासिकः→षण्मास्+ठञ् (इक) । आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण-लोप । **अर्थ**—छह महीने का—षट् मासान् भूतः ।

(१७४८) पद—अवयसि, ठन्, च । अनुवृत्ति—षण्मासाण्ण्यत्, भूतः, कालात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'च' के कारण 'ण्यत्' भी । उदा० षण्मासिकः षाण्मास्यः वा व्याधिः ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है । उसकी सम्पूर्ण अनुवृत्ति अपेक्षित है । अन्य प्रत्यय की अपेक्षा तथा वय अभिधेय न होने से पृथक् सूत्र की चारितार्थता है । तदनुसार "द्वितीयान्त 'षण्मास' प्रातिपदिक से 'वय' अभिधेय न होने पर (अवयसि) भूत अर्थ में 'ठन्' तथा 'ण्यत्' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(क) षण्मासिकः व्याधिः→षण्मास्+ठन् (ठ=इक) । निमित्ताभाव के कारण

५।१।८५ ॥ समामधीष्टो भृतो भूतो भावी वा–समीनः। (१७५०) द्विगोर्वा ५।१।८६॥ समायाः खः इत्येव। 'तेन परिजय्य–' (१७५७) इत्यतः प्राङ्निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु प्रत्ययाः। द्विसमीनः–द्वैसमिकः। (१७५१) रात्र्यहः संवत्सराच्च ५।१।८७॥

(१७४९) समायाः खः। मण्डूकप्लुत्या 'तमधीष्टो भृतो भूतो भावी' इति कृत्स्नमेव सूत्रमनुवर्तते। समाशब्दाद् द्वितीयान्तात् अधीष्टादिष्वर्थेषु खः स्यादित्यर्थः।

(१७५०) द्विगोर्वा। समायाः ख इत्येवेति। तथा च समान्तात् द्विगोर्द्वितीयान्वात् खो वा स्यात्। पक्षे ठञिति फलितम्। 'अप्सुमनःसमासिकतावर्षाणां बहुत्वं च' इति लिङ्गानुशासनसूत्रम्। 'हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः। 'समां समां विजायते' इति सूत्रादेकवचनमप्यस्ति। पञ्चस्विति। तेन निर्वृत्तम् तमधीष्टो भृवो भूतो भावीति पञ्चस्वित्यर्थः। एषां यथायोगमन्वयः। द्वैसमिक इति। खाभावे प्राग्वतीयष्ठञ्।

वृद्धि नहीं। अन्त्यवर्ण-लोप। (ख) षाण्मास्यः व्याधिः←षण्मास्+ण्यत् (=य)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। अर्थ—छह महीने का रोग—षण्मासः भूतः।

विशेष—संस्कृत भाषा में 'वयस्' शब्द प्राणियों के जन्मोत्तर व्यतीत काल का ही वाचक है। अतः रोगोत्पत्ति का उत्तर काल 'अवयस्' (वय से भिन्न) है।

(१७४९) पद—समायाः, खः। **अनुवृत्ति**—तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

विवरण—यहाँ मण्डूकप्लुति से "तमधीष्टो भृतो भूतो भावी" (५-१-८०) पूरा सूत्र अनुवर्तमान है। अतः उसके साथ सूत्र की एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि "द्वितीया-समर्थ 'समा' प्रातिपदिक से 'अधीष्ट', 'भृत', 'भूत' तथा 'भावी' अर्थों में 'ख' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—**समीनः** (साल भर के लिये सादर नियुक्त या वेतन आदि पर नियुक्त रहने वाला—समाम् अधीष्टः, भृतः, भूतः, भावी वा)—समा+ख (ईन)। अन्त्यवर्ण='आ' का लोप।

विशेष—किन्हीं विद्वानों के मत से इस प्रकरण में इन चार अर्थों के अतिरिक्त "तेन निर्वृत्तम्" (५-१-७९) का भी अधिकार है। तदनुसार 'समया निर्वृत्तः'=समीनः भी हो सकेगा। वस्तुतः यह प्रयोगाधीन विषय है।

(१७५०) पद—द्विगोः, वा। **अनुवृत्ति**—समायाः खः, तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'समा' से ही 'ख' हो। 'तेन परिजय्य' (सू० १७५७) सूत्र के पूर्व निर्वृत्तादि पाँच अर्थों में 'प्रत्यय' होते हैं। उदा० द्विसमीनः—द्वैसामिकः।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है। अतः "समायाः खः" (५-१-८५)—पूरे सूत्र की अनुवृत्ति है। समर्थ-विभक्ति एवम् प्रत्ययार्थ के लिये "तमधीष्टो भृतो भूतो भावी" (५-१-८०) सूत्र भी प्रभावी है। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'समा'-शब्दान्त 'द्विगु'संज्ञक प्रातिपदिक से 'अधीष्ट' आदि अर्थों में वैकल्पिक 'ख' प्रत्यय होता है। पक्ष में औत्सर्गिक 'ठञ्' भी होगा"। **उदाहरण**—**द्विसमीनः**→(क) द्विसमा+ख (=ईन)। (ख) **द्वैसमिकः**←द्विसमा+ठञ् (ठ=इक)। **अर्थ**—दो वर्ष के लिये नियुक्त आदि—द्वे समे भृतः इत्यादि। द्विसमा शब्द संख्यापूर्वक होने से 'द्विगु'-संज्ञक हैं।

विशेष—(१) यद्यपि 'समा' शब्द पाणिनि के "अप्-सुमनः-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं च"—इस लिङ्गानुशासन सूत्र के अनुसार तथा "हायनोऽस्त्री शरत्समाः" (अ० को० १-४-२०) अमरकोष के अनुसार बहुवचनान्त है, तथापि पाणिनि ने "समां समां विजायते" (५-२-१२) सूत्र में एकवचन का भी प्रयोग किया है। अतः एकवचनान्त भी है।

द्विगोः इत्येव । द्विरात्रीणः-द्वैरात्रिकः । द्व्यहीनः-द्वैयह्निकः । समासान्तविधेरनित्यत्वान्न टच् । द्विसंवत्सरीणः । (१७५२) सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च ७ । ३ । १५ ॥

(१७५१) रात्र्यहः । द्विगोरित्येवेति । रात्रि, अहन्, संवत्सर एतदन्तात् द्विगोर्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु खो वा स्यादित्यर्थः । पक्षे ठञ् । द्विरात्रीण इति । द्वाभ्यां रात्रिभ्यां निर्वृत्तः, द्वे रात्री अधीष्टो भृतो भूतो भावी वेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि यथायोगं ज्ञेयम् । द्व्यहीन इति । द्वाभ्याम् अहोभ्यां निर्वृत्तः, द्वे अहनी अधीष्ट इत्यादिष्वर्थेषु 'तद्धितार्थ' इति द्विगोः खः, 'अह्नष्टखोः' इति टिलोपः । समाहारद्विगोस्तु न खः, टचि कृते अहन्शब्दाभावात् । द्वैयह्निक इति । 'अह्नष्टखोरेव' इति नियमात् न टिलोपः । किन्त्वल्लोपः, अह्नादेशो वा । 'न य्वाभ्याम्' इत्यैच् । ननु द्व्यहीन इत्यत्र 'तद्धितार्थे' इति द्विगुसमासे कृते 'रात्र्यहः संवत्सराच्च' इति खं बाधित्वा परत्वात् 'राजाहः सखिभ्यः' इति टचि 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' इत्यह्नादेशे तस्य स्थानिवत्त्वेनाहन्-शब्दत्वेऽपि टजन्तस्य तदभावात् 'रात्र्यहः संवत्सराच्च' इति खप्रत्ययो न स्यात् । कृतेऽपि खप्रत्यये द्व्यह्नीन इति स्यादित्यत आह—समासान्तविधेरनित्यत्वान्न टजिति । एवं च टजभावे सति नाह्नादेशः, समासान्ते पर एव तद्विधानादिति भावः । 'समासान्तविधिरनित्यः' इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीये पादे 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । अथ संवत्सरान्तस्य खे उदाहरति—द्विसंवत्सरीण इति । ठञि त्वादिवृद्धौ प्राप्तायाम्—

(२) पहले यह सूचित किया जा चुका है कि "तेन परिजय्यलभ्यकार्यसुकरम्" (५-१-९३) सूत्र के पहले तक 'निर्वृत्तम्' अर्थ भी गृहीत है।

(१७५१) पद—रात्र्यहःसंवत्सरात्, च । अनुवृत्ति—द्विगोर्वा, खः, कालात्, तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र।

मूलार्थ—'द्विगु' से ही (हो) । उदा० १-द्विरात्रीणः—द्वैरात्रिकः । २-द्व्यहीनः-द्वैयह्निकः । समासान्त-विधि की अनित्यता से 'टच्' नहीं होता । ३-द्विसंवत्सरीणः ।

विवरण—"द्वितीया-समर्थ 'रात्रि', 'अहन्' एवं 'संवत्सर'-शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से भी निर्वृत्त तथा अधीष्टादि अर्थों में विकल्प से 'ख' प्रत्यय होता है" । पक्ष में औत्सर्गिक 'ठञ्' भी होगा। क्रमशः उदाहरण—(१) (क) द्विरात्रीणः→द्विरात्र्+ख (=ईन) । (ख) द्वैरात्रिकः←द्विरात्र्+ठञ् (ठ=इक) । अर्थ—दो रात के लिये नियुक्त आदि—द्वाभ्यां रात्रिभ्यां निर्वृत्तः, द्वे रात्री अधीष्टः आदि । (२) (क) द्व्यहीनः (द्व्यहन्+ख=ईन, 'टि'=अन्-लोप (ख) द्वैयह्निकः (दो दिन के लिये नियुक्त—द्वे अहनी अधीष्टः)—द्व्यहन्+ठञ् (ठ=इक) > द्व्यह्न्+इक ("नस्तद्धिते" ६-४-१४४ से प्राप्त 'टि' का लोप नहीं हुआ—"अह्नष्टखोरेव" ६-४-१४५, अतः 'अ' का लोप अथवा 'अह्न' आदेश) > द्वैयह्निकः ('ऐच्' आगम) । (३) द्विसंवत्सरीणः (दो वर्ष के लिए नियुक्त आदि—द्वौ संवत्सरौ अधीष्टः आदि)—द्विसंवत्सर्+ख (=ईन) अन्त्यवर्ण-लोप एवं णत्व । 'ठञ्' प्रत्यय आने पर प्राप्त आदिवृद्धि के निषेधार्थ आगे सूत्र उद्धृत किया जा रहा है।

यहाँ यह शङ्का उपस्थित होती है कि तद्धितार्थ में 'द्विगु' समास होने पर "रात्र्यहः संवत्सराच्च" (५-१-८७) से प्राप्त 'ख' प्रत्यय को बाधकर पर होने से "राजाहःसखिभ्यष्टच्" (५-४-९१) से 'टच्' करने पर होने वाले 'अह्न' आदेश को स्थानिवद्भाव से 'अहन्' 'बुद्धि' का आश्रयण लेने पर भी 'टच्' प्रत्ययान्त में उसके न होने से "रात्र्यहः" सूत्र से 'ख' प्रत्यय नहीं होगा । 'ख' प्रत्यय करने पर भी 'द्व्यह्नीनः' ही निष्पन्न होगा । अतः यह कहा गया है कि

सङ्ख्याया उत्तरपदस्य वृद्धिः स्यात् ञिदादौ। द्विसांवत्सरिकः। द्वे षष्टीभूतो द्विषाष्टिकः। परिमाणान्तस्येत्येव सिद्धे संवत्सरग्रहणं परिमाणग्रहणे कालपरिमाणस्याग्रहणार्थम्। तेन द्वैसमिक इत्युत्तरपदवृद्धिर्न। (१७५३) वर्षाल्लुक्च ५।१।८८॥ वर्षशब्दान्ताद् द्विगोर्वा खः। पक्षे ठञ् वा च लुक्। त्रीणि रूपाणि। द्विवर्षीणो व्याधिः। द्विवर्षः।

(१७५२) सङ्ख्यायाः संवत्सर। आदिवृद्धिप्रकरणे उत्तरपदस्येत्यधिकारे इदं सूत्रम्। संवत्सरश्च सङ्ख्या चेति समाहारद्वन्द्वात् सङ्ख्याया उत्तरपदस्येति। सङ्ख्यायाः परस्य संवत्सरसङ्ख्यस्योत्तरपदस्येत्यर्थः। नन्वत्र संवत्सरग्रहणं व्यर्थम्। संवत्सरस्य द्वादशमासपरिमाणतया 'परिमाणान्तस्यासञ्ज्ञशाणयोः' इत्येव सिद्धेरित्यत आह—परिमाणान्तस्येत्येवेति।

(१७५३) वर्षाल्लुक् च। वा च लुगिति। खठञोरिति शेषः। द्विवर्षीण इति। खे रूपम्। द्विवर्ष इति। खठञोर्लुकि रूपम्।

समासान्तविधि के अनित्य होने से 'टच्' नहीं होगा। इस प्रकार 'टच्' के अभाव में 'अह्न' आदेश की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(१७५२) पद—संख्यायाः, संवत्सर-संख्यस्य, च। अनुवृत्ति—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'ञित्' आदि के पर रहते हुए संख्यावाची उत्तरपद को वृद्धि होती है। उदा० (क) द्विसांवत्सरिकः। (ख) द्वे षष्टी भृतः—द्विषाष्टिकः। 'संख्यायाः परिमाणान्तस्य' कहने पर भी इष्टसिद्धि होने पर पुनरपि 'संवत्सर' ग्रहण करने से ज्ञापित होता है कि परिमाण से कालरूप-परिमाण का ग्रहण नहीं होता है। अतः 'द्वैसमिकः' में उत्तरपदवृद्धि नहीं हुई।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। सप्तमाध्यायस्थ तृतीय पाद के आदिवृद्धि प्रकरणस्थ उत्तर-पदाधिकार में यह सूत्र पढ़ा गया है। इस प्रकार उस प्रकरण की उल्लिखित अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "संख्यावाची शब्द से उत्तरवर्ती 'संवत्सर' शब्द तथा संख्यावाची शब्दों के अचों में, ञित्, णित्, कित् तद्धित के परवर्ती होने पर, आदि 'अच्' को वृद्धि हो"। पूर्वसूत्र (१७५१) का उदाहरण—(२) द्विसांवत्सरिकः—(द्वयोः संवत्सरयोः भृतः आदि)—द्विसंवत्सर+ठञ् (=इक) > द्वि-सांवत्सरिकः (उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि)। इसी प्रकार द्विषाष्टिकः (एक सौ बीस वर्षों के लिये नियुक्त आदि—द्वे षष्टी भृतः आदि—द्विषष्टि+ठञ्) में भी उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि होती है।

विशेष—'संवत्सर' शब्द बारह महीनों की समष्टि (परिमाणात्मक) का सूचक है। अतः प्रकृत सूत्र में 'संवत्सर' ग्रहण न करने पर भी "परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः" (७-३-१७) सूत्र से ही इष्टसिद्धि संभव रही। इस प्रकार 'संवत्सर' ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि इस सूत्र में 'संवत्सर' ग्रहण किये जाने से कालवाचकों का परिमाणरूप में ग्रहण नहीं होता। इसके फलस्वरूप द्वैसमिकः में उत्तरपद-वृद्धि नहीं हुई, किन्तु आदिवृद्धि ही हुई। एवं 'द्विवर्षा' में "अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्योऽन्यतरस्याम्" (४-१-२२) से 'ङीप्' का निषेध हो गया।

(१७५३) पद—वर्षात्, लुक्, च। अनुवृत्ति—द्विगोर्वा, खः, कालात्, तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'वर्ष'-शब्दान्त 'द्विगु' से विकल्प से 'ख' प्रत्यय हो। पक्ष में 'ठञ्' तथा उसका भी विकल्प से 'लुक्' होगा। इस तरह तीन रूप होंगे—१-द्विवर्षीणः—व्याधिः। २-द्विवार्षिकः। ३-द्विवर्षः।

(१७५४) **वर्षस्याभविष्यति ७ । ३ । १६ ॥** उत्तरपदस्य वृद्धिः स्यात् । द्विवार्षिकः । भविष्यति तु द्वैवर्षिकः । अधीष्टभृतयोरभविष्यतीति प्रतिषेधो न । गम्यते हि तत्र भविष्यत्ता, न तु तद्धितार्थः । द्वे वर्षे अधीष्टो भृतो वा कर्म करिष्यतीति द्विवार्षिको

ठञि आदिवृद्धौ प्राप्तायाम्—(१७५४) वर्षस्याभविष्यति । आदिवृद्धिप्रकरणे उत्तरपदस्येत्यधिकारे इदं सूत्रम् । शेषपूरणेन तद्व्याचष्टे—उत्तरपदस्य वृद्धिः स्यादिति । अभविष्यति यो ञिदादिः तस्मिन्परे इत्यर्थः । निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु भविष्यदर्थं वर्जयित्वा तदितरेषु चतुर्ष्वर्थेषु यस्तद्धितः तस्मिन् परे इति यावत् । द्विवार्षिक इति । द्वाभ्यां वर्षाभ्यां निर्वृत्तः, द्वे वर्षे अधीष्टः भृतः भूतो वेत्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । द्वैवर्षिक इति । व्याधिरिति शेषः । चित्तवति नित्यलुको वक्ष्यमाणत्वात् । नन्वेवं सति द्वे वर्षे अधीष्टो भृतो भूतो वा कर्म करिष्यति द्विवार्षिक इत्यत्र कथमुत्तरपदवृद्धिः । भविष्यत्वस्य प्रतीतेरित्याशङ्क्याह—अधीष्टभृतयोरभविष्यतीति प्रतिषेधो नेति । कुत

विवरण—'कालात्' अधिकार के अन्तर्गत 'वर्ष' शब्दान्त द्विगुसंज्ञक शब्दों का ही यह विषय है। अतः "द्विगोर्वा" (५-१-८६) सूत्र का प्रभाव पूर्ण रूप से विद्यमान है। प्रत्यय के अधीष्टादि अर्थ भी अनुसरण कर रहे हैं। सबके साथ एकवाक्यता होने पर सूत्र का यह अर्थ होगा कि "द्वितीया-समर्थ 'वर्ष'-शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से अधीष्टादि अर्थों में विकल्प से 'ख' प्रत्यय तथा उसके न होने पर औत्सर्गिक 'ठञ्' का विकल्प से लोप हो"। 'लुक्' न होने पर यथाप्राप्त 'ठञ्' प्रत्यय भी होगा। तदनुसार तीन रूप बनेंगे—(१) "ख" = ईन होने पर—**द्विवर्षीणः** व्याधिः (द्विवर्ष+ईन) । (२) 'ठञ्' का लुक् होने पर—**द्विवर्षः** (द्विवर्ष+ठञ् तथा लुक्)। (३) 'ठञ्' होने पर—**द्विवार्षिकः** (द्विवर्ष+ठञ्—ठ = इक)। आदिवृद्धि प्राप्त होने पर उसके अपवादस्वरूप उत्तरपदवृद्धि हुई है। उसे आगे बतलाया जारहा है।

(१७५४) **पद**—वर्षस्य, अभविष्यति। **अनुवृत्ति**—संख्यायाः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उत्तरपद को वृद्धि हो। उदा० द्विवार्षिकः। भविष्यत् अर्थ में—द्वैवार्षिकः। अधीष्ट और भृत अर्थों में 'अभविष्यति' निषेध नहीं लगता। वहाँ किसी प्रकार भविष्यत्ता की प्रतीति तो होती है, किन्तु वह तद्धितार्थ नहीं है। अतः वहाँ पर द्वे वर्षे अधीष्टः, भृतः वा कर्म करिष्यति अर्थ में द्विवार्षिकः उदाहरण होगा।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। अष्टाध्यायी क्रम में यह सूत्र सू० १७५२ के अनन्तर पढ़ा गया है। अतः "संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च" (७-३-१५) से 'संख्यायाः' की अनुवृत्ति एवम् उत्तरपदवृद्धि-सम्बन्धी उल्लिखित सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "संख्यावाची शब्द से उत्तरवर्ती 'वर्ष' शब्द के अचों में आदि 'अच्' को ञित्, णित्, तथा कित् तद्धित प्रत्ययों के पर रहते वृद्धि होती है, यदि वह तद्धित-प्रत्यय 'भविष्यत्' अर्थ में न हुआ हो (अभविष्यति)"। अतः द्विवार्षिकः में 'ञित्' (= ठञ्) तद्धित प्रत्यय के पर रहते उत्तरपद के आदि अच् 'वर्ष' के 'अ' को वृद्धि = 'आ' हो गई। इस प्रकार 'निर्वृत्त' आदि पाँच अर्थों में से 'भावी' (भविष्यत्) अर्थ को छोड़कर अन्य चार अर्थों में उत्तरपदवृद्धि होगी। अतः यहाँ पर द्विवार्षिकः मनुष्यः का अर्थ—दो वर्षों के लिये, नियुक्त, वेतनधारी, हो चुका, सम्पादित किया हुआ अथवा कर्म करेगा आदि (द्वे वर्षे अधीष्टः, भृतः, भूतः, निर्वृत्तः वा कर्म करिष्यति आदि)—होगा। मनुष्य अर्थ में उक्त प्रयोग की साधुता मनुष्यसदृश प्रतिमादिपरता में ही सम्भव है। अन्यथा "चित्तवति नित्यम्" (५-१-८९) से प्रत्यय का 'लुक्' (लोप) हो जायगा।

मनुष्यः। 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' (सू १६८३)। द्वौ कुडवौ प्रयोजनमस्य द्विकौडविकः। द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसौवर्णिकम्। द्विनैष्किकम्। 'असंज्ञा-' इति किम्? पञ्च कपालाः परिमाणमस्य पाञ्चकपालिकम्। तद्धितान्तः संज्ञा। द्वैशाणम्। कुलिजशब्दमपि केचित्पठन्ति। द्वैकुलिजिकः। (१७५५) चित्तवति नित्यम् ५। १। ८९॥ वर्षशब्दान्ताद् द्विगोः प्रत्ययस्य नित्यं लुक् स्याच्चेतने प्रत्ययार्थे। द्विवर्षो दारकः। (१७५६)

इत्यत आह—गम्यते हि तत्र भविष्यत्तेति। अध्येषणभरणयोः क्तप्रत्ययेन भूतत्वमेव शब्दशक्त्या गम्यते। तद्धितप्रत्ययेन च तथाविधाध्येषणभरणकर्मीभूतौ प्रतीयेते। एवंविधाध्येषणभरणविशिष्टयोस्तु भविष्यता कर्माचरणेन सम्बधः कर्म करिष्यतीत्यनेनावगत इति न स तद्धितार्थः। एवञ्च तत्रापि भविष्यदर्थकतद्धितपरकत्वाभावात् स्यादेवोत्तरपदवृद्धिरित्यर्थः। द्विवार्षिको मनुष्य इति। 'चित्तवति नित्यम्' इति वक्ष्यमाणस्तु नित्यलुक् न भवति, चित्तवतीत्येवारम्भसामर्थ्यात् नित्यत्वे सिद्धे पुनर्नित्यग्रहणेन भूत एवार्थे नित्यं लुगित्यभ्युपगमादिति हरदत्तः। केचित्तु द्विवार्षिकः अमनुष्य इति छिन्दन्ति।

(१७५५) चित्तवति नित्यम्। प्रत्ययस्येति। खस्य ठञश्चेत्यर्थः। दारकः। बालकः।

उपर्युक्त उदाहरण में दिये हुए चार अर्थों में से 'अधीष्ट' तथा 'भृत'—इन दो अर्थों में 'भविष्यत' अर्थ की प्रतीति होती है, क्योंकि सत्कार-पूर्वक कार्य तथा वेतनादि देकर काम कराना कालान्तर में होगा। अतः 'अभविष्यति' निषेध की प्रवृत्ति यहाँ होनी चाहिये। उत्तर में यह कहा जाता है कि 'अधीष्ट' तथा 'भृत' शब्दों में 'भूत'—अर्थ में 'क्त' प्रत्यय होने के कारण शब्दशक्ति से भूतकाल की ही प्रतीति होती है। तद्धित-प्रत्यय से भूतकालविशिष्ट अध्येषण एवं भरणकर्मकरूप का बोध होता है। इस प्रकार के सत्कार एवं भरण-पोषण का सम्बन्ध कालान्तर में होने वाले कार्य से अर्थात् 'कर्म करेगा'—अर्थ द्वारा होगा, किन्तु वह तद्धितार्थ नहीं है। तद्धितार्थ तो वहाँ 'भृत' और 'अधीष्ट' ही रहता है।

इस उत्तरपदवृद्धि के प्रसङ्ग में ग्रन्थकार "परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः" (८-३-१७) सूत्र का भी उदाहरण द्वारा स्मरण दिला रहे हैं। तदनुसार **द्विकौडविकः** (दो कुडव—५ छटाँक चाहने वाला—द्वौ कुडवौ प्रयोजनम् अस्य), **द्विसौवर्णिकम्** (दो सुवर्ण, अर्थात् १२० गुंजा—से खरीदा गया—द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतम्) तथा **द्विनैष्किकम्** (दो निष्कों से खरीदा गया—द्वाभ्यां निष्काभ्यां क्रीतम्) में सर्वत्र उत्तरपदवृद्धि हुई।

प्रत्युदाहरण—असंज्ञादि पर्युदास (संज्ञाभिन्न आदि) के फलस्वरूप (क) **पाञ्चकलापिकम्** (पाँच कलाप जिसका परिमाण हो—पञ्च कलापाः परिमाणम् अस्य), (ख) **द्वैशाणम्** (दो शाणा से खरीदा गया—द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतम्) तथा (ग) **द्वैकुलिजिकः** (दो कुलिज चाहने वाला—द्वौ कुलिजौ अवहरति) में उत्तरपदवृद्धि नहीं होती, क्योंकि (क) तथा (ग) संज्ञावाची हैं तथा (ख) 'शाणा' शब्दस्वरूप ही है। अतः पूर्वपद के आदि अच् को वृद्धि हुई।

(१७५५) पद—चित्तवति, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—वर्षाद् लुक्, द्विगोः, तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'वर्ष' शब्दान्त द्विगुसंज्ञक से परवर्ती प्रत्यय का नित्य 'लुक्' हो, यदि प्रत्ययार्थ चेतन हो। उदा० द्विवर्षः—दारकः।

विवरण—'द्विगु'-संज्ञक 'वर्ष' शब्द का ही विषय है। विशेष स्थिति में नित्य 'लुक्' का विधान है। तदनुसार "प्रत्ययार्थ यदि चेतन (चित्तवति) अभिधेय हो तो द्वितीया-समर्थ 'वर्ष' शब्दान्त 'द्विगु'संज्ञक प्रातिपदिकों से अधीष्टादि अर्थों में विहित प्रत्यय का (= 'ख' तथा 'ठञ्') 'नित्य लुक्' होता है। पूर्व सूत्र से विकल्प प्राप्त था, यह नित्यार्थ वचन है। **उदाहरण**—

षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ५ । १ । ९० ॥ बहुवचनमतन्त्रम् । षष्टिको धान्यविशेषः । तृतीयान्तात्कन् रात्रशब्दलोपश्च निपात्यते । **(१७५७) तेनपरिजय्यलभ्यकार्यसुकरम् । ५ । १ । ९३ ॥** मासेन परिजय्यो-जेतुं शक्यो-मासिको व्याधिः । मासेन लभ्यं कार्यं सुकरं वा मासिकम् । **(१७५८) तदस्य ब्रह्मचर्यम् ५ । १ । ९४ ॥** द्वितीयान्तात्कालवाचिनो-

---

(१७५६) षष्टिकाः । तृतीयान्तादिति । षष्टिरात्रशब्दादिति शेषः ।

(१७५७) तेन परिजय्य । निर्वृत्तादयः पञ्चार्था निवृत्ताः । तेन परिजय्यम्, तेन लभ्यम्, तेन कार्यम्, तेन सुकरम् इत्यर्थेषु तृतीयान्ताट्ठञित्यर्थः । परिजय्य इत्यस्य विवरणम् जेतुं शक्य इति ।

(१७५८) तदस्य ब्रह्मचर्यम् । ननु द्वितीयान्तादिति कथम् ? सूत्रे ब्रह्मचर्यविशेषणस्य तच्छब्दस्य प्रथमान्तत्वादित्यत आह—अत्यन्तेति । तथा च कालविशेषाभिव्याहृतं ब्रह्मचर्य-

---

द्विवर्षः दारकः (दो वर्ष का बालक—द्वे वर्षे भूतः)—द्विवर्ष+ठञ् ("तमधीष्टो भृतो भूतो भावी" ५-१-८०) एवं द्विवर्ष+ख ("वर्षाल्लुक् च" ५-१-८८) । उक्त उदाहरणों में प्रत्यय का नित्य लोप हुआ, क्योंकि 'दारक' चेतन है ।

(१७५६) पद—षष्टिकाः, षष्टिरात्रेण पच्यन्ते । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—बहुवचन अविवक्षित है । षष्टिक—धान्यविशेष की संज्ञा है । तृतीयान्त से 'कन्' प्रत्यय हो तथा 'रात्र' शब्द के लोप का निपातन भी है ।

विवरण—"पकाया जाता है' अर्थ में 'षष्टिक' शब्द निपातन किया जाता है" । अर्थात् "तृतीया-समर्थ 'षष्टिरात्र' शब्द से 'पकाया जाता है' अर्थ में 'कन्' प्रत्यय एवं 'रात्र' शब्द का लोप होकर 'षष्टिक' शब्द निष्पन्न होता है" । **उदाहरण—षष्टिकाः** (=साठी-षष्टिरात्रेण पच्यन्ते, यह धान्यविशेष की संज्ञा है, जो साठ रात अर्थात् दो महीने में पकते हैं)—षष्टिरात्र+कन् (=क)>षष्टिकाः ('रात्र' का लोप, प्रथमा बहुवचन) । 'षष्टिकाः' में बहुवचन गौण है[1] । मूँग आदि के भी साठ दिनों में पकने पर उन्हें 'षष्टिक' नहीं कहा जाता, क्योंकि यह शब्द साठी के अर्थ में ही रूढ़ है ।

(१७५७) पद—तेन, परिजय्य-लभ्य-कार्य-सुकरम् । **अनुवृत्ति**—कालात्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'निर्वृत्त' आदि पाँच अर्थों की निवृत्ति हो गई है । प्रकृत सूत्र में चार नये अर्थ निर्दिष्ट हैं । समर्थ-विभक्ति का सूचक 'तेन' पद भी विद्यमान है । 'कालात्' एवं 'ठञ्' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार "तृतीया-समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से 'जीता जाने योग्य', 'प्राप्त करने योग्य', 'करने योग्य' तथा 'सुकर' अर्थों में 'ठञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **मासिकः** व्याधिः (महीने भर में अच्छा होने वाला रोग—मासेन परिजय्यः)-मास+ठञ् (ठ=इक) । (२) **मासिकम्** (महीने भर में प्राप्त करने योग्य वेतन आदि—मासेन लभ्यम् आदि) ।

(१७५८) पद—तद्, अस्य, ब्रह्मचर्यम् । **अनुवृत्ति**—कालात्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वितीयान्त कालवाची से 'अस्य' अर्थ में प्रत्यय हो । अत्यन्त संयोग में द्वितीया है ।

---

१. "षष्टिके संज्ञाग्रहणं कर्तव्यम्" इति वार्तिके भाष्ये एकवचनं प्रयुक्तम् । 'प्रयोग बाहुल्यात् सूत्रे बहुवचनप्रयोगः' इति हरदत्त आह । कैयटेन 'एकवचनान्तस्यापि षष्टिकशब्दस्य लोके प्रयोगाद् बहुवचनमतन्त्रमिति' व्याख्यातम् । धान्य-विशेषे एव षष्टिकशब्दः संज्ञात्वेन रूढः । तेनानभिधानात् मुद्गादिष्वतिप्रसक्तो न भवति ।

ऽस्येत्यर्थे प्रत्ययः स्यात् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । मासं ब्रह्मचर्यमस्य स मासिको ब्रह्मचारी । आर्धमासिकः । यद्वा प्रथमान्तादस्येत्यर्थे प्रत्ययः । मासोऽस्येति मासिकं ब्रह्मचर्यम् । 'महानाम्न्यादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा ३०६४) । महानाम्न्यो नाम 'विदामघवन्–' इत्याद्या ऋचः, तासां ब्रह्मचर्यमस्य माहानाम्निकः । हरदत्तस्तु 'भस्याढे–' इति पुंवद्भावान्माहानामिक इत्याह । 'चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे तत्र भव इत्यर्थे' (वा ३०६९) । चतुर्षु

स्येत्यर्थे कालात्प्रत्ययः । इदमर्थं प्रति ब्रह्मचर्यं विशेषणम् । मासिको ब्रह्मचारीति । मासाभिव्याप्तब्रह्मचर्यवानित्यर्थः । आर्धमासिक इति । 'अर्धात्परिमाणस्य' इत्युभयपदवृद्धिः । अत्र इदंशब्दार्थस्य ब्रह्मचारिणः प्राधान्यम् । मासाभिव्याप्तं ब्रह्मचर्यं तु तद्विशेषणमिति स्थितिः । यद्वेति । सूत्रे तदिति प्रथमान्तम् । ब्रह्मचर्यमिति षष्ठ्यर्थे प्रथमा । तथा च प्रथमान्तात्कालवाचिनः अस्य ब्रह्मचर्यस्येत्यर्थे ठञित्यर्थः फलति । तदाह—प्रथमान्तादिति । कालवाचिन इति शेषः । अस्येत्यर्थ इति । अस्य ब्रह्मचर्यस्येत्यर्थः । मासोऽस्येत्यनन्तरं ब्रह्मचर्यस्येति शेषः । अस्मिन्पक्षे ब्रह्मचर्यमेव प्रत्ययार्थत्वात्प्रधानम् । इदमर्थस्तु तद्विशेषणमिति बोध्यम् । उपसङ्ख्यानमिति । अस्य ब्रह्मचर्यमित्यर्थे ठञ् इति शेषः । माहानाम्निक इति । महानाम्नीशब्दस्य ऋग्विशेषेषु रूढस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् भाषितपुंस्कत्वाभावात् 'भस्याढे' इति पुंवत्त्वं नेति भावः । हरदत्तस्त्विति । माहानाम्निक-

---

उदा० १–मासं ब्रह्मचर्यम् अस्य सः–मासिकः←ब्रह्मचारी । २–आर्धमासिकः । (दूसरा अर्थ) अथवा प्रथमान्त से 'अस्य' अर्थ में प्रत्यय हो । (तदनुसार) मासः अस्य इति—मासिकं ब्रह्मचर्यम् । वा० (षष्ठ्यन्त) महानाम्नी आदि से (प्रत्यय) कहा जाय । 'विदामघवन्' इत्यादि ऋचायें महानाम्नी हैं । उदा० महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यम् अस्य—माहानाम्निकः । किन्तु हरदत्त ने 'भस्याढे तद्धिते' से पुंवद्भाव कर 'माहानामिकः' रूप सिद्ध किया है । वा० 'तत्र भवः' अर्थ में यज्ञ में चतुर्मास शब्द से 'ण्य' हो । उदा० चतुर्षु मासेषु भवन्ति—चातुर्मास्यानि←यज्ञकर्माणि । वा० संज्ञा गम्यमान रहते 'अण्' हो । उदा० चतुर्षु मासेषु भवति—चातुर्मासी←आषाढी पौर्णमासी । 'अण्' प्रत्ययान्त होने से ङीप् (हुआ) ।

विवरण—"'प्रथमा' अथवा द्वितीया-समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से 'ब्रह्मचर्य' गम्यमान होने पर षष्ठ्यर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है" । सूत्रस्थ समर्थ-विभक्ति-सूचक 'तद्' शब्द को 'प्रथमा' समर्थ एवं 'द्वितीया'-समर्थ दोनों ही रूपों में माना है । प्रथमा-समर्थ पक्ष में 'मासिक' शब्द ब्रह्मचर्य का विशेषण होगा, किन्तु द्वितीया-समर्थ पक्ष में 'मासिक' शब्द ब्रह्मचारी का वाचक होगा । प्रथमा-समर्थ में ब्रह्मचर्य के विशेषण वाले कालवाची का **उदाहरण—मासिकं ब्रह्मचर्यम्** (महीने भर रहने वाला ब्रह्मचर्य—मासः अस्य ब्रह्मचर्यस्य) । इस पक्ष में प्रत्ययार्थ होने के कारण ब्रह्मचर्य ही प्रधान है । 'इदम्' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मचर्य' का विशेषण है । प्रथमान्त पक्ष में सूत्रस्थ 'ब्रह्मचर्य' पद षष्ठ्यर्थ (अस्य) में प्रथमा-विभक्ति के रूप में प्रयुक्त है । 'द्वितीयान्त'—पक्ष का भी उदाहरण **मासिकः** ब्रह्मचारी है । किन्तु वहाँ अर्थ में विशेषता है—महीने भर ब्रह्मचर्य रखने वाला ब्रह्मचारी–मासं ब्रह्मचर्यम् अस्य । अतः "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (२-३-५) से द्वितीया परिकल्पित होती है । इसी प्रकार **आर्धमासिकः** (आधे महीने भर ब्रह्मचर्य व्रत रखने वाला ब्रह्मचारी—अर्धमासं ब्रह्मचर्यमस्य)—में भी 'ठञ्' (ठ = इक) प्रत्यय होने पर "अर्धात्परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा" (७-३-२६) से उभयपद वृद्धि हुई है ।

इसी सन्दर्भ में कुछ वार्तिक प्रस्तुत किये जा रहे हैं । तदनुसार **"षष्ठ्यन्त महानाम्नी** आदि शब्दों से 'अस्य ब्रह्मचर्यम्' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—माहानाम्निकः**

मासेषु भवन्ति–चातुर्मास्यानि यज्ञकर्माणि। 'अण् संज्ञायाम्' (वा ३०७०)। चतुर्षु मासेषु भवति चातुर्मासी आषाढी पौर्णमासी। अण्णन्तत्वान्ङीप्। (१७५९) तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः ५।१।९५॥ द्वादशाहस्य दक्षिणा द्वादशाहिकी। आख्याग्रहणाद-

---

मित्येव भाष्ये उदाहृतत्वादिदमुपेक्ष्यमिति भावः। चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे, तत्र इति। वार्तिक-मिदम्। तत्र भवो यज्ञः इत्यर्थे चतुर्मासशब्दात्सप्तम्यन्ताण्ण्यो वाच्य इत्यर्थः। चतुर्ष्विति। चतुर्षु मासेषु अतीतेष्वित्यर्थः। अण् सञ्ज्ञायामिति। वार्तिकमिदम्। चतुर्मास-शब्दात् भवार्थे अण् वाच्यः सञ्ज्ञायामित्यर्थः। चतुर्ष्विति। फाल्गुनीं पौर्णमासीमारभ्य चतुर्षु मासेष्वतीतेष्वित्यर्थः। आषाढीति। आषाढ्याः पौर्णमास्याः चातुर्मासीति सञ्ज्ञेति भावः। न च 'तत्र भवः' इत्यणैव सिद्धमिति वाच्यम्, 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुङ्-निवृत्त्यर्थत्वात्।

(१७५९) तस्य च दक्षिणा। तस्य दक्षिणेत्यर्थे यज्ञकालवृत्तिभ्यः ठञ् स्या-दित्यर्थः। द्वादशाहस्येति। द्वादशदिनसाध्यसुत्याकः क्रतुर्द्वादशाहः तस्येत्यर्थः। कालोप-सर्जनक्रतुवाचित्वादयमपि कालवृत्तिरिति भावः। 'कालात्' इत्याधिकारसूत्रे हि यथाकथ-

---

(महानाम्नी[1] पर्यन्त सामवेद की ऋचाओं के पढने का व्रती—महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यम् अस्य)—महानाम्नी+ठञ् (ठ=इक)>माहानाम्निकः। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप। आचार्य हरदत्त ने माहानामिकः रूप स्वीकार किया है। उनके अनुसार यहाँ पर 'भस्याढे तद्धिते' (वा०) से पुंवद्भाव होने पर 'टि'-लोप होगा। भाष्यकार को यह मान्य नहीं है।

दूसरे वार्तिक—द्वारा चतुर्मास शब्द से 'तत्र भवः यज्ञः' अर्थ में 'ण्य' (=य) प्रत्यय का विधान किया गया है"। तदनुसार **चातुर्मास्यानि**–यज्ञकर्माणि (चार महीनों में होने वाले यज्ञ के कार्य–चतुर्षु मासेषु भवन्ति')—चतुर्मास्+ण्य (=य)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप। तीसरे **वार्तिक** द्वारा "सप्तम्यन्त चतुर्मास शब्द से संज्ञा गम्यमान होने पर 'तत्र भवः' अर्थ में अण् (=अ) प्रत्यय होना बतलाया गया है"। **उदाहरण—चातुर्मासी** आषाढी पौर्णमासी (चार महीने बाद होने वाली आषाढी पौर्णमासी—चतुर्षु मासेषु अतीतेषु भवति)—चतुर्मास्+अण् (=अ)। तदनन्तर ङीप्। अर्थात् फाल्गुनी पौर्णमासी से आरम्भ कर अगले चार महीने व्यतीत होने पर आषाढ़ी पौर्णमासी की **चातुर्मासी** संज्ञा है।

विशेष—"तत्र भवः" (४-३-५३) सूत्र से ही 'अण्' प्रत्यय होने पर इष्टसिद्धि की आशङ्का का निवारण "द्विगोर्लुगनपत्ये" (४-१-८८) की प्रवृत्ति होने पर 'अण्' प्रत्यय के 'लुक्' की निवृत्ति के लिये प्रकृत वार्तिक की उपादेयता मानी जाती है।

(१७५९) पद—तस्य, च, दक्षिणा, यज्ञाख्येभ्यः। **अनुवृत्ति**—ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—आधिकारिक 'ठञ्' अनुवर्तमान है। तदनुसार "षष्ठी-समर्थ (तस्य) यज्ञ की आख्यावाले अर्थात् यज्ञ-काल बतलाने वाले (यज्ञाख्येभ्यः) प्रातिपदिकों से भी (च) 'दक्षिणा' अर्थ में 'ठञ्' होता है"। **उदाहरण—द्वादशाहिकी** (बारह दिन में किये जाने

---

१. 'महानाम्नी' विशेष प्रकार की ऋचायें हैं। महाभाष्य में यहाँ संयुक्तरूप में दो वार्तिकों का उल्लेख है—'महानाम्न्यो नाम ऋचो व्रतो तासां तु चर्यते'। महानाम्नी व्रत को शाक्वरी-व्रत भी कहते थे। प्राचीन रौरुकि ब्राह्मण में कहा गया था कि उस समय के छात्र महानाम्नी छन्दों तक वेदाध्ययन करना महनीय व्रत समझते थे। बच्चों को दूध पिलाते समय माताएँ लोरी में कहा करती थीं कि तुम शाक्वरी-व्रत के पारगामी बनो। 'अथ ह रौरुकि ब्राह्मणं भवति। कुमारान् ह वै मातरः पाययमाना आहुः शाक्वरीणां व्रतं पारयिष्णवो भवतेति'। —गोभिल-गृह्यसूत्र ३-२-७-९।

कालादपि। आग्निष्टोमिकी। वाजपेयिकी। (१७६०) तत्र च दीयते कार्यं भववत् ५।१।९६॥ प्रावृषि दीयते कार्यं वा प्रावृषेण्यम्। शारदम्।

इति तद्धिते प्राग्वतीये ठञधिकारे कालात् इत्यधिकारः सम्पूर्णः।

ञ्चित्कालबोधकस्य ग्रहणमिति 'तदस्य परिमाणम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। नन्वेवं सति अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकीत्यत्र ठञ् न स्यात्। अग्निष्टोमशब्दस्य कथञ्चिदपि कालवाचित्वाभावादित्यत आह—आख्याग्रहणादकालादपीति। अन्यथा यज्ञेभ्य इत्येव सिद्धे आख्याग्रहणवैयर्थ्यादिति भावः। वस्तुतस्तु यज्ञेभ्य इत्येवोक्तौ कालादित्यधिकारात् द्वादशाहादिशब्देभ्य एव स्यात्, न तु अग्निष्टोमादिशब्देभ्यः। आख्याग्रहणे तु अग्निष्टोमादिभ्यो द्वादशाहादिशब्देभ्यश्च सर्वेभ्यो यज्ञवाचिभ्य इति भाष्ये स्पष्टम्।

(१७६०) तत्र च दीयते। तत्र दीयते तत्र कार्यमित्यर्थयोः सप्तम्यन्तात्कालवाचिनो भववत्प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। **प्रावृषेण्यमिति।** 'प्रावृष एण्यः' इति भवार्थे विहितः इहापि भवति। **शारदमिति।** शरदि दीयते कार्यं वेत्यर्थः। सन्धिवेलाद्यण् भवे विहितः,

---

वाले यज्ञ की दक्षिणा—द्वादशाहस्य दक्षिणा)—द्वादशाह्+ठञ् (ठ=इक)। सूत्र में 'आख्या' शब्द का निवेश होने से कालवृत्ति के अतिरिक्त यज्ञ-बोधक शब्दों से भी 'ठञ्' प्रत्यय होता है। अन्यथा कालाधिकार से एकाह, द्वादशाह प्रभृति यज्ञ ही लिये जाते। तब तो 'यज्ञेभ्यः' पद से ही काम चल जाता। अतः 'अग्निष्टोमस्य दक्षिणा' अर्थ में **आग्निष्टोमिकी** एवं **राजसूयिकी** तथा **वाजपेयिकी** आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

विशेष—बारह दिनों में सम्पन्न होने वाला यज्ञ 'सुत्याक' कहलाता था।

(१७६०) पद—तत्र, च, दीयते, कार्यं, भववत्। **अनुवृत्ति**—कालात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ एवं विवरण—यह अतिदेश सूत्र है। "सप्तमी-समर्थ (तत्र) कालवाची प्रातिपदिकों से 'दिया जाता है' (दीयते) तथा 'कार्य' (कार्यम्)—इन अर्थों में 'भव' अर्थ के समान ही प्रत्यय होते हैं"। अर्थात् जैसे शैषिक में कालवाचियों से सामान्य 'भव' अर्थ में 'ठञ्', 'एण्य' आदि प्रत्यय कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी 'दीयते' तथा 'कार्यम्' अर्थों में वे सब प्रत्यय होंगे। **उदाहरण**—(१) **प्रावृषेण्यम्** (वर्षा-ऋतु में दिया जाने वाला या किया जाने वाला—प्रावृषि दीयते कार्यं वा)—प्रावृष्+एण्य ("प्रावृष एण्यः" ४-३-१७)। (२) **शारदम्** (शरद् ऋतु में दिया जाने वाला आदि–शरदि दीयते कार्यं वा)—शरद्+अण् ("सन्धि-वेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्" (४-३-१६)।

विशेष—भाष्यकार उपर्युक्त अर्थ से सहमत नहीं हैं। वे एक प्रकार से इस विधान को पूर्व सूत्र का पूरक मानते हैं। तदनुसार 'कार्यं दीयते' अर्थ में यज्ञवाची शब्दों से भवार्थ के समान प्रत्यय हों—यह अर्थ होगा। कार्यरूप अर्थ में यह अतिदेश होता है।' अतः अग्निष्टोमे दीयते भक्तम् इस अर्थ में **आग्निष्टोमिकम्** आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'कार्यं' ग्रहण का यह फल होता है कि 'अग्निष्टोमे दीयते हिरण्यम्' अर्थ में भवार्थप्रत्यय नहीं होता, क्योंकि अग्निष्टोम में हिरण्यरूपी कार्य सम्पादित नहीं किया जाता[1]। अतः उन्होंने योगविभाग किया है।

---

१. कार्यग्रहणमनर्थकं, तत्रभवेन कृतत्वात्। किं पुनर्भवान् कार्यग्रहणमेव प्रत्याचष्टे न पुनर्दीयते ग्रहणमपि। यथैव हि यन्मासे कार्यं तन्मासे भवं भवति। यदपि मासे दीयते तदपि मासे भवं भवति। न सिध्यति—न तन्मासे दीयते। किं तर्हि? मासे गते। एवं तर्हि औपश्लेषिकमधिकरणं विज्ञास्यते। एवं तर्हि योगविभागोत्तरकालमिदं पठितव्यम्। तस्य दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः, तत्र च दीयते, ततः कार्यं भववत्" इति। —महाभाष्यम्।

अथ ठञ्विधिप्रकरणम्

(१७६१) व्युष्टादिभ्योऽण् ५ । १ । ९७ ॥ व्युष्टे दीयते कार्यं वा वैयुष्टम् । व्युष्ट, तीर्थ, संग्राम, प्रवास इत्यादि । 'अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा ३०७२) । अग्निपदे दीयते कार्यं वा आग्निपदम् । पैलुमूलम् । (१७६२) तेन यथाकथा च हस्ताभ्यां णयतौ

इहापि भवति । इदं वृत्त्यनुरोधेन । वस्तुतस्तु तत्र कार्यं दीयत इत्यर्थे यज्ञाख्येभ्यः भवव-त्प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । अग्निष्टोमे दीयते भक्तम् आग्निष्टोमिकम् । कार्यग्रहणादग्निष्टोमे दीयते हिरण्यमित्यत्र न भवति । न ह्यग्निष्टोमे हिरण्यं क्रियत इति भाष्ये स्पष्टम् । इति तद्धिते प्राग्वतीये ठञधिकारे कालात् इत्यधिकारः सम्पूर्णः ।

(१७६१) अथ ठञ्विधिर्निरूप्यते—व्युष्टादिभ्योऽण् । तत्र च दीयते कार्यमित्यनु-वर्तते । दीयते कार्यं वेत्यर्थे सप्तम्यन्तेभ्यो व्युष्टादिभ्योऽण् स्यात् । ठञोऽपवादः । व्युष्टं प्रभातम् । वैयुष्टमिति । अणि 'नय्वाभ्याम्' इत्यैच् ।

(१७६२) तेन यथा । अर्थाभ्यामिति । प्रकृत्योः प्रत्यययोश्च यथासङ्ख्यम्, न तु दीयते कार्यमित्यनयोरित्यर्थः, व्याख्यानादिति भावः ।

स्मरणीय—यहाँ "कालात्" (५-१-७८) अधिकार की अवधि समाप्त होती है । इस सूत्र के अनन्तर सामान्यतः यथानिर्दिष्ट अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया जायेगा । न्यासकार ने इस में यह हेतु दिया है कि सूत्रस्थ 'च' पद 'कालवाची' शब्दों के अनुकर्षणार्थ है, अतः आगे 'कालात्' की अनुवृत्ति अब नहीं रहेगी ।

'दीपिका' में कालाधिकार की अवधि समाप्त ।

(१७६१) पद—व्युष्टादिभ्यः, अण् । **अनुवृत्ति**—तत्र दीयते कार्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"प्राग्वतेष्ठञ्" (५-१-१७) का आधिकारिक प्रभाव होने से 'ठञ्' के अपवादस्वरूप यह सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है । अतः "सप्तमी-समर्थ व्युष्टादि-गण-पठित शब्दों से 'दीयते' तथा 'कार्यम्'—इन दोनों अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है" । 'व्युष्ट' शब्द प्रभात का पर्यायवाची है । **उदाहरण—वैयुष्टम्** (प्रातः काल में दिया या किया जाने वाला—व्युष्टे दीयते कार्यं वा)—व्युष्ट+अण् (= अ) > व्-ऐय्-उष्ट्+अ ('ऐच्' आगम—"न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" ७-३-३—होने से आदिवृद्धि का निषेध) > वैयुष्टम् (नपुंसकलिङ्ग प्रथमा-विभक्ति-कार्य) । व्युष्टादि गण में 'व्युष्ट' के अतिरिक्त तीर्थ, संग्राम, प्रवास आदि शब्द पढ़े गए हैं । गणपाठ के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों से भी व्युष्टादि-गण के अनुसार 'अण्' प्रत्यय का विधान करने के लिए एकवार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है । तदनुसार सप्तम्यन्त अग्निपद आदि शब्दों से भी 'दीयते' तथा 'कार्यम्' अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है । **उदाहरण—(१) आग्निपदम्** (ऊसर-स्थान में दिया या किया जाने वाला—अग्निपदे दीयते कार्यं वा)—अग्निपद्+अण् (= अ) । (२) **पैलुमूलम्**[1] ('पीलु'-वृक्ष के नीचे होने वाली घटनायें या लेन-देन—पीलुमूले दीयते कार्यं वा)—पीलुमूल्+अण् (= अ) । उभयत्र आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप ।

(१७६२) पद—तेन, यथाकथाच-हस्ताभ्याम्, ण-यतौ । **अनुवृत्ति**—दीयते कार्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

---

१. 'पीलु' वृक्ष वाहीक देश में बहुत होते थे । ज्ञात होता है कि चोरी और लूटपाट के कामों के लिए, जो कि वाहीक देश में 'पीलु' के जंगलों में प्रायः होते थे, इस तरह के शब्दों का भाषा में प्रचलन था ।

५।१।९८॥ यथाकथाचेत्यव्ययसङ्घातात्तृतीयान्ताद्धस्तशब्दाच्च यथासङ्ख्यं णयतौ स्तः। 'अर्थाभ्यां तु यथासङ्ख्यं नेष्यते'। यथाकथाच दीयते कार्यं वा याथाकथाचम्। अनादरेण देयं कार्यं वेत्यर्थः। हस्तेन दीयते कार्यं वा हस्त्यम्। (१७६३) सम्पादिनि ५।१। ९९॥ तेन इत्येव। कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि कार्णवेष्टकिकं मुखम्। कर्णालङ्काराभ्यामवश्यं शोभत इत्यर्थः। (१७६४) कर्मवेषाद्यत् ५।१।१००॥ कर्मणा सम्पादि कर्मण्यं शौर्यम्। वेषेण सम्पादी वेष्यो नटः। वेषः कृत्रिम आकारः। (१७६५) तस्मै प्रभवति

(१७६३) सम्पादिनि। तेनेत्येवेति। सम्पादः सम्पत्तिः शोभा अस्यास्तीति सम्पादी। तस्मिन्नर्थे तृतीयान्ताट्ठगित्यर्थः।

(१७६४) कर्मवेषाद्यत्। तृतीयान्तात्कर्मन्शब्दात् वेषशब्दाच्च सम्पादिन्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः।

मूलार्थ—अव्ययसंघात 'यथाकथाच' तथा तृतीयान्त 'हस्त' शब्द से यथासंख्य 'ण' तथा 'यत्' प्रत्यय होते हैं। अर्थों में यथासंख्य अपेक्षित नहीं है। उदा० १-यथकथाच दीयते कार्यं वा- याथाकथाचम्। अनादर पूर्वक दिया या किया जाय—इसका यह अर्थ है। २-हस्तेन दीयते कार्यं वा—हस्त्यम्।

विवरण—सूत्र में समर्थ-विभक्ति के सूचक 'तेन' पद के साथ ही 'उद्देश्य' एवं 'विधेय'-वाची पद भी विद्यमान हैं। प्रत्ययार्थ-बोधक 'दीयते' तथा 'कार्यम्' पद अनुवर्तमान हैं। तदनुसार "'यथाकथाच' अव्यय एवं तृतीया-समर्थ 'हस्त' प्रातिपदिकों से 'दीयते' तथा 'कार्यम्'- इन अर्थों में यथासङ्ख्य 'ण' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं"। 'यथाकथाच' शब्द अव्ययों का समुदाय है तथा 'अनादर' अर्थ का वाचक है। क्रमशः **उदाहरण—याथाकथाचम्** (अनादर से दिया या किया जाने वाला—यथाकथाच दीयते कार्यं वा)—यथाकथाच्+ण (=अ)। (२) **हस्त्यम्** (हाथ से दिया या किया जाने वाला—हस्तेन दीयते कार्यं वा)—हस्त्+यत् (=य)।

विशेष—यहाँ प्रत्ययों में यथासंख्य स्वीकृत है, अर्थद्वय में यथासंख्य प्रवृत्त नहीं होता। अतः दोनों अर्थों में प्रत्येक शब्द से क्रमानुसार प्रत्यय होता है।

(१७६३) **पद**—सम्पादिनि। **अनुवृत्ति**—तेन, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त से ही (हो)। उदा० कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि-कार्णवेष्टकिकं मुखम्। **अर्थ**—कानों के गहनों से शोभित है—मुख।

विवरण—समर्थ-विभक्ति-सूचक 'तेन' पद ("तेन यथाकथाच हस्ताभ्याम्" ५-१-९८ से) तथा विधेयांश 'ठञ्' अनुवृत्ति-लभ्य हैं। प्रत्ययार्थ—सूत्र में निर्दिष्ट है। अतः "तृतीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'शोभित किया' (सम्पादिनि) अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण—कार्णवेष्टकिकं मुखम्** (कर्णभूषण के योग्य मुख—कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि←मुखम्)—कर्णवेष्टक्+ठञ् (ठ=इक)।

(१७६४) **पद**—कर्मवेषात्, यत्। **अनुवृत्ति**—सम्पादिनि, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है। अतः "सम्पादिनि" (५-१-९९) की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ भी अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "तृतीया-समर्थ 'कर्मन्' तथा 'वेष' शब्दों से 'शोभित किया' (सम्पादिनि) अर्थ में 'यत्' (=य) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **कर्मण्यम् शौर्यम्** ('कर्म' से की जाने वाली शूरता-कर्मणा सम्पादि)—कर्मन्+यत् (=य)। न्=ण्। (२) **वेष्यः**—नटः (वेष बनाने

सन्तापादिभ्यः ५।१।१०१ ॥ सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः। साङ्ग्रामिकः। (१७६६) **योगाद्यच्च ५।१।१०२**॥ चाट्ठञ्। योगाय प्रभवति योग्यः—यौगिकः। (१७६७) **कर्मण उकञ् ५।१।१०३**॥ कर्मणे प्रभवति कार्मुकम्। (१७६८) **समयस्तदस्य प्राप्तम् ५।१।१०४**॥ समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकम्। (१७६९)

(१७६५) तस्मै प्रभवति। चतुर्थ्यन्तेभ्यः सन्तापादिभ्यः प्रभवतीत्यर्थे ठञ् स्यादित्यर्थः। सन्तापाय प्रभवतीति। शत्रूणां पीडायै शक्नोतीत्यर्थः।

(१७६६) योगाद्यच्च। चतुर्थ्यन्तात्प्रभवतीत्यर्थ इति शेषः।

(१७६७) कर्मण उकञ्। चतुर्थ्यन्तात्प्रभवतीत्यर्थे इति शेषः। कार्मुकमिति। उकञि टिलोपः।

(१७६८) समयस्तदस्य। तदिति प्राप्तमिति च सामान्ये नपुंसकम्। समयः प्राप्तोऽस्येत्यर्थे प्रथमान्तात्समयशब्दात् ठञित्यर्थः। तदित्युत्तरार्थम्।

से शोभित–वेषेण सम्पादी)—वेष्+य। कृत्रिम अर्थात् (परिधान आदि द्वारा) बनावटी आकार वेष है। प्रथम उदाहरण में 'अन्' को प्रकृति भाव हुआ है।

(१७६५) **पद**—तस्मै, प्रभवति, सन्तापादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"चतुर्थी-समर्थ सन्तापादि प्रातिपदिकों से 'समर्थ है' (प्रभवति) अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—सान्तापिकः (सन्ताप देने में समर्थ—सन्तापाय प्रभवति)—सन्ताप्+ठञ् (ठ=इक)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप।

(१७६६) **पद**—योगात्, यत्, च। **अनुवृत्ति**—तस्मै प्रभवति, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—समर्थ-विभक्ति एवम् प्रत्ययार्थ के लिये सम्पूर्ण पूर्व सूत्र—"तस्मै प्रभवति" (५-१-१०१)—की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'ठञ्' का अधिकार चल ही रहा है। अतः "चतुर्थी-समर्थ 'योग' प्रातिपदिक से 'प्रभवति' अर्थ में 'यत्' तथा (च) 'ठञ्' प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(क) **योग्यः**→योग्+यत् (=य) होने पर। (ख) **यौगिकः**←योग्+ठञ् (ठ=इक) होने पर। अर्थ—योग के लिये समर्थ—योगाय प्रभवति।

(१७६७) **पद**—कर्मणः, उकञ्। **अनुवृत्ति**—तस्मै प्रभवति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"तस्मै प्रभवति" (५-१-१०१) का ही विषय है। उद्देश्य एवं विधेय—दोनों भिन्न होने के कारण पृथक् विधान चरितार्थ होता है। तदनुसार "चतुर्थी समर्थ (तस्मै) 'कर्मन्' शब्द से 'प्रभवति' अर्थ में 'उकञ्' (=उक) प्रत्यय होता है"। 'ठञ्' का अपवाद-सूत्र है। **उदाहरण**—**कार्मुकम्** (काम करने के लिए समर्थ=धनुष—कर्मणे प्रभवति)—कर्म्न्+उकञ् (=उक)। टिलोप एवम् आदिवृद्धि।

विशेष—'कार्मुक' शब्द का सामान्य अर्थ में अभिधान न होने से 'धनुष' अर्थ ही लिया जाता है।

(१७६८) **पद**—समयः, तद्, अस्य, प्राप्तम्। **अनुवृत्ति**—ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—केवल 'ठञ्' (विधेय-प्रत्यय) की आधिकारिक अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रार्थ के शेष उपकरण सूत्र में निर्दिष्ट हैं। अतः "प्रथमा-समर्थ (तद्) 'समय' प्रातिपदिक से

ऋतोरण् ५ । १ । १०५ ॥ ऋतुः प्राप्तोऽस्य आर्तवम् । 'उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम्' । उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम् । प्राशिता प्राप्तोऽस्य प्राशित्रम् । (१७७०) **कालाद्यत्** ५ । १ । १०७ ॥ कालः प्राप्तोऽस्य काल्यं शीतम् । (१७७१) **प्रकृष्टे ठञ्** ५ । १ । १०८ ॥ कालात् इत्येव । तदस्येति च । प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्येति कालिकं वैरम् । (१७७२) **प्रयोजनम्** ५ । १ । १०९ ॥ तदस्य इत्येव । इन्द्रमहः प्रयोजनमस्य

(१७६९) **ऋतोरण्** । प्राप्तमित्येव । प्राप्तोऽस्येत्यर्थे प्रथमान्तात् ऋतोरणित्यर्थः । आर्तवमिति । अणि ओर्गुणः, आदिवृद्धिः, रपरत्वम् ।

(१७७०) **कालाद्यत्** । तदस्य प्राप्तमित्येव । प्रथमान्तात्कालशब्दात् अस्य प्राप्त इत्यर्थे यदित्यर्थः । प्रातःकाले काल्यशब्दस्तु कल्यवदव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम् । कल्यमेव काल्यं वा ।

(१७७१) **प्रकृष्टे ठञ्** । अस्य प्राप्त इत्यर्थे प्रकृष्टवृत्तेः कालशब्दात् ठञित्यर्थः । यतोऽपवादः । प्रकृष्टशब्दस्य विवरणं—दीर्घ इति ।

(१७७२) **प्रयोजनम्** । तदस्येत्येवेति । अस्य प्रयोजनमित्यर्थे प्रथमान्ताट्ठञि-

---

'षष्ठयर्थ' में (अस्य) 'ठञ्' प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा-समर्थ प्राप्त-समानाधिकरण हो" । **उदाहरण**—जिसका समय प्राप्त हो चुका है (आ गया है), वह **सामयिकः** कार्यं कहा जायेगा—समयः प्राप्तः अस्य । समय्+ठञ् (ठ=इक एवम् आदिवृद्धि आदि कार्य) ।

(१७६९) पद—ऋतोः, अण् । **अनुवृत्ति**—तदस्य प्राप्तम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** । 'उपवस्तृ' आदि से भी उक्त अर्थ में 'अण्' हो ।

मूलार्थ एवं विवरण—'समर्थ-विभक्ति' तथा प्रत्ययार्थ का लाभ पूर्व सूत्र से (५-१-१०४) अनुवृत्ति आने के कारण होता है । 'उद्देश्य' (ऋतोः) एवं विधेय-वाची (अण्) पद सूत्र में विद्यमान हैं । तदनुसार "प्रथमासमर्थ 'ऋतु' प्रातिपदिक से षष्ठयर्थ (अस्य) में 'अण्' प्रत्यय होता है, यदि वह 'ऋतु' शब्द प्राप्त-समानाधिकरण-वाची हो" । 'ठञ्' का अपवाद है । **उदाहरण**—**आर्तवम्** (जिसका मौसम आ गया हो—ऋतुः प्राप्तः अस्य)—ऋतु+अण् (=अ) > ऋतो+अ (उ=ओ-गुण-"ओर्गुणः" ६-४-१४६) > आर्तवम् (आदिवृद्धि-रपर ऋ=आर् तथा अवादेश) । (१) 'उपवस्तृ'+अण् > **औपवस्त्रम्** । (२) **'प्राशित्रम्'** भी ।

(१७७०) पद—कालात्, यत् । **अनुवृत्ति**—तदस्य प्राप्तम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'तदस्य प्राप्तम्' का ही विषय है । तदनुसार "प्रथमा-समर्थ 'काल' शब्द से 'तदस्य प्राप्तम्' विषय में 'यत्' प्रत्यय होता है" । 'ठञ्' का यह अपवाद है । **उदाहरण**—**काल्यं** शीतम् (जिसका समय आ गया हो वह जाड़ा—कालः प्राप्तः अस्य)—काल्+यत् (=य) । अन्त्यवर्ण-लोप ।

(१७७१) पद—प्रकृष्टे, ठञ् । **अनुवृत्ति**—कालात्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'काल' की प्रकृष्टता अभिलक्षित कर 'तदस्य' विषय में 'यत्' का बाधक यह सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है । तदनुसार "प्रकर्ष अर्थ में वर्तमान जो प्रथमासमर्थ 'काल' शब्द, उससे 'षष्ठयर्थ' में 'ठञ्' प्रत्यय होता है" । यहाँ पर 'काल' की प्रकृष्टता लम्बे अरसे (दीर्घ) के अर्थ में गृहीत है । तदनुसार (उदाहरण) दीर्घकाल वाला ऋण या वैर—**कालिकम्**—ऋणं वैरं वा—कहा जायगा (प्रकृष्टः कालः अस्य) । काल् ठञ् (ठ=इक) । अन्त्यवर्ण-लोप ।

(१७७२) पद—प्रयोजनम् । **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

ऐन्द्रमहिकम्। प्रयोजनं फलं कारणं च। (१७७३) विशाखाषाढादण् मन्थ-दण्डयोः ५।१।११०॥ आभ्यामण् स्यात्प्रयोजनमित्यर्थे क्रमान्मन्थदण्डयोरर्थयोः। विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः। आषाढो दण्डः। 'चूडादिभ्य उपसंख्यानम्'। चूडा—चौडम्। श्रद्धा—श्राद्धम्। (१७७४) अनुप्रवचनादिभ्यश्छः ५।१।१११॥

त्यर्थः। इन्द्रमह इति। इन्द्रोत्सव इत्यर्थः। 'मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः। प्रयोजनं फलं कारणं चेति। प्रयुज्यते प्रवृत्त्या निष्पाद्यते इति कर्मणि ल्युटि प्रयोजनशब्दः फलवाची। प्रयुज्यते प्रवर्तते पुरुषोऽनेनेति करणे ल्युटि प्रयोजनशब्दः प्रवर्तकवाचीत्यर्थः।

(१७७३) विशाखाषाढात्। विशाखाशब्दात् आषाढशब्दाच्च प्रथमान्तात् अस्य प्रयोजनमित्यर्थे अण् स्यात्, समुदायेन मन्थे दण्डे च क्रमात् गम्ये सतीत्यर्थः। तदाह—आभ्यामिति। स्थूणामेकां निखाय तस्यां रज्जुद्वयमधरोत्तरमासज्ज्य तयोः रज्ज्वोर्मन्थ-दण्डः ऊर्ध्वमासज्यते। येन रज्ज्वा भ्रामितेन दधि विलोड्यते इति स्थितिः। तत्र स्थूणा मन्थ इत्युच्यते। मन्थाख्यदण्डो दण्ड उच्यते। अनयोः वैशाखशब्दः आषाढशब्दश्च रूढौ। तत्रावयवार्थाभिनिवेशो न कर्तव्यः। चूडादिभ्य इति। चूडादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः अस्य प्रयोजनमित्यर्थे अणित्यर्थः। चौडमिति। चूडा प्रयोजनमस्येति विग्रहः। डलयोर-भेदाच्चौलमित्यपि। श्रद्धा श्राद्धमिति। श्रद्धा प्रयोजनमस्येति विग्रहः। श्रद्धाशब्दादणि श्राद्धमित्यर्थः। अत्र प्रयोजनशब्दः कारणवाची। श्रद्धाहेतुकमिति यावत्।

मूलार्थ एवं विवरण—'प्रयोजन' पद साकाङ्क्ष है। आकाङ्क्षा की निवृत्ति अनुवर्तमान 'तदस्य' पद से होती है। अधिकार-गत 'ठञ्' प्रत्यय विधेय है। तदनुसार "प्रयोजन-समानाधिकरणवाची प्रथमा-समर्थ (तद्) प्रातिपदिक से 'षष्ठयर्थ' (अस्य) में 'ठञ्' प्रत्यय होता है"। प्रयोजन का तात्पर्य यहाँ कारण अथवा फल से है—प्रत्युज्यते अनेन←प्र√युज्+ल्युट् ('करण' अर्थ में)। **उदाहरण**—**ऐन्द्रमहिकम्** (जिसका प्रयोजन इन्द्रोत्सव हो—इन्द्रमहः प्रयोजनम् अस्य)—इन्द्रमह्̥+ठञ् (ठ=इक)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप। 'मह' शब्द उत्सव का पर्यायवाची है—"मह उद्धव उत्सवः" (अ० को० १-८-२८)।

(१७७३) पद—विशाखाषाढात्, अण्, मन्थदण्डयोः। **अनुवृत्ति**—प्रयोजनम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इन (दो) शब्दों से 'प्रयोजन' अर्थ में क्रमशः 'मन्थ' और 'दण्ड' अर्थ वाच्य होने पर 'अण्' प्रत्यय होता है। उदा० १—विशाखा प्रयोजनम् अस्य—वैशाखः←मन्थः। २—आषाढः←दण्डः। वा० 'चूडा' आदि से भी कहा जाय। १—चूडा→चौडम्। २—श्रद्धा→श्राद्धम्।

विवरण—'तदस्य प्रयोजनम्' का ही विषय है। सूत्र में दो उद्देश्यवाची पद हैं तथा अभिधेय वाची भी दो पद हैं। अतः उनमें यथासङ्ख्य अन्वय होगा। तदनुसार "'विशाखा' शब्द से 'मन्थ' एवम् 'आषाढ' शब्द से 'दण्ड' अभिधेय होने पर 'तदस्य प्रयोजनम्' विषय में 'अण्' प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **वैशाखः** मन्थः (मथनी—विशाखा प्रयोजनम् अस्य)—विशाखा̥+अण् (=अ) (२) **आषाढः** दण्डः (पलाश-दण्ड—आषाढः प्रयोजनम् अस्य)—आषाढ्̥+अण् (=अ)। उभयत्र आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप।

विशेष—उपर्युक्त दोनों अर्थों में ये शब्द रूढ हैं। अतः अवयवार्थ (प्रकृति-प्रत्ययार्थ) में अभिनिवेश अपेक्षित नहीं है।

इसी प्रसङ्ग में एक वार्तिक द्वारा यह बताया जा रहा है कि "प्रथमा-समर्थ 'चूडा' आदि शब्दों से 'अस्य प्रयोजनम्' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो"। तदनुसार **चौडम्** (चौल संस्कार—

अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य अनुप्रवचनीयम्। (१७७५) समापनात्सपूर्वपदात् ५।१। ११२॥ व्याकरणसमापनं प्रयोजनमस्य व्याकरणसमापनीयः। (१७७६) ऐकागारिकट् चौरे ५।१।११३॥ एकमसहायमगारं प्रयोजनमस्य मुमुषिषोः स ऐकागारिकश्चोरः।

(१७७४) अनुप्रवचनादिभ्यश्छः। प्रथमान्तादनुप्रवचनादिशब्दादस्य प्रयोजनमित्यर्थे छः स्यादित्यर्थः। अनुप्रवचनं नाम उपनयनाङ्गं किञ्चित्कर्म आश्वलायनसूत्रे प्रसिद्धम्।

(१७७५) समापनात्सपूर्वपदात्। सपूर्वपदात्समापनशब्दात् अस्य प्रयोजनमित्यर्थे छः स्यादित्यर्थः। व्याकरणसमापनीय इति। मङ्गलाचार इति शेषः।

(१७७६) ऐकागारिकट् चौरे। एकमगारं प्रयोजनं प्रयोजकमस्य चोरस्येति विग्रहे एकागारशब्दादिकट्प्रत्यये ऐकागारिकट् इति निपात्यते। टित्वं ङीबर्थम्। प्रयोजनमित्येव सिद्धे चौर एवेति नियमार्थं सूत्रम्। एकमित्यस्य विवरणम्—असहायमिति। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। मुमुषिषोरिति। चौर्यं कर्तुमिच्छोरित्यर्थः। चौरस्य हि

चूडा प्रयोजनम् अस्य)—चूड्̥+अण्। 'ड' और 'ल' में अभेद होने के कारण 'चौल' शब्द भी प्रयुक्त होता है। (२) श्राद्धम् (श्रद्धा के कारण किया जाने वाला पितृकार्य—श्रद्धा प्रयोजनम् अस्य)—श्रद्ध्̥+अण्। यहाँ प्रयोजन शब्द कारण-वाची है। उभयत्र आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप।

(१७७४) पद—अनुप्रवचनादिभ्यः, छः। **अनुवृत्ति**—प्रयोजनम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"तदस्य प्रयोजनम्" का ही विषय है। अतः "प्रथमा-समर्थ अनुप्रवचनादि प्रातिपदिकों से 'अस्य प्रयोजनम्' विषय में 'छ' (=ईय) प्रत्यय होता है"। 'ठञ्' का अपवाद है। **उदाहरण—अनुप्रवचनीयम्**[1] (वेदाध्ययन समाप्ति के पश्चात् किया जाने वाला होम—अनुप्रवचनं प्रयोजनम् अस्य)—अनुप्रवचन्̥+छ (=ईय)। अन्त्यवर्ण-लोप।

(१७७५) पद—समापनात्, सपूर्वात्। **अनुवृत्ति**—छः, प्रयोजनम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र (५-१-१११) से 'छः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ भी यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "किसी शब्द के पूर्व में रहते हुए (सपूर्वात्) प्रथमान्त 'समापन' प्रातिपदिक से 'अस्य प्रयोजनम्' विषय में 'छ' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण—व्याकरणसमापनीयम्** (जिसका प्रयोजन व्याकरण के अध्ययन की समाप्ति हो) अर्थात् मङ्गलाचरण—व्याकरणसमापनं प्रयोजनम् अस्य)—व्याकरणसमापन्̥+छ (=ईय)। अन्त्यवर्ण-लोप। यहाँ पर 'समापन' शब्द के पहले 'व्याकरण' शब्द है।

(१७७६) पद—ऐकागारिकट्, चौरे। **अनुवृत्ति**—प्रयोजनम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—'अस्य प्रयोजनम्' विषय का ही सातत्य है। विशेषार्थाभिधायी शब्द का निपातन किया जा रहा है। तदनुसार "प्रथमान्त 'एकागार' शब्द से 'अस्य प्रयोजनम्' अर्थ में 'इकट्' प्रत्ययान्त 'ऐकागारिकट्' शब्द निपातन किया जाय"। 'ऐकागारिकट्' में 'ट'कार (=ट्) अनुबन्ध (=इत्संज्ञक) होने से स्त्रीलिङ्ग में "टिड्ढाणञ्०" (४-१-१५) सूत्र से ङीप्

---

१. उपनयन, गोदानव्रत, महानाम्नीव्रत आदि प्रत्येक व्रत की समाप्ति पर अनुप्रवचनीय होम किया जाता था—आश्व० १.२२, गोभिल० ३.२.४८-४, खादिर २.९.३४। 'प्रवचनात् पश्चात् क्रियते'—इत्यनुप्रवचनीय-होमः।

(१७७७) आकालिकडाद्यन्तवचने ५ । १ । ११४ ॥ समानकालावाद्यन्तौ यस्येत्याकालिकः । समानकालस्याकाल आदेशः । आशु विनाशीत्यर्थः । पूर्वदिने मध्याह्लादावुत्पद्य दिनान्तरे तत्रैव नश्वर इति वा । 'आकालाट्ठंश्च' (वा ३०७८) । आकालिका विद्युत् ।

इति तद्धिते प्राग्वतीयस्य ठञः पूर्णोऽवधिः ।

असहायमगारमिष्टं गेहान्तरसत्त्वे चौर्यप्रकटनप्रसङ्गादिति भावः । चौरे किम् ? एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति वाक्यमेव । भाष्ये तु 'एकागाराच्चौरे' इत्येव सुवचम् । प्रकृतत्वाट्ठञ् सिद्ध इत्युक्तम् ।

(१७७७) आकालिकट् । समानकालाविति बहुव्रीहिः । आद्यन्ताविति । उत्पत्तिविनाशावित्यर्थः । समानकालस्येति । समानकालशब्दस्य इकप्रत्यये परे आकालादेशो निपात्यत इत्यर्थः । ननु उत्पत्तिविनाशयोरेककालिकत्वमसम्भवपराहतमित्यत आह—आशु विनाशीति । लक्षणां विनैवाह—पूर्वदिने इति । आकालाट्ठंश्चेति । आकालशब्दादाद्यन्त-

---

प्रत्यय होगा । उदाहरण—ऐकागारिकः (जिसका लक्ष्य सूना मकान पाना हो, अर्थात् चोर—एकम् = असहायम् अगारं = गृहम् प्रयोजनम् अस्य = मुमुषिषोः, सः)—एकागार् + इक । आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप ।

विशेष—भाष्यकार ने लघुभूत सूत्र "एकागाराच्चौरे" से ही 'ठञ्' प्रत्यय करने पर 'ऐकागारिकः' इष्ट रूप सिद्ध होने के कारण 'इकट्' प्रत्यय द्वारा निपातन[1] की कल्पना करने में गौरव माना है । ठञन्त से स्त्री-लिङ्ग की विवक्षा में ङीप् भी स्वतः सिद्ध है । इसके साथ ही दूसरी अनुपपत्ति का भी स्वतः वारण हो जायगा । वह इस प्रकार है कि 'एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोः' वाक्य में भी 'ठञ्' नहीं होगा, क्योंकि वहाँ भिक्षु को चोरी करना अभीष्ट नहीं है, अपि तु प्रतिज्ञावश (नियमवश) एक ही घर में भिक्षा माँगना भिक्षु को अभीष्ट है । अतः वहाँ वाक्य ही रहेगा[2] ।

(१७७७) पद—आकालिकट्, आद्यन्तवचने । अनुवृत्ति—प्रयोजनम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—जिनका आदि और अन्त समान काल में हो वह 'आकालिक' है । समानकाल के स्थान पर 'आकाल' आदेश होता है । (इस शब्द का) अर्थ है—आशुविनाशी । अथवा पूर्व दिन के मध्याह्न आदि में उत्पन्न होकर दूसरे दिन के मध्याह्न में नष्ट होना भी (आकालिक है) । वा० 'आकाल' शब्द से भी 'ठन्' हो । उदा० आकालिका विद्युत् ।

विवरण—यहाँ भी 'आकालिकट्' निपातन किया जा रहा है । अर्थविशेष की अभिव्यक्ति के लिये सूत्रस्थ शब्दों का विश्लेषण करते हुए दीक्षितजी 'आद्यन्तवचने' पदस्थ द्वन्द्वपरक आद्यन्तौ से अभीष्ट अर्थ का लाभ होने के लिये 'आदि' तथा 'अन्त' शब्द क्रमशः 'उत्पत्ति' और 'विनाश' के पर्यायवाची मानते हैं । साथ ही इन दोनों शब्दों के विशेषण 'समानकालशब्द' का निपातन भी किया जा रहा है (आद्यन्तवचने) । 'अस्य' की अनुवृत्ति के प्रभाव से षष्ठ्यर्थ में 'इकट्' प्रत्यय होगा (समानकालौ आद्यन्तौ अस्य) । 'समानकाल' शब्द का अर्थ है—एक काल में होना । तदनुसार 'आकालिक' शब्द का विग्रह होगा—समानकालौ आद्यन्तौ अस्य । अतः

---

१. "धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च ।
अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम् ।।" —कैयटः—५-१-११४ ।

२. "एकागारान्निपातनाऽनर्थक्यं ठञ्प्रकरणात् । इदं तर्हि प्रयोजनं—चोर इति वक्ष्यामीति । इह मा भूत्—'एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोः इति' । यद्येतावत्प्रयोजनं स्यात् 'एकागाराच्चौरे' इत्येव ब्रूयात्" । —महाभाष्यम् ।

अथ तद्धितेषु भावकर्मार्थाः

(१७७८) तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५ । १ । ११५ ॥ ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदधीते । क्रिया चेत् इति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः । (१७७९)

वचनाट्ठन्प्रत्ययश्च वक्तव्य इत्यर्थः । चात् ठञ् । आकालिका विद्युदिति । ठनि टाप् । ठञि तु ङीप् । आकालिकी । अर्थः प्राग्वत् ।

इति तद्धिते प्राग्वतीयस्य ठञः पूर्णोऽवधिः ।

अथ भावकर्मार्था निरूप्यन्ते—(१७७८) तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः । तुल्यमिति क्रियेत्यस्य विशेषणम् । सामान्याभिप्रायं नपुंसकम् । तृतीयान्तात्तुल्यमित्यर्थे वतिप्रत्ययः

समानकाल के स्थान पर 'आकाल' आदेश एवम् 'इकट्' (= इक) प्रत्यय होने पर आकालिक शब्द निष्पन्न होगा । इसका अर्थ है—बिजली, क्योंकि वह चमकते ही लुप्त हो जाती है । उसके प्रकट होने और लुप्त होने का अन्तराल (व्यवधान) विदित नहीं होता ।

प्रकृत सन्दर्भ में एक वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है । वार्तिककार के मत में उपर्युक्त निपातन की कोई आवश्यकता नहीं है । सूत्र का स्वरूप "आकालाट्ठँश्च" होना चाहिये । इसमें 'च' का निवेश प्रकरणस्थ 'ठञ्' के समावेश करने में उपयोगी होता है । अतः 'आकाल' शब्द से 'ठन्' तथा 'ठञ्' दोनों प्रत्यय होंगे । 'ठन्' प्रत्यय होने पर स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' होकर आकालिका (विद्युत) रूप बनेगा । तथा 'ठञ्' होने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' होकर आकालिकी रूप निष्पन्न हो सकेगा । इस प्रसङ्ग में आकाल शब्द की निष्पत्ति जाननी भी आवश्यक है । तदनुसार वह अव्ययीभावान्त शब्द है—("आङ् मर्यादाभिविध्योः २-१-१३)—आ कालात्←आकालम् । अथवा "कुगतिप्रादयः" से प्रादि समास । अथवा—आवृत्तः कालः अस्य-आकालः । तत्पुरुष समास में आकाल शब्द का अर्थ 'काल की आवृत्ति'—ग्राह्य नहीं है, किन्तु 'उत्पत्ति-काल के साथ ही जिसका विनाशकाल भी हो'—यह अर्थ अपेक्षित है । अतः उत्पत्ति काल में ही उसके विनाश की आवृत्ति सम्भावित होने से 'ठन्' एवं 'ठञ्' प्रत्यय होने में कोई बाधा नहीं हो सकेगी । किन्हीं प्राचीन वृत्तिकारों ने वर्ष, दिन आदि की उत्पत्तिपूर्व दिन के मध्याह्न काल से लेकर दूसरे दिन ठीक उसी मध्याह्न काल में निवृत्ति होने तक की अवधि को भी 'आकालिक' माना है । 'उसी समान काल से वे अनुसरण करते हैं'—ऐसी अपेक्षा करते हुए उनके आदि और अन्त का 'मध्याह्न' काल समान है । यहाँ 'ठञ्' का अधिकार समाप्त होता है ।

'दीपिका' टीका में प्राग्वतीय ठञधिकार समाप्त ।

उपक्रम—अब भावकर्मार्थक प्रत्ययों का निरूपण करने से पूर्व आरम्भ के केवल तीन सूत्रों में तुल्यार्थक प्रत्ययों का निरूपण किया जा रहा है । कौमुदीकार ने इसका पृथक् नाम नहीं दिया है । लघुशब्देन्दुशेखर में 'तुल्यार्थक-प्रकरण' को पृथक् प्रकरण के रूप में विभक्त किया है ।

(१७७८) पद—तेन, तुल्यं, क्रिया, चेत, वतिः । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'तुल्यं' पद क्रिया का विशेषण है, 'तेन' पद अनुवर्तमान 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' का विशेषण है । अतः उसमें तदन्त-विधि होती है । तदनुसार "तृतीयान्त प्राति-

तत्र तस्येव ५ । १ । ११६ ॥ मथुरायामिव मथुरावत्स्रुघ्ने प्राकारः । चैत्रस्येव चैत्रवन्मै-

---

स्यात् । यत्तुल्यं सा चेति क्रियेत्यर्थः । तुल्या क्रियेत्यर्थे वतिः स्यादिति यावत् । ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदधीते इति । अत्र ब्राह्मणवदित्युदाहरणम् । ब्राह्मणेन तुल्यमधीते इति विग्रहवाक्यम् । अत्र ब्राह्मणशब्देन ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनं लक्ष्यते । ब्राह्मणकर्तृकाध्ययन-तुल्यं क्षत्रियकर्तृकाध्ययनमिति बोधः । गुणतुल्ये इति । द्रव्यतुल्येऽपीति बोध्यम् । तेन चैत्रेण तुल्यो धनी देवदत्तः इत्यादौ न भवति । 'अयमेवं न तद्वत्' इत्यादौ वतेः साधुत्वा-र्थम् आहेति क्रियापदं प्रयुञ्जते वृद्धाः ।

(१७७९) तत्र तस्येव । तत्रेवेति तस्येवेति चार्थे सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्ताच्च वतिः स्यादित्यर्थः । अतृतीयान्तार्थं आरम्भः । अस्मादेव निर्देशादिवशब्दयोगे षष्ठ्यर्थे सप्तम्य-पीति भाष्यम् । अत्र 'क्रिया चेद्' इति नानुवर्तते इत्यभिप्रेत्योदाहरति—मथुरायामिव मथुरावत्स्रुघ्ने प्राकार इति । अत्र मथुरायामिवेति नाधिकरणसप्तमी । तथा सति विद्यमा-

---

पदिक से क्रिया की समानता होने पर (तुल्ये क्रिया चेत्) 'तुल्य' अर्थ में 'वति' प्रत्यय होता है"। 'वति' में 'इ'कार उच्चारणार्थ है, 'वत्' शेष रहता है। 'वति' प्रत्ययान्त शब्द अव्यय तथा क्रियाविशेषण होते हैं। **उदाहरण—ब्राह्मणवत्** अधीते (ब्राह्मण+वत्)। इसका अर्थ है ब्राह्मण के समान अध्ययन करता है। अर्थात् यहाँ पर 'अध्ययन-क्रिया' की समानता दूसरे अध्ययन-कर्ता में विद्यमान है। इस पकार यहाँ क्रियागत साम्य अपेक्षित है। **विग्रह-वाक्य**—ब्राह्मणेन तुल्यम् अधीते।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'क्रियाचेत्' पद के अभाव में 'गुण' की समानता होने पर भी 'वति' प्रत्यय होने लगता। तदनुसार **पुत्रेण तुल्यः स्थूलः** (पुत्र के समान मोटा) में 'वत्' प्रत्यय नहीं हुआ। 'द्रव्यगत' साम्य होने पर भी 'वति' प्रत्यय नहीं होता। अतः 'चैत्रेण तुल्यः धनी देवदत्तः' भी वाक्य ही रहेगा।

विशेष—'अयम् एवं न तद्वत्' इत्यादि वाक्यों में 'वति' प्रत्यय की साधुता के लिये 'आह' क्रियापद का प्रयोग (अध्याहार) कर लिया जाता है। इस प्रकार प्राचीन प्रामाणिकों का कथन है।

(१७७९) **पद**—तत्र, तस्य, इव। **अनुवृत्ति**—वतिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—'तृतीयान्त'-भिन्न शब्दों से 'वति' प्रत्यय का विधान बतलाने के लिये सूत्र की उपयोगिता है। पूर्व सूत्र (सू. १७७१) से 'वति' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'तत्र' पद सप्तमी विभक्ति एवं 'तस्य' पद षष्ठी विभक्ति का बोधक है। 'इव' अर्थ-निर्देशक है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'इव' अर्थ में सप्तमी-समर्थ तथा षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिक से 'वति' प्रत्यय होता है"। इस सूत्र में 'क्रिया चेत्' अंश की अनुवृत्ति नहीं आती। **उदाहरण**—के लिये 'मथुरायाम् इव' (मथुरा के समान) अर्थ में सप्तम्यन्त 'मथुरायां' से वति (=वत्) प्रत्यय होकर **मथुरावत्** (स्रुघ्ने प्राकारः) रूप निष्पन्न होता है। 'मथुरायाम् इव' में अधिकरण सप्तमी नहीं है। अन्यथा विद्यमान क्रियापद के सापेक्ष होने से असामर्थ्य हो जाता। अतः इस सूत्र के निर्देश से ही 'इव' शब्द के योग में षष्ठी के अर्थ में सप्तमी मानी गई है। इस तरह 'मथुरासम्बन्धी प्राकार की तरह स्रुघ्न का भी प्राकार है'—यह शाब्दबोध माना गया है। षष्ठ्यन्त से—(२) **चैत्रवत्** मैत्रस्य गावः (चैत्र की तरह मैत्र की गायें हैं—चैत्रस्य इव) में भी 'वति' (=चैत्र+वत्) प्रत्यय हुआ।

त्रस्य गावः। (१७८०) तदर्हम् ५।१।११७॥ विधिमर्हति विधिवत्-पूज्यते। क्रियाग्रहणं मण्डूकप्लुत्या अनुवर्तते। तेनेह न—राजानमर्हति छत्रम्। (१७८१) तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९॥ प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः। गोर्भावो गोत्वम्।

नेति क्रियापदसापेक्षतया असामर्थ्यात्। अत एव अस्मादेव सूत्रनिर्देशादिवशब्दयोगे षष्ठ्यर्थे सप्तमीति भाष्यं सङ्गच्छते। मथुरासम्बन्धिप्राकारसदृशः स्रुघ्नस्य प्राकार इति बोधः। मैत्रस्य भाव[1] इति। वृत्तमित्यर्थः।

(१७८०) तदर्हम्। अर्हतीत्यर्हम्। पचाद्यच्। तदिति कर्मणि द्वितीयान्तम्, लब्धुं योग्यं भवतीत्यर्थात्। कृद्योगलक्षणषष्ठ्यभावस्तु आर्षः। वतिरित्यनुवर्तते। द्वितीयान्तादर्हतीत्यर्थे वतिः स्यादित्यर्थः। विधिमर्हतीति। विधिं लब्धुं योग्यं भवतीत्यर्थः। विधिवत्पूज्यत इति। हरिरिति शेषः। विधिं लब्धुं योग्यं हरिपूजनमित्यर्थः। विहितं प्रकारमनतिक्रान्तमिति यावत्। मण्डूकप्लुत्येति। पूर्वसूत्रे अननुवृत्तेरिति भावः।

(१७८१) तस्य भावः। षष्ठ्यन्ताद्भाव इत्यर्थे त्वतलौ स्त इत्यर्थः। भावशब्दस्य अभिप्रायादावपि वृत्तेराह—प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भाव इति। त्वतल्प्रत्ययौ यत उत्पत्स्येते

(१७८०) पद—तद्, अर्हम्। अनुवृत्ति—वतिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० 'विधिम् अर्हति' विग्रह में विधिवत्—पूज्यते अर्थ। मण्डूकप्लुति के अनुसार 'क्रिया' ग्रहण की अनुवृत्ति है। इस कारण—राजानम् अर्हति छत्रम् में ('वति') नहीं हुआ।

विवरण—'वति' का ही विषय है। यद्यपि पूर्व सूत्र "तत्र तस्येव" (५-१-११६) में 'क्रियाचेत्' का सम्बन्ध नहीं था, तथापि यहाँ मण्डूकप्लुति से 'क्रिया' की अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ द्वितीयान्त 'तत्' पद समर्थ-विभक्ति का सूचक है। 'अर्हः' पद प्रत्ययार्थ को सूचित करता है। 'वति' की अनुवृत्ति से विधेयांश की पूर्ति होती है। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ प्रातिपदिक से अर्हण-विशिष्ट क्रिया वाच्य हो तो 'वति' (=वत्) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—विधिवत् पूज्यते अर्थात् हरि-पूजन (विधान के अनुसार हरिपूजन है—विधिम् अर्हति)—विधि+वति (=वत्)।

प्रत्युदाहरण—'राजानम् अर्हति छत्रम्' (राजा को छत्रधारण योग्य है) में क्रियागत-सादृश्य न होने से 'वति' प्रत्यय नहीं हुआ।

विशेष—'क्रिया' की अनुवृत्ति आने से भाष्यकार ने यह विशेषता दिखलाई है कि 'राजवत्' आदि में 'सादृश्य' अर्थ का अभाव रहेगा। अतः वहाँ "तेन तुल्यम्०" (५-१-११५) से 'वति' प्रत्यय नहीं हो सकता। 'राजवत् पालनम्' का यह अर्थ नहीं है कि राजा के समान किसी अन्य व्यक्ति का पालन होता है, किन्तु 'राजा को ही जो उचित क्रिया हो'—इस अर्थ में 'वति' प्रत्यय होता है। जैसे छत्र-चाँवर आदि डुलाना राजा के लिये ही विहित हैं। अतः यहाँ पर 'वति' प्रत्यय 'स्वयं कर्ता को जो योग्य (=उचित) क्रिया है'—उसी अर्थ में होता है, न कि सादृश्य अर्थ में[2]।

(१७८१) पद—तस्य, भावः, त्वतलौ। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

---

१. सर्वत्र 'गावः' इत्येव पाठः वर्तते। बालमनोरमायां 'भावः' इति वर्तते।

२. पूर्वसूत्रेण अन्यथासिद्धिं परिहरता भाष्यकारेण उक्तम्—"किमर्थमिदमुच्यते इति" तत्र 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इत्येव सिद्धम्? न सिध्यति। तत्र तृतीयासमर्थात् यदा अन्येन कर्तव्यां क्रियाम् अन्यः करोति तदा प्रत्यय उत्पाद्यते। इह पुनर्द्वितीयासमर्थात् आत्मार्हायां क्रियायाम् अर्हति कर्तरि निश्चितबलाधाने प्रत्यय उत्पाद्यते"—इति स्पष्टीकृतम्।

गोता। 'त्वान्तं क्लीबम्' (लि १२०), 'तलन्तं स्त्रियाम्' (लि १७)। (१७८२) **आ च त्वात् ५ । १ । १२० ॥** 'ब्रह्मणस्त्व' इत्यतः प्राक्त्वतलावधिक्रियेते। अपवादैः सह समावेशार्थं, गुणवचनादिभ्यः कर्मणि विधानार्थं चेदम्। चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समा-

---

तस्मात्प्रकृतिभूतशब्दात् व्यक्तिबोधे जायमाने यत् जात्यादिकं विशेषणतया भासते तद्व्यक्ति-विशेषणं भावशब्देन विवक्षितमित्यर्थः। यथा—गोशब्दाद्धि व्यक्तिबोधे जायमाने गोत्वं विशेषणत्वेन भासते, गोशब्दस्य गोत्ववतीषु व्यक्तिषु गोत्वे च शक्तिग्रहणात्। न हि गोत्वं विहाय गोव्यक्तिषु गोशब्दस्य शक्तिग्रहः सम्भवति, अतीतानागतानां वर्तमानानां चानन्तत्वेन युगपदुपस्थित्यसम्भवात् गोशब्दात् प्राणित्वपशुत्वादिरूपेणापि गोव्यक्तिप्रतीत्यापत्तेश्च। ततश्च सर्वासु गोव्यक्तिष्वनुगतं तदितरव्यक्तिभ्यो व्यावृत्तं कश्चिद्धर्मविशेषं शक्यतावच्छेदकं पुरस्कृत्य गोशब्दः प्रवर्तत इति सिद्धान्तः। एवं घटादिशब्दा अपि घटत्वादितत्तद्धर्मं पुरस्कृत्य प्रवर्तन्ते। तदिदं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं भावशब्देन विवक्षितमिति भाष्यकैयटयोः स्थितम्। गोर्भाव इति। गोशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमिति बोधः। त्वान्तं क्लीबं तलन्तं स्त्रियाम् इति। लिङ्गानुशासनसूत्रसिद्धमिदम्।

(१७८२) आ च त्वात्। त्वतलावित्यनुवर्तेते। आङ्मर्यादायाम्। तदाह—ब्रह्मणस्त्व इत्यतः प्रागिति। ननु 'तस्य भावस्त्वतलौ' इत्यतः त्वतलोरुत्तरसूत्रेष्वनुवृत्त्यैव सिद्धेरधिकारोऽयं व्यर्थ इत्यत आह—अपवादैरिति। 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इत्यादि-विहितैरिमनिजादिभिरपवादैः समुच्चयार्थमित्यर्थः। असति त्वेतस्मिन्नधिकारसूत्रे उत्तरत्र इमनिजादिविधिषु त्वतलोरनुपस्थितिः स्यात्। प्रत्यक्षनिर्दिष्टैरिमनिजादिविशेषैः शान्ता-काङ्क्षत्वात्। अन्यथा 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यधिकृतस्य अणः 'अत इञ्' इत्यादावपि प्रवृत्तिः

मूलार्थ—(प्रत्यय-सम्बन्धी) प्रकृति से प्रतीयमान अर्थ में विशेषणीभूत अर्थ को 'भाव' कहा जाता है। उदा० १–गोः भावः←गोत्वम्। २–गोता। 'त्व' प्रत्ययान्त नपुंसक लिङ्ग तथा 'तल्' प्रत्ययान्त स्त्री-लिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

विवरण—'भावार्थ' प्रत्ययों का आरम्भ हो रहा है। सूत्रस्थ 'तस्य' पद समर्थ-विभक्ति का बोधक है। अर्थ-निर्देशक पद—'भावः' है। तदनुसार "षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिक से 'भाव' अर्थ में 'त्व' और 'तल्' (=ता) प्रत्यय होते हैं"। जिस गुण के होने से शब्द का किसी अर्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है, वही यहाँ 'भाव' शब्द से अभिप्रेत है। अर्थात् 'भाव' से यहाँ किसी का आशय या अभिप्रायादि नहीं लेना है। जैसे मनुष्यपन अर्थात् मनुष्योचित 'स्वभाव' होने से ही व्यक्ति मनुष्य कहलाता है। इसे ही 'मनुष्यत्व' या 'मनुष्यता' कहा जाता है। 'भाव' में 'त्व' और 'तल्' का विधान किये जाने से यह विदित होता है कि "जिस विशेषण की सत्ता से विशेष्य में शब्द की प्रवृत्ति होती है उसके अभिधान में ही इन दोनों प्रत्ययों की सार्थकता है"–**सिद्धं तु यस्य गुणस्य भावात् द्रव्ये शब्द-निवेशस्तदभिधाने त्व-तलौ**" (वार्तिक)। 'त्व' प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग और 'तल्' (=ता) प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। **उदाहरण**—(क) **गोत्वम्** (गाय का स्वभाव—गोः भावः)—गो+त्व। (ख) **गोता**—गो+तल् (=त)+टाप् (आ)।

(१७८२) पद—आ, च, त्वात्। **अनुवृत्ति**—त्व-तलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **अधिकार-सूत्र।**

मूलार्थ—'ब्रह्मणस्त्वः' सूत्र से पहले तक 'त्व' तथा 'तल्' का अधिकार है। अपवादों के साथ समावेश के लिये (यह अधिकार) है। गुणवाचक से या कर्म से ('त्व' 'तल्') विधान के

वेशार्थः । स्त्रियः भावः—स्त्रैणम्—स्त्रीत्वम्—स्त्रीता । पौंस्नम्—पुंस्त्वम्—पुंस्ता । (१७८३) न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुरसङ्गतलवणवटयुधकतरसलसेभ्यः ५ । १ । १२१ ॥ इतः

स्यादिति भावः । प्रयोजनान्तरमाह—गुणवचनादिभ्य इति । अन्यथा भावेऽर्थे सावकाशयोस्त्वतलोः कर्मण्यर्थे गुणवचनादिभ्यो विशेषविहितेन ष्यञा बाधप्रसङ्ग इति भावः । नन्वेवमपि आत्वादित्येवास्तु, स्वरितत्वादेव पूर्वसूत्रादिह त्वतलोरनुवृत्तिसिद्धेस्तदनुकर्षार्थश्चकारो व्यर्थं इत्यत आह—चकार इति । अन्यथा त्वतलौ स्त्रीपुंसाभ्यां न स्याताम्, अन्यत्र तयोः सावकाशत्वादिति भावः । पौंस्नमिति । संयोगान्तलोपे 'पुमः खय्यम्परे' इति रुत्वम् । पाक्षिकावनुनासिकानुस्वारौ, विसर्गे कृते सत्वम् । एवं पुंस्त्वम् । तत्र 'ह्रस्वात्तादौ' इति षत्वं तु न भवति, सवनादिषु पाठात् ।

(१७८३) न नञ्पूर्वात् । इतः परमिति । त्वतल्विधेरूर्ध्वमित्यर्थः, नञ्पूर्वात् इत्युत्तरस्य प्रतिषेध इति भाष्यादिति भावः । चतुरादीनिति । चतुर, सङ्गत, लवण, वट,

---

लिये भी यह आवश्यक है। (सूत्र में प्रयुक्त) 'च' पद से 'नञ्'-'स्नञ्' का भी समावेश है। उदा० १—स्त्रियाः भावः→स्त्रैणम्—स्त्रीत्वम्—स्त्रीता। २—पौंस्नम्—पुंस्त्वम्—पुंस्ता।

विवरण—यह अधिकार-सूत्र है। 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों को अधिकार-सीमा बतलाई जा रही है। पूर्व सूत्र (१७८१) से 'त्व' और 'तल्' अनुवर्तमान हैं। मर्यादा-बोधक 'आङ्' शब्द के फलस्वरूप इस अधिकार की सीमा "ब्रह्मणस्त्वः" (५-१-१३६) सूत्र के पहले तक है। अष्टाध्यायी-क्रम में उसके पहले "होत्राभ्यश्छः" (५-१-१३५) सूत्र पढ़ा गया है। अतः वहाँ तक 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का अधिकार है। यद्यपि 'त्व'–'तल्' का अधिकार "ब्रह्मणस्त्वः" (५-१-१३६) सूत्र पर्यन्त मानने से भी काम चल जाता, तथापि इस सूत्र का दूसरा प्रयोजन यह भी है कि जहाँ 'त्व' और 'तल्' के अपवाद-स्वरूप अन्य भावार्थक प्रत्यय कहे हैं, वहाँ भी उनके साथ 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय हो जायें। जैसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" (५-१-१२२) से विधीयमान 'इमनिच्' प्रत्यय 'त्व' और 'तल्' का अपवाद है, वहाँ भी 'इमनिच्' के साथ 'त्व' और 'तल्' भी हो जायें। इस अधिकारसूत्र के न रहने पर उत्तरत्र 'इमनिच्' आदि के विधानों में 'त्व' एवं 'तल्' की अनुपस्थिति रहती। इतना तो सूत्र को "आ त्वात्" पढ़ने पर भी सम्भव रहा। तथा 'स्वरितत्व प्रतिज्ञा के आधार पर पूर्व सूत्र से 'त्व'–'तल्' की अनुवृत्ति-वश पूर्वोक्त इष्टसिद्धि भी सम्भव होती, तब 'च' का निवेश क्यों किया जाय ? तथापि उपर्युक्त के अतिरिक्त 'च' ग्रहण करने से एक दूसरा लाभ और अपेक्षित है। वह यह है कि इस अधिकार-सूत्र के आधार पर 'नञ्'–'स्नञ्' के साथ साथ 'त्व' और 'तल्' भी होते हैं। (१) उदाहरण-(क) स्त्रैणम्→स्त्री+नञ् ("स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्-स्नञौ भवनात्" ४-१-८७) होने पर। (ख) स्त्रीत्वम्←स्त्री+त्व। (ग) स्त्रीता→स्त्री+तल् (ठ)+टाप् (आ)। अर्थ—स्त्री-जाति—स्त्रियः भावः। (२) इसी तरह (क) पौंस्नम् (पुंस्+स्नञ् =स्न) 'स्'-लोप, आदिवृद्धि। (ख) पुंस्त्वम् (पुंस्+त्व)। (ग) पुंस्ता (पुंस्+तल् = त+टाप् = आ)। 'ख'–'ग' में 'संयोगान्त' लोप होने पर "पुमः खय्यम्-परे" (८-३-६) से 'म्' को रुत्व, पाक्षिक अनुनासिक–अनुस्वार, 'र्' को विसर्ग एवं सत्व होने पर विभक्तिकार्य)। निमित्ताभाव के कारण उभयत्र आदिवृद्धि नहीं होगी। शेष कार्य पूर्ववत्। अर्थ—पुरुषत्व—पुंसः भावः।

(१७८३) पद—न, नञ्पूर्वात्, तत्पुरुषात्, अचतुर-संगत-लवण-वट-कत-रस-लसेभ्यः। अनुवृत्ति—तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इसके बाद जो 'भाव'–प्रत्यय कहे जायेंगे—वे 'चतुर' आदि को छोड़कर, 'नञ्'-तत्पुरुष से न हों। उदा० १–अपतित्वम्। २–अपटुत्वम्। 'नञ्-पूर्वात्' क्यों कहा ? बार्हस्पत्यम्

परं ये भावप्रत्ययास्ते नञ्तत्पुरुषान्न स्युश्चतुरादीन्वर्जयित्वा । अपतित्वम् । अपटुत्वम् । नञ्पूर्वात् किम् ? बार्हस्पत्यम् । तत्पुरुषात् किम् ? नास्य पटवः सन्तीत्यपटुः, तस्य भावः— आपटवम् । अचतुर-इति किम् ? आचतुर्यम् । आसङ्गत्यम् । आलवण्यम् । आवटयम् ।

युध, कत, रस, लस, एतान् वर्जयित्वेत्यर्थः । अपतित्वमिति । इह 'पत्यन्तपुरोहिता-दिभ्यः' इति यक् न भवति । अपटुत्वमिति । इह 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यण् न भवति । बार्हस्पत्यमिति । 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः' इति यक् । आपटवमिति । 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यण् । अपटुशब्दस्य बहुव्रीहित्वात्तत्पुरुषत्वाभावान्नास्याणो निषेध इति भावः । आचतुर्यमिति । अचतुरस्य भावः । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् । आसङ्गत्यमिति । असङ्गत-शब्दात् ष्यञ् । आलवण्यमिति । अलवणशब्दात् ष्यञ् । आवटयमिति । न वटः अवटः तस्मात् ष्यञ् । आयुध्यमिति । अयुधशब्दात् ष्यञ् । आकत्यमिति । अकतशब्दात् ष्यञ् । आरस्यमिति । अरसशब्दात् ष्यञ् । आलस्यमिति । लसतीति लसः, न लसः अलसः, तस्मात् ष्यञ् ।

('त्व' नहीं हुआ) । 'तत्पुरुषात्' क्यों कहा ? आपटवम् (बहुव्रीहि—नास्य पटवः सन्ति='अपटुः', तस्य भावः) में 'अण्' हुआ । 'अचतुर' आदि क्यों कहा ? 'आचातुर्यम्' आदि में सर्वत्र 'ष्यञ्' होगा ।

विवरण—'त्व'-'तल्' का ही विषय है । उसका निषेध किया जा रहा है । परिस्थितियों का निर्देश सूत्र में विद्यमान है । उस निषेध के प्रकार को बतलाया जा रहा है । तदनुसार "यहाँ से आगे जो भावार्थक प्रत्यय कहे जायेंगे, वे नञ्-पूर्वक तत्पुरुष से नहीं होंगे । फिर भी चतुर, संगत, लवण, वट, युध, कत, रस तथा लस—इन शब्दों को छोड़ना अभीष्ट है । अर्थात् 'चतुर' आदि शब्दों से आगे कहे जाने वाले भावार्थक प्रत्यय नञ्-समास होने पर भी हो जायेंगे । उन तत्तत्प्रत्ययों का निषेध हो जाने पर नञ्-पूर्वक तत्पुरुष से 'त्व' और 'तल्' ही हुआ करेंगे । इसके फलस्वरूप **अपतित्वम्** (जो स्वामी न हो, उसका स्वभाव अर्थ में—अपतेः भावः—"पत्यन्त पुरोहितादिभ्यो यक्" (५-१-१२८) से प्राप्त 'यक्' का निषेध होने से 'त्व' हुआ । तथा **अपटुत्वम्** (जो पटु न हो, उसका स्वभाव—अपटोः भावः) में "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" (५-१-१२८) से प्राप्त 'अण्' का निषेध होने से औत्सर्गिक 'त्व' हुआ ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'नञ्-पूर्वात्' पद का निवेश होने से इस निषेध की प्रवृत्ति 'नञ्'-पूर्वक तत्पुरुष समास में ही होगी, अतः **बार्हस्पत्यम्** (बृहस्पति का स्वभाव—बृहस्पतेः भावः) में 'नञ्' पूर्वक न होने से 'यक्' होने में बाधा नहीं हुई—बृहस्पति+यक् । (२) इसी प्रकार **आपटवम्**—(जिसके पास 'पटु' न हो, उसका स्वभाव—न अस्य पटवः सन्ति, तस्य भावः) में नञ् पूर्वक होने पर भी तत्पुरुष न होने से बहुव्रीहि होने के कारण 'अण्' होता है—(अपटु+अण्) । (३) सूत्र की प्रवृत्ति 'चतुर' आदि आठ शब्दों में वर्ज्य होने से (१) **आचतुर्यम्** (अचतुर का स्वभाव—अचतुरस्य भावः), (२) **आसङ्गत्यम्** (असङ्गत का स्वभाव—असङ्गतस्य भावः), (३) **आलवण्यम्** (जो नमकीन न हो उसका स्वभाव—अलवणस्य भावः), (४) **आवट्यम्** (वट-भिन्न का स्वभाव—अवटस्य भावः), (५) **आयुध्यम्** (न लड़ने वाले का स्वभाव—अयुधस्य भावः), (६) **आकत्यम्** (जो कत→एक प्रकार का वृक्ष←न हो, उसका स्वभाव—अकतस्य भावः), (७) **आरस्यम्** (आलसी का स्वभाव—अरसस्य भावः), तथा (८) **आलस्यम्** (आलसी का स्वभाव—अलसस्य भावः)—इन स्थलों में 'नञ्' पूर्वक तत्पुरुष होने पर भी "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि ष्यञ्" (५-१-१२४) से 'ष्यञ्' होने में कोई बाधा नहीं होती ।

आयुष्यम् । आकस्यम् । आरस्यम् । आलस्यम् । (१७८४) पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५ । १ । १२२ ॥ वा-वचनमणादिसमावेशार्थम् । (१७८५) र ऋतो हलादेर्लघोः ६ । ४ । १६१ ॥ हलादेर्लघोॠकारस्य रः स्यात् इष्ठेमेयस्सु । (१७८६) टेः ६ । ४ । १५५ ॥

(१७८४) पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा । तस्य भावः इत्यनुवर्तते । पृथ्वादिभ्यः षष्ठचन्तेभ्यः भावे इमनिज् वा स्यादित्यर्थः । ननु वाग्रहणं व्यर्थम्, 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इति महाविभाषयैव वाक्यस्य सिद्धत्वात् । न च इमनिजभावे त्वतलप्रत्ययार्थं वाग्रहणमिति वाच्यम्, आ च त्वादित्येव तत्समावेशसिद्धेरित्यत आह—वावचनमणादिसमावेशार्थमिति । पृथुमृदुप्रभृतिषु 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यण:, चण्डखण्डादिषु गुणवचनलक्षणष्यञः, बालवत्सादिषु वयोवचनलक्षणस्य अञश्च औत्सर्गिकस्य समावेशार्थमित्यर्थः । अन्यथा महाविभाषावशादपवादेन मुक्ते पुनरुत्सर्गो न प्रवर्तते इति 'पारे मध्ये षष्ठया वा' इति सूत्रभाष्ये सिद्धान्तितत्वादिमनिच्त्वतलामभावे तेषां प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः ।

(१७८५) र ऋतो हलादेः । र इति प्रथमान्तम् । इष्ठेमेयस्स्विति शेषपूरणम् । 'तुरिष्ठेमेयस्सु इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । अङ्गस्येत्यधिकृतं हलादेरङ्गस्य लघोः ऋकारस्य र इति रेफाकारसङ्घात आदेशः स्यात् इष्ठनि इमनि ईयसि च परे इत्यर्थः ।

(१७८४) पद—पृथ्वादिभ्यः, इमनिच्, वा । अनुवृत्ति—तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'वा' का निवेश अणादि समावेश के लिये है ।

विवरण—समर्थ विभक्ति (= तस्य) एवं प्रत्ययार्थ (= भावः) का बोध "तस्य भावस्त्वतलौ" (५-१-११९) की अनुवृत्तिवश होता है । अतः "'भाव' अर्थ में पृथ्वादि-गण-पठित षष्ठयन्त प्रातिपदिकों से विकल्प से 'इमनिच्' (= इमन्) प्रत्यय होता है" । 'वा' कहने से पक्ष में "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" (५-१-१३१) आदि से यथाप्राप्त 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं । 'त्व'–'तल्' का अधिकार होने से 'त्व' तथा 'तल्' भी होंगे । उदाहरण आगे आने वाले प्रासङ्गिक सूत्रों में दिये जायेंगे ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'वा' ग्रहण न किये जाने पर भी "समर्थानां प्रथमाद्वा" (२-१-१) के महाविभाषा अधिकार से ही पक्ष में वाक्य का औचित्य सिद्ध हो जाता । यदि यह कहा जाय कि 'इमनिच्' के न होने पर 'त्व'-तल्' का समावेश होने के लिये 'वा' ग्रहण आवश्यक है, वह भी नहीं । कारण यह है कि "आ च त्वात्" (५-१-२०) के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत प्रकृत सूत्र की स्थिति होने से 'त्व' तथा 'तल्' का समावेश स्वतः सिद्ध है । अतः 'वा' ग्रहण अन्य प्रत्ययों के होने में सार्थक है । जिसके फलस्वरूप पार्थवम् में "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" (५-१-१३१) से इगन्त लघुपूर्व होने से 'अण्' प्रत्यय होगा ।

(१७८५) पद—रः, ऋतः, हलादेः, लघोः । अनुवृत्ति—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—हलादि ह्रस्व ऋकार को रेफ आदेश होता है ।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है । षष्ठाध्याय में पढ़ा गया है । 'भ'-संज्ञा' एवम् 'अङ्गाधिकार' के अन्तर्गत तीन तद्धित प्रत्ययों—'इष्ठन्' 'इमनिच्' तथा 'ईयसुन्'—को अभिलक्षित कर यह आदेश विधान किया जारहा है । अतः "तुरिष्ठेमेयस्सु" (६-४-१६४) से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति आ रही है । स्थानी है—'ऋत्' (ह्रस्व 'ऋ') तथा आदेश है—'र' । तदनुसार "'इष्ठन्' 'इमनिच्' तथा 'ईयसुन्' प्रत्ययों के परवर्ती रहते हलादि लघु (= ह्रस्व) 'ऋ'कार के स्थान पर 'र' आदेश होता है" ।

भस्य टेर्लोपः स्यादिष्ठेमेयस्सु । पृथोर्भावः प्रथिमा—पार्थवम् । म्रदिमा—मार्दवम् । (१७८७) वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च ५ । १ । १२३ ॥ चादिमनिच् । शौक्ल्यम्—शुक्लिमा । दार्ढ्यम् । 'पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम्' (वा ४२११) । द्रढिमा । षो ङीषर्थः । औचिती ।

(१७८६) टेः । इष्ठेमेयस्सु इत्यनुवर्तते । 'अल्लोपोऽनः' इत्यतः लोपः इति च । तदाह—टेर्लोपः स्यादिष्ठेमेयस्स्विति । प्रथिमेति । पृथुशब्दादिमनिच्, चकार इत्, नकारादिकार उच्चारणार्थः । ऋकारस्य रः, उकारस्य गुणं बाधित्वा टेर्लोपः । पार्थवमिति । इमनिजभावे 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यण् । म्रदिमेति । मृदुशब्दादिमनिचि ऋकारस्य रः, 'टेः' टिलोपश्च । मार्दवमिति । 'इगन्ताच्च' इत्यण् ।

(१७८७) वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च । षष्ठ्यन्तेभ्यो वर्णवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च भावे ष्यञ् च स्यादित्यर्थः । गुणवचनत्वादेव ष्यञि सिद्धे इमनिच्समुच्चयार्थं वचनम् ।

'पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च ।
परिपूर्वं वृढ चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत्' ॥

इति वार्तिकमर्थतः सङ्गृह्णाति—पृथुमृदुभृशेत्यादि । तेन कृतयतीत्यादाविष्ठवत्त्वेऽपि रभावो न । द्रढिमेति । दृढशब्दादिमनिचि ऋकारस्य रः । भ्रशिमा क्रशिमा द्रढिमा परिव्रढिमा । ननु वर्णदृढादीनां ष्यञन्तानां लोकतो नपुंसकत्वात् ष्यञः षित्त्वस्य किं प्रयोजनमित्यत आह—षो ङीषर्थं इति । औचितीति । उचितशब्दात् ब्राह्मणादित्वात् ष्यञि लोकात् स्त्रीत्वम् । षित्त्वात् ङीषि 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः । उचितस्तु न

(१७८६) पद—टेः । अनुवृत्ति—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् प्रत्यय परे रहते 'भ'संज्ञक अङ्ग की 'टि' का लोप होता है । उदा० १–पृथोः भावः→प्रथिमा । पार्थवम् । २–म्रदिमा । मार्दवम् ।

विवरण—'टेः' पद साकाङ्क्ष है । अतः उस आकाङ्क्षा की शान्ति "ढे लोपोऽकद्र्वाः" (६-४-१४७) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आने से होती है । इसके साथ ही 'इष्ठेमेयस्सु' तथा "भस्य" (६-४-१२९) एवम् "अङ्गस्य" (६-४-१) का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । 'भस्य' का अन्वय सूत्रस्थ 'टेः' के साथ होता है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'इष्ठन्' 'इमनिच्' तथा 'ईयसुन्' प्रत्ययों के परवर्ती रहते 'भ'-संज्ञक 'अङ्ग' के 'टि'-भाग का लोप होता है" । उदाहरण—प्रथिमा (विशालता—पृथोः भावः)—पृथु+इमन् (इमनिच्) > प्रथु+इमन् (ऋ=र) > प्रथिमन् (टि='उ' का लोप) > प्रथिमा (पुंलिङ्ग प्रथमा एकवचन) । पक्ष में—पार्थवम्—पृथु+अण् (आदिवृद्धि, गुण—"ओर्गुणः" तथा 'अव्' आदेश) । इसी प्रकार (२) म्रदिमा (मृदुता—मृदोः भावः) मृदु+इमन् तथा मार्दवम् (मृदु+अण्) रूप निष्पन्न होंगे ।

(१७८७) पद—वर्णदृढादिभ्यः, ष्यञ्, च । अनुवृत्ति—इमनिच्, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'च' ग्रहण करने से 'इमनिच्' भी हो । उदा० १–शौक्ल्यम्—शुक्लिमा । २–दार्ढ्यम् । वा० पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ तथा परिवृढ शब्दों के 'ऋ'कार को ही 'र' आदेश होता है । द्रढिमा । 'ष्यञ्' में 'ष्' का उच्चारण 'ङीष्' के लिये है । उदा० १–औचिती । २–याथाकामी ।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये उल्लिखित आधिकारिक एवं प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं । तदनुसार "'वर्ण'-विशेष-वाची तथा 'दृढादि' षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से 'ष्यञ्' तथा 'इमनिच्' प्रत्यय होते हैं" । इसके साथ ही 'त्व'—'तल्' भी होंगे । इस प्रकार चार रूप बनेंगे । सूत्रस्थ प्रत्ययों के उदाहरण—(क) शौक्ल्यम् (सफेदी—शुक्लस्य भावः)—शुक्ल+ष्यञ्

याथाकामी । (१७८८) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५ । १ । १२४ ॥ चाद्भावे । जडस्य कर्म भावो वा जाड्यम् । मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम् । ब्राह्मण्यम् । 'अर्हतो नुम् च-' (वा ३०९२) । अर्हतो भावः कर्म वा-आर्हन्त्यम् । आर्हन्ती । ब्राह्मणादिरा-

---

दृढादिः, तद् गणे अदर्शनात् इमनिच्प्रसङ्गाच्च । अस्यैव ष्यञ् उत्तरसूत्रे अनुवृत्तेरिहैव तस्य षित्त्वप्रयोजनकथनमिति बोध्यम् । याथाकामीति । काममनतिक्रम्य यथाकामम् । ततः स्वार्थे चतुर्वर्णादित्वात् ष्यञि लोकात् स्त्रीत्वे षित्त्वात् ङीष् ।

(१७८८) गुणवचनेति । गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च षष्ठचन्तेभ्यो भावे, कर्मणि च अर्थे ष्यञित्यर्थः । अर्हतो नुम् चेति । वार्तिकमिदम् । 'अर्हः प्रशंसायाम्' इति सूत्रेण शतरि अर्हच्छब्दः पूज्यवाचीति कैयटः । अर्हच्छब्दात् ष्यञ् स्यात्प्रकृतेर्नुम् चेत्यर्थः । मित्त्वादन्त्यादचः परः । अनुस्वारपरसवर्णौ । लोकात् नपुंसकत्वं स्त्रीत्वं च । तदाह—आर्हन्त्यमार्हन्तीति । आर्हन्त्यशब्दात् ङीषि 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः ।

(=य) ▷ शौक्ल्यम् (आदिवृद्धि, अन्त्य-वर्ण-लोप) । (ख) 'ष्यञ्' के अभाव में इमनिच्—**शुक्लिमा** (शुक्ल्+इमन्) । (२) इसी प्रकार—(क) **दार्ढ्यम्**-ष्यञ् होने पर । (ख) **द्रढिमा** (दृढता-दृढस्य भावः)—दृढ+इमन् > द्रढ्+इमन् (ऋ = र) > द्रढिमा ('अ'-लोप—"टेः" ६-४-१५५) ।

इसी प्रसङ्ग में वार्तिककार परिगणन करते हैं कि पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ तथा परिवृढ शब्दों के 'ऋ'कार को ही 'र' आदेश होता है, अन्यत्र नहीं । अतः द्रढिमा में 'ऋ' के स्थान पर 'र' हो गया । 'ष्यञ्' में षकार 'इत्' होने के फलस्वरूप 'ङीष्' प्रत्यय होता है । अतः (१) **औचिती** (उपयुक्तता-उचितस्य भावः)—उचित+ष्यञ् ('ब्राह्मणादि' में पाठ होने से = य) > औचित्य्+ङीष् (ई) ▷ औचिती ('अ' लोप तथा 'य्' लोप—"हलस्तद्धितस्य" (६-४-१५०) । (२) **याथाकामी** (इच्छानुसार कार्य करना-यथाकामम् एव)—यथाकाम+ष्यञ् ('चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' वा०) ▷ याथाकाम्य्+ङीष् (ई) । 'अ' तथा 'य्' का लोप । स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन ।

(१७८८) पद—गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः, कर्मणि, च । **अनुवृत्ति**—ष्यञ्, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्वोक्त प्रत्ययार्थ के अतिरिक्त दूसरा प्रत्ययार्थ 'कर्म' भी बतलाया जा रहा है । 'ष्यञ्' का ही प्रकरण है । "तदनुसार ""षष्ठयन्त गुण-वाचक तथा 'ब्राह्मण'-गणपठित प्रातिपदिकों से 'कर्म' तथा 'भाव' (च) अभिधेय होने पर 'ष्यञ्' प्रत्यय होता है" । गुणवाची **उदाहरण**—(१) **जाड्यम्** (जडता-जडस्य कर्म भावः वा)—जड्+ष्यञ् (= य) तथा पक्ष में जडत्वम् एवं जडता (२) **मौढ्यम्** (मूर्खता—मूढस्य भावः कर्म वा)—मूढ्+ष्यञ् (= य) । पक्ष में मूढत्वम्, मूढता (३) ब्राह्मणादि—**ब्राह्मण्यम्** (ब्रह्मत्व—ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा)—ब्राह्मण+ष्यञ् (= य) । तीनों स्थलों में अजादि-वृद्धि एवम् अन्त्यलोप । पक्ष में ब्राह्मणत्वम्, ब्राह्मणता । दूसरे वार्तिक में "षष्ठयन्त पूज्यार्थक अर्हत् शब्द से भी 'भाव' या 'कर्म' अर्थ में 'ष्यञ्' (= य) प्रत्यय तथा उसे 'नुम्' आगम होने की व्यवस्था दी है' । तदनुसार **आर्हन्त्यम्** (पूजनीय का स्वभाव या कर्म—अर्हतः कर्म भावः वा)—अर्हत्+ष्यञ् (= य) > अर्ह-न्-त्-य (अन्त्य 'अच्' से पर नुम् आगम) ▷ आर्हन्त्यम् (आदिवृद्धि) । स्त्रीलिङ्ग में—**आर्हन्ती** ('ङीष्', 'अ'-लोप तथा 'य्' लोप) । 'ब्राह्मणादि' आकृतिगण है ।

विशेष—'कर्म' पद से 'कार्य' एवं 'क्रिया' दोनों का बोध होता है । शरीर-आयास से साध्य

कृतिगणः। (१७८९) यथातथायथापुरयोः पर्यायेण ७ । ३ । ३१ ।। नञः परयोरेतयोः पूर्वोत्तरपदयोः पर्यायेणादेरचो वृद्धिर्ञिदादौ। अयथातथाभावः आयथातथ्यम्–अयाथातथ्यम्। आयथापुर्यम्–अयाथापुर्यम्। आपादसमाप्तेर्भावकर्माधिकारः। 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' (वा ३०९१)। चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्। चातुराश्रम्यम्। त्रैस्वर्यम्। षाड्गुण्यम्। सैन्यम्। सान्निध्यम्। सामीप्यम्। औपम्यम्। त्रैलोक्यम् इत्यादि। सर्वे वेदाः सर्ववेदास्तानधीते सर्ववेदः। 'सर्वादे–' (वा २७४८) इति लुक्। स एव सार्ववेद्यः।

(१७८९) यथातथेति निपातसमुदायः। यथापुरमिति। पुराशब्देन पदार्थानतिवृत्ताव्ययीभावः। इमौ शब्दौ नञ्पूर्वपदौ ब्राह्मणादी, तयोः ष्यञि आदिवृद्धौ विशेषमाह—यथातथायथापुरयोः पर्यायेण। आदिवृद्धिप्रकरणे उत्तरपदस्य पूर्वस्य चेत्यधिकारे इदं सूत्रम्। 'नञः शुचि' इत्यतो नञ इत्यनुवर्तते। तदाह—नञः परयोरेतयोरिति। यथातथायथापुरः इत्यनयोरित्यर्थः। पर्यायेणेति। कदाचित्पूर्वपदस्य कदाचिदुत्तरपदस्येत्यर्थः। आयथातथ्यमिति। यथातथेति निपातनात् ष्यञि पूर्वपदस्यादिवृद्धिः। अयाथातथ्यमिति। उत्तरपदस्यादिवृद्धिः। आयथापुर्यमिति। यथापुरशब्दात् ष्यञि पूर्वपदस्यादिवृद्धिः। अयाथापुर्यमिति। उत्तरपदस्यादिवृद्धिः। आपादसमाप्तेरिति। अत्र व्याख्यानमेव शरणम्। चतुर्वर्णादीनामिति। चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे ष्यञ उपसङ्ख्यानमित्यर्थः। सर्ववेदा इति। 'पूर्वकाल' इति समासः। लुगिति। अध्येतृप्रत्ययस्येति शेषः। स एव सार्ववेद्य इति। सर्ववेदशब्दात् स्वार्थे ष्यञिति भावः। चतुर्वेदस्येति। वार्तिकमिदम्। ष्यञिति शेषः।

नित्य कार्यों को क्रिया कहा जाता है। शास्त्र-विहित यागादि की भी कार्य संज्ञा है। शीतोष्णादि का जिससे बोध हो, उसे 'गुण-वचन' कहा जाता है।

(१७८९) पद—यथातथ-यथापुरयोः, पर्यायेण। **अनुवृत्ति**—नञः, पूर्वस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'नञ्' से पर इन दोनों के पर्यायों से पूर्व एवम् उत्तरपद के आदि अच् को ञिदादि प्रत्ययों के परे वृद्धि होती है। उदा० १–अयथातथाभावः—आयथातथ्यम्। अयाथातथ्यम्। २–आयथापुर्यम्। अयाथापुर्यम्। इस पाद की समाप्ति-पर्यन्त भाव-कर्माधिकार है। वा० 'चतुर्वर्ण' आदि शब्दों से भी ('ष्यञ्') कहा जाय। उदा० चत्वारः वर्णाः—चातुर्वर्ण्यम्। २–चातुराश्रम्यम्। ३–त्रैस्वर्यम्। ४–वैस्वर्यम्। ५–षाड्गुण्यम्। ६–सान्निध्यम्। ७–सामीप्यम्। ८–औपम्यम्। ९–त्रैलोक्यम्—इत्यादि। सर्वे वेदाः—सर्ववेदाः, तान् अधीते ▷ सार्ववेदः—में 'सर्वादेः' (वा० २७४८) से (प्रत्यय का) लुक्। ततः स एव—(स्वार्थ में)—सर्ववैद्यः। ग० सू० चतुर्वेद शब्द में उभयपद वृद्धि हो। उदा० चतुरः वेदान् अधीते ▷ चतुर्वेदः, स एव (स्वार्थे)—चातुर्वैद्यः। 'चतुर्विद्यस्य' पाठान्तर होने से—चतुर्विद्य एव→चातुर्वैद्यः।

विवरण—आदिवृद्धि प्रकरण में "उत्तरपदस्य" तथा "पूर्वस्य" के अधिकार में यह सूत्र भी पढ़ा गया है। इससे पूर्व सूत्र "नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्" (७-३-३०) से 'नञः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। 'नञः' पञ्चम्यन्त है। अतः उससे उत्तरवर्ती पदों पर विहित कार्य प्रभावी होगा। तदनुसार ""नञ्' से उत्तरवर्ती 'यथातथ' तथा 'यथापुर' अङ्गों के पूर्व पद एवम् उत्तरपद के आदि-अच् को 'ञित्', 'णित्' तथा 'कित्' तद्धित प्रत्यय परवर्ती होने की स्थिति में पर्याय से वृद्धि होती है"। पर्याय-कथन से एक बार 'नञ्' को तथा एक बार 'य' के 'अ' को वृद्धि हुई है। **उदाहरण—(क) आयथातथ्यम्** (ठीक ठीक न होना या रहना—अयथातथा भावः)—अयथातथ्+ष्यञ् (=य)। (ख) **अयाथातथ्यम्**। पर्याय-कथन से एक बार 'नञ्' को ('क' में पूर्वपदस्थ अ = आ) तथा एक बार 'य' के 'अ' को ('ख' में उत्तरपदस्थ

'चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च' (ग सू ९३)। चतुरो वेदानधीते चतुर्वेदः। स एव चातुर्वैद्यः। चतुर्विद्यस्य इति पाठान्तरम्। चतुर्विद्य एव चातुर्वैद्यः। (१७९०) स्तेनाद्यन्नलोपश्च ५।१।१२५॥ न इति सङ्घातग्रहणम्। 'स्तेन चौर्ये' पचाद्यच्। स्तेनस्य भावः कर्म वा

चतुर्वेद इति। 'तद्धितार्थं' इति द्विगुः। ततोऽध्येतृप्रत्ययस्याणो 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक्। चतुर्विद्यस्येतीति। 'चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च' इति वार्तिके चतुर्वेदस्येत्यस्य स्थाने चतुर्विद्यस्येति केचित्पठन्तीत्यर्थः। चतस्रो विद्याः अधीते इत्यर्थे 'तद्धितार्थं' इति द्विगौ 'विद्यालक्षणकल्पान्ताच्च' इति ठकि 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति तस्य लुकि चतुर्विद्यशब्दात् स्वार्थे ष्यञि उभयपदवृद्धौ चातुर्वैद्यः इति रूपमिति भावः।

(१७९०) स्तेनाद्यन्नलोपश्च। यदिति च्छेदः। स्तेनशब्दात् षष्ठ्यन्तात् भावे कर्मणि चार्थे यत्स्यादित्यर्थः। नेति सङ्घातग्रहणमिति। नलोपश्चेत्यत्र नेत्यकार उच्चारणार्थो न

'य' को वृद्धि हुई। (२) आयथापुर्यम्→'नञ्' के 'अ' को वृद्धि होने पर। (ख) अयाथापुर्यम्←'य' के 'अ' को वृद्धि होने पर। नञ्-समास किये हुए 'अयथातथ' तथा 'अयथापूर्व' शब्द 'ब्राह्मणादि-गण' में पढ़े हुए माने जायेंगे, क्योंकि ब्राह्मणादि-गण आकृतिगण है। तभी 'ष्यञ्' सम्भव होगा।

विशेष—अष्टाध्यायी-क्रम में पञ्चमाध्याय प्रथम पाद के अवशिष्ट सूत्रों के अन्त तक भावकर्माधिकार प्रभावी होगा। इस सम्बन्ध में प्राचीन वृत्तिकारों का व्याख्यान ही प्रमाण है।

वार्तिक आदि—इस प्रासङ्गिक वृद्धि को बतलाने के बाद प्राकरणिक 'ष्यञ्' प्रत्यय-विधायक सूत्र (सू० १७८८) से सम्बद्ध उपयोगी वार्तिकों एवं गणसूत्र का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। तदनुसार प्रथम वार्तिक से 'चातुर्वर्ण्य' आदि शब्दों की सिद्धि के लिये 'चतुर्वर्ण' आदि शब्दों से स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय होना बतलाया गया है। इस प्रकार (१) **चातुर्वर्ण्यम्** (चार वर्ण—चत्वारः वर्णा एव→चतुर्वर्ण+ष्यञ्=य—आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण-लोप)। (२) **चातुराश्रम्यम्** (चार आश्रम—चत्वारः आश्रमाः एव)। (३) **त्रैलोक्यम्** (तीनों लोक—त्रयो लोकाः एव)। (४) **त्रैस्वर्यम्** (तीनों स्वर—त्रयः स्वराः एव)। (५) **षाड्गुण्यम्** (छहों गुण—षड् गुणाः एव)। (६) **सैन्यम्** (सेना—सेना एव)। (७) **सान्निध्यम्** (समीप—सन्निधिः एव)। (८) **सामीप्यम्** (समीप—समीपम् एव)। (९) **औपम्यम्** (उपमा—उपमा एव) तथा (१०) **सौख्यम्** (सुख—सुखम् एव)—इन शब्दों में स्वार्थ में ही 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ। इसी तरह **सार्ववैद्यः**—(सभी वेदों को पढ़ने वाला-सर्वे वेदाः>सर्ववेदाः ("पूर्वकाल०" २-१-४९ से समास, अण् तथा उसका 'लुक्'→'सर्वसादेर्द्विगोश्च' वा०, ततः सर्ववेदान् एव अधीते)—में भी स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है। उसका विधायक वार्तिक है—**सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे**। स्वार्थ में ही **चातुर्वैद्यः** (चारों वेदों का पढ़ने वाला—चत्वारः वेदाः, तान् अधीते—तद्धतार्थ में द्विगु एवं उससे आगत 'अण्' का "द्विगोर्लुगनपत्ये" ४-१-८८ से 'लुक्')—में 'चतुर्वेद' शब्द से ब्राह्मणादि-गण में पठित "चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च"—गणसूत्र से 'ष्यञ्' तथा उभयपद वृद्धि ('च' को तथा 'वे' को) हुई है। इस गणसूत्र में 'चतुर्विद्यस्य' पाठभेद है। उसके अनुसार भी उक्त रूप ही निष्पन्न होगा। वहाँ पर अर्थ भिन्न होगा—चारों विद्याओं का अध्येता—चतस्रः विद्याः अधीते—तद्धितार्थ में द्विगुसमास के अनन्तर 'विद्यालक्षणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम्' वा० से आगत 'ठञ्' का "द्विगोर्लुगनपत्ये" ४-१-८८ से लुक् होने के पश्चात् 'चतुर्विद्य' शब्द से स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय एवम् उभयपदवृद्धि होने से चातुर्वैद्यः रूप सिद्ध होता है।

(१७९०) **पद**—स्तेनात्, यत्, नलोपः, च। **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

स्तेयम् । स्तेनात् इति योगं विभज्य स्तैन्यमिति ष्यञन्तमपि केचिदिच्छन्ति । (१७९१) सख्युर्यः ५।१।१२६ ।। सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । 'दूतवणिग्भ्यां च' । दूतस्य भावः कर्म वा दूत्यम् । 'वणिज्यम्–' इति काशिका । माधवस्तु 'वणिज्याशब्दः स्वभावात्स्त्रीलिङ्गः, भाव एव चात्र प्रत्ययो न तु कर्मणि' इत्याह । भाष्ये तु 'दूतवणिग्भ्यां च' इति नास्त्येव ।

भवति । किन्तु नकाराकारसङ्घातग्रहणमित्यर्थः । स्तेयमिति । स्तेनशब्दात् यत्प्रत्यये सति नेति सङ्घातस्य लोप इति भावः । न च नकारमात्रलोपेऽपि 'यस्येति च' इत्यकारलोपात् स्तेयमिति सिध्यतीति वाच्यम्, 'अचः परस्मिन्' इत्यकारलोपस्य स्थानिवत्त्वेन तमाश्रित्य एकारस्य अयादेशप्रसङ्गात् । न च सङ्घातग्रहणेऽपि 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यकारस्यैव लोपः स्यादिति शङ्क्यम्, 'यस्येति च' इत्येव अकारस्य लोपसिद्धाविह नलोपविधेर्वैयर्थ्यात्, 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः' इति निषेधाच्च । योगं विभज्येति । स्तेनादिति पृथक् सूत्रम् । ष्यञित्यनुवर्तते । स्तेनशब्दाद्भावे कर्मणि च ष्यञित्यर्थः । समासकृदन्ततद्धितान्ताव्यय-सर्वनामजातिसङ्ख्यासञ्ज्ञाशब्दभिन्नमर्थवच्छब्दरूपं गुणवचनसञ्ज्ञकं भवतीति आकडारसूत्र-भाष्यरीत्या स्तेनशब्दस्य पचाद्यजन्तस्य कृदन्तस्य गुणवचनत्वाभावादप्राप्ताविदं वचनम् । अव्युत्पन्नप्रातिपदिकतया गुणवचनत्वेऽपि यत्प्रत्ययेनापवादेन पक्षे समावेशार्थं वचनम् । ततो 'यन्नलोपश्च' इति योगान्तरम् । स्तेनात् इत्यनुवृत्तावुक्तोऽर्थः । केचिदिति । भाष्यादृष्टत्वात् योगविभागोऽयमप्रामाणिक इति भावः ।

(१७९१) सख्युर्यः । सखिशब्दात् षष्ठयन्तात् भावकर्मणोः यः स्यादित्यर्थः । दूतवणिग्भ्यां चेति । वार्तिकमिदम् । आभ्यामपि षष्ठयन्ताभ्यां भावकर्मणोः यत्स्या-

---

मूलार्थ—'न' = अच्-सहित 'न्' का बोधक है । चौर्य अर्थ में पचादि-अच्-प्रत्ययान्त 'स्तेन' शब्द है । उदा० स्तेनस्य भावः कर्म वा—स्तेयम् । कुछ लोगों के अनुसार 'स्तेनात्' का योग-विभाग करने पर 'ष्यञ्'—प्रत्ययान्त 'स्तैन्यम्' रूप भी बनता है ।

विवरण—भाव-कर्म का ही विषय है । तदनुसार "षष्ठयन्त 'स्तेन' प्रातिपदिक से 'भाव' और 'कर्म' अर्थ में 'यत्' (= य) प्रत्यय होता है तथा 'स्तेन' शब्द के 'न' का लोप भी होता है" । सूत्र में स्वरयुक्त 'न्'-वर्ण का सूचक 'नलोपः' पदस्थ 'न' है न कि केवल 'न्' व्यञ्जन का । **उदाहरण**—स्तेयम् (= चोरी—स्तेनस्य भावः कर्म वा)—स्तेन्+यत् (= य) >स्तेयम् ('न' का लोप) । कुछ वृत्तिकारों ने 'स्तैन्यम्' रूप निष्पन्न होने के लिए प्रकृत सूत्र में योगविभाग की कल्पना की है । जिसके अनुसार सूत्र को दो भागों में विभक्त करते हैं—(१) स्तेनात् तथा (२) यन्नलोपश्च । सूत्रस्थ प्रथम भाग में 'ष्यञ्' की अनुवृत्ति आने के कारण 'स्तेन' शब्द से 'भाव' तथा 'कर्म' में ष्यञ् होगा । आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप होने पर—स्तेन्+ष्यञ् (= य)—स्तैन्यम् रूप निष्पन्न होगा । द्वितीय भाग में 'स्तेन' की अनुवृत्ति द्वारा पूर्वोक्त 'स्तेयम्' रूप सिद्ध किया जाता है ।

(१७९१) **पद**—सख्युः, यः । **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० सख्युः भावः कर्म वा→सख्यम् । वा० 'दूत' और 'वणिज्' से भी कहा जाय । उदा० १–दूतस्य भावः कर्म वा→दूत्यम् । २–काशिका के अनुसार वणिज्यम् । माधव के मत में 'वणिज्या' शब्द स्वभावतः स्त्री-लिङ्ग है, अतः केवल भाव में ही प्रत्यय है । भाष्य में 'दूत-वणिग्भ्यां च' का उल्लेख नहीं है । ब्राह्मणादि गण में पाठ होने से 'ष्यञ्' प्रत्यय होने पर 'वाणि-ज्यम्' भी सिद्ध होगा ।

ब्राह्मणादित्वाद् वाणिज्यमपि । (१७९२) कपिज्ञात्योर्ढक् ५ । १ । १२७ ॥ कापेयम् । ज्ञातेयम् । (१७९३) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५ । १ । १२८ ॥ सैनापत्यम् । पौरोहित्यम् । 'राजाऽसे' (ग सू १०६) राजन्शब्दोऽसमासे यकं लभत इत्यर्थः । राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् । समासे तु ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्—आधिराज्यम् । (१७९४)

दिति वक्तव्यमित्यर्थः । नास्त्येवेति । वार्तिकत्वे तस्य भाष्ये पाठावश्यकत्वात् पाठस्य चाभावादप्रामाणिकमेवेदं वृत्तिपठितं वार्तिकमिति भावः । तर्हि दूतवणिग्भ्यां भावकर्मणोः कथं यप्रत्यय इत्याशङ्क्य नास्त्येव यप्रत्ययः, किन्तु ष्यञेवेत्याह—ब्राह्मणादित्वाद् वाणिज्यमपीति । अपिना दौत्यसङ्ग्रहः ।

(१७९२) कपिज्ञात्योर्ढक् । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । आभ्यामपि षष्ठ्यन्ताभ्यां भावकर्मणोः ढगित्यर्थः । अत्र कपिज्ञात्योः भावकर्मणोश्च न यथासङ्ख्यं व्याख्यानात् ।

(१७९३) पत्यन्त । पत्यन्तेभ्यः पुरोहितादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो भावकर्मणोर्यक् स्यादित्यर्थः । राजाऽसे इति । पुरोहितादिगणसूत्रमिदम् । राजा असे इति च्छेदः । 'स' इति समासस्य प्राचां संज्ञा । तदाह—राजन्शब्द इति । राज्यमिति । यकि टिलोपः । 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावस्तु न, अभावकर्मणोरिति पर्युदासात् । समासे त्विति । अधिको

विवरण—भाव-कर्म अर्थ का ही विषय है । तदनुसार "षष्ठीसमर्थ 'सखि' प्रातिपदिक से 'भाव' और 'कर्म' अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—सख्यम्** (मित्रता—सख्युः भावः कर्म वा)—सखि+य । अन्त्यवर्ण = 'इ' का लोप । काशिकाकार ने **'दूत्यम्'** (दूत का कार्य या भाव—दूतस्य भावः कर्म वा) एवम् **वणिज्यम्** (बनियें का कार्य या भाव—व्यापार या व्यापारी—वणिजः कर्म भावः वा) शब्दों की सिद्धि में यत् प्रत्यय का निर्वाह करने के लिये **दूतवणिग्भ्या च** को वार्तिक के रूप में माना है । परन्तु भाष्य में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है । ब्राह्मणादिगण में पाठ मानने से **वाणिज्यम्, दौत्यम्** आदि रूप प्रयुक्त होते हैं । अत एव इन शब्दों का प्रचलन ही अधिक है । माधवाचार्य ने केवल 'भाव' अर्थ में ही 'य' प्रत्ययान्त **वणिज्या** शब्द माना है ।

(१७९२) पद—कपिज्ञात्योः, ढक् । **अनुवृत्ति**-कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'कपिज्ञात्योः' पद में षष्ठी विभक्ति पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त है । "षष्ठी-समर्थ 'कपि' तथा 'जाति' शब्दों से 'भाव' और 'कर्म' अर्थों में 'ढक्' (=एय) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **कापेयम्** (बन्दर का स्वभाव या कार्य—कपेः भावः कर्म वा) कपि+ढक् (ढ = एय) । आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् । (२) **ज्ञातेयम्** (जाति वालों का स्वभाव या कर्म) ज्ञाति+ढक् (ढ = एय) । अन्त्यवर्णलोप ।

(१७९३) पद—पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः, यक् । **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'पति'-शब्दान्त तथा 'पुरोहित' आदि प्रातिपदिकों से 'भाव' और 'कर्म' अर्थों में 'यक्' प्रत्यय होता है" । 'क्' इत् होने से आदिवृद्धि होगी । **उदाहरण**—(१) **सैन्यापत्यम्** (सेनापति का स्वभाव या कर्म—सेनापतेः भावः कर्म वा)—सेनापति+यक् (=य) । (२) **पौरोहित्यम्** (पुरोहित का स्वभाव या कर्म)—पुरोहित+यक् । भाव और कर्म अर्थों में राज्यम् शब्द की निष्पत्ति के लिये पुरोहितादिगण के अन्तर्गत पठित **गणसूत्र** का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है, जिसके अनुसार समास के अतिरिक्त अन्यत्र 'भाव' और 'कर्म' अर्थों में 'राजन्' शब्द से भी 'यक्' (= य) प्रत्यय होगा । अतः 'राजा का स्वभाव एवं कार्य—राज्ञः भावः कर्म वा'—अर्थों में **राज्यम्** (राजन्+य तथा टि = 'अन्' का लोप) शब्द सिद्ध होता है ।

प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ५ । १ । १२९ ॥ प्राणभृज्जातिः→आश्वम्-औष्ट्रम् । वयोवचनम्–कौमारम् । कैशोरम् । औद्गात्रम् । औन्नेत्रम् । सौष्ठवम् । दौष्ठवम् ।
(१७९५) हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ५ । १ । १३० ॥ द्वैहायनम् । त्रैहायनम् । यौवनम् । स्थाविरम् । 'श्रोत्रियस्य यलोपश्च' (वा ३०९३) । श्रौत्रम् । कुशलचपलनिपुण-

---

राजा अधिराजः प्रादिसमासः । असे इति पर्युदासाद्यभावे ब्राह्मणादित्वात् ष्यञि आधिराज्यमिति रूपमित्यर्थः । यकृष्यञोः स्वरे विशेषः ।

(१७९४) प्राणभृज्जाति । प्राणभृतः–प्राणिनः, तज्जातिवाचिभ्यो वयोविशेषवाचिभ्य उद्गात्रादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः भावकर्मणोः अञित्यर्थः । प्राणभृज्जातीति । उदाहरणसूचनम् । एवं वयोवचनेति ।

(१७९५) हायनान्त । हायनान्तेभ्यः युवादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो भावकर्मणोः अण् स्यादित्यर्थः । द्वैहायनमिति । द्विहायनस्य भावः कर्म वेति विग्रहः । वयोवचनलक्षणस्य अञोऽपवादः । एवं त्रैहायनमपि । यौवनमिति । अनिति प्रकृतिभावान्न टिलोपः । श्रोत्रियस्येति । वार्तिकमिदम् । श्रोत्रियशब्दात् षष्ठ्यन्तात् भावकर्मणोः अण्; प्रकृतेर्यलोपश्चेत्यर्थः । चेति सङ्घातग्रहणम् । श्रौत्रमिति । छन्दोऽधीते इत्यर्थे छन्दश्शब्दात् घप्रत्यये तस्य इत्यादेशे प्रकृतेः श्रोत्र इत्यादेशे 'यस्येति च' इत्यल्लोपे श्रोत्रियशब्दः ।

समास में (ब्राह्मणादि-गण में पाठ होने से) ष्यञ् होकर **आधिराज्यम्** (अधिकः राजा > अधिराजः→प्रादि समास, तदनन्तर ष्यञ् प्रत्यय) रूप बनेगा । ब्राह्मणादि में केवल 'राजन्' शब्द का पाठ होने पर भी उल्लिखित गणसूत्र 'राजाऽसे' में 'असे' ('असमासे') ग्रहण-सामर्थ्य से तदन्तविधि होती है ।

विशेष—यद्यपि 'यक्' तथा 'ष्यञ्' प्रत्ययों में रूप-साम्य तो अवश्य है तथापि स्वर में भेद है ।

(१७९४) **पद**—प्राणभृज्जातिवयोवचनात्, गोत्रादिभ्यः, अञ् । **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्ववर्णित विषय का ही अनुसरण है । अतः "षष्ठी-समर्थ जीवधारी-जातिवाची (प्राणभृज्जाति) प्रातिपदिकों से, अवस्थावाची (वयोवचन) प्रातिपदिकों से तथा उद्गात्रादि (उद्गात्रादिभ्यः) प्रातिपदिकों से 'भाव' और 'कर्म' अर्थ में, 'अञ्' (=अ) प्रत्यय होता है" । उद्गात्रादि शब्दों में पठित ऋत्विग्वाची शब्दों से "होत्राभ्यश्छः" (५-१-१३५) से 'छ' प्राप्त रहा, उसका यह अपवाद है । **उदाहरण**—(१) प्राणिवाची–**आश्वम्** (घोड़े का स्वभाव या कर्म—अश्वस्य भावः कर्म वा)—अश्व+अञ् । (२) वयोवचन—(क) **कौमारम्** (कुमारावस्था या कुमार का कर्म)—कुमार+अञ् । (ख) **कैशोरम्** (किशोरावस्था या किशोर का कर्म) । (३) उद्गात्रादि (क) **औद्गात्रम्** (सामगान करने वाले का स्वभाव या कर्म—उद्गातुः भावः कर्म वा)—उद्गातृ+अञ् । आदिवृद्धि एवं यण् । (ख) **औन्नेत्रम्** (सोमरस उँडेलने वाले का स्वभाव या कर्म—उन्नेतुः कर्म भावः वा)—उन्नेतृ+अञ् । (ग) **सौष्ठवम्** (सज्जनता—सुष्ठोः भावः कर्म वा)—सुष्ठु+अञ् । (घ) **दौष्ठवम्** (दुर्जनता—दुष्ठोः भावः कर्म वा)—दुष्ठु+अञ् । उभयत्र आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् ।

(१७९५) **पद**—हायनान्तयुवादिभ्यः, अण् । **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—सभी उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । उद्देश्य एवं विधेय-वाची शब्द सूत्र में विद्यमान हैं । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ 'हायनान्त' एवं 'युवादि' प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है" । वयोवचन-लक्षण 'अञ्' का यह अपवाद

पिशुनकुतूहलक्षेत्रज्ञाः युवादिषु ब्राह्मणादिषु च पठ्यन्ते। कौशल्यम्—कौशलमित्यादि। (१७९६) इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ५।१।१३१॥ शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्। (मौनम्)। कथं काव्यम्? कविशब्दस्य ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्। (१७९७) योपधाद्

श्रोत्रियस्य भावः कर्म वेत्यर्थे श्रोत्रियशब्दादणि यकाराकारसङ्घातस्य लोपे रेफादिकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे श्रौत्रमिति रूपम्। यकारादकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे सति यकारमात्रस्यानेन लोपे तु रेफादिकारस्य यण् स्यात्। न च तस्य 'यस्येति च' इति लोपः शङ्क्यः, लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिरिति न्यायात्। अकारलोपस्य स्थानिवत्त्वेन इकारान्तस्य भत्वाभावाच्च। 'श्रोत्रियस्य घलोपश्च' इत्येके पठन्ति।

(१७९६) इगन्ताच्च। लघुः पूर्वोऽवयवो यस्येति विग्रहः। पूर्वत्वं च इगवधिकमेव गृह्यते, व्याख्यानात्। तथा च लघुपूर्वो य इक् तदन्तात्प्रातिपदिकात् षष्ठयन्ताद्भावकर्मणोरण् स्यादित्यर्थः। गुणवचनेत्यादेरपवादः। कथं काव्यमिति। कविशब्दस्य लघुपूर्वेगन्त-

है। रूपसाम्य होने पर भी स्वर-भेद से सूत्र की उपयोगिता है। **उदाहरण**--हायनान्त—(१) (क) **द्वैहायनम्** (दो वर्ष वाले का स्वभाव या कर्म—द्विहायनस्य भावः कर्म वा)—द्विहायन्+अण् (=अ)। (ख) **त्रैहायनम्** (तीन वर्ष वाले का स्वभाव या कर्म)—त्रिहायन्+अण्। (२) युवादि—(क) **यौवनम्** (युवा पुरुष का स्वभाव या कर्म-यूनः भावः कर्म वा)-युवन्+अण् (=अ)। आदिवृद्धि। प्रकृतिभाव होने से 'टि'लोप नहीं। (ख) **स्थाविरम्** (वृद्ध पुरुष का स्वभाव या कर्म—स्थविरस्य भावः कर्म वा)—स्थविर्+अण् (=अ)।

युवादिगण के अन्तर्गत पढ़े गए कुछ शब्दों में विशेष विधान का निरूपण करने के लिये **वार्तिक** प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अनुसार 'षष्ठयन्त **श्रोत्रिय** शब्द से 'भाव' और 'कर्म' अर्थों में 'अण्' प्रत्यय हो तथा 'य' का लोप भी होता है'। **उदाहरण—श्रौत्रम्** (श्रोत्रिय का स्वभाव या कर्म—श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा)—श्रोत्रिय्+अण् (=अ)>श्रोत्रि+अ ('य'का लोप) > श्रौत्रम् (आदिवृद्धि तथा 'इ' का लोप)। 'श्रौत्र' शब्द के सम्बन्ध में यह शङ्का उपस्थित की जाती है कि 'य' के लोपविधान के बिना भी 'श्रौत्र' रूप सिद्ध हो सकता है। जैसे—'श्रोत्रिय' से 'अण्' प्रत्यय करने पर 'अन्त्य-वर्ण' का लोप होने से केवल 'य्' व्यञ्जन का प्रकृत वार्तिक से लोप किया जाय, तदनन्तर आदिवृद्धि एवं पुनः 'इ'-वर्ण का भी "यस्येति च" (६-४-१४८) से लोप होने पर 'श्रौत्रम्' रूप निष्पन्न हो सकता है। इसके निवारण का यह उपाय है कि 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' न्याय से पुनः इकार-लोप होने में "यस्येति च" की प्रवृत्ति असम्भव है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि यकारोत्तरवर्ती 'अ' के लोप को स्थानिवद्भाव होने से 'इ'कारान्त शब्दसमूह में 'भ'-संज्ञा की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, तब उसके लोप की सम्भावना कैसे हो सकती है?

विशेष—कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, तथा **क्षेत्रज्ञ** शब्दों का समावेश→**युवादि** तथा **ब्राह्मणादि**←दोनों गणों में हुआ है। अतः 'ष्यञ्' प्रत्यय होने पर **कौशल्यम्** (निपुणता—कुशलस्य भावः कर्म वा) तथा 'अण्' प्रत्यय होने पर **कौशलम्** आदि रूप निष्पन्न होंगे।

(१७९६) पद—इगन्तात्, च, लघुपूर्वात्। **अनुवृत्ति**—अण्, कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—विधेय-वाची 'अण्' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" (५-१-१३०)—से अपेक्षित है। तदनुसार "षष्ठी-समर्थ लघुवर्ण-युक्त इगन्त (इ, उ, ऋ, लृ–अन्त-वाले) प्रातिपदिक से भी 'भाव' और 'कर्म' अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—'शुचि'

गुरूपोत्तमाद्वुञ् ५ । १ । १३२ ॥ रामणीयकम् । आभिधानीयकम् । 'सहायाद्वा' (वा ३०९४) । साहाय्यम्–साहायकम् । (**१७९८**) **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ५ । १ । १३३ ॥** शैष्योपाध्यायिका । मानोज्ञकम् । (**१७९९**) **गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकारतदवेतेषु**

त्वात् 'गुणवचन' इति ष्यञं बाधित्वा अण्प्रसङ्गात् काव्यमिति कथमित्याक्षेपः । समाधत्ते—कविशब्दस्येति । ब्राह्मणादित्वादित्यनन्तरं ष्यञि उपपाद्यमिति शेषः ।

(**१७९७**) **योपधात्** । योपधात् गुरूपोत्तमात् प्रातिपदिकात् षष्ठयन्ताद्भावकर्मणोर्वुञित्यर्थः । **रामणीयकमिति** । रमणीयशब्दात् वुञ् । **आभिधानीयकमिति** । अभिधानीयशब्दाद् वुञ् । **सहायाद्वेति** । वुञिति शेषः । पक्षे ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । इदन्तु वार्तिकं भाष्ये क्वचिन्मृग्यम् ।

(**१७९८**) **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च** । द्वन्द्वात् मनोज्ञादिभ्यश्च षष्ठयन्तेभ्यो वुञित्यर्थः । **शैष्योपाध्यायिकेति** । शिष्यश्च उपाध्यायश्चेति द्वन्द्वाद् वुञ् । स्त्रीत्वं लोकात् । यद्यपि 'योपधात्' इत्येव सिध्यति, तथापि गोपालपालिकेत्युदाहरणं बोध्यम् ।

और 'मुनि' शब्द ह्रस्ववर्ण-युक्त इगन्त हैं । अतः 'अण्' प्रत्यय होकर (क) **शौचम्** (पवित्रता—शुचेः भावः कर्म वा) तथा (ख) **मौनम्** (मुनि का स्वभाव या कर्म—मुनेः भावः कर्म वा) रूप निष्पन्न होते हैं । 'त्व' तथा 'तल्' तो हो ही जायेंगे ।

विशेष—काव्यम् (कवि का स्वभाव या कर्म—कवेः भावः कर्म वा)—शब्द की सिद्धि का उपाय तो ब्राह्मणादि-गण में पाठ होने से 'ष्यञ्' प्रत्यय होने पर ही सम्भव है→कवि+ष्यञ् (=य), आदिवृद्धि तथा 'इ' का लोप । 'अण्' प्रत्यय होने पर तो 'कावम्' रूप बनता ।

(१७९७) पद—योपधात्, गुरूपोत्तमात्, वुञ् । **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ गुरुवर्णयुक्त उपोत्तम (गुरु उपात्तमं यस्य सः, तस्मात्) 'य'कार उपधा वाले (योपधात्) प्रातिपदिक से 'भाव' और 'कर्म' अर्थ में 'वुञ्' (वु = अक) प्रत्यय होता है" । यहाँ पर 'गुरु' का अभिप्राय "संयोगे गुरु" (१-४-११) तथा "दीर्घं च" (१-४-१२) सूत्रों से विहित संज्ञा-विशेष से है । **उत्तम** का तात्पर्य तीन या तीन से अधिक वर्ण वाले शब्द के अन्तिम वर्ण से है । उस अन्त्यवर्ण के समीप का वर्ण **उपोत्तम** होगा । **उदाहरणस्वरूप**—(१) 'रमणीय' तथा (२) 'अभिधानीय' शब्द यकारोपधक तथा गुरूपोत्तम हैं ('णी' तथा 'नी' दीर्घ एवम् उपान्त्य हैं) । इनसे 'वुञ्' (वु = अक) प्रत्यय होने पर क्रमशः **रामणीयकम्** (सुन्दर व्यक्ति का स्वभाव या कर्म—रमणीयस्य भावः कर्म वा), तथा **आभिधानीयकम्** (संज्ञा, कोश या नाम का स्वभाव या कर्म—अभिधानीयस्य भावः कर्म वा) रूप निष्पन्न होते हैं ।

इसी सन्दर्भ में **वार्तिक**-कार के अनुसार **सहाय** शब्द से 'भाव' और 'कर्म' अर्थ में विकल्प से वुञ् होने का विधान बतलाया जा रहा है" । तदनुसार पक्ष में 'ष्यञ्' भी होकर दो रूप बनेंगे—**साहाय्यम्** (ष्यञ्) तथा **साहायकम्** (वुञ्) । **अर्थ**—सहायता—सहायस्य भावः कर्म वा । भाष्य में उपर्युक्त वार्तिक नहीं मिलता । काशिकादि प्राचीन वृत्तिग्रन्थों का अनुसरण कर दीक्षित जी ने इसे वार्तिक का रूप दिया है ।

(१७९८) पद—द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—वुञ्, कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'विधेय' की पूर्ति के लिये पूर्व सूत्र—"योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" (५-१-१३२)—से 'वुञ्' अनुवर्तमान है । अतः "षष्ठी-समर्थ 'द्वन्द्व'-संज्ञक तथा 'मनोज्ञादि' प्राति-

५।१।१३४॥ अत्याकारोऽधिक्षेपः। तदवेतः—ते गोत्रचरणयोर्भावकर्मणी प्राप्तः अवगतवान्वा। गार्गिकया श्लाघते। गार्ग्यत्वेन विकत्थत इत्यर्थः। गार्गिकया अत्याकुरुते।

(१७९९) गोत्रचरणात्। गोत्रप्रत्ययान्तात् शाखाध्येतृवाचिनश्च षष्ठयन्ताद्भावकर्मणोर्वुञ् स्यात् श्लाघादिषु विषयेष्वित्यर्थः। अपत्याधिकारादन्यत्र प्रवराध्यायप्रसिद्धं गोत्रमित्युक्तम्। अत्याकार इत्यस्य विवरणम्—अधिक्षेप इति। तदवेत इत्येतद्विवृणोति—ते गोत्रेति। तच्छब्देन गोत्रचरणयोः भावकर्मणी विवक्षिते। अवपूर्वादिणः प्राप्त्यर्थात् ज्ञानार्थाद्वा कर्तरि क्तः। ते अवेतस्तदवेत इति विग्रहः। 'द्वितीया' इति योगविभागात् समासः। अवगतवान्वेति। ज्ञातवानित्यर्थः। गार्गिकयेति। गार्ग्यशब्दाद् वुञि 'आपत्यस्य' इति यलोपे, 'यस्येति च' इत्यकारलोपे, लोकात् स्त्रीत्वे टापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वे गार्गिकाशब्दः। काठिकया श्लाघते इति चरणादुदाहार्यम्। अत्र श्लाघादयः पदान्तरोपात्ता एव प्रत्ययार्थान्वयिनः, न तु प्रत्ययवाच्या इति बोध्यम्।

पदिकों से भी 'भाव' और 'कर्म' अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। क्रमशः उदाहरण—(१) **शैष्योपाध्यायिका** (शिष्य और उपाध्याय का कर्म या भाव—शिष्योपाध्याययोः कर्म भावः वा) शिष्योपाध्यायौ में—शिष्यश्च उपाध्यायश्च शिष्योपाध्यायौ, तयोः—द्वन्द्व समास है। लोकप्रचलन से स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग है। (२) **मानोज्ञकम्** (सुन्दर व्यक्ति का स्वभाव या कर्म—मनोज्ञस्य भावः कर्म वा) मनोज्ञ+वुञ् (वु=अक)। आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण-लोप।

मननीय—द्वन्द्व का उदाहरण 'शैष्योपाध्यायिका' यहाँ पर देना अधिक संगत नहीं है, क्योंकि 'य'कारोपध एवम् गुरूपोत्तम होने से पूर्व सूत्र का ही यह विषय हो सकता है, अतः गोपालपशुपालिका उदाहरण देना अधिक संगत है।

(१७९९) पद—गोत्रचरणात्, श्लाघा-ऽत्याकार-तदवेतेषु। अनुवृत्ति—वुञ्, कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'अत्याकार' का अर्थ अपमान करना है। 'तदवेत' का तात्पर्य है 'गोत्र' एवं 'चरण' से 'भाव' एवं 'कर्म' में प्राप्त अथवा ज्ञात प्रत्यय। उदा० १—गार्गिकया श्लाघते—'गर्ग' गोत्र होने के नाते प्रशंसा करता है। २—गार्गिकया अत्याकुरुते—गर्ग गोत्र होने के कारण निन्दा करता है। ३—गार्गिकाम् अवेतः।

विवरण—"योपधात् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" (५-१-१३२) से अनुवृत्ति आने के कारण विधेय 'वुञ्' प्रत्यय का लाभ होता है। भाव-कर्म का ही विषय है। अतः "षष्ठी-समर्थ गोत्रवाची तथा चरणवाची प्रातिपदिकों से 'प्रशंसा' (श्लाघा), 'अपमान' (अत्याकार) तथा 'उससे युक्त' (तदवेत) विषय में 'भाव' तथा 'कर्म' अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है"। 'श्लाघा' बड़प्पन दिखाने को कहते हैं। 'अत्याकार' अपमान-सूचक शब्द है। 'तदवेत' शब्द का विग्रह है—ते (=भावकर्मणी) अवेतः (ज्ञातः, प्राप्तः वा)। अर्थात् 'तदवेत' शब्द तद्रूप से ज्ञात या प्राप्त (=भाव एवं कर्मरूप अर्थ से ज्ञात या प्राप्त) अर्थसमुदाय का बोध कराता है। तीनों अर्थों में उदाहरण—दिये जा रहे हैं। (१) गोत्र से श्लाघा—**गार्गिकया** श्लाघते (गर्गगोत्र में सम्भूत होने से प्रशंसित होता है)—गार्ग्य+वुञ् (वु=अक) > गार्ग्-अ+अक ('अ' का लोप तथा अपत्यार्थक 'यञ्' प्रत्यय-सम्बन्धी 'य्' का लोप—"आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" ६-४-१५१) > गार्गक+आ (स्त्री-लिङ्ग में 'टाप्') गार्गिक+आ ('वुञ्' = अक—प्रत्ययस्थ 'क' से पूर्व 'अ' = इ) > गार्गिका (दीर्घ, तृतीया विभक्ति में गार्गिकया)। (२) गोत्र से अपमान अर्थ—**गार्गिकया** अत्याकुरुते (गर्ग गोत्र होने के कारण दूसरों को तुच्छ समझता है। (३) अवेत अर्थ—**गार्गिकाम्**

गार्गिकामवेतः। (१८००) होत्राभ्यश्छः ५। १। १३५॥ होत्राशब्दो ऋत्विग्वाची स्त्रीलिङ्गः। बहुवचनाद् विशेषग्रहणम्। अच्छावाकस्य भावः कर्म वा अच्छावाकीयम्। मित्रावरुणीयम्। (१८०१) ब्रह्मणस्त्वः ५। १। १३६॥ होत्रावाचिनो ब्रह्मन्शब्दात्त्वः स्यात्। छस्यापवादः। ब्रह्मत्वम्। नेति वाच्ये त्ववचनं तलो बाधनार्थम्। ब्राह्मण-पर्यायाद् ब्रह्मन्शब्दात्तु त्वतलौ। ब्रह्मत्वम्-ब्रह्मता।

इति तद्धिते भावकर्माधिकारप्रकरणम्।

(१८००) होत्राभ्यश्छः। ऋत्विग्वाचीति। याज्ञिकप्रसिद्धेरिति भावः। ऋत्विग्वि-शेषवाचिभ्यः षष्ठयन्तेभ्यः छः स्याद्भावकर्मणोरित्यर्थः। अच्छावाकीयमिति। 'आ च त्वात्' इति त्वतलोरपि सर्वत्र समावेशो बोध्यः।

(१८०१) ब्रह्मणस्त्वः। होत्राभ्यः इत्यनुवृत्तमेकवचनेन विपरिणम्यते। तदाह— होत्रावाचिन इति। ऋत्विग्वाचिन इत्यर्थः। ननु ब्रह्मणो नेत्येवास्तु। ब्रह्मणश्छो न इत्यर्थलाभे सति छे निषिद्धे आ च त्वादित्यधिकारात् 'होत्राभ्यश्छः' इत्येव भावकर्मणो-स्त्वप्रत्ययः सिध्यतीत्यत आह—नेति वाच्ये इति। तलो बाधनार्थमिति। अधिकारवशा-द्धोत्राभ्य इति भावकर्मणोः प्राप्तस्य तलो निवृत्त्यर्थमित्यर्थः। एतेन 'तस्य भावस्त्वतलौ'

अवेतः (गर्ग गोत्र के स्वभाव या कर्म को प्राप्त या उसको समझने वाला)। उभयत्र प्रक्रिया पूर्ववत्।

स्मरणीय—प्रकृत सन्दर्भ में 'गोत्र' शब्द लौकिक अपत्यवाची अपेक्षित है न कि शास्त्रीय गोत्र अर्थात् पौत्रप्रभृति का बोधक। चरण अर्थ में—**काठिकया** श्लाघते, अत्याकुरुते एवं **काठिकाम्** अवेतः उदाहरण जाने जायें।

विशेष—यहाँ पर श्लाघादि अर्थ प्रत्ययवाच्य नहीं हैं किन्तु पृथक् उच्चरित होते हुए प्रत्य-यार्थ में अन्वित होते हैं।

(१८००) पद—होत्राभ्यः, छः। अनुवृत्ति—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'होत्रा' शब्द ऋत्विग्वाची स्त्रीलिङ्ग है। बहुवचन में प्रयोग होने से ऋत्विग्विशेष अर्थ का बोधक होगा। उदा० १—अच्छावाकस्य भावः कर्म वा→ अच्छावाकीयम्। २—मैत्रा-वरुणीयम्।

विवरण—भाव-कर्मार्थ का सातत्य है। इसके अतिरिक्त सूत्र में 'होत्रा' शब्द 'ऋत्विग्'-विशेषों का वाचक है न कि स्वरूप-परक। 'त्व' और 'तल्' का अपवाद है। अन्यथा बहुवचनान्त प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं थी। तदनुसार "षष्ठी-समर्थ 'ऋत्विग्'-विशेष-वाची प्रातिपदिकों से 'भाव' और 'कर्म' अर्थों में 'छ' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **अच्छावाकीयम्** (अच्छावाक ऋत्विग्-विशेष का स्वभाव या कर्म—अच्छावाकस्य भावः कर्म वा)—अच्छावाक्+ छ (=ईय)। (२) **मैत्रावरुणीयम्** (मित्रावरुण का स्वभाव या कर्म—मित्रावरुणस्य स्वभावः कर्म वा)—मित्रावरुण्+छ (=ईय)।

(१८०१) पद—ब्रह्मणः, त्वः। अनुवृत्ति—होत्राभ्यः, कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—होत्रा-वाची 'ब्रह्मन्' शब्द से 'त्व' प्रत्यय हो। 'छ' का अपवाद है। उदा० ब्रह्मत्वम्। 'न' कहने से काम चल जाता, 'त्व' कहने से तात्पर्य 'तल्' का बाध कराना है। 'ब्राह्मण' के पर्यायवाची 'ब्रह्मन्' शब्द से तो 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय होंगे—ब्रह्मत्वम्, ब्रह्मता।

अथ तद्धिते पाञ्चमिकप्रकरणम्

(१८०२) धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५ । २ । १ ॥ भवन्त्यस्मिन्निति भवनम् । मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम् । (१८०३) व्रीहिशाल्योर्ढक् ५ । २ । २ ॥ व्रैहेयम् ।

इत्यनेन ब्रह्मणः कर्मणि त्वस्याप्राप्तेस्तदर्थे त्वप्रत्ययविधानमिति न शङ्क्यम् । नापि ब्रह्मणो नेत्युक्ते पूर्वसूत्रविहितानां त्वतल्छानां निषेधः स्यादित्यपि शङ्क्यम्, शब्दोपात्तस्य छस्यैव निषेधात् । अत्र होत्राग्रहणानुवृत्तेः प्रयोजनमाह—ब्राह्मणपर्यायादिति । इति तद्धिते भावकर्मार्थकाः; नञ्स्नञोरधिकारश्च ।

अथ पाञ्चमिका निरूप्यन्ते—(१८०२) धान्यानां भवने । धान्यवाचिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः भवने क्षेत्रेऽर्थे खञित्यर्थः । भवनशब्दस्य भावल्युडन्तत्वे क्षेत्रशब्दसामानाधिकरण्यानुपपत्तेराह—भवन्त्यस्मिन्निति भवनमिति । भूधातुरुत्पत्तिवाची । उत्पत्तिस्थानं भवनमिति लभ्यते । धान्योत्पत्तिस्थानं क्षेत्रम् । 'केदारः क्षेत्रम्' इत्यमरः । क्षेत्रशब्दाभावे भूधातोः

विवरण—पूर्व सूत्र से अनुवृत्त 'होत्राभ्यः' का एकवचन में विपरिणाम किया जाता है । शेष अनुवृत्तियाँ भी यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "ऋत्विग्विशेषवाची षष्ठी-समर्थ 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'भाव' और 'कर्म' अर्थों में 'त्व' प्रत्यय होता है" । 'छ' प्रत्यय का यह अपवाद है ।
उदाहरण—ब्रह्मत्वम् (ब्रह्मा का स्वभाव या कर्म—ब्रह्मणः भावः कर्म वा)—ब्रह्मन्+त्व । 'न्' का लोप । 'त्व' प्रत्ययान्त होने से नपुंसक लिङ्ग ।

विशेष—'छ' का निषेध करने हेतु तो "ब्रह्मणो न" कहने से भी कार्य निर्वाह हो जाता । अतः 'त्वः' क्यों कहा ? पृथक् 'त्व' का निर्देश यथाप्राप्त 'तल्' प्रत्यय के निवारणार्थ किया गया है । अतः भाव तथा कर्म अर्थ में 'ब्रह्मता' रूप इष्ट नहीं है । किन्तु ब्राह्मण-पर्यायवाची 'ब्रह्मन्' शब्द से 'त्व' तथा 'तल्' दोनों प्रत्यय होंगे । वहाँ पर 'ब्रह्मत्वम्' तथा 'ब्रह्मता' दोनों रूप इष्ट हैं ।

स्मरणीय—भाव-कर्मार्थक अधिकार की समाप्ति होती है । इसके साथ ही स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् (४-१-८७) का अधिकार भी समाप्त हो जाता है ।

'दीपिका' में 'भावकर्मार्थक' तथा 'नञ्-स्नञ्' अधिकार समाप्त ।

उपक्रम—कुछ स्फुट प्रत्ययों का विधान 'पाञ्चमिक' प्रकरण के अन्तर्गत किया जा रहा है । अधिकार-विशेष का निरूपण न होने से इसे यह संज्ञा दी गई है । अन्यथा पञ्चमाध्याय के अन्तर्गत आगे आने वाले विभिन्न अर्थाधिकारों से सम्बद्ध प्रकरण भी इसी में समा जाते ।

(१८०२) **पद**—धान्यानां, भवने, क्षेत्रे, खञ् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'भवन' का अर्थ है उत्पत्ति स्थान—'भवन्ति अस्मिन्' । उदा० मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्→मौद्गीनम् ।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ 'भवन' शब्द क्षेत्र अर्थात् उत्पत्ति स्थान का बोधक है । यदि 'भवन' शब्द की निष्पत्ति भावार्थ (भवति इति भवनम्) में 'ल्युट्' प्रत्यय से की जाती तो यह अर्थ सम्भव नहीं था, अतः 'भू' धातु से अधिकरण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय किया गया है—भवन्ति अस्मिन् इति भवनम्, जिसका अर्थ है उत्पत्तिस्थान । कारण यह है कि 'भू' धातु उत्पत्त्यर्थक भी है । इसके साथ ही सूत्रस्थ 'धान्यानां' पद अपने अर्थ के साथ ही समर्थ-विभक्ति का भी सूचक है । अनुवर्तमान "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) पद का विशेषण होने से 'षष्ठी' में तदन्तविधि होगी ।

शालेयम् । (१८०४) यवयवकषष्टिकाद्यत् ५ । २ । ३ ॥ यवानां भवनं क्षेत्रं यव्यम् ।

सत्तावाचित्वमाश्रित्य यत्र विद्यते तद्भवनमिति व्युत्पत्त्या आधारसामान्ये गृहकुसूलादि लभ्यते । अतः क्षेत्रपदम् । भवनपदाभावे तु क्षेत्रशब्देन सेतुबन्धकाश्यादिपुण्यप्रदेशोऽपि लभ्येत । अतो भवनपदम् । उभयोपादाने तु धान्योत्पत्तिप्रदेश एव लभ्यत इति न पौनरुक्त्यम् ।

(१८०३) व्रीहिशाल्योर्ढक् । व्रीहिशब्दात् शालिशब्दाच्च षष्ठ्यन्ताद्भवने क्षेत्रेऽर्थे ढगित्यर्थः । खञोऽपवादः ।

(१८०४) यवयवक । यव, यवक, षष्टिक एभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो भवने क्षेत्रे यत्स्यादित्यर्थः । खञोऽपवादः । धान्यानामित्यनुवृत्तेरिहापि षष्ठ्येव समर्थविभक्तिः ।

तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "षष्ठी-समर्थ धान्य-विशेषवाची प्रातिपदिकों से 'उत्पत्ति-स्थान' (भवनम्) अभिधेय हो तो 'खञ्' (ख = ईन) प्रत्यय होता है, यदि वह उत्पत्ति-स्थान 'खेत' (क्षेत्रे) हो"। **उदाहरण—मौद्गीनम** (मूँगों की उत्पत्ति का स्थान=खेत—मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्)—मुद्ग्+खञ् (ख = ईन)। आदिवृद्धि, अन्त्यलोप। अर्थात् जिस खेत में अन्य धान्यों की अपेक्षा 'मूँग' अच्छे हों, वह खेत 'मौद्गीन' कहलायेगा।

(१८०३) पद—व्रीहिशाल्योः, ढक्। **अनुवृत्ति**—धान्यानां भवने क्षेत्रे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्रस्थ अर्थ का ही विषय है। 'खञ्' का बाधक यह सूत्र है। अतः "षष्ठी-समर्थ धान्य-विशेषवाची 'व्रीहि' तथा 'शालि' प्रातिपदिकों से उत्पत्तिस्थान ('क्षेत्र') वाच्य होने पर 'ढक्' (ढ = एय) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **व्रैहेयम्** (जिस खेत में धान होते हैं—व्रीहीणां भवनं क्षेत्रम्)—व्रीहि्+ढक् (ढ = एय)। आदिवृद्धि, 'इ'-का लोप। (२) **शालेयम्** (जिस खेत में "शालि'-धान होते हैं—शालीनां भवनं क्षेत्रम्)—शालि+ढञ् (ढ = एय)। अन्त्यलोप।

विशेष—'व्रीहि' और 'शालि'—ये धानों के भेद हैं[1]।

(१८०४) पद—यव-यवक-षष्टिकात्, यत्। **अनुवृत्ति**—धान्यानां भवने क्षेत्रे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्वोक्त विषय का ही सातत्य है। 'खञ्' का यह अपवाद है। तदनुसार "षष्ठी-समर्थ धान्यविशेषवाची 'यव' 'यवक' तथा 'षष्टिक' प्रातिपदिकों से 'उत्पत्तिस्थान' (क्षेत्र) वाच्य होने पर 'यत्' (=य) प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **यव्यम्** (जिस खेत में 'यव' होते हैं—यवानां भवनं क्षेत्रम्)—यव्+यत् (= य)। अन्त्यलोप। (२) **यवक्यम्** (जिस खेत में 'यवक' नामक धान होते हैं—यवकानां भवनं क्षेत्रम्)—यवक्+यत् (=य)। अन्त्यवर्ण-लोप। (३) **षष्टिक्यम्** (साठी धान उत्पन्न करने वाला खेत—षष्टिकानाम् भवनं क्षेत्रम्)—षष्टिक्+यत् (=य)। अन्त्यवर्ण-लोप। कात्यायन के अनुसार 'साठी' विशेष

---

१. अर्थशास्त्र में भी 'शालि' को 'व्रीहि' से भिन्न माना गया है। यह उखाड़ कर फिर से रोपा जाने वाला जड़हन था। 'शालि' की फसल शीतऋतु में पकती थी। वाल्मीकि रामायण में शालि का हेमन्त ऋतु में होना बतलाया है—

"खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः। शोभन्ते किञ्चिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः॥"

—अरण्यकाण्ड १६।१

'शालि' की अपेक्षा 'व्रीहि' प्राचीन शब्द रहा। उसे ग्राम्य-धान्य या कृष्ट-पच्य अर्थों में सर्वप्रथम मानते थे (यजु० २८-१२)। पतञ्जलि ने 'लोहितशालि' का उल्लेख किया है। आज भी भदही धानों में कई धान लाल होते हैं।

यवक्यम् । षष्टिक्यम् । (१८०५) **विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः ५ । २ । ४ ॥** यत् वा स्यात् । पक्षे खञ् । तिल्यम्—तैलीनम् । माष्यम्–माषीणम् । उम्यम्–औमीनम् । भङ्ग्यम्–भाङ्गीनम् । अणव्यम्–आणवीनम् । (१८०६) **सर्वचर्मणः कृतः खखञौ ५।२।५ ॥** असामर्थ्येऽपि निपातनात्समासः । सर्वश्चर्मणा कृतः→सर्वचर्मीणः–सार्वचर्मीणः ।

(१८०५) विभाषा तिल । तिल, माष, उमा, भङ्ग, अणु एभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो यद्वा स्यादित्यर्थः । 'उमाभङ्गौ धान्यविशेषौ' इति भाष्यम् । 'उमा स्यादतसी क्षुमा' इत्यमरः । अणव्यमिति । अणुर्धान्यविशेषः । यति 'ओर्गुणः' 'वान्तो यि' इत्यवादेशः ।

(१८०६) सर्वचर्मणः । सर्वचर्मन्शब्दात्तृतीयान्तात् चर्मणा सर्वं कृतम् इत्यर्थे खखञौ स्त इत्यर्थः । औचित्यादिह तृतीया समर्थविभक्तिः । नन्विह सर्वशब्दस्य कृते अन्वयात्

चावल का ही नाम था । और कोई फसल साठ दिन में पकने के कारण 'साठी' नहीं कही जा सकती—'षष्टिके संज्ञायाम्' ५-१-९० ।

(१८०५) **पद**—विभाषा, तिल-माषोमा-भङ्गा-ऽणुभ्यः । **अनुवृत्ति**—यत्, धान्यानां भवने क्षेत्रे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—धान्य-विशेषों का ही विषय है । 'खञ्' के अपवादस्वरूप प्राप्त 'यत्' के विकल्प से होने की व्यवस्था की जा रही है । अतः 'षष्ठी-समर्थ धान्यविशेष-वाची 'तिल', 'माष', 'उमा', 'भङ्गा' और 'अणु' प्रातिपदिकों से विकल्प से 'यत्' प्रत्यय होता है, यदि इनका उत्पत्ति-स्थान क्षेत्र वाच्य हो" । पक्ष में 'खञ्' भी होगा । क्रमशः **उदाहरण**—(१) तिल्यम्→तिल+यत् होने पर । **तैलीनम्**—तिल्+खञ् (ख = ईन) होने पर । **अर्थ**—तिल उत्पन्न होने वाला खेत—तिलाना भवन क्षेत्रम् । (२) **माष्यम्**—माष्+यत् (= य) । **माषीणम्**←माष्+खञ् (ख = ईन) । **अर्थ**—उड़द होने वाला खेत—माषाणां भवनं क्षेत्रम् । देहातों में आज भी 'माष' की फसल 'मासीना' कही जाती है । (३) **उम्यम्**→उमा्+यत् । **औमीनम्**←उमा्+खञ् (ख = ईन) । **अर्थ**—अलसी (तीसी) पैदा करने वाला खेत—उमानां भवनं क्षेत्रम् । पतञ्जलि ने पाणिनि के अनुसार 'उमा' को भी धान्य माना है । उन्होंने 'धान्य' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह स्वीकार किया है—'धिनोतेर्धान्यम्'[1] । अर्थात् जिसकी बढ़िया फसल देखकर चित्त प्रसन्न हो जाय, वह धान्य है । 'अलसी' और 'भङ्गा' के खेतों को देखकर चित्त प्रसन्न होने से धान्य के अन्तर्गत इनका भी समावेश है । (४) **भङ्ग्यम्** (भङ्गा्+'यत्') । **भाङ्गीनम्** (भङ्गा + खञ्) । **अर्थ**—पटुआ पैदा करने वाला खेत—भङ्गानां भवनं क्षेत्रम् । (५) **अणव्यम्** (अणुँ+यत्) गुण, अवादेश आदिवृद्धि आदि । **आणवीनम्** (अणु+खञ्) ख = ईन । **अर्थ**—चीना उत्पन्न करने वाला खेत—अणूनाम् भवनं क्षेत्रम् ।

(१८०६) **पद**—सर्वचर्मणः, कृतः, ख-खञौ । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—(सर्वचर्मणः में) असामर्थ्य होने पर भी समास किया है । उदा० सर्वः चर्मणा कृतः→सर्वचर्मीणः—सार्वचर्मीणः ।

विवरण—"तृतीया-समर्थ 'सर्वचर्मन्' प्रातिपदिक से 'किया हुआ' (कृतः) अर्थ में 'ख' तथा 'खञ्' प्रत्यय होते हैं" । 'ख' तथा 'खञ्' में 'वृद्धि' ही विशेष है । तब तो "सर्वचर्मणः कृतः खश्च"

---

१. अत्र कैयटः—"योगरूढिरियम् । उमा-भङ्गयोरपीति भावः । चमकेषु तु अधान्यान्यपि कानिचित् पठ्यन्ते, धान्यान्यपि न कानिचित् पठ्यन्ते । न हि तद्धान्यपरिगणनार्थमिति तत्रापाठात् उमाभङ्गयोरधान्यत्वं न भवति । शणसप्तदशानीति धान्यपरिगणनार्था स्मृतिरियम्" ।

(१८०७) **यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः** ५ । २ । ६ ॥ मुखस्य सदृशं यथामुखं प्रतिबिम्बम् । निपातनात्सादृश्येऽव्ययीभावः । समं सर्वं मुखं सम्मुखम् । समशब्दस्यान्तलोपो निपात्यते । यथामुखं दर्शनो यथामुखीनः । सर्वस्य मुखस्य दर्शनः सम्मुखीनः । (१८०८)

चर्मण्यन्वयाभावादसामर्थ्याच्चर्मणा समासासम्भवात् कथं सर्वचर्मन्-शब्दात्प्रत्यय इत्यत आह—**असामर्थ्येऽपीति** । सर्वश्चर्मणा कृत इति विग्रहवाक्यम् । चर्मणा कृत्स्नः कृत इत्यर्थः । **सर्वचर्मीण इति** । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । सर्वेण चर्मणा कृत इत्यर्थे तु न खखञौ व्याख्यानात् ।

(१८०७) **यथामुखं** । यथामुख, सम्मुख आभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां दर्शन इत्यर्थे खः स्यादित्यर्थः । दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनः आदर्शादिः । ननु मुखस्य सदृशं यथामुखमिति कथमव्ययीभावः ? 'यथाऽसादृश्ये' इति सादृश्ये तन्निषेधादित्यत आह—**निपातनादिति** । सम्मुखशब्दे आभिमुख्यार्थकस्य समित्युपसर्गस्य न प्रवेशः, किन्तु समशब्दस्य सर्वपर्यायस्येत्याह—**समं सर्वं मुखं सम्मुखमिति** । समित्यस्य विवरणं सर्वमिति । समं च तन्मुखं चेति

—इतना ही यदि कहा जाता तो 'यत्' का भी अनुकर्षण हो जाता, उसके वारणार्थ 'ख-खञौ' कहा गया है। सूत्र में 'सर्व' शब्द का 'कृतः' के साथ सम्बन्ध है। 'चर्मणा सर्वः कृतः'—अर्थ अभिप्रेत है। अतः सामर्थ्य न होने पर भी निपातन-वश 'चर्मन्' शब्द के साथ 'सर्व' शब्द का समास जानना चाहिये। **उदाहरण**—(क) **सर्वचर्मीणः** (सर्वचर्मन् + ख = ईन)। (ख) **सार्वचर्मीणः** (सर्वचर्मन् + खञ्, ख = ईन)। ञित् होने से आदिवृद्धि हुई। **अर्थ**—बिलकुल चमड़े से बना हुआ—सर्वचर्मणा कृतः। उभयत्र 'टि'-लोप।

(१८०७) **पद**—यथासम्मुखस्य, दर्शनः, खः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'यथामुख' शब्द में निपातन-वश सादृश्यार्थ अव्ययीभाव समास है। उसका विग्रह है—मुखस्य सदृशम्—अर्थात् प्रतिबिम्ब। 'सम्मुख' शब्द का विग्रह है—समं (= सर्वं) मुखम्। 'सम' शब्द के अन्तिम वर्ण (म) का लोप निपातन है। उदा० (१) यथामुखं दर्शनः → यथामुखीनः। (२) सर्वस्य मुखस्य दर्शनः→संमुखीनः।

विवरण—"षष्ठी-समर्थ 'यथामुख' तथा 'सम्मुख' प्रातिपदिकों से 'दर्शन' अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है"। जिसमें अपना प्रतिबिम्ब देखा जाता है, उसे 'दर्शन' कहते हैं, अर्थात् शीशा। मुख के जो समान हो उसे 'यथामुख' कहा जाता है। यहाँपर 'सादृश्य' अर्थ में निपातनवश अव्ययीभाव है (मुखस्य सदृशम्), क्योंकि 'यथा' के साथ असादृश्य अर्थ में समास होता है—"**यथाऽसादृश्ये**" (२-१-७)। इसी प्रकार 'संमुख' शब्द में भी कर्मधारय समास (समं च तन्मुखम्) करने पर 'सम' शब्दावयव अन्त्य 'अ' का लोप भी निपातनवश किया गया है, क्योंकि यहाँ पर 'सम' शब्द 'सर्व' का पर्यायवाची है न कि सम्यगर्थक 'सम्' उपसर्ग का। षष्ठी को समर्थ-विभक्ति के रूप में मानने के लिये 'कृत्' प्रत्ययान्त 'दर्शन' (दृश्यते अस्मिन् दर्शनः—अधिकरण में ल्युट्) शब्द का सामर्थ्य ही प्रमाण-स्वरूप है। कारण यह है कि 'ल्युट्' प्रत्यय 'कृत्' है। **उदाहरण**—(१) **यथामुखीनः** (जैसा मुख ठीक वैसा दिखाने वाला—शीशा—यथामुखं दर्शनः)—यथामुख + ख (= ईन)। (२) **सम्मुखीनः** (समग्र मुख के समान दिखाने वाला)—सममुख + ख (ख=ईन) 'अ'लोप।

विशेष—भट्टिकाव्य में पदार्थानतिवृत्ति अर्थ में 'यथा' शब्द मानकर अव्ययीभाव किया है[1]।

---

१. तथा च मायामृगं प्रक्रम्य तत्रोक्तम्—**यथामुखीनः** सीतायाः पुप्लुवे बहु लोभयन्"।

तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ५। २। ७।। सर्वादेः पथ्याद्यन्ताद् द्वितीयान्तात्खः स्यात्। सर्वपथान्व्याप्नोति सर्वपथीनः। सर्वाङ्गीणः। सर्वकर्मीणः। सर्वपत्त्रीणः। सर्वपात्रीणः। (१८०९) **आप्रपदं प्राप्नोति ५। २। ८।।** पादस्याग्रं प्रपदं, तन्मर्यादीकृत्य आप्रपदम्। आप्रपदीनः पटः। (१८१०) **अनुपदसर्वान्नायानयं**

कर्मधारये सम्मुखशब्द इत्यर्थः। निपात्यत इति। इदं च भाष्ये स्पष्टम्। एवञ्च समित्युपसर्गपूर्वादियं प्रत्ययो नेष्यत इति भावः।

(१८०८) तत्सर्वादेः। पथिन्, अङ्ग, कर्मन्, पत्र, पात्र एषां समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्यर्थे द्वितीया। प्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः। ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्तीति निषेधस्तु न, केवलानामेषां सर्वादित्वस्यासम्भवात्। तदिति तु द्वितीयान्तं व्याप्नोतीत्यत्रान्वेति। ततश्च तद्व्याप्नोतीत्यर्थे सर्वशब्दपूर्वपदकेभ्यः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः खः स्यादित्यर्थः फलति। तदाह—सर्वादेरित्यादिना। सर्वपथानिति। 'ऋक्पूः' इति समासान्तः।

(१८०९) आप्रपदम्। आप्रपदमित्यव्ययीभावात् द्वितीयान्तात्प्राप्नोतीत्यर्थे खः

(१८०८) पद—तत्, सर्वादेः, पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं, व्याप्नोति। अनुवृत्ति—खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—द्वितीयान्त सर्वादि पथ्याद्यन्त से 'ख' प्रत्यय होता है। उदा० १—सर्वपथान् व्याप्नोति→सर्वपथीनः। २—सर्वाङ्गीणः। ३—सर्वकर्मीणः। ४—सर्वपत्त्रीणः। ५—सर्वपात्रीणः।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'ख' की अनुवृत्ति आ रही है। द्वितीयान्त 'पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं' शब्द में समाहार द्वन्द्व समास है। 'पञ्चमी' के अर्थ में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है। 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से तदन्त विधि हुई है (द्वितीयान्त)। 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति'—के अनुसार तदन्तविधि का निषेध यहाँ इस कारण नहीं होता कि केवल 'पथिन्' आदि शब्द सर्वादिक (सर्वपूर्वक) कैसे सम्भव हो सकते हैं? द्वितीयान्त 'तत्' पद का अन्वय 'व्याप्नोति' क्रिया के साथ होता है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "द्वितीया-समर्थ सर्वशब्दपूर्वक 'पथिन्', 'अङ्ग', 'कर्म', 'पत्र' तथा 'पात्र' प्रातिपदिकों से 'व्याप्त होता है' (व्याप्नोति) अर्थ में 'ख' प्रत्यय हो"। उदाहरण—(१) **सर्वपथीनः** रथः (सभी प्रकार के मार्गों पर चलने योग्य रथ—सर्वपथान् व्याप्नोति)—सर्वपथ् + ख (= ईन)। 'सर्वपथ' शब्द में "पूर्वकालैक०" (२-१-४९) से समास होने के पश्चात् "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" (५-४-७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ है। (२) **सर्वाङ्गीणः** तापः (सब अङ्गों को तपाने वाला ताप-सर्वाङ्ग + ख(= ईन)। अन्त्यलोप एवं णत्व। (३) **सर्वकर्मीणः** पुरुषः (सब प्रकार के कर्मों को करने में समर्थ—सर्वकर्माणि व्याप्नोति)—सर्वकर्मन् + ख (= ईन)। (४) **सर्वपत्त्रीणः** सारथिः (सब प्रकार के वाहनों को चलाने में समर्थ—सर्वपत्राणि व्याप्नोति) सर्वपत्र् + ख (= ईन)। (५) **सर्वपात्रीणः** ओदनः (सभी प्रकार के बर्तनों में पक सकने योग्य भात)—सर्वपात्र् + ख (= ईन)।—सर्वपात्राणि व्याप्नोति।

(१८०९) पद—आप्रपदं, प्राप्नोति। अनुवृत्ति—तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिप्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—पैर का अगला भाग 'प्रपद' है। उस तक व्याप्त होने वाला—'आप्रपद' कहलायेगा। उदा० आप्रपदीनः—पटः।

विवरण—अनुवर्तमान 'ख' का ही विधान है। समर्थ-विभक्ति का लाभ भी पूर्वसूत्रस्थ ("तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति" ५-२-७) 'तत्' पद की अनुवृत्तिवश होता है।

बद्धाभक्षयतिनेयेषु ५ । २ । ९ ॥ अनुरायामे सादृश्ये वा । अनुपदं बद्धा अनुपदीना उपानत् । सर्वान्नानि भक्षयति सर्वान्नीनो भिक्षुः । अयानयः स्थलविशेषः । तं नेयः

स्यादित्यर्थः । पादस्याग्रं प्रपदमिति । 'पादाग्रं प्रपदम्' इत्यमरः । आप्रपदमिति । 'आङ्-मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः ।

(१८१०) अनुपद । अनुपद, सर्वान्न, अयानय एषां समाहारद्वन्द्वात् द्वितीया । बद्धा, भक्षयति, नेय—एषां द्वन्द्वात् सप्तमी । तिङन्तस्य द्वन्द्वानुप्रवेश आर्षः । अनुपदादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः क्रमाद्बद्धादिष्वर्थेषु खः स्यादित्यर्थः । अनुरायामे सादृश्ये वेति । आद्ये 'यस्य चायामः' इत्यव्ययीभावः, द्वितीये सादृश्ये अव्ययीभावः । अनुपदं बद्धेति । क्रियाविशेषणत्वाद् द्वितीया । अनुपदीना उपानदिति । पदसम्बन्धिदैर्घ्योपलक्षितेत्यर्थः । पदेन सदृशीति वा । तत्तुल्यपरिमाणेति यावत् । अयानय इति । द्यूते शाराणां प्रदक्षिण-परिवर्तनम् अयः, प्रसव्यपरिवर्तनम् अनयः । अयसहितः अनयः अयानयः । प्रदक्षिण-प्रसव्यगामिनां यस्मिन् युग्मादिपदे स्थितानां परकीयैः शारैरनाक्रमणं तत्स्थानमिह अयानयशब्देन लक्षणयोच्यत इत्यर्थः । एतत्सर्वं भाष्ये स्पष्टम् ।

'ससहायस्य शारस्य परैर्नाक्रम्यते पदम् । असहायस्तु शारेण परकीयेण बाध्यते ॥'

इति द्यूतशास्त्रमर्यादा । विस्तरस्तु कैयटमनोरमादावनुसन्धेयः । तं नेय इति । तं स्थानविशेषमयानयाख्यं प्रापणीय इत्यर्थः । णीञ् द्विकर्मकः, प्रधाने कर्मणि यत्, 'अप्रधाने द्वितीया' इति भावकर्मलकारप्रक्रियायां वक्ष्यते ।

अतः "द्वितीया-समर्थ 'आप्रपद' प्रातिपदिक से 'प्राप्त होता है' (प्राप्नोति) अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है"। 'प्रपद' कहते हैं पैर के अग्रभाग (टखना) को। 'आङ्' उपसर्ग मर्यादा-बोधक है। अतः 'आप्रपद' कहेंगे टखने से पहले-पहल भाग को (अव्ययीभाव—"आङ्मर्यादाभिविध्योः" २-१-१३)। जो वस्त्र टखने तक व्याप्त हो, अर्थात् वहाँ तक नीचा हो, वह वस्त्र→आप्रपदीनः पटः (आप्रपद्+ख = ईन)।—आप्रपदं प्राप्नोति।

(१८१०) पद—अनुपदसर्वान्नायानयं, बद्धा-भक्षयति-नेयेषु। **अनुवृत्ति**—तद, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—दीर्घता और सादृश्यार्थक 'अनु' (उपसर्ग है)। उदा० १-अनुपदं बद्धा—अनुपदीना←उपानत्। २-सर्वान्नानि भक्षयति—सर्वान्नीनः←भिक्षुः। ३-अयानयं (= स्थलविशेषं) नेयः—अयानयीनः←शारः।

विवरण—विधेय प्रत्यय 'ख' की अनुवृत्ति आ रही है (५-२-६)। समर्थ-विभक्ति का सूचक 'तद' (५-२-७) पद भी अनुसरण कर रहा है। उद्देश्यवाची तीन शब्द हैं तथा प्रत्ययार्थ-बोधक भी तीन ही पद हैं। उनका क्रमशः अन्वय होगा। तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'अनुपद', 'सर्वान्न' तथा 'अयानय' प्रातिपदिकों से यथासंख्य 'बद्धा', 'भक्षयति', तथा 'नेय' (ले जाने योग्य) अर्थों में 'ख' प्रत्यय होता है"। 'अनुपद' का अर्थ है—पैर के साथ पूर्णतया सम्बद्ध। अर्थात् न बड़ी, न छोटी। इस अर्थ में 'अनु' उपसर्ग का वाच्यार्थ सहायक है। दीर्घता और सादृश्य अर्थ में 'अनु' उपसर्ग का प्रयोग होता है। तदनुसार दोनों ही अर्थों में 'अनुपद' शब्द अव्ययीभावान्त है। आयाम अर्थ में "यस्य चायामः" (२-१-१६) तथा "अव्ययं विभक्ति०" (२-१-६) से समास होगा। **उदाहरण**—(१) अनुपदीना उपानत् (पैर के नाप की जूती—अनुपदं बद्धा)—अनुपद+ख (= ईन)। अन्त्यवर्ण-लोप। (२) **सर्वान्नीनः** भिक्षुः (सब प्रकार के अन्न को खानेवाला भिक्षुक—सर्वान्नं भक्षयति)—सर्वान्न+ख (= ईन)। (३) **अयानयीनः** शारः (शतरंज के खेल में दाहिनी ओर से बाईं ओर गोटी की चाल को अय (अयनम् = अयः) तथा बाईं ओर से

अयानयीनः शारः । (१८११) परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ५ । २ । १० ॥ परांश्चावरांश्चानुभवतीति परोवरीणः । अवरस्योत्त्वं निपात्यते । परांश्च परतरांश्चानुभवति परम्परीणः । प्रकृतेः परम्परभावो निपात्यते । पुत्रपौत्रान् अनुभवति पुत्रपौत्रीणः । परम्पराशब्दस्तु अव्युत्पन्नं शब्दान्तरं स्त्रीलिङ्गम् । तस्मादेव स्वार्थे ष्यञि पारम्पर्यम् । कथं पारोवर्यवदिति । असाधुरेव । खप्रत्ययसन्नियोगेनैव परोवरेति निपातनात् । (१८१२)

(१८११) परोवर । परोवर, परम्पर, पुत्रपौत्र एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः अनुभवतीत्यर्थे खः स्यादित्यर्थः । परोवरीण इति । परे च अवरे च परावरे ।ताननुभवतीत्यर्थः । अवरस्योत्त्वमिति । अवरशब्दस्य आदेरकारस्य खप्रत्ययसन्नियोगेन उत्त्वं निपात्यत इत्यर्थः । एवं च विग्रहवाक्ये इदमुत्त्वं न भवति । प्रकृतेरिति । परपरतरशब्दात् द्वन्द्वात्खे सति तत्सन्नियोगेन प्रकृतेः परम्परभावो निपात्यत इत्यर्थः । नन्वेवं सति कल्याणपरम्परेत्यादौ कथं परम्पराशब्दः ? परम्परभावस्य खप्रत्ययसन्नियोगशिष्टत्वादित्यत आह—परम्पराशब्दस्त्विति । तस्मादेवेति । परम्परेत्यव्युत्पन्नप्रातिपदिकादेवेत्यर्थः । कथमिति । परावरशब्दात् भावे वा स्वार्थे वा ष्यञि अवरस्यादेरुत्त्वे पारोवर्यशब्दात् मतुपि पारोवर्यवदिति कथमित्याक्षेपः, उत्त्वस्य खप्रत्ययसन्नियोगशिष्टत्वादिति भावः । उत्त्वं दुरुपपादमेवेत्याह—असाधुरेवेति । नन्वत्र परोवरेति निर्देशात् खादन्यत्राप्युत्त्वं किं न स्यादित्यत आह—खप्रत्ययसन्नियोगेनैवेति । अत एव भाष्ये 'परांश्चावरांश्चानुभवति' इत्येव विग्रहो दर्शित इति भावः ।

दाहिनी ओर की चाल को अनय (न अयः = अनयः) कहते हैं । अयानय उस खाने या घर को कहते हैं, जिसमें दोनों ओर से आई हुई गोटियाँ किसी से मारी न जा सकें । उस घर में से ले जायी जाने वाली गोटी की संज्ञा है—अयानयीन)—अयानय् + ख (= ईन) । विग्रहार्थ—अयानयं नेयः । यहाँ अप्रधान कर्म में द्वितीया हुई है । किन्तु 'यत्' प्रत्यय प्रधान कर्म में हुआ है ।

विशेष—पासे के खेल की उपर्युक्त प्रक्रिया द्यूतशास्त्र की मर्यादा को अभिलक्षित कर दिखाई गई है ।

(१८११) **पद**—परोवर-परम्पर-पुत्रपौत्रम्, अनुभवति । **अनुवृत्ति**—तत, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदा० १-परांश्च अवरांश्च अनुभवति > परोवरीणः में 'अवर' को उत्व का निपातन किया गया है । २-परांश्च परतरांश्च अनुभवति > परम्परीणः में प्रकृति को परम्पर आदेश निपातन किया गया है । ३-पुत्रपौत्रान् अनुभवति > पुत्रपौत्रीणः । अव्युत्पन्न स्त्रीलिङ्ग 'परम्परा' शब्द से तो स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय होकर 'पारम्पर्यम्' रूप बनता है । 'पारोवर्यवत्' रूप असङ्गत ही है, क्योंकि 'ख' प्रत्यय के साहचर्य में ही 'परोवर' का निपातन है ।

विवरण—पूर्व सूत्र के समान यहाँ भी सभी उल्लिखित उद्देश्यवाची तीन शब्द तथा अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । प्रत्ययार्थ का सूचक 'अनुभवति' पद सूत्र में विद्यमान है । तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'परोवर', परम्पर' तथा 'पुत्रपौत्र' शब्दों से 'अनुभव करता है' अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **परोवरीणः** (ऊँच-नीच का अनुभव करने वाला—परांश्च अवरांश्च अनुभवति)—पर + अवर + ख (= ईन) > परोवर् + ईन ('अवर' शब्द के 'अ' को निपातनवश 'उ' आदेश) > परोवरीणः (गुण, अन्त्यवर्ण-लोप तथा णत्व) । (२) **परम्परीणः** (ज्येष्ठ और ज्येष्ठतरों का अनुभव करता है—परांश्च परतरांश्च अनुभवति)—पर-परतर + ख (= ईन) > परम्पर + ईन (परपरतर के स्थान में परम्पर आदेश का निपातन) > परम्परीणः (अन्त्यवर्ण-लोप तथा णत्व । 'परम्परा' शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक के रूप में स्वतन्त्र है, जो कि स्त्री-

अवारपारात्यन्तानुकामं गामी ५ । २ । ११ ॥ अवारपारं गामी अवारपारीणः । अवारीणः । पारीणः । परावारीणः । अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः । भृशं गन्तेत्यर्थः । अनुकामं गामी अनुकामीनः । यथेष्टं गन्ता । (१८१३) **समां समां विजायते ५ । २ । १२ ॥** यलोपोऽवशिष्टविभक्तेरलुक्च पूर्वपदे निपात्यते । समांसमीना गौः । 'समांसमीना सा यैव

(१८१२) अवारपार । अवारपार, अत्यन्त, अनुकाम एभ्यः गामीत्यर्थे खः स्यादित्यर्थः । गामीत्यस्य अवश्यं गमिष्यन्नित्यर्थः । 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इति णिनिः । 'भविष्यति गम्यादयः' इति भविष्यत्कालता । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति वा णिनिः । अवारपारीण इति । अवारपारं गामीति विग्रहः । अवारपारशब्दाद्विगृहीताद्विपरीतादपि, व्याख्यानात् । तदाह—अवारीणः पारीण इति । अत्यन्तीन इति । अन्यन्तशब्दोऽत्र भृशवाची । तदाह—भृशं गन्तेति । अनुकाममिति । कामः इच्छा । तामनतिक्रम्येत्यर्थः । पदार्थानतिवृत्तावव्ययीभावः ।

(१८१३) समां समाम् । विपूर्वो जनिर्गर्भविमोचने वर्तते । विजायते गर्भम् । विमुञ्चतीत्यर्थः । धात्वर्थेनोपसंग्रहादकर्मकः । अतो न कर्मणि द्वितीया । गर्भविमोचनेन

लिङ्ग है । तदनुसार स्वार्थ में 'ष्यञ्' होकर पारम्पर्यम् (परम्परा का अनुभव करने वाला) रूप भी बनता है । (३) पुत्रपौत्रीणः (पुत्र तथा पौत्र का अनुभव करने वाला—पुत्रपौत्रान् अनुभवति)—पुत्रपौत्र+ख (ख = ईन) ।

शङ्कानिवारण—'पारोवर्यवत्' (परोवर+ष्यञ् = पारोवर्य+मतुप्=वत्) प्रयोग किस प्रकार समीचीन जाना जाय ? उक्त रूप असाधु ही है, क्योंकि 'ख' प्रत्यय के सन्नियोग में ही 'अवर' शब्द सम्बन्धी 'अ' के स्थान पर 'उ' का निपातन किया गया है । यहाँ तो 'ष्यञ्' प्रत्यय का सन्नियोग है । अतः 'पारावर्यवत्' रूप निष्पन्न होगा ।

(१८१२) **पद**—अवारपारात्यन्तानुकामं, गामी । तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

विवरण—पूर्व सूत्र के समान ही अनुवृत्तियाँ आ रही हैं । प्रत्ययार्थ का सूचक 'गामी' शब्द भविष्यत्-काल का बोधक है—'गम्'+णिनि (इन्—"आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः" ३-३-१७०) प्रत्यय होने पर 'गामी' शब्द निष्पन्न हुआ है—("भविष्यति गम्यादयः" ३-३-३) अतः विग्रहार्थ में "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" (२-३-७०) के द्वारा 'षष्ठी' का निषेध होने से 'द्वितीया' समर्थ विभक्ति मानी जाती है । तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'अवार', 'अत्यन्त', 'अनुकाम' प्रातिपदिकों से 'भविष्य में जाने वाला' अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है" । 'अवारपार' शब्द समुदायात्मक, पृथक् तथा विपरीत रूपों में भी ग्राह्य है—यह "राष्ट्रावारपाराद् घ-खौ" (सू० १३१५) सूत्र में सूचित किया जा चुका है । **उदाहरण**—(१) (क) **अवारपारीणः** (एक साथ आर-पार जाने वाला—अवारपारं गामी)—अवारपार+ख (= ईन) । (ख) **अवारीणः** (इस पार जाने वाला—अवारं गामी)—अवार+ख (= ईन) । (ग) **पारीणः** (पार जाने वाला—पारं गामी)—पार+ख (= ईन) । (घ) **परावारीणः** (आर-पार जाने वाला—परावारं गामी)—परावार+ख (ईन) । (२) **अत्यन्तीनः** (बहुत चलने वाला—अत्यन्तं गामी)—अत्यन्त+ख (= ईन) । (३) **अनुकामीनः** (इच्छानुसार चलने वाला—अनुकामं गामी)—अनुकाम+ख (= ईन) । 'अनुकामम्' में अव्ययीभाव (पदार्थानतिवृत्ति) समास है—कामम् अनतिक्रम्य ।

(१८१३) **पद**—समांसमां, विजायते । **अनुवृत्ति**—तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—सूत्रस्थ 'समांसमां' पद में यकार का लोप तथा पूर्वपद में अवशिष्ट विभक्ति का

प्रतिवर्षं प्रसूयते' इत्यमरः। 'खप्रत्ययानुत्पत्तौ यलोपो वा वक्तव्यः' (वा ३१००)। समां समां विजायते। समायां समायां वा। (१८१४) अद्यश्वीनावष्टब्धे ५। २। १३॥

कृत्स्नायाः समाया अव्यापनादत्यन्तसंयोगलक्षणा द्वितीयापि न भवति, किन्तु सप्तम्येव। तत्र सप्तम्यन्तस्य समायामित्यस्य 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचने समायां समायामिति भवितव्यम्। तत्र पदद्वयमपि यकारलोपसहितं निर्दिश्यते—समां समामिति। समायां समायामित्यर्थः। एवं च समायां समायां विजायत इत्यर्थे सप्तम्यन्तद्वयसमुदायात् विजायत इत्यर्थे खः स्यादिति फलितम्। ननु सप्तम्यन्तद्वयसमुदायात् खप्रत्ययोत्पत्तौ तदन्तस्य समुदायस्य प्रातिपदिकत्वात् तदवयवयोः सप्तम्योर्लुकि समासमीन इति स्यात्। इष्यते तु समांसमीनेति। तत्राह—यलोप इति। पूर्वपदे विभक्ते तदवयवस्य यकारस्य लोपः। अवशिष्टस्य विभक्त्यंशस्य अलुक्च निपात्यत इत्यर्थः। भाष्ये तु 'यलोपनिपातनादवशिष्टविभक्त्यंशस्य न लुक्' इत्युक्तम्। ननु समां समामिति निर्देशात् उत्तरपदेऽपि यकारलोपः अवशिष्टविभक्त्यंशस्य अलुक् च स्यादित्यत आह—पूर्वपदे इति। 'पूर्वपदस्य यलोपवचनम्' इति वार्तिकादिति भावः। खप्रत्ययानुत्पत्ताविति। पदद्वयेऽपीति शेषः। इह विभाषया कदाचित् खप्रत्ययाभावे सति समायां समायां विजायत इति वाक्यदशायां सप्तम्यन्तद्वये यकारलोपो वा वक्तव्य इत्यर्थः। तत्र पदद्वयेऽपि निपातनादेव यकारलोपः सिद्धः; सूत्रे उभयत्रापि यथोच्चारणात्। विकल्प एव तु यलोपस्य वाक्यदशायां वाचनिक इति बोध्यम्। एतत्सर्वं भाष्ये स्पष्टम्।

'अलुक्' निपातित है। उदा० समांसमीना गौः। अमरकोष के अनुसार प्रतिवर्ष नियमित प्रसव करने वाली गाय की संज्ञा 'समांसमीना' है। वा० 'ख' प्रत्यय की उत्पत्ति न होने में 'य'-लोप विकल्प से होता है। उदा० १—समांसमां विजायते। अथवा—समायां समायां।

विवरण—सूत्रस्थ 'विजायते' पद 'वि'-पूर्वक 'जन्' धातु के 'लट्' लकार के प्रथम पुरुष में एकवचन का रूप है (वि-√जन्+ते)। इसका अर्थ है गर्भ-विमोचन-पूर्वक प्रसव करना। यहाँ प्रसवरूप अर्थ संवत्सर अर्थात् वर्ष का व्यापक नहीं है। अतः काल (वर्ष) का अत्यन्त संयोग न होने से द्वितीया नहीं मानी जाती। किन्तु यहाँ 'समायां' सप्तमी है। उसे द्वित्व "नित्यवीप्सयोः" ८-१-४) होने पर समायां समायां होना चाहिये था, किन्तु 'य'कार लोप निपातन से सूत्र में 'समांसमां' निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार "समायां समायां" सप्तम्यन्त प्रकृति-भाग के पूर्वपद में 'य्'-लोप तथा अवशिष्ट 'आम्' विभक्ति का अलुक् 'ख' प्रत्यय होने पर निपातन होता है। उत्तरपदस्थ विभक्ति ङि० (=आम्) का "सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः" (२-४-७१) से लुक् होकर (समां-समा-ङि०+ईन+टाप्) ईनादेश तथा स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'टाप्' प्रत्यय संयुक्त होने से **समांसमीना** रूप निष्पन्न होता है। भाष्यकार ने लाघवस्वरूप दोनों पदों में 'य्' का लुक् तथा अवशिष्ट 'आम्' का अलुक् करने से 'समां-समां' प्रकृति मानी है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि ""समायां समायां विजायते' अर्थ में "सप्तम्यन्तद्वय-समांसमां—समुदाय" से 'विजायते' अर्थ से 'ख' प्रत्यय होता है"—**समांसमीना** गौः। इसका अर्थ है—प्रतिवर्ष बच्चा देने वाली गाय।

विशेष—'विभाषा' अधिकार के कारण कदाचित् 'ख' प्रत्यय न होने पर वाक्यदशा में ('समायां समायां') उभयत्र 'य'कार का लोप विकल्प से होने के लिये वार्तिक उद्धृत किया गया है। अतः वाक्य के दोनों रूप बनेंगे—**समायां समायां विजायते** एवं **समां समां विजायते**। पाणिनि ने सूत्र में उभयत्र यलोप एवं अवशिष्ट विभक्ति का अलुक् मानकर ही 'समां समां' निपातित प्रयोग किया है। उसकी मौलिक दशा 'समायां समायां' है। इस प्रकार उभयत्र यलोप का विकल्प-कथन वाचनिक मात्र है।

अद्य श्वो वा विजायते अद्यश्वीना वडवा। आसन्नप्रसवेत्यर्थः। केचित्तु विजायत इति नानुवर्तयन्ति। अद्यश्वीनं मरणम्। आसन्नमित्यर्थः। (१८१५) आगवीनः ५।२।१४॥ आङ्पूर्वाद् गोः कर्मकरे खप्रत्ययो निपात्यते। गोः प्रत्यर्पणपर्यन्तं यः कर्म करोति स आगवीनः। (१८१६) अनुग्वलंगामी ५।२।१५॥ अनुगु–गोः पश्चात्पर्याप्तं

(१८१४) अद्यश्वीनाऽवष्टब्धे। अद्यश्वीनेत्यविभक्तिको निर्देशः। अवष्टब्धम् आसन्नम् 'अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः' इत्यविदूर्ये स्तम्भेः षत्वविधानात्। अद्य श्वो विजायत इत्यर्थे अद्य श्वस् इति समुदायात्खः स्यादासन्नत्वे गम्ये इत्यर्थः। अद्यश्वीना वडवेति। अद्य वा श्वो वेति वार्थे निपातनात्समासः। खे सति 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः। सूत्रे अद्यश्वीनेति टाबन्तनिर्देशे तु अद्यश्वीनो गोसमूहः, अद्यश्वीनं गोमण्डलमिति न स्यात्।

(१८१५) आगवीनः। कर्मकरे इति। वार्तिकलभ्यमिदम्। भृतिं गृहीत्वा यः कर्म करोति स कर्मकरः। अत्र गोपालो विवक्षितः। स हि प्रातर्गां गृहीत्वा आसायं चारयित्वा स्वामिनो गृहं नीत्वा प्रत्यर्पयति। तदाह—गोः प्रत्यर्पणेति। आगवीन इति। गोशब्दो गोप्रत्यर्पणे लाक्षणिकः। 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावे 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वे आगुशब्दात् खे 'ओर्गुणः' इति भावः।

(१८१६) अनुग्वलं गामी। अनुगु इत्यविभक्तिको निर्देशः। गोः पश्चादिति विग्रहे

(१८१४) पद—अद्यश्वीनम्, अवष्टब्धे। अनुवृत्ति—विजायते, खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्र में 'अद्यश्वीन'–लुप्तप्रथमान्त निर्देश है। पूर्व सूत्र से अनुवर्तमान 'विजायते' अर्थ में निपातन का ही विषय है। सभी अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "'आसन्न प्रसव' अभिधेय होने पर 'अद्यश्वीन' शब्द निपातन किया जाता है"। अर्थात् (उदाहरण में) अद्यश्वस् (समुदाय से)+ख-प्रत्यय (=ईन, निपातनात् समास) तथा 'टि'-भाग (=अस्) का लोप (अव्ययानां भ-मात्रे टि-लोपः) कर रूप सिद्ध होता है। तदनन्तर 'टाप्' (=आ) होगा। अर्थ—आज-कल में बच्चा देने वाली गाय—अद्य श्वः वा विजायते। कुछ वृत्तिकार 'विजायते' पद की अनुवृत्ति नहीं करते। तदनुसार 'आसन्न मरण अर्थ' (अद्य श्वः वा मरणम्) में भी अद्यश्वीनं मरणम् प्रयोग को समीचीन मानते हैं। ऐसा व्यवहार में भी प्रचलित है।

विशेष—सूत्र में यदि टाबन्त 'अद्यश्वीना' निर्देश दिया गया होता तो 'अद्यश्वीनः गोसमूहः' तथा 'अद्यश्वीनं गोमण्डलम्' आदि प्रयोग पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग युक्त व्यवहृत न हो पाते।

(१८१५) पद—आगवीनः। अनुवृत्ति—खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—'आङ्'—पूर्वक 'गो'शब्द से 'कर्मकर' वाच्य हो तो 'ख' प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है। 'कर्मकर' शब्द से 'वेतन' लेकर काम करने वाला भृत्य आदि अपेक्षित हैं। यहाँ पर यह शब्द 'ग्वाला' अर्थ में लाक्षणिक है, क्योंकि वह प्रातः स्वामी की गाय दुहता है तथा दिन में चराकर सायंकाल घर पहुँचा देता है। तदनुसार आगवीनः (दिन भर का मजदूर—गोः प्रत्यर्पणपर्यन्तं कर्म करोति)—आ-गु+ख (=ईन)>आ-गो+ईन (अव्ययीभाव समास "आङ्मर्यादाभिविध्योः" २-१-१३ तथा उपसर्जन ह्रस्व, पुनः उ=ओ "ओर्गुणः" ६-४-१४६)> आगवीनः (ओ=अव्)।

(१८१६) पद—अनुगु, अलङ्गामी। अनुवृत्ति—तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—'अनुगु'-अविभक्तिक निर्देश है। 'गोः पश्चात्'-इस विग्रह (अर्थ) में

गच्छति–अनुगवीनो गोपालः । (१८१७) अध्वनो यत्खौ ५ । २ । १६ ॥ अध्वानमलं गच्छति→अध्वन्यः–अध्वनीनः । 'ये चाभावकर्मणः' (सू ११५४) 'आत्माध्वानौ खे' (सू १६७१) इति सूत्राभ्यां प्रकृतिभावः । (१८१८) अभ्यमित्राच्छ च ५ । २ । १७ ॥ चाद्यत्खौ । अभ्यमित्रीयः–अभ्यमित्र्यः–अभ्यमित्रीणः । अमित्राभिमुखं सुष्ठु गच्छतीत्यर्थः ।

पश्चादर्थे अनोरव्ययीभावे ह्रस्वत्वे अनुगुशब्दः । तस्मात् अलङ्गामीत्यर्थे खः स्यादित्यर्थः । अत्र अनुगु इत्यस्य क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीयैव समर्थविभक्तिरिति हरदत्तः । कृद्योगषष्ठीत्यन्ये । अलङ्गामीत्यत्र अलंशब्दस्य विवरणं—पर्याप्तमिति क्रियाविशेषणम् ।

(१८१७) अध्वनो यत्खौ । अध्वन्शब्दात् अलङ्गामीत्यर्थे यत्खौ स्त इत्यर्थः । अध्वानमलङ्गच्छतीति । अलङ्गामीत्यनेन विग्रहे तु अध्वनोऽलङ्गामीत्येष विग्रहः ।

(१८१८) अभ्यमित्राच्छ च । अमित्रः शत्रुः । तमभिमुखो भूत्वेत्यर्थे 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावे अभ्यमित्रशब्दः । तस्मात् अलङ्गामीत्यर्थे छप्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

'पश्चात्' अर्थ को अभिलक्षित कर अव्ययीभाव समास तथा उपसर्जन ह्रस्व होने पर 'अनुगु' शब्द निष्पन्न होता है । तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'अनुगु' प्रातिपदिक से 'अलंगामी' (= पर्याप्त जाता है) अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—अनुगवीनः गोपालः (गायों के पीछे चलने वाला—गोः पश्चात् पर्याप्तं गच्छति)—अनुगु+ख (= ईन) > अनुगवीनः (गुण–उ = ओ— "ओर्गुणः" ६-४-१४६ तथा 'अव्' आदेश)। 'अनुगु' शब्द के क्रिया-विशेषण होने से 'द्वितीया' समर्थ विभक्ति है—यह आचार्य हरदत्त का मत है । 'अलङ्गामी' पदस्थ 'अलं' शब्द 'पर्याप्त' अर्थ का वाचक है (क्रियाविशेषण)।

(१८१७) पद—अध्वनः, यत्-खौ । अनुवृत्ति—अलंगामी, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—'अलंगामी' अर्थ का ही विषय है । पूर्वोक्त सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "द्वितीया-समर्थ 'अध्वन्' प्रातिपदिक से 'अलंगामी' अर्थ में 'यत्' तथा 'ख' प्रत्यय होते हैं" । उदाहरण—(क) अध्वन्यः→अध्वन्+यत् (= य) प्रत्यय होने पर । (ख) अध्वनीनः←अध्वन्+ख (= ईन) होने पर । "आत्माध्वानौ खे" ६-४-१६९ से प्रकृतिभाव होने के कारण "टि"-लोप नहीं हुआ । अर्थ—यात्रा करने वाला—अध्वानम् अलङ्गामी ।

(१८१८) पद—अभ्यमित्रात्, छ, च । अनुवृत्ति—यत्-खौ, अलङ्गामी, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—'छ' अविभक्तिक निर्देश है । सूत्रस्थ 'च' पद से पूर्व सूत्रोक्त (५-२-१६) 'यत्' तथा 'ख' का अनुकर्षण हो रहा है । प्रत्ययार्थ का विषय 'अलङ्गामी' (५-२-१५) भी अनुवर्तमान है । अतः "द्वितीया-समर्थ 'अभ्यमित्र' प्रातिपदिक से 'अलङ्गामी' अर्थ में 'छ' एवं 'यत्' तथा 'ख' प्रत्यय होते हैं" । उदाहरण—(क) अभ्यमित्रीयः→अभ्यमित्र्+छ (= ईय) होने पर । (ख) अभ्यमित्र्यः←अभ्यमित्र्+यत् (= य) होने पर । (ग) अभ्यमित्रीणः →अभ्यमित्र्+ख (= ईन) होने पर । अर्थ—वीरता से शत्रु का सामना करने वाला—अभ्यमित्रम् अलङ्गामी ।) अभ्यमित्र शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—शत्रु का सामना←'अमित्रः' = शत्रुः, तम् अभिमुखः भूत्वा→अभ्यमित्रः । अव्ययीभाव समास "लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये" २-१-१४ ।

(१८१९) गोष्ठात्खञ्भूतपूर्वे ५।२।१८॥ गोष्ठो भूतपूर्वः—गौष्ठीनो देशः। (१८२०) अश्वस्यैकाहगमः ५।२।१९॥ एकाहेन गम्यते इत्येकाहगमः। आश्वीनोऽध्वा। (१८२१) शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः ५।२।२०॥ शालाप्रवेशमर्हति शालीनोऽधृष्टः। कूपपतनमर्हति कौपीनं पापम्। तत्साधनत्वात्तद्वद् गोप्यत्वात् वा पुरुषलिङ्ग-

---

(१८१९) गोष्ठात्खञ्। भूतपूर्वं इति प्रकृतिविशेषणम्। भूतपूर्वार्थवृत्तेर्गोष्ठशब्दात्स्वार्थे खः स्यादिति वृत्तिकृतः।

(१८२०) अश्वस्यैकाहगमः। अश्वशब्दात् षष्ठ्यन्तात् एकाहगम इत्यर्थे खञ् स्यादित्यर्थः। एकाहगमशब्दं व्युत्पादयति—एकाहेनेति। अस्मादेव निपातनात्कर्मणि गमेरबिति भावः। 'कर्तृकरणे कृता' इति समासः। अश्वस्येति कर्तरि षष्ठी। आश्वीनोऽध्वेति। अश्वेन कर्त्रा एकाहेन गन्तुं शक्य इत्यर्थः।

(१८२१) शालीन। 'शालाप्रवेशमर्हत्यधृष्ट' इति, 'कूपावतरणमर्हत्यकार्य'मिति चार्थे शालाप्रवेशशब्दात्कूपावतरणशब्दाच्च खञ्। 'प्रवेशशब्दस्य अवतरणशब्दस्य चोत्तरपदस्य लोपे शालीनकौपीनशब्दौ निपात्येते' इति भाष्यम्। अधृष्ट इति। अप्रगल्भ इत्यर्थः। अप्रागल्भ्यादन्यत्र गन्तुमशक्तः शालाप्रवेशमेवार्हति यः स शालीनः इति यावत्। कूपपतनमिति। कूपावतरणशब्दस्य विवरणमिदम्। कूपशब्दो नरकाभिधायी। कौपीनं

(१८१९) पद—गोष्ठात्, खञ्, भूतपूर्वे। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है। प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "'भूतपूर्व' अर्थ में वर्तमान 'गोष्ठ' प्रातिपदिक से 'खञ्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—गौष्ठीनः देशः (जहाँ पहले गायें बैठती थीं—गोष्ठः भूतपूर्वः)—गोष्ठ् + ख (= ईन)। अन्त्यवर्ण-लोप।

(१८२०) पद—अश्वस्य, एकाहगमः। अनुवृत्ति—खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र ("गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे" ५-२-१८) से 'खञ्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। "तदनुसार षष्ठीसमर्थ 'अश्व' प्रातिपदिक से 'एक दिन में जाने योग्य मार्ग'—अर्थ अभिधेय होने पर 'खञ्' प्रत्यय होता है"। सूत्रस्थ 'अश्वस्य' पद के निर्देश से 'षष्ठी'-समर्थ विभक्ति का ग्रहण है। उदाहरण—आश्वीनः अध्वा (घोड़े के एक दिन चलने योग्य मार्ग—अश्वस्य एकाहगमः = एकाहेन गम्यते)—अश्व् + खञ् (ख = ईन)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप। पूर्वकाल में 'आश्वीन' शब्द दूरी को नापने के लिये प्रयुक्त होता था।

(१८२१) पद—शालीन-कौपीने, अधृष्टा-कार्ययोः। अनुवृत्ति—खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—पुनः दो शब्दों के निपातन का विषय प्रस्तुत किया जा रहा है। उसमें 'खञ्' का साहचर्य अपेक्षित है। वह पूर्ववत् अनुवृत्ति-लभ्य है। दो शब्द निपातनीय हैं और दो अर्थ भी निर्दिष्ट हैं। अतः यथासङ्ख्य परिभाषा का आश्रयण लेना होगा। तदनुसार 'अधृष्ट' (भीरु) वाच्य होने पर "'शालीन' शब्द तथा अकार्य (= पाप) वाच्य होने पर 'कौपीन' शब्द निपातन किए जाते हैं"। उदाहरण—(१) शालीनः में 'शालाप्रवेशन' (शब्द से) + 'खञ्' (ख = ईन) प्रत्यय तथा उत्तरपद (= प्रवेशन) का लोप निपातन है—(शाल् + ईन > शालीनः—अन्त्यवर्ण लोप)। अर्थ—जो घर में घुस जाय अर्थात् लज्जाशील—शालाप्रवेशमर्हति। (२) कौपीनं पापम् में 'कूपावतार' शब्द से + खञ् प्रत्यय (= ईन) तथा

मपि, तत्सम्बन्धात्तदाच्छादनमपि। (१८२२) व्रातेन जीवति ५।२।२१॥ व्रातेन शरीरायासेन जीवति, न तु बुद्धिवैभवेन, स व्रातीनः। (१८२३) साप्तपदीनं सख्यम् ५।२।२२॥ सप्तभिः पदैरवाप्यते—साप्तपदीनम्। (१८२४) हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम्।

पापमिति। नरकपतनसाधनमकार्यं पापमित्यर्थः। अनयोरर्थयोरेतौ रूढौ। ननु पुरुषलिङ्गे कथं कौपीनशब्द इत्यत आह—तत्साधनत्वादिति। पापसाधनत्वाद्वा, पापवदाच्छादनीयत्वाद्वा पुरुषलिङ्गकौपीनशब्दो लाक्षणिको इत्यर्थः। तत्सम्बन्धादिति। कौपीनशब्दस्य लक्ष्यपुरुषलिङ्गसम्बन्धात् तदाच्छादनवस्त्रखण्डे कौपीनशब्दो लक्षितलक्षणया प्रयुज्यत इत्यर्थः।

(१८२२) व्रातेन जीवति। व्रातशब्दात्तृतीयान्तात् जीवतीत्यर्थे खञ् स्यादित्यर्थः। नानाजातीयानाम् अलब्धजीवनद्रव्याणां भारवहनादिकष्टकर्मजीविनां सङ्घो व्रातः। तस्य यज्जीवनार्थं कष्टं कर्म तदिह व्रातम् इति भाष्यम्। तादृशसङ्घवाचिनो व्रातशब्दात् 'तस्येदम्' इत्यणि व्रातशब्दोऽत्र तदीयकर्मणि विवक्षित इति तदाशयः। तदाह—शरीरायासेनेति।

(१८२३) साप्तपदीनम्। सप्तपदशब्दात् तृतीयान्तादवाप्यं सख्यमित्यर्थे खञि साप्तपदीनमिति भवतीत्यर्थः। सप्तभिः पदैरिति। पदविक्षेपैरित्यर्थः।

'उत्तरपद' (=अवतार) का लोप निपातन है (कूप्+ईन > कौपीनम्—आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण लोप)। अर्थ—कूएँ में गिरने योग्य अर्थात् पाप—कूपावतारमर्हति। अकार्य = नरक पतन साधन की तरह जो करने योग्य न हो अर्थात् पाप।

विशेष—दुराचरण का साधन एवम् पाप की तरह आच्छादनीय होने के कारण पुरुष का इन्द्रिय तथा उससे संयुक्त वस्त्र (लँगोट) को भी **कौपीन** कहा जाता है। अर्थात् लक्षणा से 'पुरुषेन्द्रिय' तथा 'लँगोट' अर्थ में कौपीनत्व का आरोप है। आरोप में बीज पापसाधनत्व एवं गोप्यत्वादि धर्म हैं।

(१८२२) पद—व्रातेन, जीवति। **अनुवृत्ति**—खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"तृतीया-समर्थ 'व्रात' प्रातिपदिक से 'जीता है' (=जीवति) अर्थ में 'खञ्' प्रत्यय होता है"। यहाँ 'व्रातेन' निर्देश से ही तृतीया-समर्थ-विभक्ति ली गई है। भिन्न भिन्न जाति और अनियत वृत्तिवाले मनुष्य जो कि शारीरिक परिश्रम आदि कर जीविका निर्वाह करते हैं, उन मनुष्यों के समूह को व्रात कहा गया है। उनका जो जीविकोपार्जन का काम है उसे भी व्रात ही कहते हैं। (व्रात+अण्—"तस्येदम्" ४-३-१२०)। उस व्रात-कर्म (=श्रम) को करते हुए जीने वाले (व्रातेन = शरीरायासेन जीवति) को **व्रातीनः** (व्रात्+खञ्, ख=ईन) कहा जायेगा।

(१८२३) पद—साप्तपदीनं, सख्यम्। **अनुवृत्ति**—खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—यद्यपि समर्थ-विभक्ति का सूत्र में निर्देश नहीं है, तथापि योग्यतावश 'तृतीया'-विभक्ति परिकल्पित है। तदनुसार "तृतीयान्त 'सप्तपद' शब्द से 'मित्रता' (=सख्यम्) वाच्य होने पर खञ् (=ईन) प्रत्ययान्त **'साप्तपदीनम्'** शब्द निपातन किया जाता है"। **उदाहरण**—शास्त्रीय-मर्यादानुसार विवाह में सप्तपदी क्रिया से मित्र-भाव की प्राप्ति कही गई है। उसी प्रकार थोड़ी देर के सहवास से या वार्तालाप के सात शब्दों (पदों) से होने वाली मित्रता भी **साप्तपदीनम्** (सप्तभिः पदैः अवाप्यम्) कहलायेगी।

५ । २ । २३ ॥ ह्योगोदोहस्य हियङ्गुरादेशो विकारार्थे खञ् च निपात्यते । दुह्यत इति दोहः=क्षीरम् । ह्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनम्—नवनीतम् । (१८२५) तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ ५ । २ । २४ ॥ पीलूनां पाकः—पीलुकुणः । कर्णस्य मूलं—कर्णजाहम् । (१८२६) पक्षात्तिः ५ । २ । २५ ॥ मूलग्रहणमात्र-

---

(१८२४) हैयङ्गवीनम् । ह्यस् इत्यव्ययं पूर्वेद्युरित्यर्थे । तत्रोत्पन्नो गोदोहः—गोपयः ह्योगोदोहः । तस्मात् षष्ठयन्तात् विकारार्थे खञि ईनादेशे प्रकृतेः 'हियङ्गु' इत्यादेशे · ओर्गुणे अवादेशे आदिवृद्धौ हैयङ्गवीनमिति भवति सञ्ज्ञायाम् इति भाष्यम् । तदाह—ह्योगोदोहस्येत्यादिना । नवनीतमिति । भाष्ये तु 'हैयङ्गवीनं घृतम्' इति दृश्यते 'तत्तु हैयङ्गवीनं स्याद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्' इत्यमरः ।

(१८२५) तस्य पाकमूले । पाकमूले इति समाहारद्वन्द्वात्सप्तमी । पाकः परिणामः । षष्ठयन्तेभ्यः पील्वादिभ्यः पाकेऽर्थे कुणप् । कर्णादिभ्यस्तु मूलेऽर्थे जाहजित्यर्थः । कुणपस्तद्धितत्वात् ककारस्य नेत्सञ्ज्ञा । जाहाचस्तु जकारस्य प्रयोजनाभावात् नेत्सञ्ज्ञा ।

(१८२६) पक्षात्तिः । मूलग्रहणमात्रमिति । पूर्वसूत्रे पाकमूल इति समासनिर्दिष्ट-

---

(१८२४) पद—हैयङ्गवीनं, संज्ञायाम् । अनुवृत्ति—खञ् , तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"संज्ञा-विषय में षष्ठयन्त ह्योगोदोह शब्द से 'हैयङ्गवीन' शब्द निपातन किया जाता है" । इस तरह 'ह्योगोदोह' शब्द के स्थान पर 'हियङ्गु' आदेश तथा 'उसका विकार' अर्थ में 'खञ्' प्रत्यय निपातन के कार्य हैं । ह्योगोदोह का अर्थ है कल (बीता हुआ दिन) का दुहा दूध । उसी कल के दुहे दूध को जमा कर मठा बिलो कर मक्खन या घी बनाना सम्भव है । **उदाहरण—हैयङ्गवीनम्** (ह्यो-गोदोहस्य[1] विकारः)—ह्योगोदोह+खञ् (ख = ईन) > हियङ्गु+ईन (ह्योगोदोह = हियङ्गु) > हैयङ्गु+ईन (आदिवृद्धि) > हैयङ्गो+ईन (गुण—"ओर्गुणः" ६-१-१४६) > हैयङ्गवीनम् (अवादेश) ।

(१८२५) पद—तस्य, पाकमूले, पील्वादिकर्णादिभ्यः, कुणब्-जाहचौ । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । उल्लिखित आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व प्रभावी हैं । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ (तस्य) पील्वादि तथा कर्णादि प्रातिपदिकों से यथासंख्य 'पाक' तथा 'मूल' अर्थ अभिधेय होने पर 'कुणप्' तथा 'जाहच्' प्रत्यय होते हैं" । प्रत्यय भी यथासंख्य ही होंगे । अर्थात् पील्वादियों से 'पाक' अर्थ में 'कुणप्' तथा कर्णादियों से 'मूल' अर्थ में 'जाहच्' प्रत्यय होगा । तद्धितभिन्न प्रत्यय में प्रत्ययादि 'क'कार की इत्संज्ञा विहित होने के कारण यहाँ 'कुणप्' में 'क्' इत्संज्ञक नहीं है । अतः प्रत्यय का स्वरूप 'कुण' है । 'जाहच्' में प्रयोजनाभाव के कारण आदि 'ज्' की इत्संज्ञा नहीं होती । अतः वहाँ प्रत्यय का स्वरूप 'जाह' है । **उदाहरण—पीलुकुणः** ('पीलु' फलों का पकना—पीलूनां पाकः)—पीलु+कुणप् (=कुण) । विभक्तिकार्य । (२) **कर्णजाहम्** (कान के नीचे का भाग—कर्णस्य मूलम्)—कर्ण+जाहच् (= जाह) । विभक्ति-कार्य ।

(१८२६) पद—पक्षात्, तिः । अनुवृत्ति—तस्य मूले, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

---

१. 'ह्यस्' शब्दस्य 'गोदोह'-शब्देन सुप्सुपेति समासः । दुह्यते इति दोहः—क्षीरमुच्यते । 'ह्यस्'-शब्देन कालप्रत्यासत्तिः प्रतिपाद्यते । तेन अविकृतरूपं घृतं 'हैयङ्गवीनमुच्यते'—इति कैयटः ।

मनुवर्तते । पक्षस्य मूलं पक्षतिः । (१८२७) तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ ५ । २ । २६ ॥ यकारः प्रत्ययोरादौ लुप्तनिर्दिष्टः, तेन चस्य नेत्संज्ञा । विद्यया वित्तो विद्याचुञ्चुः । विद्याचणः । (१८२८) विनञ्भ्यां नानाञौ नसह ५ । २ । २७ ॥ असहार्थे पृथग्भावे वर्तमानाभ्यां स्वार्थे प्रत्ययौ । विना । नाना । (१८२९) वेः शालचछङ्कटचौ

त्वेऽप्येकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानादिति भावः । तस्येत्यप्यनुवर्तते । पक्षशब्दात् षष्ठ्यन्तात् मूलेऽर्थे तिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

(१८२७) तेन वित्तः । तृतीयान्तात् वित्त इत्यर्थे चुञ्चुप्चणपौ भवत इत्यर्थः । वित्तः प्रसिद्धः । चस्य नेत्सञ्ज्ञेति । उपदेशे आदित्वाभावादिति भावः ।

(१८२८) विनञ्भ्याम् । नसहेति सङ्घातः पृथक्त्वे वर्तते । प्रकृतिविशेषणमिदम् । तदाह—असहार्थे इति । तस्य विवरणं—पृथग्भावे इति । वर्तमानाभ्यामित्यनन्तरं विनञ्भ्यामिति शेषः । स्वार्थे इति । प्रत्ययार्थस्य अनिर्देशादिति भावः । प्रत्ययाविति । यथासङ्ख्यं नानाञाविति शेषः । विनेति । वेर्नाप्रत्यये रूपम् । पृथगित्यर्थः । नानेति । नञो नाञि आदिवृद्धौ रूपम् । पृथगित्यर्थः । नसहेत्यस्य प्रत्ययार्थत्वे तु नेत्यनेन नसहेति गम्येत । एवं सति नाना न नसह, किन्तु सहैवेत्यर्थः स्यात्, 'द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत' इति न्यायात् इति भाष्ये स्पष्टम् ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र (सू० १८२५) से समर्थ विभक्ति के लिये 'तस्य' की अनुवृत्ति आ रही है । प्रत्ययार्थ के विषय में 'मूले' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'पाके' की नहीं[1] । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ 'पक्ष' प्रातिपदिक से 'मूल' अभिधेय होने पर 'ति' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—पक्षतिः[2] (प्रतिपत् तिथि या पक्ष की जड़—पक्षस्य मूलम् । पक्ष+ति । विभक्तिकार्य ।

(१८२७) पद—तेन, वित्तः, चुञ्चुप्-चणपौ । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"तृतीया-समर्थ (तेन) प्रातिपदिक से 'प्रतीत' या 'ज्ञात' (वित्तः) अर्थ में 'चुञ्चुप्' (= चुञ्चु) और 'चणप्' (= चण) प्रत्यय होते हैं" । यहाँ पर दोनों प्रत्ययों के आद्यवयव 'च्' की इत्संज्ञा इस कारण नहीं होती कि "चुटू" (१-३-७) तथा "षः प्रत्ययस्य" (१-३-६) दोनों सूत्र पृथक् पढ़ने के कारण आद्यवयव 'च्' की इत्संज्ञा होने के सम्बन्ध में अनित्यता सूचित की गई है[3] । भाष्यकार ने यह समाधान दिया है कि "'चुञ्चुप्' एवं 'चणप्' के पूर्व 'य'कार की स्थिति है और उसका लोप होने पर 'च्' प्रत्ययादि नहीं रह जाता"[4] ।

(१८२८) पद—विनञ्भ्यां, ना-नाञौ, नसह । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्र में प्रत्ययार्थ का निर्देश नहीं है । अतः स्वार्थ में ही प्रत्यय-विधान माना जायेगा । प्रकृतिवाची दो शब्द हैं—'वि' तथा 'नञ्' । 'ना' एवं 'नाञ्' दो प्रत्यय हैं । अतः यथासंख्य की प्रवृत्ति होगी । 'नसह' शब्दसंघात का अर्थ 'पृथक्त्व' है (अर्थात् सहार्थ = सह का विरोधी (= न)) । तदनुसार "'पृथग्भाव' अर्थ में 'वि' तथा 'नञ्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में

१. शब्दाधिकारपक्षे तु यस्य शब्दस्य स्वरितत्वं प्रतिज्ञातं तत्सदृश-शब्दान्तरसंनिधानं योगान्तरं प्रतीयते—इति ।

२. पक्षभेदौ द्वौ । एको मासार्धः । अपरः पक्ष्यवयवः । तयोर्मूले पक्षतिः—इति पीयूषव्याख्या ।

३. "चुटूषाः प्रत्ययस्य" इति वक्तव्ये पृथग्योगकरणात् "चुटू"—इत्येतदनित्यत्वम् ।

४. "यकारादी चुञ्चुप्-चणपौ । लुप्तनिर्दिष्टो यकारः" ।—महाभाष्यम्

५।२।२८॥ क्रियाविशिष्टसाधनवाचकात्स्वार्थे। विस्तृतम्→विशालम्। विशङ्कटम्।
(१८३०) सम्प्रोदश्च कटच् ५।२।२९॥ सङ्कटम्। प्रकटम्। उत्कटम्। चात् विकटम्। 'अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्' (वा ३१०७)। अलाबूनां रजः अलाबूकटम्। 'गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः' (वा ३१०९)। गवां स्थानं गोगोष्ठम्। 'सङ्घाते कटच्' (वा ३११०)। अवीनां सङ्घातः अविकटः। 'विस्तारे

(१८२९) वेः शालच्छङ्कटचौ। क्रियाविशिष्टेति। क्रियाविशिष्टकारकवाचकात्स्वार्थे शालच्शङ्कटच्प्रत्ययौ स्त इति यावत्। इदं च भाष्ये स्पष्टम्।

(१८३०) सम्प्रोदश्च कटच्। सं, प्र, उत् एभ्यश्च क्रियाविशिष्टसाधनवाचिभ्यः स्वार्थे कटच् स्यादित्यर्थः। चाद्वेरपि। सङ्कटं संहतमित्यर्थः। निबिडीकृतमिति यावत्। प्रकटमिति। प्रज्ञातमित्यर्थः। प्रकाशमिति यावत्। उत्कटमिति। उन्नतमित्यर्थः। अधिकमिति यावत्। रूढशब्दा एते कथञ्चिद्व्युत्पाद्याः। अलाबूतिलेति। अलाबू, तिल, उमा, भङ्गा इत्येभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो रजसि अभिधेये कटचः उपसङ्ख्यानमित्यर्थः। विकारप्रत्ययानामपवादोऽयम्। रजः चूर्णरेणुः। गोष्ठजादय इति। पशुनामभ्यः स्थानादिष्वर्थेषु गोष्ठजादयः प्रत्यया वक्तव्या इत्यर्थः। गोष्ठजादीनां प्रत्ययानां स्थानादीनां चार्थानां प्रपञ्चनपराणि 'सङ्घाते कटच्' इत्यादीनि 'शाकटशाकिना'वित्यन्तानि षड्

'ना' तथा 'नाञ्' (=ना) प्रत्यय होते हैं"। उदाहरण—(१) विना (रहित—नसह)—वि+ना > विना+सु > विना (विभक्ति का "अव्ययादाप्सुपः" २·४·८२ से लुक् होगा)। (२) नाना (अनेक—नसह, पृथक् वा)—न+ना > नाना (आदिवृद्धि) > नाना+सु > नाना।

विशेष—(१) यदि 'नसह' को प्रत्ययार्थ मान लिया जाता तो 'नाना' शब्द का अर्थ ही बदल जाता, क्योंकि प्रकृति के रूप में 'न' शब्द तो स्वयं निषेधार्थक है, उससे 'पृथक्' अर्थ (नसह) में होने वाले 'ना' प्रत्यय से "नसह" अर्थ गम्यमान होगा। तब 'न नसह' से सहार्थ की प्रतीति होने लगेगी—'द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतम् एव अर्थं गमयतः'। अतः प्रकृत्यर्थ में ही प्रत्यय का विधान माना गया है—'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति'।

(२) 'नाञ्' में 'ञ्' इत्संज्ञा का फल आद्युदात्त तथा आदिवृद्धि का होना है।

(१८२९) पद—वेः, शालच्छङ्कटचौ। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"क्रियाविशिष्ट कारक-वाचक 'वि'-उपसर्ग प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'शालच्' (=शाल) तथा 'शङ्कटच्' (=शङ्कट) प्रत्यय होते हैं"। यहाँ 'वि' प्रातिपदिक उपसर्ग-गत अर्थ को लेकर प्रत्यय को उत्पन्न करता है, क्योंकि उपसर्ग धात्वर्थ के विशेषक होते हैं। जहाँ धात्वर्थ साक्षात् नहीं होता, वहाँ वह उपसर्ग के ही अन्तर्गत माना जाता है। इसी प्रकार अग्रिम सूत्रों में भी समझा जाय। उदाहरण—(१) विशालम् (फैला हुआ—विस्तृतम्)—वि+शालच् (=शाल)। (२) विशङ्कटम् (बृहत्—विस्तृतम्)—वि+शङ्कटच् (=शङ्कट)।

(१८३०) पद—सम्प्रोदः, च, कटच्। अनुवृत्ति—वेः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदा० १-संकटम्, २-प्रकटम्, ३-उत्कटम्। ४-'च' के निवेश से विकटम्। वा० अलाबू, तिल, उमा, भङ्गा शब्दों से 'रजस्' वाच्य रहते भी कहा जाय। उदा० अलाबूनां रजः—अलाबूकटम्। वा० स्थान आदि अर्थ में 'पशु'-वाची शब्दों से भी (कहा जाय)। उदा० गवां स्थानम्—गो-गोष्ठम्। वा० संघात अर्थ में 'कटच्' हो। उदा० अवीनां संघातः—अविकटः। वा०

पटच्' (वा ३११५)। अविपटः। 'द्वित्वे गोयुगच्' (वा ३११६)। द्वौ वृषौ वृषगोयुगम्। 'षट्त्वे षड्गवच्' (वा ३११७)। अश्वषड्गवम्। 'स्नेहे तैलच्' (वा ३११८)। तिलतैलम्। सर्षपतैलम्। 'भवने क्षेत्रे शाकटशाकिनौ' (वा ३११९)। इक्षुशाकटम्।

वार्तिकानि। तेषु चतुर्षु पशुनामभ्य इत्यनुवर्तते। अप्रसृतावयवः समूहः सङ्घातः। प्रसृतावयवस्तु विस्तारः। द्वित्व इति। प्रकृत्यर्थगतद्वित्व इत्यर्थः। द्वौ वृषौ वृषगोयुगमिति। द्व्यवयवकसङ्घाताभिप्रायमेकवचनम्। द्वयं युग्ममित्यादिवत्। केचित्तु द्वौ वृषावित्यर्थे वृषगोयुगमिति स्वभावादेकवचनं विंशतिरित्यादिवदित्याहुः। एवमुष्ट्रगोयुगम्। अश्वषड्गवम्।

'विस्तार' अर्थ में 'पटच्' हो। उदा० अविपटः। वा० द्वित्व में 'गोयुगच्' हो। उदा० द्वौ उष्ट्रौ—उष्ट्रगोयुगम्। वा० 'छह' संख्या कहने में 'षड्गवच्' हो। उदा० अश्वषड्गवम्। वा० 'तेल' अभिधेय होने पर 'तैलच्' हो। उदा० १–तिलतैलम्। २–सर्षपतैलम्। वा० भवन एवं क्षेत्र अर्थ में 'शाकट' तथा 'शाकिन' प्रत्यय हों। उदा० १–इक्षुशाकटम्। २–इक्षुशाकिनम्।

विवरण—पूर्व सूत्र "वेः शालच्छङ्कटचौ" (५-२-२८) से 'वेः' की अनुवृत्ति आने से उद्देश्यवाची शब्दों में उसका भी समावेश होगा। अतः "'सम्', 'प्र', 'उत्' तथा 'वि'—इन क्रियाविशिष्ट-साधन-वाची उपसर्ग-प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'कटच्' (=कट) प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **सङ्कटम्** (दुःख—संहतम्)—सम्+कटच् (=कट)। म् = अनुस्वार एवं परसवर्ण। (२) **प्रकटम्** (दिखाई पड़ना—प्रज्ञातम्)—प्र+कटच् (=कट)। (३) **उत्कटम्** (बढ़ा हुआ—उद्भूतम्)—उत्+कटच् (=कट)। विभक्तिकार्य। (४) **विकटम्** (विचित्र—विकृतम्)—वि+कटच् (=कट)। वस्तुतः ये सब 'रूढ' शब्द हैं। किसी प्रकार व्युत्पत्ति की गई है।

उपसर्गों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य प्रातिपदिकों से विभिन्न अर्थों में उक्त प्रत्ययों के सदृश अन्य प्रत्ययों का विधान बतलाने के लिये **आठ वार्तिक** प्रस्तुत किये जा रहे हैं। तदनुसार (१) षष्ठ्यन्त **अलाबू, तिल, उमा** तथा **भङ्गा** शब्दों से 'धूल' अभिधेय होने पर 'कटच्' प्रत्यय हो। विकारार्थ प्रत्ययों का यह अपवाद है। **उदाहरण**—(१) **अलाबूकटम्** (लौकी की धूल—अलाबूनां रजः)—अलाबू+कटच् (=कट)। इसी प्रकार 'तिलकटम्', 'उमाकटम्', तथा 'भङ्गाकटम्' भी जानें। (२) **द्वितीय वार्तिक** द्वारा पशुओं के नाम से **स्थान** आदि अभिधेय होने पर 'गोष्ठच्' प्रत्यय का विधान कहा गया है। **उदाहरण**—**गो-गोष्ठम्** (गोशाला—गवां स्थानम्)—गो+गोष्ठच् (=गोष्ठ)। (३) **तृतीय वार्तिक** में षष्ठ्यन्त पशु-वाची शब्दों से **समुदाय** अर्थ में 'कटच्' प्रत्यय संयुक्त होने के विषय में बतलाया गया है। **उदाहरण**—**अविकटः** (भेड़ों का झुण्ड—अवीनां सङ्घातः)—अवि+कटच् (=कट)। (४) **चौथे वार्तिक** में षष्ठ्यन्त पशुवाची शब्दों से **विस्तार** अर्थ में पटच् प्रत्यय का विधान कहा है। **उदाहरण**—**अविपटः** (भेड़ों का विस्तार—अवीनां विस्तारः)—अवि+पटच् (=पट)। (५) **पाँचवें वार्तिक** में षष्ठ्यन्त पशुवाची शब्दों से **दो का कथन** होने पर **गोयुगच्** प्रत्यय होना बतलाया गया है। **उदाहरण**—**वृषगोयुगम्**[1]—(दो बैल-द्वौ वृषौ)—वृष+गोयुगच् (=गोयुग)। (६) **छठे वार्तिक** में भी षष्ठ्यन्त पशुवाची शब्दों से **छह** का **कथन** होने पर **षड्गवच्** प्रत्यय बतलाया गया है। **उदाहरण**—**अश्वषड्गवम्** (छह घोड़े—षड् अश्वाः)—अश्व+षड्गवच् (=षड्गव)। (७) **सातवें वार्तिक** में षष्ठ्यन्त स्निग्ध धान्यों से 'तेल' अर्थ अभिधेय होने पर **तैलच्** प्रत्यय होना

---

१. समुदायवाची शब्द से संघातरूप में समष्टि का बोध होने के कारण 'विंशति' आदि के समान एकवचन का प्रयोग किया गया है।

इक्षुशाकिनम्। (१८३१) अवात्कुटारच्च ५।२।३०॥ चात्कटच्। अवाचीनोऽवकुटारः। अवकटः। (१८३२) नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः ५।२।३१॥ अवात् इत्येव। नतं नमनम्। नासिकाया नतम् अवटीटम्। अवनाटम्। अवभ्रटम्। तद्योगान्नासिका अवटीटा। पुरुषोऽप्यवटीटः। (१८३३) नेर्बिडज्बिरीसचौ ५।२।३२॥ निबिडम्। निबिरीसम्। (१८३४) इनच्पिटच्चिकचि च ५।२।

(१८३१) अवात्कुटारच्च। क्रियाविशिष्टसाधनवाचकादवात्स्वार्थे कुटारच्च स्यादित्यर्थः। अवाचीन इति। अवाचीने विद्यमानादवात् कुटारचि अवकुटार इत्यर्थः।

(१८३२) नते नासिकायाः। अवादित्येवेति। अवशब्दात् नासिकाया अवनतेऽर्थे टीटच्, नाटच्, भ्रटच् एते प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। 'णमु प्रह्वत्वे' इति धातोर्भावे क्तप्रत्यये नत शब्द इत्यभिप्रेत्याह—नतं नमनमिति। प्रह्वत्वमित्यर्थः। ननु यदि नासिकायाः नमनमवटीटं तर्हि अवटीटा नासिकेति कथमित्यत आह—तद्योगादिति। नमनयोगात्तत्र लाक्षणिकमिति भावः। पुरुषोऽप्यवटीट इति। तादृशनासिकायोगादिति भावः।

(१८३३) नेर्बिडज्बिरीसचौ। 'नते नासिकायाः सञ्ज्ञायाम्' इत्यनुवर्तते। नेः

कहा है। उदाहरण—(क) **तिलतैलम्** (तिलों का तेल—तिलानां स्नेहः)—तिल+तैलच् (=तैल)। (ख) **सर्षपतैलम्** (सरसों का तेल—सर्षपाणां स्नेहः)—सर्षप+तैलच्। मूल में 'तैल' शब्द तिल के तेल के लिए ही प्रयुक्त होता था ("असंज्ञायां तिलयवाभ्याम्" ४-३-१४९), किन्तु बाद में अन्य तिलहन-वाची शब्दों से भी तैलच् प्रत्यय संयुक्त कर 'सर्षपतैलम्' 'इङ्गुदीतैलम्' आदि प्रयोग भी समीचीन माने गए—'स्नेहने तैलशब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्यः' (महाभाष्यम्)। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह अर्थविस्तार माना जायेगा। (८) आठवें वार्तिक में किसानों से बोए जाने वाले खेत (भवने क्षेत्रे) अभिधेय होने पर 'मूल' वाची शब्दों से 'शाकट और शाकिन' प्रत्यय बतलाये गए हैं। उदाहरण—इक्षुशाकटम् तथा इक्षुशाकिनम् (ईख उत्पन्न होने वाला खेत—इक्षूणां भवनं क्षेत्रम्। तद्धित प्रत्यय होने के कारण 'श्' की इत्संज्ञा नहीं होती।

(१८३१) **पद**—अवात्, कुटीरच्, च। **अनुवृत्ति**—कटच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'च' शब्द पूर्वसूत्रोक्त 'कटच्' प्रत्यय की अनुवृत्ति का सूचक है। तदनुसार "क्रियाविशिष्ट साधनवाचक 'अव' उपसर्ग से 'स्वार्थ' में 'कुटीरच्' तथा 'कटच्' प्रत्यय होते हैं"। उदाहरण-(क) **अवकुटीरः** (अव+कुटीरच्) तथा **अवकटः** (अव+कटच्) (अर्थ—नीचे की ओर झुका हुआ—अवाचीनः)।

(१८३२) **पद**—नते, नासिकायाः, संज्ञायाम्, टीटच्-नाटच्-भ्रटचः। **अनुवृत्ति**—अवात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—उद्देश्यवाची 'अव' शब्द पूर्वसूत्र से अनुवृत्तिलभ्य है। तदनुसार "क्रियाविशिष्ट साधनवाचक 'अव' उपसर्ग से नासिका-सम्बन्धी झुकाव कहने पर संज्ञा के विषय में 'टीटच्' 'नाटच्' तथा 'भ्रटच्' प्रत्यय होते हैं"। उदाहरण—(क) **अवटीटम्** (अव+टीटच्), (ख) **अवनाटम्** (अव+नाटच्) तथा (ग) **अवभ्रटम्** (अव+भ्रटच्) हैं। अर्थ—नाक का झुकना—नासिकायाः नतम्। झुकी हुई नाक के संयोग से वह पुरुष भी **अवटीटः** कहलाता है। इसी प्रकार के लक्षण से झुकी हुई नाक के लिए **अवटीटा** शब्द प्रयोग किया जाता है।

(१८३३) **पद**—नेः, बिडच्-बिरीसचौ। **अनुवृत्ति**—नते नासिकायाः, संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

३३ ॥ नेः इत्येव । नासिकाया नतेऽभिधेये इनच्पिटचौ प्रत्ययौ प्रकृतेश्चिकचि इत्यादेशौ च । 'कप्रत्ययचिकादेशौ च वक्तव्यौ' (वा ३१२१) । चिकिनम् । चिपिटम् । चिक्कम् । 'क्लिन्नस्य चिल्-पिल् लश्चास्य चक्षुषी' (वा ३१२२) । क्लिन्ने चक्षुषी अस्य चिल्लः ।

नासिकाया नतेऽर्थे बिडच्, बिरीसच्—द्वौ प्रत्ययौ स्त इत्यर्थः । 'निबिडो वृक्ष' इति तु उपमानादित्याहुः ।

(१८३४) इनच्पिटच् । इनच् पिटच् इति समाहारद्वन्द्वात्प्रथमैकवचनम् । चिकचि इत्यपि चिक चि इत्यनयोः समाहारद्वन्द्वात्प्रथमैकवचनम् । प्रकृतेरिति । नेरित्यर्थः । तत्र इनचि परे चिक इत्यादेशः । अत्र अकारः उच्चारणार्थः । पिटचि तु परे चि इत्यादेशः । कप्रत्ययेति । उक्तनेः कप्रत्ययः, प्रकृतेः चिकादेशश्चेत्यर्थः । अयमपि ककारान्त एवादेशः । चिकिनमिति । इनचि प्रत्यये कृते नेः चिकादेशे रूपम् । चिपिटमिति । पिटचि कृते नेः चि इत्यादेशे रूपम् । चिक्कमिति । कप्रत्यये नेः चिकादेशे रूपम् । क्लिन्नस्य चिल्पिल्ल-श्चास्य चक्षुषी इति । वार्तिकमिदम् । चिल् पिल् इति समाहारद्वन्द्वात्प्रथमैकवचनम् । क्लिन्ने अस्य चक्षुषी इति विग्रहे क्लिन्नशब्दात् अस्य चक्षुषी इत्यर्थे लप्रत्ययः प्रकृतेः चिल्

मूलार्थ एवं विवरण—'नते नासिकायाः' का ही विषय है । तदनुसार "क्रियाविशिष्ट-साधन-वाचक 'नि' उपसर्ग से 'नासिका का झुकाव' अभिधेय होने पर संज्ञा के विषय में 'बिडच्' तथा 'बिरीसच्' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(क) **निबिडम्** (नि+बिडच्) तथा (ख) **निबिरीसम्** (नि+बिरीसच्) । **अर्थ**—झुकी हुई नाक अथवा झुकी हुई नाकवाला पुरुष—नासिकायाः नतम् ।

(१८३४) **पद**—इनच्-पिटच्, चिक चि, च । **अनुवृत्ति**—नेः, नते नासिकायाः संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'नि' (से ही हो) । नाक का झुकना वाच्य होने पर 'इनच्' और 'पिटच्' प्रत्यय होते है तथा प्रकृति को चिक तथा चि आदेश हों । वा० 'क' प्रत्यय और 'चिक' आदेश होना भी कहे जायें । उदा० १–चिकिनम् । २–चिपिटम् । ३–चिक्कम् । वा० 'क्लिन्न' को 'अस्य चक्षुषी' अर्थ में 'चिल्' 'पिल्' आदेश हों और 'ल' प्रत्यय भी हो । उदा० क्लिन्ने चक्षुषी अस्य—चिल्लः तथा पिल्लः । वा० 'चुल्' आदेश भी हो । उदा० चुल्लः ।

विवरण—'नि' उपसर्ग का ही विषय है । पूर्व सूत्र से (५-२-३२) 'नि' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । अर्थ के विषय में "नते नासिकायाः संज्ञायाम्" (५-२-३१) अंश प्रभावी है । अतः "नासिका का झुकाव अर्थ अभिधेय होने पर 'नि' उपसर्ग से स्वार्थ में 'इनच्' तथा 'पिटच्' (इनच् च पिटच् च, तयोः समाहारः) प्रत्यय होते हैं तथा 'नि' शब्द को 'इनच्' पर रहते 'चिक' तथा 'पिटच्' के पर रहने पर 'चि' (चिकश्च चिश्च, तयोः समाहारः) आदेश भी होगा" । 'चिक' आदेश में 'अ' कार उच्चारणार्थ है (=चिक्) । **उदाहरण**—(१) **चिकिनम्** (नि+इनच् तथा नि को चिक् आदेश) । (२) **चिपिटम्** (नि+पिटच् = पिट, तथा नि = चि+पिट) । **अर्थ**—झुकी हुई नासिका अथवा झुकी हुई नाक वाला पुरुष—नासिकाया नतम् ।

'नत' अर्थ को अभिलक्षित कर 'नि' के सम्बन्ध में एक वार्तिक तथा **'गीली आँखों'** को अभिलक्षित कर अर्थ में प्रत्यय-विधान सम्बन्धी दो वार्तिकों का पृथक् उल्लेख किया जा रहा है । (१) तदनुसार उक्त अर्थ में 'नि' उपसर्ग से 'क' प्रत्यय तथा 'नि' के स्थान में 'चिक' (=चिक्) आदेश भी हो । **उदाहरण**—**चिक्कम्** (नि+क = चिक्+क) । (२) दूसरे वार्तिक में **'क्लिन्ने चक्षुषी अस्य'** (जिसकी आँखें सदा गीली रहती हों) अर्थ में **'क्लिन्न'** शब्द से 'ल' प्रत्यय हो,

पिल्लः । 'चुल् च' (वा ३१२३) । चुल्लः । (१८३५) उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्ना-रूढयोः ५।२।३४ ॥ संज्ञायाम् इत्यनुवर्तते । पर्वतस्यासन्नं स्थलमुपत्यका । आरूढं स्थलमधित्यका । (१८३६) कर्मणि घटोऽठच् ५ । २ । ३५ ॥ घटत इति घटः । पचाद्यच् । कर्मणि घटते कर्मठः पुरुषः । (१८३७) तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५ । २ ।

पिल् एतावादेशौ स्त इत्यर्थः । क्लिन्ने इति । नेत्रामयप्रयुक्तजलनिष्यन्दवती इत्यर्थः । चिल्लः पिल्ल इति । क्लिन्नचक्षुष्कः इत्यर्थः । चुल् चेति । उक्त विषये क्लिन्नस्य चुल् आदेशश्च, लप्रत्ययसन्नियोगेन वक्तव्य इत्यर्थः ।

(१८३५) उपाधिभ्याम् । उप, अधि आभ्यां यथासङ्ख्यमासन्नारूढयोर्वर्तमानाभ्यां स्वार्थे त्यकन् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । आसन्नं समीपम् । आरूढम् उच्चम् । अनुवर्तत इति । 'नते नासिकायाः' इत्यस्मादिति भावः । कस्य समीपं कस्योच्चम् इत्याकाङ्क्षायां सञ्ज्ञाधिकारात् पर्वतस्येति लभ्यत इत्यभिप्रेत्याह—पर्वतस्येति । उपत्यका, अधित्यकेति । स्त्रीत्वं लोकात् । अत्र 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वं तु न, 'त्यकनश्च' इत्युक्तेः ।

(१८३६) कर्मणि घटोऽठच् । सप्तम्यन्तात्कर्मन्शब्दात् घट इत्यर्थे अठचस्यादित्यर्थः । घटशब्दस्य कलशपर्यायत्वभ्रमं वारयति—कर्मणि घटत इति । व्याप्रियत इत्यर्थः । तथा चात्र घटशब्दो यौगिको घटमाने वर्तत इति भावः । कर्मठ इति । अठचि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । अठचि ठस्य अङ्गात्परत्वाभावादिकादेशाभाव इति भावः ।

तथा उसके सहयोग में 'क्लिन्न' के स्थान में 'चिल्' एवं 'पिल्'—ये पृथक् आदेश हों । उदाहरण—(क) चिल्लः (क्लिन्न+ल = चिल्+ल) । (ख) पिल्लः (क्लिन्न+ल = पिल्+ल) । अर्थ—क्लिन्ने चक्षुषी अस्य । (३) उक्त अर्थ में 'क्लिन्न' शब्द से 'ल' प्रत्यय तथा उसके साहचर्य में क्लिन्न शब्द के स्थान पर 'चुल्' आदेश भी हो । उदाहरण—चुल्लः (क्लिन्न+ल = चुल्+ल) । अर्थ—गीली आँखों वाला या गीली आँखों वाला पुरुष—क्लिन्ने चक्षुषी अस्य ।

(१८३५) पद—उपाऽधिभ्याम्, त्यकन्, आसन्ना-ऽऽरूढयोः । संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रार्थ की सम्पूर्ति के लिये 'संज्ञायाम्' (५-२-३१) की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः "'उप' तथा 'अधि' उपसर्गों से क्रमशः 'आरूढ' और 'आसन्न' अर्थों में संज्ञा गम्यमान होने पर 'त्यकन्' प्रत्यय होता है" । क्रमशः उदाहरण—(१) उपत्यका (पहाड़ की तराई—पर्वतस्य आसन्नम् स्थलम्)—उप+त्यकन् (=त्यक) । (२) अधित्यका (पहाड़ का पठार—पर्वतस्य आरूढं स्थलम्)—अधि+त्यकन् (=त्यक) । लोकप्रयोग से स्त्रीलिङ्ग । "प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" (७-३-४४) से प्राप्त इत्व का निषेध—'त्यकनश्च निषेधः' वार्तिक का आश्रयण कर—होता है ।

(१८३६) पद—कर्मणि, घटः, अठच् । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'घट' शब्द 'कलश' का पर्यायवाची नहीं है, किन्तु यौगिक है । चेष्टार्थक 'घट' धातु से पचादिप्रयुक्त 'अच्' प्रत्ययान्त 'घट' शब्द कर्मशीलता का द्योतक ('घटते' इति घटः) है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'कर्मन्' प्रातिपदिक से 'चेष्टा करने वाला' अर्थ में 'अठच्' (= अठ) प्रत्यय होता है" । यहाँ 'कर्मणि' निर्देश से सप्तमी समर्थ-विभक्ति का ग्रहण है । उदाहरण—कर्मठः पुरुषः (सदा कर्मशील पुरुष—कर्मणि घटते)—कर्मन्+अठच् (= अठ) ▷ कर्मठः ('टि' लोप—" न स्तद्धिते" ६-४-१४४) । 'अङ्ग' से पर 'अ' होने से ठ = इक नहीं ।

३६ ॥ तारकाः सञ्जाताः अस्य तारकितं नभः । आकृतिगणोऽयम् । (१८३८) प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५ । २ । ३७ ॥ तदस्य इत्यनुवर्तते । ऊरू प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम् । ऊरुदघ्नम् । ऊरुमात्रम् । 'प्रमाणे लः' (वा ३१२८) । शमः । दिष्टिः । वितस्तिः । 'द्विगोर्नित्यम्' (वा ३१२९) । द्वौ शमौ प्रमाणमस्य द्विशमम् । 'प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रज्वक्तव्यः' (वा ३१३३) । शममात्रम् । प्रस्थमात्रम् ।

(१८३७) तदस्य । प्रथमान्तेभ्यस्तारकादिभ्यः अस्य तत्सञ्जातमित्यर्थे इतच् स्यादित्यर्थः । तारकितं नभ इति । सञ्जातनक्षत्रमित्यर्थः । आकृतिगणोऽयमिति । तेन पुष्पितो वृक्षः फलित इत्यादिसङ्ग्रहः ।

(१८३८) प्रमाणे । अनुवर्तत इति । ततश्च अस्य प्रमेयस्य तत्प्रमाणमित्यर्थे प्रमाणे विद्यमानात्प्रथमान्तात् द्वयसच्, दघ्नञ् मात्रच् एते प्रत्ययाः स्युः । प्रमाणवानिदमर्थोऽत्र प्रत्ययार्थ इति भाष्ये स्पष्टम् । तत्र 'प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम' इति भाष्ये उक्तम् । प्रमाणमिह परिच्छेदकमात्रम्, तत्र मात्रच्—प्रस्थमात्रमूरुमात्रमित्यादि इति कैयटः । वस्तुतस्तु 'यत्तदेतेभ्यः' इति सूत्रभाष्यस्वरसादायामपरिच्छेदकमेवात्र प्रमाणम् इति शब्देन्दुशेखरे विस्तरः । प्रमाणे ल इति । लुको ल इति पूर्वाचार्यशास्त्रसिद्धा सञ्ज्ञा । प्रमाणे वर्तमानाद्विहितस्य द्वयसजादेर्लुग्वक्तव्य इत्यर्थः । शमो दिष्टिर्वितस्ति-रिति । शमः प्रमाणमस्येत्यादिविग्रहः । शमादयः अनूर्ध्वमानविशेषाः । तेभ्यो मात्रचो लुक्, इतरयोरसम्भवात् । अत्र 'आयामस्तु प्रमाणं स्यात्' इत्येव गृह्यते । एवञ्च ऊरुद्वय-समित्यादौ न लुक् । द्विगोर्नित्यमिति । प्रमाणान्ताद् द्विगोः परस्य द्वयसजादेर्नित्यं लुक् स्यादित्यर्थः । प्रमाणान्तस्य द्विगोः प्रमाणावृत्तित्वात् सामर्थ्यादिह तदन्तविधिः । पूर्ववार्ति-

(१८३७) पद—तत्, अस्य, संजातम्, तारकादिभ्यः, इतच् । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'तत्' पद प्रथमा 'समर्थविभक्ति' का सूचक है । 'तारका-दिभ्यः' का विशेषण होने से वह तदन्त का बोधक होता है । 'अस्य संजातम्' अर्थ-निर्देश है । 'तारकादि' आकृतिगण हैं । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "प्रथमान्त संजात—समानाधिकरण तारकादि शब्दों से षष्ठ्यर्थ में 'इतच्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—तारकितं नभः (ताराओं से शोभित आकाश—तारकाः सञ्जाताः अस्य)—तारका+इतच् (=इत) । अन्त्य-वर्ण-लोप । इसी नियम से पण्डितः (जिसमें विवेक बुद्धि आ गई है—पण्डा सञ्जाता अस्य)—पण्डा+इतच् (=इत) ।

(१८३८) पद—प्रमाणे, द्वयसच्-दघ्नञ्-मात्रचः । अनुवृत्ति—तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये पूर्व सूत्र ५-२-३६ से 'तदस्य' अंश अनु-वर्तमान है । तदनुसार "प्रथमा-समर्थ प्रमाण-समानाधिकरणवाची प्रातिपदिकों से (प्रमाणे) षष्ठ-यर्थ में 'द्वयसच्', 'दघ्नञ् और 'मात्रच्' प्रत्यय होते हैं" । 'प्रमाण' शब्द प्रायः लम्बाई के नापने में प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ 'द्वयसच्' और 'दघ्नञ्' प्रत्यय 'ऊँचाई' नापने में संयुक्त होते हैं । 'मात्रच्' प्रत्यय ऊँचाई एवं लम्बाई सभी प्रकार के नाप के लिये प्रयुक्त होता है । उदाहरण—(१) ऊरुद्वयसम् (ऊरु+द्वयसच्), (२) ऊरुदघ्नम् (ऊरु+दघ्नञ्) तथा (३) ऊरुमात्रम् (ऊरु+मात्रच्) । अर्थ—जाँघ तक गहरा जल आदि—ऊरू प्रमाणम् अस्य ।

विशेष—प्रसङ्गवश प्रमाण-अर्थ से आगत प्रत्ययों का लुक्-विधान वार्तिकों के आधार पर दीक्षित जी बतला रहे हैं । तदनुसार (१) प्रथम वार्तिक से सामान्यतः प्रमाण अर्थ में विहित प्रत्ययों का

पञ्चमात्रम् । 'वत्वन्तात्स्वार्थे द्वयसज्मात्रचौ बहुलम्' (वा ३१३४) । तावदेव तावद्द्वयसम् । तावन्मात्रम् । (१८३९) पुरुषहस्तिभ्यामण्च ५ । २ । ३८ ॥ पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम्–पुरुषद्वयसम् । हास्तिनम्–हस्तिद्वयसम् । (१८४०) यत्तदेतेभ्यः

केन तु नात्र प्राप्तिरस्ति, द्विगोः प्रमाणत्वाभावात् । द्विशममिति । तद्धितार्थे द्विगुः । ततो मात्रचो अनेन लुक् । विकल्पस्याप्रकृतत्वादेव सिद्धे नित्यग्रहणं संशये वक्ष्यमाणस्य मात्रचो लुगर्थम् । अन्यथा शममात्रमित्यत्रेव द्विशमशब्दादपि सः मात्रच् न लुप्येत इति भाष्ये स्पष्टम् । प्रमाणेति । प्रमाणवाचिनः परिमाणवाचिनः सङ्ख्यावाचिनश्च संशये मात्रज्वक्तव्य इत्यर्थः । अत्र प्रमाणमायाम एव गृह्यते, 'आयामस्तु प्रमाणं स्यात्' इति वचनात् । अत एव परिमाणग्रहणमर्थवत् । शममात्रमित्यादि । शमः स्यान्न वेत्यादिर्विग्रहः । वत्वन्तादिति । वार्तिकमिदम् ।

(१८३९) पुरुषहस्तिभ्यामण् च । उक्तविषये इति शेषः । चात् द्वयसजादयस्त्रयः ।

'लुक्' होता है । यहाँ पर 'लुक्' के लिए 'लु' का प्रयोग किया है । 'लु' भी प्राचीन आचार्यों ने 'लुक्' के अर्थ में ही माना है । शमादि शब्द ऊर्ध्वमान के अतिरिक्त प्रमाण-अर्थ के बोधक भी है । तदनुसार 'मात्रच्' प्रत्यय का लोप होकर—शमः, दिष्टिः (१½ फुट, मतान्तर से १४ अंगुल–शमः प्रमाणमस्य, दिष्टिः प्रमाणमस्य) तथा वितस्तिः (एकबित्ता—वितस्तिः प्रमाणम् अस्य)—ये रूप निष्पन्न होते हैं । (२) दूसरे वार्तिक द्वारा प्रमाणान्त द्विगु से विहित 'द्वयसच्' आदि प्रत्ययों का नित्य 'लुक्' होता है । प्रमाणान्त द्विगु-संज्ञक-शब्दों के प्रमाणाभिधायी न होने से यहाँ सामर्थ्यवश तदन्तविधि मानी गई है । 'द्विगु'–समास के प्रमाणाभिधायी न होने के कारण पूर्व वार्तिक की प्राप्ति नहीं है । उदाहरण—द्विशमम् (दो हाथ या २८ अङ्गुल—द्वौ शमौ प्रमाणम् अस्य)—द्विशम+मात्रच् (तद्धितार्थ में द्विगु होने पर 'मात्रच्' का लोप) । प्रकृत सन्दर्भ में 'विकल्प' न होने के कारण वार्तिक में 'नित्य' ग्रहण संशयार्थक 'मात्रच्' प्रत्यय का 'लुक्' होने में सार्थक है । अन्यथा 'शममात्रम्' की तरह 'द्विशम' शब्द से भी संशयार्थक 'मात्रच्' का लोप नहीं होगा । (३) तीसरे वार्तिक में 'प्रमाण', 'परिमाण' तथा 'संख्यावाची' शब्दों से भी 'संशय' अर्थ में मात्रच् प्रत्यय का विधान कहा है । क्रमशः उदाहरण—(क) शममात्रम् (कदाचित् एक हाथ या १४ अङ्गुलभर—शमः स्यात् न वा)—शम+मात्रच् (= मात्र) । (ख) प्रस्थमात्रम् (कदाचित् प्रस्थभर—प्रस्थः स्यात् न वा)—प्रस्थ+मात्रच् (= मात्र) । (ग) पञ्चमात्रम् (कदाचित् पाँच भर-पञ्च स्यात् न वा)-पञ्च+मात्रच् (=मात्र) । यहाँ 'प्रमाण' का अर्थ आयाम है । (४) चौथे वार्तिक में 'वतु'-प्रत्ययान्त शब्दों से स्वार्थ में ही द्वयसच् और मात्रच् प्रत्ययों का विधान कहा गया है । तदनुसार तावद्द्वयसम् (उतना ही—तावदेव) तथा तावन्मात्रम् में तावत् (तद्+वतुप्) शब्द से क्रमश 'द्वयसच्' तथा 'मात्रच्' प्रत्यय हुए हैं ।

(१८३९) पद—पुरुष-हस्तिभ्याम्, अण्, च । अनुवृत्ति—प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है । अतः सूत्रार्थ की सम्पूर्ति के लिये समग्र पूर्व सूत्र ५-२-३७ की अनुवृत्ति अपेक्षित है । षष्ठयर्थ तथा समर्थ-विभक्ति के लिये ५-२-३६ से 'तदस्य' अंश अनुवर्तमान है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "प्रथमासमर्थ प्रमाण-समानाधिकरणवाची 'पुरुष' तथा 'हस्तिन्' प्रातिपदिकों से षष्ठयर्थ में 'अण्' प्रत्यय तथा 'द्वयसच्', 'दघ्नञ्' और 'मात्रच्' प्रत्यय होते हैं" । इस प्रकार प्रत्येक के चार रूप बनेंगे । उदाहरण—(१) (क) पौरुषम् (पुरुष+अण्) । (ख) पुरुषद्वयसम् (पुरुष+द्वयसच्) । (ग) पुरुषदघ्नम् (पुरुष+दघ्नञ् । (ग) पुरुषमात्रम् । अर्थ—एक पोरसा । पुरुष+मात्रच्–

परिमाणे वतुप् ५।२।३९॥ यत्परिमाणमस्य यावान्। तावान्। एतावान्।
(१८४१) किमिदम्भ्यां वो घः ५।२।४०॥ आभ्यां वतुप् स्याद्वस्य च घः।

(१८४०) यत्तदेतेभ्यः। तदस्येत्यनुवर्तते। अस्य तत्परिमाणमित्यर्थे परिमाणवाचिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः किम्, यद्, तद्, एतद्—एभ्यः वतुप् स्यादित्यर्थः। यावानिति। यच्छब्दाद्वतुप्। उपावितौ। 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वम्, सुः, 'उगिदचाम्' इति नुम्, 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः, हल्ङ्याबादिसंयोगान्तलोपौ। एवं तावान्, एतावान्।

(१८४१) किमिदम्भ्यां वो घः। तदस्य इति परिमाणे वतुबिति चानुवर्तते। तदाह—आभ्यां वतुप् स्यादिति। आभ्यां प्रथमान्ताभ्याम् अस्य तत्परिमाणमित्यर्थे वतुप् स्यादित्यर्थः। वस्य च घ इति। वकारस्य घकार इत्यर्थः। कियानिति। किं परिमाणमस्येति विग्रहः। किंशब्दात् वतुप्। उपावितौ। वकारस्य घकारः इत्यादेशः, किम् इयत् इति स्थिते 'इदङ्किमोरीश्की' इति किमः कीभावे 'यस्येति च' इति ईकारलोपे कियत् शब्दात्सौ 'उगिदचाम्' इति नुमि 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घे, हल्ङ्याबादिसंयोगान्तलोपाविति भावः। इयानिति। इदंशब्दात् वतुपि वकारस्य घकारे इयादेशे इदम् इयत् इति स्थिते

पुरुषः प्रमाणम् अस्य)। (२) (क) हास्तिनम् (हस्तिन्+अण्)। (ख) हस्तिद्वयसम् (हस्ति+द्वयसच्)। (ग) हस्तिदघ्नम् (हस्ति+दघ्नच्)। (घ) हस्तिमात्रम् (हस्ति+मात्रच्)। अन्तिम तीन रूपों में 'न्' लोप। (क) में प्रकृतिभाव—"इनण्यनपत्ये" (६-४-१६४)।

(१८४०) पद—यत्तदेतेभ्यः, परिमाणे, वतुप्। **अनुवृत्ति**—तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ एवं विवरण—समर्थ विभक्ति एवं समानाधिकरणसूचक 'तदस्य' अंश अनुवर्तमान है। अतः "प्रथमा-समर्थ परिमाण-समानाधिकरण-वाची 'यद्', 'तद्' तथा 'एतद्' प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में वतुप् (='वत्') प्रत्यय होता है"। 'उ' तथा 'प्' इत् हैं। जिसको चारों तरफ से नापा जाय, जैसे काठ के बर्तन में अन्नादि नापा जाता है, वह **परिमाण** कहा जाता है। तराजू से तोले गए परिमाण के लिए संस्कृत में **उन्मान** शब्द का प्रयोग होता है। कभी कभी **परिमाण** शब्द सभी प्रकार के ऊँचाई, लम्बाई, भार आदि माप के लिये भी प्रयुक्त होता है ('परिमाणं तु सर्वतः')। **उदाहरण**—(क) **यावान्** (जितना—यत् परिमाणम् अस्य)—यद्+वत् > य-आ+वत् ('द्'=आ—"आ सर्वनाम्नः" (६-३-८९) ▷ यावत् (दीर्घ) ▷ यावत्+सु ▷ यावन्-त्+सु ('नुम्' आगम) ▷यावान्-त् सु ("अत्वसन्तस्य०" से दीर्घ) >यावान् त् ('सु' का लोप) > यावान् (संयोगान्त लोप)। (ख) **तावान्** (उतना—तत् परिमाणमस्य)—तद्+वतुप्। (ग) **एतावान्** (इतना—एतत् परिमाणम् अस्य)—एतद्+वतुप्। सर्वत्र सिद्धि पूर्ववत् जानें।

(१८४१) पद—किमिदम्भ्याम्, वः, घः। **अनुवृत्ति**—तदस्य, परिमाणे, वतुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इन दोनों से 'वतुप्' हो तथा 'व' के स्थान में 'घ' हो। उदा० १-कियान्। २-इयान्।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" (५-२-३६) से 'तदस्य' अंश तथा "यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्" (५-२-३९) से 'परिमाणे' और 'वतुप्' की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। तदनुसार "परिमाण में वर्तमान प्रथमा-समर्थ 'किम्' और 'इदम्' प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'वतुप्' (=वत्) प्रत्यय होता है और उसके 'व'कार को 'घ' (=इय) आदेश होता है"। **उदाहरण**—(१) कियान् (कितना-किं परिमाणम् अस्य)—किम्+वतुप् (=वत्)

कियान्। इयान्। (१८४२) किमः संख्यापरिमाणे डति च ५।२।४१॥ चाद्वतुप्। तस्य च वस्य घः स्यात्। का संख्या एषां ते–कति। कियन्तः। क्षेपे तु न। का

'इदङ्किमोरीश्की' इति शित्त्वादिदमः ईकारे सर्वादेशे 'यस्येति च' इति ईकारस्य लोपे इयत् इति प्रत्ययमात्रं शिष्यते। ततः सौ नुमादि पूर्ववत्।

(१८४२) किमः सङ्ख्या। तदस्येत्यनुवर्तते। सङ्ख्यायाः परिमाणं परिच्छेदः। किंशब्दः प्रश्ने वर्तते। का अस्य सङ्ख्येत्येवं सङ्ख्यापरिच्छेदविषयकप्रश्ने विद्यमानात् किंशब्दात्प्रथमान्तात् अस्येत्यर्थे डतिप्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः। का सङ्ख्या एषां ते कतीति। का सङ्ख्या अस्येति, का सङ्ख्या अनयोरिति च प्रश्नो न सम्भवति, अस्येत्यनेन एकत्वस्य अनयोरित्यनेन द्वित्वस्य च ज्ञातत्वात्। ज्ञाते च प्रश्नासम्भवात्। का सङ्ख्या एषामिति तु प्रश्नः सम्भवति, तत्र एषामित्यनेन बहुत्वस्य ज्ञातत्वेऽपि तद्व्याप्यत्रित्वचतुष्ट्वादिसङ्ख्यानामज्ञातत्वात्। उक्तं च भाष्ये–'न द्व्येकयोः प्रश्नोऽस्ति' इति। ततश्च नित्यबहुवचनान्तोऽयं कतिशब्दः। 'डति च' इति षट्सञ्ज्ञकत्वात् 'षड्भ्यो लुक्'

▷ किम्+घ-त्('व' = घ) > किम्+इयत् (घ = इय) > की+इयत् (किम् = की—"इदं किमोरीश्की" ६-३-९०) ▷ कियत् ('ई' का लोप—"यस्येति च" ६-४-१४८) ▷ कियान् (विभक्ति-कार्य)। (२) इयान् (इतना—इदं परिमाणम् अस्य)—इदम्+वत् ▷ इदम्+घत् (व = घ) > इदम्+इयत् (घ = इय) > ई+इयत् (इदम् = ई) ▷ इयत् ('ई' लोप) > इयान् (प्रथमा एकवचन)। 'इयान्' में केवल प्रत्यय शेष रह जाता है। इसे अभिलक्षित कर किसी कवि ने बड़ा अच्छा श्लिष्ट वर्णन किया है—

"उदितवति परस्मिन् प्रत्यये शास्त्रयोनौ, गतवति विलयं च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे।
सपदि पदमुदीतं केवलः प्रत्ययो यत्, तदियदिति मिमीते को हृदा पण्डितोऽपि॥"

(१८४२) पद—किमः, संख्यापरिमाणे, डति च। अनुवृत्ति—वतुप्, वो घः, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'च' (का निवेश करने) से 'वतुप्' होता है। तथा उसके 'व' को 'घ' हो। उदा० का संख्या येषां ते १–कति। २–कियन्तः। निन्दा में नहीं होता। उदा० का संख्या एषां दशानाम् ('वतुप्' नहीं हुआ)।

विवरण—"संख्या के 'परिमाण' अर्थ में वर्तमान जो प्रथमा-समर्थ 'किम्' शब्द, उससे षष्ठ्यर्थ में 'डति' तथा 'वतुप्' प्रत्यय होते हैं, तथा 'वतुप्' के वकार के स्थान में 'घ' आदेश भी हो जाता है"। यहाँ 'परिमाण' शब्द का अर्थ 'परिच्छेद' है। अतः संख्या के परिच्छेद से तात्पर्य है—'संख्या-संबन्धी परिपृच्छा'। तदनुसार "जब 'किम्' शब्द से केवल संख्या-सबन्धी पूछताछ की जायगी तभी 'डति' तथा 'वतुप्' प्रत्यय होंगे"। उदाहरण—कति (कितने—का संख्या येषां ते) किम्+डति = अति > क्+अति ('टि' = इम् का लोप—"टेः" ६-४-१४३) ▷ कति+जस् (संख्या-संज्ञा "बहुगणवतुडति संख्या" १-१-२३) ▷ कति ("डति च" १-१-८५ के आधार पर 'षट्' संज्ञा होने से 'जस्' का लुक्—"षड्भ्यो लुक्" ७-१-२२)। (२) कियन्तः—किम्+वतुप् (व = घ)। शेष प्रक्रिया 'कियान्' की तरह है। अन्तर बहुवचन का है।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में किम् शब्द से संख्या का परिच्छेदार्थ विवक्षित होने से क्षेपार्थ में उक्त 'डति' प्रत्यय नहीं होता। जिसके फलस्वरूप क्षेपार्थक वाक्य—एषां दशानां का संख्या (इन दसों की क्या गिनती है)—में 'किम्' शब्द से 'डति' प्रत्यय नहीं हुआ। अर्थात् यहाँ 'किम्' शब्द से संख्या-सम्बन्धी पृच्छा नहीं है, किन्तु संख्येय द्वारा संख्या की कुत्सा गम्यमान है। अपने को ब्राह्मण कहलाने वाले निम्न कोटि के दस हीन-जनों की इस परिषद् को कौन पूछता है?

संख्या एषां दशानाम्। (१८४३) संख्याया अवयवे तयप् ५।२।४२॥ पञ्च अवयवाः अस्य पञ्चतयं दारु। (१८४४) द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ५।२।४३॥

इति जश्शसोर्लुक्। कियन्त इति। कियानितिवत्प्रक्रिया। बहुवचने विशेषः। सङ्ख्या-परिमाणे इत्युक्तेः किमः क्षेपार्थकत्वे डतिर्न भवति। का सङ्ख्या एषां दशानामिति। दशावरा परिषदित्यत्र ब्राह्मणब्रुवाणां मेलने इदं वाक्यं प्रवृत्तम्। सङ्ख्येयद्वारा सङ्ख्यायाः कुत्सात्र गम्यते,

'अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥'

इति स्मरणात्।

(१८४३) सङ्ख्यायाः। तदस्येत्यनुवर्तते। द्वित्र्यादिसङ्ख्याका अवयवाः अस्यावयविन इति विग्रहे अवयवीभूतसङ्ख्यावाचिनः प्रथमान्तात् अस्यावयविन इत्यर्थे तयबित्यर्थः। पञ्चतयमिति। पञ्चावयवकः समुदाय इत्यर्थः।

(१८४४) द्वित्रिभ्याम्। द्वित्रिभ्यां परस्य तयपः अयज्वा स्यादित्यर्थः। द्वयमिति। द्विशब्दात्तयपः अयचि 'यस्येति च' इति इकारलोपः। द्व्यवयवकसमुदाय इत्यर्थः। एवं त्रयम्।

विशेष—'कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। 'कति' शब्द का विग्रहार्थ है—'का संख्या एषां ते'। यदि कहा जाय कि 'का संख्या अस्य' अथवा 'का संख्या अनयोः'—इस प्रकार प्रश्न का स्वरूप क्यों न हो? तो इसका सीधा सादा उत्तर यह है कि 'अस्य' कथन से एकत्व तथा 'अनयोः' कथन से द्वित्व निश्चित हैं। निश्चय रहने पर प्रश्न नहीं किया जा सकता। 'का संख्या एषाम्' यह प्रश्न सम्भव होता है, भले ही बहुत्व संख्या ज्ञात हो, किन्तु बहुत्व संख्या में तीन, चार अथवा छह आदि संख्या का निश्चय न होने से तत्सम्बन्धी पृच्छा करना समीचीन है। अतः बहुवचन में ही 'कति' शब्द का प्रयोग होता है।

(१८४३) **पद**—संख्यायाः, अवयवे, तयप्। **अनुवृत्ति**—तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—अनुवर्तमान 'तदस्य' का (५-२-३६) विषय है। 'अस्य' का अन्वय सूत्रस्थ 'अवयवे' के साथ होता है। अनुवर्तमान 'तत्' (प्रथमान्त) पद 'संख्यायाः' का विशेषण है। तदनुसार "अवयव अर्थ में वर्तमान प्रथमा-समर्थ संख्यावाची प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'तयप्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**पञ्चतयं** दारु (पाँच हिस्से वाली लकड़ी—पञ्च अवयवाः अस्य)—पञ्चन् + तयप् (= तय)। 'न्' का लोप। नपुंसक लिङ्ग प्रथमा एकवचन।

(१८४४) **पद**—द्वित्रिभ्याम्, तयस्य, अयच्। **अनुवृत्ति**—तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है। अतः "'द्वि' और 'त्रि' से पर 'तयप्' के स्थान पर 'अयच्' आदेश विकल्प से होता है"। 'द्वि' तथा 'त्रि' शब्दों के संख्यावाची होने के कारण पूर्व सूत्र से 'तयप्' प्रत्यय प्राप्त है, उसी के स्थान में विकल्प से यह अयच्-विधान है। **उदाहरण**—(१) (क) **द्वयम्**→'अयच्' होने पर (द्वि + तयप्) > द्वि + अयच् (तय=अय) > द्वयम् ('इ' का लोप)। (ख) **द्वितयम्**←'अयच्' के न होने पर 'तयप्' ही होगा। **अर्थ**—दोहरा—द्वौ अवयवौ अस्य। (२) इसी प्रकार (क) **त्रयम्**→'अयच्' (त्रि + तयप् = अयच्) होने पर। (ख) **त्रितयम्**←'अयच्' के अभाव में तयप्। **अर्थ**—तिहरा-त्रयः अवयवाः अस्य।

द्वयम्-द्वितयम् । त्रयम्-त्रितयम् । (१८४५) उभादुदात्तो नित्यम् ५ । २ । ४४ ॥ उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात्, स चोदात्तः । उभयम् । इति तद्धिते पाञ्चमिकाः ।

अथ तद्धिते मत्वर्थीयप्रकरणम्

(१८४६) तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ५ । २ । ४५ ॥ एकादश अधिका अस्मिन्नेकादशम् । 'शतसहस्रयोरेवेष्यते' (वा ३१४१) । नेह । एकादश अधिकाः अस्यां

(१८४५) उभादुदात्तो नित्यम् । स चोदात्त इति । आद्युदात्त इत्यर्थः । अन्तोदात्तत्वस्य चित्त्वेनैव सिद्धेरिति भाष्ये स्पष्टम् । 'अत्र अयच्प्रत्यय एव विधीयते, न तु तयप आदेशः' इति स्थानिवत्सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । तयप आदेश इति मूलं तु वार्तिकानुरोधेन । इति पाञ्चमिकाः ।

(१८४६) अथ मत्वर्थीयाः—तदस्मिन्नधिकम् । तदधिकमस्मिन् इति विग्रहे प्रथमान्तात् दशन् शब्दान्तात् समासात् अस्मिन्नित्यर्थे डप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । प्रत्ययविधौ

(१८४५) पद—उभात्, उदात्तः, नित्यम् । अनुवृत्ति—तयस्यायच्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'उभ' शब्द से पर 'तयप्' के स्थान में अनुदात्त 'अयच्' आदेश होता है । उदा०-उभयम् ।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए पूर्व सूत्र से 'तयस्य' और 'अयच्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित हैं । तदनुसार "प्रथमा-समर्थ 'उभ' शब्द से परवर्ती 'तयप्' के स्थान पर षष्ठ्यर्थ में नित्य 'अयच्' आदेश होता है और वह 'अयच्' आद्युदात्त भी होता है" । यद्यपि 'उभ' शब्द को शास्त्र में संख्या संज्ञा नहीं कही गई है, तथापि लोक में द्वि संख्या के अर्थ में प्रयुक्त होने से 'एक', 'द्वि' आदि की तरह इसे भी संख्यावाची जानना चाहिये । उदाहरण—उभयम् (दोनों-उभौ अवयवौ अस्य)—उभ+तयप् = अयच् > उभ्+अय > उभयम् (भकारोत्तरवर्ती 'अ' का "यस्येति च" ६-४-१४८ से लोप । 'अय' का अकार उदात्त होने से 'उ' अनुदात्त रहेगा । 'अयच्' प्रत्यय के 'चित्' होने से "चितः" (६-१-१५७) से अन्तोदात्त तो हो ही जाता, किन्तु 'अयच्' में दो 'अच्' हैं—'अ' और 'य' का अकार । अतः सूत्र में 'उदात्त' कहने से आद्युदात्त होना माना जाता है ।

विशेष—भाष्यकार ने यहाँ 'अयच्' प्रत्यय का ही विधान माना है, न कि 'तयप्' के स्थान पर 'अयच्' का होना । सिद्धान्तकौमुदीकार ने वार्तिककार के अनुसार 'तयप् को प्रत्यय तथा उसके स्थान पर 'अयच् आदेश विधान किया है ।

स्मरणीय—पञ्चमाध्याय के विभिन्न प्रत्ययों का विवरण यहाँ समाप्त होता है । अब आगे विशेष अर्थ को अभिलक्षित कर प्रकरणानुसार विभाग किया जायेगा ।

'दीपिका' में पाञ्चमिक प्रकरण समाप्त ।

(१८४६) पद—तत्, अस्मिन्, अधिकम्, इति, दशान्तात्, डः । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० एकादश अधिकाः अस्मिन्—एकादशम् । वा० 'शत' एवं 'सहस्र' वाच्य होने पर ही यह अभीष्ट है । अतः 'एकादश अधिकाः अस्यां विंशतौ' में नहीं हुआ । वा० प्रकृति और

विंशतौ। 'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः समानजातीयत्वमेवेष्यते' (वा ३१४०)। नेह। एकादश माषाः अधिकाः अस्मिन्सुवर्णशते। (१८४७) शदन्तविंशतेश्च ५।२।४६॥ डः स्यादुक्तेऽर्थे। त्रिंशदधिका अस्मिन् त्रिंशं शतम्। विंशम्। (१८४८) सङ्ख्याया गुणस्य

तदन्तविधिप्रतिषेधादन्तग्रहणम्। अत एव निर्देशात् पञ्चम्यर्थे सप्तमीत्याहुः। औपश्लेषिकेऽधिकरणे सप्तमीति भाष्यम्। सामीपिकमधिकरणमिति कैयटः। एकादश माषाः अधिकाः अस्मिन्निति। अस्मादित्यर्थः। अस्मिन् उपश्लिष्टा इति वा। न च व्यपदेशिवत्त्वेन केवलदशन्शब्दादपि स्यादिति शङ्क्यम्। 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इत्युक्तेः।

(१८४७) शदन्तविंशतेश्च। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे। डः स्यादुक्तेऽर्थे इति। दशान्तत्वाभावात्पूर्वेणाप्राप्तिः। त्रिंशं शतमिति। 'डे' सति 'टेः' इति टिलोपः। विंशमिति। विंशतिः अस्मिन्नधिका इति विग्रहः। 'ति विंशतेः' इति तिशब्दस्य लोपः। अन्तग्रहणादेकत्रिंशं शतमिति सिद्धम्। अन्यथा प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदादिनियमः स्यात्। 'विंशतावप्यन्तग्रहणम्' इति वार्तिकात् एकविंशं शतमित्यादि सिद्धम्।

प्रत्ययार्थ के तुल्यजातीय होने पर ही यह इष्ट है। उदा० 'एकादश माषाः अस्मिन् सुवर्णशते' ('ड' नहीं)।

विवरण—"प्रथमा-समर्थ (तत्) दशन्-शब्दान्त (दशान्तात्) समासयुक्त प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ (अस्मिन्) में 'ड' प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा-समर्थ अधिक-समानाधिकरण वाला हो"। **उदाहरण**—**एकादशम्** (शतम् सहस्रं वा)—एक सौ या एक हजार ग्यारह—एकादश अधिकाः अस्मिन्—एकादश़ऩ् + ड > एकादशम् ('टि' = 'अन्' का लोप—"टेः" ६-४-१४३)।

यहाँ पर 'अधिक' अर्थ साकाङ्क्ष है। अतः उसकी पूर्ति के लिये एक वार्तिक प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार शत और सहस्र शब्दों से ही एकादश संख्या अधिक लिया जाना अभीष्ट बतलाया है। जिसके फलस्वरूप 'एकादश अधिकाः अस्यां विंशतौ' (इकतीस) में 'विंशति' से एकादश अधिक अभीष्ट होने से 'ड' प्रत्यय नहीं हुआ। अतः वाक्य ही रहेगा।

वार्तिक के अनुसार प्रकृति-प्रत्ययार्थ की समान-जातीयता की स्थिति में 'ड' होने से 'एकादश माषाः अधिकाः अस्मिन् सुवर्णशते' विग्रह में 'ड' नहीं हुआ।

(१८४७) **पद**—शदन्तविंशतेः, च। **अनुवृत्ति**—तदस्मिन्नधिकम्, डः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उक्त अर्थ में 'ड' प्रत्यय होता है। उदा० १—त्रिंशद् अधिकाः अस्मिन्-त्रिंशम् शतम्। २—विंशम्।

विवरण—'प्रत्ययार्थ' एवम् 'समर्थ-विभक्ति' के लिये पूर्व सूत्र (५-२-४५) से 'तदस्मिन् अधिकम्' अंश की अनुवृत्ति अपेक्षित है। वैसे तो यह पूर्व सूत्र का ही विषय था, किन्तु 'शदन्त' न होने से उसकी प्राप्ति नहीं रही। अतः "अधिक-समानाधिकरण-वाची 'शदन्त' तथा 'विंशति प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में 'ड' प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) शदन्त—**त्रिंशम्** शतम् (सौ से तीस अधिक = १३०-त्रिंशत् अधिकाः यस्मिन् शते)—त्रिंश़त़् + ड (= अ) > त्रिंशम् (पूर्ववत् 'टि' लोप)। (२) विंशति—**विंशम्** शतम् (एक सौ बीस—विंशतिः अधिकाः यस्मिन् शते)—विंश़ति़ + ड (= अ) > विंशम् ("ति विंशतेर्डिति" ६-४-१४२—'ति' का लोप)।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अन्त' ग्रहण करने से **एकत्रिंशम्** शतम् आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। अन्यथा 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से तदादि-नियम ही रहता। यही स्थिति विंशति शब्द के सम्बन्ध में भी यही जाना जाय, क्योंकि भाष्य में तदनुरूप वार्तिक का उल्लेख है—**विंशतावप्यन्तग्रहणम्**।

निमाने मयट् ५ । २ । ४७ ॥ भागस्य मूल्ये वर्तमानात्प्रथमान्तात्संख्यावाचिनः षष्ठ्यर्थे मयट् स्यात् । यवानां द्वौ भागौ निमानस्योदश्विद्भागस्य—द्विमयमुदश्विद्यवानाम् । गुणस्य इति किम् ? द्वौ व्रीहियवौ निमानमस्योदश्वितः । निमाने किम् ? द्वौ गुणौ क्षीरस्य एकस्तैलस्य द्विगुणं क्षीरं पच्यते तैलेन । (१८४९) **तस्य पूरणे डट् ५ । २ । ४८ ॥** एकादशानां

(१८४८) **सङ्ख्याया गुणस्य ।** तदस्येत्यनुवर्तते । गुणः भागः अंशः । निमीयते क्रीयतेऽनेनेति निमानं मूल्यद्रव्यम् । 'मेङ् प्रणिदाने' करणे ल्युट् । तदाह—भागस्य मूल्य इत्यादि । षष्ठ्यर्थे इति । अस्येत्यर्थे इत्यर्थः । यवानां द्वौ भागौ निमानमस्योदश्विद्भागस्येति विग्रहवाक्यम् । द्वाभ्यां यवप्रस्थाभ्याम् एक उदश्वित्प्रस्थः क्रीयते यत्र तत्रेदं वाक्यं प्रयुज्यते । द्विमयमुदश्विद्यवानामित्युदाहरणम् । यवानामिति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । यवप्रस्थद्वयेन क्रेतव्यमुदश्विदित्यर्थः । द्विशब्दस्य भागवृत्तेर्नित्यसापेक्षत्वाद्यवानामित्येतत्सापेक्षत्वेऽपि प्रत्ययः । **द्वौ व्रीहियवौ निमानमस्योदश्वित इति ।** द्वित्वसंख्याविशिष्टो व्रीहियवराशी यौ तौ अस्य उदश्वितो निमानमित्यर्थः । अत्र उदश्विद्यावत्, तदपेक्षया व्रीहियवराश्योर्द्विगुणत्वं न विवक्षितम् । किन्तु राशिद्वित्वमेव विवक्षितमिति द्विशब्दस्य भागवृत्तित्वाभावान्न प्रत्ययः ।

(१८४९) **तस्य पूरणे डट् ।** संख्याया इत्यनुवर्तते । संख्येयार्थकसंख्यावाचिनः

(१८४८) **पद**—संख्यायाः, गुणस्य, निमाने, मयट् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—भाग के मूल्य में वर्तमान प्रथमान्त संख्यावाचक शब्द से 'षष्ठ्यर्थ में 'मयट्' हो । उदा० यव के दो हिस्से = 'निमान' (क्रय मूल्य) है जिस उदश्वित् भाग का→द्विमयम् उदश्विद् यवानाम् । 'गुणस्य' क्यों कहा ? 'द्वौ व्रीहियवौ निमानम् अस्य उदश्वितः' में 'मयट्' नहीं हुआ । 'निमाने' क्यों कहा ? 'द्वौ गुणौ क्षीरस्य एकः तैलस्य द्विगुणं क्षीरं पच्यते तैलेन' में भी वाक्य ही रहा ।

विवरण—यद्यपि अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है तथापि समर्थ-विभक्ति के लिये मण्डूकप्लुति से "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" (५-२-३७) सूत्र से 'तदस्य' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । सूत्रस्थ 'गुण' शब्द 'भाग' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा 'निमान' शब्द 'मूल्य' का बोधक है । तदनुसार "प्रथमा-समर्थ संख्यावाची प्रातिपादकों से 'भाग का यह मूल्य है' इस अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—द्विमयम्** उदश्वित् यवानाम् (एक भाग मट्ठा का मूल्य उसका दो भाग यव अर्थात् एक सेर मठे का मूल्य दो सेर यव—यवाना द्वौ भागौ निमानम् अस्य)—द्वि (संख्यावाचक)+मयट् (= मय) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'गुणस्य' (भागार्थक) पद का विवेश होने से जहाँ द्रव्य का मूल्य प्रतीयमान रहेगा वहाँ 'मयट्' नहीं होगा, किन्तु वाक्य ही रहेगा । अतः **द्वौ व्रीहियवौ निमानम् अस्य उदश्वितः** आदि में 'मयट्' नहीं हुआ, क्योंकि सूत्र के अनुसार जहाँ गुण वाचक की संख्या ही मूल्य रूप से हो वहीं 'मयट्' होता है । यहाँ पर मठा का दूना जौ और धान उसके मूल्य रूप में निर्दिष्ट हैं न कि संख्या । इसी प्रकार **'निमाने'** ग्रहण के फलस्वरूप **द्वो गुणौ क्षीरस्य एकः तैलस्य द्विगुणं तैलं पच्यते तैलेन** में मूल्यार्थ की प्रतीति के अभाव में 'मयट्' नहीं होता है । (वाक्य का अर्थ है—तेल द्वारा उसका दुगुना दूध जलाया या पकाया जाता है) । अतः वाक्य ही रहा, 'मयट्' नहीं हुआ ।

(१८४९) **पद**—तस्य, पूरणे, डट् । **अनुवृत्ति**—संख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

पूरणः एकादशः। (१८५०) नान्तादसंख्यादेर्मट् ५।२।४९॥ डटो मडागमः स्यात्। पञ्चानां पूरणः पञ्चमः। नान्तात् किम्? विंशः। असंख्यादेः किम्? एकादशः।

षष्ठयन्तात्प्रवृत्तिनिमित्तसंख्यायाः पूरणे वाच्ये डट्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। पूर्यते अनेनेति पूरणः अवयवः, स प्रत्ययार्थः। एकादश इति। एकादशत्वसंख्यायाः पूरकोऽवयव इत्यर्थः। यस्मिन् अनुपात्ते एकादशत्वसंख्या न सम्पद्यते, यस्मिन्नुपात्ते तु सा पूर्यते सोऽवयवः एकदेश इति यावत्। प्रवृत्तिनिमित्तेति किम्? पञ्चानां घटानां पूरणं जलादि।

(१८५०) नान्तादसंख्यादेर्मट्। डटो मडागमः स्यादिति। शेषपूरणमिदम्। मटि टकार इत्। अकार उच्चारणार्थः। पञ्चम इति। पञ्चन्शब्दात् डटि तस्य मडागमे सति

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रार्थ की सम्पूर्ति के लिये "संख्याया अवयवे तयप्" (५-२-४२) से 'संख्यायाः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ समर्थ-विभक्ति-सूचक 'तस्य' पद संख्या-वाचक पद का विशेषण है, अतः तदन्त का बोधक होता है। तदनुसार ""पूरण' अर्थ में षष्ठी-समर्थ संख्यावाची प्रातिपदिकों से 'डट्' (=अ) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—एकादशः (ग्यारहवाँ—एकादशानां पूरणः)—एकादशन् + डट् (=अ) > एकादश् + अ = एकादशः ('टि' = अन् का लोप)।

विशेष—दस के बाद ग्यारहवाँ व्यक्ति न हो तो ग्यारह संख्या नहीं बनती। अतः दसवें के बाद वाला व्यक्ति ग्यारहवीं संख्या का पूरक = पूरण करने वाला है (पूर्यते अनेन—पॄ + ल्युट्-करणे-पूरणः = अवयवः, स एव प्रत्ययार्थः)।

(१८५०) **पद**—नान्तात्, असंख्यादेः, मट्। **अनुवृत्ति**—तस्य पूरणे डट्, संख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'डट्' को 'मट्' आगम हो। उदा० पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः। 'नान्तात्' क्यों कहा? विंशः ('मट्' नहीं हुआ)। असंख्यादेः क्यों कहा? एकादशः ('मट्' नहीं हुआ)।

विवरण—यह आगम-विधायक सूत्र है। सूत्र में स्थानिवाचक पद कोई नहीं है। अतः उसकी पूर्ति के लिये "तस्य पूरणे डट्" (५-२-४८) सूत्र से 'डट्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। आगम के विधान से प्रथमान्त 'डट्' षष्ठयन्त में विपरिणत (='डटः') हो जाता है। इसके अतिरिक्त ५-२-४८ से 'संख्यायाः' की भी अनुवृत्ति आ रही है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "असंख्यादि नकारान्त संख्यावाची प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में विहित 'डट्' प्रत्यय को 'मट्' का आगम होता है"। 'ट्' इत् होने के कारण यह आगम 'डट्' का आद्यवयव होगा। **उदाहरण**—पञ्चमः (पाँचवाँ—पञ्चानां पूरणः)—पञ्चन् + डट् (=अ) > पञ्चन् + म्-अ ('मट्' आगम) > पञ्चमः ('न्' का लोप)।

प्रत्युदाहरण—(१) विंशः तथा (२) एकादशः में क्रमशः (१) नान्तत्वाभाव तथा (२) संख्यादित्व के कारण 'मट्' आगम नहीं होता है, क्योंकि 'विंशति' शब्द नकारान्त नहीं है, तथा 'एकादश' शब्द के आदि में 'एक' शब्द संख्यावाची है।

विशेष—यद्यपि 'मट्' को प्रत्यय के रूप में विधान करने पर भी 'पञ्चमः' ही निष्पन्न होता एवं स्वर में भी कोई अन्तर नहीं आता, तथापि 'विंशतितमः' इत्यादि में आगम विधान करने से स्वर में अन्तर हो जाता है। अतः यहाँ गुरुभूत उपाय ही माना गया है[1]।

---

१. यद्यपि 'पञ्चमः' इत्यादौ न कश्चिद् विशेषः—मटः आगमत्वे प्रत्ययत्वे वा। तथापि 'विंशतितमः' इत्यादौ तु विशेषो विद्यते। तत्र च "विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्" (५-२-५६) इति सूत्रेण विहितः तमडागमः यदि प्रत्ययत्वेन विधीयमानो भवेद् तदा प्रत्ययस्वरेण तत्र आद्युदात्तता

(१८५१) षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ५ । २ । ५१ ॥ एषां थुगागमः स्याड्डटि । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽप्यत एव ज्ञापकाड्डट् । कतिपयथः । चतुर्थः । 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरस्य लोपश्च' (वा ३१५८) । तुरीयः-तुर्यः । (१८५२) बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक् ५ । २ । ५२ ॥ 'डटि' इत्येव । पूगसङ्घयोरसंख्यात्वेऽप्यत

नलोपः । यद्यपि मटः प्रत्ययत्वेऽपि न रूपभेदः, तथापि स्वरविशेषार्थं मडागमाश्रयणमिति भाष्ये स्पष्टम् ।

(१८५१) षट्कति । थुकि ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्वादन्त्यादचः परः । षष्ठ इति । अपदान्तत्वात् षस्य न जश्त्वम् । चतुर्थ इति । अपदान्तत्वान्न रेफस्य विसर्गः । चतुर इति । वार्तिकमिदम् । चतुर् शब्दात् षष्ठयन्तात्पूरणे छयतौ स्तः । आद्यक्षरस्य लोपश्चेति । 'च' इति सङ्घातस्य लोपश्चेत्यर्थः ।

(१८५२) बहुपूगगणेति । बहु, पूग, गण, सङ्घ एषां डटि तिथुगागमः स्या-

---

(१८५१) पद—षट्-कति-कतिपय-चतुराम्, थुक् । अनुवृत्ति—तस्य पूरणे डट्, संख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इन शब्दों को 'डट्' परे रहते 'थुक्' आगम होता है । उदा० १–षण्णां पूरणः—षष्ठः । २–कतिथः । ३–कतिपय शब्द के संख्यावाची न होने पर भी इसी ज्ञापन से 'डट्' होता है, अतः कतिपयथः । ४–चतुर्थः । वा० 'चतुर्' शब्द से 'छ' और 'यत्' प्रत्यय हों और आद्यक्षर का लोप भी हो । उदा० तुरीयः—तुर्यः ।

विवरण—यह भी आगम-विधायक सूत्र है । पूर्व सूत्र के समान यहाँ भी उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । किन्तु अन्तर इतना है कि यहाँ पर अनुवृत्त 'डट्' पद सप्तम्यन्त में विपरिणत होता है, क्योंकि यहाँ स्थानि-निर्देश सूत्र में विद्यमान है । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ 'षट्', 'कति', 'कतिपय' तथा 'चतुर्' शब्दों को पूरण-अर्थ में विहित 'डट्' प्रत्यय के परवर्ती रहते हुए 'थुक्' आगम होता है" । 'थुक्' आगम 'कित्' है । 'उ' उच्चारणार्थ है । अतः वह उक्त शब्दों का अन्तावयव होगा । उपर्युक्त शब्दों में कतिपय शब्द संख्यावाची नहीं है । इससे जब 'डट्' प्रत्यय की सम्भावना ही नहीं है तो 'थुक्'-आगम-विधान का प्रश्न ही नहीं उठता ? अतः वह व्यर्थ पड़कर ज्ञापन करता है कि "संख्यावाची न होते हुए भी 'कतिपय' शब्द से 'डट्' प्रत्यय हो" । तब आगम-विधान सार्थक होता है । शेष शब्दों में "तस्य पूरणे डट्" (५-२-४९) से 'डट्' प्रत्यय हो ही जायेगा । उदाहरण—१-षष्ठः (छठा–षण्णां पूरणः)—षष्+डट् (=अ) > षष्-थ्+अ (थुक् आगम) > षष्ठः (ष्टुत्व) । २-कतिथः (कौन सा—कतीनां पूरणः)—कति+डट् (=अ) > कतिथ्+अ > कतिथः । ३—कतिपयथः (कितनों का–कतिपयानां पूरणः)—कतिपय+डट् (=अ) > कतिपय-थ्+अ ('थुक्' आगम) > कतिपयथः । (४) चतुर्थः (चौथा—चतुर्णां पूरणः)—चतुर्+डट् (=अ) > चतुर्-थ्+अ > चतुर्थः । 'चतुर्' शब्द के सम्बन्ध में यहाँ एक वार्तिक का उल्लेख किया जा रहा है । जिसके अनुसार "षष्ठ्यन्त 'चतुर्' शब्द से 'पूरण' अर्थ में 'छ' (=ईय) और 'यत्' प्रत्यय होते हैं तथा 'चतुर्' शब्द के 'आदि' अक्षर (=च) का लोप भी होता है । उदाहरण—(क) तुरीयः→'चतुर्'+से 'छ' (=ईय) 'प्रत्यय' करने पर 'च' का लोप । (ख) तुर्यः←'चतुर्'+यत् ('यत्') प्रत्यय करने पर 'च' का लोप) । अर्थ—चौथा—चतुर्णां पूरणः ।

(१८५२) पद—बहुपूगगणसङ्घस्य, तिथुक् । अनुवृत्ति—तस्य पूरणे डट्, संख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

भवेत् । आगमत्वेन आगमानुदात्तत्वं भवति न तु प्रत्ययस्वर इति 'त्रिंशतितमः' इत्यस्य अन्तोदान्तत्वं भवतीति दिक् ।

एव डट्। बहुतिथः इत्यादि। (१८५३) वतोरिथुक् ५।२।५३॥ डटि इत्येव। यावतिथः। (१८५४) द्वेस्तीयः ५।२।५४॥ डटोऽपवादः। द्वयोः पूरणः द्वितीयः। (१८५५) त्रेः सम्प्रसारणं च ५।२।५५॥ तृतीयः। (१८५६)

दित्यर्थः। ककार इत्। उकार उच्चारणार्थः। कित्त्वादन्त्यादचः परः। इत्यादीति। पूगतिथः, गणतिथः, सङ्घतिथः।

(१८५३) वतोरिथुक्। डटीत्येवेति। वतुबन्तस्य इथुगागमः स्यात् डटीत्यर्थः। यावतिथ इति। यावतां पूरण इति विग्रहः। 'बहुगणे'ति सङ्ख्यात्वात् 'तस्य पूरणे' इति डटि प्रकृतेरिथुक्।

(१८५४) द्वेस्तीयः। द्विशब्दात् षष्ठयन्तात् पूरणे तीयप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१८५५) त्रेः सम्प्रसारणं च। त्रेस्तीयः स्यात्प्रकृतेः सम्प्रसारणं चेत्यर्थः। तृतीय इति। त्रयाणां पूरण इति विग्रहः। तीयप्रत्यये सति रेफस्य सम्प्रसारणम् ऋकारः। 'सम्प्र-

---

मूलार्थ—'डट्' के ही विषय में ('आगम' है)। पूग तथा सङ्घ के संख्यावाची न होने पर भी इसी विधानवश 'डट्' होता है। उदा० बहुतिथः इत्यादि।

विवरण—संख्यावाची विषयों का ही सन्दर्भ है। 'पूरण' अर्थ को ही अभिलक्षित किया गया है। तदनुसार "'बहु', 'पूग', 'गण' तथा 'सङ्घ' शब्दों से पूरण अर्थ में विहित 'डट्' प्रत्यय के परवर्ती होने की स्थिति मे 'तिथुक्' (=तिथ्) आगम होता है"। 'बहु' तथा 'गण' शब्दों की "बहुगणवतुडति संख्या" (१-१-२२) से संख्या-संज्ञा है, इनको 'डट्' प्रत्ययान्त होने के कारण 'तिथुक्' आगम हो जायगा। किन्तु 'पूग' तथा 'सङ्घ' शब्द संख्यावाची नहीं हैं, अतः उनको भी इस सूत्र में 'डट्' पर रहते 'तिथुक्' आगम का विधान किये जाने से 'डट्' प्रत्ययान्त मानना पड़ेगा। **उदाहरण**—**बहुतिथः** (बहुतों का—बहूनां पूरणः)—बहु+तिथ् (तिथुक्)–डट् (=अ) > बहुतिथः ('डट्' तथा उसके आद्यवयवस्वरूप तिथुक् आगम)। इसी प्रकार **पूगतिथः** (श्रमजीवी समूहों का) तथा **गणतिथः** (समूहों का) तथा **सङ्घतिथः** (समूहों का) रूप निष्पन्न होंगे

(१८५३) **पद**—वतोः, इथुक्। **अनुवृत्ति**—तस्य पूरणे डट्, संख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—यहाँ भी पूर्ववत् आगम का ही विषय है। वही अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। स्थानी भिन्न ('वतु') है। अतः "'वतु'–प्रत्ययान्त प्रातिपदिक को पूरण अर्थ में विहित 'डट्' परे रहते 'इथुक्' (=इथ्) आगम होता है"। 'कित्' होने से आद्यवयव होगा। वत्वन्त प्रातिपदिक भी संख्या-संज्ञक हैं, अतः 'डट्' प्रत्यय होगा। **उदाहरण**—**यावतिथः** (जितनों का—यावतां पूरणः)—यावत्+डट् (=अ) > यावत्–इथ्+अ ('डट्' का आद्यवयव 'इथुक्' आगम) > यावतिथः। (२) **तावतिथः** (उतनों का—तावतां पूरणः)—तावत्+इथ्—अ (डट्)।

(१८५४) **पद**—द्वेः, तीयः। **अनुवृत्ति**—तस्य पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—संख्यावाची शब्दों का ही प्रकरण है। अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। सूत्रार्थ इस प्रकार है—"षष्ठीसमर्थ 'द्वि' प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में 'तीय' प्रत्यय होता है"। यह 'डट्' का अपवाद है। **उदाहरण**—**द्वितीयः** (दूसरा—द्वयोः पूरणः)—द्वि+तीय।

(१८५५) **पद**—त्रेः, सम्प्रसारणं, च। **अनुवृत्ति**—तीयः, संख्यायाः, तस्य पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ५ । २ । ५६ ॥ एभ्यो डटस्तमडागमो वा स्यात् । विंशतितमः-विंशः । एकविंशतितमः-एकविंशः । **(१८५७) नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च ५ । २ । ५७ ॥** शतस्य पूरणः शततमः । एकशततमः । मासादेरत

सारणाच्च' इति पूर्वरूपम् । 'हलः' इति दीर्घस्तु न भवति, 'ढ्लोपे' इत्यतः अण इत्यनुवृत्तेः ।

(१८५६) विंशत्यादिभ्यः । तमटि टकार इत्, मकारादकार उच्चारणार्थः । अत्र 'पङ्क्तिविंशति' इति सूत्रानुक्रान्ता एव विंशत्यादयो गृह्यन्ते न तु लोकप्रसिद्धा एकविंशत्यादयोऽपि विप्रकर्षादिति कैयटः । एकविंशतितम इत्यत्र तु तदन्तविधिना तमडित्यग्रे वक्ष्यते ।

(१८५७) नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च । शतादिभ्यो मासात् अर्धमासात् संवत्सराच्च परस्य डटो नित्यं तमडागमः स्यादित्यर्थः । ननु 'षष्ट्यादेश्चे'त्युत्तरसूत्रेण शततमः सिध्यतीत्यत आह—एकशततम इति । 'असङ्ख्यादेः' इति पर्युदासादुत्तरसूत्रस्य नात्र प्रवृत्तिरिति भावः । ननु मासार्धमाससंवत्सरशब्दानां सङ्ख्यावाचित्वाभावात् तेभ्यो

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्वसूत्र का ही विषय है । अतः प्रमुख अनुवृत्ति 'तीय' की अपेक्षित है । तदनुसार '"त्रि' शब्द से पूरण अर्थ में 'तीय' प्रत्यय हो तथा प्रकृति-स्वरूप 'त्रि' के 'र्' को 'ऋ' सम्प्रसारण हो" । **उदाहरण**—तृतीयः (तीसरा—त्रयाणां पूरणः)—त्रि+तीय > त्-ऋ-इ+तीय (र् = ऋ-सम्प्रसारण) > तृतीयः (ऋ+इ=ऋ-पूर्वरूप-"सम्प्रसारणाच्च"६-१-१०४) ।

(१८५६) पद—विंशत्यादिभ्यः, तमट्, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—संख्यायाः, तस्य पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे पर 'डट्' को विकल्प से 'तमट्' (= तम्) आगम हो । उदा० १—(क) विंशतितमः । (ख) विंशः । २-(क)-एकविंशतितमः । (ख) एकविंशः ।

विवरण—'डट्' को ही 'तमट्' आगम का विधान बतलाया जा रहा है । संख्यावाची शब्दों का ही प्रकरण है । तदनुसार "षष्ठी-समर्थ संख्यावाची विंशत्यादि प्रातिपदिकों से 'पूरण' अर्थ में विहित 'डट्' प्रत्यय को 'तमट्' आगम होता है" । सामान्यतः संख्यावाचियों से "तस्य पूरणे डट्" (५-२-४९) से 'डट्' विहित है, उसी ('डट्') को 'तमट्' आगम विकल्प से होगा । **उदाहरण**—(१) क-**विंशतितमः** (बीसवाँ—विंशतेः पूरणः)—विंशति+डट् (= अ) > विंशति+तम्-अ ('डट्' का आद्यवयव 'तमट् आगम) > विंशतितमः । पक्ष में **विंशः** (विंशति+डट्) । (२) **एकविंशतितमः** तथा **एकविंशः** । प्रक्रिया पूर्ववत् । 'एकविंशतितमः' में (इक्कीसवाँ-एकविंशतेः पूरणः) तदन्तविधि के कारण 'तमट्' आगम होता है ।

(१८५७) पद—नित्यम्, शतादिमासार्धमाससंवत्सरात्, च । **अनुवृत्ति**—तमट्, तस्य पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'तमट्' आगम का ही विषय है । 'पूरण' अर्थ का सातत्य विद्यमान है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "षष्ठी-समर्थ शतादि प्रातिपदिकों तथा मास, अर्धमास और संवत्सर प्रातिपदिकों से परवर्ती पूरणार्थक 'डट्' प्रत्यय को 'तमट्' आगम नित्य होता है" । मास, अर्धमास तथा संवत्सर शब्द यद्यपि संख्यावाची नहीं हैं तथापि उनसे 'डट्' प्रत्यय भी इसी सूत्र में 'डट्' को 'तमट्' आगम-विधानरूप ज्ञापन से होता है । **उदाहरण**—(१) **शततमः** (सौवाँ—शतस्य पूरणः)—शत+तम् (तमट्)+अ (डट्) । (२) **एकशततमः** (एक सौ एकवाँ—एकशतस्य पूरणः)—एकशत+तम् (तमट्)+अ (डट्) । अग्रिम सूत्र में 'असंख्यादि'

एव डट् । मासतमः । अर्धमासतमः । संवत्सरतमः । (१८५८) षष्ट्यादेश्चासङ्ख्यादेः ५ । २ । ५८ ॥ षष्टितमः । सङ्ख्यादेस्तु 'विंशत्यादिभ्यः' (सू १८५६) इति विकल्प एव । एकषष्टः–एकषष्टितमः । (१८५९) मतौ छः सूक्तसाम्नोः ५ । २ । ५९ ॥

डट एवाप्रसक्तेः तस्य कथं तमड्विधिरित्यत आह—मासादेरिति । मासतम इति । मासस्य पूरणः अर्धमासादिरवयवः । अर्धमासतम इति । अर्धमासस्य पूरणः तिथ्यादिरवयवः । संवत्सरतम इति । संवत्सरस्य पूरणो मासादिरवयवः ।

(१८५८) षष्ट्यादेश्चासङ्ख्यादेः । असङ्ख्यापूर्वपदात् षष्ट्यादेः परस्य डटो नित्यं तमडागमः स्यादित्यर्थः । 'विंशत्यादिभ्य' इति विकल्पस्यापवादः । एकषष्टः—एकषष्टितम इति । सङ्ख्यादित्वान्नित्यस्य तमटोऽभावे 'विंशत्यादिभ्यः' इति डटस्तमड्विकल्पः । तमडभावे डटि 'यस्येति च' इति इकारलोपे एकषष्ट इति रूपम् । ननु केवलात् षष्ट्यादेर्विहितस्य नित्यतमटः सङ्ख्यादेः कथं प्रसक्तिः तमडागमविधेरप्रत्ययविधित्वेऽपि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति निषेधादिति चेत्, मैवम्—असङ्ख्यादेरिति हि इह प्रकरणे ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिं ज्ञापयति । तेन 'विंशत्यादिभ्यः' इति पूर्वसूत्रम् एकविंशतितमः इत्यादावपि प्रवर्तत इति भाष्ये स्पष्टम् । एवञ्च एकान्नविंशतितमः इत्यपि सिद्धम् ।

पर्युदास होने के कारण उससे प्राप्ति नहीं है। अतः तदन्तविधि होने से प्रकृत सूत्र की प्रसक्ति हुई। 'शततमः' तो उस सूत्र से भी निष्पन्न हो सकता है। (३) **मासतमः** (महीने का अन्तिम दिन—मासस्य पूरणः)। (४) **अर्धमासतमः** (आधे मास का अन्तिम दिन—अर्धमासस्य पूरणः—पक्षों का अनुसरण करने से अमावास्या, पूर्णिमा आदि तिथियाँ)। (२) **संवत्सरतमः** (वर्ष का अन्तिम दिन—संवत्सरस्य पूरणः)। प्रक्रिया पूर्ववत्।

(१८५८) **पद**—षष्ट्यादेः, च, असंख्यादेः। **अनुवृत्ति**—नित्यम्, तमट्, संख्यायाः, तस्य पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—'तमट्' आगम का ही सातत्य है। पूर्व सूत्र से अनुवर्तमान 'नित्य' पद विशेषतः प्रभावी है। अतः "षष्ठी-समर्थ असंख्यादि (= जिसके आदि में संख्यावाची शब्द न हो) 'षष्टि' आदि प्रातिपदिकों से भी 'पूरण' अर्थ में विहित 'डट्' को नित्य 'तमट्' आगम होता है"। "विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्" (५-२-५७) का यह अपवाद है। **उदाहरण**—**षष्टितमः** (साठवाँ–षष्टेः पूरणः)—षष्टि-तम् (तमट्) + अ (डट्)।

प्रत्युदाहरण—'षष्टि' के आदि में संख्यावाची 'एक' शब्द के रहने पर "विंशत्यादिभ्यः०" ५-२-५७ से वैकल्पिक 'तमट्' होने से दो रूप बनेंगे—(क) **एकषष्टितमः** (इकसठवाँ—एकषष्टेः पूरणः) तथा (ख) एकषष्टः। 'एकषष्टः' में 'ड' के परवर्ती रहने पर 'एकषष्टि' के अन्तिम वर्ण 'इ' का "यस्येति च" (६-४-१४८) से लोप हो जायगा।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'असंख्यादि' (= संख्याभिन्न) पर्युदास के होने से संख्यापूर्वक 'षष्टि' आदि शब्दों से "विंशत्यादिभ्यः" सूत्र से विहित पाक्षिक 'तमट्' आगम के न होने पर 'एकषष्टि' शब्द से 'तमट्' आगम की सम्भावना में यह शङ्का उपस्थित होती है कि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति'–इस परिभाषा के रहते हुए तदन्तविधि तो होगी नहीं, तब 'एकषष्टितमः' की समीचीनता कैसी ? समाधान यह दिया जाता है कि 'असंख्यादि' ग्रहण करने से ही यहाँ तदन्तविधि ज्ञापित होती है। इसके फलस्वरूप "विंशत्यादिभ्यः" सूत्र की प्रवृत्ति भी तदनुसार होने के कारण **एकविंशतितमः** आदि प्रयोग समीचीन माने जाते हैं।

मत्वर्थे छः स्यात् । अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अच्छावाकीयं सूक्तम् । वारवन्तीयं साम । (१८६०) अध्यायानुवाकयोर्लुक् ५।२।६० ॥ मत्वर्थस्य छस्य । अतएव ज्ञापकात्तत्र छः । विधानसामर्थ्याच्च विकल्पेन लुक् । गर्दभाण्डः—गर्दभाण्डीयः ।

(१८५९) मतौ छः सूक्तसाम्नोः । मतुशब्दो मत्वर्थे लाक्षणिक इत्याह—मत्वर्थे इति । अच्छावाकीयं सूक्तमिति । अच्छावाकशब्दः अस्यास्ति अस्मिन्नस्तीति वा विग्रहः । अच्छावाकशब्दयुक्तमित्यर्थः । अच्छावाकशब्दात् शब्दस्वरूपपरात् प्रथमान्ताच्छः । वारवन्तीयं सामेति । 'अश्वं नत्वा वारवन्त'मित्यस्यां ऋच्यध्यूढमित्यर्थः । एवमस्यवामीयमित्यपि । 'अस्यवामस्ये'त्यस्य एकदेशानुकरणमस्यवामेति । तस्माच्छः । अस्यवामशब्दसंयुक्तमित्यर्थः । प्रकृतिवदनुकरणमित्यस्यानित्यत्वात्सुपो न लुक् ।

(१८६०) अध्यायानुवाकयोर्लुक् । नन्वध्यायानुवाकयोरभिधेयत्वे छस्य कथं प्राप्तिः । सूक्तसाम्नोरिति नियमादित्यत आह—अत एवेति । विधानेति । मतुप्प्रकरण एवास्मिन् सूत्रे कर्तव्ये अत्र प्रकरणे छस्य लुग्विधानसामर्थ्यादिति कैयटः । ज्ञापकसिद्धविधानसामर्थ्यादित्यन्ये । भाष्ये तु 'अध्यायानुवाकयोर्वा लुग्वक्तव्यः' इति वचनमेवा-

---

(१८५९) पद—मतौ, छः, सूक्तसाम्नोः । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'मतुप्'-अर्थ में 'छ' (=ईय) हो । उदा० १–अच्छावाकशब्दः अस्मिन् अस्ति—अच्छावाकीयं सूक्तम् । २–वारवन्तीयं साम ।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति में केवल उल्लिखित आधिकारिक अनुवृत्तियाँ ही अपेक्षित हैं । वैदिक विषय से सम्बद्ध शब्दों को अभिलक्षित कर 'छ' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । तदनुसार "प्रथमान्त प्रातिपदिक 'सूक्त' और 'साम' वाच्य रहने मात्र से मत्वर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है" । यहाँ पर 'मतुप्' शब्द मत्वर्थ में लाक्षणिक है । अर्थात् "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्" (५-२-९४) सूत्र से विहित 'मतुप्' प्रत्यय का अर्थ (तदस्य अस्ति अस्मिन्) विवक्षित है । **उदाहरण**—(१)–सूक्त—अच्छावाकीयं सूक्तम् ('अच्छावाक' शब्द से आरम्भ होने वाली ऋचायें—अच्छावाकशब्दः अस्य अस्ति, अस्मिन् अस्ति इति वा)—अच्छावाक्+छ (=ईय) । (२) साम—वारवन्तीयं साम ('वारवन्त' शब्द वाला साम—वारवन्तशब्दः अस्य अस्ति अस्मिन् अस्ति इति वा)—वारवन्त्+छ (=ईय) । तदनुसार 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' (ऋ० १-२७-१) मन्त्र में गेय साम वारवन्तीय कहलाता है ।

(१८६०) पद—अध्यायानुवाकयोः, लुक् । अनुवृत्ति—मतौ छः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—मत्वर्थ 'छ' का (लुक् हो) । विधान-सामर्थ्य से ही 'छ' प्रत्यय तथा उसका विकल्प से 'लुक्' भी होगा । उदा० गर्दभाण्डः—गर्दभाण्डीयः ।

विवरण—'लुक्' सम्बन्धी आकाङ्क्षा को शान्त करने के लिए पूर्व सूत्र (५-२-५९) से 'मतौ छः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । शेष उल्लिखित अनुवृत्तियों के साथ सूत्र की एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि "'अध्याय' और 'अनुवाक' अभिधेय होने पर 'मत्वर्थ' में विहित 'छ' प्रत्यय का 'लुक्' होता है" । यहाँ यह विचारणीय है कि पूर्व सूत्र में 'सूक्त' और 'साम' अभिधेय होने पर मत्वर्थ में 'छ' प्रत्यय कहा गया है । जब 'अध्याय' और 'अनुवाक' अभिधेय होने पर 'छ' प्रत्यय का किसी सूत्र से विधान ही नहीं किया गया तो उसके 'लुक्' होने का प्रश्न नहीं उठता ? अतः 'लुक्' व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि मत्वर्थ में 'अध्याय' और

(१८६१) विमुक्तादिभ्योऽण् ५। २। ६१॥ मत्वर्थेऽण् स्यादध्यायानुवाकयोः। विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति—वैमुक्तः। दैवासुरः। (१८६२) गोषदादिभ्यो वुन् ५। २। ६२॥ मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयोः। गोषदकः। इषेत्वकः। (१८६३) तत्र कुशलः

रुधम्। गर्दभाण्डः गर्दभाण्डीय इति। गर्दभाण्डशब्दसंयुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वेत्यर्थः। भाष्योदाहरणादेव क्वचिदेतन्नामकोऽध्यायोऽनुवाको वा अन्वेष्यः।

(१८६१) विमुक्तादिभ्योऽण्। वैमुक्त इति। विमुक्तशब्दयुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वेत्यर्थः।

(१८६२) गोषदादिभ्यो वुन्। गोषदक इति। गोषदशब्दसंयुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वेत्यर्थः। इषेत्वक इति। 'इषेत्वा' इति शब्दयुक्त इत्यर्थः। अस्यवामीयमित्यत्रोक्तरीत्या सुपो न लुक्।

'अनुवाक' अभिधेय होने पर भी 'छ' प्रत्यय होता है। तब 'लुक्' करना सार्थक है। 'लुक्' के अभाव में 'छ' प्रत्यय रहेगा। **उदाहरण**—(क) गर्दभाण्डः ('गर्दभाण्ड' वाला अध्याय या अनुवाक—गर्दभाण्डशब्दः अस्मिन् अस्ति)। गर्दभाण्ड+छ ('छ' का लुक्। (ख) गर्दभाण्डीयः। पक्ष में छ (=ईय)।

विशेष—(१) भाष्यकार ने इसका वाचनिक विधान माना है—**अध्यायानुवाकयोर्वा लुग्वक्तव्यः।**

(२) भाष्योक्त उदाहरण से ही प्रकृत शब्द-युक्त सूक्त अथवा अध्याय की मान्यता है। अन्यथा यह अनुसन्धान करने की बात है।

(१८६१) पद—नियुक्तादिभ्यः, अण्। **अनुवृत्ति**—अध्यायानुवाकयोः, मतौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'अध्याय' और 'अनुवाक' से मत्वर्थ में 'अण्' हो। उदा० विमुक्त शब्दः अस्मिन् अस्ति—वैमुक्तः। दैवासुरः।

विवरण—'अध्याय' और 'अनुवाक' से सम्बद्ध 'मत्वर्थ' का विषय है। अतः पूर्वसूत्र (५-२-६०) से 'अध्यायानुवाकयोः' अनुवर्तमान है। तदनुसार "विमुक्तादि प्रातिपदिकों से 'अध्याय' और 'अनुवाक' अभिधेय होने पर 'मत्वर्थ' में 'अण्' होता है"। **उदाहरण**—(१) (१) **वैमुक्तः** ('विमुक्त' शब्द वाला अध्याय या अनुवाक—विमुक्त-शब्दः अस्मिन् अध्याये अनुवाके वा अस्ति)—विमुक्त+अण्। आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत्। (२) **दैवासुरः** (देवासुर शब्दवाला अध्याय या अनुवाक—देवासुरशब्दः अस्मिन् अध्याये अनुवाके वा अस्ति)—देवासुर+अण्।

(१८६२) पद—गोषदादिभ्यः, वुन्। **अनुवृत्ति**—अध्यायानुवाकयोः, मतौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ एवं विवरण—'अध्यायानुवाक' का ही सातत्य है। प्रकृति-वाची शब्द एवं प्रत्यय-सम्बन्धी रूप में अन्तर है। अतः "'गोषद' आदि प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में अध्याय और अनुवाक अभिधेय होने पर 'वुन्' (वु=अक) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **गोषदकः** ('गोषद' शब्द वाला अध्याय या अनुवाक-गोषदशब्दः अस्मिन् अस्ति)—गोषद+वुन (वु=अक)। (२) **इषेत्वकः** ('इषेत्वा' शब्द वाला अध्याय—इषेत्वा शब्दः अस्मिन् अस्ति)—इषेत्वा+वुन् (वु=अक)। शुक्लयजुर्वेद संहिता का प्रथम अध्याय इषेत्वा शब्द से आरम्भ होता है। अनुकरण-वाची शब्द होने से प्रकृति यथास्थित रहती है, अतः वहाँ ('इषे') में सुप्-लुक् नहीं हुआ।

पथः ५ । २ । ६३ ॥ वुन् स्यात् । पथि कुशलः—पथकः । **(१८६४) आकर्षादिभ्यः कन् ५ । २ । ६४ ॥** आकर्षे कुशलः—आकर्षकः । आकषादिभ्यः इति रेफरहितो मुख्यः पाठः । आकषो निकषः । **(१८६५) धनहिरण्यात्कामे ५ । २ । ६५ ॥** कामः इच्छा । धने कामो धनको देवदत्तस्य । हिरण्यकः । **(१८६६) स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते ५ । २ । ६६ ॥** केशेषु प्रसितः—केशकः । तद्रचनायां तत्पर इत्यर्थः ।

(१८६३) तत्र कुशलः पथः । वुन् स्यादिति । सप्तम्यन्तात्पथिन्शब्दात्कुशल इत्यर्थे वुनित्यर्थः । पथक इति । अकादेशे 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः ।

(१८६४) आकर्षादिभ्यः कन् । आकर्षक इति । यद्यपि वुनैवानुवृत्तेनेदं सिध्यति, तथापि शकुनिक इत्याद्यर्थं कन्ग्रहणम् ।

(१८६५) धनहिरण्यात्कामे । तत्रेत्यनुवर्तते । धनशब्दात् हिरण्यशब्दाच्च सप्तम्यन्तात्कामे वाच्ये कन् स्यादित्यर्थः । काम इच्छेति । न तु कामयिता, व्याख्यानादिति भावः ।

(१८६६) स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते । तत्रेत्यनुवर्तते । स्वाङ्गेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः प्रसितेऽर्थे कन् स्यादित्यर्थः । प्रसितः उत्सुकः । तद्रचनायामिति । वेण्यादिग्रथने इत्यर्थः । अत्रैवार्थे अस्य साधुत्वम्, व्याख्यानादिति भावः ।

(१८६३) पद—तत्र, कुशलः, पथः । अनुवृत्ति—वुन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—विधेयांश (=वुन्) की प्रमुख अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (५-२-६२) से आ रही है । सूत्रस्थ 'तत्र' पद सप्तमी-समर्थ-विभक्ति का सूचक है । प्रत्ययार्थ का बोधक 'कुशल' शब्द है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'पथिन्' प्रातिपदिक से 'कुशल' अर्थ में 'वुन्' (वु = अक) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—पथकः (यात्रा में कुशल—पथि कुशलः)—पथिन् + वुन् (वु = अक) 'टि' = 'इन्' का लोप—"नस्तद्धिते" (६-४-१४६) ।

(१८६४) पद—आकर्षादिभ्यः, कन् । अनुवृत्ति—तत्र कुशलः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्रोक्त अर्थ का विषय है । अतः "सप्तमी-समर्थ 'आकर्ष' आदि प्रातिपदिकों से 'कुशल' अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—आकर्षकः (खींचने में उत्तम—आकर्षे कुशलः)—आकर्ष + कन् (= क) । रेफरहित 'आकष' पाठ होने पर आकषकः (कसौटी पर सोना आदि परखने में निपुण—आकषे कुशलः)—आकष + कन् (= क) । 'शकुनिकः' इत्यादि की सिद्धि के लिये 'कन्' की सार्थकता है । अन्यथा 'आकर्ष' शब्द से 'वुन्' प्रत्यय करने पर उक्त रूप पूर्व सूत्र से सिद्ध ही रहा ।

(१८६५) पद—धनहिरण्यात्, कामे । अनुवृत्ति—कन्, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र से 'कन्' तथा "तत्र कुशलः पथः" (५-२-६३) से 'तत्र' अनुवर्तमान हैं । अतः "सप्तमी-समर्थ 'धन' और 'हिरण्य' प्रातिपदिकों से 'इच्छा' (= काम) अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—धनकः देवदत्तस्य (देवदत्त की धन की इच्छा—धने कामः)—धन + कन् (= क) ।

(१८६६) पद—स्वाङ्गेभ्यः, प्रसिते । अनुवृत्ति—कन्, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

(१८६७) उदराट्ठगाद्यूने ५ । २ । ६७ ।। अविजिगीषौ ठक् स्यात्कनोऽपवादः । बुभुक्षयात्यन्तपीडित उदरे प्रसितः—औदरिकः । आद्यूने किम् ? उदरकः । उदरपरिमार्जनादौ प्रसक्त इत्यर्थः । **(१८६८) सस्येन परिजातः ५ । २ । ६८ ।।** कन् स्वर्यते न तु ठक् । सस्यशब्दो गुणवाची न तु धान्यवाची । शस्येन इति पाठान्तरम् । सस्येन गुणेन परिजातः

(१८६७) उदराट्ठगाद्यूने । अत्र प्रसित इत्यनुवर्तते । सप्तम्यन्तादुदरशब्दात् आद्यूने प्रसिद्धेऽर्थे ठगित्यर्थं इत्यभिप्रेत्य आद्यूनशब्दं विवृण्वन्नाह—अविजिगीषाविति । 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इत्यविजिगीषायामेव दिवो निष्ठानत्वविधानादिति भावः । बुभुक्षयेति । क्षुधा पीडित एव सन् उदरपरिमार्जने प्रसितः, न तु मल्लवद्युद्धविजिगीषयेत्यर्थः । उदरक इति । मल्ल इति शेषः । स हि युद्धे विजिगीषया उदरपरिमार्जनादौ उत्सुको भवति । तदाह—उदरपरिमार्जनादौ प्रसक्त इति । विजिगीषयेति शेषः ।

(१८६८) सस्येन परिजातः । तृतीयान्तात् सस्यशब्दात्परिजात इत्यर्थे कन् स्यादित्यर्थः । सन्निहितष्ठगेव कुतो नानुवर्तत इत्यत आह—कन् स्वर्यते न तु ठगिति । स्वरितत्वप्रतिज्ञायां तु पाणिनीयपरम्परैव प्रमाणम् । सस्यशब्दो गुणवाचीति व्याख्यानमेवात्र

मूलार्थ एवं विवरण—विषय एवम् समर्थ-विभक्ति आदि का सातत्य पूर्ववत् है । उनके साथ सूत्र की एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि "सप्तमी-समर्थ स्वाङ्गवाची प्रातिपदिकों से 'तत्पर' (प्रसित) अर्थ में 'कन्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण**—केशकः (बालों को सँवारने में लीन—केशेषु प्रसितः)—केश+कन् (=क) ।

(१८६७) पद—उदरात्, ठक्, आद्यूने । **अनुवृत्ति**—प्रसिते, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अविजिगीषा में 'ठक्' हो । 'कन्' का अपवाद है । उदा० क्षुधापीडित होता हुआ पेट को सहलाना अर्थ में—औदरिकः । 'आद्यूने' क्यों कहा ? उदरकः (विजिगीषा अपेक्षित होने से 'कन्' हुआ) ।

विवरण—'प्रसक्त' अर्थ में 'उदर' शब्द से विशेष विधान बतलाया जा रहा है । तदनुसार "सप्तमी-समर्थ 'उदर' प्रातिप्रदिक से 'आद्यून' वाच्य हो तो 'प्रसक्त' अर्थ में 'ठक्' (=इक) प्रत्यय होता है" । जो सदा खाने (आदिः एव ऊनम् अस्य) की इच्छा करता है, उसे 'आद्यून' (पेटू) कहते हैं । इस सूत्र में 'ठक्' कहा है, अतः 'कन्' की अनुवृत्ति नहीं होगी । **उदाहरण**—**औदरिकः** (जो भूख से पीड़ित हो हमेशा पेट सहलाता रहे—उदरे प्रसितः)—उदर्+ठक् (ठ=इक) । आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—'अविजिगीषा' के अतिरिक्त अर्थात् विजिगीषा वाच्य होने पर (पहलवानी में जीतने की इच्छा से) पेट मसलने में 'कन्' प्रत्यय होकर **उदरकः** रूप निष्पन्न होगा । आद्यून शब्द की व्युत्पत्ति—आ√दिव्+क्त > आ—√दि·ऊ+त ('व्'=ऊठ्) > दि·ऊ+न > द्यून (यण्) । ("दिवोऽविजिगीषायाम्" ८-२-४९ सूत्र से अविजिगीषा अर्थ में ही 'निष्ठा' (=क्त) नत्व विहित है । अतः 'आद्यून' शब्द का अर्थ अविजिगीषा कहा गया है ।

(१८६८) पद—सस्येन, परिजातः । **अनुवृत्ति**—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'स्वरित' के अनुसार 'कन्' की अनुवृत्ति है, 'ठक्' की नहीं । (यहाँ) 'सस्य' शब्द गुणवाची है, धान्यवाची नहीं । 'शस्येन' ('स्तुत्य' अर्थक) पाठान्तर भी है । उदा० सस्येन (=गुणेन) परिजातः (सम्बद्धः)—सस्यकः—साधुः ।

विवरण—स्वरितत्व प्रतिज्ञा के अनुसार "आकर्षादिभ्यः कन्" (५-२-६४) से 'कन्' की

=सम्बद्धः सस्यकः साधुः । (१८६९) अंशं हारी ५।२।६९ ॥ हारी इत्यावश्यके णिनिः । अत एव तद्योगे षष्ठी न । अंशको दायादः । (१८७०) तन्त्रादचिरापहृते ५।२।७० ॥ तन्त्रकः पटः । प्रत्यग्र इत्यर्थः । (१८७१) ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् ५ । २ । ७१ ॥

शरणम् । शस्येनेतीति । 'शंसु स्तुतौ' इति धातौ कर्मणि यति शस्यशब्दः स्तुत्यपर्यायः । स्तुत्यश्च गुण एवेति भावः । परिजात इत्यस्य विवरणम् सम्बद्ध इति ।

(१८६९) अंशं हारी । द्वितीयान्तात् अंशशब्दात् हारीत्यर्थे कन् स्यादित्यर्थः । ननु कृद्योगषष्ठीप्रसङ्गादंशमिति कथं द्वितीयेत्यत आह—आवश्यके णिनिरिति । 'आवश्यकाधमर्ण्ययोः' इत्यनेनेति शेषः । षष्ठी नेति । 'अकेनोः' इति तन्निषेधादिति भावः ।

(१८७०) तन्त्रादचिरापहृते । तन्त्रशब्दात् पञ्चम्यन्तात् अचिरापहृतेऽर्थे कनित्यर्थः । तन्त्रं तन्तुवायशलाका । अचिरेण कालेन अपहृतः अचिरापहृतः । 'कालाः परिमाणिना' इति समासः । प्रत्यग्र इति । नूतन इत्यर्थः ।

अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "तृतीया-समर्थ 'सस्य' प्रातिपदिक से 'सब ओर से उत्पन्न' (परिजात) अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है"। प्रकृत सन्दर्भ में प्राचीन वृत्तिकारों ने 'सस्य' शब्द को धान्यवाची नहीं माना है, किन्तु 'गुण'-वाची माना है। 'परि' का अर्थ है सर्वतः। अर्थात् गुणों से भरपूर, जिसमें किसी प्रकार की कमी न हो—वह (सज्जन) सस्यकः साधुः कहलायेगा। विग्रह—सस्येन परिजातः→सस्य+कन् (=क)।

विशेष—'सस्येन' निर्देश से यहाँ 'तृतीया' समर्थ-विभक्ति का ग्रहण है।

(१८६९) पद—'अंशं', हारी। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'आवश्यक' अर्थ में 'णिनि'-प्रत्ययान्त 'हारी' शब्द है। अतः उसके योग में षष्ठी नहीं हुई। उदा० अंशकः—अर्थात् दायादः।

विवरण—यहाँ भी सूत्र में 'अंशम्' निर्देश से ही द्वितीया-समर्थ-विभक्ति ली गई है। पूर्ववत् 'कन्' अनुवर्तमान है। अतः "द्वितीया-समर्थ प्रातिपदिक से 'हरण करने वाला' (हारी) अर्थ में 'कन्' (=क) प्रत्यय होता है"। उदाहरण—अंशकः दायादः (परम्पराप्राप्त धन के भाग को प्राप्त करने वाला—अंशं हारी)—अंश+कन् (=क)।

विशेष—'हारी' शब्द 'णिनि'—प्रत्ययान्त है, अतः 'कृदन्त' प्रत्यय के योग में "कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-६५) से षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति होने पर भी "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" (२-३-७०) से उसका निषेध होने के कारण कृद्योग द्वितीया विभक्ति (अंशम्) हुई है।

(१८७०) पद—तन्त्रात्, अचिरापहृते। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—यहाँ भी 'तन्त्रात्' निर्देश से 'पञ्चमी' विभक्ति का ग्रहण है। अतः "पञ्चमी-समर्थ 'तन्त्र' प्रातिपदिक से 'करघे से तत्काल निकला हुआ' (अचिरापहृत) अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण –तन्त्रकः पटः (जुलाहे द्वारा बुनकर थोड़ी देर पहले करघे से अलग कर तैयार किया गया वस्त्र—तन्त्रात् अचिरापहृतः)। तन्त्र+कन् (=क)। बुनने के करघे को 'तन्त्र' कहते हैं।

विशेष—'अचिरापहृत' शब्द के उपर्युक्त अर्थ में उसकी समास-प्रक्रिया सहायक होती है। तदनुसार उसका विग्रह है—अचिरेण कालेन अपहृतः। एवं उसका समास-विधायक सूत्र है—"कालाः परिमाणिना" (२-२-५)।

आयुधजीविनो ब्राह्मणाः यस्मिन्देशे सः ब्राह्मणकः। अल्पमन्नं यस्यां सा—उष्णिका-यवागूः। अल्पान्नशब्दस्योष्णादेशो निपात्यते। (१८७२) शीतोष्णाभ्यां कारिणि ५।२।७२॥ शीतं करोतीति शीतकोऽलसः। उष्णं करोतीत्युष्णकः शीघ्रकारी। (१८७३) अधिकम् ५।२।७३॥ अध्यारूढशब्दात्कनुत्तरपदलोपश्च। (१८७४) अनुकाभिकाभीकः

(१८७१) ब्राह्मणकोष्णिके। आयुधजीविविषयब्राह्मणशब्दात् प्रथमान्तात् अस्मिन्नित्यर्थे कन् निपात्यत इत्यर्थः। अल्पान्नशब्दस्येति। अल्पान्नशब्दात् प्रथमान्तात् अस्मिन्नित्यर्थे कन्प्रत्ययः प्रकृतेरुष्णादेशश्च निपात्यत इत्यर्थः।

(१८७२) शीतोष्णाभ्यां कारिणि। शीतमिव शीतं मन्दमित्यर्थः। उष्णमिव उष्णम् शीघ्रमित्यर्थः। आभ्यां क्रियाविशेषणाभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां कन् स्यादित्यर्थः। यः आशु कर्तव्यानर्थान् चिरेण करोति सः शीतक उच्यते, यस्तु अनाशु कर्तव्यान् आश्वेव करोति सः उष्णक उच्यत इति भाष्ये। सञ्ज्ञायामित्यनुवृत्तेरयमर्थो लभ्यत इति कैयटः। तदाह—शीतकोऽलस इति। उष्णकः शीघ्रकारीति च।

(१८७३) अधिकम्। अध्यारूढशब्दादिति। व्युत्पादनमात्रमिदम्। शुद्धरूढ एवायमिति बोध्यम्।

(१८७१) पद—ब्राह्मणकोष्णिके, संज्ञायाम्। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—'कन्' प्रत्यय का ही विषय है। विशेष परिस्थिति-वश दो शब्द निपातन किये जा रहे हैं। अतः सूत्र का यह अर्थ होगा कि "संज्ञाविषय में 'ब्राह्मणक' और 'उष्णिक' शब्द निपातन किये जाते हैं"। ये दोनों शब्द अर्थ-विशेष में ही निपातित हैं। **उदाहरण**—(१) ब्राह्मणकः (शस्त्रजीवी ब्राह्मणों का निवास स्थान—ब्राह्मणकः देशः)—ब्राह्मण+कन् (=क)। (२) उष्णिका यवागूः (जिसमें थोड़ा अन्न हो—अर्थात् जलांश अधिक वाली उस लप्सी का नाम—उष्णिका यवागूः)—अल्पान्न+कन् (=क) > उष्ण+क ('अल्पान्न' शब्द को निपातन से 'उष्ण' आदेश) > उष्णक्+टाप् (आ) > उष्णिका ('क' से पूर्व 'अ'-कार को 'इ'कार आदेश)। विभक्ति कार्य।

(१८७२) पद—शीतोष्णाभ्याम्, कारिणि। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'शीत' तथा 'उष्ण' शब्द क्रिया (=करोति) के विशेषण हैं। क्रिया-विशेषण में द्वितीया विभक्ति होती है। अतः यहाँ द्वितीया समर्थ-विभक्ति मानी जाती है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "द्वितीया-समर्थ क्रियाविशेषणवाची 'शीत' तथा 'उष्ण' प्रातिपदिकों से 'काम करना' (कारिणि) वाच्य होने पर 'कन्' (=क) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) शीतकः (आलसी—शीतं करोति)—शीत+कन् (=क)। विभक्तिकार्य। जाड़े में शीत के कारण आलस्य रहता है, अतः आलसी की 'शीतक' संज्ञा है। (२) उष्णकः शीघ्रकारी (फुर्तीला—उष्णं करोति)—उष्ण+कन् (=क)। शीघ्र कार्य करने वाले की 'उष्णक' संज्ञा है। गर्मी में काम करने में फुर्ती होती है।

(१८७३) पद—अधिकम्। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"'अधिकम्'—यह निपातन किया जाता है"। 'अध्यारूढ' शब्द में उत्तरपद अर्थात् 'आरूढ' शब्द का लोप तथा 'कन्' प्रत्यय निपातन से किये जाते हैं। **उदाहरण**—अधिकम् (अधिक—अध्यारूढम्)—अध्यारूढ+कन् (=क) > अधिकम् ('अधि+आरूढ' में 'आरूढ' का लोप)। यह शब्द रूढ है। ० ० ०

कमिता ५ । २ । ७४ ॥ अन्वभिभ्यां कन्, अभेः पाक्षिको दीर्घश्च । अनु कामयते अनुकः । अभि कामयते←अभिकः—अभीकः । **(१८७५) पार्श्वेनान्विच्छति ५ । २ । ७५ ॥** अनृजुरुपायः पार्श्वम्, तेनान्विच्छति पार्श्वकः । **(१८७६) अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ ५ । २ । ७६ ॥** तीक्ष्णोपायोऽयःशूलं, तेनान्विच्छति—आयःशूलिकः साहसिकः ।

(१८७४) अनुकाभिक । अनुक, अभिक, अभीक एषां समाहारद्वन्द्वः । सौत्रं पुंस्त्वम् ।

(१८७५) पार्श्वेनान्विच्छति । तृतीयान्तात्पार्श्वशब्दात् अन्विच्छतीत्यर्थे संज्ञायां कन् स्यादित्यर्थः । अन्वेषणं मार्गणम् । पार्श्वमिव पार्श्वम् । अनृजुरुपायः । ऋजूपायेन अन्वेष्टव्यान् अर्थान् यः अनृजुना उपायेनान्विच्छति सः पार्श्वक इति भाष्यम् । तदाह—अनृजुरित्यादि ।

(१८७६) अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ । अयःशूल, दण्डाजिन आभ्यां तृतीयान्ताभ्यां अन्विच्छतीत्यर्थे संज्ञायां ठक्ठञौ स्त इत्यर्थः । अयःशूलमिव अयःशूलम् । साहसमित्यर्थः । यो मृदुनोपायेन अन्वेष्टव्यानर्थान् तीक्ष्णोपायेनान्विच्छति सः आयःशूलिक

विशेष—'अधिक' शब्द सापेक्ष है, अधिक के लिये उससे अल्प होना आवश्यक है। जैसे 'शतादधिकम्' कहने पर एक सौ एक, एक सौ दो आदि का बोध होता है, क्योंकि तदपेक्षया 'एक सौ' उससे अल्प है ।

(१८७४) पद—अनुकाभिकाभीकः, कमिता । **अनुवृत्ति**—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'इच्छा करने वाला' अर्थ में तीन शब्दों का निपातन है (अनुकश्च अभिकश्च, अभीकश्च—अनुकाभिकाभीकः—समाहार द्वन्द्व, सौत्रत्वात् पुंस्त्व) । ये तीन शब्द हैं—**'अनुक'**, **'अभिक'** तथा **'अभीक'** । निपातन में प्रकृति एवं प्रत्यय की कल्पना इस प्रकार है—(१) **अनुकः** (कामना करने वाला—अनु कामयते)—'अनु' उपसर्ग से निपातन द्वारा कन् (=क) प्रत्यय होता है। (२) **अभिकः** (कामुक अथवा क्रूर—अभि कामयते)—'अभि' उपसर्ग से निपातन द्वारा 'कन्' (=क) प्रत्यय । (३) **अभीकः** (कामुक अथवा क्रूर—अभि कामयते)—पक्ष में 'अभि' उपसर्ग को दीर्घ होगा । शेष प्रक्रिया 'अभिकः' के समान है ।

(१८७५) पद—पार्श्वेन, अन्विच्छति । **अनुवृत्ति**—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'कन्' का ही विषय है। अतः "तृतीया-समर्थ 'पार्श्व' प्रातिपदिक से 'चाहता है'—अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है" । सूत्रस्थ 'पार्श्वेन' निर्देश ही तृतीया समर्थ-विभक्ति का सूचक है। 'पार्श्व' का अर्थ है—'कुटिल उपाय' । **उदाहरण**—कुटिल उपायों से द्रव्योपार्जन करने वाला—**पार्श्वकः** (पार्श्व+कन् =क) । **विग्रह**—पार्श्वेन अन्विच्छति ।

विशेष—'पार्श्व' शब्द का 'अनृजु' अर्थ गौण है। यहाँ पर मुख्यार्थ में अनभिधान होने के कारण उससे प्रत्यय नहीं होता, किन्तु अमुख्यार्थ से ही होता है ।

(१८७६) पद—अयःशूलदण्डाजिनाभ्याम्, ठक्-ठञौ । **अनुवृत्ति**—अन्विच्छति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'अन्विच्छति' अर्थ पूर्व सूत्र (५-२-७५) से अनुवर्तमान है। तथा उद्देश्यवाची एवं विधेयवाची दो-दो पद सूत्र में निर्दिष्ट हैं। तदनुसार "तृतीया-समर्थ 'अयःशूल' तथा 'दण्डाजिन' प्रातिपदिकों से 'अन्विच्छति' अर्थ में 'ठक्' तथा 'ठञ्' प्रत्यय होते हैं" । 'ठक्' और 'ठञ्' में केवल स्वर का ही भेद है। 'अयःशूल' शब्द यहाँ 'तीक्ष्ण उपाय' अर्थ (लक्षणा द्वारा)

दण्डाजिनं दम्भः, तेनान्विच्छति—दाण्डाजिनिकः। (१८७७) तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा ५।२।७७॥ कन् स्यात्पूरणप्रत्ययस्य च लुग्वा। द्वितीयकं-द्विकं वा ग्रहणं देवदत्तस्य। द्वितीयेन रूपेण ग्रहणमित्यर्थः। 'तावतिथेन गृह्णातीति कन्वक्तव्यो नित्यं च लुक्' (वा ३१७२)। षष्ठेन रूपेण गृह्णाति-षट्को देवदत्तः। पञ्चकः। (१८७८) स

इति भाष्यम्। तदाह—तीक्ष्णोपाय इत्यादि। दण्डाजिनं दम्भ इति। दम्भार्थत्वाद्दण्डाजिनशब्दो दम्भे लाक्षणिक इति भावः।

(१८७७) तावतिथम्। तावतां पूरणं तावतिथमिति। पूरणप्रत्ययान्तानां सामान्यनिर्देशः। तृतीयार्थे प्रथमा। ग्रहणमिति भावे ल्युडन्तम्। तथा च तृतीयान्तात्पूरणप्रत्ययान्तात् ग्रहणमित्यर्थे कन् स्यात्पूरणप्रत्ययस्य च लुग्वेत्यर्थ इत्यभिप्रेत्याह--कन् स्यादित्यादि। पूरणप्रत्ययान्तस्य तु प्रकृतिभूतस्य न लुक्। किन्तु पूरणप्रत्ययमात्रस्य, षष्ठेन गृह्णाति षट्क इति भाष्योदाहरणात्। द्वितीयेन रूपेणेति। अनेन तृतीयैव समर्थविभक्तिरिति सूचितम्। इतिना लोकानुसारित्वं गम्यते। एवं च ग्रन्थविषयकमेव ग्रहणमिह फलति। तेन द्वितीयं ग्रहणं देवदत्तेन दण्डस्येत्यादौ न भवति। तावतिथेनेति। ग्रहणेऽर्थे विहितं ग्रहीतरि न प्राप्नोतीत्यारम्भः। षट्को देवदत्त इति। भाष्ये एवमेवोदाहृतत्वात् पूरणप्रत्ययस्यैव लुगिति गम्यते, न तु तदन्तस्य।

का बोधक है (अयःशूलम् इव अयःशूलम्)। इसी प्रकार 'दण्डाजिन' शब्द भी दम्भ का सूचक है। तदनुसार दोनों उदाहरण दिये जारहे हैं—(१) आयःशूलिकः (साहसिक—अयःशूलेन अन्विच्छति)—अयःशूल्+ठक् या ठञ्, ठ=इक। (२) दाण्डाजिनकः (दाम्भिक—दण्डाजिनेन अन्विच्छति)—दण्डाजिन+ठक् या ठञ्। अर्थात् 'दण्ड' और 'मृगचर्म' (अजिन) धारण कर ब्रह्मचारि-वेष को धोखा देने वाला व्यक्ति।

(१८७७) पद—तावतिथं, ग्रहणम्, इति, लुक्, वा। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'कन्' हो तथा पूरण प्रत्यय का विकल्प से 'लुक्' हो। उदा० द्वितीयकं द्विकं वा ग्रहणं देवदत्तस्य। अर्थात् दूसरी बार ग्रहणकर्ता—यह अर्थ है। वा० पूरणार्थक से 'कन्' प्रत्यय होता है, एवम् उसका नित्य 'लुक्' होता है। उदा० १-षष्ठेन रूपेण गृह्णाति—षट्कः देवदत्तः। २-पञ्चकः।

विवरण—'तृतीयार्थ' में प्रयुक्त प्रथमान्त 'तावतिथ' शब्द पूरणप्रत्ययान्त का निर्देशक है—तावतां पूरणम्—तावतिथम्। 'ग्रहणम्' पद ग्रहण अर्थ में प्रयुक्त है—'गृह्णाति' इति ग्रहणम्—(भावे ल्युट्)। तदनुसार "तृतीया-समर्थ पूरण-प्रत्ययान्त प्रातिपादक से 'ग्रहण करना' अर्थ में स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है तथा पूरण-प्रत्यय का विकल्प से 'लुक्' हो"। 'उतने का पूरा करने वाला' अर्थ 'पूरण' प्रत्यय से ही विदित होता हैं—तावतां पूरणम्। अतः 'तावतिथ' शब्द से 'पूरण-प्रत्ययान्त' का बोध होता है। इस सूत्र में 'पूरण-प्रत्ययान्त' इस प्रकार स्पष्ट निर्देश न कर 'तावतिथम्' शब्द का प्रयोग सामान्य निर्देश के रूप में किया गया है। तथापि उसका अर्थ पूरण-प्रत्ययान्त ही लिया जाता है। पाणिनि ने इस प्रकार का निर्देश "तस्यापत्यम्" सूत्र में 'तस्य' पद का प्रयोग कर सामान्य षष्ठी (तस्य) से षष्ठयन्त का ग्रहण कराया है। उदाहरण—(क) द्विकम् देवदत्तस्य (दूसरी बार सुनकर ग्रन्थ को ग्रहण करना-द्वितीयेन गृह्णाति)—द्वि+तीय्+क (कन्) ←'कन्' एवं तीय प्रत्यय का लुक्। (ख) 'कन्' का 'लुक्' न होने पर यथापूर्व→द्वितीयकम्।

सूत्र में ग्रन्थविषयक 'ग्रहण' ही मान्य है। इस सन्दर्भ में एक वार्तिक का उल्लेख किया जा रहा है, जिसके अनुसार "तृतीयान्त पूरणार्थक से 'गृह्णाति' (ग्रहीता) अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है

एषां ग्रामणीः ५।२।७८॥ देवदत्तो मुख्य: एषां—देवदत्तकाः। त्वत्काः। मत्काः। (१८७९) शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे ५।२।७९॥ शृङ्खलकः करभः। (१८८०) उत्क उन्मनाः ६।२।८०॥ उद्गतमनस्कवृत्तेरुच्छब्दात्स्वार्थे कन्। उत्कः=उत्कण्ठितः।

(१८७८) स एषां ग्रामणीः। ग्रामणीविशेषवाचकात् शब्दात्प्रथमान्तात् अस्येत्यर्थे कन् स्यादित्यर्थः। देवदत्तो मुख्यः एषामिति। एतेन ग्रामणीशब्दो मुख्यपर्याय इति सूचितम्। 'ग्रामणीर्नापिते पुंसि श्रेष्ठे ग्रामाधिपे त्रिषु' इत्यमरः। त्वत्काः मत्काः इति। त्वमहं वा मुख्य एषामिति विग्रहः। प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति त्वमौ।

(१८७९) शृङ्खलमस्य। करभ इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। बन्धनमिति करणे ल्युट्। अस्य करभस्य शृङ्खलं बन्धनमिति विग्रहे बन्धनविशेषणात् शृङ्खलशब्दात् प्रथमान्तात् अस्य करभस्येत्यर्थे कन् स्यादित्यर्थः। शृङ्खलकः करभ इति। शृङ्खलेन बद्ध इति यावत्। करभः बाल उष्ट्रः।

(१८८०) उत्क उन्मनाः। उद्गतमनस्कवृत्तेरिति। उत्कण्ठितवृत्तेरित्यर्थः।

एवं पूरणार्थक प्रत्यय का नित्य 'लुक्' होता है"। उदाहरण—(१) षट्कः देवदत्तः (देवदत्त की छठी बार ज्ञान की प्राप्ति—षष्ठेन गृह्णाति)—षष्+थु्—डट्+कन् ('डट्' का लुक् एवं उसके सहयोगी 'थुक्' आगम की भी निवृत्ति तथा 'कन्'=क प्रत्यय। (२) इसी प्रकार पञ्चकः में भी 'डट्' प्रत्यय का लोप एवं 'मट्' आगम की निवृत्ति तथा 'कन्' प्रत्यय होता है। अर्थ—पाँचवीं बार ज्ञान की प्राप्ति। सूत्र द्वारा 'ग्रहण' अर्थ में विहित होने से 'ग्रहीता' के विषय में अप्राप्ति है, अतः वार्तिक का आरम्भ सार्थक है।

(१८७८) पद—सः, एषाम्, ग्रामणीः। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्र में 'ग्रामणी' पद मुख्यार्थक है। 'सः' पद समर्थ-विभक्ति का सूचक है। 'कन्' अनुवर्तमान है। अतः "प्रथमा-समर्थ, यदि वह 'ग्रामणी' हो, तो उस प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—(१) देवदत्तकाः (देवदत्त इन ग्रामवासियों का मुखिया है)—देवदत्त+कन् (=क)। (२) त्वत्काः (इनके मुखिया तुम हो—त्वम् एषां ग्रामणीः)—युष्मद्+कन् > त्व-अद्+क (युष्म्=त्व—"प्रत्ययोत्तरपदयोश्च") > त्वद्+क (पररूप) > त्वत्कः (चर्त्व)। तथा (३) मत्काः (इनका मुखिया मैं हूँ—अहम् एषां ग्रामणीः)। प्रक्रिया 'त्वत्काः' के समान जानें।

(१८७९) पद—शृङ्खलम्, अस्य, बन्धनं, करभे। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ सप्तम्यन्त 'करभे' पद षष्ठ्यर्थ में प्रयुक्त है। 'बन्धनम्'—'करण' अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्ययान्त है। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "प्रथमा-समर्थ 'शृङ्खल' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा-समर्थ 'बन्धन' बन रहा हो तथा जो 'षष्ठी' से निर्दिष्ट हो वह 'करभ' हो"। 'करभ' शब्द का अर्थ है—ऊँट (या हाथी) का बच्चा। उनके पैरों में 'जंजीर' का बन्धन लगा दिया जाता है, जिससे वे कहीं दूर न जा सकें—उसे 'शृङ्खल' कहते हैं। उदाहरण—शृङ्खलकः (शृङ्खलम् अस्य बन्धनम्)—शृङ्खल+कन् (=क)।

(१८८०) पद—उत्कः, उन्मनाः। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—'उत्क' शब्द 'उन्मन' अर्थ में निपातन किया जाता है। 'उत्' से

(१८८१) कालप्रयोजनाद्रोगे ५ । २ । ८१ ॥ कालवचनात्प्रयोजनवचनाच्च कन् स्याद्रोगे । द्वितीयेऽह्नि भवो द्वितीयको ज्वरः । प्रयोजनं=कारणं रोगस्य फलं वा । विषपुष्पैर्जनितो विषपुष्पकः । उष्णं कार्यमस्य उष्णकः । रोगे किम् ? द्वितीयो दिवसोऽस्य ।
(१८८२) तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम् ५।२।८२ ॥ प्रथमान्तात्सप्तम्यर्थे कन्स्याद्यत्प्रथमान्तमन्नं चेत्प्रायविषयं तत् । गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां←गुडापूपिका पौर्णमासी ।

(१८८१) कालप्रयोजनाद्रोगे । कालप्रयोजन अनयोः समाहारद्वन्द्वः । तदाह—कालवचनात् प्रयोजनवचनाच्चेति । यथोचितविभक्त्यन्तादिति शेषः । कालशब्देनात्र कालवृत्तिः पूरणप्रत्ययान्तो द्वितीयादिशब्द एव गृह्यते, न तु मासादिशब्दः, व्याख्यानात् । तदाह—द्वितीयेऽह्नीति । प्रयुज्यतेऽनेनेति करणे ल्युटि प्रयोजनं साधनम् । कर्मणि ल्युटि तु फलम् । तदाह—प्रयोजनं कारणं रोगस्य फलं चेति ।

(१८८२) तदस्मिन्नन्नम् । प्रथमान्तादन्नवाचकात् अस्मिन्नित्यर्थे कन् स्यात्

'कन्' का निपातन है । जिसका मन उदास हो अथवा विक्षिप्त हो उसे 'उन्मनाः' कहा जायेगा । **उदाहरण**—'उत्कः' का सामान्य अर्थ है 'उदास मनवाला' अथवा 'उत्सुक'—उन्मनाः । उत्+क (कन्) ।

(१८८१) पद—कालप्रयोजनात्, रोगे । **अनुवृत्ति**—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—रोग अर्थ में कालवाचक शब्द से तथा प्रयोजनवाचक शब्द से 'कन्' प्रत्यय होता है । उदा० द्वितीये अहनि भवः—द्वितीयकः ज्वरः । कारण को अथवा रोगादि के फल को प्रयोजन कहते हैं । उदा० १-विषपुष्पैः जनितः—विषपुष्पकः । २-उष्णं कार्यम् अस्य—उष्णकः । 'रोगे' क्यों कहा ? द्वितीयः दिवसः अस्य ('कन्' नहीं हुआ) ।

विवरण—"कालवाची तथा प्रयोजनवाची प्रातिपदिकों से 'रोग' अभिधेय होने पर 'कन्' प्रत्यय होता है" । इस सूत्र में सामर्थ्य-वश जहाँ पर जो विभक्ति उचित हो, वहाँ उसी समर्थ विभक्ति की योजना की जाय । इस प्रकार कालवाचियों से सप्तमी समर्थ-विभक्ति की योजना एवं प्रयोजनवाचियों से तृतीया विभक्ति की योजना होगी । **उदाहरण**—(अ) कालवाचियों से (१) क—**द्वितीयकः** (प्रतिदिन उतरकर दूसरे दिन होने वाला ज्वर—द्वितीयेऽह्नि भवः)—द्वितीय+कन् (=क) । (ख) **तृतीयकः** (तीसरे दिन होने वाला ज्वर—तृतीयेऽह्नि भवः)—तृतीय+कन् (=क) । (ग) **चतुर्थकः** (चौथिया ज्वर—चतुर्थेऽह्नि भवः)—चतुर्थ+कन् । (२) प्रयोजन वाचियों से—(क) **विषपुष्पकः** ज्वरः (मैनफल के कारण उत्पन्न हुआ ज्वर—विषपुष्पैः जनितः) —विषपुष्प+कन् । (ख) **काशपुष्पकः** (सरकण्डों के फूल के स्पर्शादि से उत्पन्न हुआ ज्वर-काशपुष्पैः जनितः)—काशपुष्प+कन् । (ग) **उष्णकः** (जिस ज्वर की परिणति गर्मी में हो—उष्णं कार्यम् अस्य)—उष्ण+कन् । (घ) **शीतकः** (जाड़ा देने वाला ज्वर—शीतं कार्यम् अस्य)—शीत+कन् (=क) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'रोगे' पद का निवेश होने से जहाँ रोगरूप अर्थ की प्रतीति नहीं होगी वहाँ कन् प्रत्यय नहीं होता । जैसे **द्वितीयः दिवसः अस्य**—इसका दूसरा दिन है—इस वाक्य में रोग का निर्देश न होने से कन् नहीं हुआ ।

(१८८२) पद—तत्, अस्मिन्, अन्नम्, प्राये, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"प्रथमा-समर्थ (तत्) प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में (अस्मिन्) 'कन्' प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा-समर्थ अधिकतर (प्राये) संज्ञाविषय में (संज्ञायाम्) अन्न

'वटकेभ्य इनिर्वाच्यः' (वा ३१७५)। वटकिनी। (१८८३) कुल्माषादञ् ४। २। ३८॥ कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषी। (१८८४) श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ५। २। ८४॥ श्रोत्रियः। वा इत्यनुवृत्तेश्छान्दसः। (१८८५) श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ

अन्नस्य बाहुल्ये गम्ये सञ्ज्ञायामित्यर्थः। वटकेभ्य इति। संज्ञायामित्येव। वटकिनीति। वटकाः प्रायेण अन्नमस्यां पौर्णमास्यामिति विग्रहः।

(१८८३) कुल्माषादञ्। कनोऽपवादः। 'स्याद्यवकस्तु कुल्माषः चणको हरिमन्थकः' इत्यमरः।

(१८८४) श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते। द्वितीयान्ताच्छन्दश्शब्दात् अधीते इत्यर्थे घन्, प्रकृतेः श्रोत्रादेशश्च निपात्यते। अध्येत्रणोपवादः। वेत्यनुवृत्तेरिति। 'तावतिथम्' इति सूत्रान्मण्डूकप्लुत्येति शेषः। ततश्च घनभावे अध्येत्रणिति भावः। वाग्रहणाननुवृत्तौ तु घना अध्येत्रणो बाधः स्यादिति बोध्यम्।

(१८८५) श्राद्धमनेन। प्रथमान्तात् श्राद्धशब्दात् भुक्तमनेनेत्यर्थे इनिठनौ एतौ स्त इत्यर्थः। श्राद्धसाधनद्रव्ये श्राद्धशब्दो लाक्षणिकः। इनिप्रत्यये नकारादिकार उच्चारणार्थः।

(अन्नम्) विषयक हो"। **उदाहरण**—गुडापूपिका पौर्णमासी (जिस पूर्णिमा में अधिके गुडयुक्त अपूप-अन्न भक्ष्य हो—गुडापूपाः प्रायेण अन्नम् अस्यां पौर्णमास्याम्)—गुडापूप+कन् (=क)▷ गुडापूपिका ('टाप्' एवं 'क' से पूर्व 'अ' =इ)।

वार्तिक—इस सन्दर्भ में प्रथमान्त 'वटक' प्रातिपदिक से उक्त अर्थ में 'इनि' (=इन्) प्रत्यय होता है"। यह 'कन्' का अपवाद है। **उदाहरण—वटकिनी** (जिस दिन का मुख्य भोजन 'बड़ा' हो—वटकाः प्रायेण अन्नम् अस्यां पौर्णमास्याम्)—वटक+इनि (=इन्)+ङीप् (=ई)।

(१८८३) पद—कुल्माषात्, अञ्। **अनुवृत्ति**—तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है। अतः "प्रथमा-समर्थ 'कुल्माष' प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा-समर्थ अधिकतर संज्ञाविषय में अन्नबोधक हो"। पूर्व सूत्र से 'कन्' की प्राप्ति में 'अञ्' विधान है। **उदाहरण—कौल्माषी** पौर्णमासी (कुलत्थप्रधान भक्ष्य-युत पौर्णमासी—कुल्माषाः प्रायेण अन्नम् अस्याम्)—कुल्माष्+अञ् (=अ)>कौल्माष (आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप) ▷ कौल्माषी (ङीप्)।

(१८८४) पद—श्रोत्रियन्, छन्दः, अधीते। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—""वेद को पढ़ता हैं'—इस अर्थ में 'श्रोत्रियन्'—यह शब्द निपातन किया जाता है"। 'श्रोत्रियन्' में 'न'कार "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६-१-१९१) से आद्युदात्त करने के लिए है। निपातन में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना बतलाई जा रही है। वह इस प्रकार है—'छन्दस्' (के स्थान में) श्रोत्र् (आदेश)+घन् प्रत्यय (=घ इय तथा अन्त्यवर्ण-लोप)। **उदाहरण—श्रोत्रियः**। अर्थ—वेदाध्ययन-कर्ता—छन्दः अधीते।

विशेष—यदि निपातन-वश 'घन्' प्रत्यय 'अण्' का बाधक होता तो **छान्दसः** रूप कैसे सिद्ध होता ? यहाँ पर "तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा" (५-२-७७) से 'वा' की अनुवृत्ति भी की जाती है। जिसके फलस्वरूप पक्ष में 'छन्दस्' शब्द से 'अण्' प्रत्यय भी हो जायगा। इस प्रकार यह 'घन्' प्रत्यय विकल्प से 'अण्' का बाधक है।

(१८८५) पद—श्राद्धम्, अनेन, भुक्तम्, इनि-ठनौ। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

५ । २ । ८५ ॥ श्राद्धी । श्राद्धिकः । (१८८६) पूर्वादिनिः ५ । २ । ८६ ॥ पूर्वं कृतमनेन-पूर्वी । (१८८७) सपूर्वाच्च ५ । २ । ८७ ॥ कृतपूर्वी कटम् । (१८८८)

(१८८६) पूर्वादिनिः । अनेनेति कर्तृतृतीयान्तमनुवर्तते । कां क्रियां प्रति कर्तेत्याकाङ्क्षायां भुक्तं पीतमित्यादि यत्किञ्चित्क्रियापदमध्याहार्यम् । उपस्थितत्वात् क्तार्थभूतं क्रियासामान्यमेव प्रतीयते । ततश्च पूर्वं कृतमनेनेति विग्रहे कृतमित्यादिक्रियाविशेषणात्पूर्वशब्दात् अनेनेत्यर्थे इनिः स्यादित्यर्थः ।

(१८८७) सपूर्वाच्च । विद्यमानपूर्वादपि पूर्वशब्दादुक्तविषये इनिः स्यादित्यर्थः । पूर्वान्तादिति यावत् । प्रातिपदिकविशेषणत्वेऽपि प्रत्ययविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधादप्राप्ते सूत्रमिदम् । कृतपूर्वी कटमिति । अत्र यद्वक्तव्यं तत्कर्तृकर्मणोः कृतीत्यत्रोक्तम् ।

मूलार्थ एवं विवरण—प्राकरणिक एवं आधिकारिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। सूत्र के साथ उनकी एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि "प्रथमा-समर्थ 'भुक्त' क्रिया के समानाधिकरण-वाची 'श्राद्ध' प्रातिपदिक से 'इसके द्वारा' (अनेन) अर्थ में 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(क) **श्राद्धी**→इनि प्रत्यय होने पर (श्राद्ध्+इन्=श्राद्धिन्, ततः विभक्तिकार्य) (ख) **श्राद्धिकः**←'ठन्' होने पर (श्राद्ध्+इक)। **अर्थ**—श्राद्धभोजी—श्राद्धं भुक्तम् अनेन ।

विशेष—श्रद्धा-पूर्वक पितरों के उद्देश्य से किया हुआ विधान (कर्म) 'श्राद्ध' है। इस प्रकार मुख्य श्राद्ध-कर्म का तो भोजन सम्भव नहीं हो सकता, अतः श्राद्ध के साधनरूप पदार्थ में गौणी-वृत्ति का आश्रयण लेकर 'श्राद्ध' शब्द से प्रत्यय-विधान माना जाता है। तदनुसार श्राद्ध के निमित्त अन्नादि भोजन करने वाला **श्राद्धी** या **श्राद्धिकः** कहलायेगा ।

(१८८६) **पद**—पूर्वात्, इनिः । **अनुवृत्ति**—अनेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—प्रत्ययार्थ के बोधक 'अनेन' पद की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र ("श्राद्धमनेन भुक्तमिनि-ठनौ" ५-२-८५) से आ रही है। तदनुसार प्रथमा-समर्थ 'पूर्व' प्रातिपदिक से 'इसने' (अनेन) अर्थ में 'इनि' (इन्) प्रत्यय होता है"। क्रिया के अभाव में कर्ता की स्थिति न होने से क्रिया—'कृतम् आदि'—का अध्याहार करके ही यह 'प्रत्यय' सम्भव होगा। **उदाहरण**—**पूर्वी** (इसने पहले कर लिया है—पूर्वं कृतम् अनेन)—पूर्व्+इनि (=इन्)। अन्त्यवर्ण लोप। प्रथमा-विभक्ति एकवचन। यहाँ पर पूर्व शब्द क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

(१८८७) **पद**—सपूर्वात्, च। **अनुवृत्ति**—पूर्वात्, इनिः, अनेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये समग्र पूर्व सूत्र "पूर्वादिनिः" (५-२-८६) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'सपूर्व' का अर्थ है—जिसके पहले कुछ हो' (विद्यमानं पूर्वं यस्मात्—सपूर्वम्)। तदनुसार सूत्र का यह आशय होगा कि ""पूर्व' शब्द के पहले किसी शब्द के रहने पर प्रथमा-समर्थ पूर्वशब्दान्त से भी 'इनि' (=इन्) प्रत्यय होता है"। पूर्व सूत्र द्वारा केवल 'पूर्व' शब्द से 'इनि' प्रत्यय प्राप्त रहा, यहाँ तदन्त से भी 'इनि' हो जाय—अतः सूत्र की उपयोगिता है। इस सम्बन्ध में यह शङ्का उपस्थित होती है कि जब तदन्तविधि द्वारा 'पूर्व' शब्द से (पूर्व सूत्र से ही) 'इनि' प्रत्यय सम्भव था तो पुनः सपूर्वक पूर्वशब्द के लिये दूसरे सूत्र की क्या आवश्यकता है? अतः यह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'ग्रहणवान् प्रातिपदिक को विशेषण बनाकर तदन्तविधि नहीं होती है—"ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति" (परिभाषा)। इस प्रकार "पूर्वादिनिः" (५-२-८६) सूत्र में जब केवल 'पूर्व' शब्द का ग्रहण किया

इष्टादिभ्यश्च ५ । २ । ८८ ॥ इष्टमनेन इष्टी । अधीती । (१८८९) **छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि ५ । २ । ८९ ॥** लोके तु परिपन्थिशब्दो न न्याय्यः ।

(१८८८) इष्टादिभ्यश्च । इष्टादिभ्यः तृतीयान्तेभ्यः अनेनेत्यर्थे इनिः स्यादित्यर्थः ।

(१८८९) छन्दसि परिपन्थि । परिपन्थिन्, परिपरिन् एतौ शब्दौ छन्दसि निपात्येते पर्यवस्थातरि वाच्ये । पर्यवस्थातृशब्दादिनिप्रत्यये अवस्थातृशब्दस्य पन्थादेशे परिपन्थिन् शब्दः । पर्यवस्थातृशब्दादिनिप्रत्यये अवस्थातृशब्दस्य पर इत्यादेशे परिपरिन्शब्दः । 'मा त्वा विदन्परिपन्थिनः, मा त्वा परिपरिणो विदन्' इति श्रुतौ उदाहरणम् । इदं सूत्रं वैदिकप्रक्रियायामेव व्याख्यातुमुचितम् ।

गया है तो तदन्तविधि के निषेध होने से शब्दान्तरयुक्तपूर्व शब्द का ग्रहण नहीं हो—सकता । अतः "सपूर्वादिनिः" (५-२-८७) की सार्थकता सिद्ध होती है । पुनः शङ्का की जाती है कि "पूर्वादिनिः" तथा "सपूर्वाच्च"—इन दो सूत्रों के स्थान पर "पूर्वात्सपूर्वादिनिः"—यह एक ही सूत्र पढ़ा जाना चाहिये था । ऐसा करने से 'कृतपूर्वी' में 'कृत'-सहित 'पूर्व' शब्द से 'इन्' प्रत्यय तथा केवल 'पूर्व' शब्द से 'व्यपदेशिवद्भाव' का आश्रय लेकर सपूर्वक मानते हुए 'इन्' प्रत्यय सिद्ध हो सकता है । ऐसी स्थिति में पृथक् दो सूत्र व्यर्थ हैं । अतः यह ज्ञापित होता है कि "अन्तादिपद-घटित प्रातिपदिक को अभिलक्षित कर जो कार्य विहित है वह व्यपदेशिवद्भाव से केवल प्रातिपदिक में नहीं होता है—**व्यपदेशिवद्भावः अप्रातिपदिकेन** (परिभाषा) । अतः एक सूत्र करने पर कार्य-निर्वाह नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि दो सूत्र बनाना अनावश्यक नहीं है, अपि तु इस लिये सार्थक है कि जब "सपूर्वाच्च" यह योग पृथक् रहता है तो "इष्टादिभ्यश्च" (५-२-८८) इस अग्रिम सूत्र में इसकी अनुवृत्ति जाती है, जिससे "सपूर्वक 'इष्ट' शब्द"—अर्थात् 'अनिष्ट' शब्द से 'इन्' प्रत्यय होकर 'अनिष्टी' प्रयोग बन सके । इस प्रकार पृथक्-योगकरण जब व्यर्थ नहीं है तो इस परिभाषा की ज्ञापकता कैसी ? इस प्रकार शङ्का के समाधान में भाष्यकार का कथन ही प्रमाण माना गया है । **भाष्यकार** ने पृथक् योग-करण को व्यर्थ मान कर इस परिभाषा का ज्ञापन कराया है । इस भाष्यप्रामाण्य से 'अनिष्टी' इत्यादि प्रयोगों का अनभिधान ही माना जाता है । अथवा एकयोग रहने पर भी स्वरितत्व प्रतिज्ञा के आधार पर केवल 'सपूर्वात्' अंश की उत्तरत्र अनुवृत्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती थी । इस प्रकार भी व्यर्थता स्पष्ट है । अतः उसके द्वारा भी परिभाषा का ज्ञापन युक्ति-संगत माना गया है ।

(१८८८) **पद**—इष्टादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—इनिः, अनेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—विधेयांश (इनिः) की अनुवृत्ति का लाभ "पूर्वादिनिः" (५-२-८६) से होता है । "श्राद्धमनेन भुक्तमिनि-ठनौ" (५-२-८५) सूत्र से प्रत्ययार्थ-बोधक 'अनेन' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "प्रथमासमर्थ इष्टादि प्रातिपदिकों (इष्टादिभ्यः) से 'अनेन'—इस अर्थ में 'इनि' (= इन्) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **इष्टी** (जिसने यज्ञ किया—इष्टम् अनेन)—इष्ट्+इनि (= इन्) 'इष्टिन्' शब्द के प्रथमा एकवचन का रूप इष्टी । (२) **अधीती** (जिसने अध्ययन किया—अधीतम् अनेन)—अधीत्+इनि (= इन्) ।

(१८८९) **पद**—छन्दसि, [परिपन्थि-परिपरिणौ, [पर्यवस्थातरि] । **अनुवृत्ति**—इनिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—प्रसङ्गवश अनुवृत्ति का अनुसरण विदित करानेहेतु इस सूत्र से निपातित वैदिक उदाहरणों का निदर्शन कराया जा रहा है । वे दो शब्द हैं—(१) परिपन्थिन् और

(१८९०) अनुपद्यन्वेष्टा ५ । २ । ९० ॥ अनुपदमन्वेष्टा गवामनुपदी । (१८९१) साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम् ५ । २ । ९१ ॥ साक्षाद् द्रष्टा साक्षी । (१८९२) क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः ५ । २ । ९२ ॥ क्षेत्रियो व्याधिः । शरीरान्तरे चिकित्स्यः । अप्रति-

---

(१८९०) अनुपद्यन्वेष्टा । पदस्य पश्चादनुपदम् । पश्चादर्थे अव्ययीभावः । सप्तम्या अम्भावः । अनुपदमित्यस्मात् अन्वेष्टरि अर्थे इनिप्रत्ययो निपात्यते ।

(१८९१) साक्षाद्द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम् । साक्षादित्यव्ययम्, इह शब्दस्वरूपपरं लुप्त पञ्चमीकम् । साक्षादित्यव्ययात् द्रष्टर्यर्थे इनिः स्यादित्यर्थः । साक्षीति । यः कर्मणि स्वयं न व्याप्रियते, किन्तु कर्म क्रियमाणं पश्यति सोऽयं साक्षीत्युच्यते । साक्षादित्यव्ययादिनि-प्रत्ययः 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः ।

(१८९२) क्षेत्रियच् । परम्=अन्यत् क्षेत्रं=शरीरम्-परक्षेत्रम् । चिकित्स्यः प्रती-कार्यः, 'कितेर्व्याधिप्रतीकारे' इत्युक्तेः । परक्षेत्रशब्दात् सप्तम्यन्तात् चिकित्स्य इत्यर्थे घच्,

---

(२) परिपरिन् । यह निपातन पर्यवस्थाता अर्थ वाच्य होने पर होगा । सम्पन्न एवं बलवान् प्रतिपक्षी (शत्रु) को पर्यवस्थाता कहते हैं । परन्तु यहाँ पर 'मार्ग का अवरोधक', 'लुटेरा' आदि अर्थ विवक्षित हैं । निपातन का स्वरूप—'परिपन्थिन्' शब्द से+'इनि' (=इन्) प्रत्यय तथा प्रकृतिगत 'इन्' भाग के लोप का निपातन है । इसी प्रकार (२) 'परिपरिन्' में 'परि' शब्द से+इनि (=इन्) प्रत्यय तथा 'परि' शब्द को द्वित्व (परि-परि+इन्) एवं इकार मात्र का लोप-निपातन है । वैदिक मन्त्रों का प्रतीक—(१) मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (तुझे शत्रु मार्ग रोक कर न मिलें । (२) मा त्वा परिपरिणो विदन् (तुझे सब ओर से घेरने वाले लुटेरे न मिलें) ।

विशेष—यह सूत्र वैदिकी प्रक्रिया में निविष्ट किया जाता तो अधिक अच्छा होता ।

(१८९०) **पद**—अनुपदी, अन्वेष्टा । **अनुवृत्ति**—इनिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'इनि' का ही विषय है । "'अन्वेष्टा'—अर्थात् पीछे जाने वाला—इस अर्थ में 'अनुपदी' शब्द निपातन किया जाता है" । 'अनुपद' शब्द से 'इनि' (=इन्) प्रत्यय निपातन कर 'अनुपदी' शब्द बनता है । **उदाहरण**—अनुपदी गवाम् (गायों के पीछे चलने वाला चरवाहा—अनुपदम् अन्वेष्टा । 'अनुपद' शब्द पश्चात् अर्थ में अव्ययीभाव समास होकर निष्पन्न हुआ है—पदस्य पश्चात् ।

(१८९१) **पद**—साक्षात्, द्रष्टरि, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—इनिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'इनि' का ही सातत्य है । सूत्रस्थ 'साक्षात्' पद अव्यय है, किन्तु यहाँ पर अर्थवश लुप्तपञ्चमी-विभक्तिक है । इसके अतिरिक्त शब्द-स्वरूप का ग्राहक भी है । तदनुसार "'साक्षात्' अव्यय से यदि द्रष्टा वाच्य हो (द्रष्टरि) तो संज्ञा गम्यमान होने पर 'इनि' (=इन्) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—साक्षी (प्रत्यक्ष द्रष्टा, गवाह—साक्षात् द्रष्टा)—साक्षात्+इनि (=इन्) > साक्षिन् ('टि'-भाग—'आत्' का लोप—'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' वा०) ▷ साक्षी । पुंलिङ्ग में प्रथमा-विभक्ति एकवचन का रूप ।

विशेष—साक्षात् द्रष्टा तीन होते हैं—(१) दाता, (२) ग्रहीता तथा (३) उपद्रष्टा । 'संज्ञा' गम्यमान होने से यहाँ पर 'उपद्रष्टा' ही साक्षी पद से अभीष्ट है ।

(१८९२) **पद**—क्षेत्रियच्, परक्षेत्रे, चिकित्स्यः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

कार्यं इत्यर्थः। (१८९३) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रदत्तमिति वा ५।२।९३॥ इन्द्र आत्मा, तस्य लिङ्गं, करणेन कर्तुरनुमानात्। इति-

---

परशब्दस्य लोपश्च निपात्यते। शरीरान्तरे इति। भाविनि शरीरे चिकित्स्यः, न तु वर्तमाने शरीरे इत्यर्थः। फलितमाह—**अप्रतिकार्यं इति।**

(१८९३) **इन्द्रियम्।** इन्द्रलिङ्गमित्याद्यर्थेषु इन्द्रियमिति भवति। इन्द्रशब्दात् यथायोगं षष्ठीतृतीयान्तात् लिङ्गमित्याद्यर्थेषु घच् निपात्यत इति यावत्। इन्द्र आत्मेति। 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमिति। तस्मादिन्द्रो नामेन्द्रो ह वै नाम तमिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' इति श्रुतेरिति भावः। **तस्य लिङ्गमिति।** आत्मनोऽनुमापकमित्यर्थः। लिङ्गत्वमुपपादयति—**करणेनेति।** चक्षुरादीन्द्रियं किञ्चित्कर्त्रधिष्ठितं भवितुमर्हति, करणत्वात्, घटकरणदण्डादिवदित्यनुमानादित्यर्थः। मम चक्षुरित्येवमिन्द्रेण दृष्टं ज्ञातमिन्द्रियम्। इन्द्रेण सृष्टमिन्द्रियम्। इन्द्रेण जुष्टं सेवितं प्रीणितं वा इन्द्रियम्। रूढ-

---

मूलार्थ—'क्षेत्रिय' व्याधि है। 'शरीरान्तर में चिकित्सा करने योग्य'—उसका अर्थ है। अर्थात् (यह रोग) असाध्य है।

विवरण—पुनः निपातन का ही विषय है। 'परक्षेत्र' का अर्थ है दूसरा शरीर—अन्यत् शरीरम्। तदनुसार "दूसरे शरीर में चिकित्सा करने योग्य अर्थ में **परक्षेत्र** शब्द से 'घच्' (=इय) प्रत्यय तथा 'पर' शब्द का लोप करने पर **क्षेत्रिय** (च्) यह शब्द निपातन किया जाता है। **उदाहरण—क्षेत्रियः** व्याधिः (दूसरे शरीर में ठीक होने वाली अर्थात् मरणान्त रहने वाली व्याधि—परक्षेत्रे चिकित्स्यः)। पुर्क्षेत्र+घच् (= इय)>क्षेत्र+इय ('पर' का लोप) >क्षेत्रियः ('अ' लोप तथा विभक्ति-कार्य)।

विशेष—'क्षेत्रिय' शब्द का प्रयोग अनेकत्र मिलता है। जैसे—(क) **क्षेत्रियं** विषम्—अर्थात् अपरिहार्य विष। (ख) **क्षेत्रियाणि** तृणानि—अर्थात् पास में उगी हुई खेती के लिये विनाशक घास-पात। (ग) **क्षेत्रियः** परदारिकः—अर्थात् उपपति से उत्पन्न सन्तति।

(१८९३) **पद**—इन्द्रियम्, इन्द्रलिङ्गम्, इन्द्रसृष्टम्, इन्द्रजुष्टम्, इन्द्रदत्तम्, इति, वा। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'इन्द्र' का अर्थ आत्मा है। उसका चिह्न (= अनुमापक इन्द्रिय है)। करण से कर्ता का अनुमान हुआ है। 'इति' शब्द प्रकारार्थक है। उदा० इन्द्रेण दुर्जयम्—इन्द्रियम्।

विवरण—'इन्द्रिय' शब्द की निष्पत्ति का प्रकार बतलाया जा रहा है, वह भी निपातन के द्वारा। सूत्रोक्त अनेक अर्थों को अभिलक्षित कर इन्द्रिय शब्द निपातन किया गया है। वे अर्थ इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रलिङ्गम्, (२) इन्द्रदृष्टम्, (३) इन्द्रजुष्टम्, (४) इन्द्रसृष्टम् तथा (५) इन्द्रदत्तम्। इन अर्थों में से 'लिङ्ग' अर्थ में षष्ठी-समर्थ 'इन्द्र' शब्द से तथा अन्य अर्थों में तृतीया-समर्थ 'इन्द्र' शब्द से 'घच्' (= इय) प्रत्यय निपातन किया जाता है"। उक्त सूत्रस्थ प्रकृतिवाची 'इन्द्र' शब्द जीवात्मा का बोधक है तथा **लिङ्ग** पद उसके चिह्न का बोधक है। इस प्रकार आत्मा के परिमापक को 'इन्द्रिय' कहा गया है। अतः यहाँ 'करण' से 'कर्ता' का अनुमान किया गया है। अनुमान का स्वरूप यह होगा—'यद्यत् करणं तत् तत् कर्तृ-सापेक्षम्, अचेतनत्वात्, यथा कुठारादिः'। प्रकृत-सूत्रस्थ 'वा' पद से यह सूचित होता है कि यहाँ 'इन्द्रदृष्ट', 'इन्द्रलिङ्ग' इत्यादि सब अर्थों में प्रकारान्तर से 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। इस तरह 'वा' शब्द 'अथवा' के अर्थ में यहाँ लिया गया है। इसके अतिरिक्त सूत्रस्थ 'इति' शब्द ने 'इन्द्रिय' शब्द के अर्थ के विस्तार करने में यह स्वतन्त्रता दे दी है कि निर्दिष्ट अर्थों के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी यथासम्भव 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति की जा

करणं प्रकारार्थम् । इन्द्रेण दुर्जयमिन्द्रियम् । (१८९४) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ५ । २ । ९४ ॥ गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति गोमान् ।

'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥' (वा ३१८३) ।

(१८९५) रसादिभ्यश्च ५ । २ । ९५ ॥ मतुप् । रसवान् । रूपवान् । अन्यमत्वर्थीयनिवृत्त्यर्थं वचनम् । रस, रूप, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, शब्द, स्नेह, भाव । 'गुणात्'

शब्दोऽयं कथञ्चिद् व्युत्पादितः । इन्द्रेण दुर्जयमिन्द्रियमिति साधयितुमाह—इतिकरणमिति । इतिशब्द इत्यर्थः ।

(१८९४) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । तदस्यास्तीति तदस्मिन्नस्तीति विग्रहे अस्तिसमानाधिकरणात्प्रथमान्तात् अस्य अस्मिन्निति चार्थे मतुप् स्यादित्यर्थः । उपात्तौ । इति शब्दो विषयविशेषलाभार्थः । तदाह—भूमनिन्देति । श्लोकवार्तिकमिदम् । भूमा बहुत्वम् । यथा गोमान्, यवमान् । निन्दायां ककुदावर्तिनी कन्या । प्रशंसायां रूपवान् । नित्ययोगे क्षीरिणो वृक्षाः । अतिशायने उदरिणी कन्या । संसर्गे दण्डी, छत्री । वृत्तिनियामकः संसर्गविशेषो विवक्षितः । तेन पुरुषी दण्ड इति नास्ति ।

(१८९५) रसादिभ्यश्च । मतुबिति । शेषपूरणमिदम् । उक्तविषये इति शेषः । पूर्वेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अन्यमत्वर्थीयेति । 'अत इनिठनौ' इत्यादि-

---

सकती है । अतः 'इन्द्रेण दुर्जयम्' इत्यादि अर्थों में भी 'इन्द्रिय' शब्द निष्पन्न किया जा सकेगा । सूत्रस्थ **उदाहरण—इन्द्रियम्** इन्द्र+घच् (घ=इय) । **अर्थ**—(१) आत्मा का अनुमापक बाह्य चिह्न—इन्द्रस्य लिङ्गम् । (२) आत्मा से अनुभूत—इन्द्रेण दृष्टम् । (३) आत्मा से रचित—इन्द्रेण सृष्टम् । (४) आत्मा से सेवित—इन्द्रेण जुष्टम् । (५) आत्मा ने इन्द्रियों को अपने विषयों का भोग प्रदान किया—इन्द्रेण दत्तम् । लोक में 'इन्द्रिय' शब्द 'चक्षु' आदि अर्थों में रूढ है ।

(१८९४) पद—तत्, अस्य, अस्ति, अस्मिन्, इति, मतुप् । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । केवल आधिकारिक अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं । अतः "प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक (तत्) से 'इसका यह है' (अस्य अस्ति) अथवा 'इसमें यह है' (अस्मिन् अस्ति)—अर्थों में 'मतुप्' (=मत्) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—गोमान्** (जिसके पास गाय या बैल हों—गावः अस्य अस्मिन् वा सन्ति)—गो+मतुप् (=मत्) । पुंलिङ्ग प्रथमा एक वचन का रूप ।

इस प्रकरण के प्रत्ययों के सम्बन्ध में एक **श्लोक-वार्तिक** दिया जा रहा है । जिसके अनुसार "बहुत्व (भूमा), गर्हा (निन्दा), स्तुति (प्रशंसा), सर्वदा सम्बद्ध (नित्य योग), आधिक्य (अतिशय) की विवक्षा में तथा सम्बन्ध (संसर्ग) एवम् अस्ति-विवक्षा में मतुबर्थीय प्रत्यय होते हैं" ।

विशेष—उक्त वार्तिक के **उदाहरण** इस प्रकार हैं—(१) भूमा अर्थ में धनवान् । (२) **निन्दा अर्थ**—सङ्घादकी (दन्तविशेष वाली) । (३) **प्रशंसा**—रूपवान् । (४) **नित्ययोग**—क्षीरी वृक्षः (५) **अतिशय**—उदरिणी कन्या । (६) **सम्बन्धी**—दण्डी । (७) **अस्ति-विवक्षा**—अस्तिमान् । यहाँ पर 'अस्ति'—यह विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय है । अतः 'सत्ता' अर्थ में मतुप् प्रत्यय हुआ है ।

(१८९५) पद—रसादिभ्यः, च । अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र के (५-२-९४) अर्थ का विषय है । अतः "प्रथमासमर्थ

(ग० सू० ११२)। 'एकाचः' (ग० सू० ११३)। स्ववान्। गुणग्रहणं रसादीनां विशेषणम्। (१८९६) तसौ मत्वर्थे १।४।१३९॥ तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। 'वसोः सम्प्रसारणम्' (सू ४३५)। विदुष्मान्। 'गुणवचनेभ्यो मतुपो

निवृत्त्यर्थमित्यर्थः। रसादीन् पठति—रसरूपेत्यादि भावेत्यन्तम्। गुणादिति। एकाच इति। गणसूत्रम्। उदाहरति—स्ववानिति। गुणग्रहणमिति। गुणादित्येतत् रसादीनां षण्णां विशेषणमित्यर्थः। तेन गुणवाचकानामेव एषां ग्रहणात् जलादिवाचकानां रसादिशब्दानां द्रव्यवाचिनां च गन्धादिशब्दानाम् इह न ग्रहणमिति भावः। 'रसिको नटः, स्पर्शिकं वारी' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् इदं सूत्रं भाष्ये प्रत्याख्यातम्। ननु विद्वच्छब्दान्मतुपि यजादिस्वादिपरकत्वाभावेन मत्वाभावात् 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति कथं सम्प्रसारणमित्यत आह—

(१८९६) तसौ मत्वर्थे। मत्वर्थप्रत्ययाक्षिप्तप्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिमभिप्रेत्याह—तान्तसान्ताविति। तकारसकारान्तावित्यर्थः। गुणवचनेभ्य इति। वार्तिक-

---

रसादि प्रातिपदिकों से भी 'तदस्य' अथवा 'तदस्मिन्' अर्थ में 'मतुप्' (= मत्) प्रत्यय होता है"। पूर्व सूत्र से रसादि शब्दों से भी 'मतुप्' प्रत्यय सिद्ध रहा, पुनः यह वचन "अत इनि-ठनौ" (५-२-११५) आदि से प्राप्त 'इनि' तथा 'ठन्' प्रत्ययों को बाध कर 'मतुप्'-विधायक है। अर्थात् इन्द्रिय-ग्राह्य रसादि से 'मतुप्' प्रत्यय ही हो, अन्य नहीं। **उदाहरण**—(१) **रसवान्** (रस वाला—रसः अस्य अस्मिन् वा अस्ति)—रस+मतुप् (= मत्) > रसवत् (म् = व्—"मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" (८-२-९) >रसवान् (प्रथमा विभक्ति एकवचन)। (२) **रूपवान्** (सुन्दर—रूपम् अस्य अस्ति अस्मिन् वा)—रूप+मतुप्। प्रक्रिया पूर्ववत्। रसादि गण के शब्द—रस, रूप, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, शब्द, स्नेह तथा भाव।

गणसूत्र—(१) रसादि शब्दों के सम्बन्ध में यह नियमन किया जा रहा है कि **गुणवाचक** रसादि शब्दों से ही 'मतुप्' प्रत्यय हो। अन्यत्र न हो। अर्थात् रसादि वाच्य अर्थ में गुणरूप अर्थ विशेषण होकर वहाँ विद्यमान रहेगा। (२) दूसरे **गणसूत्र** द्वारा केवल **एक स्वरवर्ण-युक्त** शब्द से भी पूर्व निर्दिष्ट अर्थ में '**मतुप्**' प्रत्यय का विधान होने के विषय में बतलाया गया है। तदनुसार **स्ववान्** (धनी—स्वम् अस्य अस्मिन् वा अस्ति)—स्व+मतुप् (= मत्)। प्रक्रिया पूर्ववत्।

(१८९६) पद—तसौ, मत्वर्थे। **अनुवृत्ति**—भम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—मत्वर्थक प्रत्यय परत्र रहते 'तकारान्त' तथा 'सकारान्त' की भ-संज्ञा होती है। 'वसोः सम्प्रसारणम्' (से सम्प्रसारण)। उदा० विदुष्मान्। वा० गुणवाचकों से 'मतुप् का 'लुक्' होता है। उदा० १-शुक्लः गुणः अस्य अस्ति—शुक्लः पटः। २-कृष्णः।

विवरण—यह प्रासङ्गिक संज्ञा सूत्र है। सूत्र में संज्ञा-वाचक 'भम्' पद "यचि भम्" (१-४-१८) सूत्र से अनुवर्तमान है। **संज्ञिवाचक** पद 'तसौ' है। तदनुसार "तकारान्त और सकारान्त शब्दों की 'मत्वर्थ'-प्रत्ययों के पर रहते 'भ'-संज्ञा होती है"। तदनुसार **उदाहरण**—**विदुष्मान्** (विद्वान वाला—विद्वान् अस्य अस्मिन् वा अस्ति) में विद्वस्+मत् (= मतुप् होने पर)>विद्-उ-अस्+मत् (दकारोत्तरवर्ति 'व्' के स्थान पर सम्प्रसारण 'उ'—"वसोः सम्प्रसारणम्" ६-४-१३१) ▷ विदुस्+मत् ('उ+अ' = उ-पूर्वरूप-"सम्प्रसारणाच्च" ६-१-१०८ होने पर) ▷ विदुष्मत् (स् = ष् हुआ, प्रथमा एकवचन में) विदुष्मान् निष्पन्न होता है।

प्रकृत सन्दर्भ में एक वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अनुसार **गुणवाचक** एवं **गुणी** (द्रव्य) के रूप में प्रसिद्ध '**शुक्ल**' आदि शब्दों से परवर्ती 'मतुप्' प्रत्यय के '**लुक्**' (=लोप) होने का निर्देश दिया गया है। तदनुसार (१) **शुक्लः पटः**—सफेद कपड़ा—शुक्लः गुणः अस्य

लुगिष्टः' (वा ३१८५)। शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति—शुक्लः पटः। कृष्णः। (१८९७) **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९॥** मवर्णावर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः स्यात्। किंवान्। ज्ञानवान्। विद्यावान्। लक्ष्मीवान्।

मिदम्। गुणे गुणवति च ये प्रसिद्धाः शुक्लादिशब्दाः त एव गृह्यन्ते, न तु रूपादिशब्दा अपि। तेन रूपं वस्त्रमित्यादि न भवति। अत्र यद्वक्तव्यं तदध्वरमीमांसाकौतूहले अरुणाधिकरणे प्रपञ्चितमस्माभिः।

(१८९७) मादुपधायाश्च। मात् उपधायाश्चेति च्छेदः। मादित्यावर्तते। म् च अश्चेति समाहारद्वन्द्वात्पञ्चम्येकवचनम्। मतुष्प्रत्ययाक्षिप्तप्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः। मवर्णान्तादवर्णान्तात्प्रातिपदिकात्परस्य मतोः मस्य वः स्यादित्येकोऽर्थः। मादित्युपधाविशेषणम्। मकारात्मिका अकारात्मिका च या उपधा ततः परस्य मतोर्मस्य वः स्यादित्यन्योऽर्थः। फलितमाह—मवर्णेत्यादिना। मान्तादुदाहरति—किंवानिति। किमस्यास्मिन्वास्तीति विग्रहः। एवमग्रेऽपि। अकारान्तादुदाहरति—ज्ञानवानिति। अत्र तपरकरणाभावादाकारस्यापि ग्रहणमिति मत्वाह—विद्यावानिति। मोपधादुदाहरति—

अस्ति—अर्थ में 'मतुप्' का लोप हुआ है (शुक्ल+मतुप्)। इसी प्रकार (२) कृष्णः (काला कपड़ा—कृष्णः गुणः अस्य अस्ति) में भी समझा जाय।

विशेष—'शुक्लः' में गुण-बोधक शुक्ल शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय का लोप होने पर भी—'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी'—इस न्याय के अनुसार—शुक्ल-गुणाश्रय-रूप अर्थ का बोध होता ही है। अतः इस प्रकार के प्रयोगों में वैयाकरण सिद्धान्त के अनुसार लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वहाँ पर 'शुक्लः' पद शुक्ल-गुण (सफेदी) से युक्त पट (= द्रव्य) का बोध कराता है। अतः ऐसे उदाहरणों में नैयायिकों द्वारा स्वीकृत लक्षणा स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। नैयायिक लोग गुणवाचक शुक्लादि शब्दों की गुणी अर्थात् द्रव्य में लक्षणा मानते हैं। वस्तुतः 'शुक्लगुणाश्रयाभिन्नः पटः' इस प्रकार एकार्थबोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य की उपपत्ति 'शक्ति' से ही हो जाती है।

(१८९७) **पद**—मात्, उपधायाः, च, मतोः, वः, अयवादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—पदस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—यवादिगण से भिन्न मवर्णान्त एवम् अवर्णान्त तथा मकारोपधक एवम् अकारोपधक शब्दों से पर 'मतुप्' के 'म'कार को 'व'कार आदेश होता है। उदा० १—किम्वान्, २—ज्ञानवान्, ३—विद्यावान्, ४—लक्ष्मीवान्, ५—यशस्वान्, ६—भास्वान्। यवादि (शब्दों) से—यवमान्, भूमिमान् ('व्' नहीं हुआ)।

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है। अष्टमाध्यायस्थ "पदस्य" (८-१-१६) अधिकार के अन्तर्गत होने से 'पदस्य' की अनुवृत्ति प्रभावी है। तदनुसार "मकारान्त एवम् अवर्णान्त (मश्च अश्च-मम्, तस्मात् = मात्) तथा 'म'कार एवम् 'अ'वर्ण उपधावाले (उपधायाः) प्रातिपदिक से उत्तरवर्ती 'मतुप्' प्रत्यय-सम्बन्धी 'म'कार के स्थान में 'व'कार आदेश होता है, किन्तु यवादि शब्दों के उत्तर 'म्' को 'व्' नहीं होता (अयवादिभ्यः)"। प्रकृत सूत्र में 'मात्' को सामर्थ्यवश 'उपधायाः' का विशेषण भी माना गया है। तथा वह स्वतन्त्र रूप से तदन्तविधि द्वारा 'म'कारान्त एवम् 'अ'वर्णान्त—का भी बोधक है। इसके साथ ही "तस्मादित्युत्तरस्य" (१-१-६६) तथा "आदेः परस्य" (१-१-५३) के नियमानुसार 'मतुप्' के 'म'कार के स्थान में ही 'व'कार होगा। यहाँ अब पूर्व सूत्रोक्त (सू० १८९६) उदाहरणों का प्रदर्शन किया जा रहा है—(१) मकारान्त—**किंवान्** (कुछ रखने वाला—किम् अस्य अस्ति)—किम्+मत् (मतुप्) > किम्-वत् (म्=व्) > किम्वत् > किंवान् (अनुस्वार, प्रथमा विभक्ति एकवचन)। (२) अकारान्त—**ज्ञानवान्**

यशस्वान् । भास्वान् । यवादेस्तु-यवमान्, भूमिमान् । (१८९८) झयः ८ । २ । १० ॥ झयन्तान्मतोर्मस्य वः स्यात् । अपदान्तत्वान्न जश्त्वम् । विद्युत्वान् । (१८९९) संज्ञायाम् ८ । २ । ११ ॥ मतोर्मस्य वः स्यात् । अहीवती । मुनीवती । शरादित्वात्

लक्ष्मीवानिति । अदुपधादुदाहरति—यशस्वानिति । 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वान्न रुत्वम् । आकारोपधादुदाहरति—भास्वानिति ।

(१८९८) अथ विद्युत्वान् इत्यत्र मकाराकारान्तत्वाभावान्मकाराकारोपधत्वाभावाच्च मादुपधाया इति वत्वाप्राप्तावाह—झयः । अपदान्तत्वादिति । 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वेन पदत्वबाधादिति भावः ।

(१८९९) संज्ञायाम् । अहीवतीत्यादि नदीविशेषस्य नगरीविशेषस्य वा सञ्ज्ञा । शरादित्वादिति । 'शरादीनां च' इति दीर्घ इत्यर्थः ।

(ज्ञान वाला—ज्ञानम् अस्य अस्ति)—ज्ञान+मत् । 'म्' के स्थान पर 'व्' आदेश होने के पश्चात् विभक्ति-कार्य-ज्ञानवान् । (३) 'अ'वर्ण से 'आ' का भी ग्रहण होता है, अतः—विद्यावान् (विद्वान्—विद्या अस्य अस्मिन् वा अस्ति)—विद्या+मतुप् । शेष कार्य पूर्ववत् । (४) 'म'-कारोपध-लक्ष्मीवान् (धनवान्—लक्ष्मीः अस्य अस्ति)—लक्ष्मी+मतुप् । (५) अवर्णोपधक—यशस्वान् (यशस्वी—यशः अस्य अस्ति)—यशस्+मतुप् (=मत्) । 'म्' के स्थान पर 'व्' । सकारान्त होने के फलस्वरूप 'पद' संज्ञा के अभाव में 'रुत्व' नहीं हुआ । (६) भास्वान् (कान्तिमान्—भाः अस्य अस्ति) । शेष कार्य पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अयवादि' का निवेश होने के फलस्वरूप (१) **यवमान्** (जिसके पास यव हों—यवाः सन्ति अस्य) तथा **भूमिमान्** (जमींदार—भूमिः अस्य अस्ति)—में 'म्' के स्थान पर 'व्' नहीं होता, क्योंकि ये शब्द यवादि-गण में पठित हैं ।

(१८९८) पद—झयः । अनुवृत्ति—मतोः वः, पदस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—झयन्त से पर 'मतुप्' के 'म्' को 'व्' हो । पदान्त न होने से जश्त्व नहीं हुआ—विद्युत्वान् ।

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है । पूर्व सूत्र (८-२-९) से **स्थानिवाचक** अंश 'मतोः' तथा **आदेशवाचक** पद 'वः' अनुवर्तमान हैं । अतः सूत्र का यह अर्थ होगा कि ""झय्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों से परवर्ती 'मतुप्' सम्बन्धी 'म'कार के स्थान में 'व'कार आदेश होता है" । **उदाहरण**—**विद्युत्वान्** (बिजलीवाला—विद्युत् अस्य अस्ति)—विद्युत्+मत् > विद्युत्+वत् ('म्'=व्) > विद्युत्वान् (तकारान्त होने से "तसौ मत्वर्थे" १-४-१९ से 'भ'-संज्ञा होने के फलस्वरूप पदसंज्ञा नहीं होती, अतः "झलां जशोऽन्ते" ८-२-३९ से—त्=द्—जश्त्व नहीं हुआ) ।

(१८९९) पद—संज्ञायाम् । अनुवृत्ति—मतोर्वः, पदस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'मतुप्' के 'म्' को 'व्' हो । उदा० अहीवती । मुनीवती । "शरादीनां च" से दीर्घ ।

विवरण—पूर्ववत् प्रासङ्गिक सूत्र ही है । अतः 'मतोः वः' अंश अनुवर्तमान है । उसका सूत्र के साथ समन्वय होने पर यह विदित होता है कि "संज्ञा-विषय में 'मतुप्' के 'म्' को 'व्' आदेश हो" । उदाहरण—(१) **अहीवती** (साँपों वाली नदी विशेष—अहयः अस्य सन्ति) तथा **मुनीवती** (मुनियों वाली नदी—मुनयः अस्य सन्ति) में संज्ञा होने के कारण 'म्' को 'व्' तथा "शरादीनां च" (६-३-११८) से 'अहि' एवं 'मुनि' के 'इ' को दीर्घ हुआ है ।

दीर्घः । (१९००) आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती ८।२।१२॥ एते षट् संज्ञायां निपात्यन्ते । आसनशब्दस्यासन्दीभावः । आसन्दीवान् ग्रामः । अन्यत्रासनवान् । अस्थिशब्दस्याष्ठीभावः । अष्ठीवान् । अस्थिमानन्यत्र । चक्रशब्दस्य चक्रीभावः । चक्रीवान्नाम राजा । चक्रवानन्यत्र । कक्ष्यायाः सम्प्रसारणम् । कक्षीवान्नामर्षिः । कक्ष्यावानन्यत्र । लवणशब्दस्य रुमण्भावः । रुमण्वान्नाम पर्वतः । लवणवानन्यत्र । चर्मणो नलोपाभावो णत्वं च । चर्मण्वती नाम नदी । चर्मवत्यन्यत्र । (१९०१) उद-

---

(१९००) आसन्दीवत् । समाहारद्वन्द्वे ह्रस्वत्वम् । निपात्यत इति । आसन्दीभावादिकमेवात्र निपात्यते वत्वं तु सञ्ज्ञायामिति सिद्धम् । कक्ष्यायाः सम्प्रसारणमिति । निपात्यत इति शेषः । 'न सम्प्रसारणे' इति सूत्रभाष्ये तु 'कक्ष्यायाः सञ्ज्ञायां मतौ सम्प्रसारणं वक्तव्यम्' इत्यारब्धम् । अतोऽत्र सूत्रे कक्षीवच्छब्दपाठः अनार्षः इत्याहुः ।

(१९००) पद—आसन्दीवत्, अष्ठीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वती । अनुवृत्ति—संज्ञायाम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ये छह (शब्द) संज्ञा में निपातित हैं । 'आसन' शब्द के स्थानपर आसन्दी आदेश । 'अस्थि' शब्द को 'अष्ठि' आदेश । उदा० १—आसन्दीवान् ग्रामः[1] । अन्यत्र आसनवान् । २–अष्ठीवान् ऋषिः । अन्यत्र—अस्थिमान् । ३–'चक्र' को चक्री आदेश । उदा० चक्रीवान् नाम राजा । अन्यत्र चक्रवान् । वा० 'कक्ष्या' में 'य्' को सम्प्रसारण तथा उसे दीर्घ भी हो । उदा० ४–कक्षीवान् नाम ऋषिः । अन्यत्र—कक्ष्यावान् । ५–'लवण' शब्द को 'रुमण्' आदेश । उदा० रुमण्वान् नाम पर्वतः[2] । अन्यत्र—लवणवान् । ६–'चर्मन्' में 'न्' का लोप न होना तथा 'णत्व' होना । उदा० चर्मण्वती नदी[3] । अन्यत्र—चर्मवती ।

विवरण—आदेश का ही विषय है । अतः पूर्वसूत्र से "संज्ञायाम्" (८-२-११) की अनुवृत्ति प्रभावी है । इस प्रकार "संज्ञा के विषय में उपर्युक्त छह शब्द निपातन किये जाते हैं" । पूर्व सूत्र (८-२-११) से ही संज्ञा के विषय में सर्वत्र 'मतुप्' के 'म्' को 'व्' आदेश सिद्ध रहा, तथापि आदेशार्थ यह निपातन किया जा रहा है । इस प्रकार (१) आसन्दीवत् शब्द में 'आसन' शब्द को 'आसन्दी' आदेश निपातित है । (२) अष्ठीवत् में 'अस्थि' शब्द को 'अष्ठी' आदेश निपातित है । (३) चक्रीवत् में 'चक्र' को 'चक्री' आदेश निपातित है । (४) कक्षीवत् में 'कक्ष्या' शब्द को सम्प्रसारण निपातित है । सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप करने पर 'कक्षि' के 'इ'कार को "हलः" (६-४-२) से दीर्घ होगा । (५) रुमण्वत् में 'लवण' शब्द के स्थान पर 'रुमण्' आदेश निपातन है । (६) चर्मण्वती में 'चर्मन्' शब्द में 'न्'-लोप का अभाव तथा 'णत्व' निपातित हैं, क्योंकि 'मतुप्' के परवर्ती रहने पर 'पद' संज्ञा होने के कारण 'न्'-लोप प्राप्त रहा । नकार की स्थिति होने से "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८-४-१) से प्राप्त णत्व का "पदान्तस्य" (८-४-३६) से प्रतिषेध भी प्राप्त रहा । अतः ये विधान हों, इस लिये उक्त निपातन किया गया है । सर्वत्र—'सु' विभक्ति पर रहते आसन्दीवान् आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

प्रत्युदाहरण—'संज्ञा' गम्यमान होने पर ही सूत्रोक्त निपातन प्रभावी होगा । अतः संज्ञा के अतिरिक्त उपर्युक्त शब्दों का स्वरूप इस प्रकार होगा । (१) आसनवान् (आसन वाला—

---

१. जनमेजय की राजधानी । काशिका के अनुसार यह अहिस्थल था, जिसकी स्थिति कुरुक्षेत्र के पास थी ("कुरुक्षेत्रे परिणाहिस्थले"—कात्या० श्रौ० सू० २४-२२६) ।

२. इस पर्वत का सम्बन्ध 'रुमा' नदी = लूणी नदी से जान पड़ता है, जो साँभर झील से निकलती है ।

३. सुप्रसिद्ध 'चम्बल' नदी, जो विन्ध्य पर्वत से निकलती है । यमुना में जाकर मिलती है ।

न्वानुदधौ च ८ । २ । १३ ॥ उदकस्योदन्भावो मतावुदधौ संज्ञायां च । उदन्वान्समुद्रः ऋषिश्च । (१९०२) राजन्वान्सौराज्ये ८ । २ । १४ ॥ राजन्वती भूः । राजवानन्यत्र । (१९०३) प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५ । २ । ९६ ॥ चूडालः—चूडावान् । प्राणिस्थात् किम् ? शिखावान्दीपः । आतः किम् ? हस्तवान् । 'प्राण्यङ्गादेव' (वा

(१९०१) उदन्वानुदधौ च । उदधौ सञ्ज्ञायां चेति । वस्तुतस्तु उदन्वांश्चेत्येव सूत्रयितुमुचितम्, सञ्ज्ञायामित्यनुवृत्त्यैव समुद्रेऽपि उदन्वच्छब्दस्य सिद्धत्वात् ।

(१९०२) राजन्वान् सौराज्ये । सु शोभनो राजा यस्य देशस्य सः सुराजा, तस्य भावः सौराज्यम् । तस्मिन्नर्थे राजन्शब्दात् मतुपि 'मादुपधायाः' इति वत्वं सिद्धम् । नलोपाभावो निपात्यते ।

(१९०३) प्राणिस्थात् । आदन्तात्प्राणिस्थवाचिनः शब्दात् मत्वर्थे लच् वा स्यादित्यर्थः । शिखावान् दीप इति । अत्र शिखाशब्दस्य दीपाग्रवाचिनः प्राणिस्थवाचित्वाभावात् न लजिति भावः । प्राण्यङ्गादेवेति । भाष्ये तथावचनादिति भावः ।

आसनम् अस्ति) । (२) अस्थिमान् (हड्डियो वाला—अस्थीनि अस्य सन्ति) । (३) चक्रवान् (चक्रवाला पुरुष—चक्रम् अस्य अस्ति) । (४) कक्ष्यावान् (कमरों वाला—कक्ष्याः अस्य सन्ति) । (५) लवणवान् (नमक वाला कोई व्यक्ति—लवणम् अस्य अस्ति) । (६) चर्मण्वती (चमड़ेवाली—चर्म अस्य अस्ति) ।

विशेष—'चर्मण्वती' को छोड़कर अन्य पाँचों शब्द लुप्त-प्रथमान्त हैं । 'चर्मण्वती' 'ङीप्' प्रत्ययान्त है)

(१९०१) पद—उदन्वान्, उदधौ । अनुवृत्ति—संज्ञायाम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—यहाँ भी निपातन का ही विषय लिया जा रहा है । 'संज्ञायाम्' का प्रभाव विद्यमान है । अतः "'उदधि' (समुद्र) तथा 'उदन्वान्' शब्द 'संज्ञा'-विषय में निपातित हैं" । अर्थात् 'मतुप्' प्रत्यय परत्र होने की स्थिति में 'उदक' शब्द को 'उदन्' आदेश यहाँ निपातित है । उदाहरण—(क) समुद्र अर्थ—उदन्वान् (समुद्र—उदकानि सन्ति अत्र)—उदक+मत् (मतुप्) > उदन्+मत् (उदक = उदन्) ▷ उदन्वत् (म् = व्) > उदन्वान् (प्रथमा विभक्ति एकवचन) । (ख) 'संज्ञा' में—उदन्वान् नामक ऋषि ।

(१९०२) पद—राजन्वती, भूः । अनुवृत्ति—पदस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"सौराज्य अर्थ गम्यमान हो तो 'राजन्वान्' शब्द निपातन है" । अर्थात् 'मतुप्' परवर्ती होने पर 'राजन्' के नकार-लोप का अभाव निपातित है । अच्छे राजा का कार्य सौराज्य कहलाता है । उदाहरण—राजन्वती भूः (उत्तम राजाओं वाली पृथ्वी—राजानः सन्ति अस्याम्)—राजन्+मतुप् (= मत्) >राजन्वत् (म् = व्—"मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" ८-२-९) > राजन्वती (ङीप्—"उगितश्च" ६-३-४५) ।

प्रत्युदाहरण—संज्ञा के अतिरिक्त—राजवान् देशः (राजावाला देश) में नियमानुसार 'न्' का लोप हुआ ।

(१९०३) पद—प्राणिस्थात्, आतः, लच्, अन्यतरस्याम् । अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० चूडालः—चूडावान् । 'प्राणिस्थात्' क्यों कहा ? हस्तवान् ('लच्' नहीं हुआ) । वा० प्राणिवाचक शब्द के 'अङ्ग' से ही हो । अतः 'मेधावान्' में नहीं हुआ । अन्तोदात्त स्वर तो प्रत्यय-स्वर से ही सिद्ध रहा, तथापि 'चूडालोऽसि' इत्यादि वाक्य में "स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ" (सू० ३६५९) से प्राप्त स्वरित का बाध करने के लिये 'लच्' में 'च'कार सार्थक है ।

३१८९) नेह—मेधावान् । प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धे अन्तोदात्तत्वे चूडालोऽसीत्यादौ 'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' (सू ३६५९) इति स्वरितबाधनार्थश्चकारः । (१९०४) सिध्मादिभ्यश्च ५ । २ । ९७ ॥ लज्वा स्यात् । सिध्मलः—सिध्मवान् । अन्यतरस्यां ग्रहणं

ननु लचश्चित्करणं व्यर्थम्, चित इत्यन्तोदात्तत्वस्य प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धेरित्यत आह—प्रत्ययस्वरेणेति । चूडालोऽसीति । तत्र असीत्येतत् 'तिङ्ङतिङः' इति निहतम् । चूडालात्सो रुत्वे उत्वे तस्य सुप्त्वेनानुदात्तस्याद् गुणस्य 'एकादेश उदात्तेन' इत्युदात्तत्वे' तस्य परेण पूर्वरूपैकादेशे तस्य पदाद्यनुदात्तेन सहैकादेशत्वात् 'स्वरितो वानुदात्ते' इत्यस्य प्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थं चित्करणमित्यर्थः ।

(१९०४) सिध्मादिभ्यश्च । लज्वा स्यादिति । मत्वर्थे इति शेषः । अन्यतरस्या-

---

विवरण—प्रासङ्गिक प्रकरण के अनन्तर पुनः तद्धितोक्त 'मतुप्' अर्थ-प्रत्यय का विषय प्रस्तुत है। तदनुसार "प्राणिस्थवाची (प्राणिस्थात्) 'आ'कारान्त (आतः) प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में विकल्प से (अन्यतरस्याम्) 'लच्' (=ल) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(क) चूडालः→ चूडा+ल (=लच्) प्रत्यय होने पर। (ख) पक्ष में **चूडावान्**←चूडा+मतुप् प्रत्यय होने पर। अवर्णान्त होने से–म् = —"मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" (८-२-९)। **अर्थ**—अच्छी शिखा वाला—चूडा अस्य अस्ति।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'प्राणिस्थवाची' शब्द अपेक्षित होने से **शिखावान्** में 'लच्' नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'शिखा' शब्द दीप की लौ का बोधक है। (२) इसी प्रकार 'आतः' पद का निवेश होने से **हस्तवान्** में भी 'लच्' नहीं हुआ, क्योंकि हस्त शब्द अकारान्त है। उभयत्र 'मतुप्' प्रत्यय ही हुआ।

इसी प्रसङ्ग में एक वार्तिक द्वारा 'प्राणिस्थ' के सम्बन्ध में यह नियमन किया जा रहा है कि उक्त 'लच्' प्रत्यय प्राणी के अङ्गवाची शब्द से ही हो। इसके फलस्वरूप **मेधावान्** (बुद्धिमान्) में 'लच्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि 'मेधा' प्राणिस्थ होते हुए भी प्राणी का अङ्ग नहीं है।

शङ्का-समाधान—चूडालः आदि शब्दों में 'लच्' प्रत्यय के 'च्' इत्संज्ञक होने का फल "चितः" (६-१-१६३) से अन्तोदात्त होना है। किन्तु 'च्' इत्संज्ञक-रहित 'ल' प्रत्यय करने पर भी यह सम्भव रहा, क्योंकि प्रत्ययस्वर आद्युदात्त होता है। तथापि **चूडालोऽसि** वाक्य में 'चूडा-ल-स् ('सु' विभक्ति)+असि'–इस स्थिति में 'असि' क्रियापद होने से "तिङ्ङतिङः" (८-१-२८) सूत्र से सर्वानुदात्त होने का विधान है। उसके पूर्व चूडा-ल-स् में स् = र् (रुत्व) तथा र् = उ (उत्व), गुण एवं पूर्वरूप होने पर 'चूडालोऽसि' निष्पन्न होता है। यहाँ पर 'रु' के स्थान पर होने वाला 'उ'कार सुप्त्वधर्मी होने के कारण अनुदात्त है। तदनन्तर गुणसन्धि के कारण हुआ 'ओ' भी "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" (८-२-५) के अनुसार उदात्त ही रहता है। तत्पश्चात् पूर्वरूप (चूडालो+असि = चूडालोऽसि) होने पर उस 'ओ'कार को "स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ" (८-२-६) से स्वरित प्राप्त होता है। उस स्वरित के बाधार्थ "चितः" (६-१-१६३) से अन्तोदात्त होने पर 'ओ' उदात्त ही रह जाता है।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' पद समुच्चयार्थक है। अतः उसकी अनुवृत्ति होने वाले सूत्रों से विहित प्रत्यय का विकल्प न होकर 'मतुप्' का समुच्चय-मात्र होगा। विकल्प मानने पर तो पक्ष में यथाप्राप्त अन्य प्रत्ययों का समावेश होने लगता। इस सम्बन्ध में ५-२-११० सूत्र भी द्रष्टव्य है।

(१९०४) पद—सिध्मादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—लच्, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मतुप्समुच्चयार्थं, न तु प्रत्ययविकल्पार्थम् । तेन अकारान्तेभ्य इनिठनौ न । 'वातदन्त-बलललाटानामूङ् च (ग० सू ११५) । वातूलः । (१९०५) वत्सांसाभ्यां कामबले ५ । २ । ९८ ॥ आभ्यां लच् स्याद्यथासङ्ख्यं कामवति बलवति चार्थे । वत्सलः ।

मिति । पूर्वसूत्रादन्यतरस्यामित्यनुवृत्तं न लच्प्रत्ययविकल्पार्थकम्, किन्तु मतुप्प्रत्यय-समुच्चयार्थकमेव । अन्यतरस्यामित्यस्याव्ययत्वेनानेकार्थकत्वात् । ततश्च सिध्मादिभ्यः लच् मतुप् च स्यादिति लभ्यते । न चान्यतरस्यामित्यस्यात्र लच्प्रत्ययविकल्पार्थ-कत्वेऽपि तदभावे मतुप् सिद्ध इति वाच्यम्, लजभावे मतुबेव भवति, न तु अत इनिठनौ इत्येतदर्थं समुच्चयविधानात् । तदाह—तेनेति । सिध्मादिषु ये अकारान्ताः तेभ्य इनिठनौ नेत्यर्थः । एतत्सर्वं भाष्ये स्पष्टम् । सिध्म, गडु, मणि, विजय, निष्पाव, पांसु, हनु, पार्ष्णि इत्यादयः सिध्मादिषु पठिताः । एवञ्च लज्वा स्यादिति विवरणवाक्ये वाशब्दश्चार्थे । इदमन्यतरस्यांग्रहणमुत्तरसूत्रेषु सर्वत्र मत्वर्थीयविधिष्वनुवर्तते, न तु रूढशब्देषु । अतो न तेषु मतुप्समुच्चय इत्यास्तां तावत् । वातदन्तबलललाटानामूङ् चेति । सिध्मादिगणसूत्रमिदम् । एभ्यो लच् प्रकृतेरूङ् चादेशः । ङकारस्तु आदेशत्वसूचनार्थः । अन्यथा प्रत्ययत्वशङ्का स्यात् । वातूलः । एवं दन्तूलः, बलूलः, ललाटूलः ।

(१९०५) वत्सांसाभ्यां कामबले । लच् स्यादिति । मत्वर्थे इति शेषः । कामबलशब्दौ तद्वति लाक्षणिकावित्यभिप्रेत्याह—कामवति बलवति चेति ।

मूलार्थ—समुच्चय के साथ ही 'लच्' हो। उदा० सिध्मलः- सिध्मवान्। (पूर्वसूत्र में) 'अन्यतरस्याम्' पद मतुप्-समुच्चयार्थक है न कि प्रत्ययविकल्पार्थक। इस कारण अकारान्त शब्दों से 'इनि' तथा 'ठन्' प्रत्यय नहीं होते। ग० सू०—वात, दन्त तथा 'ललाट' शब्दों से 'लच्' तथा प्रकृति को 'ऊङ्' भी होता है। उदा० वातूलः।

विवरण—अनुवर्तमान 'लच्' प्रत्यय (५-२-९७) का विषय है। "मतुबर्थ की विवक्षा के सन्दर्भ में 'सिध्मादि-गण' पठित शब्दों से 'लच्' प्रत्यय विकल्प से होता है"। पक्ष में यथाप्राप्त मतुप् होगा। **उदाहरण**-(क) सिध्मलः→'लच्' होने पर (सिध्म+ल)। (ख) **सिध्मवान्**← 'मतुप्' होने पर (सिध्म+मत्)। म् = व्। **अर्थ**—एक प्रकार के कुष्ठ से युक्त—सिध्मम् अस्य अस्ति)। पूर्व सूत्र से अनुवर्तमान 'अन्यतरस्याम्' पद मतुप्-संग्रहार्थक है न कि विकल्पार्थक। इसके फलस्वरूप अकारान्त सिध्मादि शब्दों से 'इनि'–'ठन्' आदि प्रत्यय नहीं होते।

गणसूत्र—सिध्मादि-गण-पठित शब्दों के सन्दर्भ में कुछ शब्दों में 'लच्' प्रत्यय के साथ ही प्रकृति-वाची शब्दों के अन्तिम वर्ण को 'ऊङ्' (= ऊ) आदेश होना भी बतलाया जा रहा है। तदनुसार वात, दन्त, बल तथा ललाटादि शब्दों से मतुबर्थ में 'लच्' होकर निर्दिष्ट प्रकृति के अन्तिम वर्ण को ऊङ् (= ऊ) आदेश भी होगा। **उदाहरण—वातूलः** (वात रोग वाला—वातः अस्य अस्ति)—वात+ल (= लच्) ▷ वातूलः ('अ' के स्थान में ऊ)। इसी प्रकार **दन्तूलः**, बलूलः तथा **ललाटूलः** प्रयोग सिद्ध होते हैं।

(१९०५) पद—वत्सांसाभ्याम्, कामबले। **अनुवृत्ति**—लच्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन दोनों से यथासंख्य 'कामवान्' तथा 'बलवान्' अर्थ में 'लच्' प्रत्यय हो। उदा० १–वत्सलः। २–अंसलः।

विवरण—अनुवर्तमान 'लच्' का ही विषय है। अतः '"वत्स' और 'अंस' प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में यथासंख्य 'काम' और 'बल' अर्थ गम्यमान होने पर विकल्प से 'लच्' प्रत्यय होता है"। यहाँ पर 'काम' और 'बल' शब्द 'तद्वान्' अर्थ में लाक्षणिक हैं। **उदाहरण**-(१) **वत्सलः**

अंसलः। (१९०६) फेनादिलच्च ५।२।९९॥ चाल्लच्। अन्यतरस्यां ग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थमनुवर्तते। फेनिलः–फेनलः–फेनवान्। (१९०७) लोमादिपामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१००॥ लोमादिभ्यः शः। लोमशः—लोमवान्। रोमशः—रोमवान्। पामादिभ्यो नः। पामनः। 'अङ्गात्कल्याणे' (ग० सू ११८)। अङ्गना। 'लक्ष्म्या अच्च' (ग० सू १२१)। लक्ष्मणः। 'विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृत-

---

(१९०६) फेनादिलच्च। मत्वर्थे इति शेषः। चाल्लजिति। सन्निहितत्वादिति भावः। नन्वेवं सति मतुप् नैव स्यादित्यत आह—अन्यतरस्यां ग्रहणमिति। सिध्मादिसूत्रे व्याख्यातमिदम्।

(१९०७) लोमादि। श, न, इलच्—एते त्रिभ्यो गणेभ्यो यथासङ्ख्यं स्युर्मत्वर्थे। अङ्गात्कल्याणे इति। पामादिगणसूत्रम्। कल्याणं=सुन्दरं तद्विशेषणकादङ्गशब्दात् मत्वर्थे 'न'प्रत्यय इत्यर्थः। अङ्गनेति। कल्याणानि अङ्गानि अस्याः इति विग्रहः। 'लक्ष्म्या अच्च' इत्यपि पामादिगणसूत्रम्। लक्ष्मीशब्दात् मत्वर्थे 'न'प्रत्ययः स्यात् प्रकृतेरकारोऽन्तादेशश्च। लक्ष्मण इति। लक्ष्मीरस्यास्तीति विग्रहः। 'नप्रत्यये' प्रकृतेरकारे अन्तादेशे णत्वम्। विष्वगिति। इदमपि पामादिगणसूत्रमिति केचित्। भाष्ये तु 'न'प्रकरणे इदं वार्तिकं पठितम्। विषु इत्यव्ययं सर्वतः इत्यर्थे। विषु अञ्चतीति विष्वङ्। सर्वतो गामीत्यर्थं इति धूर्तस्वामी।

(छोटों पर स्नेह रखने वाला—वत्सः अस्य अस्ति)—वत्स+लच् (=ल)। (२) अंसलः (बलवान्—अंसौ अस्य स्तः)—अंस+लच् (=ल)।

(१९०६) पद—फेनात्, इलच्, च। अनुवृत्ति—लच्, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'च' (के निवेश) से 'लच्' भी। 'मतुप्' के संग्रहार्थ 'अन्यतरस्याम्' अनुवर्तमान है। उदा० फेनिलः—फेनलः—फेनवान्।

विवरण—'लच्' प्रत्यय का ही सातत्य है। तदनुसार सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। अतः "वर्तमानकालिक सत्ताविशिष्ट प्रथमा-समर्थ 'फेन' प्रातिपदिक से 'अस्य' एवम् 'अस्मिन्' अर्थ में 'इलच्' तथा 'लच्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं"। पक्ष में 'मतुप्' भी होगा। इस प्रकार तीन रूप बनेंगे—(१) फेनिलः→इलच् होने पर (फेन्+इल, अन्त्यवर्णलोप)। (२) फेनलः ←लच् होने पर (फेन+ल)। (३) फेनवान्→मतुप् होने पर (फेन+मत्, म्=व्-सू० सं० १८९७)।

(१९०७) पद—लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः, शनेलचः। अनुवृत्ति—अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—(अ) लोमादि से 'श' हो। उदा० पामनः। वा० 'अङ्ग' शब्द से कल्याण अर्थ में 'न' हो। उदा० अङ्गना। वा० 'लक्ष्मी' शब्द से 'न' प्रत्यय तथा अकार अन्तादेश हो। उदा० लक्ष्मणः। वा० अकृतसन्धिक 'विष्वक्' से 'न' प्रत्यय हो तथा उत्तरपद का लोप हो। उदा० विषुणः। (स) पिच्छादि शब्दों से 'इलच्' हो। उदा० १-पिच्छिलः—पिच्छवान्। २–उरसिलः–उरस्वान्।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है। केवल प्राकरणिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। सूत्र में प्रकृति-वाची तीन पद निर्दिष्ट हैं, तथा तीन प्रत्यय भी निर्दिष्ट हैं। अतः यथासंख्य अन्वय होगा। तदनुसार "मत्वर्थ में प्रथमान्त 'लोमादि' गणपठित शब्दों से 'श' प्रत्यय, 'पामादि' से 'न' प्रत्यय तथा 'पिच्छादि' से 'इलच्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं"। पक्ष में 'मतुप्' भी होगा। क्रमशः उदाहरण—(अ) लोमादि—(१) (क) लोमशः→

सन्धेः' (वा० ३१९४)। विषुणः। पिच्छादिभ्य इलच्। पिच्छिलः—पिच्छवान्। उरसिलः—उरस्वान्। (१९०८) प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः ५।२।१०१॥ प्राज्ञो व्याकरणम्। प्राज्ञा। श्राद्धः। आर्चः। 'वृत्तेश्च' (वा ३१९५) वार्त्तः। (१९०९)

विषु इति तिर्यगर्थं इति भवस्वामी। पराङ्मुख इति भट्टभास्करः। विषु अञ्च् इत्यस्मात् अकृतसन्धेर्मत्वर्थे न प्रत्ययः स्यात्, उत्तरपदलोपश्चेत्यर्थः। विषुण इति। विष्वङ् अस्यास्तीति लौकिकविग्रहः। विषु अञ्च्—इत्यलौकिकविग्रहवाक्यम्। कृतसन्धेर्नप्रत्यये तु विष्वक्शब्दस्य उत्तरपदस्य लोपे 'लोपो व्योः' इति वलोपे विष्ण इति स्यादिति भावः। समर्थानामित्यस्यापवादोऽयम्।

(१९०८) प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः। प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा—एभ्यो मत्वर्थे णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। प्राज्ञो व्याकरणमिति। प्रज्ञानं प्रज्ञा। स्त्रियामित्यधिकारे प्रपूर्वकात् ज्ञाधातोः 'आतश्चोपसर्गे' इति भावे अङ्। प्रज्ञा अस्यास्तीति विग्रहः। उपसर्जनभूतमपि प्रज्ञानक्रियां प्रति व्याकरणस्य कर्मत्वाद् द्वितीया। कृद्योगषष्ठी नात्र प्रवर्तते 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यत्र कृद्ग्रहणेन तद्धितयोगे तन्निषेधात्। अत्र यद्वक्तव्यं तत्कर्तृकर्मणोः कृतीत्यत्र प्रपञ्चितम्। न

'श' होने पर (लोमन् + श)। (ख) लोमवान्←('मतुप्' होने पर—लोमन् + मत, म् = व्)। अर्थ—अधिक लोमवाला पुरुष—लोमानि अस्य सन्ति)। (२) (क) रोमशः→रोमन् + मतुप्। अर्थ—अधिक रोम वाला पुरुष—रोमाणि अस्य सन्ति। उभयत्र—'न्' लोप। (ब) पामादि—(१) (क) पामनः→'न' होने पर (पामन् + न)। (ख) पामवान् ←'मतुप्' होने पर (पामन् + मतुप्)। अर्थ—अधिक खुजली वाला—पामाऽस्यास्तीति। इसी प्रसङ्ग में पामादिगण से सम्बद्ध एक गणसूत्र के अनुसार अङ्ग शब्द से कल्याण अर्थ में 'न' प्रत्यय होकर अङ्गना शब्द की सिद्धि होती है। स्त्रीलिङ्ग होने से 'टाप्' प्रत्यय होगा। अर्थ—सुन्दर अङ्गवाली, स्त्री—अङ्गानि अस्याः सन्ति। तथा इसी गण से सम्बद्ध लक्ष्मी शब्द से 'न' प्रत्यय तथा उसके साहचर्य में 'ई' के स्थान पर ह्रस्व अकार आदेश होने पर लक्ष्मणः प्रयोग निष्पन्न किया गया है—लक्ष्मी + न > लक्ष्म्-अ + न (ई=अ) > लक्ष्मणः (न् = ण्)। अर्थ—सौन्दर्य-युक्त—लक्ष्मीः अस्य अस्ति। इनके अतिरिक्त विषुणः शब्द सिद्ध करने के लिये एक अन्य गणसूत्र के अनुसार सन्धिकार्य होने के पूर्व की स्थिति = विषु + अञ्च्—इस प्रकृति से मत्वर्थ में 'न'प्रत्यय तथा उत्तरपद = अञ्च् का लोप भी होता है→विषु + न। 'न्' के स्थान पर 'ण्' होकर उक्त रूप निष्पन्न होगा। अर्थ—अनेक प्रकार से चलने वाला अथवा पीछे मुख कर चलने वाला—विष्वङ् अस्य अस्ति। कृतसन्धि के पश्चात् प्रत्यय करने पर उत्तरपद एवं 'व्' लोप होकर विष्णः रूप बनता। (ग) पिच्छादि-गण-पठित शब्दों से 'इलच्' (= इल) प्रत्यय होता है। उदाहरण—(१) पिच्छिलः (फिसलने वाला—पिच्छम् अस्य अस्ति)—पिच्छ + इलच् (= इल)। अवर्ण-लोप। पक्ष में मतुप् होने पर—पिच्छवान्। म् = व्। प्रथमा विभक्ति। (२) (ख) उरस्वान्—चौड़े वक्षःस्थलवाला—उरः अस्य अस्ति)—उरस् + मतुप्। (क) उरसिलः—उरस् + इलच् (= इल)। 'भ'-संज्ञा होने से रुत्व नहीं होता।

(१९०८) पद—प्रज्ञा-श्रद्धा-ऽर्चाभ्यः, णः। अनुवृत्ति—अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"'प्रज्ञा', 'श्रद्धा' तथा 'अर्चा' प्रातिपदिकों से मतुबर्थ में 'ण' (= अ) प्रत्यय होता है"। पक्ष में 'मतुप्' होगा। उदाहरण—प्राज्ञः व्याकरणम् (प्रकृष्ट ज्ञान वाला—प्रज्ञा अस्मिन् अस्ति)—प्रज्ञा + ण (= अ)। आदिवृद्धि तथा 'आ' का लोप। यहाँपर 'प्रज्ञा' शब्द प्रज्ञान का बोधक है—प्रज्ञानम् = प्रज्ञा→प्र—√ज्ञा + भावार्थे-अङ् ("आतश्चोपसर्गे" ३-३-१०६)।

तपःसहस्राभ्यां विनीनी ५ । २ । १०२ ॥ विनीन्योरिकारो नकारपरित्राणार्थः । तपस्वी । सहस्री । असन्तत्वाददन्तत्वाच्च सिद्धे पुनर्वचनमणा बाधो मा भूदिति ।

च प्रजानातीति प्रज्ञः । 'इगुपध' इति कः । प्रज्ञाशब्दात् स्वार्थे अणि प्राज्ञ इति सिध्यतीति शङ्क्यम्, तथा सति स्त्रियां ङीप्प्रसङ्गात् । तदाह—प्राज्ञेति । श्राद्ध इति । श्रद्धा अस्यास्तीति विग्रहः । आर्च इति । अर्चा अस्यास्तीति विग्रहः । वृत्तेश्चेति । वार्तिकमिदम् । मत्वर्थे णप्रत्यय इति शेषः । वार्त्त इति । वृत्तिरस्यास्तीति विग्रहः ।

(१९०९) तपःसहस्राभ्याम् । विनिश्च इनिश्चेति द्वन्द्वः । मत्वर्थे इति शेषः । यथासङ्ख्यमन्वयः । विनिप्रत्यये इनिप्रत्यये च नकारादिकारो उच्चारणार्थौ । ननु नकारयोः इत्सञ्ज्ञा कुतो न स्यात् । न च प्रयोजनाभावः, नित्स्वरस्यैव फलत्वादित्यत आह—विनीन्योरिकारो नकारपरित्राणार्थ इति । तथा च उपदेशे अन्त्यत्वाभावान्नेत्सञ्ज्ञेति भावः । यद्यपि 'अस्मायामेधा' इत्यसन्त्वादेव तपःशब्दाद्विन्सिद्धः, सहस्रशब्दात्तु 'अत इनिठनौ' इत्येवेन्सिद्धः । तथापि विशिष्य उत्तरसूत्रविहितेन अणा असन्तादन्तलक्षणयोः विनीन्योः सामान्यविहितयोः बाधो मा भूदिति विशिष्येह तपस्सहस्रशब्दाभ्यां तयोः विधानम् । सहस्रशब्दात्तु अदन्तलक्षणठनोऽपि बाधनार्थमिह इन्विधानम् । एतत्समाधानं क्वचिन्मूलपुस्तकेषु दृश्यते ।

उपसर्जनीभूत प्रज्ञान-क्रिया के प्रति व्याकरण कर्म होने से वाक्यस्थ व्याकरण पद में द्वितीया विभक्ति है । "कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-६५) से तद्धित-योग में निषेध होने के कारण कृद्योग-षष्ठी नहीं हुई । स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' होकर प्राज्ञा रूप बनेगा । यदि प्रपूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'क' प्रत्यय करने पर 'प्रज्ञ' शब्द निष्पन्न किया जाता तो उससे स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय करने पर 'प्राज्ञः' रूप सिद्ध हो जाता, किन्तु उस स्थिति में स्त्री-लिङ्ग में 'ङीप्' होकर 'प्राज्ञी' रूप बनता । अतः 'अङ्' प्रत्यय करने से 'टाप्' प्रत्यय होता है । (२) श्राद्धः (श्रद्धायुक्त कार्य—श्रद्धा अस्य अस्ति)—श्रद्धा+ण (=अ) । आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप । (३) आर्चः (पूजा वाला—अर्चा अस्य अस्मिन् वा अस्ति)—अर्चा+अण् । आदिवृद्धि तथा अन्त्यवर्ण-लोप ।

(१९०९) पद—तपःसहस्राभ्याम्, विनीनी । अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'विनि' और 'इनि' में इकार का प्रयोजन 'न'कार को बचाने के लिए है । उदा० १-तपस्वी । २-सहस्री । 'अस्' अन्त तथा 'अत्' अन्त (= ह्रस्व अकारान्त) होने से ही इनकी सिद्धि होने पर भी 'अण्' का बाध होने के लिये यह कथन है । 'सहस्र' शब्द से तो 'ठन्' का भी यह बाध करता है ।

विवरण—"'तपस्' और 'सहस्र' शब्दों से मत्वर्थ में यथासंख्य 'विनि' तथा 'इनि' प्रत्यय होते हैं" । उभयत्र इकारान्त प्रत्यय का यह फल है कि यह प्रत्यय नकारान्त नहीं है । अन्यथा 'न्' की इत्संज्ञा होने पर उसका लोप हो जाता । 'तपस्' से "अस्मायामेधास्रजो विनिः" (५-२-१२१) से 'विनि' प्रत्यय तथा अकारान्त होने के कारण 'सहस्र' शब्द से "अत इनि-ठनौ" (५-२-११५) से 'इनि' प्रत्यय की प्राप्ति रही । पुनः यहाँ यह विधान इस लिए किया गया है कि 'अण्' प्रत्यय से इसका बाध न हो । 'सहस्र' शब्द के सम्बन्ध में दूसरा प्रयोजन यह भी है कि उससे प्राप्त 'ठन्' प्रत्यय का भी बाध हो । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **तपस्वी** (तपवाला—तपः अस्य विद्यते)—तपस्+विनि (=विन्) । भ-संज्ञा होने से रुत्व नहीं होता । प्रथमा एक-वचन में रूप । (२) **सहस्री** (हजार कार्षापण-वाला—सहस्रम् अस्य अस्ति)—सहस्र+इनि (=इन्) । 'अन्त्य' लोप । प्रथमा-विभक्ति-कार्य ।

सहस्रात्तु ठनोऽपि बाधनार्थम्। (१९१०) अण् च ५।२।१०३॥ योगविभाग उत्तरार्थः। तापसः। साहस्रः। 'ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानाम्' (वा ३१९७)। ज्यौत्स्नः। तामिस्रः। (१९११) सिकताशर्कराभ्यां च ५।२।१०४॥ सैकतो घटः। शार्करः। (१९१२) देशे लुबिलचौ च ५।२।१०५॥ चादण्मतुप् च। सिकताः

(१९१०) अण् च। तपसहस्राभ्यां मत्वर्थे इति शेषः। ननु 'तपःसहस्राभ्यां विनीन्यणः' इत्येकमेव सूत्रमस्तु। न च तपःसहस्राभ्यां विनीन्योर्यथासङ्ख्यार्थं पृथक्सूत्रकरणम्। अन्यथा त्रयोऽपि प्रत्यया द्वाभ्यां स्युरिति वाच्यम्, 'तपःसहस्राभ्यामण्विनीनि' इति सूत्रकरणे भिन्नविभक्त्युच्चारणादेव अणः उभयसम्बन्धस्य विनीन्योर्यथासङ्ख्यत्वस्य च सिद्धेरित्यत आह—योगविभाग उत्तरार्थं इति। उत्तरसूत्रे अण एवानुवृत्त्यर्थं इत्यर्थः। ज्यौत्स्न इति। शुक्लपक्ष इति शेषः। ज्योत्स्ना चन्द्रिका। सा अस्यास्तीति विग्रहः। तामिस्र इति। कृष्णपक्ष इति शेषः। तमिस्राः तमोयुक्ता रात्रयः। ता अस्य सन्तीति विग्रहः। ज्योत्स्नादित्वादण्।

(१९११) सिकताशर्कराभ्यां च। मत्वर्थे अणिति शेषः। सैकतो घट इति। सिकता अस्य सन्तीति विग्रहः। देशे लुपो वक्ष्यमाणत्वात् घट इति विशेष्यम्। 'अप्सुमनःसमासिकतावर्षाणां बहुत्वं च' इति लिङ्गानुशासनसूत्रात् सिकताशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः।

(१९१२) देशे लुबिलचौ च। पूर्वसूत्रविहितस्याणो लुप् इलच्च स्यादित्यर्थः। चादणिति। सन्निहितत्वादिति भावः। तर्हि अपवादेन मुक्ते उत्सर्गस्याप्रवृत्तेर्मतुप् नैव

(१९१०) पद—अण्, च। अनुवृत्ति—तपःसहस्राभ्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—योगविभाग उत्तर सूत्र के लिये है। उदा० १–तापसः। २–साहस्रः। वा० ज्योत्स्नादि से भी कहा जाय। उदा० ज्यौत्स्नः। तामिस्रः।

विवरण—पूर्वसूत्रोक्त 'तपस्' और 'सहस्र' शब्दों के विषय में ही यह विधान है। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ 'तपस्' और 'सहस्र' शब्दों से 'अस्य अस्मिन् वा अस्ति' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय भी होता है"। तदनुसार 'अण्' प्रत्यय होनेपर (१) तापसः तथा (२) साहस्रः-ये रूप भी बनेंगे। वार्तिक—के अनुसार ज्योत्स्ना+अण् > ज्यौत्स्नः (शुक्लपक्ष) तथा तामिस्रः-तमिस्रा+अण् (कृष्ण पक्ष) दो रूप बनते हैं।

विशेष—केवल 'अण' की अनुवृत्ति ही आगे के सूत्र में जाने के लिये इस योगविभाग की उपयोगिता है। अन्यथा पूर्व सूत्र के साथ ही इसका भी समावेश सम्भव रहा।

(१९११) पद—सिकता-शर्कराभ्याम्, च। अनुवृत्ति—अण्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"'सिकता' और 'शर्करा' शब्दों से मत्वर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। क्रमशः उदाहरण—(१) सैकतः घटः (बालू वाला घड़ा-सिकताः सन्ति अस्मिन्)—सिकता+अण् (=अ)। 'देश' अर्थ में आगे कहे जाने वाले प्रत्यय के लोप का भ्रम न हो, अतः विशेष्य वाचक 'घट' पद का उल्लेख किया गया है। (२) शार्करः (कंकड़ों वाला—शर्कराः सन्ति अस्मिन्) शर्करा+अण् (=अ)।

(१९१२) पद—देशे, लुप्-इलचौ च। अनुवृत्ति—सिकता-शर्कराभ्याम्, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—प्रकृति-वाचक पदों की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र (५-२-१०४) से आ रही है। 'मत्वर्थ' का ही विषय विद्यमान है। तदनुसार "'सिकता' और 'शर्करा' शब्दों से 'देश'

सन्त्यस्मिन्देशे → सिकताः–सिकतिलः–सैकतः–सिकतावान्। एवं शर्करेत्यादि। (१९१३) **दन्त उन्नत उरच्** ५। २। १०६॥ उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य दन्तुरः। (१९१४) **ऊषसुषिमुष्कमधो रः** ५। २। १०७॥ ऊषरः। सुषिरः। मुष्कोऽण्डः। मुष्करः। मधु–माधुर्यम्। मधुरः। 'रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्यः उपसंख्यानम्' (वा ३११९८)। खरः।

स्यादित्यत आह—मतुप् चेति। समुच्चयार्थकान्यतरस्याङ्ग्रहणानुवृत्तेरिति भावः। सिकता इति। सिकताशब्दात् नित्यं बहुवचनान्तादणो लुपि प्रातिपदिकावयवत्वात् सुपो लुकि युक्तवद्भावाद्विशेष्यस्य देशस्य एकत्वेऽपि बहुवचनमिति भावः। 'हयवरट्' इति सूत्रे 'एका च सिकता तैलदाने असमर्था' इति भाष्ये प्रयोगात् सिकताशब्दः एकवचनान्तोऽप्यस्तीति लिङ्गानुशासने मूलकारो वक्ष्यति।

(१९१३) दन्त उन्नत उरच्। उन्नतविशेषणकाद्दन्तशब्दात् मत्वर्थे उरच् स्यादित्यर्थः। उन्नत इति प्रकृतिविशेषणम्। दन्त इति सप्तमी पञ्चम्यर्थे।

(१९१४) ऊषसुषि। ऊष, सुषि, मुष्क, मधु एषां समाहारद्वन्द्वात्पञ्चम्येकवचनम्। सौत्रं पुंस्त्वम्। एभ्यो मत्वर्थे रप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। ऊषर इति। ऊषः क्षारमृत्तिकाविशेषोऽस्यास्तीति विग्रहः। सुषिर इति। सुषिः बिलम् अस्यास्तीति विग्रहः। मधुशब्दः क्षौद्रे द्रव्ये माधुर्यात्मकरसविशेषे च गुणे वर्तते। तत्र रसविशेषवाचिन एवात्र ग्रहण-

---

अभिधेय होने पर पूर्व सूत्र से विहित 'अण्' का 'लुप्' (लोप) हो और 'इलच्' प्रत्यय हो"। साथ ही 'अण्' और 'मतुप्' भी हों। प्रत्यय के अदर्शन की 'लुप्' संज्ञा कही गई है। सूत्र में किसी प्रत्यय-विशेष के 'लुप्' होने का निर्देश तो नहीं दिया गया है, अतः सन्निहित 'अण्' का 'लुप्' (=लोप) हो जायेगा। इस प्रकार चार रूप बनेंगे—(१) 'अण्'-प्रत्यय का लोप होने पर। (२) 'इलच्' प्रत्यय होने पर। (३) अण् प्रत्यय तथा (४) मतुप् प्रत्यय होने पर। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **सिकताः** (बालूवाला देश—सिकताः सन्ति अस्मिन्)—सिकता+अण्। प्रत्यय का लोप। (२) **सिकतिलः**—सिकता+इलच् (इल)। 'आ' का लोप। (३) **सैकतः**—सिकता+अण्। (४) **सिकतावान्**–सिकता+मतुप्। इसी प्रकार (१) **शर्कराः**, **शर्करिलः**, **शार्करः** तथा **शर्करावान्**—ये ४ रूप बनेंगे।

विशेष—(१) समुच्चयार्थक 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति आने के कारण 'मतुप्' होता है।

(२) 'सिकता' शब्द नित्य बहुवचनान्त है, उससे 'अण्' का 'लुप्' (=लोप) होने पर अर्थात् प्रातिपदिकावयव विभक्त्यर्थक प्रत्यय का 'लुक्' हो जाने पर विशेष्यवाचक पद 'देश' के एक होने पर भी 'युक्तवद्भाव' से **सिकताः**—यह बहुवचनान्त प्रयोग किया गया है।

(१९१३) पद—दन्तः, उन्नतः, उरच्। **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ प्रथमान्त 'दन्तः' पद पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'उन्नत' शब्द उसका विशेषण है। अतः "उन्नत-समानाधिकरण 'दन्त' प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'उरच्' (=उर) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**दन्तुरः** (जिसके दाँत ऊपर को निकले हुए हों—दन्ताः उन्नताः अस्य सन्ति)—दन्त+उरच् (=उर)। 'अ' का लोप।

(१९१४) पद—ऊष-सुषि-मुष्क-मधोः, रः। **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—'ऊष-सुषि-मुष्क-मधोः'—यह पद समाहार द्वन्द्व में पञ्चमी विभक्ति का एक वचन है। सूत्र में पुंलिङ्ग का प्रयोग होने से आर्ष माना गया है। तदनुसार "'ऊष', 'सुषि',

मुखरः। कुञ्जो हस्तिहनुः। कुञ्जरः। 'नगपांसुपाण्डुभ्यश्च' (वा ३१९९)। नगरम्। पांसुरः। पाण्डुरः। पाण्डरशब्दस्त्वव्युत्पन्न एव। 'कच्छ्वा ह्रस्वत्वं च' (वा० ३२००)। कच्छुरः। (१९१५) द्युद्रुभ्यां मः ५।२।१०८॥ द्युमः। द्रुमः। (१९१६)

मित्याह—मधु माधुर्यमिति। तथा भाष्यादिति भावः। अन्यथा मधुद्रव्यवति घटेऽपि मधुरपदप्रयोगः स्यात्। खरो गर्दभः, धिष्ण्यो वा। [1]मुखरः शब्दं कुर्वन्। कुञ्जरो हस्ती। रूढशब्दा एते। नगपांस्विति[2]। वार्तिकमिदम्। नगरमिति जातिविशेषवाची अत एव नगरीति ङीष्। पांसुर इति। पांसुः अस्यास्तीति विग्रहः। पाण्डुर इति। पाण्डुः शुक्लवर्णः, सः अस्यास्तीति विग्रहः। कथं पाण्डरशब्द इत्यत आह—पाण्डरशब्दस्त्विति। 'हरिणः पाण्डरः पाण्डुः' इत्यमरः। कच्छ्वा इति। वार्तिकमिदम्। कच्छूशब्दाद्रप्रत्ययः, प्रकृते ह्रस्वश्च अन्तादेश इत्यर्थः। कच्छुरः शुनां रोगविशेषः।

(१९१५) द्युद्रुभ्यां मः। 'दिव उत्' इति कृतोत्त्वस्य दिव्शब्दस्य द्यु इति निर्देशः। दिव्शब्दात् द्रुशब्दाच्च मप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। द्युमः द्रुम इति। रूढशब्दावेतौ।

'मुष्क' तथा 'मधु' शब्दों से मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है"। क्रमशः उदाहरण—(१) ऊषरः (खारी मिट्टी वाला अर्थात् ऊसर—ऊषः अस्य अस्ति)—ऊष+र। विभक्ति-कार्य। (२) सुषिरः (छिद्रवाला—सुषिः अस्य अस्ति)—सुषि+र। (३) मुष्करः—अण्डकोष वाला—मुष्कः अस्य अस्ति)—मुष्क+र। (४) मधुरः (मीठा—मधु = माधुर्यम् अस्य अस्ति)—मधु+र। 'मधु' शब्द शहद का पर्यायवाची भी है, किन्तु यहाँ 'माधुर्य-गुण' यह अर्थ अभीष्ट है। अन्यथा मधु-पदार्थ-युक्त घट में भी मधुर शब्द का प्रयोग होने लगेगा।

वार्तिककार सूत्रस्थ शब्दों के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों की सिद्धि के लिये तीन वार्तिक प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार प्रथम वार्तिक द्वारा 'ख', 'मुख' तथा 'कुञ्ज' शब्दो से भी मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय का विधान बतला रहे हैं"। इस प्रकार उदाहरण—(१) खरः (चौड़े गले वाला = गदहा—खं = महत्कण्ठविवरम् अस्य अस्ति)—ख+र। (२) मुखरः (निरर्थक बोलने वाला—निन्दितं मुखम् अस्य अस्ति)—मुख+र। यहाँ 'मुख' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग है, जिसके अनुसार वह 'वचन' अर्थ में प्रयुक्त है[1]। (३) कुञ्जरः (हाथी—अतिशयितः कुञ्जः = हनुः अस्य अस्ति)—कुञ्ज+र। ये तीनों शब्द इन अर्थों में रूढ हैं। द्वितीय वार्तिक द्वारा नग, पांसु तथा पाण्डु शब्दों से भी मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होना बतलाया गया है। क्रमशः उदाहरण—(१) नगरम् (शहर—नगाः = वृक्षाः सन्ति अत्र)—नग+र। (२) पांसुरः (धूलवाला—पांसुः अस्य अस्ति)—पांसु+र। (३) पाण्डुरः (सफेद वर्ण वाला—पाण्डुः अस्य अस्ति)—पाण्डु+र। दीक्षित जी ने पाण्डर शब्द को अव्युत्पन्न माना है। अमरकोष में श्वेत के पर्यायवाची शब्दों में 'पाण्डर' शब्द का समावेश है। किन्तु भानुदीक्षित ने उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—"'पडि' गतौ (भ्वा० आ० सेट्)—बाहुलकाद् अरः दीर्घश्च'। 'र' प्रकरण के प्रसङ्ग में ही तीसरे वार्तिक में कच्छू शब्द के 'ऊ' को 'ह्रस्व' होना कहा गया है। उदाहरण—कच्छुरः (खाज रोग वाला = कुत्ता—कच्छूः = त्वग्रोगविशेषः अस्य अस्ति)—कच्छू+र ▷ कच्छुरः ('र' प्रत्यय एवं 'ऊ' को ह्रस्व)।

(१९१५) पद—द्यु-द्रुभ्याम्, मः। अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

---

१. 'मुख' शब्दोऽत्र लक्षणया वचनपरः'—इति अमरकोषटीकायां भानुदीक्षितः।

२. भाष्ये तु 'नगाच्च' इत्येव दृश्यते।

केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ५ । २ । १०९ ॥ प्रकृतेनान्यतरस्यां ग्रहणेन मतुपि सिद्धे पुनर्ग्रहणमिनिठनोः समावेशार्थम् । केशवः-केशी-केशिकः-केशवान् । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (वा० ३२१०)। मणिवो नागविशेषः । हिरण्यवो निधिविशेषः । 'अर्णसो लोपश्च'

(१९१६) केशाद्वोऽन्यतरस्याम् । मत्वर्थे इति शेषः । नन्विहान्यतरस्याङ्ग्रहणं व्यर्थम्, समर्थानामिति वाग्रहणेनैव वाक्यस्य सिद्धत्वात् । न च महाविभाषया अपवादेन मुक्ते औत्सर्गिकस्याप्रवृत्तेः 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यत्रोक्तत्वादिह मतुपोऽप्रवृत्त्यापत्तौ तत्प्रवृत्त्यर्थमन्यतरस्याङ्ग्रहणमिति वाच्यम् । प्राणिस्थादिति सूत्रादन्यतरस्याङ्ग्रहणस्य समुच्चयार्थकस्यानुवृत्त्यैव तत्सिद्धेरित्यत आह—**प्रकृतेनेति** । **इनिठनोरिति** । इनिठनोरपीत्यर्थः । अन्यथा 'सिध्मादिभ्यश्च' इत्यत्रेव 'मतुबेव समुच्चीयेत' नत्विनिठनाविति भावः । तथा च वप्रत्यये इनिठनोर्मतुपि च चत्वारि रूपाणीत्याह—**केशव इत्यादि** । **अन्येभ्योऽपीति** । वार्तिकमिदम् । केशादन्येभ्योऽपि मत्वर्थे वो दृश्यत इत्यर्थः । **अर्णस इति** । वार्तिकमिदम् । अर्णसो वप्रत्ययः प्रकृतेः सकारस्य लोपश्चेत्यर्थः । **अर्णव इति** । अर्णः जलम् । तत्प्रभूतमस्मिन्नस्तीति विग्रहः । इदं तु वार्तिकं भाष्ये न दृश्यते ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'द्यु' तथा 'द्रु' प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में 'म' प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **द्युमः** (प्रकाश—द्यौः अस्य अस्ति जनकतया)—द्यु+म (द्यु='दिव्' के 'व्' को 'उ'—"दिव उत्" (६-१-१३१) करने पर निर्देश किया है)। (२) **द्रुमः** (वृक्ष—'द्रुः = शाखा अस्य अस्ति) द्रु+म । ये दोनों 'रूढि' शब्द हैं।

(१९१६) पद—केशात्, वः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अनुवर्तमान 'अन्यतरस्याम्' से ही 'मतुप्' सिद्ध रहा, पुनः 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण करने से 'इन्' और 'ठन्' का भी समावेश हो जाता है । अतः—केशवः, केशी, केशिकः तथा केशवान्—ये चार रूप बनेंगे। वा० अन्य शब्दों से भी ('व' का) प्रयोग मिलता है। उदा० १-मणिवः—नागविशेष । २-हिरण्यवः—निधिविशेष । वा० 'अर्णस्' शब्द के (अन्तिम वर्ण) का लोप हो तथा 'व' प्रत्यय भी हो । उदा० अर्णवः ।

विवरण—"'केश' शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय विकल्प से होता है"। प्रकृत सूत्र में "प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्" (५-२-९६) सूत्र से भी 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार पक्ष में 'मतुप्' का संग्रह हो जायगा। यहाँ पुनः 'अन्यतरस्याम्' कहने से "अत इनिठनौ" (५-२-११५) से प्राप्त 'इनि' तथा 'ठन्' प्रत्ययों का समावेश भी हो जाता है। इस प्रकार चार रूप बनेंगे। (१) **केशवः**→'व' प्रत्यय होने पर (केश+व)। (२) **केशी**→'इनि' (इन्) प्रत्यय होने पर (केश्+इन्)। (३) **केशिकः**→ठन् (ठ=इक) प्रत्यय होने पर (केश्+इक)। (४) **केशवान्**←'मतुप्' प्रत्यय होने पर (केश+मत्, म्=व्)।

इसी प्रसङ्ग में दो वार्तिक उद्धृत किये जा रहे हैं। जिनमें से प्रथम वार्तिक द्वारा यह विदित कराया गया है कि 'केश' शब्द के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी मतुबर्थ में 'व' प्रत्यय के प्रयोग दिखलाई पड़ते हैं। जैसे—(१) **मणिवः** (मणिवाला सर्पविशेष—मणिः अस्य अस्ति)—मणि+व। (२) **हिरण्यवः** (सुवर्णवाला निधिविशेष—हिरण्यम् अस्य अस्ति)—हिरण्य+व । इसी प्रकार द्वितीय वार्तिक द्वारा अर्णस् शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय तथा उसके

---

१. द्रवति ऊर्ध्वम्—इति द्रुः=वृक्षः । 'समुदाये वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इति न्यायात् 'द्रुमः' इत्यत्र 'द्रु' शब्दः शाखार्थे बोद्धव्यः ।

(वा ५०५३)। अर्णवः। (१९१७) गाण्डचजगात्संज्ञायाम् ५।२।११०॥ ह्रस्वदीर्घयोर्यणा तन्त्रेण निर्देशः। गाण्डिवम्–गाण्डीवमर्जुनस्य धनुः। अजगवं पिनाकः। (१९१८) काण्डाण्डादीरन्नीरचौ ५।२।१११॥ काण्डीरः। आण्डीरः। (१९१९) रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् ५।२।११२॥ रजस्वला स्त्री। कृषीवलः। 'वले' (सू १०४०) इति दीर्घः। आसुतीवलः शौण्डिकः। परिषद्वलः। 'पर्षत्' इति

(१९१७) गाण्डचजगात्संज्ञायाम्। ह्रस्वदीर्घयोरिति। गाण्डिशब्दस्य गाण्डीशब्दस्य च कृतयणोः गाण्डच इति युगपन्निर्देशः। 'ख्यत्यात्परस्य' इत्यत्र खितिशब्दयोः खीतीशब्दयोश्च यथेत्यर्थः। ततश्च गाण्डिशब्दात् गाण्डीशब्दात् अजगशब्दाच्च मत्वर्थे वप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। रूढशब्दत्वादिह न मतुप्समुच्चयः।

(१९१८) काण्डाण्डादीरन्नीरचौ। काण्ड, आण्ड–आभ्यां ईरन् ईरच् इति प्रत्ययौ मत्वर्थे स्त इत्यर्थः।

(१९१९) रजःकृषि। रजस्, कृषि, आसुति, परिषद् एभ्यो मत्वर्थे वलच् स्यादित्यर्थः। आसुतीवल इति। 'षुञ् अभिषवे'। आङ्पूर्वात् स्त्रियां क्तिन्। 'वले' इति दीर्घः।

अन्तिम वर्ण का लोप कहा गया है। उदाहरण—अर्णवः (लहरों वाला = समुद्र—अर्णांसि सन्ति अस्मिन्)—अर्णस् + व ('व' प्रत्यय तथा 'स्' का लोप)।

(१९१७) पद—गाण्डयजगात्, संज्ञायाम्। अनुवृत्ति—वः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्र में ह्रस्वान्त 'गाण्डि' तथा दीर्घान्त 'गाण्डी' दोनों शब्दों का एकतन्त्र से "ख्यत्यात्परस्य" की तरह यण्-घटित 'गाण्डय' निर्देश है। 'व' की अनुवृत्ति "केशाद्वोऽन्यतरस्याम्" (५-२-१०९) से अपेक्षित है। तदनुसार "'गाण्डि' या 'गाण्डी' तथा 'अजग' प्रातिपदिकों से संज्ञा गम्यमान होने पर[1] मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय होता है"। रूढ शब्द होने से 'मतुप्' का समुच्चय नहीं होगा। उदाहरण—१ (क) गाण्डिवम्, (ख) गाण्डीवम् (गाँठ वाला→अर्जुन का धनुष—गाण्डिः अथवा गाण्डी = ग्रन्थिः अस्य अस्ति)—गाण्डि + व या गाण्डी + व। (२) अजगवम् (शिव का धनुष—अजगः विष्णुः अस्ति शरत्वेन अस्मिन्)—अजग + व। ये दोनों शब्द भी रूढ हैं।

(१९१८) पद—काण्डाण्डात्, ईरन्-नीरचौ। अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"'काण्ड' तथा 'अण्ड' शब्दों से मत्वर्थ में यथासंख्य 'ईरन्' तथा 'ईरच्' प्रत्यय होते हैं"। उदाहरण—(१) काण्डीरः (बाण वाला—काण्डम् अस्य अस्ति)—काण्ड् + ईरन् (= ईर)। (२) अण्डीरः (अण्डे वाला—अण्डम् अस्य अस्ति)—अण्ड् + ईरच् (= ईर)।

विशेष—समान स्वरूप होने पर भी भिन्न 'इत्'संज्ञक वर्णों के समावेश से स्वरों में अन्तर हो जायेगा। 'चित्' स्वर अन्तोदात्त होगा तथा 'नित्' स्वर आद्युदात्त होगा।

(१९१९) पद—रजःकृष्यासुतिपरिषदः, वलच्। अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"'रजस्', 'कृषि', 'आसुति' तथा 'परिषद्' शब्दों से 'मत्वर्थ' में 'वलच्' (= वल) प्रत्यय होता है"। क्रमशः उदाहरण—(१) रजस्वला स्त्री (ऋतुमती स्त्री—

---

१. "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्" (५-२-९४) सूत्रस्थेति शब्दस्यायं प्रपञ्चः।

पाठान्तरम् । पर्षद्वलम् । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (वा ३२१०) । भ्रातृवलः । पुत्रवलः । शत्रुवलः । 'वले' (सू १०४०) इत्यत्र 'संज्ञायाम्' इत्यनुवृत्तेर्नेह दीर्घः । (१९२०) दन्तशिखात्संज्ञायाम् ५ । २ । ११३ ॥ दन्तावलो हस्ती । शिखावलः केकी । (१९२१) ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः ५ । २ । ११४ ॥ मत्वर्थे निपात्यन्ते । ज्योतिष उपधालोपो नश्च प्रत्ययः । ज्योत्स्ना । तमस उपधाया इत्त्वं

अन्येभ्योऽपीति । वार्तिकमिदम् । 'रजःकृषि' इत्यादिसूत्रोपात्तादन्येभ्योऽपि वलच् दृश्यत इत्यर्थः । भ्रातृवलः । 'ढ्रलोपे' इत्यतः अण इत्यनुवृत्तेः 'वले' इति न दीर्घः । पुत्रवल इत्यादौ 'वले' इति दीर्घमाशङ्क्याह—वले इत्यत्रेति ।

(१९२०) दन्तशिखात्संज्ञायाम् । समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी । दन्तशब्दात् शिखाशब्दाच्च मत्वर्थे वलच् स्यात्संज्ञायामित्यर्थः ।

(१९२१) ज्योत्स्ना । ज्योतिष इति । ज्योत्स्नावयवाज्योर्वींषि, तान्यस्यां सन्तीति विग्रहे ज्योतिष्शब्दात् नप्रत्ययः उपधाभूतस्य इकारस्य लोपश्च निपात्यते । सति च इकारस्य लोपे इणः परत्वाभावात् षत्वनिवृत्तौ ज्योत्स्नेति रूपम् । 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' इत्यमरः । तमस इति । तमः अस्यास्तीति विग्रहे तमस्शब्दात्

रजः अस्याः अस्ति)—रजस्+वलच् (=वल) । स्त्री-लिङ्ग में 'टाप्' (=आ) । (२) कृषीवलः (खेती वाला, किसान—कृषिः अस्य अस्ति)—कृषि+वलच् (=वल) । 'कृषि' के 'इ'कार को दीर्घ—"वले" (६-३-११८) । (३) आसुतीवलः शौण्डिकः (शराब बनाने या बेचने वाला—आसुतिः अस्य अस्मिन् वा अस्ति)—आसुति+वलच् (=वल) । पूर्ववत् दीर्घ । (४) परिषद्वलः (विशिष्ट सभाओं से युक्त राजा—परिषदः अस्य सन्ति)—परिषद्+वलच् (=वल) । 'पर्षद्' पाठान्तर से—पर्षद्वलः । इन ४ शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों में भी 'वलच्' प्रत्यय की समीचीनता दिखाने के लिये वार्तिक प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार (१) शत्रुवलः (शत्रुओं से युक्त—शत्रवः सन्ति अस्य), (२) भ्रातृवलः (भाइयों वाला—भ्रातरः सन्ति अस्य) तथा (३) पुत्रवलः (पुत्रों वाला—पुत्राः सन्ति अस्य)—ये तीनों प्रयोग समीचीन माने जाते हैं । "वले" (६-३-११८) सूत्र में "संज्ञायाम्" की अनुवृत्ति आने से 'परिषद्वलः' में दीर्घ नहीं हुआ है ।

विशेष—सूत्रोक्त 'रजस्' आदि चारों शब्दों से 'वलच्' प्रत्यय भी संज्ञा गम्यमान होने पर ही होता है । अतः संज्ञा-शब्दों के अतिरिक्त इन चारों शब्दों से (संज्ञाभिन्न स्थलों में) वाक्य ही रहेगा । जैसे धूलि-संश्लिष्ट ग्राम की विवक्षा होने पर—'रजः अस्मिन् ग्रामे विद्यते'—इस वाक्य का ही प्रयोग होगा ।

(१९२०) पद—दन्तशिखात्, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—वलच्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'दन्त' और 'शिखा' शब्दों से संज्ञा गम्यमान होने पर मत्वर्थ में 'वलच्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **दन्तावलः** हस्ती (बड़े दाँतों वाला=हाथी—दन्ताः सन्ति अस्य)—दन्त+वलच् (=वल) । संज्ञा-वाची होने से "वले" (६-३-११६) से दीर्घ । (२) **शिखावलः** केकी (चोटी वाला=मोर—शिखा अस्य अस्ति)—शिखा+वलच् (=वल) ।

(१९२१) पद—ज्योत्स्ना······मलीमसाः । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—एक-पदात्मक सूत्र है । सूत्र में इतरेतर-द्वन्द्व समास है । आठ शब्दों का मत्वर्थ में निपातन किया जा रहा है । वे शब्द हैं—(१) ज्योत्स्ना, (२) तमिस्रा, (३) शृङ्गिणा, (४) ऊर्जस्विन्, (५) ऊर्जस्वल, (६) गोमिन्, (७) मलिन और (८) मलीमस ।

रश्च । तमिस्रा । स्त्रीत्वमतन्त्रम् । तमिस्रम् । शृङ्गादिनच् । शृङ्गिणः । ऊर्जसो वलच् । तेन बाधा मा भूदिति विनिरपि । ऊर्जस्वी । ऊर्जस्वलः । 'ऊर्जोऽसुगागमः' इति वृत्तिस्तु चिन्त्या, 'उर्जस्वतीः' इतिवदसुन्नन्तत्वेनैवोपपत्तेः । गोशब्दान्मिनिः । गोमी । मलशब्दादिनच् । मलिनः । ईमसश्च । मलीमसः । (१९२२) अत इनिठनौ ५ । २ । ११५ ॥ दण्डी-

रक्प्रत्ययः । उपधाभूतस्य मकारादकारस्य इत्वं च निपात्यत इत्यर्थः । 'तमिस्रा तामसी रात्रिः' इत्यमरः । ननु 'तमिस्रा' इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् तमिस्रं गृहमिति कथमित्यत आह—स्त्रीत्वमतन्त्रमिति । शृङ्गादिनजिति । निपात्यत इति शेषः । शृङ्गिण इति । शृङ्गमस्यास्तीति विग्रहः । इनचि णत्वम् । ऊर्जसो वलजिति । निपात्यत इति शेषः । ऊर्जस् इत्यसुन्नन्तं प्रातिपदिकम् । ननु 'अस्मायामेधा' इति विनिना सिद्धेरूर्जस्विन्निति निपातनं व्यर्थमित्यत आह—तेनेति । विशेषविहितेन वलचा अस्मायेति सामान्यविहितस्य विनो निवृत्तिर्मा भूदित्येतदर्थं विनो निपातनमित्यर्थः । ऊर्जं इति । ऊर्जशब्दाद्वलचि प्रकृतेरसुगागम इति वृत्तिग्रन्थ अनुपपन्न इत्यर्थः । कुत इत्यत आह— ऊर्जस्वतीरितिवदिति । ऊर्जस्वतीरित्यत्र वलप्रत्ययाभावेन तत्सन्नियोगशिष्टस्य असुगागमस्याप्रसक्तेः तत्र ऊर्जस् इत्यसुन्नन्तं प्रातिपदिकमवश्यमभ्युपेयम् । तेनैव ऊर्जस्विन्नूर्जस्वलयोः विनिवलज्मात्रनिपातनोपपत्तेरित्यर्थः । ईमसश्चेति । मलशब्दात् निपात्यत इति शेषः ।

(१९२२) अत इनिठनौ । अदन्तान्मत्वर्थे इनि ठन् एतौ स्त इत्यर्थः । समुच्चयार्थकान्यतरस्याङ्ग्रहणानुवृत्तेर्मतुबपि भवति । 'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ

इनके निपातन का क्रमशः प्रकार दिया जा रहा है—(१) ज्योत्स्ना (प्रकाशवाली, चाँदनी—ज्योतींषि अस्यां सन्ति)—ज्योतिष्+न (प्रत्यय)>ज्योत स् न्+आ (उपधा='इ' का लोप तथा 'इण्' पर न होने से षत्व की निवृत्ति । > ज्योत्स्ना (स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्') । (२) तमिस्रा (अन्धकार वाली=रात्रि—तमः अस्य अस्ति)—तमस्+रक् (=र) > तमिस्+र (उपधाभूत 'अ' को इ)>तमिस्रा ('टाप्') । सूत्र में स्त्रीत्व की विवक्षा न होने से नपुंसक लिङ्ग में तमिस्रम् (अन्धकार) रूप भी निष्पन्न होगा । (३) शृङ्गिणः (सींगवाला—शृङ्गम् अस्य अस्ति)-शृङ्ग+इनच् (= इन) । >शृङ्गिणः (अन्त्यवर्ण-लोप एवं णत्व) । (४) असुन्-अन्त प्रातिपदिक से—ऊर्जस्वी (शक्तिशाली-ऊर्जः अस्य अस्ति)—ऊर्जस्+विनि ('विन्' प्रत्यय का निपातन)>ऊर्जस्वी (प्रथमा एकवचन) । (५) ऊर्जस्वलः (शक्तिशाली—ऊर्जः अस्य अस्ति)—ऊर्जस्+वलच् ('वल' प्रत्यय का निपातन) । यद्यपि 'ऊर्जस्वी' शब्द तो "अस्मायामेधास्रजो विनिः" (५-२-१२१) से 'विनि' प्रत्यय होने पर सिद्ध रहा, तथापि विशेष-विहित 'वलच्' प्रत्यय के विधान से सामान्य विहित 'विनि' प्रत्यय का बाध न होने के लिये यह पृथक् निपातन किया गया है । माधवीय वृत्ति में 'ऊर्ज' शब्द से 'असुक्' आगम करने के पश्चात् 'ऊर्जस्' शब्द माना है । किन्तु उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'वलच्' के न होने पर 'असुन्'-अन्त से निष्पन्न 'ऊर्जस्वती' प्रयोग के समान यहाँ भी 'ऊर्जस्' माना जा सकता है । (६) गोमी (बैल या गाय वाला—गोः अस्य अस्ति)—गो+मिनि (='मिन्' का निपातन) । (७) मलिनः (मैल वाला—मलम् अस्य अस्ति)—मल+इनच् (= 'इन' प्रत्यय का निपातन) । (८) मलीमसः (मैल वाला—मलम् अस्य अस्ति)—मल+ईमस (प्रत्यय का निपातन) ।

(१९२२) पद—अतः; इनि-ठनौ । अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

दण्डिकः। (१९२३) व्रीह्यादिभ्यश्च ५ । २ । ११६ ।। व्रीही–व्रीहिकः। न च सर्वेभ्यो व्रीह्यादिभ्य इनिठनाविष्येते। किं तर्हि? 'शिखामालासंज्ञादिभ्य इनिः, यवखदादिभ्य इकः' (वा ३२०९)। अन्येभ्य उभयम्। (१९२४) तुन्दादिभ्य इलच्च ५ । २ । ११७ ।।

स्मृतौ' इति भाष्यम्। एकाक्षरात् स्ववान्, कृतः कारकवान्, 'जातेः वृक्षवान्, सप्तम्यां दण्डाः अस्यां शालायां सन्ति दण्डवती'। इदं प्रायिकम्। तेन 'कार्यी कार्यिकः' 'तण्डुली तण्डुलिकः' इत्यादि सिद्धमिति भाष्ये स्पष्टम्।

(१९२३) व्रीह्यादिभ्यश्च। मत्वर्थे इनिठनौ इति शेषः। **शिखामालेत्यादि।** वार्तिकमिदम्। 'शिखा, माला, संज्ञा, वीणा, वडवा, बलाका, पताका, वर्मन्, शर्मन्, एभ्यः इनिरेव' नतु ठनित्यर्थः। **यवखदेति।** यवखद, नौ, कुमारी एभ्यः इकन्नेव, न त्विनिरित्यर्थः। परिशिष्टेभ्यस्तु व्रीह्यादिगणपठितेभ्यः उभावित्यर्थसिद्धम्। इदं वृत्तौ स्पष्टम्।

(१९२४) तुन्दादिभ्य इलच्च। **मतुप्चेति।** समुच्चयार्थकान्यतरस्याङ्ग्रहणावृत्ते-

---

मूलार्थ एवं विवरण—"प्रथमा-समर्थ वर्तमान-कालिक सत्ताविशिष्ट 'ह्रस्व अकारान्त' प्रातिपदिकों से (अतः) 'इनि' (=इन्) और 'ठन्' (=ठ) प्रत्यय होते हैं"। समुच्चार्थक 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप मतुप् (=मत्) भी होगा। तदनुसार तीन रूप बनेंगे—(१) (क) **दण्डी**–दण्ड्+इनि (=इन्) प्रत्यय होने पर। (ख) **दण्डिकः**–'ठन्' (=ठ=इक) होने पर। (ग) **दण्डवान्**—(दण्ड+मत्) मतुप् प्रत्यय होने पर। **अर्थ**—जिसके पास डंडा हो—दण्डः अस्य अस्ति।

विशेष—भाष्यकार ने अकारान्त शब्दों से कहीं-कहीं 'इनि' और 'ठन्' प्रत्ययों के न होने के विषय में अवगत कराया है। तदनुसार (१) **एकाक्षर**वाची शब्दों (२) **कृत्**-प्रत्ययान्त शब्दों, (३) जातिवाचक शब्दों, तथा (४) **सप्तम्यर्थ**-वाची शब्दों से—ये **दोनों** ('इनि' और 'ठन्') प्रत्यय संयुक्त नहीं किये जाते। तदनुसार (१) **स्ववान्**, (२) **कारकवान्**, (३) **वृक्षवान्** तथा (४) **दण्डवती** आदि प्रयोगों में केवल 'मतुप्' ही दिखाया गया है। पुनः वहीं पर यह प्रायिक है—ऐसा भी सूचित किया है। तदनुसार 'कार्यी'–'कार्यिकः' तथा 'तण्डुली'–'तण्डुलिकः' आदि प्रयोगों की समीचीनता पर भी विश्वास दिलाया है।

(१९२३) पद—व्रीह्यादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—इनि-ठनौ, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र से 'इनि-ठनौ' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "व्रीह्यादि शब्दों से भी मत्वर्थ में 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण**—(क) **व्रीही** (धान वाला—व्रीहयः अस्य सन्ति)—व्रीहि्+इनि (=इन्) ⊳ व्रीहिन् > व्रीही (प्रथमा विभक्ति एक वचन)। (ख) **व्रीहिकः**—व्रीहि्+ठन् (=ठ=इक)। निमित्ताभाव के कारण आदिवृद्धि नहीं होती।

व्रीह्यादि-गण-पठित शब्दों में भी प्रत्ययों को सीमित किया जा रहा है। तदनुसार यहाँ दो **वार्तिक** उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार **शिखा, माला** तथा **संज्ञा** आदि शब्दों से **केवल 'इनि'** तथा **यवखद, नौ** आदि शब्दों से केवल **इकन्** प्रत्यय होता है। अवशिष्ट शब्दों से दोनों प्रत्यय होते हैं।

विशेष—समुच्चयार्थक 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप **'व्रीहिमान्'**, **'मायावान्'** आदि शब्दों का प्रयोग भी होता है।

(१९२४) पद—तुन्दादिभ्यः, इलच्, च। **अनुवृत्ति**—इनि-ठनौ, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

चादिनिठनौ मतुप् च । तुन्दिलः–तुन्दी–तुन्दिकः–तुन्दवान् । उदर, पिचण्ड, यव व्रीहि । 'स्वाङ्गाद्विवृद्धौ' (ग० सू० १२४) । विवृद्ध्युपाधिकात्स्वाङ्गवाचिन इलजादयः स्युः । विवृद्धौ कर्णौ यस्य स कर्णिलः–कर्णी–कर्णिकः–कर्णवान् । (१९२५) एकगोपूर्वाट्ठ‌ञ्नित्यम् ५ । २ । ११८ ॥ एकशतमस्यास्तीति ऐकशतिकः । ऐकसहस्रिकः । गौशतिकः ।

रिति भावः । उदरादयश्चत्वारस्तुन्दादिगणपठिताः । स्वाङ्गाद्विवृद्धाविति । गणसूत्रमिदम् । वृद्धविषयात् स्वाङ्गादिलच्, इनिठनौ मतुप् चेत्यर्थः । कर्णिल इति । विवृद्धौ कर्णौ यस्येति विग्रहः ।

(१९२५) एकगोपूर्वाट्ठञ्नित्यम् । एकपूर्वात् गोपूर्वाच्च नित्यं ठञ् स्यादित्यर्थः । यद्यपि नित्यग्रहणाभावेऽपि ठञा इनिठनोर्निवृत्तिः सिध्यति । तथापि समुच्चयार्थकान्यतरस्यांग्रहणानुवृत्त्या मतुप् समुच्चीयेत । तन्निवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणम् । ऐकशतिक इति । 'पूर्वकाल' इति समासः । 'सङ्ख्यायाः संवत्सर' इत्युत्तरपदवृद्धिस्तु न, तत्र प्रतिपदोक्ततद्धितार्थसमासस्यैव ग्रहणात् ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्र में 'च' का निवेश होने से पूर्वसूत्र से अनुवर्तमान 'इनि-ठनौ' तथा 'अन्यतरस्याम्' का प्रभाव होने के कारण 'मतुप्' का भी संग्रह है। तदनुसार "तुन्दादि प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में 'इलच्' (=इल), 'इनि' (=इन्), 'ठन्' (=ठ) तथा 'मतुप्' (=मत्) प्रत्यय होते हैं" । इस प्रकार तुन्दादियों से चार चार रूप बनेंगे । **उदाहरण**—(१) **तुन्दिलः** (तोंद वाला—तुन्दम् अस्य अस्ति)—तुन्द्+इलच् (=इल) । (ख) **तुन्दी**—तुन्द्+इनि (=इन्) । (ग) **तुन्दिकः**—तुन्द्+ठन् (ठ = इक) । (घ) **तुन्दवान्**—तुन्द+मतुप (मत्) । म्=व् । इसी प्रकार **उदर, पिचण्ड, यव** तथा **व्रीहि** शब्दों से भी चार चार रूप बनेंगे । कुछ अन्य शब्दों के सम्बन्ध में एक **गणसूत्र** प्रस्तुत किया जा रहा है । जिसके अनुसार 'बढे हुए' स्वाङ्गवाची शब्दों से मत्वर्थ में 'इलच्' आदि प्रत्यय होते हैं । तदनुसार **कर्णिलः** (कर्ण+इलच्), **कर्णी** (कर्ण+इनि), **कर्णिकः** (कर्ण+ठन्) तथा **कर्णवान्** (कर्ण+मतुप्)—ये चार रूप बनते हैं । **अर्थ**—बड़े कान वाला—विवृद्धौ कर्णौ अस्य ।

(१९२५) पद—एकगोपूर्वात्, ठञ्, नित्यम् । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'एक'शब्द-पूर्वक तथा 'गो'-शब्दपूर्वक प्रातिपदिक से (एकश्च गौश्च एकगावौ, तौ पूर्वौ यस्य-एकगोपूर्वः, तस्मात्) मत्वर्थ में नित्य 'ठञ्' प्रत्यय हो" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) 'एक'पूर्वक-(क) **ऐकशतिकः** (एक सौ कार्षापणादि वाला—एकशतम् अस्य अस्ति)—एकशत्+ठञ् (ठ = इक) । (ख) **ऐकसहस्रिकः** (एक हजार कार्षापणादि वाला—एकसहस्रम् अस्य अस्ति)–एकसहस्+ठञ् (ठ=इक) । (२) गो-शब्द-पूर्वक-(क) **गौशतिकः** (सौ गायों वाला—गोशतम् अस्य अस्ति)—गोशत्+ठञ् (ठ= इक) । (ख) **गौसहस्रिकः** (हजार गायों वाला—गोसहस्रम् अस्य अस्ति)—गोसहस्+ठञ् (ठ = इक) । सर्वत्र आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् ।

विशेष—(१) यद्यपि सूत्र में 'नित्य' ग्रहण न करने पर केवल 'ठञ्' विधान करने से ही 'इनि' और 'ठन्' का निवारण सम्भव रहा, तथापि समुच्चयार्थक 'अन्यतरस्याम्' पद का प्रभाव रहने से 'मतुप्' का संग्रह होने लगता, उसकी निवृत्ति के लिये यहाँ 'नित्य' पद की सार्थकता है ।

(२) 'एकशत' एवम् 'एकसहस्र' शब्द में "पूर्वकालैकसर्वजरत०" (२-१-४९) सूत्र से समास हुआ है । "संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च" (७-३-१५) सूत्र से उत्तरपदवृद्धि इस कारण

गौसहस्त्रिकः । (१९२६) शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् ५ । २ । ११९ ॥ निष्कात्परो यो शतसहस्रशब्दौ तदन्तात्प्रातिपदिकाट्ठञ् स्यान्मत्वर्थे । नैष्कशतिकः । नैष्कसहस्रिकः । (१९२७) रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ५ । २ । १२० ॥ आहतं रूपमस्यास्तीति—रूप्यः कार्षापणः । प्रशस्तं रूपमस्यास्तीति—रूप्यो गौः । आहत—इति किम् ? रूपवान् । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (वा ३२१०) । हिम्याः पर्वताः । गुण्याः ब्राह्मणाः । (१९२८)

(१९२६) शतसहस्र । निष्कात् पराविति । असामर्थ्येऽपि सौत्रत्वात् समास इति भावः ।

(१९२७) रूपादाहत । आहतेति भावे क्तः । आहतविशेषणकात् प्रशंसाविशेषणकाच्च रूपशब्दात् मत्वर्थे यप् स्यादित्यर्थः । आहतं रूपमिति । आहतेन निष्पन्नं स्वरूपं यस्येति विग्रहे रूपशब्द इत्यर्थः । रूप्यः कार्षापण इति । परिमाणविशिष्टः रजतसुवर्णादिर्मुद्रिकाविशेषयुक्तः कार्षापण इत्युच्यते । तत्स्वरूपं च स्वर्णकारकृता हननिष्पाद्यमिति बोध्यम् । रूप्यो गौरिति । प्रशस्तरूपसम्पन्न इत्यर्थः । अन्येभ्योऽपीति । वार्तिकमिदम् । रूपशब्दादन्येभ्योऽपीति यप् दृश्यत इत्यर्थः । हिम्याः पर्वता इति । भूम्नि यप् । बहुलं

नहीं हुई कि वहाँ पर प्रतिपदोक्त तद्धितार्थ समास का ही ग्रहण किया गया है । यहाँ पर समास के अनन्तर तद्धितार्थ में प्रत्यय हुआ है ।

(१९२६) पद—शतसहस्रान्तात्, च, निष्कात् । अनुवृत्ति—ठञ्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'निष्क'-शब्दोत्तरवर्ती 'शत' और 'सहस्र' शब्दान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है" । उदा० १–नैष्कशतिकः । २–नैष्कसहस्रिकः ।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'ठञ्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि '"निष्क' शब्द से परवर्ती 'शत' और 'सहस्र' शब्दान्त प्रातिपदिकों से 'मतुप्' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है" । इस प्रकार 'निष्कशत' और 'निष्कसहस्र' शब्द समास-युक्त दिखाये गए हैं । वस्तुतः यहाँ पर शब्दों की स्थिति विपरीत है, जिस कारण समास की प्राप्ति नहीं होती (असामर्थ्यात्), तथापि सूत्र में वैसी स्थिति होने पर समास की समीचीनता मान ली जाती है । उदाहरण—(१) नैष्कशतिकः (एक सौ निष्क वाला–निष्कशतम् अस्य अस्ति)—निष्कशत् + ठञ् (ठ = इक) । (२) नैष्कसहस्रिकः (एक हजार निष्कवाला–निष्कसहस्रम् अस्य अस्ति)–निष्कसहस्र् + ठञ् (ठ = इक) । उभयत्र आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् ।

(१९२७) पद—रूपात्, आहतप्रशंसयोः, यप् । अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० (१) आहतम् रूपम् अस्य अस्तीति—रूप्यः = कार्षापणः । (२) प्रशस्तं रूपम् अस्य अस्तीति—प्रशस्तः = गौः । 'आहत' ऐसा क्यों कहा ? रूपवान् ('यप्' नहीं हुआ) । वा० अन्य शब्दों से भी 'यप्' प्रत्यय (प्रयोग में) दिखाई पड़ता है । जैसे—१–हिम्याः पर्वताः । २–गुण्याः ब्राह्मणाः ।

विवरण—"'आहत' और 'प्रशंसा' अर्थों में वर्तमान 'रूप' प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'यप्' (= य) प्रत्यय होता है" । साँचे में ठोंक कर रूप निखार कर बनाए जाने वाले सिक्के 'आहत' कहे गए हैं[1] । क्रमशः अर्थों में उदाहरण—(१) रूप्यः कार्षापणः (साँचे में ठोंक कर बनाया

१. प्राचीन काल में दो प्रकार से मुद्राएँ बनती थीं—(क) साँचे में ठोंक कर और (ख) साँचे में ढाल कर । साँचे में ठोंक कर बनाई गई आहत मुद्राएँ अधिक प्राचीन मानी जाती हैं ।

अस्मायामेधास्रजो विनिः ५।२।१२१ ॥ यशस्वी-यशस्वान्। मायावी। व्रीह्यादिपाठाद्विनिठनौ। मायी, मायिकः। क्विन्नन्तत्वात्कुः। स्रग्वी। 'आमयस्योपसंख्यानं दीर्घश्च' (वा ३२१३)। आमयावी। 'शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्' (वा ३२१४)। शृङ्गारकः। वृन्दारकः। 'फलबर्हाभ्यामिनच्' (वा ३२१५)। फलिनः। बर्हिणः।

हिममेष्वस्तीति विग्रहः। गुण्या ब्राह्मणा इति। प्रशंसायां यप्। प्रशस्तगुणसम्पन्ना इत्यर्थः।

(१९२८) अस्मायामेधास्रजो विनिः। असित्यनेन असन्तं विवक्षितम्। असन्त, माया, मेधा, स्रज् एभ्यो विनिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। प्रत्यये नकारादिकार उच्चारणार्थः। यशस्वीति। 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वान्न रुत्वमिति भावः। यशस्वानिति। 'एकगोपूर्वात्' इति सूत्रे नित्यग्रहणेन निवृत्तमिति समुच्चायार्थमन्यतरस्याङ्ग्रहणमिह मण्डूकप्लुत्या अनुवर्तते। 'तसौ मत्वर्थे' इति सूत्रे यशस्वानिति भाष्योदाहरणादिति भावः। स्रग्वीत्यत्र 'व्रश्च' इति षत्वमाशङ्क्याह—क्विन्नन्तत्वादिति। आमयस्येति। आमयशब्दात् मत्वर्थे विनिः प्रकृतेर्दीर्घश्चेत्यर्थः। शृङ्गवृन्दाभ्यामिति। फलबर्हाभ्यामिति। हृदयाच्चालुरन्यतरस्यामिति च। वार्तिकत्रयमिदम्। मतुप् चेति। वक्तव्य इति शेषः, भाष्ये तथोक्तत्वात्।

गया कार्षापण—आहतं रूपम्[1] अस्य)—रूप्+यप् (=य)। 'भ' संज्ञा-निमित्तक अन्त्यवर्ण-लोप। (२) रूप्यः गौः (प्रशंसित रूपवाला बैल—प्रशस्तं रूपम् अस्य अस्ति)—रूप्+यप् (=य)। अन्त्य-वर्ण-लोप। **वार्तिक**—'रूप' शब्द के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी 'यप्' प्रत्ययान्त उदाहरण दिखाई पड़ते हैं"। अर्थात् वे भी समीचीन माने जायें। जैसे—'बाहुल्य' अर्थ में **हिम्याः** पर्वताः (हिमबहुल पर्वत—बहुलं हिमम् एषु अस्ति) हिम+यप् (=य)। प्रथमा बहुवचनान्त प्रयोग। (२) **गुण्याः** ब्राह्मणाः (गुणसम्पन्न ब्राह्मण—गुणाः एषु एषाम् वा सन्ति)—गुण+यप् (=य)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'आहत' पद का निवेश होने के फलस्वरूप रूपवान् (रूप वाला—रूपम् अस्य अस्ति) में 'यप्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ पर साँचे में दाब कर रूप नहीं निखारा गया है।

(१९२८) पद—अस्-माया-मेधा-स्रजः, विनिः। **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'अस्' पद 'असन्त' का बोधक है। तदनुसार "'अस्'-अन्त वाले प्रातिपदिकों से तथा 'माया', 'मेधा' एवं 'स्रज्' प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में 'विनि' प्रत्यय होता है"। प्रत्ययस्थ नकारोत्तरवर्ती 'इ'कार उच्चारणार्थ है। प्रत्यय का स्वरूप 'विन्' ही है। इसके साथ ही 'मतुप्' का समुच्चय भी होगा। **उदाहरण**—(१) असन्त—(क) **यशस्वी** (कीर्ति वाला-यशः अस्य अस्ति)—यशस्+विन्। "तसौ मत्वर्थे" (१-४-१९) से 'भ'-संज्ञा होने के कारण रुत्व नहीं हुआ। विभक्तिकार्य यथानियम होंगे)। पक्ष में मतुप् का समुच्चय होने पर[2] (ख) **यशस्वान्** (म्=व्)। (२) **मायावी**→माया+'विन्' होने पर। पक्ष में **मायी**← माया+'इन्'—"व्रीह्यादिभ्यश्च (५-२-११६) तथा माया+'ठन्' होने पर→**मायिकः**। (३)

---

१. आहतेन निष्पन्नं स्वरूपं यस्य—इति विग्रहे 'रूप'-शब्दः इत्यर्थो बोध्यः।

२. "तसौ मत्वर्थे" (१-४-१८) इति सूत्रोदाहरणेषु भाष्ये 'तडित्वान्' 'यशस्वी' इति उदाहरणद्वयानन्तरं 'यशस्वान्' इत्यत्रापि भसंज्ञाविषये शङ्कामापाद्य 'मतुपोऽपि मत्वर्थवृत्तित्वात्' इति निरूपयता 'यशस्वान्' इति प्रयोगस्य समीचीनत्वदर्शनेन पक्षे मतुपः अपि संग्रहो भवति इति प्रतीयते।

'हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्' (वा ३२१६)। इनिठनौ मतुप्च । हृदयालुः–हृदयी–हृदयिकः –हृदयवान् । 'शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तदसहने—' (वा ३२१७)। शीतं न सहते शीतालुः । उष्णालुः । 'स्फायितञ्चि' (सू उ १७०) इति रक् । तृप्रः पुरोडाशः, तं न सहते–तृप्रालुः । 'तृप्रं दुःखम्' इति माधवः । 'हिमाच्चेलुः' (वा ३२१८) । हिमं न सहते हिमेलुः । 'बलादूलः'

चुट्ट इति चकारस्येत्सञ्ज्ञा । अन्यतरस्यांग्रहणाच्चालोरभावे इनिठनौ । समुच्चार्थंकान्यतरस्यांग्रहणानुवृत्तेर्मतुबपि । तथाचात्र चत्वारः प्रत्ययाः । तदाह—'हृदयालुरित्यादि । 'शीतोष्णतृप्रेभ्यः तन्न सहते' इति वार्तिकमर्थतः सङ्गृह्णाति—शीतेति । शीत, उष्ण, तृप्र एभ्यः द्वितीयान्तेभ्यः न सहते इत्यर्थे चालुर्वक्तव्य इत्यर्थः । तृप्रः पुरोडाश इति । मन्त्रभाष्ये तथोक्तत्वादिति भावः । हिमाच्चेलुरिति । वार्तिकमिदम् । हिमशब्दात् द्वितीयान्तात् न सहत इत्यर्थे चेलुः स्यादित्यर्थः । चकार इत् । बलादूल इति । तन्न सहते

मेधावी (बुद्धिमान्—मेधा अस्य अस्ति)—मेधा+विनि (=विन्)। (४) स्रग्वी—माला वाला—स्रग् अस्य अस्ति)—स्रज्+विन् । ज् = ग्-कुत्व—"क्विन् प्रत्ययस्य कुः" (८-२-६२)। अतः षत्व नहीं होता ।

इस सन्दर्भ में इन शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी 'विनि' प्रत्ययान्त प्रयोगों की समीचीनता के लिए कुछ वार्तिक उद्धृत किये जा रहे हैं। सर्वप्रथम (१) आमय शब्द से मत्वर्थ में 'विनि' प्रत्ययविधान के साथ ही 'आमय' शब्द के अन्तिम स्वर का दीर्घ होना भी सूचित किया गया है। उदाहरण—आमयावी (रोग वाला—आमयः अस्य अस्ति)—आमय+ विन् > आमयावी ('य' के अकार को दीर्घ)। (२) इसके अतिरिक्त शृङ्ग तथा वृन्दारक शब्दों से मत्वर्थ में आरकन् (=आरक) प्रत्यय होता है। उदाहरण—शृङ्गारकः (सींग वाला—शृङ्गम् अस्य अस्ति)—शृङ्ग+आरक । अन्त्यवर्णलोप । (२) वृन्दारकः (झुण्डवाला, देवता—वृन्दम् अस्य अस्ति)—वृन्द्+आरक । तत्पश्चात् तीसरे वार्तिक द्वारा (३) 'फल' तथा 'बर्ह' शब्दों से 'इनच्' प्रत्यय का विधान बतलाया गया है। इसके उदाहरण हैं—(१) फलिनः (फल वाला—फलम् अस्य अस्ति)—फल्+इनच् (= इन)। (२) बर्हिणः (पूँछ वाला—बर्हम् अस्ति अस्य)—बर्ह्+इनच् (= इन)। तदनन्तर (४) चतुर्थ वार्तिक द्वारा 'हृदय' शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से 'आलु' प्रत्यय होना बतलाया गया है। तदनुसार पक्ष में यथाप्राप्त 'इनि', 'ठन्' तथा 'मतुप्' प्रत्यय भी होंगे। इस प्रकार चार रूप निष्पन्न होते हैं—(१) हृदयालुः→हृदय+आलुच् (=आलु) प्रत्यय होने पर। (२) हृदयी←हृदय्+इनि (= इन्) प्रत्यय होने पर। (३) हृदयिकः→हृदय्+ठन् (=ठ=इक) प्रत्यय होने पर तथा (४) हृदयवान्←हृदय+मतुप् (म्=व्) होने पर। अर्थ—प्रशस्त हृदय वाला—हृदयम् अस्ति अस्य। (५) पाँचवें वार्तिक द्वारा असहन अर्थ में द्वितीयान्त शीत, उष्ण, तथा तृप्र शब्दों से आलु प्रत्यय का विधान सूचित किया गया है। 'तृप्र' शब्द उणादि 'रक्' प्रत्ययान्त है—√तृप्+र। 'स्फायि… सुपितृपि०' उ० सू० १७८। 'तृप्र' का अर्थ है—'पुरोडाश'। माधवाचार्य के मत में 'तृप्र' शब्द का अर्थ 'दुःख' है। उक्त वार्तिक के क्रमानुसार उदाहरण—ये हैं—(१) शीतालुः (शीत को जो न सह सके—शीतं न सहते)—शीत्+आलु। (२) उष्णालुः (जो गरम न सह सके—उष्णं न सहते)—उष्ण्+आलु। (३) तृप्रालुः ('पुरोडाश' या 'कष्ट' न सहने वाला—तृप्रं = कष्टं न सहते)-तृप्र्+आलु। (६) छठे वार्तिक के अनुसार द्वितीयान्त 'हिम' शब्द से असहन अर्थ में चेलु (एलु) प्रत्ययान्त हिमेलुः प्रयोग सिद्ध होता है। अर्थ—जो हिम न सह सके—हिमं न सहते। (७) सातवें वार्तिक में भी असहन अर्थ में द्वितीयान्त बल शब्द से+'ऊल' प्रत्ययान्त बलूलः उदाहरण दिया गया है। अर्थ—जो बल न सहे—बलं न सहते। (८) आठवें वार्तिक

(वा ३२१९)। बलं न सहते बलूलः। 'वातात्समूहे च' (वा ३२२०)। वातं न सहते वातस्य समूहो वा वातूलः। 'तप्पर्वमरुद्भ्याम्' (वा ३२२१)। पर्वतः। मरुत्तः। (१९२९) ऊर्णाया युस्। ५। २। १२३॥ सित्त्वात्पदत्वम्। ऊर्णायुः। अत्र छन्दसि इति केचिदनुवर्तयन्ति। युक्तं चैतत्। अन्यथा हि 'अहंशुभमोः-' (सू १९४६) इत्यत्रैवो-र्णाग्रहणं कुर्यात्। (१९३०) वाचो ग्मिनिः ५। २। १२४॥ वाग्मी। (१९३१)

इत्यर्थे वक्तव्य इति शेषः। वातात्समूहे चेति। षष्ठ्यन्ताद्वातशब्दात् समूहेऽर्थे, द्वितीयान्तात् न सहते इत्यर्थे च ऊलप्रत्ययो वाच्य इत्यर्थः। तप्पर्वमरुद्भ्यामिति। वार्तिकमिदम्। पर्वमरुद्भ्यां तप् वक्तव्य इत्यर्थः। तन्वक्तव्य इति वृत्तिकृत्, हरदत्तश्च। प्रौढमनोरमायां तु नित्त्वं निराकृतम्। शब्देन्दुशेखरे तु हरदत्तसम्मतं नित्त्वमेव स्थापितम्। रूढत्वाद-वयवार्थाभावान्न मतुप्।

(१९२९) ऊर्णाया युस्। ऊर्णायुशब्दे 'यस्येति च' इति लोपमाशङ्क्याह—सित्त्वादिति। अनुवर्तयन्तीति। 'बहुलं छन्दसि' इत्यस्मादिति शेषः।

(१९३०) वाचो ग्मिनिः। वाच्शब्दात् मत्वर्थे ग्मिनिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

द्वारा षष्ठ्यन्त 'वात' शब्द से समूह तथा द्वितीयान्त से असहन अर्थ में वातूलः प्रयोग समीचीन बतलाया गया है। अर्थ—'वात' या वात-समूह अर्थात् बवण्डर न सहने वाला—वातं न सहते, वातस्य समूहः वा। (९) नवें वार्तिक के अनुसार मत्वर्थ में पर्व तथा मरुत् प्रातिपदिकों से तप् (= त) प्रत्यय होता है। माधवीय वृत्ति तथा हरदत्त के अनुसार 'तन्' प्रत्यय है। दीक्षित जी ने प्रौढमनोरमा में इसका ('न्' इत्संज्ञक का) निराकरण किया है। नागेश भट्ट ने हरदत्त के कथन को लघुशब्देन्दुशेखर में स्वीकार किया है[1]। उदाहरण—(१) पर्वतः (पहाड़—'पर्वाणि अस्य सन्ति)—पर्वन् + तप् (= त)। 'न'कार लोप। (२) मरुत्तः (एक राजा—मरुतः अस्य परिवेष्टारः सन्ति)—मरुत् + तप् (= त)।

(१९२९) पद—ऊर्णायाः, युस्। अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'सित्' होने से पद (संज्ञा हुई है)। उदा० ऊर्णायुः। कुछ विद्वान् यहाँ 'छन्दसि' की अनुवृत्ति करते हैं। यह ठीक भी है। अन्यथा 'अहंशुभयोः०' (सू० १९४६) सूत्र में ही 'ऊर्णा' का भी ग्रहण कर दिया जाता।

विवरण—"'ऊर्णा' शब्द से मत्वर्थ में 'युस्' (= यु) प्रत्यय होता है"। ' = युस्' प्रत्यय में 'स्' की इत्संज्ञा होने का फल यह है कि "सिति च" (१-४-१६) सूत्र से प्राप्त 'भ'-संज्ञा का "तसौ मत्वर्थे" से बाध होकर पद-संज्ञा होने के कारण 'ऊर्णा' में 'आ' का लोप नहीं होता। उदा-हरण—ऊर्णायुः (ऊन वाला—ऊर्णाः सन्ति अस्य)—ऊर्णा + युस् (= यु)। प्रथमा एकवचन।

विशेष—कुछ विद्वानों ने अष्टाध्यायी-क्रम में इस सूत्र के पूर्व "बहुलं छन्दसि" (५-२-१२२) सूत्र के पढ़े जाने से 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति लाना स्वीकार किया है। दीक्षित जी भी इस मत की पुष्टि करते हैं। तथा इसमें यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यदि वैदिक प्रयोग में 'युस्' प्रत्यय इष्ट न होता तो 'ऊर्णा' शब्द का निवेश भी पाणिनि "अहंशुभमोर्युस्" (५-२-१४०) सूत्र में कर देते।

(१९३०) पद—वाचः, ग्मिनिः। अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

---

१. "पिदयमित्येके। निदयम्—मरुद्भिर्दत्तो मरुत्तः—इत्येवं मरुत्तं साधयित्वा अस्य भाष्ये प्रत्याख्यानं कृतम्।

आलजाटचौ बहुभाषिणि ५ । २ । १२५ ॥ 'कुत्सित इति वक्तव्यम्' (वा ३२२३)। कुत्सितं बहु भाषते—वाचालः, वाचाटः । यस्तु सम्यग्बहु भाषते स वाग्मीत्येव। (१९३२)
स्वामिन्नैश्वर्ये ५ । २ । १२६ ॥ ऐश्वर्यवाचकात्स्वशब्दान्मत्वर्थे आमिनच् । स्वामी ।

नकारादिकार उच्चारणार्थः । अतद्धित इति पर्युदासात् गकारस्य नेत्संज्ञा । वाग्मीति । वाच्शब्दात् ग्मिनिप्रत्यये कुत्वं, जश्त्वम् । प्रत्यये गकारोच्चारणं तु 'प्रत्यये भाषायाम्' इत्यनुनासिकाभावार्थम् ।

(१९३१) **आलजाटचौ** । वाच्शब्दात् आलच्, आटच्—एतौ मत्वर्थे बहुभाषिणीत्यर्थः । ग्मिनोऽपवादः । यस्तु सम्यगिति । न च अबहु, अकुत्सितं च यो वदति तत्रापि वाग्मीति कुतो न भवतीति वाच्यम्, 'यो हि सम्यग्बहु भाषते वाग्मीत्येव स भवती'ति भाष्यबलेन पूर्वसूत्रस्य सम्यक् बहुभाषिण्येव प्रवृत्तेरभ्युपगमादिति भावः ।

(१९३२) **स्वामिन्नैश्वर्ये** । ऐश्वर्ये इति प्रकृतिविशेषणमित्यभिप्रेत्याह—ऐश्वर्यवाचकादिति । आमिनजिति । निपात्यत इति शेषः । स्वामीति । स्वम् ऐश्वर्यं, तद्वानित्यर्थः । नियन्तेति यावत् । ऐश्वर्येत्युक्तेर्धनवानित्यर्थे स्वामीति न भवति ।

मूलार्थं एवं विवरण—"प्रथमान्त 'वाच्' शब्द से मत्वर्थ में 'ग्मिनि' (= ग्मिन्) प्रत्यय होता है"। 'ग्मिनि' में अन्त्य 'इ'कार उच्चारणार्थ है। **उदाहरण—वाग्मी** (बोलने में सामर्थ्य वाला—वाक् अस्य अस्ति)—वाच्+ग्मिनि > वाक्+ग्मिन् (च् = क्—कुत्व) ▷ वाग्मी (क् = ग्—जश्त्व तथा विभक्तिकार्य)।

विशेष—(१) कुछ व्याख्याकारों ने यहाँ पर 'च्' को 'ग्' आदेश और 'मिनि' प्रत्यय का विधान माना है। उनके मतानुसार एक गकारात्मक रूप (वाग्मी) बनता है। गकार-संयुक्त प्रत्यय करने से 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से अनुनासिक नहीं होता, क्योंकि 'ग्' अनुनासिक नहीं है।

(१९३१) पद—आलजाटचौ, बहुभाषिणि। **अनुवृत्ति**—वाचः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थं एवं विवरण—उद्देश्य-वाचक शब्द 'वाचः' की अनुवृत्ति "वाचो ग्मिनिः" (५-२-१२४) पूर्व सूत्र से आ रही है। तदनुसार "'वाच्' प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'बहुत बोलने वाला' अभिधेय होने पर 'आलच्' और 'आटच्' प्रत्यय होते हैं"। यह 'ग्मिनि' का अपवाद है। **उदाहरण**—(क) **वाचालः**→वाच्+आलच् (= आल) होने पर । (ख) **वाचाटः**←वाच्+आटच् (= आट)—होने पर। **अर्थ**—व्यर्थ बकवास करने वाला—कुत्सितं बहु भाषते। 'ग्मिनि' तथा 'आलच्' एवम् 'आटच्' प्रत्ययों में अर्थ का भेद दिखाने के लिए यहाँ एक **वार्तिक** भाष्य से उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार प्रकृत सूत्र के दोनों प्रत्यय कुत्सित अर्थात् **'निरर्थक'** अधिक **बोलने पर ही होते हैं**"। तदनुसार सम्यक् बहुभाषी को **वाग्मी** कहा जायेगा।

(१९३२) पद—स्वामिन्, ऐश्वर्ये । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

मूलार्थं—ऐश्वर्य-वाचक 'स्व' शब्द से मत्वर्थ में 'आमिनच्' हो। उदा० स्वामी ।

विवरण—वस्तुतः 'स्वामिन्'—यह निपातन है। अतः "यह शब्द ऐश्वर्य-वाचक 'स्व' प्रातिपदिक से 'आमिन्' प्रत्ययान्त निपातित है"। ऐश्वर्य से तात्पर्य 'धन' नहीं है। अतः 'स्वामी' शब्द का अर्थ धनवान् नहीं होता, किन्तु 'मालिक' अर्थात् 'नियन्ता' माना गया है। **उदाहरण**—**स्वामिन्** (नियन्ता—स्वम् = ऐश्वर्यम् अस्य अस्ति)—स्व्+आमिन् । अन्त्यवर्ण-लोप ।

(१९३३) अर्शआदिभ्योऽच् ५ । २ । १२७ ॥ अर्शांस्यस्य विद्यन्ते अर्शसः । आकृतिगणोऽयम् । (१९३४) द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः ५ । २ । १२८ ॥ द्वन्द्वः–कटकवलयिनी, शङ्खनूपुरिणी । उपतापो रोगः–कुष्ठी, किलासी । गर्ह्यं निन्द्यम्–ककुदावर्ती । काकतालुकिनी । प्राणिस्थात् किम् ? पुष्पफलवान्घटः । 'प्राण्यङ्गान्न' । पाणिपादवती । 'अतः' इत्येव । चित्रकललाटिकावती । सिद्धे प्रत्यये पुनर्वचनं ठनादिबाधनार्थम् । (१९३५)

(१९३३) अर्शआदिभ्योऽच् । अर्शस्शब्दः आदिः एषामिति विग्रहः । अर्शस इति । अर्शः गुदरोगविशेषः ।

(१९३४) द्वन्द्वोपताप । द्वन्द्वसमासात् उपतापवाचकात् गर्ह्यवाचकाच्च प्राणिस्थविषयेभ्यो मत्वर्थे इनिः स्यादित्यर्थः । द्वन्द्वेति उदाहरणसूचनम् । कटकवलयिनीति । कटकवलययोः कश्चिदाकृतिभेदं परिकल्प्य द्वन्द्व उपपाद्यः । उपताप इत्यस्य विवरणं—रोग इति । किलासः कुष्ठभेदः । गर्ह्यमित्यस्य विवरणं—निन्द्यमिति । ककुदावर्तीति । ककुदं ग्रीवाया अधस्तात्पृष्ठभागः । तत्र आवर्तः ककुदावर्तः, सः अस्यास्तीति विग्रहः । काकतालुकिनीति । काकस्येव तालुके काकतालुके, ते अस्याः स्त इति विग्रहः । प्राण्यङ्गान्नेति । व्याख्यानमेवात्र शरणम् । एवंविधवार्तिकस्य भाष्ये अदर्शनात् । अत इत्येवेति । समासान्त इति सूत्रभाष्यरीत्या मण्डूकप्लुत्या तदनुवृत्तेरिति भावः । चित्रकललाटिकावतीति ।

(१९३३) पद—अर्शआदिभ्यः, अच् । अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—'अर्शस्' आदि गण-पठित (अर्शस्शब्दः आदिः एषाम्) शब्दों से 'मत्वर्थ' में 'अच्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—अर्शसः (बवासीर रोगवाला—अर्शांसि अस्य विद्यन्ते)—अर्शस्+अच् (= अ) ।

(१९३४) पद—द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्, प्राणिस्थात्, इनिः । अनुवृत्ति—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—द्वन्द्व में ('इन्' होने पर)—उदा० कटकवलयिनी तथा शङ्खनूपुरिणी । 'उपताप' अर्थात् रोग । उदा० कुष्ठी, किलासी । 'गर्ह्य' अर्थात् निन्द्य । उदा० ककुदावर्ती तथा काकतालुकी । 'प्राणिस्थात्' क्यों कहा ? पुष्पफलवान् घटः ('मतुप्' हुआ, 'इनि' नहीं) । वा० प्राण्यङ्गवाची से ('इनि') न हो । उदा० पाणिपादवती (अतः 'मतुप्' हुआ) । ह्रस्व अकारान्त से ही हो । (अतः) 'चित्रकललाटिकावती' में (इनि नहीं हुआ) । (इनि) प्रत्यय के स्वतः सिद्ध होते हुए भी (उसका) पुनः कथन 'ठन्' के बाधनार्थ है ।

विवरण—विशेष्यवाची शब्द 'प्राणिस्थात्' है । उसका विशेषण-शब्द है—द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात् । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "द्वन्द्वसमास निष्पन्न, रोगवाचक एवम् निन्द्य सूचक (गर्ह्य) प्राणिविषयक शब्दों से 'मत्वर्थ' में 'इनि' (= इन्) प्रत्यय होता है" । ये तीनों प्रकार के शब्द भी ह्रस्व-अकारान्त अपेक्षित हैं । "समासान्ताः" सूत्रस्थ भाष्य के अनुसार मण्डूकप्लुति से 'अतः' पद की अनुवृत्ति-वश यह निर्वाह किया गया है । क्रमशः **उदाहरण**—द्वन्द्व-(क) कटकवलयिनी (हाथ-पैर के गहनों वाली—कटकश्च वलयं च कटकवलयम्, तद् अस्य अस्ति)—कटकवलय्+इनि (इन्)+ङीप् । (ख) शङ्खनूपुरिणी (शंख और बिछुओं वाली—शङ्खश्च नूपुरश्च—शङ्खनूपुरम्, तद् अस्य अस्ति)—शङ्खनूपुर्+इन्+ङीप् । (२) रोगवाचक—(क) कुष्ठी (कुष्ठ रोगवाला—कुष्ठम् अस्य अस्ति)—कुष्ठ्+इनि (= इन्) । (ख) किलासी (किलास = कुष्ठ का भेद = रोग वाला—किलासः अस्य अस्ति)—किलास्+इनि (= इन्) । (३) निन्द्यवाची—(क) ककुदावर्ती (कन्धे पर भौंरीवाला), बैल—(ककुदे आवर्तः ककुदावर्तः, सः अस्य अस्ति)—

वातातिसाराभ्यां कुक्च ५।२।१२९॥ चादिनिः। वातकी। अतिसारकी। रोगे चायमिष्यते। नेह। वातवती गुहा। 'पिशाचाच्च' (वा ३२२४)। पिशाचकी।

चित्रकं च ललाटिका चेति द्वन्द्वः। अदन्तत्वाभावादिनिर्नेति भावः। ननु 'अत इनिठनौ' इत्यतोऽनुवृत्त्यैव सिद्धे पुनरिह इनिग्रहणं किमर्थमित्यत आह—सिद्धे प्रत्यये इति। ठनावीति। आदिना मतुपः सङ्ग्रहः।

(१९३५) वातातिसाराभ्यां कुक्च। चादिनिरिति। वात, अतिसार आभ्यां मत्वर्थं इनिः स्यात् प्रकृतेः कुक् चेत्यर्थः। कुकि ककार इत्, उकार उच्चारणार्थः। कित्त्वादन्तावयवः। वातकीति। वातरोगवानित्यर्थः। अतिसारकीति। अतिसाररोगवानित्यर्थः। रोगे चायमिति। व्याख्यानादिति भावः। रोग एवेत्यर्थः। वातवती गुहेति। अत्र रोगस्याप्रतीतेरिनिकुकौ नेति भावः। पिशाचाच्चेति। वार्तिकमिदम्। पिशाचादिनिः प्रकृतेः कुक्चेत्यर्थः।

ककुदावर्त + इनि (=इन्)। (ख) **काकतालुकिनी** (कौए की तरह तालु वाली—काकस्य इव तालुके = काकतालुके, ते अस्याः स्तः)—काकतालुक + इन् + ङीप्।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'प्राणिस्थ' पद का निवेश होने से **पुष्पफलवान्** (घटः) (फूल-फल वाला घड़ा) शब्दों में अकारान्त द्वन्द्व-समास-युक्त होने पर भी प्राणिस्थ न होने के कारण 'इनि' नहीं हुआ, किन्तु 'मतुप्' हुआ। 'प्राणिस्थ' में भी प्राण्यङ्गवाची के अभीष्ट न होने से **पाणिपादवती** (हाथ पैर वाली) में 'इनि' नहीं होता, किन्तु 'मतुप्' हुआ। इसी प्रकार ह्रस्व अकारान्त शब्दों से ही अभीष्ट होने के कारण **चित्रकललाटिकावती** (तिलक तथा ललाट के आभूषणवाली) में प्राणिस्थ एवं द्वन्द्वसमासयुक्त (चित्रकं च ललाटिका च—चित्रकललाटिके, ते अस्याः स्तः) होने पर भी अकारान्त न होने के कारण 'इनि' नहीं होता, किन्तु 'मतुप् हुआ।

विशेष—यद्यपि इन स्थलों पर "अत इनि-ठनौ" (५-२-११५) से ही 'इनि' प्रत्यय स्वतः सिद्ध रहा, तथापि 'इनि' के साहचर्य में 'ठन्' प्रत्यय भी होने लगता, उसकी निवृत्ति के लिये पृथक् 'इनि'-विधान की चरितार्थता है।

(१९३५) **पद**—वातातिसाराभ्याम्, कुक्, च। **अनुवृत्ति**—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'च' (के निवेश) से 'इनि' (होगा)। उदा० १-वातकी। २-अतिसारकी। 'रोग' अर्थ में ही अभीष्ट है। (अतः) 'वातवती गुहा' में नहीं हुआ। वा० 'पिशाच' शब्द से भी हो। उदा० पिशाचकी।

विवरण—"'विधेय'='इनि' प्रत्यय का लाभ पूर्वसूत्र (५-२-१२८) से अनुवृत्ति-वश तथा उसके साहचर्य में यहाँ 'कुक्' आगम का विधान भी (च) किया गया है"। 'वात' तथा 'अतिसार' शब्दों के रोगवाचक होने पर ही उक्त विधान होगा। अन्यथा पूर्व सूत्र से ही 'इनि' प्रत्यय सिद्ध रहा। अतः 'कुक्' आगम की सार्थकता अधिक होने के कारण पुनर्विधान चरितार्थ होता है। **उदाहरण**—(१) **वातकी** (वात रोग वाला—वातः अस्य अस्ति)—वात-क् + इन् ('वात' का अन्तावयव 'कुक्' = 'क्' आगम तथा इनि प्रत्यय)। (२) **अतिसारकी** (विरेचन रोगवाला—अतिसारः अस्य अस्ति)—अतिसार-क् + इनि। उभयत्र प्रथमा विभक्ति एक वचन।

प्रत्युदाहरण—यह विधान 'रोग' अर्थ तक ही सीमित होने के कारण **वातवती गुहा** (हवावाली गुहा) में 'वात' शब्द के रोगवाची न होने से 'इनि' प्रत्यय नहीं हुआ, किन्तु यथाप्राप्त 'मतुप्' प्रत्यय हुआ (म् = व्)।

वार्तिक—उक्त दोनों शब्दों के अतिरिक्त 'पिशाच' शब्द से भी 'इनि' प्रत्यय एवं 'कुक्'

(१९३६) वयसि पूरणात् ५ । २ । १३० ॥ पूरणप्रत्ययान्तान्मत्वर्थे इनिः स्याद्वयसि द्योत्ये । मासः संवत्सरो वा पञ्चमोऽस्यास्तीति पञ्चमुष्ट्रः । ठनादिबाधनार्थमिदम् । वयसि किम् ? पञ्चमवान् ग्रामः । **(१९३७) सुखादिभ्यश्च ५ । २ । १३१ ॥** इनिर्मत्वर्थे । सुखी । दुःखी । 'माला क्षेपे' (ग० सू ११६) माली । **(१९३८) धर्मशीलवर्णान्ताच्च ५ । २ । १३२ ॥** धर्माद्यन्तादिनिर्मत्वर्थे । ब्राह्मणधर्मी । ब्राह्मणशीली । ब्राह्मणवर्णी ।

(१९३६) वयसि पूरणात् । 'अत इनिठना'वित्येव इनिसिद्धेः किमर्थमित्यत आह—ठनादिबाधनार्थमिति ।

(१९३७) सुखादिभ्यश्च । इनिर्मत्वर्थे इति । इनिरेव, न तु ठनित्यर्थः । माला क्षेपे इति । सुखादिगणसूत्रमिदम् ।

(१९३८) धर्मशील । धर्माद्यन्तादिति । धर्म, शील, वर्ण एतदन्तादिनिरेवेत्यर्थः ।

(= क्) आगम हों" । तदनुसार **पिशाचकी** (पिशाचों वाले, कुबेर—पिशाचाः अस्य सन्ति) में भी 'इनि' एवं 'कुक्'-आगम होता है ।

(१९३६) पद—वयसि, पूरणात् । **अनुवृत्ति**—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'पूरण'-प्रत्ययान्त से 'वय' द्योत्य रहते मत्वर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है । उदा० मासः संवत्सरः वा पञ्चमः अस्य अस्ति—अर्थ में→पञ्चमुष्ट्रः । 'ठन्' आदि के बाधार्थ यह विधान है । 'वयसि' क्यों कहा ? पञ्चमवान् ग्रामः ('इनि' नहीं हुआ) ।

विवरण—विधेय 'इनि' प्रत्यय ५-२-१२८ से अनुवर्तमान है । तदनुसार "'पूरण'-प्रत्ययान्त शब्दों से अवस्था गम्यमान होने पर मत्वर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है" । ह्रस्व अकारान्त होने के कारण यथाप्राप्त 'ठन्' एवं 'मतुप्' के बाधनार्थ यह चरितार्थ होता है । **उदाहरण—पञ्चमी** उष्ट्रः (पाँच मास या वर्ष वाला ऊँट—पञ्चमः मासः संवत्सरः वा अस्य अस्ति)—पञ्चम् + इनि (= इन्) । प्रथमा विभक्ति एकवचन ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'वयसि' पद का निवेश होने से **पञ्चमवान्** ग्रामः (पञ्चम स्वरवाला ग्रामराग) में 'वयस्' द्योत्य न होने से 'इनि' नहीं हुआ । अतः यथाप्राप्त 'मतुप्' प्रत्यय तथा (म् = व्) हुआ ।

(१९३७) पद—सुखादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं **विवरण**—'इनि' का ही सातत्य है । तदनुसार "'सुखादि' प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है" । यथाप्राप्त 'ठन्' के बाधनार्थ इस विधान की भी चरितार्थता है । तदनुसार **सुखी** (सुख वाला—सुखम् अस्य अस्ति–सुख + इनि) तथा **दुःखी** (दुःखवाला—दुःखम् अस्य अस्ति–दुःख + इनि) शब्द प्रचलित हैं । इसी सन्दर्भ में **गणसूत्र** द्वारा यह बतलाया गया है कि **माला** शब्द से **निन्दा** अर्थ में **इनि** प्रत्यय होता है । अतः यहाँ **माली** शब्द का अर्थ—सामान्यतः मालावान् न होकर **माला धारण करने का अधिकारी न होते हुए भी** मालावाला होगा ।

(१९३८) पद—धर्म-शील-वर्णान्तात्, च । **अनुवृत्ति**—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—धर्मादि-अन्तवाले शब्दों से मत्वर्थ में 'इनि' हो । उदा० १–ब्राह्मणधर्मी । २–ब्राह्मणशीली । ३–ब्राह्मणवर्णी ।

विवरण—सूत्रस्थ 'अन्त' शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ है—'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं

(१९३९) हस्ताज्जातौ ५ । २ । १३३ ॥ हस्ती । जातौ किम् ? हस्तवान्पुरुषः । (१९४०) वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ५ । २ । १३४ ॥ वर्णी । (१९४१) पुष्करादिभ्यो देशे ५ । २ । १३५ ॥ पुष्करिणी । पद्मिनी । देशे किम् ? पुष्करवान्करी । 'बाहूरुपूर्वपदाद्बलात्' (वा ३२२५) । बाहुबली । ऊरुबली । 'सर्वादेश्च' (वा ३२२६) । सर्वधनी ।

(१९३९) हस्ताज्जातौ । हस्तान्मत्वर्थे इनिरेव समुदायेन जातिविशेषे गम्ये इत्यर्थः ।

(१९४०) वर्णाद् ब्रह्मचारिणि । वर्णशब्दान्मत्वर्थे इनिरेव समुदायेन ब्रह्मचारिणि गम्ये इत्यर्थः । वर्णीति । वर्णः ब्राह्मणादितत्तद्वर्णोचितवसन्तादिकालमुपनयनम्, सोऽस्यास्तीति विग्रहः ।

(१९४१) पुष्करादिभ्यो देशे । पुष्करशब्दान्मत्वर्थे इनिरेव स्यात् देशे गम्ये । बाहूरुपूर्वपदाद् बलादिति । वार्तिकमिदम् । बाहु, ऊरु एतत्पूर्वपदकात् बलशब्दान्तान्मत्वर्थे इनिरेवेत्यर्थः । सर्वादेश्चेति । वार्तिकमिदम् । इनिरेवेति शेषः । अर्थाच्चासन्निहिते इति ।

प्रत्येकम् अभिसम्बन्ध्यते' । अतः '''धर्म', 'शील' तथा 'वर्ण' शब्दान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में 'इनि' (=इन्) प्रत्यय होता है'' । क्रमशः उदाहरण—(१) ब्राह्मणधर्मी (ब्राह्मण धर्म वाला—ब्राह्मणस्य धर्मः, सः = ब्राह्मणधर्मः अस्य अस्ति)—ब्राह्मणधर्म् + इनि (=इन्) । (२) ब्राह्मणशीली (ब्राह्मण-स्वभाव वाला—ब्राह्मणशीलम् अस्य अस्ति)—ब्राह्मणशील् + इनि । (३) ब्राह्मणवर्णी (ब्राह्मणवर्णवाला—ब्राह्मणवर्णः अस्य अस्ति)—ब्राह्मणवर्ण् + इनि ।

(१९३९) पद—हस्तात्, जातौ । अनुवृत्ति—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—'''हस्त' शब्द से जातिवाच्य होने पर मत्वर्थ में 'इनि' (=इन्) प्रत्यय होता है । 'हाथी' की सूँड़ के लिये भी संस्कृत में 'हस्त' शब्द का प्रयोग होता है । उदाहरण—हस्ती (हाथी—हस्तः अस्य अस्ति)—हस्त् + इनि ।

प्रत्युदाहरण—जात्यतिरिक्त होने पर—हस्तवान् पुरुषः में 'मतुप्' हुआ ।

(१९४०) पद—वर्णात्, ब्रह्मचारिणि । अनुवृत्ति—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

विवरण—'''वर्ण' प्रातिपदिक से ब्रह्मचारी वाच्य होने पर मत्वर्थ में इनि (=इन्) प्रत्यय होता है'' । उदाहरण—वर्णी (ब्रह्मचर्य से युक्त—वर्णः अस्य अस्ति)—वर्ण् + इनि ।

(१९४१) पद—पुष्करादिभ्यः, देशे । अनुवृत्ति—इनिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—उदा० १-पुष्करिणी । २-पद्मिनी । 'देशे' क्यों कहा ? पुष्करवान् करी ('हाथी' अर्थ होने से 'इनि' नहीं हुआ) । वा० 'बाहु' और 'ऊरु' शब्दों से बलवान् अर्थ में ('इनि' प्रत्यय हो) । उदा० १-बाहुबली । २-ऊरुबली । वा० 'सर्व' शब्द है आदि में जिनके-ऐसे शब्दों से ('इनि' प्रत्यय हो) । उदा० १-सर्वधनी । २-सर्वबीजी । वा० 'अर्थ' शब्द से असन्निहित अर्थ में ('इनि' प्रत्यय हो) । उदा० अर्थी । सन्निहित अर्थ में—अर्थवान् (इनि) नहीं हुआ । वा० अर्थशब्दान्त से भी हो । उदा० १-धान्यार्थी । २-हिरण्यार्थी ।

विवरण—'इनि' का ही सातत्य है । ''पुष्करादि शब्दों से मत्वर्थ में देशवाच्य होने पर 'इनि' (=इन्) प्रत्यय होता है'' । उदाहरण—(१) पुष्करिणी (पुष्कर् + इन् + ङीप्) । तथा (२) पद्मिनी (पद्म् + इन् + ङीप्)—ऐसे छोटे तालाबों को कहते हैं, जिनमें कमल खिले हुए हों—पुष्करं पद्मं वा अस्य अस्ति ।

सर्वबीजी। 'अर्थाच्चासन्निहिते' (वा ३२२७)। अर्थी। सन्निहिते तु अर्थवान्। 'तदन्ताच्च' (वा ३२२८)। धान्यार्थी। हिरण्यार्थी। (१९४२) **बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् ५।२।१३६॥** बलवान्–बली। उत्साहवान्–उत्साही। (१९४३) **संज्ञायां मन्माभ्याम् ५।२।१३७॥** मन्नन्तान्मान्ताच्चेनिर्मत्वर्थे। मन्–प्रथिमिनी, दामिनी। म–होमिनी, सोमिनी। संज्ञायाम् किम्? सोमवान्। (१९४४)

वार्तिकमिदम्। असन्निहितविषयकादर्थशब्दात् इनिरेवेत्यर्थः। अर्थीति। असन्निहितः अर्थः अस्येति विग्रहः। अर्थो नास्तीति यावत्। तत्र विरोधादस्तीति न सम्बध्यते। अर्थोऽसन्निहितोऽस्येत्यर्थे अप्राप्त एव इनिर्विधीयत इति कैयटः। प्रत्ययविधौ तदन्तविधिनिषेधादाह— तदन्ताच्चेति। अर्थशब्दान्तादपि इनिर्वक्तव्यः इत्यर्थः।

(१९४२) बलादिभ्यो। मतुबभावपक्षे सन्निहितः इनिरित्यभिप्रेत्योदाहरति–बलवान् बलीति।

(१९४३) संज्ञायां मन्माभ्याम्। प्रथिमिनीति। 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इमनिजन्तः प्रथिमन् शब्दः। अत्र मनोऽनर्थकत्वेऽपि 'अनिनस्मन्' इति तदन्तविधिना इमनिजन्तोऽपि

इस सन्दर्भ में कुछ वार्तिक उद्धृत किये गये हैं—(१) 'बाहु' तथा 'ऊरु' शब्द आदि वाले 'बल' शब्दान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। क्रमशः **उदाहरण**—(क) **बाहुबली** (बाहुबलवाला–बाहुबलम् अस्य अस्ति)—बाहुबल्+इनि। (ख) **ऊरुबली** (जाँघ के बलवाला–ऊरुबलम् अस्य अस्ति)—ऊरुबल्+इनि। (२) सर्व शब्द है आदि में जिसके, ऐसे शब्दों से भी मतुबर्थ में 'इनि' प्रत्यय हो। **उदाहरण**—(क) **सर्वधनी**—सब प्रकार के धनवाला–सर्वधनम् अस्य अस्ति)—सर्वधन्+इनि। (ख) **सर्वबीजी** (सब प्रकार के बीजवाला—सर्वबीजम् अस्य अस्ति)—सर्वबीज्+इनि। (३) **असन्निहित-अर्थ** विषयक शब्द से मतुबर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—**अर्थी** (धन न होने पर धन चाहने वाला—असन्निहितः अर्थः अस्य अस्ति)—अर्थ्+इनि। इसके विपरीत धन होने पर भी धन का इच्छुक व्यक्ति धनवान् कहलायेगा। अतः यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है। (४) प्रत्यय-विधि में तदन्त विधि का निषेध होने के कारण **अर्थशब्दान्त** प्रातिपदिक से भी **मत्वर्थ** में **इनि** प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। **उदाहरण**—(क) **धान्यार्थी** (अन्न चाहने वाला—धान्यस्य अर्थः = धान्य-प्रयोजनम् अस्य अस्ति)—धान्यार्थ्+इनि। (ख) **हिरण्यार्थी** (धन चाहने वाला—हिरण्यस्य अर्थः = हिरण्य-प्रयोजनम् अस्य अस्ति)—हिरण्य्+इनि।

(१९४२) **पद**—बलादिभ्यः, मतुप्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—इनिः तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"प्रथमान्त 'बल' आदि प्रातिपदिकों से मतुबर्थ में 'मतुप्' विकल्प से होता है"। पक्ष में 'इनि' होगा। **उदाहरण**—(१) (क) **बलवान्**—बल्+मतुप्। तथा (ख) **बली**—बल्+इनि। **अर्थ**—बलशाली—बलम् अस्य अस्ति। (२) (क) **उत्साहवान्**—उत्साह+मतुप्। तथा (ख) **उत्साही**—उत्साह्+इनि। **अर्थ**—उत्साहसम्पन्न—उत्साहः अस्य अस्ति।

(१९४३) **पद**—संज्ञायाम्, मन्-माभ्याम्। **अनुवृत्ति**—इनिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'मन्'-अन्त और 'म'अन्तवाले शब्दों से मत्वर्थ में 'इनि' हो। उदा० (१) 'मन्'-अन्त—(क) प्रथिमिनी, (ख) दामिनी। मान्त—(क) होमिनी, (ख) सोमिनी। 'संज्ञायाम्' क्यों कहा? सोमवान् ('इनि' नहीं हुआ)।

कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः ५ । २ । १३८ ॥ कम्, शम् इति मान्तौ । कम् इत्युदक-सुखयोः शम् इति सुखे । आभ्यां सप्त प्रत्ययाः स्युः । युस्यसोः सकारः पदत्वार्थः । कंवः । कम्भः । कंय्युः । कन्तिः । कन्तुः । कन्तः । कंय्यः । शंवः । शम्भः । शंय्युः । शन्तिः । शन्तुः । शन्तः । शंय्यः । अनुस्वारस्य वैकल्पिकः परसवर्णः । वकारयकारपरस्यानुनासिकौ

गृह्यते । प्रथिमन्शब्दादिनिप्रत्यये टिलोपे नान्तलक्षणङीपि प्रथिमिनीशब्दः । दामिनीति । दामन्शब्दादिनौ टिलोपे ङीबिति भावः । मेति । मान्तोदाहरणसूचनमिदम् । होमिनी सोमिनीति । होमशब्दात्सोमशब्दाच्च इनौ ङीबिति भावः ।

(१९४४) कंशंभ्याम् । व, भ, युस्, ति, तु, त, यस्—एषां सप्तानां द्वन्द्वात् प्रथमाबहुवचनम् । सप्त प्रत्ययाः स्युरिति । मत्वर्थे इति शेषः । पदत्वार्थं इति । अन्यथा कम् इत्यस्माद् युप्रत्यये यप्रत्यये च कृते भत्वात् पदत्वाभावादनुस्वारो न स्यादिति भावः । वकारयकारपरस्येति । बहुव्रीहिः । वकारपरकस्य यकारपरकस्य चानुस्वारस्येत्यर्थः ।

विवरण—'इनि' का ही सातत्य है । तदनुसार "'मन्'-अन्तवाले तथा 'म'-शब्दान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में 'संज्ञा' गम्यमान रहते 'इनि' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—'मन्'-अन्त—(क) **प्रथिमिनी** (विस्तारवाली—प्रथिमा विद्यते अस्याः)—प्रथिमन्+इनि (=इन्) > प्रथिम्+इन् ('टि'=अन् का लोप) > प्रथिमिनी (स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय) । (ख) **दामिनी** (बिजली—दाम विद्यते अस्याः)—दामन्+इनि (=इन्) > दामिनी ('टि'लोप तथा ङीप्) । (२) मकारान्त—(क) **होमिनी** (होम करने वाली—होमः विद्यते अस्याः)—होम+इनि (=इन्) । 'अन्त्यवर्ण'—लोप एवम् ङीप् । (ख) **सोमिनी** (सोमयज्ञ करने वाली—सोमः विद्यते अस्याः) । प्रक्रिया पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'संज्ञायाम्' पद का निवेश होने से संज्ञातिरिक्त स्थल में 'इनि' न होने के फलस्वरूप **सोमवान्** (सोमरसवाला) शब्द में 'मतुप्' हुआ (सोम+मतुप्, म्=व्) ।

विशेष—'प्रथिमन्' शब्द 'इमनिच्' प्रत्ययान्त है—"पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" (५-१-१२२) । अतः तदवयवस्वरूप 'मन्' के अनर्थक होने पर भी 'अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेनापि तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति'—परिभाषा के अनुसार 'मन्'-अन्त का ग्रहण किये जाने के फलस्वरूप 'इनि' प्रत्यय होने में बाधा उपस्थित नहीं होती ।

(१९४४) **पद**—कंशंभ्याम्, बभयुस्तितुतयसः । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'कम्' और 'शम्'—ये दोनों मान्त हैं । (इनमें से) 'कम्' शब्द जल और सुखार्थक है, तथा 'शम्' केवल सुखार्थक है । इन दोनों से सात प्रत्यय हों । 'युस्' तथा 'यस्' का सकार 'पद' संज्ञा के लिये है । **उदाहरण**—(१) कंवः, कम्भः, कंय्युः, कन्तिः, कन्तुः, कन्तः, कंय्यः । (२) शंवः, शम्भः, शंय्युः, शन्तिः, शन्तिः, शन्तः, शंय्यः । अनुस्वार के स्थान में वैकल्पिक परसवर्ण है । वकार एवं यकार पर रहते 'व्' एवं 'य्' अनुनासिक होते हैं ।

विवरण—"'कम्' तथा 'शम्' शब्दों से मत्वर्थ में 'व' 'भ', 'युस्', 'ति', 'तु', 'त' तथा 'यस्'-ये सात प्रत्यय होते हैं ।" इनमें से 'कम्' शब्द 'जल' एवं सुख का वाचक तथा 'शम्' शब्द केवल सुख का वाचक है । 'युस्' तथा 'यस्' प्रत्ययों में 'सकार' "सिति च" (१-४-१६) से पद-संज्ञा करने के लिये है । अतः 'पद' संज्ञा होकर 'म्' को "मोऽनुस्वारः" (८-३-२३) से अनुस्वार तथा "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" (८-४-५७) से परसवर्ण होकर 'कंय्यः' 'शंय्यः' आदि दो यकारात्मक रूप बनेंगे । पक्ष में अनुनासिक 'य्' भी होगा । इसी प्रकार 'कन्तिः' 'कन्तुः' तथा

वयौ । (१९४५) तुन्दिवलिवटेर्भः ५ । २ । १३९ ॥ वृद्धा नाभिस्तुन्दिः । 'मूर्धन्योपधोऽयम्' इति माधवः । तुन्दिभः । वलिभः । वटिभः । पामादित्वाद् वलिनोऽपि । (१९४६) अहंशुभमोर्युस् ५ । २ । १४० ॥ 'अहम्' इति मान्तमव्ययमहङ्कारे । शुभमिति शुभे । अहंयुः, अहङ्कारवान् । शुभंयुः, शुभान्वितः । इति मत्वर्थीयाः ।



(१९४५) तुन्दिवलि । तुन्दि, वलि, वटि एभ्यो मत्वर्थे भप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । समाहारद्वन्द्वात्पञ्चम्येकवचनम् । पुंस्त्वमार्षम् । वटिभ इति । 'वट वेष्टने' । वटनं वटिः । सोऽस्यास्तीति विग्रहः ।

(१९४६) अहंशुभमोर्युस् । अहंयुः शुभंयुरित्यत्र सुब्लुकमाशङ्क्याह—अहमित्यादीति । सित्त्वं पदत्वार्थम् । तेन पदत्वादनुस्वारे परसवर्णः सिध्यति ।

इति तद्धिते पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयपादे मत्वर्थीयप्रकरणम् ।

'शन्तिः' 'शन्तुः' में भी 'म्' को अनुस्वार एवं परसवर्ण (= 'न्') होते हैं । उदाहरण—'कम्'—(१) कम्+व ▷ कंव्वः । (२) कम्+भ > कम्भः । (३) कम्+युस् > कंय्युः या कँय्युः । (४) कम्+ति ▷ कन्तिः । (५) कम्+तु ▷ कन्तुः । (६) कम्+त ▷ कन्तः । (७) कम्+य > कंय्यः या कँय्यः । अथ—जल या सुखवाला—'कम्' अस्य अस्ति । (२) इसी प्रकार शंव्वः आदि सातों रूप बनेंगे । अर्थ—सुखवाला–'शम्' अस्य अस्ति ।

(१९४५) पद—तुन्दि-वलि-वटेः, भः । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—बढ़ी हुई नाभि की 'तुन्दि' संज्ञा है । माधवाचार्य के मत में यह शब्द मूर्धन्योपध है । उदा० १-तुन्दिभः । २-वलिभः । ३-वटिभः । पामादि में पाठ होने से 'वलिनः' रूप भी (होगा) ।

विवरण—"'तुन्दि', 'वलि' तथा 'वटि'–इन प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में 'भ' प्रत्यय होता है" । बढ़ी निकली हुई 'नाभि' को 'तुन्दि' (तोंद) कहा जाता है । माधवाचार्य इसे 'तुण्दि' (मूर्धन्य = 'ण्'-उपधा वाला) मानते हैं । **उदाहरण**—(१) **तुन्दिभः** (बड़ी तोंद वाला—तुन्दिः अस्य अस्ति)—तुन्दि+भ । विभक्तिकार्य । (२) **वलिभः** (झुर्रियों वाला—वलयः अस्य सन्ति)—वलि+भ । पक्ष में पामादि-गण में पाठ होने के कारण 'न' प्रत्यय होकर **वलिनः** रूप भी बनेगा । (३) **वटिभः** (मोदक वाला—'वटिः' अस्य अस्ति)—वटि+भ ।

(१९४६) पद—अहं-शुभयोः, युस् । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—मकारान्त 'अहम्' अव्यय अहङ्कार अर्थ में है । 'शुभम्' शुभार्थक है । उदा० १-अहंयुः—अर्थात् अहङ्कारवान् । २-शुभंयुः—अर्थात् शुभान्वित ।

विवरण—'अहम्' तथा 'शुभम्'—ये दोनों शब्द अव्ययसंज्ञक हैं । अहङ्कार अर्थ में 'अहम्' तथा 'कल्याण' अर्थ में 'शुभम्' का प्रयोग होता है । तदनुसार "'अहम्' तथा 'शुभम्' अव्ययों से मत्वर्थ में 'युस्' प्रत्यय होता है । 'युस्' प्रत्यय में 'स्'-इत्संज्ञा का फल "सिति च" (१-४-१६) से पदसंज्ञा का होना है । जिसके फलस्वरूप (१) **अहंयुः** (अहङ्कारी—अहम्

अथ तद्धिते प्राग्दिशीयप्रकरणम्

(१९४७) प्राग्दिशो विभक्तिः ५ । ३ । १ ॥ दिक्छब्देभ्य इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः विभक्तिसंज्ञाः स्युः । अथ स्वार्थिकाः प्रत्ययाः । 'समर्थानाम्' इति, 'प्रथमात्' इति च निवृत्तम् । 'वा' इति त्वनुवर्तत एव । **(१९४८) किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः**

(१९४७) अथ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयपादे प्राग्दिशीयप्रकरणं निरूप्यते । प्राग्दिशो विभक्तिः । दिक्छब्देन तदघटितं सूत्रं विवक्षितमित्यभिप्रेत्याह—दिक्छब्देभ्य इत्यत इति । विभक्तिसंज्ञका इति । तत्फलं तु 'न विभक्तौ तुस्माः' इति निषेधः, त्यदाद्यत्वम्, इदम 'ऊडिदम्पदादि' इति स्वरश्च । स्वार्थिका इति । स्वेतिप्रकृत्यर्थे भवा इत्यर्थः । तसिलादिष्वर्थनिर्देशाभावात् 'अतिशायने' इत्यादीनां प्रकृत्यर्थविशेषणत्वाच्चेति भावः । निवृत्तमिति । अत्रोपपत्तिः 'समर्थानाम्' इत्यत्रोक्ता । अनुवर्तत एवेति । व्याख्यानमेवात्र शरणम् ।

अस्य अस्ति—अहं+युस्) तथा (२) शुभंयुः (कल्याण वाला—शुभम् अस्य अस्ति—शुभम्+युस्) में 'म्' को अनुस्वार हो जाता है । तदनन्तर विभक्तिकार्य ।

पञ्चमाध्याय के द्वितीय पाद में वर्णित प्रत्यय यहाँ समाप्त हो रहे हैं ।

'दीपिका' में मत्वर्थीय-प्रकरण समाप्त ।

उपक्रम—पञ्चमाध्याय के तृतीय पाद का आरम्भ होता है । इस पाद के प्रारम्भ में विभक्ति-संज्ञक प्रत्ययों का विधान किया जा रहा है । ये प्रत्यय स्वार्थिक हैं अर्थात् अपने प्रकृति-वाची शब्द के अर्थ को अभिलक्षित कर होते है, क्योंकि 'तसिल्' आदि में अर्थ-निर्देश नहीं किया गया है । विभक्ति-संज्ञा होने का फल इस प्रकार है—(१) "न विभक्तौ तुस्माः" (१-३-४) से तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा का न होना तथा (२) "त्यदादीनामः" (७-२-१०२) से 'अ'कार विधान तथा "ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" (६-१-१७१) से उदात्त स्वरविधान ।

(१९४७) पद—प्राक्, दिशः, विभक्तिः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—"दिक्शब्देभ्यः०" सूत्र से पूर्व कहे जाने वाले प्रत्यय विभक्ति-संज्ञक होते हैं । अब स्वार्थिक प्रत्यय कहे जाते हैं । 'समर्थानाम्' तथा 'प्रथमात्' इन दोनों की भी निवृत्ति होती है । केवल 'वा' की अनुवृत्ति शेष रहती है ।

विवरण—'प्राक्-दिशीय' प्रकरण आरम्भ हो रहा है । उसका नाम भी अन्य प्रकरणों के समान सार्थक है । तदनुसार उस प्रकरण की सीमा को बतलाने वाले शब्द का सूत्र में उल्लेख किया गया है । अतः "दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः" (५-३-२७) से पूर्वतक जितने प्रत्यय कहे जायेंगे, उनकी विभक्ति-संज्ञा होगी" । इस बीच होने वाले प्रत्ययों का कोई अर्थ-निर्देश पाणिनि ने अपने सूत्रों में नहीं किया है, अतः उन्हें स्वार्थिक-प्रत्यय कहा जाता है, क्योंकि वे प्रकृत्यर्थ (विभक्तियों के अर्थ) को ही सूचित करते हैं । इस प्रकार समर्थ-विभक्ति की आवश्यकता न होने से 'समर्थानाम्' पद तथा 'प्रथमात्' इन दोनों पदों का कोई प्रभाव नहीं रहता । किन्तु 'वा' पद का प्रभाव पदत्रयसमुदाय की निवृत्ति के कारण रहता ही है । इस प्रकार विभक्ति-संज्ञा-निमित्तक कार्य करने के लिये इस प्रकरण के प्रत्ययों की विभक्ति-संज्ञा की गई है । उदाहरण आगे दिये जायेंगे ।

५।३।२॥ किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते। (१९४९) इदम इश् ५।३।३॥ प्राग्दिशीये परे। (१९५०) एतेतौ रथोः ५।३।४॥ इदंशब्दस्य 'एत' 'इत्' इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे। इशोऽपवादः।

(१९४८) किं सर्वनाम। अद्वयादिभ्य इति च्छेदः। प्राग्दिश इत्यनुवर्तते। तदाह—प्राग्दिशोऽधिक्रियत इति। विधेयानिर्देशादधिकारोऽयमिति भावः। किमः सर्वनामत्वेऽपि द्व्यादिपर्युदासात् पृथग्ग्रहणम्। द्व्यादिषु किंशब्दपाठस्तु त्वं च कश्च कौ, अहं च कश्च कौ, इत्यत्र 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ' इति किमः शेषत्वार्थः। अथ वक्ष्यमाणतसिलादिप्रत्यये परे कार्यविशेषानाह—इदम इश् इत्यादिना।

(१९४९) इदम इश्। प्राग्दिशीये परे इति शेषपूरणम्। प्रकरणलभ्यमिदम्, शित्वात् सर्वादेशः। इत इत्युदाहरणम्।

(१९५०) एतेतौ रथोः। इदम इत्यनुवर्तते। एतश्च इच्चेति द्वन्द्वात्प्रथमाद्विवचनम्। रश्च थ् च तयोरिति द्वन्द्वः। रेफादकार उच्चारणार्थः। रेफथकाराभ्यां प्राग्दिशीयप्रकरण-लभ्यं विशेष्यते। 'यस्मिन्विधिः' इति तदादिविधिः। तदाह—इदं शब्दस्येत्यादिना। तत्र रेफादौ परे एतः, थादौ तु इदिति यथासङ्ख्यं बोध्यम्। एतर्हि, इत्थम्।

(१९४८) पद—किं सर्वनाम-बहुभ्यः, अद्व्यादिभ्यः। अनुवृत्ति—प्राग्दिशः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। अधिकारसूत्र।

मूलार्थ—'द्वि' आदि शब्दों को छोड़कर 'किम्', 'सर्वनाम' तथा 'बहु' शब्दों से ही प्राग्दिशीय अधिकार प्रभावी होगा।

विवरण—पूर्व सूत्र से अनुवर्तमान 'प्राग्दिशः' पद प्रभावी है। यहाँ से आगे "दिक्शब्देभ्यः०" (५-३-२७) से पूर्व जितने भी प्रत्यय कहे जायेंगे वे सब 'द्वि' आदि शब्दों को छोड़कर केवल 'किम्' शब्द, 'सर्वनाम' तथा 'बहु' शब्दों से ही होंगे"। विधेय का निर्देश न होने से यह भी अधिकार-सूत्र है। सर्वनाम शब्दों में 'द्वि' आदि भी पढ़े गए हैं, केवल सर्वनाम कहने से उनसे भी प्राप्ति थी, अतः उनका निषेध कर दिया गया है। 'किम्' शब्द द्व्यादि के अन्तर्गत आता है, अतः उससे प्रत्यय का निषेध प्राप्त होने के कारण वैसा न हो, इस हेतु 'किम्' का पृथक् निर्देश किया गया है।

(१९४९) पद—इदमः, इश्। अनुवृत्ति—प्राग्दिशः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—आगे होने वाले तसिलादि प्रत्ययों को अभिलक्षित कर अपेक्षित कार्य-विशेष को इङ्गित किया जा रहा है। तदनुसार "'दिक्छब्देभ्यः०' सूत्र पर्यन्त कहे जाने वाले प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'इदम्' के स्थान में 'इश्' आदेश होता है"। 'शित्' होने से यह सर्वादेश होगा।

(१९५०) पद—एतेतौ, रथोः। अनुवृत्ति—इदमः, प्राग्दिशः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—रेफादि तथा थकारादि प्रत्यय परवर्ती होने पर 'इदम्' शब्द को 'एत' तथा 'इत्' आदेश होते हैं। 'इश्' का अपवाद है।

विवरण—सूत्रस्थ दोनों पदों—'एतेतौ' तथा 'रथोः'—में इतरेतर द्वन्द्व समास है। स्थानि-वाचक पद 'इदमः' पूर्व सूत्र ("इदम इश्" ५-३-३) से अनुवृत्तिलभ्य है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'इदम्' शब्द के स्थान में रेफादि तथा थकारादि प्रत्यय पर रहते यथासंख्य 'एत' तथा 'इत्' आदेश होते हैं"। ये आदेश 'इश्' आदेश के बाधक हैं।

(१९५१) एतदोऽन् ५ । ३ । ५ ।। योगविभागः कर्तव्यः । एतदः । एतेतौ स्तो रथोः । 'अन्' । एतदः इत्येव । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (सू २३६) । (१९५२) सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५ । ३ । ६ ।। प्राग्दिशीये दकारादौ प्रत्यये परे

(१९५१) एतदोऽन् । प्राग्दिशीये प्रत्यये परे एतदशब्दस्य अन् स्यादित्यर्थः प्रतीयते । एवं सति एतच्छब्दस्य अनेव स्यात् नत्वेतेतौ तत्राह—**योगविभाग इति** । **एतद इति** । प्रथमसूत्रमिदम् । तस्य शेषपूरणम् 'एतेतौ रथोः' इति । एतच्छब्दस्य एतेतौ स्तो रेफथकारादौ प्रत्यये परे इत्यर्थः । एतर्हि, इत्थम् इत्युदाहरणम् । अन् इति द्वितीयं सूत्रम् । एतद इत्येवेति । रथोः इति तु नानुवर्तते इति भावः । तथा च एतद इत्यस्य अन् स्यात् प्राग्दिशीये परे इत्यर्थः फलति । अतः 'अत्र' इत्युदाहरणम् । ननु अनादेशे नकारस्य इत्संज्ञायाम् अकारोऽन्तादेशः स्यादित्यत आह—**अनेकाल्त्वादिति** । नकारस्य प्रयोजनाभावात् नेत्संज्ञा, नित्स्वरस्य प्रत्ययविषयत्वादिति भावः, तर्हि अत इत्यादौ नकारस्य श्रवणं स्यादित्यत आह—**नलोप इति** ।

(१९५२) सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि । दि इति सप्तम्येकवचनं प्राग्दिशीयविशेषणम् । 'यस्मिन्विधिः' इति तदादिविधिः । तदाह—**प्राग्दिशीये दकारादाविति** । सदा

विशेष—'रथौ' पद में 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा के अनुसार तदादिविधि हुई है ।

(१९५१) पद—एतदः, अन् । **अनुवृत्ति**—प्राग्दिशः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—योगविभाग करना चाहिये । (१) एतदः—(तदनुसार) रेफादि और थकारादि पर रहते 'एत' और 'इत्' आदेश हों । (२) अन्–यह भी 'एतद्' के ही स्थान में हो । अनेकाल् होने से सर्वादेश होगा । ततः 'न्' का लोप—'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (सू० २३६) ।

विवरण—प्राग्दिशीय प्रकरण होने के कारण "दिक्छब्देभ्यः०" (५-३-२७) सूत्र पर्यन्त कहे जाने वाले प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'एतद्' शब्द के स्थान पर 'अन्' आदेश होता है" । 'अनेकाल्०' परिभाषा के आधार पर यह आदेश सम्पूर्ण 'एतद्' के स्थान पर होगा । इससे सम्बद्ध उदाहरण 'अतः' में आदेशावयव 'न्' का लोप होकर इष्ट रूप बनेगा ।

विशेष—प्रकृत सूत्र के विधान से यह प्रतीत होता है कि प्राग्दिशीय प्रत्यय पर रहते 'एतद्' को 'अन्' आदेश हो । तब तो 'एत' और 'इत्' आदेश-विधान व्यर्थ हो जायगा । इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्रकृत सूत्र के योगविभाग की कल्पना की जाती है । तदनुसार इसके प्रथम अंश एतदः में पूर्व सूत्र का प्रभाव होने से "'रेफादि' तथा 'थ'कारादि प्रत्ययों के परवर्ती होने पर तो 'एत' और 'इत्' आदेश होंगे । द्वितीय अंश 'अन्' में केवल 'एतदः' का प्रभाव होने से 'रेफादि' तथा 'थकारादि' से अन्यत्र 'अन्' आदेश होगा ।

(१९५२) पद—सर्वस्य, सः, अन्यतरस्याम्, दि । **अनुवृत्ति**—प्राग्दिशः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्राग्दिशीय दकारादि प्रत्यय परवर्ती होने पर 'सर्व' शब्द के स्थान में 'स' आदेश विकल्प से होता है" ।

विवरण—सूत्रस्थ 'दि' पद सप्तम्यन्त है । 'प्राग्दिशः' (अनुवर्तमान) का विशेषण होने से तदादिविधि होती है । "प्राग्दिशीय दकारादि प्रत्यय पर रहते 'सर्व' शब्द के स्थान में विकल्प से 'स' आदेश होता है" । 'अनेकाल्०' सूत्र के आधार पर यह आदेश सम्पूर्ण 'सर्व' के स्थान पर होगा ।

सर्वस्य सो वा स्यात्। (१९५३) पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७॥ पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल् वा स्यात्। (१९५४) कु तिहोः ७।२।१०४॥ किमः कुः स्यात्तादौ हकारादौ च विभक्तौ परतः। कुतः-कस्मात्। यतः। ततः। अतः। इतः।

इत्युदाहरणम्। तदेवं तसिलादिप्रत्ययेषु प्राग्दिशीयेषु परेषु कतिपयान् आदेशान् विधाय तसिलादिप्रत्ययान् वक्तुमुपक्रमते।

(१९५३) पञ्चम्यास्तसिल्। किमादिभ्य इति। किंसर्वनामबहुभ्य इत्यर्थः। वा स्याविति। 'समर्थानाम्' इत्यतो वाग्रहणस्यानुवृत्तेरिति भावः।

(१९५४) कु तिहोः। कु इति लुप्तप्रथमाकम्। 'किमः कः' इत्यस्मात् 'किमः' इत्यनुवर्तते। 'अष्टन आ' इत्यतो विभक्ताविति। तिश्च हश्च तयोरिति द्वन्द्वः। इकार उच्चारणार्थः। ताभ्यां विभक्तिर्विशेष्यते। तदादिविधिः। तदाह—किमः कुः स्यादित्यादिना। कुत इति। किंशब्दात् पञ्चम्यन्तात्तसिल्, सुब्लुक्, किमः कुभावः, 'तसिलादयः प्राक् पाशपः' इत्युक्तेरव्ययत्वम्। वेत्यनुवृत्तेः फलमाह—कस्मादिति। तिहोरित्युक्तेरत्र न कुभावः। सर्वनाम्न उदाहरति—यत इति। यच्छब्दात् पञ्चम्यन्तात् सुब्लुक्, तसिलो विभक्तित्वात् तस्मिन्परे त्यदाद्यत्वं पररूपम्। एवं तच्छब्दात्तत इति रूपम्। पक्षे तस्मा-

---

(१९५३) पद—पञ्चम्याः, तसिल्। अनुवृत्ति—किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः, विभक्तिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पञ्चम्यन्त 'किम्' आदि शब्दों से 'तसिल्' (= तस्) विकल्प से हो।

विवरण—कुछ विशेष कार्यों का विधान बतलाने के पश्चात् अब तसिलादि प्रत्ययों का निरूपण आरम्भ होता है। "किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः" (५-३-२) का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। सूत्रस्थ 'पञ्चम्याः' पद उसका विशेषण है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि होगी। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "पञ्चम्यन्त द्व्यादिभिन्न 'किम्' शब्द, 'सर्वनाम'वाची शब्द तथा 'बहु' शब्द से 'तसिल्' (= तस्) प्रत्यय विकल्प से होता है"। "समर्थानाम्०" (२-१-१) सूत्रस्थ 'वा' पद की अनुवृत्ति होने के फलस्वरूप पक्ष में सविभक्तिक शब्द का प्रयोग भी होगा।

(१९५४) पद—कु, ति-होः। अनुवृत्ति—किमः, विभक्तौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—"तकारादि तथा हकारादि विभक्ति पर रहते 'किम्' के स्थान में 'कु' आदेश हो।

उदाहरण—१–कुतः—कस्मात्। २–यतः। ३–ततः। ४–अतः। ५–इतः। ६–अमुतः। द्व्यादि-शब्दों से–द्वाभ्याम् आदि रूप होंगे (यह आदेश नहीं होगा)।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। अष्टाध्यायी-क्रम में सप्तमाध्याय में पढ़ा गया है। सूत्रस्थ 'कु' पद लुप्त-प्रथमाविभक्तिक है। सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये स्थानिवाचक 'किम्' शब्द की अनुवृत्ति "किमः कः" (७-२-१०३) सूत्र से अपेक्षित है। तथा निमित्त-वाचक 'विभक्तौ' पद "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) सूत्र से अनुवर्तमान है। 'तिहोः' पद 'विभक्तौ' का विशेषण है। अतः उसमें तदादिविधि हो जाती है। तदनुसार "तकारादि और हकारादि विभक्ति-संज्ञक प्रत्ययों के परवर्ती होने की स्थिति में 'किम्' के स्थान पर 'कु' आदेश (सर्वादेश) होता है"।

उदाहरण—(१) कुतः (कहाँ से—कस्मात्)–किम्+ङसि+तसिल् ▷ किम्+तस् (सुब्लुक्–"सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" २-४-७१) > कु+तस् (किम् = कु) ▷ कुतस्+सु (पुनः विभक्ति) ▷ कुतस् ("तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" १-१-३८ से अव्यय-संज्ञा होने के कारण "अव्ययादाप्सुपः" २-४-८२ से 'सु' का लुक्) ▷ कुतः (रुत्व तथा विसर्ग)। (२) इसी प्रकार 'यत्' शब्द से यतः (जहाँ से—यस्मात्–यत्+तस्), (३) 'तत्' शब्द से ततः (इससे–तस्मात्–तत्+

अमुतः । बहुतः । द्व्यादेस्तु–द्वाभ्याम् । (१९५५) तसेश्च ५ । ३ । ८ ॥ किंसर्वनाम-बहुभ्यः परस्य तसेस्तसिलादेशः स्यात् । स्वरार्थं विभक्त्यर्थं च वचनम् । (१९५६) पर्यभिभ्यां च ५ । ३ । ९ ॥ आभ्यां तसिल् स्यात् । 'सर्वोभयार्थाभ्यामेव' (वा ३२४०) ।

दिति भवति । अत इति । एतच्छब्दात् पञ्चम्यन्तात् तसिल्, सुब्लुक्, एतदोऽन्, सर्वादेशः; नलोपः । पक्षे एतस्मादिति भवति । इत इति । इदंशब्दात्पञ्चम्यन्तात् तसिल्, सुब्लुक्, इदम इश् । पक्षे अस्मादिति भवति । अमुत इति । अदस्शब्दात् पञ्चम्यन्तात् तसिल्, उत्वमत्वे च । पक्षे अमुष्मादिति भवति । बहुत इति । पक्षे बहुभ्य इति भवति । द्व्यादेस्त्विति । सर्वनामत्वात् प्राप्तस्तसिल् द्व्यादिपर्युदासान्नेत्यर्थः ।

(१९५५) तसेश्च । परस्य तसेरिति । 'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः' 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति वक्ष्यमाणस्य तसेरित्यर्थः । ननु तसेस्तसिल् किमर्थमित्यत आह—स्वरार्थमिति । लित्स्वरार्थमित्यर्थः । विभक्त्यर्थमिति । विभक्तिनिमित्तकत्यदाद्यत्वार्थ-मित्यर्थः । अन्यथा परत्वात्तसौ कृते तस्य अप्राग्दिशीयत्वात् विभक्तित्वाभावात् त्यदाद्य-त्वादिकं न स्यादित्यर्थः ।

(१९५६) पर्यभिभ्यां च । सर्वोभयार्थाभ्यामेवेति । वार्तिकमिदम् । परिषिञ्चति अभिषिञ्चति इत्यादौ वाग्रहणात् पक्षे न तसिल् ।

तस्), (४) 'एतद्' शब्द से अतः (इस लिये—एतस्मात्—एतद्+तस्), (५) इतः (इधर से—अस्मात्–इदम्+तस्), (६) अमुतः (वहाँ से—अमुष्मात्)–अदस्+तस्), (७) बहुतः (बहुतों से—बहुभ्यः–बहु+तस्)—आदि रूप निष्पन्न होते हैं। इनमें से यतः तथा ततः में अत्व "त्यदादीनामः" ७-२-१०५ एवं पररूप होते हैं। अतः में "एतदोऽन्" (५-३-५) से 'एतद्' के स्थान पर 'अन्' आदेश होता है। अमुतः में अत्व उत्व और मत्व होते हैं। शेष प्रक्रिया 'कुतः' के समान जानें।

प्रत्युदाहरण—किम्-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः" (५-३-२) सूत्र में 'अद्व्यादि' पर्युदास होने से 'द्वाभ्याम्' (दो से) में 'तसिल्' प्रत्यय नहीं होगा।

(१९५५) पद—तसेः, च । **अनुवृत्ति**—तसिल्, किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—किम्, सर्वनाम तथा बहु शब्द से पर 'तसि' के स्थान में 'तसिल्' आदेश होता है। स्वर एवं विभक्ति-संज्ञा के लिये यह पृथक् विधान है।

विवरण—विधेयांश की पूर्ति पूर्व सूत्र से 'तसिल्' की अनुवृत्ति द्वारा की जाती है। 'तसि' प्रत्यय के विधायक दो सूत्र हैं—"प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः" (५-४-४४) तथा "अपादाने चाहीय-रुहोः" (५-४-४५)। उसी के स्थान में यहाँ 'तसिल्' आदेश का विधान है। इसके अतिरिक्त 'किम्', 'सर्वनाम' तथा 'बहु' शब्द से उत्तरवर्ती जो 'तसि' है उस 'तसि' के स्थान में भी 'तसिल्' आदेश होता है। पुनः आदेश-विधान का फल यह है कि इसकी विभक्ति-संज्ञा होने से "कु तिहोः" (७-२-१०४) तथा "त्यदादीनामः" (७-२-१०५) आदि की प्रवृत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त "लिति" (६-१-१८७) से प्रत्यय से पूर्व 'अच्' को उदात्त होता है—कुतः, यतः, ततः, बहुतः आदि।

(१९५६) पद—पर्यभिभ्याम्, च । **अनुवृत्ति**—तसिल्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे 'तसिल्' हो। वा० सर्व तथा उभय अर्थों में ही हो। उदा० १–परितः अर्थात् सब ओर से। २–अभितः अर्थात् दोनों ओर से।

परितः, सर्वत इत्यर्थः। अभितः, उभयत इत्यर्थः। (१९५७) सप्तम्यास्त्रल् ५।३।१०॥ कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र। (१९५८) इदमो हः ५।३।११॥ त्रलोऽपवादः। इशादेशः। इह। (१९५९) किमोऽत् ५।३।१२॥ वाग्रहणमपकृष्यते। सप्तम्यन्ता-

---

(१९५७) सप्तम्यास्त्रल्। किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः अद्व्यादिभ्यस्त्रलित्यर्थः। कुत्र इत्यादिरूपाणि कुत इत्यादिवत्।

(१९५८) इदमो हः। इदंशब्दात् सप्तम्यन्तात् हप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१९५९) किमोऽत्। अपकृष्यत इति। 'वा ह च च्छन्दसि' इत्युत्तरसूत्रादिति शेषः। अपकर्षे व्याख्यानमेव शरणम्। अत्प्रत्यये तकार इत्। न विभक्ताविति निषेधस्तु न भवति, 'तवर्गस्येत्वप्रतिषेधोऽतद्धिते' इति वार्तिकात्।

विवरण—'तसिल्' का ही विषय है। वह अनुवृत्तिलभ्य (५-३-७) है। अतः "'परि' तथा 'अभि' शब्दों से भी 'तसिल्' प्रत्यय होता है"। वार्तिक द्वारा 'तसिल्' प्रत्यय वाच्य रहते इन दोनों शब्दों का अर्थ सीमित किया जा रहा है। तदनुसार 'परि' का अर्थ 'चारों ओर' तथा 'अभि' का अर्थ 'दोनों ओर'—लिया जाता है। उदाहरण—(१) परितः (चारों ओर से—परि+तस्) (२) अभितः (दोनों ओर से—अभि+तस्)। उक्त दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ में 'तसिल्' नहीं होता। समर्थ सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति आने से परिषिञ्चति तथा अभिषिञ्चति में तसिल् नहीं हुआ। अथवा परि = उपरि। अभि = आभिमुख्य।

(१९५७) पद—सप्तम्याः, त्रल्। अनुवृत्ति—किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"सप्तम्यन्त 'किम्', 'सर्वनाम' तथा 'बहु' प्रातिपदिकों से 'त्रल्' (=त्र) प्रत्यय होता है"। उदाहरण—कुत्र (कहाँ—कस्मिन्)—किम्+ङि+त्रल् ▷ किम्+त्र (विभक्ति-लुक्) > कु+त्र (किम् = कु—"कु तिहोः" ७-२-१०४) ▷ कुत्र+सु > कुत्र (अव्यय-संज्ञा होने पर पुनः आगत 'सु' का लुक्)। (२) यत्र (जहाँ—यस्मिन्)—यद्+त्रल् (=त्र) ▷ य-अ+त्र (द् = अ) ▷ यत्र (पररूप) ▷ यत्र+सु > यत्र। (३) तत्र (वहाँ—तस्मिन्)। शेष प्रक्रिया 'यत्र' के समान। (४) बहुत्र (बहुत स्थानों में—बहुषु)—बहु+त्रल् (=त्र)।

(१९५८) पद—इदमः, हः। अनुवृत्ति—सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'त्रल्' का अपवाद है। उदा० 'इश्' आदेश होकर—इह।

विवरण—"सप्तम्यास्त्रल्" (५-३-११) से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। तदनुसार "सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से स्वार्थ में 'ह' प्रत्यय होता है"। यह 'त्रल्' का बाधक है। उदाहरण—इह (यहाँ—अस्मिन् इति)—इदम्+ङि+ह > इदम्+ह > इह (इदम् = इ→ इश्—"इदम इश्" ५-३-३)।

(१९५९) पद—किमः, अत्। अनुवृत्ति—सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'वा' का अपकर्ष किया जाता है। सप्तम्यन्त 'किम्' से 'अत्' (प्रत्यय) विकल्प से हो। पक्ष में त्रल् (होगा)।

विवरण—अष्टाध्यायी-क्रम में पठित अग्रिम सूत्र—"वा ह च छन्दसि" (५-३-१३) से 'वा' का अपकर्ष किये जाने से सूत्र का यह अर्थ होता है कि "सप्तम्यन्त 'किम्' शब्द से 'अत्' प्रत्यय हो"। पूर्व सूत्र से प्राप्त 'त्रल्' का यह बाधक है। तथापि 'वा' का अपकर्ष होने से पक्ष में 'त्रल्' भी होगा।

त्किमोऽद्वा स्यात् । पक्षे त्रल् । **(१९६०) क्वाऽति ७ । २ । १०५ ॥** किमः क्वादेशः स्यादति । क्व । कुत्र । **(१९६१) वा ह च च्छन्दसि ५ । ३ । १३ ॥** कुह स्थः । कुह जग्मथुः । **(१९६२) एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ २ । ४ । ३३ ॥** अन्वा-

---

(१९६०) क्वाति । क्व अतीति छेदः । क्वेति लुप्तप्रथमाकम् । 'किमः कः' इत्यतः किम इत्यनुवर्तते । तदाह—किमः क्वेति । किंशब्दात् सप्तम्यन्तात् अत्प्रत्ययः, तकार इत्, किमः क्वादेश इति भावः । कुत्रेति । अत्प्रत्ययाभावपक्षे त्रलि 'कु तिहोः' इति कुभावे रूपम् । केचित्तु 'किमोऽत्' इत्यत्र उत्तरसूत्राद्वाग्रहणापकर्षे प्रमाणाभावात् त्रलं बाधित्वा नित्य एव अत्प्रत्ययः, कुत्रेति त्वपशब्द एवेत्याहुः ।

(१९६१) वा ह च च्छन्दसि । हेति लुप्तप्रथमाकम् । किमः सप्तम्यन्तात् हप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । चादत् त्रल् च । यद्यपि वैदिकप्रक्रियायामिदमुपन्यसनीयम्, तथापि वाग्रहणस्य पूर्वसूत्रे अपकर्षज्ञानायात्र तदुपन्यासः ।

(१९६२) एतदस्त्रतसोः । 'इदमोऽन्वादेशे' इत्यस्मात् अन्वादेशे 'अशनुदात्त' इत्यनु-

---

विशेष—'अत्' प्रत्यय में 'त'कार की इत्संज्ञा हुई है। यहाँ पर "न विभक्तौ तुस्माः" (१-३-४)—इस निषेध की प्रवृत्ति न होने का कारण 'तवर्गस्येत्त्वप्रतिषेधः अतद्धिते'—वार्तिक है। तद्धित प्रकरण में विधान होने से 'त्' इत्संज्ञक 'अत्' प्रत्यय है।

(१९६०) पद—क्व, अति । **अनुवृत्ति**—किमः, विभक्तौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अत्' के पर रहते हुए 'किम्' को 'क्व' आदेश हो । उदा० क्व । कुत्र ।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। सूत्रस्थ 'क्व' पद लुप्त प्रथमा-विभक्तिक है। स्थानी का निर्देश सूत्र में नहीं है, अतः "किमः कः" (७-२-१०३) से 'किमः' पद तथा निमित्त-वाची 'विभक्तौ' पद "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) से अनुवर्तमान हैं। तदनुसार "'अत्' प्रत्यय परवर्ती रहते हुए 'किम्' शब्द के स्थान पर 'क्व' आदेश होता है"। **उदाहरण**—क्व (कहाँ—कस्मिन् इति)—किम्+ङि+अत् (=अ) > किम्+अ > क्व+अ (किम् = क्व) > क्व (अन्त्यलोप तथा अव्यय-संज्ञा-निमित्तक विभक्ति-लुक्)। पक्ष में 'अत्' प्रत्यय न होने पर त्रल्—कुत्र (किम्+ङि+त्रल् > किम्+त्र > कुत्र (किम् =कु)।

विशेष—कुछ विद्वानों को 'वा' का अपकर्ष मान्य नहीं है। वे 'कुत्र' को समीचीन नहीं कहते। किन्तु लोक-व्यवहार में 'कुत्र' शब्द प्रचलित है।

(१९६१) पद—वा, ह, च, छन्दसि । **अनुवृत्ति**—किमः, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्र में 'ह'—यह लुप्त प्रथमान्त निर्देश है। पूर्वसूत्र का ही विषय है। अतः उद्देश्य-वाचक 'किमः' पद "किमोऽत्" (५-३-१२) से अनुवर्तमान है। विधेय-वाची 'ह' पद सूत्र में निर्दिष्ट है। तदनुसार "सप्तम्यन्त 'किम्' शब्द से वेद में विकल्प से 'ह' प्रत्यय होता है"। पक्ष में यथाप्राप्त 'त्रल्' तथा 'अत्' भी होंगे। **उदाहरण**—(१) कुह स्थः (तुम दो कहाँ हो—कस्मिन् इति)—किम्+ङि+ह > किम्+ह > कुह (किम् =कु—"कु तिहोः" ७-२-१०४)।
(२) कुह जग्मथुः (तुम दोनों कहाँ गये—कस्मिन् इति)। प्रक्रिया पूर्ववत् ।

विशेष—यद्यपि इस सूत्र का निवेश वैदिकी प्रक्रिया में होना अधिक उचित रहा, किन्तु पूर्व सूत्र में 'वा' का अपकर्ष दिखाने के लिये यहाँ समावेश किया गया है।

(१९६२) पद—एतदः, त्र-तसोः, त्र-तसौ, च, अनुदात्तौ । **अनुवृत्ति**—अन्वादेशेऽशनुदात्तः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अन्वादेश के विषय में 'त्र' तथा 'तस्' पर रहते 'एतद्' को 'अश्' (आदेश) हो

देशविषये एतदोऽश् स्यात्स चानुदात्तस्त्रतसोः परतः, तौ चानुदात्तौ स्तः। एतस्मिन्ग्रामे सुखं वसामः। अथोऽत्राधीमहे, अतो न गन्तास्मः। (१९६३) इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५। ३। १४॥ पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते। 'दृशिग्रहणाद्भवदादियोग एव' (वा ३२४४)। स भवान्=ततो भवान्, तत्र भवान्। तं भवन्तम्=ततो भवन्तम्, तत्र भवन्तम्। एवं दीर्घायुः। देवानां प्रियः। आयुष्मान्। (१९६४)

वर्तते। तदाह—अन्वादेशेत्यादिना। अथोऽत्रेति। एतच्छब्दात् त्रलि प्रकृतेरशादेशे अत्रेति रूपम्। अतो न गन्तास्म इति। एतस्माद् ग्रामादित्यर्थः। एतच्छब्दात्तसिल् प्रकृतेरशादेशः। 'एतदोऽन्' इत्येव सिद्धे अनुदात्तार्थं वचनम्। न च लित्स्वरे सति शेषनिघातेन त्रतसोरनुदात्तत्वं सिद्धमिति शङ्क्यम्, लित्स्वरापवादे अशोऽनुदात्तत्वे कृते लित्स्वराप्राप्त्या प्रत्ययस्वरेण त्रतसोरुदात्तत्वे प्राप्ते तद्विधानार्थत्वात्।

(१९६३) इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते। पञ्चमीसप्तमीतरविभक्तिभ्योऽपीत्यर्थः। फलितमाह—पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपीति। किमादेरिति शेषः। एतमिति। स दीर्घायुः, ततो दीर्घायुः, तत्र दीर्घायुरित्याद्यूह्यमित्यर्थः।

साथ ही वह अनुदात्त हो तथा 'त्र' एवं 'तस्' प्रत्यय भी अनुदात्त हों। उदा० एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः, अथोऽत्राधीमहे, अतः न गन्तास्मः। इस वाक्य में 'अत्र' तथा 'अतः' ये दो उदाहरण हैं।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। 'एतद्' शब्द से सम्बद्ध होने के कारण यहाँ उल्लेख किया गया है। अन्वादेश के प्रसङ्ग में यह आदेश-विधान कहा गया है। अतः अष्टाध्यायी-क्रम में इससे पूर्व सूत्र "इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ" (२-४-३२) से 'अन्वादेशेऽशनुदात्तः' अंश अनुवर्तमान है। उसके साथ सूत्रस्थ पद समन्वित होकर यह बोध कराते हैं कि "अन्वादेश के विषय में वर्तमान 'एतद्' शब्द के स्थान में, 'त्र' तथा 'तस्' प्रत्यय परत्र रहते, अनुदात्त 'अश्' आदेश हो और वे दोनों—'त्र' तथा 'तस्'—प्रत्यय भी अनुदात्त हों"। **उदाहरण—एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः, अथो अत्र** (एतद्+त्रल्>अत्र←एतद् = अश्) **युक्ताधीमहे** (इस गाँव में सुख से रहते हैं और यहाँ लगकर पढ़ते भी हैं) **अतः** (एतद्+तस् > अतः←एतद् = अश्) **न गन्तास्मः** (इस हेतु नहीं जायेंगे)। यहाँ पर **अथो अत्र** से लेकर **अतः न गन्तास्मः** तक अंश अन्वादेश में है। तदनुसार त्र **तथा तस्** परत्र रहते 'एतद्' को 'अश्' (=अ) आदेश होकर अत्र (एतस्मिन् इति) तथा अतः (एतस्मात् इति)—ये दोनों शब्द बने हैं। 'त्रल्' तथा 'तसिल्' प्रत्ययों के 'लित्' होने के कारण "लिति" (६-१-८७) सूत्र से प्रत्यय से पूर्व 'अच्' को उदात्त प्राप्त था, इसने अनुदात्त-विधान कर दिया है।

(१९६३) **पद**—इतराभ्यः, अपि, दृश्यन्ते। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पञ्चमी तथा सप्तमी से भिन्न अन्य विभक्त्यन्तों से भी 'तसिल्' आदि प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं। वा० (सूत्र में) 'दृश्' धातु का ग्रहण करने से 'भवत्' आदि शब्दों के योग में ही (होंगे)। उदा० स भवान्–ततः भवान्, तत्र भवान्। तं भवन्तम्–तत्र भवन्तम्, ततः भवन्तम्। इसी प्रकार स दीर्घायुः = ततः दीर्घायुः, तत्र दीर्घायुः की तरह सः देवानां प्रियः, सः आयुष्मान् आदि प्रयोगों में भी जाना जाय।

विवरण—सूत्र में 'इतर' शब्द पूर्वोक्त पञ्चमी-सप्तमी से भिन्न विभक्तियों का सूचक है। अतः "'पञ्चमी' तथा 'सप्तमी' से भिन्न अन्य विभक्त्यन्त शब्दों से भी 'तसिल्' एवं 'त्रल्' प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता हुआ देखा जाता है"। कहने का तात्पर्य यह है कि 'पञ्चम्यन्त' तथा 'सप्तम्यन्त' से तो क्रमशः 'तसिल्' तथा 'त्रल्' प्रत्ययों का विधान बतलाया गया है, अब पुनः इस सूत्र के

सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा ५ । ३ । १५ ॥ सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात् । सर्वस्मिन्काले—सदा, सर्वदा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे । (१९६५) **इदमो र्हिल् ५ । ३ । १६ ॥** सप्तम्यन्तात्काले इत्येव ।

(१९६४) **सर्वैकान्य ।** सप्तम्यन्तेभ्य इति । सर्वादिभ्य इति शेषः । सप्तम्या इत्येवानुवर्तते व्याख्यानादिति भावः । सदा सर्वदेति । 'सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि' इति सभावविकल्पः । कदेति । किंशब्दात् दाप्रत्यये सति तस्य 'किमः कः' इति कादेशः ।

(१९६५) **इदमो र्हिल् ।** इदमः र्हिल् इति छेदः । एतर्हीति । इदम्शब्दात् र्हिल्, 'एतेतौ रथोः' इत्येतादेशः ।

प्रभाव से 'पञ्चमी' तथा 'सप्तमी' विभक्तियों से भिन्न अन्य विभक्त्यन्तों से भी 'तसिल्' तथा 'त्रल्' का प्रयोग समीचीन माना जायेगा । **उदाहरण**—प्रथमा विभक्ति—**स भवान्** = ततः (तसिल्) भवान्, तत्र (त्रल्) भवान् । **अर्थ**—माननीय आप । द्वितीया-**तं भवन्तम्** = ततः भवन्तम्, तत्र भवन्तम् । **अर्थ**—माननीय आपको । तृतीया—**तेन भवता** = ततः भवता, तत्र भवता । **अर्थ**—आप से । चतुर्थी—**तस्मै भवते** = ततः भवते, तत्र भवते । **अर्थ**—आप के लिये । पञ्चमी—**तस्मात् भवतः** = ततः भवतः, तत्र भवतः । **अर्थ**—आप से । षष्ठी—**तस्य भवतः** = ततः भवतः, तत्र भवतः । **अर्थ**—आप का । **सप्तमी—तस्मिन् भवति** = ततः भवति, तत्र भवति । **अर्थ**—आप के विषय में । इसी प्रकार **स दीर्घायुः** = ततः दीर्घायुः, तत्र दीर्घायुः आदि प्रयोग तथा उनके अर्थ भी जाने जायें । एवमेव **स देवानांप्रियः** (देवताओं का प्रिय), **स आयुष्मान्** (चिरायु) आदि शब्दों के साथ भी सब विभक्तियों में 'तसिल्' तथा 'त्रल्' प्रत्ययान्त प्रयोग (ततः, तत्र) किये जा सकेंगे ।

विशेष—सूत्र में 'दृश्यन्ते' पद का प्रयोग होने के फलस्वरूप (व्याख्यानुसार) भवदादि के योग में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

(१९६४) पद—सर्वैकान्य-किं-यत्तदः, काले, दा । **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त कालवाची शब्दों से स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय हो । उदा० १-सर्वस्मिन् काले←सदा, सर्वदा । २-एकदा । ३-अन्यदा । ४-कदा । ५-यदा । ६-तदा । 'काले' क्यों कहा ? सर्वत्र देशे ('दा' नहीं हुआ) ।

विवरण—"सप्तम्यन्त 'सर्व', 'एक', 'अन्य', 'किम्', 'यत्' तथा 'तत्' (सर्वश्च, एकश्च, अन्यश्च, किम् च, यत् च, तत्=सर्वैकान्यकियत्तत्, तस्मात्-समाहार द्वन्द्व) प्रातिपदिकों से 'काल' अर्थ में 'दा' प्रत्यय होता है" । सप्तम्यन्तों से 'त्रल्' प्राप्त रहा, उसी का यह अपवाद है । क्रमशः **उदाहरण**—(१) सर्वस्मिन् काले→ (क) सदा (सर्व=स विकल्प से), (ख) **सर्वदा** (सर्व +दा) । **अर्थ**—हमेशा । (२) एकस्मिन् काले→**एकदा** (एक+दा) । **अर्थ**—एक बार । (३) **अन्यस्मिन् काले**→**अन्यदा** (अन्य+दा) । **अर्थ**—दूसरी बार । (४) कस्मिन् काले→ **कदा** (किम् = क+दा) । **अर्थ**—कब । (५) यस्मिन् काले→**यदा** (यत् +दा, त = अ तथा पररूप) । **अर्थ**—जब । (६) तस्मिन् काले—**तदा**—तत्+दा, त = अ, पररूप)—**अर्थ**—तब ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'काले' पद का निवेश होने के फलस्वरूप कालातिरिक्त = देश वाच्य होने की स्थिति में **सर्वत्र देशे** (सारे देश में) आदि प्रयोगों में 'दा' प्रत्यय नहीं होता ।

(१९६५) पद—इदमः, र्हिल् । **अनुवृत्ति**—काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त से काल वाच्य होने पर ही (यह आदेश होगा) । 'ह' का अपवाद है । उदा० १-अस्मिन् काले—एतर्हि । 'काले' क्यों कहा ? इह देशे ('र्हिल्' नहीं हुआ) ।

ह्रस्यापवादः। अस्मिन्काले–एतर्हि। काले किम्? इह देशे। (१९६६) अधुना ५। ३। १७॥ इदमः सप्तम्यन्तात्कालवाचिनः स्वार्थे अधुनाप्रत्ययः स्यात्। इश्। 'यस्य'– (सू ३११) इति लोपः। अधुना। (१९६७) दानीं च ५। ३। १८॥ इदानीम्। (१९६८) तदो दा च ५। ३। १९॥ तदा–तदानीम्। 'तदो दावचनमनर्थकं विहित-

---

(१९६६) अधुना। 'इदम' इति, 'सप्तम्या' इति, 'काले' इति चानुवर्तते। तदाह–इदम इति। इशिति। 'इदम इश्' इत्यनेनेति शेषः। अधुनेति। इयदितिवत् प्रत्ययमात्रं शिष्यते। पठन्ति चाभियुक्ताः—

'उदितवति परस्मिन्प्रत्यये शास्त्रयोनौ, गतवति विलयं च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे।
सपदि पदमुदीतं केवलः प्रत्ययो यत्, तदियदिति मिमीते कोऽधुना पण्डितोऽपि॥'

इति वैयाकरणीमौपनिषदीं च प्रक्रियामाश्रित्य प्रवृत्तो द्वयर्थोऽयं श्लोकः।

(१९६७) दानीं च। इदमः सप्तम्यन्तात् कालवाचिनः स्वार्थे दानीमिति च प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। इदानीमिति। इदंशब्दात् दानींप्रत्ययः, इश्।

(१९६८) तदो दा च। सप्तम्यन्तात्कालप्रवृत्तेः तच्छब्दात् दाप्रत्ययः, दानींप्रत्ययश्च

विवरण—सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से 'काल' अर्थ में र्हिल् (=र्हि) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—अस्मिन् काले→एतर्हि (इस समय)। इदम्+र्हिल् (=र्हि) ⊳ एत+र्हि (इदम्=एत—'एतेतौ रथोः" ५-३-४) > एतर्हि (अव्यय संज्ञा होने से आगत सुब्विभक्ति का लुक्)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में अनुवर्तमान 'काले' पद के प्रभाव से कालातिरिक्त वाच्य होने की स्थिति में—**इह देशे** (इस देश में) आदि प्रयोगों में 'र्हिल्' न होने के कारण "इदमो हः" (५-३-११) से 'ह' प्रत्यय हुआ है।

(१९६६) पद—अधुना। **अनुवृत्ति**—इदमः, काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त कालवाची 'इदम्' से स्वार्थ में 'अधुना' प्रत्यय हो। उदा० अधुना। इदम्=इश् आदेश। 'यस्येति च' (सू० ३११) से ('इ'कार का) लोप।

विवरण—वस्तुतः 'अधुना'←यह शब्द निपातन किया जाता है। निपातन का स्वरूप यह है—"'इदम्' शब्द से+'अधुना' प्रत्यय कर "इदम इश्" (५-३-३) से इदम् को 'इश्' भाव (इ+अधुना) तथा "यस्येति च" से 'इ'कार का लोप होकर **अधुना** शब्द निष्पन्न होता है। **अर्थ**—अब—अस्मिन् काले। 'इयत्' की तरह यहाँ भी केवल प्रत्यय-मात्र अवशिष्ट रह जाता है। अथवा सप्तम्यन्त 'इदम्' से 'धुना' प्रत्यय कर इदम् को 'अश्' (=अ) आदेश करने पर भी अधुना रूप सिद्ध हो सकता है।

(१९६७) पद—दानीम्, च। **अनुवृत्ति**—इदमः, काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"सप्तम्यन्त कालवाची 'इदम्' शब्द से 'दानीम्' प्रत्यय भी होता है"। **उदाहरण**—**इदानीम्** (अब-अस्मिन् काले)—इदम्+दानीम् > इ+दानीम् (इदम्=इश्=इ)।

(१९६८) पद—तदः, दा, च। **अनुवृत्ति**—दानीम्, काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—विधेयांश 'दानीम्' की भी पूर्व सूत्र ("दानीं च" ५-३-१८) से अनु

त्वात्' (वा ३२४३)। (१९६९) अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ५ । ३ । २१ ॥ कर्हि—कदा । यर्हि—यदा । तर्हि—तदा । एतस्मिन्काले—एतर्हि । (१९७०) सद्यःपरुत्परार्येषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ५ । ३ । २२ ॥ एते निपात्यन्ते । 'समानस्य सभावो द्यस् चाहनि' (वा ३२४५) । समानेऽहनि सद्यः । 'पूर्वपूर्वतरयोः परादेशः, उदारी च प्रत्ययौ संवत्सरे' (वा ३२४६)-पूर्वस्मिन् वत्सरे—परुत् । पूर्वतरे वत्सरे-परारि । 'इदमः इश् समसण् प्रत्ययश्च संवत्सरे' (वा ३२४७) ।

स्यादित्यर्थः । तदो दावचनमिति । वार्तिकमिदम् । विहितत्वादिति । 'सर्वैकान्य' इत्यनेनेति शेषः ।

(१९६९) अनद्यतने र्हिल् । अनद्यतनकालवृत्तिभ्यः किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः र्हिल्-प्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः । पक्षे दाप्रत्ययः । एतस्मिन्काले एतर्हीति । एतत्शब्दात् र्हिल् । 'एतद' इति योगविभागात् रेफादौ एतादेशः ।

(१९७०) सद्यः परुत् । 'समानस्य सभावो द्यस् चाहनि' इति भाष्यवाक्यमिदम् । अहर्वृत्तेः समानशब्दात्सप्तम्यन्तात् द्यस्प्रत्ययः । समानस्य सभावश्च निपात्यत इत्यर्थः । सद्यः समानेऽहनीत्यर्थः । 'पूर्वपूर्वतरयोः परादेशः उदारी च संवत्सरे' इत्यपि भाष्यवाक्यम् । उच्च आरिश्चेति द्वन्द्वः । सप्तम्यन्तादिमौ प्रत्ययौ संवत्सरे अभिधेये । 'इदम इश् समसण्'

वर्तमान है । 'काले' का प्रभाव भी यथापूर्व विद्यमान है । अतः "काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त 'तद्' शब्द से 'दा' तथा 'दानीम्' दोनों प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण—(क) तदा**—दा प्रत्यय होने पर–तद्+दा >त-अ+दा (द् = अ)>तदा (पररूप) । **तदानीम्**—दानीम् प्रत्यय होने पर । सिद्धि पूर्ववत् । **अर्थ**—तब—तस्मिन् काले । यहाँ पर **वार्तिककार** ने 'तद्' से 'दा' प्रत्यय का विधान अनावश्यक बतलाया है, क्योंकि "सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा" (५-३-१५) सूत्र से उसका विधान कर दिया गया है ।

(१९६९) पद—अनद्यतने, र्हिल्, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—काले, सप्तम्याः, किं सर्वनामबहुभ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"सप्तम्यन्त 'किम्', 'सर्वनाम' और 'बहु' शब्दोंसे अनद्यतन काल-विशेष अभिलक्षित होने पर विकल्प से 'र्हिल्' प्रत्यय होता है" । पक्ष में 'दा' भी होगा" । **उदाहरण**—(१) किम्—**कर्हि**—'र्हिल्' प्रत्यय होने पर—किम्+र्हिल् (= र्हि)>क+र्हि (किम् = क—"किमः कः" (७-२-१०३) । पक्ष में **कदा**—किम्+दा > कदा । किम् = क आदेश । **अर्थ**—कब—कस्मिन् काले । (२) यद्—**यर्हि**—यद्+र्हिल् (= र्हि) । द् = अ-"त्यदादीनामः" । पररूप । पक्ष में—**यदा**—यद्+दा । प्रक्रिया पूर्ववत् । **अर्थ**—जब—यस्मिन् काले । (३) तद्—**तर्हि**—तद्+र्हिल् । **तदा**—तद्+दा । 'अत्व' तथा पररूप । **अर्थ**—तब—तस्मिन् काले । (४) एतद्—**एतर्हि**—एतद्+र्हिल् (= र्हि) । अत्व एवं पररूप । **अर्थ**—इस समय—एतस्मिन् काले । अथवा 'एतदः' योग विभाग से 'एतद्' के स्थान पर 'एत' आदेश ।

(१९७०) पद—सद्यः...उत्तरेद्युः । **अनुवृत्ति**—काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'सद्यः' आदि १४ शब्द सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से काल-विशेष को अभिलक्षित कर निपातन किये जाते हैं" । निपातन की प्रक्रिया इस प्रकार है—(१) **सद्यः**—**समान** शब्द से दिन अर्थ अभिधेय होने पर (समानेऽहनि) **द्यस्** (सकारान्त) प्रत्यय करने पर 'समान' के स्थान पर = 'स' आदेश किया गया है । ततः रुत्व एवं विसर्ग होकर उक्त रूप सिद्ध होता है । (२) **परुत्** (गतवर्ष—पूर्वस्मिन् वत्सरे)—'पूर्व' शब्द को = 'पर' भाव तथा+

अस्मिन्संवत्सरे-ऐषमः। 'परस्मादेद्यव्यहनि' (वा ३२४८)। परस्मिन्नहनि-परेद्यवि। 'इदमोऽश्भावो द्यश्च' (वा ३२४९)। अस्मिन्नहनि-अद्य। 'पूर्वान्यान्यतरेतरापराधरोभयोत्तरेभ्य एद्युस् च' (वा ३२५०)। पूर्वस्मिन्नहनि-पूर्वेद्युः। अन्यस्मिन्नहनि-अन्येद्युः। उभयोरह्नोरुभयेद्युः। 'द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः' (वा ३२५१)। उभयद्युः। **(१९७१) प्रकारवचने थाल् ५।३।२३॥** प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल्स्यात्स्वार्थे।

इत्यपि भाष्यवाक्यम्। ऐषम इति। समसणि णकार इत्, सकारादकार उच्चारणार्थः। णित्त्वादादिवृद्धिः। 'परस्मादेद्यव्यहनि' इत्यपि भाष्यवाक्यम्। सप्तम्यन्तात् एद्यविरिकारान्तः प्रत्ययः। 'इदमोऽश्भावो द्यश्च' इत्यपि भाष्यवाक्यम्। सप्तम्यन्तात् अकारान्तो द्यप्रत्ययः। 'पूर्वान्यान्यतरेतरापराधरोभयोत्तरेभ्य एद्युस् च' इत्यपि भाष्यवाक्यम्।

(१९७१) प्रकारवचने थाल्। पञ्चम्यर्थे सप्तमीत्याह—प्रकारवृत्तिभ्य इति। सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः। यथा बहुभिः प्रकारैर्भुङ्क्ते इति विशेषैरिति गम्यते। सादृश्यं त्विह न गृह्यते सर्वथेत्यादौ तदप्रतीतेः। तेन प्रकारेणेत्यनन्तरं विशिष्ट इति शेषः।

'उत्' प्रत्यय। 'अ' का लोप। (३) **परारि** (गत वर्ष के पहले वर्ष—पूर्वतरस्मिन् वत्सरे)—'पूर्वतर' शब्द से 'आरि' प्रत्यय करने पर 'पूर्वतर' के स्थान में 'पर' आदेश तथा 'अ' का लोप। (४) **ऐषमः** (इस वर्ष—अस्मिन् संवत्सरे)—'इदम्'से+समसण् प्रत्यय होनेपर 'इदम्' को 'इश्' भाव (=इ)—इ+समस् ('समसण्' मे 'ण्' इत् तथा 'अ'–उच्चारणार्थ) > ऐसमस् (आदिवृद्धि) > ऐषमस् (स्=ष्) > ऐषमः (स्=र्=ः)। (५) **परेद्यवि** (दूसरे दिन—परस्मिन् अहनि)—पर+एद्यवि (प्रत्यय)। अकार-लोप। (६) **अद्य** (आज—अस्मिन् अहनि)—इदम्+द्य (प्रत्यय) > अ+द्य ('इदम्' के स्थान पर 'अश्' =अ आदेश) > अद्य। इसी प्रकार पूर्व, अन्य, अन्यतर, इतर, अपर, अधर, उभय और उत्तर इन आठ शब्दों से दिन अभिधेय होने पर 'एद्युसुच्' प्रत्यय होता है। प्रक्रिया इस प्रकार है—(७) **पूर्वेद्युः** (पहले दिन—पूर्वस्मिन् अहनि)—पूर्व्+एद्युसुच् (=एद्युस्)। (८) **अन्येद्युः** (दूसरे दिन—अन्यस्मिन् अहनि)—अन्य्+एद्युसुच्। (९) **अन्यतरेद्युः** (दूसरे दिन—अन्यतरस्मिन् अहनि)—अन्यतर्+एद्युसुच्। (१०) **इतरेद्युः** (दूसरे दिन—इतरस्मिन् अहनि)—इतर्+एद्युसुच्। (११) **अपरेद्युः** (दूसरे दिन—अपरस्मिन् अहनि)—अपर्+एद्युसुच्। (१२) **अधरेद्युः** (दूसरे दिन—अधरस्मिन् अहनि)—अधर्+एद्युसुच् (१३) **उभयेद्युः** (दोनों दिन—उभयोः अह्नोः)—उभय्+एद्युसुच्। तथा (१४) **उत्तरेद्युः** (अगले दिन—उत्तरस्मिन् अहनि)—उत्तर्+एद्युसुच्। इन आठों उदाहरणों में अन्त्यवर्णलोप एवं प्रत्यय में 'च'कार की इत्संज्ञा होने से अन्तोदात्त स्वर होगा।

स्मरणीय—उपर्युक्त चौदह शब्दों के निपातन के प्रकार को दिखाने के लिये दीक्षित जी ने ६ वार्तिकों का उल्लेख किया है। भाष्य में उन्हें वार्तिक के रूप में नहीं दिखाया गया है। वे केवल प्रक्रिया अर्थात् व्युत्पत्ति के सूचक वाक्य मात्र हैं।

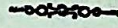
(१९७१) **पद**—प्रकारवचने, थाल्। **अनुवृत्ति**—किं-सर्वनाम-बहुभ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रकार-(=वैशिष्ट्य)-वाची 'किम्' आदि शब्दों से स्वार्थ में 'थाल्' प्रत्यय होता है। उदा० १–तेन प्रकारेण←तथा। २–यथा।

विवरण—सूत्र में 'पञ्चमी' के अर्थ में सप्तमी विभक्ति (प्रकारवचने) का प्रयोग किया गया है। 'उद्देश्य' (=प्रकृति-वाची शब्दों) का बोध आधिकारिक प्रभाव के कारण होता है। तदनुसार

तेन प्रकारेण–तथा । यथा । (१९७२) इदमस्थमुः ५ । ३ । २४ ॥ थालोऽपवादः । 'एतदो वाच्यः' (वा ३२३५)। अनेन एतेन वा प्रकारेण–इत्थम् । (१९७३) किमश्च ५ । ३ । २५ ॥ केन प्रकारेण–कथम् ।

इति तद्धिते प्राग्दिशीयप्रकरणम् ।



'यथा हरिः तथा हरः' इत्यादौ यत्प्रकारवान् हरिः तत्प्रकारवान् हर इति बोधे सति हरिसदृशो हर इति फलति । तदभिप्रायेण यथाशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वोक्तिः ।

(१९७२) इदमस्थमुः । इदंशब्दात्प्रकारवृत्तेः थमुप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । प्रत्यये उकार उच्चारणार्थः । मकारस्य उपदेशे अन्त्यत्वाभावान्नेत्त्वम् । यद्यपि 'न विभक्तौ' इति निषेधादेव मस्येत्त्वं न भवति, तथापि तदनित्यत्वज्ञापनार्थं मकारोच्चारणमित्याहुः । इत्थमिति । 'एतेतौ रथोः' इति प्रकृतेरिदम इदादेशः । एतच्छब्दात् थमुप्रत्यये तु 'एतद' इति योगविभागाद् इदादेशः ।

(१९७३) किमश्च । प्रकारवृत्तेस्थमुरिति शेषः । कथमिति । 'किमः कः' इति कादेशः ।

इति तद्धिते प्राग्दिशीयानां विभक्तिसञ्ज्ञकानां पूर्णोऽवधिः ।



"प्रकारवचन में वर्तमान 'किम्', 'सर्वनाम' और 'बहु' शब्दों से 'थाल्' (=था) प्रत्यय होता है" । 'प्रकार' से यहाँ तात्पर्य सामान्य का भेदक अर्थात् विशिष्ट व्यावर्तक दिखाना है । सादृश्य के रूप में यहाँ 'प्रकार' विवक्षित नहीं है, क्योंकि 'सर्वदा' इत्यादि शब्दों से सादृश्यार्थ की प्रतीति नहीं होती । सब प्रकार से कहने पर संकलित वैशिष्ट्य का बोध होता है । **उदाहरण**—(१) **तथा**—इस प्रकार से—तेन प्रकारेण विशिष्टः)—तद्+थाल् (=था) । (२) **यथा** (जिस प्रकार से—येन-प्रकारेण विशिष्टः)—यद्+थाल् (=था) । अत्व तथा पररूप ।

विशेष—'यथा हरिः तथा हरः' वाक्य में अन्य जनों की तुलना में उन दोनों के वैशिष्ट्य में समानता होने के कारण हरि और हर में सादृश्य की प्रतीति होती है ।

(१९७२) पद—इदमः, थमुः । **अनुवृत्ति**—प्रकारवचने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'थाल्' का यह अपवाद है । वा० 'एतद्' से भी ('थाल्') होता है । उदा० अनेन एतेन वा प्रकारेण—इत्थम् ।

विवरण—अनुवर्तमान 'प्रकार-वचन' का विषय है । 'इदम्' शब्द से 'थाल्' के अपवाद-स्वरूप 'थमु' प्रत्यय का विधान है । अतः सूत्रार्थ यह होगा—"यदि 'इदम्' शब्द प्रकार-वचन अर्थ में वर्तमान हो तो स्वार्थ में 'थमु' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**इत्थम्** (इस प्रकार का—अनेन प्रकारेण विशिष्टम्)—इदम्+थमु (=थम्) > इत्+थम् (इदम्=इत् आदेश—"एतेतौ रथोः" ५-३-४) > इत्थम् (अव्यय-संज्ञा होने से विभक्ति का 'लुक्') ।

वार्तिक—'एतद्' शब्द से भी प्रकार-अर्थ वाच्य होने पर 'थमु' (=थम्) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**इत्थम्** (एतेन प्रकारेण) । "एतदोऽन्" (५-३-५) योगविभाग करने से 'इत्' आदेश होगा ।

(१९७३) पद—किमः, च । **अनुवृत्ति**—थमुः, प्रकारवचने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

विवरण—विधेयांश 'थमुः' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (५-३-२४) से अपेक्षित है । 'प्रकार-वचन'

अथ तद्धिते प्रागिवीयप्रकरणम्

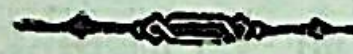
(१९७४) दिक्छब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ५ । ३ । २७ ॥ सप्तम्याद्यन्तेभ्यो दिशि रूढेभ्यो दिग्देशकालवृत्तिभ्यः स्वार्थेऽस्तातिप्रत्ययः स्यात् । (१९७५) पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् । ५ । ३ । ३९ ॥ एभ्योऽस्तात्यर्थेऽसिप्रत्ययः स्यात् । तद्योगे चैषां क्रमात् 'पुर्' 'अध्' 'अव्' इत्यादेशाः स्युः ।

(१९७४) अथ प्रागिवीयप्रकरणमारभ्यते—दिक्छब्देभ्यः । सप्तम्याद्यन्तेभ्य इति । सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तेभ्य इत्यर्थः । रूढेभ्य इति । शब्दग्रहणलभ्यमिदम् । अस्तातिप्रत्यये इकार उच्चारणार्थः । तकारान्तः प्रत्ययः । 'सङ्ख्याया विधार्थे धा' इति सूत्रपर्यन्तमिदं सूत्रमस्तातिवर्जमनुवर्तते । अत्र विभक्तीनां दिगादीनां च न यथासंख्यं, व्याख्यानात् ।

(१९७५) पूर्वाधरावराणाम् । असीति लुप्तप्रथमाकम् । पुर्, अध्, अव् एषां द्वन्द्वात्प्रथमाबहुवचनम् । अस्तात्यर्थे इति । दिग्देशकालवृत्तिभ्य इत्यर्थः ।

अर्थ का सातत्य विद्यमान है । तदनुसार "प्रकार-वचन में वर्तमान 'किम्' शब्द से स्वार्थ में 'थमु' प्रत्यय होता है । उदाहरण—कथम् (किस प्रकार-केन प्रकारेण)—किम्+थमु (=थम्) ▷ क+थम् (किम् = क—"किमः कः" ७-२-१०३) ▷ कथम् (अव्ययत्वात् सुप्-लुक्) ।

'दीपिका' में विभक्तिसंज्ञक प्राग्दिशीय-प्रकरण समाप्त ।



उपक्रम—अब पुनः कुछ स्फुट प्रत्ययों का विधान है । उनकी अवधि "इवे प्रतिकृतौ" (५-३-९६) सूत्र के पहले तक है । उसका संकेतसूचक शीर्षक 'प्रागिवीय-प्रकरण' दिया गया है ।

(१९७४) पद—दिक्-शब्देभ्यः, सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यः, दिग्देशकालेषु, अस्तातिः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सप्तम्याद्यन्त दिशा अर्थ में रूढ 'दिक्', 'देश' तथा 'काल'वाचक शब्दों से स्वार्थ में 'अस्ताति' प्रत्यय होता है ।

विवरण—सूत्र में तीन (सप्तमी, पञ्चमी तथा प्रथमा) विभक्तियों तथा तीन अर्थों ('दिक्' 'देश' तथा 'काल') का उल्लेख है, तथापि उनमें यथासंख्य विवक्षित नहीं है । 'अस्ताति' प्रत्यय में इकार उच्चारणार्थ है । प्रत्यय का स्वरूप तकारान्त 'अस्तात्' है । तदनुसार "'दिशा', 'देश' और 'काल' अर्थों में वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त तथा प्रथमान्त दिशावाची शब्दों से स्वार्थ में 'अस्ताति' प्रत्यय होता है ।

(१९७५) पद—पूर्वाधरावराणाम्, असि, पुरधवः, च, एषाम् । **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन से अस्ताति-अर्थ में 'असि' प्रत्यय होता है तथा उसके योग में इनके स्थान में क्रमशः 'पुर्', 'अध्' तथा 'अव्' आदेश हों ।

विवरण—सूत्रस्थ 'असि' पद लुप्त प्रथमा-विभक्तिक (= असिः) है । 'प्रत्यय' विधान के अतिरिक्त 'तीन' स्थानी हैं तथा 'तीन' ही आदेश हैं । तदनुसार 'यथासंख्य'नियम की प्रवृत्ति होगी । 'प्रकृति'विशिष्ट सम्बन्धी, विभक्ति-सम्बन्धी तथा अर्थसम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान "दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यः"० (५-३-२७) सूत्र की अनुवृत्ति-वश होता है । तदनुसार "सप्तमी, पञ्चमी तथा प्रथमान्त 'पूर्व', 'अधर' तथा 'अवर' शब्दों से 'अस्ताति' के अर्थ में 'असि'

(१९७६) अस्ताति च ५ । ३ । ४० ॥ अस्तातौ परे पूर्वादीनां पुरादयः स्युः । पूर्वस्याम्-पूर्वस्याः-पूर्वा वा दिक्←पुरः-पुरस्तात् । अधः-अधस्तात् । अवः-अवस्तात् ।
(१९७७) विभाषाऽवरस्य ५ । ३ । ४१ ॥ अवरस्याऽस्तातौ परेऽव् स्याद्वा । अवस्तात्-

---

(१९७६) अस्ताति च । अस्तातीति लुप्तसप्तमीकम् । अस्तातीति तकारान्तात् सप्तम्येकवचनं वा । 'पूर्वाधरावराणा'मिति 'पुरधव' इति चानुवर्तते तदाह-अस्तातावित्ति । यद्यपि सूत्रक्रमे 'पूर्वाधर' इति 'अस्ताति च' इति च 'संख्याया विधार्थे' इत्यतः प्राक् पठितम्, तथापि अस्तातौ पुराद्यादेशविधानाय 'अस्ताति च' इति सूत्रमुपन्यसनीयम् । तत्रानुवृत्तिप्रदर्शनाय 'पूर्वाधर' इत्यपि सूत्रमिह वोपन्यस्तम् । पुर इति । पूर्वाशब्दात् असिप्रत्ययः प्रकृतेः पुर् आदेशः । पुरस्तादिति । पूर्वाशब्दात् अस्तातिप्रत्ययः प्रकृतेः पुर् आदेशः । अधः, अधस्तादिति । अधरशब्दात् असिप्रत्यये अस्तातिप्रत्यये च प्रकृतेः अध् आदेशे रूपम् । अव इति । अवरशब्दात् असिप्रत्यये प्रकृतेः अव् आदेशे रूपम् ।

(१९७७) विभाषाऽवरस्य । 'अस्ताति च' इति पूर्वसूत्रादस्तातीत्यनुवर्तते । तदाह—अवरस्येति । एवमिति । पूर्वस्मिन्, पूर्वस्मात्, पूर्वो वा देशः—कालो वा पुरः,

---

(=अस्) प्रत्यय होता है और उस प्रत्यय के साथ साथ 'पूर्व' के स्थान में 'पुर्', 'अधर' के स्थान में 'अध्' तथा 'अवर' के स्थान में 'अव्' आदेश भी होते हैं ।

(१९७६) पद—अस्ताति, च । **अनुवृत्ति**—पूर्वाधरावराणाम् पुरधवः, दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अस्ताति' प्रत्यय पर रहते पूर्वादि के स्थान में 'पुर्' आदि आदेश हों । उदा० १—पूर्वस्यां दिशि, पूर्वस्याः दिशः, पूर्वा वा दिक्←१-पुरः-पुरस्तात् । २-अधः—अधस्तात् । ३-अवः—अवस्तात् ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है । सूत्रस्थ 'अस्ताति' पद लुप्तसप्तम्यन्त है । स्थानी एवम् आदेश के लिये पूर्वसूत्रोक्त अनुवृत्तियाँ आदि प्रभावी है । उनके साथ प्रकृत सूत्रस्थ 'अस्ताति' पद अन्वित होकर यह बोध कराता है कि "अस्ताति प्रत्यय परत्र हो तो भी 'सप्तमी', 'पञ्चमी' तथा 'प्रथमान्त'-पूर्व, 'अधर' तथा 'अवर' शब्दों के स्थान में—क्रमशः 'पुर्', 'अध्' तथा 'अव्' आदेश हों" । **उदाहरण**—(१) (क) **पुरः** ('पूर्वा' शब्द + असि = अस् प्रत्यय करने पर 'पूर्वा' के स्थान में = 'पुर्' आदेश, स् = र् = :) । (ख) **पुरस्तात्**—पूर्वा + (५-३-२७ से) अस्तात् प्रत्यय होने पर, फिर पूर्वा = पुर् (सूत्र ५-३-४०) । समुदाय से आगत विभक्ति का अव्यय होने के कारण 'लुक्' । **अर्थ—सप्तम्यन्त**—पूर्व दिशा, देश या काल में—पूर्वस्यां दिशि, पूर्वस्मिन् देशे, पूर्वस्मिन् काले वा । **पञ्चम्यन्त**—पूर्व दिशा, देश या काल से—पूर्वस्याः दिशः, पूर्वस्मात् देशात्, कालात् वा । **प्रथमान्त**—पूर्वा दिक्, पूर्वः देशः, कालः वा । (२) इसी प्रकार **अधः**—**अधस्तात्** (नीचे की ओर, नीचे से या नीचे—अधरस्याम्, अधरस्याः, अधरा वा दिक्)-'अधरा' से 'असि' एवम् अस्ताति' प्रत्यय तथा 'अध्' आदेश । (३) **अवः**—तथा **अवरस्तात्** (बाहर की ओर बाहर से या बाहर—अवरस्याम्, अवरस्याः, अवरा वा दिक्) । 'अवरा' शब्द से 'असि' या 'अस्ताति' प्रत्यय एवं 'अव्' आदेश । इसी तरह देश एवं काल अर्थ में ये ही प्रत्यय होंगे । विग्रह मे तदनुसार 'देश'-'काल' शब्दों का समावेश करें । अग्रिम सूत्र के अनुसार 'अव्' आदेश विकल्प से होने पर **अवस्तात्** रूप भी बनेगा । लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से दिशावाची शब्द स्त्रीलिङ्ग में भी ग्राह्य हैं ।

(१९७७) पद—विभाषा, अवरस्य । **अनुवृत्ति**—अस्ताति, दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अस्ताति' प्रत्यय पर रहते 'अवर' के स्थान में विकल्प से 'अव्' आदेश हो । उदा०

अवरस्तात् । एवं देशे काले च । दिशि रूढेभ्यः किम् ? ऐन्द्र्यां वसति । सप्तम्याद्यन्तेभ्यः किम् ? पूर्वं ग्रामं गतः । दिगादिवृत्तिभ्यः किम् ? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति । 'अस्ताति च' (सू १९७६) इति ज्ञापकादसिरस्तातिं न बाधते । **(१९७८) दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ५ । ३ । २८ ॥** अस्तातेरपवादः । दक्षिणतः । उत्तरतः । **(१९७९) विभाषा परावरा-**

पुरस्तादित्यादि । पूर्वस्मिन् गुराविति । पूर्वकालिकाध्यापनकर्तरीत्यर्थः । ननु 'दिक्-छब्देभ्यः' इति सामान्यविहितस्य परादिशब्देषु सावकाशस्य अस्तातेः पूर्वाधरावरशब्देषु असिना विशेषविहितेन बाधः स्यादित्यत आह—अस्ताति चेतीत्यादि ।

(१९७८) दक्षिणोत्तराभ्याम् । दिग्देशकालवृत्तिभ्यामिति शेषः । दक्षिणतः, उत्तरत इति । न च तसुजेव प्रत्ययोऽस्तु । दिग्वर्तित्वे तु 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पुंवत्त्वेनैव दक्षिणत इत्यादि सिद्धमिति वाच्यम्, स्पष्टार्थत्वात् । अत एव अकारः प्रत्याख्यातः । केचित्तु अकारोच्चारणमन्यतो विधानार्थम्, तेन पुरत इति सिद्धमित्याहुः । समानकालीन-मित्यादिवत् पुरत इति प्रामादिकमेवेति बहवः ।

अवस्तात । इसी प्रकार पूर्वोक्त प्रत्यय देश और काल अर्थ में भी होंगे । 'दिशि रूढेभ्यः' क्यों कहा ? 'ऐन्द्र्यां वसति' (ये प्रत्यय नहीं हुए) । 'सप्तम्याद्यन्तेभ्यः' क्यों कहा ? 'पूर्वं ग्रामं गतः' (में उक्त प्रत्यय नहीं हुए) । 'अस्ताति च' (सू० १९७६) इस ज्ञापक से 'असि' द्वारा अस्ताति का बाध नहीं होता ।

विवरण—केवल 'अवर' शब्द के सम्बन्ध में पूर्व सूत्र से नित्य अवादेश की प्राप्ति में यह विकल्प विधान है । सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । अतः "सप्तमी, पञ्चमी तथा प्रथमान्त दिग्देशकालवाची 'अवर' शब्द के स्थान में 'अस्ताति' प्रत्यय पर रहते विकल्प से 'अव्' आदेश होता है" । पक्ष में 'अवर' ही रहेगा । उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है ।

प्रत्युदाहरण—(१) 'अस्ताति' प्रत्यय के विधान में 'दिशि रूढेभ्यः' पद का निवेश होने से **ऐन्द्र्यां वसति** (पूर्व दिशा में रहता है) में 'ऐन्द्री' शब्द से 'अस्ताति' प्रत्यय इस कारण नहीं हुआ कि यह शब्द 'पूर्व दिशा' में रूढ नहीं है । इन्द्र देवता के सम्बन्ध से पूर्व दिशा का वाचक है । (२) इसी प्रकार **'सप्तम्याद्यन्त'** का निवेश होने से सप्तमी, पञ्चमी तथा प्रथमान्त से ही 'अस्ताति' प्रत्यय के नियत होने के कारण **पूर्वं ग्रामं गतः** (पूर्व के गाँव को गया) में द्वितीया विभक्ति होने से अस्ताति प्रत्यय नहीं हुआ । तथैव (३) सूत्र में 'दिग्देशकालेषु' पद का निवेश होने से **पूर्वस्मिन् गुरौ वसति** (पहले के गुरु के यहाँ रहता है) में 'पूर्व' शब्द की वृत्ति दिशा आदि अर्थों में न होने से 'अस्ताति' आदि प्रत्यय नहीं होते ।

विशेष—यहाँ "अस्ताति च" (५-३-४०) सूत्र की सार्थकता के लिये यह मानना आवश्यक हो जाता है कि सूत्रक्रम में पर होने पर भी 'असि' प्रत्यय 'अस्ताति' का बाधक नहीं होता ।

(१९७८) पद—दक्षिणोत्तराभ्याम्, अतसुच् । **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः…कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

सूत्रार्थ एवं विवरण—दिशा-वाची शब्दों का ही विषय है । 'अस्ताति' का यह अपवाद-सूत्र है । तदनुसार "सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमान्त दिक्, देश तथा काल अर्थ में वर्तमान 'दक्षिण' और 'उत्तर' शब्दों से स्वार्थ में 'अतसुच्' (=अतस्) प्रत्यय होता है" । क्रमशः **उदाहरण**—(१) **दक्षिणतः**—दक्षिण + अतसुच् (=अतस्) । **अर्थ**—दक्षिण की ओर, दक्षिण से अथवा दक्षिण दिशा—दक्षिणस्यां दिशि, दक्षिणस्याः दिशः, दक्षिणा दिक् वा) । (२) **उत्तरतः**—उत्तर + अतसुच् (=अतस्) । **अर्थ**—उत्तर की ओर, उत्तर से अथवा उत्तर दिशा—उत्तरस्याम् दिशि, उत्तरस्याः दिशः, उत्तरा वा दिक्) । इसी प्रकार काल-देश आदि अर्थों में भी प्रयोग होगा ।

स्यात् ५ । ३ । २९ ॥ परतः । अवरतः । परस्तात् । अवरस्तात् । (१९८०) अञ्चेर्लुक् ५ । ३ । ३० ॥ अञ्चत्यन्ताद्दिक्छब्दादस्तातेर्लुक्स्यात् । 'लुक्तद्धितलुकि' (सू १४०८) । प्राच्यां प्राच्याः प्राची वा दिक्–प्राक् । उदक् । एवं देशे काले वा । (१९८१) उपर्युपरिष्टात् ५।३।३१ ॥ अस्तातेर्विषये ऊर्ध्वशब्दस्योपादेशः स्यात्, रिल्रिष्टातिलौ च प्रत्ययौ ।

(१९७९) विभाषा । अतसुजिति शेषः । पक्षे अस्तातिः ।

(१९८०) अञ्चेर्लुक् । प्राच्यामिति । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया अस्तातेर्लुक् ।

(१९८१) उपर्युपरिष्टात् । 'ऊर्ध्वस्य उपभावः रिल्प्रत्ययो रिष्टातिल्प्रत्ययश्च' इति

(१९७९) पद—विभाषा, परावराभ्याम् । अनुवृत्ति—अतसुच्, दिक्शब्देभ्यः‥‥‥कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमान्त दिग्देशकाल अर्थों में वर्तमान 'पर' और 'अवर' शब्दों से विकल्प से स्वार्थ में 'अतसुच्' (= अतस्) प्रत्यय होता है" । पक्ष में यथाप्राप्त 'अस्ताति' प्रत्यय भी होगा । तदनुसार (१) परतः (पर+अतसुच्) तथा परस्तात् (पर+अस्ताति) रूप बनेंगे । अर्थ—बाहर की ओर, बाहर से, बाहर—परस्यां दिशि, परस्याः दिशः, परा वा दिक् । (२) अवरतः (अवर+अतसुच्) तथा अवरस्तात् (अवर+अस्ताति) रूप बनेंगे । अर्थ—बाहर की ओर, बाहर से, बाहर—अवरस्यां दिशि, अवरस्याः दिशः, अवरा वा दिक् । ऐसे ही कालादि में भी जानें ।

(१९८०) पद—अञ्चेः, लुक् । अनुवृत्ति—दिक्शब्देभ्यः‥‥‥कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'अञ्च्'-धात्वन्त दिग्वाचक शब्द से पर 'अस्ताति' प्रत्यय का 'लुक्' होता है । (ङीप् की निवृत्ति) ←'लुक् तद्धतलुकि' । उदाहरण—१–प्राक् । २–उदक् । इसी प्रकार 'देश' एवं 'काल' में भी रूप होंगे ।

विवरण—'अस्ताति' प्रत्यय के सन्दर्भ में विशेष विधान बतलाया जा रहा है । तदुपयोगी उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । अतः सूत्र का यह अर्थ होगा कि "सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमान्त दिग्देशकाल में वर्तमान 'अन्च्' धातु-अन्तवाले दिशावाची शब्द से उत्तरवर्ती 'अस्ताति' प्रत्यय का 'लुक्' (= लोप) होता है" । उदाहरण—(१) प्राक् (पूर्व दिशा में—प्राच्यां दिशि आदि)—प्राची+अस्ताति ▷ प्राची ('अस्ताति' प्रत्यय का लोप) ▷ प्राच् (तद्धित प्रत्यय का लोप होने पर 'ङीप्' का भी लोप—"लुक् तद्धित लुकि" १-२-४९) ▷ प्राक् (स्त्रीप्रत्यय हटने पर तन्निमित्तिक अकार-लोप तथा पूर्वपद के दीर्घत्व का अभाव होकर सवर्णदीर्घ, विभक्त्युत्पत्ति, अव्ययसंज्ञा, विभक्ति लुक् एवं कुत्व होंगे) । इसी प्रकार देश एवं काल में भी समझें । प्राची शब्द की सिद्धि—प्र–√अन्च्+क्विन् > प्र–अच्+ङीप् ('क्विन्' का तथा 'न्'लोप) > प्र-च्+ई ('अ' लोप) > प्राची ('अ' को दीर्घ) । (२) उदक् (उत्तर दिशा में आदि—उदीच्यां दिशि आदि)—उदीची+अस्ताति > उदीच्–ई ('अस्ताति' का लोप) > उदीच् ('ङीप्' का लोप) > उदच् उदक् ('ङीप्' के हटने पर भ-संज्ञानिमित्तक "उद ईत्" ६-४-१३९ से निष्पन्न ईत्व की निवृत्ति, कुत्व आदि विभक्ति-कार्य) होंगे । इसी प्रकार देश-कालादि अर्थ में भी जाना जाय ।

विशेष—'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा का आश्रयण कर 'अस्ताति' का लोप सम्भव होता है, क्योंकि 'प्राची' एवम् 'उदीची' शब्द ङीबन्त स्त्रीलिङ्ग है न कि अञ्चन्त ।

(१९८१) पद—उपर्युपरिष्टात् । अनुवृत्ति–दिक्शब्देभ्यः‥‥दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

उपरि–उपरिष्टाद्वा वसति, आगतो रमणीयं वा। (१९८२) पश्चात् ५।३।३२॥ अपरस्य पश्चभाव आतिश्च प्रत्ययोऽस्तातेर्विषये। (१९८३) उत्तराधरदक्षिणादातिः ५।३।३४॥ उत्तरात्। अधरात्। दक्षिणात्। (१९८४) एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ५।३।३५॥ उत्तरादिभ्य एनब्वा स्यादवध्यवधिमतोः सामीप्ये पञ्चमीं विना।

भाष्यम्। तदाह—अस्तातेर्विषये इत्यादिना। वसति, आगतो रमणीयं वेति। विभक्तित्रयस्य यथासङ्ख्यमुदाहरणम्।

(१९८२) पश्चात्। 'अपरस्य पश्चभावः, आतिश्च प्रत्ययः' इति भाष्यवाक्यमिदम्। प्रत्यये इकार उच्चरणार्थः।

(१९८३) उत्तराधर। आतिप्रत्यये इकार उच्चारणार्थः। अस्तातेरपवादः।

(१९८४) एनबन्यतरस्याम्। 'अपञ्चम्या इति प्रागसेः' इति भाष्यम्। सूत्रक्रमे 'पूर्वाधर' इत्यसि वक्ष्यति, ततः प्रागित्यर्थः। उत्तरादिभ्य इति। उत्तराधरदक्षिणादित्यनु-

---

मूलार्थ—'अस्ताति' के विषय में 'ऊर्ध्व' शब्द के स्थान में 'उप' आदेश हो तथा 'रिष्ट' और 'रिष्टातिल्' प्रत्यय भी हों। उदा० उपरि, उपरिष्टात् वा वसति, आगतः, रमणीयं वा।

विवरण—"'अस्ताति' के अर्थ में 'उपरि' और 'उपरिष्टात्' ये शब्द निपातन किये जाते हैं"। निपातन का स्वरूप–"'ऊर्ध्व' शब्द को 'उप'-भाव एवं 'रिल्' (=रि) तथा 'रिष्टातिल्' (=रिष्टात्) प्रत्यय होते हैं"। 'अस्ताति' प्रत्यय सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमान्त से दिग्देशकाल अर्थ में होता है, अतः 'अस्ताति' अर्थ कहने से उपर्युक्त सभी अर्थ अभिप्रेत होंगे। **उदाहरण**—सप्तमी से—उपरि उपरिष्टात् वा वसति (रहने वाला ऊपर के भाग में स्थित है—ऊर्ध्वायां दिशि वसति—ऊर्ध्व + रिष्ट या रिष्टात्। पञ्चमी से—ऊर्ध्वायाः दिशः आगतः—ऊपर की तरफ से आया। प्रथमा से—ऊर्ध्वं रमणीयम्—ऊपर का भाग सुन्दर है। इसी प्रकार देश-काल अर्थ में भी जानें।

(१९८२) पद—पश्चात्। **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः…कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अस्ताति के विषय में 'अपर' के स्थान में 'पश्च' आदेश तथा 'आति' प्रत्यय होते हैं।

विवरण—"'पश्चात्'—यह शब्द निपातन किया जाता है"। तदनुसार 'अस्ताति' के विषय में अपर शब्द को 'पश्च'-भाव तथा 'आति' प्रत्यय निपातन का स्वरूप होगा। **उदाहरण**—पश्चात् वसति (अपरस्यां दिशि आदि—पश्चिम की ओर आदि)–अपर + आति (आत्) = पश्च् + आत्। अन्य सभी अर्थों में भी यही स्थिति रहेगी।

(१९८३) पद—उत्तराधरदक्षिणात्, आतिः। **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः…कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"'उत्तर', 'अधर' तथा 'दक्षिण'—इन दिशावाची शब्दों से 'अस्ताति' अर्थ में 'आति' प्रत्यय होता है"। 'अस्ताति' का यह अपवाद है। क्रमशः **उदाहरण**—(१) उत्तरात् (उत्तर की ओर आदि—उत्तरस्यां दिशि आदि)—उत्तर + आति (= आत्)। अन्त्य-वर्ण-लोप। (३) **दक्षिणात्** (दक्षिण की ओर आदि—दक्षिणास्यां दिशि आदि)—दक्षिण् + आत्। (२) **अधरात्** (नीचे की ओर आदि—अधरस्याम् दिशि आदि)—अधर् + आत्। देश-कालादि में भी यही प्रयोग होंगे।

(१९८४) पद—एनप्, अन्यतरस्याम्, अदूरे, अपञ्चम्याः। **अनुवृत्ति**—उत्तराधरदक्षिणात्, दिक्शब्देभ्यः…कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अवधि' एवम् 'अवधिभूत' पदार्थ के सामीप्य में 'उत्तर' आदि शब्दों से पञ्चम्यन्त को छोड़कर 'एनप्' प्रत्यय होता है। कुछ आचार्यों के मत में 'उत्तर' आदि की अनुवृत्ति के बिना

उत्तरेण । अधरेण । दक्षिणेन । पक्षे यथास्वं प्रत्ययाः । इह केचिदुत्तरादीननुवर्त्य दिक्छब्दमात्रादेनपमाहुः । पूर्वेण ग्रामम् । अपरेण ग्रामम् । (१९८५) दक्षिणादाच् ५ । ३ । ३६ ॥ अस्तातेर्विषये । दक्षिणा वसति । अपञ्चम्याः इत्येव । दक्षिणादागतः । (१९८६)

वर्तत इति भावः । अदूरे इत्येतद्व्याचष्टे—अवध्यवधिमतोः सामीप्ये इति । पञ्चमीं विनेति । पञ्चम्यन्तान्न भवतीत्यर्थः । यथास्वमिति । एनबभावे पक्षे अस्तातिः असिः आतिश्चेत्यर्थः । दिक्छब्दमात्रादिति । अञ्चत्यन्तात्तु नेदम्, व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् । तेन प्राचेन ग्राममित्यादि न भवतीत्याहुः ।

(१९८५) दक्षिणादाच् । अस्तातेर्विषये इति । एतेन अदूरे इति नानुवर्तत इति सूचितम् । एवं च आच्प्रत्यये 'उत्तराधरदक्षिणादि'त्यातिप्रत्यये, 'दक्षिणोत्तराभ्याम्' इत्यतसुचि च त्रीणि रूपाणि ।

सभी दिशावाचक शब्दों से 'एनप्' प्रत्यय होता है । उदा० १–उत्तरेण । २–अधरेण । ३–दक्षिणेन । पक्ष में यथाप्राप्त प्रत्यय होंगे ।

विवरण—उद्देश्यवाची (प्रकृति-सूचक) उत्तर, अधर तथा दक्षिण शब्दों की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र (५-३-३४) से आ रही है । तदनुसार सूत्र का यह आशय होगा कि "'पञ्चम्यन्त' के अतिरिक्त अर्थात् 'सप्तम्यन्त' तथा 'प्रथमान्त' उत्तर, अधर तथा दक्षिण शब्दों से निकटता (अदूरे) गम्यमान होने पर विकल्प से 'एनप्' प्रत्यय होता है" । पक्ष में यथाप्राप्त प्रत्यय होंगे—अर्थात् पूर्व सूत्र से प्राप्त 'आति' प्रत्यय, एवम् उत्तर तथा दक्षिण शब्दों से 'अतसुच्' भी होगा । 'अधर' शब्द से 'आति' तथा 'अस्ताति'—ये दोनों प्रत्यय होंगे । 'अधर' शब्द से 'अस्ताति' होने पर 'अधर' के स्थान में 'अध्' आदेश भी होगा—"अस्ताति च" (५-३-४०) । **उदाहरण**—(१) **उत्तरेण** (समीप ही उत्तर की ओर—उत्तरस्यां दिशि, उत्तरा वा दिक्)—उत्तर्̥+एनप् (=एन) । 'अ'कार का लोप—"यस्येति च" (६-४-४८) । (२) **अधरेण** (पास ही नीचे की ओर—अधरस्यां दिशि अधरा वा दिक्)—अधर्̥+एनप् (=एन) । (३) **दक्षिणेन** (पास ही दक्षिण की ओर—दक्षिणस्याम् दिशि दक्षिणा वा दिक्)—दक्षिण्̥+एनप् (=एन) ।

विशेष—कुछ आचार्यों के मत में पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति यहाँ अनपेक्षित है । अतः इसकी सीमा विस्तृत हो जाती है । तदनुसार सभी दिशावाची शब्दों से उक्त अर्थ में 'एनप्' प्रत्यय होता है । अतः पूर्व एवम् अपर शब्दों से भी 'एनप्' प्रत्यय होगा । तब **पूर्वेण** ग्रामम् (गाँव के समीप ही पूर्व की ओर–पूर्वस्यां दिशि, पूर्वा वा दिक्), तथा **अपरेण** ग्रामम् (गाँव के समीप ही पीछे की ओर—अपरस्यां दिशि, अपरा वा दिक्)—अपर्̥+एनप् (=एन) ।

विशेष—'एनप्' प्रत्यय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है—"एनपा द्वितीया" (२-३-३१) ।

(१९८५) पद—दक्षिणात्, आच् । **अनुवृत्ति**–अपञ्चम्याः, दिक्शब्देभ्यः…कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र (५-३-३५) से केवल 'अपञ्चम्याः' पद अनुवर्तमान है, न कि 'अदूरे' । 'अदूरे' अर्थ की अनुवृत्ति न होने के फलस्वरूप यह विधान 'अस्ताति' के विषय में होगा । अन्य उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "'पञ्चम्यन्त' के अतिरिक्त अर्थात् सप्तमी-प्रथमान्त दिशा-वाची 'दक्षिण' शब्द से 'अस्ताति' अर्थ में 'आच्' प्रत्यय होता है" । 'अस्ताति' अर्थ में किये जाने के फलस्वरूप इसके साथ ही यथाप्राप्त 'आति' प्रत्यय ("उत्तराधरदक्षिणादातिः" ५-३-३४) तथा 'अतसुच्' प्रत्यय ("दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्" ५-३-२८) भी होंगे । सूत्रोक्त **उदाहरण**—(सप्तम्यन्त) **दक्षिणा** वसति (दक्षिण में रहता है—

आहि च दूरे ५ । ३ । ३७ ॥ दक्षिणाद् दूरे आहि स्यात् । चादाच् । दक्षिणाहि—दक्षिणा । (१९८७) **उत्तराच्च ५ । ३ । ३८ ॥** उत्तराहि—उत्तरा । (१९८८) **संख्याया विधार्थे धा ५।३।४२ ॥** क्रियाप्रकारार्थे वर्तमानात्संख्याशब्दात्स्वार्थे धा स्यात् । चतुर्धा ।

(१९८६) **आहि च दूरे** । दक्षिणाशब्दादिति शेषः । **चादाजिति** । तथा दूरे उक्त-रूपत्रयेण सह चत्वारि रूपाणीति भावः ।

(१९८७) **उत्तराच्च** । आच् आहि चेति शेषः । अतसुचा आतिना च चत्वारि रूपाणि ।

(१९८८) **सङ्ख्याया विधार्थे धा** । विधाशब्दस्यार्थः प्रकारः विधार्थः । 'विधा विधौ प्रकारे च' इत्यमरः । सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः । स चाभिधानस्वभावात् क्रिया-विषयक एव गृह्यते तदाह—**क्रियाप्रकारेति** । **चतुर्धा** । **पञ्चधेति** । गच्छतीत्यादिक्रियापदम-

---

दक्षिणस्यां वसति)—दक्षिण् + आच् (= आ) । अन्त्यवर्ण-लोप । प्रथमान्त में **'दक्षिणा रमणी-यम्'** उदाहरण जानें ।

प्रत्युदाहरण—अनुवर्तमान 'अपञ्चम्याः' पद के प्रभाव से 'दक्षिणात् आगतः' में पञ्चम्यन्त होने के कारण 'आच्' प्रत्यय नहीं हुआ ।

(१९८६) पद—आहि, च, दूरे । **अनुवृत्ति**—दक्षिणादाच् , अपञ्चम्याः, दिक्शब्देभ्यः··· कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'दक्षिण' शब्द से 'दूर' अर्थ में 'आहि' हो । 'च' के निवेश से 'आच्' भी । उदा० दक्षिणाहि—दक्षिणा ।

विवरण—सूत्र में उद्देश्यवाची पद की पूर्ति "दक्षिणादाच्" (५-३-३६) सूत्र की अनुवृत्ति के द्वारा की जाती है । शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ यथापूर्व प्रभावी हैं । तदनुसार "सप्तम्यन्त और प्रथमान्त 'दक्षिण' शब्द से 'आहि' प्रत्यय हो" । पूर्वसूत्रोक्त 'आच्' प्रत्यय के साथ ही 'आति' तथा 'अतसुच्' प्रत्ययों के समावेश होने से चार रूप बनेंगे । सूत्रोक्त **उदाहरण**—**दक्षिणाहि** वसति । दक्षिण् + आहि । **अर्थ**—दूर दक्षिण में या दक्षिण—दक्षिणस्यां दक्षिणा वा । पक्ष में—**दक्षिणा** (आच् होने पर) । इस प्रकार 'एनप्' को लेकर 'दक्षिण' शब्द से पाँच प्रत्यय होते हैं ।

(१९८७) पद—उत्तरात्, च । **अनुवृत्ति**—आहि दूरे, आच् , अपञ्चम्याः, दिक्शब्देभ्यः··· कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—अब केवल दिशावाची 'उत्तर' शब्द के सम्बन्ध में दिगाद्यर्थ में प्रत्यय-विधान बतलाया जा रहा है । सूत्र में 'च' का निवेश होने से 'दक्षिण' शब्द के समान 'आहि', तथा 'आच्' का अनुकर्षण होता है । इसके साथ ही पूर्वोक्त 'आति', 'अतसुच्' तथा 'एनप्' प्रत्यय भी होंगे । अतः सूत्र का अर्थ यह होगा कि "अपञ्चम्यन्त 'उत्तर' शब्द से भी 'अस्ताति' अर्थ में 'आच्' और 'आहि' प्रत्यय होते हैं" । सूत्रोक्त **उदाहरण**—(दूर उत्तर दिशा में—दूरे उत्तर-स्यां दिशि या दूर उत्तरदिशा—दूरे उत्तरा दिक्) । (क) **उत्तराहि**—'आहि' प्रत्यय होने पर । (ख) **उत्तरा**—'आच्' प्रत्यय होने पर ।

(१९८८) पद—संख्यायाः, विधार्थे, धा । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—क्रिया के प्रकार में विद्यमान संख्यावाची शब्द से स्वार्थ में 'धा' प्रत्यय होता है । उदा० १–चतुर्धा । २–पञ्चधा ।

विवरण—संख्यावाची शब्दों से अर्थ-विशेष को अभिलक्षित कर प्रत्यय-विधान किया जा रहा है । उस अर्थ का बोधक पद 'विधा' है । 'विधार्थे' शब्द का अर्थ 'प्रकार' होता है । 'सामान्य'

पञ्चधा । (१९८९) अधिकरणविचाले च ५ । ३ । ४३ ।। द्रव्यस्य संख्यान्तरापादने संख्याया धा स्यात् । एकं राशिं पञ्चधा कुरु । (१९९०) एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम्

ध्याहार्यम् । चतुष्प्रकारा गमनादिक्रियेति बोधः । नवधा द्रव्यमित्यादावपि भवतीत्यादि-क्रियापदमध्याहार्यम् ।

(१९८९) अधिकरणविचाले च । अधिकरणं द्रव्यं, तस्य विचालः विचालनं सङ्ख्यान्तरापादनम्, तदाह—द्रव्यस्येति । सङ्ख्यान्तरापादनं च न्यूनसङ्ख्यस्य अधिकसङ्ख्याकरणम् अधिकसङ्ख्यस्य न्यूनसङ्ख्याकरणं च । आद्ये उदाहरति—एकं राशिं पञ्चधा कुर्विति । द्वितीये तु अनेकमेकधा कुर्वित्युदाहार्यम् । इह राशिविषयक एव प्रकारो गम्यते, न तु क्रियाप्रकार इति सूत्रारम्भः ।

(१९९०) एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम् । एकात् धः इति छेदः । धाशब्दस्य ध इति षष्ठ्येकवचनम् । एकशब्दात्परस्य धाप्रत्ययस्य ध्यमुञादेशः स्यादित्यर्थः । ऐकध्यमिति ।

का निवर्तक 'विशेष' होता है, उसी को 'प्रकार' रूप में बतलाया जा रहा है। 'किसका प्रकार' बतलाया जाय—इस आकाङ्क्षा को दूर करने के लिये प्राचीन व्याख्याकारों ने 'क्रिया-विषयक अर्थ का प्रकार' (= भिन्नता को) स्वीकार किया है। इस अर्थ की अभिव्यक्ति में सूत्रोक्त 'अर्थ' पद का निवेश ही कारण है। यदि सामान्यतः 'विधा के विषय में'-यह अर्थ अभीष्ट होता तो सप्तम्यन्त 'विधायाम्' पद का निवेश ही पर्याप्त रहा। दूसरा कारण यह भी है कि 'धा' प्रत्यय अव्ययों में पढ़ा गया है। अतः क्रिया के विषय में उसका ग्रहण करने में कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि अव्ययों की तरह क्रिया का लिङ्ग-संख्यादि से सम्बन्ध नहीं रहता। अतः संक्षेप में सूत्रार्थ यह होगा कि "'क्रिया के प्रकार' में विद्यमान संख्यावाची प्रातिपदिकों से 'धा' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(क) चतुर्धा भुङ्क्ते (चार प्रकार से खाता है)-चतुर् + धा। (ख) पञ्चधा भुङ्क्ते (पाँच प्रकार से खाता है)—पञ्चन् + धा। 'न्' का लोप। इन उदाहरणों के अर्थ में 'खाना' क्रिया के ही विविध प्रकार विदित होते हैं।

(१९८९) **पद**—अधिकरणविचाले, च। **अनुवृत्ति**—संख्यायाः धा, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'वस्तु की संख्या बदलना' अर्थ में भी संख्यावाची शब्दों से 'धा' प्रत्यय होता है। उदा० एकं राशिं पञ्चधा कुरु।

विवरण—संख्या-वाची शब्दों से विशेष अर्थ में पूर्वोक्त 'धा' प्रत्यय का ही विधान बतलाया जा रहा है। तदनुसार पूर्व सूत्र (५.३.४२) से 'संख्यायाः धा' अंश अनुवर्तमान है। सूत्रस्थ 'अधिकरण' पद द्रव्यवाचक है। उसका जो विचाल अर्थात् अनेक संख्याओं में बदलना—उसे 'अधिकरण-विचाल' कहा गया है। तदनुसार "यदि 'द्रव्य' का अनेक संख्याओं में बदलना" अर्थ अभीष्ट हो तो संख्यावाची प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'धा' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—एकं राशिं पञ्चधा कुरु में एक ढेरी की वस्तुओं को पाँच हिस्सों में बाँटना अर्थ अभीप्सित है। अतः पञ्चन् + धा में 'न्' लोप होकर अव्यय-निमित्तक विभक्ति का लुक् होगा।

विशेष—(१) इसी प्रकार अधिक संख्यक को कम में बदलने पर भी यही स्थिति रहेगी। **उदाहरण**—अनेकम् एकधा कुरु (बहुत-सी ढेरियों को एक कर दो)। (२) इस सूत्र में पूर्व सूत्र के अनुसार क्रिया-प्रकार (विधा) अपेक्षित नहीं है। अतः पृथक् सूत्र की चरितार्थता है।

(१९९०) **पद**—एकात्, धः, ध्यमुञ्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

५।३।४४॥ ऐकध्यम्-एकधा। (१९९१) द्वित्र्योश्च धमुञ् ५।३।४५॥ आभ्यां 'धा' इत्यस्य धमुञ् स्याद्वा। द्वैधम्-द्विधा। त्रैधम्-त्रिधा। 'धमुञन्तात्स्वार्थे डदर्शनम्'

न च एकशब्दात् ध्यमुञ्प्रत्ययः स्वतन्त्रो विधीयताम्, न तु धाप्रत्ययस्यादेश इति वाच्यम्, तथा सति अधिकरणविचाल एव सन्निहितत्वादापत्तेः।

(१९९१) द्वित्र्योश्च धमुञ्। षष्ठी पञ्चम्यर्थे। 'ध' इति 'अन्यतरस्या'मिति चानुवर्तते। तदाह—आभ्यामिति। परस्येति शेषः। धमुञन्तादिति। वार्तिकमिदम्। दृशिग्रहणात् क्वचिदेवायम्। पथि द्वैधानीति। तृणानीति शेषः। द्वैधमित्यस्मात् डप्रत्यये टिलोपे

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्र में 'धः' पद 'धा' शब्द की षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। वह 'स्थानी' है तथा 'ध्यमुञ्' (=ध्यम्) आदेश है। अतः सूत्रार्थ यह होगा कि "'एक' शब्द से परवर्ती 'धा' प्रत्यय के स्थान में विकल्प से 'ध्यमुञ्' (=ध्यम्) आदेश होता है"। पूर्व दो सूत्रों—"संख्याया विधार्थे धा" (५-३-४२) तथा "अधिकरणविचाले च" (५-३-४३)—से क्रमशः 'विधार्थ' एवम् 'अधिकरण-विचाल' अर्थ में 'धा' प्रत्यय का विधान किया गया है। उसी के स्थान पर यहाँ 'ध्यमुञ्' आदेश विकल्प से किया जारहा है। 'ध्यमुञ्' के 'ञित्' होने से आदिवृद्धि होकर (एक+धा=ध्यम्) **ऐकध्यम्** रूप निष्पन्न होता है। पक्ष में **एकधा**। अर्थ—एक प्रकार से–एकेन प्रकारेण।

विशेष—यद्यपि 'एक' शब्द से 'ध्यमुञ्' प्रत्यय करने पर इष्ट रूप-सिद्धि तो हो सकती थी, तथापि ऐसी स्थिति में सामीप्य से केवल 'विचाल' अर्थ में ही 'ध्यमुञ्' प्रत्यय होता न कि दूरस्थ 'विधा' अर्थ में। अतः 'विधा' अर्थ में भी उक्त प्रत्यय हो, यही पृथक् विधान की उपयोगिता है।

(१९९१) **पद**—द्वित्र्योः, च, धमुञ्। **अनुवृत्ति**—धः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन दोनों से (परवर्ती) 'धा' को विकल्प से 'धमुञ्' (=धम्) आदेश हो। उदा० १–द्वैधम्—द्विधा। २–त्रैधम्-त्रिधा। वा० 'धमुञ्'-अन्तवाले शब्दों से 'ड' प्रत्यय हो। उदा० पथि द्वैधानि।

विवरण—"संख्याया विधार्थे धा" (५-३-४२) सूत्र से स्थानिवाचक 'धा' शब्द तथा 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति "एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम्" (५-३-४४) से आ रही है। दोनों पूर्वसूत्रोक्त अर्थों का भी अनुसरण हो रहा है। तदनुसार "'विधार्थ' एवम् 'अधिकरण-विचाल' अर्थ में विहित 'द्वि' तथा 'त्रि'-सम्बन्धी 'धा' प्रत्यय के स्थान में विकल्प से 'धमुञ्' (=धम्) आदेश होता है"। **उदाहरण**—(१) **द्वैधम्** (द्वि+धा=धमुञ्=धम्)। तथा पक्ष में 'धा' प्रत्यय होगा—**द्विधा**-(द्वि+धा)। यहाँ पर भी यथापूर्व "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" (१-१-३८) से अव्यय-संज्ञा तथा तन्निमित्तक सुब्लुक् होते हैं। अर्थ—दो प्रकार से—द्विप्रकारम्। (२) इसी प्रकार 'त्रि' शब्द से—**त्रैधम्** (त्रि+धा=त्रि+धमुञ्) तथा **त्रिधा** (त्रि+धा) रूप जाने जायँ। **अर्थ**—तीन प्रकार से—त्रिप्रकारम्।

प्रकृत सन्दर्भ में एक **वार्तिक** उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार "**धमुञ्** (=धम्) प्रत्ययान्त शब्दों से **स्वार्थ** में ड **प्रत्यय** का भी प्रयोग **दिखाई** पड़ता है।" तदनुसार **उदाहरण**—पथि द्वैधानि तृणानि (मार्ग में दो प्रकार की घास)—द्वैधम्॰+ड (=अ)। डित्व-प्रयुक्त 'टि'=अम् का लोप। 'द्वैधम्' 'त्रैधम्' आदि में ञित्व-प्रयुक्त आदिवृद्धि हुई है।

विशेष—यहाँ पर 'ड' प्रत्ययान्त शब्द अव्यय-संज्ञक नहीं माने गए हैं। स्वभावतः लिङ्ग-वचन की प्रवृत्ति होने के कारण 'तसिलादयः प्राक् पाशपः' के अन्तर्गत होने पर भी यहाँ अव्यय-संज्ञा का कोई प्रभाव नहीं होता।

(वा ३२३०)। पथि द्वैधानि। (१९९२) एधाच्च ५ । ३ । ४६ ॥ द्वेधा । त्रेधा । (१९९३) याप्ये पाशप् ५ । ३ । ४७ ॥ कुत्सितो भिषक् भिषक्पाशः । (१९९४) पूरणाद्भागे तीयादन् ५ । ३ । ४८ ॥ द्वितीयो भागो द्वितीयः । तृतीयः । स्वरे विशेषः । 'तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः' (वा २६९१)। द्वैतीयीकः–द्वितीयः । तार्तीयीकः–तृतीयः ।

रूपम् । न च 'तसिलादयः प्राक् पाशपः' इति डप्रत्ययान्तस्याप्यव्ययत्वं शङ्क्यम्, स्वभावतः सत्त्ववचनत्वेनाव्ययत्वासम्भवात् 'द्वैधानि' इति भाष्यप्रयोगाच्च ।

(१९९२) एधाच्च । द्वित्रिभ्यां परस्य धाप्रत्ययस्य एधाजित्यादेशः स्यादित्यर्थः । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यारभ्य 'एधाच्च' इत्यन्तैर्विहितप्रत्ययान्तानामव्ययत्वम् ।

(१९९३) याप्ये पाशप् । याप्यः कुत्सितः 'निकृष्टप्रतिकृष्टार्वरेफयाप्यावमाधमाः' इत्यमरः । कुत्सिते विद्यमानात् स्वार्थे पाशप् स्यादित्यर्थः । प्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामिदम् । अप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामपि कुत्सित इति वक्ष्यमाणं भवतीति भाष्ये स्पष्टम् ।

(१९९४) पूरणाद्भागे । पूरणार्थकतीयप्रत्ययान्तात् भागे विद्यमानात्स्वार्थे अन् स्यादित्यर्थः । अन्विधेः प्रयोजनमाह—स्वरे विशेष इति । 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इति स्वर

(१९९२) पद—एधाच् , च । **अनुवृत्ति**—द्वित्र्योः, धः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'धा' के स्थान में आदेश होने का ही प्रसङ्ग है। स्थानिवाचक '**द्वित्र्योः**' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र (५-३-४५) से आ रही है। तदनुसार "'विधार्थ' एवम् 'अधि-करणविचाल' अर्थों में विहित द्वि-त्रि सम्बन्धी 'धा' प्रत्यय के स्थान में विकल्प से 'एधाच्' आदेश भी होता है"। **उदाहरण**—'द्वि' शब्द से **द्वेधा**–(द्वि+धा=एधा तथा अन्त्यवर्ण लोप)। **अर्थ**—दो प्रकार से। तथा 'त्रि' शब्द से **त्रेधा** (त्रि+धा=एधा)। **अर्थ**—तीन प्रकार से। पक्ष में 'धा' एवम् 'धमुञ्' प्रत्यय होने पर प्रत्येक के तीन तीन रूप बनेंगे।

(१९९३) पद—याप्ये, पाशप्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—निन्दा अर्थ में (याप्ये) वर्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिकों से 'पाशप्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**भिषक्पाशः** (निन्दितकर्म-कर्ता चिकित्सक—कुत्सितः भिषक्) भिषक्+पाशप् (=पाश)। प्रवृत्ति-निमित्त कुत्सा अर्थ में इसकी प्रवृत्ति होती है। अर्थात् चिकित्सक के किसी निन्दित कर्म के करने पर ही 'पाशप्' प्रत्यय होगा। अप्रवृत्ति-निमित्त कुत्सा अर्थ में तो "कुत्सिते" (५-३-७४) सूत्र से 'कन्' प्रत्यय होगा।

(१९९४) पद—पूरणात्, भागे, तीयात्, अन्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदा० १–द्वितीयः भागः←द्वितीयः। २–तृतीयः। ('अन्' में) स्वर की विशेषता है। वा० 'तीय' प्रत्ययान्त से स्वार्थ में विकल्प से 'ईकक्' कहा जाय। उदा० १–द्वैतीयिकः—द्वितीयः। २–तार्तीयिकः—तृतीयः। वा० विद्यावृत्ति (वाच्य) से (ईकक्) न हो। उदा० द्वितीया तृतीया वा विद्या।

विवरण—"पूरणार्थक 'तीय'-प्रत्ययान्त भागार्थ-सूचक प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'अन्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—'तीय'-प्रत्ययान्त—द्वितीय ("द्वेस्तीयः" ५-२-५४) एवं तृतीय ("त्रेः सम्प्रसारणं च" ५-२-५५) शब्दों से स्वार्थ में पुनः 'अन्' (= अ) प्रत्यय करने पर अन्त्य-वर्ण (= अ) का लोप किये जाने से पूर्ववत् दोनों रूप बनेंगे। **अर्थ**—दूसरा एवं तीसरा हिस्सा–द्वितीयः तृतीयः वा भागः←द्वयोः त्रयाणां वा पूरणः)। स्वर में भेद होने के कारण पृथक् विधान की

'न विद्यायाः' (वा २६९२)। द्वितीया, तृतीया विद्येत्येव। (१९९५) प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि ५। ३। ४९॥ पूरणप्रत्ययान्ताद्भागेऽन्। चतुर्थः। पञ्चमः। (१९९६) षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च ५। ३। ५०॥ चादन्। षष्ठो भागः—षाष्ठः—षष्ठः। आष्टमः—अष्टमः।

इत्यर्थः। तीयादीकगिति। वार्तिकमिदम् 'दृष्टं साम' इति सूत्रभाष्ये स्थितम्। न विद्याया इति। वार्तिकमिदमपि तत्रैव स्थितम्। विद्यावृत्तेः तीयप्रत्ययान्तादीकग् नेत्यर्थः।

(१९९५) प्रागेकादशभ्यः। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—पूरणप्रत्ययान्ताद् भागे अनिति। द्वितीयतृतीयशब्दाभ्यां पूर्वसूत्रेण सिद्धत्वाच्चतुर्थादिदशमशब्दपर्यन्तविषयकमिदमित्यभिप्रेत्योदाहरति—चतुर्थं इति। न चानेनैव सिद्धत्वात्पूर्वसूत्रं किमर्थमिति शङ्क्यम्, तस्य छन्दस्यपि प्रवृत्त्यर्थत्वात्।

(१९९६) षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च। पूर्वसूत्रविषये इति शेषः। ञेति लुप्तप्रथमाकम्। ञे आदिवृद्धिः। चादनिति। इह न यथासङ्ख्यम्, व्याख्यानात्।

उपयोगिता है। 'अन्' प्रत्यय 'नित्' है, अतः "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६-१-१९१) से आद्युदात्त स्वर होगा। अन्यथा "आद्युदात्तश्च" (३-१-३) के प्रभाव से प्रत्यय-स्वर मध्य-स्वरित होता।

इसी प्रसङ्ग में यहाँ दो वार्तिक उद्धृत किये जा रहे हैं। जिनमें से प्रथम वार्तिक के अनुसार 'तीय' प्रत्ययान्त से स्वार्थ में विकल्प से 'ईकक्' प्रत्यय होता है। उदाहरण—(१) द्वैतीयिकः-द्वितीयः। (अर्थ—दूसरा)। (२) इसीप्र कार—तार्तीयिकः। अर्थ—तीसरा (तृतीय + ईक)। पक्ष में तृतीयः। दूसरे वार्तिक में पूर्वोक्त अर्थ को सीमित किया गया है। तदनुसार विद्यार्थक द्वितीय एवं तृतीय शब्दों से 'ईकक्' प्रत्यय नहीं होता। अतः द्वितीया विद्या (दूसरी विद्या) तथा तृतीया विद्या—(तीसरी विद्या)—इस प्रकार विवक्षित होने पर 'ईकक्' प्रत्यय नहीं हुआ।

विशेष—भाष्य में उपर्युक्त वार्तिक "दृष्टं साम" (४-२-७) सूत्र में श्लोकवार्तिक के रूप में इस प्रकार पढ़ा गया है—

दृष्टं सामनि जाते चाप्यण् डित् द्विर्वा विधीयते।
तीयादीकक् न विद्याया गोत्रादङ्कवदिष्यते"॥

(१९९५) पद—प्राक्, एकादशभ्यः, अन्, छन्दसि। अनुवृत्ति—पूरणाद् भागे, अन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—पूरणप्रत्ययान्त से 'भाग' अर्थ में 'अन्' हो। उदा० १–चतुर्थः। २–पञ्चमः।

विवरण—पूर्व सूत्रोक्त प्रसङ्ग का विस्तार किया जा रहा है। साथ ही उसकी सीमा को भी बतलाया जा रहा है। तदनुसार "'एकादश' से पहले तक पूरण-प्रत्ययान्त संख्यावाचक शब्दों से भाग अर्थ में 'अन्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—(१) चतुर्थः (चौथा—चतुर्थः भागः) चतुर्थ + अन् (= अ)। (२) पञ्चमः (पाँचवाँ—पञ्चमः भागः)—पञ्चम + अन् (= अ)।

विशेष—'द्वितीय' तथा 'तृतीय' शब्दों से तो पूर्व सूत्र से ही सिद्ध है। अतः 'चतुर्थः' एवं 'पञ्चमः' उदाहरण दिये गए हैं। इनका भी पूर्व सूत्र में ही निवेश किया जा सकता था, किन्तु उस सूत्र की प्रवृत्ति वेद में भी होने से लोक में पृथक् उपादान चरितार्थ होता है।

(१९९६) पद—षष्ठाष्टमाभ्यां, ञ, च। अनुवृत्ति—अन्छन्दसि, भागे अन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'ञ' पद लुप्त प्रथमा-विभक्तिक है। 'ञ' प्रत्यय का भी विधान किया जा रहा है। पक्ष में पूर्वसूत्रोक्त 'अन्' प्रत्यय भी होगा। तदनुसार "'भाग' अर्थ में वर्तमान 'षष्ठ' और 'अष्टम' शब्दों से लोक में (अ–छन्दसि) 'ञ' तथा 'अन्' प्रत्यय होते हैं"।

(१९९७) मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च ५ । ३ । ५१ ॥ षष्ठाष्टमशब्दाभ्यां क्रमेण कन्लुकौ स्तो माने पश्वङ्गे च वाच्ये । षष्ठको भागः मानं चेत् । अष्टमो भागः पश्वङ्गं चेत् । ञस्यानो वा लुक् । चकाराद्यथाप्राप्तम् । षष्ठः-षाष्ठः, अष्टमः-आष्टमः । महाविभाषया सिद्धे लुग्वचनं पूर्वत्र ञानौ नित्याविति ज्ञापयति । (१९९८) एकादाकिनिच्चासहाये

(१९९७) मानपश्वङ्गयोः । ञस्यानो वेति । अष्टमशब्दात्पूर्वसूत्रविहितस्य ञप्रत्ययस्य अन्प्रत्ययस्य च अनेन लुगित्यर्थः । चकाराद्यथाप्राप्तमिति । ञप्रत्ययः अन्प्रत्ययश्चेत्यर्थः । ननु 'समर्थानाम्' इत्यतो वाग्रहणानुवृत्त्यैव ञानोरभावे सति पश्वङ्गे अष्टमो भाग इत्यस्य सिद्धेरिह लुग्विधानं व्यर्थमित्याशङ्क्याह—महाविभाषयेति । पूर्वत्रेति । 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इति सूत्रे इत्यर्थः । एवं षष्ठाष्टमाभ्यां शब्दाभ्यां ञानोरिह नित्यं प्राप्तयोः कदाचिल्लुग्विधिरर्थवानित्यर्थः ।

(१९९८) एकादाकिनिच्चासहाये । असहायवाचकादेकशब्दात्स्वार्थे आकिनिच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

उदाहरण—(१) 'ञ'प्रत्यय 'ञित्' होने से आदिवृद्धि होकर षाष्ठः तथा 'अन्' होने पर 'वृद्धि' न होने से षष्ठः रूप बनेंगे । अर्थ—छठा—षष्ठः भागः । (२) आष्टमः (अष्टम् + ञ = अ, आदिवृद्धि) एवम् अष्टमः (अष्टम् + अन् = अ) रूप भी होंगे । अर्थ—आठवाँ—अष्टमः भागः ।

(१९९७) पद—मानपश्वङ्गयोः, कन्-लुकौ, च । अनुवृत्ति—षष्ठाष्टमाभ्याम्, भागे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'परिमाण' एवं 'पशु का अङ्ग' वाच्य रहते 'षष्ठ' तथा 'अष्टम' से यथाक्रम 'कन्' एवं 'लुक्' हों । उदा० १-परिमाण हो तो—षष्ठकः भागः । २-पशु का अङ्ग हो तो—अष्टमः भागः । 'ञ' अथवा 'अन्' का लुक् हो । 'च' के निवेश से यथाप्राप्त (प्रत्यय भी होते हैं) । जैसे १-षाष्ठः—षष्ठः । २-आष्टमः—अष्टमः । 'विभाषा' अधिकार से वैकल्पिक भावाभाव सिद्ध होने पर भी 'लुक्' कथन पूर्व सूत्र से विहित 'ञ' तथा 'अन्' प्रत्ययों के नित्य होने का ज्ञापक है ।

विवरण—पूर्वसूत्रोक्त अर्थ के अतिरिक्त 'मान' (= माप) तथा 'पशु के अङ्ग' बोधक उक्त दोनों शब्दों से 'भाग' अर्थ में ही विशेष विधान सूचित किया जा रहा है । तदनुसार '''परिमाण' एवम् 'पशु' के अङ्ग''—बोधक पूरण-प्रत्ययान्त 'षष्ठ' एवम् 'अष्टम' शब्दों से 'भाग' अभिधेय होने पर यथाक्रम 'कन्' तथा 'लुक्' होते हैं । यह कहा जा चुका है कि प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक्' संज्ञा है । अतः यहाँ पूर्वसूत्र से विहित 'ञ' अथवा 'अन्' किसी का भी 'लुक्' (= लोप) होगा, क्योंकि यहाँ किसी का नाम-निर्देश नहीं किया गया है । सूत्र में 'च' का निवश होने से यथाप्राप्त 'ञ' अथवा 'अन्' प्रत्यय भी रहेंगे । तदनुसार उदाहरण—(१) (क) षष्ठकः भागः—(किसी परिमाण का छठा भाग)—षष्ठ से 'कन्' होने पर । (ख) षष्ठः ('ञ' का लुक् होने पर) । (ग) षाष्ठः ('ञ' होने पर) । (२) (क) अष्टमः भागः (पशु के अङ्ग का आठवाँ भाग)—अष्टम + ञ् का 'लुक्' होने पर । (ख) आष्टमः—अष्टम + 'ञ' रहने पर

विशेष—"समर्थानां प्रथमाद्वा" (४-१-८२) अधिकार का प्रभाव होने से ही 'ञ' तथा 'अन्' प्रत्ययों के न होने पर पश्वङ्ग वाच्य रहते 'अष्टमः' रूप स्वतः सिद्ध था, तब पुनः 'लुक्'-विधान की क्या आवश्यकता रही ? अतः वह व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि "षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च" (५-३-५०) सूत्र से विहित 'ञ' तथा 'अन्' प्रत्यय नित्य होते हैं । अतः इस लुक्-विधान से तद्धित प्रयोग भी समीचीन माने जाते हैं ।

(१९९८) पद—एकात्, आकिनिच्, च, असहाये । अनुवृत्ति-कन्-लुकौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

५ । ३ । ५२ ॥ चात्कन्लुकौ । एकाकी-एककः-एकः । (१९९९) भूतपूर्वे चरट् ५ । ३ । ५३ ॥ आढ्यो भूतपूर्व आढ्यचरः । (२०००) षष्ठ्या रूप्य च ५ । ३ । ५४ ॥ षष्ठ्यन्ताद् भूतपूर्वेऽर्थे रूप्यः स्याच्चरट् च । कृष्णस्य भूतपूर्वो गौः-कृष्णरूप्यः-कृष्णचरः । तसिलादिषु रूप्यस्यापरिगणितत्वान्न पुंवत् । शुभ्रायाः भूतपूर्वः-शुभ्रारूप्यः ।

(१९९९) भूतपूर्वे चरट् । भूतपूर्वे वर्तमानात्प्रातिपदिकात् स्वार्थे चरट् स्यादित्यर्थः ।

(२०००) षष्ठ्या रूप्य च । रूप्येति लुप्तप्रथमाकम् । भूतपूर्वे इत्यनुवर्तते । षष्ठ्यन्तात् भूतपूर्वेऽर्थे इति । भूतपूर्वेऽर्थे विद्यमानात् षष्ठ्यन्तादित्यन्वयः । भूतपूर्वे इत्यनुवृत्तं हि श्रुतत्वात् षष्ठ्या विशेषणम् । भूतपूर्वे सम्बन्धे या षष्ठी तदन्तात्स्वार्थे रूप्यः स्यादिति फलति, यथाश्रुते तु स्वार्थिकप्रकरणविरोधः । कृष्णरूप्य इति । भूतपूर्वगत्या कृष्णसम्बन्धी गौरित्यर्थः । शुभ्रारूप्यशब्दे 'तसिलादिषु' इति पुंवत्त्वमाशङ्क्य 'तसिलादयः प्राक् पाशपः' इत्यादिवार्तिकपरिगणितेषु रूप्यस्यानन्तर्भावात्तस्मिन्परे पुंवत्त्वं नेत्याह—तसिलादिष्वित्यादि । शुभ्राया भूतपूर्व इति । गौरिति शेषः । शुभ्रारूप्य इति । भूतपूर्वगत्या शुभ्रासम्बन्धी गौरित्यर्थः ।

मूलार्थ एवं विवरण—असहाय अर्थ (= अकेला) में विद्यमान 'एक' शब्द से 'आकिनिच्' (= आकिन्) प्रत्यय, तथा 'कन्' प्रत्यय एवं 'लुक्' (च) भी होते हैं । यहाँ भी सामान्य रूप से किसी का भी 'लुक्' हो जायेगा । **उदाहरण**—(क) **एकाकी**—एक्+'आकिन्' (आकिनिच्) प्रत्यय होने पर, प्रथमा विभक्ति का एकवचन । (ख) **एककः**—एक+'कन्' प्रत्यय होने पर । (ग) **एकः**—'कन्' का लुक होने पर । **अर्थ**—अकेला—असहायः ।

(१९९९) पद—भूतपूर्वे, चरट् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । जिसका समय बीत गया, उसे भूतपूर्व (पूर्वं भूतः) कहते हैं । अतः "'भूतपूर्व' अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से 'चरट्' (= चर) प्रत्यय होता है" । 'ट्' इत् होने का फल स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय का होना है । **उदाहरण**—आढ्यचरः (जो पहले धनवान् रहा हो—आढ्यः भूतपूर्वः)—आढ्य+चरट् (= चर) ।

(२०००) पद—षष्ठ्याः, रूप्य, च । **अनुवृत्ति**—भूतपूर्वे चरट्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त से 'भूतपूर्व' अर्थ में 'रूप्य' तथा 'चरट्' प्रत्यय हों । उदा० कृष्णस्य भूतपूर्वः गौः←कृष्णरूप्यः—कृष्णचरः । तसिलादि में 'रूप्य' का परिगणन न होने से पुंवद्भाव नहीं हुआ—शुभ्रायाः भूतपूर्वः←शुभ्रारूप्यः ।

विवरण—'च' का निवेश होने से प्रत्ययार्थसूचक 'भूतपूर्व' पद एवम् तदतिरिक्त प्रत्ययवाची पूर्वसूत्रोक्त 'चरट्' पद—दोनों ही अनुवर्तमान हैं । 'रूप्य' पद लुप्तप्रथमा-विभक्तिक है । अतः सूत्र का अर्थ यह होगा कि "'भूतपूर्व' अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'रूप्य' और 'चरट्' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(१) (क) **कृष्णरूप्यः** (कृष्ण+रूप्य होने पर) । (ख) **कृष्णचरः** ('चरट्' प्रत्यय होने पर) । **अर्थ**—पहले का कृष्ण का बैल—कृष्णस्य भूतपूर्वः गौः ।

विशेष—(१) 'तसिलादि' में 'रूप्य' प्रत्यय का परिगणन न होने से "तसिलादिष्वाकृत्वसुचः" (६-३-३५) सूत्र से **शुभ्रारूप्यः** (पूर्वकाल में शुभ्रा नाम की स्त्री का बैल—शुभ्रायाः भूतपूर्वः गौः) में 'शुभ्रा' को पुंवद्भाव नहीं हुआ ।

(२००१) अतिशायने तमबिष्ठनौ ५ । ३ । ५५ ॥ अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेषामतिशयेनाढ्यः—आढ्यतमः । लघुतमः, लघिष्ठः । (२००२) तिङश्च

(२००१) अतिशायने । अतिपूर्वकः शीङ्धातुरुपसर्गवशादुत्कर्षे वर्तते । उत्कर्षश्चाधिक्यफलको न्यक्कारः, नत्वाधिक्यमात्रम्, तथा च सति अकर्मकत्वापातात् । न चेष्टापत्तिः, तथा सति 'शुक्लमतिशेते शुक्लतरः, कृष्णमतिशेते कृष्णतरः—इत्यादिभाष्यविरोधात् । अतिशयिता अतिशायनः, बाहुलकः कर्तरि ल्युट् इति भाष्यम् । अत एव निपातनाद्दीर्घः । अतिशायने इति प्रकृत्यर्थविशेषणम् । अतिशयितरि विद्यमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे तमप् इष्ठन् च स्यादित्यर्थः । फलितमाह—अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेरिति । यदि तु अतिशायनशब्दस्य भावल्युडन्तत्वं तर्हि प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यापत्तौ शुक्लतरादिशब्दात् शुक्लादिगतमतिशयनमिति बोधः स्यात् नत्वतिशयितशुक्ल इति । तथा च शुक्लतरः शुक्लतरेति पुंस्त्वं स्त्रीत्वं च न स्यात् । अतिशायने वर्तमानादित्यर्थे तु अतिशयप्रकर्षादिशब्देभ्य एव स्यात्, न तु पट्वादिभ्यः । अतिशयविशिष्टे लक्षणया विद्यमानादित्यर्थे अतिशय्यमानादपि प्रत्ययापत्तिः । अतिशायनकर्तरि लक्षणायां तु भाष्योक्तमेव साधु इत्यास्तां तावत् । अयमेषामिति । द्वयोरेकस्य निर्धारणे तरबीयसुनावपवादौ वक्ष्येते । अतः परिशेषाद्बहूनामेकस्य निर्धारणे अस्य तमपः प्रवृत्तिरिति भावः । अतिशयेनाढ्य इति । द्रव्यस्य जातेर्वा स्वतः प्रकर्षयोगो नास्ति, अन्यथा घटतम इत्याद्यापत्तेः । किन्तु गुणद्वारैव द्रव्यजात्योः प्रकर्षयोगः । तथा च आढ्यतम इत्यत्र उत्कर्षविशिष्टः आढ्यः प्रकृत्यर्थः तमप्सु तद् द्योतकः, तमपि सति 'सुपो धातु' इति सुपो लुक्, 'घकालतनेषु' इति योगेन सुबन्तादेव तद्धितोत्पत्तेरुक्तत्वात् । अत्र आतिशायनिकप्रत्ययान्तादातिशायनिकप्रत्ययोऽनभिधानान्न भवति । 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इति तु छान्दसमिति भाष्ये स्पष्टम् । लघिष्ठ इति । लघुशब्दादिष्ठनि ओर्गुणे प्राप्ते 'इष्ठेमेयस्सु' इत्यनुवृत्तौ 'टेः' इति टिलोपः ।

(२००१) पद—अतिशायने, तमबिष्ठनौ । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अतिशयार्थ-युक्त शब्द से स्वार्थ में 'तमप्' और 'इष्ठन्' प्रत्यय होते हैं । उदा० १–अयम् एषाम् अतिशयेन आढ्यः—आढ्यतमः । २–लघुतमः—लघिष्ठः ।

विवरण—आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ 'अतिशायन' शब्द 'प्रकर्ष' अर्थ का बोधक है । यद्यपि 'शीङ्' धातु तो निद्रार्थक है, तथापि 'अति' उपसर्ग के योग से 'प्रकर्ष' रूप का बोधक हो जाता है । फिर भी यहाँ पर 'प्रकर्ष' शब्द आधिक्य का बोधक नहीं है, किन्तु अतिशयार्थक है—**"प्रकर्षश्चात्र नाधिक्यं किं तर्ह्यतिशयो मतः । सकर्मको ह्ययं शुक्लमतिशेत इतीष्यते"**–(पदमञ्जरी) । 'अतिशय' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में यह शङ्का भी होती है कि 'अति' पूर्वक 'शी' धातु से दूसरे को अभिभूत करना अर्थ में 'करणे ल्युट्' प्रत्यय (अतिशेते अनेन) करने पर 'अतिशयन' रूप निष्पन्न होगा । उसका निवारण निपातन-वश दीर्घ विधान से किया जाता है । अकर्मक होते हुए भी 'शीङ्' धातु सकर्मक हो जाता है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "अतिशय-कर्तृरूप अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'तमप्' (=तम) तथा 'इष्ठन्' (= इष्ठ) प्रत्यय होते हैं" । अर्थात् 'तमप्' और 'इष्ठन्' प्रत्यय बहुतों में उत्कर्ष सूचित करने पर संयुक्त होते हैं । 'इष्ठ' प्रत्यय होने पर "टेः" (६-४-१५५) सूत्र से प्रकृति-वाचक शब्द की 'टि' का लोप होगा । **उदाहरण**—(१) **आढ्यतमः** (सब लोगों में अधिक सम्पन्न—अयम्

५।३।५६॥ तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप्स्यात्। (२००३) **तरप्तमपौ घः १।१।२२॥** एतौ घसंज्ञौ स्तः। (२००४) **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११॥** किम एदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्तादामुः स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे। किन्तमाम्।

(२००२) **तिङश्च।** अत्राप्रातिपदिकत्वाप्राप्ते वचनम्। तमप् स्यादिति। 'अजादी गुणवचनादेव' इति नियमादिष्ठन्नानुवर्तत इति भावः।

(२००३) **तरप्तमपौ घः।** प्रथमस्य प्रथमपादे सूत्रमिदम्। आतिशायनिकप्रत्यय-प्रकरणान्ते, पितौ घः तादी घः इति वा वक्तव्ये प्रकरणान्तरे पृथग्गुरुसूत्रकरणमत्यन्त-स्वार्थिकमपि तरपं ज्ञापयति। तस्य आतिशायनिकप्रकरणबहिर्भूतस्य सत्त्वे तत्सङ्ग्रहणार्थं प्रकरणान्तरे सूत्रकरणस्यावश्यकत्वादित्याहुः, तेन 'अल्पाच्तरम्', 'लोपश्च बलवत्तरः' इत्यादि सिद्धम्।

(२००४) **किमेत्तिङव्यय।** आमु इति च्छेदः। उकार उच्चारणार्थः। किम्, एत्, तिङ्, अव्यय एषां चतुर्णां द्वन्द्वः। 'किमेत्तिङव्ययप्रकृतिको घः' इति मध्यमपदलोपी समासः। फलितमाह—किम एदन्तादित्यादिना। एभ्य इत्यर्थः। **किंतमामिति।** अत्यन्त-स्वार्थिकोऽयं तमप्, न त्वतिशायने। एषामतिशयेनाढ्य इति वदेषामतिशयेन क इति विग्रहस्यासम्भवात्। जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं हि निर्धारणम्,

---

एषाम् अतिशयेन आढ्यः। आढ्य+तमप् (=तम)। (२) (क) **लघुतमः** (इन लोगों में सबसे छोटा—अयम् एषाम् अतिशयेन लघुः)—लघु+तमप् (=तम)। (ख) **लघिष्ठः**—लघु+इष्ठन् = इष्ठ), 'टि'='उ' का लोप। यह 'टि'लोप "ओर्गुणः" (६-४-१४६) का बाधक है।

विशेष—दो में से एक का निर्धारण करने पर इसके अपवाद-स्वरूप 'तरप्' एवम् 'ईयसुन्' प्रत्यय होंगे। अतः परिशेष-वश बहुतों में एक का निर्धारण होने पर 'तमप्' एवम् 'इष्ठन्' प्रत्यय होते हैं।

(२००२) **पद**—तिङः, च। **अनुवृत्ति**—अतिशायने, तमप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तिङन्त से अतिशय द्योत्य रहते 'तमप्' हो।

विवरण—पूर्व सूत्र से सम्बद्ध विषय है। तदनुसार "'तिङन्त' से अतिशायन द्योतित होने पर भी 'तमप्' प्रत्यय होता है"।

विशेष—(१) "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) का अधिकार होने से तद्धित प्रत्यय प्रातिपदिक से ही विहित हैं। अतः विशेष अवस्था में यहाँ तिङन्त से पृथक् विधान किया गया है।

(२) यहाँ पर पूर्व सूत्र "अतिशायने तमबिष्ठनौ" (५-३-५५) से 'इष्ठन्' की अनुवृत्ति आते हुए भी प्रभावी नहीं होती, क्योंकि 'इष्ठन्' प्रत्यय गुण-वचन प्रातिपदिकों से ही हो—यह नियम आगे "अजादी गुणवचनादेव" (५-३-५८) सूत्र में बतलाया गया है। तिङन्त क्रियावाचक हैं, गुणवाचक नहीं।

(२००३) **पद**—तरप्-तमपौ, घः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—इन दोनों की घसंज्ञा हो।

विवरण—यह प्रथमाध्यायस्थ संज्ञा-सूत्र है। 'घ' संज्ञा है तथा 'तरप्' एवं 'तमप्' प्रत्यय संज्ञी—'संज्ञा संज्ञिनं प्रत्याययति'। उदाहरण आगे दिये जायेंगे।

(२००४) **पद**—किमेत्तिङव्ययघात्, आमु, अद्रव्यप्रकर्षे। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—द्रव्यप्रकर्ष के अतिरिक्त 'तरप्' और 'तमप्'—प्रत्ययान्त 'किम्' शब्द, 'एकारान्त'

प्राह्णेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्षे तु—उच्चैस्तमस्तरुः । (२००५) **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५ । ३ । ५७ ॥ द्वयोरेकस्यातिशये, विभक्तव्ये चोपपदे**

किंशब्दश्च न जात्याद्यन्यतमप्रवृत्तिनिमित्तकः, एवं चात्रातिशयस्याप्रतीतेर्द्रव्यप्रकर्षो दूरापास्त इति भावः । प्राह्णेतमामिति । प्राह्णः पूर्वाह्णः । 'प्राह्णापराह्णमध्याह्णाः त्रिसन्ध्यम्' इत्यमरः । अतिशयिते पूर्वाह्णे इत्यर्थः । पूर्वावयवगतप्रकर्षादह्नः प्रकर्षो बोध्यः । अत्र अहर्न द्रव्यम् । सूर्योदयादारभ्य सूर्यास्तमयावधिकस्यैव कालस्य अहन्शब्दार्थत्वात् । तस्य च उदयादिक्रियाघटितत्वान्न द्रव्यत्वमिति भावः । पचतितमामिति । अतिशयिता पाकक्रियेत्यर्थः । तिङन्तेषु क्रियाविशेष्यकबोधस्यैव 'प्रशंसायां रूपप्' इति सूत्रभाष्ये प्रपञ्चितत्वात् । अतोऽत्र क्रियाया एव प्रकर्षो न तु द्रव्यस्येति भावः । उच्चैस्तमामिति । आशंसतीत्यध्याहार्यम् । अतिशयेन उच्चैराशंसनादिक्रियेत्यर्थः । अत्रापि क्रियाया एव प्रकर्षो न तु द्रव्यस्य । उच्चैस्तमस्तरुरिति । अतिशयेन उच्चैस्तरुरित्यर्थः । अत्र उच्चैस्त्वप्रकर्षस्य तरौ द्रव्ये भानादाम् नेत्यर्थः । किन्तमामित्यादौ 'यस्येति च' इति लोपं परत्वात् बाधित्वा ह्रस्वान्तलक्षणनुटो निवृत्त्यर्थमामु इत्युकारोच्चारणम्, सति तु तस्मिन् 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इति परिभाषया नुड्विधावस्य न ग्रहणमित्यादि 'आमि सर्वनाम्नः' इति सूत्रभाष्ये प्रपञ्चितम् ।

(२००५) द्विवचन । उच्यतेऽनेनेति वचनम् । द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनम् ।

शब्द तथा 'अव्यय' शब्दों से 'आमु' प्रत्यय होता है" । उदा० १-किन्तमाम् । २-प्राह्णेतमाम् । ३-पचतितमाम् । ४-उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्ष रहने पर—उच्चैस्तमस्तरुः ('आम्' नहीं हुआ) ।

विवरण—'घ' संज्ञा के प्रसङ्ग में आगे का यह सूत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है । विधेयवाची 'आमु' पद लुप्तप्रथमान्त है । उद्देश्यवाची पद 'किमेत्तिङव्ययघात्' में द्वन्द्वगर्भतत्पुरुष समास है—किम् च, एत् च, तिङ् च, अव्ययं च—किमेत्तिङव्ययानि, तेभ्यः विहितः य घः→किमेत्तिङव्ययघः, तस्मात् । तदनुसार सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि "द्रव्यप्रकर्ष अर्थ के अतिरिक्त अन्य प्रकार का प्रकर्ष अपेक्षित होने पर 'किम्' शब्द, 'एकारान्त' शब्द, (एत) 'तिङन्त' शब्द तथा 'अव्यय' वाचक शब्दों से विहित 'घ' = 'तरप्' तथा 'तमप्' प्रत्ययान्त शब्दों से 'आमु' (= आम्) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—'किम्' शब्द—**किन्तमाम्** (कितना अधिक—एषाम् अतिशयेन किम्)—किम्+तमप्—"अतिशायने तमबिष्ठनौ" (५-३-५५) > किम्+तम्+आम् (प्रत्यय) > किन्तमाम् ('अ'-लोप, अनुस्वार तथा परसवर्ण, अव्ययसंज्ञा होने से विभक्ति-लुक्) । (२) एकारान्त—**प्राह्णेतमाम्** (बिलकुल पूर्वाह्ण में—अतिशयिते पूर्वाह्णे)—प्राह्णे+तमप् (= तम)+आम् । 'दिन' का प्रकर्ष सूचित होता है । सप्तमी का अलुक् । (३) तिङन्त—**पचतितमाम्** (वह अत्युत्तम पकाता है—अतिशयिता पाकक्रिया)—पचति+तम्+आम् । तिङन्तों में क्रियाविशेष्यक बोध का ही उत्कर्ष बतलाया जाता है । इसलिये पाकक्रिया का ही प्रकर्ष है, द्रव्य (वस्तु) का नहीं । (४) अव्यय-**उच्चैस्तमाम्** (बहुत जोर से—अतिशयिता आशंसनक्रिया) उच्चैस्+तम्+आम् ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अद्रव्यप्रकर्षे' पद का निवेश होने से **उच्चैस्तमः** तरुः (सबसे ऊँचा वृक्ष) में द्रव्य-प्रकर्ष (वृक्ष का सबसे ऊँचा होना) अपेक्षित है । अतः 'आम्' प्रत्यय नहीं हुआ ।

विशेष—'किन्तमाम्' इत्यादि में भ-संज्ञा को मानकर "यस्येति च" (६-४-१४८) से प्राप्त अन्त्यवर्ण-लोप को परत्वात् बाधकर 'नुम्' आगम की प्रवृत्ति इस कारण नहीं होती कि 'आमु' में उकार उच्चारणार्थ है, इत्संज्ञा करने के लिये नहीं है ।

(२००५) पद—द्विवचनविभज्योपपदे, तरबीयसुनौ । **अनुवृत्ति**—अतिशायने, तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

सुप्तिङन्तादेतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयमनयोरतिशयेन लघुः←लघुतरः—लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः—पटीयांसः। (२००६) अजादी गुणवचनादेव ५। ३।

द्व्यर्थप्रतिपादकमिति यावत्, न द्विवचनसंज्ञकमिह गृह्यते व्याख्यानात्। विभक्तव्यं विभज्यम्। 'ऋहलोः' इति ण्यतं बाधित्वा निपातनाद्यत्। द्विवचनं च विभज्यं चेति समाहारद्वन्द्वः। द्विवचनविभज्यं च तदुपपदं चेति कर्मधारयः। द्व्यर्थप्रतिपादके विभक्तव्यविषयके च उपपदे सतीति फलितम्। प्रातिपदिकादिति तिङ इति चानुवर्तते। सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिरिति सिद्धान्तात्सुबन्तत्वं प्रातिपदिकविशेषणं लभ्यते फलितमाह—द्वयोरेकस्येत्यादिना। द्वयोर्मध्ये अन्यतरापेक्षया अतिशयविशिष्टस्वार्थवृत्तेः विभागप्रयोजकीभूतधर्मवाचकाच्च शब्दात्स्वार्थे तरबीयसुनौ स्त इति यावत्। यद्यप्यत्र द्वे सुबन्ततिङन्ते प्रकृती, द्वौ च प्रत्ययौ, तत्रापि न यथासङ्ख्यम्, व्याख्यानात्। अथ द्विवचनोपपदे उदाहरति—अयमनयोरिति। अत्र उपोच्चारितं पदम उपपदम्, न तु कृत्रिमम्, तद्धितविधौ तदसम्भवात् धात्वधिकारात्पूर्वं तत्प्रवृत्तेरुक्तत्वात्। तच्चोपपदं विग्रहवाक्येऽवश्यं प्रयुज्यते, तद्धितवृत्तौ तु गतार्थत्वान्नावश्यकम्। लघीयानिति। ईयसुनि नकार इत्, उकार उच्चारणार्थः, उगित्वान्नुम्, 'सान्त' इति दीर्घः, हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ। अथ विभज्योपपदे उदाहरति—उदीच्याः प्राच्येभ्य इति। 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। द्विवचनसंज्ञकग्रहणे तु दन्ताः स्निग्धतराः इति न सिध्येत्। 'बहुषु पुत्रेषु एतदुपपन्नं भवति अयं ज्येष्ठः, अयं मे मध्यमः, अयं मे कनीयान्' इति आद्यन्तवत्सूत्रभाष्यप्रयोगात् 'नैर्देशिकानां वार्तंतरकाः' इति 'तस्मिन्' इति सूत्रभाष्यप्रयोगाच्च अद्व्यर्थोपपदेऽपि तरबीयसुनावित्याहुः।

मूलार्थ—दो में से एक का आधिक्य रहते तथा विभजनीय उपपद रहते सुबन्त तथा तिङन्त से ये दो प्रत्यय होते हैं। पहले के प्रत्ययों का यह अपवाद है। उदा० १-अयम् अनयोः अतिशयेन लघुः←लघुतरः—लघीयान्। २-उदीच्याः प्राच्येभ्यः ←पटुतराः-पटीयांसः।

विवरण—उद्देश्यवाची पद के अभाव में "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) के आधिकारिक प्रभाव एवं "तिङश्च" (५-३-५६) की शरण में जाना पड़ता है। इनके साथ ही प्राकरणिक 'अतिशायने' से अर्थगत वैशिष्ट्य की प्रतीति भी होती है। तदनुसार "'द्व्यर्थप्रतिपादक' पद तथा 'विभाग करने योग्य शब्द' यदि समीप में हों तो प्रातिपदिक तथा तिङन्त से अतिशय अर्थ में 'तरप्' (=तर) तथा 'ईयसुन्' ('न्' इत् तथा 'उ' उच्चारणार्थ = ईयस्) प्रत्यय होते हैं"। "अजादी गुणवचनादेव" इस नियम के अनुसार 'ईयसुन्' प्रत्यय केवल गुणवाची प्रातिपदिक से ही होगा। **उदाहरण**—द्व्यर्थ—(क) **लघुतरः**—(ख) **लघीयान्** (ये दोनों छोटे हैं (द्व्यर्थ), इन दोनों में यह छोटा है—इमौ द्वौ लघू, अयम् अनयोः अतिशयेन लघुः)—(क) लघु+तरप् (=तर)। (ख) लघु+ईयस् ▷ लघीयस् ('टि'-लोप) > लघीयान् (प्रथमा एकवचन का रूप)। (२) विभज्य अर्थ—उदीच्याः प्राच्येभ्यः **पटुतराः या पटीयाँसः**। अर्थ—उत्तर के लोग पूर्व के लोगों से अधिक चतुर होते हैं। यहाँ प्राच्यों से उदीच्यों का 'विभाग' उपपद है। बहुत व्यक्तियों की विवक्षा में ये दो—'तरप्' एवं 'ईयुसुन्' प्रत्ययान्त रूप—प्रथमा बहुवचन में दिये गये हैं।

स्मरणीय—(१) प्राच्येभ्यः में पञ्चमी विभक्ति—"पञ्चमी विभक्ते" (२-३-४२) सूत्र के आधार पर हुई है। (२) 'उपपद' शब्द यहाँ पर अन्वर्थक है—उप = उच्चारितम् पदम्—समीप में स्थित पद। अर्थात् सूत्रोक्त दोनों प्रकार के अर्थबोधक शब्दों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। इस प्रकार पद-सत्ता को आवश्यक बताया गया है, न कि तदर्थक कृत्रिम शब्दों को। तद्धित-विधि में

५८॥ इष्ठन्नीयसुनौ गुणवचनादेव स्तः । प्रथिष्ठः-प्रथीयान् । नेह-पाचकतरः, पाचकतमः । (२००७) तुश्छन्दसि ५ । ३ । ५९ ॥ तृन्तृजन्तादिष्ठन्नीयसुनौ स्तः । (२००८)

(२००६) अजादी । तरप्तमपौ इष्ठन्नीयसुनौ चेति चत्वारः प्रत्ययाः अनुक्रान्ताः, तेषां मध्ये यौ अजादी इष्ठन्नीयसुनौ तावित्यर्थः । तदाह—इष्ठन्नीयसुनाविति । पाचकतरः-पाचकतम इति । क्रियाशब्दत्वादाभ्यामिष्ठन्नीयसुनौ नेति भावः । गुणवचनादजादी एवेति विपरीतनियमव्यावृत्त्यर्थं एवकारः, तेन पटुतरः, पटुतमः इत्यादि सिद्धम् ।

(२००७) तुश्छन्दसि । तृ इत्यस्य तुरिति पञ्चम्येकवचनम् । तृ इत्यनेन तृन्तृचोः सामान्येन ग्रहणम् । प्रत्ययत्वात्तदन्तग्रहणम् । अजादी इत्यनुवर्तते तदाह—तृन्तृजन्तादिति । अगुणवचनादपि तृप्रत्ययान्तात् प्राप्त्यर्थमारम्भः । एवञ्च पूर्वेण नियमेन व्यावर्तितयोः प्रतिप्रसवोऽयं नत्वपूर्वो विधिरिति सूचयितुं छान्दसमप्यत्रोपन्यस्तम् । तथा च अगुणवचनादपि कर्तृशब्दादिष्ठन्प्रत्यये कर्तृ इष्ठ इति स्थिते 'इष्ठेमेयस्सु' इति विहिते टिलोपे प्राप्ते ।

वह असम्भव ही है, क्योंकि "धातोः" (३-१-९१) अधिकार के पूर्व ही पारिभाषिक शब्दों की प्रवृत्ति होना बताया गया है । इस प्रकार का सामीप्य यहाँ विग्रह वाक्य में देखा जाता है । तद्धित-वृत्ति में वह स्वतः गतार्थ हो जाता है । इस तरह उसके कहने की आवश्यकता नहीं रहती ।

(२००६) पद—अजादी, गुणवचनात्, एव । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' प्रत्यय गुणवाची शब्दों से ही होते हैं । उदा० प्रथिष्ठः—प्रथिमान् । (गुण-कथन न होने से) पाचकतरः-पाचकतमः में ('इष्ठन्' और ईयसुन) नहीं हुए ।

विवरण—पूर्व सूत्रों से 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' का विधान कर आये हैं, यहाँ उसका विषय-नियमन किया जा रहा है । तदनुसार "अतिशयार्थक ये दो अजादि प्रत्यय ('इष्ठन्' और 'ईयसुन्') गुणवाची प्रातिपदिक से ही होते हैं" । **उदाहरण**—'पृथु' शब्द से 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' प्रत्यय होने पर क्रमशः **प्रथिष्ठः** तथा **प्रथीयान्** रूप बनते हैं । 'पृथु' के 'ऋ' को 'र'—"र ऋतो हलादेर्लघोः (६-४-१६१) तथा 'टि' (= उ) लोप हो जाते हैं ।

प्रत्युदाहरण—उपर्युक्त अजादि-प्रत्यय-विषयक नियम गुणवाचक शब्दों से ही किये जाने के फलस्वरूप **पाचकतरः** (दोनों में अच्छा पकाने वाला—अनयोः अतिशयेन पाचकः) तथा **पाचकतमः** (इनमें सबसे अच्छा पकाने वाला—एषाम् अतिशयेन पाचकः)—प्रयोगों में केवल 'तरप्'-'तमप्' ही होते हैं, क्योंकि 'पाचक' शब्द गुण-वाचक नहीं है, अपितु द्रव्य(व्यक्ति)वाची है ।

विशेष—'गुणवाचियों से अजादि प्रत्यय ही होते हैं' कथन से प्रकृत सूत्रस्थ 'एव' शब्द विपरीत नियम का व्यावर्तक है । तदनुसार 'पटुतरः' एवं 'पटुतमः' में 'तरप्'-'तमप्' प्रत्यय हो जाते हैं ।

(२००७) पद—तुः, छन्दसि । **अनुवृत्ति**—अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तृन्नन्त एवं तृजन्त से 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' प्रत्यय होते हैं ।

विवरण—वेद में प्रयुक्त पूर्वोक्त 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' प्रत्ययों के विधान में कुछ विशेषता बताई जा रही है । पूर्व सूत्रस्थ 'अजादि' प्रत्ययों का ही विषय है । प्रकृत सूत्रस्थ 'तुः' पद 'तृ' शब्द की पञ्चमी विभक्ति एकवचन का रूप है, जो 'तृन्' और 'तृच्'-दोनों का ग्राहक है । प्रत्यय-ग्राही होने से 'तदन्त' का बोधक हो जाता है । अतः "वेद विषय में 'तृन्' एवं 'तृच्'-अन्त वाले प्रातिपदिकों से अजादि प्रत्यय ('इष्ठन्' 'ईयसुन्') होते हैं" । पूर्व सूत्र से केवल गुणवाची शब्दों

तुरिष्ठेमेयःसु ६ । ४ । १५४ ॥ तृशब्दस्य लोपः स्यात् एषु परेषु । अतिशयेन कर्ता—करिष्ठः । दोहीयसी धेनुः । **(२००९) प्रशस्यस्य श्रः ५ । ३ । ६० ॥** अस्य श्रादेशः

(२००८) **तुरिष्ठेमेयःसु** । तृ इत्यस्य तुरिति षष्ठ्येकवचनम् । एष्विति । इष्ठन्, इमन्, ईयस् इत्येतेष्वित्यर्थः । अयं लोपः सामर्थ्यात्सर्वादेशः, अन्त्यस्य ऋकारस्य 'टेः' इत्येव सिद्धेः । **करिष्ठ इति** । अयमनयोरतिशयेन कर्तेत्यर्थः । **दोहीयसी धेनुरिति** । इयमनयोरतिशयेन दोग्ध्रीत्यर्थः । इष्ठनि 'भस्याऽढे' इति पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ तृप्रत्ययस्य लोपे परनिमित्ताभावात् 'दादेः' इति घत्वस्य निवृत्तौ उगित्त्वात् ङीपि दोहीयसीति रूपम् । 'पुगन्त' इति गुणस्तु न निवर्तते । लुप्तेऽपि तृचि प्रत्ययलक्षणेन तत्सत्त्वात् ।

(२००९) **प्रशस्यस्य श्रः** । **अजाद्योरिति** । इष्ठन्नीयसुनोरित्यर्थः । अजादी इत्यनुवृत्तं सप्तम्या विपरिणम्यत इति भावः । प्रशस्यशब्दस्य क्रियाशब्दतया गुणवचनत्वाभावेऽपि अत एव ज्ञापकादिष्ठन्नीयसुनौ । श्र इष्ठ, श्र ईयस् इतिस्थिते इष्ठेमेयस्सु विहितटिलोपे प्राप्ते ।

से ही अजादि प्रत्यय प्राप्त थे, यहाँ अगुणवाची त्रन्त से भी उनका विधान किया गया है। इस प्रकार पूर्व नियम से व्यावर्तित अजादि के सम्बन्ध में यह प्रतिप्रसव है न कि अपूर्व विधान। इसके फलस्वरूप **करिष्ठः** (सबसे बढ़कर काम करने वाला—एषु अतिशयेन कर्ता) में 'कतृ'+'इष्ठ'—इस स्थिति में 'टि' लोप प्राप्त होने पर 'तृ' का लोप होकर 'गुण' होने से **करिष्ठः** रूप निष्पन्न होता है। (२) 'ईयसुन्' का **उदाहरण—दोहीयसी** धेनुः (अधिक दूध वाली गाय—अनयोः अतिशयेन दोग्ध्री)—दोग्ध्री+ईयस् > दोग्धृ+ईयस् ("भस्याढे तद्धिते" वा० से पुंवद्भाव—होने से 'ङीप्' की निवृत्ति) > दोह्+ईयस् ('तृ' का लोप होने पर 'ह्' के स्थान में परनिमित्तक 'घ' की भी निवृत्ति) > दोहीयसी (स्त्रीत्व विवक्षा में "उगितश्च" ४-१-६ से 'ङीप्' होने पर विभक्ति-कार्य)। 'दोहीयसी' में 'तृच्' प्रत्यय के लोप होने पर भी प्रत्यय लक्षण का आश्रयण कर गुण होता है।

(२००८) पद—तुः, इष्ठेमेयस्सु। **अनुवृत्ति—**लोपः, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इन प्रत्ययों के पर रहते 'तृ' शब्द का लोप होता है। उदा० १–अतिशयेन कर्ता—करिष्ठः। २–दोहीयसी धेनुः।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। छठे अध्याय के चतुर्थ पाद में पढ़ा गया है। विधेय-वाची 'लोपः' पद "ढे लोपोऽकद्र्वाः" (६-४-१४७) सूत्र से अनुवर्तमान है। इसके साथ ही 'भ'-संज्ञा 'एवम्' 'अङ्गाधिकार' का भी प्रभाव विद्यमान है। सूत्रस्थ 'इष्ठेमेयस्सु' पद में मध्यवर्ती (इष्ठन्-सम्बन्धी) 'न'कार का लोप कर दिया गया है। षष्ठ्यन्त 'तुः' पद 'लोपः' के साथ अन्वित होता है। तदनुसार "'इष्ठन्', 'इमनिच्' तथा 'ईयसुन्' प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'तृ' का लोप होता है"। यहाँ पर 'इमनिच्' ग्रहण उत्तरार्थ है, क्योंकि 'त्रन्त' से तो प्रकृति सूत्र (२००८) "तुश्छन्दसि" (५-३-५९) द्वारा 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' का ही विधान किया गया है, न कि 'इमनिच्' का। अतः पूर्व सूत्र (२००६) में दोनों प्रत्ययों से सम्बद्ध उदाहरण दिये गए हैं।

(२००९) पद—प्रशस्यस्य, श्रः। **अनुवृत्ति—**अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अजादि प्रत्यय पर रहते 'प्रशस्य' के स्थान में 'श्र' आदेश हो।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से केवल 'निमित्त' वाचक पद 'अजादी' (५-३-५८ से) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "'प्रशस्य' शब्द के स्थान में 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' प्रत्यय पर रहते श्र' आदेश होता है"।

स्यादजाद्योः । (२०१०) प्रकृत्यैकाच् ६ । ४ । १६३ ॥ इष्ठादिष्वेकाच्प्रकृत्या स्यात् । श्रेष्ठः—श्रेयान् । (२०११) ज्य च ५ । ३ । ६१ ॥ प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्यादिष्ठेयसोः । ज्येष्ठः । (२०१२) ज्यादादीयसः ६ । ४ । १६० ॥ 'आदेः परस्य' (सू ४४)

(२०१०) प्रकृत्यैकाच् । एकः अच् यस्येति बहुव्रीहिः । इष्ठादिष्विति । 'तुरिष्ठेमेयःसु' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । 'अल्लोपोऽनः, नस्तद्धिते, यस्येति च, टेः इत्यादेरेतत्प्रकरणस्थलोपस्यायं प्रकृतिभाव इति भाष्ये स्पष्टम् । श्रेष्ठः । श्रेयानिति । अयमनयोरतिशयेन प्रशस्य इत्यर्थः ।

(२०११) ज्य च । 'ज्य' इति लुप्तप्रथमाकम् । प्रशस्यस्येति अजादी इति चानुवर्तते तदाह—प्रशस्यस्येति । ज्येष्ठ इति । 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावान्न टिलोपः । ईयसुनि ज्यादेशे ज्येयानिति प्राप्ते ।

(२०१२) ज्यादादीयसः । ज्यात्, आत् इति छेदः । ज्यात् परस्य ईयसः आकारः स्यादित्यर्थः । अन्तादेशत्वे प्राप्ते आह—आदेः परस्येति ।

(२०१०) पद—प्रकृत्या, एकाच् । **अनुवृत्ति**—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'इष्ठन्' आदि प्रत्यय पर रहते एकाच् को प्रकृतिभाव होता है। उदा० श्रेष्ठः—श्रेयान् ।

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है। "तुरिष्ठेमेयस्सु" (६-४-१५४) सूत्र से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। "भस्य" (६-४-१२९) एवम् "अङ्गस्य" (६-४-१) का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। यहाँ सन्धिकार्य का बाधक प्रकृतिभाव बताया जा रहा है। तदनुसार '"एक अच्' वाला भ-संज्ञक अङ्ग—'इष्ठन्', 'इमनिच्' तथा 'ईयसुन्' प्रत्यय परवर्ती होने पर—प्रकृति-वाची शब्द के रूप में ही रह जाता है"। **उदाहरण**—(क) श्रेष्ठः—यह सबसे अधिक प्रशंसनीय—अयम् एषाम् अतिशयेन प्रशस्यः—प्रशस्य+इष्ठ ▷ श्र+इष्ठ (प्रशस्य = श्र) ▷ श्रेष्ठः । "टेः" (६-४-१५५) सूत्र से प्राप्त 'टि'लोप न होकर प्रकृतिभाव होने के कारण पुनः गुण हुआ है। (ख) **श्रेयान्**—प्रशस्य+ईयस् > श्र+ईयस् > श्रेयस् ▷ श्रेयान् (प्रथमा एकवचन) ।

विशेष—भाष्यकार ने इस प्रकृतिभाव को "अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४), "नस्तद्धिते" (६-४-१४४), "यस्येति च" (६-४-१४८) तथा "टेः" (६-४-१५५) सूत्रों से सम्बद्ध स्थलों में प्रभावी होना बताया है।

(२०११) पद—ज्य, च । **अनुवृत्ति**—प्रशस्यस्य, अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्र में 'ज्य' लुप्त-प्रथमान्त पद है। इस प्रकार 'प्रशस्य' को ही दूसरा आदेश बताया जा रहा है। अतः "प्रशस्यस्य श्रः" (५-३-६०) सूत्र से स्थानिवाचक 'प्रशस्यस्य' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। तदनुसार "अजादि प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'प्रशस्य' शब्द के स्थान में 'ज्य' आदेश हो"। **उदाहरण**—(क) ज्येष्ठः। दूसरा उदाहरण आगे के सूत्र में है। अर्थ एवं प्रक्रिया पूर्ववत् ।

(२०१२) पद—ज्यात्, आत्, ईयसः । **अनुवृत्ति**—भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है। 'भ-संज्ञा' एवम् 'अङ्गाधिकार' का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार '"ज्य' अङ्ग से उत्तरवर्ती 'ईयस्' को आकार ('आत्' में तपरकरण से) आदेश होता है"। यह आदेश "अन्त्यवर्ण का बाध कर "आदेः परस्य" (१-१-५४) के अनुसार 'ईयस्' के आदिम वर्ण 'ई' के स्थान में होगा। **उदाहरण**—(ख) **ज्यायान्**—प्रशस्य+ईयस् >

ज्यायान् । (२०१३) वृद्धस्य च ५ । ३ । ६२ ॥ ज्यादेशः स्यादजाद्योः । ज्येष्ठः–ज्यायान् । (२०१४) अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ ५ । ३ । ६३ ॥ अजाद्योः । नेदिष्ठः–नेदीयान् । साधिष्ठः–साधीयान् । (२०१५) स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ६ । ४ । १५६ ॥ एषां यणादिपरं लुप्यते, पूर्वस्य च गुण इष्ठादिषु ।

(२०१३) वृद्धस्य च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे–ज्यादेशः स्यादजाद्योरिति । इष्ठन्नीयसुनोरित्यर्थः । ज्येष्ठ इति । अयमनयोरतिशयेन वृद्ध इत्यर्थः ।

(२०१४) अन्तिकबाढयोः । अजाद्योरिति । शेषपूरणमिदम् । अन्तिक, बाढ अनयोरिष्ठेयसुनोः परतः नेद, साध एतावादेशौ स्त इत्यर्थः । नेदिष्ठः–नेदीयानिति । अयमनयोरतिशयेनान्तिक इत्यर्थः । साधिष्ठः साधीयानिति । अयमनयोरतिशयेन बाढ इत्यर्थः । बाढो भृशः । 'भृशप्रतिज्ञयोर्बाढम्' इत्यमरः, 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढनिर्भरम्' इति च ।

(२०१५) स्थूलदूर । एषामिति । स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इत्येतेषामित्यर्थः । यणादीति । यण् आदिर्यस्येति विग्रहः । परमिति यणादीत्यस्य विशेषणम्, परभूतं यणादीत्यर्थः । लुप्यत इति । 'अल्लोपोऽनः' इत्यतोऽनुवृत्तं लोपपदमिह कर्मणि

ज्य+ईयस् > ज्य-आयस् (ई = आ) > ज्यायस् (दीर्घसन्धि) > ज्यायान् (प्रथमा विभक्ति एकवचन) ।

(२०१३) पद—वृद्धस्य, च । अनुवृत्ति—ज्य, अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"ज्य च" (५-३-६१) से आदेशवाची पद 'ज्यः' अनुवर्तमान है । शेष अनुवृत्तियाँ सूत्र २०११ के समान प्रभावी हैं । तदनुसार "'वृद्ध' शब्द के स्थान में भी अजादि प्रत्यय पर रहते 'ज्य' आदेश होता है" । उदाहरण—(क) ज्येष्ठः (इष्ठन् प्रत्यय) । तथा (ख) ज्यायान् ('ईयसुन्' प्रत्यय) । अर्थ—(क) सबसे अधिक आयु वाला—अतिशयेन वृद्धः । (ख) दो में अधिक आयु वाला—अनयोः अतिशयेन वृद्धः । प्रक्रिया पूर्ववत् ।

(२०१४) पद—अन्तिकबाढयोः, नेदसाधौ । अनुवृत्ति—अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—यह भी स्थान्यादेशभाव ही बतला रहा है । दो स्थानी हैं तथा दो आदेश । इस प्रकार यथासंख्य परिभाषा के अनुसार "अजादि प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'अन्तिक' शब्द के स्थान पर 'नेद' आदेश तथा 'बाढ' शब्द के स्थान पर 'साध' आदेश होता है । उदाहरण—(क) नेदिष्ठः (सबसे अधिक समीप—सर्वेषाम् अतिशयेन अन्तिकः)—अन्तिक+इष्ठ > नेद़+इष्ठ (अन्तिक = नेद) > नेदिष्ठः (अन्त्य-वर्ण-लोप) । (ख) नेदीयान् (दो में अधिक समीप—अनयोः अतिशयेन अन्तिकः)—अन्तिक+ईयस् > नेद़+ईयस् > नेदीयस् (अन्त्यवर्ण-लोप) > नेदीयान् । (२) (क) साधीयः (सबसे शक्तिशाली—सर्वेषाम् अतिशयेन बाढः)—बाढ+इष्ठ > साध़+इष्ठ > साधिष्ठः । (ख) साधीयान् (दो में शक्तिशाली—अनयोः अतिशयेन बाढः)—साधु+ईयस् > साधीयस् (टि लोप) > साधीयान् ।

(२०१५) पद—स्थूल'''क्षिप्राणाम्, यणादिपरम्, पूर्वस्य, च, गुणः । अनुवृत्ति—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—विधेय अर्थात् 'लोप' होना—यह अनुवृत्ति-लभ्य है (६-४-१४७) । इसके साथ ही "तुरिष्ठेमेयस्सु" (६-४-१५४) से 'इष्ठेमेयस्सु' पद भी अनुवर्तमान है । 'भ' संज्ञा तथा

स्थविष्ठः । दविष्ठः । यविष्ठः । ह्रसिष्ठः । क्षेपिष्ठः । क्षोदिष्ठः । एवम्-ईयस् । ह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां पृथ्वादित्वात्, ह्रसिमा । क्षेपिमा । क्षोदिमा । (२०१६) प्रियस्थिरस्फिरो-

---

घञन्तमाश्रीयत इत्यर्थः । भावसाधनत्वे परमित्यनेन सामानाधिकरण्यासम्भवात् । पूर्वस्येति । पूर्वत्वं यणपेक्षया बोध्यम् । इष्ठादिष्विति । 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । स्थविष्ठ इति । स्थूलशब्दादिष्ठनि ल इत्यस्य लोपे ऊकारस्य गुण ओकार अवादेश इति भावः । ओर्गुणस्तु न प्रवर्तते, यणादिलोपस्याभीयत्वेनासिद्धत्वात् । एवमग्रेऽपि । दविष्ठ इति । दूरशब्दादिष्ठनि र इत्यस्य लोपे ऊकारस्य गुणे अवादेशः । यविष्ठ इति । युवन्शब्दादिष्ठनि वन्नित्यस्य लोपे उकारस्य गुणे अवादेशः । परमित्यनुक्तौ यु इत्यस्यापि यणादेर्लोपः स्यात् । ह्रसिष्ठ इति । ह्रस्वशब्दादिष्ठनि व इत्यस्य लोपः । परमित्यनुक्तौ अत्र रादेर्लोपः स्यात् । क्षेपिष्ठ इति । क्षिप्रशब्दादिष्ठनि र इत्यस्य लोपे इकारस्य गुणः । 'इको गुणवृद्धी' इत्युक्तेः न यकारस्य गुणः । क्षोदिष्ठ इति । क्षुद्रशब्दादिष्ठनि र इत्यस्य लोपः, उकारस्य गुणः । एवमीयस् इति । स्थवीयान्, दवीयान्, यवीयान्, ह्रसीयान्, क्षेपीयान्, क्षोदीयान् । इमनिजनुवृत्तेः प्रयोजनमाह—ह्रस्वक्षिप्रेति ।

(२०१६) प्रियस्थिर । प्रियादीनामिति । प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु,

---

'अङ्गस्य' का आधिकारिक प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार "इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् प्रत्यय पर रहते '''स्थूल', 'दूर', 'युव', 'ह्रस्व', 'क्षिप्र' तथा 'क्षुद्र'—इन अङ्गों का परवर्ती जो यणादि भाग (यण् आदिर्यस्य तद्=यणादि, यणादि च अदः परं च = यणादिपरम्)—उसका लोप होता है तथा उस यणादि से पूर्व को (पूर्वस्य) गुण (गुणः) होता है" । क्रमशः उदाहरण—(१) स्थूल→ (क) स्थविष्ठः (इष्ठन्) । (ख) स्थवीयान् (ईयसुन्) । (२) दूर→ (क) दविष्ठः (इष्ठन्), (ख) दवीयान् (ईयसुन) । (३) युवन्→(क) यविष्ठः (इष्ठन्), (ख) यवीयान् (ईयसुन्) । (४) ह्रस्व→(क) ह्रसिष्ठः (इष्ठन्), (ख) ह्रसीयान् (ईयसुन्), (५) क्षिप्र→ (क) क्षेपिष्ठः (इष्ठन्), (ख) क्षेपीयान् (ईयसुन), (६) क्षुद्र→ (क) क्षोदिष्ठः (इष्ठन्), (ख) क्षोदीयान् (ईयसुन) । प्रक्रिया—स्थूल आदि इन छहों शब्दों में 'इष्ठन्' एवम् 'ईयसुन्' प्रत्ययों के परवर्ती होने पर क्रमशः प्रकृति-घटक यण्=लकार, रकार, वकार, रकार, रकार तथा रकार का लोप एवम् तत्पूर्व वर्ण को गुण होता है । जैसे—स्थूल + इष्ठ > स्थू + इष्ठ ('ल' का लोप) > स्थो + इष्ठ (उवर्ण = ओ–गुण) > स्थविष्ठः ('अव्' आदेश) । अर्थ—क्रमशः—(१) सबसे मोटा—एषु आवयोर्वा अतिशयेन स्थूलः । (२) बहुत दूर—अतिशयेन दूरः । (३) सबसे छोटा—एषु अनयोर्वा अतिशयेन युवा । (४) सबसे छोटा—एषु अनयोर्वा अतिशयेन ह्रस्वः । (५) सबसे शीघ्र—अतिशयेन क्षिप्रः । (६) सबसे क्षुद्र—एषाम् अनयोर्वा अतिशयेन क्षुद्रः ।

विशेष—(१) ह्रस्व, क्षिप्र तथा क्षुद्र—इन तीन शब्दों का पृथ्वादिगण (५-१-२१) में पाठ होने से 'इमनिच्' (= इमन्) प्रत्यय होने के कारण ह्रसिमा, क्षेपिमा और क्षोदिमा रूप भी बनेंगे ।

(२) 'ह्रस्व' शब्द में यणादि-पर से पूर्व 'इक्' (= इ, उ, ऋ एवम् लृ) न होने से गुण नहीं हुआ है ।

(३) 'पर-यणादि का लोप' इसलिये कहा गया है कि 'युव' तथा 'ह्रस्व' शब्दों के आरम्भ वाले 'यण्' वर्ण का लोप न हो जाय ।

(२०१६) पद—प्रिय'''वृन्दारकाणाम्, प्रस्थ'''वृन्दाः । अनुवृत्ति—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

रुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः ६।४।१५७ ॥

प्रियादीनां क्रमात्प्रादयः स्युरिष्ठादिषु । प्रेष्ठः । स्थेष्ठः । स्फेष्ठः । वरिष्ठः । बंहिष्ठः । गरिष्ठः । वर्षिष्ठः । त्रपिष्ठः । द्राघिष्ठः । वृन्दिष्ठः । एवमीयस् । प्रियोरुबहुलगुरुदीर्घाणां

वृद्ध, तृप्र, दीर्घ वृन्दारक एषां दशानामित्यर्थः । **प्रादय इति** । प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द एते दशेत्यर्थः । **इष्ठादिष्विति** । इष्ठेमेयस्स्वित्यर्थः । 'तुरिष्ठेमेयःसु' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । **प्रेष्ठ इति** । प्रियशब्दादिष्ठनि प्रकृतेः प्रादेशः । आभीयत्वेनासिद्धत्वादकारोच्चारणसामर्थ्याच्च न टिलोपः । आद् गुणः । **स्थेष्ठ इति** । स्थिरशब्दादिष्ठनि प्रकृतेः स्थादेशः । प्रकृतिभावान्न टिलोपः । **स्फेष्ठ इति** । स्फिरशब्दस्य इष्ठनि स्फादेशः । **वरिष्ठ इति** । उरुशब्दात् इष्ठनि वर् आदेशः । **बंहिष्ठ इति** । बहुलशब्दस्य बंहि इत्यादेशः । इकार उच्चारणार्थः । अन्यथा आभीयत्वेनासिद्धत्वात् उच्चारणसामर्थ्याद्वा इकारस्य लोपो न स्यात् । **गरिष्ठ इति** । गुरुशब्दस्य इष्ठनि गर् आदेशः । **वर्षिष्ठ इति** । वृद्धशब्दस्य इष्ठनि वर्षिरादेशः । बंहिवदिकार उच्चारणार्थः । **त्रपिष्ठ इति** । तृप्रशब्दस्य इष्ठनि त्रप् आदेशः अदुपधः । तृपधातोस्तृप्त्यर्थकादौणादिके रकि तृप्रशब्दः । **द्राघिष्ठ इति** । दीर्घशब्दस्य इष्ठनि द्राघिरादेशः । बंहिवदिकार उच्चारणार्थः । **वृन्दिष्ठ इति** । वृन्दारकशब्दस्य इष्ठनि वृन्द आदेशः । अकार उच्चारणार्थः । **एवमीयसुन्निति** । प्रेयान्, स्थेयान्, स्फेयान्, वरीयान्,

---

मूलार्थ एवं विवरण—आदेशात्मक विधान है । अतः 'लोपः' के अतिरिक्त उल्लिखित तीन अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र (६-४-१५६) के समान यहाँ भी अनुसरण कर रही हैं । सूत्र में दस स्थानी हैं तथा दस ही आदेश हैं । अतः यथासंख्य परिभाषा के अनुसार यथाक्रम आदेश होंगे । तदनुसार (१) 'प्रिय' (२) 'स्थिर', (३) 'स्फिर', (४) 'उरु', (५) 'बहुल', (६) 'गुरु', (७) 'वृद्ध', (८) 'तृप्र', (९) 'दीर्घ' तथा (१०) 'वृन्दारक' इन अङ्गों को 'इष्ठन्', 'इमनिच्' तथा 'ईयसुन्' प्रत्यय परवर्ती रहते क्रमशः (१) 'प्र', (२) 'स्थ', (३) 'स्फ', (४) 'वर्', (५) 'बंहि', (६) 'गर्', (७) 'वर्षि', (८) 'त्रप्', (९) 'द्राघि' तथा (१०) 'वृन्द' आदेश होते हैं" ।
उदाहरण—(१)→(क) **प्रेष्ठः** (अतिशय प्रिय—अतिशयेन प्रियः)—प्रिय+इष्ठ > प्र+इष्ठ> प्रेष्ठः ("प्रकृत्यैकाच्" ६-४-१६३ से प्रकृतिभाव होने के कारण अथवा अकारोच्चारण सामर्थ्यवश 'टि'लोप नहीं हुआ, फलतः गुण होता है)। (ख) **प्रेमा** (इमनिच्), (ग) प्रेयान् (ईयसुन्) । (२) स्थिर→(क) **स्थेष्ठः** (इष्ठन्) (अतिशय स्थिर—अतिशयेन स्थिरः) तथा **स्थेयान्** (ईयसुन्) । (३) स्फिर→(क) **स्फेष्ठः** (सबसे अधिक—अतिशयेन स्फिरः)—स्फिर+इष्ठ, (ख) **स्फेयान्** (ईयसुन्) । (४) उरु→(क) वरिष्ठः (सबसे श्रेष्ठ—अतिशयेन उरुः)—उरु=वर्+इष्ठ, (ख) **वरिमा** (उरु = वर्+इमन्), (ग) वरीयान् (ईयसुन्) । (५) बहुल→(क) **बंहिष्ठः** (सबसे अधिक—अतिशयेन बहुलः)—बहुल = बंहि+इष्ठ । 'बंहि' में इकार उच्चारणार्थ है, अन्यथा इकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'लोप' प्रसक्त नहीं होता । (ख) **बंहिमा** (इमनिच्) । (ग) **बंहीयान्** (ईयसुन्) । (६) गुरु→(क) **गरिष्ठः** (सबसे बड़ा—अतिशयेन गुरुः)—गुरु = गर्+इष्ठन्, (ख) **गरिमा** (इमन्), (ग) **गरीयान्** (ईयसुन्) । (७) वृद्ध→**वर्षिष्ठः** (सबसे वृद्ध—अतिशयेन वृद्धः, वृद्ध= वर्ष्+इष्ठ), 'वर्षि' में भी 'इ'कार उच्चारणार्थ है, (ख) **वर्षीयान्** (ईयसुन्) । (८) तृप्र→(क) **त्रपिष्ठः** (सबसे शीघ्र—अतिशयेन तृप्रः)—तृप्र = त्रप्+इष्ठ, (ख) **त्रपीयान्** (ईयसुन्) । (९) दीर्घ→(क) **द्राघिष्ठः** (सबसे बड़ा या लम्बा—अतिशयेन दीर्घः)—दीर्घ = द्राघि = द्राघ्+इष्ठ ('इ'कार उच्चारणार्थ), (ख) **द्राघीयान्**

पृथ्वादित्वात् प्रेमा इत्यादि। (२०१७) बहोर्लोपो भू च बहोः ६।४।१५८॥ बहोः परयोरिष्ठेयसोर्लोपः स्याद्बहोश्च भूरादेशः। भूमा—भूयान्। (२०१८) इष्ठस्य यिट् च ६।४।१५९॥ बहोः परस्य इष्ठस्य लोपः स्यात् यिडागमश्च। भूयिष्ठः।

बंहीयान्, गरीयान्, वर्षीयान्, त्रपीयान्, द्राघीयान्, वृन्दीयान्। अत्र इमनिजनुवृत्तेः प्रयोजनमाह—प्रियोरुबहुलेति। इत्यादीति। वरिमा, बंहिमा, गरिमा, द्राघिमा।

(२०१७) बहोर्लोपः। भू इति लुप्तप्रथमाकम्। इष्ठेमेयस्स्वित्यनुवृत्तम्। तत्र इष्ठन उत्तरसूत्रे कार्यान्तरविधानादिह तस्य न सम्बन्धः। तदाह—बहोः परयोरिति। 'आदेः परस्य' इति प्रत्यययोरादिलोपः। भूमेति। बहुत्वमित्यर्थः। बहुशब्दात् पृथ्वादित्वादिमनिचि प्रकृतेर्भूभावः, प्रत्ययादेरिकारस्य लोपश्च। भूयानिति। अयमनयोरतिशयेन बहुरित्यर्थः। वैपुल्यवाचकात् बहुशब्दादीयसुनि प्रकृतेर्भूभावः, प्रत्ययादेरिकारस्य लोपश्च। भूभावस्याभीयत्वेनासिद्धत्वादोर्गुणो न भवति।

(२०१८) इष्ठस्य यिट् च। लोपः स्यादिति। 'आदेः परस्य' इति बोध्यम्। यिटि टकार इत्। इष्ठस्यादिलोपे कृते यिडागमः। ट इत्। टित्त्वात् प्रत्ययस्याद्यवयवः। बहोर्भूभावस्तु पूर्वसूत्रेण सिद्ध एव। यदि तु लोप इति निवृत्तं तदा यकार आगम इति साध्यम्।

(ईयसुन्) (१०) वृन्दारक→(क) वृन्दिष्ठः (सबसे बड़ा झुंड—अतिशयेन वृन्दारकः)—वृन्दारक = वृन्द् + इष्ठ (अकार उच्चारणार्थ), (ख) वृन्दीयान् (ईयसुन)।

स्मरणीय—प्रिय, गुरु, उरु, बहुल तथा दीर्घ शब्द पृथ्वादि में पढ़े गये हैं, अतः उनसे 'इमनिच्' प्रत्यय भी होता है। उनके उदाहरण साथ ही दिखाये गये हैं।

(२०१७) **पद**—बहोः, लोपः, भू, च, बहोः। **अनुवृत्ति**—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—यह भी आदेशात्मक प्रासङ्गिक सूत्र है। पूर्व सूत्र के समान ही उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। 'भू' शब्द लुप्त-प्रथमान्त है। तदनुसार "'बहु' शब्द से उत्तर इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् का 'लोप' होता है तथा 'बहु' शब्द के स्थान में 'भू' आदेश भी होगा"। यहाँ पर अनुवर्तमान 'इष्ठेमेयस्सु' पद षष्ठी-विभक्ति में विपरिणमित हुआ है। 'अनेकाल्' होने के कारण समग्र 'बहु' के स्थान पर 'भू' आदेश होगा। **उदाहरण**—(१) (क) **भूमा**—बहु + इमनिच् (= इमन्) ▷ भू + मन् (बहु = भू तथा "आदेः परस्य" १-१-५३ के अनुसार आदि वर्ण 'इ' का लोप) > भूमा (प्रथमा एकवचन)। (ख) **भूयान्**—बहु + ई यस् > बहु = भू + यस् > भूयान्। **अर्थ**—सबसे अधिक—अयम् अनयोः वा अतिशयेन बहुः। 'इष्ठन्' सम्बन्धी उदाहरण अगले सूत्र में दिखाया जायेगा।

(२०१८) **पद**—इष्ठस्य, यिट्, च। **अनुवृत्ति**—बहोः भू च बहोः, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्रस्थ प्रत्यय का ही विषय है। अतः वहाँ से 'लोपः' अंश को छोड़ अन्य अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। शेष आधिकारिक विषय पूर्ववत् प्रभावी है। उन सबके साथ सूत्र की एकवाक्यता होने पर यह विदित होता है कि "'बहु' शब्द से उत्तरवर्ती 'इष्ठन्' को 'यिट्' (= यि = य) आगम होता है तथा 'बहु' शब्द को 'भू' आदेश भी होता है"। 'यिट्' में 'ट'कार इत्संज्ञक है तथा 'इ'कार उच्चारणार्थ है। आगम केवल 'य्' होगा। 'टित्' होने से वह 'इष्ठन्' का आद्यवयव होगा। स्थिति इस प्रकार रहेगी—बहु + इष्ठ ▷ बहु = भू + य्—इष्ठ > भूयिष्ठः।

(२०१९) युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् ५।३।६४॥ एतयोः कनादेशो वा स्यादिष्ठेयसोः। कनिष्ठः-कनीयान्। पक्षे यविष्ठः, अल्पिष्ठः इत्यादि। (२०२०) विन्मतोर्लुक् ५।३।३५॥ विनो मतुपश्च लुक्स्यादिष्ठेयसोः। अतिशयेन स्रग्वी → स्रजिष्ठः-स्रजीयान्।

(२०१९) युवाल्पयोः। इष्ठेयसोरिति। अजादी इत्यनुवृत्तस्य सप्तम्या विपरिणामादिति भावः। कनिष्ठः कनीयानिति। अयमनयोरतिशयेन युवा अल्पो वेत्यर्थः। पक्षे यविष्ठ इति। युवन्शब्दादिष्ठनि 'स्थूलदूर' इति वनो लोपे उकारस्य गुणे अवादेशे रूपम्। अल्पिष्ठ इति। अल्पशब्दादिष्ठनि टिलोपः। इत्यादीति। यवीयान्, अल्पीयानिति रूपद्वयमादिपदग्राह्यम्।

(२०२०) विन्मतोर्लुक्। इष्ठेयसोरिति। अजादी इत्यनुवृत्तस्य सप्तम्या विपरिणामादिति भावः। स्रजिष्ठ इति। स्रग्विन्शब्दादिष्ठनि विनो लुकि तन्निमित्तपदत्वभङ्गात् कुत्वनिवृत्तिरिति भावः। एवं स्रजीयान्। त्वचिष्ठ इति। त्वग्वच्छब्दादिष्ठनि मतुपो लुकि तन्निमित्तपदत्वभङ्गात् कुत्वनिवृत्तिरिति भावः। एवं त्वचीयान्। अत एव ज्ञापकादाभ्यामिष्ठन्नीयसुनौ।

विशेष—'बहु' शब्द के स्थान में 'भू' आदेश एवम् 'इ' का लोप तो "बहोर्लोपो भू च बहोः" (६-४-१५८) सूत्र से ही सिद्ध रहा। ऐसी स्थिति में केवल 'यिट्' (=यि) आगम से ही 'भूयिष्ठः' रूप निष्पन्न हो सकता था। अतः प्रकृत सूत्र में 'लोपः' की अनुवृत्ति न आने की कल्पना कर, 'इष्ठन्' में 'इ' की स्थिति रहने के कारण केवल 'य्' आगम किया जाता है।

(२०१९) पद—युवाल्पयोः, कन्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पुनः प्राकरणिक विधान बतलाया जा रहा है। उपर्युक्त 'इष्ठन्', 'इमनिच्' तथा 'ईयसुन्' प्रत्ययों (अजादी) के सम्बन्ध में ही आदेश विधान है। तदनुसार "'युवन्' और 'अल्प' शब्दों के स्थान में, अजादि प्रत्ययों के पर रहते विकल्प से 'कन्' आदेश होता है"। **उदाहरण**—(क) **कनिष्ठः**—युवन् = कन् = इष्ठ > कनिष्ठः। 'कन्' आदेश न होने पर पक्ष में 'इष्ठन्' तथा 'ईयसुन्' प्रत्यय पर रहते हुए "स्थूलदूरयुवह्रस्व०" (६-४-१५६) सूत्र से 'युवन्' के यणादि 'वन्'-भाग का लोप, 'उ' को 'ओ' गुण एवम् अवादेश होकर यविष्ठः एवं यवीयान् रूप भी होंगे। **अर्थ**—सबसे छोटा या कम—अतिशयेन युवा अल्पः वा—युवन्+इष्ठ या ईयस् (अथवा अल्प+इष्ठ या ईयस्), (ख) **कनीयान्** (दो में अधिक युवा या कम—युवन् = कन्+ईयस् या अल्प = कन्+ईयस्)।

(२०२०) पद—विन्मतोः, लुक्। **अनुवृत्ति**—अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—यह लोप भी प्राकरणिक विधान है। पूर्ववत् अजादि प्रत्ययों को अभिलक्षित कर इस विधान को बतलाया जा रहा है। तदनुसार "'इष्ठन्' तथा 'ईयस्' प्रत्ययों के परवर्ती (सप्तमी में विपरिणामित) होने पर 'विन्' और 'मतुप्' का 'लुक्' (= लोप) होता है"। **उदाहरण**—(१) विन्-लुक्-(क) **स्रजिष्ठः** (सबसे अधिक मालावाला—अतिशयेन स्रग्वी)—स्रग्विन् (स्रज्+विन् लोप = स्रज्+इष्ठन्। (ख) **स्रजीयान्** (इन दो में अधिक मालावाला—अनयोः अतिशयेन स्रग्वी)—स्रग्विन्+(विन् लोप)+ईयस्। (२) मतुप्-लुक्—(क) **त्वचिष्ठः** (सबसे अच्छी त्वचा वाला—अतिशयेन त्वग्वान्)—त्वग्वत्+इष्ठन् ('मतुप्' का लुक्, तन्निमित्तक कुत्व-निवृत्ति)। (ख) **त्वचीयान्** (दोनों में अच्छी त्वचा वाला—अयम् अनयोः अतिशयेन त्वग्वान्)—त्वग्वत्+ईयस्। मतुप्-लुक्। इसी ज्ञापन से इन शब्दों से 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' प्रत्यय होते हैं, क्योंकि इन शब्दों से ये दोनों प्रत्यय विहित नहीं थे।

अतिशयेन त्वग्वान्→त्वचिष्ठः–त्वचीयान् । (२०२१) प्रशंसायां रूपप् ५ । ३ । ६६ ॥ सुबन्तात्तिङन्ताच्च । प्रशस्तः पटुः–पटुरूपः । प्रशस्तः पचति–पचतिरूपम् । (२०२२) ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५ । ३ । ६७ ॥ ईषदूनो विद्वान्विद्वत्कल्पः । यश-

---

(२०२१) प्रशंसायां रूपप् । सुबन्तात्तिङन्ताच्चेति । शेषपूरणमिदम् । 'तिङश्च' इत्यनुवृत्तम्, प्रातिपदिकादिति च । 'घकाल' इत्यादिलिङ्गात् सुबन्तादिति लभ्यत इति भावः । प्रशंसाविशिष्टे स्वार्थे वर्तमानात् तिङन्तात्सुबन्ताच्च रूपबिति फलितम् । पचतिरूपमिति । प्रशस्ता पाकक्रियेत्यर्थः । अत्र भाष्ये 'क्रियाप्रधानमाख्यातं द्रव्यप्रधानं नाम' इति सिद्धान्तितम् । पचतोरूपं पचन्तिरूपमित्यत्र च न द्विवचनबहुवचने । तिङैव द्वित्वबहुत्वयोरुक्तत्वात् । 'एकवचनं तु उत्सर्गतः करिष्यते, नपुंसकत्वं तु लोकात्' इत्यपि भाष्ये स्पष्टम् ।

(२०२२) ईषदसमाप्तौ । ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे विद्यमानात् सुबन्तात् स्वार्थे कल्पप्, देश्य, देशीयर् एते प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । विद्वत्कल्प इति । ईषन्न्यूनवैदुष्यवानित्यर्थः । यशस्कल्पमिति । असम्पूर्णं यश इत्यर्थः । 'सोऽपदादौ' इति सत्वम् । यजुष्कल्पमिति । असम्पूर्णं यजुरित्यर्थः । 'इणः षः' इति षत्वम् । विद्वद्देश्य इति । असम्पूर्णवैदुष्यवानित्यर्थः । एवं विद्वद्देशीयः । अत्र सर्वत्र 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते' इति

(२०२१) पद—प्रशंसायाम्, रूपप् । अनुवृत्ति—तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"प्रशंसा-विशिष्ट अर्थ में वतमान 'प्रातिपदिक' तथा 'तिङन्त' से ("तिङश्च" की अनुवृत्ति के फलस्वरूप) स्वार्थ में 'रूपप्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—सुबन्त—(क) पटुरूपः (अच्छा निपुण—प्रशस्तः पटुः)—पटु+रूपप् (=रूप)। तिङन्त—(ख) पचतिरूपम् (अच्छा पकाता है—प्रशस्तं पचति)—पचति+रूपप् (=रूप)। भाष्य-कार के अनुसार आख्यात (तिङ्) 'क्रिया-प्रधान' है तथा नाम 'द्रव्यप्रधान' है—"क्रिया-प्रधानमाख्यातं द्रव्यप्रधानं नाम"।

विशेष—तिङन्त के द्विवचन में 'पचतोरूपम्' तथा बहुवचन में 'पचन्तिरूपम्' रूप सिद्ध होते हैं। कारण यह है कि 'रूपप्' प्रत्यय से तो औत्सर्गिक एकवचन ही होगा। वहाँ पर द्विवचन एवं बहुवचन तो 'तिङ्' प्रत्यय से ही विहित हैं।

(२०२२) पद—ईषत्, असमाप्तौ, कल्पप्-देश्य-देशीयरः । अनुवृत्ति—तिङ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—यहाँ पूर्व सूत्र के समान "तिङश्च" (५-३-५६) से 'तिङ्' की भी अनुवृत्ति आ रही है। 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार होने से 'सुबन्त' तो स्वतः ग्राह्य है। तदनुसार "थोड़ी असमाप्ति अर्थात् किञ्चित् न्यून अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक एवं तिङन्त से 'कल्पप्', 'देश्य' तथा 'देशीयर्' प्रत्यय होते हैं"। सुबन्त उदाहरण—कल्पप्—(१) विद्वत्कल्पः (कुछ कम विद्वान्–ईषद् ऊनः विद्वान्)—विद्स्+कल्प > विद्वत्कल्पः (स्=द्—"वसु-स्रंसु-ध्वंस्वनडुहां दः" (८-२-७२), द्=त्–चर्त्व)। (२) यशस्कल्पम् (कुछ कम यश–ईषद् ऊनं यशः)—यशस्+कल्प > यशर्+कल्प > यशः कल्प > यशस्कल्पम् (:=स्—'पाशकल्पकाम्येष्विति वाच्यम्' वा०)। (३) यजुष्कल्पम् (कुछ कम यजुर्वेद—ईषद् ऊनं यजुः)—यजुष्+कल्प। ष्=र्=:=ष—"इणः षः" (८-३-३९)। उदाहरण—देश्य—विद्वद्देश्यः—विद्स्+देश्य। अर्थ आदि पूर्ववत्। उदाहरण—देशीयर्—विद्वद्देशीयः—विद्स्+देशीयर्। तिङन्त उदाहरण—पचतिकल्पम् (कुछ कम पकना—ईषद् ऊना पाकक्रिया)—पचति+कल्पप्

स्कल्पम् । यजुष्कल्पम् । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् । **(२०२३) विभाषा सुपो बहुच्पुरस्तात्तु ५ । ३ । ६८ ॥** ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद्बहुज्वा स्यात्स च प्रागेव, न तु परतः । ईषदूनः पटुः—बहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम् ? यजतिकल्पम् ।

वचनात् प्रकृतिलिङ्गत्वं बोध्यम् । पचतिकल्पमिति । असम्पूर्णा पाकक्रियेत्यर्थः । पचतिरूपमितिवल्लिङ्गवचननिर्वाहः । एवं वृषभकल्पः, इयं गौरित्यादावपि प्रकृतिलिङ्गत्वं बोध्यम् । 'क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति वचनात् गुडकल्पा द्राक्षेत्यादौ प्रकृतिलिङ्गातिक्रमः । एतत्सर्वमत्रैव भाष्ये स्पष्टम् ।

(२०२३) विभाषा । ईषदसमाप्तावित्यनुवर्तते तदाह—ईषदसमाप्तिविशिष्ट इति । प्रागेवेति । सूत्रे 'तु'शब्दोऽवधारणे इति भावः । बहुपटुरिति । पटुशब्दात् सुबन्तात् प्राग् बहुचि कृते प्रातिपदिकावयवत्वात् सुपो लुकि समुदायात् पुनः सुबुत्पत्तिः । न च तद्धितान्तत्वाभावात् समासत्वाभावाच्च पूर्वोत्पन्नसुब्विशिष्टस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् कथमिह लुगिति वाच्यम्, 'अर्थवत्' इत्यनेन तस्य प्रातिपदिकत्वसत्त्वात् पटुरित्यस्य पूर्वोत्पन्नसुप्प्रत्ययान्तत्वेऽपि बहुपटुरिति समुदायस्य प्रत्ययान्तत्वाभावात् प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेरेव ग्रहणात् । न चैवं सति 'कृत्तद्धित' इत्यत्र समासग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, पदघटितसङ्घातस्य चेत् प्रातिपदिकसंज्ञा तर्हि समासस्यैवेति नियमार्थत्वात् । न चैवं सति प्रकृते बहुपटुरिति समुदायस्य पूर्वोत्पन्नसुब्विशिष्टस्य कथं प्रातिपदिकत्वम् असमासत्वादिति वाच्यम्, यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेत् प्रातिपदिकसंज्ञा तर्हि समासस्यैवेति

(= कल्प)। इसी प्रकार 'पचतिदेश्यम्' तथा 'पचतिदेशीयम्' प्रयोग भी होंगे। यहाँ पर लिङ्ग का निर्वाह 'पचतिरूपम्' के समान ही हुआ है।

विशेष—उपर्युक्त उदाहरणों में लिङ्ग प्रकृति-वाची शब्दों के अनुसार हुए हैं—'स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतिवत् लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते'। कहीं-कहीं पर इस नियम का अतिक्रमण भी देखा गया है। जैसे 'गुडकल्पा' द्राक्षा में पुंलिङ्ग 'गुड' शब्द के विपरीत 'द्राक्षा' शब्द के अनुसार स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग है। इसके सम्बन्ध में भी यह वचन प्रमाणस्वरूप माना जाता है—"क्वचित् स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते"।

(२०२३) पद—विभाषा, सुपः, बहुच्, पुरस्तात् । **अनुवृत्ति**—ईषदसमाप्तौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'कुछ कम समाप्ति' अर्थ में सुबन्त से प्रकृति के पूर्व 'बहुच्' प्रत्यय हो न कि पर। उदा० ईषद् ऊनः पटुः—बहुपटुः—(पक्ष में) पटुकल्पः। 'सुपः' क्यों कहा ? पचतिकल्पम् ('बहुच्' नहीं हुआ)।

विवरण—पूर्व सूत्र के अर्थ का विषय है। इस कारण 'ईषदसमाप्तौ' अंश अनुवर्तमान है। अतः ""ईषत् असमाप्ति' अर्थ में वर्तमान सुबन्त से (सुपः) 'बहुच्' (= बहु) प्रत्यय होता है और वह "परश्च" (३-१-२) के आधिकारिक प्रभाव से मुक्त होकर प्रकृतिवाची शब्द के पूर्व में संयुक्त होता है"। पक्ष में 'कल्पप्' आदि भी होंगे। **उदाहरण**—**बहुपटुः** (कुछ कम चतुर—ईषद् ऊनः पटुः)—बहुच्+पटु ('बहुच्' = बहु प्रत्यय 'पटु' के पूर्व हुआ)। पक्ष में 'कल्पप्' प्रत्यय—पटुकल्पः। सूत्र में 'सुपः' पद का निवेश होने से **यजतिकल्पम्** (कुछ कम यागक्रिया—ईषद् ऊना यागक्रिया) में तिङन्त से 'बहुच्' प्रत्यय नहीं हुआ। किन्तु 'कल्पप्' प्रत्यय हुआ।

विशेष—(१) सब प्रत्ययों में यही एक ऐसा प्रत्यय है, जो प्रकृति-वाची शब्द के पूर्व में संयुक्त होता है। अन्य सब प्रत्यय "परश्च" (३-१-२) अधिकार का अनुसरण करते हैं।

(२०२४) प्रकारवचने जातीयर् ५ । ३ । ६९ ॥ प्रकारवति चायम्, थाल् तु प्रकारमात्रे । पटुप्रकारः–पटुजातीयः । (२०२५) प्रागिवात्कः ५ । ३ । ७० ॥ 'इवे प्रतिकृतौ' (सू २०५१) इत्यतः प्राक्काधिकारः । (२०२६) अव्ययसर्वनाम्नाम-

---

नियमशरीराभ्युपगमात् इति प्रागुक्तं न विस्मर्तव्यम् । न च 'समर्थाना'मिति सूत्रे वाग्रहणादेव सिद्धे विभाषाग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, बहुजभावपक्षे पूर्वसूत्रविहितकल्प-बाधार्थत्वात् । अन्यथा महाविभाषया 'अपवादेन मुक्ते उत्सर्गस्य न प्रवृत्तिरिति सिद्धान्तात् बहुजभावे वाक्यमेव स्यात् । न च कल्पबादीनां बहुचा समानविषयकत्वान्निरवकाशत्वं शङ्क्यम्, तेषां तिङन्ते सावकाशत्वात् इति भाष्ये स्पष्टम् । एतदभिप्रेत्याह – **पटुकल्प इति** । ननु सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिरिति सिद्धान्तादिह सुब्ग्रहणं व्यर्थमिति पृच्छति—**सुपः किमिति** । तिङश्चेत्यनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थं सुब्ग्रहणम् । न च अस्वरितत्वादेव तदनुवृत्तिर्न भविष्यति इति वाच्यम्, 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इत्याद्युत्तरसूत्रे तिङश्चेत्यनुवृत्तेरावश्यक-तया तस्य स्वरितत्वावश्यकत्वादिति भाष्ये स्पष्टम् । एतदभिप्रेत्याह—**यजतिकल्पमिति** । 'तु' ग्रहणं तु 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते', 'क्वचिदतिवर्तन्ते' इति ज्ञापनार्थम् इति भाष्ये प्रपञ्चितम् ।

(२०२४) प्रकारवचने । 'प्रकारवचने थाल्' इत्यतोऽस्य वैलक्षण्यमाह–**प्रकारवति चायमिति** । प्रकारवत्येवेत्यर्थः । **थाल् तु प्रकारमात्रे इति** । वस्तुवस्तु उभयमपि प्रकारवतीति न्याय्यम्, अविशेषात् । अन्यथा तथेत्यत्र सः प्रकारः इत्येवार्थः स्यात् । न च किमादिभ्यो विशिष्य विहितेन थाला जातीयरो बाधात् तज्जातीयः इत्याद्यसिद्धिरिति वाच्यम्, 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि' इति तज्जात्यादिशब्दाच्छप्रत्ययेनैव तज्जातीयादिसिद्धेः । अत एव 'यथाजातीयक' इत्यादिभाष्यप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते । जयादित्यस्तु अत्र प्रकारः भेदः, थाल्विधौ सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकार इत्याह । वामनस्तु साहश्यं भेदश्चेत्यु-भयमपि प्रकार इत्याह ।

(२०२५) प्रागिवात्कः । इवशब्दस्तदघटितसूत्रपर इति मत्वाह—**इवे प्रतीति** ।

---

(२) सूत्र में 'सुपः' पद का निवेश 'तिङश्च' (५-३-५६) की अनुवृत्ति के निवारणार्थ है । यद्यपि यहाँ 'तिङश्च' की स्वरितत्व प्रतिज्ञा के अभाव में 'सुप्' से ही प्रत्यय होना स्वाभाविक था, तथापि "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः" (५-३-७१) इत्यादि अग्रिम सूत्रों में उसकी आवश्य-कता होने के कारण उसमें स्वरितत्व आवश्यक है । अतः पृथक् सुपः का निवेश अनिवार्य है ।

(२०२४) पद—प्रकारवचने, जातीयर् । **अनुवृत्ति**—सुपः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'जातीयर्' तथा 'थाल्' प्रत्यय के विषय-भेद को बतलाते हुए यह कहा जा रहा है कि "'प्रकारविशिष्ट' अर्थ में सुबन्त से 'जातीयर्' (=जातीय) प्रत्यय हो" । सादृश्य एवं भेद को 'प्रकार' कहते हैं । केवल 'प्रकार' की जहाँ प्रतीति हो वहाँ 'थाल्' प्रत्यय होगा । जब कि 'जातीयर्' प्रत्यय 'प्रकारवान्' में होता है । अतः दोनों में बाध्य-बाधक भाव नहीं है । **उदाहरण** –पटुजातीयः (पटुसदृश—पटुप्रकारः)—पटु+जातीयर् (=जातीय) । विभक्ति-कार्य ।

(२०२५) पद—प्राक्, इवात्, कः । **अनुवृत्ति**—सुपः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'इव' शब्द 'तद्-घटित सूत्र' का संकेतक है । तदनुसार इसकी अधिकार-

कचप्राक्टेः ५ । ३ । ७१ ॥ 'तिङश्च' (सू २००२) इत्यनुवर्तते । (२०२७) कस्य च दः ५ । ३ । ७२ ॥ कान्तादव्ययस्य दकारोऽन्तादेशः स्यादकच्च । (२०२८) अज्ञाते

(२०२६) अव्ययसर्वनाम्नाम् । अनुवर्तत इति । मण्डूकप्लुत्येति शेषः । अव्ययसर्वनाम्नां तिङन्तानां च टेः प्राक् अकच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । अकचि ककारादकार उच्चारणार्थः । चकार इत् । ककारान्तः प्रत्ययः । अयमपि प्रागिवादधिकारः ।

(२०२७) कस्य च दः । पूर्वसूत्रे 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति समासनिर्देशेऽपि एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलात् अव्ययग्रहणमेवात्रानुवर्तते । कस्य इत्यत्र ककारादकार उच्चारणार्थः । ककारस्येति विवक्षितम् । तेनाव्ययस्य विशेषणात् तदन्तविधिः, तदाह—कान्ताव्ययस्येति । अकच्चेति । चकारेण तदनुकर्षादिति भावः । एतेन अकच्सन्नियोगशिष्ट एवायं दकारः इत्युक्तं भवति । अयमपि प्रागिवादधिकारः ।

सीमा का निर्देशक सूत्र "इवे प्रतिकृतौ" (५-३-९६) है । अतः उसके पहले तक—"अवक्षेपणे कन्" (५-३-९५) तक—यह अधिकार प्रभावी होगा ।

(२०२६) पद—अव्ययसर्वनाम्नाम्, अकच् , प्राक्, टेः । अनुवृत्ति—सुपः, प्रागिवात्, तिङश्च, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । अधिकारसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—'सुपः' तथा 'प्रागिवात्' के अतिरिक्त मण्डूकप्लुति से 'तिङश्च' की भी अनुवृत्ति आती है । अतः "'अव्यय' तथा 'सर्वनामवाची' प्रातिपदिकों एवं तिङन्तों से इवार्थ से पहले-पहले (अधिकार होने से) 'अकच्' प्रत्यय होता है और वह 'अकच्' 'टि' से पूर्व होता है" ।

विशेष—(१) इस सूत्र में 'प्रातिपदिकात्' तथा 'सुपः'—दोनों की अनुवृत्ति होने के कारण किन्हीं स्थलों में प्रातिपदिक के 'टि'—भाग से पूर्व 'अकच्' होता है तो अन्यत्र 'सुबन्त' के 'टि' भाग से पूर्व भी 'अकच्' होता है । उदाहरणार्थ 'युवयोः' तथा 'आवयोः' में प्रातिपदिक के 'टि' से = 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' की 'टि' (=अद्) से—पूर्व अकच् होकर 'युवकयोः' तथा 'आवकयोः' रूप बनेंगे । 'सुबन्त' से पूर्व 'अकच्' होने पर 'त्वया' तथा 'मया' में सुबन्त की टि (='आ') से पूर्व 'अकच्' होकर 'त्वयका' तथा 'मयका' रूप बनेंगे । आगे कहे जानेवाले "ओकार-सकार-भकारादौ०" वार्तिक में इसका नियमन किया गया है । तदनुसार सर्वनाम-संज्ञक प्रातिपदिक की 'टि' से पूर्व 'अकच्' का विधान निर्दिष्ट विभक्तियाँ परे रहते होता है । इस प्रकार उक्त वार्तिक द्वारा सर्वनामवाची शब्दों के सन्दर्भ में व्यवस्था किये जाने के फलस्वरूप अन्य शब्दों में सुबन्त की 'टि' से ही पूर्व 'अकच्' होगा । किन्तु भाष्यकार के अनुसार तो 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द के लिये ही 'ओकारादि' संकोच है । अन्य सर्वनामों से सब विभक्तियों के परे उन्हीं की 'टि' के पूर्व 'अकच्' होता है । एतदनुसार 'सर्वकेण' एवम् 'इमकेन' आदि प्रयोग समीचीन माने जाते हैं । वार्तिक मतानुसार यदि ओकारादि का निर्धारण न होता तो 'त्वयका' एवम् 'मयका' का स्वरूप विपरीत हो जाता ।

(२) यहाँ से आगे "इवे प्रतिकृतौ" (५-३-९६) के पूर्व तक इस सूत्र का तथा "प्रागिवात् कः" (५-३-७०) का भी अधिकार है । ऐसी स्थिति में अव्यय-वाची, सर्वनामवाची तथा तिङन्तों से 'अकच्' तथा इनके अतिरिक्त अन्य शब्दों से 'क' प्रत्यय होता है ।

(२०२७) पद—कस्य, च, दः । अनुवृत्ति—अव्ययम्, अकच् , तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—'स्थान्यादेश' का विधान बतलाया जा रहा है । प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (२०२६) से केवल 'अव्ययम्' अंश मात्र ही स्वरितत्व प्रतिज्ञा के आधार पर अनुवर्तमान है । प्रकृत सूत्रस्थ 'कस्य' पद व्यञ्जनमात्र (ककारस्य) का बोधक है । 'अव्यय' का विशेषण होने से

५।३।७३॥ कस्यायमश्वोऽश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके। विश्वके। 'ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्, अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्रागकच्' (वा ३२८४)। युवकयोः। आवकयोः। युष्मकासु। अस्मकासु। युष्मकाभिः। अस्मकाभिः।

(२०२८) अज्ञाते। अज्ञातेऽर्थे विद्यमानात् सुबन्तात्स्वार्थे कप्रत्ययः स्यात्। अव्ययसर्वनाम्नां तिङन्तानां च टेः प्राक् अकच् स्यात्। तत्रापि ककारान्ताव्ययानां दकारोऽन्तादेशः स्यादित्यर्थः। कस्यायमिति। स्यादित्यर्थः। अज्ञातत्वामिनयोऽयम्। अज्ञातोऽश्व इति विग्रहः। उच्चकैरिति। उच्चैरित्यव्ययस्य टेः प्रागकच्। सर्वके विश्वके इति। ननु 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति सूत्रे सुपः इत्यनुवृत्तेः सुबन्तानां सर्वनाम्नां टेः प्रागकजिति फलितम्। तथा सति युवयोः, आवयोः, युष्मासु अस्मासु, युष्माभिः अस्माभिः, इत्यत्र सुबन्तानां टेः प्रागकचि युवकयोः आवकयोः, युष्मकासु, अस्मकासु, युष्मकाभिः अस्मकाभिः इति न स्युः। युवयकोः, आवयकोः, युष्मासकुः, अस्मासकुः, युष्माभकिः अस्माभकिः इति स्युः। यदि तु सुप इत्यननुवर्त्य प्रातिपदिकादित्येवानुवर्त्य प्रातिपदिकादेव सर्वनाम्नां टेः प्रागकजित्यर्थः स्यात्, तर्हि त्वयका मयकेति न स्यात्, त्वकया मकया इति स्यादित्यत आह—ओकारेति। वार्तिकमिदम्। ओकारादौ सकारादौ भकारादौ च सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्, अन्यत्र तु सुबन्तस्यैव सर्वनाम्नष्टेः प्रागकजित्यर्थः। इदं तु वार्तिकं युष्मदस्मन्मात्रविषयकमेव, भाष्ये तथैवोदाहृतत्वात्। अन्येषां तु सर्वनाम्नां प्रातिपदिकस्यैव टेः प्रागकच्, न तु सुबन्तानाम्, तेन सर्वकेणेत्यादि सिद्धम्। अत एव

वह तदन्त का बोधक होता है। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "ककारान्त अव्यय को 'अकच्' प्रत्यय के साथ-साथ दकार आदेश भी होगा"। इस प्रकार "अलोऽन्त्यस्य" (१-१-५१) के अनुसार अन्तिम 'अल्'='क्' के स्थान में 'द्' होगा। 'च' का निवेश होने से 'टि' के पूर्व 'अकच्' भी होगा। इसके फलस्वरूप 'अकच्' के साहचर्य में ही 'क्' के स्थान में 'द्' होगा।

(२०२८) पद—अज्ञाते। अनुवृत्ति—अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः, प्रागिवात् कः, तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—उपर्युक्त दोनों अधिकारों तथा 'तिङः' का प्रमुख प्रभाव विद्यमान है। प्राकरणिक अनुवृत्तियों से अन्वित सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'अज्ञात' अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक एवं तिङन्त से स्वार्थ में यथाविहित (अर्थात् अव्यय, सर्वनाम तथा तिङन्तों से 'अकच्' एवम् अन्य प्रातिपदिकों से 'क') प्रत्यय होते हैं। **उदाहरण**—प्रातिपदिक—(१) अश्वकः (जिसका स्वामी अज्ञात हो वह अश्व—अज्ञातः अश्वः)—अश्व+क। अव्यय से अकच्—(१) (क) उच्चकैः (क्या ऊँचा है किम्—उच्चैः)—उच्चैस्+अकच् ▷ उच्च्+अक्+ऐस्—उच्चकैः ('टि' भाग—'ऐस्' के पहले 'अक्')। (ख) नीचकैः (क्या नीचा है—किम् नीचैः)—नीचैस्+अकच् (२) **सर्वनाम** वाची—(क) सर्वके (क्या यह सब को स्वीकार है—अज्ञाताः सर्वे)—सर्वे+अकच् ▷ सर्व्+अक्+ए ▷ सर्वके। (ख) विश्वके (क्या यह संसार को स्वीकार है—अज्ञाताः विश्वे) विश्वे+अकच् (अक्)। सर्वनाम शब्दों के सम्बन्ध में वार्तिक द्वारा विशेष रूप से यह अवगत कराया जा रहा है कि ओकारादि, सकारादि तथा भकारादि विभक्तियाँ परवर्ती होने पर **सर्वनाम की 'टि' के पूर्व 'अकच्'** की स्थिति रहती है तथा अन्य विभक्तियों में **सुबन्त की टि को अकच् होता है।** **उदाहरण**—ओकारादि विभक्ति—(क) युवकयोः (क्या तुम दोनों का—अज्ञातयोः युवयोः) तथा (ख) आवकयोः (क्या हम दोनों का—अज्ञातयोः आवयोः)। इन दोनों—'युवयोः' तथा 'आवयोः'—में 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' के 'अद्' भाग के पूर्व 'अक्' की स्थिति रही। **सकारादि विभक्ति** (क) युष्मकासु (क्या तुम लोगों में—अज्ञातेषु

ओकार-इत्यादि किम् ? त्वयका मयका। 'अकच्प्रकरणे तूष्णीमः कां वक्तव्यः' (वा (३२८५) मित्त्वादन्त्यादचः परः। तूष्णीकामास्ते। 'शीले को मलोपश्च' (वा ३२८६)। तूष्णींशीलः-तूष्णीकः। पचतकि। जल्पतकि। धकित्। हिरकुत्। (२०२९) कुत्सिते ५।३।७४॥ कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः। (२०३०) संज्ञायां कन् ५।३।७५॥

विभक्तौ परतो विहितः किमः क आदेशः साकच्कार्थः 'कः कौ के' इति भाष्यं सङ्गच्छते। त्वयका मयकेति। इह त्वया मयेति सुबन्तयोष्टेः प्रागकच्। प्रातिपदिकस्य टेः प्रागकचि तु त्वकया मकयेति स्यादिति भावः। कां वक्तव्य इति। काम् प्रत्यय इति वृत्तिस्तु चिन्त्या, भाष्ये प्रत्ययशब्दस्यादर्शनात्। किं तु मित्त्वादागम एवायम्। तदाह-मित्त्वादिति। अकचोऽपवादः। तूष्णीकामिति। तूष्णीमित्यव्ययस्य ईकारादुपरि का इत्याकारान्त आगमः। शीले इति। इदमपि वार्तिकम्। तूष्णीम् इत्यव्ययात् कप्रत्ययः स्यात् मकारस्य लोपश्च शीले गम्ये इत्यर्थः। शीलं स्वभावः। तूष्णीक इति। मौनस्वभाव इत्यर्थः। भाष्ये दीर्घस्यैव प्रयोगदर्शनात् 'केऽणः' इति ह्रस्वो न भवति। 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इत्यत्र तिङश्चेत्यनुवृत्तेः प्रयोजनमाह—पचतकीति। पचतीत्यत्र इकारात् प्रागकच्। ककारादकार उच्चारणार्थः। अन्यथा इकारात्प्राक् अकच्प्रत्यये आद्गुणे पचतके इति स्यादिति भावः। जल्पतकीति। जल्पतीत्यस्य टेः प्रागकच्, धकिदिति। धिक् इत्यव्ययस्य टेः प्रागकच्, कस्य दश्च। हिरकुदिति। हिरुगित्यव्ययस्य टेः प्रागकच् कस्य दश्च।

(२०२९) कुत्सिते। येन धर्मेण कुत्स्यते वस्तु तद्धर्मयुक्तार्थाभिधायिनः प्रातिपदि-

---

युष्मासु) तथा (ख) **अस्मकासु** (क्या हम लोगों में—अज्ञातेषु अस्मासु) में भी 'अद्' के पूर्व 'अक्' की स्थिति रही (युष्म्-अक्-आसु)। **भकारादि विभक्ति**—(क) **युष्मकाभिः** (क्या तुम लोगों से—अज्ञातैः युष्माभिः) तथा (ख) **अस्मकाभिः** (क्या हम लोगों से-अज्ञातैः अस्माभिः) में भी 'अद्' भाग से पूर्व 'अक्' की स्थिति रहती है।

वार्तिक के प्रत्युदाहरण—वार्तिक में **ओकारादि** का ग्रहण करने से **त्वयका** (क्या तुझ से—किं त्वया) तथा **मयका** (क्या मुझ से—किं मया) में आकारादि (टा = आ) विभक्ति होने के कारण सुबन्त की 'टि' ('त्वया' में 'आ' के पूर्व त्वय्-अक्-आ) से पूर्व 'अक्' होता है। पुनः (२) दूसरे वार्तिक द्वारा **अकच्प्रकरण में 'तूष्णीम्' शब्द से** अकच् का अपवादस्वरूप **काम् आगम होना कहा गया है। उदाहरण—तूष्णीकाम्** आस्ते (चुपचाप बैठा है—तूष्णीम् आस्ते)—तूष्णी+का-म् ('मित्' होने से अन्त्य अच् से पर)। (३) **तीसरे वार्तिक** द्वारा इसी प्रसंग में **'तूष्णीम्'** शब्द से **शील अर्थ** में **'क'** प्रत्यय **होता है**। तथा (४) **चतुर्थ वार्तिक** द्वारा **प्रकृतिघटक 'म्' का लोप** होना बताया गया है। **उदाहरण—तूष्णीकः** (मौन—तूष्णीं शीलः)—तूष्णीम् +क। 'म्' का लोप होकर—तूष्णीकः। **पचतकि** (पचति में 'इ' से पूर्व 'अक्') **जल्पतकि** ('जल्पति'+'इ' से 'पूर्व' अक्)। **धकित्** ('धिक्' में 'इक्' के पूर्व 'अक्', क् = द्)। **हिरकुत्** ('हिरुक्'–'टि' के पूर्व 'अक्', क् = द्।

विशेष—प्रथम वार्तिक के विषय का ("अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः" ५-३-७१ सूत्र के अन्त में भी) उल्लेख किया जा चुका है। भाष्यकार के अनुसार तो 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द के लिये ही ओकारादि संकोच है। अन्य सर्वनामों को सब विभक्तियों के पर रहते उन्हीं की 'टि' के पूर्व 'अकच्' होता है। तदनुसार 'सर्वकेण' 'इमकेन' आदि प्रयोग समीचीन माने जाते हैं। वार्तिक-मतानुसार 'ओकारादि' द्वारा यदि निर्धारण न किया जाता तो 'त्वयका' 'मयका' का स्वरूप विपरीत हो जाता।

(२०२९) पद—कुत्सिते। **अनुवृत्ति**—अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः, प्रागिवात् कः, तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

कुत्सिते कन्स्यात्तदन्तेन चेत्संज्ञा गम्यते। शूद्रकः। राधकः। स्वरार्थं वचनम्। (२०३१) अनुकम्पायाम् ५।३।७६॥ पुत्रकः। अनुकम्पितः पुत्र इत्यर्थः। (२०३२) नीतौ च तद्युक्तात् ५।३।७७॥ सामदानादिरूपा नीतिः। तस्यां गम्यमानायामनुकम्पा-युक्तात्कप्रत्ययः स्यात्। हन्त ते धानकाः। गुडकाः। एहकि। अद्धकि। पूर्वेणानुकम्प्य-

---

कात्स्वार्थे प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। अव्ययसर्वनाम्नान्तु टेः प्रागकच्, कान्तस्याव्ययस्य दकारश्चान्तादेश इति बोध्यम्। तिङश्चेत्यप्यनुवर्तते। अश्वक इति। धावनस्य असम्य-क्त्वादश्वस्य कुत्सा बोध्या। सर्वनामाव्ययतिङन्तानि पूर्ववदुदाहार्याणि। 'याप्ये पाशप्' इति प्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामेव भवति। इदं तु सूत्रमप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामपि इति भाष्ये स्पष्टम्।

(२०३०) संज्ञायां कन्। कुत्सिते इत्यनुवर्तते। तदाह–कुत्सित इति। तदन्तेन चेदिति। कुत्साहेतुकसंज्ञाविषये कनिति यावत्।

(२०३१) अनुकम्पायाम्। अनुकम्पायुक्तार्थाभिधायिनः स्वार्थे कः स्यादित्यर्थः। अनुकम्पा दया।

(२०३२) नीतौ च तद्युक्तात्। सामदानादीति। आदिना भेददण्डयोर्ग्रहणम्। तद्युक्तादित्येतद्व्याचष्टे—अनुकम्पायुक्तादिति। अव्ययसर्वनाम्नां टेः प्रागिति चानुवर्तते, 'कस्य च दः' इति च। हन्त ते धानका इति। दास्यन्ते इति शेषः। 'हन्ते'त्यव्ययमनु-

---

मूलार्थ एवं विवरण—"'अज्ञात' अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से स्वार्थ में यथा-विहित, प्रत्यय होते हैं"। **उदाहरण—अश्वकः** (खराब सुस्त घोड़ा-कुत्सितः अश्वः)—अश्व+क।

(२०३०) पद—संज्ञायाम्, कन्। **अनुवृत्ति**—प्रागिवात्, कुत्सिते, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तदन्त से संज्ञा गम्यमान रहने पर कुत्सित अर्थ में 'कन्' हो। उदा० १–शूद्रकः। २-राधकः। स्वरार्थ यह विधान है।

विवरण—'कुत्सित' अर्थ का ही विषय है। अतः "समुदाय से संज्ञा गम्यमान होने पर निन्दित अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है"। 'तिङन्त' से संज्ञा गम्यमान न होने से यहाँ "तिङः" का प्रभाव नहीं रहता। **उदाहरण**—(१) **शूद्रकः** (निन्दित शूद्र—कुत्सितः शूद्रः)—शूद्र+कन् (=क)। (२) **राधकः** (निन्दितः राधः=निन्दित सारथि)—राध+कन् (=क)।

विशेष—"कुत्सिते" (५-३-७४) सूत्र से ही 'क' प्रत्यय करने पर यद्यपि रूपसाम्य अवश्य है, तथापि 'कन्' में 'न्' इत्संज्ञक होने के कारण स्वर में भेद हो जाता है।

(२०३१) पद—अनुकम्पायाम्। **अनुवृत्ति**—तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिदिपकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"'प्रातिपदिक' तथा 'तिङन्त' से अनुकम्पा गम्यमान होने पर यथा-विहित प्रत्यय (अव्यय, सर्वनाम तथा तिङन्त से अकच् तथा अन्य प्रातिपदिकों से 'क') होता है। **उदाहरण—पुत्रकः** (दयनीय पुत्र—अनुकम्पितः पुत्रः)—पुत्र+कन् (=क)।

(२०३२) पद—नीतौ च तद्युक्तात्। **अनुवृत्ति**—अनुकम्पायाम्, तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—साम-दानादि उपायों को नीति कहा गया है। "नीति अर्थ में अनुकम्पायुक्त से 'कन्' प्रत्यय होता है"। उदा० १–हन्त ते धानकाः। २–गुडकाः। ३–एकि। ४–अद्धकि। पूर्व सूत्र से अनुकम्प्यमान से कन् तथा इस सूत्र से तो परम्परासम्बन्ध में भी 'कन्' होता है—यह विशेषता है।

मानात्प्रत्ययः। अनेन तु परम्परासम्बन्धेऽपीति विशेषः। **(२०३३) बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा ५।३।७८॥** पूर्वसूत्रद्वयविषये। **(२०३४) घनिलचौ च ५।३।**

कम्पाद्योतकम्। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायाम्' इत्यमरः। हन्तेत्यदन्तम्। 'हे पुत्रे'ति शेषः। अनुकम्पायुक्ता धाना इत्यर्थः। धानाशब्दात् कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे कान्तात् टापि 'अभाषितपुंस्काच्च' इति विकल्पात् पक्षे इत्वाभावः। **एहकीति।** एहीति तिङन्तस्य टेः प्रागकच्। 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इत्यत्र तिङश्चेत्यनुवृत्तेरिति भावः। **अद्धकीति।** अद्धीति तिङन्तस्य टेः प्रागकच्। **पूर्वणेति।** अनुकम्पायास्तद्विषयत्वादिति भावः। **परम्परासम्बन्धेऽपीति।** पुत्रः साक्षादनुकम्प्यः, तद्द्वारा धाना अनुकम्पायुक्ता इति भावः।

(२०३३) बह्वचो मनुष्यः। ठजिति च्छेदः। पूर्वसूत्रद्वयविषये इति शेषपूरणम्। 'अनुकम्पायाम्' इति नीतौ च तद्युक्तात्' इति च सूत्रद्वयविषये बह्वचो मनुष्यनाम्नः प्रातिपदिकात् ठज्वा स्यादित्यर्थः। पक्षे कः।

(२०३४) घनिलचौ च। तत्रैवेति। शेषपूरणमिदम्। बह्वच इति पूर्वसूत्रविषये इत्यर्थः। 'अनुकम्पायाम्' इति 'नीतौ च तद्युक्तात्' इति च सूत्रद्वयविषये बह्वचो मनुष्यनाम्नः घन् इलच् एतौ च प्रत्ययावित्यर्थः

विवरण—'नीति' से तात्पर्य साम, दान, दण्ड और भेद का है। परन्तु अनुकम्पा का सम्बन्ध होने से 'साम' तथा 'दान' का ही ग्रहण होता है। अतः "नीति गम्यमान होने पर अनुकम्पा-सम्बद्ध प्रातिपदिक से तथा तिङन्त से यथाविहित प्रत्यय होता है"। तदनुसार (१) सुबन्त—**उदाहरण**—हन्त ते **धानकाः**—यहाँ पर किसी दया के पात्र को भूना जव आदि देकर अनुकूल करना अर्थ द्वारा अनुकम्पा की जा रही है (धाना+क, 'आ' को ह्रस्व = "केऽणः" ७-४-१३, ततः टाप् होने पर "अभाषितपुंस्काच्च" (७-३-४८) नियम से बहुव्रीहि के अतिरिक्त विकल्प से 'इ'कार होने से पक्ष में इत्वाभाव, प्रथमाविभक्ति बहुवचन। इसी प्रकार **गुडकाः** में भी जानें। तिङन्त से—(क) **एहकि** (बेटा आओ—हन्त एहि) एहि+अकच् (=अक्)—'इ' के पूर्व अक् (ख) **अद्धकि** (बेटा खालो—हन्त अद्धि)—अद्धि+अकच् (=अक्)—'इ' से पूर्व अकच्।

विशेष—पूर्व सूत्र में साक्षात् अनुकम्पायुक्त वत्सादि से प्रत्यय का विधान किया है। इस सूत्र में जिस वस्तु की दानादि द्वारा अनुकम्पा प्रकट की जा रही है, उससे प्रत्यय का विधान बताया गया है। अनुकम्पार्थक 'हन्त' अव्यय है।

(२०३३) पद—बह्वचः, मनुष्यनाम्ना, ठच्, वा। **अनुवृत्ति**—नीतौ तद्युक्तात्, अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्वोक्त दोनों सूत्रों के समष्टिगत अर्थ को अभिलक्षित कर विशेष विधान किया जा रहा है। अतः दोनों सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ पदों के साथ अन्वित होकर वे यह बोध कराते हैं कि "अनेक स्वरवर्णों से युक्त मनुष्य-नामधेय प्रातिपदिक से अनुकम्पा एवम् अनुकम्पायुक्त नीति गम्यमान होने पर विकल्प से 'ठच्' प्रत्यय होता है"। पक्ष में 'क' होगा। उदाहरण आगे दिये जायगा।

(२०३४) पद—घनिलचौ, च। **अनुवृत्ति**—बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा, नीतौ च तद्युक्तात्, अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्वोक्त दोनों सूत्रों में वर्णित अर्थों को अभिलक्षित कर इन दो प्रत्ययों का विधान किया जा रहा है। अतः उनकी अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। तदनुसार "बहुत स्वर-वर्ण वाले प्रातिपदिकों से 'अनुकम्पा' तथा 'अनुकम्पा से युक्त नीति' गम्यमान हो तो

७९ ॥ तत्रैव । (२०३५) ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः ५ । ३ । ८३ ॥ अस्मिन्प्रकरणे यष्ठोऽजादिप्रत्ययश्च तस्मिन् प्रत्यये परे प्रकृतेर्द्वितीयादच ऊर्ध्वं सर्वं लुप्यते । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः–देवियः–देविलः–देवदत्तकः । अनुकम्पितो वायुदत्तः–वायुकः । ठग्रहण-मुको द्वितीयत्वे कविधानार्थम् । वायुकः । पितृकः । 'चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्यः' (वा ३२९६) । अनुकम्पितो बृहस्पतिदत्तो बृहस्पतिकः । 'अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः' (वा ३२९७) । देवदत्तकः–देवकः । 'लोपः पूर्वपदस्य च' (वा ३२९८) ।

(२०३५) ठाजादौ । अस्मिन्प्रकरणे इति । अनुकम्पायां, नीतौ च इत्यस्मिन्प्रकरणे इत्यर्थः । सन्निधानलभ्यमिदम् । सर्वमिति । ऊर्ध्वग्रहणादिदं लभ्यते । अन्यथा 'आदेः परस्य' इति परिभाषया द्वितीयाचः यः परः तस्यादेरेव स्यादिति भावः । 'अजिनान्तस्यो-त्तरपदलोपश्च' इत्यतो लोप इत्यनुवृत्तमिह कर्मसाधनमाश्रीयते इति मत्वाह—लुप्यत इति । देविक इति । देवदत्तशब्दात् ठचि द्वितीयादचः परस्य दत्तशब्दस्य लोपे इकादेशे रूपम् । देविय इति । देवदत्तशब्दात् घनि दत्तशब्दस्य लोपे इयादेशे रूपम् । देविल इति । इलचि दत्तशब्दस्य लोपः । देवदत्तक इति । कप्रत्यये सति ठाजाद्यभावान्न दत्तपदलोपः । वायुक इति । वायुदत्तशब्दात् दत्तशब्दस्य लोपः । ठकः परत्वात् ठस्य कः । नन्विकादेशे सति देविक इत्यत्र अजादित्वादेव सिद्धे ठग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—ठग्रहणमिति । कृत एव ठग्रहणे वायुशब्दात्परस्य दत्तशब्दस्य ठावस्थायामेव नित्यत्वात् लोपे कृते ठस्य उकः परत्वात्कादेशः सिध्यति । अन्यथा इकादेशे कृते अजादित्वं पुरस्कृत्य दत्तशब्दस्य लोपे सति वायु इक इति स्थिते ठस्याभावात् कादेशो न स्यात् । न च स्थानिवत्त्वादिकस्य ठत्वं शङ्क्यम्, 'ठस्येकः' इत्यत्र स्थान्यादेशयोरकार उच्चारणार्थ इति पक्षे अल्विधित्वात् सन्निपातपरिभाषाविरोधाच्चेति भाष्ये स्पष्टम् । पितृक इति । पितृदत्तशब्दात् ठचि दत्त-शब्दस्य लोपे उकः परत्वात् ठस्य कः । अथ—

'चतुर्थादनजादौ वा लोपः पूर्वपदस्य च । अप्रत्यये तथैवेष्टः उवर्णाल्ल इलस्य च ॥'

इति वक्ष्यमाणश्लोकवार्तिकं भङ्क्त्वा 'चतुर्थादच' इत्येतद् व्याचष्टे—चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्य इति । बृहस्पतिक इति । बृहस्पतिदत्तशब्दात् ठचि दत्तशब्दस्य लोपे ठस्य इकादेशः । द्वितीयादूर्ध्वत्वाभावादप्राप्ते वचनम् । 'अनजादौ वे'ति वार्तिकभागं व्याचष्टे—अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्य इति । 'अनजादौ चे'ति पाठे विभाषेति भाष्य-लब्धम्, तत्र देवदत्तको देवक इति कप्रत्यये दत्तलोपविकल्पोदाहरणात् । लोपः पूर्वपदस्य

विकल्प से 'घन्' एवम् 'इलच्' प्रत्यय होते हैं"। पक्ष में पूर्वोक्त वैकल्पिक 'ठच्' के साथ 'कन्' होकर चार रूप निष्पन्न होंगे।

(२०३५) पद—ठाजादौ, ऊर्ध्वम्, द्वितीयात्, अचः । अनुवृत्ति—लोपः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इस प्रकरण के 'ठ' एवम् 'अजादि'-प्रत्ययों के परवर्ती होने पर प्रकृति-वाची शब्द के द्वितीय स्वरवर्ण से उत्तरवर्ती 'समग्र अंश' का लोप होता है"। उदा० १–अनुकम्पितः देवदत्तः ←देविकः—देवियः—देविलः—देवदत्तकः । २–अनुकम्पितः वायुदत्तः←वायुकः । यहाँ 'ठ' ग्रहण 'उक्' के द्वितीय होने पर 'क' विधान के लिये है । जैसे वायुकः तथा पितृकः । वा० चतुर्थ अच् से परवर्ती का लोप होता है। उदा० अनुकम्पितः बृहस्पतिदत्तः–बृहस्पतिकः । वा० अजादि-भिन्न प्रत्यय पर हो तो विकल्प से लोप होता है। उदा० देवकः—देवदत्तकः । वा० पूर्व पद का भी

दत्तिकः–दत्तियः–दत्तिलः–दत्तकः । 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वक्तव्यः' (वा ३२९९) । देवदत्तः–दत्तः–देवः । सत्यभामा←भामा–सत्या । 'उवर्णाल्ल इलस्य च' (वा ३३०३) । भानुदत्तः–भानुलः । 'ऋवर्णादपि' (वा ५०५४) । सवित्रियः–सवितृलः । 'चतुर्थादनजादौ वा लोपः पूर्वपदस्य च । अप्रत्यये तथैवेष्ट उवर्णाल्ल इलस्य च ॥'

चेति । विभाषेति शेषः । अनजादाविति तु नात्र सम्बध्यते । तदाह—**दत्तिक इत्यादि** । ठचि घनि इलचि के च रूपम् । 'अप्रत्यये तथैवेष्ट' इति वार्तिकभागं व्याचष्टे—**विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वक्तव्य इति** । **दत्तः देव इति** । देवदत्तशब्दात् ठाजादिप्रत्ययस्याप्यभावे पूर्वोत्तरपदयोः क्रमेण लोपे रूपम् । **उवर्णादिति** । 'ल' इति लोपस्य पूर्वाचार्यसञ्ज्ञा । उवर्णात्परस्य इलचो लोपः स्यादित्यर्थः । 'आदेः परस्य' इति इकारस्य लोपः । चकारेण ठाजादौ द्वितीयादच ऊर्ध्वं लोपः सूत्रसिद्धः अनूद्यते । **ऋवर्णादपीति** । ऋवर्णादपि परस्य इलच आदेर्लोपः स्यादित्यर्थः । **सवित्रियः सवितृल इति** । घनि इलचि च रूपम् । वस्तुतस्तु ऋवर्णादपीति भाष्याहष्टत्वादुपेक्ष्यम् । तदेवं व्याख्यातं वार्तिकं समस्तं पठति—**चतुर्थादित्यादि** ।

लोप होता है । उदा० सत्या—भामा । सत्यभामा । वा० उवर्ण से पर 'इलच्' के स्थान में 'ल' (= लोप) आदेश हो । उदा० भानुलः । भानुदत्तः । वा० 'ऋ'वर्ण से पर भी ('इलच्' को 'ल' आदेश होता है । उदा० सवितृलः । सवित्रियः ।

विवरण—'ठच्' प्रत्यय के प्रसङ्ग में विशेष विधान बतलाया जा रहा है । "अष्टाध्यायी-पाठक्रम में इस सूत्र से पाँच सूत्र पूर्व अर्थात् ५-३-७८ से ५-३-८२ तक जो भी 'ठ' तथा 'अजादि'-प्रत्यय कहे गए हैं, उनके परवर्ती होने की स्थिति में, प्रकृति-वाचक शब्दों के द्वितीय 'अच्' से (द्वितीयात् अचः) उत्तरवर्ती अवशिष्ट अंश का लोप होता है" । **उदाहरण**—(क) **देविकः** (देवद्̥त्त̥+ठच् = ठ इक) । (ख) **देवियः** (देवद्̥त्त̥+घन् = घ = इय) । (ग) **देविलः**—(देवद्̥त्त̥+इलच्=इल) । (घ) **देवदत्तकः**—देवदत्त+कन्=क) । **विधान**—(क) में "बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज् वा" (५-३-७८) से ठच् = ठ=इक, प्रकृतिघटक 'दत्त' भाग का लोप—"ठाजादूर्ध्वं द्वितीयादचः" ५-३-८३ तथा 'देव' के 'अ' का लोप । (ख) में पाक्षिक घन्=इय, शेष कार्य पूर्ववत् । (ग) में पाक्षिक 'इलच् = इल' शेष कार्य पूर्ववत् । (घ) इन तीनों प्रत्ययों के न होने पर औत्सर्गिक 'कन्' प्रत्यय के हलादि होने के कारण प्रकृतिवाची शब्द के उत्तर भाग का लोप नहीं होता । **अर्थ**—अति परिचय के कारण देवदत्त के प्रिय नाम–अनुकम्पितः देवदत्तः । (२) (क) **वायुकः** (वायुद्̥त्त̥+ठच्, 'दत्त' का लोप तथा ठ = क—"इसुसुक्तान्तात्कः" ७-३-५१) । (ख) पक्ष में औत्सर्गिक 'कन्' होकर **वायुदत्तकः** । **अर्थ**—प्रिय वायुदत्त—अनुकम्पितः वायुदत्तः । (३) इसी प्रकार (क) **पितृकः** (पितृद्̥त्त̥+ठच् = ठ तथा उत्तरपदलोप, ठ=क) । पक्ष में (ख) **पितृदत्तकः**—औत्सर्गिक 'कन्'=क । हलादि प्रत्यय (= कन्) होने से उत्तरपद में 'ठ' या 'अजादि' प्रत्यय के अभाव में (दत्त का) लोप नहीं हुआ । **अर्थ**—प्रिय पितृदत्त—अनुकम्पितः पितृदत्तः ।

विशेष—(१) यद्यपि 'देविकः' इत्यादि प्रयोगों में 'ठच्' प्रत्यय होने पर 'ठ्' के स्थान में 'इक्' आदेश किये जाने से 'अजादि' स्वरूप परवर्ती होने के कारण प्रकृतिवाची शब्द के उत्तरवर्ती 'दत्त' अंश का लोप सिद्ध हो सकता है, तथापि 'वायुकः' एवं 'पितृकः' आदि प्रयोगों में उगन्त (उ, ऋ, लृ—अन्त वाले) शब्दों से "इसुसुक्तान्तात्कः" (७-३-५१) सूत्र से 'ठ' के स्थान पर 'क' आदेश होने के लिये "ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः" (५-३-८३) सूत्र में 'ठ' ग्रहण की उपयोगिता है । वह तभी सम्भव होगा जब 'वायुदत्त' में द्वितीय 'अच्' = यु के अनन्तर 'दत्त' अंश का पहले लोप हो जाय ।

(वा ३२९६-३३००) । (२०३६) प्राचामुपादेरडज्वुचौ च ५ । ३ । ८० ॥

(२०३६) प्राचामुपादेरडज्वुचौ च । पूर्वविषये इति । 'बह्वचो मनुष्यनाम्नः' इति सूत्रविषये इत्यर्थः । चाद्यथाप्राप्तमिति । ठच्, घन् इलचचेत्यर्थः । ठज्वेत्यतो

---

(२) "ठाजादूर्ध्वं द्वितीयादचः" (५-३-८३) सूत्र में 'ऊर्ध्वम्' पद का निवेश होने से प्रकृति-वाची शब्द के द्वितीय स्वर वर्ण के अनन्तर अवशिष्ट समग्र शब्दस्वरूप का लोप होता है। अन्यथा "आदेः परस्य" (१-१-५४) परिभाषा-सूत्र के अनुसार द्वितीय अच् से परवर्ती शब्द-स्वरूप के 'आदिम' वर्ण का ही लोप होने लगता।

(३) प्रकृत सूत्र में "अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च" (५-३-८२) से अनुवर्तमान 'लोपः' पद कर्मसाधन (लुप्यते) के रूप में लिया गया है।

वार्तिक—उत्तरपदलोप के सन्दर्भ में भाष्य में पठित "चतुर्थादनजादौ च लोपः पूर्वपदस्य च। अप्रत्यये तथैवेष्टः उवर्णाल्ल इलस्य च" इस वार्तिक को विभक्त कर (१) प्रथम अंश 'चतुर्थादचः' का विश्लेषण कर यह निरूपण किया गया है कि चार या चार से अधिक अक्षरों से युक्त नाम-वाची शब्दों में चतुर्थ 'अच्' (स्वरवर्ण) से परवर्ती भाग का लोप होता है। तदनुसार बृहस्पतिकः (अनुकम्पायुक्त बृहस्पतिदत्त—अनुकम्पितः बृहस्पतिदत्तः)—में बृहस्पतिदत्त से ठक् = ठ = इक–प्रत्यय होने पर 'दत्त' का लोप होने पर भ-संज्ञक अन्त्यवर्ण 'इ' का लोप होता है। (२) द्वितीय अंश 'अनजादौ च' को स्पष्ट करते हुए चार अच्-युक्त वर्णों के ही विषय में यह निरूपण किया गया है कि अजादिभिन्न प्रत्यय परवर्ती हो तो विकल्प से उत्तर अंश का लोप होता है। जैसे देवकः—देवदत्तकः में अजादिभिन्न 'कन्' प्रत्यय परत्र रहते 'दत्त' शब्द का लोप विकल्प से हुआ। अर्थ—अनुकम्पायुक्त देवदत्त। (३) तृतीय अंश 'लोपः पूर्व-पदस्य च' का विवरण यह दिया गया है कि उपर्युक्त सन्दर्भ में पूर्वपद का भी लोप होता है। इस प्रकार—(क) दत्तिकः—(ठच्), (ख) दत्तियः (घन्), (ग) दत्तिलः (इलच्) तथा (घ) दत्तकः (कन्)—में 'ठच्' आदि प्रत्यय होने पर 'देव' शब्द का लोप हो गया। शेष कार्य पूर्ववत्। (४) श्लोक-वार्तिक के चतुर्थ अंश 'अप्रत्यये तथैवेष्टः' को स्पष्ट कर यह बतलाया गया है कि चार या इससे अधिक अक्षर वाले शब्दों से यदि प्रत्यय न भी किया जाय तो पूर्व पद या उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है। तदनुसार सत्या में उत्तरपद 'भामा' का लोप एवं भामा में 'सत्या' का लोप हुआ है। लोप न होने पर सत्यभामा (अनुकम्पिता सत्य-भामा) का प्रयोग किया जाता है। अत्यधिक स्नेह प्रदर्शन करने में नाम को छोटा कर सम्बोधन करना लोक में प्रचलित है। (५) वार्तिकस्थ पञ्चम अंश 'उवर्णात् ल इलस्य च' के स्पष्टीकरण द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'उ'कार से पर इलच् के स्थान में लोप आदेश होता है (= 'ल' पूर्वाचार्यों की लोप संज्ञा है)। अतः भानुदत्त से 'इलच्' प्रत्यय पर रहते 'दत्त' का वैकल्पिक लोप होकर प्रत्ययस्थ 'इ' का केवल लोप होने से ("आदेः" परस्य) भानुलः (अनुकम्पितः भानुदत्तः) रूप निष्पन्न हुआ है।

इसी के सातत्य में पृथक् वार्तिक द्वारा ऋवणन्ति से भी 'घ' एवम् 'इलच्' होने पर 'इलच्' के 'इ'कार का लोप होना सूचित किया गया है। तदनुसार प्राकरणिक उत्तरपद 'दत्त' का लोप होने से सवितृलः (इल के 'इ' का लोप) तथा सवित्रियः (घन् = घ = इय तथा यण्) रूप निष्पन्न हुए हैं। अर्थ—अनुकम्पितः सवितृदत्तः।

विशेष—'ऋवर्णादपि' वार्तिक का भाष्य में उल्लेख नहीं है। काशिका में भी यहाँ पर इसे वार्तिकरूप में नहीं पढ़ा गया है।

(२०३६) पद—प्राचाम्, उपादेः, अड्च्-वुचौ, च। अनुवृत्ति—घनिलचौ, बह्वचो मनुष्य-

उपशब्दपूर्वात्प्रातिपदिकात्पूर्वविषये अडच् वुच् एतौ स्तः। चाद्यथाप्राप्तम्। प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्। अनुकम्पितः उपेन्द्रदत्तः←उपडः—उपकः—उपियः—उपिलः—उपिकः—उपेन्द्रदत्तकः। षड्रूपाणि। (२०३७) जातिनाम्नः कन् ५।३।८१॥ मनुष्यनाम्नः इत्येव। जातिशब्दो यो मनुष्यनामधेयस्तस्मात्कन्स्यादनुकम्पायां नीतौ च। सिंहकः। शरभकः।

वेत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे प्राचां ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—प्राचां ग्रहणमिति। उपड इति। उपेन्द्रदत्तशब्दात् अडचि द्वितीयं सन्ध्यक्षरमिति वक्ष्यमाणेन एकारादेर्लोप इति केचित्। 'नेन्द्रस्य परस्य' इति ज्ञापकेन पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यापेक्षया अन्तरङ्गस्याप्येकादेशस्य पूर्वमप्रवृत्तेरिकारादिलोप इति शब्देन्दुशेखरे। उपक इति। वुचि अकादेशे अकारादिलोपे रूपम्। उपिय इति। घनि रूपम्। उपिल इति। इलचि रूपम्। उपिक इति। ठचि रूपम्। उपेन्द्रदत्तक इति। कप्रत्यये रूपम्। ठाजाद्यभावाल्लोपो न।

(२०३७) जातिनाम्नः कन्। जातिशब्दो य इति। यः जातिप्रवृत्तिनिमित्तकः प्रसिद्धः सन् मनुष्यनामधेयभूतः स इत्यर्थः। 'अनुकम्पायाम्' इति 'नीतौ' इति च सूत्रद्वयविहितस्यापवादः। द्वितीयं सन्ध्यक्षरं चेदिति। 'एचः सन्ध्यक्षराणि' इति प्राचामाचार्याणां

नाम्नश्छज्वा, नीतौ च तद्युक्तात्, अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'उप' शब्दपूर्वक प्रातिपदिक से पूर्व विषय में 'अडच्' तथा 'वुच्' प्रत्यय होते हैं। 'च' से यथाप्राप्त (प्रत्यय) भी होंगे। 'प्राचाम्' पद सम्मानार्थ है। उदा० अनुकम्पितः उपेन्द्रदत्तः अर्थ में→(क) उपडः—(ख) उपकः—(ग) उपियः—(घ) उपिलः—(ङ) उपिकः तथा (च) उपेन्द्रदत्तकः←ये ६ रूप होते हैं।

विवरण—'घन्' और 'इलच्' प्रत्ययों (५-३-७९) के सन्दर्भ में "बह्वचो मनुष्यनाम्नश्छज्वा" (५-३-७८) के विषय को अभिलक्षित कर विशेष स्थिति में यह विधान किया जा रहा है। अन्य प्राकरणिक अनुवृत्तियों के साथ सूत्रस्थ पद अन्वित होकर यह बोध कराते हैं कि "'उप' शब्द से प्रारम्भ होने वाले बहुत अचों से युक्त मनुष्य नामधेय प्रातिपदिकों से 'नीति' और 'अनुकम्पा' गम्यमान होने पर 'अडच्' (=अड) और 'वुच्' (=वु=अक) प्रत्यय विकल्प से होते हैं"। पक्ष में 'घन्', 'इलच्', एवं 'ठच्' के अतिरिक्त 'कन्' प्रत्यय होने पर ६ रूप बनेंगे। उपेन्द्रदत्त किसी पुरुष का नाम है। उससे अनुकम्पा अर्थ (अनुकम्पितः उपेन्द्रदत्तः) में (क) उपडः (उप् +अडच्=अड, 'उप' में 'अ' का लोप), (ख) उपकः (उप्+वुच्=वु=अक, पूर्ववत् 'अ' का लोप), (ग) उपियः (उप्+घन्=घ=इय, 'अ' का लोप), (घ) उपिलः (उप्+इलच्=इल, 'अ'—लोप), (ङ) उपिकः (उप्+ठच्=ठ इक, 'अ'-लोप) तथा (च) उपेन्द्रदत्तकः (उपेन्द्रदत्त+क)। 'क' प्रत्यय होने पर 'ठ' तथा 'अजादि' प्रत्यय के अभाव में उत्तरपद 'इन्द्रदत्त' का लोप नहीं हुआ। अन्यत्र पूर्व पाँचों उदाहरणों में 'इन्द्रदत्त' का लोप हुआ है।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'प्राचाम्' पद विकल्पार्थक नहीं है, अपि तु सम्मानार्थक है। कारण यह है कि "बह्वचो मनुष्यनाम्नश्छज्वा" (५-३-७८) सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति होने से विकल्पार्थ स्वतः सिद्ध है।

(२०३७) **पद**—जातिनाम्नः, कन्। **अनुवृत्ति**—मनुष्यनाम्नः, नीतौ च तद्युक्तात्, अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—मनुष्यनाम से ही (हो)। मनुष्य नामधेय जातिवाचक शब्द से अनुकम्पा और नीति अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है। उदा० १-सिंहकः। २-शरभकः। ३-रासभकः। वा०

रासभकः। 'द्वितीयं सन्ध्यक्षरं चेत्तदादेर्लोपो वक्तव्यः' (वा ३३०३)। कडोडः९—कहिकः। 'एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः' (वा ३३०६)। वागाशीर्दत्तः९—वाचिकः। कथं

प्रवादः। कहोड इति। ऋषिविशेषस्य नामेदम्। अत्र द्वितीयोऽच् सन्ध्यक्षरं, तदादेर्लोपः न तु तदूर्ध्वस्यैव। एकाक्षरेति व्यञ्जनसहित एकोऽच् एकाक्षरं एकाच्कमिति यावत्। तथाविधं पूर्वपदं येषां पदानां तानि एकाक्षरपूर्वपदानि, तेषां मध्ये उत्तरभूतानि पदानि यावन्ति तेषां लोपः स्यादित्यर्थः। इह उत्तरपदशब्दो यौगिकः, न तु समासस्य चरमावयवे रूढः व्याख्यानात्। द्वितीयादच ऊर्ध्वमित्यनेन द्वितीयाज्विशिष्टस्य लोपे अप्राप्ते वचनमिदम्। वागाशीर्दत्त इति। वाचि आशीः यस्य न तु मनस्येव सः वागाशीः, तेन दत्त इति विग्रहः। यद्वा आशासनमाशीः, वाचा आशीः वागाशीः। 'कर्तृकरणे कृता' इति समासः। तया वागाशिषा दत्त इति विग्रहः। वाक्करणकाशासनेन दत्त इत्यर्थः।

द्वितीय सन्ध्यक्षर हो तो तदादि का लोप होता है। उदा० १—कहोडः-कहिकः। वा० एकाक्षरपूर्वपदों के उत्तरपद का लोप होता है। उदा० वागाशीर्दत्तः—वाचिकः। षडङ्गुलिदत्तः से षडिकः कैसे? (उत्तर) वा० 'षष्' शब्द से 'ठ' तथा अजादि प्रत्यय पर द्वितीय-अच् के विवक्षित होने से ('अ' से पर 'ङ्गुलिदत्त' का लोप होने पर) रूप निष्पन्न होता है।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये सूत्र ५-३-७८ से 'मनुष्यनाम्नः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। "नीतौ च तद्युक्तात्" (५-३-७७) तथा "अनुकम्पायाम्" (५-३-७६) सूत्रस्थ अर्थों का ही विषय है। तदनुसार "मनुष्यनामधेय जातिवाची शब्दों से 'नीति' तथा 'अनुकम्पा' गम्यमान होने पर 'कन्' (=क) प्रत्यय होता है"। 'ठच्' आदि का यह अपवाद है। 'सिंह' आदि शब्द 'पशु' अर्थ में प्रवृत्तिनिमित्त होते हुए भी जातिवाची हैं, किन्तु वीर एवं निर्भीक होने पर किसी मनुष्य की संज्ञा के रूप में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। तदनुसार तीनों **उदाहरण**—(१) **सिंहकः** (वीर होने से नाम-विशेष—अनुकम्पितः सिंहः—सिंह+क), (२) **शरभकः** (किसी का नाम—अनुकम्पितः शरभः—शरभ+क), (३) **रासभकः** (बेचारा मूर्ख इस नाम का व्यक्ति—अनुकम्पितः रासभः—रासभः+क) में 'कन्' प्रत्यय हुआ है।

इसी प्रसङ्ग में वार्तिक द्वारा यह अवगत कराया जा रहा है कि **यदि एक पद में दूसरा अक्षर सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ या औ) हो तो तदादि का लोप हो। उदाहरण**—(१) **कहिकः**। तदनुसार 'अनुकम्पितः कहोडः' (ऋषि-विशेष का नाम) अर्थ में कह्॒ोड्॒+ठच् (ठ=इक) प्रत्यय होने पर द्वितीय सन्ध्यक्षर वर्ण-युक्त 'ओड' भाग का लोप हो गया। **दूसरे वार्तिक** द्वारा यह विदित कराया जा रहा है कि **एक-अच्-युक्त पूर्व पद रहते उत्तरपद का लोप हो। उदाहरण**—(क) **वाचिकः** में वागाशीर्दत्त शब्द से+ठच् (ठ=इक) प्रत्यय होने पर 'आशीर्दत्त' का लोप होता है। 'इक' को अभिलक्षित कर अजादिप्रत्यय-निमित्तक भ-संज्ञा ("यचि भम्" १-४-१८) होने के कारण 'कुत्व' (च्=क्) नहीं होता। कुछ विद्वानों के मत में इकादेश से पूर्व 'ठ' की स्थिति में ही उत्तरपदलोप कर्तव्य होने पर असिद्ध होने से 'कुत्व' की प्रवृत्ति नहीं होती। वागाशीर्दत्त का विग्रह—वाचि आशीः—वागाशीः, तेन=वागाशिषा दत्तः। "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" (२-१-३२) से समास हुआ है। **अर्थ**—वाणी द्वारा आशीर्वाद से प्रदत्त।

शङ्का-समाधान—यद्यपि द्वितीय अच् के बाद 'शीर्दत्त' शब्द का लोप होने पर 'वाग+इक' ऐसी स्थिति में "यस्येति च" सूत्र से 'अ' का लोप करने पर उपर्युक्त रीति से 'कुत्व' और 'जश्त्व' की निवृत्ति होने पर 'वाचिकः' रूप सिद्ध हो सकता है, तथापि 'अ' के लोप को स्थानिवद्भाव होने से आकारान्त से पर 'इक्' का आश्रय लेकर भ-संज्ञा किये जानेपर आकारान्त-निष्ठ भ-संज्ञा से

षडङ्गुलिदत्तः षडिक इति । 'षषष्ठाजादिवचनात्सिद्धम्' (वा ३३०७)। (२०३८) शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् ५ । ३ । ८४ ॥ एषां मनुष्यनाम्नां

वाचिक इति । वागाशीर्दत्तशब्दात् ठचि वागित्येवाक्षरपूर्वपदात्परयोराशीर्दत्तशब्दयोर्लोपे सति अन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वमाश्रित्य प्रवृत्तकुत्वजश्त्वयोरिकाश्रयभत्वेन पदत्वबाधान्निवृत्तौ वाचिक इति रूपमिति केचित् । वस्तुतस्तु ठचि इकादेशात् प्राक् ठावस्थायामेव उत्तरपदलोपे कर्तव्ये असिद्धत्वान्न पूर्वं कुत्वादिप्रवृत्तिरित्याहुः । यद्यपि द्वितीयादच ऊर्ध्वस्य 'शीर्दत्त' शब्दस्य लोपे वागा इक इति स्थिते 'यस्येति च' इत्याकारलोपे उक्तरीत्या कुत्वजश्त्वयोः निवृत्तौ वाचिक इति सिध्यति, तथापि आकारलोपस्य स्थानिवत्त्वेन आकारान्तस्य इकमाश्रित्य भत्वे सति आकारान्तनिष्ठभत्वेन चकारान्तनिष्ठपदत्वस्य अव्याघातात् कुत्वजश्त्वयोः वागिक इति स्यात् । उत्तरपदलोपे तु अज्झलादेशत्वेन स्थानिवत्त्वाभावात्तुल्यावधिकया भसञ्ज्ञया 'सुप्तिङन्तम्' इति पदसञ्ज्ञा बाध्यते, एकसञ्ज्ञाधिकारे परत्वादिति भावः । कथमिति । अत्रापि अङ्गुलिदत्तशब्दस्य लोपे सति इकप्रत्ययाश्रितभत्वेन पदत्वाभावात् जश्त्वं दुर्लभमिति प्रश्नः । षष इति । षष्शब्दस्य पूर्वपदत्वे 'ठाजादौ' इति सूत्रसिद्धो द्वितीयादच ऊर्ध्वस्यैव लोपः, न त्वयमुत्तरपदलोप इति वचनात् षडिक इति सिद्धमित्यर्थः। एवञ्च 'षडङ्गुलिदत्तः' इत्यत्र डकाराकारादूर्ध्वस्य लोपे सति डकाराकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे सति तस्य स्थानिवत्त्वेन अकारान्तस्य इकमाश्रित्य भत्वे सति तेन अकारान्तनिष्ठेन षकारान्तस्य पदत्वाव्याघाताज्जश्त्वं निर्बाधमिति भावः । स्पष्टं चेदं 'स्वादिषु' इति सूत्रे भाष्ये ।

(२०३८) शेवल । एषामिति । शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण, अर्यमन् एतत्पूर्वपदकानामित्यर्थः । पूर्वस्येति । 'ठाजादौ'इत्यस्येत्यर्थः । शेवलिक इति । शेवलदत्त शब्दात् ठचि

चकारान्त-निष्ठ पद संज्ञा का व्याघात न होने से कुत्व और जश्त्व के होते हुए 'वागिकः' रूप बनने लगेगा । किन्तु उत्तरपद का लोप होने पर अच्-हलादेश होने से स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति न होने से समान अवधिक भ-संज्ञा से "सुप्तिङन्तम् पदम्" की पद-संज्ञा का परत्वात् बाध हो जाता है ।

(२) दूसरे उदाहरण षडिकः में भी (द्वितीय स्वराक्षर के अनन्तर 'ङ्गुलिदत्त' का लोप होने पर इष्ट सिद्धि होती है । षडङ्गुलिदत्त+ठ=इक ▷षड्+इक । यहाँ भी उसी प्रकार यह शङ्का होती है कि 'अङ्गुलिदत्त' का लोप होनेपर 'इक' (प्रत्यय) का आश्रयण करने से भ-संज्ञा की प्रवृत्ति होनेपर पद-संज्ञा न होने से जश्त्व (ष्=ड्) कैसे होगा (अर्थात् षषिकः रूप क्यों न हो) ? इसके उत्तर में वार्तिक द्वारा यह कहा गया है कि **पूर्वपदस्थ षष् शब्द के रहते हुए "ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः (५-३-८३) सूत्र के अनुसार द्वितीय-अच् के अनन्तर अंश का ही लोप हो, न कि उत्तरपद का।** इसके अनुसार 'ङ्गुलिदत्त' अंश का लोप होने पर 'अ' का "यस्येति च" (६-४-१४८) से लोप होकर षडिकः रूप निष्पन्न होता है। लुप्त अकार को स्थानिवद्भाव होने के कारण तदन्त भाग (=षष) की भ-संज्ञा होती है । एवम् अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का आश्रयण कर 'षष्' अंश की पदसंज्ञा होने से 'जश्त्व' (ष्=ड्) हो जाता है। समानावधिक संज्ञाद्वय में ही बाध्यबाधकभाव होता है न कि भिन्नावधिक संज्ञाद्वय में । इस प्रकार यहाँ अकारान्त-स्वरूप में भ-संज्ञा तथा 'ष्'कारान्त स्वरूप में पद-संज्ञा मान कर इष्टसिद्धि में कोई बाधक नहीं । अतः 'एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः' वार्तिक से यहाँ उत्तरपद का लोप नहीं किया जाता ।

(२०३८) पद—शेवल…दीनाम्, तृतीयात् । **अनुवृत्ति—**ठाजादावूर्ध्वम्, अचः, लोपः, मनुष्यनाम्नः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

ठाजादौ परे तृतीयादचः ऊर्ध्वं लोपः स्यात्। पूर्वस्यापवादः। अनुकम्पितः शेवलदत्तः ←शेवलिकः–शेवलियः–शेवलिलः। सुपरिकः। विशालिकः। वरुणिकः। अर्यमिकः।

(२०३९) अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ५।३।८१॥ अजिनान्तान्मनुष्यनाम्नोऽनुकम्पायां कन् तस्य चोत्तरपदलोपः। अनुकम्पितो व्याघ्राजिनो व्याघ्रकः। सिंहकः।

तृतीयादचः परस्य दत्तशब्दस्य लोपः। शेवलिल इति। इलचि रूपम्। सुपरिक इति। सुपरिदत्तशब्दात् ठचि दत्तशब्दलोपः। विशालिक इति। विशालदत्तशब्दात् ठचि रूपम्। वरुणिक इति। वरुणदत्तात् वरुणिकः। अर्यमिक इति। अर्यमदत्तात् अर्यमिकः। 'अकृतसन्धीनामेषाम्' इति वार्तिकं भाष्ये स्थितम्। तेन सुपर्याशीर्दत्तः सुपरिकः इत्यादि सिध्यति।

(२०३९) अजिनान्तस्य। व्याघ्रक इति। व्याघ्राजिन इति कस्यचिन्मनुष्यस्य नाम। तस्मात् कनि अजिनकस्य लोपः। सिंहक इति। सिंहाजिनशब्दात् कनि अजिनस्य लोपः।

मूलार्थ—मनुष्यनाम-वाचक इन शब्दों से 'ठाजादि' प्रत्यय परे रहते 'तीसरे अच्' से परवर्ती अंश का लोप होता है। पूर्व सूत्र का अपवाद है। उदा० १–अनुकम्पितः शेवलदत्तः←शेवलिकः–शेवलियः—शेवलिलः। २–सुपरिकः। ३–विशालिकः। ४–वरुणिकः। ५–अर्यमिकः।

विवरण—उत्तरपद-लोप का ही प्रकरण है। अतः पूर्वसूत्र (५-३-८३) से ठाजादादूर्ध्वम्, अचः, "अनिजन्तस्योत्तरपदलोपश्च" (५-३-८२) से 'लोपः' तथा "बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा" (५-३-७८) से 'मनुष्यनाम्नः' की अनुवृत्तियों के साथ समन्वित होकर सूत्रस्थ पद यह विदित कराते हैं कि "'शेवल', 'सुपरि', 'विशाल', 'वरुण' तथा 'अर्यमन्'—ये शब्द मनुष्यवाची नामधेयों के आदि में रहें तो तदुत्तरवर्ती 'ठ' और 'अजादि' प्रत्ययों की स्थिति में 'तृतीय अच्' के बाद के प्रकृति भाग का 'लोप' हो"। **उदाहरण**—(१) अनुकम्पितः शेवलदत्तः अर्थ में—क-**शेवलिकः** ('ठच्'), (ख) **शेवलियः** ('घन्'), (ग) **शेवलिलः** (इलच्')। इन शब्दों में मनुष्यवाची 'शेवलदत्त' शब्द से क्रमशः+'ठच्', 'घन्' तथा 'इलच्' प्रत्ययों के उत्तरत्र रहते 'तृतीय अच्' के अनन्तर 'दत्त' भाग का लोप हो गया है। शेष कार्य पूर्ववत्। इसी प्रकार (२) अनुकम्पितः सुपरिदत्तः—**सुपरिकः** (सुपरिद्त्त्+ठच्=ठ=इक, 'दत्त' का लोप एवम् 'इ' का लोप), (३) अनुकम्पितः विशालिदत्तः—**विशालिकः** (विशालिद्त्त्+ठच्), (४) अनुकम्पितः वरुणिदत्तः—**वरुणिकः** (वरुणिद्त्त्+ठच्) तथा (५) अनुकम्पितः अर्यमदत्तः—**अर्यमिकः** (अर्यमद्त्त्+ठच्) आदि प्रयोग जाने जायँ। पूर्वोक्त का अनुसरण कर 'घन्' तथा 'इलच्' प्रत्ययों के रूप भी उसी तरह बनेंगे।

विशेष—(१) "ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः" (५-३-७८) का यह अपवाद है।

(२) इन शब्दों में सन्धिकार्य-रहित मनुष्यवाची नामधेय शब्दरूप ग्राह्य हैं। भाष्यकार ने यही व्यवस्था की है। वहाँ उन्होंने एक वार्तिक का उल्लेख किया है—**'वरुणादीनां च तृतीयात्, स च अकृतसन्धीनाम्'**। तदनुसार सुपर्याशीर्दत्त से भी सुपरिदत्तः रूप निष्पन्न हो सकेगा।

(२०३९) **पद**—अजिनान्तस्योत्तरपदलोपः, च। **अनुवृत्ति**—कन्, मनुष्यनाम्नः, अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मनुष्यनामधेयक अजिनान्त प्रातिपदिक से अनुकम्पार्थ में 'कन्' प्रत्यय हो और उसके उत्तरपद का लोप हो। उदा० १–अनुकम्पितः व्याघ्राजिनः←व्याघ्रकः। २–सिंहकः।

विवरण—विधेय-वाची 'कन्' अंश अष्टाध्यायी-सूत्रक्रम में पठित पूर्वसूत्र "जातिनाम्नः कन्"

(२०४०) अल्पे ५ । ३ । ८५ ॥ अल्पं तैलं—तैलकम् । (२०४१) ह्रस्वे ५ । ३ । ८६ ॥ ह्रस्वो वृक्षो वृक्षकः । (२०४२) संज्ञायां कन् ५ । ३ । ८७ ॥ ह्रस्वहेतुका या संज्ञा तस्यां गम्यमानायां कन् । पूर्वस्यापवादः । वंशकः । वेणुकः । (२०४३)

(२०४०) अल्पे । अल्पत्वविशिष्टे वर्तमानाद् यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । तैलकमिति । 'सर्वकम्, उच्चकैः, पचतकी'त्याद्यप्युदाहार्यम् ।

(२०४१) ह्रस्वे । ह्रस्वत्वविशिष्टे वर्तमानाद्यथाविहितं प्रत्यया इत्यर्थः । अल्पत्वं महत्त्वप्रतिद्वन्द्वि, ह्रस्वत्वं तु दीर्घत्वप्रतिद्वन्द्वीति भेदः ।

(२०४२) सञ्ज्ञायां कन् । वंशक इति । ह्रस्वस्य वेणुजातिविशेषस्य नाम ।

(५-१-८१) से अनुवर्तमान है । अतः "अजिनान्त मनुष्यनामधेय प्रातिपदिक से अनुकम्पा गम्यमान होने पर 'कन्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृतिवाची अजिनान्त शब्द के उत्तरपद का लोप होता है" । **उदाहरण**—व्याघ्राजिन एवम् सिंहाजिन किन्हीं व्यक्तियों के नाम हैं । इनसे 'कन्' प्रत्यय तथा उत्तरपद 'अजिन' का लोप होने पर **व्याघ्रकः** (व्याघ्राजिन्+क) एवम् सिंहकः (सिंहाजिन्+क) रूप सिद्ध होते हैं ।

विशेष—सूत्र में 'उत्तरपद' का निवेश होने से यह 'लोप' सम्पूर्ण उत्तरपद का अदर्शन करता है ।

(२०४०) पद—अल्पे । **अनुवृत्ति**—तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ एवं विवरण—विधेयांश यथाप्राप्त प्रत्ययों के रूप में संकेतग्राह्य है । उद्देश्यवाची 'प्रातिपदिकात्' एवं 'तिङः' पद अधिकारलभ्य हैं । अतः "'अल्प' अर्थ में वर्तमान 'प्रातिपदिक' तथा 'तिङन्त' से यथाविहित प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(१) **तैलकम्** (थोड़ा तेल—अल्पं तैलम्)—तैल+क । इसी तरह (२) **सर्वकम्** (अकच्–अन्त्य अच् से पर), तथा (३) **पचतकि** (थोड़ा पकता है) में अल्पार्थ में अन्त्य अच् से पर 'अकच्' होगा ।

(२०४१) पद—ह्रस्वे । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ एवं विवरण—"'ह्रस्व' अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—**वृक्षकः** (छोटा वृक्ष—ह्रस्वः वृक्षः)—वृक्ष+क । इसी प्रकार **स्तम्भकः** (छोटा खम्भा—ह्रस्वः स्तम्भः) आदि भी प्रयोग होते हैं ।

विशेष—(१) ह्रस्वार्थ का तिङन्त के साथ योग नहीं होता ।

(२) 'दीर्घ' का प्रतिद्वन्द्वी 'ह्रस्व' शब्द है । एवम् 'महत्' का प्रतिद्वन्द्वी 'अल्प' शब्द हैं ।

(२०४२) पद—संज्ञायाम्, कन् । **अनुवृत्ति**—ह्रस्वे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ह्रस्वत्व प्रयुक्त संज्ञा गम्यमान रहते 'कन्' प्रत्यय होता है । पूर्व सूत्र का अपवाद है । उदा० १—वंशकः । २—वेणुकः ।

विवरण—प्रत्ययार्थ के लिये पूर्व सूत्र से 'ह्रस्वे' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार "'ह्रस्व' अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से संज्ञा गम्यमान रहने पर 'कन्' (=क) प्रत्यय होता है" । पूर्व सूत्र से प्राप्त 'क' का यह अपवाद है । 'क' तथा 'कन्' में स्वर का अन्तर है । छोटे छोटे बाँस के पेड़ों की **वंशकः** (ह्रस्वः वंशः-वंश+कन्) तथा **वेणुकः** (ह्रस्वः वेणुः-वेणु+कन्) संज्ञा है ।

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ५ । ३ । ८८ ॥ ह्रस्वा कुटी–कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः । (२०४४) कुत्वा डुपच् ५ । ३ । ८९ ॥ ह्रस्वा कुतूः–कुतुपः । 'कुतूः कृत्तिस्नेहपात्रम्' । 'ह्रस्वा सा कुतुपः पुमान्' इत्यमरः । (२०४५) कासूगोणीभ्यां ष्टरच् ५ । ३ । ९० ॥ आयुधविशेषः कासूः । ह्रस्वा सा–कासूतरी । गोणीतरी । (२०४६) वत्सोक्षाश्वर्षभे-

---

(२०४३) कुटीशमी । ह्रस्व इत्येव । कुटीर इति । 'स्वार्थिकाः क्वचित्प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति पुंस्त्वम् । एवं शमीरः, शुण्डार इत्यपि । ह्रस्वा शमी, शुण्डा चेत्यर्थः ।

(२०४४) कुत्वा डुपच् । कुतुप इति । कुतूशब्दात् डुपचि डित्वाट्टिलोपः । तत्रापि कुटीरादिवत् स्त्रीत्वमपहाय पुंस्त्वमेव । तत्रामरकोशमपि प्रमाणयति—कुतूः कृत्तीति ।

(२०४५) कासूगोणीभ्यां ष्टरच् । ह्रस्व इत्येव । कासूतरीति । षित्वात् ङीषिति भावः । 'कासूर्बुद्धे कुवाच्येऽस्त्रे' इति नानार्थरत्नमालायाम् । एवं गोणीतरीति ।

(२०४३) पद—कुटी-शमी-शुण्डाभ्यः, रः । **अनुवृत्ति**–ह्रस्वे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—सभी अनुवृत्तियाँ पूर्व सूत्र के समान अनुसरण कर रही हैं । अतः "'ह्रस्वत्व' द्योत्य रहने पर 'कुटी', 'शमी' तथा शुण्डा शब्दों से 'र' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**–(१) **कुटीरः** (छोटी कुटी–ह्रस्वा कुटी)—कुटी+र । (२) **शमीरः** (छोटा शमी का वृक्ष–ह्रस्वः शमीवृक्षः)—शमी+र । (३) **शुण्डारः** (छोटी सूँड़–ह्रस्वा शुण्डा)—शुण्डा+र ।

विशेष—स्त्रीलिङ्गवाची इन सभी शब्दों से 'र' प्रत्यय संयुक्त होने पर निष्पन्न शब्द पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त हुए हैं, क्योंकि स्वार्थिक प्रत्यय कभी कभी अपने मौलिक लिङ्ग एवं वचनों का अतिक्रमण करते देखे गये हैं—**स्वार्थिकाः क्वचित् प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते** ।

(२०४४) पद—कुत्वाः, डुपच् । **अनुवृत्ति**—ह्रस्वे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—ह्रस्वार्थ का ही विषय है । अतः "'ह्रस्वत्व' द्योतित हो तो 'कुतू' शब्द से 'डुपच्' प्रत्यय होता है" । 'ड्' की इत्संज्ञा होती है—"चुटू" (१-३-६) । 'च्' तो अन्त्यवर्ण होने से 'इत्' है । **उदाहरण**—**कुतुपः** (चमड़े का बना छोटा थैला—ह्रस्वा कुतूः)—कुतू+डुपच् (=उप) > कुतुप (डित् होने से 'टि' =ऊ–लोप) । अमरकोष के अनुसार 'कुतू' घी-आदि रखने के लिये चमड़े का बना बड़ा कुप्पा होता था । उसके छोटे आकार को 'कुतुप' (पुं०) कहा गया है ।

(२०४५) पद—कासू-गोणीभ्याम्, ष्टरच् । **अनुवृत्ति**–ह्रस्वे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—ह्रस्वार्थ का ही विषय है । सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । उद्देश्य एवं विधेयार्थक शब्द सूत्र में विद्यमान हैं । तदनुसार "'कासू' तथा 'गोणी' शब्दों से ह्रस्वत्व गम्यमान हो तो 'ष्टरच्' प्रत्यय होता है" । 'ष्टरच्' में 'ष्' ("षः प्रत्ययस्य" १-३-६) तथा अन्त्य 'च्' इत् हैं । प्रत्यय का स्वरूप 'तर' है । अतः "'कासू' तथा 'गोणी' शब्दों से 'ह्रस्वत्व' अर्थ द्योतित होने पर 'ष्टरच्' (तर) प्रत्यय होता है" । 'षित्' होने से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' होगा । **उदाहरण**—(१) **कासूतरी** (लघु शक्ति का अस्त्र—ह्रस्वा कासूः)—कासू+तर (ष्टरच्)+ङीष् । (२) **गोणीतरी** (छोटी बोरी =कट्टा—ह्रस्वा गोणी)—गोणी+तर (ष्टरच्)+ङीष् ।

स्यश्च तनुत्वे ५ । ३ । ९१ ॥ वत्सतरः । द्वितीयं वयः प्राप्तः । उक्षतरः । अश्वतरः । ऋषभतरः । प्रवृत्तिनिमित्ततनुत्व एवायम् । (२०४७) किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५ । ३ । ९२ ॥ अनयोः कतरो वैष्णवः । यतरः । ततरः । महाविभाषया—कः,

---

(२०४६) वत्सोक्ष । ह्रस्व इति निवृत्तम् । वत्स, उक्षन्, अश्व, ऋषभ एभ्य-स्तनुत्वविशिष्टवृत्तिभ्यः ष्टरच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । तनुत्वं न्यूनत्वम् । वत्सः प्रथमवयाः । वयसश्च प्रथमस्य तनुत्वम् उत्तरवयःप्राप्त्या ज्ञेयम् । तदाह—द्वितीयं वयः प्राप्त इति । उक्षतर इति । उक्षा तरुणो बलीवर्दः । तारुण्यस्य तनुत्वं तृतीयवयःप्राप्त्या ज्ञेयम् । अश्वतर इति । गर्दभेन अश्वायामुत्पादितः अश्वतरः । अश्वतरत्वं च अश्वत्वापेक्षया न्यूनमेव । ऋषभतर इति । ऋषभः भारस्य वोढा । तस्य तनुत्वं भारोद्वहने मन्दशक्तिता, तद्वानित्यर्थः । तनुः कृशो वत्सो वत्सतर इति कुतो नेत्यत आह—प्रवृत्तिनिमित्ततनुत्वे एवायमिति । एतच्च भाष्ये स्पष्टम् ।

(२०४७) किंयत्तदो निर्धारणे । किम्, यद्, तद् एषां समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी । द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्ये निर्धार्यमाणवाचिभ्यः किमादिभ्यः डतरच् स्यादित्यर्थः । अनयोः

(२०४६) **पद**—वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यः, च, तनुत्वे । **अनुवृत्ति**—ष्टरच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—विधेय प्रत्यय 'ष्टरच्' पूर्वसूत्र से अनुवर्तमान है । अर्थविशेष को अभिलक्षित कर कुछ शब्दों से उसका विधान किया जारहा है । अतः "'अल्पता' (तनुत्व) द्योतित होने पर 'वत्स', 'उक्षन्', 'अश्व' तथा 'ऋषभ' प्रातिपदिकों से 'ष्टरच्' (= तर) प्रत्यय होता है" । जिस शब्द का जिस गुण के कारण प्रयोग होता है, उसका तनुत्व यहाँ अभीप्सित है । उदाहरणार्थ (१) वत्सतरः (वत्स+ष्टरच् = तर) में बछड़े की प्रथम अवस्था (वत्सत्व) का बीत जाना सूचित किया गया है । अर्थात्—उसकी प्रथम अवस्था में न्यूनता (तनुता) आ चुकी है—द्वितीयं वयः प्राप्तः । (२) इसी प्रकार जवान बैल को 'उक्षन्' कहते हैं, उस युवावस्था को पार कर जो बैल तृतीय अवस्था में पहुँच गया हो—उसे **उक्षतरः** (उक्षन् + ष्टरच् = तर) कहा जाता है । यहाँ पर युवावस्था को छोड़ देना ही उसका तनुत्व है । (३) **अश्वतरः** (तनुः वत्सः—अश्व+ष्टरच्) में दूसरे प्रकार की (उत्पत्ति सम्बन्धी = साङ्कर्यसम्बन्धी) न्यूनता है । अश्व से गर्दभी अथवा गर्दभ से अश्वा में उत्पन्न—अश्वतर (= खच्चर) कहलाता है । इस प्रकार अश्वत्व की अपेक्षा अश्वतर न्यून है । (४) ऋषभ शब्द का अर्थ बैल है । जो बैल बोझ ढोने में कम सामर्थ्य रखता हो उसे **ऋषभतरः** (ऋषभ+ष्टरच्) कहा जाता है । मन्दशक्तिता ही उसका 'तनुत्व' है ।

शङ्का-समाधान—शारीरिक दुर्बलता (कृशता) भी तो न्यूनता कही जा सकती है । अतः यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि 'दुर्बल शरीरधारी वत्स' (कृशः वत्सः) अर्थ को अभिप्रेत कर 'वत्स' शब्द से 'ष्टरच्' प्रत्यय न होने में क्या विनिगमक है ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि 'किसी गुण के विद्यमान होने से जिस शब्द का प्रयोग प्रचलित हो उसी वस्तु (द्रव्य) की न्यूनता अपेक्षित है न कि सामान्यतः कृशता की' । जैसे प्रथम वयोविशेष के रूप में 'वत्स' शब्द की सार्थकता है अतः उस वयो-विशेष की न्यूनता में ही प्रत्यय होगा ।[1]

(२०४७) **पद**—किं-यत्-तदः, निर्धारणे, द्वयो, एकस्य, डतरच् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । तदनुसार "'किम्', 'यद्' तथा

---

१. "यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने तस्मिन् गुणे वक्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्यम् । न च 'कार्श्यस्य' भावाद् द्रव्ये वत्सशब्दः" । —महाभाष्यम् ।

यः, सः। (२०४८) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३॥ बहूनां मध्ये निर्धारणे डतमज्वा स्यात्। 'जातिपरिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातमाकरे। कतमो भवतां कठः। यतमः। ततमः। वाग्रहणमकजर्थम्। कः। यकः। सकः। महाविभाषया—कः,

---

कतरो वैष्णव इति। को वैष्णव इत्यर्थः। अत्र वैष्णवत्वगुणेन किंशब्दार्थः इदमर्थाभ्यां निर्धार्यते। अतः किंशब्दात् डतरचि डित्वाट्टिलोपे कतर इति भवति। एवं यत्शब्दात् तत्शब्दाच्च डतरचि टिलोपे यतरः ततरः इति भवति। निर्धार्यमाणवाचिभ्य इति किम्? कयोरन्यतरो देवदत्तः, ययोरन्यतरः, तयोरन्यतरः इत्यत्र किमादिभ्यो न भवति।

(२०४८) वा बहूनाम्। कियत्तद इति, निर्धारणे इति, एकस्येति चानुवर्तते। बहूनामिति निर्धारणे षष्ठी। तदाह—बहूनां मध्ये निर्धारणे डतमज्वा स्यादिति। मध्ये इत्यनन्तरमेकस्येति शेषः। जातिपरिप्रश्ने गम्ये इत्यपि बोध्यम्। जातिश्च परिप्रश्नश्चेति समाहारद्वन्द्वः। जातौ परिप्रश्ने च गम्ये इत्यर्थः। तत्र जाताविति कियत्तदां सर्वेषामेव विशेषणम्। परिप्रश्नग्रहणं तु किम एव विशेषणम्, तच्च क्षेपार्थकस्य किमो निवृत्त्यर्थम्। यत्तदोस्तु परिप्रश्नग्रहणं न विशेषणम्। असम्भवादिति वृत्तौ स्पष्टम्। अत्र वार्तिकम्—'किमादीनां द्विबह्वर्थे प्रत्ययविधानादुपाख्यानर्थक्यम्' इति पूर्वसूत्रे द्वयोरिति 'अत्र सूत्रे जातिपरिप्रश्ने इति च न कर्तव्ये इति भावः' इति कैयटः। तदाह—जातिपरिप्रश्ने इति प्रत्याख्यातमाकरे इति। क्षेपार्थस्य त्वनभिधानान्न ग्रहणमिति तदाशयः। पूर्वसूत्रे द्वयोरिति चेति बोध्यम्। तथा च 'कतमः एषां पाचकः, शूरो देवदत्तः' इत्यत्र क्रियागुणसञ्ज्ञाभिरपि निर्धारणे डतमच् भवति। 'एषां कतरो देवदत्तः' इत्यत्र बहूनामेकस्य निर्धारणे

'तद्' शब्दों से 'दो में से एक को अलग करना' अर्थ गम्यमान होने पर 'डतरच्' (=अतर) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) अनयोः कतरः वैष्णवः (इन दोनों में से कौन वैष्णव है)-किम्+डतरच् (=अतर)>क्+अतर ('टि'=इम्-लोप—"टेः" ६-४-१४३)>कतरः (विभक्तिकार्य)। यहाँ पर दो में से एक के वैष्णव सम्बन्धी प्रश्न होने से पृथक्-करण स्पष्ट है। इसी प्रकार (२) अनयोः यतरः वैष्णवः (इन दोनों में से जो वैष्णव है—यद्+अतर) तथा (३) अनयोः ततरः वैष्णवः (इन दोनों में से वह वैष्णव है—तद्+अतर) प्रयोग भी सिद्ध होंगे।

विशेष—"समर्थानां प्रथमाद्वा" (४-१-८२) से 'वा' की अनुवृत्ति से पक्ष में प्रत्यय न होकर क्रमशः 'कः', 'यः', 'सः' प्रयोग भी समीचीन माने जाते हैं।

(२०४८) पद—वा, बहूनां, जातिपरिप्रश्ने, डतमच्। **अनुवृत्ति**—किं-यत्-तदः निर्धारणे एकस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—बहुतों में से (एक का) निर्धारण करने पर विकल्प से 'डतमच्' हो। आकर ग्रन्थों में 'जातिपरिप्रश्ने' का प्रत्याख्यान किया गया है। उदा० १-कतमः भवतां कठः। २-यतमः। ३-ततमः। 'वा' का निवेश 'अकच्' का समावेश होने के लिये है। जैसे—यकः, सकः। महाविभाषा के कारण कः, यः, सः (प्रयोग भी होंगे)। 'किम्' शब्द से इस विषय में 'डतरच्' भी होता है। उदा० कतरः।

विवरण—निर्धारण का ही विषय है। अतः सूत्रार्थ की निष्पत्ति में उद्देश्यवाची पदों तथा प्रत्ययार्थ आदि के सम्बन्ध में 'कियत्तदः', 'निर्धारणे' तथा 'एकस्य' पद अनुवर्तमान हैं। प्रकृत सूत्रस्थ 'बहूनाम्' पद में षष्ठी विभक्ति निर्धारण अर्थ में है। 'मध्ये' पद के अनन्तर 'एकस्य' का अध्याहार आवश्यक है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'जाति' तथा 'पूछना' गम्यमान होने पर (जातिपरिप्रश्ने) 'किम्' 'यद्' तथा 'तद्' शब्दों से 'बहुतों में से' एक का निर्धारण

यः, सः । किमोऽस्मिन्विषये डतरजपि । कतरः । (२०४९) एकाच्च प्राचाम् ५ । ३ । ९४ ॥ डतरच् डतमच्च स्यात् । अनयोरेकतरो मैत्रः । एषामेकतमः । (२०५०)

डतरच् भवति । अत एव 'प्रत्ययः' इति सूत्रभाष्ये 'बहुष्वासीनेषु कश्चित् कश्चित्पृच्छति कतरो देवदत्तः' इति प्रयोगः सङ्गच्छते । कतमो भवतां कठ इति । 'गोत्रं च चरणैः सह' इति कठस्य जातित्वम् । वाग्रहणमकजर्थमिति । अन्यथा महाविभाषया अपवादेन मुक्ते उत्सर्गस्याप्रवृत्तेरुक्तत्वादकच् न स्यादिति भावः । न च 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इत्यस्याधिकारत्वात् तदनुवृत्त्यैव सिद्धे वाग्रहणं व्यर्थमेवेति वाच्यम्, इहैव सूत्रे तदनुवृत्तिः, न तु पूर्वसूत्रे इति ज्ञापनार्थत्वात्, अतो डतरज्विषये नाकच् । महाविभाषयेति । अत एव 'अवक्षेपणे' इति सूत्रे भाष्ये 'क एतयोरर्थयोर्विशेषः' इति प्रयोगः सङ्गच्छते । 'तमबादयः प्रागवक्षेपणकनो नित्याः प्रत्ययाः' इति तु प्रायिकमिति भावः । किमोऽस्मिन्निति । 'वा बहूनाम्' इति प्रकृतसूत्रविषयेऽपीत्यर्थः, बहुष्वासीनेषु इत्याद्युदाहृतभाष्यप्रयोगादिति भावः ।

(२०४९) एकाच्च प्राचाम् । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—डतरच् डतमच्च स्यादिति । पूर्वसूत्रद्वयविषये इति शेषः । 'महाविभाषयैव सिद्धे प्राचाङ्ग्रहणं न कर्तव्यम्' इति भाष्यम् । अत एव नाकजर्थं तत् ।

गम्यमान होने पर विकल्प से 'डतमच्' (=अतम) प्रत्यय होता है" । उदाहरण—(१) कतमः भवतां कठः (आप लोगों में से कौन कठ शाखाध्यायी है ?)—किम् + डतमच् (=अतम, टि-लोप आदि पूर्ववत्) । (२) इसी प्रकार यतमः भवतां कठः (आप लोगों में से जो कठ हो—यद् + डतमच्) । तथा (३) ततमः भवतां कठः (आप लोगों में से वह कठ है—तद् + डतमच्)—आदि भी समझें । सूत्र में 'वा' पद का निवेश होने से पक्ष में सर्वनाम होने के कारण 'अकच्'—सहित[1] इन तीनों शब्दों का भी ग्रहण होगा । इसके फलस्वरूप (किम्—अकच् = क + सु अकच्—सहित 'किम्' को 'क' आदेश "किमः कः" ७-२-१०३) कः ही रूप निष्पन्न होगा । यद् से अकच् सहित यकः (सुबन्त की टि के पूर्व यद् अकच्—य्-अक्-अद् + स् > यकद्–स् > यक–अ + स्—"त्यदादीनामः" १-१-५१) > यक + स् (पररूप) > यकः (रुत्व, विसर्ग) । इसी प्रकार 'तद्' का सकः रूप बनेगा । इनसे भी 'डतमच्' प्रत्यय करने पर स्थिति इस प्रकार होगी—(१) कः भवतां कठः । (२) यकः भवतां कठः तथा (३) सकः भवतां कठः । पक्ष में महाविभाषा ("समर्थानां प्रथमाद्वा" ४-१-८२ से 'वा' का प्रभाव होने से) के कारण 'डतमच्' एवम् 'अकच्' नहीं होंगे । अतः प्रत्ययरहित भवताम् कः अथवा यः अथवा सः कठः प्रयोग भी समीचीन होते हैं । इस प्रकार प्रत्येक के त्रिरूपात्मक प्रयोग होंगे ।

विशेष—(१) 'परिप्रश्न' का सम्बन्ध 'किम्' शब्द से ही है न कि 'यद्' तथा 'तद्' से । इन दो से प्रश्न सम्भव नहीं है । 'जाति' का सम्बन्ध तीनों शब्दों से है ।[2]

(२) "कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने" (२-१-६३) के ज्ञापकानुसार जातिपरिप्रश्न में 'किम्' शब्द से 'डतरच्' प्रत्यय भी होता है ।

(२०४९) पद—एकात्, च, प्राचाम् । अनुवृत्ति—बहूनां डतमच् , निर्धारणे एकस्य डतरच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

---

१. "कादेशः खलु अपि अवश्यं साकच्-कार्यो वक्तव्यः" । —महाभाष्यम् ७-२-१०२ ।

२. परिप्रश्नग्रहणं च किम एव विशेषणम्, न यत्तदोरसम्भवात् । जातिग्रहणं तु सर्वैरेव सम्बध्यते ।—महाभाष्यम् ।

अवक्षेपणे कन् ५ । ३ । ९५ ॥ व्याकरणकेन गर्वितः । येनेतरः कुत्स्यते तदिहोदाहरणम् । स्वतः कुत्सितं तु 'कुत्सिते' (सू २०२९) इत्यस्य ।

इति तद्धिते प्रागिवीयप्रकरणम् ।

अथ तद्धिते स्वार्थिकप्रकरणम्

(२०५१) इवे प्रतिकृतौ ५ । ३ । ९६ ॥ कन्स्यात् । अश्व इव प्रतिकृतिः—अश्वकः ।

(२०५०) अवक्षेपणे कन् । व्याकरणकेन गर्वित इति । व्याकरणं हि स्वतो न कुत्सितम्, किं तु अधीतं सदध्येतृकुत्साहेतुभूतं गर्वमावहदवक्षेपणम् । नन्ववक्षेपणं कुत्सा, तत्कथं व्याकरणमवक्षेपणं स्यात् 'कुत्सित' इत्यनेन गतार्थं चेदमित्यत आह—येनेतर इति । अवक्षेपणशब्दः करणे ल्युडन्त इति भावः ।

इति तद्धिते प्रागिवीयप्रकरणम् ।

(२०५१) अथ तद्धिते स्वार्थिकप्रकरणं निरूप्यते—इवे प्रतिकृतौ । कन् स्यादिति । 'अवक्षेपणे कन्' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । इवार्थः—उपमानत्वम् । तद्वति वर्तमाना-

---

मूलार्थ एवं विवरण—इसका विषय पूर्व सूत्रोक्त दोनों अर्थों से सम्बद्ध है। भाष्यकार ने 'प्राचाम्' ग्रहण की उपयोगिता को स्वीकार नहीं किया है। इस हेतु 'अकच्' नहीं होता। कारण यह है कि महाविभाषा से ही विकल्पार्थ का बोध हो सकता है। अतः सूत्र का आशय यह होगा कि "'एक' शब्द से भी प्राचीन आचार्यों के मत में 'दो में से एक के निर्धारण' में डतरच्' तथा 'बहुतों में से एक के निर्धारण' में डतमच्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) अनयोः एकतरः मैत्रः (इन दोनों में से एक मैत्र है)—एक्+डतरच् (अतर), 'टि'='अ' वर्ण-लोप। (२) एषाम् एकतमः मैत्रः (इन लोगों में से एक मैत्र है)—एक्+डतमच् (=अतम)।

(२०५०) **पद**—अवक्षेपणे, कन् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—आधिकारिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। प्रत्ययार्थ का सूचक पद सूत्र में विद्यमान है। अतः "अवक्षेपण अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से 'कन्' प्रत्यय होता है"। दूसरे की निन्दा के लिये जिस विषय का निर्देश किया जाय, तद्वाचक शब्द से यहाँ प्रत्यय होता है। "कुत्सिते" सूत्र में उसी से 'कन्' प्रत्यय होता है, जिसकी निन्दा की जाती है। यही दोनों के विषय में अन्तर है। **उदाहरण**—व्याकरणकेन गर्वितः (व्याकरण-ज्ञान के कारण तू अभिमान में है)—व्याकरण+कन् (=क)। यहाँ पर व्याकरण की स्वतः निन्दा नहीं की गई है, किन्तु अध्ययन के कारण अध्येता की निन्दा गम्यमान है। अतः 'अवक्षेपण' शब्द करण-अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्ययान्त माना गया है।

'दीपिका' में तद्धित का प्रागिवीय प्रकरण समाप्त ।

उपक्रम—अब स्वार्थिक प्रत्ययों का निर्वचन आरम्भ होता है। स्वार्थिक प्रत्ययों में अवयवार्थ से अतिरिक्त अर्थान्तर व्यक्त नहीं होता। अतः वहाँ अवयवार्थ से अतिरिक्त कोई संघातार्थ नहीं

प्रतिकृतौ किम्? गौरिव गवयः। (२०५२) संज्ञायां च ५।३।९७॥ इवार्थे कन् स्यात्समुदायश्चेत्संज्ञा। अप्रतिकृत्यर्थमारम्भः। अश्वसदृशस्य संज्ञा—अश्वकः। उष्ट्रकः। (२०५३) लुम्मनुष्ये ५।३।९८॥ संज्ञायां चेति विहितस्य कनो लुप्स्यान्मनुष्ये।

त्प्रातिपदिकात्कन् स्यात्प्रतिकृतिभूते उपमेये इति फलितम्। मृदादिनिर्मिता प्रतिमा प्रतिकृतिः। अश्वक इति। प्रतिकृतेः स्त्रीत्वेऽपि 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते' इति पुंल्लिङ्गत्वम्।

(२०५२) सञ्ज्ञायां च। कनिति शेषः। समुदायश्चेदिति। प्रकृतिप्रत्ययसमुदायश्चेत्प्रकृत्यर्थसदृशस्य सञ्ज्ञेत्यर्थः। पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अप्रतिकृत्यर्थमारम्भ इति। तथा च प्रतिकृताविति निवृत्तम्। इव इति त्वनुवर्तत एव तदाह—अश्वसदृशस्येति। अश्वसदृशस्य अमनुष्यस्य कस्यचित्सञ्ज्ञैषा। अश्वसदृशोऽयमश्वसञ्ज्ञक इति बोधः।

(२०५३) लुम्मनुष्ये। संज्ञायां चेति विहितस्येति। न तु 'इवे प्रतिकृतौ' इति

है। स्वार्थिक के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने दो प्रकार बतलाये हैं—असत्त्वभूतार्थ और सत्त्वभूतार्थ। इनमें से प्रत्येक वाचक, द्योतक, विशेषक, सहायाभिधायक, सार्थक और निरर्थक—छह प्रकार के होते हैं।

(२०५१) **पद**—इवे, प्रतिकृतौ। **अनुवृत्ति**—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व 'सूत्र' से विधेयांश 'कन्' अनुवर्तमान है। अतः "उपमान अर्थ (इवे) में वर्तमान प्रातिपदिक से 'कन्' (=क) प्रत्यय होता है, यदि उपमेय प्रतिकृति हो"। **उदाहरण**—**अश्वकः**—(अश्वः इव प्रतिकृतिः—घोड़े की तरह प्रतिमा)—अश्व+कन् (=क)। 'स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति-गत लिङ्ग वचन का अनुसरण करते हैं—इस नियम के अनुसार पुंलिङ्ग में प्रयोग हुआ है। इस तरह उपमान अर्थात् अश्व से अभिन्न अर्थ–'अश्वकः' से विदित होता है। अतः प्रत्यय का विधान इवार्थ में नहीं है, किन्तु स्वार्थ में है।

प्रत्युदाहरण—गौः इव गवयः (गाय की तरह गवय) में प्रतिकृतिरूप उपमेय की अप्रतीति से 'कन्' नहीं हुआ। मिट्टी आदि की बनी प्रतिमा को प्रतिकृति कहा जाता है। यहाँ तो 'गवय' प्रत्यक्ष उपस्थित है न कि प्रतिमा के रूप में।

(२०५२) **पद**—संज्ञायाम्, च। **अनुवृत्ति**—इवे, कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—समुदाय यदि संज्ञावाची हो तो इवार्थ में कन् हो। 'अप्रतिकृति' के विषय में यह विधान है। उदा० १—अश्वसदृशस्य संज्ञा—अश्वकः। २—उष्ट्रकः।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'इवे' तथा तत्पूर्व सूत्र से 'कन्' पद अनुवर्तमान हैं। विषयबोधक पद सूत्र में विद्यमान है। तदनुसार सबकी एकवाक्यता होने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि "उपमानार्थ गम्यमान होने पर संज्ञा के विषय में भी 'कन्' प्रत्यय होता है"। 'अप्रतिकृति' के सन्दर्भ में यह सूत्र है। यहाँ 'प्रतिकृतौ' की अनुवृत्ति अनुसरण नहीं करती। **उदाहरण**—(१) अश्वकः (अश्व-सदृश मनुष्यभिन्न कोई प्राणी—अश्व इव अप्रतिकृतिः)—अश्व+कन् (=क)। (२) उष्ट्रकः (ऊँट की तरह मनुष्य भिन्न कोई प्राणी—उष्ट्र इव अप्रतिकृतिः)—उष्ट्र+कन् (=क)।

(२०५३) **पद**—लुप्, मनुष्ये। **अनुवृत्ति**—इवे, कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

'चञ्चा तृणमयः पुमान्' । चञ्चेव मनुष्यश्चञ्चा । वध्रिका । (२०५४) जीविकार्थे चापण्ये ५।३।९९ ।। जीविकार्थं यदविक्रीयमाणं तस्मिन्वाच्ये कनो लुप्स्यात् । वासुदेवः । शिवः । स्कन्दः । देवलकानां जीविकार्थासु देवप्रतिकृतिष्विदम् । अपण्ये किम् ? हस्तिकान्वि-

---

विहितस्य, मनुष्यस्य प्रतिकृतित्वासम्भवादिति भावः । चञ्चेव मनुष्यः चञ्चा इत्युदाहरणं वक्ष्यन् चञ्चाशब्दं व्याचष्टे—चञ्चा तृणमयः पुमानिति । चञ्चेति । चञ्चातुल्यो मनुष्योऽयं चञ्चासञ्ज्ञक इत्यर्थः । वध्रिकेति । वध्रिका चर्ममयी प्रतिकृतिः । तत्तुल्यो मनुष्योऽयं वध्रिकासञ्ज्ञक इत्यर्थः । लुपि युक्तत्वात् स्त्रीत्वम् । वचनं तु विशेष्यवदेव, 'हरीतक्यादिषु व्यक्तिः' इत्युक्तेः । तेन चञ्चे इव मनुष्यौ, इत्यत्र चञ्चा इति न भवति ।

(२०५४) जीविकार्थे चापण्ये । पण्यं विक्रीयमाणम् । तदाह—अविक्रीयमाणमिति । वासुदेव इति । वासुदेवतुल्या जीविकार्था अविक्रेया प्रतिकृतिरित्यर्थः । एवं शिव इत्यादि । कथं प्रतिकृतेरविक्रेयायाः जीविकार्थत्वमित्यत आह—देवलकानामिति । प्रतिमां गृहीत्वा भिक्षार्थं प्रतिगृहमटतामित्यर्थः । तत्तदायतनेषु प्रतिष्ठितासु पूजार्थप्रतिमासु उत्तरसूत्रेण

मूलार्थ—"मनुष्य अभिधेय हो तो संज्ञाया च" (५-३-९७) सूत्र से विहित 'कन्' का लोप हो" । तृणनिर्मित पुरुष को चञ्चा कहते हैं । उदा० १—'चञ्चा' इव मनुष्यः←चञ्चा । २—वध्रिका ।

विवरण—पूर्व सूत्र का ही विषय है । 'इव' तथा 'कन्' ये दो पद अनुवर्तमान हैं । तदनुसार "मनुष्य अर्थ की प्रतिति होने पर पूर्व सूत्र (२०५०) से विहित संज्ञा के विषय में 'कन्' प्रत्यय का लोप होता है" । **उदाहरण**—चञ्चा इव←चञ्चा (तृणनिर्मित पुरुष चञ्चा, उसके समान आघात को न सहने वाला व्यक्ति 'चञ्चा' कहलाता है)-चञ्चा+कन् (=का लोप) । "लुपि युक्त-वद् व्यक्तिवचने," (१-२-५१) से युक्तवद्भाव । (२) वध्रिका (वध्री इव—चर्ममय रज्जु-सदृश मनुष्य)—वध्रिका+कन् लोप । युक्तवद्भाव स्त्रीत्व, ह्रस्व । विशेष्य के अनुसार वचन ।

विशेष—यह सूत्र पूर्व-सूत्र-विहित प्रत्यय का लोप करता है । अतः यहाँ भी प्रतिकृति ग्रहण सम्बद्ध नहीं होता ।

(२०५४) पद—जीविकार्थे, च, अपण्ये । **अनुवृत्ति**—लुप् मनुष्ये, कन्, प्रतिकृतौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—जीविका के लिए जो विक्रीयमाण उससे भिन्न अर्थ वाच्य रहते 'कन्' का लोप होता है । उदा० १—वासुदेवः । २—शिवः । ३—स्कन्दः । यह कथन देव प्रतिमाओं के बेचने वालों के सम्बन्ध में है । 'अपण्ये' क्यों कहा ? हस्तिकान् विक्रीणीते ('कन्' का लोप नहीं हुआ ।

विवरण—मनुष्य अभिधेय होने पर 'कन्' के लोप का ही प्रसङ्ग है । अतः "लुम्मनुष्ये" (५-३-९८) समग्र सूत्र प्रमुख रूप में अनुवर्तमान है । 'प्रतिकृतौ' सहित शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । सबके साथ एकवाक्यता होने पर सूत्रार्थ यह होगा कि "जीविकोपार्जन के लिए जो न बेचने योग्य देवों की प्रतिकृतियाँ, उनके अभिधेय होने पर 'कन्' का लोप होता है" । "इवे प्रतिकृतौ" (५-३-९६) से विहित 'कन्' का यहाँ लोप-विधान है । पूजा के योग्य वासुदेवादि की प्रतिकृतियों का बेचना वर्ज्य था, अतः 'अपण्य' जानी जाती रहीं । उन्हीं को जीविका के लिए दिखा दिखाकर घूमने का मार्ग 'देवपथ' कहा जाता रहा । इस प्रकार ये प्रतिकृतियाँ अपण्य होते हुए भी जीविकार्थ भी हो गईं । इस दृष्टि से ये **उदाहरण**—दिये जा रहे हैं । (१) वासुदेवः, (२) शिवः, (३) स्कन्दः—(जीविकोपार्जन के लिए कृष्ण, शिव एवं स्कन्द को मूर्ति विक्रय के लिए नहीं—वासुदेवादि तुल्या जीविकार्थी←अविक्रेया प्रतिकृतिः)—उक्तार्थ में (५-३-९८) से आगत कन् का प्रकृत सूत्र से लोप ।

क्रीणीते। (२०५५) **देवपथादिभ्यश्च** ५।३।१००॥ कनो लुप्स्यात्। देवपथः।

लुब्वक्ष्यते। हस्तिकान्विक्रीणीते इति। जीविकार्थं हस्तितुल्यप्रतिकृतीः विक्रीणीते इत्यर्थः। अत्र पण्यत्वप्रतीतेः कनो न लुक्। 'सञ्ज्ञायां च' इति विहितस्य नायं लुप्। किन्तु 'इवे प्रतिकृतौ' इति विहितस्यैव, भाष्ये प्रतिकृतावेव एतदुदाहरणात्। पठन्ति चाभियुक्ताः—

'रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग् धिक्।
अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग् धिक्॥' इति।

अत्र रामादिशब्दाः प्रतिकृतिषु वर्तन्ते। तासां चात्र पण्यतया कनो लुप् दुर्लभ इति रामसीतालक्ष्मणशब्दानामपशब्दत्वमित्याशयः।

(२०५५) देवपथादिभ्यश्च। कनो लुप् स्यादिति। शेषपूरणमिदम्। 'इवे प्रतिकृतौ' इति विहितस्य देवपथादिभ्यः परस्य कनो लुप् स्यादिति यावत्। देवपथ इति। देवानां पन्थाः देवपथः। तत्प्रतिकृतिरित्यर्थः। 'इवे प्रतिकृतौ' इति कनो लुप्। एवं हंसपथः। अत्र वृत्तौ पठितम्—

'अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च।
इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु॥' इति।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अपण्ये' पद का निवेश होने से **हस्तिकम्** विक्रीणीते (हाथी की मूर्ति को बेचता है) में 'कन्' का लोप नहीं हुआ—हस्ति+कन् (=क)। इस प्रकार 'लुप्' का विषय नियत हो जाने से—

"रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक्।
अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग्धिक्॥"

यह कूट—श्लोक विद्वानों की कसौटी के लिए बड़ा प्रसिद्ध है। प्रस्तुत श्लोक में राम, सीता तथा लक्ष्मण शब्द प्रतिमा के रूप में कहे गए हैं। 'विक्रीणीते' शब्द से विक्रय अर्थ सूचित हो रहा है। अतः यहाँ 'कन्' का लोप प्राप्त नहीं होता। तदनुसार राम, सीता तथा लक्ष्मण शब्दों का 'कन्' रहित प्रयोग ही असमीचीन (अपशब्द के रूप में प्रयुक्त) है। इस प्रकार रामकम्, सीतिकाम् तथा लक्ष्मणकम् रूप होने चाहियें।

विशेष—भाष्यकार के अनुसार प्रकृत सूत्र "संज्ञायाम्" (५-३-९७) से विहित 'कन्' का लोप-विधान नहीं करता किन्तु "इवे प्रतिकृतौ" (५-३-९६) सूत्र से आगत 'कन्' के लोप का ही विधायक है।

(२०५५) **पद**—देवपथादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—इवे प्रतिकृतौ, कन्, लुप्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'कन्' का लोप हो। उदा० १—देवपथः। २—हंसपथः। यह आकृतिगण है।

विवरण—'कन्' के 'लुप्' का ही विषय है। वह भी अनुवर्तमान "इवे प्रतिकृतौ" (५-३-९६) सूत्र से आगत 'कन्' प्रत्यय के विषय में प्रवृत्त होता है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "'देवपथ' आदि शब्दों से इवार्थ प्रतिकृति को बतलाने में विहित 'कन्' प्रत्यय का लोप होता है"। **उदाहरण**—(१) देवपथः (देवों के मार्ग की आकृति—देवानां पन्थाः-देवपथः, तत्प्रतिकृतिः)—देवपथ+कन् का लुप्। इसी तरह (२) हंसपथः (हंसों के मार्ग की प्रतिकृति—हंसपथस्य प्रतिकृतिः)—हंसपथ+'कन्' का लुप्।

विशेष—इस सम्बन्ध में वृत्तिग्रन्थ का एक श्लोक बड़ा प्रसिद्ध है—**अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च। इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु**"। अर्थात् 'अर्चा, पूजन,

हंसपथः । आकृतिगणोऽयम् । (२०५६) वस्तेर्ढञ् ५ । ३ । १०१ ॥ इवे इत्यनुवर्तत एव । 'प्रतिकृतौ' इति निवृत्तम् । वस्तिरिव वास्तेयम्–वास्तेयी । (२०५७) शिलाया ढः ५ । ३ । १०२ ॥ शिलेव शिलेयम् । योगविभागात् ढञपीत्येके । शैलेयम् । (२०५८) शाखादिभ्यो यः ५ । ३ । १०३ ॥ शाखेव शाख्यः । मुख्यः । जघनमिव

अर्चाः प्रतिमाः । पूजार्थासु तासु चित्रकर्मसु ध्वजेषु देवपथादिगणपठितेषु इवे प्रतिकृतौ इति विहितस्य कनो लुबित्यर्थः । 'तद्राजस्य' इति सूत्रे कैयटोऽप्येतं श्लोकं पपाठ । अर्चासु यथा—शिवो विष्णुर्गणपतिरित्यादि । चित्रकर्मसु यथा—रावणः, कुम्भकर्णः, इन्द्रजिदित्यादि । ध्वजेषु यथा—कपिः, गरुडः, वृषभ इत्यादि ।

(२०५६) वस्तेर्ढञ् । निवृत्तमिति । अस्वरितत्वादिति भावः । 'सञ्ज्ञायां च' इत्यादिपूर्वसूत्रेषु क्वापि प्रतिकृतावित्यस्यानिवृत्तेः न लुब्विधिषु तेषु तदनुवृत्तिरपेक्षिता । वस्तिरिवेति । 'वस्तिर्नाभेरधो द्वयोः' इत्यमरः ।

(२०५७) शिलाया ढः । इवे इत्येव । शिलेव शिलेयमिति । दध्यादीति शेषः । योगेति । शिलाया इत्येको योगः । ढञित्यनुवर्तते, इवे इति च । शैलेयमिति । ञित्वादादिवृद्धिः, स्त्रियां ङीप् च फलम् । ढः इति द्वितीयो योगः । शिलाया इत्यनुवर्तते । उक्तोऽर्थः ।

(२०५८) शाखादिभ्यो यः । 'यत्' इति त्वपपाठः । तैत्तिरीये 'मुख्यो भवति' इत्यादौ मुख्यशब्दस्य आद्युदात्तत्वदर्शनात्, उगवादिसूत्रभाष्यविरुद्धत्वाच्च ।

चित्रकर्म तथा ध्वजार्थ में 'कन्' का लोप होता है । अतः देवायतन में पूजनार्थ स्थापित प्रतिमाओं से देवपथगण में पाठ होने के कारण 'कन्' का लोप होता है । जैसे–शिवः, विष्णुः आदि । एवं चित्रकर्म अर्थ में 'अर्जुनः', दुर्योधनः आदि । ध्वज में 'कपिः' सिंहः, गरुडः आदि (राजाओं के ध्वज में सिंह आदि चिह्न बने होते हैं) । देवपथादि आकृतिगण है ।

(२०५६) पद—वस्तेः, ढञ् । अनुवृत्ति—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'इवे' पद अनुवर्तमान है । 'प्रतिकृतौ' की निवृत्ति हो चुकी है ।

विवरण—'इवार्थ' का ही विषय है । 'प्रतिकृतौ' का सम्बन्ध अब नहीं रहा है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'वस्ति' शब्द से उपमानार्थ द्योतित होने पर 'ढञ्' (= ढ = एय) प्रत्यय होता है" । उदाहरण—वास्तेयम् (नाभि के अधोभाग को आच्छादित करने वाले वस्त्र के समान—वस्तिः इव)—वस्ति+ढञ् (= ढ = एय) । आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप । (२) स्त्रीलिङ्ग में "टिड्ढाणञ्०" (४-१-१५) से 'ङीप्' होकर वास्तेयी ।

(२०५७) पद—शिलायाः, ढः । अनुवृत्ति—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र के अनुसार ही अनुवर्तमान 'इवे' का ही केवल प्रभाव है । तदनुसार "'शिला' शब्द से 'इवार्थ' में 'ढ' प्रत्यय होता है" । 'ञ्' इत् न होने से आदिवृद्धि नहीं होगी । उदाहरण—शिलेयम् (पत्थर के समान कठोर जमा हुआ दही—शिला इव)— शिला+ढ (= एय), अन्त्यवर्ण-लोप ।

विशेष—किन्हीं वृत्तिकारों के मत में सूत्र का योग-विभाग करने पर पूर्व सूत्र से 'ढञ्' की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप शैलेयम् रूप भी बनेगा ।

(२०५८) पद—शाखादिभ्यः, यः । अनुवृत्ति—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

जघन्यः । अग्र्यः । शरण्यः । (२०५९) द्रव्यं च भव्ये ५ । ३ । १०४ ॥ द्रव्यम् अयं ब्राह्मणः । (२०६०) कुशाग्राच्छः ५ । ३ । १०५ ॥ कुशाग्रमिव कुशाग्रीया बुद्धिः । (२०६१) समासाच्च तद्विषयात् ५ । ३ । १०६ ॥ इवार्थविषयात्समासाच्छः स्यात् ।

(२०५९) द्रव्यं च भव्ये । द्रुशब्दादिवार्थवृत्तेः यप्रत्ययो निपात्यते भव्ये उपमेये गम्ये । भव्य आत्मवान् । 'अभिप्रेतानामर्थानां पात्रभूतः' इति वृत्तिः । द्रव्यम् । अयमिति । द्रुः वृक्षः, सः यथा पुष्पफलादिभाक् एवमभिमतफलपात्रभूत इत्यर्थः । यद्वा द्रुः कल्पवृक्षोऽत्र विवक्षितः, स इव अभिमतार्थभागित्यर्थः । यप्रत्यये ओर्गुणः अवादेशः ।

(२०६०) कुशाग्राच्छः । इवे इत्येव । कुशाग्रमिवेति । सूक्ष्मत्वेन सादृश्यम् । कुशाग्रवत् सूक्ष्मेत्यर्थः ।

(२०६१) समासाच्च । तच्छब्देन प्रकृतः इवार्थः परामृश्यते । तदाह—इवार्थविषयादिति । इवार्थः सादृश्यमुपमानोपमेयभावात्मकम्, तद्विषयकादित्यर्थः । सादृश्यवदर्थबोधकात् समासादिति यावत् । यद्यपि घनश्याम इति समासोऽपि सादृश्यवदर्थबोधकः तथापि सादृश्यवदर्थबोधकसमस्यमानयावत्पदावयवकात्समासादिति विवक्षितमिति न दोषः । छः स्यादिति । चकारेण पूर्वसूत्रोपात्तच्छस्यानुकर्षादिति भावः । इवार्थे

मूलार्थ एवं विवरण—'इवे' का सातत्य है। अतः "शाखादि-गण-पठित शब्दों से इवार्थ में 'य' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **शाख्यः** (शाखा के सदृश—शाखा इव)—शाख़ा+य ('आ' का लोप)। (२) **मुख्यः** (मुख के सदृश = प्रमुख—मुखम् इव)—मुख्+य। (३) **जघन्यः** (जंघा की तरह = घृणित—जघनमिव)—जघन्+य। (४) **अग्र्यः** (आगे की तरह = प्रधान—अग्रम् इव)—अग्र्+य। (५) **शरण्यः** (शरण के सदृश—शरणम् इव)—शरण्+य।

विशेष—कहीं 'यत्' पाठ भी है। वह समीचीन नहीं है, क्योंकि तैत्तिरीय संहिता में 'मुख्यो भवति' इत्यादि मन्त्रांश में आद्युदात्त स्वरपाठ मिलता है। अन्यथा "तित् स्वरितम्" (६-१-१८५) के अनुसार 'यत्' प्रत्ययान्त शब्द स्वरितादि हो जाता। "उगवादिभ्यो यत्" (५-१-२) सूत्र के भाष्य में यही निर्णय किया हुआ है।

(२०५९) **पद**—द्रव्यं, च, भव्ये। **अनुवृत्ति**—यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"'भव्य' अभिधेय होने पर 'द्रव्य' शब्द निपातित है। 'भव्य' शब्द का अर्थ आत्मवत्त्व अर्थात् पात्रता है। निपातन का स्वरूप—'द्रु' शब्द से 'पात्रता' उपमेय होने पर 'य' प्रत्यय किया जाता है'—द्रु+य। "ओर्गुणः" (६-४-१४६) से गुण एवं "वान्तो यि प्रत्यये" (६-१-७९) से 'अव्' आदेश←**उदाहरण**→**द्रव्यम्** अयं ब्राह्मणः—(यह ब्राह्मण उत्तम है—द्रुः इव)।

(२०६०) **पद**—कुशाग्रात्, छः। **अनुवृत्ति**—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—इवार्थ का अनुबन्ध विद्यमान है। तदनुसार "'कुशाग्र' शब्द से इवार्थ में 'छ' (= ईय) प्रत्यय होता है"। 'कुश' का अग्रभाग बड़ा तीक्ष्ण (= नुकीला) होता है, उसके समान तीक्ष्ण बुद्धि को **कुशाग्रीया** (कुशाग्रम् इव—कुशाग्र्+छ = ईय+टाप्) कहा जाता है।

(२०६१) **पद**—समासात्, च, तद्विषयात्। **अनुवृत्ति**—छः, इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इवार्थ-विषयक समास से 'छ' प्रत्यय हो। उदा० १—काकतालीयः देवदत्तस्य

काकतालीयो देवदत्तस्य वधः। इह काकतालसमागमसदृशश्चोरसमागम इति समासार्थः। तत्प्रयुक्तः काकमरणसदृशस्तु प्रत्ययार्थः। अजाकृपाणीयः। अतर्कितोपनत इति फलितो-

---

इति शेषः। 'पूगाञ्ञ्यः' इत्यतः प्रागिवाधिकारात्। ततश्च इवार्थकसमस्यमानयावत्पदकात्समासादिवार्थे छः स्यादिति लभ्यते। काकतालीयो देवदत्तस्य वध इति। काकः कश्चिदकस्मात् तालवृक्षस्य मूलं गतस्तालफलपतनान्मृतः। तथैव कश्चिद्देवदत्तः अकस्मान्निर्जनप्रदेशे क्वचिद् गतः चोरेण हृतः। तत्रेदं वाक्यं प्रवृत्तम्। अत्र समासार्थगतं साहृश्यमेकं, प्रत्ययार्थगतम् अन्यत्साहृश्यं च भासते। तथाहि—काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालमिति समासस्य विग्रहः। अत्र काकशब्दः काकागमनसहृशे देवदत्तागमने लाक्षणिकः। तालशब्दस्तु तालपतनसहृशे चोरागमने लाक्षणिकः। काकागमनसहृशं देवदत्तागमनं, तालपतनसहृशं चोरागमनमिति च काकतालमिति समासाद् बोधः। यद्यप्यत्र काकतालशब्दयोः मिलितयोरेकत्रान्वयाभावात् द्वन्द्वसमासो न सम्भवति, परस्परान्वयाभावेन असामर्थ्याच्च, तथापि अस्मादेव विधिबलात् 'सुप्सुपा' इति समासः। तथा च काकतालसमागमसहृशो देवदत्तचोरसमागम इति समासार्थः। तदाह—इह काकतालसमागमसदृशश्चोरसमागम इति समासार्थं इति। अत्र चोरसमागम इत्यस्य चोरेण देवदत्तस्य समागम इत्यर्थः। तदेवंविधात्समासात् काकतालशब्दादिवान्तरार्थे साहृश्यान्तरे छप्रत्ययः। तत्र समासात्मककालतालशब्दभूतप्रकृत्यर्थरूपकाकतालसमागमसहृशदेवदत्तचोरसमागमे सति तालपतनकृतकाकमरणे उपस्थिते उपमानत्वं, देवदत्तवधे चोरागमनकृते उपमेयत्वं च छप्रत्ययेन गम्यते। ततश्च ताहृशचोरसमागमे सति तालपतनकृतकाकमरणसहृशो देवदत्तस्य चोरकृतो वध इति छप्रत्ययेन लभ्यते। तदाह—तत्प्रयुक्त इति। ताहृशतालपतनप्रयुक्तेत्यर्थः। सहृश इत्यनन्तरं देवदत्तवध इति शेषः। तथा च काकतालसमागमसहृशो देवदत्तचोरसमागमः, यद्धेतुकस्तालपतनकृतकाकमरणसहृशश्चोरकृतो देवदत्तवध इत्येवं काकतालीयो देवदत्तवध इति समासाद् बोधः। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं भाष्ये 'काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालम्। काकतालमिव काकतालीयम्' इति। अत्र काकतालमिति इवार्थगर्भितकेवलद्वन्द्वात् न भवति इवान्तरार्थस्य साहृश्यान्तरस्याप्रतीतेरित्यलम्।

वधः। यहाँ—काक एवं तालफल के संयोग की तरह चोर का समागम—यह समासार्थ है। तत्प्रयुक्त काकमरण सदृश—यह प्रत्ययार्थ है। २—अजाकृपाणीयः।

विवरण—सूत्रस्थ 'तत्'-पद पूर्व अर्थ का परामर्शक है। तदनुसार 'इवार्थ' में हुए समास को अभिलक्षित करने में इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी। अतः "इवार्थ-विषयक समास में वर्तमान प्रातिपदिक से भी 'छ' (=ईय) प्रत्यय होता है"। यहाँ पर 'तद्विषयात्' कहने से एक इवार्थ में तो समास हुआ। जैसे काकागमनम् इव तालपतनम् इव = कौए के आने की तरह एवं ताल-पेड़ के गिरने की तरह—इस एक इवार्थ में→'काकताल'←समस्त शब्द बना। उस काकताल के समान—काकतालम् इव—जो कार्य—वह काकतालीय कार्य कहलाता है। इस दूसरे इवार्थ में 'काकताल' शब्द से 'छ' प्रत्यय हुआ है। इसी को 'काकतालीय न्याय' कहते हैं।

स्पष्टीकरण—किसी पेड़ के नीचे यों ही उड़ता हुआ एक कौआ आकर बैठ गया, उसके बैठते ही अकस्मात् यों ही ताड़ का पेड़ गिर गया। उसके गिरते ही कौआ दब कर मर गया। यह काकतालीय कार्य हुआ। यह एक इवार्थ = उपमार्थ हुआ, जिसमें 'काकताल' का समास हुआ है। उसी प्रकार कोई व्यक्ति यों ही कहीं पहुँच जाय, उसके वहाँ जाते ही चोर अकस्मात्

ऽर्थः । (२०६२) शर्करादिभ्योऽण् ५ । ३ । १०७ ॥ शर्करेव शार्करम् (२०६३) अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् ५ । ३ । १०८ ॥ अङ्गुलीव-आङ्गुलिकः । भरुजेव-भारुजिकः । (२०६४) एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् ५।३।१०९ ॥ एकशालाशब्दादिवार्थे ठज्वा ।

अजाकृपाणीय इति । अजागमनमिव कृपाणपतनमिव अजाकृपाणम्, तदिव अजाकृपाणीयः । अजाकृपाणसमागमसदृशो देवदत्तचोरसमागमः समासार्थः, कृपाणपतनप्रयुक्ताजामरणसदृशो देवदत्तवधश्चोरकृतः प्रत्ययार्थः । अत्र सर्वत्र अतर्कितोपनतत्वं साधारणो धर्म इत्याह—अतर्कितेति ।

(२०६२) शर्करादिभ्योऽण् । इवे इत्येव । शार्करमिति । 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति विशेष्यनिघ्नतेति भावः ।

(२०६३) अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् । इवे इत्येव । अङ्गुलीवेति । अङ्गुलिशब्दात् 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष् । आङ्गुलिकः इति । पूर्ववद्विशेष्यनिघ्नता । भारुजिक इति । पूर्ववद्विशेष्यनिघ्नता ।

(२०६४) एकशालायाः । पक्षे ठगिति । अन्यतरस्यां ग्रहणम् अनन्तरठकः समुच्चयार्थमिति भावः । ठज्वेत्येव सुवचम् ।

पहुँच जायें और वे उसे मार दें तो उस व्यक्ति का वहाँ जाना तथा चोरों का आना और उसका मारा जाना **काकताल-सदृश** हुआ । अतः यह मरना काकताल के वध के समान हुआ—यह दूसरा उपमार्थ है—जिसमें 'छ' प्रत्यय हुआ है । इस प्रकार उस व्यक्ति के वध को काकतालीय वध कहेंगे । इसी तरह (२) **अजाकृपाणीयः** में भी अजा का अकस्मात् कृपाण के नीचे पड़ना, तलवार का अचानक गिरना, उससे अजा का वध होना—इस प्रकार आकस्मिक वध-योग अजाकृपाणीय कहा जाता है (अजागमनम् इव कृपाणपतनम् इव = अजाकृपाणम्, तदिव अजाकृपाणीयः ←अजाकृपाण+छ = ईय) ।

(२०६२) **पद**—शर्करादिभ्यः, अण् । **अनुवृत्ति**—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—उपमानार्थ का ही विषय है । अतः "'शर्करा' आदि प्रातिपदिकों से इवार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—शार्करम्** (शर्करा के समान—शर्करा इव)—शर्करा+अण् (= अ) । आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् । 'क्वचित् स्वार्थिकाः प्रत्ययाः लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते'—नियम के अनुसार विशेष्यानुसारि नपुंसक लिङ्ग हुआ ।

(२०६३) **पद**—अङ्गुल्यादिभ्यः, ढक् । **अनुवृत्ति**—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'इवे' का ही विषय है । अतः "'अङ्गुली' आदि प्रातिपदिकों से इवार्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण--आङ्गुलिकः** (उंगली के समान—अङ्गुली इव)—अङ्गुली+ठक् (ठ = इक) । आदिवृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् । (२) **भारुजिकः** (गीदड़ की तरह या भुने हुए जौ की तरह—भरुजा इव) । भरुजा +ठक् (= ठ = इक) । आदिवृद्धि । दोनों स्थलों में पूर्ववत् विशेष्य के समान लिङ्ग हुआ है ।

(२०६४) **पद**—एकशालायाः, ठच्, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'एकशाला' शब्द से इवार्थ में विकल्प से 'ठच्' हो । पक्ष में 'ठक्' ।

विवरण—उपमानार्थ का ही सातत्य है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "'एकशाला' प्रातिपदिक से इवार्थ में विकल्प से 'ठच्' (ठ = इक) प्रत्यय होता है" । सूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्'

पक्षे ठक्। एकशालेव-एकशालिकः-ऐकशालिकः। (२०६५) कर्कलोहितादीकक् ५।३।११०॥ कर्कः शुक्लोऽश्वः। स इव कार्कीकः। लौहितीकः स्फटिकः। (२०६६) पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् ५।३।११२॥ इवार्थो निवृत्तः। नानाजातीयाः अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः पूगाः। तद्वाचकात्स्वार्थे ञ्यः स्यात्। लौहितध्वज्यः।

(२०६५) कर्कलोहितादीकक्। कर्कः शुक्लोऽश्व इति। अश्वपर्यायेषु 'सितः कर्कः' इत्यमरः। लौहितीकः स्फटिक इति। जपापुष्पादिसम्पर्कवशाल्लोहित इवेत्यर्थः।

(२०६६) पूगाञ्ञ्यः। इवार्थो निवृत्त इति। व्याख्यानादिति भावः। अनियतवृत्तय इति। उदवृत्ता इत्यर्थः। तद्वाचकादिति। पूगेति न स्वरूपग्रहणं, व्याख्यानात्। ग्रामणीवाचकपूर्वावयवकभिन्नात् पूगवाचकादित्यर्थः। लौहितध्वज्यः इति। लोहिता ध्वजा यस्य पूगस्य स लोहितध्वजः, स एव लौहितध्वज्यः। व्रातच्फञोरस्त्रियामिति। इदं सूत्रम् 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यः' इत्यत्र प्रसङ्गादुपादाय व्याख्यातम्। व्रात इति। उदाहरणसूचनमिदं भारोद्वहनादिशरीरायासजीवनात् नानाजातीयानामनियतवृत्तीनां सङ्घो व्रातः।

पद पक्ष में पूर्व सूत्रस्थ 'ठक्' का संग्राहक है। **उदाहरण**—(क) **एकशालिकः** (कमरे की तरह छोटा घर—एकशाला+इव)—एकशाला+ठच् (ठ=इक) प्रत्यय होने पर केवल अन्त्यवर्ण-लोप। (ख) **ऐकशालिकः** ('ठक्' होने पर आदिवृद्धि भी होती है)।

विशेष—'अन्यतरस्याम्' की अपेक्षा 'ठञ्वा' कहने में लाघव रहा।

(२०६५) पद—कर्कलोहिताव, ईकक्। **अनुवृत्ति**—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। अतः "'कर्क' तथा 'लोहित' शब्दों से इवार्थ में 'ईकक्' (=ईक) प्रत्यय होता है"। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **कार्कीकः** (सफेद घोड़े के समान मूल्यवान्—कर्कः इव)—कर्क+ईकक् (=ईक)। आदिवृद्धि तथा अन्त्यवर्णलोप। (२) **लौहितीकः** (लाल रंग वाले मणि के समान स्फटिक←स्वयं श्वेत होता हुआ भी स्फटिक जपाकुसुम के संक्रमण से लाल दिखाई देता है→लोहितः इव स्फटिकः)—लोहित+ईकक् (=ईक)।

(२०६६) पद—पूगात, ञ्यः, अग्रामणीपूर्वात। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इवार्थ की निवृत्ति होती है। अर्थ और काम में आसक्त पुरुषों के नानाजातीय और अनियत वृत्ति वाले समूह को 'पूग' कहते हैं। तद्वाचक से स्वार्थ में 'ञ्य' (=य) प्रत्यय होता है। उदा० लौहितध्वज्यः।

विवरण—'इवे' की अनुवृत्ति अब समाप्त होती है। केवल प्राकरणिक एवम् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ ही प्रभावी हैं। अतः सूत्र का अर्थ यह होगा कि "ग्रामणीशब्द जिसके पूर्वपद में न हो (अ-ग्रामणीपूर्वात)—ऐसे 'पूग' वाची प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'ञ्य' (=य) प्रत्यय होता है"। विभिन्न जाति एवम् अनिश्चित व्यापार करने वाले अर्थ-काम-प्रधान व्यक्तियों के संघ को 'पूग' कहते हैं। **उदाहरण**—**लौहितध्वज्यः** (लाल ध्वजावाला संघ—लोहिता ध्वजा यस्य सः लोहितध्वजः, स एव)—लोहितध्वज+ञ्य (=य) ▷ लौहितध्वज्यः[1]। आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप तथा

---

१. 'पूग' संस्था की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए प्रमाण-सामग्री को समझने की तीन कड़ियाँ ध्यान देने योग्य हैं—एक तो महाभारत का यह उल्लेख कि **ग्रामणी** संविधान का अनुयायी समुदाय सिन्धु नदी के किनारे पर बसा हुआ था, दूसरे पाणिनि का यह उल्लेख कि कुछ ऐसे संघ थे जिनका नाम **ग्रामणी** के नाम से प्रसिद्ध होता था ("स एषां ग्रामणीः"

'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' (सू ११००)। व्रातः←कापोतपाक्यः । च्फञ्←कौञ्जायन्यः, ब्राध्नायन्यः । (२०६७) आयुधजीविसङ्घाञ्ञ्यड् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ५।३।११४ ॥ वाहीकेषु य आयुधजीविसङ्घस्तद्वाचिनः स्वार्थे ञ्यट् । क्षौद्रक्यः । मालव्यः ।

कापोतपाक्य इति । कपोतान् पक्षिविशेषान् भक्षणाय पचतीति कपोतपाकः स एव कापोतपाक्यः । पचेः कर्तरि घञ्, 'चजोः कुघिण्ण्यतोः' इति कुत्वम् । च्फञिति । उदाहरणसूचनमिदम् । कौञ्जायन्य इति । 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यः' इति च्फञ् । आयन्नादेशः । ततः स्वार्थे अनेन ञ्यः । एवं ब्राध्नायन्यः ।

(२०६७ , आयुधजीवि । वाहीकेष्विति । वाहीकाख्यग्रामविशेषेष्वित्यर्थः । क्षौद्रक्य इति । क्षुद्रको नाम कश्चिदायुधजीविनां वाहीकदेशवासिनां सङ्घः । स एव क्षौद्रक्यः ।

विभक्तिकार्य । (२) 'पूग' से भिन्न दूसरे 'व्रात'[1] संघ का उदाहरण दिया जा रहा है। 'व्रात' उन व्यक्तियों के संघ की संज्ञा है, जो शारीरिक परिश्रम द्वारा जीविका-निर्वाह करते थे। **उदाहरण**—(क) **कापोतपाक्यः** (कबूतरों को पकाकर जीविका-निर्वाह करने वाला संघ—कपोतान् पचति-कपोतपाकः, स एव)—कपोतपाक+ञ्य (= य)। कपोतपाक→कपोत-√पच्+घञ् (=अ), उपधावृद्धि एवम् कुत्व-च् = क्—"चजोः कु-घि-ण्ण्यतोः" (७-३-५२)। (क) 'व्रात' वाची शब्दों से सू० ११०० "व्रातच्फञोरस्त्रियाम्" (५-३-११३) सूत्र द्वारा स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय का विधान पहले किया जा चुका है, उसका स्मरण यहाँ दिलाया जा रहा है। (ख) 'च्फञ्' प्रत्ययान्त से स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय का प्रासङ्गिक **उदाहरण—कौञ्जायन्यः** (कुञ्ज के वंशजों का समूह—कौञ्जायनः एव)—कुञ्जस्य गोत्रापत्यम् कौञ्जायनः-च्फञ्-सू० १०९९ "गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्" ४-२-९८, फ = आयन—कौञ्जायन+ञ्य (= य) स्वार्थ में सू० ११००, अन्त्यवर्ण = 'अ' लोप। (ग) इसी प्रकार **ब्राध्नायन्यः** (ब्रध्न के वंशजों का समूह—ब्राध्नायनः एव)—ब्राध्नायन+ञ्य (= य)। प्रक्रिया (ख) के समान।

(२०६७) पद—आयुधजीविसंघात्, ञ्यट्, वाहीकेषु, ब्राह्मणराजन्यात्। **अनुवृत्ति**-तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

५-२-७८); और तीसरे अंगुत्तर निकाय का उल्लेख कि **ग्रामणी** दो प्रकार के थे—एक ग्रामग्रामणी और दूसरे पूग-ग्रामणी। पाणिनि ने स्वयं कहा है कि पूगों का घनिष्ठ सम्बन्ध 'ग्रामणी' से था, क्योंकि "पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्" (५-३-११) सूत्र में पूगों का नामकरण दो प्रकार से सूचित किया है, एक ग्रामणी के नाम से और दूसरा अन्य आधार पर। जैसे लाल झंडेवाला 'पूग' लोहध्वज कहलाता था, पर देवदत्तकाः, यज्ञदत्तकाः—उस 'पूग' का नाम होता था जिसका ग्रामणी देवदत्त या यज्ञदत्त हो। इस शब्दरूप की सिद्धि "स एषां ग्रामणीः" सूत्र से होती है। यह प्रथा सीमाप्रान्त के कबायली इलाकों में अब भी विद्यमान है।

१. 'व्रात' उन लड़ाकू जातियों की संज्ञा थी, जो लूटमार करके निर्वाह करती थी। इनके विपरीत योद्धाओं को ऋग्वेद में **व्रातसाहः** कहा गया है (६-७५-९)। महाभारत में दार्वाभिसार दरद जनपद के निवासियों को 'व्रात' कहा गया है (द्रोणपर्व ९३।४४)। "व्रातेन जीवति" (५-२-२१) सूत्रस्थ उदाहरण 'व्रातीनः' में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'व्रात' शब्द का अर्थ उत्सेध या लूटमार माना है—**नानाजातीया अनियतवृत्तयः उत्सेधजीविनः संघा व्राताः। तेषां कर्म व्रातम्। व्रातेन कर्मणा जीवति व्रातीनः**—(महाभाष्य ५-२-२१)। कदाचित् श्रौतसूत्रोक्त 'व्रात्य' भी यही व्रात हों। लाट्यायन श्रौतसूत्र में व्रात्यों के लिये 'व्रातीन' शब्द प्रयुक्त भी हुआ है (८-५-१)। 'ताण्ड्यब्राह्मण' में सायण ने व्रात का अर्थ व्रात्यसमुदाय किया है (१७-१-५)।

टिरवान्ङीप् । क्षौद्रकी । आयुध—इति किम् ? मल्लाः । सङ्घ—इति किम् ? सम्राट् । वाहीकेषु किम् ? शबराः । अब्राह्मण—इति किम् ? गोपालकाः, शालङ्कायनाः । ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणम् । राजन्ये स्वरूपग्रहणम् । (२०६८) वृकाट्टेण्यण् ५ । ३ । ११५ ॥

मालव्य इति । मालवो नाम कश्चिद्वाहीकेषु आयुधजीविनां सङ्घः । स एव मालव्यः । टित्वात् ङीबिति । एवं च अस्त्रियामिति नात्र सम्बध्यत इवि भावः । तद्विशेषेति । व्याख्यानादिति भावः ।

(२०६८) वृकाट्टेण्यण् । वृको नाम कश्चिदायुधजीविसङ्घः । स एव वार्केण्यः ।

मूलार्थ—वाहीकस्थ आयुधजीवि-संघ-वाची शब्दों से स्वार्थ में 'ञ्यट्' (=य) प्रत्यय होता है । उदा० १–क्षौद्रक्यः । २–मालव्यः । 'टित्' होने से ङीप्—क्षौद्रकी । 'आयुध' क्यों कहा ? मल्लाः । 'सङ्घ' क्यों कहा ? सम्राट् । 'वाहीक' क्यों कहा ? शबराः । 'अब्राह्मण' क्यों कहा ? क—गोपालकाः । ख—शालङ्कायनाः । 'ब्राह्मण' से तात्पर्य ब्राह्मण-विशेष का ग्रहण है । 'राजन्य' से स्वरूप का ग्रहण किया गया है ।

विवरण—संघ-विशेषों के सम्बन्ध में ही प्रत्यय-विधान बतलाया जा रहा है । आधिकारिक एवं प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "वाहीकदेशवासी ब्राह्मण और राजन्यों से भिन्न जाति वाले अस्त्रजीवी संघवाचक शब्दों से 'ञ्यट्' (=य) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**क्षौद्रक्यः** ([1]क्षुद्रक नाम वालों का संघ—क्षुद्रकः एव)—क्षुद्रक+ञ्यट् (=य) । आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप । 'टित्' होने से स्त्रीलिङ्ग में ङीप्—क्षौद्रक्य्+ई > क्षौद्रकी ("हलस्तद्धितस्य" ६-४-१५० से यलोप) । (२) **मालव्यः** ([2]मालव संघ–मालवः एव)—मालव+ञ्यट् (=य) । शेष पूर्ववत् ।

प्रत्युदाहरण—(१) 'आयुध'जीवी न होने से **मल्लाः** (वाहीक जनपद के मल्लों का समूह) में, 'संघात्मकता' न होने के कारण **सम्राट्** (वाहीक देश का शस्त्रजीवी व्यक्तिगत राजा) में, 'वाहीक'देश से भिन्न जंगली जाति का समूह होने से **शबराः** में, एवं ब्राह्मण तथा राजन्यों का संघ होने से **गोपालकाः** ब्राह्मणाः[3] (गाय पालने वाले ब्राह्मण) तथा **शालङ्कायनाः** राजन्याः[4] (शालङ्कायन[5] नामक राजन्यों का समूह) में 'ञ्यट्' नहीं होता ।

विशेष—यहाँ ब्राह्मण से विशिष्ट प्रकार का तथा राजन्य से स्वरूप का ग्रहण स्वीकृत किया गया है । इसी प्रकार प्राचीन वृत्तिकारों ने व्याख्या की है ।

(२०६८) पद—वृकात्, टेण्यण् । **अनुवृत्ति**—आयुधजीविसङ्घात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

---

१. 'क्षुद्रक' और २. 'मालव' वाहीक के आयुध जीवी संघों में प्रसिद्ध गणराज्य थे । ३. पाणिनि ने ब्राह्मण-संघों का भी उल्लेख किया है, जिनमें गोपालक(व)का उल्लेख प्रत्युदाहरण में किया जा चुका है । ४. प्रकृत सूत्र (५-३-११४) में पठित 'राजन्य' शब्द के विषय में टीकाकारों का मत है कि वाहीक देश के 'राजन्य' नामक संघविशेष से यहाँ तात्पर्य है (राजन्ये स्वरूपग्रहणम्) । तथ्य यह था कि उस समय के पञ्जाब (वाहीक) में दो राजन्य थे । एक राजन्य नामक संघ, जिनके सिक्के होशयारपुर जिले में पाए गये हैं । दूसरे राजन्यों का विषय या देश राजन्यक कहलाता था ("राजन्यादिभ्यो वुञ्" ४-२-५३) । ये राजन्य कांगड़ा के पहाड़ी इलाकों में बसे हुए थे । अब भी 'राजन्य' उपनाम वाले लोग वहाँ पाए जाते हैं । यद्यपि इनकी सामान्य उपाधि राजन्य थी, फिर भी इनके हर एक संघ का अपना अपना नाम था । ५. शालंकायन नामक राजन्य जिसका उल्लेख भाष्य और काशिका में आया है, उक्त प्रदेश का कोई संघ-विशेष था । सम्भव है कि शालङ्कायन संघ का मूल उद्गम इस गोत्र से हुआ हो ।

आयुधजीविसङ्घवाचकात्स्वार्थे । वार्केण्यः । आयुध इति किम्? जातिविशेषान्मा भूत् ।
(२०६९) दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः ५ । ३ । ११६ ॥ दामन्यादिभ्यस्त्रिगर्तषष्ठेभ्य-श्चायुधजीविसङ्घवाचिभ्यः स्वार्थे छः स्यात् । त्रिगर्तः षष्ठो वर्गो येषां ते त्रिगर्तषष्ठाः । 'आहुस्त्रिगर्तषष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी । क्रौष्टुकिर्जालमानिश्च ब्राह्मगुप्तोऽथ जालकिः' ॥ दामनीयः, दामनीयौ, दामनयः । औलपि-औलपीयः । त्रिगर्ते-कौण्डोपरथीयः । दाण्ड-

---

आदिवृद्धिः । रपरत्वम् । जातिविशेषादिति । वृको नाम कश्चिन्मनुष्यखादी चतुष्पाज्जाति-विशेषः प्रसिद्धः । तस्मान्नेत्यर्थः ।

(२०६९) दामन्यादि । दामनिः आदिर्यस्य दामन्यादिः । त्रिगर्तः षष्ठो यस्य वर्गस्य सः त्रिगर्तषष्ठः । दामन्यादिश्च त्रिगर्तषष्ठश्चेति समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी । फलितमाह—दाम-न्यादिभ्यस्त्रिगर्तषष्ठेभ्यश्चेति । आयुधजीविनां हि षड्वर्गः, तत्र षष्ठस्त्रिगर्तः वर्गः, तेभ्यः षड्वर्गेभ्य इति यावत् । के ते त्रिगर्तषष्ठा इत्यत आह—आहुरिति । कौण्डोपरथः, दाण्डकिः, क्रौष्टुकिः, जालमानिः, ब्राह्मगुप्तः, जालकिः—इत्येतान् त्रिगर्तषष्ठान् आहुरित्यर्थः । जालकिरिति त्रिगर्तस्य नामान्तरम् । एतेषु षट्सु कौण्डोपरथब्राह्मगुप्तशब्दौ शिवाद्य-णन्तौ । शेषः इञन्तः । दामादिगणमुदाहरति—दामनीय इति । दामनिरेव दामनीयः ।

मूलार्थ—आयुधजीवि-संघ-वाचक (वृक) से स्वार्थ में (टेण्यण् हो)। उदा० वार्केण्यः । 'आयुध' क्यों कहा ? जातिविशेष से न हो ।

विवरण—आयुधजीवी संघ का विषय वर्तमान है । अतः "आयुधजीवि-सङ्घवाची 'वृक' शब्द से 'टेण्यण्' (=एण्य) प्रत्यय स्वार्थ में होता है" । **उदाहरण**—वार्केण्यः ('वृक' [1]सङ्घ ही—वृक एव) वृक्+एण्य ▷ वार्केण्यः (आदिवृद्धि—ऋ=आर् तथा अन्त्यवर्णलोप)।

प्रत्युदाहरण—'आयुधजीवी' के अतिरिक्त भेड़िये के अर्थ में पशुवाची 'वृक' शब्द से 'टेण्यण्' प्रत्यय नहीं होता ।

(२०६९) पद—दामन्यादित्रिगर्तषष्ठात्, छः । **अनुवृत्ति**—आयुधजीविसङ्घात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आयुधजीवि-सङ्घवाची दामन्यादि तथा त्रिगर्तषष्ठों से स्वार्थ में 'छ' हो । जिस वर्ग का छठा वर्ग त्रिगर्त हो—त्रिगर्तः षष्ठः वर्गः येषां ते←त्रिगर्तषष्ठाः । कौण्डोपरथ, दाण्डकि, क्रौष्टकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त तथा जालकि—ये छह त्रिगर्त-षष्ठ हैं । (दामन्यादि)—१—दामनीयः, दामनीयौ, दामनयः । २—औलपि—औलपीयः । त्रिगर्त—१—कौण्डोपरथीयः । २—दाण्डकीयः ।

विवरण—पूर्व सूत्रवत् सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ पदों के साथ उनका अन्वय होने से यह आशय प्रकट होता है कि "आयुधजीवि-सङ्घ-वाचक दामन्यादि एवं त्रिगर्तषष्ठ शब्दों से स्वार्थ में 'छ' (=ईय) प्रत्यय होता है" । 'दामन्यादित्रिगर्तषष्ठात्' पद समाहार द्वन्द्व से पञ्चमी विभक्ति में है । विग्रह इस प्रकार है—दामनिः आदिः येषां ते दामन्यादयः, त्रिगर्तः षष्ठः येषां ते त्रिगर्तषष्ठाः, दामन्यादयश्च त्रिगर्तषष्ठाः च दामन्यादित्रिगर्तषष्ठम्, तस्मात् । इस प्रकार इस समस्त पद से दो प्रकार के समुदायवाची शब्दों का बोध होता है । प्रथम दामनि आदि शब्द तथा दूसरा ऐसा समुदाय, जिसका छठा शब्द 'त्रिगर्त' हो । आगे चलकर एक कारिका

---

१. 'वृक' नामक आयुधजीवी संघ की भौगोलिक स्थिति का निश्चय नहीं हो पाया है । काशिका के अनुसार इस सूत्र में 'वाहीक' की अनुवृत्ति नहीं आती, अतः यह वाहीक से बाहर का संघ होना चाहिये । दारा के बहिस्तून लेख में 'वर्का' नामक शक जाति का उल्लेख आता है जिसका एकवचन में रूप 'वार्कण' होता था । ये दोनों रूप पाणिनि के 'वृक' तथा 'वार्केण्य' से मिलते हैं । द्रष्टव्य—पाणिनि कालीन भारतवर्ष—पृष्ठ ४५३ ।

कीयः । (२०७०) पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ ५ । ३ । ११७ ॥ आयुधजीविसङ्घवाचिभ्यः एभ्यः क्रमादणञौ स्तः स्वार्थे । पार्शवः, पार्शवौ, पर्शवः । यौधेयः, यौधेयौ,

---

औलपीति । प्रकृतिप्रदर्शना । औलपीय इति । औलपिशब्दात् स्वार्थे छः । त्रिगर्तेति । त्रिगर्तषष्ठानामुदाहरणसूचनमिदम् । कौण्डोपरथीय इति । कौण्डोपरथशब्दात्स्वार्थे छः । दाण्डकीय इति । दाण्डकिशब्दात् स्वार्थे छः । क्रौष्टुकीयः, जालमानीयः, ब्राह्मगुप्तीयः, जालकीयः इत्यप्युदाहार्यम् ।

(२०७०) पर्श्वादियौधेयादि । एभ्य इति । पर्श्वादिभ्यो यौधेयादिभ्यश्चेत्यर्थः । पार्शव इति । पर्शुशब्दाज्जनपदक्षत्रियविशेषयोर्वाचकादपत्येऽर्थेषु 'द्व्यञ्मगध' इत्यण् । ततोऽपत्यसङ्घविवक्षायामनेन अणिति भावः । पर्शव इति । अपत्यसङ्घबहुत्वविवक्षायां प्रकृतस्याणोऽपि तद्राजत्वाल्लुक् 'ञ्यादयस्तद्राजाः' इति वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । यौधेय इति ।

में उन छहों शब्दों की सूची इस प्रकार दी है—कौण्डोपरथ, दाण्डकि, क्रोष्टकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त तथा जानकि (या जालकि)। इसमें भी साक्षात् 'त्रिगर्त' शब्द का उल्लेख नहीं है। 'जानकि' का दूसरा नाम 'त्रिगर्त' है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "आयुधजीविसंघवाची दामन्यादि-गणपठित शब्द तथा त्रिगर्त-षष्ठ शब्दों से स्वार्थ में 'छ' (= ईय) प्रत्यय होता है"। उपर्युक्त छहों शब्दों में 'कौण्डोपरथ' तथा 'ब्राह्मगुप्त' शब्द शिवादिगण-पठित होने से अण् प्रत्ययान्त हैं। अवशिष्ट चार शब्द 'इञ्' प्रत्ययान्त हैं। दामन्यादिगण के दो **उदाहरण**—(१) **दामनीयः** ('दामनि' [1]नामक शस्त्रजीवियों का संघ—दामनिः-एव→दामनि + छ = ईय, अन्त्य-वर्ण-लोप)। द्विवचन में **दामनीयौ** तथा बहुवचन में 'तद्राज'-संज्ञा होने के कारण प्रत्यय का लुक् (= लोप) हो जाता है, अतः प्रकृति-वाची दामनि शब्द के बहुवचन की तरह **दामनयः** (दामनि + जस्, गुण, अयादेश) रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार (२) **औलपीयः** (औलपि[2] नामक शस्त्र-जीवियों का समूह—औलपिः एव)—औलपि + छ (= ईय)। द्विवचन में औलपीयौ तथा बहुवचन में औलपयः रूप बनेंगे। 'त्रिगर्तषष्ठ' के **उदाहरण**—(१) **कौण्डोपरथीयः** (कौण्डोपरथ[3] नामक शस्त्रजीवियों का समूह—कौण्डोपरथः एव)—कौण्डोपरथ + छ (= ईय)। (२) **दाण्डकीयः** ('दाण्डकि' नामक शस्त्रजीवियों का संघ)—दाण्डकि + छ (= ईय)।

(२०७०) पद—पर्श्वादियौधेयादिभ्यः, अणञौ। **अनुवृत्ति**—आयुधजीविसङ्घात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—आयुधजीविसङ्घवाची पर्श्वादि तथा यौधेयादि से स्वार्थ में यथासंख्य 'अण्' तथा 'अञ्' हों। उदा० १-पार्शवः, पार्शवौ, पर्शवः। २-यौधेयः, यौधेयौ, यौधेयाः।

विवरण—विषय एवम् अनुवृत्तियों का सातत्य पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार ""पर्श्वादि' तथा यौधेयादि-गण-पठित शब्दों से स्वार्थ में यथासंख्य 'अण्' तथा 'अञ्' प्रत्यय होते हैं"।

---

१. यह वाहीकेतर शस्त्रजीवी संघ था। बलूचिस्तान के उत्तर-पश्चिम में चंगाई प्रदेश में 'दामनी' नामक बलिष्ठ लड़ाकू जाति अब भी निवास करती है। २. इसका उल्लेख कहीं नहीं मिला है। ३. 'त्रिगर्त' प्रदेश का एक छोटा संघराज्य। रावी, व्यास तथा सतलज—इन तीन नदी-दूनों के बीच का प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसी का पुराना नाम जालन्धरायण भी था, जिसका राजन्यादिगण में उल्लेख हुआ है (४-२-५३)। अब भी त्रिगर्त कांगड़ा का प्रदेश जालन्धर कहलाता है। महाभारत में त्रिगर्त के संसप्तक योद्धा दुर्योधन की ओर से अपनी जान पर खेल कर लड़े थे। पाणिनि ने इसी त्रिगर्त के छह संघराज्यों का उल्लेख किया है (५-३-११६), जिनमें से एक कौण्डोपरथ रहा। ब्राह्मगुप्त की पहचान आधुनिक भ्रमोर (ब्रह्मपुर) से की जाती है।

यौधेयाः । (२०७१) अभिजिद्विदभृच्छालावच्छिखावच्छमीवदूर्णावच्छ्रुमदणो यञ् ५।३।११८ ॥ अभिजिदादिभ्योऽणन्तेभ्यः स्वार्थे यञ्स्यात् । अभिजितोऽपत्यमाभिजित्यः । वैदभृत्यः । शालावत्यः । शैखावत्यः । शामीवत्यः । और्णावत्यः । श्रौमत्यः । (२०७२)

युधाशब्दादपत्येऽर्थे 'द्व्यचः' इति ढक् । तदन्तापत्यसङ्घविवक्षायामनेन अञ् । ञित्त्वम् आद्युदात्तत्वफलकम् । **यौधेया इति** । अपत्यसङ्घबहुत्वविवक्षायाम् 'तद्राजस्य' इत्यनो लुक् । 'कितः' इत्यन्तोदात्तं फलम् ।

(२०७१) अभिजिद्विदभृत् । अभिजित्, विदभृत्, शालावत्, शिखावत्, शमीवत्, ऊर्णावत्, श्रुमत् एषां समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्या लुक् । अण इति प्रत्ययत्वात् तदन्तग्रहणम् । तदाह—**अभिजिदादिभ्य इति** । अत्र 'आयुधजीविसङ्घादिति निवृत्तम्' इति वृत्तिः । **आभिजित्य इति** । अभिजितोऽपत्यम् आभिजितः । अपत्येऽण् । आभिजित एव आभिजित्यः । **वैदभृत्य इति** । विदभृतोऽपत्यं वैदभृतः । स एव वैदभृत्यः । **शालावत्य इति** । शालावतोऽपत्यं शालावतः स एव शालावत्यः । **शैखावत्य इति** । शिखावतोऽपत्यं शैखावतः, स एव शैखावत्यः । **शामीवत्य इति** । शमीवतोऽपत्यं शामीवतः स एव शामीवत्यः । **और्णावत्य इति** । ऊर्णावतोऽपत्यमौर्णावतः, स एव और्णावत्यः । **श्रौमत्य**

पर्श्वादि-उदाहरण—(१) पार्शवः ('पर्शु' नामक आयुधजीवियों का समूह—पर्शुः एव)— पर्शु से जनपदादि अर्थ में "द्व्यञ्मगध०" (४-१-१७०) से अण् = अ, आदिवृद्धि, गुण, 'अव्', अन्त्यलोप आदि कार्य । पुनः 'अण्'प्रत्यय तथा अन्त्यलोप । द्विवचन में-पार्शवौ । अपत्यसङ्घ की बहुत्व विवक्षा में प्रकृत सूत्र से विहित 'अण्' का भी आगे आने वाले सूत्र "ञ्यादयस्तद्राजाः" (५-३-११९) से तद्राजसंज्ञा होने के कारण "'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्" (२-४-६२) से 'जस्' पर रहते 'अण्' का 'लुक्' (= लोप) होने पर नैमित्तिक वृद्धि एवं 'गुण' की भी निवृत्ति हो जाने के फलस्वरूप पर्शवः (पर्शु + जस्) रूप निष्पन्न होगा । (२) यौधेयादि—(क) यौधेयः (यौधेय नामक अस्त्रजीवियों का सङ्घ—यौधेयः एव)→युधा + ढक् (अपत्यार्थ में "द्व्यचः" ४-१-१२१)→ तदन्त अपत्यवाची यौधेय शब्द से संघ की विवक्षा में—यौधेय + अञ् (= अ) । अन्त्यवर्णलोप । (ख) द्विवचन में यौधेयौ । (ग) बहुवचन में यौधेयाः (यहाँ तद्राजसंज्ञा होने पर भी कोई अन्तर नहीं होगा, क्योंकि 'अञ्' का लोप हो जाने से 'ढक्' प्रत्ययान्त यौधेय शब्द में हुई आदिवृद्धि 'अञ्' प्रत्यय के निमित्त नहीं हुई है ।

(२०७१) पद—अभिजिद्······अणः, यञ् । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अण्-प्रत्ययान्त अभिजित् आदि शब्दों से स्वार्थ में 'यञ्' हो । उदा० १–अभिजितः अपत्यम्—आभिजित्यः । २–वैदभृत्यः । ३–शालावत्यः । ४–शैखावत्यः । ५–शामीवत्यः । ६–और्णावत्यः । ७–श्रौमत्यः ।

विवरण—उद्देश्यवाची ७ शब्द हैं और वे 'अण्'—प्रत्ययान्त अपेक्षित हैं । उनके सूचक लम्बे पद में समाहारद्वन्द्वगर्भित षष्ठी तत्पुरुष समास है—अभिजिच्च, विदभृच्च, शालावच्च, शिखावच्च, शमीवच्च, ऊर्णावच्च, श्रुमच्च→अभिजि···श्रुमतः, तेषां अभिजिद्···श्रमताम्, एषां सम्बन्धी अण्→अभिजिद्···श्रुमदण्, तस्मात् । प्रत्यय होने के कारण 'अण्' तदन्त का बोधक होगा । अतः सूत्र का आशय यह है कि "'अण्' प्रत्ययान्त 'अभिजित्' आदि सात शब्दों से स्वार्थ में 'यञ्' प्रत्यय हो" । क्रमशः **उदाहरण**-(१) आभिजित्यः (अभिजित् के वंशज—अभिजितः अपत्यम्→ आभिजितः←अभिजित् + अण् (अपत्यार्थ), स एव, आभिजित + यञ् = य–आभिजित्यः) । २–वैदभृत्यः—विदभृत् के वंशज—विदभृतः अपत्यम्–वैदभृतः (अण्), स एव वैदभृत्यः (यञ्) ।

ञ्यादयस्तद्राजाः ५ । ३ । ११९ ॥ 'पूगाञ्ञ्यः–' (सू २०६६) इत्यारभ्य उक्ता एतत्सञ्ज्ञाः स्युः । तेनास्त्रियां बहुषु लुक् । लोहितध्वजाः, कपोतपाकाः, कौञ्जायनाः,

---

इति । श्रुमतोऽपत्यं श्रौमतः, स एव श्रौमत्यः । अत्र अभिजिदित्यादिशब्देषु यञः स्वार्थिकतया गोत्रार्थकत्वादाभिजित्यस्यायमिति विग्रहे 'गोत्रचरणात्' इति वुञि 'आपत्यस्य च' इति यलोपे आभिजितक इति भवति । 'अपत्याणन्तेभ्य एवायं यञ् । तेन आभिजितो मुहूर्त इत्यादौ न यञ्' इति भाष्ये स्पष्टम् ।

(२०७२) ञ्यादयस्तद्राजाः । लोहितध्वजा इति । 'पूगात्' इति विहितस्य ञ्यस्य तद्राजत्वात् बहुत्वे लुक् । कपोतपाकाः कौञ्जायनाः ब्राध्नायना इति । 'व्रातच्फञोः' इति विहितस्य ञ्यस्य लुक् । इत्यादीति । क्षौद्रक्यः, क्षौद्रक्यौ, क्षुद्रकाः । आयुधजीवीति ञ्यटो लुक् । वार्केण्यः, वार्केण्यौ, वृकाः । वृकाट्टेण्यणो लुक् । दामनीयः, दामनीयौ, दामनयः, कौण्डोपरथाः इत्यादौ 'दामन्यादित्रिगर्तषष्ठात्' इति छस्य लुक् । पार्शवः, पार्शवौ, पर्शवः, यौधेयाः इत्यत्र पर्श्वादियौधेयाद्यणञोर्लुक् । आभिजित्यः आभि-

---

(३) **शालावत्यः**—शालावत् के वंशज—शालावतः अपत्यम् शालावतः, (शालावत् अण्), स एव—शालावत+यञ् । (४) **शैखावत्यः** (शिखावत् के वंशज—शिखावतः अपत्यम् (अण्)-शैखावतः, स एव (यञ्) । (५) **शामीवत्यः**—शमीवत् के वंशज—शमीवतः अपत्यम् (अण्) शामीवतः, स एव (यञ्) । (६) **और्णावत्यः**—ऊर्णावत् के वंशज—ऊर्णावतः अपत्यम् और्णावतः (अण्), स एव (यञ्) । (७) **श्रौमत्यः**—श्रुमत् के वंशज—श्रुमतः अपत्यम्—श्रुमतः (अण्), स एव (यञ्) ।

विशेष—(१) उपर्युक्त सातों शब्दों के बहुवचन में पूर्ववत् तद्राजसंज्ञा होने के कारण 'यञ्' प्रत्यय का लोप होने से 'अण्' प्रत्ययान्त निष्पन्न शब्दों के समान रूप बनेंगे—(१) आभिजिताः । (२) वैदभृताः (३) शालावताः । (४) शैखावताः । (५) शामीवताः । (६) और्णावताः तथा (७) श्रौमताः ।

(२) यहाँ अपत्यार्थक अणन्त से स्वार्थ में ही 'यञ्' प्रत्यय का विधान है, अतः अपत्यार्थक यञन्त से 'आभिजित्यस्य अयम्'—इस विग्रह में "गोत्रचरणाद् वुञ्" (४-३-२६) से 'वुञ्' (=अक) प्रत्यय होने पर 'य्' लोप ("आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" (६-४-१५१) की प्रसक्ति होने के पश्चात् 'आभिजितकः' रूप निष्पन्न होगा ।

(३) अपत्यार्थक अणन्त प्रातिपदिक से ही प्रकृत सूत्र से 'यञ्' प्रत्यय होने के फलस्वरूप 'आभिजितः मुहूर्तः' इत्यादि में 'यञ्' नहीं हुआ है ।

(२०७२) पद—ञ्यादयः, तद्राजाः । **सञ्ज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—'पूगाञ्ञ्यः' (सू० २०६६) से आरम्भ हुए प्रत्ययों की 'तद्राज' संज्ञा होती है । इस से स्त्रीलिङ्ग-भिन्न प्रयोगों में बहुवचन में प्रत्यय का लोप होता है । उदा० लोहितध्वजाः, कपोतपाकाः, कौञ्जायनाः, ब्राध्नायनाः इत्यादि रूप बनते हैं ।

विवरण—यह संज्ञा सूत्र है । संज्ञा 'तद्राज' है तथा संज्ञी 'ञ्यादयः' है । 'ञ्य' आदि संज्ञी की सीमा का संकेतार्थक प्रारम्भिक शब्द 'ञ्यादयः' है । तदनुसार "पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्" (५-३-११२) से लेकर इस सूत्र के पूर्वतक कहे गए प्रत्ययों की 'तद्राज' संज्ञा होती है" । इसके फलस्वरूप बहुवचन में "तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्" (२-४-६२) से प्रत्यय का लुक् हो जाता है । उन प्रत्ययों के 'लुक्' होने का यहाँ स्मरण दिलाया जा रहा है—(१) **लोहितध्वजाः** ("पूगाञ्ञ्यः०" ५-३-११२ से विहित 'ञ्य' का लुक्) । (२) **कपोतपाकाः**, (३) **कौञ्जायनाः** तथा (४) **ब्राध्नायनाः** में "व्रातच्-फञोरस्त्रियाम्" (५-३-११३) से विहित 'ञ्य'

ब्राध्नायनाः इत्यादि । (२०७३) पादशतस्य सङ्ख्यादेर्वीप्सायां वुन्लोपश्च ५।४।१॥ लोपवचनमनैमित्तिकत्वार्थम्, अतो न स्थानिवत् । 'पादः पत्' (सू ४२४) । 'तद्धितार्थ—' (सू ७२८) इति समासे कृते प्रत्ययः । वुन्नन्तं स्त्रियामेव ।

जित्यौ, अभिजितः, विदभृतः इत्यादौ अभिजिद्विदभृदित्यादिविहितस्य यञो लुगिति भावः । इति तद्धिते पञ्चमाध्यायस्य तृतीयपादः समाप्तः ।

(२०७३) अथ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थपादप्रारम्भः । पादशतस्य सङ्ख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च । पादश्च शतं चेति समाहारद्वन्द्वात् लोपापेक्षया षष्ठी । वुन्प्रत्ययापेक्षया 'तु सा पञ्चम्यर्थे । सङ्ख्यावाचकशब्दपूर्वकात् पादशब्दात् शतशब्दाच्च वीप्साविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे वुन्प्रत्ययः स्यात्, प्रकृतेरन्त्यस्य लोपश्चेत्यर्थः । ननु वुनः अकादेशे सति 'यस्येति च' इत्येव लोपसिद्धेरिह लोपविधिर्व्यर्थं इत्यत आह—लोपवचनमनैमित्तिकत्वार्थमिति । 'यस्येति च' इति लोपस्य परनिमित्तकतया तस्य 'अचः परस्मिन्' इति स्थानिवत्त्वात् 'पादः पत्' इति पदादेशो न स्यात् । अस्य तु लोपस्य परनिमित्तकत्वाभावेन स्थानिवत्त्वाप्रसक्तेः पद्भावो निर्बाध इति भावः । तद्धितार्थे इति । न

का 'लुक्' । (५) क्षुद्रकाः में "आयुधजीविसङ्घाञ्ञ्यट्०" (५-३-११४) से विहित 'ञ्यट्' का लुक् । (६) वृकाः में "वृकाट्टेण्यण्" (५-३-११५) से विहित 'टेण्यण्' का लुक् । (७) दामनयः एवं (८) कौण्डोपरथाः में "दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः" (५-३-११) से विहित 'छ' का लुक् । (९) पर्शवः एवं (१०) यौधेयाः में "पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ" (५-३-११७) से विहित 'अण्' और 'अञ्' का क्रमशः 'लुक्' । (११) आभिजिताः, (१२) वैदभृताः, (१३) शालावताः, (१४) शैखावताः, (१५) शामीवताः, (१६) और्णावताः, तथा (१७) औमताः में "अभिजिद्विदभृद्०" (५-३-११८) से विहित 'यञ्' का लुक् हुआ है ।

(२०७३) पद—पादशतस्य, सङ्ख्यादेः, वीप्सायां, वुन्, लोपः, च । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यह 'लोप' किसी निमित्त को मान कर नहीं कहा गया है । इस लिए स्थानिवद्भाव नहीं होता । 'पाद' के स्थान में 'पत्' आदेश (होगा) । तद्धितार्थ से समास होने पर प्रत्यय की उत्पत्ति होती है । 'वुन्' प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में ही होता है । उदा० द्वौ द्वौ पादौ ददाति—द्विपदिकाम् । द्विशतिकाम् । वा० 'पाद' और 'शत' ग्रहण अनर्थक हैं, क्योंकि अन्यत्र भी 'वुन्' देखा जाता है । जैसे—द्विमोदकिकाम् ।

विवरण—यहाँ से पञ्चमाध्याय के चतुर्थपादस्थ प्रत्ययों का आरम्भ होता है । अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । सूत्रस्थ 'पादशतस्य' पद में समाहार द्वन्द्व समास है—पादश्च शतं च = पादशतम्, तस्य । इसके साथ ही 'पादशतस्य' पद का अन्वय दो पदों के साथ होता है—'लोपः' तथा 'वुन्' । 'लोप' के साथ तो वह यथास्थित षष्ठ्यर्थ में ही अन्वित होता है, किन्तु 'वुन्' प्रत्यय के साथ वह पञ्चम्यर्थ में अन्वित होता है । तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "संख्यापूर्वक पाद एवं 'शत' शब्दान्त प्रातिपदिकों से 'वीप्सा' गम्यमान होने पर 'वुन्' (= अक) प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय के साथ साथ 'पाद' और 'शत' के अन्त्यवर्ण ("अलोऽन्त्यस्य" १-१-५१ के आधार पर) का लोप भी हो" । प्रकृत सूत्र से विहित 'वुन्' प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में हैं । अन्त्यवर्ण का 'लोप' किसी निमित्त को लेकर नहीं हुआ है, अतः परनिमित्तकत्व का अभाव होने से "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" (१-१-५०) स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होगी । इसके फलस्वरूप उदाहरणस्थ 'पाद' शब्द के स्थान में "पादः पत्" (६-४-१३०) आदेश होने में बाधा नहीं होती । अतः 'लोप' पद निरर्थक नहीं है । **उदाहरण**—(१) द्विपदि-

द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकाम्। द्विशतिकाम्। 'पादशतग्रहणमनर्थकम्', अन्यत्रापि दर्शनात् (वा ३३१४)। द्विमोदकिकाम्। (२०७४) दण्डव्यवसर्गयोश्च ५।४।२॥ वुन्स्यात्। अवीप्सार्थमिदम्। द्वौ पादौ दण्डितः—द्विपदिकाम्। द्विशतिकां व्यवसृजति।

च वीप्सायाः प्रकृत्यर्थविशेषणतया वुनोऽर्थाभावात्कथमिह तद्धितार्थे इति समास इति वाच्यम्, वुनो द्योतकतया द्योत्यार्थेनैवार्थवत्त्वात्। वुन्नन्तं स्त्रियामेवेति। स्वभावादिति भावः। द्विशतिकामिति। द्वे द्वे शते ददातीति विग्रहः। पादशतेत्यादि। वार्तिकमिदम्। अनर्थकमिति कथम्, पादशतभिन्नव्यावृत्त्यर्थत्वादित्यत आह—अन्यत्रापि दर्शनादिति। तदुदाहृत्य दर्शयति—द्विमोदकिकामिति। द्वौ द्वौ मोदकौ ददातीति विग्रहः।

(२०७४) दण्डव्यवसर्गयोश्च। वुन् स्यादिति। सङ्ख्यादेः पादशतात् दण्डव्यवसर्गयोर्गम्यमानयोर्वुन् स्यात्प्रकृतेरन्तलोपश्चेत्यर्थः। दण्डनं दण्डः। बलात्कृत्य द्रव्यग्रहणम्। व्यवसर्गो दानम्। ननु पूर्वेण सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—अवीप्सार्थमिति। द्वौ पादौ दण्डित इति। बलात्कृत्य ग्राहित इत्यर्थः।

काम् (कार्षापण के दो दो चतुर्थांश = ½ देता है—द्वौ द्वौ पादौ ददाति)—द्वि+औ, पाद+औ >द्विपाद+वुन् ("तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" २-१-५० से सर्वप्रथम समास) > द्विपाद्+अक (वु = अक) > द्वि-पाद्+अक ('अ' का लोप) > द्विपद्+अक (पाद् = पद) > द्विपद्+अक+टाप् (= आ) > द्विपदिका ('अ' = इ-"प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" ७-३-४४)—द्विपदिकाम् (द्वितीया का एक वचन)। (२) **द्विशतिकाम्** (दो दो सौ देता है—द्वे द्वे शते ददाति)—द्वि+औ, शत+औ > द्विशत+वुन् > द्विशत्+अक > द्विशत+अक ('अ' लोप) > द्विशतिक+टाप् (= आ) (अ = इ) > द्विशतिकाम् (विभक्तिकार्य)।

विशेष—यहाँ 'वीप्सा' रूप अर्थ तो प्रकृत्यर्थ का विशेषण है तथा 'वुन्' प्रत्यय का कोई अर्थ नहीं माना गया है। ऐसी स्थिति में 'तद्धितार्थ को अभिलक्षित कर समास की सम्भावना कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि तद्धित प्रकरणस्थ 'वुन्' प्रत्यय से ही तद्धितार्थ के द्योतित होने के फलस्वरूप समास होने में कोई आपत्ति नहीं है।

वीप्सा में 'द्वि' का दो बार प्रयोग है।

वार्तिक—प्रकृत सूत्रस्थ 'पाद' और 'शत' शब्दों के अतिरिक्त भी द्विमोदकिकाम् (दो दो लड्डू देता है—द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति) आदि वुन्-प्रत्ययान्त प्रयोग देखे जाते हैं, अतः इन दोनों शब्दों का ग्रहण एक प्रकार से अनावश्यक है।

(२०७४) पद—दण्डव्यवसर्गयोः, च। **अनुवृत्ति**—पादशतस्य संख्यादेः वुन् लोपश्च, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'वुन्' हो। अवीप्सार्थ यह विधान है। उदा० १-द्वौ पादौ दण्डितः—द्विपदिकाम्। २-द्विशतिकां व्यवसृजति। अर्थात् देता है।

विवरण—अवीप्सार्थ होने से 'वीप्सायाम्' पद के अतिरिक्त पूर्व सूत्र (२०७३) अनुवर्तमान है। अतः "'दण्ड' तथा 'दान' (व्यवसर्ग) गम्यमान होने पर संख्यापूर्वक 'पाद' तथा 'शतान्त' शब्दों से भी 'वुन्' प्रत्यय होता है तथा 'पाद' एवं 'शत' के अन्त्यवर्ण का लोप भी होता है"। **उदाहरण**—(१) **द्विपदिकाम्** (दो चतुर्थांश दण्ड दिया गया है—द्वौ पादौ दण्डितः)। तथा (२) **द्विशतिकां** व्यवसृजति (दो सौ दान देता है—द्वे शते व्यवसृजति)।

विशेष—वीप्सा न होने के कारण ही इस सूत्र की सार्थकता है। अतः उदाहरणों में विग्रह की स्थिति में 'द्वि' का दो बार प्रयोग नहीं किया गया है। 'क्रियासाकल्येन सम्बन्धुमिच्छा'—वीप्सा।

ददातीत्यर्थः। (२०७५) स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् ५।४।३॥ जातीयरोऽपवादः। स्थूलकः। स्थूलप्रकारः। अणुकः। 'चञ्चद्बृहतोरुपसङ्ख्यानम्' (वा ३३१५)। चञ्चत्कः। बृहत्कः। 'सुराया अहौ' (ग सू १३०)। सुरावर्णोऽहिः सुरकः। (२०७६) अनत्यन्तगतौ क्तात् ५।४।४॥ छिन्नकम्। भिन्नकम्। अभिन्नकम्।

(२०७५) स्थूलादिभ्यः। प्रकारो भेदः सादृश्यं च, व्याख्यानात्। तद्वति वर्तमाना-द्यथायोग्यं कन्नित्यर्थः। जातीयरोऽपवाद इति। एतेन अयमपि तद्वदेव प्रकारवति भवति, न तु प्रकारमात्रे इति सूचितम्। चञ्चत्क इति। चञ्चधातुश्चलने। अचञ्चन्नपि यश्चञ्चन्निव दृश्यते स चञ्चत्कः। यथा स्पन्दमानस्वच्छजलमध्यवर्ती मणिः। बृहत्क इति। अबृहन्नपि बृहन्निव दृश्यते स बृहत्कः, बृहदाख्यसामविशेषो वा। सुराया अहाविति। गणसूत्रमिदम्। प्रकारवचने कन्निति शेषः। सुरायाः अहावेवेतिनियमार्थमिदम्। सुरक इति। 'केऽण' इति ह्रस्वः।

(२०७६) अनत्यन्तगतौ क्तात्। अत्यन्तगतिः अशेषावयवसम्बन्धः, तदभावः अनत्यन्तगतिः, तस्यां गम्यमानायां क्तान्तात्कन्नित्यर्थः। छिन्नकमिति। किञ्चिदवयवा-वच्छेदेन छिन्नमित्यर्थः।

(२०७५) पद—स्थूलादिभ्यः, प्रकारवचने, कन्। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'जातीयर्' का अपवाद है। उदा० १—स्थूलकः = स्थूलप्रकारः। २—अणुकः। वा० 'चञ्चत्' तथा 'बृहत्' से भी (कन्) कहा जाय। उदा० १—चञ्चत्कः। २—बृहत्कः। ग० सू० 'सुरा' शब्द से 'अहि' गम्यमान होने पर हो। उदा० सुरावर्णः अहिः—सुरकः।

विवरण—सूत्रार्थ की दृष्टि से केवल आधिकारिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "'स्थूलादि' प्रातिपदिको से 'प्रकार' कथन होने पर 'कन्' (= क) प्रत्यय होता है"। 'जातीयर्' का अपवाद है। **उदाहरण**—(१) **स्थूलकः**—(स्थूल के समान बलवान्—स्थूलप्रकारः)—स्थूल+कन् (=क)। (२) **अणुकः** (व्रीहि-विशेष के समान छोटा—अणुप्रकारः)—अणु+कन् (=क)।

विशेष—प्रकार से तात्पर्य भेद या सादृश्य-कथन में है। अतः यहाँ सादृश्य या भेदवान् अर्थ अपेक्षित है। 'जातीयर्' का अपवाद कहने से भी यह ध्वनित होता है कि यह 'कन्' 'प्रकारवान्' में ही होता है, न कि प्रकारमात्र में।

वार्तिक—उक्त स्थूलादि के अतिरिक्त 'चञ्चत्' तथा 'बृहत्' **शब्दों से भी प्रकार-कथन में 'कन्' प्रत्यय का विधान किया जाय।** तदनुसार (१) **चञ्चत्कः** (चलता हुआ सा—चञ्चन्निव)—चञ्चत्+कन् (=क)। (२) **बृहत्कः** (बड़ा सा—बृहन्निव)—बृहत्+कन् (=क)—ये दो रूप निष्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त स्थूलादि-गण-पठित शब्दों में **"'सुरा' शब्द से प्रकार-कथन होने पर यदि अहि (= सर्प) वाच्य हो तो 'कन्' हो"**—यह गणसूत्र द्वारा नियमन किया गया है। अतः **सुरकः** (सुरा की तरह लाल सर्प—सुरायाः इव अहिः)—सुरा+कन् (=क)। सुरा = सुर—ह्रस्व—"केऽणः" (७-४-१३)।

(२०७६) पद—अनत्यन्तगतौ, क्तात्। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—विधेयवाची 'कन्' प्रत्यय अनुवर्तमान है। अतः "'क्त'—प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से निरन्तर सम्बन्ध गम्यमान न होने पर (अनत्यन्तगतौ) 'कन्' (= क) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **छिन्नकम्** (बीच बीच में से कटा हुआ—किञ्चिदवयवावच्छेदेन

(२०७७) न सामिवचने ५ । ४ । ५ ।। सामिपर्याये उपपदे क्तान्तान्न कन् । सामिकृतम् । अर्धंकृतम् । अनत्यन्तगतेरिह प्रकृत्यैवाभिधानात्पूर्वेण कन्न प्राप्तः, इदमेव निषेध-

---

(२०७७) न सामिवचने । वचनग्रहणं पर्यायलाभार्थमिति मत्वा आह—सामिपर्याये उपपदे इति । सामिकृतमिति । सामीत्यव्ययमर्धे । 'सामि' इति समासः । अर्धंकृतमिति । अर्धं कृतमिति कर्मधारयः । सामीत्यस्य क्रियाविशेषणत्वेन कारकत्वात् समुदायस्य क्तान्तत्वम्, कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणात् । नन्विह अनत्यन्तगतेः प्रकृत्यैवाभिहितत्वात् 'उक्तार्थानामप्रयोग:' इति न्यायेन पूर्वसूत्रविहितस्य कनोऽप्रसक्तेरिह तन्निषेधो व्यर्थ इति शङ्कते—अनत्यन्तगतेरिति परिहरति—इदमेवेति । तथापीति पूर्वमध्याहार्यम् । ज्ञापयतीति । न ह्ययमनत्यन्तगताविति कनः प्रतिषेधः । किं तर्हि, अत्यन्तस्वार्थिकस्य कनः । तत्र च इदमेव ज्ञापकम् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यादिति भावः । बहुतरकमिति । बहुतरमेव बहुतरकम् । भाष्ये तु इदं सूत्रं प्रत्याख्यातम् । 'तमबाद्यन्तात् स्वार्थे कन् वक्तव्यः' इति वचनेन यावादित्वाद्वा स्वार्थे कना बहुतरकं सुकरतरकमित्यादि सिद्धमिति तदाशयः ।

छिन्नम्)—छिन्न+कन् (=क) । (२) भिन्नकम् (कुछ टूटा हुआ सा—किञ्चिद् भिन्नम् इव)—भिन्न+कन् (=क) ।

(२०७७) पद—न, सामिवचने । **अनुवृत्ति**—क्तात्, कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि-(निषेध)-सूत्र** ।

मूलार्थ—'सामि'-पर्याय उपपद रहते 'क्तान्त' से 'कन्' न हो । उदा० १—सामिकृतम् । २–अर्धंकृतम् । यहाँ अर्धार्थक प्रकृति से ही अनत्यन्तगतिरूप अर्थ विहित होने के कारण पूर्वसूत्र से 'कन्' प्राप्त नहीं था । यही निषेध-सूत्र अत्यन्त स्वार्थिक अर्थ में 'कन्' का ज्ञापक है । उदा० बहुतरकम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र का निषेधक सूत्र है । अतः 'क्तात्' पद अनुवर्तमान है । सूत्रस्थ 'सामि' अव्यय आधे का वाचक है । "यदि 'सामि' वाची शब्द उपपद हो तो 'क्तान्त' प्रातिपदिक से 'कन्' प्रत्यय नहीं होता" । **उदाहरण**—(१) **सामिकृतम्**—सामिकृत से 'कन्' नहीं (आधा किया—सामिकृतम्) । यहाँ पर "सामि" (२-१-२७) से समास हुआ है । उदाहरणस्थ 'सामि' के क्रिया-विशेषण होने से कारकत्व की प्रसक्ति होती है । उसके फलस्वरूप 'सामिकृत' से 'कन्' नहीं क्तान्त माना जाता है—'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' । 'आधा किया'-अर्थ में केवल 'किये जाने वाले आधे भाग' से ही सम्बन्ध होने के कारण (अर्थात् अवशिष्ट आधे भाग से सम्बन्ध न होने से =अनत्यन्तगति अर्थ में) पूर्व सूत्र से प्राप्त 'कन्' का यह निषेधक है । सूत्र में 'वचन' ग्रहण से 'सामि' के पर्यायवाचियों से भी निषेध होता है । अतः (२) **अर्धंकृतम्** (आधा किया—अर्धं कृतम्) में भी 'कन्' का निषेध हो गया । 'अर्धंकृतम्' में कर्मधारय समास है ।

शङ्का-समाधान—यहाँ पर अर्धार्थक प्रकृतिवाची शब्द के निरन्तर सम्बन्ध गम्यमानार्थक न होने से 'उक्तार्थानाम् अप्रयोगः' न्याय का आश्रयण कर तदर्थ में 'कन्' की प्राप्ति ही नहीं है, अतः निषेध की क्या आवश्यकता है ? वह व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि अत्यन्त स्वार्थिक 'कन्' प्रत्यय भी होता है । जैसे **बहुतरकम्** (अधिकतर—बहुतरम् एव—बहुतर+कन्) आदि प्रयोगों में अत्यन्त स्वार्थिक 'कन्' ही माना गया है । इस प्रकार 'सामिकृत' शब्द क्तान्त-तदादि नहीं है । वह अत्यन्त स्वार्थिक 'कन्' का ज्ञापक एवं निषेधक है ।

विशेष—भाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है । 'बहुतरकम्' इत्यादि की सिद्धि के लिये '**तमबाद्यन्तात् स्वार्थे कन् वक्तव्यः**'—यह वचन ही पर्याप्त है । अथवा "यावादिभ्यः कन्" (५-४-२९) से स्वार्थ में कन् किया जाय ।

सूत्रमत्यन्तस्वार्थिकमपि कनं ज्ञापयति। बहुतरकम्। (२०७८) बृहत्या आच्छादने ५।४।६॥ कन्स्यात्। 'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा' इत्यमरः। 'आच्छादने' किम्? बृहती छन्दः। (२०७९) अषडक्षाशितङ्ग्वलङ्कर्मालम्पुरुषाध्युत्तरपदात्खः ५।४।७॥ स्वार्थे। अषडक्षीणो मन्त्रः। द्वाभ्यामेव कृत इत्यर्थः। आशिता गावोऽस्मिन्निति आशितङ्गीनमरण्यम्। निपातनात्पूर्वस्य मुम्। अलं कर्मणे

(२०७८) बृहत्या आच्छादने। कन् इति शेषः। बृहत्येव बृहतिका। उत्तरीयं वासः। तदाह—द्वौ प्रावारेति। अमरवाक्यमिदम्।

(२०७९) अषडक्षा। स्वार्थे इति। शेषपूरणमिदम्। अषडक्ष, आशितङ्गु, अलङ्कर्मन्, अलम्पुरुष एभ्य अध्युत्तरपदाच्च स्वार्थे खः स्यादित्यर्थः। अषडक्षीणो मन्त्र इति। मन्त्रणं मन्त्रः। रहसि राजतदमात्यादिभिः युक्तिभिः क्रियमाणं निर्धारणम्। अविद्यमानानि षट् अक्षीणि श्रोत्रेन्द्रियाणि यस्मिन्निति बहुव्रीहिः। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इति षच्। तदन्तादनेन स्वार्थे खः। द्वाभ्यामेवेति। पुरुषाभ्यामिति शेषः। आशिता इति। 'अश भोजने' इत्यस्मादाशितः कर्तेविज्ञापकात्कर्तरि क्तः। पूर्वस्य मुमिति। आशितशब्दस्येत्यर्थः। अलङ्कर्मीण इति। 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे' इति चतुर्थीसमासात्खः, टिलोपः।

(२०७८) पद—बृहत्याः, आच्छादने। अनुवृत्ति—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'कन्' हो। अमरकोष के अनुसार (१) प्रावार, (२) उत्तरासङ्ग, (३) बृहतिका, (४) संव्यान तथा (५) उत्तरीय—ये ओढ़नी के पर्यायवाची हैं. 'आच्छादने' क्यों कहा? बृहती छन्दः ('कन्' नहीं हुआ)।

विवरण—विधेयांश 'कन्' का लाभ "स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन्" (५-४-३) से अनुवृत्तिवश होता है। अतः "'ढकना' अर्थ में वर्तमान 'बृहती' प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**बृहतिका** (स्त्रियों का उत्तरीय वस्त्र—बृहती एव)—बृहती+कन् (=क)। टाप्, 'ई' को इ=ह्रस्व—"केऽणः" (७-४-१३)।

विशेष—'बृहतिका' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये उसके पर्यायवाची तीन शब्दों 'प्रावार' 'उत्तरासङ्ग' तथा 'संव्यान' को अमरकोष से उद्धृत किया गया है। इनके अतिरिक्त एक शब्द और है—उत्तरीय। 'बृहतिका' को संमिलित कर ५ शब्द हैं।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'आच्छादने' पद का निवेश होने के फलस्वरूप वैदिक 'छन्द' के अर्थ में प्रयुक्त बृहती शब्द से 'कन्' प्रत्यय नहीं हुआ।

(२०७९) पद—अषडक्षाशित......पदात्, खः। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—केवल आधिकारिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। 'उद्देश्य' एवं 'विधेय'वाची पद सूत्र में विद्यमान हैं। तदनुसार 'अषडक्ष', 'आशितङ्गु', 'अलंकर्म', एवम् 'अलंपुरुष' तथा 'अधि-उत्तरपदक' प्रातिपदिकों (तत्पुरुष-समास) से स्वार्थ में 'ख' (=ईन) प्रत्यय होता है"। 'अषडक्ष' पद में 'अक्षि' शब्द नेत्रवाचक नहीं है, किन्तु शब्दग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय (=कान) परक है। अतः (१) उदाहरणस्थ—**अषडक्षीणः** मन्त्रः का यह अर्थ है—छह कानों (तीन व्यक्तियों) तक न गया हुआ मन्त्र। अर्थात् दो मनुष्यों से चिन्तित या विचारित—न विद्यते षडक्षीणि यस्मिन् (अषडक्षि+अ—बहुव्रीहि-समास-निष्पन्न 'षच्' (=अ) प्रत्ययान्त 'अषडक्ष' शब्द से+'ख'=ईन प्रत्यय करने पर अन्त्यवर्णलोप तथा न=णत्व होने के पश्चात् यह रूप निष्पन्न होता है)। इस सम्बन्ध में कहावत भी है—'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत्। तस्मात्

अलङ्कर्मीणः। अलम्पुरुषीणः। ईश्वराधीनः। नित्योऽयं खः उत्तरसूत्रे विभाषाग्रहणात्। अन्येऽपि केचित्स्वार्थिकाः प्रत्ययाः नित्यमिष्यन्ते। तमबादयः प्राक्कनः, ञ्यादयः प्राग्वुनः,

---

अलम्पुरुषीण इति। अलं पुरुषायेति विग्रहः। मातृभोगीण इत्यादाविव अषडक्षीणादौ णत्वम्। 'पदव्यवायेऽपि' इति निषेधस्तु न, पदे परतः यत्पदं तेन व्यवाये इत्याश्रयणात्। ईश्वराधीन इति। 'यस्मादधिकम्' इति ईश्वरशब्दात्सप्तमी। शौण्डादित्वादधिशब्देन समासः। ततः स्वार्थे खः। 'समर्थानाम्' इत्यतो वाग्रहणानुवृत्त्या अस्य खस्य वैकल्पिकत्वभ्रमं वारयति—नित्योऽयं ख इति। उत्तरेति। 'विभाषाञ्चेः' इत्युत्तरसूत्रे 'समर्थानाम्' इत्यतो वाग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धे विभाषाग्रहणादिह पूर्वसूत्रे वाग्रहणानुवृत्त्यभावो ज्ञाप्यत इत्यर्थः। न चैवं सति आशिताः गावोऽस्मिन्निति, अलं कर्मण इति च विग्रहप्रदर्शनमनुपपन्नमिति वाच्यम्, तस्य प्रत्ययप्रकृतिकथनार्थत्वेन अलौकिकविग्रहवाक्यप्रायत्वात्। प्रसङ्गादाह—अन्येऽपीति। इष्यन्त इति। भाष्यकृतेति शेषः। तमबादयः प्राक्कन इति। 'अतिशायने तमप्' इत्यारभ्य 'अवक्षेपणे कन्' इत्यतः प्राग्विहिताः प्रत्यया इत्यर्थः। ञ्यादयः प्राग्वुन इति। 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' इत्यारभ्य 'पादशतस्य सङ्ख्यादेर्वीप्सायां वुन्' इत्यतः प्राग्विहिताः प्रत्यया इत्यर्थः। आमादयः प्राङ्मयट इति। 'किमेत्तिङव्ययघादाम्' इत्यारभ्य 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इत्यतः प्राग्विहिता इत्यर्थः। बृहतीजात्यन्ता इति। बृहतीशब्देन 'बृहत्या आच्छादने' इति कन् लक्ष्यते। जात्यन्तशब्देन

सर्वप्रयत्नेन षट्कर्णो वर्जयेत् सुधीः"॥ (२) आशितङ्गवीनम् अरण्यम् (वह जंगल, जहाँ पहले पशु चरते रहे हों—आशिताः गावः यस्मिन्)—आशित–गो+ख>आशितङ्गो+ईन (पूर्वपद को निपातनवश 'मुम्' आगम, अनुस्वार, परसवर्ण) ▷ आशितङ्गु+ईन (ओ=उ-ह्रस्व) > आशितङ्गो+ईन ("ओर्गुणः" ६-४-१४६) ▷ आशितङ्गवीन (ओ = अव्)। 'ण्यन्त' अश् धातु से 'क्त' प्रत्ययान्त 'आशित' शब्द निष्पन्न हुआ है। प्रकृत्यर्थ 'अरण्य' है। उसी अर्थ में स्वार्थिक 'ख' प्रत्यय है। (३) अलङ्कर्मीणः (काम करने में समर्थ—अलं कर्मणे)—अलंकर्मन्+ख (= ईन) > अलङ्कर्मीणः ('टि'-लोप, णत्व)। 'अलङ्कर्मन्' में "पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या" वा० से चतुर्थी समास है। (४) अलम्पुरुषीणः (किसी मनुष्य के लिये योग्य—अलं पुरुषाय)—अलम्पुरुष+ख (= ईन)। पूर्ववत् चतुर्थी समास। (५) ईश्वराधीनः (ईश्वर के वश में—ईश्वरे अधि←शौण्डादि-गण में 'अधि' का पाठ होने से समास तथा 'ख'=ईन तथा 'इ' लोप)। विग्रह में 'ईश्वर' शब्द से सप्तमी—"यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनम्" (२-३-९)। इसके पूर्व 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा—"अधिरीश्वरे" (१-४-९७) सूत्र से होती है।

शङ्का-समाधान—(१) 'ईश्वर' एवम् 'अधि' का विग्रह नहीं हो सकता, विग्रह के बिना समास स्वरूप निष्पन्न नहीं होता, तथा 'अधि' शब्द के उत्तरपद में बिना रहे प्रकृत सूत्र से 'ख' प्रत्यय की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती और जहाँ विग्रह नहीं होता वहाँ 'नित्य' शब्द का निवेश किया गया है—इस प्रकार शङ्का उपस्थित कर भाष्यकार ने पूर्वपक्ष के रूप में इसका समाधान 'सधीनर्' प्रत्यय की कल्पना कर दिया गया है। 'सधीनर्' में 'स्' तथा 'र्' इत्संज्ञक माने हैं। किन्तु 'स्' की इत्संज्ञा का कोई विधायक सूत्र न होने से इस उत्तर की समीचीनता सिद्ध नहीं होती, अतः सिद्धान्त रूप में इस 'ख' प्रत्यय को नित्य मानकर 'अस्वपद विग्रह' के द्वारा पुनः समाधान दिया है। कौन से नित्य प्रत्यय हैं, इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये इसके अनन्तर सूत्र में 'विभाषा' ग्रहण के फलस्वरूप उनका परिगणन भी किया है। तदनुसार "अतिशायने तमबिष्ठनौ" (५-३-५५) से लेकर "अवक्षेपणे कन्" (५-३-९५) तक, "पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्"

आमादयः प्राङ् मयटः। बृहतीजात्यन्ताः समासान्ताश्च इति भाष्यम्। (२०८०) **विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् ५।४।८॥** अदिक्स्त्रीवृत्तेरञ्चत्यन्तात्प्रातिपदिकात्खः स्याद्वा स्वार्थे। प्राक्–प्राचीनम्। प्रत्यक्–प्रतीचीनम्। अवाक्–अवाचीनम्। 'निकृष्टप्रतिकृष्टार्वरेफयाप्यावमाधमाः' इत्यमरः। अर्वन्तमञ्चतीति अर्वाक्–अर्वाचीनम्।

तु 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि' इति छो लक्ष्यते। बहुवचननिर्देशात् पाशबादयोऽपि 'षष्ठ्या रूप्य च' इत्यन्ता गृह्यन्त इति कैयटः। वस्तुतस्तु परिगणिता एव नित्याः, न तु पाशबादयोऽपि। 'बृहतीजात्यन्ताः' इति बहुवचनं तु 'बृहत्या आच्छादने' इति 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि' इति च सूत्रयोर्मध्यगतेन 'अषडक्ष' इति सूत्रेण विहितं खप्रत्ययमभिप्रेत्येति न दोषः। 'विभाषाञ्चेः' इति उत्तरसूत्रे खविधौ विभाषाग्रहणं तु तस्यापि बृहतीजात्यन्तरालवर्तित्वाविशेषात् नित्यत्वे प्राप्ते विकल्पार्थम्। अनित्योऽयं खः, उत्तरसूत्रेषु विभाषाग्रहणादिति मूलं तु अभ्युच्चययुक्तिरिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्।

(२०८०) विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्। अदिक्स्त्रियामिति कर्मधारयगर्भो नञ्तत्पुरुषः। तदाह—अदिक्स्त्रीवृत्तेरिति। प्रागिति। 'अञ्चेर्लुक्' इति लुप्तास्तात्यन्तमिदम्। प्राचि देशे इत्यर्थे प्राचीनमिति। खान्तमिदं स्वभावादाधेयपरम्। स्वभावादेव सामान्ये नपुंसकमेकवचनान्तत्वं च। इदं तु पदसंस्कारपक्षे। वाक्यसंस्कारपक्षे तु प्रागादिशब्देभ्यः समभिव्याहृतदेशकालस्थवृक्षादिबोधकेभ्यः खः। तत्र उपस्थितविशेष्यलिङ्गत्यागे मानाभावात् प्राचीना आम्राः, प्राचीना वाटी, प्राचीनं वनमिति भवतीत्याहुः। अर्वन्तमञ्चतीति वक्ष्यन् अर्वच्छब्दं विवृणोति—निकृष्टेति। अमरवाक्यमिदम्। प्राची

(५-३-१११) से लेकर "पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च" (५-४-१) तक तथा "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" (५-४-११) से लेकर "तत्प्रकृतवचने मयट्" (५-४-२१) तक एवं "बृहत्या आच्छादने" (५-४-६) तथा "जात्यन्ताच्छ बन्धुनि" (५-४-९) से विहित 'कन्'–'ख' तथा 'छ' प्रत्यय भी नित्य माने गए हैं। इस प्रकार इनके विषय में महाविभाषा ("समर्थानां प्रथमाद्वा") से 'वा' की अनुवृत्ति का प्रभाव नहीं रहता। इसमें ज्ञापक "विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्" (५-४-८) सूत्रस्थ 'विभाषा' पद का निवेश होना है। अन्यथा 'विभाषा' पद के बिना भी वहाँ महाविभाषा के प्रभाव से विकल्प सिद्ध रहा।

(२) प्रकृत सूत्र में 'उत्तरपद' ग्रहण प्रायिक है, क्योंकि 'अयम् राज्ञोऽधीनः' तथा 'अयं स्त्रियाः अधीनः' इत्यादि प्रयोग दिखाई पड़ते हैं।

(२०८०) पद—विभाषा, अञ्चेः, अदिक्स्त्रियाम्। **अनुवृत्ति**—खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दिशा-रूप स्त्रीलिङ्गभिन्न 'अञ्च्'धात्वन्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'ख' प्रत्यय विकल्प से होता है। उदा० १–प्राचीनम् अर्थात् पुराना। २–प्रतीचीनम् अर्थात् नया। ३–अर्वाचीनम् अर्थात् नया। अमरकोष के अनुसार निकृष्ट, प्रतिकृष्ट, अर्वन्, रेफ, याप्य, अवम तथा अधम ये शब्द निकृष्ट-पर्यायवाची हैं। अर्वन्तम् अञ्चति—अर्थ में अर्वाक्, तदन्त से अर्वाचीनम्। 'अदिक्-स्त्रियाम्' क्यों कहा? 'प्राची' दिक्, तथा 'उदीची' दिक् (में 'ख' नहीं हुआ)। 'दिक्' ग्रहण क्यों किया? 'प्राचीना' ब्राह्मणी ('ख' प्रत्यय हो गया)। 'स्त्री' ग्रहण क्यों किया? प्राचीनं ग्रामात् आम्राः ('ख' प्रत्यय हुआ)।

विवरण—आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। विधेयांश की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'अदिक्-स्त्रियाम्' पद कर्मधारययुक्त नञ्-तत्पुरुषान्त है (दिक्

अदिक्स्त्रियाम् किम् ? प्राची दिक्, उदीची दिक्। दिग्ग्रहणम् किम् ? प्राचीना ब्राह्मणी। स्त्रीग्रहणम् किम् ? प्राचीनं ग्रामादाम्राः। (२०८१) जात्यन्ताच्छ बन्धुनि ५।४।९॥ ब्राह्मणजातीयः। बन्धुनि किम् ? ब्राह्मणजातिः शोभना। जाते-

---

दिगिति। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया प्राप्तिः। दिग्ग्रहणं किमिति। अस्त्रियामित्येतावतैव प्राची दिगित्यत्रातिप्रसङ्गनिरासात्किं तेनेति प्रश्नः। अव्याप्तिपरिहारार्थमित्याह—प्राचीना ब्राह्मणीति। नेयं दिग्रूपा स्त्री, किन्तु तद्भिन्ना स्त्रीति खो भवत्येवेति भावः। स्त्रीग्रहणं किमिति। अदिशीत्येतावतैव प्राचीना ब्राह्मणीत्यत्राव्याप्तिनिरासात्प्रश्नः। इदमप्यव्याप्ति-परिहार्थमित्याह—प्राचीनं ग्रामादाम्रा इति। स्थानिवत्सूत्रभाष्ये अयं प्रयोगः स्थितः। अत्र प्राच्यां दिशीत्यर्थे लुप्तास्तात्यन्ता प्रागिति प्रकृतिः। स च अव्ययत्वात् अस्त्रीति खो भवत्येति भावः।

(२०८१) जात्यन्ताच्छ बन्धुनि। छेति लुप्तप्रथमाकम्। जातिशब्दान्तात् प्रातिपदि-काद् बन्धुनि वर्तमानात् स्वार्थे छप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। बन्धुशब्दो द्रव्यवाचीति वक्ष्यति। तथा च बन्धुनि वर्तमानादित्यनेन जात्याश्रयद्रव्यलक्षकादिति फलितम्। ब्राह्मणजातीय इति। ब्राह्मणत्वजात्याश्रयो व्यक्तिविशेष इत्यर्थः। ब्राह्मणजातिः शोभनेति। ब्राह्मण-

---

चासौ स्त्री च=दिक्स्त्री, न दिक् स्त्री=अदिक्स्त्री, तस्याम्)। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "अञ्चति-उत्तरपदक दिशावाचक प्रातिपदिक यदि स्त्रीलिङ्गवाची न हो तो, उससे स्वार्थ में 'ख' (=ईन) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) **प्राचीनम्** (पुराना—प्राक्)—लुप्त 'अस्ताति' प्रत्ययान्त→प्राक् (प्र-अञ्च्+क्विन्) ▷प्राच्+ख ('क्विन्' तथा 'न्' का लोप) >प्राच्+ईन (ख=ईन) ▷ प्राचीनम् (विभक्ति-कार्य)। (२) **अर्वाचीनम्** (नया—अर्वाक्)—सिद्धि पूर्ववत्। 'सामान्ये नपुंसकम्' के अनुसार नपुंसकलिङ्ग और एकवचनान्त। यह तो पदसंस्कारपक्ष में बात हुई। वाक्यसंस्कार पक्ष में प्राक् ('प्राच्') आदि शब्दों से ही (तत्समभिव्याहृत देश-कालस्थ वृक्षादि बोधक शब्दों से) 'ख' प्रत्यय होने पर **प्राचीनाः** आम्राः (आम के पेड़ पूर्व में हैं), **प्राचीना** वाटी (वाटिका पूर्व में है) आदि में 'ख' प्रत्यय हुआ है। किन्तु इन उदाहरणों में विशेष्य के अनुसार विशेषण का भी लिङ्ग है। पूर्वोक्त 'अर्वाक्' शब्द की निष्पत्ति को ध्यान दिलाने के पूर्व 'निकृष्ट' अर्थ में प्रवृत्तिनिमित्तस्वरूप 'अमरकोष' का उद्धरण दिया गया है, जिसके अनुसार **निकृष्ट, प्रतिकृष्ट, अर्वन्, रेफ, याप्य, अवम** तथा **अधम**—ये पर्यायवाची हैं। अतः नीचे की ओर गमनशील (अर्वन्तम् अन्चति) अर्थ में अर्वाक् शब्द का प्रयोग होता है।

प्रत्युदाहरण—(१) 'अदिक्-स्त्रियाम्' पद का निवेश होने से स्त्रीत्वबोधक दिग्वाचक का परित्याग होने के फलस्वरूप **प्राची दिक्** (पूर्व दिशा) तथा **उदीची दिक्** (उत्तरदिशा) में 'ख' प्रत्यय नहीं हुआ। (२) व्यावर्त्य में 'दिक्' ग्रहण के फलस्वरूप **प्राचीना ब्राह्मणी** (पुरानी ब्राह्मणी) में 'ख' प्रत्यय हुआ है, क्योंकि यह प्रयोजन 'दिक्' का है। अन्यथा अस्त्री-वृत्ति न होने से प्रत्यय नहीं होता। (३) इसी प्रकार व्यावर्त्य में 'स्त्री' ग्रहण करने के फलस्वरूप **प्राचीनं ग्रामात् आम्राः** में भी 'ख' प्रत्यय का निषेध नहीं हुआ, आम के पेड़ गाँव से पूर्व दिशा में= प्राच्यां दिशि—अर्थ अभीप्सित होने से 'लुप्त अस्ताति-प्रत्ययान्त 'प्राक्' शब्द प्रकृति है। 'अस्ताति' प्रत्ययान्त शब्द के अव्ययसंज्ञक होने से स्त्री-लिङ्ग-भिन्न होने में कोई बाधा नहीं है।

(२०८१) **पद**—जात्यन्तात्, छ, बन्धुनि। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्र में 'छ' लुप्तप्रथमान्त (=छः) है। सूत्रस्थ 'बन्धु' शब्द जाति के अभिव्यञ्जक द्रव्य (व्यक्ति) के रूप में अपेक्षित है (अर्थात् जाति जिसमें बद्ध हो या व्यक्त हो)।

व्यंजकं द्रव्यं बन्धु । (२०८२) स्थानान्ताद्विभाषा सस्थानेनेति चेत् ५ । ४ । १० ॥ सस्थानेन तुल्येन चेत्स्थानान्तमर्थवदित्यर्थः । पित्रा तुल्यः पितृस्थानीयः—पितृस्थानः । सस्थानेन किम् ? गोः स्थानम् । (२०८३) अनुगादिनष्ठक् ५ । ४ । १३ ॥ अनुगद-

---

त्वजातिरित्यर्थः । बध्यते ब्राह्मणत्वादिजातिर्व्यज्यतेऽस्मिन्निति बन्धु द्रव्यम् । 'शृस्वृस्निहि' इत्यादिना अधिकरणे उप्रत्ययः । तदाह—जातेर्व्यंजकं द्रव्यं बन्धिवति । आप्तपर्यायस्तु बन्धुशब्दो नेह गृह्यते, बन्धुनीति नपुंसकनिर्देशादिति भावः ।

(२०८२) **स्थानान्तात्** । सस्थानेनेत्यस्य विवरणं तुल्येनेति । इति शब्दादर्थवदिति लभ्यते । तुल्यरूपेणार्थेन यदि स्थानान्तं शब्दस्वरूपमर्थवद्भवति, तदा स्थानान्तात् छो वा स्यादित्यर्थः । तुल्यरूपार्थे वर्तमानात् स्थानान्तात् छो वा स्यादिति यावत् । **पितृस्थानीय इति** । स्थानं पूज्यत्वादिपदम् । पितृस्थानमिव स्थानं यस्येति बहुव्रीहिः । पितृनिष्ठपूज्यत्वादितुल्यपूज्यत्वादिमानित्यर्थः । **गोः स्थानमिति** । गवां निवास इत्यर्थः । अत्र तुल्यत्वाप्रतीतेर्न छः । 'किमेत्तिङव्यय' इत्युत्तरसूत्रं प्रसङ्गात्पूर्वमेव व्याख्यातम् । 'अमु च च्छन्दसि' इति तु वैदिकप्रक्रियायां व्याख्यास्यते ।

(२०८३) **अनुगादिनष्ठक्** । स्वार्थे इति शेषः । 'आमादयः प्राङ्मयटः' ठगादयो नित्या एव प्रत्ययाः । **अनुगादीति** । 'सुप्यजातौ' इति णिनिः । प्रकृतिप्रदर्शनमिदम् । ठको नित्यत्वात्स एवेत्यस्वपदविग्रहप्रदर्शनम् । **आनुगादिक इति** । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । इह क्रमेण च 'स्त्रियाम्' इति 'अणिनुणः' इति च सूत्रद्वयं पठितं कृदधिकारे व्याख्यास्यते ।

अतः "जात्यन्त प्रातिपदिक से द्रव्य (व्यक्ति) गम्यमान (बन्धुनि) हो तो स्वार्थ में 'छ' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—ब्राह्मणजातीयः** (ब्राह्मणत्वजात्याश्रय व्यक्तिविशेष—ब्राह्मणजातिः एव)—ब्राह्मणजाति + छ (= ईय) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'बन्धुनि' का निवेश होने से **ब्राह्मणजातिः** शोभना (ब्राह्मण जाति सुन्दर जाति है) में 'छ' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ समुदाय से 'बन्धु' अर्थ (=व्यक्ति) द्योत्य नहीं है ।

(२०८२) पद—स्थानान्तात्, विभाषा, सस्थानेन, इति, चेत् । **अनुवृत्ति**—छः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—स्थानान्त शब्द से सदृशार्थ में विकल्प से 'छ' प्रत्यय हो । उदा० १–पितृस्थानीयः–पितृस्थानः । 'सस्थानेन' क्यों कहा ? गोः स्थानम् ('छ' नहीं हुआ) ।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'छ' अनुवर्तमान है । 'सस्थान' शब्द तुल्यार्थक है (समानं स्थानं यस्य तत् = सस्थानम्) । यहाँ 'इति' शब्द का अर्थ 'अर्थवान्' है । अतः सूत्रार्थ यह होगा कि "स्थानान्त प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय विकल्प से होता है यदि स्थानान्त से तुल्य अर्थवान् हो" । **उदाहरण—(१) (क) पितृस्थानीयः—(ख) पितृस्थानः** (पिता के समान स्थान का अधिकारी—पितुः इव स्थानम् अस्य, स एव)—में क्रमशः 'छ' (=ईय) तथा विकल्प होने से (ख) केवल समासान्त पद ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में **'सस्थान'** पद का निवेश होने के कारण **गोः स्थानम्** (गाय के रहने की जगह) में तुल्यार्थक स्थान के न होने से 'छ' नहीं हुआ । वाक्य ही रहा ।

(२०८३) पद—अनुगादिनः, ठक् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'अनुगादिन्' शब्द से स्वार्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है" । यह 'ठक्' नित्य है । केवल प्रकृति-स्वरूप प्रदर्शनार्थ सूत्र में 'अनुगदति' का उपादान किया गया है ।

तीत्यनुगादी। स एव आनुगादिकः। (२०८४) विसारिणो मत्स्ये ५।४।१६॥ अण् स्यात्। वैसारिणः। मत्स्ये इति किम्? विसारी देवदत्तः। (२०८५) सङ्ख्यायाः क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ५।४।१७॥ अभ्यावृत्तिर्जन्म। क्रियाजन्मगणनवृत्तेः सङ्ख्याशब्दात्स्वार्थे कृत्वसुचस्यात्। पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते। सङ्ख्यायाः किम्? भूरिवारा-

---

(२०८४) विसारिणो मत्स्ये। 'अणिनुणः' इति पूर्वसूत्रात् अणित्यनुवर्तते। तदाह—अण् स्यादिति। मत्स्ये विद्यमानात् विसारिन्शब्दात् स्वार्थे अण् स्यादित्यर्थः। वैसारिण इति। 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावाट्टिलोपो न।

(२०८५) सङ्ख्यायाः। अभ्यावृत्तिशब्देन यदि द्वितीयादिप्रवृत्तिर्गृह्येत, तदा चतुर्वारं पाकप्रवृत्तौ त्रिः पचतीति स्यादित्यत आह—अभ्यावृत्तिर्जन्मेति। उपसर्गवशात् 'वृतु—वर्तने' इति धातोरुत्पत्तौ वृत्तिरिति भावः। कृत्वसुचि चकार इत्। उकार उच्चारणार्थः। 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यत्र तसिलादिषु परिगणनात् कृत्वोऽर्थानामव्ययत्वम्। पञ्चकृत्वो भुङ्क्त इति। पञ्चत्वसङ्ख्याकोत्पत्तिविशिष्टा भोजनक्रियेत्यर्थः। सङ्ख्यायाः किमिति। गणने वृत्तिः सङ्ख्याशब्दानामेवेति प्रश्नः। भूरिवारान् भुङ्क्ते इति। भूरिशब्दो बहुशब्दपर्यायः। वारशब्दस्तु समभिव्याहृतक्रियापर्याप्ते काले वर्तते। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। बहुकालेषु कात्स्न्र्येन व्याप्ता भोजनक्रियेत्यर्थः। भोजनबहुत्वं त्वर्थाद् गम्यते। तथा च वारशब्दोऽयं न गणनवाची। भूरिशब्दोऽपि न सङ्ख्याशब्देन गृह्यते, 'बहुगणवतुडति सङ्ख्या' इत्यत्र बहुग्रहणेन तत्पर्यायस्य असङ्ख्यात्वबोधनात्। अतोऽत्र न कृत्वसुच्।

अर्थात् तद्वाच्य प्रयोगार्ह शब्द नहीं है। **उदाहरण**—आनुगादिकः (पीछे बोलने वाला—अनुगादी एव←अस्वपद विग्रह→अनु गदति—अनुगादिन्→'णिनि')—अनुगादिन्—ठक् (ठ = इक)। 'टि'लोप। आदिवृद्धि।

(२०८४) पद—विसारिणः, मत्स्ये। **अनुवृत्ति**—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ एवं विवरण—अष्टाध्यायी सूत्रक्रम में पठित इससे पूर्व सूत्र "अणिनुणः" (५-४-१५) से 'अण्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "'विसारिन्' शब्द से 'मत्स्य' अभिधेय होने पर स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण—वैसारिणः** मत्स्यः (विचरने वाली मछली-विसारी एव)—विसारिन्+अण् (= अ)। आदिवृद्धि। "इनण्यनपत्ये" (६-४-१६४) से प्रकृतिभाव होने के कारण 'टि'—लोप नहीं होता।

प्रत्युदाहरण—'मत्स्य' भिन्न अर्थ (मनुष्य) होने से **विसारी** देवदत्तः (धीरे धीरे खिसकने वाला देवदत्त) में 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ।

(२०८५) पद—संख्यायाः, क्रियाभ्यावृत्तिगणने, कृत्वसुच्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अभ्यावृत्ति अर्थात् जन्म। क्रिया की उत्पत्ति-गणना में संख्यावाचक शब्द से स्वार्थ में 'कृत्वसुच्' प्रत्यय होता है। उदा० पञ्चकृत्वः भुङ्क्ते। 'संख्यायाः' क्यों कहा? भूरिवारान् भुङ्क्ते (में नहीं हुआ)।

विवरण—'अभ्यावृत्ति' शब्द का अर्थ है—बार-बार होना—अभि-आ-√वृत् (उपसर्गवशात् उत्पत्ति अर्थ) से क्तिन् (= ति) प्रत्यय। तदनुसार "क्रिया की बार-बार आवृत्ति (गिनना अर्थ) होने में वर्तमान संख्यावाची प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'कृत्वसुच्' (= कृत्वस्) प्रत्यय होता है"।

न्भुङ्क्ते । (२०८६) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५ । ४ । १८ ॥ कृत्वसुचोऽपवादः । द्विर्भुङ्क्ते । त्रिः । 'रात्सस्य' (सू० २८०) । चतुः । (२०८७) एकस्य सकृच्च ५ । ४ । १९ ॥ सकृदित्यादेशः स्यात्, चात्सुच् । सकृद् भुङ्क्ते । 'संयोगान्तस्य' (सू ५४) इति सुचो लोपः, न तु 'हल्ङ्याप्–' (२५२) इति, अभैत्सीदित्यत्र सिच इव सुचोऽपि

(२०८६) द्वित्रिचतुर्भ्यः । क्रियाभ्यावृत्तिगणने इत्येव । सुचि चकार इत्, उकार उच्चारणार्थः । पूर्ववदव्ययत्वम् । त्रिरिति । भुङ्क्ते इत्यनुषज्यते । रादिति । चतुर्शब्दात् सुचि चतुर् स् इति स्थिते 'रात्सस्य' इति सकारस्य लोपे चतुरिति रूपमित्यर्थः । अत्र भुङ्क्ते इत्यनुषज्यते ।

(२०८७) एकस्य सकृच्च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—सकृदित्यादेशः स्यादिति । सकृद् भुङ्क्ते इति । एकशब्दात् सुच्, प्रकृतेः सकृदित्यादेशश्च । अत्र एकशब्दः क्रियाविशेषणम् । एकत्वविशिष्टा भुजिक्रियेत्यर्थः । स्वादु पचति इत्यादिवदेकं भुङ्क्ते इति प्रयोगे प्राप्ते इदं सूत्रमिति कैयटः । एको भुङ्क्ते इत्यत्र तु नायं विधिः प्रवर्तते, क्रियाग्रहणमनुवर्त्य क्रियाविशेषणस्यैव एकशब्दस्य ग्रहणादित्यास्तां तावत् । ननु 'संयोगान्तस्य' इति सुचो लोप इत्यनुपपन्नम्, 'हल्ङ्याब्भ्यः' इत्येव हि सुलोपोऽत्र युक्तः, तस्मिन् कर्तव्ये

इस प्रत्यय में 'च्' इत् है एवम् उकार उच्चारणार्थ है । **उदाहरण**—**पञ्चकृत्वः** मुङ्क्ते (पाँच बार भोजन करता है—पञ्च वारान् भुङ्क्ते)—पञ्चन्+कृत्वसुच् (= कृत्वस्) । 'न्'-लोप, स् = र् = ः । कृत्वोऽर्थक होने से यह अव्यय है ।

प्रत्युदाहरण—संख्यातिरिक्त होने से **भूरिवारान् भुङ्क्ते** (अनेक बार खाता है) में 'कृत्वसुच्' नहीं हुआ, क्योंकि 'भूरि' शब्द संख्यावाची नहीं है ।

(२०८६) पद—द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् । **अनुवृत्ति**—संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र में वर्णित अर्थ का ही विषय है । अतः वहाँ (सू० २०८५) से 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने' अंश अनुवर्तमान है । उद्देश्यवाची शब्द सूत्र में निविष्ट हैं । अतः "'द्वि', 'त्रि' तथा 'चतुर्'—इन संख्यावाची शब्दों से 'क्रिया की बार-बार आवृत्ति' अर्थ गम्यमान होने पर स्वार्थ में 'सुच्' (= स्) प्रत्यय होता है" । यह विधान 'कृत्वसुच्' का अपवाद है । **उदाहरण**—(१) **द्विः** मुङ्क्ते (दो बार खाता है—द्विवारं भुङ्क्ते)—द्वि+सुच् (= स्) । रुत्व एवं विसर्ग । पूर्ववत् अव्ययसंज्ञा होने से विभक्ति-लोप । (२) **त्रिः** मुङ्क्ते (तीन बार खाता है) । त्रि+सुच् (= स् र् = ः) । शेष कार्य पूर्ववत् । (३) **चतुः** मुङ्क्ते (चार बार खाता है—चतुर्वारं भुङ्क्ते)—चतुर्+सुच् (= स्) > चतुर् (रेफ से परवर्ती 'स्' का लोप—"रात्सस्य" ८-२-२४) > चतुः (र् = ः) ।

(२०८७) पद—एकस्य, सकृत्, च । **अनुवृत्ति**—सुच्, क्रिया–गणने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'सकृत्'—यह आदेश हो । 'च' के निवेश से 'सुच्' भी हो । उदा० सकृद् भुङ्क्ते । "संयोगान्तस्य०" (सू० ५४) सूत्र से 'सुच्' का लोप होता है न कि 'हल्ङ्यादि०' लोप (सू० २५२) । जिस प्रकार 'हल्ङ्यादि०' सूत्र में 'ति' साहचर्य से 'सि' शब्द 'सिप्' प्रत्यय का ग्राहक होने से 'अभैत्सीत्' में सिच् का लोप नहीं होता है, वैसे ही 'सु' से 'सुच्' का ग्रहण भी नहीं किया जाता ।

विवरण—क्रियागणन का ही प्रसङ्ग है, वह भी केवल 'एक' शब्द के सम्बन्ध में । आदेशविधान के अतिरिक्त पूर्वसूत्रोक्त 'सुच्' प्रत्यय का संयोजन भी बतलाया जा रहा है । वह अनुवृत्ति–

तदयोगात् । (२०८८) विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले ५।४।२० ॥ अविप्रकृष्ट आसन्नः । बहुधा बहुकृत्वो वा दिवसस्य भुङ्क्ते । आसन्नकाले किम् ? बहुकृत्वो मासस्य

संयोगान्तलोपस्य त्रैपादिकस्यासिद्धत्वादित्यत आह—न तु हल्ङ्याब्तीति । सिच इवेति । अमैत्सीदित्यत्र सिचो लोपनिवृत्तये हल्ङ्याब्त्यत्र सिग्रहणेन सिचो न ग्रहणं, तत्साहचर्यात् सुग्रहणेनापि सुजयं न गृह्यत इति भावः ।

(२०८८) विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले । अविप्रकृष्टकालिकक्रियाजन्मगणनवृत्ते-र्बहुशब्दात् धाप्रत्ययो वा स्यात् । पक्षे कृत्वसुच् । बहुधा बहुकृत्वो वा दिवसस्य भुङ्क्त इति । दिवसे प्रातःसङ्गवाद्यव्यवहितकालिकोत्पत्तिविशिष्टा भोजनक्रियेत्यर्थः । 'कृत्वोऽर्थ-प्रयोगे कालेऽधिकरणे' इति दिवसात्षष्ठीति हरदत्तः । शेषत्वविवक्षायां षष्ठी इति तु नवीनाः ।

वश बोध्य है । तदनुसार "'एक' शब्द के स्थान में 'सकृत्' आदेश तथा साथ में 'सुच्' प्रत्यय भी होता है" । यह भी 'कृत्वसुच्' का अपवाद है । यहाँ केवल 'क्रियागणन' अर्थ ही अभीष्ट है, अभ्यावृत्ति नहीं । उसका कारण यह है कि एक में अभ्यावृत्ति = पौनःपुन्य सम्भव नहीं । **उदाहरण—सकृद् भुङ्क्ते** (एक बार खाता है—एकवारं भुङ्क्ते)—एक+सुच् (स्) > सकृत्+स् (एक = सकृत् आदेश) ▷ सकृत् ('स्' का लोप—"संयोगान्तस्य लोपः" ८-२-२३) । अव्यय-संज्ञा होने से आगत विभक्ति का लोप ।

विशेष—कुछ प्राचीन वृत्तिकारों ने यहाँ पर 'हल्ङ्यादि' सूत्र से 'सुच्' के सकार का लोप करने की सम्मति दी है । उनके मतमें संयोगान्तलोप असिद्ध है । यह वस्तुतः समीचीन नहीं है । कारण यह है कि विभक्ति-संज्ञकों (सु, ति, सि) के साहचर्य से विभक्ति-घटक 'स्' 'त्', 'स्' का ही वहाँ ग्रहण किया गया है । इसी लिये 'अमैत्सीत्' में 'सिच्' सम्बन्धी 'स्' का ग्रहण न होने से उसका लोप नहीं होता । तदनुसार यहाँ पर भी 'सु' से 'सुच्' सम्बन्धी 'स्' के लोप का औचित्य उस सूत्र से नहीं है ।

(२०८८) **पद**—विभाषा, बहोः, धा, अविप्रकृष्टकाले । **अनुवृत्ति**—संख्यायाः क्रियाभ्या-वृत्तिगणने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—काल-विशेष को अभिलक्षित कर 'बहु' शब्द के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है । कारण यह है कि 'बहु' शब्द की भी संख्या-संज्ञा की गई है । अतः 'क्रियाभ्या-वृत्तिगणने' (५-४-१७) अंश अनुवर्तमान है । तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होगा कि "आसन्न-कालिक (अविप्रकृष्ट-कालिक = शीघ्र होने वाली) क्रिया की अभ्यावृत्ति (= पौनःपुन्य) की गिनती करना अर्थ में वर्तमान 'बहु' शब्द से विकल्प से 'धा' प्रत्यय होता है" । पक्ष में 'कृत्वसुच्' भी होगा । **उदाहरण**—(क) **बहुधा** (ख) **बहुकृत्वः** वा दिवसस्य भुङ्क्ते (दिन में अनेक बार भोजन करता है—बहुवारं भुङ्क्ते)—बहु+कृत्वसुच् ▷ बहु+धा ('कृत्वसुच्' के स्थान में 'धा' आदेश) > बहुधा । (ख) पक्ष में कृत्वसुच् । उक्त वाक्य में हरदत्त के मतानुसार 'दिवसस्य' में षष्ठी विभक्ति "कृत्वोऽर्थप्रयोग कालेधिकरणे" २-३-६४ के आधार पर हुई है । किन्तु नागेश के अनुसार यहाँ 'शेष षष्ठी' है ।

प्रत्युदाहरण—पूर्व दो सूत्रों से विहित 'कृत्वसुच्' और 'सुच्' प्रत्यय विप्रकृष्ट क्रिया (दो की अभ्यावृत्ति) के गणन में भी होते हैं । **किन्तु 'धा' प्रत्यय केवल समीपवर्ती क्रिया की अभ्यावृत्ति के गणन में ही होता है** । अतः **बहुकृत्वः मासस्य भुङ्क्ते** (महीने में अनेक बार भोजन करता है, प्रतिदिन नहीं) में क्रिया की सन्निकटता (**अविप्रकृष्ट**) न होने से 'धा' प्रत्यय नहीं हुआ । यथापूर्व 'कृत्वसुच्' ही हुआ ।

भुङ्क्ते। (२०८९) तत्प्रकृतवचने मयट् ५।४।२१॥ प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं, तस्य वचनं प्रतिपादनम्। भावेऽधिकरणे वा ल्युट्। आद्ये प्रकृतमन्नमन्नमयम्। अपूपमयः। यवागूमयी। द्वितीयेऽन्नमयो यज्ञः। अपूपमयं पर्व। (२०९०) समूह-

---

(२०८९) तत्प्रकृतवचने। तदिति प्रथमान्तनिर्देशः। प्राचुर्येणेति। बहुलतया उपस्थितं प्रकृतशब्देन विवक्षितमित्यर्थः, उपसर्गबलादिति भावः। प्रतिपादनमिति। बोधनमित्यर्थः। भावे इति। तथा च प्रकृतस्य बोधने सतीत्यर्थः। प्राचुर्यविशेषणकवस्तुवृत्तेः प्रथमान्तात्स्वार्थे मयडिति फलति। अत्र प्राचुर्यविशिष्टं वस्तु प्रकृतेरर्थः। प्रत्ययस्तु तद्द्योतकः। अधिकरणे वेति। तथा च प्राचुर्यविशेषणकं यद्वस्तु यस्मिन्नुच्यते तदधिकरणे वाच्ये तादृशवस्तुवृत्तेः शब्दात् मयडिति फलितम्। अत्र पक्षे प्राचुर्यविशिष्टमुच्यमानं वस्तु प्रकृत्यर्थः। तदधिकरणं प्रत्ययार्थः। तन्त्रेणार्थद्वये सूत्रतात्पर्यम्, व्याख्यानात्। यद्यप्याद्यपक्षे स्वार्थिकप्रकरणपाठः समञ्जसः न तु द्वितीयपक्षे, तथापि 'अथ स्वार्थिकाः' इति मूलं प्रायिकाभिप्रायमिति न दोषः। आद्ये इति। भावल्युट्पक्षे इत्यर्थः। प्रकृतमन्नमन्नमयमिति। प्रचुरमन्नमित्यर्थः। स्वार्थिकत्वात्प्रकृतिलिङ्गता। अपूपमय इति। प्रचुरोऽपूप इत्यर्थः। यवागूमयीति। प्रचुरा यवागूरित्यर्थः। टित्वात् ङीबिति भावः। द्वितीये इति। अधिकरणल्युट्पक्षे इत्यर्थः। अन्नमयो यज्ञ इति। 'इष्टिषु दध्योदनाः पशौ तं सोमसहस्रम्' इत्यादिवाक्यैरुच्यमानानि प्राचुर्यविशिष्टान्नानीत्यर्थः। अस्वार्थिकत्वेन प्रकृतिलिङ्गत्वाभावाद्विशेष्यनिघ्नता। अपूपमयं पर्वेति। 'पर्वणि प्रचुराः

(२०८९) पद—तत्, प्रकृतवचने, मयट्। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—प्राचुर्य (प्रचुरता) से जो प्रस्तुत किया गया हो उसे 'प्रकृत' कहते हैं। उसके प्रतिपादन (में 'मयट्' हो)। ('वचन' पद में) 'भाव' या 'अधिकरण' में 'ल्युट्' प्रत्यय हुआ है। (क) भावार्थ 'ल्युट' में उदा० १–प्रकृतम् अन्नम्←अन्नमयम्। २–अपूपमयम्। ३–यवागूमयी। (ख) अधिकरण 'ल्युट्' में उदा० १–अन्नमयः यज्ञः। २–अपूपमयं पर्व।

विवरण—सूत्रस्थ प्रथमान्त 'तत्' पद समर्थ-विभक्ति का सूचक है। तथा 'प्रकृत' शब्द का अर्थ 'प्र' उपसर्ग के बल से 'प्राचुर्य से प्रस्तुत होना' माना गया है। आधिकारिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "प्रथमासमर्थ (तत्) प्रातिपदिक से जो प्रभूत अर्थ में प्रस्तुत किया गया (प्रकृतवचने) हो—उससे स्वार्थ में 'मयट्' प्रत्यय होता है"। सूत्र में प्रयुक्त 'वचन' शब्द 'ल्युट्' प्रत्ययान्त है। किन्तु 'ल्युट्' प्रत्यय 'भाव' एवम् 'अधिकरण' दोनों अर्थों में लिया जा सकता है। (क) भावार्थ में 'प्रकृतस्य वचनम्' = उक्तिः अर्थात् 'प्राचुर्य का कथन' मात्र अर्थ अपेक्षित होगा। तदनुसार **उदाहरण**—(१) **अन्नमयम्** (अन्नप्रधान–प्रकृतम् अन्नम्)—अन्न+मयट् (=मय)। विभक्ति-कार्य। (२) **अपूपमयः**—(मालपूए की प्रचुरता—प्रकृतः अपूपः)—अपूप+मयट् (= मय) तथा (३) **यवागूमयी** (जिसमें लप्सी का प्राचुर्य हो—प्रकृता यवागूः—यवागू+मयट् (मय्)+ङीप् = ई। (ख) अधिकरणार्थक 'ल्युट्' मानने पर 'प्रकृतम् उच्यते अस्मिन्' अर्थ करने से **उदाहरण**—(१) **अन्नमयः यज्ञः** (जिस यज्ञ में अन्न का प्राचुर्य हो—प्रकृतम् अन्नं यस्मिन्) तथा (२) **अपूपमयं पर्व** (जिस त्यौहार में मालपूओं का प्राचुर्य हो—प्रकृताः अपूपाः यस्मिन्) दिये गए हैं। फलतः भावार्थ में प्रथमा-समर्थ की प्रभूतता को कहने में ही प्रत्यय स्वार्थ में होता है। अधिकरणार्थ में प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से प्रभूत अर्थ को कहने में प्रत्यय होता है, अर्थात् वहाँ 'प्रभूत' प्रत्ययार्थ बन जाता है।

वच्च बहुषु ५।४।२२॥ सामूहिकाः प्रत्ययाः अतिदिश्यन्ते, चान्मयट्। मोदकाः प्रकृताः—मौदकिकम् मोदकमयम्। शाष्कुलिकम्—शष्कुलीमयम्। द्वितीयेऽर्थे—मौदकिको यज्ञः। मोदकमयः। (२०९१) अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः ५।४।२३॥ अनन्त एव आनन्त्यम्। आवसथ एव आवसथ्यम्। इतिह इति निपातसमुदायः—

अपूपाः कार्या इत्याद्युच्यमानापूपाधिकरणं पर्वेत्यर्थः। अस्वार्थिकत्वाद्विशेष्यनिघ्नता। केचित्तु द्वितीयपक्षे वचनशब्दोऽधिकरणल्युडन्तः, प्रकृत्यर्थो न विवक्षित इत्याहुः। तथा सति प्राचुर्यविशिष्टान्नाद्यधिकरणं यज्ञ इत्येव बोधः, न तु उच्यमानत्वस्य बोधः।

(२०९०) **समूहवच्च बहुषु**। तत्प्रकृतवचने इत्येव। सामूहिका इति। 'तस्य समूहः' इत्यधिकारविहिताः प्रत्यया इत्यर्थः। बहुषु प्राचुर्यविशिष्टेषु वर्तमानाच्छब्दात् स्वार्थे समूहवत्प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। यद्वा बहुत्वविशिष्टानि प्राचुर्यविशिष्टानि वस्तूनि यस्मिन्नधिकरणे उच्यते, तदधिकरणे वाच्ये तद्वस्तुवृत्तेः शब्दात् समूहवत्प्रयया: स्युरित्यर्थः। आद्य उदाहरति—**मोदकाः प्रकृताः, मौदकिकमिति**। 'अचित्तहस्तिधेनोः' इति सामूहिकष्ठक्। स्वार्थिकत्वेऽपि प्रकृतिलिङ्गातिक्रमः कुटीरवत्। शाष्कुलिकमिति। शष्कुलयः प्रचुरा इत्यर्थः। पूर्ववट्ठक्, प्रकृतिलिङ्गातिक्रमश्च। **द्वितीयेऽर्थे मौदकिको यज्ञ इति**। मोदका अस्मिन्यज्ञे उच्यन्त इति विग्रहः।

(२०९१) **अनन्तावसथेतिह**। अनन्त, आवसथ, इतिह, भेषज एभ्यः स्वार्थे ञ्यप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। अनन्त एवेति। अन्तो नाशः। तस्याभावः अनन्तः। अर्थाभावे

विशेष—भिन्न-वैभक्तिक 'घञ्' प्रत्यय होने के कारण प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्वोक्त प्रथम तीन उदाहरणों में विशेष्य के अनुसार लिङ्ग नहीं हुआ है। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार अन्तिम दो प्रयोगों में विशेष्य के अनुसार लिङ्ग हुआ है।

(२०९०) पद—समूहवत्, च, बहुषु। अनुवृत्ति—तत्प्रकृत-वचने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—यह अतिदेश सूत्र है। सामूहिक प्रत्ययों का अतिदेश किया जा रहा है। इसके साथ ही 'मयट्' का समावेश भी है। 'बहुषु' पद प्रभूतार्थक प्रत्ययों का सूचक है। तदनुसार सूत्र से यह विदित होता है कि "प्रभूत (प्राचुर्य) अर्थ को कहने में प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक से ('तत्प्रकृतवचने' की अनुवृत्तिवश) समूह-अर्थों के अधिकार में ("तस्य समूहः" ४-२-३६ से लेकर "इनि त्रकट्यचश्च" ४-२-५० तक) विहित प्रत्यय यहाँ भी होंगे"। उनके साथ ही 'मयट्' का भी समावेश किया गया है (च)। अतः यहाँ पर भी दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। दूसरा अर्थ इस प्रकार होगा—'प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रभूत' अर्थ अभिधेय हो तो समूहार्थ में कहे हुए के समान ही यहाँ भी प्रत्यय हो जाते हैं'। अतः उसका भेद समझना आवश्यक है। भाव अर्थ में—**मौदकिकम्** तथा **मोदकमयम्**। इन उदाहरणों में जिस भोजन में मोदकों का प्राचुर्य है—यह अर्थ अपेक्षित है। वैसे ही भाव अर्थ में **शाष्कुलिकम्—शष्कुलीमयम्** में अर्थ जाना जाय। यहाँ पाक्षिक 'ठक्' प्रत्यय—"अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्" (४-२-४६) से ठक् (=ठ=इक) हुआ है। अधिकरणार्थ में—**मौदकिकः** यज्ञः एवं **मोदकमयः** यज्ञः उदाहरण होंगे। तथा विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होगा।

(२०९१) पद—अनन्तावसथेतिहभेषजात्, ञ्यः। अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"'अनन्त', 'आवसथ', 'इतिह' तथा 'भेषज' शब्दों से स्वार्थ में 'ञ्य' (=य) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) आनन्त्यम् (बहुतायत—अनन्तः एव)—अनन्त

ऐतिह्यम्। भेषजमेव भैषज्यम्। (२०९२) देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् ५।४।२४॥ तदर्थ एव तादर्थ्यम्। स्वार्थे ष्यञ्। अग्निदेवतायै इदमग्निदेवत्यम्। पितृदेवत्यम्।

नञ्तत्पुरुषः। अर्थाभावे अव्ययीभावेन तद्विकल्पस्योक्तत्वात्। आनन्त्यमिति। स्वार्थिकत्वेऽपि प्रकृतिलिङ्गव्यतिक्रमः। आवसथो गृहम्। निपातसमुदाय इति। स च उपदेशपारम्पर्ये वर्तते। तस्मात्स्वार्थे ष्यः 'पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम्' इत्यमरः। भैषज्यमिति। भेषजम् औषधम्, तदेव भैषज्यम्। 'भेषजौषधभैषज्यानि' इत्यमरः।

(२०९२) देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्। तदर्थ एवेति। तच्छब्देन देवतान्तस्यार्थ उच्यते, तस्मै अयं तदर्थः, ततः स्वार्थे चतुर्वर्णादित्वात् ष्यञित्यर्थः। देवतान्तात्प्रातिपदिकात् यत्स्यात्प्रकृत्यर्थार्थे वस्तुनि वाच्य इत्यर्थः। 'त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता मन्त्रस्तुत्या चे'त्युक्तं 'सास्य देवता' इत्यत्र। अतः पितृदेवत्यं रक्षोदेवत्यमित्यादौ नाव्याप्तिः। तदाह—पितृदेवत्यमिति। देवताशब्दस्य देवाः मनुष्याः पितरः असुराः रक्षांसि पिशाचाः इत्यादिश्रुतिपुराणादिप्रसिद्धजातिविशेषपरत्वे तु अत्राव्याप्तिः स्यादिति भावः। भाष्ये तु 'पितृदेवत्यमि'ति न सिध्यतीत्याक्षिप्य 'दिवेरैश्वर्यकर्मणो देवः' तस्मात्स्वार्थे तलिति समाहितम्। हविः प्रति पित्रादीनामीश्वरत्वं स्वामित्वम्। हविस्तु यजमानस्य स्वम्। तच्च यजमानेन अग्न्याद्युद्देशेन त्यक्तं चेत्तदाग्न्यादिस्वामिकं भवितुमर्हति, अतो देवतात्वं त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वविशेषात्मकमेव भाष्यरीत्यापि पर्यवस्यतीत्यलम्।

+ष्य (=य)। आदिवृद्धि एवम् अन्त्य-लोप। (२) **आवसथ्यम्** (आहवनीय अग्नि का स्थान—आवसथ एव)—आवसथ्+ष्य (=य)। (३) **ऐतिह्यम्** (इतिहास—इतिह एव)—इतिह+ष्य (=य)। पूर्ववत् आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्णलोप। (४) **भैषज्यम्** (औषध—भेषजम् एव)—भेषज+ष्य (=य)।

विशेष—(१) यहाँ पर 'अनन्त' शब्द में नञ्-तत्पुरुष समास है (न अन्तः = नाशः, तस्य अभावः) क्योंकि अर्थाभाव में अव्ययीभाव समास वैकल्पिक है। 'आनन्त्यम्' में लिङ्ग व्यतिक्रम हुआ है। (२) आवसथ शब्द 'गृह' का पर्यायवाची है—'आवसन्ति एतम्' अर्थ—में आ-वस्+'अथ'—प्रत्यय ('उपसर्गे वसेः' उणादि सू० ४०३) हुआ है। (३) 'इतिह'—यह निपातसमुदाय उपदेश-परम्परा अर्थ (इति=एवम् ह=किल) का निर्देशक है। इस प्रकार के अर्थ को सूचित करने में प्राचीन प्रयोग भी मिलते हैं—(क) **इतिह स्मोपाध्यायः कथयति** तथा (ख) **इतिह स्म पिता कथयति**। तदनुसार यह शब्द इतिहास का द्योतक है। अमरकोषकार ने भी 'इतिह' तथा 'ऐतिह्य' शब्द पर्यायवाची कहे हैं—**"पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम्"**—(२-७-१२)।

(२०९२) पद—देवतान्तात्, तादर्थ्ये, यत्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"चतुर्थीसमर्थ 'देवता'न्त प्रातिपदिक से 'तादर्थ्य' वाच्य (तदर्थ एव तादर्थ्यम् अर्थात् प्रकृत्यर्थार्थ वस्तुवाच्य) हो तो 'यत्' (=य) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**अग्निदेवत्यम्** (अग्निदेवता के लिये यह हविष्—अग्निदेवतायै इदम्)—अग्निदेवता+यत् (=य)। अन्त्यवर्ण-लोप। अग्निदेवता में 'अग्निश्चासौ देवता च' कर्मधारय है। (२) **पितृदेवत्यम्** (पितरों के लिये हविष्—पितरश्च ताः देवताश्च = पितृदेवताः, पितृदेवताभ्यः इदम्)—पितृदेवता+यत् (=य)।

विशेष—यदि देव, मनुष्य, पितर, राक्षस आदि भिन्न जात्यर्थक माने जायँ तो 'पितृदेवता' में सामानाधिकरण्य न होने से 'यत्' प्रत्यय की सम्भावना कैसे? उसके होने में यह युक्ति दी जाती

(२०९३) पादार्घाभ्यां च ५ । ४ । २५ ॥ पादार्थमुदकं पाद्यम् । अर्घ्यम् । 'नवस्य नू आदेशस्त्नप्तनप्खाश्च प्रत्यया वक्तव्याः' (वा ३३२७) । नूत्नम्–नूतनम्–नवीनम् । 'नश्च पुराणे प्रात्' (वा ३३२८) । पुराणार्थे वर्तमानात्प्रशब्दान्नो वक्तव्यः चात्पूर्वोक्ताः । प्रणम्–प्रत्नम्–प्रतनम्–प्रीणम् । 'भागरूपनामभ्यो धेयः' (वा ३३३१) । भागधेयम् । रूप-

---

(२०९३) पादार्घाभ्यां च । तादर्थ्ये यदिति शेषः । अर्घ्यमिति । अर्घार्थमुदकमिति विग्रहः । अर्घः पूजा । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः । नवस्येति । वार्तिकमिदम् । एते प्रत्यया अत्यन्तस्वार्थिकाः । नवीनमिति । नवशब्दात् खप्रत्यये, तस्य ईनादेशे, प्रकृतेर्नूभावे, ओर्गुणः, अवादेशः । नश्च पुराणे प्रादिति । वार्तिकमिदम् । चात्पूर्वोक्त इति । त्नप्, तनप्, ख इत्यर्थः । प्रीणमिति । खे रूपम् । भागरूपेति । वार्तिकमिदम् । आग्नी-

---

है कि ऐश्वर्यार्थक √दिव् धातु से 'अच्' (पचादि) प्रत्ययान्त (दीव्यति इति देवः) निष्पन्न 'देव' शब्द है । जिसका अर्थ यह होगा—प्रकाशमान् । तब स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय करने पर 'देवता' शब्द माना जाय । इस तरह 'देवता' और 'पितृ' शब्द का सामानधिकरण्य होने से कर्मधारय समास होने में कोई बाधा नहीं होगी । दीयमान 'हविष्' के प्रति पित्रादि का ईश्वरत्व ही स्वामित्व है । अथवा यज्ञप्रक्रिया के अनुसार जिसको उद्दिष्ट कर त्यज्यमान वस्तु दी जाय वह भी देवता माना जाता है । यह समाधान भी भाष्यकार ने दिया है ।

(२०९३) पद—पादार्घाभ्याम्, च । अनुवृत्ति—तादर्थ्ये, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र से 'यत्' तथा 'तादर्थ्ये' पद अनुवर्तमान हैं । 'तादर्थ्य' में प्रत्ययविधान होने से समर्थ विभक्ति 'चतुर्थी' ली जाती है । अतः "'पाद' और 'अर्घ' शब्दों से तादर्थ्य वाच्य रहते 'यत्' (= य) प्रत्यय होता है" । उदाहरण—(१) पाद्यम् (पैर धोने के लिये जल—पादार्थम् उदकम्)—पाद् + यत् (= य) । (२) अर्घ्यम् (पूजा के लिये जल—अर्घार्थम् उदकम्)—अर्घ + यत् (= य) ।

प्रसङ्गवश अत्यन्त स्वार्थिक अर्थ में प्रत्ययों के विधायक कुछ वार्तिक उद्धृत किये जा रहे हैं । तदनुसार (१) प्रथम वार्तिक द्वारा 'नव' शब्द से 'त्नप्' (= त्न) 'तनप्' (= तन) तथा 'ख' प्रत्यय हों एवम् 'नव' शब्द के स्थान में 'नू' आदेश भी हो । इस तरह उदाहरण—(१) नूत्नम् (नया—नवम् एव)—नव + त्नप् > नू + त्न (नव = नू तथा 'त्न' प्रत्यय) । (२) नूतनम्—नव + तनप् (= तन) > नूतन । (३) नवीनम्—नव + ख > नव + ईन > नू + ईन > नो + ईन ("ओर्गुणः" ६.४.१४६) > नवीनम् (अव्) । (२) द्वितीय वार्तिक से प्राचीन अर्थ में विद्यमान 'प्र' शब्द से भी 'न' तथा पूर्वोक्त तीनों प्रत्ययों का होना बतलाया गया है । क्रमशः इसके उदाहरण ये हैं—(१) प्रणम्—प्र + न > प्रणम् (न् = ण्) । (२) प्रत्नम्—प्र + त्नप् । (३) प्रतनम्—प्र + तनप् (= तन) । प्रीणम्—प्र + ख (= ईन) > प्रीणम् ('अ' लोप तथा णत्व) । अर्थ—प्राचीन—प्रः-पुराणमेव । (३) तीसरे वार्तिक द्वारा भाग, रूप तथा नाम शब्दों से 'धेय' प्रत्यय होना कहा गया है । उदाहरण—क्रमशः (१) भागधेयम्—भाग + धेय । अर्थ—भाग्य—भाग एव । (२) रूपधेयम्—रूप + धेय । अर्थ—रूप—रूपमेव । (३) नामधेयम्—नाम—नाम एव । (४) चौथे वार्तिक द्वारा 'आग्नीध्र' एवं 'साधारण' शब्दों से अञ् प्रत्यय होना सूचित किया गया है । उदाहरण—(१) आग्नीध्रम्—आग्नीध्र + अञ् (= अ) । अर्थ—यज्ञ में अग्निस्थापन का स्थान—आग्नीध्रम् एव । (२) साधारणम्—साधारण + अञ् (= अ) । अर्थ—साधारण—साधारणम् एव । ये दोनों शब्द पहले शैषिक में आ चुके हैं—(क) आग्नीध्रम्—'अग्नीधः शरणे रञ् भं च' से निपातित । (२) साधारणम्—

धेयम् । नामधेयम् । 'आग्नीध्रसाधारणादञ्' (वा ३३३४) । आग्नीध्रम् । साधारणम् । स्त्रियां ङीप् । आग्नीध्री । साधारणी । (२०९४) अतिथेर्ञ्यः ५ । ४ । २६ ॥ तादर्थ्ये इत्येव । अतिथये इदमातिथ्यम् । (२०९५) देवात्तल् ५ । ४ । २७ ॥ देव एव देवता । (२०९६) अवेः कः ५ । ४ । २८ ॥ अविरेवाविकः । (२०९७) यावादिभ्यः कन् ५ । ४ । २९ ॥ याव एव यावकः । मणिकः । (२०९८) लोहितान्मणौ ५।४।३० ॥

ध्रेति । वार्तिकमिदम् । आग्नीध्रमिति । अग्नीधः शरणम् आग्नीध्रम् । ततः स्वार्थे अञि आग्नीध्रमेव । अनेकं प्रत्ययविशिष्टसम्बन्धं साधारणमुच्यते । ततः स्वार्थे अञि साधारणमित्येव । अञ्विधेः प्रयोजनमाह—स्त्रियां ङीबिति ।

(२०९४) अतिथेर्ञ्यः । तादर्थ्ये इत्येवेति । अतिथये इदमित्यर्थे अतिथिशब्दाच्चतुर्थ्यन्तात् ञ्यः स्यादित्यर्थः ।

(२०९५) देवात्तल् । तादर्थ्ये इति निवृत्तम् । अत्यन्तस्वार्थिकोऽयं तल् । देवतेति । स्वार्थिकत्वेन प्रकृतिलिङ्गातिक्रमात् स्त्रीत्वम् ।

(२०९६) अवेः कः । अयमपि केवलस्वार्थिकः । 'अवयः शैलमेषार्काः' इत्यमरः ।

(२०९७) यावादिभ्यः कन् । यावक इति । यवानामयं यावः ओदनादिः, स एव यावकः । अलक्तवृक्षो वा यावः, स एव यावकः 'यवोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः ।

समानं धारणम् अस्य—व्युत्पत्ति के अनुसार 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' वार्तिक द्वारा 'समान' के स्थान पर 'स' आदेश निपातित तथा 'स' को दीर्घ हुआ है । पुनः 'अञ्' प्रत्यय करने पर रूपाकार में भेद न होने पर भी स्त्रीत्व विवक्षा में अञन्त होने से ङीप्—आग्नीध्री तथा साधारणी रूप बनेंगे । महाविभाषा के कारण 'रण्' प्रत्ययान्त से 'टाप्' होने के कारण आग्नीध्रा तथा साधारण से साधारणा रूप बनते हैं । 'आग्नीध्र' शब्द की सिद्धि सूत्राङ्क १५०१ में देखें ।

(२०९४) पद—अतिथेः, ञ्यः । अनुवृत्ति—तादर्थ्ये, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"'अतिथि' शब्द से 'तादर्थ्य' में 'ञ्य' (=य) प्रत्यय होता है । उदाहरण—आतिथ्यम् (अतिथि का स्वागत-सत्कार—अतिथये इदम्)—अतिथि+ञ्य (=य) । आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप ।

(२०९५) पद—देवात्, तल् । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'देव' शब्द से स्वार्थ में 'तल्' (=त) प्रत्यय होता है" । शब्दशक्ति स्वभाव से 'तल्' प्रत्ययान्त शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में होने से 'टाप्' (=आ) प्रत्यय भी संयुक्त होगा । उदाहरण—देवता—देव+तल् (=त)+टाप् (=आ) । स्वार्थिक प्रत्यय होने के कारण लिङ्गव्यत्यय । अर्थ—देव-देवः एव ।

(२०९६) पद—अवेः, कः । अनुवृत्ति—स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'अवि' शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—अविकः (भेड़—अविः एव)—अवि+क ।

(२०९७) पद—यावादिभ्यः, कन् । अनुवृत्ति—स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'यावादि' शब्दों से स्वार्थ में 'कन्' (=क) प्रत्यय होता है" ।

लोहित एव लोहितको मणिः । (२०९९) वर्णे चानित्ये ५ । ४ । ३१ ॥ लोहितकः कोपेन । 'लोहितात्लिङ्गबाधनं वा' (वा ३३२२)। लोहितिका, लोहिनिका कोपेन ।

(२०९८) लोहितान्मणौ । मणौ वर्तमानात् लोहितशब्दात्स्वार्थे कन् स्यादित्यर्थः । माणिक्यमयो मणिरेवेह मणिर्विवक्षितः । यस्तु जपाकुसुमादिनिमित्तलौहित्यवान् स्फटिकमणिस्तस्य तु 'रक्ते' इत्युत्तरसूत्रेण सिद्धम् ।

(२०९९) वर्णे चानित्ये । अनित्ये वर्णे विद्यमानात् लोहितशब्दात्स्वार्थे कन् स्यादित्यर्थः । अमण्यर्थमिदम् । लोहितकः कोपेनेति । देवदत्तादिरिति शेषः । कोपनिमित्तकं देवदत्तादेर्लौहित्यमनित्यमेव, कोपाभावे तदभावात् । यद्यपि माणिक्यमणिलौहित्यमपि अनित्यमेव, माणिक्ये नष्टे तन्नाशात्, तथापि आश्रयद्रव्यस्य उत्पत्तिप्रभृतिनाशपर्यन्तं यो वर्णो वर्तते, स वर्णः नित्य इत्यभिमतमिति न दोषः । स्यादेतत्—लोहिनिका लोहितिका वा कोपेनेति स्त्रियां रूपद्वयमिष्यते । तत्र लोहितशब्दात् 'वर्णादनुदात्तात्' इति नत्वसन्नियोगशिष्टं ङीपं परत्वात् स्वार्थिकतया अन्तरङ्गत्वाच्च बाधित्वा कनि कृते सति नत्वसन्नियोगशिष्टङीपो न प्रसक्तिः, कोपधत्वेन तोपधत्वाभावात् । ततश्च लोहितकशब्दात् 'अजाद्यतः' इति टापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वे लोहितिकेत्येव स्यात्, न तु तत्र लोहिनिकेति । अत आह—लोहितात्लिङ्गबाधनं वेति । वार्तिकमिदम् 'लोहितशब्दात्परस्य स्त्रीलिङ्गबोधकप्रत्ययस्य कना बाधो वा स्यादित्यर्थः । असति तु कना ङीपो बाधे लोहिनीशब्दात् कनि 'केऽण' इति ह्रस्वे कन्नन्तात्टापि लोहिनिकेति सिध्यति । सति तु कना ङीपो बाधे लोहिताशब्दात् कनि 'केऽणः' इति ह्रस्वे टापि लोहितिकेति भवति । ननु 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यत्र लिङ्गविशिष्टपरिभाषयैव सिद्धे ङ्याब्ग्रहणं ङ्याबन्तादेव तद्धिता भवन्ति, न तु ङ्याब्भ्यां प्रागित्येवमर्थमित्युक्तम् । एवञ्च ङीपः प्राक् कनः प्रसक्तेरेवाभावादिदं वार्तिकं व्यर्थमिति चेत् ? अतएव वार्तिकाल्लिङ्गात्स्वार्थिकतद्धितेषु ङ्याब्ग्रहणं न सम्बध्यते । न च 'सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिरि'ति सिद्धान्तात् 'कुत्सिते' इति

उदाहरण—(१) यावकः (जौ—यवानाम् अयं यावः, यावः एव)—याव+कन् (=क)। (२) मणिकः (मणि—मणिः एव)—मणि+कन् (=क)।

(२०९८) पद—लोहितात्, मणौ । अनुवृत्ति—कन्, स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'लोहित' शब्द से मणि-विशेष वाच्य होने पर स्वार्थ में 'कन्' (=क) प्रत्यय होता है"। उदाहरण—लोहितकः (लाल मणि—लोहितकः एव)—लोहित+कन् (=क)।

(२०९९) पद—वर्णे, च, अनित्ये । अनुवृत्ति–लोहितात्, कन्, स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"पूर्व सूत्र का विषय है, एवं 'लोहितात्' पद अनुवर्तमान है। अतः "क्षणिक वर्णार्थक 'लोहित' शब्द से भी स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है"। क्रोध से या पीड़ा देने से किसी का मुख लाल हो जाना क्षणिक अर्थात् अस्थायी होता है। उसी को अभिलक्षित कर उदाहरण दिया जा रहा है—लोहितिकः कोपेन। प्रकृत प्रसङ्ग में एक वार्तिक प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अनुसार लोहित शब्द से पर स्त्रीलिङ्गबोधक प्रत्यय का 'कन्' द्वारा विकल्प से बाध हो। अन्यथा नित्य होने के फलस्वरूप स्त्रीत्वबाध तथा वर्णानित्य की युगपद् विवक्षा में 'लोहित' शब्द से "वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः" (४-१-३९) से प्राप्त होने वाला 'ङीप्'

(२१००) रक्ते ५ । ४ । ३२ ॥ लाक्षादिना रक्ते यो लोहितशब्दस्तस्मात्कन्स्यात् । 'लिङ्गबाधनं वा' (३३२२) इत्येव । लोहितिका—लोहिनिका शाटी । **(२१०१) कालाच्च ५ । ४ । ३३ ॥** 'वर्णे चानित्ये' (सू २०९९), 'रक्ते' (सू २१००) इति द्वयमनुवर्तते । कालकं मुखं वैलक्ष्येण । कालकः पटः । कालिका शाटी । **(२१०२)**

सूत्रस्थभाष्यरीत्या स्वार्थद्रव्यलिङ्गसङ्ख्याकारककुत्सादिप्रयुक्तकार्याणां क्रमिकतया ङ्याबन्तादेव सुपि ततः कनि रूपसिद्धेर्वचनमिदं व्यर्थमिति वाच्यम्, अतएव स्वार्थिकतद्धितानां प्रातिपदिकादेव प्रवृत्तिविज्ञानादित्यन्यत्र विस्तरः ।

(२१००) रक्ते । लाक्षादिना रक्ते पटादौ लौहित्यस्य यावद्द्रव्यमवस्थानेन नित्यतया पूर्वेणाप्राप्तौ वचनम् ।

(२१०१) कालाच्च । द्वयमनुवर्तत इति । अनित्ये वर्णे रक्ते च वर्तमानात्स्वार्थे कन्निति फलितम् । अनित्ये वर्णे उदाहरति—कालकं मुखं वैलक्ष्येणेति । लज्जासूयादिनेत्यर्थः । रक्ते उदाहरति—कालकः पट इति । नील्यादिनेति शेषः ।

(२१०२) विनयादिभ्यः । उपायाद्ध्रस्वत्वं चेति । गणसूत्रमिदम् । उपायशब्दात्स्वार्थे ठक् । प्रकृतेर्दीर्घस्य ह्रस्वत्वं चेत्यर्थः । ह्रस्वस्य ह्रस्वविधौ वैयर्थ्याद्दीर्घस्येति गम्यते ।

'कन्' से नित्य बाधित होने लगता । कारण यह है उसे तो हरित वर्णादि में प्रवृत्त होने का भी अवसर मिलता है, अतः 'कन्' होने पर तदन्त से 'टाप्' प्रत्यय एवं "केऽणः" (७-४-१३) से ह्रस्व होकर **लोहितिका** ही रूप निष्पन्न होता । **लोहिनिका** रूप नहीं बनता । वस्तुतः पक्ष में बाध न होने पर 'लोहित' शब्द से 'ङीप्' तथा 'त' को 'न' आदेश होने के पश्चात् 'कन्' होकर ह्रस्व एवं 'टाप्' प्रत्ययान्त दूसरा रूप भी निष्पन्न होता है । **रूपद्वय का अर्थ**—क्रोध से लाल (हुई स्त्री) ।

(२१००) पद—रक्ते । **अनुवृत्ति**—लोहितात्, कन्, स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'लोहित' शब्द का ही विषय है । अर्थान्तर में विधान किया जा रहा है । अतः "लाक्षादि से रंगे हुए अर्थ में विद्यमान 'लोहित' शब्द से स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है" । साथ ही वैकल्पिक लिङ्गबाधक कार्य भी पूर्ववत् होगा । **उदाहरण—लोहितिका—लोहिनिका**—शाटी (लाल रंग की साड़ी—लोहिता एव) । शेष पूर्व सूत्रवत् ।

(२१०१) पद—कालात्, च । **अनुवृत्ति**—रक्ते, कन्, स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिप्रदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—इससे पूर्व दोनों सूत्रों में वर्णित यह विषय सम्बद्ध है । अतः "'अनित्य वर्ण' में तथा 'रँगा हुआ' अर्थ में वर्तमान 'काल' शब्द से भी 'कन्' प्रत्यय होता है" । 'अनित्य वर्ण' का **उदाहरण**—(१) **कालकं** मुखं वैलक्ष्येण (लज्जा से क्षणिक काला हुआ मुख—कालः एव)—काल+कन् (क) । (२) रक्तार्थ में—**कालकः** पटः (काला वस्त्र) । (३) **कालिका** शाटी (काली रँगी हुई साड़ी) ।

(२१०२) पद—विनयादिभ्यः, ठक् । **अनुवृत्ति**—स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'विनयादि' प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—**वैनयिकः** (नम्रता—विनयः एव)—विनय्+ठक् (=ठ=इक) । आदिवृद्धि एवम् अन्त्यवर्ण-लोप । (२) **सामयिकः** (समय—समयः एव)—समय+ठक् (ठ=इक) । शेष पूर्ववत् । विनयादि गण में पठित 'उपायाद्ध्रस्वत्वं च' गणसूत्र द्वारा **औपयिक** शब्द की सिद्धि के

विनयादिभ्यष्ठक् ५ । ४ । ३४ ॥ विनय एव वैनयिकः । सामयिकः । 'उपायाद्ध्रस्वत्वं च' (ग सू १४४) । औपयिकः । (२१०३) वाचो व्याहृतार्थायाम् ५ । ४ । ३५ ॥ सन्दिष्टार्थायां वाचि विद्यमानाद्वाक्छब्दात्स्वार्थे ठक् स्यात् । 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः । (२१०४) तद्युक्तात्कर्मणोऽण् ५ । ४ । ३६ ॥ कर्मैव कार्मणम् । वाचिकं श्रुत्वा क्रियमाणं कर्मेत्यर्थः । (२१०५) ओषधेरजातौ ५ । ४ । ३७ ॥ स्वार्थेऽण् । औषधं पिबति । अजातौ किम् ? ओषधयः क्षेत्रे रूढाः । (२१०६) प्रज्ञादिभ्यश्च

(२१०३) वाचो व्याहृतार्थायाम् । इदम् अस्य वक्तव्यमिति दूतं प्रति योऽर्थं उच्यते स व्याहृतः । व्याहृतः अर्थो यस्या इति विग्रहः । तदाह—सन्दिष्टार्थायामिति ।

(२१०४) तद्युक्तात् । सन्दिष्टार्थया दूतवाचा यत्प्रयुक्तं कर्म तदभिधायिनः कर्मन्-शब्दात्स्वार्थे अणित्यर्थः । कर्मैव कार्मणमिति । अन्निति प्रकृतिभावान्न टिलोपः । दूतवाक्यं श्रुत्वा तथैव यत्क्रियते कर्म तत्कार्मणमुच्यते । तदाह—वाचिकं श्रुत्वेति ।

(२१०५) ओषधेरजातौ । औषधं पिबतीति । शुण्ठीमरिचादिचूर्णमध्वादिद्रव्यसंसृष्टं विवक्षितम् । तस्य न जातिवचनत्वमिति भावः । क्षेत्रे रूढा इति । उत्पन्ना इत्यर्थः । शाल्यादिसस्यात्मका इति फलितम् ।

लिये 'ठक्' प्रत्यय एवं 'पा' को ह्रस्व (= प) का विधान कहा गया है। अर्थ—उपाय-उपायः एव ।

(२१०३) पद—वाचः, व्याहृतार्थायाम् । **अनुवृत्ति**-ठक्, स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सन्दिष्टार्थ वचन में विद्यमान 'वाच्' शब्द से स्वार्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। उदा० वाचिकम् । अमरकोष—'सन्देशवाग् वाचिकं स्यात्' ।

विवरण—"'व्याहृतार्थ वाणी' वाचक होने पर 'वाच्' शब्द से स्वार्थ में 'ठक्' (= ठ = इक) प्रत्यय होता है"। पहले किसी ने कुछ सन्देश कहा, उस बात को उस सन्देशवाहक ने जाकर कहा। इसी को 'व्याहृतार्थ वाणी' कहा गया है। **उदाहरण-वाचिकम्** (सन्देश—वाक् एव)—वाच्+ठक् (ठ=इक) ।

(२१०४) पद—तद्युक्तात्, कर्मणः, अण् । **अनुवृत्ति**—व्याहृतार्थायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—सूत्रस्थ 'तद्युक्त' पद पूर्व सूत्रस्थ 'व्याहृतायाम्' का निर्देशक है (तया व्याहृतया युक्तः = तद्युक्तः) । तदनुसार "उस प्रकाशित वाणी से युक्त जो कर्म, उस से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। इस प्रकार सन्देशवाणी को सुनकर जो तदनुसार कार्य किया जाता है वह **कार्मणम्** होगा। कर्मन्+अण् (= अ) ▷ कार्मणम् (कर्म एव) । "अन्" ६-४-१६७ से प्रकृतिभाव होने के कारण 'टि'लोप नहीं होता ।

(२१०५) पद—ओषधेः, अजातौ । **अनुवृत्ति**—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'विधेय' प्रत्यय 'अण्' पूर्वसूत्र से अनुवर्तमान है। अतः "जाति अर्थ वर्तमान न होने पर 'ओषधि' शब्द से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण—औषधं** पिबति (दवा पीता है—ओषधिः एव)—ओषधि+अण् (= अ) । आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप । यहाँ पर 'ओषधि' शब्द द्रव्यरूप है अर्थात् किसी एक दवा का ग्रहण करना है न कि ओषधि—जाति का ।

५।४।३८॥ प्रज्ञ एव प्राज्ञः। प्राज्ञी स्त्री। दैवतः। बान्धवः। (२१०७) मृदस्तिकन् ५।४।३९॥ मृदेव मृत्तिका। (२१०८) सस्नौ प्रशंसायाम् ५।४।४०॥ रूपपोऽपवादः। प्रशस्ता मृत्—मृत्सा, मृत्स्ना। उत्तरसूत्रे अन्यतरस्यां ग्रहणान्नि-

---

(२१०६) प्रज्ञादिभ्यश्च। स्वार्थे अण्णिति शेषः। प्राज्ञ इति। प्रजानातीति प्रज्ञः, 'इगुपधज्ञा' इति कः। प्रज्ञशब्दात्स्वार्थे अण्। प्राज्ञीति। अणन्तत्वात् ङीप्। प्रज्ञा अस्यास्तीति विग्रहे तु 'प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यः' इति णान्तात् टापि प्राज्ञेति रूपम्।

(२१०७) मृदस्तिकन्। मृत्शब्दात्स्वार्थे तिकन्नित्यर्थः।

(२१०८) सस्नौ। प्रशस्तायां मृदि वर्तमानात् मृच्छब्दात्स्वार्थे स-स्न-एतौ प्रत्ययौ स्त इत्यर्थः। रूपप् इति। 'प्रशंसायां रूपप्' इति विहितस्येत्यर्थः। नित्योऽयमिति। सस्नविधिरित्यर्थः। वस्तुतस्तु 'ङ्यादयः प्राग्वुनः' इत्यादिपरिगणितेषु अनयोः प्रत्यययोरन्तर्भावादनित्यत्वमेवानयोरुचितमित्याहुः।

प्रत्युदाहरण—'जाति' अर्थ होने के कारण **'ओषधयः क्षेत्रे रूढाः** (ओषधियाँ खेत में उगी हुई हैं) में 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ।

(२१०६) पद—प्रज्ञादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—अण्, स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अण्' की अनुवृत्ति ("तद्युक्तात् कर्मणोऽण् ५·४·३६ से) आ रही है।

विवरण—"प्रज्ञादि-गण-पठित प्रातिपदिकों से भी स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है"। (१) (क) प्राज्ञः (बुद्धिमान्—प्रज्ञः एव)—प्रज्ञ+अण्। स्त्रीलिङ्ग में ङीप्—प्राज्ञी (स्वयं ज्ञात्री-प्रज्ञा एव)। 'आदि' कहने से (२) दैवतः (देवता—देवता एव)—देवता+अण् (=अ)। (३) बान्धवः (भाई-बन्धु—बन्धुः एव)—बन्धु+अण्। आदिवृद्धि, 'उ' को गुण एवम् अवादेश।

(२१०७) पद—मृदः, तिकन्। **अनुवृत्ति**—स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—"प्रथमा-समर्थ 'मृद्' प्रातिपदिक से 'तिकन्' (=तिक) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—**मृत्तिका** (मिट्टी—मृद् एव)—मृद्+तिकन् (=तिक) ▷ मृत्तिक+टाप् (द्=त्—चर्त्व) ▷ मृत्तिका (विभक्तिकार्य)। 'पञ्चमृत्तिकः पटः' आदि प्रयोगों में इकार-श्रवणार्थ प्रत्यय में इकारोच्चारण किया गया है। अन्यथा "प्रत्ययस्थात्०" (७·३·४४) सूत्र से ही इकार सिद्ध रहा।

(२१०८) पद—सस्नौ, प्रशंसायाम्। **अनुवृत्ति**—मृदः, स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र से उद्देश्यवाची 'मृदः' पद अनुवर्तमान है। तदनुसार "प्रशंसा-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'मृद्' शब्द से 'स' तथा 'स्न' प्रत्यय होते हैं"। "प्रशंसायाम् रूपप्" (५·३·६६) सूत्र से प्राप्त 'रूपप्' का यह अपवाद है। **उदाहरण**—(१) **मृत्सा**—मृद्+स ▷ मृत्+स (द्=त्—चर्त्व) ▷ मृत्सा (टाप्)। (२) **मृत्स्ना**—मृद्+स्न+टाप्। अर्थ—मिट्टी—मृद् एव। अग्रिम सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' पद का समावेश होने से यह विधि नित्य है।

विशेष—अन्य आचार्यों के मत में यह विधि भी अनित्य होनी चाहिये, क्योंकि 'ङ्यादयः प्राग्वुनः' के अन्तर्गत इसका परिगणन किया गया है।

त्योऽयम्। (२१०९) बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ५ । ४ । ४२ ॥ बहूनि ददाति बहुशः। अल्पानि अल्पशः। 'बह्वल्पार्थान्मङ्गलामङ्गलवचनम्' (वा ३३३८)। नेह—बहूनि ददात्यनिष्टेषु। अल्पं ददात्याभ्युदयिकेषु। (२११०) सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ५ । ३ । ४३ ॥ द्वौ द्वौ ददाति—द्विशः। माषं माषं—माषशः। प्रस्थशः।

(२१०९) बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्। बह्वल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनः शब्दात्स्वार्थे शस्प्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः। बह्वल्पार्थादिति। वार्तिकमिदम्। मङ्गलामङ्गले गम्ये एवायं शसित्यर्थः। बहूनि ददात्यनिष्टेष्विति। भयादिनिमित्तेष्वित्यर्थः। अल्पं ददात्याभ्युदयिकेष्विति। अभ्युदयः श्रेयः, तत्प्रयोजनकेष्विष्टापूर्तेष्वित्यर्थः। आभ्युदयिकेषु बहुदानम्, अनिष्टेषु अल्पदानं च मङ्गलं, तद्विपरीतदानं तु अमङ्गलमिति भावः। अर्थ-ग्रहणाद् भूरिशो ददाति, स्तोकशो ददाति इत्याद्यप्युदाहार्यम्।

(२११०) सङ्ख्यैकवचनाच्च। सङ्ख्या च एकवचनं चेति समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी। एकत्वविशिष्टोऽर्थः उच्यतेऽनेनेत्येकवचनः। एकत्वविशिष्टस्यार्थस्य वचन इति विग्रहः। सङ्ख्यावाचकात्तदन्यस्माच्चैकत्वविशिष्टवाचकात्कारकाभिधायिनः प्रातिपदिकात् वीप्सायां शस् वेत्यर्थः। सङ्ख्यावाचिन उदाहरति—द्वौ द्वौ ददातीति। 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम्। द्विशः इत्यत्र तु न। शसैव वीप्साया उक्तत्वात्। 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यत्र 'शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः' इति परिगणनात् शसादीनां डाच्पर्यन्तानामव्यय-त्वम्। एकत्वविशिष्टवाचिन उदाहरति—माषं माषं माषश इति। माषं माषमित्यनन्तरं ददातीति शेषः। माषशब्दः परिमाणविशेषवाची। प्रस्थश इति। प्रस्थं प्रस्थं ददातीति विग्रहः। ननु घटं घटं ददातीत्यत्रापि घटशः इति स्यात्, घटशब्दस्याप्येकत्वविशिष्टार्थवाच-कत्वात्। न च एकत्वविशिष्टस्यैवार्थस्य वाचकः एकवचनशब्देन विवक्षितः, घटशब्दस्तु नैवम्, घटौ घटाः इत्यादौ द्वित्वबहुत्वविशिष्टवाचकत्वादिति वाच्यम्, एवं सति माषशः

(२१०९) पद—बह्वल्पार्थात्, शस्, कारकात्, अन्यतरस्याम्। अनुवृत्ति—स्वार्थे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—"'बहु' तथा 'अल्पार्थक' कारकाभिधायी शब्दों से स्वार्थ में विकल्प से 'शस्' प्रत्यय होता है"। सामान्यतः 'कारक' कहे जाने से यहाँ छहों कारकों का ग्रहण होगा। यदि 'कारकाभिधायी 'बहु तथा अल्प' ऐसा न कहते तो सम्बन्ध एवं सम्बोधन विभक्तिवाले बह्वल्पार्थक शब्दों से 'शस्' प्रत्यय होने लगता। 'अन्यतरस्याम्' कहने से पक्ष में विग्रह-वाक्य ही रहेगा। **उदाहरण**—(१) बहुशः (बहुत—बहूनि ददाति)—बहु+शस्। अव्ययों में परिगणन होने से विभक्ति का लोप। (२) अल्पशः (थोड़ा—अल्पं ददाति)—अल्प+शस् (= श)।

इसी प्रसङ्ग में वार्तिक द्वारा यह नियमन किया जा रहा है कि **अधिक और अल्पार्थ शब्द जब क्रमशः 'कल्याण' एवम् 'अकल्याण' स्थिति में हों तभी 'शस्' होता है**। अतः बहूनि ददाति अनिष्टेषु (अनिष्ट के समय बहुत देता है) तथा अल्पं ददाति आभ्युदयिकेषु (कल्याण के समय कम देता है) में विपरीत होने के कारण 'शस्' नहीं होता।

(२११०) पद—संख्यैकवचनात्, च, वीप्सायाम्। अनुवृत्ति—शस्, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—'शस्' प्रत्यय का ही विषय है। "संख्यावाची प्रातिपदिक से तथा एकार्थाभिधायी प्रातिपदिक से भी वीप्सा द्योतित होने पर विकल्प से 'शस्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(क) संख्यावाची—द्विशः (दो दो—द्वौ द्वौ ददाति)—द्वि+शस् (= श)। 'शस्'

परिमाणशब्दाः वृत्तावेकार्था एव। सङ्ख्यैकवचनात् किम् ? घटं घटं ददाति। वीप्सायाम् किम् ? द्वौ ददाति। कारकात् इत्येव। द्वयोर्द्वयोः स्वामी। (२१११) **प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः** ५।४।४४॥ प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसिः स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रति। 'आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा ३३३९)। आदौ←आदितः। मध्यतः। अन्ततः। पृष्ठतः। पार्श्वतः। आकृतिगणोऽयम्।

प्रस्थशः इत्यत्रापि शस्भावप्रसङ्गादित्यत आह—परिमाणशब्दा वृत्तावेकार्था एवेति। अयमाशयः—समासादिवृत्तौ एकत्वविशिष्टस्यैवार्थस्य वाचका एकवचनशब्देन विवक्षिताः। तथाविधाश्च परिमाणशब्दा एव, न तु घटादिजातिशब्दा अपि। माषदातेत्युक्ते हि माषपरिमितस्य हिरण्यादेर्दातेति प्रतीयते, न तु माषाणामिति। अतो माषशब्दोऽयं भवति वृत्तावेकत्वविशिष्टार्थनियतः। एवं प्रस्थादिशब्दोऽपि। घटशब्दस्तु नैवं, घटदातेत्युक्ते घटानां दातेत्यपि प्रतीतेः। एतदेवाभिप्रेत्य प्रत्युदाहरति—घटं घटमिति। एतत्सर्वं जयादित्यमतम्। वामनस्तु उक्तनियमे प्रमाणाभावात् जातिशब्देभ्योऽपि शस् भवत्येव, एकवचनग्रहणं तु घटौ घटौ ददातीत्यादौ शसभावार्थमित्याह। 'एकैकशः पितृसंयुक्तानि'-इत्यत्र तु शसैव वीप्साया उक्तत्वात् द्विर्वचनमार्षमिति हरदत्तः। प्रत्याहाराह्निकभाष्ये 'एकैकशः, सहस्रकृत्वः' इति भाष्यप्रयोगात् स्वार्थिकशसा समाधेयमित्यन्ये।

(२१११) प्रतियोगे। विहितेति। 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' इति प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वे तद्योगे 'प्रतिनिधिप्रतिपादने च यस्मात्' इति पञ्चमी विहितेत्यर्थः। प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रतीति। कृष्णस्य प्रतिनिधिरित्यर्थः। आद्यादिभ्य इति। अयं सार्वविभक्तिकस्तसिः।

प्रत्यय वीप्सा में होने के कारण 'द्वौ द्वौ' में द्वित्व हुआ है। 'शस्' प्रत्यय करने पर 'द्विशः' में द्वित्व नहीं होगा। (ख) एकवचन—(१) **माषशः** (एक एक माशा—माषं माषं ददाति)—माष+शस्। रुत्व, विसर्ग। समास-तद्धितादि में परिमाण के बहुत्व होने पर भी परिमाणरूप में एक ही अर्थ माष आदि शब्दों से कहा जाता है। (२) **प्रस्थशः** (एक एक प्रस्थ—प्रस्थं प्रस्थं ददाति)-प्रस्थ+शस्।

प्रत्युदाहरण—(१) 'संख्यैकवचनात्' का ग्रहण करने से **घटं घटं ददाति** में 'घट' शब्द के जातिबोधक होने से 'अनेक घटों का दाता घड़े-घड़े भर देता है'—अर्थ भी हो सकता है। अतः यहाँ 'शस्' प्रत्यय नहीं होता है। (२) सूत्र में 'वीप्सा' पद का निवेश होने से **द्वौ ददाति** (दो देता है) में वीप्सा (द्विरुक्ति) न होने से 'शस्' प्रत्यय नहीं हुआ। (३) 'द्वयोः' 'द्वयोः' **स्वामी** (दो दो का मालिक)—में वीप्सादि होने पर भी पूर्वसूत्र से 'कारकात्' की अनुवृत्ति होने से उक्त प्रयोग में 'द्वि' शब्द से (षष्ठी होने पर) कारक-संज्ञक विभक्ति के न होने के कारण 'शस्' प्रत्यय नहीं होता।

(२१११) पद—प्रतियोगे, पञ्चम्याः, तसिः। **अनुवृत्ति**-अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'प्रति' से कर्मप्रवचनीय के योग में जो पञ्चमी विहित है, तदन्त से 'तसि' (=तस्) प्रत्यय होता है। उदा० प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रति। वा० आद्यादि से भी तसि कहा जाय। १-आदौ—आदितः। २-मध्यतः। ३-अन्ततः। ४-पृष्ठतः। ५-पार्श्वतः। यह आकृतिगण है। १-स्वरेण—स्वरतः। २-वर्णतः।

विवरण—"पहले कारक प्रकरण में 'प्रति' की "प्रतिः प्रतिनिधि-प्रतिदानयोः" (१-४-९२) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा तथा "प्रतिनिधि-प्रतिदाने च यस्मात्" (२-३-११) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति

स्वरेण←स्वरतः। वर्णतः। (२११२) अपादाने चाहीयरुहोः ५।४।४५॥ अपादाने या पञ्चमी तदन्तात्तसिः स्यात्। ग्रामादागच्छति←ग्रामतः। अहीयरुहोः किम्? स्वर्गाद्धीयते। पर्वतादवरोहति। (२११३) अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः ५।४।४६॥ अकर्तरि तृतीयान्ताद्वा तसिः स्यात्। अतिक्रम्य ग्रहोऽतिग्रहः। चारित्रेणातिगृह्यते, चारित्रतोऽतिगृह्यते। चारित्रेणान्यानतिक्रम्य वर्तत इत्यर्थः। अव्यथनमचलनम्। वृत्तेन न व्यथते—वृत्ततो न व्यथते। वृत्तेन न चलतीत्यर्थः।

(२११२) अपादाने चाहीयरुहोः। अहीयरुहोरिति छेदः। हीयते इत्यादौ कर्मणि लकारे यगन्तस्य एकदेशस्य हीयेत्यनुकरणम्। हीयरुहोः सम्बन्धि यन्न भवति तस्मिन्नपादाने इत्यर्थः।

(२११३) अतिग्रहाव्यथन। अतिक्रम्य ग्रह इति। लोकवृत्तमतिक्रम्य तद्विलक्षणतया प्रतीयमानत्वमित्यर्थः। चारित्रेणेति। चरित्रमेव चारित्रम्, तेन हेतुना इतरविलक्षणत्वेन दृश्यते इत्यर्थः। फलितमाह—अन्यानतिक्रम्य वर्तत इति। 'व्यथ भयसञ्चलनयोः' इति

बतलाई गई है। अतः तदन्त (=पञ्चम्यन्त) प्रातिपदिक से 'तसि' (=तस्) प्रत्यय होता है"। उदाहरण—प्रद्युम्नः कृष्णतः अथवा कृष्णात् प्रति (प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं)—'प्रति' के योग में तसि (=तस्)। पक्ष में पञ्चमी विभक्ति—कृष्णात्। (कृष्ण+ङसि+तस्+सु) अव्यय-संज्ञा होने से पुनः आगत विभक्ति का लोप।

इस प्रसङ्ग में एक वार्तिक द्वारा आद्यादि शब्दों के उत्तरवर्ती सभी विभक्तियों को अभिलक्षित कर तसि (=तस्) प्रत्यय होना कहा जा रहा है। उदाहरण—(१) आदितः (प्रारम्भ में—आदौ)—आदि+तस्, (२) मध्यतः (बीच से या बीच में—मध्यात् मध्ये वा)—मध्य+तस्। (३) अन्ततः (अन्त में—अन्ते आदि) अन्त+तस्। (४) पृष्ठतः (पीछे से—पृष्ठात्)—पृष्ठ+तस्। (५) पार्श्वतः (बगल से—पार्श्वात्)—पार्श्व+तस्। आकृतिगण होने के फलस्वरूप—(६) स्वरतः (स्वर से—स्वरेण) तथा वर्णतः (वर्ण से—वर्णेन) में भी 'तस्' हो गया।

(२११२) पद—अपादाने, च, अहीयरुहोः। अनुवृत्ति—पञ्चम्याः, तसिः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'हीय' और 'रुह' को छोड़कर अपादान में विहित पञ्चमी से 'तसि' (=तस्) प्रत्यय होता है"। उदा० ग्रामात् आगच्छति—ग्रामतः वा।

विवरण—पञ्चमी से वैकल्पिक 'तसि' प्रत्यय होने का ही विषय है। अतः उल्लिखित तीनों पद पूर्व सूत्र से अनुवर्तमान हैं। तदनुसार "अपादान कारक में विहित पञ्चमी-विभक्त्यन्त से 'तसि' प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि वह अपादान कारक 'हीय' और रुह सम्बन्धी न हो"। 'हीय' शब्द कर्म में यक्-प्रत्ययान्त 'हीयते' का अनुकरण है। उदाहरण—ग्रामतः ग्रामात् वा आगच्छति (गाँव से आता है)। ग्राम+तस्। अथवा यथानुरूप 'ग्रामात्' पञ्चमी विभक्ति।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अहीयरुहोः' पद का निवेश होने से स्वर्गात् हीयते (स्वर्ग से पृथक् होता है) तथा पर्वतात् अवरोहति (पहाड़ से उतरता है) में 'तसि' प्रत्यय नहीं हुआ।

(२११३) पद—अतिग्रहाकथनक्षेपेषु, अकर्तरि, तृतीयायाः। अनुवृत्ति—तसिः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—कर्तृकारकभिन्न तृतीयान्त से 'तसि' प्रत्यय होता है। अतिक्रमण कर ग्रहण करना 'अतिग्रह' है। उदा० १–चारित्र्येण अतिगृह्यते—चारित्रतः अतिगृह्यते। इसका अर्थ है—चारित्र्य से दूसरों को उल्लङ्घन कर रहता है। 'अकथन' का अर्थ है—चलायमान न होना। २–वृत्तेन न

क्षेपे—वृत्तेन क्षिप्तः, वृत्ततः क्षिप्तः। वृत्तेन निन्दित इत्यर्थः। अकर्तरि इति किम्? देवदत्तेन क्षिप्तः। (२११४) हीयमानपापयोगाच्च ५।४।४७॥ हीयमानपापयुक्तादकर्तरि तृतीयान्ताद्वा तसिः। वृत्तेन हीयते–वृत्ततो हीयते। वृत्तेन पापः–वृत्ततः पापः। क्षेपस्याविवक्षायामिदम्। क्षेपे तु पूर्वेण सिद्धम्। अकर्तरि इति किम्? देवदत्तेन

चलनार्थात् ल्युटि व्यथनशब्दः। तदाह—अव्यथनमचलनमिति। क्षेपे इति। उदाह्रियत इति शेषः। क्षेपो निन्दा।

(२११४) हीयमानपापयोगाच्च। हीयमानेति। हीयमानयुक्तात् पापयुक्ताच्चेत्यर्थः। ननु पूर्वसूत्रे क्षेपग्रहणादेव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—क्षेपस्याविवक्षायामिति। तत्त्वकथने इत्यर्थः।

व्यथते—वृत्ततः न व्यथते। आचरण से च्युत नहीं होता। ३–क्षेप अर्थ में—वृत्तेन क्षिप्तः–वृत्ततः क्षिप्तः। अर्थात् निन्दित। 'अकर्तरि' क्यों कहा? देवदत्तेन क्षिप्तः (कर्तरि तृतीया होने से 'तसि' नहीं हुआ)।

विवरण—वैकल्पिक 'तसि' का ही विषय है, किन्तु पञ्चम्यन्त से नहीं। अतः सूत्र में 'तृतीया' विभक्ति का ग्रहण किया गया है। तदनुसार "'अतिग्रह', 'अव्यथन' तथा 'क्षेप'—इन अर्थों में विद्यमान तृतीया-विभक्त्यन्त शब्द से 'तसि' प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि वह तृतीया विभक्ति 'कर्ता' में न हुई हो"। 'कर्ता' में 'तृतीया' का निषेध करने से 'करण' अर्थ में 'तृतीयान्त' विभक्ति से 'तसि' प्रत्यय होगा। विकल्प होने से विग्रह-वाक्य भी पक्ष में होगा। 'अतिग्रह' का अर्थ है—अन्यों को चरित्रादि के द्वारा प्रभावित कर गृहीत होना। 'अव्यथन' का अर्थ है—चलायमान न होना। 'क्षेप' का अर्थ है—निन्दा। क्रमशः **उदाहरण**—(१) चरित्रतः चरित्रेण वा अतिगृह्यते (अपने सदाचार के कारण दूसरों से बढ़ता है)—'तसि' तथा पक्ष में 'तृतीया'। (२) वृत्ततः ('तसि') अथवा वृत्तेन ('तृतीया') न व्यथते (सदाचार से दुःखी नहीं होता)। (३) वृत्ततः ('तसि') वृत्तेन ('तृतीया') वा क्षिप्तः (दुराचार के कारण निन्दित)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अकर्तरि' पद का निवेश होने के फलस्वरूप देवदत्तेन क्षिप्तः (देवदत्त से निन्दित) में 'कर्तरि' तृतीया होने के कारण 'तसि' नहीं हुआ। वाक्य ही रहा।

(२११४) पद—हीयमानपापयोगात्, च। **अनुवृत्ति**—अकर्तरि तृतीयायाः, तसिः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हीयमान एवं पापयुक्त कर्तृवाचक तृतीयान्त भिन्न से 'तसि' प्रत्यय विकल्प से होता है। उदा० १–वृत्तेन हीयते—वृत्ततः हीयते। २–वृत्तेन पापः—वृत्ततः पापः। निन्दा की अविवक्षा में यह विधान है। निन्दार्थ में पूर्व सूत्र से सिद्ध है। 'अकर्तरि' क्यों कहा? देवदत्तेन हीयते ('तसि' नहीं हुआ)।

विवरण—कर्तृभिन्न तृतीया के सम्बन्ध में 'तसि' का विशेष विधान है। अतः पूर्व सूत्र से उसकी अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "'हीयमान' तथा 'पापयुक्त'—इन अर्थों से सम्बद्ध शब्दों से भी तृतीयाविभक्त्यन्त से 'तसि' (= तस्) प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि वह तृतीया कर्ता में न हुई हो"। **उदाहरण**—(१) वृत्ततः हीयते—वृत्तेन हीयते (चरित्र से रहित होता है)। (२) वृत्ततः पापः—वृत्तेन पापः (चरित्र से पापी)। इन दोनों उदाहरणों में 'वृत्त' शब्द का 'हीयमान' एवं 'पाप' के साथ सम्बन्ध होने से 'तस्' प्रत्यय विकल्प से हुआ।

विशेष—निन्दा गम्यमान होने पर पूर्व सूत्र प्रवृत्त होता है। यह सूत्र निन्दा की अविवक्षा में—अर्थात् तत्त्वकथन में—प्रवृत्त होता है। यह अन्तर है।

हीयते। (२११५) षष्ठ्या व्याश्रये ५।४।४८॥ षष्ठ्यन्ताद्वा तसिः स्यान्नानापक्षसमाश्रयणे। देवाः अर्जुनतोऽभवन्। आदित्याः कर्णतोऽभवन्। अर्जुनस्य कर्णस्य पक्षे इत्यर्थः। व्याश्रये किम्? वृक्षस्य शाखा। (२११६) रोगाच्चापनयने ५।४।४९॥ रोगवाचिनः षष्ठ्यन्ताद्वा तसिश्चिकित्सायाम्। प्रवाहिकातः कुरु। प्रतीकारमस्याः कुर्वित्यर्थः। अपनयने किम्? प्रवाहिकायाः प्रकोपनं करोति। (२११७) कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः ५।४।५०॥ 'अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्' (वा ३३४०)। विका-

---

(२११५) षष्ठ्या व्याश्रये। नानापक्षसमाश्रयणे इति। सर्वसाधारण्यं विहाय एकपक्षाश्रय इति यावत्। पक्षः स्वीयत्वेन परिग्रहः। देवा अर्जुनतोऽभवन्निति। अर्जुनस्य पक्षे देवा आसन्नित्यर्थः। आदित्याः कर्णतोऽभवन्निति। सूर्याः कर्णस्य पक्षे आसन्नित्यर्थः।

(२११६) रोगाच्च। रोगस्य प्रतीकारः चिकित्सा। प्रवाहिकात इति। विसूचिकाप्रतीकारमित्यर्थः।

(२११७) कृभ्वस्तियोगे। अभूतेति। येन रूपेण प्रागभूतं यद्वस्तु तस्य तद्रूपप्राप्ता-

---

प्रत्युदाहरण—'अकर्तरि' अनुवृत्ति के फलस्वरूप **देवदत्तेन हीयते**—में 'तसि' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ कर्ता अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है।

(२११५) पद—षष्ठ्याः, व्याश्रये। **अनुवृत्ति**—तसिः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'विभिन्न पक्ष का अवलम्बन' अर्थ में षष्ठ्यन्त से वैकल्पिक 'तसि' होता है। उदा० देवाः अर्जुनतः अभवन्।

विवरण—'तसि' (५-४-४४ से अनुवर्तमान) का विषय है। "बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्" (५-४-४२) से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति के प्रभावी होने से प्रकृत विधान विकल्प से होगा। तदनुसार "अनेक पक्षों का अवलम्बन गम्यमान (व्याश्रये) हो तो षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से वैकल्पिक 'तसि' (= तस्) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(१) देवाः **अर्जुनतः** अभवन् (देवता अर्जुन के पक्ष में हुए)। (२) आदित्याः **कर्णतः** अभवन् (सूर्य कर्ण के पक्ष में हुए)। अर्थात् अनेक पक्षों के होते हुए एक पक्ष का ग्रहण किया। अतः षष्ठ्यर्थ ('अर्जुनस्य' एवम् 'कर्णस्य') की विवक्षा में दोनों शब्दों से 'तस्' प्रत्यय हुआ है।

प्रत्युदाहरण—**वृक्षस्य शाखाः** (वृक्ष की शाखा) में अनेक पक्षों का आश्रय ('व्याश्रय') न होने से 'तसि' (= तस्) प्रत्यय नहीं होता।

(२११६) पद—रोगात्, च, अपनयने। **अनुवृत्ति**—षष्ठ्याः, तसिः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—चिकित्सार्थ में रोगवाचक षष्ठ्यन्त से 'तसि' (= तस्) प्रत्यय होता है। उदा० प्रवाहिकातः कुरु। अर्थ—हैजे का निवारण करो। 'अपनयने' क्यों कहा? प्रवाहिकायाः प्रकोपनं करोति ('तसि' नहीं हुआ)।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'षष्ठ्याः' की अनुवृत्ति है तथा 'तसि' प्रत्यय का ही विषय है। तदनुसार "चिकित्सा गम्यमान होने पर (अपनयने) रोगवाची षष्ठ्यन्त शब्द से 'तसि' प्रत्यय (प्रवाहिका + ङस् + तस्) विकल्प से होता है"। **उदाहरण**—**प्रवाहिकातः** कुरु (हैजे की चिकित्सा करो अर्थात् उस रोग को दूर करो—'प्रवाहिकायाः' अर्थ)।

प्रत्युदाहरण—**प्रवाहिकायाः प्रकोपनं करोति** (हैजे को कुपित करता है) में 'अपनयन' (रोगनिवारण—चिकित्सा) अर्थ गम्यमान न होने के कारण 'तसि' प्रत्यय नहीं होता।

रात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात्स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे । **(२११८) अस्य च्वौ ७ । ४ । ३२ ॥** अवर्णस्य ईत्स्यात् च्वौ । वेर्लोपः । च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम् । अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते, तं करोति–कृष्णीकरोति । ब्रह्मीभवति । गङ्गीस्यात् । 'अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम्' (वा ५०५२) । दोषाभूतम् अहः । दिवाभूता

वित्यर्थः । एवञ्च यत्र प्रकृतिस्वरूपमेव विकाररूपमापद्यमानं विकाराभेदेन विवक्ष्यते, तत्रैवायं प्रत्यय इति लभ्यते । सम्पद्यकर्तरीत्येकं पदम् । सम्पदनं सम्पद्यः । सम्पूर्वकात्पदधातोरत एव निपातनादेव भावे कृत्संज्ञः शः, दिवादित्वात् श्यन् । सम्पद्यस्य कर्तेति षष्ठीसमासः । सम्पद्यमाने वर्तमानादिति यावत् । केन रूपेण कस्य सम्पत्तिरित्याकाङ्क्षायाम्, 'अभूततद्भावे' इति वार्तिकात् प्रकृतेर्विकाररूपेण सम्पत्तिरिति लभ्यते । तत्र विकारवाचकादेव प्रत्ययः, न तु प्रकृतिवाचकात् व्याख्यानात् । तथा च फलितमाह—विकारात्मतामित्यादिना । वर्तमानादिति । विकारवाचकशब्दस्य प्रकृतौ गौण्या वृत्त्या विद्यमानत्वं बोध्यम् । करोत्यादिभिरिति । 'डुकृञ् करणे, भू सत्तायाम्, अस् भुवि' इति धातुभिर्योगे सतीत्यर्थः । च्विप्रत्यये चकार इत्, इकार उच्चारणार्थः ।

(२११८) अस्य च्वौ । ईत्स्यादिति । 'ई घ्राध्मोः' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । वेर्लोप इति । वेरपृक्तस्य इत्यनेनेति शेषः । च्व्यन्तत्वादव्ययत्वमिति । 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' इति निपातनात् स्वरादिनिपातमित्यव्ययत्वमित्यर्थः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यत्र 'शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः' इति परिगणितेष्वन्तर्भावादव्ययत्वमिति केचित् । कृञ्योगे उदाहरति—कृष्ण इति । वस्तुतः अकृष्णः सन् वेषादिना कृष्णभावं प्राप्नोतीत्यर्थः । तं

(२११७) पद—कृभ्वस्तियोगे, सम्पद्यकर्तरि, च्विः । अनुवृत्ति—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—वा० अभूत-तद्भाव में कहा जाय । 'करोति' आदि के योग में विकार को प्राप्त हुई प्रकृति में विद्यमान विकारवाची शब्द से पर विकल्प से 'च्वि' प्रत्यय होता है ।

विवरण—सूत्रस्थ 'सम्पद्यकर्तरि' शब्द एकपदात्मक है । विग्रह है—सम्पद्यस्य कर्ता = सम्पद्यकर्ता, तस्मिन् । अतः सूत्र का अर्थ यह होगा—"सम्पद्यमान में वर्तमान→(कर्ता)←प्रातिपदिक से—'कृ', 'भू', तथा 'अस्' धातु के योग में—'च्वि' प्रत्यय होता है" । किस रूप में किस का परिवर्तन हो इस आकाङ्क्षा का निवारण करने के लिये महाभाष्यकार ने अभूततद्भावग्रहणम्—इस वार्तिक को उद्धृत किया है, जिसके अनुसार "जो नहीं था उसके गम्यमान होने पर—= तद्वाची शब्द के वर्तमान होने पर 'कृ' 'भू' तथा 'अस्' धातुओं में से किसी एक के भी निष्पन्न रूप के योग में 'च्वि' प्रत्यय होता है" । उदाहरण आगे दिया जायगा ।

(२११८) पद—अस्य, च्वौ । अनुवृत्ति—ई, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'च्वि' परे रहते 'अ'वर्ण के स्थान में 'ई' आदेश हो । 'वि' का लोप । च्व्यन्त होने से अव्यय संज्ञा । पूर्वसूत्र का—उदा० १–जो काला नहीं है—वह काला हो जाता है (अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते) तं करोति—कृष्णीकरोति । २–ब्रह्मीभवति । ३–गङ्गीस्यात । वा० अव्यय को 'च्वि' परे रहते 'ई' नहीं होता । उदा० १–दोषाभूतम् अहः । २–दिवाभूता रात्रिः । यह विषय "अव्ययीभावश्च" (१-१-४१) सूत्र के भाष्य में वर्णित है ।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है । सप्तमाध्याय के चतुर्थपादस्थ 'ईत्व' प्रकरण से उद्धृत किया गया है । अतः यह आदेश-विधायक सूत्र है । अङ्गाधिकार के अन्तर्गत आदेश-वाची वर्ण 'ई' की अनुवृत्ति "ई घ्राध्मोः" (७-४-३१) सूत्र से अपेक्षित है । तदनुसार "'च्वि' प्रत्यय परवर्ती रहते अवर्णान्त अङ्ग के स्थान में 'ई' कार आदेश होता है" । "अलोन्त्यस्य" के आधार पर अन्त्य-

रात्रिः । एतच्च 'अव्ययीभावश्च' (सू ४५१) इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् । (२११९) क्यच्व्योश्च ६ । ४ । १५२ ॥ हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः स्यात्क्ये च्वौ च परतः ।

करोतीति । अकृष्णं कृष्णरूपेण सम्पद्यमानं करोतीत्यर्थः । कृष्णीकरोतीति । अत्र वस्तुतः अकृष्णो नटः प्रकृतिभूतः । स तावत्कृष्णभावं विकारं प्राप्नुवन् सम्पद्यमानत्वात् सम्पद्यकर्ता भवतीति तत्राभेदारोपमवलम्ब्य वर्तमानः विकारभूतकृष्णवाचकः शब्दः । तस्मात् च्विप्रत्ययः । चकार इत्, इकार उच्चारणार्थः । तस्मिन्परे अकारस्य ईत्वम्, 'वेरपृक्तस्य' इति वकारलोपः । कृष्णीति ईकारान्तमव्ययम् । ब्रह्मीभवतीति । अब्रह्म ब्रह्म सम्पद्यमानं भवतीत्यर्थः । ब्रह्मन्शब्दात् च्विः । अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वान्नलोपः । ईत्वमिति भावः । अत्यन्तस्वार्थिकानामेव प्रातिपदिकादुत्पत्तिः न तु सुबन्तादिति नियमः । अतो न च्वेः प्रातिपदिकादुत्पत्तिः । किन्तु सुबन्तादेवेति बोध्यम् । अतएव अगौगौः समपद्यत गोऽभवदित्यत्र च्व्यन्तस्य गोशब्दस्य 'एङः पदान्तात्' इति पररूपमुदाहृतं भाष्ये सङ्गच्छत इत्यलम् । गङ्गीस्यादिति । अगङ्गा गङ्गात्वेन सम्पद्यमाना स्यादित्यर्थः । 'अस्य च्वौ' इति ईत्वम् । दोषाभूतम् अहरिति । दोषेत्याकारान्तमव्ययं रात्रावित्यर्थे वर्तते । इह तु रात्रिरित्यर्थे वर्तते । अदोषाभूतमहः बहुलमेघावरणान्धकारात् दोषाभूतमित्यर्थः । दिवाभूता रात्रिरिति । दिवेत्याकारान्तमव्ययम् अहनीत्यर्थे । इह तु अहरित्यर्थे वर्तते । चन्द्रिकातिशयवशात् अहर्भूतेत्यर्थः । ननु 'अव्ययस्य च्वावीत्वं न' इति वार्तिकम् 'अस्य च्वौ' इति सूत्रभाष्ये न दृश्यत इत्यत आह—एतच्चेति ।

गार्गीभवतीति वक्ष्यन्नाह—(२११९) क्यच्व्योश्च । 'अल्लोपोऽनः' इत्यस्मात् लोप इति, 'हलस्तद्धितस्य' इत्यस्मात् हल इति, 'सूर्यतिष्य' इत्यतः य इति, 'आपत्यस्य च'

अल् को 'ई' आदेश होगा । यह सूत्र "च्वौ च" (७·४·२६) से प्राप्त दीर्घ का अपवाद है । **उदाहरण**—अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते, तं करोति—**कृष्णीकरोति** (जो काला या कृष्ण नहीं, उसे काला या कृष्ण करता है)—यहाँ पर सम्पद्यमान होने से अभेदारोपित 'कृष्ण' शब्द 'सम्पद्यते' क्रिया का कर्ता है तथा 'कृ' के साथ उसका योग भी है—अतः च्वि→कृष्ण+च्वि > कृष्ण+व् ('च्' इत् तथा उच्चारणार्थ 'इ') > कृष्णी+व् (अ = ई—"अस्य च्वौ" ७·४·३२) > कृष्णी ('व्'-लोप—"वेरपृक्तस्य" ६·१·६५) > कृष्णी सु (पुनः विभक्ति) > कृष्णी ('ऊर्यादिच्विडाचश्च'-निपातसंज्ञा-वश "स्वरादिनिपातमव्ययम्" से अव्यय संज्ञा होने से विभक्ति का लुक्) । 'भू' के योग में (२) **ब्रह्मीभवति** (ब्रह्म हो रहा है—अब्रह्म ब्रह्म सम्पद्यमानं भवति)—ब्रह्मन् +च्वि > ब्रह्म व् ('न्' लोप) > ब्रह्मी (ईत्व तथा 'व्' लोप) > ब्रह्मीभवति । (३) 'अस्' के योग में **गङ्गीस्यात्** (गङ्गा हो जाय—अगङ्गा गङ्गा सम्पद्यमाना अस्ति) । प्रक्रिया पूर्ववत् ।

वार्तिक—'अव्ययवाची शब्द से 'च्वि' प्रत्यय करने पर 'च्वि' पर रहते 'अ'कार के स्थान में 'ई' नहीं होता' । **उदाहरण**—**दोषाभूतम् अहः** (दिन रात हो गया—अदोषा दोषा अभूत)—आकारान्त अव्यय 'दोषा' से 'च्वि' होने पर "अस्य च्वौ" (७·४·३२) से प्राप्त 'ई' नहीं हुआ । उसी प्रकार (२) **दिवाभूता रात्रिः** (रात दिन हो गया—अदिवा दिवा अभूत) में भी 'दिवा' के 'आ' को 'ई' नहीं हुआ ।

(२११९) **पद**—क्य-च्व्योः, च । **अनुवृत्ति**—आपत्यस्य, हलः, अङ्गस्य, लोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'क्य' और 'च्वि' पर रहते 'हल्' से पर तद्धित-यकार का लोप होता है । उदा० गार्गीभवति ।

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है । छठे अध्याय के चतुर्थ पाद में वर्णित है । सूत्रार्थ

गार्गीभवति । (२१२०) च्वौ च ७ । ४ । २६ ॥ च्वौ परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात् । शुचीभवति । पटूस्यात् । 'अव्ययस्य दीर्घत्वं न' इति केचित्, तन्निर्मूलम् । 'स्वस्तिस्यात्' इति तु महाविभाषया च्वेरभावात्सिद्धम् । 'स्वस्तीस्यात्' इत्यपि पक्षे स्यादिति चेदस्तु । यदि नेष्यते तर्ह्यनभिधानाच्च्विरेव नोत्पद्यत इत्यस्तु । 'रीङृतः' (सू० १२३४) । मात्रीकरोति । (२१२१) अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च ५।४।५१ ॥ एषां लोपः

इत्यस्मात् आपत्यस्येति चानुवर्तते, तदाह—हलः परस्येति । गार्गीभवतीति । अगार्ग्यो गार्ग्यः सम्पद्यमानो भवतीत्यर्थः । यञन्तात् च्वौ यकारस्य लोपः । वेर्लोपः । यकारस्य तु 'आपत्यस्य च' इति लोपो न सम्भवति, ईकारेण व्यवधानात्, 'हलस्तद्धितस्य' इत्यपि न सम्भवति तस्य ईति अर्थवत्येव विधानात् । अतो वचनमिति भावः ।

अथ शुचीभवतीति वक्ष्यन्नाह—(२१२०) च्वौ च । दीर्घः स्यादिति । 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । अव्ययस्येति । अव्ययस्य 'च्वौ च' इति दीर्घो नेत्यर्थः । तेन स्वस्ति स्यादित्यत्र च्वौ न दीर्घ इति भावः । तन्निर्मूलमिति । भाष्यादावदृष्टत्वादिति भावः । तर्हि स्वस्ति स्यादिति न स्यात् । दीर्घप्रसङ्गादित्यत आह—स्वस्ति स्यादिति त्विति । ननु महाविभाषया दीर्घाभावे स्वस्ति स्यादिति सिद्धावपि कदाचित् स्वस्तीस्यादिति दीर्घो दुर्वार इति शङ्कते—स्वस्तीस्यादित्यपि पक्षे स्यादिति । इष्टापत्तिरित्याह—अस्त्विति । दीर्घतदभावाभ्यां रूपद्वयमिति शेषः । प्रामाणिकत्वादुभयमप्यादर्तव्यमिति भावः । ननु शिष्टानङ्गीकारात् कथं दीर्घपाठादर इत्यत आह—यदि नेष्यते इत्यादि । मातृशब्दात् च्विप्रत्यये विशेषमाह—रीङृत इति ।

(२१२१) अरुर्मनश्चक्षुः । एषामिति । अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस्, रजस्

सम्पन्न होने में "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" (६-४-१५१) से 'आपत्यस्य', "हलस्तद्धितस्य" (६-४-१५०) से 'हलः' तथा "ढे लोपोऽकद्र्वाः" (६-४-१४८) से 'लोपः' की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं । तदनुसार '"क्य' तथा 'च्वि' पर रहते 'हल्' से उत्तरवर्ती अङ्ग के अपत्य-सम्बन्धी यकार का लोप होता है" । उदाहरण—गार्गीभवति (गर्ग का वंशज हो रहा है—अगार्ग्यः गार्ग्यः सम्पद्यमानः भवति)—अपत्याधिकारस्थ यञन्त गार्ग्य से च्वि-प्रत्यय होने पर 'ई' के व्यवधान होने पर भी सूत्रकरण-सामर्थ्यात् 'य्' का लोप ("क्यच्व्योश्च") हो गया ।

(२१२०) पद—च्वौ, च । अनुवृत्ति—दीर्घः, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'च्वि' पर रहते पूर्वपद को दीर्घ होता है । उदा० १–शुचीभवति । २–पटूस्यात् । कुछ लोगों के अनुसार अव्यय को दीर्घ नहीं होता—यह एक मत है । किन्तु यह निर्मूल है, क्योंकि 'स्वस्ति स्यात्'—यह प्रयोग महाविभाषा से 'च्वि' के न होने पर सिद्ध हो जाता है ।

विवरण—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है । अङ्गाधिकारस्थ दीर्घविधि का यहाँ प्रतिपादन है । "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" (६-४-२५) से 'दीर्घः' अनुवर्तमान है । तदनुसार '"च्वि' प्रत्यय पर रहते भी अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है" । 'शुचि' तथा 'पटु' शब्दों से 'च्वि' प्रत्यय होने पर इन शब्दों को दीर्घ होकर शुचीभवति (पवित्र होता है—अशुचिः शुचिः सम्पद्यमानः भवति) तथा पटूस्यात् (निपुण हो जाय—अपटुः पटुः सम्पद्यमानः स्यात्)—प्रयोग सिद्ध होते हैं । ऋकारान्त शब्द से 'च्वि' प्रत्यय करने पर मात्रीकरोति (माता बनाता है—अमाता माता सम्पद्यते, तं करोति) में पूर्ववत् 'च्वि' होकर "रीङृतः" (७-४-२७) से 'ऋ' के स्थान में 'रीङ्' (=री) आदेश होता है ।

(२१२१) पद—अरु'''रजसाम्, लोपः, च । अनुवृत्ति—कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

स्यात् च्विश्च । अरूकरोति । उन्मनीस्यात् । उच्चक्षूकरोति । उच्चेतीकरोति । विरहीकरोति । विरजीकरोति । (२१२२) विभाषा साति कार्त्स्न्ये ५।४।५२ ॥ च्विविषये

इत्येतेषामित्यर्थः । पूर्वेणैव प्रत्ययसिद्धेस्तत्सन्नियोगेन अन्त्यलोपे इह विधीयते । अरूकरोतीति । अनरुः अरुः सम्पद्यते तत् करोतीत्यर्थः । प्रकृतेरन्त्यलोपे उकारस्य 'च्वौ च' इति दीर्घः । उन्मनीकरोतीति । अनुन्मना उन्मनाः सम्पद्यते, तं करोतीत्यर्थः । च्वौ अन्त्यलोपः ईत्वं च । उच्चक्षूकरोतीति । अनुच्चक्षुः उच्चक्षुः सम्पद्यते, तं करोतीत्यर्थः । च्वौ अन्त्यलोपः दीर्घश्च । उच्चेतीकरोतीति । अनुच्चेताः उच्चेताः सम्पद्यते, तं करोतीत्यर्थः । च्वौ अन्त्यलोपः, ईत्वं च । विरहीकरोतीति । रहो विजनप्रदेशः, विशिष्टं रहो विरहः, अविरहो विरहः सम्पद्यते, तत् करोतीत्यर्थः । च्वौ अन्त्यलोपे ईत्वं च । विरजीकरोतीति । अविरजाः विरजाः सम्पद्यते, तं करोतीत्यर्थः । अन्त्यलोपे अस्य च्वौ ईत्वं च ।

(२१२२) विभाषा साति । सातीति लुप्तप्रथमाकम् । च्विविषये इति । अभूततद्भावे सम्पद्यकर्तरि कृभ्वस्तियोगे इत्यर्थः ।

मूलार्थ—इन शब्दों से 'च्वि' प्रत्यय हो और 'स्' का लोप हो । उदा० १–अरूकरोति । २–उन्मनीस्यात् । ३–उच्चक्षूकरोति । ४–विचेतीकरोति । ५–विरहीकरोति । ६–विरजीकरोति ।

विवरण—पुनः प्राकरणिक विधान आरम्भ होता है । 'च्वि' का ही प्रसङ्ग है । अतः समग्र "कृभ्वस्ति०" (५-४-५०) सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार "सम्पद्यते के कर्ता में वर्तमान अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस्, रजस्—शब्दों के अन्त्य सकार का लोप 'कृ', 'भू' 'अस्' के योग में होने के साथ ही 'च्वि' प्रत्यय भी होता है" । **उदाहरण**—(१) **अरूकरोति** (घाव करता है—अनूरुः ऊरुः सम्पद्यते, तत् करोति)—ऊरुस्+च्वि+करोति > ऊरुस्+करोति ('च्वि' का सर्वापहार) > ऊरू करोति ('स्' का लोप तथा 'उ' को दीर्घ—"च्वौ च" ७-४-२६) । (२) **उन्मनीस्यात्** (उदास हो जाय—अनुन्मनाः उन्मनाः सम्पद्यते, तत् करोति)—उन्मनस्+च्वि > उन्मनी (अन्त्यलोप तथा ईत्व—सू० २११८ "अस्य च्वौ") । (३) **उच्चक्षूकरोति** (आँख ऊपर करता है—अनुच्चक्षुः उच्चक्षुः सम्पद्यते, तत् करोति)—उच्चक्षुस्+च्वि+करोति > उच्चक्षु ('स्' लोप तथा दीर्घ—सू० २१२० "च्वौ च" । (४) **विचेतीकरोति** (उदास करता है—अविचेताः विचेताः सम्पद्यते, तत् करोति)—विचेतस्+च्वि+करोति > विचेतस् ('च्वि' का सर्वापहार) > विचेती ('स्' का लोप तथा—ईत्व—सू० २११८) । (५) **विरहीकरोति** (अलग करता है—अविरहः विरहः सम्पद्यते, तं करोति)—विरहस्+च्वि+करोति > विरहस् ('च्वि' लोप) > विरही (अन्त्य-लोप तथा अ = ई) । (६) **विरजीकरोति** (धूल अथवा रजोगुण से रहित करता है—अविरजाः विरजाः सम्पद्यते, तत् करोति)—विरजस्+च्वि—करोति > विरजस् (च्वि-लोप) > विरज ('स्' = अन्त्यवर्ण लोप) > विरजी (अ = ई) ।

(२१२२) पदं—विभाषा, साति, कार्त्स्न्ये । **अनुवृत्ति**—कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'साकल्य' अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय के विषय में विकल्प से 'साति' प्रत्यय होता है ।

विवरण—सूत्रस्थ 'साति' पद लुप्त प्रथमाविभक्तिक है । 'च्वि' विषय कहने से "कृभ्वस्ति०" (५-४-५०) सूत्र के विषय का स्मरण दिलाया गया है । अतः "'सम्पद्यते' क्रिया के कर्ता में वर्तमान प्रातिपदिक से 'कृ' 'भू' तथा 'अस्ति' के योग में 'साकल्य' गम्यमान (कार्त्स्न्ये) होने पर विकल्प से 'साति' (= सात्) प्रत्यय होता है" । पक्ष में यथाप्राप्त 'च्वि' प्रत्यय होगा । उदाहरण आगे के सूत्र में दिया जा रहा है ।

सातिर्वा स्यात्साकल्ये। **(२१२३) सात्पदाद्योः ८।३।१११ ॥** सस्य षत्वं न स्यात्। दधि सिञ्चति। कृत्स्नं शस्त्रमग्निः सम्पद्यतेऽग्निसाद्भवति। अग्नीभवति। महाविभाषया वाक्यमपि। कार्त्स्न्ये किम्? एकदेशेन शुक्लीभवति पटः। **(२१२४) अभिविधौ सम्पदा च ५।४।५३ ॥** सम्पदा कृभ्वस्तिभिश्च योगे सातिर्वा स्याद्व्याप्तौ। पक्षे कृभ्वस्ति-

---

(२१२३) सात्पदाद्योः। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—सस्य षत्वं न स्यादिति। सातेरवयवस्य पदादेश्च सस्य षत्वं न स्यादित्यर्थः। 'न रपरसृपि' इत्यतो नेति, 'अपदान्तस्य' इत्यतो मूर्धन्य इति चानुवर्तत इति भावः। पदादेरुदाहरति—दधि सिञ्चतीति। षिचि धातोः 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सः। तस्य 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे प्राप्ते अनेन निषेधः। कृत्स्नमिति। सर्वावयवोपेतमित्यर्थः। अग्निसादित्यत्र प्रत्ययावयवसकारत्वात् षत्वे प्राप्ते अनेन निषेधः। अग्नीभवतीति। च्विप्रत्यये 'च्वौ च' इति दीर्घः। महाविभाषयेति। 'समर्थानाम्' इत्यतः वाग्रहणानुवृत्तेरित्यर्थः। महाविभाषया सिद्धे इह विभाषाग्रहणं तु अपवादेन मुक्ते औत्सर्गिकच्वेः समावेशार्थम्।

(२१२४) अभिविधौ सम्पदा च। चकारः कृभ्वस्तिसमुच्चयार्थः। तदाह—सम्पदा कृभ्वस्तिभिश्चेति। अभिविधावित्यस्य विवरणम्—व्याप्ताविति। पक्षे इति।

(२१२३) पद—सात्, पदाद्योः। **अनुवृत्ति**—न, सः, इण्कोः, नुम्-विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सकार के स्थान में 'ष्' न हो। उदा० १–दधि सिञ्चति। २–(क) अग्निसात् भवति। अर्थ—पूरा लोहपिण्ड आग बन जाता है। (ख) अग्नीभवति। विभाषा से वाक्य भी रहेगा। 'कार्त्स्न्ये' क्यों कहा? 'एकदेशेन शुक्लीभवति पटः' (में 'सात्' नहीं हुआ)।

विवरण—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। अष्टमाध्यायस्थ 'षत्व' प्रकरण के अन्तर्गत उसका निषेधक यह सूत्र है। अतः तदुपयोगी उल्लिखित अनुवृत्तियों में से प्रमुख "सहेः साडः सः" (८-३-५६) से 'सः', "इण्कोः" (८-३-५७) समग्र सूत्र, "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" (८-३-५५) समग्रसूत्र एवं "न रपर-सृपि-सृजि-स्पृशि-स्पृहि-सवनादीनाम्" (८-३-११०) से 'न' की अनुवृत्ति—ये विशेषतः प्रभावी हैं। प्रकृत सूत्रस्थ पदों के साथ समन्वित होकर वे यह बोध कराती हैं कि "'इण्' तथा 'कवर्ग' से उत्तर 'सात्' तथा 'पद के आदि के सकार' को मूर्धन्य आदेश (= ष्) नहीं होता"। इस प्रकार पूर्व सूत्रस्थ उदाहरण अग्निसात्—भवति (समग्र लोहपिण्ड अग्निमय हो जाता है—अनग्निः अग्निः सम्पद्यते, तं करोति—अग्नि+सात्—भवति > अग्निसात्) में "आदेशप्रत्यययोः" (८-३-५९) से प्राप्त षत्व का निषेध हो गया। 'सात्' न होने पर पक्ष में च्वि—प्रत्यय होकर अग्नीभवति रूप बनेगा।

स्मरणीय—"समर्थानां प्रथमाद्वा" (४-१-८२) से बोध्य महाविभाषा के प्रभाव से पक्ष में प्रत्ययरहित वाक्य भी होगा।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में साकल्यार्थक 'कार्त्स्न्य' शब्द का निवेश होने से 'एकदेशेन शुक्लीभवति पटः' में 'सात्' प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि वस्त्र में सफेदी किसी एक तरफ हो रही है न कि पूरे वस्त्र में। अतः यथाप्राप्त 'च्वि' प्रत्यय होता है।

विशेष—'दधि सिञ्चति' में पद के आदि में सकार होने से षत्व का निषेध हुआ है।

(२१२४) पद—अभिविधौ, सम्पदा च। **अनुवृत्ति**—विभाषा, साति, कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—व्याप्ति (अभिविधि) में सम्+√पद् धातु एवं 'कृ, भू', 'अस्' के योग में विकल्प से 'साति' प्रत्यय होता है। पक्ष में कृ, भू, अस् के योग में 'च्वि' होगा। सम्√पद् से तो वाक्य ही

योगे च्विः। सम्पदा तु वाक्यमेव। अग्निसात्सम्पद्यते, अग्निसाद्भवति शस्त्रम्, अग्नीभवति। जलसात्सम्पद्यते, जलीभवति लवणम्। एकस्या व्यक्तेः सर्वावयवावच्छेदेनान्यथाभावः कार्त्स्न्यम्। बहूनां व्यक्तीनां किञ्चिदवयवावच्छेदेनान्यथात्वं त्वभिविधिः। (२१२५) तदधीनवचने ५।४।५४॥ सातिः स्यात्कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे। राजसात्करोति, राजसात्सम्पद्यते। राजाधीनमित्यर्थः। (२१२६) देये त्रा च ५।४।

सातिप्रत्ययाभावपक्षे कृभ्वस्तियोगे पूर्वेण च्विः, सम्पदा योगे तु सातेरभावे वाक्यमेव न तु च्विः, कृभ्वस्तियोग एव तद्विधानादित्यर्थः। सम्पदा योगे उदाहरति—अग्निसात्सम्पद्यत इति। कृभ्वस्तियोगे उदाहरति—अग्निसाद्भवति शस्त्रमिति। अग्निसात्करोति, अग्निसात्स्यादित्यप्युदाहार्यम्। कार्त्स्न्याभिविध्योर्विशेषमाह—एकस्या व्यक्तेरित्यादिना।

(२१२५) तदधीनवचने। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—सातिः स्यादित्यादिना। 'अभूततद्भावे' इति निवृत्तमिति भावः।

रहेगा। उदा० अग्निसात्सम्पद्यते। २–अग्निसाद्भवति शस्त्रम्, अग्नीभवति। ३–जलसात्सम्पद्यते—जलीभवति लवणम्। एक व्यक्ति के सर्वावयव वैपरीत्य को 'कार्त्स्न्य' कहते हैं। अनेक व्यक्तियों में एक का अन्यथाभाव अभिविधि है।

विवरण—पूर्व सूत्र ('विभाषा साति कार्त्स्न्ये' ५-४-५२) से 'विभाषा' तथा 'साति' की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। 'कृभ्वस्तियोगे' का सातत्य भी विद्यमान है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "अभिव्याप्ति गम्यमान हो तो 'कृ', 'भू' 'अस्' के योग में तथा 'सम्-पूर्वक √पद् धातु' के योग में भी विकल्प से 'साति' प्रत्यय होता है"। पक्ष में 'च्वि' होगा और यह 'च्वि' 'कृभ्वस्ति' के योग में ही होगा न कि 'सम्–√पूर्वक पद्' के योग में। पूर्वसूत्र में 'कार्त्स्न्य' अर्थ में प्रत्यय कहा है और यहाँ अभिविधि में। दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ सम्पूर्ण द्रव्य (पदार्थ या वस्तु) विकृत हो जाय वह 'कार्त्स्न्य' होगा। अर्थात् एक वस्तु का सर्वावयव परिवर्तन 'कार्त्स्न्य' कहलायेगा। जैसे 'सम्पद्' के योग में (१) (क) **अग्निसात्सम्पद्यते**, (ख) कृ तथा भू के योग में—**अग्निसाद्भवति** शस्त्रम्—तथा (ग) **अग्नीभवति** का अर्थ होगा 'समग्र शस्त्र का अग्निरूप में परिणत होना। उसी तरह—(२) (क) **जलसात्सम्पद्यते** ('साति'), (ख) **जलीभवति** ('च्वि' प्रत्यय) **लवणम्** का अर्थ होगा कि नमक पूरा का पूरा जलरूप में परिणत हो गया। इसके विपरीत अभिविधि में क्रमशः अर्थ यह होगा कि 'जितना भी नमक है वह सब वर्षा में गीला हो जाता है'। अर्थात् यहाँ लवण-मात्र में अभिव्याप्ति है, पूरी तरह पानी बन जाना इष्ट नहीं। प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

(२१२५) पद—तदधीनवचने। **अनुवृत्ति**—सम्पदा, सातिः, कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'कृभ्वस्ति' तथा 'सम्-पद्' के योग में 'साति' प्रत्यय हो। उदा० राजाधीन अर्थ में राजसात्करोति—राजसात्सम्पद्यते।

विवरण—यहाँ से 'अभूततद्भाव' का सम्बन्ध हट रहा है। 'साति' प्रत्यय का ही विषय है। किन्तु 'कृभ्वस्ति' तथा 'सम्पद्' का योग पूर्ववत् अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'तदधीनवचने' में 'तत्' पद से स्वामि-सामान्य का ग्रहण है। अतः "'स्वामि-विशेष-वाची प्रातिपदिक' से अधिकार (ईशितव्य) कथन होने पर 'कृभ्वस्ति' तथा 'सम्पद्' के योग में 'साति' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—(क) **राजसात्-करोति** ('कृ' के योग में 'साति')। (ख) **राजसात्-सम्पद्यते** ('सम्'–√पद् के योग में)। **अर्थ**—राजा के अधीन करता है—राजाधीनं करोति।

५५ ॥ तदधीने देये त्रा स्यात्सातिश्च कृभ्वादियोगे । विप्राधीनं देयं करोति← विप्रत्रा करोति । विप्रत्रा सम्पद्यते । पक्षे विप्रसात्करोति । देये किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् । (२१२७) देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् ५।४।५६ ॥ एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यश्च त्रा स्यात् । देवत्रा वन्दे रमे वा । बहुलोक्तेरन्यत्रापि । बहुत्रा जीवतो

(२१२६) देये त्रा च । तदधीनवचन इत्येवानुवर्तते । कृभ्वादियोगे इति । कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे इत्यर्थः ।

(२१२७) देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् । एभ्य इति । देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मर्त्य इत्येतेभ्य इत्यर्थः । अत्यन्तस्वार्थिकोऽयम् । 'साती'ति 'कृभ्वस्तियोगे' इत्यपि निवृत्तम् । देवत्रा वन्दे रमे वेति । देवान् वन्दे, देवेषु रमे वेत्यर्थः । मनुष्यत्रा । पुरुषत्रा । पुरुशब्दो बहुलपर्यायः । पुरुत्रा । मर्त्यत्रा । अन्यत्रापीति । देवादिभ्योऽन्यत्रापीत्यर्थः । बहुत्रा जीवतो मन इति । जीवतो जन्तोर्मनः बहुषु विषयेषु गच्छति । बहून् व्याप्नोतीत्यर्थः ।

(२१२६) पद—देये, त्रा, च । अनुवृत्ति—तदधीनवचने, सम्पदा, सातिः, कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'तदधीन' एवं 'देय' अर्थ में कृभ्वादि के योग में 'त्रा' और 'साति' प्रत्यय होते हैं । उदा० 'विप्राधीनं देयं करोति' अर्थ में—(क) विप्रत्रा करोति, (ख) विप्रत्रा सम्पद्यते । पक्ष में—'विप्रसात्-करोति । 'देये' क्यों कहा ? राजसाद्-भवति राष्ट्रम् ('देय' न होने से 'त्रा' नहीं) ।

विवरण—पूर्व सूत्र से सम्बद्ध विषय के अतिरिक्त विशेष अर्थ को अभिलक्षित कर अन्य प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । अतः समग्र पूर्व सूत्र—"तदधीनवचने" (५-४-५४)—की अनुवृत्ति अपेक्षित है । शेष उल्लिखित अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । उनके साथ अन्वित होकर सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "यदि देने योग्य वस्तु (देय) दिये जाने वाले व्यक्ति के अधीन की जाय तो तद्वाचक शब्द से 'कृभ्वस्ति' तथा 'सम्पद्' के योग में 'त्रा' तथा 'साति' प्रत्यय होते हैं" । **उदाहरण**—(क) 'कृ' के योग में—**विप्रत्रा** कराति (विप्र+'त्रा' प्रत्यय) । (ख) सम्-√पद् योग में—**विप्रत्रा** सम्पद्यत । अर्थात् देने योग्य वस्तु ब्राह्मण के अधीन करता है (विप्राधीनं करोति) । अतः उसके वाचक 'विप्र' शब्द से 'त्रा' प्रत्यय हुआ । पक्ष में—साति (=सात्) प्रत्यय होने पर—**विप्रसात्**-सम्पद्यते ।

(२१२७) पद—देव-मनुष्य-पुरुष-पुरु-मर्त्येभ्यः, द्वितीया-सप्तम्योः, बहुलम् । **अनुवृत्ति**—त्रा, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वितीयान्त एवं सप्तम्यन्त देवादिसे पर 'त्रा' प्रत्यय होता है । उदा० देवत्रा वन्दे रमे वा । 'बहुल' ग्रहण करने से अन्यत्र भी होता है । जैसे—बहुत्रा जीवतः मनः ।

विवरण—विधेयांश 'त्रा' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र (५-४-५५) से अपेक्षित है । तदनुसार "'द्वितीया' तथा 'सप्तमी' विभक्त्यन्त 'देव', 'मनुष्य', 'पुरुष', 'पुरु' तथा 'मर्त्य' शब्दों से प्रायः (बहुलम्) 'त्रा' प्रत्यय होता है" । इस सूत्र में 'कृभ्वस्तियोगे' की अनुवृत्ति का सातत्य नहीं है । **उदाहरण**—**देवत्रा** वन्दे रमे वा (देवताओं को नमस्कार करता हूँ या उनमें रमता हूँ—देवान् वन्दे, देवेषु रमे वा)—देव+त्रा । इसी प्रकार **मनुष्यत्रा, पुरुषत्रा, पुरुत्रा** तथा **मर्त्यत्रा** रूप निष्पन्न होंगे ।

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र में 'बहुल' पद का निवेश होने से इन शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी 'त्रा' प्रत्ययान्त रूप समीचीन माने गए हैं । उदाहरणार्थ—**'बहुत्रा जीवतः मनः'**

मनः। (२१२८) अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ५।४।५७ ॥ द्व्यच् अवरं न्यूनम्, न तु ततो न्यूनम्, 'अनेकाच्' इति यावत्। तादृशमर्धं यस्य तस्माड्डा-च्स्यात्कृभ्वस्तिभिर्योगे। 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' (वा ४६९७)। 'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' (वा ३६३८)। डाच्परं यदाम्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति तकारपकारयोः पकारः। पटपटाकरोति। अव्यक्तानुकरणात् किम् ? ईषत्करोति। द्व्यजवरार्धात् किम् ? श्रत्करोति। अवर-इति किम् ? खरटखरटा करोति।

(२१२८) अव्यक्तानुकरणात्। यत्र ध्वनौ अकारादयो वर्णविशेषाः न व्यज्यन्ते सः अव्यक्तो ध्वनिः, तस्यानुकरणम् अव्यक्तानुकरणम्। द्व्यजवरार्धशब्दं व्याचष्टे—द्व्यजिति। द्वावचौ यस्येति विग्रहः। अवरशब्दं व्याचष्टे—न्यूनमिति। द्व्यजेव अवरं न्यूनसङ्ख्याक-मिति सामानाधिकरण्येनान्वयः। न तु ततो न्यूनमिति। एकाच्कमित्यर्थः। फलित-माह—अनेकाजिति यावदिति। तादृशमर्धमिति। अनेकाच्कम् अर्धं भागः यस्य तत् द्व्यजवरार्धम्। तस्मादित्यर्थः। कृभ्वस्तिभिः इति। मण्डूकप्लुत्या तदनुवृत्तेरिति भावः। तथा च अनेकाच्कभागयुक्तादव्यक्तानुकरणात् शब्दात् कृभ्वस्तियोगे डाच् स्यादिति फलितम्। अथ पटच्छब्दादव्यक्तानुकरणात् डाचमुदाहरिष्यन् पटच्छब्दस्य द्विर्वचनमाह—डाचि विवक्षिते द्वे बहुलमिति। यद्यपि 'सर्वस्य द्वे' इति प्रकरणे 'डाचि द्वे भवत इति वक्तव्यम्' इत्येव भाष्ये वार्तिकं पठितम्। तत्र डाचि परत इति नार्थः, तथा सति डाचि सति पटच्छब्दस्य द्विर्वचनं, सति च द्विर्वचने अर्धस्यानेकाच्त्वात् डाजित्यन्योन्याश्रयापत्तेः, अतः डाचि विवक्षिते इत्याश्रितम्। एवञ्च डाचि विवक्षिते पटच्छब्दस्य द्विर्वचने सति पटत् पटत् इत्यस्यानेकाच्कार्धभागयुक्तत्वात् डाच् सुपपादः। पटत् पटत् आ करोतीति

में 'बहु' शब्द से भी 'त्रा' प्रत्यय संयुक्त हुआ है। अर्थ—जीवित प्राणी का मन बहुत जगह (बहुषु) रमता है।

(२) सूत्र में 'पुरु' शब्द 'बहु' का पर्यायवाची है।

(२१२८) पद—अव्यक्तानुकरणात्, द्व्यजवरार्धात्, अनितौ, डाच्। अनुवृत्ति—कृभ्वस्ति-योगे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—कृ, भू तथा अस् धातुओं के योग में दो अचों से न्यून अर्ध भाग जिनका न रहे (अर्थात् अनेकाच् आधे भाग वाले)—ऐसे शब्दों से 'डाच्' हो। वा० 'डाच्' विवक्षित रहते प्रायः द्वित्व हो। वा० 'डाच्' प्रत्ययपरक 'आम्रेडित' पर रहते पूर्व-परवर्णों के स्थान में पररूप हो। इस प्रकार 'त्' तथा 'प्' के स्थान में 'प'कार हुआ। उदा० पटपटा करोति। 'अव्यक्तानुकरणात्' क्यों कहा ? ईषत्करोति ('डाच्' नहीं हुआ)। 'द्व्यजवरार्धात्' क्यों कहा ? श्रत्करोति ('एकाच्' होने से 'डाच्' नहीं)। 'अवर' क्यों कहा ? खरटखरटा करोति तथा त्रपटत्रपटाकरोति ('डाच्' हो गया)। 'अनेकाचः' पद ही रखना चाहिये था। इस प्रकार 'डाचि' पद में द्वित्व के विषय में 'पर'-सप्तमी का आश्रयण करना उचित है। 'अनितौ' क्यों कहा ? पटिति करोति ('डाच्' नहीं हुआ)।

विवरण—मण्डूकप्लुति से 'कृभ्वस्तियोगे' की अनुवृत्ति की जा रही है। शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। 'डाच्' प्रत्यय विधेय है। अव्यक्त अनुकरण-वाची शब्द उद्देश्य के रूप में गृहीत हैं। उन अनुकरणात्मक शब्दों की अक्षरसंख्या के विषय में यह बतलाया रहा है कि उनका आधा भाग कम से कम दो अच्-वर्णों का अवश्य हो, इससे न्यून न हो। अर्थात् अनेक अच्-वर्णात्मक अर्ध भाग अवश्य हो। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'कृ', 'भू' तथा 'अस्' धातुओं के योग में अनेक-अच्-युक्त अर्धभागात्मक अव्यक्त अनुकरणात्मक प्रातिपदिक से पर 'डाच्' (= आ) प्रत्यय होता है, यदि 'इति' शब्द परत्र न हो"। 'डाच्' के ही प्रसङ्ग में

त्रपटत्रपटाकरोति । 'अनेकाचः' इत्येव सूत्रयितुमुचितम् । एवं हि डाचीति परसप्तम्येव द्वित्वे सुवचेत्यवधेयम् । अनितौ किम् ? पटिति करोति । (२१२९) कृञो द्वितीयतृतीय-शम्बबीजात् कृषौ ५ । ४ । ५८ ॥ द्वितीयादिभ्यो डाच्स्यात्कृञ एव योगे कर्षणेऽर्थे ।

स्थिते प्रक्रियां दर्शयति—नित्यमाम्रेडिते डाचीति । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारे पररूप-प्रकरणे 'नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा' इति सूत्रभाष्ये इदं वार्तिकं पठितम् । डाच्परमिति । डाच् परं यस्मादिति विग्रहः । पकार इति । तथा च पटपटत् आ करोति इति स्थिते डित्त्वाट्टिलोपे पटपटाकरोतीति रूपमित्यर्थः । अवरेति किमिति । द्व्यजर्धादित्येवा-स्त्वित्यर्थः । खरटखरटा करोतीति । खरटत् इत्यव्यक्तानुकरणात् डाचि द्विर्वचने पररूपे टिलोपे रूपम् । द्व्यजर्धादित्युक्ते तु अर्धभागस्य खरटत् इत्यस्य बह्वच्कत्वाड्डाच् न स्यादित्यर्थः । अनेकाच इत्येवेति । द्व्यजवरार्धादित्यपनीय 'अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच्' इत्येव सूत्रयितुमुचितमित्यर्थः । एवं हीति । 'अनेकाचोऽनितौ' इति पाठे सति पटच्छब्दस्य द्वित्वात्प्रागेव अनेकाच्कत्वात् डाच् सम्भवतीति 'डाचि परतो द्वित्वम्' इति वक्तुं शक्यमिति भावः । पटितीति । 'अव्यक्तानुकरणस्य' इति पररूपम् ।

(२१२९) कृञो द्वितीय । द्वितीयादिभ्य इति । द्वितीय, तृतीय, शम्ब, बीज इत्ये-

---

कुछ वार्तिक प्रस्तुत किये जा रहे हैं। जिनमें से (१) प्रथम वार्तिक के अनुसार 'डाच्' की विवक्षा में ही प्रायः पहले प्रकृतिवाची शब्द को द्वित्व हो जाता है। इसी प्रक्रिया में पुनः (२) दूसरे वार्तिक द्वारा यह बतलाया जारहा है कि 'डाच्'-परक 'आम्रेडित' परे रहते पूर्व तथा पर वर्ण के स्थान में पररूप आदेश हो। इन बातों को पटपटाकरोति←उदाहरण→द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। इसका अर्थ है—पट-पट शब्द करता है—पटत्-पटत् करोति। प्रक्रिया—पटत् करोति ▷ पटत्-पटत्—करोति ('डाच्' होने के पूर्व ही द्वित्व) > पटत्-पटत्+डाच् (=आ क्योंकि 'पटत्'-'पटत्' का पूर्वभाग द्व्यच्क है) पट-पटत् +आ (द्वितीय 'पटत्' की आम्रेडित संज्ञा होने से उससे पूर्व वाले 'पटत्' के 'त्' को पररूप हुआ) > पट-पट्+आ ('टि' = 'अत्' का लोप) ▷ पटपटा करोति (समुदाय से आगत 'सु' का अव्यय होने से 'लुक्' हो जाता है)।

प्रत्युदाहरण—(१) दृषत्करोति (पत्थर बना देता है) में 'अव्यक्त' अनुकरण के अभाव में 'डाच्' नहीं हुआ। (२) श्रत् करोति ('श्रत्' शब्द करता है) में 'द्व्यजवरार्धात्' (दो अच्-वाला कम से कम अर्धभाग जिसका अर्थात् अनेकाच्) ग्रहण के फलस्वरूप 'श्रत्' के एकाच् होने से 'डाच्' नहीं होता है। (३) कम से कम अर्थसूचक 'अवर' शब्द न होता तो तीन अच् वाले खरट-खरटा करोति ('खरटत्-खरटत्' शब्द करता है) तथा त्रपट-त्रपटा करोति (त्रपटत्-त्रपटत् शब्द करता है) में 'डाच्' आदि न होते। अतः 'दो' से अधिक 'अच्' होने में कोई हानि नहीं। (४) पटिति करोति ('पटत्' करता है) में 'इति' पर होने के कारण ('अनिति' पद ग्रहण किये जाने के फलस्वरूप) 'डाच्' नहीं होता। अतः द्वित्वादि कार्य भी नहीं हुए। केवल "अव्यक्तानुकरस्यात इतौ" ६-१-९८) सूत्र से पटत्+इति में 'अत्' को पररूप हो गया।

विशेष—प्रथम वार्तिक में भाष्यकार ने 'डाचि' पद में परसप्तमी मानी है न कि 'विवक्षित' सप्तमी। उसका आशय है कि "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" (१-१-६६) परिभाषा के विद्यमान रहते अन्य अर्थ का ग्रहण क्यों किया जाय" ? तदनुसार यहाँ पर 'डाच्' करने के पश्चात् द्वित्व करना उचित है[1]।

(२१२९) पद—कृञः, द्वितीय-तृतीय-शम्ब-बीजात्। अनुवृत्ति—डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

---

१. "तस्मिन्निति परिभाषायां जागरूकायां सत्यां परसप्तम्याश्रयणमयुक्तम्"।

बहुलोक्तेरव्यक्तानुकरणादन्यस्य डाचि न द्वित्वम् । द्वितीयं तृतीयं कर्षणं करोति—द्वितीयाकरोति, तृतीयाकरोति । शम्बशब्दः प्रतिलोमे । अनुलोमं कृष्टं क्षेत्रं पुनः प्रतिलोमं कर्षति—शंबाकरोति । बीजेन सह कर्षति—बीजाकरोति । (२१३०) सङ्ख्यायाश्च गुणान्तायाः ५ । ४ । ५९ ॥ कृञो योगे कृषौ डाच्स्यात् । द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् । क्षेत्रकर्मकं द्विगुणं कर्षणं करोतीत्यर्थः । (२१३१) समयाच्च यापनायाम् ५ । ४ । ६० ॥ कृषौ इति निवृत्तम् । कृञो योगे डाच्स्यात् । समयाकरोति । कालं यापयतीत्यर्थः ।

तेभ्य इत्यर्थः । कृञ एव योगे इति । कृञ्ग्रहणात् कृभ्वस्तिर्नानुवर्तत इति भावः । 'मद्रात्परिवापणे' इति यावत्कृञ इत्यनुवर्तते । बहुलोक्तेरिति । 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति बहुलग्रहणात् अव्यक्तानुकरणस्यैव डाचि द्वित्वम्, न तु तदन्यस्येत्यर्थः । शम्बशब्दः प्रतिलोमे इति । वर्तते इति शेषः । बीजेन सह कर्षतीति । आदौ कृष्टक्षेत्रे कुलत्थादिबीजानां वापे कृते पुनः बीजैः सह कर्षणं प्रसिद्धम् । 'कर्षात्वत' इति सूत्रभाष्यप्रामाण्यात् कृषधातुः शब्विकरणोऽस्ति । तेन शब्विकरणत्वात् कृषतीत्येव युक्तमिति न शङ्क्यम् ।

(२१३०) सङ्ख्यायाश्च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—कृञो योगे इति ।

(२१३१) समयाच्च । कृषाविति निवृत्तम् । समयशब्दात् यापनायां गम्यमानायां डाजित्यर्थः । समयाकरोति । करोतिरिह यापनायामित्याह—यापयतीति । अतिक्रान्तं करोतीत्यर्थः । अद्येदं कर्तव्यमित्युक्ते विघ्नं कञ्चिदापाद्य कालक्षेपं करोतीति यावत् ।

मूलार्थ—कृषि-कर्म अर्थ में 'कृ' धातु के योग में द्वितीयादि से पर 'डाच्' (=आ) होता है । (पहले सूत्र में) 'बहुल' ग्रहण से अव्यक्त अनुकरण से भिन्न 'डाच्' पर रहते द्वित्व नहीं होता । उदा० १—द्वितीयाकरोति—दूसरी बार जोतता है । २-तृतीयाकरोति—तीसरी बार जोतता है । उलटा जोतने के अर्थ में 'शम्ब' शब्द है । ३-शम्बाकरोति का अर्थ है—सीधे जोते हुए खेत को पुनः उलटा जोतता है । ४-बीजाकरोति—बीज के साथ खेत को जोतता है ।

विवरण—पूर्व सूत्र से अनुवर्तमान 'डाच्' प्रत्यय का ही विषय है । वह भी केवल 'कृ' धातु के योग में विहित है । तदनुसार "'द्वितीय', 'तृतीय', 'शम्ब', 'बीज'—इन प्रातिपदिकों से 'कृषि' अभिधेय होने पर 'डाच्' प्रत्यय होता है" । इन **उदाहरणों** में 'कृ' धातु का योग है—(१) **द्वितीयाकरोति**—(द्वितीय+डाच् =आ, टिलोप) । अर्थ—दूसरी बार हल चलाता है । (२) तृतीयाकरोति (तीसरी बार हल चलाता है) । (३) शम्बाकरोति—एक बार जोतकर पुनः उलटा जोतता है) । (४) बीजाकरोति (बीज बोते हुए हल चलाता है) । सिद्धि पूर्ववत् ।

(२१३०) पद—संख्यायाः, च, गुणान्तायाः । **अनुवृत्ति**—कृञः, कृषौ, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'गुण' शब्दान्त संख्यावाचक शब्द से 'कृञ्' के योग में कृषि बोध्य रहते 'डाच्' प्रत्यय होता है । उदा० द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् । अर्थ—खेत को दुगुना जोतता है ।

विवरण—'डाच्' का ही विषय है । एवम् 'कृषि' विषयक अर्थ अभीप्सित है । तदनुसार "संख्यापूर्वपदक 'गुण'शब्दान्त प्रातिपदिक से 'कृ' धातु के योग में 'कृषि' गम्यमान होने पर 'डाच्' (=आ) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—द्विगुणाकरोति (दो बार जुताई करता है—द्विगुणं क्षेत्रं करोति)—द्विगुण+डाच् (=आ) । 'टि'लोप ।

(२१३१) पद—समयात्, च, यापनायाम् । **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'कृषौ' की निवृत्ति होती है । 'कृ' के योग में 'डाच्' हो । उदा० समयाकरोति । अर्थ—समय बिताता है ।

(२१३२) सपत्त्रनिष्पत्त्रादतिव्यथने ५ । ४ । ६१ ॥ सपत्त्राकरोति मृगम् । सपुङ्खशरप्रवेशनेन सपत्त्रं करोतीत्यर्थः । निष्पत्त्राकरोति । सपुङ्खस्य शरस्यापरपार्श्वे निर्गमनान्निष्पत्त्रं करोतीत्यर्थः । अतिव्यथने किम् ? सपत्त्रं निष्पत्त्रं वा करोति भूतलम् । **(२१३३) निष्कुलान्निष्कोषणे ५ । ४ । ६२ ॥** निष्कुलाकरोति दाडिमम् । निर्गतं कुलमन्तरवयवानां समूहो यस्मादिति बहुव्रीहेर्डाच् । **(२१३४) सुखप्रियादानुलोम्ये ५ । ४ । ५३ ॥** सुखाकरोति प्रियाकरोति गुरुम् । अनुकूलाचरणेनानन्दयतीत्यर्थः ।

(२१३२) सपत्त्र । सपत्त्रशब्दात् निष्पत्त्रशब्दाच्च अतिव्यथने डाजित्यर्थः । 'व्यध ताडने' चतुर्थान्तः । अतिक्रम्य वेधः अतिव्यधनम् । लक्ष्ये शराः पतन्त्यनेनेति पत्त्रं, शराणां पुङ्खगतो बर्हः । भूतलमिति । पुङ्खपर्यन्तं पुङ्खवर्जं वा शरप्रवेशनेन सपत्त्रं निष्पत्त्रं वा भूतलं करोतीत्यर्थः ।

(२१३३) निष्कुलान्निष्कोषणे । डाजिति शेषः । निष्कोषणम् अन्तर्गतावयवानां बहिःकरणम् । निष्कुलाकरोति दाडिममिति । निर्गतं कुलं यस्मादिति बहुव्रीहिः । कुलशब्दश्च अन्तरवयवसमूहे वर्तते तदाह—निर्गतमित्यादि ।

(२१३४) सुखप्रियादानुलोम्ये । सुखशब्दात्प्रियशब्दाच्च आनुलोम्ये गम्ये डाच् स्यादित्यर्थः । आराध्यगुर्वादिचित्तानुवर्तनमानुलोम्यम् । सुखाकरोति प्रियाकरोति गुरुमिति । चित्तानुवर्तनेन गुरुं सुखसम्पन्नं प्रियसम्पन्नं च करोतीत्यर्थः । तदाह—अनुकूलेति ।

विवरण—कृषि-वाच्य अर्थ अब समाप्त होता है । केवल 'कृ' धातु का योग अपेक्षित है । अतः "बिताना' (यापनायाम्) अर्थ गम्यमान हो तो 'समय' शब्द से 'कृ' धातु के योग में 'डाच्' (= आ) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—समयाकरोति** (यों ही समय नष्ट कर रहा है—समयं यापयति)—समय्+डाच् (= आ) ।

(२१३२) पद—सपत्र-निष्पत्रात्, अतिव्यथने । **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—विधेय प्रत्यय 'डाच्' अनुवृत्तिलभ्य है । उद्देश्यवाची पद सूत्र में निर्दिष्ट हैं । केवल 'कृ' धातु का योग अब भी अभीष्ट है । तदनुसार "'सपत्र' तथा 'निष्पत्र' शब्दों से अति पीडन गम्यमान होने पर 'कृ' धातु के योग में 'डाच्' (= आ) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) **सपत्त्राकरोति** (बाण के पूँछ पर लगे परों सहित मृग के शरीर में प्रविष्ट करता है—सपत्त्रं करोति)—सपत्त्र्+डाच (= आ) । (२) **निष्पत्त्राकरोति** (मृग को इतने वेग से बाण-विद्ध करता है कि बाण पंखों के साथ दूसरी ओर निकल जाता है)—निष्पत्त्र्+डाच् (= आ) ।

(२१३३) पद—निष्कुलात्, निष्कोषणे । **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'डाच्' प्रत्यय एवं 'कृञ्' का योग अभी अनुवर्तमान हैं । 'निष्कोषण' का अर्थ है—अन्तःस्थ अवयवों को बाहर निकालना (निर्गतं कुलं यस्मात्) । 'कुल' शब्द का अर्थ है—भीतरी अवयवों का समूह । तदनुसार "'निष्कोषण' अर्थ में वर्तमान 'निष्कुल' शब्द से 'कृ' धातु के योग में 'डाच्' (= आ) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण—निष्कुलाकरोति दाडिमम्** (अनार को इस तरह छीलता है कि उसके भीतरी दानें सब बाहर आ जायँ—निर्गतं कुलं यस्मात्)—निष्कुल्+डाच् (= आ) ।

(२१३४) पद—सुखप्रियात्, आनुलोम्ये । **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

(२१३५) दुःखात्प्रातिलोम्ये ५ । ४ । ६४ ॥ दुःखाकरोति स्वामिनम् । पीडयतीत्यर्थः । (२१३६) शूलात्पाके ५।४।६५ ॥ शूलाकरोति मांसम् । शूलेन पचतीत्यर्थः । (२१३७) सत्यादशपथे ५ । ४ । ६६ ॥ सत्याकरोति भाण्डं वणिक् । क्रेतव्यमिति तथ्यं करोतीत्यर्थः । शपथे तु सत्यं करोति विप्रः । (२१३८) मद्रात्परिवापणे

(२१३५) दुःखात् । डाजिति शेषः । आराध्यप्रतिकूलाचरणं प्रातिलोम्यम् । अन्यत्पूर्ववत् ।

(२१३६) शूलात्पाके । डाजिति शेषः । शूलाकरोतीति । अत्र करोतिः पाके वर्तते । तदाह—शूलेन पचतीत्यर्थं इति ।

(२१३७) सत्यादशपथे । डाजिति शेषः । सत्याकरोति भाण्डमिति । रत्नादिद्रव्यजातमित्यर्थः । सत्यशब्दोऽत्र तथ्ये वर्तते । 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्' इत्यमरः । क्रेतव्यमितीति । एतावतैव मूल्येन इदं क्रयणार्हं नातोऽधिकमूल्येनेत्येवं यथाभूतार्थं वदतीत्यर्थः । सत्यङ्करोति विप्र इति । शपथं करोतीत्यर्थः ।

मूलार्थ एवं विवरण—यथापूर्व सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ पदों के साथ अन्वित होकर उनसे यह आशय प्रकट होता है कि "अनुकूलता अर्थ में विद्यमान (आनुकूल्ये) 'सुख' और 'प्रिय' शब्दों से 'कृ' धातु के योग में 'डाच्' (= आ) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—(१) सुखाकरोति गुरुम् (गुरु को आनन्दित करता है—अनुकूलाचरणेन गुरुं प्रीणयति)—सुख् + डाच् (= आ) (२) प्रिया—करोति (प्रिय करता है—प्रियं करोति)—प्रिय् + डाच् (= आ) ।

(२१३५) पद—दुःखात्, प्रातिलोम्ये । **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'दुःख' का विलोम शब्द एवं प्रतिलोम अर्थ अपेक्षित हैं । पूर्व सूत्रवत् अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "'दुःख' शब्द से 'कृञ्' धातु के योग में प्रतिकूलता गम्यमान होने पर 'डाच्' (= आ) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—दुःखाकरोति (विपरीत आचरण से स्वामी आदि को पीड़ा पहुँचाता है—विपरीताचरणेन स्वामिनं पीडयति)—दुःख् + डाच् (= आ) ।

(२१३६) पद—शूलात्, पाके । **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'डाच्' का ही विषय है । "'पकाना' अर्थ गम्यमान होने पर 'शूल' शब्द से 'कृ' धातु के योग में डाच्' (= आ) प्रत्यय होता है" । **उदाहरण**—शूला-करोति मांसम् (लोहे की सलाई में लगाकर माँस पकाता है—शूलेन पचति)—शूल् + डाच् (आ) ।

(२१३७) पद—सत्यात्, अशपथे । **अनुवृत्ति**-कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—'डाच्' का ही प्रसङ्ग है । अतः "'सत्य' शब्द से शपथ वाच्य न हो तो 'कृ' धातु के योग में 'डाच्' प्रत्यय होता है" । 'शपथ' का वाचक भी 'सत्य' शब्द होता है, किन्तु उसका प्रतिषेध कर दिया गया है । **उदाहरण**—सत्याकरोति भाण्डं वणिक् (रत्न आदि मुझे इतने में ही खरीदना है—इस प्रकार व्यापारी सच कहता है—क्रेतव्यम् इति तथ्यं करोति)—सत्य् + डाच् (= आ) ।

प्रत्युदाहरण—सत्यं करोति विप्रः—(ब्राह्मण शपथ लेता है—शपथं करोति)—में 'सत्य' शब्द शपथ का वाचक होने के कारण 'डाच्' प्रत्यय नहीं हुआ ।

५।४।६७॥ मद्रशब्दो मङ्गलार्थः। परिवापणं मुण्डनम्। मद्राकरोति। माङ्गल्यमुण्डनेन संस्करोतीत्यर्थः। 'भद्राच्चेति वक्तव्यम्' (वा ३३४३)। भद्राकरोति। अर्थः प्राग्वत्। परिवापणे किम्? मद्रं करोति। भद्रं करोति।

इति स्वार्थिकप्रकरणम्। इति तद्धिताः॥

अथ द्विरुक्तप्रकरणम्

(२१३९) सर्वस्य द्वे ८।१।१॥ इत्यधिकृत्य। (२१४०) नित्यवीप्सयोः

(२१३८) मद्रात्परिवापणे। डाजिति शेषः। मद्रशब्दो मङ्गलार्थं इति। मङ्गलपर्याय इत्यर्थः। परिवापणं मुण्डनमिति। केशान्वपते इत्यादौ तथादर्शनादिति भावः। माङ्गल्यमुण्डनेनेति। चौलेनेत्यर्थः। मद्रं करोति। भद्रं करोतीति। क्षेमं करोतीत्यर्थः। अत्र परिवापणस्याप्रतीतेः न डाजिति भावः।

इति बालमनोरमायां तद्धितप्रकरणं समाप्तम्।

अथ द्विरुक्तप्रकरणम्। (२१३९) सर्वस्य द्वे। इत्यधिकृत्येति। द्विर्वचनविषयोऽनुक्रंस्यन्त इति शेषः।

(२१३८) पद—मद्रात्, परिवापणे। अनुवृत्ति—कृभ्वः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—'कृ' धातु के योग में 'डाच्' प्रत्यय का ही प्रसङ्ग है। सूत्रस्थ उद्देश्यवाची मद्र शब्द मङ्गलार्थक है। तथा 'परिवापण' शब्द मुण्डनार्थक है। तदनुसार "मङ्गलार्थक 'मद्र' शब्द से 'मुण्डन' वाच्य हो तो 'कृ' धातु के योग में 'डाच्' (=आ) प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—मद्राकरोति (चौल संस्कार करता है—माङ्गल्यमुण्डनेन संस्करोति)—मद्र्+डाच् (=आ)। **वार्तिककार के अनुसार 'भद्र' शब्द से भी उपर्युक्त अर्थ में 'डाच्' प्रत्यय होता** है। तदनुसार 'भद्रा करोति' उदाहरण भी होगा।

प्रत्युदाहरण—'परिवापण' अर्थात् मङ्गल-युक्त मुण्डन करने के अतिरिक्त केवल मङ्गलार्थक 'मद्र' एवं 'भद्र' शब्दों से (१) मद्रं करोति (प्रसन्न करता है) तथा (२) भद्रं करोति (कल्याण करता है) प्रयोगों में 'डाच्' प्रत्यय नहीं हुआ।

'दीपिका' में स्वार्थिक प्रत्ययों के साथ तद्धित-प्रकरण समाप्त।

(२१३९) पद—सर्वस्य, द्वे। अधिकारसूत्र।

मूलार्थ एवं विवरण—यह अधिकारसूत्र है। इस अधिकार की अवधि "पदस्य" (८-१-१६) के पहले तक है। अर्थात् यहाँ से आगे "पदस्य" (८-१-१६) पर्यन्त जो विधान होगा वहाँ 'सब के स्थान में' (सर्वस्य) 'द्वित्व' (द्वे) होता है"—ऐसा अर्थ होता जायगा। उदाहरणार्थ—आगे "नित्यवीप्सयोः" (८-१-४) सूत्र का अर्थ यह होगा कि 'नित्यता' तथा 'वीप्सा' अर्थ में सबको अर्थात् पूरे शब्द को द्वित्व हो। जैसे—नित्यार्थ में—(१) पचति-पचति (वह सदा पकाता है

८।१।४॥ आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्विर्वचनं स्यात्। आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च। पचति-पचति। भुक्त्वा-भुक्त्वा। वीप्सायाम्-वृक्षं-वृक्षं

(२१४०) नित्यवीप्सयोः। नित्यशब्देन नित्यत्वं विवक्षितम्। तच्च आभीक्ष्ण्यमिति भाष्यम्। व्याप्तुमिच्छा वीप्सा, व्याप्तिप्रतिपादनेच्छा, सा च प्रयोक्तृधर्मः। व्याप्तिरेव तु शब्दबोधविषय इति भाष्यस्वरसः। तथा च नित्यव्याप्त्योरित्येव सुवचम्। व्याप्तेश्च कार्त्स्न्येन सम्बन्धः, उपसर्गबलात्। पदस्येत्यधिकरिष्यमाणमिहापकृष्यते। सर्वस्येति स्थानषष्ठी। द्वे इति त्वादेशसमर्पकम्। तस्य च शब्दरूपे इति विशेष्यमर्थाल्लभ्यते, शब्दानुशासनप्रस्तावात्। ते च शब्दरूपे स्वरूपतः अर्थतश्चान्तरतमे पदे इति स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया लभ्यते। ततश्च पौनःपुन्ये कार्त्स्न्येन गम्ये कृत्स्नावयवविशिष्टस्य पदस्यार्थतश्च शब्दतश्चान्तरतमे द्वे पदे भवत इति फलितम्। तदभिप्रेत्याह—आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये इति। द्योत्यं च द्योत्या च द्योत्यम्। तस्मिन्नित्यर्थः। 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इति नपुंसकैकशेषः। एकत्वं च नित्यवीप्से च प्रकृतिगम्ये। द्विर्वचनं तु द्योतकम्। सत्यपि प्रकृतेर्द्वित्वे द्विरुक्तयोः प्रकृत्यनतिरेकादिति बोध्यम्। द्विर्वचनं स्यादिति। द्वे पदे आदेशौ स्त इत्यर्थः। तत्रावयवयोः पदत्वं स्वतः सिद्धम्। समुदायस्य तु पदद्वयात्मकस्य स्थानिवत्त्वात् सुबन्तत्वम्। तेन अपचन्नपचन्नित्यत्र ङमुटः वृक्षान्वृक्षानित्यत्र 'पदान्तस्य' इति णत्वनिषेधः। अग्रेऽग्रे इत्यत्र 'एङः पदान्तात्' इति पूर्वरूपं चेत्यादीन्यवयवानां पदकार्याणि सिध्यन्ति। पुनःपुनरिति समुदायस्य स्थानिवत्त्वेन सुबन्तत्वात् भावे ष्यञि, भवे ठञि च—पौनःपुन्यम्, पौनःपुनिक इति च सिध्यति। द्वे उच्चारणे स्त

अर्थ में) 'पचति' का दो बार प्रयोग किया गया। (२) वीप्सा अर्थ में—ग्रामः-ग्रामः रमणीयः (प्रत्येक गाँव सुन्दर है) वाक्य में 'ग्राम' शब्द को द्वित्व हुआ है।

(२१४०) पद—नित्यवीप्सयोः। अनुवृत्ति—सर्वस्य द्वे। विधिसूत्र।

मूलार्थ—आभीक्ष्ण्य और वीप्सा द्योत्य रहते पद को द्वित्व (द्विर्वचनम् = दो बार कहना) हो। आभीक्ष्ण्य-अर्थात् पौनःपुन्य—(१) तिङन्त तथा (२) अव्ययसंज्ञक कृदन्त में होता है। जैसे—पौनःपुन्यार्थ—(१) पचति—पचति। (२) भुक्त्वा-भुक्त्वा। (३) वीप्सार्थ—वृक्षं वृक्षं सिञ्चति। ग्रामः ग्रामः रमणीयः।

विवरण—पूर्वोक्त अधिकारानुसार किन परिस्थितियों में शब्द को द्वित्व होता है उस सम्बन्ध में यह कथन है। तदनुसार "'नित्यता' एवम् 'वीप्सा' अर्थ में प्रयुक्त सम्पूर्ण शब्द को द्वित्वरूप आदेश होता है"। 'नित्यता' से यहाँ तात्पर्य आभीक्ष्ण्य[1] अर्थात् पौनःपुन्य से है। वह नित्यता 'तिङ्' तथा 'कृदन्त अव्यय-संज्ञक' शब्दों में ही होती है। अतः उसी प्रकार ऊपर उदाहरण भी दिये गए हैं। जिनमें से (१) पचति-पचति—(बार-बार पकाता है अर्थात् जब तक अच्छी तरह पक न जाय

---

१. यद्यपि पाणिनि ने यहाँ 'नित्य' शब्द का व्यवहार 'आभीक्ष्ण्य' अर्थ में किया है फिर भी इन अर्थों में थोड़ा-सा अन्तर है। 'आभीक्ष्ण्य' से क्रिया की आवृत्ति प्रतीत होती है जब कि नित्यता में क्रिया का अविच्छेद जान पड़ता है। जैसे 'भुक्त्वा-भुक्त्वा व्रजति' इस वाक्य में क्रिया के विच्छेद होने पर भी 'बार-बार खाता है' और 'बार-बार जाता है'—इस रूप में क्रिया की आवृत्ति प्रतीत होती है। अतः यहाँ आभीक्ष्ण्य है। 'पचति पचति' कहने से क्रिया का अविच्छेद प्रतीत होता है, अर्थात् वह पकाता ही है—यह अर्थ भासित होता है। उसमें वह नहाकर पकाता है या पकाकर नहाता है—इस रूप में आवृत्ति नहीं जान पड़ती! अन्न का बहुत देर तक अविच्छिन्न रूप में पकना ही यहाँ व्यक्त होता है।

सिञ्चति । ग्रामो-ग्रामो रमणीयः । (२१४१) **परेर्वर्जने** ८ । १ । ५ ॥ परि-परि वङ्गेभ्यो वृष्टो देवः । वङ्गान्परिहृत्येत्यर्थः । 'परेर्वर्जने वावचनम्' (वा ४६८३) ।

इत्याश्रयणे तु सर्वं पदं द्विरुच्चारयेदित्यर्थः फलितः स्यात्, ततश्च पुनरित्येकस्यैव द्विरुच्चार्यमाणस्य पुनःपुनरित्यादेशत्वाभावेन स्थानिवत्त्वाप्रसक्त्या सुबन्तत्वविरहात् तद्धितोत्पत्तिर्न स्यात्, तस्मादादेशपक्ष एव श्रेयानित्यास्तां तावत् । आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्विति । आभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यम् । तच्चेह प्रधानभूतक्रियाया एव । क्रियाप्राधान्यं चाख्यातेष्वस्तीति 'प्रशंसायां रूपप्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । अव्ययकृत्स्वपि क्त्वातुमुन्नादिषु क्रियाप्राधान्यम्, 'अव्ययकृतो भावे' इत्युक्तेः । तथा च तिङन्तेषु अव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च पौनःपुन्यनिमित्तकद्विर्वचनं नान्यत्रेत्यर्थः । तदेवोदाहरति—पचति पचति भुक्त्वा भुक्त्वेति । वीप्सायामिति । उदाह्रियत इति शेषः । वृक्षं वृक्षमिति । कृत्स्नं वृक्षमित्यर्थः । अथ प्रकृततद्वाटिकागतवृक्षकार्त्स्न्यं गम्यते जगतीतलस्थितकृत्स्नवृक्षसेचनस्य अशक्यत्वात् । सर्वशब्दस्य कार्त्स्न्यवाचित्वेऽपि न द्वित्वमित्यनुपदमेव 'यथास्वे' इत्यत्र वक्ष्यते । वृक्षं वृक्षमित्यत्र कार्त्स्न्यावगमेऽपि प्रत्येकनिष्ठमेकत्वमेव भासते, न तु बहुत्वम् । अतो न बहुवचनम्, 'एकैकस्य प्राचामि'ति लिङ्गाच्च । सर्वस्येत्यभावे वृक्षाभ्यामित्यादौ 'स्वादिषु' इति पदत्वमवलम्ब्य प्रकृतिभागमात्रस्य द्विर्वचनं स्यात् । कृते तु सर्वग्रहणे पदावयवत्वानाक्रान्तस्यैव कृत्स्नावयवोपेतस्य पदस्य द्वित्वमित्यर्थलाभान्न दोषः । पदस्येति किम् ? वाक्यस्य मा भूत् ।

(२१४१) **परेर्वर्जने** । वर्जने वर्तमानस्य परीत्यस्य द्वे स्त इत्यर्थः । परि परि वङ्गेभ्यो वृष्ट इति । पर्जन्य इति शेषः । 'अपपरी वर्जने' इति परिः कर्मप्रवचनीयः ।

तब तक पकाता ही रहता है)—तिङन्त का उदाहरण है । (२) भुक्त्वा भुक्त्वा में "आभीक्ष्ण्ये णमुल् च" (३-४-२२) से 'क्त्वा' प्रत्यय के होने पर "क्त्वा-तोसुन्-कसुनः" (१-१-३९) से अव्यय-संज्ञा तथा "कृदतिङ्" (३-१-९३) से कृत्संज्ञा भी हुई है । अतः इन स्थलों में 'नित्यता' अर्थ में द्वित्व हुआ है । भिन्न-भिन्न पदार्थों की क्रिया तथा गुण की व्याप्ति को एक साथ कहने की इच्छा 'वीप्सा' कहलाती है । उपर्युक्त उदाहरण (१) 'ग्रामः ग्रामः रमणीयः' में भिन्न-भिन्न ग्रामों के रमणीयता-गुण को एक साथ कहा गया है । इस प्रकार वीप्सा 'सुपों' का ही धर्म है । दूसरा उदाहरण है—(२) वृक्षं वृक्षं सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है) ।

विशेष—(१) 'वीप्सा' का पर्याय व्याप्ति भी है । तथा व्याप्ति प्रतिपादन करने वाले कर्ता की इच्छा-स्वरूप है । यह इच्छा भी सापेक्ष है । अतः 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' से संसारभर के वृक्षों का सेचन अर्थ (असम्भव होने से) बोधित न होकर अपेक्षित वाटिकास्थ समस्त वृक्षों का सेचन अभीष्ट होता है । प्रतिवृक्षगत एकत्व भासित होने से बहुवचन के प्रयोग की शङ्का भी नहीं उपस्थित की जा सकती । द्विरुक्त 'वृक्षम्' समुदायात्मक शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा की सम्भावना का निवारण भी कृत्तद्धितघटक समासपदज्ञापित नियम के अनुसार प्रातिपदिक संज्ञा न होने के कारण (**यत्र संघाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद् भवति तर्हि समासस्यैव**) विभक्त्युत्पत्ति की आपत्ति का निराकरण हो जाता है ।

(२१४१) पद—परेः, वर्जने । **अनुवृत्ति**—सर्वस्य, द्वे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'छोड़ना' अर्थ में वर्तमान 'परि' शब्द को द्वित्व होता है" । **उदाहरण**—परि-परि वङ्गेभ्यः वृष्टः देवः (बंगाल को छोड़कर चारों ओर वर्षा हुई) । यहाँ "अपपरी वर्जने" (१-४-८७) से 'परि' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से "पञ्चम्यपाङ्परिभिः"

परि वङ्गेभ्यः । (२१४२) उपर्यध्यधसः सामीप्ये ८ । १ । ७ ॥ उपर्युपरि ग्रामम्←ग्रामस्योपरिष्टात्समीपे देशे इत्यर्थः । अध्यधिसुखम्←सुखस्योपरिष्टात्समीपकाले दुःखमित्यर्थः । अधोऽधो लोकम्←लोकस्याधस्तात्समीपे देशे इत्यर्थः । (२१४३) वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ८।१।८ ॥ असूयायाम्—सुन्दर-सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम् । सम्मतौ—देव-देव वन्द्योऽसि । कोपे-दुर्विनीत-दुर्विनीत इदानीं ज्ञास्यसि । कुत्सने—धानुष्क-धानुष्क वृथा ते धनुः । भर्त्सने—चोर-चोर घातयिष्यामि त्वाम् ।

'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी । परि हरेः संसारः इत्यत्र तु परेरसमासे इति वक्तव्यमिति वार्तिकात् न द्विर्वचनम् ।

(२१४२) उपर्यध्यधसः । उपरि, अधि, अधः एतेषां द्वे स्तः सामीप्ये गम्ये इत्यर्थः । सामीप्यं च उपर्युपरि ग्राममित्यत्र अधोऽधो लोकमित्यत्र च देशतः, अध्यधिसुखमित्यत्र तु कालत इति ज्ञेयम् ।

(२१४३) वाक्यादेः । द्वे स्त इति शेषः । यद्यपि कोपाद्भर्त्सनम्, असूयया कुत्सनं, तथापि विनापि कोपासूये भर्त्सनकुत्सनयोः शिष्यादौ सम्भवात्पृथक् ग्रहणम् इति भाष्ये स्पष्टम् । सुन्दरेति । सौन्दर्यमसहमानस्येदं वाक्यम् । देवेति । तव वन्दनं सम्मतमित्यर्थः । दुर्विनीतेति । क्रोधाविष्टस्य वाक्यम् । ज्ञास्यसीति । दुर्विनयस्य फलमिति शेषः । धानुष्केति । युद्धासमर्थं प्रति निन्देयम् । चोरेति । चोरं प्रति अवाच्यवादोऽयम् ।

(२-३-१०) से 'वङ्गेभ्यः' में पञ्चमी विभक्ति हुई है । 'परि हरेः संसारः' में 'परेः असमासे वक्तव्यम्' इस वार्तिक के अनुसार समास होने पर द्वित्व नहीं होता । आगे दूसरे वार्तिक के अनुसार वर्जन अर्थ में यह द्वित्व विकल्प से होने के फलस्वरूप पक्ष में परि वङ्गेभ्यः द्वित्वरहित रूप भी होगा ।

(२१४२) पद—उपर्यध्यधसः, सामीप्ये । अनुवृत्ति—सर्वस्य द्वे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"'उपरि', 'अधि' तथा 'अधस्'—इनको समीपता अर्थ द्योतित करने पर 'द्वित्व' होता है । क्रमशः **उदाहरण**—(१) उपरि-उपरि ग्रामम् (गाँव के समीप का प्रदेश), (२) अध्यधि सुखम् (सुख के बाद दुःख), (३) अधः-अधः लोकम् (लोकों के नीचे का प्रदेश) । तीनों उदाहरणों में से क्रमशः (१) तथा (२) में देशतः, एवं (३) में कालतः सामीप्य है ।

(२१४३) पद—वाक्यादेः, आमन्त्रितस्य, असूया-सम्मति-कोप-कुत्सन-भर्त्सनेषु । अनुवृत्ति-सर्वस्य द्वे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—"यदि वाक्य से 'असूया', 'सम्मति', 'कोप', 'कुत्सन', 'भर्त्सन' गम्यमान हो तो 'वाक्य के आदि के आमन्त्रित को' द्वित्व होता है" । दूसरे के गुणों को सहन न करने को **असूया**, सत्कार को **सम्मति**, क्रोध को **कोप**, निन्दा को **कुत्सन** तथा डराने-धमकाने को **भर्त्सन** कहते हैं । क्रमशः **उदाहरण**—(१) असूया अर्थ में—सुन्दर २ सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम् (हे सुन्दर हे सुन्दर, तुम्हारा सौन्दर्य व्यर्थ है) । (२) सम्मति अर्थ—देव ३ देव वन्द्यः असि (हे देव हे देव, तुम वन्दनीय हो) । (३) कोप—दुर्विनीत ३ दुर्विनीत त्वम् इदानीं ज्ञास्यसि (अरे दुष्ट अरे दुष्ट, अब तू जानेगा) (४) कुत्सन—धानुष्क ३ धानुष्क वृथा ते धनुः (धनुर्धर धनुर्धर, तुम्हारा धनुष व्यर्थ है) तथा (५) भर्त्सन-चोर चोर ३ घातयिष्यामि त्वाम् (रे चोर रे चोर, तुझे मार डालूँगा) । इन सभी उदाहरणों में 'सुन्दर' आदि शब्द "सामन्त्रितम्" (२-३-४८) से आमन्त्रित एवम् वाक्य के आदि में स्थित हैं । अतः उन शब्दों को द्वित्व हो गया है । सर्वत्र असूयादि अर्थों में द्वित्व किये हुए पूर्व वाले पद को "स्वरितमाम्रेडितेऽसूया-

(२१४४) एकं बहुव्रीहिवत् ८ । १ । ९ ॥ द्विरुक्तः एकशब्दो बहुव्रीहिवत्स्यात् । तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ । एकैकमक्षरम् । इह द्वयोरपि सुपोर्लुकि कृते बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वात्समुदायात्सुप् । एकैकया आहुत्या । इह पूर्वभागे पुंवद्भावादवग्रहे विशेषः । 'न बहुव्रीहौ' (सू २२२) इत्यत्र पुनर्बहुव्रीहिग्रहणं मुख्यबहुव्रीहिलाभार्थम् । तेनाति-

---

(२१४४) एकं बहुव्रीहिवत् । द्विरुक्त इति । द्विर्वचनं प्राप्त इत्यर्थः । एतच्च प्रकरणाल्लभ्यते, 'वीप्सामात्रविषयमिदम्' इति भाष्याच्च । तेनेति । बहुव्रीहित्वेन सुब्लोपपुंवद्भावौ सिध्यत इत्यर्थः । तत्र सुब्लोपमुदाहरति—एकैकमिति । इहेति । एकैकमित्यत्र एकमित्यस्य द्विर्वचने सति एकमेकमिति स्थिते सुपो लुकि, समुदायाद् सुबित्यन्वयः । ननु 'यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैव' इति नियमेन समुदायस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् कथमिह सुपो लुक्, कथं वा समुदायात् सुबित्यत आह—बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वादिति । एतच्च सुपोर्लुकीत्यत्र समुदायात्सुबित्यत्र च मध्यमणिन्यायेनान्वेति । अथ पुंवत्त्वेऽप्युदाहरति—एकैकया आहुत्येति । एकयेत्यस्य द्विर्वचने सति एकया एकयेति स्थिते, बहुव्रीहिवत्त्वेन समुदायस्य प्रातिपदिकत्वात्सुपोर्लुकि, पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वे कृते, समुदायात्पुनस्तृतीयोत्पत्तौ एकैकयेति रूपम् । बहुव्रीहिवत्त्वाभावे तु इह समुदायस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् सुपोर्लुक् पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वं च न स्यात्, उत्तरपदपरकत्वाभावात् समासचरमावयवस्यैव उत्तरपदत्वादिति भावः । एकैकामित्यत्र उत्तरखण्डस्य 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पुंवत्त्वं बहुव्रीहिवत्त्वे सत्यपि न प्रवृत्तिमर्हति, पूर्वस्यैवेदं 'भस्त्रैषाद्वा' इति लिङ्गादित्युक्तत्वादिति बोध्यम् । ननु सुपोर्लुकि पूर्वखण्डस्य एकाशब्दस्य पुंवत्त्वे सत्यसति वा वृद्धौ एकैकयेति सिध्यत्येवेत्यत आह—इह पूर्वभागे इति । अवग्रहे इति । समस्तपदस्य द्विधा करणे पूर्वखण्डः अवग्रहः । 'तस्य

सम्मति कोप-कुत्सनेषु" (८-२-१०३) से प्लुत स्वरित होता है । केवल भर्त्सन अर्थ में "आम्रेडितं भर्त्सने" (८-२-९५) से पर वाले = आम्रेडित को प्लुत उदात्त हुआ है ।

(२१४४) पद—एकम्, बहुव्रीहिवत् । अतिदेशसूत्र ।

मूलार्थ—द्वित्व होने पर 'एक' शब्द को बहुव्रीहिवद्भाव हो । उससे 'सुप्' लोप तथा पुंवद्भाव (होंगे) । उदा० एकैकमक्षरम् । यहाँ दोनों शब्दों की विभक्ति का लोप होने पर बहुव्रीहिवद्भाव से प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण समुदाय से पुनः विभक्त्युत्पत्ति होती है। उदा० एकैकया आहुत्या । यहाँ पर पूर्वभाग में पुंवद्भाव होने से अवग्रह में विशेषता है। "न बहुव्रीहौ" (सू० २२२) सूत्र में पुनः उपात्त 'बहुव्रीहि' पद मुख्य बहुव्रीहि के लाभार्थ है। अतः अतिदेश होने पर भी प्राचीनों के मत में सर्वनामत्व रहता है । वास्तव में भाष्यकार के मत में यह सूत्र ("न बहुव्रीहौ") प्रत्याख्यात है । सूत्रकार के मत में भी बहुव्रीह्यर्थ अलौकिक-विग्रह में ही निषेधक है, न कि बहुव्रीहि में । अतः यहाँ अतिदेश शङ्का ही नहीं है । उदा० एकैकस्मै देहि ।

विवरण—यह अतिदेश सूत्र है । अतः इवार्थ में 'वति' (= वत्) प्रत्यय हुआ है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "द्वित्व किये हुए 'एक' शब्द को बहुव्रीहि के समान कार्य हो"। तदनुसार **एकैकम्** (एक एक) में वीप्सा अर्थ में द्वित्व (८-१-४) होकर बहुव्रीहिवद्भाव होने से 'एकम् एकम्' (= सु) इस स्थिति में विभक्ति का (= सु) "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" (२-४-७१) से 'लुक्' हो गया । पश्चात् वृद्धि होकर पुनः विभक्त्युत्पत्ति (एकैक+सु) होने से विभक्ति-कार्य (सु = अम् तथा पूर्वरूप) होकर उक्त रूप निष्पन्न होता है । इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग में

दिष्टबहुव्रीहौ सर्वनामतास्त्येवेति प्राञ्चः। वस्तुतस्तु भाष्यमते प्रत्याख्यातमेतत्। सूत्रमतेऽपि बहुव्रीह्यर्थेऽलौकिके विग्रहे निषेधकम्, न तु बहुव्रीहावितोहातिदेशशङ्केव नास्ति। एकैकस्मै

पूर्वोऽवग्रहः' इति प्रातिशाख्यम्। एकैकयेत्येक एकया इतीष्यते—पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वम्। बहुव्रीहिवत्त्वाभावे तु एकैकयेत्येका एकयेति स्यादिति भावः। तैत्तिरीयास्तु एकैकयेत्येका एकया इत्येवावगृह्णन्ति। एकं समासवदित्येव सिद्धे बहुव्रीहिग्रहणं बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदमिति स्वरार्थम्। ननु बहुव्रीहिवत्त्वे सति 'न बहुव्रीहौ' इति सर्वनामत्वनिषेधादेकैकस्मै देहीत्यादौ कथं सर्वनामकार्यमित्यत आह—न बहुव्रीहावित्यत्रेति। 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इत्यतो बहुव्रीहिग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धे 'न बहुव्रीहौ' इत्यत्र पुनर्बहुव्रीहिग्रहणं मुख्यबहुव्रीहिलाभार्थम्। अतः बहुव्रीहिवदित्यतिदिष्टबहुव्रीहौ सर्वनामत्वनिषेधो नेत्यर्थः। तदाह—तेनेति। तदेवं प्राचीनोक्तं परिहारमुक्त्वा सिद्धान्तिमतेनाह—वस्तुतस्त्विति। एतदिति। 'न बहुव्रीहौ' इति सूत्रमित्यर्थः। एवं च बहुव्रीहावपि सर्वनामत्वस्य भाष्यसम्मततया बहुव्रीहिवत्त्वातिदेशे सत्यपि सर्वनामत्वं निर्बाधमिति भावः। सूत्रमतेऽपीति। उपसर्जनत्वादेव बहुव्रीहौ सर्वनामत्वनिषेधे सिद्धे 'न बहुव्रीहौ' इति बहुव्रीह्यर्थके अलौकिकविग्रहवाक्ये एव समासात् प्राक् सर्वनामत्वं निषिध्यत इति प्रागेवोक्तम्। तस्मादिह बहुव्रीह्यतिदेशप्रयुक्तसर्वनामकार्याभावशङ्केव नास्तीत्यर्थः। एकैकस्मै देहीति। इह द्वयोरपि सुपोर्लुकि पुनः सर्वादिपठितैकशब्दान्ततया सर्वनामत्वात् स्मै भाव इति भावः।

एकैकया (एक एक से) में (एकया-एकया > एका+टा, एका+टा) विभक्ति लुक् कर तदनन्तर "स्त्रियाः पुंवद्भाषित०" (६-३-३२) सूत्र से पुंवद्भाव होकर ('एक+एक+टा' बना) पुनः वृद्धि करने पर 'एकैकया' रूप निष्पन्न होता है। अन्यथा यहाँ पुंवद्भाव न होने पर पूर्वभाग में 'एका' अवग्रह नहीं होता। इस प्रकार इस अतिदेश के दो फल दिखाये गए हैं—एक तो 'सुप्-लोप' तथा दूसरा 'पुंवद्भाव'। तीसरा फल बहुव्रीहिवद्भाव होने से 'पूर्वपद प्रकृतिस्वर' का होना भी है।

विशेष—यद्यपि "एकं बहुव्रीहिवत्" (८-१-९) सूत्र अतिदेश विधायक है, तो भी "न बहुव्रीहौ" (१-१-२९) से साध्य कार्य सर्वनाम-संज्ञा का निषेध यहाँ नहीं होता है। कारण यह है कि "विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ" (१-२-२८) से ही "न बहुव्रीहौ" (१-२-२९) सूत्र में बहुव्रीहि-पद की अनुवृत्ति सम्भव थी, वहाँ पर पुनः 'बहुव्रीहि' पद का निवेश किये जाने से विशेष अर्थ ज्ञापित होता है। वह भी इस रूप में कि "प्रधान बहुव्रीहि में ही सर्वनाम-संज्ञा का निषेध होगा, न कि आरोपित बहुव्रीहि-स्थल में"। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों का मत है। भाष्यकार के अनुसार तो "न बहुव्रीहौ" (१-२-२९) का प्रत्याख्यान ही है। तदनुसार यहाँ सर्वनाम-संज्ञा के निषेध की शङ्का ही नहीं उठती। सूत्रकार के मत में यद्यपि सर्वनाम-संज्ञा का निषेध होना माना गया है तथापि वह निषेध विशेष स्थिति में होता है। तदनुसार 'बहुव्रीहि-समासार्थ जो अलौकिक विग्रह-वाक्य है तद्घटक सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती' न कि बहुव्रीहि-समास में, क्योंकि समास होने पर तो समास-घटक सर्व आदि का अर्थ विशेषण के रूप में बदल जाता है। अतः उपसर्जनीभूत होने से वे सर्वनाम नहीं माने जाते। तब तो सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा। अतः वहाँ पर बहुव्रीहिपद 'तादर्थ्य' में माना गया है। अर्थात् 'बहुव्रीहि'पद समास-घटक अलौकिक विग्रह—परक है। अतः अतिदेश के विषय में निषेध की शङ्का का अवसर ही नहीं है। इस प्रकार **एकैकस्मै** (एक एक के लिये) में बहुव्रीहित्व के अतिदेश से द्वित्व के बाद सुप्-लुक् होता है, किन्तु सर्वनामत्व का अभाव नहीं माना जाता। इस प्रकार 'ङे' के स्थान पर सर्वनाम-संज्ञा-निमित्तक 'स्मै' आदेश हो जाता है। दानक्रिया को उद्दिष्ट कर चतुर्थी विभक्ति है।

देहि । (२१४५) आबाधे च ८ । १ । १० ॥ पीडायां द्योत्यायां द्वे स्तो बहुव्रीहिवच्च । गतगतः । विरहात्पीड्यमानस्येयमुक्तिः । बहुव्रीहिवद्भावात्सुब्लुक् । गतगता । इह पुंवद्भावः । (२१४६) कर्मधारयवदुत्तरेषु ८।१।११ ॥ इह उत्तरेषु द्विर्वचनेषु कर्मधारयवत्कार्यम् । 'प्रयोजनं सुब्लोपपुंवद्भावान्तोदात्तत्वानि' (वा ४६८१)। (२१४७) प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ ॥ सादृश्ये द्योत्ये गुणवचनस्य द्वे स्तस्तच्च

(२१४५) आबाधे च । आबाधः पीडा । तदाह—पीडायामिति । गतगत इति । प्रियां विना काल इति शेषः । आबाधं दर्शयितुमाह—विरहादिति । स्त्रीवियोगादित्यर्थः । बहुव्रीहिवद्भावादिति । गत इत्यस्य द्विर्वचने सति बहुव्रीहिवत्त्वात् समुदायस्य प्रातिपदिकत्वेन सुपोर्लुकि समुदायात् सुबुत्पत्तिरित्यर्थः । गतगतेति । प्रियेति शेषः । इयमपि स्त्रीविरहात् पीड्यमानस्योक्तिः । एकस्या एव गमनकर्त्र्याः द्विः कथनात् समानाधिकरणं स्त्रीलिङ्गमुत्तरपदमिति 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वम्, बहुव्रीहिवत्त्वादुत्तरपदत्वस्यापि सत्त्वात् । तदाह—इह पुंवद्भाव इति ।

(२१४६) कर्मधारयवदुत्तरेषु । कार्यं स्यादिति शेषः । कर्मधारयवत्त्वस्य फलमाह—प्रयोजनमिति । सुब्लोपादीनां प्रत्येकान्वयाभिप्रायमेकवचनम् । अन्तोदात्तत्वानीति । अनुदात्तं चेत्यधिकृतमपि भाष्यप्रामाण्यान्नात्र सम्बध्यत इति भावः ।

(२१४७) प्रकारे गुणवचनस्य । प्रकारशब्दः सादृश्ये वर्तते व्याख्यानादित्यभिप्रेत्याह—सादृश्ये द्योत्य इति । गुणवचनशब्देन 'आ कडारात्' इति सूत्रस्थभाष्यपरि-

---

(२१४५) पद—आबाधे, च । अनुवृत्ति—बहुव्रीहिवत्, सर्वस्य द्वे । विधि(अतिदेश)सूत्र ।

मूलार्थ—पीड़ा गम्यमान हो तो द्वित्व एवं बहुव्रीहिवद्भाव होते हैं । उदा० गतगतः । विरह से दुःखी की यह उक्ति है । बहुव्रीहि-वद्भाव से सुप्-लुक् । (स्त्रीलिङ्ग में) 'गतगता' (यहाँ पूर्वपद में) पुंवद्भाव हुआ है ।

विवरण—अर्थविशेष की स्थिति में उभयविध कार्य का विधान है—द्वित्व एवं बहुव्रीहिवद्भाव । अतः आधिकारिक अनुवृत्ति के अतिरिक्त पूर्वसूत्र "एकं बहुव्रीहिवच्च" (८-१-९) से 'बहुव्रीहिवत्' की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है । अतः सूत्र का अर्थ यह होगा "'पीड़ा' अर्थ में वर्तमान शब्द को भी द्वित्व होता है तथा उस शब्द को बहुव्रीहि के समान कार्य भी होता है" । तदनुसार कोई व्यक्ति अपनी प्रिया के चले जाने पर दुःखी हो उसके वियोग में कहता है—गतगतः (समय बीत गया)। इस प्रकार प्रयोक्ता के कथन में यहाँ 'आबाध' (पीड़ा) है । इसके फलस्वरूप बहुव्रीहिवद्भाव होने से 'गतगतः' में 'गतः' को द्वित्व होने पर दोनों 'सुपों' का लोप तदनन्तर समासनिमित्तक पुनः विभक्तिकार्य हुआ । तथा स्त्री लिङ्ग में **गतगता** (दुःख है चली गई) रूप निष्पन्न होगा । बहुव्रीहिवद्भाव के कारण यहाँ पर 'सुप्' लोप के अतिरिक्त पूर्वपद (गता) को पुंवद्भाव भी होता है ।

(२१४६) पद—कर्मधारयवत्, उत्तरेषु । अतिदेशसूत्र ।

मूलार्थ—इसके अनन्तर द्विरुक्त स्थल में कर्मधारय के समान कार्य होते हैं । इसका फल है—वा० सुप्-लोप, पुंवद्भाव तथा अन्तोदात-विधान ।

विवरण—यह भी अतिदेश सूत्र है । तदनुसार "इस से आगे के सूत्रों से द्वित्व करने में कर्मधारय-समास के समान कार्य होते हैं" । यह कार्यातिदेश है । कर्मधारय के समान करने का प्रयोजन—समास होने से विभक्ति-लोप (सुप्-लोप), पुंवद्भाव तथा "समासस्य" (६-१-२२३) सूत्र से विधीयमान अन्तोदात्त का होना । 'सुप्' का लोप तथा पुंवद्भाव पूर्ववत् समझे जायँ ।

(२१४७) पद—प्रकारे, गुणवचनस्य । अनुवृत्ति—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे । विधि-(अतिदेश)-सूत्र ।

कर्मधारयवत्, 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' (सू २१४६) इत्यधिकारात्। तेन पूर्वभागस्य पुंवद्भावः, 'समासस्य' (सू ३७३४) इत्यन्तोदात्तत्वं च। पटुपट्वी। पटुपटुः। पटुसदृशः, ईषत्पटुरिति यावत्। गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिनः केवलगुणवाचिनश्चेह गृह्यन्ते। शुक्लशुक्लं रूपम्। शुक्लशुक्लः पटः। 'आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये' (वा ४६९२)। मूलेमूले स्थूलः। 'सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः' (वा ५०५६)। सर्प-सर्प। बुध्यस्व-बुध्यस्व। सर्प-सर्प-सर्प। बुध्यस्व-बुध्यस्व-बुध्यस्व। 'क्रियासमभिहारे च' (वा ४६९५)। लुनीहि-लुनीहीत्येवायं लुनाति। 'नित्यवीप्सयोः' (सू २१४०) इति

गणिताः शब्दा गृह्यन्त इति 'वोतो गुणवचनात्' इत्यादौ प्रपञ्चितमिदम्। तेनेति। कर्मधारयवत्त्वेनेत्यर्थः। पुंवद्भाव इति। 'पुंवत्कर्मधारय' इत्यनेनेति शेषः। पटुपट्वीति। पट्वीशब्दस्य द्विर्वचने कर्मधारयवत्त्वात् 'पुंवत्कर्मधारय' इति पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वे रूपमिति भावः। यद्यपि बहुव्रीहिवत्त्वेऽपि 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वादिदं सिद्धं तथापि कारिकेत्यादिकोपधादिष्वपि पुंवत्त्वार्थं कर्मधारयवदिति वचनमिति भावः। पटुपटुरिति। 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीषभावे पुंसि च द्विर्वचने रूपम्। पटुसदृश इति। इत्यर्थं इति शेषः। फलितमाह—ईषत्पटुरिति। इह गुणवचनशब्दस्य गुणोपसर्जनद्रव्यवाचित्वमेवेति भ्रमं निरस्यति—गुणोपसर्जनेति। शुक्लशुक्लं रूपमिति। शुक्लसदृशमित्यर्थः, ईषच्छुक्लमिति यावत्। एवं शुक्लशुक्लः पट इति बोध्यम्। आनुपूर्व्ये इति। अत्र वार्तिके कर्मधारयवदिति न सम्बध्यते, तदुदाहरणे भाष्ये सुब्लोपादर्शनादित्यभिप्रेत्योदाहरति—मूलेमूले इति। पूर्वपूर्वो मूलभागः उत्तरोत्तरमूलभागापेक्षया स्थूल इति यावत्। सम्भ्रमेणेति। वार्तिकमिदम्। सम्भ्रमः भयादिकृता त्वरा, तेन प्रवृत्तौ गम्यमानायां यथेष्टम् इच्छानुसारेण अनेकधाशब्दः प्रयोक्तव्य इति वक्तव्यमित्यर्थः। अनेकधेत्युक्ते द्वे इति निवर्तते, यथेष्टमित्युक्तेरसकृत्त्वेऽप्येकस्य प्रयोगः स्यादिति शङ्कां निरस्यति—न्यायसिद्ध इति। यावद्वारं प्रयोगे सति बोद्धा अर्थं प्रत्येति, तावद्वारमेव प्रयोगः बोधात्मकफलपर्यवसायित्वाच्छब्दप्रयोगस्येत्यर्थः। एतच्च भाष्ये स्पष्टम्। अत्रापि कर्मधारयवत्त्वानतिदेशान्न सुब्लुक्, भाष्ये तथैवोदाहरणात्। क्रियासमभिहारे चेति। वार्तिकमिदम्। द्वे स्त इति शेषः। पौनःपुन्यं भृशत्वं च क्रियासमभिहारः। लोडन्तविषयमेवेदम्। 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' इति सूत्रभाष्ये क्रियासमभिहारे लोण्मध्यमपुरुषैकवचनस्य द्वे भवत इति वक्तव्यमिति पाठमभिप्रेत्योदाहरति—लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनातीति। 'लूञ् छेदने' अस्मात् 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ' इति लोट्। तस्य हि इत्यादेशः श्नाविकरणः। लुनीहीत्यस्य अनेन द्विर्वचनम्। 'यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्व-

---

मूलार्थ—सादृश्य अर्थ में गुणवाचक को द्वित्व होता है और वह कर्मधारय के समान होता है। अतः स्त्रीलिङ्ग में पूर्वभाग को पुंवद्भाव होगा। एवं "समासस्य" सूत्र से अन्तोदात्त भी होगा। उदा० पटुपट्वी। पटुपटुः। इसका अर्थ है–पटुसदृश अर्थात् कुछ कम पटु। यहाँपर गुणोपसर्जन द्रव्यवाची तथा केवल गुणवाची दोनों का ही ग्रहण किया गया है। (तदनुसार) शुक्लशुक्लं रूपम् तथा शुक्लशुक्लः पटः—उदाहरण हैं। वा० आनुपूर्व्य अर्थ में भी द्वित्व होता है। उदा० मूले मूले स्थूलः। वा० सम्भ्रम से प्रवृत्ति होने पर इच्छानुसार अनेक बार प्रयोग न्यायसिद्ध हैं। जैसे—१-सर्प-सर्प-सर्प। २-बुध्यस्व-बुध्यस्व-बुध्यस्व। वा० क्रियासमभिहार में द्वित्व होता है। उदा० लुनीहि लुनीहि-इति अयं लुनाति। यहाँ द्वित्व "नित्यवीप्सयोः" (सू० २१४०)

सिद्धे भृशार्थे द्वित्वार्थमिदम्। पौनःपुन्येऽपि लोटा सह समुच्चित्य द्योतकतां लब्धुं वा। 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' (वा ४७००)। बहुलग्रहणादन्य-परयोर्न समासवत्। इतरशब्दस्य तु नित्यम्। 'असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः' (वा ४७००)। अन्योन्यं विप्रा नमन्ति, अन्योन्यौ, अन्योन्यान्। अन्योन्येन—कृतम्। अन्योन्यस्मै दत्तमित्यादि। 'अन्योन्येषां पुष्करैरामृशन्तः' इति माघः। एवं परस्परम्। अत्र कस्कादित्वाद्विसर्गस्य सः। इतरेतरम्, इतरेतरेणेत्यादि। 'स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपद-

---

स्मिन्' इत्यनुप्रयोगः। तस्माल्लडादयः। अतिशयेन पुनर्वा लवनं लुनीहीति द्विरुक्तस्यार्थः। एककर्तृकं लवनमनुप्रयोगस्यार्थः। इतिशब्दस्त्वभेदान्वये तात्पर्यं ग्राहयतीत्यादिमूल एव लकारार्थप्रक्रियायां स्फुटीभविष्यति। तथा च अतिशयितमेककर्तृकं लवनमिति फलितोऽर्थः। नित्येति। 'नित्यवीप्सयोः' इति पौनःपुन्ये द्विर्वचने सिद्धेऽपि भृशार्थे द्विर्वचनार्थमिदं वार्तिकमित्यर्थः। नन्वस्य भृशार्थम् एव द्विर्वचनफलकत्वे 'भृशे च' इत्येव सिद्धे 'क्रियासमभिहारे' इति व्यर्थमित्यत आह—पौनःपुन्येऽपीति। लुनीहि लुनीहीत्यत्र पौनःपुन्ये लोटो द्विर्वचनस्य च समुच्चयार्थमिति यावत्। अन्यथा लोटैव पौनःपुन्यस्य द्योतितत्वात्तत्र नित्यवीप्सयोर्द्विर्वचनस्य प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः। एवं च 'धातोरेकाचः' इति पौनःपुन्ये यङन्ते पापच्यते इत्यादौ न द्विर्वचनमित्यन्यत्र विस्तरः। कर्मव्यतिहारे इति। क्रियाविनिमयः कर्मव्यतिहारः, तस्मिन् गम्ये सर्वनाम्नो द्वे स्तः। ते च द्विरुक्ते पदे बहुलं समासवदित्यर्थः; अत्र 'बहुलम्' इति समासवदित्यत्रैवान्वेति द्विर्वचनं तु नित्यमेव। अन्यपरयोरिति। अन्यशब्दपरशब्दयोरेव बहुलं समासवत्त्वम्, इतरशब्दस्य तु नित्यमेवेत्यर्थः। अत एव अन्यशब्दस्य समासवत्त्वरहितमेव इतरशब्दस्य तत्सहितमेवोदाहरणं भाष्ये दृश्यते। तथा च 'परस्परोपपदाच्च' इति वार्तिकप्रयोगात् परशब्दस्यापि समासवत्त्वाभावो गम्यत इति भावः। एवञ्च क्रियासमभिहारे अन्यशब्दस्य परशब्दस्य च नित्यं द्विर्वचनम्। द्विरुक्तयोस्तु समासवत्त्वं बहुलम् इतरशब्दस्य तु तदुभयमपि नित्यम्। एतत्त्रयव्यतिरिक्त-सर्वनामशब्दस्य तु नेदं द्वित्वम्, बहुलग्रहणादिति स्थितिः। असमासवद्भावे इति। इदमन्य-परशब्दयोरेव, इतरशब्दस्य समासवत्त्वस्यैवोक्तत्वात्। सुपः सुरिति। सुबिति प्रत्याहारः। सर्वासामपि विभक्तीनां पूर्वपदस्थानां प्रथमैकवचनं सु इत्यादेशो वाच्य इत्यर्थः। इदं द्वित्वादिविधानं प्रथमैकवचनमात्रविषयमिति केचित्। तदेतद्भाष्यविरुद्धम्, भाष्ये द्वितीया-

---

से सिद्ध रहा। भृशार्थ में द्वित्व के लिये यह है। पौनःपुन्य में 'लोट्' के साथ द्वित्व के भी समुच्चय के लिये यह वचन है। वा० कर्मव्यतिहार में सर्वनाम-शब्द को द्वित्व होता है। वा० यह समास के समान प्रायः होता है। 'बहुल'ग्रहण से 'अन्य' तथा 'पर' शब्दों को समासवद्भाव न हो। 'इतर' शब्द को नित्य समासवद्भाव हो। वा० असमासवद्भाव में पूर्वपदस्थ 'सुप्' के स्थान में 'सु' हो। उदा० १–अन्योन्यं विप्रा नमन्ति। २–अन्योऽन्यौ। ३–अन्योऽन्यान्। ४–अन्योऽन्येन कृतम्। ५–अन्योऽन्यस्मै दत्तम् इत्यादि। माघ में भी—'अन्योऽन्येषां पुष्करैः आमृशन्त' (षष्ठी-विभक्ति का) प्रयोग है। इसी तरह 'परस्परम्' में भी होगा। ('परस्परम्' शब्द में) कस्कादि-पाठ के कारण विसर्ग को 'स्' भी हुआ है। ऐसे ही 'इतरेतरम्' 'इतरेतरेण' इत्यादि प्रयोग होते हैं। वा० स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में उत्तरपदस्थ विभक्ति को विकल्प से 'आम्' होता है। जैसे-१–अन्योऽन्याम्-अन्योऽन्यम्, २–परस्पराम्—परस्परम्, ३–इतरेतराम्—इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोज-

स्थाया विभक्तेराम्भावो वा वक्तव्यः' (वा ४७०१)। अन्योन्याम्-अन्योन्यम्, परस्पराम्-परस्परम्, इतरेतराम्-इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः। अत्र केचित्-आमादेशो द्वितीयाया एव, भाष्यादौ तथैवोदाहृतत्वात्। तेन स्त्रीनपुंसकयोरपि तृतीयादिषु पुंवदेव रूपमित्याहुः। अन्ये तूदाहरणस्य दिङ्मात्रत्वात्सर्वविभक्तीनामामादेशमाहुः।

दलद्वये टाबभावः क्लीबे चादड्विरहः स्वमोः।

समासे सोरलुक्चेति सिद्धं बाहुलकात्त्रयम्॥

दिविभक्तेरुदाहृतत्वादित्यभिप्रेत्य द्वितीयादिविभक्तीरुदाहरति—अन्योन्यं विप्रा नमन्तीत्यादि। इह अन्यम् अन्यौ इत्यादीनां द्वित्वे पूर्ववत्सुपः सुः। प्रथमैकवचनस्यैवेदं द्वित्वादीत्येतत् न कविसम्मतमित्याह—अन्योन्येषामित्यादि माघ इत्यन्तम्। परस्परमित्यत्र विसर्गस्य सत्वापवादमुपध्मानीयमाशङ्क्य आह—कस्कादित्वादित्यादि। इतरेतरमिति। इतरः इतरावित्यादीनां द्वित्वे समासवत्त्वात् सुपोर्लुकि समुदायात् पुनः सुबुत्पत्तिरिति भावः। स्त्रीनपुंसकयोरिति। स्त्रीनपुंसकयोर्विद्यमानानाम् अन्यपरेतरपदानां कर्मव्यतिहारे द्वित्वे उत्तरपदस्थविभक्तेः आम् इत्यादेशो बहुलं वक्तव्य इत्यर्थः। अन्योन्यामित्यादि। अन्योन्याम् अन्योन्यं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः, परस्परां परस्परं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः, इतरेतराम् इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयत इत्यन्वयः। तत्र अन्यामित्यस्य द्वित्वे दलद्वये टाबभाव इति वक्ष्यमाणतया पुंवत्त्वात् टापो निवृत्तौ समासवत्त्वाभावात्सुपोरलुकि पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे रुत्वे 'अतो रोरप्लुतात्' इत्युत्वे आद्गुणे उत्तरपदस्थविभक्तेरनेन आम्भावे अन्योन्यामिति रूपम्। आम्भावविरहे तु पुंवत्त्वाट्टापो निवृत्तौ पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे पुंल्लिङ्गवदेव अन्योन्यमिति रूपम्। इयं ब्राह्मणी अन्यां ब्राह्मणीं भोजयति, अन्या त्विमामित्येवं विनिमयेन ब्राह्मण्यौ भोजयत इत्यर्थः। इदं कुलं कर्तृ अन्यत्कुलं भोजयति, अन्यत्कुलं कर्तृ इदं कुलमित्येवं विनिमयेन कुले भोजयत इत्यर्थः। अत्रान्यच्छब्दस्य नपुंसकलिङ्गस्य द्वित्वे पूर्वपदस्थायाः विभक्तेः सुभावे उत्तरपदस्थविभक्तेः आम्भावे अन्योन्यामिति रूपम्। आम्भावविरहे तु 'क्लीबे चादड्विरहः स्वमोः' इति वक्ष्यमाणतया पुंवत्त्वात् अदड्डादेशाभावे अन्योन्यमिति पुंवदेव रूपमिति बोध्यम्। एवं स्त्रीत्वे परामिति पदस्य द्वित्वे दलद्वयेऽपि पुंवत्त्वात् टापो निवृत्तौ पूर्वोत्तरपदस्थविभक्त्योः क्रमेण सुभावे अम्भावे च परस्परामिति रूपम्। आम्भावविरहे तु द्वित्वे पुंवत्त्वाट्टापो निवृत्तौ पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे परस्परमिति

यतः। कुछ लोगों के मत में द्वितीया को ही 'आम्' आदेश होता है, क्योंकि भाष्यादि में वैसे ही उदाहरण मिलते हैं। अतः उनके मतमें स्त्री-नपुंसक में भी तृतीयादि विभक्तियों में पुंलिङ्ग के समान ही रूप होते हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार वे उदाहरण दिग्दर्शन मात्र हैं। अतः सब विभक्तियों में 'आम्' आदेश होता ही है। श्लोकार्थ-दोनों दलों में 'टाप्' का अभाव, नपुंसक में 'सु' का तथा 'अदड्' को 'अम्' का अभाव और समास में 'सु' का अलुक्—ये तीनों 'बहुल' ग्रहण से सिद्ध होते हैं। जैसे—'अन्योऽन्यम्' तथा 'परस्परम्' में दोनों दलों में 'टाप्' प्राप्त रहा। 'अन्य' तथा 'पर' शब्द को समासवद्भाव न होने से 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' की प्राप्ति नहीं है। यदि द्वित्व को ही वृत्ति मानेंगे तो 'यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे। 'अन्योऽन्यम्' तथा 'इतरेतरम्' में 'अदड्' आदेश प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त 'अन्योऽन्यसंसक्तम्'

तथाहि—अन्योन्यं परस्परमित्यत्र दलद्वयेऽपि टाप्प्रासः। न च 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे—' (वा) इति पुंवद्भावः, अन्यपरयोरसमासवद्भावात्। न च द्विर्वचनमेव वृत्तिः,

---

रूपम्। नपुंसकत्वे तु परमित्यस्य द्वित्वे पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे उत्तरपदस्थविभक्तेराम्भावे परस्परामिति रूपम्। आमभावे तु द्वित्वे पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे परस्परम् इति रूपम्। इतरामित्यस्य द्वित्वे पुंवत्त्वाट्टापो निवृत्तौ उत्तरपदस्थविभक्तेराम्भावे समासवत्त्वात् पूर्वपदस्थविभक्तेर्लुकि इतरेतरामिति रूपम्। आम्भावविरहे तु इतरेतरमिति रूपम्। नपुंसकस्य तु इतरच्छब्दस्य द्वित्वे पुंवत्त्वाददड्डादेशविरहे पूर्वपदस्थविभक्तेः लुकि उत्तरपदस्थविभक्तेराम्भावतदभावाभ्यां रूपद्वयम्। अत्र भाष्यादौ द्वितीयाविभक्त्यन्तस्योदाहरणादितरविभक्तिषु आम्भावो न भवतीति प्राचीनमतमाह—अत्र केचिदिति। तेनेति। द्वितीयेतरविभक्तिषु आम्भावविरहेणेत्यर्थः। पुंवदेवेति। आम्भावविरहे सति बहुलग्रहणात् पुंवत्त्वे टाबभावे प्रथमातृतीयादिविभक्तिषु पुंवदेव रूपम्। नपुंसकत्वे प्रथमातृतीयादिविभक्तिषु आम्भावविरहात् प्रथमैकवचनस्य इदं पुंवदेव रूपमित्यर्थः। सिद्धान्तमाह—अन्ये त्विति। दिङ्मात्रत्वादिति। दिक्प्रदर्शनमात्रत्वादित्यर्थः। उपलक्षणत्वादिति यावत्। अथात्र बहुलग्रहणानुवृत्तेः प्रयोजनकथनपरप्राचीनश्लोकमाह—दलद्वय इति। स्त्रीलिङ्गेष्वन्यपरेतरशब्देषु कर्मव्यतिहारे द्वित्वे सति पूर्वोत्तरखण्डयोः पुंवत्त्वाट्टाब्निवृत्तिरित्यर्थः। यद्यपि इतरेतरमित्यत्र समासवत्त्वात् 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पुंवत्त्वादेव पूर्वखण्डे टाबभावः सिद्धः, तथाप्युत्तरखण्डे टाबभावार्थं बाहुलकाश्रयणमितिभावः। क्लीब इति। अन्योन्यमित्यादौ अदड्डादेशविरह इत्यर्थः। समासे सोरिति। कृतद्वित्वस्य अन्येन समासे पूर्वखण्डस्थस्येत्यर्थः। तथा हीति। यथेदं स्पष्टं भवति, तथा उदाहृत्य प्रदर्श्यत

आदि में 'सु' का 'लुक्' प्राप्त होता है। इन सबका समाधान 'बहुल' प्रयोग से किया जाय। प्रकृतवार्तिकस्थ भाष्योदाहरण तथा "स्त्रियाम्" (सू० ४५३) सूत्रस्थ 'अन्योऽन्यसंश्रयं त्वेतत्' यह भाष्य-वाक्य भी इस सम्बन्ध में प्रमाण हैं।

विवरण—यह उभयात्मक सूत्र है। अतिदेशात्मक एवं विध्यर्थक-दोनों ही कार्य इससे किये जाते हैं। अतः दोनों अधिकार यहाँ प्रभावी हैं। तदनुसार "'सादृश्य' अर्थ में वर्तमान गुणवाचक शब्दों को द्वित्व होता है और वह द्विरुक्त शब्द कर्मधारय के समान समझा जाय"। 'अतिदेश' का लाभ "कर्मधारयवदुत्तरेषु" (सू० २१४६) के आधिकारिक प्रभाव के कारण है। 'प्रकार' शब्द यहाँ सादृश्यार्थक है। प्राचीन वृत्तिकारों ने ऐसा ही अर्थ किया है। इसके फलस्वरूप पूर्वसूत्र की तरह यहाँ भी द्वित्व किये हुए उदाहरणों में "पुंवत्कर्मधारय०" (६-३-४२) से पूर्व भाग को पुंवद्भाव तथा अन्तोदात्त स्वर एवं समुदाय से 'सुप्' की उत्पत्ति सिद्ध होती है। प्रकृत बहुव्रीहिवद्भावको त्याग कर कर्मधारयातिदेश का फल 'कालककालिका' में पुंवद्भावादि का होना है, अन्यथा बहुव्रीहिवद्भाव होने पर तो "न कोपधायाः" (६-३-३५) से पुंवद्भाव का प्रतिषेध हो जाता। पुंवद्भाव होने से पूर्वपदस्थ 'कालिका' के 'टाप्' एवं तन्निमित्तक 'इकार' की निवृत्ति होकर 'कालककालिका' रूप निष्पन्न होता है। 'काला' शब्द से "प्रागिवात्कः" (५-३-७०) से 'क' प्रत्यय होने पर "केऽणः" (७-४-१३) से ह्रस्वत्व एवं "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" (७-२-४४) से इत्व होकर 'कालिका' शब्द निष्पन्न हुआ है, उसी को पुंवद्भाव होता है। कर्मधारय मानने के कारण "समासस्य" (६-१-२२७) से अन्तोदात्त स्वर भी होगा। "अनुदात्तं च" (८-१-३) से आम्रेडित को अनुदात्त प्राप्त रहा, किन्तु वह नहीं होता। तदनुसार (१) पटुपट्वी में 'पट्वी' को द्वित्व (पट्वी पट्वी) होने पर कर्मधारयवद्भाव होने से अवान्तर विभक्ति का लोप तथा पूर्व

'यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा' इत्यादावतिप्रसङ्गात्। अन्योन्यमितरेतरम् इत्यत्र च 'अद्ड्डतरादिभ्यः–' (सू ३१५) इत्यद्ड् प्राप्तः। 'अन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्'

इत्यर्थः। ननु पूर्वदले 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पुंवत्त्वेनैव टाब्निवृत्तेः सिद्धत्वात् तद्विषये बहुलग्रहणं नादर्तव्यमित्याशङ्क्य निराकरोति—न चेति। 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पुंवत्त्वस्यात्र न प्रसक्तिरित्यर्थः। कुत इत्यत आह—अन्यपरयोरिति। 'समासवच्च बहुलम्' इति समासवत्त्वम् इतरशब्दमात्रविषयम्, न त्वन्यपरशब्दविषयमिति प्रागुक्तमित्यर्थः। ननु मास्तु समासवत्त्वम्, तथापि 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पुंवत्त्वं दुर्वारम्। द्विर्वचनस्य वृत्तित्वादित्याशङ्क्य निराकरोति—न च द्विर्वचनमेव वृत्तिरिति। 'कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः' इति परिगणनादिति भावः। द्विर्वचनस्य वृत्त्यन्तर्भावे बाधकमाह—यां यामिति। द्विर्वचनस्य वृत्त्यन्तर्भावे 'यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव' इत्यत्र श्लोके यां यामित्यत्र सा सेत्यत्र च 'सर्व-

---

भाग को "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" (६-३-४२) से पुंवद्भाव होने के कारण 'ङीप्' की निवृत्ति (पट्वी = पटु) > पटुपट्वी रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार पुंलिङ्ग पटुपटुः में विभक्ति की पुनः उत्पत्ति होकर हल्ङ्यादि लोप से सादृश्यार्थ में (= पटुसदृशः) द्वित्व (पटु–पटु) होने पर कर्मधारयवद्भाव का फल पूर्व 'पटु' शब्द से 'सु' का लोप। ततः समुदाय से पुनः सुप्-उत्पत्ति होकर यह रूप बनता है। इसका अर्थ है—कुछ चतुर। सूत्रस्थ 'गुणवचन' शब्द से 'गुणस्य = प्रधानाप्रधानोभयस्य, वचनं = कथनं यस्मात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार गुणविशिष्ट गुणिवाचक तथा केवल गुणवाचक दोनों प्रकार के शब्दों का ग्रहण होता है। तदनुसार **शुक्लशुक्लं** रूपम् (थोड़ा सफेद—ईषत् शुक्लम्) में मुख्यतया गुणवाचक एवं **शुक्लशुक्लः** पटः (कुछ कुछ सफेद वस्त्र) में गुणिविशिष्ट गुणवाचक प्रकार संगृहीत होते हैं। अब कुछ वार्तिक इस सन्दर्भ में प्रस्तुत किये गये हैं। तदनुसार (१) **क्रमिक अर्थ** (= आनुपूर्व्य) **बोधन की स्थिति में तद्वाचक शब्द को द्वित्व होता है।** अतः **मूले-मूले** स्थूलः (प्रत्येक जड़ मोटी होती गई है) में 'मूले' को द्वित्व हुआ। यहाँ 'मूले' में विभक्ति का लोप न दिखाई पड़ने से 'कर्मधारयवत्' का सम्बन्ध नहीं है। इसके साथ ही 'वीप्सा' न होने के कारण 'द्वित्व' की प्राप्ति नहीं थी। (२) द्वितीय वार्तिक के अनुसार **घबराहट (संभ्रम) की बोध्यता में दो-बार या तीन-बार आवृत्ति करने पर भी प्रयोग की साधुता कही गई है।** अतः **सर्पः सर्पः सर्पः—बुध्यस्व, बुध्यस्व, बुध्यस्व** (अरे साँप, साँप, साँप,—सावधान, सावधान, सावधान हो जाओ) में दो या तीन बार प्रयोग किया जासकता है। भाषा भावबोध के लिये होती है, अतः सर्पादि के दिखाई पड़ने से उत्पन्न घबराहट में जितनी बार कहने से श्रोता को बोध और उसकी प्राणरक्षा हो, उतनी बार उच्चरित शब्दों की आवृत्ति करना पाणिनि ने समीचीन माना है। कर्मधारय का अतिदेश न होने से 'सुप्-लुक्' नहीं हुआ। (३) तृतीय वार्तिक द्वारा **क्रिया-समभिव्याहार में भी द्विरुक्ति** बतलाई जा रही है। क्रियासमभिव्यार के **पौनःपुन्य** (बार बार) और **भृश** (अत्यन्त)—ये दो अर्थ हैं, जिनमें से पौनःपुन्य अर्थ में द्वित्वविधायक शास्त्र "नित्यवीप्सयोः" (८-१-२) पहले से ही विद्यमान है। प्रकृत वार्तिक भृशार्थक स्थल में द्वित्वार्थ है। पौनःपुन्यार्थक स्थल में भी 'लोट्' लकार के साथ ही क्रियासमभिव्याहार-द्योतकता प्राप्त करने के लिये प्रकृत वार्तिक आवश्यक है। उक्त व्यवस्था के अनुसार क्रियासमभिहारार्थ 'यङ्' प्रत्यय के साथ 'पापच्यते' 'पापच्येत' आदि में द्विर्वचन-साधुता मानी जाती है, क्योंकि 'लोट्' लकार समुच्चय अर्थ में भी होता है, केवल क्रियासमभिव्याहार में ही नहीं। अतः लोडन्त स्थल में द्विरुक्ति से ही क्रियासमभिव्याहार द्योतित हो सकता है। इसके विपरीत यङन्त स्थल में केवल यङ् से भी क्रिया-

'अन्योन्याश्रयः' 'परस्पराक्षिसादृश्यम्' 'अपरस्परैः' इत्यादौ सोर्लुक्च प्रासः। सर्वं बाहुलक-

---

नाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वं स्यादित्यर्थः। क्लीबे चाद्ड्विरहः इत्यस्यो-दाहरति—अन्योन्यमिति। ननु समासे सोरलुक् चेति कथम् अन्यपरशब्दयोः समासवत्त्वा-भावादित्याशङ्क्य कृतद्वित्वस्यान्येन समासे पूर्वखण्डस्थस्य सोरलुगिति तदर्थमभिप्रेत्य तथैवोदाहरति—अन्योन्यसंसक्तमिति। अन्योऽन्येन संसक्तमिति तृतीयासमासः। अहश्च त्रियामा चेति समाहारद्वन्द्वः। अहश्च रात्रिश्च अन्योन्येन संयुक्तमित्यर्थः। अन्योन्याश्रय इति। अन्योऽन्यस्य आश्रय इति षष्ठीसमासः। परस्पराक्षिसादृश्यमिति। अक्ष्णा सादृश्य-मक्षिसादृश्यम्। परस्परस्याक्षिसादृश्यमिति विग्रहः। अपरस्परैरिति। न परस्परे अपर-स्परे तैरिति विग्रहे एषु कृतद्वित्वेषु समासावयवेषु पूर्वखण्डस्थस्य सुबादेशस्य सोर्लुक् प्राप्त इत्यर्थः। सुभावविधानं तु अन्योन्यमित्यादावसमासे चरितार्थमिति भावः। ननु

समभिव्याहार निश्चितरूप से बोधित होता है, अतः वहाँ निरर्थकता के कारण द्वित्व प्रवृत्त नहीं होता। अतः **लुनीहि लुनीहि इति एव अयं लुनाति** (काटो काटो कह कर अधिक काटता है)—में 'लुनीहि' को द्वित्व हुआ (लुनीहि→√लू+लोट्=हि←"क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हि-स्वौ" (३-४-२) > लू+श्ना=ना+हि > लु+ना+हि (लू=लु-ह्रस्व—"प्वादीनां ह्रस्वः" ७-३-८०) > लुनीहि (आ=ई—"ईहल्यघोः" ६-४-११३)। (४) चतुर्थ वार्तिक द्वारा यह सूचित कराया गया है कि **क्रियाविनिमय (=कर्मव्यतिहार) द्योत्य रहते सर्वनाम-शब्दों को द्वित्व होता है तथा समासवद्भाव भी प्रायः (बहुलम्) होता है।** उक्त वार्तिक में **बहुल** पद इस प्रकरण के इष्ट प्रयोगों की सिद्धि में महत्त्वपूर्ण है। 'बहुल' शब्द के प्रभाव से ही सर्व प्रथम (क) **अन्योऽन्यं** (ये ब्राह्मण एक दूसरे को) (ख) **अन्योऽन्यौ** (एक दूसरे को) (ग) **अन्योऽन्यान्** विप्राः नमन्ति (एक दूसरे को प्रणाम करते हैं), (घ) **अन्यो-ऽन्येन** कृतम् (एक दूसरे के द्वारा किया गया), (ङ) **अन्योऽन्यस्मै** दत्तम् (एक दूसरे को दिया गया), (च) **अन्योन्येषां** पुष्करैः आमृशन्तः (एक दूसरे की सूंडों से एक दूसरे को सहलाते हुए) तथा (छ) **परस्परम्** (आपस में)—इन ('अन्य' और 'पर' घटित) सात प्रयोगों में समासवद्भाव (जो कि वार्तिक द्वारा ही विधेय है) नहीं होता। जिसके फलस्वरूप (५) पाँचवें वार्तिक के अनुसार **पूर्वपदस्थ** सातों **'सुप्' (विभक्तियों) के स्थान में** प्रथमा-एकवचन रूप **'सु' आदेश होगा।** अतः ६ उदाहरणों में क्रमशः 'अन्यम्' 'अन्यौ', 'अन्यान्' 'अन्येन', 'अन्यस्मै' तथा 'अन्येषाम्' को द्वित्व होने पर अम्, औ, शस्, टा, ङे तथा आम् विभक्तियों के स्थान में 'सु' (=स्) आदेश होने के कारण पूर्वोक्त 'क' से—'च' तक उदाहरणों में रुत्व, उत्व एवं गुणादि सन्धिकार्य होकर उपर्युक्त रूप निष्पन्न होते हैं। सातवें प्रयोग 'परस्परम्' में विसर्ग के स्थान में कस्कादिगण निमित्त 'सकार' आदेश होता है। समासवद्भाव की बहुलता 'अन्य' तथा 'पर' शब्द के विषय में ही है, किन्तु द्वित्व नित्य है। 'इतर' शब्द को समासवद्भाव तथा द्वित्व—ये दोनों नित्य होते हैं। अतः (क) **इतरेतरम्** (आपस में) तथा (ख) **इतरेतरेण** (एक दूसरे से)-उदाहरणों में 'इतरः' 'इतरौ' इत्यादि के द्वित्व होने पर नित्य समासवद्भाव होने से अवान्तर विभक्तियों का 'लुक्' होकर समुदाय से विशेष्यानुसार विभक्तियाँ आती हैं। (६) छठे वार्तिक द्वारा **स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान 'अन्य', 'पर' तथा 'इतर' शब्दों को क्रिया-विनिमय अर्थ में द्वित्व होने पर उत्तरपदस्थ विभक्ति के स्थान में बाहुल्य से 'आम्' आदेश होना** बतलाया गया है। तदनुसार तीन उदाहरण दिये जा रहे हैं—(१) **अन्योन्याम् अन्योन्यं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः**, (२) **परस्परां परस्परं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः** (ये दोनों ब्राह्मणियाँ अथवा कुल एक दूसरे को भोजन कराते हैं) तथा (३) **इतरे-**

बलेन समाधेयम्। प्रकृतवार्तिकभाष्योदाहरणम्, 'स्त्रियाम्' (सू ४५३) इति सूत्रे

बहुलग्रहणादेतत् समाधेयमित्यत्र किं प्रमाणमित्यत आह—प्रकृतवार्तिकेति। 'स्त्रीनपुंसकयोरि'ति प्रकृतवार्तिके 'अन्योन्यमिमे ब्राह्मण्यावि'ति 'इतरेतरमिमे कुले' इति चोदाहरणात् 'दलद्वये टाबभावः क्लीबे चादड्विरहः स्वमोः' इति विज्ञायते। 'स्त्रियाम्' इति सूत्रे अन्योन्यसंश्रयं त्वेतदिति भाष्यप्रयोगात् समासे सोरलुगिति विज्ञायत इत्यर्थः।

तरान् इतरेतरे वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः। उक्त स्थलों पर 'अन्याम्' को द्वित्व करने पर (अन्याम्-अन्याम्) पुंवद्भाव होने से 'टाप्' की निवृत्ति तथा समासवद्भाव न होने के कारण विभक्ति-लुक् नहीं होता। इसके साथ ही पूर्वपदस्थ विभक्ति के स्थान पर 'सु' (=स्) आदेश, रुत्व, उत्व तथा गुण होने के साथ ही ('अन्यस्' में स् =र् =उ = अन्यो + अन्याम्) इस वार्तिक से उत्तरपदस्थ विभक्ति को 'आम्' तथा आगे पररूप होने पर 'अन्योन्याम्' रूप निष्पन्न होता है। 'आम्'—भाव न होने पर पुंवद्भाव होने से 'टाप्' की निवृत्ति होगी तथा पूर्वपदस्थ विभक्ति को 'सु' (= स्) आदेश होकर पूर्ववत् रुत्वादि के पश्चात् पुंलिङ्ग के समान (= अन्यान्यम्) रूप बनेगा। 'अन्य' शब्द के नपुंसक लिङ्ग में भी वाक्यों की स्थिति क्रियाविनिमय में इस प्रकार होगी—'इदं कुलम् अन्यत् कुलं भोजयति तथा अन्यत् कुलम् इदं कुलं भोजयति = इमे कुले अन्योऽन्याम् अन्योऽन्यं वा भोजयतः'। यहाँ पर 'नपुंसक लिङ्गस्थ 'अन्यत्' शब्द को द्वित्व, पूर्वपद में 'सु'भाव तथा उत्तरपद में 'आम्' भाव होकर 'अन्योऽन्याम्' रूप निष्पन्न होगा। पाक्षिक होने से 'आम्'—भाव के विरह में 'सु' और 'अम्' में अद्ड् के भी न होने से पुंवद्भाव के कारण पुंलिङ्ग के समान 'अन्योन्यम्' रूप बनेगा। इसी तरह **परस्पराम्** एवं **परस्परम्** तथा **इतरेतराम्** एवम् **इतरेतरम्** में भी प्रक्रिया समझी जाय।

उपर्युक्त 'बाहुल्य' के प्रभाव को समष्टि रूप में एक कारिका द्वारा संकलित किया गया है। जिसका अर्थ यह है—**दोनों दलों में (पूर्व और उत्तर खण्डों में) 'टाप्' का न होना, नपुंसक लिङ्ग में 'सु' एवम् 'अम्' (प्रथमा तथा द्वितीया एक वचन) के स्थान में 'अद्ड्' आदेश का ('अन्य' तथा 'इतर' में) न होना तथा समासवद्भाव होने पर भी प्रत्यय का 'लुक्' न होना—ये तीनों कार्य 'बाहुलक' से सिद्ध होते हैं।** तदनुसार 'अन्य' और 'पर' शब्द को समासवद्भाव नहीं होता है। अतः 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' (वा०) से पुंवद्भाव (वृत्ति के अभाव से) असम्भव होने के कारण उसके बल पर 'टाप्' के निवृत्तिस्वरूप 'बहुल' फल को असंगत नहीं कहा जा सकता है। एकशेष की गणना समासादि वृत्तियों में होने पर भी द्विरुक्ति की गणना "अकथितं च" (१-४-५१) सूत्र के भाष्यस्थ "कारकं चेद् विजानीयात् यां यां मन्येत सा भवेत्" वाक्य में 'यां यां' द्विरुक्त प्रयोग में पुंवद्भाव के न किये जाने से नहीं होती है। इसी को दृष्टिपथ पर रखते हुए माघ कवि का 'यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा' प्रयोग भी समीचीन माना गया है। कुछ वृत्तिकारों के मत में 'स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थायाः विभक्तेः आम्भावः वा वक्तव्यः' वार्तिक से विहित 'आम्' आदेश 'द्वितीया' को ही होता है और उन वृत्तिकारों ने इस सम्बन्ध में भाष्यादि ग्रन्थों में तथैव प्रयुक्त उदाहरणों की ओर संकेत भी किया है। इनके मतानुसार स्त्री-लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग की तृतीयादि विभक्तियों में 'टाप्' आदि के न रहने के कारण पुंलिङ्ग के समान ही प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसके साथ ही अन्य वृत्तिकारों का यह कथन है कि "असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः" वार्तिक से विहित 'सु'भाव भी द्वितीया में ही होता है। किन्तु ये दोनों कथन वस्तुतः निराधार हैं। कारण यह है कि आकर-ग्रन्थों में प्रदत्त द्वितीया-विभक्ति के प्रयोग केवल दिग्दर्शन-मात्र हैं। अर्थात् इसके अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में उदाहरण नहीं हैं—ऐसा भ्रम न हो। नागेश-भट्ट ने भी लघुशब्देन्दुशेखर मे 'न च उदाहरणम् आदरणीयम्'—इस वाक्य के द्वारा सभी

'अन्योन्यसंश्रयं त्वेतद्' इति भाष्यं चात्र प्रमाणमिति । (२१४८) **अकृच्छ्रे प्रियसुखयोरन्यतरस्याम् ८।१।१३॥** प्रियप्रियेण ददाति, प्रियेण वा । सुखसुखेन ददाति, सुखेन वा । द्विर्वचने कर्मधारयवद्भावात्सुब्लुकि पुनस्तदेव वचनम् । अतिप्रियमपि वस्त्वनायासेन ददातीत्यर्थः । (२१४९) **यथास्वे यथायथम् ८।१।१४॥** यथास्वम् इति वीप्सायामव्ययीभावः । योऽयमात्मा यच्चात्मीयं तद्यथास्वम्, तस्मिन्यथाशब्दस्य द्वे क्लीबत्वं च निपात्यते । यथायथं ज्ञाता । यथास्वभावमित्यर्थः । यथात्मीयमिति वा ।

(२१४८) अकृच्छ्रे । कृच्छ्रं कष्टम् । अकृच्छ्रम् अनायासः । तस्मिन्वर्तमानयोः प्रिय-सुख इत्यनयोः द्वे वा स्तः । कर्मधारयवद्भावादिति । 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' इत्यधिकारादिति भावः । 'समासवच्च बहुलम्' इत्यतः समासवदित्यनुवृत्तिस्तु न शङ्क्या तस्य वार्तिकस्थत्वात्, एवं च प्रियेणेत्यस्य सुखेनेत्यस्य च द्वित्वे सति कर्मधारयवत्त्वात् सुपोस्तृतीयैकवचनयोर्लुकि पुनः समुदायात् तृतीयैकवचनमिति फलितम् ।

(२१४९) यथास्वे यथायथम् । वीप्सायामिति । कार्त्स्न्येन सम्बन्धो वीप्सेत्युक्तम् । स्वशब्दार्थगतकार्त्स्न्ये द्योत्ये यथाशब्दस्य स्वशब्देनाव्ययीभाव इत्यर्थः । कृत्स्नश्चासौ स्वश्चेत्यस्वपदविग्रहः नित्यसमासत्वात् । स्वशब्दस्तु आत्मात्मीयज्ञातिधनवाची । इह तु आत्मात्मीयवाच्येव गृह्यते न तु ज्ञातिधनवाची व्याख्यानादित्यभिप्रेत्य विग्रहवाक्यस्य फलितमर्थमाह—द्वे इति । स्त इति शेषः । निपातनादिति भावः । न च 'नित्यवीप्सयोः'

विभक्तियों में उदाहरण स्वीकार करने में पूर्वाचार्यों की सम्मति दी है । इस हेतु माघ तथा भारवि के प्रयोग समीचीन माने गए हैं ।

(२१४८) **पद**—अकृच्छ्रे, प्रियसुखयोः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे । विधि-(अतिदेश)-सूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—उभयात्मक विषय का सातत्य है । तदनुसार '''प्रिय' तथा 'सुख' शब्दों को 'कष्ट न होना' (अकृच्छ्रे) अर्थ गम्यमान हो तो विकल्प से (अन्यतरस्याम्) 'द्वित्व' होता है एवं द्विरावृत्त भाग को कर्मधारयवद्-भाव होता है'' । **उदाहरण**—**प्रियप्रियेण** ददाति । इसका अर्थ है—अत्यन्त निर्धन होने पर भी कोई वस्तु अनायास प्रसन्नता से दे देता है । इसी प्रकार **सुखसुखेन** ददाति में भी 'सुख से देता है' अर्थ होगा । यहाँ यही 'अकृच्छ्र' है । तृतीयान्त शब्दों को द्वित्व करने पर (प्रियेण-प्रियेण) कर्मधारयवद्भाव होने से 'सुप्'-लुक् होगा (प्रिय-प्रिय) । पुनः तदन्त शब्द से तृतीया एकवचन में 'प्रिय-प्रियेण' तथा 'सुख-सुखेन' रूप निष्पन्न होंगे । विकल्प होने से पक्ष में 'प्रियेण' तथा 'सुखेन' का प्रयोग भी होगा ।

(२१४९) **पद**—यथास्वे, यथायथम् । **अनुवृत्ति**—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे । **विधि-(अतिदेश)-सूत्र ।**

मूलार्थ—वीप्सार्थ में अव्ययीभाव समास होकर 'यथास्व' शब्द निष्पन्न हुआ है । आत्मा एवम् आत्मीय दोनों को यथास्व कहते हैं । उस अर्थ में 'यथा' शब्द को द्वित्व तथा क्लीबत्व का निपातन किया जाता है । (अतः) यथाज्ञाता का अर्थ है—स्वभावानुसार अथवा यथात्मीय ।

विवरण—'यथास्वम्' अर्थ में **'यथायथम्'** शब्द निपातन है तथा 'कर्मधारय' के समान कार्य भी होता है । तदनुसार 'यथा' को द्वित्व तथा समुदाय को नपुंसकलिङ्गता—निपातनवश होते हैं । अतः 'यथायथा' समुदाय के नपुंसक लिङ्ग होने से ''ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'' (१-२-४७) से ह्रस्व होता है = यथायथ > यथायथम् (नपुंसकलिङ्ग में 'सु' को अम्भाव तथा पूर्वरूप) । सूत्रस्थ 'यथास्व' शब्द में वीप्सार्थक अव्ययीभाव समास हुआ है । कृत्स्नश्चासौ स्वश्च यह

(२१५०) द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ८।१।१५ ॥
द्विशब्दस्य द्विर्वचनं पूर्वपदस्य अम्भावोऽत्वं चोत्तरपदस्य नपुंसकत्वं च निपात्यते एष्वर्थेषु । तत्र रहस्यं द्वन्द्वशब्दस्य वाच्यम् । इतरे विषयभूताः । द्वन्द्वं मन्त्रयते । रहस्यमित्यर्थः । मर्यादा स्थित्यनतिक्रमः । आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनीयन्ति । माता पुत्रेण मिथुनं

इत्येव वीप्सया द्वित्वमिह सिद्धमिति शङ्क्यम्, द्वित्वविषयस्य शब्दस्य लक्षणया कार्त्स्न्यविशिष्टे वृत्तावेव वीप्सायाः द्विर्वचनविधानात् । अन्यथा 'सर्वो घटः' इत्यादौ सर्वशब्दस्यापि द्वित्वापत्तेरिति भावः । क्लीबत्वमिति । यथायथा इति समुदायस्येति शेषः । अन्यथा अव्ययत्वादलिङ्गत्वं स्यादिति भावः । एवं च कृतद्वित्वस्य नपुंसकह्रस्वत्वं च फलितम् । यथायथं ज्ञातेति । अत्र ज्ञातेति तृन्नन्तम् । तद्योगे 'न लोक' इति षष्ठीनिषेधात्कर्मणि द्वितीया । तृजन्तत्वे तु यथायथस्य ज्ञातेत्येव ।

(२१५०) द्वन्द्वं रहस्य । पूर्वपदस्येति । द्वौ द्वाविति द्वित्वे कर्मधारयवत्त्वात् सुब्लुकि समुदायात् पुनः सुपि पूर्वपदावयवस्य इकारस्य अम् इति मकारान्तादेश इत्यर्थः । अत्वमिति । उत्तरपदस्य अकारोऽन्तादेश इत्यर्थः । न च त्यदाद्यत्वमुत्तरपदान्तस्य सिद्धमिति वाच्यम्, सञ्ज्ञात्वात्तदप्राप्तेरित्याहुः । नपुंसकत्वं चेति । चकारः अनुक्तसमुच्चये कृतद्वित्वस्य नपुंसकत्वं द्विवचनाभावश्चेत्यर्थः । आचतुरं हीति । आङभिविधौ । 'आङ् मर्यादा' इत्यव्ययीभावः । शरत्प्रभृतित्वात् टच् । चतुर्थान्तमिति फलितोऽर्थः । पशवः स्वप्रभृति चतुर्थपर्यन्तं द्वन्द्वं मिथुनीयन्ति इत्यन्वयः । मिथुनशब्देन मैथुनं विवक्षितम् । मिथुनस्य कर्म मैथुनम् । तदिच्छतीत्यर्थे 'सुप आत्मनः' इति क्यच् । फलितमर्थमाह—

अस्वपद विग्रह है । 'स्व' शब्द आत्मा (अर्थात् वस्तु का अपना स्वभाव) अथवा आत्मीय (अर्थात् वस्तु की अपनी स्वाभाविकता) अर्थ का वाचक है । तदनुसार 'ज्ञाताः सर्वे पदार्थाः **यथायथम्**' का अर्थ है—"मैंने सब पदार्थों के उनके अपने स्वभाव को जान लिया है" । इसी तरह 'सर्वेषां तु **यथायथम्**' वाक्य का अर्थ है—'सब की आत्मीयता को' ।

(२१५०) पद—द्वन्द्वम्, रहस्य-मर्यादावचन-व्युत्क्रमण-यज्ञपात्रप्रयोगाऽभिव्याक्तिषु । अनुवृत्ति—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे । विधि-(अतिदेश)-सूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—उभयात्मक-विधान-स्वरूप 'द्वन्द्व' शब्द निपातन किया जा रहा है । तदनुसार (१) "'रहस्य', (२) 'मर्यादावचन', (३) 'व्युत्क्रमण', (४) 'यज्ञपात्र-प्रयोग' तथा (५) 'अभिव्यक्ति'—इन अर्थों में 'द्वन्द्व' शब्द का निपातन है" । 'द्वि' शब्द को 'द्वित्व' कर लेने के पश्चात् पूर्व पद के 'इ'कार को अम्भाव एवम् उत्तरपदस्थ 'इ'कार को 'अकार' होने पर 'द्वन्द्व' शब्द निष्पन्न होगा । अतः 'द्वि+औ, द्वि+औ'—इस स्थिति में 'कर्मधारयवद्भाव होने से सुप्-लुक्, अम्-भाव तथा अत्व होने पर—'द्वन्द्व' इस समुदाय से 'सु' विभक्ति आने पर नपुंसक लिङ्ग में अम्भाव होकर 'द्वन्द्वम्' रूप निष्पन्न होता है । कर्मधारयवद्भाव होने से अन्तोदात्तत्व भी होगा । सूत्रस्थ अर्थ-बोधक शब्दों की व्याख्या इस प्रकार हैं—(१) रहस्य = एकान्त । (२) मर्यादावचन का अर्थ है—स्थिति का उल्लङ्घन न होना । (३) व्युत्क्रमण—पृथक् अवस्थान । (४) यज्ञपात्रप्रयोग—यज्ञीय पात्रों का उपयोग । (५) अनभिव्यक्ति अर्थात् साहचर्य । क्रमशः इन अर्थों में उदाहरण—(१) द्वन्द्वं मन्त्रयते (दो दो मिलकर परस्पर मन्त्रणा करते हैं) । (२) आचतुरं हि इमे पशवः द्वन्द्वं मिथुनीयन्ति (चौथी पीढ़ी तक ये पशु परस्पर सहवास करते हैं) । माता पुत्रेण पौत्रेण प्रपौत्रेण च मिथुनं गच्छति (अर्थात् माता पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र से संयुक्त होती है) । (३) द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः (दो दो वर्ग बनाकर चले गए) । (४) द्वन्द्वं न्यञ्चि

गच्छति । पौत्रेण प्रपौत्रेणापीति मर्यादार्थः । व्युत्क्रमणं पृथगवस्थानम् । द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः । द्विवर्गसम्बन्धेन पृथगवस्थिताः । द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । द्वन्द्वं सङ्कर्षणवासुदेवौ । अभिव्यक्तौ साहचर्येणेत्यर्थः । योगविभागादन्यत्रापि द्वन्द्वम् इष्यते ।

इति द्विरुक्तप्रकरणम् ।

इति श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचितायां सिद्धान्तकौमुद्यां
पूर्वार्धं समाप्तम् ।



मिथुनं गच्छतीति । मिथुनत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । मिथुनायन्ते इति क्यङ्पाठस्तु प्रामादिकः । मर्यादीकृत्येति । स्वप्रभृति चतुरोऽभिव्याप्येत्यर्थः । अत्यन्तसहचरितत्वेन लोकविज्ञानमभिव्यक्तिरिति भाष्याल्लभ्यते । तदाह—साहचर्येणेत्यर्थ इति । अत्र 'द्वन्द्वं न्यञ्ची'त्यत्र वीप्सायां द्वित्वम्, अन्यत्र स्वार्थे इति बोध्यम् । अन्यत्रापीति । द्वन्द्वानि सहते इत्यादावित्यर्थः । शीतमुष्णं च एकं द्वन्द्वम् । सुखं दुःखं चापरम् । क्षुत्तृष्णा चान्यत् । इह स्वार्थे द्वन्द्वः । अम्भावादि पूर्ववत् । 'चार्थे द्वन्द्वः' इति निपातनादन्यत्रापीति सिद्धम् ।

इति द्विरुक्तप्रकरणम् ।

इति श्रीमत्सन्ततसन्तन्यमानश्येनकूर्मषोडशाररथचक्राकारादिबहुगुणविराजमानप्रौढा-
परिमितमहाध्वरस्य 'श्रीशाहजी-तुक्कोजी भोंसल' चोलमहीमहेन्द्रामात्यधुरन्धरस्य
श्रीमत आनन्दरायविद्वत्सार्वभौमस्याध्वर्युणा पञ्चपुरुषीपोष्येण बाल्य एव
तद्वयानिर्वर्तितापरिमिताग्निविजृम्भितवाजपेयसर्वपृष्ठाप्तोर्यामप्रमुखमख-
सन्तर्पितशतमखप्रमुखबर्हिर्मुखेन पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणा-
प्रजन्मविश्वेश्वरवाजपेययाजितो लब्धविद्यावैशद्येन अध्वर-
मीमांसाकुतूहलवृत्तिनिर्माणप्रकटितसर्वतन्त्रस्वातन्त्र्ये-
ण बोधायनापस्तम्बसत्याषाढभारद्वाजकात्याय-
नाश्वलायनद्राह्यायणादिकल्पसूत्रतद्भाष्यपारी-
णमहादेववाजपेययाजिसुतेन अन्नपूर्णाम्बा-
गर्भजातेन वासुदेवदीक्षितविदुषा
विरचितायां सिद्धान्तकौमुदी-
व्याख्यायां बालमनोरमायां
पूर्वार्धं सम्पूर्णम् ।

यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः (धैर्यशाली उलटे यज्ञपात्रों को दो-दो इकट्ठा कर यज्ञवेदी में रखता है) । (५) द्वन्द्वं सकर्षण-वासुदेवौ (बलराम और कृष्ण—इन दोनों का साहचर्य) ।

विशेष—कुछ वृत्तिकारों के अनुसार प्रकृत सूत्र का योगविभाग करने से उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त अर्थ में भी 'द्वन्द्व' शब्द का प्रयोग देखा गया है । जैसे—द्वन्द्वं युद्धानि अवर्तन्त । यहाँ 'द्वयोः द्वयोः' इस अर्थ में 'वीप्सा' गम्यमान होने से द्वित्व हुआ है । इसी प्रकार 'शीतोष्णसुख-

दुःखक्षन्तृषां द्वन्द्वानि सहते'—में स्वार्थ में द्वित्व तथा एकशेष होने के कारण बहुवचन हुए हैं। एवम् "चार्थे द्वन्द्वः" (२-२-२९) सूत्रस्थ 'द्वन्द्वः' पद में भी स्वार्थ में द्वित्व एवं लोकव्यवहार से पुंस्त्व हुआ है। किन्तु योगविभाग की कल्पना 'भाष्य' मे विद्यमान नहीं है। 'द्वन्द्वं युद्धानि' मर्यादावचन अर्थ में भी सिद्ध हो सकता है। 'शीतोष्णादि' में साहचर्य अर्थ भी माना जा सकता है। "चार्थे द्वन्द्वः" (२-२-२९) सूत्रस्थ 'द्वन्द्व' शब्द में अवयवार्थ के भान होने से अव्युत्पन्न संज्ञा-शब्द माना जा सकता है। यही सूत्रकार का आशय भी है। अतः उपर्युक्त सूत्र में सीमित अर्थों का ही समावेश किया गया है।

'दीपिका' में द्विरुक्तप्रक्रिया समाप्त।

सच्चिन्नित्यानन्दरूप-नित्यानन्दाख्य-सद्गुरोः।
मातामहस्य चरणद्वन्द्वासक्तिचेतसा ॥ १ ॥
तथैव तस्य शिष्यस्य नेने-गोपालशास्त्रिणः।
वन्दनीयस्य च गुरोर्गिरः स्मृत्वा पुनः पुनः ॥ २ ॥
सिद्धान्तकौमुदी-व्याख्या राष्ट्रभाषासमन्विता।
कृता गोपालदत्तेन दीपिकाख्या यथामति ॥ ३ ॥
त्रिवेदखद्विसहिते (२०४३) वैक्रमे वत्सरे शुभे।
मार्गशीर्षे सिते पक्षे पूर्णिमायां कुजे दिन ॥ ४ ॥
समाप्तं तत्र पूर्वार्धं निर्विघ्नं सुसमाहितम्।
तेन तुष्यतु वाग्देवी विश्ववन्द्या सतां मता ॥ ५ ॥

इति श्रीगोपालदत्तपाण्डेयविरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां दीपिकाख्यायां पूर्वार्धं सम्पूर्णम्।



समासादि-द्विरुक्तान्त-सूत्रसूची

ख

समासादि-द्विरुक्तान्त-वार्तिकसूची

समासादि-द्विरुक्तान्त-परिभाषासूची

गणपाठः

ऊर्यादिच्विडाचश्च । १ । ४ । ६१ । ऊरी उररी तन्थी ताली आताली वेताली धूली धूसी शकला शंसकला ध्वंसकला भ्रंशकला गुलगुधा सजूस् फल फली विक्ली आक्ली आलोष्ठी केवाली केवासी सेवासी पर्याली शेवाली वर्षाली अत्यूमशा वश्मसा मश्मसा मसमसा औषट् श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्वधा पांपी प्रादुस् श्रत् आविस । इत्यूर्यादयः । सू० ७६२ ।

साक्षात्प्रभृतीनि च । १ । ४ । ७४ । साक्षात् मिथ्या चिन्ता भद्रा रोचना आस्था अमा अद्धा प्राजर्या प्राजरुहा बीजर्या बीजरुहा संसर्या अर्थे लवणम् उष्णम् शीतम् उदकम् आर्द्रम् अग्नौ वशे विकसने विहसने प्रतपने प्रादुस् नमस् । आकृतिगणोऽयम् । इति साक्षात्प्रभृतयः । सू० ७७५ ।

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च । २ । १ । १७ । तिष्ठद्गु वहद्गु आयतीगवम् खलेयवम् खलेबुसम् लूनयवम् लूयमानयवम् पूतयवम् पूयमानयवम् संहृतयवम् संह्रियमाणयवम् संहृतबुसम् संह्रियमाणबुसम् समभूमि समपदाति सुषमम् विषमम् दुःषमम् निःषमम् अपसमम् आयतीसमम् (प्रोढम्) पापसमम् पुण्यसमम् प्राह्णम् प्ररथम् प्रमृगम् प्रदक्षिणम् (अपरदक्षिणम्) संप्रति असंप्रति । इच्प्रत्ययः समासान्तः (५ । ४ । १२७ ॥ ५ । ४ । १२८) । इति तिष्ठद्गुप्रभृतयः । सू० ६७१ ।

सप्तमी शौण्डैः । २ । १ । ४० । शौण्ड धूर्त कितव व्याड प्रवीण संवीत अन्तर अधि पटु पण्डित कुशल चपल निपुण । इति शौण्डादयः । सू० ७१७ ।

पात्रेसमितादयश्च । २ । १ । ४८ । पात्रेसमिताः पात्रेबहुलाः उदुम्बरमशकः उदुम्बरकृमिः कूपकच्छपः अवटकच्छपः कूपमण्डूकः कुम्भमण्डूकः उदपानमण्डूकः नगरकाकः नगरवायसः मातरिपुरुषः पिण्डीशूरः पितरिशूरः गेहेशूरः गेहेनर्दी गेहेक्ष्वेडी गेहेविजिती गेहेव्याडः गेहेमेही गेहेदाही गेहेदृप्तः गेहेधृष्टः गर्भेतृप्तः आखनिकवकः गोष्ठेशूरः गोष्ठेविजिती गोष्ठेक्ष्वेडी गोष्ठेपटुः गोष्ठेपण्डितः गोष्ठेप्रगल्भः कर्णेटिरिटिरा कर्णेचुरुचुरा । आकृतिगणोऽयम् । इति पात्रेसमितादयः । सू० ७२५ ।

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे । २ । १ । ३६ । व्याघ्र सिंह ऋक्ष ऋषभ चन्दन वृक वृष वराह हस्तिन् तरु कुञ्जर रुरु पृषत् पुण्डरीक पलाश कितव । इति व्याघ्रादयः । आकृतिगणोऽयम् । तेन मुखपद्मम् मुखकमलम् करकिसलयम् पार्थिवचन्द्रः इत्यादि । सू० ७३५ ।

श्रेण्यादयः कृतादिभिः । २ । १ । ५९ । १ श्रेणि एक पूग मुकुन्द राशि निचय विषय निधाय पर इन्द्र देव मुण्ड भूत श्रमण वदान्य अध्यापक अभिरूपक ब्राह्मण क्षत्रिय (विशिष्ट) पटु पण्डित कुशल चाल निगुण कृपण । इत्येते श्रेण्यादयः ।

२ कृत मित मत भूत उक्त (युक्त) समाज्ञात समाम्नात समाख्यात संभावित (संसेवित) अवधारित अवकल्पित निराकृत उपकृत उपाकृत (दृष्ट कलित दलित उदाहृत विश्रुत उदित) । आकृतेगणोऽयम् । इति कृतादयः । सू० ७३८ ।

***शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम्* २ । १ । ६० ।** शाकपार्थिव कुतपसौश्रुत अजातौल्वलि । आकृतेगणोऽयम् । कृतापकृत भुक्तविभुक्त पीतविपीत गतप्रत्यागत यातानुयात क्रयाक्रयिका पुटापुटिका फलाफलिका मानोन्मानिका । इति शाकपार्थिवादिः । सू० ७३९ ।

कुमारः श्रमणादिभिः । २ । १ । ७० । श्रमणा प्रव्रजिता कुलटा गर्भिणी तापसी दासी बन्धकी अध्यापक अभिरूपक पण्डित पटु मृदु कुशल चपल निपुण । इति श्रमणादयः । सू० ७५२ ।

मयूरव्यंसकादयश्च । २ । १ । ७२ । मयूरव्यंसक छात्रव्यंसक कम्बोजमुण्ड यवनमुण्ड । छन्दसि । हस्तेगृह्य (हस्तगृह्य) पादेगृह्य (पादगृह्य) लाङ्गूलेगृह्य (लाङ्गूलगृह्य) पुनर्दाय । एहीडादयोऽन्यपदार्थे । एहीडम् एहियवम् एहिवाणिजा क्रिया अपेहिवाणिजा प्रेहिवाणिजा एहिस्वागता अपेहिस्वागता एहिद्वितीया अपेहिद्वितीया प्रेहिद्वितीया एहिकटा अपेहिकटा प्रेहिकटा आहरकटा प्रेहिकर्दमा प्रोहकर्दमा विधमचूडा उद्धमचूडा (उद्धरचूडा) आहरचेला आहरवसना

(अहरसेना) आहरवनिता (अहरविनता) कृन्तविचक्षणा उद्धरोत्सृजा उद्धरावसृजा उद्धमविधमा उत्पचनिपचा उत्पतनिपता उच्चावचम् उच्चनीचम् आचोपचम् आचपराचम् (नखप्रचन्) निश्चप्रचम् अकिंचन स्नात्वाकालक पीत्वास्थिरक भुक्त्वासुहित प्रोष्यपापीयान् उत्पत्यपाकला निपत्यरोहिणी निषण्णश्यामा अपेहिप्रघसा एहिविघसा इहपञ्चमी इहद्वितीया। जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति। जहिजोडः (जहिजोडम्) जहिस्तम्बम् (जहिस्तम्बः) (उज्जहिस्तम्बम्) आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये। अश्नीतपिबता पचतभृज्जता खादतमोदता (खादतावमता) आहरनिवपा आहरनिष्किरा (आवपनिष्करा) उत्पचविपचा भिन्धिलवणा कृन्धिविचक्षणा पचलवणा पचप्रकूटा। आकृतिगणोऽयम्। तेन—अकुतोभयः कान्दिशीकः (कान्देशीकः) आहोपुरुषिका अहमहमिका यदृच्छा एहिरेयाहिरा उन्मृजावमृजा द्रव्यान्तरम् अवश्यकार्यम्। इति मयूरव्यंसकादयः। सू० ७५४।

याजकादिभिश्च।२।२।९॥ याजक पूजक परिचारक परिवेषक (परिषेचक) स्नापक अध्यापक उत्साहक उद्वर्तक होतृ भर्तृ रथगणक पत्तिगणक। इति याजकादयः। सू० ७०३।

राजदन्तादिषु परम्।२।२।३१॥ राजदन्तः अग्रेवणम् लिप्तवासितम् नग्नमुषितम् सिक्तसंमृष्टम् मृष्टलुञ्चितम् अवक्लिन्नपक्वम् अर्पितोतन् [अर्पितोप्तम्] उप्तगाढम् उलूखलमुसलम् तण्डुलकिण्वम् दृषदुपलम् आरड्वायनि [आरग्वायनबन्धकी] चित्ररथबाह्लीकम् अवन्त्यश्मकम् शूद्रार्यम् स्नातकराजानौ विष्वक्सेनार्जुनौ अक्षिभ्रुवम् दारगवम् शब्दार्थौ धर्मार्थौ कामार्थौ अर्थशब्दौ अर्थधर्मौ अर्थकामौ वैकारिमतम् गाजवाजम् [गोजवाजम्] गोपालिधानपूलासम् (गोपालधानीपूलासम्) पूलासकारण्डम् (पूलासककुरण्डम्) स्थूलासम् (स्थूलापूलासम्) उशीरबीजम् (जिज्ञास्थि) सिञ्जास्थम् (सिञ्जाश्वत्थम्) चित्रास्वाती (चित्रस्वाती) भार्यापती दम्पती जम्पती जायापती पुत्रपती पुत्रपशू केशश्मश्रू शिरोबिजु (शिरोबीजम्) शिरोजानु सर्पिर्मधुनी मधुसर्पिषी (आद्यन्तौ) अन्तादी गुणवृद्धी वृद्धिगुणौ। इति राजदन्तादिः। सू० ९०२।

वाहिताग्न्यादिषु।२।२।३७॥ आहिताग्नि जातपुत्र जातदन्त जातश्मश्रु तैलपीत घृतपीत (मद्यपीत) ऊढभार्य गतार्थ। आकृतिगणोऽयम्। तेन—गडुकण्ठ अस्युद्यत (अस्युद्यत) दण्डपाणिप्रभृतयोऽपि। इत्याहिताग्न्यादयः। सू० ९००।

कडाराः कर्मधारये।२।२।३८॥ कडार गडुल खञ्ज खोड काण कुण्ठ खलति गौर वृद्ध भिक्षुक पिङ्ग पिङ्गुल (पिङ्गल) तड तनु (जठर) वधिर मठर कुब्ज बर्बर। इति कडारादयः। सू० ७५१।

गवाश्वप्रभृतीनि च।२।४।११॥ गवाश्वम् गवाविकम् गवैडकम् अजाविकम् (अजैडकम्) कुब्जवामनम् कुब्जकिरातम् पुत्रपौत्रम् श्वचण्डालम् स्त्रीकुमारम् दासामाणवकम् शाटीपटीरम् शाटीप्रच्छदम् शाटीपट्टिकम् उष्ट्रखरम् उष्ट्रशशम् मूत्रशकृत् मूत्रपुरीषम् यकृन्मेदः मांसशोणितम् दर्भशरम् दर्भपूतीकम् अर्जुनशिरीषम् अर्जुनपुरुषम् तृणोपलम् (तृणोलपम्) दासीदासम् कुटीकुटम् भागवतीभागवतम्। इति गवाश्वप्रभृतीनि। सू० ९१५।

न दधिपय आदीनि।२।४।१४॥ दधिपयसी सर्पिर्मधुनी मधुसर्पिषी ब्रह्मप्रजापती शिववैश्रवणौ स्कन्दविशाखौ परिव्राजककौशिकौ (परिव्राट्कौशिकौ) प्रवर्ग्योपसदौ शुक्लकृष्णौ इध्माबर्हिषी दीक्षातपसी (श्रद्धातपसी मेधातपसी) अध्ययनतपसी उलूखलमुसले आद्यवसाने श्रद्धामेधे ऋक्सामे वाङ्मनसे। इति दधिपयआदीनि। सू० ९१८।

अर्धर्चाः पुंसि च।२।४।३१॥ अर्धर्च गोमय कषाय कार्षापण कुतप कुसप (कुणप) कपाट शङ्ख गूथ यूथ ध्वज कबन्ध पद्म गृह सरक कंस दिवस यूष अन्धकार दण्ड कमण्डलु मण्ड भूत द्वीप द्यूत चक्र धर्म कर्मन् मोदक शतमान यान नख नखर चरण पुच्छ दाडिम हिम रजत सक्तु पिधान सार पात्र घृत सैन्धव औषध आढक चषक द्रोण खलीन पात्रीव षष्टिक वारबाण (वारवारण) प्रोथ कपित्थ (शुष्क) शाल शील शुक्ल (शुल्क) शीधु कवच रेणु (ऋण) कपट शीकर मुसल सुवर्ण वर्ण पूर्व चमस क्षीर कर्ष आकाश अष्टापद मङ्गल निधन निर्यास जृम्भ वृत्त पुस्त बुस्त क्ष्वेडित शृङ्ग निगड (खल) मूलक मधु मूल स्थूल शराव नाल वप्र विमान

मुख प्रग्रीव शूल वज्र कटक कण्टक (कर्पट) शिखर कल्क (वल्कल) नटमस्तक (नाटमस्तक) वलय कुसुम तृण पङ्क कुण्डल किरीट (कुमुद) अर्बुद अङ्कुश तिमिर अश्राय भूषण इष्कस (इष्वास) मुकुल वसन्त तटाक (तडाग) पिटक विटङ्क विडङ्ग पिण्याक माप कोश फलक दिन दैवत पिनाक समर स्थाणु अनीक उपवास शाक कर्पास (विशाल) चपाल (चखाल) खण्ड दर विटप (रण वल मक) मृणाल हस्त आर्द्र हल (सूत्र) ताण्डव गाण्डीव मण्डप पटह सौध योध पार्श्व शरीर फल (छल) पुर (पुरा) राष्ट्र अम्बर बिम्ब कुट्टिम मण्डल (कुक्कुट) कुडप ककुद खण्डल तोमर तोरण मञ्चक पञ्चक पुङ्ख मध्य (वाल) छाल वल्मीक वर्ष वस्त्र वसु देह उद्यान उद्योग स्नेह स्तेन (स्तन स्वर) संगम निष्क क्षेम शूक क्षत्र पवित्र (यौवन कलह) मालक (पालक) मूषिक (मण्डल वल्कल) कुज (कुञ्ज) विहार लोहित विषाण भवन अरण्य पुलिन दृढ आसन ऐरावत शूर्प तीर्थ लोमन (लोमश) तमाल लोह दण्डक शपथ प्रतिसर दारु धनुष् मान वर्चस्क कूर्च तण्डक मठ सहस्र ओदन प्रवाल शकट अपराह्ण नीड शकल तण्डुल। इत्यर्धर्चादिः । सू० ८१६ ।

पैलादिभ्यश्च । २ । ४ । ५९ ॥ पैल शालङ्कि सात्यकि सात्यंकामि राहवि रावणि औदञ्चि औदव्रजि औदमेधि औदव्यज्ञि (औदमज्जि) औदभृज्जि दैवस्थानि पैङ्गलोदायनि राहक्षति भौलिङ्गि राणि औदन्यि औद्वाहमानि औज्जिहानि औदशुद्धि तद्राजाच्चाणः (तद्राज) आकृतिगणोऽयम् । इति पैलादिः । सू० १०८४ ।

न तौल्वलिभ्यः । २ । ४ । ६१ । तौल्वलि धारणि पारणि रावणि दैलीपि दैवति वार्कलि नैवति (नैवकि) दैवमित्रि (दैवमति) दैवयज्ञि चाफट्टकि वैल्वकि वैकि (वैङ्कि) आनुहारति (आनुराहति) पौष्करसादि आनुरोहति आनुति प्रादोहनि नैमिश्री प्राडाहति बान्धकि वैशीति आसिनासि आहिंसि आसुरि नैमिषि आसिबन्धकि पौष्पि कारेणुपालि वैकर्णि वैरकि वैहति । इति तौल्वल्यादिः । सू० १०८६ ।

यस्कादिभ्यो गोत्रे । २ । ४ । ६३ । यस्क लह्य द्रुह्य अयस्थूण (अयःस्थूण) तृणकर्ण सदामत्त कम्बलहार बहिर्योग पर्णाढक कर्णाढक पिण्डीजङ्घ बकसस्थ (बकसक्थ) विश्रि कुद्रि अजवस्ति मित्रयु रक्षोमुख जङ्घारथ उत्कास कटुक मथक (मन्थक) पुष्करट् (पुष्करसद्) विषपुट उपरिमेखल क्रोष्टुकमान (क्रोष्टुमाह) क्रोष्टुपाद क्रोष्टुमान शीर्षनाथ खरप पदक वर्षुक भलन्दन भडिल भण्डिल भडित भण्डित । ऐते यस्कादयः । सू० ११४६ ।

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे । २ । ४ । ६८ । तिककितवाः वङ्खभण्डीरथाः उपकलमकाः पफकनरकाः वकनखगुदपरिणद्धाः उब्जककुभाः लङ्कशान्तमुखाः उत्तरशलङ्कटाः कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः भ्राष्टककापिष्ठलाः अग्निवेशदशेरुकाः ॥ एते तिककितवादयः । सू० ११५० ।

उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे । २ । ४ । ६९ । उपक लमक भ्रष्टक (भ्राष्टक) कपिष्ठल कृष्णाजिन कृष्णसुन्दर चूडारक आडारक गडुक उदङ्क सुधायुक अबन्धक पिङ्गलक पिष्ट सुपिष्ट (सुपिष्ठ) मयूरकर्ण खरीजङ्घ शलाथल पतञ्जल कठेरणि कुषीतक कशकृत्स्न (काशकृत्स्न) निदाघ कलशीकण्ठ दामकण्ठ कृष्णपिङ्गल कर्णक पर्णक जटिरक बधिरक जन्तुक अनुलोम अनुपद प्रतिलोम जपजग्ध प्रतान अनभिहित कमक वराटक लेखाभ्र कमन्दक पिञ्जूल वर्णक मसूरकर्ण मदाघ कवन्तक कमन्तक कदामत दामकण्ठ । एते उपकादयः । सू० ११५१ ।

क्रौड्यादिभ्यश्च । ४ । १ । ८० । क्रौडि लाडि व्याडि आपिशलि आपक्षिति (चौपयत चैटयत) (वैटयत) सैकयत बैल्वयत सौधातकि । सूत युवत्याम् । भोज क्षत्रिये । यौतकि कौटि भौरिकि भौलिकि (शाल्मलि) शालास्थलि कापिष्ठलि गौकक्ष्य । इति क्रौड्यादिः । सू० १२०० ।

अश्वपत्यादिभ्यश्च । ४ । १ । ८४ । अश्वपति (ज्ञानपति) शतपति धनपति गणपति (स्थानपति यज्ञपति) राष्ट्रपति कुलपति गृहपति (पशुपति) धान्यपति धन्वपति । (बन्धुपति धर्मपति) सभापति प्राणपति क्षेत्रपति । इत्यश्वपत्यादिः । सू० १०७४ ।

उत्सादिभ्योऽञ् । ४ । १ । ८६ । उत्स उदपान विकर विनद महानद महानस महाप्राण तरुण तलुन । वष्कयासे । पृथिवी (धेनु) पङ्क्ति जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर

ग्रीष्म पीलुकुण। उदस्थान देशे। पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मध्यंदिन बृहत् महत् सत्त्वत् कुरु पञ्चाल इन्द्रावसान उष्णह् ककुभ् सुवर्ण देव। ग्रीष्मादच्छन्दसि। इत्युत्सादिः। सू० १०७८।

बाह्वादिभ्यश्च। ४। १। ९६। बाहु उपबाहु उपवाकु निवाकु शिवाकु वटाकु उपनिन्दु (उपविन्दु) वृषली वृकला चूडा बलाका मूषिका कुशला भगला (छगला) ध्रुवका (धुवका) सुमित्रा दुर्मित्रा पुष्करसद् अनुहरत् देवशर्मन् अग्निशर्मन् (भद्रशर्मन् सुशर्मन्) कुनामन् (सुनामन्) पञ्चन् सप्तन् अष्टन्। अमितौजसः सलोपश्च। सुधावत् उदञ्चु शिरस माष शराविन् मरीची क्षेमवृद्धिन् शृङ्खलतोदिन् खरनादिन् नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् अजीगर्त कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुन साम्ब गद प्रद्युम्न रत्नम्। (उदङ्क) उदकः संज्ञायाम्। संभूयोम्भसोः सलोपश्च। आकृतिगणोऽयम्। तेन सात्यकिः आङ्गिः ऐन्दशर्मिः आजधेनविः इत्यादि। इति बाह्वादयः। सू० १०९६।

गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्। ४। १। ९८। कुञ्ज ब्रध्न शङ्ख भस्मन् गण लोमन् शठ शाक शुण्डा विपाश् स्कन्द स्कम्भ। इति कुञ्जादिः। सू० १०९९।

नडादिभ्यः फक्। ४। १। ९९। नड चर (वर) वक मुञ्ज इतिक इतिश उपक (एक) लमक शलङ्कु कलङ्कं च। सप्तल वाजप्य तिक। अग्निशर्मन्वृषगणे। प्राण नर सायक दास मित्र द्वीप पिङ्गर पिङ्गल किङ्कर किङ्कल (कातर) कातल काश्यप (कुश्यप) काश्य काल्य (काव्य) अज अमुष्य (अमुष्म)। कृष्णरणौ ब्राह्मणवासिष्ठे। अमित्र लिगु चित्र कुमार। क्रोष्टु क्रोष्टं च। लोह दुर्ग स्तम्भ शिंशपा अग्र तृण शकट सुमनस् सुमत मिमत ऋच् जलंधर अध्वर युगंधर हंसक दण्डिन् हस्तिन् (पिण्ड) पञ्चाल चमसिन् सुकृत्य स्थिरक ब्राह्मण चटक बदर अश्वल खरप लङ्क इन्ध अस्त्र कामुक ब्रह्मदत्त उदुम्बर शोण अलोह दण्डप। इति नडादिः। सू० ११०१।

अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्। ४। १। १०४। बिद उर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात कन्दर्प (किंदर्भ) विश्वानर (ऋष्टषेण) ऋष्टिषेण ऋतभाग हर्यश्व प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक (शुनक्) धेनु गोपवन शिग्रु बिन्दु (भोगक) भाजन (शमिक) अश्वावतान श्यामाक श्यामक (श्यावलि श्यापर्ण हरित किन्दास वह्यस्क अर्कजूष (अर्कलूष) बध्योग विष्णुवृद्ध प्रतिबोध (रथीतर) रथन्तर गविष्ठिर निषाद (शबर अलस) मठर (मृडाकु) सृपाकु मृदु पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्दृ। परस्त्री परशुं च। इति बिदादिः। सू० ११०६।

गर्गादिभ्यो यञ्। ४। १। १०५। गर्ग वत्स। वाजासे। संकृति अज व्याघ्रपात् विदभृत् प्राचीनयोग (अगस्ति) पुलस्ति चमस रेभ अग्निवेश शङ्ख शट शक धूम एक अवट मनस् धनञ्जय वृक्ष विश्वावसु जरमाण लोहित शंसित बभ्रु वल्गु मण्डु गण्डु शङ्ख लिगु गुहलु मन्तु मङ्क्षु अलिगु जिगीषु मनु तन्तु मनायीसूनु कथक कन्थक ऋक्ष तृक्ष (वृक्ष) (तनु) तरुक्ष तण्ड वतण्ड कपिकत (कपि कत) कुरुकत अनडुह कण्व शकल गोकक्ष अगस्त्य कण्डिनी यज्ञवल्क पर्णवल्क अभयजात विरोहित वृषगण रहूगण शण्डिल वर्णक (चणक) चुलुक मुद्गल मुसल जमदग्नि पराशर जतूकर्ण (जातूकर्ण) महित मन्त्रित अश्मरथ शर्कराक्ष पूतिमाष स्थूरा अदरक (अररक) एलाक पिङ्गल कृष्ण गोलन्द उलूक तितिक्ष भिषज (भिषज्) (भिष्णज) भडित भण्डित दल्भ चेकित चिकित्सित देवहू इन्द्रहू एकलु पिप्पलु बृहदग्नि (सुलोहिन्) सुलाभिन् उक्थ कुटीगु। इति गर्गादिः सू० ११०७।

अश्वादिभ्यः फञ्। ७। १। ११०। अश्व अश्मन् शङ्ख शूद्रक विद पुट रोहिण खर्जूर (खजूर) (खञ्जार वस्त) पिजूल भडिर भण्डिल भडित भण्डित (प्रकृत रामोद) क्षान्त (काश तीक्ष्ण गोलाङ्क अर्क स्वर स्फुट चक्र श्रविष्ठ) पविन्द पवित्र गोमिन् श्याम धूम धूम्र वाग्मिन् विश्वानर कुट शप आत्रेये। जन जड खड ग्रीष्म अर्ह कित विशम्प विशाल गिरि चपल चुप दासक वैल्य (बैल्व) प्राच्य (धर्म्य) आनडुह्य। पुंसि जात। अर्जुन (प्रहृत) सुमनस् दुर्मनस् मन (मनस्) (प्रान्त) ध्वन। आत्रेय भरद्वाजे। भरद्वाज आत्रेये। उत्स आतव कितव (वद धन्य पद) शिव खदिर। इत्यश्वादिः। सू० १११३।

शिवादिभ्योऽण्। ४। १। ११२। शिव प्रोष्ठ प्रेष्ठिक चण्ड जम्भ भूरि दण्ड कुठार ककुभ् (ककुभा) अनभिम्लान कोहित सुख सुख संधि मुनि ककुत्स्थ कहोड कोहड कहूय कहय रोध

कपिञ्जल (कुपिञ्जल) खञ्जन वतण्ड तृणकर्ण क्षीरह्रद जलह्रद परिल (पविक) पिष्ट हैहय (पार्पिका) गोपिका कपिलिका जटिलिका बधिरिका मञ्जीरक (मजिरक) वृष्णिक खञ्जास खञ्जाह (कर्मार) रेख लेख आलेखन विश्रवण रवण वर्तनाक्ष ग्रीवाक्ष (विटप पिटक) विटाक तृक्षाक नभाक ऊर्णनाभ जरत्कारु (पृथा उत्क्षेप) पुरोहितिका सुरोहितिका सुरोहिका आर्यश्वेत (अर्यश्वेत) सुपिष्ट मसुरकर्ण मयूरकर्ण (खर्जुरकर्ण) कदूरक तक्षन् ऋष्टिषेण गङ्गा विपाश यस्क लह्य द्रुह्य अयस्थूण तृणकर्ण (तृण कर्ण) पर्ण भलन्दन विरूपाक्ष भूमि इला सपत्नी । द्व्यचो नद्याः । त्रिवेणी त्रिवणं च । इति शिवादिः । आकृतिगणः । सू० ११२५ ।

शुभ्रादिभ्यश्च । ४ । १ । १२३ । शुभ्र विष्ट पुर (विष्टपुर) ब्रह्मकृत शतद्वार शलाथल शलाकाभ्रू लेखाभ्रु (लेखाभ्रू) विकसा (विकास) रोहिणी रुक्मिणी धर्मिणी दिश् शालूक अजवस्ति शकन्धि विमातृ विधवा शुक विश देवतर शकुनि शुक्र उग्र शातल (शतल) बन्धकी सकण्डु विस्रि अतिथि गोदन्त कुशाम्ब मकष्टु शाताहर पवष्टुरिक सुनामन् । लक्षणश्यामयोर्वासिष्ठे । गोधा कृकलास अणीव प्रवाहण भरत (भारत) भरम मृकण्डु कर्पूर इतर अन्यतर आलीढ सुदन्त सुदक्ष सुवक्षस् कद्रु तुद् अकशाय कुमारिका कुठारिका किशोरिका अम्बिका जिह्माशिन् परिधि वायुशकल शलाका खडूर कुबेरिका दत्त अशोका अन्धपिङ्गला खडोन्मत्ता अनुदृष्टिन् (अनुदृष्टि) जरतिन् बलीवर्दिन् विग्र बीज जीव श्वन् अश्मन् अश्व अजिर । इति शुभ्रादिः । आकृतिगणः । सू० ११२६ ।

कल्याण्यादीनामिनङ् च । ४ । १ । १२६ । कल्याणी सुभगा दुर्भगा बन्धकी अनुदृष्टि अनुसृति (अनुसृष्टि) जरती बलीवर्दी ज्येष्ठा कनिष्ठा मध्यमा परस्त्री । इति कल्याण्यादिः । सू० ११३१ ।

गृष्ट्यादिभ्यश्च । ४ । १ । १३६ । गृष्टि हृष्टि बलि हलि विश्रि कुद्रि अजवस्ति मित्रयु । इति गृष्ट्यादिः । सू० ११४३ ।

रेवत्यादिभ्यष्ठक् । ४ । १ । १४१ । रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकवञ्चिन् वृकबन्धु वृकग्राह कर्णग्राह कुक्कुटाक्ष (ककुदाक्ष) चामरग्राह । इति रेवत्यादिः । सू० ११६९ ।

कुर्वादिभ्यो ण्यः । ४ । १ । १५१ । कुरु गर्गर मङ्गुष अजमार रथकार वावदूक सम्राजः क्षत्त्रिये । कवि मति (विमति) कापिञ्जलादि वाक् वामरथ पितृमत इन्द्रजाली एजि वातकि दामोष्णीषि गणकारि कैशोरि कुट शालाका (शलाका) मुर पुर एरका शुभ्र अभ्र दर्भ केशिनी । वेनाच्छन्दसि । शूर्पणाय श्यावनाय श्यावरथ शावपुत्र सत्यंकार वडभीकार पथिकार मूढ शकन्धु शंकु शाक शालिन् शालीन कर्तृ हर्तृ इन पिण्डी तक्षन् । वामरथस्य कण्वादिवत्स्वरवर्जम् । इति कुर्वादिः । सू० ११७५ ।

तिकादिभ्यः फिञ् । ४ । १ । १५४ । तिक कितव संज्ञावालशिख (संज्ञा वाला शिखा) उरस् शाठ्य सैन्धव यमुन्द रूप्य ग्राम्य नील अमित्र गोकक्ष कुरु देवरथ तैतिल औरस् कौरव्य मौरिकि भौलिकि चौपयत चैटयत शीकयत क्षैतयत वाजवत चन्द्रमस् शुभ गङ्गा वरेण्य सुपामन् आरब्ध वाह्यक स्वल्पक वृष लोमक वादन्य उदन्य यज्ञ । इति तिकादिः । सू० ११७८ ।

वाकिनादीनां कुक्च । ४ । १ । १५८ । वाकिन गौधेर कार्कश काक लङ्का । चर्मिवर्मिणोर्नलोपश्च । इति वाकिनादिः । सू० ११८२ ।

कम्बोजाल्लुक् । ४ । १ । १७५ । कम्बोज चोल कैरल शक यवन ॥ इति कम्बोजादिः । सू० ११९४ ।

न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः । ४ । १ । १७८ । १ भर्ग करूश केकय कश्मीर साल्व सुस्थाल उरस कौरव्य । इति भर्गादिः । २ यौधेय शौक्रेय शौभ्रेय ज्वावाणेय धौर्तेय धार्तेय त्रिगर्त भरत उशीनर । इति यौधेयादिः । सू० ११९७ ।

भिक्षादिभ्योऽण् । ४ । २ । ३८ । भिक्षा गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गारचर्मिन् धर्मिन् सहस्र युवति पदाति पद्धति अथर्वन् दक्षिणा भूत विषय श्रोत्र । इति भिक्षादिः । सू० १२४४ ।

खण्डिकादिभ्यश्च । ४ । २ । ४५ । खण्डिका वडवा । क्षुद्रकमालवात् सेना सञ्ज्ञायाम् । भिक्षुक शुक उलूक श्वन् अहन् युगवरत्रा हलबन्धा । इति खण्डिकादिः । सू० १२५४ ।

पाशादिभ्यो यः । ४ । २ । ४९ । पाश तृण धूम वात अङ्गार पाटल पोत गल पिटक पिटाक शकट हल नट वन । इति पाशादिः । सू० १२५८ ।

*** खलादिभ्य इनिर्वक्तव्य * ४ । २ । ५१ ।** खल डाक कुटुम्ब शाक कुण्डलिनी । इति खलादिराकृतिगणः । सू० १२६० ।

राजन्यादिभ्यो वुञ् । ४ । २ । ५३ । राजन्य आनृत वाभ्रव्य शालङ्कायन दैवयातव (देवयात) (अव्रीड वरत्रा) जालंधरायण (राजायन) तेलु आत्मकामेय अम्बरीषपुत्र वसाति वैल्ववन शैलूष उदुम्बर तीव्र बैल्वल आर्जुनायन संप्रिय दाक्षि ऊर्णनाभ । इति राजन्यादिः । आकृतिगणः । सू० १२६२ ।

भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ । ४ । २ । ५४ ।

१ भौरिकी भौलिकी चौपयत चौटयत (चैटयत) काणेय वाणिजक वाणिकाज्य (वालिकाज्य) सैकयत वैकयत । इति भौरिक्यादिः ।

२ ऐषुकारि सारस्यायन (सारसायन) चान्द्रायण द्व्याक्षायण त्र्याक्षायण औडायन नौलायन खाडायन दासमित्रि दासमित्रायण शौद्रायण दाक्षायण शापण्डायन (शायण्डायन) तार्क्ष्यायण शौभ्रायण सौवीर (सौवीरायण) शपण्ड (शयण्ड) शौण्ड शयाण्डि (शयाण्ड) वैश्वमानव वैश्वध्येनव (वैश्वधेनव) नड तुण्डदेव विश्वदेव (सापिण्डि) इति ऐषुकार्यादिः । सू० १२६३ ।

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् । ४ । २ । ६० । उक्थ लोकायत न्याय न्यास पुनरुक्त निरुक्त निमित्त द्विपदा ज्योतिष अनुपद अनुकल्प यज्ञ धर्म चर्चा क्रमेतर श्लक्ष (श्लक्ष्ण) संहिता पदक्रम संघट (संघट्ट) वृत्ति परिषद् संग्रह गण (गुण) आयुर्देव (आयुर्वेद) । इत्युक्थादिः । सू० १२७० ।

क्रमादिभ्यो वुन् ।४।२।६१ । क्रम पद शिक्षा मीमांसा सामन् । इति क्रमादिः । सू० १२७१ ।

वसन्तादिभ्यष्ठक् । ४ । २ । ६३ । वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् शरत् हेमन्त शिशिर प्रथम गुण चरम अनुगुण अथर्वन् अथर्वण । इति वसन्तादिः । सू० १२७३ ।

संकलादिभ्यश्च । २ । ४ । ७५ । संकल पुष्कल उत्तम उडुप उद्वेप उत्पुट कुम्भ निधान सुदक्ष सुदत्त सुभूत सुपूत सुनेत्र सुमङ्गल सुपिङ्गल सूत सिकत पूतिका (पूतिक) पूलास कूलास पलाश निवेश (गवेष) गम्भीर इतर आन् अहन् लोमन् वेमन् चरण (वरुण) बहुल सद्योज अभिषिक्त गोभृत् राजभृत् भल्ल मल्ल माल । इति संकलादिः । सू० १२८७ ।

सुवास्त्वादिभ्योऽण् । ४ । २ । ७७ । सुवास्तु (सुवस्तु) वर्णु भण्डु खण्डु सेवालिन् कर्पूरिन् शिखण्डिन् गर्त कर्कश शकटी कर्ण कृष्णकर्ण (कर्क) कर्कन्धुमती गोह अहिसक्थ । इति सुवास्त्वादिः । सू० १२८९ ।

वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्ययफक्फिञिञ्ञ्यककठकोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकोशतृणप्रेक्षाश्मसखिसंकाशबलपक्षकर्णसुतंगमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः । ४ । २ । ८० ।

१ अरीहण (अहीरण) द्रुघण द्रुहण भलग (भगल) उलन्द किरण साम्परायण क्रोष्ट्रायण औष्ट्रायण त्रैगर्तायन मैत्रायण भास्त्रायण वैमतायण (वैमतायन) गौमतायन सौमतायन सौसायन धौमतायन सौमायन ऐन्द्रायण कौद्रायण (कौन्द्रायण) खाडायन शाण्डिल्यायन रायस्पोष विपथ विपाश उद्दण्ड उदञ्चन खाण्डवीरण वीरण काशकृत्स्न जाम्बवत शिंशपा रैवत (रेवत) बिल्व सुयश शिरीष बधिर जम्बु खदिर सुशर्मन् (सशर्मन्) दलतृ भलन्दन खण्डु कलन यज्ञदत्त । इत्यरीहणादिः ।

२ कृशाश्व अरिष्ट अरिश्म वेमन् विशाल लोमश रोमश रोमक लोमक शबल कूट वर्चल सुवर्चल सुकर सकर प्रातर (प्रतर) सदृश पुरग ;पुराग मुख धूम अजिन विनत अवनत (कुविद्यास) (कुविध्यास) पराशर अरुस् अयस् मौद्गल्याकर (मौद्गल्युकर) । इति कृशाश्वादिः ।

३ ऋश्य (हृश्य) न्यग्रोध शर निलीन (निवास निवात) निधान [निबन्धन (निबन्ध) (विबद्ध) परिगूढ (उपगूढ) असनि सित मत वेश्मन् उत्तराश्मन् अश्मन् स्थूल बाहु खदिर शर्करा अनडुह (अनडुह्) अरडु परिदंश वेणु वीरण खण्ड दण्ड परिवृत्त कर्दम अंशु । इत्यृश्यादिः ।

४ कुमुद शर्करा न्यग्रोध इक्कट संकट कंकट गर्त बीज परिवाप निर्यास शकट कच मधु शिरीप अश्व अश्वत्थ बल्वज यवास कूप विकङ्कट दृशग्राम। इति कुमुदादिः।

५ काश पाश अश्वत्थ पलाश पीयूक्षा चरण वास नड वन कर्दम कच्छूल कङ्कट गुह विस तृण कर्पूर वर्वर मधुर ग्रह कपित्थ जतु सीपाल। इति काशादिः।

६ तृण नड मूल वन पर्ण वर्ण वराण विल पुल फल अर्जुन अर्ण सुवर्ण वल चरण वुस। इति तृणादिः।

७ प्रेक्षा फलका (हलका) बन्धुका ध्रुवका क्षिपका न्यग्रोध इक्कट कंकट संकट कट कूप बुक पुक पुट मह परिवाप यवाष ध्रुवका गर्त कूपक हिरण्य। इति प्रेक्षादिः।

८ अश्मन् यूथ ऊष मीन नद दर्भ वृन्द गुद खण्ड नग शिखा कीट पाम कन्द कान्द कुल गह्व गुड गुण कुण्डल पीन गुह। इत्यश्मादिः।

९ सखि अग्निदत्त वायुदत्त सखिदत्त (गोपिल) भल्लपाल (भल्ल पाल) चक्र चक्रवाल छगल अशोक करवीर वासव वीर पूर वज्र कुशीरक शीहर (सीहर) सरक सरस समर समल सुरस रोह तमाल कदल सप्तल। इति सख्यादिः।

१० सङ्काश कपिल कश्मीर (समीर) शूरसेन सरक सुर (सुपथिन्पन्थ च) यूप (यूथ) अंश अङ्ग नासा पलित अनुनाश अश्मन् कूट मलिन दश कुम्भ शीर्ष चिरन्त (विरत) समल सीर पञ्जर मन्थ नल रोमन् लोकन् पुलिन सुपरि कटिप सकर्णक वृष्टि तीर्थ अगस्ति विकर नासिका। इति सङ्काशादिः।

११ वल चुल नल दल वट लकुल उरल पुख (पुल) मूल उलडुल (उल डुल) वनकुल। इति बलादिः।

१२ पक्ष तुक्ष तुष कुण्ड अण्ड कम्बलिका वलिक चित्र अस्ति। पथः पन्थ च। कुम्भ सीरक सरक सकल सरस समल अतिश्वन् रोमन् लोमन् हस्तिन् मकर लोमक शीर्ष निर्वात पाक सहक (सिंहक) अङ्कुश सुवर्णक हंसक हिंसक कुत्स बिल खिल यमल हस्त कला सकर्णक। इति पक्षादिः।

१३ कर्ण वसिष्ठ अर्क अर्कलूष द्रुपद आनडुह्य पाञ्चजन्य स्फिग् (स्फिज्) कुम्भ कुन्ती जित्वन् जीवन्त कुलिश आण्डीवत् (आण्डीवत) जव जैत्र आकथ (आनक)। इति कर्णादिः।

१४ सुतंगम मुनिचित विप्रचित्त महाचित्त महापुत्र स्वन श्वेत गडिक (खडिक) शुक्रविप्र बीजवापिन् (बीज वापिन्) अर्जुन श्वन् अजिर जीव खण्डित कर्ण विग्रह। इति सुतङ्गमादिः।

१५ प्रगदिन् मगदिन् मददिन् कविल खण्डित गदित चूडार मडार मन्दार कोविदार। इति प्रगद्यादिः।

१६ वराह पलाशा (पलाश) शेरीष (शिरीष) पिनद्ध निबद्ध बलाह स्थूल विदग्ध (विजग्ध) विभग्न (निमग्न) बाहु खदिर शर्करा। इति वराहादिः।

१७ कुमुद गोमथ रथकार दशग्राम अश्वत्थ शाल्मलि (शिरीष) मुनिस्थल कुण्डल मधुकर्ण घासकुन्द शुचिकर्ण। इति कुमुदादिः। सू० १२९२।

वरणादिभ्यश्च। ४। २। ८२। वरणा शृङ्गी शाल्मलि शुण्डी शयाण्डी पर्णी ताम्रपर्णी गोद आलिङ्ग्यायन जालपदी (जानपदी) जम्बू पुष्कर चम्पा पम्पा वल्गु उज्जयिनी मथुरा तक्षशिला उरसा गोमती वलभी। इति वरणादिः। सू० १३०१।

मध्वादिभ्यश्च। ४। २। ८६। मधु बिस स्थाणु वेणु कर्कन्धु शमी करीर हिम किशरा शर्याण मरुत् वार्दाली शर इष्टका आसुति शक्ति आसन्दी शकल शलाका आमिषी इक्षु रोमन् रुष्टि रुष्य तक्षशिला खड वट वेट। इति मध्वादिः। सू० १३०५।

उत्करादिभ्यश्छः। ४। २। ९०। उत्कर संफल शफर पिप्पल पिप्पलीमूल अश्मन् सुवर्ण खलाजिन तिक कितव अणक त्रैवण पिचुक अश्वत्थ काश क्षुद्र भस्त्रा शाल जन्या अजिर चर्मन् उत्क्रोश क्षान्त खदिर शूर्पणाय श्यावनाय नैनाकव तृण वृक्ष शाक पलाश विजिगीषा अनेक आतप फल संपर अर्क गर्त अग्नि वैराणक इडा अरण्य निशान्त पर्ण नीचायक शङ्कर अवरोहित

क्षार विशाल वेत्र अरीहण खण्ड वातागार मन्त्रणार्ह इन्द्रवृक्ष निनान्तवृक्ष आर्द्रवृक्ष। इत्युत्करादिः। सू० १३०९।

नडादीनां कुक्च।४।२।९१। नड प्लक्ष बिल्व वेणु वेत्र वेतस इक्षु काष्ठ कपोत तृण। क्रुञ्चा ह्रस्वत्वं च। तक्षन्नलोपश्च। इति नडादिः। सू० १३१०।

कत्र्यादिभ्यो ढकञ्।४।२।९६। कत्त्रि उम्भि पुष्कर पुष्कल मोदन कुम्भी कुण्डिन नगरी माहिष्मती वर्मती उख्या ग्राम। कुड्याया यलोपश्च। इति कत्र्यादिः। सू० १३१५।

नद्यादिभ्यो ढक्।४।२।९७। नदी मही वाराणसी श्रावस्ती कौशाम्बी वनकौशाम्बी काशपरी काशफारी (काशफरी) खादिरी पूर्वनगरी पाठा माया शाल्वा दार्वा सेतकी। वडवाया वृषे। इति नद्यादिः। सू० १३१७।

प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण्।४।२।११०। पलदी परिषद् रोमक वाहीक कलकीट बहुकीट जालकीट कमलकीट कमलकीकर कमलभिदा गौष्ठी नैकती परिखा शूरसेन गोमती पटच्चर उदपान यकृल्लोम। इति पलद्यादिः। सू० १३३१।

काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ।४।२।११६। काशि चेदि (वेदि) सांयाति संवाह अच्युत मोदमान शकुलाद हस्तिकर्षू कुनामन् हिरण्य करण गोवासन भारङ्गी अरिंदम अरित्र देवदत्त दशग्राम शौवावतान युवराज उपराज देवराज मोदन सिन्धुमित्र दासमित्र सुधामित्र छागमित्र साधमित्र (सधमित्र)। आपदादिपूर्वपदात्कालान्तात्। आपद् ऊर्ध्व तत्। इति काश्यादिः। सू० १३४०।

धूमादिभ्यश्च।४।२।१२७। धूम षडण्ड शशादन आर्जुनाव माहकस्थली आनकस्थली माहिषस्थली मानस्थली अट्टस्थली मद्रकस्थली दाण्डायनस्थली राजस्थली विदेह राजगृह सात्रासाह शष्प मित्रवर्ध्र (मित्रवर्ध) मज्जाली मद्रकूल आजीकूल द्व्यहव (द्व्याहव) त्र्यहव (त्र्याहव) संस्फाय बर्बर वर्ज्य गर्त आनत माठर वाथेय घोष पल्ली आराज्ञी धार्तराज्ञी आवय तीर्थ। कूलात्सौवीरेषु। समुद्रान्नावि मनुष्ये च। कुक्षि अन्तरीप द्वीप उज्जयनी पट्टार दक्षिणापथ साकेत। इति धूमादिः। सू० १३५१।

कच्छादिभ्यश्च।४।२।१३३। कच्छ सिन्धु वर्ण वर्णु गन्धार मधुमत् कम्बोज काश्मीर साल्व कुरु अनुषण्ड द्वीप अनूप अजवाह विजापक कलूतर रङ्कु। इति कच्छादिः। सू० १३५७।

गहादिभ्यश्च।४।२।१३८। गह अन्तस्थ सम विषम मध्य। मध्यंदिन चरणे। उत्तम अङ्ग वङ्ग मगध पूर्वपक्ष अपरपक्ष अधमशाख उत्तमशाख एकशाख समानशाख समानग्राम एकग्राम एकवृक्ष एकपलाश इष्वग्र इष्वनीक अवस्यन्दन कामप्रस्थ खाडायन काठेरणि लावेरणि सौमित्रि शौशिरि आसुत दैवशर्मि श्रौति आहिंसि आमित्रि व्याडि वैजि आध्यश्वि आनुशंसि शौङ्गि आग्निशर्मि मौजि वाराटकी वाल्मिकि (वाल्मीकि) क्षैमवृद्धि आश्वत्थि औद्गाहमानि ऐकविन्दवि दन्ताग्र हंस तत्त्वग्र (तन्त्वग्र) उत्तर अन्तर (अनन्तर) मुखपार्श्वतसोर्लोपः जनपरयोः कुक्च। देवस्य च। इति गहादिः। आकृतिगणः। सू० १३६२।

सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्।४।३।१६। सन्धिवेला संध्या अमावस्या त्रयोदशी चतुर्दशी पञ्चदशी पौर्णमासी प्रतिपत्। संवत्सरात्फलपर्वणोः। इति सन्धिवेलादिः। सू० १३८७।

दिगादिभ्यो यत्।४।३।५४। दिश् वर्ग पूग गण पक्ष धाय्य मित्र मेधा अन्तर पथिन् रहस् अलीक उखा साक्षिन् देश आदि अन्त मुख जघन मेघ यूथ। उदकात्संज्ञायाम्। ञ्याय (न्याय) वंश वेल काल आकाश। इति दिगादिः। सू० १४२९।

*** परिमुखादिभ्यश्च * ४।३।५८।** परिमुख परिहनु पर्योष्ठ पर्युलूखल परिसीर उपसीर उपस्थूण उपकलाप अनुपथ अनुपद अनुगङ्ग अनुतिल अनुसीत अनुसाय अनुसीर अनुमाष अनुयव अनुयूप अनुवंश प्रतिशाख। इति परिमुखादिः। सू० १४३६।

*** अध्यात्मादिभ्यश्च * ४।३।६०।** अध्यात्म अधिदेव अधिभूत इहलोक परलोक। इत्यध्यात्मादिः। आकृतिगणः। सू० १४३७।

अणृगयनादिभ्यः।४।३।७३। ऋगयन पदव्याख्यान छन्दोमान छन्दोभाषा छन्दोविचिति

न्याय पुनरुक्त निरुक्त व्याकरण निगम वास्तुविद्या क्षत्रविद्या अङ्गविद्या विद्या उत्पात उत्पाद उद्याव संवत्सर मुहूर्त उपनिषद् निमित्त शिक्षा भिक्षा। इति ऋगयनादिः। सू० १४५२।

शुण्डिकादिभ्योऽण्।४।३।७६। शुण्डिक कृकण कृपण स्थण्डिल उदपान उपल तीर्थ भूमि तृण पर्ण। इति शुण्डिकादिः। सू० १४५५।

शण्डिकादिभ्यो ञ्यः।४।३।९२। शण्डिक सर्वसेन सर्वकेश शक शट रक शङ्ख बोध। इति शण्डिकादिः। सू० १४७२।

सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ।४।३।९३।

१ सिन्धु वर्णु मधुमत् कम्बोज साल्व कश्मीर गन्धार किष्किन्धा उरसा दरद (दरद्) गन्दिका। इति सिन्ध्वादिः। सू० १४७३।

२ तक्षशिला वत्सोद्धरण कैमेंदुर ग्रामणी छगल क्रोष्टुकर्ण सिंहकर्ण संकुचित किन्नर काण्डधार पर्वत अवसान बर्बर कंस। इति तक्षशिलादिः। सू० १४७३।

शौनकादिभ्यश्छन्दसि।४।३।१०६। शौनक वाजसनेय शार्ङ्गरव शापेय शाष्पेय खाडायन स्तम्भ स्कन्ध देवदर्शन रज्जुभार रज्जुकण्ठ कठशाठ कषाय तल तण्ड पुरुषांसक अश्वपेज। इति शौनकादिः। सू० १४८६।

कुलालादिभ्यो वुञ्।४।३।११८। कुलाल वरुड चाण्डाल निषाद कर्मार सेना सिरिन्ध्र (सिरिध्र) सैन्ध्रि देवराज पर्षत् (परिषत्) वधू मधु रुरु रुद्र अनडुह् ब्रह्मन् कुम्भकार श्वपाक वैजवापि। इति कुलालादिः। सू० १४९८।

रैवतिकादिभ्यश्छः।४।३।१३१। रैवतिक स्वापिशि क्षैमवृद्धि (गौरग्रीवि) औदमेघि औदवापि वैजवापि। इति रैवतिकादिः। सू० १५११।

बिल्वादिभ्योऽण्।४।३।१३६। बिल्व व्रीहि काण्ड मुद्ग मसूर गोधूम इक्षु वेणु गवेधुका कर्पासी पाटली कर्कन्धु कुटीर। इति बिल्वादिः। सू० १५१६।

पलाशादिभ्यो वा।४।३।१४१। पलाश खदिर शिंशपा स्पन्दन पूलाक करीर शिरीष यवास विकङ्कत। इति पलाशादिः। सू० १५२१।

नित्यं वृद्धशरादिभ्यः।४।३।१४४॥ शर दर्भ मृद् (मृत) कुटी तृण सोम बल्वज। इति शरादिः। सू० १५२४।

तालादिभ्योऽण्।४।३।१५२॥ तालाद्धनुषि। बार्हिण इन्द्रालिश इन्द्रादृश इन्द्रायुध चय श्यामाक पीयूक्षा। इति तालादिः। सू० १५३०।

प्राणिरजतादिभ्योऽञ्।४।३।१५४॥ रजत सीस लोह उदुम्बर नीप दारु रोहीतक विभीतक पीतदारु तीव्रदारु त्रिकण्टक कण्टकार। इति रजतादिः। सू० १५३२।

प्लक्षादिभ्योऽण्।४।३।१६४॥ प्लक्ष न्यग्रोध अश्वत्थ इङ्गुदी शिग्रु रुरु कक्षतु बृहती। प्लक्षादिः। सू० १५४२।

हरीतक्यादिभ्यश्च।४।३।१६७॥ हरीतकी कोशातकी नखरजनी शष्कण्डी दाडी दोडी श्वेतपाकी अर्जुनपाकी द्राक्षा काला ध्वाक्षा गर्मीका कण्टकारिका पिप्पली चिम्पा (चिञ्चा) शेफालिका। इति हरीतक्यादिः। सू० १५४६।

*** माशब्दादिभ्य उपसंख्यानाम् *।४।४।१॥** माशब्दः। नित्यशब्दः। कार्यशब्दः। इति माशब्दादिः। सू० १५४८।

*** आहौ प्रभूतादिभ्यः *।४।४।१॥** प्रभूत पर्याप्त। इति प्रभूतादि। सू० १५४९।

पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः।४।४।१॥ सुस्नात सुखरात्रि सुखशयन। इति सुस्नातादिः। सू० १५४९।

गच्छतौ परदारादिभ्यः।४।४।१॥ परदार गुरुतल्प। इति परदारादिः। सू० १५४९।

पर्पादिभ्यः ष्ठन्।४।४।१०॥ पर्प अश्व अश्वत्थ रथ जाल न्यास व्याल। पादः पच्च॥ इति पर्पादिः। सू० १५५८।

वेतनादिभ्यो जीवति।४।४।१२॥ वेतन वाहन अर्धवाहन धनुर्दण्ड जाल वेश उपवेश

प्रेषण उपवस्ति सुख शय्या शक्ति उपनिषद् उपदेश स्फिज् (स्फिज) पाद उपस्थ उपस्थान उपहस्त । इति वेतनादिः । सू० १५६२ ।

हरत्युत्सङ्गादिभ्यः । ४ । ४ । १५ । उत्सङ्ग उडुप उत्पुत उत्पन्न उत्पुट पिटक पिटाक । इत्युत्सङ्गादिः । सू० १५६५ ।

भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् । ४ । ४ । १६ । भस्त्रा भरट मरण शीर्षभार शीर्षेभार असंभार अंसेभार । इति भस्त्रादि । सू० १५६६ ।

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः । ४ । ४ । १९ । अक्षद्यूत (जानुप्रहृत) जङ्घाप्रहृत जङ्घाप्रहत पादस्वेदन कण्टकमर्दन गतानुगत गतागत यातोपयात अनुगत । इत्यक्षद्यूतादिः । सू० १५६९ ।

अण्महिष्यादिभ्यः । ४ । ४ । ४८ । महिषी प्रजापति प्रजावती प्रलेपिका विलेपिका अनुलेपिका पुरोहित मणिपाली अनुवारक (अनुचारक) होतृ यजमान । इति महिष्यादिः । सू० १५९८ ।

किसरादिभ्यः ष्ठन् । ४ । ४ । ५३ । किसर नरद नलद स्थागल तगर गुग्गुलु उशीर हरिद्रा हरिद्रु पर्णी (पर्णी) । इति किसरादिः । सू० १६०३ ।

- **छत्रादिभ्यो णः । ४ । ४ । ६२ ।** छत्र शिक्षा प्ररोहस्था बुभुक्षा चुरा तितिक्षा उपस्थान कृषि कर्मन् विश्वधा तपस् सत्य अनृत विशिखा विशिका भक्षा उदस्थान पुरोडा विक्षा चुक्षा मन्द्र । इति छत्रादिः । सू० १६१२ ।

प्रतिजनादिभ्यः खञ् । ४ । ४ ९९ । प्रतिजन इदंयुग संयुग समयुग परयुग परकुल परस्यकुल अमुष्यकुल सर्वजन विश्वजन महाजन पञ्चजन । इति प्रतिजनादिः । सू० १६५१ ।

कथादिभ्यष्ठक् । ४ । ४ । १०२ । कथा विकथा विश्वकथा संकथा वितण्डा कुष्ठविद् (कुष्टविद्) जनवाद जनेवाद वृत्तिसंग्रह गुणगण आयुर्वेद । इति कथादिः । सू० १६५४ ।

गुडादिभ्यष्ठञ् । ४ । ४ । १०३ । गुड कुल्माष सक्तु अपूप मांसौदन इक्षु वेणु संग्राम संघात संक्राम संवाह प्रवास निवास उववास । इति गुडादिः । सू० १६५५ ।

उगवादिभ्यो यत् । ५ । १ । २ । गो हविस् अक्षर विष बर्हिस् अष्टका स्खदा युग मेधा स्रुच् । नाभि नभं च । शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घत्वं तत्संनियोगेन चान्तोदात्तत्वम् । ऊधसोऽनङ् च । कूप खद दर त्यर असुर अध्वन् (अध्वन) क्षर वेद बीज दास (दीप्त) । इति गवादिः सू० १६६२ ।

विभाषा हविरपूपादिभ्यः । ५ । १ । ४ । अपूप तण्डुल अभ्युष (अभ्यूप) अभ्योष अवोष अभ्येष पृथुक ओदन सूप पूप किण्व प्रदीप मुसल कटक कर्णवेष्टक ईर्गल अर्गल । अन्नविकारेभ्यश्च । यूप स्थूणा दीप अश्व पत्र । इत्यपूपादिः । सू० १६६४ ।

असमासे निष्कादिभ्यः । ५ । १ । २७ । निष्क पण पाद माप वाह द्रोण षष्टि । इति निष्कादिः । सू० १६८२ ।

गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत् । ५ । १ । ३९ । अश्व अश्मन् ऊर्णा (उर्म) उमा भङ्गा क्षण (गङ्गा) वर्षा वसु । इत्यश्वादिः । सू० १७०५ ।

तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः । ५ । १ । ५० । वंश कुटज वल्वज मूल स्थूणा (स्थूण) अक्ष अश्मन् अश्व श्लक्ष्ण इक्षु खट्वा । इति वंशादिः । सू० १७१६ ।

छेदादिभ्यो नित्यम् । ५ । १ । ६४ । छेद भेद द्रोह दोह नर्ति (नर्त) कर्ष तीर्थ सम्प्रयोग विप्रयोग प्रयोग विप्रकर्ष प्रेषण सम्प्रश्न विकर्ष प्रकर्ष । विराग विरङ्गञ्च । इति छेदादिः । सू० १७२९ ।

दण्डादिभ्यो यः । ५ । १ । ६६ । दण्ड मुसल मधुपर्क कशा अर्घ मेघ मेधा सुवर्ण उदक वध युग गुहा भाग इभ भङ्ग । इति दण्डादिः । सू० १७३१ ।

*** महानाम्न्यादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः उपसंख्यानम् * । ५ । १ । ९४ ।** महानाम्नी आदित्यव्रत गोदान । इति महानाम्न्यादिः । सू० १७५८ ।

*** अवान्तरदीक्षादिभ्यो विनिर्वक्तव्यः * । ५ । १ । ९४ ।** अवान्तरदीक्षा तिलव्रत देवव्रत । इत्यवान्तरदीक्षादिः । सू० १७६१ ।

व्युष्टादिभ्योऽण् । ५ । १ । ९७ । व्युष्ट नित्य निष्क्रमण प्रवेशन उपसंक्रमण तीर्थ आस्तरण सङ्ग्राम सङ्घात । इति व्युष्टादिः । सू० १७६१ ।

अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम् । ५ । १ । ९७ । अग्निपद पीलुमूल (पीलु मूल) प्रवास उपवास आकृतिगणः । इति अग्निपदादिः । सू० १७६१ ।

तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः । ५ । १ । १०१ । सन्ताप संनाह सङ्ग्राम संयोग सम्पराय संवेशन सम्पेष निष्पेष सर्ग विसर्ग विसर्ग उपसर्ग प्रवास उपवास सङ्घात संवेष संवास संमोदन सक्तु । मांसौदनाद्दिगृहीतदपि । इति सन्तापादिः । सू० १७६५ ।

तद्प्रकरणे उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम् । ५ । १ । १०५ । उपवस्तृ प्राशितृ चूडा श्रद्धा । इत्युपवस्त्रादिः । सू० १७६९ ।

अनुप्रवचनादिभ्यश्छः । ५ । १ । १११ । अनुप्रवचन उत्थापन उपस्थापन संवेशन प्रवेशन अनुप्रवेशन अनुवासन अनुवचन अनुवाचन अन्वारोहण प्रारम्भण आरम्भण आरोहण । इत्यनुप्रवचनादिः । सू० १७७४ ।

स्वर्गादिभ्यो यद्वक्तव्यः । ५ । १ । १११ । स्वर्ग यशस् आयुस् काम धन । इति स्वर्गादिः । सू० १७७४ ।

पुण्याहवाचनादिभ्यो लुग्वक्तव्यः । ५ । १ । १११ । पुण्याहवाचन स्वस्तिवाचन शान्तिवाचन । इति पुण्याहवाचनादिः । सू० १७७४ ।

पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा । ५ । १ । १२२ । पृथु मृदु महत् पटु तनु लघु बहु साधु आशु उरु गुरु बहुल खण्ड दण्ड चण्ड अकिंचन बाल होड पाक वत्स मन्द स्वादु ह्रस्व दीर्घ प्रिय वृष ऋजु क्षिप्र क्षुद्र अणु । इति पृथ्वादिः । सू० १७८४ ।

वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च । ५ । १ । १२३ । दृढ वृढ परिवृढ भृश कृश वक्र शुक्र आम्र चुक्र कृष्ट लवण ताम्र शीत उष्ण जड बधिर पण्डित मधुर मूर्ख मूक स्थिर । वेर्यातलातमतिर्मनः शारदानाम् समो मतिमनसोः । जवन । इति दृढादिः । सू० १७८७ ।

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । ५ । १ । १२४ । ब्राह्मण वाडव माणव । अर्हतो नुम्च । चोर धूर्त आराधय विराधय अपराधय उपराधय एकभाव द्विभाव त्रिभाव अन्यभाव अक्षेत्रज्ञ संवादिन् संवेशिन् संभाषिन् बहुभाषिन् शीर्षघातिन् विघातिन् समस्थ विषमस्थ परमस्थ मध्यमस्थ अनीश्वर कुशल चपल निपुण पिशुन कुतूहल क्षेत्रज्ञ निश्न बालिश अलस कापुरुष राजन् गणपति अधिपति गडुल दायाद विशस्ति विषम विपात निपात । सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे । चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च । शौटीर । अकृतिगणोऽयम् । इति ब्राह्मणादिः । सू० १७८८ ।

* **चतुर्वेदादिभ्य उभयपदवृद्धिश्च** * । ५ । १ । १२४ ॥ चतुर्वेद चतुर्वर्ण चतुराश्रम सर्वविद्य त्रिलोक त्रिस्वर षड्गुण सेना अनन्तर सन्निधि समीप उपमा सुख तदर्थ इतिह मणिक । इति चतुर्वेदादिः । सू० १७८९ ।

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । ५ । १ । १२८ ॥ पुरोहित । राजासे । ग्रामिक पिण्डिक सुहित बालमन्द (बाल मन्द) खण्डिक दण्डिक वर्मिक कर्मिक धर्मिक शीलिक सूतिक मूलिक तिलक अञ्जलिक (अन्तलिक) रूपिक ऋषिक पुत्रिक अविक छत्रिक वर्षिक पथिक चर्मिक प्रतिक सारथि आस्तिक सूचिक संरक्ष सूचक (संरक्षसूचक) नास्तिक अजानिक शाक्वर नागर चूडिक । इति पुरोहितादिः । सू० १७९३ ।

प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् । ५ । १ । १२९ ॥ उद्गातृन्नेतृ प्रतिहर्तृ प्रशास्तृ होतृ पोतृ हर्तृ रथगणक पत्तिगणक सुष्ठु दुष्ठु अध्वर्यु वधू सुभग मन्त्र । इत्युद्गात्रादिः । सू० १७९४ ।

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् । ५ । १ । १३० ॥ युवन् स्थविर होतृ यजमान । पुरुषासे । भ्रातृ कुतुक श्रमण (श्रवण) कटुक कमण्डलु कुस्त्री सुस्त्री दुःस्त्री सुहृदय दुर्हृदय सुहृद् दुर्हृद् सुभ्रातृ दुर्भ्रातृ वृषल परिव्राजक सब्रह्मचारिन् अनृशंस । हृदयासे । कुशल चपल निपुण पिशुन कुतूहल क्षेत्रज्ञ । श्रोत्रियस्य यलोपश्च । इति युवादिः । सू० १७९५ ।

द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च । ५ । १ । १३३ ॥ मनोज्ञ प्रियरूप अभिरूप कल्याण मेधाविन् आढ्य-कुलपुत्र छान्दस छात्र श्रोत्रिय चोर धूर्त विश्वदेव युवन् कुपुत्र ग्रामपुत्र ग्रामकुलाल ग्रामड (ग्राम-षण्ड) ग्रामकुमार सुकुमार बहुल अवश्यपुत्र अमुष्यपुत्र अमुष्यकुल सारपुत्र शतपुत्र । इति मनोज्ञादिः । सू० १७९८ ।

तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ । ५ । २ । २४ ॥

१ पीलु कर्कन्धू (कर्कन्धु) शमी करीर वल (कुवल) बदर अश्वत्थ खदिर । इति पील्वादिः । सू० १८२५ ।

२ कर्ण अक्षि नख मुख केश पाद गुल्फ भ्रू शृङ्ग दन्त ओष्ठ पृष्ठ । इति कर्णादिः । सू० १८२५ ।

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् । ४ । २ । ३६ ॥ तारका पुष्प कर्णक मञ्जरी ऋजीष क्षण सूत्र मूत्र निष्क्रमण पुरीष उच्चार प्रचार विचार कुड्मल कण्टक मुसल मुकुल कुसुम कुतूहल स्तवक (स्तवक) किसलय पल्लव खण्ड वेग निद्रा मुद्रा बुभुक्षा धेनुष्या पिपासा श्रद्धा अभ्र पुलक अङ्गारक वर्णक द्रोह दोह सुख दुःख उत्कण्ठा भर व्याधि वर्मन् व्रण गौरव शास्त्र तरङ्ग तिलक चन्द्रक अन्धकार गर्व कुमुर (मुकुर) हर्ष उत्कर्ष रण कुवलय गर्ध क्षुध् सीमन्त ज्वर गर रोग रोमाञ्च पण्डा कज्जल तृष् कोरक कल्लोल स्थपुट फल कन्चुक शृङ्गार अङ्कुर शैवल वकुल श्वभ्र अराल कलङ्क कर्दम कन्दल मूर्च्छा अङ्गार हस्तक प्रतिविम्व विघ्नतन्त्र प्रत्यय दीक्षा गर्ज । गर्भादप्राणिनि ॥ इति तारकादिः । आकृतिगणः । सू० १८३७ ।

विमुक्तादिभ्योऽण् । ५ । २ । ६१ ॥ विमुक्त देवासुर रक्षोसुर उपसद् सुवर्ण परिसारक सद-सत् वसु मरुत् पत्नीवत् वसुमत् महीयत्त्व सत्त्वत् बर्हवत् दशार्ण दशार्ह वयस् हविर्धान पतत्रिन् महित्री अस्यहत्य सोमापूषन् इडा अग्नाविष्णू उर्वशी वृत्रहन् । इति विमुक्तादिः । सू० १८६१ ।

गोषदादिभ्यो वुन् । ५ । २ । ६२ ॥ गोषद इषत्वा मातरिश्वन् देवस्यत्वा देवीरापः कृष्णो-स्याखरेष्टः देवीधिया (देवीधिय) रक्षोहण युञ्जान अञ्जन प्रभूत प्रतूर्त कृशानु (कृशाकु) । इति गोषदादिः । सू० १८६२ ।

आकर्षादिभ्यः कन् ।५।२।६४ ॥ आकर्ष (आकष) त्सरु पिशाच पिचण्ड अशनि अश्मन् निचय जय चय विजय आचय नय पाद दीप ह्रद ह्लाद ह्राद गद्गद् शकुनि । इत्याकर्षादिः । सू० १८६४ ।

इष्टादिभ्यश्च । ५ । २ । ८८ ॥ इष्ट पूर्त उपासादित निगदित परिगदित परिवादित निकथित निषादित निपठित संकलित परिकलित संरक्षित परिरक्षित अर्चित गणित अवकीर्ण आयुक्त गृहीत आम्नात श्रुत अधीत अवधान आसेवित अवधारित अवकल्पित निराकृत उपाकृत उपकृत अनुयुक्त अनुगणित अनुपठित व्याकुलित । इतीष्टादिः । सू० १८८८ ।

रसादिभ्यश्च । ५ । २ । ९५ ॥ रस रूप वर्ण गन्ध स्पर्श शब्द स्नेह भाव । गुणात् एकाचः । इति रसादिः । सू० १८९५ ।

सिध्मादिभ्यश्च । ५ । २ । ९७ ॥ सिध्म गडु मणि नाभि बीज वीणा कृष्ण निष्पाव पांसु पार्श्व पर्शु हनु सक्तु मास (मांस) । पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घश्च । वातदन्तबलललाटानामूङ् च । जटा-घटाकटाकालाः क्षेपे । पर्ण उदक प्रज्ञा सक्थि कर्ण स्नेह शीत श्याम पिंग पित्त पुष्क पृथु मृदु मन्जु मण्ड पत्र चटु कपि गण्डु ग्रन्थि श्री कुश धारा वर्ष्मन् पक्ष्मन् श्लेष्मन् पेश निष्पाद् कुण्ड । क्षुद्र-जन्तूपतापयोश्च । इति सिध्मादिः । सू० १९०४ ।

लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः । ५ । २ । १०० ॥

१ लोमन् रोमन् बभ्रु हरि गिरि कर्क कपि मुनि तरु । इति लोमादिः ।

२ पामन् वामन् वेमन् हेमन् श्लेष्मन् कद्रु (कद्रू) बलि सामन् ऊष्मन् कृमि । अङ्गात्कल्याणे । शाकीपलालीदद्रूणां ह्रस्वत्वं च । विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः । लक्ष्म्या अच्च । इति पामादिः ।

३ पिच्छा उरस् ध्रुवक ध्रुवक । जटाघटाकलाः क्षेपे । वर्ण उदक पङ्क प्रज्ञा । इति पिच्छादिः । सू० १९०७ ।

*** ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम् * । ५ । २ । १०३ ॥** ज्योत्स्ना तमिस्रा कुण्डल कुतप विसर्प विपादिका । इति ज्योत्स्नादिः । सू० १९१० ।

व्रीह्यादिभ्यश्च । ५ । २ । ११६ ॥ व्रीहि माया शाला शिखा माला मेखला केका अष्टका पताका चर्मन् वर्मन् दंष्ट्रा सञ्ज्ञा वडवा कुमारी नौ वीणा वलाका यवखदनौ कुमारी। शीर्षान्नञः। इति व्रीह्यादिः । सू० १९२३ ।

तुन्दादिभ्य इलच्च । ५ । २ । ११७ ॥ तुन्द उदर पिचण्ड यव व्रीहि । स्वाङ्गाद्विवृद्धौ । इति तुन्दादिः । सू० १९२४ ।

अर्श आदिभ्योऽच् । ५ । २ । १२७ ॥ अर्शस् उरस् तुन्द चतुर पलित जटा घटा घाटा अभ्र अघ कर्दम अम्ल लवण । स्वाङ्गाद्धीनात् । वर्णात् । इत्यर्शआदिः आकृतिगणः । सू० १९३३ ।

सुखादिभ्यश्च । ५ । २ । १३१ ॥ सुख दुःख तृप्त कृच्छ्र अस्र (आश्र) आस्र अलीक कठिण सोढ प्रतीप शील हल । माला क्षेपे । कृपण प्रणाय (प्रणय) दलकक्ष । इति सुखादिः । सू० १९३७ ।

पुष्करादिभ्यो देशे । ५ । २ । १३५ ॥ पुष्कर पद्म उत्पल तमाल कुमुद नड कपित्थ विस मृणाल कर्दम शालूक विगर्ह करीष शिरीष यवास प्रवाह हिरण्य कैर कल्लोल तट तरङ्ग पङ्कज सरोज राजीव नालीक सरोरुह पुटक अरविन्द अम्भोज अब्ज कमल पयस् । इति पुष्करादिः । सू० १९४१ ।

बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् । ५ । २ । १३६ ॥ बल उत्साह उद्भास उद्वास शिखा कुल चूडा सुल कूल आयाम व्यायाम उपयाम आरोह अवरोह परिणाह युद्ध । इति बलादिः । सू० १९४२ ।

*** दृशिग्रहणाद्भवदादियोग एव * । ५ । ३ । १४ ॥** भवान् दीर्घायुः देवानांप्रियः आयुष्मान् । इति भवदादिः । सू० १९६३ ।

देवपथादिभ्यश्च । ५ । ३ । १०० ॥ देवपथ हंसपथ वारिपथ रथपथ स्थलपथ करिपथ अजपथ राजपथ शतपथ शङ्कुपथ सिन्धुपथ सिद्धगति उष्ट्रग्रीव वामरज्जु हस्त इन्द्र दण्ड पुष्प मत्स्य । इति देवपथादिः । आकृतिगणः । सू० २०५५ ।

शाखादिभ्यो यः । ५ । ३ । १०३ ॥ शाखा मुख जघन शृङ्ग मेघ अभ्र चरण स्कन्ध स्कद (स्कन्द) उरस् अग्र शाण । इति शाखादिः । सू० २०५८ ।

शर्करादिभ्योऽण् ॥ ५ । ३ । १०७ ॥ शर्करा कपालिका कपाटिका कपिष्ठिका (कनिष्ठिका) पुण्डरीक शतपत्र गोलोमन् लोमन् गोपुच्छ नराची नकुल सिकता । इति शर्करादिः । सू० २०६२ ।

अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् । ५ । ३ । १०८ ॥ अङ्गुली भरुज बभ्रु वल्गु पण्डर मण्डल शष्कुली हरि कपि मुनि रुह खल उदश्वित् गोणी उरस् कुलिश । इत्यङ्गुल्यादिः । सू० २०६६ ।

दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः । ५ । ३ । ११६ ॥ दामनि औलपि बैजवापि औदकि औदङ्कि अच्युतन्ति (आच्युतन्ति) अच्युतदन्ति (आच्युतदन्ति) शाकुन्तकि आकिदन्ति औडवि काकदन्तकि शात्रुन्तपि सार्वसेनि बिन्दु बैन्दवि तुलभ मौञ्जायनि काकन्दि सावित्रीपुत्र । इति दामन्यादिः । सू० २०६९ ।

पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ । ५ । ३ । ११७ ॥ १ पर्शु असुर रक्षस् बाह्लीक वयस् वसु मरुत् सत्त्वत् दशार्ह पिशाच अशनि कार्षापण । इति पर्श्वादिः ।

२ यौधेय कौशेय शौक्रेय शौभ्रेय धौर्तेय धार्तेय ज्यावाणेय त्रिगर्त भरत उशीनर । इति यौधेयादिः । सू० २०७० ।

स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् । ५ । ४ । ३ ॥ स्थूल अणु माषेषु (माष इषु) । कृष्ण तिलेषु । यव व्रीहिषु । इक्षु तिल । पाद्यकालावदातसुरायाम् । गोमूत्र आच्छादने । सुरा अहौ । जीर्ण शालिषु । पत्रमूल समस्तो व्यस्तश्च । कुमारीपुत्र कुमारीश्वशुर मणि । इति स्थूलादिः । सू० २०७५ ।

यावादिभ्यः कन् । ५ । ४ । २९ ॥ याव मणि अस्थि तालु जानु सान्द्र पीत स्तम्ब । ऋतावुष्णशीते । पशौ लूनविपाते । अणु निपुणे । पुत्र कृत्रिमे । स्नात वेदसमाप्तौ । शून्य रिक्ते । दान कुत्सिते । तनु सूत्रे । ईयसश्च । ज्ञात अज्ञात । कुमारीक्रीडनकानि च (कुमारक्रीडनकानि च) । इति यावादिः । सू० २०९७ ।

विनयादिभ्यष्ठक् । ५ । ४ । ३४ ॥ विनय समय । उपायो ह्रस्वत्वं च । सम्प्रति सङ्गति

कथञ्चित् अकस्मात् समाचार उपचार समाय (समयाचार) व्यवहार संप्रदान समुत्कर्ष समूह विशेष अत्यय । इति विनयादिः । सू० २१०२ ।

प्रज्ञादिभ्यश्च । ५ । ४ । ३८ ॥ प्रज्ञ वणिज् उशिज् उष्णिज् प्रत्यक्ष विद्वस् वेदन् षोडन् विद्या मनस् । श्रोत्र शरीरे । जुहृत् । कृष्ण मृगे । चिकीर्षत् । चोर शत्रु योध चक्षुस् वसु एनस् मरुत् क्रुञ्च सत्वत् दशार्ह वयस् व्याकृत असुर रक्षस् पिशाच अशनि कार्षापण देवता बन्धु । इति प्रज्ञादिः । सू० २१०६ ।

*** आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् * । ५ । ४ । ४४ ॥** आदि मध्य अन्त पृष्ठ पार्श्व । इत्याद्यादिः । आकृतिगणः । सू० २१११ ।

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । ५ । ४ । १०७ ॥ शरद् विपाश् अनस् मनस् उपानह् अनडुह् दिव् हिमवत् हिरुक् विद् सद् दिश् दृश् विश् चतुर् त्यत् तद् यद् कियत् । जराया जरश्च । प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः । पथिन् । इति शरदादिः । सू० ८७७ ।

द्विदण्ड्यादिभ्यश्च । ५ । ४ । १२८ ॥ द्विदण्डि द्विमुसलि उभाञ्जलि उभयाञ्जलि उभादन्ति उभयादन्ति उभाहस्ति उभयाहस्ति उभाकर्णि उभयाकर्णि उभापाणि उभयापाणि उभाबाहु उभयाबाहु एकपदि प्रोष्ठपदि आच्यपदि (आढ्यपदि) सपदि निकुच्यकर्णि संहतपुच्छि अन्तवासि । इति द्विदण्ड्यादिः । सू० ८६७ ।

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । ५ । ४ । १३८ ॥ हस्तिन् कुद्दाल अश्व कशिक कुरुत कटोल कटोलक गण्डोल गण्डोलक अज कपोत जाल गण्ड महिला दासी गणिका कुसूल । इति हस्त्यादिः । सू० ८७७ ।

कुम्भपदीषु च । ५ । ४ । १३९ ॥ कुम्भपदी एकपदी जालपदी शूलपदी मुनिपदी गुणपदी शतपदी सूत्रपदी गोधापदी कलशीपदी विपदी तृणपदी द्विपदी त्रिपदी षट्पदी दासीपदी शितपदी विष्णुपदी सुपदी निष्पदी आर्द्रपदी कुणिपदी कृष्णपदी शुचिपदी द्रोणीपदी (द्रोणपदी) द्रुपदी सूकरपदी शकृत्पदी अष्टापदी स्थूणापदी अपदी सूचीपदी । इति कुम्भपद्यादिः । सू० ८७८ ।

उरःप्रभृतिभ्यः कप् । ५ । ४ । १५१ ॥ उरस् सर्पिस् उपानह् पुमान् अनड्वान् पयः नौः लक्ष्मीः दधि मधु शाली शालिः । अर्थान्नञः । इत्युरःप्रभृतयः । सू० ८७९ ।

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् । ६ । १ । १५७ ॥ पारस्करो देशः । कारस्करो वृक्षः । रथस्या नदी । किष्कुः प्रमाणम् । किष्किन्धा गुहा । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च । प्रात्तुम्पतौ गवि कर्तरि । इति पारस्करादिः । सू० १०७१ ।

*** कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु * ६ । ३ । ४२ ।** कुक्कुटी मृगी काकी अण्ड पद शाव भ्रकुंस भ्रकुटी । इति कुक्कुट्यादिरण्डादिश्च । सू० ९३६ ।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । ६ । ३ । १०९ ॥ पृषोदर पृषोत्थान बलाहक जीमूत श्मशान उलूखल पिशाच बृसी मयूर । इति पृषोदरादिः । आकृतिगणः । सू० १०३४ ।

वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशलुकादीनाम् । ६ । ३ । ११७ ॥

१ कोटर मिश्रक सिध्रक पुरग सारिक (शारिक) इति कोटरादिः । सू० १०३८ ।

२ किंशुलुक शाल्व नड अञ्जन भञ्जन लोहित कुक्कुट । इति किंशुलुकादिः । सू० १०३८ ।

मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् । ६ । ३ । ११९ ॥ अजिर खदिर पुलिन हंसक (हंस) कारण्ड (कारण्डव) चक्रवाक । इत्यजिरादिः । सू० १०४१ ।

शरादीनां च । ६ । ३ । १२० ॥ शर वंश धूम अहि कपि मणि मुनि शुचि हनु । इति शरादिः । सू० १०४२ ।

*** अपील्वादीनामिति वक्तव्यम् * ६ । ३ । १२१ ॥** पीलु दारु रुचि चारु गम् कम् । इति पील्वादिः । सू० १०४३ ।

बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् । ६ । ४ । १५३ ॥ छविधानार्थं ये नडादयस्ते यदा छसन्नियोगे कृतकुगागमास्ते बिल्वकादयः । सू० १३११ ।

द्वारादीनां च।७।३।४॥ द्वार स्वर स्वाध्याय व्यल्कश स्वस्ति स्वर् स्फ्यकृत् स्वादु मृदु श्वस् श्वन् स्व। इति द्वारादिः। सू० १३८६।

स्वागतादीनां च।७।३।७॥ स्वागत स्वध्वर स्वङ्ग व्यङ्ग व्यड व्यवहार स्वपति। इति स्वागतादिः। सू० १५४९।

अनुशतिकादीनां च।७।३।२०॥ अनुशतिक अनुहोड अनुसंवरण (अनुसञ्चरण) अनुसंवत्सर अङ्गारवेणु असिहत्य अस्यहत्य अस्यहेति वध्योग पुष्करसद् अनुहरत् कुरुकत कुरुपञ्चाल उदकशुद्ध इहलोक परलोक सर्वलोक सर्वपुरुष सर्वभूमि प्रयोग परस्त्री। राजपुरुषात्ष्यञि। सूत्रनड। इत्यनुशतिकादिः। आकृतिगणोऽयम्। तेन अभिगम अभिभूत अधिदेव चतुर्विद्या इत्यादि। सू० १४३८।

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः।८।२।९। यव दल्मि ऊर्मि (उर्मि) भूमि कृमि क्रुञ्चा वशा द्राक्षा ध्राक्षा व्रजि ध्वनि निजि सिजि सञ्जि हरित् ककुद् मरुत् गरुत् इक्षु द्रु मधु। इति यवादिः। आकृतिगणः। सू० १८९७।

सुषामादिषु च।८।३।९८॥ सुषामा निःषामा दुःषामा सुषेधः निषेधः निःषेधः सुषंधिः निःसंधिः दुःषंधिः सुष्ठु दुष्ठु। गौरिषक्थः संज्ञायाम्। प्रतिष्णिका जलाषाहम् (जलाषाडम्) नौषेचनम् दुन्दुभिषेवणम् (दुन्दुभिषेचणम्)। एति संज्ञायामगात्। नक्षत्राद्वा। हरिषणः रोहिणीषेणः॥ इति सुषामादिः। आकृतिगणः। सू० १०२२।

*** इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः *** ८।४।६॥ इरिका मिरिका तिमिरा। इति इरिकादिः। आकृतिगणः। सू० १०५१।

*** गिरिनद्यादीनां च *** ८।४।१०॥ गिरिनदी गिरिनख गिरिनद्ध गिरिनितम्ब चक्रनदी चक्रनितम्ब तूर्यमान मापोन आर्गयन। इति गिरिनद्यादिः। आकृतिगणः। सू० १०५६।

क्षुभ्नादिषु च।८।४।३९॥ क्षुभ्न नृनमन नन्दिन् नन्दन नगर। एतान्युत्तरपदानि संज्ञायां प्रयोजयन्ति। हरिनन्दी हरिनन्दनः गिरिनगरम्। नृतिर्यङि प्रयोजयन्ति। नरीनृत्यते। नर्तन गहन नन्दन निवेश निवास अग्नि अनूप। एतान्युत्तरपदानि प्रयोजयन्ति। परिनर्तनं परिगहनं परिनन्दनम् शरनिवेशः शरनिवासः शराग्निः दर्भानूपः। आचार्यादणत्वं च। आकृतिगणोऽयम्। पाठान्तरम्—क्षुभ्ना तृप्नु नृनमन नरनगर नन्दन यङ्नृती गिरिनदी गृहगमन निवेश निवास अग्नि अनूप आचार्यभोगीन चतुर्हायन। इरिकादीनि वनोत्तरपदानि संज्ञायाम्। इरिका तिमिर समीर कुबेर हरि कर्मार। इति क्षुभ्नादिः। सू० ७९२।

इति श्रीपाणिनिमुनिप्रणीतो गणपाठः समाप्तः।

रूपदीपिका

'भूतपूर्व'-शब्दः कथं सिध्यति ? अत्र 'पूर्वं भूतः' इति विग्रहे 'सुप् सुपे'ति समासेन सुपो लुकि, 'सुबन्तं सुबन्तेन समस्यते' इति समासशास्त्रे 'सुबन्तं' प्रथमानिर्दिष्टम्, सुबन्तत्वञ्च द्वयोरप्यविशिष्टम्। ततश्च 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति उपसर्जनत्वस्य द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यन्यतरस्य पूर्वनिपाते विनिगमनाविरहात् पर्यायेण द्वयोरपि पूर्वनिपातः स्यादिति चेत्, न—'भूतपूर्वे चरट्' इति निर्देशात्' भूतशब्दस्यैव पूर्वनिपातो न तु पूर्वशब्दस्येति दिक्।

'अधिहरि' इति प्रयोगं साधय—हरौ इति लौकिकविग्रहवाक्यम्। हरि ङि अधि इत्यलौकिकविग्रहवाक्यम्। तथा च 'अव्ययं विभक्ति०' इत्यादिना विभक्त्यर्थे अव्ययीभावसमासे 'कृत्तद्धित' इति प्रातिपदिकत्वेन 'सुपो धातु०' इति विभक्तेर्लुकि, समासविधायकशास्त्रेऽव्ययमित्यस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वादधीत्यव्ययस्य उपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते सति 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययसंज्ञायाम् अधिहरीति समुदायादुत्पन्नस्य सुपः 'अव्ययादाप्सुपः' इति सूत्रेण लुकि 'अधिहरि' इति सिध्यति।

परोक्षम्—अक्ष्णः परमिति विग्रहे परमित्यस्याक्षिशब्देन सह समासान्तविधानसामर्थ्यादव्ययीभावसमासे, 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' इति गणसूत्रेण समासान्तेन टचि प्रत्यये, सुब्लुकि, 'परोक्षे लिट्' इति निपातनात् परशब्दस्य ओकारादेशे पररूपे च कृते सति विभक्तिसम्बधिनः सुपः अम्भावे परोक्षमिति निष्पन्नम्। अत्र 'परोक्षा क्रिया' इति प्रयोगः कथं स्यादिति शङ्कायाम् उत्तरम्। अक्ष्णः परमिति लौकिकविग्रहे, 'अक्षि + ङस् परम्' इत्यलौकिकविग्रहे च 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति शरदादिगणे पाठात् समासान्तविधानात् 'अनव्ययस्यापि परशब्दस्य समासे, टचि, सुब्लुकि, परशब्दस्य पूर्वनिपाते 'परोक्षे लिट्' इति निपातनात् परशब्दस्य ओकारान्तादेशे पररूपे सति 'यस्येति च' इति अक्षिशब्दस्य इकारलोपेन परोक्षमिति निष्पद्यते। ततः परोक्षमस्यास्तीत्यर्थे धर्मप्रधानात् परोक्षशब्दात् 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति अच् प्रत्यये कृते सति भसंज्ञामाश्रित्य 'यस्येति च' इत्यकारलोपे टापि च कृते 'परोक्षा क्रिया' इति सिध्यति।

यथाशक्ति—शक्तिमनतिक्रम्य इत्यस्मिन्विग्रहे शक्ति + अम्, यथा–इति अलौकिकविग्रहे शक्तिशब्देन सह अनतिक्रमणार्थे वर्तमानस्य यथाशब्दस्य 'अव्ययं विभक्तिसमीप०' इत्यादिना अव्ययीभावसमासे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन सुपो लुकि—'शक्ति यथा' इति जाते, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्यनेन यथा शब्दस्योपसर्जनत्वेन 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यनेन तस्य पूर्वनिपाते यथाशक्ति इति जाते सति समासत्वात् 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन अव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यनेन सुलोपे 'यथाशक्ति' इति सिद्धम्।

पारेगङ्गम्—पारं गङ्गायाः इति लौकिकविग्रहे तथा पार + अम्, गङ्गा + ङस् इत्यलौकिकविग्रहे 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यनेन अव्ययीभावसमासे 'सुपो धातुप्राति-

पदिकयोः' इत्यनेन सुपो लुकि, पारशब्दस्य एदन्तत्वनिपाते च—गङ्गा पारे इति जाते 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्यनेन 'पारे' इत्यस्य उपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यनेन पारेशब्दस्य पूर्वनिपातेन पारेगङ्गा इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन नपुंसकसंज्ञायां 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इत्यनेन ह्रस्वत्वे पारेगङ्ग इति जाते, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेनाव्ययत्वे 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यनेन नित्ये सुपो लुकि प्राप्ते सति 'नाव्ययीभावादतोऽमृत्वपञ्चम्याः' इत्यनेन अमादेशे—पारेगङ्ग +अम् इति जाते, पूर्वरूपेण च पारेगङ्गम् इति सिद्धम्। अव्ययीभावसमासाभावपक्षे पारं गङ्गायाः इत्यस्मिन् विग्रहे षष्ठीतत्पुरुषसमासे गङ्गापारम् इति जायते। तदभावे गङ्गायाः पारम् इत्यपि साधु।

व्याकरणस्य त्रिमुनि—व्याकरणस्य पाणिन्यादयः त्रयो मुनयः वंश्याः इति भावः। त्रि+जस्, मुनि+जस् इति इत्यलौकिकविग्रहे 'संख्या वंश्येन' इत्यनेन अव्ययीभाव-समासे, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन विभक्तिलोपे, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उप-सर्जनम्' इत्यनेन त्रिशब्दस्य उपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यनेन पूर्वनिपातेन 'त्रिमुनि' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन अव्ययत्वे, 'अव्यया-दाप्सुपः' इत्यनेन सुपो लुकि 'त्रिमुनि' इति सिद्धम्।

पञ्चगङ्गम्—पञ्चानां गङ्गानां समाहारः इति लौकिकविग्रहे पञ्चन्+आम्, गङ्गा+आम् इत्यलौकिकविग्रहे 'समाहारे चायमिष्यते' इति वार्तिकसहकारेण 'नदीभिश्च' इत्यनेन अव्ययीभावसमासे, विभक्तिलोपे, उपसर्जनसंज्ञायां पञ्चन्शब्दस्य पूर्वनिपाते, नलोपे—'पञ्चगङ्गा' इति जाते, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन नपुंसकलिङ्गत्वेन 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इत्यनेन ह्रस्वत्वे 'पञ्चगङ्ग' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन अव्ययत्वे, 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यनेन सुलोपे प्राप्ते सति 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इत्यनेन सोरमादेशे पूर्वरूपे—'पञ्चगङ्गम्' इति सिद्धम्।

उपशरदम्—शरदः समीपम् इति लौकिकविग्रहे शरद्+ङस्, उप इति अलौकिक-विग्रहे 'अव्ययं विभक्ति०' इत्यादिना समासे, सुपो लुकि, उपः उपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते, 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इत्यनेन टच् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, 'उपशरद' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इत्यनेन सोरमादेशे पूर्वरूपे च 'उपशरदम्' इति सिद्धम्।

शङ्कुलाखण्डः—शङ्कुलया खण्डः इति लौकिकविग्रहे शङ्कुला+टा, खण्ड+सु इति अलौकिकविग्रहे 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इत्यनेन तत्पुरुषसमासे, विभक्तिलोपे, शङ्कुलाशब्दस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'शङ्कुलाखण्डः' इति सिद्धम्।

नखनिर्भिन्नः—नखैर्निर्भिन्नः इति लौकिकविग्रहे, नख+भिस्, निर्भिन्न+सु इत्य-लौकिकविग्रहे 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन तत्पुरुषसमासे, 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इति तदन्तविधिनिषेधात् निर्भिन्नशब्दस्य कृदन्तत्वाऽभावात् समासाऽप्राप्तौ 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्याऽपि ग्रहणम्' इति परि-

भाषाबलात् 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इत्यनेन समासे सति विभक्तिलोपे, नखनिर्भिन्न-शब्दस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे, विसर्गे च नखनिर्भिन्नः इति सिद्धम् ।

राजपुरुषः—राज्ञः पुरुषः इति लौकिकविग्रहे राजन्+ङस्, पुरुष+सु इत्यलौकिकविग्रहे 'षष्ठी' इत्यनेन षष्ठीतत्पुरुषसमासे, विभक्तिलोपे, समुदायस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे, विसर्गे च राजपुरुषः इति सिद्धम् ।

अर्धपिप्पली—अर्धम् पिप्पल्याः इति लौकिकविग्रहे अर्ध+सु, पिप्पली+ङस् इत्यलौकिकविग्रहे 'अर्धं नपुंसकम्' इत्यनेन तत्पुरुषसमासे, विभक्तिलोपे, अर्धशब्दस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते—'अर्धपिप्पली' इति जाते, 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति नियमेन स्त्रीत्वे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' सुलोपे—अर्धपिप्पली इति सिद्धम् । अत्र पिप्पलीशब्दस्य नियतविभक्तिकत्वेऽपि 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' इति निषेधादुपसर्जनत्वाद् ह्रस्वो न भवति ।

पौर्वशालः—पूर्वस्यां शालायां भवः इति लौकिकविग्रहे पूर्वा+ङि, शाला+ङि इति अलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, पूर्वशब्दस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते च, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इत्यनेन पूर्वाशब्दस्य पुंवद्भावे, 'दिक्पूर्वपदात् संज्ञायां ञः' इत्यनेन 'ञ'–प्रत्यये, अनुबन्धलोपेन पूर्वशाला+अ इति जाते, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ पौर्वशाला+अ इति जाते भसंज्ञायां 'यस्येति च' इत्यनेन आकारलोपे, वर्णसंयोगेन पौर्वशाल इति समुदायस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ रुत्वे विसर्गे च पौर्वशालः इति सिद्धम् ।

षाण्मातुरः—षण्णाम् मातॄणामपत्यम् इत्यस्मिन् लौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, 'मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः' इत्यनेन अणि ऋकारस्य उकारे रपरत्वे च, अनुबन्धलोपेन–षण्मातुर्+अ इति जाते, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ 'षाण्मातुर' इति समुदायस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ रुत्वे विसर्गे च 'षाण्मातुरः' इति सिध्यति ।

पञ्चगवधनः—पञ्च गावः धनं यस्य इति लौकिकविग्रहे पञ्चन्+जस्, गो+जस्, धन+सु इति जाते 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन विकल्पेन समासे प्राप्ते 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्' इत्यनेन नित्ये समासे सुपो लुकि, नलोपे, 'गोरतद्धितलुकि' इत्यनेन टचि अनुबन्धलोपे—पञ्चगो+अ, धन+सु इति जाते, अवादेशे, बहुव्रीहावान्तरे तत्पुरुषे सत्यपि बहुव्रीहिसमासस्यापि प्रातिपदिकत्वात् सुलोपे–पञ्चगवधन इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे, विसर्गे च पञ्चगवधनः इति सिद्धम् ।

पुरुषव्याघ्रः—पुरुषः व्याघ्र इव इति लौकिकविग्रहे पुरुष+सु, व्याघ्र+सु इत्यलौकिकविग्रहे 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यवचनैः इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, समुदायस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे, विसर्गे च 'पुरुषव्याघ्रः' इति सिद्धम् ।

अब्राह्मणः—न ब्राह्मणः इत्यस्मिन् लौकिकविग्रहे न—ब्राह्मण+सु इत्यत्र 'नञ्', इत्यनेन तत्पुरुषसमासे विभक्तिलोपे 'न' इत्यस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते 'न लोपो नञः' इत्यनेन नकारस्य लोपे अब्राह्मण इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'अब्राह्मणः' इति सिद्धम् ।

अनश्वः—न अश्वः इति लौकिकविग्रहे, न—अश्व + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'नञ्' इत्यनेन तत्पुरुषसमासे विभक्तिलोपे न + अश्व इति जाते 'न लोपो नञः' इत्यनेन नकारलोपे–अ + अश्व इति जाते 'तस्मान्नुडचि' इत्यनेन नुडागमे अ + न् + अश्व इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च अनश्वः इति सिद्धम् ।

अतिमालः—मालामतिक्रान्तः इति लौकिकविग्रहे माला + अम्, अति इति अलौकिकविग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इत्यनेन तत्पुरुषसमासे 'अति' इत्यस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्यनेन मालाशब्दस्योपसर्जनत्वेन 'गोस्त्रियोपसर्जनस्य' इत्यनेन मालाशब्दस्य ह्रस्वत्वे अतिमाल इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ रुत्वे विसर्गे च अतिमालः इति सिद्धम् ।

निष्कौशाम्बिः—निष्क्रान्ता कौशाम्व्याः इति लौकिकविग्रहे कौशाम्बी + ङसि, निर् इति अलौकिकविग्रहे 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इत्यनेन तत्पुरुषसमासे, विभक्तिलोपे, निर् इत्यस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते निर् + कौशाम्बी इति जाते रेफस्य विसर्जनीयत्वे, सत्वे, षत्वे च निष्कौशाम्वी इति जाते सति 'एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते' इत्यनेन 'कौशाम्बी' इत्यस्योपसर्जनत्वे 'गोस्त्रियोरुपर्सनस्य' इत्यनेन ह्रस्वत्वे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च निष्कौशाम्बिः इति सिद्धम् ।

कुम्भकारः—कुम्भं करोतीत्यस्मिन् लौकिकविग्रहे कुम्भ + अम्, कृ + अण् इत्यलौकिकविग्रहे 'कर्मण्यण्' इत्यनेन अण् प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'उपपदमतिङ्' इत्यनेन उपपदसमासे, विभक्तिलोपे 'अचो ञ्णिति' इत्यनेन वृद्धौ, कुम्भकार इति समुदायस्य प्रादिपतिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च कुम्भकारः इति सिद्धम् ।

व्याघ्री—विशेषेण जिघ्रतीत्यस्मिन् लौकिकविग्रहे वि–आङ्-पूर्वकात् घ्रा-धातोः 'आतश्चोपसर्गे' इत्यनेन क प्रत्यये, 'आतो लोप इटि च' इत्यनेन आकारलोपे–वि–आ–घ्र् + अ इति जाते, 'गतिश्च' इत्यनेन गतिसंज्ञायां 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इति परिभाषया सुबुत्पत्तेः प्राक् 'कुगतिप्रादयः' इत्यनेन समासे, स्त्रीत्वविवक्षायां 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इत्यनेन ङीषि, अनुबन्धलोपे–व्याघ्र + ई इति जाते, 'यस्येति च' इत्यनेन अकारलोपे संयोगे व्याघ्री इति स्थिते सति प्रातिपदिकत्वेन सौ 'हल्ङ्यादिना' सुलोपे–व्याघ्री इति सिद्धम् ।

पूर्वरात्रः—रात्रेः पूर्वम् इत्यस्मिन् विग्रहे 'पूर्वकालैकसर्व०' इत्यादिना समासे सुपो लुकि 'अहःसर्वैकदेश०' इत्यादिना अच् प्रत्यये पूर्वरात्रि + अ इति जाते भ–संज्ञायां 'यस्येति च' इत्यनेन इकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च पूर्वरात्रः इति सिद्धम् ।

पञ्चगवम्—पञ्चानाम् गवां समाहारः इति लौकिकविग्रहे पञ्चन् + आम्, गो + आम् इत्यलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे सुपो लुकि, न लोपे, 'गोरतद्धितलुकि' इत्यनेन टचि अनुबन्धलोपे पञ्चगो + अ इति जाते, अवादेशे, 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः' इत्यनेन कर्मधारयसंज्ञायां 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इत्यनेन द्विगुसंज्ञायां 'द्विगुरेकवचनम्' इत्यनेनैकवद्भावे, 'स नपुंसकम्' इत्यनेन नपुंसकत्वे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च 'पञ्चगवम्' इति सिद्धम् ।

अहोरात्रः—अहश्च रात्रिश्च इति लौकिकविग्रहे अहन्+सु, रात्रि+सु इति अलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, 'अहः-सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः' इत्यनेन अचि, अनुबन्धलोपे, भ-संज्ञायाम् 'यस्येति च' इत्यनेन इकारलोपे अहन्+रात्र इति जाते 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इत्यनेन पुंस्त्वे 'रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्' इत्यनेन नस्य रुत्वे, 'हशि च' इत्यनेन उत्वे, 'आद्-गुणः' इत्यनेन गुणे—'अहोरात्र' इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'अहोरात्रः' इति सिद्धम् ।

पञ्चकपालः—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः इति लौकिकविग्रहे पञ्चन्+सुप्, कपाल+सुप् इत्यलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यनेन अणि, 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इत्यनेनाणो लुकि, 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इत्यनेन पञ्चकपालशब्दस्यापि कपालशब्दवत् नपुंसकत्वे प्राप्ते, 'द्विगु-प्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु न' इत्यनेन निषेधे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'पञ्चकपालः' इति सिद्धम् ।

अर्द्धर्चः—ऋचः अर्द्धम् इति लौकिकविग्रहे ऋच्+ङस्, अर्द्ध+सु इत्यलौकिक-विग्रहे 'अर्द्धन्नपुंसकम्' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे अर्द्धशब्दस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते अर्द्ध+ऋच् इति जाते, 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे रपरत्वे–अर्द्धर्च् इति जाते, 'ऋक्पू-रब्धूपथामानक्षे' इत्यनेन 'अ'प्रत्ययेन—'अर्द्धर्च' इति जाते, 'अर्द्धर्चाः पुंसि च' इत्यनेन नपुंसकत्वे, पुनः विभक्त्युत्पत्तौ, सोरमि पूर्वरूपे—'अर्द्धर्चम्' इति सिद्धम् । पक्षे 'अर्द्धर्चः' इत्यपि भवति ।

कण्ठेकालः—कण्ठे कालो यस्येति लौकिकविग्रहे कण्ठ+ङि, काल+सु इत्य-लौकिकविग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेन ज्ञापकात्समासे, सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इत्यनेन सप्तम्यन्तस्य 'कण्ठे' शब्दस्य पूर्वनिपाते, ततः विभक्तिलोपे प्राप्ते 'हलदन्ता-त्सप्तम्याः०' इत्यनेन सप्तम्या अलुकि, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'कण्ठेकालः' इति सिद्धम् ।

चित्रगुः—चित्राः गावो यस्य इति लौकिकविग्रहे चित्रा+जस्, गो+जस् इत्य-लौकिकविग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेन बहुव्रीहिसमासे विभक्तिलोपे चित्रशब्दस्योप-सर्जनत्वेन पूर्वनिपाते–चित्रागो इति जाते, 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०' इत्यादिना चित्राशब्दस्य पुंवद्भावेन टापो निवृत्तौ 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्यनेन गोशब्द-स्याप्युपसर्जनत्वेन 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इत्यनेन गोशब्दस्य ह्रस्वत्वेन उकारे सति–चित्रगु इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'चित्रगुः' इति सिद्धम् ।

कल्याणीपञ्चमाः—कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः (कल्याणीपञ्चमाः रात्रयः) इति लौकिकविग्रहे, कल्याणी+सु, पञ्चमी+सु इत्यलौकिकविग्रहे च 'अनेकमन्य-पदार्थे' इत्यनेन बहुव्रीहिसमासे, विभक्तिलोपे, पञ्चमीशब्दस्य पूरणप्रत्ययान्तत्वेन तस्मिन् परतः कल्याणीशब्दस्य 'स्त्रियाः पुंवद्भाषित०' इत्यादिना पुंवद्भावे प्राप्ते 'अप्पूरणीप्रमाण्योः' इत्यनेन अप्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भ-संज्ञायाम् 'यस्येति च' इत्यनेन इकारलोपे—कल्याणीपञ्चम इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन जसि, अनुबन्धलोपे, पूर्वसवर्णदीर्घे, सस्य रुत्वे विसर्गे च—'कल्याणीपञ्चमाः' इति सिद्धम् ।

केशाकेशि—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम् इति लौकिकविग्रहे केश + सुप्, केश + सुप् इत्यलौकिकविग्रहे च 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इत्यनेन समासे, सुपो लुकि सति–केशकेश इति जाते, 'अन्येषामपि दृश्यते' इति पूर्वपदस्य दीर्घे 'इच् कर्मव्यतिहारे' इत्यनेन इचिप्रत्यये, अनुबन्धलोपे सति केशाकेश + इ इति जाते, भ-संज्ञायां सत्यां 'यस्येति च' इत्यनेन अकारलोपे–'केशाकेशि' इति समुदायस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' इत्यनेनाव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यनेन सुपो लुकि केशाकेशि इति सिद्धम् ।

जलजाक्षी—जलजे इव अक्षिणी यस्याः इति लौकिकविग्रहे—जलज + औ, अक्षिन् + औ इति अलौकिकविग्रहे च 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, जलजशब्दस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते सति जलज अक्षिन् इति जाते, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इत्यनेन षच्-प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भत्संज्ञात्वात् 'नस्तद्धिते' इत्यनेन 'टि'लोपे सति जलज + अक्ष् + अ इति जाते दीर्घेण जलजाक्ष इति जाते स्त्रीत्वविवक्षायां 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इत्यनेन ङीषि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायाम् 'यस्येति च' इत्यनेन अकारलोपे जलजाक्षी इति स्थितौ प्रातिपदिकत्वेन सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे जलजाक्षी इति सिद्धम् ।

द्विमूर्धः—द्वौ मूर्द्धानौ यस्य इति लौकिकविग्रहे द्वि + औ, मूर्द्धन् + औ इत्यवस्थायां 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, 'द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः' इत्यनेन 'ष'प्रत्यये सति 'द्विमूर्द्धन् + अ' इति जाते, भत्वेन 'नस्तद्धिते' इत्यनेन 'टि'-लोपे द्विमूर्द्ध इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'द्विमूर्द्धः' इति सिद्धम् ।

युवजानिः—युवतिर्जाया यस्येति विग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, 'जायाया निङ्' इत्यनेन निङादेशे अनुबन्धलोपे सति 'युवति + जाय् + नि' इति जाते 'लोपो व्योर्वलि' इत्यनेन 'य्'–लोपे 'स्त्रियाः पुंवद्भाषित०' इत्यादिना पुंवद्भावेन युवजानि इत्यवस्थायां प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च युवजानिः इति सिद्धम् ।

व्यूढोरस्कः—व्यूढं उरः यस्येति लौकिकविग्रहे व्यूढ + सु, उरस् + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे व्यूढशब्दस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते, 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इत्यनेन 'कप्'-प्रत्यये, अनुबन्धलोपेन 'व्यूढ + उरस्क' इति जाते, 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे सति व्यूढोरस्क इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'व्यूढोरस्कः' इति सिध्यति ।

धवखदिरौ—धवश्च खदिरश्च इति लौकिकविग्रहे धव + सु, खदिर + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यनेन इतरेतरद्वन्द्वसमासे, विभक्तिलोपे, धवखदिरशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन औ विभक्तौ 'धवखदिर + औ' इति जाते, पूर्वसवर्णदीर्घप्राप्ते 'नादिचि' इत्यनेन निषेधे सति 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ धवखदिरौ इति सिद्धम् ।

रथिकाश्वारोहम्—रथिकाश्चाश्वारोहाश्च इति लौकिकविग्रहे—रथिक + जस्, अश्वारोह + जस् इत्यलौकिकविग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, सवर्णदीर्घेण रथिकाश्वारोह इति जाते 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इत्यनेनैकवद्भावे

'स नपुंसकम्' इत्यनेन नपुंसकत्वेन सोरमि रथिकाश्वारोह + अम् इति जाते पूर्वरूपे च रथिकाश्वारोहम् इति सिद्धम् ।

गोव्याघ्रम्—गावश्च व्याघ्राश्च इति लौकिकविग्रहे गो + जस्, व्याघ्र + जस् इति स्थिते 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यनेन द्वन्द्वसमासे, विभक्तिलोपे, 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' इत्यनेनैकवद्भावे, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वेन सोरमि 'गोव्याघ्र + अम्' इति जाते, पूर्वरूपेण 'गोव्याघ्रम्' इति सिद्धम् ।

अग्नीषोमौ—अग्निश्च सोमश्च इति लौकिकविग्रहे अग्नि + सु, सोम + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यनेन द्वन्द्वसमासे, विभक्तिलोपे—अग्निसोम इति जाते, 'ईदग्नेः सोमवरुणयोः' इत्यनेन अग्नेरिकारस्य ईत्वे, 'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः' इत्यनेन सस्य षत्वे 'अग्नीषोमौ' इति सिद्धम् ।

छत्रोपानहम्—छत्रश्च उपानहश्चेति लौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समाहारद्वन्द्वसमासे, विभक्तिलोपेन 'छत्र + उपानह्' इति जाते, 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे, 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे' इत्यनेन हकारान्तत्वात् टच् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, 'छत्रोपानह' इति जाते सति 'जातिरप्राणिनाम्' इत्यनेनैकवद्भावे, 'स नपुंसकम्' इत्यनेन नपुंसकत्वे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपेण 'छत्रोपाहम्' इति सिद्धम् ।

मातरपितरौ—माता च पिता चेति लौकिकविग्रहे मातृ + सु, पितृ + सु इत्यलौकिकविग्रहे, 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यनेन द्वन्द्वसमासे, विभक्तिलोपे, मातृशब्दस्य पूर्वनिपाते 'मातरपितरावुदीचाम्' इत्यनेन अरङादेशे निपातिते, प्रातिपदिकत्वे मातपितृ + औ इति जाते औप्रत्ययस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन गुणे, रपरत्वे, 'मातरपितरौ' इति उदीचां मते सिद्धम् । अन्यत्र तु मातापितरौ भवति । तत्र 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' इत्यनेन पूर्वपदस्यानङादेशो बोध्यः ।

गार्ग्यौ—गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च इति गार्ग्यौ । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः—'गर्गादिभ्यो यञ्' । तस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः—'यञिञोश्च' इत्यनेन फक् । अत्र गोत्रयुवप्रत्ययकृतवैरूप्यात् गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दः शिष्यते । ततश्च गार्ग्य + औ इत्यत्र वृद्धौ गार्ग्यौ इति सिद्धम् ।

हंसौ—हंसी च हंसश्चेति हंसौ । अत्र पुंस्त्वस्त्रीत्वमात्रकृतवैरूप्यात् 'पुमान् स्त्रिया' इत्यनेन पुंल्लिङ्गः हंसशब्दः शिष्यते । ततश्च हंस + औ इति स्थिते वृद्धौ सत्यां उक्तरूपं सिद्ध्यति ।

पितरौ—माता च पिता चेति पितरौ । अत्र 'पिता मात्रा' इति सूत्रेण विभाषया पितृशब्दस्यैकशेषे, प्रथमाद्विवचने—'पितृ + औ' इति जाते, औप्रत्ययस्य सर्वनामस्थानत्वेन 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन गुणे रपरत्वे च–'पितरौ' इति सिद्धम् ।

मातापितरौ—'पिता मात्रा' इत्यनेनैकशेषाऽभावपक्षे माता च पिता चेति लौकिकविग्रहे मातृ + सु, पितृ + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे—'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' इत्यनेन मातृशब्दस्यानङन्तादेशे, अनुबन्धलोपे, नकारलोपेन च 'मातापितृ'शब्दात् प्रथमाद्विवचने औप्रत्यये सति–'मातापितृ + औ' इति जाते, औप्रत्ययस्य सर्वनामस्थानत्वेन 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन गुणे रपरत्वे च—'मातापितरौ' इति सिद्धम् ।

श्वशुरौ—श्वश्रूश्च श्वशुरश्च इति लौकिकविग्रहे श्वश्रू + सु, श्वशुर + सु इति जाते, 'चार्थे द्वन्द्वः' इत्यनेन द्वन्द्वसमासे, विभक्तिलोपे सति 'श्वशुरः श्वश्र्वा' इत्यनेन श्वशुर-शब्दस्यैकशेषेण श्वशुरशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ प्रत्यये वृद्धौ श्वशुरौ इति सिद्धम्। एकशेषाभावपक्षे 'श्वश्रूश्वशुरौ' इति जायते। अत्र अभ्यर्हितत्वात् श्वश्रूशब्दस्य पूर्वनिपातो वोध्यः।

गावः इमाः—गौश्च गौश्च गौश्च इति गावः। अत्र पुंल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गेषु गोशब्देषु सहविवक्षितेषु 'पुमान् स्त्रिया' इत्यनेन पुंसः शेषं प्रवाध्य 'ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री' इति विधानेन स्त्रीलिङ्गे 'गौः' इति अवशिष्यते तेन बहुवचने 'गावः इमाः' इत्युदाहरणं संगच्छते, न तु इमे गावः।

अर्द्धर्चः—'अर्द्धम् ऋचः' इति लौकिकविग्रहे 'अर्द्ध + सु, ऋच् + ङस्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अर्द्धं नपुंसकम्' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, अर्धशब्दस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते, 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इत्यनेन 'अ' प्रत्यये सति 'अर्द्ध + ऋच् + अ' इति जाते, गुणे रपरत्वे च 'अर्द्धर्च' इति जाते सति 'अर्द्धर्चाः पुंसि च' इत्यनेन पुंस्त्वे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'अर्द्धर्चः' इति सिद्धम्।

द्वीपम्—द्वयोः पार्श्वयोर्गता आपः यस्मिन्निति लौकिकविग्रहे द्वि + ओस्, अप् + जस् इत्यवस्थायां 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्यनेन अप्रत्यये 'उपपदमतिङ्' इत्यनेनोपपदसमासे, विभक्तिलोपे—द्वि + ईप् + अ इति जाते, सवर्णदीर्घे सति 'द्वीप' इत्यवस्थायां प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे—'द्वीपम्' इति सिद्धम्।

गवाक्षः—गवामक्षीवेति लौकिकविग्रहे 'गो + आम्, अक्षि + सु' इत्यवस्थायाम्, 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' इत्यनेन अच् प्रत्यये, भसंज्ञायां सत्यां 'नस्तद्धिते' इत्यनेन टिलोपे–'गो + अक्ष् + अ' इति जाते, 'अवङ् स्फोटायनस्य' इत्यनेन अवङादेशे, अनुबन्धलोपे—'गव + अक्ष' इति जाते सति सवर्णदीर्घे 'गवाक्ष' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च–गवाक्षः इति सिद्धम्।

प्राध्वो रथः—प्रगतोऽध्वानमिति लौकिकविग्रहे अध्वन् + अम्, प्र इत्यलौकिकविग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, प्रशब्दस्योपसर्जनत्वेन पूर्वनिपाते, 'उपसर्गादध्वनः' इत्यनेन अच्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भसंज्ञायां 'नस्तद्धिते' इत्यनेन 'टि(अन्)लोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'प्राध्वः' इति सिद्धम्।

सुराजा—शोभनः राजा इति लौकिकविग्रहे राजन् + सु, सु—इत्यलौकिकविग्रहे 'कुगतिप्रादयः' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, 'राजाऽहःसखिभ्यष्टच्' इत्यनेन 'टच्'-प्रत्यये प्राप्ते सति 'न पूजनात्' इत्यनेन निषेधे 'सुराजन्'शब्दात् प्रातिपदिकत्वेन सौ, सुप्रत्ययस्य सर्वनामस्थानत्वेन 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्यनेनोपधादीर्घे, सुलोपे, नलोपे च–'सुराजा' इति सिद्धम्।

सप्तगोदावरम्—सप्तानां गोदावरीणां समाहारः इति लौकिकविग्रहः। तत्र 'नदीभिश्च' इत्यनेन अव्ययीभावसमासे, सुपो लुकि, 'संख्याया नदीगोदावरीभ्याञ्च' इत्यनेन अच् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे–'सप्तगोदावरी + अ' इति जाते, भत्वेन 'यस्येति च' इत्यनेन

इकारलोपे सति 'सप्तगोदावर' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वे सौ, सोरमि पूर्वरूपे—'सप्तगोदावरम्' इति सिद्धम्।

अर्हदिवम्—अहनि च दिवा चेति लौकिकविग्रहे अहन् + ङि, दिवा + सु इत्यलौकिकविग्रहे, समासे, विभक्तिलोपे, 'रोऽसुपि' इत्यनेन नकारस्य रत्वे, 'अचतुरविचतुर०' इत्यादिना अच् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे सति 'अर्हदिव' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेनाव्ययत्वात् सोर्लुकि प्राप्ते 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इत्यनेन सोरमि पूर्वरूपे—'अर्हदिवम्' इति सिद्धम्।

आत्मनेपदम्—अत्र 'तादर्थ्ये चतुर्थी' इत्यत्र 'चतुर्थी' इति योगविभागात्समासे सति विभक्तिलोपे प्राप्ते 'वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः' इत्यनेन चतुर्थ्याः अलुकि उक्तरूपं सिध्यति। तथैव च **परस्मैपदम्**—इत्यत्रापि 'परस्य च' इत्यनेन चतुर्थ्याः अलुक् भवति।

युधिष्ठिरः—युधि तिष्ठतीत्यस्मिन् लौकिकविग्रहे युध् + ङि, स्थिर + सु इत्यवस्थायां 'संज्ञायाम्' इत्यनेन सप्तमीसमासे सति विभक्तिलोपे प्राप्ते, 'हलदन्तात्सप्तम्याः सञ्ज्ञायाम्' इत्यनेन सप्तम्या अलुकि 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' इत्यनेन स्थिरशब्दस्य सकारस्य षकारे ष्टुत्वे च युधिष्ठिर इति जाते सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'युधिष्ठिरः' इति सिध्यति।

मातुःष्वसा—मातुः स्वसा इति लौकिकविग्रहे मातृ + ङस्, स्वसा + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'षष्ठी' इत्यनेन समासे, ततः विभक्तिलोपे प्राप्ते, 'विभाषास्वसृपत्योः' इत्यनेन षष्ठ्या अलुकि 'मातृपितृभ्यामन्यतरस्याम्' इत्यनेन स्वसुः सकारस्य विकल्पेन मूर्धन्यत्वे 'मातुःष्वसा' इति सिद्धम्। पक्षे 'मातुःस्वसा' इति जायते। सुपो लुगभावपक्षे तु मातृ + स्वसा इत्यत्र 'मातृपितृभ्यां स्वसा' इत्यनेन षत्वे 'मातृष्वसा' इति रूपं जायते।

कौमुदगन्धीपुत्रः—कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः इति विग्रहे षष्ठीसमासे, 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे' इत्यनेन ष्यङः सम्प्रसारणेन यकारस्य स्थाने इकारे, पूर्वरूपे, सम्प्रसारणस्य दीर्घे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च उक्तरूपं निष्पन्नम्।

सतीर्थ्यः—समाने तीर्थे वसतीति विग्रहे 'समानतीर्थे वासी' इत्यनेन यत्प्रत्यये, अनुबन्धलोपेन, 'समानतीर्थ + य इति जाते, 'तीर्थे ये' इत्यनेन समानस्य स्थाने सादेशे—'सतीर्थ + य' इति जाते, भसंज्ञायां 'यस्येति च' इत्यनेन अकारलोपे सति 'सतीर्थ्य' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'सतीर्थ्यः' इति सिध्यति।

बलाहकः—वारिवाहकः इति शब्दे 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इत्यनेन वारिशब्दस्य 'ब'आदेशे, ततः वाहक शब्दस्य—वकारस्य लकारादेशेन बलाहक इति जाते सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'बलाहकः' इति सिद्धम्।

विश्वामित्रः—विश्वस्य मित्रः इति लौकिकविग्रहे विश्व + ङस्, मित्र + सु इत्यलौकिकविग्रहे षष्ठीसमासे सति 'विश्वमित्र' इति जाते 'मित्रे चर्षौ' इत्यनेन पूर्वपदस्य दीर्घे विश्वामित्र इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च विश्वामित्रः इति सिद्धम्।

बृहस्पतिः—बृहत्याः (वाचः) पतिः इति लौकिकविग्रहे बृहती + ङस्, पति + सु इत्यलौकिकविग्रहे, समासे सति विभक्तिलोपे, पुंवद्भावे, 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेव-

तयोः सुट् तलोपश्च' इति वार्तिकेन सुट्तलोपयोर्विधानेन बृहस्पति इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च बृहस्पतिः इति सिद्धम् ।

प्रायश्चित्तम्—प्रायस्य चित्तम् इति लौकिकविग्रहे प्राय + ङस्, चित्त + सु इत्यलौकिकविग्रहे, समासे, विभक्तिलोपे, 'प्राय + चित्त' इति जाते, 'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः' इत्यनेन सुडागमे, अनुबन्धलोपे, 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन श्चुत्वेन 'प्रायश्चित्त' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च 'प्रायश्चित्तम्' इति सिध्यति ।

आश्वपतम्—अश्वपतेरपत्यम् इति विग्रहे 'तस्यापत्यम्' इत्यनेन अणि, अनुबन्धलोपे, अश्वपति + ङस् + अ इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकत्वेन 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन सुपो लुकि, 'यचि भम्' इत्यनेन भत्वे, 'यस्येति च' इत्यनेन इकारलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ सत्याम् 'आश्वपत' इति जाते, ततः सौ, सोरमि पूर्वरूपे च 'आश्वपतम्' इति सिद्धम् ।

आदित्यः—अदितेरपत्यम् इति विग्रहे 'तस्यापत्यम्' इत्यधिकारे 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इत्यनेन ण्य-प्रत्ययेन अदिति + ङस् + ण्य इति जाते, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकत्वेन 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन सुपो लुकि, णकारलोपे, 'यचि भम्' इत्यनेन भत्वे 'यस्येति च' इत्यनेन इकारलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ आदित्य इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'आदित्यः' इति सिद्धम् ।

गव्यम्—गोः विकारः इति विग्रहे 'गोरजादिप्रसङ्गे यत्' इत्यनेन यत् प्रत्ययेन गो + ङस् + य' इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकत्वेन 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन सुपो लुकि, तकारलोपेन 'गो + य' इति जाते, 'वान्तो यि प्रत्यये, इत्यनेन अवादेशे सति गव्य इति जाते, ततः सौ, सोरमि पूर्वरूपे च 'गव्यम्' इति निष्पन्नम् ।

बाह्यः—बाहीकः—बहिर्भवः इति विग्रहे बहिष् शब्दात् 'बहिषष्टिलोपो (=इष्) यञ् च' इत्यनेन टिलोपे यञि च सत्यां 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकत्वे, भत्वे, आद्यचो वृद्धौ—बाह्य इति जाते, सौ रुत्वे विसर्गे च—बाह्यः इति सिद्धम् । पक्षे 'ईकक् च' इत्यनेन 'ईकक्' प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, सौ रुत्वे विसर्गे च 'बाहीकः' इत्यपि रूपं भवति ।

औत्सः—उत्सस्यापत्यम् इति विग्रहे 'उत्सादिभ्योऽञ्' इत्यनेन अञ्प्रत्यये अनुबन्धलोपे उत्स + ङस् + अ इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, आद्यचो वृद्धौ, भत्वात् 'अ'लोपे, पुनः सौ, रुत्वे विसर्गे च औत्सः इति सिद्धम् ।

स्त्रैणः—स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः, स्त्रियाः अपत्यम् इत्यादिषु विग्रहेषु 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इत्यनेन नञि—स्त्री + ङस् + नञ्—इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, अनुबन्धलोपे च—'स्त्री + न' इति जाते, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ, 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इत्यनेन नस्य णकारे—'स्त्रैण' इति जाते, सौ, रुत्वे विसर्गे च—'स्त्रैणः' इति सिद्धम् ।

औपगवः—उपगोरपत्यम् इति विग्रहे उपगुशब्दात् 'तस्यापत्यम्' इत्यनेन अण्-प्रत्यये, उपगु + ङस् + अण् इति जाते, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, 'यचि भम्' इत्यनेन भत्वे, आद्यचो वृद्धौ, 'ओर्गुणः' इत्यनेन उकारस्य गुणे अवादेशे, पुनः सौ, रुत्वे विसर्गे च—औपगवः, इति सिद्धम्। उपगोः गोत्रापत्यम् इति विग्रहे तु उपगुशब्दात् अणि औपगवशब्दात् 'अत इञ्' इति इञि प्राप्ते 'एको गोत्रे' इति सूत्रनियमात् उपगुशब्दादणेव कृते अणन्तात्तस्मात् पुनरिञ् भवतीति बोध्यम्।

गार्ग्यः, गर्गाः—गर्गस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहे गर्गशब्दात् 'गर्गादिभ्यो यञ्' इत्यनेन यञि, अनुबन्धलोपे—गर्ग + ङस् + य इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, भत्वेन अकारलोपे, आद्यचो वृद्धौ, सौ, रुत्वे विसर्गे च 'गार्ग्यः' इति सिद्धम्। बहुवचने तु गर्गस्य गोत्रापत्यानि इति विग्रहे यञि, आद्यचो वृद्धौ, 'यञञोश्च' इति यञो लुकि, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति परिभाषया यञ्निमित्तवृद्धेरभावेन गर्ग + जस् इति जाते, अनुबन्धलोपे, पूर्वसवर्णदीर्घे, सस्य रुत्वे विसर्गे च—गर्गाः' इति सिद्धम्।

गार्ग्यायणः—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। गार्ग्यस्यापत्यम् अथवा गेर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः कथ्यते। अत्र 'जीवति तु वंश्ये युवा' इत्यनेन युवसंज्ञायां तु पूर्वं गर्गशब्दात् यञ्प्रत्यये, अनुबन्धलोपेन 'गर्ग + य' इति जाते, आद्यचो वृद्धौ, भत्वेन अकारलोपे—'गार्ग्य' इति जाते, ततः 'यञिञोश्च' इत्यनेन फकि, अनुबन्धलोपे, 'आयनेयीनीयियः०' इत्यादिना आयनादेशेन गार्ग्य + आयन इति जाते, भत्वेन अकारलोपे, नस्य णत्वे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'गार्ग्यायणः' इति सिद्धम्।

द्वैमातुरः—द्वयोः मात्रोरपत्यम् इति लौकिविग्रहे द्वि + ओस् + मातृ + ओस् इत्यलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे, सुपो लुकि द्विमातृशब्दात् 'मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः' इत्यणि ऋकारस्य उकारे, रपरत्वे, आद्यचो वृद्धौ, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'द्वैमातुरः' इति सिद्धम्। एवमेव चातुर्मातुरः रामः, षाण्मातुरः स्कन्दः इत्यादयोऽपि बोध्याः।

वैनतेयः—विनतायाः अपत्यम् इति विग्रहे 'स्त्रीभ्यो ढक्' इत्यनेन विनता शब्दात् ढकि, अनुबन्धलोपे—विनता + ङस् + ढ इति जाते प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि 'आयनेयीनीयियः०' इत्यादिना ढस्य एयादेशे, भत्वेन 'यस्येति च' इत्यनेनाकारलोपे, आद्यचो वृद्धौ, सौ, रुत्वे विसर्गे च वैनतेयः इति सिद्धम्।

वामदेव्यम्—वामदेवेन दृष्टं साम इति विग्रहे 'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ' इत्यनेन ड्यत्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, डित्वाट्टिलोपेन 'वामदेव्य' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च—वामदेव्यम् इति सिद्धम्।

बाहविः—बाहोरपत्यम् इति विग्रहे बाहुशब्दात् 'बाह्वादिभ्यश्च' इत्यनेन इञ् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे—'बाहु + ङस् + इ' इति जाते, सुप्-लोपे, 'ओर्गुणः' इत्यनेन गुणे ततोऽवादेशेन च 'बाहवि' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'बाहविः' इति सिद्धम्।

गौधेरः—गोधायाः अपत्यम् इति विग्रहे 'गोधाया: ढ्रक्' इत्यनेन ढ्रकि, ढस्य एयादेशे गोधा + एय् + र इति जाते, कित्वादाद्यचो वृद्धौ, भत्वेनाकारलोपे गौध्-एय् + र इति जाते 'लोपो व्योर्वलि' इत्यनेन यकारलोपे सति गौधेर इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'गौधेरः' इति सिद्धम्। पक्षे 'शुभ्रादिभ्यश्च' इत्यनेन ढकि 'गौधेयः' इत्यपि रूप भवति।

भ्रातृव्यः—भ्रातुरपत्यम् इति विग्रहे 'भ्रातुर्व्यच्च' इत्यनेन व्यत् तथा च सपत्नार्थे 'व्यन्सपत्ने' इति 'व्यन्' प्रत्यये–अनुबन्धलोपे–'भ्रातृव्य' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च–'भ्रातृव्यः' इति सिद्धम्। चकारात् छप्रत्यये तस्य ईयादेशे भ्रात्रीयः इत्यपि रूपं भवति।

कौरव्यः—कुरोः अपत्यम् इत्यस्मिन् विग्रहे कुरुशब्दात् 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' इत्यनेन ण्यप्रत्यये, अनुबन्धलोपे, आद्यचो वृद्धौ, भत्वे, 'ओर्गुणः' इत्यनेन गुणे, ततः अवादेशे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—कौरव्यः इति सिद्धम्।

कौमुदगन्ध्या—कुमुदस्य गन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहे 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाच्यः उत्तरपदलोपश्च' इत्यनेन समासे, विभक्तिलोपे, 'उपमानाच्च' इत्यनेन इत्वे—कुमुदगन्धिरिति जाते, कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्रीति विग्रहे 'तस्यापत्यम्' इत्यनेन अणि, अनुबन्धलोपे, 'यस्येति च' इत्यनेन इकारलोपे, आद्यचो वृद्धौ—'कौमुदगन्ध' इति जाते, तत्र 'अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे' इत्यनेन अणः ष्यङादेशे, अनुबन्धलोपे—कौमुदगन्ध्यशब्दात् 'यङश्चाप्' इत्यनेन चापि स्त्रीप्रत्यये, अनुबन्ध-लोपे, सवर्णदीर्घे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, हल्ङ्यादिना सुलोपे—'कौमुदगन्ध्या' इति सिद्धम्।

माञ्जिष्ठम्—मञ्जिष्ठया रक्तं वस्त्रम् इति विग्रहे मञ्जिष्ठाशब्दात् 'तेन रक्तं रागात्' इत्यनेन ठकि 'ठस्येकः' इत्यनेन ठस्येकादेशे मञ्जिष्ठा + इक इति जाते, आद्यचो वृद्धौ, भत्वेन आकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च माञ्जिष्ठम् इति सिध्यति।

यौवनम्—युवतीनां समूहः इति विग्रहे 'यूनस्तिः' इति तिप्रत्ययान्तात् युवति-शब्दात् 'भिक्षादिभ्योऽण्' इत्यनेन अणि, अनुबन्धलोपे, 'भस्याढे तद्धिते' इत्यनेन वार्तिकेन पुंवद्भावे—युवन् + अ इति जाते, आद्यचो वृद्धौ सत्याम् 'अन्' इत्यनेन प्रकृतिभावात् टिलोपाभावे सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च यौवनम् इति सिद्धम्।

यौवतम्—यु मिश्रणामिश्रणयोः इत्यस्माद् धातोः शतृप्रत्यये—यु + अत् इति जाते उवङादेशे, 'उगितश्च' इत्यनेन ङीपि—युवती इति शब्दात् 'अनुदात्तादेरञ्' इत्यनेन अञ्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भत्वेन 'यस्येति च' इत्यनेन ईकारलोपे, आद्यचो वृद्धौ—यौवत इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च यौवतम् इति सिद्धम्।

वैयाकरणः—व्याकरणमधीते तद् वेद वेति विग्रहे व्याकरणशब्दात् 'तदधीते तद्वेद' इत्यनेन अणि, अनुबन्धलोपे, आद्यचो वृद्धौ प्राप्तायां 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां

पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' इत्यनेन यकारात् पूर्वमैजागमे, अनुबन्धलोपे—वैयाकरण इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—वैयाकरणः इति सिद्धम् ।

जनता—जनानां समूहः इति विग्रहे जनशब्दात् 'ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्' इत्यनेन तल्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे—जनतशब्दात् 'अजाद्यतष्टाप्' इत्यनेन टापि, अनुबन्धलोपे, सवर्णदीर्घे—जनता इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, हल्ङ्यादिना सुलोपे—'जनता' इति सिद्धम् ।

अह्नीनः—अह्नां समूहः इति विग्रहे अहन्शब्दात् 'अह्नः खः क्रतौ' इत्यनेन खप्रत्यये 'आयनेयीनीयियः०' इत्यादिना खस्य ईनादेशे—अहन्+ईन इति जाते, भत्वेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे—'अह्+ईन' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च अहीनः इति सिद्धम् ।

शिक्षकः—शिक्षामधीते तद् वेद वेति विग्रहे शिक्षाशब्दात् 'क्रमादिभ्यो वुन्' इत्यन वुन्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'युवारनाकौ' इत्यनेन अकादेशे, भत्वेन 'यस्येति च' इत्यनेनाकारलोपे—'शिक्षक' इति प्रातिपदिकत्वेन प्रथमाया एकवचने सौ, रुत्वे विसर्गे च 'शिक्षकः' इति सिद्धम् ।

नैयायिकः—न्यायमधीते तद् वेद वा इति विग्रहे न्यायशब्दात् 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' इत्यनेन ठक्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, 'ठस्येकः' इत्यनेन ठस्य इकादेशेन न्याय+इक इति जाते, 'नय्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्०' इत्यादिना यकारात् पूर्वमैजागमे, अनुबन्धलोपे,—'नैयायिक' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'नैयायिकः' इति सिद्धम् ।

वात्या—वातानां समूहः इति विग्रहे 'पाशादिभ्यो यः' इत्यनेन यप्रत्यये, भसंज्ञायां सत्यां 'यस्येति च' इत्यनेनाकारलोपे, टापि अनुबन्धलोपे च 'वात्य+आ' इति जाते सवर्णदीर्घे सति 'वात्या' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन 'सु'–विभक्तौ परतः हल्ङ्यादिना' सुलोपे—'वात्या' इति सिद्धम् ।

औदुम्बरो देशः—उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे इति विग्रहे उदुम्बरशब्दात् 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' इत्यनेन अणि, अनुबन्धलोपे, आद्यचो वृद्धौ भसंज्ञायां सत्याम् अकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'औदुम्बरः' इति सिद्धम् ।

कौशाम्बी—कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरीति विग्रहे कुशाम्बशब्दात् 'तेन निर्वृत्तम्' इत्यनेन अण्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, आद्यचो वृद्धौ—कौशाम्ब इति जाते, 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्'० इत्यादिना ङीपि, अनुबन्धलोपे, भत्वेन अकारलोपे सति 'कौशाम्बी' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'हल्ङ्यादिना०' सुलोपे—'कौशाम्बी' इति सिद्धम् ।

वैदिशम्—विदिशाया अदूरभवं नगरम् इति विग्रहे 'अदूरभवश्च' इत्यनेन अणि, अनुबन्धलोपे—'विदिशा+अ' इति जाते, आद्यचो वृद्धौ भत्वेन आकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च वैदिशम् इति सिद्धम् ।

कुमुद्वान्—कुमुदानि सन्त्यस्मिन् देशे इति विग्रहे कुमुदशब्दात् 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इत्यनेन ड्मतुप्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'झयः' इत्यनेन मस्य वादेशे, 'टि'लोपे सति अकारलोपेन 'कुमुद्वत्' शब्दात् प्रातिपदिकत्वेन सौ, उगित्वान्नुमि' अनुबन्धलोपे, उपधादीर्घे च—'कुमुद्वान्त्+सु' इति जाते 'हल्ङ्यादिना०'

सुलोपे, संयोगान्तलोपे—'कुमुद्वान्' इति सिद्धम्। संयोगान्तलोपस्य असिद्धत्वात् 'न'-लोपो न।

शैबः—शिवीनां निवासः देशः इति विग्रहे 'तस्य निवासः' इत्यणि, अनुबन्धलोपे, आदिवृद्धौ, भसंज्ञामाश्रित्य इकारलोपेन 'शैब' इति जाते सति प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचने 'सु' प्रत्यये, रुत्वे विसर्गे च 'शैबः' इति रूपं सिध्यति।

पारावारीणः—पारावारे जातः इति विग्रहे पारावारशब्दात् 'अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकसहकारेण 'राष्ट्रावारपाराद् घखौ' इत्यनेन खप्रत्यये 'आयनेयीनीयियः०' इत्यादिना खस्य ईनादेशे, भत्वेन अकारलोपे, नस्य णत्वे—'पारावारीण' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'पारावारीणः' इति सिद्धम्। एवमेव पारीणः, अवारीणः, अवारपारीणश्चेति रूपाणि विज्ञेयानि।

पौरस्त्यः—पुरः जातः इति विग्रहे पुरस्शब्दात् 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इत्यनेन त्यक्प्रत्यये अनुबन्धलोपे सति 'पुरस्+त्य' इति जाते, 'किति च' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ, पुनः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'पौरस्त्यः' इति सिद्धम्।

मामकीनः—मम अयम् इति विग्रहे अस्मद्शब्दात् 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इत्यनेन खञ्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, खस्य 'आयनेयी०' इत्यादिना ईनादेशे, 'तवकममकावेकवचने' इत्यनेन 'ममक' आदेशे सति ममक+ईन इति जाते भत्वेन अकारलोपे, आद्यचो वृद्धौ, विभक्तिकार्ये सति च 'मामकीनः' इति सिद्धम्।

त्वदीयः—तव अयम् इति विग्रहे युष्मच्छशब्दात् 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' इत्यनेन छप्रत्यये 'आयनेयीनीयियः०' इत्यादिना छस्य ईयादेशे, 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इत्यनेन मपर्यन्तस्य त्वादेशे—'त्व+अद्+ईय' इति जाते 'अतो गुणे' इत्यनेन पररूपे, पुनः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'त्वदीयः' इति सिद्धम्।

आधिदैविकम्—देवेषु अधि इति अधिदेवम् तत्र भवम् इति विग्रहे अधिदेवशब्दात् 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते' इत्यनेन ठञ्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, ठस्य इकादेशे, अधिदेव+इक इति जाते, भसंज्ञामाश्रित्य अन्त्याकारलोपेन 'अनुशतिकादीनाञ्च' इत्यनेन उभयपदवृद्धौ 'आधिदैविक' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च 'आधिदैविकम्' इति सिद्धम्।

भावत्कः—भवतः अयम्, भवतोः अयम्, भवताम् अयम् वा इति विग्रहे 'भवतष्ठक्छसौ' इत्यनेन ठक् प्रत्यये, 'इसुसुक्तान्तात्कः' इत्यनेन ठस्य 'क'इत्यादेशे, 'किति च' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ—भावत्कशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'भावत्कः' इति सिद्धम्।

प्रावृषेण्यः—प्रावृषि भवः इति विग्रहे 'प्रावृष एण्यः' इत्यनेन प्रावृष्शब्दात् एण्य प्रत्यये, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च प्रावृषेण्यः इति सिद्धम्। 'प्रावृषष्ठप्' इत्यनेन 'ठप्' प्रत्यये सति प्रावृषिकः इति रूपं निष्पद्यते।

शारीरकीयः—शरीरस्यायं शारीरः (तस्येदमित्यण्), शारीर एव शारीरकः (स्वार्थे कः)। ततः शारीरकमधिकृत्य कृतः ग्रन्थः इति विग्रहे 'शारीरक'शब्दात् 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यनेन छप्रत्यये 'आयनेयीनीयियः०' इत्यनेन ईयादेशे, भत्वेन अकारलोपे सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'शारीरकीयः' इति सिद्धम्।

काठकम्—कठस्येदमिति विग्रहे कठशब्दात् 'गोत्रचरणाद् वुञ्' इत्यनेन वुञ् प्रत्यये प्राप्ते 'चरणाद्धर्माम्नाययोरिति वक्तव्यम्' इति वार्तिकनियमात्—धर्मसूत्रेऽर्थे आम्नायसूत्रेऽर्थे वुञ् प्रत्यये सति अनुबन्धलोपे, 'युवोरनाकौ' इत्यनेन अकादेशे–'कठ+अक' इति जाते, आद्यचो वृद्धौ, भत्वेन अकारलोपे–'काठक' इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च काठकम्' इति सिद्धम् ।

आश्मः—अश्मनो विकारः इति विग्रहे अश्मन्शब्दात् 'तस्य विकारः' इत्यनेन अणि अनुबन्धलोपे, अश्मन्+अ इति जाते भत्वेन 'नस्तद्धिते' इत्यनेन टिलोपे प्राप्ते, 'अन्' इत्यनेन प्रकृतिभावे प्राप्ते सति 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन टिलोपे आद्यचो वृद्धौ 'आश्म' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च आश्मः इति सिद्धम् । **अश्ममयम्, आश्मनम्**—अश्मनः विकारः अवयवो वा इति विग्रहे 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः' इत्यनेन विकल्पेन मयट् प्रत्यये, नलोपे–'अश्ममय' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि, पूर्वरूपे अश्ममयम् इति सिद्धम् । मयडभावे सामान्यविवक्षायाम् अथवा अवयवार्थे च अणि अनुबन्धलोपे–'अश्मन्+अ' इति जाते, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेन आद्यचो वृद्धौ, भत्वेन 'नस्तद्धिते' इत्यनेन टिलोपे प्राप्ते सति 'अन्' इत्यनेन प्रकृतिभावे, पुनः प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे आश्मनम् इति सिद्धम् ।

गव्यम्—गोः विकारः अवयवो वेति विग्रहे 'गोपयसोर्यत्' इत्यनेन यति, अनुबन्धलोपे—गो+य इति जाते, 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन अवादेशे–'गव्य' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च गव्यम् इति सिद्धम् ।

आमलकम्—आमलक्याः फलम् इति विग्रहे 'मयड्वैतयोर्भाषायाम्०' इत्यादिना मयट् प्रत्यये 'फले लुक्' इत्यनेन तस्य लोपे 'एकविभक्तिचापूर्वनिपाते' इत्यनेनोपसर्जनसंज्ञायां 'लुक् तद्धितलुकि' इत्यनेन उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य च लुकि 'आमलक' इति जाते प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे आमलकम् इति सिद्धम् ।

जाम्बवम्, जम्बु, जम्बूः—जम्ब्वाः फलम् इति विग्रहे 'जम्ब्वाः वा' इत्यनेन विकल्पेन 'जम्बू'शब्दात् अण् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भत्वेन 'ओर्गुणः' इत्यनेन गुणे अवादेशे—'जाम्बव' इति जाते प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे 'जाम्बवम्' इति सिद्धम् । अणोऽभावे 'ओरञ्' इत्यनेन अञ्प्रत्यये तस्य 'फले लुक्' इत्यनेन लुकि, ह्रस्वे च 'जम्बु' इति जायते । पक्षे 'लुप् च' इत्यनेन अञो विकल्पेन लुपि सति 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' इत्यनेन युक्तवद्भावेन जम्बूः इति जायते । तेन जाम्बवम्, जम्बु, जम्बूः इति त्रीणि रूपाणि जायन्ते ।

माशब्दिकः—'माशब्दमाह' इति विग्रहे समस्त–माशब्दात् 'तदाहेतिमाशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्' इत्यनेन वार्तिकेन ठकि, अनुबन्धलोपे, 'ठस्येकः' इत्यनेन इकादेशे, भत्वेन अकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'माशब्दिकः' इति सिद्धम् ।

पारदारिकः—परदारान् गच्छति इति विग्रहे 'गच्छतौ परदारादिभ्यः' इत्यनेन 'परदार'(दारा)शब्दात् ठकि, ठस्य स्थाने इकि, 'किति च' इति आद्यचो वृद्धौ, भत्वेन अवर्णलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे चोक्तरूपं सिद्धम् ।

मारीचिकम्——मरीचेन संस्कृतम् इति विग्रहे मरीचशब्दात् 'संस्कृतम्' इत्यनेन ठकि, ठस्य इकादेशे, आद्यचो वृद्धौ, भत्वेन अकारलोपे—'मारीचिक' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन विभक्तिकार्ये 'मारीचिकम्' इति सिद्धम् ।

आस्तिकः——अस्ति परलोकः इति मतिर्यस्य इति विग्रहे अस्तिशब्दात् 'अस्ति-नास्ति दिष्टं मतिः' इत्यनेन ठकि, अनुबन्धलोपे, इकादेशे, आद्यचो वृद्धौ, भत्वेन इकारलोपे—'आस्तिक' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'आस्तिकः' इति सिद्धम् ।

शाक्तीकः——शक्तिः प्रहरणमस्य इति विग्रहे शक्तिशब्दात् 'शक्तियष्टयोरीकक्' इत्यनेन ईकक्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे—'शक्ति + ईक' इति जाते, 'किति च' इत्याद्यचो वृद्धौ, भत्वेन इकारलोपे, पुनः सुबुत्पत्तौ रुत्वे विसर्गे च शाक्तीकः इति सिद्धम् ।

आकरिकः—आकरे नियुक्तः इति विग्रहे आकरशब्दात् 'तत्र नियुक्तः' इत्यनेन ठकि, अनुबन्धलोपे, ठस्य इकादेशे, भत्वेन अकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'आकरिकः' इति सिद्धम् ।

युग्यः——युगं वहतीति विग्रहे युगशब्दात् 'तद्वहतिरथयुगप्रासङ्गम्' इत्यनेन यत् प्रत्यये, अनुबन्धलोपेन युग्य इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'युग्यः' इति सिद्धम् ।

धुर्यः, धौरेयः——धुरं वहतीति विग्रहे 'धुरो यड्ढकौ' इत्यनेन 'धुर्'शब्दात् यत् प्रत्यये अनुबन्धलोपेन 'धुर्य' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च– 'धुर्यः' इति सिद्धम् । ढक् प्रत्यये सति ढस्य स्थाने 'आयनेयीनीयियः०' इत्यादिना एयादेशे, कित्वात् आद्यचो वृद्धौ सत्यां 'धौरेय' शब्दात् सौ, रुत्वे विसर्गे च धौरेयः इति सिद्धम् ।

नाव्यम्——नावा तार्यमिति विग्रहे नौशब्दात् 'नौवयोधर्मविष०' इत्यादिना सूत्रेण यति, अनुबन्धलोपे–'नौ + य' इति जाते, 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन आवादेशे– 'नाव्य' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे 'नाव्यम्' इति सिद्धम् ।

मूल्यः——मूलेन समः इति विग्रहे मूलशब्दात् 'नौवयोधर्मविषमूल०' इत्यादिना यत् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भत्वेन 'यस्येति च' इत्यनेन अकारलोपे मूल्य इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च मूल्यः इति सिद्धम् ।

सभ्यः——सभायां साधुः इति विग्रहे सभाशब्दात् 'सभाया यः' इत्यनेन यप्रत्यये भसंज्ञामाश्रित्य 'यस्येति च' इत्यनेन आकारलोपे, पुनः 'सु' विभक्त्युत्पत्तौ, रुत्वे विसर्गे च सभ्यः इति सिद्धम् ।

नभ्यम्——नाभये हितम् इति विग्रहे नाभिशब्दात् 'उगवादिभ्यो यत्' इत्यनेन यत् प्रत्यये, 'नाभिनभञ्च' इति गणसूत्रानुसारेण 'नाभि' शब्दस्य स्थाने नभ आदेशे-न 'नभ + य' इति जाते, संज्ञायाम् अकारलोपेन–'नभ्य' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन पुनः विभक्त्युत्पत्तौ पूर्वरूपे नभ्यम् इति सिद्धम् ।

शून्यम्——शुने हितम् इति लौकिके विग्रहे 'उगवादिभ्यो यत्' इत्यनेन 'श्वन्'-शब्दात् यत् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे–'श्वन् + य' इति जाते 'शुनः सम्प्रसारणं वा च

दीर्घत्वम्' इति वार्तिकेन वस्य सम्प्रसारणेन उकारे, पूर्वरूपे, विकल्पेन दीर्घे सति–शून्य इति जाते, पुनः विभक्त्युत्पत्तौ सोरमि, पूर्वरूपेण 'शून्यम्' इति सिद्धम् ।

दन्त्यम्––दन्ताय हितम् इति लौकिके विग्रहे 'शरीरावयवाद्यत्' इत्यनेन दन्त-शब्दात् यति प्रत्यये अनुबन्धलोपेन–'दन्त + य' इति जाते, भसंज्ञायाम् अकारलोपेन–'दन्त्य' इति जाते, पुनः 'सु' विभक्त्युत्पत्तौ, सोरमि पूर्वरूपे च 'दन्त्यम्' इति सिद्धम् ।

आत्मनीनम्––आत्मने हितमिति लौकिकविग्रहे आत्मन्––शब्दात् 'आत्मन्विश्व-जनभोगोत्तरपदात्खः' इति सूत्रेण खप्रत्यये 'आयनेयीनीयियः०' इत्यादिना खस्य ईनादेशे–'आत्मन् + ईन' इति जाते, भत्वे 'नस्तद्धिते' इत्यनेन टेर्लोपे प्राप्ते, 'आत्माध्वानौ खे' इति सूत्रेण प्रकृतिभावे सति समुदायस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि, पूर्वरूपे च 'आत्मनीनम्' इति सिद्धम् ।

मातृभोगीणः––मातृभोगाय हितम् इति लौकिके विग्रहे 'आत्मन्विश्वजनभोगो-त्तरपदात्खः' इत्यनेन मातृभोग-शब्दात् 'ख' प्रत्यये, खस्य ईनादेशे–'मातृभोग + ईन' इति जाते, भसंज्ञामाश्रित्य अकारलोपे सति मातृभोगीन इत्यवस्थायां 'कुमति च' इत्यनेन नस्य णत्वे, पुनः विभक्त्युत्पत्तौ रुत्वे विसर्गे च मातृभोगीणः इति सिद्धम् ।

अर्घ्यः––अर्घमर्हतीति विग्रहे अर्घशब्दात् 'दण्डादिभ्यो यत्' इति सूत्रेण यत्प्रत्यये भसंज्ञामभिलक्ष्य 'अ'कारस्य लोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'अर्घ्यः' इति सिद्धम् ।

आह्निकम्––अह्ना निर्वृत्तम् इति विग्रहे 'तेन निर्वृत्तम्' इत्यनेन ठकि प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, कित्वादाद्यचो वृद्धौ सत्यां भत्वात् 'अल्लोपोऽनः' इति सूत्रेणाकारलोपे, 'आह्निक' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि, पूर्वरूपे––'आह्निकम्' इति सिद्धम् ।

सार्वभौमः––सर्वभूमेरीश्वरः इति विग्रहे सर्वभूमि––शब्दात् 'तस्येश्वरः' इत्यनेन अणि, अनुबन्धलोपे, 'अनुशतिकादीनां च' इति सूत्रेण उभयपदवृद्धौ, भत्वादिकारलोपे सति सार्वभौम इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च सार्वभौमः इति सिद्धम् ।

प्रथिमा––पृथोर्भावः इति विग्रहे पृथुशब्दात् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इत्यनेन 'इमनिच्' प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इत्यनेन ऋकारस्य स्थाने रकारे भत्वाट्टिलोपेन प्रथिमन् इति जाते, ततः पुनः प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इत्यनेन दीर्घे, हल्ङ्यादिना सुलोपे, ततो नलोपे च––'प्रथिमा' इति सिध्यति । पक्षे 'तस्य भावस्त्वतलौ' इत्यनेन त्वप्रत्यये तल् प्रत्यये वा सति पृथुत्वम्––पृथुता इति रूपद्वयम् । पक्षे 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यनेन अणि अनुबन्धलोपे, आद्यचो वृद्धौ, भत्वात् 'ओर्गुणः' इत्यनेन उकारस्य गुणे, अवादेशे च 'पार्थव' इति जाते सति पुनः विभक्त्युत्पत्तौ, अमि पूर्वरूपे च पार्थवम् इति सिद्धम् ।

पौरोहित्यम्––पुरोहितस्य भावः कर्म वेति विग्रहे 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इत्यनेन यकि, अनुबन्धलोपे, कित्वादाद्यचो वृद्धौ, भत्वादकारलोपे सति पौरोहित्य इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च पौरोहित्यमिति सिद्धम् ।

रामणीयकम्—रमणीयस्य भावः कर्म वेति विग्रहे रमणीयशब्दात् 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इत्यनेन वुञ्-प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, 'युवोरनाकौ' इत्यनेन वु प्रत्ययस्य स्थाने अकादेशे, अनुबन्धलोपे, कित्त्वादाद्यचो वृद्धौ, भत्वादकारलोपेन 'रामणीयक' इति समुदायस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च 'रामणीयकम्' इति सिद्धम् ।

सैनापत्यम्—सेनापतेः भावः कर्म वेति विग्रहे सेनापतिशब्दाद् 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इत्यनेन यकि, अनुबन्धलोपे, कित्वादाद्यचो वृद्धौ, भत्वादिकारलोपे सति पुनः प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च सैनापत्यम् इति सिध्यति ।

सर्वाङ्गीणः—सर्वाङ्गानि व्याप्नोतीति विग्रहे सर्वाङ्गशब्दात् 'तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति' इत्यनेन खप्रत्यये, खस्य ईनादेशे, भत्वादकारलोपे, सर्वाङ्गीन इति जाते, नस्य णत्वे, पुनः समुदायस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'सर्वाङ्गीणः' इति सिद्धम् ।

कर्मठः—कर्मणि घटते इति विग्रहे कर्मन्-शब्दात् 'कर्मणि घटोऽठच्' इत्यनेन अठचि, अनुबन्धलोपे सति कर्मन् + अठ इति जाते भत्वाट्टिलोपेन 'कर्मठ' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'कर्मठः' इति सिद्धम् । अत्र ठस्य इकादेशो न भवति अङ्गसंज्ञक-कर्मन्शब्दात्तस्य परत्वाभावात् । 'कर्मन्' शब्दात् परस्तु अकारो वर्तते ।

पण्डितः—सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा । पण्डा सञ्जाता यस्येति विग्रहे पण्डा शब्दात् 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इत्यनेन इतचि, अनुबन्धलोपे, भत्वादाकारलोपे सति 'पण्डित' इत्यस्य प्रतिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च पण्डितः इति सिद्धम् ।

कियान्—किम्परिमाणमस्येति विग्रहे किम् शब्दात् 'किमिदभ्यां वो घः' इत्यनेन वतुप् प्रत्यये 'किम् + वतुप्' इति जाते, अनुबन्धलोपे, वकारस्य स्थाने घकारादेशे सति घस्य 'आयनेयी०' इत्यादिना सूत्रेण 'इय्' आदेशे, 'इदं किमोरिश्की' इत्यनेन किमः स्थाने 'की' आदेशेन 'की + इयत्' इति जाते, भसंज्ञामाश्रित्य ईकारलोपे सति 'कियत्' इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ परतः उगित्वान्नुमि—'कियन्त् + सु' इति जाते, उपधादीर्घे, हल्ङ्यादिना सुलोपे, संयोगान्तलोपे, 'कियान्' इति सिध्यति ।

विंशः—विंशतेः पूरणः इति विग्रहे 'विंशति'शब्दात् 'तस्य पूरणे डट्' इत्यनेन डटि, अनुबन्धलोपे, 'तिविंशतेर्डिति' इत्यनेन तिलोपे—'विंश + अ' इत्यवस्थायां पररूपेण 'विंश' इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'विंशः' इति सिद्धम् । नान्तत्वाभावात् मडागमो न भवति ।

षष्ठः—षण्णां पूरणः इति विग्रहे 'षष्'शब्दात् 'तस्य पूरणे डट्' इत्यनेन डटि, अनुबन्धलोपे 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' इत्यनेन थुगागमे, अनुबन्धलोपे—षष् + थ् + अ' इति जाते, ष्टुत्वेन 'षष्ठ' इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'षष्ठः' इति रूपं निष्पद्यते ।

चतुर्थः, तुरीयः, तुर्यः—चतुर्णां पूरणः इति विग्रहे चतुर्शब्दात् 'तस्य पूरणे डट्' इत्यनेन डटि 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' इत्यनेन थुकि, अनुबन्धलोपे, चतुर्थ इति जाते सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च चतुर्थः इति सिद्धम् । पक्षे

'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' इत्यनेन वार्तिकेन 'छ'प्रत्यये 'यत्'–प्रत्यये वा कृते सति उभयत्र आद्यक्षरस्य चस्य लोपे च जायमाने क्रमशः तुर्+छ, तुर्+य इत्यवस्थायां छस्य ईयादेशेन 'तुरीय' इति, यत् प्रत्यये च 'तुर्यं' इति च प्रातिपदिकयोः सौ रुत्वे विसर्गे च क्रमशः तुरीयः, तुर्यः इति च रूपद्वयेनेष्टसिद्धिः।

श्रोत्रियः—छन्दोऽधीते इत्यस्मिन्नर्थे 'श्रोत्रियन्' इति निपात्यते। निपातनस्य तावत् किं स्वरूपम् इति जिज्ञासायाम् आचार्यैः एवमुपकल्पितम्—छन्दःशब्दस्य 'श्रोत्रादेश'-निपातनम्, अधीते अर्थे 'घन्' प्रत्ययात्मकं निपातनम्। तथा च अनुबन्ध-लोपे, घस्य इयादेशे, भत्वादकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'श्रोत्रियः' इति सिद्धम्।

कृतपूर्वी—कृतम्पूर्वमनेन इति विग्रहे सुप्सुपेति समासनिष्पन्नात् कृतपूर्वशब्दात् 'सपूर्वाच्च' इत्यनेन इनि प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भत्वादकारलोपे सति कृतपूर्विन् शब्दात् प्रातिपदिकत्वेन सौ, नान्तत्वाद्दीर्घे, हल्ङ्याादिना सुलोपे, नलोपे च 'कृतपूर्वी' इति सिद्धम्।

साक्षी—साक्षात् द्रष्टा इत्यर्थे 'साक्षात्' इत्यव्ययात् 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इत्यनेन इनि प्रत्यये, अनुबन्धलोपे—'साक्षात्+इन्' इति जाते, भसंज्ञामाश्रित्य 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इत्यनेन टिलोपे 'साक्षिन्' इति जाते, पुनः विभक्त्युत्पत्तौ सत्यां नान्तत्वाद् दीर्घे, हल्ङ्यादिना सुलोपे, नलोपे च 'साक्षी' इति सिद्धम्।

द्वितीयः—द्वयोः पूरणः इति विग्रहे द्विशब्दात् डटं प्रबाध्य 'द्वेस्तीयः' इत्यनेन तीयप्रत्यये द्वितीय इति जाते, विभक्तिकार्ये च द्वितीयः इति सिद्धम्।

विदुष्मान्—विद्वांसः सन्त्यस्मिन्निति विग्रहे 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इत्यनेन मतुप्–प्रत्यये, अनुबन्धलोपेन 'विद्वस्+मत्' इति जाते सति 'तसौ मत्वर्थे' इत्यनेन भसंज्ञायां 'वसोः सम्प्रसारणम्' इत्यनेन वकारस्य सम्प्रसारणेन उकारे पूर्वरूपे च, ततः सस्य षत्वेन 'विदुष्मत्'शब्दात् प्रातिपदिकत्वेन सौ उगित्वान्नुमि, अनुबन्धलोपे, उपधादीर्घे, हल्ङ्यादिना सुलोपे, संयोगान्तलोपे, च 'विदुष्मान्' इति सिद्धम्।

फेनिलः—फेनः अस्त्यस्मिन्निति विग्रहे 'फेन'शब्दात् 'फेनादिलच्च' इत्यनेन इलच् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भत्वादकारलोपे सति फेनिल्शब्दात् प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च—'फेनिलः' इति सिद्धम्। लच्-प्रत्यये सति फेनलः। पक्षे च मतुप्-प्रत्यये संयुक्ते सति 'फेनवान्' इति त्रीणि रूपाणि जायन्ते।

द्रुमः—द्रुः (शाखा) अस्यास्तीति विग्रहे 'द्रु'शब्दात् 'द्युद्रुभ्यां मः' इत्यनेन म-प्रत्ययेन 'द्रुम' इति प्रातिपदिकेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'द्रुमः' इति सिद्धम्।

केशवः—केशाः सन्त्यस्येति विग्रहे केशशब्दात् 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन 'व' प्रत्ययेन 'केशव' इति जाते सति विभक्तिकार्येण केशवः इति सिद्धम्। पक्षे इनि-ठनौ–'केशी-केशिकः'। पक्षे मतुप्—केशवान्। एवं पञ्च रूपाणि बोध्यानि।

दन्तावलो हस्ती—दन्ताः सन्त्यस्येति विग्रहे 'दन्तशब्दात् 'दन्तशिखात् सञ्ज्ञायाम्' इत्यनेन वलचि, अनुबन्धलोपेन 'दन्तवल' इत्यवस्थायां 'वले' इत्यनेन अकारस्य दीर्घे 'दन्तावल' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'दन्तावलः' इति सिद्धम्।

शुभंयुः—शुभमस्यास्तीति विग्रहे 'शुभम्'—शब्दात् 'अहं शुभमोर्युस्' इत्यनेन

युस्-प्रत्यये, अनुवन्धलोपे, मस्यानुस्वारेण शुभंयु–इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'शुभंयुः' इति सिद्धम् ।

वर्णी—वर्णोऽस्यास्तीति विग्रहे वर्णशब्दात् 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इत्यनेन इनि-प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भत्वादकारलोपेन 'वर्णिन्' इति जाते, ततः विभक्त्युत्पत्तौ सत्यां उपधादीर्घे, हल्ङ्यादिना सुलोपे, नलोपे च—'वर्णी' इति सिद्धम् ।

क्व, कुत्र, कस्मिन्—कस्मिन् स्थाने इति विग्रहे 'किम्' शब्दात् 'किमोऽत्' इत्यनेन अत् प्रत्यये, अनुवन्धलोपे, विभक्तिलोपे, 'क्वाति' इत्यनेन 'क्व' आदेशे सति क्व+अ इति जाते, भसंज्ञायां टिलोपेन 'क्व' इति जाते, प्रातिपदिकत्वे अव्ययत्वेन सुलोपे 'क्व' इति सिद्धम् । कस्मिन्निति विग्रहे 'किम्' शब्दात् 'सप्तम्यास्त्रल्' इत्यनेन त्रलि, अनु-बन्धलोपे, विभक्तिलोपेन 'किम्+त्र' इति जाते, 'कु तिहोः' इत्यनेन किमः 'कु'इत्या-देशेन 'कुत्र' इति जाते प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, अव्ययत्वेन विभक्तिलोपे सति उक्त-रूपं सिध्यति । अत्त्रलोरभावे कस्मिन्नित्येवावशिष्यते ।

कदा—कस्मिन्काले इति विग्रहे 'किम्'शब्दात् 'सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा' इत्यनेन 'दा'प्रत्यये 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इत्यनेन दाप्रत्ययस्य विभक्तिसंज्ञायां 'किमः कः' इत्यनेन किमः कादेशेन कदा इति जाते सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, अव्ययत्वेन विभक्तेर्लुकि सति कदा इति सिध्यति ।

एतर्हि—एतस्मिन्निति विग्रहे इदम्शब्दात् 'इदमो र्हिल्' इत्यनेन 'र्हिल्' प्रत्यये 'एतेतौ रथोः' इत्यनेन 'एत' इत्यादेशेन 'एतर्हि'-इति जाते सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, अव्ययत्वात् सुलोपेन 'एतर्हि' इति सिद्धम् ।

तर्हि—तस्मिन् काले इति विग्रहे 'तद्' शब्दात् 'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' इत्य-नेन 'र्हिल्' प्रत्यये सति अनुबन्धलोपेन 'तद्+र्हि' इति जाते, 'त्यदादीनामः' इत्यनेन अकारादेशे 'अतो गुणे' इत्यनेन च पररूपे सति पुनः आगतायाः विभक्तेः अव्ययत्वात् लोपेन उक्तरूपं सिद्धम् ।

इत्थम्—'अनेन प्रकारेण' अथवा 'एतेन प्रकारेण' इति विग्रहे 'इदमस्थमुः' इत्य-नेन 'थमु'-प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, सुपो लुकि सति—'इदम्+थम्' इति जाते, 'एतेतौ रथोः' इत्यनेन इदमः इदादेशेन इत्थम् इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, अव्ययत्वात् सुलोपे च उक्तरूपं सिद्धम् । एवमेव एतत्-शब्दात् 'एतदोऽपि वाच्यः' इत्यनेन थमु प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, सुपो लुकि सति 'एतद्+थम्' इत्यवस्थायाम् 'एतेतौ रथोः' इत्यनेनैव एतदः योगविभागात् इदादेशे सति पूर्ववत् इत्थम् इति भवेत् ।

उभयद्युः—उभयस्मिन् अहनि इति विग्रहे उभयशब्दात् 'द्युश्चोभयाद् वक्तव्यः' इत्यनेन द्युस् प्रत्यये सति उभयद्युस् इति जाते सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, अव्ययत्वेन सुलोपे, सकारस्य रेफे विसर्गे च उक्तरूपं सिध्यति ।

पुरस्तात्—पूर्वस्यां पूर्वस्याः पूर्वा वा दिक् इत्यस्मिन् विग्रहे पूर्वशब्दात् 'दिक्-शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' इत्यनेन अस्ताति-प्रत्यये—पूर्व+अस्तात् इति जाते, 'अस्ताति च' इत्यनेन सूत्रेण 'पूर्व' शब्दस्य स्थाने 'पुर्' इत्यादेशे सति अव्ययत्वेन आगतायाः विभक्तेः लुकि सति पुरस्तात् इति सिद्धम् ।

चतुर्धा—चतुर्भिः प्रकारैः इति विग्रहे चतुर्-शब्दात् 'संख्याया विधार्थे धा' इत्यनेन धा प्रत्यये चतुर्धा इति जाते सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, अव्ययत्वेन सुलोपे–'चतुर्धा' इति सिद्धम्।

लघीयान्—'इमौ लघू, अयमेतयोः अतिशयेन लघुः' इति विग्रहे 'लघु' शब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' इत्यनेन ईयसुन्-प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, भत्त्वात् 'टि'लोपेन 'लघीयस्' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, उगित्वान्नुमि 'लघीयन्स् + सु' इत्यवस्थायां नान्तत्वाद्दीर्घे हल्ङ्यादिना सुलोपे, संयोगान्तलोपे च लघीयान् इति सिद्धम्।

श्रेष्ठः—'इमे प्रशस्याः, एतेषु अयमतिशयेन प्रशस्यः' इति विग्रहे प्रशस्य-शब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यनेन 'इष्ठन्' प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, 'प्रशस्यस्य श्रः' इत्यनेन 'श्र'-इत्यादेशेन 'श्र + इष्ठ' इत्यवस्थायां टिलोपे प्राप्ते सति 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यनेन प्रकृतिभावेन 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे सति श्रेष्ठ इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'श्रेष्ठः' इति सिद्धम्। 'ईयसुन्'–प्रत्यये सति अनुबन्धलोपे 'प्रशस्य + ईयस्' इति जाते, श्र इत्यादेशेन 'श्र + 'ईयस्' इति जाते, प्रकृतिभावेन 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणेन 'श्रेयस्' इति जाते, प्रातिपदिकत्वात् सौ उगित्वान्नुमि, अनुबन्धलोपे 'श्रेयन्स् + सु' इति जाते उपधादीर्घे, हल्ङ्यादिना सुलोपे, संयोगान्तलोपे सति 'श्रेयान्' इति सिद्धम्।

स्थविष्ठः—'इमौ स्थूलौ, एतयोरयमतिशयेन स्थूलः' इति विग्रहे स्थूलशब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यनेन इष्ठन् प्रत्यये, अनुबन्धलोपेन 'स्थूल + इष्ठ' इति जाते सति 'स्थूलदूरयुवह्रस्व०' इत्यादिना लकारस्य लोपे सति गुणे अवादेशे च जायमाने स्थविष्ठ इत्यवस्थायां प्रातिपदिकत्वेन सौ, अनुबन्धलोपे, सस्य रुत्वे विसर्गे च स्थविष्ठः इति सिद्धम्।

विद्वद्देशीयः—'ईषदूनः विद्वान्' इति विग्रहे विद्वस्-शब्दात् 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इत्यनेन देशीयर्–प्रत्यये सति विद्वस् + देशीय इत्यवस्थायां दश्त्वेन विद्वद्देशीय इति जाते सति प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'विद्वद्देशीयः' इति सिद्धम्।

कुटीरः—ह्रस्वा कुटी इति विग्रहे 'कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः' इत्यनेन र प्रत्यये, पुनः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'कुटीरः' इति सिद्धम्।

एकतमः—एषामेकः इति विग्रहे एकशब्दात् 'एकाच्च प्राचाम्' इत्यनेन डतमच् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, टिलोपेन एकतमशब्दात् विभक्तिकार्ये सम्पद्यमाने सति एकतमः इति सिद्धम्।

मृत्तिका—मृदेव इति विग्रहे 'मृद्' शब्दात् 'मृदस्तिकन्' इत्यनेन तिकन् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, चर्त्वेन मृत्तिक इति जाते सति टापि, सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे सति मृत्तिका इति सिद्धम्।

बहुशः—बहूनि बहुभ्यो वा ददाति इति विग्रहे बहुशब्दात् 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' इत्यनेन शस् प्रत्यये सति 'बहुशस्' इति जाते, प्रातिपदिकत्वेन सौ, अव्ययत्वात् सुलोपे, सस्य रुत्वे विसर्गे च–'बहुशः' इति सिद्धम्।

पटपटा करोति—पटत् करोतीति विग्रहे 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' इत्यनेन डाचः प्रागेव द्वित्वे पटत् पटत् इति जाते, ततः 'अव्यक्तानुकरणाद् द्वयज०' इत्यादिना डाचि, अनुबन्धलोपे, डित्वाट्टिलोपे, 'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' इत्यनेन तकारपकारयोः पररूपेण 'पटपटा' इति जाते सति प्रातिपदिकत्वात् सौ, अव्ययत्वात् सुलोपे 'पटपटा करोति' इति रूपं निष्पद्यते।

बीजा करोति—बीजेन सह विलेखनं करोतीति विग्रहे 'कृञो द्वितीयतृतीयशम्ब-बीजात् कृषौ' इत्यनेन डाचि प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, डित्वात् टिलोपेन बीजा इति जाते, प्रातिपदिकत्वात्सौ परतः अव्ययत्वात् सुलोपेन 'बीजा करोति' इति सिद्धम्।

एकैकया आहुत्या जुहोति—एकया एकया इति विग्रहे एक-शब्दस्य 'नित्यवीप्सयोः' इत्यनेन द्वित्वे, 'एकं बहुव्रीहिवत्' इत्यनेन समुदायस्य बहुव्रीहिवद्भावेन प्रातिपदिकत्वात् सुपो लुकि सति एकाएका इति जाते पूर्वस्थितस्य एकाशब्दस्य पुंवद्भावे, वृद्धौ सत्याम् एकैका इति जाते, ततः प्रातिपदिकत्वेन टा-विभक्तौ आगतायाम् 'आङि चापः' इत्यनेन आकारस्य एत्वे, अयादेशे च एकैकया इति सिद्धम्।

गतगतः—कालः गतः (प्रियं वस्तु विनेति शेषः, विरहवेदनया पीड्यमानस्येय-मुक्तिः) इति विग्रहे गतशब्दस्य 'आबाधे च' इत्यनेन द्वित्वे सति 'गतः गतः' इत्यत्र बहुव्रीहिवद्भावात् सुपो लुकि, पुनः प्रातिपदिकत्वेन सौ, रुत्वे विसर्गे च 'गतगतः' इति सिद्धम्।

अन्योऽन्यम्—अन्यम् इत्यस्य 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहु-लम्' इति वार्तिकबलाद् द्वित्वेन 'अन्यम्-अन्यम्' इति जाते सति यदा न समासवद्भावः तदा 'असमासवद्भावे पूर्वपदस्य सुर्वक्तव्यः' इति पूर्वपदस्य सु—विभक्तौ, सस्य रुत्वे, 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्यनेन रोः उत्वे, अन्य+उ+अन्य इति जाते 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे पूर्वरूपे च 'अन्योन्य इत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च 'अन्योऽन्यम्' इति सिद्धम्।

इति रूपदीपिका समाप्ता।



पङ्क्तिदीपिका

विभाषाधिकारस्य किं प्रयोजनम् ? 'विभाषा' इति अधिकारसूत्रं विद्यते। ननु एकार्थीभावे समासस्य व्यपेक्षायां वाक्यस्य च सिद्धौ सूत्रमिदं व्यर्थमिति चेत् ? न। लक्षणैकचक्षुष्कान् प्रति एकार्थीभावस्य नित्यत्वम्, क्व पाक्षिकत्वम्, अप्रवर्तनम् क्व— एतद् सर्वम् अवबोधनार्थं 'विभाषा' इति सूत्रस्याऽऽवश्यकत्वात्। इतः प्रागेव 'विभाषा' अधिकारस्य यद्यपि कर्तुमुचितम्, तथापि अत्र एतत्करणसामर्थ्यादितः पूर्वेषां नित्यत्वमेवेत्यवगम्यते। न चैवं 'सुप् सुपा' इत्यस्याऽपीतःपूर्वत्वान्नित्यत्वाऽऽपत्तिरिति वाच्यम्। तथा सति अनेनैव सिद्धे 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना समासविधानस्यैव व्यर्थत्वापत्तेरिति दिक्।

'द्विगुश्च' इति सूत्रं कथं त्यक्तुं शक्यते, तद् दर्शयित्वा द्विगोस्तत्पुरुषत्वे किम्फलमित्यपि दर्शय।

ननु 'तत्पुरुषः' इत्यधिकारसूत्राऽनन्तरं 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुश्च' इति सूत्रकरणाच्चकारबलेन द्विगुतत्पुरुषयोः समावेशः स्यात्। न च चकारस्योक्तसञ्ज्ञाद्वयपर्य्यायार्थत्वेन समुच्चयार्थत्वाऽभावात्कथमुभयोः समावेशः स्यादिति वाच्यम्। 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः' इति योगं विभज्य पूर्वेण 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यत्रोक्तस्य संख्यापूर्वस्य तत्पुरुषसञ्ज्ञाविधानसामर्थ्यादेव पर्य्यायित्वसिद्धौ चकारस्य सञ्ज्ञाद्वयसमावेशार्थत्वाक्षतेः। एवञ्च 'द्विगुश्च' इति सूत्रं त्यक्तुं शक्यते। द्विगोस्तत्पुरुषत्वे फलम्—पञ्चानां राज्ञां समाहार इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः, तस्य तत्पुरुषत्वात् 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति टच्। 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकम्। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम्' इति तु न भवति, समासान्तस्य टचः समुदायावयवत्वेन उत्तरपदावयवत्वाभावादिति दिक्।

'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इति वाक्यस्याशयो लेख्यः।

'पदं पदं प्रति विहिता' इति विग्रहे प्रतिपदविधाना इतिशब्दस्य कारकविशेषोपादानेन विहितेत्यर्थः विवक्षितः। 'षष्ठी शेषे' इत्येतद्विहितषष्ठ्यतिरिक्ता सर्वाऽपि षष्ठी प्रतिपदविधानेत्युच्यते, सा न समस्यत इति तदर्थः। ननु 'न निर्धारणे' इत्यनेन निर्धारणविहितषष्ठ्याः समासो निषिध्यते, वार्तिकेनापि प्रतिपदविधानषष्ठ्याः समासो निषिध्यते। एवञ्च शेषषष्ठ्यतिरिक्तायाः सर्वस्या अपि षष्ठ्याः प्रतिपदविधानत्वाद्वार्तिकेनैवोक्तसूत्रप्रयोजनस्य गतार्थत्वात्सूत्रं व्यर्थमिति चेद् ? उच्यत। 'यतश्च निर्धारणम्' इत्यनेन षष्ठ्या अविधानेन सप्तम्या एव विधानादनया तस्या बाधाऽभावाय तत्प्रतिप्रसवात्तत्र सम्बन्धसामान्य एव षष्ठ्या विधानात्तस्याश्च अप्रतिपदविधित्वाद्वार्तिकेन गतार्थत्वासंभवात् सूत्रस्य सार्थक्यादिति बोध्यम्।

'तक्षकस्य सर्पस्य' इति प्रयोगस्य वैशिष्ट्यम् उपपादय।

अत्र तक्षकस्येति षष्ठ्यन्तस्य सर्पस्येति समानाधिकारणेन सह 'पूरणगुण' इति समासनिषेधात्समासो न भवति। ननु षष्ठीसमासस्य निषेधेऽपि 'विशेषणं विशेष्येण

बहुलम्' इति विशेषणसमासः कथं न स्यात्—इति चेद् न। तत्र बहुलग्रहणाद् विशेषसमासाप्रवृत्तेः। गोर्धेनोरित्यादिषु षष्ठीसमासः प्राप्तः, सोऽप्यनेन समानाधिकरणग्रहणेन वार्यते। ननु षष्ठीसमास एवात्र प्रसज्यते, 'पोटायुवति' इत्यादि विशेषविहितकर्मधारयेणात्र परस्यापि षष्ठीसमासस्य बाधितत्वादिति चेद्? न। 'पोटायुवति' इत्यादिविधयो गौर्धेनुरित्यादिप्रथमाविभक्त्यन्तेषु सावकाशाः, षष्ठीसमासस्तु 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ असमानाधिकरणे सावकाशः, गोर्धेनोरित्यादिषूभयं प्राप्तम्। तत्र पोटायुवतीत्यादिविधीन् बाधित्वा प्राप्तस्य षष्ठीसमासस्य समानाधिकरणग्रहणेनैव निषेधः सम्भवति।

'मध्याह्नः सायाह्नः' इत्युभयत्र एकदेशिसमासे किम्प्रमाणं कथञ्च तदिति विचारय।

ननु 'पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' इति सूत्रे पूर्वादीनामुपादानादेतेषामेवैकदेशानां समासः स्यादन्येषां न स्यात्तथा च मध्याह्नः सायाह्नः इत्यादिप्रयोगाः नैव सिद्ध्येरन् इति चेद्? न। 'संख्याविसाय०' ज्ञापनात् तत्सिद्धेः। एवं च—एकदेशिसमासमन्तरा सायंपूर्वकाह्नशब्दस्यालाभात् प्रकृतसूत्रेण ङौ परे अहनादेशविधानं व्यर्थं स्यात्, तदेव व्यर्थं सञ्ज्ञापयति 'सर्वोऽप्येकदेशोऽह्ना समस्यते' इति। तेन ज्ञापकेन 'मध्याह्नः' 'सायाह्नः' इत्यत्र एकदेशिसमासस्य सिद्धिः। नन्वेवं तर्हि 'मध्यरात्रः' 'पश्चिमरात्रगोचराः' इत्यादिषु केन समासः इति चेद्? प्रकृतज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वेन अत्रापि समाससिद्धिः। तदुक्तम्—'केचित्तु सर्वोऽप्येकदेशः कालेन समस्यते न त्वह्नैव, ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वात्। तेन 'मध्यरात्रः' 'उपारताः पश्चिमरात्रगोचरा' इत्यादि प्रयोगाश्च सिध्यन्ति।

'प्राप्तजीविका' इत्यत्र केन समासः, कथञ्च तस्य सिद्धिरिति प्रदर्शय।

जीविकां प्राप्ता या स्त्री (सा प्राप्तजीविका) इति विग्रहे 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' इति सूत्रेण समासे प्राप्तापदस्य दीर्घाकारस्य स्थाने ह्रस्वाकारे कृते सति प्रयोगः सिद्धयति। अन्यथा कर्मधारयसमासाभावेन 'पुंवत्कर्मधारय' इति सूत्राप्रवृत्या प्राप्तपदे ह्रस्वाकारो दुर्लभः स्यादतः 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' इत्यत्र अकारः प्रश्लेष्टव्यः, स च प्राप्ता आपन्ना अनयोरन्ते विधेय इति दिक्।

लिङ्गविशिष्टपरिभाषायां किम्प्रमाणम्? कथञ्च तदिति विचारय।

ननु "कुमारः श्रमणादिभिः" सूत्रे कुमारशब्दस्य पाठात्तस्य श्रमणादिभिः स्त्रीलिङ्गविशिष्टैः सह सामानाधिकरण्याऽभावात्कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणेति प्रयोगो न स्यादिति चेद्? न। 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया कुमारशब्देन कुमारीशब्दस्यापि ग्रहणात्तस्य च श्रमणादिशब्देन समानाधिकरणत्वात्समासे उक्तप्रयोगस्योपपत्तेः। श्रमणादिगणे 'श्रमणा–प्रव्रजिता' इत्यादिस्त्रीलिङ्गाः पठ्यन्ते, तेषाञ्च कुमार इति पुंल्लिङ्गेन सह सामानाधिकरण्यविरहात् समासविधानं व्यर्थं सञ्ज्ञापयति—'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति। तस्याः फलञ्च—'युवखलती' इत्यादि प्रयोगाणां सिद्धिः।

'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' इति परिभाषायां किम्प्रमाणम्? तस्याः फलञ्च किमित्येतत् सर्वं सम्यगुपपादय।

'उपपदमतिङ्' इति सूत्रे 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' इति सूत्रात्सुबिति प्रथमान्तं पदं 'सह सुपा' इति सूत्रात् सुपेति तृतीयान्तञ्च पदमनुवर्तते। एवञ्च उपपदं सुबन्तं सुबन्तेन सह समाससञ्ज्ञको भवतीत्यर्थे सति तिङन्तेन सह समासः निषिद्धश्चेतेति अतिङ्ग्रहणं व्यर्थं सत् 'सुपा' इति तृतीयान्तं पदम् अत्र नानुवर्तते इति ज्ञापयति।

एवमेव 'कुगतिप्रादयः' इति सूत्रे गतिग्रहणं पृथक्कृत्य तत्राऽतिङ्ग्रहणस्यापकर्षणेन गतिसंज्ञकोऽतिङन्तेन सह समाससञ्ज्ञको भवतीत्यर्थेन तत्रापि सुपेति तृतीयान्तपदस्य अनुवृत्तिः न विधेया। इत्थञ्च 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इति परिभाषा सिद्धा। फलानि च अस्याः–'व्याघ्री, अश्वक्रीती, कच्छपी' इति। तथा हि व्याजिघ्रतीति व्याघ्री इत्यत्र 'आतश्चोपसर्गे' इति कः, आङो घ्रशब्देन गतिसमासः। स यदि घ्रशब्दस्य सुबन्तताम‍पेक्षेत तर्हि सुबुत्पत्तये संख्याद्यपेक्ष्य ततः प्रागेव लिङ्गयोग इति लिङ्गनिमित्तेन टापा भाव्यम्, न तु ङीषा, 'घ्र'मात्रस्य जातित्वाभावात्। एवञ्च परिभाषाऽस्वीकारे 'व्याघ्रा' स्यात्। अश्वेन क्रीता इत्यत्र 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासे 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इति ङीषि 'अश्वक्रीती' इति भवति। सुबन्तेन समासे तु टाप् स्यात्। एवं कच्छेन पिवतीति 'कच्छपी' इत्यत्र 'सुपि' इति योगविभागात्मके उपपदसमासे जातित्वान्ङीषि च तत्सिद्धिः। सुबन्तेन सह समासे तु उक्तं रूपं न स्यादिति सङ्क्षेपः।

'आन्महतः' इत्यत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा प्रवर्तते न वा इति विचार्यताम्।

महतः सेवा 'महत्सेवा' इत्यादिषु षष्ठीसमासस्य लाक्षणिकत्वम्। 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इति सूत्रविहितसमासस्तु प्रतिपदोक्तः गण्यते। ततश्च 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इति परिभाषया 'महावैयाकरणः' इत्यत्रात्त्वं स्यात्, महतः सेवा 'महत्सेवा' इत्यत्र चात्त्वं न स्यात्, अतः 'समानाधिकरणेत्यंशः' प्रकृतसूत्रे व्यर्थमेव स्यात्। तदेव व्यर्थं सज्ज्ञापयति—'आन्महतः' इत्यत्र 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इति परिभाषा न प्रवर्तते' इति। तेन 'महाबाहुः' इत्यत्र 'महान्तौ बाहू यस्य' इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिसमासे 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' इति आत्त्वे 'महाबाहुः' इति रूपं सिध्यति। 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' इत्यत्र समानाधिकरणस्येदमेव प्रयोजनम् अस्ति।

'चित्राजरद्गुः' इत्यत्र पुंवद्भावव्यवस्था करणीया।

'चित्रा जरती गौर्यस्येति' त्रिपदे बहुव्रीहौ 'स्त्रियाः पुंवद्' इति विहितः पुंवद्भावश्चित्राशब्दे न प्रवर्तते, सूत्रस्यास्योत्तरपदप्रकरणस्थत्वाच्चित्राशब्दस्य च मध्यमेन जरतीशब्देन व्यवधानात् उत्तरपदपरकत्वाभावात्। उत्तरपदपरत्वात् मध्यमे जरतीशब्दे तु प्रवर्तत एव। न चात्र उत्तरपदशब्देन पूर्वपदस्याक्षेपात् जरतीशब्दस्य च पूर्वपदत्वाभावात् कथमिह पुंवत्त्वमिति वाच्यम्। 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' इति सूत्रवत् 'स्त्रियाः पुंवद्' इत्यत्रापि पूर्वपदस्यानाक्षेपात्। 'आनङ् ऋत' इति सूत्रे पूर्वपदस्यानाक्षेपे तु 'होतृपोतृनेष्टोद्गातारः' इत्युपान्तस्य नेष्टुरुदाहृत आनङ् भाष्यकारेण सङ्गच्छत इति दिक्।

सपत्नीशब्दः कतिविधः, तत्र पुंवद्भावे सति कानि रूपाणि भवन्ति, एतत् सर्वं निरूपय।

सपत्न्या अपत्यमित्यर्थे शत्रुपर्यायं विवाहनिवन्धनञ्च पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्ताभ्यां सपत्नीशब्दाभ्यां 'तस्यापत्यम्' इत्यणं वाधित्वा 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढकि प्राप्ते 'शिवादिभ्योऽण्' इत्यणि आद्यस्य सपत्नीशब्दस्य भाषितपुंस्कतया पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ सापत्न इति रूपम्। नकारस्य तु न निवृत्तिः, शत्रुपर्यायसपत्नशब्दस्य अव्युत्पन्नप्रातिपदिकतया तत्र नकारस्य स्त्रीत्वनिमित्तकत्वाभावात्। द्वितीयस्य तु ङीब्नत्वाभ्यामुत्पन्नस्य सपत्नीशब्दस्य शिवाद्यणि कृते भाषितपुंस्कत्वाभावात् न पुंवत्त्वम्; किन्तु ङीपो 'यस्येति च' इति लोपे 'सापत्न' इति रूपम्। सापत्यः—सपत्न्या अपत्यमित्यर्थे स्वामिपर्यायं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तात् सपत्नीशब्दात् 'तस्यापत्यम्' इत्यणं बाधित्वा 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्यप्रत्यये अस्य सपत्नीशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवत्त्वे सति ङीब्नत्वयोर्निवृत्तौ 'यस्येति च' इतीकारलोपे 'सापत्यः' इति रूपम्। न चात्र शिवाद्यण्' इति कथं नेति वाच्यम्। शिवादौ रूढयोरेव ग्रहणात्। शत्रुपर्यायं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तसपत्नशब्दो रूढः। विवाहनिवन्धनं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तस्तु योगरूढः। स्वामिपर्यायं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तस्तु केवलयौगिकः।

'ओर्गुणः' इत्यत्र 'ओरोत्' इति न्यासे को दोषः ?

ननु उकारस्थाने गुणः भवन् स्थानसाम्यादोकार एव भवति। ततश्च लाघवात् 'ओरोत्' इत्येव सिद्धे 'गुण' इति गुरुनिर्देशो व्यर्थ इति चेद्, न। 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति परिभाषायाः ज्ञापकत्वेन तस्य साफल्यात्। न चैवमपीह तद्धितसंज्ञापूर्वकत्वं दुर्वारमिति वाच्यम्। विधेयसमर्पकं पदं यत्र सञ्ज्ञारूपं स एव सञ्ज्ञापूर्वकविधिरित्यभ्युपगमात्। न च 'ओत्' इति 'तपरस्तत्कालस्य' सञ्ज्ञेति वाच्यम्। विधीयमानत्वादेव तत्कालत्वसिद्ध्या तकारस्य उच्चारणार्थत्वात्। स्वयम्भुवोऽपत्यमित्यर्थे अणि स्वायंभुवः सञ्ज्ञापूर्वकत्वेनानित्यत्वादोर्गुणाभावे उवङ् आदिवृद्धिश्चेति उभयं भवति।

कथं तर्हि 'विनसा हतबान्धवा' इति भट्टि-प्रयोगः ?

ननु विगता नासिका यस्येति विग्रहे अचि नसादेशे टापि च विनसेति भट्टिप्रयोगो न युज्यते। ग्रादेशस्यास्य नसादेशं प्रत्यपवादत्वादिति चेद् ? उच्यते—विगता नासिका इति प्रादिसमासः। अबहुव्रीहित्वात् न ग्रादेशः, किन्तु टायां 'पद्दन्' इति नसादेशे विनसेति तृतीयान्तं रूपम्। अत्र उपलक्षिता इत्यध्याहार्यम्।

'सुपां सुपा तिङा नाम्ना' इत्यादिकारिका सोदाहरणं व्याख्यायताम्।

सुबन्तानां सुवन्तेन, सुवन्तानां तिङा, सुबन्तानां प्रातिपदिकेन, सुबन्तानां धातुना च तिङन्तानां तिङन्तेन, तिङन्तानां सुबन्तेन च समासः—इत्येवं षड्विधः समासो ज्ञेयः इति कारिकार्थः। अथोदाहरणानि क्रमेण दीयन्ते—(१) राजपुरुषः—अत्र राज्ञः इति षष्ठ्यन्तस्य सुबन्तेन पुरुषेण सह समासः। (२) पर्यभूषयत्—अत्र परीति सुबन्तस्य अभूषयत् इति तिङन्तेन सह 'सह सुपा' इत्यत्र सहेति योगविभागात्समासः। (३) कुम्भकारः—अत्र 'उपपदमतिङ्' इति सूत्रेण कुम्भस्येति षष्ठ्यन्तस्य कारेति प्रातिपदिकेन समासः। (४) कटप्रूः—'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च' इति वार्तिकेन कटस्य 'प्रु' धातुना समासो निपातितः। (५) पिबतखादत—अत्र मयूरव्यंसकादित्वात् तिङन्तस्य तिङन्तेन सह समासः। (६) कृन्तविचक्षणा—कृन्त

विचक्षणं यस्यां क्रियायां सा क्रन्तविचक्षणा, अत्र क्रन्तेति तिङन्तस्य विचक्षण इति सुबन्तेन सह 'एहीडादयोऽन्यपदार्थे' इति मयूरव्यंसकादौ पाठात् समासः इत्यलम्।

'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इति पदं सशास्त्रं शङ्कानिरासपूर्वकं व्याख्येयम्।

ननु करीषस्य गन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहे 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति समासे, पूर्वखण्डे उत्तरस्य गन्धशब्दस्य लोपे च 'उपमानाच्च' इतीत्त्वे करीषगन्धिः, तस्यापत्यं स्त्री इत्यर्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यणि 'अणिञोरनार्षयोः' इति तस्य ष्यङादेशे, 'यस्येति च' इतीकारलोपे, आदिवृद्धौ' 'यङश्चाप्' इति चापि कारीषगन्ध्या इति भवति। ततश्च परमा च सा कारीषगन्ध्या च परमकारीषगन्ध्या, तस्याः पुत्र इति षष्ठीसमासे सुब्लुकि परमकारीषगन्ध्याः पुत्र इति स्थिते 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे' इति ष्यङः सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणस्य' इत्यनेन तस्य दीर्घे 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इति भवति। ननु अत्र सम्प्रसारणं दुर्लभम्, ष्यङः कारीषगन्धि-शब्दादेव विहितत्वेन परमकारीषगन्ध्याशब्दस्य पूर्वपदस्य ष्यङन्तत्वाभावात्प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणादिति चेद्? न। 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' इति परिभाषया तदादिनियमाभावात् परमकारीषगन्ध्याशब्दोऽपि ष्यङन्त एवेति तात्पर्यात्। कारीषगन्ध्यामतिक्रान्तः अतिकारीषगन्ध्यः, इत्यत्र 'अत्यादयः' इति समासे उपसर्जनह्रस्वः, तस्य पुत्रः अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः। अत्र 'स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमो न' इति निषेधो न भवति, अनुपसर्जन एव स्त्रीप्रत्यये तस्य निषेधस्य प्रवृत्तेः। स्त्रीप्रत्ययोऽत्र उपसर्जन एव। अतस्तत्र तदादिनियमसत्त्वात् अतिकारीषगन्ध्यशब्दो नैव ष्यङन्त इति न सम्प्रसारणमिति दिक्।

'माषकुम्भवापेन' 'चतुरङ्गयोगेन' इत्युभयत्र णत्वं कथं वारितं तत्प्रदर्शय।

माषाणां कुम्भो माषकुम्भः, तस्य वापः इति षष्ठीसमासः। अत्र निमित्तकार्यिणोः षकारनकारयोः कुम्भपदेन व्यवधानान्न णत्वम्। चतुरङ्गयोगेनेत्यत्र चत्वारि अङ्गानि रथगजतुरगपदातिरूपाणि यस्य तत् चतुरङ्गसैन्यम्, तेन योगः इति विग्रहः। अत्र निमित्तकार्यिणोरङ्गपदेन व्यवधानान्न णत्वम्। उभयत्रापि क्रमशः कुम्भशब्दस्य अङ्गशब्दस्य च प्रत्ययलक्षणेन अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वं वर्तते। 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः' इति निषेधस्तु नात्र प्रवर्तते, उत्तरखण्डस्य कार्यभाक्त्वे सत्येव तत्प्रवृत्तेः। अत एव 'न लुमताङ्गस्य' इत्यत्र परमवाचेत्येव तस्याः परिभाषाया उदाहरणमुक्तम्भाष्ये। अत्र हि वाक्छब्दस्य उत्तरपदस्य कुत्वरूपकार्यभाक्त्वमस्तीति तस्य अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वाभावात् कुत्वं न भवति। अत एव च 'कुमति च' इति सूत्रे भाष्ये माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, माषकुम्भस्य वापो माषकुम्भवापः तेन माषकुम्भवापेनेत्यत्र 'पदव्यवायेऽपि' इति निषेधप्रवृत्तये 'प्रातिपदिकान्त' इति णत्वप्रवृत्तिरुपन्यस्ता सङ्गच्छते। न चैवं सति रम्यविणा इत्यत्र वि इत्युत्तरखण्डस्य कार्यभाक्त्वाभावात् 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधस्याप्रवृत्तौ अन्तर्वर्तिविभक्त्याश्रयणेन पदत्वात् 'पदव्यवायेऽपि' इति णत्वनिषेधः स्यादिति वाच्यम्, पदे परे यत्पदं तेन व्यवाये णत्वं नेत्यर्थस्यैव भाष्यसम्मतत्वादिति दिक्।

'आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी बाधते' इति कथने किं तात्पर्यम्? 'तद्धितेष्वचामादेः' सूत्रम् 'अचो ञ्णिति' 'अत उपधायाः'—इति सूत्राभ्यां परमिति परत्वात्तयोरनेन बाधः।

अन्त्योगधावृद्धचोः गौः, पाचकः इत्यादाववकाशः। आदिवृद्धेस्तु सौश्रुतः इत्यादावव-काशः। 'औपगवः, त्वाष्ट्रः जागतः' इत्यादावुभयप्राप्तौ परत्वादादिरेवेति भावः। न चादिवृद्धचा परत्वादन्त्योपधावृद्धचोर्बाधेऽपि 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्सिद्धम्' इति न्यायेन पुनः कुतो न ते भवत इति वाच्यम्। अत्र लक्ष्याऽनुरोधात् 'सकृद्गतो' विप्रतिषेधेन यद् बाधितं तद् बाधितमेवे'त्यस्यैवाऽऽश्रयणात्। अनुशतिकादिगणे पुष्कर-सच्छब्दपाठस्योक्तार्थे ज्ञापकत्वं मानम्। तथा हि—पुष्करसच्छब्दात्पौष्करसादि-रित्यस्य सिद्धचर्थमनुशतिकादिषूक्तशब्दपाठः। आद्युपधावृद्धिभ्यामुक्तप्रयोगसिद्धा-वुक्तगणे उक्तशब्दपाठो व्यर्थीभूय ज्ञापयति—आदिवृद्धिरिति। तथा च आदिवृद्ध-चोपधावृद्धेर्बाधादुक्तप्रयोगाऽसिद्धचा तदर्थमुक्तगणे तत्पाठस्याऽऽवश्यकत्वेन स्वांशे चारि-तार्थ्यं जातम्। न च पुष्करसदा चरतीत्यर्थे ठकि पौष्करसादिक इत्येतत्प्रयोगसिद्धचर्थ-मनुशतिकादिषूक्तशब्दपाठस्याऽऽवश्यकत्वम्। न चोपधावृद्धचैवोक्तप्रयोगसिद्धौ तत्र पाठो व्यर्थ एवेति वाच्यम्। उपधावृद्धेर्ञ्णित्येव विधानादिति वाच्यम्। पुष्करसच्छ-ब्दाठ्ठोऽनभिधानात्। उक्तज्ञापकेन सत्यपि सम्भवे बाधनं भवतीत्यवश्यमाश्रयणीय-म्भवतीति बोध्यम्। ननूक्तज्ञापनेऽपि 'जागतः' इत्यादावुपधावृद्धेर्बाधोऽस्तु, 'औपगवः' इत्यत्रादिवृद्धिप्रवृत्त्यवसरे उपधावृद्धचप्राप्तचा कथन्तद्बाध इति चेन्न। जागत इत्यादावुपधावृद्धिबाधस्य निर्णये जाते कुत्रचित्कालान्तरप्राप्ताया अप्युक्तवृद्धेर्बाधस्य समुचितत्वादिति भावः।

तस्यापत्यमिति सूत्रस्य आवश्यकतां प्रतिपादय।

इदमर्थेऽपत्यसमूहविकारादीनामन्तर्भावादपत्येऽपि 'तस्येदमि'ति सूत्रेणाऽणः सिद्धौ किमर्थं 'तस्याऽपत्यमि'ति सूत्रम् इति प्रश्नस्य आशयः। न चास्य 'अत इञ्' इत्याद्यर्थ-मावश्यकमिति वाच्यम्। तस्य तदर्थकत्वेनाऽऽवश्यकत्वेऽपि तत्रैव पाठस्य युक्ततया योगविभागस्य नैरर्थक्यादित्याशङ्क्य समाधत्ते—**तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतम्भ-वेदिति**। तस्येदमित्येतद्बाधकस्य 'वृद्धाच्छः' इति सूत्रस्य बाधनार्थं तस्याऽपत्यमिति सूत्रं पृथक्कृतमिति तद्भावः। ननु 'अपत्यचतुरर्थीपर्यन्तेभ्योऽन्योऽर्थः शेषः' इति स्वीकारेण तस्येदमपीत्येत्सूत्रविहितस्याऽणः 'वृद्धाच्छः' इत्येतद्विहितस्य छस्य च शैषि-कत्वादपत्यार्थे प्रवृत्त्यभावात्कथन्तद्बाधनार्थत्वं योगविभागस्येत्यत आह—**उत्सर्गः शेष एवाऽसौ वृद्धान्यस्य प्रयोजनमिति**। उक्ततत्तत्प्रकृत्यर्थान्विताऽपत्याद्यर्थस्यैवोक्तत्वादुप-गवादेस्तद्भिन्नत्वेन शेषत्वादप्रवृत्तिरस्त्येवेति। तस्यापत्यमिति योगविभागे तु उपगव-पत्यत्वस्याऽनेनोक्तत्वाच्छेषत्वाऽभावेनाऽपवादस्य प्रसङ्ग एव नास्तीति अपवादाऽप्रवृत्ति-रूपोऽपवादः। ननु उपगवादेरवृद्धत्वेन वृद्धाद्विहितस्य छस्य स्वत एव प्रसङ्गो नास्तीत्या-शङ्कायामाह—**वृद्धाऽन्यस्य प्रयोजनमिति**। भान्वादिवृद्धप्रातिपदिकेभ्यः छाऽभावः प्रयोजनमिति तदाशयः।

'अपत्यं पौत्रप्रभृति०' इत्यादिसूत्रस्थम् अपत्यशब्दमभिलक्ष्य वैयाकरणैः कीदृशः विचारः कृतः ?

तथा च—आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियान्त्वमी।
आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोः समे॥

इति अमरकोषम् अनुसृत्य पुत्रदुहित्रोरेव अपत्यशब्दार्थता इत्येकः पक्षः। 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' इति सूत्रमभिलक्ष्य च पौत्रादीनामपि अपत्यशब्दार्थता इति द्वितीयः पक्षः। तदा 'पङ्क्तिविंशति' इत्यत्र भाष्ये न पतन्त्यनेनेत्यपत्यमिति व्युत्पत्तेः प्रदर्शनाद् बाहुलात्करणे 'यत्प्रत्ययेन' निष्पन्नस्याऽपत्यशब्दस्य क्रियानिमित्तत्वन्नतु पुत्रपर्यायत्वम्। तथा हि यस्य यन्निमित्तमपतनं तस्य तदपत्यमिति फलितम्। पितामहादीनामपतने पौत्रादेरपि हेतुत्वेन तेषामपत्यत्वम्भवति। प्रथमपक्षे प्रत्ययमालाव्यावृत्तये, द्वितीये स्वद्व्यूनसङ्ख्येभ्योऽनिष्टोत्पत्तिनिवृत्तये 'एको गोत्रे' इत्यस्मिन् सूत्रे **सूत्रमेतत्तथोत्तरमिति**—कथितम्।

तेन हि—पौत्रादीनामपत्यत्वेन विवक्षायामेव गोत्रसञ्ज्ञा स्यात्पौत्रत्वादिना विवक्षायां सा माभूदित्यर्थमपत्यग्रहणम्। तदा औपगव इत्यादावप्यणो गोत्रसंज्ञासिद्धिः। अणोऽपत्यत्वमेव शक्यतावच्छेदकन्न तु पौत्रत्वादिकम्। इतरथा गोत्राऽधिकारस्थयञाद्यर्थस्यैव गोत्रसंज्ञा स्यान्नत्वण इति। नचाऽपत्याऽधिकारे गोत्रयुवसंज्ञाकरणसामर्थ्यादपत्यस्य लाभात्तेनैवोक्तप्रयोजनसिद्धौ प्रयोजनाऽभावाद्व्यर्थमपत्यग्रहणमिति वाच्यम्। 'ते तद्राजाः' इत्येतत्सूत्रघटकतत्पदेन 'जनपदात् क्षत्रियादञ्' इत्येतत्सूत्रविहिताऽञादीनामेव ग्रहणेन गोत्रयुवसंज्ञाप्रकरणेन व्यवधानादञादेः पूर्वप्रत्ययानामग्रहणेनाऽपत्याधिकारपाठसामर्थ्यस्योपक्षीणतयाऽपत्यस्याऽसम्बन्धशङ्काव्यावृत्त्यर्थं पुनरपत्यग्रहणस्याऽऽवश्यकत्वादिति भावः।

ननु 'एको गोत्रे' इदं सूत्रं व्यर्थम्। न च तत्राऽनेकप्रत्ययव्यावृत्त्यर्थमावश्यकं सूत्रमिति वाच्यम्। युगपदेकस्मिन् गोत्रेऽनेकप्रत्ययानामप्रसक्तेरित्याशङ्क्य सूत्रारम्भफलं प्रदर्शयति—**गोत्रे स्वैकोनसङ्ख्यानां प्रत्ययानां परम्परेति**। स्वं गोत्रन्तदपेक्षया एकोनसंख्यानां प्रत्ययानां तृतीये द्वयोः, चतुर्थे त्रयाणां, पञ्चमे चतुर्णाम्परम्परा प्रसज्येत इति तदर्थः। तथा हि—उपगुशब्दात्तृतीये द्वयोरणिञोः प्रत्यययोरापत्तिः। तस्मादेवोक्तशब्दात्पञ्चमे वाच्ये चतुर्णामणिञ्फगिञां प्रत्ययानाम्परम्परेति। न च 'यस्येति चे'ति सूत्रेणाऽणादेर्लोपेनाऽविद्यमानत्वादणिञादीनाम्प्रत्ययानां परम्परेत्युक्तेः कथं सङ्गतिरिति वाच्यम्। अणन्तादिञुत्पत्तिः। इञन्तात्फक उत्पत्तिरित्युत्पत्तिमात्राऽभिप्रायेण प्रत्ययपरम्परेत्युक्तेः सुसङ्गतेः।

यद्वा स्वद्व्यूनसंख्येभ्योऽनिष्टोत्पत्तिः प्रसज्यते।

स्वं गोत्रन्तदपेक्षया द्व्यूनसंख्येभ्यः प्रकृतिभूतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽनिष्टप्रत्ययोत्पत्तिरित्यर्थः। अत्र पक्षे उपगोस्तृतीये वाच्ये एकस्मादौपगवादिञनिष्टः प्राप्नोति चतुर्थे द्वाभ्यां, पञ्चमे त्रिभ्य इत्यादीति भावः। अत्रानिष्टोत्पत्तिमात्रं न त्विष्टाऽसिद्धिरित्यर्थः। अत्र पक्षे उपगुशब्दादणेष्टसिद्धावपि औपगवादिञ्निवृत्त्यर्थं नियमार्थमिदं सूत्रम्। ननु नियमार्थस्य सूत्रस्यारम्भेऽपि गोत्रे एकस्यैव प्रत्ययस्य करणान्नियमेनाऽबाधादनन्तराऽपत्यप्रत्ययान्ताद् गोत्रे प्रत्ययो दुर्वारः। न च गोत्रपदेन लक्षणयाऽपत्यसमुदायः स च परमप्रकृतेर्वाच्यम्। अपत्यमित्यनुवृत्त्यैव सिद्धौ गोत्रग्रहणवैयर्थ्यापत्तेरिति चेन्न। गोत्रग्रहणस्य भाष्यकृता प्रत्याख्याततत्वेनोक्तप्रत्ययस्येष्टापत्तेः।

यद्वा गोत्रे बोध्ये एक एव शब्दः प्रत्ययः प्रकृतिर्नत्वनेकशब्द इत्यर्थः। यदि प्रत्ययान्तात्प्रत्ययः स्यात्तर्हि नैकशब्दः प्रत्ययप्रकृतिः स्यादिति।

यद्वा एकशब्दः प्रथमवाची । प्रथमः शब्दो गोत्रे प्रत्ययमुत्पादयतीत्यर्थः । प्रथमत्वञ्च सर्वमूलत्वमित्येतत्सर्वं स्पष्टम्भाष्ये ।

नियमार्थमिदं सूत्रमिति । अयम्भावः—अनन्तराऽपत्ये मुख्यसम्बन्धेऽप्रवृत्त्या प्रथमपक्षे तत्तत्पितृवाचकादेव प्रत्ययः स्यान्न तु मूलभूतात्, तथा च—औपगवाऽपत्येनोपगोर्मुख्यसम्बन्धाऽसद्भावादिहाऽप्राप्तया तदर्थं सूत्रस्याऽऽवश्यकत्वेन विध्यर्थत्वान्नियमार्थत्वाऽभावेनौपगवशब्दात्प्रत्ययो दुर्वार इति चेन्न । गोत्रे बोध्ये एवाऽपत्यप्रत्यय इति सूत्रस्यार्थे औपगवशब्दस्याप्रत्ययान्तत्वे पुनस्ततोऽपत्यप्रत्ययानुपपत्त्याऽगत्या परम्परासम्बन्धस्वीकारादुपगोरेव प्रत्ययोत्पत्त्यौपगवात्तदनुपपत्तेरिति सर्वं समञ्जसम् ।

'तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत् ।
उत्सर्गः शेष एवासौ वृद्धान्यस्य प्रयोजनम् ॥

इति कारिका व्याख्यायताम् ।

इदमर्थेऽपत्यसमूहविकारादीनामन्तर्भावादपत्येऽपि 'तस्येदम्' इत्यणः प्रवृत्तिसंभवात् किमनेन 'तस्यापत्यम्' इति सूत्रेण ? यद्यपि 'अत इञ्' इत्याद्यर्थं 'तस्यापत्यम्' इति वक्तुं शक्यते तथापि योगविभागस्य किं प्रयोजनम् इति आशयः । समाधत्ते–'तस्येदम्' इत्यस्य यद् बाधकं 'वृद्धाच्छः' इति, तद्बाधनार्थं पृथक् सूत्रं कृतं भवेदित्यर्थः । ननु 'तस्येदम्' इत्यणस्तदपवादस्य वृद्धाच्छस्य च शैषिकत्वादपत्यार्थे प्रसक्तिरेव नास्ति, अपत्यादिचतुरर्थपर्यन्तेभ्यो योऽन्योऽर्थः स शेष इत्यभ्युपगमाद्, अत आह—'उत्सर्गः शेष एवासौ इति । असौ=अपत्यार्थः । योगविभागाभावे अदन्तवाह्वादिप्रकृतिसम्बद्धस्यैवापत्यार्थस्योपयोगादुपग्वादिप्रकृतिसम्बद्धोऽपत्यार्थः शेष एव स्यात् । तथा च अणं बाधित्वा भान्वादिभ्यो 'वृद्धाच्छः' प्रसज्येत । कृते तु 'योगविभागे' प्रकृतिसामान्यसम्बद्धस्यापत्यार्थस्योपयोगाच्छेषत्वाभावेन छस्य प्राप्तिर्न जायते । एवञ्च अप्राप्तिसम्पादनेन छबाधनार्थं 'तस्यापत्यम्' इति पृथक्सूत्रस्य प्रयोजनम् । ननु उपग्वादेरवृद्धत्वेन छस्य प्रवृत्त्यभावान्निष्फलो योगविभागः स्यादत आह–**वृद्धानीति** । भान्वादिप्रातिपदिकानि वृद्धानि सन्ति, तत्सम्पादनमेव पृथक् सूत्रस्य प्रयोजनमित्यलम् ।

कृतसन्धेः किम् ? सौत्थितिः । 'अकृतव्यूहपरिभाषया सावुत्थितिर्माभूत्' इति फक्किकां प्रतिपादय ।

सौत्थितिरित्यत्र सु=शोभनः, उत्थितः इति स्थितौ प्रादिसमासे सवर्णदीर्घेन सूत्थितः इति निष्पद्यते । ततश्च सूत्थितस्यापत्यं सौत्थितिः इति भवति । तत्र च अत इञ्, सुब्लुक्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । 'तस्यापत्यम्' इति सूत्रे कृतसन्धेरित्यस्याभावे सु उत्थित इत्यस्यामेव दशायां सवर्णदीर्घत्वादादिवृद्धौ कृतायामावादेशे सावुत्थितिरिति स्यात् । नन्वत्रान्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घे कृते तदुत्तरमेव इञ्प्रत्यय उचितः परादन्तरङ्गस्य बलवत्त्वात् । ततश्च सन्धेः प्राक् तद्धितोत्पत्तेरप्रसक्तेः कृतसन्धेरिति व्यर्थमेवेति चेद्, न । 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' इति परिभाषया सन्धेरभावप्रसङ्गाद् । तथाहि—अन्तरङ्गपरिभाषाया अप्यपवादभूतया अकृतव्यूहपरिभाषया सन्धेः प्रागेव प्रत्ययः स्याद् । ततश्चादिवृद्ध्यपेक्षयाऽन्तरङ्गोऽपि सवर्ण-

दीर्घः अकृतव्यूहपरिभाषया आदिवृद्धेः प्राग् न प्रवर्तेत। एवञ्च सवर्णदीर्घात्प्रागेवादिवृद्धौ आवादेशे सावुत्थितिरिति स्यादित्यर्थः।

'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ' इति सूत्रे डित्करणस्य किं प्रयोजनम् ?

'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ' इति सूत्रेण ययतोः प्रत्यययो. कृतयोः अपि 'यस्येति च' इति सूत्रेण अकारलोपे कृते 'वामदेव्यम्' इति प्रयोगे सिद्धे प्रत्ययद्वये डकारोपादानं 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्' इति, 'एकानुबन्धकग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य ग्रहणम्' इति च परिभाषाद्वयं ज्ञापयति। 'पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययसमानाधिकरणेन' इत्यत्र तव्यग्रहणेन तव्यतो ग्रहणं नेति 'निरनुबन्धक' इति परिभाषायाः फलम्। 'एकानुबन्धकग्रहणे' इत्यस्याः परिभाषायाः फलन्तु अङ्ग चङो ग्रहणं नेति। 'ययतोश्चातदर्थे' इति सूत्रे ययदितिप्रत्ययद्वयेन ड्यत्ड्येतिप्रत्ययद्वयस्य ग्रहणाभावेन अवामदेव्यमिति प्रयोगे उदात्तस्वराभावः सिद्ध्यतीति फलमिति दिक्। तथैव कारिका वर्तते—'सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थं ययतौ डितौ। ग्रहणं मा तदर्थे भूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे'॥ इति।

'शेषे' इति सूत्रस्य लक्षणत्वमधिकारत्वं चेत्युभयं किमिति स्वीक्रियते ?

लक्षणं तावत्—ग्रहणक्षुण्णादिष्वर्थेषूत्तरसूत्रानुपात्तेष्वणो विधायकम्। ननु लक्षणं तावद् व्यर्थम्, 'तस्येदम्' इत्यनेन चाक्षुषादीनाम्, 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यनेन दार्षदादीनां सिद्धेः। तथाऽधिकारोऽपि व्यर्थः। उत्तरसूत्रेषु निर्दिष्टानामर्थविशेषाणामपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्यत्वस्य सिद्धत्वादिति वाच्यम्। अत्रोच्यते—'शैषिकात्सरूपः शैषिको न' इति वक्ष्यमाणार्थस्य विषयलाभाय शेषाधिकारस्तावदावश्यकः। शैषिकत्वप्रयुक्तकार्यविशेषं ध्वनयितुं क्रियमाणः शेषाधिकार एव 'शैषिकान्मतुबर्थीयात्' इत्यादिश्लोकं ज्ञापयति। अपत्यादिष्वर्थेषु घादीनां निवृत्त्यर्थमप्यधिकार आवश्यकः। एवं स्थिते चाक्षुषमित्यादिषु गृह्यमाणत्वादिप्रकारकबोधनाय विधायकत्वमपि सुवचम्।

आकर्षात्पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च।
आवसथात्किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे॥ इयं कारिका व्याख्येया।

आकर्षादित्यादि श्लोकवार्तिकमिदम्। 'प्राग्वहतेष्ठक्' इत्यादौ ठगिति ष्ठगिति वा छेद इति संशयनिवृत्त्यर्थम् 'आकर्षात्ष्ठल्' इति सूत्रभाष्ये पठितम्। तत्र आकर्षादित्यनेन 'आकर्षात्ष्ठल्' इति सूत्रं विवक्षितम्। 'पर्पादिभ्य' इत्यनेन 'पर्पादिभ्यः ष्ठन्' इति सूत्रं विवक्षितम्। 'भस्त्रादिभ्यः' इत्यनेन 'भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्' इति सूत्रं विवक्षितम्। 'कुसीदसूत्रा'दित्यनेन 'कुसीददशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ' इति सूत्रं विवक्षितम्। 'आवसथाद्' इत्यनेन 'आवसथात् ष्ठल्' इति सूत्रं विवक्षितम्। 'किसरादे'रित्यनेन 'किसरादिभ्यः ष्ठन्' इति सूत्रं विवक्षितम्। 'प्राग्वहतेष्ठक्' इत्यधिकारे एतैः सूत्रैर्विहिताः षट् प्रत्ययाः षित इत्यर्थः। ननु 'कुसीद' इति सूत्रे प्रत्ययद्वयविधानात् एतत्सूत्रषट्कविहिताः सप्त प्रत्ययाः लभ्यन्त इति षट् षित इति कथमिति चेदुच्यते—षडिति कथनं सूत्रषट्केन विहितानां बोधो जायते इत्यर्थः। प्रत्ययास्तु सप्त सङ्ख्याका एव।

प्राग्दिशीयानां विभक्तिसञ्ज्ञाफलानि लिखत।

प्राग्दिशीयानां विभक्तित्वे त्यदाद्यत्वं, 'न विभक्तौ तुस्माः' इतीत्सञ्ज्ञानिषेधः,

'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययसञ्ज्ञा, विभक्तिस्वरश्चेति चत्वारि प्रयोजनानि बोध्यानि। तथाहि—तच्छब्दात् 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति तसिलप्रत्यये, तसिलो विभक्तत्वात् विभक्तौ विधीयमाने 'त्यदादीनामः' इति त्यदाद्यत्वे 'न विभक्तौ तुस्माः' इति सकारस्येत्सञ्ज्ञानिषेधे 'तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः' इत्यव्ययसञ्ज्ञायाञ्च विभक्तेर्लुकि 'ततः' इति रूपं जायते। एवञ्च प्रयोजनत्रयस्यैकमेवोदादरणम्। स्वरस्य तु 'इतः' इति। अत्रेदंशब्दात्तसिलि 'इदम इश्' इति इशादेशे 'ऊडिदम्' इत्यादिनेदमः परस्य तस आद्युदात्तत्वम्, असति विभक्तित्वे तु लिति प्रत्ययात्पूर्वमाद्युदात्तत्वं स्यात्। स्पष्टञ्चेदं 'सद्यः परुद्' इत्यादि सूत्रव्याख्याने मूल एव द्रष्टव्यम्।

चतुर्थादनजादौ चेति कारिका व्याख्येया।

चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्यः इति सङ्क्षेपार्थः। तेन बृहस्पतिदत्तशब्दात् 'बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा' इति ठचि दत्तशब्दस्य लोपे ठस्येकादेशे 'बृहस्पतिक' इति सिद्ध्यति। 'अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः' इति देवदत्तशब्दात्कप्रत्यये दत्तशब्दस्य पाक्षिके लोपे देवदत्तकः देवकः इति रूपद्वयम्। 'पूर्वपदस्य च लोपो वा भवति'। अस्मिन्नंशे अनजादाविति नात्र सम्बध्यते। तेन देवदत्तशब्दात् ठचि घञि इलचि कप्रत्यये च क्रमेण—दत्तिकः—दत्तियः—दत्तिलः—दत्तकः इति रूपाणि सिद्ध्यन्ति। 'अप्रत्यये=विनापि प्रत्यये पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपः'। तेन देवदत्तशब्दात् ठाजादिप्रत्ययस्याभावेऽपि पूर्वोत्तरपदयोः क्रमेण लोपे देवदत्तः—दत्तः—देवः इति रूपाणि। सत्यभामा—भामा—सत्या इति च। 'ल' इति लोपस्य पूर्वाचार्यसञ्ज्ञा। उवर्णात्परस्येलचो लोपः स्यात्। 'आदेः परस्य' इति परिभाषायाः साहाय्येन इकारस्य लोपः, तेन भानुदत्तशब्दात् 'घनिलचौ च' इति भानुदत्तः—भानुलः इति सिद्ध्यति।

'काकतालीयः' इति अर्थनिर्देशपूर्वकं साधय।

काकागमनमिव तालपतनमिवेति विग्रहः। अत्र काकशब्दः काकागमनसदृशे देवदत्तागमने लाक्षणिकः। तालशब्दस्तु तालपतनसदृशे चोरागमने लाक्षणिकः। काकागमनसदृशदेवदत्तागमनं तालपतनसदृशश्चोरागमनमिति च काकतालमित्यत्र समासाद् बोधः। अत्र अस्मादेव विधिबलात् 'सुप्सुपा' इति समासः। ततः काकतालेति समासात्सादृश्यान्तरे छप्रत्ययः। तादृशचोरसमागमे सति तालपतनकृतकाकमरणसदृशो देवदत्तस्य चोरकृतो वध इति छप्रत्ययाद् बोधः जायते।

'कर्मधारयवदुत्तरेषु इति सूत्राभिप्रायः सोदाहरणो वर्णनीयः।

सूत्रार्थस्तु अनया रीत्या सङ्गमनीयः—इत उत्तरेषु द्विर्वचनेषु कर्मधारयवत्कार्यं स्यात्।। तथाहि—कर्मधारये यानि सुब्लोपपुंवद्भावान्तोदात्तत्वानि भवन्ति तान्यत्रापि स्युरित्यर्थः। यथा—'पटुपट्वी' इत्यत्र 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रेण पट्वीशब्दस्य द्विर्वचने कर्मधारयत्वात् 'पुंवत्कर्मधारय' इति पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वं 'समासस्य' इत्यन्तोदात्तत्वञ्च भवति। 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीपोऽभावे पुंसि वा पटुरिति सुबन्तस्य द्वित्वे कर्मधारयवद्भावाद 'सुपो धातु' इति सुलोपः 'समासस्य' इत्यन्तोदात्तत्वञ्चेति उभयं सिध्यति।

'एकं बहुव्रीहिवत्' इति सूत्रं शङ्कानिरासपूर्वकं व्याख्येयम् ।

'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इत्यतो बहुव्रीहिग्रहणेऽनुवर्त्तमाने 'न बहुव्रीहौ' इत्यत्र पुनर्बहुव्रीहिग्रहणेन यत्र मुख्यबहुव्रीहिसमासश्चिकीर्षितो भवति तत्रैव सर्वनामसंज्ञा न स्यादिति निषेधति । एवञ्चात्र 'एकं बहुव्रीहिवत्' इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमासे यत् कार्य्यम्भवति, तत् कार्य्यमत्रापि स्यादिति आरोपयति । तेनात्र बहुव्रीहिसमासाभावात् सर्वनामसञ्ज्ञायामुक्तप्रयोगसिद्धिः । सूत्रप्रत्याख्याने सर्वनामसञ्ज्ञायां विवाद एव नास्ति । सूत्रसत्तायामपि 'एकं बहुव्रीहिवत्' इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमासारोपो भवति, तेन च सुब्लुक्पुंवद्भावौ सिद्धयतः । तथाहि अत्र च न बहुव्रीहिसमासो भवतीति सन्देहाभाव एव विज्ञाप्यते ।

बहुलग्रहणस्य प्रयोजनं पृथक् लिखत ।

स्त्रीलिङ्गे पदद्वये टाबभावो भवति । नपुंसकलिङ्गे च स्वमोः स्थानेऽद्डादेशस्य विरहः = अभावो भवति । अन्यपदैः सह अन्यादिशब्दानां समासे सति सोः—सुविभक्तेरलुक् च भवतीत्येतत् कार्यत्रयं बाहुलकात् बहुलग्रहणात् सिद्धम्भवति । स्त्रीलिङ्गेऽन्योऽन्यमित्यादौ पदद्वये टाप् न भवति । नपुंसकलिङ्गेऽन्योऽन्यमित्यादौ अद्डादेशो न भवति । अन्योऽन्यसंसक्तमित्यादिसमासस्थले पूर्वपदघटकसोर्लुक् च न भवति । अस्मिन् विषये च 'अन्योऽन्यसंश्रयं त्वेतत्' इति भाष्योक्तं प्रमाणमेव आधारभूतं वर्तते ।

'दलद्वये टाबभावः'—इति कारिका सोदाहरणं व्याख्येया ।

'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नः' इत्यत्र बहुलग्रहणस्य प्रयोजनमाह—**दलद्वये इत्यादिकारिकया ।** स्त्रीलिङ्गेष्वन्यपरेतरशब्देषु कर्मव्यतिहारे द्वित्वे सति पूर्वोत्तरखण्डयोः टाब्निवृत्तिर्बहुलग्रहणस्य प्रथमं प्रयोजनम् । न च सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः—अन्यपरयोरसमासवद्भावात् । न च द्विर्वचनमेव वृत्तिः—'यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा' इत्यादावतिप्रसङ्गात् । अत्र हि द्विर्वचनस्य वृत्यन्तर्भावे यां यामित्यत्र सा सेत्यत्र च 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वं स्यात् । नपुंसके च 'अन्योऽन्यमितरेतरम्' इत्यत्र 'अद्ड्डतरादिभ्यः' इति सोः प्राप्तोऽद्ड् बाहुलकान्न भवतीति तस्य द्वितीयं प्रयोजनम् । 'अन्योऽन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्' 'अन्योऽन्याश्रयः' 'परस्पराक्षिसादृश्यम्' 'अपरस्परैः' इत्यादिषु सोर्लुक्प्राप्तौ बाहुलकान्न भवतीति सोरलुक्चेति तृतीयं प्रयोजनम् । अत्र कृतद्वित्वेषु समासावयवेषु पूर्वखण्डस्य सुबादेशस्य सोर्लुक् प्राप्तः । सुभावविधानन्तु असमासे चरितार्थम् ।

इति पङ्क्तिदीपिका समाप्ता ।

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित	अपेक्षित
४८	२७	आरुढ	आरूढ
,,	,,	खट्वारुढ	खट्वारूढ
,,	२८	खट्वारुढ + सु	खट्वारूढ + सु
,,	,,	खट्वारुढ + र्	खट्वारूढ + र्
,,	,,	खट्वारुढः	खट्वारूढः
,,	३२	खट्वारुढोऽयं	खट्वारूढोऽयं
८०	३४	१	२
१०५	१	मध्यध्यम	मध्यमध्यम
११५	१९	लोष	लोप
११७	१	पूर्ववत्	पूर्ववत्)।
,,	७	'पोटा' की उपसर्जन संज्ञा	'इभी' की उपसर्जन संज्ञा
११९	१७	(गुण–अ + उ = ओ	(गुण–अ + उ = ओ)
१२८	१७	वनान्तरम्[1]	वनान्तरम्[2]
१३७	३०	तुक	तुक्
१४५	१९	व्यवस्थापाकानि	व्यवस्थापकानि
१५१	१६	कुम्मकारः	कुम्भकारः
१६२	३६	सिद्धि भो	सिद्धि भी
१६५	५	बहुव्रीहिः	बहुव्रीहिः
१७२	६	पूर्बं	पूर्वं
१७४	२	अतिद्धित	अतद्धित
१७५	१	अर्धखारम्अ–र्धखारि	अर्धखारम्–अर्धखारि
१७६	२७	विशेष के के साथ	विशेष के साथ
१९८	१०	स्रीत्वं	स्त्रीत्वं
२१७	१३	सत्त्बादित्यत	सत्त्वादित्यत
२२०	११	निवृत्ती	निवृत्तो
२२२	७	प्रवञ्चितम्	प्रपञ्चितम्
२२५	११	प्रतीतर्नियमादिति	प्रतीतेर्नियमादिति
२३१	५	श्रयेत	श्रूयेत
२४१	६	अतष्टावेव	अतष्टावेव

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित	अपेक्षित
२४१	१४	हस्तिकमित्यत्र	हास्तिकमित्यत्र
२४२	१०	अधिके	अधिक
२५२	१३	दीर्घसक्य	दीर्घसक्थ
२७५	६	करोति	करीति
२८१	९	अत्रेन	अत्रेनः
२८२	२	छेषाधिकारस्यात्	छेषाधिकारस्थात्
,,	८	अनुक्तमासान्तादिति	अनुक्तसमासान्तादिति
३०४	१	अर्काश्वमेघम्	अर्काश्वमेधम्
३२०	१६	विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः	विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः
३२५	१६	सकारादकारस्य	सकारादकारस्या
३३१	१६	गर्गस्यात्पत्यं	गर्गस्यापत्यं
३३७	२७	'इदम्'	'इयम्'
३३९	२७	पुंमान्	पुमान्
३४७	३५	द्वयन्तरु	द्वचन्तरु
३४९	११	शब्दस्योदाहृति	शब्दस्योदाहरति
३५१	३८	सर्वत्रवाच्	सर्वत्रैवाच्
३६८	३८	जनार्दन	जनार्दन
,,	,,	अलुक	अलुक्
३७९	२	सङ्काश्यसिद्धः	साङ्काश्यसिद्धः
,,	३९	एवत्सर्वं	एतत्सर्वं
,,	४०	तत्तत्रैबावगन्तव्यम्	तत्तत्रैवावगन्तव्यम्
३९४	३५	पूर्वाचार्येः	पूर्वाचार्यैः
४०१	३	स्यातद्धिते	स्यात्तद्धिते
४१३	१	ज्योतिषमधीते	ज्यौतिषमधीते
४२१	३८	आदेशघिधानात्	आदेशविधानात्
४२६	३४	अन्यकारकः	अन्यत्कारकः
४६९	१४	आदितेरपत्ये	अदितेरपत्ये
४७१	२	अजादिसप्रसङ्गे किम्	अजादिप्रसङ्गे किम्
४७४	९	पौस्न इति	पौंस्न इति
४७७	३	गार्गीयम्	गर्गीयम्
,,	१३	,,	,,
,,	१६	गर्ग्यं	गार्ग्यं
४८४	१३	वाधित्वा	बाधित्वा

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित	अपेक्षित
४८५	७	शब्दबोधे	शाब्दबोधे
४८६	२०	पत्यस्य	पत्यं यस्य
४८८	१	४।१६३	४।१।१६३
,,	१३	बहिर्मविऽपि	बहिर्भवेऽपि
,,	१९	इहि	इति
,,	२०	वृद्धाच्द्धः	वृद्धाच्छः
४९३	१	ह्यपगोस्तृतीये	हृचुपगोस्तृतीये
,,	९	प्रत्ययत्वाभावात्	प्रत्यपत्यत्वाभावात्
४९४	२	पितमहादीनामपि	पितामहादीनामपि
५००	३	न व्याभ्याम्	नव्वाभ्याम्
५०३	३	४।१।१०२	४।१।१०१
५३०	२३	कमण्डलू	कमण्डलु
५४६	२	७।३।६०	७।३।५०
५५८	२	१।१६६	१।१६८
५५९	२	४।१।१६७	४।१।१६९
५६०	१	४।१।१६८	४।१।१७०
५६७	१२	प्रतिषेधदर्शयितुमाह	प्रतिषेधं दर्शयितुमाह
५७१	९	गुरुपोत्तमं	गुरूपोत्तमं
५७२	२	अगुरुपोत्तमार्थो–	अगुरूपोत्तमार्थो–
५७४	४	बिग्रहे	विग्रहे
५८१	२	साम्	साम
५९२	३२	वस्तु	वस्तु ।
६०३	३	(वा १७०८)	(वा २७०८)
६१०	२८	आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्यं	एवं विभक्तिकार्यं
६१४	२	७।२।४६	७।२।४७
६२१	११	श्नेनपात	श्येनपात
६६०	२	विशेषाद्धादयष्टचुलन्ताः	विशेषाद्घादयष्टचु-टचुलन्ताः
६६९	१६	पूर्वेषुकामशमः	पूर्वैषुकामशमः
७५१	५	रिक्तवेदभागाः ।	रिक्तवेदभागाः
,,	,,	बोधायनादि	बौधायनादि
,,	१३	शाठ्यायनिन्	शाट्यायनिन्
७९१	७	आकर्षात्ष्ठल	आकर्षात्ष्ठल्
७९२	१०	श्वाभस्त्रिरिति	श्वाभस्त्रिरिति

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित	अपेक्षित
७९८	१	दघ्ना	दध्ना
८१०	८	ऋदन्तातपष्ठयन्ताद्	ऋदन्तात्षष्ठयन्ताद्
,,	९	ङीषिति	ङीन्निति
८१२	१०	पित्त्वस्य	षित्त्वस्य
८१३	३८	(उण्णादि–७)	(उणादि–७)
८१५	३२	श्ति	इति
८२३	५	षित्	षित
८४९	२	औपनाह्यं	औपानह्यं
८६०	८	परिमाणवाचिवाट्ठञि	परिमाणवाचित्वाट्ठञि
८८२	९	परिमाणस्येति	परिमाणमस्येति
८८८	७	विरङ्गादेश	विरङ्गादेशं
८९४	४	अह्ना	अह्ना
,,	,,	आह्लिकम्	आह्निकम्
९०७	२	यथाकथाचम्	याथाकथाचम्
९२६	१५	इत्यादेशे	इयादेशे
९४१	२	'ये चाभावकर्मण:'	'ये चाभावकर्मणो:'
९४४	१२	जाहाचस्तु	जाहचस्तु
९५८	३	व्रीहियवौ	व्रीहियवौ
,,	११	विशष्टौ	विशिष्टौ
९६०	३९	अन्तोदान्तत्वं	अन्तोदात्तत्वं
९७४	२	कौलूमाषी	कौल्माषी
९७७	२०	विशेष के अन्तर्गत यह अंश और पढ़ें—उभयत्र प्रकृतिवाची 'परि+अवस्थातृ' शब्द से स्वार्थ में इनि (=इन्) प्रत्यय करने पर पूर्वोक्त दोनों शब्दों में से पहले शब्द में 'अवस्थातृ' शब्द के स्थान पर 'पन्थ' एवं दूसरे शब्द में 'परि' आदेश तथा उभयत्र 'अ' का लोप होकर दोनों शब्दों की सिद्धि होती है।	
९९८	५	स्वाङ्गादिवृद्धाविति	स्वाङ्गाद्विवृद्धाविति
१००४	२४	ककुदावती	ककुदावर्ती
,,	३४	अस्य अस्ति	अस्या अस्ति
,,	३६	अस्य अस्ति	अस्या अस्ति
१०४०	११	पदम	पदम्
१०४६	३	श्रपिष्ट:	श्रपिष्ठ:
१०५५	५	प्रस्यत:	प्रत्यय:

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित	अपेक्षित
१०६१	१	कडोड:	कहोड:
१०६६	३५	द्वयो	द्वयो:
१०७९	२	बाहीकेपु	वाहीकेषु
१०८४	११	परिनिमित्तकतया	परनिमित्तकतया
१०९६	३	यवागूमयो	यवागूमयी
११०२	१	लोहितशब्दतस्मात्	लोहितशब्दस्तस्मात्
१११५	१९	सम्-√पूर्वक पद्	सम्-पूर्वक √पद्
१११७	२	तादृशमर्घं	तादृशमर्धं
११३९	१६	दिन	दिने
११४६	(२) १६	द्विगुरेकवचनन्	द्विगुरेकवचनम्
११५३	(१) ३५	अभ्रूकूंसादीनामिति	अभ्रूकुंसादीनामिति
११५७	४	स्वादा	स्वाहा
,,	६	आद्रम्	आर्द्रम्
११५८	२	नखप्रचन्	नखप्रचम्
,,	१३	नग्रमुषितम्	नग्नमुषितम्
,,	१४	मृष्टलुश्रितम्	मृष्टलुञ्चितम्
,,	२९	दासामाणवकम्	दासीमाणवकम्
११५९	२९	भ्रष्टकर्कापष्ठला:	भ्रष्टककपिष्ठला:
११६०	६	शिरस	शिरस्
११६२	४२	इत्य	इत्यु
११६३	४	वर्बर	बर्बर
,,	३५	उज्जगया	उज्जयिनी गया
११६५	३५	उपसंख्यानाम्	उपसङ्ख्यानम्
११६६	५	असंभार	अंसभार
,,	२२	विप	विष
११६७	३८	उद्गातृन्नेतृ	उद्गातृ उन्नेतृ
,,	३९	इत्युदगात्रादि:	इत्युद्गात्रादि:
११६८	२०	इषत्वा	इषेत्वा
,,	२४	हृदह्लाद	ह्लद ह्लाद
,,	३४	बष्मंन्	वर्ष्मन्
,,	,,	पक्ष्पन्	पक्ष्मन्
११७०	३	वेदन्	विदन्
,,	२२	कुन्भपद्यादि:	कुम्भपद्यादि:

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित	अपेक्षित
,,	२९	कुक्कुठयादि	कुक्कुटयादि
११७३	४	ह्रस्वो	ह्लस्वो
११७६	८	पञ्चषु	पञ्चसु
११७८	११	छत्रश्च	छत्रञ्च
,,	१५	छत्रोपाहम्	छत्रोपानहम्
११८७	३२	जाते, संज्ञायाम्	जाते, 'भ'सञ्ज्ञायाम्
११९०	१२	नान्तत्वाद्दीर्घे	उपधादीर्घे
,,	१७	नान्तत्वाद्दीर्घे	उपधादीर्घे
,,	२४	लोपे, च	लोपे च
११९२	७	नान्तत्वाद्दीर्घे	उपधादीर्घे



D. Bhakta

29th oct '87
Delhi

